चौखम्बा संस्कृत सीरीज १४१

कृष्णद्वैपायनमहर्षिव्यासविरचितम्

अग्निमहापुराणम्

अनुवादक एवं सम्पादक
डॉ. सुरकान्त झा

चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी

चौखम्बा संस्कृत सीरीज

१४१

****

कृष्णद्वैपायनमहर्षिव्यासविरचितम्-

अग्निमहापुराणम्

अनुवादक एवं सम्पादक

डॉ. सुरकान्त झा

ज्यौतिषशास्त्राचार्य, शिक्षाशास्त्री

पी-एच. डी

चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी

भूमिका

सृष्टिस्थित्यन्तकरणीं ब्रह्मविष्णुशिवात्मिकाम्। स संज्ञां याति भगवानेक एव जनार्दनः ।।
प्रधानपुरुषव्यक्तकालास्तु प्रविभागशः। रूपाणि स्थितिसर्गान्तव्यक्तिसद्भावहेतवः ।।
व्यक्तं विष्णुस्तथाव्यक्तं पुरुषः काल एव च। क्रीडतो बालकस्येव चेष्टां तस्य निशामय ।।
एक एव शिवः साक्षात् सृष्टिस्थित्यन्तसिद्धये। ब्रह्मविष्णुशिवाख्याभिः कलनाभिर्विजृम्भते ।।

भारतीय जनमानस पुराण को वेद की तरह अपौरुषेय मानते हुए उसके समक्ष श्रद्धावनत रहने में गौरव की अनुभूति करता है। अतएव भारतीय वाङ्मय में पुराणों की व्यापकता एवं महत्ता का गान अपरिमित तथा असन्दिग्ध है और वे भारत के अतीतकालीन धर्म और संस्कृति के मूर्तिमान् गौरव के प्रतीक हैं। आज की बौद्धिकता भी पुराणों के प्रभाव और उनके महत्त्व को रंचमात्र भी कम नहीं कर पायी है। इस समय भी उनके प्रति वही श्रद्धा और सम्मान का भाव दृष्टिगोचर होता है, जैसा सुदूर अतीत में था।

अपौरुषेय वेद में भी पुराणों की चर्चा है और उन्हें वेदों की ही भाँति नित्य और प्रमाणभूत बताया गया है। जैसे अध्वर्यु यज्ञ में कुछ पुराण पाठ के लिए यह कहकर प्रेरणा देता है कि 'पुराण' वेद है। यह वही वेद है–

'तानुपदिशति पुराणम्'। वेदः सोऽयमिति। किञ्चित् पुराणमाचक्षीत एवमेवाध्वर्युः सम्प्रेषितः ....

(शतपथब्राह्मण १३।४।१३)।

इसी प्रकार अथर्ववेद, बृहदारण्यकोपनिषद् आदि वैदिक वाङ्मय में पुराणों के प्रति प्रकृष्ट श्रद्धा प्रकट की गयी है। इस प्रसङ्ग में आगे और भी प्रकाश डाला जाएगा, अस्तु।।

मत्स्यपुराण में कहा गया है कि–'पुराणं सर्वशास्त्राणां प्रथमं ब्रह्मणा स्मृतम्'

श्रुति, स्मृति एवं पुराण–ये तीनों वैदिकधर्म के सनातन आधारस्तम्भ हैं। इन तीनों में श्रुति प्रधान है। श्रुतिमूलक होने से ही स्मृति एवं पुराणों की प्रामाणिकता आज भी अक्षुण्ण है। मीमांसा एवं धर्मशास्त्र से सम्बन्धित ग्रन्थों में श्रुति एवं स्मृति के सम्बन्ध में विस्तृत विवेचन मिलता है। साथ ही श्रुतिवाक्यों के बलाबल का विचार करके उसका वहाँ तर्कपूर्ण विधि से यथास्थान समन्वय भी किया गया है। श्रुतिवाक्यों का यथार्थ बोध कराने के लिये ही इतिहास और पुराणों की सहायता की आवश्यकता पड़ती है। आदिमानव मनु ने अपनी स्मृति में कहा है–

'इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत् । बिभेत्यल्पश्रुताद् वेदो मामयं प्रहरेदिति।।'

भारतवर्ष में अंग्रेजों की गुलामी के फलस्वरूप पाश्चात्य पद्धति का प्रचार–प्रसार एवं प्रभाव अधिक होने के कारण पुराणों के विषय में पाश्चात्य शिक्षा–शिक्षित भारतीय विद्वानों ने अनेक दुराग्रहपूर्ण कुतर्क उपस्थित किये। उनका यह कथन 'पुराण केवल गपोड़े हैं' का समाज पर पर्याप्त प्रभाव भी पड़ा, फलस्वरूप तत्कालीन उस समाज ने पुराणों की पर्याप्त अवहेलना भी की। किन्तु कुछ समय बाद प्राच्य तथा पाश्चात्य सभी विद्वानों ने सर्वसम्मत्या यह स्वीकार किया है कि पुराण का अधिकांश भाग प्रामाणिक है, अतएव वे अतिमहत्त्वपूर्ण व स्वीकार्य हैं। इतना ही नहीं अनेक पाश्चात्य इतिहासकारों ने भी पुराणों में वर्णित ऐतिहासिक स्थलों के आधार पर ही भारतवर्ष के प्राचीन इतिहास की रचना करने की लाचार साहस भी प्रकट किया है।

पुराणों के विषय में बहुत–सी विप्रतिपत्तियाँ उपस्थित होती हैं। प्राचीन परम्परा के अनुसार **'अष्टादशपुराणानां कर्ता सत्यवतीसुतः'** अर्थात् सत्यवती पुत्र वेदव्यास को ही पुराणों का रचियता स्वीकार किया गया है। इस आधार को

अङ्गीकृत करते हुए आधुनिक विद्वान् ईसा के उत्तरकाल में गुप्त आदि सम्राटों के समय में पुराणसाहित्य की रचना स्वीकार करते हैं।

वे मन्त्रकाल, ब्राह्मणकाल, सूत्रकाल, पुराणकाल आदि अनेक काल-विभागों की कपोलकल्पना भी करते हैं। परञ्च संस्कृत वाङ्मय का परिशीलन करने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि भारतीय वाङ्मय के इतिहास में पाश्चात्य विद्वानों द्वारा प्रदर्शित वर्तमान काल-विभाग कदापि स्वीकार्य नहीं रहा। पाश्चात्य विद्वानों ने विकासवाद के निराधार भ्रमयुक्त सिद्धान्तों को मानकर इतिहास और परम्परा विरुद्ध अनेक परिकल्पनाएँ की हैं।

भारतीय ऐतिह्य परम्परा के अनुसार वेदों की शाखाएँ ब्राह्मणग्रन्थ, श्रौतसूत्र, गृह्यसूत्र, धर्मसूत्र, आयुर्वेदीय संहिताएँ आदि ग्रन्थ प्रायः समकालीन हैं। अर्थात् जिन ऋषियों ने ब्राह्मण ग्रन्थों का प्रवचन किया, उन्होंने ही कल्पसूत्र और आयुर्वेद आदि अनेक संहिताओं की भी रचनाएँ की।

'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्'–इस मीमांसा वचन के अनुसार मन्त्र और ब्राह्मण दोनों की वेद संज्ञा है। अतः वेदोक्त अश्वमेध प्रकरण में नवें दिन पुराण पाठ करने की आज्ञा है। यथा–

'नवमेऽहनि किञ्चित् पुराणमाचक्षीत।' मीमांसा।

आदिमानव मनु ने भी श्राद्धप्रकरण में पुराण पाठ का विधान किया है–

'स्वाध्यायं श्रावयेत् पित्र्ये धर्मशास्त्राणि चैव हि।
आख्यानानीतिहासाँश्च पुराणानि खिलानि च ॥' (मनु. २।२३२)

किन्तु जिस वेदव्यास का जन्म द्वापर युग के अन्त में हो गया उसी की कृति ये पुराण हैं, ऐसा विद्वानों ने कैसे स्वीकार कर लिया? अश्वमेधयाग इस वेदव्यास के पहले भी सगर, श्रीरामचन्द्र आदि अनेक चक्रवर्ती राजाओं ने किये थे और उक्त याग में पुराण-पाठ करना उसकी पूर्ति के लिये आवश्यक था। इसकी पुष्टि मीमांसाशास्त्र ने उक्त प्रमाणों द्वारा की है। अतः त्रेतायुगीन सगर आदि राजाओं द्वारा किये गये अश्वमेधयागों में भी पुराणों का पाठ अवश्य किया जाता रहा होगा? यह एक जटिल प्रश्न खड़ा होता है। इसके समाधान के लिये यह स्वीकार करना परम आवश्यक है कि वैदिकवाङ्मय में पुराणों के पाठ का यत्र-तत्र विधान होने के कारण यह पुराण साहित्य द्वापरयुगीन वेदव्यास से अत्यन्त प्राचीन है।

वेद अपौरुषेय है, यह स्वीकार करने पर उनमें प्रमाण रूप से स्वीकृत पुराण ग्रन्थ भी अपौरुषेय है, यह मानना भी आवश्यक होगा। यदि पुराण ग्रन्थ वेदव्यास प्रणीत अथवा अर्वाचीन होते तो वेदग्रन्थों में उनका उल्लेख होना कदापि सम्भव नहीं था। यदि हम इसे स्वीकार करते हैं, तो इस पर एक शंका यह उत्पन्न होती है कि फिर पुराण ग्रन्थों में उनके रचयिता के रूप में भगवान् कृष्णद्वैपायन वेदव्यास का नाम कैसे जुड़ गया?

इसका समाधान इस प्रकार से करना और समझना चाहिये कि आज जो आयुर्वेदीय चरकसंहिता उपलब्ध है, वह वास्तव में अग्निवेश मुनि द्वारा रची गयी थी, किन्तु चरक मुनि द्वारा प्रतिसंस्करित होने के कारण आज वह शास्त्र चरकसंहिता नाम से ही प्रसिद्ध हो गयी है और सामान्य वर्ग उसे चरक की ही कृति मानता है।

इसी प्रकार पुराण ग्रन्थ अत्यन्त प्राचीन है और भगवान् वेदव्यास ने अपने समय में उनका प्रतिसंस्कार किया होगा, फलतः वे उन्हीं के नाम से प्रसिद्ध हो गये। इसी प्रकार छान्दोग्य उपनिषद्, बृहदारण्यक उपनिषद् , तैत्तिरीय आरण्यक आदि ग्रन्थों में भी अनेक बार इतिहास और पुराणों का प्रमाण रूप से उल्लेख मिलता है।

अतएव वैदिकवाङ्मय से सम्बन्धित काल विभाग की जो कल्पना प्राश्चात्य विद्वानों ने जान बूझकर की है, वह भी प्रमादपूर्ण है; यह हम पहले ही निर्दिष्ट कर चुके हैं। सनातन वैदिक धर्म तीन काण्डों में विभक्त है। वे तीन काण्ड हैं–

१. कर्मकाण्ड, २. ज्ञानकाण्ड ३. उपासना काण्ड

ये तीनों काण्ड अपने-अपने रूप में सर्वाङ्गपूर्ण हैं, अर्थात् जब कोई कर्मकाण्ड का आश्रय लेगा तो उसके लिये कर्म ही प्रधान होगा। इसी अभिप्राय से कहा गया है–'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविशेत् शतं समाः' (यजु. ४०।२) इस कर्मकाण्ड से स्वर्ग आदि फलों की प्राप्ति होती है।

जैसा की शास्त्र का निर्देश है–'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत'। इस काण्ड में यज्ञ के हविर्भाग को लेने वाले देवता इन्द्र, अग्नि आदि हैं। इस काण्ड का प्रतिपादन करने वाले ग्रन्थ मन्त्रसंहिता तथा ब्राह्मण ग्रन्थ हैं।

दूसरा ज्ञानकाण्ड है। इस काण्ड में ज्ञानप्राप्ति ही मुख्य उद्देश्य माना गया है। अर्थात् ज्ञान प्राप्त हो जाने पर ही मनुष्य को उसके जीवन की सफलता मिलती है। इसीलिये कहा गया है–'तमेव विदित्वातिमृत्युमेति, नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।' अर्थात् ईश्वर का साक्षात्कार करने से ही मनुष्य मात्र को मुक्ति प्राप्त होती है। ज्ञान के बिना मुक्ति का कोई और साधन नहीं है।

इस ज्ञानकाण्ड में इन्द्र आदि देवताओं की प्रधानता न होकर ब्रह्म को ही परमश्रेष्ठ तत्त्व माना गया है। उसी का यथार्थ ज्ञान मनुष्य के लिये अभीष्ट होता है। ज्ञानकाण्ड के प्रतिपादक ग्रन्थ मुख्यतया आरण्यक, उपनिषद् एवं ब्रह्मसूत्र आदि हैं।

तीसरा उपासना काण्ड है। इस काण्ड में ईश्वर की उपासना को महत्त्व प्रदान किया गया है। जैसा कि नारदभक्तिसूत्र में कहा गया है–'सा तु कर्मज्ञानयोगेभ्योऽत्यधिकतरा।' अर्थात् भक्ति या उपासना कर्ममार्ग, ज्ञानमार्ग तथा योगमार्ग से भी उत्तम कही गयी है। उपासना मार्ग का आश्रय लेने वाले मनुष्य को इसी से मुक्ति आदि फलों का लाभ हो जाता है। उपासना काण्ड में शंकर, विष्णु, गणेश एवं दुर्गा आदि को उपासना करने योग्य बतलाया गया है और इन्हीं की उपासना इष्टफलदायक होती है। उपासना काण्ड के प्रतिपादक ग्रन्थ मुख्यतः पुराण ही हैं।

वैदिक धर्म का अनुयायी मनुष्य अपनी इच्छा के अनुरूप उक्त तीन काण्डों में से किसी का भी आश्रयण कर सकता है। इन तीनों काण्डों में परस्पर किसी प्रकार का भी विरोध नहीं है। कर्मकाण्ड का अनुसरण करने वाला पुरुष भी ज्ञानकाण्ड तथा उपासना काण्ड का अधिकारी हो सकता है। जैसा कि श्रीभास्करराय आदि उपासकों ने सोमयाग आदि बड़े-बड़े याग किये थे। ज्ञानमार्ग तथा उपासना मार्ग में भी उनका समान रूप से आदर रहा; इस आशय की पुष्टि उनके ग्रन्थों से हो जाती है। भास्करराय तन्त्रमार्ग के प्रसिद्ध आचार्य थे। उनके द्वारा रचित तन्त्रशास्त्र के प्रसिद्धं ग्रन्थ नित्याषोडशिकार्णवतंत्र, वरिवस्यारहस्य आदि हैं। आदिगुरु शंकराचार्य ज्ञानमार्ग के श्रेष्ठतम प्रवर्तक ब्रह्मवादी अलौकिक पुरुष थे, किन्तु वे भी त्रिपुरसुन्दरी तथा शिव के अनन्य उपासक थे। यह विषय उनके द्वारा रचित सौन्दर्यलहरी आदि स्तोत्र साहित्य का परिशीलन करने से प्रामाणित हो जाता है। अतः इन तीनों मार्गों में परस्पर किसी प्रकार का विरोध नहीं है।

पुराण की प्राचीनता के प्रसङ्ग को और अधिक गहनता से जानने हुत 'पुराणोक्त सृष्टिक्रम के स्वरूप' को संस्कृत वाङ्मय के परिशीलन से आगे विस्तार से प्रस्तुत किया जाता है।

पुराणोक्त सृष्टिक्रम का स्वरूप

सृष्टिक्रम या उसकी उत्पत्ति का रहस्य प्रत्येक चिन्तनशील जन्मजात जिज्ञासु प्राणी के मन में समुत्कण्ठा उत्पन्न करता रहा है। इस जगत् में विद्यमान पृथिवी, सूर्य, चन्द्रमा, ग्रह, नक्षत्र कोटि-कोटि जीव-जन्तुओं की प्रजातियाँ, सुख व दुःख, जीवन-मरणादि सभी कुछ अनादि-काल से आकर्षण और विचार का विषय रहा है। यही कारण है कि जहाँ वैदिक ऋषियों ने गहन-चिन्तन मनन का परिचय प्रस्तुत करते हुए एतत् सम्बन्धी अपने निष्कर्षात्मक आधार को वेदोक्त नासदीय-सूक्त (ऋ १०-१२९), पुरुष-सूक्त (१०.९०) वाक्-सूक्त (१०.१२५), प्रजापति-सूक्त (१०.१२१), अघमर्षण-सूक्त (१०.७२) के माध्यम से परिपुष्ट ही किये हैं, वहीं अनेक मन्त्रों, ब्राह्मण-ग्रन्थों एवं उपनिषद् वाक्यों में

सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति, लय तथा प्राक्-सृष्टि सम्बन्धी विचारों को प्रस्तुत किया गया है। स्मृतियों का विशाल वाङ्मय भी चिन्तन की इस धारा से समृद्ध है। सृष्टि-विवेचन की दृष्टि से पुराणों का योगदान भी प्रभूत है। पुराणों के लक्षण में जैसा पहले भी कहा गया है–

सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च । वंशानुचरितं चैव पुराणं पञ्चलक्षणम् ।।

इस प्रकार सृष्टि, प्रलय, वंश, मन्वन्तर, वश्यानुचरित को पुराणों का प्रतिपाद्य विषय बतलाया गया है। प्रायः सभी पुराणों में सर्ग-प्रक्रिया या जगदुत्पत्ति का क्रम एक जैसा निरूपित किया गया है। सबने इस दृश्यमान प्रपञ्च के मूल में एकमात्र, सनातन, अव्यय, तत्त्व मात्र की स्थिति को स्वीकार किया है। अपनी-अपनी रुचि या 'यादृशीभावना यस्य, सिद्धिर्भवति तादृशी' परिभाषा व सिद्धान्तवश अपने-अपने श्रद्धाभागवत आग्रह के अनुसार वैष्णवपुराणों में जहाँ इसे 'विष्णु'[१] कहा गया है; वहीं शैवपुराणों में इसे शिव[२] के नाम से एवं शाक्त-पुराणों में देवी[३] के नाम से अभिहित किया गया है। नामरूप के भावनात्मक भेद के उपरान्त भी इनकी तत्त्वतः एकता में सबकी श्रद्धा है। जहाँ तक विष्णुपुराणोक्त सृष्टि-चिन्तन का सन्दर्भ है; इसके अनुसार–

नाहो न रात्रि नभो न भूमिर्नासीत्तमोज्योतिरभूच्च नान्यत् । श्रोत्रादिबुद्ध्यानुपलभ्यमेकं प्राधानिकं ब्रह्म पुमांस्तदासीत् ।।[४]

सृष्टिसर्जना के पूर्व न दिन था, न रात्रि थी, न आकाश था, न पृथिवी थी, न अन्धकार था, न प्रकाश था। उस समय केवल एक अव्यक्त ब्रह्म ही स्थित था। इस ब्रह्म के विवरण में कहा गया है कि वह पर से पर, परमश्रेष्ठ, अन्तरात्मा में स्थित परमात्मा, रूप, वर्ण, नाम और विशेषण आदि से रहित, उत्पत्ति, अस्तित्व, वृद्धि, विपरिणाम, अपक्षय और विनाश इन छहों विकारों से सर्वथा अभावयुक्त था। यह ब्रह्म ही व्यक्त और अव्यक्त जगत् के रूप से तथा इसके साक्षी पुरुष और काल के रूप से स्थित है। वहाँ इस ब्रह्म को 'विष्णु' का नाम दिया गया है, साथ ही यह भी वर्णित है कि समस्त विश्व को अपने में समाहित किए हुए होने के कारण इन्हें 'वासुदेव' नाम से भी अभिहित किया गया है।[५] वहाँ वर्णन है कि जनार्दन सृष्टि के त्रिविध प्रयोजनरूप सृष्टि-स्थिति-संहार के निमित्त क्रमशः ब्रह्मा, विष्णु और शिव इन संज्ञाओं को भी धारण करते हैं–

सृष्टिस्थित्यन्तकरणीं ब्रह्मविष्णुशिवात्मिकाम् । स संज्ञां याति भगवानेक एव जनार्दनः।।[६]

विष्णुपुराण में प्रधान, पुरुष, व्यक्त और काल ये परमात्मा विष्णु के चार रूप कहे गये हैं। विष्णु इन चार रूपों या शक्तियों के सहयोग से संसार की सर्जना, पालन एवं संहार करते हैं। यह व्यक्ताव्यक्त रूप संसार परमात्मा विष्णु के लिए एक क्रीड़ा या खेल के समान ही है। जिस प्रकार बालक खेल-खेल में अनेक प्रकार के खिलौने बनाया करते हैं, उसी प्रकार विष्णु भी अनन्त सृष्टि की सर्जना करते है–

---

१. ॐ० नमो विष्णवे तस्मै नमस्तस्मै पुनः पुनः। यत्र सर्वं यतः सर्वं यः सर्वं सर्वसंश्रयः ॥ विष्णुपुराण १/२०/८४

२. यच्चादौ हि समुत्पन्नं निगुर्णात्परमात्मनः तदेवं शिवसंज्ञं हि वेदं वेदान्तिनो विदुः ।
तस्मात्प्रकृतिरूत्पन्ना पुरुषेण समन्विता ताभ्यान्तपः कृत तत्र मूलस्ये च जले सुधीः ॥ शिवपुराण ४२/२

३. ज्ञातं मयाखिलमिदं त्वयि सन्निविष्टं त्वत्तोऽस्य सम्भवलयावपि मातरद्य ।
शक्तिश्च तेऽस्य करणे विततप्रभावा, ज्ञाताधुना सकललोकमयीति नूनम् ॥ देवीभागवत ३/४/३०

४. विष्णुपुराण; १/२/२३

५. परः पराणां परमः परमात्मात्मसंस्थितः रूपवर्णादिनिर्देशविशेषणविवर्जितः ।
सर्वत्रासौ समस्तं च वसत्यत्रेति वै यतः ततः स वासुदेवेति विद्वद्भिः परिपठयते ॥ विष्णुपुराण १/२/१०-१२

६. विष्णुपुराण १/२/६६

प्रधानपुरुषव्यक्तकालास्तु प्रविभागशः । रूपाणि स्थितिसर्गान्तव्यक्तिसद्भावहेतवः ।।
व्यक्तं विष्णुस्तथाव्यक्तं पुरुषः काल एव च । क्रीडतो बालकस्येव चेष्टां तस्य निशामय ।।[१]

सर्ग-काल उपस्थित होने पर परब्रह्म सर्वभूतेश्वर, सर्वात्मा, परमेश्वर, हरि अर्थात् विष्णु अपनी इच्छा से विकारी प्रधान और अविकारी अर्थात् पुरुष में प्रविष्ट होकर क्षोभ उत्पन्न करते हैं। जिस प्रकार क्रियाशील न होने पर भी गन्ध अपनी सन्निधिमात्र से ही मन को क्षुभित कर देता है, उसी प्रकार परमेश्वर अपनी सन्निधिमात्र से ही प्रधान और पुरुष को प्रेरित करते हैं, इस प्रकार विष्णुपुराणानुसार वह पुरुषोत्तम ही क्षोभ्य एवं क्षोभक दोनों है–

प्रधानपुरुषौ चापि प्रविश्यात्मेच्छया हरिः । क्षोभयामास सम्प्राप्ते सर्गकाले व्ययाव्ययौ ।।
यथा सन्निधिमात्रेण गन्धः क्षोभाय जायते । मनसो नोपकर्तृत्वात्तथाऽसौ परमेश्वरः ।।
स एव क्षोभको ब्रह्मन् क्षोभ्यश्च पुरुषोत्तमः ।[२]

ब्रह्मा आदि समस्त ईश्वरों के ईश्वर वे विष्णु ही समष्टि-व्यष्टि रूप, ब्रह्मादि जीवरूप तथा महत्तत्त्व रूप से स्थित हैं। विष्णुपुराण के अनुसार जब गुणों की साम्यावस्था रूप प्रधान विष्णु के क्षेत्रज्ञ रूप से अधिष्ठित हुआ तब उससे महत्तत्त्व की उत्पत्ति हुई–

स सङ्कोचविकासाभ्यां प्रधानत्वेऽपि च स्थितः । विकासाणुस्वरूपश्च ब्रह्मरूपादिभिस्तथा ।।
व्यक्तस्वरूपश्च तथा विष्णुः सर्वेश्वरेश्वरः । गुणसाम्यात्ततस्तस्मात्क्षेत्रज्ञाधिष्ठितान्मुने ।
गुणव्यञ्जनसम्भूतिः सर्गकाले द्विजोत्तम ।।[३]

विष्णुपुराण के अनुसार महत्-तत्त्व को प्रधान या प्रकृति ने आवृत्त कर लिया। यह महत्-तत्त्व सात्त्विक, राजस और तामस भेद से तीन प्रकार के हैं। जिस प्रकार बीज छिलके के समभाव से ढँका रहता है; उसी प्रकार यह त्रिधात्मक महत्-तत्त्व प्रधान-तत्त्व से व्याप्त रहता है–

प्रधानतत्त्वमुद्भूतं महान्तं तत्समावृणोत् । सात्त्विका राजसश्चैव तामसश्च त्रिधा महान् ।।[४]

त्रिविध महत्तत्त्व से ही सात्त्विक, राजस और तामस तीन प्रकार का अहङ्कार उत्पन्न हुआ। वह त्रिगुणात्मक होने से भूत और इन्द्रिय आदि का कारण है और प्रधान से जैसे महत्तत्त्व व्याप्त है, वैसे ही महत्तत्त्व से अहङ्कार व्याप्त है–

त्रिविधोऽयमहङ्कारो महत्तत्त्वादजायत ।।
भूतेन्द्रियाणां हेतुस्स त्रिगुणत्वान्महामुने । यथा प्रधानेन महान्महता स तथावृतः ।।[५]

विष्णुपुराण में इस महत्-तत्त्व सें पञ्च-तन्मात्राओं एवं पञ्च-महाभूतों की उत्पत्ति का क्रम बतलाते हुए कहा गया है कि तामस-अहंकार ने विकृत होकर शब्द-तन्मात्रारूप और उससे शब्द-गुण वाले आकाश को उत्पन्न किया। उस तामस-अहङ्कार ने शब्द-तन्मात्रारूप आकाश को व्याप्त किया। फिर आकाश ने विकृत होकर; स्पर्श-तन्मात्रा को उत्पन्न किया; उससे बलवान् वायु हुआ, उसका गुण स्पर्श माना गया। शब्द-तन्मात्रा रूप आकाश ने स्पर्श-तन्मात्रावाले वायु को आवृत्त किया। पुनः विकुर्वाण वायु ने भी रूप-तन्मात्रा को उत्पन्न किया। तन्मात्रायुक्त वायु से तेज का प्रादुर्भाव हुआ, जिसका गुण रूप कहा गया। स्पर्श-तन्मात्रारूप वायु ने रूप-तन्मात्रा वाले तेज को आवृत्त किया। रूप-तन्मात्रा तेज ने

---

१. विष्णुपुराण १/२/१७-१८
२. विष्णुपुराण १/२/२९-३०
३. विष्णुपुराण १/२/३१-३३
४. विष्णुपुराण १/२/३४
५. विष्णुपुराण १/२/३६

विकारयुक्त होकर रस-तन्मात्रा की सृष्टि की। रस-तन्मात्रा से रस गुण वाला जल हुआ। रस-तन्मात्रा वाले जल को रूप तन्मात्रावाले तेज ने व्याप्त कर लिया। रस-तन्मात्रा-रूप जल ने विकार को प्राप्त होकर गन्ध-तन्मात्रा का सृजन किया। उससे पृथिवी उत्पन्न हुई, जिसका गुण गन्ध को कहा गया है। तन्मात्राओं में विशेष भाव नहीं होते इसलिए उनकी अविशेष संज्ञा है। वे अविशेष तन्मात्राएँ शान्त, घोर और मूढ़ नहीं है अर्थात् उनका सुख, दुःख या मोहरूप से अनुभव नहीं हो सकता। दस-इन्द्रियाँ, राजस अहङ्कार से और उनके अधिष्ठाता देवता सात्त्विक अहङ्कार से उत्पन्न हुए कहे जाते हैं। इस प्रकार इन्द्रियों के अधिष्ठाता दस देवता और ग्यारहवाँ मन सात्त्विक है। त्वक्, चक्षु, नासिका, जिह्वा और श्रोत्र- ये पाँचों बुद्धि की सहायता से शब्दादि विषयों को ग्रहण करने वाली पञ्च ज्ञानेन्द्रियाँ है। पायु, उपस्थ, हस्त, पाद और वाक् ये पञ्च कर्मेन्द्रियाँ हैं। आकाश, वायु, तेज, जल और पृथिवी ये पञ्च भूत क्रमशः शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध पाँच गुणों से युक्त हैं-ये पञ्च-भूत शान्त, घोर और मूढ़ है।[१] परस्पर मिलने पर ये सभी भूत शान्त, घोर और मूढ़ प्रतीत होते हैं। पृथक्-पृथक् तो पृथिवी और जल शान्त है, तेज और वायु घोर है तथा आकाश शान्त है-

इन पञ्च-महाभूतों में यों तो पृथक्-पृथक् नाना शक्तियाँ हैं; किन्तु वे पूर्णतः मिले बिना संसार की रचना नहीं कर सके, एक-दूसरे के आश्रय से रहने वाले और एक ही संघात की उत्पत्ति के लक्ष्यवाले महत् तत्त्व से विशेष पर्यन्त प्रकृति के इन सभी विकारों ने पुरुष से अधिष्ठित होकर परस्पर सर्वथा ऐक्य भाव को प्राप्त होकर प्रधान-तत्त्व के अनुग्रह से अण्ड की उत्पत्ति की-

नानावीर्याः पृथग्भूतास्ततस्ते संहतिं बिना । नाशक्नुवन्प्रजाः स्त्रष्टुमसमागम्य कृत्स्नशः ।।
समेत्यान्योन्यसंयोगं परस्परसमाश्रयाः । एकसङ्घातलक्ष्याश्च सम्प्राप्यैक्यमशेषतः ।।
पुरुषाधिष्ठित्त्वाच्च प्रधानानुग्रहेण च । महदाद्या विशेषान्ता ह्यण्डमुत्पादयन्ति ते ।।[१]
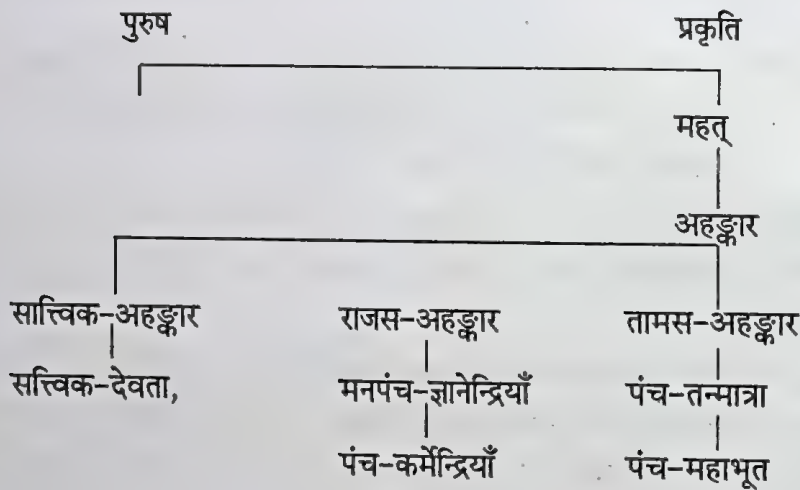
विष्णुपुराण वर्णन करता है कि, जल के बुलबुले के समान क्रमशः भूतों से बढ़ा हुआ वह गोलाकार और जल पर स्थित महान् अण्ड ब्रह्म अर्थात् हिरण्यगर्भ रूप विष्णु का अति उत्तम प्राकृत आधार हुआ। उसमें वे अव्यक्त स्वरूप जगत्पति विष्णु व्यक्त हिरण्यगर्भरूप से स्वयं ही विराजमान हुए-

१. विष्णुपुराण १/२/५२-५४

तत्राव्यक्तस्वरूपोऽसौ व्यक्तरूपो जगत्पतिः। विष्णुर्ब्रह्मस्वरूपेण स्वयमेव व्यवस्थितः ।।[१]

उन हिरण्यगर्भ का सुमेरू, उल्ब, पर्वत, जरायु तथा समुद्र गर्भाशयस्थ रस था। उस अण्ड में ही पर्वत और द्वीपादि सहित समुद्र, ग्रह सहित सम्पूर्ण लोक, देव, असुर, मनुष्य आदि विविध प्राणिवर्ग हुए।[२]

विष्णुपुराण में सृष्टि-कर्त्ता ब्रह्मा के ध्यान, अनुध्यान से सृष्टि की उत्पत्ति परम्परा अनेकत्र वर्णित है। इस दृष्टि से प्रथम-अंश के पाँचवें, सातवें, आठवें और प्रथम अध्याय दर्शनीय हैं। इस सृष्टि परम्परा का अध्ययन करने पर इनका चार प्रकार से वर्गीकरण किया जा सकता है– १. ब्राह्मी, २. रौद्री, ३. अङ्गजा, ४. मैथुनी।

ब्राह्मी-सर्ग– विष्णुपुराण के प्रथम अंश के सातवें अध्याय में ब्राह्मी सर्ग का वर्णन प्राप्त होता है। प्रजापति के ध्यान करने पर उनके देह-स्वरूप भूतों से शरीर और इन्द्रियों के सहित मानस प्रजा उत्पन्न हुई। इस प्रकार ब्रह्मा के शरीर से ही चेतन जीवों का प्रादुर्भाव हुआ। ब्रह्मा से उत्पन्न इन ऋषियों की संख्या नव है। इन ऋषियों के नाम इस प्रकार हैं–भृगु, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, अंगिरा, मरीचि, दक्ष, अत्रि और वशिष्ठ। पुराणों में इन्हें नौ ब्रह्मा माना गया है। प्रजापति ने पुनः भूति सम्भूति, क्षमा, प्रीति, सन्नति, उर्ज्जा, अनसूया तथा प्रसूति इन नौ कन्याओं को उत्पन्न कर इन्हें उन महात्माओं की पत्नी होने का गौरव प्रदान किया, जिससे आगे चलकर सृष्टि का विस्तार हुआ–

भृगुं पुलस्त्यं पुलहं क्रतुमङ्गिरसं तथा। मरीचिं दक्षमत्रिं च वसिष्ठं चैव मानसान् ।।
नव ब्रह्माण इत्येते पुराणे निश्चयं गताः। ख्यातिं भूतिं च सम्भूतिं क्षमां प्रीतिं तथैव च ।।
सन्नतिं च तथैवोर्ज्जामनसूयां तथैव च ।।[३]

रौद्री-सर्ग– विष्णुपुराण के प्रथम अंश के सांतवें और आठवें अध्याय में रौद्री-सर्ग का अत्यन्त ही गम्भीरतापूर्वक वर्णन प्राप्त होता है। ब्रह्मा ने सबसे पहले सनन्दनादि को उत्पन्न किया, किन्तु वे निरपेक्ष होने के कारण सृष्टि-कार्य में प्रवृत्त नहीं हुए। वे सभी ज्ञान-सम्पन्न, विरक्त और मत्सरादि दोषों से रहित थे। उनको संसार रचना से उदासीन देखकर ब्रह्मा को त्रिलोकी को भस्म कर देने वाला क्रोध उत्पन्न हुआ। उन्होंने अपनी टेढ़ी भृकुटी और क्रोध संतप्त ललाट से मध्यकाल के सूर्य के समान देदीप्यमान रूद्र की उत्पत्ति की। उसका अति प्रचण्ड शरीर आधा नर और आधा नारीरूप था। तदनन्तर ब्रह्मा 'अपने शरीर का विभाग कर' विभजात्मानमित्युक्त्वा तां ब्रह्मान्तर्दधे ततः ऐसा कहकर अन्तर्धान हो गये। इस प्रकार कहे जाने पर रूद्र ने अपने शरीरस्थ स्त्री और पुरुष दोनों भागों को अलग-अलग कर दिया और पुरुष को ग्यारह भागों में विभक्त किया तथा स्त्री भाग सौम्य, क्रूर, शान्त, अशान्त और श्याम, गौर आदि कई रूपों में विभक्त कर दिया।[४] विष्णुपुराण में अन्यत्र कहा गया है कि, कल्पादि में जब ब्रह्मा अपने ही सदृश पुत्र का ध्यान कर रहे थे, तब उनकी गोद में एक नीललोहित वर्ण के एक कुमार का प्रादुर्भाव हुआ।[५] जन्म के अनन्तर ही वह जोर-जोर से रोने लगा और इधर-उधर दौड़ने लगा। उसे रोता देखकर ब्रह्मा ने जब उससे पूछा कि तुम रोते क्यों हो? तब उस बालक ने कहा कि; मेरा नामकरण कर दीजिये। इस पर ब्रह्मा ने रूदन करने के कारण उसका नाम रूद्र रखा और कहा कि तुम रूदन मत करो धैर्य धारण करो–

किं त्वं रोदिषि त्वं ब्रह्मा रूदन्तं प्रत्युवाच ह ।।
नाम देहीति तं सोऽथ प्रत्युवाच प्रजापतिः। रूद्रस्त्वं देव नाम्नासि मा रोदीर्धैर्यमावह ।।[६]

---

१. विष्णुपुराण १/२/५६
२. विष्णुपुराण १/२/५७-५८
३. विष्णुपुराण १/२/५२-५४
४. विष्णुपुराण १/७/८.१०.१२-१५
५. विष्णुपुराण १/८/२
६. विष्णुपुराण १/८/३-४

ऐसा कहने पर भी वह सात बार और रोया तब ब्रह्मा ने उसके सात नाम और रखे; भव, शर्व, ईशान, पशुपति, भीम, उग्र और महादेव–

भवं शर्वमथेशानं तथा पशुपतिं द्विज । भीममुग्रं महादेवमुवाच स पितामहः ।।[१]

इन आठों के क्रम से ब्रह्मा ने आठ स्थान निश्चित किये। वे ही आठ स्थान इनके शरीर अथवा मूर्त्तिरूप हुए। उन आठों स्थानों के नाम इस प्रकार हैं– सूर्य, जल, पृथिवी, वायु अग्नि आकाश, दीक्षित, ब्राह्मण (यजमान) और सोम–

सूर्यो जलं मही वायुर्वह्निराकाशमेव च । दीक्षितो ब्राह्मणः सोम इत्येतास्तनवः क्रमात् ।।[२]

रूद्र आदि नामों के साथ उन सूर्य आदि मूर्तियों की क्रमशः आठ पत्नियाँ भी निश्चित की गयी– सुवर्चला, उष्ण, विकेशी, शिवा, स्वाहा, दिशाएँ, दीक्षा और रोहिणी–

सुवर्चला तथैवोषा विकेशी चापरा शिवा । स्वाहा दिशस्तथा दीक्षा रोहिणी च यथाक्रमम् ।।[३]

इनके पुत्र की भी निष्पत्ति हुई जो इस प्रकार है– सूर्य के पुत्र शनैश्चर, जल के शुक्र, पृथिवी के लोहिताङ्ग, वायु के मनोजव, अग्नि के स्कन्द, दीक्षित के सर्ग, ब्राह्मण के सन्तान और सोम के बुध। विष्णुपुराण का वर्णन है कि, पुत्र-पौत्रादिकों से सम्पूर्ण विश्व व्याप्त है। इन अष्टमूर्तियों में रूद्र ने दक्ष की अनिन्दिता दुहिता सती को अपनी पत्नी के रूप में ग्रहण किया। सती ने अपने पिता दक्ष पर कुपित होने के कारण अपने शरीर का त्याग कर दिया, फिर वही सती मैना के गर्भ से हिमवान् की पुत्री 'उमा' नाम से प्रादुर्भूत हुई। तब महादेव ने उस अनन्यपरायणा उमा को पुनः पत्नी रुप में प्राप्त किया।

शनैश्चरस्तथा शुक्रो लोहिताङ्गो मनोजवः । स्कन्दः सर्गोऽथ सन्तानो बुधश्चानुक्रमात्सुताः ।।
दक्षकोपाच्च तत्याज सा सती स्वकलेवरम् । हिमवद्दुहिता साऽभून्मेनायां द्विजसत्तम ।।
उपयेमे पुनश्चोमामनन्यां भगवान्हरः ।।[४]

अङ्गज-सर्ग– विष्णुपुराण के प्रथम-अंश के पाचवें और छठें अध्याय में अंगज-सर्ग का वर्णन हुआ है। ब्रह्मा ने मन से सृष्टि करने के उपरान्त अपने शरीर के अंगों से भी सृष्टि का विस्तार करने के लिए संकल्प किया। उन्होंने मुख से सर्वप्रथम सत्त्वप्रधान ब्राह्मण को उत्पन्न किया। वक्षः स्थल से रजः प्रधान क्षत्रिय तथा जंघाओं से रज और तमः से युक्त वैश्य की सृष्टि की तथा अपने चरणों से तमः प्रधान शूद्र को उत्पन्न किया–

सत्याभिध्यायिनः पूर्वं सिसृक्षोर्ब्रह्मणो जगत् । अजायन्त द्विजश्रेष्ठ सत्त्वोद्रिक्ता मुखात्प्रजाः ।।
वक्षसो राजसोद्रिक्तास्तथा वै ब्रह्मणोऽभवन् । रजसा तमसा चैव समुद्रिक्तास्तथोरुतः ।।
पद्भ्यामन्याः प्रजा ब्रह्मा ससर्ज द्विजसत्तम । तमः प्रधानास्ताः सर्वाश्चातुर्वर्ण्यमिदं ततः ।।[५]

सृष्टि के सम्पूर्ण प्राणियों को देव, असुर, पितृगण और मनुष्य इन चारों भागों में रखा जा सकता है।[६] प्रजापति के ध्यानस्थ होने पर तमोगुण के आधिक्य से सर्वप्रथम जघन से असुर उत्पन्न हुए, फिर उन्होंने आंशिक सत्त्वमय शरीर के पृष्ठ भाग से पितरों को उत्पन्न किया, तत्पश्चात् उन्होंने आंशिक रजोगुण को धारण कर मनुष्यों को आविर्भूत किया। इस

१. विष्णुपुराण १/८/६
२. विष्णुपुराण १//८/७
३. विष्णुपुराण १/८/८/
४.. विष्णुपुराण १/८/११,१२,१४
५. विष्णुपुराण १/६/३-५
६. ततो देवासुरपितृन्मनुष्यांश्च चतुष्टयम् । सिसृक्षुरम्भांस्येतानि स्वमात्मानमयूयुजत् ।। वि.पु. १/५/३०।

प्रकार वे अपने चारों शरीरों को छोड़ते गये जिससे रात्रि, दिन, सन्ध्या और प्रातः का प्रादुर्भाव हुआ। ये चारों ब्रह्मा के शरीर कहे गये।[१]

मानवीय-सर्ग– विष्णुपुराण के प्रथम अंश के सातवें अध्याय में मानवीय-सर्ग का वर्णन हुआ है। ब्रह्मा ने अपने से उत्पन्न स्वायम्भुव को प्रजा पालन के लिए प्रथम मनु बनाया और उस स्वायम्भुव ने अपने तप के कारण शतरूपा नामक स्त्री को अपनी पत्नी के रूप में स्वीकार किया। उन शतरूपा और स्वायम्भुव मनु से प्रियव्रत और उत्तानपाद नामक दो पुत्र तथा उदार, रूप और गुणों से सम्पन्न प्रसूति और आकूति नाम की दो कन्याएँ उत्पन्न हुई। प्रसूति का विवाह दक्ष के साथ और आकूति का विवाह रूचि प्रजापति के साथ हुआ–

ततो ब्रह्माऽऽत्मसम्भूतं पूर्वं स्वायम्भुवं प्रभुः । आत्मानमेव कृतवान्प्रजापाल्वे मनुं द्विज ।।
शतरूपां च तां नारीं तपोनिर्धूतकल्मषाम् । स्वायम्भुवो मनुर्देवः पत्नीत्वे जगृहे प्रभुः....
ददौ प्रसूतिं दक्षाय आकूतिं रुचये पुरा ।[२]

प्राणियों के वैशिष्ट्य के आधार पर सृष्टि के विभिन्न प्रकारों का निरुपण विष्णुपुराण के प्रथम अंश के पाँचवे-अध्याय में किया गया है इसके अनुसार ब्रह्मा के द्वारा उत्पन्न सृष्टि में सबसे पहले महत्-तत्त्व का आविर्भाव हुआ, इसे ही 'प्रथम-सर्ग' कहा गया है। तन्मात्राओं से द्वितीय सृष्टि हुई, इस सर्ग को 'भूतसर्ग' के नाम से भी स्मृत किया गया है। तृतीय सृष्टि वैकारिक की है जिसे 'इन्द्रिय सम्बन्धी-सर्ग' भी कहते है। चौथा 'मुख्य-सर्ग' है पर्वतादि स्थावर इसी सृष्टि के अन्दर आते हैं। तिर्यक्-स्रोत पांचवी सृष्टि है; इसे तिर्यक् योनि भी कहा गया है। ऊर्ध्व स्रोताओं का छठा सर्ग है; जो देवसर्ग के नाम से भी जाना जाता है। अर्वाक्-स्रोताओं का सांतवा-सर्ग है; जिसे मनुष्य-सर्ग भी कहते हैं। आठवाँ अनुग्रह-सर्ग है, जो सात्त्विक और तामस दोनों गुणों से युक्त है। इस-प्रकार प्रथम तीन सृष्टि को 'प्राकृत-सर्ग' तथा बाद के पाँच सर्गों को 'वैकृत सर्ग' के नाम से जाना जाता है। इन आठ सृष्टियों के पश्चात् नवाँ कौमार-सर्ग हुआ, जो प्राकृत और वैकृत भेद से दोनों प्रकार का है। प्रथम तीन सर्ग बुद्धिपूर्वक उत्पन्न बताये गये हैं–"इत्येष प्राकृतः सर्गः सम्भूतो बुद्धिपूर्वकः" इस प्रकार पूर्वोक्त नव सर्गों को प्राकृत-वैकृत और उभयात्मक भेद से समझा जा सकता है।

प्राकृत	वैकृत	उभयात्मक
१. महत्-सर्ग	४. मुख्य-सर्ग	९. कौमार-सर्ग
२. तन्मात्राओं का सर्ग	५. तिर्यक्-सर्ग	(प्राकृत एवं वैकृत)
३. वैकारिक-सर्ग	६. ऊर्ध्व-सर्ग (देवसर्ग)	
	७. अर्वाक्-सर्ग (मनुष्यवर्ग)	
	८. अनुग्रह-सर्ग (सात्त्विक एवं तामसिक)	

विष्णुपुराण में प्राकृत सर्ग की संख्या तीन और वैकृत सर्ग की संख्या पाँच निर्धारित की गयी है। कौमार सर्ग को सभी पुराणों में उभयात्मक-सर्ग के रूप में ही स्वीकार किया गया है–

ब्रह्मसर्ग–महत्तत्त्व ब्रह्मा का प्रथम-सर्ग है–प्रथमो महतः सर्गो विज्ञेयो ब्रह्मणस्तु सः।।[३]

भूतसर्ग–तन्मात्राओं का सर्ग द्वितीय-सर्ग है जिसे भूतसर्ग भी कहते हैं–तन्मात्राणां द्वितीयश्च भूतसर्गो हि स स्मृतः।।[४]

---

१. विष्णुपुराण ३१-४०।
२. विष्णुपुराण १/७/१६-१९
३. विष्णुपुराण १/५/१९
४. विष्णुपुराण १/५/२०

वैकारिक-सर्ग–इन्द्रिय सम्बन्धी सृष्टि को वैकारिक-सर्ग कहते हैं–

वैकारिकस्तृतीयस्तु सर्ग ऐन्द्रियकः स्मृतः।।[१]

मुख्यसर्ग–ब्रह्मा के ध्यान करने पर ज्ञान-शून्य, बाहर-भीतर से तमोमय और जड़ नगादि (वृक्ष, गुल्म, लता-वीरुत्-तृण) रूप पाँच प्रकार की सृष्टि हुई।[२] अन्यत्र भी नगादि को मुख्य कहा गया है। इसलिए यह सर्ग भी मुख्य-सर्ग के नाम से जाना जाता है–

मुख्या नगा यतः प्रोक्ता मुख्यसर्गस्ततस्त्वयम् ।।[३]

तिर्यक्-सर्ग – तिरछा चलने के कारण इसे तिर्यक्-सर्ग कहते हैं। इसमें पशु-पक्षी, कीट-पंतग आदि सम्मिलित हैं। ये प्रायः तमोमय, विवेकरहित, अनुचित मार्ग का आश्रय लेने वाले तथा विपरीत ज्ञान को ही यथार्थ मानने वाले होते हैं–

तस्याभिध्यायतः सर्गस्तिर्यक्स्रोताभ्यवर्त्तत । यस्मात्तिर्यक्प्रवृत्तिस्स तिर्यक्स्रोतास्ततः स्मृतः ।।[४]

ऊर्ध्वस्रोतस (देव) सर्ग – इस सर्ग के प्राणी ऊर्ध्वलोक में निवास करते हैं अतः उन्हें 'ऊर्ध्वस्रोतस्' कहा गया। इसमें उत्पन्न हुए प्राणी विषय सुख से युक्त, बाह्य और आन्तरिक दृष्टि से सम्पन्न तथा बाह्य और अन्तःज्ञान से युक्त थे। इस सर्ग को देवसर्ग के नाम से भी स्मृत किया गया है–

ते सुखप्रीतिबहुला बहिरन्तस्त्वनावृताः । प्रकाशा बहिरन्तश्च ऊर्ध्वस्रोतोद्भवाः स्मृताः ।।[५]

अर्वाक्-स्रोत (मानवीय-सर्ग) – इस सर्ग के प्राणी में त्रिविध (सत्व, रज और तम) गुणों का आधिक्य रहता है, इस सर्ग के प्राणी मनुष्य हैं इस कारण वे दुःख बहुल, क्रियाशील, एवं बाह्य-आभ्यन्तर ज्ञान से युक्त हैं।[६]

अनुग्रह-सर्ग–विष्णुपुराण में अनुग्रह-सर्ग के विषय में केवल सङ्केत किया गया है–

अष्टमोऽनुग्रहः सर्गः सात्त्विकस्तामसश्च सः।[७] अर्थात् अनुग्रह सर्ग सात्त्विक और तामसिक हैं।

कौमार-सर्ग– विष्णुपुराण में कौमार-सर्ग के विषय में भी केवल सङ्केत प्राप्त होता है–

प्राकृतो वैकृतश्चैव कौमारो नवमः स्मृतः।।[८] अर्थात् नवाँ कौमार-सर्ग है जो प्राकृत और वैकृत है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि भारतीय षड्दर्शनों में से सांख्यदर्शन का विपुल प्रभाव सृष्टि-प्रक्रिया के ऊपर पड़ा है। कपिल आदि विद्वान् के रूप में उपनिषदों में गृहीत किये गये हैं। तत्त्वों की मीमांसा उनका महान् वैशिष्ट्य है। उनकी अपनी सृष्टि-प्रक्रिया है। सांख्य तो प्रकृति तथा पुरुष को मूल तत्त्व मानता है; परन्तु पुराणों की दृष्टि में ये दोनों परमात्मा से ही विनिःसृत होते हैं। निष्कर्ष यह है कि सांख्य का बहुशः आधार लेने पर भी पौराणिक सृष्टि-प्रक्रिया अपनी मौलिकता से मण्डित है तथा जो गहन चिन्तन के फलस्वरूप पुराण की प्राचीनता को सिद्ध करता है।

---

१. विष्णुपुराण १/५/२०
२. विष्णुपुराण १/५/६
३. विष्णुपुराण १/५/७
४. विष्णुपुराण १/५/९
५. विष्णुपुराण १/५/१३
६. विष्णुपुराण १/५/१८ तस्मात्ते दुःख बहुला भूयोभूयश्च कारिणः । प्रकाशा बहिरन्तश्च मनुष्याः साधकास्तु वै।।
७. विष्णुपुराण १/५/२४
८. विष्णुपुराण १/५/२५

भगवान् शिव के प्रसङ्ग में प्रचारित भ्रम निवारण

भगवान् शिव शुद्ध वैदिक देवता हैं। ऋग्वेद, यजुर्वेद आदि वैदिकवाङ्मय में इनका उल्लेख प्राप्त होता है। ऋग्वेद में 'त्र्यम्बकं यजामहे' इत्यादि अनेक मन्त्र ऐसे हैं, जो स्पष्ट रूप से शिव का प्रतिपादन करते हैं। रुद्रदेव का भी वेद में अनेक स्थानों पर उल्लेख है। रुद्र का भी भगवान् शिव से अभेद सम्बन्ध है। यजुर्वेद में प्रसिद्ध रुद्राष्टाध्यायी है, जिसमें शिव का सम्पूर्ण वर्णन प्राप्त होता है। रुद्राष्टाध्यायी का दूसरा नाम 'रुद्रस्य इयं रुद्री' अर्थात् 'रुद्री' है। इसी के मन्त्रों से शिव का अभिषेक कराया जाता है। रुद्राष्टाध्यायी के अनेक अंश ऋग्वेद में भी समान रूप से पाये जाते हैं।

कुछ पाश्चात्य विद्वानों ने बुद्धिपूर्वक अथवा भ्रमवश लिखा है कि भगवान् शिव अवैदिक देवता थे, किन्तु वेदानुयायी आर्यों ने उनको अपने देवताओं में समाविष्ट कर लिया; ऐसी कल्पना की है। यह स्पष्टतया उनकी अज्ञानता का द्योतक है। स्थानाभाव से आर्य-अनार्य इस भ्रामक कल्पना का यहाँ खण्डन करना उचित नहीं है; किन्तु कोई परकीय जाति के थे और वे बाहर से भारतवर्ष में आ गये, यह कथन सर्वथा कपोल-कल्पनामात्र है। यह कल्पना कुछ स्वार्थान्ध पाश्चात्य अन्वेषकों ने अपने स्वार्थों को सिद्ध करने के लिये ही की थी। खेद है कि पश्चिमाभिमुखी प्रवृत्ति के कुछ भारतीय तथाकथित विद्वानों ने भी उनके इस मत की पुष्टि की है और उसी का निर्भय होकर इतिहास ग्रन्थों में उल्लेख भी कर डाला, जो सर्वथा भ्रामक और आपत्तिजनक है।

वास्तव में 'विप्राणां दैवतं शम्भुः क्षत्रियाणां रमापतिः।' इस प्रसिद्ध सूक्ति के अनुसार भगवान् शिव साक्षात् वेदमूर्ति होने के कारण ब्राह्मणों के परम उपासक देव हैं। अतः इन्हें अवैदिक कहना पूर्ण मूर्खता है। क्षत्रियों के भी प्रसिद्ध कुल शिव के उपासक रहे हैं। आज भारतवर्ष में क्षत्रियों के तीन प्रसिद्ध कुल माने जाते हैं। उनमें पहला कुल है-मेवाड़ के राणाओं का; जिनके कुदलेव भगवान् एकलिङ्ग हैं और मेवाड़ राज्य में साप्ताहिक अवकाश का दिन सोमवार माना जाता था, जो शिवभक्ति का प्रतीक है। दूसरा कुल है-नेपाल नरेश के राणाओं का; इनके कुलपति पशुपतिनाथ हैं, जिन्हें शिव मानने में कोई सन्देह नहीं है। तीसरा कुल है-गो-ब्राह्मण प्रतिपालक छत्रपति शिवाजी महाराज का; जिनके कुलदेव शिखर-सिंगढ़पुर के शम्भु महादेव है। भारतवर्ष के प्राचीन मन्दिरों में शिवमन्दिरों की प्रचुरता है। जिससे यह पूर्णरूपेण सिद्ध होता है कि शिव अनादिकाल से वैदिक धर्मावलम्बियों के उपास्य देव रहे हैं। अतएव श्रीस्तोत्रावली में वर्णित-

'दुःखान्यपि सुखायन्ते विषमप्यमृतायते, मोक्षायते च संसारो यत्र मार्गः स शाङ्करः।'

शिवपूजा में ही लिङ्गपूजा का अन्तर्भाव माना जाता है। अतएव उसे भी कहीं-कहीं अवैदिक बतलाया जाता है; किन्तु लिङ्गपूजा भारत के अतिरिक्त अन्य देशों में भी प्राचीनकाल में किसी न किसी रूप में प्रचलित थी और आज भी पर्याप्त मात्रा में देखी व सुनी जाती है। लिङ्गपूजा का रहस्य यथार्थ रूप में कहना कठिन है और शिवजी के साथ ही उसका सम्बन्ध क्यों पाया जाता है? यह निश्चित रूप से बतलाना और भी कठिन है। किन्तु इसका कुछ निर्वचन हम यहाँ प्रस्तुत कर रहे हैं। देवों में भगवान् शिव ही एक ऐसे देव हैं, जिनका आधा भाग स्त्रीरूप और आधा भाग पुरुष रूप माना जाता है, अर्थात् भगवान् शिव 'शिव-शक्ति' के समष्टि रूप हैं। कालीतन्त्र में कहा गया है-

'महाप्रलयमासाद्य कोटिब्रह्माण्डनायिका। शिवशक्तिमयं देहमेकीकृत्य सदा स्थिता।'

शिव और शक्ति का संगम होने से ही सृष्टि होती है और उसी का सूचक चिह्न लिङ्गपूजा है। अतः लिङ्गपूजा से भगवान् शिव को अवैदिक देवता समझना युक्ति-युक्त नहीं है। आज यह विश्वजनीय सत्य है कि सृष्टि की उत्पत्ति के लिये स्त्री पुरुष के संग की परम आवश्यकता होती है; इस बात को कोई भी अस्वीकार नहीं कर सकता। पौराणिक साहित्य में भगवान् शिव का प्रतिपादन करने वाले पुराणों की संख्या अधिक है। जिनमें शिवमहापुराण, लिङ्गमहापुराण और स्कन्दमहापुराण आदि प्रमुख हैं।

'पुराणों को अर्वाचीन कहना; मात्र भ्रम युक्त कथन'

इतिहासकारों ने तथा दूसरों की हाँ में हाँ करने वालों ने इस ओर व्यापक भ्रम फैलाया है, जिसका निराकरण हम यहाँ प्राचीन प्रामाणिक उद्धरणों के माध्यम से प्रस्तुत करेंगे। सबसे पहले यहाँ अथर्ववेद के दो उदाहरण प्रस्तुत किये जा रहे हैं–

'ऋचः सामानि छन्दांसि पुराणं यजुषा सह ।
उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे दिवि देवा दिविश्रिताः ।।' –(अथर्व. ११-७।१।२४)

सबके अन्त में परमात्मा से ऋक्, साम, छन्द, पुराण, यजुर्वेद उत्पन्न हुए। अब दूसरा प्रमाण देखें–

'तमितिहासश्च पुराणाश्च गाथाश्च नाराशंसीश्चानुव्यचलन्। इतिहासस्य च वै स पुराणस्य गाथानां च नाराशंसीनां च प्रियं धाम भवति य एवं वेद।।'–(अथर्व. का. १५प्र. ६ अनु. १ मं. १२)

उसके बाद इतिहास, पुराण, गाथा और नाराशंसियों का प्रियधाम है। अब इसके बाद उपनिषदों पर भी ध्यान दें, ये भी उक्त तथ्य की पुष्टि करते हैं–

'अस्य महतो भूतस्य निश्वसितमेतद् ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणं विद्याउपनिषदः श्लोकाः सूत्राण्यनुव्याख्यानानीति।' (शतपथब्राह्मण ४, प्र. ४)।

इस महत्त्वपूर्ण वैदिक परम्परा में पुराण का नाम सम्मान के साथ संकलित है। और भी देखें–

'सहोवाच ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं सामवेदमाथर्वणं चतुर्थमितिहासं पुराणं पञ्चमं वेदानां वेदम् ।'
–(छान्दो. ७।१२)

इसमें भी वेदों की पवित्र परम्परा में पुराण शब्द को सादर उद्धृत किया गया है। एक उद्धरण और देखें–

'अरेस्य महतो भूतस्य निश्वसितमेवैतद् यद् ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्राण्यनुव्याख्यानानि।।' –(बृह. अ. ४, कं. ११. ब्रा. ५)

इस उद्धरण में पुराण शब्द का उल्लेख है। अब हम श्रुतियों के बाद स्मृतियों के उन कतिपय वचनों को उपस्थापित करेंगे, जिनमें पुराण शब्द का प्रसंगवश उल्लेख किया गया है, वे इस प्रकार हैं–

'स्वाध्यायं श्रावयेत् पित्र्ये धर्मशास्त्राणि चैव हि। आख्यानानीतिहासांश्च पुराणानि खिलानि च।।'
–(मनु. अ. ३।२३२)

श्राद्ध में पितरों को वेदपाठ, धर्मशास्त्र, आख्यान, इतिहास तथा पुराणों को सुनाये। इसी प्रसङ्ग को शतपथब्राह्मण में भी इस प्रकार उद्धृत किया गया है–

'नवमेऽहनि किञ्चित् पुराणमाचक्षीत।'

अर्थात् अश्वमेध यज्ञ के नवे दिन में कुछ पुराण पाठ करना चाहिये। भला इन विद्वानों से पूछिये कि यदि ये पुराण अत्यन्त अभिनव हैं तो इनकी चर्चा इतने समय पहले कैसे हुई और किसने की? अब आप एक उदाहरण याज्ञवल्क्यस्मृति का भी देखें–

'पुराणं न्यायमीमांसा-धर्मशास्त्राङ्गमिश्रिताः। वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश।।'–(याज्ञ. अ. १३)

पुराण शब्द से अट्ठारह पुराण; न्याय शब्द से वैशेषिक तथा गौतमसूत्र; मीमांसा से पूर्वमीमांसा कर्मकाण्ड, उत्तरमीमांसा वेदान्त, धर्मशास्त्र से सभी स्मृतियाँ और छहों अंगों सहित चारों वेद, चौदह विद्यायें धर्म के स्थान हैं। महर्षि याज्ञवल्क्य वेद मन्त्रों के द्रष्टा तथा तअत्यन्त प्राचीन ऋषि हैं। जब वे अपनी स्मृति में प्रथम स्थान पुराणों को दे रहे हैं, तो हम कैसे स्वीकार कर लें कि पुराणों की रचना प्रथम बार इसी कलियुग के प्रारम्भ में हुई है।

अब हम त्रेतायुग के आदिकवि एवं मनीषी महर्षि वाल्मीकि-कृत रामायण की ओर दृष्टिपात करते हैं। उन्होंने एक प्रसंग में पुराण शब्द का उल्लेख इस प्रकार किया है–

'एतच्छुत्वा रहः सूतो राजानमिदमब्रवीत् । श्रूयतां तत्पुरावृत्तं पुराणे च मया श्रुतम् ।।१।।

ऋत्विग्भिरुपदिष्टोऽयं पुरावृत्तो मया श्रुतः। सनत्कुमारो भगवान् पूर्वं कथितवान् कथाम् ।।२।। बाल का. सर्ग ९)

राजा दशरथ ने अपने पुत्र न होने की बात कही; यह सुनकर सूतजी ने राजा से कहा–सुनिये मैंने पुराण में यह सुना है। ऋत्विजों से सुनकर सनत्कुमार जी ने इस कथा को कहा कि आपके चार पुत्र होंगे। इस पर विचार कीजिये कि महर्षि वाल्मीकि त्रेता में हुए और वेदव्यास द्वापर युग के अन्त में, इससे हम कैसे मान ले कि पुराणों का श्रीगणेश तभी से हुआ। इससे पुराणों की प्राचीनता स्वयं सिद्ध हो जाती है। अब हम महर्षि पतञ्जलि के महाभाष्य-पस्पशाह्निक का एक अंश उद्धृत करते हैं, जिसमें शब्द प्रयोग की क्षेत्र सीमा बतलायी गयी है–

'सप्तद्वीपा वसुमती त्रयोलोकाश्चत्वारो वेदाः साङ्गाः सरहस्या बहुधा भिन्ना एकशतमध्वर्युशाखाः सहस्रवर्त्मा सामवेदः एकविंशतिधा बह्वृच्यन्नवधाऽथर्वणो वेदो वाको वाक्यमितिहासः पुराणं वैद्यकमित्येतावाञ्छब्दस्य प्रयोगविषयः' इति।

इन उपरोक्त दृष्टियों से जब हम देखते हैं, तो पुराणों की प्राचीनता पूर्णरूप से सिद्ध हो जाती है।

मत्स्यपुराण के निम्न श्लोक को लेकर समाज में भ्रम फैलाया गया है कि वायुपुराण को लेकर कुल १९ महापुराण हो जाते हैं। अर्थ पर ध्यान दें और उक्त पुराण के विषयों का अध्ययन करें, तो यह भ्रम सर्वथा निर्मूल हो जायेगा। वह श्लोक इस प्रकार है–

'श्वेतकल्पप्रसङ्गेन धर्मान् वायुरिहाब्रवीत् ।
यत्र तद् वायवीयं स्याद्रुद्रमाहात्म्यसंयुतम् ।।
चतुर्विंशत्सहस्राणि पुराणं तदिहोच्यते ।। (मत्स्य ५३/५८)

श्वेतकल्प में वायुदेव ने जिसमें धर्मकथा और रुद्रमाहात्म्य का वर्णन किया है, वह वायवीय संहिता या वायुपुराण है; इसकी श्लोक संख्या चौबीस हजार है। जिस वायुपुराण को देवीभागवत, कूर्मपुराण और अग्निपुराण ने अट्ठारह पुराणों में गिनाया है, वह 'शिवपुराण' है।

मूर्तिपूजा सम्बन्धी भ्रम निवारण

कुछ मनचले लोग अनेक कुतर्क उपस्थित कर मूर्तिपूजा का विरोध करते हैं। उनका कथन सर्वथा निराधार है। हम इस प्रसङ्ग में यह बतलाने का सफल प्रयास करेंगे कि सत्ययुग से लेकर मूर्तिपूजा होती रही है। उसे तन, मन, धन से सम्पन्न करना मनुष्य का धर्म है और ईश्वर के प्रति कृतज्ञता ज्ञापन करना है। सत्ययुग में चक्रवर्ती राजा अम्बरीष भगवान् विष्णु की यथाविधि पूजा करते थे। देखें–भागवत् स्कं. ९ अ. ४।१५-२१। दूसरा उदाहरण देखें–भागवत् ४।८।७१-७७। त्रेतायुग में रावण जैसा कोई मूर्तिपूजक नहीं हुआ। रावण सोने के शिवलिङ्ग को अपने साथ ले जाता था और उसे बालू की वेदी पर रखकर पूजता था। देखें–वाल्मीकि रामायण। द्वापर में विदुर जी परम भगवत् उपासक थे। देखें–भागवत् ३।१।१७-२३। कलियुग में सन्तों, उपासकों की परम्परा आरम्भ से ही प्रसिद्ध है।

वेद में भी मूर्तिपूजा का विधान है, इसके समर्थन के लिये आप निम्न निर्दिष्ट मन्त्रों के साथ सायण, महीधर, उव्वट भाष्यों का अवलोकन करें। यदि आपको भी भ्रम होगा तो वह दूर हो जायेगा। वे मन्त्र ये हैं–यजुर्वेद अ. ४, मं. ९; यजुर्वेद अ. ४०, मं. ११ तथा ऋग्वेद मं. १०, अ. ११, सू. १२९।

वेद में कही गयी पूजाविधि इस प्रकार है–

. इसके लिये आप निम्नलिखित स्थलों का अध्ययन करें–यजुर्वेद अ. ३, मं. ६०। अथर्ववेद कां. १, अ. ३, मं. १। वहीं, कां. ११, अ. १, मं. २। ऋग्वेद अष्ट. १, अ. १, व. १। वही ६।५।५८।

पूजा का चरम सोपान है–ईश्वर के साथ तादात्म्य सम्बन्ध का होना; इसके बाद उपासना की आवश्यकता ही नहीं रहती।

शिवलिङ्ग के पूजन के सम्बन्ध में अज्ञानियों तथा विपक्षियों ने सामान्यजनों को खूब भ्रमित किया और आज भी करते जा रहे हैं। अप लिङ्गपूजा करें या न करें, वास्तविकता को तो अवश्य जान लेना चाहिये। इसी को लेकर पुराण को अश्लील, घृणित तथा अमान्य ठहरा देना पाखण्डियों का परम लक्ष्य है।

शिवपुराण की विद्येश्वरसंहिता के अध्याय ४ से लेकर अध्याय ९ तक लिंगबेर की पूजा और उसकी कथा है। अपनी अज्ञानता से कुतर्की एवं मूर्ख पुरुषों ने लिंगबेर को शिव की मूत्रेन्द्रिय समझ लिया है। अतएव उनके मन में अनेक शंकाएँ पैदा हो गयी हैं। किन्तु शिवपुराण में उस लिंगबेर का जैसा स्वरूप वर्णित है, उसे हम यहाँ संक्षेप में प्रस्तुत कर रहे हैं–

ब्रह्मा और विष्णु के भयंकर युद्ध को रोकने के लिये शंकर ने ज्योतिर्मय लिङ्ग रूप धारण किया। उसका वर्णन आप विस्तार से देखें–शिवपुराण विद्येश्वर. अ. ७।११-१४। इस प्रकरण के श्लोकों में कहीं मूत्रेन्द्रिय वाचक कोई शब्द नहीं आया है; फिर ऐसी धारणा बना लेना दूसरों की आँखों में धूल झोंकना नहीं तो और क्या है?

कुछ अविवेकी जनों का कथन है कि महादेवजी नंगे होकर दारुवन में हाथ में लिङ्ग लेकर घूम रहे थे। यह देख ऋषियों ने शाप दे दिया, जिससे वह लिङ्ग कटकर गिर गया और फिर उसे पार्वती ने अपनी योनि में धारण कर लिया। अतएव इसकी पूजा करना निर्लज्जों का काम है।

इस शंका का समाधान शिवपुराण के अनुसार यह है कि प्राचीन काल में दारुवन में शिवभक्त ऋषि रहते थे। एक दिन शिवजी उनकी परीक्षा लेने हेतु दिगम्बर होकर और हाथ में लिङ्ग लेकर वहाँ गये। शिव के इस रूप को देखकर ब्राह्मणों की स्त्रियाँ सकुचा गयीं। ब्राह्मणों ने यह देखकर शाप दिया कि तुम्हारा यह लिङ्ग पृथ्वी पर गिर जाये। फलस्वरूप पृथ्वी पर गिरे हुए उस लिङ्ग का तेज नीचे पाताल तक और ऊपर स्वर्ग तक पहुँचा और वहाँ के निवासियों को भस्म करने लगा। तब देवता एवं ऋषि दुःखित होकर ब्रह्मा के पास गये। ब्रह्मा ने कहा कि जब तक यह लिङ्ग स्थिर नहीं होगा तब तक संसार का कल्याण नहीं होग। अब तुम लोग गिरिजा की आराधना करो जिससे वे योनिरूपा बनकर इस लिङ्ग को धारण करे।' यह कथा कोटिरुद्रसंहिता के बारहवें अध्याय में है।

अब आप ध्यान दें कि जो जीभ या लिङ्ग पर विजय पा जाता है, वह सचमुच शंकर हो जाता है; यह शिवजी के परमज्ञानी होने का प्रतीक है। शिव प्रवृत्तिमार्ग के दास नहीं है, अपितु वे निवृत्तिमार्ग की पराकाष्ठा पर पहुँचे हुए हैं। उनके लिये स्वर्ण तथा लोहा में कोई भेद नहीं है। उन्हें संसार की कोई वस्तु न तो लुब्ध कर सकती है और न ही क्षुब्ध कर सकती है। अतः निवृत्तिमार्ग के परम आचार्य शिवजी का नग्न रहना कोई दोष कैसे माना जा सकता है।

आप लिङ्ग किसे कहते हैं, इसे समझिये–कणाद मुनि (वैशेषिकदर्शन २।१।८) कहते हैं–विषाण, ककुद, पूँछ, सींग तथा सास्ना; ये गोजाति के लिङ्ग हैं। जाति के लिङ्ग का नाम आकृति है। इन उदाहरणों से यह सिद्ध होता है कि जैसे आग का लिङ्ग धूम है, यहाँ पर भी क्या इस लिङ्ग को आप वही समझेंगे? तब तो खूब रहा। अस्तु। लिङ्ग तो पहचानने के चिह्नमात्र को कहते हैं और भी सोचिये मूत्रेन्द्रिय बिना कटे नहीं गिरेगी आप की शब्दावली में कहीं कटने का नाम नहीं आया है, वह तो शिवजी के हाथ से नीचे गिर गया। इससे भी यदि आप सन्तुष्ट न हो तो आप विद्येश्वरसंहिता अ. १८ के २७-३६ तक के पद्यों तथा उनका अनुवाद पढ़े। क्या इसमें मूत्रेन्द्रिय का या वैसे किसी अवयव विशेष का वर्णन आता है? यदि नहीं तो आपको बहकाने वालों ने धोखा दिया है। वास्तव में महात्मा तुलसीदास जी ने 'जे बिनु काज दाहिने बांये' होने वाले लोगों को पहले प्रणाम किया है और करना भी चाहिये। ये सदा सत्कार्यों में बाधक होते हैं।

इसके बाद हम वैदिकवाङ्मय के वे संकेत प्रस्तुत कर रहे हैं, जिनसे यह प्रमाणित होता है कि शिव देवों के भी देव थे और इनकी उपासना से भुक्ति तथा मुक्ति सुलभ हो जाती है। देखें–यजुर्वेद १६।४१; ३१।१८; ३।६०; १६।१६। श्वेताश्वतरोपनिषद् ३।४ तथा ३।११। इसके अतिरिक्त वाल्मीकिरामायण, महाभारत आदि में शिवपूजा तथा लिङ्गपूजा का महत्त्व वर्णित है। भागवत के दसवें स्कन्ध के अध्याय ६८ का अवलोकन करें। प्रस्तुत अग्निपुराण के ५४ वे अध्याय में उद्धृत है–'पूज्यो हरस्तु सर्वत्र लिङ्गे पूर्णार्चनं भवेत् ।' अर्थ स्पष्ट है।

एक उदाहरण स्कन्दपुराण का भी देख लें–

'एक एव शिवः साक्षात् सृष्टिस्थित्यन्तसिद्धये। ब्रह्मविष्णुशिवाख्याभिः कलनाभिर्विजृम्भते।।'

इन उद्धरणों से शिवजी का सार्वभौम समृद्ध स्वरूप त्रिलोकी को माननीय है, यह सिद्ध हो जाता है।

पुराणों की लोक में उपयोगिता

भारतीयों पर भौतिकवादी युग का सबको अन्धा कर देने वाली चकाचौंध का इतना अत्यधिक दुष्प्रभाव पड़ा है कि वे–हम क्या थे? क्या हो गये हैं और क्या होने जा रहे हैं? यह भी नहीं सोच पा रहे हैं और न उनमें यह सोच सकने की क्षमता ही है। इस स्वतन्त्र देश के निवासियों पर दासता का बन्धन आज भी वैसा ही है, जैसा पिछली शताब्दियों में विदेशी शासन के कारण था।

परशुराम, चाणक्य, महाराणा प्रताप, शिवाजी आदि इसी देश के स्वाभिमानी भारत सपूत थे। आज हम 'स्व' को भूल गये हैं। इसका स्मरण हमको फिर से यदि कोई दिला सकता है, तो वह केवल पुराण साहित्य ही है। वेद, शास्त्र तथा उनके अंगों का ज्ञान पाना सर्वसाधारण के वश की बात नहीं है। हम कितने धार्मिक, न्यायपरायण, वीर, विद्वान् तथा दयालु थे, इन्हें हम प्रायः भूल चुके हैं और दिन-प्रतिदिन भूलते जा रहे हैं, जिन गुणों के कारण दूसरे लोग हमें आदर्श रूप में स्मरण किया करते थे। इन बहुमूल्य गुणों की रक्षा तथा उनकी पुनः स्थापना के लिये पुराणसाहित्य का अध्ययन तथा मनन करना भारतीयों के लिये अत्यन्त हितकर एवं आवश्यक है। अस्तु।।

विभिन्न विषयों के विवेचन एवं लोकोपयोगिता की दृष्टि से अठारह पुराणों में अग्निपुराण का सर्वाधिक महत्त्व है। इसमें अनेक विद्याओं का सुन्दर समावेश है। इस पुराण के सन्दर्भ में पुराणकार का कथन है–'आग्नेये हि पुराणेऽस्मिन सर्वा विद्याः प्रदर्शिताः (अग्नि ३८३।५१)। अर्थात् इस आग्नेय (अग्नि) पुराण में सभी विद्याओं का वर्णन है। भगवान् अग्निदेव ने महर्षि वसिष्ठ को यह पुराण सुनाया है। अतः इसे अग्निपुराण कहते हैं। पद्मपुराण में पुराणों को भगवान् विष्णु का ही विग्रह बतलाया गया है और उनके विभिन्न अङ्ग ही विभिन्न पुराण कहे गये हैं। इस दृष्टि से अग्निपुराण को श्रीहरि का बायाँ चरण कहा गया है–'अङ्घ्रिर्वामो ह्याग्नेयमुच्यते' (स्वर्गखण्ड ६२।२)।

भारतीय जीवन संस्कृति के मूलाधार 'वेद' हैं। वेद भगवान् के स्वाभाविक उच्छ्वास हैं, अतः वे भगवत्स्वरूप ही हैं। श्रुत ब्रह्मवाणी का संरक्षण परम्परा से ऋषियों द्वारा होता रहा, इसीलिये इसे 'श्रुति' कहते हैं। भगवदीय वाणी वेदों के सत्य को समझने के लिये षडङ्ग, अर्थात् शिक्षा, कल्प, व्याकरण, छन्द, निरुक्त और ज्योतिष का अध्ययन आवश्यक था। परन्तु जन साधारण के लिये यह भी सहज सम्भव न होने से पुराणों का कथोपकथन आरम्भ हुआ, जिससे वैदिक सत्य रोचक ऐतिहासिक आख्यायिकाओं द्वारा जन-जन तक पहुँच सके। इसीलिये कहा जाता है कि पुराणों का कथोपकथन उतना ही प्राचीन है, जितना वैदिक ऋचाओं का संकलन और वंशानुवंश-संरक्षण। अध्ययन की पाश्चात्त्य विश्लेषण-विवेचन-पद्धति को सर्वोपरि मानकर पुराणों को ईसाजन्म के आसपास अथवा उसके बाद का ठहराना सर्वथा भ्रान्त तथा अनुचित है। भारत के आदिकाल में समाज का प्रतिभासम्पन्न समुदाय जिस प्रकार वेदों के अध्ययन-अध्यापन-निर्वचन में निर्मग्न रहा, उसी प्रकार उसी काल में समाज के साधारण समुदाय को धर्म में लगाये रखने के लिये पुराणों का कथन

श्रवण प्रवचन होता रहा। शतपथब्राह्मण (१४।२।४।१०) में आया है कि 'चारों वेद, इतिहास, पुराण–ये सब महान् परमात्मा के ही निःश्वास हैं।' अथर्ववेद (११।७।२४) में आया है–'यज्ञ से यजुर्वेद के साथ ऋक्, साम, छन्द और पुराण उत्पन्न हुये।'

इस आधार पर कहा जा सकता है कि जो पुरातन आख्यान ऋषियों की स्मृतियों में सुरक्षित थे और जो वंशानुवंश ऋषि-कण्ठों से कीर्तित थे, उन्हीं का संकलन और विभागीकरण भगवान् वेदव्यास द्वारा हुआ। उन आख्यायिकाओं को व्यवस्थित करके प्रकाश में लाने का श्रेय भगवान् वेदव्यास को है। इसी कारण वे पुराणों के प्रणेता कहे जाते हैं; अन्यथा पुराण भी वेदों की भाँति ही अनादि, अपौरुषेय एवं प्रामाणिक हैं।

हिन्दुओं के धार्मिक साहित्य में पुराणों का अतिमहत्त्वपूर्ण स्थान है। जनता श्रद्धापूर्वक पुराणों को सुनती है। महापुराणों की संख्या १८ है। उनके नाम इस प्रकार हैं–

१. ब्रह्ममहापुराण, २. पद्ममहापुराण, ३. विष्णुमहापुराण, ४. शिवमहापुराण, ५. भागवतमहापुराण, ६. नारदीयमहापुराण, ७. मारकण्डेयमहापुराण, ८. अग्निमहापुराण, ९. भविष्यमहापुराण, १०. ब्रह्मवैवर्त्तमहापुराण, ११. लिङ्गमहापुराण, १२. वराहमहापुराण, १३. स्कन्दमहापुराण, १४. वामनमहापुराण, १५. कूर्ममहापुराण, १६. मस्त्यमहापुराण, १७. गरुड़महापुराण, १८. ब्रह्माण्ड महापुराण।

अग्निपुराण पुराणों के क्रम में आठवाँ पुराण है, जिसमें अग्नि को मूल तत्त्व निरूपित किया गया है। मत्स्य एवं स्कन्दपुराण में अग्निपुराण के सम्बन्ध में वर्णित है कि ईशानकल्प-सम्बन्धी जो ज्ञान अग्निदेव ने वशिष्ठ को दिया था, उसी को अग्निपुराण में प्रकाशित किया गया है–

यत्तदीशानकं कल्पं वृत्तान्तमधिकृत्य च। वशिष्ठायाग्निना प्रोक्तमाग्नेयं सम्प्रकाशते।।

भारतीय एवं पाश्चात्य विद्वानों की दृष्टि में अग्निपुराण भारतीय ज्ञानकोश है। इसके पौराणिक स्वरूप में कारणसृष्टि, कार्यसृष्टि और लय, देवपितरों की वंशावली, समस्त मन्वन्तर तथा वंशानुचरित (सूर्य, चन्द्र प्रभृति) वंशों में उत्पन्न राजाओं का संक्षिप्त वर्णन किया गया है। इसमें तन्त्र, अलंकार, छन्द, ज्योतिष, व्याकरण, आयुर्वेद, राजनीति, कोश आदि विविध विषयों का सुन्दर परिचय मिलता है।

भगवान् वेदव्यास द्वारा प्रणीत अठारह महापुराणों में अग्निपुराण का एक विशेष स्थान है। विष्णुस्वरूप भगवान् अग्निदेव द्वारा महर्षि वसिष्ठजी के प्रति उपदिष्ट यह अग्निपुराण ब्रह्मस्वरूप है, सर्वोत्कृष्ट है तथा वेदतुल्य है। देवताओं के लिये सुखद और विद्याओं का सार है। इस दिव्य पुराण के पठन-श्रवण से भोग-मोक्ष की प्राप्ति होती है।

पुराणों के पाँच लक्षण बताये गये हैं–१. सृष्टि उत्पत्ति वर्णन, २. सृष्टि विलय वर्णन, ३. वंश परम्परा वर्णन, ४. मन्वन्तर वर्णन और ५. विशिष्ट व्यक्ति चरित्र वर्णन। पुराण के पाँचों लक्षण तो अग्निपुराण में घटित होते ही हैं, इनके अतिरिक्त वर्ण्य विषय इतने विस्तृत हैं कि अग्निपुराण को 'विश्वकोष' कहा जाता है। मानव के लौकिक, पारलौकिक और पारमार्थिक हित के लगभग सभी विषयों का वर्णन अग्निपुराण में मिलता है। प्राचीनकाल में न तो मुद्रण की प्रथा थी और न ग्रन्थ ही सुलभ होते थे। ऐसी परिस्थिति में विविध विषयों के महत्त्वपूर्ण विवेचन का एक ही स्थान पर एक साथ मिल जाना, यह एक बहुत बड़ी बात थी। इसी कारण अग्निपुराण बहुत जनप्रिय और विद्वद्वर्ग समादृत रहा।

सम्पूर्ण सृष्टि के कारण भगवान् विष्णु हैं, अतः अग्निपुराण में भगवान् के विविध अवतारों का संक्षिप्त वर्णन किया गया है। भगवान् विष्णु ही मत्स्य, कूर्म, वराह, नृसिंह, वामन, परशुराम, श्रीराम, श्रीकृष्ण और बुद्ध के रूप में अवतरित हुए तथा कल्कि के रूप में अवतरित होंगे। भगवान् के अवतारों की संख्या निश्चित नहीं है; परन्तु सभी अवतारों हेतु यही है कि सभी वर्ण और आश्रम के लोग अपने-अपने धर्म में दृढ़तापूर्वक लगे रहें। जगत् की सृष्टि के आदिकारण श्रीहरि अवतार लेकर धर्म की व्यवस्था और अधर्म का निराकरण ही करते हैं।

भगवान् विष्णु से ही जगत् की सृष्टि हुई। प्रकृति में भगवान् विष्णु ने प्रवेश किया। क्षुब्ध प्रकृति से महत्तत्त्व, फिर अहंकार उत्पन्न हुआ। फिर अनेक लोकों का प्रादुर्भाव हुआ, जहाँ स्वायम्भुव मनु के वंशज एवं कश्यप आदि के वंशज परिव्याप्त हो गये। भगवान् विष्णु आदिदेव हैं और सर्वपूज्य हैं। प्रत्येक साधक को आत्मकल्याण के लिये विधिपूर्वक भगवान् विष्णु का पूजन करना चाहिये। भगवान् की पूजा का विधान क्या है, पूजा के अधिकार की प्राप्ति किस प्रकार हो सकती है, यज्ञ के लिये कुण्ड का निर्माण एवं अग्नि की स्थापना किस तरह की जाती है। शिष्य द्वारा आचार्य के अभिषेक का विधान क्या है? तथा भगवान् का पूजन एवं हवन किस प्रकार सम्पन्न किया जाय, इसका विस्तृत वर्णन अग्निपुराण में है। मन्त्र एवं विधिसहित पूजन हवन करने वाला अपने पितरों का उद्धारक एवं मोक्ष का अधिकारी होता है। देवपूजन के समान महत्त्व ही देवालय निर्माण का है। देवालय निर्माण अनेक जन्म के पापों को नष्ट करता है। निर्माण–कार्य के अनुमोदन मात्र से ही विष्णुधाम की प्राप्ति का अधिकार मिल जाता है। कनिष्ठ, मध्य और श्रेष्ठ–इन तीन श्रेणी के देवालयां के पाँच भेद अग्निपुराण में बताये गये हैं–१. एकायतन, २. त्र्यायतन, ३. पञ्चायतन, ४. अष्टायतन तथा ५. षोडशातन। मन्दिरों का जीर्णोद्धार करने वाले को देवालय निर्माण से दूना फल मिलता है। अग्निपुराण में विस्तार से बताया गया है कि श्रेष्ठ देव प्रासाद के लक्षण क्या हैं।

देवालाय में किस प्रकार की देव प्रतिमा स्थापित की जाय, इसका बड़ा सूक्ष्म एवं अत्यन्त विस्तृत वर्णन इसमें है। शालग्रामशिला अनेक प्रकार की होती है। द्विचक्र एवं श्वेतवर्ण शिला 'वासुदेव' कहलाती है। कृष्णकान्ति एवं दीर्घ छिद्रयुक्त 'नारायण' कहलाती है। इसी प्रकार इसमें संकर्षण, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध, परमेष्ठी, विष्णु, नृसिंह, वाराह, कूर्म, श्रीधर आदि अनेक प्रकार की शालग्रम शिलाओं का विशद् वर्णन है। देवालय में प्रतिष्ठित करने के लिये भगवान् वासुदेव की, दशावतारों की चण्डी, दुर्गा, गणेश, स्कन्द आदि देवी–देवताओं की, सूर्य की, ग्रहों की, दिक्पाल, योगिनी एवं शिवलिङ्ग आदि की प्रतिमाओं के श्रेष्ठ लक्षणों का वर्णन है। देवालय में श्रेष्ठ लक्षणों से सम्पन्न श्रीविग्रहों की स्थापना सभी प्रकार के मङ्गलों का विधान करती है। अग्निपुराणोक्त विधि के अनुसार देवालय में देव प्रतिमा की स्थापना और प्राण प्रतिष्ठा कराने से परम पुण्य होता है। श्रेष्ठ साधक के लिये यही उचित है कि अत्यन्त जीर्ण, अङ्गहीन, भग्न तथा शिलामात्रावशिष्ट (विशेष चिह्नों से रहित) देव प्रतिमा का उत्सवसहित विसर्जन करे और देवालय में नवीन मूर्ति का न्यास करे। जो देवालाय के साथ अथवा उससे अलग कूप, वापी, तड़ाग का निर्माण करवाता या वृक्षारोपण करता है, वह भी बहुत पुण्य का लाभ करता है।

भारतवर्ष में पञ्चदेवोपासना अति प्राचीन है। गणेश, शिव, शक्ति, विष्णु और सूर्य–ये पाँचों देव आदिदेव भगवान् की ही पाँच अभिव्यक्तियाँ हैं; परन्तु सब तत्त्वतः एक ही हैं। गणपति पूजन, सूर्य पूजन, शिव–पूजन, देवी पूजन और विष्णु पूजन के महत्त्व का भी अग्निपुराण में यथा स्थान प्रतिपादन हुआ है।

साधना के क्षेत्र मे श्रेष्ठ गुरु, श्रेष्ठ मन्त्र, श्रेष्ठ शिष्य और सम्यक् दीक्षा का बड़ा महत्त्व है। जिससे शिष्य में ज्ञान की अभिव्यक्ति करायी जाय, उसी का नाम 'दीक्षा' है। पाशमुक्त होने के लिये जीव को आचार्य से मन्त्राराधन की दीक्षा लेनी चाहिये। सविधि दीक्षित शिष्य को शिवतत्त्व की प्राप्ति शीघ्र होती है।

जहाँ भक्त मन, वाञ्छा, कल्पतरु भगवान् के सिद्ध श्रीविग्रहों के देवालय हैं, अथवा जहाँ सर्वलोकवन्दनीय श्रीहरि के प्रीत्यर्थ ऋषि–मुनियों ने कठिन साधना की है, वही भूमि 'तीर्थ' कहलाती है, जिसके सेवन से भोग–मोक्ष की प्राप्ति होती है। तीर्थ–सेवन का फल सबको समान नहीं होता। जिसके हाथ, पैर और मन संयमित हैं तथा जो जितेन्द्रिय, लघ्वाहारी, अप्रतिग्रही, निष्पाप है, उसी तीर्थयात्री को तीर्थ सेवन का यथार्थ फल मिलता है। ऐसे तीर्थयात्री को पुष्कर, कुरुक्षेत्र, काशी, प्रयाग, गया आदि तीर्थों का सेवन करना चाहिये। गयातीर्थ में शास्त्रोक्त विधि से श्राद्ध करने पर नरकस्थ पितर स्वर्ग के अधिकारी और स्वर्गस्थ पितर परमपद के अधिकारी होते हैं।

काम-क्रोधग्रस्त मनुष्य द्वारा नहीं चाहते हुए भी अज्ञानवश बलात् पापाचरण हो जाता है। पातक तो अनेक प्रकार के हैं, पर कभी-कभी ब्रह्महत्या, सुरापान, चोरी और गुरुतल्पगमन जैसे महापातक भी घटित हो जाते हैं। इन पातकों से विमुक्ति का उपाय प्रायश्चित्त है। पातक, उपपातक, महापातक के परिशमनार्थ अनेक प्रकार के प्रायश्चित्त का निर्देश किया गया है। यदि कुछ भी न हो सके तो भगवान् विष्णु की स्तुति करे। भगवान् विष्णु के समस्तपापनाशक स्तोत्र के आश्रय से समस्त पातक विनष्ट हो जाते हैं।

आत्मशुद्धि तथा शरीर शुद्धि का एक महान् साधन 'व्रत' भी है। शास्त्रोक्त नियम को ही व्रत कहते हैं। इन्द्रियसंयम और मनोनिग्रह आदि विशेष नियम व्रत के ही अंग हैं। व्रत करने वाले को किंचित कष्ट सहन करना पड़ता है, अतः इसे 'तप' भी कहते हैं। क्षमा, सत्य, दया, दान, शौच, इन्द्रियसंयम, देवपूजा, अग्निहोत्र, संतोष तथा चोरी का अभाव-ये दस नियम सामान्यतः सम्पूर्ण व्रतों में आवश्यक माने गये हैं। भगवान् अग्निदेव ने महर्षि वसिष्ठ को तिथि, वार, नक्षत्र, दिवस, मास, ऋतु, वर्ष, संक्रान्ति आदि के अवसर पर होने वाले स्त्री-पुरुष सम्बन्धी व्रत बताये हैं, जिनसे आत्यन्तिक कल्याण का सम्पादन होता है।

ग्रहों और नक्षत्रों की स्थिति भी मानव की सफलता-असफलता को प्रभावित करती तथा शुभ अशुभ का विधान करती है। इसी कारण ज्योतिषशास्त्र का संक्षेप में भगवान् अग्निदेव ने सुन्दर उपदेश दिया, जिससे शुभ-अशुभ का निर्णय करने वाले विवेक की प्राप्ति हो सके। वर-वधू के गुण, विवाहादि संस्कारों के मुहूर्त का निर्णय, 'काल' को समझने के लिये गणित, युद्ध में विजय-प्राप्ति के लिये विविध योग, शत्रु के वशीकरण के लिये शान्ति, वशीकरण आदि षट् तान्त्रिक कर्म, ग्रहण दान और ग्रहों की महादशा आदि सूक्ष्मतापूर्वक विचार किया गया है। इस विवेचन में ज्योतिषशास्त्र की प्रायः उपयोगी बातें समाविष्ट हो गयी हैं।

व्यष्टि और समष्टि के हित के लिये अपने-अपने वर्ण और आश्रम के अनुसार व्यक्तिमात्र के लिये स्वधर्म पालन आवश्यक है। स्वधर्म पालन ही सुख-शान्ति तथा मोक्ष की सीढ़ी है। यज्ञ करना-कराना, वेद पढ़ना-पढ़ाना और स्वाध्याय ब्राह्मण के कर्म हैं। दान देना, वेदाध्ययन करना, यज्ञानुष्ठान करना क्षत्रिय-वैश्य के सामान्य कर्म हैं। प्रजा-पालन और दुष्टदमन क्षत्रिय के तथा कृषि-गोरक्षा-व्यापार वैश्य के कर्म हैं। सेवा एवं शिल्परचना शूद्र का धर्म है। ब्रह्मचर्याश्रम मानव के पवित्र जीवन-प्रासाद के लिये 'नीव का पत्थर' है। अन्तेवासी को आज के विद्यार्थियों जैसा विलास-प्रमादपूर्ण जीवन नहीं, कठोर संयमित-नियमित-अनुशासित जीवन व्यतीत करने की आवश्यकता है, जिससे वह वैयक्तिक और सामाजिक धर्मों के पालन की क्षमता प्राप्त कर सके। विवाह के उपरान्त गृहस्थाश्रम की सम्पूर्ण दिनचर्या का उल्लेख करते हुए यह बताया गया है कि गृही नित्य देवाराधन, द्रव्य-शुद्धि, शौचाशौच-विचार एवं शुद्ध आचरण द्वारा किस प्रकार आत्मकल्याण और समाजकल्याण का सम्पादन करे। सद्गृहस्थ के लिये जो यहाँ तक कहा गया है कि 'श्री और समृद्धि के लिये गाय, चूल्हा, चाकी, ओखली, मूसल, झाडू एवं खम्भे का भी पूजन करे। पौत्र के जन्म के बाद गृहस्थ को वानप्रस्थ धारण करके पत्नीसहित तपःपूर्ण जीवन व्यतीत करना चाहिये। संन्यासी का जीवन तो त्याग का मूर्तिमान् स्वरूप है। संन्यासी शरीर के प्रति उपेक्षाभाव रखता हुआ एकाकी विचरता है और मननशील रहता है। कुटीचक, बहूदक, हंस और परमहंस- इन चार प्रकार के संन्यासियों में अन्तिम सर्वश्रेष्ठ है, जो नित्य ब्रह्म में स्थित है।

वास्तु-विद्या का भी अग्निपुराण में यत्र-तत्र प्रभूत वर्णन है। भूमि के विस्तार का दिग्दर्शन कराते हुए विभिन्न द्वीप तथा देशों का वर्णन किया गया है। रहने के लिये गृह-निर्माण कैसे हो, फिर नगर-निर्माण की योजना कैसी हो- इसे भी युक्तिपूर्वक समझाया गया है। गृहनिर्माण और नगर निर्माण के साथ देव-प्रतिमा और देवालय निर्माण का भी विस्तृत विवरण है। नगर, ग्राम तथा दुर्ग में गृहों तथा प्रासादों की वृद्धि हो, इसकी सिद्धि के लिय ८१ पदों का वास्तुमण्डल बनाकर वास्तु देवता की पूजा अवश्य करनी चाहिये।

पूजा में पुष्पों का विशेष स्थान है। देव पूजन में मालती, तमाल, पाटल, पद्म आदि विभिन्न पुष्पों के विभिन्न फल होते हैं। परन्तु देवपूजन के लिये श्रेष्ठपुष्प हैं–अहिंसा, इन्द्रियनिग्रह, दया, शम, तप, सत्य आदि। इन भाव पुष्पों से अर्चित श्रीहरि शीघ्र सन्तुष्ट होते हैं। भाव-पुष्पों से अर्चना करने वाले को नरक-यातना नहीं सहनी पड़ती; अन्यथा पापाचारी को अवीचि, ताम्र, रौरव, तामिस्र आदि नरकों के कष्ट भोगने पड़ते हैं। पुण्यात्मा को स्वर्ग की प्राप्ति होती है। विशेष पर्वपर विशेष तीर्थ में, विशेष तिथि में दान का अलग-अलग फल प्राप्त होता है। दान से मोक्ष तक की प्राप्ति हो सकती है। परन्तु फल की कामना से दिया गया दान मोक्ष की प्राप्ति न करवाकर व्यर्थ चला जाता है। गायत्री मन्त्र की व्याख्या करते हुए भगवान् अग्निदेव ने बताया है कि जो लोग भगवती गायत्री का एवं गायत्री मन्त्र का आश्रय लेते हैं, उनके शरीर और प्राण दोनों की रक्षा होती है।

राज्य में सुख-शान्ति बनाये रखने के लिये राजा को अपने धर्म का भलीभाँति पालन करना चाहिये। शत्रुसूदन, प्रजापाल, सुदण्डधारी, संयमी, रण, कलाविद् , न्यायप्रिय, दुर्गरक्षित, नीतिकुशल राजा ही अपने धर्म का पालन कर सकता है। जो राजा धनुर्वेद के शिक्षण-प्रशिक्षण की पूर्ण व्यवस्था रखता है और जो लोक-व्यवहार में परम कुशल है, उसका पराभव नहीं होता।

स्वप्न और शकुन का भी जीवन पर शुभ और अशुभ प्रभाव पड़ता है। सभी स्वप्न और शकुन प्रभावशाली नहीं होते; पर जिनसे अशुभ होता है, उनके निवारण का उपाय भी बताया गया है। शुभ-लक्षण सम्पन्न स्त्री या पुरुष की संगति सदा कल्याणकारी होती है; अतः इनके लक्षणों का भी विस्तृत वर्णन है। जीवन श्रीयुक्त रहे, अतः हीरा, मोती, प्रवाल, शङ्ख आदि रत्नों को परीक्षण के उपरान्त ही धारण करना चाहिये, जिससे शुभ का विधान हो।

भगवान् अग्निदेव ने चारों वेदों की सभी शाखाओं का विस्तृत वर्णन करके चारों वेदों की विभिन्न ऋचाओं या सूक्तों के सहित पाठ, जप हवन करने का विधान बताया, जिससे भुक्ति मुक्तिकामी पुरुष को अभीष्ट की प्राप्ति तथा सभी उत्पातों की शान्ति होती है। जैसे ऋग्वेद के 'अग्निमीले पुरोहितम्'–इस सूक्त का सविधि जप करने से इष्टकामनाओं की पूर्ति होती है। भगवान् अग्निदेव ने सूर्य, चन्द्र, यदु, पुरु आदि अनेक वंशों का वर्णन किया, जिनका चरित्र सुनने से पापों का विनाश होता है। यदुवंश में भगवान् श्रीकृष्ण का अवतार धर्म-संरक्षण, अधर्म नाश, सुरपालन और दैत्य मर्दन के लिये ही हुआ था।

स्वास्थ्य रक्षा सम्बन्धी ज्ञान भी मनुष्य के लिये आवश्यक है। अतः स्वास्थ्य के सिद्धान्त, रोग के भेद एवं कारण, औषधि का विवेचन, वैद्य का कर्त्तव्य उपचार के उपाय, शरीर के अवयव, गज और अश्व की चिकित्सा आदि का वर्णन करते हुए आयुर्वेद का ज्ञान कराया गया है, जो मृत को भी प्राण देता है। अनिष्ट-निवारण मन्त्रों के प्रयोगों द्वारा भी होता है, अतः मन्त्र-तन्त्र की परिभाषा और भेद-प्रभेद बताकर शिव, सूर्य, गणपति, लक्ष्मी, गौरी आदि देवी-देवताओं के अनेक मन्त्र और मण्डल बताये गये हैं, जिनको सिद्ध करके प्रयोग करने से विष-शमन, बालग्रह आदि का निवारण होता है।

समाज में उसका बड़ा आदर होता है, जिसकी वाणी में रस है, जिसमें अभिव्यक्ति की कुशलता है और जिसमें प्रस्तुतीकण की क्षमता है। अतः अग्निपुराण में काव्य मीमांसा का अतिविस्तृत वर्णन है। काव्याङ्ग, नाटक-निरूपण, रसभेद, शब्दालंकार, अर्थालंकार, शब्दगुण आदि शास्त्रीय विषयों की सूक्ष्म विवेचना है। यह इसलिये कि–'अपारे काव्यसंसारे कविरेव प्रजापतिः।' (अग्नि. ३३९।१०)। लोक परलोक और परमार्थ के सर्वोपयोगी स्थूल-सूक्ष्म विषयों के वर्णन का यही उद्देश्य है कि मानव सुखी, शान्त, समृद्ध एवं स्वस्थ जीवन व्यतीत करते हुए परम तत्त्व को प्राप्त करे। जीवन में अर्थ और क़ाम दोनों हों, पर वे हों धर्म के द्वारा नियन्त्रित। जीवन धर्मनिष्ठ हो और अन्त में मोक्ष की प्राप्ति हो। धर्मशास्त्र का उपदेश देते हुए बताया गया है कि 'धर्म वही है, जिससे भोग और मोक्ष, दोनों प्राप्त हो सके। वैदिक कर्म दो प्रकार

का है–एक प्रवृत्त और दूसरा निवृत्त। कामनायुक्त कर्म को 'प्रवृत्तकर्म' कहते हैं। ज्ञानपूर्वक निष्कामभाव से जो कर्म किया जाता है, उसका नाम 'निवृत्तकर्म' है। वेदाभ्यास, तप, ज्ञान, इन्द्रियसंयम, अहिंसा तथा गुरुसेवा–ये परम उत्तम कर्म निःश्रेयस (मोक्षरूप कल्याण) के साधन हैं। इन सबमें भी सबसे उत्तम आत्मज्ञान है।' (अग्नि १६२।३-७)

'भुक्ति' से भी महत्त्वपूर्ण 'मुक्ति' है। जिससे जीवात्मा सभी प्रकार के बन्धनों से मुक्त होकर परमात्मस्वरूप हो जाता है। 'ज्ञान' वही है, जो ब्रह्म को प्रकाशित करे और 'योग' वही है, जिससे चित्त ब्रह्म से संयुक्त हो जाय। 'ब्रह्मप्रकाशकं ज्ञानं योगस्तत्रैकचित्तता।' (अग्नि. २७२।१) अतः भगवान् अग्निदेव ने यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि अर्थात् अष्टाङ्गयोग का वर्णन किया, जिससे आत्मा परमात्मचैतन्यरूप हो जाय। परमात्म-चैतन्य की प्राप्ति ही परम प्राप्तव्य है। इसी की प्राप्ति के दो प्रधान मार्ग–ज्ञानप्रतिष्ठा और कर्मनिष्ठा का प्रतिपादन करने वाली श्रीमद्भागवतगीता का संक्षेप में कथन करने के उपरान्त यमगीता का भी वर्णन किया गया है।

वस्तुतः शरीर से आत्मा पृथक् है। नेत्र, मन, बुद्धि आदि आत्मा नहीं है। आत्मा इनका नहीं, ये आत्मा के हैं। जीवात्मा परमात्मा का सनातन अंश है। ब्रह्मत्व की प्राप्ति में जीवन की परम सफलता है। इसके लिये ज्ञानयोग श्रेष्ठ साधन है। साधना के द्वारा जीव जगत् के स्थूल-सूक्ष्म बन्धनों से मुक्त होकर ब्रह्मत्व की प्राप्ति कर लेता है। साधक को 'शरीर-भाव' से अतीत होना आवश्यक है। अपवाद की बात दूसरी है। अन्यथा सभी को अभ्यास करना ही पड़ता है। इसलिये पूजा, व्रत, तप, वैराग्य और देवाराधन का विधान है। आत्मोकर्ष के लिये सभी को अपने-अपने स्तर के अनुकूल साधन-पथ चुनना चाहिये। सभी का स्तर एक नहीं, अतः सभी का अधिकार भी समान नहीं। देवोपासना से भी परमतत्त्व की प्राप्ति हो सकती है। देवोपासकों का जो 'विष्णु' है, वही याज्ञिकों का 'यज्ञपुरुष' है और वही ज्ञानियों का 'मूर्तिवान् ज्ञान' है। जीवात्मा किसी पथ का आश्रय ले, अन्तिम उद्देश्य यही है कि आत्मा और परमात्मा का एकत्व प्रकाशित हो जाय। सच्चा श्रेय तो सदा परमार्थ में ही निहित रहता है। परमार्थ की दृष्टि से तो आत्मा और परमात्मा का नित्य अभिन्नत्व है। अग्निपुराण में श्रीसूतजी ने कहा है–'भगवान् विष्णु ही सार से भी सार तत्त्व हैं। वे सृष्टि और पालन आदि के कर्ता और सर्वत्र व्यापक हैं।' 'वह विष्णुस्वरूप ब्रह्म मैं ही हूँ–इस प्रकार उन्हें जान लेने पर सर्वज्ञता प्राप्त हो जाती है।'

ऐसे वेदसम्मत, सर्वविद्यायुक्त और ब्रह्मस्वरूप अग्निपुराण का जो पठन, श्रवण, अध्ययन और मनन करता है, उसे भोग और मोक्ष दोनों की ही प्राप्ति होती है–

सारात्सारो हि भगवान् विष्णुः सर्गादिकृद्विभुः। ब्रह्माहमस्मि तं ज्ञात्वा सर्वज्ञत्वं प्रजायते। –(अग्नि. १।४)

अग्निपुराण का स्वरूप एवं उसका श्लोकपरिमाण

हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग से प्रकाशित अग्निपुराण की भूमिका को सर्वभारती काशिराज न्यास, वाराणसी के पुराण सम्पादक श्रीमान् रामशंकर भट्टाचार्य जी ने लिखा है, उसमें उन्होंने अपने शोधपूर्ण अग्निपुराण विषयक तथ्यों को सप्रमाण प्रस्तुत करने की चेष्टा की है, जिस यहाँ प्रदर्शित करना अनुचित तो नहीं ही होगा, बल्कि पाठकों के ज्ञान को और विस्तार ही मिलेगा। वे इस प्रकार लिखते हैं–

पुराणों में अष्टादश पुराणों (जो कभी-कभी महापुराण भी कहलाते हैं) की जो सूचियाँ मिलती हैं, उनमें अग्नि या आग्नेय नाम अवश्य मिलता है, जिससे अग्निपुराण की प्राचीनता एवं प्रामाणिकता ज्ञात होती है। अग्नि नामक देव इस पुराण के वक्ता हैं, अतः यह अग्नि नाम से अभिहित होता है। आग्नेय का अर्थ है–अग्नि से सम्बन्धित अथवा अग्नि द्वारा प्रोक्त।

अग्निपुराण के स्वरूप एवं परिमाण के विषय में पुराणों में कुछ निर्देश मिलते हैं। मत्स्यपुराण में कहा गया है कि जिस पुराण में अग्नि ने वशिष्ठ को ईशानकल्प का वृत्तान्त कहा, वह आग्नेयपुराण है (५८३।२८)। स्कन्दपुराण के प्रभासखण्ड (२।४७) तथा नारदीयपुराण (१।९९।१) का भी यही मत है।

प्रचलित अग्निपुराण का वक्ता यद्यपि अग्नि है, तथापि इसमें ईशानकल्प का नाम नहीं मिलता। इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि कोई प्राचीनतर ईशानकल्पीय-वृत्तान्ताख्यापक अग्निपुराण था, जो लुप्त हो गया है और प्रचलित अग्निपुराण उस पुराण का आश्रय करके लिखा गया है (अल्प प्राचीन सामग्री के साथ अत्यधिक नवीन सामग्री जोड़कर)।

विभिन्न समयों में विभिन्न अग्निपुराण (प्राचीन तथा नवीन सामग्री का संयोजनात्मक) प्रचलित थे—इस तथ्य में सर्वबलिष्ठ हेतु है—अग्निपुराण के परिमाण के विषय में मतभेद। अग्निपुराण में एक स्थल पर अग्निपुराण का परिमाण १२००० (२७२।११) तथा अन्यत्र (३८३।६४) १५००० कहा गयाहै। इस पुराण का श्लोक परिमाण भागवतानुसार १५४०० (१२।१३।५), देवीभागवतानुसार (१६००० (१।३।९) तथा नारदीयपुराण के अनुसार १५००० है (१।९९।२)। एक निश्चित ग्रन्थ के श्लोकपरिमाण के विषय में ऐसे मतभेद नहीं हो सकता, अतः यह स्वीकार्य है कि इन पुराणों के रचनाकारों ने अपने समय में जिस अग्निपुराण को देखा था, उनके परिमाण का ही उल्लेख उन्होंने किया है।

निबन्धग्रन्थों को देखने से भी ज्ञात होता है कि कभी प्रचलित अग्निपुराण में पृथक् (चाहे सर्वथा भिन्न न हो) कोई अग्निपुराण विद्यमान था, क्योंकि निबन्धग्रन्थों में उद्धृत अग्निपुराण के श्लोक प्रचलित अग्निपुराण में नही मिलते (अपेक्षाकृत अर्वाचीन निबन्धग्रन्थों में प्रचलित अग्निपुराण में श्लोक उद्धृत मिलते हैं। प्रसिद्ध निबन्धग्रन्थकार वल्लालसेन ने जो प्रचलित अग्निपुराण को अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में एक अप्रामाणिक ग्रन्थ कहा है यथा—

ताक्ष्र्यं पुराणमपरं ब्राह्ममाग्नेयमेव च। दीक्षाप्रतिष्ठापाषण्डमुक्तिरत्नपरीक्षणैः।
मृषावंशानुचरितैः कोशव्याकरणादिभिः असंगतकथाबन्ध-परस्परविरोधितः।। इत्यादि।

वल्लालसेन कृत दानसागर ग्रन्थ के ये श्लोक डॉ हाजरा कृत आग्नेयपुराण सम्बन्धी लेख में उद्धृत हुए हैं।

अग्निपुराण को 'तामस' माना गया है (पद्मपुराण ६।२६३।८१-८२)। पुराणों में ही कहा गया है कि तामस वह पुराण होता है, जिसमें अग्नि अथवा शिव की महिमा का प्रधानतः प्रतिपादन किया गया हो (मत्स्यपुराण ५३।६८-६९)। प्रचलित अग्निपुराण में अग्निदेवता के माहात्म्य के विषय में कुछ भी नहीं कहा गया। इससे भी यह सिद्ध होता है कि प्रचलित अग्निपुराण से भिन्न कोई प्राचीनतर अग्निपुराण था, जिसमें अग्नि-महिमा का विशेष रूप से प्रतिपादन किया गया था।

उपलब्ध प्राचीनतर अग्निपुराण

उपरोक्त श्रीमन् भट्टाचार्यजी कहते हैं कि हमारा सौभाग्य है कि अग्निपुराण के पुराणोक्त लक्षण जिसमें घटते हों, ऐसे एक अग्निपुराण का हस्तलेख प्राप्त हो गया है। इसका हस्तलेख एशियाटिक सोसाइटी (कलकत्ता) में है और वह्निपुराण नाम से अभिहित हुआ है। निबन्धग्रन्थों में 'आग्नेयपुराण' नाम से जो उद्धरण मिलते हैं, वे इस पुराण में मिल जाते हैं। इस पुराण में तान्त्रिक प्रभाव अणुमात्रा में नहीं है। इसमें अग्निमाहात्म्य का प्रतिपादन है। पर इसमें भी ईशानकल्प का उल्लेख नहीं है, जिससे सिद्ध होता है कि यह आग्नेयपुराण (प्रचलित अग्निपुराण से भी प्राचीन होने पर भी) वह पुराण नहीं है, जो मत्स्य-आदि-पुराणकारों के द्वारा लक्षित हुआ है। यह भी हो सकता है कि इस आग्नेयपुराण से ईशानकल्प का वृत्तान्त च्युत हो गया है। प्रचलित अग्निपुराण के साथ इस आग्नेयपुराण का तुलनामूलक अध्ययन करके तथा आग्नेयपुराण पर सर्वाङ्गीण विचार करके डॉ. आर. सी. हाजरा ने एक विद्वत् प्रशंसित निबन्ध प्रकाशित किया है। अग्निपुराण के विषय में विशेष जिज्ञासुओं को यह निबन्ध अवश्य देखना चाहिये।

प्रचलित अग्निपुराण का वैशिष्ट्य

पुनः वे कहते हैं कि उपर्युक्त आग्नेयपुराण के अतिरिक्त अन्य भी अग्निपुराण (कथतिच् सदृश) थे—यह निश्चित है। चूँकि ये अनुपलब्ध हैं, अतः इन पर कुछ विचार नहीं किया जा सकता। आग्नेयपुराण पर भी विवाद करना व्यर्थ है, क्योंकि यह अभी तक अमुद्रित है।

अग्निपुराण के नाम से जो पुराण आजकल प्रचलित है (जिसके संस्करण आनन्दाश्रम एवं वेंकटेश्वर प्रेस से देवनागरी लिपि में तथा कलकत्ता के वङ्गवासी प्रेस से बँगलालिपि में प्रकाशित हुए हैं), उस पुराण के विषय में हम मुख्य रूप से कुछ चर्चा करना चाहते हैं।

प्रचलित अग्निपुराण (जो मूलतः अग्नि-वसिष्ठ संवाद में है) अपने को 'विद्यासागर' कहता है (१।६।, १।७, १।१३)। इस पुराण में सभी विद्याएँ प्रदर्शित हुई हैं–३८३।५२ में कहा गया है। अग्निदेवता से उपदेश पाने के बाद वसिष्ठ स्वयं भी व्यास को कहते हैं कि 'मैं दोनों प्रकार के ब्रह्म को कहूँगा।' (१।८)। इन कथनों से ज्ञात होता है कि इस पुराण का मुख्य प्रतिपाद्य विषय है–'नानाविध विद्याएँ।' पुराणपरम्परा में प्रसिद्ध 'पञ्चलक्षण' (सर्ग, प्रतिसर्ग, वंश, मन्वन्तर तथा वंश्यानुचरित; वंशानुचरित शब्द असंगत है) इस पुराण में गौण हैं, यद्यपि इन पाँच विषयों का प्रतिपादन भी विभिन्न अध्यायों में मिलता है। अग्निपुराण का गौरव विविध विद्याओं का प्रतिपादन करने में ही है। गरुड़ एवं नारदीयपुराणों में भी विद्याओं का विवरण मिलता है, पर अग्निपुराण में यह विवरण अधिक मात्रा में हैं–यह प्रत्यक्षतः देखा जा सकता है।

अग्निपुराण के विषयों का क्रमबद्ध निर्देश

अग्निपुराण में जिस क्रम के अनुसार विषयों का प्रतिपादन किया गया है, उसका एक स्पष्ट विवरण नारदीयपुराण (पूर्वार्द्ध ९९।१-२) में मिलता है। नारदीय-पुराणोक्त क्रम के साथ प्रचलित अग्निपुराण का विषयक्रम सर्वथा समान नहीं है। इससे यह अनुमित होता है कि सूचीकार ने जिस अग्निपुराण को देखा था, वह प्रचलित अग्निपुराण से थोड़ा-बहुत भिन्न था। सूचीकार के द्वारा दृष्ट अग्निपुराण ने पुनः सम्पादित (परिवर्तन-परिवर्द्धन-परिवर्जन से युक्त) होकर वर्तमान अग्निपुराण का रूप लिया है–यह कहना असंगत नहीं है।

प्रचलित अग्निपुराण में जिन विषयों की चर्चा की गयी है उन विषयों का क्रमबद्ध निर्देश अग्निपुराण के ३८३ (अन्तिम अध्याय) में किया गया है। श्लोक (५२-६४)। ऐसा प्रतीत होता है कि यह सूची प्रचलित अग्निपुराण को देखकर लिखी गयी है और पुराण के अन्तिम अध्याय के रूप में इस सूची को रखा गया है। सूची रचा के बाद भ॰ पुराण में ईषत् परिवर्तन हुआ है; क्योंकि सूची में पूर्वमीमांसा और न्यासविस्तर का उल्लेख है (श्लोक ६०), पर ये विष प्रचलित अग्निपुराण में नहीं मिलते।

अग्निपुराण का रचना काल

प्रत्येक पुराण का रचना काल सामान्यतः इतना विवादास्पद है कि 'भूमिका' में इस पर विचार नहीं किया जा सकता। सामान्य रूप से यह कहा जा सकता है कि चूँकि वल्लालसेन (इसवीय १२वीं शती का मध्य) को प्रचलित अग्नि-पुराण ज्ञात था, अतः यह पुराण उनसे कई शताब्दियों से पहले प्रणीत हुआ था। 'कितनी शताब्दियों से पहले' इसका अवधारण करना दुष्कर है। आधुनिक गवेषक विद्वानों का अनुमान है कि अग्निपुराण का रचना-काल ईसवीय सप्तम शताब्दी के बाद का है। कुछ विद्वानों के अनुसार यह पुराण ईसवीय नवम शताब्दी में या उससे कुछ काल बाद रचित हुआ था।

इस विषय में यह स्पष्टतया ज्ञातव्य है कि नवम शताब्दी अथवा उससे किञ्चित् पूर्व या पश्चात् काल की रचना होने पर भी अग्निपुराण के सभी श्लोक अग्निपुराण-रचना-काल में ही रचित हुए हैं–ऐसा समझना चाहिए। 'पुराण-रचना-काल' का अर्थ है–पुराण के अन्तिम सम्पादन का काल–यद्यपि सम्पादित सामग्री सम्पादन-काल की ही है, ऐसी बात नहीं। इसमें अणुमात्र संशय नहीं है कि अग्निपुराण के अनेक प्रकरण प्राचीन-प्राचीनतर ग्रन्थों के आधार पर (बहुधा उन ग्रन्थों के वाक्यों का ही प्रयोग कर) देश-काल-सम्प्रदायानुसार अल्प या अधिक परिवर्तन (जिसमें परिवर्धन एवं परिवर्जन दोनों हैं) के साथ लिखे गये हैं। विद्वानों का कहना है कि इस पुराण का तान्त्रिक कर्म-प्रतिपादक अंश अपेक्षाकृत अर्वाचीन है। अग्निपुराण के रचना काल के विषय में इतना ही कहना पर्याप्त है।

अग्निपुराणोक्त विषय

चूँकि अग्निपुराण अपना परिचय विविध विद्याओं के संग्राहक के रूप में देता है, इसलिए इस पुराण में प्रतिपादित विषयों पर विचार करना हम सर्वाधिक आवश्यक समझते हैं। प्रस्तुत भूमिका में इन विषयों पर विस्तृत विचार करना सम्भव नहीं है। हम यहाँ पुराणोक्त कुछ विशिष्ट बातों का ही उल्लेख करेंगे, जिससे पाठकों का ध्यान इन विषयों पर आकृष्ट हो।

अध्याय १ में ऋषियों के प्रश्न के उत्तर में सूत ने शब्दब्रह्म (ऋग्वेदादिशास्त्र) एवं परब्रह्म (ब्रह्मविद्या) रूप द्विविध विद्या का परिचय दिया है (५-९)। यह भी कहा गया है कि यह मत 'आथवर्णी श्रुति' का है। यह कथन सत्य है; क्योंकि अथर्ववेदीय मुण्डक उपनिषद् (५।४-५) पुराणवाक्य का आधार है। १५-१८ श्लोकों में १८ अपरा विद्याओं के नाम हैं–चार वेद, छह अङ्ग, ज्योतिष, छन्दःशास्त्र (छन्द है अभिधान = नाम जिसका वह छन्दोऽभिधान–छन्दःशास्त्र), मीमांसा, धर्मशास्त्र, पुराण, न्याय, वैद्यक, गानर्व, धनुर्वेद तथा अर्थशास्त्र। यहाँ यह ध्यान देने की बात है कि उपर्युक्त मुण्डकवाक्य में चार वेद और छह अंगों का ही निर्देश है, मीमांसा, धर्मशास्त्र आदि आठ शास्त्रों का नहीं। यह निश्चित है कि पुराणवाक्य का आधार मुण्डक उपनिषद् है (अग्नि १।१७ख, १८ के साथ मुण्डक १-१।५-६) तुलनीय है) और यह भी निश्चित है कि पुराणोक्त विद्यागणना (अष्टादश विद्यागणना) परम्परा-प्रसिद्ध है। अतः यह प्रश्न स्वाभाविक रूप से उठता है कि पुराणकार ने मुण्डक उपनिषद् को अपने आधार के रूप में क्यों कहा?

प्रतीत होता है कि मुण्डक उपनिषद् का ऐसा भी कोई पाठ प्रचलित था, जिसमें चार वेद और छह अंगों के अतिरिक्त मीमांसा आदि की गणना भी की गयी थी और अग्निपुराणकार ने उस पाठ के अनुसार उपर्युक्त मत को कहा है। यह मत काल्पनिक नहीं है, क्योंकि न्यायवार्त्तिक की भूमिका में पं. विन्ध्येश्वरीप्रसाद द्विवेदी ने कहा है कि उन्होंने मुण्डक का ऐसा हस्तलेख देखा है जिसमें अपराविद्या की गणना के वेद-वेदाङ्गों के साथ मीमांसादि शास्त्रों के नाम भी गिनाये गये हैं (पृ. २०)।

अ० २-१६ में विभिन्न अवतारों का विवरण इन अध्यायों में दिया गया है। मत्स्यावतार के प्रसंग में कृतमाला नदी का उल्लेख है, जो भागवत (८।१४।१२) में भी मिलता है, यद्यपि इस कथा के वैदिक मूल (शतपथ ब्राह्मण १।८।१।१।) में इस नदी का कोई उल्लेख नहीं है। सम्भवतः अग्निपुराण का आधार भागवतपुराण ही है (महाभारत वनपर्व में इसी प्रसंग में चारिणी नदी का उल्लेख है, १७७।६)। मत्स्य ने वेदापहरणकारी हयग्रीव दानव का भी वध किया थज्ञ, हय २।१६-१७ में कहा गया है। कूर्मावतार की घटना वाराहकल्प की है, यह २।१७ में कहा गया है। अ० ४ में वराह, नरसिंह, वामन तथा परशुराम (४।१६ में 'राम' शब्द प्रयुक्त हुआ है, जो इनका प्रकृतनाम है; परशुयुक्त राम = परशुराम) की कथाएँ हैं। ये कथाएँ अन्यान्य पुराणों में भी हैं; अग्निपुराण के विवरण में कोई वैशिष्ट्य नहीं है।

अध्याय ५-११ में रामावतार की कथा है। यहाँ का विवरण सप्त-काण्डयुत वाल्मीकि-रामयण पर पूर्णतया आधारित है। पुराण के कितने ही वाक्यांश हैं, जो रामायण में अविकल रूपसे या ईषत् पाठभेद के साथ मिलते हैं। यह लक्षणीय है कि गुह का उल्लेख (६।३) रहने पर भी शबरी का कोई उल्लेख अग्निपुराण में नहीं मिलता। अध्याय १२ में कृष्णावतार का वर्णन है। यहाँ 'हरिवंशं' प्रवक्ष्यामि (१२।१) कहा गया है, हरिवंश का अर्थ है–हरि का वंश, न कि हरिवंश नामक पुराण। कृष्ण का जो चरित विष्णुपुराण (अ. ४), ब्रह्मपुराण (अ. १८०-२१२), हरिवंशपुराण (विष्णुपुराण) और भागवत में है, उसका संक्षिप्त-सार यहाँ कहा गया है। कृष्णानुरक्त गोपियों का उल्लेख १२।२३ में है, यद्यपि राधा का नाम नहीं है।

अ. १३-१५ में भारत-कथा (महाभारत की मूल घटना) दी गयी है–'भारतं संप्रवक्ष्यामि' कहा गया है (१३।१), 'महाभारतम्' नहीं। इससे यह अुमित हो सकता है कि २४ सहस्रश्लोकमय जो भारतसंहिता थी, उसका सार

यहाँ दिया गया है। पर यह अनुमान सुदृढ़ नहीं है; क्योंकि अग्निपुराण के रचना-काल में भारतग्रन्थ प्रचलित था-ऐसा मानना कनि है। यह हो सकता है कि परम्परा में भरतवंशियों की जो कथा ज्ञात थी, उसके आधार पर यह श्लोकबद्ध प्रकरण लिखा गया है। गीता का उपदेश अ. १४ में लक्षित हुआ है।

अ. १६ में बुद्ध और कल्कि का वर्णन है। बुद्ध को दैत्यमोहकर एवं शुद्धोदनसुत कहा गया है। कलियुगान्त में आविर्भूत होने वाले कल्कि के प्रसंग में दो बातें कही गयी हैं, जो अस्पष्ट हैं-(१) कलियुगान्त में वाजयसनेयक वेद की पन्द्रह शाखाओं की स्थिति तथा (२) याज्ञवल्क्य को कल्कि का पुरोहित मानना।

(अ. १७-२०) अ. १७ में जगत् -सृष्टि, अ. १८ में स्वायंभुवमनु (प्रथम मनु) के वंशजों के नाम तथा अ. १९ में कश्यप के वंशजों के नाम कहे गये हैं। १९।२३-२९ में राज्यप्रदान का विवरण (किसको किस विषय का अधिपति बनागया गया-इसका विवरण) है। यह विषय गीता (अ. १०) में भी है (अमुकों में मैं अमुक हूँ-इस प्रकार का उल्लेख करके)। गीता में जहाँ 'मरीचिर्मरुतामस्मि' (१०-११) कहा गया है, वहाँ पुराण में 'मरुतां वासवः प्रभुः' कहा गया है (१९-२४), प्रह्लाद को दानवाधिप कहा गया है (१९।२४), यद्यपि जातितः प्रह्लाद दैत्य है (दिति-गर्भज हिरण्यकशिपु के पुत्र होने के कारण)। गीता में उचित ही कहा गया है-'प्रह्लादश्चास्मि दैत्यानाम्' (१०।३०) अ. २० में प्राकृत आदि सर्गों का उल्लेख तथा भृगु, मरीचि आदि के वंशों का विवरण है। उपर्युक्त सभी विषय अन्यान्य पुराणों में भी हैं। अग्निपुराणगत विवरण अत्यल्प है तथा इस विवरण में कोई वैशिष्ट्य नहीं है।

(अ. २१-१०६) अनेक स्मार्त एवं तान्त्रिक कर्मों का विवरण इन अध्यायों में मिलता है। यह विवरण तन्त्र एवं स्मृतिग्रन्थों पर आधारित है। आधार ग्रन्थों की तुलना में पुराण का विवरण अनेकत्र संक्षिप्त एवं सामान्य है। इन अध्यायों में विभिन्न देवताओं की सामान्य पूजा (स्नान आदि कर्मों के वर्णनों के साथ) तथा प्रतिष्ठाविधि (वास्तपूजा, प्रासाद में देवतास्थापन, प्रतिमाओं के लक्षण, शालिग्रामों के लक्षण, शान्तिकर्म, अधिवास, ध्वजारोपण, होम, दीक्षा आदि के साथ) कही गयी है।

यहाँ कुछ विशिष्ट बातें मिलती हैं, यथा-हयशीर्ष आदि २५ तन्त्रों के नाम (अ. ३९), स्मार्त कर्मों के प्रसंग में अनेक वैदिक मन्त्र, सूक्त आदि का उल्लेख (अ. ५६, ५८, ६०, ६१, ६२, ६४, ६६, ६७) है, ये सभी मन्त्र आदि वैदिक ग्रन्थ एवं सूत्रग्रन्थों में मिल जाते हैं। पुस्तक-लेखन की चर्चा ६३।१३-१६ में है। यहाँ रौप्य आधार में स्वर्णनिर्मित लेखनी से नागराक्षर लिखने का उल्लेख है। 'गर्गविद्या' शब्द का प्रयोग ६५।७ में है, इसका अर्थ है-गृह-प्रासादादि निर्माण का शास्त्र। वास्तुशास्त्र से तथा बृहत्संहिताग्रन्थ से ज्ञाता होता है कि गर्ग इस विद्या के आचार्य थे।

दीक्षा के प्रसंग में अनेक तान्त्रिक मन्त्र भी उद्धृत हुए हैं। (मन्त्रों का पाठ तन्त्रग्रन्थ के आधार पर कहीं-कहीं संशोधनीय है)। तन्त्र की गूढ़ बातें (जैसे शक्तिपात, ८८।५६-६१) यहाँ कही गयी है।

(अ. १०७-१२०) स्वायंभुवमनु (प्रथम मनु) का वंश, तीर्थ एं भ्कवनकोश यहाँ प्रतिपादित हुए हैं। स्वायंभुवमनु के वंशजों ने पृथिवी को सात द्वीपों में बाँटकर राज्य किया था-यह पुराणप्रसिद्ध मत है। इन द्वीपों (जम्बू आदि) के वर्ष, नदी, पर्वत आदि का विवरण पुराणीय भुवनकोश का मुख्य विषय है। अग्निपुराण का विवरण संक्षिप्त है। यहाँ यह महत्त्वपूर्ण सूचना दी गयी है कि स्वायंभुववंशीय भरत के नाम से इस देश का नाम भारत (वर्ष) पड़ा था (१०७।१२)। प्रायः सभी पुराणां में यह मत मिलता है। शकुन्तलापुत्र भरत के नाम से इस देश का नाम भारत हुआ था-यह मत पुराणों द्वारा कथमपि समर्थित नहीं होता है-यह ज्ञातव्य है। भरत का उल्लेख १०७ अ. में है, उनका चरित ३८० अ. में द्रष्टव्य है। इस पुराण में भुवनकोश का प्रारम्भिक विवरण १०७-१०८ अ. में दिया गया है, अ. ११८-१२० में भारतवर्ष, प्लक्ष आदि द्वीप तथा पाताल आदि का विवरण दिया गया है। अग्निपुराण के विवरण में कोई विशिष्ट बात नहीं मिलती।

अग्निपुराण में तीर्थपरक विवरण विस्तृत नहीं है। अ. १०९ में तीर्थों की गणा, अ. ११० में गंगा का माहात्म्य, अ. १११ में प्रयाग माहात्म्य, अ. ११२ में वाराणसी माहात्म्य, अ. ११३ में नर्मदा-महात्म्य, अ. ११४-११६ में गया-महात्म्य कहे गये हैं। इन अध्यायों के कुछ श्लोकों का तात्पर्य स्पष्टीकरणयी है (यथा १११।४), कहीं-कहीं यात्राविधि भी कही गयी है। वाराणसी-माहात्म्य में अष्ट गुह्येश्वर की गणना है (११२।३-५)। पर गिनने पर सात नाम होते हैं। हिन्दी अनुवादक ने भूमि और चण्डेश्वर को दो नाम मानकर आठ संख्या की पूर्ति की है, जो विचारणीय है। गयातीर्थ के प्रसंग में महाबोधितरु का उल्लेख है (११५।३२)। अन्य पुराणों में भी इसी प्रकरण में इसका उल्लेख मिलता है। गया के प्रसंग में ही चार प्रकार की मुक्ति कही गयी है।

कात्यायन द्वारा प्रोक्त श्राद्धकल्प का उल्लेख ११७।१ में है। चूँकि गयातीर्थ के साथ श्राद्ध का निकटतम सम्बन्ध है, अतः गयातीर्थ के बाद श्राद्ध का प्रसंग किया गया है-ऐसा स्पष्ट प्रतीत होता है। कात्यायन नामक ऋषि का कोई श्राद्धसूत्र था-यह वैदिकपरम्परा में प्रसिद्ध है, निबन्धग्रन्थों में इस ग्रन्थ के वाक्य उद्धृत हुए हैं।

(अ. १२१-१४३) फलित ज्योतिष, युद्धजयार्णव, नानाविध मन्त्र, ओषधि एवं तान्त्रिक कर्म इन अध्यायों में कहे गये हैं। अ. १२३-१३९ में युद्धजयार्णव है, युद्ध में विजय-प्राप्ति के लिए जि तान्त्रिक कर्मों का अनुष्ठान किया जाता है, वे यहाँ कहे गये हैं। युद्धजयार्णव नामक कोई ग्रन्थ अवश्य था, क्योंकि निबन्धग्रन्थों में इस ग्रन्थ का उल्लेख मिलता है। यहाँ जो कुब्जा-पूजा और त्वरिता-पूजा का उल्लेख है, उनका विशेष विवरण तन्त्रग्रन्थों में द्रष्टव्य है (द्र. कृष्णानद आगमवागीश-कृत तन्त्रसार)। इन अध्यायों में कुछ विशिष्ट बातें कही गयी हैं-(१) जरामृत्युनाशक ३६ औषधियों की एक सूची १४१।१-५ में दी गयी है, (२) अश्विनी, भरणी, कृत्तिका, रोहिणी आदि नक्षत्रों के संक्षिप्त नाम (अ., भ. कृ. रो. आदि) १३६।७-८ में कहे गये हैं।

(अ. १५०) स्वायंभुव, स्वारोचिष आदि चौदह मन्वन्तरों का जैसा विवरण अन्य पुराणों में मिलता है, वही यहाँ भी है। अध्यायान्त में एक वेद के चतुर्धाकरण का तथा ऋक् आदि चार वेदों की शाखाओं का अतिसंक्षिप्त उल्लेख मिलता है। यहाँ यजुर्वेद की २७ शाखाएँ हैं-ऐसा कहा गया है (१५०-२७)। इस मत का मूल अवेषणीय है। वेदशाखाविवरणपरक चरणव्यूहग्रन्थ में 'यजुर्वेदस्य चतुर्विंशतिभेदा भवन्ति' कहा गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि 'सप्तविंशतिभेद' माने वाली भी कोई वैदिक परम्परा थी। अथर्ववेदीय शाखा के प्रसंग में पिप्पलाद आदि शाखाकार आचार्यों का उल्लेख है (पैप्पलादीन् सहस्रशः, १५०।३०, 'पैप्पलादीन्' के स्थान पर 'पिप्पलादीन्' होना चाहिए-'पिप्पलाद' ही ऋषि का नाम है, पैप्पलाद नहीं)।

(अ. १५१-२१७) वर्णाश्रम-धर्म तथा व्रत आदि का विशद विवरण इन अध्यायों में मिलता है। इस विवरण में कोई वैशिष्ट्य नहीं है, मनु, याज्ञवल्क्य आदि के वाक्य अविकलरूप से या अल्पाधिक परिवर्तन के साथ यहाँ मिलते हैं। कहीं-कहीं भ्रष्ट पाठ भी है।

अग्निपुराण में 'पञ्चधा' धर्म कहा गया है (१६६।१)। वर्ण, आश्रम, वर्णाश्रम, गुण और नैमित्तिक रूप पाँच भेद स्वीकृत हुए हैं। यह दृष्टि परम्परास्वीकृत है (द्र. मनुस्मृति २।५ का मेधातिथिकृत भाष्य)। यह ज्ञातव्य है कि पुराणों में वर्णित धर्मकृत्य पृथक्-पृथक् शाखा पर प्रायेण प्रतिष्ठित होता है। यही कारण है कि कर्मानुष्ठानसम्बन्धी पौराणिक मतों में कभी-कभी भिन्नता पायी जाती है, उदाहरणार्थ अग्निपुराण में बृहस्पति का मन्त्र 'बृहस्पते अतियदर्यो......' (ऋग्वेद २।२३।१५) है (१६४।७), जबकि मत्स्यपुराण (१३।३५) में 'बृहस्पते परिदीया.....' (ऋग्वेद १०।१०३।४) है।

व्रत के प्रसंग में यह कहा गया है कि व्रत को क्यों 'तपः' या 'नियम' कहा जाता है (१७५।२-३)। इस पुराण में तिथि के अनुसार व्रतों का विवरण दिया गया है और बाद में 'नक्षत्रव्रत', 'दिवसव्रत' आदि का विवरण है। प्रत्येक व्रत के साथ सम्बन्धित पूजा, उपवास आदि भी उल्लिखित हुए हैं। दोनों का विवरण अ. २१० में है, प्रकरण के अन्त में सन्ध्या एवं गायत्री का विवरण दिया गया है।

गायत्री का अर्थ अ. २१५ में सविस्तार में दिया गया है। इस प्रसंग में एक विशेष बात ज्ञातव्य है। गायत्री मन्त्र (ऋग्वेद ३।६२।१०) में जो 'प्रचोदयात्' शब्द है, वह लोट् लकार का रूप है, विधिलिङ्ग का हीं, पर अग्निपुराण में 'प्रचोदयात्' की व्याख्या 'प्रेरयेत्' शब्द से की गयी है, जो विधिलिङ्ग का रूप है। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि पुराणकार को यहाँ भ्रम हुआ है।

(अ. २१८-२४२) राजनीति-राजधर्म का प्रतिपादन इन अध्यायों में किया गया है। अ. २१८-२३७ में वक्ता पुष्कर हैं और श्रोता राम अर्थात् परशुराम (भार्गवराम) हैं, दाशरथि राम नहीं। इन अध्यायों में राजा का अभिषेक, सहाय-सम्पत्ति, भृत्य आदि के कर्त्तव्य, दुर्ग, राज्यपालन, अन्तःपुर-व्यवस्था, साम-दाम-दण्ड-भेद, युद्ध, शकुन (शुभाशुभसूचक-चिह्न), षाड्गुण्य (सन्धि, विग्रह आदि) तथा प्रात्यहिक राजकर्म आदि का विशद विवरण दिया गया है। अ. २३८-२४२ पर्यन्त रामप्रोक्त राजनीति है (लक्ष्मण के प्रति प्रोक्त)। इसमें सात अंग (स्वामी, अमात्य, राष्ट्र आदि) एवं सन्धि आदि छह गुणों के साथ तीन शक्तियों (प्रभाव-मन्त्र-उत्साह-शक्ति) राज्यव्यसन, सामादि उपाय एवं षड्विध बलों की विस्तृत चर्चा की गयी है।

दोनों नीतियों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि राजनीति कामन्दकीय नीतिसार का अतिसंक्षिप्त रूप है; तथा पुष्करोक्त नीति की अपेक्षा इसमें कौटिल्य की चिन्ताधारा अधिक मात्रा में प्रतिफलित हुई है।

(अ. २४३-२४५) अ. २४३-२४४ में समुद्र नामक आचार्य के द्वारा प्रोक्त स्त्री-पुरुष-लक्षणशास्त्र का सार कहा गया है। यह सामुद्रिक विद्या कहलाता है। शरीर का कौंन अंग किस प्रकार का होने पर किस भाव (शुभ-अशुभ) का सूचक होता है-यह इस शास्त्र में दिखाया जाता है। यह 'अङ्गविद्या' बहुत प्राचीन है। पाणिनि के गणपाठ (४-३-७३) में इस विद्या का निर्देश है। लक्षणप्रकाश आदि ग्रन्थों में इस शास्त्र के अनेक वाक्य उद्धृत मिलते हैं। अ. २४५ में चामर, खड्ग आदि के विषय में कई ज्ञातव्य बातें कही गयी हैं; यथा-किस देश के खड्ग का वैशिष्ट्य क्या है, यह २४५।२२ में उल्लिखित हुआ है।

(अ. २४६-२४८) विभिन्न दलों के लक्षण, वास्तु (गृहनिर्माणार्थ भूमि) के लक्षण तथा पूजा में उपयोगी पुष्पों के विवरण यहाँ दिये गये हैं।

(अ. २४९-२५२) इन अध्यायों में धनुर्वेद का स्पष्ट विवरण दिया गया है। वैशम्पायन आदि के प्राचीन धनुर्वेदविषयक ग्रन्थ लुप्त हो गये हैं। वासिष्ठी धनुर्वेदसंहिता प्रचलित है, पर वह अत्यनत प्राचीन ग्रन्थ प्रतीत नही होता (इस ग्रन्थ का बँगला अनुवाद प्रकाशित हो चुका है)। कोदण्डमण्डन-ग्रन्थ बँगला लिपि में सानुवाद प्रकाशित है, पर यह बहुत ही अर्वाचीन ग्रन्थ है। युक्तिकल्पतरु आदि कुछ ग्रन्थों में इस शास्त्र का अल्प विवरण मिला जाता है। ऐसी स्थिति में अग्निपुराणोक्त धनुर्वेद महत्त्वपूर्ण है; क्योंकि यहाँ का विवरण अपेक्षाकृत विशद है। कामन्दकीय नीतिसार का कुछ प्रभाव भी पुराणोक्त विवरण में देखा जाता है। चतुरङ्गबल प्रसिद्ध है, अग्निपुराण में अस्त्रहीन योद्धा को पञ्चम बल माना गया है। योद्धाओं के आसनों के नामों में कुछ भिन्नता मिलती है।

(अ. २५९-२६२) स्मृतिशास्त्रीय व्यवहार-प्रकरण का एक सारवान् विवरण इन अध्ययों में दिया गया है। जिन विषयों को लेकर विवाद, हिंसा आदि कर्म किये जाते हैं, वे 'व्यवहार' के विषय हैं। ऋण, साक्ष्य, सम्पत्तिविभाग, सीमा,परुषवाक्य आदि से सम्बन्धित व्यवहार व्यवहारप्रकरण में विचारित होते हैं। अग्निपुराण का यह प्रकरण याज्ञवल्यक्यस्मृतिगत व्यवहारप्रकरण पर अधिकांशतः आधारित है; कहीं-कहीं नारदस्मृति का भी अनुसरण किया गया है-ऐसा विद्वानों का कहना है।

(अ. २५९-२६२) ऋग्-यजुः-साम-अथर्ववेदों के मन्त्र-सूक्त-अनुवादक आदि का विनियोग (कर्मों में

प्रयोग) इन अध्यायों में दिखाया गया है। यह प्रकरण ऋग्विधान आदि ग्रन्थों पर प्रतिष्ठित है। खेद है कि इन अध्यायों के पाठ अनेकत्र भ्रष्ट हो गये हैं। कुछ शब्द अस्पष्ट हैं, यथा–एकचक्रा (२६०-८१), तनूनन्पाग्ने सदिति (२६०-१५)। विनियोग के लिए ऋषि, देवता, छन्द का ज्ञान चाहिये–इस वैदिक दृष्टि का उल्लेख २६२-२५ में किया गया है।

(अ. २६३-२७०) उत्पातशान्ति, पूजा, वैश्वदेव-बलि, स्नान, होम, नीराजन (एक प्रकार का कर्म जो युद्ध से पहले राजा के द्वारा अनुष्ठित होता है।) आदि यहाँ कहे गये हैं। स्मृति आदि शास्त्रों में इन कर्मों का जो विवरण है, इस पर ही पुराण का विवरण आधारित है। कहीं-कहीं मन्त्रादि के पाठ में भ्रंश है। 'स्रावन्तीयं...' (२६३।२) का प्रकृत पाठ 'श्रायन्तीयं...' होगा। यह 'श्रायन्त इव सूर्यम्......' इस सामवेदीय मन्त्र (२६७ स्वाध्यायमण्डल संस्क०)पर गायीजाने वाली गीति का नाम है। २६९।४ में कुमुद, ऐरावत (ऐरावण पाठ भ्रष्ट है) आदि दिग्गजों के नाम कहे गये हैं (अमरकोश, दिग्वर्ग ५); इनकों यहाँ 'देवयोनि' कहा गया है। अवश्य ही 'देवयोनि' पाठ भ्रष्ट है; क्योंकि अन्यान्य ग्रन्थों में भी कुमुद आदि को 'दिग्गज' ही कहा गया है।

(अ. २७१-२७२) वेद की शाखाओं तथा अट्ठारह पुराणों का विवरण यहाँ दिया गया है। चारों वेदों के मन्त्रों की संख्या एक लाख कही गयी है (२७१।१)। यह मत परम्परागत है; क्योंकि चरणव्यूह में 'लक्षं तु चतुरो वेदाः' कहा गया है। 'शत साहस्र समित' (अर्थात् एक लाख परिमाण वाले) वेद का उल्लेख विष्णुपुराण ३।४।१ में मिलता है। यह गणना किस रीति से की गयी है–यह अज्ञात है। ऐसी एक प्रसिद्धि है कि वेद के ८०००० मन्त्र कर्मकाण्डपरक, १५००० मन्त्र उपासनापरक तथा ५००० मन्त्र ज्ञानपरक हैं। इस प्रसिद्धि की संगति चिन्तनीय है। यहाँ ऋग्वेदीय मन्त्र के परिमाण के विषय में 'यतानि दश' (१०००) कहा गया है (२७१।२), जो प्रायः सत्य है। ऋग्वेदीय ब्राह्मण के परिमाण के विषय में जो कहा गया है (ब्राह्मणं द्विसस्रकम्), वह परीक्षणीय है। इस पुराण में ऋग्वेद ही आश्वलायन शाखा एवं शङ्खायन शाखा का उल्लेख है (२७१।२)। वायु आदि पुराणों के शाखा प्रकरण में ये नाम नहीं मिलते हैं। कुछ विद्वानों का कहना है कि ये दो शाखाएँ कृष्णद्वैपायन की परम्परा में कृत शाखाविभाग का ही विवरण दिया गया है। चारों वेदों की शाखा आदि के मुद्रित नामों में कई भ्रष्ट पाठ हैं।

मूल पुराण संहिता (जिसको व्यास ने बनाकर लोमहर्षण को पढ़ाया) का उल्लेख २७१।११-१२ में मिलता है। छह आदिम पुराणाचार्यों के नामों के पाठ कुछ भ्रष्ट हो गये हैं–शिंशपायन शांशपायन होगा, कृतव्रण अकृतव्रण होगा।

यहाँ १८ पुराणों में प्रत्येक का जो श्लोकपरिमाण कहा गया है (२७२।१-२३), उसका पूर्णयोग ३४०००० (तीन लाख चालीस हजार) होता है–चार लाख नहीं। पुराणों के श्लोकपरिमाण सांशयिक हैं–पद्मपुराण का श्लोकपरिमाण १२००० कहा गया है, जो अन्यत्र नहीं मिलता। पद्मपुराण का जो प्रचलित रूप है, उसमें न्यूनाधिक ५००० श्लोक निश्चयेन हैं। सम्भवतः पद्मपुराण के श्लोक परिमाण का मुद्रित पाठ भ्रष्ट है।

(अ. २७३-२७८) सूर्य एवं सोम वंशों (ये दो राजवंश हैं) का धारावाहिक विवरण यहाँ दिया गया है। इस विवरण में अग्निपुराण का कोई वैशिष्ट्य नहीं है। यह विवरण प्राचीन प्रतीत होता है। अनेक नये श्लोक बनाकर पुराणकार ने इस प्रकरण की रचना की है। कान्यकुब्ज एवं काशी वंश के विवरण में कई भ्रान्तियाँ लक्षित होती हैं।

इन अध्यायों में कई नाम भ्रष्ट रूप से मुद्रित हुए हैं। एक उदारहण लें–गङ्गायां शन्तनोर्भीष्मः काल्यायां चित्रवीर्यकः। कृष्णद्वैपायनश्चैव क्षेत्र वैचित्र-वीर्यके।। (२७८।३६)। इन श्लोकों में 'काल्कायां' के स्थान पर 'काल्यां' पाठ होगा तथा 'वैचित्रवीर्यके' एक शब्द होगा।

यहाँ शकुन्तलापुत्र भरत के विषय में कहा गया है–दुष्यन्ताद् भरतोऽभवत्। शकुन्तलायां तु बली यस्य नाम्ना तु भारतः (२७८।६-७)। 'भारताः' का अर्थ है–'भारत जनाः'–भारत नामक जनसमुदाय (क्षत्रियगण)। इससे स्पष्ट है

कि पुराणकार के अनुसार इस देश का 'भार' नाम शकुन्तलापुत्र के नाम के अनुसार नहीं पड़ा। सभी पुराणों के अनुसार इस नाम का हेतु है—स्वायंभुवमनुवंशीय भरत, जो भारतवर्ष के अधिपति थे।

(अ. २७९-२८६) धन्वन्तरि ने सुश्रुत के प्रति जो आयुर्वेदविषयक सिद्धान्त कहा, वह यहाँ प्रतिपादित हुआ है। मनुष्य, अश्व तथा हस्ती के रोग, रोगों की चिकित्सा तथा अन्यान्य आवश्यक विषय संक्षेप-विस्तार के साथ कहे गये हैं। यह विवरण वाग्भट-कृत अष्टाङ्गहृदय पर मुख्यतया आधारित है।

(अ. २८७।२९२) अङ्गराज लोमपाद (१८६।२४) के प्रति 'हस्तिशास्त्रविद्' पालकाप्य ने जो कहा, उसका सार यहाँ दिया गया है। पालकाप्य का ग्रन्थ प्रसिद्ध रहा है। उनका हस्त्यायुर्वेदपरक ग्रन्थ मुद्रित हुआ है। कुमारिल भट्ट के तन्त्रवार्तिक में इस ग्रन्थ का वाक्य उद्धृत हुआ है (पृ. २५९, आनन्दाश्रम संस्करण)।

अश्वायुर्वेद के दो वक्ता हैं—धन्वन्तरि (अ. २८८) तथा शालिहोत्र (अ. २८९-२९१)। गजशान्ति (अ. २९१) के वक्ता भी शालिहोत्र हैं। अद्भुत सागर ग्रन्थ में शालिहोत्र के मत उद्धृत हुए हैं। धन्वन्तरि द्वारा प्रोक्त आयर्वेद का विवरण अ. २९२ में मिलता है। वहाँ गोचिकित्सा के साथ गोपरक शान्ति कर्म भी उक्त हुआ है।

(अ. २३९-२३७) नानाविध (वैदिक एवं तान्त्रिक) मन्त्रों के प्रयोग तथा मन्त्रसिद्धि के उपाय यहाँ कहे गये हैं। अ. २९५ में मन्त्रप्रयोग द्वारा सर्पदंश की चिकित्सा कही गयी है, इस अध्याय में विषसम्बन्धी आवश्यक बातें मिलती हैं। स्तम्भनादि-षट्कर्मपरक मन्त्र अ. ३१५ में हैं।

(अ. ३२८-३३५) छन्दःशास्त्रपरक जो विवरण यहाँ दिया गया है, वह पिङ्गलछन्द सूत्र पर आधारित है। छन्दःसूत्र के विषयक्रम का भी अनुसरण अनेक स्थानों पर किया गया है—यह देखा जाता है। छन्द सम्बन्धी गण, छन्दों के देवता, पाद, उत्कृति आदि छन्दोभेद, सम-अर्धसम-विषम रूप तीन छन्द-प्रकार, यति तथा प्रस्तार का विशद् विवरण यहाँ मिलता है।

कुछ श्लोकों के पाठ भ्रष्ट हैं। ३३०।९ (स्कन्धो ग्रीवा........) का पाठ भ्रष्ट है, शुद्ध पाठ होगा—'स्कन्धोग्रीवी क्रौष्टुकेः स्याद् यास्कस्योरोबृहत्यपिः; द्र. छन्दः सूत्र ३।२९-३०।३३४।२६ में मत्तक्रीडा नाम छपा है, जो मत्ता क्रीडा होगा (द्र. छन्दः सूत्र ७।२८), उसी प्रकार ३३४।२९ में जो 'दण्डपः' शब्द है, वह दण्डकः होगा।

(अ. ३३६) शिक्षा ('वर्णोच्चारणशास्त्र') परक यह अध्याय श्लोकात्मक पाणिनीय शिक्षा पर आधारित है—यह स्पष्टतया प्रतीत होता है।

डॉ. मनमोहन घोष द्वारा सम्पादित 'पाणिनीय शिक्षा' (कलकत्ता विश्वविद्यालय द्वारा प्रकाशित) में इस शिक्षा-अध्याय का अन्तर्भाव किया गया है। सम्पादक ने टिप्पणियों में अग्निपुराण के मतों पर कहीं-कहीं संक्षिप्त आलोचना की है।

(अ. ३३७-३४७) इन ग्यारह अध्यायों के विषयक्रम यथाक्रम में हैं—काव्यादि-लक्षण, नाटकादि-लक्षण, रसनिरूपण, रीतिनिरूपण, नृत्यादिगत अङ्गकर्म, अभिनयादि, शब्दालङ्कार, अर्थालङ्कार, शब्दार्थालङ्कार, काव्यगुण तथा काव्य-दोष।

अग्निपुराण के इन अध्यायों के विषय में कई विद्वानों ने विचार किया है। पुराणोक्त मतों का मूल क्या है तथा पुराणमतों का आश्रयकारी कौन-कौन आचार्य हैं—इत्यादि विषयों का निरूपण करने की चेष्टा की गयी है। डॉ. सुशीलकुमार दे ने अत्यन्त विशदता के साथ यह दिखाया है कि अग्निपुराणगत यह विवरण भोज के सरस्वतीकण्ठाभरण ग्रन्थ का उपजीव्य है।

(अ. ३४८) एकाक्षराभिधान अर्थात् एकाक्षर कोश। इसमें अ, आ आदि वर्णों के अर्थ दिये गये हैं, कु आदि अक्षरों (व्यञ्जन सहित स्वर = अक्षर) के अर्थ भी कहीं-कहीं कहे गये हैं। एक-दो स्थलों पर मुद्रित पाठ भ्रष्ट हैं—ऋ

शब्दे चादितौ ऋ स्यात् (३४८।३) का शुद्ध पाठ होगा–'ऋ (दीर्घ ॠ) स्यात् ।' ऋ का अर्थ अदिति है–यह प्रसिद्ध है (अदितिपुत्र देवों को 'ऋभु' कहा जाता है)।

पूर्वाचार्यों ने कई एकाक्षर कोश लिखे हैं। इन ग्रन्थों के आधार पर यह अंश लिखा गया है।

(अ. ३४९–३५९) व्याकरणपरक यह प्रकरण कातन्त्र (नामान्तर कलाप) पर आधारित है। स्कन्द ने कात्यायन से यह शास्त्र कहा–यह ३४८।२८ तथा ३४९।१ में कहा गया है। यह प्रसिद्ध है कि कातन्त्र व्याकरण मूलतः कुमार (स्कन्द) द्वारा प्रोक्त है (अर्थात् कुमार की कृपा से शर्ववर्मा ने यह व्याकरण रचा है) तथा कात्यायन नामक विद्वान् ने इस व्याकरण का आंशिक पूरण किया है।

यह आश्चर्य है कि इस प्रकरण में पाणिनीय पद्धति भी अंशतः मिश्रित है। यहाँ जिस क्रम में व्याकरणीय विषय रखे गये हैं, वह क्रम पाणिनि-व्याकरण का नहीं है, वह अधिकांशतः कातन्त्र में मिलता है। यह ज्ञातव्य है कि इस प्रकरण में जितने उदाहरण दिये गये हैं, वे सब कातन्त्र में मिल जाते हैं।

(अ. ३६०–३६७) कोशपरक ये अध्याय सर्वथा अमरकोश पर आधारित हैं। इनके प्रायः सभी वाक्य अमरकोश के वाक्य (क्वचित् अल्पाधिक परिवर्तित रूप में) ही हैं। शब्दों का क्रम भी प्रायेण सर्वत्र अमरकोशानुसारी है, क्वचित् भिन्नता देखी जाती है। अमर में 'संश्लेष उपगूहनम्' के बाद 'प्रत्यादेशो निराकृतिः' कहा गया है (संकीर्णवर्ग ३०–३१)। पर अग्निपुराण में प्रत्यादेशो निराकृतिः (२४ श्लोक) के बाद 'संश्लेष उपगूहनम्' (२५) कहा गया है। अ. ३६७ के अन्त में अनुमा, शाब्द, उपमान, अर्थात्पत्ति और अभाव का उल्लेख है, पर ये शब्द अमरकोश में नहीं मिलते।

(अ. ३६८–३७१) नित्य, नैमित्तिक, प्राकृत और आत्यन्तिक रूप चार प्रकार के प्रलय का विवरण यहाँ दिया गया है। प्रसंगतः यहाँ परार्ध का परिमाण कहा गया है जो १ के बाद १७ शून्य (१०००००००००००००००००)। नागेशभट्ट द्वारा उद्धृत ब्रह्माण्डपुराण-वचन में यह मत माना गया है (सप्तशती २।४१ की टीका)। इसी प्रकार आतिवाहिक शरीर का विवरण अ. ३६९ में मिलता है, गर्भोत्पत्ति तथा शरीरावयवों का विवरण इसी अध्याय में तथा अ. ३७० में दिया गया है। अ. ३७१ में प्राणनिर्गमनमार्गों तथा नरकों के नाम आवश्यक विवरण के साथ कहे गये हैं। क्षिति के अधोदेश में अष्टाविंशति नरक-कोटि (२८ प्रकार के नरक) की सत्ता ३७१।१३ में कही गयी है तथा नरक के २८ नाम १४–१८ श्लोकों में कहे गये हैं।

(अ. ३७२–३८०) इन अध्यायों में यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा, समाधि तथा ब्रह्मज्ञान (अन्तिम तीन अध्यायों में) का उत्कृष्ट विवरण दिया गया है। प्राचीन तथा अर्वाचीन योगग्रन्थों तथा स्मृतियों में अष्टाङ्ग योग का जो विवरण मिलता है, पुराणोक्त विवरण उससे सारतः भिन्न नहीं है। उपनिषद् , गीता एवं याज्ञवल्क्य स्मृति के कई वचन यहाँ अविकल रूप से या ईषत् पाठभेद के साथ पठित हुए हैं। ३७९।७ख–३२ क. में प्रतिपादित विषय विष्णुपुराण (६।५–७) में मिलता है, अ. ३८० का विषय भी विष्णुपुराण (२।१५–१६) में मिलता है। सम्भवतः विष्णुपुराण से ही इन विषयों को अग्निपुराण ने लिया है। खाण्डिक्यकेशिध्वजसंवाद नारदीयपुराण १/४६–४७ में भी है। यह पुराण विष्णुपुराण से अर्वाचीन है।

इन अध्यायों में कई मुद्रितपाठ भ्रष्ट हैं। 'पातितः श्रावणोधातुर्दशनस्वाङ्ग वेदनाः' तुलनीय योगसूत्र ३।६६।३७६।१३ का 'तथा विपक्षकरणः' इस शुद्ध पाठ 'तथाऽविपत्तकरणः' होगा। ३८०।४६ का 'निदाघ-ऋतु-संवादम्' 'निदघऋभुसंवादम्' होगा। (इस अध्याय में जहाँ भी 'ऋतु' है वह 'ऋभु' होगा।

(अ. ३८१–३८२) कृष्ण ने अर्जुन के प्रति जो कहा (भगवद्गीता), उसका संक्षिप्तसार अ. ३८१ में दिया गया है। इसके प्रायः सभी वाक्य गीता के शब्दों पर आश्रित हैं, कुछ वाक्य शब्दों पर आश्रित न होकर अर्थों पर आश्रित हैं,

जैसे 'दुःसंगहानिः सत्संगात् मोक्षकामी च कामनुत्' (३८१।४)। गीता (१८।१४) में 'विविधाश्चपृथक् चेष्टाः' कहा गया है, पर पुराण में 'त्रिविधाश्च' पाठ है (३८१/५१)। शायद यह भ्रष्ट पाठ है। क्या यह हो सकता है कि यहाँ 'शारीरिक, वाचिक और मानसिक' रूप त्रिविध चेष्टा की बात कही गयी है।

यमगीता (अ. ३८२) कठोपनिषद् पर आधारित है। इस उपनिषद् के कई वाक्य यहाँ अविकल रूप से या किञ्चित् पाठभेद के साथ उद्धृत हुए हैं। इस अध्याय में (कपिल, पञ्चशिख, जैगीषव्य, देवल आदि कुछ आचार्यो) सांख्याचार्यों के श्रेयः परक मत उद्धृत हुए हैं (३८२/३-१०)। इन नामों में 'गङ्गाविष्णु' नाम भी है, जो सर्वथा सांशयिक है। इस नाम का कोई आचार्य इतिहासपुराणादि में स्मृत नहीं हुए हैं यह अवश्य ही भ्रष्ट पाठ है, प्रकृत पाठ क्या होगा– इसका निर्धारण करना दुष्कर है।

(अ. ३८३) अग्निपुराण के स्वरूप तथा माहात्म्य के साथ इस पुराण में प्रतिपादित विषयों का परिचय यहाँ दिया गया है।

प्रस्तुत अग्निपुराण की हिन्दी करने के समय उपलब्ध अधिकतम सामग्रियों का अत्यन्त तत्परता से दोहन करने का यथासम्भव प्रयास किया गया है। इस आधर पर केवल यह कह सकते हैं कि अग्निपुराण की इस नई प्रति में विषय या छन्द या मुद्रण आदि सम्बन्धित अुशद्धियों को दूर करने में यथासम्भव सफल प्रयत्न निश्चय ही किया गया है। अतः हिन्दी करने में जिन महानुभावों या उनकी कृतियों से मुझे जो भी सहयोग प्राप्त हुआ, एतदर्थ मैं उन सभी महानुभावों का हृदय से आभार स्वीकार करता हूँ। अन्त में अधोलिखित निवेदन आदि प्रस्तुत करता हुआ विराम लेता हूँ। सधन्यवाद!!

विद्वत् प्रार्थना

छन्दोऽनुरोधाद्विषयानुरोधादकिंवा मया व्याकरणस्य दृष्ट्या ।
संशोधनं सूक्ष्मदृशा कृतं यत् यत् स्यात् प्रमोदाय सुधीजनानाम् ।।१।।
व्यासः प्रसीदन्तु विशुद्धपाठाद् भक्तः प्रसीदन्तु कथाप्रसादात् ।
भुक्तिं च मुक्तिं भुवि लब्धुकामाः सर्वे प्रसीदन्तु हरिप्रसादात् ।।२।।

गणेश चतुर्थी, संवत् २०६७

विद्वच्चरणकिङ्करः
सुरकान्त झा

विषयानुक्रमणिका

卐

स्वस्ति वाचन

ओम् स्वस्ति नो मिमीतामश्विना भगः स्वस्ति देव्यदितिरनर्वणः। स्वस्ति पूषा असुरो दधातु नः स्वस्ति द्यावापृथिवी सुचेतुना स्वस्तये वायुमुप ब्रवामहै सोमं स्वस्ति भुवनस्य यस्पतिः। बृहस्पतिं सर्वगणं स्वस्तये स्वस्तय आदित्यासो भवन्तु नः। विश्वे देवा नो अद्या स्वस्तये वैश्वानरो वसुरग्निः स्वस्तये। देवा अवन्त्वृभवः स्वस्तये स्वस्ति नो रुद्रः पात्वंहसः। स्वस्ति मित्रावरुणा स्वस्ति पथ्ये रेवति। स्वस्ति पन्थामनुचरेम सूर्याचन्द्रमसाविव। पुनर्ददताघ्नता जानता संगमेमहि।

—ऋग्वेद : ५.५१.११-१५।

अग्ने नय सुपथा राये अस्मान्विश्वानि देव वायुनानि विद्वान्। युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नम उक्तिं विधेम।। ओम् द्यौः शान्तिरन्तरिक्ष ॐ शान्तिः पृथिवी शान्तिरापः शान्तिरोषधयः शान्तिः। वनस्पतयः शान्तिर्विश्वे देवाः शान्तिर्ब्रह्म शान्तिः सर्व ॐ शान्तिः शान्तिरेव शान्तिः सा मा शान्तिरेधि। ओम् आब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायताम आ राष्ट्रे राजन्यः शूर इषव्योऽतिव्याधी महारथो जायताम् दोग्ध्री धेनुर्वोढ़ाऽनड्वानाशुः सप्तिः पुरन्धिर्योषा जिष्णु रथेष्ठाः सभेयो युवास्य यजमानस्य वीरो जायताम् निकामे निकामे

नः पर्जन्यो वर्षतु फलवत्यो न ओषधयः
पच्यन्ताम् योगक्षेमो नः कल्पताम् ।

—यजुर्वेद अ० २२-२२

भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम् देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः ।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवा ᳪ सस्तनूभिर्व्यशेम हि देवहितं यदायुः ।।

—ऋग्वेद १-८९-८

ओम् शतं जीवेम शरदो वर्द्धमानः शतं हेमन्तान्छतमु वसन्तान् ।
शतमिन्द्राग्नी सविता बृहस्पतिः शतायुषा हविषेमं पुनर्दुः ।।

—ऋग्वेद : १०.१६१-४

स जयति सिन्धुर वदनो देवो यत्पादपङ्कजस्मरणम् ।
वासरमणिरिव तमसां राशीन्नाशयति विघ्नानाम् ।।
विश्वनाथं गुरुं नत्वा माँऽन्नपूर्णां सरस्वतीं ।
अग्निमहापुराणं तु सुरकान्तः प्रस्तूयते ।।

卐 महाग्रन्थोऽयं मातृपितृचरणकमलेषु समर्पितः 卐

कृष्णद्वैपायनमहर्षिव्यासविरचितम्-

अग्निमहापुराणम्

अथ प्रथमोऽध्यायः

प्रश्नाध्यायः

लक्ष्मीं सरस्वतीं गौरीं गणेशं स्कन्दमीश्वरम्। ब्रह्माणं वह्निमिन्द्रादीन् वासुदेवं नमाम्यहम्।।१।।
नैमिषे हरिमीजाना ऋषयः शौनकादयः। तीर्थयात्राप्रसङ्गेन स्वागतं सूतमब्रुवन्।।२।।

ऋषय ऊचुः

सूतं त्वं पूजितोऽस्माभिः सारात्सारं वदस्व नः। येन विज्ञानमात्रेण सर्वज्ञत्वं प्रजायते।।३।।

सूत उवाच

सारात्सारो हि भगवान् विष्णुः सर्गादिकृद्विभुः। ब्रह्माहमस्मि तं ज्ञात्वा सर्वज्ञत्वं प्रजायते।।४।।
द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये शब्दब्रह्म परं च यत्। द्वेविद्ये वेदितव्ये इति चाथर्वणी श्रुतिः।।५।।
अहं शुकश्च पैलाद्या गत्वा वदरिकाश्रमम्। व्यासं नत्वा पृष्टवन्तः सोऽस्मान्सारमथाब्रवीत्।।६।।

अध्याय–१

प्रश्नात्मक कथन

'लक्ष्मी, सरस्वती, गौरी, गणेश, कार्तिकेय, शिवशंकर, ब्रह्मा, अग्नि, इन्द्र आदि देवताओं तथा भगवान् वासुदेव को मैं नमस्कार कर रहा हूँ'।।१।।

नैमिषारण्य नामक तीर्थ स्थान में शौनक आदि ऋषिगण यज्ञों द्वारा भगवान् श्रीहरि विष्णु का यजन कर रहे थे कि उसी समय वहाँ तीर्थ यात्रा के उद्देश्य से सूतजी का आगमन हुआ। महर्षियों ने उनका स्वागत-सत्कार करने के पश्चात् उनसे पूछा–हे सूतजी! आप हमारी पूजा स्वीकार करके हमें वह सार से भी सारभूत तत्त्व बतलाने की कृपा करें, जिसके जान लेने मात्र से सर्वज्ञता उत्पन्न हो जाती है।।२-३।।

सूतजी ने कहा कि–हे ऋषिजनो! भगवान् श्रीहरि विष्णु ही सार से सारतत्त्व हैं। वे ही सृजन और पालन आदि के कर्ता और सर्वव्यापक हैं। 'वह विष्णुस्वरूप ब्रह्म मैं ही हूँ।' इस तरह उनको जान लेने पर सर्वज्ञता उत्पन्न हो जाती है।।४।। ब्रह्म के दो स्वरूप जानने के योग्य हैं–शब्दब्रह्म और परब्रह्म। दो विद्याएँ भी जानने के योग्य हैं–अपरा विद्या और परा विद्या; ऐसा यह अथर्ववेदोक्त श्रुति का कथन है।।५।। एक समय की बात है, मैं (सूतजी), शुकदेवजी तथा पैल आदि ऋषि बदरिकाश्रम नामक तीर्थस्थान को गये और वहाँ महर्षि व्यासजी को नमस्कार करके हम लोगों ने प्रश्न किया। प्रश्न को सूनने के पश्चात् उन्होंने हम लोगों को सारतत्त्व का उपदेश प्रदान करना प्रारम्भ किया।।६।।

व्यास उवाच

शुकाद्यैः शृणु सूत त्वं वसिष्ठो मां यथाब्रवीत्। ब्रह्मसारं हि पृच्छन्तं मुनिभिश्च परात्परम्।।७।।

वसिष्ठ उवाच

द्विविधं ब्रह्म वक्ष्यामि शृणु व्यासाखिलात्मगम्। यथाग्निर्मां पुरा प्राह मुनिभिर्दैवतैः सह।।८।।
पुराणं परमाग्नेयं ब्रह्मविद्याक्षरं परम्। ऋग्वेदाद्यपरं ब्रह्म सर्वदेवसुखं परम्।।९।।
अग्निनोक्तं पुराणं यदाग्नेयं वेदसम्मितम्। भुक्तिमुक्तिप्रदं पुण्यं पठतां शृण्वतां नृणाम्।।१०।।
कालाग्निरूपिणं विष्णुं ज्योतिर्ब्रह्म परात्परम्। मुनिभिः पृष्ठवान् देवं पूजितं ज्ञानकर्मभिः।।११।।
संसारसागरोत्तारनावं ब्रह्मेश्वरं वद। विद्यासारं यद्विदित्वा सर्वज्ञो जायते नरः।।१२।।

अग्निरुवाच

विष्णुः कालाग्निरुद्रोऽहं विद्यासारं वदामि ते। ब्रह्माग्नेयं पुराणं यत्सर्वं सर्वस्य कारणम्।।१३।।
सर्गस्य प्रतिसर्गस्य वंशमन्वन्तरस्य च। वंशानुचरितादेश्च मत्स्यकूर्मादिरूपधृक्।।१४।।

महर्षि कृष्ण द्वैपायन व्यासजी ने कहा कि–हे सूत! आप शुक आदि ऋषियों के साथ सुनो। किसी समय मुनियों के साथ मैंने ब्रह्मर्षि वसिष्ठजी से सारभूत परात्पर ब्रह्म के विषय में पूछा था। उस समय उन्होंने मुझको जिस प्रकार उपदेश दिया था, उसी प्रकार आपको समझा कर कहता हूँ।।७।।

वसिष्ठजी ने कहा कि–हे व्यास! सर्वान्तर्यामी ब्रह्म के दो स्वरूप हैं। मैं उनको बतलाता हूँ, उसको सुनो! प्राचीनकाल में ऋषि-मुनि तथा देवताओं सहित मुझसे अग्निदेव ने इस विषय में जैसा जो कुछ भी कहा था, वही मैं आपको बता रहा हूँ।।८।। अग्निपुराण सर्वोत्कृष्ट है। इसका एक-एक अक्षर ब्रह्मविद्या है, अतएव यह 'परब्रह्मरूप' है। ऋग्वेद आदि सम्पूर्ण वेदशास्त्र 'अपरब्रह्म' हैं। परब्रह्मस्वरूप अग्निपुराण सम्पूर्ण देवताओं के लिये परम सुखद है। अग्निदेव द्वारा जिसका कथन हुआ है, वह आग्नेयपुराण वेदों के तुल्य सर्वमान्य है। यह पवित्र पुराण अपने पाठकों और श्रोताओं को भोग तथा मोक्ष सम्प्रदान करने वाला है। भगवान् विष्णु ही कालाग्नि रूप से विराजमान है और वे ही ज्योतिर्मय परात्पर ब्रह्म हैं तथा ज्ञानयोग तथा कर्मयोग द्वारा उन्हीं का पूजन होता है। एक दिन उन विष्णु स्वरूप अग्निदेव से मुनियों सहित मैंने इस तरह प्रश्न किया।।११।।

वसिष्ठजी ने अग्निदेव से प्रश्न किया कि–हे अग्निदेव! संसार सागर से पार लगाने के लिये नौका स्वरूप परमेश्वर ब्रह्म के स्वरूप का सविस्तार विवेचन करते हुए सम्पूर्ण विद्याओं के सारभूत उस विद्या का उपदेश दीजिये, जिसको जानकर मनुष्य सर्वज्ञ हो जाता है।।१२।।

अग्निदेव ने कहा कि–हे वसिष्ठ! मैं ही विष्णु हूँ, मैं ही कालाग्नि रुद्र हूँ। मैं आपको सम्पूर्ण विद्याओं की सारभूतस्वरूपा विद्या का उपदेश देता हूँ, जिसे अग्निपुराण नाम से जाना जाता है। वही सभी विद्याओं का सार है, वह ब्रह्मस्वरूप है। सर्वमय एवं सर्वकारणभूत ब्रह्म उससे भिन्न नहीं है। उसमें सर्ग, प्रतिसर्ग, वंश, मन्वन्तर, वंशानुचरित आदि का तथा मत्स्यकूर्म आदि रूप धारण करने वाले भगवान् का वर्णन है। हे ब्रह्मन्! भगवान् श्रीहरि विष्णु की स्वरूपभूता दो विद्यायें हैं–एक परा और दूसरी अपरा। ऋक्, यजुः साम और अथर्व नामक चार वेद हैं, उस वेद के षड् अङ्ग–१. शिक्षा, २. कल्प, ३. व्याकरण, ४. निरुक्त, ५. ज्यौतिष और ६. छन्दःशास्त्र तथा मीमांसा, धर्मशास्त्र, पुराण, न्याय, वैद्यक अर्थात् आयुर्वेदशास्त्र, गान्धर्व वेद अर्थात् गीत-संगीत, धनुर्वेद और अर्थशास्त्र–यह सभी अपरा

द्वे विद्ये भगवान् विष्णुः परा चैवापरा द्विज। ऋग्यजुःसामाथर्वाख्या वेदा अङ्गानि षड् द्विज।।१५।।
शिक्षाकल्पो व्याकरणं निरुक्तं ज्योतिषां गतिः। छन्दोऽभिधानं मीमांसा धर्मशास्त्रं पुराणकम्।।१६।।
न्यायो वैद्यकगान्धर्वं धनुर्वेदोऽर्थशास्त्रकम्। अपरेयं परा विद्या यया ब्रह्मावगम्यते।।१७।।
यत्तददृश्यमग्राह्यमगोत्रचरणं ध्रुवम्। विष्णुनोक्तं यथा मह्यं देवेभ्यो ब्रह्मणा पुरा।।१८।।
तथा ते कथयिष्यामि हेतुं मत्स्यादिरूपिणम्।।१९।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते व्यासप्रोक्ते प्रथमः प्रश्नाध्यायः।।१।।

अथ द्वितीयोऽध्यायः

मत्स्यावतारकथावर्णनम्

वसिष्ठ उवाच

मत्स्यादिरूपिणं विष्णुं ब्रूहि सर्वादिकारणम्। पुराणं ब्रह्म चाग्नेयं यथा विष्णोः पुरा श्रुतम्।।१।।

अग्निरुवाच

मत्स्यावतारं वक्ष्येऽहं वशिष्ठ श्रृणुवै हरेः। अवतारक्रिया दुष्टनष्ट्यै सत्पालनाय हि।।२।।

विद्या हैं तथा परा वह विद्या है, जिससे उस अदृश्य, अग्राह्य, गोत्रहीन, चरणहीन, नित्य, अविनाशी ब्रह्म का बोध होता है। इस अग्निपुराण को परा विद्या ही समझना चाहिए। प्राचीन काल में भगवान् श्रीहरि विष्णु ने मुझसे तथा ब्रह्माजी ने देवताओं से जिस तरह वर्णन किया था, उसी तरह मैं भी आपसे मत्स्य आदि अवतार धारण करने वाले जगत्कारणस्वरूप परमेश्वर का विवेचन करने जा रहा हूँ।।१९।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत वशिष्ठ-अग्निदेव सम्वादात्मक आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी पहला अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।१।।

अध्याय-२

मत्स्यावतार वर्णन

वसिष्ठ जी ने कहा कि–हे अग्निदेव! आप सृजन आदि के कारणीभूत स्वरूप भगवान् श्रीहरि विष्णु के मत्स्य आदि अवतारों का वर्णन करने के साथ-साथ ही ब्रह्मस्वरूप अग्निपुराण को भी सुनाईये, जिसे प्राचीन काल में आपने भगवान् श्रीहरि विष्णु के मुख से सुना था।।१।।

अग्निदेव ने कहा कि–हे वसिष्ठ! सुनो, मैं भगवान् श्रीहरि विष्णु के मत्स्यावतार का वर्णन करने जा रहा हूँ। अवतार-धारण का कार्य दुष्टों के विनाश और साधु-पुरुषों की रक्षा के लिये होता है।।२।। बीते हुए कल्प के अन्त

आसीदतीतकल्पान्ते ब्राह्मो नैमित्तिको लयः। समुद्रोपप्लुतास्तत्र लोका भूरादिका मुने॥३॥
मनुर्वैवस्वतस्तेपे तपो वै भुक्तिमुक्तये। एकदा कृतमालायां कुर्वतो जलतर्पणम्॥४॥
तस्याञ्जल्युदके मत्स्यः स्वल्प एकोऽभ्यपद्यत। क्षेप्तुकामं जले प्राह न मां क्षिप नृपोत्तम॥५॥
ग्राहादिभ्यो भयं मेऽत्र तच्छ्रुत्वा कलशेऽक्षिपत्। मनुं वृद्धः पुनर्मत्स्यः प्राह तं देहि मे बृहत्॥६॥
स्थानमेतद्वचः श्रुत्वा राजाथोदञ्चनेऽक्षिपत्। तत्र वृद्धोऽब्रवीद्भूपं पृथु देहि पदं मनो॥७॥
सरोवरे पुनः क्षिप्तो ववृधे तत्प्रमाणवान्। ऊचे देहि बृहत्स्थानं प्राक्षिपच्चाम्बुधौ मनुः॥८॥
लक्षयोजनविस्तीर्णः क्षणमात्रेण सोऽभवत्। मत्स्यं तमद्भुतं दृष्ट्वा विस्मितः प्राब्रवीन्मनुः॥९॥
को भवान्नु विष्णुस्त्वं नारायण नमोऽस्तु ते। मायया मोहयसि मां किमर्थं त्वं जनार्दन॥१०॥
मनुनोक्तोऽब्रवीन्मत्स्यो मनुं वै पालने रतः। अवतीर्णो भवायास्य जगतो दुष्टनष्टये॥११॥
सप्तमेऽथ दिने ह्यब्धिः प्लावयिष्यति वै जगत्। उपस्थितायां नावि त्वं बीजादीनि निधाय च॥१२॥
सप्तर्षिभिः परिवृतो निशां ब्राह्मीं चरिष्यसि। उपस्थितस्य मे शृङ्गे निवध्नीहि महाहिना॥१३॥
इत्युक्त्वान्तर्दधे मत्स्यो मनुः कालप्रतीक्षकः। स्थितः समुद्र उद्वेले नावमारुरुहे तदा॥१४॥

में 'ब्राह्म' नामक नैमित्तिक प्रलय हुआ था। हे मुने! उस समय 'भू' आदि लोक समुद्र के जल में डूब गये थे। प्रलय के पहले की बात है। वैवस्वत मनु भोग और मोक्ष की सिद्धि के लिये तपस्या कर रहे थे। एक दिन जिस समय वे कृतमाला नदी में जल से पितरों का तर्पण कर रहे थे, उनकी अञ्जलि के जल में एक बहुत छोटा-सा मत्स्य आ गया। राजा ने उसको जल में फेंक देने का विचार किया। उस समय मत्स्य ने कहा कि–हे महाराज! मुझको जल में न फेंको। यहाँ ग्राह आदि जल जन्तुओं से मुझको भय है। यह सुनकर मनु ने उसको अपने कलश के जल में डाल दिया। मत्स्य उसमें पड़ते ही बड़ा हो गया और पुनः मनु से बोला–'हे राजन्! मुझको इससे बड़ा स्थान दो॥३-६॥ उसकी यह बात सुनकर राजा ने उसको एक बड़े जलपात्र में डाल दिया। उसमें भी बड़ा होकर मत्स्य राजा से बोला–हे मनो! मुझको कोई विस्तृत स्थान दो।' उस समय उन्होंने पुनः उसको सरोवर के जल में डाल दिया; परन्तु वहाँ भी बढ़कर वह सरोवर के बराबर हो गया और बोला–'मुझको इससे भी बड़ा स्थान दो।' उस समय मनु ने उसको पुनः समुद्र में ही ले जाकर डाल दिया। वहाँ वह मत्स्य क्षण भर में एक लाख योजन बड़ा हो गया। उस अद्भुत मत्स्य को देखकर मनु को बहुत आश्चर्य हुआ। वे बोले–'आप कौन हैं? निश्चय ही आप भगवान् श्रीहरि विष्णु जान पड़ते हैं। हे नारायण! आपको नमस्कार है। हे जनार्दन! आप किसलिये अपनी माया से मुझको मोहित कर रहे हैं?॥७-१०॥

मनु के ऐसा कहने पर सभी के पालन में संलग्न रहने वाले मत्स्यरूपधारी भगवान् श्रीहरि विष्णु उनसे बोले–'हे राजन्! मैं दुष्टों का नाश और जगत् की रक्षा करने के लिये अवतीर्ण हुआ हूँ। आज से सातवें दिन समुद्र सम्पूर्ण जगत् को डुबा देगा। उस समय तुम्हारे पास एक नौका उपस्थित होगी। आप उस पर सभी तरह के बीज आदि रखकर बैठ जाना। सप्तर्षि भी तुम्हारे साथ रहेंगे। जिस समय तक ब्रह्मा की रात रहेगी, उस समय तक आप उसी नाव पर विचरते रहोगे। नाव आने के बाद मैं भी इसी रूप में उपस्थित होऊँगा। उस समय आप मेरे सींग में महासर्पमयी रस्सी से उस नाव को बाँध देना।' ऐसा कहकर भगवान् मत्स्य अन्तर्धान हो गये और वैवस्वत मनु उनके बताये हुए समय की प्रतीक्षा करते हुए वहीं रहने लगे। जिस समय नियत समय पर समुद्र अपनी सीमा लाँघकर बढ़ने लगा, उस समय

एकशृङ्गधरो मत्स्यो हैमो नियुतयोजनः। नावं बद्ध्वा तस्य शृङ्गे मत्स्याख्यं च पुराणकम्।।१५।।
शुश्राव मत्स्यात्पापघ्नं संस्तुवन् स्तुतिभिश्च तम्। ब्रह्मवेदप्रहर्तारं हयग्रीवं च दानवम्।।१६।।
अवधीद्वेदमन्त्राद्यान्पालयामास केशवः। प्राप्ते कल्पेऽथ वाराहे कूर्मरूपोऽभवद्धरिः।।१७।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते आग्नेयऽग्निप्रोक्ते मत्स्यावतारवर्णनं नाम द्वितीयोऽध्यायः।।२।।

अथ तृतीयोऽध्यायः

कूर्मावतारकथावर्णनम्

अग्निरुवाच

वक्ष्ये कूर्मावतारं च संश्रुतं पापनाशनम्। पुरा देवासुरे युद्धे दैत्यैर्देवाः पराजिताः।।१।।
दुर्वाससश्च शापेन निश्रीकाश्चाभवंस्तदा। सुराः क्षीराब्धिगं विष्णुमूचुः पालय वै सुरान्।।२।।
ब्रह्मादिकान् हरिः प्राह सन्धिं कुर्वन्तु चासुरैः। क्षीराब्धिमथनार्थं च अमृतार्थं श्रिये सुराः।।३।।
अरयोऽपि हि सन्धेयाः सति कार्यार्थगौरवे। युष्मानमृतभाजोऽथ करिष्यामि न दानवान्।।४।।

वे उपरोक्त नौका पर बैठ गये।।११-१४।। उसी समय एक सींग धारण करने वाले स्वर्णमय मत्स्यभगवान् का प्रादुर्भाव हुआ। उनका विशाल शरीर दस लाख योजन लम्बा था। उनके सींग में नाव बाँधकर राजा ने उनसे 'मत्स्य' नामक पुराण का श्रवण किया, जो सभी पापों का विनाश करने वाला है। मनु भगवान् मत्स्य की विविध तरह के स्तोत्रों द्वारा स्तुति भी करते रहे। प्रलय के अन्त में ब्रह्माजी से वेद को हर लेने वाले 'हयग्रीव' नामक राक्षस का वध करके भगवान् ने वेद मन्त्र आदि की रक्षा की। उसके बाद वाराहकल्प आने पर भगवान् श्रीहरि विष्णु ने कच्छप रूप धारण किया।।१५-१७।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत कथित मत्स्यावतार आदि विषयों का विवेचन सम्बन्धी दूसरा अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।२।।

❖❖❖

अध्याय-३

समुद्र-मन्थन, कूर्मावतार तथा मोहिनी रूप धारण

अग्निदेव ने कहा कि–हे वसिष्ठ! अधुना मैं कूर्मावतार का वर्णन करने जा रहा हूँ। जिसके श्रवण मात्र से सभी पापों का विनाश हो जाता है। प्राचीन काल की बात है, देवासुर-संग्राम में दैत्यों ने देवताओं को पराजित कर दिया।।१।। वे दुर्वासा ऋषि के श्राप से भी लक्ष्मी से हीन हो गये थे। उस समय सम्पूर्ण देवता क्षीरसागर में शयन करने वाले भगवान् श्रीहरि विष्णु के पास जाकर बोले–'हे भगवन्! आप सभी देवताओं की रक्षा कीजिये।' यह सुनकर भगवान् श्रीहरि विष्णुजी ने ब्रह्मा आदि देवतओं से कहा–'हे देवगण! आप लोग क्षीरसमुद्र को मथने, अमृत प्राप्त करने और लक्ष्मी को पाने के लिये असुरों से सन्धि कर लो।।२-३।। कोई महत्त्वपूर्ण कार्य या भारी प्रयोजन आ पड़ने पर

मन्थानं मन्दरं कृत्वा नेत्रं कृत्वा च वासुकिम्। क्षीराब्धिं मत्सहायेन निर्मथत ह्यतन्द्रिताः।।५।।
विष्णूक्ताः संविदं कृत्वा दैत्यैः क्षीराब्धिमागताः। ततो मथितुमारब्धा यतः पुच्छं ततः सुराः।।६।।
फणिनिश्वासशङ्कलाना हरिणाऽऽप्यायिताः सुराः। मथ्यमानेऽर्णवे सोऽद्रिरनाधारो ह्यपोऽविशत्।।७।।
कूर्मरूपं समास्थाय दध्रे विष्णुश्च मन्दरम्। क्षीराब्धेर्मथ्यमानाच्च विषं हालाहलं ह्यभूत्।।८।।
हरेण धारितं कण्ठे नीलकण्ठस्ततोऽभवत्। ततोऽभूद्वारुणी देवी पारिजातश्च कौस्तुभः।।९।।
गावश्चाप्सरसो दिव्या लक्ष्मीर्देवी हरिं गता। पश्यन्तः सर्वदेवास्तां स्तुवन्तः सश्रियोऽभवन्।।१०।।
ततो धन्वन्तरिर्विष्णुरायुर्वेदप्रदर्शकः। बिभ्रत्कमण्डलुं पूर्णममृतेन समुत्थितः।।११।।
अमृतं तत्करादृदैत्याः सुरेभ्योऽर्धं प्रदाय च। गृहीत्वा जग्मुर्जम्भाद्या विष्णुः स्त्रीरूपधृक्ततः।।१२।।
तां दृष्ट्वा रूपसम्पन्नां दैत्याः प्रोचुर्विमोहिताः। भव भार्याऽमृतं गृह्य पाययास्मान् वरानने।।१३।।
तथेत्युक्त्वा हरिस्तेभ्यो गृहीत्वाऽपाययत्सुरान्। चन्द्ररूपधरो राहुः पिबंश्चार्केन्दुनार्पितः।।१४।।
हरिणाप्यरिणा छिन्नं सबाहु तच्छिरः पृथक्। कृपयाऽमरतां नीतं वरदं हरिमब्रवीत्।।१५।।

शत्रुओं से भी संधि कर लेना चाहिये। मैं आप लोगों को अमृत का भागी बनाऊँगा और दैत्यों को उससे वंचित रखूँगा। मन्दराचल को मथानी और वासुकि नाग को नेती बनाकर आलस्यहीन हो मेरी सहायता से आप सभी क्षीरसागर का मन्थन करो।।४-५।।'

भगवान् श्रीहरि विष्णुजी के ऐसा कहने पर देवता दैत्यों के साथ संधि करके क्षीरसमुद्र पर आये। फिर तो उन्होंने एक साथ मिलकर समुग्र-मन्थन प्रारम्भ किया। जिस तरफ वासुकि नाग की पूँछ थी, उसी तरफ देवता खड़े थे।।६।। दानव वासुकि नाग के निःश्वास से क्षीण हो रहे थे और देवताओं को भगवान् अपनी कृपा दृष्टि से परिपुष्ट कर रहे थे। समुद्र मन्थन प्रारम्भ होने पर कोई आश्रय न मिलने से मन्दराचल पर्वत समुद्र में डूब रहा था।७।।

उस समय भगवान् विष्णु ने कूर्म (कछुए) का रूप धारण करके मन्दराचल को अपनी पीठ पर रख लिया। फिर जिस समय समुद्र मथा जाने लगा, तो उसके अन्दर से हलाहल विष प्रकट हुआ।।८।। उसको भगवान् शंकर ने अपने कण्ठ में धारण कर लिया। इससे कण्ठ में काला दाग पड़ जाने के कारण वे 'नीलकण्ठ' नाम से प्रसिद्ध हुए। उसके बाद समुद्र से वारुणीदेवी, पारिजात वृक्ष, कौस्तुभमणि, गौएँ तथा दिव्य अप्सराएँ प्रकट हुईं। फिर लक्ष्मी देवी का प्रादुर्भाव हुआ। वे भगवान् विष्णु को प्राप्त हुईं। सम्पूर्ण देवताओं ने उनका दर्शन और स्तवन किया। इससे वे लक्ष्मीवान् हो गये।।९-१०।। तत्पश्चात् भगवान् विष्णु के अंशभूत धन्वन्तरि, जो आयुर्वेद के प्रवर्तक हैं, हाथ में अमृत से भरा हुआ कलश लिये प्रकट हुए।।११।। दैत्यों ने उनके हाथ से अमृत छीन लिया और उसमें से आधा देवताओं को देकर वे सभी चलते बने। उनमें जम्भ आदि दैत्य प्रधान थे। उनको जाते देख भगवान् विष्णु ने स्त्री का रूप धारण किया।।१२।। उस रूपवती स्त्री को देखकर राक्षस मोहित हो गये और बोले-'हे सुमुखि! आप हमारी भार्या हो जाओ और यह अमृत लेकर हमें पिलाओ।।१३।।' 'बहुत अच्छा' कहकर भगवान् श्रीहरिविष्णु ने उनके हाथ से अमृत ले लिया और उसको देवताओं को पिला दिया। उस समय राहु चन्द्रमा का रूप धारण करके अमृत पीने लगा। उस समय सूर्य और चन्द्रमा ने उसके कपट-वेष को प्रकट कर दिया।।१४।।

यह देख भगवान् श्रीहरि विष्णुजी ने चक्र से उसका मस्तक काट डाला। उसका सिर अलग हो गया और भुजाओं सहित धड़ अलग रह गया। फिर भगवान् को दया आयी और उन्होंने राहु को अमर बना दिया। उस समय

राहुर्मत्तस्तु चन्द्रार्कौ प्राप्स्येते ग्रहणं ग्रहः। तस्मिन् काले च यद्दानं दास्यन्ते स्यात्तदक्षयम्।।१६।।
तथेत्याहाथ तं विष्णुस्ततः सर्वैः सहामरैः। स्त्रीरूपं सम्परित्यज्य हरेणोक्तं प्रदर्शय।।१७।।
दर्शयामास रुद्राय स्त्रीरूपं भगवान् हरिः। मायया मोहितः शम्भुर्गौरीं त्यक्त्वा स्त्रियं गतः।।१८।।
नग्नउन्मत्तरूपोऽभूत्स्त्रियः (याः) केशानधारयत्। अगाद्विमुच्य केशान्स्त्री अन्वधावच्च तां गताम्।।१९।।
स्खलितं तस्य वीर्यं कौ यत्र यत्र हरस्य हि। तत्र तत्राभवत्क्षेत्रं लिङ्गानां कनकस्य च।।२०।।
मायेयमिति तां ज्ञात्वा स्वरूपस्थोऽभवद्धरः। शिवमाह हरी रुद्र जिता माया त्वया हि मे।।२१।।
न जेतुमेनां शक्तो मे त्वदृतेऽन्यः पुमान्भुवि। अप्राप्ताश्चामृतं दैत्या देवैर्युद्धे निपातिताः।।२२।।
त्रिदिवस्थाः सुराश्चासन्दैत्याः पातालवासिनः। यो नरः पठते देवविजयं त्रिदिवं व्रजेत्।।२३।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते विद्यासारे कूर्मावतारवर्णनं नाम तृतीयोऽध्यायः।।३।।

ग्रहस्वरूप राहु ने भगवान् श्रीहरि विष्णुजी से कहा–'इन सूर्य और चन्द्रमा को मेरे द्वारा अनेकों बार ग्रहण लगेगा। उस समय संसार के लोग जो कुछ दान करें, वह सभी अक्षय हो।।१५-१६।।' भगवान् विष्णु ने तथास्तु कहकर सम्पूर्ण देवताओं के साथ राहु की बात का अनुमोदन किया। इसके पश्चात् भगवान् ने स्त्री रूप त्याग दिया; परन्तु महादेवजी को भगवान् के उस रूप का पुनर्दर्शन करने की इच्छा हुई। इसलिये उन्होंने आग्रह किया–'हे भगवन्! आप अपने स्त्री रूप का मुझको दर्शन करावें।।१७।।' देवाधिदेव महादेवजी की प्रार्थना से भगवान् श्रीहरि विष्णुजी ने उनको अपने स्त्री रूप का दर्शन कराया। वे भगवान् की माया से ऐसे मोहित हो गये कि पार्वतीजी को त्यागकर उस स्त्री के पीछे लग गये।।१८।। उन्होंने नग्न और उन्मत्त होकर मोहिनी के केश पकड़ लिये। मोहिनी अपने केशों को छुड़ाकर वहाँ से चल दी। उसको जाती देख महादेवीजी भी उसके पीछे-पीछे दौड़ने लगे। उस समय पृथ्वी पर जहाँ-जहाँ भगवान् शंकर का वीर्य गिरा, वहाँ-वहाँ शिवलिङ्गों का क्षेत्र एवं स्वर्ण का खादान हो चला।।१९-२०।। इसके बाद 'यह माया है'– ऐसा जानकर देवाधिदेव भगवान् शंकर अपने स्वरूप में स्थित हुए। उस समय भगवान् श्रीहरि विष्णुजी ने प्रकट होकर शिवजी से कहा–'हे रुद्र! आपने मेरी माया को जीत लिया।।२१।। पृथ्वी पर आपके सिवा दूसरा कोई ऐसा पुरुष नहीं है, जो मेरी इस माया को जीत सके।' भगवन् के प्रयत्न से दैत्यों को अमृत नहीं मिलने पाया, इसलिये देवताओं ने उनको युद्ध में मार गिराया।।२२।। फिर देवता स्वर्ग में विराजमान हुए और राक्षस लोग पाताल में रहने लगे। जो मनुष्य देवताओं की इस विजयगाथा का पाठ करता है, वह स्वर्गलोक में जाकर निवास करता है।।२३।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत कूर्मावतार आदि विषयों का विवेचन सम्बन्धी तीसरा अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।३।।

❖❖❖

अथ चतुर्थोऽध्यायः

वराहनृसिंहादीनामवताराणां वर्णनम्

अग्निरुवाच

अवतारं वराहस्य वक्ष्येऽहं पापनाशनम्। हिरण्याक्षोऽसुरेशोऽभूद्देवाञ्जित्वा दिवि स्थितः।।१।।
देवैर्गत्वा स्तुतो विष्णुर्यज्ञरूपो वराहकः। अभूत्तं दानवं हत्वा दैत्यैः सार्धं तु कण्टकम्।।२।।
धर्मदेवादिरक्षाकृत्ततः सोऽन्तर्दधे हरिः। हिरण्याक्षस्य वै भ्राता हिरण्यकशिपुस्तथा।।३।।
जितदेवयज्ञभागः सर्वदेवाधिकारकृत्। नारसिंहं वपुः कृत्वा तं जघान सुरैः सह।।४।।
स्वपदस्थान्सुरांश्चक्रे नारसिंहः सुरैः स्तुतः। देवासुरे पुरा युद्धे बलिप्रभृतिभिः सुराः।।५।।
जिताः स्वर्गात्परिभ्रष्टा हरिं ते शरणं गताः। सुराणामभयं दत्त्वा अदित्या कश्यपेन च।।६।।
स्तुतोऽसौ वामनो भूत्वा ह्यदित्यां स क्रतुं ययौ। बलेः श्रीयजमानस्य गङ्गाद्वारे गृणन् स्तुतिम्।।७।।
वेदान्पठन्तं तं श्रुत्वा वामनं वरदोऽब्रवीत्। निवारितोऽपि शुक्रेण बलिर्ब्रूहि यदिच्छसि।।८।।
तत्तेऽहं सम्प्रदास्यामि, वामनो बलिमब्रवीत्। पदत्रयं मे गुर्वर्थं देहि दास्ये तमब्रवीत्।।९।।
तोये तु पतिते हस्ते वामनोऽभूदवामनः। भूर्लोकं स भुवर्लोकं स्वर्लोकं च पदत्रयम्।।१०।।
चक्रे बलिं च सुतले तच्छक्राय ददौ हरिः। शक्रो देवैर्हरिं स्तुत्वा भुवनेशः सुखी त्वभूत्।।११।।

अध्याय-४

वराह, नृसिंह, वामन और परशुराम अवतार वर्णन

अग्निदेव ने कहा कि–हे वसिष्ठजी! अधुना मैं वराहावतार की पाप को नाश करने वाली कथा का वर्णन करने जा रहा हूँ। प्राचीन काल में 'हिरण्याक्ष' नामक दैत्य असुरों का राजा था। वह देवताओं को जीतकर स्वर्ग में रहने लगा।।१।। देवताओं ने भगवान् विष्णु के पास जाकर उनकी स्तुति की। उस समय उन्होंने यज्ञवाराहरूप धारण किया और देवताओं के लिये कण्टक रूप उस दानव को दैत्यों सहित मारकर धर्म एवं देवतओं की रक्षा की।।२।। तत्पश्चात् वे भगवान् श्रीहरि विष्णु अन्तर्धान हो गये। हिरण्याक्ष के एक भाई था, जो 'हिरण्यकशिपु' के नाम से प्रसिद्ध था। उसने देवताओं के यज्ञ भाग अपने अधीन कर लिये और उन सभी के अधिकार छीनकर वह स्वयं ही उनका उपभोग करने लगा। भगवान् ने नृसिंह रूप धारण करके उसके सहायक असुरों सहित उस दैत्य का वध किया। तत्पश्चात् सम्पूर्ण देवताओं को अपने-अपने पद पर प्रतिष्ठित कर दिया। उस समय देवताओं ने उन नृसिंहदेव का स्तवन किया। प्राचीन काल में देवता और असुरों में युद्ध हुआ। उस युद्ध में बलि आदि दैत्यों ने देवताओं को पराजित करके उनको स्वर्ग से निकाल दिया। उस समय वे भगवान् श्रीहरि विष्णुजी की शरण में गये। भगवान् ने उनको अभयदान दिया और कश्यप तथा अदिति की स्तुति से प्रसन्न हो, वे अदिति के गर्भ से वामन रूप में उत्पन्न हुए। उस समय दैत्यराज बलि गङ्गाद्वार में यज्ञ कर रहे थे। भगवान् उनके यज्ञ में गये और वहाँ यजमान की स्तुति का गान करने लगे।।५-७।। वामन के मुख से वेदों का पाठ सुनकर राजा बलि उनको वर देने को उद्यत हो गये और शुक्राचार्य के मना करने पर भी बोले–हे ब्रह्मन! आपकी जो इच्छा हो, मुझसे माँगों।।८।। वामन ने बलि से कहा–'मुझको अपने गुरु के लिये तीन पग भूमि की आवश्यकता है; वही दीजिये।' बलि ने कहा–'अवश्य दूँगा।' उस समय संकल्प का जल हाथ में पड़ते ही भगवान् वामन 'अवामन' हो गये। उन्होंने विराट् रूप धारण कर लिया और भूर्लोक, भुवर्लोक एवं स्वर्गलोक को अपने तीन पगों से नाप लिया।।९-१०।। श्रीहरि विष्णु

वक्ष्ये परशुरामस्य चावतारं शृणु द्विज। उद्धतान्क्षत्रियान्मत्वा भूभारहरणाय सः॥१२॥
अवतीर्णो हरिः शान्त्यै देवविप्रादिपालकः। जमदग्ने रेणुकायां भार्गवः शस्त्रपारगः॥१३॥
दत्तात्रेयप्रसादेन कार्तवीर्यो नृपस्त्वभूत्। सहस्रबाहुः सर्वोर्वीपतिः स मृगयां गतः॥१४॥
श्रान्तो निमन्त्रितोऽरण्ये मुनिना जमदग्निना। कामेधेनुप्रभावेण भोजितः सबलो नृपः॥१५॥
अप्रार्थयत्कामधेनुं यदा स न ददौ तदा। हृतवानथ रामेण शिरश्छित्वा निपातितः॥१६॥
(युद्धे परशुना राजा सधेनुः स्वाश्रमं ययौ। कातवीर्यस्य पुत्रैस्तु जमदग्निर्निपातितः॥१७॥
रामे वनं गते वैरादथ रामः समागतः। पितरं निहतं दृष्ट्वा पितृनाशाभिमर्षितः॥१८॥
त्रिःसप्तकृत्वः पृथिवीं निःक्षत्रामकरोद्विभुः। कुरुक्षेत्रे पञ्च कुण्डान् कृत्वा सन्तर्प्य वै पितृन्॥१९॥
कश्यपाय महीं दत्त्वा महेन्द्रे पर्वते स्थितः। कूर्मस्य च वराहस्य नृसिंहस्य च वामनम्॥२०॥
अवतारं च रामस्य श्रुत्वा याति दिवं नरः॥२१॥

॥इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते वराहनृसिंहवामनपरशुरामावतरावर्णनं नाम चतुर्थोऽध्यायः॥४॥
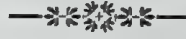
ने बलि को सुतललोक में भेज दिया और त्रिलोकी का राज्य इन्द्र को दे डाला। इन्द्र ने देवताओं के साथ भगवान् श्रीहरि विष्णु का स्तवन किया। वे तीनों लोकों के स्वामी होकर सुख से रहने लगे॥११॥ हे ब्रह्मन्! अधुना मैं भगवान् परशुरामावतार का वर्णन करने जा रहा हूँ, एकाग्र मन से सुनो। देवता और ब्राह्मण आदि का पालन करने वाले भगवान् श्रीहरि विष्णुजी ने जिस समय देखा कि भूमण्डल के क्षत्रिय उद्धत स्वभाव के हो गये हैं, तो वे उनको मारकर पृथ्वी का भार उतारने और सभी जगह शान्ति स्थापित करने के लिये जमदग्नि के अंश द्वारा रेणुका के गर्भ से अवतीर्ण हुए। भृगुनन्दन भगवान् परशुराम शस्त्रविद्या के पारंगत विद्वान् थे। उन दिनों कृतवीर्य का पुत्र राजा अर्जुन भगवान् दत्तात्रेयजी की कृपा से हजार बाँहे पाकर समस्त भूमण्डल पर राज्य करता था। एक दिन वह वन में शिकार खेलने के लिये गया॥१२-१४॥ वहाँ वह बहुत थक गया। उस समय जमदग्नि मुनि ने उसको सेनासहित अपने आश्रम पर निमन्त्रि किया और कामधेनु के प्रभाव से सभी को भोजन कराया। राजा ने मुनि से कामधेनु को अपने लिये माँगा; परन्तु उन्होंने उसको देने से मना कर दिया। उस समय उसने बलपूर्वक उस धेनु को छिन लिया। यह समाचार पाकर भगवान् परशुरामजी ने हैहयपुरी में जा उसके साथ युद्ध किया और अपने फरसे से उसका मस्तक काट कर युद्धभूमि में उसको मार गिराया। फिर वे कामधेनु को साथ लेकर अपने आश्रम पर लौट आये। एक दिन भगवान् परशुरामजी जिस समय वन में गये हुये थे, कृतवीर्य के पुत्रों ने आकर अपने पिता के वैर का बदला लेने के लिये जमदग्नि मुनि को मार डाला। जिस समय भगवान् परशुरामजी लौटकर आये तो पिता को मारा गया देख उनके मन में बड़ा क्रोध हुआ। उन्होंने इक्कीस बार समस्त भूमण्डल के क्षत्रियों का विनाश किया। फिर कुरुक्षेत्र में पाँच कुण्ड बनाकर वहीं उन्होंने अपने पितरों का तर्पण किया और सारी पृथ्वी कश्यप-मुनि को दान देकर वे महेन्द्र पर्वत पर रहने लगे। इस तरह कूर्म, वराह, नृसिंह, वामन तथा भगवान् परशुराम अवतार की कथा सुनकर मनुष्य स्वर्गलोक में जाता है॥१५-२१॥

॥इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत वराह, नृसिंह आदि अवतारात्मक विषयों का विवेचन सम्बन्धी चौथा अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ॥४॥

अथ पञ्चमोऽध्यायः

श्रीरामावतारकथावर्णनम्

अग्निरुवाच

रामायणमहं वक्ष्ये नारदेनोदितं पुरा। वाल्मीकये यथा तद्वत्पठितं भुक्तिमुक्तिदम्।।१।।

नारद उवाच

विष्णुनाभ्यब्जजो ब्रह्मा मरीचिर्ब्रह्मणः सुतः। मरीचेः कश्यपस्तस्मात्सूर्यो वैवस्वतो मनुः।।२।।
ततस्तस्मात्तथेक्ष्वाकुस्तस्य वंशे ककुत्स्थकः। ककुत्स्थस्य रघुस्तस्मादजो दशरथस्ततः।।३।।
रावणादेर्वधार्थाय चतुर्धाभूत्स्वयं हरिः। राज्ञो दशरथाद्रामः कौसल्यायां बभूव ह।।४।।
कैकेय्यां भरतः पुत्रः सुमित्रायां च लक्ष्मणः। शत्रुघ्नश्चर्ष्यशृङ्गेण तासु सन्दत्तपायसात्।।५।।
प्राशिताद्यज्ञसंसिद्धाद्रामाद्याश्च समाः पितुः। यज्ञविघ्नविनाशाय विश्वामित्रार्थितो नृपः।।६।।
रामं सम्प्रेषयामास लक्ष्मणं मुनिना सह। रामो गतोऽस्त्रशस्त्राणि शिक्षितस्ताडकान्तकृत्।।७।।
मारीचं मानवास्त्रेण मोहितं दूरतोऽनयत्। सुबाहुं यज्ञहन्तारं सबलं चावधीद्बली।।८।।
सिद्धाश्रमनिवासी च विश्वामित्रादिभिः सह। गतः क्रतुं मैथिलस्य द्रष्टुं चापं सहानुजः।।९।।

अध्याय–५

रामायण-बालकाण्ड की कथा

श्री अग्नि देव ने कहा कि–हे वसिष्ठजी! अधुना मैं ठीक उसी तरह रामायण का वर्णन करने जा रहा हूँ, जिस प्रकार प्राचीन काल में देवर्षि नारदजी ने ब्रह्मर्षि वाल्मीकिजी को सुनाया था। इसका पाठ भोग और मोक्ष–दोनों को देने वाला है।।१।।

देवर्षि नारद ने कहा कि–हे वाल्मीकिजी! भगवान् श्रीहरि विष्णु के नाभिकमल से ब्रह्माजी उत्पन्न हुए हैं। ब्रह्माजी के पुत्र हैं मरीचि। मरीचि से कश्यप, कश्यप से सूर्य और सूर्य से वैवस्वतमनु का जन्म हुआ। तत्पश्चात् वैवस्वतमनु से इक्ष्वाकु की उत्पत्ति हुई। इक्ष्वाकु के वंश में ककुत्स्थ नामक राजा हुए। ककुत्स्थ के रघु, रघु के अज और अज के पुत्र दशरथ हुए। उन राजा दशरथ से दशानन रावण आदि राक्षसों का वध करने के लिये साक्षात् भगवान् श्रीहरि विष्णु चार रूपों में प्रकट हुए। उनकी बड़ी रानी कौसल्या के गर्भ से श्रीरामचन्द्रजी उत्पन्न हुये। कैकेयी से भरत और सुमित्रा से लक्ष्मण एवं शत्रुघ्न का जन्म हुआ। महर्षि ऋष्यशृङ्ग ने उन तीनों रानियों को यज्ञसिद्ध चरु दिये थे, जिन्हें खाने से इन चारों कुमारों का आविर्भाव हुआ। कौशल्यानन्दन दाशरथि भगवान् श्रीरामचन्द्रजी आदि सभी भाई अपने पिता के ही समान पराक्रमी थे। एक समय मुनिवर विश्वामित्र ने अपने यज्ञ में विघ्न डालने वाले राक्षसों का विनाश करने के लिए राजा दशरथ से याचना की कि आप अपने पुत्र श्रीरामचन्द्रजी को मेरे साथ भेज दें। तत्पश्चात् राजा ने मुनि के साथ कौशल्यानन्दन दाशरथि भगवान् श्रीरामचन्द्रजी और लक्ष्मण को भेज दिया। कौशल्यानन्दन दाशरथि भगवान् श्रीरामचन्द्रजी ने वहाँ जाकर मुनि से अस्त्र–शस्त्रों की शिक्षा पायी और ताड़का नाम वाली राक्षसी का वध किया। तत्पश्चात् उन बलवान् वीर ने मारीच नामक राक्षस को मानवास्त्र से मोहित करके दूर फेंक दिया और

शतानन्दनिमित्तेन विश्वामित्रप्रभावतः। रामश्च प्रथितो राज्ञा समुनिः पूजितः ऋतौ।।१०।।
धनुरापूरयामास लीलया स बभञ्ज तत्। वीर्यशुल्कां स जनकः सीतां कन्यां त्वयोनिजाम्।।११।।
ददौ रामाय, रामोऽपि पित्रादौ हि समागते। उपयेमे जानकीं तामूर्मिलां लक्ष्मणस्तदा।।१२।।
श्रुतकीर्तिर्माण्डवी च कुशध्वजसुते तथा। जनकस्यानुजस्यैते शत्रुघ्नभरतावुभौ।।१३।।
कन्ये द्वे तूपयेमाते, जनकेन सुपूजितः। रामोऽगात्स वसिष्ठाद्यैर्जामदग्न्यं विजित्य च।।१४।।
अयोध्यां भरतोऽप्यागात्सशत्रुघ्नो युधाजितः।।१५।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते श्रीमद्रामायणे बालकाण्डे पञ्चमोऽध्यायः।।५।।

यज्ञविघातक राक्षस सुबाहु को दल-बल सहित मार डाला। इसके बाद वे कुछ कालतक मुनि के सिद्धाश्रम में ही रहना चाहिये। तत्पश्चात् विश्वामित्र आदि महर्षियों के साथ लक्ष्मण सहित कौशल्यानन्दन दाशरथि भगवान् श्रीरामचन्द्रजी मिथिला नरेश का धनुष-यज्ञ देखने के लिये गये।।२-९।।

अपनी माता अहल्या के उद्धार की वार्ता सुनकर संतुष्ट हुए शतानन्दजी ने निमित्त-कारण बनकर कौशल्यानन्दन दाशरथि भगवान् श्रीरामचन्द्रजी से विश्वामित्र मुनि के प्रभाव का वर्णन किया। राजा जनक ने अपने यज्ञ में मुनियों सहित कौशल्यानन्दन दाशरथि भगवान् श्रीरामचन्द्रजी का पूजन किया। कौशल्यानन्दन दाशरथि भगवान् श्रीरामचन्द्रजी ने धनुष को चढ़ा दिया और उसको अनायास ही तोड़ डाला। उसके बाद महाराज जनक ने अपनी अयोनिजा कन्या सीता को, जिसके विवाह के लिये पराक्रम ही शुल्क निश्चित किया गया था, कौशल्यानन्दन दाशरथि भगवान् श्रीरामचन्द्रजी को समर्पित किया। श्रीरामचन्द्रजी ने भी अपने पिता राजा दशरथ आदि गुरुजनों के मिथिला में पधारने पर सभी के सामने सीता का विधिपूर्वक पाणिग्रहण किया। उस समय लक्ष्मण ने भी मिथिलेश-कन्या उर्मिला को अपनी पत्नी बनाया। राजा जनक के छोटे भाई कुशध्वज थे। उनकी दो कन्याएँ थीं-श्रुतकीर्ति और माण्डवी।

इनमें माण्डवी के साथ भरत ने और श्रुतकीर्ति के साथ शत्रुघ्न ने विवाह किया। उसके बाद राजा जनक से भलीभाँति पूजित हो कौशल्यानन्दन दाशरथि भगवान् श्रीरामचन्द्रजी ने वसिष्ठ आदि महर्षियों के साथ वहाँ से प्रस्थान किया। मार्ग में जमदग्निनन्दन भगवान् परशुराम को जीतकर वे अयोध्या पहुँचे। वहाँ जाने पर भरत और शत्रुघ्न अपने मामा राजा युधाजित् की राजधानी को चले गये।।१०-१५।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी पाँचवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।५।।

अथ षष्ठोऽध्यायः

रामायणेऽयोध्याकाण्डम्

नारद उवाच

भरतेऽथ गते रामः पित्रादीनभ्यपूजयत्। राजा दशरथो राममुवाच शृणु राघव॥१॥
गुणानुरागाद्राज्ये त्वं प्रजाभिरभिषेचितः। मनसाहं प्रभाते ते यौवराज्यं ददामि ह॥२॥
रात्रौ त्वं सीतया सार्धं संयतः सुव्रतो भव। राज्ञश्च मन्त्रिणश्चाष्टौ सवसिष्ठस्तथाऽब्रुवन्॥३॥
दृष्टिर्जयन्तो विजयः सिद्धार्थो राज्यर्धनः। अशोको धर्मपालश्च सुमन्त्रः सवसिष्ठकः॥४॥
पित्रादिवचनं श्रुत्वा तथेत्युक्त्वा स राघवः। स्थितो देवार्चनं कृत्वा कौसल्यायै निवेद्य तत्॥५॥
राजोवाच वसिष्ठादीन् रामराज्याभिषेचने। सम्भारान् सम्भरन्तु स्म इत्युक्त्वा कैकेयीं गतः॥६॥
अयोध्यालङ्कृतिं दृष्ट्वा ज्ञात्वा रामाभिषेचनम्। भविष्यतीत्याचचक्षे कैकेयीं मन्थराऽसती॥७॥
पादौ गृहीत्वा रामेण कर्षिता सापराधतः। तेन वैरेण सा रामं वनवासं च काङ्क्षति॥८॥
कैकेयि त्वं समुत्तिष्ठ रामराज्याभिषेचनम्। मरणं तव पुत्रस्य मम ते नात्र संशयः॥९॥

अध्याय-६

अयोध्याकाण्ड की कथा

देवर्षि नारदजी ने कहा कि-भरत के ननिहाल चले जाने परडलक्ष्मण सहित. कौशल्यानन्दन दाशरथि भगवान् श्रीरामचन्द्रजी ही पिता-माता आदि के सेवा-सत्कार में रहने लगे। एक दिन राजा दशरथ ने श्रीरामचन्द्रजी से कहा-हे 'रघुनन्दन! मेरी बात सुनो। तुम्हारे गुणों पर अनुरक्त हो प्रजाजनों ने मन-ही-मन आपको राज सिंहासन पर अभिषिक्त कर दिया है-प्रजा की यह हार्दिक इच्छा है कि आप युवराज बनो; इसलिये कल प्रातः काल मैं आपको युवराज पद सम्प्रदान कर दूँगा। आज रात में आप सीता-सहित श्रेष्ठतम व्रत का पालन करते हुए संयमपूर्वक रहो।' राजा के आठ मन्त्रियों तथा ब्रह्मर्षि वशिष्ठ ने भी उनकी इस बात का अनुमोदन किया। उन आठ मन्त्रियों के नाम इस तरह हैं- दृष्टि, जयन्त, विजय, सिद्धार्थ, राज्यवर्धन, अशोक, धर्मपाल तथा सुमन्त्र। इनके अतिरिक्त ब्रह्मर्षि वसिष्ठ भीडमन्त्रणा देते थे। पिता और मन्त्रियों की बातें सुनकर श्रीरघुनाथजी ने 'तथास्तु' कहकर उनकी आज्ञा शिरोधार्य की और माता कौसल्या को यह शुभ सामाचार बताकर देवताओं की पूजा करके वे संयम में स्थित हो गये। उधर महाराज दशरथ वसिष्ठ आदि मन्त्रियों को यह कहकर कि 'आप लोग श्रीरामचन्द्रजी के राज्यभिषेक की सामग्री जुटायें', कैकयी के भवन में चले गये। कैकयी के मन्थरा नामक एक दासी थी, जो बड़ी दुष्टा थी। उसने अयोध्या की सजावट होती देख, कौशल्यानन्दन दाशरथि भगवान् श्रीरामचन्द्रजी के राज्यभिषेक की बात जानकर रानी कैकयी से सारा हाल कह सुनाया। एक बार किसी अपराध के कारण श्रीरामचन्द्रजी ने मन्थरा को उसके पैर पकड़ कर घसीटा था। उसी वैर के कारण वह सदा यही चाहती थी कि राम का वनवास हो जाय॥१-८॥

मन्थरा ने कहा कि-हे कैकयी! आप उठो, राम का राज्याभिषेक होने जा रहा है। यह तुम्हारे पुत्र के लिये, मेरे लिये और तुम्हारे लिये भी मृत्यु के समान भयंकर वृत्तान्त है-इसमे कोई संदेह नहीं है॥९॥

कुब्जयोक्तं च तच्छ्रुत्वा एकमाभरणं ददौ। उवाच मे यथा रामस्तथा मे भरतः सुतः॥१०॥
उपायं तं न पश्यामि भरतो येन राज्यभाक्। कैकेयीमब्रवीत्क्रुद्धा हारं त्यक्त्वाथ मन्थरा॥११॥

मन्थरोवाच

वालिशे रक्ष भरतमात्मानं मां च राघवात्। भविता राघवो राजा राघवस्य ततः सुताः॥१२॥
राजवंशस्तु कैकेयि, भरतात्परिहास्यते। देवासुरे पुरा युद्धे शम्बरेण हताः सुराः॥१३॥
रात्रौ भर्ता गतस्तत्र रक्षितो विद्यया त्वया। वरद्वयं तदा प्रादाद्याचेदानीं नृपं च यत्॥१४॥
रामस्य च वने वासं नव वर्षाणि पञ्च च। यौवराज्यं च भरते तदिदानीं प्रदास्यति॥१५॥
प्रोत्साहिता कुब्जया सा अनर्थे चार्थदर्शिनी। उवाच सदुपायो मे कथितः स करिष्यति॥१६॥
क्रोधागारं प्रविश्याथ पतिता भुवि मूर्च्छिता। द्विजादीनर्चयित्वाथ राजा दशरथस्तदा॥१७॥
ददर्श कैकेयीं रुष्टामुवाच कथमीदृशी। रोगार्ता किं भयोद्विग्ना किमिच्छसि करोमि तत्॥१८॥
येन रामेण हि विना न जीवामि मुहूर्तकम्। शपामि तेन कुर्यां ते वाञ्छितं तव सुन्दरि॥१९॥
सत्यं ब्रूहीति सोवाच नृप मह्यं ददासि चेत्। वरद्वयं पूर्वदत्तं सत्यार्थं देहि मे नृप॥२०॥
चतुर्दश समा रामो वने वसतु संयतः। सम्भारैरेभिरद्यैव भरतोऽत्राभिषेच्यताम्॥२१॥

मन्थरा कुबड़ी थी। उसकी बात सुनकर रानी कैकयी को प्रसन्नता हुई। उन्होंने कुबड़ी को एक आभूषण उतारकर दिया और कहा–'मेरे लिये तो जिस प्रकार राम हैं, वैसे ही मेरे पुत्र भरत भी हैं। मुझको एसा कोई उपाय नहीं दिखायी देता, जिससे भरत को राज्य मिल सके।' मन्थरा ने उस हार को फेंक दिया और कुपित होकर कैकयी से कहा॥१०–११॥

मन्थरा ने कहा कि- ओ नादान! तू भरत को, अपने को और मुझको भी राम से बचा। कल राम राजा होंगे। तत्पश्चात् राम के पुत्रों को राज्य मिलेगा। हे कैकयी! अधुना राजवंश भरत से दूर हो जाएगा। मैं भरत को राज्य दिलाने का एक युक्ति बतलाती हूँ। पहले की बात है। देवासुर–संग्राम में शम्बरासुर ने देवताओं को मार भगाया था। तेरे स्वामी भी उस युद्ध में गये थे। उस समय तुने अपनी विद्या से रात में स्वामी की रक्षा की थी। इसके लिये महाराजा ने तुझे दो वर देने की प्रतिज्ञा की थी। इस समय उन्हीं दोनों वरों को उनसे माँग। एक वर के द्वारा राम का चौदह वर्षों के लिये वनवास और दूसरे के द्वारा भरत का युवराज–पद पर अभिषेक माँग ले। राजा इस समय वे दोनों वर दे देंगे॥१२–१५॥

इस तरह मन्थरा के प्रोत्साहन देने पर कैकयी अनर्थ में ही अर्थ की सिद्धि देखने लगी और बोली–'हे कुब्जे! तूने बड़ा अच्छा उपाय बतलाया है। राजा मेरा मनेप्सित अवश्य पूर्ण करेंगे।' एसा कहकर वह कोपभवन में चली गयी और पृथ्वी पर अचेत–सी होकर पड़ रही। उधर महाराज दशरथ ब्राह्मण आदि का पूजन करके जिस समय कैकयी के भवन में आये तो उसको रोष में भरी हुई देखा। तत्पश्चात् राजा ने पूछा–'हे सुन्दरी! आपकी ऐसी दशा क्यों हो रही है? आपको कोई रोग तो नहीं सता रहा है? अथवा किसी भय से व्याकुल तो नहीं हो? बताओ, क्या चाहती हो? मैं अभी आपकी इच्छा पूर्ण करने जा रहा हूँ। जिन श्रीरामचन्द्रजी के बिना मैं क्षण भर भी जीवित नहीं रह सकता, उन्हीं की शपथ खाकर कह रहा हूँ, आपका मनेप्सित अवश्य पूर्ण करने जा रहा हूँ। सच–सच बताओ, क्या चाहती हो?' कैकयी बोली–'हे राजन! यदि आप मुझको कुछ देना चाहते हों, तो अपने सत्य की रक्षा के लिये पहले के दिये

विषं पीत्वा मरिष्यामि दास्यसि त्वं न चेन्नृप। तच्छ्रुत्वा मूर्च्छितो भूमौ व्रजाहत इवापतत्
मुहूर्ताच्चेतनां प्राप्य कैकेयीमिदमब्रवीत्।।२२।।

दशरथ उवाच

किं कृतं तव रामेण मया वा पापनिश्चये। यन्मामेवं ब्रवीषि त्वं सर्वलोकाप्रियङ्करि।।२३।।
केवलं त्वत्प्रियं कृत्वा भविष्यामि सुनिन्दितः। न त्वं भार्या कालरात्रिर्भरतो नेदृशः सुतः।।२४।।
प्रशाधि विधवा राज्यं मृते मयि गते सुते। सत्यपाशनिबद्धस्तु राममाहूय चाब्रवीत्।।२५।।
कैकेय्या वञ्चितो राम राज्यं कुरु निगृह्य माम्। त्वया वने तु वस्तव्यं कैकेयी भरतो नृपः।।२६।।
पितरं चैव कैकेयीं नमस्कृत्य प्रदक्षिणम्। कृत्वा नत्वा च कौसल्यां समाश्वास्य सलक्ष्मणः।।२७।।
सीतया भार्यया सार्धं सरथः ससुमन्त्रकः। दत्त्वा दानानि विप्रेभ्यो दीनानाथेभ्य एव सः।।२८।।
मातृभिश्चैव पित्राद्यैः शोकार्तैर्निर्गतः पुरात्। उषित्वा तमसातीरे रात्रौ पौरान् विहाय च।।२९।।
प्रभाते तमपश्यन्तोऽयोध्यां ते पुनरागतः। रुदन् राजापि कौसल्यागृहमागात्सुदुःखितः।।३०।।
पौरा जनाः स्त्रियः सर्वा रुरुदू राजयोषितः। रामो रथस्थश्चीराढ्यः शृङ्गवेरपुरं ययौ।।३१।।
गुहेन पूजितस्तत्र इङ्गुदीमूलमाश्रितः। लक्ष्मणः सगुहो रात्रौ चक्रतुर्जागरं हि तौ।।३२।।

हुए दो वरदान देने की कृपा करें। मैं चाहती हूँ, राम चौदह वर्षों तक संयमपूर्वक वन में निवास करें और इन सामग्रियों के द्वारा आज ही भरत का युवराज पद पर अभिषेक हो जाय। हे महाराज! यदि ये दोनों वरदान आप मुझको नहीं देंगे तो मैं विष पीकर मर जाउँगी।' यह सुनकर राजा दशरथ वज्र से आहत हुए की भाँति मूर्च्छित होकर पृथ्वी पर गिर पड़े। तत्पश्चात् थोड़ी देर में चेत होने पर उन्होंने कैकयी से कहा।।१६-२३।।

दशरथजी ने कहा कि-पापपूर्ण विचार रखने वाली हे कैकयी! तू अखिल संसार का अप्रिय करने वाली है। मैंने या राम ने तेरा क्या बिगाड़ा है, जो तू मुझसे ऐसी बात कहती है? केवल तुझे प्रिय लगने वाल यह कार्य करके मैं संसार में भलीभाँति निन्दित हो जाऊँगा। तू मेरी स्त्री नहीं, कालरात्रि है। मेरा पुत्र भरत ऐसा नहीं है। हे पापिनी! मेरे पुत्र के चले जाने पर जिस समय मैं मर जाऊँगा तो तू विधवा होकर राज्य करना।।२४-२५।। राजा दशरथ सत्य के बन्धन में बँधे थे। उन्होंने श्रीरामचन्द्रजी को बुलाकर कहा-'हे बेटा! कैकयी ने मुझको ठग लिया। आप मुझको कैद करके राज्य को अपने अधिकार में कर लो। अन्यथा आपको वन में निवास करना होगा और कैकयी का पुत्र भरत राजा बनेगा।' श्रीरामचन्द्रजी ने पिता और कैकयी को नमस्कार करके उनकी प्रदक्षिणा की और कौसल्या के चरणों में मस्तक झुकाकर उनको सान्त्वना दी। तत्पश्चात् लक्ष्मण और पत्नी सीता को साथ ले, ब्राह्मणों, दीनों और अनाथों को दान देकर, सुमन्त्र सहित रथ पर बैठकर वे नगर से बाहर निकले। उस समय माता-पिता आदि शोक से आतुर हो रहे थे। उस रात श्रीरामचन्द्रजी ने तमसा नदी के तट पर निवास किया। उनके साथ बहुत -से पुरवासी भी गये थे। उन सभी को सोते छोड़कर वे आगे बढ़ गये। प्रातः काल होने पर जिस समय श्रीरामचन्द्रजी नहीं दिखायी दिये तो नगरनिवासी निराश होकर पुनः अयोध्या लौट आये। श्रीरामचन्द्रजी के चले जाने से राजा दशरथ बहुत दुःखी हुए। वे रोते-रोते कैकयी का महल छोड़कर कौसल्या के भवन में चले आये। उस समय नगर के समस्त स्त्री-पुरूष और निवास की स्त्रियाँ फूट-फूटकर रो रही थीं। श्रीरामचन्द्रजी ने चीरवस्त्र धारण कर रखा था। वे रथ पर बैठे-बैठे शृङ्गवेरपुर जा पहुँचे। वहाँ निषादराज गुह ने उनका पूजन, स्वागत-सतकार किया। श्रीरघुनाथजी ने इङ्गुदी-वृक्ष की जड़

सुमन्त्रं सरथं त्यक्त्वा प्रातर्नावाऽथ जाह्नवीम्। रामलक्ष्मणसीताश्च तीर्त्वा तेऽगुः प्रयागकम्।।३३।।
भरद्वाजं नमस्कृत्य चित्रकूटगिरिं ययुः। वास्तुपूजां तत्र कृत्वा स्थिता मन्दाकिनीतटे।।३४।।
सीतायै दर्शयामास चित्रकूटं च राघवः। नखैर्विदारयन्तं तं काकं तच्चक्षुराक्षिपत्।।३५।।
ऐषिकास्त्रेण ( ) शरणं प्राप्तो देवान् विहाय सः। रामे वनं गते राजा षष्ठेऽह्निनिशि चाब्रवीत्।।३६।।
कौशल्यायै कथां पूर्वां यदज्ञानाद्धतः पुरा। कौमारे सरयूतीरे यज्ञदत्तकुमारकः।।३७।।
शब्दभेदाच्च कुम्भेन शब्दं कुर्वंश्च तत्पिता। शशाप विलपन्मात्रा शोकं कृत्वा रुदन्मुहुः।।३८।।
पुत्रं विना मरिष्यावस्त्वं च शोकान्मरिष्यसि। पुत्रं विना स्मरञ्शोकात्कौशल्ये मरणं मम।।३९।।
कथामुक्त्वाथ हा राममुक्त्वा राजा दिवं गतः। सुप्तं मत्वाऽथ कौशल्या सुप्ता शोकार्तमेव सा।।४०।।
सुप्रभाते शयानं तं सूतमागधबन्दिनः। प्रबोधका बोधयन्ति न च बुध्यत्सयौ नृपः।।४१।।
कौशल्या तं मृतं ज्ञात्वा हा हतास्मीति चापतत्। नरा नार्योऽथ रुरूदुस्तैलद्रोण्यां निधाय तम्।।४२।।
वसिष्ठेन च तत्कालमानीतो भरतः किल। सुमन्त्राद्यैः सशत्रुघ्नः शीघ्रं राजगृहात्पुरीम्।।४३।।

के सन्निकट विश्राम किया। लक्ष्मण और गुह दोनों ने रातभर जागकर पहरा देते रहना उचित समझा।।२६-३२।। प्रातः काल श्रीरामचन्द्रजी ने रथ सहित सुमन्त्र को विदा कर दिया तथा स्वयं लक्ष्मण और सीता के साथ नाव से गङ्गा-पार हो वे प्रयाग को गये।।३३।। वहाँ उन्होंने महर्षि भरद्वाज को नमस्कार किया और उनकी आज्ञा ले वहाँ से चित्रकूट पर्वत को प्रस्थान किया। चित्रकूट पहुँचकर उन्होंने वास्तुपूजा करने के अनन्तर (पर्णकुटी बनाकर) मन्दाकिनी के तट पर निवास किया। रघुनाथजी ने सीता को चित्रकूट पर्वत का रमणीय दृश्य दिखलाया। इसी समय एक कौए ने सीताजी के कोमल श्रीअङ्ग में नखों से प्रहार किया। यह देख श्रीरामचन्द्रजी ने उसके उपर सींक के अस्त्र का प्रयोग किया। जिस समय वह कौआ शरण में आया, तत्पश्चात् उन्होने उसकी केवल एक आँख नष्ट करके उसको जीवित छोड़ दिया। श्रीरामचन्द्रजी के वनगमन के पश्चात् छठे दिन की रात में राजा दशरथ ने कौसल्या से पहले की एक घटना सुनायी, जिसमें उनके द्वारा कुमारावस्था में सरयु के तट पर अनजान में यज्ञदत्त-पुत्र श्रवणकुमार के मारे जाने का वृत्तान्त था। "श्रवणकुमार पानी लेने के लिये आया था। उस समय उसके घड़े के भरने से जो शब्द हो रहा था, उसकी आहट पाकर मैंने उसको कोई जंगली जन्तु समझा और शब्दवेधी बाण से उसका वध कर डाला। यह समाचार पाकर उसके पिता और माता को बड़ा शोक हुआ। वे बारंबार विलाप करने लगे। उस समय श्रवणकुमार के पिता ने मुझको श्राप देते हुए कहा 'हे राजन! हम दोनों पति-पत्नी पुत्र के बिना शोकातुर होकर प्राणत्याग रहे हैं; आप भी हमारी ही तरह पुत्र वियोग के शोक से मरोगे; तुम्हारे पुत्र मरेंगे तो नहीं, परन्तु उस समय तुम्हारे पास कोई पुत्र मौजूद न होगा।' हे कौसल्ये! आज उस श्राप का मुझको स्मरण हो रहा है। जान पड़ता है, अधुना इसी शोक से मेरी मृत्यु होगी।" इतनी कथा कहने के पश्चात् राजा ने 'हे राम!' कहकर स्वर्गलोक को प्रयाण किया। कौसल्या ने समझा, महाराज शोक से आतुर हैं; इस समय नींद आ गयी होगी। ऐसा विचार करके वे सो गयीं। प्रातः काल जगाने वाले सूत, मागध और बन्दीजन सोते हुए महाराजा को जगाने लगे; किंतु वे न जगे।।३४-४१।। तत्पश्चात् उनको मरा हुआ जान रानी कौसल्या 'हाय! मैं मारी गयी' कहकर पृथ्वी पर गिर पड़ी। उसके बाद तो समस्त नर-नारी फूट-फूटकर रोने लगे। तत्पश्चात् महर्षि वसिष्ठ ने राजा के शव को तैलभरी नौका में रखवाकर भरत को उनके ननिहाल से तत्काल बुलवाया। भरत और शत्रुघ्न अपने मामा के राजमहल से निकलकर सुमन्त्र आदि के साथ शीघ्र ही अयोध्यापुरी में आये।।४२-४३।।

दृष्ट्वा सशोकां कैकेयीं निन्दयामास दुःखितः। अकीर्तिः पातिता मूर्ध्नि कौशल्यां स प्रशस्य च।।४४।।
पितरं तैलद्रोणीस्थं संस्कृत्य सरयूतटे। वसिष्ठाद्यैर्जनैरुक्तो राज्यं कुर्विति सोऽब्रवीत्।।४५।।
वज्रामि राममानेतुं रामो राजा मतो बली। शृङ्गवेरं प्रयागं च भरद्वाजेन भोजितः।।४६।।
नमस्कृत्य भरद्वाजं रामं लक्ष्मणमागतः। पिता स्वर्गं गतो राम अयोध्यायां नृपो भव।।४७।।
अहं वनं प्रयास्यामि त्वदादेशप्रतीक्षकः। रामः श्रुत्वा जलं दत्त्वा गृहीत्वा पादुके व्रज।।४८।।
राज्यायाहं न यास्यामि सत्याच्चीरजटाधरः। रामोक्तो भरतश्चागान्नन्दिग्रामे स्थितो बली।।४९।।
त्यक्त्वाऽयोध्यां पादुके ते पूज्य राज्यं प्रपालयत्।।५०।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते रामाख्यानेऽयोध्याकाण्डे षष्ठोऽध्यायः।।६।।

यहाँ का समाचार जानकर भरत को बड़ा दुःख हुआ। कैकयी को शोक करती देख उसकी कठोर शब्दों में निन्दा करते हुए बोले-' अरी! तूने मेरे माथे कलङ्कका टीका लगा दिया-मेरे सिर पर अपयश का भारी बोझ लाद दिया।' तत्पश्चात् उन्होंने कौसल्या की प्रशंसा करके तैलपूर्ण नौका में रखे हुए पिता के शव का सरयू तट पर अन्त्येष्टि-संस्कार किया। उसके बाद वसिष्ठ आदि गुरूजनों ने कहा-'हे भरत! अधुना राज्य ग्रहण करो।' भरत बोले-'मैं तो श्रीरामचन्द्रजी को ही राजा मानता हूँ। अधुना उनको यहाँ लाने के लिये वन में जाता हूँ।' ऐसा कहकर वे वहाँ से दल-बल सहित चल दिये और शृङ्गवेरपुर होते हुए प्रयाग पहुँचे। वहाँ महर्षि भरद्वाज ने उन सभी को भोजन कराया। तत्पश्चात् भरद्वाज को नमस्कार करके वे प्रयाग से चले और चित्रकूट में श्रीरामचन्द्रजी एवं लक्ष्मण के सन्निकट आ पहुँचे। वहाँ भरत ने श्रीरामचन्द्रजी से कहा-'हे रघुनाथजी! हमारे पिता महाराज दशरथ सर्वगवासी हो गये। अधुना आप अयोध्या में चलकर राज्य ग्रहण करें। मैं आपकी आज्ञा का पालन करते हुए वन में जाऊँगा।' यह सुनकर श्रीरामचन्द्रजी ने पिता का तर्पण किया और भरत से कहा-' आप मेरी चरण पादुका लेकर अयोध्या लौट जाओ। मैं राज्य करने के लिये नहीं चलूँगा। पिता के सत्य की रक्षा के लिये चीर एवं जटा धारण करके वन में ही रहूँगा।' श्रीरामचन्द्रजी के ऐसा कहने पर सदल-बल भरत लौट गये और अयोध्या छोड़कर नन्दिग्राम में रहने लगे। वहाँ भगवान् की चरण पादुकाओं की पूजा करते हुए वे राज्य का भली-भाँति पालन करने लगे।।४४-५१।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी छठवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।६।।

अथ सप्तमोऽध्यायः

रामायणेऽरण्यकाण्डवर्णनम्

नारद उवाच

रामो वसिष्ठं मातृश्च नत्वात्रिं च प्रणम्य सः। अनसूयां च तत्पत्नीं शरभङ्गं सुतीक्ष्णकम्॥१॥
अगस्त्यभ्रातरं नत्वा अगस्त्यं तत्प्रसादतः। धनुः खड्गं च सम्प्राप्य दण्डकारण्यमागतः॥२॥
जनस्थाने पञ्चवट्यां स्थितो गोदावरीतटे। तत्र शूर्पणखाऽऽयाता भक्षितुं तान्भयङ्करी॥३॥
रामं सुरूपं दृष्ट्वा सा कामिनी वाक्यमब्रवीत्॥४॥

शूर्पणखा उवाच

कस्त्वं कस्मात्समायातो भर्ता मे भव चार्थितः। एतौ च भक्षयिष्यामि इत्युक्त्वात्तं समुद्यता॥५॥
तस्य नासां च कर्णौ च रामोक्तो लक्ष्मणोऽच्छिनत्। रक्तं क्षरन्ती प्रययौ खरं भ्रातरमब्रवीत्॥६॥
मरिष्यामि विनासाऽहं खर जीवामि वै तदा। रामस्य जाया सीताऽस्ति तस्यासील्लक्ष्मणोऽनुजः॥७॥
तेषां यद्रुधिरं कोष्णं पाययिष्यसि मां यदि। खरस्तथेति तामुक्त्वा चतुर्दशसहस्रकैः॥८॥
रक्षसां दूषणेनागादथ त्रिशिरसा सह। रामं, रामोऽपि युयुधे शरैर्विव्याध राक्षसान्॥९॥

अध्याय–७

अरण्यकाण्ड की कथा

देवर्षि नारदजी ने कहा कि–हे मुने! श्रीरामचन्द्रजी ने महर्षि वसिष्ठ तथा माताओं को नमस्कार करके उन सभी को भरत के साथ विदा कर दिया। तत्पश्चात् महर्षि अत्रि तथा उनकी पत्नी अनसूया को, शरभङ्गमुनि को, सुतीक्ष्ण को तथा अगस्त्जी के भ्राता अग्निजिह्व मुनि को नमस्कार करते हुए श्रीरामचन्द्रजी ने अगस्त्यमुनि के आश्रम पर जा उनके चरणों में मस्तक झुकाया और मुनि की कृपा से दिव्य धनुष एवं दिव्य खड्ग प्राप्त करके वे दण्डकारण्य में आये। वहाँ जनस्थान के अन्दर पञ्चवटी नामक स्थान में गोदावरी के तट पर रहने लगे। एक दिन शूर्पणखा नाम वाली भयंकर राक्षसी राम, लक्ष्मण और सीता को खा जाने के लिये पञ्चवटी में आयी; परन्तु श्रीरामचन्द्रजी का अत्यन्त मनोहर रूप देखकर वह काम के अधीन हो गयी और बोली॥१–४॥

शूर्पणखा ने कहा कि–तुम कौन हो? कहाँ से आये हो? मेरी याचना से अधुना आप मेरे पति हो जाओ। यदि मेरे साथ आपका सम्बन्ध होने में ये दोनों सीता और लक्ष्मण बाधक हैं तो.मैं इन दोनों को अभी खाये लेती हूँ॥५॥

ऐसा कहकर वह उनको खा जाने को तैयार हो गयी। तत्पश्चात् श्रीरामचन्द्रजी के कहने से लक्ष्मण ने शूर्पणखा की नाक और दोनों कान भी काट लिये। कटे हुए अङ्गो से रक्त की धारा बहाती हुई शूर्पणखा अपने भाई खर के पास गयी और इस तरह बोली–'हे खर! मेरी नाक कट गयी। इस अपमान के बाद मैं जीवित नहीं रह सकती। अधुना तो मेरा जीवन तभी रह सकता है, जिस समय कि आप मुझको राम का, उनकी पत्नी सीता का तथा उनक छोटे भाई लक्ष्मण का गरम–गरम रक्त पिलाओ॥६–७½॥' खर ने उसको 'बहुत अच्छा' कहकर शान्त किया और दूषण तथा त्रिशिरा के साथ चौदह हजार राक्षसों की सेना ले श्रीरामचन्द्रजी पर चढ़ाई की। श्रीरामचन्द्रजी ने भी उन सभी का सामना

हस्त्यश्वरथपादातं बलं निन्ये यमक्षयम्। त्रिशीर्षाणं खरं रौद्रं युध्यन्तं चैव दूषणम्।।१०।।
ययौ शूर्पणखा लङ्कां रावणाग्रेऽपतद्भुवि। अब्रवीद् रावणं क्रुद्धा न त्वं राजा च रक्षकः।।११।।
खरादिहन्तू रामस्य सीतां भार्यां हरस्व च। रामलक्ष्मणरक्तस्य पानाज्जीवामि नान्यथा।।१२।।
तथेत्याह च तच्छ्रुत्वा मारीचं प्राह वै व्रज। स्वर्णचित्रमृगो भूत्वा रामलक्ष्मणकर्षकः।।१३।।
सीताग्रे, तां हरिष्यामि अन्यथा मरणं तव। मारीचो रावणं प्राह रामो मृत्युर्धनुर्धरः।।१४।।
रावणादपि मर्तव्यं मर्तव्यं राघवादपि। अवश्यं यदि मर्तव्यं वरं रामो न रावणः।।१५।।
इति मत्वा मृगो भूत्वा सीताग्रे व्यचरन्मुहुः। सीतया प्रेरितो रामः शरेणाथावधीच्च तम्।।१६।।
म्रियमाणो मृगः प्राह हा सीते! लक्ष्मणेति च। सौमित्रिः सीतयोक्तोऽथ विरुद्धं राममागतः।।१७।।
रावणोऽप्यहरत्सीतां हत्वा गृध्रं जटायुषम्। जटायुषा स विरथो अंसमादाय जानकीम्।।१८।।
गतो लङ्कामशोकाख्ये धारयामास चाब्रवीत्।।१९।।

रावण उवाच

'भव भार्या ममाग्र्या त्वं', 'राक्षस्यो! रक्ष्यतामियम्। रामो हत्वाथ मारीचं दृष्ट्वा लक्ष्मणमब्रवीत्।।२०।।

किया और अपने बाणों से राक्षसों को बींधना प्रारम्भ किया। शत्रुओं के हाथी, घोड़े, रथ और पैदल सहित समस्त चतुरङ्गिणी सेना को उन्होनें यमलोक पहुँचा दिया तथा अपने साथ युद्ध करने वाले भयंकर राक्षस खर, दूषण एवं त्रिशिरा को भी मौत के घाट उतार दिया। अधुना शूर्पणखा लंङ्का में गयी और दशानन रावण के सामने जा पृथ्वी पर गिर पड़ी। उसने क्रोध में भरकर दशानन रावण से कहा–'अरे! तू राजा और रक्षक कहलाने योग्य नहीं है। खर आदि समस्त राक्षसों का विनाश करने वाले राम की पत्नी सीता को हर ले। मैं राम और लक्ष्मण का रक्त जीवित रहूँगी; अन्यथा नहीं'।।८-१२।।

शूर्पणखा की बात सुनकर दशानन रावण ने कहा–'अच्छा, ऐसा ही होगा।' तत्पश्चात् उसने मारीच से कहा–'तुम स्वर्णमय विचित्र मृग का रूप धारण करके सीता के सामने जाओ और राम तथा लक्ष्मण को अपने पीछे आश्रम से दूर हटा ले जाओ।।१३।। मैं सीता का हरण करने जा रहा हूँ। यदि मेरी बात न मानोगे, तो आपकी मृत्यु निश्चित है।' मारीच ने दशानन रावण से कहा–'हे दशानन रावण! धनुर्धर राम साक्षात् मृत्यु हैं।।१४।।'

तत्पश्चात् उसने मन-ही-मन सोचा–'यदि नहीं जाऊँगा, तो दशानन रावण के हाथ से मरना होगा और जाऊँगा तो श्रीरामचन्द्रजी के हाथ से। इस तरह यदि मरना अनिवार्य है तो इसके लिये श्रीरामचन्द्रजी ही श्रेष्ठ हैं, दशानन रावण नहीं; क्योंकि श्रीरामचन्द्रजी के हाथ से मृत्यु होने पर मेरी मुक्ति हो जायगी। ऐसा विचार कर वह मृगरूप धारण करके सीता के सामने बारंबार आने-जाने लगा। तत्पश्चात् सीताजी की प्रेणा से श्रीरामचन्द्रजी ने दूर तक उसका पीछा करके उसको अपने बाण से मार डाला। मरते समय उस मृग ने 'हे सीते! हे लक्ष्मण!' कहकर पुकार लगायी। उस समय सीता के कहने से लक्ष्मण अपनी इच्छा के विरूद्ध श्रीरामचन्द्रजी के पास गये। इसी बीच में दशानन रावण ने भी मौका पाकर सीता को हर लिया। मार्ग में जाते समय उसने गृध्रराज जटायु का वध किया। जटायु ने भी उसके रथ को नष्ट कर डाला था। रथ न रहने पर दशानन रावण ने सीता को कंधे पर बिठा लिया और उनको लंङ्का में ले जाकर अशोक वाटिका में रखा और वहाँ सीता से बोला–'तुम मेरी पटरानी बन जाओ।' तत्पश्चात् राक्षसियों की तरफ देखकर कहा–'हे निशाचरियो! इसकी रख वाली करो'।।१५-१९½।। उधर श्रीरामचन्द्रजी जिस समय मारीच को मारकर लौटे,

श्रीराम उवाच

मायामृगोऽसौ सौमित्रे! यथा त्वमिह चागतः। तथा सीता हृता नूनं नापश्यत्स गतोऽथ ताम्।।२१।।
शुशोच विललापार्तो मां त्यक्त्वा क्व गतासि वै। लक्ष्मणाश्वासितो रामो मार्गयामास जानकीम्।।२२।।
दृष्ट्वा जटायुस्तं प्राह रावणो हृतवांश्च ताम्। मृतोऽथ संस्कृतस्तेन कबन्धं चावधीत्ततः।।२३।।
शापमुक्तोऽब्रवीद्रामं स त्वं सुग्रीवमाव्रज।।२४।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते रामायणेऽरण्यकाण्डे सप्तमोऽध्यायः।।७।।

तो लक्ष्मण को आते देखकर बोले–'हे सुमित्रानन्दन! वह मृग तो मायामय था–वास्तव में वह एक राक्षस था; किंतु आप जो इस समय यहाँ आ गये, इससे जान पड़ता है, निश्चय ही कोई सीता को हर ले गया।' श्रीरामचन्द्रजी आश्रम पर गये; किंतु वहाँ सीता नहीं दिखायी दीं। उस समय वे आर्त होकर शोक और विलाप करने लगे–'हे प्रिये जानकी! तू मुझको छोड़कर कहाँ चली गयी?' लक्ष्मण ने श्रीरामचन्द्रजी को सान्त्वना दी। तत्पश्चात् वे वन में घूम-घूम सीता की खोज करने लगे। इसी समय इनकी जटायु से भेंट हुई। जटायु ने यह कहकर कि 'सीता को दशानन रावण हर ले गया है' प्राण त्याग दिया। तत्पश्चात् श्रीरघुनाथजी ने अपने हाथ से जटायु का दाह-संस्कार किया। इसके बाद इन्होंने कबन्ध का वध किया। कबन्ध ने श्राप मुक्त होने पर श्रीरामचन्द्रजी से कहा–'आप सुग्रीव से मिलिये'।।२०-२४।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी सातवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।७।।

❖❖❖

अथाष्टमोऽध्यायः

रामायणे किष्किन्धाकाण्डवर्णनम्

नारद उवाच

रामः पम्पासरो गत्वाऽशोचत्स शबरीं गतः। हनूमताऽथ सुग्रीवं नीतो मित्रं चकार ह।।१।।
सप्ततालान्विनिर्भिद्य शरेणैकेन पश्यतः। पादेन दुन्दुभेः कायं चिक्षेप दशयोजनम्।।२।।
तद्रिपुं वालिनं हत्वा भ्रातरं वैरकारिणम्। किष्किन्धां कपिराज्यं च रुमां तारां समर्पयत्।।३।।
ऋष्यमूके हरीशाय, किष्किन्धेशोऽब्रवीदथ। सीतां त्वं प्राप्स्यसे तद्वत्तथा राम! करोमि ते।।४।।
तच्छ्रुत्वा माल्यवत्पृष्ठे चातुर्मास्यं चकार सः। किष्किन्धायां च सुग्रीवो यदा नायाति दर्शनम्।।५।।
तदाब्रवीत्तं रामोक्तो लक्ष्मणो व्रज राघवम्। न च सङ्कुचितः पन्था येन वाली हतो गतः।।६।।
समये तिष्ठ सुग्रीव मा वालिपथमन्वगाः। सुग्रीव आह संसक्तो गतं कालं न बुद्धवान्।।७।।
इत्युक्त्वा स गतो रामं नत्वोवाच हरीश्वरः।।८।।

सुग्रीव उवाच

आनीता वानराः सर्वे सीतायाश्च गवेषणे। त्वन्मताः प्रेषयिष्यामि विचिन्वन्तु च जानकीम्।।९।।

अध्याय–८

किष्किन्धाकाण्ड की कथा

देवर्षि नारदजी ने कहा कि–श्रीरामजी पम्पा सरोवर पर जाकर सीताजी के लिये शोक से व्याकुल हो गये। वहाँ वे शबरी से मिले। तत्पश्चात् हनुमान्‌जी से उनकी भेंट हुई। हनुमान्‌जी उनको सुग्रीव के पास ले गये और सुग्रीव के साथ उनकी मित्रता करायी। श्रीरामचन्द्रजी ने सभी के देखते–देखते ताड़ के सात वृक्षों को एक ही बाण से बींध डाला और दुन्दुभि नामक दानव के विशाल शरीर को पैर की ठोकर से दस योजन दूर फेंक दिया। इसके बाद सुग्रीव के शत्रु वाली को, जो भाई होते हुए भी उनके साथ वैर रखता था, मार डाला और किष्किन्धापुरी, वानरों का साम्राज्य, रूमा एवं तारा–इन सभी को ऋष्यमूक पर्वत पर वानरराज सुग्रीव के अधीन कर दिया। उसके बाद किष्किन्धापुरी के स्वामी सुग्रीव ने कहा–'हे श्रीराम! आपको सीताजी की प्राप्ति जिस तरह भी हो सके, ऐसा उपाय मैं कर रहा हूँ।' यह सुनने के बाद श्रीरामचन्द्रजी ने माल्यवान् पर्वत के शिखर पर वर्षा के चार महीने व्यतीत किये और सुग्रीव किष्किन्धा में रहने लगे। चौमासे के बाद भी जिस समय सुग्रीव नहीं दिखायी दिये, तत्पश्चात् श्रीरामचन्द्रजी की आज्ञा से लक्ष्मण ने किष्किन्धा में जाकर कहा–'हे सुग्रीव! आप श्रीरामचन्द्रजी के पास चलो। अपनी प्रतिज्ञा पर अटल रहो, नहीं तो वाली मरकर जिस मार्ग से गया है, वह मार्ग अभी बन्द नहीं हुआ है। अतएव वाली के पथ का अनुसरण न करो।' सुग्रीव ने कहा–'हे सुमित्रानन्दन! विषयभोग में आसक्त हो जाने के कारण मुझको बीते हुए समय का भान न रहा। इसलिये मेरे अपराध को क्षमा कीजिये'।।१–७।।

ऐसा कहकर वानरराज सुग्रीव श्रीरामचन्द्रजी के पास गये और उनको नमस्कार करके बोले 'हे भगवन्! मैंने सभी वानरों को बुला लिया है। अधुना आपकी इच्छा के अनुसार सीताजी की खोज करने के लिये उनको भेजूँगा।

पूर्वादौ मासपर्यन्तं मासादूर्ध्वं निहन्मि तान्। इत्युक्ता वानराःपूर्वपश्चिमोत्तरमार्गगाः।।१०।।
जग्मू रामं ससुग्रीवमपश्यन्तस्तु जानकीम् (?)। रामाङ्गुलीयं सङ्गृह्य हनूमान् वानरैः सह।।११।।
दक्षिणे मार्गयामास सुप्रभाया गुहान्तिके। मासादूर्ध्वं च विन्ध्यस्था अपश्यन्तस्तु जानकीम्।।१२।।
ऊचुर्वृथा मरिष्यामो जटायुर्धन्य एव सः। सीतार्थे योऽत्यजत्प्राणान् रावणेन हतो रणे।।१३।।
तच्छ्रुत्वा प्राह सम्पातिर्विहाय कपिभक्षणम्। भ्रातासौ मे जटायुर्वै मयोड्डीनोऽर्कमण्डलम्।।१४।।
अर्कतापाद्रक्षितोऽगाद्दग्धपक्षो ऽहमत्रगः। रामवार्ताश्रवात्पक्षौ जातौ भूयोऽथ जानकीम्।।१५।।
पश्याम्यशोकवनिकागतां लङ्कागतां किल। शतयोजनविस्तीर्णे लवणाब्धौ त्रिकूटके।।१६।।
ज्ञात्वा, रामं ससुग्रीवं वानराः कथयन्तु वै।।१७।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे
श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते रामायणे किष्किन्धाकाण्डेऽष्टमोऽध्यायः।।८।।

—※※※—

वे पूर्वादि दिशाओं में जाकर एक महीने तक सीताजी की खोज करें। जो एक महीने के बाद लौटेगा, उसको मैं मार डालूँगा।' यह सुनकर बहुत-से वानर पूर्व, पश्चिम और उत्तर दिशाओं के मार्ग पर चल पड़े तथा वहाँ जनक कुमारी सीता को न पाकर नियत समय के अन्दर श्रीरामचन्द्रजी और सुग्रीव के पास लौट आये। हनुमान्जी श्रीरामचन्द्रजी की दी हुई अगूँठी लेकर अन्य वानरों के साथ दक्षिण दिशा में जानकीजी की खोज कर रहे थे। वे लोग सुप्रभा की गुफा के सन्निकट विन्ध्यपर्वत पर ही एक मास से अधिक काल तक ढूँढ़ते रहे; किंतु उनको सीताजी का दर्शन नहीं हुआ। अन्त में निराश होकर आपस में कहने लगे 'हम लोगों को व्यर्थ ही प्राण देने पड़ेगे। धन्य है वह जटायु, जिसने सीता के लिये दशानन रावण के द्वारा मारा जाकर युद्ध में प्राण त्याग दिया था'।।८-१३।। उनकी ये बातें सम्पाति नामक गृध्र के कानों में पड़ी। वह वानरों के (प्राण त्याग की चर्चा से उनके) खाने की ताक में लगा था। किंतु जटायु की चर्चा सुनकर रुक गया और बोला-'हे वानरों! जटायु मेरा भाई था। वह मेरे ही साथ सूर्य मण्डल की तरफ उड़ा चला जा रहा था। मैंने अपनी पंखो की ओट में रखकर सूर्य की प्रखर किरणों के ताप से उसको बचाया। इसलिये वह तो सकुशल बच गया; किंतु मेरी पंखे जल गयीं, इसलिये मैं यहीं गिर पड़ा। आज श्रीरामचन्द्रजी की वार्ता सुनने के पश्चात् मेरे पंख निकल आये। अधुना मैं जानकी को देखता हूँ; वे लङ्का में अशोक-वाटिका के अन्दर हैं। लवण समुद्र के द्वीप में त्रिकूट पर्वत पर लङ्का बसी हुई है। यहाँ से वहाँ तक का समुद्र सौ योजन विस्तृत है। यह जानकर सभी वानर श्रीरामचन्द्रजी और सुग्रीव के पास जायँ और उनको सभी समाचार बता दें'।।१४-१७।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी आठवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।८।।

❖❖❖

अथ नवमोऽध्यायः

रामायणे सुन्दरकाण्डम्

नारद उवाच

सम्पातिवचनं श्रुत्वा हनूमानङ्गदादयः। अब्धिं दृष्ट्वाऽब्रुवंस्तेऽब्धिं लङ्घयेत्को नु जीवयेत्।।१।।
कपीनां जीवनार्थाय रामकार्यप्रसिद्धये। शतयोजनविस्तीर्णं पुप्लुवेऽब्धिं स मारुतिः।।२।।
दृष्ट्वोत्थितं च मैनाकं सिंहिकां विनिपात्य च। लङ्कां दृष्ट्वा राक्षसानां गृहाणि, वनितागृहे।।३।।
दशग्रीवस्य कुम्भस्य कुम्भकर्णस्य रक्षसः। विभीषणस्येन्द्रजितो गृहेऽन्येषां च रक्षसाम्।।४।।
नापश्यत्पानभूम्यादौ सीतां चिन्तापरायणः। अशोवाटिकां गत्वा दृष्टवान् शिंशपातले।।५।।
राक्षसीरक्षितां सीतां, भव भार्येतिवादिनम्। रावणं शिंशपास्थोऽथ नेति सीतां सुवादिनीम्।।६।।
भव भार्या रावणस्य राक्षसीर्वादिनीः कपिः। गते तु रावणे प्राह राजा दशरथोऽभवत्।।७।।
रामोऽस्य लक्ष्मणः पुत्रौ वनवासं गतौ वरौ। रामपत्नी जानकी त्वं रावणेन हृता बलात्।।८।।
रामः सुग्रीवमित्रस्त्वां मार्गयन्प्रैषयच्च माम्। साभिज्ञानं चाङ्गुलीयं रामदत्तं गृहाण वै।।९।।

अध्याय-९

सुन्दरकाण्ड की कथा

देवर्षि नारदजी ने कहा कि- सम्पाति की बात सुनकर हनुमान् और अङ्गद आदि वानरों ने समुद्र की तरफ देखा। तत्पश्चात् वे कहने लगे-' कौन समुद्र को लाँघकर समस्त वानरों को जीवन-दान देगा?' वानरों की जीवन-रक्षा और श्रीरामचन्द्रजी के कार्य की प्रकृष्ट सिद्धि के लिये पवन कुमार हनुमान्‌जी सौ योजन विस्तृत समुद्र को लाँघ गये। लाँघते समय अवलम्बन देने के लिये समुद्र से मैनाक पर्वत उठा। हनुमान्‌जी ने दृष्टि मात्र से उसका सत्कार किया। तत्पश्चात् छायाग्राहिणी. सिंहिका ने सिर उठाया। वह उनको अपना ग्रास बनाना चाहती थी, इसलिये. हनुमान्‌जी ने उसको मार गिराया। समुद्र के पार जाकर उन्होंने लङ्कापुरी देखी। राक्षसों के घरों में खोज की; दशानन रावण के अन्तः पुर में तथा कुम्भकर्ण, विभीषण, इन्द्रजित् तथा अन्य राक्षसों के गृहों में जा-जाकर तलाश की; मद्यपान के स्थानों आदि में भी चक्कर लगाया; किंतु कहीं भी सीता उनकी दृष्टि में नहीं पड़ी। अधुना वे बड़ी चिन्ता में पड़े। अन्त में जिस समय अशोक वाटिका की तरफ गये तो वहाँ शिंशपा-वृक्ष के नीचे सीताजी उनको बैठी दिखायी दीं। वहाँ राक्षसियाँ उनकी रख वाली कर रही थीं। हनुमान्‌जी शिंशपा-वृक्ष पर चढ़कर देखा। दशानन रावण सीताजी से कह रहा था- 'तू मेरी स्त्री हो जा'; किंतु वे स्पष्ट शब्दों में 'ना' कर रही थीं। वहाँ बैठी हुई राक्षसियाँ भी यही कहती थीं- 'तू दशानन रावण की स्त्री हो जा।' जिस समय दशानन रावण चला गया तो हनुमान्‌जी ने इस तरह कहना प्रारम्भ किया-'अयोध्या में दशरथ नाम वाले एक राजा थे। उनके दो पुत्र राम और लक्ष्मण वनवास के लिये गये। वे दोनों भाई श्रेष्ठ पुरुष हैं। उनमें श्रीरामचन्द्रजी की पत्नी जनक कुमारी सीता तुम्हीं हो। दशानन रावण आपको बलपूर्वक हर ले आया है। श्रीरामचन्द्रजी इस समय वानराज सुग्रीव के मित्र हो गये हैं। उन्होंने आपकी खोज करने के लिये ही मुझको भेजा है। पहचान के लिये गूढ़ संदेश के साथ श्रीरामचन्द्रजी ने अँगूठी दी है। उनकी दी हुई यह अँगूठी ले लो'।।१-९।।

सीताङ्गुलीयं जग्राह सापश्यन्मारुतिं तरौ। भूयोऽग्रे चोपविष्टं तमुवाच यदि जीवति।।१०।।
रामः कथं न नयति शङ्कितामब्रवीत्कपिः।।११।।

हनुमानुवाच

रामः सीते न जानाति ज्ञात्वा त्वां स नयिष्यति। रावणं राक्षसं हत्वा सबलं देवि मा शुचः।।१२।।
साभिज्ञानं देहि मे त्वं मणिं सीताऽददात् कपौ। उवाच मां यथा रामो नयेच्छीघ्रं तथा कुरु।।१३।।
काकाक्षिपातनकथां प्रातर्याहि हि शोकहा। मणिं कथां गृहीत्वाऽऽह हनूमान्नेष्यते पतिः।।१४।।
अथवा ते त्वरा काचित्पृष्ठमारुह मे शुभे। अद्य त्वां दर्शयिष्यामि ससुग्रीवं च राघवम्।।१५।।
सीताऽब्रवीद्धनूमन्तं नयतां मां हि राघवः। हनूमान् स दशग्रीवदर्शनोपायमाकरोत्।।१६।।
वनं बभञ्ज तत्पालान्हत्वा दन्तनखादिभिः। हत्वा तु किङ्करान् सर्वान् सप्त मन्त्रिसुतानपि।।१७।।
पुत्रमक्षं कुमारं च शक्रजिच्च बबन्ध तम्। नागपाशेन पिङ्गाक्षं दर्शयामास रावणम्।।१८।।
उवाच रावणः 'कस्त्वं' मारुतिः प्राह रावणम्।।१९।।

हनुमान उवाच

रामदूतो राघवाय सीतां देहि मरिष्यसि। रामबाणैर्हतः सार्धं लङ्कास्थै राक्षसैर्ध्रुवम्।।२०।।
रावणो हन्तुमुद्युक्तो विभीषणनिवारितः। दीपयामास लाङ्गूलं दीप्तपुच्छः स मारुतिः।।२१।।

सीताजी ने अँगूठी ले ली। उन्होंने वृक्षपर बैठे हुए हनुमान्‌जी को देखा। तत्पश्चात् हनुमान्‌जी वृक्ष से उतरकर उनके सामने आ बैठे, तत्पश्चात् सीता ने उनसे कहा–'यदि श्रीरघुनाथजी जीवित हैं तो वे मुझको यहाँ से ले क्यों नहीं जाते?' इस तरह शङ्का करती हुई सीताजी से हनुमान्‌जी ने इस तरह कहा–' हे देवि सीते! आप यहाँ हो, यह बात श्रीरामचन्द्रजी नहीं जानते। मुझसे यह समाचार जान लेने के पश्चात् सेना सहित राक्षस दशानन रावण को मारकर वे आपको अवश्य ले जायँगे। आप चिन्ता न करो। मुझको कोई अपनी पहचान दो।' तत्पश्चात् सीताजी ने हनुमान्‌जी को अपनी चूड़ामणि उतारकर दे दी और कहा–'हे भैया! अधुना ऐसा उपाय करो, जिससे श्रीरघुनाथजी शीघ्र आकर मुझको यहाँ से ले चलें। उनको कौए की आँख नष्ट कर देने वाली घटना का स्मरण दिलाना; आज यहीं रहो. कल सबेरे चले जाना; आप मेरा शोक दूर करने वाले हो। तुम्हारे आने से मेरा दुःख बहुत कम हो गया है।' चूड़ामणि और काक वाली कथा को पहचान के रूप में लेकर हनुमान्‌जी ने कहा–'हे कल्याणि! तुम्हारे पतिदेव अधुना आपको शीघ्र ही ले जायँगे। अथवा यदि आपको चलने की जल्दी हो, तो मेरी पीठ पर बैठ जाओ। मैं आज ही आपको श्रीरामचन्द्रजी और सुग्रीव के दर्शन कराउँगा।' सीता बोलीं–'नहीं, श्रीरघुनाथजी ही आकर मुझको ले जायँ'।।१०-१५$\frac{1}{2}$।।

तत्पश्चात् हनुमान्‌जी ने दशानन रावण से मिलने की युक्ति सोच निकाली। उन्होंने रक्षकों को मारकर उस वाटिका को उजाड़ डाला। तत्पश्चात् दाँत और नख आदि आयुधों से वहाँ आये हुए दशानन रावण के समस्त सेवकों को मारकर सात मन्त्रि कुमारों तथा दशानन रावण पुत्र अक्षय कुमार को भी यमलोक पहुँचा दिया। तत्पश्चात् इन्द्रजित् ने आकर उनको नागपाश से बाँध लिया और उन वानर वीर को दशानन रावण के पास ले जाकर उससे मिलाया। उस समय दशानन रावण ने पूछा–'तू कौन है?' तत्पश्चात् हनुमान्‌जी दशानन रावण को उत्तर दिया–'मैं श्रीरामचन्द्र जी का दूत हूँ। आप श्रीसीताजी को श्रीरघुनाथजी की सेवा में लौटा दो; अन्यथा लङ्का निवासी समस्त राक्षसों के साथ आपको श्रीरामचन्द्रजी के बाणों से घायल होकर निश्चय ही मरना पड़ेगा।' यह सुनकर दशानन रावण हनुमान्‌जी को

दग्ध्वा लङ्कां राक्षसानां दृष्ट्वा सीतां प्रणम्य ताम्। समुद्रपारमागम्य दृष्टा सीतेति चाब्रवीत्।।२२।।
अङ्गदादीन्, अङ्गदाद्यैः पीत्वा मधुवने मधु। जित्वा दधिमुखादींश्च दृष्ट्वा रामं च तेऽब्रुवन्।।२३।।
दृष्टा सीतेति रामोऽपि हृष्टः पप्रच्छ मारुतिम्।।२४।।

श्रीराम उवाच

कथं दृष्टा त्वया सीता किमुवाच च मां प्रति। सीताकथामृतेनेव सिञ्च मां कामवह्निवगम्।।२५।।
हनूमानब्रवीद्रामं लङ्घयित्वाब्धिमागतः। सीतां दृष्ट्वा पुरीं दग्ध्वा सीतामणिं गृहाण वै।।२६।।
हत्वा तं रावणं सीतां प्राप्स्यसे राम मा शुचः। गृहीत्वा तं मणिं रामो रुरोद विरहातुरः।।२७।।
मणिं दृष्ट्वा जानकी मे दृष्टा, सीतां नयस्व माम्। तया विना न जीवामि, सुग्रीवाद्यैः प्रबोधितः।।२८।।
समुद्रतीरं गतवांस्तत्र रामं विभीषणः। गतस्तिरस्कृतो भ्रात्रा रावणेन दुरात्मना।।२९।।
रामाय देहि सीतां त्वमित्युक्तेनासहायवान्। रामो विभीषणं मित्रं लङ्कैश्वर्येऽभ्यषेचयत्।।३०।।
समुद्रं प्रार्थयन्मार्गं यदा नादात्तदा शरैः। भेदयामास, रामं च उवाचाब्धिः समागतः।।३१।।

समुद्र उवाच

नलेन सेतुं बद्ध्वाऽब्धौ लङ्कां व्रज गम्भीरकः। अहं त्वया कृतः पूर्वं रामोऽपि नलसेतुना।।३२।।

मारने के लिये उद्यत हो गया; किंतु विभीषण ने उसको रोक दिया। तत्पश्चात् दशानन रावण ने उनकी पूँछ में आग लगा दी। पूँछ जल उठी। यह देख पवनपुत्र हनुमान्‌जी ने राक्षसों की पुरी लङ्का को जला डाला और सीताजी का पुनः दर्शन करके उनको नमस्कार किया। तत्पश्चात् समुद्र के पार आकर अङ्गद आदि से कहा-'मैंने सीताजी का दर्शन कर लिया है।' तत्पश्चात् अङ्गद आदि के साथ सुग्रीव के मधुवन में आकर, दधिमुख आदि रक्षकों को पराजित करके, मधुपान करने के अनन्तर वे सभी लोग श्रीरामचन्द्रजी के पास आये और बोले-'सीताजी का दर्शन हो गया।' श्रीरामचन्द्रजी ने भी अत्यन्त प्रसन्न होकर हनुमान्‌जी से पूछा-।।१६-२४।।

श्रीराम बोले-हे कपिवर! आपको सीता का दर्शन कैसे हुआ? उसने मेरे लिये क्या संदेश दिया है? मैं विरह की आग में जल रहा हूँ। आप सीता की अमृतमयी कथा सुनाकर मेरा संताप शान्त करो।।२५।।

देवर्षि नारदजी ने कहा कि-यह सुनकर हनुमान्‌जी ने रघुनाथजी से कहा-'हे भगवन्! मैं समुद्र लाँघकर लङ्का में गया था। वहाँ सीताजी का दर्शन करके, लङ्कापुरी को जलाकर यहाँ आ रहा हूँ। यह सीताजी की दी हुई चूड़ामणि लीजिये। आप शोक ना करें; दशानन रावण का वध करने के पश्चात् निश्चय ही आपको सीताजी की प्राप्ति होगी।' श्रीरामचन्द्रजी उस मणि को हाथ में ले, विरह से व्याकुल होकर रोने लगे और बोले-'इस मणि को देखकर ऐसा जान पड़ता है, मानो मैंने सीता को ही देख लिया। अधुना मुझको सीता के पास ले चलो; मैं उसके बिना जीवित नहीं रह सकता।' उस समय सुग्रीव आदि ने श्रीरामचन्द्रजी को समझा-बुझाकर शान्त किया। उसके बाद श्रीरघुनाथजी समुद्र के तट पर गये। वहाँ उनसे विभीषण आकर मिले। विभीषण के भाई दुरात्मा दशानन रावण ने उनका तिरस्कार किया था। विभीषण ने इतना ही कहा था कि 'हे भैया! आप सीता को श्रीरामचन्द्रजी की सेवा में समर्पित कर दीजिये।' अधुना वे असाहय थे। श्रीरामचन्द्रजी ने विभीषण को अपना मित्र बनाया और लङ्का के राजपद पर अभिषिक्त कर दिया। इसके बाद श्रीरामचन्द्रजी ने समुद्र से लङ्का जाने के लिये रास्ता माँगा। जिस समय उसने मार्ग नहीं दिया तो उन्होंने बाणों से उसको बींध डाला। अधुना समुद्र भयभीत होकर श्रीरामचन्द्रजी के पास आकर बोला-'हे भगवन्!

कृतेन तरुशैलाद्यैर्गतः पारं महोदधेः। वानरैः स सुवेलस्थः सह लङ्कां ददर्श वै।।३३।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते रामायणे सुन्दरकाण्डे नवमोऽध्यायः।।९।।

—※※※—
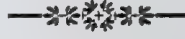
अथ दशमोऽध्यायः

रामायणे युद्धकाण्डवर्णनम्

नारद उवाच

रामोक्तश्चाङ्गदो गत्वा रावणं प्राह जानकी। दीयतां राघवायाऽऽशु अन्यथा त्वं मरिष्यसि।।१।।
रावणो हन्तुमुद्युक्तः स आगाद्धतराक्षसः। रामायाऽऽह दशग्रीवो युद्धमेकं तु मन्यते।।२।।
रामो युद्धाय तच्छ्रुत्वा लङ्कां सकपिराययौ। वानरा हनुमान् मैन्दो द्विविदो जाम्ववान्नलः।।३।।
नीलस्तारोऽङ्गदो धूम्रो सुषेणः केसरी गजः। पनसो विनतो रम्भः शरभः कम्पनो बली।।४।।
गवाक्षो दधिवक्त्रश्च गवयो गन्धमादनः। एते चान्ये च सुग्रीव एतैर्युक्तो ह्यसङ्ख्यकैः।।५।।
रक्षसां वानराणां च युद्धं सङ्कुलमाबभौ। राक्षसा वानराञ्जघ्नुः शरशक्तिगदादिभिः।।६।।

नल के द्वारा मेरे उपर पुल बाँधकर आप लङ्का में जाइये। प्राचीन काल में आप ही ने मुझको गहरा बनाया था।' यह सुनकर श्रीरामचन्द्रजी ने नल के द्वारा वृक्ष और शिला खण्डों से एक पुल बँधवाया और उसी से वे वानरों सहित समुद्र के पार गये। वहाँ सुवेल पर्वत पर पड़ाव डाल कर वहीं से उन्होंने लङ्कापुरी का निरीक्षण किया।।२६-३३।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी नौवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।९।।

अध्याय-१०

युद्धकाण्ड की कथा

देवर्षि नारदजी ने कहा कि-तत्पश्चात् श्रीरामचन्द्रजी के आदेश से अङ्गद दशानन रावण के पास गये और बोले-'हे दशानन रावण! आप जनक कुमारी सीता को ले जाकर शीघ्र ही श्रीराचन्द्रजी को सौंप दो। अन्यथा मारे जाओगे।' यह सुनकर दशानन रावण उनको मारने को तैयार हो गया। अङ्गद राक्षसों को मार-पीटकर लौट आये और श्रीरामचन्द्रजी से बोले-'हे भगवन्! दशानन रावण केवल युद्ध करना चाहता है।' अङ्गद की बात सुनकर श्रीरामचन्द्रजी ने वानरों की सेना साथ ले युद्ध के लिये लङ्का में प्रवेश किया। हनुमान्, मैन्द, द्विविद, जाम्बवान्, नल, नील, तार, अङ्गद, धूम्र, सुषेण, केसरी, गज, पनस, विनत, रम्भ, शरभ, महाबली कम्पन, गवाक्ष, दधिमुख, गवय और गन्धमादन-ये सभी तो वहाँ आये ही, अन्य भी बहुत-से वानर आ पहुँचे। इन असंख्य वानरों सहित कपिराज सुग्रीव भी युद्ध के लिये उपस्थित थे। तत्पश्चात् तो राक्षसों और वानरों में घमासान युद्ध छिड़ गया। राक्षस वानरों को बाण, शक्ति और

वानरा राक्षसाञ्जघ्नुर्नखदन्तशिलादिभिः। हस्त्यश्वरथपादातं राक्षसानां बलं हतम्।।७।।
हनूमान् गिरिशृङ्गेण धूम्राक्षमवधीद्रिपुम्। अकम्पने प्रहस्तं च युध्यन्तं नील आवधीत्।।८।।
इन्द्रजिच्छरबन्धाच्च विमुक्तौ रामलक्ष्मणौ। तार्क्ष्यसन्दर्शनाद्बाणैर्जघ्नतू राक्षसं बलम्।।९।।
रामः शरैर्जर्जरितं रावणं चाकरोद्रणे। रावणः कुम्भकर्णं च बोधयामास दुःखितः।।१०।।
कुम्भकर्णः प्रबुद्धोऽथ पीत्वा घटसहस्रकम्। मद्यस्य महिषादीनां भक्षयित्वाऽऽह रावणम्।।११।।

कुम्भकर्ण उवाच

सीताया हरणं पापं कृतं त्वं हि गुरुर्यतः। अतो गच्छामि युद्धाय रामं हन्मि सवानरम्।।१२।।

नारद उवाच

इत्युक्त्वा वानरान् सर्वान् कुम्भकर्णो ममर्द ह। गृहीतस्तेन सुग्रीवः कर्णनासं चकर्त सः।।१३।।
कर्णनासाविहीनोऽसौ भक्षयामास वानरान्। रामोऽथ कुम्भकर्णस्य बाहू चिच्छेद सायकैः।।१४।।
ततः पादौ ततश्छित्वा शिरो भूमौ न्यपातयत्। अथ कुम्भो निकुम्भश्च मकराक्षश्च राक्षसः।।१५।।
महोदरमहापार्श्वौ मत्त उन्मत्तराक्षसः। प्रघसो भासकर्णश्च विरूपाक्षश्च सङ्गरे।।१६।।
देवान्तको नरान्तश्च त्रिशिराश्चातिकायकः। रामेण लक्ष्मणेनैते वानरैः सविभीषणैः।।१७।।

गदा आदि के द्वारा मारने लगे और वानर नख, दाँत एवं शिला आदि के द्वारा राक्षसों का विनाश करने लगे। राक्षसों की हाथी, घोड़े, रथ और पैदलों से युक्त चतुरङ्गिणी सेना नष्ट-भ्रष्ट हो गयी। हनुमान् ने पर्वत शिखर से अपने वैरी धूम्राक्ष का वध कर डाला। नील ने भी युद्ध के लिये सामने आये हुए अकम्पन और प्रहस्त को मौत के घाट उतार दिया।।१-८।।

श्रीराम और लक्ष्मण यद्यपि इन्द्रजित् के नागास्त्र से बँध गये थे, तथापि गरुड़ की दृष्टि पड़ते ही उससे मुक्त हो गये। तत्पश्चात् उन दोनों भाइयों ने बाणों से राक्षसी सेना का विनाश प्रारम्भ किया। श्रीरामचन्द्रजी ने दशानन रावण को युद्ध में अपने बाणों की मार से जर्जरित कर डाला। इससे दुःखित होकर दशानन रावण ने कुम्भकर्ण को सोते से जगाया। जागने पर कुम्भकर्ण ने हजार घड़े मदिरा पीकर कितने ही भैंस आदि पशुओं का भक्षण किया। तत्पश्चात् दशानन रावण से कुम्भकर्ण बोला-'सीता का हरण करके आपने पाप किया है। आप मेरे बड़े भाई हो, इसीलिये तुम्हारे कहने से युद्ध करने जाता हूँ। मैं वानरों सहित राम को मार डालूँगा'।।९-१२।।

ऐसा कहकर कुम्भकर्ण ने समस्त वानरों को कुचलना प्रारम्भ किया। एक बार उसने सुग्रीव को पकड़ लिया, तत्पश्चात् सुग्रीव ने उसकी नाक और कान काट लिये। नाक और कान से हीन होकर वह वानरों का भक्षण करने लगा। यह देख श्रीरामचन्द्रजी ने अपने बाणों से कुम्भकर्ण की दोनों पैर भुजाएँ काट डालीं। इसके बाद उसके दोनों पैर तथा मस्तक काटकर उसको पृथ्वी पर गिरा दिया। उसके बाद कुम्भ, निकुम्भ, राक्षस मकराक्ष, महोदर, महापार्श्व, मत्त, राक्षस श्रेष्ठ उन्मत्त, प्रघस, भासकर्ण, विरूपाक्ष, देवान्तक, नरान्तक, त्रिशिरा और अतिकाय युद्ध में कूद पड़े। तत्पश्चात् इनको तथा और भी बहुत-से युद्ध परायण राक्षसों को श्रीराम, लक्ष्मण, विभीषण एवं वानरों ने पृथ्वी पर सुला दिया। तत्पश्चात् इन्द्रजित् (मेघनाद) ने माया से युद्ध करते हुए वरदानं में प्राप्त हुए नागपाश द्वारा श्रीरामचन्द्रजी और लक्ष्मण को बाँध लिया। उस समय हनुमान्जी के द्वारा लाये हुए पर्वत पर उगी हुई 'विशल्या' नाम की औषधि से श्रीरामचन्द्रजी और लक्ष्मण के घाव अच्छे हुए। उनके शरीर से बाण निकाल दिये गये। हनुमान्जी पर्वत को जहाँ से लाये थे, वहीं उसको

युध्यमानास्तथा त्वन्ये राक्षसा भुवि पातिताः। इन्द्रजिन्मायया युध्यन्रामादीन् स बबन्ध ह।।१८।।
वरदत्तैर्नागपाशैरोषध्या तौ विशल्यकौ। विशल्यया‌ऽव्रणौ कृत्वा मारुत्यानीतपर्वते।।१९।।
हनूमान्धारयामास तत्रागं यत्र संस्थितः। निकुम्भिलायां होमादि कुर्वन्तं तं हि लक्ष्मणः।।२०।।
शरैरिन्द्रजितं वीरं युद्धे तं तु व्यपातयत्। रावणः शोकसन्तप्तः सीतां हन्तुं समुद्यतः।।२१।।
अविन्ध्यवारितो राजा रथस्थः सबलो ययौ। इन्द्रोक्तो मातली रामं रथस्थं प्रचकार तम्।।२२।।
रामरावणयोर्युद्धं रामरावणयोरिव। रावणो वानरान्हन्ति मारुत्याद्याश्च रावणम्।।२३।।
रामः शस्त्रैस्तमस्त्रैश्च ववर्ष जलदो यथा। तस्य ध्वजं स चिच्छेद रथमश्वांश्च सारथिम्।।२४।।
धनुर्बाहूञ्शिरांस्येव उत्तिष्ठन्ति शिरांसि हि। पैतामहेन हृदयं भित्त्वा रामेण रावणः।।२५।।
भूतले पातितः सर्वै राक्षसै रुरुदुः स्त्रियः। आश्वास्य तं च संस्कृत्य रामाज्ञप्तो विभीषणः।।२६।।
हनूमताऽऽनयद्रामः सीतां शुद्धां गृहीतवान्। रामो वह्नौ प्रविष्टां तां शुद्धामिन्द्रादिभिः स्तुतः।।२७।।
ब्रह्मणा दशरथेन त्वं विष्णूं राक्षसमर्दनः। इन्द्रोऽर्थितोऽमृतवृष्ट्या जीवयामास वानरान्।।२८।।
रामेण पूजिता जग्मुर्युद्धं दृष्ट्वा दिवं च ते। रामो विभीषणायादाल्लङ्कामभ्यर्च्य वानरान्।।२९।।
ससीतः पुष्पके स्थित्वा गतमार्गेण वै गतः। दर्शयन् वनदुर्गाणि सीतायै हृष्टमानसः।।३०।।

पुनः रख आये। इधर मेघनाद निकुम्भिला देवी के मन्दिर में हवन आदि करने लगा। उस समय लक्ष्मण ने अपने बाणों से इन्द्र को भी पराजित कर देने वाले उस वीर को युद्ध में मार गिराया। पुत्र की मृत्यु का समाचार पाकर दशानन रावण शोक से संतप्त हो उठा और सीता को मार डालने के लिये उद्यत हो उठा; किंतु अविन्ध्य के मना करने से वह मान गया और रथपर बैठकर सेनासहित युद्ध भूमि में गया। तत्पश्चात् इन्द्र के आदेश से मातलि ने आकर श्रीरघनाथजी को भी देवराज इन्द्र के रथ पर बिठाया।।१३-२२।।

श्रीराम और दशानन रावण का युद्ध श्रीरामचन्द्रजी और दशानन रावण के युद्ध के समान ही था-उसकी कहीं भी दूसरी कोई उपमा नहीं थी। दशानन रावण वानरों पर प्रहार करता था और हनुमान् आदि वानर दशानन रावण को चोट पहुँचाते थे। जिस प्रकार मेघ पानी बरसाता है, उसी तरह श्रीरघुनाथजी ने दशानन रावण के उपर अस्त्र-शस्त्रों की वर्षा प्रारम्भ कर दी। उन्होंने दशानन रावण के रथ, ध्वज, अश्व, सारथि, धनुष, बाहु और मस्तक काट डाले। काटे हुए मस्तकों के स्थान पर दूसरे नये मस्तक उत्पन्न हो जाते थे। यह देखकर श्रीरामचन्द्रजी ने ब्रह्मास्त्र के द्वारा दशानन रावण का वक्षःस्थल विदीर्ण करके उसको युद्धक्षेत्र में गिरा दिया। उस समय मरने से बचे हुए सभी राक्षसों के साथ दशानन रावण की अनाथा स्त्रियाँ विलाप करने लगीं। तत्पश्चात् श्रीरामचन्द्रजी की आज्ञा से विभीषण ने उन सभी को सान्त्वना दे, दशानन रावण के शव का दाह-संस्कार किया। उसके बाद श्रीरामचन्द्रजी ने हनुमान्जी के द्वारा सीताजी को बुलवाया। यद्यपि वे स्वरूप से ही नित्य शुद्ध थीं, तो भी उन्होंने अग्नि में प्रवेश करके अपनी विशुद्धता का परिचय दिया। तत्पश्चात् रघुनाथजी ने उनको स्वीकार किया। इसके बाद इन्द्रादि देवताओं ने उनका स्तवन किया। तत्पश्चात् ब्रह्माजी तथा स्वर्गवासी महाराज दशरथ ने आकर स्तुति करते हुए कहा-'हे श्रीराम! आप राक्षसों का विनाश करने वाले साक्षात् भगवान् श्रीहरि विष्णु हो।' तत्पश्चात् श्रीरामचन्द्रजी के अनुरोध से इन्द्र ने अमृत बरसाकर मरे हुए वानरों को जीवित कर दिया। समस्त देवता युद्ध देखकर, श्रीरामचन्द्रजी के द्वारा पूजित हो, स्वर्गलोक में चले गये। श्रीरामचन्द्रजी ने लङ्का का राज्य विभीषण को दे दिया और वानरों का विशेष सम्मान किया।।२३-२९।। तत्पश्चात् सभी

भरद्वाजं नमस्कृत्य नन्दिग्रामं समागतः। भरतेन नतश्चागादयोध्यां तत्र संस्थितः।।३१।।
वसिष्ठादीन्नमस्कृत्य कौशल्यां चैव कैकयीम्। सुमित्रां प्राप्तराज्योऽथ द्विजादीन् सोऽभ्यपूजयत्।।३२।।
वासुदेवं स्वात्मानमश्वमेधैरथायजत्। सर्वदानानि स ददौ पालयामास स प्रताः।।३३।।
पुत्रवद्धर्मकामादीन् दुष्टनिग्रहणे रतः। सर्वो धर्मपरो लोकः सर्वसस्या च मेदिनी।।३४।।
नाकालमरणं चासीद्रामे राज्यं प्रशासति।।३५।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते रामायणे युद्धकाण्डे दशमोऽध्यायः।।१०।।

को साथ ले, सीतासहित पुष्पक विमान पर बैठकर श्रीरामचन्द्रजी जिस मार्ग से आये थे, उसी से लौट चले। मार्ग में वे सीता को प्रसन्नचित होकर वनों और दुर्गम स्थानों को दिखाते जा रहे थे। प्रयाग में महर्षि भरद्वाज को नमस्कार करके वे अयोध्या के पास नन्दिग्राम में आये। वहाँ भरत ने उनके चरणों में नमस्कार किया। तत्पश्चात् वे अयोध्या में आकर वहीं रहने लगे। सबसे पहले उन्होंने महर्षि वसिष्ठ आदि को नमस्कार करके क्रमशः कौसल्या, कैकयी और सुमित्रा के चरणों में मस्तक झुकाया। तत्पश्चात् राज्य-ग्रहण करके ब्राह्मणों आदि का पूजन किया। अश्वमेध-यज्ञ करके उन्होंने अपने आत्मस्वरूप श्रीवासुदेव का यजन किया, सभी तरह के दान दिये और प्रजाजनों का पुत्रवत् पालन करने लगे। उन्होंने धर्म और कामादि का भी सेवन किया तथा वे दुष्टों को सदा दण्ड देते रहना उचित समझा। उनके राज्य में सभी लोग धर्मपरायण थे तथा पृथ्वीपर सभी तरह की खेती फल-फूली रहती थी। श्रीरघुनाथजी के शासनकाल में किसी की अकालमृत्यु भी नहीं होती थी।।३०-३५।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी दसवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।१०।।

❖❖❖

अथैकादशोऽध्यायः

रामायण-उत्तरकाण्डम्

नारद उवाच

राज्यस्थं राघवं जग्मुरगस्त्याद्याः सुपूजिताः।।१।।

ऋषय ऊचुः

धन्यस्त्वं विजयी यस्मादिन्द्रजिद्विनिपातितः। ब्रह्मात्मजः पुलस्त्योऽभूद्विश्रवास्तस्य कैकसी।।२।।
पुष्पोत्कटाऽभूत्प्रथमा तत्पुत्रोऽभूद्धनेश्वरः। कैकस्यां रावणो जज्ञे विंशद्बाहूर्दशाननः।।३।।
तपसा ब्रह्मदत्तेन वरेण जितदैवतः। कुम्भकर्णः सनिद्रोऽभूद्धर्मिष्ठोऽभूद्विभीषणः।।४।।
स्वसा शूर्पणखा तेषां रावणान्मेघनादकः। इन्द्रं जित्वेन्द्रजिच्चाभूद्रावणादधिको बली।
हतस्त्वया लक्ष्मणेन देवादेः क्षेममिच्छता।।५।।

नारद उवाच

इत्युक्त्वा ते गता विप्रा अगस्त्याद्या नमस्कृताः। देवप्रार्थितरामोक्तः शत्रुघ्नो लवणार्दनः।।६।।
अभूत्पूर्मथुरा काचिद्रामोक्तो भरतोऽवधीत्। कोटित्रयं च शैलूषपुत्राणां निशितैः शरैः।।७।।
शैलूषं दृप्तगन्धर्वं सिन्धुतीरनिवासिनम्। तक्षं च पुष्करं पुत्रं स्थापयित्वाऽथ देशयोः।।८।।

अध्याय–११

उत्तरकाण्ड की कथा

देवर्षि नारदजी ने कहा कि–जिस समय रघुनाथजी अयोध्या के राजसिंहासन पर आसीन हो गये, तत्पश्चात् अगस्त्य आदि महर्षि उनका दशर्न करने के लिये गये। वहाँ उनका भलीभाँति स्वागत–सत्कार हुआ। उसके बाद उन ऋषियों ने कहा–'हे भगवन्! आप धन्य हैं, जो लङ्का में विजयी हुए और इन्द्रजित्–जिस प्रकार राक्षसों को मार गिराया।डअधुना हम उनकी उत्पत्ति–कथा बतलाते है, सुनिये–. ब्रह्माजी के पुत्र मुनिवर पुलस्त्य हुए और पुलस्त्य से महर्षि विश्रवा का जन्म हुआ। उनकी दो पत्नियाँ थीं–पुण्योत्कटा और कैकसी। उनमें पुण्योत्कटा ज्येष्ठ थी। उसके गर्भ से धनाध्यक्ष कुबेर का जन्म हुआ, जिसके दस मुख और ब्रह्माजी ने उसको वरदान दिया, जिससे उसने समस्त देवताओं को जीत लिया। कैकसी के दूसरे पुत्र का नाम कुम्भकर्ण और तीसरे का विभीषण था। कुम्भकर्ण सदा नहीं में पड़े रहता था; किंतु विभीषण बड़े धर्मात्मा हुए। इन तीनों की बहन शूर्पणखा हुई। दशानन रावण से मेघनाद का जन्म हुआ। उसने इन्द्र को जीत लिया था, इसलिये 'इन्द्रजित्' के नाम से उसकी प्रसिद्धि हुई। वह दशानन रावण से भी अधिक बलवान् था। परंतु देवताओं आदि के कल्याण की इच्छा रखने वाले आपने लक्ष्मण के द्वारा उसका वध करा दिया।' ऐसा कहकर वे अगस्त्य आदि ब्रह्मर्षि श्रीरघुनाथजी के द्वारा अभिनन्दित हो अपने–अपने आश्रम को चले गये। उसके बाद देवताओं की याचना से प्रभावित श्रीरामचन्द्रजी के आदेश से शत्रुघ्न ने लवणासुर को मारकर एक पुरी बसायी, जो 'मथुरा' नाम से प्रसिद्ध हुई। तत्पश्चात् भरत ने श्रीरामचन्द्रजी की आज्ञा पाकर सिन्धु–तीर–निवासी शैलूष नामक

भरतोऽगात्सशत्रुघ्नो राघवं पूजयन् स्थितः। रामो दुष्टान्निहत्याजौ शिष्टान्सम्पाल्य मानवः।।९।।
पुत्रौ कुशलवौ जातौ वाल्मीकेराश्रमे वरौ। लोकापवादात्त्यक्तायां ज्ञातौ सुचरितश्रवात्।।१०।।
राज्येऽभिषिच्य ब्रह्माऽहमस्मीति ध्यानतत्परः। दश वर्षसहस्राणि दश वर्षशतानि च।।११।।
राज्यं कृत्वा क्रतून् स्वर्गं देवार्थितो ययौ। सपौरः सानुजः, सीतापुत्रो जनपदान्वितः।।१२।।

अग्निरुवाच

वाल्मीकिर्नारदाच्छ्रुत्वा रामायणमकारयत्। सविस्तरं य एतच्च शृणुयात्स दिवं व्रजेत्।।१३।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते रामायण उत्तरकाण्ड एकादशोऽध्यायः।।११।।

—❀❀❀—

बलोन्मत्त गन्धर्व का तथा उसके तीन करोड़ वंशजों का अपने तीखे बाणों से विनाश किया। तत्पश्चात् उस देश के गान्धार और मद्र दो विभाग करके, उनमें अपने पुत्र तक्ष और पुष्कर को स्थापित कर दिया।।१-९।।

इसके बाद भरत और शत्रुघ्न अयोध्या में चले आये और वहाँ श्रीरघुनाथजी की अराधना करते हुए रहने लगे। श्रीरामचन्द्रजी ने दुष्ट पुरूषों का युद्ध में विनाश किया और शिष्ट पुरूषों का दान आदि के द्वारा भलीभाँति पालन किया। उन्होंने लोकापवाद के भय से अपनी धर्मपत्नी सीता को वन में छोड़ दिया था। वहाँ वाल्मीकि मुनि के आश्रम में उनके गर्भ से दो श्रेष्ठ पुत्र उत्पन्न हुए, जिनके नाम कुश और लव थे। उनके श्रेष्ठतम चरित्रों को सुनकर श्रीरामचन्द्रजी को भलीभाँति निश्चय हो गया कि ये मेरे ही पुत्र हैं। तत्पश्चात् उन दोनों को कोसल के दो राज्यों पर अभिषिक्त करके, 'मैं ब्रह्म हूँ' इसकी भावनापूर्वक ध्यानयोग में स्थित होकर उन्होंने देवताओं की याचना से भाइयों और पुरवासियों सहित अपने परमधाम में प्रवेश किया। अयोध्या में ग्यारह हजार वर्षों तक राज्य करके वे अनेक यज्ञों का अनुष्ठान कर चुके थे। उनके बाद सीता के पुत्र कोसल जनपद के राजा हुए।।१०-१३।।

श्रीअग्नि देव ने कहा कि-हे ब्रह्मर्षि वसिष्ठ! देवर्षि नारद से यह कथा सुनकर महर्षि वाल्मीकि ने विस्तारपूर्वक रामायण नामक महाकाव्य की रचना की। जो इस प्रसङ्ग को सुनता है, वह स्वर्गलोक को जाता है।।१४।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी ग्यारहवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।११।।

अथ द्वादशोऽध्यायः

कृष्णावतारकथाप्रसङ्गः

अग्निरुवाच

हरिवंशं प्रवक्ष्यामि विष्णुनाभ्यम्बुजादजः। ब्रह्मणोऽत्रिस्ततः सोमः सोमाज्जातः पुरूरवाः॥१॥
तस्मादायुरभूत्तस्मान्नहुषोऽतो ययातिकः। यदुं च तुर्वसुं तस्माद्देवयानी व्यजायत॥२॥
द्रुह्युं चानुं च पूरुं च शर्मिष्ठा वार्षपर्वणी। यदोः कुले यादवाश्च वासुदेवस्तदुत्तमः॥३॥
भुवो भारावतारार्थं देवक्यां वसुदेवतः। हिरण्यकशिपोः पुत्राः षड्गर्भा योगनिद्रया॥४॥
विष्णुप्रयुक्तया नीता देवकीजठरं पुरा। अभूच्च सप्तमो गर्भो देवक्या जठराद्बलः॥५॥
सङ्क्रामितोऽभूद्रोहिण्यां रौहिणेयस्ततो हरिः। कृष्णाष्टम्यां च नभसि अर्द्धरात्रे चतुर्भुजः॥६॥
देवक्या वसुदेवेन स्तुतो बालो द्विबाहुकः। वसुदेवः कंसभयाद्यशोदाशयनेऽनयत्॥७॥
यशोदाबालिकां गृह्य देवकीशयनेऽनयत्। कंसो बालध्वनिं श्रुत्वा तां चिक्षेप शिलातले॥८॥
वारितोऽपि स देवक्या मृत्युर्गर्भोऽष्टमो मम। श्रुत्वाऽशरीरिणीं वाचमतो गर्भांस्तु मारिताः॥९॥

अध्याय–१२

हरिवंश का वर्णन एवं श्रीकृष्णावतार की चर्चा

श्रीअग्नि देव ने कहा कि–अधुना मैं हरिवंश का वर्णन करने जा रहा हूँ। भगवान् श्रीहरि विष्णु के नाभि-कमल से ब्रह्माजी का प्रादुर्भाव हुआ। ब्रह्माजी से अत्रि, अत्रि से सोम, सोम से बुध एवं बुध से पुरूरवा उत्पन्न हुए। पुरूरवा से आयु, आयु से नहुष तथा नहुष से ययाति का जन्म हुआ। ययाति की पहली पत्नी देवयानी ने यदु और तुर्वसु नामक दो पुत्रों को जन्म दिया। उनकी दूसरी पत्नी शर्मिष्ठा के गर्भ से, जो वृषपर्वा की पुत्री थी, द्रुह्यु, अनु और पूरु–ये तीन पुत्र उत्पन्न हुए। यदु के वंश में 'यादव' नाम से प्रसिद्ध क्षत्रिय हुए। उन सभी में भगवान् वासुदेव सर्वश्रेष्ठ थे। परम पुरूष भगवान् श्रीहरि विष्णु ही इस पृथ्वी का भार उतारने के लिये वसुदेव और देवकी के पुत्र रूप में प्रकट हुए थे। भगवान् श्रीहरि विष्णु की प्रेरणा से योग–निद्रा ने क्रमशः छः गर्भ, जो पूर्व जन्म में हिरण्यकशिपु के पुत्र थे, देवकी के उदर में स्थापित किये। देवकी के उदर से सातवें गर्भ के रूप बलभद्रजी प्रकट हुए थे। ये देवकी से रोहणी के गर्भ में खींचकर लाये गये थे, इसलिये संकर्षण तथा रौहिणेय कहलाये। उसके बाद श्रावण मास के कृष्णपक्ष की अष्टमी को अर्द्धरात्रि के समय चार भुजाधारी भगवान् श्रीहरि विष्णु प्रकट हुए। उस समय देवकी और वासुदेव ने उनका स्तवन किया। तत्पश्चात् वे दो बाँहों वाले नन्हें–से बालक बन गये। वासुदेव ने कंस के भय से अपने शिशु को यशोदा की शय्या पर पहुँचा दिया और यशोदा की नवजात बालिका को देवकी की शय्या पर लाकर सुला दिया। बच्चे के रोने की आवाज सुनकर कंस आ पहुँचा और देवकी के मना करने पर भी उसने उस बालिका को उठाकर शिला पर पटक दिया। उसने आकाशवाणी से सुन रखा था कि देवकी के आठवें गर्भ से मेरी मृत्यु होगी। इसलिये उसने देवकी के उत्पन्न हुए सभी शिशुओं को मार डाला था॥१–९॥

सा क्षिप्ता बालिका कंसमाकाशस्थाऽब्रवीदिदम्।।१०।।

बालिकोवाच

किं मया क्षिप्तया कंस जातो यस्त्वां वधिष्यति। सर्वस्वभूतो देवानां भूभारहरणाय सः।।११।।

अग्निरुवाच

इत्युक्त्वा सा च शुम्भादीन्हत्वा इन्द्रेण च स्तुता। आर्या दुर्गा देवगर्भा अम्बिका भद्रकाल्यपि।।१२।।
भद्रा क्षेम्या क्षेमकरी नैकबाहुर्नमामि ताम्। त्रिसन्ध्यं यः पठेन्नाम सर्वकामान्स चाऽऽप्नुयात्।।१३।।
कंसोऽपि पूतनादींश्च प्रेषयद्बालनाशने। यशोदापतिनन्दाय वसुदेवेन चार्पितौ।।१४।।
रक्षणाय च कंसादेर्भीतेनैव हि गोकुले। रामकृष्णौ चेरतुस्तौ गोभिर्गोपालकैः सह।।१५।।
सर्वस्य जगतः पालौ गोपालौ तौ बभूवतुः। कृष्णश्चोलूखले बद्धो दाम्ना व्यग्रयशोदया।।१६।।
यमलार्जुनमध्येऽगाद् भग्नौ च यमलार्जुनौ। परिवृत्तश्च शकटः पादक्षेपात्स्तनार्थिना।।१७।।
पूतना स्तनपानेन सा हता हन्तुमुद्यता। वृन्दावनगतः कृष्णः कालियं यमुनाह्रदात्।।१८।।
जित्वा निःसार्य चाब्धिस्थं चकार बलसंस्तुतः। क्षेमं तालवनं चक्रे हत्वा धेनुकगर्दभम्।।१९।।
अरिष्टवृषभं हत्वा केशिनं हयरूपिणम्। शक्रोत्सवं परित्यज्य कारितो गोत्रयज्ञकः।।२०।।

कंस के द्वारा शिलापर पटकी हुई वह बालिका आकाश की ओर उड़ गयी और वहीं से इस तरह बोली– 'हे कंस! मुझको पटकने से आपका क्या लाभ हुआ? जिनके हाथ से आपका वध होगा वे देवताओं के सर्वस्वभूत भगवान् तो इस पृथ्वी का भार उतारने के लिये अवतार ले चुके'।।१०-११।।

ऐसा कहकर वह चली गयी। उसी ने देवताओं की याचना से शुम्भ आदि दैत्यों का वध किया। तत्पश्चात् इन्द्र ने इस तरह स्तुति की–'जो आर्या, दुर्गा, वेदगर्भा, अम्बिका, भद्रकाली, भद्रा, क्षेम्या, क्षेमकारी तथा नैकबाहु आदि नामों से प्रसिद्ध हैं, उन जगदम्बा को मैं नमस्कार करता हूँ।' जो तीनों समय इन नामों का पाठ करता है, उसकी सभी कामनाएँ पूर्ण होती हैं। उधर कंस ने भी (बालिका की बात सुनकर) नवजात शिशुओं का वध करने के लिये पूतना आदि को सभी तरफ भेजा। कंस आदि से डरे हुए वसुदेव ने अपने दोनों पुत्रों की रक्षा के लिये उनको गोकुल में यशोदापति नन्दजी को सौंप दिया था। वहाँ बलराम और श्रीकृष्ण दोनों भाई गौओं तथा ग्वालबालों के साथ विचरा करते थे। यद्यपि वे सम्पूर्ण जगत् के पालक थे, तो भी व्रज में गोपालक बन कर रहना पसंद किया। एक बार श्रीकृष्ण के उधम से तंग आकर मैया यशोदा ने उनको रस्सी से उखल में बाँध दिया। वे उखल घसीटते हुए दो अर्जुन-वृक्षों के बीच से निकले। इससे वे दोनों वृक्ष टूटकर गिर पड़े। एक दिन श्रीकृष्ण एक छकड़े के नीचे सो रहे थे। वे माता का स्तनपान करने की इच्छा से अपने पैर फेंक-फेंककर रोने लगे। उनके पैर का हलका-सा आघात लगते ही छकड़ा उलट गया।।१२-१७।।

पूतना अपना स्तन पिलाकर श्रीकृष्ण को मारने के लिये उद्यत थी; किंतु श्रीकृष्ण ने ही उसका काम तमाम कर दिया। उन्होंने वृन्दावन में जाने के पश्चात् कालिय नाग को पराजित किया और उसको यमुना के कुण्ड से निकालकर समुद्र में भेज दिया। बलरामजी के साथ जा, गदहे का रूप धारण करने वाले धेनुकासुर को मारकर, उन्होंने तालवन को क्षेमयुक्त स्थान बना दिया तथा वृषभ रूपधारी अरिष्टासुर और अश्व रूपधारी केशी को मार डाला। तत्पश्चात् श्रीकृष्ण ने इन्द्रयाग के उत्सव को बन्द कराया और उसके स्थान में गिरिराज गोवर्धन की पूजा प्रचलित की। इससे कुपित हो

पर्वतं धारयित्वा च शक्राद् वृष्टिर्निवारिता। नमस्कृतो महेन्द्रेण गोविन्दोऽथार्जुनोऽर्पितः॥२१॥
इन्द्रोत्सवस्तु तुष्टेन भूयः कृष्णेन कारितः। रथस्थो मथुरां चागात्कंसोक्ताक्रूरसंस्तुतः॥२२॥
गोपीभिरनुरक्ताभिः क्रीडिताभिर्निरीक्षितः। रजकं चाप्रयच्छन्तं हत्वा वस्त्राणि सोऽग्रहीत्॥२३॥
सह रामेण माला भृन्मालाकारे वरंददौ। दत्तानुलेपनां कुब्जामृजुं चक्रेऽहनद्गजम्॥२४॥
मत्तं कुवलयापीडं द्वारि रङ्गं प्रविश्य च। कंसादीनां पश्यतां च मञ्चस्थाने नियुद्धकम्॥२५॥
चक्रे चाणूरमल्लेन मुष्टिकेन बलोऽकरोत्। चाणूरमुष्टिकौ ताभ्यां हतौ मल्लौ तथाऽपरे॥२६॥
मथुराधिपतिं कंसं हत्वा तत्पितरं हरिः। चक्रे यादवराजानमस्तिप्राप्ती च कंसगे॥२७॥
जरासन्धस्य ते पुत्र्यौ जरासन्धस्तदीरितः। चक्रे स मथुरारोधं यादवैर्युयुधे शरैः॥२८॥
रामकृष्णौ च मथुरां त्यक्त्वा गोमन्तमागतौ। जरासन्धं विजित्याऽऽजौ पौण्ड्रकं वासुदेवकम्॥२९॥
पुरीं तु द्वारकां कृत्वा न्यवसद्यादवैर्वृतः। भौमं तु नरकं हत्वा तेनाऽऽनीताश्च कन्यकाः॥३०॥
देवगन्धर्वयक्षाणां ता उवाह जनार्दनः। षोडश स्त्रीसहस्राणि रुक्मिण्याद्यास्तथाऽष्ट च॥३१॥
सत्यभामासमायुक्तो गरुडे नरकार्दनः। मणिशैलं सरत्नं च इन्द्रं जित्वा हरिर्दिवि॥३२॥

इन्द्र ने जो वर्षा प्रारम्भ किया, उसका निवारण श्रीकृष्ण ने गोवर्धन पर्वत को धारण करके किया। अन्त में महेन्द्र ने आकर उनके चरणों में मस्तक झुकाया और उनको 'गोविन्द' की पदवी दी। तत्पश्चात् अपने पुत्र अर्जुन को उनको सौंपा। इससे संतुष्ट होकर श्रीकृष्ण ने पुनः इन्द्रयाग का भी उत्सव कराया। उसके बाद एक दिन वे दोनों भाई कंस का संदेश लेकर आये हुए अक्रूर के साथ रथ पर बैठकर मथुरा चले गये। जाते समय श्रीकृष्ण में अनुराग रखने वाली गोपियाँ, जिनके साथ वे भाँति-भाँति की मधुर लीलाएँ कर चुके थे, उनको बहुत देर तक निहारती रहीं। मार्ग में अक्रूर ने उनकी स्तुति की। मथुरा में एक रजक (धोबी) को, जो बहुत बढ़-बढ़कर बातें बना रहा था, मारकर श्रीकृष्ण ने उससे सारे वस्त्र ले लिये॥१८-२३॥

एक माली के द्वार पर उन्होंने बलरामजी के साथ फूल की मालाएँ धारण कीं और माली को श्रेष्ठतम वर दिया। कंस की दासी कुबड़ी ने उनके शरीर में चन्दन का लेप कर दिया, इससे प्रसन्न होकर उन्होंने उसका कुबड़ापन दूर कर दिया-उसको सुडौल एवं सुन्दरी बना दिया। आगे जाने पर रङ्गशाला के द्वार पर खड़े हुए कुवलयापीड नामक मतवाले हाथी को मारा और रङ्गभूमि में प्रवेश करके श्रीकृष्ण ने मञ्च पर बैठे हुए कंस आदि राजाओं के समक्ष चाणूर नामक मल्ल के साथ उसके ललकारने पर कुश्ती लड़ी और बलराम ने मुष्टि नाम वाले पहलवान के साथ दंगल शुरू किया। उन दोनों भाइयों ने चाणूर, मुष्टि तथा अन्य पहलवानों को भी बात-ही-बात में मार गिराया। तत्पश्चात् श्रीहरि विष्णु ने मथुराधिपति कंस को मारकर उसके पिता उग्रसेन को यदुवंशियों का राजा बनाया। कंस के दो रानियाँ थीं-अस्ति और प्राप्ति। वे दोनों जरासन्ध की पुत्रियाँ थीं। उनकी प्रेरणा से जरासन्ध मथुरापुरी पर घेरा डाल दिया और यदुवंशियों के साथ बाणों से युद्ध करने लगा। बलराम और श्रीकृष्ण जरासन्ध को पराजित करके मथुरा छोड़कर गोमन्त पर्वत पर चले आये और द्वारका नगरी का निर्माण करके वहीं यदुवंशियों के साथ रहने लगे। उन्होंने युद्ध में वासुदेव नाम धारण करने वाले पौण्ड्रक को भी मारा तथा भूमिपुत्र नरकासुर का वध करके उसके द्वारा हरकर लायी हुई देवता, गन्धर्व तथा यक्षों की कन्याओं के साथ विवाह किया। श्रीकृष्ण के सोलह हजार आठ रानियाँ थीं, उनमें रुक्मिणी आदि प्रधान थीं॥२४-३१॥ इसके बाद नरकासुर का दमन करने वाले भगवान् श्रीकृष्ण सत्यभामा के साथ गरुड़ पर आरूढ़

पारिजातं समानीय सत्यभामागृहेऽकरोत्। सान्दीपनेश्च शस्त्रास्त्रं ज्ञात्वा तद्बालकं ददौ।।३३।।
जित्वा पञ्चजनं दैत्यं यमेन च सुपूजितः। अवधीत्कालयवनं मुचुकुन्देन पूजितः।।३४।।
वसुदेवं देवकीं च भक्तविप्रांश्च सोऽर्चयत्। रेवत्यां बलभद्राच्च जज्ञाते निषधोल्मुकौ।।३५।।
कृष्णात्साम्बो जाम्बवत्यामन्यास्वन्येऽभवन्सुताः। प्रद्युम्नोऽभूच्च रुक्मिण्यां षष्ठेऽह्नि स हृतो बलात्।।३६।।
शम्बरेणाम्बुधौ क्षिप्तौ मत्स्यो जग्राह, धीवरः। तं मत्स्यं शम्बरायादान्मायावत्यै च शम्बरः।।३७।।
मायावती मत्स्यमध्ये दृष्ट्वा स्वं पतिमादरात्। पुपोष सा तं चोवाच रतिस्तेऽहं पतिर्मम।।३८।।
कामस्त्वं शम्भुनाऽनङ्गः कृतोऽहं शम्बरेण च। हृता, न तस्य पत्नी, त्वं मायाज्ञः शम्बरं जहि।।३९।।
तच्छ्रुत्वा शम्बरं हत्वा प्रद्युम्नं सह भार्यया। मायावत्या ययौ कृष्णं कृष्णो हृष्टोऽथ रुक्मिणी।।४०।।
प्रद्युम्नादनिरुद्धोऽभूदुषापतिरुदारधीः। बाणो बलिसुतस्तस्य सुतोषा शोणितं पुरम्।।४१।।
तपसा शिवपुत्रोऽभून्मयूरध्वजपाततः। युद्धं प्राप्स्यसि बाण त्वं बाणं तुष्टः शिवोऽभ्यधात्।।४२।।
शिवेन क्रीडती गौरीं दृष्ट्वोषा सस्पृहा पतौ। तामाह गौरी भर्ता ते निशि स्पप्ने तु दर्शनात्।।४३।।
वैशाखमासद्वादश्यां पुमान्भर्ता भविष्यति। गौर्युक्ता हर्षिता चोषा गृहे सुप्ता ददर्श तत्।।४४।।

हो स्वर्गलोक में गये। वहाँ से इन्द्र को पराजित करके रत्नों सहित मणिपर्वत तथा पारिजात वृक्ष उठा लाये और उनको सत्यभामा के भवन में स्थापित कर दिया। श्रीकृष्ण ने सान्दीपनि मुनि से अस्त्र-शस्त्रों की शिक्षा ग्रहण की थी। शिक्षा पाने के अनन्तर उन्होंने गुरुदक्षिणा के रूप में गुरु के मरे हुए बालक को लाकर दिया था। इसके लिये उनको 'पञ्चजन' नामक दैत्य को पराजित करके यमराज के लोक में भी जाना पड़ा था। वहाँ यमराज ने उनकी बड़ी पूजा की थी। उन्होंने राजा मुचुकुन्द के द्वारा कालयवन का वध करवा दिया। उस समय मुचुकुन्द ने भी भगवान् की पूजा की। भगवान् श्रीकृष्ण वसुदेव, देवकी तथा भगवद्भक्त ब्राह्मणों का बड़ा आदर सत्कार करते थे। बलभद्रजी के द्वारा रेवती के गर्भ से निशठ और उल्मुक नामक दो पुत्र उत्पन्न हुए। श्रीकृष्ण द्वारा जाम्बवती के गर्भ से साम्बा का जन्म हुआ। इसी तरह अन्य रानियों से अन्यान्य पुत्र उत्पन्न हुए। रुक्मिणी के गर्भ से प्रद्युम्न का जन्म हुआ था। वे अभी छः दिन के थे, तभी शम्बरासुर उनको मायाबल से हर ले गया। उसने बालक को समुद्र में फेंक दिया। समुद्र में एक मत्स्य उसको निगल गया। उस मत्स्य को एक मल्लाह ने पकड़ लिया और शम्बरासुर को भेंट किया। तत्पश्चात् शम्बरासुर ने उस मत्स्य को मायावती के हवाले कर दिया। मायावती ने मत्स्य के पेट में अपने पति को देखकर बड़े आदर से उसका पालन पोषण किया। बड़े हो जाने पर मायावती ने प्रद्युम्न से कहा-'हे नाथ! मैं आपकी पत्नी रति हूँ और आप मेरे पति कामदेव हैं। प्राचीन काल में भगवान् शङ्कर ने आपको अनङ्ग (शरीर सहित) कर दिया था। आपके न रहने से शम्बरासुर मुझको हर लाया है। मैंने उसकी पत्नी होना स्वीकार नहीं किया है। आप माया के ज्ञाता हैं, इसलिये शम्बरासुर को मार डालिये'।।३२-३९।।

यह सुनकर प्रद्युम्न ने शम्बरासुर का वध किया और अपनी भार्या मायावती के साथ वे श्रीकृष्ण के पास चले गये। उनके आगमन से श्रीकृष्ण और रुक्मिणी को बड़ी प्रसन्नता हुई। प्रद्युम्न से उदार बुद्धि अनिरूद्ध का जन्म हुआ। बड़े होने पर वे उषा के स्वामी हुए। राजा बलि के बाण नामक पुत्र था। उषा उसी की पुत्री थी। उसका निवास स्थान शोणितपुर में था। बाण ने बड़ी भारी तपस्या की, जिससे प्रसन्न होकर भगवान् शिव ने उसको अपना पुत्र मान लिया था। एक दिन भगवान् सदाशिवजी ने बलोन्मत्त बाणासुर की युद्ध विषयक इच्छा से संतुष्ट होकर उससे कहा-'बाण! जिस दिन तुम्हारे महल का मयूर ध्वज अपने-आप टूटकर गिर जाय उस दिन यह समझना कि आपको युद्ध

आत्मना सङ्गतं ज्ञात्वा तत्सख्या चित्रलेखया। लिखिताद्वै चित्रपटादनिरुद्धं समानयत्॥४५॥
कृष्णपौत्रं द्वारकातो दुहित्रा बाणमन्त्रिणः। कुम्भाण्डस्यानिरुद्धोऽगाद्रराम ह्युषया सह॥४६॥
वाणध्वजस्य सम्पातो रक्षिभिः स निवेदितः। अनिरुद्धस्य बाणेन युद्धमासीत्सुदारुणम्॥४७॥
श्रुत्वा तु नारदात्कृष्णः प्रद्युम्नबलभद्रवान्। गरुडस्थोऽथ जित्वाऽग्नीञ्ज्वरं माहेश्वरं तथा॥४८॥
हरिशङ्करयोर्युद्धं बभूवाथ शराशरि। नन्दिविनायकस्कन्दमुख्यास्ताक्ष्र्यादिभिर्जिताः॥४९॥
जृम्भिते शङ्करे सुप्ते जृम्भणास्त्रेण विष्णुना। छिन्नं सहस्त्रं बाहूनां रुद्रेणाभयमर्थितम्॥५०॥
विष्णुना जीवितो बाणो द्विबाहुः प्राब्रवीच्छिवम्॥५१॥

कृष्ण उवाच

त्वया यदभयं दत्तं बाणस्यास्य मयाऽपि तत्। आवयोर्नास्ति भेदो वै भेदी नरकमाप्नुयात्॥५२॥
शिवाद्यैः पूजितो विष्णुः सानिरुद्ध उषादियुक्। द्वारकां तु गतो रेमे उग्रसेनादियादवैः॥५३॥
अनिरुद्धात्मजो वज्रो मार्कण्डेयात्तु सर्ववित्। बलभद्रः प्रलम्बघ्नो यमुनाकर्षणोऽभवत्॥५४॥

प्राप्त होगा।' एक दिन कैलास पर्वत पर भगवती पार्वती भगवान् शङ्कर के साथ क्रीडा कर रही थीं। उनको देखकर उषा के मन में भी पति की अभिलाषा जाग्रत् हुई। पार्वतीजी ने उसके मनोभाव को समझकर कहा-'वैशाख मास की द्वादशी तिथी को रात के समय स्वप्न में जिस पुरूष का आपको दर्शन होगा, वही आपका पति होगा।' पार्वतीजी की यह बात सुनकर उषा बहुत प्रसन्न हुई। कथित तिथी को जिस समय वह अपने गृह में सो गयी, तो उसको वैसा ही स्वप्न दिखायी दिया। उषा की सखी चित्रलेखा थी। वह बाणासुर के मन्त्री कुम्भाण्ड की कन्या थी। उसके बनाये हुए चित्रपट से उषा ने अनिरुद्ध को पहचान कि वे ही स्वप्न में उसको मिले थे। उसने चित्रलेखा के ही द्वारा श्रीकृष्ण-पौत्र अनिरुद्ध को द्वारका से अपने यहाँ बुला मँगाया। अनिरुद्ध आये और उषा के साथ विहार करते हुए रहने लगे। इसी समय मयूर ध्वज के रक्षकों ने बाणासुर को ध्वज के गिरने की सूचना दी। तत्पश्चात् तो अनिरुद्ध और बाणासुर में भयंकर युद्ध हुआ॥४०-४७॥

देवर्षि नारदजी के मुख से अनिरुद्ध के शोणितपुर पहुँचने का सामाचार सुनकर, भगवान् श्रीकृष्ण प्रद्युम्न और बलभद्र को साथ ले, गरुड़ पर बैठकर वहाँ गये और अग्नि एवं माहेश्वर ज्वर को जीतकर शङ्करजी के साथ युद्ध करने लगे। श्रीकृष्ण और शङ्कर में परस्पर बाणों के आघात-प्रत्याघात से युक्त भीषण युद्ध होने लगा। नन्दी, गणेश और कार्तिकेय आदि प्रमुख वीरों को गरुड आदि ने तत्काल पराजित कर दिया। श्रीकृष्ण ने जृम्भणास्त्र का प्रयोग किया, जिससे भगवान् शङ्कर जँभाई लेते हुए सो गये। इसी बीच में श्रीकृष्ण ने बाणासुर की हजार भुजाएँ काट डालीं। जृग्भणास्त्र का प्रभाव कम होने पर भगवान् सदाशिवजी ने बाणासुर के लिये अभयदान माँगा, तत्पश्चात् श्रीकृष्ण ने दो भुजाओं के साथ बाणासुर को जीवित छोड़ दिया और शङ्करजी से कहा-॥४८-५१॥

श्रीकृष्ण ने कहा कि-हे भगवन्! आपने जिस समय बाणासुर को अभयदान दिया है, तो मैंने भी दे दिया। हम दोनों में कोई भेद नहीं है। जो भेद मानता है, वह नरक में पड़ता है॥५२॥

श्रीअग्नि देव ने कहा कि-तत्पश्चात् शिव आदि ने श्रीकृष्ण का पूजन किया। वे अनिरुद्ध और उषा आदि के साथ द्वारका में जाकर उग्रसेन आदि यादवों के साथ आनन्दपूर्वक रहने लगे॥५३॥

अनिरुद्ध के वज्र नामक पुत्र हुआ। उसने मार्कण्डेय मुनि से विद्याओं का ज्ञान प्राप्त किया। बलभद्रजी ने

द्विविदस्य कपेर्भेत्ता कौरवोन्मादनाशनः। हरी रेमेऽनेकमूर्ती रुक्मिण्यादिभिरीश्वरः।।५५।।
पुत्रानुत्पादयामास त्वसङ्ख्यातान्स यादवान्। हरिवंशं पठेद्यस्तु प्राप्तकामो हरिं व्रजेत्।।५६।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते हरिवंशकथा द्वादशोऽध्यायः।।१२।।

अथ त्रयोदशोऽध्यायः

भारतकथाप्रसङ्गः

अग्निरुवाच

भारतं सम्प्रवक्ष्यामि कृष्णमाहात्म्यलक्षणम्। भूभारमहरद्विष्णुर्निमित्तीकृत्य पाण्डवान्।।१।।
विष्णुनाभ्यब्जजो ब्रह्मा ब्रह्मपुत्रोऽत्रिरत्रितः। सोमः सोमाद् बुधस्तस्मादैल आसीत्पुरूरवाः।।२।।
तस्मादायुस्ततो राजा नहुषोऽतो ययातिकः। ततः पुरुस्तस्य वंशे भरतोऽथ नृपः कुरुः।।३।।
तद्वंशे शन्तनुस्तस्माद् भीष्मो गङ्गासुतोऽनुजौ। चित्राङ्गदो विचित्रश्च सत्यवत्यां च शन्तनोः।।४।।
स्वर्गं गते शन्तनौ च भीष्मो भार्याविवर्जितः। अपालयद् भ्रातृराज्यं बालश्चित्राङ्गदो हतः।।५।।

प्रलम्बासुर को मारा, यमुना की धारा को खींचकर फेर दिया, द्विविद नामक वानर का विनाश किया तथा अपने हल के अग्रभाग से हस्तिनापुर को गङ्गा में झुकाकर कौरवों के घमंड को चूर-चूर कर दिया। भगवान् श्रीकृष्ण अनेक रूप धारण करके अपनी रुक्मिणी आदि रानियों के साथ विहार करते रहे थे उन्होंने असंख्य पुत्रों को जन्म दिया। अन्त में यादवों का उपसंहार करके वे परमधाम को पधारे। जो इस हरिवंश का पाठ करता है, वह सम्पूर्ण कामनाएँ प्राप्त करके अन्त में श्रीहरि विष्णु के सन्निकट जाता है।।५४-५६।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी बारहवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।१२।।

अध्याय-१३

महाभारत का सार प्रसङ्ग

श्रीअग्नि देव ने कहा कि-अधुना मैं श्रीकृष्ण की महिमा को लक्षित कराने वाला महाभारत का उपाख्यान सुनाता हूँ, जिसमें श्रीहरि विष्णु ने पाण्डवों का निमित्त बनाकर इस पृथ्वी का भार उतारा था। भगवान् श्रीहरि विष्णु के नाभिकमल से ब्रह्माजी उत्पन्न हुए। ब्रह्माजी से अत्रि, अत्रि से चन्द्रमा, चन्द्रमा से बुध और बुध से इलानन्दन पुरूरवा का जन्म हुआ। पुरूरवा से आयु, आयु से राजा नहुष और नहुष से ययाति उत्पन्न हुए। ययाति से पूरु हुए। पूरु के वंश भरत और भरत के वंश में राजा कुरु हुए। कुरु के वंश में शान्तनु का जन्म हुआ। शान्तनु से गङ्गानन्दन भीष्म उत्पन्न हुए। उनके दो छोटे भाई और थे-चित्राङ्गद और विचित्रवीर्य। ये शान्तनु से सत्यवती के गर्भ से उत्पन्न हुए थे। शान्तनु के स्वर्गलोक चले जाने पर भीष्म ने अविवाहित रहकर अपने भाई विचित्रवीर्य के राज्य का पालन किया।

चित्राङ्गदेन, द्वे कन्ये काशिराजस्य चाम्बिका। अम्बालिका च भीष्मेण आनीते विजितारिणा।।६।।
भार्ये विचित्रवीर्यस्य, यक्ष्मणा स दिवं गतः। सत्यवत्या ह्यनुमतादम्बिकायां नृपोऽभवत्।।७।।
धृतराष्ट्रोऽम्बालिकायां पाण्डुश्च व्यासतः सुतः। गान्धार्यां धृतराष्ट्राच्च दुर्योधनमुखं शतम्।।८।।
शतशृङ्गाश्रमपदे भार्यायोगादथो मृतः। ऋषिशापात्ततो धर्मात्कुन्त्यां पाण्डोर्युधिष्ठिरः।।९।।
वाताद्भीमोऽर्जुनः शक्रान्माद्र्यामश्विकुमारतः। नकुलः सहदेवश्च, पाण्डुर्माद्रीयुतो मृतः।।१०।।
कर्णः कुन्त्यां हि कन्यायां जातो दुर्योधनाश्रितः। कुरुपाण्डवयोर्वैरं दैवयोगाद् बभूव ह।।११।।
दुर्योधनो जतुगृहे पाण्डवानदहत्कुधीः। दग्धागारद्विनिष्क्रान्ता मातृषष्ठास्तु पाण्डवाः।।१२।।
ततस्त एकचक्रायां ब्राह्मणस्य निवेशने। मुनिवेषाः स्थिताः सर्वे निहत्य बकराक्षसम्।।१३।।
ययुः पाञ्चालविषयं द्रौपद्यास्ते स्वयंवरे। सम्प्राप्ता बहुवेषेण द्रौपदी पञ्चपाण्डवैः।।१४।।
अर्धराज्यं पुनः प्राप्ता ज्ञाता दुर्योधनादिभिः। गाण्डीवं च धनुर्दिव्यं पावकाद्रथमुत्तमम्।।१५।।
सारथिं चार्जुनः सङ्ख्ये कृष्णमक्षय्यसायकान्। ब्रह्मास्त्रादींस्तथा द्रोणात्सव सर्वविशारदाः।।१६।।
कृष्णेन सोऽर्जुनो वह्निं खाण्डवे समतर्पयत्। इन्द्रवृष्टिं वारयंश्च शरबन्धेन पाण्डवः।।१७।।

चित्राङ्गद बाल्यावस्था में ही चित्राङ्गद नाम वाले गन्धर्व के द्वारा मारे गये। तत्पश्चात् भीष्म संग्राम में विपक्षी को पराजित करके काशिराज की दो कन्याओं–अम्बिका और अम्बालिका को हर लाये। वे दोनों विचित्रवीर्य की भार्याएँ हुईं। कुछ काल के बाद राजा विचित्रवीर्य राजयक्ष्मा से ग्रस्त हो स्वर्गवासी हो गये। तत्पश्चात् सत्यवती की अनुमति से व्यासजी के द्वारा अम्बिका के गर्भ से राजा धृतराष्ट्र और अम्बालिका के गर्भ से पाण्डु उत्पन्न हुए। धृतराष्ट्र ने गान्धारी के गर्भ से सौ पुत्रों को जन्म दिया, जिनमें दुर्योधन सबसे बड़ा था।।१–८।।

राजा पाण्डु वन में रहते थे। वे एक ऋषि के श्रापवश शतशृङ्ग मुनि के आश्रम के पास स्त्री समागम के कारण मृत्यु को प्राप्त हुए। पाण्डु श्राप के ही कारण स्त्री–सम्भोग से दूर रहते थे, इसलिये उनकी आज्ञा के अनुसार कुन्ती के गर्भ से धर्म के अंश से युधिष्ठिर का जन्म हुआ। वायु से भीम और इन्द्र से अर्जुन उत्पन्न हुए। पाण्डु की दूसरी पत्नी माद्री के गर्भ से अश्विनी कुमारों के अंश से नकुल–सहदेव का जन्म हुआ। श्रापवश एक दिन माद्री के साथ सम्भोग होने से पाण्डु की मृत्यु हो गयी और माद्री भी उनके साथ सती हो गयी। जिस समय कुन्ती का विवाह नहीं हुआ था, उसी समय सूर्य के अंश से उनके गर्भ कर्ण का जन्म हुआ था। वह दुर्योधन के आश्रय में रहता था। दैवयोग से कौरवों और पाण्डवों में वैर की आग प्रज्वलित हो उठी। दुर्योधन बड़ी खोटी बुद्धि का मनुष्य था। उसने लाक्षाके बने हुए गृह में पाण्डवों को रखकर आग लगाकर उनको जलाने का प्रयत्न किया; किंतु पाँचों पाण्डव अपनी माता के साथ उस जलते हुए गृह से बाहर निकल गये। वहाँ से एक चक्रा नगरी में जाकर वे मुनि के वेष में एक ब्राह्मण के गृह में निवास करने लगे। तत्पश्चात् बक नामक राक्षस का वध करके वे पाञ्चल–राज्य में, जहाँ द्रौपदी का स्वयंवर होने वाला था, गये। वहाँ अर्जुन के बाहुबल से मत्स्य भेद होने पर पाँचों पाण्डावों ने द्रौपदी को पत्नी रूप में प्राप्त किया। तत्पश्चात् दुर्योधन आदि को उनके जीवित होने का पता चलने पर उन्होंने कौरवों से अपना आधा राज्य भी प्राप्त कर लिया। अर्जुन ने श्रीअग्नि देव से दिव्य गाण्डीव धनुष और श्रेष्ठतम रथ प्राप्त किया था। उनको युद्ध में भगवान् कृष्ण–जिस प्रकार सारथि मिले थे तथा उन्होंने आचार्य द्रोण से ब्रह्मास्त्र आदि दिव्य आयुष और कभी नष्ट न होने वाले बाण प्राप्त किये थे। सभी पाण्डव सभी तरह की विद्याओं में प्रवीण थे।।९–१६।। पाण्डु कुमार अर्जुन

जिता दिशः पाण्डवैस्तु राज्यं चक्रे युधिष्ठिरः। बहुस्वर्णं राजसूयं, न सेहे तत्सुयोधनः।।१८।।
भ्रात्रा दुःशासनेनोक्तः कर्णेन प्राप्तभूतिना। द्युतकार्ये कुनिना द्यूतेन स युधिष्ठिरम्।।१९।।
अजयत्तस्य राज्यं च सभास्थो मायया हसन्। जितो युधिष्ठिरो भ्रातृयुक्तश्चारण्यकं ययौ।।२०।।
वने द्वादश वर्षाणि प्रतिज्ञातानि सोऽनयत्। अष्टाशीतिसहस्राणि भोजयन् पूर्ववद् द्विजान्।।२१।।
सधौम्यो द्रौपदीषष्ठस्ततः प्रागाद्विराटकम्। कङ्को द्विजो ह्यविज्ञातो राजा भीमोऽथ सूपकृत्।।२२।।
बृहन्नडाऽर्जुनो, भार्या सैरन्ध्री, यमजौ तथा। अन्यनाम्ना, भीमसेनः कीचकं चावधीन्निशि।।२३।।
द्रौपदीं हर्तुकामं तमर्जुनश्चाजयत्कुरून्। कुर्वतो गोग्रहादींश्च तैर्ज्ञाता पाण्डवा अथ।।२४।।
सुभद्रा कृष्णभगिनी अर्जुनात्समजीजनत्। अभिमन्युं ददौ तस्मै विराटश्चोत्तरां सुताम्।।२५।।
सप्ताक्षौहिणीश आसीद्धर्मराजो रणाय सः। कृष्णो दूतोऽब्रवीद्गत्वा दुर्योधनममर्षणम्।।२६।।
एकादशाक्षौहिणीशं नृपं दुर्योधनं तदा। युधिष्ठिरायार्धराज्यं देहि ग्रामांश्च पञ्च वा

युध्यस्व वा वचः श्रुत्वा कृष्णमाह सुयोधनः।।२७।।

सुयोधन उवाच

भूसूच्यग्रं न दास्यामि योत्स्ये सङ्ग्रहणोद्यतः।।२८।।

ने श्रीकृष्ण के साथ खाण्डव वन में इन्द्र के द्वारा की हुई वृष्टि का अपने बाणों की छत्राकार बाँध से निवारण करते हुए अग्नि को तृप्त किया था। पाण्डवों ने सम्पूर्ण दिशाओं पर विजय पायी। युधिष्ठिर राज्य करने लगे। उन्होंने प्रचुर स्वर्णराशि से परिपूर्ण राजसूय यज्ञ का अनुष्ठान किया। उनका यह वैभव दुर्योधन के लिये असह्य हो उठा। उसने अपने भाई दुःशासन और वैभव प्राप्त सुहृद् कर्ण के कहने से शकुनि को साथ ले, द्यूत-सभा में जूए में प्रवृत्त होकर, युधिष्ठिर और उनके राज्य को कपट-द्यूत के द्वारा हँसते-हँसते जीत लिया। जूए में पराजित होकर युधिष्ठिर अपने भाईयों के साथ वन में चले गये। वहाँ उन्होंने अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार द्वादश वर्ष व्यतीत किये। वे वन में पहले ही की भाँति प्रतिदिन बहुसंख्यक ब्राह्मणों को भोजन कराते थे। एक दिन उन्होंने अट्ठासी हजार द्विजों सहित दुर्वासा ऋषि को श्रीकृष्ण-कृपा से परितृप्त किया। वहाँ उनके साथ उनकी पत्नी द्रौपदी तथा पुरोहित धौम्यजी भी थे। बारहवाँ वर्ष बीतने पर वे विराट नगर में गये। वहाँ युधिष्ठिर सबसे अपरिचित रहकर 'कङ्क' नामक ब्राह्मण के रूप में रहने लगे। भीमसेन रसोइया बने थे। अर्जुन ने अपना नाम 'बृहन्नला' रखा था। पाण्डव पत्नी द्रौपदी रनिवास में सैरन्ध्री के रूप में रहने लगी। इसी तरह नकुल-सहदेव ने भी अपने नाम बदल लिये थे। भीमसेन रात के समय में द्रौपदी का सतीत्व-हरण करने की इच्छा रखने वाले कीचक को मार डाला। तत्पश्चात् कौरव विराट की गौओं को हरकर ले जाने लगे, तत्पश्चात् उनको अर्जुन ने पराजित किया। उस समय कौरवों ने पाण्डवों को पहचान लिया। श्रीकृष्ण की बहिन सुभद्रा ने अर्जुन से अभिमन्यु नामक पुत्र को उत्पन्न किया था। उसको राजा विराट ने अपनी कन्या उत्तरा ब्याह दी।।१७-२५।।

धर्मराज युधिष्ठिर सात अक्षौहिणी सेना के स्वामी होकर कौरवों के साथ युद्ध करने को तैयार हुए। पहले भगवान् श्रीकृष्ण परम क्रोधी दुर्योधन के पास दूत बनकर गये। उन्होंन ग्यारह अक्षौहिणी सेना के स्वामी राजा दुर्योधन से कहा-'हे राजन्! आप युधिष्ठिर को आधा राज्य दे दो या उनको पाँच ही गाँव अर्पित कर दो; नहीं तो उनके साथ युद्ध करो।' श्रीकृष्ण की बात सुनकर दुर्योधन ने कहा-'मैं उनको सुई की नोंक के बराबर पृथ्वी भी नहीं दूँगा; हाँ, उनसे युद्ध अवश्य करने जा रहा हूँ।' ऐसा कहकर वह भगवान् श्रीकृष्ण को बंदी बनाने के लिये उद्यत हो गया। उस

अग्निरुवाच

विश्वरूपं दर्शयित्वा अधृष्यं विदुरार्चितः। प्रागाद्युधिष्ठिरं प्राह योधयैनं सुयोधनम्।।२९।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते आदिपर्वादिभारताख्यानं नाम त्रयोदशोऽध्यायः।।१३।।

अथ चतुर्दशोऽध्यायः

कुरुपाण्डवसङ्ग्रामवर्णनम्

अग्निरुवाच

यौधिष्ठिरी दौर्योधनी कुरुक्षेत्रं ययौ चमूः। भीष्मद्रोणादिकान्दृष्ट्वा नायुध्यत् गुरूनिति।।१।।
पार्थं ह्युवाच भगवानशोच्या भीष्ममुख्यकाः। शरीराणि विनाशीनि न शरीरी विनश्यति।।२।।
अयमात्मा परं ब्रह्म अहं ब्रह्मास्मि विद्धि तम्। सिद्धसिद्ध्योः समो योगी राजधर्मं प्रपालय।।३।।
कृष्णोऽक्तोऽथार्जुनोऽयुध्यद्रथस्थो वाद्यशब्दवान्। भीष्मः सेनापतिरभूदादौ दौर्योधने बले।।४।।
पाण्डवानां शिखण्डी च तयोर्युद्धं बभूव ह। धार्तराष्ट्राः पाण्डवांश्च जघ्नुर्युद्धे सभीष्मकाः।।५।।
धार्तराष्ट्राञ्शिखण्डाद्याः पाण्डवा जघ्नुराहवे। देवासुरसमं युद्धं कुरुपाण्डवसेनयोः।।६।।

समय राजसभा में भगवान् श्रीकृष्ण ने अपने परम दुर्धर्ष विश्वरूप का दर्शन कराकर दुर्योधन को भयभीत कर दिया। तत्पश्चात् विदुर ने अपने गृह ले जाकर भगवान् का पूजन और सत्कार किया। उसके बाद वे युधिष्ठिर के पास लौट गये और बोले-'हे महाराज! आप दुर्योधन के साथ युद्ध कीजिये'।।२६-२९।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी तेरहवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।१३।।

अध्याय-१४

कौरव-पाण्डव युद्ध और परिणाम

श्रीअग्नि देव ने कहा कि-युधिष्ठिर और दुर्योधन की सेनाएँ कुरुक्षेत्र के मैदान में जा डटीं। अपने विपक्ष में पितामह भीष्म तथा आचार्य द्रोण आदि गुरुजनों को देखकर अर्जुन युद्ध से विरत हो गये, तत्पश्चात् भगवान् श्रीकृष्ण ने उनसे कहा-'हे पार्थ! भीष्म आदि गुरुजन शोक के योग्य नहीं हैं। मनुष्य का शरीर विनाशशील है; किंतु आत्मा का कभी विनाश नहीं होता। यह आत्मा ही परब्रह्म है। 'मैं ब्रह्म हूँ'-इस तरह आप उस आत्मा को समझो। कार्य की सिद्धि और असिद्धि में समानभाव से रहकर कर्मयोग का आश्रय ले क्षात्र धर्म का पालन करो।' श्रीकृष्ण के ऐसा कहने पर अर्जुन रथारूढ़ हो युद्ध में प्रवृत्त हुए। उन्होंने शङ्खध्वनि की। दुर्योधन की सेना में सबसे पहले पितामह भीष्म सेनापति हुए। पाण्डवों के सेनापति शिखण्डी थे। इन दोनों में भारी युद्ध छिड़ गया। भीष्म सहित कौरव पक्ष के योद्धा उस युद्ध में पाण्डव-पक्ष के सैनिकों पर प्रहार करने लगे और शिखण्डी आदि पाण्डव-पक्ष के वीर कौरव-सैनिकों

बभूव खस्थदेवानां पश्यतां प्रीतिवर्धनम्। भीष्मोऽस्त्रैः पाण्डवं सैन्यं दशाहोभिर्न्यपातयत्।।७।।
दशमे ह्यर्जुनो बाणैर्भीष्मं वीरं ववर्ष ह। शिखण्डी द्रुपदोक्तोऽस्त्रैर्ववर्ष जलदो यथा।।८।।
हस्त्यश्वरथपादातमन्योन्यास्त्रनिपातितम्। भीष्मः स्वच्छन्दमृत्युश्च युद्धमार्गं प्रदर्श्य च।।९।।
वसूक्तो वसुलोकाय शरशय्यागतः स्थितः। उत्तरायण मीक्षश्च ध्यायन् विष्णुं स्तुवन् स्थितः।।१०।।
दुर्योधने तु शोकार्त्ते द्रोणः सेनापतिस्त्वभूत्। पाण्डवे हर्षिते सैन्ये धृष्टद्युम्नश्च भूपतिः।।११।।
तयोर्युद्धं बभूवोग्रं यमराष्ट्रविवर्धनम्। विराटद्रुपदाद्याश्च निमग्ना द्रोणसागरे।।१२।।
दौर्योधनी महासेना हस्त्यश्वरथपत्तिनी। धृष्टद्युम्नाद्धि पतिता द्रोणः काल इवाऽऽबभौ।।१३।।
हतोऽश्वत्थामावेत्युक्ते द्रोणः शस्त्राणि चात्यजत्। धृष्टद्युम्नशराक्रान्तः पतितः स महीतले।।१४।।
पञ्चमेऽहनि दुर्धर्षः सर्वक्षत्रं प्रमथ्य च। दुर्योधने तु शोकार्ते कर्णः सेनापतिस्त्वभूत्।।१५।।
अर्जुनः पाण्डवानां च तयोर्युद्धं बभूव ह। शस्त्राशस्त्रि महारौद्रं देवासुररणोपमम्।।१६।।
कर्णार्जुनाख्ये सङ्ग्रामे कर्णोऽरीनवधीच्छरैः। द्वितीयेऽहनि कर्णस्तु अर्जुनेन निपातितः।।१७।।
शल्यो दिनार्धं युयुधे ह्यवधीत्तं युधिष्ठिरः। युयुधे भीमसेनेन हतः सैन्यः सुयोधनः।।१८।।
बहून् हत्वा नरादींश्च भीमसेनमथाऽद्रवत्। गदया प्रहरन्तं तु भीमस्त तु व्यपातयत्।।१९।।

को अपने बाणों का निशाना बनाने लगे। कौरव और पाण्डव-सेना का वह युद्ध, देवासुर-संग्राम के समान जान पड़ता था। आकाश में देखने वाले देवताओं को वह युद्ध बड़ा आनन्दसम्प्रदायक प्रतीत हो रहा था। भीष्म ने दस दिनों तक युद्ध करके पाण्डवों की अधिकांश सेना को अपने बाणों से मार गिराया।।१-७।। दसवें दिन अर्जुन ने वीरवर भीष्म पर बाणों की बड़ी भारी वृष्टि की। इधर द्रुपद की प्रेरणा से शिखण्डी ने भी पानी बरसाने वाले मेघ की भाँति भीष्म पर बाणों की झड़ी लगा दी। दोनों तरफ के हाथी सवार, घुड़सवार, रथी और पैदल एक-दूसरे के बाणों से मारे गये। भीष्म की मृत्यु उनकी इच्छा के अधीन थी। उन्होंने युद्ध का मार्ग दिखाकर वसु-देवता के कहने पर वसुलोक में जाने की तैयारी की और बाणशय्या पर सो रहना चाहिये। वे उत्तरायण की प्रतीक्षा में भगवान् श्रीहरि विष्णु का ध्यान और स्तवन करते हुए समय व्यतीत करने लगे। भीष्म के बाण-शय्या पर गिर जाने के बाद जिस समय दुर्योधन शोक से व्याकुल हो उठा, तत्पश्चात् आचार्य द्रोण ने सेनापतित्व का भार ग्रहण किया। उधर हर्ष मनाती हुई पाण्डवों की सेना में धृष्टद्युम्न सेनापति हुए। उन दोनों में बड़ा भयंकर युद्ध हुआ, जो यमलोक की आबादी को संवृद्धि प्रदान करने वाला था। विराट और द्रुपद आदि राजा द्रोणरूपी समुद्र में डूब गये। हाथी, घोड़े, रथ और पैदल सैनिकों से युक्त दुर्योधन की विशाल वाहिनी धृष्टद्युम्न के हाथ से मारी जाने लगी। उस समय द्रोण काल के समान जान पड़ते थे। इतने ही में उनके कानों में यह आवाज आयी कि 'अश्वत्थामा मारा गया'। इतना सुनते ही आचार्य द्रोण ने अस्त्र-शस्त्र त्याग दिये। ऐसे समय में धृष्टद्युम्न के बाणों से आहत होकर वे पृथ्वी पर गिर पड़े।।८-१४।। द्रोण बड़े ही दुर्धर्ष थे। वे सम्पूर्ण क्षत्रियों का विनाश करके पाँचवें दिन मारे गये। दुर्योधन पुनः शोक से आतुर हो उठा। उस समय कर्ण उसकी सेना का कर्णधार हुआ। पाण्डव-सेना का आधिपत्य अर्जुन को मिला। कर्ण और अर्जुन में भाँति-भाँति के अस्त्र-शस्त्रों की मार-काट से युक्त महाभयानक युद्ध हुआ, जो देवासुर-संग्राम को भी मात करने वाला था। कर्ण और अर्जुन के संग्राम में कर्ण ने अपने बाणों से शत्रु-पक्ष के बहुत-से वीरों का विनाश कर डाला; किंतु दूसरे दिन अर्जुन ने उसको मार गिराया।।१५-१७।। तत्पश्चात् राजा शल्य कौरव-सेना के सेनापति हुए; किंतु वे युद्ध में आधे दिन तक ही टिक सके। दोपहर होते-होते राजा युधिष्ठिर ने उनको मार गिराया। दुर्योधन की प्रायः सारी सेना युद्ध में मारी गयी थी।

गदयाऽन्यानुजांस्तस्य तस्मिन्नष्टादशेऽहनि। रात्रौ सुषुप्तं च बलं पाण्डवानां न्यपातयत्।।२०।।
अक्षौहिणीप्रमाणं तु अश्वत्थामा महाबलः। द्रौपदेयांश्च पाञ्चालान् धृष्टद्युम्नं च सोऽवधीत्।।२१।।
पुत्रहीनां द्रौपदीं तां रुदतीमर्जुनस्ततः। शिरोमणिं तु जग्राह ऐषीकास्त्रेण तस्य च।।२२।।
अश्वत्थामास्त्रनिर्दग्धं जीवयामास वै हरिः। उत्तरायास्ततो गर्भं स परीक्षिदभूत्रृपः।।२३।।
कृतवर्मा कृपो द्रौणिस्त्रयो मुक्तास्ततो रणात्। पाण्डवाः सात्यकिः कृष्णः सप्त मुक्ता न चापरे।।२४।।
स्त्रियश्चाऽऽर्ताः समाश्वास्य भीमाद्यैः स युधिष्ठिरः। संस्कृत्य प्रहतान् वीरान् दत्तोदकधनादिकः।।२५।।
भीष्माच्छन्तनवाच्छ्रुत्वा धर्मान्सर्वांश्च शान्तिदान्। राजधर्मान् मोक्षधर्मान् दानधर्मान् नृपोऽभवत्।।२६।।
अश्वमेधे ददौ दानं ब्राह्मणेभ्योऽरिमर्दनः। श्रुत्वाऽर्जुनान्मौसलेयं यादवानां च संक्षयम्।।२७।।
राज्ये परीक्षितं स्थाप्य सानुजः स्वर्गमाप्तवान्।।२८।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गति भारताख्यानं नाम चतुर्दशोऽध्यायः।।१४।।

अन्ततोगत्वा उसका भीमसेन के साथ युद्ध हुआ। उसने पाण्डव-पक्ष के पैदल आदि बहुत-से सैनिकों का वध करके भीमसेन पर धावा किया। उस समय गदा से प्रहार करते हुए दुर्योधन को भीमसेन ने मौत के घाट उतार दिया। दुर्योधन के अन्य छोटे भाई भी भीमसेन के ही हाथ से मारे गये थे। महाभारत-संग्राम के उस अठारहवें दिन रात के समय में महाबली अश्वत्थामाने पाण्डवों की सोयी हुई एक अक्षौहिणी सेना को सदा के लिये सुला दिया। उसने द्रौपदी के पाँचों पुत्रों, उसके पाञ्चालदेशीय बन्धुओं तथा धृष्टद्युम्न को भी जीवित नहीं छोड़ा। द्रौपदी पुत्रहीन होकर रोने-बिलखने लगी। तत्पश्चात् अर्जुन ने सींक के ब्रह्मास्त्र से अश्वत्थामा को पराजित करके उसके मस्तक की मणि निकाल ली। उसको मारा जाता देख द्रौपदी ने ही अनुनय-विनय करके उसके प्राण बचाये।।।१८-२२।। इतने पर भी दुष्ट अश्वत्थामा ने उत्तरा के गर्भ को नष्ट करने के लिये उस पर अस्त्र का प्रयोग किया। वह गर्भ उसके अस्त्र से प्रायः दग्ध हो गया था; किंतु भगवान् श्रीकृष्ण ने उसको पुनः जीवन-दान दिया। उत्तरा का वही गर्भस्थ शिशु आगे चलकर राजा परीक्षित् के नाम से विख्यात हुआ। कृतवर्मा, कृपाचार्य तथा अश्वत्थामा-ये तीन कौरवपक्षीय वीर उस संग्राम से जीवित बचे। दूसरी तरफ पाँच पाण्डव, सात्यकि तथा भगवान् श्रीकृष्ण-ये सात ही जीवित रह सके; दूसरे कोई नहीं बचे। उस समय सभी तरफ अनाथा स्त्रियों का आर्तनाद व्याप्त हो रहा था। भीमसेन आदि भाईयों के साथ जाकर युधिष्ठिर ने उनको सान्त्वना दी तथा युद्धक्षेत्र में मारे गये सभी वीरों का दाह-संस्कार करके उनके लिये जलाञ्जलि दे धन आदि का दान किया। तत्पश्चात् कुरुक्षेत्र में शरशय्या पर आसीन शान्तनु नन्दन भीष्म के पास जाकर युधिष्ठिर ने उनसे समस्त शान्तिसम्प्रदायक धर्म, राजधर्म (आपद्धर्म), मोक्षधर्म तथा दानधर्म की बातें सुनी। तत्पश्चात् वे राजसिंहासन पर आसीन हुए। इसके बाद उन शत्रुमर्दन राजा ने अश्वमेध-यज्ञ करके उसमें ब्राह्मणों को बहुत धन दान किया। उसके बाद द्वाराका से लौटे हुए अर्जुन के मुख से मूसलकाण्ड के कारण प्राप्त हुए श्राप से पारस्परिक युद्ध द्वारा यादवों के विनाश का समाचार सुनकर युधिष्ठिर ने परीक्षित् को राजासन पर बिठाया और स्वयं भाइयों के साथ महाप्रस्थान कर स्वर्गलोक को चले गये।।२३-२७।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी चौदहवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।१४।।

❖❖❖

अथ पञ्चदशोऽध्यायः

पाण्डवस्वर्गारोहणवर्णनम्

अग्निरुवाच

युधिष्ठिरे तु राज्यस्थे आश्रमादाश्रमान्तरम्। धृतराष्ट्रो वनमगाद् गान्धारी च पृथा द्विज॥१॥
विदुरस्त्वग्निना दग्धो वनजेन दिवं गतः। एवं विष्णुर्भुवो भारमहरद् दानवादिकम्॥२॥
धर्मायाधर्मनाशाय निमित्तीकृत्य पाण्डवान्। स विप्रशापव्याजेन मुसलेनाहरत् कुलम्॥३॥
यादवानां भारकरं, वज्रं राज्येऽभ्यषेचयत्। देवादेशात्प्रभासे स देहं त्यक्त्वा स्वयं हरिः॥४॥
इन्द्रलोके ब्रह्मलोके पूज्यते स्वर्गवासिभिः। बलभद्रोऽनन्तमूर्तिः पातालस्वर्गमीयिवान्॥५॥
अविनाशी हरिर्देवो ध्यानिभिर्ध्येय एव सः। विना तं द्वारकास्थानं प्लावयामास सागरः॥६॥
संस्कृत्य यादवान् पार्थो दत्तोदकधनादिकः। स्त्रियोऽष्टावक्रशापेन भार्या विष्णोश्च याः स्थिताः॥७॥
पुनस्तच्छापतो नीता गोपालैर्लगुडायुधैः। अर्जुनं हि तिरस्कृत्य, पार्थः शोकं चकार ह॥८॥
व्यासेनाश्वासितो मेने बलं मे कृष्णसन्निधौ। हस्तिनापुरमागत्य पार्थः सर्वं न्यवेदयत्॥९॥

अध्याय-१५

यदुकुल विनाश तथा पाण्डव स्वर्ग-गमन

श्रीअग्नि देव ने कहा कि-हे ब्रह्मन्! जिस समय युधिष्ठिर राजसिंहासन पर विराजमान हो गये, तत्पश्चात् धृतराष्ट्र गृहस्थ-आश्रम से वानप्रस्थ-आश्रम में प्रविष्ट हो वन में चले गये। अथवा ऋषियों के एक आश्रम से दूसरे आश्रमों में होते हुए वे वन को गये। उनके साथ देवी गन्धारी और पृथा (कुन्ती) भी थीं। विदुरजी दावानल से दग्ध हो स्वर्ग सिधारे। इस तरह भगवान् श्रीहरि विष्णु ने पृथ्वी का भार उतारा और धर्म की स्थापना तथा अधर्म का विनाश करने के लिये पाण्डवों को निमित्त बनाकर दानव-दैत्य आदि का विनाश किया। तत्पश्चात् पृथ्वी का भार बढ़ाने वाले यादव वंश का भी ब्रह्माणों के श्राप के बहाने मूसल के द्वारा विनाश कर डाला। अनिरूद्ध के पुत्र व्रज को राजा के पद पर अभिषिक्त किया। उसके बाद देवताओं के अनुरोध से प्रभास क्षेत्र में श्रीहरि विष्णु स्वयं ही स्थूल शरीर की लीला का संवरण करके अपने धाम को पधारे॥१-४॥

वे इन्द्रलोक और ब्रह्मलोक में स्वर्गवासी देवताओं द्वारा पूजित होते हैं। **बलभद्रजी** शेषनाग के स्वरूप थे; इसलिये उन्होंने पातालरूपी स्वर्ग का आश्रय लिया। अविनाशी भगवान् श्रीहरि विष्णु ध्यानी पुरूषों के ध्येय हैं। उनके अन्तर्धान हो जाने पर समुद्र ने उनके निजी निवास स्थान को छोड़कर शेष द्वारकापुरी को अपने जल में डुबा दिया। अर्जुन ने मरे हुए यादवों का दाह-संस्कार करके उनके लिये जलाञ्जलि दी और धन आदि का दान किया। भगवान् श्रीकृष्ण की रानियों को, जो पहले अप्सराएँ थीं और अष्टवक्र के श्राप से मानवी रूप में प्रकट हुई थीं, लेकर हस्तिनापुर को चले। मार्ग में डंडे लिये हुए ग्वालों ने अर्जुन का तिरस्कार करके उन सभी को छीन लिया। यह भी अष्टावक्र के श्राप से ही सम्भव हुआ था। इससे अर्जुन के मन में बड़ा शोक हुआ। तत्पश्चात् महर्षि व्यास के सान्त्वना देने पर उनको यह निश्चय हुआ कि 'भगवान् श्रीकृष्ण के सन्निकट रहने से ही मुझमें बल था।' हस्तिनापुर में आकर उन्होंने

युधिष्ठिराय सभ्रात्रे पालकाय नृणां तदा। तद्धनुस्तानि चास्त्राणि स रथस्ते च वाजिनः॥१०॥
विना कृष्णेन तन्नष्टं दानमश्रोत्रिये यथा। तच्छ्रुत्वा धर्मराजस्तु राज्ये स्थाप्य परीक्षितम्॥११॥
प्रस्थानं प्रस्थितो धीमान् द्रौपद्या भ्रातृभिः सह। संसारानित्यतां ज्ञात्वा जपन्नष्टशतं हरेः॥१२॥
महापथे तु पतिता द्रौपदी सहदेवकः। नकुलः फाल्गुनो भीमो राजा शोकपरायणः॥१३॥
इन्द्रानीतरथारूढः सानुजः स्वर्गमाप्तवान्। दृष्ट्वा दुर्योधनादींश्च वासुदेवं च हर्षितः॥१४॥
एतत्ते भारतं प्रोक्तं यः पठेत्स दिवं व्रजेत्॥१५॥

॥इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते पाण्डवप्रास्थानिकपर्ववर्णनं नाम पञ्चदशोऽध्यायः॥१५॥

भाइयों सहित राजा युधिष्ठिर से, जो उस समय प्रजावर्ग का पालन करते थे, यह सब समाचार निवेदन किया। वे बोले– 'हे भैया! वही धनुष है, वे ही बाण हैं वही रथ है और वे ही घोड़े हैं; किंतु भगवान् श्रीकृष्ण के बिना सब कुछ उसी तरह नष्ट हो गया, जिस प्रकार अश्रोत्रिय को दिया हुआ दान।' यह सुनकर धर्मराज युधिष्ठिर ने राज्य पर परीक्षित् को स्थापित कर दिया॥५–११॥

इसके बाद बुद्धिमान् राजा संसार की अनित्यता का विचार करके द्रौपदी तथा भाइयों को साथ ले महाप्रस्थान के पथ पर अग्रसर हुए। मार्ग में वे श्रीहरि विष्णु अष्टोत्तरशत नामों का जप करते हुए यात्रा करते थे। उस महापथ में क्रमशः द्रौपदी, सहदेव, नकुल, अर्जुन और भीमसेन एक–एक करके गिर पड़े। इससे राजा शोकमग्न हो गये। उसके बाद वे इन्द्र के द्वारा लाये हुए रथ पर आरूढ़ हो दिव्यरूपधारी भाइयों सहित स्वर्ग को चले गये। वहाँ उन्होंने दुर्योधन आदि सभी धृतराष्ट्र पुत्रों को देखा। उसके बाद उन पर कृपा करने के लिये अपने धाम से पधारे हुए। भगवान् वासुदेव का भी दर्शन किया। इससे उनको बड़ी प्रसन्नता हुई। यह मैंने आपको महाभारत का प्रसङ्ग सुनाया है। जो इसका पाठ करना चाहिये, वह स्वर्गलोक में सम्मानित होगा॥१२–१५॥

॥इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी पन्द्रहवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ॥१५॥

अथ षोडशोऽध्यायः

बुद्धावतारवर्णनम्

अग्निरुवाच

वक्ष्ये बुद्धावतारं च पठतः शृण्वतोऽर्थदम्। पुरा दे वासुरे युद्धे दैत्यैर्देवाः पराजिताः॥१॥
रक्ष रक्षेति शरणं वदन्तो जग्मुरीश्वरम्। मायामोहस्वरूपोऽसौ शुद्धोदनसुतोऽभवत्॥२॥
मोहयामास दैत्यांस्तांस्त्याजिता वेदधर्मकम्। ते च बौद्धा बभूवुर्हि तेभ्योऽन्ये वेदवर्जिताः॥३॥
आर्हतः सोऽभवत्पश्चादार्हतानकरोत्परान्। एवं पाषण्डिनो जाता वेदधर्मादिवर्जिताः॥४॥
नरकार्हं कर्म चक्रुर्ग्रहीष्यन्त्यधमादपि। सर्वे कलियुगान्ते तु भविष्यन्ति च सङ्कराः॥५॥
दस्यवःशीलहीनाश्च वेदो वाजसनेयकः। दश पञ्च च शाखा वै प्रमाणेन भविष्यति (?)॥६॥
धर्मकञ्चुकसंवीता अधर्मरुचयस्तथा। मानुषाद् भक्षयिष्यन्ति म्लेच्छाः पार्थिवरूपिणः॥७॥
कल्कि विष्णुयशः पुत्रो याज्ञवल्क्य पुरोहितः। उत्सादयिष्यति म्लेच्छान् गृहीतास्त्रः कृतायुधः॥८॥
स्थापयिष्यति मर्यादां चातुर्वर्ण्ये यथोचिताम्। आश्रमेषु च सर्वेषु प्रजा सद्धर्मवर्त्मनि॥९॥
कल्किरूपं परित्यज्य हरिः स्वर्गं गमिष्यति। ततः कृतयुगं नाम पुरावत्सम्भविष्यति॥१०॥

अध्याय–१६

बुद्ध-कल्कि अवतार

श्रीअग्नि देव ने कहा कि–अधुना मैं बुद्धावतार का वर्णन करने जा रहा हूँ, जो पढ़ने और सुनने वालों के मनेप्सित को सिद्ध करने वाला है। प्राचीन काल में देवताओं और असुरों में घोर संग्राम हुआ। उसमें दैत्यों ने देवताओं को पराजित कर दिया। तत्पश्चात् देवता लोग 'त्राहि–त्राहि' पुकारते हुए भगवान् की शरण में गये। भगवान् मायामोहमय रूप में आकर राजा शुद्धोदन के पुत्र हुए। उन्होंने दैत्यों को मोहित किया और उनसे वैदिक धर्म का परित्याग करा दिया। वे बुद्ध के अनुयायी दैत्य 'बौद्ध' कहलाये। तत्पश्चात् उन्होंने दूसरे लोगों से वेद–धर्म का त्याग करवाया। इसके बाद माया–मोह ही 'आर्हत' रूप से प्रकट हुआ। उसने दूसरे लोगों को भी 'आर्हत' बनाया। इस तरह उनके अनुयायी वेद–धर्म से वञ्चित होकर पाखण्डी बन गये। उन्होंने नरक में ले जाने वाले कर्म करना प्रारम्भ कर दिया। वे सभी–के–सभी कलियुग के अन्त में वर्णसंकर होंगे और नीच पुरुषों से दान लेंगे। इतना ही नहीं, वे लोग डाकू और दूराचारी भी होंगे। वाजसनेय (बृहदारण्यक)–मात्र ही 'वेद' कहलायेगा। वेद की दस–पाँच शाखाएँ ही प्रमाणीभूत मानी जायँगी। धर्म का चोला पहने हुए सभी लोग अधर्म में ही रूचि रखने वाले होंगे। राजारूपधारी म्लेच्छ मनुष्यों का ही भक्षण करेंगे।॥१–७॥ तत्पश्चात् भगवान् कल्कि प्रकट होंगे। वे भगवान् श्रीहरि विष्णु यशा के पुत्र रूप से अवतीर्ण हो याज्ञवल्क्य को अपना पुरोहित बनायेंगे। उनको अस्त्र–शस्त्र विद्या का पूर्ण परिज्ञान होगा। वे हाथ में अस्त्र–शस्त्र लेकर म्लेच्छों का विनाश कर डालेंगे तथा चारों वर्णों और समस्त आश्रमों में शास्त्रीय मर्यादा स्थापित करेंगे। समस्त प्रजा को धर्म के श्रेष्ठतम मार्ग में लगायेंगे। तत्पश्चात् श्रीहरि विष्णु कल्कि रूप का परित्याग करके अपने धाम में चले जायँगे।

वर्णाश्रमाश्च धर्मेषु स्वेषु स्थास्यन्ति सत्तम। एवं सर्वेषु कल्पेषु सर्वमन्वन्तरेषु च।।११।।
अवतारा असङ्ख्याता अतीतानागतादयः। विष्णोर्दशावतारांशान्यः पठेच्छृणुयान्नरः।।१२।।
सोऽवाप्तकामो विमलः सकुलः स्वर्गमाप्नुयात्। धर्माधर्मव्यवस्थानमेवं वै कुरुते हरिः।।१३।।
अवतीर्णः स जगतः सर्गादेः कारणं हरिः।।१४।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गति बुद्धावतारवर्णनं नाम षोडशोऽध्यायः।।१६।।

तत्पश्चात् तो पूर्ववत् सत्ययुग का साम्राज्य होगा। हे साधुश्रेष्ठ! सभी वर्ण और आश्रम के लोग अपने-अपने धर्म में दृढ़तापूर्वक लग जायँगे। इस तरह सम्पूर्ण कल्पों तथा मन्वन्तरों में श्रीहरि विष्णु के अवतार होते हैं। उनमें से कुछ हो चुके हैं, कुछ आगे होनेवाले हैं; उन सभी की कोई नियत संख्या नहीं है। जो मनुष्य भगवान् श्रीहरि विष्णु के अंशावतार तथा पूर्णावतार सहित दस अवतारों के चरित्रों का पाठ अथवा श्रवण करता है, वह सम्पूर्ण कामनाओं को प्राप्त कर लेता है तथा निर्मल हृदय होकर परिवार सहित स्वर्ग को जाता है। इस तरह अवतार लेकर श्रीहरि विष्णु धर्म की व्यवस्था और अधर्म का निराकरण करते हैं। वे ही जगत् की सृष्टि आदि के कारण हैं।।८-१४।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी सोलहवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।१६।।

❖❖❖

अथ सप्तदशोऽध्यायः

जगत्सर्गवर्णनम्

अग्निरुवाच

जगत्सर्गादिकां क्रीडां विष्णोर्वक्ष्येऽधुना शृणु। स्वर्गादिकृत्स सर्गादिः सृष्ट्यादिः सगुणोऽगुणः।।१।।
ब्रह्माव्यक्तं सदग्रेऽभून्नखं रात्रिदिनादिकम्। प्रकृतिं पुरुषं विष्णुं प्रविश्याक्षोभयत्ततः।।२।।
सर्गकाले महत्तत्त्वमहङ्कारस्ततोऽभवत्। वैकारिकस्तैजसश्च भूतादिश्चैव तामसः।।३।।
अहङ्काराच्छब्दमात्रमाकाशमभवत्ततः। स्पर्शमात्रोऽनिलस्तस्माद्रूपमात्रोऽनलस्ततः।।४।।
रसमात्रा आप इतो गन्धमात्रा धरित्र्यभूत्। अहङ्कारात्तामसात्तु तैजसानीन्द्रियाणि च।।५।।
वैकारिकादश देवा मन एकादशेन्द्रियम्। ततः स्वयम्भूर्भगवान् सिसृक्षुर्विविधाः प्रजाः।।६।।
अप एव ससर्जाऽऽदौ तासु वीर्यमवासृजत्। आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनवः।।७।।
अयनं तस्य ताः पूर्वं तेन नारायणः स्मृतः। हिरण्यवर्णमभवत्तदण्डमुदकेशयम्।।८।।
तस्मिञ्जज्ञे स्वयं ब्रह्मा स्वयम्भूरिति नः श्रुतम्। हिरण्यगर्भो भगवानुषित्वा परिवत्सरम्।।९।।

अध्याय-१७

जगत् सृष्टि वर्णन

श्रीअग्नि देव ने कहा कि-हे ब्रह्मन्! अधुना मैं जगत् की सृष्टि आदि का, जो श्रीहरि विष्णु की लीला मात्र है, वर्णन करने जा रहा हूँ; सुनो। श्रीहरि विष्णु ही स्वर्ग आदि के रचयिता हैं। सृष्टि और प्रलय आदि उन्ही के स्वरूप हैं। सृष्टि के आदि कारण भी वे ही हैं। वे ही निर्गुण हैं और वे ही सगुण हैं। सबसे पहले सत्स्वरूप अव्यक्त ब्रह्म ही था; उस समय न तो आकाश था और न रात-दिन आदि का ही विभाग था। उसके बाद सृष्टि काल में परमपुरुष भगवान् श्रीहरि विष्णु ने प्रकृति में प्रवेश करके उसको क्षुब्ध (विकृत) कर दिया। तत्पश्चात् प्रकृति से महत्तव और उससे अहंकार प्रकट हुआ। अहंकार तीन तरह का है- वैकारिक (सात्त्विक), तैजस (राजस) और भूतादिरूप तामस। तामस अंहकार से शब्द-तन्मात्रा वाला आकाश उत्पन्न हुआ। आकाश से स्पर्श-तन्मात्रा वाले वायु का प्रादुर्भाव हुआ। वायु से रूप-तन्मात्रा वाला अग्नितत्त्व प्रकट हुआ। अग्नि से रस-तन्मात्रा वाली भूमि का प्रादुर्भाव हुआ। यह सभी तामस अहंकार से होने वाली सृष्टि है। इन्द्रियाँ तैजस अर्थात् राजस अहंकार से प्रकट हुई हैं। दस इन्द्रिय मन के भी अधिष्ठाता देवता-ये वैकारिक अर्थात् सात्त्विक अहंकार की सृष्टि हैं। तत्पश्चात् विविध तरह की प्रजा को उत्पन्न करने की इच्छा वाले भगवान् स्वयम्भू ने सबसे पहले जल की ही सृष्टि की और उसमें अपनी शक्ति (वीर्य) का आधान किया। जल को 'नार' कहा गया है; क्योंकि वह नर से उत्पन्न हुआ है। 'नार' (जल) ही प्राचीन काल में भगवान् का 'अयन' (निवास-स्थान) था; इसलिये भगवान् को 'नारायण' कहा गया है।।१-७$\frac{1}{2}$।।

स्वयम्भू श्रीहरि विष्णु ने जो वीर्य स्थापित किया था, वह जल में सुवर्णमय अण्ड के रूप में प्रकट हुआ। उसमें साक्षात् स्वयम्भू भगवान् ब्रह्माजी प्रकट हुए, ऐसा हमने सुना है। भगवान् हिरण्यगर्भ ने एक वर्ष तक उस अण्ड के अन्दर निवास करके उसके दो भाग किये। एक का नाम 'द्युलोक' हुआ और दूसरे का 'भूलोक'। उन दोनों अण्ड-

तदण्डमकरोद् द्वैधं दिवं भुवमथापि च। तयोः शकलयोर्मध्य आकाशमसृजत्प्रभुः।।१०।।
अप्सु पारिप्लवां पृथ्वीं दिशश्च दशधा दधे। तत्र कालं मनो वाचं कामं क्रोधमथो रतिम्।।११।।
ससर्ज सृष्टिं तद्रूपां स्रष्टुमिच्छन्प्रजापतिः। विद्युतोऽशनिमेघांश्च रोहितेन्द्रधनूंषि च।।१२।।
वयांसि च ससर्जादौ पर्जन्यं चाथ वक्त्रतः। ऋचो यजूंषि सामानि निर्ममे यज्ञसिद्धये।।१३।।
साध्यास्तैरयजन्देवान्भूतमुच्चावचं भुजात्। सनत्कुमारं रुद्रं च ससर्ज क्रोधसम्भवम्।।१४।।
मरीचिमत्र्यङ्गिरसं पुलस्त्यं पुलहं क्रतुम्। वसिष्ठं मानसान्सप्त ब्राह्मणानिति निश्चितम्।।१५।।
सप्तैते जनयन्ति स्म प्रजा रुद्राश्च सत्तम। द्विधा कृत्वात्मनो देहमर्धेन पुरुषोऽभवत्।।१६।।
अर्धेन नारी तस्यां स ब्रह्मा वै चासृजत्प्रजाः।।१७।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते जगत्सर्गवर्णनं नाम सप्तदशोऽध्यायः।।१७।।

—*—

खण्डों के मध्य में उन्होंने आकाश की सृष्टि की। जल के उपर तैरती हुई पृथ्वी को रखा और दसों दिशाओं के विभाग किये। तत्पश्चात् सृष्टि की इच्छा वाले प्रजापति ने वहाँ काल, मन, वाणी, काम, क्रोध तथा रति आदि की तत्तद्रूप से सृष्टि की। उन्होंने आदि में विद्युत्, वज्र, मेघ, रोहित इन्द्रधनुष, पक्षियों तथा पर्जन्य का निर्माण किया। तत्पश्चात् यज्ञ की सिद्धि के लिये मुख से ऋक, यजु और सामदेव को प्रकट किया। उनके द्वारा साध्य गणों ने देवताओं का यजन किया। तत्पश्चात् ब्रह्माजी ने अपनी भुजा से उँचे-नीचे या छोटे-बड़े भूतों को उत्पन्न किया, सनत्कुमार की उत्पत्ति की तथा क्रोध से प्रकट होने वाले रुद्र को जन्म दिया। मरीचि, अत्रि, अङ्गिरा, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु और वस्ष्ठि-इन सात ब्रह्मपुत्रों को ब्रह्माजी ने निश्चय ही अपने मन से प्रकट किया। हे साधुश्रेष्ठ! ये तथा रुद्रगण प्रजा वर्ग की सृष्टि करते हैं। ब्रह्माजी ने अपने शरीर के दो भाग किये। आधे भाग से वे पुरुष हुए और आधे से स्त्री बन गये; तत्पश्चात् उस नारी के गर्भ से उन्होंने प्रजाओं की सृष्टि की। ये ही स्वायम्भुव मनु तथा शतरूपा के नाम से प्रसिद्ध हुए। इनसे ही मानवीय सृष्टि हुई।।८-१७।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी सत्रहवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।१७।।

अथाष्टादशोऽध्यायः

स्वायम्भुवमनुवंशावर्णनम्

अग्निरुवाच

प्रियव्रतोत्तानपादौ मनोः स्वायम्भुवात् सुतौ। अजीजनत् सुतां रम्यां शतरूपा तपोऽन्विता।।१।।
काम्या कर्दमकन्याऽतः सम्राट् कुक्षिर्विराट्प्रभुः। सुरुच्यामुत्तमो जज्ञे पुत्र उत्तानपादतः।।२।।
सुनीत्यां च ध्रुवः पुत्रस्तपस्तेपे सुकीर्तये। ध्रुवो वर्षसहस्राणि त्रीणि दिव्यानि हे मुने।।३।।
तस्मै प्रीतौ हरिः प्रादान्मुन्यग्रे स्थानकं स्थिरन्। श्लोकं पपाठ ह्युशना वृद्धिं दृष्ट्वा स तस्य च।।४।।
अहोऽस्य तपसो वीर्यमहो श्रुतमहोऽद्‌भुतम्। यमद्य पुरतः कृत्वा ध्रुवं सप्तर्षयः स्थिताः।।५।।
तस्माद् वृद्धिश्च भव्यश्च ध्रुवाच्छम्भुर्व्यजायत। वृद्धेराधत्त सुच्छाया पञ्च पुत्रानकल्मषान्।।६।।
रिपुं रिपुञ्जयं पुष्यं वृकसं वृकतेजसम्। रिपोराधत्त बृहती चाक्षुषं सर्वतेजसम्।।७।।
अजीजनत्पुष्करिण्यां वीरिण्यां चाक्षुषो मनुम्। मनोरजायन्त दश नड्‌वलायां सुतोत्तमाः।।८।।
ऊरुः पूरुः शतद्युम्नस्तपस्वी सत्यवाक्कविः। अग्निष्टुदतिरात्रश्च सुद्युम्नश्चातिमन्युकः।।९।।
ऊरोरजनयत्पुत्रान्षडाग्नेयी महाप्रभान्। अङ्गं सुमनसं स्वातिं क्रतुमङ्गिरसं गयम्।।१०।।

अध्याय-१८

स्वायम्भुव मनु की कथा

श्रीअग्नि देव ने कहा कि-हे मुने! स्वायम्भुव मनु से उनकी तपस्विनी भार्या शतरूपाने प्रियव्रत और उत्तानपाद नामक दो पुत्र और एक सुन्दरी कन्या उत्पन्न की। वह कमनीया कन्या (देवहूति) कर्दम ऋषि की भार्या हुई। राजा प्रियव्रत से सम्राट् कुक्षि और विराट नामक सामर्थ्यशाली पुत्र उत्पन्न हुए। उत्तानपाद से सुरुचि के गर्भ से श्रेष्ठतम नामक पुत्र उत्पन्न हुआ और सुनीति के गर्भ से ध्रुव का जन्म हुआ। हे मुने! कुमार ध्रुव ने सुन्दर कीर्ति बढ़ाने के लिये तीन हजार दिव्य वर्षों तक तप किया। उस पर प्रसन्न होकर भगवान् श्रीहरि विष्णु ने उसको सप्तर्षियों के आगे स्थिर स्थान (ध्रुवपद) दिया। ध्रुव के इस अभ्युदय को देखकर शुक्राचार्य ने उनके सुयश का सूचक यह श्लोक पढ़ा-'अहो! इस ध्रुव की तपस्या का कितना अद्भुत है, जिसे आज सप्तर्षि भी आगे करके स्थित हैं।' उस ध्रुव से उनकी पत्नी शम्भु ने शिलिष्टि और भव्य नामक पुत्र उत्पन्न किये। शिलिष्टि से उसकी पत्नी सुच्छाया ने क्रमशः रिपु, रिपुंजय, पुष्य, वृकल और वृकतेजा-इन पाँच निष्पाप पुत्रों को अपने गर्भ में धारण किया। रिपु के वीर्य से बृहती ने चाक्षुष और सर्वतेजा को अपने गर्भ में स्थान दिया।।१-७।।

चाक्षुष ने वीरण प्रजापति की कन्या पुष्करिणी के गर्भ से मनु को जन्म दिया। मनु से नड्‌वला के गर्भ से दस श्रेष्ठतम पुत्र उत्पन्न हुए। उनके नाम ये हैं-उरु, पुरु, शतद्युम्न, तपस्वी, सत्यवाक, कवि, अग्निष्टुत, अतिरात्र, सुद्युम्न और अभिमन्यु। उरु के अंश से आग्नेयी ने अङ्ग, सुमना, स्वाति, क्रतु, अङ्गिरा और गय नामक महान् तेजस्वी छः पुत्र उत्पन्न किये। अङ्ग से सुनीथा ने एक ही संतान वेन को जन्म दिया। वह प्रजाओं की रक्षा न करके सदा पाप में ही लगा रहता था। उसको मुनियों ने कुशों से मार डाला। उसके बाद ऋषियों ने संतान के लिये वेन के दायें हाथ का

अङ्गात्सुनीथापत्यं वै वेणमेकं व्यजायत। अरक्षकः पापरतः स हतो मुनिभिः कुशैः।।११।।
प्रजार्थमृषयोऽथास्य ममन्थुर्दक्षिणं करम्। वेणस्य मथिते पाणौ सम्बभूव पृथुर्नृपः।।१२।।
तं दृष्ट्वा मुनयः प्राहुरेष वै मुदिताः प्रजाः। करिष्यति महातेजा यशश्च प्राप्स्यते महत्।।१३।।
स धन्वी कवची जातस्तेजसा निर्दहन्निव। पृथुर्वैण्यः प्रजाः सर्वा ररक्ष क्षत्रपूर्वजः।।१४।।
राजसूयाभिषिक्तानामाद्यः स पृथिवीपतिः। तस्माच्चैव समुत्पन्नौ निपुणौ सूतमागधौ।।१५।।
तत्स्तोत्रं चक्रतुर्वीरौ, राजाऽभूज्जनरञ्जनात्। दुग्धा गौस्तेन सस्यार्थं प्रजानां जीवनाय च।।१६।।
सह देवैर्मुनिगणैर्गन्धर्वैश्चाप्सरोगणैः। पितृभिर्दानवैः सर्पैर्वीरुद्भिः पर्वतैर्जनैः।।१७।।
तेषु तेषु च पात्रेषु दुह्यमाना वसुन्धरा। प्राद्याद्यथेप्सितं क्षीरं तेन प्राणानधारयन्।।१८।।
पृथोः पुत्रौ तु धर्मज्ञौ जज्ञातेऽन्तर्धिपालितौ। शिखण्डिनी हविर्धानमन्तर्धानाद् व्यजायत।।१९।।
हविर्धानात्षडाग्नेयी धिषणाजनयत्सुतान्। प्राचीनबर्हिषं शुक्रं गयं कृष्णं व्रजाजिनौ।।२०।।
प्राचीनाग्राः कुशास्तस्य पृथिव्यां यजतो यतः। प्राचीनबर्हिर्भगवान्महानासीत्प्रजापतिः।।२१।।
सवर्णाऽधत्त सामुद्री दश प्राचीनबर्हिषः। सर्वे प्रचेतसी नाम धनुर्वेदस्य पारगाः।।२२।।
अपृथग्धर्मचरणास्तेऽतप्यन्त महत्तपः। दश वर्षसहस्राणि समुद्रसलिलेशयाः।।२३।।
प्रजापतित्वं सम्प्राप्य तुष्टा विष्णोश्च निर्गताः। भूः खं व्याप्तं हि तरुभिस्तांस्तरूनदहंश्च ते।।२४।।
मुखजाग्निमरुद्भ्यां च दृष्ट्वा चाथ द्रुमक्षयम्। उपगम्याब्रवीदेतान् राजा सोमः प्रजापतीन्।।२५।।
कोपं यच्छत दास्यन्ति कन्यां वो मारिषां वराम्। तपस्विनो मुनेः कण्डोः प्रम्लोचायां मयैव च।।२६।।
भविष्यं जानता सृष्टा भार्या वोऽस्तु कुलङ्करी। अस्यामुत्पत्स्यते दक्षः प्रजाः संवर्धयिष्यति।।२७।।
प्रचेतसस्तां जगृहुर्दक्षोऽस्यां च ततोऽभवत्। अचरांश्च चरांश्चैव द्विपदोऽथ चतुष्पदः।।२८।।

मन्थन किया। हाथ का मन्थन होने पर राजा पृथु प्रकट हुए। उनको देखकर मुनियों ने कहा–'ये महान् तेजस्वी राजा अवश्य ही समस्त प्रजा को आनन्दित करेंगे तथा महान् यश प्राप्त करेंगे।' क्षत्रिय वंश के पूर्वज वेन–कुमार राजा पृथु अपने तेज से सभी को दग्ध करते हुए–से धनुष और कवच धारण किये हुए ही प्रकट हुए थे; वे सम्पूर्ण प्रजा की रक्षा करने लगे।।८–१४।।

राजसूय–यज्ञ में दीक्षित होने वाले नरेशों में वे सबसे पहले भूपाल थे। उनसे दो पुत्र उत्पन्न हुए। स्तुति कर्म में निपुण अद्भुतकर्मा सूत और मागधों ने उनका स्तवन किया। वे प्रजाओं का रञ्जन करने के कारण 'राजा' नाम से विख्यात हुए। उन्होंने प्रजाओं की जीवन–रक्षा के निमित्त अन्न की उपज बढ़ाने के लिये गोरूप धारिणी पृथ्वी का दोहन किया। उस समय एक साथ ही देवता, मुनि वृन्द, गन्धर्व, अप्सरागण, पितर, दानव, सर्प, लता, पर्वत और मनुष्यों आदि के द्वारा अपने–अपने विभिन्न पात्रों में दुही दिया, जिससे सभीने प्राण धारण किये। पृथु के जो दो धर्मज्ञ पुत्र उत्पन्न हुए, उनके नाम थे अन्तर्धि और पालित। अन्तर्धान (अन्तर्धि)–के अंश से उनकी शिखण्डिनी नाम वाली पत्नी ने 'हविर्धान' को जन्म दिया। अग्निकुमारी धिषणा ने हविर्धान के अंश से छः पुत्रों को उत्पन्न किया। उनके नाम ये हैं–प्राचीन बर्हिष्, शुक्र, गय, कृष्ण, व्रज और अजिन। राजा प्राचीन बर्हिष् प्रायः यज्ञ में ही लगे रहते थे, जिससे उस समय पृथ्वी पर दूर–दूर तक पूर्वाग्र कुश फैल गये थे। इससे वे ऐश्वर्यशाली राजा 'प्राचीन बर्हिष्' नाम से विख्यात

स सृष्ट्वा मनसा दक्षः पश्चादसृजत स्त्रियः। ददौ स दश धर्माय कश्यपाय त्रयोदश॥२९॥
सप्तविंशति (तिं) सोमाय चतस्रोऽरिष्टनेमिने। द्वे चैव बहुपुत्राय द्वे चैवाङ्गिरसे ह्यदात्॥३०॥
तासु देवाश्च नागाद्या मैथुनान् मनसा पुरा। धर्मसर्गं प्रवक्ष्यामि दशपत्नीषु धर्मतः॥३१॥
विश्वेदेवास्तु विश्वायाः साध्या साध्यान्व्यजायत। मरुत्वत्या मरुत्वन्तो वसोस्तु वसवोऽभवन्॥३२॥
भानोस्तु भानवः पुत्रा मुहूर्तास्तु मुहूर्तजाः। लम्बाया धर्मतो घोषो नागवीथी च यामिजा॥३३॥
पृथिवीविषयं सर्वं मरुत्वत्यां व्यजायत। सङ्कल्पायास्तु सङ्कल्पा इन्दोर्नक्षत्रतः सुताः॥३४॥
आपो ध्रुवश्च सोमश्च धरश्चैवानिलोऽनलः। प्रत्यूषश्च प्रभासश्च वसवोऽष्टौ च नामतः॥३५॥
सापस्य पुत्रो वैतण्ड्यः श्रमः शान्तो मुनिस्तथा। ध्रुवस्य कालो लोकान्तो वर्चाः सोमस्य वै सुतः॥३६॥
धरस्य पुत्रो द्रविणो हुतहव्यवहस्तथा। मनोहरायाः शिशिरः प्राणोऽथ रमणस्तथा॥३७॥
पुरोजवोऽनिलस्यासीदविज्ञातोऽनलस्य च। अग्निपुत्रः कुमारश्च शरस्तम्बे व्यजायत॥३८॥

हुए। वे एक महान् प्रजापति थे॥१५-२९॥प्राचीन बर्हिष् से उनकी पत्नी समुद्र-कन्या सवर्णा ने दस पुत्रों को अपने गर्भ में धारण किया। वे सभी 'प्रचेता' नाम से प्रसिद्ध हुए और सब-के-सब धनुर्वेद में पारंगत थे। वे एक समान धर्म का आचरण करते हुए समुद्र के जल में रहकर दस हजार वर्षों तक महान् तप में लगे रहना चाहिये। अन्त में भगवान् श्रीहरि विष्णु से प्रजापति होने का वरदान पाकर वे संतुष्ट हो जल से बाहर निकले। उस समय प्रायः समस्त भूमण्डल और आकाश बड़े-बड़े सघन वृक्षों से व्याप्त हो गया था। यह देख उन्होंने अपने मुख से प्रकट अग्नि और वायु के द्वारा सभी वृक्षों को जला दिया। तत्पश्चात् वृक्षों का यह विनाश देख राजा सोम इन प्रचेताओं के पास जाकर बोले-"आपलोग अपना कोप शान्त करें; ये वृक्षगण आपको एक 'मारिषा' नाम वाली सुन्दरी कन्या समर्पित करेंगे। यह कन्या तपस्वी मुनि कण्डु के अंश से प्रम्लोचा अप्सरा के गर्भ से (स्वेद-बिन्दु के रूप में) प्रकट हुई है। मैंने ही भविष्य की बातें जानकर इसको कन्या रूप में उत्पन्न किया, जो प्रजा की वृद्धि करेंगे"॥२२-२७॥ प्रचेताओं ने उस कन्या को ग्रहण किया। तत्पश्चात् उसके गर्भ से दक्ष उत्पन्न हुए। दक्ष ने चर, अचर, द्विपद और चतुष्पद आदि प्राणियों की मानसिक सृष्टि करके अन्त में बहुत-सी स्त्रियों को उत्पन्न किया। उनमें से दस को तो उन्होंने धर्मराज के समर्पित किया और तेरह कन्याएँ कश्यप को दीं। सत्ताईस कन्याएँ चन्द्रमा को, चार अरिष्टनेमि को, दो बहुपुत्र को और दो कन्याएँ अङ्गिरा को दीं। प्राचीन काल में मानसिक संकल्प से सृष्टि होती थी। तत्पश्चात् उन दक्ष-कन्याओं से मैथुन द्वारा देवता और नाग आदि प्रकट हुए। अधुना मैं धर्मराज से उनकी दस पत्नियों के गर्भ से जो संतानें हुईं, उस धर्मसर्ग का वर्णन करने जा रहा हूँ। विश्वा नाम वाली पत्नी से विश्वेदेव प्रकट हुए। साध्या ने साध्यों को जन्म दिया। मरुत्वती से मरुत्वान् और वसु से वसुगण प्रकट हुए। भानु से भानु और मुहूर्ता से मुहूर्त नामक पुत्र उत्पन्न हुए। धर्मराज के द्वारा लम्बा से घोष नामक पुत्र हुआ और यामि नामक पत्नी से नागवीथी नाम वाली कन्या उत्पन्न हुई। पृथिवी का सम्पूर्ण विषय भी मरुत्वती से ही प्रकट हुआ। संकल्पा के गर्भ संकल्पों की सृष्टि हुई। चन्द्रमा से उनकी नक्षत्ररूपिणी पत्नियों के गर्भ से आठ पुत्र हुए॥२८-३४॥ उनके नाम ये हैं-आप, ध्रुव, सोम, धर, अनिल, अनल, प्रत्यूष और प्रभास-ये आठ वसु हैं। आप के वैतण्ड्य, श्रम, शान्त और मुनि नामक पुत्र हुए। ध्रुव का पुत्र लोकान्तकारी काल हुआ और सोम का पुत्र वर्चा हुआ। धर की पत्नी मनोहरा के गर्भ से द्रविण, हुतहव्यवह, शिशिर, प्राण और रमण उत्पन्न हुए। अनिल का पुत्र पुरोजव और अनल (अग्नि)-का अविज्ञात था। अग्नि का पुत्र कुमार हुआ, जो सरकंडों की ढेरी पर उत्पन्न हुआ। उसके पीछे शाख, विशाख और नैगमेय नामक पुत्र हुए। कुमार कृत्तिका के गर्भ से उत्पन्न

तस्य शाखो विशाखश्च नैगमेयश्च पृष्ठतः। कृत्तिकातः कार्तिकेयो यतिः सनत्कुमारकः।।३९।।
प्रत्यूषाद्देवलो जज्ञे विश्वकर्मा प्रभासतः। कर्त्ता शिल्पसहस्राणां त्रिदशानां च वर्धकिः।।४०।।
मनुष्याश्चोपजीवन्ति शिल्पं वै भूषणादिकम्। सुरभी कश्यपाद्रुद्रानेकादश विजज्ञुषी।।४१।।
महादेवप्रसादेन तपसा भाविता सती। अजैकपादहिर्बुध्न्यस्त्वष्टा रुद्रश्च सत्तम।।४२।।
त्वष्टुश्चैवात्मजः श्रीमान् विश्वरूपो महायशाः। हरश्च बहुरूपश्च त्र्यम्बकश्चापराजितः।।४३।।
वृषाकपिश्च शम्भुश्च कपर्दी रैवतस्तथा। मृगव्याधश्च सर्पश्च कपाली दश चैककः।।४४।।
रुद्राणां च शतं लक्षं यैर्व्याप्तं सचराचरम्।।४५।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते स्वायम्भुवमनुवंशवर्णनं नामाष्टादशोऽध्यायः।।१८।।

होने के कारण 'कार्तिकेय' कहलाये तथा कृत्तिका के दूसरे पुत्र सनत्कुमार नामक यति हुए। प्रत्युष से देवल का जन्म हुआ और प्रभा से विश्वकर्मा का। ये विश्वकर्मा देवताओं के बढ़ई थे और हजारों तरह की शिल्पकारी का काम करते थे। उनके ही निर्माण किये हुए शिल्प और भूषण आदि के सहारे आज भी मनुष्य अपनी जीविका चलाते हैं। सुरभी ने कश्यपजी के अंश से ग्यारह रुद्रों को उत्पन्न किया तथा हे साधुश्रेष्ठ! सती ने अपनी तपस्या एवं श्रीसदाशिवजी के अनुग्रह से सम्भावित होकर चार पुत्र उत्पन्न किये। उनके नाम हैं–अजकैपाद, अहिर्बुध्य, त्वष्टा और रुद्र। त्वष्टा के पुत्र महायशस्वी श्रीमान् विश्वरूप हुए। हर, बहुरूप, त्र्यम्बक, अपराजित, वृषाकपि, शम्भु, कपर्दी, रैवत, मृगव्याध, सर्प और कपाली–ये ग्यारह रुद्र प्रधान हैं। यों तो सैकड़ों–लाखों रुद्र हैं, जिनसे यह चराचर जगत् व्याप्त है।।३५–४५।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी अट्ठारहवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।१८।।

❖❖❖

अथैकोनविंशोऽध्यायः

कश्यपवंशावर्णनम्

अग्निरुवाच

कश्यपस्य बदे सर्गमदित्यादिषु हे मुने। चाक्षुषे तुषिता देवास्तेऽदित्यां कश्यपात्पुनः।।१।।
आसन् विष्णुश्च शक्रश्च त्वष्टा धाता तथार्यमा। पूषा विवस्वान् सविता मित्रोऽथ वरुणो भगः।।२।।
अंशुश्च द्वादशादित्या आसन् वैवस्वतेऽन्तरे। अरिष्टनेमिपत्नीनामपत्यानीह षोडश।।३।।
बहुपुत्रस्य विदुषश्चतस्रः विद्युतः स्मृता। प्रत्यङ्गिरसजाः श्रेष्ठाः कृशाश्वस्य सुरायुधाः।।४।।
उदयास्तमने सूर्ये तद्वदेते युगे-युगे। हिरण्यकशिपुर्दित्यां हिरण्याक्षश्च कश्यपात्।।५।।
सिंहिका चाभवत्कन्या विप्रचित्तेः परिग्रहः। राहुप्रभृतयस्तस्यां सैंहिकेया इति श्रुताः।।६।।
हिरण्यकशिपोः पुत्राश्चत्वारः प्रथितौजसः। अनुह्लादश्च ह्लादश्च प्रह्लादश्चातिवैष्णवः।।७।।
संह्लादश्च चतुर्थोऽभूद् ह्लादपुत्रो ह्रदस्तथा। संह्लादपुत्र आयुष्माञ्शिविर्बाष्कल एव च।।८।।
विरोचनस्तु प्राह्लादिर्बलिर्जज्ञे विरोचनात्। बलेःपुत्रशतं त्वासीद्बाणज्येष्ठं महामुने।।९।।
पुराकल्पे हि बाणेन प्रसाद्योमापतिं प्रभुम्। पार्श्वतो विहरिष्यामि इत्येवं प्राप्त ईश्वरात्।।१०।।

अध्याय-१९

कश्यप आदि की कथा

श्रीअग्नि देव बोले-हे मुने! अधुना मैं अदिति आदि दक्ष-कन्याओं से उत्पन्न हुई कश्यपजी की सृष्टि का वर्णन करने जा रहा हूँ-चाक्षुष मन्वन्तर में जो तुषित नामक द्वादश देवता थे, वे ही पुनः इस वैवस्वत मन्वन्तर में कश्यप के अंश से अदिति के गर्भ में आये थे। वे विष्णु, शक्र (इन्द्र), त्वष्टा, धाता, अर्यमा, पूषा, विवस्वान्, सविता, मित्र, वरुण, भग और अंशु नामक द्वादश आदित्य हुए। अरिष्टनेमि की चार पत्नियों से सोलह संतानें उत्पन्न हुईं। विद्वान् बहुपुत्र के (उनकी दो पत्नियों से कपिला, लोहिता, आदि के भेद से) चार तरह की विद्युत्स्वरूपा कन्याएँ उत्पन्न हुईं। अङ्गिरा मुनि से (उनकी दो पत्नियों द्वारा) श्रेष्ठ ऋचाएँ हुई तथा कृशाश्व के भी (उनकी दो पत्नियों से) देवताओं के दिव्य आयुध उत्पन्न हुए।।१-४।।

जिस प्रकार आकाश में सूर्य के उदय और अस्तभाव बारंबार होते रहते हैं, उसी तरह देवतालोग युग-युग में (कल्प-कल्प में) उत्पन्न (एवं विनष्ट) होते रहते हैं। कश्यपजी से उनकी पत्नी द्विति के गर्भ से हिरण्यकशिपु और हिरण्याक्ष नामक पुत्र उत्पन्न हुए। तत्पश्चात् सिंहिका नाम वाली एक कन्या भी हुई, जो विप्रचित्ति नामक दानव की पत्नी हुई। उसके गर्भ से राहु आदि की उत्पत्ति हुई, जो 'सैंहिकेय' नाम से विख्यात हुए। हिरण्यकशिपु के चार पुत्र हुए, जो अपने बल-पराक्रम के कारण विख्यात थे। इनमें पहला ह्लाद, दूसरा अनुह्लाद और तीसरे प्रह्लाद हुए, जो महान् विष्णु भक्त थे और चौथा संह्लाद था। ह्लाद का पुत्र हुआ। संह्लाद के पुत्र आयुष्मान् शिवि और वाष्कल थे। प्रह्लाद का पुत्र विरोचन हुआ और विरोचन से बलिका जन्म हुआ। हे महामुने! बलि के सौ पुत्र हुए, जिनमें बाणसुर ज्येष्ठ था। पूर्वकल्प में इस बाणासुर ने भगवान् उमापति को (भक्तिभाव से) प्रसन्न कर उन परमेश्वर से यह वरदान प्राप्त

हिरण्याक्षसुताः पञ्च शम्बरः शकुनिस्त्विति। द्विमूर्धा शङ्कुरार्यश्च शतमासन्दनोः सुताः॥११॥
स्वर्भानोः सुप्रभा कन्या पुलोम्नस्तु शची स्मृता। उपदानवी हयशिरा शर्मिष्ठा वार्षपर्वणी॥१२॥
पुलोमा कालका चैव वैश्वानरसुते उभे। कश्यपस्य तु भार्ये द्वे तयोः पुत्राश्च कोटयः॥१३॥
प्रह्लादस्य चतुष्कोट्यो निवातकवचाः कुले। ताम्रयाः षट्सुताः स्युश्च काकी श्येनी च भास्यपि॥१४॥
गृध्रिका च शुचिग्रीवा ताभ्यः काकादयोऽभवन्। अश्वाश्चोष्ट्राश्च ताम्राया अरुणो गरुडस्तथा॥१५॥
बिनतायाः सहस्रं तु सर्पाश्च सुरसाभवाः। काद्रवेयाः सहस्रं तु शेषवासुकितक्षकाः॥१६॥
दंष्ट्रिणः क्रोधवशगा धरायाः पक्षिणो जले। सुरभ्यां गोमहिष्यादि इरोत्पन्नास्तृणादयः॥१७॥
खसायां यक्षरक्षांसि मुनेरप्सरसोऽभवन्। अरिष्टायास्तु गन्धर्वाः कश्यपाद्धिः स्थिरं चरम्॥१८॥
एषां पुत्रादयोऽसङ्ख्या देवैर्वै दानवा जिताः। दितिर्विनष्टपुत्रा वै तोषयामास कश्यपम्॥१९॥
पुत्रमिन्द्रप्रहर्तारमिच्छती प्राप कश्यपात्। पादाप्रक्षालनात्सुप्ता तस्या गर्भ जघान ह॥२०॥
छिद्रमन्विष्य चेन्द्रस्तु ते देवा मरुतोऽभवन्। शक्रस्यैकोनपञ्चशत्सहाया दीप्ततेजसः॥२१॥
एतत्सर्वं हरिर्ब्रह्मा अभिषिच्य पृथुं नृपम्। ददौ क्रमेण राज्यानि अन्येषामधिपो हरिः॥२२॥
द्विजौषधीनां चन्द्रस्तु अपां तु वरुणो नृपः। राज्ञां वैश्रवणो राजा सूर्याणां विष्णुरीश्वरः॥२३॥

किया था कि 'मैं आपके पास ही विचरता रहूँगा।' हिरण्याक्ष के पाँच पुत्र थे–शम्बर, शकुनि, द्विमूर्धा, शङ्कु और आर्य। कश्यपजी की दूसरी पत्नी दनु के गर्भ से सौ दानवपुत्र उत्पन्न हुए॥५–११॥ इनमें स्वर्भानु की कन्या सुप्रभा थी और पुलोमा दानव की पुत्री थी शची। उपदानव की कन्या हयशिरा थी और वृषपर्वा की पुत्री शर्मिष्ठा। पुलोमा और कालका–ये दो वैश्वानर की कन्याएँ थीं। ये दोनों कश्यपजी की पत्नी हुईं। इन दोनों के करोड़ों पुत्र थे। प्रह्लाद के वंश में चार करोड़ 'निवातकवच' नामक दैत्य हुए। कश्यपजी की ताम्रा नाम वाली पत्नी से छः पुत्र हुए। इनके अतिरिक्त काकी, श्येनी, भासी, गृध्रिका और शुचिग्रीवा आदि भी कश्यपजी की भार्याएँ थीं, उनसे काक आदि पक्षी उत्पन्न हुए। ताम्रा के पुत्र घोड़े और ऊँट थे। विनता के अरुण और गरुड़ नामक दो पुत्र हुए। सुरसा से हजारों साँप उत्पन्न हुए और कद्रू के गर्भ से भी शेष, वासु कि और तक्षक आदि सहस्त्रों नाग हुए। क्रोधवशा के गर्भ से दंशनशील दाँतवाले सर्प प्रकट हुए। धरा से जल–पक्षी उत्पन्न हुए। इरा के गर्भ से तृण आदि उत्पन्न हुए। खसासे यक्ष–राक्षस और मुनि के गर्भ से अप्सराएँ प्रकट हुईं। इसी तरह अरिष्टा के गर्भ से गन्धर्व उत्पन्न हुए। इस तरह कश्यपजी से स्थावर–जङ्गम जगत् की उत्पत्ति हुई॥१२–१८॥ इन सभी के असंख्य पुत्र हुए। देवताओं ने दैत्यों को युद्ध में जीत लिया। अपने पुत्रों के मारे जाने पर दिति ने कश्यपजी को सेवा से संतुष्ट किया। वह इन्द्र का विनाश करने वाले पुत्र को पाना चाहती थी; उसने कश्यपजी से अपना वह अभिमत वर प्राप्त कर लिया। जिस समय वह गर्भवती और व्रत पालन में तत्पर थी, उस समय एक दिन भोजन के बाद बिना पैर धोये ही सो गयी। तत्पश्चात् इन्द्रर ने यह छिद्र (त्रुटि या दोष) ढूँढ़कर उसके गर्भ में प्रविष्ट हो उस गर्भ के टुकड़े–टुकड़े कर दिये; (किंतु व्रत के प्रभाव से उनकी मृत्यु नहीं हुई।) वे सभी अत्यन्त तेजस्वी और इन्द्र के सहायक उनचास मरुत् नामक देवता हुए। हे मुने! यह सारा वृत्तान्त मैंने सुना दिया। श्रीहरि–स्वरूप ब्रह्माजी ने पृथु को नरलोक के राज पद पर अभिषिक्त करके क्रमशः दूसरों को भी राज्य दिये–उनको विभिन्न समूहों का राजा बनाया। अन्य सबके अधिपति (तथा परिगणित अधिपतियों के भी अधिपति) साक्षात् श्रीहरि विष्णु ही हैं॥१९–२२॥ ब्राह्मणों और औषधियों के राजा चन्द्रमा हुए। जल के स्वामी वरुण हुए। राजाओं के राजा कुबेर

वसूनां पावको राजा मरुतां वासवः प्रभुः। प्रजापतीनां दक्षोऽथ प्रह्लादो दानवाधिपः॥२४॥
पितॄणां च यमो राजा भूतादीनां हरः प्रभुः। हिमवांश्चैव शैलानां नदीनां सागरः प्रभुः॥२५॥
गन्धर्वाणां चित्ररथो नागानामथ वासुकिः। सर्पाणां तक्षको राजा गरुडः पक्षिणामथ॥२६॥
ऐरावतो गजेन्द्राणां गोवृषोऽथ गवामपि। मृगाणामथ शार्दूलः प्लक्षो वनस्पतीश्वरः॥२७॥
उच्चैःश्रवास्तथाश्वानां सुधन्वा पूर्वपालकः। दक्षिणस्यां शङ्खपदः केतुमान् पालको जले॥२८॥
हिरण्यरोमकः सौम्ये प्रतिसर्गोऽयमीरितः॥२९॥

॥इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते प्रतिसर्गे कश्यपवंशवर्णनं नामैकोनविंशोऽध्यायः॥१९॥

हुए। द्वादश सूर्यों (आदित्यों) के अधीश्वर भगवान् श्रीहरि विष्णु थे। वसुओं के राजा पावक और मरुद्गणों के स्वामी इन्द्र हुए। प्रजापतियों के स्वामी दक्ष और दानवों के अधिपति प्रह्लाद हुए। पितरों के यमराज और भूत आदि के स्वामी सर्वसक्षम भगवान् शिव हुए तथा शैलों (पर्वतों) के राजा हिमवान् हुए और नदियों का स्वामी सागर हुआ। गन्धर्वों के चित्ररथ, नागों के वासुकि, सर्पों के तक्षक और पक्षियों के गरुड़ राजा हुए। श्रेष्ठ हाथियों का स्वामी ऐरावत हुआ और गौओं का अधिपति साँड़। वनचर जीवों का स्वामी शेर हुआ और वनस्पतियों का प्लक्ष (पकड़ी)। घोड़ो का स्वामी उच्चैःश्रवा हुआ। दक्षिण दिशा में शङ्खपद और पश्चिम में केतुमान् रक्षक नियुक्त हुए। इसी तरह उत्तर दिशा में हिरण्य रोमक राजा हुआ। यह प्रतिसर्ग का वर्णन किया गया॥२३-२९॥

॥इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी उन्नीसवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ॥१९॥

❖❖❖

अथ विंशोऽध्यायः

जगत्सर्गवर्णनम्

अग्निरुवाच

प्रथमो महतः सर्गो विज्ञेयो ब्रह्मणस्तु सः। तन्मात्राणां द्वितीयस्तु भूतसर्गो हि स स्मृतः।।१।।
वैकारिकस्तृतीयस्तु सर्ग ऐन्द्रियकः स्मृतः। इत्येष प्राकृतः सर्गः सम्भूतो बुद्धिपूर्वकः।।२।।
मुख्यः सर्गश्चतुर्थस्तु मुख्या वै स्थावराः स्मृताः। तिर्यक्स्त्रोतास्तु यः प्रोक्तस्तैर्यग्योन्यस्ततः स्मृतः।।३।।
तथोर्ध्वस्त्रोतसां षष्ठो देवसर्गस्तु स स्मृतः। ततोऽर्वाक्स्त्रोतसां सर्गः सप्तमः स तु मानुषः।।४।।
अष्टमोऽनुग्रहः सर्गः सात्त्विकस्तामसश्च यः। पञ्चैते वैकृताः सर्गाः प्राकृताश्च त्रयः स्मृताः।।५।।
प्राकृतो वैकृतश्चैव कौमारो नवमस्तथा। ब्रह्मतो नव सर्गास्तु जगतो मूलहेतवः।।६।।
ख्यात्याद्या दक्षकन्यास्तु भृग्वाद्या उपयेमिरे। नित्यो नैमित्तिकः सर्गस्त्रिधाऽथ कथितो जनैः।।७।।
प्राकृतो, दैनन्दिनीयादान्तरप्रलयादनु। जायन्ते यत्रानुदिनं नित्यसर्गो हि स स्मृतः।।८।।
देवौ धाताविधातारौ भृगोः ख्यातिरसूयत। श्रियं च पत्नी विष्णोर्या स्तुता शक्रेण वृद्धये।।९।।
धातुर्विधातुर्द्वौ पुत्रौ क्रमात्प्राणो मृकण्डुकः। मार्कण्डेयो मृकण्डोश्च जज्ञे वेदशिरास्तथा।।१०।।
पौर्णमासश्च सम्भूत्यां मरीचेरभवत्सुतः। स्मृत्यामाङ्गिरसः पुत्राः सिनीवाली कुहूस्तथा।।११।।

अध्याय-२०

पुनः जगत् सृष्टि वर्णन

श्रीअग्नि देव ने कहा कि-हे मुने! (प्रकृति से) पहले महत्तत्त्व की सृष्टि हुई, इसको ब्राह्मसर्ग समझना चाहिये। दूसरी तन्मात्राओं की सृष्टि हुई, इसको भूतसर्ग कहा गया है। तीसरी वैकारिक सृष्टि है, इसको ऐन्द्रियक सर्ग कहते हैं। इस तरह यह बुद्धिपूर्वक प्रकट हुआ प्राकृतसर्ग तीन तरह का है। चौथे तरह की सृष्टि को'मुख्य सर्ग' कहते हैं। 'मुख्य' नाम है-स्थावरों (वृक्ष-पर्वत आदि) का। जो 'तिर्यक स्त्रोता' कहा गया है, अर्थात् जिससे पशु-पक्षियों की उत्पत्ति हुई है, वह तैर्यग्योन्य-सर्ग पाँचवा है। उर्ध्व स्त्रोताओं की सृष्टि को देव-सर्ग कहते हैं, यह छठा सर्ग है। इसके पश्चात् अर्वाक स्त्रोताओं की सृष्टि हुई-यही सातवाँ मानव-सर्ग है। आठवाँ अनुग्रह-सर्ग है, जो सात्विक और तामस भी है। ये अन्त वाले पाँच 'वैकृत सर्ग' हैं और प्रारम्भ के तीन 'प्राकृत सर्ग' कहे गये हैं। प्राकृत और वैकृत सर्ग तथा नवें तरह का कौमार-सर्ग-ये कुल नौ सर्ग ब्रह्माजी से प्रकट हुए, जो इस जगत् के मूल कारण हैं। ख्याति आदि दक्ष-कन्याओं से भृगु आदि महर्षियों ने ब्याह किया। कुछ लोग नित्य, नैमित्तिक और प्राकृत इस भेद से तीन तरह की सृष्टि मानते हैं। जो प्रतिदिन होने वाले अवान्तर-प्रलय से प्रतिदिन जन्म लेते रहते हैं, वह 'नित्यसर्ग' कहा गया है।।१-८।। भृगु से उनकी पत्नी ख्याति ने धाता-विधाता नामक दो देवताओं को जन्म दिया तथा श्रीलक्ष्मी नाम की कन्या भी उत्पन्न की, जो भगवान् श्रीहरि विष्णु की पत्नी हुईं। इन्द्र ने अपने अभ्युदय के लिये इन्हीं का स्तवन किया था। धाता और विधाता के क्रमशः प्राण और मृकण्डु से मार्कण्डेय का जन्म हुआ। उनसे वेदशिरा उत्पन्न हुए। मरीचि के सम्भूति के गर्भ से पौर्णमास नामक पुत्र हुआ और अङ्गिरा के स्मृति के गर्भ से अनेक पुत्र तथा सिनी वाली, कहू,

राका चानुमतिश्चात्रेरनसूयाप्यजीजनत्। सोमं दुर्वाससं पुत्रं दत्तात्रेयं च योगिनम्।।१२।।
प्रीत्यां पुलस्त्यभार्यायां दत्तोलिस्तत्सुताऽभवत्। क्षमायां पुलहाज्जातः सहिष्णुः सर्वपादिकः।।१३।।
सन्नत्यां च क्रतोरासन् बालखिल्या महौजसः। अङ्गुष्ठपर्वमात्रास्ते ये हि षष्टिसहस्रिणः।।१४।।
ऊर्जायां च वसिष्ठाच्च राजा गात्रोर्ध्वबाहुकः। सवनश्चानघः शुक्रः सुतपाः सप्त चर्षयः।।१५।।
पावकः पवमानोऽभूच्छुचिः स्वाहाग्नितोऽभवत्। अग्निष्वात्ता बर्हिषदोऽनग्नयः साग्नयो ह्यजात्।।१६।।
पितृभ्यश्च स्वधायां च मेना वैधारिणी सुते। हिंसा भार्या त्वधर्मस्य तयोर्जज्ञे तथानृतम्।।१७।।
कन्या निकृतिस्ताभ्यां भयं नरकमेव च। माया च वेदना चैव मिथुनं त्विदमेतयोः।।१८।।
तयोर्जज्ञेऽथ वै माया मृत्युं भूतापहारिणम्। वेदना च सुतं चापि दुःखं जज्ञेऽथ रौरवात्।।१९।।
मृत्योर्व्याधिजराशोकतृष्णाक्रोधाश्च जज्ञिरे। ब्रह्मणश्च रुदञ्जातो रोदनाद्रुद्रनामकः।।२०।।
भवं शर्वमथेशानं तथा पशुपतिं द्विज। भीममुग्रं महादेवमुवाच स पितामहः।।२१।।
दक्षकोपाच्च तद्भार्या देहं तत्याज सा सती। हिमवद्दुहिता भूत्वा पत्नी शम्भोरभूत् पुनः।।२२।।
ऋषिभ्यो नारदाद्युक्ताः पूजाः स्नानादिपूर्विकाः। स्वायम्भुवाद्यास्ताः कृत्वा विष्ण्वादेर्भुक्तिमुक्तिगाः।।२३।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते जगत्सर्गवर्णनं नाम विंशोऽध्यायः।।२०।।
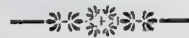
राका और अनुमति नामक चार कन्याएँ हुईं। अत्रि के अंश से अनसूया ने सोम, दूर्वासा और दत्तात्रेय नामक पुत्रों को जन्म दिया। इनमें दत्तात्रेय महान् योगी थे। पुलस्त्य मुनि की पत्नी प्रीती के गर्भ से दत्तोलि नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। पुलह से क्षमा के गर्भ से सहिष्णु एवं सर्वपादि का जन्म हुआ। क्रतु के सन्नति से बालखिल्य नामक साठ हजार पुत्र उत्पन्न हुए, जो अँगूठे के पोरुओं के बराबर और महान् तेजस्वी थे। वसिष्ठा से उर्जा के गर्भ से राजा, गात्र, उर्ध्वबाहु, सवन, अनघ, शुक्र और सुतपा-ये सात ऋषि प्रकट हुए।।९-१५।। स्वाहा एवं अग्नि से पावक, पवमान और शुचि नामक पुत्र हुए। इसी तरह अज से अग्निष्वात्त, बर्हिषद्, अनग्नि एवं साग्नि पितर हुए। पितरों से स्वधा के गर्भ से मेना और वैधारिणी नामक दो कन्याएँ हुईं। अधर्म की पत्नी हिंसा हुई; उन दोनों से अमृत नामक पुत्र और निकृति नाम वाली कन्या की उत्पत्ति हुई। (इन दोनों ने परस्पर विवाह किया और) इनमे भय तथा नरक का जन्म हुआ। क्रमशः माया और वेदना इनकी पत्नियाँ हुईं। इनमें से माया ने (भय के सम्पर्क से) समस्त प्राणियों के प्राण लेने वाले मृत्यु को जन्म दिया और वेदना ने नरक के संयोग से दुःख नामक पुत्र उत्पन्न किया। इसके पश्चात् मृत्यु से व्याधि, जरा, शोक, तृष्णा और क्रोध की उत्पत्ति हुई। ब्रह्माजी से एक रोता हुआ पुत्र हुआ, जो रुदन करने के कारण 'रुद्र' नाम से प्रसिद्ध हुआ तथा हे द्विज! उन पितामह ब्रह्माजी ने उसको भव, शर्व, ईशान, पशुपति, भीम, उग्र और महादेव आदि नामों से पुकारा। रुद्र की पत्नी सती ने अपने पिता दक्ष पर कोप करने के कारण देहत्याग किया और हिमवान् की कन्या-रूप में प्रकट होकर पुनः वे देवाधिदेव भगवान् श्रीशिवशंकर की ही धर्मपत्नी हुईं। किसी समय देवर्षि नारदजी ने ऋषियों के प्रति विष्णु आदि देवताओं की पूजा का विधान बतलाया था। स्नानादिपूर्वक की जाने वाली उन पूजाओं का विधिवत् अनुष्ठान करके स्वायम्भुव मनु आदि ने भोग और मोक्ष-दोनों प्राप्त किये थे।।१६-२३।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी बीसवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।२०।।

❖❖❖
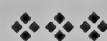
अथैकविंशोऽध्यायः

विष्ण्वादिदेवानां सामान्यपूजाविधानम्

नारद उवाच

सामान्यपूजां विष्ण्वादेर्वक्ष्ये मन्त्रांश्च सर्वदान्। समस्तपरिवाराय अच्युताय नमो यजेत्।।१।।
धात्रे विधात्रे गङ्गायै यमुनायै निधी तथा। द्वारश्रियं वास्तुनरं शक्तिं कूर्ममनन्तकम्।।२।।
पृथिवीं धर्मकं ज्ञानं वैराग्यैश्वर्यमेव च। अधर्मादीन् कन्दनालपद्मकेसरकर्णिकाः।।३।।
ऋग्वेदाद्यं कृताद्यं च सत्त्वाद्यर्कादिमण्डलम्। विमलोत्कर्षिणी ज्ञाना क्रिया योगा च ता यजेत्।।४।।
प्रह्वी सत्या तथेशा चानुग्रहामलमूर्तिका। दुर्गां गिरं गणं क्षेत्रं वासुदेवादिकं यजेत्।।५।।
हृदयं च शिरश्चूडां वर्म नेत्रमथास्त्रकम्। शङ्खं चक्रं गदां पद्मं श्रीवत्सं कौस्तुभं यजेत्।।६।।
वनमालां श्रियं पुष्टिं गरुडं गुरुमर्चयेत्। इन्द्रमग्निं यमं रक्षो जलं वायुं धनेश्वरम्।।७।।
ईशानं तमजं चास्त्रं वाहनं कुमुदादिकम्। विष्वक्सेनं मण्डलादौ सिद्धिः पूजादिना भवेत्।।८।।
शिवपूजार्थ सामान्या पूर्वं नन्दिनमर्चयेत्। महाकालं यजेद् दुर्गां यमुनां च गणादिकम्।।९।।

अध्याय–२१

विष्णु आदि देवताओं की सामान्य पूजा विधि

देवर्षि नारदजी बोले–अधुना मैं विष्णु आदि देवताओं की सामान्य पूजा का वर्णन करने जा रहा हूँ तथा समस्त कामनाओं को देनेवाले पूजा–सम्बन्धी मन्त्रों को भी बतलाता हूँ। भगवान् श्रीहरि विष्णु के पूजन में सर्वप्रथम परिवार सहित भगवान् अच्युत को नमस्कार करके पूजन प्रारम्भ करना चाहिये, इसी तरह पूजा–मण्डप के द्वार देश में क्रमशः दक्षिण–वाम भाग में धाता और विधाता का तथा गङ्गा और यमुना का भी पूजन करना चाहिये। तत्पश्चात् शङ्खनिधि और पद्मनिधि–इन दो निधियों की, द्वारलक्ष्मी की, वास्तु–पुरुष की तथा आधार शक्ति, कूर्म, अनन्त, पृथिवी, धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य की पूजा करनी चाहिये। उसके बाद अधर्म आदि का अर्थात् अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य और अनैश्वर्य का पूजन करना चाहिये तथा एक कमल की भावना करके उसके मूल, नाल, पद्म, केसर और कर्णिकाओं की पूजा करनी चाहिये। तत्पश्चात् ऋग्वेद आदि चारों वेदों की, सत्ययुग आदि युगों की, सत्तव आदि गुणों की और सूर्य आदि के मण्डल की पूजा करनी चाहिये। इसी तरह विमला, उत्कर्षिणी, ज्ञाना, क्रिया, योगा आदि जो शक्तियाँ हैं, उनकी पूजा करनी चाहिये तथा प्रह्वी, सत्या, ईशा अनुग्रहा, निर्मलमूर्ति दुर्गा, सरस्वती, गण (गणेश), क्षेत्रपाल और वासुदेव (संकर्षण, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध) आदि का पूजन करना चाहिये। इनके बाद हृदय, सिर, चूडा (शिखा), वर्म (कवच), नेत्र आदि अङ्गों की, तत्पश्चात् शङ्ख, चक्र, गदा और पद्म नामक अस्त्रों की, श्रीवत्स, कौस्तुभ एवं वनमाला की तथा श्रीलक्ष्मी, पुष्टि, गरुड़ और गुरुदेव की पूजा करनी चाहिये। तत्पश्चात् इन्द्र, अग्नि, यम, निर्ऋति, जल (वरुण), वायु, कुबेर, ईशान, ब्रह्मा और अनन्त–इन दिक्पालों की, इनके अस्त्रों की, कुमुद आदि विष्णु पार्षदों या द्वारपालों की और विष्वक्सेन की आवरण–मण्डल आदि में पूजा आदि करने से सिद्धि प्राप्त हो जाती है।।१–८।।

अधुना भगवान् शिव की सामान्य पूजा बतलायी जाती है–इसमें पहले नन्दी का पूजन करना चाहिये, तत्पश्चात्

गिरं, श्रियं, गुरुं, वास्तुं, शक्त्यादीन् धर्मकादिकम्। वामा, ज्येष्ठा तथा रौद्री काली, कलविकारिणी॥१०॥
बलविकारिणी चापि बलप्रमथिनी क्रमात्। सर्वभूतदमनी च मदनोन्मादिनी शिवा॥११॥
हां हूं हां शिवमूर्तये साङ्गवक्त्रं शिवं यजेत्। हौं शिवाय हौमित्यादि हामीशानादिवक्त्रकम्॥१२॥
ह्रीं गौरीं गंगणः शक्रमुखाश्चण्डो हृदादिकाः। क्रमात्सूर्यार्चने मन्त्रा दण्डी पूज्यश्च पिङ्गलः॥१३॥
उच्चैः श्रवाचारुणश्च प्रभूतं विमलं यजेत्। सोमं सन्ध्ये परसुखं स्कन्दाद्यं मध्यतो यजेत्॥१४॥
दीप्ता सूक्ष्मा जया भद्रा विभूतिर्विमला तथा। अमोघा विद्युता चैव पूज्याथो सर्वतोमुखी॥१५॥
अर्कासनं हि हं खं खं सोल्कायेति च मूर्तिकम्। ह्रां ह्रीं सः सूर्याय नम आं नमो हृदयाय च॥१६॥
अर्काय शिरसे तद्वदग्नीशाश्रयवायुगान्। भूर्भुवः स्वरे ज्वालिनी शिखा हूं कवचं स्मृतम्॥१७॥
भां नेत्रं रस्तथार्कास्त्रं राज्ञी शक्तिश्च निःस्वका। सोमोऽङ्गारकोऽथ बुधो जीवः शुक्रः शनिः क्रमात्॥१८॥
राहुः केतुस्तेजश्चण्डः सङ्क्षेपादथ पूजनम्। आसनं मूर्त्तयो मूलं हृदाद्यं परिचारकः॥१९॥
विष्ण्वासनं विष्णुमूर्ते रां श्रीं श्रीं श्रीधरो हरिः। ह्रीं सर्वमूर्तिमन्त्रोऽयमिति त्रैलोक्यमोहनः॥२०॥

महाकाल का। उसके बाद क्रमशः दुर्गा, यमुना, गण आदि का, वाणी, श्री, गुरु, वास्तुदेव, आधारशक्ति आदि और धर्म आदि का अर्चन करना चाहिये। तत्पश्चात् वामा, ज्येष्ठा, रौद्री, काली, कलविकरिणी, बलविकरिणी, बलप्रमथिनी, सर्वभूतदमनी तथा कल्याणमयी मनोन्मयी—इन नौ शक्तियों का क्रम से पूजन करना चाहिये। **'हां हं हां शिवमूर्तये नमः।'**—इस मन्त्र से हृदयादि अङ्ग और ईशान आदि मुखसहित शिव की पूजा करनी चाहिये। **'हौं शिवाय हौं।'** इत्यादि से ईशानादि पाँच मुखों की आराधना करना चाहिये। **'ह्रीं गौर्यै नमः।'** इससे गौरी का और **'गं गणपतये नमः।'** इस मन्त्र से गणपति की, नाम–मन्त्रों से इन्द्र आदि दिक्पालों की, चण्ड की और हृदय, सिर आदि की भी पूजा करनी चाहिये॥९–१२॥ अधुना क्रमशः सूर्य की पूजा के मन्त्र बताये जाते हैं। इसमें नन्दी सर्वप्रथम पूजनीय हैं। तत्पश्चात् क्रमशः पिङ्गल, उच्चैःश्रवा और अरुण की पूजा करनी चाहिये। तत्पश्चात् प्रभूत, विमल, सोम, दोनों संध्याकाल, परमसुख और स्कन्द आदि की मध्य में पूजा करनी चाहिये। इसके बाद दीप्ता, सूक्ष्मा, जया, भद्रा, विभूति, विमला, अमोघा, विद्युता तथा सर्वतोमुखी—इन नौ शक्तियों की पूजा होनी चाहिये। तत्पश्चात् **'ॐ ब्रह्मविष्णु शिवात्मकाय सौराय पीठाय नमः।'** इस मन्त्र से सूर्य के आसन का स्पर्श और पूजन करना चाहिये। तत्पश्चात् **'ॐ खंखोल्काय नमः।'** इस मन्त्र से सूर्यदेव की मूर्ति की उद्भावना करके उसका अर्चन करना चाहिये। तत्पश्चात् **'ॐ ह्रां ह्री सः सूर्याय नमः।'** इस मन्त्र से सूर्यदेव की पूजा करनी चाहिये। इसके बाद हृदयादि का पूजन करना चाहिये—**'ॐ आं नमः।'** इससे हृदय की **'ॐ अर्काय नमः।'** इससे सिरकी पूजा करनी चाहिये। इसी तरह अग्नि, ईश और वायु में अधिष्ठित सूर्यदेव का भी पूजन करना चाहिये। तत्पश्चात् **'ॐ भूर्भुवः स्वः ज्वालिन्यै शिखायै नमः।'** इससे कवच की, **'ॐ भां नेत्राभ्यां नमः।'** इस नेत्र की और **'ॐ रम् अर्कास्त्राय नमः।'** इससे अस्त्र की पूजा करनी चाहिये। इसके बाद सूर्य की शक्ति रानी संज्ञा की तथा उनसे प्रकट हुई छायादेवी की पूजा करनी चाहिये। तत्पश्चात् चन्द्रमा, मङ्गल, बुध, बृहस्पति, शुक्र, शनि, राहु और केतु—क्रमशः इन ग्रहों का और सूर्य के प्रचण्ड तेज का पूजन करना चाहिये। अधुना संक्षेप से पूजन बतलाते हैं—देवता के आसन, मूर्ति, मूल, हृदय आदि अङ्ग और परिचारक इनकी ही पूजा होती है॥१३–१९॥ भगवान् श्रीहरि विष्णु के आसन का पूजन **'ॐ श्रीं श्रीं श्रीधरो हरिः ह्रीं।'** इस मन्त्र से करना चाहिये। इसी मन्त्र से भगवान् श्रीहरि विष्णु की मूर्ति का भी पूजन करना चाहिये। यह सर्वमूर्ति मन्त्र है। इसी

क्लीं हृषीकेशो हूं विष्णुः स्वरैर्दीर्घैर्हृदादिकम्। समस्तैः पञ्चमी पूजा सङ्ग्रामादौ जयादिदा।।२१।।
चक्रं गदां क्रमाच्छङ्खं मुसलं खड्गशार्ङ्गकम्। पाशाङ्कुशौ च श्रीवत्सं कौस्तुभं वनमालया।।२२।।
श्रीं श्रीर्महालक्ष्मीस्तार्क्ष्यो गुरुरिन्द्रादयोऽर्चनम्। सरस्वत्यासनं मूर्ति रों ह्रीं देवी सरस्वती।।२३।।
हृदाद्या लक्ष्मीर्मेधा च कला तुष्टिश्च पुष्टिका। गौरी प्रभा मतिर्दुर्गा गणो गुरुश्च क्षेत्रपः।।२४।।
तथा गं गणपतये च ह्रीं गौर्यै च श्रीं श्रियै। ह्रीं त्वरितायै ऐं क्लीं सौं त्रिपुरा चतुर्थ्यन्ता नमोन्तका।।२५।।
प्रणवाद्याश्च नामाद्यमक्षरं विन्दुसंयुतम्। ॐयुता वा सर्वमन्त्राः पूजनाज्जपतः स्मृताः।।२६।।
होमस्तिलघृताद्यैश्च धर्मकामार्थमोक्षदाः। पूजामन्त्रान्पठेद्यस्तु भुक्तभोगो दिवं व्रजेत्।।२७।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते विष्ण्वादिदेवतासामान्यपूजाविधानवर्णनं नामैकविंशोऽध्यायः।।२१।।

को त्रैलोक्य मोहन मन्त्र भी कहते हैं। भगवान् के पूजन में '**ॐ क्लीं हृषीकेशाय नमः।**' '**ॐ हुं विष्णुवे नमः।**'–इन मन्त्रों का उपयोग करना चाहिये। सम्पूर्ण दीर्घ स्वरों के द्वारा हृदय आदि का पूजा करनी चाहिये; जिस प्रकार–'**ॐ आं हृदयाय नमः।**'इससे हृदय की, '**ॐ ई शिरसे नमः।**' इससे सिरकी, '**ॐ उं शिखायै नमः।**' इससे शिखा की, '**ॐ एं कवचाय नमः।**' इससे कवच की, '**ॐ ऐं नेत्राभ्यां नमः।**' इससे नेत्रों की और '**ॐ औं अस्त्राय नमः।**' इससे अस्त्र की पूजा करनी चाहिये। पाँचवीं अर्थात् परिचारकों की पूजा संग्राम आदि में विजय आदि देने वाली है। परिचारकों के चक्र, गदा, शङ्ख, मुसल, खड्ग, शार्ङ्गधनुष, पाश, अंकुश, श्रीवत्स, कौस्तुभ, वनमाला, 'श्री' इस बीज से युक्त श्री–महालक्ष्मी, गरुड़, गुरुदेव और इन्द्रादि देवताओं का पूजन किया जाता है। (इनके पूजन में प्रणव सहित नाम के आदि अक्षर में अनुस्वार लगाकर चतुर्थी विभक्तियुक्त नाम के अन्त में '**नमः**' जोड़ना चाहिये। जिस प्रकार '**ॐ चं चक्राय नमः।**' '**ॐ गं गदायै नमः।**'इत्यादि)सरस्वती के आसन की पूजा में '**ॐ ऐं देव्यै सरस्वत्यै नमः।**' इस मन्त्र का उपयोग करना चाहिये और उनकी मूर्ति के पूजन में '**ॐ ह्रीं देव्यै सरस्वत्यै नमः।**' इस मन्त्र से काम ले। हृदय आदि के लिये पूर्ववत् मन्त्र हैं। सरस्वती के परिचालकों में श्रीलक्ष्मी, मेधा, कला, तुष्टि, पुष्टि, गौरी, प्रभा, मति, दुर्गा, गण, गुरु और क्षेत्रपाल की पूजा करनी चाहिये।।२०–२४।। तथा '**ॐ गं गणपतये नमः।**'–इस मन्त्र से गणेश की, '**ॐ ह्रीं गौर्यै नमः।**' इस मन्त्र से गौरी की, '**ॐ श्रीं श्रियै नमः।**' इससे श्री की, '**ॐ ह्रीं त्वरितायै नमः।**' इस मन्त्र से त्वरिता की, '**ॐ ऐं क्लीं सौं त्रिपुरायै नमः।**' इस मन्त्र से त्रिपुरा की पूजा करनी चाहिये। इस तरह 'त्रिपुरा' शब्द भी चतुर्थी विभक्तयन्त हो और अन्त में '**नमः**' शब्द का प्रयोग हो। जिन देवताओं के लिये कोई विशेष मन्त्र नहीं बतलाया गया है, उनके नाम के आदि में प्रणव लगावे। नाम के आदि अक्षर में अनुस्वार लगाकर उसको बीज के रूप में रखे तथा पूर्ववत् नाम के अन्त में चतुर्थी विभक्ति और '**नमः**' शब्द जोड़ ले। पूजन और जप में प्रायः सभी मन्त्र 'ॐ कारक युक्त बताये गये हैं। अन्त में तिल और घी आदि से होम करना चाहिये। इस तरह ये देवता और मन्त्र धर्म, काम, अर्थ और मोक्ष–चारों पुरुषार्थ देनेवाले हैं। जो पूजा के इन मन्त्रों का पाठ करना चाहिये, वह समस्त भोगों का उपभोग कर अन्त में देवलोक को प्राप्त होगा।।२५–२७।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी इक्कीसवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।२१।।

❖❖❖

अथ द्वाविंशोऽध्यायः

पूजाधिकारार्थं सामान्यस्नानविधिः

नारद उवाच

वक्ष्ये स्नानं क्रियाद्यर्थं नृसिंहेन तु मृत्तिकाम्। गृहीत्वा तां द्विधा कृत्वा मलस्नानमथैकया।।१।।
निमज्ज्याचम्य विन्यस्य सिंहेन कृतरक्षकः। विधिस्नानं ततः कुर्यात् प्राणायामपुरः सरम्।।२।।
हृदि ध्यायन् हरिं देवं मन्त्रेणाष्टाक्षरेण हि। त्रिधा पाणितले मृत्सां दिग्बन्धं सिंहजप्ततः।।३।।
वासुदेवप्रजप्तेन तीर्थं सङ्कल्प्य चालभेत्। गात्रं वेदादिमन्त्रैश्च सम्माज्र्याराध्वमूर्तिगम्।।४।।
स्मृत्वाघमर्षणं वस्त्रं परिधाय समाचरेत्। विन्यस्य मन्त्रैर्निर्माज्र्य पाणिस्थं जलमेव च।।५।।
नारायणेन संयम्य वायुमाघ्राय चोत्सृजेत्। जलं ध्यायन्हरिं पश्चाद् दत्त्वार्घ्यं द्वादशाक्षरम्।।६।।
जप्त्वाऽन्यान्भक्तितस्तर्प्य योगपीठादितः क्रमात्। मन्त्रान् दिक्पालपर्यन्तानृषीन् पितृगणानपि।।७।।
मनुष्यान् सर्वभूतानि स्थावरान्तान्यथाचमेत्। न्यस्य चात्मनि संहृत्य मन्त्रान् यागगृहं व्रजेत्।।८।।

अध्याय–२२

पूजा की अधिकार सिद्धि हेतु सामान्य स्नान-विधि

देवर्षि नारदजी बोले–हे विप्रवरो! पूजन आदि क्रियाओं के लिये पहले स्नान–विधि का वर्णन करने जा रहा हूँ। पहले नृसिंह–सम्बन्धी बीज या मन्त्र से मृत्तिका हाथ में ले। उसको दो भागों में विभाजित कर एक भाग के द्वारा(नाभि से लेकर पैरोंतक लेपन करना चाहिये, तत्पश्चात् दूसरे भाग के द्वारा) अपने अन्य सभी अङ्गों में लेपन कर मल–स्नान सम्पन्न करना चाहिये। उसके बाद शुद्ध स्नान के जल में डुबकी लगाकर आचमन करना चाहिये। 'नृसिंह'–मन्त्र से न्यास करके आत्मरक्षा करनी चाहिये। इसके बाद (तन्त्रोक्त विधि से) विधि–स्नान करना चाहिये और प्राणायामादिपूर्वक हृदय में भगवान् श्रीहरि विष्णु का ध्यान करते हुए **'ॐ नमो नारायणाय'** इस अष्टाक्षर–मन्त्र से हाथ में मिट्टी लेकर उसके तीन भाग करना चाहिये। तत्पश्चात् नृसिंह–मन्त्र के जलपूर्वक (उन तीनों भागों से तीन बार) दिग्बन्ध करना चाहिये। इसके बाद **'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय।'** इस वासुदेव–मन्त्र का जप करके संकल्पपूर्वक तीर्थ–जल का स्पर्श करना चाहिये। तत्पश्चात् वेद आदि के मन्त्रों से अपने शरीर का और आराध्यदेव की प्रतीमा या ध्यानकल्पित विग्रह का मार्जन करना चाहिये। इसके बाद अघमर्षण–मन्त्र का जपकर वस्त्र पहनकर आगे का कार्य करना चाहिये। पहले अङ्गन्यास कर मार्जन–मन्त्रों से मार्जन करना चाहिये। इसके बाद हाथ में जल लेकर नारायण–मन्त्र से प्राण–संयम करके जल को नासिका से लगाकर सूँघे। तत्पश्चात् भगवान् का ध्यान करते हुए जल का परित्याग कर देना चाहिये। इसके बाद अर्घ्य देकर (**'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय।'**इस) द्वादशाक्षर–मन्त्र का जप करना चाहिये। तत्पश्चात् अन्य देवता आदि का भक्तिपूर्वक तर्पण करना चाहिये। योगपीठ आदि के क्रम से दिक्पाल तक के मन्त्रों और देवताओं का, ऋषियों का, पितरों का, मनुष्यों का तथा स्थावर पर्यन्त सम्पूर्ण भूतों का तर्पण करके आचमन करना चाहिये। तत्पश्चात् अङ्गन्यास करके अपने हृदय में मन्त्रों का उपसंहार कर पूजन–मन्दिर में प्रवेश करना चाहिये।

एवमन्यासु पूजासु मूलाद्यैः स्नानमाचरेत्।।९।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते सामान्यपूजाविधिवर्णनं नाम द्वाविंशोऽध्यायः।।२२।।

—❋❋❋—

अथ त्रयोविंशोऽध्यायः

मूर्त्यादिदेवानांसामान्यपूजाविधिः

नारद उवाच

वक्ष्ये पूजाविधिं विप्रा यं कृत्वा सर्वमाप्नुयात्। प्रक्षालिताङ्घ्रिराचम्य वाग्यतः कृतरक्षणः।।१।।
प्राङ्मुखः स्वस्तिकं बद्ध्वा पद्माद्यपरमेव च। यं बीजं नाभिमध्यस्थं धूम्रं चण्डानिलात्मकम्।।२।।
विश्लेषयेदशेषं तु ध्यायन् कायात्तु कल्मषम्। क्षौं हृत्पङ्कजमध्यस्थं बीजं तेजोनिधिं स्मरन्।।३।।
अधोर्ध्वतिर्यग्गाभिस्तु ज्वालाभिः कल्मषं दहेत्। शशाङ्काकृतिवद्ध्यायेदम्बरस्थं सुधाम्बुभिः।।४।।
हृत्पद्मव्यापिभिर्देहं स्वकमाप्लावयेत्सुधीः। सुषुम्नायोनिमार्गेण सर्वनाडीविसर्पिभिः।।५।।

इसी तरह अन्य पूजाओं में भी मूल आदि मन्त्रों से स्नान-कार्य सम्पन्न करना चाहिये।।१-९।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी बाईसवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।२२।।

अध्याय-२३

मूर्तिस्थ देवताओं की सामान्य पूजा-विधि

देवर्षि नारदजी बोले-हे ब्रह्मर्षियो! अधुना मैं पूजा की विधि का वर्णन करने जा रहा हूँ, जिसका अनुष्ठान करके मनुष्य सम्पूर्ण कामनाओं को प्राप्त कर लेता है। हाथ-पैर धोकर, आसन पर बैठकर आचमन करना चाहिये। तत्पश्चात् मौनभाव से रहकर सभी तरफ से अपनी रक्षा करनी चाहिये। पूर्व दिशा की तरफ मुँह करके स्वस्तिकासन या पद्मासन आदि कोई-सा आसन बाँधकर स्थिर बैठे और नाभि के मध्यभाग में स्थित धूँए के समान वर्णवाले, प्रचण्ड वायुरूप **'यं'** बीज का चिन्तन करते हुए अपने शरीर से सम्पूर्ण पापों को भावना द्वारा पृथक करना चाहिये। तत्पश्चात् हृदय-कमल के मध्य में स्थित तेज की राशिभूत **'क्षौं'** बीज का ध्यान करते हुए उपर, नीचे तथा अगल-बगल में फैली हुई अग्नि की प्रचण्ड ज्वालों से उस पाप को जला डालना चाहिये। इसके बाद बुद्धिमान् पुरुष आकाश में स्थित चन्द्रमा की आकृति के सामान किसी शान्त ज्योति का ध्यान करना चाहिये और उससे प्रवाहित होकर हृदय-कमल में व्याप्त होने वाली सुधामय सलिल की धाराओं से, जो सुषुम्ना-योनि के मार्ग से शरीर की सभी नाडियों में फैल रही हैं, अपने निष्पाप शरीर को आप्लावित करना चाहिये। इस तरह शरीर की शुद्धि करके तत्त्वों का विनाश करना चाहिये। तत्पश्चात् हस्तशुद्धि करनी चाहिये। इसके लिये पहले दोनों हाथों में अस्त्र एवं व्यापक मुद्रा करना चाहिये और

शोधयित्वा न्यसेत्तत्वं करशुद्धिरथास्त्रकम्। व्यापकं हस्तयोरादौ दक्षिणाङ्गुष्ठतोऽङ्गकम्।।६।।
मूलं देहे द्वादशाङ्गं न्यसेन्मन्त्रैर्द्विषट्ककैः। हृदयं च शिरश्चैव शिखावर्मास्त्रलोचने।।७।।
उदरं च तथा पृष्ठं बाहूरू जानुपादकम्। मुद्रां दत्त्वा स्मरेद् विष्णुं जप्त्वाष्टशतमर्चयेत्।।८।।
वामे तु वर्द्धनीं न्यस्य पूजाद्रव्यं तु दक्षिणे। प्रक्षाल्यास्त्रेण चार्घ्येऽथ गन्धपुष्पान्विते न्यसेत्।।९।।
चैतन्यं सर्वगं ज्योतिरस्त्रजप्तेन वारिणा। फडन्तेन तु संसिच्य हस्ते ध्यात्वा हरिं परम्।।१०।।
धर्मं ज्ञानं च वैराग्यमैश्वर्यं वह्निदिङ्मुखान्। अधर्मादीनि गात्राणि पूर्वादौ योगपीठके।।११।।
कूर्मं पीठे ह्यनन्तं च पद्मं सूर्यादिमण्डलम्। विमलात्ताः केसरस्था ग्रहाः कर्णिकसंस्थिताः।।१२।।
पूर्वं स्वहृदये ध्यात्वा आवाह्यार्चेच्च मण्डले। अर्घ्यं पाद्यं तथाचामं मधुपर्कं पुनश्च तत्।।१३।।
स्नानं वस्त्रोपवीतं च भूषणं गन्धपुष्पकम्। धूपदीपनैवेद्यानि पुण्डरीकाक्षविद्यया।।१४।।
यजेदङ्गानि पूर्वादौ द्वारि पूर्वे परेऽण्डजम्। दक्षे चक्रं गदां सौम्ये कोणे शङ्खं धनुर्न्यसेत्।।१५।।
देवस्य वामतो दक्षे चेषुधि खड्गमेव च। वामे चर्म श्रियं दक्षे पुष्टिं वामेऽग्रतो न्यसेत्।।१६।।
वनमालां च श्रीवत्सकौस्तुभो दिक्पतीन् बहिः। स्वमन्त्रैः पूजयेत्सर्वान् विष्णोरर्चावसानतः।।१७।।

दाहिने अँगूठे से प्रारम्भ करके हस्ततल और करपृष्ठ तक न्यास करना चाहिये।।१-६।। इसके बाद एक-एक अक्षर के क्रम से द्वादश अङ्गों वाले द्वादशाक्षर मूल-मन्त्र का अपने देह में द्वादश मन्त्र-वाक्यों द्वारा न्यास करना चाहिये। हृदय, सिर, शिखा, कवच, अस्त्र, नेत्र, उदर, पीठ, बाहु, उरु, घुटना, पैर-ये शरीर के द्वादश स्थान हैं, इनमें ही द्वादशाक्षर के एक-एक वर्ण का न्यास करना चाहिये।(यथा-**ॐ ॐ नमः हृदये। ॐ नं नमः शिरसि। ॐ मों नमः शिखायाम्**।इत्यादि)। तत्पश्चात् मुद्रा समर्पण कर भगवान् श्रीहरि विष्णु का स्मरण करना चाहिये और अष्टोत्तरशत (१०८) मन्त्र का जप करके पूजन करना चाहिये।।७-८।। बायें भाग में जलपात्र और दाहिने भाग में पूजा का सामान रखकर '**अस्त्राय फट्।**' मन्त्र से उसको धो दे; इसके पश्चात् गन्ध और पुष्प आदि से युक्त दो अर्घ्यपात्र रखना चाहिये। तत्पश्चात् हाथ में जल लेकर '**अस्त्राय फट्।**' इस मन्त्र से अभिमन्त्रित कर योगपीठ को सींच देना चाहिये। उसके मध्य भाग में सर्वव्यापी चेतन ज्योतिर्मय परमेश्वर श्रीहरि विष्णु का ध्यान करके उस योगपीठ पर पूर्व आदि दिशाओं के क्रम से धर्म, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य, अग्नि आदि दिक्पाल तथा अधर्म आदि के विग्रह की स्थापना करनी चाहिये। उस पीठ पर कच्छप, अनन्त, पद्म, सूर्य आदि मण्डल और विमला आदि शक्तियों की कमल के केसर के रूप में और ग्रहों की कर्णिका में स्थापना करनी चाहिये। पहले अपने हृदय में ध्यान करना चाहिये। तत्पश्चात् मण्डल में आवाहन करके पूजन करना चाहिये। तत्पश्चात् मण्डल में आवाहन करके पूजन करना चाहिये। (आवाहन के अनन्तर) क्रमशः अर्घ्य, पाद्य, आचमन, मधुपर्क, स्नान, वस्त्र, यज्ञोपवीत, आभूषण, गन्ध, पुष्प, धूप, दीप और नैवेद्य आदि को पुण्डरीकाक्ष विद्या ('**ॐ नमो भगवते पुण्डरीकाक्षाय।**'- इस मन्त्र)-से समर्पित करना चाहिये।।९-१४।। मण्डल के पूर्व आदि द्वारों पर भगवान् के विग्रह की सेवा में रहने वाले पार्षदों की पूजा करनी चाहिये। पूर्व के दरवाजे पर गरुड की, दक्षिणद्वार पर चक्र की, उत्तर वाले द्वार पर गदा की और ईशान तथा अग्नि कोण में शङ्ख एवं धनुष की स्थापना करनी चाहिये। भगवान् के बायें-दायें दो तूणीर, बायें भाग में तलवार और चर्म(ढाल), दाहिने भाग में श्रीलक्ष्मी और वाम भाग में पुष्टि देवी की स्थापना करनी चाहिये। भगवान् के सामने वनमाला, श्रीवत्स और कौस्तुभ को स्थापित करना चाहिये। मण्डल के बाहर दिक्पालों की स्थापना करनी चाहिये। मण्डल के अन्दर और बाहर स्थापित

व्यस्तेन च समस्तेन अङ्गैर्बीजेन वै यजेत्। जप्त्वा प्रदक्षिणीकृत्य जप्त्वार्घ्यं च समर्प्य च।।१८।।
हृदये विन्यसेद्ध्यात्वा अहं ब्रह्म हरिस्त्विति। आगच्छावाहने योज्यं क्षमस्वेति विसर्जने।।१९।।
एवमष्टाक्षराद्यैश्च पूजाः कृत्वा विमुक्तिभाक्। एकमूर्त्यर्चनं प्रोक्तं नवव्यूहार्चनं शृणु।।२०।।
अङ्गुष्ठकद्वये न्यस्य वासुदेवं बलादिकान्। तर्जन्यादौ शरीरेऽथ शिरोललाटवक्त्रके।।२१।।
हृन्नाभिगुह्यजान्वङ्घ्रौ मध्ये पूर्वादिकं यजेत्। एकपीठं नवव्यूहं नवपीठं च पूर्ववत्।।२२।।
नवाब्जे नवमूर्त्या च नवव्यूहं च पूर्ववत्। पद्ममध्ये च तत्स्थानि वासुदेवं च पूजयेत्।।२३।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गति आदिमूर्त्यादिपूजाविधिर्नाम त्रयोविंशोऽध्यायः।।२३।।

—❀❀❀—

किये हुए सभी देवताओं की उनके नाम-मन्त्रों से पूजा करनी चाहिये। सभी के अन्त में भगवान् श्रीहरि विष्णु का पूजन करना चाहिये।।१५-१७।। अङ्गों सहित पृथक-पृथक बीज-मन्त्रों से और सभी बीज-मन्त्रों को एक साथ पढ़कर भी भगवान् का अर्चन करना चाहिये। मन्त्र-जप करके भगवान् की परिक्रमा करना चाहिये और स्तुति के पश्चात् अर्घ्य-समर्पण कर हृदय में भगवान् की स्थापना कर लेना चाहिये। तत्पश्चात् यह ध्यान करना चाहिये कि 'परब्रह्म भगवान् श्रीहरि विष्णु मैं ही हूँ' (-इस तरह अभेदभाव से चिन्तन करके पूजन करना चाहिये)। भगवान् का आवाहन करते समय '**आगच्छ**'(भगवन्! आइये।) इस तरह पढ़ना चाहिये और विसर्जन के समय'**क्षमसव**'(हमारी त्रुटीयों को क्षमा कीजियेगा।)-ऐसी योजना करनी चाहिये।।१८-१९।। इस तरह अष्टाक्षर आदि मन्त्रों से पूजा करके मनुष्य मोक्ष का भागी होता है। यह भगवान् के एक विग्रह पूजन बतलाया गया। अधुना नौ व्यूहों के पूजन की विधि सुनो।।२०।।

दोनों अँगूठों और तर्जनी आदि में वासुदेव, बलभद्र आदि का न्यास करना चाहिये। इसके बाद शरीर में अर्थात् सिर, ललाट, मुख, हृदय, नाभि, गुह्य अङ्ग, जानु और चरण आदि दिशाओं में पूजन करना चाहिये। इस तरह एक पीठ पर एक व्यूह के क्रम से पूर्ववत् नौ व्यूहों के लिये नौ पीठों की स्थापना करनी चाहिये। नौ कमलों में नौ मूर्तियों के द्वारा पूर्ववत् नौ व्यूहों का पूजन करना चाहिये। कमल के मध्य भाग में जो भगवान् का स्थान है, उसमें वासुदेव की पूजा करनी चाहिये।।२१-२३।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी तेईसवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।२३।।

अथ चतुर्विंशोऽध्यायः

कुण्डनिर्माणाग्निकार्यादिविधिः

नारद उवाच

अग्निकार्यं प्रवक्ष्यामि येन स्यात्सर्वकामभाक्। चतुरभ्यधिकं विंशमङ्गुलं चतुरस्रकम्।।१।।
सूत्रेण सूत्रयित्वा तु क्षेत्रं तावत् खनेत्समम्। खातस्य मेखलाः कार्यास्त्यक्त्वा चैवाङ्गुलद्वयम्।।२।।
सत्त्वादिसञ्ज्ञाः पूर्वास्या द्वादशाङ्गुलमुच्छ्रिताः। अष्टाङ्गुलाद्व्यङ्गुलाथ चतुरङ्गुलविस्तृता।।३।।
योनिर्दशाङ्गुला रम्या षट्चतुद्व्यङ्गुलोच्छ्रिताः। क्रमान्निम्ना तु कर्त्तव्या पश्चिमाशाव्यवस्थिता।।४।।
अश्वत्थपत्रसदृशी किञ्चित्कुण्डे निवेशिता। तुर्याङ्गुलायतं नालं पञ्चदशाङ्गुलायतम्।।५।।
मूलन्तु त्र्यङ्गुलं योन्या अग्रं तस्याः षडङ्गुलम्। लक्षणं चैकहस्तस्य द्विगुणं द्विकरादिषु।।६।।
एकत्रिमेखलं कुण्डं वर्तुलादि वदाम्यहम्। कुण्डार्द्धे तु स्थितं सूत्रं कोणे यदतिरिच्यते।।७।।

अध्याय-२४

कुण्ड-निर्माण एवं अग्नि-स्थापन विधि

देवर्षि नारदजी ने कहा कि-हे महर्षियों! अधुना मैं अग्नि-सम्बन्धी कार्य का वर्णन करने जा रहा हूँ, जिससे मनुष्य सम्पूर्ण मनोवान्छित वस्तुओं का भागी होता है। चौबीस अङ्गुल की चतुरस्र भूमि को सूत से नापकर चिह्न बना देना चाहिये। तत्पश्चात् उस क्षेत्र को सभी तरफ से बराबर खोदे। दो अङ्गुल भूमि चारों तरफ छोड़कर खोदे हुए कुण्ड की मेखला बनाये। मेखलाएँ तीन होती हैं, जो 'सत्त्व, रज और तम' नाम से कही गयी हैं। उनका मुख पूर्व, अर्थात् बाह्य दिशा की तरफ रहना चाहिये। मेखलाओं की अधिकतम उँचाई द्वादश अङ्गुल की रखे, अर्थात् अन्दर की तरफ से पहली मेखला की उँचाई द्वादश अङ्गुल रहनी चाहिये। (उसके बाहर के भाग में दूसरी मेखला की उँचाई आठ अङ्गुल की और उसके भी बाह्यभाग में तीसरी मेखला की उँचाई चार अङ्गुल की रहनी चाहिये।) इसकी चौड़ाई क्रमशः आठ, दो और चार अङ्गुल की होती है।।१-३।। योनि सुन्दर बनायी जाय। उसकी लंबाई दस अङ्गुल की हो। वह आगे-आगे की तरफ क्रमशः छः, चार और दो अङ्गुल उँची रहे अर्थात् उसका पिछला भाग छः अङ्गुल, उससे भी आगे का भाग दो अङ्गुल उँचा होना चाहिये। योनि का स्थान कुण्ड की पश्चिम दिशा का मध्य भाग है। उसको आगे की तरफ क्रमशः नीची बनाना चाहिये। उसकी आकृति पीपल के पत्ते की-सी होनी चाहिये। उसका कुछ भाग कुण्ड में प्रविष्ट रहना चाहिये। योनि का आयाम चार अङ्गुल का रहे और नाल पंद्रह अङ्गुल बड़ा हो। योनिका मूल भाग तीन अङ्गुल और उससे आगे का भाग छः अङ्गुल विस्तृत हो। यह एक हाथ लंबे-चौड़े कुण्ड का लक्षण कहा गया है। दो हाथ या तीन हाथ के कुण्ड में नियमानुसार सभी वस्तुएँ तदनुरूप द्विगुण या त्रिगुण बढ़ जायँगी।।४-६।। अधुना मैं एक या तीन मेखला वाले गोल और अर्धचन्द्राकार आदि कुण्डों का वर्णन करने जा रहा हूँ। चतुरस्र कुण्ड के आधे भाग, अर्थात् ठीक बीच-बीच में सूत रखकर उसको किसी कोण की सीमा तक ले जाय; मध्य भाग से कोण तक ले जाने में सामान्य दिशाओं की अपेक्षा वह सूत जितना बढ़ जाय, उसके आधे भाग को प्रत्येक दिशा में बढ़ाकर स्थापित करना चाहिये और मध्य स्थान से उन्हीं बिन्दुओं पर सूत को सभी तरफ घुमावे तो गोल आकार बन जायगा। कुण्डार्ध से बढ़ा हुआ जो कोणभागार्ध है, उसको उत्तर दिशा में बढ़ाये तथा उसी सीध में पूर्व और पश्चिम

तदर्द्धदिशि संस्थाप्य भ्रामितं वर्तुलं भवेत्। कुण्डार्द्धं कोणभागार्द्धं दिशि चोत्तरतो बहिः॥८॥
पूर्वपश्चिमतो यत्नाल्लाञ्छयित्वा तु मध्यतः। संस्थाप्य भ्रमितं कुण्डमर्द्धचन्द्रं भवेच्छुभम्॥९॥
पद्माकारे दलानि स्युर्मेखलायां तु वर्तुले। बाहुदण्डप्रमाणन्तु होमार्थं कारयेच्छुभम्॥१०॥
सप्तपञ्चाङ्गुलं वापि चतुरस्रं तु कारयेत्। त्रिभागेन भवेद्गर्तं मध्ये वृत्तं सुशोभनम्॥११॥
तिर्यगूर्ध्वं समं खात्वा बहिरर्द्धं तु शोधयेत्। अङ्गुलस्य चतुर्थांशं शेषार्द्धार्द्धं तथान्ततः॥१२॥
खातस्य मेखलां रम्यां शेषार्द्धेन तु कारयेत्। कण्ठं त्रिभागविस्तारमङ्गुष्ठकसमायतम्॥१३॥
सार्द्धमङ्गुष्ठकं वा स्यात्तदग्रे तु मुखं भवेत्। चतुरङ्गुलविस्तारं पञ्चाङ्गुलमथापि वा॥१४॥
त्रिकं द्वयङ्गुलकं तत्स्यान्मध्यं तस्य सुशोभनम्। आयामस्तत्समस्तस्य मध्यनिम्नः सुशोभनः॥१५॥
सुषिरं कण्ठदेशे स्याद्विशेद्यावत्कनीयसी। शेषं कुण्डं तु कर्तव्यं यथारुचि विचित्रितम्॥१६॥
स्रुवं तु हस्तमात्रं स्याद्दण्डकेन समन्वितम्। बटुकं (?) द्वय्यङ्गुलं वृत्तं कर्तव्यं तु सुशोभनम्॥१७॥
गोपदं तु यथा मग्नमल्पपङ्के तथा भवेत्। उपलिप्य लिखेद्रेखामङ्गुलां वज्रनामिकाम्॥१८॥

दिशा में भी बाहर की तरफ यत्नपूर्वक बढ़ाकर चिह्न कर देना चाहिये। तत्पश्चात् मध्य स्थान में सूत का एक सिरा रखकर दूसरा छोर पूर्व दिशा वाले चिह्न पर रखे और उसको दक्षिण की तरफ से घुमाते हुए पश्चिम दिशा के चिह्न तक ले जाय। इससे अर्धचन्द्राकार चिह्न बन जायगा। तत्पश्चात् उस क्षेत्र को खोदने पर सुन्दर अर्धचन्द्र-कुण्ड तैयार हो जायगा।।७-९।। कमल की आकृति वाले गोल कुण्ड की मेखला पर दलाकार चिह्न बनाये जायँ। हवन के लिये एक सुन्दर स्रुक तैयार करना चाहिये, जो अपने बाहुदण्ड के बराबर हो। उसके दण्ड का मूल भाग चतुरस्त्र हो। उसका माप सात या पाँच अङ्गुल का बतलाया गया है। उस चतुरस्त्र के तिहाई भाग को खुदवाकर गर्त बनाये। उसके मध्यभाग में श्रेष्ठतम शोभायमान वृत्त हो। कथित गर्त को नीचे से उपर तक तथा अगल-बगल में बराबर खुदावे। बाहर का अर्ध भाग छीलकर साफ करा दे (उस पर रंदा करा दे)। चारों तरफ चौथाई अङ्गुल, जो शेष के आधे का आधा भाग है, अन्दर से भी छीलकर साफ (चिकना) करा देना चाहिये। शेषार्धभाग द्वारा कथित खात की सुन्दर मेखला बनावावे। मेखला के अन्दरी भाग में उस खात का कण्ड तैयार कराये, जिसका सारा विस्तार मेखला की तीन चौथाई के बराबर हो। कण्ठ की चौड़ाई एक या डेढ़ अङ्गुल के माप की हो। कथित स्रुक के अग्रभाग में उसका मुख रहे, जिसका विस्तार चार या पाँच अङ्गुल का हो।।१०-१४।। मुख का मध्य भाग तीन या दो अङ्गुल का हो। उसको सुन्दर एवं शोभयमान बनाया जाय। उसकी लंबाई भी चौड़ाई के ही बराबर हो। उस मुख का मध्य भाग नीचा और परम सुन्दर होना चाहिये। स्रुक के कण्ठ देश में एक ऐसा छेद रहे, जिसमें कनिष्ठिका अङ्गुलि प्रविष्ट हो जाय। कुण्ड (अर्थात् स्रुक के मुख)-का शेष भाग अपनी रुचि के अनुसार विचित्र शोभा से सम्पन्न किया जाय। स्रुक के अतिरिक्त एक स्रुवा भी आवश्यक है, जिसकी लंबाई दण्ड सहित एक हाथ की हो। उसके डंडे को गोल बनाया जाय। उस गोल डंडे की मोटाई दो अङ्गुल की हो। उसको खूब सुन्दर बनाना चाहिये। स्रुवा का मुख-भाग कैसा हो? यह बतलाया जाता है। थोड़ी-सी कीचड़ में गाय अथवा बछड़े का पैर पड़ने पर जैसा पद चिह्न उभर आता है, ठीक वैसा ही स्रुवा का मुख बनाया जाय, अर्थात् उस मुख का मध्य भाग दो भागों में विभाजित रहना चाहिये। उपरोक्त अग्निकुण्ड को गोबर से लीपकर उसके अन्दर की भूमि पर बीच में एक अङ्गुल मोटी एक रेखा खींचे, जो दक्षिण से उत्तर की तरफ गयी हो। उस रेखा को 'वज्र' की संज्ञा दी गयी है। उस प्रथम उत्तराग्र रेखा पर उसके दक्षिण और उत्तर पार्श्व में दो

सौम्याग्रं प्रथमां तस्यां रेखे पूर्वमुखे तयोः। मध्ये तिस्रस्तथा कुर्याद् दक्षिणादिक्रमेण तु।।१९।।
एवमुल्लिख्य चाभ्युक्ष्य प्रणवेन तु मन्त्रवित्। विष्टरं कल्पयेत्तेन तस्मिञ्शक्तिं तु वैष्णवीम्।।२०।।
अलङ्कृतामृतुमतीं क्षिपेदग्निं हरिं स्मरन्। प्रादेशमात्राः समिधो दत्त्वा परिसमुह्य तम्।।२१।।
दर्भैस्त्रिधा परिस्तीर्य पूर्वादौ तत्र पात्रकम्। आसादयेदिध्मबर्हिर्द्वयं स्रुक्स्रुवकद्वयम्।।२२।।
आज्यस्थालीं चरुस्थालीं कुशाज्यं च प्रणीतया। प्रोक्षयित्वा प्रोक्षणीं च गृहीत्वापूर्य वारिणा।।२३।।
पवित्रान्तर्हिते हस्ते परिस्राव्य च तज्जलम्। अग्निं ध्यात्वाथ प्रोक्षण्यां योन्या अग्रे निधाय च।।२४।।
तदद्भिस्त्रिश्च सम्प्रोक्ष्य इध्मं विन्यस्य चाग्रतः। प्रणीतायां सपुष्पायां विष्णुं ध्यात्वोत्तरेण च।।२५।।
आज्यस्थालीनथाज्येन सम्पूर्याग्रे निधाय च। सम्प्लवोत्प्लवनाभ्यां तु कुर्यादाज्यस्य संस्कृतिम्।।२६।।
अखण्डिताग्रौ निर्गभौ कुशौ प्रादेशमात्रकौ। ताभ्यामुत्तानपाणिभ्यामङ्गुष्ठानामिकेन तु।।२७।।
आज्यं ताभ्यां तु सङ्गृह्य त्रिवारं चोर्ध्वमुत्क्षिपेत्। स्रुक्स्रुवौ चापि सङ्गृह्य ताभ्यां प्रक्षाल्य वारिणा।।२८।।

पूर्वाग्र रेखाएँ खींचे। इन दोनों रेखाओं के मध्य में पुनः तीन पूर्वाग्र रेखाएँ खीचें। इनमें पहली रेखा दक्षिण भाग में हो और शेष दो क्रमशः उसके उत्तरोत्तर भाग में खींची जायँ। मन्त्रज्ञ पुरुष इस तरह उल्लेखन (रेखाकरण) करके उस भूमि का अभ्युक्षण (सेचन) करना चाहिये। तत्पश्चात् प्रणव के उच्चारणपूर्वक भावना द्वारा एक विष्टर (आसन)-की कल्पना करके उसके उपर वैष्णवी शक्ति का आवाहन एवं स्थापना करनी चाहिये।।१५-२०।। देवी के स्वरूप का इस तरह ध्यान करना चाहिये-'वे दिव्य रूप वाली हैं और दिव्य वस्त्राभूषणों से विभूषित हैं।' तत्पश्चात् यह चिन्तन करना चाहिये कि 'देवी को संतुष्ट करने के लिये श्रीअग्नि देव के रूप में साक्षात् श्रीहरि विष्णु पधारे हैं।' साधक (उन दोनों का पूजन करके शुद्ध कांस्यादि-पात्र द्वारा ढकी हुई अग्नि को लाकर, क्रव्याद-अंश को अलग करके, ईक्षणादि से शोधित उस) अग्नि को कुण्ड के अन्दर स्थापित करना चाहिये। तत्पश्चात् उस अग्नि में प्रादेश मात्र (अँगूठे से लेकर तर्जनी के अग्रभाग के बराबर की) समिधाएँ देकर कुशों द्वारा तीन बार परिसमूहन करना चाहिये। तत्पश्चात् पूर्वादि सभी दिशाओं में कुशास्तरण करके अग्नि की उत्तर दिशा में पश्चिम से प्रारम्भ करके क्रमशः पूर्वादि दिशा में पात्रासादन करना चाहिये-समिधा, कुशा, स्रुक, स्रुवा, आज्यस्थाली, चरुस्थली तथा कुशाच्छादित घी, प्रणीतापात्र, प्रोक्षणीपात्र आदि वस्तुएँ रखे। इसके बाद प्रणीता को सामने रखकर उसको जल से भर दे और कुशा से प्रणीता का जल लेकर प्रोक्षणीपात्र का प्रोक्षण करना चाहिये। उसके बाद उसको बायें हाथ में लेकर दाहिने हाथ में गृहीत प्रणीता के जल से भर देना चाहिये। प्रणीता और हाथ के मध्य में पवित्री का अन्तर रहना चाहिये। प्रोक्षणी में गिराते समय प्रणीता के जल को भूमि पर नहीं गिरने देना चाहिये। प्रोक्षणी में श्रीअग्नि देव का ध्यान करके उसको कुण्ड की योनि के सन्निकट अपने सामने रखना चाहिये। तत्पश्चात् उस प्रोक्षणी के जल से आसादित वस्तुओं को तीन बार सींचकर समिधाओं के बोझ को खोलकर उसके बन्धन को सरकार सामने रखे। प्रणीतापात्र में पुष्प छोड़कर उसमें भगवान् श्रीहरि विष्णु का ध्यान करके उसको अग्नि से उत्तर दिशा में कुश के उपर स्थापित कर दे और अग्नि तथा प्रणीता के मध्य भाग में प्रोक्षणीपात्र को कुशा पर रख दे।।२१-२५।। तत्पश्चात् आज्य स्थाली को घी से भरकर अपने आगे रखना चाहिये। तत्पश्चात् उसको आग पर चढ़ाकर सम्प्लवन एवं उत्पवन की क्रिया द्वारा घी का संस्कार करना चाहिये। उसकी विधि इस तरह है-प्रादेश मात्र लंबे दो कुश हाथ में ले। उनके अग्रभाग खण्डित न हुए हों तथा उनके गर्भ में दूसरा कुश अङ्कुरित न हुआ हो। दोनों हाथों को उत्तान रखे और उनके अङ्गुष्ठ एवं कनिष्ठिका अङ्गुलि से उन कुशों को पकड़े रहना चाहिये। इस तरह उन कुशों द्वारा घी को थोड़ा-थोड़ा उठाकर उपर की तरफ तीन बार उछाले। प्रज्वलित

प्रताप्यः दर्भैः सम्मृज्य पुनः प्रक्षाल्य चैव हि। निष्टप्य स्थापयित्वा तु प्रणवेनैव साधकः॥२९॥
प्रणवादिनमोऽन्तेन पश्चाद्धोमं समाचरेत्। गर्भाधानादिकर्माणि यादवङ्गव्यवस्थया॥३०॥
नामान्तं व्रतबन्धान्तं समावर्तावसानकम्। अधिकारावसानं वा कुर्यादङ्गानुसारतः॥३१॥
प्रणवेनोपचारं तु कुर्यात्सर्वत्र साधकः। अङ्गैर्होमस्तु कर्तव्यो यथावित्तानुसारतः॥३२॥
गर्भाधानं तु प्रथमं ततः पुंसवनं स्मृतम्। सीमन्तोन्नयनं जातकर्म नामानुशासनम्॥३३॥
चूडाकृतिं व्रतबन्धं वेदव्रतान्यशेषतः। समावर्तनं पत्न्या च योगो यागाधिकारकः॥३४॥
हृदादिक्रमतो ध्यात्वा एकैकं कर्म पूज्य च। अष्टावष्टौ तु जुहुयात् प्रतिकर्माहुताः पुनः॥३५॥
पूर्णाहुतिं ततो दद्यात्स्रुचा मूलेन साधकः। वौषडन्तेन मन्त्रेण प्लुतं सुस्वरमुच्चरन्॥३६॥
विष्णोर्वह्निं तु संस्कृत्य श्रपयद् वैष्णवं चरुम्। आराध्य स्थण्डिले विष्णुं मन्त्रान् संस्मृत्य पूजयेत्॥३७॥

तृण आदि लेकर घी को देखे और उसमें कोई अपद्रव्य (खराब वस्तु) हो, तो उसको निकाल देना चाहिये। इसके बाद तृण अग्नि में फेंककर उस घी को आग पर से उतार ले और सामने रखे। तत्पश्चात् स्रुक और स्रुवा को लेकर उनके द्वारा हवन–सम्बन्धी कार्य करना चाहिये। पहले जल से उनको धो ले। तत्पश्चात् अग्नि से तपाकर सम्मार्जन कुशों द्वारा उनका मार्जन करना चाहिये (उन कुशों के अग्रभागों द्वारा स्रुक–स्रुवा के अन्दरी भाग का मार्जन करना चाहिये)। तत्पश्चात् पुनः उनको जल से धोकर आग से तपावे और अपने दाहिने भाग में स्थापित कर देना चाहिये। तत्पश्चात् साधक को प्रणव से ही अथवा देवता के नाम के आदि में 'प्रणव' तथा अन्त में 'नमः' पद लगाकर उसके उच्चारणपूर्वक हवन करना चाहिये॥२६–२९॥ हवन से पहले अग्नि के गर्भाधान से लेकर सम्पूर्ण संस्कार अङ्ग–व्यवस्था के अनुसार सम्पन्न करने चाहिये। मतान्तर अनुसार नामान्तव्रत, व्रतवन्धान्त व्रत (यज्ञोपवीतान्त), समावर्तनान्त अथवा यज्ञाधिकारान्त संस्कार अङ्गानुसार करने चाहिये। साधक को सभी जगह प्रणव का उच्चारण करते हुए पूजनोपाचार अर्पित करना चाहिये और अपने वैभव के अनुसार प्रत्येक संस्कार के लिये अङ्ग–सम्बन्धी मन्त्रों द्वारा हवन करना चाहिये। पहला गर्भाधान–संस्कार है, दूसरा पुसंवन, तीसरा सीमन्तोन्नयन, चौथा जातकर्म, पाँचवाँ नामकरण, छठा चूडाकरण, सातवाँ व्रतबन्ध (यज्ञोपवीत), आठवाँ वेदारम्भ, नवाँ समावर्तन तथा दसवाँ पत्नी संयोग (विवाह–) संस्कार है, जो यज्ञ के लिये अधिकार सम्प्रदान करने वाला है। क्रमशः एक–एक संस्कार–कर्म का चिन्तन और तदनुरूप पूजन करते हुए हृदय आदि अङ्ग–मन्त्रों द्वारा प्रति कर्म के लिये आठ–आठ आहुतियाँ अर्पित करना चाहिये॥३०–३५॥

तत्पश्चात् साधक को मूल मन्त्र द्वारा स्रुवा से पूर्णाहुति देनी चाहिये। उस समय मन्त्र के अन्त में 'वौषट्' पद लगाकर प्लुतस्वर से सुस्पष्ट मन्त्रोच्चारण करना चाहिये। इस तरह वैष्णव–अग्नि का संस्कार करके उस पर विष्णु–देवता के निमित्त चरु पकावे। वेदी पर भगवान् श्रीहरि विष्णु की स्थापना एवं आराधना करके मन्त्रों का स्मरण करते हुए उनका पूजन करना चाहिये। अङ्ग और आवरण–देवताओं सहित इष्ट देव श्रीहरि विष्णु को आसन आदि उपचार अर्पित करते हुए श्रेष्ठतम विधि से उनकी पूजा करनी चाहिये। तत्पश्चात् गन्ध–पुष्पों द्वारा अर्चना करके सुरश्रेष्ठ नारायण देव का ध्यान करने के अनन्तर अग्नि में समिधा का आधान करना चाहिये और अग्नीश्वर श्रीहरि विष्णु के सन्निकट 'आधार' संज्ञक दो घृताहुतियाँ देनी चाहिये। इनमें से एक को तो वायव्य कोण में दे और दूसरी को नैर्ऋत्य कोण में। यही इनके लिये क्रम है। तत्पश्चात् 'आज्यभाग' नामक दो आहुतियाँ क्रमशः दक्षिण और उत्तर दिशा में दे उनमें श्रीअग्नि देव के दायें–बायें नेत्र की भावना करनी चाहिये। शेष सभी आहुतियों को इन्हीं के मध्य में मन्त्रोच्चारणपूर्वक देना चाहिये। जिस क्रम से देवताओं की पूजा की गयी हो, उसी क्रम से उनके लिये आहुति देने का विधान है। घी

आसनादिक्रमेणैव साङ्गावरणमुत्तमम्। गन्धपुष्पैः समभ्यर्च्य ध्यात्वा देवं सुरोत्तमम्।।३८।।
आधायेध्ममथाधारावाज्यावग्नीशसन्निधौ। वायव्यनैर्ऋताशादि प्रवृत्तौ तु यथाक्रमम्।।३९।।
आज्यभागौ ततो हुत्वा चक्षुषी दक्षिणोत्तरे। मध्ये तु जुहुयात् सर्वमन्त्रैरर्चाक्रमेण तु।।४०।।
आज्येन तर्पयेन्मूर्तिं दशांशेनाङ्गहोमकम्। शतं सहस्रं वाज्याद्यैः समिद्भिर्वा तिलैः सदा।।४१।।
समाप्याचां तु होमान्तां शुचीञ्शिष्यानुपोषितान्। आहूयाग्रे निवेश्याथ ह्यस्त्रेण प्रोक्षयेत्पशून्।।४२।।
शिष्यानात्मनि संयोज्याविद्याकर्मनिबन्धनैः। लिङ्गानुवृत्तं चैतन्यं सह लिङ्गेन पालितम्।।४३।।
ध्यानमार्गेण सम्प्रोक्ष्य वायुबीजेन शोषयेत्। ततो दहनबीजेन सृष्टिं ब्रह्माण्डसञ्ज्ञिकाम्।।४४।।
निर्दग्धां सकलां ध्यायेत् भस्मकूटनिभस्थिताम्। प्लावयेद्वारिणा भस्म संसारं वाङ्मयं स्मरेत्।।४५।।
तत्र शक्तिं न्यसेत्पश्चात् पार्थिवीं बीजसञ्ज्ञिकाम्। तन्मात्राभिः समस्ताभिः संवृत्तं पार्थिवं शुभम्।।४६।।
अण्डं तद्भवं ध्यायेत्तदाधारं तदात्मकम्। तन्मध्ये चिन्तयेन्मूर्तिं पौरुषीं प्रणवात्मिकाम्।।४७।।
लिङ्गं सङ्क्रामयेत्पश्चात्पार्श्वस्थं पूर्वसंस्कृतम्। विभक्तेन्द्रियसंस्थानं क्रमाद् वृद्धं विचिन्तयेत्।।४८।।
ततोऽण्डमब्दमेकं तु स्थित्वा द्विशकलीकृतम्। द्यावापृथिव्यौ शकले तयोर्मध्ये प्रजापतिम्।।४९।।

से इष्टदेव की मूर्ति को तृप्त करना चाहिये। इष्टदेव-सम्बन्धी हवन-संख्या की अपेक्षा दशांश से अङ्ग-देवताओं के लिये हवन करना चाहिये। घृत आदि से, समिधाओं से अथवा घृताक्त तिलों से सदा पूजनीय देवताओं के लिये एक-एक सहस्र या एक-एक शत आहुतियाँ देनी चाहिये। इस तरह हवनान्त-पूजन समाप्त करके स्नानादि से शुद्ध हुए शिष्यों को गुरु बुलाकर अपने आगे बिठावे। वे सभी शिष्य निराहार व्रत व्रत किये हों। उनमें पाश-बद्ध पशु की भावना करके उनका प्रोक्षण करना चाहिये।।३६-४२।। तत्पश्चात् उन सभी शिष्यों को भावना द्वारा अपने आत्मा से संयुक्त करके अविद्या और कर्म के बन्धनों से आबद्ध हो लिङ्ग शरीर का अनुवर्तन करने वाले चैतन्य रूप जीव का, जो लिङ्ग शरीर के साथ बँधा हुआ है, ध्यान मार्ग से साक्षात्कार करके उसका सम्यक प्रोक्षण करने के पश्चात् वायुबीज (यं) के द्वारा उसके शरीर का शोषण करना चाहिये। इसके बाद अग्निबीज (रं) के चिन्तन से अग्नि प्रकट करके यह भावना करनी चाहिये कि 'ब्रह्माण्ड' संज्ञक सारी सृष्टि दग्ध होकर भस्म की पर्वताकार राशि के सामान स्थित है। तत्पश्चात् भावना द्वारा ही जलबीज (वं) के चिन्तन से आपार जलराशि प्रकट करके उस भस्मराशि को बहा दे और संसार अधुना वाणी मात्र में ही शेष रह गया है; ऐसा स्मरण करना चाहिये। उसके बाद वहाँ (लं) बीजस्वरूपा भगवान् की पार्थिवी शक्ति का न्यास करना चाहिये। तत्पश्चात् ध्यान द्वारा देखे कि समस्त तन्मात्राओं से आवृत शुभ पार्थिव-तत्त्व विराजमान है। उससे एक अण्ड प्रकट हुआ है, जो उसी के आधार पर स्थित है और वही उसका उपदान भी है। उस अण्ड के अन्दर प्रणवस्वरूपा मूर्ति का चिन्तन करना चाहिये।।४३-४७।। तत्पश्चात् अपने आत्मा में स्थित पूर्वसंस्कृत लिङ्ग शरीर का उस पुरुष में संक्रमण कराये, अर्थात् यह भावना करनी चाहिये कि वह पुरुष लिङ्ग शरीर से युक्त है। उसके उस शरीर में सभी इन्द्रियों के आकार पृथक-पृथक अभिव्यक्त हैं तथा वह पुरुष क्रमशः बढ़ता और पुष्ट होता जा रहा है। तत्पश्चात् ध्यान में देखे कि वह अण्ड एक वर्ष तक बढ़कर और पुष्ट होकर फूट गया है। उसके दो टुकड़े हो गये हैं। उसमें उपर वाला टुकड़ा द्युलोक है और नीचे वाला भूलोक। इन दोनों के मध्य में प्रजापति पुरुष का प्रादुर्भाव हुआ है। इस तरह वहाँ उत्पन्न हुए प्रजापति का ध्यान करके पुनः प्रणव से उन शिशु रूप प्रजापति का प्रोक्षण करना चाहिये। तत्पश्चात् यथास्थान उपरोक्त न्यास करके उनके शरीर को मन्त्रमय बना देना चाहिये। उनके उपर विष्णु हस्त

जातं ध्यात्वा पुनः प्रोक्ष्य प्रणवेन तु तं शिशुम्। मन्त्रात्मकतनुं कृत्वा यथान्यासं पुरोदितम्।।५०।।
विष्णुहस्तं ततो मूर्ध्नि दत्त्वा ध्यात्वा तु वैष्णवम्। एवमेकं बहून्वापि जपित्वा ध्यानयोगतः।।५१।।
करो सङ्गृह्य मूलेन नेत्रे बद्ध्वा तु वाससा। नेत्रमन्त्रेण मन्त्री तानशेषानाहतेन तु।।५२।।
कृतपूजो गुरुः सम्यग्देवदेवस्य तत्त्ववान्। शिष्यान् पुष्पाञ्जलिभृतः प्राङ्मुखानुपवेशयेत्।।५३।।
अर्चयेयुश्च तेऽप्येवं प्रसूता गुरुणा हरिम्। क्षिप्त्वा पुष्पाञ्जलिं तत्र पुष्पादिभिरनन्तरम्।।५४।।
वासुदेवार्चनं कृत्वा गुरोः पादार्चनं ततः। विधाय दक्षिणां दद्यात् सर्वस्वं चार्धमेव वा।।५५।।
गुरुः संशिक्षयेच्छिष्यांस्तैः पूज्यो नामभिर्हरिः। विष्वक्सेनं यजेदीशं शङ्खचक्रगदाधरम्।।५६।।
तर्जयन्तं च तर्जन्या मण्डलस्थं विसर्जयेत्। विष्णुनिर्माल्यमखिलं विष्वक्सेनाय चार्पयेत्।।५७।।
प्रणीताभिस्तथात्मानमभिषिच्य च कुण्डकम्। वह्निमात्मनि संयोज्य विष्वक्सेनं विसर्जयेत्।।५८।।
बुभुक्षुः सर्वमाप्नोति मुमुक्षुर्लीयते हरौ।।५९।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते कुण्डनिर्माणाद्यग्निकार्यादिवर्णनं नाम चतुर्विंशोऽध्यायः।।२४।।
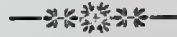
रखे और उनको वैष्णव माने। इस तरह एक अथवा बहुत-से लोगों के जन्म का ध्यान द्वारा प्रत्यक्ष करना चाहिये। (शिष्यों के भी नूतन दिव्य जन्म की भावना करनी चाहिये)। उसके बाद मूलमन्त्र से शिष्यों के दोनों हाथ पकड़ कर मन्त्रोपदेष्टा गुरु नेत्रमन्त्र (वौषट्) के उच्चारणपूर्वक नूतन एवं छिद्र हीन वस्त्र से उनके नेत्रों को बाँध देना चाहिये। तत्पश्चात् देवाधिदेव भगवान् की यथोचित पूजा सम्पन्न करके तत्त्वज्ञ आचार्य हाथ में पुष्पाञ्जलि धारण करने वाले उन शिष्यों को अपने पास पूर्वाभिमुख बैठावे।।४८-५३।। इस तरह गुरु द्वारा दिव्य नूतन जन्म पाकर वे शिष्य भी श्रीहरि विष्णु को पुष्पाञ्जलि अर्पित करके पुष्प आदि उपचारों से उनका पूजन करें। उसके बाद पुनः वासुदेव की अर्चना करके वे गुरु के चरणों का पूजन करें। दक्षिणारूप में उनको अपना सर्वस्व अथवा आधी सम्पत्ति कर दें। इसके बाद गुरु शिष्यों को आवश्यक शिक्षा दें और वे (शिष्य) नाम-मन्त्रों द्वारा श्रीहरि विष्णु का पूजन करें। तत्पश्चात् मण्डल में विराजमान शङ्ख, चक्र, गदा धारण करने वाले भगवान् विष्वक्सेन का यजन करें, जो द्वारपाल के रूप में अपनी तर्जनी अङ्गुलि से लोगों को तर्जना देते हुए अनुचित क्रिया से रोक रहे हैं। इसके बाद श्रीहरि विष्णु की प्रतिमा का विसर्जन करना चाहिये। भगवान् श्रीहरि विष्णु का सारा निर्माल्य विष्वक्सेना को अर्पित कर देना चाहिये। तत्पश्चात् प्रणीता के जल से अपना और अग्नि कुण्ड का अभिषेक करके वहाँ के श्रीअग्नि देव को अपने आत्मा में लीन कर लेना चाहिये। इसके पश्चात् विष्वक्सेन का विसर्जन करना चाहिये। ऐसा करने से भोग की इच्छा रखने वाला साधक सम्पूर्ण मनोवांछित वस्तु को पा लेता है और मुमुक्षु पुरुष श्रीहरि विष्णु में विलीन होता सायुज्य मोक्ष प्राप्त करता है।।५४-५८।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी चौबीसवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।२४।।

❖❖❖

अथ पञ्चविंशोऽध्यायः

वासुदेवादिमन्त्राणां लक्षणानि

नारद उवाच

वासुदेवादिमन्त्राणां पूज्यानां लक्षणं वदे। वासुदेवः सङ्कर्षणः प्रद्युम्नश्चानिरुद्धकः।।१।।
नमो भगवते चादौ अ आ अं अः सबीजकाः। ओङ्काराद्या नमोऽन्ताश्च नमो नारायणस्ततः।।२।।
ॐ तत्सद् ब्रह्मणे चैव हूं नमो विष्णवे नमः। ॐ औं ॐ नमो भगवते नरसिंहाय वै नमः।।३।।
ॐ भूर्नमो भगवते वराहाय नराधिपाः (?)। जपारुणहरिद्राभा नीलश्यामललोहिताः।।४।।
मेघाग्निमधुपिङ्गाभा वल्लभा नवनायकाः। अङ्गानि स्वरबीजानां स्वनामान्तैर्यथाक्रमम्।।५।।
हृदयादीनि कल्पेत विभक्तैस्तन्त्रवेदिभिः। व्यञ्जनादीनि बीजानि तेषां लक्षणमन्यथा।।६।।
दीर्घस्वरैस्तु भिन्नानि नमोन्तान्तस्थितानि तु। अङ्गानि ह्रस्वयुक्तानि उपाङ्गानीति वर्ण्यते।।७।।
विभक्तं नामवर्णान्तस्थितबीजात्ममुत्तमम्। दीर्घस्वरैश्च संयुक्तमङ्गोपाङ्गैः स्वरैः क्रमात्।।८।।

अध्याय-२५

वासुदेव आदि मन्त्र लक्षण कथन

ब्रह्मर्षि नारजी ने कहा कि–हे ऋषियों! अधुना मैं आपको वासुदेव आदि के आराधनीय मन्त्रों का लक्षण बता रहा हूँ। वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध–इन चार व्यूह मूर्तियों के नाम के आदि में ॐ, फिर क्रमशः 'अ आ अं अः' ये चार बीज तथा 'नमो भगवते' पद जोड़ने चाहिये। ऐसा करने से इनके पृथक् पृथक् चार मन्त्र बन जाते हैं। इसके बाद नारायणमन्त्र है, जिसका स्वरूप है–'ॐ नमो नारायणाय।', 'ॐ तत्सद् ब्रह्मणे ॐ नमः।–यह ब्रह्ममन्त्र है। 'ॐ विष्णवे नमः।'–यह विष्णुमन्त्र है। 'ॐ क्ष्रौं ॐ नमो भगवते नरसिंहाय नमः।'–यह नरसिंह मन्त्र है। 'ॐ भूर्नमो भगवते वराहाय।'–यह भगवान् वराह का मन्त्र है। ये सभी मन्त्रराज हैं। उपरोक्त नौ मन्त्रों के वासुदेव आदि नौ नायक हैं। जो उपासकों के वल्लभ (इष्टदेवता) हैं। इनकी अङ्ग कान्ति क्रमशः जवाकुसुम के सदृश अरुण, हल्दी के समान पीली, नीली, श्यामल, लोहित, मेघसृदश, अग्नितुल्य तथा मधु के समान पिङ्गल है। तन्त्रवेत्ता पुरुषों को स्वर के बीजों द्वारा क्रमशः पृथक्-पृथक् 'हृदय' आदि अङ्गों की कल्पना करनी चाहिये। उन बीजों के अन्त में अङ्गों के नाम रहने चाहिये। यथा-'ॐ आं हृदयाय नमः। ॐ ईं शिरसे स्वाहा। ॐ ऊं शिखायै वषट्।।१-७।।

जिनके आदि में व्यञ्जन अक्षर होते हैं, उनके लक्षण अन्य तरह के हैं। दीर्घ स्वरों के संयोग से उनके भिन्न-भिन्न रूप होते हैं। उनके अन्त में अङ्गों के नाम होते हैं और उन अङ्ग-नामों के अन्त में 'नमः' आदि पर जुड़े होते हैं। यथा–'क्लां हृदयाय नमः। क्लीं शिरसे स्वाहा।।' इत्यादि। ह्रस्व स्वरों से युक्त बीज वाले अङ्ग 'उपाङ्ग' कहलाते हैं। देवता के नाम सम्बन्धी अक्षरों को पृथक्-पृथक् करके, उनमें से प्रत्येक के अन्त में बिन्द्वात्मक बीज का योग करके उसको अङ्गन्यास करना भी उत्तम माना गया है। अथवा नाम के आदि अक्षर को दीर्घ स्वरों एवं ह्रस्व स्वरों से युक्त करके अङ्ग उपाङ्ग की कल्पना करनी चाहिये और उनके द्वारा क्रमशः न्यास करना चाहिये। हृदय आदि अङ्गों

व्यञ्जनानां क्रमो ह्येष हृदयादिप्रक्लृप्तये। स्वरबीजेषु नामान्तैविभक्तान्यङ्गनामभिः।।९।।
युक्तानि हृदयादीनि द्वादशान्तानि पञ्चतः। आरभ्य कल्पयित्वा तु जपेत् सिद्ध्यनुरूपतः।।१०।।
हृदयं च शिरश्चूडा कवचं नेत्रमस्त्रकम्। षडङ्गानि तु बीजानां मूलस्य द्वादशाङ्गकम्।।११।।
हृच्छिरश्च शिखा चैव हस्तौ नेत्रे तथोदरम्। पृष्ठबाहूरुजानूंश्च जङ्घे पादौ क्रमान्न्यसेत्।।१२।।
कं ठं शं पं वैनतेयः खं ठं फं षं गदानुजम्। गं डं वं सं पुष्टिमन्त्रोघं टं भं हं श्रियै नमः।।१३।।
चं णं मं क्षं पाञ्चजन्यं छं तं पं कोस्तुभाय च। जं खं वं सुदर्शनाय श्रीवत्साय सं वं दं च लम्।।१४।।
ॐ वं पं वनमालायै पद्मनाभाय वै नमः। निर्बीजपदमन्त्राणां पदैरङ्गानि कल्पयेत्।।१५।।
जात्यन्तैर्नामसंयुक्तैर्हृदयादीनि पञ्चधा। प्रणवं हृदयादानि ततः प्रोक्तानि पञ्चधा।।१६।।
प्रणवं हृदयं पूर्वं परायेति शिरः शिखा। नाम्नात्मना तु कवचमस्त्रं नामान्तकं भवेत्।।१७।।
ॐपरास्त्रादिश्च नामात्मा चतुर्थ्यन्तो नमोऽन्तकः। एकव्यूहादिषड्विंशव्यूहान्तः स्यात्समो मनुः।।१८।।
कनिष्ठादिकराग्रेषु प्रकृतिं देहकेऽर्चयेत्। पराय पुरुषात्मा स्यात् प्रकृत्यात्मा द्विरूपकः।।१९।।

की कल्पना के लिये व्यञ्जनों का यही क्रम है। देवता के मन्त्र का जो अपना स्वरबीज है, उसके अन्त में उसका अपना नाम देकर अङ्ग सम्बन्धी नामों द्वारा पृथक्-पृथक् वाक्य रचना करके उससे युक्त हृदयादि द्वादश अंगों की कल्पना करनी चाहिये। पाँच से लेकर द्वादश अङ्गों तक के न्यास वाक्य की कल्पना करके सिद्धि के अनुरूप उनका जप करना चाहिये। हृदय, सिर, शिखा, कवच, नेत्र और अस्त्र—ये छः अङ्ग हैं। मूलमन्त्र के बीजों का इन अङ्गों में न्यास करना चाहिये। द्वादश अङ्ग ये हैं—हृदय, सिर, शिखा, हाथ, नेत्र, उदर, पीठ, बाहु, ऊरु, जानु, जंघा और पैर। इनमें क्रमशः न्यास करना चाहिये। 'कं टं पं शं वैनतेयाय नमः'। —यह गदा का मन्त्र है। 'गं डं वं सं पुष्ट्यै नमः।'—यह पुष्टिदेवी से सम्बन्धित मन्त्र है। 'घं टं भं हं श्रियै नमः।'—यह श्री का मन्त्र है। 'चं णं मं क्षं'—यह पाञ्चजन्य (शंख) का मन्त्र है। 'छं तं पं कौस्तुभाय नमः।' यह कौस्तुभ का मन्त्र है। 'जं खं वं सुदर्शनाय नमः।'—यह सुदर्शनचक्र का मन्त्र है। 'सं वं दं लं श्रीवत्साय नमः।'—यह श्रीवत्स का मन्त्र है।।१४।। 'ॐ वं वनमालायै नमः।' यह वनमाला का मन्त्र और 'ॐ पं० पद्मनाभाय नमः।'—यह पद्म या पद्मनाभ का मन्त्र है। बीजहीन पद वाले मन्त्रें का अङ्गन्यास उनके पदों द्वारा ही करना चाहिये। नाम संयुक्त जात्यन्त पदों द्वारा हृदय आदि पाँच अङ्गों में पृथक्-पृथक् न्यास करना चाहिये। पहले प्रणव का उच्चारण, फिर हृदय आदि पूर्वोकक्त पाँचों अङ्गों के नाम; क्रम यह है। (उदाहरण के लिये इस प्रकार समझना चाहिये—'ॐ हृदयाय नमः'। इत्यादि। पहले प्रणव तथा हृदय मन्त्र का उच्चारण करना चाहिये। अर्थात् 'ॐ हृदयाय नमः' कहकर हृदय का स्पर्श करना चाहिये। तत्पश्चात् 'पराय शिरसे स्वाहा' बोलकर मस्तक का स्पर्श करना चाहिये। इसके बाद इष्टदेव का नाम लेकर शिखा को स्पर्श करना चाहिये। अर्थात् 'वासुदेवाय शिखायै वौषट्।'—बोलकर शिखा का स्पर्श करना चाहिये। इसके बाद 'आत्मने कवचाय हुम्।'—बोलकर कवच न्यास करना चाहिये। पुनः देवता का नाम लेकर, अर्थात् 'वासुदेवाय अस्त्राय फट्।'—बोलकर कवच न्यास करना चाहिये। पुनः देवता का नाम लेकर, अर्थात् 'वासुदेवाय अस्त्राय फट्।' बोलकर अस्त्र न्यास की क्रिया पूरी करनी चाहिये। आदि में 'ॐकारादि' जो नामात्क पद है, उसके अन्त में 'नमः' पद जोड़ दे और उस नामात्क पद को चतुर्थ्यन्त करके बोले। एक व्यूह से लेकर षड्विंश व्यूह तक के लिये यह समान मन्त्र है। कनिष्ठा से लेकर सभी अङ्गुलियों में हाथ के अग्रभाग में प्रकृति का अपने शरीर में ही पूजन करना चाहिये। 'पराय' पद से एकमात्र परम पुरुष परमात्मा बोध होता है। वही एक से दो हो जाता

ॐ परायाग्न्यात्मने च वस्वर्कौ वह्निरूपकः। अग्निं त्रिमूर्तौ विन्यस्य व्यापकं करदेहयोः॥२०॥
वाय्वर्कौ करशाखासु सव्येतरकरद्वये। हृदि मूर्तौ तनावेष त्रिव्यूहे तुर्यरूपके॥२१॥
ऋग्वेदं व्यापकं हस्ते अङ्गुलीषु यजुर्न्यसेत्। तलद्वयेऽथर्वरूपं शिरोहृच्चरणान्तगम्॥२२॥
आकाशं व्यापकं न्यस्य करे देहे तु पूर्ववत्। अङ्गुलीषु च वाय्वादि शिरोहृद्गुह्यपादके॥२३॥
वायुर्ज्योतिर्जलं पृथ्वी पञ्चव्यूहः समीरितः। मनः श्रोत्रं त्वग् दृग् जिह्वा घ्राणं षड्व्यूह ईरितः॥२४॥
व्यापकं मानसं न्यस्य ततोऽङ्गुष्ठादितः क्रमात्। मूर्धास्यहृद्गुह्यपत्सु कथितः सरणात्मकः॥२५॥
आदिमूर्तिस्तु सर्वत्र व्यापको जीवसञ्ज्ञितः। भूर्भुवः स्वर्महर्जनस्तपःसत्यं च सप्तधा॥२६॥
करे देहे न्यसेदाद्यमङ्गुष्ठादिक्रमेण तु। तलसंस्थः सप्तमश्च लोकात्मा देहके क्रमात्॥२७॥
देवः शिरो ललाटास्य हृद्गुह्याङ्घ्रिषु संस्थितः। अग्निष्टोमस्तथोक्थस्तु षोडशी वाजपेयकः॥२८॥
अतिरात्राऽप्तोर्यामश्च यज्ञात्मा सप्तरूपकः। धीरहं मनः शब्दश्च स्पर्शरूपरसास्ततः॥२९॥
गन्धो बुद्धिर्व्यापकं च करे देहे न्यसेत्क्रमात्। न्यसेदङ्घ्रौ च तलयोः के ललाटे मुखे हृदि॥३०॥

है, अर्थात् प्रकृति और पुरुष—दो व्यूहों में अभिव्यक्त होता है। 'ॐ परायाग्न्यात्मने नमः।'—यह व्यापक मन्त्र है। वसु, अर्क (सूर्य) और अग्नि—ये त्रिव्यूहात्मक मूर्तियाँ हैं—इन तीनों में अग्नि का न्यास करके हाथ और सम्पूर्ण शरीर में व्यापक न्यास करना चाहिये॥२०॥ वायु और अर्क का क्रमशः दायें और बांये दोनों हाथों की अंगुलियों में न्यास करना चाहिये तथा हृदय में मूर्तिमान् अग्नि का चिन्तन करना चाहिये। त्रिव्यूह चिन्तन का यही क्रम है। चतुर्व्यूह में चारों वेदों का न्यास होता है। ऋग्वेद का सम्पूर्ण देह तथा हाथ में व्यापक न्यास करना चाहिये। अङ्गुलियों में यजुवद का, हथेलियों में अथर्ववेद का तथा हृदय और चरणों में शीर्षस्थानीय सामवेद का न्यास करना चाहिये। पञ्चव्यूह में पहले आकाश का पूर्ववत् शरीर और हाथ में व्यापक न्यास करना चाहिये। फिर अंगुलियों में भी आकाश का न्यास करके वायु, ज्योति, जल और पृथ्वी का क्रमशः मस्तक, हृदय, गुह्य और चरण—इन अङ्गों में न्यास करना चाहिये। आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी—इन पाँच तत्त्वों को 'पञ्चव्यूह' कहा गया है। मन, श्रवण, त्वचा, नेत्र, रसना और नासिका—इन छः इन्द्रियों को षड्व्यूह की संज्ञा दी गयी है। मन का व्यापक न्यास करके शेष पाँच का अङ्गुष्ठ आदि के क्रम से पाँचों अंगुलियों में तथा सिर, मुख, हृदय, गुह्य और चरण—इन पाँच अङ्गों में भी न्यास करना चाहिये। यह 'करणात्मक व्यूह का न्यास' कहा गया है। आदिमूर्ति जीव सभी जगह व्यापक है। भूर्लोक, भुवर्लोक, स्वर्लोक, महर्लोक, जनलोक, तपोलोक और सत्यलोक—ये सात लोक 'सप्तव्यूह' कहे गये हैं। इनमें से प्रथम भूर्लोक का हाथ एवं सम्पूर्ण शरीर में न्यास करना चाहिये। भुवर्लोक आदि पाँच लोकों का अङ्गुष्ठ आदि के क्रम से पाँचों अङ्गुलियों तथा सातवें सत्यलोक का हथेली में न्यास करना चाहिये। इस तरह यह लोकात्मक सप्तव्यूह हैं, जिसका उपरोक्त क्रम से शरीर में न्यास किया जाता है। अधुना यज्ञात्मक सप्तव्यूह का परिचय दिया जाता है। सप्तयज्ञस्वरूप यज्ञपुरुष परमात्मदेव श्रीहरि विष्णु सम्पूर्ण शरीर एवं सिर, ललाट, मुख, हृदय, गुह्य और चरण में स्थित हैं, अर्थात् उन अङ्गों का उनका न्यास करना चाहिये। वे यज्ञ इस तरह हैं—अग्निष्टोम, उक्थ्य, षोडशी, वाजपेय, अतिरात्र और आप्तोर्याम—ये छः यज्ञ तथा सातवें यज्ञात्मा—इन सात रूपों को 'यज्ञमय सप्तव्यूह' कहा जाता है॥२१-२८॥ बुद्धि, अहंकार, मन, शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—ये आठ तत्त्व अष्टव्यूह रूप हैं। इनमें से बुद्धितत्त्व का हाथ और शरीर में वपक न्यास करना चाहिये। फिर उपरोक्त आठों तत्त्वों का क्रमशः चरणों के तलवों, मस्तक, ललाट, मुख, हृदय, नाभि,

नाभौ गुह्ये च पादे च अष्टव्यूहः पुमान्स्मृतः। जीवो बुद्धिरहङ्कारो मनः शब्दो गुणोऽनिलः॥३१॥
रूपं रसो नवात्मायं जीव अङ्गुष्ठकद्वये। तर्जन्यादिक्रमाच्छेषं यावद्वामप्रदेशिनीम्॥३२॥
देहे शिरोललाटास्य हृन्नाभिगुह्यजानुषु। पादयोश्च दशात्मायमिन्द्रो व्यापा समास्थितः॥३३॥
अङ्गुष्ठकद्वये वह्नौ तर्जन्यादौ परेषु च। शिरोललाटवक्त्रेषु हृन्नाभिगुह्यजानुषु॥३४॥
पादयोरेकादशात्मा मनः श्रोत्रं त्वगेव च। चक्षुर्जिह्वा तथा घ्राणं वाक् पाण्यङ्घ्री च पायु च॥३५॥
उपस्थं मनसा ध्यायञ्श्रोत्रमङ्गुष्ठकद्वयम्। तर्जन्यादिक्रमादष्टावतिरिक्तं तलद्वये॥३६॥
उत्तमाङ्ग ललाटास्यहृन्नाभ्यङ्घिषु गुह्यके। ऊरुयुग्मे तथा जङ्घागुल्फपादेषु च क्रमात्॥३७॥
विष्णुर्मधुहरश्चैव त्रिविक्रमकवामनौ। श्रीधरोऽथ हृषीकेशः पद्मनाभस्तथैव च॥३८॥
दामोदरः केशवश्च नारायण इतः परः। माधवश्चाथ गोविन्दो विष्णुर्वै व्यापकं न्यसेत्॥३९॥
अङ्गुष्ठादौ तले चैव पादे जानुनि वै कटौ। शिरःशिखोरः कट्यास्यजानुपादादिषु न्यसेत्॥४०॥
द्वादशात्मा पञ्चविंश षड्विंशव्यूहकस्तथा। पुरुषो धीरहङ्कारो मनश्चित्तं च शब्दकः॥४१॥
तथा स्पर्शो रसो रूपं गन्धः श्रोत्रं त्वचस्तथा। चक्षुर्जिह्वा नासिका च वाक्पाण्यङ्घ्री च पायवः॥४२॥

गुह्य देश और पैर—इन आठ अङ्गों में न्यास करना चाहिये। इन सभी कों 'अष्टव्यूहात्मक पुरुष' कहा गया है। जीव, बुद्धि, अहंकार, मन, शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध गुण—इनका समुदाय 'नवव्यूह' है। इनमें से जीव का दोनों हाथों के अंगूठों में न्यास करना चाहिये और शेष आठ तत्त्वों का क्रमशः दाहिने हाथ की तर्जनी से लेकर बायें हाथ की तर्जनी तक आठ अंगुलियों में न्यास करना चाहिये। सम्पूर्ण शरीर, सिर, ललाट, मुख, हदय, नाभि, गुह्य, जानु और पाद—इन नौं स्थानों में उपरोक्त नौ तत्त्वों का न्यास करने के पश्चात् पूर्ववत् व्यापक न्यास किया जाय तो यही 'दशव्यूहात्मक न्यास' हो जाता है।।२९-३३।। दोनों अङ्गुष्ठों में, तलद्वय में, तर्जनी आदि आठ अंगुलियों में तथा सिर, ललाट, मुख, हृदय, नाभि, गुह्य अर्थात् उपस्थ और गुदा, जानुद्वय और पादद्वय—इन ग्यारह अङ्गों में इन्द्रियात्मक तत्त्वों का जो न्यास किया जाता है, उसको 'एकादशव्यूह न्यास' कहा गया है। वे ग्यारह तत्त्व इस तरह हैं—मन, श्रवण, त्वचा, नेत्र, जिह्वा, नासिका, वाक्, हाथ, पैर, गुदा और उपस्थ। मन का व्यापक न्यास करना चाहिये। अंगुष्ठ में श्रवणेन्द्रिय का न्यास करने के पश्चात् शेष त्वचा आदि आठ तत्त्वों का तर्जनी आदि आठ अंगुलियों में न्यास करना चाहिये। शेष जो ग्यारहवाँ तत्त्व अर्थात् उपस्थ है, उसका तलद्वय में न्यास करना चाहिये। मस्तक, ललाट, मुख, हृदय, नाभि, चरण, गुह्य, ऊरुद्वय, जंघा, गुल्फ और पैर—इन ग्याहरह अंगों में भी पूर्वोक्त ग्यारह तत्त्वों का क्रमशः न्यास करना चाहिये। विष्णु, मधुसूदन, त्रिविक्रम, वामन, श्रीधर, हृषीकेश, पद्मनाभ, दामोदर, केशव, नाराण, माधव और गोविन्द—यह 'द्वादशात्मक व्यूह' हैं। इनमें से विष्णु का तो व्यापक न्यास करना चाहिये और शेष भगवान के नामों का अंगुष्ठ आदि दस अंगुलियों एवे हस्ततल में न्यास करके, फिर पादतल, दक्षिण पाद, दक्षिण जानु, दक्षिण कटि, सिर, शिखा, वक्ष, वाम कटि, मुख, वाम जानु और वाम पादादि में भी न्यास करना चाहिये।।३४-३९।। यह द्वादशव्यूह हुआ। अधुना पञ्चविंश एवं षड्विंश व्यूह का परिचय दिया जा रहा है। पुरुष, बुद्धि, अहंकार, मन, चित्त, शब्द, स्पर्श, रस, रूप, गन्ध, श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, जिह्वा, नासिका, वाक्, हाथ, पैर, गुदा, उपस्थ, भूमि, जल, तेज, वायु और आकाश—ये पच्चीस तत्त्व हैं। इनमें से पुरुष का सर्वाङ्ग में व्यापक न्यास करके, दस का अङ्गुष्ठ आदि में न्यास करना चाहिये। शेष का हस्ततल, सिर, ललाट, मुख, हृदय, नाभि, गुह्य, ऊरु, जानु, पैर, उपस्थ, हृदय और मूर्धा में क्रमशः

उपस्थो भूर्जलं तेजो वायुराकाशमेव च। पुरुषं व्यापकं न्यस्य अङ्गुष्ठादौ दश न्यसेत्।।४३।।
शेषान्हस्ततले न्यस्य शिरस्यथ ललाटके। मुखहृन्नाभिगुह्योरुजान्वङ्घ्रिकरणोद्गते।।४४।।
पादे जान्वोरुपस्थे च हृदये मूर्ध्नि च क्रमात्। परश्च पुरुषात्मादौ षड्विंशे पूर्ववत् परम्।।४५।।
सञ्चिन्त्य मण्डलेऽब्जे तु प्रकृतिं पूजयेद् बुधः। पूर्वयाम्याप्यसौमीषु हृदयादीनि विन्यसेत्।।४६।।
अस्त्रमग्न्यादिपत्रेषु वैनतेयादि पूर्ववत्। दिक्पालांश्च विधिस्तुल्यस्त्रिव्यूहेऽग्निश्च मध्यतः।।४७।।
पूर्वदिदिग्दलावासैः पाद्यादिभिरलङ्कृतः। कर्णिकायां नाभसश्च मानसः कर्णिकास्थितः।।४८।।
विश्वरूपं सर्वसिद्ध्यै यजेद्राज्यजयाय च। सर्वव्यूहैः समायुक्तमङ्गैरपि च पञ्चभिः।।४९।।
गरुडाद्यैस्तथेन्द्राद्यैः सर्वान्कामानवाप्नुयात्। विष्वक्सेनं यजेन्नाम्ना रौं बीजं नामसंयुतम्।।५०।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते वासुदेवादिमन्त्रलक्षणवर्णनं नाम पञ्चविंशोऽध्यायः।।२५।।

न्यास करना चाहिये। इन्हीं में सर्वप्रथम परमपुरुष परमात्मा को सम्मिलित करके उनका पूर्ववत् व्यापक न्यास कर दिया जाय तो षड्विंश व्यूह का न्यास सम्पन्न हो जाता है। विद्वान् पुरुष को चाहिये कि अष्टदल कमलचक्र में प्रकृति का चिन्तन करके उसका पूजन करना चाहिये। उस कमल के पूर्व, दक्षिण, पश्चिम और उत्तर दलों में हृदय आदि चार अंगों का न्यास करना चाहिये। अग्निकोण आदि के दलों में अस्त्र एवंवैनतेय (गरुड) आदि को पूर्ववत् स्थापित करना चाहिये। इसी तरह पूर्वादि दिशाओं में इन्द्रादि दिक्पालों का चिन्तन करना चाहिये। इन सभी के ध्यान पूजन की विधि समान है। (सूर्य, सोम और अग्नि रूप) त्रिव्यूह में अग्नि का स्थान मध्य में है। पूर्वादि दिशाओं के दलों में जिनका आवास है, उन देवताओं के साथ कमल की कर्णिका में नाभस (आकाश की भाँति व्यापक आत्मा) तथा मानस (अन्तरात्मा) विराजमान है।।४०-४८।।

साधक को सम्पूर्ण मनोरथों की सिद्धि के लिये तथा राज्य पर विजय पाने के लिये विश्वप (परमात्मा) का यजन करना चाहिये। सम्पूर्ण व्यूहों, हृदय आदि पाँचों अङ्गों, गरुड आदि तथा इन्द्र आदि दिक्पालों के सथ ही उन भगवान् श्रीहरि विष्णुजी की पूजा का विधान है। ऐसा करने वाला उपासक सम्पूर्ण कामनाओं को प्राप्त कर सकता है। अन्त में विष्वक्सेन की नाम मन्त्र से पूजा करनी चाहिये। नाम के साथ 'रौं' बीज लगा ले, अर्थात् 'रौं विष्वक्सेनाय नमः।' बोलकर उनके लिये पूजनोपचार अर्पित करना चाहिये।।४९-५०।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी पच्चीसवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।२५।।

अथ षड्विंशोऽध्यायः

मुद्रालक्षणानि

नारद उवाच

मुद्राणां लक्षणं वक्ष्ये सान्निध्यादिप्रकारकम्। अञ्जलिः प्रथमा मुद्रा वन्दनी हृदयानुगा।।१।।
ऊर्ध्वाङ्गुष्ठो वाममुष्टिदक्षिणाङ्गुष्ठबन्धनः। सव्यस्य तस्य चाङ्गुष्ठो यस्य चोर्ध्व प्रकीर्तितः।।२।।
तिस्रः साधारणा व्यूहे अथासाधारणा इमाः। कनिष्ठादिविमोकेन अष्टौ मुद्रा यथाक्रमम्।।३।।
अष्टानां पूर्वबीजानां क्रमशस्त्ववधारयेत्। अङ्गुष्ठेन कनिष्ठान्तं नामयित्वाङ्गुलित्रयम्।।४।।
ऊर्ध्वं कृत्वा सम्मुखं च बीजाय नवमाय वै। वामहस्तमथोत्तानं कृत्वोर्ध्वं नामयेच्छनैः।।५।।
वराहस्य स्मृता मुद्रा अङ्गानां च क्रमादिमाः। एकैकां मोचयेन्मुद्रां वाममुष्टौ तथाङ्गुलीम्।।६।।
आकुञ्चयेत्पूर्वमुक्तां दक्षिणेऽप्येवमेव च। ऊर्ध्वाङ्गुष्ठौ वाममुष्टिर्मुद्रासिद्धिस्ततो भवेत्।।७।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गति मुद्रालक्षणवर्णनं नाम षड्विंशोऽध्यायः।।२६।।

अध्याय-२६

मुद्राओं का वर्णन

नारद जी ने कहा कि–हे मुनिगण! अधुना मैं मुद्राओं का लक्षण बतलाता हूँ। सांनिध्य अर्थात् संनिधापिनी आदि मुद्रा के तरह भेद हैं। पहली मुद्रा अञ्जलि है, दूसरी वन्दनी है और तीसरी हृदयानुगा है। बायें हाथ की मुठ्ठी से दाहिने हाथ के अँगूठे को बाँध ले और बायें अंगुष्ठ को ऊपर उठाये। सारांश यह है कि बायें और दाहिने दोनों हाथ के अंगूठे ऊपर की तरफ ही उठी रहें। यही 'हृदयानुगा' मुद्रा है। इसी को कोई 'संरोधिनी' और कोई निष्ठुरा' कहते हैं। व्यूहार्चन में ये तीन मुद्राएँ सामान्य हैं। अधुना आगे ये असामान्य मुद्राएँ बतलायी जाती हैं। दोनों हाथों में से अंगूठे से कनिष्ठा तक की तीन अंगुलियों को नवाकर कनिष्ठा आदि को क्रमशः मुक्त करने से आठ मुद्राएँ बनती हैं। 'अ क च ट त प य श'–ये जो आठ वर्ग हैं, उनके जो पूर्व बीज (अं कं चं टं इत्यादि) हैं, उनको ही सूचित करने वाली कथित आठ मुद्राएँ हैं–ऐसा निश्चय करना चाहिये।।१-४।। फिर पाँचों अंगुलियों को ऊपर करके हाथ को सम्मुख करने से जो नवीं मुद्रा बनती है, वह नवम बीज (क्षं) के लिये है। दाहिने हाथ के ऊपर बायें हाथ को उतान रखकर उसको धीरे-धीरे नीचे को झुकाये। यह वराह की मुद्रा मानी गयी है। ये क्रमशः अङ्गों की मुद्राएँ हैं। बायीं मुट्ठी में बँधी हुई एक-एक अंगुली को क्रमशः मुक्त करना चाहिये और पहले की मुक्त हुई अंगुली को फिर सिकोड़ ले। बायें हाथ में ऐसा करने के बाद दाहिने हाथ में भी यही क्रिया करना चाहिये। बायीं मुट्ठी के अंगूठे को ऊपर उठाये रखे। ऐसा करने से मुद्राएँ सिद्ध होती हैं।।५-७।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी छब्बीसवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।२६।।

❖❖❖

अथ सप्तविंशोऽध्यायः

शिष्येभ्यो दीक्षादानविधिः

नारद उवाच

वक्ष्ये दीक्षां सर्वदा च मण्डलेऽब्जे हरिं यजेत्। दशम्यामुपसंहृत्य यागद्रव्यं समस्तकम्।।१।।
विन्यस्य नारसिंहेन सम्मन्त्र्य शतवारकम्। सर्षपांस्तु फडन्तेन रक्षोघ्नान्सर्वतः क्षिपेत्।।२।।
शक्तिं सर्वात्मिकां तत्र न्यसेत्प्रासादरूपिणीम्। सर्वौषधीः समाहृत्य विकिरानभिमन्त्रयेत्।।३।।
शतवारं शुभे पात्रे वासुदेवेन साधकः। संसाध्य पञ्चगव्यं तु पञ्चभिर्मूलमूर्तिभिः।।४।।
नारायणान्तैः सम्प्रोक्ष्य कुशाग्रैस्तेन तां भुवम्। विकारान्वासुदेवेन क्षिपेदुत्तानपाणिना।।५।।
त्रिधा पूर्वामुखस्तिष्ठन् ध्यायन् विष्णुं तदा हृदि। वर्धन्या सहिते कुम्भे साङ्गं विष्णुं प्रपूजयेत्।।६।।
शतवारं मन्त्रयित्वा त्वस्त्रेणैव च वर्धनीम्। अच्छिन्नधारया सिञ्चन्नैशान्यन्तं नयेच्च ताम्।।७।।
कलशं पृष्ठतो नीत्वा स्थापयेद्विकिरोपरि। संहृत्य विकिरान्दर्भैः कुम्भेशं कर्करीं यजेत्।।८।।
सवस्त्रे पञ्चरत्नाढ्ये स्थण्डिले पूजयेद्धरिम्। अग्नावपि समभ्यर्च्यं मन्त्रैः सन्तर्प्य पूर्ववत्।।९।।
प्रक्षाल्य पुण्डरीकेण विलिप्यान्तः सुगन्धिना। उखामाज्येन सम्पूर्य गोक्षीरेण तु साधकः।।१०।।

अध्याय-२७

शिष्य दीक्षा विधान

ब्रह्मर्षि नारद जी ने कहा कि–हे महर्षिगण! अधुना मैं सब कुछ देने वाली दीक्षा का वर्णन करने जा रहा हूँ। कमलाकार मण्डल में भगवान् श्रीहरि विष्णुजी का पूजन करना चाहिये। दशमी तिथि को समस्त यज्ञ सम्बन्धी द्रव्य का संग्रह एवं संस्कार (शुद्धि) करके रख ले। नरसिंह-बीज-मन्त्र (क्ष्रौं) से सौ बार उसको अभिमन्त्रित करके, उस मन्त्र के अन्त में 'फट्' लगाकर बोले तथा राक्षसों का विनाश करने के उद्देश्य से सभी तरफ सरसों छींटे। फिर वहाँ सर्वस्वरूपा प्रासादरूपा प्रासादरूपिणी शक्ति का न्यास करना चाहिये। सर्वौषधियों का संग्रह करके बिखेरने के उपयोग में आने वाली सरसों आदि वस्तुओं को शुभ पात्र में रखकर साधक को वासुदेव-मन्त्र से उनका सौ बार अभिमन्त्रण करना चाहिये। तत्पश्चात् वासुदेव से लेकर नारायण पर्यन्त उपरोक्त पाँच मूर्तियों (वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध तथा नारायण) के मूल मन्त्रों द्वारा पञ्चगव्य तैयार करना चाहिये और कुशाग्र से पञ्चगव्य छिड़क कर उस भूमि का प्रोक्षण करना चाहिये। तत्पश्चात् वासुदेव मन्त्र से उत्तान हाथ के समस्त विकिर वस्तुओं को सभी तरफ बिखेरे।।१-५।। उस समय पूर्वाभिमुख खड़ा हो, मन ही मन भगवान् श्रीहरि विष्णुजी का चिन्तन करते हुए तीन बार उन विकिर वस्तुओं को सभी तरफ छींटे। तत्पश्चात् वर्धनीसहित कलश पर स्थापित भगवान् विष्णु का अङ्गसहित पूजन करना चाहिये। अस्त्र मन्त्र से वर्धनी को सौ बार अभिमन्त्रित करके अविच्छिन्न जलधारा से सींचते हुए उसको ईशानकोण की तरफ ले जाय। कलश को पीछे ले जाकर विकिर पर स्थापित करना चाहिये। विकिर द्रव्यों को कुश द्वारा एकत्र करके कुम्भेश और कर्करीका का यजन करना चाहिये।।६-८।। पञ्चरत्नयुक्त सवस्त्र वेदी पर श्रीहरि की पूजा करनी चाहिये। अग्नि में भी उनकी अर्चना करके पूर्ववत् मन्त्रों द्वारा उनका संतर्पण करना चाहिये। तत्पश्चात् पुण्डरीक मन्त्र

आबोड्य वासुदेवेन ततः सङ्कर्षणेन च। तण्डुलानाज्यसंसृष्टान् क्षिपेत् क्षीरे सुसंस्कृते।।११।।
प्रद्युम्नेन समालोड्य दर्व्या सङ्घट्टयेच्छनैः। पक्वमुत्तारयेत्पश्चादनिरुद्धेन देशिकः।।१२।।
प्रक्षाल्यालिप्य तत्कुर्यादूर्ध्वपुण्ड्रं तु भस्मना। हारायणेन पार्श्वेषु चरुमेवं सुसंस्कृतम्।।१३।।
भागमेकं तु देवाय कलशाय द्वितीयकम्। तृतीयेन तु भागेन प्रदद्यादाहुतित्रयम्।।१४।।
शिष्यैः सह चतुर्थं तु गुरुरद्याद्विशुद्धये। नारायणेन सम्मन्त्र्य सप्तधा क्षीरवृक्षजम्।।१५।।
दन्तकाष्ठं भक्षयित्वा त्यक्त्वा ज्ञात्वा स्वपातकम्। ऐन्द्राग्न्युत्तरकैशानीमुखः स्नातो ह्यनुत्तमम्।।१६।।
शुभं सिद्धमिति ज्ञात्वाचम्य प्राणान्नियम्य च। पूजागारं विशेन्मन्त्री प्रार्थ्य विष्णुं सदक्षिणम्।।१७।।
संसारार्णवमग्नानां पशूनां पाशमुक्तये। त्वमेव शरणं देव! सदा त्वं भक्तवत्सलः।।१८।।
देवदेवानुजानीहि प्राकृतैः पाशबन्धनैः। पाशितान् मोचयिष्यामि त्वत्प्रसादात्पशूनिमान्।।१९।।
इति विज्ञाप्य देवेशं सम्प्रविश्य पशूंस्ततः। धारणाभिस्तु संशोध्य पूर्ववज्ज्वलनादिना।।२०।।
संस्कृत्य, मूर्त्या संयोज्य नेत्रे बद्ध्वा प्रदर्शयेत्। पुष्पपूर्णाञ्जलींस्तत्र क्षिपेत्तन्नाम योजयेत्।।२१।।
अमन्त्रमर्चनं तत्र पूर्ववत्कारयेत् क्रमात्। यस्यां मूर्तौ पतेत्पुष्पं तस्य तन्नाम निर्विशेत्।।२२।।

से उखा (पात्र विशेष) का प्रक्षालन करके उसके अन्दर सुगन्धयुक्त घी लगा देना चाहिये। इसके बाद साधक को उसमें गोदुग्ध भरकर वासुदेव मन्त्र से उसका अवेक्षण करना चाहिये और संकर्षण मन्त्र से सुसंस्कृत किये गयेदूध में घृताक्त चावल त्याग देना चाहिये। इसके बाद प्रद्युम्न मन्त्र से करछुल द्वारा उस दूध और चावल का आलोडन करके धीरे-धीरे उस उलाटे पलाटे। जिस समय खीर या चरु पक जाय, उस समय आचार्य को अनिरुद्ध मन्त्र पढ़कर उसको आग से नीचे उतार देना चाहिये। तत्पश्चात् उस पर जल छिड़के और घृतालेपन करके हाथ में भस्म लेकर उसके द्वारा नारायण मन्त्र से ललाट एवं पार्श्व भागों में ऊर्ध्व पुण्ड्र करना चाहिये। इस तरह सुन्दर संस्कार युक्त चरु के चार भाग करके एक भाग इष्टदेव को अर्पित करना चाहिये, दूसरा भाग कलश को चढ़ाना चाहिये। तीसरे भाग से अग्नि में तीन बार आहुति देनी चाहिये और चौथे भाग को गुरु शिष्यों के साथ बैठकर खाय; इससे आत्मशुद्धि हो जाती है। प्रातःकाल ऐसे वृक्ष से दाँतून ले जो दूध वाला हो। उस दाँतून को नारायण मन्त्र से सात बार अभिमन्त्रि कर लेना चाहिये। उसका दन्तशुद्धि के लिये उपयोग करके फिर उसको छोड़ देना चाहिये। अपने पातक का स्मरण करके पूर्व, अग्निकोण, उरुर अथवा ईशानकोण की तरफ मुँह करके अच्छी तरह स्नान करना चाहिये। फिर 'शुभ' एवं 'सिद्ध' की भावना करके, अर्थात् 'मैं निष्पाप एवं शुद्ध होकर शुभ सिद्धि की तरफ अग्रसर हुआ हूँ'-ऐसा अनुभव करके आचमन प्राणायाम के पश्चात् मन्त्रोपदेष्टा गुरु भगवान् विष्णु से प्रार्थना करके उनकी परिक्रमा के पश्चात् पूजागृह में प्रवेश करना चाहिये।।९-१७।। प्रार्थना इस तरह करना चाहिए-'हे देव! संसार-सागर में मग्न पशुओं को पाश से छुटकारा दिलाने के लिये आप ही शरणदाता हैं। आप सदा अपने भक्तों पर वात्सल्यभाव रखते हैं। हे देवेदेव! आज्ञा दीजिये, प्राकृत पाश बन्धनों से बँधे हुए इन पशुओं को आज आपकी कृपा से मैं मुक्त करने जा रहा हूँ।' देवेश्वर श्रीहरि से इस तरह प्रार्थना करके पूजागृह में प्रविष्ट होना चाहिये। गुरु पूर्ववत् अग्नि आदि की धारणाओं द्वारा शिष्यभूत समस्त पशुओं का शोधन करके संस्कार करने के पश्चात्, उनका वासुदेवादि मूर्तियों से संयोग करना चाहिये। शिष्यों के नेत्र बाँधकर उनको मूर्तियों की तरफ देखने का आदेश देना चाहिये। शिष्य उन मूर्तियों की तरफ पुष्पाञ्जलि फेंकें, तदनुसार गुरु उनका नाम निर्देश करें। पूर्ववत् शिष्यों से क्रमशः पूर्तियों का मन्त्रहीन पूजन कराये। जिस शिष्य के हाथ का फूल जिस मूर्ति पर

शिखान्तसम्मितं सूत्रं पादाङ्गुष्ठादि षड्गुणम्। कन्यया कर्तितं रक्तं पुनस्तत् त्रिगुणीकृतम्।।२३।।
यस्यां संलीयते विश्वं यतो विश्वं प्रसूयते। प्रकृतिं प्रक्रियाभेदैः संस्थितां तत्र चिन्तयेत्।।२४।।
तेन प्रकृतिकान् पाशान् ग्रथित्वा तत्त्वसङ्ख्यया। कृत्वा शरावे तत्सूत्रं कुण्डपार्श्वे निधाय तु।।२५।।
ततस्तत्त्वानि सर्वाणि ध्यात्वा शिष्यतनौ न्यसेत्। सृष्टिक्रमात् प्रकृत्यादिपृथिव्यन्तानि देशिकः।।२६।।
त्रेधा वा पञ्चधा वा स्याद् दशद्वादशधापि च। दातव्यः सर्वभेदेन ग्रथितस्तत्त्वचिन्तकैः।।२७।।
अङ्गैः पञ्चभिरस्त्रान्तं निखिलं प्रकृतिक्रमात्। तन्मात्रात्मनि संहृत्य मायासूत्रे पशोस्तनौ।।२८।।
प्रकृतिर्लिङ्गशक्तिश्च कर्ता बुद्धिस्तथा मनः। पञ्चतन्मात्रबुद्ध्याख्यं कर्माख्यं भूतपञ्चकम्।।२९।।
ध्यायेच्च द्वादशात्मानं सूत्रे देहे तथेच्छया। हुत्वा सम्पातविधिना सृष्टेः सृष्टिक्रमेण तु।।३०।।
एकैकं शतहोमेन दत्त्वा पूर्णाहुतिं ततः। शरावे सम्पुटीकृत्य कुम्भेशाय निवेदयेत्।।३१।।
अधिवास्य यथान्यायं भक्तं शिष्यं तु दीक्षयेत्। करणीं कर्तरीं चापि रजांसि खटिकामपि।।३२।।
अन्यदप्युपयोगि स्यात्सर्वं वामगोचरे। संस्थाप्य मूलमन्त्रेण परामृश्याधिवासयेत्।।३३।।
नमो भूतेभ्यश्च बलिः कुशे देयः स्मरन्हरिम्। मण्डपं भूषयित्वाथ वितानघटलड्डुकैः।।३४।।
मण्डलेऽथ यजेद्विष्णुं ततः सन्तर्प्य पावकम्। आहूय दीक्षयेच्छिष्यान्बद्धपद्मासनस्थितान्।।३५।।

गिरे, गुरु उस शिष्य का वही नाम रखे। कुमारी कन्या के हाथ से काता हुआ लाल रंग का सूत लेकर उसको छः गुना करके बट देना चाहिये। उस छः गुने सूत की लम्बाई पैर के अंगूठे से लकर शिखा तक होनी चाहिये। फिर उसको भी मोड़ कर तिगुना कर लेना चाहिये। कथित त्रिगुणित सूत में प्रक्रिया भेद से स्थित उस प्रकृति देवी का चिन्तन करना चाहिये, जिसमें सम्पूर्ण विश्व का लय होता है और जिससे ही समस्त जगत् का प्रादुर्भाव हुआ करता है। उस सूत्र में प्राकृतिक पाशों को तत्त्व की संख्या के अनुसार ग्रथित करना चाहिये, अर्थात् २४ गाँठें लगाकर उनको प्राकृतिक पाशों के प्रतीक समझे। फिर उस ग्रन्थियुक्त सूत को प्याले रखकर कुण्ड के पास स्थापित कर दें तत्पश्चात् सभी तत्त्वों का चिन्तन करके गुरु को उनका शिष्य के शरीर में न्यास करना चाहिये। तत्त्वों का वह न्यास सृजनक्रम के अनुसार प्रकृति से लेकर पृथिवी पर्यन्त होना चाहिये।।१८-२६।। तीन, पाँच, दस अथवा बारह जितने भी सूत्रभेद सम्भव हों, उन सभी सूत्र भेदों के द्वारा बटे हुए उस सूत्र को ग्रथित करके देना चाहिये। तत्त्वचिन्तक पुरुषों के लिये यही उचित है। हृदय से लेकर अस्त्रपर्यन्त पाँच अंग सम्बन्धी मन्त्र पढ़कर सम्पूर्ण भूतों को प्रकृति क्रम से अर्थात् कार्य तत्त्व का कारण तत्त्व में लय के क्रम से तन्मात्रा स्वरूप में लीन करके उस मायामयसूत्र में और पशु (जीव) के शरीर में भी प्रकृति, लिङ्गशक्ति, कर्ता, बुद्धि तथा मन का उपसंहार करना चाहिये। तत्पश्चात् पञ्चतन्मात्र, बुद्धि, कर्म और पञ्चमहाभूत–इन द्वादश रूपों में अभिव्यक्त द्वादशात्माका सूत्र और शिष्य के शरीर में चिन्तन करना चाहिये। तत्पश्चात् इच्छानुसार सृजन की सम्पात विधि से हवन करके, सृजन क्रम से एक-एक के लिये सौ-सौ आहुतियाँ देकर पूर्णाहुति करना चाहिये। प्याले में रखे हुए ग्रथित सूत्र को ऊपर से ढककर उसको कुम्भेश को अर्पित करना चाहिये। फिर यथोचित विधि से अधिवासन करके भक्त शिष्य को दीक्षा देना चाहिये। करनी, कैंची, धूल या बालू, खड़िया मिट्टी और अन्य उपयोगी वस्तुओं का भी संग्रह करके उन सभी को उसके वामभाग में स्थापित कर देना चाहिये। फिर मूल मन्त्र से उनका स्पर्श करके अधिवासित करना चाहिये। तत्पश्चात् श्रीहरि के स्मरणपूर्वक कुशों पर भूतों के लिये बलि दे और कहे–'नमो भूतेभ्यः।' इसके बाद चँदोवों, कलशों और लड्डुओं से मण्डप को सुसज्जित करके मण्डल के अन्दर

सम्प्रोक्ष्य विष्णुहस्तेन मूर्धानं स्पृश्य वै क्रमात्। प्रकृत्यादिविकृत्यन्तां साधिभूताधिदेवताम्।।३६।।
सृष्टिमाध्यात्मिकीं कृत्वा हृदि तां संहरेत्क्रमात्। तन्मात्रभूतां सकलां जीवेन समतां गताम्।।३७।।
ततः सम्प्रार्थ्य कुम्भेशं सूत्रं संस्कृत्य देशिकः।अग्नेः समीपमागत्य पार्श्वे तं सन्निवेश्य तु।।३८।।
मूलमन्त्रेण सृष्टीशमाहुतीनां शतेन तम्। उदासीनमथासाद्य पूर्णाहुत्या च देशिकः।।३९।।
शुक्लं रजः समादाय मूलेन शतमन्त्रितम्। सन्ताड्य हृदयं तेन हुम्फट्कारान्तसंयुतैः।।४०।।
वियोगपदसंयुक्तैर्बीजैः पादादिभिः क्रमात्। पृथिव्यादीनि तत्त्वानि विश्लिष्य जुहुयात्ततः।।४१।।
वह्नावखिलतत्त्वानामालये व्याहृते हरौ। नीयमानं क्रमात्सर्वं तत्त्वाधारं स्मरेद् बुधः।।४२।।
ताडनेन वियोज्यैवमादायापाद्य साम्यताम्। प्रकृत्याहृत्य जुहुयाद्यथोक्ते जातवेदसि।।४३।।
गर्भाधानं जातकर्म भोगं चैव लयं तथा। कृत्वाष्टौ तत्र तत्रैव ततः शुद्धं तु होमयेत्।।४४।।
शुद्धं तत्त्वं समुद्धृत्य पूर्णाहुत्या तु देशिकः। सन्धयेद्धि परे तत्त्वे यावदव्याकृतं क्रमात्।।४५।।
तत्परं ज्ञानयोगेन विलाप्य परमात्मनि। विमुक्तबन्धनं जीवं परस्मिन्नव्यये पदे।।४६।।
निर्वृत्तं परमानन्दे शुद्धे बुद्धे स्मरेद् बुधः। दद्यात् पूर्णाहुतिं पश्चादेवं दीक्षा समाप्यते।।४७।।
प्रयोगमन्त्रान् वक्ष्यामि यैर्दीक्षां होमसंल्लयः।

भगवान् विष्णु का पूजन करना चाहिये। फिर अग्नि को घी से तृप्त करना चाहिये, शिष्यों को पास बुलाकर बद्धपद्मासन से बिठावे और दीक्षा देना चाहिये। बारी-बारी से उन सभी का प्रोक्षण करके विष्णुहस्त से उनके मस्तक का स्पर्श करना चाहिये। प्रकृति से विकृति पर्यन्त, अधिभूत और अधिदैवतसहित सम्पूर्ण सृजन को आध्यात्मिक करके अर्थात् सभी को अपने आत्मा में स्थित मानकर, हृदय में ही क्रमशः उसका विनाश करना चाहिये।।२७-३६।। इससे तन्मात्रस्वरूप हुई सारी दृष्टि जीव के समान हो जाती है। इसके पश्चात् कुम्भेश्वर से प्रार्थना करके गुरु उपरोक्त सूत्र का संस्कार करने के अनन्तर, अग्नि के सन्निकट आ उसको अपने पास ही रख ले। फिर मूल मन्त्र से सृष्टीश के लिये सौ आहुतियाँ देनी चाहिये। इसके पश्चात् उदासीन भाव से स्थित सृष्टीश को पूर्णाहुति अर्पित करके गुरु को श्वेत रज (बालू) हाथ में लेकर उसको मूल मन्त्र से सौ बार अभिमन्त्रित करना चाहिये। फिर उससे शिष्य के हृदय पर ताडन करना चाहिये। उस समय वियोगवाची क्रियापद से युक्त बीजमन्त्रों एवं क्रमशः पादादि इन्द्रियों से घटित वाक्य की योजना करके अन्त में 'हुं फट्' का उच्चारण करना चाहिये। इस तरह पृथिवी आदि तत्त्वों का वियोग कराकर आचार्य को भावना द्वारा उनको अग्नि में हवन देना चाहिये। इस तरह कार्य तत्त्वों का कारण तत्त्वों में हवन अथवा लय करते हुए क्रमशः अखिल तत्त्वों के आश्रयभूत श्रीहरि में सभी का लय कर देना चाहिये। विद्वान् पुरुष इसी क्रम से सभी तत्त्वों को श्रीहरि तक पहुँचा कर, उन सम्पूर्ण तत्त्वों के अधिष्ठान का स्मरण करना चाहिये। कथित विधि से ताडन द्वारा भूतों और इन्द्रियों से वियोग कराकर शुद्ध हुए शिष्य को अपनावे और प्रकृति से उसकी समता का निष्पादन करके उपरोक्त अग्नि में उसके उस प्राकृत भाव का भी हवन कर देना चाहिये। फिर गर्भाधान, जातकर्म, भोग और लय का अनुष्ठान करके उस-उस कर्म के निमित्त वहाँ आठ-आठ बार शुद्ध्यर्थ हवन करना चाहिये। तत्पश्चात् आचार्य को पूर्णाहुति द्वारा शुद्ध तत्त्व का उद्धार करके अव्याकृत प्रकृति पर्यन्त सम्पूर्ण जगत् का क्रमानुसार हुए जीव को अविनाशी परमात्मपद में प्रतिष्ठित करना चाहिये। तत्पश्चात् विद्वान् पुरुष को यह अनुभव करना चाहिये कि 'शिष्य शुद्ध, बुद्ध, परमानन्द संदोह में निमग्न एवं कृतकृत्य हो चुका है।' ऐसा चिन्तन करने के पश्चात् गुरु पूर्णाहुति देनी चाहिये।

ॐ यं भूतानि विशुद्धं हुं फट् अनेन ताडनं कुर्याद् वियोजनमिह द्वयम्।।४८।।
ॐ यं भूतान्यापातयेऽहम् आदानं कृत्वा चानेन प्रकृत्या योजनं शृणु।
ॐ यं भूतानि पुंश्चाहो होममन्त्रं प्रवक्ष्यामि ततः पूर्णाहुतेर्मनुम्।।४९।।
ॐ भूतानि संहर स्वाहा
ॐ अं ॐ नमो भगवते वासुदेवाय अं वौषट्। पूर्णाहुत्यन्तरं तु तत्त्वे शिष्यं तु सन्धयेत्।।५०।।
एवं तत्त्वानि सर्वाणि क्रमात् संशोधयेद् बुधः। नमोन्तेन स्वबीजेन ताडनादिपुरःसरम्।।५१।।
ॐ रां कर्मेन्द्रियाणि, ॐ दें बुद्धीन्द्रियाणि (च)। यं बीजेन समानं तु ताडनादिप्रयोगकम्।।५२।।
ॐ सुगन्धतन्मात्रे बिम्बं युङ्क्ष्व हुं फट्। ॐ सं पाहि हां ॐ स्वं युङ्क्ष्व प्रकृत्या।।५३।।
अं जं हुं गन्धतन्मात्रे संहर स्वाहा। ततः पूर्णाहुतिश्चैवमुत्तरेषु प्रयुज्यते।
ॐ रां रसतन्मात्रे। ॐ तें रूपतन्मात्रे। ॐ वं स्पर्शतन्मात्रे। ॐ यं शब्दतन्मात्रे।
ॐ भं नमः। ॐ मौ अहङ्कारः ॐ नं बुद्धौ। ॐ ॐ ॐ प्रकृतौ।
एकमूर्तावयं प्रोक्तो दीक्षायोगः समासतः। एवमेव प्रयोगस्तु नवव्यूहादिके स्मृतः।।५४-५८।।
दग्ध्या परिस्मिन् सन्दध्यान्निर्वाणे प्रकृतिं नरः। शोधयित्वाथ भूतानि कर्माक्षाक्षि विशोधयेत्।।५९।।
बुद्ध्यक्षाण्यथ तन्मात्रं मनो ज्ञानमहङ्कृतिम्। लिङ्गात्मानं विशोध्यान्ते प्रकृतिं शोधयेत्पुनः।।६०।।

इस तरह दीक्षा कर्म की समाप्ति हो जाती है।।३७-४७।। अधुना मैं उन प्रयोग सम्बन्धी मन्त्रों का वर्णन करने जा रहा हूँ, जिनसे दीक्षा, हवन और लय सम्पादित होते हैं। 'ॐ यं भूतानि वियुङ्क्ष्व हुं फट्।' अर्थात् भूतों को मुझसे अलग करो। इस मन्त्र से ताडन करने का विधान है। इसको द्वारा भूतों से वियोजन (बिलगाव) होता है। यहाँ वियोजन के दो मन्त्र हैं। एक तो वही है, जिसका ऊपर वर्णन हुआ है और दूसरा इस तरह है-'ॐ यं भूतान्यापातयेऽहम्।' (मैं भूतों को अपने से दूर गिराता हूँ)। इस मन्त्र से 'आपातन' अर्थात् वियोजन करके पुनः दिव्य प्रकृति से इस प्रकार संयोजन किया जाता है। उसके लिये मन्त्र है-'ॐ. यं भूतानि युङ्क्ष्व।' अधुना हवन मन्त्र का वर्णन करने जा रहा हूँ। उसके बाद पूर्णाहुति का मन्त्र बताऊँगा। 'ॐ भूतानि संहर स्वाहा।' यह हवन मन्त्र है और 'ॐ अं ॐ नमो भगवते वासुदेवाय अं वौषट्।' यह पूर्णाहुति मन्त्र है। पूर्णाहुति के पश्चात् तत्त्व में शिष्य को संयुक्त करना चाहिये। विद्वान् पुरुष को इसी तरह समस्त तत्त्वों का क्रमशः शोधन करना चाहिये। तत्त्वों के अपने-अपने बीज के अन्त में 'नमः' पद जोड़कर ताडनादिपूर्वक तत्त्व शुद्धि का निष्पादन करना चाहिये।।४८-५३।। 'ॐ रां (नमः) कर्मेन्द्रियाणि।', ॐ दें (नमः) बुद्धीन्द्रियाणि।'-इन पदों के अन्त में 'वियुङ्क्ष्व हुं फट्।' की संयोजन करना चाहिये। उपरोक्त 'यं' बीज के समान ही इन उपरोक्त बीजों से भी ताडन आदि का प्रयोग होता है। 'ॐ सं पाहि हां ॐ स्वं स्वं युङ्क्ष्व प्रकृत्या अं जं हुं गन्धतन्मात्रे संहर स्वाहा।'-ये क्रमशः संयोजन और हवन के मन्त्र हैं। तत्पश्चात् पूर्णाहुति का विधान है। इसी तरह उरुरवर्ती कर्मों में भी प्रयोग किया जाता है। 'ॐ रां रसतन्मात्रे। ॐ तें रूपतन्मात्रे। ॐ वं स्पर्शतन्मात्रे। ॐ यं शब्द तन्मात्रे। ॐ मं नमः। ॐ सों अहंकारे। ॐ नं बुद्धौ। ॐ ॐ प्रकृतौ।' यह दीक्षायोग एकव्यूहात्मक मूर्ति के लिये संक्षेप से बतलाया गया है। नवव्यूहादिक मूर्तियों के विषय में भी ऐसा ही प्रयोग है। मनुष्य प्रकृति को दग्ध करके उसको निर्वाणस्वरूप परमात्मा में ध्यान मग्न होकर फिर भूतों की शुद्धि करके कर्मेन्द्रियों का शोधन करना चाहिये।।५४-५९।। तत्पश्चात् ज्ञानेन्द्रियों का, तन्मात्राओं का, मन, बुद्धि एवं अहंकार का तथा लिङ्गात्मा का शोधन

पुरूषं प्राकृतं शुद्धमैश्वरे धाम्नि संस्थितम्। स्वगोचरीकृताशेषभोगं मुक्तौ कृतास्पदम्।।६१।।
ध्यायेत्पूर्णाहुतिं दद्याद्दीक्षेयं त्वधिकारदा। अङ्गैराराध्य मन्त्रस्य नीत्वा तत्त्वगणं समम्।।६२।।
क्रमादेवं विशोध्यान्ते सर्वसिद्धिसमन्वितम्। ध्यायन् पूर्णाहुतिं दद्याद्दीक्षेयं साधके स्मृता।।६३।।
द्रव्यस्य वा न सम्पत्तिरशक्तिर्वात्मनो यदि। इष्ट्वा देवं यथापूर्वं सर्वोपकरणान्वितः।।६४।।
सद्योऽधिवास्य द्वादश्यां दीक्षयेद्देशिकोत्तमः। भक्तो विनीतः शारीरैर्गुणैः सर्वैः समन्वितः।।६५।।
शिष्यो नातिधनी यस्तु स्थण्डिलेऽभ्यर्च्य दीक्षयेत्। अध्वानं निखिलं दैवं भौतं वाध्यात्मिकीकृतम्।।६६।।
सृष्टिक्रमेण शिष्यस्य देहे ध्यात्वा तु देशिकः। अष्टाष्टाहुतिभिः पूर्वं क्रमात्सन्तर्प्य सृष्टिमान्।।६७।।
स्वमन्त्रैर्वासुदेवादीञ् ज्वलनादीन् विसर्जयेत्। होमेन शोधयेत् पश्चात् संहारक्रमयोगतः।।६८।।
यानि सूत्राणि बद्धानि मुक्त्वा कर्माणि देशिकः। शिष्यदेहात्समाहृत्य क्रमात्तत्त्वानि शोधयेत्।।६९।।
अग्नौ प्राकृतिके विष्णौ लयं नीत्वाधिदैविके। शुद्धं तत्त्वमशुद्धेन पूर्णाहुत्या तु सन्धयेत्।।७०।।
शिष्ये प्रकृतिमापन्ने दग्ध्वा प्राकृतिकान्गुणान्। मोचयेदधिकारे वा नियुञ्ज्याद्देशिकः शिशून्।।७१।।
अथान्यां शक्तिदीक्षां वा कुर्याद् भावे स्थितो गुरुः। भक्त्या सम्प्रतिपन्नानां यतीनां निर्धनस्य च।।७२।।
सम्पूज्य स्थण्डिले विष्णुं पार्श्वस्थं स्थाप्य पुत्रकम्। देवताभिमुखः शिष्यस्तिर्यगास्यः स्वयं स्थितः।।७३।।

करके सबके अन्त में पुनः प्रकृति की शुद्धि करनी चाहिये। 'शुद्ध हुआ प्राकृत पुरुष ईश्वरीय धाम में प्रतिष्ठित है। उसने सम्पूर्ण भोगों का अनुभव कर लिया है और अधुना वह मुक्तिपद में स्थित है।' इस तरह ध्यान करना चाहिये और पूर्णाहुति देनी चाहिये। यह अधिकार सम्प्रदान करने वाली दीक्षा है। उपरोक्त मन्त्र के अङ्गों द्वारा आराधना करके, तत्त्वसमूह को समभाव (प्रकृत्यवस्था) में पहुँचाकर, क्रमशः इसी विधि से शोधन करके, अन्त में साधक अपने को सम्पूर्ण सिद्धियों से युक्त परमात्म रूप से स्थित अनुभव करते हुए पूर्णाहुति दे–यह साधक विषयक दीक्षा कही गयी है। यदि यज्ञोपयोगी द्रव्य का निष्पादन (संग्रह) न हो सके, अथवा अपने में असमर्थता हो, तो समस्त उपकरणों सहित श्रेष्ठ गुरु पूर्ववत् इष्टदेव का पूजन करके, तत्काल उनको अधिवासित करके, द्वादशी तिथि में शिष्य को दीक्षा देने को उद्यत हों। जो गुरुभक्त विनयशील एवं समस्त शारीरिक सद्गुणों से सम्पन्न हो, ऐसा शिष्य यदि अधिक धनवान न हो, तो वेदी पर इष्टदेव का पूजन मात्र करके दीक्षा ग्रहण करना चाहिये। आधिदैविक, आधिभौतिक और आध्यात्मिक, सम्पूर्ण अध्वाका सृजनक्रम से शिष्य के शरीर में चिन्तन करके, गुरु पहले बारी-बारी से आठ आहुतियों द्वारा एक-एक की तृप्ति करने के पश्चात्, सृष्टिमान् हो, वसुदेव आदि विग्रहों का उनके निज-निज मन्त्रों द्वारा पूजन एवं हवन करना चाहिये और हवन पूजन के पश्चात् अग्नि आदि का विसर्जन कर देना चाहिये। तत्पश्चात् उपरोक्त हवन द्वारा विनाश क्रम से तत्त्वों का शोधन करना चाहिये।।६०-६८।। दीक्षाकर्म में पहले जिन सूत्रों में गाँठें बाँधी गयी थीं, उनकी वे गाँठें खोल दें। गुरु को उनको शिष्य के शरीर से लेकर, क्रमशः उन तत्त्वों का शोधन करना चाहिये। प्राकृतिक अग्नि एवं आधिदैविक विष्णु में अशुद्धि मिश्रित शुद्ध तत्त्व को लीन करके पूर्णाहुति द्वारा शिष्य को उस तत्त्व से संयुक्त करना चाहिये। इस तरह शिष्य प्रकृति भाव को प्राप्त होता है। तत्पश्चात् गुरु उसके प्राकृतिक गुणों को भावना द्वारा दग्ध करके उसको उनसे छुटकारा दिलावे। ऐसा करके वे शिशुस्वरूप उन शिष्यों को अधिकार में नियुक्त करें। तत्पश्चात् भाव में स्थित हुआ आचार्य भक्तिभाव से शरण में आये हुए यतियों तथा निर्धन शिष्य को 'शक्ति' नाम वाली दूसरी दीक्षा दे। वेदी पर भगवान् विष्णु की पूजा करके पुत्र (शिष्यविशेष) को अपने पास बिठा ले। फिर शिष्य देवता के सम्मुख

अध्वानं निखिलं ध्यात्वा पर्वभिः स्वैर्विकल्पितम्। शिष्यदेहे तथा देवमाधिदैविकयाजनम्।।७४।।
ध्यानयोगेन सञ्चिन्त्य पूर्ववत्ताडनादिना। क्रमात्तत्त्वानि सर्वाणि शोधयेत्स्थण्डिले हरौ।।७५।।
ताडनेन वियोज्याथ गृहीत्वात्मनि तत्पुनः। देवे संयोज्य संशोध्य गृहीत्वा तत्स्वभावतः।।७६।।
आनीय शुद्धतत्त्वे सन्धयित्वा क्रमेण तु। शोधयेद्ध्यानयोगेन सर्वत्रोत्तानमुद्रया।।७७।।
शुद्धेषु सर्वतत्त्वेषु प्रधाने चेश्वरे स्थिते। दग्ध्वा निर्वापयेच्छिष्यान् पदे चैशे नियोजयेत्।।७८।।
निनयेत् सिद्धिमार्गेण साधकं देशिकोत्तमः। एवमेवाधिकारस्थो गृही कर्माण्यतन्द्रितः।।७९।।
आत्मानं शोधयंस्तिष्ठेद्यावद्रागक्षयो भवेत्। क्षीणरागमथात्मानं ज्ञात्वा संशुद्धकिल्विषः।।८०।।
आरोप्य पुत्रे शिष्ये वा ह्यधिकारं तु संयमी। दग्ध्वा मायामयं पाशं प्रव्रज्य स्वात्मनि स्थितः।।
शरीरपातमाकाङ्क्षन्नासीताव्यक्तलिङ्गवान्।।८१।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते सर्वदीक्षाविधिकथनं नाम सप्तविंशोऽध्यायः।।२७।।

हो तिर्यग् दिशा की तरफ मुँह करके स्वयं बैठें। गुरु को शिष्य के शरीर में अपने ही पर्वों से कल्पित सम्पूर्ण अध्वा का ध्यान करके आधिदैविक यजन के लिये प्रेरित करने वाले इष्टदेव का भी ध्यान योग के द्वारा चिन्तन करना चाहिये। फिर पूर्ववत् ताडन आदि के द्वारा क्रमशः सम्पूर्ण तत्त्वों का वेदीगत श्रीहरि में शोधन करना चाहिये। ताडन द्वारा तत्त्वों का वियोजन करके उनको आत्मा में गृहीत करना चाहिये और पुनः इष्टदेव के साथ उनका संयोजन एवं शोधन करके, स्वभावतः ग्रहण करने के अनन्तर ले आकर क्रमशः शुद्ध तत्त्व के साथ संयुक्त करना चाहिये। सभी जगह ध्यान योग एवं उत्तान मुद्रा द्वारा शोधन करना चाहिये।।६९-७७।। सम्पूर्ण तत्त्वों की शुद्धि हो जाने पर जिस समय प्रधान (प्रकृति) तथा परमेश्वर स्थित रह जायँ, उस समय उपरोक्त विधि से प्रकृति को दग्ध करके शुद्ध हुए शिष्यों को परमेश्वर पद में प्रतिष्ठित करना चाहिये। श्रेष्ठ गुरु साधक को इस तरह सिद्धिमार्ग से ले चले। अधिकारारूढ़ गृहस्थ भी इसी तरह आलस्य छोड़कर समस्त कर्मों का अनुष्ठान करना चाहिये। जिस समय तक राग (आसक्ति) का सर्वथा नाश न हो जाय, उस समय तक आत्म शुद्धि का निष्पादन करते रहना चाहिये। जिस समय यह अनुभव हो जाय कि 'मेरे हृदय का राग सर्वथा क्षीण हो गया है', उस समय पाप से शुद्ध हुआ संयमशील पुरुष अपने पुत्र या शिष्य को अधिकार सौंपकर मायामय पाश को दग्ध करके सन्यास ले, आत्मनिष्ठ हो, देहपातकी प्रतीक्षा करते रहना चाहिये। अपनी सिद्धि सम्बन्धी किसी चिह्न को दूसरों पर व्यक्त न होने दे।।८१।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी सत्ताईसवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।२७।।

❖❖❖

अथाष्टविंशोऽध्यायः

आचार्याभिषेकविधानम्

नारद उवाच

अभिषेकं प्रवक्ष्यामि यथा कुर्यात्तु पुत्रकः। सिद्धिभावसाधको येन रोगी रोगात्प्रमुच्यते।।१।।
राज्यं राजा सुतं स्त्री च प्राप्नुयान्मलनाशनम्। मृत्साकुम्भान्सुरत्नाढ्यान् मध्यपूर्वादितो न्यसेत्।।२।।
सहस्रावर्तितान् कुर्यादथवा शतवर्तितान्। मण्डपे मण्डले विष्णुं प्राच्यैशान्योश्च पीठके।।३।।
निवेश्य सङ्कलीकृत्य पुत्रं साधकादिकम्। अभिषेकं समभ्यर्च्य कुर्याद् गीतादिपूर्वकम्।।४।।
दद्याच्च योगपीठादींस्त्वनुग्राह्यास्त्वया नराः। गुरुश्च समयान् ब्रूयाद् गुरुः शिष्योऽथ सर्वभाक्।।५।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते आचार्याभिषेकविधिवर्णनं नामाष्टविंशोऽध्यायः।।२८।।

अध्याय–२८

आचार्य के अभिषेक की विधि

ब्रह्मर्षि नारद जी ने कहा कि–हे महर्षियों! अधुना मैं आचार्य के अभिषेक का वर्णन करने जा रहा हूँ, जिसे पुत्र अथवा पुत्रोपम श्रद्धालु शिष्य सम्पादित कर सकता है। इस अभिषेक से साधक सिद्धि का भागी होता है। और रोगी से मुक्त हो जाता है। राजा को राज्य और स्त्री को पुत्र की प्राप्ति हो जाती है। इससे अन्तःकरण के मल का नाश होता है। मिट्टी के बहुत से घड़ों में उत्तम रत्न रखकर एक स्थान पर स्थापित करना चाहिये। इस तरह एक सहस्र या एक सौ आवृत्ति में उन सभी की स्थापना करना चाहिये। फिर मण्डप के अन्दर कमलाकार मण्डल में पूर्व और ईशानकोण के मध्यभाग में पीठ या सिंहासन पर भगवान् श्रीहरि विष्णु को स्थापित करके पुत्र एवं साधक को आदि का सकलीकरण करना चाहिये। तत्पश्चात् शिष्य यापुत्र भगवत्पूजनपूर्वक गुरु की अर्चना करके उन कलशों के जल से उनका अभिषेक करना चाहिये। उस समय गीत-वाद्य का उत्सव होता रहना चाहिये। फिर योगपीठ आदि गुरु को अर्पित कर दे और प्रार्थना करना चाहिये–' हे गुरुदेव! आप हम सभी मनुष्यों को कृपापूर्वक अनुगृहीत करें।' गुरु को भी उनको समय दीक्षा के अनुकूल आचार का उपदेश देना चाहिये। इससे गुरु और साधक भी सम्पूर्ण मनोरथों के भागी होते हैं।।१-५।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी अट्ठाईसवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।२८।।

❖❖❖

अथैकोनत्रिंशोऽध्यायः

मन्त्रसाधनविधिः सर्वतोभद्रादिमण्डललक्षणानि च

नारद उवाच

साधकः साधयेन्मन्त्रं देवतायतनादिके। शुद्धभूमौ गृहे प्रार्च्य मण्डले हरिमीश्वरम्।।१।।
चतुरस्त्रीकृते क्षेत्रे मण्डलादीनि वै लिखेत्। रसबाणाक्षिकोष्ठेषु सर्वतोभद्रमालिखेत्।।२।।
षट्त्रिंशत्कोष्ठकैः पद्मं पीठे पङ्क्त्या बहिर्भवेत्। द्वाभ्यां तु वीथिका तस्माद् द्वाभ्यां द्वाराणि दिक्षु च।।३।।
वर्तुलं भ्रामयित्वा तु पद्मक्षेत्रं पुरोदितम्। पद्मार्धे भालयित्वा तु भागं द्वादशमं (कं) बहिः।।४।।
विभज्य भ्रामयेच्छेषं चतुष्क्षेत्रं तु वर्तुलम्। प्रथमं कर्णिकाक्षेत्रं केसराणां द्वितीयकम्।।५।।
तृतीयं दलसन्धीनां दलाग्राणां चतुर्थकम्। प्रसार्य कोणसूत्राणि कोणदिङ्मध्यमं ततः।।६।।
निधाय केसराग्रे तु दलसन्धींस्तु लाञ्छयेत्। पातयित्वाथ सूत्राणि तत्र पत्राष्टकं लिखेत्।।७।।
दलमध्यान्तरालं तु मानं मध्ये निधाय तु। दलाग्रं भ्रामयेत्तेन तदग्रं तदनन्तरम्।।८।।
तदन्तरालं तत्पार्श्वे कृत्वा बाह्यक्रमेण च। केसरौ तु लिखेद् द्वौ द्वौ दलमध्ये ततः पुनः।।९।।

अध्याय-२९

मन्त्र साधन विधि तथा सर्वतोभद्रादि मण्डल लक्षण

नारद जी ने कहा कि–हे मुनिवरो! साधक को देव मन्दिर आदि में मन्त्र की साधना करनी चाहिये। गृह के अन्दर शुद्ध भूमि पर मण्डल में परमेश्वर श्रीहरि का विशेष पूजन करके चौकोर क्षेत्र में मण्डल आदि की रचना करनी चाहिये। दो सौ छप्पन कोष्ठों में 'सर्वतोभद्र मण्डल' लिखे। क्रम यह है कि पूर्व से पश्चिम की तरफ तथा उत्तर से दक्षिण की तरफ बराबर सत्रह रेखायें खींचे। ऐसा करने से दो सौ छप्पन कोष्ठ हो जायँगे। उनमें से मध्य के छत्तीस कोष्ठों को एक करके उनके द्वारा कमल बनाये, अथवा उसको कमल का क्षेत्र निश्चित करना चाहिये। इस कमल क्षेत्र के बाहर चारों तरफ की एक-एक पंक्ति को मिटाकर उसके द्वारा पीठ की कल्पना करनी चाहिये, अथवा उसको पीठ समझे। फिर पीठ से भी बाहर की दो-दो पंक्तियों का मार्जन करके, उनके द्वारा 'वीथी' की कल्पना करनी चाहिये। फिर चारों दिशाओं में द्वार निर्माण करना चाहिये। उपरोक्त पद्मक्षेत्र में सभी तरफ बाहर के बारहवें भाग को छोड़ दे और सर्व मध्य स्थान पर सूत्र रखकर, पद्म निर्माण के लिये विभागपूर्वक समान अन्तर रखते हुए, सूत घुमाकर, तीन वृत्त बनाये। इस तरह उस चतुरस्त्र क्षेत्र को वर्तुल (गोल) बना देना चाहिये। इन तीनों में से प्रथम तो कर्णिका का क्षेत्र है, दूसरा केसर का क्षेत्र है और तीसरा दल संधियों का क्षेत्र है। शेष चौथा अंश दलाग्र भाग का स्थान है। कोणसूत्रों को फैलाकर कोण से दिशा के मध्य भाग तक ले जाय तथा केसर के अग्रभाग में सूत रखकर दल संधियों को चिह्नित करना चाहिये।।१-६।। फिर सूत गिराकर अष्टदलों का निर्माण करना चाहिये। दलों के मध्यगत अन्तराल का जो मान है, उसको मध्य में रखकर उससे दलाग्र को घुमावे। तत्पश्चात् उसके भी अग्रभाग को घुमावे। उनके अन्तरालमान को उनके पार्श्व भाग में रखकर बाह्यक्रम से एक-एक दल में दो-दो केसरों का उल्लेख करना चाहिये। यह सामान्यतः कमल का चिह्न है। अधुना द्वादशदल कमल का वर्णन किया जाता है। कर्णिकार्धमान से पूर्व दिशा

पद्मलक्ष्मैतत्सामान्यं तद् द्विषड्दलमुच्यते। कर्णिकार्धेन मानेन प्राक्संस्थं भ्रामयेत्क्रमात्।।१०।।
तत्पार्श्वे भ्रमयोगेण कुण्डल्यः षड् भवन्ति हि। एवं द्वादश मत्स्याः स्युर्द्विषट्कदलकं च तैः।।११।।
पञ्चपत्रादिसिद्ध्यर्थं मत्स्यैः कृत्वैवमब्जकम्। व्योमरेखाबहिःपीठं तत्र कोष्ठानि मार्जयेत्।।१२।।
त्रीणि कोणेषु पादार्थं द्विद्विकान्यपराणि तु। चतुर्दिक्षु विलिप्तानि पत्रकाणि भवन्त्युत।।१३।।
ततः पङ्क्तिद्वयं दिक्षु वीथ्यर्थं तु विलोपयेत्। द्वाराण्याशासु कुर्वीत चत्वारि चतसृष्वपि।।१४।।
द्वाराणां पार्श्वतः शोभा अष्टौ कुर्याद् विचक्षणः। तत्पार्श्व उपशोभास्तु तावत्यः परिकीर्तिताः।।१५।।
समीप उपशोभानां कोणास्तु परिकीर्तिताः। चतुर्दिक्षु ततो द्वे द्वे चिन्तयेन्मध्यकोष्ठकैः।।१६।।
चत्वारि बाह्यतो मृज्यादेकैकं पार्श्वयोरपि। शोभार्थं पार्श्वयोस्त्रीणि त्रीणि लुम्पेद् दलस्य तु।।१७।।
तद्वद्विपर्यये कुर्यादुपशोभां ततः परम्। कोणस्यान्तर्बहिस्त्रीणि चिन्तयेन्निर्विभेदतः।।१८।।
एवं षोडशकोष्ठं स्यादेवमन्यत्तु मण्डलम्। द्विषट्कभागे षड्विंशत्पदं पद्म तु वीथिका।।१९।।
एका पङ्क्तिः पराभ्यां तु द्वारशोभादि पूर्ववत्। द्वादशाङ्गुलिभिः पद्ममेकहस्ते तु मण्डले।।२०।।
द्विहस्ते हस्तमात्रं स्याद् वृद्ध्या द्वारेण चाचरेत्। अपीठं चतुरस्रं स्याद् द्विकरं चक्रपङ्कजम्।।२१।।
पद्मार्धं नवभिः प्रोक्तं नाभिस्तु तिसृभिः स्मृता। अष्टाभिस्त्वारकान् कुर्यान्नेमिं तु चतुरङ्गुलैः।।२२।।

की तरफ सूत रखकर क्रमशः सभी तरफ घुमावे। उसके पार्श्वभाग में भ्रमणयोग से छः कुण्डलियाँ होंगी और द्वादश मत्स्य चिह्न बनेंगे। उनके द्वारा द्वादशदल कमल सम्पन्न होता है। पञ्चदल आदि की सिद्धि के लिये भी इसी तरह मत्स्य चिह्नों से कमल बनाकर, आकाश रेखा से बाहर जो पीठभाग है, वहाँ के कोष्ठों को मिटा देना चाहिये; पीठभाग के चारों कोणों में तीन-तीन कोष्ठकों का उस पीठ के पायों के रूप में कल्पित करना चाहिये। अवशिष्ट जो चारों दिशाओ में दो-दो जोड़े, अर्थात् चार-चार कोष्ठक हैं, उन सभी को मिटा देना चाहिये। वे पीठ के पाटे हैं। पीठ के बाहर चारों दिशाओं की दो-दो पंक्तियों को वीथी (मार्ग) केलिये सर्वथा लुप्त कर दे अर्थात् मिटा दे; तत्पश्चात् चारों दिशाओं में चार द्वारों की कल्पना करनी चाहिये। वीथी के द्वादश जो जो पंक्तियाँ शेष हैं, उनमें से अन्दर वाली पंक्ति के मध्यवर्ती दो-दो कोष्ठों को एक करके द्वार बनाने चाहिये।।७-१४।। द्वारों के पार्श्वभागों में विद्वान् पुरुष को आठ शोभा स्थानों की कल्पना करनी चाहिये और शोभा के पार्श्वभाग में उपशोभा स्थान बनाये। उपशोभाओं की संख्या भी उतनी ही बतलायी गयी है, जितनी कि शोभाओं की। उपशोभाओं के सन्निकट के स्थान 'कोण' कहे गये हैं। तत्पश्चात् चारों दिशाओं में दो-दो मध्यवर्ती कोष्ठकों का और उससे बाह्य पंक्ति के चार-चार मध्यवर्ती कोष्ठकों का द्वार के लिये चिन्तन करना चाहिये। उन सभी को एकत्र करके मिटा दे; इस तरह चार द्वार बन जाते हैं। द्वार के दोनों पार्श्वों में क्षेत्र की बाह्य पंक्ति के एक-एक और अन्दर की पंक्ति के तीन-तीन कोष्ठ को 'शोभा' बनाने के लिये मिटा देना चाहिये। शोभा के पार्श्वभाग में उसके विपरीत करने से, अर्थात् क्षेत्र की बाह्य पंक्ति के तीन-तीन और अन्दर की पंक्ति के एक-एक कोष्ठ को मिटाने से उपशोभा का निर्माण होता है। तत्पश्चात् कोण के अन्दर बाहर के तीन-तीन कोष्ठों का भेद मिटाकर एक करके चिन्तन करना चाहिये।।१५-१८।। इस तरह सोलह-सोलह कोष्ठों से बनने वाले दो सौ छप्पन कोष्ठ वाले मण्डल का वर्णन हुआ। इसी तरह दूसरे मण्डल भी बन सकते हैं। द्वादश द्वादश कोष्ठों से (एक सौ चौवालीस) कोष्ठकों का जो मण्डल बनता है, उसमें भी मध्यवर्ती छत्तीस पदों (कोष्ठों) का कमल होता है। इसमें वीथी नहीं होती। एक पंक्ति पीठ के लिये होती है। शेष दो पंक्तियों द्वारा पूर्ववत् द्वार और शोभा की कल्पना होती है। इसमें उपशोभा नहीं

त्रिधा विभज्य च क्षेत्रमन्तर्द्वाभ्यामथाङ्कयेत्। पञ्चान्तस्त्वारसिद्ध्यर्थं तेष्वास्फाल्य लिखेदरान्॥२३॥
इन्दीवरदलाकारानथ वा मातुलुङ्गवत्। पद्मपत्रायतान्वापि लिखेदिच्छानुरूपतः॥२४॥
भ्रामयित्वा बहिर्नेमावरसन्ध्यन्तरे स्थितः। भ्रामयेदरमूलं तु सन्धिमध्ये व्यवस्थितः॥२५॥
अरमध्ये स्थितो मध्यमराणां भ्रामयेत्समम्। एवं सिध्यन्त्यराः सम्यङ्मातुलिङ्गनिभाः समाः॥२६॥
विभज्य सप्तधा क्षेत्रं चतुर्दशकरं समम्। त्रिधा कृते शतं ह्यत्र षण्णवत्यधिकानि तु॥२७॥
कोष्ठकानि चतुर्भिस्तैर्मध्ये भद्रं समालिखेत्। परितो विसृजेद् वीथ्यै तथा दिक्षु समालिखेत्॥२८॥
कमलानि पुनर्वीथ्यै परितः परिमृज्य तु। द्वे द्वे मध्यकोष्ठे तु ग्रीवार्थं दिक्षु लोपयेत्॥२९॥
चत्वारि बाह्यतः पश्चात्त्रीणि त्रीणि तु लोपयेत्। ग्रीवापार्श्वे बहिस्त्वेकः शोभा सा परिकीर्तिता॥३०॥
विसृज्य बाह्यकोणेषु सप्तान्तस्त्रीणि मार्जयेत्। मण्डलं नवनालं स्यान्नवव्यूहं हरिं यजेत्॥३१॥
पञ्चविंशतिकव्यूहं मण्डलं विश्वरूपगम्। द्वात्रिंशद्हस्तकं क्षेत्रं भक्तं द्वात्रिंशता समम्॥३२॥
एवं कृते चतुर्विंशत्यधिकं तु सहस्त्रकम्। कोष्ठकानां समुद्दिष्टं मध्ये षोडशकोष्ठकैः॥३३॥

देखी जाती। अवशिष्ट छः पदों द्वारा कोणों की कल्पना करनी चाहिये। एक हाथ में मण्डल में द्वादश अंगुल का कमल क्षेत्र होता है। दो हाथ के मण्डल में कमल का स्थान एक हाथ लम्बा-चौड़ा होता है। तदनुसार वृद्धि करके द्वार आदि के साथ मण्डल की रचना करनी चाहिये। दो हाथ का पीठहीन चतुरस्रमण्डल हो, तो उसमें चक्राकार कमल (चक्राब्ज) का निर्माण करना चाहिये। नौ अंगुलों का 'पद्मार्ध' कहा गया है। तीन अंगुलों की 'नाभि' मानी गयी है। आठ अंगुली के 'अरे' बनाये और चार अंगुलों की 'नेमि'। क्षेत्र के तीन भाग करके, फिर अन्दर से प्रत्येक के दो भाग करना चाहिये। अन्दर के जो पाँच कोष्ठक हैं, उनको अरे या आरे बनाने के लिये आस्फालित (मार्जित) करके उनके ऊपर 'अरे' अंकित करना चाहिये। वे अरे इन्दीवर के दलों की सी आकृति वाले हों, अथवा मातुलिङ्ग (बिजौरा नीबू) के आकार के हों या कमलदल के समान विस्तृत हों, अथवा अपनी इच्छा के अनुसार उनकी आकृति अंकित करना चाहिये। अरों की संधियों के मध्य में सूत रखकर उसको बाहर की नेमि तक ले जाय और चारों तरफ घुमावे। अरे के मूल भाग को संधिस्थान में सूत रखकर घुमावे तथा अरे के मध्य में सूत्र स्थापन करना चाहिये। उस मध्य भाग के सभी तरफ समभाव से सूत को घुमावे। इस तरह घुमाने से मातुलिङ्ग के समान 'अरे' बन जायँगे॥१९-२६॥ चौदह पदों के क्षेत्र को सात भागों में बाँट कर पुनः दो-दो भागों में बाँटे अथवा पूर्व से पश्चिम तथा उत्तर से दक्षिण की तरफ पन्द्रह-पन्द्रह समान रेखाएँ खींचे। ऐसा करने से एक सौ छियानबे कोष्ठक सिद्ध होंगे। वे जो कोष्ठक हैं, उनमें से मध्य के चार कोष्ठकों द्वारा 'भद्रमण्डल' लिखे। उसके चारों तरफ वीथी के लिये स्थान त्याग देना चाहिये। फिर सम्पूर्ण दिशाओं में कमल लिखे। उन कमलों के चारों तरफ वीथी के लिये एक-एक कोष्ठ का मार्जन कर देना चाहिये। तत्पश्चात् मध्य के दो-दो कोष्ठ ग्रीवा भाग के लिये विलुप्त कर देना चाहिये। फिर बाहर के जो चार कोष्ठ हैं, उनमें से तीन-तीन को सभी तरफ मिटा देना चाहिये। बाहर का एक-एक कोष्ठ ग्रीवा के पार्श्वभाग में शेष रहने देना चाहिये। उसके द्वारा शोभा की संज्ञा दी गयी है। बाह्य कोणों में सात को छोड़कर अन्दर-अन्दर के तीन-तीन कोष्ठों का मार्जन कर देना चाहिये। इसको 'नवनाल' या 'नवनाभ मण्डल' कहते हैं। उसकी नौ नाभियों में नवव्यूह स्वरूप श्रीहरि का पूजन करना चाहिये। पचीस व्यूहों का जो मण्डल है, वह विश्वव्यापी है, अथवा सम्पूर्ण रूपों व्याप्त है। बत्तीस हाथ अथवा कोष्ठ वाले क्षेत्र को बत्तीस से ही बराबर-बराबर विभाजित कर दे; अर्थात् ऊपर से नीचे को तैंतीस रेखाएँ खींचकर उन पर तैंतीस

भद्रकं परिलिख्याथ पार्श्वे पंक्तिं विसृज्य तु। ततः षोडशभिः कोष्ठैर्दिक्षु भद्राष्टकं लिखेत्॥३४॥
ततोऽपि पंक्तिं सम्मृज्य तद्वत्षोडशभद्रकम्। लिखित्वा परितः पङ्क्तिं विमृज्याथ प्रकल्पयेत्॥३५॥
द्वारद्वादशकं दिक्षु त्रीणि-त्रीणि यथाक्रमम्। षड्बहिः परिलुप्यान्तर्मध्ये चत्वारि पार्श्वयोः॥३६॥
चत्वार्यन्तर्बहिर्द्वे तु शोभार्थं परिमृज्य तु। उपद्वारप्रसिद्ध्यर्थं त्रीण्यन्तः पञ्च बाह्यतः॥३७॥
परिमृज्य तथा शोभां पूर्ववत्परिकल्पयेत्। बहिः कोणेषु सप्तान्तस्त्रीणि कोष्ठानि मार्जयेत्॥३८॥
पञ्चविंशतिकव्यूहे परं ब्रह्म यजेत् कजे। मध्ये पूर्वादितः पद्मे वासुदेवादयः क्रमात्॥३९॥
वाराहं पूजयित्वा तु पूर्वपद्मे ततः क्रमात्। व्यूहान् सम्पूजयेत्तावद्यावत् षट्विंशगो भवेत्॥४०॥
यथोक्तं व्यूहमखिलमेकस्मिन् मण्डले क्रमात्। यष्टव्यमिति मन्त्रेण प्रचेता मन्यतेऽध्वरम्॥४१॥
सत्यस्तु मूर्तिभेदेन विभक्तं मन्यतेऽच्युतम्। चत्वारिंशत्करं क्षेत्रं ह्युत्तरं विभजेत्क्रमात्॥४२॥
एकैकं सप्तधा भूयस्तथैकैकं द्विधा पुनः। चतुःषष्ट्युत्तरं सप्त शतान्येकं सहस्रकम्॥४३॥
कोष्ठकानां समुद्दिष्टं मध्ये षोडशकोष्ठकैः। पार्श्वे वीथीं ततश्चाष्टभद्राण्यथ च वीथिका॥४४॥
षोडशाब्जान्यथो वीथी चतुर्विंशतिपङ्कजम्। वीथीपद्मानि द्वात्रिंशत् पंक्तिवीथीकजान्यथ॥४५॥
चत्वारिंशत्ततो वीथी शेषपङ्क्तित्रयेण तु। द्वारशोभोपशोभाः स्युर्दिक्षु मध्ये विलोप्य च॥४६॥

आड़ी रेखाएँ खींचे। इससे एक हजार चौबीस कोष्ठ बनेंगे। उनमें से मध्य के सोलह कोष्ठों द्वारा 'भद्र मण्डल' की रचना करनी चाहिये। फिर चारों तरफ की एक-एक पंक्ति त्याग देना चाहिये। तत्पश्चात् आठों दिशाओं में सोलह कोष्ठकों द्वारा आठ भद्रमण्डल लिखे। इसको 'भद्राष्टक' की संज्ञा दी गयी है।।३४।। उसके बाद भी एक पंक्ति मिटाकर पुनः पूर्ववत् सोलह भद्रमण्डल लिखे। तत्पश्चात् सभी तरफ की एक-एक पंक्ति मिटाकर प्रत्येक दिशा में तीन-तीन क्रम से द्वादश द्वारों की रचना करनी चाहिये। बाहर के छः कोष्ठ मिटाकर मध्य के पार्श्वभागों के चार मिटा देना चाहिये। फिर अन्दर के चार और बाहर के दो कोष्ठ 'शोभा' के लिये मिटावे। इसके बाद उपद्वार की सिद्धि के लिये अन्दर के तीन और बाहर के पाँच कोष्ठों का मार्जन करना चाहिये। तत्पश्चात् पूर्ववत् 'शोभा' की कल्पना करनी चाहिये। कोणों में आहर के सात और अन्दर के तीन कोष्ठ मिटा देना चाहिये। इस तरह जो पञ्चविंशति का व्यूहमण्डल तैयार होता है, उसके अन्दर की कमलकर्णिका में परब्रह्म परमात्मा का यजन करना चाहिये। फिर पूर्वादि दिशाओं के कमलों में क्रमशः वासुदेव आदि का पूजन करना चाहिये। तत्पश्चात् पूर्ववर्ती कमल पर भगवान् वराह का पूजन करके क्रमशः सम्पूर्ण (अर्थात् पच्चीस) व्यूहों की पूजा करनी चाहिये। यह क्रमतब तक चलता रहे, जिस समय तक छब्बीसवें तत्त्व परमात्मा का पूजन न सम्पन्न हो जाय। इस विषय में प्रचेता का मत यह है कि एक ही मण्डल में इन सम्पूर्ण कथित व्यूहों का क्रमशः पूजन यज्ञ सम्पन्न होना चाहिये। परन्तु 'सत्य' का कथन है कि मूर्ति भेद से भगवान् के व्यक्ति में भेद हो जाता है; इसलिये सभी का पृथक्-पृथक् पूजन करना उचित है। बयालीस कोष्ठ वाले मण्डल को आड़ी रेखा द्वारा क्रमशः विभाजित करना चाहिये। पहले एक-एक के सात भाग करना चाहिये, फिर प्रत्येक के तीन-तीन भाग और उसके भी दो-दो भाग करना चाहिये। इस तरह एक हजार सात सौ चौंसठ कोष्ठक बनेंगे। मध्य के सोलह कोष्ठों से कमल बनाये। पार्श्वभाग में वीथी की रचना करनी चाहिये। फिर आठ भद्र और वीथी बनाये। तत्पश्चात् सोलह दल के कमल और वीथी का निर्माण करना चाहिये। तत्पश्चात् क्रमशः चौबीस दल के कमल, वीथी, बत्तीस दल के कमल, वीथी, चालीस दल के कमल और वीथी बनाये। तत्पश्चात् शेष तीन पंक्तियों से द्वार, शोभा और उपशोभाएँ बनेंगी। सम्पूर्ण दिशाओं के मध्यभाग में द्वार सिद्धि के लिये दो, चार और छः कोष्ठकों को मिटावे। उसके बाह्यभाग में शोभा

द्विचतुष्षड्द्वारसिद्ध्यै चतुर्दिक्षु विलोपयेत्। पञ्चत्रीण्येककं बाह्ये शोभोपद्वारसिद्धये।।४७।।
द्वाराणां पार्श्वयोरन्तः षट्चत्वारि च मध्यतः। द्वे द्वे लुम्पेदेवमेव षड् भवन्त्युपशोभिकाः।।४८।।
एकस्यां दिशि सङ्ख्याः स्युश्चतस्रः परिसङ्ख्यया। एकैकस्यां दिशि त्रीणि द्वाराण्यपि भवन्त्यतः।।४९।।
पञ्च पञ्च तु कोणेषु पङ्क्तौ पङ्क्तौ क्रमात् सृजेत्। कोष्ठकानि भवेदेवं सतीष्टं मण्डलं शुभम्।।५०।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते सर्वतोभद्रादिमण्डलवर्णन नामैकोनत्रिंशोऽध्यायः।।२९।।

अथ त्रिंशोऽध्यायः

सर्वतोभद्रमण्डलादिविधिः

नारद उवाच

मध्ये पद्मे यजेद् ब्रह्म साङ्गं पूर्वेऽब्जनाभकम्। आग्नेयेऽब्जे च प्रकृतिं याम्येऽब्जे पुरुषं यजेत्।।१।।
पुरुषाद् दक्षिणे वह्निं नैर्ऋते वारुणेऽनिलम्। आदित्यमैन्दवे पद्मे ऋग्यजुश्चैश पद्मके।।२।।
इन्द्रादींश्च द्वितीयायां पद्मे षोडशके तथा। सामाथर्वाणमाकाशं वायुं तेजस्तथा जलम्।।३।।
पृथिवीं च मनश्चैव श्रोत्रं त्वक्चक्षुरर्चयेत्। रसनां च तथा घ्राणं भूर्भुवश्चैव षोडशम्।।४।।

तथा उपद्वार की सिद्धि के लिये पाँच, तीन और एक कोष्ठ मिटावे। द्वारों के पार्श्वभागों में अन्दर की तरफ क्रमशः छः तथा चार कोष्ठ मिटावे और मध्य के दो-दो कोष्ठ लुप्त कर देना चाहिये। इस तरह छः उपशोभाएँ बन जायँगी। एक-एक दिशा में चार-चार शोभाएँ और तीन-तीन द्वार होंगे। कोणों में प्रत्येक पंक्ति के पाँच-पाँच कोष्ठ छोड देना चाहिये। वे कोण होंगे। इस तरह रचना करने पर सुन्दर अभीष्ट मंण्डल का निर्माण होता है।।५०।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी उनतीसवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।२९।।

अध्याय-३०

सर्वतोभद्रमण्डल आदि की पूजा

ब्रह्मर्षि नारदजी ने कहा कि-हे मुनिवरों! उपरोक्त भद्रमण्डल के मध्यवर्ती कमल में अङ्गों सहित ब्रह्म का पूजन करना चाहिये। पूर्ववर्ती कमल में भगवान् पद्मनाभ का, अग्निकोण वाले कमल में प्रकृतिदेवी का तथा दक्षिण दिशा के कमल में पुरुष की पूजा करनी चाहिये। पुरुष के दक्षिण भाग में अग्नि देवता की, नैर्ऋत्यकोण में निर्ऋति की, पश्चिम दिशा वाले कमल में वरुण की, वायव्य कोण में वायु की, उत्तर दिशा के कमल में आदित्य की तथा ईशान कोण वाले कमल में ऋग्वेद एवं यजुर्वेद का पूजन करना चाहिये। द्वितीय आवरण में इन्द्र आदि दिक्पालों का और षोडशदल वाले कमल में क्रमशः सामवेद, अथर्ववेद, आकाश, वायु, तेज, जल, पृथिवी, मन, श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, रसना, घ्राणेन्द्रिय, भूर्लोक, भुवर्लोक तथा सोलहवें में स्वर्लोक का पूजन करना चाहिये।।१-४।। तत्पश्चात् तृतीय

महर्जनस्तपः सत्यं तथाग्निष्टोममेव च। अत्यग्निष्टोमकं चोक्थं षोडशीं वाजपेयकम्।।५।।
अतिरात्रं च सम्पूज्य तथाप्तोर्याममर्चयेत्। मनो बुद्धिमहङ्कारं शब्दं स्पर्शं च रूपकम्।।६।।
रसं गन्धं च पद्मेषु चतुर्विंशतिषु क्रमात्। जीवं मनो धियं चाहं प्रकृतिं शब्दमात्रकम्।।७।।
वासुदेवादिमूर्तींश्च तथा चैव दशात्मकम्। मनः श्रोत्रं त्वचं प्राच्र्य चक्षुश्च रसनं तथा।।८।।
घ्राणं वाक्पाणिपादं च द्वात्रिंशद्वारिजेष्विमान्। चतुर्थावरणे पूज्याः साङ्गाः सपरिवारकाः।।९।।
पायूपस्थौ च सम्पूज्य मासानां द्वादशाधिपान्। पुरुषोत्तमादिषड्विंशान् बाह्यावरणके यजेत्।।१०।।
चक्राब्जे तेषु सम्पूज्या मासानां पतयः क्रमात्। अष्टौ प्रकृतयः षड्वा पञ्च वा चतुरोऽपरे।।११।।
रजःपातं ततः कुर्याल्लिखिते मण्डले शृणु। कर्णिका पीतवर्णा स्याद्रेखाः सर्वाः सिताः समाः।।१२।।
द्विहस्तेऽङ्गुष्ठमात्राः स्युर्हस्ते बाहुसमाः सिताः। पद्मं शुक्लेन सन्धींस्तु कृष्णेन श्यामतोऽथ वा।।१३।।
केसराः रक्तपीताः स्युः कोणान् रक्तेन पूरयेत्। भूषयेद्योगपीठं तु यथेष्टं सार्ववर्णिकैः।।१४।।
लतावितानपत्राद्यैर्वीथिकामुपशोभयेत्। पीठद्वारे तु शुक्लेन शोभा रक्तेन पूरिताः।।१५।।
उपशोभाश्च नीलेन कोणशङ्खांश्च वै सितान्। भद्रके पूरणं प्रोक्तमेवमन्येषु पूरणम्।।१६।।
त्रिकोणं सितरक्तेन कृष्णेन च विभूषयेत्। द्विकोणं रक्तपीताभ्यां नाभिं कृष्णेन चक्रके।।१७।।

आवरण में चौबीस दल वाले कमल में क्रमशः महर्लोक, जनलोक, तपोलोक, सत्यलोक, अग्निष्टोम, अत्यग्निष्टोम, उक्थ, षोडशी, वाजपेय, अतिरात्र, आप्तोर्याम, व्यष्टि बुद्धि, व्यष्टि अहंकार, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, जीव, समष्टि मन, समष्टि बुद्धि (महत्तत्व), समष्टि अहंकार तथा प्रकृति–इन चौबीस की अर्चना करनी चाहिये। इन सभी का स्वरूप शब्दमात्र है–अर्थात् केवल इनका नाम लेकर इनके प्रति मस्तक झुका लेना चाहिये। इनकी पूजा में इनके स्वरूप का चिन्तन अनावश्यक है। पचीसवें अध्याय में कथित वासुदेवादिनौ मूर्ति, दशविध प्राण, मन, बुद्धि, अहंकार, पायु और उपस्थ, श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, रसना, घ्राण, वाक्, पाणि और पाद–इन बत्तीस वस्तुओं की बत्तीस दल वाले कमल में अर्चना करनी चाहिये। ये चौथे आवरण के देवता हैं। कथित आवरण में इनका साङ्ग एवं सपरिवार पूजन होना चाहिये।।५-९।। तत्पश्चात् बाह्य आवरण में पायु और उपस्थ की पूजा करके द्वादश मासों के द्वादश अधिपतियों का तथा पुरुषोत्तम आदि छब्बीस तत्त्वों का यजन करना चाहिये। उनमें से जो मासाधिपति हैं, उनका चक्राब्ज में क्रमशः पूजन करना चाहिये। आठ, छः, पाँच या चार प्रकृतियों का भी पूजन वहीं करना चाहिये। तत्पश्चात् लिखित मण्डल में विभिन्न रंगों के चूर्ण डालने का विधान है। कहाँ, किस रंग के चूर्ण का उपयोग है, यह सुनो। कमल की कर्णिका पीले रंग की होनी चाहिये। समस्त रेखाएँ बराबर और श्वेत रंग की रहना चाहिये। दो हाथ मण्डल में रेखाएँ अंगूठे के बराबर मोटी होनी चाहिये। एक हाथ के मण्डल में उनकी मोटाई आधे अंगूठे के समान रखनी चाहिये। रेखाएँ श्वेत बनायी जायँ। कमल को श्वेत रंग से और संधियों को काले या श्याम (नीले) रंग से रंगना चाहिये। केसर लाल–पीले रंग के होने चाहिये। कोणगत कोष्ठों को लाल रंग के चूर्ण से भरना चाहिये। इस तरह योगपीठ को सभी तरह के रंगों से यथेष्ट विभूषित करना चाहिये। लता-वल्लरियों और पत्तों आदि से वीथी की शोभा बढ़ावे। पीठ के द्वार को श्वेत रंग से सजावे और शोभास्थानों को लाल रंग के चूर्ण से भरे। उपशोभाओं को नीले रंग से विभूषित करना चाहिये। कोणों के शंखों को श्वेत चित्रित करना चाहिये। यह भद्र मण्डल में रंग भरने की बात बतलायी गयी है। अन्य मण्डलों में भी इसी तरह विविध रंगों के चूर्ण भरने चाहिये। त्रिकोण मण्डल को श्वेत, रक्त और कृष्ण रंग से अलंकृत

अरकान्पीतरक्ताभिः श्यामान्नेमिस्तु रक्ततः। सितश्यामारुणाः कृष्णाः पीता रेखास्तु बाह्यतः।।१८।।
शालिपिष्टादि शुक्लं स्याद्रक्तं कौसुम्भकादिकम्। हरिद्रया च हारिद्रं कृष्णं स्याद्दग्धधान्यतः।।१९।।
शमीपत्रादिकैः श्यामं बीजानां लक्षजाप्यतः। चतुर्लक्षैस्तु मन्त्राणां विद्यानां लक्षसाधनम्।।२०।।
अयुतं वृद्धविद्यानां स्तोत्राणां च सहस्रकम्। पूर्वमेवाथ लक्षेण मन्त्रशुद्धिस्तथात्मनः।।२१।।
तथापरेण लक्षेण मन्त्रः क्षेत्रीकृतो भवेत्। पूर्वसेवासमो होमो बीजानां सम्प्रकीर्तितः।।२२।।
पूर्वसेवादशांशेन मन्त्रादीनां प्रकीर्तिता। पुरश्चर्या तु मन्त्रेण मासिकं व्रतमाचरेत्।।२३।।
भुवि न्यसेद्वामपादं न गृह्णीयात्प्रतिग्रहम्। एवं द्वित्रिगुणेनैव मध्यमोत्तमसिद्धयः।।२४।।
मन्त्रध्यानं प्रवक्ष्यामि येन स्यान्मन्त्रजं फलम्। स्थूलं शब्दमयं रूपं विग्रहं बाह्यमिष्यते।।२५।।
सूक्ष्मं ज्योतिर्मयं रूपं हार्दं चिन्तामयं भवेत्। चिन्तया रहितं यत्तु तत्परं परिकीर्तितम्।।२६।।
वाराहसिंहशक्तीनां स्थूलं रूपं प्रधानतः। चिन्तया रहितं रूपं वासुदेवस्य कीर्तितम्।।२७।।
इतरेषां स्मृतं रूपं हार्दं चिन्तामयं सदा। स्थूलं वैराजमाख्यातं सूक्ष्मं वै लिङ्गितं भवेत्।।२८।।
चिन्तया रहितं रूपमैश्वरं परिकीर्तितम्। हृत्पुण्डरीकनिलयं चैतन्यं ज्योतिरव्ययम्।।२९।।

करना चाहिये। द्विकोण को लाल और पीले से रंगे। चक्राब्ज में जो नाभिस्थान है, उसको कृष्ण रंग के चूर्ण से विभूषित करना चाहिये।।१०-१७।। चक्राब्ज के अरों को पीले और लाल से रंगे। नेमि को नीले तथा लाल रंग से सजावे और बाहर की रेखाओं को श्वेत, श्याम, अरुण, काले एवं पीले से रंगे। अगहनी चावल का पीसा हुआ चूर्ण आदि श्वेत रंग का काम करता है। कुसुम्भ आदि का चूर्ण लाल रंग की पूर्ति करता है। पीला रंग हल्दी के चूर्ण से तैयार होता है। जले हुए चावल के चूर्ण से काले रंग की आवश्यकता पूर्ण हो जाती है। शमी-पत्र आदि से श्याम रंग का काम लिया जाता है। बीज मन्त्रों का एक लाख जप करने से, अन्य मन्त्रों का उनके अक्षरों के बराबर लाख बार जप करने से, विद्याओं को एक लक्ष जपने से, बुद्ध-विद्याओं को दस हजार जपने से, स्तोत्रों का एक सहस्र बार पाठ करने से अथवा सभी मन्त्रों को पहली बार एक लाख जप करने से उन मन्त्रों तथा अपनी भी शुद्धि हो जाती है। दूसरी बार एक लाख जपने से मन्त्र क्षेत्रीकृत होता है। बीज मन्त्रों का पहले जितना जप कियागया हो, उतना ही उनके लिये हवन का भी विधान है। अन्य मन्त्रादि के हवन की संख्या पूर्वजप के दशांश के तुल्य बतलायी गयी है। मन्त्र से पुरश्चरण करना हो, तो एक-एक मास का व्रतले। पृथ्वी पर पहले बायाँ पैर रखे। किसी से दान न ले। इस प्रका दुगुना और तिगुना जप करने से ही मध्यम और उत्तम श्रेणी की सिद्धियाँ प्राप्त हाती हैं। अधुना मैं मन्त्र का विधान बताता हूँ, जिससे मन्त्र जपजनित फल की प्राप्ति हो जाती है। मन्त्र का स्थूल रूप शब्दमय है; इसको उसका बाह्य विग्रह माना गया है। मन्त्र का सूक्ष्मरूप ज्योतिर्मय है। यही उसका आन्तरिक रूप है। यह केवल चिन्तनमय है। जो चिन्तन से भी हीन है, उसको 'पर' कहा गया है। वाराह, नरसिंह तथा शक्ति के स्थूल रूप की ही प्रधानता है। वासुदेव का रूप चिन्तनहीन (अचिन्त्य) कहा गया है।।१८-२७।। अन्य देवताओं का चिन्तामय आन्तरिक रूप ही सदा 'मुख्य' माना गया है। 'वैराज' अर्थात् विराट् का स्वरूप 'स्थूल' कहा गया है। लिङ्गमय स्वरूप को 'सूक्ष्म' समझना चाहिये। ईश्वर का जो स्वरूप बतलाया गया है, वह चिन्ताहीन है। बीज मन्त्र हृदयकमल में निवास करने वाला, अविनाशी, चिन्मय, ज्योतिःस्वरूप और जीवात्मक है। उसकी आकृति कदम्ब पुष्प के समान है-इस तरह ध्यान करना चाहिये। जिस प्रकार घड़े के अन्दर रखे हुए दीपक की प्रभा का प्रसार अवरुद्ध हो जाता है; वह संहत भाव से अकेला ही

बीजं जीवात्मकं ध्यायेत् कदम्बकुसुमाकृतिम्। कुम्भान्तरगतो दीपो निरुद्धप्रसवो यथा।।३०।।
संहतः केवलस्तिष्ठेदेवं मन्त्रेश्वरो हृदि। अनेकसुषिरे कुम्भे तावन्मात्रा गभस्तयः।।३१।।
प्रसरन्ति बहिस्तद्वन्नाडीभिर्बीजरश्मयः। अन्त्रावभासका दैवीमात्मीकृत्य तनुं स्थितः।।३२।।
हृदयात्प्रस्थिता नाड्यो दर्शनेन्द्रियगोचराः। द्वेऽग्नीसोमात्मिके तासां नाड्यौ नासाग्रसंस्थिते।।३३।।
सम्यगुद्धातयोगेन जित्वा देहसमीरणम्। जपध्यानरतो मन्त्रीं मन्त्रजं फलमश्नुते।।३४।।
संशुद्धभूततन्मात्रः सकामो योगमभ्यसन्। अणिमादिमवाप्नोति विरक्तः प्रविलङ्घ्य च।।३५।।
चिदात्मको भूतमात्रान् मुच्यते चेन्द्रियग्रहात्।।३६।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते सर्वतोभद्रमण्डलादिविधिकथनं नाम त्रिंशोऽध्यायः।।३०।।

स्थित रहता है, उसी तरह मन्त्रेश्वेर हृदय में विराजमान हैं। जिस प्रकार अनेक छिद्र वाले कलश में जितने छेद होते हैं, उतनी ही दीपक की प्रभा की किरणें बाहर की तरफ फैलती हैं, उसी तरह नाडियों द्वारा ज्योतिर्मय बीजमन्त्र की रश्मियाँ आँतों को प्रकाशित करती हुई दैव-देह को अपना कर स्थित हैं। नाडियाँ हृदय से प्रस्थित हो नेत्रेन्द्रियों तक चली गयी हैं। उनमें से दो नाडियाँ अग्नीषोमात्मक हैं, जो नासिकाओं के अग्रभाग में स्थित हैं। मन्त्र का साधक सम्यक् उद्धात योग से शरीरव्यापी प्राणवायु को जीतकर जप और ध्यान में तत्पर रहे तो वह मन्त्रजनित फल का भागी होता है। पञ्चभूततन्मात्राओं की शुद्धि करके योगाभ्यास करने वाला साधक यदि सकाम हो, तो अणिमा आदि सिद्धियों को पाता है और यदि विरक्त हो, तो उन सिद्धियों को लाँघकर, चिन्मय स्वरूप से स्थित हो, भूतमात्र से तथा इन्द्रियरूपी ग्रह से सर्वथा मुक्त हो जाता है।।२८-३६।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी तीसवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।३०।।

❖❖❖

अथैकत्रिंशोऽध्यायः

अपामार्जनविधानम्

अग्निरुवाच

रक्षां स्वस्य परेषां च वक्ष्येऽपामार्जनाह्वयाम्। यथा विमुच्यते दुःखैः सुखं च प्राप्नुयान्नरः।।१।।
ॐ नमः परमार्थाय पुरुषाय महात्मने। अरूपबहुरूपाय व्यापिने परमात्मने।।२।।
(निष्कल्मषाय शुद्धाय ध्यानयोगरताय च) नमस्कृत्य प्रवक्ष्यामि यत्तत् सिध्यतु मे वचः।।३।।
वराहाय नृसिंहाय वामनाय महात्मने। नमस्कृत्य प्रवक्ष्यामि यत्तत् सिध्यतु मे वचः।।४।।
त्रिविक्रमाय रामाय वैकुण्ठाय नराय च। नमस्कृत्य प्रवक्ष्यामि यत्तत् सिध्यतु मे वचः।।५।।
वराह नरसिंहेश वामनेश त्रिविक्रम। हयग्रीवेश सर्वेश हृषीकेश हराशुभम्।।६।।
अपराजितचक्राद्यैश्चतुर्भिः परमायुधैः। अखण्डितानुभावैस्त्वं सर्वदुष्टहरो भव।।७।।
हरामुकस्य दुरितं सर्वं च कुशलं कुरु। मृत्युबन्धार्तिभयदं दुरिष्टस्य च यत्फलम्।।८।।
पराभिध्यानसहितैः प्रयुक्तं चाभिचारिकम्। गरस्पर्शमहारोगप्रयोगं जरया जर।।९।।
ॐ नमो वासुदेवाय नमः कृष्णाय खड्गिने। नमः पुष्करनेत्राय केशवायादिचक्रिणे।।१०।।

अध्याय-३१

अपामार्जन विधान कथन

भगवान् अग्निदेव ने कहा कि–हे मुने! अधुना मैं अपनी तथा दूसरों की रक्षा का उपाय बतलाता हूँ। उसका नाम है–मार्जन (या अपामार्जन)। यह वह रक्षा है, जिसके द्वारा मानव दुःख से छूट जाता है और सुख को प्राप्त कर लेता है। उन सच्चिदानन्दमय, परमार्थस्वरूप, सर्वान्तार्यामी, महात्मा, निराकार तथा सहस्रों आकारधारी व्यापक परमात्मा को मेरा नमस्कार है। जो समस्त कल्मषों से हीन, परम शुद्ध तथा नित्य ध्यानयोगरत है, उसको नमस्कार करके मैं प्रस्तुत रक्षा के विषय में कहने जा रहा हूँ, जिससे मेरी वाणी सत्य हो। हे महामुने! मैं भगवान् वाराह, नृसिंह तथा वामन को भी नमस्कार करके रक्षा के विषय में कहने जा रहा हूँ, मेरा वह कथन सिद्ध (सफल) हो। मैं भगवान् त्रिविक्रम (त्रिलोकी को तीन पगों से नापने वाले विराट् स्वरूप), श्रीराम, वैकुण्ठ (नारायण) तथा नर को भी नमस्कार करके जो कहने जा रहा हूँ, वह मेरा वचन सत्य सिद्ध हो।।१-५।। हे भगवन् वराह! नृसिंहेश्वर! वामनेश्वर! त्रिविक्रम! हयग्रीवेश, सर्वेश तथा हृषीकेश! मेरा सारा अशुभ हर लीजिये। किसी से भी पराजित न होने वाले परमेश्वर! अपने अखण्डित प्रभावशाली चक्र आदि चारों आयुधों से समस्त दुष्टों का विनाश कर डालिये। हे प्रभो! आप अमुक (रोगी या प्रार्थी) के सम्पूर्ण पापों को हर लीजिये और उसके लिये पूर्णतया कुशल क्षेम का निष्पादन कीजिये। दोषयुक्त यज्ञ या पाप के फलस्वरूप जो मृत्यु, बन्धन, रोग, पीड़ा या भय आदि प्राप्त होते हैं, उन सभी को मिटा दीजिये।।६-८।। दूसरों के अनिष्ट चिन्तन में संलग्न लोगों द्वारा जो आभिचारिक कर्म का, विषमिश्रित अन्न पान का या महारोग का प्रयोग किया जाता है, उन सभी को जरा जीर्ण कर डालिये अर्थात् नष्ट कर दीजिये। ॐ भगवान् वासुदेव को नमस्कार है। खड्गधारी श्रीकृष्ण को नमस्कार है। आदिचक्रधारी कमलनयन केशव को नमस्कार है। कमलपुष्प के

नमः कमलकिञ्जल्कपीतनिर्मलवाससे। महाहयरिपुस्कन्धधृष्टचक्राय चक्रिणे॥११॥
दंष्ट्रोद्धृतक्षितिभृते त्रयीमूर्तिमते नमः। महायज्ञवराहाय शेषभागाङ्कशायिने॥१२॥
तप्तहाटककेशान्त ज्वलत्पावकलोचन। वज्राधिकनखस्पर्श दिव्यसिंह नमोऽस्तु ते॥१३॥
काश्यपायातिह्रस्वाय ऋग्यजुःसामभूषिणे। तुभ्यं वामनरूपायाक्रमते गां नमो नमः॥१४॥
वराहाशेषदुष्टानि सर्वपापफलानि वै। मर्द मर्द महादंष्ट्र मर्द मर्द च तत्फलम्॥१५॥
नारसिंह करालास्य दन्तप्रान्तानलाज्ज्वल। भञ्ज भञ्ज निनादेन दुष्टान् पश्यार्तिनाशन॥१६॥
ऋग्यजुःसामगर्भाभिर्वाग्भिर्वामनरूपधृक्। प्रशमं सर्वदुःखानि नयत्वस्य जनार्दनः॥१७॥
ऐकाहिकं द्व्याहिकं च तथा त्रिदिवसं ज्वरम्। चातुर्थिकं तथात्युग्रं तथैव सततं ज्वरम्॥१८॥
दोषोत्थं सन्निपातात्थं तथैवागन्तुकं ज्वरम्। शमं नयाशु गोविन्द छिन्धि छिन्ध्यस्य वेदनाम्॥१९॥
नेत्रदुःखं शिरोदुःखं दुःखं चोदरसम्भवम्। अनिश्वासमतिश्वासं परितापं सवेपथुम्॥२०॥
गुदघ्राणाङ्घ्रिरोगांश्च कुष्ठरोगांस्तथा क्षयम्। कामलादींस्तथा रोगान् प्रमेहांश्चातिदारुणान्॥२१॥
भगन्दरातिसारांश्च मुखरोगांश्च वल्गुलीम्। अश्मरीं मूत्रकृच्छ्रांश्च रोगानन्यांश्च दारुणान्॥२२॥
ये वातप्रभवा रोगा ये च पित्तसमुद्भवा। कफोद्भवाश्च ये केचिद्ये चान्ये सान्निपातिकाः॥२३॥
आगन्तुकाश्च ये रोगा लूताविस्फोटकादयः। ते सर्वे प्रशमं यान्तु वासुदेवस्य कीर्तनात्॥२४॥
विलयं यान्तु ते सर्वे विष्णोरुच्चारणेन च। क्षयं गच्छन्तु चाशेषास्ते चक्राभिहता हरेः॥२५॥

केसरों की भाँति पीत-निर्मल वस्त्र धारण करने वाले भगवान् पीताम्बर को नमस्कार है। जो महासमर में शत्रुओं के कंधों से घृष्ट होता है, ऐसे चक्र के चालक भगवान् चक्रपाणि को नमस्कार है। अपनी दंष्ट्रा पर उठायी हुई पृथ्वी को धारण करने वाले वेद विग्रह एवं शेषशय्याशायी महान् यज्ञवराह को नमस्कार है। हे दिव्यसिंह! आपके केशान्त प्रतप्त सुवण के समान कान्तिमान् हैं, नेत्र प्रज्वलित पावक के समान तेजस्वी हैं तथा आपके नखों का स्पर्श वज्र से भी अधिक तीक्ष्ण है; आपको नमस्कार है। अत्यन्त लघुकाय तथा ऋग्, यजु और साम तीनों वेदों से विभूषित आप कश्यपकुमार वामन को नमस्कार है। विराट् रूप से पृथ्वी को लाँघ जाने वाले आप त्रिविक्रम को नमस्कार है। हे वराहरूपधारी नारायण! समस्त पापों के फलरूप से प्राप्त सम्पूर्ण दुष्ट रोगों को कुचल दीजिये, कुचल दीजिये। बड़े-बड़े दाढ़ों वाले महावराह! पापजनित फल को मसल डालिये, नष्ट कर दीजिये। हे विकटानन नृसिंह! आपका दन्त प्रानत अग्नि के समान जाज्वल्यमान है। आर्तिनाशन! आक्रमणकारी दुष्टों को देखिये और अपनी दहाड़ से इन सभी का नाश कीजिये, नाश किजिये। वामनरूपधारी जनार्दन! ऋक् यजुः एवं सामवेद के गूढ तत्त्वों से भरी वाणी द्वारा इस आर्तजन के समस्त दुःखों का शमन कीजिये। हे गोविन्द! इसके तिदोषज, संनिपातज, आगन्तुक, ऐकाहिक, द्व्याहिक, त्र्याहिक तथा अत्यन्त उग्र चातुर्थिक ज्वर को एवं सतत् बने रहने वाले ज्वर को भी शीघ्र शान्त कीजिये। इसकी वेदना को मिटा दीजिये, मिटा दीजिये॥९-१९॥ इस दुखिया के नेत्ररोग, शिरोरोग, उदररोग, श्वासवरोध, अतिश्वास (दमा), परिताप, कम्पन, गुदरोग, नासिका रोग, पादरोग, कुष्ठरोग, क्षयरोग, कामला आदि रोग, अत्यन्त दारुण प्रमेह, भगंदर, अतिसार, मुखरोग, वल्गुली, अश्मरी (पथरी), मूत्रकृच्छ्र तथा अन्य महाभयंकर रोगों को भी दूर कीजिये। भगवान् वासुदेव के संकीर्तन मात्र से जो भी वातज, पित्तज, कफज, संनिपातज, आगन्तुक तथा लूता (मकड़ी), विस्फोट (फोड़े) आदि रोग हैं। वे सभी अपमार्जित होकर शान्त हो जायँ। वे सभी भगवान् श्रीहरि विष्णुजी के

अच्युतानन्तगोविन्दनामोच्चारणभेषजात्। नश्यन्ति सकला रोगाः सत्यं सत्यं वदाम्यहम्।।२६।।
स्थावरं जङ्गमं वापि कृत्रिमं चापि यद् विषम्। दन्तोद्‌भवं नखभवमाकाशप्रभवं विषम्।।२७।।
लूतादिप्रभवं यच्च विषमन्यत्तु दुःखदम्। शमं नयतु तत् सर्वं वासुदेवस्य कीर्तनम्।।२८।।
ग्रहान् प्रेतग्रहांश्चापि तथा वै डाकिनीग्रहान्। वेतालांश्च पिशाचांश्च गन्धर्वान् यक्षराक्षसान्।।२९।।
शकुनीपूतनाद्यांश्च तथा वैनायकान्ग्रहान्। मुखमण्डीं तथा क्रूरां रेवतीं वृद्धरेवतीम्।।३०।।
वृद्धिकाख्यान् ग्रहांश्चोग्रांस्तथा मातृग्रहानपि। बालस्य विष्णोश्चरितं हन्तु बालग्रहानिमान्।।३१।।
वृद्धाश्च ये ग्रहाः केचिद्ये च बालग्रहाः क्वचित्। नरसिंहस्य ते दृष्ट्या दग्धा ये चापि यौवने।।३२।।
सटाकरालवदनो नारसिंहो महाबलः। ग्रहानशेषान्निःशेषान्करोतु जगतो हितः।।३३।।
नरसिंह महासिंह ज्वालामालोज्ज्वलानन। ग्रहानशेषान् सर्वेश खाद खादाग्निलोचन।।३४।।
ये रोगा ये महोत्पाता यद् विषं ये महाग्रहाः। यानि च क्रूरभूतानि ग्रहपीडाश्च दारुणाः।।३५।।
शस्त्रक्षतेषु ये दोषा ज्वालागर्दभकादयः। तानि सर्वाणि सर्वात्मा परमात्मा जनार्दनः।।३६।।
किञ्चिद्रूपं समास्थाय वासुदेवास्य नाशय। क्षिप्त्वा सुदर्शनं चक्रं ज्वालामालातिभीषणम्।।३७।।
सर्वदुष्टोपशमनं कुरु देववराच्युत! सुदर्शन महाज्वालच्छिन्धि च्छिन्धि महारव।।३८।।
सर्वदुष्टानि रक्षांसि क्षयं यान्तु विभीषण। प्राच्यां प्रतीच्यां च दिशि दक्षिणोत्तरतस्तथा।।३९।।
रक्षां करोतु सर्वात्मा नरसिंहः स्वगर्जितैः। दिवि भुव्यन्तरिक्षे च पृष्ठतः पार्श्वतोऽग्रतः।।४०।।

नामोच्चारण के प्रभाव से विलुप्त हो जायँ। वे समस्त रोग भगवान् श्रीहरि विष्णुजी के चक्र से प्रतिहत होकर क्षय को प्राप्त हों। 'अच्युत' 'अनन्त' एवं 'गोविन्द'–इन नामों के उच्चारण रूप औषध से सम्पूर्ण रोग नष्ट हो जाते हैं, यह मैं सत्य-सत्य वचन कह रहा हूँ।।२६।। स्थावर, जंगम, कृत्रिम, दन्तोद्भूत, नखोद्भूत, आकशोद्भूत तथा लूता आदि से उत्पन्न एवं अन्य जो भी दुःखप्रद विष हों–भगवान् वासुदेव का संकीर्तन उनका प्रशमन करना चाहिये। बालरूपधारी श्रीहरि (श्रीकृष्ण)के चरित्र का कीर्तन ग्रह, प्रेतग्रह, डाकिनीग्रह, वेताल, पिशाच, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, शकुनी पूजना आदि ग्रह, विनायकग्रह, मुख मण्डिका, क्रूर रेवती, वृद्धरेवती, वृद्धि का नाम से प्रसिद्ध उग्र ग्रह एवं मातृग्रह–इन सभी बालग्रहों का नाश करना चाहिये। हे भगवन्! आप नृसिंह के दृष्टिपात से जो भी वृद्ध, बाल तथा युवा ग्रह हों, वे दग्ध हो जायँ। जिनका मुख सटा समूह से विकराल प्रतीत होता है, वे लोकहितैषी महाबलवान् भगवान् नृसिंह समस्त बालग्रहों को निःशेष कर दें। महासिंह नरसिंह! ज्वालामालाओं से आपका मुखमण्डल उज्ज्वल हो रहा है। हे अग्निलोचन! सर्वेश्वर! समस्त ग्रहों का भक्षण कीजिये, भक्षण कीजिये।।३४।। हे वासुदेव! आप सर्वात्मा परमेश्वर जनार्दन हैं। इस व्यक्ति के जो भी रोग, महान् उत्पात, विष, महाग्रह, क्रूर भूत, दारुण ग्रहपीड़ा तथा ज्वालागर्दभक आदि शस्त्रक्षत जनित दोष हों, उन सभी का कोई भी रूप धारण करके नाश करें। हे देवश्रेष्ठ अच्युत! ज्वालामालाओं से अत्यन्त भीषण सुदर्शन चक्र को प्रेरित करके समस्त दुष्ट रोगों का शमन कीजिये। हे महाभयंकर सुदर्शन! आप प्रचण्ड ज्वालाओं से सुशोभित और महान् शब्द करने वाले हो; इसलिये सम्पूर्ण दुष्ट राक्षसों का विनाश करो, विनाश करो। वे तुम्हारे प्रभाव से क्षय को प्राप्त हों। पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण दिशा में सर्वात्मा नृसिंह अपनी गर्जना से रक्षा करें। स्वर्गलोक में, भूलोक में, अन्तरिक्ष में तथा आगे-पीछे अनेक रूपधारी भगवान् जनार्दन रक्षा करें। देवता,

रक्षां करोतु भगवान् बहुरूपी जनार्दनः। यथा विष्णुर्जगत्सर्वं सदेवासुरमानुषम्।।४१।।
तेन सत्येन दुष्टानि शममस्य व्रजन्तु वै। यथा विष्णौ स्मृते सद्यः सङ्क्षयं यान्ति पातकाः।।४२।।
सत्येन तेन सकलं दुष्टमस्य प्रशाम्यतु। यथा यज्ञेश्वरो विष्णुर्देवेष्वपि हि गीयते।।४३।।
सत्येन तेन सकलं यन्मयोक्तं तथास्तु तत्। शान्तिरस्तु शिवं चास्तु दुष्टमस्य प्रशाम्यतु।।४४।।
वासुदेवशरीरोत्थैः कुशैर्निर्णाशितं मया। अपमार्जति गोविन्दो नरो नारायणस्तथा।।४५।।
तथास्तु सर्वदुःखानां प्रशमो वचनाद्धरेः। अपमार्जनकं शस्तं सर्वरोगादिवारणम्।।४६।।
अहं हरिः कुशा विष्णुर्हता रागा मया तव।।४७।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते कुशापामार्जनस्तोत्रवर्णनं नामैकत्रिंशोऽध्यायः।।३१।।

असुर और मनुष्यों सहित यह सम्पूर्ण जगत् भगवान् विष्णु का ही स्वरूप है। इस प्रत्येक प्रभाव से इसके दुष्ट रोग शान्त हों।।४१।। भगवान् श्रीहरि विष्णुजी के स्मरणमात्र से पापसमूह तत्काल नष्ट हो जाते हैं, इस सत्य के प्रभाव से इसके समस्त दूषित रोग शान्त हो जायँ। यज्ञेश्वर विष्णु देवताओं द्वारा प्रशंसित होते हैं, इस सत्य के प्रभाव से मेरा कथन सत्य हो। शान्ति हो, मंगल हो। इसका दुष्ट रोग शान्त हो। मैंने भगवान् वासुदेव के शरीर से प्रादुर्भूत कुशों से इसके रोगों को नष्ट किया है। नर–नारायण और गोविन्द–इसका अपामार्जन करें। श्रीहरि के वचन से इसके सम्पूर्ण दुःखों का शमन हो जाय। समस्त रोगादि के निवारण के लिये 'अपामार्जन स्तोत्र' प्रशस्त है। मैं श्रीहरि विष्णु हूँ, कुशा विष्णु हैं। मैंने तुम्हारे रोगों का नाश कर दिया है।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी इकतीसवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।३१।।

❖❖❖

अथ द्वात्रिंशोऽध्यायः

निर्वाणदीक्षासिद्ध्यर्थानां संस्काराणां वर्णनम्

अग्निरुवाच

निर्वाणादिषु दीक्षासु चत्वाशिंत्तथाष्ट च। संस्कारान् कारयेद्धीमाञ्शृणु तान् यैःसुरो भवेत्।।१।।
गर्भाधानं तु योन्यां वै ततः पुंसवनं चरेत्। सीमन्तोन्नयनं चैव जातकर्म च नाम च।।२।।
अन्नाशनं ततश्चूडा ब्रह्मचर्य व्रतानि च। चत्वारि वैष्णवी पार्थी भौतिकी श्रौतिकी तथा।।३।।
गोदानं स्नातकत्वं च पाकयज्ञाश्च सप्त ते। अष्टका पार्वणश्राद्धं श्रावण्याग्रायणीति च।।४।।
चैत्री चाश्वयुजी सप्त हविर्यज्ञांश्च ताञ्शृणु। आधानं चाग्निहोत्रं च दर्शो वै पौर्णमासकः।।५।।
चातुर्मास्यं पशुबन्धः सौत्रामणिरथापरः। सोमस्थाः सप्त शृणु अग्निष्टोमः क्रतूत्तमः।।६।।
अत्यग्निष्टोम उक्थ्यश्च षोडशी वाजपेयकः। अतिरात्रोऽप्तोर्यामश्च सहस्रेशा सवा इमे।।७।।
हिरण्याङ्घ्रिर्हिरण्याक्षा हिरण्यमित्र इत्यतः। हिरण्यपाणिर्हेमाक्षो हेमाङ्गो हेमसूत्रकः।।८।।
हिरण्यास्यो हिरण्याङ्गो हेमजिह्वो हिरण्यवान्। अश्वमेधो हि सर्वेशो गुणाश्चाष्टाथ ताञ्छृणु।।९।।
दया च सर्वभूतेषु क्षान्तिश्चैव तथार्जवम्। शौचं चैवमनायासो मङ्गलं चापरो गुणः।।१०।।
अकार्पण्यश्चास्पृहा च मूलेन जुहुयाच्छतम्। सौरशाक्तेयविष्णवीशदीक्षास्वेतेसमाः स्मृताः।।११।।
संस्कारैः संस्कृतश्चैतैर्भुक्तिमवाप्नुयात्। सर्वरोगादिनिर्मुक्तो देववद् वर्तते नरः।।१२।।
जप्याद्धोमात्पूजनाच्च ध्यानाद्देवस्य चेष्टभाक्।।१३।।

।। इति श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते निर्वाणदीक्षासिद्धयर्थानां संस्काराणां वर्णनं नाम द्वात्रिंशोऽध्यायः।।३२।।

अध्याय-३२

निर्वाण-दीक्षा की सिद्धि हेतु संस्कार कथन

भगवान् अग्निदेव ने कहा कि–हे ब्रह्मन्! बुद्धिमान् पुरुष निर्वाणादि दीक्षाओं में अड़तालीस संस्कार कराये। उन संस्कारों का वर्णन सुनिये। जिससे मनुष्य देवतुल्य हो जाता है। सर्वप्रथम योनि में गर्भाधान, तत्पश्चात् पुंसवन संस्कार करना चाहिये। फिर सीमन्तोन्नयन, जातकर्म, नामकरण, अन्नप्राशन, चूडाकर्म, चार ब्रह्मचर्यव्रत–वैष्णवी, पार्थी, भौतिकी और श्रौतिकी, गोदान, समावर्तन, सात पाकयज्ञ–अष्टका, अन्वष्टका पार्वणश्राद्ध, श्रावणी, आग्रहायणी, चैत्री एवं आश्वयुजी, सात हविर्यज्ञ–आधान, अग्निहोत्र, दर्श, पौर्णमास, चातुर्मास्य, पशुबन्ध तथा सौत्रामणी, सात सोमसंस्थाएँ–यज्ञश्रेष्ठ अग्निष्टोम, अत्यग्निष्टोम, उक्थ्य, षोडशी, वाजपेय, अतिरात्र एवं आप्तोर्याम; सहस्रेश यज्ञ–हिरण्याङ्घ्रि, हिरण्याक्ष, हिरण्यमित्र, हिरिण्पाणि, हेमाक्ष, हेमाङ्ग, हेमसूत्र, हिरण्यास्य, हिरण्याङ्ग, हेमजिह्व, हिरण्यवान् और सभी यज्ञों का स्वामी अश्वमेधयज्ञ तथा आठ गुण–सर्वभूतदया, क्षमा, आर्जव, शौच, अनायास, मङ्गल, अकृपणता और अस्पृआ–ये संस्कार करना चाहिये। इष्टदेव के मूल मन्त्र से सौ आहुतियाँ देनी चाहिये। सौर, शाक्त, वैष्णव तथा शैव–सभी दीक्षाओं में ये समान माने गये हैं। इन संस्कारों से संस्कृत होकर मनुष्य भोग-मोक्ष को प्राप्त करता है। वह सम्पूर्ण रोगादि से मुक्त होकर देववत् हो जाता है। मनुष्य अपने इष्टदेवता के जप, हवन, पूजन तथा ध्यान से इच्छित वस्तु को प्राप्त करता है।।१-१३।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी बत्तीसवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।३२।।

❖❖❖

अथ त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः

पवित्रकारोपणविधिकथनम्

अग्निरुवाच

पवित्रारोपणं वक्ष्ये वर्षपूजाफलं हरेः। आषाढादौ कार्तिकान्ते प्रतिपत् त्यज्यते तिथिः।।१।।
श्रिया गौर्या गणेशस्य सरस्वत्या गुहस्य च। मार्तण्डमातृदुर्गाणां नागर्षिहरिमन्मथैः।।२।।
शिवस्य ब्रह्मणस्तद्वद् द्वितीयादितिथिक्रमात्। यस्य देवस्य यो भक्तः पवित्रा तस्य सा तिथिः।।३।।
आरोहणे तुल्यविधिः पृथङ्मन्त्रादिकं यदि। सौवर्णं राजतं ताम्रं नेत्रकार्पासिकादिकम्।।४।।
ब्राह्मण्या कर्तितं सूत्रं तदलाभे तु संस्कृतम्। द्विगुणं त्रिगुणीकृत्य तेन कुर्यात्पवित्रकम्।।५।।
अष्टोत्तरशतादूर्ध्वं तदर्धं चोत्तमादिकम्। क्रियालोपविधातार्थं यत्त्वयाभिहितं प्रभो।।६।।
मया तत् क्रियते देव यथा यत्र पवित्रकम्। अविघ्नं तु भवेदेतत् कुरु नाथ तथाव्यय।।७।।
प्रार्थ्य तन्मण्डलादौ तु गायत्र्या बन्धयेन्नरः। ॐ नमो नारायणाय विद्महे वासुदेवाय धीमहि।।८।।

अध्याय-३३

पवित्रारोपण आदि कथन

भगवान् अग्निदेव ने कहा कि–हे मुने! अधुना मैं पवित्रारोपण की विधि बताऊँगा। वर्ष में एक बार किया गया पवित्रारोपण सम्पूर्ण वर्ष भर की हुई श्रीहरि की पूजा का फल देने वाला है। आषाढ़ की शुक्ला एकादशी से लेकर कार्तिक की शुक्ला एकादशी तक के मध्य के काल में ही 'पवित्रारोपण' किया जाता है। प्रतिपदा धनद तिथि है। द्वितीया आदि तिथियाँ क्रमशः लक्ष्मी आदि देवताओं की हैं। यथा–लक्ष्मी की द्वितीया, गौरी की तृतीया, गणेश की चतुर्थी, सरस्वती तथा नाग देवताओं की पञ्चमी, स्वामी कार्तिकेय की षष्ठी, सूर्य की सप्तमी, मातृकाओं की अष्टमी, दुर्गा की नवमी, नागों या यमराज की दशमी, ऋषियों तथा भगवान् विष्णु की एकादशी, श्रीहरि की द्वादशी, कामदेव की त्रयोदशी, शिव की चतुर्दशी ब्रह्मा की पौर्णमासी एवं अमावस्या तिथि है। जो मनुष्य जिस देवता का भक्त है, उसके लिए वही तिथि पवित्र है।।१-३।। पवित्रारोपण की विधि सभी देवताओं के लिये समान है; केवल मन्त्र आदि प्रत्येक देवता के लिये पृथक्-पृथक् बोले। पवित्रक बनाने के लिये सोने-चाँदी और ताँबे के तार तथा कपास आदि के सूत होने चाहिए।।४।। ब्राह्मणी के हाथ का काता हुआ सूत सर्वोत्तम है। वह न मिले तो किसी भी सूत को उसका संस्कार करके उपयोग में लाना चाहिये। सूत को तिगुना करके, उसको पुनः तिगुना करना चाहिये और उसी से, अर्थात् नौ तन्तुओं द्वारा पवित्रक बनाये। एक सौ आठ से लेकर अधिक तन्तुओं द्वारा निर्मित पवित्रक उत्तम आदि की श्रेणी में गिना जाता है। पवित्रारोपण के पूर्व इष्ट देवता से इस तरह प्रार्थना करना चाहिये–'हे प्रभो! क्रियालोपजनित दोष को दूर करने के लिये आपने जोसाधन बतलाया है, हे देव! वही मैं कर रहा हूँ। जहाँ जैसा पवित्रक आवश्यक है, वहाँ के लिये वैसा ही पवित्रक अर्पित होग। हे नाथ! आपकी कृपा से इस कार्य में कोई विघ्न बाधा न आये। हे अविनाशी परमेश्वर! आपकी जय हो।'।।५-७।। इस तरह प्रार्थना करके मनुष्य पहले इष्टदेव के मण्डल के लिये गायत्री मन्त्र से पवित्रक बाँधे। इष्टदेव नारायण के लिये गायत्री मन्त्र इस तरह है–'ॐ नमो नारायणाय विद्महे, वासुदेवाय धीमहि,

तन्नो विष्णुः प्रचोदयात्। एषा प्रयोज्या सर्वत्र देवानामनुरूपतः॥९॥
जानूरुनाभिपादान्तं प्रतिमासु पवित्रकम्। पादान्ता वनमाला स्यादष्टोत्तरसहस्रतः॥१०॥
मालां तु कल्पसाध्यां वा द्विगुणां षोडशाङ्गुलात्। कर्णिकासरैः पत्रैर्मन्त्राद्यं मण्डलान्तकम्॥११॥
मण्डलाङ्गुलमात्रैकचक्राङ्गादौ पवित्रकम्। स्थण्डिलेऽङ्गुलमानेन आत्मनः सप्तविंशतिः॥१२॥
आचार्याणाञ्च सूत्राणि पितृमात्रादिकैः स्वकैः। नाभ्यन्तं द्वादशग्रन्थिं तथा गन्धपवित्रके॥१३॥
अङ्गुलात्कल्पनादौ द्विर्माला चाष्टोत्तरं शतम्। अथवार्कचतुर्विंशषट्त्रिंशन्मालिका द्विज॥१४॥
अनामामध्यमाङ्गुष्ठैर्मन्दाद्यैर्मालिकार्थिभिः। कनिष्ठादौ द्वादश वा ग्रन्थयः स्युः पवित्रके॥१५॥
रवेः कुम्भहुताशादेः सम्भवे विष्णुवन्मतम्। पीठस्य पीठमानं स्यान्मेखलान्तं च कुण्डके॥१६॥
यथाशक्ति सूत्रग्रन्थिः परिचारेऽथ वैष्णवे। सूत्राणि वा सप्तदश सूत्रेण त्रिविभक्तके॥१७॥
रोचनागरुकर्पूरहरिद्राकुङ्कुमादिभिः। रञ्जयेच्चन्दनाद्यैर्वा स्नानसन्ध्यादिकृन्नरः॥१८॥
एकादश्यां यागगृहे भगवन्तं हरिं यजेत्। समस्तपरिवाराय बलिं दद्यात्समर्चयेत्॥१९॥

तन्नो विष्णुः प्रचोदयात्।' इष्टदेवता के नाम के अनुरूप ही यह गायत्री है। देव-प्रतिमाओं पर अर्पित करने के लिये अनेक तरह का पवित्रक होता है। एक तो विग्रह की नाभि तक पहुँचता है, दूसरा जाँघों तक और तीसरा घुटनों तक पहुँचता है। ये क्रमशः कनिष्ठ, मध्यम तथा उत्तम श्रेणी में परिगणित है। एक चौथा तरह भी है, जो पैरों तक लटकता है। यह पैरों तक लटकने वाला पवित्रक 'वनमाला' कहा जाता है। वह एक हजार आठ तन्तुओं से तैयार किया जाता है। इसका माहात्म्य सबसे अधिक है। सामान्य माला अपनी शक्ति के अनुसार बनायी जाती है। अथवा वह सोलह अंगुल से दुगुनी बड़ी होनी चाहिये। कर्णिका, केसर और दल आदि से युक्त जो यन्त्र या चक्र आदि मण्डल है, उस मण्डल को जो नीचे से ऊपर तक ढक ले, ऐसा पवित्रक उसके ऊपर चढ़ाना चाहिये। एक चक्र और एकाब्ज आदि मण्डल (चक्र) में, उस मण्डल का मान जितने अंगुल का हो, उतने अंगुल मान वाला पवित्रक अर्पित करना चाहिये। वेदी पर अपने सत्ताईस अंगुल के माप का पवित्रक अर्पित करना चाहिये॥८-१२॥ आचार्यों के लिये, माता पिता आदि के लिये तथा पुस्तक पर चढ़ाने के लिये या स्वयं धारण करने के लिये जो पवित्रक बनाये, वह नाभि तक ही लम्बा होना चाहिये। उसमें द्वादश गाँठें लगी हों तथा उस पवित्रक पर गन्ध (चन्दन, रोली या केसर) लगाया गया हो। वह उसी में रंगा गया हो। हे ब्रह्मन! वनमाला में दो-दो अंगुल की दूरी पर क्रमशः एक सौ आठ गाँठें रहनी चाहिये। अथवा कनिष्ठ, मध्यम तथा उत्तम पवित्रक में क्रमशः द्वादश, चौबीय तथा दत्तीस गाँठें रखनी चाहिये। मन्द, मध्यम और उत्तम मालार्थी पुरुषों को अनामिका, मध्यमा और अङ्गुष्ठ से ही पवित्रक माला ग्रहण करनी चाहिये। अथवा कनिष्ठ आदि नाम वाले पवित्रक में समान रूप से द्वादश-द्वादश ही गाँठें रहनी चाहिये। केवल तन्तुओं की संख्या में और लम्बाई में भेद होने से उनकी भिन्न संज्ञायें मानी जाती हैं। सूर्य, कलश तथा अग्नि आदि के लिये भी यथासम्भव विष्णु भगवान् के तुल्य ही पवित्रक अर्पित करना उत्तम माना गया है। पीठ के लिये पीठ की लम्बाई के अनुसार तथा कुण्ड के लिये भी मेखला पर्यन्त लम्बा पवित्रक होना चाहिये। विष्णु पार्षदों के लिये यथाशक्ति सूत्र ग्रन्थि देनी चाहिये। अथवा बिना ग्रन्थि के ही सत्रह सूत्र चढ़ावे और भद्र नामक पार्षद को त्रिसूत्र अर्थात् तिरसुत अर्पित करना चाहिये॥१३-१७॥ पवित्रक को रोचना, अगरु-कर्पूर मिश्रित हल्दी एवं कुंकुम के रंग से रंग देना चाहिये। भक्त पुरुष को एकादशी को स्नान, संध्या आदि करके पूजागृह में जाकर भगवान् श्रीहरि विष्णुजी का यजन करना चाहिये। उनके समस्त परिवार को बलि देकर उसकी अर्चना करनी चाहिये। द्वार के अन्त में 'क्षं क्षेत्रपालय नमः।'-बोलकर क्षेत्रपाल की पूजा करना

क्षौं क्षेत्रपालाय द्वारान्ते द्वारोपरि तथा श्रियम्। धात्रे दक्षविधात्रे च गङ्गां च यमुनां तथा।।२०।।
शङ्खपद्मनिधी पूज्य मध्ये वस्त्रप्रसारणम्। सारङ्गायेति भूतानां भूतशुद्धिं स्थितश्चरेत्।।२१।।
"ॐ हूं हः फट् हूं गन्धतन्मात्रं संहरामि नमः। ॐ हूं हः फट् हूं रसतन्मात्रं संहरामि नमः।।२२।।
ॐ हूं हः फट् हूं रूपतन्मात्रं संहरामि नमः। ॐ हूं हः फट् हूं स्पर्शतन्मात्रं संहरामि नमः।।२३।।
ॐ हूं हः फट् हूं शब्दतन्मात्रं संहरामि नमः। पञ्चोद्घातैर्गन्धतन्मात्रस्वरूपं भूमिमण्डलम्।।२४।।
चतुरस्त्रं च पीठं च काञ्चनं वज्रलाञ्छितम्। इन्द्रादिदैवतं पादयुग्ममध्यगतं स्मरेत्।।२५।।
शुद्धं च रसतन्मात्रं प्रविलाप्याथ संहरेत्। रसमात्रं रूपमात्रे क्रमेणानेन पूजकः।।२६।।
ॐ हूँ हः फट् हूं रसतन्मात्रं संहरामि नमः। ॐ हूं हः फट् हूं रूपतन्मात्रं संहरामि नमः।।२७।।
ॐ हूं हः फट् हूं स्पर्शतन्मात्रं संहरामि नमः। ॐ हूं हः फट् हूं शब्दतन्मात्रं संहरामि नमः।।२८।।
जानुनाभिमध्यगतं श्वेतं वै पद्मलाञ्छितम्। शुक्लवर्णं चार्धचन्द्रे ध्यायेद्वरुणदैवतम्।।२९।।
चतुर्भिश्च तदुद्घातैः शुद्धं तद्रसमात्रकम्। संहरेद्रसतन्मात्रं रूपमात्रे च योजयेत्।।३०।।
ॐ हूं हः फट् हूं रूपतन्मात्रं संहरामि नमः। ॐ हूं हः फट् हूं स्पर्शतन्मात्रं संहरामि नमः।।३१।।

चाहिये। द्वार के ऊपर 'श्रयै नमः।' कहकर श्रीदेवी की पूजा करनी चाहिये। द्वार के दक्षिण देश में 'धात्रे नमः।', 'गङ्गायै नमः।'–इन मन्त्रों का उच्चारण करते हुए 'धाता' तथा 'गङ्गा' जी की अर्चना करनी चाहिये और वाम देश में 'विधात्रे नमः।', 'यमुनायै नमः।'–बोलकर विधाता एवं यमुनाजी की पूजा करनी चाहिये। इसी तरह द्वार के दक्षिण वाम देश में क्रमशः 'शंखनिधये नमः।' 'पद्मनिधये नमः।' बोलकर शंखनिधि एवं पद्मनिधि की पूजा करनी चाहिये। फिर मण्डप के अन्दर दाहिने पैर के पार्ष्णि भाग को तीन बार पटक कर विघ्नों का अपसारण करना चाहिये। तत्पश्चात् 'सारङ्गाय नमः' बोलकर विघ्नाकारी भूतों को दूर भगावे। इसके बाद 'ॐ हां वास्त्वधिपतये ब्रह्मणे नमः।' इस मन्त्र का उच्चारण करके ब्रह्मा के स्थान में पुष्प चढ़ावे। फिर आसन पर बैठकर भूतशुद्धि करनी चाहिये।।१८-२१।। उसकी विधि इस तरह है–ॐ हूं हः फट् हूं गन्धतन्मात्रं संहरामि मः। ॐ हूं हः फट् हूं रसतन्मात्रं संहरामि नमः। ॐ हूं हः फट् हूं रूपतन्मात्रं संहरामि नमः। ॐ हूं हः फट् स्पर्शतन्मात्रं संहरामि नमः। ॐ हूं हः फट् हूं शब्दतन्मात्रं संहरामि नमः। इस तरह पाँच उद्घात वाक्यों का उच्चारण करके गन्धतन्मात्रस्वरूप भूमि मण्डल को, वज्रचिह्नित स्वर्णमय चतुरस्त्र पीठ को तथा इन्द्रादि देवताओं को अपने युगल चरणों में स्थित देखते हुए उनका चिन्तन करना चाहिये। इस तरह शुद्ध हुए गन्ध तन्मात्र को रस तन्मात्र में लीन करके उपासक ईस क्रमसे रसतन्मत्रा का रूप तन्मात्र में विनाश करना चाहिये। ॐ हूं हः फट् हूं रसतन्मात्रं संहरामि नमः। ॐ हूं हः फट् हूं रूपतन्मात्रं संहरामि नमः। ॐ हूं हः फट् स्पर्शतन्मात्रं संहरामि नमः। ॐ हूं हः फट् हूं शब्दतन्मात्रं संहरामि नमः।–इन चार उद्घात वाक्यों का उच्चारण करके जानु सेलेकर नाभितक के भाग को श्वेत कमल से चिह्नित, शुक्लवर्ण एवं अर्धचन्द्राकार देखे। ध्यान द्वारा यह चिन्तन करना चाहिये कि 'इस जलीय भाग के देवता वरुण हैं।' कथित चार उद्घातों के उच्चारण से रस तन्मात्रा की शुद्धि हो जाती है। इसके बाद इस रस तन्मात्रा का रूप तन्मात्रा में लय कर देना चाहिये।।२२-३०।। ॐ हूं हः फट् हूं रूपतन्मात्रं संहरामि नमः। ॐ हूं हः फट् स्पर्शतन्मात्रं संहरामि नमः। ॐ हूं हः फट् हूं शब्दतन्मात्रं संहरामि नमः।–इन तीन उद्घात वाक्यों का उच्चारण करके नाभि से लेकर कण्ठ तक के भाग में त्रिकोणाकार अग्निमण्डल का चिन्तन

ॐ हूं हः फट् हूं शब्दतन्मात्रं संहरामि नमः। इति त्रिभिस्तदुद्घातैस्त्रिकोणं वह्निमण्डलम्।।३२।।
नाभिकण्ठमध्यगतं रक्तं स्वस्तिकलाञ्छितम्। ध्यात्वानलाधिदैवं तच्छुद्धं स्पर्शे लयं नयेत्।।३३।।
ॐ हूं हः फट् हूं स्पर्शतन्मात्रं संहरामि नमः। ॐ हूं हः फट् हूं शब्दतन्मात्रं संहरामि नमः।।३४।।
कण्ठनासामध्यगतं वृत्तं वै वायुमण्डलम्। द्विरुद्घातैर्धूमवर्णं ध्यायेच्छुद्धेन्दुलाञ्छितम्।।३५।।
स्पर्शमात्रं शब्दमात्रैः संहरेद् ध्यानयोगतः। ॐ हूं हः फट् हूं शब्दतन्मात्रं संहरामि नमः।।३६।।
एकोद्घातेन चाकाशं शुद्धस्फटिकसन्निभम्। नासापुटशिखान्तस्थमाकाशमुपसंहरेत्।।३७।।
शोषणाद्यैर्देहशुद्धिं कुर्यादेवं क्रमात्ततः। शुष्कं कलेवरं ध्यायेत् पादाद्यं च शिखान्तकम्।।३८।।
यं-बीजेन वं-बीजेन ज्वालामालासमायुतम्। देहं रमित्यनेनैव ब्रह्मरन्ध्राद् विनिर्गमम्।।३९।।
बिन्दुं ध्यात्वा चामृतस्य तेन भस्मकलेवरम्। सम्प्लावयेल्लमित्यस्माद् देहं सम्पाद्य दिव्यकम्।।४०।।
न्यासं कृत्वा करे देहे मानसं यागमाचरेत्। विष्णुं साङ्गं हृदि पद्मे मानसैः कुसुमादिभिः।।४१।।
मूलमन्त्रेण देवेशं प्रार्चयेद् भुक्तिमुक्तिदम्। स्वागतं देव! देवेश सन्निधौ भव केशव।।४२।।

करना चाहिये। 'उसका रंग लाल है; वह स्वस्तिकाकार चिह्न से चिह्नित है। उसके अधिदेवता अग्नि हैं। इस तरह ध्यान करके शुद्ध किये हुए रूप तन्मात्र को स्पर्श तन्मात्र में लीन करना चाहिये। तत्पश्चात् ॐ हूं हः फट् स्पर्शतन्मात्रं संहरामि नमः। ॐ हूं हः फट् हूं शब्दतन्मात्रं संहरामि नमः।—इन दो उद्घात वाक्यों के उच्चारणपूर्वक कण्ठ से लेकर नासिका के मध्य के भाग में गोलाकार वायुमण्डल का चिन्तन करना चाहिये—'उसका रंग धूम के समान है। वह निष्कलङ्क चन्द्रमा से चिह्नित है।' इस तरह शुद्ध हुए स्पर्श-तन्मात्र का ध्यान द्वारा ही शब्द तन्मात्र में लय कर देना चाहिये। इसके बाद 'ॐ हूं हः फट् हूं शब्दतन्मात्रं संहरामि नमः।'—इस एक उद्घात वाक्य से शुद्ध स्फटिक के समान आकाश का नासिका से लेकर शिखा तक के भाग में चिन्तन करना चाहिये। फिर उस शुद्ध हुए आकाश का (अहंकार में) उपसंहार करना चाहिये।।३१-३७।। तत्पश्चात् क्रमशः शोषण आदि के द्वा देह की शुद्धि करनी चाहिये। ध्यान में यह देखे कि 'यं' बीजरूप वायु के द्वारा पैरों से लेकर शिखा तक का सम्पूर्ण शरीर सूख गया है। फिर 'रं' बीज द्वारा अग्नि को प्रकट करके देखे कि सारा शरीर अग्नि की ज्वालाओं में आ गया और जलकर भस्म हो गया। इसके बाद 'वं' बीज का उच्चारण करके भावना करनी चाहिये कि ब्रह्मरन्ध्र से अमृत का बिन्दु प्रकट हुआ है। उससे जो अमृत की धारा प्रकट हुई है, उसने शरीर के उस भस्म को आप्लावित कर दिया है। तत्पश्चात् 'लं' बीज का उच्चारण करते हुए यह चिन्तन करना चाहिये कि उस भस्म से दिव्य देह का प्रादुर्भाव हो गया है। इस तरह दिव्य देह की उद्भावना करके करन्यास और अङ्गन्यास करना चाहिये। इसके बाद मानस याग का अनुष्ठान करना चाहिये। हृदय कमल में मानसिक पुष्प आदि उपचारों द्वारा मूल मन्त्र से मानसिक पुष्प आदि उपचारों द्वारा मूल मन्त्र से अङ्गों सहित देवेश्वर भगवान् विष्णु का पूजन करना चाहिये। वे भगवान् भोग और मोक्ष देने वाले हैं। भगवान् से मानसिक पूजा स्वीकार करने के लिये इस तरह प्रार्थना करनी चाहिये—'हे देव देवेश्वर केशव! आपका स्वागत है। मेरे सन्निकट पधारिये और यथार्थ रूप से भावना द्वारा प्रस्तुत इस मानसिक पूजा को ग्रहण कीजिये।' योगपीठ को धारण करने वाली आधार शक्ति कूर्म, अनन्त (शेषनाग) तथा पृथ्वी का पीठ के मध्य भाग में पूजन करना चाहिये। तत्पश्चात् अग्निकोण आदि चारों कोणों में क्रमशः धर्म, ज्ञान, वैराग्य तथा ऐश्वर्य का पूजन करना चाहिये। पूर्व आदि मुख्य दिशाओं में अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य तथा अनैश्वर्य की अर्चना करनी चाहिये। पीठ के मध्य भाग में सत्त्वादि गुणों का, कमल का, माया और अविद्या नामक तत्त्वों का कालतत्त्व का, सूर्यादि मण्डल का तथा पक्षिराज गरुड का पूजन करना चाहिये। पीठ के

गृहाण मानसीं पूजां यथार्थं परिभाविताम्। आधारशक्तिः कूर्मोऽथ पूज्योऽनन्तो मही ततः।।४३।।
मध्येऽग्न्यादौ च धर्माद्या अधर्माद्याश्च मुख्यगाः। सत्वादिमध्ये पद्मं च मायाविद्याख्यतत्त्वके।।४४।।
कालतत्त्वं च सूर्यादिमण्डलं पक्षिराजकः। मध्ये ततश्च वायव्यादीशान्ता गुरुपङ्क्तिका।।४५।।
गणः सरस्वती पूज्या नारदो नलकूबरः। गुरुर्गुरोः पादुका च परोगुरुश्च पादुका।।४६।।
पूर्वसिद्धाः परसिद्धाः केसरेषु च शक्तयः। लक्ष्मी सरस्वती प्रीतिः कीर्तिः शान्तिश्च कान्तिका।।४७।।
पुष्टिस्तुष्टिर्महेन्द्राद्या मध्ये चावाहितो हरे। धृतिः श्रीरतिकान्त्याद्या मूलेन स्थाप्यतेऽच्युतः।।४८।।
ॐ अभिमुखो भवेति प्रार्थ्य प्राच्यां सन्निहितो भव। विन्यस्यार्घ्यादिकं दत्त्वा गन्धाद्यैर्मूलतो यजेत्।।४९।।
ॐ भीषय भीषय हृच्छिरस्त्रासय वै नमः। मर्दय मर्दय शिखामग्न्यादौ क्रमतोऽस्त्रकम्।।५०।।
"रक्ष रक्ष प्रध्वंसय प्रध्वंसय कवचाय नमः। हू फट् अस्त्राय नमो मूलबीजेन चाङ्गकम्।।५१।।
पूर्वदक्षाप्यसौम्येषु मूर्त्यावरणमर्चयेत्। वासुदेवः सङ्कर्षणः प्रद्युम्नश्चानिरुद्धकः।।५२।।
अग्न्यादौ श्रीरतिधृतिकान्तयो मूर्तयो हरेः। शङ्खं चक्रं गदां पद्ममग्न्यादौ पूर्वकादिकम्।।५३।।
शार्ङ्गं च मुसलं खड्गं वनमालां च तद्बहिः। इन्द्राद्यांश्च तथानन्तं नैर्ऋत्यां वरुणं ततः।।५४।।
ब्रह्मेन्द्रेशानयोर्मध्ये अस्त्रावरणकं बहिः। ऐरावतस्ततश्छागो महिषोऽथ नगेशयः।।५५।।
मृगः शशोऽथ वृषभः कूर्मो हंसस्ततो बहिः। पृश्निगर्भः कुमुदाद्या द्वारपाला द्वयं द्वयम्।।५६।।

वायव्य कोण से ईशान कोण तक गुरु पंक्ति की पूजा करनी चाहिये। गण, सरस्वती, नारद, नलकूबर, गुरु, गुरुपादुका, परम गुरु और उनकी पादुका की पूजा ही गुरु पंक्ति की पूजा है। पूर्वसिद्ध और परसिद्धि शक्तियाँ ये हैं–लक्ष्मी, सरस्वती, प्रीति, कीर्ति, ७शान्ति, कान्ति, पुष्टि तथा तुष्टि। इनकी क्रमशः पूर्व आदि दिशाओं में पूजा की जानी चाहिये। इसी तरह इन्द्र आदि दस दिक्पालों का भी उनकी दिशाओं में पूजन आवश्यक है। इन सभी के मध्य में श्रीहरि विराजमान हैं। परिसिद्धा शक्तियाँ–धृति, श्री, रति तथा कान्ति आदि हैं। मूल मन्त्र से भगवा् अच्युत की स्थापना की जाती है। पूजा के प्रारम्भ में भगवान् से इस तरह प्रार्थना करनी चाहिये–'हे भगवन्! आप मेरे सम्मुख हों। ॐ अभिमुखो भव। पूर्व दिशा में मेरे सन्निकट स्थित हों। इस तरह प्रार्थना करके स्थापना के पश्चात् अर्घ्य पाद्य आदि निवेदन कर गन्ध आदि उपचारों द्वारा मूल मन्त्र से भगवान् अच्युत की अर्चना करनी चाहिये। ॐ भीषाय भीषय हृदयया नमः। ॐ त्रासय त्रासय शिरसे नमः। ॐ मर्दय मर्दय शिखायै नमः। ॐ रक्ष रक्ष नेत्रत्रयाय नमः। ॐ प्रध्वंसय प्रध्वंसय कवचाय नमः। ॐ हूं फट् अस्त्राय नमः। इस तरह अग्निकोण आदि दिशाओं में क्रमसे मूल बीज द्वारा अङ्गों का पूजन करना चाहिये।।३८-५१।। पूर्व, दक्षिण, पश्चिम और उत्तर दिशा में मूर्त्यात्मक आवरण की अर्चना करनी चाहिये। वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध–ये चार मूर्तियाँ हैं। अग्निकोण आदि कोणों में क्रमशः श्री, रति, धृति और कान्तिकी पूजा करनी चाहिये। ये भी श्रीहरि की मूर्तियाँ हैं। अग्नि आदि कोणों में क्रमशः शंख, चक्र, गदा और पद्म की परिचर्या करना चाहिये। पूर्वादि दिशाओं में शार्ङ्ग, मुशल, खड्ग तथा वनमाला की अर्चना करनी चाहिये। उसके बाहर के भाग में पूर्वादि दिशाओं में क्रमशः इन्द्र, अग्नि, यम, निर्ऋति, वरुण, वायु, कुबेर तथा ईशान की पूजा करके नैर्ऋत्य और पश्चिम के मध्य में अनन्त की तथा पूर्व और ईशान के मध्य में ब्रह्माजी की अर्चना करनी चाहिये। इनके बाहर के भाग में वज्र आदि अस्त्रमय आवरणों का पूजन करना चाहिये। इनके भी बाहर के भाग में दिक्पालों के वाहन रूप आवरण पूजनीय होते हैं। पूर्वादि के क्रम से ऐरावत, छाग, भैंसा, वानर, मत्स्य, मृग, शश (खरगोश), वृषभ, कूर्म

पूर्वाद्युत्तरद्वारान्तं हरिं नत्वा बलिं बहिः। विष्णुपार्षदेभ्यो नमो बलिपीठे बलिं ददेत्।।५७।।
विश्वाय विष्वक्सेनात्मने ईशानके यजेत्। देवस्य दक्षिणे हस्ते रक्षासूत्रं च बन्धयेत्।।५८।।
संवत्सरकृतार्चायाः सम्पूर्णफलदायिने। पवित्रारोहणायेदं कौतुकं धारय ॐ नमः।।५९।।
उपवासादिनियमं कुर्याद्वै देवसन्निधौ। उपवासेन नियतो देवं सन्तोषयाम्यहम्।।६०।।
कामक्रोधादयः सर्वे मा मे तिष्ठन्तु सर्वथा। अद्यप्रभृति देवेश यावद् वैशेषिकं दिनम्।।६१।।
यजमानो ह्यशक्तश्चेत्कुर्यान्नक्तादिकं व्रता। हुत्वा विसर्जयेत् स्तुत्वा श्रीकरं नित्यपूजनम्।।६२।।
ॐ ह्रीं श्रीं श्रीधराय त्रैलोक्यमोहनाय नमः।।६३।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते सर्वदेवतासाधारणपवित्रकारोपणविधिकथनं नाम त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः।।३३।।

और हंस–इनकी पूजा करनी चाहिये। इनके भी बाहर के भाग में पृश्निगर्भ कुमुद आदि द्वारपालों की पूजा की विधि कही गयी है। पूर्व से लेकर उत्तर तक प्रत्येक द्वार पर दो-दो द्वारपालों की पूजा आवश्यक है। तत्पश्चात् श्रीहरि को नमस्कार करके बाहर के भाग में बलि समर्पित करना चाहिये। 'ॐ विष्णुपार्षदेभ्यो नमः।' बोलकर बलि पीठ पर उनके लिये बल समर्पित करना चाहिये।।५२-५७।। ईशानकोण में 'ॐ विश्वाय विष्वक्सेनात्मने नमः।'–इस मन्त्र से विष्वक्सेन की अर्चना करनी चाहिये। इसके बाद भगवान् के दाहिने हाथ में रक्षासूत्र बाँधे। उस समय भगवान् से इस तरह कहे–'हे प्रभो! जो एक वर्ष तक निरन्तर की हुई आपककी पूजा के सम्पूर्ण फल की प्राप्ति में हेतु है, वह पवित्रारोहण (या पवित्रारोपण) कर्म होने वाला है; उसके लिये यह कौतुक (मङ्गल सूत्र) धारण कीजिये। 'ॐ नमः।' इसके पश्चात् भगवान् के सन्निकट निराहार व्रत आदि का नियम ग्रहण करना चाहिये और इस तरह कहे–'मैं निराहार व्रत के साथ नियमपूर्वक रहकर इष्टदेव को संतुष्ट करने जा रहा हूँ। हे देवेश्वर! आज से लेकर जिस समय तक वैशेषिम (विशेष उत्सव) का दिन न आ जाय, उस समय तक काम, क्रोध आदि सारे दोष मेरे पासकिसी तरह भी न फटकने पावे।' व्रती यजमान यदि निराहार व्रत करने में असमर्थ हो, तो नक्त व्रत (रात में भोजन) किया करना चाहिये। हवन करके भगवान् की स्तुति के बाद उनका विसर्जन करना चाहिये। भगवान् का नित्य पूजन लक्ष्मी की प्राप्ति कराने वाला है। 'ॐ ह्रीं श्रीं श्रीधराय त्रैलोक्यमोहनाय नमः।'–यह भगवान् की पूजा के लिये मन्त्र है।।५८-६३।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी तैंतीसवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।३३।।

❖❖❖

अथ चतुस्त्रिंशोऽध्यायः

पवित्रकारोपणे पूजाहोमादिविधिः

अग्निरुवाच

विशेदनेन मन्त्रेण यागस्थानं च भूषयेत्। नमो ब्रह्मण्यदेवाय श्रीधरायाव्ययात्मने।।१।।
ऋग्यजुः सामरूपाय शब्ददेहाय विष्णवे। विलिख्य मण्डलं सायं यागद्रव्यादि चाहरेत्।।२।।
प्रक्षालितकराङ्घ्रिः सन् विन्यस्यार्घ्यकरो नरः। अर्घ्याद्भिस्तु शिरः प्रोक्ष्य द्वारदेशादिकं तथा।३।।
आरभेद् द्वारयागं च तोरणेशान्प्रपूजयेत्। अश्वत्थोदुम्बरवटप्लक्षाः पूर्वादिगा नगाः।।४।।
ऋग्न्द्रिशोभनं प्राच्यां यजुर्यमसुभद्रकम्। सामापश्च सुधन्वाख्यं सोमाथर्वसुहोत्रकम्।।५।।
तोरणान्तः पताकाश्च कुमुदाद्या घटद्वयम्। द्वारि द्वारि स्वनाम्नार्च्याः पूर्वे पूर्णश्च पुष्करः।।६।।
आनन्दनन्दनौ दक्षो वीरसेनः सुषेणकः। सम्भवप्रभवौ सौम्ये द्वारपांश्चैव पूजयेत्।।७।।
अस्त्रजप्तपुष्पक्षेपाद्विघ्नानुत्सार्य संविशेत्। भूतशुद्धिं विधायाथ विन्यस्य कृतमुद्रकः।।८।।
फट्कारान्तं शिखां जप्त्वा सर्षपान्दिक्षु निक्षिपेत्। वासुदेवेन गोमूत्रं सङ्कर्षणेन गोमयम्।।९।।

अध्याय-३४

पवित्रारोपण में पूजा-होमादि विधि

भगवान् अग्निदेव ने कहा कि–हे मुनिश्वर! निम्नाङ्कित मन्त्र का उच्चारण करते हुए साधक याग मण्डप में प्रवेश करना चाहिये और सजावट से यज्ञ के स्थान की शोभा बढ़ावे तथा निम्नांकित श्लोक पढ़कर भगवान् को नमस्कार करना चाहिये–'वेदों तथा ब्राह्मणों के हितकारी देवता अव्ययात्मा भगवान् श्रीधर को नमस्कार है।' 'ऋग्वेद, यजुर्वेद तथा सामवेद आपके स्वरूप हैं; शब्दमात्र आपके शरीर हैं, आप भगवान् विष्णु को नमस्कार है। सायंकाल सर्वतोभद्रादि मण्डल की रचना करके यजन-पूजन सम्बन्धी द्रव्यों का संग्रह करना चाहिये। हाथ-पैर धो ले। सभी सामग्री को यथा स्थान जँचा कर हाथ में अर्घ्य लेकर मनुष्य उसके जल से मस्तक को सींचे। फिर द्वारदेश आदि में जल छिड़के। तत्पश्चात् द्वारयाग (द्वारस्थ देवताओं का पूजन)प्रारम्भ करना चाहिये। पहले तोरणेश्वरों की भलीभाँति पूजा करनी चाहिये। पूर्वादि दिशाओं के क्रम से अश्वत्थ, उदुम्बर, वट तथा पाकर–ये वृक्ष पूजनीय हैं। इनके सिवा पूर्व दिशा में ऋग्वेद, इन्द्र तथा शोभन की, दक्षिण में यजुर्वेद, यम तथा सुभद्र की, पश्चिम में सामवेद, वरुण तथा सुधन्वा की और उत्तर में अथर्ववेद, सोम एवं सुहोत्र की अर्चना करनी चाहिये।।१-५।। तोरण (फाटक) के अन्दर पताकाएँ फहरायी जायँ, दो-दो कलश स्थापित हों और कुमुद आदि दिग्गजों का पूजन हो। प्रत्येक दरवाजे पर दो-दो द्वारपालों की उनके नाम मन्त्र से ही पूजा की जाय। पूर्व दिशा में पूर्ण और पुष्कर का, दक्षिण दिशा में आनन्द और नन्दन का, पश्चिम में वीरसेन और सुषेण का तथा उत्तर दिशा में सम्भव और प्रभव नामक द्वारपालों का पूजन करना चाहिये। अस्त्र मन्त्र (फट्) के उच्चारणपूर्वक फूल बिखेर कर विघ्नों का अपसारण करने के पश्चात् मण्डप के अन्दर प्रवेश करना चाहिये। भूतशुद्धि, न्यास और मुद्रा करके शिखा (वषट्) के अन्त में 'फट्' जोड़कर उसका जप करते हुए सम्पूर्ण दिशाओं में सरसों छींटे। इसके बाद वासुदेव मन्त्र से गोमूत्र, संकर्षण मन्त्र से गोमय, प्रद्युम्न मन्त्र

प्रद्युम्नेन पयस्तज्जाद्दधि नारायणाद् घृतम्। एकद्वित्र्यादिवारेण घृताद्वै भागतोऽधिकम्।।१०।।
घृतपात्रे तदेकत्र पञ्चगव्यमुदाहृतम्। मण्डपप्रोक्षणायैकं चापरं प्राशनाय च।।११।।
स्नानाय दशकुम्भेषु इन्द्राद्याँल्लोकपान्यजेत्। पूज्याज्ञां श्रावयेत्तांश्च स्थातव्यं चाज्ञया हरेः।।१२।।
यागद्रव्यादि संरक्ष्य विकिरान् विकरेत्ततः। मूलाष्टशतसञ्जप्तान् कुशकूर्चान् हरेच्च तान्।।१३।।
ऐशान्यां दिशि तत्रस्थं स्थाप्य कुम्भं च वर्धनीम्। कुम्भे साङ्गं हरिं प्राच्र्य वर्धन्यामस्त्रमर्चयेत्।।१४।।
प्रदक्षिणं यागगृहं वर्धनीछिन्नधारया। सिञ्चन्नयेत्ततः कुम्भं पूजयेच्च स्थिरासने।।१५।।
सपञ्चरत्नवस्त्राढ्ये कुम्भे गन्धादिभिर्हरिम्। वर्धन्यां हेमगर्भायां यजेदस्त्रं च वामतः।।१६।।
तत्समीपे वास्तुलक्ष्मीभूविनायकमर्चयेत्। स्नपनं कल्पयेद् विष्णोः सङ्क्रान्त्यादौ तथैव च।।१७।।
पूर्णकुम्भानवस्थाप्य नवकोणेषु निर्व्रणान्। पाद्यमर्घ्यं चाचमनं पञ्चगव्यं च निक्षिपेत्।।१८।।
पूर्वादिकलशेऽग्न्यादौ पञ्चामृतजलाधिकम्। दधिक्षीरं मधूष्णोदं पाद्यं स्याच्चतुरङ्गकम्।।१९।।
पद्मश्यामाकदूर्वाश्च विष्णुपत्नी च पाद्यकम्। तथाष्टाङ्गार्घ्यमाख्यातं यवगन्धफलाक्षतम्।।२०।।
कुशाः सिद्धार्थपुष्पाणि तिला द्रव्याणि चाऽऽहरेत्। लवङ्गकक्कोलयुतं दद्यादाचमनीयकम्।।२१।।

से गाय के दूध, अनिरुद्ध मन्त्र से दही और नारायण मन्त्र से घृत लेकर सभी को घृतपात्र में एकत्र करना चाहिये। अन्य वस्तुओं का भाग घी से अधिक होना चाहिये। इन सभी के मिलने से जो वस्तु तैयार हो जाती है, उसको 'पञ्चगव्य' कहा गया है। पञ्चगव्य एक, दो या तीन बार पृथक्-पृथक् बनाये। इनमें से एक तो मण्डप तथा वहाँ की वस्तुओं का प्रोक्षण करनेके लिये है, दूसरा प्राशन के लिये और तीसरा स्नान के उपयोग में आता है। दस कलशों की स्थापना करके उनमें इन्द्रादि लोकपालों की पूजा करनी चाहिये। पूजन करके उनको श्रीहरि की आज्ञा सुनावे–'हे लोकपालगण! आपको इस यज्ञ की रक्षा के लिये श्रीहरि कीआज्ञा से यहाँ सदा स्थित रहना चाहिये'।।७-१२।।

याग द्रव्य आदि की रक्षा की व्यवस्था करके विकिर (विघ्न निवारण के लिये सभी तरफ छींटे जाने वाले सर्षप (सरसों) आदि) द्रव्यों को बिखेरे। सात बार अस्त्र सम्बन्धी मूल मन्त्र (अस्त्राय फट्) का जप करते हुए ही कथित वस्तुओं को सभी तरफ बिखेरना चाहिये। फिर उसी तरह अस्त्र मन्त्र का जप करके कुश कूर्च ले आवे। उनको ईशान कोण में रखकर उन्हीं के ऊपर कलश और वर्धनी को स्थापित करना चाहिये। कलश में श्रीहरि का साङ्ग पूजन करके वर्धनी में अस्त्र की अर्चना करनी चाहिये। वर्धनी की छिन्न धारा में याम मण्डप को प्रदक्षिणा क्रम से सींचते हुए कलश को उसके उपयुक्त स्थान पर ले जाय और स्थिर आसन पर स्थापित करके उसकी पूजा करनी चाहिये। कलश के अन्दर पञ्चरत्न डालना चाहिये। उसके ऊपर वस्त्र लपेट फिर उस पर गन्धादि उपचारों द्वारा श्रीहरि का पूजन करना चाहिये। वर्धिनी में भी सोने का टुकड़ा डालना चाहिये। उसके बाद उस पर अस्त्र की पूजा करके उसके वाम भाग में पास ही, वास्तु-लक्ष्मी तथा भूविनायक की अर्चना करनी चाहिये। संक्रान्ति आदि के समय इसी तरह श्रीविष्णु के स्नान, अभिषेक की व्यवस्था करना चाहिये। मण्डप के कोणों और दिशाओं में कुल मिलाकर आठ और मध्य में एक। इस तरह नौ पूर्ण कलशों को, जिसमें छिद्र न हो, स्थापित करके उनमें पाद्य, अर्घ्य, आचमनीय तथा पञ्चगव्य डालें। पूर्व आदि के कलशों में कथित वस्तुयें डालनी चाहिये। अग्निकोण आदि के कलशों में कथित वस्तुओं के अतिरिक्त पञ्चामृत युक्त जल अधिक डालने का विधान है। पाद्य की अंगभूता चार वस्तुयें हैं–दूध, दही, मधु और गरम जल। किन्ही के मत में कमल, श्यामा, तिन्नी का चावल, दूर्वादल, विष्णुक्रान्ता औषधि इन चार वस्तुओं से निर्मित

स्नपयेन्मूलमन्त्रेण देवं पञ्चामृतैरपि। शुद्धोदं मध्यकुम्भेन देवमूर्ध्नि विनिक्षिपेत्।।२२।।
कलशान्निःसृतं तोयं दूर्वाग्रं संस्पृशेन्नरः। शुद्धोदकेन पाद्यं च अर्घ्यमाचमनं ददेत्।।२३।।
परिमृज्य पटेनाङ्गं सवस्त्रं मण्डलं नयेत्। तत्राभ्यर्च्याचरेद् होमं कुण्डादौ प्राणसंयमी।।२४।।
प्रक्षाल्य हस्तौ रेखाश्च तिस्रः पूर्वाग्रगामिनीः। दक्षिणादुत्तरान्ताश्च तिस्रश्चैवोत्तराग्रगाः।।२५।।
अर्घ्योदकेन सम्प्रोक्ष्य योनिमुद्रां प्रदर्शयेत्। ध्यात्वात्मरूपं चाग्निं तु योन्या कुण्डे क्षिपेन्नरः।।२६।।
पात्राण्यासदयेत्पश्चाद् दर्भस्त्रुक्स्त्रुवकादिभिः। बाहुमात्राः परिधय इध्मव्रश्चनमेव च।।२७।।
प्रणीतां प्रोक्षणीपात्रमाज्यस्थालीघृतादिकम्। प्रस्थद्वयं तण्डुलानां युग्मं युग्ममधोमुखम्।।२८।।
प्रणीता प्रोक्षणीपात्रे न्यसेत्प्रागग्रगं कुशम्। अद्भिः पूर्य प्रणीतां तु ध्यात्वा देवं प्रपूज्य च।।२९।।
प्रणीतां स्थापयेदग्नेर्द्रव्याणां चैव मध्यतः। प्रोक्षणीमद्भिः सम्पूर्य प्राच्चर्य दक्षे तु विन्यसेत्।।३०।।
चरुं च श्रपयेदग्नौ ब्रह्माणां दक्षिणे न्यसेत्। कुशानास्तीर्य पूर्वादौ परिधीन् स्थापयेत्ततः।।३१।।
वैष्णवीकरणं कुर्याद्गर्भाधानादिना ततः। गर्भाधानं पुंसवनं सीमन्तोन्नयनं जनिः।।३२।।
नामादिसमावर्तनान्तं जुहुयादष्ट चाऽऽहुतीः। पूर्णाहुतिं प्रतिकर्म स्त्रुचा स्त्रुवसुयुक्तया।।३३।।

जल पाद्य कहलाता है। इसी तरह अर्घ्य के भी आठ अंग कहे गये हैं–जौं, गन्ध, फल, अक्षत, पुष्प, सरसों, फूल और तिल। इन आठ द्रव्यों का अर्घ्य के लिये संग्रह करना चाहिये। जाति (जायफल), लवंग और कंकोलयुक्त जल का आचमन देना चाहिये। इष्टदेव को मूल मन्त्र से पंचामृत द्वारा स्नान कराये। मध्य वाले कलश से भगवान् के मस्तक पर शुद्ध जल का छींटा देना चाहिये। कलश से निकले हुये जल एवं कूर्चाग्रका स्पर्श करना चाहिये। फिर शुद्ध जल से पाद्य, अर्घ्य और आचमनीय निवेदन करना चाहिये। तत्पश्चात् वस्त्र से भगवान् के श्रीविग्रह को पोंछ कर वस्त्र धारण कराये और वस्त्र के सहित उनको मण्डल में ले जाये। वहाँ भलीभाँति पूजा करके प्राणायामपूर्वक कुण्ड आदि में हवन करना चाहिये। (हवन की विधि) दोनों हाथ धोकर कुण्ड में या वेदी पर तीन पूर्वाग्र रेखायें खींचे। ये रेखायें दक्षिण की तरफ से प्रारम्भ करके क्रमशः उत्तर की तरफ खींची जायें। फिर इन्हीं के ऊपर तीन उत्तराग्र रेखायें खींचे। (ये भी दाहिने से प्रारम्भ करके क्रमशः बायें खींची जाय) तत्पश्चात् अर्घ्य के जल से इन रेखाओं का प्रोक्षण करना चाहिये और योनिमुद्रा दिखावे। अग्नि का आत्मरूप से चिन्तर करके मनुष्य योनियुक्त कुण्ड में उसकी स्थापना करना चाहिये। इसके बाद दर्भ, स्त्रुक, स्त्रुवा, आदि के साथ पात्रसादन करना चाहिये। बहुमात्र की परिधियाँ, इध्मव्रश्चन, प्रणीतापात्र, प्रोक्षणीपात्र, आज्यस्थाली, घी, दो-दो सेर चावल तथा अधोमुख स्त्रुक् और स्त्रुवा की जोड़ी प्रणीता एवं प्रोक्षणी में पूर्वाग्र कुश रखें। प्रणीता को जल से भरकर भगवान् का ध्यान, पूजन करके उसको अग्नि के पश्चिम अपने आगे और आसादित द्रव्यों के मध्य में रखे। प्रोक्षणि को जल से भरकर पूजन के पश्चात् दाहिने रखे। आग पर चरु को चढ़ा कर पकावे। और अग्नि से दक्षिण दिशा में ब्रह्माजी की स्थापना करना चाहिये। कुण्ड या वेदी के चारो तरफ पूर्वादि दिशा में कुश (बर्हिष) बिछाकर परिधियों को स्थापित करना चाहिये। तत्पश्चात् गर्भाधानादि संसार के द्वारा अग्नि का वैष्णवीकरण करना चाहिये। गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोनयन, जातकर्म एवं नामकरणादि समावर्तनान्त संस्कार करके प्रत्येक कर्म के लिये आठ-आठ आहुतियाँ देना चाहिये तथा स्त्रुवायुक्त के द्वारा पूर्णाहुति सम्प्रदान करना चाहिये। कुण्ड के अन्दर ऋतुस्नाता लक्ष्मी का ध्यान करके हवन करना चाहिये। कुण्ड के अन्दर जो लक्ष्मी है 'कुण्डलक्ष्मी' कहा गया है। वे ही त्रिगुणात्मिका प्रकृति है। 'वे सम्पूर्ण भूतों की विद्या एवं मन्त्र समुदाय की योनि है। परामात्म स्वरूप अग्निदेव मोक्ष

कुण्डमध्ये ऋतुमतीं लक्ष्मीं सञ्चिन्त्य होमयेत्। कुण्डलक्ष्मीः समाख्याता प्रकृतिस्त्रिगुणात्मिका।।३४।।
सा योनिः सर्वभूतानां विद्यामन्त्रगणस्य च। विमुक्तेः कारणं वह्निः परमात्मा तु मुक्तिदः।।३५।।
प्राच्यां शिरः समाख्यातं बाहू कोणे व्यवस्थितौ। ईशानाग्नेयकोणे तु जङ्घे वायव्यनैर्ऋते।।३६।।
उदरं कुण्डमित्युक्तं योनिर्योनिर्विधीयते। गुणत्रयं मेखलाः स्युर्ध्यात्वैवं समिधो दश।।३७।।
पञ्चाधिकास्तु जुहुयात् प्रणवान् मुष्टिमुद्रया। पुनराधारौ जुहुयाद् वाय्वग्न्यन्तं ततः श्रयेत्।।३८।।
ईशान्तं मूलमन्त्रेण आज्यभागौ तु होमयेत्। उत्तरे द्वादशान्तेन दक्षिणे तेन मध्यतः।।३९।।
व्याहृत्या पद्ममध्यस्थं ध्यायेद् वह्निं तु संस्कृतम्। वैष्णवं सप्तजिह्वं च सूर्यकोटिसमप्रभम्।।४०।।
चन्द्रवक्त्रं च सूर्याक्षं जुहुयाच्छतमष्ट च। तदर्धं चाष्टमूलेन अङ्गानां च दशांशतः।।४१।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते पवित्रकारोपणसम्बन्धिपूजाहोमादिविधिकथनं ना चतुस्त्रिशोऽध्यायः।।३४।।

के कारण एवं मुक्तिदाता हैं। पूर्व दिशा की तरफ कुण्ड लक्ष्मी का सिर है, ईशान और अग्निकोण की तरफ उसकी भुजायें हैं, वायव्य तथा नैर्ऋत्य कोण में जंघायें हैं, उदर को 'कुण्ड' कहा है तथा योनि के स्थान में कुण्ड योनि का विधान है। सत्त्व, रज और तम ये तीन गुण ही तीन मेखलायें हैं।' इस तरह ध्यान करके प्रणव मन्त्र से मुष्टि मुद्रा द्वारा पन्द्रह समिधाओं का हवन करना चाहिये। फिर वायु से लेकर अग्निकोण तक 'आघार' नामक दो आहुतियाँ देना चाहिये। इसी तरह आग्नेय से ईशानान्त तक 'आज्य भाग' नामक आहुतियों का हवन करना चाहिये। आज्य स्थाली में से उत्तर, दक्षिण और मध्य भाग से घृत लेकर द्वादशांश से, अर्थात् मूल को द्वादश बार जप कर अग्नि में भी उन्हीं दिशाओं में उसकी आहुति दे और वहीं उसका त्याग करना चाहिये। इसके बाद (भूः स्वाहाः) इत्यादि रूप से व्याहृति हवन करना चाहिये। कमल के मध्य भाग में संस्कार सम्पन्न अग्निदेव का 'विष्णु रूप में ध्यान करना चाहिये।' 'वे सात जिह्वाओं से युक्त, करोड़ों सूर्यों के समान उनकी प्रभा है, चन्द्रोपम मुख है और सूर्य सदृश देदीप्यमान नेत्र हैं। इस तरह ध्यान करके इनके लिये एक सौ आठ आहुतियाँ दे अथवा मूल मन्त्र से उसकी आधी एवं आठ आहुतियाँ देना चाहिये। अंगों के लिये भी दस-दस आहुतियाँ देना चाहिये।।१३-४१।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी चौंतीसवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।३४।।

❖❖❖

अथ पञ्चत्रिंशोऽध्यायः

पवित्राधिवासनविधिः

अग्निरुवाच

सम्पाताहुतिनासिच्य पवित्राण्यधिवासयेत्। नृसिंहमन्त्रजप्तानि गुप्तान्यस्त्रेण तानि तु।।१।।
वस्त्रसंवेष्टितान्येव पात्रस्थान्यभिमन्त्रयेत्। बिल्वाद्यद्भिः प्रोक्षितानि मन्त्रेण चैकधा द्विधा।।२।।
कुम्भपात्रे तु संस्थाप्य रक्षां विज्ञाप्य देशिकः। दन्तकाष्ठं चामलकं पूर्वे सङ्कर्षणेन तु।।३।।
प्रद्युम्नेन भस्मतिलान् दक्षे गोमयमृत्तिकाम्। वारुणे चानिरुद्धेन सौम्ये नारायणेन च।।४।।
दर्भोदकं चाथ हृदा अग्नौ कुङ्कुमरोचनम्। ऐशान्यां शिरसा धूपं शिखया नैर्ऋतेऽप्यथ।।५।।
मूलपुष्पाणि दिव्यानि कवचेनाथ वायवे। चन्दनाम्ब्वक्षतदधिदूर्वाश्च पुटिकास्थिताः।।६।।
गृहं त्रिसूत्रेणाऽवेष्ट्य पुनः सिद्धार्थकान् क्षिपेत्। दद्यात् पूजाक्रमेणाथ स्वैः स्वैर्गन्धपवित्रकम्।।७।।
मन्त्रैर्वै द्वारपादिभ्यो विष्णुं कुम्भे त्वनेन च। विष्णुतेजोद्भवं रम्यं सर्वपातकनाशनम्।।८।।
सर्वकामप्रदं देव तवाङ्गे धारयाम्यहम्। सम्पूज्य धूपदीपाद्यैर्व्रजेद् द्वारसमीपतः।।९।।

अध्याय-३५

पवित्राधिवासन विधि

भगवान् अग्निदेव ने कहा कि–हे मुनिश्वर! सम्पाताहुति से पवित्राओं का सेंचन करके उनका अधिवासन करना चाहिये। नृसिंह मन्त्र का जप करके उनको अभिमन्त्रित करना चाहिये और अस्त्र मन्त्र (अस्त्राय फट्) से उनको सुरक्षित रखे। पवित्राओं में वस्त्र लपेटे, लपेटे हुये ही उनको पात्र में अभिमन्त्रित करना चाहिये। बिल्व (बेल) आदि के सम्पर्क से युक्त जल द्वारा मन्त्रोच्चारणपूर्वक उन सभी का एक या दो बार प्रोक्षण करना चाहिये। गुरु को चाहिये कि कुम्भ पात्र में पवित्राओं को रख कर उनकी रक्षा के उद्देश्य से उस पात्र से पूर्व दिशा में संकर्षण मन्त्र द्वारा दन्ताकाष्ठ और आमला, दक्षिण दिशा में प्रद्युम्न मन्त्र द्वारा भस्म और तिल, पश्चिम दिशा में अनिरुद्ध मन्त्र द्वारा गोबर और मिट्टी तथा उत्तर दिशा में नारायण मन्त्र द्वारा कुशोदक डालना चाहिये। तत्पश्चात् अग्नि कोण में हृदय मन्त्र से कुंकुम तथा रोचना, ईशान कोण में शिरोमन्त्र द्वारा धूप, नैर्ऋत्य कोण में शिखा मन्त्र द्वारा दिव्य मूल पुष्प तथा वायव्य कोण में कवच मन्त्र द्वारा चन्दन, जल, अक्षत, दही और दूर्वा को दोनों में रखकर छींटे। मण्डप को त्रिसूत्र से आवेष्टित करके पुनः सभी तरफ सरसों बिखेरे।।१–६।। देवताओं की जिस क्रम से पूजा की गयी हो, उसी क्रम से, उनके लिये अपने-अपने नाम मन्त्रों से गन्ध पवित्रक देना चाहिये। द्वारपाल आदि को नाम मन्त्रों से गन्ध पवित्रक अर्पित करना चाहिये। इसी क्रम से कुम्भ में भगवान् श्रीहरि विष्णुजी को सम्बोधित करके पवित्रक दे–हे देव! यह आप भगवान् विष्णु के ही तेज से उत्पन्न रमणीय तथा सर्वपातकनाशक पवित्रक हैं। यह सम्पूर्ण मनोरथों को देने वाला है, इसको मैं आपके अंग में धारण कराता हूँ। धूप दीप आदि के द्वारा सम्यक् पूजन करके, मण्डप के द्वार के सन्निकट जायँ तथा गन्ध, पुष्प तथा अक्षत से युक्त वह पवित्रक स्वयं को भी अर्पित करना चाहिये। अपने को समर्पित करते समय इस तरह कहे–'यह पवित्रक भगवान् विष्णु का तेज है और बड़े-बड़े पातकों का नाश करने वाला है। मैं धर्म, अर्थ और काम

गन्धपुष्पाक्षतोपेतं पवित्रं चाऽऽत्मनोऽर्पयेत्। पवित्रं वैष्णवं तेजो महापातकनाशनम्।।१०।।
धर्मकामार्थसिद्ध्यर्थं स्वकेऽङ्गे धारयाम्यहम्। आसने परिवारादौ गुरौ दद्यात्पवित्रकम्।।११।।
गन्धादिधिः समभ्यर्च्य गन्धपुष्पाक्षतादिभिः। विष्णुतेजोद्भवेत्यादिमूलेन हरयेऽर्पयेत्।।१२।।
वह्निस्थाय ततो दत्त्वा देवं सम्प्रार्थयेत्ततः। क्षीरोदधिमहानागशय्यावस्थितविग्रह।।१३।।
प्रातस्त्वां पूजयिष्यामि सन्निधौ भव केशव। इन्द्रादिभ्यस्ततो दत्त्वा विष्णुपार्षदके बलिम्।।१४।।
ततो देवाग्रतः कुम्भं वासोयुगसमन्वितम्। रोचनाचन्द्रकाश्मीरगन्धाद्युदकसंयुतम्।।१५।।
गन्धपुष्पादिनाऽऽभूष्य मूलमन्त्रेण पूजयेत्। मण्डपाद् बहिरागत्य विलिप्ते मण्डलत्रये।।१६।।
पञ्चगव्यं चरुं दन्तकाष्ठं चैव क्रमाद् भजेत्। पुराणश्रवणं स्तोत्रं पठञ्जागरणं निशि।।१७।।
परप्रेषकबालानां स्त्रीणां भोगभुजां तथा। सद्योऽधिवासनं कुर्याद्विना गन्धपवित्रकम्।।१८।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते पवित्राधिवासनविधिवर्णनं नाम पञ्चत्रिंशोऽध्यायः।।३५।।

—❀❀❀—

की सिद्धि के लिये यह अपने अंग में धारण करने जा रहा हूँ। आसन में भगवान् विष्णु के परिवारादि एवं गुरु को पवित्रक देना चाहिये। गन्ध, पुष्प और अक्षत आदि से भगवान् श्रीहरि विष्णु की पूजा करके गन्ध, पुष्पादि से पूजित पवित्रक श्रीहरि विष्णु को समर्पित करना चाहिये। 'विष्णुतेजोभवम्' इत्यादि मूल मन्त्र का उच्चारण करना चाहिये। तत्पश्चात् अग्नि में अधिष्ठाता भगवान् विष्णु को पवित्रक अर्पित करके उन परिमेश्वर से इस तरह प्रार्थना करना चाहिये— 'हे केशव! आपका श्रीविग्रह क्षीरसागर में महानाग (अनन्त) की शय्या पर शयन करने वाला है। मैं प्रातःकाल आपकी पूजा करने जा रहा हूँ। आप मेरे सन्निकट पधारिये।' इसके बाद इन्द्र आदि दिक्पालों को बलि अर्पित करके श्रीविष्णु पार्षदों को भी बलि भेंट करना चाहिये। इसके बाद भगवान् के सम्मुख युगलवस्त्र भूषित तथा रोचना, कपूर, केसर और गन्ध आदि के जल से पूरित कलश को गन्ध पुष्प आदि से विभूषित करके मूलमन्त्र से उसकी पूजा करनी चाहिये। फिर मण्डप से बाहर आकर पूर्व दिशा में लिये हुए मण्डलत्रय में पञ्चगव्य, चरु और दन्तकाष्ठ का क्रमशः सेवन करना चाहिये। रात में पुराणश्रवण तथा स्तोत्रपाठ करते हुए जागरण करना चाहिये। पर प्रेषक बालकों, स्त्रियों तथा भोगीजनों के उपयोग में आने वाले गन्धपवित्रक को छोड़कर शेष का तत्काल तत्काल अधिवासन करना चाहिये।।७-१८।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी पैंतीसवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।३५।।

❖❖❖

अथ षट्त्रिंशोऽध्यायः

विष्णुपवित्रारोपणविधिः

अग्निरुवाच

प्रातः स्नानादिकं कृत्वा द्वारपालान् प्रपूज्य च। प्रविश्य गुप्ते देशे च समाकृष्याथ धारयेत्।।१।।
पूर्वाधिवासितं द्रव्यं वस्त्राभरणगन्धकम्। निरस्य सर्वं निर्माल्यं देवं संस्नाप्य पूजयेत्।।२।।
पञ्चामृतैः कषायैश्च शुद्धगन्धोदकैस्ततः। पूर्वाधिवासितं दद्याद् वस्त्रं गन्धं च पुष्पकम्।।३।।
अग्नौ हुत्वा नित्यवच्च देवं सम्प्रार्थयेन्नमेत्। समर्प्य कर्म देवाय पूजां नैमित्तिकीं चरेत्।।४।।
द्वारपालविष्णुकुम्भवर्धनीः प्रार्थयेद्धरिम्। अतो देवेति मन्त्रेण मूलमन्त्रेण कुम्भके।।५।।
कृष्ण कृष्ण नमस्तुभ्यं गृह्णीष्वेदं पवित्रकम्। पवित्रीकरणार्थाय वर्षपूजाफलप्रदम्।।६।।
पवित्रकं कुरुष्वाद्य यन्मया दुष्कृतं कृतम्। शुद्धो भवाम्यहं देव त्वत्प्रसादात्सुरेश्वर।।७।।
पवित्रं च हृदाद्यैस्तु आत्मानमभिषिच्य च। विष्णुकुम्भं च सम्प्रोक्ष्य व्रजेद् देवसमीपतः।।८।।
पवित्रमात्मने दद्याद्रक्षाबन्धं विसृज्य च। गृहाण ब्रह्मसूत्रं च यन्मया कल्पितं प्रभो।।९।।

अध्याय-३६

भगवान् श्रीहरि विष्णु हेतु पवित्रारोपण विधान

श्रीअग्नि देव ने कहा कि–हे मुने! प्रातःकाल स्नान आदि करके, द्वारपालों का पूजन करने के पश्चात् गुप्त स्थान में प्रवेश करके, पूर्वाधिवासित पवित्र में से एक लेकर प्रसाद रूप से धारण कर लेना चाहिये। शेष द्रव्यवस्त्र, आभूषण, गन्ध एवं सम्पूर्ण निर्माल्य को हटाकर भगवान् को स्नान कराने के पश्चात् उनकी पूजा करनी चाहिये। पञ्चामृत, कषाय एवं शुद्ध गन्धोदक से नहलाकर भगवान् के निमित्त पहले से रखे हुए वस्त्र, गन्ध और पुष्प को उनकी सेवा में प्रस्तुत करना चाहिये। अग्नि में नित्य हवन की भाँति हवन करके भगवान् की स्तुति-याचना करने के अन्तर उनके चरणों में मस्तक नवावे। फिर अपने समस्त कर्म भगवान् को अर्पित करके उनकी नैमित्ति की पूजा करनी चाहिये। द्वारपाल, विष्णु, कुम्भ और वर्धनी की याचना करनी चाहिये। 'अतो देवाः' इत्यादि मन्त्र से, अथवा मूल-मन्त्र से कलश पर श्रीहरि विष्णु की स्तुति-याचना करनी चाहिये–'हे कृष्ण! हे कृष्ण! आपको नमस्कार है। इस पवित्रक को ग्रहण कीजिये। यह उपास को पवित्र करने के लिये है और वर्ष भर की हुई पूजा के सम्पूर्ण फल को देने वाला है। हे नाथ! पहले मुझसे जो दुष्कृत (पाप) बन गया हो, उसको नष्ट करके आप मुझको परम पवित्र बना दीजिये। हे देव! सुरेश्वर! आपकी कृपा से मैं शुद्ध हो जाऊँगा। हृदय, सिर आदि मन्त्रों द्वारा पवित्रक का तथा अपना भी अभिषेक करके विष्णुकलश का भी प्रोक्षण करने के बाद भगवान् के सन्निकट जाय। उनके रक्षा बन्धन को हटाकर उनको पवित्रक समर्पित करना चाहिये और कहे–'हे प्रभो! मैंने जो ब्रह्मसूत्र तेयार किया है, इसको आप ग्रहण करें। यह कर्म की पूर्तिका साधक है; इसलिये इस पवित्रारोपण कर्म को आप इस तरह सम्पन्न करें, जिससे मुझको दोष का भागी

कर्मणां पूरसार्थाय यथा दोषो न मे भवेत्। द्वारपालासनगुरुमुख्याणां च पवित्रकम्।।१०।।
कनिष्ठादि च देवाय वनमालां च मूलतः। हृदादिविष्वक्सेनान्ते पवित्राणि समर्पयेत्।।११।।
वह्नौ हुत्वा वह्निगेभ्यो विश्वादिभ्यःपवित्रकम्। प्राच्यं पूर्णाहुतिं दद्यात् प्रायश्चित्ताय मूलतः।।१२।।
अष्टोत्तरशतं वापि पञ्चोपनिषदैस्ततः। मणिविद्रुममालाभिर्मन्दारकुसुमादिभिः।।१३।।
इयं सांवत्सरी पूजा तवास्तु गरुडध्वज। वनमाला यथा देव कौस्तुभं सततं हृदि।।१४।।
तद्वत्पवित्रतन्तूंश्च पूजां च हृदये वह। कामतोऽकामतो वापि यत्कृतं नियमार्चने।।१५।।
विधिना विघ्नलोपेन परिपूर्णं तदस्तु मे। प्रार्थ्य नत्वा क्षमाप्याथ पवित्रं मस्तकेऽर्पयेत्।।१६।।
दत्त्वा बलिं दक्षिणाभिर्वैष्णवं तोषयेद् गुरुम्। विप्रान् भोजनवस्त्राद्यैर्दिवसं पक्षमेव वा।।१७।।
पवित्रं स्नानकाले वा अवतार्य समर्चयेत्। अनिवारितमन्त्राद्यं दद्याद् भुङ्क्तेऽथ केवलम्।।१८।।
विसर्जनेऽह्नि सम्पूज्य पवित्राणि विसर्जयेत्। सांवत्सरीमिमां पूजां सम्पाद्य विधिवन्मम।।१९।।
व्रज पवित्रकेदानीं विष्णुलोकं विसर्जितः। मध्ये सोमेशयोः प्राच्यं विष्वक्सेनं हि तस्य च।।२०।।
पवित्राणि समभ्यर्च्य ब्राह्मणाय समर्पयेत्। यावन्तस्तन्तवस्तस्मिन् पवित्रे परिकल्पिताः।।२१।।

न होना पड़े।।१-९।। द्वारपाल, योग पीठासन तथा मुख्य गुरुओं को पवित्रक चढ़ावे। इनमें कनिष्ठ श्रेणी का (नाभितक का) पवित्रक द्वारपालों को, मध्यम श्रेणी का (जाँघ तक लटकने वाला) पवित्रक योगपीठासन को और श्रेष्ठतम (घुटने तक का) पवित्रक गुरुजनों को देना चाहिये। साक्षात् भगवान् को मूल-मन्त्र से वनमाला (पैरोंतक लटकने वाला पवित्रक) अर्पित करना चाहिये। 'नमो विष्वक्सेनाय' मन्त्र बोलकर विष्वक्सेन को भी पवित्रक चढ़ावे। अग्नि में हवन करके अग्निस्थ विश्वादि देवताओं को पवित्रक अर्पित करना चाहिये। उसके बाद पूजन के पश्चात् मूल-मन्त्र से प्रायश्चित्त के उद्देश्य से पूर्णाहुति देनी चाहिये। अष्टोत्तरशत अथवा पाँच औपनिषद मन्त्रों से पूर्णाहुति देनी चाहिये। मणि या मूँगों की मालाओं से अथवा मन्दार-पुष्प आदि से अष्टोत्तरशतकी गणना करनी चाहिये। अन्त में भगवान् से इस तरह याचना करनी चाहिये-'हे गरुडध्वज! यह आपकी वार्षिक पूजा सफल हो। हे देव! जिस प्रकार वनमाला आपके वक्षःस्थल में सदा शोभा पाती है, उसी तरह पवित्रक के इन तन्तुओं को और इनके द्वारा की गयी पूजा को भी आप अपने हृदय में धारण करें। मैंने इच्छा से या अनिच्छा से नियमपूर्वक की जाने वाली पूजा में जो त्रुटियाँ की हैं, विघ्नवश विधि के पालन में जो न्यूनता हुई है, अथवा कर्म लोप का प्रसङ्ग आया है, वह सब आपकी कृपा से पूर्ण हो जाय। मेरे द्वारा की हुई आपकी पूजा पूर्णतः सफल हो।।१०-१५।। इस तरह याचना और नमस्कार करके अपराधों के लिये क्षमा माँगकर पवित्रक को मस्तक पर चढ़ावे। फिर यथा योग्य बलि अर्पित करके दक्षिणा द्वारा वैष्यणव गुरु को संतुष्ट करना चाहिये। यथा शक्ति एक दिन या एक पक्ष तक ब्राह्मणों को भोजन वस्त्र आदि से संतोष सम्प्रदान करना चाहिये। स्नान काल में पवित्र को उतार कर पूजा करनी चाहिये। उत्सव के दिन किसी को आने से न रोके और सभी को अनिवार्य रूप से अन्न देकर अन्त में स्वयं भी भोजन करना चाहिये। विसर्जन के दिन पूजन करके पवित्र कों का विसर्जन करना चाहिये और इस तरह याचना करनी चाहिये-'हे पवित्रक! मेरी इस वार्षिक पूजा को विधिवत् सम्पादित करके अधुना आप मेरे द्वारा विसर्जित हो विष्णुलोक को पधारो। उत्तर और ईशान कोण के मध्य में विष्वक्सेन की पूजा करके उनके भी पवित्रकों की अर्चना करने के पश्चात् उनको ब्राह्मण को दे देना चाहिये। उस पवित्रक में जितने तन्तु कल्पित हुए हैं, उतने सहस्र युगों तक उपासक विष्णु लोक में प्रतिष्ठित होता है। साधक पवित्रारोपण से अपनी सौ पूर्व पीढ़ियों

तावद्युगसहस्राणि विष्णुलोके महीयते। कुलानां शतमुद्धृत्य दशपूर्वान् दशापरान्।।२२।।
विष्णुलोके तु संस्थाप्य स्वयं मुक्तिमवाप्नुयात्।।२३।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते विष्णुपवित्रारोपणविधिनिरूपणं नाम षट्त्रिंशोऽध्यायः।।३६।।

अथ सप्तत्रिंशोऽध्यायः

संक्षेपतः सर्वदेवपवित्रारोपणविधिः

अग्निरुवाच

संक्षेपात्सर्वदेवानां पवित्रारोपणं शृणु! पवित्रं पूर्वलक्ष्म स्यात् स्वरसानलगं त्वयि।।१।।
जगद्योने समागच्छ परिवारगणैः सह। निमन्त्रयाम्यहं प्रातर्दद्यां तुभ्यं पवित्रकम्।।२।।
जगत्सृजे नमस्तुभ्यं गृह्णीष्वेदं पवित्रकम्। पवित्रीकरणार्थाय वर्षपूजाफलप्रदम्।।३।।
शिवदेव नमस्तुभ्यं गृह्णीष्वेदं पवित्रकम्। मणिविद्रुममालाभिर्मन्दारकुसुमादिभिः।।४।।
इयं सांवत्सरी पूजा तवास्तु वेदवित्पते। सांवत्सरीमिमां पूजां सम्पाद्य विधिवन्मम।।५।।
व्रज पवित्रकेदानीं स्वर्गलोकं विसर्जितः। सूर्यदेव नमस्तुभ्यं गृह्णीष्वेदं पवित्रकम्।।६।।

का उद्धार करके दस पहले और दस बाद की पीढ़ियों को विष्णु लोक में स्थापित करता और स्वयं भी मुक्ति प्राप्त कर लेता है।।१६-२३।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी छत्तीसवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।३६।।

अध्याय-३७

संक्षिप्त सर्वदेव हेतु पवित्रारोपण विधान

श्रीअग्नि देव ने कहा कि-हे मुने! अधुना संक्षेप में समस्त देवताओं के लिये पवित्रारोपण की विधि को कहा जा रहा है, ध्यान से सुनो। पहले जो चिह्न कहे गये है, उन्हीं लक्षणों से युक्त पवित्रक देवता को अर्पित किया जाता है। उसके दो भेद होते हैं स्वरस और अनलग। पहले अधोलिखित रूप से इष्ट देवता को निमन्त्रण देना चाहिये-हे जगत् के कारण भूत ब्रह्मदेव! आप परिवार सहित यहाँ पधारें। मैं आपको आमन्त्रित करने जा रहा हूँ। कल प्रातःकाल आपकी सेवा में पवित्रक अर्पित करने जा रहा हूँ फिर दूसरे दिन पूजन के पश्चात् अधोलिखित याचना करके पवित्रक भेट करना चाहिये-'संसार की सृष्टि करने वाले आप विधाता को नमस्कार है। यह पवित्रक ग्रहण कीजिये। इसको अपने को पवित्र करने के लिये आपकी सेवा में प्रस्तुत किया गया है। यह वर्षभर की पूजा का फल देने वाला है। 'हे शिवदेव! वेदवेत्ताओं के पालक प्रभो! आपको नमस्कार है। यह पवित्रक स्वीकार कीजिये। इसके द्वारा आपके लिये

पवित्रीकरणार्थाय वर्षपूजाफलप्रदम्। शिव देव नमस्तुभ्यं गृह्णीष्वेदं पवित्रकम्।।७।।
पवित्रीकरणार्थ वर्षपूजाफलप्रदम्। गणेश्वर नमस्तुभ्यं गृह्णीष्वेदं पवित्रकम्।।८।।
पवित्रीकरणार्थाय वर्षपूजाफलप्रदम्। शक्तिदेवि! नमस्तुभ्यं गृह्णीष्वेदं पवित्रकम्।।९।।
पवित्रीकरणार्थाय वर्षपूजाफलप्रदम्। नारायणमयं सूत्रमनिरुद्धमयं परम्।।१०।।
धनधान्यायुरारोग्यप्रदं सम्प्रददामि ते। कामदेवमयं सूत्रं संकर्षणमयं वरम्।।११।।
विद्यासन्ततिसौभाग्यप्रदं सम्प्रददामि ते। वासुदेवमयं सूत्रं धर्मकामार्थमोक्षदम्।।१२।।
संसारसागरोत्तारकारणं प्रददामि ते। विश्वरूपमयं सूत्रं सर्वदं पापनाशनम्।।१३।।
अतीतानागतकुलसमुद्धारं ददामि ते। कनिष्ठादीनि चत्वारि मनुभिस्तु क्रमाद्ददे।।१४।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते संक्षेपतः सर्वदेवसाधारणपवित्रारोपणं नाम सप्तत्रिंशोऽध्यायः।।३७।।

मणि, मूँगे और मन्दार कुसुम आदि से प्रतिदिन एक वर्ष तक की जाने वाली पूजा सम्पादित हो। 'हे पवित्रक! मेरी इस वार्षिकपूजा का विधिवत निष्पादन करके मुझसे विदा लेकर अधुना आप स्वर्गलोक को पराधो। सूर्य देव आपको नमस्कार है; यह पवित्रक लीजिये। इसको पवित्रीकरण के उद्देश्य से आपकी सेवा में अर्पित किया गया है। यह एक वर्ष की सेवा में अर्पित किया गया है। यह एक वर्ष की पूजाक का फल देने वाला है। 'हे गणेश जी! आपको नमस्कार है यह पवित्रक स्वीकार कीजिये। इसको पवित्रीकरण के उद्देश्य से दिया गया है। यह वर्ष भर की पूजा का फल देने वाला है। 'हे शक्ति देवि! आपको नमस्कार है; यह पवित्रक लीजिये। इसको पवित्रीकरण के उद्देश्य से आपकी सेवा में भेंट किया गया है। यह वर्ष भर की पूजा का फल देने वाला है।।१-९।। 'पवित्रक का यह श्रेष्ठतम सूत नारायणमय और अनिरुद्धमय है। धन-धान्य, आयु तथा आरोग्य को देने वाला है, इसको मैं आपकी सेवा में दे रहा हूँ। यह श्रेष्ठ सूत प्रद्युम्नमय और संकर्षणमय है, विद्या, संतति तथा सौभाग्य को देने वाला है। इसको मैं आपकी सेवा में अर्पित करने जा रहा हूँ। यह वासुदेव मय सूत्र धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष को देने वाला है। संसार सागर से पार लगाने का यह श्रेष्ठतम साधन है, इसको आप के चरणों में चढ़ा रहा हूँ। यह विश्वरूपमय सूत्र सब कुछ देने वाला और समस्त पापों का विनाश करने वाला है; भूतकाल के पूर्वजों और भविष्य की भावी संतानों का उद्धार करने वाला है, इसको आपकी सेवा में प्रस्तुत करने जा रहा हूँ। कनिष्ठ, मध्यम, श्रेष्ठतम एवं परमोत्तम-इन चार तरह के पवित्रकों का मन्त्रोच्चारणपूर्वक क्रमशः दान करने जा रहा हूँ।।१०-१४।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी सैंतीसवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।३७।।

❖❖❖

अथाष्टत्रिंशोऽध्यायः

देवालयनिर्माणफलादिवर्णनम्

अग्निरुवाच

वासुदेवाद्यालयस्य कृतौ वक्ष्ये फलादिकम्। चिकीर्षोर्देवधामादि सहस्रजनिपापनुत।।१।।
मनसा सद्मकर्तृणां शतजन्माघनाशनम्। येऽनुमोदन्ति कृष्णस्य क्रियमाणं नरा गृहम्।।२।।
तेऽपि पापैर्विनिर्मुक्ताः प्रयान्त्यच्युतलोकताम्। समतीतं भवष्यिञ्च कुलानामयुतं नरः।।३।।
विष्णुलोकं नयत्याशु कारयित्वा हरेर्गृहम्। वसन्ति पितरो हृष्टा विष्णुलोके ह्यलंकृताः।।४।।
विमुक्ता नारकैर्दुःखैः कर्तुः कृष्णस्य मन्दिरम्। ब्रह्महत्यादिपापौघघातकं देवतालयम्।।५।।
फलं यन्नाप्यते यज्ञैर्धाम कृत्वा तदाप्यते। देवागारे कृते सर्वतीर्थस्नानफलं लभेत्।।६।।
देवाद्यर्थे हतानां च रणे यत्तत्फलादिकम्। शाठ्येन पांसुना वापि कृतं धाम च नाकदम्।।७।।
एकायतनकृत्स्वर्गी त्र्यगारी ब्रह्मलोकभाक्। पञ्चागारी शम्भु-लोकमष्टागाराद्धरौ स्थितिः।।८।।
षोडशालयकारी तु भक्तिं मुक्तिमवाप्नुयात्। कनिष्ठं मध्यमं श्रेष्ठं कारयित्वा हरेर्गृहम्।।९।।

अध्याय-३८

देवालय-निर्माण फल आदि कथन

श्रीअग्निदेव ने कहा कि–हे मुनिवर वसिष्ठ! भगवान् वासुदेव आदि विभिन्न देवताओं के निमित्त मन्दिर का निर्माण कराने से जिस फल आदि की प्राप्ति हो जाती है, अधुना मैं उसी का वर्णन करने जा रहा हूँ। जो देवता के लिये मन्दिर-जलाशय आदि के निर्माण कराने की इच्छा करता है, उसका वह शुभ संकल्प ही उसके हजारों जन्मों के पापों का विनाश कर देता है। जो मन से भावना द्वारा भी मन्दिर का निर्माण करते हैं, उनके सैकड़ों जन्मों के पापों का विनाश हो जाता है। जो लोग भगवान् श्रीकृष्ण के लिये किसी दूसरे के द्वारा बनवाये जाते हुए मन्दिर के निर्माण कार्य का अनुमोदन मात्र कर देते हैं, वे भी समस्त पापों से मुक्त हो उन अच्युतदेव के लोक (वैकुण्ड अथवा गोलोक धाम को) प्राप्त होते हैं। भगवान् श्रीहरि विष्णु के निमित्त मन्दिर का निर्माण करके मनुष्य अपने भूतपूर्व तथा भविष्य में होने वाले दस हजार वंशों को तत्काल विष्णु लोक में जाने का अधिकारी बना देता है। श्रीकृष्ण मन्दिर का निर्माण करने वाले मनुष्य के पितर नरक के क्लेशों से तत्काल छुटकारा पा जाते हैं और दिव्य वस्त्राभूषणों से अलंकृत हो बड़े हर्ष के साथ विष्णु धाम में निवास करते हैं। देवालय का निर्माण ब्रह्म हत्या आदि पापों के पुञ्ज का विनाश करने वाला है।।१-५।। यज्ञों से जिस फल की प्राप्ति नहीं होती है, वह भी देवालय का निर्माण कराने मात्र से प्राप्त हो जाता है। देवालय का निर्माण करा देने पर समस्त तीर्थों में स्नान करने का फल प्राप्त हो जाता है। देवता ब्राह्मण आदि के लिये रण भूमि में मारे जाने वाले धर्मात्मा शूरवीरों को जिस फल आदि की प्राप्ति हो जाती है, वही देवालय के निर्माण से भी सुलभ होता है। कोई शठता (कंजूसी) के कारण धूल मिट्टी से भी देवालय बनवा दे तो वह उसको स्वर्ग या दिव्यलोक सम्प्रदान करने वाला होता है। एकायतन (एक ही देव विग्रह के लिये एक कमरे का) मन्दिर बनवाने वाले पुरुष को स्वर्गलोक की प्राप्ति हो जाती है। त्र्यायतन-मन्दिर का निर्माता ब्रह्मलोक में निवास पाता है।

स्वर्गं च वैष्णवं लोकं मोक्षमाप्नोति च क्रमात्। श्रेष्ठमायतनं विष्णोः कृत्वा यद्धनवांल्लभेत्।।१०।।
कनिष्ठेनैव तत्पुण्यं प्राप्नोत्यधनवान्नरः। समुत्पाद्य धनं कृत्वा स्वल्पेनापि सुरालयम्।।११।।
कारयित्वा हरेः पुण्यं प्राप्नोत्यभ्यधिकं वरान्। लक्षेणाथ सहस्रेण शतेनार्धेन वा हरेः।।१२।।
कारयन्भवनं याति यत्रास्ते गरुडध्वजः। बाल्ये तु क्रीडमाना ये पांसुभिर्भवनं हरेः।।१३।।
वासुदेवस्य कुर्वन्ति तेऽपि तल्लोकगामिनः। तीर्थे चायतने पुण्ये सिद्धक्षेत्रे तथाश्रमे।।१४।।
कर्तुरायतनं विष्णोर्यथोक्तात्त्रिगुणं फलम्। बन्धूकपुष्पविन्यासैः सुधापङ्केन वैष्णवम्।।१५।।
ये विलिम्पन्ति भवनं ते यान्ति भगवत्पुरम्। पतितं पतमानं तु तथार्धपतितं नरः।।१६।।
समुद्धृत्य हरेर्धाम प्राप्नोति द्विगुणं फलम्। पतितस्य तु यः कर्ता पतितस्य च रक्षिता।।१७।।
विष्णोरायतनस्येह स नरो विष्णुरूपभाक्। इष्टकानिचयस्तिष्ठेद्यावादायतनं हरेः।।१८।।
सकुलस्तस्य वै कर्ता विष्णुलोके महीयते। स एव पुण्यवान् पूज्य इहलोके परत्र च।।१९।।
कृष्णस्य वासुदेवस्य यः कारयति केतनम्। जातः स एव सुकृती कुलं तेनैव पालितम्।।२०।।
विष्णुरुद्रार्कदेव्यादेर्गृहकर्ता स कीर्तिभाक्। किं तस्य वित्तनिचयैर्मूढस्य परिरक्षिणः।।२१।।
दुःखार्जितै यः कृष्णस्य न कारयति केतनम्। नोपभोग्यं धनं यस्य पितृविप्रदिवौकसाम्।।२२।।

पञ्चायतन-मन्दिर का निर्माण करने वाले को शिवलोक की प्राप्ति हो जाती है और अष्टायतन मन्दिर के निर्माण से श्रीहरि विष्णु की संनिधि में रहने का सौभाग्य प्राप्त होता है। जो षोडशायतन-मन्दिर का निर्माण करता है वह भोग और मोक्ष, दोनों पाता है। श्री हरि के मन्दिर की तीन श्रेणियाँ हैं—कनिष्ठ, मध्यम और श्रेष्ठ। इनका निर्माण कराने से क्रमशः स्वर्ग लोक, विष्णु लोक तथा मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है। धनी मनुष्य भगवान् श्रीहरि विष्णु का श्रेष्ठतम श्रेणी का मन्दिर बनवाकर जिस फल को प्राप्त करता है, उसको ही निर्धन मनुष्य निम्न श्रेणी का मन्दिर बनवाकर भी प्राप्त कर लेता है। धन-उपार्जन कर उसमें से थोड़ा-सा ही खर्च करके यदि मनुष्य देव-मन्दिर बनवा ले तो बहुत अधिक पुण एवं भगवान् का वरदान प्राप्त करता है। एक लाख या एक हजार या एक सौ अथवा उसका आधा (५०) मुद्रा ही खर्च करके भगवान् श्रीहरि विष्णु का मन्दिर बनवाने वाला मनुष्य उस नित्य धाम को प्राप्त होता है, जहाँ साक्षात् गरुड की ध्वजा फहराने वाले भगवान् श्रीहरि विष्णु विराजमान होते हैं।।६-१२।। जो लोग बालपन में खेलते समय धूलि से भगवान् श्रीहरि विष्णु का मन्दिर बना देते हैं, वे भी उनके धाम को प्राप्त होते हैं। तीर्थ में, पवत्रि स्थान में, सिद्ध क्षेत्र में तथा किसी आश्रम पर जो भगवान् श्रीहरि विष्णु का मन्दिर बनवाते हैं, उनको अन्यत्र मन्दिर बनाने का जो फल बतलाया गया है, उससे तीन गुना अधिक फल मिलता है। जो लोग भगवान् श्रीहरि विष्णु के मन्दिर को चूने से लिपाते और उस पर बन्धूक के फूल का चित्र बनाते हैं, वे अन्त में भगवान् के धाम में पहुँच जाते हैं। भगवान् का जो मन्दिर गिर गया हो, गिर रहा हो अथवा आधा गिर चुका हो, उसका जो मनुष्य जीर्णोद्धार करता है, वह नवीन मन्दिर बनवाने की अपेक्षा दूना पुण्यफल प्राप्त करता है। जो गिरे हुए विष्णु-मन्दिर को पुनः बनवाता और गिरे हुए की रक्षा करता है, वह मनुष्य साक्षात् भगवान् श्रीहरि विष्णु का स्वरूप प्राप्त करता है। भगवान् के मन्दिर की ईंट जिस समय तक रहती हैं, तत्पश्चात् तक उसका बनवाने वाला विष्णुलोक में वंशसहित प्रतिष्ठित होता है। इस संसार में परलोक में वही पुण्यवान् और पूजनीय है।।१३-२०।। जो भगवान् श्री कृष्ण का मन्दिर बनवाता है, वही पुण्यवान् उत्पन्न हुआ है, उसी ने अपने वंश की रक्षा की है। जो भगवान् श्रीहरि विष्णु, शिव, सूर्य और देवी आदि का मन्दिर

नोपभोगाय बन्धूनां व्यर्थस्तस्य धनागमः। यथा ध्रुवो नृणां मृत्युर्वित्तनाशस्तथा ध्रुवः।।२३।।
मूढस्तत्रानुबध्नाति जीवितेऽथ चले धने। यदा वित्तं न दानाय नोपभोगाय देहिनाम्।।२४।।
नापि कार्त्यै न धर्मार्थं तस्य स्वाम्येऽथ को गुणः। तस्माद्वित्तं समासाद्य दैवाद्वा पौरुषादथ।।२५।।
दद्यात्सम्यग् द्विजाग्र्येभ्यः कीर्तनानि च कारयेत्। दानेभ्यश्चाधिकं यस्मात्कीर्तनेभ्यो वरं यतः।।२६।।
अतश्च कारयेद्धीमान् विष्ण्वादेर्मन्दिरादिकम्। विनिवेश्य हरेर्धाम भक्तिमद्भिर्नरोत्तमैः।।२७।।
निवेशितं भवेत्कृत्स्नं त्रैलोक्यं सचराचरम्। भूतं भव्यं भविष्यं च स्थूलं सूक्ष्मं तथेतरत्।।२८।।
आब्रह्मस्तम्बपर्यन्तं सर्वं विष्णोः समुद्भवम्। तस्य देवाधिदेवस्य सर्वगस्य महात्मनः।।२९।।
निवेश्य भवनं विष्णोर्न भूयो भुवि जायते। यथा विष्णोर्धामकृतौ फलं तद्वद् दिवौकसाम्।।३०।।
शिवब्रह्मार्कविघ्नेशचण्डलक्ष्म्यादिकात्मनाम्। देवालयकृतेः पुण्यं प्रतिमाकरणेऽधिकम्।।३१।।
प्रतिमास्थापने यागे फलस्यान्तो न विद्यते। मृन्मयाद्दारुजे पुण्यं दारुजादिष्टकोद्भवे।।३२।।
इष्टकोत्थाच्छैलजे स्याद्धेमातेरधिकं फलम्। सप्तजन्मकृतं पापं प्रारम्भादेव नश्यति।।३३।।
देवालयस्य स्वर्गी स्यान्नरकं स न गच्छति। कुलानां शतमुद्धृत्य विष्णुलोकं नयेन्नरः।।३४।।
यमो यमभटानाह देवमन्दिरकारिणः।।३५।।

बनवाता है, वही इस लोक में कीर्ति का भागी होता है। सदा धनकी रक्षा में लगे रहने वाले मूर्ख मनुष्य को बड़े कष्ट से कमाये हुए अधिक धन से क्या लाभ हुआ, यदि वह उससे श्री कृष्ण का मन्दिर ही नहीं बनवाता। जिसका धन पितरों, ब्राह्मणों और देवताओं के उपयोग में नहीं आ सका, उसके धन की प्राप्ति व्यर्थ हुई। जिस प्रकार प्राणियों की मृत्यु निश्चित है, उसी तरह कमाये हुए धन का विनाश भी निश्चित है। मूर्ख मनुष्य ही क्षणभङ्गुर जीवन और चंचल धन के मोह में बँधा रहता है। जिस समय धन दान के लिये, प्राणियों के उपभोग के लिये, कीर्ति के लिये और धर्म के लिये काम में नहीं लाया जा सके तो उस धन का मालिक बनने में क्या लाभ है? इसलिये प्रारब्धवश मिले अथवा पुरुषार्थ से किसी भी उपाय से धन को प्राप्त कर उसको श्रेष्ठतम ब्राह्मणों को दान दे, अथवा कोई स्थिर कीर्ति बनवाये। चूँकि दान और कीर्ति से भी बढ़कर मन्दिर बनवाना है इसलिये बुद्धिमान मनुष्य विष्णु आदि देवताओं का मन्दिर आदि बनवाये। भक्तिमान् श्रेष्ठ पुरुषों के द्वारा यदि भगवान् के मन्दिर का निर्माण और उसमें भगवान् प्रवेश (स्थापन आदि) हुआ तो यह समझना चाहिये कि उसने समस्त चराचर त्रिभुवन को रहने के लिये भवन बनवा दिया। ब्रह्मा से लेकर तृणपर्यन्त जो कुछ भी भूत, वर्तमान, भविष्य, स्थूल, सूक्ष्म और इससे भिन्न है, वह सब भगवान् श्रीहरि विष्णु से प्रकट हुआ है। उन देवाधिदेव सर्वव्यापक महात्मा विष्णु का मन्दिर में स्थापन करके मनुष्य पुनः संसार में जन्म नहीं लेता अर्थात् मुक्त हो जाता है। जिस तरह विष्णु का मन्दिर बनवाने में फल बतलाया गया है, उसी तरह अन्य देवताओं–शिव, ब्रह्मा, सूर्य, गणेश, दुर्गा और श्रीलक्ष्मी आदि का भी मन्दिर बनवाने से होता है। मन्दिर बनवाने से अधिक पुण्य देवता की प्रतिमा बनवाने में है। देव प्रतिमा की स्थापना सम्बन्धी जो यज्ञ होता है, उसके फल का तो अन्त ही नहीं है। कच्ची मिट्टी की प्रतिमा से लकड़ी की प्रतिमा श्रेष्ठतम है, उससे ईंट की उससे भी पत्थर की और उससे भी अधिक स्वर्ण आदि धातुओं की प्रतिमा का फल है। देव मन्दिर का प्रारम्भ करने मात्र से सात जन्मों के किये हुए पाप का विनाश हो जाता है तथा बनवाने वाले मनुष्य स्वर्ग लोक का अधिकारी होता है; वह नरक में नहीं जाता। इतना ही नहीं, वह मनुष्य अपनी सौ पीढ़ी का उद्धार करके उसको विष्णु लोक में पहुँचा देता है। यमराज ने अपने दूतों से देवमन्दिर बनाने वालों को लक्ष्य करके ऐसा कहा था।।२१-३५।।

(यम उवाच)

प्रतिमापूजादिकृतो नानेया नरकं नराः। देवालयाद्यकर्तार आनेयास्ते विशेषतः।।३६।।
विचरध्वं यथान्यायं नियोगो मम पाल्यताम्। नाज्ञाभङ्गं करिष्यन्ति भवतां जन्तवः क्वचित्।।३७।।
केवलं ये जगत्तातमनन्तं समुपाश्रिताः। भवद्भिः परिहर्तव्यास्तेषां नात्रास्ति संस्थितिः।।३८।।
यत्र भागवता लोके तच्चित्तास्तत्परायणाः। पूजयन्ति सदा विष्णुं ते च त्याज्याः सुदूरतः।।३९।।
यस्तिष्ठन् प्रस्वपन् गच्छन्नुत्तिष्ठन्स्खलिते स्थिते। सङ्कीर्तयन्ति गोविन्दं ते च त्याज्याः सुदूरतः।।४०।।
नित्यैर्नैमित्तिकैर्देवं ये यजन्ति जनार्दनम्। नावलोक्या भवद्भिस्ते तद्व्रता यान्ति तद्गतिम्।।४१।।
ये पुष्पधूपवासोभिर्भूषणैश्चातिवल्लभैः। अर्चयन्ति न ते ग्राह्यानराः कृष्णालये गताः।।४२।।
उपलेपनकर्तारः सम्मार्जनपराश्च ये। कृष्णालये परित्याज्यास्तेषां पुत्रास्तथा कुलम्।।४३।।
येन चायतनं विष्णोः कारितं तत्कुलोद्भवम्। पुंसां शतं नावलोक्यं भवद्भिर्दुष्टचेतसा।।४४।।
यस्तु देवालयं विष्णोर्दारुशैलमयं तथा। कारयेन्मृन्मयं वाऽपि सर्वपापैः प्रमुच्यते।।४५।।
अहन्यहनि यज्ञेन यजतो यन्महाफलम्। प्राप्नोति तत्फलं विष्णोर्यः कारयति केतनम्।।४६।।
कुलानां शतमागामि समतीतं तथा शतम्। कारयन् भगवद्धाम नयत्यच्युतलोकताम्।।४७।।
सप्तलोकमयो विष्णुस्तस्य यः कुरुते गृहम्। तारयत्यक्षयाँल्लोकानक्षय्यान् प्रतिपद्यते।।४८।।

यमराज ने कहा कि–देवालय और देव प्रतिमा का निर्माण तथा उसकी पूजा आदि करने वाले मनुष्यों को आप लोग नरक में न ले आना तथा जो देव-मन्दिर आदि नहीं बनवाते, उनको खास तौर पर पकड़ लाना। जाओ! आप लोग संसार में विचरो और न्यायपूर्वक मेरी आज्ञा का पालन करो। संसार के कोई भी प्राणी कभी आपकी आज्ञा नहीं टाल सकेंगे। केवल उन लोगों को आप त्याग देना जो कि जगत्पिता भगवान् अनन्त की शरण में जा चुके हैं; क्योंकि उन लोगों की स्थिति जहाँ (यम लोक में) नहीं होती। संसार में जहाँ भी भगवान् में चित्त लगाये हुए भगवान् की ही शरण में पड़े हुए भगवद्भक्त महात्मा सदा भगवान् श्रीहरि विष्णु की पूजा करते हों, उनको दूर से ही छोड़ कर आपलोग चले जाना। जो स्थिर होते, सोते, चलते, उठते, गिरते, पड़ते या खड़े होते समय भगवान् श्रीकृष्ण का नाम-कीर्तन करते हैं, उनको दूर से ही छोड़ देना। जो नित्य-नैमित्तिक कर्मो द्वारा भगवान् जनार्दन की पूजा करते हैं, उनकी तरफ आप लोग आँख उठाकर देखना भी नहीं; क्योंकि भगवान् का व्रत करने वाले लोग भगवान् को ही प्राप्त होते है।।३६-४१।। जो लोग फूल, धूप, वस्त्र और अत्यन्त प्रिय आभूषणों द्वारा भगवान् की पूजा करते हैं, उनका स्पर्श न करना; क्योंकि वे मनुष्य भगवान् श्री कृष्ण के धाम को पहुँच चुके हैं, जो भगवान् के मन्दिर में लेप करते या बुहारी लगाते है, उनके पुत्रों को तथा उनके वंश को भी त्याग देना। जिन्होंने भगवान् श्रीहरि विष्णु का मन्दिर बनवाया हो, उनके वंश में सौ पीढ़ी तक के मनुष्यों की तरफ आप लोग दुष्ट भाव से न देखना। जो लकड़ी का पत्थर का अथवा मिट्टी का ही देवालय भगवान् श्रीहरि विष्णु के लिये बनवाता है, वह समस्त पापों से मुक्त हो जाता है। प्रतिदिन यज्ञों द्वारा भगवान् की आराधना करने वाले को जो महान् फल मिलता है, उसी फल को, जो विष्णु का मन्दिर बनवाता है, वह भी प्राप्त करता है। जो भगवान् अच्युत का मन्दिर बनवाता है, वह अपनी बीती हुई सौ पीढ़ी के पितरों को तथा होने वाले सौ पीढ़ी के वंशजों को भगवान् श्रीहरि विष्णु के लोक को पहुँचा देता है। भगवान् श्रीहरि विष्णु सप्त लोकमय हैं। उनका मन्दिर जो बनवाता है, वह अपने वंश को तारता है, उनको अक्षय लोकों की प्राप्ति कराता है

इष्टकाचयविन्यासो यावन्त्यब्दानि तिष्ठति। तावद्वर्षसहस्राणि तत्कर्तुर्दिवि संस्थितः।।४९।।
प्रतिमाकृद्विष्णुलोकं स्थापको लीयते हरौ। देवसद्मप्रतिकृतिप्रतिष्ठाकृत्तु गोचरे।।५०।।

अग्निरुवाच

यमोक्ता न नयन्त्येतं प्रतिष्ठादिकृतं हरेः। हयग्रीवः प्रतिष्ठाद्यं देवानां ब्रह्मणेऽब्रवीत्।।५१।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते देवालयनिर्माण-महात्म्यादिवर्णनं नामाष्टत्रिंशोऽध्यायः।।३८।।

अथैकोनचत्वारिंशोऽध्यायः

विष्ण्वादिदेवताप्रतिष्ठापने भूपरिग्रहविधानम्

हयग्रीव उवाच

विष्ण्वादीनां प्रतिष्ठादि वक्ष्ये ब्रह्मञ्शृणुष्व मे। प्रोक्तानि पञ्चरात्राणि सप्तरात्राणि वै मया।।१।।
व्यक्तानि मुनिभिर्लोके पञ्चविंशतिसंख्यया। हयशीर्षं तन्त्रमाद्यं तन्त्रं त्रैलोक्यमोहनम्।।२।।
वैभवं पौष्करं तन्त्रं प्रह्लादं गार्ग्यगालवम्। नारदीयं च श्रीप्रश्नं शाण्डिल्यं चेश्वरं तथा।।३।।

और स्वयं भी अक्षय लोकों को प्राप्त होता है। मन्दिर में ईंट के समूह को जोड़ जितने वर्षों तक रहता है, उतने ही हजार वर्षों तक उस मन्दिर के बनवाने वाले की स्वर्ग लोग में स्थिति हो जाती है। भगवान् की प्रतिमा बनाने वाला विष्णु लोक को प्राप्त होता है, उसकी स्थापना करने वाला भगवान् में लीन हो जाता है और देवालय बनवाकर उसमें प्रतिमा की स्थापना करने वाला सदा भगवान् के लोक में निवास पाता है।।४२-५०।।

श्रीअग्नि देव बोले–यमराज के इस तरह आज्ञा देने पर यम के दूत भगवान् श्रीहरि विष्णु की स्थापना आदि करने वालों को यमलोक में नहीं ले जाते। देवताओं की प्रतिष्ठा आदि की विधि का भगवान् हयग्रीव ने ब्रह्मा जी से वर्णन किया था।।५१।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी अड़तीसवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।३८।।

अध्याय-३९

विष्णु आदि देवस्थापन हेतु भूपरि ग्रह विधान

भगवान् हयग्रीव ने कहा कि–हे ब्रह्मन! अधुना मैं विष्णु आदि देवताओं की प्रतिष्ठा के विषय में कहने जा रहा हूँ, ध्यान देकर सुनिये। इस विषय में मेरे द्वारा वर्णित पञ्चरात्रों एवं सप्तरात्रों का ऋषियों ने मानव लोक में प्रचार किया है। वे संख्या में पच्चीस हैं। उनके नाम इस तरह हैं–आदि हयशीर्षतन्त्र, त्रैलोक्यमोहनतन्त्र, वैभवतन्त्र, पुष्करतन्त्र, प्रह्लादतन्त्र, गार्ग्यतन्त्र, गालवतन्त्र, नारदीयतन्त्र, श्रीप्रश्नतन्त्र, शाण्डिल्यतन्त्र, ईश्वरतन्त्र, सत्यतन्त्र, शौनकतन्त्र,

सत्यक्तिं शौनकं तन्त्रं वासिष्ठं ज्ञानसागरम्। स्वायम्भुवं कापिलं च तार्क्ष्यं नारायणीयकम्॥४॥
आत्रेयं नारसिंहाख्यमानन्दाख्यं तथारुणम्। बौधायनं तथाष्टाङ्गं विश्वोक्तं तस्य सारतः॥५॥
प्रतिष्ठां हि द्विजः कुर्यान्मध्यदेशादिसम्भवः। न कच्छदेशसम्भूतः कावेरीकौङ्कणोद्गतः॥६॥
कामरूपः कलिङ्गोत्थः काञ्चीकाश्मीरके स्थितः। आकाशवायुतेजाम्बुभूरेता पञ्चरात्रयः॥७॥
अचैतन्यास्तमोद्रिक्ताः पञ्चरात्रिविवर्जिताः। ब्रह्माहं विष्णुरमल इति विद्यात्स देशिकः॥८॥
सर्वलक्षणहीनोऽपि गुरुः स तन्त्रपारगः। नगराभिमुखाः स्थाप्या देवा न च पराङ्मुखाः॥९॥
कुरुक्षेत्रे गयादौ च नदीनां तु समीपतः। ब्रह्मा मध्ये तु नगरे पूर्वे शक्रस्य शोभनम्॥१०॥
अग्नावग्नेश्च मातृणां भूतानां च यमस्य च। दक्षिणे चण्डिकायाश्च पितृदैत्यादिकस्य च॥११॥
नैर्ऋते मन्दिरं कुर्याद्वरुणादेश्च वारुणे। वायोर्नागस्य वायव्ये सौम्ये यक्षगुहस्य च॥१२॥
चण्डीशस्य महेशस्य ऐशे विष्णोश्च सर्वशः। पूर्वदेवकुलं पीड्य प्रासादं स्वल्पकं त्वथ॥१३॥
समं वाप्यधिकं वापि न कर्तव्यं विजानता। उभयोर्द्विगुणां सीमां त्यक्त्वा चोच्छ्रायसम्मिताम्॥१४॥
प्रासादं कारयेदन्यं नोभयं पीडयेद् बुधः। भूमौ तु शोधितायां तु कुर्याद् भूमिपरिग्रहम्॥१५॥
प्राकारसीमापर्यन्तं ततो भूतबलिं हरेत्। माषं हरिद्राचूर्णं तु सलाजं दधिसक्तुभिः॥१६॥
अष्टाक्षरेण सक्तूंश्च पातयित्वाष्टदिक्षु च। राक्षसाश्च पिशाचाश्च येऽस्मिंस्तिष्ठन्ति भूतले॥१७॥

वसिष्ठोक्त ज्ञानसागरतन्त्र, स्वायम्भुवतन्त्र, कापिलतन्त्र, तार्क्ष्य (गारुड)-तन्त्र, नारायणीयतन्त्र, आत्रेय तन्त्र, नारसिंह तन्त्र, आनन्द तन्त्र, आरुण तन्त्र, बौधायन तन्त्र, अष्टाङ्ग तन्त्र और विश्व तन्त्र॥१-५॥ इन तन्त्रों के अनुसार मध्य देश आदि में उत्पन्न द्विज को देव विग्रहों की प्रतिष्ठा करनी चाहिये। कच्छ देश, कावेरीतटवर्ती देश, कोंकण, कामरूप, कलिङ्ग काञ्ची तथा काश्मीर देश में उत्पन्न ब्राह्मण देव प्रतिष्ठा आदि नहीं करना चाहिये। आकाश, वायु, तेज, जल एवं पृथ्वी ये पञ्चमहाभूत पञ्चरात्र हैं। जो चेतनाशून्य एवं अज्ञानान्धकार से आच्छन्न हैं, वे पञ्चरात्र से हीन हैं। जो मनुष्य यह धारणा करता है कि 'मैं पाप मुक्त परब्रह्म विष्णु हूँ-वह देशिक होता है। वह समस्त बाह्य लक्षणों (वेष आदि) से हीन होने पर भी तन्त्रवेत्ता आचार्य माना गया है॥६-८॥ देवताओं की नगराभिमुख स्थापना करनी चाहिये। नगर की तरफ उनका पृष्ठ भाग नहीं होना चाहिये। कुरु क्षेत्र, गया आदि तीर्थ स्थानों में अथवा नदी के सन्निकट देवालय का निर्माण कराना चाहिये। ब्रह्मा का मन्दिर नगर के मध्य में तथा इन्द्र का पूर्व दिशा में श्रेष्ठतम माना गया है। श्रीअग्नि देव तथा मातृकाओं का आग्नेय कोण में, भूतगण और यमराज का दक्षिण में, चण्डिका, पितृगण एवं दैत्यादि का मन्दिर नैर्ऋत्यकोण में बनवाना चाहिये। वरुण का पश्चिम में, वायु देव और नाग का वायव्यकोण में, यक्ष या कुबेर का उत्तर दिशा में, चण्डीश-महेश का ईशानकोण में और विष्णु का मन्दिर सभी तरफ बनवाना श्रेष्ठ है। ज्ञानवान् मनुष्य को पूर्ववर्ती देव-मन्दिर को संकुचित करके अल्प, समान या विशाल मन्दिर नहीं बनवाना चाहिये॥९-१३॥ (किसी देव-मन्दिर के सन्निकट मन्दिर बनवाने पर) दोनों मन्दिरों की ऊँचाई के बराबर दुगुनी सीमा छोड़कर नवीन देव-प्रसाद का निर्माण कराये। विद्वान् व्यक्ति को दोनों मन्दिरों को पीडित नहीं करना चाहिये। भूमि का शोधन करने के बाद भूमि-परिग्रह करना चाहिये। उसके बाद प्राकार की सीमा तक माष, हरिद्राचूर्ण, खील, दधि और सक्तु से भूत बलि सम्प्रदान करना चाहिये। फिर अष्टाक्षर मन्त्र पढ़कर आठों दिशाओं में सक्तु बिखेरते हुए कहे-इस भूमिखण्ड पर जो राक्षस एवं

सर्वे ते व्यपगच्छन्तु स्थानं कुर्यामहं हरेः। हलेन दारयित्वा गां गोभिश्चैवावचारयेत्।।१८।।
परमाण्वष्टकेनैव रथरेणुः प्रकीर्तितः। रथरेण्वष्टकेनैव त्रसरेणुः प्रकीर्त्यते।।१९।।
तैरष्टभिस्तु बालाग्रं लिक्षा तैरष्टभिर्मता। ताभिर्यूकषट्भिः ख्याता ताश्चाष्टौ यवमध्यमः।।२०।।
यवाष्टकैरङ्गुलं स्याच्चतुर्विंशाङ्गुलः करः। चतुरङ्गुलसंयुक्तः स्वहस्तः पद्महस्तकः।।२१।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते विष्ण्वादिदेवताप्रतिष्ठार्थभूपरिग्रहवर्णनं नामैकोनचत्वारिंशोऽध्यायः।।३९।।
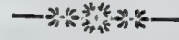
अथ चत्वारिंशोऽध्यायः

वास्तुमण्डलदेवतास्थापनपूजार्घ्यदानबलिदानादिविधानकथनम्

हयग्रीव उवाच

पूर्वमासीन्महद्भूतं सर्वभूतभयङ्करम्। तद्देवैर्निहितं भूमौ स वास्तु-पुरुषः स्मृतः।।१।।
चतुःषष्टिपदे क्षेत्रे ईशं कोणार्धसंस्थितम्। घृताक्षतैस्तर्पयेत्तं पर्जन्यं पदगं ततः।।२।।
उत्पलाद्भिर्जयन्तं च द्विपदस्थं पताकया। महेन्द्रं चैककोष्ठस्थं सर्वरक्तपदे रविम्।।३।।
वितानेनार्धपदगं सत्यं पादे भृशं घृतैः। व्योम शाकुनमांसेन कोणार्धपदसंस्थितम्।।४।।

पिशाच आदि निवास करते हों, वे सभी यहाँ से चले जाएँ। मैं यहां पर श्रीहरि विष्णु के लिये मन्दिर का निर्माण करने जा रहा हूँ। फिर भूमि को हल से जुतवाकर गोचारा कराये। आठ परमाणु का रथरेणु माना गया है। आठ रथरेणु का बालाग्र तथा आठ बालाग्र की लिक्षा कही जाती है। आठ लिक्षा की यूका, आठ यूका का यवमध्यम, आठ यव का अंगुल चौबीस अंगुल का कर और अट्ठाईस अंगुल का पद्महस्त होते हैं।।१४-२१।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी उन्तालिसवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।३९।।

अध्याय-४०

वास्तुमण्डल देवता स्थापन, पूजन, अर्घ्यदान, बलिदान आदि विधि कथन

भगवान् हयग्रीव ने कहा कि- हे ब्रह्मन्! पूर्व काल में सम्पूर्ण भूत-प्राणियों के लिये भयंकर एक महाभूत था। देवताओं ने उसको भूमि में निहित कर दिया। उसी को 'वास्तु पुरुष' माना गया है। चतुः षष्टि पदों से युक्त क्षेत्र में अर्धकोण में स्थित ईश या शिखी को घृत अक्षतों से तृप्त करना चाहिये। फिर एक पद में स्थित पर्जन्य को कमल तथा जल से दो पदों में स्थित जयन्त को पताका से दो कोष्ठों में स्थित महेन्द्र को भी उसी से, द्विपदस्थ रवि को सभी लाल रंग की वस्तुओं से संतुष्ट करना चाहिये। दो प्रदों स्थित सत्य को वितान (चँदोवों) से एवं एकपदस्थ भृश

स्रुचा चार्धपदे वह्निं पूषणं लाजयैकतः। स्वर्णेन वितथं द्विस्थं मन्थनेन गृहाक्षतम्॥५॥
मांसौदनेन धर्मेशमेकैकस्मिन् स्थितं द्वयम्। गन्धर्वं द्विपदं गन्धैर्भृशं शाकुनजिह्वया॥६॥
एकस्थमर्धसंस्थं च यथा नीलपटैस्तथा। पितॄन् कृशरयार्धस्थं दन्तकाष्ठैः पदस्थितम्॥७॥
दौवारिकं द्विसंस्थं च सुग्रीवं यावकेन तु। पुष्पदन्तं कुशस्तम्बैः पद्मैर्वरुणमेकतः॥८॥
असुरं सुरया द्विस्थं पदेशाय घृताम्भसा। यवैः पापं पदार्धस्थं रोगमध्ये च मण्डकैः॥९॥
नागपुष्पैः पदे नागं मुख्यं भक्ष्यैर्द्विसंस्थितम्। मुद्गौदनेन भल्लाटं पदे सोमं पदे तथा॥१०॥
मधुना पायसेनाथ शालूकेन ऋषिं द्वये। पदेऽदितिं लोपिकाभिरर्धे दितिमथापरम्॥११॥
पुरिकाभिस्ततश्चापमीशाधः पयसा पदे। ततोऽधश्चापवत्सं तु दध्ना चैकपदे स्थितम्॥१२॥
लड्डूकैश्च मरीचिं तु पूर्वं कोष्ठचतुष्टये। सावित्रे रक्तपुष्पाणि ब्रह्माधःकोणकोष्ठके॥१३॥
तदधःकोष्ठके दद्यात्सवित्रे च कुशोदकम्। विवस्वतेऽरुणं दद्याच्चन्दनं चतुरङ्घ्रिषु॥१४॥
रक्षोऽधःकोणकोष्ठे तु इन्द्रायार्घ्यं निशान्वितम्। इन्द्रजयाय तस्याद्यो घृतार्घं कोणकोष्ठके॥१५॥
चतुष्पदे तु दातव्यमिन्द्राय गुडपायसम्। वाय्वधःकोणदेशे तु रुद्राय पक्वमांसकम्॥१६॥
तदधःकोणकोष्ठे तु यक्षायार्धफलं तथा। महीधराय मांसान्नं माषं च चतुरङ्घ्रिषु॥१७॥

को घृत से, अग्निकोण वर्ती अर्धपद में स्थित व्योम (आकाश)–को शाकुननामक औषधि के गूदे से, उसी कोण के दूसरे अर्ध पद में स्थित श्रीअग्नि देव को स्रुक से, एक पदस्थ पूषा को लाजा (खील) से द्विपदस्थ वितथ को स्वर्ण से एकपदस्थ गृहक्षत को माखन से एक पद में स्थित यमराज को उड़द मिश्रित भात से, द्विपदस्थ गन्धर्व को गन्ध से एकपदस्थ भृङ्ग को शाकुन जिह्वा नामक औषधि से अर्ध पद में स्थित मृग को नीले वस्त्र से, अर्धकोष्ठ के निम्न भाग में विद्यमान पितृगण को कृशर (खिचड़ी) से एकपदस्थ दौवारिक को दन्तकाष्ठ से एवं दो पदों से स्थित सुग्रीव को यव-निर्मित पदार्थ (हलुवा आदि) से परितृप्त करना चाहिये॥१-७॥ द्विपदस्थ पुष्पदन्त को कुश-समूहों से दो पदों में स्थित वरुण को पद्म से, द्विपदस्थ असुर को सुरा से, एक पद में स्थित शेष को घृत मिश्रित जल से, अर्ध पदस्थित पाप (या पापयक्ष्मा)–को यवान्न से, अर्ध पदस्थ रोग को माँड़ से, एक पदस्थित नाग (सर्प)–को नागपुष्प से द्विपदगत मुख्य को भक्ष्य-पदार्थों से, एकपदस्थ भल्लाट को मूँग-भात से, एकपद-संस्थित सोम को मधुयुक्त खीर से दो पदों में अधिष्ठित ऋषि को शालूक से एक पद में विद्यमान अदिति को लोपिका से एवं अर्धपदस्थ दिति को पूरियों द्वारा सन्तुष्ट करें। फिर ईशानस्थित ईश के निम्न भाग में अर्धपदस्थित 'आप' का दुग्ध से एवं उसके नीचे अर्धपद में अधिष्ठित आप-वत्स को दही से संतुष्ट करना चाहिये। साथ ही पूर्ववर्ती कोष्ठ-चतुष्टय में मरीचि को लड्डू देकर तृप्त करना चाहिये। ब्रह्मा के ऊर्ध्व भाग के कोण स्थित कोष्ठ में अर्धपदस्थ सावित्र को रक्तपुष्प निवेदन करना चाहिये। उसके निम्नवर्ती अर्ध कोष्ठक में स्थित सविता को कुशोदक सम्प्रदान करना चाहिये। चार पदों में स्थित विवस्वान् को रक्तचन्दन नैर्ऋत्यकोणवर्ती अर्धकोष्ठ में स्थित सुराधिप इन्द्र को हरिद्रामिश्रित जल का अर्घ्य देना चाहिये। उसी के अर्ध भाग में कोणवर्ती कोष्ठक में स्थित इन्द्रजय (अथवा) जय)–को घृत का अर्घ्य देना चाहिये। चतुष्पद में मित्र को गुड़युक्त पायस देना चाहिये। वायव्यकोण के आधे कोष्ठक में प्रतिष्ठित रुद्र को पकायी हुई उड़द (या उसका बड़ा) एवं उसके अधोवर्ती अर्धकोष्ठ में स्थित यक्ष (या रुद्रदास) को आर्द्र फल (अंगूर सेव आदि) समर्पित करना चाहिये।

मध्ये चमुष्पदे स्थाप्या ब्रह्मणे तिलतण्डुलाः। चरकीं मांससर्पिभ्यां स्कन्दं कृशरया स्रजा॥१८॥
रक्तपत्रैर्विदारीं च कन्दर्पं च पलौदनैः। पूतनां पलपित्ताभ्यां मांसासृग्भ्यां च जम्भकम्॥१९॥
पित्तासृगस्थिभिः पापं पिलिपित्सं स्रजासृजा। ईशाद्यान् रक्तमांसेन अभावादक्षतैर्यजेत्॥२०॥
रक्षोमातृगणेभ्यश्च पिशाचादिभ्य एव च। पितृभ्यः क्षेत्रपालेभ्यो बलीन् दद्यात्प्रकामतः॥२१॥
अहुत्वैतानसन्तर्प्य प्रासादादीन्न कारयेत्। ब्रह्मस्थाने हरिं लक्ष्मीं गणं पश्चात्समर्थयेत्॥२२॥
महीं नरं वास्तुमयं वर्धन्या सहितं घटम्। ब्रह्माणं मध्यतः कुम्भे ब्रह्मादींश्च दिगीश्वरान्॥२३॥
दद्यात्पूर्णाहुतिं पश्चात् स्वस्तिवाच्य प्रणम्य च। प्रगृह्य कर्करीं सम्यङ्मण्डलं तु प्रदक्षिणम्॥२४॥
सूत्रामार्गेण हे ब्रह्मंस्तोयधारां च भ्रामयेत्। पूर्ववत्तेन मार्गेण सप्त बीजानि वापयेत्॥२५॥
प्रारम्भं तेन मार्गेण तस्य खातस्य कारयेत्। ततो गर्तं खनेन्मध्ये हस्तमात्रं प्रमाणतः॥२६॥
चतुरङ्गुलकं चाधश्चोपलिप्यार्चयेत्ततः। ध्यात्वा चतुर्भुजं विष्णुमर्घ्यं दद्यात्तु कुम्भतः॥२७॥
कर्कर्या पूरयेच्छ्वभ्रं शुक्लपुष्पाणि च न्यसेत्। दक्षिणावर्तकं श्रेष्ठं बीजैर्मृद्भिश्च पूरयेत्॥२८॥
अर्घ्यदानं विनिष्पाद्य गोवस्त्रादीन् ददेद् गुरौ। कालज्ञाय स्थपतये वैष्णवादित्यपूजनम्॥२९॥

चतुष्पदवर्ती महीधर (या पृथ्वीधर) को उड़दमिश्रित अन्न एवं माष (उड़द)–की बलि देना चाहिये। मध्यवर्ती कोष्ठ-चतुष्टय में भगवान् ब्रह्मा के निमित्त तिल-तण्डुल स्थापित करना चाहिये। चरकी को उड़द और घृत से, स्कन्द को खिचड़ी तथा पुष्पमला से, विदारी को लाल कमल से, कन्दर्प को एक पल के तोल वाले भात से पूतना को पलपित्त से, जम्भक को उड़द एवं पुष्पमाला से, पापा या पापराक्षीसी को पित्त, पुष्पमाला एवं अस्थियों से तथा पिलिपित्सको भाँति-भाँति की माला के द्वारा संतुष्ट करना चाहिये। उसके बाद ईशान आदि दिक्पालों को लाल उड़द की बलि देना चाहिये। इन सबके अभाव में अक्षतों से सभी की पूजा करनी चाहिये। राक्षस, मातृका, गण, पिशाच, पितर एवं क्षेत्रपाल को भी इच्छानुसार (दही-अक्षत या दही-उदड़ की) बलि सम्प्रदान करनी चाहिये॥८-२१॥ वास्तु-हवन एवं बलि-सम्प्रदान से इनकी तृप्ति किये बिना प्रासाद आदि निर्माण नहीं करना चाहिये। ब्रह्मा के स्थान में श्रीहरि, श्रीलक्ष्मी तथा गणदेवा की पूजा करें। फिर भूमि, वास्तु पुरुष एवं वर्धनीयुक्त कलश का पूजन करना चाहिये। कलश के मध्य में ब्रह्मा तथा दिक् पालों का यजन करना चाहिये। फिर स्वस्तिवाचन एवं नमस्कार करके पूर्णाहुति देनी चाहिये। हे ब्रह्मन्! उसके बाद गृहपति हाथ में छिद्रयुक्त जलपात्र लेकर विधिपूर्वक दक्षिणावर्त मण्डल बनाते हुए सूत्र मार्ग से जल धारा को घुमावे। फिर पूर्ववत् उसी मार्ग से सात बीजों का वपन करना चाहिये। उसी मार्ग से खात (गड्ढे)–का प्रारम्भ करना चाहिये। तत्पश्चात् मध्य में हाथ भर चौड़ा एवं चार अंगुल नीचा गर्त खोद ले। उसको लीप पोतकर पूजन प्रारम्भ करना चाहिये। सर्वप्रथम चार भुजाधारी भगवान् श्रीहरि विष्णु भगवान् का ध्यान करके उनको कलश से अर्घ्य-सम्प्रदान करना चाहिये। फिर छिद्र युक्त जल पात्र (झारी) से गर्त को भरकर उसमें श्वेत पुष्प डालना चाहिये। उस श्रेष्ठ दक्षिणावर्त गर्त को बीज एवं मृत्तिका से भर देना चाहिये। इस तरह अर्घ्यदान का कार्य निष्पन्न करके आचार्य को गो-वस्त्रादि का दान करना चाहिये। ज्यौतिषी और स्थपति (राजमिस्त्री)–का यथोचित सत्कार करके विष्णु भक्त और सूर्य का पूजन करना चाहिये। फिर भूमि को यत्नपूर्वक जल पर्यन्त खुदवावे। मनुष्य के बराबर की गहराई से नीचे यदि शल्य (हड्डी आदि) हो, तो वह गृह दोषकारक नहीं होता है। अस्थि (शल्य) होने पर गृह की दीवार टूट जाती है और गृहपति

ततस्तु खानयेद्यत्नाज्जलान्तं यावदेव तु। पुरुषाधःस्थितं शल्यं न गृहे दोषदं भवेद्।।३०।।
अस्थिशल्ये भिद्यते वै भित्तिर्वै गृहिणोऽसुखम्। यन्नामशब्दं श्रृणुयात्तत्तु शल्यं तदुद्भवम्।।३१।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते वास्तुमण्डलदेवता स्थानपूजाऽर्घ्यदानविधानादिकथनं नाम चत्वारिंशोऽध्यायः।।४०।।

—❀❀❀—

अथैकचत्वारिंशोऽध्यायः

शिलाविन्यासविधानम्

हयग्रीव उवाच

पादप्रतिष्ठां वक्ष्यामि शिलाविन्यासलक्षणम्। अग्रतो मण्डपः कार्यः कुण्डानां तु चतुष्टयम्।।१।।
कुम्भन्यासेष्टकान्यासो द्वारस्तम्भोच्छ्रयं शुभम्। पादोनं पूरयेत्खातं तत्र वास्तुं यजेत्समे।।२।।
इष्टकाश्च सुपक्वाः स्युर्द्वादशाङ्गुलसम्मिताः। स्वविस्तारत्रिभागेण वैपुल्येन समन्विताः।।३।।
करप्रमाणा श्रेष्ठा स्याच्छिलाप्यथ शिलामये। नव कुम्भांस्ताम्रमयान्स्थापयेदिष्टकाघटान्।।४।।
अद्भिः पञ्चकषायेण सर्वोषधिजलेन च। गन्धतोयेन च तथा कुम्भैस्तोयसुपूरितैः।।५।।

को सुख नहीं प्राप्त होता है। खुदाई के समय जिस जीव-जन्तु का नाम सुनायी दे जाय, वह शल्य उसी जीव के शरीर से उद्भूत समझना चाहिये।।२२-३१।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी चालीसवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।४०।।

अध्याय-४१

शिलान्यास विधान

भगवान् हयग्रीव बोले—अधुना मैं शिलान्यास स्वरूपा पाद-प्रतिष्ठा का वर्णन करने जा रहा हूँ। पहले मण्डप बनाना चाहिये; फिर उसमें चार कुण्ड बनाये। वे कुण्ड क्रमशः कुम्भन्यास, इष्टकान्यास, द्वार और खम्भे के शुभ आश्रय होंगे। कुण्ड का तीन चौथाई हिस्सा कंकड़ आदि से भर दे और बराबर करके उस पर वास्तुदेवता का पूजन करना चाहिये। नींव में डाली जाने वाली ईंटें खूब पकी हों, द्वादश-द्वादश अंगुल की लम्बी हों तथा विस्तार के तिहाई भाग के बराबर अर्थात् चार अंगुल उनकी मोटाई होनी चाहिये। अगर पत्थर का मन्दिर बनवाना हो, तो ईंट की जगह पत्थर ही नीव में डाला जायगा। एक-एक पत्थर एक-एक हाथ का लम्बा होना चाहिये। (यदि सामर्थ्य हो, तो) ताँबे के नौ कलशों की, अन्यथा मिट्टी के बने नौ कलशों की स्थापना करनी चाहिये। जल, पञ्चकषाय, सर्वौषधि और चन्दन मिश्रित जल से उन कलशों को पूर्ण करना चाहिये। उसी तरह सोना, धान आदि से युक्त तथा गन्ध-चन्दन आदि से भलीभाँति पूजित करके उन जलपूर्ण कलशों द्वारा 'आपो हि ष्ठा' इत्यादि तीन ऋचाओं, 'शं नो देवीरभिष्टय' आदि मन्त्रों

हिरण्यव्रीहिसंयुक्तैर्गन्धचन्दनचर्चितैः। आपो हिष्ठेति तिसृभिः शं नो देवीति चाप्यथ।।६।।
तरत्समन्दीरिति च पावमानीभिरेव च। उदुत्तमं वरुणमिति कयानश्च तथैव च।।७।।
वरुणस्येति मन्त्रेण हंसः शुचिषदित्यपि। श्रीसूक्तेन च तथा शिलाः संस्थाप्य सङ्घशः।।८।।
शय्यायां मण्डपे प्राच्यां मण्डले हरिमर्चयेत्। जुहुयाज्जनयित्वाग्निं समिधो द्वादशार्णतः।।९।।
आधारावाज्यभागौ तु प्रणवेनैव कारयेत्। अष्टाहुतीस्तथाष्टार्णैराज्यं व्याहृतिभिः क्रमात्।।१०।।
लोकेशायाग्नये चैव सोमाय च ग्रहाय च। पुरुषोत्तमायेति च व्याहृतीर्जुहुयात्ततः।।११।।
प्रायश्चित्तं ततः पूर्णं मूर्तिं मांसं घृतं तिलान्। वेदाद्यै द्वादशान्तेन कुम्भेषु च पृथक् पृथक्।।१२।।
प्राङ्मुखस्तु गुरुः कुर्यादष्टदिक्षु विलिप्य च। मध्ये चैकां शिलां कुम्भान् न्यसेदेतान्सुरान् क्रमात्।।१३।।
पद्मं चैव महापद्मं मकरं कच्छपं तथा। कुमुदं च तथानन्दं पद्मं शङ्खं च पद्मिनीम्।।१४।।
कुम्भान्न चालयेत्तेषु न्यसेदष्टेष्टकाः क्रमात्। ईशानान्ताश्च पूर्वादाविष्टकाः प्रथमं न्यसेत्।।१५।।
शक्त्यो विमलाद्यास्तु इष्टकानां तु देवताः। न्यसनीया यथायोगं मध्ये न्यस्या त्वनुग्रहा।।१६।।
अव्यङ्गे चाक्षते पूर्णे मुनेरङ्गिरसः सुते। इष्टके त्वं प्रयच्छेष्टं प्रतिष्ठां कारयाम्यहम्।।१७।।
मन्त्रेणानेन विन्यस्य इष्टका देशिकोत्तमः। गर्भाधानं ततः कुर्यान्मध्यस्थाने समाहितः।।१८।।
कुम्भोपरिष्टाद् देवेशं पद्मिनी न्यस्य देवताम्। मृत्तिकाश्चैव पुष्पाणि धातवो (तून्वै) रत्नमेव च।।१९।।

तरत्स मन्दीः इत्यादि मन्त्र एवं पावमानी ऋचाओं के तथा उदुत्तमं वरुण कया नः' और 'वरुणस्योत्तम्भनमसि' इत्यादि मन्त्रों के पाठपूर्वक 'हंसः शुचिषद्' इत्यादि मन्त्र तथा श्रीसूक्त का भी उच्चारण करते हुए बहुत-सी शिलाओं अथवा ईंटों का अभिषेक करना चाहिये। फिर उनको नींव में स्थापित करके मण्डप के अन्दर एक शय्या पर पूर्वमण्डल में भगवान् श्रीहरि विष्णु का पूजन करना चाहिये। अरणी-मन्थन द्वारा अग्नि प्रकट करके द्वादशाक्षर-मन्त्र से उसमें समिधाओं का हवन करना चाहिये।।१-९।। 'आधार' और 'आज्यभाग' नामक आहुतियाँ प्रणवमन्त्र से ही कराये। फिर अष्टाक्षर-मन्त्र से आठ आहुति देकर **ॐ स्वाहा, ॐ भुवः स्वाहा, ॐ स्वः स्वाहा**—इस तरह तीन व्याहृतियों से क्रमशः लोकेश्वर अग्नि, सोमग्रह और भगवान् पुरुषोत्तम के निमित्त हवन करना चाहिये। इसके बाद प्रायश्चित्त संज्ञक हवन करके प्रणवयुक्त द्वादशाक्षर मन्त्र से उड़द घी और तिल को एक साथ लेकर पूर्णाहुति-हवन करना चाहिये। तत्पश्चात् आचार्य को पूर्वाभिमुख होकर आठ दिशाओं में स्थापित कलशों पर पृथक्-पृथक् पद्म आदि देवताओं का स्थापन पूजन करना चाहिये। बीज में भी धरती लीपकर पत्थर की एक शिला और कलश स्थापित करना चाहिये। इन नौ कलशों पर क्रमशः नीचे लिखे देवताओं की स्थापना करनी चाहिये।।१०-१३।। पद्म, महापद्म, मकर, कच्छप, कुमुद, आनन्द, पद्म और शङ्ख—इनको आठ कलशों में और पद्मिनी को मध्यवर्ती कलश पर स्थापित करना चाहिये।।१४।। इन कलशों को हिलावे-डुलावे नहीं; उनके सन्निकट पूर्व आदि के क्रम से ईशानकोण तक एक-एक ईंट रख देना चाहिये। फिर उन पर उनकी देवता विमला आदि शक्तियों का न्यास (स्थापना) करना चाहिये। मध्य में अनुग्रहा की स्थापना करनी चाहिये। इसके बाद इस तरह याचना करनी चाहिये—मुनिवर अङ्गिरा की सुपुत्री इष्ट का देवी, आपका कोई अङ्ग टूटा-फूटा सा खराब नहीं हुआ है; आप अपने सभी अङ्गों से पूर्ण हो। मेरो अभीष्ट पूर्ण करो। अधुना मैं प्रतिष्ठा करा रहा हूँ।।१५-१७।। श्रेष्ठतम आचार्य को इस मन्त्र से इष्टकाओं की स्थापना करने के पश्चात् एकाग्रचित्त होकर मध्य वाले स्थान में गर्भाधान करना चाहिये। उसकी विधि इस प्रकार है—एक कलश के ऊपर देवेश्वर भगवान्

लोहादिनिर्मिते चास्त्रं यजेद्वै गर्भभाजने। द्वादशाङ्गुलविस्तारे चतुरङ्गुलकोच्छ्रये।।२०।।
पद्माकारे ताम्रमये भाजने पृथिवीं यजेत्। एकान्ते सर्वभूतेशे पर्वतासनमण्डिते।।२१।।
समुद्रपरिवारे त्वं देवि गर्भं समाश्रय। नन्दे नन्दय वासिष्ठे वसुभिः प्रजया सह।।२२।।
जये भार्गवदायादे प्रजानां विजयावहे। पूर्णेऽङ्गिरस (सो) दायादे पूर्णकामं कुरुष्व माम्।।२३।।
भद्रे! काश्यपदायादे कुरु भद्रां मतिं मम। सर्वबीजसमायुक्ते सर्वरत्नोषधीवृते।।२४।।
जये रुचिरे नन्दे वासिष्ठे रम्यतामिह। प्रजापतिसुते देवि चतुरस्रे महीयसि।।२५।।
सुभगे सुप्रभे भद्रे गृहे काश्यपि रम्यताम्। पूजिते परमाश्चर्ये गन्धमाल्यैरलङ्कृते।।२६।।
भव भूतिकरी देवि गृहे भार्गवि रम्यताम्। देशस्वामिपुरस्वामिगृहस्वामिपरिग्रहे।।२७।।
मनुष्यादिकतुष्ट्यर्थं पशुवृद्धिकरी भव। एवमुक्त्वा ततः खातं गोमूत्रेण तु सेचयेत्।।२८।।
कृत्वा निधापयेद्गर्भं गर्भाधानं भवेन्निशि। गोवस्त्रादि प्रदद्याच्च गुरवेऽन्येषु भोजनम्।।२९।।
गर्भं न्यस्येष्टका न्यस्य ततो गर्भं प्रपूरयेत्। पीठबन्धमतः कुर्यात्ततः प्रासादमानतः।।३०।।
पीठोत्तमं चोच्छ्रयेण प्रासादस्यार्धविस्तरात्। पादहीनं मध्यमं स्यात् कनिष्ठं चोत्तमार्धतः।।३१।।

नारायण तथा पद्मिनी (श्रीलक्ष्मी) देवी को स्थापित करके उनके पास मिट्टी, फूल, धातु और रत्नों को रखे। इसके बाद लोहे आदि के बने हुए गर्भ पात्र में, जिसका विस्तार द्वादश अंगुल और ऊँचाई चार अंगुल हो, अस्त्र की पूजा करनी चाहिये। फिर ताँबे के बने हुए कमल के आकार वाले एक पात्र में पृथ्वी का पूजन करना चाहिये और इस तरह याचना करनी चाहिये–'हे सम्पूर्ण भूतों की ईश्वरी पृथ्वी देवी! आप पार्वतों के आसन से सुशोभित हो; चारों तरफ समुद्रों से घिरी हुई हो; एकानत में गर्भ धारण करो।

हे वसिष्ठ कन्या नन्दा! वसुओं और प्रजाओं के सहित आप मुझको आनन्दित करो। हे भार्गव पुत्री जया! आप प्रजाओं को विजय दिलाने वाली हो। मुझको भी विजय दो। हे अंगिरा की पुत्री पूर्णा! आप मेरी कामनाएँ पूर्ण करो। हे महर्षि कश्यप की कन्या भद्रा! आप मेरी बुद्धि कल्याणमयी कर दो। सम्पूर्ण बीजो से युक्त और समस्त रत्नों एवं औषधिों से सम्पन्न सुन्दरी जया देवी तथा वसिष्ठ पुत्री नन्दा देवी! यहाँ आनन्दपूर्वक रम जाओ। हे कश्यप की कन्या भद्रा! आप प्रजापति की पुत्री हो, चारों और फैली हुई हो, परम महान् हो; साथ ही सुन्दरी और सुकान्त हो, इस गृह में रमण करो। हे भार्गवी देवी! आप परम आश्चर्यमयी हो; गन्ध और माल्य आदि से सुशोभित एवं पूजित हो; लोकों को ऐश्वर्य सम्प्रदान करने वाली देवि! आप इस गृह में रमण करो। इस देश के सम्राट, इस नगर के राजा और इस गृह के मालिक के बाल-बच्चों को तथा मनुष्य आदि प्राणियों को आनन्द देने के लिये पशु आदि सम्पदा की वृद्धि करो।' इस तरह याचना करके वास्तु-कुण्ड को गोमूत्र से सींचना चाहिये।।१८-२८।। यह सब विधि पूर्ण करके कुण्ड में गर्भ को स्थापित करना चाहिये। यह गर्भधान रात में होना चाहिये। उस समय आचार्य को गौ-वस्त्र आदि दान करना चाहिये तथा अन्य लोगों को भोजन देना चाहिये। इस तरह गर्भपात्र रखकर और ईंटों को भी रखकर उस कुण्ड को भर देना चाहिये। तत्पश्चात् मन्दिर की ऊँचाई के अनुसार प्रधान देवता के पीठ का निर्माण करना चाहिये। 'श्रेष्ठतम पीठ' वह है, जो ऊँचाई में निर्माण करना चाहिये। 'श्रेष्ठतम पीठ' वह है, जो ऊँचाई में मन्दिर के आधे विस्तार के बराबर हो। श्रेष्ठतम पीठ की अपेक्षा एक चौथाई कम ऊँचाई होने पर मध्यम पीठ कहलाता है और श्रेष्ठतम पीठ की आधी ऊँचाई होने पर कनष्ठि पीठ' होता है। पीठ-बन्ध के ऊपर पुनः वास्तुयाग (वास्तुदेवता का पूजन) करना

पीठबन्धोपरिष्टात्तु वास्तुयागं पुनर्यजेत्। पादप्रतिष्ठाकारी तु निष्पापो दिवि मोदते।।३२।।
देवागारं करोमीति मनसा यस्तु चिन्तयेत्। तस्य कायगतं पापं तदह्ना हि प्रणश्यति।।३३।।
कृते तु किं पुनस्तस्य प्रासादे विधिनैव तु। अष्टेष्टकासमायुक्तं यः कुर्याद् देवतालयम्।।३४।।
न तस्य फलसम्पत्तिर्वक्तुं शक्येत केनचित्। अनेनैवानुमेयं हि फलं प्रासादविस्तरात्।।३५।।
ग्राममध्ये च पूर्वस्यां प्रत्यग्द्वारं प्रकल्पयेत्। विदिशासु च सर्वासु ग्रामप्रत्यङ्मुखं भवेत्।।३६।।
दक्षिणे चोत्तरे चैव पश्चिमे प्राङ्मुखं भवेत्।।३७।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते सर्वशिलाविन्यासविधानादिकथनं नामैकचत्वारिंशोऽध्यायः।।४१।।

चाहिये। केवल पाद-प्रतिष्ठा करने वाला मनुष्य भी सभी पापों से हीन होकर देवलोक में आनन्द भोग करता है।।२९-३२।। मैं देव मन्दिर बनवा रहा हूँ, ऐसा जो मन से चिन्तन भी करता है, उसका शारीरिक पाप उसी दिन नष्ट हो जाता है। फिर जो विधिपूर्वक मन्दिर बनवाता है, उसके लिये तो कहना ही क्या है? जो आठ ईंटों का भी देवमन्दिर बनवाता है, उसके फल की सम्पत्ति का भी कोई वर्णन नहीं कर सकता। इसी से विशाल मन्दिर बनवाने से मिलने वाले महान् फल का अनुमान कर लेना चाहिये।।३३-३५।। गाँव के मध्य में अथवा गाँव से पूर्व दिशा में यदि मन्दिर बनवाया जाय तो उसका दरवाजा पश्चिम की तरफ रखना चाहिये और सभी कोणों में से किसी तरफ बनवाना हो, तो गाँव की तरफ दरवाजा रखे। गाँव से दक्षिण, उत्तर या पश्चिम दिशा में मन्दिर बने, तो उनका दरवाजा पूर्व दिशा की तरफ रखना चाहिये।।३६-३७।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी इकतालिसवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।४१।।

❖❖❖

अथ द्विचत्वारिंशोऽध्यायः

प्रासादलक्षणकथनम्

हयग्रीव उवाच

प्रासादं सम्प्रवक्ष्यामि सर्वसाधारणं शृणु। चतुरस्त्रीकृतं क्षेत्रं भजेत्षोडशधा बुधः।।१।।
मध्ये तस्य चतुर्भिस्तु कुर्यादायसमन्वितम्। द्वादशैव तु भागांश्च भित्त्यर्थं परिकल्पयेत्।।२।।
जङ्घोच्छ्रायस्तु कर्तव्यश्चतुर्भागेण चायतः। जङ्घाया द्विगुणोच्छ्रायो मञ्जर्याः कल्पयेद् बुधः।।३।।
तुर्यभागेण मञ्जर्याः कार्यः सम्यक्प्रदक्षिणः। तन्माननिगमः कार्य उभयोः पार्श्वयोः समः।।४।।
शिखरेण समं कार्यमग्रे जगति विस्तरम्। द्विगुणेनापि कर्तव्यं यथाशोभानुरूपतः।।५।।
विस्तारान्मण्डपस्याग्रे गर्भसूत्रद्वयेन तु। दैर्घ्यात्पादादिकं कुर्यान्मध्यस्तम्भैर्विभूषितम्।।६।।
प्रासादगर्भमानं वा कुर्वीत मुखमण्डपम्। एकाशीतिपदैर्वास्तुं पश्चान्मण्डपमारभेत्।।७।।
शुकान्प्राग्द्वारविन्यासे पादान्तःस्थान्यजेत् सुरान्। तथा प्राकारविन्यासे यजेद् द्वात्रिंशदन्तगान्।।८।।
सर्वसाधारणं चैतत् प्रासादस्य च लक्षणम्। मानेन प्रतिमाया वा प्रासादमपरं शृणु।।९।।
प्रतिमायाः प्रमाणेन कर्तव्या पिण्डिका शुभा। गर्भस्तु पिण्डिकार्धेन गर्भमानास्तु भित्तयः।।१०।।

अध्याय-४२

प्रासाद लक्षण वर्णन

भगवान् हयग्रीव ने कहा कि–हे ब्रह्मन! अधुना मैं सर्वसाधरण प्रासाद (देवालय) का वर्णन करता हूँ, सुनो। विद्वान् पुरुष को चाहिये कि जहाँ मन्दिर का निर्माण कराना हो, वहाँ के चतुरस्र क्षेत्र के सोलह भाग करने के पश्चात् उसमें मध्य के चार भागों द्वारा आय सहित गर्भ (मन्दिर के अन्दरी भाग की रिक्त भूमि) निश्चित करना चाहिये तथा शेष द्वादश भागों को दीवार उठाने के लिये नियत करना चाहिये। कथित द्वादश भागों से चार भाग की जितनी लम्बाई है, उतनी ही ऊँचाई प्रासाद की दीवारों की होनी चाहिये। विद्वान् पुरुष दीवारों की ऊँचाई से दुगुनी शिखर की ऊँचाई रखे। शिखर के चौथे भाग की ऊँचाई के अनुसार मन्दिर की परिक्रमा की ऊँचाई रखे। उसी मान के अनुसार दोनों पार्श्व भागों में निकलने का मार्ग (द्वार) बनाना चाहिये। वे द्वार एक-दूसरे के समान होने चाहिये। मन्दिर के सामने के भूभाग का विस्तार भी शिखर के समान ही करना चाहिये।

जिस तरह उसकी शोभा हो सके, उसके अनुरूप उसका विस्तार शिखर से दूना भी किया जा सकता है। मन्दिर के आगे का सभामण्डप विस्तार के पाद स्तम्भ आदि भित्ति के बराबर ही लम्बे बनाये जायँ। वे मध्यवर्ती स्तम्भों से विभूषित हों। अथवा मन्दिर के गर्भ का जो मान है, वही उसके मुख-मण्डप (सभामण्डप या जगमोहन) का भी रखे। तत्पश्चात् इक्यासी पदों (स्थानों) से युक्त वास्तु-मण्डप का प्रारम्भ करना चाहिये।।१-७।। इनमें पहले द्वारन्यास के सन्निकट वर्ती पदों के अन्दर स्थित होने वाले देवताओं का पूजन करना चाहिये। फिर परकोटे के समीपवर्ती एवं सबसे अन्त के पदों में स्थापित होने वाले बत्तीस देवताओं की पूजा करनी चाहिये।।८।। यह प्रासाद का सर्वसामान्य लक्षण है। अधुना प्रतिमा के मान के अनुसार दूसरे प्रासाद का वर्णन सुनो।।९।। जितनी बड़ी प्रतिमा हो, उतनी ही

भित्तेरायाममानेन उत्सेधं तु प्रकल्पयेत्। भित्युच्छ्रायात्तु द्विगुणं शिखरं कल्पयेद् बुधः॥११॥
शिखरस्य तु तुर्येण भ्रमणं परिकल्पयेत्। शिखरस्य चतुर्थेन अग्रतो मुखमण्डपम्॥१२॥
अष्टमांशेन गर्भस्य रथकानां तु निर्गमः। परिधेर्गुणभागेन रथकांस्तत्र कल्पयेत्॥१३॥
तत्तृतीयेन वा कुर्याद्रथकानां तु निर्गमः। वामत्रयं स्थापनीयं रथकत्रितये सदा॥१४॥
शिखरार्थं हि सूत्राणि चत्वारि विनिपातयेत्। शुकनासोर्ध्वतः सूत्रं तिर्यग्भूतं निपातयेत्॥१५॥
शिखरस्यार्धभागस्थं सिंहं तत्र तु कारयेत्। शुकनासां स्थिरीकृत्य मध्यसन्धौ विधारयेत्॥१६॥
अपरे च तथा पार्श्वे तद्वत्सूत्रं विधारयेत्। तदूर्ध्वं तु भवेद्वेदी सकण्ठासनसारकम्॥१७॥
स्कन्धभग्नं न कर्तव्यं विकरालं तथैव च। ऊर्ध्वं तु वेदिकामानात्कलशं परिकल्पयेत्॥१८॥
विस्ताराद् द्विगुणं द्वारं कर्तव्यं तु सुशोभनम्। उदुम्बरौ तदूर्ध्वं च न्यसेच्छाखां सुमङ्गलैः॥१९॥
द्वारस्य तु चतुर्थांशे कार्यौ चण्डप्रचण्डकौ। विष्वक्सेनो वत्सदण्डो शाखार्धोदुम्बरे श्रियम्॥२०॥
दिग्गजैः स्नाप्यमानां तां घटैः साब्जां सुरूपिकाम्। प्रासादस्य चतुर्थांशैः प्राकारस्योच्छ्रयो भवेत्॥२१॥
प्रासादात्पादहीनं तु गोपुरस्योच्छ्रयो भवेत्। पञ्चहस्तस्य देवस्य एकहस्ता तु पीठिका॥२२॥
गारुडं मण्डपं चाग्रे एकं भौमादिधाम च। कुर्याद् द्विप्रतिमायामं दिक्षु चाष्टासु चोपरि॥२३॥

बड़ी सुन्दर पिण्डी बनाये। पिण्डी के आधे मान से गर्भ का निर्माण करना चाहिये और गर्भ के ही मान के अनुसार भित्तियाँ उठावे। भीतों की लम्बाई के अनुसार ही उनकी ऊँचाई रखे। विद्वान् पुरुष अन्दर की ऊँचाई से दुगुनी शिखर की ऊँचाई कराये। शिखर की ऊंचाई से दुगुनी शिखर की ऊँचाई कराये। शिखर की अपेक्षा चौड़ाई ऊँचाई में मन्दिर की परिक्रमा बनवाये तथा इसी ऊँचाई में मन्दिर के आगे के मुख-मण्डप का भी निर्माण कराये।१०-१२॥ गर्भ के आठवं अंश के माप का रथकों के निकलने का मार्ग (द्वार) बनाये अथवा परिधि के तृतीय भाग के अनुसार वहाँ रथकों (छोटे-छोटे रथों) की रचना कराये तथा उनके भी तृतीय भाग के माप का उन रथों के निकलने के मार्ग (द्वार)-का निर्माण कराये। तीन रथकों पर सदा तीन वामों को स्थापना करनी चाहिये॥१३-१४॥ शिखर के लिये चार सूत्रों का निपातन करना चाहिये। शुकनासा के ऊपर से सूत को तिरछा गिरावे। शिखर के आधे भाग में सिंह की प्रतिमा का निर्माण कराये। शुकनासा पर सूत को स्थिर करके उसको मध्य संधि तक ले जाय॥१५-१६॥ इसी तरह दूसरे पार्श्व में भी सूत्रपात करना चाहिये। शुकनासा के ऊपर वेदी हो और वेदी के ऊपर आमलसार नामक कण्ठसहित कलश का निर्माण कराया जाय। उसको विकराल न बनाया जाय। जहाँ तक वेदी का मान है, उससे ऊपर ही कलश की कल्पना होनी चाहिये। मन्दिर के द्वार की जितनी चौड़ाई हो, उससे दूनी उसकी ऊँचाई रखनी चाहिये। द्वार को बहुत ही सुन्दर और शोभा सम्पन्न बनाना चाहिये। द्वार के ऊपरी भाग में सुन्दर मङ्गलमय वस्तुओं के साथ गूलर की दो शाखाएँ स्थापित करना चाहिये (खुदवावे)॥१७-१९॥ द्वार के चतुर्थांश में चण्ड, प्रचण्ड, विष्वक्सेन और वत्सदण्ड-इन चार द्वारपालों की मूर्तियों का निर्माण कराये। गूलर की शाखाओं के अर्ध भाग में सुन्दर रूप वाली श्रीलक्ष्मी देवी के श्रीविग्रह को अङ्कित करना चाहिये। उनके हाथ में कमल हो और दिग्गज कलशों के जल द्वारा उनको नहला रहे हों। मन्दिर के परकोटे की ऊँचाई उसके चतुर्थांश के बराबर हो। प्रासाद के गोपुर की ऊँचाई प्रासाद से एक चौथाई कम हो। यदि देवता का विग्रह पाँच हाथ का हो, तो उसके लिये एक हाथ की पीठिका होनी चाहिये॥२०-२२॥ विष्णु मन्दिर के सामने एक गरुड मण्डप तथा भौमादि धाम का निर्माण कराये। भगवान् के श्रीविग्रह के सभी तरफ

पूर्वे वराहं दक्षे च नृसिंहं श्रीधरं जले। उत्तरे तु हयग्रीवमाग्नेय्यां जामदग्न्यकम्।।२४।।
नैर्ऋत्यां रामकं वायौ वामनं वासुदेवकम्। ईशे प्रासादरचना देया वस्वर्ककादिभिः।।२५।।
द्वारस्य चाष्टमाद्यंशं त्यक्त्वा वेधो न दोषभाक्।।२६।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गति प्रासादादीनां लक्षण वर्णनं नाम द्विचत्वारिंशोऽध्यायः।।४२।।

—✲✲✲—

अथ त्रिचत्वारिंशोऽध्यायः

प्रासाददेवतास्थापनभूतशान्त्यादिकथनम्

हयग्रीव उवाच

प्रासादे देवताः स्थाप्या वक्ष्ये ब्रह्मञ्शृणुष्व मे। पञ्चायतनमध्ये तु वासुदेवं निवेशयेत्।।१।।
वामनं नृहरिं चाश्वशीर्षं तद्वच्च शूरकम्। आग्नेये नैर्ऋते चैव वायव्ये चेशगोचरे।।२।।
अथ नारायणं मध्ये ह्याग्नेय्यामम्बिकां न्यसेत्। नैर्ऋत्यां भास्करं वायौ ब्रह्माणं लिङ्गमीशके।।३।।
अथवा रुद्ररूपं तु अथवा नवधामसु। वासुदेवं न्यसेन्मध्ये पूर्वादौ रामरामकान्।।४।।

आठों दिशाओं के ऊपरी भाग में भगवत्प्रतिमा से दुगुनी बड़ी अवतारों की मूर्तियाँ बनाये। पूर्व दिशा में वराह, दक्षिण में नृसिंह, पश्चिम में श्रीधर, उत्तर में हयग्रीव, अग्निकोण में भगवान् परशुराम, नैर्ऋत्यकोण में श्रीराम, वायव्यकोण में वामन तथा ईशान कोण में वासुदेव की मूर्ति का निर्माण करना चाहिये। प्रासाद-रचना आठ, द्वादश आदि समसंख्या वाले स्तम्भों द्वारा करनी चाहिये। द्वार के अष्टम आदि अंश को छोड़कर जो वेध होता है, वह दोषकारक नहीं होता है।।२३-२६।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी बयालिसवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।४२।।

अध्याय-४३

प्रासाद देवता की स्थापन तथा भूतशान्ति आदि विधान

हयग्रीव ने कहा कि–हे ब्रह्मन्! अधुना मैं मन्दिर में स्थापित करने योग्य देवताओं का वर्णन करने जा रहा हूँ, आप ध्यान देकर सुनें। पञ्चायतन मन्दिर में जो बीज का प्रधान मन्दिर हो, उसमें भगवान् वासुदेव को स्थापित करना चाहिये। शेष चार मन्दिरों में से अग्निकोण वाले मन्दिर में भगवान् वामन की, नैर्ऋत्य कोण में नरसिंह की, वायव्यकोण में हयग्रीव की और ईशान कोण में वराह भगवान् की स्थापना करनी चाहिये। अथवा यदि मध्य में भगवान् नारायण की स्थापना करनी हो, तो अग्निकोण में दुर्गा की, नैर्ऋत्य कोण में सूर्य की, वायव्यकोण में ब्रह्मा की और ईशान कोण में लिङ्गमय शिव की स्थापना करनी चाहिये। अथवा ईशान में रुद्ररूप की स्थापना करनी चाहिये। अथवा एक-एक आठ दिशाओं में और एक मध्य में–इस तरह कुल नौ मन्दिर बनवाये। उनमें से मध्य में वासुदेव की स्थापना

इन्द्रादींल्लोकपालांश्च अथवा नवधामसु। पञ्चायतनकं कुर्यान्मध्ये तु पुरुषोत्तमम्॥५॥
लक्ष्मीवैश्रवणौ पूर्वे दक्षे मातृगणं न्यसेत्। स्कन्दं गणेशमीशानं सूर्यादीन्पश्चिमे ग्रहान्॥६॥
उत्तरे दश मत्स्यादीनाग्नेय्यां चण्डिकां तथा। नैर्ऋत्यामम्बिकां स्थाप्य वायव्ये तु सरस्वतीम्॥७॥
पद्मामैशे वासुदेवं मध्ये नारायणं च वा। त्रयोदशालये मध्ये विश्वरूपं न्यसेद्धरिम्॥८॥
पूर्वादौ केशवादीन्वा अन्यधामस्वयं हरिः। मृन्मयी दारुघटिता लोहजा रत्नजा तथा॥९॥
शैलजा गन्धजा चैव कौसुमी सप्तधा स्मृता। कौसुमी गन्धजा चैव मृन्मयी प्रतिमा तथा॥१०॥
तत्कालपूजिताश्चैताः सर्वकामफलप्रदाः। अथ शैलमयीं वक्ष्ये शिला यत्र च गृह्यते॥११॥
पर्वतानामभावे च गृह्णीयाद्भूगतां शिलाम्। पाण्डुरा ह्यरुणा पीता कृष्णा शस्ता तु वर्णिनाम्॥१२॥
न यदा लभ्यते सम्यग्वर्णिनां वर्णतः शिला। वर्णाद्यापादनं तत्र जुहुयात्सिंहविद्यया॥१३॥
शिलायां शुक्लरेखाग्र्या कृष्णाग्र्या सिंहहोमतः। कांस्यघण्टानिनादा स्यात्पुँल्लिङ्गा विस्फुलिङ्गका॥१४॥
तन्मन्दलक्षणा स्त्री स्यूद्रूपाभावान्नपुंसका। दृश्यते मण्डलं यस्यां सगर्भा तां विवर्जयेत्॥१५॥

करनी चाहिये और पूर्वादि दिशाओं में भगवान् परशुराम-राम आदि मुख्य-मुख्य नौ अवतारों की तथा इन्द्र आदि लोकपालों की स्थापना करनी चाहिये। अथवा कुल नौ धामों में पाँच मन्दिर मुख्य बनवाये। इनके मध्य में भगवान् पुरुषोत्तम की स्थापना करनी चाहिये॥१-५॥ पूर्व दिशा में श्रीलक्ष्मी और कुबेर की, दक्षिण में मातृकागण, स्कन्द, गणेश और शिव की, पश्चिम में सूर्य आदि नौ ग्रहों की तथा श्रेष्ठतमर में मत्स्य आदि दस अवतारों की स्थापना करनी चाहिये। इसी तरह अग्नि कोण में चण्डी की, नैर्ऋत्यकोण में अम्बिका की, वायव्यकोण में सरस्वती की और ईशान कोण में श्रीलक्ष्मी की स्थापना करनी चाहिये। मध्य भाग में वासुदेव अथवा नारायण की स्थापना करनी चाहिये। अथवा तेरह कमरों वाले देवालय के मध्य भाग में विश्‍रूप भगवान् श्रीहरि विष्णु की स्थापना करनी चाहिये॥६-८॥ पूर्व आदि दिशाओं में केशव आदि द्वादश विग्रहों को स्थापित करना चाहिये तथा इनसे अतिरिक्त गृहों में साक्षात् ये श्रीहरि विष्णु ही विराजमान होते हैं। भगवान् की प्रतिमा मिट्टी, लकड़ी, लोहा, रत्न, पत्थर, चन्दन और फूल—इन सात वस्तुओं की बनी हुई सात तरह की मानी जाती है। फूल, मिट्टी तथा चन्दन की बनी हुई प्रतिमाएँ बनने के बाद तुरन्त पूजी जाती हैं। (अधिक काल के लिये नहीं होतीं।) पूजन करने पर ये समस्त कामनाओं को पूर्ण करती हैं। अधुना मैं शैलमयी प्रतिमाओं का वर्णन करने जा रहा हूँ, जहाँ प्रतिमा बनाने में शिला (पत्थर)—का उपयोग किया जाता है॥९-११॥ श्रेष्ठतम तो यह है कि किसी पर्वत का पत्थर लाकर प्रतिमा बनवाये। पर्वतों के अभाव में जमीन से निकले हुए पत्थर का उपयोग करना चाहिये। ब्राह्मण आदि चारों वर्ण वालों के लिये क्रमशः सफेद, लाल, पीला और काला पत्थर श्रेष्ठतम माना गया है। यदि ब्राह्मण आदि वर्ण वालों को उनके वर्ण के अनुकूल श्रेष्ठतम शिला न मिले तो उसमें आवश्यक वर्ण की कमी की पूर्ति करने के लिये नरसिंह-मन्त्र से हवन करना चाहिये। यदि शिला में सफेद रेखा हो, तो वह बहुत ही श्रेष्ठतम है, अगर काली रेखा हो, तो वह नरसिंह-मन्त्र से हवन करने पर श्रेष्ठतम हो जाती है। यदि शिला से काँस के बने हुए घण्टे की—सी आवाज निकलती हो और काटने पर उससे चिनगारियाँ निकलती हों तो वह पुँलिङ्ग है, ऐसा समझना चाहिये। यदि उपरोक्त चिह्न उसमें कम दिखायी दें, तो उसको 'स्त्रीलिङ्ग' समझना चाहिये और पुंलिंग-स्त्रीलिंग-बोधक कोई रूप न होने पर उसको नपुंसक मानना चाहिये। तथा जिस शिला में कोई मण्डल का चिह्न दिखायी दे, उसको सगर्भा समझकर छोड़ देना चाहिये॥१२-१५॥

प्रतिमार्थं धनं दत्त्वा वनयागं समाचरेत्। तत्र खात्वोपलिप्याथ मण्डपे तु हरिं यजेत्॥१६॥
बलिं दत्त्वा कर्मशस्त्रं टङ्कादिकमथार्चयेत्। हुत्वाथ शालितोयेन अस्त्रेण प्रोक्षयेच्छिलाम्॥१७॥
रक्षां कृत्वा नृसिंहेन मूलमन्त्रेण पूजयेत्। हुत्वा पूर्णाहुतिं दद्यात्ततो भूतबलिं गुरुः॥१८॥
अत्र ये संस्थिताः सत्त्वा यातुधानाश्च गुह्यकाः। सिद्धादयो वा ये चान्ये तान् ससम्पूज्य क्षमापयेत्॥१९॥
प्रतिबिम्बार्थमस्माकं यात्रैषा केशवाज्ञया। विष्ण्वर्थं यद् भवेत्कार्यं युष्माकमपि तद्भवेत्॥२०॥
अनेन बलिदानेन प्रीता भवत सर्वथा। क्षेमेण गच्छतान्यत्र मुक्त्वा स्थानमिदं त्वरात्॥२१॥
एवं प्रबोधिता मुक्त्वा यान्ति तृप्ता यथासुखम्। शिल्पिभिश्च चरुं प्राश्य स्वप्नमन्त्रं जपेन्निशि॥२२॥
ॐ नमः सकललोकाय विष्णवे प्रभविष्णवे। विश्वाय विश्वरूपाय स्वप्नाधिपतये नमः॥२३॥
आचक्ष्व देव देवेश प्रसुप्तोस्मि तवान्तिकम्। स्वप्ने सर्वाणि कार्याणि हृदिस्थानि तु यानि मे॥२४॥
ॐ ॐ हुं फट् विष्णवे स्वाहा। शुभे स्वप्ने शुभं सर्वं ह्यशुभे सिंहहोमतः॥२५॥
प्रातरर्घ्यं शिलायां तु दत्त्वास्त्रेणास्त्रकं यजेत्। कुद्दालटङ्कशस्त्राद्यं मध्वाज्याक्तमुखं चरेत्॥२६॥
आत्मानं चिन्तयेद्विष्णुं शिल्पिनं विश्वकर्मिणम्। शस्त्रं विष्ण्वात्मकं दद्यान्मुखपृष्ठादि दर्शयेत्॥२७॥

प्रतिमा बनाने के लिये वन में जाकर वनयाग प्रारम्भ करना चाहिये। वहाँ कुण्ड खोदकर और उसी लीपकर मण्डप में भगवान् श्रीहरि विष्णु का पूजन करना चाहिये तथा उनको बलि समर्पणकर कर्म में उपयोगी टंक आदि शस्त्रों की भी पूजा करनी चाहिये। फिर हवन करने के पश्चात् अगहनी के चवल के जल से अस्त्र-मन्त्र (अस्त्राय फट्)-के उच्चारणपूर्वक उस शिला को खींचना चाहिये। नरसिंह-मन्त्र से उसकी रक्षा करके मूल-मन्त्र (**ॐ नमो नारायणाय**) से पूजन करना चाहिये। फिर पूर्णाहुति-हवन करके आचार्य भूतों के लिये बलि समर्पित करें। वहाँ जो भी अव्यक्त रूप से रहने वाले जन्तु, यातुधान (राक्षस) गुह्यक और सिद्ध आदि हों अथवा और भी जो हों, उन सभी का पूजन करके इस तरह क्षमा याचना करनी चाहिये॥१६-१९॥ 'भगवान् केशव की आज्ञा से प्रतिमा के लिये हम लोगों की यह यात्रा हुई है। भगवान् श्रीहरि विष्णु के लिये जो कार्य हो, वह आप लोगों का भी कार्य है। इसलिये हमारे दिये हुए इस बलिदान से आप लोग सर्वथा तृप्त हों और शीघ्र ही यह स्थान छोड़कर कुशलपूर्वक अन्यत्र चले जायँ॥२०-२१॥ इस तरह सावधान करने पर वे जीव बड़े प्रसन्न होते हैं और सुखपूर्वक उस स्थान को छोड़कर अन्यत्र चले जाते हैं। इसके बाद कारीगरों के साथ यज्ञ का चरु करके रात में सोते समय स्वप्न-मन्त्र का जप करना चाहिये। 'जो समस्त प्राणियों के निवास-स्थान हैं, व्यापक हैं, सभी कों उत्पन्न करने वाले हैं, स्वयं विश्वरूप हैं और सम्पूर्ण विश्व जिनका स्वरूप है, उन स्वप्न के अधिपति भगवान् श्रीहरि विष्णु को नमस्कार है। हे देव! देवेश्वर! मैं आपके सन्निकट सो रहा हूँ। मेरे मन में जिन कार्यों का संकल्प है, उन सभी के सम्बन्ध में मुझसे कुछ कहिये॥२२-२४॥

'ॐ ॐ हूं फट् विष्णवे स्वाहा।' इस तरह मन्त्र-जप करके सो जाने पर यदि अच्छा स्वप्न हो, तो सब शुभ होता है और यदि बुरा स्वप्न हुआ तो नरसिंह मन्त्र से हवन करने पर शुभ होता है। सबेरे उठकर अस्त्र-मन्त्र से शिला पर अर्घ्य देना चाहिये। फिर अस्त्र की भी पूजा करनी चाहिये। कुदाल (फावड़े), टंक और शस्त्र आदि के मुख पर मधु और घी लगाकर पूजन करना चाहिये। अपने-आपका विष्णु रूप से चिन्तन करना चाहिये। कारीगर को विश्वकर्मा माने और शस्त्र के भी विष्णु रूप होने की ही भावना करनी चाहिये। फिर शस्त्र कारीगर को दे और उसका मुख-पृष्ठ आदि उसको दिखा दें॥२५-२७॥

जितेन्द्रियष्टङ्कहस्तः शिल्पी तु चतुरस्रकाम्। शिलां कृत्वा पिण्डिकार्थं किञ्चिन्न्यूनां तु कल्पयेत्।।२८।।
रथे स्थाप्य समानीय सवस्त्रां कारुवेश्मनि। पूजयित्वाथ घटयेत् प्रतिमां स तु कर्मकृत्।।२९।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते प्रासाददेवतास्थापन-भूतशान्तिशिलालक्षणप्रतिमानिर्माणादिनिरूपणं नाम त्रिचत्वारिंशोऽध्यायः।।४३।।

—❋❋❋—

अथ चतुश्चत्वारिंशोऽध्यायः

वासुदेवादिप्रतिमानां लक्षणानि

हयग्रीव उवाच

वासुदेवादिप्रतिमालक्षणं प्रवदामि ते। प्रासादस्योत्तरे पूर्वमुखीं वा चोत्तराननाम्।।१।।
संस्थाप्य पूज्य च बलिं दत्त्वाथो मध्यसूत्रकम्। शिलां शिल्पी तु नवधा विभज्य नवमेंऽशके।।२।।
सूर्यभक्ते शिलायां तु भागं स्वाङ्गुलमुच्यते। द्व्यङ्गुलं गोलकं नाम्ना कलानेत्रं तदुच्यते।।३।।
भागमेकं त्रिधा कृत्वा पार्ष्णिभागं प्रकल्पयेत्। भागमेकं तथा जानौ ग्रीवायां भागमेव च।।४।।
मुकुटं तालमात्रं स्यात् तालमात्रं तथा मुखम्। तालेनैकेन कण्ठं तु तालेन हृदयं तथा।।५।।

कारीगर अपनी इन्द्रियों को वश में रखे और हाथ में टंक लेकर उससे उस शिला को चतुरस्र बनाये। फिर पिण्डी बनाने के लिये उसको कुछ छोटी करना चाहिये। इसके बाद शिला को वस्त्र में लपेटकर रथ पर रखे और शिल्प शाला में लाकर पुनः उस शिला को पूजन करना चाहिये। इसके बाद कारीगर प्रतिमा बनाये।।२८-२९।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी तिरालिसवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।४३।।

अध्याय-४४

वासुदेव आदि की प्रतिमाओं के लक्षण

भगवान् हयग्रीव बोले—हे ब्रह्मन्! अधुना मैं आपको वासुदेव आदि की प्रतिमा के लक्षण बतलाता हूँ, सुनो। मन्दिर के उत्तर भाग में शिला को पूर्वाभिमुख अथवा उत्तराभिमुख रखकर उसकी पूजा करनी चाहिये और उसको बलि अर्पित करके कारीगर शिला के मध्य में सूत लगाकर उसका नौ भाग करना चाहिये। नवें भाग को भी १२ भागों में विभाजित करने पर एक-एक भाग अपने अङ्गुल से एक अंगुल का होता है। दो अंगुल का एक गोलक होता है, जिसे 'कालनेत्र' भी कहते हैं।।१-३।। कथित नौ भागों में से एक भाग के तीन हिस्से करके उसमें पार्ष्णि-भाग की कल्पना करनी चाहिये। एक भाग घुटने के लिये तथा एक भाग कण्ठ के लिये निश्चित रखे। मुकुट को एक बित्ता रखे। मुँह का भाग भी एक बित्ते का ही होना चाहिये। इसी तरह एक बित्ते का कण्ठ और एक ही बित्ते का हृदय भी रहना

नाभिमेढ्रान्तरं तालं द्वितालावूरुकौ तथा। तालद्वयेन जङ्घा स्यात् सूत्राणि शृणु साम्प्रतम्।।६।।
कार्यं सूत्रद्वयं पादे जङ्घामध्ये तथापरम्। जानौ सूत्रद्वयं कार्यमूरुमध्ये तथापरम्।।७।।
मेढ्रे तथापरं कार्यं कट्यां सूत्रं तथापरम्। मेखलाबन्धसिद्ध्यर्थं नाभ्यां चैवापरं तथा।।८।।
हृदये च तथा कार्यं कण्ठे सूत्रद्वयं तथा। ललाटे चापरं कार्यं मस्तके च तथापरम्।।९।।
मुकुटोपरि कर्तव्यं सूत्रमेकं विचक्षणैः। सूत्राण्यूर्ध्वं प्रदेयानि सप्तैव कमलोद्भव।।१०।।
कक्षात्रिकान्तरेणैव षट् सूत्राणि प्रदापयेत्। मध्यसूत्रं तु सन्त्यज्य सूत्राण्येव निवेदयेत्।।११।।
ललाटं नासिका वक्त्रं कर्तव्यं चतुरङ्गुलम्। ग्रीवाकर्णौ तु कर्तव्यावायामाच्चतुरङ्गुलम्।।१२।।
द्व्यङ्गुले हनुके कार्ये विस्ताराच्चिबुकं तथा। अष्टाङ्गुलं ललाटं तु विस्तारेण प्रकीर्तितम्।।१३।।
परेण द्व्यङ्गुलौ शङ्खौ कर्तव्यावलकान्विती। चतुरङ्गुलमाख्यातमन्तरं कर्णनेत्रयोः।।१४।।
द्व्यङ्गुलौ पृथुकौ कर्णौ कर्णापाङ्गार्धपञ्चमे। भ्रूसमेन तु सूत्रेण कर्णस्त्रोतः प्रकीर्तितम्।।१५।।
विद्धं षडङ्गुलं कर्णमविद्धं चतुरङ्गुलम्। चिबुकेन समं विद्धमविद्धं वा षडङ्गुलम्।।१६।।
गन्धपात्रं तथावर्तं शष्कुलीं कल्पयेत्तथा। अङ्गुलेनाधरः कार्यस्तस्यार्धेनोत्तराधरः।।१७।।
अर्धाङ्गुलं तथा नेत्रं वक्त्रं तु चतुरङ्गुलम्। आयामेन तु वैपुल्यात्सार्धमङ्गुलमुच्यते।।१८।।
नासावंशसमुच्छ्रायं मूले त्वेकाङ्गुलं मतम्। उच्छ्रायाद् द्व्यङ्गुलं चाग्रे करवारोपमा स्मृता।।१९।।

चाहिये। नाभि और लिङ्ग के मध्य में एक बित्ते का अन्तर होना चाहिये। दोनों ऊरु दो बित्ते के हों। जंघा भी दो बित्ते की हो। अधुना सूत्रों का माप सुनो—।।४-६।। दो सूत पैर में और दो सूत जङ्घा में लगावे। घुटनों में दो सूत तथा दोनों ऊरुओं में भी दो सूत का उपयोग करना चाहिये। लिङ्ग में दूसरे दो सूत तथा कटि में भी कमरबन्ध (करधन) बनाने के लिये दूसरे दो सूतों का योग करना चाहिये। नाभि में भी दो सूत काम में लावे। इसी तरह हृदय और कण्ठ में दो सूत का उपयोग करना चाहिये। ललाट में दूसरे और मस्तक में दूसरे दो सूतों का उपयोग करना चाहिये। बुद्धिमान् कारीगरों को मुकुट ऊपर एक सूत करना चहिये। हे ब्रह्मन्! ऊपर सात ही सूत देने चाहिये। तीन कक्षाओं के अन्तर से ही छः सूत्र दिलावे। फिर मध्य सूत्र को त्याग दे और केवल सूत्रों को ही निवेदित करना चाहिये।।७-११।। ललाट, नासिका और मुख का विस्तार चार अंगुल का होना चाहिये। गला और कान का भी चार-चार अंगुल विस्तार करना चाहिये। दोनों तरफ की हनु (ठोढ़ी) दो-दो अंगुल चौड़ी हो और चिबुक (ठोढ़ी के मध्य का भाग) भी दो अंगुल का हो। पूरा विस्तार छः अंगुल का होना चाहिये। इसी तरह ललाट भी विस्तार में आठ अंगुल का बतलाया गया है। दोनों तरफ के शङ्ख दो-दो अंगुल के बनाये जायँ और उन पर बाल भी हों। कान और नेत्र के मध्य में चार अंगुल का अन्तर रहना चाहिये। दो-दो अंगुल के कान एवं पृथुक बनाये। भौहों के समान सूत्र के माप का कान का स्त्रोत कहा गया है। बिंधा हुआ कान छः अंगुल का हो और बिना बिंधा हुआ चार अंगुल का। अथवा बिंधा हो या बिना बिंधा, सब चिबुक के सामन छः अंगुल का होना चहिये।।१२-१६।। गन्धपात्र, आवर्त तथा शष्कुली (कान का पूरा घेरा) भी बनाये। एक अंगुल में नीचे का ओठ और आधे अंगुल का ऊपर का ओठ बनाये। नेत्र का विस्तार आधा अंगुल हो और मुख का विस्तार चार अंगुल हो। मुख की चौड़ाई डेढ़ अंगुल की होनी चाहिये। नाक की चौड़ाई एक अंगुल हो और ऊँचाई से आगे केवल लंबाई दो अंगुल की रहना चाहिये। करवीर-कुसुम के समान उसकी आकृति होनी चाहिये। दोनों नेत्रों के मध्य चार अंगुल का अन्तर हो। दो अंगुल तो आँख के घेरे में आ जाता है सिर्फ दो

अन्तरं चक्षुषोः कार्यं चतुरङ्गुलमानतः। द्व्यङ्गुलं चाक्षिकोशं च द्व्यङ्गुलं चान्तरं तयोः॥२०॥
तारा नेत्रत्रिभागेण दृक्तारा पञ्चमांशिका। त्र्यङ्गुलं(लो)नेत्रविस्तारं(रो)द्रोणीचार्धाङ्गुला मता॥२१॥
तत्प्रमाणा भ्रुवोर्लेखा भ्रुवौ चैव समे मते। भ्रूमध्यं द्व्यङ्गुलं कार्यं भ्रूदैर्घ्यं चतुरङ्गुलम्॥२२॥
षड्विंशदङ्गुलायामं मस्तकस्य तु वेष्टनम्। मूर्तीना केशवादीनां द्वात्रिंशद्वेष्टनं भवेत्॥२३॥
पञ्चनेत्रा त्वधोग्रीवा विस्ताराद्वेष्टनं पुनः। त्रिगुणं तु भवेदूर्ध्वं विस्तृताष्टाङ्गुलं पुनः॥२४॥
ग्रीवात्रिगुणमायामं ग्रीवावक्षोन्तरं भवेत्। स्कन्धावष्टाङ्गुलौ कार्यौ त्रिकलावंशकौ शुभौ॥२५॥
सप्तनेत्रौ स्मृतौ बाहू प्रबाहू षोडशाङ्गुलौ। त्रिकलौ विस्तृतौ बाहू प्रबाहू चापि तत्समौ॥२६॥
बाहुदण्डोर्ध्वतो ज्ञेयः परिणाहः कला नव। सप्तदशाङ्गुलो मध्ये कूर्परोऽर्धे च षोडश॥२७॥
कूर्परस्य भवेन्नाहस्त्रिगुणः कमलोद्भव। नाहः प्रबाहुमध्ये तु षोडशाङ्गुल उच्यते॥२८॥
अग्रहस्ते परीणाहो द्वादशाङ्गुल उच्यते। विस्तारेण करतलं कीर्तितं तु षडङ्गुलम्॥२९॥
दैर्घ्यं सप्ताङ्गुलं कार्यं मध्या पञ्चाङ्गुला मता। तर्जन्यनामिका चैव तस्मादर्धाङ्गुलं विना॥३०॥
कनिष्ठाङ्गुष्ठकौ कार्यौ चतुरङ्गुलसम्मितौ। द्विपर्वोऽङ्गुष्ठकः कार्यः शेषाङ्गुल्यस्त्रिपर्विकाः॥३१॥
सर्वासां पर्वणोऽर्धेन नखमानं विधीयते। वक्षसो यत्प्रमाणं तु जठरं तत्प्रमाणतः॥३२॥
अङ्गुलैका भवेन्नाभिर्वेधेन च प्रमाणतः। ततो मेढ्रान्तरं कार्यं तालमात्रं प्रमाणतः॥३३॥

अंगुल अन्तर रह जाता है। पूरे नेत्र का तीन भाग करके एक भाग के बराबर तारा (काली पुतली) बनाये और पाँच भाग करके, एक भाग के बराबर दृक्तारा (छोटी पुतली) बनाये। नेत्र का विस्तार दो अंगुल का हो और द्रोणी आधे अंगुल की। उतना ही प्रमाण भौंहों की रेखा का हो। दोनों तरफ की भौंहें बराबर रहनी चाहिये। भौंहों का मध्य दो अंगुल का और विस्तार चार अंगुल का होना चाहिये॥१७-२२॥ भगवान् केशव आदि की मूर्तियों के मस्तक का पूरा घेरा छब्बीस अंगुल का होवे अथवा बत्तीस अंगुल का। नीचे ग्रीवा (गला) पाँच नेत्र (अर्थात् दस अंगुल)-की हो और इसके तीन गुना अर्थात् तीस अंगुल उसका वेष्टन (चारों तरफ का घेरा) हो। नीचे से ऊपर की तरफ ग्रीवा का विस्तार आठ अंगुल का हो। ग्रीवा और छाती के मध्य का अन्तर ग्रीवा के तीन गुने विस्तार वाला होना चाहिये। दोनों तरफ के कंधे आठ-आठ अंगुल के और सुन्दर अंस तीन-तीन अंगुल के हों। सात नेत्र (यानी चौदह अंगुल) की दोनों बाहें तरफ सोलह अंगुल की दोनों प्रबाहुएँ हों (बाहु और प्रबाहु मिलकर पूरी बाँह समझी जाती है) बाहुओं की चौड़ाई छः अंगुल की हो। प्रबाहुओं की भी इनके समान ही होनी चाहिये। बाहु दण्डक चारों तरफ का घेरा कुछ ऊपर से लेकर नौ कला अथवा सत्रह अंगुल समझना चाहिये। आधे पर मध्य में कूर्पर (कोहनी) है। कूर्पर का घेरा सोलह अंगुल का होता है। हे ब्रह्माजी! प्रबाहु के मध्य में उसका विस्तार सोलह अंगुल का हो। हाथ के अग्रभाग का विस्तार द्वादश अंगुल हो और उसके मध्य हस्ततल का विस्तार छः अंगुल कहा गया है। हाथ की चौड़ाई सात अंगुल की करना चाहिये। हाथ के मध्यमा अंगुली की लम्बाई पाँच अंगुल की हो और तर्जनी तथा अनामिका की लम्बाई उससे आधा अंगुल कम अर्थात् ४॥ अंगुल की करना चाहिये। कनिष्ठिका और अंगूठे की लम्बाई चार अंगुल की करना चाहिये। अंगूठे में दो पोरु बनाये तरफ बाकी सभी अंगुलियों में तीन-तीन पोरु रखे। सभी अंगुलियों के एक-एक पोरु के आधे भाग के बराबर प्रत्येक अंगुली के नख की नाप समझनी चाहिये। छाती की जितनी माप हो, पेट की उतनी ही रखे। एक अंगुल के छेद वाली नाभि हो। नाभि से लिंग के मध्य का अन्तर एक बित्ता होना चाहिये॥२३-३३॥

नाभिमध्ये परीणाहो द्विचत्वारिंशदङ्गुलैः। अनतरं स्तनयोः कार्यं तालमात्रं प्रमाणतः।।३४।।
चूचुकौ यवमानौ तु मण्डलं द्विपदं भवेत्। चतुष्षष्ट्यङ्गुलं कार्यं वेष्टनं वक्षसः स्फुटम्।।३५।।
चतुर्मुखं च तदधो वेष्टनं परिकीर्तितम्। परिणाहस्तथा कट्याश्चतुष्पञ्चदशाङ्गुलैः।।३६।।
विस्तारश्चोरुमूले तु प्रोच्यते द्वादशाङ्गुलैः। तस्मादभ्यधिकं मध्ये ततो निम्नतरं क्रमात्।।३७।।
विस्तृताष्टाङ्गुलं जानु त्रिगुणा परिणाहतः। जङ्घामध्ये तु विस्तारः सप्ताङ्गुल उदाहृतः।।३८।।
त्रिगुणः परिधिश्चास्य जङ्घाग्रं पञ्च विस्तरात्। त्रिगुणः परिधिश्चास्य पादौ तालप्रमाणकौ।।३९।।
आयुमादुत्थितौ पादौ चतुरङ्गुलमेव च। गुल्फात्पूर्वं तु कर्तव्यं प्रमाणाच्चतुरङ्गुलम्।।४०।।
त्रिकलं विस्तृतौ पादौ त्र्यङ्गुलो गुह्यकः स्मृतः। पञ्चाङ्गुलस्य नाहोऽस्य दीर्घा तद्वत्प्रदेशिनी।।४१।।
अष्टमाष्टांशमध्योनाः शेषाङ्गुल्यः क्रमेण तु। सपादाङ्गुलमुत्सेधमङ्गुष्ठस्य प्रकीर्तितम्।।४२।।
तदेव द्विगुणं कार्यमङ्गुष्ठस्य नखं तथा। अर्धाङ्गुलं तथान्यासं क्रमान्न्यूनं तु कारयेत्।।४३।।
त्र्यङ्गुलौ वृषणौ कार्यौ मेढ्रं तु चतुरङ्गुलम्। परिणाहोऽत्र कोषाग्रं कर्तव्यं चतुरङ्गुलम्।।४४।।
षडङ्गुलपरिणाहौ वृषणौ परिकीर्तितौ। प्रतिमा भूषणाढ्या स्यादेतदुद्देशलक्षणम्।।४५।।
अनयैव दिशा कार्यं लोके दृष्ट्वा तु लक्षणम्। दक्षिणे तु करे चक्रमधस्तात् पद्ममेव च।।४६।।

नाभि–मध्याङ्ग (उदर) का घेरा बयालीस अंगुल का हो। दोनों स्तनों के मध्य का अन्तर एक बित्ता होना चाहिये। स्तनों का अग्रभाग–चुचुक यव के बराब बनाये। दोनों स्तनों का घेरा दो पदों के बराबर हो। छाती का घेरा चौंसठ अंगुल का बनाये। उसके नीचे और चारों तरफ का घेरा 'वेष्टन' कहा गया है। इसी तरह कमर का घेरा चौवन अंगुल का होना चाहिये। ऊरुओं के मूल का विस्तार द्वादश–द्वादश अंगुल का हो। इसके ऊपर मध्य भाग का विस्तार अधिक रखना चाहिये। मध्य भाग से नीचे के अंगों का विस्तार क्रमशः कम होना चाहिये। घुटनों का विस्तार आठ अंगुल का करना चाहिये और उसके नीचे जंघा का घेरा तीन गुना, अर्थात् चौबीस अंगुल का हो; जंघा के मध्य का विस्तार सात अंगुल का होना चाहिये और उसका घेरा तीन गुना अर्थात् इक्कीस अंगुल का हो। जंघा के अग्रभाग का विस्तार पाँच अंगुल और उसका घेरा तीन गुना–पन्द्रह अंगुल का हो। चर एक–एक बित्ते लम्बे होने चाहिये। विस्तार से उठे हुए पैर अर्थात् पैरों की ऊँचाई चार अंगुल की हो। गुल्फ (घुट्ठी) से पहले का हिस्सा भी चार अंगुल का ही हो।।३४–४०।। दोनों पैरों की चौड़ाई छः अंगुल की, गुह्य भाग तीन अंगुल का और उसका पंजा पाँच अंगुल का होना चाहिये। पैरों में प्रदेशिनी, अर्थात् अँगूठा चौड़ा होना उचित है। शेष अंगुलियों के मध्य भाग का विस्तार क्रमशः पहली अंगुली के आठवें–आठवें भाग के बराबर कम होना चाहिये। अंगूठे की ऊँचाई सवा अंगुल बतलायी गयी है। इसी तरह अंगूठे के नख का प्रमाण और अंगुलियों से दूना रखना चाहिये। दूसरी अंगुली के नख का विस्तार आधा अंगुल तथा अन्य अंगुलियों के नखों का विस्तार क्रमशः जरा–जरा सा कम कर देना चाहिये।।४१–४३।। दोनों अण्डकोष तीन–तीन अंगुल लम्बे बनाये और लिंग चार अंगुल लम्बा करना चाहिये। इसके ऊपर का भाग चार अंगुल रखे। अण्डकोषों का पूरा घेरा छः–छः अंगुल का होना चाहिये। इसके सिवा भगवान् की प्रतिमा सभी तरह के भूषणों से भूषित करनी चाहिये। यह लक्षण उद्देश्यमात्र (संक्षेप से) बतलाया गया है।।४४–४५।। इसी तरह लोक में देखे जान वाले अन्य लक्षणों को भी दृष्टि में रखकर प्रतिमा में उसका निर्माण करना चाहिये। दाहिने हाथों में से ऊपर वाले हाथ में चक्र और नीचे वाले हाथ में पद्म धारण कराये। बायें हाथों में से ऊपर वाले हाथ में शङ्ख और नीचे वाले

वामे शङ्खं गदाधस्ताद् वासुदेवस्य लक्षणात्। श्रीपुष्टी चापि कर्तव्ये पद्मवीणाकरान्विते।।४७।।
ऊरुमात्रोच्छ्रितायामे मालाविद्याधरौ तथा। प्रभामण्डलसंस्थौ तौ प्रभा हस्त्यादिभूषणा।।४८।।
पद्माभं पादपीठं तु प्रतिमास्वेवमाचरेत्।।४९।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते वासुदेवादिप्रतिमालक्षणकथनं नाम चतुश्चत्वारिंशोऽध्यायः।।४४।।

अथ पञ्चचत्वारिंशोऽध्यायः

पिण्डिकादिलक्षणम्

हयग्रीव उवाच

पिण्डिकालक्षणं वक्ष्ये दैर्घ्येण प्रतिमासमा। उच्छ्रायः प्रतिमार्धं तु चतुःषष्टिपुटां च ताम्।।१।।
त्यक्त्वा पङ्क्तिद्वयं चाधस्तदूर्ध्वं यत्तु कोष्ठकम्। समन्तादुभयोः पार्श्वे अन्तस्थं परिमार्जयेत्।।२।।
ऊर्ध्वं पङ्क्तिद्वयं त्यत्त्वा अधस्ताद्यत्तु कोष्ठकम्। अन्तः सम्मार्जयेद्यत्नात्पार्श्वयोरुभयोः समम्।।३।।
तयोर्मध्यगतौ तत्र चतुष्कौ मार्जयेत्ततः। चतुर्धा भाजयित्वा तु ऊर्ध्वं पङ्क्तिद्वयं बुधः।।४।।

हाथ में गदा बनाये। यह वासुदेव श्रीकृष्ण का चिह्न है, इसलिये उन्हीं की प्रतिमा में रहना चाहिये। भगवान् के सन्निकट हाथ में कमल लिये हुए श्रीलक्ष्मी तभा वीणा धारण किये पुष्टि देवी की भी प्रतिमा बनाये। इनकी ऊँचाई (भगवद् विग्रह के) ऊरुओं के बराबर होनी चाहिये। इनके अलावा प्रभा मण्डल में स्थित मालाघर और विद्याधर का विग्रह बनाये। प्रभा हस्ती आदि से भूषित हो जाती है। भगवान् के चरणों के नीचे का भाग अर्थात् पादपीठ कमल के ओकार का बनाये। इस तरह देव-प्रतिमाओं में कथित लक्षणों का समावेश करना चाहिये।।४६-४९।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी चौवालिसवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।४४।।

अध्याय-४५

पिण्डिका आदि के लक्षण

भगवान् हयग्रीव ने कहा कि-हे ब्रह्मन्! अधुना मैं पिण्डिका का लक्षण बतला रहा हूँ। पिण्डिका लम्बाई में प्रतिमा के समान ही होती है, परन्तु उसकी ऊचाई प्रतिमा से आधी हो जाती है। पिण्डिका को चौसठ कुटों (पदों या कोष्ठकों) से युक्त करके नीचे की दो पंक्ति छोड़ दे और उसके ऊपर का जो कोष्ठ है, उसको चारों तरफ दोनों पार्श्वों में अन्दर की तरफ से मिटा देना चाहिये। इसी तरह ऊपर की दो पंक्तियों को त्यागकर उसके नीचे का जो एक कोष्ठ (या एक पंक्ति) है, उसको अन्दर की तरफ से यत्नपूर्वक मिटा देना चाहिये। दोनों पार्श्वों में समान रूप से यह क्रिया करना चाहिये।।१-३।। दोनों पार्श्वों के मध्यगत जो दो चौक हैं, उसका भी मार्जन कर देना चाहिये। उसके बाद

मेखला भागमात्रा स्यात् खातं तस्यार्धमानतः। भागं भागं परित्यज्य पार्श्वयोरुभयोः समम्।।५।।
दत्त्वा चैकं पदं बाह्ये प्रणालं कारयेद् बुधः। त्रिभागेण च भागस्याग्रे स्यात्तोयविनिर्गमः।।६।।
नानाप्रकारभेदेन भद्रेयं पिण्डका शुभा। अष्टताला तु कर्त्तव्या देवी लक्ष्मीस्तथा स्त्रियः।।७।।
भ्रुवौ यवाधिके कार्ये यवहीना तु नासिका। गोलकेनाधिकं वक्त्रमूर्ध्वं तिर्यग्विवर्जितम्।।८।।
आयते नयने कार्ये त्रिभागोनैर्यवैस्त्रिभिः। तदर्धेन तु वैपुल्यं नेत्रयोः परिकल्पयेत्।।९।।
कर्णपाशोऽधिकः कार्यः सृक्कणी समसूत्रतः। नम्रं कलाविहीनं तु कुर्याद्वंशद्वयं तथा।।१०।।
ग्रीवा सार्धकला कार्या तद्विस्तारोपशोभिता। नेत्रं विना तु विस्तारौ ऊरू जानू च पिण्डिका।।११।।
अङ्घ्रिपृष्ठौ स्फिचौ कट्यां यथायोगं प्रकल्पयेत्। सप्तांशोनास्तथाङ्गुल्यो दीर्घविष्कम्भनाहतः।।१२।।
नेत्रैकवर्जितायामा जङ्घोरुश्च तथा कटिः। मध्यपार्श्वं च तद्वृत्तं घनं पीनं कुचद्वयम्।।१३।।
तालमात्रौ स्तनौ कार्यौ कटिः सार्धकलाधिका। लक्ष्म शेषं पुरावत्स्याद्दक्षिणे चाम्बुजं करे।।१४।।
वामे बिल्वं स्त्रियौ पार्श्वे शुभे चामरहस्तके। दीर्घघोणस्तु गरुडश्चक्राङ्गाद्यानथो वदे।।१५।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते पिण्डिकादीनां लक्षणवर्णनं नाम पञ्चचत्वारिंशोऽध्यायः।।४५।।

उसको चार भागों में बाँटकर विद्वान् पुरुष ऊपर की दो पङ्क्तियों को मेखला माने। मेखला भाग की जो मात्रा है, उसके आधे मान के अनुसार उसमें खात खुदावे। फिर दोनों पार्श्व भागों में समान रूप से एक-एक भाग को त्यागकर द्वादश की तरफ का एक पद नाली बनाने के लिये दे देना चाहिये। विद्वान् पुरुष उसमें नाली बनवाये। फिर तीन भाग में जो एक भाग है, उसके आगे जल निकलने का मार्ग रहना चाहिये।४-६।। विविध तरह के भेद से यह शुभ पिण्डिका 'भद्रा' कही गयी है। श्रीलक्ष्मी देवी की प्रतिमा ताल (हथेली) के माप से आठ ताल की बनायी जानी चाहिये। अन्य देवियों की प्रतिमा भी ऐसी ही हो। दोनों भौहों को नासिका की अपेक्षा एक-एक जौ अधिक बनाये और नासिका को उनकी अपेक्षा एक जौ कम। मुख की गोलाई नेत्रगोलक से बड़ी होनी चाहिये। वह ऊँचा तरफ टेढ़ा-मेढ़ा न हो। आँखें बड़ी-बड़ी बनानी चाहिये। उनका माप सवा तीन जौ के बराबर हो। नेत्रों की चौड़ाई उनकी लम्बाई की अपेक्षा आधी करनी चाहिये। मुख के एक कोने से लेकर दूसरे कोने तक की जितनी लंबाई है, उसके बराबर के सूत से नापकर कर्णपाश (कान का पूरा घेरा) बनाये। उसकी लम्बाई कथित सूत से कुछ अधिक ही रखे। दोनों कंधों को कुछ झुका हुआ और एक कला से हीन बनाये। ग्रीवा की लम्बाई डेढ़ कला रखनी चाहिये। वह उतनी ही चौड़ाई से भी सुशोभित हो। दोनों ऊरुओं का विस्तार ग्रीवा की अपेक्षा एक नेत्र कम होगा। जानु (घुटने), पिण्डली, पैर, पीठ, नितम्ब तथा कटिभाग-इन सभी की यथायोग्य कल्पना करनी चाहिये।।७-११।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी पैंतालिसवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।४५।।

❖❖❖

अथ षट्चत्वारिंशोऽध्यायः

शालग्राममूर्तीनां लक्षणानि

हयग्रीव उवाच

शालग्रामादिमूर्तीश्च वक्ष्येऽहं भुक्तिमुक्तिदाः। वासुदेवः सितो द्वारि शिलालग्नद्विचक्रकः।।१।।
ज्ञेयः सङ्कर्षणो लग्नद्विचक्रो रक्त उत्तमः। सूक्ष्मचक्रो बहुच्छिद्रः प्रद्युम्नो नीलदीर्घकः।।२।।
पीतोऽनिरुद्धः पद्माङ्को वर्तुलो द्वित्रिरेखवान्। कृष्णो नारायणो नाभ्युन्नतः सुषिरदीर्घवान्।।३।।
परमेष्ठी साब्जचक्रः पृष्ठच्छिद्रश्च विन्दुमान्। स्थूलचक्रोऽसितो विष्णुर्मध्ये रेखा गदाकृतिः।।४।।
नृसिंहः कपिलः स्थूलचक्रः स्यात्पञ्चविन्दुकः। वराहः शक्तिलिङ्गः स्यात्तच्चक्रौ विषमौ स्मृतौ।।५।।
इन्द्रीनीलनिभः स्थूलस्त्रिरेखालाञ्छितः शुभः। कूर्मस्तथोन्नतः पृष्ठे वर्तुलावर्तकोऽसितः।।६।।
हयग्रीवोऽङ्कुशाकाररेखो नीलः सविन्दुकः। वैकुण्ठ एकचक्रोऽब्जी मणिभः पुच्छरेखकः।।७।।
मत्स्यो दीर्घस्त्रिविन्दुः स्यात्काचवर्णस्तु पूरितः। श्रीधरो वनमालाङ्कः पञ्चरेखस्तु वर्तुलः।।८।।

अध्याय-४६

शालग्राम-मूर्तियों के लक्षण

भगवान् हयग्रीव ने कहा कि-हे ब्रह्मन्! अधुना मैं शालग्रामगत भगवन्मूर्तियों का वर्णन प्रारम्भ करने जा रहा हूँ, जो भोग और मोक्ष सम्प्रदान करने वाली हैं। जिस शालग्रामशिला के द्वार में दो चक्र के चिह्न हों और जिसका वर्ण श्वेत हो, उसकी 'वासुदेव' संज्ञा है। जिस श्रेष्ठतम शिला का रंग लाल हो और जिसमें दो चक्र के चिह्न संलग्न हों, उसको भगवान् 'संकर्षण' का श्रीविग्रह समझना चाहिये। जिसमें चक्र का सूक्ष्म चिह्न हो, अनेक छिद्र हों, नील वर्ण हो और आकृति बड़ी दिखायी देती हो, वह 'प्रद्युम्न' की मूर्ति है। जहाँ कमल का चिह्न हो, जिसकी आकृति गोल तरफ रंग पीला हो तथा जिसमें दो-तीन रेखाएँ शोभा पा रही हों, यह 'अनिरुद्ध' का श्रीअङ्ग है। जिसकी कान्ति काली, नाभि उन्नत और जिसमें बड़े-बड़े छिद्र हों, उसको 'नारायण' का स्वरूप समझना चाहिये। जिसमें कमल और चक्र का चिह्न हो, पृष्ठ भाग में छिद्र हो और जो बिन्दु से युक्त हो, वह शालग्राम 'परमेष्ठी' नाम से प्रसिद्ध है। जिसमें चक्र का स्थूल चिह्न हो, जिसकी कान्ति श्याम हो और मध्य में गदा-जैसी रेखा हो, उस शालग्राम की 'विष्णु' संज्ञा है।।१-४।। नृसिंह-विग्रह में चक्र का स्थूल चिह्न होता है। उसकी कान्ति कपिल वर्ण की होती है और उसमें पाँच बिन्दु सुशोभित होते हैं। वाराह-विग्रह में शक्ति नामक अस्त्र का चिह्न होता है। उसमें दो चक्र होते हैं, जो परस्पर विषम (समानता से हीन) है। उसकी कान्ति इन्द्रनील मणि के समान नीली होती है। वह तीन स्थूल रेखाओं से चिह्नित एवं शुभ होता है। जिसका पृष्ठ भाग ऊँचा हो, जो गोलाकार आवर्त चिह्न से युक्त एवं श्याम हो, उस शालग्राम की 'कूर्म' (कच्छप) संज्ञा है।।५-६।। जो अंकुश की-सी रेखा से सुशोभित, नीलवर्ण एवं बिन्दु युक्त हो, उस शालग्राम-शिला को 'हयग्रीव' कहते हैं। जिसमें एक चक्र और कमल का चिह्न हो, जो मणि के समान प्रकाशमान तथा पुच्छाकार रेखा से शोभित हो, उस शालग्राम को 'वैकुण्ठ' समझना चाहिये। जिसकी आकृति बड़ी हो, जिसमें तीन बिन्दु शोभा पाते हों, जो काँच के समान श्वेत तथा भरा-पूरा हो, वह शालग्रामशिला मत्स्यावतारधारी भगवान् की मूर्ति मानी जाती है।

वामनो वर्तुलश्चातिह्रस्वो नीलः सविन्दुकः। श्यामस्त्रिविक्रमो दक्षरेखो वामेन रिक्तकः।।९।।
अनन्तो नागभोगाङ्को नैकाभो नैकमूर्तिमान्। स्थूलो दामोदरो मध्यचक्रोऽधः सूक्ष्मविन्दुकः।।१०।।
सुदर्शनस्त्वेकचक्रो लक्ष्मीनारायणो द्वयात्। त्रिचक्रश्चाच्युतो देवस्त्रिचक्रो वा त्रिविक्रमः।।११।।
जनार्दनश्चतुश्चक्रो वासुदेवश्च पञ्चभिः। षट्चक्रश्चैव प्रद्युम्नः सङ्कर्षणश्च सप्तभिः।।१२।।
पुरुषोत्तमोऽष्टचक्रो नवव्यूहो नवाङ्कितः। दशावतारो दशभिर्दशैकेनानिरुद्धकः।।
द्वादशात्मा द्वादशभिरत ऊर्ध्वमनन्तकः।।१३।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते शालग्रामादिमूर्तिलक्षणकथनं नाम षट्चत्वारिंशोऽध्यायः।।४६।।

जिसमें वनमाला का चिह्न और पाँच रेखाएँ हों, उस गोलाकार शालग्राम-शिला को 'श्रीधर' कहते हैं।।७-८।। गोलाकार अत्यन्त छोटी, नीली एवं बिन्दु युक्त शालग्राम-शिला की 'वामन' संज्ञा है। जिसकी कान्ति श्याम हो, दक्षिण भाग में हार की रेखा और बायें भाग में बिन्दु का चिह्न हो, उस शालग्राम शिला को 'त्रिविक्रम' कहते हैं।।९।। जिसमें सर्प के शरीर का चिह्न हो, अनेक तरह की आभाएँ दीखती हों तथा जो अनेक मूर्तियों से मण्डित हो, वह शालग्राम-शिला 'अनन्त' (शेषनाग) कही गयी है। जो स्थूल हो, जिसके मध्यभाग में चक्र का चिह्न हो तथा अधोभाग में ूक्ष्म बिन्दु शोभा पा रहा हो, उस शालग्राम की 'दामोदर' संज्ञा है। एक चक्र वाले शालग्राम को सुदर्शन कहते हैं दो चक्र होने से उसकी 'श्रीलक्ष्मीनारायण' संज्ञा होती है। जिसमें तीन चक्र हों, वह शिला भगवान् 'अच्युत' अथवा 'त्रिविक्रम' है। चार चक्रों से युक्त शालग्राम को 'जनार्दन', पाँच चक्र वाले को 'वासुदेव', छः चक्र वाले को 'प्रद्युम्न' तथा सात चक्र को संकर्षण कहते हैं। आठ चक्र वाले शालग्राम की 'पुरुषोत्तम' संज्ञा है। नौ चक्र वाले को 'नवव्यूह' कहते हैं। दस चक्रों से युक्त शिला की 'दशावतार' संज्ञा है। ग्यारह चक्रों से युक्त होने पर उसको 'निरुद्ध', द्वादश चक्रों से चिह्नित होने पर 'द्वादशात्मा' तथा इससे अधिक चक्रों से युक्त होने पर उसको 'अनन्त' कहते हैं।।१०-१३।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी छियालिसवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।४६।।

❖❖❖

अथ सप्तचत्वारिंशोऽध्यायः

शालग्रामादिपूजाकथनम्

हयग्रीव उवाच

शालग्रामादिचक्राङ्कपूजाः सिद्ध्यै वदामि ते। त्रिविधा स्याद्धरेः पूजा काम्याकाम्योभयात्मिका॥१॥
मीनादीनां तु पञ्चानां काम्यार्था वोभयात्मिका। वराहस्य नृसिंहस्य वामनस्य च मुक्तये॥२॥
चक्रादीनां त्रयाणां तु शालग्रामार्चनं शृणु। उत्तमा निष्कला पूजा कनिष्ठा सकलार्चना॥३॥
मध्यमा मूर्तिपूजा स्याच्चक्राब्जे चतुरस्रके। प्रणवं हृदि विन्यस्य षडङ्गं करदेहयोः॥४॥
कृतमुद्रात्रयश्चक्राद्बहिः पूर्वे गुरुं यजेत्। आप्ये गणं वायवे च धातारं नैर्ऋते यजेत्॥५॥
विधातारं च कर्तारं हर्तारं दक्षसौम्ययोः। विष्वक्सेनं यजेदीश आग्नेये क्षेत्रपालकम्॥६॥
ऋगादिवेदान्प्रागादावाधारानन्तकं भुवम्। पीठं पद्मं चार्कचन्द्रब्रह्माख्यं मण्डलत्रयम्॥७॥
आसनं द्वादशान्तेन तत्र स्थाप्य शिलां यजेत्। व्यस्तेन च समस्तेन स्वबीजेन यजेत्क्रमात्॥८॥
पूर्वादावथ वेदाद्यैर्गायत्रीभ्यां जितादिना। प्रणवेनार्चयेत्पश्चान्मुद्रास्तिस्रः प्रदर्शयेत्॥९॥
विष्वक्सेनस्य चक्रस्य क्षेत्रपालस्य दर्शयेत्। शालग्रामस्य प्रथमा पूजाऽथो निष्कलोच्यते॥१०॥

अध्याय-४७

शालग्राम पूजा आदि कथन

भगवान् हयग्रीव ने कहा कि–हे ब्रह्मन्! अधुना मैं तुम्हारे सम्मुख उपरोक्त चक्राङ्कित शालग्राम-विग्रहों की पूजा का वर्णन करने जा रहा हूँ, जो सिद्धि सम्प्रदान करने वाली है। श्रीहरि विष्णु जी की पूजा तीन तरह की होती है–काम्या, अकाम्या और उभयात्मिका। मत्स्य आदि पाँच विग्रहों की पूजा काम्या अथवा उभयात्मिका हो सकती है। उपरोक्त चक्रादि से सुशोभित वराह, नृसिंह और वामन–इन तीनों की पूजा मुक्ति के लिये करनी चाहिये। अधुना शालग्राम पूजन के विषय में सुनो, जो तीन तरह की होती है। इनमें निष्कला पूजा श्रेष्ठतम, सकला पूजा कनिष्ठ और मूर्तिपूजा को मध्यम माना गया है। चतुरस्र मण्डप में स्थित कमल पर पूजा की विधि इस तरह है–हृदय में प्रणव का न्यास करते हुए षडङ्गन्यास करना चाहिये। फिर करन्यास और व्यापक न्यास करके तीन मुद्राओं का प्रदर्शन करना चाहिये। तत्पश्चात् चक्र के बाहर के भाग में पूर्व दिशा की तरफ गुरुदेव का पूजन करना चाहिये। पश्चिम दिशा में गण का, वायव्यकोण में धाता का एवं नैर्ऋत्य कोण में विधाता का पूजन करना चाहिये। दक्षिण और उत्तर दिशा में क्रमशः कर्ता और हर्ता की पूजा करनी चाहिये। इसी तरह ईशान कोण में विष्वक्सेन और अग्नि कोण में क्षेत्र पाल की पूजा करनी चाहिये। फिर पूर्वादि दिशाओं में ऋग्वेद आदि चारों वेदों की पूजा करके आधार शक्ति, अनन्त, पृथिवी, योगपीठ, पद्म तथा सूर्य, चन्द्र और ब्रह्मात्मक अग्नि–इन तीनों के मण्डलों का यजन करना चाहिये। उसके बाद द्वादशाक्षर मन्त्र से आसन पर शिला की स्थापना द्वादशाक्षर मन्त्र से आसन पर शिला की स्थापना करके पूजन करना चाहिये। फिल मूल मन्त्र के विभाग का एवं सम्पूर्ण मन्त्र से क्रमपूर्वक पूजन करना चाहिये। फिर प्रणव से पूजन करने के पश्चात् तीन मुद्राओं का प्रदर्शन करना चाहिये॥१-९॥ इस तरह यह शालग्राम की प्रथम पूजा निष्कला की जाती है। पूर्ववत्

पूर्ववत्षोडशारं च सपद्मं मण्डलं लिखेत्। शङ्खचक्रगदाखड्गैर्गुर्वाद्यं पूर्ववद्यजेत्।।११।।
पूर्वसौम्ये धनुर्बाणान् वेदाद्यैरासनं ददेत्। शिलां न्यसेद् द्वादशार्णैस्तृतीयं पूजनं शृणु।।१२।।
अष्टारमब्जं विलिखेद् गुर्वाद्यं पूर्ववद् यजेत्। अष्टार्णेनासनं दत्त्वा तेनैव च शिलां न्यसेत्।।१३।।
पूजयेद् दशधा तेन गायत्रीभ्यां जितं ततः।।१४।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते शालग्रामादिपूजाकथनं नाम सप्तचत्वारिंशोऽध्यायः।।४७।।

अथाष्टचत्वारिंशोऽध्यायः

चतुर्विंशतिमूर्तिस्तोत्रकथनम्

श्रीभगवानुवाच

ओंरूपः केशवःपद्मशङ्खचक्रगदाधरः। नारायणः शङ्खपद्मगदाचक्री प्रदक्षिणम्।।१।।
ततो नदी माधवोऽरिशङ्खपद्मी नमामि तम्। चक्रकौमोदकीपद्मशङ्खी गोविन्द ऊर्जितः।।२।।
मोक्षदः श्रीगदी पद्मी शङ्खी विष्णुश्च चक्रधृक्। शङ्खचक्राब्जगदिनं मधुसूदनमानमे।।३।।
भक्त्या त्रिविक्रमः पद्मगादी चक्री च शङ्ख्यापि। शङ्खचक्रगदापद्मी वामनः पातु मां सदा।।४।।

षोडशदल कमल से युक्त मण्डल को अङ्कित करना चाहिये। उसमें शङ्ख, चक्र, गदा और खड्ग–इन आयुधों की तथा गुरु आदि की पहले की भाँति पूजा करनी चाहिये। पूर्व और उत्तर दिशाओं में क्रमशः धनुष और बाण की पूजा करनी चाहिये। प्रणव मन्त्र से आसन समर्पण करना चाहिये और द्वादशाक्षर मन्त्र से शिला का न्याय करना चाहिये। अधुना तीसरे तरह की कनिष्ठ पूजा का वर्णन करने जा रहा हूँ, सुनो। अष्टदल कमल अङ्कित करके उस पर पहले के समान गुरु आदि की पूजा करनी चाहिये। फिर अष्टाक्षर मन्त्र से आसन देकर उसी से शिला का न्यास करना चाहिये।।१०-१३।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी सैंतालिसवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।४७।।

अध्याय–४८

चतुर्विंशति मूर्तिस्तोत्र कथन

श्रीभगवान् हयग्रीव ने कहा कि–हे ब्रह्मन्! ओंकार स्वरूप केशव अपने हाथों में पद्म, शङ्ख, चक्र और गदा धारण करने वाले हैं। नारायण शङ्ख, पद्म, गदा और चक्र धारण करते हैं।, मैं प्रदक्षिणापूर्वक उनके चरणों में नतमस्तक होता हूँ। माधव गदा, चक्र, शङ्ख और पद्म धारण करने वाले हैं, मैं उनको नमस्कार करता हूँ। गोविन्द अपने हाथों में क्रमशः चक्र, गदा, पद्म और शङ्ख धारण करने वाले तथा बलशाली हैं। भगवान् श्रीहरि विष्णु गदा, पद्म, शङ्खएवं चक्र धारण करते हैं, वे मोक्ष देने वाले हैं। मधुसूदन शङ्ख, चक्र, पद्म और गदा धारण करते हैं। मैं उनके सामने भक्ति भाव से नतमस्तक होता हूँ। त्रिविक्रम क्रमशः पद्म, गदा, चक्र एवं शंख धारण करते हैं। भगवान् वामन

गतिदः श्रीधरः पद्मी चक्रशार्ङ्गी च शंख्यपि। हृषीकेशो गदी चक्री पद्मी शङ्खी च पातु नः॥५॥
वरदः पद्मनाभस्तु शङ्खाब्जारिगदाधरः। दामोदरः पद्मशङ्खगदाचक्री नमामि तम्॥६॥
तेने गदी शङ्खचक्री वासुदेवोऽब्जभृज्जगत्। सङ्कर्षणो गदी शङ्खी पद्मी चक्री च पातु वः॥७॥
गदी चक्री शङ्खगदी प्रद्युम्नः पद्मभृत्प्रभुः। अनिरुद्धश्चक्रगदी शङ्खी पद्मी च पातु नः॥८॥
सुरेशोऽर्यब्जशङ्खाढ्यः श्रीगदी पुरुषोत्तमः। अधोक्षजः पद्मगदी शङ्खचक्री च पातु वः॥९॥
देवो नृसिंहश्चक्राब्जगदी शङ्खी नमामि तम्। अच्युतः श्रीगदी पद्मी चक्री शङ्खी च पातु वः॥१०॥
बालरूपी शङ्खगदी उपेन्द्रश्चक्रपद्म्यपि। जनार्दनः पद्मचक्री शङ्खधारी गदाधरः॥११॥
शङ्खी पद्मी च चक्री च हरिः कौमोदकीधरः। कृष्णः शङ्खी गदी पद्मी चक्री मे भुक्तिमुक्तिदः॥१२॥
आदिमूर्तिर्वासुदेवस्तस्मात् सङ्कर्षणोऽभवत्। सङ्कर्षणाच्च प्रद्युम्नः प्रद्युम्नादनिरुद्धकः॥१३॥
केशवादिप्रभेदेन एकैकः स्यात्त्रिधा क्रमात्॥१४॥
द्वादशाक्षरकं स्तोत्रं चतुर्विंशतिमूर्तिमत्। यः पठेच्छृणुयाद्वापि निर्मलः सर्वमाप्नुयात्॥१५॥

॥इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते चतुर्विंशतिमूर्तिस्तोत्रकथनं नामाष्टाचत्वारिंशोऽध्यायः॥४८॥

के हाथों में शंख, चक्र, गदा एवं पद्म शोभा पाते हैं, वे सदा मेरी रक्षा करें॥१-४॥ श्रीधर कमल, चक्र, शार्ङ्ग धनुष एवं शङ्ख धारण करते हैं। वे सभी को सद्गति सम्प्रदान करने वाले हैं। हृषीकेश गदा, चक्र, पद्म एवं शंख धारण करते हैं, वे हम सभी की रक्षा करें। वरसम्प्रदायक भगवान् पद्मनाभ शंख, पद्म, चक्र और गदा धारण करते हैं। दामोदर के हाथों में पद्म, शंख, गदा और चक्र शोभा पाते हैं, मैं उनको नमस्कार करने जा रहा हूँ। गदा, शंख, चक्र और पद्म धारण करने वाले वासुदेव ने ही सम्पूर्ण जगत् का विस्तार किया है। गदा, शंख, पद्म और चक्र धारण करने वाले संकर्षण आप लोगों की रक्षा करें॥५-७॥ वाद (युद्ध)-कुशल भगवान् प्रद्युम्न चक्र, शंख, गदा और पद्म धारण करते हैं। अनिरुद्ध चक्र, गदा, शंख और पद्म धारण करने वाले हैं। वे हम लोगों की रक्षा करें। सुरेश्वर पुरुषोत्तम चक्र, कमल, शंख औ गदा धारण करते हैं, भगवान् अधोक्षज्ञ पद्म, गदा, शंख और चक्र धारण करने वाले हैं। वे आप लोगों की रक्षा करें। नृसिंहदेव चक्र, कमल, गदा और शंख धारण करने वाले हैं, मैं उनको नमस्कार करता हूँ। श्रीगदा, पद्म, चक्र और शंख धारण करने वाले अच्युत आप लोगों की रक्षा करें। शंख, गदा, चक्र और पद्म धारण करने वाले बालवटुरूप धारी वामन, पद्म, चक्र, शंख और गदा धारण करने वाले जनार्दन, शंख, पद्म, चक्र और पद्म, चक्र, शंख और गदाधारी स्वरूप श्रीहरि विष्णु तथ शंख, गदा, पद्म एवं चक्र धारण करने वाले श्रीकृष्ण मुझको भोग और मोक्ष देने वाले हों॥८-१२॥ आदिमूर्ति भगवान् वासुदेव हैं। उनसे संकर्षण प्रकट हुए। संकर्षण से प्रद्युम्न और प्रद्युम्न से अनिरुद्ध का प्रादुर्भाव हुआ। इनमें से एक-एक क्रमशः केशव आदि मूर्तियों के भेद से तीन-तीन रूपों में अभिव्यक्त हुआ। (इसलिये कुल मिलाकर द्वादश स्वरूप हुए)। चौबीस-पूर्तियों की स्तुति से युक्त इस द्वादशाक्षर स्तोत्र का जो पाठ अथवा श्रवण करता है, वह निर्मल होकर सम्पूर्ण मनोरथों को प्राप्त कर लेता है॥१३-१५॥

॥इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी अड़तालिसवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ॥४८॥

❖❖❖

अथैकोनपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

मत्स्यादिदशावतारप्रतिमालक्षणवर्णनम्

श्रीभगवानुवाच

दशावतारं मत्स्यादिलक्षणं प्रवदामि ते। मत्स्याकारस्तु मत्स्यः स्यात्कूर्मः कूर्माकृतिर्भवेत्।।१।।
नराङ्गो वाथ कर्तव्यो भूवराहो गदारिभृत्। दक्षिणे वामके शङ्खं लक्ष्मीर्वा पद्ममेव वा।।२।।
श्रीर्वामकूर्परस्था तु क्ष्मानन्तौ चरणानुगौ। वराहस्थापनाद्राज्यं भवाब्धितरणं भवेत्।।३।।
नरसिंहो विवृतास्यो वामोरुधृतदानवः। तद्वक्षो दारयन्माली स्फुरच्चक्रगदाधरः।।४।।
छत्री दण्डी वामनः स्यादथवा स्याच्चतुर्भुजः। रामः चापेषु हस्तः स्यात्खड्गी परशुनान्वितः।।५।।
रामश्चापी शरी खड्गी शङ्खी वा द्विभुजः स्मृतः। गदालाङ्गलधारी च रामो वाथ चतुर्भुजः।।६।।
वामार्धे लाङ्गलं दद्यादधः शङ्खं सुशोभनम्। मुसलं दक्षिणार्धे तु चक्रं चाधः सुशोभनम्।।७।।
शान्तात्मा लम्बकर्णश्च गौराङ्गश्चाम्बरावृतः। ऊर्ध्वं पद्मस्थितो बुद्धो वरदाभयदायकः।।८।।

अध्याय-४९

मत्स्यादि दशावतार प्रतिमा लक्षण

भगवान् हयग्रीव ने कहा कि–हे ब्रह्मन्! अधुना मैं आपको मत्स्य आदि दस अवतार-विग्रहों का लक्षण बतलाता हूँ। मत्स्य भगवान् की आकृति मत्स्य के समान और कूर्म भगवान् की प्रतिमा कूर्म (कच्छप) के आकार की होनी चाहिये। पृथ्वी के उद्धारक भगवान् वराह को मनुष्याकार बनाना चाहिये, वे दाहिने हाथ में गदा और चक्र धारण करते हैं। उनके बायें हाथ में शंख और पद्म शोभा पाते हैं। अथवा पद्म के स्थान पर वाम भाग में पद्मा देवी सुशोभित होती हैं। श्रीलक्ष्मी उनके बायें कूर्पर (कोहनी) का सहारा लिये रहती हैं। पृथ्वी तथा अनन्त चरणों के अनुगत होते हैं। भगवान् वराह की स्थापना से राज्य की प्राप्ति हो जाती है और मनुष्य भगवसागर से पार हो जाता है। नरसिंह का मुँह खुला हुआ है। उन्होंने अपनी बायीं जाँघपर दानव हिरण्यकशिपु को दबा रखा है और उस दैत्य के वक्ष को विदीर्ण करते दिखायी देते हैं। उनके गले में माला है और हाथों में चक्र एवं गदा प्रकाशित हो रहे हैं।।१-४।। वामन का विग्रह छत्र एवं दण्ड से सुशोभित होता है अथवा उनका विग्रह चतुर्भुज बनाया जाय। भगवान् परशुराम के हाथों में धनुष और बाण होना चाहिये। वे खड्ग और फरसे से भी शोभित होते हैं। श्रीरामचन्द्र जी के श्रीविग्रह को धनुष, बाण, खड्ग और शंख से सुशोभित करना चाहिये। अथवा वे द्विभुज माने गयेहैं। बलरामजी गदा एवं हल धारण करने वाले हैं, अथवा उनको भी चतुर्भुज बनाना चाहिये। उनके बायें भाग के ऊपर वाले हाथ में हल धारण कराये और नीचे वाले में सुन्दर शोभा वाली शंख, दायें भाग के ऊपर वाले हाथ में मुसल धारण कराये और नीचे वाले सुन्दर शोभा वाली शंख, दायें भाग के ऊपर वाले हाथ में मुसल धारण कराये और नीचे वाले हाथ में शोभायमान सुदर्शन चक्र।।५-७।। बुद्ध देव की प्रतिमा लक्षण इस प्रकार है–बुद्ध ऊँचे पद्ममय आसन पर बैठे हैं। उनके एक हाथ में वरद और दूसरे में अभय की मुद्रा है। वे शान्त स्वरूप हैं। उनके शरीर का रंग गोरा और कान लम्बे हैं। वे सुन्दर पीत वस्त्र से आवृत हैं। कल्की भगवान् धनुष और तूणीर से सुशोभित हैं। म्लेच्छों के विनाश में लगे हैं। वे ब्राह्मण

धनुस्तूर्णान्वितः कल्की म्लेच्छोत्सादकरो द्विजः। अथवाश्वस्थितः खड्गी शङ्खचक्रगदान्वितः।।९।।
लक्षणं वासुदेवादिनवकस्य वदामि ते। दक्षिणार्धे गदा वामे वामार्धे चक्रमुत्तमम्।।१०।।
ब्रह्मेशौ पार्श्वगौ नित्यं वासुदेवोऽस्ति पूर्ववत्। शङ्खी सवरदो वाथ द्विभुजो वा चतुर्भुजः।।११।।
लाङ्गली मुसली रामो गदापद्मधरः स्मृतः। प्रद्युम्नो दक्षिणे चक्रं शङ्खं वामे धनुः करे।।१२।।
गदाधन्वावृतः प्रीत्या प्रद्युम्नो वा धनुःशरी। चतुर्भुजोऽनिरुद्धः स्यात्तथा नारायणो विभुः।।१३।।
चतुर्मुखश्चतुर्बाहुर्बृहज्जठरमण्डलः। लम्बकूर्चो जटायुक्तो ब्रह्मा हंसाग्रवाहनः।।१४।।
दक्षिणे चाक्षसूत्रं च स्रुचो वामे तु कुण्डिका। आज्यस्थाली सरस्वती सावित्री वामदक्षिणे।।१५।।
विष्णुरष्टभुजस्तार्क्ष्ये करे खड्गस्तु दक्षिणे। गदाधरश्च वरदो वामे कार्मुकखेटके।।१६।।
चक्रशङ्खौ चतुर्बाहुर्नरसिंहश्चतुर्भुजः। शङ्खचक्रधरो वापि विदारितमहासुरः।।१७।।
चतुर्बाहुर्वराहस्तु शेषः पाणितले धृतः। धारयन् बाहुना पृथ्वीं वामनः कमलामधः।।१८।।
पादलग्ना धरा कार्या यदा लक्ष्मीर्व्यवस्थिता। त्रैलोक्यमोहनस्तार्क्ष्ये ह्यष्टबाहुस्तु दक्षिणे।।१९।।

हैं। अथवा उनकी आकृति इस तरह बनाये–वे घोड़े की पीठ पर बैठे हैं और अपने चार हाथों में खंग, शंख, चक्र एवं गदा धारण करते हैं।।८–९।। हे ब्रह्मन्! अधुना मैं आपको वासुदेव आदि नौ मूर्तियों के लक्षण बतलाता हूँ। दाहिने भाग के ऊपर वाले हाथ में श्रेष्ठतम चक्र–यह वासुदेव की मृख्य पहचान है। उनके एक पार्श्व में ब्रह्मा और दूसरे भाग में महादेव जी सदा विराजमान रहते हैं। वासुदेव की शेष बातें पूर्ववत् हैं। वे शंख अथवा वरद की मुद्रा धारण करते हैं। उनका स्वरूप द्विभुज अथवा चतुर्भुज होता है। बलराम के चार भुजाएँ है। वे दायें हाथ में हल और मुसल तथा बायें हाथ में चक्र और शंख तथा बायें हाथ में धंनुष–बाण धारण करते हैं। अथवा द्विभुज प्रद्युम्न के एक हाथ में गदा और दूसरे में धनुष है। वे प्रसन्नतापूर्वक इन अस्त्रों को धारण करते हैं। या उनके एक हाथ में धनुष और दूसरे में बाण है। अनिरुद्ध और भगवान् नारायण का विग्रह चतुर्भुज होता है।।१०–१३।। ब्रह्मा जी हंस पर आरूढ होते हैं। उनके चार मुख तरफ चार भुजाएँ हैं। उदर–मण्डल विशाल हैं लम्बी दाढ़ी और सिर पर जटा–यही उनकी प्रतिमा का लक्षण है। वे दाहिने हाथों में अक्षसूत्र और स्रुवा एवं बायें हाथों में कुण्डिका और आज्यस्थाली धारण करते हैं। उनके वाम भाग में आज्यस्थाली धारण करते हैं। उनके वाम भाग में सरस्वती और दक्षिण भाग में सावित्री हैं। विष्णु के आठ भुजाएँ हैं। वे गरुड़ पर आरूढ़ हैं। उनके दाहिने हाथों में खड्ग, गदा, बाण और वरद की मुद्रा में बायें हाथों में धनुष, खेट, चक्र और शंख हैं। अथवा उनका विग्रह चतुर्भुज भी है। नृसिंह के चार भुजाएँ हैं। उनकी दो भुजाओं में शंख और चक्र हैं तथा दो भुजाओं से वे महान् असुर हिरण्यकशिपु का वक्ष विदीर्ण कर रहे हैं।।१४–१७।। वराह के चार भुजाएँ हैं। उन्होंने शेषनाग को अपने हस्ततल में धारण कर रखा है। वे बायें हाथ से पृथ्वी को और वाम भाग में श्रीलक्ष्मी को धारण करते हैं। जिस समय श्रीलक्ष्मी उनके साथ हों, तत्पश्चात् पृथ्वी को उनके चरणों में संलग्न बनाना चाहिये। त्रैलोक्य मोहन मूर्ति श्रीहरि विष्णु गरुड़ पर आरूढ़ हैं। उनके आठ भुजाएँ हैं। वे दाहिने हाथों में चक्र, शंख, मुसल और अंकुश धारण करते हैं। उनके बायें हाथों में शंख, शार्ङ्ग धनुष, गदा और पाश शोभा पाते हैं। वाम भाग में कमलधारिणी कमला और दक्षिण भाग में वीणाधारिणी सरस्वती की प्रतिमाएँ बनानी चाहिये। भगवान् विश्वरूप का विग्रह बीस भुजाओं से सुशोभित है। वे दाहिने हाथों में क्रमशः चक्र, खड्ग, मुसल, अंकुश, पट्टिश, मुद्गर, पाश, शक्ति, शूल तथा बाण धारण करते हैं। बायें हाथों में शंख, शार्ङ्गधनुष, गदा, पाश, तोमर, हल, फरसा, दण्ड, छुरी

चक्रं शङ्खं च मुसलमङ्कुशं वामके करे। शङ्खशार्ङ्गगदापाशान् पद्मवीणासमन्विते।।२०।।
लक्ष्मीः सरस्वती कार्ये विश्वरूपोऽथ दक्षिणे। चक्रं खड्गं च मुसलमङ्कुशं पट्टिशं क्रमात्।।२१।।
मुद्गरं च तथा पाशं शक्तिशूलं शरं करे। वामे शङ्खं च शार्ङ्गं च गदां पाशं च तोमरम्।।२२।।
लाङ्गलं परशुं दण्डं छुरिकां चर्म चोत्तमम्। विंशद्बाहुश्चतुर्वक्त्रो दक्षिणस्थोऽथ वामके।।२३।।
त्रिनेत्रो वामपार्श्वेऽपि शयितो जलशाय्यपि। श्रिया धृतैकचरणो विमलाद्याभिरीडितः।।२४।।
नाभिपद्मे चतुर्वक्त्रो हरेः, शङ्करको हरिः। सूलर्ष्टिधारी दक्षे च गदाचक्रधरोऽपरे।।२५।।
रुद्रकेशवलक्ष्माङ्गो गौरीलक्ष्मीसमन्वितः। शङ्खचक्रगदावेदपाणिश्चाश्वशिरा हरिः।।२६।।
वामपादो धृतः शेषे दक्षिणः कूर्मपृष्ठगः। दत्तात्रेयो द्विबाहुः स्याद्वामोत्सङ्गे श्रिया सह।।२७।।
विष्वक्सेनश्चक्रगदी हलशङ्खी हरेर्गणः।।२८।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गति मत्स्यादिदशावतारप्रतिमालक्षणवर्णनं नामैकोनपञ्चाशत्तमोऽध्यायः।।४९।।

और श्रेष्ठतम ढाल लिये रहते हैं। उनके दाहिने भाग में चतुर्भुज ब्रह्मा तथा बायें भाग में त्रिनेत्रधारी महादेव विराजमान हैं। जलशायी जल में शयन करते हैं। इनकी मूर्ति शेषशय्या पर सोयी हुई बनानी चाहिये। भगवती श्रीलक्ष्मी उनकी एक चरण की सेवा में लगी हैं। विमला आदि शक्तियाँ उनकी स्तुति करती हैं। उन श्रीहरि विष्णु के नाभि कमल पर चतुर्भुज ब्रह्मा विराज रहे हैं।।१८-२४।।

हरिहर-मूर्ति इस तरह बनानी चाहिये—वह दाहिने हाथ में शूल तथा ऋषि धारण करती है और बायें हाथ में गदा एवं चक्र। शरीर के दाहिने भाग में रुद्र के चिह्न हैं और वाम भाग में केशव के। दाहिने पार्श्व में गौरी तथा वाम पार्श्व में श्रीलक्ष्मी विराज रही हैं। भगवान् हयग्रीव के चार हाथों में क्रमशः शंख, चक्र, गदा और वेद शोभा पाते हैं। उन्होंने अपना बायाँ पैर शेषनाग पर और दाहिना पेर कच्छप की पीठ पर रख छोड़ा है। दत्तात्रेय के दो बाँहें हैं। उनके वामाङ्क में श्रीलक्ष्मी शोभा पाती है। भगवान् के पार्षद विष्वक्सेन अपने चार हाथों में क्रमशः चक्र, गदा, हल और शंख धारण करते हैं।।२५-२८।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी उनचासवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।४९।।

❖❖❖

अथ पञ्चाशत्तमोऽध्यायः

चण्ड्यादिदेवताप्रतिमालक्षणानि

श्रीभगवानुवाच

चण्डी विंशतिबाहुः स्याद् बिभ्रती दक्षिणैः करैः। शूलासिशक्तिचक्राणि पाशखेटायुधाभयम्।।१।।
डमरुं शक्तिकां वामैर्नागपाशं च खेटकम्। कुठाराङ्कुशपाशांश्च धण्टायुधगदास्तथा।।२।।
आदर्शमुद्गरान्हस्तैश्चण्डी वा दशबाहुका। तदधो महिषश्छिन्नमूर्ध्ना पातितमस्तकः।।३।।
शस्त्रोद्यतकरः क्रुद्धस्तद्ग्रीवासम्भवः पुमान्। शूलहस्तो वमद्रक्तो रक्तस्रङ्मूर्धजेक्षणः।।४।।
सिंहेनास्वाद्यमानस्तु पाशबद्धो गले भृशम्। याम्याङ्घ्रयाक्रान्तसिंहा च सव्याङ्घ्रिर्नीचगासुरे।।५।।
चण्डिकेयं त्रिनेत्रा च सशस्त्रा रिपुमर्दिनी। नवपद्मात्मके स्थाने पूज्या दुर्गा स्वमूर्तितः।।६।।
आदौ मध्ये तथेन्द्राद्या नवतत्त्वात्मभिः क्रमात्। अष्टादशभुजैका तु दक्षे मुण्डं च खेटकम्।।७।।
आदर्शं तर्जनीं चापं ध्वजं डमरुकं तथा। पाशं वामे बिभ्रती च शक्तिमुद्गरशूलकम्।।८।।

अध्याय–५०

चण्डी आदि देवता प्रतिमा लक्षण

श्री भगवान् ने कहा कि–चण्डी बीस भुजाओं से विभूषित होती है। वह अपने दाहिने हाथों में शूल, खड्ग, शक्ति, चक्र, पाश, खेट, आयुध, अभय, डमरू और शक्ति धारण करती है। बायें हाथों में नागपाश, खेटक, कुठार, अंकुश, पाश, घण्टा, आयुध, गदा, दर्पण और मुद्गर लिये रहती है। अथवा चण्डी की प्रतिमा दस भुजाओं से युक्त होनी चाहिये। उसके चरणों के नीचे कटे हुए मस्तक वाला महिष हो। उसका मस्तक अलग गिरा हुआ हो। वह हाथों में शस्त्र उठाये हो। उसकी ग्रीवा से एक पुरुष प्रकट हुआ हो, जो अत्यन्त कुपित हो। उसके हाथ में शूल हो, वह मुँह से रक्त उगल रहा हो। उसके गले की माला, सिर के बाल और दोनों नेत्र लाल दिखायी देते हों। देवी का वाहन सिंह उसके रक्त का आस्वादन कर रहा हो। उस महिषासुर के गले में खूब कसकर पाश बाँधा गया हो। देवी का दाहिना पैर सिंह पर और बायाँ पैर नीचे महिषासुर के शरीर पर हो।।१-५।। ये चण्डी देवी त्रिनेत्रधारिणी हैं तथा शस्त्रों से सम्पन्न रहकर शत्रुओं का मर्दन करने वाली हैं। नवकमलात्मक पीठपर दुर्गा की प्रतिमा में उनकी पूजा करनी चाहिये। पहले कमल के नौ दलों में तथा मध्यवर्तिनी कणिका में इन्द्र आदि दिक्पालों की तथा नौ तत्त्वात्मिका शक्तियों के साथ दुर्गा की पूजा करनी चाहिये।।६।। दुर्गा जी की एक प्रतिमा अठारह भुजाओं की होती है। वह दाहिने भाग के हाथों में मुण्ड, खेटक, दर्पण, तर्जनी, धनुष, ध्वज, डमरू, ढाल और पाश धारण करती है; तथा वाम भाग की भुजाओं में शक्ति, मुद्गर, शूल, वज्र, खड्ग, अंकुश, बाण, चक्र और शलाका लिये रहती है। सोलह बाँह वाली दुर्गा की प्रतिमा भी इन्हीं आयुधों से युक्त होती है। अठारह में से दो भुजाओं तथा डमरू और तर्जनी–इन दो आयुधों को छोड़कर शेष सोलह हाथ उन उपरोक्त आयुधों से ही सम्पन्न होते हैं। रुद्र चण्डा आदि नौ दुर्गाएँ इस तरह हैं–रुद्रचण्डा प्रचण्डा, चण्डोग्रा, चण्डनायिका, चण्डा, चण्डवती, चण्डरूपा और अतिचण्डिका। ये पूर्वादि आठ दिशाओं में पूजित होती हैं तथा नवीं उग्रचण्डा मध्य भाग में स्थापित एवं पूजित होती हैं। रुद्रचण्डा आदि आठ देवियों की अंगकान्ति क्रमशः गोरोचना

वज्रखड्गाङ्कुशशरांश्चक्रं देवी शलाकया। एतैरेवायुधैर्युक्ताः शेषाः षोडशबाहुकाः॥९॥
डमरुं तर्जनीं त्यक्त्वा रुद्रचण्डादयो नव। रुद्रचण्डा प्रचण्डा च चण्डोग्रा चण्डनायिका॥१०॥
चण्डा चण्डवती चैव चण्डरूपातिचण्डिका। उग्रचण्डा च मध्यस्था रोचनाभारुणासिता॥११॥
नीला शुक्ला धूम्रिका च पीता श्वेता च सिंहगा। महिषोत्थः पुमाञ्शस्त्री तत्कचग्रहमुष्टिका॥१२॥
आलीढा नव दुर्गाः स्युः स्थाप्याः पुत्रादिवृद्धये। तथा गौरी चण्डिकाद्या कुण्ड्यक्षररदाग्निधृक्॥१३॥
सैव रम्भा वने सिद्धाऽग्निहीना ललिता तथा। स्कन्धमूर्धकरा वामे द्वितीये धृतदर्पणा॥१४॥
याम्ये कलाङ्गुलिहस्ता सौभाग्या तत्र चर्द्धिका। लक्ष्मीर्याम्यकराम्भोजा वामे श्रीफलसंयुता॥१५॥
पुस्ताक्षमालिका हस्ता वीणाहस्ता सरस्वती। कुम्भाब्जहस्ता श्वेताभा मकरे वापि जाह्नवी॥१६॥
कूर्मगा यमुना कुम्भकरा श्यामा च पूज्यते। सवीणस्तुम्बुरुः शस्तः शूली मात्रग्रतो वृषे॥१७॥
गौरी चतुर्मुखी ब्राह्मी अक्षमालास्रुगन्विता। कुण्डाक्षपात्रिणी वामे हंसगा शाङ्करी स्थिता॥१८॥
शरचापौ दक्षिणेऽस्या वामे चक्रं धनुर्वृषौ। कौमारी शिखिगा रक्ता शक्तिहस्ता द्विबाहुका॥१९॥
शङ्खचक्रधरा सव्ये वामे लक्ष्मीर्गदाब्जधृक्। दण्डशङ्खारिगदया वाराही महिषस्थिता॥२०॥

के सदृश पीली, अरुणवर्णा, काली, नीली, शुक्लवर्णा, धूम्रवर्णा, पीतवर्णा और श्वेतवर्गा है। ये सभी की सभी सिंहवाहिनी हैं। महिषासुर के कण्ठ से प्रकट हुआ जो पुरुष है, वह शस्त्रधारी है और ये उपरोक्त देवियाँ अपनी मुट्ठी में उसका केश पकड़े रहती हैं॥७-१२॥ ये नौ दुर्गाएँ 'आलीढा' आकृति की होनी चाहिये। पुत्र-पौत्र आदि की वृद्धि के लिये इनकी स्थापना (एवं पूजा) करनी उचित है। गौरी ही चण्डिका आदि देवियों के रूप में पूजित होती हैं। वे ही हाथों में कुण्डी, अक्षमाला, गदा और अग्नि धारण करके 'रम्भा' कहलाती हैं। वे ही वन में 'सिद्धा' कही गयी हैं। सिद्धावस्था में वे अग्नि से हीन होती हैं। 'ललिता' भी वे ही हैं। उनका परिचय इस तरह है—उनके एक बायें हाथ में गर्दन सहित मुण्ड है और दूसरे में दर्पण। दाहिने हाथ में फलाञ्जलि है और उससे ऊपर के हाथ में सौभाग्य की मुद्रा॥१३-१४॥ श्रीलक्ष्मी के दायें हाथ में कमल और बायें हाथ में श्रीफल होता है। सरस्वती के दो हाथों में पुस्तक और अक्षमाला शोभा पाती है और शेष दो हाथों में वे वीणा धारण करती हैं। गंगाजी की अंगकान्ति श्वेत है। वे मकर पर आरूढ़ हैं। उनके एक हाथ में कलश है और दूसरे में कमल। यमुना देवी कछुए पर आरूढ हैं। उनके दोनों हाथों में कलश है और वे श्यामवर्णा हैं। इसी रूप में इनकी पूजा होती है। तुम्बुरु की प्रतिमा वीणा सहित होनी चाहिये। उनकी अंगकान्ति श्वेत है। शूलपाणि देवाधिदेव भगवान् श्रीशिवशंकर वृषभ पर आरूढ हो मातृकाओं के आगे आगे चलते हैं। ब्रह्माजी जी प्रिया साहिवत्री गौरवर्णा एवं चतुर्मुखी हैं। उनके दाहिने हाथों में अक्षमाला और स्रुक् शोभा पाते हैं और बायें हाथों में वे कुण्ड एवं अक्षपात्र लिये रहती हैं। उनका वाहन हंस है। देवाधिदेव भगवान् श्रीशिवशंकरप्रिया पार्वती वृषभ पर आरूढ होती है। उनके दाहिने हाथों में धनुष-बाण और बायें हाथों में चक्र-धनुष शोभित होते हैं। कौमारी शक्ति मोर पर आरूढ होती है। उसकी अंगकान्ति लाल है। उसके दो हाथ हैं और वह अपने हाथों में शक्ति धारण करती है॥१५-१९॥ श्रीलक्ष्मी (वैष्णवी शक्ति) अपने दायें हाथों में चक्र और शंख धारण करती हैं तथा बायें हाथों में गदा एवं कमल लिये रहती हैं। वाराही शक्ति भैंसे पर आरूढ होती है। उसके हाथ दण्ड, शंख, चक्र और गदा से सुशोभित होते हैं। ऐन्द्री शक्ति ऐरावत हाथी पर आरूढ होती है। उसके सहस्र नेत्र हैं तथा उसके हाथों में वज्र शोभा पाता है। ऐन्द्री देवी पूजित होने पर सिद्धि सम्प्रदान करने वाली हैं। चामुण्डा की आँखें वृक्ष के खोखले

ऐन्द्री गजे वज्रहस्ता सहस्राक्षी तु सिद्धये। चामुण्डा कोटराक्षी स्यान्निर्मांसा तु त्रिलोचना॥२१॥
निर्मांसा अस्थिसारा वा ऊर्ध्वकेशी कृशोदरी। द्वीपिचर्मधरा वामे कपालं पट्टिशं करे॥२२॥
शूलं कर्त्री दक्षिणे स्याच्छवारूढास्थिभूषणा। विनायको नराकारो बृहत्कुक्षिर्गजाननः॥२३॥
बृहच्छुण्डोह्यपवीती मुखं सप्तकलं भवेत्। विस्ताराद् दैर्घ्यतश्चैव शुण्डं षट्त्रिंशदलङ्गुलम्॥२४॥
कला द्वादश नाडी तु ग्रीवा सार्धकलोच्छ्रिता। षट्त्रिंशदङ्गुलः कण्ठो गुह्यमध्यर्धमङ्गुलम्॥२५॥
नाभिरूरू द्वादशं च जङ्घे पादे तु दक्षिणे। स्वदन्तं परशुं वामे लड्डुकं चोत्पलं शये॥२६॥
सुमुखी च विडालाक्षी पार्श्वे स्कन्दो मयूरगः। स्वामी शाखो विशाखश्च द्विभुजो बालरूपधृक्॥२७॥
दक्षे शक्तिः कुक्कुटेऽथ एकवक्त्रोऽथ षण्मुखः। षड्भुजो वा द्वादशभिर्ग्रामेऽरण्ये द्विबाहुकः॥२८॥
शक्तीषु पाशनिस्त्रिंश गदासत्तर्जनीयुतः। शक्त्या दक्षिणहस्तेषु षट्सु वामे करे तथा॥२९॥
शिखिपिच्छं धनुः खेटं पताकाभयकुक्कुटे। कपालकर्तरीशूलपाशभृद्याम्यसौम्ययोः॥३०॥
गजचर्मभृदूर्ध्वास्यपादा स्याद्रुद्रचर्चिका। सैव चाष्टभुजा देवी शिरोडमरुकान्विता॥३१॥
तेन सा रुद्रचामुण्डा नाटेश्वर्यथ नृत्यती। इयमेव महालक्ष्मीरुपविष्टा चतुर्मुखी॥३२॥
नृवाजिमहिषेभांश्च खादन्ती च करे स्थितान्। दशबाहुस्त्रिनेत्रा च शस्त्रासिडमरुत्रिकम्॥३३॥

की भाँति गहरी होती हैं। उनका शरीर मांस हीन-कंकाल दिखायी देता है। उनके तीन नेत्र हैं। मांसहीन शरीर में अस्थिमात्र ही सार है। केश ऊपर की तरफ उठे हुए हैं। पेट सटा हुआ है। वे हाथी का चमड़ा पहनती हैं। उनके बायें हाथों में कपाल और पट्टिश है तथा दायें हाथों में शूल और कटार। वे शवपर आरूढ़ होती है हड्डियों के गहनों से अपने शरीर को विभूषित करती हैं॥२०-२२॥ विनायक (गणेश)-की आकृति मनुष्य के समान है; परन्तु उनका पेट बहुत बड़ा है। मुख हाथी के समान है और सूँड़ लम्बी है। वे यज्ञोपवती धारण करते हैं। उनके मुख की चौड़ाई सात कला है और सूँड़ की लम्बाई छत्तीस अंगुल। उनकी नाड़ी (गर्दन के ऊपर की हड्डी) द्वादश कला विस्तृत और गर्दन डेढ़ कला ऊँची होती है। उनके कण्ठ भाग की लम्बाई छत्तीस अंगुल है और गुह्यभाग का घेरा डेढ़ अंगुल। नाभि और ऊरुका विस्तार द्वादश अंगुल है। जाँघों और पैरों का भी यही माप है। वे दाहिने हाथों में गजदन्त और फरसा धारण करते हैं तथा बायें हाथों में लड्डू एवं उत्पल लिये रहते हैं॥२३-२६॥ स्कन्द स्वामी मयूर पर आरूढ हैं। उनके उभय पार्श्व में सुमुखी और विडालाक्षी मातृका तथा शाख और विशाख अनुज खड़े हैं। उने दो भुजाएँ हैं। वे बालरूपधारी हैं। उनके दाहिने हाथ में शक्ति शोभा पाती है और बायें हाथ में कुक्कुट। उनके एक या छः मुख बनाने चाहिये। गाँव में उनके अर्चाविग्रह को छः अथवा द्वादश भुजाओं से युक्त बनाना चाहिये, परन्तु वन में यदि उनकी मूर्ति स्थापित करनी हो, तो उसके दो ही भुजाएँ बनानी चाहिये। कौमारी-शक्ति की छहों दाहिनी भुजाओं में शक्ति, बाण, पाश, खड्ग, गदा और तर्जनी (मुद्रा)-ये अस्त्र रहने चाहिये और छः बायें हाथों में मोर पंख, धनुष, खेट, पताका, अभय मुद्रा तथा कुक्कुट होने चाहिये। रुद्रचर्चिका देवी हाथी के चर्म धारण करती हैं। उनके मुख और एक पैर ऊपर की तरफ उठे हैं। वे बायें-दायें हाथों में क्रमशः कपाल, कर्तरी, शूल और पाश धारण करती हैं। वे ही देवी-'अष्टभुजा' के रूप में भी पूजित होती हैं॥२७-३१॥ मुण्डमाला और डमरू से युक्त होने पर वे ही 'रुद्रचामुण्डा' कही गयी हैं। वे नृत्य करती हैं, इसलिये 'नाट्येश्वरी' कहलाती हैं। ये ही आसन पर बैठी हुई चतुर्मुखी 'महाश्रीलक्ष्मी' (की तामसी मूर्ति' कही गयी हैं जो अपने हाथों में पड़े हुए मनुष्यों, घोड़ों, भैंसों और आथियों को खा

बिभ्रती दक्षिणे हस्ते वामे घण्टां च खेटकम्। खट्वाङ्गं च त्रिशूलं च सिद्धचामुण्डिकाह्वया।।३४।।
सिद्धयोगेश्वरी देवी सर्वसिद्धिप्रदायिका। एतद्रूपा भवेदन्या पाशाङ्कुशयुतारुणा।।३५।।
भैरवी रूपविद्या तु भुजैर्द्वादशभिर्युता। एताः श्मशानजा रौद्रा अम्बाष्टकमिदं स्मृतम्।।३६।।
क्षमा शिवावृता वृद्धा द्विभुजा विवृतानना। दन्तुरा क्षेमकारी स्याद् भूमौ जानुकरा स्थिता।।३७।।
यक्षिण्यः स्तब्धदीर्घाक्ष्यः शाकिन्यो वक्रदृष्टयः। पिङ्गाक्ष्यः स्युर्महारम्या रूपिण्योऽप्सरसः सदा।।३८।।
साक्षमालस्त्रिशूली च नन्दीशो द्वारपालकः। महाकालोऽसिमुण्डी स्याच्छूलखेटकरस्तथा।।३९।।
कृशो भृङ्गी च नृत्यन्वै कूष्माण्डस्थूलखर्ववान्। गजगोकर्णवक्त्राद्या वीरभद्रादयो गणाः।।४०।।
घण्टाकर्णोऽष्टादशदोः पापरोगं विदारयन्। वज्रासिदण्डचक्रेषु मुसलाङ्कुशमुद्गरान्।।४१।।
दक्षिणे तर्जनीं खेटं शक्तिं मुण्डं च पाशकम्। चापं घण्टां कुठारं च द्वाभ्यां चैव त्रिशूलकम्।।४२।।
घण्टामालाकुलो देवो विस्फोटकविमर्दनः।।४३।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते चण्ड्यादिदेवताप्रतिमालक्षणनिरूपणं नाम पञ्चाशत्तमोऽध्यायः।।५०।।

रही हैं। 'सिद्धचामुण्डा' देवी के दस भुजाएँ और तीन नेत्र हैं। ये दाहिने भाग के पाँच हाथों में शस्त्र, खड्ग तथा तीन डमरू धारण करती हैं और बायें भाग के हाथों में घण्टा, खेटक, खट्वाङ्ग, त्रिशूल (और ढाल) लिये रहती हैं। 'सिद्धयोगेश्वरी' देवी सम्पूर्ण सिद्धि सम्प्रदान करने वली हैं। इन्ही देवी की स्वरूपभूता एक दूसरी शक्ति हैं, जिनकी अंगकान्ति अरुण है। ये अपने दो हाथों में पाश और अंकुश धारण करती हैं तथा 'भैरवी' नाम से विख्यात हैं। **'रूपविद्या देवी'** द्वादश भुजाओं से युक्त कही गयी हैं। ये सब की सब श्मशान भूमि में प्रकट होने वाली तथा भयंकर हैं। इन आठों देवियों को 'अम्बाष्टक' कहते हैं।।३२-३६।। 'क्षमादेवी'–शिवाओं (शृगालियों)–से आवृत हैं। वे एक बूढ़ी स्त्री के रूप में स्थित हैं। उनके दो भुजाएँ हैं। मुँह खुला हुआ है। दाँत निकले हुए हैं तथा ये धरती पर घुटनों और हाथ का सहारा लेकर बैठी हैं। उनके द्वारा उपासकों को कल्याण होता है। यक्षिणियों की आँखें स्तब्ध (एकटक देखने वाली) और बड़ी होती हैं। शाकिनियाँ वक्र दृष्टि से देखने वाली होती हैं। अप्सराएँ सदा ही अत्यन्त रमणीय एवं सुन्दर रूप वाली हुआ करती हैं। इनकी आँखें भूरी होती हैं।।३७-३८।। देवाधिदेव भगवान् श्रीशिवशंकर के द्वारपाल नन्दीश्वर एक हाथ में अक्षमाला और दूसरे हाथ में तलवार, दूसरे में कटा हुआ सिर, तीसरे में शूल और चौथे में खेट होना चाहिये। भृङ्गी का शरीर कृश होता है। वे नृत्य की मृद्रा में देखे जाते हैं। उनका मस्तक कूष्माण्ड के समान स्थूल और गंजा होता है। वीरभद्र आदि गण हाथी और गाय के समान कान और मुख वाले होते हैं। घण्टा कर्ण के अठारह भुजाएँ होती हैं। वे पाप और रोग का विनाश करने वाले हैं। वे बायें भाग के आठ हाथों में वज्र, खड्ग, दण्ड, चक्र, बाण, मुसल, अंकुश और मुद्गर तथा दायें भाग के आठ हाथों में तर्जनी, खेट, शक्ति, मुण्ड, पाश, धनुष, घण्टा और कुठार धारण करते हैं। शेष दो हाथों में त्रिशूल लियेय रहते हैं। घण्टा की माला से अलंकृत देव घण्टा कर्ण विस्फोटक (फोड़े, फुंसी एवं चेचक आदि) का निवारण करने वाले हैं।।३९-४३।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी पचासवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।५०।।

❖❖❖

अथैकपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

सूर्यादिग्रहदेवताप्रतिमालक्षणानि

श्रीभगवानुवाच

ससप्ताश्वे सैकचक्रे रथे सूर्यो द्विपद्मधृक्। मषीभाजनलेखन्यौ बिभ्रद्दण्डी तु दक्षिणे।।१।।
वामे तु पिङ्गलो द्वारि दण्डभृत्स रवेर्गणः। बालव्यजनधारिण्यौ पार्श्वे राज्ञी च निष्प्रभा।।२।।
अथवाश्वसमारूढः कार्य एकस्तु भास्करः। वरदा द्व्यब्जिनः सर्वे दिक्पाः शस्त्रकराः क्रमात्।।३।।
मुद्गरशूलचक्राब्जभृतोऽग्न्यादिविदिक्स्थिताः। सूर्यार्यमादिरक्षोऽन्ताश्चतुर्हस्ता द्विषड्दले।।४।।
वरुणः सूर्यनामा च सहस्रांशुस्तथापरः। धाता तपनसंज्ञश्च सविताऽथ गभस्तिकः।।५।।
रविश्चैवाथ पर्जन्यस्त्वष्टा मित्रोऽथ विष्णुकः। मेषादिराशिसंस्थाश्च मार्गादिकार्तिकान्तकाः।।६।।
कृष्णो रक्तो मनाग्रक्तः पीतः पाण्डरकः सितः। कपिलः पीतवर्णश्च शुकाभो धवलस्तथा।।७।।
धूम्रो नीलः क्रमाद्वर्णाः शक्तयः केसराग्रगाः। इडा सुषुम्ना विश्वार्चिरिन्दुसंज्ञा प्रमर्दिनी।।८।।

अध्याय-५१

सूर्यादि ग्रह देवता प्रतिमा लक्षण

श्री भगवान् हयग्रीव ने कहा कि-हे ब्रह्मन्! सात अश्वों से जुते हुए एक पहिये वाले रथ पर विराजमान सूर्य देव की प्रतिमा को स्थापित करना चाहिये। भगवान् सूर्य अपने दोनों हाथों में दो कमल धारण करते हैं। उनके दाहिने भाग में दावात और कमल लिये दण्डी खड़े हैं और वाम भाग में पिंगल हाथ में दण्ड लिये द्वार पर विद्यमान हैं। ये दोनों सूर्य देव के पार्षद हैं। भगवान् सूर्यदेव के उभय पार्श्व में बालव्यजन (चँवर) लिये 'राज्ञी' तथा 'निष्प्रभा' खड़ी हैं। अथवा घोड़े पर चढ़े हुए एक मात्र सूर्य की ही प्रतिमा बनानी चाहिये। समस्त दिक्पाल हाथों में वरद मुद्रा, दो-दो कमल तथा शस्त्र लिये क्रमशः पूर्वादि दिशाओं में स्थित दिखाये जाने चाहिये।।१-३।। द्वादश दलों का एक कमल-चक्र बनवाये। उसमें सूर्य, अर्यमा आदि नाम वाले द्वादश आदित्यों का क्रमशः द्वादश दलों में स्थापन करना चाहिये। यह स्थापना वरुण-दिशा एवं वायव्यकोण से प्रारम्भ करके नैर्ऋत्य कोण के अन्ततक के दलों में होनी चाहिये। कथित आदित्य गण चार-चार हाथ वाले हों और उन हाथों में मुद्गर, शूल, चक्र एवं कमल धारण किये हों। अग्नि कोण से लेकर नैर्ऋत्य तक, नैर्ऋत्य से वायव्य तक, वायव्य से ईशान तक और वहाँ से अग्नि कोण तक के दलों में कथित आदित्यों की स्थिति समझनी चाहिये।।४।। द्वादश आदित्यों के नाम इस तरह हैं-वरुण, सूर्य, सहस्रांशु, धाता, तपन, सविता, गभस्तिक, रवि, पर्जन्य, त्वष्टा, मित्र और विष्णु। ये मेष आदि द्वादश राशियों में स्थित होकर जगत् को ताप एवं प्रकाश देते हैं। ये वरुण आदि आदित्य क्रमशः मार्ग शीर्ष मास (या वृश्चिक राशि) से लेकर कार्तिक मास (या तुला राशि) तक के मासों (एवं राशियों) में स्थित होकर अपना कार्य सम्पन्न करते हैं। इनकी अंगकान्ति क्रमश; काली, लाल, कुछ-कुछ लाल, पीली, पाण्डुवर्ण, श्वेत, कपिलवर्ण, पीतवर्ण, तोते के सकान हरी, धवल वर्ण, धूम्र वर्ण और नीली है न की शक्तियां द्वादश दल कमल के केसरों के अग्रभाग में स्थित होती हैं। उनके नाम इस तरह हैं-इडा, सुषुम्ना, विश्वार्चि, इन्दु, प्रमर्दिनी (प्रवर्द्धिनी), प्रहर्षिणी, महाकाली, कपिला, प्रबोधिनी, नीलाम्बरा, वनान्तस्था

प्रहर्षिणी महाकाली कपिला च प्रबोधिनी। नीलाम्बरा वनान्तस्था अमृताख्या च शक्तयः।।९।।
वरुणादेश्च तद्वर्णा केसराग्रेषु विन्यसेत्। तेजश्चण्डो महावक्त्रो द्विभुजः पद्मखड्गभृत्।।१०।।
कुण्डिकाजप्यमालीन्दुः कुजः शक्त्यक्षमालिकः। बुधश्चापाक्षपाणिः स्याज्जीवः कुण्ड्यक्षमालिकः।।११।।
शुक्रः कुण्ड्यक्षमाली स्यात्किङ्किणीसूत्रवाञ्शनिः। अर्धचन्द्रधरो राहुः केतुः खड्गी च दीपभृत्।।१२।।
अनन्तस्तक्षकः कर्कः पद्मो महाब्जः शङ्खकः। कुलिकः सूत्रिणः सर्वे फणवक्त्रा महाप्रभाः।।१३।।
इन्द्रो वज्री गजारूढच्छागगोऽग्निश्च शक्तिमान्। यमो दण्डी च महिषे नैर्ऋतः खड्गवान्नरे।।१४।।
मकरे वरुणः पाशी वायुर्वज्रधरो मृगे। गदी कुबेरो मेषस्थ ईशानश्च जटी वृषे।।१५।।
द्विबाहवो लोकपाला विश्वकर्माक्षसूत्रभृत्। हनुमान् वज्रहस्तः स्यात् पद्भ्यां सम्पीडितासुरः।।१६।।
वीणाहस्ताः किन्नराः स्युर्मालाविद्याधराश्च खे। दुर्बलाङ्गाः पिशाचाः स्युर्वेताला विकृताननाः।।१७।।
क्षेत्रपालाः शूलवन्तः प्रेता महोदराः कृशाः।।१८।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते सूर्यादिग्रहदेवताप्रतिमालक्षणवर्णनं नामैकपञ्चशत्तमोऽध्यायः।।५१।।

(घनान्तस्था) और अमृताख्या। वरुण आदि की जो अंगकान्ति है, वही इन शक्तियों की भी है। केसरों के अग्र भागों में इनकी स्थापना करनी चाहिये। सूर्य देव का तेज प्रचण्ड और मुख विशाल है। उनके दो भुजाएँ हैं। वे अपने हाथों में कमल और खड्ग धारण करते हैं।।५-१०।। चन्द्रमा कुण्डिका तथा जपमाला धारण करते हैं। मंगल के हाथों में शक्ति और अक्षमाला शोभित होती हैं। बृहस्पति कुण्डिका और अक्षमाला धारी हैं। शुक्र का भी ऐसा ही स्वरूप है। अर्थात् उनके हाथों में भी कुण्डिका और अक्षमाला शोभित होती हैं। शनि किङ्किणी-सूत्र धारण करते हैं। राहु अर्द्ध चन्द्र धारी हैं तथा केतु के हाथों में खड्ग और दीपक शोभा पाते हैं। अनन्त, तक्षक, कर्कोटक, पद्म, महापद्म, शंख और कुलिक आदि सभी मुख्य नागगण सूत्रधारी होते हैं। फन ही इनके मुख हैं। ये सभी के सभी महान् प्रभापुञ्ज से उद्भासित होते हैं। इन्द्र वज्रधारी हैं। ये हाथी पर आरूढ होते हैं। अग्नि का वाहन बकरा है। श्रीअग्नि देव शक्ति धारण करते हैं। यम दण्डधारी हैं। और भैंसे पर आरूढ होते हैं। निर्ऋति खड्गधारी हैं और मनुष्य उनका वाहन है। वरुण मकर पर आरूढ हैं और पाश धारण करते हैं। वायुदेव वज्रधारी हैं और मृग उनका वाहन है। कुबेर भेड़ पर चढ़ते और गदा धारण करते हैं। ईशान जटाधारी हैं और वृषभ उनका वाहन है।।११-१५।। समस्त लोक पाल द्विभुज हैं। विश्वकर्मा अक्षसूत्र धारण करते हैं। हनुमान् जी के हाथ में वज्र है। उन्होंने अपने दोनों पैरों से एक असुर को दबा रखा है। किंनर-मूर्तियाँ हाथ में वीणा लिये हों और विद्याधर माला धारण किये आकाश में स्थित दिखाये जायँ। पिशाचों के शरीर दुर्बल-कंकाल मात्र हों। वेतालों के मुख विकराल हों। क्षेत्रपाल शूलधारी बनाये जायँ। प्रेतों के पेट लम्बे और शरीर कृश हों।।१६-१८।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी इक्यावनवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।५१।।

❖❖❖

अथ द्विपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

चतुःषष्टियोगिनीप्रतिमालक्षणानि

श्रीभगवानुवाच

योगिन्यष्टाष्टकं वक्ष्ये इन्द्रादीशान्ततः क्रमात्। अक्षोभ्यां रुक्षकर्णी च राक्षसी क्षपणा क्षमा।।१।।
पिङ्गाक्षी चाक्षया क्षेमा इला नीलालया तथा। लोला रक्ता बलाकेशा लालसा विमला पुनः।।२।।
दुर्गा सा च विशालाक्षी ह्रींकारा वडवामुखी। महाक्रूरा क्रोधना तु भयङ्करी महानना।।३।।
सर्वज्ञा तरला तारा ऋग्वेदा तु हयानना। साराख्या रससङ्ग्राही शबरा तालजङ्घिका।।४।।
रक्ताक्षी सुप्रसिद्धा तु विद्युज्जिह्वा करङ्किणी। मेघनादा प्रचण्डोग्रा कालकर्णी वरप्रदा।।५।।
चण्डा चण्डवती चैव प्रपञ्चा प्रलयान्तिका। शिशुवक्त्रा पिशाची पिशितासवलोलुपा।।६।।
धमनी तपनी चैव रागिणी विकृतानना। वायुवेगा बृहत्कुक्षिर्विकृता विश्वरूपिका।।७।।
यमजिह्वा जयन्ती च दुर्जया च जयन्तिका। बिडाली रेवती चैव पूतना विजयान्तिका।।८।।
अष्टहस्ताश्चतुर्हस्ता इच्छास्त्राः सर्वसिद्धिदाः। भैरवश्चार्कहस्तः स्याद्दन्तुरास्यो जटेन्दुभृत्।।९।।

अध्याय-५२

चौंसठ योगिनी प्रतिमा लक्षण

श्री भगवान् ने कहा कि–हे ब्रह्मन्! अधुना मैं चौंसठ योगिनियों का वर्णन करने जा रहा हूँ। इनका स्थान क्रमशः पूर्व दिशा से लेकर ईशान पर्यन्त है। इनके नाम इस प्रकार हैं–१. अक्षोभ्या, २. रूक्षकर्णी, ३. राक्षसी, ४. क्षपणा, ५. क्षमा, ६. पिंगाक्षी, ७. अक्षया, ८. क्षेमा, ९. इला, १०. लीलालया, ११. लोला, १२. रक्ता (या लक्ता), १३. बलाकेशी, १४. लालसा, १५. विमला, १६. दुर्गा (अथवा हुताशा), १७. विशालाक्षी, १८. ह्रींकारा (या हुंकारा), १९. वडमामुखी, २०. महाक्रूरा, २१. क्रोधना, २२. भयंकरी, २३. महानना, २४. सर्वज्ञा, २५. तरला, २६. तारा, २७. ऋग्वेदा, २८. हयानना, २९. सारा, ३०. रससंग्राही (अथवा सुसंग्राही या रुद्रसंग्राही), ३१. शबरा (या शम्बरा), ३२. तालजंघिका, ३३. रक्ताक्षी, ३४. सुप्रसिद्धा, ३५. विद्युज्जिह्वा, ३६. करङ्किणी, ३७. मेघनादा, ३८. प्रचण्डा, ३९. उग्रा, ४०. कालकर्णी, ४१. वरप्रदा, ४२. चण्डा (अथवा चन्द्रा), ४३. चण्डवती (या चन्द्रावली), ४४. प्रपञ्चा, ४५. प्रलयान्तिका, ४६. शिशुवक्त्रा, ४७. पिशाची, ४८. पिशितासवलोलुपा, ४९. धमनी, ५०. तपनी, ५१. रागिणी (अथवा वामनी), ५२. विकृतानना, ५३. वायुवेगा, ५४. बृहत्कुक्षि, ५५. विकृता, ५६. विश्वरूपिका, ५७. यमजिह्वा, ५८. जयन्ती, ५९. दुर्ज़या, ६०. जयन्तिका (अथवा यमान्तिका), ६१. विडाली, ६२. रेवती, ६३. पूतना तथा ६४. विजयान्तिका।।१-८।।

योगिनियाँ आठ अथवा चार हाथों से युक्त होती हैं। इच्छानुसार शस्त्र धारण करती हैं तथा उपासकों को सम्पूर्ण सिद्धियाँ सम्प्रदान करने वाली हैं। भैरव के द्वादश हाथ हैं उनके मुख में ऊँचे दाँत हैं तथा वे सिर पर जटा एवं चन्द्रमा धारण करते हैं। उन्होंने एक तरफ के पाँच हाथों में क्रमशः खड्ग, अंकुश, कुठार, बाण तथ जगत् को अभय सम्प्रदान करने वाली मुद्रा धारण कर रखी है। उनके दूसरी तरफ के पाँच हाथ धनुष, त्रिशूल, खट्वाङ्ग,

खट्वाङ्कुशकठोरेषु विश्वाभयभृदेकतः। चापत्रिशूलखट्वाङ्गपाशकार्धवरोद्यतः।।१०।।
गजचर्मधरो द्वाभ्यां कृत्तिवासोऽहिभूषितः। प्रेतासनो मातृमध्ये पूज्यः पञ्चाननोऽथवा।।११।।
अविलोमाग्निपर्यन्तं दीर्घाष्टकैकभेदितम्। तत्षडङ्गानि जात्यन्तैरन्वितं च क्रमाद्यजेत्।।१२।।
मन्दिराग्निदलारूढं सुवर्णरसनान्वितम्। नादविन्द्विन्दुसंयुक्तं मातृनाथाङ्गदीपितम्।।१३।।
वीरभद्रो वृषारूढो मातृगः स चतुर्भुजः। गौरी तु द्विभुजा त्र्यक्षा शूलिनी दर्पणान्विता।।१४।।
त्रिशूलकुण्डिकाकुण्डिवरहस्ता चतुर्भुजा। अब्जस्था ललिता स्कन्दगणादर्शशलाकया।।१५।।
चण्डिकादशहस्ता स्यात्खड्गशूलारिशक्तिधृक्। दक्षे वामे नागपाशं चर्माङ्कुशकुठारकम्।।१६।।
धनुः सिंहे च महिषः शूलेन प्रहतोग्रतः।।१७।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते चतुःषष्टियोगिनीप्रतिमालक्षणवर्णनं नाम द्विपञ्चाशत्तमोऽध्यायः।।५२।।

पाशकार्द्ध एवं वर की मुद्रा से सुशोभित हैं। शेष दो हाथों में उन्होंने गजचर्म ले रखा है। हाथी का चमड़ा ही उनका वस्त्र है और वे सर्पमय आभूषणों से विभूषित हैं। प्रेत पर आसन लगाये मातृकाओं के मध्यभाग में विराजमान हैं। इस रूप में उनकी प्रतिमा बनाकर उसकी पूजा करनी चाहिये। भैरव के एक या पाँच मुख बनाने चाहिये।।९-११।। पूर्व दिशा से लेकर अग्निकोण तक विलोमक्रम से प्रत्येक दिशा में भैरव को स्थापित कर क्रमशः उनका पूजन करना चाहिये। बीज-मन्त्र को आठ दीर्घ स्वरों में से एक-एक के द्वारा भेदित एवं अनुस्वार युक्त करके उस-उस दिशा के भैरव के साथ संयुक्त करना चाहिये और उन सभी के अन्त में 'नमः प्राच्याम्। **ॐ भैरवाय नमः-ऐशान्याम्। ॐ भैरवाय नमः-उदीच्याम्। ॐ ह्रें भैरवाय नमः-वायव्ये। ॐ ह्रैं भैरवाय नमः-प्रतीच्याम्। ॐ ह्रों भैरवाय नमः-नैर्ऋत्याम्। ॐ ह्रौं भैरवाय नमः-अवाच्याम्। ॐ ह्रः भैरवाय नमः-आग्नेय्याम्।** इस तरह इन मन्त्रों द्वारा क्रमशः उन दिशाओं में भैरव का पूजन करना चाहिये। इन्हीं में से छः बीज मन्त्रों द्वारा षडङ्गन्यास एवं उन अंगों का पूजन भी करना चाहिये।।१२।। उनका ध्यान इस तरह है-भैरव जी मन्दिर अथवा मण्डल के आग्नेयदल (अग्निकोणस्थ दल) में विराजमान स्वर्णमयी रसना से युक्त, नाद, बिन्दु एवं इन्दु से सुशोभित तथा मातृकाधिपति के अंग से प्रकाशित हैं। (ऐसे भगवान् भैरव का मैं भजन करता हूँ।) वीरभद्र वृषभर आरूढ हैं। वे मातृकाओं के मण्डल में विराजमान और चार भुजाधारी हैं। गौरी दो भुजाओं से युक्त और त्रिनेत्रधारिणी हैं। उनके एक हाथ में शूल और दूसरे में दर्पणहै। ललितादेवी कमल पर विराजमान हैं। उनके चार भुजाएँ हैं। वे अपने हाथों में त्रिशूल, कमण्डलु, कुण्डी और वरदान की मुद्रा धारण करती हैं। स्कन्द की अनुचरी मातृकागणों के हाथों में दर्पण और शलाका होनी चाहिये।।१३-१५।। चण्डिका देवी के दस हाथ हैं। वे अपने दाहिने हाथों में बाण, खड्ग, शूल, चक्र और शक्ति धारण करती हैं और बायें हाथों में नागपाश, ढाल, अंकुश, कुठार तथा धनुष लिये रहती हैं। वे सिंहपर सवार हैं और उनके सामने शूल से मारे गये महिषासुर का शव हैं।।१६-१७।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।५२।।

❖❖❖

अथ त्रिपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

लिङ्गादिलक्षणम्

श्रीभगवानुवाच

लिङ्गादिलक्षणं वक्ष्ये कमलोद्भव तच्छृणु। दैर्घ्यार्द्धं वसुभिर्भक्त्वा त्यक्त्वा भागत्रयं ततः।।१।।
विष्कम्भं भूतभागैस्तु चतुरस्त्रं तु कारयेत्। आयाममृतुभिर्भक्त्वा एकद्वित्रिक्रमान्न्यसेत्।।२।।
ब्रह्मविष्णुशिवांशेषु वर्धमानोऽयमुच्यते। चतुरस्त्रोऽस्य कर्णार्धं गुह्यकोणेषु लाञ्छयेत्।।३।।
अष्टाग्रो वैष्णवो भागः सिद्धत्येव न संशयः। षोडशास्त्रं ततः कुर्याद्द्वात्रिंशास्त्र ततः पुनः।।४।।
चतुःषष्ट्यस्त्रकं कृत्वा वर्तुलं साधयेत्ततः। कर्तयेदथ लिङ्गस्य शिरो वै देशिकोत्तमः।।५।।
विस्तारमथलिङ्गस्य अष्टधा संविभाजयेत्। भागार्धार्धं तु संत्यज्य च्छत्राकारं शिरो भवेत्।।६।।
त्रिषु भागेषु सदृश आयामो यस्य विस्तरः। तद्विभागसमं लिङ्गं सर्वकामफलप्रदम्।।७।।
दैर्घ्यस्य तु चतुर्थेन विष्कम्भं देवपूजिते। सर्वेषामेव लिङ्गानां लक्षणं शृणु साम्प्रतम्।।८।।
मध्यसूत्रं समासाद्य ब्रह्मरुद्धान्तिकं बुधः। षोडशाङ्गुललिङ्गस्य षड्भागैर्भाजितो यथा।।९।।
तद्वैयमनसूत्राभ्यां मानमन्तरमुच्यते। यवाष्टमुत्तरे कार्यं शेषाणां यवहानितः।।१०।।
अर्चाभागं त्रिधा कृत्वा ह्यूर्ध्वमेकं परित्यजेत्। अष्टधा तद्द्वयं कृत्वा ऊर्ध्वं भागत्रयं त्यजेत्।।११।।

अध्याय-५३

लिङ्ग आदि का लक्षण

श्री भगवान् हयग्रीव ने कहा कि–हे कमलोद्भव! अधुना मैं लिङ्ग आदि का लक्षण बतलाता हूँ, इसे ध्यान से सुनो। लम्बाई के आधे में आठ से भाग देकर आठ भागों में से तीन भाग को त्याग दे और शेष पाँच भागों से चतुरस्त्र विष्कम्भ का निर्माण कराये। फिर लम्बाई के छः भाग करके उन सभी को एक, दो और तीन के क्रम से पृथक्-पृथक् रखे। इनमें पहला भाग ब्रह्मा का, दूसरा विष्णु का और तीसरा शिव का है। उन भागों में यह 'वर्द्धमान' भाग कहा जाता है। चतुरस्त्र मण्डल में कोण सूत्र के आधे माप को लेकर उसको सभी कोणों में चिह्नित करना चाहिए ऐसा करने से आठ कोणों का 'वैष्णव भाग' सिद्ध होता है, इसमें संदेह नहीं है। उसके बाद उसको सोलह कोण और फिर बत्तीस कोणों से युक्त करना चाहिये।।१-४।। तत्पश्चात् चौंसठ कोणों से युक्त करके वहाँ गोल रेखा बनाये। उसके बाद श्रेष्ठ आचार्य को लिंग के शिरो भाग का कर्तन करना चाहिये। इसके बाद लिंग के विस्तार को आठ भागों में विभाजित करना चाहिये। फिर उनमें से एक भाग के चौथे अंश को छोड़ देने पर छत्राकार सिर का निर्माण होता है। जिसकी लम्बाई-चौड़ाई तीन भागों में समान हो, वह समभाग वाला लिंग सम्पूर्ण मनोभिलाषित फलों को देने वाला है। देव पूजित लिंग में लम्बाई के चौथे भाग से विष्कम्भ बनता है। अधुना आप सभी लिंगों के लक्षण सुनो।।५-८।। विद्वान् पुरुष को सोलह अंगुल वाले लिंग के मध्यवर्ती सूत्र को, जो ब्रह्म और रुद्र भाग के समीपस्थ है, लेकर उसको छः भागों में विभाजित करना चाहिये। वैयमन-सूत्रों द्वारा निश्चित जो वह माप है, उसको 'अन्तर' कहते हैं। जो सबसे उत्तरवर्ती लिंग है, उसको आठ जौ बड़ा बनाना चाहिये; शेष लिंगों को एक-एक जौ छोटा कर देना चाहिये। उपरोक्त लिंग के निचले भाग को तीन हिस्सों में विभाजित करके ऊपर के एक भाग को त्याग देना चाहिये। शेष दो भागों को आठ हिस्सों में विभाजित करके ऊपर के तीन भागों को छोड़ देना चाहिये। पाँचवें

ऊर्ध्वं तु पञ्चमाद्भागाद्भ्राम्यलेखां प्रलम्बयेत्। भागमेकं परित्यज्य संगमं कारयेत्तयोः।।१२।।
एतत्साधारणं प्रोक्तं लिङ्गानां लक्षणं मया। सर्वसाधारणं वक्ष्ये पिण्डिकान्तं निबोध मे।।१३।।
ब्रह्मभागप्रवेशं च ज्ञात्वा लिङ्गस्य चोच्छ्रयम्। न्यसेद्ब्रह्मशिलां विद्वान् सम्यक्कर्म शिलोपरि।।१४।।
तथा समुच्छ्रयं ज्ञात्वा पिण्डिकां प्रविभाजयेत्। द्विभागमुच्छ्रितं पीठं विस्तारे लिङ्गसम्मितम्।।१५।।
त्रिभागं मध्यतः खातं कृत्वा पीठं विभाजयेत्। स्वमानार्धत्रिभागेण बाहुल्यं परिकल्पयेत्।।१६।।
बाहुल्यस्य त्रिभागेण मेखलामथ कल्पयेत्। खातं स्यान्मेखलातुल्यं क्रमान्निम्नं तु कारयेत्।।१७।।
मेखलाषोडशांशेन खातं वा तत्प्रमाणतः। उच्छ्रायं तस्य पीठस्य विकाराङ्गं तु कारयेत्।।१८।।
भूमौ प्रविष्टमेकं तु भागेनैकेन पिण्डिका। कण्ठं भागैस्त्रिभिः कार्यं भागेनैकेन पट्टिका।।१९।।
द्व्यंशेन चोर्ध्वपट्टं तु एकांशाः शेषपट्टिकाः। भागं भागं प्रविष्टं तु यावत्कण्ठं ततः पुनः।।२०।।
निर्गमं भागमेकं तु यावद्वैशेषपट्टिका। प्रणालस्य त्रिभागेण निर्गमस्तु त्रिभागतः।।२१।।
मूलेऽङ्गुल्यग्रविस्तारमग्रे त्र्यंशेन चार्धतः। ईषन्निम्नं तु कुर्वीत खातं तच्चोत्तरेण वै।।२२।।
पिण्डिकासहितं लिङ्गमेतत्साधारणं स्मृतम्।।२३।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते लिङ्गादिलक्षणवर्णनं नाम त्रिपञ्चाशत्तमोऽध्यायः।।५३।।

भाग के ऊपर से भ्रमण करती हुई एक लम्बी रेखा बनाये और एक भाग को छोड़कर मध्य में उन दो रेखाओं का संगम कराये। यह लिंगों का सामान्य लक्षण बतलाया गया; अधुना पिण्डिका का सर्वसामान्य लक्षण बतलाता हूँ, मुझसे सुनो।।९-१३।। ब्रह्म भाग में प्रवेश तथा लिंग की ऊँचाई जानकर विद्वान् पुरुष को ब्रह्मशिला की स्थापना करनी चाहिये और उस शिला के ऊपर ही श्रेष्ठतम विधि से कर्म का निष्पादन करना चाहिये। पिण्डिका की ऊँचाई को जानकर उसका विभाजन करना चाहिये। दो भाग की ऊँचाई को पीठ समझे। चौड़ाई में वह लिंग के समान ही हो। पीठ के मध्य भाग में खात (गड्ढा) करके उसको तीन भागों में विभाजित करना चाहिये। अपने मान के आधे त्रिभाग से 'बाहुल्य' की कल्पना करनी चाहिये। बाहुल्य के तृतीय भाग से मेखला बनाये और मेखला के ही तुल्य खात (गड्ढा) तैयार करना चाहिये। उसको क्रमशः निम्न (नीचे झुका हुआ) रखे। मेखला के सोलहवें अंश से खात निर्माण करना चाहिये और उसी के माप के अनुसार उस पीठ की ऊँचाई, जिसे 'विकाराङ्ग' कहते हैं, कराये। प्रस्तर का एक भाग भूमि में प्रविष्ट हो, एक भाग से पिण्डिका बने, तीन भागों से कण्ठ का निर्माण कराया जाय और एक भाग से पट्टिका बनायी जाय।।१४-१९।। दो भाग से ऊपर का पट्ट बने; एक भाग में शेष-पट्टिका तैयार करायी जाय। कण्ठ पर्यन्त एक-एक भाग प्रविष्ट हो। तत्पश्चात् पुनः एक भाग से निर्गम (जल निकलने का मार्ग) बनाया जाय। यह शेष-पट्टिका तक रहना चाहिये। प्रणाल (नाली)के तृतीय भाग से निर्गम बनाना चाहिये। तृतीय भाग के मूल में अंगुलि के अग्र भाग के बराबर विस्तृत खात बनाये, जो तृतीय भाग से आधे विस्तार का हो। वह खात उत्तर की तरफ जाना चाहिये। यह पिण्डिका सहित सामान्य लिंग का वर्णन समझना चाहिये।२०-२३।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी तिरपनवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।५३।।

अथ चतुष्पञ्चाशत्तमोऽध्यायः

लिङ्गमानव्यक्ताव्यक्तलक्षणादिकथनम्

श्रीभगवानुवाच

वक्ष्याम्यन्यप्रकारेण लिङ्गमानादिकं शृणु। वक्ष्ये लवणजं लिङ्गं घृतजं बुद्धिवर्धनम्।।१।।
भूतये वस्त्रलिङ्गं तु लिङ्गं तात्कालिकं विदुः। पक्वापक्वं मृन्मयं स्यादपक्वात्पक्वजं परम्।।२।।
ततो दारुमयं पुण्यं दारुजाच्छैलजं वरम्। शैलाद्वरं तु मुक्ताजं ततो लौहं सुवर्णजम्।।३।।
राजतं कीर्तितं ताम्रं पैत्तलं भक्तिमुक्तिदम्।रत्नजं रसलिङ्गं च भुक्तिमुक्तिप्रदं वरम्।।४।।
रसजं रजलोहादिरत्नगर्भं तु बन्धयेत्। मानादि लौष्टे सिद्धादिस्थापितेऽथ स्वयंभुवि।।५।।
बाणे च स्वेच्छया तेषां पीठप्रासादकल्पना। पूजयेत्सूर्यबिम्बस्थं दर्पणे प्रतिबिम्बितम्।।६।।
पूज्यो हरस्तु सर्वत्र लिङ्गे पूर्णार्चनं भवेत्। हस्तोत्तरोच्छ्रितं शैलं दारुजं तद्वदेव हि।।७।।
चलमङ्गुलमानेन द्वारगर्भकरैः स्थिरम्। अङ्गुलाद्गृहलिङ्गं स्याद्यावत्पञ्चदशाङ्गुलम्।।८।।

अध्याय–५४

लिङ्ग मान एवं व्यक्ताव्यक्त लक्षण आदि कथन

श्री भगवान् हयग्रीव ने कहा कि–हे ब्रह्मन्! अधुना मैं अन्य प्रकार से लिंग आदि का वर्णन करने जा रहा हूँ, सुनो, लवण तथा घृत से निर्मित शिव लिंग बुद्धि को संवृद्धि प्रदान करने वाला होता है। वस्त्रमय लिंग ऐश्वर्य सम्प्रदायक होता है। उसको तात्कालिक अर्थात् केवल एक बार ही पूजा के उपयोग में आने वाला लिंग माना गया है। मिट्टी से बनाया हुआ शिवलिंग दो तरह का होता है–पक्व तथा अपक्व। अपक्व से पक्व श्रेष्ठ माना गया है। उसकी अपेक्षा काष्ठ का बना हुआ शिवलिंग अधिकतर पवित्र एवं पुण्यसम्प्रदायक है। काष्ठमय लिंग से प्रस्तर का लिंग श्रेष्ठ है। प्रस्तर से मोती का और मोती से स्वर्ण का बना हुआ 'लौह लिंग' श्रेष्ठतम समझना चाहिये। चाँदी, ताँबे, पीतल, रत्न तथा रस (पारद) का बना हुआ शिवलिंग भोग और मोक्ष देने वाला एवं श्रेष्ठ है। रस अर्थात् पारद आदि के लिंग को राँगा, लोहा, स्वर्ण, ताँबा आदि तथा रत्न के अन्दर आबद्ध करके विधिवत् स्थापित करना चाहिये। सिद्ध आदि पुरुषों के द्वारा स्थापित स्वयम्भूलिंग आदि के लिये माप आदि करना अभीष्ट नहीं है।।१-५।।

बाणलिंग (नर्मदेश्वर) के लिये भी यही बात है। अर्थात् उसके लिये भी 'वह इतने अंगुल का हो'–इस तरह का मान आदि आवश्यक नहीं है। वैसे शिवलिंगों के लिये अपनी इच्छा के अनुसार पीठ और प्रासाद का निर्माण करवा लेना चाहिये। सूर्य मण्डलस्थ शिवलिंग को दर्पण में प्रतिबिम्बत करके उसका पूजन करना चाहिये। देवाधिदेव भगवान् श्रीशिवशंकर सभी जगह ही पूजनीय हैं, परन्तु शिवलिंग में उनके अर्चन की पूर्णता होती है। प्रस्तर शिवलिंग एक हाथ से अधिक ऊँचा होना चाहिये। काष्ठमय लिंग का मान भी ऐसा ही है। चल शिवलिंग का स्वरूप अंगुल-मान के अनुसार निश्चित करना चाहिये तथा स्थिर लिंग का द्वारमानं, गर्भमान एवं हस्तमान के अनुसार। फिर भी गृह में पूजित होने वाला चललिंग एक अंगुल से लेकर पन्द्रह अंगुल तक का हो, तो भी कोई दोष नहीं समझना चाहिये।।६-८।।

द्वारमानात्त्रिसंख्याकं नवधागर्भमानतः। नवधागर्भमानेन लिङ्गं धाम्नि च पूजयेत्॥९॥
एवं लिङ्गानि षट्त्रिंशज्ज्ञेयानि ज्येष्ठमानतः। मध्यमानेन षट्त्रिंशत्षट्त्रिंशदधमेन च॥१०॥
इत्थमैक्येन लिङ्गानां शतमष्टोत्तरं भवेत्। एकाङ्गुलादि पञ्चान्तं कनिष्ठं चलमुच्यते॥११॥
षडादिदशपर्यन्तं चललिङ्गं च मध्यमम्। एकादशाङ्गुलादि स्याज्ज्येष्ठं पञ्चदशान्तिकम्॥१२॥
षडङ्गुलं महारत्नैरत्नैरन्यैर्नवाङ्गुलम्। रविभिर्हेमतारोत्थं लिङ्गं शेषैस्त्रिपञ्चभिः॥१३॥
षोडशांशे च वेदांशे युगं लुप्तोर्ध्वदेशतः। द्वात्रिंशत्षोडशांशाश्च कोणयोस्तु विलोपयेत्॥१४॥
चतुर्निवेशनात्कण्ठो विंशतिस्त्रियुगैस्तथा। पार्श्वभ्यां विलुप्ताभ्यां चललिङ्गं भवेद्वरम्॥१५॥
धाम्नो युगर्तुनागांशैर्द्वारमानोनितं क्रमात्। लिङ्गे द्वारोच्छ्रयादर्वाग्भवेत्पादोनितं क्रमात्॥१६॥
गर्भार्धेनाधमं लिङ्गं भूतांशैः स्यात्त्रिभिर्वरम्। तयोर्मध्ये सूत्राणि सप्त सम्पातयेत्समम्॥१७॥
एवं स्युर्नवसूत्राणि भूतसूत्रैश्च मध्यमम्। द्व्यन्तरो वामवा (भाग) श्च लिङ्गानां दीर्घता नव॥१८॥
हस्ताद्विवर्धते हस्तो यावत्स्युर्नव पाणयः। हीनमध्योत्तमं लिङ्गं त्रिविधं त्रिविधात्मकम्॥१९॥
एकैकलिङ्गमध्येषु त्रीणि त्रीणि च पादशः। लिङ्गानि घटयेद्धीमान्षट्सु चाष्टोत्तरेषु च॥२०॥

द्वारमान से लिंग के तीन भेद हैं। इनमें से प्रत्येक के गर्भमान के अनुसार नौ-नौ प्रभेद होते हैं। इस तरह कुल सत्ताईस प्रभेद समझने चाहिये। इनके अतिरिक्त करमान से नौ लिंग और हैं। इनकी देवालय में पूजा करनी चाहिये। इस तरह सभी को एक में जोड़ने से छत्तीस लिंग मानने चाहिये। ये ज्येष्ठमान के अनुसार हैं। मध्यम मान से और अधम (कनिष्ठ) मान से भी छत्तीस-छत्तीस शिवलिंग हैं—ऐसा समझना चाहिये। इस तरह सभी लिंगों को एकत्रित करने से एक सौ आठ शिवलिङ्ग हो जाते हैं। एक से लेकर पाँच अंगुल तक का चल शिवलिंग 'कनिष्ठ' कहलाता है, छः से लेकर दस अंगुल तक का चल लिंग 'मध्यम' कहा गया है तथा ग्यारह से लेकर पन्द्रह अंगुल तक का चल शिवलिंग 'ज्येष्ठ' जानने चाहिये। महामूल्यवान् रत्नों का बना हुआ शिवलिंग छः अंगुल का अन्य रत्नों से निर्मित शिवलिंग नौ अंगुल का, स्वर्णभार का बना हुआ द्वादश अंगुल का तथा शेष वस्तुओं से निर्मित शिवलिंग पन्द्रह अंगुल का होना उत्तम माना गया है॥९-१३॥ लिंग-शिला के सोलह अंश करके उसके ऊपरी चार अंशों में से पार्श्ववर्ती दो भाग निकाल देना चाहिये। फिर बत्तीस अंश करके उसके दोनों कोणवर्ती सोलह अंशों को लुप्त कर देना चाहिये। फिर उसमें चार अंश मिलाने से 'कण्ठ' होता है अर्थात् तात्पर्य यह कि बीस अंश का कण्ठ होता है और उभय पार्श्ववर्ती ३ × ४ = १२ अंशों को मिटाने से ज्येष्ठ चल लिंग बनता है। प्रासाद की ऊँचाई के मान को सोलह अंशों में विभाजित करके उसमें से चार, छः और आठ अंशों द्वारा क्रमशः हीन, मध्यम और ज्येष्ठ द्वार निर्मित होता है। द्वार की ऊँचाई में से एक चौथाई कम कर दिया जाय तो वह लिंग की ऊँचाई मान है। लिंग शिला के गर्भ के आधे भाग तक की ऊँचाई का शिवलिंग 'अधम' (कनिष्ठ) होता है और तीन भूतांश (३ × ५ =) पन्द्रह अंशों के बराबर की ऊँचाई का शिवलिंग 'ज्येष्ठ' कहा गया है। इन दोनों के मध्य में बराबर की ऊँचाई पर सात जगह सूत्रपात (सूत द्वारा रेखा) करना चाहिये। इस तरह नौ सूत अर्थात् सूत्रनिर्मित रेखा चिह्न होंगे। इन नौ सूतों में से पाँच सूतों की ऊँचाई के माप का शिवलिंग 'मध्यम' होगा। लिंगों की लम्बाई या ऊँचाई उत्तरोत्तर दो-दो अंश के अन्तर से होगी। इस तरह लिंगों की दीर्घता बढ़ती जाती है और नौ लिंग निर्मित हो जाते हैं॥१४-१८॥ यदि हाथ के माप से नौ लिंग बनाये जायँ तो पहला लिंग एक हाथ का होता है, फिर दूसरे के माप में पहले से एक हाथ बढ़ जाता है; इस तरह जिस समय तक नौ हाथ की

स्थिरदीर्घप्रमाणैस्तु द्वारगर्भकरात्मिका। भागेशं चाऽऽप्यमीशं च देवेशं तुल्यसंज्ञितम्॥२१॥
चत्वारि लिङ्गरूपाणि विष्कम्भेण तु लक्षयेत्। दीर्घमायान्वितं कृत्वा लिङ्गं कुर्यात्त्रिरूपकम्॥२२॥
चतुरष्टाष्टवृत्तं च तत्त्वत्रयगुणात्मकम्। लिङ्गानामीप्सितं दैर्घ्यं तेन कृत्वाऽङ्गुलानि वै॥२३॥
ध्वजाद्यायैः सुरैर्भूतैः शिखिभिर्वा हरेत्कृती। तान्यङ्गुलानि यच्छेषं लक्षयेच्च शुभाशुभम्॥२४॥
ध्वजाद्या ध्वजसिंहेभवृषः श्रेष्ठाः परेऽशुभाः। स्वरेषु षड्जगान्धारपञ्चमाः शुभदायकाः॥२५॥
भूतेषु च शुभा भूः स्यादग्निश्चाऽऽहवनीयकः। उक्तायामस्य चार्धांशे नागांशैर्भाजिते क्रमात्॥२६॥
रसभूतांशषष्ठांशत्र्यंशाधिकशरैर्भवेत्। आद्यानाद्यसुरे ज्यार्क तुल्यानां चतुरस्रता॥२७॥
पञ्चमं वर्धमानाख्यं व्यासान्नाहप्रवृद्धितः। द्विधा भेदा बहून्यत्र वक्ष्यन्ते विश्वकर्मतः॥२८॥
आद्यादीनां त्रिधा स्थौल्यादवधूतं तथाऽष्टधा। त्रिधा हस्ताज्जिनाख्यं च युक्तं सर्वसमेन च॥२९॥
पञ्चविंशतिलिङ्गानि नाद्ये देवार्चिते तथा। पञ्चसप्तभिरेकत्वाज्जिनैर्भक्तैर्भवन्ति हि॥३०॥

लम्बाई पूरी नहीं हो जाती है, उस समय तक शिला या काष्ठ की माप में एक-एक हाथ बढ़ाते जाना चाहिये। ऊपर जो हीन, मध्यम और श्रेष्ठतम-तीन तरह के लिंग बताये गये हैं, उनमें से प्रत्येक के तीन-तीन भेद हैं। बुद्धिमान् पुरुष एक-एक लिंग में विभागपूर्वक तीन-तीन लिंग का निर्माण करायें। छः अंगुल और नौ अंगुल के शिवलिंगों में भी तीन-तीन लिंग-निर्माण कराये। स्थिर लिंग द्वारमान, गर्भमान तथा हस्मतान-इन तीन दीर्घ प्रमाणों (मापों) के अनुसार बनाना चाहिये। कथित तीन मापों के अनुसार ही उसकी तीन संज्ञाएँ हैं-भगेश, जलेश तथा देवेश। विष्कम्भ (विस्तार) के अनुसार लिंग के चार रूप लक्षित करना चाहिये। दीर्घप्रमाण के अनुसार सम्पादित होने वाले तीन रूपों में निर्दिष्ट लिंग को शुभ आय आदि से युक्त करके निर्मित कराये। उन त्रिविध लिंगों की लम्बाई चार या आठ-आठ हाथ की हो-यह अभीष्ट है। वे क्रमशः त्रितत्त्वरूप अथवा त्रिगुणरूप हैं। जो लिंग जितने हाथ का हो, उसका अंगुल बनाकर आय-संख्या (८), स्वरसंख्या (७), भूत-संख्या (५) तथा अग्नि-संख्या (३) से पृथक्-पृथक् भाग देना चाहिये। जो शेष बचे उसके अनुसार शुभाशुभ फल को जाने॥१९-२४॥ ध्वजादि आयों में से ध्वत, सिंह, हस्ती और वृषभ-ये श्रेष्ठ हैं। अन्य चार आय अशुभ हैं। सात संख्या से भाग देने पर जो शेष बचे, उसके अनुसार स्वर का निश्चय करना चाहिये। स्वरों में षड्ज, गान्धार तथा पञ्चम शुभसम्प्रदायक हैं। पाँच से भाग देने पर जो शेष बचे, उसके अनुसार पृथ्वी आदि भूतों का निश्चय करना चाहिये। भूतों में पृथ्वी ही शुभ है। तीन से भाग देने पर जो शेष रहे, तदनुसार अग्नि जाने। अग्नियों में आहवनीय अग्नि ही शुभ है। कथित लिंग की लम्बाई को आधा करके उसमें आठ से भाग देने पर यदि शेष सात से अधिक हो, तो वह लिंग 'आढ्य' कहा जाता है। यदि पाँच से अधिक शेष रहे तो वह लिंग 'देवेज्य' है और यदि तीन अंश से अधिक शेष हो, तो उस लिंग को 'अर्कतुल्य' माना जाता है। ये चारों ही तरह के लिंग चतुष्कोण होते हैं। पाँचवाँ 'वर्धमान' संज्ञक लिंग है, उसमें व्यास से नाह बढ़ा हुआ होता है। व्यास के समान नाह एवं व्यास से बढ़ा हुआ नाह-इस तरह इन लिंगों के दो भेद हो जाते हैं। विश्वकर्म-शास्त्र के अनुसार इन सबके बहुत से भेद बताये जा सकते हैं। आढ्य आदि लिंगों की स्थूलता आदि के कारण तीन भेद और होते हैं। उनमें एक-एक यव की वृद्धि करने से वे सब आठ तरह के लिंग होते हैं। फिर हस्तमान से 'जिन' संज्ञक लिंग के भी तीन भेद हो जाते हैं, उसको सर्वसम लिंग में जोड़ लिया जाता है॥२५-२९॥ अनाढ्य, देवर्चित तथा अर्कतुल्य में भी पांच-पांच भेद होने से ये पच्चीस हो जाते हैं। ये सभी एक जिन और भक्त-भेदों से पचहत्तर होते हैं। सभी का आकलन

द्वारमानात्त्रिसंख्याकं नवधागर्भमानतः। नवधागर्भमानेन लिङ्गं धाम्नि च पूजयेत्॥९॥
एवं लिङ्गानि षट्त्रिंशज्ज्ञेयानि ज्येष्ठमानतः। मध्यमानेन षट्त्रिंशत्षट्त्रिंशदधमेन च॥१०॥
इत्थमैक्येन लिङ्गानां शतमष्टोत्तरं भवेत्। एकाङ्गुलादि पञ्चान्तं कनिष्ठं चलमुच्यते॥११॥
षडादिदशपर्यन्तं चललिङ्गं च मध्यमम्। एकादशाङ्गुलादि स्याज्ज्येष्ठं पञ्चदशान्तिकम्॥१२॥
षडङ्गुलं महारत्नैरत्नैरन्यैर्नवाङ्गुलम्। रविभिर्हेमतारोत्थं लिङ्गं शेषैस्त्रिपञ्चभिः॥१३॥
षोडशांशे च वेदांशे युगं लुप्तोर्ध्वदेशतः। द्वात्रिंशत्षोडशांशाश्च कोणयोस्तु विलोपयेत्॥१४॥
चतुर्निवेशनात्कण्ठो विंशतिस्त्रियुगैस्तथा। पार्श्वभ्यां विलुप्ताभ्यां चललिङ्गं भवेद्वरम्॥१५॥
धाम्नो युगर्तुनागांशैर्द्वारमानोनितं क्रमात्। लिङ्गे द्वारोच्छ्र्यादर्वाग्भवेत्पादोनितं क्रमात्॥१६॥
गर्भार्धेनाधमं लिङ्गं भूतांशैः स्यात्त्रिभिर्वरम्। तयोर्मध्ये सूत्राणि सप्त सम्पातयेत्समम्॥१७॥
एवं स्युर्नवसूत्राणि भूतसूत्रैश्च मध्यमम्। द्व्यन्तरो वामवा (भाग) श्च लिङ्गानां दीर्घता नव॥१८॥
हस्ताद्विवर्धते हस्तो यावत्स्युर्नव पाणयः। हीनमध्योत्तमं लिङ्गं त्रिविधं त्रिविधात्मकम्॥१९॥
एकैकलिङ्गमध्येषु त्रीणि त्रीणि च पादशः। लिङ्गानि घटयेद्धीमान्षट्सु चाष्टोत्तरेषु च॥२०॥

द्वारमान से लिंग के तीन भेद हैं। इनमें से प्रत्येक के गर्भमान के अनुसार नौ-नौ प्रभेद होते हैं। इस तरह कुल सत्ताईस प्रभेद समझने चाहिये। इनके अतिरिक्त करमान से नौ लिंग और हैं। इनकी देवालय में पूजा करनी चाहिये। इस तरह सभी को एक में जोड़ने से छत्तीस लिंग मानने चाहिये। ये ज्येष्ठमान के अनुसार हैं। मध्यम मान से और अधम (कनिष्ठ) मान से भी छत्तीस-छत्तीस शिवलिंग हैं—ऐसा समझना चाहिये। इस तरह सभी लिंगों को एकत्रित करने से एक सौ आठ शिवलिङ्ग हो जाते हैं। एक से लेकर पाँच अंगुल तक का चल शिवलिंग 'कनिष्ठ' कहलाता है, छः से लेकर दस अंगुल तक का चल लिंग 'मध्यम'कहा गया है तथा ग्यारह से लेकर पन्द्रह अंगुल तक का चल शिवलिंग 'ज्येष्ठ' जानने चाहिये। महामूल्यवान् रत्नों का बना हुआ शिवलिंग छः अंगुल का अन्य रत्नों से निर्मित शिवलिंग नौ अंगुल का, स्वर्णभार का बना हुआ द्वादश अंगुल का तथा शेष वस्तुओं से निर्मित शिवलिंग पन्द्रह अंगुल का होना उत्तम माना गया है॥९-१३॥ लिंग-शिला के सोलह अंश करके उसके ऊपरी चार अंशों में से पार्श्ववर्ती दो भाग निकाल देना चाहिये। फिर बत्तीस अंश करके उसके दोनों कोणवर्ती सोलह अंशों को लुप्त कर देना चाहिये। फिर उसमें चार अंश मिलाने से 'कण्ठ' होता है अर्थात् तात्पर्य यह कि बीस अंश का कण्ठ होता है और उभय पार्श्ववर्ती ३ × ४ = १२ अंशों को मिटाने से ज्येष्ठ चल लिंग बनता है। प्रासाद की ऊँचाई के मान को सोलह अंशों में विभाजित करके उसमें से चार, छः और आठ अंशों द्वारा क्रमशः हीन, मध्यम और ज्येष्ठ द्वार निर्मित होता है। द्वार की ऊँचाई में से एक चौथाई कम कर दिया जाय तो वह लिंग की ऊँचाई मान है। लिंग शिला के गर्भ के आधे भाग तक की ऊँचाई का शिवलिंग 'अधम' (कनिष्ठ) होता है और तीन भूतांश (३ × ५ =) पन्द्रह अंशों के बराबर की ऊँचाई का शिवलिंग 'ज्येष्ठ' कहा गया है। इन दोनों के मध्य में बराबर की ऊँचाई पर सात जगह सूत्रपात (सूत द्वारा रेखा) करना चाहिये। इस तरह नौ सूत अर्थात् सूत्रनिर्मित रेखा चिह्न होंगे। इन नौ सूतों में से पाँच सूतों की ऊँचाई के माप का शिवलिंग 'मध्यम' होगा। लिंगों की लम्बाई या ऊँचाई उत्तरोत्तर दो-दो अंश के अन्तर से होगी। इस तरह लिंगों की दीर्घता बढ़ती जाती है और नौ लिंग निर्मित हो जाते हैं॥१४-१८॥ यदि हाथ के माप से नौ लिंग बनाये जायँ तो पहला लिंग एक हाथ का होता है, फिर दूसरे के माप में पहले से एक हाथ बढ़ जाता है; इस तरह जिस समय तक नौ हाथ की

स्थिरदीर्घप्रमाणैस्तु द्वारगर्भकरात्मिका। भागेशं चाऽऽप्यमीशं च देवेशं तुल्यसंज्ञितम्॥२१॥
चत्वारि लिङ्गरूपाणि विष्कम्भेण तु लक्षयेत्। दीर्घमायान्वितं कृत्वा लिङ्गं कुर्यात्त्रिरूपकम्॥२२॥
चतुरष्टाष्टवृत्तं च तत्त्वत्रयगुणात्मकम्। लिङ्गानामीप्सितं दैर्घ्यं तेन कृत्वाऽङ्गुलानि वै॥२३॥
ध्वजाद्यायैः सुरैर्भूतैः शिखिभिर्वा हरेत्कृती। तान्यङ्गुलानि यच्छेषं लक्षयेच्च शुभाशुभम्॥२४॥
ध्वजाद्या ध्वजसिंहेभवृषः श्रेष्ठाः परेऽशुभाः। स्वरेषु षड्जगान्धारपञ्चमाः शुभदायकाः॥२५॥
भूतेषु च शुभा भूः स्यादग्निश्चाऽऽहवनीयकः। उक्तायामस्य चार्धांशे नागांशैर्भाजिते क्रमात्॥२६॥
रसभूतांशषष्ठांशत्र्यंशाधिकशरैर्भवेत्। आढ्यानाढ्यसुरे ज्यार्क तुल्यानां चतुरस्रता॥२७॥
पञ्चमं वर्धमानाख्यं व्यासान्नाहप्रवृद्धितः। द्विधा भेदा बहून्यत्र वक्ष्यन्ते विश्वकर्मतः॥२८॥
आढ्यादीनां त्रिधा स्थौल्यादवधूतं तथाऽष्टधा। त्रिधा हस्ताज्जिनाख्यं च युक्तं सर्वसमेन च॥२९॥
पञ्चविंशतिलिङ्गानि नाढ्ये देवार्चिते तथा। पञ्चसप्तभिरेकत्वाज्जिनैर्भक्तैर्भवन्ति हि॥३०॥

लम्बाई पूरी नहीं हो जाती है, उस समय तक शिला या काष्ठ की माप में एक-एक हाथ बढ़ाते जाना चाहिये। ऊपर जो हीन, मध्यम और श्रेष्ठतम–तीन तरह के लिंग बताये गये हैं, उनमें से प्रत्येक के तीन-तीन भेद हैं। बुद्धिमान् पुरुष एक-एक लिंग में विभागपूर्वक तीन-तीन लिंग का निर्माण करायें। छः अंगुल और नौ अंगुल के शिवलिंगों में भी तीन-तीन लिंग-निर्माण कराये। स्थिर लिंग द्वारमान, गर्भमान तथा हस्मतान–इन तीन दीर्घ प्रमाणों (मापों) के अनुसार बनाना चाहिये। कथित तीन मापों के अनुसार ही उसकी तीन संज्ञाएँ हैं–भगेश, जलेश तथा देवेश। विष्कम्भ (विस्तार) के अनुसार लिंग के चार रूप लक्षित करना चाहिये। दीर्घप्रमाण के अनुसार सम्पादित होने वाले तीन रूपों में निर्दिष्ट लिंग को शुभ आय आदि से युक्त करके निर्मित कराये। उन त्रिविध लिंगों की लम्बाई चार या आठ-आठ हाथ की हो–यह अभीष्ट है। वे क्रमशः त्रितत्त्वरूप अथवा त्रिगुणरूप हैं। जो लिंग जितने हाथ का हो, उसका अंगुल बनाकर आय-संख्या (८), स्वरसंख्या (७), भूत-संख्या (५) तथा अग्नि-संख्या (३) से पृथक्-पृथक् भाग देना चाहिये। जो शेष बचे उसके अनुसार शुभाशुभ फल को जाने॥१९-२४॥ ध्वजादि आयों में से ध्वत, सिंह, हस्ती और वृषभ–ये श्रेष्ठ हैं। अन्य चार आय अशुभ हैं। सात संख्या से भाग देने पर जो शेष बचे, उसके अनुसार स्वर का निश्चय करना चाहिये। स्वरों में षड्ज, गान्धार तथा पञ्चम शुभसम्प्रदायक हैं। पाँच से भाग देने पर जो शेष बचे, उसके अनुसार पृथ्वी आदि भूतों का निश्चय करना चाहिये। भूतों में पृथ्वी ही शुभ है। तीन से भाग देने पर जो शेष रहे, तदनुसार अग्नि जाने। अग्नियों में आहवनीय अग्नि ही शुभ है। कथित लिंग की लम्बाई को आधा करके उसमें आठ से भाग देने पर यदि शेष सात से अधिक हो, तो वह लिंग 'आढ्य' कहा जाता है। यदि पाँच से अधिक शेष रहे तो वह लिंग 'देवेज्य' है और यदि तीन अंश से अधिक शेष हो, तो उस लिंग को 'अर्कतुल्य' माना जाता है। ये चारों ही तरह के लिंग चतुष्कोण होते हैं। पाँचवाँ 'वर्धमान' संज्ञक लिंग है, उसमें व्यास से नाह बढ़ा हुआ होता है। व्यास के समान नाह एवं व्यास से बढ़ा हुआ नाह–इस तरह इन लिंगों के दो भेद हो जाते हैं। विश्वकर्म-शास्त्र के अनुसार इन सबके बहुत से भेद बताये जा सकते हैं। आढ्य आदि लिंगों की स्थूलता आदि के कारण तीन भेद और होते हैं। उनमें एक-एक यव की वृद्धि करने से वे सब आठ तरह के लिंग होते हैं। फिर हस्तमान से 'जिन' संज्ञक लिंग के भी तीन भेद हो जाते हैं, उसको सर्वसम लिंग में जोड़ लिया जाता है॥२५-२९॥ अनाढ्य, देवर्चित तथा अर्कतुल्य में भी पांच-पांच भेद होने से ये पच्चीस हो जाते हैं। ये सभी एक जिन और भक्त–भेदों से पचहत्तर होते हैं। सभी का आकलन

चतुर्दशसहस्राणि चतुर्दशशतानि च। एवमष्टाङ्गुलविस्तारो नवैककरगर्भतः।।३१।।
तेषां कोणार्धकोणस्थैश्छिन्द्यात्कोणानि सूत्रकैः। विस्तारं मध्यतः कृत्वा स्थाप्यं वा मध्यतस्त्रयम्।।३२।।
विभागादूर्ध्वमष्टास्रो द्वयष्टास्रः स्याच्छिवांशकः। पादाज्जान्वन्तको ब्रह्मा नाभ्यन्तो विष्णुरित्यतः।।३३।।
मूर्धान्तो भूतभागेशो व्यक्तेऽव्यक्ते च तद्वति। पञ्चलिङ्गव्यवस्थायां शिरो वर्तुलमुच्यते।।३४।।
छत्राभं कुक्कुटाभं वा बालेन्दुपुरुषाकृतिः। एकैकस्य चतुर्भेदैः कामभेदात्फलं वदे।।३५।।
लिङ्गमस्तकविस्तारं वसुभक्तं तु कारयेत्। आद्यभागं चतुर्धा तु विस्तारोच्छ्रायतो भजेत्।।३६।।
चत्वारि तत्र सूत्राणि भागभागानुपातनात्। पुण्डरीकं तु भागेन विशालाख्यं विलोपनात्।।३७।।
त्रिशातनात्तु श्रीवत्सं शत्रुकृद्वेदलोपनात्। शिरःसर्वसमे श्रेष्ठं कुक्कुटाभं सुराह्वये।।३८।।
चतुर्भागात्मके लिङ्गे त्रपुषं द्वयलोपनात्। अनाद्यस्य शिरः प्रोक्तमर्धचन्द्रं शिरः शृणु।।३९।।
अंशात्प्रान्ते युगांशैश्च द्वैकहान्याऽमृताक्षकम्। पूर्णबालेन्दुकुमुदं द्वित्रिवेदक्षयात्क्रमात्।।४०।।
चतुस्त्रिरेखं वदनं मुखलिङ्गमतः शृणु। पूजाभागः प्रकर्त्तव्यो मूर्त्यग्निपदकल्पितः।।४१।।

करने से पन्द्रह हजार चार सौ शिवलिंग हो सकते है। इसी तरह आठ अंगुल के विस्तार वाला लिंग भी एकांगुल मान, हस्तमान एवं गर्भमान के अनुसार नौ भेदों से युक्त है। इन सभी के कोण तथा अर्द्धकोणस्थ सूत्रों द्वारा कोणों का छेदन विभक्तीकरण करना चाहिये। लिंग के मध्यभाग के विस्तार को ही प्रत्येक विभाग का विस्तार मानकर तदनुसार मध्य, ऊर्ध्व और अधः—इन विभागों की स्थापना करनी चाहिये। मध्यम विभाग से ऊपर का अष्टकोण या सोलह कोण वाला विभाग शिव का अंश है। पाद या मूल भाग से जानुपर्यन्त लिंग का अधो भाग है, यह ब्रह्मा का अंश है तथा जानु से नाभिपर्यन्त लिंग का मध्यम भाग है, जो भगवान् श्रीहरि विष्णु का अंश है।।३०-३३।। मूर्धान्त भाग भूतभागेश्वर का है। व्यक्त-अव्यक्त सभी लिंगों के लिये ऐसी ही बात है। जिस शिवलिंग में पाँच लिंग की व्यवस्था है, वहाँ शिरोभाग गोलाकार होना चाहिये—ऐसा बतलाया गया है। वह गोलाई छत्राकार हो, मुर्गी के अंडे के समान हो; नवोदित चन्द्र के सदृश हो या पुरुष के आकार की हो। (पुरुषाकृति के स्थान में त्रपुषाकृति' पाठ हो, तो गोलाई त्रपुष के समान आकार वाली हो—ऐसा अर्थ लेना चाहिये।) इस तरह एक-एक के चार भेद होते हैं। कामनाओं के भेद से इनके फल में भी भेद होता है, यह बतलाया जा रहा है। लिंग के मस्तक-भाग का विस्तार जितने अंगुल का हो, उतनी संख्या में आठ से भाग देना चाहिये। इस तरह मस्तक को आठ भागों में विभाजित करके आदि के जो चार भाग हैं, उनका विस्तार और ऊँचाई के अनुसार ग्रहण करना चाहिये। एक भाग को छाँट देने से 'पुण्डरीक' नामक लिंग होता है, दो भागों को लुप्त कर देने से 'विशाल' संज्ञक लिंग होता है, तीन भागों का उच्छेद कर देने पर उसकी 'श्रीवत्स' संज्ञा होती है तथा चार भागों के लोप से उस लिंग को 'शत्रुकारक' कहा गया है। शिरोभाग सभी तरफ से सम हो, तो श्रेष्ठ माना गया है। देवपूज्य लिंग में मस्तक-भाग कुक्कुट के अण्ड की भाँति गोल होना चाहिये।।३४-३८।। चतुर्भागात्मक लिंग में से ऊपर का दो भाग मिटा देने से 'त्रपुष' नामक लिंग होता है। यह (त्रपुष) अनाढ्य संज्ञक शिवलिंग का सिर माना गया है। अधुना अर्द्ध-चन्द्राकार सिर के विषय में सुनो—शिवलिंग के प्रान्त भाग में एक अंश के चार अंश करके एक अंश को त्याग दिया जाय तो वह 'अमृताक्ष' नाम धारण करता है। दूसरे, तीसरे और चौथे अंश का लोप करने पर क्रमशः उन शिवलिंगों की 'पूर्णेन्दु', 'बालेन्दु' तथा 'कुमुद' संज्ञा होती है। ये क्रमशः चतुर्मुख, त्रिमुख और एकमुख होते हैं। इन तीनों को 'मुखलिंग' भी कहा जा सकता है। अधुना मुखलिंग के विषय में सुनो—

अर्काशं पूर्ववत्त्यक्त्वा षट्स्थानानि च वर्तयेत्। शिरोन्नतिः प्रकर्तव्या ललाटं नासिका ततः।।४२।।
वदनं चिबुकं ग्रीवा युगभागैर्भुजाक्षिभिः। कराभ्यां मुकुलीकृत्य प्रतिमायाः प्रमाणतः।।४३।।
मुखं प्रति समः कार्यो विस्तारादष्टमांशतः। चतुर्युगं मया प्रोक्तं त्रिमुखं चोच्यते शृणु।।४४।।
कर्णपादाधिकास्तस्य ललाटादीनि निर्दिशेत्। भुजौ चतुर्भिर्भागैस्तु कर्तव्यौ पश्चिमोर्जितौ।।४५।।
विस्तारादष्टमांशेन मुखानां प्रतिनिर्गमः। एकवक्त्रं तथा कार्यं पूर्वास्यं सौम्यलोचनम्।।४६।।
ललाटनासिकावक्त्रग्रीवायां च विवर्तयेत्। भुजाच्च पञ्चमांशेन भुजहीनं विवर्तयेत्।।४७।।
विस्तारस्य षडंशेन मुखैर्निगमनं हितम्। सर्वेषां मुखलिङ्गानां त्रपुषं वाऽथ कुक्कुटम्।।४८।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गति लिङ्गमानव्यक्ताव्यक्तलक्षणादिकथनं नाम चतुष्पञ्चाशत्तमोऽध्यायः।।५४।।

पूजा भाग की त्रिविध कल्पना करनी चाहिये—मूर्तिपूजा, अग्निपूजा तथा पदपूजा पूर्ववत् द्वादशांश का त्याग करके छः भागों द्वारा छः स्थानों की अभिव्यक्ति करनी चाहिये। सिर को ऊँचा करना चाहिये तथा ललाट, नासिका, मुख, चिबुक तथा ग्रीवा भाग को भी स्पष्टतया व्यक्त करना चाहिये। चार भागों या अंशों द्वारा दोनों भुजाओं तथा नेत्रों को प्रकट करना चाहिये। प्रतिमा के प्रमाण के अनुसार मुकुलाकार हाथ बनाकर विस्तार के अष्टमांश से चारों मुखों का निर्माण करना चाहिये। प्रत्येक मुख सभी तरफ से सम होना चाहिये। यह मैंने चतुर्मुखलिंग के विषय में बतलाया है; अधुना त्रिमुख लिंग के विषय में बतलाया जा रहा है, सुनो—।।३९-४४।। त्रिमुख लिंग में चतुर्मुख की अपेक्षा कान और पैर अधिक हो जाते हैं। ललाट आदि अंगों का पूर्ववत् ही निर्देश करना चाहिये। चार अंशों से दो भुजाओं का निर्माण करना चाहिये, जिनका पिछला भाग सुदृढ़ एवं सुपुष्ट हो। विस्तार के अष्टमांश से तीनों मुखों का विनिर्गम (प्राकट्य) हो। अधुना एक मुख लिंग के विषय में सुनो—एकमुख पूर्व दिशा में बनाना चाहिये; उसके नेत्रों में सौम्य भाव रहना चाहिये अर्थात् उग्रता न हो। उसके ललाट, नासिका, मुख और ग्रीवा में विवर्तन (विशेष उभाड़) हो। बाहुविस्तार के पञ्चमांश से उपरोक्त अंगों का निर्माण होना चाहिये। एकमुख लिंग को बाहुहीन बनाना चाहिये। एकमुख लिंग में विस्तार के छठे अंश से मुख का निर्गमन हितकर कहा गया है। मुख युक्त जितने भी लिंग हैं, उन सभी का शिरोभाग त्रपुषाकार या कुक्कुटाण्ड के समान गोलाकार होना चाहिये।।४५-४८।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी चौवनवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।५४।।

❖❖❖

अथ पञ्चपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

पिण्डिकालक्षणम्

श्रीभगवानुवाच

अतः परं प्रवक्ष्यामि प्रतिमानां तु पिण्डिकाम्। दैर्घ्येण प्रतिमा तुल्या तदर्धेन तु विस्तृता।।१।।
उच्छ्रिताऽऽयामतोऽर्धेन सुविस्ताराऽर्धभागतः। तृतीयेन तु वा तुल्यां तत्त्रिभागेन मेखलाम्।।२।।
खातं च तत्प्रमाणं तु किञ्चिदुत्तरतो नतम्। विस्तारस्य चतुर्थेन तोयमार्गं तु कारयेत्।।३।।
पिण्डिकार्धेन वा तुल्यं दैर्घ्यमीशस्य कीर्तितम्। ऐशं वा तुल्यदीर्घं च ज्ञात्वा सूत्रं प्रकल्पयेत्।।४।।
उच्छ्रायं पूर्ववत्कुर्याद्भागषोडशसंख्यया। अधः षट्कं द्विभागं तु कण्ठे कुर्यात्त्रिभागकम्।।५।।
शेषास्त्वेकैकशः कार्याः प्रतिष्ठा निर्गमस्तथा। पट्टिका पिण्डिका चेयं सामान्यप्रतिमासु च।।६।।
प्रसादद्वारमानेन प्रतिमाद्वारमुच्यते। गजव्यालकसंयुक्ता प्रभास्यात्प्रतिमाक्षु च।।७।।
पिण्डिकाऽपि यथाशोभं कर्तव्या सततं हरेः। सर्वेषामेव देवानां विष्णूक्तं मानमुच्यते।।८।।

अध्याय-५५

पिण्डिका लक्षण कथन

श्री भगवान् हयग्रीव ने कहा कि–हे ब्रह्मन्! अधुना मैं प्रतिमाओं की पिण्डिका का लक्षण बतलाने की चेष्ट कर रहा हूँ। पिण्डिका की लम्बाई तो प्रतिमा के बराबर होनी चाहिये और चौड़ाई में उससे आधी। उसकी ऊँचाई भी प्रतिमा की लम्बाई से आधी हो और उस अर्द्धभाग के बराबर ही वह सुविस्तृत हो। अथवा उसका विस्तार लम्बाई के तृतीयांश के तुल्य हो। उसके एक तिहाई भाग को लेकर मेखला बनाये। पानी बहने के लिये जो खात या गर्त हो, उसका माप भी मेखला के ही तुल्य रहना चाहिये। वह खात उत्तर दिशा की तरफ कुछ नीचा होना चाहिये। पिण्डिका के विस्तार के एक चौथाई भाग से जल के निकलने का मार्ग (प्रणाल) बनाना चाहिये। मूल भाग में उसका विस्तार मूल के ही बराबर हो, परन्तु आगे जाकर वह आधा हो जाना चाहिये। पिण्डिका के आधे भाग के बराबर वह जलमार्ग हो। उसकी लम्बाई प्रतिमा की लम्बाई के तुल्य ही बतलायी गयी है। अथवा प्रतिमा ही उसकी लम्बाई के तुल्य हो। इस बात को अच्छी तरह समझकर उसका सूत्रपात करना चाहिये।।१-५।।

प्रतिमा की ऊँचाई पूर्ववत् सोलह भाग की संख्या के अनुसार करना चाहिये। छः और दो अर्थात आठ भागों को नीचे के आधे अंग में गतार्थ करें। इससे ऊपर के तीन भाग को लेकर कण्ठ का निर्माण करना चाहिये। शेष भागों को एक-एक करके प्रतिष्ठा, निर्गम तथा पट्टिका आदि में विभाजित करना चाहिये। यह सामान्य प्रतिमाओं में पिण्डिका का लक्षण बतलाया गया है। प्रासाद के द्वार के दैर्घ्य-विस्तार के अनुसार प्रतिमा-गृह का भी द्वार कहा गया है। प्रतिमाओं में हाथी और व्याल (सर्प या व्याघ्र आदि) की मूर्तियों से युक्त तत्तत् देवताविषयक शोभा की संरचना करनी चाहिये।।६-८।।

देवीनामपि सर्वासां लक्ष्म्युक्तं मानमुच्यते।।९।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गति पिण्डिकालक्षणवर्णनं नाम पञ्चपञ्चाशत्तमोऽध्यायः।।५५।।

अथ षट्पञ्चाशत्तमोऽध्यायः

दशदिक्पालयागकथनम्

श्रीभगवानुवाच

प्रतिष्ठापञ्चकं वक्ष्ये प्रतिमात्मा तु पूरुषः। प्रकृतिः पिण्डिका लक्ष्मीः प्रतिष्ठा योगकस्तयोः।।१।।
इच्छाफलार्थिभिस्तस्मात्प्रतिष्ठा क्रियते नरैः। गर्भसूत्रं तु निःसार्य प्रासादस्याग्रतो गुरुः।।२।।
अष्टषोडशविंशान्तं मण्डपं चाधमादिकम्। स्नानार्थं कलशार्थं च यागद्रव्यार्थमर्धतः।।३।।
त्रिभागेणार्धभागेन वेदिं कुर्यात्तु शोभनाम्। कलशैर्घटिकाभिश्च वितानाद्यैर्विभूषयेत्।।४।।
पञ्चगव्येन संप्रोक्ष्य सर्वद्रव्याणि धारयेत्। अलङ्कृतो गुरुर्विष्णुं ध्यात्वा तं च प्रपूजयेत्।।५।।

श्रीहरि की पिण्डिका भी सदा यथोचित शोभा से सम्पन्न बनायी जानी चाहिये। सभी देवताओं की प्रतिमाओं के लिये वही मान बतलाया जाता है, जो विष्णु-प्रतिमा के लिये कहा गया है तथा सम्पूर्ण देवियों के लिये भी वही मान बतलाया जाता है, जो श्रीलक्ष्मी की प्रतिमा के लिये बतलाया गया है।।९-१०।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी पचपनवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।५५।।

अध्याय-५६

दस दिक्पाल-याग कथन

श्री भगवान् हयग्रीव ने कहा कि-हे ब्रह्मन्! मैं प्रतिष्ठा के पाँच अंगों का वर्णन करने जा रहा हूँ। प्रतिमा पुरुष का प्रतीक है तो पिण्डिका प्रकृति का, अथवा प्रतिमा नारायण का स्वरूप है तो पिण्डिका श्रीलक्ष्मी का। उन दोनों के योग को 'प्रतिष्ठा' कहते हैं। इसलिये मनोवांछित फल चाहने वाले मनुष्यों द्वारा इष्टदेवता की प्रतिष्ठा अर्थात् स्थापना की जाती है। आचार्य को मन्दिर के सामने गर्भ सूत्र को निकाल कर आठ, सोलह अथवा बीस हाथ का मण्डप तैयार करना चाहिये। इनमें आठ हाथ का मण्डप 'निम्न' सोलह हाथ का 'मध्यम' और बीस हाथ का 'श्रेष्ठतम' माना गया है। मण्डप में देवता के स्नान के लिये, कलश-स्थापन के लिये तथा याग-सम्बन्धी द्रव्यों को रखने के लिये आधा स्थान सुरक्षित कर लेना चाहिये। फिर मण्डप के आधे या तिहाई भाग में सुन्दर वेदी बनाने चाहिये। उसको बड़े-बड़े कलशों, छोटे-छोटे घड़ों और चँदोवे आदि से विभूषित करना चाहिये। पञ्चगव्य से मण्डप के अन्दर के स्थानों का प्रोक्षण करके वहाँ सभी सामग्री रखा जाना चाहिये। तत्पश्चात् गुरु को वस्त्र एवं माला आदि से अलंकृत हो, भगवान् श्रीहरि विष्णु का ध्यान करके उनका पूजन प्रारम्भ करना चाहिये।।१-५।।

अङ्गुलीयप्रभृतिभिर्मूर्तिपान्प्रार्थनादिभिः। कुण्डे कुण्डे स्थापयेच्च मूर्तिपांस्तत्र पारगान्॥६॥
चतुष्कोणे चार्धकोणे वर्तुले पद्मसंनिभे। पूर्वादौ तोरणार्थं तु पिप्पलोदुम्बरौ वटः॥७॥
प्लक्षःसुशोभनं पूर्वं सुभद्रं दक्षतोरणम्। सुकर्माणं सुहोत्रं च आप्ये सौम्ये समुच्छ्रयम्॥८॥
पञ्चहस्तं तु संस्थाप्य स्योना पृथिवीति पूजयेत्। तोरणस्तम्भमूले तु कलशान्मङ्गलान्कुरु॥९॥
प्रदद्यादुपरिष्टाच्च कुर्याच्चक्रं सुदर्शनम्। पञ्चहस्तप्रमाणस्तु ध्वजः कार्यो विचक्षणैः॥१०॥
वैपुल्यं चास्य कुर्वीत षोडशाङ्गुलसंमितम्। सप्तहस्तोच्छ्रितं चास्य कुर्याद्दण्डं सुरोत्तम॥११॥
अरुणोऽग्निनिभश्चैव कृष्णः शुक्लोऽथ पीतकः। रक्तवर्णस्तथा श्वेतश्चैते वर्णाः क्रमाद्ध्वजे॥१२॥
कुमुदः कुमुदाक्षश्च पुण्डरीकोऽथ वामनः। शङ्कुकर्णः सर्वनेत्रः सुमुखः सुप्रतिष्ठितः॥१३॥
पूज्या कोटिगुणैर्युक्ताः पूर्वाद्या ध्वजदेताः। जलाढ़कसुपूरास्तु पक्वबिम्बोपमाघटाः॥१४॥
अष्टाविंशाधिकशतं कालदण्डेन वर्जिताः। सहिरण्या वस्त्रकण्ठाः सोदकास्तोरणाद्बहिः॥१५॥
घटाः स्थाप्याश्च पूर्वादौ वेदिकायाश्च कोणगाः। चतुरः स्थापयेत्कुम्भानाजिघेति समन्ततः॥१६॥
कुम्भेष्वावाह्य शक्रादीन्पूर्वादौ पूजयेत्क्रमात्। इन्द्राऽऽवागच्छ देवराज वज्रहस्त गजस्थित॥१७॥
पूर्वद्वारं च मे रक्ष देवैः सह नमोऽस्तु ते। त्रातारमिन्द्रमन्त्रेण अर्चयित्वा यजेद्बुधः॥१८॥

अँगूठी आदि भूषणों तथा याचना आदि से मूर्तिपालक विद्वानों का स्वागत-सत्कार करके कुण्ड-कुण्ड पर उन्हे बिठाया जाना चाहिये। वे वेदों के पारंगत हों। चतुरस्र, अर्धचन्द्र, गोलाकार अथवा कमल-सदृश आकार वाले कुण्डों पर उन विद्वानों को विराजमान करना चाहिये। पूर्व आदि दिशाओं में तोरण (द्वार) के लिये पीपल, गूलर, वट और प्लक्ष के वृक्ष के काष्ठ का उपयोग करना चाहिये। पूर्व दिशा का द्वार 'सुशोभन' नाम से प्रसिद्ध है। दक्षिण दिशा का द्वार 'सुभद्र' कहा गया है, पश्चिम का द्वार 'सुकर्मा' और उत्तर का 'सुहोत्र' नाम से प्रसिद्ध है। ये सभी तोरण-स्तम्भ पाँच हाथ ऊँचे होने चाहिये। इनकी स्थापना करके **'स्योना' पृथिवि नो**–(शु. यजु. ३६-१३) इस मन्त्र से पूजन करना चाहिये। तोरण-स्तम्भ के मूल भाग में मंगल अंकुर (आम्र-पल्लव, यवाङ्कुर आदि) से युक्त कलश स्थापित करना चाहिये॥६-९॥ तोरण स्तम्भ के ऊपरी भाग में सुदर्शन चक्र की स्थापना करनी चाहिये। इसके अतिरिक्त विद्वान् पुरुषों को वहाँ पाँच हाथ का ध्वज स्थापित करना चाहिये। उस ध्वज की चौड़ाई सोलह अंगुल की हो।

हे सुरश्रेष्ठ! उस ध्वज का दण्ड सात हाथ ऊँचा होना चाहिये। अरुण वर्ण, अग्नि वर्ण (धूम्रवर्ण), कृष्ण, शुक्ल, पीत, रक्त तथा श्वेत–ये वर्ण क्रमशः पूर्वादि दिशाओं के ध्वज में होने चाहिये। कुमुद, कुमुदाक्ष, पुण्डरीक, वामन, शङ्कुकर्ण, सर्वनेत्र, सुमुख और सुप्रतिष्ठित–ये क्रमशः पूर्व आदि ध्वजों के पूजनीय देवता हैं। इनमें करोड़ों दिव्य गुण विद्यमान हैं। कलश ऐसे पके हुए हों कि सुपक्व बिम्बफल के समान लाल दिखायी देते हों। वे एक-एक आढक जल से पूर्णतः भरे हों। उनकी संख्या एक सौ अट्ठाईस हो। उनकी स्थापना ऐसे समय करनी चाहिये, जिस समय कि 'कालदण्ड' नामक योग न हो। उन सभी कलशों में स्वर्ण डाला गया हो। उनके कण्ठ भाग में वस्त्र लपेटे गये हों। वे जलपूर्ण कलश तोरण से बाहर स्थापित किये जायँ॥१०-१५॥ वेदी के पूर्व आदि दिशाओं तथा कोणों में भी कलश स्थापित करने चाहिये। पहले पूर्वादि चारों दिशाओं में चार कलश स्थापित करना चाहिये। उस समय **'आजिघ्र कलशम्** आदि मन्त्र का पाठ करना चाहिये। उन कलशों में पूर्वादि दिशाओं के क्रम से इन्द्र आदि दिक्पालों का आवाहनपूर्वक पूजन करना चाहिये। इन्द्र का आवाहन करते समय इस तरह कहे–'ऐरावत हाथी पर बैठे और हाथ

आगच्छाग्रे शक्तिहस्त छागस्थ बलसंयुतः। रक्षाऽऽग्नेयी दिशः देवैस्त्वं समरुद्भि नमोऽस्तु ते॥१९॥
अग्निर्मूर्धेति मन्त्रेण यजेद्वा अग्नये नमः। महिषस्थ यमाऽऽगच्छ दण्डहस्त महाबल॥२०॥
रक्षस्व दक्षिणं द्वारं वैवस्वत नमोऽस्तु ते। वैवस्वतं संगमनमित्यनेन यजेद्यमम्॥२१॥
नैर्ऋताऽऽगच्छ खड्गाढ्य बलवाहनसंयुत। इदमर्घ्यमिदं पाद्यं रक्षत्वं नैर्ऋतीं दिशम्॥२२॥
एष ते नैर्ऋतेत्यादि यजेदर्घ्यादिभिर्नरः। मकरारूढ वरुण पाशहस्त महाबल॥२३॥
आगच्छ पश्चिमं द्वारं रक्ष रक्ष नमोऽस्तु ते। उरुं हि राजा वरुण यजेदर्घ्यादिभिर्गुरुः॥२४॥
आगच्छ वायो सबल ध्वजहस्तसवाहन। वायव्यं रक्ष देवैस्त्वं समरुद्भिर्नमोऽस्तु ते॥२५॥
वात इत्यादिभिश्चार्चेदोन्नमो वायवेऽपि वा। अगच्छ सोम सबल गदाहस्त सवाहन॥२६॥
रक्षत्वमुत्तरं द्वारं सकुबेर नमोऽस्तु ते। सोमं राजानमिति वा यजेत्सोमाय वै नमः॥२७॥
आगच्छेशान सबल शूलहस्त वृषस्थित। यज्ञमण्डपस्यैशानीं दिशं रक्ष नमोऽस्तु ते॥२८॥
ईशानमस्येति यजेदीशानाय नमोऽपि वा। ब्रह्मन्नागच्छ हंसस्थ स्रुक्स्रुवव्यग्रहस्तक॥२९॥
सलोकोर्ध्वां दिशं रक्ष यज्ञस्याज नमोऽस्तु ते। हिरण्यगर्भेतियजेन्नमस्ते ब्रह्मणेऽपि वा॥३०॥

में वज्र धारण किये देवराज इन्द्र! यहाँ आइये और अन्य देवताओं के साथ मेरे पूर्व द्वार की रक्षा कीजिये। देवताओं सहित आपको नमस्कार है।' इस तरह आवाहन करके विद्वान् पुरुष को **त्रातारमिन्द्रम्**–इत्यादि मन्त्र से उनकी अर्चना एवं आराधना करना चाहिये॥१६-१८॥ इसके बाद निम्नांकित रूप से श्रीअग्नि देव का आवाहन करना चाहिये–'बकरे पर आरूढ शक्तिधारी एवं बलशाली श्रीअग्नि देव! आइये और देवताओं के साथ अग्निकोण की रक्षा कीजिये। यह पूजा ग्रहण कीजिये। आपको नमस्कार हैं।' तदननतर '**अग्निर्मूर्द्धा** इत्यादि से अथवा '**अग्नये नमः**'–इस मन्त्र से अग्निदेव की पूजा करनी चाहिये। यमराज का आवाहन–'महिषपर आरूढ, दण्डधारी, महावली सूर्यपुत्र यम! आप यहाँ पधारिये और दक्षिण द्वार की रक्षा कीजिये। आपको नमस्कार है। इस तरह आवाहन करके '**वैवस्वतं सङ्गमनम्०** 'इत्यादि मन्त्र से यमराज की पूजा करनी चाहिये। निर्ऋति का आवाहन–'बल और वाहन से सम्पन्न खड्गधारी निर्ऋति! यहाँ पधारिये। आपके लिये यह अर्घ्य है, यह पाद्य है। आप नैर्ऋत्य दिशा की रक्षा कीजिये। इस तरह आवाहन करके '**एष ते निर्ऋते**' इत्यादि से मनुष्य अर्घ्य आदि उपचारों द्वारा निर्ऋति की पूजा करनी चाहिये॥१९-२२॥ वरुण का आवाहन–'मकर पर आरूढ पाशधारी महाबली वरुणदेव! आइये और पश्चिम द्वार की रक्षा कीजिये। आपको नमस्कार है। इस तरह आवाहन करके '**उरुं हि राजा वरणुः.**' इत्यादि मन्त्रों द्वारा आचार्य को वरुणदेवता का अर्घ्य आदि से पूजन करना चाहिये। वायु देवता का आवाहन–अपने वाहन पर आरूढ ध्वजधारी महाबली वायुदेव! आइये और देवताओं तथा मरुद्र गणों के साथ वायव्यकोण की रक्षा कीजिये। आपको नमस्कार है। '**वात आवातु०** इत्यादि वैदिक मन्त्र से अथवा '**ॐ नमो वायवे.**। इस मन्त्र से वायु की पूजा करनी चाहिये॥२३-२५॥ सोम का आवाहन –'बल और वाहन से सम्पन्न गदाधारी सोम! आप यहाँ पधारिये और उत्तर द्वार की रक्षा कीजिये। कुबेर सहित आपको नमस्कार है। इस तरह आवाहन करके '**सोमं राजनम्**' इत्यादि अथवा **सोमाय नमः**। इस मन्त्र से सोम की पूजा करनी चाहिये। ईशान का आवाहन–'इस मन्त्र से सोम की पूजा करनी चाहिये। ईशान का आवाहन–'वृषभ पर आरूढ़ महाबलशाली शूलधारी ईशान! पधारिये और यज्ञ-मण्डप की ईशान-दिशा का संरक्षण कीजिये। आपको नमस्कार है। इस तरह आवाहन करके **ईशानमस्य०** इत्यादि अथवा **ईशानाय नमः**। इस मन्त्र से ईशान देवता का पूजन करना चाहिये। ब्रह्मा का आवाहन–'हाथ के अग्रभाग में स्रुक् और स्रुवा लेकर हंसपर आरूढ हुए अजन्मा ब्रह्माजी! आइये और लोक

अनन्तागच्छ चक्राढ्य कूर्मस्था हि गणेश्वर। अधोदिशं रक्ष रक्ष अनन्तेश नमोऽस्तु ते।।३१।।
नमोऽस्तु सर्पेति यजेदनन्ताय नमोऽपि वा।।३२।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते दशदिक्पालयागकथनं नाम षट्पञ्चाशत्तमोऽध्यायः।।५६।।

अथ सप्तपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

कलशाधिवासविधिकथनम्

श्रीभगवानुवाच

भूमेः परिग्रहं कुर्यात्क्षिपेद्व्रीहींश्च सर्षपान्। नारसिंहेन रक्षोघ्नान्प्रोक्षयेत्पञ्चगव्यतः।।१।।
भूमिं घटे तु सम्पूज्य सरत्ने साङ्गकं हरिम्। अस्त्रमन्त्रेण करकं तत्र चाष्टशतं यजेत्।।२।।
अच्छिन्नधारया सिञ्चन्व्रीहीन्संस्कृत्य धारयेत्। प्रदक्षिणं परिभ्राम्य कलशं विकिरोपरि।।३।।
सवस्त्रे कलशे भूयः पूजयेदच्युतं श्रियम्। योगे योगेति मन्त्रेण न्यसेच्छय्यां तु मण्डले।।४।।

सहित यज्ञ मण्डप की ऊर्ध्वदिशा की रक्षा कीजिये। आपको नमस्कार है। इस तरह आवाहन करके **'हिरण्यगर्भः.'** इत्यादि से अथवा **'नमस्ते ब्रह्मणे'** इस मन्त्र से ब्रह्मा जी की पूजा करनी चाहिये।।२६-३०।। अजन्त का आवाहन- 'कच्छप की पीठ पर विराजमान नागगणों के अधिपति, चक्रधारी अनन्त! आइये और नीचे की दिशा की रक्षा कीजिये, रक्षा कीजिये। अजन्तेश्वर! आपको नमस्कार है। इस तरह आवाहन करके **'नमोऽस्तु सर्पेभ्यः'** इत्यादि से अथवा **'अनन्ताय नमः।'** इस मन्त्र से भगवान् अनन्त की पूजा करनी चाहिये।।३१-३२।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी छप्पनवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।५६।।

अध्याय-५७

कलशाधिवास विधि कथन

श्री भगवान् हयग्रीव ने कहा कि-हे ब्रह्मन्! प्रतिष्ठा के लिये अथवा देव पूजन के लिये जिस भूमि को ग्रहण करना है, उस स्थान पर नारसिंह-मन्त्र का पाठ करते हुए राक्षसों का अपसारण करने वाले अक्षत और सरसों छींटने चाहिये तथा पञ्चगव्य से उस भूमि का प्रोक्षण करना चाहिये। रत्न युक्त कलश पर अंग-देवताओं सहित श्रीहरि विष्णु का पूजन करके, वहाँ अस्त्र-मन्त्र से एक सौ आठ करकों (कमण्डलुओं) का पूजन करना चाहिये। अविच्छिन्न धारा से वेदी का सेचन करके वहाँ व्रीहि (धान, जौ आदि) को संस्कारपूर्वक बिखेरे तथा कलश को प्रदक्षिणा क्रम से घुमाकर उस बिखेरे हुए अन्न के ऊपर स्थापित करना चाहिये। वस्त्रवेष्टित कलश पर पुनः भगवान् श्रीहरि विष्णु और श्रीलक्ष्मी की पूजा करनी चाहिये। उसके बाद **'योगे योग'** इत्यादि मन्त्र से मण्डल में शय्या स्थापित करना चाहिये। स्नान-मण्डप में कुश के ऊपर शय्या और शय्या के ऊपर तूलिका (रूई भरा गद्दा) बिछाकर, दिशाओं और

कुशोपरि तूलिकां च शय्यायां दिग्विदिक्षु च। विद्याधिपान्यजेद्विष्णुं मधुघातं त्रिविक्रमम्॥५॥
वामनं दिक्षु वह्न्यादौ श्रीधरं च हृषीकेशम्। पद्मनाभं दामोदरमैशान्यां स्नानमण्डपे॥६॥
अभ्यर्च्य पश्चादैशान्यां चतुष्कुम्भे सवेदिके। स्नानमण्डपके सर्वद्रव्याण्यानीय निक्षिपेत्॥७॥
स्नानकुम्भेषु कुम्भांस्तांश्चतुर्दिक्ष्वधिवासयेत्। कलशाः स्थापनीयास्तु अभिषेकार्थमादरात्॥८॥
वटोदुम्बरकाश्वत्थांश्चम्पकाशोकश्रीद्रुमान्। पलाशार्जुनप्लक्षांस्तु कदम्बबकुलाम्रजान्॥९॥
पल्लवांस्तु समानीय पूर्वकुम्भे विनिक्षिपेत्। पद्मकं रोचनां दूर्वां दर्भपिञ्जूलमेव च॥१०॥
जातीपुष्पं कुन्दपुष्पं चन्दनं रक्तचन्दनम्। सिद्धार्थं तगरं चैव तण्डुलं दक्षिणे न्यसेत्॥११॥
सुवर्णं रजतं चैव कूलद्वयमृदं तथा। नद्याः समुद्रगामिन्या विशेषाज्जाह्नवीमृदम्॥१२॥
गोमयं च यवाञ्शालींस्तिलांश्चैव परे न्यसेत्। विष्णुपर्णीं शालपर्णीं भृङ्गराजं शतावरीम्॥१३॥
सहदेवी वचां सिंहीं वलां व्याघ्रीं सलक्ष्मणाम्। ऐशान्यामपरे कुम्भे मङ्गलानि निवेशयेत्॥१४॥
वल्मीकमृत्तिकां सप्तस्थानोत्थामपरे न्यसेत्। जाह्नवीबालुकां तोयं विन्यसेदपरे घटे॥१५॥
वराहवृषनागेन्द्रविषाणोद्धृतमृत्तिकाम्। मृत्तिकां पद्ममूलस्य कुशस्य त्वपरे न्यसेत्॥१६॥
तीर्थपर्वतमृद्भिश्च युक्तमप्यपरे न्यसेत्। नागकेशरपुष्पं च काश्मीरमपरे न्यसेत्॥१७॥
चन्दनागुरुकर्पूरैः पूर्य चैवापरे न्यसेत्। वैदूर्यं विद्रुमं मुक्तां स्फटिकं वज्रमेव च॥१८॥

विदिशाओं में विद्याधिपतियों अर्थात् भगवान् श्रीहरि विष्णु के ही विभिन्न विग्रहों का पूजन करना चाहिये। पूर्वादि दिशाओं में क्रमशः विष्णु, मधुसूदन, त्रिविक्रम और वामन का तथा अग्नि आदि कोणों में क्रमशः श्रीधर, हृषीकेश, पद्मनाथ एवं दमोदर का पूजन करना चाहिये। दामोदर का पूजन ईशान कोण में होना चाहिये॥१-६॥ इस तरह पूजन करने के पश्चात् स्नानमण्डप के अन्दर ईशान कोण में स्थित तथा वेदी से विभूषित चार कलशों में स्नानोपयोगी सभी द्रव्यों को लाकर डालना चाहिये। उन कलशों को चारों दिशाओं में विराजमान कर देना चाहिये। भगवान् के अभिषेक के लिये संचित किये गये वे कलश बड़े आदर के साथ रखने का निश्चय ही प्रयत्न करना चाहिये। पूर्व दिशा के कलश में बड़, गूलर, पीपल, चम्पा, अशोक, श्रीद्रुम (बिल्व), पलाश, अर्जुन, पाकड़, कदम्ब, मौलसिरी और आम के पल्लवों को लाकर डालना चाहिये। दक्षिण के कलश में कमल, रोचना, दूर्वा, कुश की मुट्ठी, जातीपुष्प, कुन्द, श्वेतचन्दन रक्तचन्दन, सरसों, तगर और अक्षत डालना चाहिये। पश्चिम के कलश में सोना, चाँदी, समुद्रगामिनी नदी के दोनों तटों की मिट्टी, विशेषतः गंगा की मृत्तिका, गोबर, जौ, अगहनी धान का चावल और तिल छोड़े॥७-१२॥ उत्तर के कलश में विष्णुपर्णी (भुई आँवला), शालपर्णी (सरिवन), भृङ्गराज (भँगरैया), शतावरी, सहदेवी (सहदेइया), बच, सिंही (कटेरी या अड़ूसा), बला (खरेटी), व्याघ्री (कटेहरी) और लक्षणा—इन औषधियों को छोड़े। ईशानकोणवर्ती अन्य कलश में माङ्गलिक वस्तुएँ डालें। अग्निकोणस्थ दूसरे कलश में बाँबी आदि सात स्थानों की मिट्टी छोड़े। नैर्ऋत्यकोणवर्ती अन्य कलश में गंगा जी की बालू और जल डाले तथा वायव्यकोणवर्ती अन्य कलश में सूकर, वृषभ और गजराज के दाँत एवं सींगों द्वारा कोड़ी हुई मिट्टी, कमल की जड़ के पास की मिट्टी तथा इतर कलश में कुश के मूल भाग की मृत्तिका डालना चाहिये। इसी तरह किसी कलश में तीर्थ और पर्वतों की मृत्तिकाओं से युक्त जल डाले, किसी में नागकेसर के फूल और केसर छोड़े, किसी कलश में चन्दन, अगरु, विद्रुम, मुक्ता, स्फटिक तथा वज्र (हीरा)—ये पाँच रत्न भी डालना चाहिये॥१३-१८॥

एतान्येकत्र निक्षिप्य स्थापयेद्देवसत्तमम्। नदीनदतडागानां सलिलैरपरे न्यसेत्।।१९।।
एकाशीतिपदे चान्यान्मण्डले कलशान्न्यसेत्। गन्धोदकाद्यैः सम्पूर्णाञ्श्रीसूक्तेनाभिमन्त्रयेत्।।२०।।
यवान्सिद्धार्थकं गन्धं कुशाग्रं चाक्षतांस्तथा। तिलान्फलं तथा पुष्पमर्घ्यार्थं पूर्वतो न्यसेत्।।२१।।
पद्मं श्यामलतां दूर्वां विष्णुक्रान्तां कुशांस्तथा। पाद्यार्थं दक्षिणे भागे मधुपर्कं तु पश्चिमे।।२२।।
कक्कोलकं लवङ्गं च तथा जातीफलं शुभम्। उत्तरे ह्याचमनाय अग्नौ दूर्वाक्षतान्वितम्।।२३।।
पात्रं नीराजनार्थं च तथोद्वर्तनमालिने। गन्धपिष्टान्वितं पात्रमैशान्यां कलशे न्यसेत्।।२४।।
सुरमांसी चाऽऽमलकं सहदेवीं निशादिकम्। षष्टिदीपान्न्यसेदष्टौ न्यसेन्नीराजनाय च।।२५।।
शङ्खं चक्रं च श्रीवत्सं कुलिशं पङ्कजादिकम्। हेमादिपात्रे कृत्वा तु नानावर्णादिपुष्पकम्।।२६।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते कलशाधिवासविधिकथनं नाम सप्तपञ्चाशत्तमोऽध्यायः।।५७।।

इन सभी को एक कलश में डालकर उसी के ऊपर इष्ट-देवता की स्थापना करनी चाहिये। अन्य कलश में नदी, नद और तालाबों के जल से युक्त जल छोड़े। इक्यासी पद वाले वास्तुमण्डल में अन्यान्य कलशों की स्थापना करनी चाहिये। वे कलश गन्धोदक आदि से पूर्ण हों। उन सभी को श्रीसूक्त से अभिमन्त्रित करना चाहिये। जौ, सरसों, गन्ध, कुशाग्र, अक्षत, तिल, फल और पुष्प–इन सभी को अर्घ्य के लिये पात्रविशेष में संचित करके पूर्व दिशा की तरफ रख देना चाहिये। कमल, श्यामलता, दूर्वादल, विष्णुक्रान्ता और कुश–इन सभी को पाद्य-निवेदन के लिये दक्षिण भाग में स्थापित करना चाहिये। मधुपर्क पश्चिम दिशा में रखे। कङ्कोल, लवङ्ग और सुन्दर जायफल–इन सभी को आचमन के उपयोग के लिये उत्तर दिशा में रखना उचित है। अग्निकोण में दूर्वा और अक्षत से युक्त एक पात्र नीराजना (आरती उतरने) के लिये रखे। वायव्यकोण में उद्वर्तनपात्र तथा ईशानकोण में गन्धपिष्ट से युक्त पात्र रखे। कलश में सुरमांसी (जटामांसी), आँवला, सहदेइया तथा हल्दी आदि छोड़े। नीराजना के लिये अडसठ दीपों की स्थापना करनी चाहिये। शङ्ख तथा धातु निर्मित चक्र, श्रीवत्स, वज्र एवं कमल पुष्प आदि रंग-बिरंगे पुष्प स्वर्ण आदि के पात्र में सुसज्जित करके रख लेना योग्य कर्त्तव्य है।।१९-२६।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी सत्तावनवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।५७।।

अथाष्टपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

स्नपनविध्यादिकथनम्

श्रीभगवानुवाच

ऐशान्यां जनयेत्कुण्डं गुरुर्वह्निं च वैष्णवम्। गायत्र्याऽष्टशतं हुत्वा संपातविधिना घटान्।।१।।
प्रोक्षयेत्कारुशालायां शिल्पिभिर्मूर्तिपैर्व्रजेत्। तूर्यशब्दैः कौतुकं च बन्धयेद्दक्षिणे करे।।२।।
विष्णवे शिपिविष्टेति ऊर्णासूत्रेण सर्षपैः। पट्टवस्त्रेण कर्त्तव्यं देशिकस्यापि कौतुकम्।।३।।
मण्डले प्रतिमां स्थाप्य सवस्त्रां पूजितां स्तुवन्। नमस्तेऽर्चे सुरेशानि प्रणीते विश्वकर्मणा।।४।।
प्रभाविताशेषजगद्धात्रि तुभ्यं नमो नमः। त्वयि सम्पूजयामीशे नारायणमनामयम्।।५।।
रहिता शिल्पिदोषैस्त्वमृद्धियुक्ता सदा भव। एवं विज्ञाप्य प्रतिमां नयेत्तां स्नानमण्डपम्।।६।।
शिल्पिनं तोषयेद्द्रव्यैर्गुरवे गां प्रदापयेत्। चित्रं देवेति मन्त्रेण नेत्रे चोन्मीलयेत्ततः।।७।।
अग्निर्ज्योतीति दृष्टिं च दद्याद्वै भद्रपीठके। ततः शुक्लानि पुष्पाणि घृतं सिद्धार्थकं तथा।।८।।
दूर्वां कुशाग्रं देवस्य दद्याच्छिरसि देशिकः। मधुवातेतिमन्त्रेण नेत्रे चाभ्यञ्जयेद्गुरुः।।९।।

अध्याय-५८

स्नान और शयन कथन

श्रीभगवान् हयग्रीव ने कहा कि-हे ब्रह्मन्! आचार्य को ईशान कोण में एक हवनकुण्ड तैयार करना चाहिये और उसमें वैष्णव-अग्नि की स्थापना करनी चाहिये। उसके बाद गायत्री मन्त्र से एक सौ साठ आहुतियाँ देकर सम्पात-विधि से कलशों का प्रोक्षण करना चाहिये। उसके बाद मूर्तिपालक विद्वानों तथा शिल्पियों सहित यजमान बाजे-गाजे के साथ कारुशाला अर्थात् कारीगार की कर्मशाला में जाय। वहाँ प्रतिमावर्ती इष्ट देवता के दाहिने हाथ में कौतुक सूत्र (कङ्कण आदि) उसको बाँधते समय **विष्णवे शिपिविष्टाय नमः**' इस मन्त्र का पाठ करना चाहिये। उस समय आचार्य के हाथ में भी ऊनी सूत, सरसों और रेशमी वस्त्र से कौतुक बाँध देना चाहिये। मण्डल में सवस्त्र प्रतिमा की स्थापना और पूजा करके उसकी स्तुति करते हुए कहे-'हे विश्वकर्मा की बनायी हुई देवेश्वरि प्रतिमे! आपको नमस्कार है। हे सम्पूर्ण जगत् को प्रभावित करने वाली जगजम्ब! आपको मेरा बारम्बार नमस्कार है। हे ईश्वरि! मैं आपमें निरामय नारायण देव का पूजन करने जा रहा हूँ। आप शिल्प-सम्बन्धी दोषों से हीन हो; इसलिये मेरे लिये सदा समृद्धिशालिनी बनी रहो।।१-५।। इस तरह याचना करके प्रतिमा को स्नानमण्डप में ले जाय। शिल्पी को यथेष्ट द्रव्य देकर संतुष्ट करना चाहिये। गुरु को गोदान देना चाहिये। **'चित्रं देवाना.'** इत्यादि मन्त्र से प्रतिमा को नेत्रोन्मीलन करना चाहिये। **'अग्निर्ज्योति.'** इत्यादि मन्त्र से दृष्टि संचार करना चाहिये। फिर भद्रपीठ पर प्रतिमा को स्थापित करना चाहिये। तत्पश्चात् आचार्य को श्वेत पुष्प, घी, सरसों, दूर्वादल तथा कुशाग्र इष्ट देव के सिर पर चढ़ाना चाहिये।।६-८।। इसके बाद **'मधु वाता.** इत्यादि मन्त्र से गुरु प्रतिमा के नेत्रों में अञ्जन करना चाहिये। उस समय **हिरण्यगर्भः** इत्यादि तथा **'इमं में वरुण'** (यजु. २१/१) इत्यादि मन्त्रों का कीर्तन करना चाहिये। तत्पश्चात् पुनः 'घृतवती' ऋचा का पाठ करते हुए घृत का अभ्यङ्ग लगाना चाहिये। इसके बाद मसूर के बेसन से उबटन का काम लेकर अतो दवाः०' इत्यादि मन्त्र का कीर्तन करना चाहिये। फिर **'सप्त ते अग्ने.** इत्यादि मन्त्र बोलकर गुरु गर्म जल से प्रतिमा का प्रक्षालन करना चाहिये। उसके बाद द्रुपदादिव. इत्यादि मन्त्र से अभिषेक

हिरण्यगर्भमन्त्रेण इमं मेति च कीर्तयेत्। घृतेनाभ्यञ्जयेत्पश्चात्पठन्घृतवतीं पुनः॥१०॥
मसूरपिष्टेनोद्वर्त्य अतो देवेति कीर्तयेत्। क्षालयेदुष्णतोयेन सप्त तेऽग्नेति देशिकः॥११॥
द्रुपदादिवेत्यनुलिम्पेदापो हिष्ठेति सिञ्चयेत्। नदीजैस्तीर्थजैः स्नानं पावमानीति रत्नजैः॥१२॥
समुद्रं गच्छ गच्छेति तीर्थमृत्कलशेन च। शं नो देवीः स्नापयेच्च गायत्र्याऽप्युष्णवारिणा॥१३॥
पञ्चमृद्भिर्हिरण्येति स्नापयेत्परमेश्वरम्। सिकताद्भिरिमं मेति वल्मीकोद्घटनेन च॥१४॥
तद्विष्णोरिति ओषध्यद्भिर्या ओषधि मन्त्रतः। यज्ञा यज्ञेति काषायैः पञ्चभिर्गव्यकैस्ततः॥१५॥
पयः पृथिव्यां मन्त्रेण याः फलीति फलाम्बुभिः। विश्वतश्चक्षुः सौम्येन पूर्वेण कलशेन च॥१६॥
सोमं राजानमित्येवं विष्णोरराटं दक्षिणतः। हंसः शुचि पश्चिमेन कुर्यादुद्वर्तनं हरेः॥१७॥
मूर्धानमितिमन्त्रेण धात्रीमांस्युदकेन च। मानस्तोकेति मन्त्रेण गन्धद्वारेति गन्धकैः॥१८॥
इदमापेति च घटैरेकाशीतिपदस्थितैः। एह्येहि भगवन्विष्णो लोकानुग्रहकारक॥१९॥
यज्ञभागं गृहाणेमं वासुदेव नमोऽस्तु ते। अनेनाऽऽवाह्य देवेशं कुर्यात्कौतुकमोचनम्॥२०॥
मुञ्चामि त्वेति सूक्तेन देशिकस्यापि मोचयेत्। हिरण्येन पाद्यं दद्यादतो देवेति चार्घ्यकम्॥२१॥
मधुवाता मधुपर्कं मयि गृह्णामि चाऽऽचमेत्। अक्षन्नमीमदन्तेति किरेद्दूर्वाक्षतं बुधः॥२२॥
काण्डान्निर्मन्थनं कुर्याद्गन्धं गन्धवतीति च। उन्नयामीति माल्यं च इदं विष्णुः पवित्रकम्॥२३॥

करना चाहिये। अभिषेक के पश्चात् नदी एवं तीर्थ के जल से स्नान कराकर **पावमानी** ऋचा (शु. यजु. ३९-४३) का पाठ करते हुए रत्न स्पर्श से युक्त जल द्वारा स्नान कराना चाहिये। '**समुद्रं गच्छ स्वाहा.** इत्यादि मन्त्र का वाचन करते हुये तीर्थ की मृत्तिका और कलश के जल से स्नान कराना चाहिये। '**शं नो' देवी:०**' इत्यादि तथा गायत्री मन्त्र से गरम जल के द्वारा इष्ट देव की प्रतिमा को स्नान कराना चाहिये॥९-१३॥ '**हिरण्यगर्भ:.**' इत्यादि मन्त्र से पाँच तरह की मृत्तिकाओं द्वारा परमेश्वर को स्नान कराये। इसके बाद '**इमं मे गङ्गे: यमुने.** इत्यादि मन्त्र से बालुकामिश्रित जल के द्वारा तथा '**तद् विष्णो:.**' इत्यादि मन्त्र से बाँबी की मिट्टी मिले हुए जल से पूर्ण घट के द्वारा भगवान् को स्नान कराये। '**या ओषधी:**' इत्यादि मन्त्र से औषधिमिश्रित जल के द्वारा, '**यज्ञा यज्ञा.**' इत्यादि मन्त्र से आँवले आदि कसैले पदार्थों से मिश्रित जल के द्वारा, '**पयः पृथिव्याम् .**' इत्यादि मन्त्र से पञ्चगव्यों द्वारा तथा '**याः फलिनी:.**' इत्यादि मन्त्र से फलमिश्रित जल के द्वारा भगवान् को नहलावे। '**विश्वश्चक्षुः**' इत्यादि मन्त्र से उत्तरवर्ती कलश द्वारा, '**सोमं राजानम्.**' इस मन्त्र से पूर्ववर्ती कलश द्वारा, '**विष्णो रराटमसि.**' इत्यादि मन्त्र से दक्षिणवर्ती कलश द्वारा तथा '**हँ्सः शुचिषद्.**' इत्यादि मन्त्र से पश्चिमवर्ती कलश द्वारा भगवान् को उद्वर्तन-स्नान कराये॥१४-१७॥ '**मूर्द्धानं दिवो.** इत्यादि मन्त्र से आँवले मिले हुए जल द्वारा, '**मा नस्तोके.**' इत्यादि मन्त्र से जटामांसीमिश्रित जल के द्वारा '**गन्धद्वाराम्.**' इत्यादि मन्त्र से गन्ध मिश्रित जल के द्वारा तथा '**इदमापः.**' इत्यादि मन्त्र से इक्यासी पदों वाले वास्तुमण्डल में रखे गये कलशों द्वारा भगवान् को सम्बोधित करके कहे–'हे भगवान्! समस्त लोकों पर अनुग्रह करने वाले सर्वव्यापी वासुदेव! आइये, आइये, इस यज्ञ भाग को ग्रहण कीजिये। आपको नमस्कार है। इस तरह देवेश्वर को आवाहन करके उनके हाथ में बँधा हुआ मंगलसूत्र खोल देना चाहिये। उसको खोलते समय '**मुञ्चामि त्वा.**' इस मन्त्र का पाठ करना चाहिये। इसी मन्त्र से आचार्य का भी कौतुकसूत्र खोल देना चाहिये। तत्पश्चात् '**हिरणमयेन.**' इत्यादि मन्त्र से पाद्य और '**अतो देवा:.**' (ऋक् १/१३/६) इत्यादि मन्त्र से अर्घ्य देना चाहिये। फिर '**मधु वाता:.**' इत्यादि मन्त्र से मधुपर्क देकर '**मयि गृह्णामि.**' इत्यादि मन्त्र से आचमन कराये। तत्पश्चात विद्वान् पुरुष '**अक्षन्नमीमदन्त.**' इत्यादि मन्त्र पढ़कर भगवान् के श्रीअंगों पर दूर्वा एवं अक्षत बिखेरे॥१८-२२॥ '**काण्डात्.**' इत्यादि मन्त्र से निर्मच्छन करना चाहिये। '**गन्धवती०**' इत्यादि से गन्ध अर्पित करना

बृहस्पतेवस्त्रयुग्मं वेदाहमुत्तरीयकम्। महाव्रतेन सकलान्पुष्पं चौषधयः क्षिपेत्।।२४।।
धूपं दद्याद्धूरसीति विभ्राट्सूक्तेन चाञ्जनम्।युञ्जन्तीति च तिलकं दीर्घायुष्ट्वेति माल्यकम्।।२५।।
इन्द्रच्छत्रेति च्छत्रं तु आदर्शं तु विराजतः। चामरं तु विकर्णेन भूषां रथन्तरेण च।।२६।।
व्यजनं वासुदेवाद्यैर्मुञ्चामि त्वेति पुष्पकम्। वेदाद्यैः संस्तुतिं कुर्याद्धरेः पुरुषसूक्ततः।।२७।।
सर्वमेतत्समं दद्यात् पिण्डिकादौ हरादिके। देवस्योत्थानसमये सौपर्णं सूक्तमुच्चरेत्।।२८।।
उत्तिष्ठेति समुत्थाप्य शय्याया मण्डपे नयेत्। शाकुनेनैव सूक्तेन देवं ब्रह्मरथादिना।।२९।।
अतो देवेति सूक्तेन प्रतिमां पिण्डिकां तथा। श्रीसूक्तेन च शय्यायां विष्णोर्न सकलीकृतिः।।३०।।
मृगराजं वृषं नागं व्यजनं कलशं तथा। वैजयन्तीं तथा भेरीं दीपमित्यष्टमङ्गलम्।।३१।।
दर्शयेदश्वसूक्तेन पाददेशे त्रिपादिति। उखां पिधानकं पात्रमम्बिकां दीर्घिकां ददेत्।।३२।।
मुसलोलूखलं दद्याच्छिलां संमार्जनीं तथा। तथा भोजनभाण्डानि गृहोपकरणानि च।।३३।।
शिरोदेशे च निद्राख्यं वस्त्ररत्नयुतं घटम्। खण्डखाद्यैः पूरयित्वा शयनस्य विधिः स्मृतः।।३४।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते स्नपनविध्यादिकथनं नामाष्टपञ्चाशत्तमोऽध्यायः।।५८।।
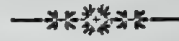
चाहिये। '**उन्नयामि.**) इस मन्त्र से फूल-माला और '**इदं विष्णुः**' इत्यादि मन्त्र से पवित्रक अर्पित करें। **बृहस्पते** इत्यादि मन्त्र से एक जोड़ा वस्त्र चढ़ावे। महाव्रतेन. इस मन्त्र से फूल और औषधि-इन सभी को चढ़ावे। उसके बाद धूरसि० इस मन्त्र से धूप देना चाहिये। '**विभ्राट्**' सूक्त से अंजन अर्पित करना चाहिये। 'युञ्जन्ति' इत्यादि मन्त्र से तिलक लगावे तथा '**दीर्घात्वाय०**' (अथर्व. २/४/१) इस मन्त्र से फूल माला चढ़ावे। इन्द्र क्षत्रमभि (अर्थव. ७/४/२) इत्यादि मन्त्र से छत्र 'विराट्' मन्त्र से दर्पण, 'विकर्ण' मन्त्र से चँवर तथा 'रथन्तर' साम-मन्त्र से आभूषण निवेदित करना चाहिये।।२३-२६।। वायुदेवता सम्बन्धी मन्त्रों द्वारा व्यजन मुञ्चामित्वा' (ऋक् १०/१६१/१) इस मन्त्र से फूल तथा वेदादि'प्रणव) युक्त पुरुष सूक्त के मन्त्रों द्वारा श्रीहरि विष्णु की स्तुति करनी चाहिये। ये सारी वस्तुएँ पिण्डिका आदि पर तथा शिव आदि देवताओं पर इसी तरह चढ़ावे। भगवान् उठाते समय 'सौपर्ण' सूक्त का पाठ करना चाहिये। 'हे प्रभो! उठिये' ऐसा कहकर भगवान् को उठावे और मण्डप में शय्यापर ले जाय। उस समय 'शकुनि सूक्त का पाठ करना चाहिये। ब्रह्म रथ एवं पालकी आदि के द्वारा भगवान् को शय्यापर ले जाना चाहिये। '**अतो देवाः**' (ऋक् १/२२/१६) इस सूक्त से तथा '**श्रीश्च ते श्रीलक्ष्मीश्च**' (यजु. ३१/२२) से प्रतिमा एवं पिण्डिका को शय्या पर पधरावे। उसके बाद भगवान् श्रीहरि विष्णु के लिये निष्कलीकरण की क्रिया सम्पादित करना चाहिये।।२७-३०।। सिंह, वृषभ, हाथी, व्यजन, कलश, वैजयन्ती (पताका), भेरी तथा दीपक-ये आठ मङ्गल सूचक वस्तुएँ हैं। इन सभी वस्तुओं को अश्वसूक्त का पाठ करते हुए भगवान् को दिखावे। '**त्रिपात्** इत्यादि मन्त्र से भगवान् के चरण-प्रान्त में उखा (पात्रविशेष), उसका ढक्कन, अम्बिका (कड़ाही), दर्विका (करछुल) पात्र, ओखली, मूसल, सिल, झाड़ू, भोजन-पात्र तथा गृह के अन्य सामान रखे। उनके सिर की तरफ वस्त्र और रत्न से युक्त एक कलश स्थापित करना चाहिये, जो खाँड और खाद्य पदार्थ से भरा हुआ हो। उस घट की 'निद्रा' संज्ञा होती है। इस तरह भगवान् के शयन की विधि बतलायी गयी है।।३१-३४।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।५८।।

❖❖❖

अथैकोनषष्टितमोऽध्यायः

अधिवासनविधिकथनम्

श्रीभगवानुवाच

हरेः सांनिध्यकरणमधिवासनमुच्यते। सर्वज्ञं सर्वगं ध्यात्वा आत्मानं पुरुषोत्तम॥१॥
ओंकारेण समायोज्य चिच्छक्तिमभिमानिनीम्। निःसार्याऽऽत्मैकतां कृत्वा स्वस्मिन्सर्वगते विभौ॥२॥
योजयेन्मरुता पृथ्वीं वह्निबीजेन दीपयेत्। संहरेद्वायुना चाग्निं वायुमाकाशतो नयेत्॥३॥
अधिभूताधिदेवैस्तु साध्याख्यै (त्मै) र्विभवैः सह। तन्मात्रपातकान्कृत्वा संहरेत्तत्क्रमाद् बुधः॥४॥
आकाशं मनसाऽऽहृत्य मनोऽहंकरणे कुरु। अहंकारं च महति तं चाप्यव्याकृते नयेत्॥५॥
अव्याकृतं ज्ञानरूपे वासुदेवः स ईरितः। सतामव्याकृतां मायामवष्टम्भ्य-सिसृक्षया॥६॥
संकर्षणं संशब्दात्मा स्पर्शाख्यमसृजत्प्रभुः। क्षोभ्य मायां स प्रद्युम्न तेजोरूपं समासृजत्॥७॥
अनिरुद्धं रसमात्रं ब्रह्माणं गन्धरूपकम्। अनिरुद्धः स च ब्रह्मा अप आदौ ससर्ज ह॥८॥
तस्मिन्हिरण्मयं चाण्डं सोऽसृजत्पञ्चभूतवत्। तस्मिन्सङ्क्रामते जीवशक्तिरात्मोपसंहृता॥९॥
प्राणो जीवेन संयुक्तो वृत्तिमानिति शब्द्यते। जीवो व्याहृतिसंज्ञस्तु प्राणेष्वाध्यात्मिकः स्मृतः॥१०॥

अध्याय-५९

अधिवास-विधि कथन

श्रीभगवान् हयग्रीव ने कहा कि-हे ब्रह्मन्! श्रीहरि विष्णु का सांनिध्यकरण 'अधिवासन' कहलाता है। साधक को यह चिन्तन करना चाहिये कि मैं अथवा मेरा आत्मा सर्वज्ञ सर्वव्यापी पुरुषोत्तम रूप है। इस तरह भावना करके आत्मा की 'ॐ' इस नाम के द्वारा प्रतिपादित होने वाले परमात्मा के साथ एकता करना चाहिये। उसके बाद चैतन्याभिमानिनी जीवन्शक्ति को पृथक् करके आत्मा के साथ उसकी एकात करना चाहिये। ऐसा करके स्वात्मरूप सर्वव्यापी परमेश्वर में उसको जोड़ देना चाहिये। तत्पश्चात् प्राणवायु द्वारा (लं बीजात्मक) पृथ्वी को अग्निबीज (रं) के चिन्तन द्वारा पकट हुई अग्नि में जला दे, अर्थात् यह भावना करनी चाहिये कि पृथ्वी का अग्नि में लय हो गया। फिर वायु में अग्नि को विलीन करना चाहिये और आकाश में वायु का लय कर देना चाहिये। अधिभूत, अधिदैव तथा अध्यात्मवैभव के साथ समस्त भूतों को तन्मात्राओं में विलीन करके विद्वान् पुरुष को आकाश में उन सभी का क्रमशः विनाश करना चाहिये। इसके बाद आकाश का मन में, मन का अहंकार में अहंकार का महतत्त्व में और महतत्त्व का अव्याकृत प्रकृति में लय करना चाहिये।।१-५।। अव्याकृत प्रकृति अथवा माया को ज्ञानस्वरूप परमात्मा में विलीन करना चाहिये। उन्हीं परमात्मा को 'वासुदेव' कहा गया है। उन शब्दस्वयप भगवान् वासुदेव ने सृष्टि की इच्छा से उस अव्याकृत माया का आश्रय ले स्पर्श संज्ञक संकर्षण को प्रकट किया। संकर्षण ने माया को क्षुब्ध करके तेजोरूप प्रद्युम्न की सृष्टि की। प्रद्युम्न ने रस स्वरूप अनिरुद्ध को और अनिरुद्ध ने गन्धस्वरूप ब्रह्मा को जन्म दिया। ब्रह्मा ने सबसे पहले जल की सृष्टि की उस जल में उन्होंने पाँच भूतों से युक्त हिरण्मय अण्ड को उत्पन्न किया। उस अण्ड में जीव-शक्ति का संचार हुआ। यह ही जीव-शक्ति है, जिसका आत्मा में पहले उपसंहार बतलाया गया है। जीव के साथ

प्राणैर्युक्ता ततो बुद्धिः संजाता चाष्टवृत्तिका। अहंकारस्ततो जज्ञे मनस्तस्मादजायत॥११॥
अर्थाः प्रजज्ञिरे पञ्च संकल्पादियुतास्ततः। शब्दः स्पर्शश्च रूपं च रसो गन्ध इति स्मृतः॥१२॥
ज्ञानशक्तियुतान्येतैरारब्धानीन्द्रियाणि तु। त्वक् श्रोत्रघ्राणचक्षूंषि जिह्वाबुद्धीन्द्रियाणि तु॥१३॥
पादौ पायुस्तथा पाणी वागुपस्थश्च पञ्चमः। कर्मेन्द्रियाणि चैतानि पञ्च भूतान्यतः शृणु॥१४॥
आकाशवायुतेजांसि सलिलं पृथिवी तथा। स्थूलमेभिः शरीरं तु सर्वाधारं प्रजायते॥१५॥
एतेषां वाचका मन्त्रा न्यासायोच्यन्त उत्तमाः। जीवभूतं मकारं तु देहस्य व्यापकं न्यसेत्॥१६॥
प्राणतत्त्वं भकारं तु जीवोपाधिगतं न्यसेत्। हृदयस्थं बकारं तु बुद्धितत्त्वं न्यसेद् बुधः॥१७॥
फकारमपि तत्रैव ह्यहंकारमयं न्यसेत्। मनस्तत्त्वं पकारं तु न्यसेत्संकल्पसंभवम्॥१८॥
शब्दतन्मात्रतत्त्वं तु नकारं मस्तके न्यसेत्। स्पर्शात्मकं धकारं तु वक्त्रदेशे तु विन्यसेत्॥१९॥
दकारं रूपतत्त्वं तु दृग्देशे विनिवेशयेत्। थकारं वस्तिदेशे तु रसतन्मात्रकं न्यसेत्॥२०॥
तकारं गन्धतन्मात्रं जङ्घयोर्विनिवेशयेत्। णकारं श्रोत्रयोर्न्यस्य ढकारं विन्यसेत्त्वचि॥२१॥
डकारं नेत्रयुग्मे तु रसनायां ठकारकम्। टकारं नासिकायां तु अकारं वाचि विन्यसेत्॥२२॥
झकारं करयोर्न्यस्य पाणितत्त्वं विचक्षणः। जकारं पादयोर्न्यस्य छं पायौ चमुपस्थके॥२३॥

प्राण का संयोग होने पर वह 'वृत्तिमान्' कहलाता है। व्याहृतिसंज्ञक जीव प्राणों में स्थित होकर 'आध्यात्मिक पुरुष कहा गया है। उससे प्राणयुक्त बुद्धि उत्पन्न हुई जो आठ वृत्ति वाली बतलायी गयी है। उस बुद्धि से अहंकार का और अहंकार से मन का प्रादुर्भाव हुआ। मन से संकल्पादि युक्त पाँच विषय प्रकट हुए, जिनके नाम इस तरह हैं—शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध॥६-१२॥ इन सभीने ज्ञान शक्ति से सम्पन्न पाँच इन्द्रियों को प्रकट किया, जिनके नाम हैं—त्वक्, श्रोत्र, घ्राण, नेत्र और जिह्वा। इन सभी को 'ज्ञानेन्द्रिय' कहा गया है। दो पैर, गुदा, दो हाथ, वाक और उपस्थ—ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं। अधुना पञ्चभूतों के नाम सुनो। आकाश, वायु, तेज, जल और पृथ्वी—ये पाँच भूत हैं। इनके ही द्वारा सभी का आधारभूत स्थूल शरीर उत्पन्न होता है। इन तत्वों के वाचक जो श्रेष्ठतम बीज-मन्त्र हैं, उनका न्यास के लिये यहाँ वर्णन किया जाता है। 'मं' यह बीज जीवस्वरूप (अथवा जीवतत्त्व का वाचक) है। वह सम्पूर्ण शरीर में व्यापक है—इस भावना के साथ कथित बीज का सम्पूर्ण देह में व्यापक-न्यास करना चाहिये। 'भं' यह प्राण तत्त्व का प्रतीक है। यह जीव की उपाधि में स्थित है, इसलिये इसका वहीं न्यास करना चाहिये। विद्वान् पुरुष को बुद्धितत्त्व के बोधक बकार अथवा 'बं' बीज का हृदय में न्यास करना चाहिये। फकार (फं) अहंकारा का स्वरूप है, इसलिये उसका भी हृदय में ही न्यास करना चाहिये। संकल्प के कारणभूत मनस्तत्त्वरूप पकार (पं) का भी वहीं न्यास करना चाहिये॥१३-१८॥ शब्दतन्मात्रतत्त्व के बोधक नकार (नं) का मस्तक में और स्पर्श रूप धकार (धं) का मुख **प्रदेश** में न्यास करना चाहिये। रूपतत्त्व के वाचक दकार (दं) का नेत्रप्रान्त में और रसतन्मात्रा के बोधक थकार (थं) का वस्तिदेश (मूत्राशय) में न्यास करना चाहिये। गन्धतन्मात्र स्वरूप तकार (तं) का पिण्डलियों में न्यास करना चाहिये। णकार (णं) का त्वचा में न्यास करना चाहिये। डकार (डं) का दोनों नेत्रों में ठकार (ठं) का रसना में टकार (टं) का नासिका में और ञकार (ञं) का वागिन्द्रिय में न्यास करना चाहिये। विद्वान् पुरुष पाणितत्त्व रूप झकार (झं) का दोनों हाथों में न्यास करके, जकार (जं) का दोनों पैरों में 'छं' का पायु में और 'चं' का उपस्थ में न्यास करना चाहिये। ङकार (ङं) पृथ्वीतत्त्व का प्रतीक है। उसका युगल चरणों में न्यास करना चाहिये। घकार (घं) का वस्ति में और

विन्यसेत् पृथिवीतत्त्वं ङकारं पादयुग्मके। वस्तौ धकारं गं तत्त्वं तैजसं हृदि विन्यसेत्॥२४॥
खकारं वायुतत्त्वं तु नासिकायां निवेशयेत्। ककारं विन्यसेन्नित्यं खतत्त्वं मस्तके बुधः॥२५॥
हृत्पुण्डरीके संन्यस्य यकारं सूर्यदैवतम्। तन्मध्ये चिन्तयेन्मन्त्री विन्दुं वह्नेस्तु मण्डलम्॥२६॥
कलाषोडशसंयुक्तं सकारं तत्र विन्यसेत्। तन्मध्ये चिन्तयेन्मन्त्री विन्दुं वह्नेस्तु मण्डलम्॥२७॥
हकारं विन्यसेत्तत्र प्रणवेन सुरोत्तम। ॐ आं परमेष्ठ्यात्मने आं नमः पुरुषात्मने॥२८॥
ॐ वां नमो नित्यात्मने नां च विश्वात्मने नमः। वं नमः सर्वात्मने इत्युक्ताः पञ्चशक्तयः॥२९॥
स्नाने तु प्रथमा योज्या द्वितीया आसने मता। तृतीया शयने तद्वच्चतुर्थी यानकर्मणि॥३०॥
अभ्यर्चायां पञ्चमी स्यात् पञ्चोपनिषदः स्मृताः। क्षकारं विन्यसेन्मध्ये ध्यात्वा मन्त्रमयं हरिम्॥३१॥
या मूर्त्तिः स्थाप्यते तस्याः मूलमन्त्रं न्यसेत्ततः। ॐ नमो भगवते वासुदेवाय मूलकम्॥३२॥
शिरोघ्राणललाटेषु मुखे कण्ठे हृदि क्रमात्। भुजयोर्जङ्घयोरङ्घ्र्योः केशवं शिरसि न्यसेत्॥३३॥
नारायणं न्यसेद्वक्त्रे ग्रीवायां माधवं न्यसेत्। गोविन्दं भुजयोर्न्यस्य विष्णुं च हृदये न्यसेत्॥३४॥
मधुसूदनकं पृष्ठे वामनं जठरे न्यसेत्। कट्यां त्रिविक्रमं न्यस्य जङ्घायां श्रीधरं न्यसेत्॥३५॥
हृषीकेशं दक्षिणायां पद्मनाभं तु गुल्फके। दामोदरं पादयोश्च हृदयादिषडङ्गकम्॥३६॥
एतत्साधारणं प्रोक्तमादिमूर्तेस्तु सत्तम। अथवा यस्य देवस्य प्रारब्धं स्थापनं भवेत्॥३७॥

तेजस्तत्त्व रूप (गं) का हृदय में न्यास करना चाहिये। खकार (खं) वायुतत्त्व का प्रतीक है। उसका नासिका में न्यास करना चाहिये। ककार (कं) आकाशतत्त्व रूप है। विद्वान् पुरुष को उसका सदा ही मस्तक में न्यास करना चाहिये॥१९-२५॥ हृदय-कमल में सूर्य-देवता-सम्बन्धी 'यं' बीज का न्यास करके, हृदय से निकली हुई जो बहत्तर हजार नाड़ियाँ हैं, उनमें सोलह कलाओं से युक्त सकार (सं) का न्यास करना चाहिये। उसके मध्यभाग में मन्त्रज्ञ पुरुष को बिन्दुस्वरूप वह्निमण्डल का चिन्तन करना चाहिये। हे सुरश्रेष्ठ! उसमें प्रणवसहित हकार (हं) का न्यास करना चाहिये। **१. ॐ आं नमः परमेष्ठ्यात्मने। २. ॐ आं नमः पुरुषामने। ३.ॐ वां नमो नित्यात्मने। ४. ॐ नां नमो विश्वात्मने। ५. ॐ वं नमः सर्वात्मने।** ये पाँच शक्तियाँ बतलायी गयी हैं। 'स्नानकर्म' में प्रथमा शक्ति की योजना करनी चाहिये। आसनकर्म में द्वितीया 'शयन' में तृतीया, 'यानकर्म' में चतुर्थी और 'अर्चनाकाल' में पञ्चमी शक्ति का प्रयोग करना चाहिये-ये पाँच उपनिषद् हैं। इनके मध्य में मन्त्रमय श्रीहरि विष्णु का ध्यान करके क्षकार (क्षं) का न्यास करना चाहिये॥२६-३१॥ तत्पश्चात् जिस मूर्ति की स्थापना की जाती है, उसके मूल-मन्त्र का न्यास करना चाहिये। (भगवान् श्रीहरि विष्णु की स्थापना में) **ॐ नमो भगवते वासुदेवाय**-यह मूल-मन्त्र है। मस्तक, नासिका, ललाट, मुख, कण्डठ, हृदय, दो भुजा, दे पिण्डली और दो चरणों में क्रमशः कथित मूल-मन्त्र के एक-एक अक्षर का न्यास करना चाहिये। तत्पश्चात् केशव का मस्तक में न्यास करना चाहिये। नारायण का मुख में, माधव का ग्रीवा में और गोविन्द का दोनों भुजाओं में न्यास करके विष्णु का हृदय में न्यास करना चाहिये। पृष्ठभाग में मधुसूदन का जठर में वामन का और कटि में त्रिविक्रम का न्यास करके जंघा (पिण्डली) में श्रीधर का न्यास करना चाहिये। दक्षिण भाग में हृषीकेष का गुल्फ में पद्मनाभ का और दोनों चरणों में दामोदर का न्यास करने के पश्चात् हृदयादि षडङ्गन्यास करना चाहिये॥३२-३६॥ हे सत्पुरुषों में श्रेष्ठ ब्रह्माजी! यह आदि मूर्ति के लिये न्यास का सामान्य क्रम बतलाया गया है। अथवा जिस देवता की स्थापना का प्रारम्भ हो, उसी के मूल-मन्त्र से मूर्ति के सजीवकरण की क्रिया होनी चाहिये।

तस्यैव मूलमन्त्रेण सजीवकरणं भवेत्। यस्या मूर्तेस्तु यन्नाम तस्याऽऽद्यं चाक्षरं च यत्॥३८॥
तत्स्वरैर्द्वादशैर्भेद्य ह्यङ्गानि परिकल्पयेत्। हृदयादीनि देवेश मूलं च द्वादशाक्षरम्॥३९॥
यथा देवे तथा देहे तत्त्वानि विनियोजयेत्। चक्राब्जमण्डले विष्णुं यजेद्गन्धादिना ततः॥४०॥
पूर्ववच्चाऽऽसनं ध्यायेत्तन्मात्रं सपरिच्छदम्। शुभं चक्रं द्वादशारं ह्युपरिष्टाद्विचिन्तयेत्॥४१॥
त्रिनाभिचक्रं द्विनेमि स्वरैस्तच्च समन्वितम्। पृष्ठदेशे ततः प्राज्ञः प्रकृत्यादीन्निवेशयेत्॥४२॥
पूजयेदरकाग्रेषु सूर्यं द्वादशधा पुनः। कलाषोडशसंयुक्तं सोमं तत्र विचिन्तयेत्॥४३॥
वसनत्रितयं नाभौ चिन्तयेद्देशिकोत्तमः। पद्मं च द्वादशदलं पद्ममध्ये विचिन्तयेत्॥४४॥
तन्मध्ये पौरुषीं शक्तिं ध्यात्वाऽऽभ्यर्च्य च देशिकः। प्रतिमायां हरिं न्यस्य तत्र तं पूजयेत्सुरान्॥४५॥
गन्धपुष्पादिभिः सम्यक्साङ्गं सावरणं क्रमात्। द्वादशाक्षरबीजस्तु केशवादीन्समर्चयेत्॥४६॥
द्वादशारे मण्डले तु लोकपालदिकं क्रमात्। प्रतिमामर्चयेत्पश्चात्गन्धपुष्पादिभिर्द्विजः॥४७॥
पौरुषेण तु सूक्तेन श्रियाः सूक्तेन पिण्डिकाम्। जननादिक्रमात्पश्चाज्जनयेद्वैष्णवानलम्॥४८॥
हुत्वाऽग्निं वैष्णवैर्मन्त्रैः कुर्याच्छान्त्युदकं बुधः। तत्सिक्त्वा प्रतिमामूर्ध्नि वह्निप्रणयनं चरेत्॥४९॥
दक्षिणेऽग्निं हुतमिति कुण्डेऽग्निं प्रणयेद्बुधः। अग्निमग्नीति पूर्वे तु कुण्डेऽग्निं प्रणयेद्बुधः॥५०॥

जिस मूर्ति का जो नाम हो, उसके आदि अक्षर का द्वादश स्वरों से भेदन करके अङ्गों की कल्पना करनी चाहिये। हे देवेश्वर! हृदय आदि अङ्गों का तथा द्वादश अक्षर वाले मूल-मन्त्र का एवं तत्त्वों का जिस प्रकार देवता के विग्रह में न्यास करना चाहिये, वैसे ही अपने शरीर में भी करना चाहिये। तत्पश्चात् चक्राकार पद्ममण्डल में भगवान् श्रीहरि विष्णु का गन्ध आदि से पूजन करना चाहिये। पूर्ववत् शरीर और वस्त्राभूषणों सहित भगवान् के आसन का ध्यान करना चाहिये। ऊपरी भाग में द्वादश आरोंसे युक्त सुदर्शनचक्र-का चिन्तन करना चाहिये। वह चक्र तीन नाभि और दो नेमियों से युक्त है। साथ ही द्वादश स्वरों से सम्पन्न है। इस तरह चक्र का चिन्तन करने के पश्चात् विद्वान् पुरुष को पृष्ठदेश में प्रकृति आदि का निवेश करना चाहिये। फिर अरों के अग्रभाग में द्वादश सूर्यों का पूजन करना चाहिये। उसके बाद वहाँ सोलह कलाओं से युक्त सोम का ध्यान करना चाहिये। चक्र की नाभि में तीन वसन (वस्त्र या वासस्थान) का चिन्तन करना चाहिये। तत्पश्चात् श्रेष्ठ आचार्य को पद्म के अन्दर द्वादशदल-पद्म का चिन्तन करना चाहिये॥३७-४४॥ उस पद्म में पुरुष को शक्ति का ध्यान करके उसकी पूजा करनी चाहिये। फिर प्रतिमा में श्रीहरि विष्णु का न्यास करके गुरु वहाँ श्रीहरि विष्णु तथा अन्य देवताओं का पूजन करना चाहिये। गन्ध, पुष्प आदि उपचारों से अङ्ग और आवरणों सहित इष्ट देवता का भलीभाँति पूजन करना चाहिये। द्वादशाक्षर-मन्त्र के एक-एक अक्षर को बीजरूप में परिवर्तित करके उनके द्वारा केशव आदि भगवद्विग्रहों की क्रमशः पूजा करनी चाहिये। द्वादश अरों से युक्त मण्डल में लोकपाल आदि की भी क्रम से अर्चना करनी चाहिये। उसके बाद, द्विज गन्ध, पुष्प आदि उपचारों द्वारा पुरुष को सूक्त से प्रतिमा की पूजा करनी चाहिये और श्रीसूक्त से पिण्डिका की। इसके बाद जनन आदि के क्रम से वैष्णव-अग्नि को प्रकट करना चाहिये। उसके बाद विष्णुदेवता-सम्बन्धी मन्त्रों द्वारा अग्नि में आहुति देकर विद्वान् पुरुष को शान्ति-जल तैयार करना चाहिये और उसको प्रतिमा के मस्तक पर छिड़कर कर अग्नि का प्रणयन करना चाहिये। विद्वान् पुरुष को चाहिये कि **'अग्निं दूतम् ०'** इत्यादि मन्त्र से दक्षिण-कुण्ड में अग्नि-प्रणयन करना चाहिये। पूर्वकुण्ड में **'अग्निमग्निम् ०'** इत्यादि मन्त्र से और उत्तर-कुण्ड में **'अग्निमग्निं हवीमभिः०'** इत्यादि मन्त्र से अग्नि का प्रणयन करना चाहिये।

उत्तरे प्रणयेदग्निमग्निमग्नीहरामहे। अग्निप्रणयने मन्त्रस्त्वमग्ने द्युभिरुच्यते।।५१।।
पलाशसमिधानां तु अष्टोत्तरसहस्रकम्। कुण्डे कुण्डे होमयेच्च व्रीहीन्वेदादिकैस्तथा।।५२।।
साज्यांस्तिलान्व्याहृतिभिर्मूलमन्त्रेण वै घृतम्। कुर्यात्ततः शान्तिहोमं मधुरत्रितयेन च।।५३।।
द्वादशार्णैः स्पृशेत्पादौ नाभिं हृन्मस्तकं ततः। घृतं दधि पयो हुत्वा स्पृशेन्मूर्धन्यथो ततः।।५४।।
स्पृष्ट्वा शिरोनाभिपादांश्चतस्त्रः स्थापयेन्नदीः। गंगा च यमुना गोदा क्रमान्नाम्ना सरस्वती।।५५।।
देहे तु विष्णुगायत्र्या गायत्र्या श्रपयेच्चरुम्। होमयेच्च बलिं दद्यादुत्तरे भोजयेद्द्विजान्।।५६।।
मासाधिपानां तुष्ट्यर्थं हेमगां गुरवे ददेत्। दिक्पतिभ्यो बलिं दत्त्वा रात्रौ कुर्याच्च जागरम्।।५७।।
ब्रह्मगीतादिशब्देन सर्वभागाधिवासनात्।।५८।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते देवताधिवासनविधिकथनं नामैकोनषष्टितमोऽध्यायः।।५९।।

—※※※—

अग्निप्रणयन-काल में **'त्वमग्ने द्युभिः.'** इत्यादि मन्त्र का पाठ किया जाना चाहिये।।४५-५१।। प्रत्येक कुण्ड में प्रणय के उच्चारणपूर्वक पलाश की एक हजार आठ समिधाओं का तथा जौ आदि का भी हवन करना चाहिये। व्याहृति-मन्त्र से घृतमिश्रित तिलों का और मूलमन्त्र से घी का हवन करना चाहिये। उन सबके बाद मधुरत्रय (घी, शहद और चीनी) से शान्ति-हवन करना चाहिये। द्वादशाक्षर-मन्त्र से दोनों पैर, नाभि, हृदय और मस्तक का संस्पर्श करना चाहिये। घी, दही और दूध की आहुति देकर मस्तक का स्पर्श करना चाहिये। तत्पश्चात् मस्तक, नाभि और चरणों का संस्पर्श करके क्रमशः गङ्गा, यमुना, गोदावरी, और सरस्वती–इन चार नदियों की स्थापना करनी चाहिये। विष्णु-गायत्री से अग्नि को प्रज्वलित करना चाहिये और गायत्री-मन्त्र से उस अग्नि में चरु पकावे। गायत्री से ही हवन और बलि देना चाहिये। उसके बाद ब्राह्मणों को भोजन कराये।।५२-५६।। मासाधिपति द्वादश आदित्यों की संतुष्टि के लिये आचार्य को स्वर्ण और गौ की दक्षिणा देनी चाहिये। दिक्पालों की बलि देकर रात में जागरण करना चाहिये। उस समय वेदपाठ और गीत, कीर्तन आदि करते रहना चाहिये। इस तरह अधिवासन-कर्म का निष्पादन करने पर मनुष्य सम्पूर्ण फलों का भागी हो जाता है।।५७-५९।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी उनसठवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।५९।।

अथ षष्टितमोऽध्यायः

वासुदेवादिदेवतानां सामान्यः प्रतिष्ठाविधिः

श्रीभगवानुवाच

पिण्डिकास्थापनार्थं तु गर्भागारं तु सप्तधा। विभजेद्ब्रह्मभागे तु प्रतिमां स्थापयेद्बुधः।।१।।
देवमानुषपैशाचभागेषु न कदाचन। ब्रह्मभागं परित्यज्य किंचिदाश्रित्य चाण्डज।।२।।
देवमानुषभागाभ्यां स्थाप्या यत्नात्तु पिण्डिका। नपुंसकशिलायां तु रत्नन्यासं समाचरेत्।।३।।
नारसिंहेन हुत्वाऽथ रत्नन्यासं च तेन वै। व्रीहीरत्नानि धातूंश्च लोहान्वै चन्दनादिकम्।।४।।
पूर्वादिनवगर्तेषु न्यसेन्मध्ये यथारुचि। अथ चेन्द्रादिमन्त्रैश्च गर्तगुग्गुलनाऽऽवृतम्।।५।।
रत्नन्यासविधिं कृत्वा प्रतिमामालभेद्गुरुः। सशलाकैर्दर्भपुञ्जैः सहदेवैः समन्वितैः।।६।।
सबाह्यान्तैश्च संस्कृत्य पञ्चगव्येन शोधयेत्। प्रोक्षयेद्दर्भतोयेन नदीतीर्थोदकेन च।।७।।
होमार्थे स्थण्डिलं कुर्यात्सिकताभिः समन्ततः। सार्धहस्तप्रमाणं तु चतुरस्त्रं सुशोभनम्।।८।।
अष्टदिक्षु यथान्यासं कलशानपि विन्यसेत्।पूर्वाद्यानष्ट वर्णेन अग्निमानीय संस्कृतम्।।९।।

अध्याय-६०

वासुदेव आदि देवता स्थापन की सामान्य विधि

श्रीभगवान् हयग्रीव ने कहा कि-हे ब्रह्मन्! पिण्डिका की स्थापना के लिये विद्वान् पुरुष को मन्दिर के गर्भगृह को सात भागों में विभाजित करना चाहिये और ब्रह्म भाग में प्रतिमा को स्थापित करना चाहिये। देव, मनुष्य और पिशाच भागों में कदापि उसकी स्थापना नहीं करनी चाहिये। हे ब्रह्मन्! ब्रह्म भाग का कुछ अंश छोड़कर तथा देवभाग और मनुष्य भागों में कुछ अंश लेकर, उस भूमि में यत्नपूर्वक पिण्डिका स्थापित करनी चाहिये। नपुंसक शिला में रत्नन्यास करना चाहिये। नृसिंहमन्त्र से हवन करके उसी से रत्न न्यास भी करना चाहिये। व्रीहि, रत्न, लोह आदि धातु और चन्दन आदि पदार्थों को पूर्वादि दिशाओं तथा मध्य में बने हुए नौ कुण्डों में अपनी रुचि के अनुसार छोड़ना चाहिये। उसके बाद इन्द्र आदि के मन्त्रों से पूर्वादि दिशाओं के गर्त को गुग्गुल से आवृत करके, रत्नन्यास की विधि सम्पन्न करने के पश्चात् गुरु शलाका सहित कुश समूहों और 'सहदेव' नामक औषधि के द्वारा प्रतिमा को अच्छी तरह मले और झाड़-पोंछ करना चाहिये। बाहर-अन्दर से संस्कार (सफाई) करके पञ्चगव्य द्वारा उसकी शुद्धि करनी चाहिये। इसके बाद कुशोदक, नदी के जल एवं तीर्थ-जल उस प्रतिमा का प्रोक्षण करना चाहिये।।१-७।। हवन के लिये बालू द्वारा एक वेदी बनाये, जो सभी तरफ से डेढ़ हाथ की लम्बी-चौड़ी हो। वह वेदी चतुरस्त्र एवं सुन्दर शोभा से सम्पन्न हो। आठ दिशाओं में यथा स्थान कलशों को भी स्थापित करना चाहिये। उन पूर्वादि कलशों को आठ तरह के रंगों से सुसज्जित करना चाहिये। तत्पश्चात् अग्नि ले आकर वेदी पर उसकी स्थापना करनी चाहिये और कुशकण्डि का द्वारा संस्कार करके उस अग्नि में **'त्वमग्ने द्युभि०'** (यजु. ११/२७) इत्यादि से तथा गायत्री-मन्त्र से समिधाओं का हवन करना चाहिये। अष्टाक्षर-मन्त्र से अष्टोत्तरशत घी की आहुति दे, पूर्णाहुति सम्प्रदान करना चाहिये। तत्पश्चात् मूलमन्त्र से सौ बार अभिमन्त्रित किये गये शान्ति जल को आम्र पल्लवों द्वारा लेकर इष्ट देवता कके मस्तक पर अभिषेक करना

त्वमग्ने द्युभिरिति च गायत्र्या समिधो हुनेत्। अष्टार्णेनाष्टशतकमाज्यं पूर्णां प्रदापयेत्॥१०॥
शान्त्युदकं ताम्रपत्रे मूलेन शतमन्त्रितम्। सिञ्चेद्देवस्य तन्मूर्ध्नि श्रीश्च ते ह्यनया ऋचा॥११॥
ब्रह्मयानेन चोद्धृत्य उत्तिष्ठ ब्रह्मणस्पते। तद्विष्णोरिति मन्त्रेण प्रासादाभिमुखं नयेत्॥१२॥
शिविकायां हरिं स्थाप्य भ्रामयीत पुरादिकम्। गीतवेदादिशब्दैश्च प्रासादद्वारि धारयेत्॥१३॥
स्त्रीभिर्विप्रैर्मङ्गलाष्टघटैः संस्नापयेद्धरिम्। ततो गन्धादिनाऽभ्यर्च्य मूलमन्त्रेण देशिकः॥१४॥
अतो देवेति वस्त्राद्यमष्टाङ्गार्घ्यं निवेद्य च। स्थिरे लग्ने पिण्डिकायां देवस्य त्वेति धारयेत्॥१५॥
ॐ त्रैलोक्यविक्रान्ताय नमस्तेऽस्तु त्रिविक्रम। संस्थाप्य पिण्डिकायां तु स्थिरं कुर्याद्विचक्षणः॥१६॥
ध्रुवाद्यौरिति मन्त्रेण विश्वतश्चक्षुरित्यपि। पञ्चगव्येन संस्नाप्य क्षाल्य गन्धोदकेन च॥१७॥
पूजयेत्सकलीकृत्य साङ्गं सावरणं हरिम्। ध्यायेत्खं तत्र मूर्तिं तु पृथिवी तस्य पीठिका॥१८॥
कल्पयेद्विग्रहं तस्य तैजसैः परमाणुभिः। जीवमावाहयिष्यामि पञ्चविंशतितत्त्वगम्॥१९॥
चैतन्यं परमानन्दं जाग्रत्स्वप्नविवर्जितम्। देहेन्द्रियमनोबुद्धिप्राणाहंकारवर्जितम्॥२०॥
ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तं हृदयेषु व्यवस्थितम्। हृदयात्प्रतिमाबिम्बे स्थिरो भव परमेश्वर॥२१॥
सजीवं कुरु बिम्बं त्वं सबाह्याभ्यन्तरस्थितः। अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो देहोपाधिषु संस्थितः॥२२॥

चाहिये। अभिषेक-काल **'श्रीश्च ते श्रीलक्ष्मीश्च०'** इत्यादि ऋचा का पाठ करते रहना चाहिये। **'उत्तिष्ठ ब्रह्मणस्पते०'** इस मन्त्र से प्रतिमा को उठाकर ब्रह्म रथ पर रखे और **'तद् विष्णो०'** इत्यादि मन्त्र से कथित रथ द्वारा उसको मन्दिर की तरफ ले जाय। वहाँ श्रीहरि विष्णु की उस प्रतिमा को शिविका (पालकी) में पधराकर नगर आदि में घुमावे और गीत, वाद्य एवं वेदमन्त्रों की ध्वनि के साथ करना चाहिये॥८-१३॥ इसके बाद गुरु सुवासिनी स्त्रियों और ब्राह्मणों द्वारा आठ मंगल-कलशों के जल से श्रीहरि विष्णु को स्नान कराये तथा गन्ध आदि उपचारों से मूल-मन्त्र द्वारा पूजन करने के पश्चात् **'अतो देवाः'** (ऋक् १/२२/१६) इत्यादि मन्त्र से वस्त्र आदि अष्टाङ्ग अर्घ्य निवेदन करना चाहिये। फिर स्थिर लग्न में पिण्डिका पर **'देवस्य त्वा०'** इत्यादि मन्त्र से इष्टदेवता के उस अर्चा-विग्रह को स्थापित कर देना चाहिये। स्थापना के पश्चात् इस तरह कहे-'हे सच्चिदानन्द स्वरूप त्रिविक्रम! आपने तीन पगों द्वारा समूची त्रिकोकी को आक्रान्त कर लिया था। आपको नमस्कार है। इस तरह पिण्डिका पर प्रतिमा को स्थापित करके विद्वान् पुरुष उसको स्थिर करें। प्रतिमा-स्थिरीकरण के समय **'ध्रुवाद्यौः०'** इत्यादि तथा **'विश्वतश्चक्षुः०'** (यजु. १७/१९) इत्यादि मन्त्रों का पाठ करना चाहिये। पञ्चगव्य से स्नान कराकर गन्धोदके से प्रतिमा का प्रक्षालन करना चाहिये और सकलीकरण करने के पश्चात् श्रीहरि विष्णु का साङ्गोपाङ्ग सामान्य पूजन करना चाहिये॥१४-१७॥

उस समय इस तरह ध्यान करना चाहिये-'आकाश भगवान् श्रीहरि विष्णु काक विग्रह है और पृथिवी उसकी पीठिका (सिंहासन) है। 'तत्पश्चात् तैजस परमाणुओं से भगवान् के श्रीविग्रह की कल्पना करनी चाहिये और कहे-'मैं पच्चीस तत्त्वों में व्यापक जीव का आवाहन करने जा रहा हूँ॥१८-१९॥ 'वह जीव चैतन्यमय, परमानन्द स्वरूप तथा जाग्रत् स्वप्न और सुषुप्ति-इन तीनों अवस्थाओं से हीन है; देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, प्राण तथा अहंकार से शून्य है। वह ब्रह्मा आदि से लेकर कीटपर्यन्त समस्त जगत् में व्याप्त और सबके हृदयों में विराजमान है। हे परमेश्वर! आप ही जीव चैतन्य हैं; आप हृदय से प्रतिमा-बिम्ब में आकर स्थिर होइये। आप इस प्रतिमा-बिम्ब को इसके बाहर और

ज्योतिर्ज्ञानं परं ब्रह्म एकमेवाद्वितीयकम्। सजीवीकरणं कृत्वा प्रणवेन निबोधयेत्।।२३।।
सांनिध्यकरणं नाम हृदयं स्पृश्य वै जपेत्। सूक्तं तु पौरुषं ध्यायन्निदं गुह्यमनुं जपेत्।।२४।।
नमस्तेऽस्तु सुरेशाय संतोषविभवात्मने। ज्ञानविज्ञानरूपाय ब्रह्मतेजोऽनुयायिने।।२५।।
गुणातिक्रान्तरूपाय पुरुषाय महात्मने। अक्षयाय पुराणाय विष्णो संनिहितो भव।।२६।।
यच्च ते परमं तत्त्वं यच्च ज्ञानमयं वपुः। तत्सर्वमेकतो नीतमस्मिन्देहे विबुध्यताम्।।२७।।
आत्मानं संनिधीकृत्य ब्रह्मादिपरिवारकान्। स्वनाम्ना स्थापयेदन्यानायुधादीन्समुद्रया।।२८।।
यात्रावर्षादिकं दृष्ट्वा ज्ञेयः संनिहितो हरिः। नत्वा स्तुत्वा स्तवाद्यैश्च जप्त्वा चाष्टाक्षरादिकम्।।२९।।
चण्डप्रचण्डौ द्वारस्थौ निर्गत्याभ्यर्चयेद् गुरुः। अथ मण्डपमासाद्य गरुडं स्थाप्य पूजयेत्।।३०।।
दिगीशान्दिशि देवांश्च स्थाप्य संपूज्य देशिकः। विष्वक्सेनं तु संस्थाप्य शङ्खचक्रादि पूजयेत्।।३१।।
सर्वपार्षदकेभ्यश्च बलिं भूतेभ्य अर्पयेत्। ग्रामवस्त्रसुवर्णादि गुरवे दक्षिणां ददेत्।।३२।।
यागोपयोगिद्रव्याद्यमाचार्याय नरोऽर्पयेत्। आचार्यदक्षिणार्धं तु ऋत्विग्भ्यो दक्षिणां ददेत्।।३३।।
अन्येभ्यो दक्षिणां दद्याद्भोजयेद्ब्राह्मणांस्ततः। अवारितान्फलं दद्याद्यजमानाय वै गुरुः।।३४।।

अन्दर स्थित होकर सजीव कीजिये। अङ्गुष्ठ मात्र पुरुष (परमात्मा जीव रूप से) सम्पूर्ण देहोपाधियों में स्थित हैं। वे ही ज्योतिः स्वरूप, ज्ञान स्वरूप, एकमात्र अद्वितीय परब्रह्म हैं। इस तरह सजीवीकरण करके प्रणव द्वारा भगवान् को जगावे। फिर भगवान् के हृदय का स्पर्श करके पुरुष सूक्त का जप करना चाहिये। इसको 'सांनिध्यकरण' नामक कर्म कहा जाता है। इसके लिये भगवान् का ध्यान करते हुए निम्नांङ्कित गुह्य-मन्त्र का जप करना चाहिये।।२०-२४।।

'हे प्रभो! आप देवताओं के स्वामी हैं, संतोष वैभव-रूप हैं। आपको नमस्कार है। ज्ञान और विज्ञान आपके रूप हैं, ब्रह्मतेज आपका अनुगामी है। आपका स्वरूप गुणातीत है। आप अन्तर्यामी पुरुष एवं परमात्मा हैं; अक्षय पुराणपुरुष हैं; आपको नमस्कार है। हे विष्णो! आप यहाँ संनिहित होइये। आपका जो परमतत्त्व है, जो ज्ञानमय शरीर है, वह सभी एकत्र हो, इस अर्चाविग्रह में जाग उठे। इस तरह परमात्मा श्रीहरि विष्णु का सांनिघ्यकरण करके ब्रह्मा आदि परिवारों की उनके नाम से स्थापना करनी चाहिये। उनके जो आयुध आदि हैं। उनकी भी मुद्रा सहित स्थापना करनी चाहिये। यात्रा-सम्बन्धी उत्सव तथा वार्षिक आदि उत्सव भी योजना करके और उन उत्सवों का दर्शन कर श्रीहरि विष्णु को अपने संनिहित समझना चाहिये। भगवान् को नमस्कार, स्तोत्र आदि के द्वारा उनकी स्तुति तथा उनके अष्टाक्षर आदि मन्त्र का जप करते समय भी भगवान् को अपने सन्निकट उपस्थित समझना चाहिये।।२५-२९।।

तत्पश्चात् आचार्य को मन्दिर से निकलकर द्वारवर्ती द्वारपाल चण्ड और प्रचण्ड का पूजन करना चाहिये। फिर मण्डप में आकर गरुड की स्थापना एवं पूजा करनी चाहिये। प्रत्येक दिशा में दिक्पालों तथा अन्य देवताओं का स्थापन-पूजन करके गुरु को विष्वक्सेन की स्थापना तथा शङ्ख चक्र आदि की पूजा करनी चाहिये। सम्पूर्ण पार्षदों और भूतों को बलि अर्पित करना चाहिये। आचार्य को दक्षिणा रूप से ग्राम, वस्त्र एवं स्वर्ण आदि का दान देना चाहिये। यज्ञोपयोगी द्रव्य आदि आचार्य को अर्पित करना चाहिये। आचार्य से आधी दक्षिणा ऋत्विजों को देना चाहिये। इसके बाद अन्य ब्राह्मणों को भी दक्षिणा दे और भोजन कराये। वहाँ आने वाले किसी भी ब्राह्मण को रोके नहीं, सभी का सत्कार करना चाहिये। उसके बाद गुरु को अपने यजमान के लिये फल प्रदान करना चाहिये।३०-३४।।

विष्णुं नयेत्प्रतिष्ठाता चाऽऽत्मना सकलं कुलम्। सर्वेषामेव देवानामेष साधारणो विधिः।।३५।।
मूलमन्त्राः पृथक्तेषां शेषं कार्यं समानकम्।।३६।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते वासुदेवादिदेवताप्रतिष्ठासामान्यविधिकथनं नाम षष्टितमोऽध्यायः।।६०।।

अथैकषष्टितमोऽध्यायः

अवभृथस्नानद्वारप्रतिष्ठाध्वजारोपणादिविधिः

श्रीभगवानुवाच

वक्ष्ये चावभृथस्नानं विष्णोर्नत्वेति होमयेत्। एकाशीतिपदे कुम्भान्संस्थाप्य स्नापयेद्धरिम्।।१।।
पूजयेद्गन्धपुष्पाद्यैर्बलिं दत्त्वा गुरुं यजेत्। द्वारप्रतिष्ठां वक्ष्यामि द्वाराधो हेम वै ददेत्।।२।।
अष्टभिः कलशैः स्थाप्य शाखोदुम्बरकौ गुरुः। गन्धादिभिः समभ्यचर्च्य मन्त्रैर्वेदादिभिर्गुरुः।।३।।
कुण्डेषु होमयेद्वह्निं समिदाज्यतिलादिभिः। दत्त्वा शय्यादिकं चाधो दद्यादाधारशक्तिकाम्।।४।।
शाखयोर्विन्यसेन्मूले देवौ चण्डप्रचण्डकौ। ऊर्ध्वोदुम्बरके देवीं लक्ष्मीं सुरगणार्चिताम्।।५।।

भगवद् विग्रह की स्थापना करने वाला पुरुष अपने साथ सम्पूर्ण वंश को भगवान् श्रीहरि विष्णु के सन्निकट लेकर पहुँच जाता है। सभी देवताओं के लिये यह सामान्य विधि है; परन्तु उनके मूल-मन्त्र पृथक्-पृथक् ही समझने चाहिये। शेष सभी कार्य समान रूप से करने चाहिये।।३५-३६।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी साठवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।६०।।

अध्याय-६१

अवभृथस्नान, द्वारप्रतिष्ठा और ध्वजारोपण आदि की विधि

श्रीभगवान् हयग्रीव ने कहा कि-हे ब्रह्मन्! अधुना मैं अवभृथस्नान का वर्णन करने जा रहा हूँ। '**विष्णोर्नु कं वीर्याणि०**' इत्यादि मन्त्र से हवन करना चाहिये। इक्यासी पद वाले वास्तुमण्डल में कलश स्थापित करके उनके जल से श्रीहरि विष्णु को स्नान कराये। स्नान के पश्चात् गन्ध, पुष्प आदि से भगवान् की पूजा करनी चाहिये और बलि अर्पित करके गुरु का पूजन करना चाहिये। अधुना मैं द्वारप्रतिष्ठा का वर्णन करने जा रहा हूँ। गुरु द्वार के निम्नभाग में स्वर्ण रखे और आठ कलशों के साथ वहाँ दो गूलर की शाखाओं को स्थापित करना चाहिये। फिर गन्ध आदि उपचारों और वैदिक आदि मन्त्रों से सम्यक् पूजन करके कुण्डों में स्थापित अग्नि में समिधा, घी और तिल आदि की आहुति देनी चाहिये। तत्पश्चात् शय्या आदि का दान देकर नीचे आधार शक्ति की स्थापना करनी चाहिये।।१-४।। दोनों शाखाओं

न्यस्याभ्यर्च्य यथान्यायं श्रीसूक्तेन चतुर्मुखम्। हुत्वा तु श्रीफलादीनि आचार्यादेस्तु दक्षिणाम्।।६।।
प्रतिष्ठासिद्धद्वारस्य त्वाचार्यः स्थापयेद्धरिम्। प्रासादस्य प्रतिष्ठां तु हृत्प्रतिष्ठेति तां शृणु।।७।।
समाप्तौ शुकनासाया वेद्याः प्राग्गर्भमस्तके। सौवर्णं राजतं कुम्भमथवा शुक्लनिर्मितम्।।८।।
अष्टरत्नौषधीधातुबीजलौहान्वितं शुभम्। सवस्त्रपूरितं चाद्भिर्मण्डले चाधिवासयेत्।।९।।
सपल्लवं नृसिंहेन हुत्वा संपातसंचितम्। नारायणाख्यतत्त्वेन प्राणभूतं न्यसेत्ततः।।१०।।
वैराजरूपं तं ध्यायेत्प्रासादस्य सुरेश्वर। ततः पुरुषवत्सर्वं प्रासादं चिन्तयेद्बुधः।।११।।
अधोदत्त्वा सुवर्णं तु तत्त्वभूतं घटं न्यसेत्। गुर्वादौ दक्षिणां दद्याद्ब्राह्मणादेश्च भोजनम्।।१२।।
ततः पश्चाद्वेदिबन्धं तदूर्ध्वं कण्ठबन्धनम्। कण्ठोपरिष्टात्कर्तव्यं विमलामलसारकम्।।१३।।
तदूर्ध्वं वृकलं कुर्याच्चक्रं चाद्यं सुदर्शनम्। मूर्तिं श्रीवासुदेवस्य ग्रहगुप्तां निवेदयेत्।।१४।।
कलशं वाऽथ कुर्वीत तदूर्ध्वं चक्रमुत्तमम्। वेद्याश्च परितः स्थाप्या अष्टौ विघ्नेश्वरास्त्वज।।१५।।
चत्वारो वा चतुर्दिक्षु स्थापनीया गरुत्मतः। ध्वजारोहं प्रवक्ष्यामि येन भूतादि नश्यति।।१६।।
प्रासादबिम्बद्रव्याणां यावन्तः परमाणवः। तावद्वर्षसहस्राणि तत्कर्ता विष्णुलोकभाक्।।१७।।
कुम्भाण्डवेदिबिम्बानां भ्रमणाद्वायुनाऽनघ। कण्ठस्याऽऽवेष्टनाज्ज्ञेयं फलं कोटिगुणं ध्वजात्।।१८।।

के मूल भाग में चण्ड और प्रचण्ड नामक देवताओं की स्थापना करनी चाहिये। उदुम्बर-शाखाओं के ऊपरी भाग में देववृन्दपूजित श्रीलक्ष्मीदेवी की स्थापना करके श्रीसूक्त से उनका यथोचित पूजन करना चाहिये। तत्पश्चात् ब्रह्माजी का पूजन करके आचार्य आदि को श्रीफल (नारियल) आदि की दक्षिणा देना चाहिये। प्रतिष्ठा द्वारा सिद्ध द्वार पर आचार्य को श्रीहरि विष्णु की स्थापना करनी चाहिये। मन्दिर की प्रतिष्ठा '**हृत्प्रतिष्ठ.**' इत्यादि मन्त्र से की जाती है। उसका वर्णन सुनो। वेदी के पहले गर्भ गृह के शिरोभाग में, जहाँ शुकनामा की समाप्ति होती है, उस स्थान पर सोने अथवा चाँदी के बने हुए श्वेत निर्मल कलश की स्थापना करनी चाहिये। उसमें आठ तरह के रत्न, औषधि, धातु, बीज और लोह (स्वर्ण) त्याग देना चाहिये। उस सुन्दर कलश के कण्ठ भाग में वस्त्र लपेटकर उसमें जल भर दे और मण्डल में उसका अधिवासन करना चाहिये। उसमें पल्लव डाल देना चाहिये। तत्पश्चात् नृसिंह मन्त्र से अग्नि में घी की धारा गिराते हुए हवन करना चाहिये। नारायण तत्त्व से प्राणन्यास करना चाहिये।।५-१०।। हे सुरेश्वर! प्रासाद के उस कलश का वैराज रूप में चिन्तन करना चाहिये। तत्पश्चात् विद्वान् पुरुष को सम्पूर्ण प्रासाद को ही पुरुष की भाँति चिन्तन करना चाहिये। उसके बाद नीचे स्वर्ण देकर तत्त्वभूत कलश की स्थापना करनी चाहिये। गुरु आदि को दक्षिणा दे और ब्राह्मण आदि को भोजन कराये। तत्पश्चात् वेदी के चारों तरफ सूत या माला लपेटे। उसके ऊपर कण्ठ भाग में सभी तरफ सूत अथवा बन्दनवार बाँधे और उसके भी ऊपर 'विमलामलसार' नामक पुष्पहार या बन्दनवार मन्दिर के चारों तरफ बाँधे। उसके ऊपर 'वृकल' तथा उसके भी ऊपर आदि सुदर्शन चक्र बनाये। वहीं भगवान् वासुदेव की ग्रहगुप्त मूर्ति निवेदित करना चाहिये। अथवा पहले कलश और उसके ऊपर श्रेष्ठतम सुदर्शन चक्र की योजना करना चाहिये। हे ब्रह्मन्! वेदी के चारों तरफ आठ विघ्नेश्वरों की स्थापना करनी चाहिये। अथवा चार दिशाओं में चार ही विघ्नेश्वर स्थापित किये जाने चाहिये। अधुना गरुडध्वजारोपण की विधि बतलाता हूँ, जिसके होने से भूत आदि न्स्टा हो जाते हैं।।११-१६।। प्रासाद-बिम्ब के द्रव्यों में जितने परमाणु होते हैं, उतने सहस्र वर्षों तक मन्दिर-निर्माता पुरुष विष्णुलोक में निवास करता है। हे निष्पाप ब्रह्माजी! जिस समय वायु से ध्वज फहराता है और कलश, वेदी तथा प्रासादबिम्ब के कण्ठ

पताकां प्रकृतिं विद्धि दण्डं पुरुषरूपिणम्। प्रासादो वासुदेवस्य मूर्तिरूपो निबोध मे॥१९॥
धारणाद्धरणीं विद्धि आकाशं सुषिरात्मक। तेजस्तत्पावकं विद्धि वायुं स्पर्शगतं तथा॥२०॥
पाषाणादिष्वेवजलं पार्थिवं पृथिवीगुणम्। प्रतिशब्दोद्भवं शब्दं स्पर्शं स्यात्कर्कशादिकम्॥२१॥
शुक्लादिकं भवेद्रूपं रसमाह्लाद दर्शकम्। धूपादिगन्धं गन्धं तु वाग्भेर्यादिषु संस्थिता॥२२॥
शुकनासाश्रिता नासा बाहू भद्रात्मकौ स्मृतौ। शिरस्त्वण्डं निगदितं कलशो मूर्धजाः स्मृताः॥२३॥
कण्ठं कण्ठमिति ज्ञेयं स्कन्धो वेदी निगद्यते। पायूपस्थे प्रणाले तु त्वक्सुधा परिकीर्तिता॥२४॥
मुखं द्वारं भवेदस्य प्रतिमा जीव उच्यते। तच्छक्तिं पिण्डिकां विद्धि प्रकृतिं च तदाकृतिम्॥२५॥
निश्चलत्वं च गर्भोऽस्या अधिष्ठाता तु केशवः। एवमेष हरिः साक्षात्प्रासादत्वेन संस्थितः॥२६॥
जङ्घा त्वस्य शिवो ज्ञेयः स्कन्धे धाता व्यवस्थितः। ऊर्ध्वभागे स्थितौ विष्णुरेवं तस्य स्थितस्य हि॥२७॥
प्रासादस्य प्रतिष्ठां तु ध्वजरूपेण मे शृणु। ध्वजं कृत्वा सुरैर्दैत्या जितः शस्त्रादिचिह्नितम्॥२८॥
अण्डोर्ध्वं कलशं न्यस्य तदूर्ध्वं विन्यसेद्ध्वजम्। बिम्बार्धमानं दण्डस्य त्रिभागेणाथ कारयेत्॥२९॥
अष्टारं द्वादशारं वा मध्ये मूर्तिमताऽन्वितम्। नारसिंहेन ताक्ष्येण ध्वजदण्डस्तु निर्व्रणः॥३०॥

को आवेष्टित कर लेता है, तत्पश्चात् प्रासादकर्ता को ध्वजोरोपण की अपेक्षा भी कोटिगुना अधिक फल प्राप्त होता है, ऐसा समझना चाहिये। पताका को प्रकृति जानों और दण्ड को पुरुष। साथ ही मुझसे यह भी समझ लो कि प्रासाद (मन्दिर) भगवान् वासुदेव की मूर्ति है। मन्दिर भगवान् को धारण करता है, यही उसमें धरणीतत्त्व है, ऐसा जानो। मन्दिर के अन्दर जो शून्य अवकाश है, वही उसमें आकाशतत्त्व है। उसमें जो तेज या प्रकाश है, वही अग्नि तत्त्व है और उसके अन्दर जो हवा का स्पर्श होता है, वही उसमें वायु तत्त्व है॥१७-२०॥ पाषाण आदि में ही जो जल है, वह पार्थिव जल है। उसमें पृथ्वी का गुण गन्ध विद्यमान है। प्रतिध्वनि से जो शब्द प्रकट होता है, वही वहाँ का शब्द है। छूने में कठोरता आदि का जो अनुभव होता है, वही वहाँ का स्पर्श है। शुक्ल आदि वर्ण रूप है। आह्लाद का अनुभव कराने वाला रस ही वहाँ रस है। धूप आदि की गन्ध ही वहाँ की गन्ध है। भेरी आदि में जो नाद प्रकट होता है, वही मानो वागिन्द्रिय का कार्य है। इसलिये वहीं वागिन्द्रिय की स्थिति है। शुकनासा में नासिका की स्थिति है। दो भद्रात्मक भुजाएँ कही गयी हैं। शिखर पर जो अण्ड-सा बना रहता है, वही मस्तक कहा गया है और कलश को केश बतलाया गया है। प्रासाद का कठ भाग ही उसका कण्ठ समझना चाहिये। वेदी को कंधा कहा गया है। दो नालियाँ गुदा और उपस्थ बतलायी गयी हैं। मन्दिर पर जो चूना फेरा गया है, उसी को त्वचा नाम दिया गया है। द्वार उसका मुँह है और प्रतिमा को मन्दिर का जीवात्मा कहा गया है। पिण्डिका को जीव की शक्ति समझो और उसकी आकृति को प्रकृति॥२१-२५॥ निश्चलता उसका गर्भ है और भगवान् केशव उसको अधिष्ठाता। इस तरह ये भगवान् श्रीहरि विष्णु ही साक्षात् मन्दिर रूप से खड़े हैं। भगवान् शिव उसकी जंघा हैं, ब्रह्मा स्कन्ध भाग में स्थित हैं और ऊर्ध्व भाग में स्वयं विष्णु विराजमान हैं। इस तरह स्थित हुए प्रासाद की ध्वज रूप से जो प्रतिष्ठा की गयी है, उसको मुझसे सुनो। शस्त्रादिचिह्नित ध्वज का आरोपण करके देवताओं ने दैत्यों को जीता है। अण्ड के ऊपर कलश रखकर उसके ऊपर ध्वज की स्थापना करनी चाहिये। ध्वज का मान बिम्ब के मान का आधा भाग है। ध्वजदण्ड की लम्बाई के एक तिहाई भाग से चक्र का निर्माण कराना चाहिये। वह चक्र आठ या द्वादश आरों का हो और उसके मध्य भाग में भगवान् नृसिंह अथवा गरुड की मूर्ति हो। ध्वज-दण्ड टूटा-फूटा या छेद वाला न हो। प्रासाद की जो चौड़ाई है,

प्रासादस्य तु विस्तारो मानं दण्डस्य कीर्तितम्। शिखरार्धेन वा कुर्यात्तृतीयार्धेन वा पुनः।।३१।।
द्वारस्य दैर्घ्याद्विगुणं दण्डं वा परिकल्पयेत्। ध्वजयष्टिर्देवगृहे ऐशान्यां वायवेऽथवा।।३२।।
क्षौमाद्यैश्च ध्वजं कुर्याद्विचित्रं वैकवर्णकम्। घण्टचामरकिङ्किण्या भूषितं पापनाशनम्।।३३।।
दण्डाग्राद्धरणीं यावद्धस्त्रैक्यं विस्तरेण तु। महाध्वजः सर्वदः स्यात्तुर्यांशाद्धीनतोऽर्चितः।।३४।।
ध्वजे चार्धेन विज्ञेया पताका मानवर्जिता। विस्तारेण ध्वजः कार्यो विंशदङ्गुलसंनिभः।।३५।।
अधिवासविधानेन चक्रं दण्डं ध्वजं तथा। देववत्सकलं कृत्वा मण्डपस्नपनादिकम्।।३६।।
नेत्रोन्मीलनकं त्यक्त्वा पूर्वोक्तं सर्वमाचरेत्। अधिवासयेद्विधिना शय्यायां स्थाप्य देशिकः।।३७।।
ततः सहस्रशीर्षेति सूक्तं चक्रे न्यसेद्बुधः। तथा सुदर्शनं मन्त्रं मनस्तत्त्वं निवेशयेत्।।३८।।
मनोरूपेण तस्यैव सजीवकरणं स्मृतम्। अरेषु मूर्तयो न्यस्याः केशवाद्याः सुरोत्तम।।३९।।
नाभ्यब्जप्रतिनेमीषु न्यसेत्तत्वानि देशिकः। नृसिंहं विश्वरूपं वा अब्जमध्ये निवेशयेत्।।४०।।
सकलं विन्यसेद्दण्डे सूत्रात्मानं सजीवकम्। निष्कलं परमात्मानं ध्वजे ध्यायन्न्यसेद्धरिम्।।४१।।
तच्छक्तिं व्यापिनीं ध्यायेद् ध्वजरूपां बलाबलाम्। मण्डले स्थाप्य चाभ्यर्च्य होमं कुण्डेषु कारयेत्।।४२।।
कलशे स्वर्णकलशं न्यस्य रत्नानि पञ्च च। स्थापयेच्चक्रमन्त्रेण स्वर्णं चक्रमधस्ततः।।४३।।

उसी को दण्ड की लम्बाई का मान कहा गया है। अथवा शिखर के आधे या एक तिहाई भाग से उसकी लम्बाई का अनुमान करना चाहिये। अथवा द्वार की लम्बाई से दुगुना बड़ा दण्ड बनाना चाहिये। उस ध्वज-दण्ड को देव मन्दिर पर ईशान या वायव्यकोण की तरफ स्थापित करना चाहिये।।२६-३२।। उसकी पताका का रेशमी आदि वस्त्रों से विचित्र शोभायुक्त बनाये। अथवा उसको एक रंग की ही बनाये। यदि उसको घण्टा, चँवर अथवा छोटी-छोटी घंटियों से विभूषित करना चाहिये तो वह पापों का विनाश करने वाली होती है। दण्ड के अग्रभाग से लेकर भूमि तक लम्बा जो एक वस्त्र है, उसको 'महाध्वज' कहा गया है। वह सम्पूर्ण मनोरथों को देने वाला है। जो उससे एक चौथाई छोटा हो, वह ध्वज पूजित होने पर सर्वमनोरथों का पूरक होता है। ध्वज के आधे मानने वाले वस्त्र से बने हुए झंडे को 'पताका' कहते हैं अथवा पताका का कोई माप नहीं होता। ध्वज का विस्तार बीस अंगुल के बराबर होना चाहिये। चक्र, दण्ड और ध्वज–इन सभी का अधिवासन की विधि से देवता की ही भाँति सकलीकरण करके मण्डप-स्नान (मण्डप में नहलाने की क्रिया) आदि सभी कार्य करना चाहिये। 'नेत्रोन्मीलन' को छोड़कर उपरोक्त सभी कर्मों का अनुष्ठान करना चाहिये। आचार्य को इन सभी को विधिवत् शय्या पर स्थापित करके इनका अधिवासन करना चाहिये।।३३-३७।। तत्पश्चात् विद्वान् पुरुष को **'सहस्रशीर्ष०'** (यजु. अ. ३१) इत्यादि सूक्त का ध्वजाङ्कित चक्र में न्यास करना चाहिये तथा सुदर्शन-मन्त्र एवं मनस्तत्त्व का न्यास करना चाहिये। यह 'मन' रूप से उस चक्र का ही 'सजीवीकरण' कहा गया है। हे सुरश्रेष्ठ! द्वादश आरों में क्रमशः केशव आदि पूर्तियों का न्यास करना चाहिये। गुरु चक्र की नाभि, कमल एवं प्रतिनेमियों में तत्त्वों का न्यास करना चाहिये। कमल में नृसिंह अथवा विश्व रूप का निवेश करना चाहिये। दण्ड में जीव सहित सम्पूर्ण सूत्रात्मा का न्यास करना चाहिये। ध्वज में श्रीहरि विष्णु का ध्यान करते हुए निष्कल परमात्मा का निवेश करना चाहिये। उनकी बलाबलारूपा व्यापिनी शक्ति का ध्वज के रूप में ध्यान करना चाहिये। मण्डप में उसकी स्थापना और पूजा करके कुण्डों में हवन करना चाहिये। कलश में सोने का टुकड़ा और

पारदेन तु संप्लाव्य नेत्रपट्टेन छादयेत्। ततो निवेशयेच्चक्रं तन्मध्ये तु हरिं स्मरेत्।।४४।।
ॐ क्षौं नृसिंहाय नमः पूजयेत्स्थापयेद्धरिम्। ततो ध्वजं गृहीत्वा तु यजमानः सबान्धवः।।४५।।
दधिभक्तयुते पात्रे ध्वजस्याग्रं निवेशयेत्। ध्रुवाद्येन फडन्तेन ध्वजं मन्त्रेण पूजयेत्।।४६।।
शिरस्याधाय तत्पात्रं नारायणमनुस्मरन्। प्रदक्षिणं तु कुर्वीत तूर्यमंगलनिःस्वनैः।।४७।।
ततो निवेशयेद्दण्डं मन्त्रेणाष्टाक्षरेण तु। मुञ्चामि त्वेतिसूक्तेन ध्वजं मुञ्चेद्विचक्षणः।।४८।।
पात्रं ध्वजं कुञ्जरादिं दद्यादाचार्यके द्विजः। एष साधारणः प्रोक्तो ध्वजस्याऽऽरोहणे विधिः।।४९।।
यस्य देवस्य यच्चिह्नं तन्मन्त्रेण स्थिरं चरेत्। स्वर्गच्छेद्ध्वजदानात्तु भुवि राजा बली भवेत्।।५०।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते अवभृथस्नानद्वारप्रतिष्ठाध्वजारोपणादिविधिकथनं नामैकषष्टितमोऽध्यायः।।६१।।

—❋❋❋—

पञ्चरत्न डालकर अस्त्र-मन्त्र से चक्र की स्थापना करनी चाहिये। उसके बाद स्वर्ण चक्र को नीचे से पारे द्वारा सम्प्लावित करके नेत्र पट से आच्छादित करना चाहिये। तदननतर चक्र का निवेश करना चाहिये और उसके अन्दर श्रीहरि विष्णु का स्मरण करना चाहिये।।३८-४४।। '**ॐ क्षौं नृसिंहाय नमः।**'-इस मन्त्र से श्रीहरि विष्णु की स्थापना और पूजा करनी चाहिये। उसके बाद बन्धु-बान्धवों सहित यजमान ध्वज लेकर दही-भात से युक्त पात्र में ध्वज का अग्रभाग डालना चाहिये। आदि में (ॐ) और अन्त में 'फट्' लगाकर 'ॐ फट्' इस मन्त्र से ध्वज का पूजन करना चाहिये। तत्पश्चात् उस पात्र को सिरपर रखकर नारायण का बारम्बर स्मरण करते हुए वाद्यों की ध्वनि और मङ्गलपाठ के साथ परिक्रमा करना चाहिये। उसके बाद अष्टाक्षर-मन्त्र से ध्वज दण्ड की स्थापना करनी चाहिये। विद्वान् पुरुष को '**मुञ्चामि त्वा**' (ऋक्० १८/१६१/१) इस सूक्त के द्वारा ध्वज को फहरावे। द्विज को आचार्य के लिये पात्र, ध्वज और हाथी आदि दान करना चाहिये। यह ध्वजारोपण की सामान्य विधि बतलायी गयी है।।४५-४९।। जिस देवता का जो चिह्न है, उससे युक्त ध्वज को उसी देवता के मन्त्र से स्थिरतापूर्वक स्थापित करना चाहिये। मनुष्य ध्वज-दान के पुण्य से स्वर्ग लोक में जाता है तथा वह पृथ्वी पर बलवान् राजा होता है।।५०।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी इकसठवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।६१।।

अथ द्विषष्टितमोऽध्यायः

लक्ष्म्यादिदेवताप्रतिष्ठासामान्यविधिः

श्रीभगवानुवाच

समुदायेन देवादेः प्रतिष्ठां प्रवदामि ते। लक्ष्म्याः प्रतिष्ठां प्रथमं तथा देवीगणस्य च।।१।।
पूर्ववत्सकलं कुर्यान्मण्डपस्नपनादिकम्। भद्रपीठे श्रियं न्यस्य स्थापयेदष्ट वै घटान्।।२।।
घृतेनाभ्यज्य मूलेन स्नापयेत्पञ्चगव्यकैः। हिरण्यवर्णां हरिणीं नेत्रे चोन्मीलयेच्छ्रियाः।।३।।
तां म अवाह इत्येवं प्रदद्यान्मधुरत्रयम्। अश्वपूर्णेति पूर्वेण तां कुम्भेनाभिषेचयेत्।।४।।
कांसोऽस्मितेति याम्येन पश्चिमेनाभिषेचयेत्। चन्द्रां प्रभासामुच्चार्याऽऽदित्यवर्णेति चोत्तराम्।।५।।
उपैतु मेति चाऽऽग्नेयात्क्षुत्पिपासेति नैर्ऋतात्। गन्धद्वारेति वायव्यान्मनसः काममाकृतिम्।।६।।
ईशानकलशेनैव शिरः सौवर्णकर्दमात्। एकाशीतिघटैः स्नानं मन्त्रेणायं सृजन्क्षितम्।।७।।
आर्द्रां पुष्करिणीं गन्धैरार्द्रामित्यादिपुष्पकैः। तां म आवह मन्त्रेण आनन्द इति चाखिलम्।।८।।

अध्याय-६२

श्रीलक्ष्मी आदि देवता प्रतिष्ठा की सामान्य विधि

श्रीभगवान् ने कहा कि:– अधुना मैं सामूहिक रूप से देवता आदि की प्रतिष्ठा को आपसे वर्णन करने जा रहा हूँ। पहले श्रीलक्ष्मी की, फिर अन्य देवियों के समुदाय की स्थापना का वर्णन करने जा रहा हूँ। पूर्ववर्ती अध्यायों में जैसा बतलाया गया है, उसके अनुसार मण्डप-अभिषेक आदि सारा कार्य करना चाहिये। तत्पश्चात् भद्रपीठ पर श्रीलक्ष्मी की स्थापना करके आठ दिशाओं में आठ कलश स्थापित करना चाहिये। देवी की प्रतिमा का घी से अभ्यञ्जन करके मूल-मन्त्र द्वारा पञ्चगव्य से उसको स्नान कराये। फिर '**हिरण्यवर्णां हरिणीम्०**' इत्यादि मन्त्र से श्रीलक्ष्मी के दोनों नेत्रों का उन्मीलन करना चाहिये। '**तां म आ वह.**' इत्यादि मन्त्र पढ़कर देवी के लिये मधु, घी और चीनी अर्पित करना चाहिये। तत्पश्चात् '**अश्वपूर्वाम् ०**' इत्यादि मन्त्र से पूर्ववर्ती कलश के जल द्वारा श्रीदेवी का अभिषेक करना चाहिये। '**कां सोऽस्मिताम् ०**' इस मन्त्र को पढ़कर दक्षिण कलश से '**चन्द्रां प्रभासाम् ०**' इत्यादि मन्त्र का उच्चारण करके पश्चिम कलश से तथा '**आदित्यवर्णे०**' इत्यादि मन्त्र बोलकर उत्तरवर्ती कलश से देवी का अभिषेक करना चाहिये।।१-५।। 'उपैतु माम् ०' इत्यादि मन्त्र का उच्चारण करके आग्नेय कोण के कलश से '**क्षुत्पिपासामलाम्–**' इत्यादि मन्त्र बोलकर नैर्ऋत्यकोण के कलश से '**गन्ध द्वारां दुराधर्षाम्०**' इत्यादि मन्त्र को पढ़कर वायव्यकोण के कलश से तथा '**मनसः काममाकूतिम्–**' इत्यादि मन्त्र कहकर ईशानकोणवर्ती कलश से श्रीलक्ष्मी देवी का अभिषेक करना चाहिये। '**कर्दमेन प्रजा भूता.**' इत्यादि मन्त्र से स्वर्णमय कलश के जल से देवी के मस्तक का अभिषेक करना चाहिये। उसके बाद '**आपः सृजन्तु०**' इत्यादि मन्त्र से इक्यासी कलशों द्वारा श्रीदेवी की प्रतिमा को स्नान कराये।।६-७।। तत्पश्चात् (श्री-प्रतिमा को शुद्ध वस्त्र से पोंछकर सिंहासन पर विराजमान करना चाहिये और वस्त्र आदि करने के बाद) '**आर्द्रां पुष्करिणीम् ०**' इस मन्त्र से गन्ध अर्पित करना चाहिये। '**आर्द्रां यः करिणीम् .**' आदि पुष्प और माला चढ़ाकर पूजा करनी चाहिये। इसके बाद '**तां म आ वह जातवेदो०**' इत्यादि मन्त्र से और

श्रायन्तीयेन शय्यायां श्रीसूक्तेन च संनिधिम्। लक्ष्मीबीजेन चिच्छक्तिं विन्यस्याभ्यर्चयेत्पुनः।।९।।
श्रीसूक्तेन मण्डपेऽथ कुण्डेष्वब्जानि होमयेत्। करवीराणि वा हुत्वा सहस्रं शतमेव वा।।१०।।
गृहोपकरणान्तादि श्री सूक्तेनैव चार्पयेत्। ततः प्रासादसंस्कारं सर्वं कृत्वा तु पूर्ववत्।।११।।
मात्रार्थे पिण्डिकां कृत्वा प्रतिष्ठानं ततः श्रियाः। श्रीसूक्तेन च सांनिध्यं पूर्ववत्प्रत्यृचं जपेत्।।१२।।
चिच्छक्तिं बोधयित्वा तु मूलात्सांनिध्यकं चरेत्। भूस्वर्णवस्त्रगोन्नादि गुरवे ब्रह्मणेऽर्पयेत्।।१३।।
एवं देव्योऽखिलाः स्थाप्य राज्यस्वर्गादिभाग्भवेत्।।१४।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते लक्ष्म्यादिदेवताप्रतिष्ठासामान्यविधिकथनं नाम द्विषष्टितमोऽध्यायः।।६२।।

'आनन्द०' इत्यादि श्लोक से अखिल उपचार अर्पित करना चाहिये।।८।। **'श्रायन्ती०'** आदि मन्त्र से श्री-प्रतिमा को शय्यापर शयन कराये। फिर श्रीसूक्त से संनिधीकरण करना चाहिये और श्रीलक्ष्मी (श्री) बीज (श्रीं) से चित् शक्ति का विन्यास करके पुरः अर्चना करनी चाहिये। इसके बाद श्रीसूक्त से मण्डपस्थ कुण्डों में कमलों अथवा करवीर-पुष्पों का हवन करना चाहिये। हवन संख्या एक हजार या एक सौ होनी चाहिये। गृहोपकरण आदि समस्त पूजन-सामग्री आदितः श्रीसूक्त के मन्त्रों से ही समर्पित करना चाहिये। फिर पूर्ववत् पूर्ण रूप से प्रासाद-संस्कार सम्पन्न करके माता श्रीलक्ष्मी के लिये पिण्डि का निर्माण करना चाहिये। उसके बाद उस पिण्डिका पर श्रीलक्ष्मी की प्रतिष्ठा करके श्रीसूक्त से संनिधीकरण करते हुए, पूर्ववत् उसकी प्रत्येक ऋचा का जप करना चाहिये।।९-१२।। मूल-मन्त्र से चित्-शक्ति का जाग्रत् करके पुनः संनिधीकरण करना चाहिये। उसके बाद आचार्य और ब्रह्मा तथा अन्य ऋत्विज ब्राह्मणों को भूमि, स्वर्ण, वस्त्र, गौ एवं अन्नादि का दान करना चाहिये। इस तरह सभी देवियों की स्थापना करके मनुष्य राज्य और स्वर्ग आदि का भागी होता है।।१३-१४।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी बासठवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।६२।।

❖❖❖

अथ त्रिषष्टितमोऽध्यायः

विष्ण्वादिदेवताप्रतिष्ठासामान्यविधिः पुस्तकलेखनविधिश्च

श्रीभगवानुवाच

एवं तार्क्ष्यस्य चक्रस्य ब्रह्मणो नृहरेस्तथा। प्रतिष्ठा विष्णुवत्कार्या स्वस्वमन्त्रेण तां शृणु।।१।।
सुदर्शन महाचक्र शान्त दुष्टभयङ्कर, छिन्धि च्छिन्धि भिन्धि भिन्धि विदारय विदारय परमन्त्रान्ग्रस ग्रस भक्षय भक्षय भूतांस्त्रासय त्रासय हुं फट् सुदर्शनाय नमः।।२।।

अभ्यर्च्य चक्रं चानेन रणे दारयते रिपुन्।।३।।
क्षौं नरसिंह उग्ररूप ज्वल ज्वल प्रज्वल प्रज्वल स्वाहा।।४।।
नरसिंहस्य मन्त्रोऽयं पातालाख्यस्य वच्मि ते।।५।।

ॐ क्षौं नमो भगवते नरसिंहाय प्रदीप्तसूर्यकोटिसहस्त्रसमतेजसे वज्रनखदंष्ट्रायुधाय स्फुट-विकटविकीर्णकेशरसटाप्रक्षुभितमहार्णवाम्भो दुन्दुभिनिर्घोषाय सर्वमन्त्रोत्तारणाय एह्येहि भगवन्नरसिंह पुरुष परापरब्रह्म सत्येन स्फुर स्फुर विजृम्भ विजृम्भ आक्रम आक्रम गर्ज गर्ज मुञ्च मुञ्च सिंहनादं विदारय विदारय विद्रावय विद्रावयाऽऽविशाऽविश सर्वमन्त्ररूपाणि मन्त्रजातीश्च हन हन च्छिन्द च्छिन्द संक्षिप संक्षिप दर दर दारय दारय स्फुट स्फुट स्फोटय स्फोटय ज्वालामालासंघातमयसर्वतोऽनन्तज्वाला-वज्राशनिचक्रेण सर्वपातालानुत्सादयोत्सादय सर्वतोऽनन्तज्वालावज्रशरपञ्जरेण सर्वपातालान्परिवारय

अध्याय-६३

विष्णु आदि देवता प्रतिष्ठा सामान्य विधि और पुस्तक लेखन-विधि

श्रीभगवान् ने कहा कि–इस तरह विनतानन्दन गरुड, सुदर्शन चक्र, ब्रह्मा और भगवान् नृसिंह की प्रतिष्ठा भी उनके अपने-अपने मन्त्र से भगवान् श्रीहरि विष्णु की ही भाँति करनी चाहिये; इसका श्रवण करो।।१।।

'ॐ सुदर्शन महाचक्र शान्त दुष्टभयंकर, छिन्धिच्छिन्धि भिन्धि भिन्धि विदारय विदारय परमन्त्रान् ग्रस ग्रस भक्षय भक्षय भूतांस्त्रासय त्रासय हुं फट् सुदर्शनाय नमः।' इस मन्त्र से चक्र का पूजन करके वीर पुरुष युद्ध क्षेत्र में शत्रुओं का विदीर्ण कर डालता है।।२-३।।

'ॐ क्षौं नरसिंह उग्ररूप ज्वल ज्वल प्रज्वल प्रज्वल स्वाहा।' यह नरसिंह भगवान् का मन्त्र है। अधुना मैं आपको पाताल-नृसिंह-मन्त्र का उपदेश करने जा रहा हूँ-।।४-५।। **'ॐ क्षौं नमो भगवते नरसिंहाय प्रदीप्तसूर्यकोटिसहस्त्रमतेजसे वज्रनखदंष्ट्रायुधाय स्फुटविकटविकीर्णकेसरसटाप्रक्षुभितमहार्णवाभ्योदुन्दुभिनिर्घोषाय सर्वमन्त्रोत्तारणाय एह्येहि भगवन्नरसिंह पुरुष परापर ब्रह्म सत्येन स्फुट स्फुट विजृम्भ विजृम्भ आक्रम आक्रम गर्ज गर्ज मुञ्च मुञ्च सिंह नादं विदारय विदारय वद्रिावय विद्रावयाऽऽविशाऽऽविश सर्वमन्त्ररूपाणि प्रन्त्रजातींश्च हन हन च्छिन्दच्छिन्द संक्षिप संक्षिप दर दर दारय दारय स्फुट स्फुट स्फोटय स्फोटय ज्वालामालासंघातमय सर्वतोऽनन्तज्वालावज्राशनि चक्रेण सर्वपातालानुत्सादयोतदय सर्वतोऽनन्तज्वालावज्रशरपञ्जरेण**

परिवारय सर्वपातालासुरवासिनां हृदयान्याकर्षयाकर्षय शीघ्रं दह दह पच पच मथ मथ शोषय शोषय निकृन्तय निकृन्तय तावद्यावन्मे वशमागताः पातालेभ्य (फडसुरेभ्यः फण्मन्त्ररूपेभ्यः फण्मन्त्रजातिभ्यः फट् संशयान्मां भगवन्नरसिंहरूप विष्णो सर्वापद्भ्यः) सर्वमन्त्ररूपेभ्यो रक्ष रक्ष हुं फण्नमो नमस्ते॥६॥
नरसिंहस्य विद्येऽयं हरिरूपाऽर्थसिद्धिदा। त्रैलोक्यमोहनैर्मन्त्रैः स्थाप्यस्त्रैलोक्यमोहनः॥७॥
गदी दक्षे शान्तिकरो द्विभुजो वा चतुर्भुजः। वामोर्ध्वे कारयेच्चक्रं पाञ्चजन्यमथो ह्यधः॥८॥
श्रीपुष्टिसंयुतं कुर्याद्बलेन सह भद्रया। प्रासादे स्थापयेद्विष्णुं गृहे वा मण्डपेऽपि वा॥९॥
वामनं चैव वैकुण्ठं हयास्यमनिरुद्धकम्। स्थापयेज्जलशय्यास्थं मत्स्यादींश्चावतारकान्॥१०॥
संकर्षणं विश्वरूपं लिङ्गं वै रुद्रमूर्तिकम्। अर्धनारीश्वरं तत्र हरिशंकरमातृकाः॥११॥
भैरवं च तथा सूर्यं ग्रहांस्तद्वद्विनायकम्। गौरीमिन्द्रादिभिः सेव्यां चित्रजां च बलाबलाम्॥१२॥
पुस्तकानां प्रतिष्ठां च वक्ष्ये लिखनतद्विधिम्। स्वस्तिके मण्डलेऽभ्यर्च्य शरयन्त्रासने स्थितम्॥१३॥
लेख्यं च लिखितं पुस्तं गुरुर्विद्यां हरिं यजेत्। यजमानो गुरुं विद्यां हरिं लिपिकृतं नरम्॥१४॥
प्राङ्मुखः पद्मिनीं ध्यायेल्लिखित्वा श्लोकपञ्चकम्। रौप्यस्थमष्या हैम्या च लेखन्या नागराक्षरम्॥१५॥
ब्राह्मणान्भोजयेच्छक्त्या शक्त्या दद्याच्च दक्षिणाम्। गुरुं विद्यां हरिं प्राच्र्य पुराणादि लिखेन्नरः॥१६॥
पूर्ववन्मण्डलाद्यैश्च ऐशान्यां भद्रपीठके। दर्पणे पुस्तकं धृत्वा सेचयेत्पूर्ववद्घटैः॥१७॥

सर्वपातालानान्परिवारय परिवारय सर्वपातालासुरवासिनां हृदयान्याकर्षयाऽऽकर्षय शीघ्रं दह दह पच पच मथ मथ शोषय शोषय निकृन्तय निकृन्तय तावद्यावन्मे वशमागताः पातालेभ्यः (फट्सुरेभ्यः) फण्मन्त्ररूपेभ्यः फण्मन्त्रजातिभ्यः फट् संशयान्मां भगवन्नरसिंह रूप विष्णो सर्वापद्भ्यः) सर्वमन्त्ररूपेभ्यो रक्ष रक्ष हुं फण्नमो नमस्ते।।६।।

यह श्रीहरिस्वरूपिणी नृसिंह-विद्या है, जो अर्थ सिद्धि सम्प्रदान करने वाली है। .तैलोक्यमोहन भगवान् श्रीहरि विष्णु की त्रैलोक्य मोहन मन्त्र समूह से प्रतिष्ठा करना चाहिये। उनके द्विभुज विग्रह के वाम हस्त में गदा और दक्षिण हस्त में अभय मुद्रा होनी चाहिये। यदि चतुर्भुज रूप की प्रतिष्ठा की जाय, तो दक्षिणोर्ध्व हस्त में चक्र और वामोर्ध्व में पाञ्जजन्य शङ्ख होना चाहिये। उनके साथ श्री एवं पुष्टि, अथवा बलराम, सुभद्रा की भी स्थापना करनी चाहिये। भगवान् श्रीहरि विष्णु, वामन, वैकुण्ठ, हयग्रीव और अनिरुद्ध की प्रासाद में, गृह में अथवा मण्डप में स्थापना करनी चाहिये। मत्स्यादि अवतारों को जल-शय्या पर स्थातिप करके शयन कराये। संकर्षण, विश्वरूप, रुद्रमूर्तिलिङ्ग, अर्धनारीश्वर, हरिहर, मातृकागण, भैरव, सूर्य, ग्रह, विनायक तथ इन्द्र आदि के द्वारा सेवनीया गौरी, चित्रजा एवं 'बलाबला' विद्या की भी उसी तरह स्थापना करनी चाहिये।।७-१२।। अधुना मैं ग्रन्थ की प्रतिष्ठा और उसकी लेखन-विधि का वर्णन करता हूँ। आचार्य को स्वस्तिक-मण्डल में शरयन्त्र के आसन पर स्थित लेख्य, लिखित पुस्तक, विद्या एवं श्रीहरि विष्णु का यजन करना चाहिये। फिर यजमान, गुरु, विद्या एवं भगवान् श्रीहरि विष्णु और लिपिक (लेखक) पुरुष की अर्चना करनी चाहिये। उसके बाद पूर्वाभिमुख होकर पद्मिनी का ध्यान करना चाहिये और चाँदी की दावात में रखी हुई स्याही तथा सोने की कलम से देवनागरी अक्षरों में पाँच श्लोक लिखे। फिर ब्राह्मणों को यथाशक्ति भोजन कराये और अपनी सामर्थ्य के अनुसार दक्षिणा देना चाहिये। आचार्य, विद्या और भगवान् श्रीहरि विष्णु का पूजन करके लेखक को पुराण आदि का लेखन करना चाहिये। पूर्ववत् मण्डल आदि के द्वारा ईशानकोण में भद्रपीठ पर दर्पण के ऊपर

नेत्रोन्मीलकं कृत्वा शय्यायां तु न्यसेन्नरः। न्यसेत्तु पौरुषं सूक्तं वेदाद्यं तत्र पुस्तके।।१८।।
कृत्वा सजीवीकरणं प्राच्र्य हुत्वा चरुं ततः। संप्राच्र्य दक्षिणाभिस्तु गुर्वादीन्भोजयेद्द्विजान्।।१९।।
रथेन हस्तिना वाऽपि भ्रामयेत्पुस्तकं नरैः। गृहे देवालयादौ तु पुस्तकं स्थाप्य पूजयेत्।।२०।।
वस्त्रादिवेष्टितं पाठादादावन्ते समर्चयेत्। जगच्छान्तिं चावधार्य पुस्तकं वाचयेन्नरः।।२१।।
अध्यायमेकं कुम्भादि्भर्यजमानादि सेचयेत्। द्विजाय पुस्तकं दत्वा फलस्यान्तो न विद्यते।।२२।।
त्रीण्याहुरतिदानानि गावः पृथ्वी सरस्वती। नरकादुद्धरन्त्येव जपवापनदोहनात्।।२३।।
विद्यादानफलं दत्त्वा मष्याक्तं पत्रसंचयम्। यावत्तु पत्रसंख्यानमक्षराणां तथाऽनघ।।२४।।
तावद्वर्षसहस्राणि विष्णुलोके महीयते। पञ्चरात्रं पुराणानि भारतानि ददन्नरः।।२५।।
कुलैकविंशमुद्धृत्य परे तत्त्वे तु लीयते।।२६।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गति विष्ण्वादिदेवताप्रतिष्ठासामान्यविधिकथनं नाम त्रिषष्टितमोऽध्यायः।।६३।।

पुस्तक रखकर पहले की ही भाँति कलशों से सेचन करना चाहिये। फिर यजमान को नेत्रोन्मीलन करके शय्या पर उस पुस्तक का स्थापन करना चाहिये। तत्पश्चात् पुस्तक पर पुरुषसूक्त तथा वेद आदि का न्यास करना चाहिये।।१३-१८।। तत्पश्चात् प्राण-प्रतिष्ठा पूजन एवं चरुहवन करके, पूजन के पश्चात् दक्षिणा से आचार्य आदि का सत्कार करके ब्राह्मण भोजन कराये। उस ग्रन्थ को रथ या हाथी पर रखकर जनसमाज के साथ नगर में घुमावे। अन्त में गृह या देवालय में उसको स्थापित करके उसकी पूजा करनी चाहिये। ग्रन्थ को वस्त्र से आवेष्टित करके पाठ के आदि-अन्त में उसका पूजन करना चाहिये। पुस्तक वाचक विश्वशान्ति का संकल्प करके एक अध्याय का पाठ करना चाहिये। फिर गुरु को कुम्भ जल से यजमान आदि का अभिषेक करना चाहिये। ब्रह्माण को पुस्तक दान करना चाहिये। पुस्तक प्रदान करने से अनन्त फल की प्राप्ति हो जाती है। गोदान, भूमि-दान और विद्यादान-ये तीन अतिदान कहे गये हैं। ये क्रमशः दोहन, वपन और पाठ मात्र करने पर नरक से उद्धार कर देते हैं। मसीलिखित पत्र-संचय का दान विद्यादान का फल देता है और उन पत्रों की एवं अक्षरों की जितनी संख्या होती है, दाता पुरुष उतने ही हजार वर्षों तक विष्णु लोक में पूजित होता है। पञ्चरात्र, पुराण और महाभारत का दान करने वाला मनुष्य अपनी इक्कीस पीढ़ियों का उद्धार करके परमतत्त्व में विलीन हो जाता है।।१९-२६।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी तिरसठवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।६३।।

❖❖❖

अथ चतुःषष्टितमोऽध्यायः

कूपवापीतडागप्रतिष्ठाविधिः

श्रीभगवानुवाच

कूपवापीतडागानां प्रतिष्ठां वच्मि तां शृणु। जलरूपेण हि हरिः सोमो वरुण उत्तमः।।१।।
अग्नीषोममयं विश्वं विष्णुरापस्तु कारणम्। हैमं रौप्यं रत्नजं वा वरुणं कारयेन्नरः।।२।।
द्विभुजं हंसपृष्ठस्थं दक्षिणेनाभयप्रदम्। वामेन नागपाशं तु नदीनागादिसंयुतम्।।३।।
यागमण्डपमध्ये स्याद्वेदिका कुण्डमण्डिता। तोरणं वारुणं कुम्भं न्यसेच्च करकान्वितम्।।४।।
भद्रके चार्धचन्द्रे वा स्वस्तिके द्वारिकुम्भकान्। अग्न्याधानं चापि कुण्डे कृत्वा पूर्णा प्रदापयेत्।।५।।
वरुणं स्नानपीठे तु ये ते शतेति संस्पृशेत्। घृतेनाभ्यञ्जयेत्पश्चान्मूलमन्त्रेण देशिकः।।६।।
शं नो देवीति प्रक्षाल्य शुद्धवत्या शिवोदकैः। अधिवासयेदष्टकुम्भान्सामुद्रं पूर्वकुम्भके।।७।।
गाङ्गमग्नौ वर्षतोयं दक्षे रक्षस्तु नैर्झरम्। नदीतोयं पश्चिमे तु वायव्ये तु नदोदकम्।।८।।

अध्याय-६४

कूप-वापी-तडाग प्रतिष्ठा विधि

श्रीभगवान् ने कहा कि—हे ब्रह्मन्! अधुना मैं कूप, वापी और तड़ाग की प्रतिष्ठा की विधि का वर्णन करने जा रहा हूँ, उसको ध्यान से सुनो। भगवान् श्रीहरि विष्णु ही जल रूप से देवश्रेष्ठ सोम और वरुण हुए हैं। सम्पूर्ण विश्व अग्नीषोममय है। जलरूप नारायण उसके कारण हैं। मनुष्य वरुण की स्वर्ण, रौप्य या रत्नमयी प्रतिमा का निर्माण कराये। वरुणदेव द्विभुज, हंसारूढ और नदी एवं नालों से युक्त हैं। उनके दक्षिण हस्त में अभय मुद्रा और वाम-हस्त में नागपाश सुशोभित होता है। यज्ञमण्डप के मध्य भाग में कुण्ड से सुशोभित वेदिका होनी चाहिये तथा उसके तोरण (पूर्व-द्वार) पर कमण्डलुसहित वरुण-कलश की स्थापना करनी चाहिये। इसी तरह भद्रक (दक्षिणद्वार), अर्द्धचन्द्र (पश्चिम-द्वार) तथा स्वस्तिक (उत्तर-द्वार) पर भी वरुण कलशों की स्थापना आवश्यक है। कुण्ड में अग्नि का आधान करके पूर्णाहुति सम्प्रदान करना चाहिये।।१-२।। **'ये ते शतं वरुण०'** आदि मन्त्र से स्नानपीठ पर वरुण की स्थापना करनी चाहिये। तत्पश्चात् आचार्य को मूल मन्त्र का उच्चारण करके, वरुण देवता की प्रतिमा को वहीं पधराकर, उसमें घृत का अभ्यङ्ग करना चाहिये। फिर **'शं नो देवी०'** (अथर्व० १/६/१; शु० यजु० ३६/१२) इत्यादि मन्त्र से उसका प्रक्षालन करके **'शुद्धबालः० सर्वाुद्ध वालो०'** (शु०यजु० २४/३) आदि से पवित्र जल द्वारा उसको स्नान कराये। उसके बाद स्नानपीठ की पूर्वादि दिशाओं में आठ कलशों का अधिवासन (स्थापन) करना चाहिये। इनमें से पूर्ववर्ती कलश में समुद्र के जल, आग्नेयकोणवर्ती कुम्भ में गङ्गाजल, दक्षिण के कलश में वर्षा के जल, नैर्ऋत्यकोण वाले कुम्भ में झरने के जल, पश्चिम वाले कलश में नदी के जल, वायव्यकोण में नदी के जल, उत्तर-कुम्भ में औद्भिज्ज (सोते) के जल एवं ईशानवर्ती कलश में तीर्थ के जल को भरे। उपर्युक्त ईशानवर्ती कलश में तीर्थ के जल को भरे। उपरोक्त विविध जल न मिलने पर सभी कलशों में नदी के ही जल को डालना चाहिये। कथित सभी कलशों को **'यासां राजा०'** (अथर्व० १/३३/२) आदि मन्त्र से अभिमन्त्रित करना चाहिये। विद्वान् पुरोहित वरुण देव का

औद्भिज्जं चोत्तरे स्थाप्यमैशान्यां तीर्थसम्भवम्। अलाभे तु नदीतोयं यासां राजेति मन्त्रयेत्।।९।।
देव निर्मार्ज्य निर्मथ्य दुर्मित्रियेति विचक्षणः। नेत्रे चोन्मीलयेच्चित्रं तच्चक्षुर्मधुरत्रयैः।।१०।।
ज्योतिः सम्पूजयेद्धैम्यां गुरवे गामथार्पयेत्। समुद्रज्येष्ठत्यभिषिञ्चेद्वरुणं पूर्वकुम्भतः।।११।।
समुद्रं गच्छ गाङ्गेयात्सोमो धेन्विति वर्षकात्। देवीरापो निर्झरादिभर्नदादिभ पञ्चनद्यतः।।१२।।
उद्भिज्जादिभश्चोद्भिदेन पावमान्याऽथ तीर्थकैः। आपो हि ष्ठा पञ्चगव्याद्धिरण्यवर्णेति स्वर्णजात्।।१३।।
आपो अस्मेति वर्षोत्थैर्व्याहृत्या कूपसम्भवैः। वरुणं च तडागोत्थैर्वरुणादिभस्तु वाग्यतः।।१४।।
आपो देवीति गिरिजैरेकाशीतिघटैस्ततः। स्नापयेद्वरुणस्येति त्वं नो वरुण चार्घकम्।।१५।।
व्याहृत्या मधुपर्कं तु बृहस्पतेति वस्त्रकम्। वरुणेति पवित्रं तु प्रणवेनोत्तरीयकम्।।१६।।
यद्वारुणेन पुष्पादि प्रदद्याद्वरुणाय तु। चामरं दर्पणं क्षत्रं व्यजनं वैजयन्तिकम्।।१७।।
मूलेनोत्तिष्ठेत्युत्थाप्य तां रात्रिमधिवासयेत्। वरुणं वेति सान्निध्यं यद्वारुण्येन पूजयेत्।।१८।।
सजीवीकरणं मूलात्पुनर्गन्धादिना यजेत्। मण्डले पूर्ववत्प्राच्य कुण्डेषु समिदादिकम्।।१९।।
वेदादिमन्त्रैर्गङ्गाद्याश्चतस्रो धेनवो दुहेत्। दिक्ष्वथो वै यवचरुं ततः संस्थाप्य होमयेत्।।२०।।

'सुमित्रिया०' (शु० यजु० ३५/१२) आदि मन्त्र से मार्जन और निर्मच्छन करके, **'चित्रं देवानां०'** (शु० यजु० १३/४६) तथा **'तच्चक्षुर्देवहितं०'** (शु० यजु० ३६/२४)–इन मन्त्रों से मधुरत्रय (शहद, घी और चीनी) द्वारा वरुण देव के नेत्रों का उन्मीलन करना चाहिये। फिर वरुण की उस स्वर्णमयी प्रतिमा में ज्योति का पूजन करना चाहिये एवं आचार्य को गोदान देना चाहिये।६–१०।। तत्पश्चात् **'समुद्रज्येष्ठाः०'** (ऋक्० ७/४९/१) आदि मन्त्र के ारा वरुण देव का पूर्व-कलश के जल से अभिषेक करना चाहिये। **'समुद्रं गच्छ०'** (यजु० ६/२१) इत्यादि मन्त्र के द्वारा अग्निकोणवर्ती कलश के गङ्गाजल से, **'सोमो धेनु०'** (शु० यजु० ३४/२१) इत्यादि मन. के द्वारा दक्षिण-कलश के वर्षजल से **'देवीरापो०'** (शु० यजु० ६/२७) इत्यादि मन्त्र के द्वारा नैर्ऋत्यकोणवर्ती कलश के निर्झर-जल से, **'पञ्च नद्यः०'** (शु० यजु०) ३४ / ११) आदि मन्त्र के द्वारा पश्चिम-कलश के नदी-जलसे **'उद्भिद्भ्यः०'** इत्यादि मन्त्र के द्वारा उत्तरवर्ती कलश के उद्भिज्ज-जल से और पावमानी ऋचा के द्वारा ईशान कोण वाले कलश के तीर्थ-जल से वरुण का अभिषेक करना चाहिये। फिर यजमान मौन रहकर **'आपो हि ष्ठा०'** शु० यजु० ११/५०) मन्त्र के द्वारा पञ्चगव्य से, **'हिरण्यवर्णां०'** (श्रीसूक्त) के द्वारा स्वर्ण-जल से **'आपो अस्मान् ०'** शु० यजु० ४/२) मन्त्र के द्वारा वर्षा जल से व्याहृतियों का उच्चारण करके कूप-जल से तथा **'आपो देवीः०'** (शु० यजु० १२/३५) मन्त्र के द्वारा तड़ाग-जल एवं तोरणवर्ती तरुण-कलश के जल से वरुण देव को स्नान कराये। **'वरुणस्योत्तरम्भनमसि०'** शु० यजु० ४/३६) मन्त्र के द्वारा पर्वतीय जल (अर्थात् झरने पानी) से भरे हुए इक्यासी कलशों द्वारा उसको स्नान कराये। फिर **'त्वं नो अग्ने वरुणस्य०'** (शु० यजु० २१/३) इत्यादि मन्त्र से अर्घ्य सम्प्रदान करना चाहिये। व्याहृतियों का उच्चारण करके मधुपर्क, **'बृहस्पते अति यदर्यो०'** (शु० यजु० २६/३) मन्त्र से वस्त्र, पवित्रक और प्रणव से उत्तरीय समर्पित करना चाहिये।।११–१६।। वारुणसूक्त से वरुण देवता को पुष्प, चँवर, दर्पण, छत्र और पताका निवेदन करना चाहिये। मूल-मन्त्र से 'उत्तिष्ठ' ऐसा कहकर उत्थापन करना चाहिये। उसको रात्रि को अधिवासन करना चाहिये। **'वरुणं वा०'** इस मन्त्र से संनिधीकरण करके वरुण सूक्त से उनका पूजन करना चाहिये। फिर मूल-मन्त्र से सजीवीकरण करके चन्दन आदि द्वारा पूजन करना चाहिये। मण्डल में पूर्ववत् अर्चना कर लेना चाहिये। अग्निकुण्ड में समिधाओं

व्याहृत्या वाऽथ गायत्र्या मूलेनाऽऽमन्त्रयेत्तथा। सूर्याय प्रजापतये द्यौः स्वाहा चान्तकनिग्रहाय॥२१॥
तस्यै पृथिव्यै देहधृत्यै इह स्वधृतये ततः। इह रत्यै चेह रमत्या उग्रो भीमश्च रौद्रकः॥२२॥
विष्णुश्च वरुणो धाता रायस्पोषो महेन्द्रकः। अग्निर्यमो नैर्ऋतोऽथ वरुणो वायुरेव च॥२३॥
कुवेर ईशोऽनन्तोऽथ ब्रह्मा राजा जलेश्वरः। तस्मै स्वाहेदं विष्णुश्च तद्विप्रासेति होमयेत्॥२४॥
सोमो धेन्विति षड्हुत्वा इमं मेति च होमयेत्। आपो हि ष्ठेति तिसृभिरिमा रुद्रेति होमयेत्॥२५॥
दशदिक्षु बलिं दद्याद् गन्धपुष्पादिनाऽर्चयेत्। प्रतिमां तु समुत्थाप्य मण्डले विन्यसेद्‌बुधः॥२६॥
पूजयेद्‌गन्धपुष्पाद्यैर्हेमपुष्पादिभिः क्रमात्। जलाशयांस्तु दिग्भागे वितस्तिद्वयसंमितान्॥२७॥
कृत्वाऽष्टौ स्थण्डिलान् रम्यान्सैकताद्वेदिकोत्तमः। वरुणस्येति मन्त्रेण आज्यमष्टशतं ततः॥२८॥
चरुं यवमयं हुत्वा शान्तितोयं समाहरेत्। सेचयेन्मूर्ध्नि देवं तु सजीवकरणं चरेत्॥२९॥
ध्यायेत्तु वरुणं युक्तं गौर्यानदनदीगणैः। ॐ वरुणाय ततोऽभ्यर्च्य ततः सांनिध्यमाचरेत्॥३०॥
उत्थाय नागपृष्ठाद्यैर्भ्रामयेत्तैः समङ्गलैः। आपो हि ष्ठेति च क्षिपेत्त्रिमध्वाक्ते घटे जले॥३१॥
जलाशये मध्यगतं सुगुप्तं विनिवेशयेत्। स्नात्वा ध्यायेच्च वरुणं सृष्टिं ब्रह्माण्डसंज्ञिकाम्॥३२॥

का हवन करना चाहिये। वैदिक मन्त्रों से गङ्गा आदि चारों गौओं का दोहन करना चाहिये। उसके बाद सम्पूर्ण दिशाओं में यवनिर्मित चरु की स्थापना करके हवन करना चाहिये। चरु को व्याहृति, गायत्री या मूल-मन्त्र से अभिमन्त्रित करके, सूर्य, प्रजापति, दिव, अन्तक-निग्रह, पृथ्वी, देवधृति, स्वधृति, दिव्, अन्तक-निग्रह, पृथ्वी, देहधृति, स्वधृति, रति, रमती, उग्र, भीम, रौद्र, विष्णु, वरुण, धाता, रायस्पोष, महेन्द्र, अग्नि, यम, निर्ऋति, वरुण, वायु, कुबेर, ईश, अनन्त, ब्रह्मा, राजा जलेश्वर (वरुण)—इन नामों चतुर्थ्यन्तरूप बोलकर, अन्त में स्वाहा लगाकर बलि समर्पित करना चाहिये। **'इदं विष्णुः०'** (शु० यजु० ५/१५) और **'तद् विप्रासो०'** (शु० यजु० ३४/४४)—इन मन्त्रों से आहुति देनी चाहिये। **'सोमो धेनुम्०'** (शु० यजु० ३४/२१) मन्त्र से छः आहुतियाँ देकर **'इमं मे वरुणः'** (शु. यजु० २१/१) मन्त्र से एक आहुति देनी चाहिये। **'आपो हि ष्ठा०'** (शुक्ल यजु० ११/५०-५२) आदि तीन ऋचाओं से तथा **'इमा रुद्र०'** इत्यादि मन्त्र से भी आहुतियाँ देनी चाहिये।१७-२५॥ फिर दसों दिशाओं में बलि समर्पित करना चाहिये और गन्ध-पुष्प आदि से पूजन करना चाहिये। तत्पश्चात् विद्वान् पुरुष को प्रतिमा को उठाकर मण्डल में स्थापित करना चाहिये तथा गन्ध-पुष्प आदि एवं स्वर्ण-पुष्प आदि के द्वारा क्रमशः उसका पूजन करना चाहिये। उसके बाद श्रेष्ठ आचार्य को आठों दिशाओं में दो बित्ते प्रमाण के जलाशय और आठ बालुकामयी सुरम्य वेदियों का निर्माण करना चाहिये। **'वरुणस्य०'** (यजु० ४/३६) इस मन्त्र से घृत एवं यवनिर्मित चरु की पृथक्-पृथक् एक सौ आठ आहुतियाँ देकर शान्ति-जल से आवे और उस जल से वरुण देव के सिर पर अभिषेक करके सजीवीकरण करना चाहिये। वरुणदेव अपनी धर्मपत्नी गौरीदेवी के साथ विराजमान नदी-नदों से घिरे हुए हैं—इस तरह उनका ध्यान करना चाहिये। **'ॐ वरुणाय नमः।'** मन्त्र से पूजन करके सांनिध्यकरण करना चाहिये। तत्पश्चात् वरुण देव को उठाकर गजराज के पृष्ठदेश आदि सवारियों पर मंगल-द्रव्यों सहित स्थापित करके नगर में भ्रमण कराये। इसके बाद उस वरुणमूर्ति को **'आपो हि ष्ठा०'** आदि मन्त्र का उच्चारण करके त्रिमधु युक्त कलश-जल से रखे और कलशसहित वुरण को जलाशय के मध्यभाग में सुरक्षित रूप से स्थापित कर देना चाहिये।२६-३१॥

इसके बाद यजमान स्नान करके वरुण का ध्यान करना चाहिये। फिर ब्रह्माण्ड-संज्ञिका सृष्टि को अग्नि बीज (रं) से दग्ध करके उसकी भस्मराशि को जल से प्लावित करने की भावना करनी चाहिये। 'समस्त लोव जलमय हो गया है'—

अग्निबीजेन संदग्ध्वा (ह्य) तद्भस्म प्लावयेन्नरः। सर्वमापोमयं लोकं ध्यायेत्तत्र जलेश्वरम्।।३३।।
तोयमध्यस्थितं देवं ततो यूपं निवेशयेत्। चतुरस्रमथाष्टास्रं वर्तुलं वा सुकीर्तितम्।।३४।।
आराध्यं देवतालिङ्गं दशहस्तं तु कूपके। यूपं यज्ञी (ज्ञि) यवृक्षोत्थं मूले हैमं फलं न्यसेत्।।३५।।
वाप्यां पञ्चदशकरं पुष्करिण्यां तु विंशकम्। तडागे पंचविंशाख्यं जलमध्ये निवेशयेत्।।३६।।
यागमण्डपाङ्गणे वा यूप ब्रह्मेति मन्त्रतः। स्थाप्य तद्वेष्टयेद्वस्त्रैर्यूपोपरि पताकिकाम्।।३७।।
तदभ्यर्च्य च गन्धाद्यैर्जगच्छान्तिं समाचरेत्। दक्षिणां गुरवे दद्याद्भूगोहेमाम्बुपात्रकम्।।३८।।
द्विजेभ्यो दक्षिणा देया आगतान्भोजयेत्तथा। आब्रह्मस्तम्बपर्यन्तं ये केचित्सलिलार्थिनः।।३९।।
ते तृप्तिमुपगच्छन्तु तडागस्थेन वारिणा। तोयमुत्सर्जयेदेवं पञ्चगव्यं विनिक्षिपेत्।।४०।।
आपो हि ष्ठेति तिसृभिः शान्तितोयं द्विजैः कृतम्। तीर्थतोयं क्षिपेत्पुण्यं गोकुलं चार्पयेद्विजान्।।४१।।
अनिवारितमन्नाद्यं सर्वजन्यं च कारयेत्। अश्वमेधसहस्राणां सहस्रं यः समाचरेत्।।४२।।
एकाहं स्थापयेत्तोयं तत्पुण्यमयुतायुतम्। विमाने मोदते स्वर्गे नरकं न स गच्छति।।४३।।
गवादि पिबते यस्मात्तस्मात्कर्तुर्न पातकम्। तोयदानात्सर्वदानफलं प्राप्य दिवं व्रजेत्।।४४।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते कूपवापीतडागादिप्रतिष्ठाकथनं नाम चतुःषष्टितमोऽध्यायः।।६४।।

—***—

ऐसी भावना करके उस जल में जलेश्वर वरुण का ध्यान करना चाहिये। इस तरह जल के मध्य भाग में वरुण देवता का चिन्तन करके वहाँ यूप की स्थापना करनी चाहिये। यूप चतुष्टकोण, अष्आकोण या गोलाकार हो, तो श्रेष्ठतम माना गया है। उसकी लम्बाई दस हाथ की होनी चाहिये। उसमें उपास्यदेवता का परिचायक चिह्न हो। उसका निर्माण किसी यज्ञ सम्बन्धी वृक्ष के काष्ठ से हुआ हो। ऐसा ही यूप कूप के लिये उपयोगी होता है। उसके मूल भाग में हेममय फल का न्यास करना चाहिये। वापी में पन्द्रह हाथ का, पुष्करिणी में बीस हाथ का और पोखरे में पचीस हाथ का यूपकाष्ठ जल के अन्दर निवेशित करना चाहिये। यज्ञमण्डप के प्राङ्गण में '**यूप ब्रह्म०**' आदि मन्त्र से यूप की स्थापना करके उसको वस्त्रों से आवेष्टित करना चाहिये तथा यूप के ऊपर पताका लगावे। उसका गन्ध आदि से पूजन करके जगत् के लिये शान्तिकर्म करना चाहिये। आचार्य को भूमि, गौ, स्वर्ण तथा जलपात्र आदि दक्षिणा में देना चाहिये। अन्य ब्राह्मणों को भी दक्षिणा दे और समागत जनों को भोजन कराये। **आब्रह्मस्तम्बपर्यन्तं ये केचित्सलिलार्थिनः। ते तृप्तिमुपगच्छन्तु तडागस्थेन वारिणा।।** 'ब्रह्मा से लेकर तृण-पर्यन्त जो भी जलपिपासु हैं, वे इस तडाग में स्थित जल के द्वारा तृप्ति को प्राप्त हों।–ऐसा कहकर जल का उत्सर्ग करना चाहिये और जलाशय में पञ्चगव्य डालना चाहिये।।३२-४०।। तत्पश्चात् '**आपो हि ष्ठा०**' इत्यादि तीन ऋचाओं से ब्राह्मणों द्वारा सम्पादित शान्ति-जल तथा पवित्र तीर्थजल का निक्षेप करना चाहिये एवं ब्राह्मणों को गोवंश का दान करना चाहिये। सर्वसामान्य के लिये बेरोक-टोक-अन्न-वितरण का प्रबन्ध कराये। जो मनुष्य एक लाख अश्वमेध यज्ञों का अनुष्ठान कराये। जो मनुष्य एक लाख अश्वमेध यज्ञों का अनुष्ठान करता है, उसका पुण्य उन यज्ञों की अपेक्षा हजारों गुना अधिक है। वह स्वर्गलोक को प्राप्त होकर विमान में प्रमुदित होता है और नरक को कभी नहीं प्राप्त होता है।।४१-४३।। जलाशय से गौ आदि पशु जल पीते हैं, इससे कर्त्ता पापमुक्त हो जाता है, मनुष्य जल दान से सम्पूर्ण दानों का फल प्राप्त करके स्वर्गलोक को जाता है।।४४।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी चौंसठवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।६४।।

***

अथ पञ्चषष्टितमोऽध्यायः

सभादिस्थापनविधिः

श्रीभगवानुवाच

सभादिस्थापनं वक्ष्ये तथैतेषां प्रवर्तनम्। भूमी परीक्षितायां च वास्तुयागं समाचरेत्।।१।।
स्वेच्छया तु सभां कृत्वा स्वेच्छया स्थापयेत्सुरान्। चतुष्पथे च ग्रामादौ न शून्ये कारेयत्सभाम्।।२।।
निर्मलः कुलमुद्धृत्य कर्ता स्वर्गे विमोदते। अनेन विधिना कुर्यात्सप्तभौमं हरेर्गृहम्।।३।।
यथा राज्ञां तथाऽन्येषां पूर्वाद्याश्च ध्वजादयः। कोणभुजान्वर्जयित्वा चतुःशालं तु वर्जयेत्।।४।।
त्रिशालं वा द्विशालं वा एकशालमथापि वा। व्ययाधिकं न कुर्वीत व्ययदोषकरं हि तत्।।५।।
आयाधिके भवेत्पीडा तस्मात्कुर्यात्समं द्वयम्। करराशिं समस्तं तु कुर्याद्वसुगुणं गुरुः।।६।।
सप्तार्चिषा कृते भागे गर्गविद्याविचक्षणः। अष्टधा भाजते तस्मिन्यच्छेषं स व्ययो मतः।।७।।
अथवा करराशिं तु हन्यात्सप्तार्चिषा बुधः। वसुभिः संहृते भागे ध्वजादि परिकल्पयेत्।।८।।

अध्याय–६५

सभा आदि स्थापन विधि

श्री भगवान् ने कहा कि–अधुना मैं सभा (देवमन्दिर) आदि की स्थापना का विषय विस्तार से बतला रहा हूँ तथा इन सबकी प्रवृत्ति के विषय में भी कुछ कहने जा रहा हूँ। भूमि की परीक्षा करके वहाँ वास्तुदेवता का पूजन करना चाहिये। अपनी इच्छा के अनुसार देव-सभा (मन्दिर) का निर्माण करके अपनी ही रुचि के अनुकूल देवताओं की स्थापना करनी चाहिये। नगर के चौराहे पर अथवा ग्राम आदि में सभा का निर्माण कराये; सूने स्थान में नहीं। देव-सभा का निर्माण एवं स्थापना करने वाला पुरुष निर्मल (पाप हीन) होकर, अपने समस्त वंश का उद्धार करके स्वर्गलोक में आनन्द का अनुभव करता है। इस विधि से भगवान् श्रीहरि विष्णु के सतमहले मन्दिर का निर्माण करना चाहिये।

ठीक उसी तरह जिस प्रकार राजाओं के प्रासाद बनाये जाते हैं। अन्य देवताओं के लिये भी यही बात है। पूर्वादि दिशाओं के क्रम से जो ध्वज आदि आय होते हैं, उनमें से कोण-दिशाओं में स्थित आयों का छोड़ देना चाहिये। चार, तीन, दो अथवा एकशाला का गृह बनाये। जहाँ व्यय (ऋण) अधिक हो, ऐसे 'पद' पर गृह न बनाये; क्योंकि वह व्यय रूपी दोष को उत्पन्न करने वाला होता है। अधिक 'आय' होने पर भी पीड़ा की सम्भावना रहती है; इसलिये आय-व्यय को समभाव से संतुलित करके रखना चाहिये।।१-५।।

गृह की लम्बाई और चौड़ाई जितने हाथ की हों, उनको परस्पर गुणित करने से जो संख्या होती है, उसको 'करराशि' कहा गया है; उसको गर्गाचार्य की बतलायी हुइ ज्योतिष-विद्या में प्रवीण गुरु (पुरोहित) को आठ गुना करना चाहिये। फिर सात से भाग देने पर शेष के अनुसार 'वार' का निश्चय होता है और आठ से भाग देने पर जो शेष होता है, वह 'व्यय' माना गया है। अथवा विद्वान् पुरुष को करराशि में सात से गुणा करना चाहिये। फिर उस गुणन फल में आठ से भाग देकर शेष के अनुसार ध्वजादि आयों की कल्पना करनी चाहिये।।८।।

ध्वजो धूम्रस्तथा सिंहः श्वा वृषस्तु खरो गजः। ध्वाङ्क्षश्चेति क्रमेणैव मायाष्टकमुदाहृतम्।।९।।
त्रिशालकत्रयं शस्तं सर्वभेदविवर्जितम्। याम्यां परगृहोपेतं द्विशालं शस्यते सदा।।१०।।
याम्ये शालैकशालं तु प्रत्यक्शालमथापि वा। एकशालद्वयं शस्तं शेषास्त्वन्ये भयावहाः।।११।।
चतुःशालं सदा शस्तं सर्वदोषविवर्जितम्। एकं भौमादि कुर्वीत भवनं सप्तभौमकम्।।१२।।
द्वारवेधादिरहितं पुराणेन विवर्जितम्। देवगृहं देवतायाः प्रतिष्ठाविधिना सदा।।१३।।
संस्थाप्य मनुजानां च समुदायोक्तकर्मणा। प्रातः सर्वौषधीस्नानं कृत्वा शुचिरतन्द्रितः।।१४।।
मधुरैस्तु द्विजान्भोज्य पूर्णकुम्भादिशोभितम्। सतोरणं स्वस्तिवाच्यं द्विजान्गो पृष्ठहस्तकः।।१५।।
गृही गृहं प्रविशेच्च दैवज्ञान्प्राच्र्य संविशेत्। गृहे पुष्टिकरं मन्त्रं पठेच्चेमं समाहितः।।१६।।
ॐ नन्दे नन्दय वाशिष्ठे वसुभिः प्रजया सह। जये भार्गवदायादे प्रजानां विजयावहे।।१७।।
पूर्णेऽङ्गिरसदायादे पूर्णकामं कुरुष्व मम्। भद्रे कश्यपदायादे कुरु भद्रां मतिं मम।।१८।।
सर्वबीजौषधीयुक्ते सर्वरत्नौषधीवृते। रुचिरे नन्दने नन्दे वाशिष्ठे रम्यतामिह।।१९।।
प्रजापतिसुते देवि चतुरस्रे महीयसि। सुभगे सुव्रते देवि गृहे काश्यपि रम्यताम्।।२०।।

---

१. ध्वज, २. धूम्र, ३. सिंह ४. श्वान, ५. वृषभ, ६. खर (गधा), ७. गज (हाथी) और ८. ध्वाङ्क्ष (काक)–ये क्रमशः आठ आय बतलाये गये हैं, जो पूर्वादि दिशाओं में प्रकट होते हैं–इस तरह इनकी कल्पना करनी चाहिये।।९।। तीन शालाओं से युक्त गृह के अनेक भेदों में से तीन प्रारम्भिक भेद श्रेष्ठतम माने गये हैं। उत्तर-पूर्व दिशा में इसका निर्माण वर्जित है। दक्षिण दिशा में अन्य गृह से युक्त दो शालाओं वाला भवन सदा श्रेष्ठ माना जाता है। दक्षिण दिशा में अनेक या एक शाला वाला गृह भी श्रेष्ठतम है। दक्षिण-पश्चिम में भी एक शाला वाला गृह श्रेष्ठ होता है। एक शाला वाले गृह के जो प्रथम (ध्रुव और धान्य नामक) दो भेद हैं, वे श्रेष्ठतम हैं। इस तरह गृह के सोलह भेदों में से अधिकांश (अर्थात् १०) श्रेष्ठतम हैं और शेष (छः अर्थात् पाँचवाँ, नवाँ, दसवाँ, ग्यारहवाँ, तेरहवाँ और चौदहवाँ भेद) भयावह हैं। चार शाला (या द्वार) वाला गृह सदा श्रेष्ठतम है; वह सभी दोषों से हीन है। देवता के लिये एक मंजिल से लेकर सात मंजिल तक का मन्दिर बनाये, जो द्वार-वेधादि दोष तथा पुराने सामान से हीन हो। उसको सदा मानव-समुदाय के लिये कथित कर्म एवं प्रतिष्ठा-विधि के अनुसार स्थापित करना चाहिये।।१०-१३।। गृह प्रवेश करने वाले गृहस्थ पुरुष को चाहिये कि वह आलस्य छोड़कर प्रातःकाल सर्वौषधिमिश्रित जल से स्नान करके, पवित्र हो, दैवज्ञ ब्राह्मणों की पूजा करके उनको मधुर अन्न (मीठे पकवान) भोजन कराये। फिर उन ब्राह्मणों से स्वस्तिवाचन कराकर गाय के पीठ पर हाथ रखे हुए, पूर्ण कलश आदि से सुशोभित तोरणयुक्त गृह में प्रवेश करना चाहिये। गृह में जाकर एकाग्रचित हो, गौ के सम्मुख हाथ जोड़ यह पुष्टिकारक मन्त्र पढ़े–'ॐ श्रीवसिष्ठजी के द्वारा लालित-पालित नन्दे! धन और सन्तान देकर मेरा आनन्द बढ़ाओ। प्रजा को विजय दिलाने वाली भार्गवनन्दिनि जये! आप मुझको धन और सम्पत्ति से आनन्दित करो। अङ्गिरा की पुत्री पूर्णे! आप मेरे मनेप्सित को पूर्ण करो–मुझको पूर्णकाम बना दो। हे काश्यप कुमारी भद्रे! आप मेरी बुद्धि को कल्याणमयी बना दो। सभी को आनंद सम्प्रदान करने वाली वसिष्ठ नंदिनी नन्दे! आप समस्त बीजों और औषधियों से युक्त तथा सम्पूर्ण रत्नौषधियों से सम्पन्न होकर इस सुन्दर गृह में सदा आनन्दपूर्वक रहो।।१४-१९।। 'कश्यप प्रजापति की पुत्री देवि भद्रे! आप सर्वथा सुनन्दन हो, महती महत्ता से युक्त हो, सौभाग्यशालिनी एवं श्रेष्ठतम व्रत का पालन करने वाली हो; मेरे गृह में आनन्दपूर्वक निवास करो। हे देवि भार्गवि जये! सर्वश्रेष्ठ आचार्य-चरणों ने आपका पूजन किया है, आप चन्दन और पुष्पमाला से अलंकृत हो

पूजिते परमाचार्यैर्गन्धमाल्यैरलंकृते। भवभूतिकरे देवि गृहे भार्गवि रम्यताम्।।२१।।
अव्यक्तेऽव्याकृते पूर्णे मुनेरङ्गिरसः सुते। इष्टके त्वं प्रयच्छेष्टं प्रतिष्ठां कारयाम्यहम्।।२२।।
देशस्वामिपुरस्वामिगृहस्वामि परिगृ (ग्र) हे। मनुष्यधनहस्त्यश्वपशुवृद्धिकरी भव।।२३।।

।।इति श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते सभादिस्थापनविधिकथनं नाम पञ्चषष्टितमोऽध्यायः।।६५।।

अथ षट्षष्टितमोऽध्यायः

देवतासामान्यप्रतिष्ठा

श्रीभगवानुवाच

समुदायप्रतिष्ठां च वक्ष्ये सा वासुदेववत्। आदित्या वसवो रुद्राः साध्या विश्वेऽश्विनौ तथा।।१।।
ऋषयश्च तथा सर्वे वक्ष्ये तेषां विशेषकम्। यस्य देवस्य यन्नाम तस्याऽऽद्यं गृह्य चाक्षरम्।।२।।
मात्राभिर्भेदयित्वातु दीर्घाण्यङ्गानि भेदयेत्। प्रथमं कल्पयेद्बीजं सविन्दुं (न्दु) प्रणवान्वितम्।।३।।
सर्वेषां मूलमन्त्रेण पूजनं स्थापनं तथा। नियमव्रतकृच्छ्राणां मठसंक्रमवेश्मनाम्।।४।।
मासोपवासं द्वादश्या इत्यादि स्थापनं वदे। शिलां पूर्णघटं कांस्यं संभारं स्थापयेत्ततः।।५।।

तथा संसार के समस्त ऐश्वर्यों को देने वाली हो। आप मेरे गृह में आनन्दपूर्वक विहरो। हे अङ्गिरामुनिकी पुत्री पूर्णे! आप अव्यक्त एवं अव्याकृत हो; इष्ट के देवि! आप मुझको अभीष्ट वस्तु सम्प्रदान करो। मैं आपकी इस गृह में प्रतिष्ठा चाहता हूँ। हे देवि! आप देश के स्वामी (राजा) ग्राम या नगर के स्वामी तथा गृहस्वामी पर भी अनुग्रह करने वाली हो। मेरे गृह में जन, धन, हाथी, घोड़े तथा गाय-भैंस आदि पशुओं की वृद्धि करने वाली बनो'।।२०-२३।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी पैंसठवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।६५।।

अध्याय-६६

देवता सामान्य प्रतिष्ठा कथन

श्रीभगवान् ने कहा कि-अधुना मैं देव-समुदाय की प्रतिष्ठा का वर्णन करने जा रहा हूँ। यह भगवान् वासुदेव की प्रतिष्ठा की भाँति ही होती है। आदित्य, वसु, रुद्र, साध्य, विश्वेदेव, अश्विनीकुमार, ऋषि तथा अन्य देवगण-ये देवसमुदाय हैं। इनकी स्थापना के विषय में जो विशेषता है, वह बतलाता हूँ। जिस देवता का जो नाम है, उसका आदि अक्षर ग्रहण करके उसको मात्राओं द्वारा भेदन करना चाहिये, अर्थात् उसमें स्वर मात्रा लगावे। फिर दीर्घ स्वरों से युक्त उन बीजों द्वारा अङ्गन्यास करें। उस प्रथम अक्षर को बिन्दु और प्रणव से संयुक्त करके 'बीज' माने। समस्त देवताओं का मूल-मन्त्र के द्वारा ही पूजन एवं स्थापन करना चाहिये। इसके सिवा मैं नियम, व्रत, कृच्छ्र, मठ, सेतु, गृह, मासोपवास और द्वादशीव्रत आदि की स्थापना विषय में भी कहने जा रहा हूँ।।१-४।। पहले शिला, पूर्णकुम्भ और कास्यपात्र लाकर रखना चाहिये। साधक को ब्रह्मकूर्च को लाकर '**तद् विष्णोः परमम्**' (शु० यजु० ६/५) मन्त्र के द्वारा कपिला गौ के दुग्ध से यवमय चरु श्रपित करना चाहिये। प्रणव के द्वारा उसमें घृत डालकर दर्वी (कलछी) से संघटित करना चाहिये।

ब्रह्मकूर्चं समाहृत्य श्रपेद्यवमयं चरुम्। क्षीरेण कपिलायास्तु तद्विष्णोरिति साधकः।।६।।
प्रणवेनाभिधार्यैव दर्व्या संघटयेत्ततः। साधयित्वाऽवतार्याथ विष्णुमभ्यर्च्य होमयेत्।।७।।
व्याहृत्या चैव गायत्र्या तद्विप्रासेति होमयेत्। विश्वतश्चक्षुर्वेदाद्यैर्भूरग्नये तथैव च।।८।।
सूर्याय प्रजापतये अन्तरिक्षाय होमयेत्। द्यौः स्वाहा ब्रह्मणे स्वाहा पृथ्वी महाराजकः।।९।।
तस्मै सोमं च राजानमिन्द्राद्यैर्होममाचरेत्। एवं हुत्वा चरोर्भागान्दद्याद्दिग्बलिमादरात्।।१०।।
समिधोऽष्टशतं हुत्वा पलाशां (शी) श्चाऽऽज्यहोमकम्। कुर्यात्पुरुषसूक्तेन इरावतीतिलाष्टकम्।।११।।
हुत्वा तु ब्रह्मविष्ण्वीशदेवानामनुयायिनाम्। ग्रहाणामाहुतीर्हुत्वा लोकेशानामथो पुनः।।१२।।
पर्वतानां नदीनां च समुद्राणां तथाऽऽहुतीः। हुत्वा च व्याहृतीर्दद्यात्स्रुवपूर्णाहुतित्रयम्।।१३।।
वौषडन्तेन मन्त्रेण वैष्णवेन पितामह। पञ्चगव्यं चरुं प्राश्य दत्त्वाऽऽचार्याय दक्षिणाम्।।१४।।
तिलपात्रं हेमयुक्तं सवस्त्रं गामलंकृताम्। प्रीयतां भगवान्विष्णुरित्युत्सृजेद्व्रतं बुधः।।१५।।
मासोपवासादेरन्यां प्रतिष्ठां वच्मि पूर्वतः। यज्ञेन (ना ऽऽ) तोष्य देवेश श्रपयेद्वैष्णवं चरुम्।।१६।।
तिलतण्डुलनीवारैः श्यामाकैरथवा यवैः। आज्येनाऽऽघार्य चोत्तार्य होमयेन्मूर्तिमन्त्रकैः।।१७।।
विष्ण्वादीनां मासपानां तदन्ते होमयेत्पुनः।।१८।।
ॐ श्री विष्णवे स्वाहा। ॐ विष्णवे विभूषणाय स्वाहा।
ॐ श्री विष्णवे शिपिविष्टाय स्वाहा। ॐ नरसिंहाय स्वाहा। ॐ पुरुषोत्तमाय स्वाहा।।१९।।
द्वादशाश्वत्थसमिधो होमयेद्घृतसंप्लुताः। विष्णोरराटं मन्त्रेण ततो द्वादश चाऽऽहुतीः।।२०।।

इस तरह चरु को सिद्ध करके उतार ले। फिर भगवान् श्रीहरि विष्णु का पूजन करके हवन करना चाहिये। व्याहृति और गायत्री से युक्त **तद्विप्रासो०'** (शु० यजु० ३४/४४) आदि मन्त्र से चरु हवन करना चाहिये। **'विश्वतश्चक्षुः०'** (शु० यजु० १७-१९) आदि वैदिक मन्त्रों से भूमि, अग्नि, सूर्य, प्रजापति, अन्तरिक्ष, द्यौ, ब्रह्मा, पृथ्वी, कुबेर, तथा राजा सोम को चतुर्थ्यन्त एवं 'स्वाहा' संयुक्त करके इनके उद्देश्य से आहुतियाँ सम्प्रदान करना चाहिये। इन्द्र आदि देवताओं को इन्द्र आदि से संम्बन्धित मन्त्रो द्वारा आहुति देनी चाहिये। इस तरह चरु भागों का हवन करके आदरपूर्वक दिग्बलि समर्पित करना चाहिये।।५-१०।। फिर एक सौ आठ पलाश-समिधाओं का हवन करके पुरुष सूक्त से घृत-हवन करना चाहिये। **'इरावती धेनुमती०'** (शु० यजु० ५/१६) मन्त्र से तिलाष्टक का हवन करके ब्रह्मा, विष्णु एवं शिव-इन देवताओं के पार्षदों, ग्रहों तथा लोकपालों के लिये पुनः आहुति देनी चाहिये। पर्वत, नदी, समुद्र-इन सबके उद्देश्य से आहुतियों का हवन करके, तीन महाव्याहतियों का उच्चारण करके, स्रुवा के द्वारा तीन पूर्णाहुति देनी चाहिये। हे पितामह! 'वौषट्' संयुक्त वैष्णव मन्त्र से पञ्चगव्य तथा चरु का प्राशन करके आचार्य को स्वर्ण युक्त तिलपात्र, वस्त्र एवं अलंकृत गौ दक्षिणा में देना चाहिये। विद्वान् पुरुष को **'भगवान् श्रीहरि विष्णुः प्रीयताम्'**-ऐसा कहकर व्रत का विसर्जन करना चाहिये।।११-१५।। मैं मासोपवास आदि व्रतों की दूसरी विधि भी कहता हूँ। पहले देवाधिदेव श्रीहरि विष्णु को यज्ञ से सन्तुष्ट करना चाहिये। तिल, तण्डुल, नीवार, श्यामाक अथवा यव के द्वारा वैष्णव चरु श्रपित करना चाहिये। उसको घृत से संयुक्त करके उतारकर मूर्ति-मन्त्रों से हवन करना चाहिये। उसके बाद मासाधिपति विष्णु आदि देवताओं के उद्देश्य से पुनः हवन करना चाहिये।।१६-१८।। **ॐ श्रीविष्णवे स्वाहा। ॐ विष्णवे विभूषणाय स्वाहा। ॐ विष्णवे शिपिविष्टाय स्वाहा। ॐ नरसिंहाय स्वाहा। ॐ पुरुषोत्तमाय स्वाहा।** आदि मन्त्रों से घृतप्लुत अश्वत्थ वृक्ष की द्वादश समिधाओं का हवन करना चाहिये। **'विष्णो रराटमसि०'** शु० यजु० ५/२१) मन्त्र के द्वारा भी द्वादश आहुतियाँ देनी चाहिये। फिर **'इदं विष्णु०'**

इदं विष्णुरिरावती चरोर्द्वादश चाऽऽहुतीः। हुत्वा चाऽऽज्याहुतीस्तद्वत्तद्विप्रासेति होमयेत्।।२१।।
शेषहोमं ततः कृत्वा दद्यात्पूर्णाहुतित्रयम्। युञ्जतेत्यनुवाकं तु जप्त्वा प्राश्यी (श्नी)त वैचरुम्।।२२।
प्रणवेन स्वशब्दान्ते कृत्वा पात्रे तु पैप्पले। ततो मासाधिपानां तु विप्रान्द्वादश भोजयेत्।।२३।।
त्रयोदशो गुरुस्तत्र तेभ्यो दद्यात् त्रयोदश। कुम्भान्स्वाद्वम्बुसंयुक्तान्सच्छत्रोपानहान्वितान्।।२४।।
सुवस्त्रहेममाल्याढ्यान्व्रतपूर्त्यै त्रयोदशः। गावः प्रीतिं समायान्तु प्रचरन्तु प्रहर्षिताः।।२५।।
इति गोपथमुत्सृज्य यूपं तत्र निवेशयेत्। दशहस्तं प्रपाराममठसंक्रमणादिषु।।२६।।
गृहे च होममेवं तु कृत्वा सर्वं यथाविधि। पूर्वोक्तेन विधानेन प्रविशेच्च गृहं गृही।।२७।।
अनिवारितमन्नाद्यं सर्वेष्वेतेषु कारयेत्। द्विजेभ्यो दक्षिणा देया यथाशक्ति विचक्षणैः।।२८।।
आरामं कारयेद्यस्तु नन्दिने सुचिरं वसेत्। मठप्रदानात्स्वर्लोके शक्रलोके वसेत्ततः।।२९।।
प्रपादानाद्वारुणेन संक्रमेण वसेद्दिवि। इष्टकासेतुकारी च गोलोके मार्गकृद्गवाम्।।३०।।
नियमव्रतकृद्विष्णुः कृच्छ्रकृत्सर्वपापहा (?)। गृहं दत्त्वा वसेत्स्वर्गे यावदाभूतसंप्लवम्।।३१।।
समुदायप्रतिष्ठेष्टा शिवादीनां गृहात्मनाम्।।३२।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते देवतासामान्यप्रतिष्ठाकथनं नाम षट्षष्टितमोऽध्यायः।।६६।।
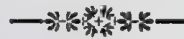
(शु० यजु० ५/१५) **'इरावती०'** (शु० यजु० ५/१६) मन. से चरु की द्वादश आहुतियाँ सम्प्रदान करना चाहिये। **'तद्विप्रासो०'** (शु० यजु० ३४/४४) आदि मन्त्र से घृताहुति समर्पित करना चाहिये। फिर शेष हवन करके तीन घृताहुति समर्पित करना चाहिये। फिर शेष हवन करके तीन पूर्णाहुति देनी चाहिये। **'युञ्जते'** (शु० यजु० ५/१४) आदि अनुवाद का जप करके मन्त्र के आदि में स्वकर्तृक मन्त्रोच्चारण के पश्चात् पीपल के पत्ते आदि के पात्र में रखकर चरु का प्राशन करना चाहिये।।१९-२२।। तत्पश्चात् मासाधिपतियों के उद्देश्य से बाहर ब्राह्मणों को भोजन कराये। आचार्य उनमें तेरहवाँ होना चाहिये। उनको मधुर जल से पूर्ण तेरह कलश, श्रेष्ठतम छत्र, पादुका, श्रेष्ठ वस्त्र, स्वर्ण तथा माला सम्प्रदान करना चाहिये। व्रतपूर्ति के लिये सभी वस्तुएँ तेरह-तेरह होनी चाहिये। 'गौएँ प्रसन्न हों। वे हर्षित होकर चरें।'—ऐसा कहकर पाँसला, उद्यान, मठ तथा सेतु आदि के सन्निकट गोपथ (गोचरभूमि) छोड़कर दस हाथ ऊँचा यूप निवेशित करना चाहिये। गृहस्थ गृह में हवन तथा अन्य कार्य विधिवत् करके, उपरोक्त विधि के अनुसार गृह में प्रवेश करना चाहिये। इन सभी कार्यों में जनसामान्य के लिये अनिवारित अन्न-सत्र खुलवा देना चाहिये। विद्वान् पुरुष को ब्राह्मणों को यथाशक्ति दक्षिणा देना चाहिये।२३-२८।। जो मनुष्य उद्यान का निर्माण कराता है, वह चिरकाल तक नन्दन कानन में निवास करता है। मठ-सम्प्रदान से स्वर्गलोक एवं इन्द्रलोक की प्राप्ति हो जाती है। प्रपादान करने वाला वरुण लोक में तथा पुल का निर्माण करने वाला देवलोक में निवास करता है। ईंट का सेतु बनवाने वाला भी स्वर्ग को प्राप्त होता है। गोपथ-निर्माण से गोलोक की प्राप्ति हो जाती है। नियमों और व्रतों का पालन करने वाला विष्णु के सारूप्य को अधिगत करता है। कृच्छ्रव्रत करने वाला सम्पूर्ण पापों का विनाश कर देता है। गृहदान करके दाता प्रलयकालपर्यन्त स्वर्ग में निवास करता है। गृहस्थ-मनुष्यों को शिव आदि देवताओं की समुदायप्रतिष्ठा करनी चाहिये।।२९-३२।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी छाछठवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।६६।।

अथ सप्तषष्टितमोऽध्यायः

जीर्णोद्धारविधिः

श्रीभगवानुवाच

जीर्णोद्धारविधिं वक्ष्ये भूषितां स्नपयेद्गुरुः। अचलां विन्यसेद्गेहे अतिजीर्णां परित्यजेत्।।१।।
व्यङ्गां भग्नां च शैलाढ्यां न्यसेदन्यां च पूर्ववत्। संहारविधिना तत्र तत्त्वान्संहृत्य देशिकः।।२।।
सहस्रं नारसिंहेन हुत्वा तामुद्धरेद्गुरुः। दारवीं दाहयेद्वह्नौ शैलजां प्रक्षिपेज्जले।।३।।
धातुजां रत्नजां वाऽपि अगाधे वा जलेऽम्बुधौ। यानमारोप्य जीर्णाङ्गं छाद्य वस्त्रादिना नयेत्।।४।।
वादित्रैः प्रक्षिपेत्तोये गुरवे दक्षिणां ददेत्। यत्प्रमाणा च यद्द्रव्या तन्मानां स्थापयेद्दिने।।५।।
कूपवापीतडागादेर्जीर्णोद्धारे महाफलम्।।६।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गति जीर्णोद्धारविधिकथनं नाम सप्तषष्टितमोऽध्यायः।।६७।।

—✲✲❁✲✲—

अध्याय-६७

जीर्णोद्धार-विधि

श्री भगवान् ने कहा कि-हे ब्रह्मन्! अधुना मैं जीर्णोद्धार की विधि बतलाने की चेष्टा कर रहा हूँ। आचार्य मूर्ति को विभूषित करके स्नान कराये। अत्यन्त जीर्ण, अङ्गहीन, भग्न तथा शिलामात्रावशिष्ट (विशेष चिह्न से हीन) प्रतिमा का परित्याग करना चाहिये। उसके स्थान पर पूर्ववत् देवगृह में नवीन स्थिर-मूर्ति का न्यास करना चाहिये। आचार्य को वहाँ पर (भूत शुद्धि-प्रकरण में कथित) विनाश विधि से सम्पूर्ण तत्त्वों का विनाश करना चाहिये। गुरु नृसिंह-मन्त्र की सहस्र आहुतियाँ देकर मूर्ति को उखाड़ देना चाहिये। फिर दारुमयी मूर्ति को अग्नि में जल दे, प्रस्तरनिर्मित विसर्जित प्रतिमा को जल में फेंक दे, धातुमयी यारत्नमीय विसर्जित कर देना चाहिये। जीर्णाङ्ग प्रतिमा को यान पर आरूढ़ कर, वस्त्र आदि से आच्छादित करके, गाजे-बाजे के साथ ले जाय और जल में त्याग देना चाहिये। फिर आचार्य को दक्षिणा देना चाहिये। उसी दिन पूर्व प्रतिमा के प्रमाण तथा द्रव्य के अनुसार उसी प्रमाण की मूर्ति स्थापित करना चाहिये। इसी तरह कूप, वापी और तड़ाग आदि का जीर्णोद्धार करने से भी महान् फल की प्राप्ति हो जाती है।।१-६।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी सड़सठवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।६७।।

❖❖❖

अथाष्टषष्टितमोऽध्यायः

उत्सवविधिकथनम्

श्रीभगवानुवाच

वक्ष्ये विधिं चोत्सवस्य स्थापिते तु सुरे चरेत्। तस्मिन्दिने वैकरात्रं त्रिरात्रं चाष्टरात्रकम्।।१।।
उत्सवेन विना यस्मात्स्थापनं निष्फलं भवेत्। अयने विषुवे चापि शयनोपवने गृहे।।२।।
कारकस्यानुकूलो वा यात्रां देवस्य कारयेत्। मङ्गलाङ्कुररोपैस्तु गीतनृत्यादिवाद्यकैः।।३।।
शरावघटिकापाली स्वाङ्कुरारोहणे हिता। यवाञ्शालींस्तिलान्मुद्गान्गोधूमान्सितसर्षपान्।।४।।
कुलत्थमाषनिष्पावान्क्षालयित्वा तु वापयेत्। पूर्वादौ तु बलिं दद्याद्भ्रमन्दीपैः पुरं निशि।।५।।
इन्द्रादेः कुमुदादेश्च सर्वभूतेभ्य एव च। अनुगच्छन्ति ते तत्र प्रतिरूपधरा पुनः।।६।।
पदे पदेऽश्वमेधस्य फलं तेषां न संशयः। आगत्य देवतागारं देवं विज्ञापयेद्गुरुः।।७।।
तीर्थयात्रा त्वया देव श्वः कर्तव्या सुरोत्तम। तस्या (दा) रम्भमनुज्ञातुमर्हः सर्वज्ञ सर्वदा।।८।।
देवमेवं सु विज्ञप्य ततः कर्म समारभेत्। प्ररोहघटिकाढ्यां तु वेदिकां भूषितां व्रजेत्।।९।।
चतुःस्तम्भां तु तन्मध्ये स्वस्तिकं प्रतिमां न्यसेत्। काम्यार्थ लेख्य चित्रेषु स्थाप्य तत्राधिवासयेत्।।१०।।
वैष्णवैः सह कुर्वीत घृताभ्यङ्ग तु मूलतः। घृतधाराभिषेकं वा सकलां शर्वरीं बुधः।।११।।

अध्याय–६८

उत्सव विधि कथन

श्री भगवान् ने कहा कि–अधुना मैं उत्सव की विधि का वर्णन करने जा रहा हूँ। देवस्थापन होने के पश्चात् उसी वर्ष में एकरात्र, त्रिरात्र या अष्टरात्र उत्सव मनाने चाहिये; क्योंकि उत्सव के बिना देव प्रतिष्ठा निष्फल होती है। अयन या विषुव-संक्रान्ति के समय शयनोपवन या देवगृह में अथवा कर्ता के जिस तरह अनुकूल हो, भगवान् की नगर यात्रा कराये। उस समय मङ्गलाङ्कुरों का रोपण, नृत्य-गीत तथा गाजे-बाजे का प्रबन्ध करना चाहिये। अङ्कुरों के रोपण के लिये शराव (परई) या हँडिया श्रेष्ठ मानी गयी हैं। यव, शालि, तिल, मुद्ग, गोधूम, श्वेत सर्षप, कुलत्थ, माष और निष्पाव को प्रक्षालित करके वपन करना चाहिये। प्रदीपों के साथ रात्रि में नगर भ्रमण करते हुए इन्द्रादि दिक्पालों, कुमुद आदि दिग्गजों तथा सम्पूर्ण भूत-प्राणियों के उद्देश्य से पूर्वादि दिशाओं में बलि-सम्प्रदान करना चाहिये। जो मनुष्य देवबिम्ब का वहन करते हुए देवयात्रा का अनुगमन करते हैं, उनको पद-पद पर अश्वमेघ यज्ञ के फल की प्रापित होती है, इसमें तनिक भी संदेह नहीं है।।१-६।। आचार्य को पहले दिन देवमन्दिर में आकर देवता के सूचित करना चाहिये–'हे भगवन्! देवश्रेष्ठ! आपको कल तीर्थ यात्रा करनी है। हे सर्वज्ञ! आप उसका प्रारम्भ करने की आज्ञा देने में सदा सक्षम हैं। देवता के सम्मुख इस तरह निवेदन करके उत्सव-कार्य का प्रारम्भ करना चाहिये। चार स्तम्भों से युक्त मङ्गलाङ्कुरों की घटिका से समन्वित तथा विभूषित वेदि का के सन्निकट जाय। उसके मध्य भाग में स्वस्ति पर प्रतिमा का न्यास करना चाहिये। काम्य अर्थ को लिखकर चित्रों में स्थापित करके अधिवासन करना चाहिये।।७-१०।। फिर विद्वान् पुरुष को वैष्णवों के साथ मूल-मन्त्र से देव मूर्ति के अङ्गों में घृत का लेपन करना चाहिये तथा सारी

दर्पणं दर्श्य नीराजगीतवाद्यैश्च मङ्गलम्। बी (वी) जनं पूजनं दीपगन्धपुष्पादिभिर्यजेत्।।१२।।
हरिद्रामुक्तकाश्मीरशुक्लचूर्णादि मूर्धनि। प्रतिमायाश्च भक्तानां सर्वतीर्थफलं (ले?) धृते।।१३।।
स्थापयित्वा समभ्यर्च्य यात्राबिम्बं रथे स्थितम्। नयेद्गुरुर्नदीं नादैश्छत्राद्यै राष्ट्रपालिकाम्।।१४।।
निम्नगा (गां) योजनादर्वाक्तत्र वेदीं तु कारयेत्। वाहनादवतार्यैनां तस्यां वेद्यां निवेशयेत्।।१५।।
चरुं च श्रपयेत्तत्र पायसं होमयेत्ततः। अब्लिङ्गैर्वैदिकै मन्त्रैस्तीर्थान्यावाहयेत्ततः।।१६।।
आपो हि ष्ठोपनिषदैः (?) पूजयेदर्घ (र्घ्य) मुख्यकैः। पुनर्देवं समादाय तोये कृत्वाऽघमर्षणम्।।१७।।
स्नायान्महाजनैर्विप्रैर्वेद्यामुत्तार्य तं न्यसेत्। पूजयित्वा तदह्ना च प्रासादं तु नयेत्ततः।।१८।।
पूजयेत्यावकस्थं तु गुरुः स्याद्भुक्तिमुक्तिकृत्।।१९।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते उत्सवविधिकथनं नामाष्टषष्टितमोऽध्यायः।।६८।।

रात घृत धारा से अभिषेक करना चाहिये। देवता को दर्पण दिखलाकर, आरती, गीत, वाद्य आदि के साथ मङ्गल कृत्य करना चाहिये, व्यजन डुलावे एवं पूजन करना चाहिये। फिर दीप, गन्ध तथा पुष्पादि से यजन करना चाहिये। हरिद्रा, कपूर, केसर और श्वेत-चन्दन-चूर्ण को देवमूर्ति तथा भक्तों के सिर पर छोड़ने से समस्त तीर्थों के फल की प्राप्ति हो जाती है। आचार्य यात्रा के लिये नियत देवमूर्ति की रथ पर स्थापना और अर्चना करके छत्र-चँवर तथा शङ्खनाद आदि के साथ राष्ट्र का पालन करने वाली नदी के तटपर ले जाय।।११-१४।। नदी में नहलाने से पूर्व वहाँ तटपर वेदी का निर्माण करना चाहिये। फिर मूर्त्ति को यान से उतारकर उसको वेदिका पर विन्यस्त करना चाहिये। वहाँ चरु निर्मित करके उसकी आहुति देने से पश्चात् पायस का हवन करना चाहिये। फिर वरुणदेवता सम्बन्धी मन्त्रों का आवाहन करना चाहिये। **'आपो हि ष्ठा०'** आदि मन्त्रों से उनको अर्घ्य सम्प्रदान करके पूजन करना चाहिये। देवमूर्ति को लेकर जल में अघमर्षण करके ब्राह्मणों और महाजनों के साथ स्नान करना चाहिये। स्नान के पश्चात् मूर्ति को ले आकर वेदिका पर रखे। उस दिन देवता को वहाँ पूजन करके देवप्रासाद ले जाय। आचार्य को अग्नि में स्थित देव का पूजन करना चाहिये। यह उत्सव भोग एवं मोक्ष सम्प्रदान करने वाला है।।१५-१९।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी अड़सठवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।६८।।

❖❖❖

अथ नवषष्टितमोऽध्यायः

स्नपनोत्सवविस्तारकथनम्

अग्निरुवाच

ब्रह्मञ्शृणु प्रवक्ष्यामि स्नपनोत्सवविस्तरम्। प्रासादस्याग्रतः कुम्भान्मण्डपे मण्डले न्यसेत्।।१।।
कुर्याद्ध्यानार्चनं होमं हरेरादौ च कर्मणि। सहस्रं वा शतं वाऽपि होमयेत्पूर्णया सह।।२।।
स्नानद्रव्याण्यथाऽऽहृत्य कलशांश्चापि विन्यसेत्। अधिवास्य सूत्रकण्ठान्धारयेन्मण्डितो घटान्।।३।।
चतुरस्रं पुरं कृत्वा रुद्रैस्तं प्र (स्तत्र) विभावयेत्। मध्ये तु नवकं स्थाप्य पार्श्वपङ्क्तिं प्रमार्जयेत्।।४।।
शालिचूर्णादिनापूर्यपूर्वादिनवकेषु च। कुम्भमुद्रां ततो बद्ध्वा घटं तत्राऽऽनयेद्बुधः।।५।।
पुण्डरीकाक्षमन्त्रेण दर्भास्तांस्तु विसर्जयेत्। अद्भिः पूर्णं सर्वरत्नयुतं मध्ये न्यसेद्घटम्।।६।।
यवव्रीहितिलांश्चैव नीवाराञ्श्यामकान्क्रमात्। कुलित्थमुद्गसिद्धार्थान्मुक्त्वाऽन्यानष्टदिक्षु च।।७।।
ऐन्द्रे तु नवके मध्ये घृतपूर्णं घटं न्यसेत्। पलाशाश्वत्थन्यग्रोधबिल्वोदुम्बरशी (क्ष) रिणाम्।।८।।
जम्बूशमीकपित्थानां त्वक्कषायैर्घटाष्टकम्। आग्नेयनवके मध्ये मधुपूर्णं घटं न्यसेत्।।९।।
गोशृङ्गनगगङ्गाम्बुगजेन्द्रदर्शनेषु च। तीर्थक्षेत्र खलेष्वष्टौ मृत्तिकाः स्युर्घटाष्टके।।१०।।
याम्ये तु नवके मध्ये तिलतैलघटं न्यसेत्। नारङ्गमथ जम्बीरं खर्जूरं मृद्विका (कां) क्रमात्।।११।।

अध्याय-६९

स्नपनोत्सव विस्तार कथन

श्रीअग्निदेवजी ने कहा कि-हे ब्रह्मन्! अधुना मैं स्नपनोत्सव का विस्तारपूर्वक वर्णन करने जा रहा हूँ। प्रासाद के सम्मुख मण्डप के नीचे मण्डल में कलशों का न्यास करना चाहिये। प्रारम्भ काल में तथा सम्पूर्ण कर्मों को करते समय भगवान् श्रीहरि विष्णु का ध्यान, पूजन और हवन करना चाहिये। पूर्णाहुति के साथ हजार या सौ आहुतियाँ देनी चाहिये। फिर स्नान-द्रव्यों को लाकर कलशों का विन्यास करना चाहिये। कण्ठ सूत्र युक्त कुम्भों का अधिवासन करके मण्डल में रखे।।१-३।। चतुरस्र मण्डल का निर्माण करके उसको ग्यारह रेखाओं द्वारा विभाजित कर देना चाहिये। फिर पार्श्व भाग की एक रेखाा मिटा देना चाहिये। इस तरह उस मण्डल में चारों दिशाओं में नौ-नौ कोष्ठकों की स्थापना करके उनको पूर्व आदि के क्रम से शालिपूर्ण आदि से पूरित करना चाहिये। फिर विद्वान् मनुष्य कुम्भमुद्रा की रचना करके पूर्वादि दिशाओं में स्थित नवक में कलश लाकर रखे। पुण्डरीकाक्ष-मन्त्र से उनमें दर्भ डालना चाहिये। सर्वरत्न समन्वित जलपूर्ण कुम्भ को मध्य में विन्यस्त करना चाहिये। शेष आठ कुम्भों में क्रमशः यव, व्रीहि, तिल, नीवार, श्यामाक, कुलत्थ, मुद्ग और श्वेत सर्षप डालकर आठ दिशाओं में स्थापित करना चाहिये। पूर्व दिशावर्ती नवक में घृत पूर्ण कुम्भ रखे। इसमें पलाश, अश्वत्थ, वट, बिल्व, उदुम्बर, प्लक्ष, जम्बू, शमी तथा कपित्थ वृक्ष की छाल का क्वाथ डालना चाहिये। आग्नेय कोणवर्ती नवक में मधुपूर्ण घट का न्यास करना चाहिये। इस कलश में गोशृङ्ग, पर्वत, गङ्गाजल, गजशाला, तीर्थ, खेत और खलिहान-इन आठ स्थलों की मृत्तिका छोड़े।।४-१०।। दक्षिण दिशावर्ती नवक में तिल-तैल से परिपूर्ण घट स्थापित करें उसमें क्रमशः नारंगी, जम्बीरी नीबू, खजूर, मृत्तिका, नारिकेल, सुपारी,

नारिकेलं न्यसेत्पूगं दाडिमं पनसं फलम्। नैर्ऋते नवके मध्ये क्षीरपूर्णं घटं न्यसेत्।।१२।।
कुङ्कुमं नागपुष्पं च चम्पकं मालतीक्रमात्। मल्लिकामथ पुंनागं करवीरं महोत्पलम्।।१३।।
पुष्पाणि चान्ये (न्य) नवके मध्ये वै नारिकेलकम्। नादेयमथ सामुद्रं सारसं कौप्यमेव च।।१४।।
वर्षजं हिमतोयं च नैर्झरं गाङ्गमेव च। उदकान्यथ वायव्ये नवके कदलीजलम्।।१५।।
सहदेवीं कुमारीं च सिंहीं व्याघ्रीं तथाऽमृताम्। विष्णुपर्णी शतनिभां वचां दिव्यौषधीर्न्यसेत्।।१६।।
पूर्वादौ सौम्यनवके मध्ये दधिघटं न्यसेत्। पत्रमेलां त्वचं कुष्ठं बालकं चन्दनद्वयम्।।१७।।
लतां कस्तूरिकां चैव कृष्णागरुमनुक्रमात्। सिद्धद्रव्याणि पूर्वादौ शान्तितोयमथैकतः।।१८।।
चन्द्रतारं क्रमाच्छुक्ला गिरिसारं त्रपु न्यसेत्। घोषसारं तथा सीसं पूर्वादौ रत्नमेव च।।१९।।
घृतेनाभ्यज्य चोद्वर्त्य स्नपयेन्मूलमन्त्रतः। गन्धाद्यैः पूजयेद्वह्नौ हुत्वा पूर्णाहुतिं चरेत्।।२०।।
बलिं च सर्वभूतेभ्यो भोजयेद्दत्तदक्षिणः। देवैश्च मुनिभिर्भूपैर्देवं संस्नाप्य चेश्वराः।।२१।।
बभूवुः स्नापयित्वेत्थं स्नपनोत्सवकं चरेत्। अष्टोत्तरसहस्रेण घटानां सर्वभाग्भवेत्।।२२।।
यज्ञावभृथस्नाने च पूर्णसंस्नापनं कृतम्। गौरीलक्ष्मीविवाहादि चोत्सवं स्नानपूर्वकम्।।२३।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते स्नपनोत्सवविधिकथनं नाम नवषष्टितमोऽध्यायः।।६९।।

अनार और पनस (कटहल) का फल डाल देना चाहिये। नैर्ऋत्यकोणगत नवक में क्षीरपूर्ण कलश रखे। उसमें कुङ्कुम, नागपुष्प, चम्पक, मालती, मल्लिका, पुंनाग, करवीर एवं कमल-कुसुमों को प्रक्षिप्त करना चाहिये। पश्चिमीय नवक में नारिकेल जल से पूर्ण कलश में नदी, समुद्र, सरोवर, कूप, वर्षा, हिम, निर्झर तथा देवनदी का जल छोड़े। वायव्यकोणवर्ती नवक में कदली जल पूरित कुम्भ रखे। उसमें सहदेवी, कुमारी, सिंही, व्याघ्री, अमृता, विष्णुपर्णी, दूर्वा, वच-इन दिव्य औषधियों को प्रक्षिप्त करना चाहिये। पूर्वादि उत्तरवर्ती नवक में दधिकलश का विन्यास करना चाहिये। उमें क्रमशः पत्र, इलायची, तज, कूट, सुगन्ध वाला, चन्दनद्वय, लता, कस्तूरी, कृष्णागुरु तथा सिद्ध द्रव्य डाल देना चाहिये। ईशानस्थ नवक में शान्तिजल से पूर्ण कुम्भ रखे। उसमें क्रमशः शुभ्र रजत, लौह, त्रपु, कास्य, सीसक तथा रत्न डालना चाहिये। प्रतिमा को घृत का अभ्यङ्ग तथा अर्द्वतन करके मूल-मन्त्र से स्नान कराये। फिर उसका गन्धादि के द्वारा पूजन करना चाहिये। अग्नि में हवन करके पूर्णाहुति देनी चाहिये। सम्पूर्ण भूतों को बलि सम्प्रदान करना चाहिये। ब्राह्मणों को दक्षिणापूर्वक भोजन कराये। देवता और मुनि तथा बहुत से भूपाल भी भगवद्विग्रहा का अभिषेक करके ईश्वरत्व को प्राप्त हुए हैं। इस तरह एक हजार आठ कलशों से स्नपनोत्सव का अनुष्ठान करना चाहिये। इससे मनुष्य सब कुछ प्राप्त करता है। यज्ञ के अवभृथ-स्नान में भी पूर्णस्नान सम्पन्न हो जाता है। पार्वती तथा श्रीलक्ष्मी के विवाह आदि में भी स्नपनोत्सव किया जाता है।।११-२३।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी उनहत्तरवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।६९।।

अथ सप्ततितमोऽध्यायः

पादपप्रतिष्ठाविधिः

श्रीभगवानुवाच

प्रतिष्ठा पादपानां च वक्ष्येऽहं भुक्तिमुक्तिदाम्। सर्वौषध्यो (ध्यु) दकैर्लिप्तान्पिष्टातकविभूषितान्।।१।।
वृक्षान्माल्यैरलङ्कृत्य वासोभिरभिवेष्टयेत्। सूच्या सौवर्णया कार्यं सर्वेषां कर्णवेधनम्।।२।।
हेमशलाकयाऽञ्जनं वेद्यां तु फलसप्तकम्। अधिवासयेच्च प्रत्येकं घटान्बलिं निवेदयेत्।।३।।
इन्द्रादेरधिवासेऽथ होमः कार्यो वनस्पतेः। ऋग्यजुः साममन्त्रैश्च वारुणैर्मत्तभैरवैः।।४।।
वृक्षवेदिककुम्भैश्च स्नपनं द्विजपुंगवाः। तरुणां यजमानस्य कुर्युश्च यजमानकः।।५।।
भूषितो दक्षिणां दद्याद्गोभूभूषणवस्त्रकम्। क्षीरेण भोजनं दद्याद्यावद्दिनचतुष्टयम्।।६।।
होमस्तिलाज्यैः कार्यस्तु पलाशसमिधैस्तथा। आचार्ये द्विगुणं दद्यात्पूर्ववन्मण्डपादिकम्।।७।।
पापनाशः परा सिद्धिर्वृक्षारामप्रतिष्ठया। स्कन्दायेशो यथा प्राह प्रतिष्ठाद्यं तथा शृणु।।८।।
सूर्येशगणशक्त्यादेः परिवारस्य वै हरेः।।९।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते पादपप्रतिष्ठाविधिकथनं नाम सप्ततितमोऽध्यायः।।७०।।

अध्याय-७०

पादप प्रतिष्ठा विधि

श्री भगवान् ने कहा कि–हे ब्रह्मन्! अधुना मैं वृक्ष प्रतिष्ठा का वर्णन करने जा रहा हूँ, जो भोग एवं मोक्ष सम्प्रदान करने वाली है। वृक्षों को सर्वौषधि जल से लिप्त, सुगन्धित चूर्ण से विभूषित तथा मालाओं से अलंकृत करके वस्त्रों से आवेष्टित करना चाहिये। सभी वृक्षों का स्वर्णमयी सूची से कर्णवेधन तथा स्वर्णमयी शलाका से अञ्जन करना चाहिये। वेदिका पर सात फल रखे। प्रत्येक वृक्ष का अधिवासन करना चाहिये तथा कुम्भ समर्पित करना चाहिये। फिर इन्द्र आदि दिक्पालों के उद्देश्य से बलिप्रदान करना चाहिये। वृक्ष के अधिवासन के समय ऋग्वेद, यजुर्वेद या सामवेद के मन्त्रो से अथवा वरुण देवता सम्बन्धी तथा मत्तभैरव सम्बन्धी मन्त्रों से होम करना चाहिये। श्रेष्ठ ब्राह्मण वृक्ष वेदी पर स्थित कलशों द्वारा वृक्षों और यजमान को स्नान करावें। यजमान अलंकृत होकर ब्राह्मणों को गो, भूमि, आभूषण तथा वस्त्रादि की दक्षिणा दे तथा चार दिन तक क्षीरयुक्त भोजन कराये। इस कर्म में तिल, घृत तथा पलाश समिधाओं से हवन करना चाहिये। आचार्य को दुगुनी दक्षिणा देना चाहिये। मण्डप आदि का पूर्ववत् निर्माण करना चाहिये। वृक्ष तथा उद्यान की प्रतिष्ठा से पापों का विनाश होकर परम सिद्धि की प्राप्ति होती है। अधुना सूर्य, शिव, गणपति, शक्ति तथा श्रीहरि विष्णु के परिवार की प्रतिष्ठा की विधि सुनिये, जो भगवान् महेश्वर ने कार्तिकेय को बतलायी थी।।१-९।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी सत्तरवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।७०।।

❖❖❖

अथैकसप्ततितमोऽध्यायः

गणपतिपूजाविधिः

ईश्वर उवाच

गणपूजां प्रवक्ष्यामि निर्विघ्नायाखिलार्थदाम्। गणाय स्वाहा हृदयमेकदंष्ट्राय वै शिरः।।१।।
गजकर्णिने च शिखा गजवक्त्राय चर्म च। महोदराय सुदण्डहस्तायाक्षि तथास्त्रकम्।।२।।
गणो गुरुः पार्श्वका च शक्त्यनन्तौ च धर्मकः। मुख्यास्थिमण्डलं चाधश्चोर्ध्व (र्ध्वं) छदनमर्चयेत्।।३।।
पद्मकर्णिकं बीजं च ज्वालिनीं नन्दयार्चयेत्। सूर्येशा कामरूपा च उदया कामवर्तिनी।।४।।
सत्या च विघ्ननाशा च आसनं गन्ध मृत्तिका। वंशो घोरं च दहनं प्लवो लम्बं तथा स्मृतम्।।५।।
लम्बोदराय विद्महे महोदराय धीमहि। तन्नो दन्तिः प्रचोदयात्।।६।।
गणपतिर्गाणाधिपो गणेशो गणनायकः। गणक्रीडो वक्रतुण्ड एकदंष्ट्रो महोदरः।।७।।
गजवक्त्रो लम्बकुक्षिर्विकटो विघ्ननाशकः। धूम्रवर्णो महेन्द्राद्याः पूज्या गणपतेः स्मृताः।।८।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते गणपतिपूजाविधिकथनं नामैकसप्ततितमोऽध्यायः।।७१।।

—※※※—

अध्याय-७१

गणपति पूजन विधि

भगवान् महेश्वर ने कहा कि–कार्तिकेय! मैं विघ्नों के विनाश के लिये गणपति पूजा की विधि को बतलाने जा रहा हूँ, जो सम्पूर्ण अभीष्ट अर्थों को सिद्ध करने वाली है। 'गणंजयाय स्वाहा०' –हृदय, **'एकद्रष्ट्राय हुं फट्'**–सिर, **'अचलकर्णिने नमो नमः।'**–शिखा, **'गजवक्त्राय नमो नमः।**–कवच, **'महोदराय चण्डाय नमः।'** नेत्र एवं **'सुदण्यहस्ताय हुं फट्'**–अस्त्र है। इन मन्त्रों द्वारा अङ्गन्यास करना चाहिये। गण, गुरु, गुरु-पादुका, शक्ति, अनन्त और धर्म–इनका मुख्य कमल-मण्डल के ऊर्ध्व तथा निम्न दलों में पूजन करना चाहिये एवं कमलकर्णिका में बीज की अर्चना करनी चाहिये। तीव्रा, ज्वालिनी, नन्दा, भोगदा, कामरूपिणी, उग्रा, तेजोवती, सत्या एवं विघ्ननाशिनी–इन नौ पीठशक्तियों भी पूजा करनी चाहिये। फिर चन्दन के चूर्ण का आसन समर्पित करना चाहिये। 'यं' शोषकवायु, 'रं' अग्नि, 'लं' प्लव (पृथिवी) तथा 'वं' अमृत का बीज माना गया है। **'ॐ लम्बोदराय विद्यहे माहेदराय धीमहि तन्नो दन्ती प्रचोदयात्।'**–यह गणेश-गायत्री-मन्त्र है। गणपति, गणाधिप, गणेश, गणनायक, गणीक्रीड, वक्रतुण्ड, एकद्रंष्ट्र, मनोदर, गजवक्त्र, लम्बोदर, विकट, विघ्ननाशन, धूम्रवर्ण तथा इन्द्र आदि दिक्पाल–इन सभी का गणपति की पूजा में अङ्गरूप से पूजन करना चाहिये।।१-८।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी इकहत्तरवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।७१।।

❖❖❖

अथ द्विसप्ततितमोऽध्यायः

स्नानविधिः

ईश्वर उवाच

वक्ष्यामि स्कन्द नित्याद्यं स्नानं पूजां प्रतिष्ठया। स्नात्वा शिलां समुद्धृत्य मृदमष्टाङ्गुलां ततः॥१॥
सर्वात्मना समुद्धृत्य पुनस्तेनैव पूजयेत्। शिरसा पयसस्तीरें निधायास्त्रेण शोधयेत्॥२॥
तृणादि शिखयोद्धृत्य ब्रह्मणा विभजेत्त्रिधा। एकया नाभिपादान्तं प्रक्षाल्य पुनरन्यया॥३॥
अस्त्राभिलब्धया लक्ष्मीदीप्तया सर्वविग्रहम्। निरुध्याऽऽस्याक्षि पाणिभ्यां प्राणान्संयम्य वारिणि॥४॥
निमज्याऽऽसीत ह्यद्यस्त्रं स्मरन्कालानलप्रभम्। मलस्नानं विधायेत्थं समुत्थाय जलान्तरात्॥५॥
अस्त्रसंध्यामुपास्याथ विधिस्नानं समाचरेत्। सारस्वतादितीर्थानामेकमङ्कुशमुद्रया॥६॥
हृदाऽऽकृष्य तथाऽऽस्थाप्य पुनः संहारमुद्रया। शेषं मृद्भागमादाय प्रविश्याऽऽनाभि वारिणि॥७॥
वामपाणितले कुर्याद्भागत्रयमुदङ्मुखः। अङ्गैर्दक्षिणमेकाद्यं पूर्वमस्त्रेण सप्तधा॥८॥

अध्याय-७२

स्नान विधि कथन

श्री भगवान् महेश्वरने कहा कि– हे स्कन्द! अधुना मैं नित्य-नैमित्तिक आदि स्नान, संध्या और प्रतिष्ठा सहित पूजा का वर्णन करने जा रहा हूँ। किसी तालाब या पोखरे से अस्त्र मन्त्र (फट्) के उच्चारणपूर्वक आठ अंगुल गहरी मिट्टी खोदकर निकाले। उसको सम्पूर्ण रूप से ले आकर उसी मन्त्र द्वारा उसका पूजन करना चाहिये। इसके बाद शिरोमन्त्र (स्वाहा) से उस मृत्तिका को जलाशय के तट पर रखकर अस्त्रमन्त्र से उसका शोधन करना चाहिये। फिर शिखा मन्त्र (वषट्) के उच्चारणपूर्वक उसमें से तृण आदि को निकालकर कवच मन्त्र (हुम्) से उस मृत्तिका के तीन भाग करना चाहिये। प्रथम भाग की जलमिश्रित मिट्टी को नाभि से लेकर पैर तक के अंगों में लगावे। तत्पश्चात् उसको धोकर, अस्त्र-मन्त्र द्वारा अभिमन्त्रित हुई दूसरे भाग की दीप्तिमती मृत्तिका द्वारा शेष सम्पूर्ण शरीर को अनुलिप्त करके दोनों हाथों से कान-नाक आदि इन्द्रियों के छिद्रों को बन्द कर साँस रोक मन-ही-मन कालाग्नि के समान तेजोमय अस्त्र का चिन्तन करते हुए पानी में डुबकी लगाकर स्नान करना चाहिये। यह मल (शरीरिक मैल) को दूर करने वाला स्नान कहलाता है। इसको इस तरह करके जल के अन्दर से निकल आवे और संध्या करके विधि स्नान करना चाहिये॥१-५॥ हृदय मन्त्र (नमः) के उच्चारणपूर्वक अङ्कुशमुद्रा द्वारा सरस्वती आदि तीर्थों में से किसी एक तीर्थ की भावना द्वारा आकर्षण करके, फिर विनाश मुद्रा द्वारा उसको अपने समीपवर्ती जलाशय में स्थापित करना चाहिये। उसके बाद शेष (तीसरे भाग की) मिट्टी लेकर नाभि तक जल के अन्दर प्रवेश करना चाहिये और उत्तराभिमुख हो, बायीं हथेली पर उसके तीन भाग करना चाहिये। दक्षिण भाग की मिट्टी को अंगन्यास सम्बन्धी मन्त्रों द्वारा (अर्थात् **ॐ हृदनाय नमः, शिर से स्वाहा, शिखायै वषट्, कवचाय हुम्, नेत्रत्रयाय वौषट्** तथा **अस्त्राय फट्**–इन छः मन्त्रों द्वारा) एक बार अभिमन्त्रित करना चाहिये। पूर्वभाग की मिट्टी को **'अस्त्राय फट्'**–इस मन्त्र का सात बार जप करके अभिमन्त्रित करना चाहिये तथा उत्तर भाग की मिट्टी का **'ॐ नमः शिवाय'**–इस मन्त्र का दस बार जप करके

शिवेन दशधा सौम्यं यजेद्भागत्रयं क्रमात्। सर्वदिक्षु क्षिपेत्पूर्वं हुंफडन्तगवाणुना॥९॥
कुर्याच्छिवेन सौम्येन शिवतीर्थेन तु क्रमात्। सर्वाङ्गमङ्गजप्तेन मूर्धादि चरणावधि॥१०॥
दक्षिणेन समालभ्य पठन्नङ्गचतुष्टयम्। पिधाय खानि सर्वाणि सम्मुखीकरणेन च॥११॥
शिवं स्मरन्निमज्जेत हरिं गङ्गेति वा स्मरन्। वौषडन्तषडङ्गेन के कुर्यादभिषेचनम्॥१२॥
कुम्भपात्रेण रक्षार्थं पूर्वादौ विक्षिपेज्जलम्। स्नात्वा राजोपचारेण सुगन्धामलकादिभिः॥१३॥
स्नात्वा चोत्तीर्य तत्तीर्थं संहारिण्योपसंहरेत्। अथातो विधिशुद्धेन संहितामन्त्रितेन च॥१४॥
निवृत्त्यादिविशुद्धेन भस्मना स्नानमाचरेत्। शिरसः पादपर्यन्तं हुंफडन्त गवाणुना॥१५॥
तेन कृत्वा मलस्नानं विधिस्नानं समाचरेत्। ईषत्तत्पुरुषाघोरगुह्यकाजातसंवरैः॥१६॥
क्रमेणोद्वर्तयेन्मूर्ध्नि वस्त्रहृद्गुह्यविग्रहान्। संध्यात्रये निशीथे च वर्षापूर्वावसानयोः॥१७॥
सुप्त्वा भुक्त्वा पयः पीत्वा कृत्वा चाऽऽवश्यकादिकम्। स्त्रियं नपुंसकं शूद्रं बिडालशवमूषिकम्॥१८॥
स्नानमाग्नेयकं स्पृष्ट्वा शुच्यम्बुचुलकं चरेत्। सूर्यांशुवर्षसंपर्के प्राङ्मुखेनोर्ध्वबाहुना॥१९॥

अभिमन्त्रण करना चाहिये। इस तरह उपरोक्त मृत्तिका के तीन भागों का क्रमशः अभिमन्त्रण करना चाहिये। तत्पश्चात् पहले उन मृत्तिकाओं में से थोड़ा-थोड़ा-सा भाग लेकर सम्पूर्ण दिशाओं में छोड़े। छोड़ते समय **'अस्त्राय हुं फट्'** का जप करते रहना चाहिये। इसके बाद **'ॐ नमः शिवाय'**।-इस शिव-मन्त्र का तथा **'ॐ सोमाय स्वाहा।'** इस सोम-मन्त्र का जप करके जल में अपनी भुजाओं को घुमाकर उसको शिवतीर्थ स्वरूप बना दे तथा उपरोक्त अंगन्यास सम्बन्धी मन्त्रों का जप करते हुए उसको मस्तक से लेकर पैर तक के सारे अंगों में लगावे॥६-९॥ तत्पश्चात् अंगन्यास-सम्बन्धी चार मन्त्रों का पाठ करते हुए दाहिने से प्रारम्भ करके बायें-तक के हृदय, सिर, शिखा और दोनों भुजाओं का स्पर्श करना चाहिये तथा नाक, कान आदि सारे छिद्रों को बन्द करके सम्मुखीकरण-मुद्रा द्वारा भगवान् शिव, विष्णु अथवा गंगाजी का स्मरण करते हुए जल में गोता लगावे। **'ॐ हृदयाय नमः**। **'शिर से स्वाहा'**। **'शिखायै वषट्'**। **'कवचाय हुम्। 'नेत्रयाय वौषट्'। तथा 'अस्त्राय फट्।'**-इन षडङ्ग सम्बन्धी मन्त्रों का उच्चारण करके, जल में स्थित हों, बायें और दायें हाथ दोनों को मिलाकर, कुम्भमुद्रा द्वारा अभिषेक करना चाहिये। फिर रक्षा के लिये पूर्वादि दिशाओं में जल छोड़े। सुगन्ध और आँवला आदि राजोचित उपचार से स्नान करना चाहिये। स्नान के पश्चात् जल से बाहर निकलकर संहारिणी-मुद्रा द्वारा उस तीर्थ का उपसंहार करना चाहिये। इसके बाद विधि विधान से शुद्ध, संहितामन्त्र से अभिमन्त्रित तथा निवृत्ति आदि के द्वारा शोधित भस्म से स्नान करना चाहिये॥१०-१४॥ **'ॐ अस्त्राय हुं फट्।'**-इस मन्त्र का उच्चारण करके, सिर से पैर तक भस्म द्वारा मलस्नान करके फिर विधिपूर्वक शुद्ध स्नान करना चाहिये। ईशान, तत्पुरुष, अघोर, गुह्यक या वामदेव तथा सद्योजात सम्बन्धी मन्त्रों द्वारा क्रमशः मस्तक, मुख, हृदय, गृह्याङ्ग तथा शरीर के अन्य अवयवों में उद्वर्तन (अनुलेप) लगाना चाहिये। तीनों संख्याओं के समय, निशीथ काल में, वर्षा के पहले और पीछे, सोकर, खाकर, पानी पीकर तथा अन्य आवश्यक कार्य करके आग्नेय स्नान करना चाहिये। स्त्री, नपुंसक, शूद्र, बिल्ली, शव और चूहे का स्पर्श हो जाने पर भी आग्नेय स्नान का विधान है। चुल्लूभर पवित्र जल पी ले, यही 'आग्नेय-स्नान' है। सूर्य की किरणों के दिखायी देते समय यदि आकाश से जल की वर्षा हो रही हो, तो पूर्वाभिमुख हो, दोनों भुजाएँ ऊपर उठाकर, ईशान-मन्त्र का उच्चारण करते हुए, सात पग चलकर उस वर्षा के जल से स्नान करना चाहिये। यह 'माहेन्द्र-स्नान' कहलाता है। गौओं के समूह के मध्यभाग में स्थित हो उनकी

माहेन्द्रं स्नानमैशेन कार्यं सप्तपदावधि। गोसंघमध्यगः कुर्यात्खुरोत्खातकरेणुभिः।।२०।।
पावनं मूलमन्त्रेण स्नानं तद्धर्मणाऽथवा। सद्योजातादिभिर्मन्त्रैरम्भोभिरभिषेचनम्।।२१।।
मन्त्रस्नानं भवेदेवं वारुणाग्नेययोरपि। मनसा मूलमन्त्रेण प्राणायामपुरःसरम्।।२२।।
कुर्वीत मानसं स्नानं सर्वत्र विहितं च यत्। वैष्णवादौ च तन्मन्त्रैरेवं स्नानानि कारयेत्।।२३।।
सन्ध्याविधिं प्रवक्ष्यामि मन्त्रैर्भिन्नैः समं गुह। संवीक्ष्य त्रिः पिबेदम्बु ब्रह्मतीर्थेन शंकरैः।।२४।।
स्वधान्तैरात्मतत्त्वाद्यैस्ततः खानि स्पृशेन्मृदा। सकलीकरणं कृत्वा प्राणायामेन संस्थितः।।२५।।
त्रिः समावर्तयेन्मन्त्री मनसा शिवसंहितम्। आचम्य न्यस्य संध्यां च ब्राह्मीं प्रातः स्मरेन्नरः।।२६।।
हंसपद्मासनां रक्तां चतुर्वक्त्रां चतुर्भुजाम्। अक्षाक्षमालिनीं दक्षे वामे दण्डकमण्डलुम्।।२७।।
तार्क्ष्यपद्मासनां ध्यायेन्मध्याह्ने वैष्णवीं सिताम्। शङ्खचक्रधरां वामे दक्षिणे सगदाभयाम्।।२८।।
रौद्रीं ध्यायेद्वृषाब्जस्थां त्रिनेत्रां शशिभूषिताम्। त्रिशूलाक्षधरां दक्षे वामे साभयशक्तिकाम्।।२९।।
साक्षिण्यः कर्मणां सन्ध्या आत्मानं तत्प्रभानुगम्। चतुर्थी ज्ञानिनः सन्ध्या निशीथादौ विभाव्यते।।३०।।

खुरों से खुदकर ऊपर के उड़ी हुई धूल से इष्टदेव सम्बन्धी मूलमन्त्र का जप करते हुए अथवा कवच मन्त्र (हुम्) का जप करते हुए जो स्नान किया जाता है, उसको 'पावनस्नान' कहते हैं।।१५-२०।। सद्योजात आदि मन्त्रों के उच्चारणपूर्वक जो जल से अभिषेक किया जाता है, उसको 'मन्त्रस्नान' कहते हैं। इसी तरह वरुण देवता और श्रीअग्नि देवता सम्बन्धी मन्त्रों से भी यह स्नान-कर्म सम्पन्न किया जाता है। मन-ही-मन मूल-मन्त्र का उच्चारण करके प्राणायामपूर्वक मानसिक स्नान करना चाहिये। इसका सभी जगह विधान है। विष्णु देवता आदि से सम्बन्ध रखने वाले कार्यों में उन-उन देवताओं के मन्त्रों से ही स्नान कराये।।२१-२३।। हे कार्तिकेय! अधुना मैं विभिन्न मन्त्रों द्वारा संध्या विधि का सम्यग् वर्णन करने जा रहा हूँ। भलीभाँति देख-भाल कर ब्रह्मतीर्थ से तीन बार जल का मन्त्र पाठपूर्वक आचमन के। आचमन-काल में आत्मतत्त्व, विद्यातत्त्व और शिवतत्त्व-इन शब्दों के अन्त में 'नमः' सहित 'स्वाहा' शब्द जोड़कर मन्त्र पाठ करना चाहिये। यथा '**ॐ आत्मतत्त्वाय नमः स्वाहा।**' '**ॐ विद्यातत्त्वाय नमः स्वाहा।**' '**ॐ शिवतत्त्वाय नमः स्वाहा।**'-इन मन्त्रों से आचमन करने के पश्चात् मुख नासिका, ने. और कानों का स्पर्श करना चाहिये। फिर प्राणायाम द्वारा सकलीकरण की क्रिया सम्पन्न करके स्थिरतापूर्वक बैठ जाय। इसके बाद मन्त्र-साधक पुरुष को मन ही मन तीन बार शिवसंहिता की आवृत्ति करना चाहिये और आचमन एवं अङ्गन्यास करके प्रातःकाल ब्राह्मी संख्या का इस तरह ध्यान करना चाहिये-।।२४-२६।। संध्या देवी प्रातःकाल ब्रह्म शक्ति के रूप में उपस्थित हैं हंस पर आरूढ हो कमल के आसन पर विराजमान हैं। उनकी अङ्गकान्ति लाल है। वे चार मुख और चार भुजाएँ धारण करती हैं। उनके दाहिने हाथों में कमल और स्फटिकाक्ष की माला तथा बायें हाथों में दण्ड एवं कमण्डलु शोभा पाते हैं। मध्याह्न काल में वैष्णवी शक्ति के रूप में संध्या का ध्यान करना चाहिये। वे गरुड की पीठ पर बिछे हुए कमल के आसन पर विराजमान हैं। उनकी अंगकान्ति श्वेत है। वे अपने बायें हाथों में शंख और चक्र धारण करती हैं तथा दायें हाथों में गदा एवं अभय की मुद्रा से सुशोभित हैं। सायं काल में संख्या देवी का रुद्रशक्ति के रूप में ध्यान करना चाहिये। वे वृषभ की पीठ पर बिछे हुए कमल के आसन पर बैठी हैं। उनके तीन नेत्र हैं। वे मस्तक पर अर्ध चन्द्र के मुकुट से विभूषित हैं। दाहिने हाथों में त्रिशूल और रुद्राक्ष धारण करती हैं और बायें हाथों में अभय एवं शक्ति से सुशोभित हैं। ये संध्याएँ कर्मो की साक्षिणी है। अपने आपको उनकी प्रभा से अनुगत समझे। इन तीन के अतिरिक्त एक चौथी संध्या है, जो केवल ज्ञानी के लिये है। उसका अर्द्धरात्रि के प्रारम्भ में बोधात्मक साक्षात्कार

हृद्बिन्दुब्रह्मरन्ध्रेषु अरूपा तु परे स्थिता। शिवे चैव परो यस्तु ना सन्ध्या परमोच्यते।।३१।।
पैत्रं मूले प्रदेशिन्याः कनिष्ठायाः प्रजापतेः। ब्राह्मङ्गुष्ठमूलस्थं तीर्थं दैवं कराग्रतः।।३२।।
सव्यपाणितले वह्नेस्तीर्थं सोमस्य वामतः। ऋषीणां तु समग्रेषु अङ्गुलीपर्वसन्धिषु।।३३।।
ततः शिवात्मकैर्मन्त्रैः कृत्वा तीर्थं शिवात्मकम्। मार्जनं संहितामन्त्रैस्तत्तो येन समाचरेत्।।३४।।
वामपाणिपतत्तोययोजनं सव्यपाणिना। उत्तमाङ्गे क्रमान्मन्त्रैर्मार्जनं समुदाहृतम्।।३५।।
नीत्वा तदुपनासाग्रं दक्षपाणिपुटस्थितम्। बोधरूपं शिवं तोयं वाममाकृष्य स्तम्भयेत्।।३६।।
तत्पापं कज्जलाभासं पिङ्गयाऽऽरिच्य मुष्टिना। क्षिपेद्वज्रशिलायां यत्तद्भवेदघमर्षणम्।।३७।।
स्वाहान्तशिवमन्त्रेण कुशपुष्पाक्षतान्वितम्। शिवायार्घ्याञ्जलिं दत्त्वा गायत्रीं शक्तितो यजेत्।।३८।।
तर्पणं संप्रवक्ष्यामि देवतीर्थेन मन्त्रकात्। तर्पयेद्द्वौ शिवायेति स्वाहाऽन्यान्स्वाहया सुतान्।।३९।।
हं हृदयाय हां शिरसे हुं शिखायै हैं कवचाय। अस्त्रायाष्टौ देवगणान्हृदाऽऽदित्येभ्य एव च।।४०।।
हां (तु)वसुभ्यो रुद्रेभ्यो विश्वेभ्यश्चैव मरुद्भ्यः। भृगुभ्यो हामङ्गिरोभ्य ऋषीन्कण्ठोपवीत्यथ।।४१।।

होता है।।२७-३०।। ये तीन संध्याएँ क्रमशः हृदय, बिन्दु और ब्रह्मरन्ध्र में स्थित हैं। चौथी संख्या का कोई रूप नहीं है। वह परमशिव में विराजमान है; क्योंकि वह शिव सबसे परे हैं, इसलिये इसको 'परम संख्या' कहते हैं। तर्जनी अँगुली के मूलभाग में तपतरों का कनिष्ठा के मूल भाग में प्रजापति का, अंगुष्ठ के मूलभाग में ब्रह्मा का और हाथ के अग्र भाग में देवताओं का तीर्थ है। दाहिने हाथ की हथेली में अग्नि का, बायीं हथेली पर सोम का तथा अंगुलियों के सभी पर्वों एवं संधियों में ऋषियों का तीर्थ है। संध्या के ध्यान के पश्चात् शिव-सम्बन्धी मन्त्रों द्वारा तीर्थ (जलाशय) को शिव स्वरूप बनाकर आपो हि ष्ठा' इत्यादि संहिता-मन्त्रों द्वारा उसके जल से मार्जन करना चाहिये। बायें हाथ पर तीर्थ के जल को गिराकर उसको रोके रहे और दाहिने हाथ में मन्त्रपाठपूर्वक क्रमशः सिर का सेचन करना 'मार्जन' कहलाता है।।३१-३५।।

इसके बाद अघमर्षण करना चाहिये। दाहिने हाथ के दोने में रखे हुए बोधरूप शिवमय जल को नासिका के सन्निकट ले जाकर बायीं-इडा नाड़ी द्वारा साँस को खींचकर रोके और अन्दर से काले रंग के पाप-पुरुष को दाहिनी-पिङ्गला नाडी द्वारा बाहर निकालकर उस जल में स्थापित करना चाहिये। फिर उस पापयुक्त जल को हथेली द्वारा वज्रमयी शिला की भावना करके उस परदे मारे। इससे अघमर्षण कर्म सम्पन्न होता है। उसके बाद कुश, पुष्प, अक्षत और जल से युक्त अर्घ्याञ्जलि लेकर, उसको '**ॐ नमः शिवाय स्वाहा।**'-इस मन्त्र से भगवान् शिव को समर्पित करना चाहिये और यथा शक्ति गायत्री मन्त्र का जप करना चाहिये।।३६-३८।।

अधुना मैं तर्पण की विधि का वर्णन करने जा रहा हूँ। देवताओं के लिये देवतीर्थ से उनके नाम मन्त्र के उच्चारणपूर्वक तर्पण करना चाहिये। '**ॐ हूं शिवाय स्वाहा।**' ऐसा कहकर शिव का तर्पण करना चाहिये। इसी तरह अन्य देवताओं को भी उनके स्वाहायुक्त नाम लेकर जल से तृप्त करना चाहिये। '**ॐ हां हृदयाय नमः। ॐ हीं शिर से स्वाहा। ॐ हूं शिखायै वषट्। ॐ हैं अस्त्राय फट्**'।-इन वाक्यों को क्रमशः पढ़कर हृदय, सिर, शिखा, कवच, नेत्र एवं अस्त्र-विषयक न्यास करना चाहिये। आठ देवगणों को उनके नाम के अन्त में 'नमः' पद जोड़कर तर्पणार्थ जल अर्पित करना चाहिये। यथा-'**ॐ हां आदित्येभ्यो नमः। ॐ हां वसुभ्यो नमः। ॐ हां रुद्रेभ्यो नमः। ॐ हां विश्वेभ्यो देवेभ्यो नमः। ॐ हां मरुद्भ्यो नमः। ॐ हां भृगुभ्यो नमः। ॐ हां अङ्गिरोभ्यो नमः।**'

अत्रयेऽथ वशिष्ठाय नमश्चाथ पुलस्तये। क्रतवे भारद्वाजाय विश्वामित्राय वै नमः।।४२।।
प्रचेतसे मनुष्यांश्च सनकाय वषट् तथा। हां सनन्दायाथ वषट् सनातनाय वै वषट्।।४३।।
सनत्कुमाराय वषट् कपिलाय तथा वषट्। पञ्चशिखाय द्युभवे संलग्नकरमूलतः।।४४।।
सर्वेभ्यो भूतेभ्यो वषड् भूतान्देवपितॄनथ। दक्षस्कन्धोवीती च कुशमूलाग्रतस्तिलैः।।४५।।
कव्यवाहानलायाथ सोमाय च यमाय च।
अर्यम्णे चाग्निसोमाय बर्हिषद्भ्यः स्वधायुतान् (तम्)।।४६।।
आज्यपाय च सोमाय विशेषसुरवत्पितॄन्। ॐ हामीशानाय पित्रे स्वधा दद्यात्पितामहे।।४७।।
शान्तप्रपितामहाय तथा प्रेतपितृंस्था। पितृभ्यः पितामहेभ्यः स्वधाऽथ प्रपितामहे।।४८।।
वृद्धप्रपितामहेभ्यो मातृभ्यश्च स्वधा तथा। हां मातामहेभ्यः स्वधा हां प्रमातामहेभ्यश्च।।४९।।

तत्पश्चात् जनेऊ को कण्ठ में माला की भाँति धारण करके ऋषियों का तर्पण करना चाहिये।।३९-४१।। '**ॐ हां अत्रये नमः। ॐ हां वसिष्ठाय नमः। ॐ हां पुलस्तये नमः। ॐ हां क्रतवे नमः। ॐ हां भरद्वाजाय नमः। ॐ हां मरीचये नमः।**'-इन मन्त्रों को पढ़ते हुए अत्रि आदि ऋषियों को (ऋषितीर्थ से) एक-एक अञ्जलि जल देना चाहिये। तत्पश्चात् सनकादि मुनियों को (दो-दो अञ्जलि) जल देते हुए निम्नांकित मन्त्र वाक्य पढ़े-'**ॐ हां सनकाय वषट्। ॐ हां सनन्दनाय वषट्। ॐ हां सनातनाय वषट्। ॐ हां सनत्कुमाराय वषट्। ॐ हां कपिलाय वषट्। ॐ हां पञ्चशिखाय वषट्। ॐ हां ऋभवे वषट्।**'-इन मन्त्रों द्वारा जुड़े हाथों की कनिष्ठिकाओं के मूल भाग से जलाञ्जलि देनी चाहिये।।४२-४४।।

'**ॐ हां सर्वेभ्यो भूतेभ्यो वषट्**'-इस मन्त्र से वषट् स्वरूप भूतगणों का तर्पण करना चाहिये। तत्पश्चात् यज्ञोपवतीत को दाहिने कंधे पर करके दुहरे मुड़े हुए कुश के मूल और अग्रभाग से ति सहित जल की तीन-तीन अंजलियाँ दिव्य पितरों के लिये अर्पित करना चाहिये।

'**ॐ हां कव्यवाहनाय स्वधा। ॐ हां नलाय स्वधा। ॐ हां सोमाय स्वधा। ॐ हां यमाय स्वधा। ॐ हां अर्यम्णे स्वधा। ॐ हां अग्निष्वात्तेभ्यः स्वधा। ॐ हां बर्हिषद्भ्यः स्वधा। ॐ हां आज्यपेभ्यः स्वधा। ॐ हां सोमपेभ्यः स्वधा**'।-इत्यादि मन्त्रों का उच्चारण कर विशिष्ट देवताओं की भाँति दिव्य पितरों को जलाञ्जलि से तृप्त करना चाहिये।।४५-४६।।

'**ॐ हां ईशानाय पित्रे स्वधा**'। कहकर पिता को, '**ॐ हां पितामहाय स्वधा।**' कहकर पितामह को तथा '**ॐ हां शान्तप्रपितामहाय स्वधा।**' कहकर प्रतितामहक को भी तृप्त करना चाहिये। इसी तरह समस्त प्रेत-पितरों का तर्पण करना चाहिये। यथा-'**ॐ हां पितृभ्यः स्वधा। ॐ हां पितामहेभ्यः स्वधा। ॐ हां प्रपितामहेभ्यः स्वधा। ॐ हां वृद्धप्रपितामहेभ्यः स्वधा। ॐ हां मातृभ्यः स्वधा। ॐ हां मातामहेभ्यः स्वधा। ॐ हां प्रमातामहेभ्यः स्वधा। ॐ हां वृद्धप्रमातामहेभ्यः स्वधा। ॐ हां सर्वेभ्यः पितृभ्यः स्वधा। ॐ हां सर्वेभ्यः ज्ञातिभ्यः स्वधा। ॐ हां सर्वाचार्येभ्यः स्वधा। ॐ हां दिग्भ्यः स्वधा। ॐ हां दिक्पतिभ्यः स्वधा। ॐ हां सिद्धेभ्यः स्वधा। ॐ हां मातृभ्यः स्वधा। ॐ हां सिद्धेभ्यः स्वधा। ॐ हां मातृभ्यः स्वधा। ॐ हां ग्रहेभ्यः स्वधा। ॐ हां रक्षोभ्यः स्वधा।**'

वृद्धप्रमातामहेभ्यः सर्वेभ्यः पितृभ्यस्तथा। सर्वेभ्यः स्वधा ज्ञातिभ्यः सर्वाचार्येभ्य एव च।।५०।।
दिशां दिक्पतिसिद्धानां मातृणां ग्रहरक्षसाम्।।५१।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते स्नानादिविधिकथनं नाम द्विसप्ततितमोऽध्यायः।।७२।।

—*****—

अथ त्रिसप्ततितमोऽध्यायः

सूर्यपूजाकथनम्

ईश्वर उचाच

वक्ष्ये सूर्यार्चनं स्कन्द कराङ्गन्यासपूर्वकम्। अहं तेजोमयः सूर्य इति ध्यात्वाऽर्घ्यमर्चयेत्।।१।।
पूरयेद्रक्तवर्णेन ललाटाकृष्टविन्दुना। तं सम्पूज्य रवेरङ्गैः कृत्वा रक्षावगुण्ठनम्।।२।।
संप्रोक्ष्य तज्जलैर्द्रव्यं पूर्वास्यो भानुमर्चयेत्। ॐ अं हृद्बीजादि सर्वत्र पूजनं दण्डिपिङ्गलौ।।३।।
द्वारिदक्षे वामपार्श्व ईशाने अङ्गणाय च। अग्नौ गुरुं पीठमध्ये प्रभूतं चाऽऽसनं यजेत्।।४।।

इन वाक्यों को पढ़ते हुए क्रमशः पितरों, पितामहों, वृद्धप्रपितामहों, माताओं, मातामहों, प्रमातामहों, वृद्धप्रमातामहों, सभी पितरों, सभी ज्ञातिजनोंा, सभी आचार्यों, सभी दिशाओं, दिक्पतियों, सिद्धों, मातृकाओं ग्रहों और राक्षसों को जलाञ्जलि देना चाहिये।४७-५१।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी बहत्तरवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।७२।।

अध्याय-७३

सूर्य पूजा विधि कथन

महादेव जी ने कहा कि–हे स्कन्द! अधुना मैं करन्यास और अङ्गन्यासपूर्वक सूर्यदेवता के पूजन की विधि बतला रहा हूँ। 'मैं तेजोमय सूर्य हूँ–ऐसा चिन्तन करके अर्घ्य-पूजन करना चाहिये। लाल रंग के चन्दन या रोली से मिश्रित जल को ललाट के सन्निकट तक ले जाकर उसके द्वारा अर्घ्यपात्र को पूर्ण करना चाहिये। उसका गन्धादि से पूजन करके सूर्य के अङ्गों द्वारा रक्षावगुण्ठन करना चाहिये। तत्पश्चात् जल से पूजा-सामग्री का प्रोक्षण करके पूर्वाभिमुख हो सूर्यदेव की पूजा करनी चाहिये। '**ॐ आं हृदयाय नमः**'। इस तरह आदि में स्वर-बीज लगाकर सिर आदि अन्य सभी अङ्गों में भी न्यास करना चाहिये। पूजा-गृह के द्वारदेश में दक्षिण की तरफ 'दण्डी' का और वामभाग में 'पिङ्गल' का पूजन करना चाहिये। ईशानकोण में '**गं गणपतये नमः।**' इस मन्त्र से 'गणेश' की और अग्निकोण में गुरु की पूजा करनी चाहिये। पीठ के मध्यभाग में कमलाकार आसन का चिन्तन एवं पूजन करना चाहिये। पीठ के अग्नि आदि चारों कोणों में क्रमशः विमल, सार, आराध्य तथा परम सुख की और मध्यभाग में प्रभूतासन की पूजा करनी चाहिये।

अग्न्यादौ विमलसारमाराध्यं परमं सुखम्। सितरक्तपीतनीलवर्णान्सिंहनिभान्यजेत्॥५॥
पद्ममध्ये रां च दीप्तां रीं सूक्ष्मां रुं जयां क्रमात्। रूं भद्रां रें विभूतीश्च विमलां रैममोघया॥६॥
रों रौं (च) विद्युता शक्तिं पूर्वाद्याः सर्वतोमुखाः। रं मध्ये अर्कासनं स्यात्सूर्यमूर्तिं षडक्षरम्॥७॥
ॐ हं खं खशोल्कायेति यजेदावाह्य भास्करम्। ललाटाकृष्टमञ्जल्यां ध्यात्वा रक्तं न्यसेद्रविम्॥८॥
ह्रीं ह्रीं सः सूर्याय नमो मुद्रयाऽऽवाहनादिकम्। विधाय प्रीतये बिम्बमुद्रां गन्धादिकं ददेत्॥९॥
पद्ममुद्रां बिम्बमुद्रां प्रदर्श्याग्नौ हृदीरितम्। ॐ आं हृदयाय नमः अर्काय शिरसे तथा॥१०॥
भूर्भुवः स्वः सुरेशाय शिखायै नैर्ऋते यजेत्। हुं कवचाय वायव्ये हां नेत्रायेति मध्यतः॥११॥
वः अस्त्रायेति पूर्वादौ ततो मुद्राः प्रदर्शयेत्। धेनुमुद्रा हृदादीनां गोविषाणा च नेत्रयोः॥१२॥
अस्त्रस्य त्रासनी योज्या ग्रहाणां च नमस्क्रिया। सों सोमं बुं बुधं बृं च जीवं भं भार्गवं यजेत्॥१३॥

उपरोक्त प्रभूत आदि चारों के वर्ण क्रमशः श्वेत, लाल, पीले और नीले हैं तथा उनकी आकृति सिंह के समान है। इन सभी की पूजा करनी चाहिये॥१-५॥ पीठस्थ कमल के अन्दर '**रां दीप्तायै नमः**। इस मन्त्र द्वारा दीप्ता की, '**रीं सूक्ष्मायै नमः**।' इस मन्त्र से सूक्ष्मा की, '**रूं जयायै नमः**।' इससे जया की, '**रें भद्रायै नमः**।' इससे भद्रा की, '**रैं विभूतये नमः**।' इससे विभूति की, '**रों विमलायै नमः**।' इससे अमोघा की तथा '**रं विद्युतायै नमः**। इससे विद्युता की पूर्व आदि आठों दिशाओं में पूजा करनी चाहिये और मध्य भाग में '**रः सर्वतोमुख्यै नमः**।' इस मन्त्र से नवीं पीठ शक्ति सर्वतोमुखी की आराधना करना चाहिये। तत्पश्चात् '**ॐ ब्रह्मविष्णुशिवात्मकाय सौराय योगपीठात्मने नमः**।' इस मन्त्र के द्वारा सूर्य देव के आसन (पीठ) का पूजन करना चाहिये। उसके बाद '**खखेल्काय नमः**।' इस षडक्षर मन्त्र के प्रारम्भ में '**ॐ हं खं**' जोड़कर नौ अक्षरों से युक्त '**ॐ हं खं खखोल्काय नमः**।'–इस) मन्त्र द्वारा सूर्य देव के विग्रह का आवाहन करना चाहिये। इस तरह आवाहन करके भगवान् सूर्य की पूजा करनी चाहिये॥६-७॥ अञ्जलि में लिये हुए जल को ललाट के सन्निकट तक ले जाकर रक्त वर्ा वाले सूर्यदेव का ध्यान करके उनको भावना द्वारा अपने सामने स्थापित करना चाहिये। फिर '**ह्रां ह्रीं सः सूर्याय नमः**।' ऐसा कहकर कथित जल से सूर्य देव को अर्घ्य देना चाहिये। इसके बाद 'बिम्बमुद्रा' दिखाते हुए आवाहन आदि उपचार अर्पित करना चाहिये। उसके बाद सूर्यदेव की प्रीति के लिये गन्ध (चन्दन, रोली) आदि समर्पित करना चाहिये। तत्पश्चात् 'पद्ममुद्रा और'बिम्बमुद्रा' दिखाकर अग्नि आदि कोणों में हृदय आदि अङ्गों की पूजा करनी चाहिये। अग्निकोण में '**ॐ आं हृदयाय नमः**।' इस मन्त्र से हृदय की, नैर्ऋत्यकोण में '**ॐ भूः अर्काय शिर से स्वाहा**।' इससे सिर की, वायव्य कोण में '**ॐ भुवः सुरेशाय शिखायै वषट्**।' इससे शिखा की, ईशान कोण में '**ॐ स्वः कवचाय हुम्**। इससे कवच की, इष्ट देव और उपासक के मध्य में '**ॐ हां नेत्रत्रयाय वौषट्**।' से नेत्र की तथा देवता के पश्चिम भाग में '**वः अस्त्राय फट्**।' इस मन्त्र से अस्त्र की पूजा करनी चाहिये। इसके बाद पूर्वादि दिशाओं में मुद्राओं का प्रदर्शन करना चाहिये॥८-११॥ हृदय, सिर, शिखा और कवच–इनके लिये पूर्वादि दिशाओं में धेनुमुद्रा का प्रदर्शन करना चाहिये। नेत्रों के लिये गोशृङ्ग की मुद्रा दिखाये। अस्त्र के लिये त्रासनी मुद्रा की योजना करना चाहिये। तत्पश्चात् ग्रहों को नमस्कार और उनका पूजन करना चाहिये। '**ॐ सों सोमाय नमः**।' इस मन्त्र से पूर्व में चन्द्रमा की, '**ॐ सों सोमाय नमः**।' इस मन्त्र से पूर्व में चन्द्रमा की, '**ॐ बुं बुधाय नमः**।' इस मन्त्र से पूर्व में चन्द्रमा की, '**ॐ बृं बृहस्पतये नमः**' इस मन्त्र से पश्चिम में बृहस्पति की और '**ॐ भं भार्गवाय नमः**।' इस मन्त्र से उत्तर में शुक्र की पूजा करनी चाहिये। इस तरह पूर्वादि दिशाओं में चन्द्रमा आदि ग्रहों की पूजा करके, अग्नि आदि कोणों में शेष ग्रहों का पूजन करके, अग्नि

दले पूर्वादिकेऽग्न्यादौ अं (भं) भौमं शं शनैश्चरम्। रं राहुं कें केतवे च गन्धाद्यैश्च खशोल्किना।।१४।।
मूलं जप्त्वाऽर्घ्यपात्राम्बुं दत्त्वा सूर्याय संस्तुतिः। नत्वा पराङ्मुखं चार्कं क्षमस्वेति ततो वदेत्।।१५।।
शराणुना फडन्तेन समाहृत्याणु संहृतिम्। हृत्पद्मे शिव सूर्येति संहारिण्योपसंस्कृतिम्।।१६।।
योजयेत्तेजश्चण्डाय रविनिर्माल्यमर्पयेत्। अभ्यर्च्येशजपाद्ध्यानाद्धोमात्सर्वं रवेर्भवेत्।।१७।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते सूर्यपूजाविधि कथनं नाम त्रिसप्ततितमोऽध्यायः।।७३।।

—❋❋❋—

आदि कोणों में शेष ग्रहों का पूजन करना चाहिये। यथा–'**ॐ भौं भैमाय नमः**'। इस मन्त्र से अग्निकोण में मंगल की, '**ॐ शं शनैश्चराय मनः।**' इस मन्त्र से नैर्ऋत्यकोण में शनैश्चर की, '**ॐ रां राहवे नमः**' इस मन्त्र से वायव्यकोण में राहु की तथा '**ॐ कें केतवे नमः।**' इस मन्त्र से ईशान कोण में केतुकी गन्ध आदि उपचारों से पूजा करनी चाहिये। खशोल्की (भगवान् सूर्य) के साथ इन सभी ग्रहों का पूजन करना चाहिये।।१२-१४।। मूल मन्त्र का जप करके, अर्घ्यपात्र में जल लेकर सूर्य को समर्पित करने के पश्चात् उनकी स्तुति करनी चाहिये। इस तरह स्तुति के पश्चात् सामने मुँह किये खड़े हुए सूर्य देव को नमस्कार करके कहे–'हे प्रभो! मेरे अपराधों और त्रुटियों को आप क्षमा करें।' इसके बाद '**अस्त्राय फट्।**' इस मन्त्र से अणुसंहार का समाहरण करके 'हे शिव! सूर्य! (कल्याणमय सूर्यदेव!)'–ऐसा कहते हुए संहारिणी शक्ति या मुद्रा के द्वारा सूर्यदेव के उपसंहृत तेज को अपने हृदय-कमल में स्थापित कर दे तथा सूर्य देव का निर्माल्य उनके पार्षद चण्ड को अर्पित कर देना चाहिये। इस तरह जगदीश्वर सूर्य का पूजन करके उनके जप ध्यान और हवन करने से साधक का सारा मनेप्सित सिद्ध होता है।।१५-१७।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी तिहत्तरवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।७३।।

❖❖❖

अथ चतुःसप्ततितमोऽध्यायः

शिवपूजाकथनम्

ईश्वर उवाच

शिवपूजां प्रवक्ष्यामि आचम्य प्रणवार्घ्यवान्। द्वारमस्त्राम्बुना प्रोक्ष्य होमादिद्वारपान्यजेत्।।१।।
गणं सरस्वतीं लक्ष्मीमूर्ध्वोदुम्बरके यजेत्। नन्दिगङ्गेदक्षशाख (खा) स्थिते वामगते यजेत्।।२।।
महाकालं च यमुनां दिव्यदृष्टिनिपाति (त) तः। उत्सार्य दिव्यान्विघ्नांश्च पुष्पक्षेपान्तरिक्षगान्।।३।।
दक्षपार्ष्णित्रिभिर्घातैर्भूमिष्ठान्यागमन्दिरम्। देहलीं लङ्घयेद्वामशाखामाश्रित्य वै विशेत्।।४।।
प्रविष्य दक्षपादेन विन्यस्यास्त्रमुदुम्बरे। ॐ हां वास्त्वधिपतये ब्रह्मणे मध्यतो यजेत्।।५।।
निरीक्षणादिभिः शस्त्रैः शुद्धानादाय गडुकान्। लब्धानुज्ञः शिवाम्मौनी गङ्गादिकमनुव्रजेत्।।६।।
पवित्राङ्गःप्रजप्तेन वस्त्रपूतेन वारिणा। पूरयेदम्बुधौ तांस्तान्गायत्र्या हृदयेन वा।।७।।
गन्धकाक्षतपुष्पादिसर्वद्रव्यसमुच्चयम्। सन्निधीकृत्य पूजार्थं भूतशुद्ध्यादि कारयेत्।।८।।

अध्याय–७४

शिवपूजन विधि कथन

श्रीदेवाधिदेव महादेवजी ने कहा कि–हे स्कन्द! अधुना मैं शिवपूजा की विधि बतलाने जा रहा हूँ। आचमन (एवं स्नान आदि) करके प्रणव का जप करते हुए सूर्य देव को अर्घ्य देना चाहिये। फिर पूजा मण्डप के द्वार को 'फट्' इस मन्त्र द्वारा जल से सींचकर आदि में 'हां' बीज सहित नन्दी आदि द्वारपालों का पूजन करना चाहिये। द्वार पर उदुम्बर वृक्ष की स्थापना या भावना करके उसके ऊपरी भाग में गणपति, सरस्वती और श्रीलक्ष्मी की पूजा करनी चाहिये। उस वृक्ष की दाहिनी शाखा पर या द्वार के दक्षिण भाग में नन्दी और गङ्गा का पूजन करना चाहिये तथा वाम शाखा पर या द्वार के वाम भाग में महाकाल एवं यमुना जी की पूजा करनी चाहिये। महाकाल एवं यमुना जी की पूजा करनी चाहिये। तत्पश्चात् अपनी दिव्य दृष्टि डालकर दिव्य विघ्नों का उत्साहरण (निवारण) करना चाहिये। उनके ऊपर या उनके उद्देश्य से फूल फेंके और यह भावना करनी चाहिये कि 'आकाश चारी सारे विघ्न दूर हो गये।' साथ ही, दाहिने पैर की एड़ी से तीन बार भमि पर आघात करना चाहिये और इस क्रिया द्वारा भूतलवर्ती समस्त विघ्नों के निवारण की भावना करनी चाहिये। तत्पश्चात् यज्ञमण्डप की देहली को लाँघे। वाम शाखा का आश्रय लेकर अन्दर प्रवेश करना चाहिये। दाहिने पैर से मण्डप के अन्दर प्रविष्ट हो उदुम्बर वृक्ष में अस्त्र का न्यास करना चाहिये तथा मण्डप के मध्य भाग में पीठ की आधारभूमि में '**ॐ हां वास्त्वधिपतये ब्रह्मणे नमः।**' इस मन्त्र से वास्तुदेवता की पूजा करनी चाहिये।।१-५।। निरीक्षण आदि शस्त्रों द्वारा शुद्ध किये हुए गडुओं को हाथ में लेकर, भावना द्वारा भगवान् शिव से आज्ञा प्राप्त करके साधक मौन हो गङ्गा आदि नदी के तट पर जाय। वहाँ अपने शरीर को पवित्र करके गायत्री-मन्त्र का जप करते हुए वस्त्र से छाने हुए जल के द्वारा जलाशय में उन गडुओं को भरे अथवा हृदय-बीज (नमः) का उच्चारण करके जल भरे। तत्पश्चात् पूजा के लिये गन्ध, अक्षत, पुष्प आदि सभी द्रव्यों को अपने पास एकत्र करके भूतशुद्धि आदि कर्म करना चाहिये। फिर उत्तराभिमुख हो आराध्य देव के दाहिने भाग में–शरीर के

देवदक्षे ततो न्यस्य सौम्यास्यश्च शरीरतः। संहारमुद्रयाऽऽदाय मूर्ध्नि मन्त्रेण धारयेत्॥९॥
भोग्यकर्मोपभोगार्थं पाणिकच्छपिकाख्यया। हृदम्बुजे निजात्मानं द्वादशान्तपदेऽथ वा॥१०॥
शोधयेत्पञ्चभूतानि संचिन्त्य सुषिरं तनौ। चरणाङ्गुष्ठयोर्युग्मान्सुषिरान्तर्बहिः स्मरेत्॥११॥
शक्तिं हृद्व्यापिनीं पश्चाद्धुङ्कारे पावकप्रभे। रन्ध्रमध्ये स्थिते कृत्वा प्राणरोधं हि चिन्तकः॥१२॥
निवेशयेद्रेचकान्ते फडन्तेनाथ तेन च। हृत्कण्ठतालुभ्रूमध्यब्रह्मरन्ध्रे विभिद्य च॥१३॥
ग्रन्थीन्निर्भिद्य हुंकारं मूर्ध्नि विन्यस्य जीवनम्। संपुटं हृदयेनाथ पूरकाहितचेतनम्॥१४॥
हूं शिखोपरि विन्यस्य शुद्धं विन्द्वात्मकं स्मरेत्। कृत्वाऽथ कुम्भकं शंभावेकोद्घातेन योजयेत्॥१५॥
रेचकेन बीजवृत्त्या शिवे लीनोऽथ शोधयेत्। प्रतिलोमं स्वदेहे तु विन्द्वन्तं तत्र विन्दुकम्॥१६॥
लयं नीत्वा महीवातौ जलवह्नी परस्परम्। द्वौ द्वौ साध्यौ तथाऽऽकाशमविरोधेन तच्छृणु॥१७॥
पार्थिवं मण्डलं पीतं कठिनं वज्रलाञ्छितम्। हौमित्यात्मीयबीजेन तन्निवृत्तिकलामयम्॥१८॥
पादादारभ्य मूर्धान्तं विचिन्त्य चतुरस्रकम्। उद्घातपञ्चकेनैव वायुभूतं विचिन्तयेत्॥१९॥

विभिन्न अङ्गों में मातृकान्यास करके, विनाश-मुद्रा द्वारा अर्घ्य के लिये जल लेकर मन्त्रोचरणपूर्वक मस्तक से लगावे और उसको देवता पर अर्पित करने के लिये अपने पास रख ले। इसके बाद भोग्य कर्मों के उपभोग के लिये पाणिककच्छपिका (कूर्ममुद्रा) का प्रदर्शन करके द्वादश दलों से युक्त हृदयकमल में अपने आत्मा का चिन्तन करना चाहिये॥६-१०॥ तत्पश्चात् शरीर में शून्य का चिन्तन करते हुए पाँच भूतों का क्रमशः शोधन करना चाहिये। पैरों के दोनों अंगूठों को पहले बाहर और अन्दर से छिद्रमय (शून्यरूप) देखे। फिर कुंण्डलिनी-शक्ति को मूलाधार से उठाकर हृदय कमल से संयुक्त करके इस तरह चिन्तन करना चाहिये-'हृदयरन्ध्र में सिंित अग्नितुल्य तेजस्वी 'हूँ' बीज में कुण्डलिनी शक्ति विराज रही है।' उस समय चिन्तन करने वाला साधक को प्राण वायु का अवरोध (कुम्भक) करके उसका रेचक (निःसारण) करने के पश्चात्, 'हूं फट्' के उच्चारणपूर्वक क्रमशः उत्तरोत्तर चकों का भेदन करता हुआ उस कुण्डलिनी को हृदय, कण्ठ, तालु, भ्रूमध्य एवं ब्रह्मरन्ध्र में ले जाकर स्थापित करना चाहिये। इन ग्रन्थियों का भेदन करके कुण्डलिनी के साथ हृदय कमल से ब्रह्मरन्ध्र में आये 'हूँ' बीजस्वरूप जीव को वहीं मस्तक में (मस्तकवर्ती ब्रह्मरन्ध्र में या सहस्त्रारचक्र में) स्थापित कर देना चाहिये। हृदय स्थित 'हूँ' बीज से सम्पुटित हुए उस जीव में पूरक प्राणायाम द्वारा चैतन्य भाव जाग्रत् किया गया है। शिखा के ऊपर 'हूँ' का न्यास करके शुद्ध बिन्दु स्वरूप जीव का चिन्तन करना चाहिये। फिर कुम्भक प्राणायाम करके उस एक मात्र चैतन्य-गुण से युक्त जीव को शिव के साथ संयुक्त कर देना चाहिये॥११-१५॥ इस तरह शिव में लीन होकर साधक को सबीज रेचक प्राणयाम द्वारा शरीरगत भूतों का शोधन करना चाहिये। अपने शरीर में पैर से लेकर बिन्दु-पर्यन्त सभी तत्त्वों का विलोम-क्रम से चिन्तन करना चाहिये। बिन्दु रूप जीव को बिन्द्वन्त लीन करके पृथ्वी और वायु का एक-दूसरे में लय करना चाहिये। साथ ही अग्नि एवं जल का भी परस्पर विलय करना चाहिये। इस तरह दो-दो विरोधी भूतों का परस्पर शोधन (लय) करना चाहिये। आकश का किसी से विरोध नहीं हैं; इस भूत-शुद्धि का विशेष वृत्तान्त सुनो-भूमण्डल का स्वरूप चतुष्कोण है। उसका रंग स्वर्ण के समान पीला है। वह कठोर होने के साथ ही वज्र के चिह्न से तथा 'हां' इस आत्मीय बीज (भूबीज) से युक्त है। उसमें 'निवृत्ति' नामक कला है। (शरीर में पैर से लेकर घुटने तक भूमण्डल की स्थिति है।) इसी तरह पैर से लेकर मस्तक-पर्यन्त क्रमशः पाँचों भूतों का चिन्तन करना चाहिये। इस तरह पाँच गुणों से युक्त वायुभूत भूण्डल का चिन्तन करना चाहिये॥१६-१९॥

अर्धचन्द्रं द्रवं सौम्यं शुभ्रमम्भोजलाञ्छितम्। ह्रीमित्यनेन बीजेन प्रतिष्ठारूपतां गतम्॥२०॥
संयुक्तं राममन्त्रेण पुरुषान्तकारणम्। अर्घ्यं चतुर्भिरुद्घातैर्वह्निभूतं विशोधयेत्॥२१॥
आग्नेयं मण्डलं त्र्यस्रं रक्तं स्वस्तिकलाञ्छितम्। हूमित्यनेन बीजेन विद्यारूपं विभावयेत्॥२२॥
घोराणुत्रिभिरुद्घातैर्जलभूतं विशोधयेत्। षडस्रं मण्डलं वायोर्विन्दुभिः षड्भिरङ्कितम्॥२३॥
कृष्णं ह्वेमिति बीजेन जातं शान्तिकलामयम्। संचिन्त्योद्घातयुग्मेन पृथ्वीभूतं विशोधयेत्॥२४॥
नमो विन्दुमयं वृत्तं विन्दुशक्तिविभूषितम्। व्योमाकारं सुवृत्तं च शुद्धस्फटिकनिर्मलम्॥२५॥
हौंकारेण फडन्तेन शान्त्यतीतकलामयम्। ध्यात्वैकोद्घातयोगेन सुविशुद्धं विभावयेत्॥२६॥
आप्याययेत्ततः सर्वं मूलेनामृतवर्षिणा। आधाराख्या (ख्य)मनन्तं च धर्मज्ञानादिपङ्कजम्॥२७॥
हृदाऽऽसनमिदं ध्यात्वा मूर्तिमावाहयेत्ततः। सृष्ट्या शिवमयं तस्यामात्मानं द्वादशान्ततः॥२८॥
अथ तां शक्तिमन्त्रेण वौषडन्तेन सर्वतः। दिव्यामृतेन संप्लाव्य कुर्वीत सकलीकृतम्॥२९॥
हृदयादिकरान्तेषु कनिष्ठाद्यङ्गुलीषु च। हृदादिमन्त्रविन्यासः सकलीकरणं मतम्॥३०॥

जल का स्वरूप अर्धचन्द्राकार है। वह द्रवस्वरूप है, चन्द्रमण्डलमय है। उसकी कान्ति या वर्ण उज्ज्वल है। वह दो कमलों से चिह्नित है। 'ह्रीं' इस बीज से युक्त है। 'प्रतिष्ठा' नामक कला के स्वरूप को प्राप्त है। वह वामदेव तथा तत्पुरुष मन्त्रों से संयुक्त जलतत्त्व चार गुणों से युक्त है। उसको इस तरह (घुटने से नाभितक जल का) चिन्तन करते हुए उस जल-तत्त्व का वह्निस्वरूप में लीन करके शोधन करना चाहिये। अग्नि मण्डल त्रिकोणाकार है। उसका वर्ण लाल है। (नाभि से हृदय तक उसकी स्थिति है।) वह स्वास्तिक के चिह्न से युक्त है। उसमें 'हूं' बीज अङ्कित है। वह विद्याकला स्वरूप है। उसका अघोर मन्त्र है तथा वह तीन गुणों से युक्त एवं जलभूत है–इस तरह चिन्तन करते हुए अग्नि तत्त्व का शोधन करना चाहिये। वायुमण्डल षट्कोणाकार है। (शरीर में हृदय से लेकर भौंहों के मध्य भग तक उसकी स्थिति है।) वह छः बिन्दुओं से चिह्नित है। उसका रंग काला है। वह 'हैं' बीज एवं सद्योजात-मन्त्र से युक्त और शान्तिकला-स्वरूप है। उसमें दो गुण हैं तथा वह पृथ्वीभूत है। इस तरह चिन्तन करते हुए वायुतत्त्व का शोधन करना चाहिये॥२०-२४॥ आकाश का स्वरूप व्योमाकार, नाद-बिन्दुमय, गोलाकार, बिन्दु और शक्ति से विभूषित तथा शुद्ध स्फटिक मणि के समान निर्मल है। (शरीर में भ्रूमध्य से लेकर ब्रह्मरध्र तक उसकी स्थिति है।) वह 'हौं फट्' इस बीज से युक्त है। शान्त्यतीतकलामय है। एक गुण से युक्त तथा परम विशुद्ध है। इस तरह चिन्तन करते हुए आकाश-तत्त्व का शोधन करना चाहिये। उसके बाद अमृतवर्षी मूलमन्त्र से सभी को परिपुष्ट करना चाहिये। तत्पश्चात् आधार शक्ति, कूर्म, अनन्त (पृथ्वी) की पूजा करनी चाहिये। फिर पीठ (चौकी) के अग्नि कोण वाले पाये में धर्म की, नैर्ऋत्य कोण वाले पाये में ज्ञान की, वायव्यकोण में वैराग्य की और ऐशान्यकोण में ऐश्वर्य की पूजा करने चाहिये। इसके बाद पीठ की पूर्वादि दिशाओं में क्रमशः अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य और अनैश्वर्य की पूजा करनी चाहिये। इसके बाद पीठ के मध्य भाग में कमल की पूजा करनी चाहिये। इस तरह मन ही मन पीठवर्ती कमलमय आसन का ध्यान करके उस पर देवमूर्ति सच्चिनानन्दघन भगवान् शिव का आवाहन करना चाहिये। उस शिवमूर्ति में शिवस्वरूप आत्मा को देखे और फिर आसन, पादुकाद्वय तथा नौ पीठ शक्ति–इन बारहों का ध्यान करना चाहिये। फिर शक्तिमन्त्र के अन्त में 'पौषट्' लगाकर उसके उच्चारणपूर्वक उपरोक्त आत्ममूर्ति को दिव्य अमृत से आप्लावित करके उसमें सकीकरण करना चाहिये। हृदय से लेकर हस्त-पर्यन्त अङ्गों में तथा कनिष्ठिका आदि अंगुलियों में हृदय (नमः) मन्त्रों का जो न्यास है, इसी को 'सकलीकरण' माना गया है॥२५-३०॥

अस्त्रेण (णाऽऽ)रक्ष्य प्राकारं तनुत्रेणाथ तद्बहिः। शक्तिजालमधश्चोर्ध्वं महामुद्रां प्रदर्शयेत्।।३१।।
आपादमस्तकं यावद्भावपुष्पैः शिवं हृदि। पद्मे यजेत्पूरकेण आकृष्टामृतसद्घृतैः।।३२।।
शिवमन्त्रैर्नाभिकुण्डे तर्पयेत शिवानलम्। ललाटे विन्दुरूपं च चिन्तयेच्छुभविग्रहम्।।३३।।
एकं स्वर्णादिपात्राणां पात्रमस्त्राम्बुशोधितम्। विन्दुप्रसूतपीयूषरूपतौयाक्षतादिना।।३४।।
हृदाऽऽपूर्य षडङ्गेन पूजयित्वाऽभिमन्त्रयेत्। संरक्ष्य हेतिमन्त्रेण कवचेनावगुण्ठयेत्।।३५।।
रचयित्वाऽर्घ्यमष्टाङ्गं सेचयेद्धेनुमुद्रया। अभिषिञ्चेदथाऽऽत्मानं मूर्ध्नि तत्तोयबिन्दुना।।३६।।
तत्रस्थं यागसंभारं प्रोक्षयेदस्त्रवारिणा। अभिमन्त्र्य हृदा पिण्डैस्तनुत्राणेन वेष्टयेत्।।३७।।
दर्शयित्वाऽमृतां मुद्रां पुष्पं दत्त्वा निजासने। विधाय तिलकं मूर्ध्नि पुष्पं मूलेन योजयेत्।।३८।।
स्नाने देवार्चने होमे भोजने यागयोगयोः। आवश्यके जपे धीरः सदा वाचं यमो भवेत्।।३९।।
नादान्तोच्चारणान्मन्त्रं शोधयित्वा सुसंस्कृताम्। पूजामभ्यर्च्य गायत्र्या सामान्यार्घ्यमुपाहेत्।।४०।।
ब्रह्मपञ्चकमावर्त्य माल्यमादाय लिङ्गतः। ऐशान्यां दिशि चण्डाय हृदयेन निवेदयेत्।।४१।।

तत्पश्चात् '**हु फट्**'–इस मन्त्र से प्राकार की भावना द्वारा आत्म रक्षा की व्यवस्था करके उसके बाहर नीचे और ऊपर भी भावनात्मक शक्तिजाल का विस्तार करना चाहिये। इसके बाद महामुद्रा का प्रदर्शन करना चाहिये। तत्पश्चात् पूरक प्राणयाम के द्वारा अपने हृदय-कमल में विराजमान शिव का ध्यान करके भावमय पुष्पों द्वारा उनके पैर से लेकर सिर तल के अङ्गों में पूजन करें। वे भावमय पुष्प आनन्दामृतमय मकरन्द से परिपूर्ण होने चाहिये। फिर शिव मन्त्रों द्वारा नाभिकुण्ड में स्थित शिव स्वरूप अग्नि को तृप्त करना चाहिये। वही शिवानल ललाट में बिन्दुरूप से स्थित है; उसका विग्रह मंगलमय है–इस तरह चिन्तन करना चाहिये।।३१-३३।। स्वर्ण, रजत एवं ताम्रपात्रों में से किसी एक पात्र को अर्घ्य के लिये लेकर उसको अस्त्रबीज (फट्) के उच्चारणपूर्वक जल से धोये। फिर बिन्दु रूप शिव से प्रकट होने वाले अमृत की भावना से युक्त जल एवं अक्षत आदि के द्वारा हृदय-मन्त्र (नमः) के उच्चारणपूर्वक उसको भर देना चाहिये। फिर हृदय सिर, शिखा, कवच, नेत्र और हस्त्र–इन छः अङ्गों द्वारा (अथवा इनके मध्य मन्त्रों द्वारा) उस अर्घ्यपात्र का पूजन करके उसको देवता-सम्बन्धी मूलमन्त्र से अभिमन्त्रित करना चाहिये। फिर अस्त्र-मन. (फट्) से उसकी रक्षा करके कवच बीज (हुम्) के द्वारा उसको अवगुण्ठित कर देना चाहिये। इस तरह अष्टाङ्ग अर्घ्य की रचना करके, धेनुमुद्रा के द्वारा उसका अमृतीकरण करके उस जल को सभी तरफ सींचे। अपने मस्तक पर भी उस जल की बूँदों से अभिषेक करना चाहिये। वहाँ रखी हुई पूजा-सामग्री का भी अस्त्रबीज के उच्चारणपूर्वक कथित जल से प्रोक्षण करना चाहिये। उसके बाद हृदयबीज से अभिमन्त्रित करना चाहिये। हुम् बीज से पिण्डों (अथवा मत्स्यमुद्रा) द्वारा उसको आवेष्टित या आच्छादित करना चाहिये।।३४-३७।। इसके बाद अमृता (धेनुमुद्रा) के लिये धेनुमुद्रा का प्रदर्शन करके अपने आसन पर पुष्प अर्पित करना चाहिये (अथवा देवता के निज आसन पर पुष्प चढ़ावे) तत्पश्चात् पूजक अपने मस्तक में तिलक लगाकर मूलमन्त्र के द्वारा आराध्यदेव को पुष्प अर्पित करना चाहिये। स्नान, देवपूजन, हवन, भोजन, यज्ञानुष्ठान, योग, साधन तथा आवश्यक जप के समय धीरबुद्धि साधक को सदा मौन हरना चाहिये। प्रणव का नाद-पर्यन्त उच्चारण करके मन्त्र का शोधन करना चाहिये। फिर श्रेष्ठतम संस्कारयुक्त देवपूजा प्रारम्भ करना चाहिये। मूलगायत्री (अथवा रुद्रगायत्री) से अर्घ्य-पूजन करके रखे और वह सामान्य अर्घ्य देवता को अर्पित करना चाहिये।।३८-४०।। ब्रह्मपञ्चक (पञ्चगव्य और कुशोदक से बना हुआ ब्रह्मकूर्च) तैयार करके पूजित शिवलिंग से पुष्प-निर्माल्य ले ईशानकोण की ओर '**चण्डाय नमः**'। कहकर चण्ड को समर्पित करना चाहिये। तत्पश्चात् कथित

प्रक्षाल्य पिण्डिकालिङ्गे अस्त्रतोये ततो हृदा। अर्घ्यपात्राम्बुना सिञ्चेदिति लिङ्गविशोधनम्॥४२॥
आत्मद्रव्यमन्त्रलिङ्गशुद्धौ सर्वान्सुरान्यजेत्। वायव्ये गणपतये हां गुरुभ्योऽर्चयेच्छिवे॥४३॥
आधारशक्तिमङ्कुरनिभां कूर्मशिलास्थिताम्। यजेद्ब्रह्मशिलारूढं शिवस्यानन्तमासनम्॥४४॥
विचित्रकेसरि प्रख्यानन्योन्यं पृष्ठदर्शिनः। कृतत्रेतादिरूपेण शिवस्याऽऽसनपादुकाम्॥४५॥
धर्मं ज्ञानं च वैराग्यमैश्वर्यं चाग्निदिङ्मुखान्। कर्पूरकुङ्कुमस्वर्णकज्जलाभान्यजेत्क्रमात्॥४६॥
पद्मं च कर्णिकामध्ये पूर्वादौ मध्यतो नव। वरदाभयहस्ताश्च शक्तयो धृतचामराः॥४७॥
वामा ज्येष्ठा च रौद्री च काली कलविकारिणी। बलविकार (रि) णी पूज्या बलप्रमथनी क्रमात्॥४८॥
हां सर्वभूतदमनी केसराग्रे मनोन्मनी। क्षित्यादिशुद्धविद्यां तु तत्त्वव्यापकमासनम्॥४९॥
न्यसेत्सिहासने देवं शुक्लं पञ्चमुखं विभुम्। दशबाहुं च खण्डेन्दुं दधानं दक्षिणैः करैः॥५०॥

ब्रह्मपञ्चक से पिण्डिका (पिण्डी या अर्घा) और शिवलिंग को नहलाकर 'फट्' का उच्चारण करके उनको जल से नहलाये। फिर 'नमो नमः' के उच्चारणपूर्वक उपरोक्त अर्घ्य पात्र के जल से उस लिंग का अभिषेक करना चाहिये। यह लिंग-शोधन का तरह बतलाया गया है॥४१-४२॥ आत्मा (शरीर और मन), द्रव्य (पूजन सामग्री), मन्त्र तथा लिंग की शुद्धि हो जानेपर सभी देवताओं का पूजन करना चाहिये। वायव्यकोण में 'ॐ हां गणपतये नमः।' कहकर गणेश जी की पूजा करनी चाहिये और ईशानकोण में '**ॐ गुरुभ्यो नमः।**' कहकर गुरु, पमर गुरु, परात्पर गुरु तथा परमेष्ठी गुरु गुरुपंक्ति की पूजा करनी चाहिये॥४३॥ तत्पश्चात् कूर्मरूपी शिला पर स्थित अङ्कुर सदृश आधार शक्ति का तथा ब्रह्मशिला पर आरूढ़ शिव के आसनभूत अनन्तदेव का 'ॐ हां अनन्तासनाय नमः।' मन्त्र द्वारा पूजन करना चाहिये। शिव के सिंहासन के रूप में जो मञ्च या चौकी है, उसके चार पाये हैं, जो विचित्र सिंह की-सी आकृति से सुशोभित होते हैं। वे सिंह मण्डलाकार में स्थित रहकर अपने आगे वाले के पृष्ठ भाग को ही देखते हैं तथा सत्ययुग, त्रेता, द्वापर और कलियुग-इन चार युगों के प्रतीक हैं। तत्पश्चात् भगवान् शिव की आसन-पादुका की पूजा करनी चाहिये। उसके बाद धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य की पूजा करनी चाहिये। वे अग्नि आदि चारों कोणों में स्थित हैं। उनके वर्ण क्रमशः कपूर, कुङ्कुम, स्वर्ण और काजल के समान हैं। इनका चारे पायों पर क्रमशः पूजन करना चाहिये। इसके बाद (**ॐ हां अधश्छदनाय नमोऽधः' ॐ हां ऊर्ध्वच्छनाय नम ऊर्ध्वे। ॐ हां मद्मासनाय नमः।**-ऐसा कहकर) आसन पर विराजमान अष्टदल कमल के नीचे ऊपर के दलों की, सम्पूर्ण कमल की तथा '**ॐ हां कर्णिकायै नमः।**' के द्वारा कर्णिका के मध्यभाग की पूजा करनी चाहिये। उस कमल के पूर्व आदि आठ दलों में तथा मध्यभाग में नौ पीठ शक्तियों की पूजा करनी चाहिये। वे शक्तियाँ चँवर लेकर खड़ी हैं। उनके हाथ वरद एवं अभय की मुद्राओं से सुशोभित हैं॥४४-४७॥ उनके नाम इस तरह हैं-वामा, ज्येष्ठा, रौद्री, काली, कलविकारिणी, बलविकारिणी, बलप्रमथिनी, सर्वभूतदमनी तथा मनोन्मनी-इन सभी का क्रमशः पूजन करना चाहिये। वामा आदि आठ शक्तियों का कमल के पूर्व आदि आठ दलों में तथा नवीं मनोन्मनी का कमल के केसर-भाग में क्रमशः पूजन किया जाता है। यथा-'**ॐ हां वामायै नमः।**' इत्यादि। उसके बाद पृथ्वी आदि अष्ट मूर्तियों एवं विशुद्ध विद्यादेह का चिन्तन एवं पूजन करना चाहिये। (यथा-पूर्व में '**ॐ सूर्यमूर्तये नमः।**' अग्निकोण में '**ॐ चन्द्रमूर्तये नमः।**' दक्षिण में '**ॐ पृथ्वीमूर्तये नमः।**' नैर्ऋत्यकोण में '**ॐ जलमूर्तये नमः।**' पश्चिम में '**ॐ वह्निमूर्तये नमः।**' वायव्य कोण में '**ॐ वायुमूर्तये नमः।**' उत्तर में '**ॐ आकाशमूर्तये नमः।**' और इशानकोण में '**ॐ यजमानमूर्तये नमः।**' तत्पश्चात् शुद्ध विद्या की और तत्त्वव्यापक आसन की पूजा करनी चाहिये। उस सिंहासन पर कर्पूर-गौर, सर्वव्यापी एवं पाँच मुखों

शक्त्यृष्टिशूलखट्वाङ्गवरदं वामकैः करैः। डमरुं बीजपूरं च नीलाब्जं सूत्रमुत्पलम्॥५१॥
द्वात्रिंशल्लक्षणोपेतां शैवीं मूर्तिं तु मध्यतः। हां हं हां शिवमूर्तये स्वप्रकाशं शिवं स्मरन्॥५२॥
ब्रह्मादिकारणत्यागमन्त्रं नीत्वा शिवास्पदम्। ततौ ललाटमध्यस्थं स्फुरत्ताराप्रतिप्रभम्॥५३॥
षडङ्गेन समाकीर्णं बिन्दुरूपं पर शिवम्। पुष्पाञ्जलिगतं ध्यात्वा लक्ष्य मूर्तौ निवेशयेत्॥५४॥
ॐ हां हौं शिवाय नम आवाहन्याः हृदा ततः।
आवाह्य (ह्या) स्थाप्य स्थापन्या संनिधायान्तिकं शिवम्॥५५॥
निरोधयेन्निष्ठुरया कालकान्त्या फडन्ततः। विघ्नानुत्सार्य मुष्ट्याऽथ लिङ्गमुद्रां नमस्कृतिम्॥५६॥
हृदाऽवगुण्ठयेत्पश्चादावाहः संमुखो ततः। निवेशनं स्थापनं स्यात्संनिधानं तवास्मि भोः॥५७॥
आकर्मकाण्डपर्यन्तं संनिधेर्योऽपरिक्षयः। स्वभक्तेश्च प्रकाशो यस्तद्भवेदवगुण्ठनम्॥५८॥
सकलीकरणं कृत्वा मन्त्रैः षड्भिरथैकताम्। अङ्गानामङ्गिना सार्धं विदध्यादमृतीकृतम्॥५९॥
चिच्छक्तिहृदयं शंभोः शिव ऐश्वर्यमष्टधा। शिखा वशित्वं चाभेद्यं तेजः कवचमैश्वरम्॥६०॥

से सुशोभित भगवान् महादेव को प्रतिष्ठित करना चाहिये। उनके दस भुजाएँ हैं। वे अपने मस्तक पर अर्धचन्द्र धारण करते हैं। उनके दाहिने हाथों में शक्ति, ऋष्टि, शूल, खष्टाङ्ग और वरद-मुद्रा हैं तथा अपने बायें हाथों वे डमरू, बिजौरा नीबू, सर्प, अक्षसूत्र और नील कमल धारण करते हैं॥४८-५१॥ आसन के मध्य में विराजमान भगवान् शिव की वह दिव्य मूर्ति बत्तीस लक्षणों से सम्पन्न है, ऐसा चिन्तन करके स्वयं-प्रकाश शिव का स्मरण करते हुए '**ॐ हां हां हां शिवमूर्तये नमः।**' कहकर उसको नमस्कार करना चाहिये। ब्रह्मा आदि कारणों के त्यागपूर्वक मन्त्र को शिव में प्रतिष्ठित करना चाहिये। फिर यह चिन्तन करना चाहिये कि ललाट के मध्य भाग में विराजमान तथा तारापति चन्द्रमा के समान प्रकाशमान बिन्दुरूप परमशिव हृदयादि छः अंगों से संयुक्त हो पुष्पाञ्जलि में उतर आये हैं। ऐसा ध्यान करके उनको प्रत्यक्ष पूजनीय मूर्ति में स्थापित कर देना चाहिये। इसके बाद '**ॐ हां हौं शिवाय नमः।**'—यह मन्त्र बोलकर मन-ही-मन आवाहनी मुद्रा द्वारा मूर्ति में भगवान् शिव का आवाहन करना चाहिये। फिर स्थापनी-मुद्रा द्वारा वहाँ उनकी स्थापना और संनिधापिनी-मुद्रा द्वारा भगवान् शिव को सन्निकट में विराजमान करके संनिरोधनी-मुद्रा द्वारा उनको उस मूर्ति में अवरुद्ध करना चाहिये। तत्पश्चात् '**निष्ठुरायै कालकल्यायै (कालकान्त्यै अथवा कालकान्तायै) फट्**'। का उच्चारण करके खड्ग मुद्रा से भय दिखाये हुए विघ्नों को मार भगावे। इसके बाद लिंग-मुद्रा का प्रदर्शन करके नमस्कार करना चाहिये॥५२-५६॥ इसके बाद 'नमः' बोलकर अवगुण्ठन करना चाहिये। आवाहन का अर्थ है सादर सम्मुखीकरण—इन्द्रदेव को अपने सामने उपस्थित करना। देवता को अर्चा-विग्रह में बिठाना ही उसकी स्थापना है। 'हे प्रभो! मैं आपका हूँ'—ऐसा कहकर भगवान् से समीपतम सम्बन्ध स्थापित करना ही 'संनिधान' या 'संनिधापन' कहलाता है। जिस समय तक पूजन सम्बन्धी कर्मकाण्ड चालू रहे, तत्पश्चात् तक भगवान् की समीपता को अक्षुण्ण रखना ही 'निरोध' है और अभक्तों के समक्ष जो शिवतत्त्व का अप्रकाशन या संगोपन किया जाता है, उसी का नाम 'अवगुण्ठन' है। उसके बाद सकलीकरण करके '**हृदनाय नमः**', '**शिर से स्वाहा**', '**शिखायै वषट्**', '**कवचाय हुम्**', '**नेत्राभ्यां वौषट्**', '**अस्त्राय फट्**'—इन छः मन्त्रों द्वारा हृदयादि अंगों की अंगी के साथ एकता स्थापित करना चाहिये—यही 'अमृतीकरण' है। चैतन्य शक्ति देवाधिदेव भगवान् श्रीशिवशंकर का हृदय है, आठ तरह का ऐश्वर्य उनका सिर है, वशित्व उनकी शिखा है तथा अभेद्य तेज भगवान् महेश्वर का कवच है। उनका दुःसह प्रताप ही समस्त विघ्नों का

प्रतापो दुःसहश्चास्त्रमन्तरायापहारकम्। नमः स्वधा च स्वाहा च वौषट्चेति यथाक्रमम्।।६१।।
हृत्पुरः सरमुच्चार्य पाद्यादीनि निवेदयेत्। पाद्यं पादाम्बुजद्वन्द्वे वक्त्रे स्वाचमनीयकम्।।६२।।
अर्घ्यं शिरसि देवस्य दूर्वापुष्पाक्षतानि च। एवं संस्कृत्य संस्कारैर्दशभिः परमेश्वरम्।।६३।।
यजेत्पञ्चोपचारेण विधिना कुसुमादिभिः। अभ्युक्ष्योद्वर्त्य निर्मृज्य राजिकालवणादिभिः।।६४।।
अर्घ्योदविन्दुपुष्पाद्यैर्गड्डूकैः स्नापयेच्छनैः। पयोदधिघृतक्षौद्रशर्कराद्यैरनुक्रमात्।।६५।।
ईशादिमन्त्रितैर्भुक्त्यै मुक्त्यै तेषां विपर्ययः। तोयधूपान्तरैः सर्वैर्मूलेन स्नापयेच्छिवम्।।६६।।
विरूक्ष्य यवचूर्णेन यथेष्टं शीतलैर्जलैः। स्वशक्त्या गन्धतोयेन संस्नाप्य शुचिवाससा।।६७।।
निर्माज्यार्घ्यं प्रदद्याच्च नोपरि भ्रामयेत्करम्। न शून्यमस्तकं लिङ्गं पुष्पैः कुर्यात्ततो ददेत्।।६८।।
चन्दनाद्यैः समालभ्य पुष्पैः प्राच्य शिवाणुना। धूपभाजनमस्त्रेण प्रोक्ष्याभ्यर्च्य शिवाणुना।।६९।।
अस्त्रेण पूजितां घण्टां चाऽऽदाय गुग्गुलं दहेत्। दद्यादाचमनं पश्चात्सुधाभं हृदयाणुना।।७०।।
आरात्रिकं समुत्तार्य तथैवाऽऽचमयेत्पुनः। प्रणम्याऽऽदाय देवाज्ञां भोगाङ्गानि प्रपूजयेत्।।७१।।
हृदग्नौ चन्द्रभं चैशे शिवं चामीकरप्रभम्। शिखं रक्तां च नैर्ऋत्ये (ते) कृष्णं चर्म च वायवे।।७२।।

निवारण करने वाला अस्त्र है। हृदय आदि को पूर्व में रखकर क्रमशः '**नमः**, '**स्वधा**', '**स्वाहा**' और '**वौषट्**' का क्रमशः उच्चारण करके वाद्य निवेदन करना चाहिये।।५७-६१।। पाद्य को आराध्य देव के युगल चरणाविन्दों में, आचमन को मुखारविन्द में तथा अर्घ्य, दूर्वा, पुष्प और अक्षत को इष्टदेव के मस्तक पर चढ़ाना चाहिये। इस तरह दस संस्कारों से परमेश्वर शिव का संस्कार करके गन्ध-पुष्प आदि पञ्च उपचारों से विधिपूर्वक उनकी पूजा करनी चाहिये। पहले जल से देव विग्रह का अभ्युक्षण (अभिषेक) करके राईलोन आदि से उबटन और मार्जन करना चाहिये। तत्पश्चात् अर्घ्यजल की बूँदों और पुष्प आदि से अभिषेक करना चाहिये। गडुओं में रखे हुए जल के द्वारा धीरे-धीरे भगवान् को नहलावे। दूध, दही, घी, मधु और शक्कर आदि को क्रमशः ईशान, तत्पुरुष, अघोर, वामदेव और सद्योजात-इन पाँच मन्त्रों द्वारा अभिमन्त्रित करके उनके द्वारा बारी-बारी से स्नान कराये। उनको परस्पर मिलाकर पञ्चामृत बना ले और उससे भगवान् को नहलावे। इससे भोग और मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है। उपरोक्त दूध-दही आदि में जल और धूप मिलाकर उन सबके द्वारा इष्ट देवता-सम्बन्धी-मूल-मन्त्र के उच्चारणपूर्वक भगवान् शिव को स्नान कराये।।६२-६६।। तत्पश्चात् जौ के आटे से चिकनाई मिटाकर इच्छानुसार शीतल जल से स्नान कराये। अपनी शक्ति के अनुसार चन्दन, केसर आदि से इष्टदेव के श्रीविग्रहा को अच्छी तरह पोंछे। तत्पश्चात् अर्घ्य निवेदन करना चाहिये। देवता के ऊपर तत्पश्चात् अर्घ्य निवेदन करना चाहिये। देवता के ऊपर हाथ न घुमावे। शिवलिङ्ग के मस्तक भाग को कभी पुष्प से शून्य न रखे। तत्पश्चात् अन्यान्य उपचार समर्पित करना चाहिये। (स्नान के पश्चात् देवविग्रहा को वस्त्र और यज्ञो पवीत धारण कराकर) चन्दन-रोली आदि का अनुलेप करना चाहिये। फिर शिव-सम्बन्धी मन्त्र बोलकर पुष्प समर्पित करते हुए पूजन करना चाहिये। धूप के पात्र का अस्त्र मन्त्र (फट्) से प्रोक्षण करके शिव-मन्त्र से धूप द्वारा पूजन करना चाहिये। फिर अस्त्र-मन्त्र द्वारा पूजित घण्टा बजाते हुए गुग्गुलं का धूप जलावे। फिर '**शिवाय नमः।**' बोलकर अमृत के समान सुस्वादु जल से भगवान् को आचमन कराये। इसके बाद आरती उतारकर पुनः पूर्ववत् आचमन कराये। फिर नमस्कार करके देवता की आज्ञा से भोगाङ्गों की पूजा करनी चाहिये।।६७-७१।। अग्नि कोण में चन्द्रमा के समान उज्ज्वल, हृदय का, ईशानकोण में स्वर्ण के समान कान्ति वाले सिर का, नैर्ऋत्यकोण में लाल

चतुर्वक्त्रं चतुर्बाहुं दलस्थान्पूजयेदिमान्। दंष्ट्राकरालमप्यस्त्रं पूर्वादौ वज्रसंनिभम्।।७३।।
मूले हौं शिवाय नमः ॐ हां हूं हीं हों शिरश्च। हूं शिखायै हैं वर्म हश्चास्त्रं परिवारयुताय च।।७४।।
शिवाय दद्यात्पाद्यं च आचामं चार्घ (र्घ्य) मेव च। गन्धं पुष्पं धूपदीपं नैवेद्याचमनीयकम्।।७५।।
करोद्वर्तनताम्बूलं मुखवासं च दर्पणम्। शिरस्यारोप्य देवस्य दूर्वाक्षतपवित्रकम्।।७६।।
मूलमष्टशतं जप्त्वा हृदयेनाभिमन्त्रितम्। चर्मणा वेष्टितं खड्गरक्षितं कुशपुष्पकैः।।७७।।
अक्षतैर्मुद्रया युक्तं शिवमुद्भवसंज्ञया। गुह्यातिगुह्यगुप्त्यर्थं गृहाणास्मत्कृतं जपम्।।७८।।
सिद्धिर्भवति मे येन त्वत्प्रसादात्त्वयि स्थिते। भोगी श्लोकं पठित्वा तु दक्षहस्तेन शंभवे।।७९।।
मूलाणुनाऽर्घ्यतोयेन वरहस्ते निवेदयेत्। यत्किंचित्कुर्महे देव सदा सुकृतदुष्कृतम्।।८०।।
तन्मे शिवपदस्थस्य हूं क्षः क्षेपय शंकर। शिवो दाता शिवो भोक्ता शिवः सर्वमिदं जगत्।।८१।।
शिवो जयति सर्वत्र यः शिवः सोऽहमेव च। श्लोकद्वयमधीत्यैवं जपं देवाय चार्पयेत्।।८२।।
शिवाङ्गानां दशांशं च दत्त्वाऽर्घ्यं स्तुतिमाचरेत्। प्रदक्षिणीकृत्य नमेच्चाष्टाङ्गं चाष्टमूर्तये।।८३।।

रंग की शिखा का तथा वायव्यकोण में काले रंग के कवच का पूजन करना चाहिये। फिर अग्निवर्ण नेत्र और कृष्ण-पिङ्गल अस्त्र का पूजन करके चतुर्मुख ब्रह्मा और चतुर्भुज विष्णु आदि देवताओं को कमल के दलों में स्थित मानकर इन सभी की पूजा करनी चाहिये। पूर्व आदि दिशाओं में दाढ़ों के समान विकराल, वज्रतुल्य अस्त्र का भी पूजन करना चाहिये।। ७२-७३।। मूल स्थान में '**ॐ हां हूं शिवाय नमः।**' बोलकर पूजन करना चाहिये। '**ॐ हां हृदयाय नमः, हीं शिर से स्वाहा।**' बोलकर हृदय और सिर की पूजा करनी चाहिये। '**हूं शिखायै वषट्**' बोलकर शिखा की, '**हैं कवचाय हुम्।**' कहकर कवच की तथा '**हः अस्त्राय फट्।**' बोलकर अस्त्र की पूजा करनी चाहिये। इसके बाद परिवार सहित भगवान् शिव को क्रमशः पाद्य, आचमन, अर्घ्य, गन्ध, पुष्प, धूप, दीप, नैवेद्य, आचमनीय, करोद्वर्तन, ताम्बूल, मुखवास (इलायची आदि) तथा दर्पण समर्पित करना चाहिये। उसके बाद देवाधिदेव के मस्तक पर दूर्वा, अक्षत और पवित्रक चढ़ाकर हृदय (मनः) से अभिमन्त्रित मूल मन्त्र का एक सौ आठ बार जप करना चाहिये। तत्पश्चात् कवच से आवेष्टित एवं अस्त्र के द्वारा सुरक्षित अक्षत-कुश, पुष्प तथा उद्भव नामक मुद्रा से भगवान् शिव से इस तरह याचना करनी चाहिये।।७४-७७।। 'हे प्रभो! गुह्य से भी अति गुह्य वस्तु की आप रक्षा करने वाले हैं। आप मेरे किये हुए इस जप को ग्रहण करें, जिससे आपके रहते हुए आपकी कृपा से मुझे सिद्धि प्राप्त हो।।७८।। भोग की इच्छा रखने वाला उपासक को उपरोक्त श्लोक पढ़कर, मूल मन्त्र के उच्चारणपूर्वक दाहिने हाथ से अर्घ्य-जल से भगवान् के वर की मुद्रा से युक्त हाथ में अर्घ्य निवेदन करना चाहिये। फिर इस तरह याचना करनी चाहिये—'हे देव! देवाधिदेव भगवान् श्रीशिवशंकर! हम कल्याण स्वरूप आपके चरणों की शरण में आये हैं। इसलिये सदा हम जो कुछ भी शुभाशुभ कर्म करते आ रहे हैं, उन सभी को आप नष्ट कर दीजिये—निकाल फेंकिये। हूँ क्षः। शिव ही दाता हैं, शिव ही भोक्ता हैं, शिव ही यह सम्पूर्ण जगत् हैं, शिव की सभी जगह जय हो। जो शिव हैं, वही मैं हूँ।।७९-८१।।

इन दो श्लोकों को पढ़कर अपना किया हुआ जप आराध्य देव को समर्पित कर देना चाहिये। तत्पश्चात् जपे हुए शिव-मन्त्र का दशांश भी जपे (यह हवन की पूर्ति के लिये आवश्यक है।) फिर अर्घ्य देकर भगवान् की स्तुति करनी चाहिये। अन्त में अष्टमूर्तिधारी आराध्य देव शिव की परिक्रमा करके उनको साष्टाङ्ग नमस्कार करना चाहिये।

नत्वा ध्यानादिभिश्चैव यजेच्चित्रेऽनलादिषु।।८४।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते शिवपूजाविधिकथनं नाम चतुःसप्ततितमोऽध्यायः।।७४।।

अथ पञ्चसप्ततितमोऽध्यायः

शिवपूजाङ्गहोमविधिः

ईश्वर उवाच

अर्घपात्रकरो यायादग्न्यागारं सुसंवृतः। यागोपकरणं सर्व दिव्यं (व्य) दृष्ट्वा (ष्ट्या) च कल्पयेत्।।१।।
उदङ्मुखः कुण्डमीक्षेत्प्रोक्षणं ताडनं कुशैः। विदध्यादस्त्रमन्त्रेण वर्मणाऽभ्युक्षणं मतम्।।२।।
खड्गेन खातमुद्धारं पूरणं समतामपि। कुर्वीत वर्मणा सेकं कुट्टनं तु शराणुना।।३।।
संमार्जनं समालेपं कलारूपप्रकल्पनम्। त्रिसूत्रीपरिधानं च वर्मणाऽभ्यर्चनं सदा।।४।।
रेखात्रयमुदक्कुर्यादेकां पूर्वाननामधः। कुशेन च शिवास्त्रेण यद्वा तासां विपर्ययः।।५।।
वज्रीकरणमंत्रेण हृदा दर्भैश्चतुष्पथम्। अक्षपात्रं तनुत्रेण विन्यसेद्विष्टरं हृदा।।६।।

नमस्कार और शिव-ध्यान करके चित्र में अथवा अग्नि आदि में भगवान् शिव के उद्देश्य से यजन-पूजन करना चाहिये।।८२-८४।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी चौहत्तरवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।७४।।

अध्याय-७५

शिवपूजा अङ्गभूत हवन विधि

भगवान् महेश्वर ने कहा कि–हे स्कन्द! पूजन के पश्चात् अपने शरीर को वस्त्र आदि से आवृत करके हाथ में अर्घ्य पात्र लिये उपासक अग्निशाला में जाय और दिव्य दृष्टि से यज्ञ के समस्त उपकरणों की उसे कल्पना (संग्रह) करनी चाहिये। उत्तराभिमुख हो कुण्ड को देखे। कुशों द्वारा उसका प्रोक्षण एवं ताडन (मार्जन) करना चाहिये। ताडन तो अस्त्र-मन्त्र (फट्) से करना चाहिये; परन्तु उसका अभ्युक्षण कवच-मन्त्र (हुम्) से करना चाहिये। खड्ग से कुण्ड का खात उद्धार, पूरण और समती करना चाहिये। कवच (हुम्) से उसका अभिषेक तथा शरमन्त्र (फट्) से भूमि को कूटने का कार्य करना चाहिये। सम्मार्जन, उपलेपन, कालात्मक रूप की कल्पना, त्रिसूत्री-परिधान तथा अर्चन भी सदा कवच-मन्त्र से ही करना चाहिये। कुण्ड के उत्तर में तीन रेखा करनी चाहिये। एक रेखा ऐसी खींचे, जो पूर्वाभिमुखी हो और ऊपर से नीचे की तरफ गयी हो। कुश अथवा त्रिशूल से रेखा करनी चाहिये। अथवा उन सभी रेखाओं में विपर्यय अर्थात् उलट फेर भी किया जा सकता है।।१-५।। अस्त्र-मन्त्र (फट्) का उच्चारण करके

हृदा वागीश्वरीं तत्र ईशमावाह्य पूजयेत्। वह्निं सदाश्रयानीतं शुद्धपात्रोपरि स्थितम्॥७॥
क्रव्यादांशं परित्यज्य वीक्षणादिविशोधितम्। औदार्यं चैन्दवं मौनमेकीकृत्यानलत्रयम्॥८॥
ॐ हूं वह्निचैतन्याय वह्निबीजेन विन्यसेत्। संहितामन्त्रितं वह्निं धेनुमुद्रामृतीकृतम्॥९॥
रक्षितं हेतिमन्त्रेण कवचेनावगुण्ठितम्। पूजितं त्रिः परिभ्राम्य कुण्डस्योर्ध्वं प्रदक्षिणम्॥१०॥
शवबीजमिति ध्यात्वा वागीशागर्भगोचरे। वागीश्वरेण देवेन क्षिप्यमाणं विभावयेत्॥११॥
भूमिष्ठजानुको मन्त्री हृदाऽऽत्मसंमुखं क्षिपेत्। ततोऽन्तःस्थितबीजस्य नाभिदेशे समूहनम्॥१२॥
संभृतिं परिधानस्य शौचमाचमनं हृदा। गर्भाग्नेः पूजनं कृत्वा तद्रक्षार्थं शराणुना॥१३॥
बध्नीयाद्गर्भजं देव्याः कङ्कणं पाणिपल्लवे। गर्भाधानाय संपूज्य सद्योजातेन पावकम्॥१४॥
ततो हृदयमन्त्रेण जुहुयादाहुतित्रयम्। पुंसवनाय वामेन तृतीये मासि पूजयेत्॥१५॥
आहुतित्रित्रयं दद्याच्छिरसाऽम्बुकणान्वितम्। सीमन्तोन्नयनं षष्ठे मासि सम्पूज्य रूपिणा॥१६॥
जुहुयादाहुतीस्तिस्रः शिखया शिखयैव तु। वक्त्राङ्गकल्पनां कुर्याद्वक्त्रोद्घाटननिष्कृती॥१७॥
जातकर्मनृकर्मभ्यां दशमे मासि पूर्ववत्। वह्निं संधुक्ष्य दर्भाद्यः स्नानं गर्भमलापहम्॥१८॥

वज्रीकरण की क्रिया करनी चाहिये। 'नमः' का उच्चारण करके कुशों द्वारा चतुष्पथ का न्यास करना चाहिये। कवच-मन्त्र (हुम्) बोलकर अक्षपात्र का और हृदय-मन्त्र (नमः) से विष्टर का स्थापन करना चाहिये। **'वागीश्वर्यै नमः।' 'ईशान नमः'**—ऐसा बोलकर वागीश्वरी देवी तथा ईश का आवाहन एवं पूजन करना चाहिये। इसके बाद अच्छे स्थान से शुद्ध पात्र में रखी हुई अग्नि को ले आवे। उसमें से **'क्रव्यादमग्निं प्रहिणोमि दूरम् ०'** (शु. यजु. ३५-१९) इत्यादि मन्त्र के उच्चारणपूर्वक क्रव्या के अंशभूत अग्निकण को निकाल देना चाहिये। फिर निरीक्षण आदि से शोधित औदार्य, ऐन्दव तथा मौन—इन त्रिविध अग्नियों को एकत्र करके, **'ॐ हूं वह्निचैतन्याय नमः'**। का उच्चारण करके अग्निबीज (रं) के साथ स्थापित करना चाहिये॥६-८॥ संहिता-मन्त्र से अभिमन्त्रित, धेनुमुद्रा के प्रदर्शनपूर्वक अमृतीकरण की क्रिया से संस्कृत, अस्त्र-मन्त्र से सुरक्षित तथा कवच मन्त्र से अवगुण्ठित एवं पूजित अग्नि को कुण्ड के ऊपर प्रदक्षिणा क्रम से तीन बार घुमाकर, यह भगवान् शिव का बीज है'—ऐसा चिन्तन करके ध्यान करना चाहिये कि 'वागीश्वर देव ने इस बीज को वागीश्वरी के गर्भ में स्थापित किया है।' इस ध्यान के साथ मन्त्र-साधक को दोनों घुटने पृथ्वी पर टेककर नमस्कारपूर्वक उस अग्नि को अपने सम्मुख कुण्ड में स्थापित कर देना चाहिये। तत्पश्चात् जिसके अन्दर बीजस्वरूप अग्नि का आधान हो गया है, उस कुण्ड के नाभि देश में कुशों द्वारा परिसमूहन करना चाहिये। परिधान-सम्भार, शुद्धि, आचमन एवं नमस्कारपूर्वक गर्भाग्नि का पूजन करके उस गर्भज अग्नि की रक्षा के लिये अस्त्र-मन्त्र से भावना द्वारा ही वागीश्वरीदेवी के पाणिपल्लव में कङ्कण (या रक्षासूत्र) बाँधे॥९-१३॥ सद्योजात-मन्त्र गर्भाधान के उद्देश्य से अग्नि का पूजन करके हृदय-मन्त्र से तीन आहुतियाँ देनी चाहिये। फिर भावना द्वारा ही तृतीय मास में होने वाले पुंसवन संस्कार की सिद्धि के लिये वामदेव मन्त्र द्वारा अग्नि की पूजा करके, **'शिर से स्वाहा'**। बोलकर तीन आहुतियाँ देनी चाहिये। इसके बाद उस अग्नि पर जलबिन्दुओं से छींटा देनी चाहिये। उसके बाद छठे मास में होने वाले सीमन्तोन्नयन-संस्कार की भावना करके, अघोरमन्त्र अग्नि का पूजन करके **'शिखायै वषट्'**। का उच्चारण करते हुए तीन आहुतियाँ दे तथा शिखा-मन्त्र से ही मुख आदि अङ्गों की कल्पना करनी चाहिये। मुख का उद्घाटन एवं प्रकटीकरण करना चाहिये। तत्पश्चात् पूर्ववत् दसवें मास में होने वाले जातकर्म एवं नरकर्म की भावना से तत्पुरुष-मन्त्र द्वारा दर्भ आदि से अग्नि का पूजन एवं प्रज्वलन करके गर्भमल को दूर करने वाला स्नान कराये तथा ध्यान

सुवर्णबन्धनं देव्या कृतं ध्यात्वा हृदाऽर्चयेत्। सद्यः सूतकनाशाय प्रोक्षयेदस्त्रवारिणा॥१९॥
कुण्डं तु बहिरस्त्रेण ताडयेद्दर्भणोत्क्षिपेत्। अस्त्रेणोत्तरपूर्वाग्रान्मेखलासु बहिः कुशान्॥२०॥
आस्थाप्य स्थापयेत्तेषु हृदा परिधिविस्तरम्। वक्त्राणामस्त्रमन्त्रेण ततो नालापनुत्तये॥२१॥
समिधः पञ्च होतव्याः प्रान्ते मूसे घृतप्लुता। ब्रह्माणं शंकरं विष्णुमनन्तं च हृदार्चयेत्॥२२॥
दूर्वाक्षतैश्च पर्यन्तं परिधिस्थाननुक्रमात्। इन्द्रादीशानपर्यन्तान्विष्टरस्थाननुक्रमात्॥२३॥
अग्नेरभिमुखीभूतान् निजदिक्षु हृदार्चयेत्। निवार्य विघ्नसंघातबालकं पालयिष्पथ॥२४॥
शैवीमाज्ञामिमां तेषां श्रावयेत्तदनन्तरम्। गृहीत्वा स्रुक्स्रुवावूर्ध्ववदनाधोमुखौ क्रमात्॥२५॥
प्रताप्याग्नौ त्रिधा दर्भमूलमध्याग्रकैः स्पृशेत्। कुशस्पृष्टप्रदेशेषु आयुर्विद्याशिवात्मकम्॥२६॥
क्रमात्तत्त्वत्रयं न्यस्य हां हीं हूं संरवैः क्रमात्। स्रुचि शक्तिं स्रुवे शंभुं विन्यस्य हृदयाणुना॥२७॥
त्रिसूत्रीवेष्टितग्रीवौ पूजितौ कुसुमादिभिः। कुशानामुपरिष्टात्तौ स्थापयित्वा स्वदक्षिणे॥२८॥

द्वारा देवी के हाथ में स्वर्ण-बन्धन करके हृदय-मन्त्र से पूजन करना चाहिये। फिर सूतक की तत्काल निवृत्ति के लिये अस्त्र-मन्त्र द्वारा अभिमन्त्रित जल से अभिषेक करना चाहिये॥१४-१९॥ कुण्ड का बाहर की तरफ से अस्त्र-मन्त्र के उच्चारणपूर्वक कुशों द्वारा ताडन या मार्जन करना चाहिये। फिर 'हुम्' का उच्चारण करके उसको जल से सींचे। तत्पश्चात् कुण्ड के बाहर दिशाओं में पूर्वाग्र तथा पूर्व और पश्चिम दिशाओं में उत्तराग्र कुशाओं को बिछावे। उन पर हृदय-मन्त्र से परिधि-विष्टर (आठों दिशाओं में आसनविशेष) स्थापित करना चाहिये। इसके बाद सद्योजातादि पाँच मुख-सम्बन्धी मन्त्रों से तथा अस्त्र-मन्त्र से नालच्छेदन के उद्देश्य से पाँच समिधाओं के मूलभाग को घी में डुबोकर उन पाँचों की आहुति देनी चाहिये। उसके बाद ब्रह्मा, देवाधिदेव भगवान् श्रीशिवशंकर, विष्णु और अनन्त का दूर्वा और अक्षत आदि से पूजन करना चाहिये। पूजन के समय उनके नाम के अन्त में '**नमः**' जोड़कर उच्चारण करना चाहिये। यथा-'**ब्रह्मणे नमः।**' '**देवाधिदेव भगवान् श्रीशिवशंकराय नमः**'। '**विष्णवे नमः।**' '**अनन्ताय नमः।**' फिर कुण्ड के चारों तरफ बिछे हुए उपरोक्त आठ विष्टरों पर पूर्वादि दिशाओं में क्रमशः इन्द्र, अग्नि, यम, निर्ऋति, वरुण, वायु, कुबेर और ईशान का आवाहन और स्थापन करके यह भावना करनी चाहिये कि उन सभी का मुख श्रीअग्नि देव की तरफ है। फिर उन सबकी अपनी-अपनी दिशा में पूजा करनी चाहिये। पूजा के समय उनके नाम मन्त्र के अन्त में नमः जोड़कर बोले। यथा-'**इन्द्राय नमः।**' इत्यादि॥२०-२३॥ इसके बाद उन सभी देवताओं को भगवान् शिव की यह आज्ञा सुनावे-'हे देवताओं! आप सभी लोग विघ्न समूह का निवारण करके इस बालक (अग्नि) का पालन करो। उसके बाद ऊर्ध्वमुख स्रुक् और स्रुव को लेकर उनको बारी-बारी से तीन बार अग्नि में तपावे। फिर कुश के मूल, मध्य और अग्रभाग से उनका स्पर्श कराये। कुश से स्पर्श कराये हुए स्थानों में क्रमशः आत्मतत्त्व, विद्यातत्त्व और शिवतत्त्व-इन तीनों का न्यास करना चाहिये। न्यास वाक्य इस तरह हैं-'**ॐ हां आत्मतत्त्वाय नमः।**' '**ॐ हीं विद्यातत्त्वाय नमः।**' '**ॐ हूँ शिवतत्त्वाय नमः।**'॥२४-२६॥ तत्पश्चात् स्रुक् में 'नमः' के साथ शक्ति का और स्रुव में शिव का न्यास करना चाहिये। यथा-'**शक्तये नमः।**' '**शिवाय नमः**'। फिर तीन आवृत्ति में फैले हुए रक्षासूत्र से स्रुक् और स्रुव दोनों के ग्रीवा भाग को आवेष्टित करना चाहिये। इसके बाद पुष्पादि से उनका पूजन करके अपने दाहिने भाग में कुशों के ऊपर उनको रख देना चाहिये। फिर गाय का घी लेकर, उसको अच्छी तरह देख-भालकर शुद्ध कर ले और अपने स्वरूप के ब्रह्ममय होने की भावना करके, उस घी के पात्र को हाथ में लेकर हृदय मन्त्र से कुण्ड के ऊपर अग्निकोण में घुमाकर, पुनः अपने स्वरूप के विष्णुमय होने की भावना करनी चाहिये। तत्पश्चात् घृत को ईशान

गव्यमाज्यं समादाय वीक्षणादिविशोधितम्। स्वकां ब्रह्ममयीं मूर्तिं संचिन्त्याऽऽदाय तद्घृतम्।।२९।।
कुण्डस्योर्ध्वं हृदावर्त्य भ्रामयित्वाऽग्निगोचरे। पुनर्विष्णुमयीं ध्यात्वा घृतमीशानगोचरे।।३०।।
धृत्वाऽऽदाय कुशाग्रेण स्वाहान्तं शिरसाऽणुना। जुहुयाद्विष्णवे विन्दुं रुद्ररूपमनन्तरम्।।३१।।
भावयन्निजमात्मानं नाभौ धृत्वा प्लवेत्ततः। प्रादेशमात्रदर्भाभ्यामङ्गुष्ठानामिकाग्रकैः।।३२।।
घृताभ्यां सम्मुखं वह्नेरस्त्रेणाऽऽप्लवमाचरेत्। हृदाऽऽत्मसंमुखं तद्वत्कुर्यात्संप्लवनं ततः।।३३।।
हृदालब्धदग्धदर्भं शस्त्रक्षेपात्पवित्रयेत्। दीप्तेनापरदर्भेण नीराज्यान्येन दीपयेत्।।३४।।
अस्त्रमन्त्रेणनिर्दग्धं वह्नौ दर्भं पुनः क्षिपेत्। क्षिप्त्वा घृते कृतग्रन्थिकुशं प्रादेशसंमितम्।।३५।।
पक्षद्वयमिडादीनां त्रयं बाह्ये विभावयेत्। क्रमाद्भागत्रयादाज्यं स्रुवेणाऽऽदाय होमयेत्।।३६।।
स्वेत्यग्नौ हां घृते भागं शेषमाज्यं क्षिपेत्क्रमात्। ॐ हामग्नये स्वाहा। ॐ हां सोमाय स्वाहा।
ॐ हामग्नीषोमाभ्यां स्वाहा।।३७।।
उद्घाटनाय नेत्राणामग्नेर्नेत्रत्रये मुखे। स्रुवेण घृतपूर्णेन चतुर्थीमाहुतिं यजेत्।।३८।।
ॐ हामग्नये स्विष्टकृते स्वाहा।।३९।।

कोण में रखकर कुशाग्रभाग से घी निकाले और '**शिर से स्वहा।**' एवं '**विष्णवे स्वाहा।**' बोलकर भगवान् श्रीहरि विष्णु के लिये उस घृतबिन्दु की आहुति देनी चाहिये। अपने स्वरूप से रुद्रमय होने की भावना करके, कुण्ड के नाभि स्थान में घृत को रखकर उसका आप्लावन करना चाहिये।।२७-३१।। फैलाये हुए अँगूठे से लेकर तर्जनी तक की लम्बाई को 'प्रादेश' कहते हैं। अतः प्रादेश बराबर लम्बे दो कुशों को अंगुष्ठ तथा अनामिका-इन दो अंगुलियों को पकड़कर उनके द्वारा अस्त्र (फट्) के उच्चारणपूर्वक अग्नि के सम्मुख घी को प्रवाहित करना चाहिये। इसी तरह हृदय-मन्त्र (नमः) का उच्चारण करके अपने सम्मुख भी घृत का आप्लावन करना चाहिये। 'नमः' के उच्चारणपूर्वक हाथ में लिये हुए कुश के दग्ध हो जाने पर उसको शस्त्र-क्षेप (फट् के उच्चारण) के द्वारा पवित्र करना चाहिये। एक जलते हुए कुश से उसकी नीराजना (आरती) करके फिर दूसरे कुश से उसको जलावे। उस जले हुए कुश को अस्त्र-मन्त्र से पुनः अग्नि में ही डाल देना चाहिये। तत्पश्चात् घृत में एक प्रादेश बराबर कुश छोड़े जिसमें गाँठ लगायी गयी हो। फिर घी में दो पक्षों तथा इडा आदि तीन नाड़ियों की भावना करनी चाहिये। इडा आदि तीनों भागों से क्रमशः स्रुव द्वारा घी लेकर उसका हवन करना चाहिये। 'स्वा' का उच्चारण करके स्रुवावस्थित घी को अग्नि में डाले और 'हा' का उच्चारण करके हुतशेष घी को उसको डालने के लिये रखे हुए पात्र विशेष में त्याग देना चाहिये अर्थात् 'स्वाहा' बोलकर क्रमशः दोनों कार्य (अग्नि में हवन और शेष का पात्रविशेष में प्रक्षेप) करना चाहिये।।३२-३६।। प्रथम इडा भाग से घी लेकर '**ॐ होमग्नये स्वाहा।**' इस मन्त्र का उच्चारण करके घी का अग्नि में हवन करना चाहिये और हुतशेष का पात्रविशेष में प्रक्षेप करना चाहिये। इसी तरह दूसरे पिङ्गला भाग से घी लेकर '**ॐ हां सोमाय स्वाहा।**' बोलकर घी में आहुति दे और शेष का पात्र विशेष में प्रक्षेप करना चाहिये। फिर 'सुषुम्णा' नामक तृतीय भाग से घी लेकर '**ॐ हामग्नीषोमाभ्यां स्वाहा।**' बोलकर स्रुवा द्वारा घी अग्नि में डाले और शेष का पात्रविशेष में प्रक्षेपण करना चाहिये। तत्पश्चात् बालक अग्नि के मुख में नेत्रत्रय के स्थान विशेष में तीनों नेत्रों का उद्घाटन करने के लिये घृतपूर्ण स्रुव द्वारा निम्नांकित मन्त्र बोलकर अग्नि में चौथी आहुति दे-'**ॐ होमग्नये स्विष्टकृते स्वाहा**'।।३७-३९।। तत्पश्चात् (पहले अध्याय में बताये अनुसार) '**ॐ हां हृदयाय नमः।**' इत्यादि छहों अंग सम्बन्धी मन्त्रों द्वारा घी को अभिमन्त्रित करके धेनुमुद्रा द्वारा जगावे। फिर कवच-मन्त्र (हुम्) से अवगुण्ठित करके शर मन्त्र (फट्) से उसकी रक्षा करनी

अभिमन्त्र्य षडङ्गेन बोधयेद्धेनुमुद्रया। अवगुण्ठ्य तनुत्रेण रक्षेदाज्यं शराणुना।।४०।।
हृदाज्यविन्दुविक्षेपात्कुर्यादभ्युक्ष्य शोधनम्। वक्त्राभिघरसंघानं वक्त्रैकीकरणं तथा।।४१।।
ॐ हां सद्योजाताय स्वाहा। ॐ हां वामदेवाय स्वाहा। ॐ हामघोराय स्वाहा।
ॐ तत्पुरुषाय स्वाहा। ॐ हामीशानाय स्वाहा।।४२।।
इत्येकैकघृताहुत्या कुर्याद्वक्त्राभिघारकम्।।४३।।
ॐ हां सद्योजातवामदेवाभ्यां स्वाहा। ॐ हां वामदेवाघोराभ्यां स्वाहा।
ॐ हामघोरतत्पुरुषाभ्यां स्वाहा। ॐ हां तत्पुरुषेशानाभ्यां स्वाहा।।४४।।
इतिवक्त्रानुसन्धानं मन्त्रैरेभिः क्रमाच्चरेत्। अग्नितो गतया वायुं निर्ऋतादिशिवान्तया।
वक्त्राणामेकतां कुर्यात्स्रुवेण घृतधारया।।४५।।
ॐ हां सद्योजातवामदेवाघोरतत्पुरुषेशानेभ्यः स्वाहा।।४६।।
इतीष्टवक्त्रे वक्त्राणामन्तर्भावस्तदाकृतिः। ईशेन वह्निमभ्यर्च्य दत्त्वाऽस्त्रेणाऽऽहुतित्रयम्।।४७।।
कुर्यात्सर्वात्मना नाम शिवाग्निस्त्वं हुताशन। हृदार्चितौ विसृज्याग्नौ पितरौ विधिपूरणीम्।।४८।।
मूलेन वौषडन्तेन दद्यात्पूर्णां यथाविधि। ततो हृदम्बुजे साङ्गं सासनं भासुरं परम्।।४९।।

चाहिये। इसके बाद हृदय मन्त्र से घृत बिन्दु का उत्क्षेपण करके उसका अभ्युक्षण एवं शोधन करना चाहिये। साथ ही शिव स्वरूप अग्नि के पाँच मुखों के लिये अभिधार-हवन, अनुसंधान-हवन तथा मुखों के एकीकरण सम्बन्धी हवन करें। अभिधार-हवन की विधि इस प्रकार है-'**ॐ हां संद्योजाताय स्वाहा। ॐ हां वामदेवाय स्वाहा। ॐ हां अघोराय स्वाहा। ॐ हां तत्पुरुषाय स्वाहा। ॐ हां ईशानाय स्वाहा।**'-इन पाँच मन्त्रों द्वारा सद्योजातादि पाँच मुखों के लिये पृथक्-पृथक् क्रमशः घी की एक-एक आहुति देकर उन मुखों को अभिघारित घी से आप्लावित करना चाहिये। यही मुखाभिधार सम्बन्धी हवन है। तत्पश्चात् दो-दो मुखों के लिये एक साथ आहुति दे; यही मुखानुसंधान हवन है। यह हवन निम्नांकित मन्त्रों से सम्पन्न करना चाहिये-'**ॐ हां सद्योजातवामदेवाभ्यां स्वाहा। ॐ हां वामदेवाघोराभ्यां स्वाहा। ॐ हां अघोरतत्पुरुषाभ्यां स्वाहा। ॐ हां तत्पुरुषेशानाभ्यां स्वाहा।**'।।४०-४४।। तत्पश्चात् कुण्ड में अग्नि कोण से वायव्यकोण तक तथा नैर्ऋत्यकोण से ईशानकोण तक घी की अविच्छिन्न धारा द्वारा आहुति देकर कथित पाँचों मुखों की एकता करना चाहिये। यथा-'**ॐ हां सद्योजातवामदेवाघोरतत्पुरुषेशानेभ्यः स्वाहा**'। इस मन्त्र से पाँचोंमुखों के लिये एक ही आहुति देने से उन सभी का एकीकरण होता है। इस तरह इष्टमुख में सभी मुखों का अन्तर्भाव होता है, इसलिये वह एक ही मुख उन सभी मुखों का आकार धारण करता है-उन सबके साथ उसकी एकता हो जाती है। इसके बाद कुण्ड के ईशानकोण में अग्नि की पूजा करके, अस्त्र-मन्त्र से तीन आहुतियाँ देकर अग्नि का नामकरण करना चाहिये-'हे श्रीअग्नि देव! आप सभी तरह से शिव हो, आपका नाम 'शिव' है। इस तरह नामकरण करके नमस्कारपूर्वक पूजित हुए माता-पिता वागीश्वरी एवं वागीश्वर अथवा शक्ति एवं शिव का अग्नि में विसर्जन करके उनके लिये विधि पूरक पूर्णाहुति देनी चाहिये। मूल-मन्त्र के अन्त में '**वौषट्**' पद जोड़कर (यथा- **ॐ नमः शिवाय वौषट्**। -ऐसा कहकर) शिव और शक्ति के लिये विधिपूर्वक पूर्णाहुति देनी चाहिये। तत्पश्चात् हृदय-कमल में अंग और सेनासहित परम तेजस्वी शिव का पूर्ववत् आवाहन करके पूजन करना चाहिये और उनकी आज्ञा लेकर उनको पूर्णतः तृप्त करना चाहिये।।४५-४९।। यज्ञाग्नि तथा शिव का अपने साथ नाडी संधान करके अपनी शक्ति के अनुसार मूल-मन्त्र से अङ्गों सहित दशांश हवन करना चाहिये। घी, दूध और मधु का एक-एक 'कर्ष' (सोलह

यजेत्पूर्ववदावाह्य प्रार्थ्याऽऽज्ञां तर्पयेच्छिवम्। यागाग्निशिवयोः कृत्वा नाडीसंधानमात्मना।।५०।।
शक्त्या मूलाणुना होमं कुयादङ्कैर्दशांशतः। घृतस्य कार्शिको होमः क्षीरस्य मधुनस्तथा।।५१।।
शुक्तिमात्राऽऽहुतिर्दध्नः प्रसृतिः पायसस्य तु। यथावत्सर्वभक्षाणां लाजानां मुष्टिसंमितम्।।५२।।
खण्डत्रयं तु मूलानां फलानां तु प्रमाणतः। ग्रामार्धमात्रमन्नानां सूक्ष्माणि पञ्च होमयेत्।।५३।।
इक्षोरापर्विकं मानं लतानामङ्गुलद्वयम्। पुष्पं पत्रं स्वमानेन समिधा तु दशाङ्गुलम्।।५४।।
चन्द्रचन्दनकाश्मीरकस्तूरीयक्षकर्दमान्। कलायसंमितानेतान्गुग्गुल बदरास्थिवत्।।५५।।
कन्दानामष्टमं भागं जुहुयाद्विधिवत्परम्। होमं निर्वर्तयेदेवं ब्रह्मबीजपदैस्ततः।।५६।।
घृतेन स्रुचि पूर्णायां निधायाधोमुखं स्रुवम्। स्रुगग्रे पुष्पमारोप्य पश्चाद्वामेन पाणिना।।५७।।
पुनः सव्येन तौ धृत्वा शङ्खसंनिभमुद्रया। समुद्गतोर्ध्वकायश्च समपादः समुत्थितः।।५८।।
नाभौ तन्मूलमाधाय स्रुगग्रव्यग्रलोचनः। ब्रह्मादिकारणत्यागाद्विनिःसृत्य सुषुम्नया।।५९।।
वामस्तनान्तमानीय तयोर्मूलमतन्द्रितः। मूलमन्त्रमविस्पष्टं वौषडन्तं समुच्चरेत्।।६०।।
तदग्नौ जुहुयादाज्यं यवसंमितधारया। आचमं चन्दनं दत्त्वा ताम्बूलप्रभृतीनपि।।६१।।
भक्त्या तद्भूतिमावन्द्य विदध्यात्प्रणतिं पराम्। ततो वह्निसमभ्यर्च्य फडन्तास्त्रेण संवरान्।।६२।।

माशा) हवन करना चाहिये। दही की आहुति की मात्रा एक 'सितुही' बतलायी गयी है। दूध की आहुति का मान एक 'पसर' है। सभी भक्ष्य पदार्थों तथा लावा की आहुति की मात्रा एक-एक मुट्ठी है। मूल के तीन टुकड़ों की एक आहुति दी जाती है। फल की आहुति उसके अपने ही प्रमाण के अनुसार दी जाती है, अर्थात् एक आहुति में छोटा हो या बड़ा एक फल देना चाहिये। उसको खण्डित नहीं करना चाहिये। अन्न की आहुति का मान आधा ग्रास है। जो सूक्ष्म किसमिस आदि वस्तुएँ हैं उनको एक बार पांच की संख्या में लेकर हवन करना चाहिये। ईंख की आहुति का मान एक 'पोर' है। लताओं की आहुति का मान दो-दो अंगुल का टुकड़ा है। पुष्प और पत्र की आहुति उनके अपने ही मान से दी जाती है, अर्थात् एक आहुति में पूरा एक फूल और पूरा एक पत्र देना चाहिये। समिधाओं की आहुति का मान दस अंगुल है।।५०-५४।। कपूर, चन्दन, केसर और कस्तूरी से बने हुए दक्ष-कर्दम (अनुलेप विशेष) की मात्रा एक कलाय (मटर या केराव) के बराबर है। गुग्गुल की मात्रा बेर के बीज के बराबर होनी चाहिये। कंदों के आठवें भाग से एक आहुति दी जाती है। इस तरह विचार करके विधिपूर्वक श्रेष्ठतम हवन करना चाहिये। इस तरह प्रणव तथा बीज-पदों से युक्त मन्त्रों द्वारा हवन-कर्म सम्पन्न करना चाहिये।।५५-५६।। तत्पश्चात् घी से भरे हुए स्रुक् के ऊपर अधोमुख स्रुव को रखकर स्रुक के अग्रभाग में फूल रख देना चाहिये। फिर बायें और दायें हाथ से उन दोनों को शङ्ख की मुद्रा से पकड़े। इसके बाद शरीर के ऊपरी भाग को उन्नत रखते हुए उठकर खड़ा हो जाय। पैरों को समभाव से रखे। स्रुक् और स्रुव दोनों के मूल भाग को अपनी नाभि में टिका देना चाहिये। नेत्रों को स्रुक् के अग्रभाग पर ही स्थिरतापूर्वक जमाये रखे। ब्रह्मा आदि कारणों का त्याग करते हुए भावना द्वारा सुषुम्णा नाड़ी के मार्ग से निकलकर ऊपर उठे। स्रुक्-स्रुव के मूल भाग को नाभि से ऊपर उठाकर बायें स्तन के पास ले आवे। अपने तन-मन से आलस्य को दूर रखे तथा (**ॐ नमः शिवाय वौषट्**)-इस तरह मूल-मन्त्र का वौषट् पर्यन्त अस्पष्ट (मन्द स्वर से) उच्चारण करना चाहिये और उस घी को चौकी-सी पतली धारा के साथ अग्नि में हवन कर देना चाहिये।५७-६०।। इसके बाद आचमन, चन्दन और ताम्बूल आदि लेकर भक्तिभाव से भगवान् शिव के ऐश्वर्य की वन्दना करते हुए उनके चरणों में श्रेष्ठतम (साष्टाङ्ग) नमस्कार करना चाहिये। फिर अग्नि की पूजा करके '**ॐ हः अस्त्राय फट्।**' के उच्चारणपूर्वक

संहारमुद्रयाऽऽहृत्य क्षमस्वेत्यभिधाय च। भासुरान्परिधोस्तांश्च पूरकेण हृदाऽणुना।।६३।।
श्रद्धया परमाऽऽत्मीये स्थापयेद्धृदयाम्बुजे। सर्वप्राकाग्रमादाय कृत्वा मण्डलकद्वयम्।।६४।।
अन्तर्बहिर्बलिं दद्यादाग्नेय्यां कुण्डसंनिधौ। ॐ हां रुद्रेभ्यः स्वाहा पूर्वे मातृभ्यो दक्षिणे तथा।।६५।।
वरुणे हां गणेभ्यश्च स्वाहा तेभ्यस्त्वयं बलिः। उत्तरे हां च यक्षेभ्यः ईशाने हां ग्रहैः सह।।६६।।
अग्नौ हामसुरेभ्यश्च रक्षोभ्यो नैर्ऋते बलिः। वायव्ये हां च नागेभ्यो नक्षत्रेभ्यश्च मध्यतः।।६७।।
हां राशिभ्यः स्वाहा वह्नौ विश्वेभ्यो नैर्ऋते तथा। वारुण्यां क्षेत्रपालाय अन्तर्बलिरुदाहृतः।।६८।।
द्वितीये मण्डले बाह्य इन्द्राग्नेर्यमाय च। नैर्ऋताय जलेशाय वायवे धनरक्षिणे।।६९।।
ईशानाय च पूर्वादावीशाने ब्रह्मणे नमः। नैर्ऋते विष्णवे स्वाहा वायसादेर्बलिर्वहिः।।७०।।
बलिद्वयगतान्यमन्त्रान्संहरेन्मुद्रयाऽऽत्मनि।।७१।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते शिवपूजाङ्गहोमविधिनिरूपणं नाम पञ्चसप्ततितमोऽध्यायः।।७५।।

—※—

संहारमुद्रा के द्वारा शंवरों का आहरण करके इष्टदेव से 'भगवन्! मेरे अपराध को क्षमा करें—ऐसा कहकर हृदय मन्त्र से पूरक प्राणायाम के द्वारा उन तेजस्वी परिधियों को बड़ी श्रद्धा के साथ अपने हृदयकमल में स्थापित करना चाहिये।।६१-६३।। सम्पूर्ण पाक (रसोई) से अग्रभाग निकालकर कुण्ड के सन्निकट अग्निकोण में दो मण्डल बनाकर एक में अन्तर्बलि दे और दूसरे में बाह्य-बलि। प्रथम मण्डल के अन्दर पूर्व दिशा में '**ॐ हां रुद्रेभ्यः स्वाहा।**'- इस मन्त्र से रुद्रों के लिये बलि (उपहार) अर्पित करना चाहिये। दक्षिण दिशा में '**ॐ हां मातृभ्यः स्वाहा।**' कहकर मातृकाओं के लिये, **मातृभ्यः स्वाहा।**' कहकर मातृकाओं के लिये, पश्चिम दिशा में '**ॐ हां गणेभ्यः स्वाहा तेभ्योऽयं बलिरस्तु।**' ऐसा कहकर गणों के लिये, उत्तर दिशा में '**ॐ हां यक्षेभ्यः स्वाहा तेभ्योऽयं बलिरस्तु।**' कहकर यक्षों के लिये, ईशानकोण में '**ॐ हां ग्रहेभ्यः स्वाहा तेभ्योऽयं बलिरस्तु।** ऐसा कहकर ग्रहों के लिये, अग्निकोण में '**ॐ हां असुरेभ्यः स्वाहा तेभ्योऽयं बलिरस्तु।**' ऐसा कहकर असुरों के लिये, नैर्ऋत्यकोण में '**ॐ हां रक्षोभ्यः स्वाहा तेभ्योऽयं बलिरस्तु।**' ऐसा कहकर राक्षसों के लिये, वायव्यकोण में '**ॐ हां नागेभ्यः स्वाहा तेभ्योऽयं बलिस्तु।** ऐसा कहकर नागों के लिये तथा मण्डल के मध्यभाग में '**ॐ हां नक्षत्रेभ्यः स्वाहा तेभ्योऽयं बलिरस्तु**' ऐसा कहकर नक्षत्रों के लिये बलि अर्पित करना चाहिये।।६४-६७।। इसी तरह '**ॐ हां विश्वेभ्यो देवेभ्यः स्वाहा तेभ्योऽयं बलिरस्तु।**' ऐसा कहकर नैर्ऋत्य कोण में विश्वेदेवों के लिये तथा '**ॐ हां क्षेत्रपालाय स्वाहा तस्मा अयं बलिरस्तु।**' ऐसा कहकर पश्चिम में क्षेत्रपाल को बलि देनी चाहिये।६८।। तत्पश्चात् दूसरे बाह्य-मण्डल में पूर्व आदि दिशाओं के क्रम से इन्द्र, अग्नि, यम, निर्ऋति, जलेश्वर वरुण, वायु, धनरक्षक कुबेर तथा ईशान के लिये बलि समर्पित करना चाहिये। फिर ईशानकोण में '**ॐ ब्रह्मणे नमः स्वाहा।**' कहकर ब्रह्मा के लिये तथा नैर्ऋत्य कोण में '**ॐ विष्णवे नमः स्वाहा।**' कहकर भगवान् श्रीहरि विष्णु के लिये बलि देना चाहिये। मण्डल से बाहर काक आदि के लिये भी बलि देनी चाहिये। आन्तर और बाह्य—दोनों बलियों में उपयुक्त होने वाले मन्त्रों को संहारमुद्रा के द्वारा अपने-आप में समेट ले।।६९-७१।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी पचहत्तरवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।७५।।

❖❖❖

अथ षट्सप्ततितमोऽध्यायः

चण्डपूजा

ईश्वर उवाच

ततः शिवान्तकं गत्वा पूजाहोमादिकं मम। गृहाण भगवन्पुण्यफलमित्यभिधाय च॥१॥
अर्घ्योदकेन देवाय मुद्रयोद्भवसंज्ञया। हृद्बीजपूर्वमूलेन स्थिरचित्तो निवेदयेत्॥२॥
ततः पूर्ववदभ्यर्च्य स्तुत्वा स्तोत्रैः प्रणम्य च। अर्घ्यं पराङ्मुखं दत्त्वा क्षमस्वेत्यभिधाय च॥३॥
नाराचमुद्रयाऽस्त्रेण फडन्तेनाऽऽत्मसंचयम्। संहृत्य दिव्यया लिङ्गं मूर्तिमन्त्रेण योजयेत्॥४॥
स्थण्डिले त्वर्चिते देवे मन्त्रसंहारमात्मनि। नियोज्य विधिनोक्तेन विदध्याच्चण्डपूजनम्॥५॥
ॐ चण्डेशानाय नमो मध्यतश्चण्डमूर्तये। ॐ धू लिचण्डेश्वराय हूं फट् स्वाहा तमाह्वयेत्॥६।
चण्डहृदयाय हूं फडो चण्डशिरसे तथा। ॐ चण्डशिखायै हूं फट् चण्डायुष्कवचाय च॥७॥
चण्डास्त्राय तथा हूं फट् चण्डं रुद्राग्निजं स्मरेत्। शूलटङ्कधरं कृष्णं साक्षसूत्रकमण्डलुम्॥८॥
टङ्काकारेऽर्धचन्द्रे वा चतुर्वक्त्रं प्रपूजयेत्। यथाशक्ति जपं कुर्यादङ्गानां तु दशांशतः॥९॥

अध्याय–७६

चण्ड पूजन विधि

श्रीमहादेव जी ने कहा कि–हे स्कन्द! उसके बाद शिवविग्रह के सन्निकट जाकर साधक को इस तरह याचना करनी चाहिये–'हे भगवन्! मेरे द्वारा जो पूजन और हवन आदि कार्य सम्पन्न हुआ है, उसको तथा उसके पुण्यफल को आप ग्रहण करें।' ऐसा कहकर, स्थिरचित्त हो 'उद्भव' नामक मुद्रा दिखाकर अर्घ्यजल से 'नमः' सहित उपरोक्त मूल-मन्त्र पढ़ते हुए इष्ट देव को अर्घ्य निवेदन करना चाहिये। तत्पश्चात् पूर्ववत् पूजन तथा स्तोत्रों द्वारा स्तवन करके नमस्कार करना चाहिये तथा पराङ्मुख अर्घ्य देकर कहे–'हे प्रभो! मेरे अपराधों को क्षमा करें। 'ऐसा कहकर दिव्य नाराचमुद्रा दिखा '**अस्त्राय फट्**' का उच्चारण करके समस्त संग्रह का अपने-आप में उपसंहार करने के पश्चात् शिवलिङ्ग को मूर्ति-सम्बन्धी मन्त्र से अभिमन्त्रित करना चाहिये। उसके बाद वेदी पर इष्ट देवता की पूजा कर लेने पर मन्त्र का अपने-आप में उपसंहार करके उपरोक्त विधि से चण्ड का पूजन करना चाहिये॥१-५॥ '**ॐ चडेशानाय नमः**'। से चण्डदेवता को नमस्कार करना चाहिये। फिर मण्डल के मध्य भाग में '**ॐ चण्डमूर्तये नमः।**' से चण्ड की पूजा करनी चाहिये। उस मूर्ति में '**ॐ धूलिचण्डेश्वराय हूं फट् स्वाहा।**' बोलकर चण्डेश्वर का आवाहन करना चाहिये। इसके बाद अंग-पूजा करनी चाहिये। यथा–'**ॐ चण्डहृदयाय हूं फट्।**' इस मन्त्र से हृदय की, '**ॐ चण्डशिर से हूं फट्।**' इस मन्त्र से शिखा की, '**ॐ चण्डायुष्कवचाय हूं फट्।**' से कवच की तथा '**ॐ चण्डास्त्राय हूं फट्।**' से अस्त्र की पूजा करनी चाहिये। इसके बाद रुद्राग्नि से उत्पन्न हुए चण्ड देवता का इस तरह ध्यान करना चाहिये॥६-७॥ 'चण्डदेव अपने दो हाथों में शूल और टङ्क धारण करते हैं। उनका रंग साँवला है। उनके तीसरे हाथ में अक्षसूत्र और चौथे में कमण्डलु है। वे टङ्क की-सी आकृति वाले या अर्धचन्द्राकार मण्डल में स्थित

गोभूहिरण्यवस्त्रादिमणिहेमादिभूषणम्। विहाय शेषनिर्माल्यं चण्डेशाय निवेदयेत्।।१०।।
लेह्यचोष्याद्यन्नवरं ताम्बूलं स्रग्विलेपनम्। निर्माल्यं भोजनं तुभ्यं प्रदत्तं तु शिवाज्ञया।।११।।
सर्वमेतत्क्रियाकाण्डं मया चण्ड तवाज्ञया। न्यूनाधिकं कृतं मोहात्परिपूर्णं सदाऽस्तु मे।।१२।।
इति विज्ञाप्य देवेशं दत्त्वाऽर्घ्यं तस्य संस्मरन्। संहारमूर्तिमन्त्रेण शनैः संहारमुद्रया।।१३।।
पूरकान्वितमूलेन मन्त्रानात्मनि योजयेत्। निर्माल्यापनयस्थानं लिम्पेद्गोमयवारिणा।।१४।।
प्रोक्ष्यार्घ्यादि विसृज्याथ आचान्तोऽन्यत्समाचरेत्।।१५।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते चण्डपूजाकथनं नाम षट्सप्ततितमोऽध्यायः।।७६।।

हैं। उनके चार मुख है।' इस तरह ध्यान करके उनका पूजन करना चाहिये। इसके बाद यथाशक्ति जप करना चाहिये। हवन की अंगभूत सामग्री का संचय करके उसके द्वारा जप का दशांश हवन करना चाहिये। भगवान पर चढ़े हुए या उनको अर्पित किये हुए गो, भूमि, स्वर्ण, वस्त्र आदि तथा मणि-स्व ` आदि के आभूषण को छोड़कर शेष सारा निर्माल्य चण्डेश्वर को समर्पित कर देना चाहिये। उस समय इस तरह कहे-'हे चण्डेश्वर! भगवान् शिव की आज्ञा से यह लेह्य, चोष्य आदि श्रेष्ठतम अन्न, ताम्बूल, पुष्पमाला एवं अनुलेपन आदि निर्माल्य स्वरूप भोजन आपको समर्पित है। हे चण्ड! यह सारा पूजन-सम्बन्धी कर्मकाण्ड मैंने आपकी आज्ञा से किया है। इसमें मोहवश जो न्यूनता या अधिकता कर दी गयी हो, वह सदा मेरे लिये पूर्ण हो जाय-न्यूनातिरिक्तता का दोष मिट जाय।।८-१२।। इस तरह निवेदन करके, उन देवेश्वर का स्मरण करते हुए उनको अर्घ्य देकर विनाश-मूर्ति-मन्त्र को पढ़कर संहारमुद्रा दिखाकर धीरे-धीरे पूरक प्राणायामपूर्वक मूल-मन्त्र का उच्चारण करके सभी मन्त्रों का अपने-आप में उपसंहार कर लेना चाहिये। निर्माल्य जहाँ से हटाया गया हो, उस स्थान को गोबर और जल से लीप देना चाहिये। फिर अर्घ्य आदि का प्रोक्षण करके देवता का विसर्जन करने के पश्चात् आचमन करके अन्य आवश्यक कार्य करना चाहिये।।१३-१५।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी छिहत्तरवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।७६।।

❖❖❖

अथ सप्तसप्ततितमोऽध्यायः

कपिलापूजनम्

ईश्वर उवाच

कपिलापूजनं वक्ष्ये एभिर्मन्त्रैर्यजेच्च गाम्। ॐ कपिले नन्दे नमः कपिले भद्रिके नमः।।१।।
कपिले सुशीले नमः कपिले सुरभिप्रभे। ॐ कपिले सुमनसे भुक्तिमुक्तिप्रदे नमः।।२।।
सौरभेयि जगन्मातर्देवानाममृतप्रदे। गृहाण वरदे ग्रासमीप्सितार्थं च देहि मे।।३।।
वन्दिताऽसि वशिष्ठेन विश्वामित्रेण धीमता। कपिले हर मे पापं यन्मया दुष्कृतं कृतम्।।४।।
गावो ममाग्रतो नित्यं गावः पृष्ठत एव च। गावो मे हृदये चापि गवां मध्ये वसाम्यहं।।५।।
दत्तं गृहाण मे ग्रासं जप्त्वाऽस्यां निर्मलः शिवः। प्राच्यं विद्यापुस्तकानि गुरुपादौ नमेन्नरः।।६।।
यजेत्स्नात्वा तु मध्याह्ने अष्टपुष्पिकया शिवम्। पीठमूर्तिशिवाङ्गानां पूजा स्यादष्टपुष्पिका।।७।।
मध्याह्ने भोजनागारे सुलिप्ते पाकमानयेत्। ततो मृत्युञ्जयेनैव वौषडन्तेन सप्तधा।।८।।
जप्तैः सदर्भशङ्खस्थैः सिञ्चेत्तं वारिविन्दुभिः। सर्वपाकाग्रमुद्धृत्य शिवाय विनिवेदयेत्।।९।।

अध्याय-७७

कपिला पूजन विधि कथन

भगवान् महेश्वर ने कहा कि-हे स्कन्द! अधुना कपिलापूजन के विषय में कहने जा रहा हूँ। निम्नांकित मन्त्रों से गोमाता पूजन करना चाहिये-'**ॐ कपिले नन्दे नमः। ॐ कपिले भद्रिके नमः। ॐ कपिले सुशीले नमः। ॐ कपिले सुरभिप्रभे नमः। ॐ कपिले सुमन से नमः। ॐ कपिले भुक्तिमुक्तिप्रदे नमः।**' इस पकार गोमाता से याचना करनी चाहिये-'देवताओं को अमृत सम्प्रदान करने वाली, वरदायिनी, जगन्माता सौरभेयि! यह ग्रास ग्रहण करो और मुझको मनोवाञ्छित वस्तु दो। हे कपिले! ब्रह्मर्षि वसिष्ठ तथा बुद्धिमान् विश्वामित्र ने भी आपकी वन्दना की है। मैंने जो दुष्कर्म किया हो, मेरा वह सारा पाप आप हर लो। गौएँ सदा मेरे आगे रहें, गौएँ मरे पीछे भी रहें, गौएँ मेरे हृदय में निवास करें और मैं सदा गौओं के मध्य निवास करूँ। हे गोमातः! मेरे दिये हुए ग्रास को ग्रहण करो।' गोमाता के पास इस तरह बारम्बार याचना करने वाला पुरुष निर्मल (पाप हीन) एवं शिवस्वरूप हो जाता है। विद्या ग्रन्थों का पूजन करके गुरु के चरणों में नमस्कार करना चाहिये। गृहस्थ पुरुष को नित्य मध्याह्न काल में स्नान करके अष्टपुष्पिका (आठ फूलों वाली) पूजा की विधि से भगवान् शिव का पूजन करना चाहिये। योगपीठ, उस पर स्थापित शिव की मूर्ति तथा भगवान् शिव के जानु, पैर, हाथ, उर, सिर, वाक्, दृष्टि और बुद्धि-इन आठ अङ्गों की पूजा ही 'अष्टपुष्पिका पूजा' कहलाती है (आठ अङ्ग ही आठ फूल हैं)। मध्याह्न काल में सुन्दर विधि से लिपे-पुते हुए रसोई गृह में पका-पकाया भोजन ले आवे। फिर-'**त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्धनम्। उर्वारुकमिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय माऽमृतात्।।' वौषट्।।** (शु. यजु. ३/६०) इस तरह अन्त में 'वौषट्' पद से युक्त मृत्युञ्जय मन्त्र का सात बार जप करके कुश युक्त शङ्ख में रखे हुए जल की बूँदों से उस अन्न को सींचे। तत्पश्चात् सारी रसोई से अग्राशन निकालकर भगवान् शिव के लिये निवेदन करना चाहिये।।१-९।।

अथार्ध चुल्लिकाहोमे विधानायोपकल्पयेत्। विशोध्य विधिना चुल्लीं तद्वह्निं पूरकाहुतिम्॥१०॥
हुत्वा नाभ्यग्निना चैकं ततो रेचकवायुना। वह्निबीजं समादाय कादिस्थानगतिक्रमात्॥११॥
शिवाग्निस्त्वमिति ध्यात्वा चुल्लिकाग्नौ निवेशयेत्। ॐ हामग्नये (च) नमो वै हां सोमाय वै नमः॥१२॥
सूर्याय बृहस्पतये प्रजानां पतये नमः। सर्वेभ्यश्चैव देवेभ्यः सर्वविश्वेभ्य एव च॥१३॥
हामऽग्नये स्विष्टकृते पूर्वादावर्चयेदिमान्। स्वाहान्तमाहुतिं दत्त्वा क्षमयित्वा विसर्जयेत्॥१४॥
चुल्ल्या दक्षिणवह्नौ च यजेद्धर्माय वै नमः। वामबाहावधर्माय काञ्जिकादिकभाण्डके॥१५॥
रसपरिवर्तमानाय वरुणाय जलाश्रये। विघ्नराजे गृहद्वारो प्रेषण्यां सुभगे नमः॥१६॥
ॐ रौद्रिके गिरिके च नमश्चोलूखले यजेत्। बलिप्रियायाऽऽयुधाय नमस्ते मुसले यजेत्॥१७॥
सम्मार्जन्यां देवतोक्ते कामाय शयनीयके। मध्यस्तम्बे च स्कन्दाय दत्त्वा वास्तुबलिं ततः॥१८॥
भुञ्जीत पात्रे सौवर्णे पद्मिन्यादिदलादिके। आचार्यः साधकः पुत्रः समयी मौनमास्थितः॥१९॥
वटाश्वत्थार्कवातारिसर्जभल्लातकांस्त्यजेत्। आपोशा (श) नं पुराऽऽदाय प्राणाद्यैः प्रणवान्वितैः॥२०॥
स्वाहान्ते चाऽऽहुतीः पञ्चदत्त्वाऽऽदीप्योदरानलम्। नागः कूर्मोऽथ कृकरो देवदत्तो धनञ्जयः॥२१॥

इसके बाद आधे अन्न को चुल्लिका-हवन का कार्य सम्पन्न करने के लिये रखे। विधिपूर्वक चूल्हे की शुद्धि करके उसकी आग में पूरक प्राणायामपूर्वक एक आहुति देनी चाहिये। फिर नाभिगत अग्नि-जठरानल के उद्देश्य से एक आहुति देकर रेचक प्राणायामपूर्वक अन्दर से निकलती हुई वायु के साथ अग्निबीज (रं) को लेकर क्रमशः 'क' आदि अक्षरों के उच्चारण स्थान कण्ठ आदि के मार्ग से बाहर करके 'तुम शिव स्वरूप अग्नि हो' ऐसा चिन्तन करते हुए उसको चूल्हे की आग में भावना द्वारा समाविष्ट कर देना चाहिये। इसके बाद चूल्हे की पूर्वादि दिशाओं में '**ॐ हां अग्नेय नमः। ॐ हां सोमाय नमः। ॐ हां सूर्याय नमः। ॐ हां बृहस्पतये नमः। ॐ हां प्रजापतये नमः। ॐ हां सर्वेभ्यो देवेभ्यो नमः। ॐ हां सर्वविश्वेभ्यो नमः। ॐ हां अग्नये स्विष्टकृते नमः।**'—इन आठ मन्त्रों द्वारा अग्नि आदि आठ देवताओं की पूजा करनी चाहिये। फिर इन मन्त्रों के अन्त में 'स्वाहा' पद जोड़कर एक एक आहुति दे और अपराधों के लिये क्षमा माँगकर उन सभी का विसर्जन कर देना चाहिये।१०-१४॥ चूल्हे के दाहिने बगल में '**धर्माय नमः।**' इस मन्त्र से धर्म की तथा बायें बगल में 'अधर्माय नमः।' इस मन्त्र से अधर्म की पूजा करनी चाहिये। फिर काँची आदि रखने के जो पात्र हों, उनमें तथा जल के आश्रय भूत घट आदि में '**रसपरिवर्तमानाया वरुणाय नमः।**' इस मन्त्र से वरुण की पूजा करनी चाहिये। रसोई गृह के द्वार पर '**विघ्नराजाय नमः**'। से विघ्नराज की तथा '**सुभगायै नमः।**' से चक्की में सुभगा की पूजा करनी चाहिये॥१५-१६॥ ओखली में '**ॐ रौद्रि के गिरि के नमः।**' इस मन्त्र से रौद्रि का तथा गिरिका की पूजा करनी चाहिये। मूसल में '**बलिप्रियायुधाय नमः।**' इस मन्त्र से बलभद्र जी के आयुध का पूजन करना चाहिये। झाड़ू में भी कथित दो देवियों (रौद्रिका और गिरिका) की शय्या में कामदेव की तथा मझले खम्भे में स्कन्द की पूजा करनी चाहिये। बेटा स्कन्द! तत्पश्चात् व्रत का पालन करने वाला साधक को एवं पुरोहित को वास्तु देवता को बलि देकर सोने के थाल में अथवा पुरइन के पत्ते आदि में मौन भाव से भोजन करना चाहिये। भोजन पात्र के रूप में उपयोग करने के लिये बरगद, पीपल, मदार, रेंड़, साखू और भिलावे के पत्तों को छोड़ देना चाहिये—इनको काम में नहीं लाना चाहिये। पहले आचमन करके, 'प्रणवयुक्त प्राण' आदि शब्दों के अन्त में '**स्वाहा**' बोलकर अन्न की पाँच आहुतियाँ देकर जठरानल को उद्दीप्त करने के पश्चात् भोजन करना चाहिये।

एतेभ्य उपवायुभ्यः स्वाहाऽऽपोशा (श) नवारिणा। भक्तादिकं निवेद्याथ पिवेच्छेषोदकं नरः।।२२।।
अमृतोपस्तरणमसि प्राणाहुतीस्ततो ददेत्। प्राणाय स्वाहाऽपानाय समानाय ततस्तथा।।२३।।
उदानाय च व्यानाय भुत्त्वा चुल्ल (ल) कमाचरेत्। अमृतापिधानमसीति शरीरेऽन्नादनाय च।।२४।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते कपिलापूजनादिविधिकथनं नाम सप्तसप्ततितमोऽध्यायः।।७७।।

—❀❀❀—

अथाष्टसप्ततितमोऽध्यायः

पवित्राधिवासनविधिकथनम्

ईश्वर उवाच

पवित्रारोहणं वक्ष्ये क्रियार्चादिषु पूरणम्। नित्यं तन्नित्यमुद्दिष्टं नैमित्तिकमथापरम्।।१।।
आषाढादिचतुर्दश्यामथ श्रावणभाद्रयोः। सितासितासु कर्तव्यं चतुर्दश्यष्टमीषु तत्।।२।।
कुर्यादा कार्तिकीं यावत्तिथौ प्रतिपदादिके। वह्निब्रह्माम्बिकेभास्यनागस्कन्दार्कशूलिनाम्।।३।।

इसका क्रम इस प्रकार है–नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त और धनंजय–ये पाँच उपवायु हैं। **'एतेभ्यो नागादिभ्य उपवायुभ्यः स्वाहा।'** इस मन्त्र से आचमन करके, भात आदि भोजन निवेदन करके, अन्त में फिर आचमन करना चाहिये और कहे–**'ॐ अमृतोपस्तरणमसि स्वाहा'**। इसके बाद पाँच प्राणों को एक-एक ग्रास की आहुतियाँ अपने मुख में दे–(१) **ॐ प्राणाया स्वाहा।** (२) **ॐ अपानाय स्वाहा।** (३) **ॐ उदानाय स्वाहा।** तत्पश्चात् पूर्ण भोजन करके पुनः चूल्लूभर पानी से आचमन करना चाहिये और कहे–**ॐ अमृतापिधानमसि स्वाहा।'** यह आचमन शरीर के अन्दर पहुँचे हुए अन्न को आच्छादित करने या पचाने के लिये है।।१७-२४।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी सतहत्तरवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।७७।।

अध्याय–७८

पवित्राधिवासन विधान

भगवान् महेश्वर ने कहा कि–हे स्कन्द! अधुना मैं पवित्रारोहण का वर्णन करने जा रहा हूँ, जो क्रिया, योग तथा पूजा आदि में न्यूनता की पूर्ति करने वाला है। जो पवित्रारोहण कर्म नित्य किया जाता है, उसको 'नित्यकर्म' कहा गया है और दूसरा, जो विशेष निमित्त को लेकर किया जाता है, उसको 'नैमित्तिक कर्म' कहते हैं। आषाढ़ मास की आदि चतुर्दशीय को तथा श्रावण और भाद्रपद मासों की शुक्ल-कृष्ण उभय पक्षीय चतुर्दशी एवं अष्टमी तिथियों में पवित्रारोहण या पवित्रारोपण कर्म करना चाहिये। अथवा आषाढ़ मास की पूर्णिमा से लेकर कार्तिक मास की पूर्णिमा तक प्रतिपदा आदि तिथियों को विभिन्न देवताओं के लिये पवित्रारोहण करना चाहिये। प्रतिपदा को अग्नि के लिये, द्वितीया को ब्रह्मा जी के लिये, तृतीया को पार्वती के लिये, चतर्थी को गणेश के लिये, पञ्चमी को नागराज अनन्त

दुर्गायमेन्द्रगोविन्दस्मरशंभुसुधाभुजाम्। सौवर्णं राजतं ताम्रं कृतादिषु यथाक्रमम्॥४॥
कलौ कार्पासजं वाऽपि पट्टपद्मादिसूत्रकम्। प्रणवश्चन्द्रमा वह्निर्ब्रह्मा नागो गुहो हरिः॥५॥
सर्वेशः सर्वदेवाः स्युः क्रमेण नवतन्तुषु। अष्टोत्तरशताद्य (ध्य) र्धं तदर्धं चोत्तमादिकम्॥६॥
एकाशीत्याऽथवा सूत्रैस्त्रिंशताऽप्यष्टयुक्त्या। पञ्चाशता वा कर्तव्यं तुल्यग्रन्थ्यन्तरालकम्॥७॥
द्वादशाङ्गुल मानानि व्यासादष्टाङ्गुलानि च। लिङ्गविस्तारमानानि चतुरङ्गुलिकानि वा॥८॥
तथैव पिण्डिकास्पर्श चतुर्थं सार्वदैवतम्। गङ्गावतारकं कार्यं प्रजातेन सुधौतकम्॥९॥
ग्रन्थिं कुर्याच्च वामेन अघोरेणाथ शोधयेत्। रञ्जयेत्पुरुषेणैव रक्तचन्दनकुङ्कुमैः॥१०॥
कस्तूरीरोचनाचन्द्रैर्हरिद्रागैरिकादिभिः। ग्रन्थयो दश कर्तव्या अथ वा तन्तुसंख्यया॥११॥
अन्तरं वा यथाशोभमेकद्विचतुरङ्गुलम्। प्रकृतिः पौरुषी वीरा चतुर्थी त्वपराजिता॥१२॥
जयाऽन्या विजया षष्ठी अजिता च सदाशिवा। मनोन्मनी सर्वमुखी ग्रन्थयोऽभ्यधिकाः शुभाः॥१३॥
कार्या वा चन्द्रवह्न्यर्कपवित्रं शिववद्धृदि। एकैकं निजमूर्तौ वा पुस्तके गुरुके गणे॥१४॥

के लिये, षष्ठी को स्कन्द के अर्थात् तुम्हारे लिये, सप्तमी को सूर्य के लिये, अष्टमी को शूलपाणि अर्थात् मेरे लिये, नवमी को दुर्गा के लिये, दशमी को यमराज के लिये, एकादशी को इन्द्र के लिये, द्वादशी को भगवान् गोविन्द के लिये, त्रयोदशी को कामदेव के लिये, चतुर्दशी को मुझ शिव के लिये तथा पूर्णिमा को अमृत भोजी देवताओं के लिये पवित्रारोपण कर्म करना चाहिये॥१-३॥ सत्ययुग आदि तीन युगों में क्रमशः सोने, चाँदी और ताँबे के पवित्रक अर्पित किये जाते हैं, परन्तु कलियुग में कपास के सूत, रेशमी सूत अथवा कमल आदि के सूत का पवित्रक अर्पित करने का विधान है। प्रणव, चन्द्रमा, अग्नि, ब्रह्मा, नागगण, स्कन्द, श्रीहरि, सर्वेश्वर तथा सम्पूर्ण देवता—क्रमशः पवित्रक के नौ तन्तुओं के देवता हैं। श्रेष्ठतम श्रेणी का पवित्रक एक सौ आठ सूत्रों से बनता है। मध्यम श्रेणी का चौवन तथा निम्न श्रेणी का सत्ताईस सूत्रों से निर्मित होता है। अथवा इक्यासी, पचास या अड़तीस सूत्रों से उसका निर्माण करना चाहिये। जो पवित्रक जितने नवसूत्री से बनाया जाय, उसमें मध्य में उतनी ही गाँठें लगनी चाहिये। पवित्रकों का व्यास-मान या विस्तार द्वादश अंगुल, आठ अंगुल अथवा चार अंगुल का होना चाहिये। यदि शिवलिङ्ग के लिये पवित्रक बनाना हो, तो उस लिंग के बराबर ही बनाना चाहिये॥४-८॥ इस तरह तीन तरह के पवित्रक बताये गये। इसी तरह एक चौथे तरह का भी पवित्रक बनता है, जो सभी देवताओं के उपयोग में आता है। वह उनकी पिण्डी या मूर्ति के बराबर का बनाया जाना चाहिये। इस तरह बने हुए पवित्रक को 'गङ्गावतारक' कहते हैं। इसको 'सद्योजात' मन्त्र के द्वारा भली भाँति धोना चाहिये। इसमें 'वामदेव' मन्त्र से ग्रन्थि लगावे। 'अघोर' मन्त्र से इसकी शुद्धि करनी चाहिये तथा 'तत्पुरुष' मन्त्र से रक्त चन्दन एवं रोली द्वारा इसको रँगे। अथवा कस्तूरी, गोरोचना, कपूर, हल्दी और गेरू आदि से मिश्रित रंग के द्वारा पवित्रक मात्र को रँगना चाहिये। सामान्यतः पवित्रक में दस गाँठें लगानी चाहिये अथवा तन्तुओं की संख्या के अनुसार उसमें गाँठें लगावे। एक गाँठ से दूसरी गाँठ में एक, दो या चार अंगुल का अन्तर रखे। अन्तर उतना ही रखना चाहिये। जिससे उसकी शोभा बनी रहनीं चाहिये। प्रकृति (क्रिया), पौरुषी, वीरा, अपराजिता, जया, विजया, अजिता, सदाशिवा, मनोन्मनी तथा सर्वतोमुखी—ये दस ग्रन्थियों की अधिष्ठात्री देवियाँ हैं। अथवा दस से अधिक भी सुन्दर गाँठें लगानी चाहिये। पवित्रक के चन्द्र मण्डल, अग्नि मण्डल तथा सूर्य-मण्डल से युक्त होने की भावना करके, उसको साक्षात् भगवान् शिव के तुल्य मानकर हृदय में धारण करना चाहिये—मन-ही-मन उसके दिव्य स्वरूप का चिन्तर करना चाहिये। शिवरूप से भावित अपने स्वरूप को, पुस्तक को तथा गुरुगण को एक-एक पवित्रक अर्पित

स्यादेकैकं तथा द्वारदिक्पालकलशादिषु। हस्तादिनवहस्तान्तं लिङ्गानां स्यात्पवित्रकम्॥१५॥
अष्टाविंशतितो वृद्धं दशभिर्दशभिः क्रमात्। द्व्यङ्गुलाभ्यन्तरास्तत क्रमादेकाङ्गुलान्तराः॥१६॥
ग्रन्थयो मानमप्येषां लिङ्गविस्तारसंमितम्। सप्तम्यां वा त्रयोदश्यां कृतनित्यक्रियः शुचिः॥१७॥
भूषयेत्पुष्पवस्त्राद्यैः सायाह्ने यागमन्दिरम्। कृत्वा नैमित्तिकीं सन्ध्यां विशेषेण च तर्पणम्॥१८॥
परिगृहीते भूभागे पवित्रे सूर्यमर्चयेत्। आचम्य सकलीकृत्य प्रणवार्घ्यकरो गुरुः॥१९॥
द्वाराण्यस्त्रेण संप्रोक्ष्य पूर्वादिक्रमतोऽर्चयेत्। हां शान्तिकलाद्वाराय तथा विद्याकलात्मने॥२०॥
निवृत्तिकलाद्वाराय प्रतिष्ठाख्यकलात्मने। तच्छाखयोः प्रतिद्वारं द्वौ द्वौ द्वाराधिपौ यजेत्॥२१॥
नन्दिने महाकालाय भृङ्गिणेऽथ गणाय च। वृषभाय च स्कन्दाय देव्यै चण्डाय च क्रमात्॥२२॥
नित्यं च द्वारपालादीन्प्रविश्य द्वारि पश्चिमे। इष्ट्वा वास्तुं भूतशुद्धिं विशेषार्घ्यकरः शिवः॥२३॥
प्रोक्षणाद्यं विधायाथ यज्ञसंस्कारकृन्नरः। मन्त्रयेद्दर्भदूर्वाद्यैः पुष्पाद्यैश्च हृदादिभिः॥२४॥
शिवहस्तं विधायेत्थ। स्वशिरस्यधिरोपयेत्। शिवोऽहमादिः सर्वज्ञो मम यज्ञप्रधानता॥२५॥
अत्यर्थ भावयेद्देवं ज्ञानखड्गकरो गुरुः। नैर्ऋतीं दिसमासाद्य प्रक्षिपेदुदगाननः॥२६॥

करना चाहिये॥९-१४॥ इसी तरह द्वारपाल, दिक्पाल और कलश आदि पर भी एक-एक पवित्रक चढ़ाना चाहिये। शिवलिङ्ग के लिये एक हाथ से लेकर नौ हाथ तक का पवित्रक होता है। एक हाथ वाले पवित्रक में अट्ठाईस गाँठें होती हैं। फिर क्रमशः दस-दस गाँठें बढ़ती जाती हैं। इस तरह नौ हाथ वाले पवित्रक में एक सौ आठ गाँठें होती हैं। ये ग्रन्थियाँ क्रमशः एक या दो-दो अंगुल के अन्तर पर रहती हैं। इनका मान भी लिंग के विस्तार के अनुरूप हुआ करता है। जिस दिन पवित्रारोपण करना हो, उससे एक दिन पूर्व अर्थात् सप्तमी या त्रयोदशी तिथि को उपासक नित्यकर्म करके पवित्र हो सायंकाल में पुष्प और वस्त्र आदि से याग-मन्दिर (पूजा-मण्डप) को सजावे। नैमित्तिकी संध्योपासना करके, विशेष रूप से तर्पण-कर्म का निष्पादन करने के पश्चात् पूजा के लिये निश्चित किये हुए पवित्र भूभाग में सूर्यदेव का पूजन करना चाहिये॥१५-१८॥ आचार्य को आचमन एवं सकलीकरण की क्रिया करके प्रणव के उच्चारणपूर्वक अर्घ्यपात्र हाथ में लिये अस्त्र-मन्त्र (फट्) बोलकर पूर्वादि दिशाओं के क्रम से सम्पूर्ण द्वारों का प्रोक्षण करे और उनका पूजन भी करना चाहिये। **'हां शान्तिकलाद्वाराय नमः।' 'हां विद्याकलाद्वाराय नमः।' 'हां निवृत्तिकलाद्वाराय नमः।' 'हां प्रतिष्ठाकलाद्वाराय नमः।'** -इन मन्त्रों से पूर्वादि चारों द्वारों का पूजन करना चाहिये। प्रत्येक द्वार की दक्षिण और वाम शाखाओं पर दो-दो द्वारपालों का पूजन करना चाहिये। पूर्व में **'नन्दिने नमः।' 'महाकालाय नमः।'**-इन मन्त्रों से नन्दी और महाकाल का, दक्षिण में **'भृङ्गिणे नमः।' 'गणाय नमः।'**-इन मन्त्रों से भृङ्गी और गण का, पश्चिम में **'वृषभाय नमः।' 'स्कन्दाय नमः'**।-इस मन्त्रों से नन्दिकेश्वर वृषभ तथा स्कन्द का तथा उत्तर द्वार में **'देव्यै नमः।' 'चण्डाय नमः।'**-इन मन्त्रों से देवी तथा चण्ड नामक द्वारपाल का क्रमशः पूजन करना चाहिये॥१९-२२॥ इस तरह द्वारपाल आदि की 'नित्य' पूजा करके पश्चिम द्वार से होकर याग-मन्दिर में प्रवेश करना चाहिये। फिर वास्तुदेवता का पूजन करके भूतशुद्धि करनी चाहिये। तत्पश्चात् विशेषार्घ्य हाथ में लेकर अपने में शिवस्वरूप की भावना करते हुए पूजा-सामग्री का प्रोक्षण आदि करके यज्ञभूमि का संस्कार करना चाहिये। फिर कुश, दूर्वा और फूल आदि हाथ में लेकर 'नमः' आदि के उच्चारणपूर्वक उसको अभिमन्त्रित करना चाहिये। इस तरह शिवहस्त का विधान करके उसको अपने सिर पर रखे और यह भावना करनी चाहिये कि 'मैं सभी का आदि कारण

अर्घ्याम्बु पञ्चगव्यं च समन्तान्मखमण्डपे। चतुष्पथान्तसंस्कारैर्वीक्षणाद्यैः सुसंस्कृतैः॥२७॥
विक्षिप्य विकिरांस्तत्र कुशकूर्च्योपसंहरेत्। तानीशदिशि वर्धन्यामासनायोकल्पयेत्॥२८॥
नैर्ऋते वास्तुगीर्वाणा (न्) द्वारे लक्ष्मीं प्रपूजयेत्। पश्चिमाभिमुखं कुम्भं सर्वधान्योपरिस्थितम्॥२९॥
प्रणवेन वृषारूढं सिंहस्थां वर्धनीं ततः। कुम्भे साङ्गं शिवं देवं वर्धन्यामस्त्रमर्चयेत्॥३०॥
दिक्षु शक्रादिदिक्पालान्विष्णुब्रह्मशिवादिकान्। वर्धनीं सम्यगादाय घटपृष्ठानुगामिनीम्॥३१॥
शिवाज्ञां श्रावयेन्मत्री पूर्वादीशानगोचरम्। अविच्छिन्नपयोधारां मूलमन्त्रमुदीरयेत्॥३२॥
समन्ताद्भ्रामयेदेनां रक्षार्थं शस्त्ररूपिणीम्। पूर्वं कलशमारोप्य शस्त्रार्थं तस्थु वामतः॥३३॥
समग्रासनके कुम्भे यजेद्देवं स्थिरासने। वर्धन्यां प्रणवस्थायामायुधं यदनु द्वयोः॥३४॥
भगलिङ्गसमायोगं विदध्याल्लिङ्गमुद्रया। कुम्भे निवेद्यबोधांसि मूलमन्त्रजपं तथा॥३५॥
तद्दशांशेन वर्धन्यां रक्षां विज्ञापयेदपि। गणेशं वायवेऽभ्यर्च्य हरं पञ्चामृतादिभिः॥३६॥
स्नापयेत्पूर्ववत्प्रार्च्य कुण्डे च शिवपावकम्। विधिवच्चरुकं कृत्वा संपाताहुतिशोधितम्॥३७॥

सर्वज्ञ शिव हूँ तथा यज्ञ में मेरी ही प्रधानता है।' इस तरह आचार्य को भगवान् शिव का अत्यन्त ध्यान करना चाहिये और ज्ञानरूपी खड्ग हाथ में लिये नैर्ऋत्य दिशा में जाकर उत्तराभिमुख हो अर्घ्य का जल छोड़े तथा यज्ञ-मण्डप में चारों तरफ पञ्चगव्य छिड़के। चतुष्पथान्त संस्कार और श्रेष्ठतम संस्कारयुक्त वीक्षण आदि के द्वारा वहाँ सभी तरफ गौर सर्षप आदि बिखेरने योग्य वस्तुओं को बिखेर कर कुशनिर्मित कूर्च के द्वारा उनका उपसंहार करना चाहिये। फिर उनके द्वारा ईशानकोण में वर्धनी एवं कलश की स्थापना के लिये आसन की कल्पना करनी चाहिये॥२३-२८॥ तत्पश्चात् नैर्ऋत्य कोण में वास्तुदेवता का तथा द्वार पर श्रीलक्ष्मी का पूजन करना चाहिये। फिर पश्चिमाभिमुख कलश को सप्तधान्य के ऊपर स्थापित करके प्रणव के उच्चारणपूर्वक यह भावना करनी चाहिये कि 'यह शिवस्वरूप कलश नन्दिकेश्वर वृषभ के ऊपर आरूढ़ है।' साथ ही वर्धनी सिंह के ऊपर स्थित है, ऐसी भावना करनी चाहिये। कलश पर साङ्ग भगवान् शिव की और वर्धनी में अस्त्र की पूजा करनी चाहिये। इसके बाद पूर्वादि दिशाओं में इन्द्र आदि दिक्पालों का तथा मण्डप के मध्यभाग में ब्रह्मा, विष्णु एवं शिव आदि का पूजन करना चाहिये। तत्पश्चात् कलश के पृष्ठ भाग का अनुसरण करने वाली वर्धनी को भली-भाँति हाथ में लेकर मन्त्रज्ञ गुरु भगवान् शिव की आज्ञा सुनावे। फिर पूर्व से लेकर प्रदक्षिण क्रम से चलते हुए ईशानकोण तक जल की अविच्छिन्न धारा गिरावे और उसे मूलमन्त्र का उच्चारण करना चाहिये। शस्त्ररूपिणी वर्धनी को यज्ञमण्डल की रक्षा के लिये उसके चारों तरफ घुमावे। पहले कलश को आरोपित करके उसके वामभाग में शस्त्र के लिये वर्धनी को स्थापित करना चाहिये॥२९-३३॥ श्रेष्ठतम एवं सुस्थिर आसन वाले कलश पर देवाधिदेव भगवान् श्रीशिवशंकर का तथा प्रणव पर स्थित हुई वर्धनी में उनके आयुध का पूजन करना चाहिये। उसके बाद उन दोनों का लिङ्ग मुद्रा के द्वारा परस्पर संयोग कराकर भगलिङ्गसंयोग का निष्पादन करना चाहिये। कलश पर ज्ञानरूपी खड्ग अर्पित करके मूल-मन्त्र का जप करना चाहिये। उस जप के दशांश हवन से वर्धनी में रक्षा घोषित करना चाहिये। फिर वायव्यकोण में गणेश जी की पूजा करके पञ्चामृत आदि से भगवान् शिव को स्नान कराये और पूर्ववत् पूजन करके कुण्ड में शिवस्वरूप अग्नि की पूजा करनी चाहिये। इसके बाद विधिपूर्वक चरु तैयार करके उसको सम्पाताहुति की विधि से शोधित करना चाहिये। उसके बाद भगवान् शिव, अग्नि और आत्मा के भेद से तीन अधिकारियों के लिये चम्मच से उस चरु के तीन भाग करना चाहिये तथा अग्निकुण्ड में शिव एवं

देवाग्न्यात्मविभेदेन दर्व्या तं विभजेत्त्रिधा। दत्त्वा भागौ शिवाग्निभ्यां संरक्षेद्भागमात्मनि॥३८॥
नरेण वर्मणा देयं पूर्वता दन्तधावनम्। भस्मघोरशिखाभ्यां वा दक्षिणे पश्चिमे मृदम्॥३९॥
सद्योजातेन च हृदा चोत्तरे वाऽऽमलीफलम्। जलं वामेन शिरसा ईशे गन्धान्वितं जलम्॥४०॥
पञ्चगव्यं पलाशादिपुटकं वै समन्ततः। ऐशान्यां कुसुमं दद्यादाग्नेय्यां दिशि रोचनाम्॥४१॥
अगुरुं निर्ऋताशायां वायव्यां च चतुःसमम्। होमद्रव्याणि सर्वाणि सद्याजातैः कुशैः सह॥४२॥
दण्डाक्षसूत्रकौपीनभिक्षापात्राणि रूपिणे। कज्जलं कुंकुमं तैलं शलाकां केशशोधिनीम्॥४३॥
ताम्बूलं दर्पणं दद्यादुत्तेर रोचनामपि। आसनं पादुके पात्रं योगपट्टातपत्रकम्॥४४॥
ऐशान्यामीशमन्त्रेण दद्यादीशानतुष्टये। पूर्वस्यां चरुकं साज्यं दद्याद्गन्धादिकं नरे॥४५॥
पवित्राणि समादाय प्रोक्षितान्यर्घ्यवारिणा। संहितामन्त्रपूतानि नीत्वा पावकसंनिधिम्॥४६॥
कृष्णाजिनादिनाऽऽच्छाद्य स्मरन्संवत्सरात्मकम्। साक्षिणं सर्वकृत्यानां गोप्तारं शिवमव्ययम्॥४७॥
स्वेति हेति प्रयोगेण मन्त्रसंहितया पुनः। शोधयेच्च पवित्राणि वाराणामेकविंशतिम्॥४८॥
गृहादि वेष्टयेत्सूत्रैर्गन्धाद्यं रवये ददेत्। पूजिताय समाचम्य कृतन्यासः कृतार्घ्यकः॥४९॥
नन्दादिभ्योऽथ गन्धाख्यं वास्तोश्चाथ प्रविश्य च। शस्त्रेभ्यो लोकपालेभ्यः स्वनाम्ना शिवकुम्भके॥५०॥
वर्धन्यै विघ्नराजाय गुरवे ह्यात्मने यजेत्। अथ सर्वौषधीलिप्तं धूपितं पुष्पदूर्वया॥५१॥

अग्नि का भाग देकर शेष भाग आत्मा के लिये सुरक्षित रखे॥३४-३८॥ तत्पुरुष-मन्त्र के साथ 'हुं' जोड़कर उसके उच्चारणपूर्वक पूर्व दिशा में इष्ट देव के लिये दन्तधावन अर्पित करना चाहिये। अघोर-मन्त्र के अन्त में 'वषट्' जोड़कर उसके उच्चारणपूर्वक उत्तर दिशा में आँवला अर्पित करना चाहिये। वामदेव-मन्त्र के अन्त में 'स्वाहा' जोड़कर उसका उच्चारण करते हुए जल निवेदन करना चाहिये। ईशान-मन्त्र से ईशान कोण में सुगन्धित जल समर्पित करना चाहिये। पञ्चगव्य और पलाश आदि के दोने सभी दिशाओं में रखे। ईशानकोण में पुष्प, अग्निकोण में गोरोचन, नैर्ऋत्यकोण में अगरु तथा वायव्यकोण में चतुःसम समर्पित करना चाहिये। तुरन्त के उत्पन्न हुए कुशों के साथ समस्त हवनद्रव्य भी अर्पित करना चाहिये। दण्ड, अक्षसूत्र, कौपीन तथा भिक्षापात्र भी देवविग्रह को अर्पित करना चाहिये। काजल, कुङ्कुम, सुगन्धित तेल, केशों को शुद्ध करने वाली कंघी, पान, दर्पण तथा गोरोचन भी उत्तर दिशा में अर्पित करना चाहिये। तत्पश्चात् आसन, खड़ाऊँ, पात्र, योगपट्ट और छत्र—ये वस्तुएँ देवाधिदेव भगवान् श्रीशिवशंकर की प्रसन्नता के लिये ईशानकोण में ईशान-मन्त्र से ही निवेदन करना चाहिये॥३९-४४॥ पूर्व दिशा में घी सहित चरु तथा गन्ध आदि भगवान् तत्पुरुष को अर्पित करना चाहिये। उसके बाद अर्घ्यजल से प्रक्षालित तथा संहिता-मन्त्र से शोधित पवित्रकों को लेकर अग्नि के सन्निकट पहुँचावे। कृष्ण मृगचर्म आदि से उनको ढककर रखे। उनके अन्दर समस्त कर्मों के साक्षी और संरक्षक संवत्सरस्वरूप अविनाशी भगवान् शिव का चिन्तन करना चाहिये। फिर 'स्वा' और 'हा' का प्रयोग करते हुए मन्त्र संहिता के पाठपूर्वक इक्कीस बार उन पवित्रकों का शोधन करना चाहिये। तत्पश्चात् गृह आदि को सूत्रों से वेष्टित करना चाहिये। सूर्य देव को गन्ध, पुष्प आदि चढ़ावे। फिर पूजित हुए सूर्यदेव को आचमनपूर्वक अर्घ्य देना चाहिये। न्यास करके नन्दी आदि द्वारपालों को और वास्तुदेवता को भी गन्धादि समर्पित करना चाहिये। उसके बाद यज्ञ-मण्डप के अन्दर प्रवेश करके शिव-कलश पर उसके चारों तरफ इन्द्रादि लोकपालों और उनके शस्त्रों की अपने-अपने नाम-मन्त्रों से पूजा करनी चाहिये॥४५-५०॥ इसके बाद वर्धनीय में विघ्नराज, गुरु और आत्मा का पूजन करना

आमन्त्र्य च पवित्रं तद्विधायाञ्जलिमध्यगम्। ॐसमस्तविधिच्छिद्रपूरणे च विधिं प्रति॥५२॥
प्रभवान्मन्त्रयामि त्वां त्वदिच्छावावप्तिकारिकाम्। तत्सिद्धिमनुजानीहि यजतश्चिदचित्पते॥५३॥
सर्वथा सर्वदा शंभो नमस्तेऽस्तु प्रसीद मे। आमन्त्रितोऽसि देवेश सह देव्या गणेश्वरैः॥५४॥
मन्त्रेशैर्लोकपालैश्च सहितः परिचारकैः। निमन्त्रयाम्यहं तुभ्यं प्रभाते तु पवित्रकम्॥५५॥
नियमं च करिष्यामि परमेश तवाज्ञया। इत्येवं देवमामन्त्र्य रेचकेनामृतीकृतम्॥५६॥
शिवान्तं मूलमुच्चार्य तच्छिवाय निवेदयेत्। जपं स्तोत्रं प्रणामं च कृत्वा शम्भुं क्षमापयेत्॥५७॥
हुत्वा चरोस्तृतीयांशं तद्द (तं द) दीत शिवाग्नये। दिग्वासिभ्यो दिगीशेभ्यो भूतमात्रगणैः सह॥५८॥
रुद्रेभ्यः क्षेत्रपादिभ्यो नमः स्वाहा बलिस्त्वयम्। दिग्गजाद्यैश्च पूर्वादौ क्षेत्राय चाग्नये बलिः॥५९॥
समाचम्य विधिच्छिद्रपूरकं होममाचरेत्। पूर्णां व्याहृतिहोमं च कृत्वा रुन्धीत पावकम्॥६०॥
तत ओमग्नये स्वाहा स्वाहा सोमाय चैव हि। ओमग्नीषोमाभ्यां स्वाहाऽग्नये स्विष्टकृते तथा॥६१॥
इत्याहुतिचतुष्कं तु नत्त्वा कुर्यात्तु योजनाम्। वह्निकुण्डार्चितं देवं मण्डलाभ्यर्चिते शिवे॥६२॥
नाडीसंधानरूपेण विधिना योजयेत्ततः। वंशादिपात्रे विन्यस्य अस्त्रं च हृदयं ततः॥६३॥

चाहिये। इन सभी का पूजन करने के अनन्तर सर्वौषधि से लिप्त, धूप से धूपित तथा पुष्प-दूर्वा आदि से पूजित पवित्रक को दोनों अञ्जलियों के बीज में रख ले और भगवान् शिव को सम्बोधित करते हुए कहे—'सबके कारण तथा जड और चेतन के स्वामी परमेश्वर! पूजन की समस्त विधियों में होने वाली त्रुटि की पूर्ति के लिये मैं आपको आमन्त्रित करने जा रहा हूँ। आपसे अभीष्ट मनेप्सित की प्राप्ति कराने वाली सिद्धि चाहता हूँ। आप अपनी आराधना करने वाले इस उपासक के लिये उस सिद्धि का अनुमोदन कीजिये। शम्भो। आपको सदा और सभी तरह से मेरा नमस्कार है। आप मुझपर प्रसन्न होइये। हे देवेश्वर! आप देवी पार्वती तथा गणेश्वरों के साथ आमन्त्रित हैं। मन्त्रेश्वरों, लोकपालों तथा सेवकों सहित आप पधारें। हे परमेश्वर! मैं आपको सादर आमन्त्रित करने जा रहा हूँ। आपकी आज्ञा से कल प्रातः काल पवित्रारोपण तथा तत्ससम्बन्धी नियम का पालन करने जा रहा हूँ॥५१-५५॥ इस तरह महादेव जी को आमन्त्रित करके रेचक प्राणायाम के द्वारा अमृतीकरण की क्रिया सम्पादित करते हुए शिवान्त मूल-मन्त्र का उच्चारण एवं जप करके उसको भगवान् शिव को समर्पित करना चाहिये। जप, स्तुति एवं नमस्कार करके देवाधिदेव भगवान् श्रीशिवशंकर से अपनी त्रुटियों के लिये क्षमा-याचना करनी चाहिये। तत्पश्चात् चरु के तृतीय अंश का हवन करना चाहिये। उसको शिव स्वरूप अग्नि को, दिग्वासियों को दिशाओं के अधिपतियों को, भूतगणों को, मातृगणों को, एकादश रुद्रों को तथा क्षेत्रपाल आदि को उनके नाममन्त्र के साथ **'नमः स्वाहा'** बोलकर आहुति के रूप में अर्पित करना चाहिये। इसके बाद इन सभी का चतुर्थ्यन्त नाम बोलकर **'अयं बलिः'** करते हुए बलि समर्पित करना चाहिये। पूर्वादि दिशाओं में दिग्गजों आदि के साथ दिक्पालों को, क्षेत्रपाल को तथा अग्नि को भी बलि समर्पित करनी चाहिये। बलि के पश्चात् आचमन करके विधिच्छिद्रपूरक हवन करना चाहिये। फिर पूर्णाहुति और व्याहृति-हवन करके श्रीअग्नि देव को अवरुद्ध करना चाहिये॥५६-६०॥ तत्पश्चात् **'ॐ अग्नये स्वाहा।' 'ॐ सोमाय स्वाहा।' 'ॐ अग्नीषोमाभ्यां स्वाहा।' 'ॐ अग्नये स्विष्टकृते स्वाहा।'**—इन चार मन्त्रों से चार आहुतियाँ देकर भावी कार्य की योजना करना चाहिये। अग्निकुण्ड में पूजित हुए आराध्यदेव भगवान् शिव को पूजामण्डल में पूजित कलशस्थ शिव में नाड़ीसंधान रूप विधि से संयोजित करना चाहिये। फिर बाँस आदि के पात्र में **'फट्'** और **'नमः'** के उच्चारणपूर्वक अस्त्रन्यास और हृदयन्यास

अधिरोप्य पवित्राणि कलाभिर्वाऽथ मन्त्रयेत्। षडङ्गं ब्रह्ममूलैर्वा हृद्वर्मास्त्रं च योजयेत्।।६४।।
विधाय सूत्रैः संवेष्ट्य पूजयित्वाऽङ्गसंभवैः। रक्षार्थं जगदीशाय भक्तिनम्रः समर्पयेत्।।६५।।
पूजिते पुष्पधूपाद्यैर्दत्त्वा सिद्धान्तपुस्तके। गुरोः पादान्तिकं गत्वा भक्त्या दद्यात्पवित्रकम्।।६६।।
निर्गत्य बहिराचम्य गोमये मण्डलत्रये। पञ्चगव्यं चरुं दन्तधावनं च क्रमाद्यजेत्।।६७।।
स्वाचान्तो मन्त्रसंनद्धः कृतसंगीतजागरः। स्वपेदन्तः स्मरन्नीशं बुभुक्षुर्दर्भसंस्तरे।।३८।।
अनेनैव प्रकारेण मुमुक्षुरपि संविशेत्। केवलं भस्मशय्यायां सोपवासः समाहितः।।३९।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते पवित्राधिवासनविधिकथनं नामाष्टसप्ततितमोऽध्यायः।।७८।।

—✲✲✲—
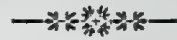
करके उसमें सब पवित्रकों को रख देना चाहिये। इसके बाद **'शान्तिकलात्मने नमः।' 'विद्याकलात्मने नमः।' 'निवृतितकलात्मने मनः।' 'प्रतिष्ठाकलात्मने नमः।' 'शान्त्यतीतकलात्मने नमः।'**–इन कला मन्त्रों द्वारा उनको अभिमन्त्रित करना चाहिये। फिर प्रणवमन्त्र अथवा मूल-मन्त्र से षडङ्गन्यास करके 'नमः', 'हुं', एवं 'फट्' का उच्चारण करके, उनमें क्रमशः हृदय, कवच एंव अस्त्र की योजना करना चाहिये।।६१-६४।। इन सभी को उन पवित्रकों के लिये सूत्रों से आवेष्टित करना चाहिये। फिर 'नमः', स्वाहा', 'वषट्', 'हुं', 'वौषट्', तथा 'फट्' इन अङ्ग-सम्बन्धी मन्त्रों द्वारा उन सभी का पूजन करके उनकी रक्षा के लिये भक्तिभाव से नम्र हो, उनको जगदीश्वर शिव को समर्पित करना चाहिये। इसके बाद पुष्प, धूप आदि से पूजित सिद्धान्त-ग्रन्थपर पवित्रक अर्पित करके गुरु के चरणों के सन्निकट जाकर उनको भक्तिपूर्वक पवित्रक देना चाहिये। फिर वहाँ से बाहर आकर आचमन करना चाहिये और गोबर से लिपे-पुते मण्डलत्रय में क्रमशः पञ्चव्य, चरु एवं दन्तधावन का पूजन करना चाहिये।।६५-६७।। तत्पश्चात् भली-भाँति आचमन करके मन्त्र से आवृत एवं सुरक्षित साधक को रात्रि में संगीत की व्यवस्था करके जागरण करना चाहिये। अर्द्धरात्रि के बाद भोग सामग्री की इच्छा रखने वाला पुरुष मन-ही-मन देवाधिदेव भगवान् श्रीशिवशंकर का स्मरण करता हुआ कुश की चटाई पर सोये। मोक्ष की इच्छा रखने वाला पुरुष भी इसी तरह जागरण करके निराहार व्रतपूर्वक एकाग्रचित्त हो केवल भस्म की शय्या पर शयन करे।।६८-६९।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी अठहत्तरवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।७८।।

अथैकोनाशीतितमोऽध्यायः

पवित्रारोहणविधिः

ईश्वर उवाच

अथ प्रातः समुत्थाय कृतस्नानः समाहितः। कृतसंध्यार्चनो मन्त्री प्रविश्य मखमण्डलम्।।१।।
समादाय पवित्राणि अविसर्जितदेवतः। ऐशान्यां भाजने शुद्धे स्थापयेत्कृतमण्डले।।२।।
ततो विसर्ज्य देवेशं निर्माल्यमपनीय च। पूर्ववद्भूतले शुद्धे कृत्वाऽऽह्निकमथद्वयम्।।३।।
आदित्यद्वारदिक्पालकुम्भेशानौ शिवेऽनले। नैमित्तिकीं सविस्तारां कुर्यात्पूजां विशेषतः।।४।।
मन्त्राणां तर्पणं प्रायश्चित्तहोमं शराणुना। अष्टोत्तरशतं कृत्वा दद्यात्पूर्णाहुतिं शनैः।।५।।
पवित्रं भानवे दत्त्वा समाचम्य ददीत च। द्वारपालादिदिक्पालकुम्भवर्धनिकादिषु।।६।।
संनिधाने ततः शम्भोरुपविश्य निजासने। पवित्रमात्मने दद्याद्गणाय गुरुवह्नये।।७।।
ॐ कालात्मना त्वया देव यद्दिष्टं मामके विधौ। कृतं क्लिष्टं समुत्सृष्टं कृतं गुप्तं च यत्कृतम्।।८।।
तदस्तु क्लिष्टमक्लिष्टं कृतं क्लिष्टमसंस्कृतम्। सर्वात्मनाऽमुना शंभो पवित्रेण त्वदिच्छया।।९।।
ॐ पूरय मखव्रतं नियमेश्वराय स्वाहा।।१०।।

अध्याय-७९

पवित्रारोपण विधान

महादेव जी ने कहा कि–हे स्कन्द! उसके बाद प्रातःकाल उठकर स्नान करके एकाग्रचित हो संध्या-पूजन का नियम पूर्ण करके मन्त्र-साधक को यज्ञमण्डप में प्रवेश करना चाहिये और जिनका विसर्जन नहीं किया गया है, ऐसे इष्टेदव भगवान् शिव से उपरोक्त पवित्रकों को लेकर ईशानकोण में बने हुए मण्डल के अन्दर किसी शुद्धपात्र में रखें। तत्पश्चात् देवेश्वर शिव का विसर्जन करके, उन पर चढ़ी हुई निर्माल्य-सामग्री को हटाकर, पूर्ववत् शुद्ध भूमि पर दो बार आह्निक कर्म करना चाहिये। फिर सूर्य, द्वारपाल, दिक्पाल, कलश तथा भगवान् ईशान (शिव) का शिवाग्नि में कलश तथा भगवान् ईशान (शिव) का शिवाग्नि में विशेष विस्तारपूर्वक नैमित्तिकी पूजा करनी चाहिये। फिर मन्त्र-तर्पण और अस्त्र-मन्त्र द्वारा एक सौ आठ बार प्रायश्चित-हवन करके धीरे से मन्त्र बोलकर पूर्णाहुति कर देना चाहिये।१-५।। इसके बाद सूर्य देव को पवित्रक देकर आचमन करना चाहिये। फिर द्वारपाल आदि को दिक्पालों को, कलश को और वर्धनी आदि पर भी पवित्रक समर्पित करना चाहिये। उसके बाद भगवान् शिव के सन्निकट अपने आसन पर बैठकर आत्मा, गण, गुरु तथा अग्नि को पवित्रक अर्पित करना चाहिये। उस समय भगवान् शिव से इस तरह याचना करनी चाहिये। उस समय भगवान् शिव से इस तरह याचना करनी चाहिये–'हे देव! आप कालस्वरूप हैं। आपने मेरे कार्य के विषय में जैसी आज्ञा दी थी, उसका ठीक-ठीक पालन न करके मैंने जो विहित कर्म को क्लेश युक्त (त्रुटियों से पूर्ण) कर दिया है अथवा आवश्यक विधि को छोड़ दिया है या प्रकट का गुप्त कर दिया है, वह मेरा किया हुआ क्लिष्ट और संस्कारशून्य कर्म इस पवित्रारोपण की विधि से सर्वथा अक्लिष्ट (परिपूर्ण) हो जाय। हे शम्भो! आप अपनी ही इच्छा से मेरे इस पवित्रक द्वारा सम्पूर्ण रूप से प्रसन्न होकर मेरे नियम को पूर्ण कीजिये।'. **'ॐ पूरय मखव्रतं नियमेश्वराय स्वाहा'**–इस मन्त्र का उच्चारण करना चाहिये।।६-१०।।

आत्मतत्त्वे प्रकृत्यन्ते पालिते पद्मयोनिना। मूलं लयान्तमुच्चार्य पवित्रेणार्चयेच्छिवम्।।११।।
विद्यातत्त्वे च विद्यान्ते विष्णुकारणपालिते। ईश्वरान्तं समुच्चार्य पवित्रमधिरोपयेत्।।१२।।
शिवान्ते शिवतत्त्वे च रुद्रकारणपालिते। शिवान्तं मन्त्रमुच्चार्य तस्मै देयं पवित्रकम्।।१३।।
सर्वकारणपालेषु शिवमुच्चार्य सुव्रत। मूलं लयान्तमुच्चार्य दद्याद्गङ्गावतारकम्।।१४।।
आत्मविद्याशिवैः प्रोक्तं मुमुक्षूणां पवित्रकम्। विनिर्दिष्टं बुभुक्षूणां शिवतत्त्वात्मभिः क्रमात्।।१५।।
स्वाहान्तं वा नमोन्तं वा मन्त्रमेषामुदीरयेत्।।१६।।
ॐ हामात्मतत्त्वाधिपतये शिवाय स्वाहा। ॐ हां विद्यातत्त्वाधिपतये शिवाय स्वाहा।।
ॐ हौं शिवतत्त्वाधिपतये शिवाय स्वाहा। ॐ हौं सर्वतत्त्वाधिपतये शिवाय स्वाहा।।१७।।
नत्वा गङ्गावतारं तु प्रार्थयेत्तं कृताञ्जलिः। त्वं गतिः सर्वभूतानां संस्थितिस्त्वं चराचरे।।१८।।
अन्तश्चारेण भूतानां द्रष्टा त्वं परमेश्वर। कर्मणा मनसा वाचा त्वत्तो नान्या गतिर्मम।।१९।।
मन्त्रहीनं क्रियाहीनं द्रव्यहीनं च यत्कृतम्। जपहोमार्चनैर्हीनं कृतं नित्यं मया तव।।२०।।
अकृतं वाक्यहीनं च तत्पूरय महेश्वर। सुपूतस्त्वं परेशान पवित्रं पापनाशनम्।।२१।।
त्वया पवित्रितं सर्वं जगत्स्थावरजङ्गमम्। खण्डितं यन्मया देव व्रतं वैकल्ययोगतः।।२२।।

'**ॐ पद्मयोनिपालितात्मतत्त्वेश्वराय प्रकृतिलयाय ॐ नमः शिवाय।**'—इस मन्त्र को उच्चारण करके पवित्रक द्वारा भगवान् शिव की पूजा करनी चाहिये। '**विष्णुकारणपालितविद्यातत्त्वेश्वराय ॐ नमः शिवाय।**'—इस मन्त्र का उच्चारण करके पवित्रक चढ़ावे। '**रुद्रकारणपालितशिवतत्त्वेश्वराय शिवाय ॐ नमः शिवाय**'। इस मन्त्र का उच्चारण करके भगवान् शिव को पवित्रक निवेदन करना चाहिये। श्रेष्ठतम व्रत का पालन करने वाले स्कन्द! '**सर्वकारण पालाय शिवाय लयाय ॐ नमः शिवाय**'।—इस मन्त्र का उच्चारण करके भगवान् शिव को 'गङ्गावतारक' नामक सूत्र समर्पित करना चाहिये।।११-१४।। मुमुक्षु पुरुषों के लिये आत्मतत्त्व, विद्यातत्त्व और शिवतत्त्व के क्रम से मन्त्रोच्चारणपूर्वक पवित्रक अर्पित करने का विधान है तथा भोगाभिलाषी पुरुष को क्रमशः शिवतत्त्व, विद्यातत्त्व और आत्मतत्त्व के अधिपति शिव को मन्त्रोच्चारणपूर्वकपवित्रक अर्पित करना चाहिये, उसके लिये ऐसा ही विधान है। मुमुक्षु पुरुष को स्वाहान्त मन्त्र का उच्चारण करना चाहिये और भोगाभिलाषी पुरुष नमोऽन्त मन्त्र का। 'स्वाहान्त' मन्त्र का स्वरूप इस तरह है—'**ॐ हां आत्मतत्त्वाधिपतये शिवाय स्वाहा।**' '**ॐ हां विद्यातत्त्वाधिपतये शिवाय स्वाहा।**' '**ॐ हां शिवतत्त्वाधिपतये शिवाय स्वाहा।**' '**ॐ हां सर्वतत्त्वाधिपतये शिवाय स्वाहा।**' ('**स्वाहा**' की जगह 'नमः' पद रख देने से ये ही मन्त्र भोगाभिलाषियों के उपयोग में आने वाले हो जाते हैं; परन्तु इनका क्रम ऊपर बताये अनुसार ही होना चाहिये) गङ्गावतारक समर्पित करने के पश्चात् हाथ जोड़कर भगवान् शिव से इस तरह याचना करनी चाहिये—'हे परमेश्वर! आप ही समस्त प्राणियों की गति हैं। आप ही चराचर जगत् की स्थिति के हेतुभूत (अथवा लय के आश्रय) हैं। आप सम्पूर्ण भूतों के अन्दर विचरते हुए उनके साक्षी रूप से अवस्थित हैं। मन, वाणी और क्रिया द्वारा आपके सिवा दूसरी कोई मेरी गति नहीं है। हे महेश्वर! मैंने प्रतिदिन आपके पूजन में जो मन्त्रहीन, क्रियाहीन, द्रव्यहीन तथा जप हवन और अर्चन से हीन कर्म किया है, जो आवश्यक कर्म नहीं किया है तथा जो शुद्ध वाक्य से हीन कर्म किया है, वह सभी आप पूर्ण करें। हे परमेश्वर! आप परम पवित्र हैं। आपको अर्पित किया हुआ यह पवित्रक समस्त पापों का विनाश करने वाला है। आपने सभी जगह व्याप्त होकर इस समस्त चराचर जगत् को पवित्र कर रखा है। हे देव! मैंने व्याकुलता के कारण अथवा अङ्गवैकल्य-दोष के कारण जिस व्रत को खण्डित कर दिया है, वह सभी आपकी आज्ञारूप सूत्र में गुँथकर एक-अखण्ड हो जाय'।।१५-२२।। तत्पश्चात् जप

एकी भवतु तत्सर्वं तवाऽऽज्ञासूत्रगुम्फितम्। जपं निवेद्य देवस्य भक्त्या स्तोत्रं विधाय च।।२३।।
नत्वा तु गुरुणाऽऽदिष्टं गृहणीयान्नियमं नरः। चतुर्मासं त्रिमासं वा त्र्यहमेकाहमेव च।।२४।।
प्रणम्य क्षमयित्वेशं गत्वा कुण्डान्तिकं व्रती। पावकस्थे शिवेऽप्येवं पवित्राणां चतुष्टयम्।।२५।।
समारोप्य समभ्यर्च्य पुष्पधूपाक्षतादिभिः। अन्तर्बलिं पवित्रं च रुद्रादिभ्यो निवेदयेत्।।२६।।
प्रविश्यान्तः शिवं स्तुत्वा सप्रणामं क्षमापयेत्। प्रायश्चित्तकृतं होमं कृत्वा हुत्वा च पायसम्।।२७।।
शनैः पूर्णाहुतिं दत्त्वा वह्निस्थं विसृजेच्छिवम्। होमं व्याहृतिभिः कृत्वा रुन्ध्यान्निष्ठुरयाऽनलम्।।२८।।
अग्न्यादिभ्यस्ततो दद्यादाहुतीनां चतुष्टयम्। दिक्पतिभ्यस्ततो दद्यात्सपवित्रं बहिर्बलिम्।।२९।।
सिद्धान्तपुस्तके दद्यात्सप्रमाणं पवित्रकम्।।३०।।
ॐ हां भूः स्वाहा। ॐ हां भुवः स्वाहा। ॐ हां स्वः स्वाहा। ॐ हां भूर्भुवः स्वः स्वाहा।।३१।।
होमं व्याहृतिभिः कृत्वा दत्त्वाऽऽहुतिचतुष्टयम्।।३२।।
ॐ हां अग्नये स्वाहा। ॐ हां सोमाय स्वाहा।
ॐ हां अग्नीषोमाभ्यां स्वाहा। ॐ हामग्नये स्विष्टकृते स्वाहा।।३३।।
गुरुं शिवमिवाभ्यर्च्य वस्त्रभूषादिविस्तरैः। समग्रं सफलं तस्य क्रियाकाण्डादि वार्षिकम्।।३४।।
यस्य तुष्टो गुरुः सम्यगित्याह परमेश्वरः। इत्थं गुरोः समारोप्य हृदालम्बि पवित्रकम्।।३५।।
द्विजादीन्भोजयित्वा तु भक्त्या वस्त्रादिकं ददेत्। दानेनानेन देवेशः प्रीयतां मे सदाशिवः।।३६।।

निवेदन करके, उपासक को भक्तिपूर्वक भगवान् की स्तुति करनी चाहिये और उनको नमस्कार करके, गुरु की आज्ञा के अनुसार चार मास, तीन मास, तीन दिन अथवा एक दिन के लिये ही नियम ग्रहण करना चाहिये। भगवान् शिव को नमस्कार करके उनसे त्रुटियों के लिये क्षमा माँगकर व्रती पुरुष कुण्ड के सन्निकट जाय और अग्नि में विराजमान भगवान् शिव के लिये भी चार पवित्रक उसे अर्पित करके पुष्प, धूप और अक्षत आदि से उनकी पूजा करनी चाहिये। इसके बाद रुद्र आदि को अन्तर्बलि एवं पवित्रक निवेदन करना चाहिये।।२३-२६।। तत्पश्चात् पूजा-मण्डप में प्रवेश करके भगवान् शिव का स्तवन करते हुए नमस्कारपूर्वक क्षमा याचना करनी चाहिये। प्रायश्चित हवन करके खीर की आहुति देनी चाहिये। मन्दस्वर में मन्त्र बोलकर पूर्णाहुति करके अग्नि में विराजमान शिव का विसर्जन करना चाहिये। फिर व्याहृति-हवन करके, निष्ठुरा द्वारा अग्नि को निरुद्ध करना चाहिये और अग्नि आदि को निम्नोक्त मन्त्रों से चार आहुति देनी चाहिये। तत्पश्चात् दिक्पालों को पवित्र एवं बाह्य बलि अर्पित करना चाहिये। इसके बाद सिद्धान्त ग्रन्थ पर उसके बराबर का पवित्रक अर्पित करना चाहिये। उपरोक्त व्याहृति-हवन के मन्त्र इस तरह हैं-'**ॐ हां भूः स्वाहा।**' '**ॐ हां भुवः स्वाहा**'। '**ॐ हां स्वः स्वाहा।**' '**ॐ हां भूर्भुवः स्वः स्वाहा।**'।।२७-३१।। इस तरह व्याहतियों द्वारा हवन करके अग्नि आदि के लिये चार आहुतियाँ देकर दूसरा कार्य करना चाहिये। उन चार आहुतियों के मन्त्र इस तरह हैं-'**ॐ हां अग्नये स्वाहा।**' '**ॐ हां सोमाय स्वाहा।**' '**ॐ हां अग्नीषोमाभ्यां स्वाहा।**' '**ॐ हां अग्नये स्विष्टकृते स्वाहा।**' फिर गुरु की शिव के समान वस्त्राभूषण आदि विस्तृत सामग्री से पूजा करनी चाहिये। जिससे ऊपर गुरुदेव पूर्णरूप से संतुष्ट होते हैं, उस साधक का सारा वार्षिक कर्मकाण्ड आदि सफल हो जाता है-ऐसा परमेश्वर का कथन है। इस तरह गुरु का पूजन करके उनको हृदय तक लटकता हुआ पवित्रक धारण कराये और ब्राह्मण आदि को भोजन कराकर भक्तिपूर्वक उनको वस्त्र आदि देना चाहिये। उस समय यह याचना करनी चाहिये कि 'देवेश्वर भगवान् सदाशिव इस दान से मुझ पर प्रसन्न हों। फिर प्रातःकाल भक्तिपूर्वक स्नान आदि करके देवाधिदेव भगवान् श्रीशिवशंकर के श्रीविग्रह से पवित्रकों को समेट ले और आठ फूलों से उनकी पूजा करके उनका

भक्त्या स्नानादिकं प्रातः कृत्वा शंभोः समाहरेत्। पवित्राण्यष्टपुष्पैस्तं पूजयित्वा विसर्जयेत्।।३७।।
नित्यं नैमित्तिकं कृत्वा विस्तरेण यथा पुरा। पवित्राणि समारोप्य प्रणम्याग्नौ शिवं यजेत्।।३८।।
प्रायश्चित्तं ततोऽस्त्रेण हुत्वा पूर्णाहुतिं यजेत्। भुक्तिकामः शिवायाथ कुर्यात्कर्मसमर्पणम्।।३९।।
त्वत्प्रसादेन कर्मेदं ममास्तु फलसाधकम्। मुक्तिकामस्तुकर्मेदं माऽस्तु मे नाथ बन्धकम्।।४०।।
वह्निस्थं नाडीयोगेन शिवं संयोजयेच्छिवे। हृदि न्यस्याणुसंघातं पावकं च विसर्जयेत्।।४१।।
समाचम्य प्रविश्यान्तः कुम्भानुगतसंवरान्। शिवं संयोज्य साक्षेपं क्षमस्वेति विसर्जयेत्।।४२।।
विसृज्य लोकपालादीनादायेशात्पवित्रकम्। सति चण्डेश्वरे पूजां कृत्वा दत्वा पवित्रकम्।।४३।।
तन्निर्माल्यादिकं तस्मै सपवित्रं समर्पयेत्। अथवा स्थण्डिले चण्डं विधिना पूर्ववद्यजेत्।।४४।।
यत्किंचिद्वार्षिकं कर्म कृतं न्यूनाधिकं मया। तदस्तु परिपूर्णं मे चण्ड नाथ तवाज्ञया।।४५।।
इति विज्ञाप्य देवेशं नत्वा स्तुत्वा विसर्जयेत्। त्यक्तनिर्माल्यकः शुद्धः स्नापयित्वा शिवं यजेत्।
पञ्चयोजनसंस्थोऽपि पवित्रं गुरुसन्निधौ।।४६।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गति पवित्रारोहणविधिकथनं नामैकोनाशीतितमोऽध्यायः।।७९।।

विसर्जन कर देना चाहिये। फिर पहले की तरह विस्तारपूर्वक नित्य-नैमित्तिक पूजन करके पवित्रक चढ़ाकर नमस्कार करने के पश्चात् अग्नि में शिव का पूजन करना चाहिये।।३२-३८।। तत्पश्चात् अस्त्र-मन्त्र से प्रायश्चित हवन करके पूर्णाहुति देनी चाहिये। भोग-सामग्री की इच्छा वाले पुरुष को भगवान् शिव के लिये अपना सारा कर्म समर्पित करे और कहे-'हे प्रभो! आपकी कृपा से मेरा यह कर्म मनोवाञ्छित फल का साधक हो।' मोक्ष की कामना रखने वाला पुरुष को भगवान् शिव से इस तरह याचना करनी चाहिये-'हे नाथ! यह कर्म मेरे लिये बन्धनकारक न हो।' इस तरह याचना करके अग्नि में स्थित शिव को नाडी योग के द्वारा अन्तरात्मा में स्थित शिव में संयोजित करना चाहिये। फिर अणुसमूह का हृदय में न्यास करके श्रीअग्नि देव का विसर्जन कर दे और आचमन करके पूजामण्डप के अन्दर प्रविष्ट हो, कलश के जल को सभी तरफ छिड़कते हुए भगवान् शिव से संयुक्त करके कहे-'हे प्रभो! मेरी त्रुटियों को क्षमा करो।' इसके बाद विसर्जन कर देना चाहिये।।३९-४२।। तत्पश्चात् लोकपाल आदि का विसर्जन करके भगवान् शिव की प्रतिमा से पवित्रक लेकर चण्डेश्वर की प्रतिमा में उनकी भी पूजा करके उनको वह पवित्रक अर्पित करना चाहिये और शिवनिर्माल्य आदि सारी सामग्री पवित्रक के साथ ही उनको समर्पित कर देना चाहिये अथवा वेदी पर पूर्ववत् विधिपूर्वक चण्डेश्वरी की पूजा करनी चाहिये और उनसे याचनापूर्वक कहे-'हे चण्डनाथ! मैंने जो कुछ वार्षिक कर्म किया है, वह यदि न्यूनता या अधिकता के दोष से युक्त है, तो आपकी आज्ञा से वह दोष दूर होकर मेरा कर्म साङ्गोपाङ्ग परिपूर्ण हो जाय।' इस तरह याचना करके देवेश्वर चण्ड को नमस्कार करना चाहिये और स्तुति के पश्चात् उनका विसर्जन कर देना चाहिये। निर्माल्य का त्याग करके, शुद्ध हो भगवान् शिव को नहलाकर उनका पूजन करना चाहिये। गृह से पाँच योजन दूर रहने पर भी गुरु के सन्निकट पवित्रारोहण कर्म का निष्पादन करना चाहिये।।४३-४६।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी उन्यासीवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।७९।।

❖❖❖

अथाशीतितमोऽध्यायः

दमनकारोहणविधिः

ईश्वर उवाच

वक्ष्ये दमनकारोहविधिं पूर्ववदाचरेत्। हरकोपात्पुरा जातो भैरवो दमिताः सुराः॥१॥
तेनाथ शप्तो विटपो भवेति त्रिपुरारिणा। प्रसन्नेनेरितं चेदं पूजयिष्यन्ति ये नराः॥२॥
परिपूर्णं फलं तेषामन्यथा न भविष्यति। सप्तम्यां वा त्रयोदश्यां दमनं संहिताणुभिः॥३॥
संपूज्य बोधयेद्वृक्षं भववाक्येन मन्त्रवित्। हरप्रसादसंभूत त्वमत्र संनिधी भव॥४॥
शिवकार्यं समुद्दिश्य नेतव्योऽसि शिवाज्ञया। गृहेऽप्यामन्त्रणं कुर्यात्सायाह्ने चाधिवासनम्॥५॥
यथाविधि समभ्यर्च्य सूर्यशंकरपावकान्। देवस्य पश्चिमे मूलं दद्यात्तस्य मृदायुतम्॥६॥
वामेन शिरसा वाऽथ नालं धात्रीं तथोत्तरे। दक्षिणे भग्नपत्रं च प्राच्या पुष्पं च धावनम्॥७॥
पुटिकास्थं फलं मूलमथैशान्यां यजेच्छिवम्। पञ्चाङ्गमञ्जलौ कृत्वा आमन्त्र्य शिरसि न्यसेत्॥८॥
आमन्त्रितोऽसि देवेश प्रातःकाले मया प्रभो। कर्तव्यस्तपसो लाभः पूर्णं सर्वं तवाज्ञया॥९॥

अध्याय-८०

दमनकारोपण की विधि

भगवान् महेश्वर ने कहा कि–हे स्कन्द! अधुना मैं दमनकारोपण की विधि का वर्णन करने जा रहा हूँ। इसमें भी सभी कार्य पूर्ववत् करने चाहिये। प्राचीन काल में देवाधिदेव भगवान् श्रीशिवशंकर के कोप से भैरव की उत्पत्ति हुई। भैरव ने देवताओं का दमन प्रारम्भ किया। यह देख त्रिपुरारि शिव ने रुष्ट होकर भैरव को श्राप दिया–'तुम वृक्ष हो जाओ।' फिर भैरव के क्षमा माँगने पर प्रसन्न हो भगवान् शिव बोले–'जो मनुष्य तुम्हारे पत्रों द्वारा पूजन करेंगे, अथवा आपकी पूजा करेंगे, उनका मनोवाञ्छित फल पूरा होगा। उनकी इच्छा किसी तरह अपूर्ण नहीं रहेगी।' सप्तमी या त्रयोदशी तिथि को मन्त्रवेत्ता पुरुष संहिता-मन्त्रों से दमनक-वृक्ष की पूजा करके उसको देवाधिदेव भगवान् श्रीशिवशंकर के वाक्य का स्मरण दिलाते हुए जगावे–॥१-३॥ **हरप्रसादसम्भूत त्वमत्र संनिधीभव। शिवकार्यं समुद्दिश्य नेतव्योऽसि शिवाज्ञया॥** 'हे दमनक! आप देवाधिदेव भगवान् श्रीशिवशंकर के कृपा प्रसाद से प्रकट हुए हो। आप यहाँ सन्निहित हो जाओ। भगवान् शिव की आज्ञा से उन्हीं के कार्य के उद्देश्य से मुझको आपको अपने साथ ले जाना है।' गृह पर भी उस वृक्ष को आमन्त्रित करना चाहिये और सायंकाल में अधिवासन कर्म सम्पन्न करना चाहिये। विधिपूर्वक सूर्य, देवाधिदेव भगवान् श्रीशिवशंकर और श्रीअग्नि देव की पूजा करके, इष्ट देवता के पश्चिम भाग में मिट्टी के साथ संयुक्त करके उस वृक्ष कजड़ को स्थापित करना चाहिये। वामदेव-मन्त्र अथवा शिरो मन्त्र से उस वृक्ष की नाल तथा आँवले का फल उत्तर दिशा में रखे। उसके टूटे हुए पत्र को दक्षिण में तथा पुष्प और धावन को पूर्व में स्थापित करना चाहिये॥४-७॥ ईशान कोण में एक दोने में उसके फल और मूल को रखकर भगवान् शिव का पूजन कर। उस वृक्ष की जड़, नाल, पत्र, फूल और फल–इन पाँचों अंगों को अञ्जलि में लेकर आमन्त्रित करते हुए सिर पर रखे और इस तरह कहे–'हे देवेश्वर! मैं आज आपको आमन्त्रित करता हूँ। कल प्रातःकाल मुझको तपस्या का

मूलेन शेषं पात्रस्थं पिधायाथ पवित्रकम्। प्रातः स्नात्वा जगन्नाथं गन्धपुष्पादिभिर्यजेत्।।१०।।
नित्यं नैमित्तिकं कृत्वा दमनैः पूजयेत्ततः। शेषमञ्जलिमादाय आत्मविद्याशिवात्मभिः।।११।।
मूलाद्यैरीश्वरान्तैश्च चतुर्थाञ्जलिना ततः।।१२।।
हौं महेश्वराय मखं पूरय पूरय शूलपाणये नमः।।१३।।
शिवं वह्निं च सम्पूज्य गुरुं प्राच्यर्थ बोधयेत्। भगवन्नतिरिक्तं वा हीनं वा यन्मया कृतम्।।१४।।
सर्वं तदस्तु सम्पूर्णं यच्च दामनकं मम। सकलं चैत्रमासोत्थं फलं प्राप्य दिवं व्रजेत्।।१५।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते दमनकारोहणविधिकथनं नामाशीतितमोऽध्यायः।।८०।।

लाभ लेना है—की हुई उपासना को सफल बनाना है। वह सभी कार्य आपकी आज्ञा से पूर्ण हो।' तत्पश्चात् पात्र में रखे हुए शेष पवित्रक को मूल-मन्त्र से ढककर प्रातःकाल स्नान करने के पश्चात् जगदीश्वर शिव का गन्ध-पुष्प आदि से पूजन करना चाहिये।।८-१०।। नित्य-नैमित्तिक कर्म करके दमनक से पूजन करना चाहिये। शेष दमनका को अञ्जलि में लेकर—'**ॐ हां आत्मतत्त्वाधिपतये शिवाय स्वाहा।**', '**ॐ हां विद्यातत्त्वाधिपतये शिवाय स्वाहा।**', '**ॐ हां शिवतत्त्वाधिपतये शिवाय स्वाहा।**', '**ॐ हां सर्वतत्त्वाधिपतये शिवाय स्वाहा।**'—इन चार मन्त्रों द्वारा दमनक चढ़ाकर शिव का पूजन करना चाहिये। उसके बाद दमनक की चौथी अञ्जलि लेकर '**ॐ हौं महेश्वराय मखं पूरय पूरय शूलपाणये नमः।**'—इस मन्त्र के उच्चारणपूर्वक भगवान् शिव को अर्पित करना चाहिये।।११-१३।। इस तरह शिव और अग्नि की पूजा करके गुरु की विशेष रूप से अर्चना करते हुए याचना करनी चाहिये—'हे भगवन्! मैंने दमनक द्वारा पूजन कर्म में जो न्यूनता या अधिकता कर दी है, वह सभी आपकी कृपा से परिपूर्ण हो जाय।' इस विधि से दमनकारोपण कर्म का निष्पादन करके मनुष्य चैत्रमासजनित सम्पूर्ण फल को पाता है और अन्त में स्वर्गलोक को जाता है।।१४-१५।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी अस्सीवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।८०।।

❖❖❖

अथैकाशीतितमोऽध्यायः

समयदीक्षाविधिः

ईश्वर उवाच

वक्ष्यामि भोगमोक्षार्थं दीक्षां पापक्षयंकरीम्। मलमायादिपाशानां विश्लेषः क्रियते यया।।१।।
ज्ञानं च जन्यते शिष्ये सा दीक्षा भुक्तिमुक्तिदा। विज्ञातकलनामैको द्वितीयः प्रलयाकलः।।२।।
तृतीयः सकलः शास्त्रेऽनुग्राह्यस्त्रिविधो मतः। तत्राऽऽद्यो मलमात्रेण मुक्ताऽन्यो मलकर्मभिः।।३।।
कलादिभूमिपर्यन्तं स्तम्बैस्तु सकलो मतः। निराधाराऽथ साधारा दीक्षाऽपि द्विविधा मता।।४।।
निराधारा द्वयोस्तेषां साधारा सकलस्य तु। आधारनिरपेक्षेण क्रियते शंभुचर्यया।।५।।
तीव्रशक्तिनिपातेन निराधारेति सा स्मृता। आचार्यमूर्तिमास्थाय मायातीव्रादिभेदया।।६।।
शक्त्या यां कुरुते शंभुः सा साधिकरणोच्यते। इयं चतुर्विधा प्रोक्ता सबीजा बीजवर्जिता।।७।।
साधिकाराऽनधिकारा यथा तदभिधीयते। समयाचारसंयुक्ता सबीजा जायते नृणाम्।।८।।
निर्बीजा त्वसमर्थानां समयाचारवर्जिता। नित्ये नैमित्तिके काम्ये यतः स्यादधिकारिता।।९।।

अध्याय–८१

समय दीक्षा विधान

भगवान् महेश्वर ने कहा कि–हे स्कन्द! अधुना मैं भोग और मोक्ष की सिद्धि के लिये दीक्षा की विधि बतलाने जा रहा हूँ, जो समस्त पापों का विनाश करने वाली है तथा जिसके द्वारा मल और माया आदि पाशों का निवारण किया जाता है। जिससे शिष्य में ज्ञान की उत्पत्ति करायी जाती है, उसका नाम 'दीक्षा' है। वह भोग और मोक्ष सम्प्रदान करने वाली है। पशु (पाश-बद्ध जीव) शुद्ध विद्या द्वारा अनुग्राह्य कहा गया है। वह तीन तरह का होता है–पहला विज्ञानकल, दूसरा प्रलयाकल तथा तीसरा सकल।।१।। उनमें से प्रथम अर्थात् 'विज्ञानकल' पशु केवल मलरूप पाश से युक्त होता है, दूसरा अर्थात् 'प्रलयाकल' पशु मल और कर्म–इन दो पाशों से आबद्ध होता है तथा तीसरा अर्थात् 'सकल' पशु कला आदि से लेकर भूमिपर्यन्त सारे तत्त्वसमूहों से बँधा होता है अर्थात् वह मल, माया तथा कर्म–त्रिविध पाशों से बँधा हुआ बतलाया गया है।।२-३।।

इन पाशों से मुक्त होने के लिये जीव को आचार्य से मन्त्राराधन की दीक्षा लेनी होती है। वह दीक्षा दो तरह की मानी गयी है–एक 'निराधारा' और दूसरी 'साधारा'। उपरोक्त तीन पशुओं में से विज्ञानाकल और प्रलयाकल–इन दो पशुओं के लिये निराधारा दीक्षा बतलायी गयी है और सकल पशु के लिये साधारा। आचार्य की अपेक्षा न रखकर शम्भु द्वारा ही तीव्र शक्तिपात करके जो दीक्षा दी जाती है, वह 'निराधारा' कही गयी है। आचार्य के शरीर में स्थित होकर देवाधिदेव भगवान् श्रीशिवशंकर अपनी मन्दा, तीव्रा आदि भेद वाली शक्ति से जिस दीक्षा का निष्पादन करते हैं, वह 'साधारा' कहलाती है। यह साधारा दीक्षा सबीजा, निर्बीजा, साधिकारा और अनधिकारा–इन भेदों के द्वारा जिस तरह चार तरह की हो जाती है, वह बतलाया जाता है।।४-७।। सक्षम पुरुषों को जो समयाचार से युक्त दीक्षा दी जाती है, उसको 'सबीजा' कहते हैं और असमर्थ पुरुषों को दी जाने वाली समयाचार शून्य दीक्षा 'निर्बीजा' कही गयी है।।८।। जिस दीक्षा से साधक और आचार्य को नित्यनैमित्तिक एवं काम्य कर्मों में अधिकार प्राप्त होता है, वह 'साधिकारा

साधिकारा भवेद्दीक्षा साधकाचार्ययोरतः। निर्बीजा दीक्षितानां तु तथा समयि पुत्रयोः॥१०॥
नित्यमात्राऽधिकारत्वाद्दीक्षा (?) निरधिकारिका। द्विविधेयं द्विरूपा हि प्रत्येकमुपजायते॥११॥
एका क्रियावती तत्र कुण्डमण्डलपूर्विका। मनोव्यापारमात्रेण या सा ज्ञानवती मता॥१२॥
इत्थं लब्धाधिकारेण दीक्षाऽऽचार्येण साध्यते। स्कन्ददीक्षां गुरुः कुर्यात्कृत्वा नित्यक्रियां ततः॥१३॥
प्रणवार्घ्यं कराम्भोजः कृतद्वाराधिपार्चनः। विघ्नानुत्सार्यं देहल्यां न्यस्यास्त्रं स्वासने स्थितः॥१४॥
कुर्वीत भूतसंशुद्धिं मन्त्रयोगं यथोदितम्। तिलतण्डुलसिद्धार्थकुशदूर्वाक्षतोदकम्॥१५॥
सयवक्षीरनीरं च विशेषार्घ्यमिदं ततः। तदम्बुना द्रव्यशुद्धिं तिलकं स्वासनात्मनोः॥१६॥
पूजनं मन्त्रशुद्धिं च पञ्चगव्यं च पूर्ववत्। लाजचन्दनसिद्धार्थभस्मदूर्वाक्षतं कुशान्॥१७॥
विकिरान्शुद्धलाजां स्तान्सधूपानस्त्रमन्त्रितान्। शस्त्राम्बुप्रोक्षितानेतान्कवचेनावगुण्ठितान्॥१८॥
नानाप्रहरणाकारान्विघ्नौघविनिवारकान्। दर्भाणां तालमानेन कृत्वा षट्त्रिंशतादलैः॥१९॥
सप्तजप्तं शिवास्त्रेण वेणीं बोधासिमुत्तमम्। शिवमात्मनि विन्यस्य सृष्ट्याधारमभीप्सितम्॥२०॥
निष्कलं च शिवं न्यस्य शिवोऽहमिति भावयेत्। उष्णीषं शिरसि न्यस्य अलं कुर्यात्स्वदेहकम्॥२१॥
गन्धमण्डनकं स्वीये विदध्याद्दक्षिणे करे। विधिनाऽत्रार्चयेदीशमित्थं स्याच्छिवहस्तकम्॥२२॥

दीक्षा' है। 'निर्बीजा दीक्षा' में दीक्षित होने वाले लोगों को तथा समयाचार की दीक्षा लेने वाले सामान्य शिष्य एवं पुत्र संज्ञक शिष्यविशेष को नित्यकर्म-मात्र के अधिकारी होने के कारण जो दीक्षा दी जाती है, वह 'निरधिकारा दीक्षा' कहलाती है। साधारा और निराधारा भेद से जो दीक्षा के दो भेद बताये गये हैं, उनमें से प्रत्येक के निम्नांकित दो रूप (या भेद) और होते हैं-एक तो 'क्रियावती' कही गयी है, जिसमें कर्मकाण्ड की विधि से कुण्ड और मण्डल की स्थापना एवं पूजा की जाती है। दूसरी 'ज्ञानवती दीक्षा' है, जो बाह्य-सामग्री से नहीं, मानसिक व्यापारमात्र से साध्य है॥९-१२॥ इस तरह अधिकार प्राप्त आचार्य द्वारा दीक्षा कर्म का निष्पादन होता है। हे स्कन्द! गुरु को नित्य कर्म का विधिवत् अनुष्ठान करके शिष्य को दीक्षा कर्म सम्पन्न करना चाहिये। प्रणव के जपपूर्वक गुरु को अपने कर-कमल में अर्घ्य-जल ले द्वारपालों का पूजन करना चाहिये। फिर विघ्नों का निवारण करने के अनन्तर, द्वार-देहली पर अस्त्रन्यास करके अपने आसन पर बैठे। शास्त्रोक्त विधि से भूतशुद्धि एवं अन्तर्याग करना चाहिये। तिल, चावल, सरसों, कुश, दूर्वाङ्कुर, जौ, दूध और जल-इन सभी को एकत्र करके विशेषार्घ्य बनाये। उसके जल से समस्त द्रव्यों (पूजन-सामग्रियों) की शुद्धि करनी चाहिये। फिर तिलक-सम्बन्धी अपने सम्प्रदाय के मन्त्र से भाल देश में तिलक लगावे। फिर पूर्ववत् पूजन मन्त्र-शोधन तथा पञ्चगव्य-प्राशन आदि कार्य करने चाहिये। क्रमशः लावा, चन्दन, सरसों, भस्म, दूर्वा, अक्षत, कुश और अन्त में पुनः शुद्ध लावा-ये सभी विकिर (बिखेरने योग्य द्रव्य) कहे गये हैं। इन सभी वस्तुओं को एकत्र करके सात बार अस्त्र-मन्त्र से अभिमन्त्रित करना चाहिये। अस्त्र-मन्त्र द्वारा अभिमन्त्रित जल से इनका प्रोक्षण करके फिर कवच-मन्त्र (हुम्) से अवगुण्ठन करके यह भावना करनी चाहिये कि ये विघ्नसमूह का निवारण करने वाले विविध तरह के अस्त्र-शस्त्र हैं॥१३-१८॥ तत्पश्चात् प्रादेश मात्र लम्बे कुश के छत्तीस दलों से वेणीरूप बोधमय श्रेष्ठतम खड्ग बनाकर उसको सात बार जपते हुए शिव-मन्त्र से अभिमन्त्रित करना चाहिये। फिर उसको शिवस्वरूप मानकर भावना द्वारा अपने हृदय में स्थापित करना चाहिये। साथ ही जगदाधार भगवान् शिव की जो झाँकी अपने को अभीष्ट हो, उसी रूप में उनका ध्यान-चिन्तन करके निष्कल परमात्मा शिव का अपने अन्दर न्यास करना चाहिये।

विन्यस्य शिवमन्त्रेण भास्वरं निजमस्तके। शिवादभिन्नमात्मानं कर्तारं भावयेद्यथा।।२३।।
मण्डले कर्मणां साक्षी कलशे यज्ञरक्षकः। होमाधिकरणं वह्नौ शिष्ये पाशविमोचकः।।२४।।
स्वात्मन्यन्यगृहीतेति षडाधारो य ईश्वरः। सोऽहमेवेति कुर्वीत भावं स्थिरतरं पुनः।।२५।।
ज्ञानखड्गकरः स्थित्वा नैर्ऋत्या (त्य) भिमुखो नरः। साघ्र्याम्बुपञ्चगव्याभ्यां प्रोक्षयेद्यागमण्डपम्।।२६।।
चतुष्पथान्तरसंस्कारैः संस्कुर्यादीक्षणादिभिः। विक्षिप्य विकिरांस्तत्र कुशकूर्चोपसंहरेत्।।२७।।
तानीशदिशि वर्धन्यामासनायोपकल्पयेत्। नैर्ऋते वास्तुगीर्वाणान्द्वारे लक्ष्मीं प्रपूजयेत्।।२८।।
आज्ये रत्नैः पूयन्तीं हृदा मण्डपरूपिणीम्। साम्बुवस्त्रे सरत्ने च धान्यस्थे पश्चिमानने।।२९।।
ऐशे कुम्भे यजेच्छम्भुं शक्तिं कुम्भस्य दक्षिणे। पश्चिमस्यां (मायां) तु सिंहस्थां वर्धनीं खड्गरूपिणीम्।।३०।।
दिक्षु शक्रादिदिक्पालान्विष्ण्वन्तान्प्रणवासनान्। वाहनायुधसंयुक्तान्हृदाऽभ्यर्च्य स्वनामभिः।।३१।।
प्रथमं तान्समादाय कुम्भस्याग्राभिगामिनीम्। अविच्छिन्नपयोधारां भ्रामयित्वा प्रदक्षिणम्।।३२।।
शिवाज्ञां लोकपालानां श्रावयेन्मूलमुच्चरन्। संरक्षत यथायोगं कुम्भं धृत्वाऽथ तां धरेत्।।३३।।

तत्पश्चात् यह भावना करनी चाहिये कि 'मैं साक्षात् शिव हूँ।' फिर सिर पर (मूल-मन्त्र से अभिमन्त्रित) श्वेत पगड़ी रखकर अपने शरीर को (गन्ध, पुष्प एवं आभूषणों से) अलंकृत करना चाहिये। तत्पश्चात् गुरु को अपने दाहिने हाथ पर सुगन्ध-द्रव्य अथवा कुङ्कुम द्वारा मण्डल का निर्माण करना चाहिये। फिर उस पर विधिपूर्वक भगवान् शिव की पूजा करनी चाहिये। इससे वह 'शिवहस्त' हो जाता है। उस तेजस्वी शिवहस्त को शिव-मन्त्र से अपने मस्तक पर रखकर यह दृढ़ भावना करनी चाहिये कि 'मैं शिव से अभिन्न और सभी का कर्ता साक्षात् परमात्मा शिव ही हूँ। जिस समय गुरु ऐसी भावना कर ले, तत्पश्चात् वह यज्ञमण्डल में कर्मों का साक्षी, कलश में यज्ञ का रक्षक, अग्नि में हवन का अधिष्ठान, शिष्य में उसके अज्ञानमय पाश का उच्छेद करने वाला तथा अन्तरात्मा में अनुग्रहीता–इन पाँच आकारों में अभिव्यक्त ईश्वर रूप हो जाता है। गुरु इस भाव को अत्यन्त दृढ़तर कर ले कि 'वह परमेश्वर मैं ही हूँ'।।१९-२५।। तत्पश्चात् ज्ञानरूपी खड्ग हाथ में लिये गुरु को यज्ञमण्डल के नैर्ऋत्य कोण वाले भाग में उत्तराभिमुख स्थित हो, अर्घ्य, जल और पञ्चगव्य से उस मण्डप का प्रोक्षण करना चाहिये। ईक्षण आदि चतुष्पथान्त संस्कारों द्वारा उसका संस्कार करना चाहिये। फिर यज्ञमण्डप में बिखरने योग्य उपरोक्त वस्तुओं को बिखेर कर कुश की कूँची से उन सभी को बटोर ले और उनको ईशानकोण में स्थापित वर्धनी (जलपात्र) में आसन के लिये रख देना चाहिये। नैर्ऋत्यकोण में वास्तुदेवताओं का और पश्चिम द्वार पर श्रीलक्ष्मी का पूजन करना चाहिये। साथ ही यह भावना करनी चाहिये कि 'वे मण्डप रूपिणी श्रीलक्ष्मी देवी रत्नों के भण्डार से यज्ञमण्डप को परिपूर्ण कर रही है।' इस तरह ध्यान एवं आवाहन कर हृदय मन्त्र 'नमः' के द्वारा अर्थात् **'लक्ष्म्यै नमः।'** –इस मन्त्र से उनकी पूजा करनी चाहिये। इसके बाद ईशानकोण में सप्तधान्य पर स्थापित किये हुए वस्त्रवेष्टित पञ्चरत्न युक्त एवं जल से परिपूर्ण पश्चिमाभिमुख कलश पर देवाधिदेव भगवान् श्रीशिवशंकर का पूजन करना चाहिये। फिर उस कलश के दक्षिण भाग में सिंह पर विराजमान पश्चिमाभिमुखी शक्ति खड्गरूपिणी वर्धनी का पूजन करना चाहिये।।२६-३०।। तत्पश्चात् पूर्व आदि दिशाओं में इन्द्र आदि दिक्पालों को और इसके अन्त में विष्णु भगवान् का पूजन करना चाहिये। ये सबके सब प्रणवमय आसन पर विराजमान हैं तथा अपने-अपने वाहनों और आयुधों से संयुक्त हैं–ऐसी भावना करके उनके नामों के अन्त में **'नमः'** पद जोड़कर उन्हीं से उनकी पूजा करनी चाहिये। यथा–**'इन्द्राय नमः।' 'विष्णवे नमः।'** इत्यादि। पहले उपरोक्त वर्धनी को भलीभाँति

ततः स्थिरासने कुम्भे साङ्गं सम्पूज्य शङ्करम्। विन्यस्य शोध्यमध्वानं वर्धन्यामस्त्रमर्चयेत्।।३४।।
ॐ हः, अस्त्रासनाय हूं फट्। ॐ ओमस्त्रमूर्तये नमः।
ॐ हूं फट्, पाशुपतास्त्राय नमः। ॐ ॐ हृदयाय हूं फट्, नमः।ॐ श्रीं शिरसे हूं फट्, नमः।
ॐ यं शिखायै हूं फट्, नमः। ॐ गूँ कवचाय हूँ फट्, नमः। ॐ फट्, अस्त्राय हूं फट्, नमः।।३५।।
चतुर्वक्त्रं सदंष्ट्रं च स्मरेदस्त्रं सशक्तिकम्। समुद्गुरत्रिशूलासिं सूर्यकोटिसमप्रभम्।।३६।।
भगलिङ्गसमायोगं विदध्याल्लिङ्गमुद्रया। अंगुष्ठेन स्पृशेत्कुम्भं हृदा मुष्ट्याऽस्त्रवर्धनीम्।।३७।।
भुक्तये मुक्तये त्वादौ मुष्टिना वर्धनीं स्पृशेत्। कुम्भस्य मुखरक्षार्थं ज्ञानखड्गं समर्पयेत्।।३८।।
शस्त्रं च मूलमन्त्रस्य शतकुम्भे निवेशयेत्। तद्दशांशेन वर्धन्यां रक्षां विज्ञापयेत्ततः।।३९।।
यथेदं कृत (त) (?) यत्नेन भगवन्मखमन्दिरम्। रक्षणीयं जगन्नाथ सर्वाध्वरधर त्वया।।४०।।
प्रणवस्थं चतुर्बाहुं वायव्ये गणमर्चयेत्। स्थण्डिले शिवमभ्यर्च्य सार्घ्यः कुण्डं व्रजेन्नरः।।४१।।
निविष्टो मन्त्रतुष्ट्यर्थं अर्घ्यगन्धघृतादिकम्। वामे सव्ये तु विन्यस्य समिद्दर्भतिलादिकम्।।४२।।
कुण्डवह्निस्रुगाज्यादि प्राग्वत्संस्कृत्य भावयेत्। मुख्यतामूर्ध्ववक्त्रस्य हृदि वह्नौ शिवं यजेत्।।४३।।

हाथ में ले, उसको कलश के सामने की तरफ से ले जाकर प्रदक्षिण क्रम से उसके चारों तरफ घुमावे और उससे जल की अविच्छिन्न धारा गिराता रहना चाहिये। साथ ही मूलमन्त्र का उच्चारण करते हुए लोकपालों को भगवान् शिव की निम्नांकित आज्ञा सुनावे–'हे लोकपालगण! आपलोग यथाशक्ति सावधानी के साथ इस यज्ञ की रक्षा करें।' इस प्रकार आदेश दे, नीचे एक कलश रखकर उसके ऊपर उस वर्धनी को स्थापित कर देना चाहिये। तत्पश्चात् सुस्थिर आसन वाले कलश पर देवाधिदेव भगवान् श्रीशिवशंकर का साङ्ग पूजन करना चाहिये। इसके बाद कला आदि षडध्वा का न्यास करके शोधन करना चाहिये और वर्धनी में अस्त्र की पूजा करनी चाहिये।।३१-३४।। पूजा के मन्त्र इस तरह है।–'**ॐ हः अस्त्रासनाय हूं फट् नमः।**' '**ॐ ॐ अस्त्रमूर्तये हूं फट् नमः।**', '**ॐ हूं फट् पाशुपतास्त्राय नमः।**' '**ॐ ॐ हृदयाय हूं फट् नमः।**' '**ॐ श्रीं शिर से हूं फट् नमः।**' '**ॐ यं शिखायै हूं फट् नमः**'। '**ॐ शुं कवचाय हूं फट् नमः।**' '**ॐ हूं फट् अस्त्राय हूं फट् नमः।**' इसके बाद पाशुपतास्त्र के स्वरूप का इस तरह चिन्तन करना चाहिये–'उनके चार मुख हैं। प्रत्येक मुख में दाढ़ें हैं। उनके हाथों में शक्ति, मुद्गर, खड्ग और त्रिशूल हैं तथा उनकी प्रभा करोड़ों सूर्यों के समान है। इस तरह ध्यान करके लिङ्गमुद्रा के प्रदर्शन द्वारा भगलिङ्ग का समायोग करना चाहिये। हृदय-मन्त्र (नमः) का उच्चारण करते हुए अंगुष्ठ से कलश का स्पर्श करना चाहिये और मुट्ठी से खड्गरूपिणी वर्धनी का। भोग और मोक्ष की सिद्धि के लिये पहले मुट्ठी से वर्धनी का ही स्पर्श करना चाहिये। फिर कलश के मुख भाग की रक्षा के लिये उस पर उपरोक्त ज्ञान-खड्ग समर्पित करना चाहिये। साथ ही मूल-मन्त्र का एक सौ आठ बार जप करके वह जप भी कलश को निवेदन कर देना चाहिये। उसके दशमांश का जप करके वर्धनी में उसका समर्पित करना चाहिये। उसके बाद भगवान् से रक्षा के लिये याचना करनी चाहिये–'सम्पूर्ण यज्ञों को धारण करने वाले भगवान् जगन्नाथ! बड़े यत्न से इस यज्ञ-मन्दिर का निर्माण किया गया है? कृपया आप इसकी रक्षा करें'।।३५-४०।। इसके बाद वायव्यकोण में प्रणवमय आसन पर विराजमान चार भुजाधारी गणेश जी का पूजन करना चाहिये। तत्पश्चात् वेदी पर शिव का पूजन करके अर्घ्य हाथ में लिये साधक यज्ञकुण्ड के पास जाय। वहाँ बैठकर मन्त्र-देवता की तृप्ति के लिये बायें भाग में अर्घ्य, गन्ध और घृत आदि को तथा दाहिने भाग में समिधा, कुशा एवं तिल आदि को रखकर

स्वमूर्तौ शिवकुम्भे च स्थण्डिले त्वग्निशिष्ययोः।
सृष्टिन्यासेन विन्यस्य (स्याऽऽ) शोध्याध्वानं यथाविधिः।।४४।।

कुण्डमानं मुखं ध्यात्वा हृदाहुतिभिरीप्सितम्। बीजानि सप्तजिह्वानामग्नेर्होमाय भण्यते।।४५।।
विरेफावन्तिमौ वर्णो रेफषष्ठखरान्वितौ। इन्दुविन्दुशिखायुक्तौ जिह्वाबीजाद्यनुक्रमात्।।४६।।
हिरण्या, कनका रक्ता कृष्णा तदनुसुप्रभा। अतिरिक्ता बहुरूपा रुद्रेन्द्राग्न्याप्यदिङ्मुखाः (?)।।४७।।
क्षीरादिमधुरैर्होमं कुर्याच्छान्तिकपौष्टिके। अभिचारे तु पिण्याकसक्तुकञ्चुककाञ्जिकैः।।४८।।
लवणैराजिकातक्रकटुतैलैश्च कण्टकैः। समिद्भिरपि वक्त्राभिः क्रुद्धो भाष्याणुना यजेत्।।४९।।
कदम्बकलिकाहोमाद्यक्षिणी सिद्ध्यति ध्रुवम्। बन्धूककिंशुकादीनि वश्याकर्षाय होमयेत्।।५०।।
बिल्वं राज्याय लक्ष्म्यर्थं पाटलांश्चम्पकानपि। पद्मानि चक्रवर्तित्वे भक्ष्यभोज्यानि संपदे।।५१।।
दूर्वा व्याधिविनाशाय सर्वसत्त्ववशीकृते। प्रियंगुपाटलीपुष्पं चूतपत्रं ज्वरान्तकम्।।५२।।
मृत्युञ्जयो मृत्युजित्स्याद् वृद्धिः स्यात्तिलहोमतः। रुद्रशान्तिः सर्वशान्त्या अथ प्रस्तुतमुच्यते।।५३।।

कुण्ड, अग्नि, स्रुक् तथा घृत आदि का पूर्ववत् संस्कार करके, हृदय में ऊर्ध्व मुख अग्नि की प्रधानता का चिन्तन करना चाहिये तथा अग्नि में भगवान् शिव का पूजन करना चाहिये। फिर गुरु अपने शरीर में, शिवकलश में, मण्डल में, अग्नि और शिष्य की देह में सृष्टिन्यास की विधि से न्यासकर्म का निष्पादन करके अध्वा का विधिपूर्वक शोधन करने के पश्चात् कुण्ड की लम्बाई चौड़ाई का चिन्तन करके अग्निजिह्वाओं के नाम के मन्त्र के अन्त में 'नमः' (एवं स्वाहा') बोलकर अभीष्ट वस्तु की आहुतियाँ देते हुए श्रीअग्नि देव को तृप्त करना चाहिये। अग्नि की सात जिह्वाओं के सात बीज हैं। हवन के लिये उनका परिचय दिया जाता है।।४१-४५।। रेफहीन अन्तिम दो वर्णों के सभी (अर्थात् सात) अक्षर यदि रकार और छठे स्वर (ऊ) पर आरूढ़ हों और उनके भी ऊपर चन्द्र बिन्दुरूप शिखा हो, तो वे ही अग्नि की सात जिह्वाओं के क्रमशः सात बीज मन्त्र हैं। (यथा—य्रूँ ल्रूँ व्रूँ श्रूँ ष्रूँ स्रूँ ह्रूँ) अग्नि की सात जिह्वाओं के नाम इस तरह हैं— हिरण्या, कनका, रक्ता, कृष्णा, सुप्रभा, अतिरक्ता तथा बहुरूपा। ईशान, पूर्व, अग्नि, नैर्ऋत्य, पश्चिम, वायव्य तथा मध्य दिशा में क्रमशः इनके मुख हैं। (अर्थात् एक त्रिभुज के ऊपर दूसरा त्रिभुज बनाने से जो छः कोण बनते हैं, वे क्रमशः ईशान, पूर्व, अग्नि, नैर्ऋत्य, पश्चिम तथा वायव्यकोण में स्थित होते हैं। अग्नि की हिरण्या आदि छः जिह्वाओं को इन्हीं छः कोणों में स्थापित करना चाहिये तथा अन्तिम जिह्वा 'बहुरूपा' को मध्य में)।।४६-४७।। शान्तिक एवं पौष्टिक कर्म में खीर आदि मधुर पदार्थों द्वारा हवन करना चाहिये। परन्तु अभिचार कर्म में सरसों की खली, सत्तू, जौ की काँजी, नमक, राई, मट्ठा, कड़वा तेल, काँटे तथा टेढ़ी-मेढ़ी समिधाओं द्वारा क्रोधपूर्वक भाष्याणु (भाष्यमन्त्र) से हवन करना चाहिये। कदम्बक कलिकाओं द्वारा हवन करने से निश्चय ही यक्षिणी सिद्ध हो जाती है। वशीकरण और आकर्षण की सिद्धि के लिये बन्धूक (दुपहरिया) और पाश के फूलों का हवन करना चाहिये। राज्य लाभ के लिये बिल्वफल का और श्रीलक्ष्मी की प्राप्ति के लिये पाटल (पाड़र) एवं चम्पा के फूलों का हवन करना चाहिये। चक्रवर्ती सम्राट् का पद पाने के लिये कमलों का तथा सम्पत्ति के लिये भक्ष्य-भोज्य पदार्थों का हवन करना चाहिये। दूर्वा का हवन किया जाय तो उससे व्याधियों का विनाश होता है। समस्त जीवों को वश में करने के लिये विद्वान् पुरुष को प्रियङ्गु तथा कदली के पुष्पों का हवन करना चाहिये। आम के पत्ते का हवन ज्वर का नाशक होता है।।४८-५२।। मृत्युञ्जय देवता या मन्त्र का उपासक मृत्युविजयी होता है। तिल का हवन करने से

आहुत्यष्टशतैर्मूलमङ्गानि तु दशांशतः। संतर्पयेत् मूलेन दद्यात्पूर्णां यथा पुरा॥५४॥
तथा शिष्यप्रवेशाय प्रतिशिष्यं शतं जपेत्। दुर्निमित्तापसाराय सुनिमित्तकृते तथा॥५५॥
शतद्वयं च होतव्यं मूलमन्त्रेण पूर्ववत्। मूलाद्यष्टास्त्रमन्त्राणां स्वाहान्तैस्तर्पणं सकृत्॥५६॥
शिखासम्पुटितैर्बीजैर्हूंफण्डन्तैश्च दीपनम्। ॐ हौं शिवाय स्वाहा इत्यादिमन्त्रैश्च तर्पणम्॥५७॥

ॐ ह्रूं ह्रौं ह्रीं शिवाय ह्रूँ फडित्यादि (च) दीपनम्।

ततः शिवाम्भसा स्थालीं क्षालितां वर्मगुण्ठिताम्॥५८॥

चन्दनादिसमालब्धां बध्नीयात्कटकं गले। वर्मास्त्रजप्तसद्दर्भपत्राभ्यां चरुसिद्धये॥५९॥
धर्माद्यैरासने दत्ते सार्धेन्दुकृतमण्डले। न्यस्तायां मूर्तिभूतायां भावपुष्पैः शिवं यजेत्॥६०॥
वस्त्रबद्धमुखायां वा स्थाल्यां पुष्पैर्बहिर्भवैः। चुल्ल्यां पश्चिमवक्त्रायां शुद्धायां वीक्षणादिभिः॥६१॥
न्यस्ताहंकारबीजायां न्यस्तायां कुण्डदक्षिणे। धर्माधर्मशरीरायां जप्तायां मानुषात्मना॥६२॥
स्थालीमारोपयेदस्त्रजप्तां गव्याम्बुमार्जिताम्। गव्यं पयोऽस्त्रसंशुद्धं प्रासादशतमन्त्रितम्॥६३॥
तण्डुलान्श्यामकादीनां निक्षिपेत्तत्र तद्यथा। एकशिष्यविधानाय तेषां प्रसृतिपञ्चकम्॥६४॥

अभ्युदय की प्राप्ति हो जाती है। रुद्रशान्ति समस्त दोषों की शान्ति करने वाली होती है। वे अधुना प्रस्तुत प्रसंग को पुनः प्रारम्भ करते हैं॥५३॥ एक सौ आठ आहुतियों से मूल का और उसके दशांश आहुतियों से अङ्गों का तर्पण करना चाहिये। यह हवन अथवा तर्पण मूल मन्त्र से ही करना चाहिये। फिर पूर्ववत् पूर्णाहुति देनी चाहिये। शिष्यों का दीक्षा में प्रवेश कराने के लिये प्रत्येक शिष्य के निमित्त मूलमन्त्र का सौ बार जप करना चाहिये। साथ ही दुर्निमित्तों का निवारण तथा शुभ निमित्तों की सिद्धि के लिये मूलमन्त्र से पूर्ववत् दो सौ आहुतियाँ देनी चाहिये। पहले बताये हुए जो अस्त्र-सम्बन्धी आठ मन्त्र हैं, उनके आदि में मूल और अन्त में 'स्वाहा' जोड़कर पाठ करते हुए एक-एक तर्पण करना चाहिये। मूल-मन्त्र में जो बीज हों, उनको 'शिखा' (वषट्) से सम्पूटित करके अन्त में 'हूं फट्' जोड़कर जप करना चाहिये तो उससे मन्त्र का दीपन होता है। '**ॐ हूं शिवाय स्वाहा।**' इत्यादि मन्त्रों से तर्पण किया जाता है। इसी तरह '**ॐ ॐ शिवाय हूं फट्।**' इत्यादि दीपन-मन्त्र हैं॥५४-५७॥ तत्पश्चात् शिव-मन्त्र से अभिमन्त्रित जल से धोयी हुई बटलोई को कवच-मन्त्र से अवगुण्ठित करके उसमें रोली-चन्दन आदि लगा देना चाहिये। फिर उसके गले में '**हूं फट्**' मन्त्र से अभिमन्त्रित श्रेष्ठतम कुश और सूत्र बाँध देना चाहिये। इससे चरु की सिद्धि होती है। फिर धर्म आदि चार पायों से युक्त चौकी आदि का आसन देकर उसके ऊपर बने हुए अर्धचन्द्राकार मण्डल में उस बटलोई को रखे तथा उसको आराध्यदेवता की मूर्ति मानकर उसके ऊपर भावात्मक पुष्पों से भगवान् शिव का पूजन करना चाहिये। अथवा उस बटलोई के मुख को वस्त्र से बाँध दे और उस पर बाह्यपुष्पों से शिव का पूजन करना चाहिये। इसके बाद पश्चिमाभिमुख रखे हुए चूल्हे को देख-भालकर शुद्ध करके उसमें अहंकार-बीज का न्यास करना चाहिये। तत्पश्चात् उसको कुण्ड के दक्षिण भाग में रखे और यह भावना करनी चाहिये कि 'इस चूल्हे का शरीर धर्माधर्ममय है।' फिर उसकी शुद्धि के लिये उसके स्पर्शपूर्वक अस्त्र-मन्त्र का जप करना चाहिये। इसके बाद अस्त्र-मन्त्र (फट्) के जप से अभिमन्त्रित गाय के घी से मार्जित हुई उस बटलोई को चूल्हे पर चढ़ावे॥५८-६२॥ उसमें अस्त्र-मन्त्र से शुद्ध किये हुए गोदुग्ध को सौ बार प्रासाद-मन्त्र (हौं) से अभिमन्त्रित करके डालना चाहिये। फिर उस दूध में साँवा आदि के चावल छोड़े। उसकी मात्रा इस तरह है—एक शिष्य की दीक्षा विधि के लिये पाँच पसर चावल डाले और

प्रसृतिं प्रसृतिं पश्चाद्वर्धयेद्द्वयादिषु क्रमात्। कुर्याच्चानलमन्त्रेण विधानं कवचाणुना॥६५॥
शिवाग्नौ मूलमन्त्रेण पूर्वास्यश्चरुकं यजेत्। सुस्विन्ने तत्र तच्चुल्ल्यां स्रुवमापूर्य सर्पिषा॥६६॥
स्वाहान्तैः संहितामन्त्रैर्दत्त्वा तप्ताभिधारणम्। संस्थाप्य मण्डले स्थालीं सदर्भेऽस्त्राणुनाकृते॥६७॥
प्रणवेन पिधायास्यां तद्देहलेपनं हृदा। सुशीतलो भवत्येवं प्राप्य शीताभिधारणम्॥६८॥
विदध्यात्संहितामन्त्रैः शिष्यं प्रति सकृत्सकृत्। धर्माद्यासनके हुत्वा कुण्डमण्डलपश्चिमे॥६९॥
संपातं च स्रुचा हुत्वा संहितयाऽऽचरेत्। चरुकं सकृदालभ्य तयैव वषडन्तया॥७०॥
धेनुमुद्रामृतीभूतं स्थण्डिले शान्तिकं नयेत्। साज्यभागं स्वशिष्याणां भागो देवाय वह्नये॥७१॥
कुर्यात्तु लोकपालादेः समध्वाज्यमिदं त्रयम्। नमोऽन्तेन हृदा दद्यात्तेनैवाऽऽचमनीयकम्॥७२॥
साज्यं मन्त्रशतं हुत्वा दद्यात्पूर्णां यथाविधि। मण्डलं कुण्डतः पूर्वे मध्ये वा शंभुकुम्भयोः॥७३॥
रुद्रमातृगणादीनां निर्वर्त्यान्तर्बलिं हृदा। शिवमध्येऽथ लब्धाज्ञो विधायैकत्वभावनाम्॥७४॥
सर्वज्ञतादियुक्तोऽहं समन्ताच्चोपरिस्थितः। ममांशो योजनास्थानमधिष्ठाताऽहमध्वरे॥७५॥
शिवोऽहमित्यहंकारी निष्क्रमेद्यागमण्डपात्। न्यस्तपूर्वाग्रसंदर्भे शस्त्राणकृतमण्डले॥७६॥

दो-तीन आदि जितने शिष्य बढ़ें, उन सभी के लिये क्रमशः एक-एक पसर चावल बढ़ाता जाय। फिर अस्त्र-मन्त्र से आग जलावे एवं कवच-मन्त्र (हुम्) से बटलोई को ढक देना चाहिये। साधक पूर्वाभिमुख हो कथित शिवाग्नि में मूल-मन्त्र के उच्चारणपूर्वक चरु को पकावे। जिस समय वह अच्छी तरह सीझ जाय, तत्पश्चात् वहाँ स्रुवा को घी से भरकर स्वाहान्त संहिता-मन्त्रों द्वारा उस चूल्हें में ही 'तप्ताधिधार' नामक आहुति देनी चाहिये। तत्पश्चात् मण्डल में चरु-स्थाली को रखकर अस्त्र-मन्त्र से उस पर कुश रख देना चाहिये। इसके बाद प्रणव से चूल्हे में उल्लेखन और हृदय-मन्त्र से लेपन करके पूर्ववत् 'तप्ताधिधार' के स्थान में 'सीताधिधार' नामक आहुति देनी चाहिये। इस तरह चूल्हा शीतल होता है। सीताधिधार आहुति की विधि यह है कि संहिता-मन्त्रों के अन्त में 'वौषट्' पद जोड़कर उसके द्वारा कुण्ड-मण्डप के पश्चिम भाग में आदि के आसन पर प्रत्येक शिष्य के निमित्त से एक-एक आहुति देनी चाहिये। फिर स्रुक द्वारा सम्पात-हवन करने के पश्चात् संहिता-मन्त्र से शुद्धि करनी चाहिये। फिर अन्त में 'वषट्' लगे हुए उसी संहिता मन्त्र द्वारा एक बार चरु लेकर धेनुमुद्रा द्वारा उसका अमृतीकरण करना चाहिये। इसके बाद वेदी पर उसके द्वारा शान्ति हवन करना चाहिये॥६३-७०॥ तत्पश्चात् गुरु अपने शिष्यों के लिये, श्रीअग्नि देवता के लिये तथा लोकपालों के लिये घृतसहित भाग नियत करना चाहिये। ये तीनों भाग समान घी से युक्त होते हैं। इन सभी के नाम-मन्त्रों के अन्त में 'नमः' पद लगाकर उनके द्वारा उनका भाग अर्पित करना चाहिये और उसी मन्त्र से उनको आचमनीय निवेदित करना चाहिये। उसके बाद मूल-मन्त्र से एक सौ आठ आहुति देकर विधिवत् पूर्णाहुति हवन करना चाहिये। इसके बाद मण्डल के अन्दर कुण्ड के पूर्वभाग में अथवा शिव एवं कुण्ड के मध्यभाग में हृदय-मन्त्र से रुद्र-मातृकागण आदि के लिये अन्तर्बलि अर्पित करना चाहिये। फिर शिव का आश्रय ले, उनकी आज्ञा पाकर एकत्व की भावना करते हुए इस तरह चिन्तन करना चाहिये-'मैं सर्वज्ञता आदि गुणों से युक्त और समस्त अध्वाओं के ऊपर विराजमान शिव हूँ। यह यज्ञ स्थान मेरा अंश है। मैं यज्ञ का अधिष्ठाता हूँ' इस प्रकार अहंकार-शिव से अपने ऐकात्म्य-बोधपूर्वक गुरु यज्ञ मण्डप से बाहर निकले॥७१-७५॥ फिर अस्त्र-मन्त्र (फट्) द्वारा निर्मित मण्डल में पूर्वाग्र श्रेष्ठतम कुश बिछाकर, उसमें प्रणवमय आसन की भावना करके, उसके ऊपर स्नान किये हुए शिष्य को बिठावे। उस समय शिष्य को श्वेत वस्त्र

प्रणवासनके शिष्यं शुक्लवस्त्रोत्तरीयकम्। स्नातं चोदङ्मुखं मुक्त्यै पूर्ववक्त्रं तु भुक्तये।।७७।।
ऊर्ध्वकायं समारोप्य पूर्वास्यं प्रविलोकयेत्। चरणादिशिखां यावन्मुक्तौ भुक्तौ विलोमतः।।७८।।
चक्षुषा सप्रसादेन शैवं धाम विवृण्वता। अस्त्रोदकेन संप्रोक्ष्य मन्त्राम्बुस्नानसिद्धये।।७९।।
भस्मास्नानाय विघ्नानां शान्तये पापभित्तये। सृष्टिसंहारयोगेन (ण) ताडयेदस्त्रभस्मना।।८०।।
पुनरस्त्राम्बुना प्रोक्ष्य सकलीकरणाय तम्। नाभेरूर्ध्वं कुशाग्रेण मार्जनीयास्त्रमुच्चरन्।।८१।।
त्रिधाऽलभेत तन्मूलैरघमर्षाय नाभ्यधः। द्वैविध्याय च पाशानामालभेत शराणुना।।८२।।
तच्छरीरे शिवं साङ्गं सासनं विन्यसेत्ततः। पुष्पादिपूजितस्यास्य नेत्रे नेत्रेण वा हृदा।।८३।।
बद्ध्वा मन्त्रितवस्त्रेण सितेन सदशेन च। प्रदक्षिणक्रमादेनं प्रवेश्य शिवदक्षिणम्।।८४।।
सवस्त्रमासनं दद्याद्यथावर्ण निवेदयेत्। संहारमुद्रयाऽऽत्मानं मूर्त्या तस्य हृदम्बुजे।।८५।।
निरुध्य शोधिते काये न्यासं कृत्वा तमर्चयेत्। पूर्वाननस्य शिष्यस्य मूलमन्त्रेण मस्तके।।८६।।

और श्वेत उत्तरीय धारण किये रहना चाहिये। यदि वह मुक्ति का इच्छुक हो, तो उसका मुख उत्तर दिशा की तरफ होना चाहिये और यदि वह भोग का अभिलाषी हो, तो उसको पूर्वाभिमुख बिठाना चाहिये। शिष्य के शरीर का घुटनों से ऊपर का ही भाग उस प्रणवासन पर स्थित रहना चाहिये, नीचे का भाग नहीं। इस तरह बैठे हुए शिष्य की तरफ गुरु पूर्वाभिमुख होकर बैठे।। मोक्षरूपी प्रयोजन की सिद्धि के लिये शिष्य के पैरों से लेकर शिखा तक के अङ्गों का क्रमशः निरीक्षण करना चाहिये और यदि भोगरूपी प्रयोजन की सिद्धि अभीष्ट हो, तो इसके विपरीत क्रम से शिष्य के अंगों पर दृष्टिपात करना उचित है, अर्थात् उस दशा में शिखा से लेकर पैरों तक के अंगों का क्रमशः निरीक्षण करना चाहिये। उस समय गुरु की दृष्टि में शिष्य के प्रति कृपाप्रसाद भरा हो और वह दृष्टि शिष्य के समक्ष शिव के ज्योतिर्मय स्वरूप को अनावृत रूप से अभिव्यक्त कर रही हो। इसके बाद अस्त्र-मन्त्र से अभिमन्त्रित जल से शिष्य का प्रोक्षण और उसी मन्त्र से ही यह स्नान सम्पन्न हो जाता है। उसके बाद विघ्नों की शान्ति और पापों के विनाश के लिये भस्म-स्नान कराये। इसकी विधि इस प्रकार है—अस्त्र-मन्त्र द्वारा अभिमन्त्रित भस्म लेकर उसके द्वारा शिष्य को सृष्टि-विनाश-योग से ताडित करना चाहिये (अर्थात् ऊपर से नीचे तथा नीचे से ऊपर तक अनुलोम-विलोम-क्रम से उसके ऊपर भस्म छिड़के)।।७८-८०।। फिर सकलीकरण के लिये पूर्ववत् अस्त्र-जल से शिष्य का प्रोक्षण करके उसकी नाभि से ऊपर के भाग में अस्त्र-मन्त्र का उच्चारण करते हुए कुशाग्र से मार्जन करना चाहिये और हृदय-मन्त्र का उच्चारण करके पापों के विनाश के लिये उपरोक्त कुशों के मूलभाग से नाभि के नीचे के अंगों का स्पर्श करना चाहिये। साथ ही समस्त पाशों को दो टुक करने के लिये पुनः अस्त्र-मन्त्र से उन्हीं कुशों द्वारा यथोक्त रूप से मार्जन एवं स्पर्श करना चाहिये। तत्पश्चात् शिष्य के शरीर में आसन सहित साङ्ग-शिव का न्यास करना चाहिये। न्यास के पश्चात् शिव की भावना से ही पुष्प आदि द्वारा उसका पूजन करना चाहिये। इसके बाद नेत्र-मन्त्र (वौषट्) अथवा हृदय-मन्त्र (नमः) से शिष्य के दोनों नेत्रों में श्वेत, कोरदार एवं अभिमन्त्रित वस्त्र से पट्टी बाँध दे और प्रदक्षिण क्रम से उसको शिव के दक्षिण पार्श्व में ले जाय। वहाँ षडुधव (छहों अध्वाओं से ऊपर उठा हुआ अथवा उन छहों से उत्पन्न) आसन देकर यथोचित विधि से शिष्य को उस पर बिठावे।।८१-८४।। संहारमुद्रा द्वारा शिवमूर्ति से एकीभूत अपने-आपको उसके हृदय-कमल में अवरुद्ध करके उसका काय-शोधन करना चाहिये। तत्पश्चात् न्यास करके उसकी पूजा करनी चाहिये। पूर्वाभिमुख शिष्य के मस्तक पर मूल-मन्त्र से शिवहस्त रखना चाहिये, जो रुद्र एवं ईश का पद सम्प्रदान करने वाला है। इसके बाद शिव-मन्त्र से शिष्य के हाथ में शिव की सेवा की प्राप्ति के उपाय स्वरूप पुष्प दे और

शिवहस्तं प्रदातव्यं रुद्रेशपददायकम् (?)। शिवसेवाग्रहोपायं दत्तहस्तं शिवाणुना।।८७।।
शिवे प्रक्षेपयेत्पुष्पमपनीयार्चकान्तरम्। तत्पात्रस्थानमन्त्राढ्यं शिवदेवगणानुगम्।।८८।।
विप्रादीनां क्रमान्नाम कुर्याद्वा स्वेच्छया गुरुः। प्रणतिं कुम्भवर्धन्योः कारयित्वाऽनलान्तिके।।८९।।
सदक्षिणासने तद्वत्सौम्यास्यमुपवेशयेत्। शिष्यदेहविनिष्क्रान्तां सुषुम्नामिव चिन्तयेत्।।९०।।
निजविग्रहलीनां च दर्भमूलेन मन्त्रितम्। दर्भाग्रं दक्षिणे तस्य विधाय करपल्लवे।।९१।।
तन्मूलमात्मजङ्घायामग्रं चेति शिखिध्वज। शिष्यस्य हृदयं गत्वा रेचकेन शिवाणुना।।९२।।
पूरकेण समागत्य स्वकीयं हृदयान्तरम्। शिवाग्निना पुनः कृत्वा नाडीसंधानमीदृशम्।।९३।।
हृदा तत्संनिधानार्थं जुहुयादाहुतित्रयम्। शिवहस्तस्थिरत्वार्थं शतं मूलेन होमयेत्।।९४।।
इत्थं समयदीक्षायां भवेद्योग्यो भवार्चने।।९५।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते समयदीक्षाविधिकथनं नामैकाशीतितमोऽध्यायः।।८१।।

उसको शिव पर ही चढ़वावे। उसके बाद गुरु को उसके नेत्रों में बँधे हुए वस्त्र को हटाकर उसके लिये शिवदेवगणाङ्कित स्थान, मन्त्र, नाम आदि की उद्भावना करनी चाहिये, अथवा अपनी इच्छा से ही ब्राह्मण आदि वर्णों के क्रमशः नामकरण करना चाहिये।।८५-८८।। शिव-कलश तथा वर्धनी को नमस्कार करवाकर अग्नि के सन्निकट अपने दाहिने आसन पर पूर्ववत् उत्तराभिमुख शिष्य को बिठावे और यह भावना करनी चाहिये कि 'शिष्य के शरीर से सुषुम्णा निकलकर मेरे शरीर में विलीन हो गयी है।' हे स्कन्द! इसके बाद मूलमन्त्र से अभिमन्त्रित दर्भ लेकर उसके अग्रभाग को तो शिष्य के दाहिने हाथ में रखे और मूल भाग को अपनी जंघा पर। अथवा अग्रभाग को ही अपनी जंघा पर रखे और मूलभाग को शिष्य के दाहिने हाथ में।।८९-९१।। शिव-मन्त्र द्वारा रेचक प्राणायाम की क्रिया करते हुए शिष्य के हृदय में प्रवेश की भावना करके पुनः उसी मन्त्र से पूरक प्राणायाम द्वारा अपने हृदयाकाश में लौट आने की भावना करनी चाहिये। फिर शिवाग्नि से इसी तरह नाडी-संधान करके उसके संनिधान के लिये हृदय-मन्त्र से तीन आहुतियाँ देनी चाहिये। शिवहस्त की स्थिरता के लिये मूल-मन्त्र से एक सौ आहुतियों का हवन करना चाहिये। इस तरह करने से शिष्य समय-दीक्षा में संस्कार के योग्य हो जाता है।।९२-९५।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी इक्यासिवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।८१।।

❖❖❖

अथ द्व्यशीतितमोऽध्यायः

संस्कारदीक्षाविधिः

ईश्वर उवाच

वक्ष्ये संस्कारदीक्षाया विधानं शृणु षण्मुख। आवाहयेन्महेशस्य वह्निस्थस्य शिवौ हृदि।।१।।
संश्लिष्टौ तौ समभ्यर्च्य संतर्प्य हृदयाणुना। तयोः संनिधये दद्यात्तेनैवाऽऽहुतिपञ्चकम्।।२।।
कुसुमेनास्त्रलिप्तेन ताडयेत्तं हृदा शिशुम्। प्रस्फुरत्तारकाकारं चैतन्यं तत्र भावयेत्।।३।।
प्रविश्य तत्र हुंकारमुक्तं रेचकयोगतः। संहारिण्या तदाहृष्य पूरकेण हृदि न्यसेत्।।४।।
ततो वागीश्वरीं योनौ मुद्रयोद्भवसंज्ञया। हृत्संपुटितमन्त्रेण रेचकेन विनिक्षिपेत्।।५।।

ॐ हां हां हामात्मने नमः।।६।।

जाज्वल्यमाने निर्धूमे जुहुयादिष्टसिद्धये। अप्रवृद्धे सधूमे तु होमो वह्नौ न सिद्ध्यति।।७।।
स्निग्धः प्रदक्षिणावर्तः सुगन्धिः शस्यतेऽनलः। विपरीतः स्फुलिङ्गी च भूमिस्पृङ्न प्रशस्यते।।८।।
इत्येवमादिभिश्चिह्नैर्हुत्वा शिष्यस्य कल्मषम्। पापभक्षणहोमेन दहेद्वातं भवात्मना।।९।।

अध्याय-८२

संस्कार-दीक्षा विधान

भगवान् शिव ने कहा कि–हे षडानन! अधुना मैं संस्कार-दीक्षा की विधि का वर्णन करने जा रहा हूँ, सुनो–अग्नि में स्थित महेश्वर के शिवा-शिवमय (अर्धनारीश्वर) रूप का अपने हृदय में आवाहन करना चाहिये। शिव और शिवा दोनों एक शरीर में ही परस्पर सटे हुए हैं–इस तरह ध्यान द्वारा देखकर उनका पूजन करके हृदय-मन्त्र से संतर्पण करना चाहिये। फिर उनके संनिधान के लिये हृदय-मन्त्र से ही अग्नि में पाँच आहुतियाँ देनी चाहिये। उसके बाद अस्त्र मन्त्र से अभिमन्त्रित पुष्प द्वारा शिष्य के हृदय में ताड़ना दे, अर्थात् उसके वक्ष पर उस फूल को फेंके। फिर उसके अन्दर प्रकाशमान नक्षत्र की आकृति में चैतन्य (जीव) की भावना करनी चाहिये। तत्पश्चात् हुंकारयुक्त रेचक प्राणायाम के योग से शिष्य के हृदय में भावना द्वारा प्रवेश करके संहारिणी मुद्रा द्वारा उस जीव चैतन्य को वहाँ से खींचकर पूरक प्राणायाम के योग से उसको अपने हृदय में स्थापित करना चाहिये।।१-४।।

तत्पश्चात् 'उद्भव' नामक मुद्रा का प्रदर्शन करके हृत्सम्पुटित आत्ममन्त्र का उच्चारण करते हुए रेचक प्राणायाम के सहयोग से उसका वागीश्वरी देवी की योनि में भावना द्वारा आधान करना चाहिये। कथित मन्त्र का स्वरूप इस तरह है–**ॐ हां हां हामात्मने नमः**। इसके बाद अत्यन्त प्रज्वलित एवं धूम हीन अग्नि में अभीष्ट सिद्धि के लिये आहुति देनी चाहिये। अप्रज्वलित तथा धूमयुक्त अग्नि में किया गया हवन सफल नहीं होता है। यदि अग्नि की लपटें दक्षिणावर्त उठ रही हों, उससे श्रेष्ठतम गन्ध प्रकट हो रही हो तथा वह अग्नि सुस्निग्ध प्रतीत होती हो, तो उसको श्रेष्ठ बतलाया गया है। इसके विपरीत जिस अग्नि से चिनगारियाँ छूटती हों तथा जिसकी लपट धरती को हो चूम रही हो, उसको श्रेष्ठतम नहीं कहा गया है।।५-८।। इस तरह के चिह्नों से शिष्य के पाप को जानकर उसका हवन कर दे, अथवा

द्विजत्वापादनार्थाय तथा रुद्रांशभावने। आहारबीजसंशुद्धौ गर्भाधानाय संस्थितौ।।१०।।
सीमन्ते जन्मतो नामकरणाय च होमयेत्। शतानि पञ्चमूलेन वौषडादिदशांशतः।।११।।
शिथिलीभूतबन्धस्य शक्तावुत्कर्षणं च यत्। आत्मनो रुद्रपुत्रत्वं गर्भाधानं तदुच्यते।।१२।।
स्वातन्त्र्यात्मगुणव्यक्तिरिह पुंसवनं मतम्। मायात्मनोर्विवेकेन ज्ञानं सीमन्तवर्धनम्।।१३।।
शिवादितत्त्वशुद्धेस्तु स्वीकारो जननं मतम्। बोधनं यच्छिवत्वेन शिवत्वार्हस्य नो मतम्।।१४।।
संहारमुद्रयाऽऽत्मानं स्फुरद्वह्निकणोपमम्। विदधीत समादाय निजे हृदयपंकजे।।१५।।
ततः कुम्भकयोगेन मूलमन्त्रमुदीरयेत्। कुर्यात्समरसीभावं तदा च शिवयोर्हृदि।।१६।।
ब्रह्मादिकारणत्यागक्रमाद्रेचकयोगतः। नीत्वा शिवान्तमात्मानमादायोद्भवमुद्रया।।१७।।
हृत्संपुटितमन्त्रेण रेचकेन विधानवित्। शिष्यस्य हृदयाम्भोजकर्णिकायां विनिक्षिपेत्।।१८।।
पूजां शिवस्य वह्नेश्च गुरुः कुर्यात्तदोचिताम्। प्रणतिं चाऽऽत्मने शिष्यं समयाञ्श्रावयेत्तथा।।१९।।
देवं न निन्देच्छास्त्राणि निर्माल्यादि न लङ्घयेत्। शिवाग्निगुरुपूजा च कर्तव्या जीविताविधि।।२०।।
बालबालिशवृद्धस्त्रीभोगभुग्व्याधितात्मनाम्। यथाशक्ति ददीतार्थं समर्थस्य समग्रकान्।।२१।।

पाप-भक्षण-निमित्तक हवन से उस पाप को जला डालना चाहिये। फिर नूतन रूप से उसमें द्विजत्व की प्राप्ति, रुद्रांश की भावना, आहार और बीज की शुद्धि, गर्भाधान, गर्भ-स्थिति (पुंसवन) सीमन्तोन्नयन, जातकर्म तथा नामकरण के लिये पृथक्-पृथक् मूल-मन्त्र से एक सौ पाँच-पाँच आहुतियाँ दे तथा चूडाकर्म आदि के लिये इनकी अपेक्षा दशमांश आहुतियाँ सम्प्रदान करनी चाहिये। इस तरह जिसका बन्धन शिथिल हो गया है, उस जीवात्मा के अन्दर जो शक्ति का उत्कर्ष होता है, वही उसके रुद्र पुत्र होने में निमित्त बनकर 'गर्भाधान' कहलाता है। स्वतन्त्रापूर्वक उसमें जो आत्म गुणों की अभिव्यक्ति होती है, उसी को यहाँ 'पुंसवन' माना गया है। माया और आत्मा-दोनों एक-दूसरे से पृथक् हैं, इस तरह जो विवेक-ज्ञान उत्पन्न होता है, उसी का नाम यहाँ 'सीमन्तोन्नयन' है।।९-१३।।

शिव आदि शुद्ध सद्वस्तु को स्वीकार करना 'जन्म' माना गया है। मुझमें शिवत्व है अथवा मैं शिव हूँ, इस तरह जो बोध होता है, वही शिवत्व के योग्य शिष्य का 'नामकरण' है। विनाश मुद्रा से प्रकाशमान अग्निकण के समान प्रतीत होने वाले जीवात्मा को लेकर अपने हृदयकमल में स्थापित करना चाहिये। उसके बाद कुम्भक प्राणायाम के योगपूर्वक मूल-मन्त्र का उच्चारण करते हुए उस समय हृदय के अन्दर शक्ति और शिव की समरसता का निष्पादन करना चाहिये।।१४-१६।।

ब्रह्मा आदि कारणों का क्रमशः त्याग करते हुए रेचक-योग से जीवात्मा को शिव के सन्निकट ले जाकर फिर उद्भव मुद्रा के द्वारा उसको वापस ले ले और उपरोक्त हृत्सम्पुटित आत्ममन्त्र द्वारा रेचक प्राणायाम करते हुए विधान वेत्ता गुरु को शिष्य के हृदय-कमल की कर्णिका में उस जीवात्मा को स्थापित कर देना चाहिये। इसके बाद गुरु को शिव और अग्नि की तत्कालोचित पूजा करनी चाहिये और शिष्य से अपने लिये नमस्कार करवाकर उसको समयाचार का उपदेश देना चाहिये। वह उपदेश इस तरह है-'इष्ट देवता (शिव) की कभी निन्दा नहीं करना चाहिये; शिव-सम्बन्धी शास्त्रों की भी कभी निन्दा नहीं करना चाहिये; शिव-सम्बन्धी शास्त्रों की कभी न लाँघे। जीवन-पर्यन्त शिव, अग्नि तथा गुरुदेव की पूजा करते रहना चाहिये। बालक, मूढ़, वृद्ध, स्त्री, भोगार्थी (भूखे) तथा रोगी मनुष्यों को यथाशक्ति धन आदि आवश्यक वस्तुएँ देना चाहिये' सक्षम पुरुष के लिये सब कुछ दान करने का नियम बतलाया गया है।।१७-२१।।

व्रताङ्गानि जटाभस्मदण्डकौपीनसंयमान्। ईशानाद्यैर्वा हृदाद्यैर्वा परिजप्य यथाक्रमात्।।२२।।
स्वाहान्तसंहितामन्त्रैः पात्रेष्वारोप्य पूर्ववत्। संपाताभिहुतं हुत्वा स्थण्डिलेशाय दर्शयेत्।।२३।।
रक्षणाय घटाधस्तादारोप्य क्षणमात्रकम्। शिवादाज्ञां समादाय ददीत व्रतिने गुरुः।।२४।।
एवं समयदीक्षायां विशिष्टायां विशेषतः। वह्निहोमागमज्ञानयोग्यः संजायते शिशुः।।२५।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गति संस्कारदीक्षाविधिकथनं नाम द्व्यशीतितमोऽध्यायः।।८२।।

व्रत के अंगभूत जटा, भस्म, कौपीन एवं संयमपोषक अन्य वस्तुओं को ईशान आदि नामों से अथवा उनके आदि में 'नमः' लगाकर उन नाम-मन्त्रों से क्रमशः अभिमन्त्रित करके स्वाहान्त संहिता-मन्त्रों का पाठ करते हुए उनको पात्रों में रखे और पूर्ववत् सम्पाताभिहत (संस्कार विशेषण से संस्कृत) करके स्थण्डिलेश (वेदी पर स्थापितपूजित भगवान् शिव) के समक्ष उपस्थित करना चाहिये। इनकी रक्षा के लिये क्षणभर कलश के नीचे रखे। इसके बाद गुरु को शिव से आज्ञा लेकर कथित सभी वस्तुएँ व्रतधारी शिष्य को अर्पित करना चाहिये।।२२-२४।। इस तरह विशेष रूप से विशिष्ट समय-दीक्षा-सम्पन्न हो जाने पर शिष्य अग्नि हवन तथा आगम ज्ञान के योग्य हो जाता है।।२५।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी बयासीवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।८२।।

❖❖❖

अथ त्र्यशीतितमोऽध्यायः

निर्वाणदीक्षाविधिः

ईश्वर उवाच

अथ निर्वाणदीक्षायां कुर्यान्मूलादिदीपनम्। पाशबन्धनशक्त्यर्थं ताडनादिकृतेन वा।।१।।
एकैकया तदाहुत्या प्रत्येकं तत्त्रयेण वा। बीजगर्भशिखार्धं तु हूंफडन्तध्रुवादिना।।२।।
ॐ हूं हौं हौं हूं फडिति मूलमन्त्रस्य दीपनम्। ॐ हूं हौं हूं फडिति हृदय एवं शिरोमुखे।।३।।
प्रत्येकं दीपनं कुर्यात्सर्वस्मिन्क्रूरकर्मणि। शान्तिके पौष्टिके चास्य वषडन्तादिनाऽणुना।।४।।
वषड्वौषट्समोपेतैः सर्वकाम्योपरि स्थितैः। हवनं संवरैः कुर्यात्सर्वत्राऽऽप्यायनादिषु।।५।।
ततः स्वसव्यभागस्थं मण्डले शुद्धविग्रहम्। शिष्यं संपूज्य तत्सूत्रं सुषुम्नेति विभाविताम्।।६।।
मूलेन तच्छिखाबन्धं पादाङ्गुष्ठान्तमानयेत्। संहारेण मुमुक्षोस्तु बध्नीयाच्छिष्यकायके।।७।।
पुंसस्तु दक्षिणे भागे वामे नार्या नियोजयेत्। शक्तिं च शक्तिमन्त्रेण पूजितां तस्य मस्तके।।८।।
संहारमुद्रयाऽऽदाय सूत्रां तेनैव योजयेत्। नाडीं त्वादाय मूलेन सूत्रे न्यस्य हृदार्चयेत्।।९।।
अवगुण्ठ्य तु रुद्रेण हृदयेनाऽऽहुतित्रयम्। प्रदद्यात्संनिधानार्थं शक्तावप्येवमेव हि।।१०।।

अध्याय-८३

निर्वाण-दीक्षा विधान

देवाधिदेव भगवान् श्रीशिवशंकर ने कहा कि–हे षडानन स्कन्द! उसके बाद निर्वाण–दीक्षा में पाश बन्धन-शक्ति के लिये और ताड़न आदि के लिये मूल–मन्त्र आदि का दीपन करना चाहिये। उस समय प्रत्येक के लिये एक-एक या तीन–तीन आहुति देकर मन्त्रों का दीपन–कर्म सम्पन्न करना चाहिये। आदि में प्रणव और अन्त में '**हूं फट्**' लगाकर मध्य में बीज, गर्भ एवं शिखाबन्ध–स्वरूप तीन '**हूं**' का उच्चारण करना चाहिये। इससे मूल–मन्त्र का दीपन होता है, यथा–'**ॐ हूं हूं हूं फट्।**' इसी से हृदय का दीपन होता है। यथा–'**ॐ हूं हूं हूं हूं फट् हृदयाय नमः।**' फिर '**ॐ हूं हूं हूं हूं फट् शिरसे स्वाहा**' आदि कहकर सिर आदि अंगों का दीपन करना चाहिये। समस्त क्रूर कर्मों में इसी तरह मूलादिका दीपन करना उचित है। शान्ति कर्म, पुष्टि कर्म और वशीकरण में आदिगत प्रणव–मन्त्र के अन्त में 'वषट्' 'वषट्' और 'वौषट्' से युक्त तथा सम्पूर्ण काम्यकर्मों के ऊपर स्थित शम्बर–मन्त्रों द्वारा आप्यायन आदि सभी कर्मों में हवन करना चाहिये।।१-५।। तत्पश्चात् अपने वाम भाग में स्थित और मण्डल में विराजमान शुद्ध शरीर वाले शिष्य का पूजन करके, एक श्रेष्ठतम सूत्र में सुषुम्णा नाड़ी की भावना करके, मूल–मन्त्र से उसको शिखाबन्ध तक ले जाकर वहाँ से फिर पैरों के अँगूठे तक ले आवे। तत्पश्चात् विनाश क्रम से उसको पुनः मुमुक्षु शिष्य की शिखा के सन्निकट ले जाय और वहीं उसको बाँध देना चाहिये। पुरुष के दाहिने भाग में और नारी के वाम भाग में उस सूत्र को नियुक्त करना चाहिये। इसके बाद शिष्य के मस्तक पर शक्ति मन्त्र से पूजित शक्ति को विनाश मुद्रा द्वारा लाकर कथित सूत्र में उसी मन्त्र से जोड़ देना चाहिये। सुषुम्णा नाड़ी को लेकर मूल-मन्त्र से उसका सूत्र में न्यास करना चाहिये और हृदय मन्त्र से उसकी पूजा करनी चाहिये। उसके बाद कवच मन्त्र से अवगुण्ठित करके हृदय मन्त्र द्वारा तीन आहुतियाँ देनी चाहिये। ये आहुतियाँ नाड़ी के संनिधान के लिये दी जाती हैं। शक्ति के संनिधान के लिये भी इसी तरह आहुति देने का विधान है।।६-१०।।

ॐ हां पदाध्वने नमः॥११॥

ॐ हां वर्णाध्वने नमो हां भवाध्वने नमः। ॐ हां कलाध्वने नमः शोध्याध्वानं हि सूत्रके॥१२॥
न्यस्यास्त्रवारिणा शिष्यं प्रोक्ष्यास्त्रमन्त्रितेन च। पुष्पेण हृदि संताड्य शिष्यदेहे प्रविश्य च॥१३॥
गुरुश्च तत्र हूंकारयुक्तं रेचकयोगतः। चैतन्यं हंसबीजस्थं विश्लिष्येदायुधाणुना॥१४॥

ॐ हौं हूं फट्॥१५॥

आच्छिदय शक्तिसूत्रेण हां हं स्वाहेति चाणुना। संहारमुद्रया सूत्रे नाडीभूते नियोजयेत्॥१६॥

ॐ हां हं हामात्मने नमः॥१७॥

व्यापकं भावयेदेनं तनुत्रेणावगुण्ठयेत्। आहुतित्रितयं दद्याद्धृदा संनिधिहेतवे॥१८॥
विद्यादेहं च विन्यस्य शान्त्यतीतावलोकनम्। तस्यामितरतत्त्वाद्यं मन्त्रभूतं विचिन्तयेत्॥१९॥
ॐ हां हौं शान्त्यतीतकलापाशाय। नम इत्यनेनावलोकयेत्॥२०॥
द्वे तत्त्वे मन्त्रमप्येकं पदं वर्णा (र्णाः) श्च षोडश। तथाऽष्टौ भुवनान्यस्यां बीजनाडीकथद्वयम्॥२१॥
विषयं च गुणं चैकं कारणं च सदाशिवम्। सितायां शान्त्यतीयामन्तर्भाव्यं प्रपीडयेत्॥२२॥

ॐ हौं शान्त्यतीतकलापाशाय हूं फट्॥२३॥

संहारमुद्रयाऽऽदाय विदध्यात्सूत्रमस्तके। पूजयेदाहुतीस्तिस्रो दद्यात्संनिधिहेतवे॥२४॥
तत्त्वे द्वे अक्षरे द्वे च बीजनाडीकथद्वयम्। गुणौ मन्त्रौ तथाऽब्जस्थमेकं कारणमीश्वरम्॥२५॥

तत्पश्चात् '**ॐ हां तत्त्वाध्वने नमः।**' '**ॐ हां पदाध्वने नमः।**' '**ॐ हां वर्णाध्वने नमः।**' '**ॐ हां मन्त्राध्वने नमः।**', '**ॐ हां कलाध्वने नमः।**', '**ॐ हां भुवनाध्वने नमः।**'—इन मन्त्रों से उपरोक्त सूत्र में छः तरह के अध्वाओं का न्यास करके अस्त्र-मन्त्र द्वारा अभिमन्त्रित जल से शिष्य को प्रोक्षण करना चाहिये। फिर अस्त्र-मन्त्र के जपपूर्वक पुष्प लेकर उसके द्वारा शिष्य के हृदय में ताड़न करना चाहिये। इसके बाद हूंकार युक्त रेचक प्राणायाम के योग से वहाँ शिष्य के शरीर में प्रवेश करके, उसके अन्दर हंस-बीज में स्थित जीवचैतन्य को अस्त्र-मन्त्र पढ़कर वहाँ से विलग करना चाहिये।

इसके बाद '**ॐ हः हूं फट्।**' इस शक्तिसूत्र से तथा '**हां हां स्वाहा।**' इस मन्त्र से संहारमुद्रा द्वारा कथित नाड़ी भूत सूत्र में उस विलग हुए जीवचैतन्य को नियुक्त करना चाहिये। '**ॐ हां हां हामात्मने नमः।**' इस मन्त्र का जप करते हुए जीवात्मा के व्यापक होने की भावना करनी चाहिये। फिर कवच-मन्त्र से उसका अवगुण्ठन करना चाहिये और उसके सांनिध्य के लिये हृदय-मन्त्र से तीन बार आहुतियाँ देनी चाहिये।११-१८॥

तत्पश्चात् विद्यादेह का न्यास करके उसमें शान्त्यतीतकला का अवलोकनन करना चाहिये। उस कला के अन्तर्गत इतर तत्त्वों से युक्त आत्मा का चिन्तन करना चाहिये। '**ॐ हूं शान्त्यतीतकलापाशाय नमः**'। इस मन्त्र से कथित कला का अवलोकन करना चाहिये। दो तत्त्व, एक मन्त्र, एक पद, सोलह वर्ण, आठ भुवन, क, ख आदि बीज और नाड़ी, दो कलाएँ, विषय, गुण और एकमात्र कारणभूत सदाशिव—इन सभी का श्वेतवर्ण शान्त्यतीतकला में अन्तर्भाव करके '**ॐ हूं शान्त्यतीतकलापाशाय हूं फट्।**' इस मन्त्र से प्रताड़न करना चाहिये। संहारमुद्रा द्वारा कथित कलापाश को लेकर सूत्र के मस्तक पर रखे और उसकी पूजा करनी चाहिये। उसके बाद उसके सांनिध्य के लिये

पदानि भानुसंख्यानि भुवनानि च सप्त च। एकं च विषयं शान्तौ कृष्णायामच्युतं स्मरेत्॥२६॥
ताडयित्वा समादाय मुखसूत्रे नियोजयेत्। जुहुयान्निजबीजेन सांनिध्यायाऽऽहुतित्रयम्॥२७॥
विद्यायां सप्ततत्त्वानि पदानामेकविंशतिम्। षड्वर्णान्संचरं चैकं लोकानां पञ्चविंशतिम्॥२८॥
गुणानां त्रयमेकं च विषयं रुद्रकारणम्। अन्तर्भाव्यातिरिक्तायां बीजनाडी कथद्वयम्॥२९॥
तान्यादाय विदध्याच्च पदं द्व्यधिकविंशतिम्। लोकानां च कलानां च षष्टिं गुणचतुष्टयम्॥३०॥
मन्त्राणां त्रयमेकं च विषयं कारणं हरिम्। अन्तर्भाव्य प्रतिष्ठायां शुक्लायां ताडनादिकम्॥३१॥
विधाय नाभिसूत्रस्थां संनिधायाऽऽहुतीर्यजेत्। ह्रीं भुवनानां शत साग्रं पदानामष्टविंशतिम्॥३२॥
बीजनाडीसमीराणां द्वयोरिन्द्रिययोरपि। वर्णं तत्त्वं च विषयमेकैकं गुलपञ्चकम्॥३३॥
हेतुं ब्रह्माण्डमन्तस्थं शम्ब्राणां चतुष्टयम्। वृनित्तौ पीतवर्णयामन्तर्भाव्य प्रताडयेत्॥३४॥
आदौ यत्तत्त्वभागान्ते सूत्रे विन्यस्य पूजयेत्। जुहुयादाहुतीस्तिस्रः संनिधानाय पावके॥३५॥
इत्यादाय कलासूत्रे योजयेच्छिष्यविग्रहात्। सबीजायां तु दीक्षायां समयाचारयागतः॥३६॥
देहारम्भकरक्षार्थं मन्त्रसिद्धिफलादपि। इष्टापूर्तादिधर्मार्थं व्यतिरिक्तं प्रबन्धकम्॥३७॥
चैतन्यबोधकं सूक्ष्मं कलानामन्तरे न्यसेत्। अमुनैव क्रमेणाथ कुर्यात्तर्पणदीपने॥३८॥
आहुतिभिः स्वमन्त्रेण तिसृभिः तिसृभिस्तथा॥३९॥

पूर्ववत् तीन आहुतियाँ देनी चाहिये। शान्त्यतीतकला का अपना बीज है—'हूं'। दो तत्त्व, दो अक्षर, बीज, नाड़ी, क, ख—ये दो अक्षर, दो गुण, दो मन्त्र, कमल में विराजमान एकमात्र कारणभूत ईश्वर, द्वादश पद, सात लोक और एक विषय—इस सभी का कृष्णवर्णा शान्ति कला के अन्दर चिन्तन करना चाहिये। तत्पश्चात् पूर्ववत् ताड़न करके सूत्र के मुख भाग में इन सभी का नियोजन करना चाहिये। इसके बाद सांनिध्य के लिये अपने बीज-मन्त्र द्वारा तीन आहुतियाँ देनी चाहिये। शान्ति कला का अपना बीज है—'हूं हूं'॥१९-२७॥ सात तत्त्व, इक्कीस पद, छः वर्ण, एक शम्बर, पचीस लोक, तीन गुण, एक विषय, रुद्ररूप कारणतत्त्व, बीज, नाड़ी और क, ख—ये दो कलाएँ—इन सभी का अत्यन्त रक्त वर्ण वाली विद्याकला में अन्तर्भाव करके, आवाहन और संयोजनपूर्वक उपरोक्त सूत्र के हृदयभाग में स्थापित करके अपने मन्त्र से पूजन करना चाहिये और इन सबकी संनिधि के लिये पूर्ववत् तीन आहुतियाँ देनी चाहिये। आहुति के लिये बीजमन्त्र इस तरह है—'हूं हूं हूं।' चौबीस तत्त्व, पचीस वर्ण, बीज, नाड़ी, क, ख—ये दो कलाएँ, बाईस पद, साठ लोक, साठ कला, चार गुण, तीन मन्त्र, एक विषय तथा कारणरूप श्रीहरि विष्णु का शुक्लर्णा प्रतिष्ठा-कला में अन्तर्भाव करके ताड़न आदि करना चाहिये। फिर इन सभी का उपरोक्त सूत्र के नाभिभाग में संयोजन करके संनिधिकरण के लिये तीन आहुतियाँ देनी चाहिये। उसके लिये मध्य-मन्त्र इस तरह है—'हूं हूं हूं हूं।' एक सौ आठ भुवन या लोक, अट्ठाईस पद, बीज, नाड़ी और समीर की दो-दो संख्या, दो इन्द्रियाँ एक वर्ण, एक तत्त्व, एक विषय, पाँच गुण, कारणरूप कमलासन ब्रह्मा और चार शम्बर—इन सभी का पीतवर्णा निवृत्तिकला में अन्तर्भाव करके ताड़न करना चाहिये। इनको ग्रहण करके सूत्र के चरण भाग में स्थापित करने के पश्चात् इनकी पूजा करनी चाहिये और इनके सांनिध्य के लिये अग्नि में तीन आहुतियाँ देनी चाहिये। आहुति के लिये बीज-मन्त्र इस प्रकार है—'हूं हूं हूं हूं'॥२५-३५॥ इस तरह सूत्रगत पाँच कलाओं को लेकर शिष्य के शरीर में उनका संयोजन करना चाहिये। सबीजदीक्षा में समयाचार-

ॐ हौं शान्त्यतीतकलापाशाय स्वाहेत्यादि तर्पणम्।
ॐ हां हं हां शान्त्यतीतकलापाशाय हूं फडित्यादिदीपनम्।।४०।।

तत्सूत्रं व्याप्तिबोधाय कलास्थानेषु पञ्चसु। संगृह्य कुंकुमाद्येन तत्र साङ्गं शिवं यजेत्।।४१।।
हूं फडन्तैः कलामन्त्रैर्भित्त्वा पाशाननुक्रमात्। नमोन्तैश्च प्रविश्यान्तः कुर्याद्ग्रहणबन्धने।।४२।।

ॐ हूं हां हौं हां हूं फट्शान्त्यतीतकलां गृह्णामि
बध्नामि चेत्यादिभिर्मन्त्रैः कलानां ग्रहणबन्धनादिप्रयोगः।।४३।।

पाशादीनां च स्वीकारो ग्रहणं बन्धनं पुनः। पुरुषं प्रति निःशेषव्यापारप्रतिपत्तये।।४४।।
उपवेश्याथ तत्सूत्रं शिष्यस्कन्धे निवेशयेत्। विस्मृताघप्रमोषाय शतं मूलेन होमयेत्।।४५।।
शरावसंपुटे पुंसः स्त्रियाश्च प्रणितोदरे। हृदस्त्रसंपुटं सूत्रं विधायाभ्यर्चयेद्धृदा।।४६।।
सूत्रं शिवेन साङ्गेन कृत्वा संपातशोधितम्। निदध्यात्कलशस्याधो रक्षां विज्ञापयेदिति।।४७।।
शिष्यं पुष्पं करे दत्त्वा सम्पूज्य कलशादिकम्। प्रणमय्य बहिर्यायाद्यागमन्दिरमध्यतः।।४८।।
मण्डलत्रितयं कृत्वा मुमुक्षूनुत्तराननान्। भुक्तये पूर्ववक्त्रांश्च शिष्यांस्तत्र निवेशयेत्।।४९।।
प्रथमे पञ्चगव्यस्य प्राशयेच्चुलुकत्रयम्। पाणिना कुशयुक्तेन अर्चितानन्तरान्तरम्।।५०।।

पाश से, देहारम्भक धर्म से, मन्त्र सिद्धि के फल से तथा इष्टापूर्तादि धर्म से भी भिन्न चैतन्यरोधक सूक्ष्म प्रबन्ध का कलाओं के अन्दर चिन्तन करना चाहिये। इसी क्रम से अपने मन्त्र द्वारा तीन-तीन आहुतियाँ देते हुए तर्पण और दीपन करना चाहिये। '**ॐ हूं शान्त्यतीतकलापाशाय स्वाहा।**' इत्यादि मन्त्र से तर्पण करना चाहिये। '**ॐ हूं हूं शान्त्यतीतकलापाशाय हूं हूं फट्।**'—इत्यादि मन्त्र से दीपन करना चाहिये। उपरोक्त सूत्र को व्याप्ति बोध के लिये पाँच कला स्थानों में सुरक्षापूर्वक रखकर उस पर कुङ्कुम आदि के द्वारा साङ्ग-शिव का पूजन करना चाहिये। फिर कला-मन्त्रों के अन्त में 'हूं फट्'।—इन पदों को जोड़कर उनका उच्चारण करते हुए क्रमशः पाशों का भेदन करके नमस्कारान्त कलामन्त्रों द्वारा ही उनके अन्दर प्रवेश करना चाहिये। साथ ही उन कलाओं का ग्रहण एवं बन्धन करना चाहिये। साथ ही उन कलाओं का ग्रहण एवं बन्धन भी करना चाहिये। '**ॐ हूं हूं शान्त्यतीतकलां गृह्णामि बध्नामि च।**' —इत्यादि मन्त्रों द्वारा कलाओं के ग्रहण एवं बन्धन आदि का प्रयोग होता है। पाश आदि का वशीकरण (या भेदन), ग्रहण और बन्धन तथा पुरुष के प्रति सम्पूर्ण व्यापारों को निषेध—यह बारंबार प्रत्येक कला के लिये आवश्यक कर्तव्य है।।३६-४४।। तत्पश्चात् शिष्य को बिठाकर, उपरोक्त सूत्र को उसके कन्धे से लेकर उसके हाथ में दे और भूले-भटके पापों का विनाश करने के लिये सौ बार मूल मन्त्र से हवन करना चाहिये। अस्त्र-सम्बन्धी मन्त्र के सम्पुट में पुरुष के और प्रणव के सम्पुट में स्त्री के सूत्र को रखकर, उसको हृदय-मन्त्र से सम्पुटित करके उसी मन्त्र से उसकी पूजा करनी चाहिये। साङ्ग-शिव से सूत्र को सम्पात-शोधित करके कलश के नीचे रखे और उसकी रक्षा के लिये इष्ट देव से याचना करनी चाहिये। शिष्य के हाथ में फूल देकर कलश आदि का पूजन एवं नमस्कार करने के अनन्तर याग-मन्दिर के मध्यभाग से बाहर जाय। वहाँ तीन मण्डल बनाकर मुक्ति की इच्छा रखने वाले शिष्यों को उत्तराभिमुख बिठावे और भोग की अभिलाषा रखने वाले शिष्यों को पूर्वाभिमुख।।४५-४९।। पहले कुशयुक्त हाथ से तीन चुल्लू पञ्चगव्य पिलावे। मध्य में कोई आचमन नहीं करना चाहिये। तत्पश्चात् दूसरी बार प्रत्येक शिष्य को तीन या आठ ग्रास चरु देना चाहिये। मुक्तिकामी शिष्य को पलाश के दोने में और भोगेच्छु को पीपल के पत्ते से बने हुए दोने में चरु देकर उसको हृदय-

चरुं ततस्तृतीये तु ग्रासत्रितयसंमितम्। अष्टग्रासप्रमाणं वा दशनस्पर्शवर्जितम्।।५१।।
पालाशपुटके मुक्तौ भुक्तौ पिप्पलपत्रके। हृदा संभोजनं दत्त्वा पूतैराचामयेज्जलैः।।५२।।
दन्तकाष्ठां हृदा कृत्वा प्रक्षिपेच्छोभने शुभम्। न्यूनादिदोषमोषाय मूलेनाष्टोत्तरं शतम्।।५३।।
विधाय स्थण्डिलेशाय सर्वकर्मसमर्पणम्। पूजाविसर्जनं चास्य चण्डेशस्य च पूजनम्।।५४।।
निर्माल्यमपनीयाथ शेषमग्नौ यजेच्चरोः। कलशं लोकपालांश्च पूजयित्वा विसृज्य च।।५५।।
विसृजेद्गणमग्निं च रक्षितं यदि बाह्यतः। बाह्यतो लोकपालानां दत्त्वा संक्षेपतो बलिम्।।५६।।
भस्मना शुद्धतोयैर्वा स्नात्वा यागालयं विशेत्। गृहस्थान्दर्भशय्यायां पूर्वशीर्षान्सुरक्षितान्।।५७।।
हृदा सद्भस्मशय्यायां यतीन्दक्षिणमस्तकान्। शिखाबद्धशिखानस्त्रसप्तमाणवकान्वितान्।।५८।।
विज्ञाय स्नापयेच्छिष्यांस्ततो यायात्पुनर्बहिः।।५९।।
ॐ हिलि हिलि शूलपाणये स्वाहा।।६०।।
पञ्चगव्यं चरुं प्राश्य गृहीत्वा दन्तधावनम्। समाचम्य शिवं ध्यात्वा शय्यामास्थाय पावनीम्।।६१।।
दीक्षागतं क्रियाकाण्डं संस्मरन्संविशेद्गुरुः। इति संक्षेपतः प्रोक्तो विधिर्दीक्षाधिवासने।।६२।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते निर्वाणदीक्षायामधिवासनविधिकथनं नाम त्र्यशीतितमोऽध्यायः।।८३।।

मन्त्र के उच्चारणपूर्वक दाँतों के स्पर्श के बिना खिलाना चाहिये। चरु देकर गुरु स्वयं हाथ धो शुद्ध होकर, पवित्र जल से उन शिष्यों को आचमन कराये। इसके बाद हृदय-मन्त्र से दातुन करके उसको फेंक देना चाहिये। उसका मुखभाग शुभ दिशा की तरफ हो, तो उसका शुभ फल होता है। न्यूनता आदि दोष को दूर करने के लिये मूलमन्त्र से एक सौ आठ बार आहुति देनी चाहिये। स्थण्डिलेश्वर (वेदीपर स्थापित-पूजित शिव) को सम्पूर्ण कर्म समर्पित करना चाहिये। उसके बाद इनकी पूजा और विसर्जन करके चण्डेश का पूजन करना चाहिये।।५०-५४।। तत्पश्चात् निर्माल्य को हटाकर चरु के शेष भाग को अग्नि में हवन देना चाहिये। कलश और लोकपालों का पूजन एवं विसर्जन करके गण और अग्नि का भी, यदि वे बाह्य दिशा में रक्षित हों तो, विसर्जन बलि अर्पित करके भस्म और शुद्ध जल के द्वारा स्नान करने के पश्चात् यागमण्डप में प्रवेश करना चाहिये। वहाँ गृहस्थ साधकों को कुश की शय्या पर अस्त्र-मन्त्र से रक्षित करके सुलावे। उनका सिरहाना पूर्व की तरफ होना चाहिये। जो साधक या शिष्य विरक्त हों उनको हृदय-मन्त्र से श्रेष्ठतम भस्ममयी शय्या पर सुलावे। उन सबके मस्तक दक्षिण दिशा की तरफ होने चाहिये। सभी शिष्य अस्त्र-मन्त्र से रक्षित होकर शिखा-मन्त्र से अपनी-अपनी शिखा बाँध लें। उसके बाद गुरु को उनको स्वप्न-मानव का परिचय देकर सो जाने की आज्ञा सम्प्रदान करना चाहिये और स्वयं मण्डल से बाहर चला जाय।।५५-५९।। इसके बाद '**ॐ हिलि हिलि शूलपाणये नमः स्वाहा।**' इस मन्त्र से पञ्चगव्य और चरु का प्राशन करके दन्तधावन ले आचमन करना चाहिये। फिर भगवान् शिव का ध्यान करना चाहिये। पवित्र शय्या पर आकर दीक्षागत क्रियाकाण्ड का स्मरण करते हुए गुरु को शयन करना चाहिये। इस तरह दीक्षाधिवासन की विधि संक्षेप से बतलायी गयी।।६०-६२।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी तिरासीवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।८३।।

❖❖❖

अथ चतुरशीतितमोऽध्यायः

निर्वाणदीक्षायां निवृत्तिकलाशोधनम्

ईश्वर उवाच

अथ प्रातः समुत्थाय कृतस्नानादिको गुरुः। दध्यार्द्रमांसमद्यादेः प्रशस्ताऽभ्यवहारिता।।१।।
गजाश्वारोहणं स्वप्ने शुभं शुक्लांशुकादिकम्। तैलाभ्यङ्गादिकं हीनं होमोऽघोरेण शान्तये।।२।।
नित्यकर्मद्वयं कृत्वा प्रविश्य मखमण्डपम्। स्वाचान्तो नित्यवत्कर्म कुर्यान्नैमित्तिके विधौ।।३।।
ततः संशोध्य चाऽऽत्मानं शिवहस्तं तथाऽऽत्मनि। विन्यस्य कुम्भगं इन्द्रादीनामनुक्रमात्।।४।।
मण्डले स्थण्डिले वाऽपि प्रकुर्वीत शिवार्चनम्। तर्पणं पूजनं वह्नेः पूर्णान्तं मन्त्रतर्पणम्।।५।।
दुःस्वप्नदोषमोषाय शस्त्रेणाष्टाधिकं शतम्। हुत्वा हूंसंपुटेनैव विदध्यान्मन्त्रदीपनम्।।६।।
अन्तर्बलिविधानं च मध्ये स्थण्डिलकुम्भयोः। कृत्वा शिष्यप्रवेशाय लब्धानुज्ञो बहिर्व्रजेत्।।७।।
कुर्यात्समयवत्तत्र मण्डलारोपणादिकम्। संपातहोमं तन्नाडीरूपदर्भकरानुगम्।।८।।
तत्संनिधानाय तिस्रो हुत्वा मूलाणुनाऽऽहुतीः। कुम्भस्थं शिवमभ्यर्च्य पाशसूत्रमपाहरेत्।।९।।
स्वदक्षिणोर्ध्वकायस्य शिष्यस्याभ्यर्चितस्य च। तच्छिखायां निबध्नीयात्पादाङ्गुष्ठावलम्बितम्।।१०।।

अध्याय-८४

निर्वाण-दीक्षागत निवृत्तिकला-शोधन

देवाधिदेव भगवान् श्रीशिवशंकर ने कहा कि–हे स्कन्द! उसके बाद प्रातःकाल उठकर गुरु स्नान आदि से निवृत्त हो शिष्यों से उनके द्वारा देखे गये स्वप्न को पूछे। स्वप्न में दही, ताजा कच्चा मांस और मद्य आदि का दर्शन या उपयोग श्रेष्ठतम बतलाया गया है। ऐसा स्वप्न शुभ का सूचक होता है। सपने में हाथी और घोड़े पर चढ़ना तथा श्वेत वस्त्र आदि का दर्शन शुभ है। स्वप्न में तेल लगाना आदि अशुभ माना गया है। उसकी शान्ति के लिये अघोर मन्त्र से हवन करना चाहिये। प्रातः और मध्याह्न–दो कालों का नित्य-कर्म करके यज्ञमण्डप में प्रवेश करना चाहिये तथा विधिवत् आचमन करके नैमित्तिक विधि में भी नित्य के समान ही कर्म करना चाहिये। तत्पश्चात् अध्व-शुद्धि करके अपने ऊपर शिवहस्त रखे। फिर कलशस्थ शिव का पूजन करके क्रमशः इन्द्रादि दिक्पालों की भी पूजा करनी चाहिये। मण्डल में और वेदी पर भी भगवान् शिव का पूजन करना चाहिये। इसके बाद तर्पण, अग्निपूजन, पूर्णाहुति-पर्यन्त हवन एवं मन्त्र-तर्पण करना चाहिये।।१-५।। दुःस्वप्न-दर्शनजनित दोष का निवारण करने के लिये 'हूं' सम्पुटित अस्त्र-मन्त्र (हूं फट् हूं) के द्वारा एक सौ आठ आहुतियाँ देकर मन्त्र-दीपन करना चाहिये। वेदी और कलश के मध्य भाग में अन्तर्बलि का अनुष्ठान करके, शिष्यों के प्रवेश के लिये इष्टदेव से आज्ञा लेकर, गुरु मण्डप से बाहर जाय। वहाँ समय-दीक्षा की ही भाँति मण्डलारोपण आदि करना चाहिये। सम्पात हवन तथा सुषुम्णा नाड़ी रूप कुश को शिष्य के हाथ में देने आदि से सम्बद्ध कार्य का निष्पादन करना चाहिये। फिर निवृत्ति कला के संनिध्य के लिये मूल-मन्त्र से तीन आहुतियाँ देकर, कुम्भस्थ शिव की पूजा करके कलापाशमय सूत्र अर्पित करना चाहिये। उसके बाद पूजित शिष्य के ऊपरी शरीर के दक्षिणी भाग में–उसकी शिखा में उस सूत्र को बाँधे और उसको पैर के अंगूठे तक लम्बा

तं निवेश्य निवृत्तेस्तु व्याप्तिमालोक्य चेतसा। ज्ञेयानि भुवनान्यस्यां शतमष्टाधिकं ततः॥११॥
कपालोऽजश्च बुद्धश्च वज्रदेहः प्रमर्दनः। विभूतिरव्ययः शास्ता पिनाकी त्रिदशाधिपः॥१२॥
अग्नी रुद्रो हुताशी च पिङ्गलः खादको हरः। ज्वलनो दहनो बभ्रुर्भस्मान्तकक्षपान्तकौ॥१३॥
याम्यमृत्युहरो धाता विधाता कार्यरञ्जकः। कालो धर्मोऽप्यधर्मश्च संयोक्ता च वियोजकः॥१४॥
नैर्ऋतो मारणो हन्ता क्रूरदृष्टिर्भयानकः। ऊर्ध्वांशको विरूपाक्षो धूम्रलोहितदंष्ट्रवान्॥१५॥
बलश्चातिबलश्चैव पाशहस्ती महाबलः।श्वेतश्च जयभद्रश्च दीर्घबाहुर्जलान्तकः॥१६॥
वडवास्यश्च भीमश्च दशैते वारुणाः स्मृताः। दीर्घो लघुवायुवेगः सूक्ष्मस्तीक्ष्णः क्षमान्तकः॥१७॥
पञ्चान्तकः पञ्चशिखः कपर्दी मेघवाहनः। जटामुकुटधारी च नानारत्नधरस्तथा॥१८॥
निधीशो रूपवान्धन्यः सौम्यदेहः प्रसादकृत्। प्रकाशोऽप्यथ लक्ष्मीवान्कामरूपो दशोत्तरे॥१९॥
विद्याधरो ज्ञानधरः सर्वज्ञो वेदपारगः। मातृवृत्तश्च पिङ्गाक्षो भूतपालो बलिप्रियः॥२०॥
सर्वविद्याविधाता च सुखदुःखहरो दश। अनन्तः पालको धीरः पातालाधिपतिस्तथा॥२१॥
वृषो वृषधरो वीर्यो ग्रसनः सर्वतोमुखः। लोहितश्चैव विज्ञेया दशरुद्राः फणिस्थिताः॥२२॥
शंभुविभुर्गणाध्यक्षस्त्र्यक्षस्त्रिदशवन्दितः। संवाहश्च विवाहश्च लाभो लिप्सुर्विचक्षणः॥२३॥

रखे। इस तरह उस पाश का निवेश करके उसमें मन-ही-मन निवृत्ति कला की व्याप्ति का दर्शन करना चाहिये। उसमें एक सौ आठ भुवन जानने योग्य हैं॥६-११॥

१. कपाल, २. अज, ३. अहिर्बुध्न्य, ४. वज्रदेह, ५. प्रमर्दन, ६. विभूति, ७. अव्यय, ८. शास्ता, ९. पिनाकी, १०. त्रिदशाधिप-ये दस रूद्र पूर्व दिशा में विराजते हैं। ११. अग्निभद्र, १२. हुताश, १३. पिङ्गल, १४. खादक, १५. हर, १६. ज्वलन, १७. दहन, १८. बभ्रु, १९. भस्मान्तक, २०. क्षपान्तक-ये दस रुद्र अग्निकोण में स्थित हैं। २१. दम्य, २२. मृत्युहर, २३. धाता, २४. विधाता, २५. कर्ता, २६. काल, २७. धर्म, २८. अधर्म, २९. संयोक्ता, ३०. वियोजक-ये दस रुद्र दक्षिण दिशा में शोभा पाते हैं। ३१. नैर्ऋत्य, ३२. मारुत, ३३. हन्ता, ३४. क्रूरदृष्टि, ३५. भयाकनक, ३६. ऊर्ध्वकेश, ३७. विरूपाक्ष, ३८. धूम्र, ३९. लोहित, ४०. दंष्ट्री-ये दस रुद्र नैर्ऋत्य कोण में स्थित हैं। ४१. बल, ४२. अतिबल, ४३. पाशहस्त, ४४. महाबल, ४५. श्वेत, ४६. जयभद्र, ४७. दीर्घबाहु, ४८. जलान्तक, ४९. वडवास्य, ५०. भीम-ये दस रुद्र वरुण दिशा में स्थित बताये गये हैं। ५१. शीघ्र, ५२. लघु, ५३. वायुवेग, ५४. सूक्ष्म, ५५. तीक्ष्ण, ५६. क्षमान्तक, ५७. पञ्चान्तक, ५८. पञ्चशिख, ५९. कपर्दी, ६०. मेघवाहन-ये दस रुद्र वायव्यकोण में स्थित हैं। ६१. जटामुकुटधारी, ६२. नानारत्नधर, ६३. निधीश, ६४. रूपवान् ६५. धन्य, ६६. सौम्यदेह, ६७. प्रसादकृत्, ६८. प्रकाम, ६९. लक्ष्मीवान्, ७०. कामरूप-ये दस रुद्र उत्तर दिशा में स्थित हैं। ७१. विद्याधर ७२. ज्ञानधर, ७३. सर्वज्ञ, ७४. वेगपारग, ७५. मातृवृत्त, ७६. पिङ्गाक्ष, ७७. भूतपाल, ७८. बलिप्रिय, ७९. सर्वविद्याविधाता, ८०. सुख-दुःखकर-ये दस रुद्र ईशानकोण में स्थित हैं। ८१. अनन्त, ८२. पालक, ८३. धीर, ८४. पातालाधिपति, ८५. वृष, ८६. वृषधर, ८७. वीर, ८८. ग्रसन, ८९. सर्वतोमुख, ९०. लोहित-इन दस रुद्रों की स्थिति नीचे की दिशा पाताल लोक में समझनी चाहिये। ९१. शम्भु, ९२. विभु, ९३. गणाध्यक्ष, ९४. त्र्यक्ष, ९५. त्रिदशवन्दित, ९६. संवाह, ९७. विवाह, ९८. नभ, ९९. लिप्सु, १००. विचक्षण-ये दस रुद्र ऊर्ध्व दिशा में विराजमान

अत्ता कुहककालाग्निरुद्रो हाटक एव च। कुष्माण्डश्चैव सत्यश्च ब्रह्मा विष्णुश्च सप्तमः।।२४।।
रुद्रश्चाष्टाविमे रुद्राः कटाहाभ्यन्तरे स्थिताः। एतेषामेव नामानि भुवनानामपि स्मरेत्।।२५।।
भवोद्भवः सर्वभूतः सर्वभूतसुखप्रदः। सर्वसांनिध्यकृद्ब्रह्मविष्णुरुद्रशरार्चितः।।२६।।
संस्तुतपूर्वस्थित, ॐ साक्षिन्, ॐ रुद्रान्तक, ॐ पतंग,
ॐ शब्द, ॐ सूक्ष्म, ॐ शिव सर्वसर्वद सर्वसांनिध्यकर
ब्रह्मविष्णुरुद्रकर, ॐ नमः शिवाय, ॐ नमो नमः।।२७।।
अष्टाविंशतिपादानि व्योमव्यापिमनोगुह। सद्योहृदस्त्रनेत्राणि मन्त्रवर्णाष्टको मतः।।२८।।
बीजकारो मकारश्च नाड्याविडापिङ्गलाह्वये। प्राणापानावुभौ वायू घ्राणोपस्थौ तथेन्द्रिये।।२९।।
गन्धस्तु विषयः प्रोक्तो गन्धादिगुणपञ्चके। पार्थिवं मण्डलं पीतं वज्राङ्कं चतुरस्त्रकम्।।३०।।
विस्तारो योजनानां तु कोटिरस्य शताहता। अत्रैवान्तर्गता ज्ञेया योनयोऽयि चतुर्दश।।३१।।
प्रथमा सोमदेवानामश्वाद्या देवयोनयः। मृगः पक्षी च पशवश्चतुर्धा तु सरीसृपाः।।३२।।
स्थावरं पञ्चमं सर्वं योनिः षष्ठी अमानुषी। पैशाचं राक्षसं याक्षं गान्धर्वं चैन्द्रमेव च।।३३।।
सौम्यं प्राजेश्वरं ब्राह्ममष्टमं परिकीर्तितम्। अष्टानां पार्थिवं तत्त्वमधिकारास्पदं मतम्।।३४।।
लयस्तु प्रकृतौ बुद्धौ भोगो ब्रह्मा च कारणम्। ततो जाग्रदवस्थानैः समस्तैर्भुवनादिभिः।।३५।।

हैं। १०१. हूहुक, १०२. कालाग्निरुद्र, १०३. हाटक, १०४. कूष्माण्ड, १०५. सत्य, १०६. ब्रह्मा, १०७. विष्णु तथा १०८. रुद्र–ये आठ रुद्र ब्रह्माण्ड–कटाह के अन्दर स्थित हैं। यह स्मरण रखना चाहिये कि इन्हीं के नाम पर एक सौ आठ भुवनों के भी नाम हैं।।१२–२५।।

(१) सद्भावेश्वर, (२) महातेजः, (३) योगाधिपते, (४) मुञ्च मुञ्च, (५) प्रथम प्रमथ, (६) शर्व शर्व, (७) भव भव, (८) भवोद्भव, (९) सर्वभूतसुखप्रद, (१०) सर्वसांनिध्यकर, (११) ब्रह्मविष्णुरुद्रपर, (१२) अनर्चितानर्चित, (१३) असंस्तुतासंस्तुत, (१४) पूर्वस्थित पूर्वस्थित, (१५) साक्षिन् साक्षिन्, (१६) तुरु तुरु, (१७) पतंग पतंग, (१८) पिङ्ग पिङ्ग (१९) ज्ञान ज्ञान, (२०) शब्द शब्द, (२१) सूक्ष्म सूक्ष्मा, (२२) शिव, (२३) सर्व, (२४) सर्वद, (२५) ॐ नमो नमः, (२६) ॐ नमः, (२७) शिवाय, (२८) नमो नमः–ये अट्ठाइस पद हैं। हे स्कन्द! व्यापक आकाश मन है। **'ॐ नमो वौषट्'** –ये अभीष्ट मन्त्रवर्ण हैं। अकार और लकार (अं लं) बीज हैं। इडा और पिङ्गला नाम वाली दो नाड़ियाँ हैं। प्राण और अपान–दो वायु हैं और घ्राण तथा उपस्थ–ये दो इन्द्रियाँ हैं। गन्ध को 'विषय' कहा गया है तथा इसमें गन्ध आदि पाँच गुण हैं। यह पृथ्वी तत्त्व से सम्बन्धित है। इसका रंग पीला है। इसकी मण्डलाकृति (भूपुर) चतुरस्र है और चारों तरफ से वज्र से अङ्कित है। इस पार्थिव मण्डल का विस्तार सौ कोटि योजन माना गया है। चौदह योनियों को भी इसी के अन्तर्गत समझना चाहिये।।२६–३२।।

प्रथम छः योनियाँ मृग आदि की हैं और आठ दूसरी देवयोनियाँ हैं। उनका वृत्तान्त इस तरह है–मृग पहली योनि है, दूसरी पक्षी, तीसरी पशु, चौथी सर्प आदि, पाँचवीं स्थावर और छठी योनि मनुष्य की है। आठ देवयोनियों में प्रथम पिशाचों की योनि है, दूसरी राक्षसों की, तीसरी यक्षों की, चौथी गन्धर्वों की, पाँचवीं इन्द्र की, छठी सोम की, सातवीं प्रजापति की और आठवीं योनि ब्रह्मा की, सातवीं प्रजापति की और आठवीं योनि ब्रह्मा की बतलायी गयी

निवृत्तिं गर्भितां ध्यात्वा स्वमन्त्रेण नियोज्य च॥३६॥

ॐ हां हूं हां निवृत्तिकलापाशाय हूं फट् तत ॐ हां हां निवृत्तिकलापाशाय स्वाहेत्यनेनाङ्कुशमुद्रया पूरकेणाऽऽकृष्य, ॐ हूं ह्रां हूं निवृत्तिकलापाशाय हूं फडित्यनेन संहारमुद्रया कुम्भकेनाधःस्थानादादाय, ॐ ॐ हूं हां निवृत्तिकलापाशाय नम इत्यनेनोद्भवमुद्रया रेचकेन कुम्भे संस्थाप्य, ॐ हां निवृत्तिकलापाशाय नम इत्यनेनार्घ्यं दत्वा संपूज्य विमुखेनैव स्वाहान्तेनैव संनिधानायाऽऽहुतित्रयं संतर्पणाहुतित्रयं च दत्त्वा, ॐ हां ब्रह्मणे नम इति ब्रह्माणमावाह्य संपूज्य च स्वाहान्ते संतर्प्य॥३७॥

ब्रह्मं स्तवाधिकारेऽस्मिन्मुमुक्षुं दीक्षयाम्यहं। भाव्यं त्वयाऽनुकूलेन विधिं विज्ञापयेदिति॥३८॥

आवाहयेत्ततो देवीं रक्षां वागीश्वरीं हृदा। इच्छाज्ञानक्रियारूपां षड्विधां ह्येककारणम्॥३९॥

पूजयेत्तर्पयेद्देवीं प्रकारेणामुनः ततः। वागीश्वरीं विनिःशेषयोनिविक्षोभकारणम्॥४०॥

हृत्संपुटार्थबीजादिहूंफडन्तशराणुना। ताडयेद्धृदये तस्य प्रविशेत्स विधानवित्॥४१॥

ततः शिष्यस्य चैतन्यं हृदि वह्निकणोपमम्। निवृत्तिस्थं युतं पाशैर्ज्येष्ठया विभजेद्यथा॥४२॥

ॐ हां हूं हः, हूं फट्॥४३॥

है। पार्थिव-तत्त्व पर इन आठों का अधिकार माना गया है। लय होता है प्रकृति में, भोग होता है बुद्धि में और ब्रह्मा कारण हैं। उसके बाद जाग्रत् अवस्था-पर्यन्त समस्त भुवन आदि से गर्भित हुई निवृत्तिकला का ध्यान करके उसका अपने मन्त्र में विनियोग करना चाहिये। वह मन्त्र इस तरह है–'**ॐ हां ह्रां हां निवृत्तिकलापाशाय हूं फट् स्वाहा।**' इसके बाद '**ॐ हां ह्रां हों निवृत्तिकलापाशाय हूं फट् स्वाहा।**'–इस मन्त्र से अङ्कुश मुद्रा के प्रदर्शपूर्वक पूरक प्राणायाम द्वारा कथित कला का आकर्षण करना चाहिये। फिर '**ॐ हूं हां ह्रां हां हूं निवृत्तिकलापाशाय हूं फट्।**'–इस मन्त्र से विनाश मुद्रा एवं कुम्भक प्राणायाम द्वारा उसको नाभि के नीचे के स्थान से लेकर '**ॐ हां निवृत्तिकलापाशाय नमः।**' –इस मन्त्र से उद्भव-मुद्रा एवं रेचक प्राणायाम के द्वारा उसको कुण्ड में किसी आधार या आसन पर स्थापित करना चाहिये। तत्पश्चात् '**ॐ हां निवृत्तिकलापाशाय नमः।**'–इस मन्त्र से अर्घ्यदानपूर्वक पूजन करके इसी के अन्त में '**स्वाहा**' लगाकर तर्पण और संनिधान के उद्देश्य से पृथक्-पृथक् तीन-तीन आहुतियाँ देनी चाहिये। इसके बाद '**ॐ हां ब्रह्मणे नमः।**'–इस मन्त्र से ब्रह्मा का आवाहन और पूजन करके उसी के अन्त में 'स्वाहा' जोड़कर तीन आहुतियों द्वारा ब्रह्माजी को तृप्त करना चाहिये। उसके बाद उनसे इस तरह विज्ञप्तिपूर्वक याचना करनी चाहिये–'हे ब्रह्मन्! मैं इस मुमुक्षु को आपके अधिकार में दीक्षित कर रहा हूँ। आपको सदा इसके अनुकूल रहना चाहिये।॥३२-३८॥ तत्पश्चात् रक्तवर्ण वागीश्वरी देवी का मन-ही-मन हृदय-मन्त्र से आवाहन करना चाहिये। वे देवी इच्छा, ज्ञान और क्रियारूपिणी हैं। छः तरह के अध्वाओं की एकमात्र कारण हैं। फिर उपरोक्त तरह से वागीश्वरी देवी का पूजन और तर्पण करना चाहिये। साथ ही समस्त योगिनयों को विक्षुब्ध करने वाले और हृदय में विराजमान वागीश्वर देव का भी पूजन और तर्पण करना चाहिये। आदि में अपने बीज और अन्त में '**हूं फट्**' से युक्त जो अस्त्र-मन्त्र हैं, उसी से विधानवेत्ता गुरु शिष्य के हृदय का ताड़न करना चाहिये और भावना द्वारा उसके अन्दर प्रविष्ट हो। तत्पश्चात् हृदय के अन्दर अग्निकण के समान प्रकाशमान जो शिष्य का जीवचैतन्य निवृत्तिकला में स्थित होकर पाशों से आबद्ध है, उसको ज्येष्ठा द्वारा विभाजित करना चाहिये। उसके विभाजन का मन्त्र इस तरह है–'**ॐ हां हूं हः हूं फट्।**' '**ॐ हां स्वाहा।**'

ॐ हां स्वाहेत्यनेनाथ पूरकेणाङ्कुशमुद्रया। तदाकृष्य स्वमन्त्रेण गृहीत्वाऽऽत्मनि योजयेत्।।४४।।

ॐ हां हूं हामात्मने नमः।।४५।।

पित्रोर्विभाव्य संयोगं चैतन्यं रेचकेन तत्। ब्रह्मादिकारणत्यागक्रमान्नीत्वा शिवास्पदम्।।४६।।

गर्भाधानार्थमादाय युगपत्सर्वयोनिषु। क्षिपेद्वागीश्वरीयोनौ वामयोद्भवमुद्रया।।४७।।

ॐ हां हां हामात्मने नमः।।४८।।

पूजयेदप्यनेनैव तर्पयेदपि पञ्चधा। अन्ययोनिषु सर्वासु देहशुद्धिं हृदाऽऽचरेत्।।४९।।

नात्र पुंसवनं स्त्र्यादिशरीरस्यापि संभवात्। सीमन्तोन्नयनं वाऽपि दैवान्यङ्गानि देहवत्।।५०।।

शिरसा जन्म कुर्वीत युगपत्सर्वदेहिनाम्। तथैव भावयेदेषामधिकारं शिवाणुना।।५१।।

भोगं कवचमन्त्रेण शस्त्रेण विषयात्मना। मोहरूपमभेद्यं च लयसंज्ञं विभावयेत्।।५२।।

शिवेन स्रोतसां शुद्धिं हृदा तत्त्वविशोधनम्। पञ्च पञ्चाऽऽहुतीर्दद्याद्गर्भाधानादिषु क्रमात्।।५३।।

मायया मलकर्मादिपाशबन्धनिवृत्तये। निष्कृत्यैव हृदा पश्चाद्यजेत शतमाहुतीः।।५४।।

मलशक्तिनिरोधेन पाशानां च वियोजनम्। स्वाहान्तायुधमन्त्रेण पञ्च पञ्चाहुतीर्यजेत्।।५५।।

मायाद्यन्तस्य पाशस्य सप्तवारास्त्रजप्तया। कर्तर्या छेदनं कुर्यात्कल्पशस्त्रेण तद्यथा।।५६।।

ॐ हूं निवृत्तिकलापाशाय हूं फट्।।५७।।

इस मन्त्र से पूरक प्राणायाम और अङ्कुश-मुद्रा द्वारा उस जीवचैतन्य को हृदय में आकृष्ट करके, आत्ममन्त्र से पकड़कर उसको अपने आत्मा में योजित करना चाहिये। वह मन्त्र इस तरह है-'**ॐ हां हां हामात्मने नमः।**'।।३९-४५।। फिर माता-पिता के संयोग का चिन्तन करके रेचक प्राणायाम द्वारा ब्रह्मादि कारणों का क्रमशः त्याग करते हुए कथित जीवचैतन्य को शिवरूप अधिष्ठान में ले जाय और गर्भाधान के लिये उसको लेकर एक ही समय सभी योगिनयों में तथा वामा उद्भव-मुद्रा के द्वारा वागीश्वरी योनि में उसको डाल देना चाहिये। इसके बाद '**ॐ हां हां हामात्मने नमः।**' इसी मन्त्र से पूजन और पाँच बार तर्पण भी करना चाहिये। इस जीवचैतन्य का सभी योगियों में हृदय-मन्त्र से देह-साधन करना चाहिये। यहाँ पुंसवन-संस्कार नहीं होता; क्योंकि स्त्री आदि के शरीर की भी उत्पत्ति सम्भव है। इसी तरह सीमन्तोन्नयन भी नहीं हो सकता; क्योंकि दैववश अन्ध आदि के शरीर से भी उत्पत्ति की सम्भावना है।।४६-५०।। शिरोमन्त्र (स्वाहा) से एक ही समय समस्त देहधारियों के जन्म की भावना करनी चाहिये। कवच-मन्त्र से भोग की और अस्त्र-मन्त्र से विषय और आत्मा में मोहरूप लय नामक अभेद की भी भावना करनी चाहिये। उसके बाद शिव-मन्त्र से स्रोतों की शुद्धि और हृदय मन्त्र से तत्त्वशोधन करके गर्भाधान आदि संस्कारों के निमित्त क्रमशः पाँच-पाँच आहुतियाँ देनी चाहिये। मायेय (मायाजनित), मलजतिन तथा कर्मजनित आदि पाश-बन्धनों की निवृत्ति के लिये हृदय-मन्त्र से निष्कृति (प्रायश्चित्त अथवा शुद्धि) कर लेने पर पीछे अग्नि में सौ आहुतियाँ देनी चाहिये। मलशक्ति का तिरोधान (लय) और पाशों का वियोग सम्पादित करने के लिये 'स्वाहान्त' अस्त्र-मन्त्र से पाँच-पाँच आहुतियों का हवन करना चाहिये। अन्तःकरण में स्थित मल आदि पाश का सात बार अस्त्र-मन्त्र के जप से अभिमन्त्रित कटार-कला-शस्त्र से छेदन करना चाहिये। कलाशस्त्र से छेदन का मन्त्र इस तरह है-'**ॐ हां हां हां निवृत्तिकलापाशाय हः हूं फट्**'।।५१-५७।।

बन्धकत्वं च निर्वर्त्य हस्ताभ्यां च शराणुना। विसृज्य वर्तुलीकृत्य घृतपूर्णे स्रुवे धरेत्॥५८॥
दहेदनुकलास्त्रेण केवलास्त्रेण भस्मसात्। कुर्यात्पञ्चाऽऽहुतीर्दत्त्वा पाशाङ्कुशनिवृत्तये॥५९॥
ॐ हः अस्त्राय हूं फट्॥६०॥
प्रायश्चित्तं ततः कुर्यादस्त्राहुतिभिरष्टभिः। अथाऽऽवाह्य विधातारं पूजयेत्तर्पयेत्तथा॥६१॥
ततः-ॐ हां शब्दस्पर्शशुद्धब्रह्मन्गृहाण। स्वाहेत्याहुतित्रयेणाधिकारमस्य समर्पयेत्॥६२॥
दग्धनिःशेषपास्य ब्रह्मन्नस्य पशोस्त्वया। बन्धाय न पुनः स्थेयं शिवाज्ञां श्रावयेदिति॥६३॥
ततो विसृज्य धातारं नाड्या दक्षिणया शनैः। संहारमुद्रयाऽऽत्मानं कुम्भकेन निजाणुना॥६४॥
राहुयुक्तैकदेशेन चन्द्रबिम्बेन संनिभम्। आदाय योजयेत्सूत्रे रेचकेनोद्भवाख्यया॥६५॥
पूजयित्वाऽर्घ्यपात्रस्थतोयविन्दुसुधोपमम्। आप्यायनाय शिष्यस्य गुरुः शिरसि विन्यसेत्॥६६॥
विसृज्य पितरौ दद्याद्वौषडन्तशिवाणुना। पूरणाय विधिः पूर्णा निवृत्तिरिति शोधिता॥६७॥

॥इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते निर्वाणदीक्षायां निवृत्तिकलाशोधनं नाम चतुरशीतितमोऽध्यायः॥८४॥

बन्धकता की निवृत्ति के लिये अस्त्र-मन्त्र से दोनों हाथों द्वारा मसलकर गोलाकार करके पाश को घी से भरे हुए स्रुव में डाल देना चाहिये। फिर कलामय अस्त्र से अथवा केवल अस्त्र-मन्त्र से उसको जलाकर भस्म कर डालना चाहिये। उसके बाद पाशाङ्कुर की निवृत्ति के लिये पाँच आहुतियाँ देनी चाहिये। आहुति का मन्त्र इस तरह है-**'ॐ हः अत्राय हूं फट् स्वाहा।'** कथित आहुति के पश्चात् अस्त्र-मन्त्र से आठ आहुतियाँ देकर प्रायश्चित्त कर्म सम्पन्न करना चाहिये। इसके बाद विधाता का आवाहन करके उनका पूजन और तर्पण करना चाहिये। फिर **'ॐ हां शब्दस्पर्शी शुल्कं ब्रह्मन् गृहाण स्वाहा।'** इस मन्त्र से तीन आहुतियाँ देकर शिष्य को अधिकार अर्पित करना चाहिये। उस समय ब्रह्मा जी को भगवान् शिव की यह आज्ञा सुनावे-'हे ब्रह्मन्! इस बालक के सम्पूर्ण पाप दग्ध हो गये हैं। अधुना आपको पुनः इसको बन्धन में डालने के लिये यहाँ नहीं रहना चाहिये॥५८-६३॥ ऐसा कहकर ब्रह्मा जी को बिदा कर दे और संहारमुद्रा द्वारा एवं कुम्भक प्राणायामपूर्वक राहुमुक्त एक देश वाले चन्द्रमण्डल के सदृश आत्मा को तत्सम्बन्धी-मन्त्र का उच्चारण करते हुए दक्षिण नाड़ी द्वारा धीरे-धीरे लेकर रेचक प्राणायाम एवं 'उद्भव' नामक मुद्रा के सहयोग से उपरोक्त सूत्र में योजित करना चाहिये। फिर उसकी पूजा करनी चाहिये। गुरु अर्घ्यपात्र में स्थित अमृतोपम जलबिन्दु ले, शिष्य की पुष्टि एवं तृप्ति के लिये उसके सिर पर रखे। तत्पश्चात् माता-पिता का विसर्जन करके 'वौ षडन्त' अस्त्र-मन्त्र के द्वारा विधि की पूर्ति के लिये पूर्णाहुति हवन करना चाहिये। ऐसा करने से निवृत्तिकला की शुद्धि हो जाती है। पूर्णाहुति का पूरा मन्त्र इस तरह है-**'ॐ हूं हां अमुक आत्मनो निवृत्तिकलाशुद्धिरस्तु स्वाहा फट् वौषट्'**॥६४-६७॥

॥इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी चौरासीवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ॥८४॥

❖❖❖

अथ पञ्चाशीतितमोऽध्यायः

प्रतिष्ठाकलासंशोधनविधिः

ईश्वर उवाच

तत्त्वयोरथसंधानं कुर्याच्छुद्धविशुद्धयोः। ह्रस्वदीर्घप्रयोगेण नादनादान्तसङ्गिना।।१।।

ॐ हां ह्रूं हाम्।।२।।

अप्तेजो वायुराकाशं तन्मात्रेन्द्रियबुद्धयः। गुणत्रयमहंकारश्चतुर्विंशः पुमानिति।।३।।
प्रतिष्ठायां निविष्टानि तत्त्वान्येतानि भावयेत्। पञ्चविंशतिसंख्यानि खादियान्ताक्षराणि च।।४।।
पञ्चाशदधिका षष्टिर्भुवनैस्तुल्यसंज्ञिताः। तावन्त एव रूपाश्च विज्ञेयास्तत्र तद्यथा।।५।।
अमरेशः प्रभावश्च नैमिषः पुष्करोऽपि च। तथा पादिश्च दण्डिश्च भावभूतिरथाष्टमः।।६।।
नकुलीशो हरिश्चन्द्रः श्रीशैलो दशमः स्मृतः। अन्वीशोऽभ्रातिकेशश्च महाकालोऽथ मध्यमः।।७।।
केदारो भैरवश्चैव द्वितीयाष्टकमीरितम्। ततो गयाकुरुक्षेत्रखलानादिकनादिके।।८।।
विमलश्चाट्टहासश्च माहेन्द्रो भीम एव च। वस्वापदं रुद्रकोटिरवियुक्तो महाबलः।।९।।
गोकर्णो भद्रकर्णाश्च स्वर्णाक्षः स्थाणुरेव च। अजेशश्चैव सर्वज्ञो भास्वरः सूदनान्तरः।।१०।।
सुबाहुर्मन्त्ररूपी च विशालो जटिलस्तथा। रौद्रोऽथ पिङ्गलाक्षश्च कालदंष्ट्री भवेत्ततः।।११।।
विदुरश्चैव घोरश्च प्राजापत्यो हुताशनः। कामरूपी तथा कालः कर्णोऽप्यथ भयानकः।।१२।।
मतङ्गः पिङ्गलश्चैव हरो वैधातृसंज्ञकः। शङ्कुकर्णो विधानश्च श्रीकण्ठश्चन्द्रशूलिना

अध्याय–८५

प्रतिष्ठाकला शोधन विधान

देवाधिदेव भगवान् श्रीशिवशंकर ने कहा कि–हे स्कन्द! उसके बाद शुद्ध और अशुद्ध कलाओं का शान्त और नादान्तसंज्ञक ह्रस्व-दीर्घ-प्रयोग द्वारा संधान करना चाहिये। संधान का मन्त्र इस तरह है–**'ॐ हां ह्रां ह्रीं हां।'** इसके बाद प्रतिष्ठा कला में निविष्ट जल, तेज, वायु, आकाश, पाँच तन्मात्रा, दस इन्द्रिय, बुद्धि, तीनों गुण, चौबीसवाँ अहंकार और पुरुष–इन पचीस तत्त्वों तथा 'क' से लेकर 'य' तक के पचीस अक्षरों का चिन्तन करना चाहिये। प्रतिष्ठा कला में छप्पन भुवन हैं और उनमें उन्हीं के समान नाम वाले उतने ही रुद्र जानने चाहिये। इनकी नामावली इस तरह है–।।१-५।। अमरेश, प्रभास, नैमिष, पुष्कर, आषाढ़ि, डिण्डि, भारभूति तथा नकुलीश–(यह प्रथम अष्टक कहा गया)। हरिश्चन्द्र, श्रीशैल, जल्प, आम्रातकेश्वर, महाकाल, मध्यम, केदार और भैरव–(यह द्वितीय अष्टक बतलाया गया)। तत्पश्चात् गया, कुरुक्षेत्र, नाल, कनखल, विमल, अट्टहास, महेन्द्र और भीम–(यह तृतीय अष्टक कहा गया)। वस्त्रापद, रुद्रकोटि, अविमुक्त, महालय, गोकर्ण, भद्रकर्ण, स्वर्णाक्ष और स्थाणु–(यह चौथा अष्टक बतलाया गया)। अजेश, सर्वज्ञ, भास्वर, उसके बाद सुबाहु, मन्त्ररूपी, विशाल, जटिल तथा रौद्र–(यह पाँचवाँ अष्टक हुआ)। पिंगलाक्ष, कालदंष्ट्री, विधुर, घोर, प्राजापत्य, हुताशन, कालरूपी तथा कालकर्ण–(यह छठा अष्टक कहा गया)। भयानक, पतंग,

सहैतेन च पर्यन्ताः कथ्यन्तेऽथ पदान्यपि॥१३॥

व्यापिन्, ओमूरूप, ॐ प्रमथ, ॐ तेजः, ॐ ज्योतिः, ॐ पुरुष, ओमग्ने, ॐ धूम, ओमभस्म (न्), ॐ अनादि, ॐ नाना, ॐ धू धू, ॐ भूः, ॐ भुवः, ॐ स्वः, अनिधन विधनोद्भव शिव शर्व परमात्मन् महेश्वर महादेव सद्भावेश्वर महातेजः, भोगाधिपते मुञ्च प्रथम सर्वसर्वेति द्वात्रिंशत्पदानि॥१४॥

वी (बी) जभावे त्रयोमन्त्रा वामदेवः शिवः शिखा।
गान्धारी च सुषुम्ना च नाड्यौ द्वौ मारुतौ तथा॥१५॥

समानोदाननामानौ रसना पायुरिन्द्रिये। रसस्तु विषयो रूपशब्दस्पर्शरसा गुणाः॥१६॥
मण्डलं वर्तुलं तच्च पुण्डरीकाङ्कितं सितम्। स्वप्नावस्था प्रतिष्ठायां कारणं गरुडध्वजम्॥१७॥
प्रतिष्ठान्तर्गतं सर्वं संचिन्त्य भुवनादिकम्। सूत्रं देहेऽथ मन्त्रेण प्रविश्यैनां वियोजयेत्॥१८॥

ॐ हां खीं प्रतिष्ठाकलापाशाय, ॐ फट्। स्वाहान्तेनानेनैव पूरकेणाङ्कुशमुद्रया समाकर्षेत्। ततः ॐ हां हूं ह्रां हूं प्रतिष्ठाकलापाशाय हूं फडित्यनेन संहारमुद्रया कुम्भकेन हृदयादधो नाभिसूत्रादादाय, ॐ हां हूं हां हां प्रतिष्ठाकलापाशाय नम इत्यनेनोद्भमुद्रया रेचकेन कुम्भे समारोपयेत्। ॐ हो ह्रीं प्रतिष्ठाकलापाशाय नम इत्यनेनार्चयित्वा संपूज्य स्वाहान्तेनाऽऽहुतीनां त्रयेण संनिधाय ततः—ॐ हां विष्णवे नम इति विष्णुमावाह्य संपूज्य संतर्प्य॥१९॥
विष्णो तवाधिकारेऽस्मिन्मुमुक्षुं दीक्षयाम्यहं। भाव्यं त्वयाऽनुकूलेन विष्णुं विज्ञापयेदिति॥२०॥

पिंगल, हर, धाता, शंकुकर्ण, श्रीकण्ड तथा चन्द्रमौलि (यह सातवाँ अष्टक बतलाया गया)। ये छप्पन रुद्र छप्पन भुवनों में व्याप्त हैं। अधुना बत्तीस पद बताये जाते हैं॥६-१३॥

व्यापिन्, अरूपिन्, प्रथम, तेजः, ज्योतिः, अरूप, पुरुष, अनग्ने, अधूम, अभस्मन्, अनादे, नाना नाना, घूघू घूघू, ॐ भूः, ॐ भुवः, ॐ स्वः, अनिधन, निधन, निधनोद्भव, शिव, शर्व, परमात्मन्, महेश्वर, महादेव, सद्भाव, ईश्वर, महातेजा, योगाधिपते, मुञ्च, प्रमथ, सर्व, सर्वसर्व—ये बत्तीस पद हैं। दो बीज, तीन मन्त्र—वामदेव, शिर, शिखा, गान्धारी और सुषुम्णा —दो नाड़ियाँ, समान और उदान नामक दो प्राणवायु, रसना और पायु—दो इन्द्रियाँ, रस नामक विषय, रूप, शब्द, स्पर्श तथा रस—ये चार गुण कमल से अंकित श्वेत अर्धचन्द्राकार मण्डल, सुषुप्ति अवस्था तथा प्रतिष्ठा में कारणभूत भगवान् श्रीहरि विष्णु—इस तरह भुवन आदि सभी तत्त्वों का प्रतिष्ठा के अन्दर चिन्तन करके प्रतिष्ठा कला-सम्बन्धी मन्त्र से शिष्य के शरीर में भावना द्वारा प्रवेश करके उसको उस कलापाश से मुक्त करना चाहिये॥१४-१८॥

'**ॐ हां हीं हां प्रतिष्ठाकलापाशाय हूं फट् स्वाहा।**'—इस स्वाहान्त-मन्त्र से ही पूरक प्राणायाम तथा अङ्कुश मुद्रा द्वारा कथित कलापाश का आकर्षण करना चाहिये। तत्पश्चात् '**ॐ हूं हां हीं हां हूं प्रतिष्ठाकलापाशाय हूं फट्।**'—इस मन्त्र से संहारमुद्रा और कुम्भक प्राणायाम द्वारा उसको हृदय के नीचे नाड़ी सूत्र से लेकर '**ॐ हूं हीं हां प्रतिष्ठाकलापाशाय नमः।**'—इस मन्त्र से उद्भवमुद्रा तथा रेचक प्राणायाम द्वारा कुण्ड में स्थापित करना चाहिये। उसके बाद '**ॐ हां हां हीं हां प्रतिष्ठाकलाद्वाराय नमः।**'—इस मन्त्र से अर्घ्य दे, पूजन करके स्वाहान्त मन्त्र द्वारा तीन-तीन आहुतियाँ देते हुए संतर्पण और संनिधापन करना चाहिये। इसके बाद '**ॐ हां विष्णवे नमः।**'—इस मन्त्र से विष्णु

ततो वागीश्वरीं देवीं वागीशमपि पूर्ववत्। आवाह्याभ्यर्च्य संतर्प्य शिष्यं वक्षसि ताडयेत्।।२१।।
ॐ हां हां हं फट्।।२२।।

प्रविशेदप्यनेनैव चैतन्यं विभजेत्ततः। शस्त्रेण पाशसंयुक्तं ज्येष्ठयाऽङ्कुशमुद्रया।।२३।।
ॐ हां हं हों हूं फट्।।२४।।

स्वाहान्तेन हृदाऽऽकृष्य तेनैव पुटितात्मना। गृहीत्वा तं नमोन्तेन निजात्मनि नियोजयेत्।।२५।।
ॐ हां हं होमात्मने नमः।।२६।।

पूर्ववत्पितृसंयोगं भावयित्वोद्भवाख्यया। वामया तदनेनैव देवीगर्भे विनिक्षिपेत्।।२७।।
ॐ हां हं हामात्मने नमः।।२८।।

देहोत्पत्तौ हृदा ह्येवं शिरसा जन्मना तथा। शिखया वाऽधिकाराय भोगाय कवचाणुना।।२९।।
तत्त्वशुद्धौ हृदा ह्येवं गर्भाधानाय पूर्ववत्। शिरसा पाशशैथिल्ये निष्कृत्यैव शतं जपेत्।।३०।।
एवं पाशवियोगेऽपि ततः शस्त्रात्मजप्तया। छिन्द्यादस्त्रेण कर्तर्या कला बीजवता यथा।।३१।।
ॐ ह्रीं प्रतिष्ठाकलापाशाय हः फट्।।३२।।

विसृज्य वर्तुलीकृत्य पाशमस्त्रेण पूर्ववत्। घृतपूर्णे स्रुवे दत्त्वा कलास्त्रेणैव होमयेत्।।३३।।

का आवाहन, पूजन और संतर्पण करके निम्नांकित याचना करनी चाहिये—'हे विष्णो! आपके अधिकारमें मैं मुमुक्षु शिष्य को दीक्षा दे रहा हूँ। आप सदा अनुकूल रहें। इस तरह विष्णु भगवान् से निवदेन करना चाहिये। तत्पश्चात् वागीश्वरी देवी और वागीश्वर देवता का पूर्ववत् आवाहन, पूजन और तर्पण करके शिष्य की छाती में ताड़न करना चाहिये। ताड़न का मन्त्र इस तरह है—'**ॐ हां हं हः हूं फट्।**' इसी मन्त्र से शिष्य के हृदय में प्रवेश करके उसके पाशबद्ध चैतन्य को अस्त्र-मन्त्र एवं ज्येष्ठ अङ्कुशमुद्रा द्वारा उस पाश से पृथक् करना चाहिये। यथा—'**ॐ हां हं हः फट्**'। कथित मन्त्र के ही अन्त में '**नमः स्वाहा**' लगाकर उससे सम्पुटित मन्त्र द्वारा जीवचैतन्य को खींचे तथा नमस्कारान्त आत्ममन्त्र से उसको अपने आत्मा में नियोजित करना चाहिये। आत्मा में नियोजन का मन्त्र इस प्रकार है—'**ॐ हां हां हामात्मने नमः।**'।।१९-२६।।

इसके बाद पूर्ववत् उस जीवचैतन्य के पिता से संयुक्त होने की भावना करके वामा उद्भव-मुद्रा द्वारा उसको देवी के गर्भ में स्थापित करना चाहिये। साथ ही इस मन्त्र का उच्चारण करना चाहिये—'**ॐ हां हां हामात्मने नमः।**' देहोत्पत्ति के लिये हृदय-मन्त्र से पाँच बार और जीवात्मा की स्थिति के लिये शिरोमन्त्र से पाँच बार आहुति देनी चाहिये। अधिकार-प्राप्ति के लिये शिखामन्त्र से, भोग सिद्धि के लिये कवच-मन्त्र से, लय के लिये अस्त्र-मन्त्र से, स्रोतः सिद्धि के लिये शिव मन्त्र से तथा तत्त्व शुद्धि के लिये हृदय-मन्त्र से इसी तरह पाँच-पाँच आहुतियाँ देनी चाहिये। इसके बाद पूर्ववत् गर्भाधान आदि संस्कार करना चाहिये। पाश की शिथिलता और निष्कृति (प्रायश्चित्त) के लिये शिरोमन्त्र से सौ आहुतियाँ देनी चाहिये। मलशक्ति के तिरोधान अर्थात् निवारण के लिये स्वाहान्त अस्त्र-मन्त्र से पाँच बार हवन करना चाहिये।।२७-३०।।

इस तरह पाश-वियोग होने पर भी सात बार अस्त्र-मन्त्र के जपपूर्वक कलाबीज से युक्त अस्त्र-मन्त्र रूपी कटार से उस कलापाश को काट डालना चाहिये। वह मन्त्र इस तरह है—'**ॐ ह्रीं प्रतिष्ठाकलापाशाय हूं फट्।**' उसके बाद पाश-शस्त्र से उस पाश को मसलकर वर्तुलाकार बनाकर पूर्ववत् घृतपूर्ण स्रुवा में रख दे और कला-शस्त्र से

अस्त्रेण जुहुत्यात्पञ्च पाशाङ्कुशनिवृत्तये। प्रायश्चित्तनिषेधार्थं दद्यादष्टाऽऽहुतिस्ततः।।३४।।

ॐ हः, अस्त्राय हूं फट्।।३५।।

हृदाऽऽवाह्य हृषीकेशं कृत्वा पूजनतर्पणे। पूर्वोक्तविधिना कुर्यादधिकारसमर्पणम्।।३६।।

ॐ हां रसशुल्कं गृहाण स्वाहा।।३७।।

निःशेषदग्धपाशस्य पशोरस्य हरे त्वया। न स्थेयं बन्धकत्वेन शिवाज्ञां श्रावयेदिति।।३८।।

ततो विसृज्य गोविन्दं विद्यात्मानं नियोज्य च। राहुमुक्तार्धदृश्येन चन्द्रबिम्बेन संनिभम्।।३९।।

संहारमुद्रया स्वस्थं विधायोद्भवमुद्रया। सूत्रे संयोज्य विन्यस्य तोयविन्दुं यथा पुरा।।४०।।

विसृज्य पितरौ वह्नेः पूजितौ कुसुमादिभिः। दद्यात्पूर्णां विधानेन प्रतिष्ठाऽपि विशोधिता।।४१।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते निर्वाणदीक्षायां प्रतिष्ठाकलासंशोधनविधिकथनं नाम पञ्चाशीतितमोध्यायः।।८५।।

—❋❋❋—
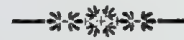
ही उसकी आहुति दे देनी चाहिये। इसके बाद पाशाङ्कुर की निवृत्ति के लिये अस्त्र-मन्त्र से पाँच आहुतियाँ दे और प्रायश्चित्त निवारण के लिये फिर आठ आहुतियों का हवन करना चाहिये। आहुति के लिये अस्त्र-मन्त्र इस तरह है- **'ॐ हः अस्त्राय हूं फट्।'**।।३१-३५।।

इसके बाद हृदय-मन्त्र से भगवान् हृषीकेश का आवाहन करके उपरोक्त विधि से उनका पूजन और तर्पण करने के पश्चात् अधिकार-समर्पण करना चाहिये। इसके लिये मन्त्र इस प्रकर है-**'ॐ हां विष्णो रसं शुल्कं गृहाण स्वाहा।'** इसके बाद उनको भगवान शिव की आज्ञा इस तरह सुनावे-'हे हरे! इस पशु का पाश सम्पूर्णतः दग्ध हो चुका है। अधुना आपको इसके लिये बन्धन कारक होकर नहीं रहना चाहिये। शिवाज्ञा सुनाने के बाद रौद्री नाड़ी द्वारा गोविन्द का विसर्जन करके राहुमुक्त आधे भाग वाले चन्द्रमण्डल के समान आत्मा को नियोजित करना चाहिये- संहारमुद्रा द्वारा उसको आत्मस्थ करके उद्भव मुद्रा द्वारा सूत्र में उसकी संयोजन करना चाहिये। तत्पश्चात् पूर्ववत् जलबिन्दु-सदृश उस आत्मा को शिष्य के सिर पर स्थापित करना चाहिये। इससे उसका आप्यायन होता है।

फिर अग्नि के पिता-माता का पुष्प आदि से पूजन एवं विसर्जन करके विधि की पूर्ति के लिये विधानपूर्वक पूर्णाहुति सम्प्रदान करना चाहिये। ऐसा करने से प्रतिष्ठा कला का भी शोधन सम्पन्न हो जाता है।।३६-४१।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी पचासीवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।८५।।

अथ षडशीतितमोऽध्यायः

विद्यासंशोधनविधिः

ईश्वर उवाच

संधानमथ विद्यायाः प्राचीनकलया सह। कुर्वीत पूर्ववत्कृत्वा तत्त्वं वर्णय तद्यथा।।१।।
ॐ हों क्षीमिति संधानम्।।२।।

रागश्च शुद्धविद्या च नियतिः कलया सह। कालो माया तथाऽविद्या तत्त्वानामिति सप्तकम्।।३।।
रलवा शषसा वर्णाः षड्विद्यायां प्रकीर्तिताः। पदानि प्रणवादीनि एकविंशतिसंख्यया।।४।।
ॐ नमः शिवाय सर्वप्रभवे शिवायेशानमूर्धाय तत्पुरुषवक्त्रायाघोरहृदयाय वामदेवगुह्याय सद्योजातमूर्तय ॐ नमो नमो गुह्यातिगुह्याय गोप्त्रेऽनिधनाय सर्वाधिपाय ज्योतीरूपाय परमेश्वराय भावेन, ॐ व्योम।।५।।
ॐ रुद्राणां भुवनानां च स्वरूपमथ कथ्यते। प्रथमो वामदेवः स्यात्ततः सर्वभवोद्भवः।।६।।
वज्रदेहः प्रभुर्धाता क्रमविक्रमसुप्रभाः। वटुः प्रशान्तनामा च परमाक्षरसंज्ञकः।।७।।
शिवश्च सशिवो बभ्रुरक्षयः शंभुरेव च। अदृष्टरूपनामानौ तथाऽन्यो रूपवर्धनः।।८।।
मनोन्मनो महावीर्यश्चित्राङ्गस्तदनन्तरम्। कल्याण इति विज्ञेयाः पञ्चविंशतिसंख्यया।।९।।
मन्त्रौ घोरामरौ बीजे नाड्यौ द्वे तत्र ते यथा। पूर्वा च हस्तिजिह्वा च व्याननागौ प्रभञ्जनौ।।१०।।

अध्याय-८६

विद्याकला शोधन विधान

भगवान् शिव ने कहा कि–हे स्कन्द! पूर्ववर्तिनी कला-प्रतिष्ठा के साथ विद्याकला का संधान करना चाहिये तथा पूर्ववत् उसमें तत्त्व-वर्ण आदि का चिन्तन भी करना चाहिये। उसके लिये मन्त्र इस तरह है–'**ॐ हां हीं हूं हां।**'–यह संधान-मन्त्र है। राग, शुद्ध विद्या, नियति, कला, काल, माया तथा अविद्या–ये सात तत्त्व तथा **र, ल, व, श, ष, स**–ये छः वर्ण विद्याकला के अन्तर्गत बताये गये हैं। प्रणव आदि इक्कीस पद भी उसी के अन्तर्गत हैं।

'**ॐ नमः शिवाय सर्वप्रभवे शिवाय ईशानमूर्ध्ने तत्पुरुषवक्त्राय अघोरहृदयाय वामदेवगुह्याय सद्योजातमूर्तये ॐ नमो नमः गुह्यातिगुह्याय गोप्त्रे अनिधनाय सर्वयोगाधिकृताय सर्वयोगाधिपाय ज्योतीरूपाय परमेश्वराय अचेतन अचेतन व्योमन् व्योमन्।**

अधुना रुद्रों और भुवनों का स्वरूप बतलाया जाता है–प्रथम, वामदेव, सर्वदेवोद्भव, भवोद्भव, वज्रदेह, प्रभु, धाता, क्रम, विक्रम, सुप्रभ, बुद्ध, प्रशान्तनामा, ईशान, अक्षर, शिव, सशिव, बभ्रु, अक्षय, शम्भु, अदृष्टरूपनामा, रूपवर्धन, मनोन्मन, महावीर, चित्राङ्ग तथा कल्याण–ये पचीस भुवन एवं रुद्र जानने चाहिये।।६-९।।

विद्या कला में अघोर-मन्त्र है, '**म**' और 'र' बीज हैं, पूषा और हस्तिजिह्वा–दो नाड़ियाँ हैं, व्यान और नाद–ये दो प्राणवायु हैं। एकमात्र रूप ही विषय है। पैर और नेत्र दो इन्द्रियाँ हैं। शब्द, स्पर्श तथा रूप–ये तीन गुण कहे

विषयो रूपमेवैकमिन्द्रिये पादचक्षुषी। शब्दः स्पर्शश्च रूपं च त्रय एते गुणाः स्मृताः॥११॥
अवस्थाऽत्र सुषुप्तिश्च रुद्रो देवस्तु कारणम्। विद्यामध्यगतं सर्वं भावयेद्भुवनादिकम्॥१२॥
ताडनं छेदनं तत्र प्रवेशं चापि योजनम्। आकृष्य ग्रहणं कुर्याद्विद्यया हृत्प्रदेशतः॥१३॥
आत्मन्यारोप्य संगृह्य कलां कुण्डे निवेशयेत्। वामया योजयेद्योनौ गृहीत्वा द्वादशान्ततः॥१४॥
कुर्वीत देहसंपत्तिं जन्माधिकारमेव च। भोगं लयं तथा स्रोतः शुद्धिस्तत्त्वविशोधनम्॥१५॥
निःशेषमलकर्मादिपाशबन्धनिवृत्तये। निष्कृत्यैव विधानेन यजेत शतमाहुतीः॥१६॥
अस्त्रेण पाशशैथिल्यं मलशक्तितिरोहितम्। छेदनं मर्दनं तेषां वर्तुलीकरणं तथा॥१७॥
दाहं तदक्षराभावं प्रायश्चित्तमथोदितम्। रुद्राण्यावाहनं पूजा रूपगन्धसमर्पणम्॥१८॥
ॐ ह्रीं रूपगन्धौ शुल्कं रुद्र गृहाण स्वाहा॥१९॥
संश्राव्य शाम्भवीमाज्ञां रुद्रं विसृज्य कारणम्। विधायाऽऽत्मनि चैतन्यं पाशसूत्रे निवेशयेत्॥२०॥
विन्दुं शिरसि विन्यस्य विसृजेत्पितरौ ततः। दद्यात्पूर्णां विधानेन समस्तविधिपूरणीम्॥२१॥

गये हैं। सुषुप्ति अवस्था है और रुद्रदेव कारण हैं। भुवन आदि समस्त वस्तुओं को भावना द्वारा विद्या के अन्तर्गत देखे। इसके लिये संधान-मन्त्र है–'**ॐ हूं हैं हां।**' तत्पश्चात् रक्तवर्ण एवं स्वस्तिक के चिह्न से अङ्कित त्रिकोणाकार मण्डल का चिन्तन करना चाहिये। शिष्य के वक्ष में ताडन, कलापाश का छेदन, शिष्य के हृदय में प्रवेश, उसके जीवचैतन्य का पाश-बन्धन से वियोजन तथा हृदय प्रदेश से जीवचैतन्य एवं विद्याकला का आकर्षण और ग्रहण करना चाहिये॥१०-१३॥ जीवचैतन्य का अपने आत्मा में आरोपण करके कलापाश का संग्रहण एवं कुण्ड में स्थापन भी उपरोक्त पद्धति करना चाहिये। कारणरूप रुद्रदेवताका आवाहन-पूजन आदि करके शिष्य के प्रति बन्धनकारी न होने के लिये उनसे याचना करनी चाहिये। पिता-माता का आवाहन आदि करके शिशु (शिष्य) के हृदय में ताड़न करना चाहिये। उपरोक्त विधि के अनुसार पहले अस्त्रमन्त्र द्वारा हृदय में प्रवेश करके जीवचैतन्य को कलापाश से विलग करना चाहिये। फिर उसका आकर्षण एवं ग्रहण करके अपने आत्मा में संयोजन करना चाहिये। फिर वामा उद्भव मुद्रा द्वारा वागीश्वरी देवी के गर्भ में उसके स्थापित होने की भावना करनी चाहिये।

इसके बाद देह-निष्पादन करना चाहिये। जन्म, अधिकार, भोग, लय, स्रोतः शुद्धि, तत्त्वशुद्धि, निःशेष मलकर्मादि के निवारण, पाश-बन्धन की निवृत्ति एवं निष्कृति के हेतु स्वाहान्त अस्त्र-मन्त्र से सौ आहुतियाँ देनी चाहिये। उसके बाद अस्त्र-मन्त्र से पाश बन्धन को शिथिल करना, मलशक्ति का तिरोधान करना, कलापाश का छेदन, मर्दन, वर्तुलीकरण, दाह, अङ्कुराभाव-निष्पादन तथा प्रायश्चित्त-कर्म उपरोक्त विधि से करना चाहिये। इसके बाद रुद्र देव का आवाहन, पूजन एवं रूप और गन्ध का समर्पण करना चाहिये। उसके लिये मन्त्र इस तरह है–'**ॐ हां रूपगन्धौ शुल्कं रुद्र गृहाण स्वाहा।**'॥१४-१९॥

देवाधिदेव भगवान् श्रीशिवशंकर जी की आज्ञा सुनकर कारण स्वरूप रुद्रदेव का विसर्जन करना चाहिये। इसके बाद जीवचैतन्य का आत्मा में स्थापन करके उसको पाश सूत्र में निवेशित करना चाहिये। फिर जलबिन्दु-स्वरूप उस चैतन्य का शिष्य के सिर पर न्यास करके माता-पिता का विसर्जन करना चाहिये। तत्पश्चात् समस्त विधि की पूर्ति करने वाली पूर्णाहुति का विधिवत् हवन करना चाहिये॥२०-२१॥

पूर्वोक्तविधिना कार्यं विद्यायां ताडनादिकम्। स्वबीजं तु विशेषः स्यादिति विद्या विशोधिता।।२२।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते निर्वाणदीक्षायां विद्याशोधनं नाम षडशीतितमोऽध्यायः।।८६।।

अथ सप्ताशीतितमोऽध्यायः

शान्तिशोधनम्

ईश्वर उवाच

संदध्यादधुना विद्यां शान्त्या सार्धं यथाविधि। शान्तौ तन्तुद्वयं लीनं भावेश्वरसदाशिवौ।।१।।
हकारश्च क्षकारश्च द्वौ वर्णौ परिकीर्तितौ। रुद्राः समाननामानो भुवनैः सह तद्यथा।।२।।
प्रभवःसमयः क्षुद्रो विमलःशिव इत्यपि। घनौ निरञ्जनाकारौ श्वशुरौ दीप्तकारणौ।।३।।
त्रिदशेश्वरनामा च त्रिदशः कालसंज्ञकः। सूक्ष्माम्बुजेश्वरश्चेति रुद्राः शान्तौ प्रतिष्ठिताः।।४।।
व्योमव्यापिने व्योमव्याप्यरूपाय सर्वव्यापिने शिवायानन्ता यानाथायानाश्रिताय ध्रुवाय शाश्वताय योगपीठसंस्थिताय नित्ययोगिने ध्यानाहारायेति द्वादशपदानि।।५।।
पुरुषः कवचो मन्त्रो बीजे विन्दूपकारकौ। अलम्बुषायसानाड्यौ वायूकृकरकूर्मकौ।।६।।

विद्या में ताडन आदि कार्य उपरोक्त विधि से ही करना चाहिये। अन्तर इतना ही है कि उसमें सभी जगह अपने बीज का प्रयोग होगा। यह सब विधान पूर्ण करने से विद्याकला का शोधन होता है।।२२।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी छियासीवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।८६।।

अध्याय-८७

शान्तिकला शोधन विधान

देवाधिदेव भगवान् श्रीशिवशंकर ने कहा कि–हे स्कन्द! उपरोक्त मार्ग से विद्याकला का शान्तिकला के साथ विधिपूर्वक संधान करना चाहिये। उसके लिये मन्त्र हैं–'ॐ हां हूं हां।' शान्ति कला में दो तत्त्व लीन हैं। वे दोनों हैं–ईश्वर और सदाशिव। हकार और क्षकार–ये दो वर्ण कहे गये हैं। अधुना भुवनों के साथ उन्हीं के समान नाम वाले रुद्रों का परिचय दिया जा रहा है। उनकी नामावली इस तरह है–प्रभव, समय, क्षुद्र, विमल, शिव, घन, निरञ्जन, अङ्गार, सुशिरा, दीप्तकारण, त्रिदशेश्वर, कालदेव, सूक्ष्म और अम्बुजेश्वर (या भुजेश्वर)–ये चौदह रुद्र शान्तिकला में प्रतिष्ठित हैं। **व्योमव्यापिने, व्योमरूपाय, सर्वव्यापिने, शिवाय, अनन्ताय, अनाथाय, अनाश्रिताय, ध्रुवाय, शाश्वताय, योगपीठसंस्थिताय, नित्ययोगिने, ध्यानाहराय**–ये द्वादश पद हैं।१-५।।

पुरुष और कवच–ये दो मन्त्र हैं; बिन्दु और जकार–ये दो बीज हैं; अलम्बुषा और यशा–ये दो नाड़ियाँ हैं;

इन्द्रिये त्वक्करावस्याः स्पर्शस्तु विषयो मतः। गुणौ स्पर्शनिनादौ द्वावेकः कारणमीश्वरः॥७॥
तुर्यावस्थितिशान्तिस्थं संभाव्य भुवनादिकम्। विदध्यात्ताडनं भेदं प्रवेशं च वियोजनम्॥८॥
आकृष्य ग्रहणं कुर्याच्छान्तेर्वदनसूत्रतः। आत्मन्यारोप्य संगृह्य कलां कुण्डे निवेशयेत्॥९॥
ईश तवाधिकारेऽस्मिन्मुमुक्षुं दीक्षयाम्यहम्। भाव्यं त्वयाऽनुकूलेन कुर्याद्विज्ञापनामिति॥१०॥
आवाहनादिकं पित्रोः िष्यस्य ताडनादिकम्। विधायाऽऽदाय चैतन्यं विधिनाऽऽत्मनि योजयेत्॥११॥
पूर्ववत्पितृसंयोगं भावयित्वोद्भवाख्यया। हृत्संपुटात्मबीजेन देवीगर्भे नियोजयेत्॥१२॥
देहोत्पत्तौ हृदा पञ्च शिरसा जन्महेतवे। शिखया वाऽधिकाराय भोगाय कवचाणुना॥१३॥
लयाय शस्त्रमन्त्रेण स्रोतः शुद्धौ शिवेन च। तत्त्वशुद्धौ हृदा ह्येवं गर्भाधानादि पूर्ववत्॥१४॥
वर्मणा पाशशैथिल्यं निष्कृत्यैवं शतं यजेत्। मलशक्तितिरोधाने शस्त्रेणाऽऽहुतिपञ्चकम्॥१५॥
एवं पाशवियोगेऽपि ततः सप्तास्त्रजप्तया। छिन्द्यादस्त्रेण कर्तर्या पाशान्बीजवता यथा॥१६॥

ॐ हौं शान्तिकलापाशाय हः, हूं फट्॥१७॥

विसृज्य वर्तुलीकृत्य पाशमस्त्रेण पूर्ववत्। घृतपूर्णे स्रुवे दत्त्वा कलास्त्रेणैव होमयेत्॥१८॥

कृकर और कूर्म—ये दो प्राणवायु हैं; त्वचा और हाथ—ये दो इन्द्रियाँ हैं; शान्ति कला का विषय स्पर्श माना गया है; स्पर्श और शब्द—ये दो गुण हैं और एक ही कारण हैं—ईश्वर इसकी तुर्यावस्था है। इस तरह भुवन आदि समस्त तत्त्वों की शान्ति कला में स्थिति का चिन्तन करके पूर्ववत् ताड़न, छेदन, हृदय-प्रवेश, चैतन्य का वियोजन, आकर्षण और ग्रहण करना चाहिये। फिर शान्ति के मुख सूत्र से चैतन्य का आत्मा में आरोपण करके कला का ग्रहण कर उसको कुण्ड में स्थापित कर देना चाहिये। उसके बाद ईश से इस तरह याचना करनी चाहिये—'हे ईश! मैं इस मुमुक्षु को तुम्हारे अधिकार में दीक्षित कर रहा हूँ। आपको इसके अनुकूल रहना चाहिये'॥६-१०॥ फिर माता-पिता का आवाहन आदि और शिष्य का ताड़न आदि करके चैतन्य को लेकर विधिवत् आत्मा में योजित करना चाहिये। तत्पश्चात् पूर्ववत् माता-पिता के सांयोग की भावना करके उद्भवा नाड़ी द्वारा उस चैतन्य का हृदय-मन्त्र से सम्पुटित आत्मबीज के उच्चारणपूर्वक देवी के गर्भ में नियोजन करना चाहिये। देहोत्पत्ति के लिये हृदय-मन्त्र से, जन्म के हेतु शिरोमन्त्र से, अधिकार-सिद्धि के लिये शिखा मन्त्र से, भोग के निमित्त कवच-मन्त्र से लय के लिये शस्त्र-मन्त्र से, स्रोतः शुद्धि के लिये शिव मन्त्र से तथा तत्त्वशोधन के लिये हृदय-मन्त्र से पाँच-पाँच आहुतियाँ देनी चाहिये। इसी तरह पूर्ववत् गर्भाधान आदि संस्कार भी करना चाहिये। कवच-मन्त्र से पाश की शिथिलता एवं निष्कृति के लिये सौ आहुतियाँ देनी चाहिये। मलशक्ति-तिरोधान के उद्देश्य से शस्त्रमन्त्र द्वारा पाँच आहुतियों का हवन करना चाहिये। इसी तरह पाश-वियोग के निमित्त भी पाँच आहुतियाँ देनी चाहिये। उसके बाद अस्त्र-मन्त्र का सात बार जप करके बीजयुक्त अस्त्र-मन्त्र रूपी कटार से पाश का छेदन करना चाहिये। उसके लिये मन्त्र इस तरह है—'**ॐ हौं शान्तिकलापाशाय नमः हः हूं फट्।**'॥११-१७॥

इसके बाद पाश का विमर्दन तथा वर्तुलीकरण पूर्ववत् अस्त्र-मन्त्र से करके उसको घृत से भरे हुए स्रुवे में रख दे और कला-सम्बन्धी अस्त्र-मन्त्र द्वारा उसका हवन करना चाहिये। फिर पाशाङ्कुर की निवृत्ति के लिये अस्त्र-मन्त्र से पाँच आहुतियाँ दे और प्रायश्चित्तनिवारण के लिये आठ आहुतियों का हवन करना चाहिये। मन्त्र इस तरह है—

अस्त्रेण जुहुयात्पञ्च पाशाङ्कुशनिवृत्तये। प्रायश्चित्तनिषेधाय दद्यादष्टाऽऽहुतीरथ।।१९।।
ॐ हः, अस्त्राय हूं फट्।।२०।।

हृदेश्वरं समावाह्य कृत्वा पूजनतर्पणे। विदधीत विधानेन तस्मै शुल्कसमर्पणम्।।२१।।
ॐ हामीश्वर बुद्ध्यहंकारौ शुल्कं गृहाण स्वाहा।।२२।।

निःशेषदग्धपाशस्य पशोरस्येश्वर त्वया। न स्थेयं बन्धकत्वेन शिवाज्ञां श्रावयेदिति।।२३।।
विसृजेदीश्वरं देवं रौद्रात्मानं नियोजयेत्। ईशश्चन्द्रमिवाऽऽत्मानं विधिनाऽऽत्मनि योजयेत्।।२४।।
सूत्रे संयोजयेदेनं शुद्धयोद्भवमुद्रया। दद्यान्मूलेन शिष्यस्य शिरस्यमृतविन्दुकम्।।२५।।
विसृज्य पितरौ वह्नेः पूजितौ कुसुमादिभिः। दद्यात्पूर्णां विधानज्ञो निःशेषविधिपूरणीम्।।२६।।
अस्यामपि विधातव्यं पूर्ववत्ताडनादिकम्। स्वबीजं तु विशेषः स्याच्छुद्धिः शान्तेरपीडिता।।२७।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गति निर्वाणदीक्षायां शान्तिशोधनं नाम सप्ताशीतितमोऽध्यायः।।८७।।

—✻✻✻—

'ॐ हः अस्त्राय हूं फट्'। फिर हृदय-मन्त्र से ईश्वर का आवाहन करके पूजन-तर्पण करने के पश्चात् उनको विधिपूर्वक शुल्क समर्पण करना चाहिये। मन्त्र इस तरह है-'ॐ हां ईश्वर बुद्ध्यहंकारौ शुल्कं गृहाण स्वाहा।' इसके बाद ईश्वर को शिव की यह आज्ञा सुनावे-'हे ईश्वर! इस पशु के सारे पाश दग्ध हो गये हैं। अधुना आपको इसके लिये बन्धन कारक होकर नहीं रहना चाहिये।।१८-२३।।

ऐसा कहकर ईश्वर देव का विसर्जन करना चाहिये और रौद्रीशक्ति से आत्मा को नियोजित करना चाहिये। जिस प्रकार ईश ने चन्द्रमा को अपने मस्तक पर आश्रय दे रखा है, उसी तरह शिष्य के जीवात्मा को गुरु को अपने आत्मा में नियोजित करना चाहिये। फिर शुद्धा उद्भव-मुद्रा के द्वारा इसकी सूत्र में संयोजन करना चाहिये और मूल-मन्त्र से शिष्य के मस्तक पर अमरबिन्दु स्वरूप उस चैतन्य सूत्र को रखे; उसके बाद पुष्प आदि से पूजित अग्नि के पिता-माता का विसर्जन करके विधिज्ञ पुरुष को समस्त विधि की पूर्ति करने वाली पूर्णाहुति सम्प्रदान करनी चाहिये। इसमें भी पूर्ववत् ताड़न आदि करना चाहिये। विशेषतः कला-सम्बन्धी अपने बीज का प्रयोग होना चाहिये। इस तरह शान्तिकला की शुद्धि बतलायी गयी।।२४-२७।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी सतासीवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।८७।।

अथाष्टाशीतितमोऽध्यायः

निर्वाणदीक्षाशेषविधिः

ईश्वर उवाच

संधानं शान्त्यतीतायाः शान्त्या सार्धं विशुद्धया। कुर्वीत पूर्ववत्तत्र तत्त्ववर्णादि तद्यथा।।१।।
ॐ ह्रीं क्षौं हौं हामिति संधानानि।।२।।
उभौ शक्तिशिवौ तत्त्वे भुवनाष्टकसिद्धिकम्। दीपकं रोचिकं चैव मोचकं चोर्ध्वगामि च।।३।।
व्योमरूपमनाथं च स्यादनाश्रितमष्टकम्। ॐ कारपदमीशाने मन्त्रो वर्णाश्च षोडश।।४।।
अकरादिविसर्गान्ता बीजेन देहकारकौ। कुहूश्च शङ्खिनी नाड्यौ देवदत्तधनंजयौ।।५।।
मारुतौ स्पर्शनं श्रोत्रमिन्द्रिये विषयो नभः। शब्दो गुणोऽस्यावस्था तु तुर्यातीता तु पञ्चमी।।६।।
हेतुः सदाशिवो देव इति तत्त्वादिसंचयम्। संचिन्त्य शान्त्यतीताख्यं विदध्यात्ताडनादिकम्।।७।।
कलापाशं समाताड्य फडन्तेन विभिद्य च। प्रविश्यान्तर्नमोन्तेन फडन्तेन वियोजयेत्।।८।।
शिखाहृत्संपुटीभूतं स्वाहान्तं सृणिमुद्रया। पूरकेण समाकृष्य पाशं मस्तकसूत्रतः।।९।।
कुम्भकेन समादाय रेचकेनोद्भवाख्यया। हृत्संपुटनमोन्तेन वह्निं कुण्डे निवेशयेत्।।१०।।

अध्याय-८८

निर्वाण-दीक्षागत शेष विधान

देवाधिदेव भगवान् श्रीशिवशंकर ने कहा कि–हे स्कन्द! विशुद्ध शान्ति कला के साथ शान्त्यतीत कला का संधान करना चाहिये। उसमें भी पूर्ववत् शान्त्यतीत कला का संधान करना चाहिये। उसमें भी पूर्ववत् तत्त्व और वर्ण आदि का चिन्तन करना चाहिये, जैसा कि नीचे बतलाया जाता है। संधान काल में इस मन्त्र का उच्चारण करना चाहिये–'**ॐ हां हौं हूं हां।**' शान्त्यतीत कला में शिव और शक्ति–ये दो तत्त्व हैं। आठ भुवन हैं, जिनके नाम इस तरह हैं–इन्धक, दीपक, रोचक, मोचक, ऊर्ध्वगामी, व्योमरूप, अनाथ और आठवाँ अनाश्रित। ॐकार पद है, ईशान मन्त्र है, अकार से लेकर विसर्ग तक सोलह अक्षर हैं, नाद और हकार–ये दो बीज हैं, कुहू और शङ्खिनी–दो नाड़ियाँ हैं, देवदत्त और धनञ्जय–दो प्राणवायु हैं, वाक् और श्रोत्र–दो इन्द्रियाँ हैं, शब्द विषय है, गुण भी वही है और अवस्था पाँचवीं तुरीयातीता है।।१-६।।

सदाशिव देव ही एकमात्र हेतु हैं। इस तत्त्वादिसंचय की शान्त्यतीतकला में स्थिति है, ऐसा चिन्तन करके ताड़न आदि कर्म करना चाहिये। 'फडन्त' मन्त्र से कला-पाश का ताड़न और बोधन करके नमस्कारान्त मन्त्र से शिष्य के अन्तःकरण में प्रववेश करना चाहिये। इसके बाद फडन्त मन्त्र से जीवैतन्य को पाश से वियुक्त करना चाहिये। '**वषट्**' और 'नमः' पदों से सम्पुटित, स्वाहान्त-मन्त्र का उच्चारण करके अङ्कुश मुद्रा तथा पूरक प्राणायाम द्वारा पाश का मस्तक सूत्र से आकर्षण करके, कुम्भक प्राणायाम द्वारा उसको लेकर, रेचक प्राणायाम एवं उद्भव-मुद्रा द्वारा हृदय-मन्त्र से सम्पुटित नमस्कारान्त-मन्त्र से उसका अग्निकुण्ड में स्थापन करना चाहिये। इसका पूजन आदि सभी कार्य

अस्याः पूजादिकं सर्वं निवृत्तेरिव साधयेत्। सदाशिवं समावाह्य पूजयित्वा प्रतर्प्य च।।११।।
सदाऽऽख्यातेऽधिकारेऽस्मिन्मुमुक्षुं दीक्षयाम्यहम्। भाव्यं त्वयाऽनुकूलेन भवत्या विज्ञापयेदिति।।१२।।
पित्रोरावाहनं पूजां कृत्वा तर्पणसंनिधी। हृत्सम्पुटात्मबीजेन शिष्यं वक्षसि ताडयेत्।।१३।।

ॐ हां हूं हां फट्।।१४।।

प्रविश्य चाप्यनेनैव चैतन्यं विभजेत्ततः। शस्त्रेण पाशसंयुक्तं ज्येष्ठयाऽङ्कुशमुद्रया।।१५।।

ॐ हां हः, हूं फट्।।१६।।

स्वाहान्तेन तदाकृष्य तेनैव पुटितात्मना। गृहीत्वा तं नमोन्तेन निजात्मनि नियोजयेत्।।१७।।

ॐ हां हं हीमात्मने नमः।।१८।।

पूर्ववत्पितृसंयोगं भावयित्वोद्भवाख्यया। वामया तदनेनैव देव्या गर्भे नियोजयेत्।।१९।।
गर्भाधानादिकं सर्वं पूर्वोक्तविधिनाऽऽचरेत्। मूलेन पाशशैथिल्ये निष्कृत्यैव शतं जपेत्।।२०।।
मलशक्तितिरोधाने पाशानां च वियोजने। पञ्च पञ्चाऽऽहुतीर्दद्यादायुधेन यथा पुरा।।२१।।
पाशानायुधमन्त्रेण सप्तवाराभिजप्तया। छिन्द्यास्त्रेण कर्तर्या कलाबीजयुजा यथा।।२२।।

ॐ हां शान्त्यतीतकलापाशाय हः, हूं फट्।।२३।।

विसृज्य वर्तुलीकृत्य पाशानस्त्रेण पूर्ववत्। घृतपूर्णे स्रुवे दत्त्वा कलास्त्रेणैव होमयेत्।।२४।।
अस्त्रेण जुहुयात्पञ्च पाशाङ्कुशनिवृत्तये। प्रायश्चित्तनिषेधार्थं दद्यादष्टाऽऽहुतीस्ततः।।२५।।

निवृत्ति कला के समान ही सम्पन्न करना चाहिये। सदाशिव का आवाहन, पूजन और तर्पण करके उनसे भक्तिपूर्वक इस तरह निवेदन करना चाहिये–"हे भगवन्! इस 'सदा' संज्ञक मुमुक्षु को तुम्हारे अधिकार में दीक्षित करता हूँ। आपको सदा इसके अनुकूल रहना चाहिये"।।७-१२।।

फिर माता-पिता का आवाहन, पूजन एवं तर्पणसंनिधान करके हृदय-सम्पुटित आत्मबीज से शिष्य के वक्षःस्थल में ताड़न करना चाहिये। मन्त्र इस तरह है–'**ॐ हां हां हां हः हूं फट्।**' इसी मन्त्र से शिष्य के हृदय में प्रवेश करके अस्त्र-मन्त्र द्वारा पाशयुक्त चैतन्य का उस पाश से वियोजन करना चाहिये। फि ज्येष्ठा अङ्कुश-मुद्रा द्वारा सम्पुटित उसी स्वाहान्त मन्त्र से उसका आकर्षण और ग्रहण करके '**नमोऽन्त**' मन्त्र से उसको अपने आत्मा में नियोजित करना चाहिये। आकर्षण-मन्त्र तो वही '**ॐ हां हां हां हः हूं फट्।**' है, परन्तु आत्म-नियोजन का मन्त्र इस तरह है–'**ॐ हां हां हामात्मने नमः।**' पूर्ववत् वामा उद्भव-मुद्रा द्वारा माता-पिता के संयोग की भावना करके इसी मन्त्र से उस जीवचैतन्य का देवी के गर्भ में स्थापन करना चाहिये। उसके बाद उपरोक्त विधि से गर्भाधान आदि सभी संस्कार करना चाहिये। पाशबन्धन की शिथिलता के लिये प्रायश्चित्त के रूप में मूल-मन्त्र से सौ आहुतियों के प्रायश्चित्त के रूप में मूल-मन्त्र से सौ आहुतियाँ दे अथवा मूल-मन्त्र का सौ बार जप करना चाहिये।।१३-२०।।

मलशक्ति के तिरोधान और पाशों के वियोजन के निमित्त अस्त्र-मन्त्र से पूर्ववत् पाँच-पाँच आहुतियाँ देनी चाहिये। कला सम्बन्धी बीज से युक्त आयुध-मन्त्र से सात बार अभिमन्त्रित की हुई कटाररूप अस्त्र से पाशों का छेदन करना चाहिये। उसके लिये मन्त्र इस तरह है–'**ॐ हः हां शान्त्यतीतकलापाशाय हूं फट्।**' उसके बाद अस्त्र-मन्त्र से पूर्ववत् उन पाशों को मसलकर, वर्तुलाकार बनाकर, घी से भरे हुए स्रुव में रख दे और कला-सम्बन्धी अस्त्र-

सदाशिवं हृदाऽऽवाह्य कृत्वा पूजनतर्पणे। पूर्वोक्तविधिना कुर्यादधिकारसमर्पणम्।।२६।।

ॐ हां सदाशिव मनोविन्दुं शुल्कं गृहाण स्वाहा।।२७।।

निःशेषदग्धपाशस्य पशोरस्य सदाशिव। बन्धाय न त्वया स्थेयं शिवाज्ञां श्रावयेदिति।।२८।।
मूलेन जुहुयात्पूर्णां विसृजेत्तु सदाशिवम्। ततो विशुद्धमात्मानं शरच्चन्द्रमिवोदितम्।।२९।।
संहारमुद्रया रौद्र्या संयोज्य गुरुरात्मनि। कुर्वीत शिष्यदेहस्थमुद्धृत्योद्भवमुद्रया।।३०।।
दद्यादाप्यायनायास्य मस्तकेऽर्घ्याम्बुविन्दुकम्। क्षमयित्वा महाभक्त्या पितरौ विसृजेत्तथा।।३१।।
खेदितौ शिष्यदीक्षायै यन्मया पितरौ युवाम्। कारुण्यान्मोक्ष (च)यित्वा तद्व्रज त्वं स्थानमात्मनः।।३२।।
शिखामन्त्रितकर्तर्या बोधशक्तिस्वरूपिणीम्। शिखां छिन्द्याच्छिवास्त्रेण शिष्यस्य चतुरङ्गुलाम्।।३३।।

ॐ क्लीं शिखायै हूं फट्, ओमस्त्राय हूं फट्।।३४।।

स्रुचि तां घृतपूर्णायां गोविड्गोलकमध्यगाम्। संविधायास्त्रमन्त्रेण हूंफडन्तेन होमयेत्।।३५।।

ॐ हौं हः, अस्त्राय हूं फट्।।३६।।

प्रक्षाल्य स्रुक्स्रुवौ शिष्यं संस्नाप्याऽऽचम्य च स्वयम्। योजनिकास्थमात्मानं शस्त्रमन्त्रेण ताडयेत्।।३७।।
वियोज्याऽऽकृष्य संपूज्य पूर्ववद्द्वादशांशतः। आत्मीयहृदयाम्भोजकर्णिकायां निवेशयेत्।।३८।।

मन्त्र के द्वारा ही उसका हवन करना चाहिये। फिर पाशाङ्कुर की निवृत्ति के लिये अस्त्र-मन्त्र से पाँच और प्रायश्चित्त-निषेध के लिये आठ आहुतियाँ देनी चाहिये। इसके बाद हृदय-मन्त्र से सदाशिव का आवाहन एवं पूजन और तर्पण करके उपरोक्त विधि से अधिकार समर्पण करना चाहिये। उसका मन्त्र इस तरह है।–'**ॐ हां सदाशिव मनोबिन्दुं शुल्कं गृहाण स्वाहा।**'।।२१-२७।। तत्पश्चात् उनको भी निम्नांकित रूप से शिव की आज्ञा सुनावे–'हे सदाशिव! इस पशु के सरे पाप दग्ध हो गये हैं। इसलिये अधुना आपको इसको बन्धन में डालने के लिये यहाँ नहीं ठहरना चाहिये।' मूल मन्त्र से पूर्णाहुति दे और सदाशिव का विसर्जन करना चाहिये। तत्पश्चात् गुरु शिष्य के शरत्कालिक चन्द्रमा के समान उदित विशुद्ध जीवात्मा को रौद्री विनाश मुद्रा के द्वारा अपने आत्मा में संयोजित करके आत्मस्थ कर लेना चाहिये। शिष्य के शरीरस्थ जीवात्मा का उद्भव-मुद्रा द्वारा उत्थान या उद्धार करके उसके पोषण के लिये शिष्य के मस्तक पर अर्घ्यजल की एक बूँद स्थापित करना चाहिये। इसके बाद परम भक्तिभाव से क्षमा-याचना करके माता-पिता का विसर्जन करना चाहिये। विसर्जन के समय इस तरह कहे–'मैंने शिष्य को दीक्षा देने के लिये जो आप दोनों माता-पिता को खेद पहुँचाया है, उसके लिये मुझको कृपापूर्वक क्षमा-दान देकर आप दोनों अपने स्थान को पधारें।।२८-३२।।वषट्-मन्त्र से अभिमन्त्रित कर्तरी (कटार) द्वारा शिवास्त्र से शिष्य की चार अङ्गुल बड़ी बोधशक्तिस्वरूपिणी शिखा का छेदन करना चाहिये। छेदन के मन्त्र इस तरह हैं–'**ॐ हूं शिखायै हूं फट्।**' '**ॐ अस्त्राय हूं फट्।**' उसको घृतपूर्ण स्रुक् में रखकर 'हूं फट्' अन्त वाले अस्त्र-मन्त्र से अग्नि में हवन देना चाहिये। मन्त्र इस तरह है–'**ॐ ॐ हः अस्त्राय हूं फट्।**' इसके बाद स्रुक् और स्रुवा को धोकर शिष्य को स्नान करवाने के पश्चात् स्वयं भी आचमन करना चाहिये और योजनिका अथवा योजना स्थान के लिये अस्त्र-मन्त्र से अपने जाप का ताड़न करना चाहिये। तत्पश्चात् वियोजन, आकर्षण और संग्रहण करके पूर्ववत् द्वादशान्त (ललाट के ऊपरी भाग) से जीवचैतन्य को ले आकर अपने हृदय-कमल की कर्णिका में स्थापित करना चाहिये।।३२-३८।।

पूरितं स्रुवमाज्येन विहिताधोमुखस्रुचा। नित्योक्तविधिनाऽऽदाय शङ्खसंनिभमुद्रया।।३९।।
प्रसारितशिरोग्रीवो नादोच्चारानुसारतः। समदृष्टिः स्थिरश्चान्तः परभावसमन्वितः।।४०।।
कुम्भमण्डलवह्निभ्यः शिष्यादपि निजात्मनः। गृहीत्वा षड्विधाध्वानं श्रु (स्रु) गग्रे प्राणनाडिकम्।।४१।।
संचिन्त्य विन्दुवद्ध्यात्वा क्रमशः सप्तधा यथा। प्रथमं प्राणसंयोगस्वरूपममपरं ततः।।४२।।
हृदयादिक्रमोच्चारविसृष्टं मन्त्रसंज्ञकम्। सुषुम्नानुगतं नादस्वरूपं तु तृतीयकम्।।४३।।
सप्तमे कारणत्यागात्प्रशान्तविस्वरं लयः। शक्तिनादोर्ध्वसंचारस्तच्छक्ति विस्वरं मतम्।।४४।।
प्राणस्य निखिलस्यापि शक्तिप्रमेयवर्जितम्। तत्कालविस्वरं षष्ठं शक्त्यतीतं च सप्तकम्।।४५।।
तदेतद्योजनस्थानं विस्वरं तत्त्वसंज्ञकम्। पूरकं कुम्भकं कृत्वा व्यादाय वदनं मनाक्।।४६।।
शनैरुदीरयन्मूलं कृत्वा शिष्यात्मनो लयम्। हकारे तडिदाकारे षडध्वप्राणरूपिणि।।४७।।
उकारं परतो नाभेर्वितस्तिं व्याप्य संस्थितम्। ततः परमकारस्तु हृदयाच्चतुरङ्गुलम्।।४८।।
ॐ कारवाचकं विष्णोस्ततोऽष्टाङ्गुलकण्टकम्। चतुरङ्गुलतालस्थं मकारं रुद्रवाचकम्।।४९।।
तद्वल्ललाटमध्यस्थं विन्दुमीश्वरवाचकम्। नादं सदाशिवं देवं ब्रह्मरन्ध्रावसानकम्।।५०।।
शक्तिं च ब्रह्मरन्ध्रस्थां त्यजन्नित्यमनुक्रमात्। दिव्यं पिपीलिकास्पर्शं तस्मिन्नेवानुभूय च।।५१।।
द्वादशान्ते परे तत्त्वे परमानन्दलक्षणे। भावशून्ये मनोऽतीते शिवे नित्यगुणोदये।।५२।।

स्रुक् को घी से भरकर और उसके ऊपर अधोमुख स्रुव रखकर शङ्खतुल्य मुद्रा द्वारा नित्योक्त विधि से हाथ में ले। तत्पश्चात् नादोच्चारण के अनुसार मस्तक और ग्रीवा फैलाकर दृष्टि को समभाव से रखते हुए स्थिर, शान्त एवं परमभाव से सम्पन्न हो कलश, मण्डल, अग्नि, शिष्य तथा अपने आत्मा से भी छः तरह के अध्वा को ग्रहण करके, स्रुक् के अग्रभाग में प्राणमयी नाड़ी के अन्दर स्थापित करके उसी भाव से उसका चिन्तन करना चाहिये। इस तरह चिन्तन करके क्रमशः सात तरह के विषुव का ध्यान करना चाहिये। उन सातों का परिचय इस तरह है—पहला 'प्राणसंयोग स्वरूप' है और दूसरा हृदयादि-क्रम से उच्चारित मन्त्रसंज्ञक है। तीसरा सुषुम्णा में अनुगत 'नाद या नाड़ी' रूप है। नाड़ी सम्बद्ध नाद का जो शक्ति में लय होना है, उसको 'प्रशान्त-विषुव' कहते हैं। शक्ति में लीन हुए नाद का पुनः उज्जीवन होकर जो ऊपर को संचार और समता में लय होता है, उसको 'शक्ति' नामक विषुव कहा गया है। सम्पूर्ण नाद का शक्ति की सीमा को लाँघकर उन्मनी में लीन होना 'कालविषुव' कहलाता है। यह छठा है। यह शक्ति से अतीत होता है। सातवाँ विषुव है—'तत्त्वसंज्ञक'। यही योजना-स्थान है।।३९-४५।। पूरक और कुम्भक करके मुँह को थोड़ा खोलकर धीरे-धीरे मूल-मन्त्र का उच्चारण करते हुए भावना द्वारा शिष्यात्मा का लय करना चाहिये। उसका क्रम इस प्रकार है—विद्युत् सदृश छहों अध्वाओं के प्राण स्वरूप में 'फट्कार' का चिन्तन करना चाहिये। नाभि से ऊपर एक बित्ते का स्थान फटकार है, जो प्राण का स्थान माना गया है। उससे ऊपर हृदय से चार अङ्गुल की दूरी पर 'अकार' का चिन्तन करना चाहिये (यह ब्रह्मा का बोधक है) उससे आठ अंगुल ऊपर कण्ठ में विष्णु का वाचक 'उकार' है, उससे भी चार अंगुल ऊँचे तालु स्थान में रुद्रवाचक 'मकार' की स्थिति है। इसी तरह ललाट के मध्य भाग में ईश्वरवाचक 'बिन्दु का' स्थान है। ललाट से ऊपर ब्रह्मरन्ध्रपर्यन्त नादमय सदाशिव देव विराजमान हैं। उनके साथ ही वहाँ उनकी शक्ति भी विद्यमा है। उपरोक्त तत्त्वों का क्रमशः चिन्तन और त्याग करते हुए अन्ततोगत्वा शक्ति को भी छोड़ देना चाहिये। वहीं दिव्य पिपीलिका स्पर्श का अनुभव करके ललाट के ऊपर के प्रदेश में परम

विलीय मानसे तस्मिञ्शिष्यात्मानं विभावयेत्। विमुञ्चन्सर्पिषो धारां ज्वालान्तेऽपि परे शिवे॥५३॥
योजनिकास्थिरत्वाय वौषडन्तशिवाणुना। दत्त्वा पूर्णां विधानेन गुणापादनमाचरेत्॥५४॥
ॐ हामात्मने सर्वज्ञो भव स्वाहा। ॐ हामात्मने परितृप्तो भव स्वाहा। ॐ हूतात्मनेऽनादिबोधो भव स्वाहा। ॐ हौमात्मने स्वतन्त्रो भव स्वाहा। ॐ हौमात्मन् अलुप्तशक्तिर्भव स्वाहा।
ॐ हः, आत्मनेऽनन्तशक्तिर्भव स्वाहा॥५५॥
इत्थं षड्गुणमात्मानं गृहीत्वा परमाक्षरात्। विधिना भावनोपेतः शिष्यदेहे नियोजयेत्॥५६॥
तीव्राणुशक्तिसंपातजनितश्रमशान्तये। शिष्यमूर्धनि विन्यस्येद् अर्घ्यादमृतविन्दुकम्॥५७॥
प्रणमय्येशकुम्भादीञ्शिवाद्दक्षिणमण्डले। सौम्यवक्त्रं व्यवस्थाप्य शिष्यं दक्षिणमात्मनः॥५८॥
त्वयैवानुगृहीतोऽयं मूर्तिमास्थाय मामकीम्। देवे वह्नौ गुरौ तस्माद्भक्तिं चाप्यस्य वर्धय॥५९॥
इति विज्ञाप्य देवेशं प्रणम्य च गुरुः स्वयम्। श्रेयस्तवास्त्विवति ब्रूयादाशिषं शिष्यमादरात्॥६०॥
ततः परमया भक्त्या दत्त्वा देवेऽष्टपुष्पिकाम्। पुत्रकं शिवकुम्भेन संस्नाप्य विसृजेन्मखम्॥६१॥

॥इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते निर्वाणदीक्षाकथनं नामाष्टाशीतितमोऽध्यायः॥८८॥
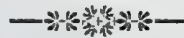
तत्त्व, परमानन्द स्वरूप, भावशून्य, मनोऽतीत, नित्य गुणोदयशाली शिवतत्त्व में शिष्यात्मा के विलीन होने की भावना करनी चाहिये॥४६-५२॥ परम शिव में योजनिका की स्थिरता को लिये '**ॐ नमः शिवाय वौषट्।**'-इस मन्त्र का उच्चारण करते हुए अग्नि की ज्वाला में घी की धारा छोड़ता रहना चाहिये। फिर विधिपूर्वक पूर्णाहुति देकर गुणापादन करना चाहिये। उसकी विधि इस तरह है। निम्नांकित मन्त्रों को पढ़कर अग्नि में आहुतियाँ दे-

'ॐ हां आत्मन् सर्वज्ञो भव स्वाहा।' 'ॐ हीं आत्मन् नित्यतृप्तो भव स्वाहा।' 'ॐ हूं आत्मन् अनादिबोधो भव स्वाहा।' 'ॐ हैं आत्मन् स्वतन्त्रो भव स्वाहा।' 'ॐ हौं आत्मन् अलुप्तशक्तिर्भव स्वाहा।' 'ॐ हः आत्मन् अनन्तशक्तिर्भव स्वाहा।'

इस तरह छः गुणों से सम्पन्न आत्मा को अविनाशी परमशिव से लेकर विधिवत् भावनापूर्वक शिष्य के शरीर में नियोजत करना चाहिये। तीव्र और मन्द शक्तिपातजनित श्रमकी शान्ति के लिये शिष्य के मस्तक पर न्यासपूर्वक अमृत-बिन्दु अर्पित करना चाहिये॥५३-५७॥ ईशान-कलश आदि के रूप में पूजित शिवस्वरूप कलशों को नमस्कार करके दक्षिणमण्डल में शिष्य को अपने दाहिने उत्तराभिमुख बिठावे और देवेश्वर शिव से याचना करनी चाहिये-'हे प्रभो! मेरी मूर्ति में स्थित हुए इस जीव को आपने ही अनुगृहीत किया है; इसलिये हे नाथ! देवता, अग्नि तथा गुरु में इसकी भक्ति बढ़ाइये'॥५८-५९॥ इस तरह याचना करके देवेश्वर शिव को नमस्कार करने के अनन्तर गुरु स्वयं शिष्य को आदरपूर्वक यह आशीर्वाद दे कि 'आपका कल्याण हो'। इसके बाद भगवान् शिव को श्रेष्ठतम भक्तिभाव से आठ फूल चढ़ाकर शिवकलश के जल से शिष्य को स्नान करवावे और यज्ञ का विसर्जन करना चाहिये॥६०-६१॥

॥इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी अट्ठासीवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ॥८८॥

अथैकोननवतितमोऽध्यायः

एकतत्त्वदीक्षाविधिः

ईश्वर उवाच

अथैकतात्त्विकी दीक्षा लघुत्वादुपदिश्यते। सूत्रबन्धादि कुर्वीत यथायोगं निजाणुना।।१।।
कालाग्न्यादिशिवान्तानि तत्त्वानि परिभावयेत्। समतत्त्वं समग्राणि सूत्रे मणिगणानिव।।२।।
आवाह्य शिवतत्त्वादि गर्भाधानादि पूर्ववत्। मूलेन किं तु कुर्वीत सर्वशुल्क समर्पणम्।।३।।
प्रददीत ततः पूर्णां तत्त्वव्रातोपगर्भिताम्। एकयैव यया शिष्यो निर्वाणमधिगच्छति।।४।।
योजनायै शिवे चान्यां स्थिरत्वापादनाय च। दत्त्वा पूर्णां प्रकुर्वीत शिवकुम्भाभिषेचनम्।।५।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते एकतत्त्वदीक्षाविधिकथनं नामैकोननवतितमोऽध्यायः।।८९।।

—❋❋❋—

अध्याय-८९

एकतत्त्व-दीक्षा विधान

भगवान् शिव ने कहा कि–हे स्कन्द! अधुना लघु होने के कारण एकतात्त्विकी-दीक्षा उपदेश दिया जाता है। यथावसर यथोचित विधि से स्वकीय मन्त्र द्वारा सूत्रबन्ध आदि कर्म करना चाहिये। तत्पश्चात् काल, अग्नि आदि से लेकर शिव-पर्यन्त समस्त तत्त्वों का प्रविभावन (चिन्तन) करना चाहिये। शिवतत्त्व में अन्य सभी तत्त्व धागे में मन कों की भाँति पिरोये हुए हैं। शिवतत्त्व आदि का आवाहन करना चाहिये। गर्भाधान आदि संस्कारों का पूर्ववत् निष्पादन करना चाहिये; परन्तु मूल-मन्त्र से सर्वशुल्क समर्पण करना चाहिये। इसके बाद तत्त्वसमूहों से गर्भित पूर्णाहुति सम्प्रदान करना चाहिये। उस एक ही आहुति से शिष्य निर्वाण प्राप्त कर लेता है।।१-४।।

शिव में नियोजन तथा स्थिरता का आपादान करने के लिये दूसरी पूर्णाहुति भी देनी चाहिये। उसको देकर शिवकलश के जल से शिष्य का अभिषेक करना चाहिये।।५।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी नब्वासीवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।८९।।

❖❖❖

अथ नवतितमोऽध्यायः

अभिषेकादिविधिकथनम्

ईश्वर उवाच

शिवमभ्यर्चाभिषेकं कुर्याच्छिष्यादिके श्रिये। कुम्भानीशादिकाष्ठासु क्रमशो नव विन्यसेत्॥१॥
तेषु क्षारोदं क्षीरोदं दध्युदं घृतसागरम्। इक्षुकादम्बरीस्वादुमस्तूदानष्ट सागरान्॥२॥
निवेशयेद्यथासंख्यमष्टौ विद्येश्वरानथ। एकं शिखण्डिनं रुद्रं श्रीकण्ठं तु द्वितीयकम्॥३॥
त्रिमूर्तिमेकरुद्राक्षमेकनेत्रं शिवोत्तमम्। सप्तमं सूक्ष्मनामानमनन्तं रुद्रमष्टमम्॥४॥
मध्ये शिवं समुद्रं च शिवमन्त्रं च विन्यसेत्। यागालयान्दिगीशस्य रचिते स्नानमण्डपे॥५॥
कुर्यात्करद्वयायामां वेदीमष्टाङ्गुलोच्छ्रिताम्। श्रीपर्णाद्यासने तत्र विन्यस्यानन्तमासनम्॥६॥
शिष्यं निवेश्य पूर्वास्यं सकलीकृत्य पूजयेत्। काञ्जिकौदनमृद्भस्मदूर्वागोमयगोलकैः॥७॥
सिद्धार्थदधितोयैश्च कुर्यान्निर्मन्थनं ततः। क्षारोदानुक्रमेणाथ हृदा विद्येशशम्बरैः॥८॥
कलशैः स्नपयेच्छिष्यं सुधाधारणयाऽन्वितम्। परिधाप्य सिते वस्त्रे निवेश्य शिवदक्षिणे॥९॥

अध्याय-९०

अभिषेक आदि विधान

देवाधिदेव भगवान् श्रीशिवशंकर ने कहा कि-हे स्कन्द! शिव का पूजन करके गुरु शिष्य आदि का अभिषेक करना चाहिये। इससे शिष्य को श्री की प्राप्ति हो जाती है। ईशान आदि आठ दिशाओं में आठ और मध्य में एक-इस तरह नौ कलश स्थापित करना चाहिये। उन आठ कलशों में क्रमशः क्षारोद् क्षीरोद्, दध्युदक, घृतोद, इक्षुरसोद, सुरोद, स्वादूदक तथा गर्भोद-इन आठ समुद्रों का आवाहन करना चाहिये। इसी तरह क्रमानुसार उनमें आठ विद्येश्वरों का भी स्थापन क्रमानुसार उनमें आठ विद्येश्वरों का भी स्थापन करना चाहिये, जिनके नाम इस तरह हैं-१. शिखण्डी २. श्रीकण्ठ, ३. त्रिमूर्ति, ४. एकरुद्र, ५. एकनेत्र, ६. शिवोत्तम, ७. सूक्ष्म और ८. अनन्तरुद्र॥१-४॥

मध्यवर्ती कलश में शिव, समुद्र तथा शिवमन्त्र की स्थापना करनी चाहिये। यागमण्डप की दिशा के स्वामी के लिये रचित स्नान-मण्डप में दो हाथ लम्बी और आठ अंगुल ऊँची एक वेदी बनाये। उस पर कमल आदि का आसन बिछा देना चाहिये और उसके ऊपर आसन स्वरूप अनन्त का न्यास करके शिष्य को पूर्वाभिमुख बिठाकर सकलीकरणपूर्वक पूजन करना चाहिये। काञ्जी, भात, मिट्टी, भस्म, दूर्वा, गोबर के गोले, सरसों, दही और जल-इन सबके द्वारा उसके शरीर को मलकर क्षारोदक आदि के क्रम से नमस्कार सहित विद्येश्वरों के नाम-मन्त्रों द्वारा उपरोक्त कलशों के जल से शिष्य को स्नान कराये और शिष्य मन-ही-मन यह धारणा करनी चाहिये कि 'मुझको अमृत से नहलाया जा रहा है'॥५-८॥

तत्पश्चात् उसको दो श्वेत वस्त्र पहनाकर शिव के दक्षिण भाग में बिठावे और उपरोक्त आसन पर पुनः उस शिष्य की पहले की ही भाँति पूजा करनी चाहिये। इसके बाद उसको पगड़ी, मुकुट, योग-पट्टिका, कर्तरी 'कैंची, चाकू या कटार), खड़िया, अक्षमाला और पुस्तक आदि अर्पित करना चाहिये। वाहन के लिये शिबिका आदि भी देना चाहिये।

पूर्वोदितासने शिष्यं पुनः पूर्ववदर्चयेत्। उष्णीषं योगपट्टं च मुकुट्टं कर्तरीं घटीम्॥१०॥
अक्षमालां पुस्तकादि शिविकाद्यधिकारकम्। दीक्षाव्याख्याप्रतिष्ठाद्यं ज्ञात्वाऽद्यप्रभृति त्वया॥११॥
सुपरीक्ष्य विधातव्यमाज्ञां संश्रावयेदिति। अभिवाद्य ततः शिष्यं प्रणिपत्य महेश्वरम्॥१२॥
विघ्नज्वालापनोदार्थं कुर्याद्विज्ञापनां यथा। अभिषेकार्थमादिष्टस्त्वयाऽहं गुरुमूर्तिना॥१३॥
संहितापारगः सोऽयमभिषिक्तो मया शिव। तृप्तये मन्त्रचक्रस्य पञ्चपञ्चाऽऽहुतीर्यजेत्॥१४॥
दद्यात्पूर्णां ततः शिष्यं स्थापयेन्निजदक्षिणे। शिष्यदक्षिणपाणिस्था अङ्गुष्ठाद्यङ्गुलीः क्रमात्॥१५॥
लाञ्छयेदुपबद्धाय दग्धदर्भाग्रशम्बरैः। कुसुमानि करे दत्त्वा प्रणामं कारयेदमुम्॥१६॥
कुम्भेऽनले शिवे स्वस्मिंस्ततस्तत्कृत्यमाविशेत्। अनुग्राह्यास्त्वया शिष्याः शास्त्रेण सुपरीक्षिताः॥१७॥
भूपवन्मानवादीनामभिषेकादभीप्सितम्। ॐ श्रां श्रौं पशुं हूं फडित्यस्त्रराजाभिषेकतः॥१८॥

॥इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते अभिषेकादिविधिकथनं नाम नवतितमोऽध्यायः॥९०॥

उसके बाद गुरु उस शिष्य को अधिकार सौंपे। 'आज से आप भलीभाँति जानकर, अच्छी तरह जाँच-परखकर किसी को दीक्षा, व्याख्या और प्रतिष्ठा आदि का उपदेश करना।-यह आज्ञा सुनावे। उसके बाद शिष्य का अभिवादन स्वीकार कर और महेश्वर को नमस्कार करके उनसे विघ्न-समूह का निवारण करने के लिये इस तरह याचना करनी चाहिये-'हे प्रभो शिव! आप गुरुस्वरूप हैं; आपने इस शिष्य का अभिषेक करने के लिये मुझको आदेश दिया था, उसके अनुसार मैंने इसका अभिषेक कर दिया। यह संहिता में पारंगत है'॥९-१३॥

मन्त्रचक्र की तृप्ति के लिये पाँच-पाँच आहुतियाँ देनी चाहिये। फिर पूर्णाहुति-हवन करना चाहिये। इसके बाद शिष्य को अपने दाहिने बिठावे। शिष्य के दाहिने हाथ की अङ्गुष्ठ आदि अंगुलियों को क्रमशः दग्ध दर्भाङ्गशम्बरों से 'ऊषरत्व' के लिये लाञ्छित करना चाहिये। उसके हाथ में फूल देकर उससे कलश, अग्नि एवं शिव को नमस्कार करवावे। उसके बाद उसके लिये कर्तव्य का आदेश दे-'आपको शास्त्र के अनुसार भलीभाँति परीक्षा करके शिष्यों को अनुगृहीत करना चाहिये। मानव आदि का राजा की भाँति अभिषेक करने से अभीष्ट की प्राप्ति हो जाती है। **'ॐ श्लीं पशु हूं फट्'**।-यह अस्त्रराज पाशुपत-मन्त्र है। इसके द्वारा अस्त्रराज का पूजन और अभिषेक करना चाहिये॥१४-१८॥

॥इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी नब्बेवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ॥९०॥

❖❖❖

अथैकनवतितमोऽध्यायः

अभिषिक्तेन कर्त्तव्यस्य तत्तद्देवतापूजनस्य विधिः

ईश्वर उवाच

अभिषिक्तः शिवं विष्णुं पूजयेद्भास्करादिकान्। शङ्खभेर्यादिनिर्घोषैः स्नापयेत्पञ्चगव्यकैः॥१॥
यो देवान्देवलोकं स याति स्वं कुलमुद्धरन्। वर्षकोटिसहस्रैस्तु यत्पापं समुपार्जितम्॥२॥
घृताभ्यङ्गेन देवानां भस्मीभवति पावके। आढकेन घृताद्यैश्च देवान्स्नाप्य सुरो भवेत्॥३॥
चन्दनेनानुलिप्याथ गन्धाद्यैः पूजयेत्तथा। अल्पायासेन स्तुतिभिः स्तुता देवास्तु सर्वदा॥४॥
अतीतानागतज्ञानमन्त्रधीभुक्तिमुक्तिदाः। गृहीत्वा प्रश्नसूक्ष्मार्णे हृते द्वाभ्यां शुभाशुभम्॥५॥
त्रिभिर्जीवो मूलधातुश्चतुर्भिर्ब्राह्मणादिधीः। पञ्चादौ भूतत्त्वादि शेषे चैवं जयादिकम्॥६॥
एकत्रिकातित्रिकान्ते पदे द्विपमकान्तके। अशुभं मध्यमं मध्येष्विन्द्रस्त्रिषु नृपः शुभः॥७॥
संख्यावृन्दे जीविताब्दं यमोऽब्ददशहा ध्रुवम्। सूर्येभास्येशदुर्गाश्रीविष्णुमन्त्रैर्लिखेत्कजे॥८॥

अध्याय-९१

देवार्चन की महिमा तथा विविध मन्त्र एवं मण्डल का कथन

देवाधिदेव भगवान् श्रीशिवशंकर ने कहा कि-हे स्कन्द! अभिषेक हो जाने पर दीक्षित पुरुष को शिव, विष्णु तथा सूर्य आदि देवताओं का पूजन करना चाहिये। जो शंख, भेरी आदि वाद्यों की ध्वनि के साथ देवताओं को पञ्चगव्य से स्नान कराता है, वह अपने वंश का उद्धार करके स्वयं भी देवलोक को जाता है। हे अग्निनन्दन! कोटि सहस्र वर्षों में जो पाप उपार्जित किया गया है, वह सभी देवताओं को घी का अभ्यङ्ग लगाने से भस्म हो जाता है। एक आढ़क घी आदि से देवताओं को नहलाकर मनुष्य देवता हो जाता है।।१-३।। चन्दन का अनुलेप लगाकर गन्ध आदि से देवपूजन करना चाहिये तो उसका भी वही फल है। थोड़े से आयास के द्वारा स्तुति पढ़कर यदि सदा देवताओं की स्तुति की जाय तो वे भूत और भविष्य का ज्ञान, मन्त्रज्ञान, भोग तथा मोक्ष सम्प्रदान करने वाले होते हैं।।४।। यदि कोई मन्त्र के शुभाशुभ फल के विषय में प्रश्न करता हो, तो प्रश्नकर्ता के संक्षिप्त प्रश्नवाक्य के अक्षरों की संख्या गिन ले। उस संख्या में दो से भाग देना चाहिये। एक बचे तो शुभ और शून्य या दो बचे तो अशुभ फल जाने। तीन से भाग देने पर मूल धातुरूप जीव का परिचय मिलता है, अर्थात् एक शेष रहे तो वातजीव, दो शेष रहे तो पित्तजीव और तीन शेष रहे तो कफजी जाने। चार से भाग देने पर ब्रह्माणादि वर्ण-बुद्धि होती है। तात्पर्य यह कि एक बाकी बचे तो उस मन्त्र से ब्राह्मण-बुद्धि, दो बचने पर क्षत्रिय-बुद्धि, तीन बचने पर वैश्य बुद्धि और चार शेष रहने पर शूद्र-बुद्धि कहना चाहिये। पाँच से भाग देने पर शेष के अनुसार भूत तत्त्व आदि का बोध होता है अर्थात् एक आदि शेष रहने पर पृथिवी आदि तत्त्व का परिचय मिलता है। इसी तरह जय-पराजय आदि का ज्ञान प्राप्त करना चाहिये।।५-६।। यदि मन्त्र-पद के अन्त में एक त्रिक (तीन बीजाक्षर) हों, अधिक बीजाक्षर हों अथवा दो प, म एवं क हों, तो इनमें से प्रथम वर्ग अशुभ, बीज वाला मध्यम तथा अन्तिम वर्ग शुभ है। यदि अन्त में संख्या समूह हो, तो वह जीवनकाल के दस वर्ष का सूचक है। यदि दस की संख्या हो, तो दस वर्ष के पश्चात् उस मन्त्र के साधक पर यमराज का निश्चय ही आक्रमण हो सकता है।।७।। सूर्य, गणपति, शिव, दुर्गा, श्रीलक्ष्मी तथा भगवान् श्रीहरि विष्णु भगवान् के मन्त्रों के अक्षरों द्वारा जप में तत्पर कठिनी (अङ्गुष्ठ अँगुली) ये स्पर्श किये गये कमल पत्र में गोमूत्राकार रेखा

कठिन्या जप्त्या स्पृष्टे गोमूत्राकृतिरेखया। आरभ्यैकं त्रिकं यावत्त्रिचतुष्कावसानकम्।।९।।
मरुद्व्योममरुद्बीजैश्चतुःषष्टिपदे तथा। अक्षाणां पातनात्स्पर्शाद्विषमादौ शुभादिकम्।।१०।।
एकत्रिकादिमारभ्य अन्ते चाष्टत्रिकं तथा। ध्वजाद्यायाः समा हीना विषमाः शोभनादिदाः।।११।।
आईपल्लवितैः काद्यैः षोडशस्वरपूर्वगैः। आद्यैस्तैः सस्वरैः काद्यैस्त्रिपुरानाम मन्त्रकाः।।१२।।
ह्रीं बीजाः प्रणवाद्याः स्युर्नमोन्ता यत्र पूजने। मन्त्रा विंशतिसाहस्राः शतं षष्ठ्यधिकं ततः।।१३।।
आ ह्रींमन्त्राःसरस्वत्याश्चण्डिकायास्तथैव च। तथा गौर्याश्च दुर्गाया आं श्रीमंत्राः श्रियस्तथा।।१४।।
तथा क्षौंमन्त्राः सूर्यस्य आंहौंमन्त्राः शिवस्य च। आंगंमन्त्रा गणेशस्य आंमन्त्राश्च तथा हरेः।।१५।।
शतार्धैकाधिकैः काद्यैस्तथा षोडशभिः स्वरैः। काद्यैस्तैः सस्वरैराद्यैः कान्तैर्मन्त्रास्तथाऽखिलाः।।१६।।
रवीशदेवीविष्णूनां खाब्धिदेवेन्द्रवर्तनात्। शतत्रयं षष्ठ्यधिकं प्रत्येकं मण्डलं क्रमात्।।१७।।
अभिषिक्तो जपेद्ध्यायेच्छिष्यादीन्दीक्षयेद्गुरुः।।१८।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते अभिषिक्तेन कर्त्तव्यस्य तत्तद्देवतापूजनस्य विधिकथनं नामैकनवतितमोऽध्यायः।।९१।।

पर एक त्रिक से प्रारम्भ कर द्वादश त्रिक-पर्यन्त लिखे। अर्थात् कथित मन्त्रों के तीन-तीन अक्षरों का समुदाय एक से लेकर द्वादश स्थानों तक पृथक्-पृथक् लिखे। इसी तरह चौंसठ कोष्ठों को एक मण्डल बनाकर उसमें मरुत् (यं), व्योम 'हं) और मरुत् (यं)-इन तीन बीजों का त्रिक पहले कोष्ठ से लेकर आठवें कोष्ठ तक लिखे। इन सभी स्थानों पर पासा फेंकने से अथवा स्पर्श करने पर शुभाशुभ का परिज्ञान होता है। विषम संख्या वाले स्थानों पर पासा पड़े या स्पर्श हो, तो शुभ और सम संख्या पर पड़े तो अशुभ फल होता है।।८-१०।। 'यं हं यं' -इन तीन बीजों के आठ त्रिक हैं। वे ध्वज आदि आठ आयों के प्रतीक हैं। इन आयों में जो सम हैं, वे अशुभ हैं। विषम आय शुभप्रद कहे गये हैं।।११।। 'क' आदि अक्षरों को सोलह स्वरों से तथा सोलह स्वरों को 'क' आदि से युक्त करके उन सबके साथ 'आं ई' यह पल्लव लगा देना चाहिये। पल्लवयुक्त इस सस्वर कादि अक्षरों को आदि में रखकर उनके साथ त्रिपुरा के नाम मन्त्र को पृथक्-पृथक् सम्बद्ध करना चाहिये। उनके आदि में 'ॐ ह्रीं' जोड़े और अन्त में 'नमः' पद लगा देना चाहिये। इस तरह पूजन कर्म के उपयोग में आने वाले इन मन्त्रों का प्रस्तार बीस हजार एक सौ आठ की संख्या तक पहुँच जाता है।।१२-१३।। **'आं ह्रीं'**-इन बीजों से युक्त सरस्वती, चण्डी, गौरी तथा दुर्गा के मन्त्र हैं। श्रीदेवी मन्त्र **'आं श्रीं'** इन बीजों से युक्त हैं। सूर्य के मन्त्र **'आं क्षौं'** इन बीजों से, शिव के मन्त्र **'आं हौं'** इन बीजों से गणेश के मन्त्र 'आं गं' इन बीजों से तथा श्रीहरि विष्णु के मन्त्र **'आं अं'** इन बीजों से युक्त हैं। कादि व्यञ्जन अक्षरों तथा अकारादि सोलह स्वरों को मिलाकर इक्यावन होते हैं। इस तरह सस्वर कादि इक्यावन होते हैं। इस तरह सस्वर कादि अक्षरों को आदि में और सस्वर 'क्ष' से लेकर 'क' तक के अक्षरों को अन्त में रखने से सम्पूर्ण मन्त्र बनते हैं।।१४-१६।। १४४० सम्पूर्ण मण्डल होने से सूर्य, शिव, देवी दुर्गा तथा विष्णु में से प्रत्येक के तीन सौ साठ मण्डल होते हैं। अभिषिक्त गुरु को इन सभी मन्त्रों तथा देवताओं का जप-ध्यान करना चाहिये तथा शिष्य एवं पुत्र को दीक्षा भी देनी चाहिये।१७-१८।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन एकानवेवाँ सम्बन्धी अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।९१।।

अथ द्विनवतितमोऽध्यायः

संक्षेपेण प्रतिष्ठाविधिः

ईश्वर उवाच

प्रतिष्ठां संप्रवक्ष्यामि क्रमात्संक्षेपतो गुह। पीठं शक्तिं शिवो लिङ्गं तद्योगः सा शिवाणुभिः।।१।।
प्रतिष्ठायाः पञ्चभेदास्तेषां रूपं वदामि ते। यत्र ब्रह्मशिलायोगः सा प्रतिष्ठा विशेषतः।।२।।
स्थापनं तु यथायोगं पीठ एव निवेशनम्। प्रतिष्ठा भिन्नपीठस्य स्थितस्थापनमुच्यते।।३।।
उत्थापनं च सा प्रोक्ता लिङ्गोद्धारपुरःसरा। यस्यां तु लिङ्गमारोप्य संस्कारः क्रियते बुधैः।।४।।
आस्थापनं तदुद्दिष्टं द्विधा विष्ण्वादिकस्य च। आसु सर्वासु चैतन्यं नियुञ्जीत परं शिवम्।।५।।
यदाधारादिभेदेन प्रासादेष्वपि पञ्चधा। परीक्षामथ मेदिन्याः कुर्यात्प्रासादकाम्यया।।६।।
शुक्लाऽऽज्यगन्धा रक्ता च रक्तगन्धा सुगन्धिनी। पीता कृष्णा सुरागन्धा विप्रादीनां मही क्रमात्।।७।।
पूर्वेशोत्तरसर्वत्र पूर्वा चैषां विशिष्यते। आखाते हास्तिके यस्याः पूर्णैः मृदधिका भवेत्।।८।।
उत्तमां तां महीं विद्यात्तोयाद्यैर्वा समुक्षिताम्। अस्थ्यङ्गारादिभिर्दृष्टामत्यन्तं शोधयेद्गुरुः।।९।।

अध्याय-९२

संक्षिप्त प्रतिष्ठा विधान

भगवान् शिव ने कहा कि–हे स्कन्द! अधुना मैं संक्षेप से और क्रमशः प्रतिष्ठा का वर्णन करने जा रहा हूँ। पीठ शक्ति है और लिंग शिव। इन दोनों (पीठ और लिङ्ग अथवा शक्ति और शिव)–के योग में शिव-सम्बन्धी मन्त्रों द्वारा प्रतिष्ठा की विधि सम्पादित होती है। प्रतिष्ठा की प्रतिष्ठा आदि पाँच भेद हैं। उनका स्वरूप आपको बता रहा हूँ। जहाँ ब्रह्मशिला का योग हो, वहाँ विशेष रूप से की हुई स्थापना 'प्रतिष्ठा' कही गयी है। पीठ पर ही यथा योग्य जो अर्चा-विग्रह को पधराया जाता है, उसको 'स्थापन' कहते हैं। प्रतिष्ठा (ब्रह्मशिला) से भिन्न की स्थापना को स्थिर स्थापन कहते हैं। लिङ्ग के आधारपूर्वक जो स्थापना होती है, उसको 'उत्थापन' कहा गया है। जिस प्रतिष्ठा में लिङ्ग को आरोपित करके विद्वानों द्वारा उसका संस्कार किया जाता है, उसकी 'आस्थापन' संज्ञा है। ये शिव-प्रतिष्ठा के पाँच भेद हैं। 'आस्थान' और 'उत्थान' भेद से विष्णु आदि की प्रतिष्ठा दो तरह की मानी गयी हैं। इन सभी प्रतिष्ठाओं में चैतन्य स्वरूप परमशिव का नियोजन करना चाहिये। 'पदाध्वा' आदि भेद से प्रासादों में भी पाँच तरह की प्रतिष्ठा बतलायी गयी है। प्रासाद की इच्छा से पृथ्वी की परीक्षा करनी चाहिये। जहाँ की मिट्टी का रंग श्वेत हो और घी की सुगन्ध आती हो, वह भूमि ब्राह्मण के लिये श्रेष्ठतम बतलायी गयी है। इसी तरह क्रमशः क्षत्रिय के लिये लाल तथा रक्त की-सी गन्ध वाली मिट्टी, वैश्य के लिये पीली और सुगन्धयुक्त मिट्टी वाली तथा शूद्र के लिये काली एवं सुरा की-सी गन्ध वाली मिट्टी से युक्त भूमि श्रेष्ठ कही गयी है।।१-७।।

पूर्व, ईशान, उत्तर अथवा सभी तरफ नीची और मध्य में ऊँची भूमि प्रशस्त मानी गयी हैं। एक हाथ गहराई तक खोदकर निकाली हुई मिट्टी यदि फिर उस गड्ढे में डाली जाने पर अधिक हो जाय तो वहाँ की भूमि को श्रेष्ठतम समझे। अथवा जल आदि से उसकी परीक्षा करनी चाहिये। हड्डी और कोयले आदि से दूषित भूमि का खोदने वहाँ

नगरग्रामदुर्गार्थं गृहप्रासादकारणम्। खननैर्गोकुलावासैः कषणैर्वा मुहुर्मुहुः॥१०॥
मण्डपे द्वारपूजादिमन्त्रतृप्त्यवसानकम्। कर्म निर्वर्त्याघोरास्त्रं सहस्रं विधिना यजेत्॥११॥
समीकृत्योपलिप्तायां भूमौ संशोधयेद्दिशः। स्वर्णदध्यक्षतै रेखाः प्रकुर्वीत प्रदक्षिणम्॥१२॥
मध्यादीशानकोष्ठस्थे पूर्णकुम्भे शिवं यजेत्। वास्तुमभ्यर्च्य तत्तोयैः सिञ्चेत्कुद्दालकादिकम्॥१३॥
बाह्ये रक्षोगणानिष्ट्वा विधिना दिग्बलिं क्षिपेत्। भूमिं संसिच्य संस्नाप्य कुद्दालाद्यं प्रपूजयेत्॥१४॥
अन्यं वस्त्रयुगच्छन्नं कुम्भं स्कन्धे द्विजन्मनः। निधाय गीतवाद्यादिब्रह्मघोषसमाकुलम्॥१५॥
पूजां कुम्भे समाहृत्य प्राप्ते लग्नेऽग्निकोष्ठके। कुद्दालेनाभिषिक्तेन मध्वक्तेन तु खानयेत्॥१६॥
नैर्ऋत्यां क्षेपयेन्मृत्स्नां खाते कुम्भजलं क्षिपेत्। पुरस्य पूर्वसीमान्तं नयेद्यावदभीप्सितम्॥१७॥
अथ तद्रक्षणं स्थित्वा भ्रामयेत्परितः पुरम्। सिञ्चन्सीमान्तचिह्नानि यावदीशानगोचरम्॥१८॥
अर्घ्यदानमिदं प्रोक्तं तत्र कुम्भपरिभ्रमात्। इत्थं परिग्रहं भूमेः कुर्वीत तदनन्तरम्॥१९॥
कर्करान्तं जलान्तं वा शल्यदोषजिघांसया। खादयेद्भूकुमारीं चेद्विधिना शल्यमुद्धरेत्॥२०॥
अकचटतपयशहान्मानवश्चेत्प्रश्नाक्षराणि तु। अग्नेर्ध्वजादिपतिताः स्वस्थाने शल्यमाख्यान्ति॥२१॥
कर्तुश्चाङ्गविकारेण जानीयात्तत्प्रमाणतः। पश्वादीनां प्रवेशेन कीर्तनैर्विरुतैर्दिशः॥२२॥

गौओं को ठहराने अथवा बारम्बार जोतने आदि के द्वारा अच्छी तरह शोधन करना चाहिये। नगर, ग्राम, दुर्ग, गृह और प्रासाद को निर्माण कराने के लिये कथित तरह से भूमि-शोधन आवश्यक है। मण्डप में द्वारपूजा से लेकर मन्त्रतर्पण-पर्यन्त सम्पूर्ण कर्म का निष्पादन करके विधिपूर्वक घोरास्त्र सहस्रयाग करना चाहिये। बराबर करके लिपी-पुती भूमि पर दिशाओं का साधन करना चाहिये। स्वर्ण, अक्षत और दही के द्वारा प्रदक्षिण क्रम से रेखाएँ खींचे। मध्यभाग से ईशान कोष्ठ में स्थित भरे हुए कलश में शिव का पूजन करना चाहिये। फिर वास्तु की पूजा करके उस कलश के जल से कुदाल आदि को सींचे। मण्डप से बाहर राक्षसों और ग्रहों का पूजन करके दिशाओं में विधिपूर्वक बलि देना चाहिये।८-१३॥ कलश में पूजा करके लग्न आने पर अग्निकोणवर्ती कोष्ठ में पहले जिसका अभिषेक किया गया था, उस मधुलिस कुदाल से धरती खुदावे और मिट्टी को नैर्ऋत्यकोण में फेंके। खोदे गये गड्ढे में कलश का जल गिरा देना चाहिये। फिर भूमि का अभिषेक करके कुदाल आदि को नहलाकर उसका पूजन करना चाहिये। तत्पश्चात् दूसरे कलश को दो वस्त्रों से आच्छादित करके ब्राह्मण के कंधे पर रखकर गाजे-बाजे और वेदध्वनि के साथ नगर की पूर्व सीमा के अन्त तक, जितनी दूर जाना अभीष्ट हो, उतनी दूर ले जाय और वहाँ क्षणभर ठहरकर वहाँ से नगर के चारों तरफ प्रदक्षिण क्रम से चलते हुए ईशानकोण तक उस कलश को घुमावे। साथ ही सीमान्त चिह्नों का अभिषेक करते रहना चाहिये।१४-१८॥ इस तरह रुद्र-कलश को नगर के चारों तरफ घुमाकर भूमि का परिग्रह करना चाहिये। इस क्रिया को 'अर्घ्यदान' कहा गया है। उसके बाद शल्यदोष का निवारण करने के लिये भूमि को इतनी गहराई तक खुदवावे, जिससे कंकड़-पत्थर अथवा पानी दिखायी देने लगे। अथवा यदि शल्य (हड्डी आदि) का ज्ञान हो जाय तो उसको विधिपूर्वक खुदवाकर निकाल देना चाहिये। यदि कोई लग्न-काल में प्रश्न पूछे और उसके मुख से अ, क, च, ट, त, प, स और ह—इन वर्गों के अक्षर निकलें तो इनकी दिशाओं में शल्य की स्थिति सूचित होती है। अथवा द्विज आदि वहाँ गिरें तो ये सभी उस स्थान में अङ्ग-विकार से उसके ही बराबर शल्य होने का निश्चय करना चाहिये। पशु आदि के प्रवेश से, कीर्तन से तथा पक्षियों के कलरवों से शल्य की दिशा का ज्ञान प्राप्त करना चाहिये।१९-२२॥

मातृकामष्टवर्गाढ्यां फलके भुविवा लिखेत्। शल्यज्ञानं वर्गवशात्पूर्वादीशान्ततः क्रमात्।।२३।।
अवर्गे चैव लोहं तु कवर्गेऽङ्गारमग्नितः। चवर्गे भस्म दक्षे स्वादृवर्गेऽस्थि च नैर्ऋते।।२४।।
तवर्गे चेष्टका चाऽऽप्ये कपालं च पवर्गके। यवर्गे शवकीटादि शवर्गे लोहमादिशेत्।।२५।।
हवर्गे रजतं तद्वदवर्गाच्चानर्थकरानपि। प्रोक्ष्याश्मभिः करापूरैरष्टाङ्गुलमृदन्तरैः।।२६।।
पादोनं खातमापूर्य सजलैर्मुद्गराहतैः। लिप्तां समप्लवां तत्र कारयित्वा भुवं गुरुः।।२७।।
सामान्यार्घ्यकरो यायान्मण्डपं वक्ष्यमाणकम्। तोरणद्वाःपतीनिष्ट्वा प्रत्यग्द्वारेण संविशेत्।।२८।।
कुर्यात्तत्राऽऽत्मशुद्ध्यादिकुण्डमण्डपसंस्कृतिम्। कलशं वर्धनीशक्तं लोकपालशिवार्चनम्।।२९।।
अग्नेर्ज्वलनपूजादि सर्वं पूर्ववदाचरेत्। यजमानान्वितो यायाच्छिलानां स्नानमण्डपम्।।३०।।
शिलाः प्रासादलिङ्गस्य पादा धर्मादिसंज्ञकाः। अष्टाङ्गुलोच्छ्रिताः शस्ताश्चतुरस्राः करायताः।।३१।।
पाषाणानां शिलाः कार्या इष्टकानां तदर्धतः। प्रासादेऽश्मशिलाः शैल इष्टका इष्टकामये।।३२।।
अङ्किता नववक्त्राद्यैः पङ्कजाः पङ्कजान्विताः। नन्दा भद्र जया रिक्ता पूर्णाख्या पञ्चमी मता।।३३।।

किसी पट्टी पर या भूमि पर अकारादि आठ वर्गों से युक्त मातृका वर्णों को लिखे। वर्ग के अनुसार क्रमशः पूर्व से लेकर ईशान तक की दिशाओं में शल्य की जानकारी प्राप्त करना चाहिये। 'अ' वर्ग में पूर्व दिशा की तरफ होने का अनुमान करना चाहिये। 'क' वर्ग में अग्निकोण की तरफ कोयला जाने। 'च' वर्ग में दक्षिण दिशा की तरफ भस्म तथा 'ट' वर्ग में नैर्ऋत्यकोण की तरफ अस्थि का होना समझे। 'त' वर्ग में पश्चिम दिशा की तरफ ईंट, 'प' वर्ग में वायव्य कोण की तरफ खोपड़ी, 'य' वर्ग में उत्तर दिशा की तरफ मुर्दे और कीड़े आदि और 'स' वर्ग में ईशानकोण की तरफ लोहे का होना बतावे। इसी तरह 'ह' वर्ग में चाँदी होने का अनुमान करना चाहिये। 'क्ष' वर्ग युक्त दिग्भाग से उसी दिशा में अन्य अनर्थकारी वस्तुओं के होने का अनुमान करना चाहिये। एक-एक हाथ लम्बे नौ शिलाखण्डों का प्रोक्षण करके, उनको आठ-आठ अङ्गुल मिट्टी के अन्दर गाड़ देना चाहिये। फिर वहाँ पानी डालकर उन पर मुद्गर से आघात करना चाहिये। जिस समय वे प्रस्तर तीन चौथाई भाग तक गड्ढे के अन्दर धँस जायँ, तत्पश्चात् उस खात को भरकर लीप-पोतकर वहाँ की भूमि को बराबर कर देना चाहिये। ऐसा करवाकर गुरु सामान्य अर्घ्य हाथ में लिये आगे बताये जाने वाले मण्डल (या मण्डप) की तरफ जाय। मण्डप के द्वार पर द्वारपालों का पूजन (आदर-सत्कार) करके पश्चिम द्वार से उसके अन्दर प्रवेश करना चाहिये।।२३-२८।।

वहाँ आत्मशुद्धि आदि कुण्ड-मण्डप का संस्कार करना चाहिये। कलश और वार्धानी आदि का स्थापन करके लोकपालों तथा शिव अर्चन करना चाहिये। अग्नि का जनन और पूजन आदि सभी कार्य पूर्ववत् करना चाहिये। तत्पश्चात् गुरु यजमान के साथ शिलाओं के स्नान-मण्डप में जाय। वे शिलाएँ प्रासाद-लिंग के चार पाये हैं। उनके नाम हैं-क्रमशः धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य; अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य और अनैश्वर्य आदि। उनकी ऊँचाई आठ अंगुल की हो, तो अच्छी मानी गयी है। वे चतुरस्र हों और उनकी लम्बाई एक हाथ की हो, इस माप से प्रस्तर की शिलाएँ बनवानी चाहिये। ईंटों की शिलाओं का माप आधा होना चाहिये। प्रस्तर खण्ड से बने हुए प्रासाद में जो शिलाएँ उपयोग में लायी जायँ अथवा ईंटों के बने हुए मन्दिर में जो ईंटें लगें, उनमें से नौ शिलाएँ अथवा ईंटें वज्र आदि चिह्नों से अंकित हो, अथवा पाँच शिलाएँ कमल के चिह्नों से अंकित हों। इन अंकित शिलाओं से ही मन्दिर-निर्माण का कार्य प्रारम्भ किया जाय।।२९-३२।। पाँच शिलाओं के नाम इस तरह हैं-नन्दा, भद्रा, जया, रिक्ता और पूर्णा। इन पाँचों के निधिकुम्भ इस तरह हैं-पद्म, महापद्म, शङ्ख, मकर और समुद्र। नौ शिलाओं के नाम इस तरह हैं-नन्दा, भद्रा, जया, पूर्णा, अजिता,

आसां पद्मो महापद्मः शङ्खोऽथ मकरस्तथा। समुद्रश्चेति पञ्चामी निधिकुम्भाः क्रमादधः॥३४॥
नन्दा भद्रा जया पूर्णा अजिता चापराजिता। विजया मङ्गलाख्या च धरणी नवमी शिला॥३५॥
सुभद्रश्च विभद्रश्च सुनन्दःपुष्पनन्दकः।जयोऽथ विजयश्चैव कुम्भः पूर्णस्तथोत्तरः॥३६॥
नवानां तु यथासंख्यं निधिकुम्भा अमी नव। आसनं प्रथमं दत्त्वाऽऽताड्योल्लिख्य शराणुना॥३७॥
सर्वासामविशेषेण तनुत्रेणावगुण्ठनम्। मृद्भिर्गोमयगोमूत्रकषायैर्गन्धवारिणा॥३८॥
अस्त्रेण हुंफडन्तेन मलस्नानं समाचरेत्। विधिना पञ्चगव्येन स्नानं पञ्चामृतेन च॥३९॥
गन्धतोयान्तरं कुर्यान्निजनामाङ्किताणुना। फलरत्नसुवर्णानां गोशृङ्गसलिलैस्ततः॥४०॥
चन्दनेन समालभ्य वस्त्रैराच्छादयेच्छिलाम्। स्वर्णोत्थमासनं दत्त्वा नीत्वा योगं प्रदक्षिणम्॥४१॥
शय्यायां कुशतल्पे वा हृदयेन निवेशयेत्। संपूज्य न्यस्य बुद्ध्यादिधरान्तं तत्त्वसंचयम्॥४२॥
त्रिखण्डव्यापकं तत्त्वत्रयं चानुक्रमान्न्यसेत्। बुद्ध्यादौ चित्तपर्यन्ते चिन्तातन्मात्रकावधौ॥४३॥
तन्मात्रादौ धरान्ते च शिवविद्यात्मनां स्थितिः। तत्त्वानि निजमन्त्रेण तत्त्वेशांश्च हृदार्चयेत्॥४४॥
स्थानेषु पुष्पमालादिचिह्नितेषु यथाक्रमम्॥४५॥

ॐ हूं शिवतत्त्वाय नमः। ॐ हूं शिवतत्त्वाधिपतये रुद्राय नमः। ॐ हां विद्यातत्त्वाय नमः।
ॐ हां विद्यातत्त्वाधिपाय विष्णवे नमः। ॐ हामात्मतत्त्वाय नमः॥४६॥
ॐ हामात्मतत्त्वाधिपतये ब्रह्मणे नमः।

अपराजिता, विजया, मंगला और नवमी शिला धरणी है। इन नवों के निधिकलश क्रमशः इस तरह जानने चाहिये– सुभद्र, विभद्र, सुनन्द, पुष्पदन्त, जय, विजय, कुम्भ, पूर्व और उत्तर। प्रणवमय आसन देकर अस्त्र-मन्त्र से ताड़न और उल्लेखन करने के पश्चात् इन सभी शिलाओं को सामान्य रूप से कवच-मन्त्र से अवगुण्ठित करना चाहिये। अस्त्र मन्त्र के अन्त में 'हूं फट्' लगाकर उसका उच्चारण करते हुए मिट्टी, गोबर, गोमूत्र, कषाय तथा गन्ध युक्त जल से मल स्नान कराये। तत्पश्चात् विधिपूर्वक पञ्चगव्य और पञ्चामृत से स्नान कराना चाहिये। इसके बाद गन्धयुक्त जल से स्नान कराने के अनन्तर अपने नाम से अंकित मन्त्र द्वारा फल, रत्न, स्वर्ण तथा गोशृङ्ग के जल से और चन्दन से शिला को चर्चित करके उसको वस्त्रों से आच्छादित करना चाहिये॥३३-४०॥

स्वर्णो आसन देकर, यागमण्डप की परिक्रमा करके, उस शिला को ले जाय और हृदय मन्त्र द्वारा उसको शय्या अथवा कुश के बिस्तर पर सुला देना चाहिये। वहाँ पूजन करके, बुद्धि से लेकर पृथिवी-पर्यन्त तत्त्वसमूहों का न्यास करने के पश्चात् त्रिखण्ड-व्यापक तत्त्वत्रय का उन शिलाओं में क्रमशः न्यास करना चाहिये। बुद्धि से लेकर चित्त तक, चित्त के अन्दर मातृका तक और तन्मात्रा से लेकर पृथिवी-पर्यन्त शिवतत्त्व, विद्यातत्त्व तथा आत्मतत्त्व की स्थिति है। पुष्पमाला आदि से चिह्नित स्थानों पर क्रमशः तीनों तत्त्वों का अपने मन्त्र से और तत्त्वेशों का हृदय-मन्त्र से पूजन करना चाहिये। पूजन के मन्त्र इस तरह हैं–'**ॐ हूं शिवतत्त्वाय नमः। ॐ हां शिवतत्त्वाधिपाय रुद्राय नमः। ॐ हां विद्यातत्त्वाय नमः। ॐ हां विद्यातत्त्वाधिपय विष्णवे नमः। ॐ हां आत्मतत्त्वाय नमः। ॐ हां आत्मतत्त्वाधिपतये ब्रह्मणे नमः।**'॥४१-४६॥

प्रत्येक तत्त्व और प्रत्येक शिला में पृथ्वी, अग्नि, यजमान, सूर्य, जल, वायु, चन्द्रमा और आकाश–इन आठ

क्षमाग्नियजमानार्काञ्जलवातेन्दुखानि च। प्रतितत्त्वं न्यसेदष्टौ मूर्तीः प्रतिशिलां शिलाम्।।४७।।
स (श) र्वं पशुपतिं चोग्रं रुद्रं भवमथेश्वरम्। महादेवं च भीमं च मूर्तीशांश्च यथाक्रमात्।।४८।।
ॐ धरामूर्तये नमः। ॐ धराधिपतये नमः।।४९।।
इत्यादिमन्त्राँल्लोकपालान्यथासंख्यं निजाणुभिः। विन्यस्य पूजयेत्कुम्भांस्तन्मन्त्रैर्वा निजाणुभिः
इन्द्रादीनां तु बीजानि वक्ष्यमाण क्रमेण तु।।५०।।
लूं रूं शूं पूं वूं यूं मूं हूं क्षूमिति।।५१।।
उक्तो नवशिलापक्षः शिला पञ्चपदा तथा। प्रतितत्त्वं न्यसेन्मूर्तीः सृष्ट्या पञ्च धरादिकाः।।५२।।
ब्रह्मा विष्णुस्तथा रुद्रः ईश्वरश्च सदाशिवः। एते च पञ्चमूर्तीशा यष्टव्यास्तासु पूर्ववत्।।५३।।
ॐ पृथ्वीमूर्तये नमः। ॐ पृथ्वीमूर्त्यधिपतये ब्रह्मणे नमः। इत्यादि मन्त्राः।।५४।।
संपूज्य कलशान्पञ्च क्रमेण निजनामभिः। निरुन्धीत विधानेन न्यासो मध्यशिलाक्रमात्।।५५।।
कुर्यात्प्राकारमन्त्रेण भूतिदर्भैस्तिलैस्ततः। कुण्डेषु धारिकां शक्तिं विन्यास्याभ्यर्च्य तर्पयेत्।।५६।।
तत्त्वतत्त्वाधिपान्मूर्तिमूर्तीशांश्च घृतादिभिः। ततो ब्रह्मांशशुद्ध्यर्थं मूलाङ्गं ब्रह्मभिः क्रमात्।।५७।।
कृत्वा शतादिपूर्णान्तं प्रोक्ष्य शान्तिजलैः शिला। पूजयेच्च कुशैः स्पृष्ट्वा प्रतितत्त्वमनुक्रमात्।।५८।।
सांनिध्यमथ संधानं कृत्वा शुद्धं पुनर्न्यसेत्। एवं भागत्रये कर्म गत्वा गत्वा समाचरेत्।।५९।।
ॐ, आम्, ईम्, आत्मतत्त्वविद्यातत्त्वाभ्यां नम इति।।६०।।

मूर्तियों का न्यास करना चाहिये। फिर क्रमशः शर्व, पशुपति, उग्र, रुद्र, भव, ईश्वर (या ईशान), महादेव तथा भीम- इन मूर्तीश्वरों का न्यास करना चाहिये। मूर्तियों तथा मूर्तीश्वरों के मन्त्र इस तरह हैं–'**ॐ धरामूर्तये नमः। ॐ धराधिपतये शर्वाय नमः।**' इसके बाद अनन्त आदि लोकपालों का क्रमशः अपने मन्त्रों से न्यास करना चाहिये। इन्द्र आदि लोकपालों के बीज आगे बताये जाने वाले क्रम से इस प्रकार जानने चाहिये–लूं, रूं, यूं, व्रूं, श्रूं, षूं, स्रूं, हूं, क्षूं। यह नौ शिलाओं के पक्ष में बतलाया गया है। जिस समय पाँच पद की शिलाएँ हों, तत्पश्चात् प्रत्येक तत्त्वमयी शिला में स्पर्शपूर्वक पृथ्वी आदि पाँच मूर्तियों का न्यास करना चाहिये। कथिंत मूर्तियों के पाँच मूर्तीश इस तरह हैं- ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, ईश्वर और सदाशिव। इन पाँचों का कथित पाँचों मूर्तियों में पूर्ववत् पूजन करना चाहिये।।४७-५३।।

'**ॐ पृथिवीमूर्तये नमः। ॐ पृथिवीमूर्त्यधिपतये ब्रह्मणे नमः।**' इत्यादि मन्त्र पूजन के लिये जानने चाहिये। क्रमशः पाँच कलशों का अपने नाम-मन्त्रों से पूजन करके उनको स्थापित करना चाहिये। मध्यशिला के क्रम से विधिपूर्वक न्यास करना चाहिये। विभूति, कुशा और तिलों से अस्त्र-मन्त्र द्वारा प्राकार की कल्पना करनी चाहिये। कुण्डों में आधार-शक्ति का न्यास और पूजन करके तत्त्वों, तत्त्वाधिपों, मूर्तियों तथा मूर्तीश्वरों का घृत आदि से तर्पण करना चाहिये। तत्पश्चात् ब्रह्मात्म-शुद्धि के लिये मूल के अंगभूत ब्रह्म मन्त्रों द्वारा क्रमशः सौ-सौ आहुतियाँ देकर पूर्णाहुति पर्यन्त हवन करने के पश्चात् शान्ति-जल से शिलाओं का प्रोक्षणपूर्वक पूजन करना चाहिये। कुशाओं द्वारा स्पर्श करके प्रत्येक तत्त्व में क्रमशः सांनिध्य और संधान करके फिर शुद्ध-न्यास करना चाहिये। इस तरह जा-जाकर तीन भागों में कर्म करना चाहिये। मन्त्र इस प्रकार है–'**ॐ आम् ईम् आत्मतत्त्वविद्यातत्त्वाभ्यां नमः।**' इति।।५४-६०।।

कुश के मूल आदि से क्रमशः तत्त्वेशादि तीन का स्पर्श करना चाहिये। इसके बाद ह्रस्व-दीर्घ के प्रयोगपूर्वक

संस्पृशेद्दर्भमूलाद्यैर्ब्रह्माङ्गादित्रयं क्रमात्। कुर्यात्तत्त्वानुसंधानं ह्रस्वदीर्घप्रयोगतः।।६१।।
ॐ हाम्, ॐ विद्यातत्त्वशिवतत्त्वाभ्यां नमः।।६२।।

घृतेन मधुना पूर्णास्ताम्रकुम्भान्सरत्नकान्। पञ्चगव्यार्घ्यसंसिक्ताँल्लोकपालाधिदैवतान्।।६३।।
पूजयित्वा निजैर्मन्त्रैः संनिधौ होममाचरेत्। शिलानामथ सर्वासां संस्मरेदधिदेवताः।।६४।।
विद्यारूपाः कृतस्नाना हेमवर्णाः शिलाम्बराः। न्यूनादिदोषमोषार्थं वास्तुभूमेश्च शुद्धये।।
यजेदस्त्रेण मूर्धान्तमाहुतीनां शतं शतम्।।६५।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते प्रतिष्ठाङ्गशिलान्यासविधिकथनं नाम द्विनवतितमोऽध्यायः।।९२।।

—※※※—
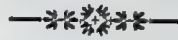
तत्त्वानुसंधान करना चाहिये। इसके लिये मन्त्र इस प्रकार है—'**ॐ इं ऊं विद्यातत्त्वशिवतत्त्वाभ्यां नमः**। उसके बाद घी और मधु भरे हुए पञ्चरत्न युक्त और पञ्चगव्य से अग्रभाग में अभिषिक्त पाँच कलशों का, जिनके देवता पञ्च-लोकपाल हैं, अपने मन्त्रों से पूजन करके उनके सन्निकट हवन करना चाहिये। फिर समस्त शिलाओं के अधिदेवताओं का ध्यान करना चाहिये। 'वे शिलाधिदेवता विद्यास्वरूप हैं, स्नान कर चुके हैं। उनकी अंगकान्ति स्वर्ण के समान उद्दीप्त होती है। वे उज्ज्वल वस्त्र धारण करते हैं और समस्त आभूषणों से सम्पन्न हैं।, न्यूनतादि दोष दूर करने के लिये तथा वास्तु-भूमि की शुद्धि के लिये अस्त्र-मन्त्र द्वारा पूर्णाहुति पर्यन्त सौ-सौ आहुतियाँ देनी चाहिये।६१-६५।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी बानवेवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।९२।।

❖❖❖

अथ त्रिनवतितमोऽध्यायः

वास्तुपूजाविधिः

ईश्वर उवाच

ततः प्रासादमासूत्र्य वर्तयेद्वास्तुमण्डपम्। कुर्यात्कोष्ठचतुःषष्टिं क्षेत्रे वेदास्रके समे॥१॥
कोणेषु विन्यसेद्वंशौ रज्जवोऽष्टौ विकोणगाः। द्विपदाः षट्पदास्तास्तु वास्तुं तत्राचर्ययेद्यथा॥२॥
आकुञ्चितकरं वास्तुमुत्तानमसुराकृतिम्। स्मरेत्पूजासु कुड्यादिनिवेशे त्वधराननम्॥३॥
जानुनी कूर्परौ सक्थि दिशि वातहुताशयोः। पैत्र्यां पादपुटौ रौद्र्यां शिरोऽस्य हृदयेऽञ्जलिः॥४॥
अस्य देहे समारूढा देवताः पूजिताः शुभाः। अष्टौ कोधाधिपास्तत्र कोणार्धेष्वष्टसु स्थिताः॥५॥
षट्पदास्तु मरीच्याद्या दिक्षु पूर्वादिषु क्रमात्। मध्ये चतुष्पदो ब्रह्मा शेषास्तु पदिकाः स्मृताः॥६॥
समस्तनाडीसंयोगे महामर्मानुजं हलम्। त्रिशूलं स्वस्तिकं वज्रं महास्वस्तिकसंपुटौ॥७॥
त्रिकटं मणिबन्धं च सुविशुद्धं पदं तथा। इति द्वादश मर्माणि वास्तोर्भित्त्यादिषु त्यजेत्॥८॥
साज्यमक्षतमीशाय पर्जन्यायाम्बुजोदकम्। ददीताथ जयन्ताय पताकां कुङ्कुमोज्ज्वलाम्॥९॥

अध्याय-९३

वास्तु पूजा विधान

भगवान् शिव ने कहा कि-हे स्कन्द! उसके बाद प्रासाद को आसूत्रित करके वास्तु मण्डल की रचना करनी चाहिये। समतल चतुरस्त्र क्षेत्र में चौंसठ कोष्ठ बनाये। कोनों में दो वंशों का विन्यास करना चाहिये। विकोण गामिनी आठ रज्जुएँ अंकित करना चाहिये। वे द्विपद और षट्पद स्थानों के रूप में विभाजित होंगी। उनमें वास्तु देवता का पूजन करना चाहिये, जिसकी विधि इस तरह है-'कुञ्चित केशधारी वास्तु पुरुष उत्तान सो रहा है। उसकी आकृति असुर के समान है।' पूजाकाल में उसके इसी स्वरूप का स्मरण करना चाहिये। परन्तु दीवार आदि की नींव रखते समय उसका ध्यान इस प्रकार करना चाहिये कि 'वह औंधे मुँह पड़ा हुआ है। कोहनी से सटे हुए उके दो घुटने वायव्य और अग्निकोण में स्थित हैं। अर्थात् दाहिना घुटना वायव्यकोण में और बायाँ घुटना अग्नि कोण में स्थित है। उसके जुड़े हुए दोनों चरण पैतृ (नैऋृत्य!) दिशा में स्थित हैं तथा उसका सिर ईशान कोण की तरफ है। उसके हाथों की अंजलि वक्षः स्थल पर हैं'॥१-४॥

उस वास्तु पुरुष के शरीर पर आरूढ़ हुए देवताओं की पूजा करने से वे शुभ कारक होते हैं। आठ देवता कोणाधिपति माने गये हैं, जो आठ कोणार्धों में स्थित हैं। क्रमशः पूर्व आदि दिशाओं में स्थित मरीचिं आदि देवता छः-छः पदों के स्वामी कहे गये हैं और उनके मध्य में विराजमान ब्रह्मा चार पदों के स्वामी हैं। शेष देवता एक-एक पद के अधिष्ठाता बताये गये हैं। समस्त नाडी-सम्पात, महामर्म, कमल, फल, त्रिशूल, स्वस्तिक, वज्र, महास्वस्तिक, सम्पुट, त्रिकटि, मणिबन्ध तथा सुविशुद्ध पद-ये द्वादश मर्म-स्थान हैं। वास्तु की भित्ति आदि में इन सभी का पूजन करना चाहिये। ईशान (रुद्र) को घृत और अक्षत चढ़ावे। पर्यन्य को कमल और जल अर्पित करना चाहिये। जयन्त को कुङ्कुमरञ्जित निर्मल पताका देना चाहिये। महेन्द्र को रत्नमिश्रित जल सूर्य को धूम्र वर्ण का चँदोवा, सत्य को घृत

रत्नवारि महेन्द्राय खौ धूम्रं वितानकम्। सत्याय घृतगोधूममाज्यभक्तं भृशाय च।।१०।।
विमांसमन्तरिक्षाय शकुन्तेभ्यश्च पूर्ववत्। मधुक्षीराज्यसंपूर्णां प्रदद्याद्वह्नये श्रु (स्रु) चम्।।११।।
लाजान्पूर्णं सुवर्णाम्बु वितथाय निवेदयेत्। दद्याद्गृहक्षते क्षौद्रं यमराजे पलौदनम्।।१२।
गन्धं गन्धर्वनाथाय जिह्वा भृङ्गाय पक्षिणः। मृगाय यवपर्णानि याम्यामित्यष्ट देवताः।।१३।।
पित्रे तिलोदकं क्षीरं वृक्षजं दन्तधावनम्। दौवारिकाय देवाय प्रदद्याद्धेनुमुद्रया।।१४।।
सुग्रीवाय दिशेत्पूगान्पुष्पदन्ताय दर्भकम्। रक्तं प्रचेतसे पद्ममसुराय सुरासवम्।।१५।।
घृतं गुडौदनं शेषे रोगाय घृतमण्डकान्। लाजान्वा पश्चिमाशायां देवाष्टकमितीरितम्।।१६।।
मारुताय ध्वजं पीतं नागाय नागकेशरम्। मुख्ये भक्ष्याणि भल्लाटे मुद्गसूपं सुसंस्कृतम्।।१७।।
सोमाय पायसं साज्यं शालूकमूषये दिशेत्। लोपीमदितये दित्यै पुरीमित्युत्तराष्टकम्।।१८।।
मोदकान्ब्रह्मणः प्राच्यां षट्पदाय मरीचये। सवित्रे रक्तपुष्पाणि ब्रह्माधः कोणकोष्ठके।।१९।।
तदधः कोष्ठके दद्यात्सावित्र्यै च कुशोदकम्। दक्षिणे चन्दनं रक्तं षट्पदाय विवस्वते।।२०।।
हरिद्रौदनमिन्द्राय रक्षोधः कोणकोष्ठके। इन्द्रजयाय मिश्रान्नमिन्द्राधस्तान्निवेदयेत्।।२१।।
वारुण्यां षट्पदासीने मित्रे सगुडमोदनम्। रुद्रायघृतसिद्धान्नं वायुकोणाधरे पदे।।२२।।

युक्त गेहूँ तथा भृश को उड़द-भात चढ़ावे। अन्तरिक्ष को विमांस (विशिष्ट फल का गूदा या औषधि विशेष) अथवा सक्तु (सत्तू) निवेदित करना चाहिये। ये पूर्व दिशा के आठ देवता हैं।।५-१०।। श्रीअग्नि देव को मुध, दूध और घी से भरा हुआ स्रुक् अर्पित करना चाहिये। पूषा को लाजा और वितथ को स्वर्ण-मिश्रित जल देना चाहिये। गृहक्षत को शहद तथा यमराज को पलौदन भेंट करना चाहिये। गन्धर्व नाथ को गन्ध, भृङ्गराज को पक्षिजिह्वा तथा मृग को यवपर्ण (जौ के पत्ते) चढ़ावे—ये आठ देवता दक्षिण दिशा में पूजित होते हैं। 'पितृ' देवता को तिल-मिश्रित जल अर्पित करना चाहिये। 'दौवारिक' नाम वाले देवता को वृक्ष-जनित दूध और दन्तधावन धेनुमुद्रा के प्रदर्शनपूर्वक निवेदित करना चाहिये। 'सुग्रीव' को पूआ चढ़ावे, पुष्पदन्त को कुशा अर्पित करना चाहिये, वरुण को लाल कमल भेंट करना चाहिये और असुर को सुरा एवं आसव चढ़ावे। शोष को घी से ओत प्रोत भात तथा (पाप यक्ष्मा) रोग को घृत मिश्रित माँड़ या लावा चढ़ावे। ये पश्चिम दिशा के आठ देवता कहे गये हैं।।११-१६।।

मारुत को पीले रंग का ध्वज, नागदेवता को नागकेसर, मुख्य को भक्ष्य पदार्थ तथा भल्लाट को छौंक-बघारकर मूँग की दाल अर्पित करना चाहिये। सोम को घृतमिश्रित खीर, चरक को शालूक, अदिति को लोपी तथा दिति को पूरी चढ़ावे। ये उत्तर दिशा के आठ देवता कहे गये। मध्यवर्ती ब्रह्मा जी को मोदक चढ़ावे। पूर्व दिशा में छः पदों के उपभोक्त मरीचि को भी मोदक अर्पित करना चाहिये। ब्रह्मा जी से नीचे अग्निकोणवर्ती कोष्ठ में स्थित सविता देवता को लाल फूल चढ़ावे। सविता से नीचे वह्निकोणवर्ती कोष्ठ में सावित्री देवी को कुशोदक अर्पित करना चाहिये। ब्रह्मा जी से दक्षिण छः पदों के अधिष्ठाता विवस्वान् को लाल चन्दन चढ़ावे।। १७-२०।।

ब्रह्मा जी से नैर्ऋत्य दिशा में नीचे के कोष्ठ में इन्द्रदेवता के लिये हल्दी-भात अर्पित करना चाहिये। इन्द्र से नीचे नैर्ऋत्यकोण में इन्द्रजय के लिये मिष्टान्न निवेदित करना चाहिये। ब्रह्मा जी से पश्चिम छः पदों में विराजमान मित्र देवता को गुडमिश्रित भात चढ़ावे। वायव्यकोण से नीचे के पद में रुद्र देवता को घृतपक्व अन्न अर्पित करना

तदधो रुद्रदासाय मांसं मार्गमथोत्तरे। ददीत माषनैवेद्यं षट्पदस्थे धराधरे॥२३॥
आपाय शिवकोणाधस्तद्वत्साय च तत्तले। क्रमाद्दद्याद्दधि क्षीरं पूजयित्वा विधानतः॥२४॥
चतुष्पदे निविष्टाय ब्रह्मणे मध्यदेशतः। पञ्चगव्याक्षतोपेतं चरुं साज्यं निवेदयेत्॥२५॥
ईशादिवायुपर्यन्तकोणेष्वथ यथाक्रमम्। वास्तुबाह्येचरक्याद्याश्चतस्रः पूजयेद्यथा॥२६॥
चरक्यै सघृतं मांसं विदार्यै दधिपङ्कजम्। पूजनायै पलं पित्तं रुधिरं च निवेदयेत्॥२७॥
अस्थीनि पापराक्षस्यै रक्तपित्तपलानि च। ततो माषौदनं प्राच्यां स्कन्दाय विनिवेदयेत्॥२८॥
अर्यम्णे दक्षिणाशायां पूपान्कृसरया युताम्। जम्भकाय च वारुण्यामामिषं रुधिरान्वितम्॥२९॥
उदीच्यां पिलिपिच्छाय रक्तान्नं कुसुमानि च। यचेद्वा सकलं वास्तुं कुशदध्यक्षतैर्जलैः॥३०॥
गृहे च नगरादौ च एकाशीतिपदैर्यजेत्। त्रिपदा रज्जवः कार्याः षट्पदाश्च विकोणका॥३१॥
ईशाद्याः पादिकास्तस्मिन्नापाद्याश्च द्विकोष्ठगाः। षट्पदस्था मरीचा (च्या) द्या ब्रह्मा नवपदः स्मृतः॥३२॥
नगरग्रामखेटादौ वास्तुः शतपदोऽपि वा। वंशद्वयं कोणगतं दुर्जयं दुर्धरं सदा॥३३॥
यथा देवालये न्यासस्तथा शतपदे हितः। ग्रहाः स्कन्दादयस्तत्र विज्ञेयाश्चैव षट्पदाः॥३४॥
चरक्याद्या भूतपदा रज्जुवंशादि पूर्ववत्। देशसंस्थापने वास्तु चतुस्त्रिंशच्छतं भवेत्॥३५॥

चाहिये। रुद्र देवता से नीचे के कोष्ठ में रुद्र, दास के लिये आर्द्रमांस (औषधिविशेष) निवेदित करना चाहिये। तत्पश्चात् उत्तरवर्ती छः पदों के अधिष्ठाता पृथ्वीधर के निमित्त उड़द का बना नैवेद्य चढ़ावे। ईशान कोण के निम्नवर्ती पद में 'आप' की और उससे भी नीचे के पद में आपवत्स की विधिवत् पूजा करके उनको क्रमशः दही और खीर अर्पित करना चाहिये॥२१-२४॥ तत्पश्चात् (चौंसठ पद वाले वास्तु मण्डल में) मध्यदेववर्ती चार पदों में स्थित ब्रह्माजी को पञ्चगव्य, अक्षत और घृतसहित चरु निवेदित करना चाहिये। उसके बाद ईशान से लेकर वायव्यकोण-पर्यन्त चार कोणों में स्थित चर की आदि चार मातृकाओं का वास्तु के बाह्यभाग में क्रमशः पूजन करना चाहिये, जैसा कि क्रम बतलाया जाता है। चरकी की सघृत मांस (फल का गूदा), विदारी को दही और कमल तथा पूतना को पल, पित्त एवं रुधिर अर्पित करना चाहिये। पापराक्षसी को अस्थि (हड्डी), मांस, पित्त तथा रक्त चढ़ावे। इसके पश्चात् पूर्व दिशा में स्कन्द को उड़द-भात चढ़ावे। दक्षिण दिशा में अर्यमा को खिचड़ी और पूआ चढ़ावे तथा पश्चिम दिशा में जम्भक को रक्त-मांस अर्पित करना चाहिये। उत्तर दिशा में पिलिपिच्छ को रक्त वर्ण का अन्न और पुष्प निवेदित करना चाहिये। अथवा सम्पूर्ण वास्तुमण्डल का कुश, दही, अक्षत तथा जल से ही पूजन करना चाहिये॥२५-३०॥ गृह और नगर आदि में इक्यासी पदों से युक्त वास्तुमण्डल का पूजन करना चाहिये। इस वास्तुमण्डल में त्रिपद और षट्पद रज्जुएँ पूर्ववत् बनानी चाहिये। इसमें ईश आदि देवता 'पदिक' (एक-एक पद के अधिष्ठाता) माने गये हैं। 'आप' आदि की स्थिति दो-दो कोष्ठों में बतलायी गयी है। मरिचि आदि देवता छः पदों में अधिष्ठित होते हैं और ब्रह्मा नौ पदों के अधिष्ठाता कहे गये हैं। नगर, ग्राम और खेट दो वंश कोणगत होते हैं। वे सदा दुर्जय और दुर्धर कहे गये हैं॥३१-३३॥ देवालय में जैसा न्यास बतलाया गया है। वैसा ही शतपद-वास्तु मण्डल में भी विहित है। उसमें स्कन्द आदि ग्रह 'षट्पद' (छः पदों के अधिष्ठाता) जानने चाहिये। चरकी आदि पाँच-पाँच पदों की अधिष्ठात्री देवी कही गयी हैं। रज्जु और वंश आदि का उल्लेख पूर्ववत् करना चाहिये। देश (या राष्ट्र) की स्थापना के अवसर पर चौंतीस सौ पदों का वास्तुमण्डल होना चाहिये। उसमें मध्यवर्ती ब्रह्मा चौंसठ पदों के अधिष्ठाता होते हैं। मरीचि आदि देवताओं के अधिकार में चौवन-

चतुःषष्टिपदो ब्रह्मा मरीच्याद्याश्च देवताः। चतुष्पञ्चाशत्पदिका आपाद्यष्टौ रसाग्निभिः।।३६।।
ईशानाद्या नवपदाः स्कन्दाद्या शतिकाः स्मृताः। चरक्याद्यास्तद्वदेव रज्जुवंशादि पूर्ववत्।।३७।।
ज्ञेयो विंशसहस्त्रैस्तु वास्तुमण्डलगः पदैः। न्यासो नवगुणस्तत्र कर्त्तव्यो देशवास्तुवत्।।३८।।
पञ्चविंशत्पदा (दो) वास्तुर्वैतालाख्यश्चितौ स्मृतः। अन्यो नवपदो वास्तुः षोडशाङ्घ्रिस्तथाऽपरः।।३९।।
षडस्त्रत्र्यस्त्रवृत्तादेर्मध्ये स्याच्चतुरस्त्रकम्। खाते वास्तुसमं पृष्ठे न्यासे ब्रह्मशिलात्मके।।४०।।
शावाकस्य निवेशे च मूर्तिसंस्थापने तथा। पायसेन तु नैवेद्यं सर्वेषां वा प्रदापयेत्।।४१।।
उक्तानुक्ते तु वै वास्तुः पञ्चहस्तप्रमाणतः। गृहप्रासादमानेन वास्तुः श्रेष्ठस्तु सर्वदा।।४२।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते वास्तुपूजाविधिकथनं नाम त्रिनवतितमोऽध्यायः।।९३।।

चौवन पद होते हैं। 'आप' आदि आठ देवताओं के स्थान छत्तीस-छत्तीस पद बताये गये हैं। वहाँ ईशान आदि नौ-नौ पदों के अधिष्ठाता कहे गये हैं और स्कन्द आदि सौ-सौ पदों के। चर की आदि के पद भी तदनुसार ही हैं। रज्जु, वंश आदि की कल्पना पूर्ववत् समझनी चाहिये। बीस हजार पदों के वास्तु मण्डल में भी वास्तुदेव की पूजा होती है- यह समझना चाहिये। उसमें देश-वास्तु की भाँति नौ गुना न्यास करना चाहिये। पच्चीस पदों का वास्तुमण्डल चितास्थापन के समय विहित है। उसकी 'वताल' संज्ञा है। दूसरा नौ पदों का भी होता है। इसके सिवा एक सोलह पदों का भी वास्तुमण्डल होता है।।३४-३९।।

षट्कोण, त्रिकोण तथा वृत्त आदि के मध्य में चतुरस्त्र वास्तुमण्डल का भी विधान है। ऐसा वास्तु खात (नींव आदि के लिये खोदे गये गड्ढे) के लिये उपरोक्त है। इसी के समान वास्तु ब्रह्म शिलात्मक पृष्ठन्यास में, शावाक के निवेश में और मूर्तिस्थापन में भी उपयोगी होता है। वास्तुमण्डलवर्ती समस्त देवताओं को खीर से नैवेद्य अर्पित करना चाहिये। कथित अनुक्त सभी कार्यों के लिये सामान्यतः पाँच हाथ की लम्बाई-चौड़ाई में वास्तुमण्डल बनाना चाहिये। गृह और प्रासाद के मान के अनुसार ही निर्मित वास्तुमण्डल सर्वदा श्रेष्ठ कहा गया है।।४०-४२।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी तिरानवेवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।९३।।

अथ चतुर्नवतितमोऽध्यायः

शिलाविन्यासविधिः

ईश्वर उवाच

ईशादिषु चरक्याद्याः पूर्ववत्पूजयेद्बहिः। आहुतित्रितयं दद्यात्प्रतिदेवमनुक्रमात्।।१।।
दत्वा भूतबलिं लग्ने शिलान्यासमनुक्रमात्। मध्यसूत्रे न्यसेच्छक्तिं कुम्भं जान्वन्तमुत्तमम्।।२।।
नकारारूढमूलेन कुम्भेऽस्मिन्धारयेच्छिलाम्। कुम्भानष्टौ सुभद्रादीन्दिक्षु पूर्वादिषु क्रमात्।।३।।
लोकपालाणुभिर्न्यस्य श्वभ्रेषु न्यस्तशक्तिषु। शिलास्तेष्वथ नन्दाद्याः क्रमेण विनिवेशयेत्।।४।।
शम्बरैर्मूर्तिनाथानां यथा स्युर्भित्तिमध्यतः। तासु धर्मादिकानष्टौ कोणात्कोणं विभागशः।।५।।
सुभद्रादिषु नन्दाद्याश्चतस्रोऽग्न्यादिकोणगाः। अजिताद्याश्च पूर्वादिजयादिष्वथविन्यसेत्।।६।।
ब्रह्माणं चौपरि न्यस्य व्यापकं च महेश्वरम्। चिन्तयेदेष चाऽऽत्मानं व्योमप्रासादमध्यगम्।।७।।
बलिं दत्त्वा जपेदस्त्रं विघ्नदोषनिवारणम्। शिलापञ्चकपक्षेऽपि मनागुद्दिश्यते यथा।।८।।
मध्ये पूर्णशिलान्यासः सुभद्रकलशेऽर्धतः। पद्मादिषु च नन्दाद्याः कोणष्वग्न्यादिषु क्रमात्।।९।।

अध्याय-९४

शिलाविन्यास विधान

भगवान् शिव ने कहा कि–हे स्कन्द! ईशान आदि कोण में वास्तुमण्डल के बाहर पूर्ववत् चर की आदि का पूजन करना चाहिये। प्रत्येक देवता के लिये क्रमशः तीन-तीन आहुतियाँ देनी चाहिये। भूतबलि देकर नियत लग्न में शिलान्यास का उपक्रम करना चाहिये। खात के मध्यभाग में आधार-शक्ति का न्यास करना चाहिये। वहाँ अनन्त (शेषनाग) के मन्त्र से अभिमन्त्रित श्रेष्ठतम कलश स्थापित करना चाहिये। **'लं पृथिव्यै नमः।'**–इस मूल-मन्त्र से इस कलश पर पृथिवी स्वरूपा शिला का न्यास करना चाहिये। इसके पूर्वादि दिग्भागों में क्रमशः सुभद्र आदि आठ कलशों की स्थापना करनी चाहिये। पहले उनके लिये गढ्ढे खोदकर उनमें आधार-शक्ति का न्यास करने के पश्चात् कथित कलशों को इन्द्रादि लोकपालों के मन्त्रों द्वारा स्थापित करना चाहिये। उसके बाद उन कलशों पर क्रमशः नन्दा आदि शिलाओं को रखे।।१-४।। तत्त्वमूर्तियों के अधिदेवता-सम्बन्धी शस्त्रों से युक्त वे शिलाएँ होनी चाहिये। जिस प्रकार दीवार में मूर्ति तथा अस्त्र आदि अंकित होते हैं, उसी तरह उन शिलाओं में शर्व आदि मूर्ति, देवताओं के अस्त्र-शस्त्र अङ्कित रहें। कथित शिलाओं पर कोण और दिशाओं के विभागपूर्वक धर्म आदि आठ देवताओं की स्थापना करनी चाहिये। सुभद्र आदि चार कलशों पर नन्दा आदि चार शिलाएँ अग्नि आदि चार कोणों में स्थापित करनी चाहिये। फिर जय आदि चार कलशों पर अजिता आदि चार शिलाओं की पूर्व आदि चार दिशाओं में स्थापना करनी चाहिये। उन सबके ऊपर ब्रह्मा जी तथा व्यापक महेश्वर का न्यास करके मन्दिर के मध्यवर्ती 'आकाश' नामक अध्वा का चिन्तन करना चाहिये। इन सभी को बलि अर्पित करके विघ्नदोष के निवारणार्थ अस्त्र-मन्त्र का जप करना चाहिये। जहाँ पाँच ही शिलाएँ स्थापित करने की विधि है, उसके पक्ष में भी कुछ निवेदन किया जाता है।।५-८।।

मध्य भाग में सुभद्र-कलश के ऊपर पूर्णा नामक शिला की स्थापना करनी चाहिये और अग्नि आदि कोणों

मध्याभावे चतस्रोपि मातृवद्भावसंमताः। ॐ पूर्णे त्वं महाविद्ये सर्वसंदोहलक्षणे।।१०।।
सर्व (र्वं) संपूर्णमेवात्र कुरुष्वाङ्गिरसः सुते। ॐ नन्दे त्वं नन्दिनी पुंसां त्वामत्र स्थापयाम्यहम्।।११।।
प्रासादे तिष्ठ संतृप्ता यावच्चन्द्रार्कतारकम्। आयुः कामं श्रियं नन्दे देहि वाशिष्ठि देहिनाम्।।१२।।
अस्मिन्रक्षा सदा कार्या प्रासादे यत्नतस्त्वया। ॐ भद्रे त्वं सर्वदा भद्रं लोकानां कुरु काश्यपि।।१३।।
आयुर्दा कामदा देवि श्रीप्रदा च सदा भव। ॐ जयेऽत्र सर्वदा देवि श्रीदाऽऽयुर्दा सदा भव।।१४।।
ॐ जयेऽत्र सर्वदा देवि तिष्ठ त्वं स्थापिता मम। नित्यं जयाय भूत्यै च स्वामिनो भव भार्गवि।।१५।।
ॐ रिक्तेऽतिरिक्तदोषघ्ने सिद्धिमुक्तिप्रदे शुभे। सर्वदा सर्वदेशस्थे तिष्ठास्मिन्नीशरूपिणि।।१६।।
गगनायतनं ध्यात्वा तत्र तत्त्वत्रयं न्यसेत्। प्रायश्चित्तं ततो हुत्वा विधिना विसृजेन्मखम्।।१७।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गति शिलाविन्यासविधिकथनं नाम चतुर्नवतितमोऽध्यायः।।९४।।

—❋❋❋—

में क्रमशः पद्म आदि कलशों पर नन्दा आदि शिलाएँ स्थापित करना चाहिये। मध्यशिला के अभाव में चार शिलाएँ भी मातृभाव से सम्मानित करके स्थापित की जा सकती हैं। कथित पाँचों शिलाओं की याचना इस तरह करना चाहिये– 'ॐ सर्वसंदोह स्वरूपे महाविद्ये पूर्णे! आप अङ्गिरा-ऋषि की पुत्री हो। इस प्रतिष्ठा कर्म में सब कुछ सम्यक् रूप से पूर्ण करो। हे नन्दे! आप समस्त पुरुषों को आनन्दित करने वाली हो। मैं यहाँ आपकी स्थापना करने जा रहा हूँ। आप इस प्रासाद में सम्पूर्णतः तृप्त होकर तत्पश्चात् तक सुस्थिर भाव से स्थित रहो, जिस समय तक कि आकाश में चन्द्रमा, सूर्य और तारे प्रकाशित होते रहें। हे वसिष्ठनन्दिनि नन्दे! आप देहधारियों को आयु, सम्पूर्ण मनेप्सित तथा श्रीलक्ष्मी सम्प्रदान करो। आपको प्रासाद में सदा स्थित रहकर यत्नपूर्वक इसकी रक्षा करनी चाहिये। ॐ कश्यपनन्दिनि भद्रे! आप सदा समस्त लोकों का कल्याण करो। हे देवि! आप सदा ही हमें आयु, मनेप्सित और श्रीलक्ष्मी सम्प्रदान करती रहो। ॐ देवि जये! आप सदा-सर्वदा हमारे लिये लक्ष्मी तथा आयु सम्प्रदान करने वाली होओ। हे भृगुपुत्रि देवि जये! आप स्थापित होकर सदा यहीं रहो और इस मन्दिर के अधिष्ठाता मुझ यजमान को नित्य-निरन्तर विजय तथा ऐश्वर्य सम्प्रदान करने वाली बनो। ॐ रिक्ते! आप अतिरिक्त दोष का विनाश करने वाली तथा सिद्धि और मोक्ष सम्प्रदान करने वाली हो। हे शुभे! सम्पूर्ण देश-काल में आपका निवास है। हे ईशरूपिणि! आप सदा इस प्रासाद में स्थित रहो'।।९-१६।। तत्पश्चात् आकाश स्वरूप मन्दिर का ध्यान करके उसमें तीन तत्त्वों का न्यास करना चाहिये। फिर विधिवत् प्रायश्चित्त-हवन करके यज्ञ का विसर्जन करना चाहिये।।१७।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी चौरानवेवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।९४।।

❖❖❖

अथ पञ्चनवतितमोऽध्यायः

प्रतिष्ठाकालसामग्र्यादिविधिः

ईश्वर उवाच

वक्ष्ये लिङ्गप्रतिष्ठां च प्रासादे भुक्तिमुक्तिदाम्। तां चरेत्सर्वदा मुक्तौ भुक्तौ देवदिने सति॥१॥
विना चैत्रेण माघादौ प्रतिष्ठामासपञ्चके। गुरुशुक्रोदये कार्या प्रथमे करणत्रये॥२॥
शुक्लपक्षे विशेषेण कृष्णेऽप्यापञ्चमं दिनम्। चतुर्थीं नवमीं षष्ठीं वर्जयित्वा चतुर्दशीम्॥३॥
शोभनास्तिथयः शेषाः क्रूरवारविवर्जिताः। शतभिषा धनिष्ठाऽऽर्द्रा अनुराधोत्तरात्रयम्॥४॥
रोहिणी श्रवणश्चेति स्थिरारम्भे महोदयाः। लग्नं च कुम्भसिंहालितुलास्त्रीवृषधन्विनाम्॥५॥
शस्तो जीवो नवर्क्षेषु सप्तस्थानेषु सर्वदा। बुधः षडष्टदिक्सप्ततुर्येषु विनर्तुं सितः॥६॥
सप्तर्तुत्रिदशादिस्थः शशाङ्को बलदः सदा। रविर्दशत्रिषट्संस्थो राहुस्त्रिदशषड्गतः॥७॥
षट्त्रिस्थानगताः शस्ता मन्दाङ्गारार्ककेतवः। शुभाः क्रूराश्च पापाश्च सर्व एकादशस्थिताः॥८॥
एषां दृष्टिर्मुनौ पूर्णा त्वार्धिकी ग्रहभूतयोः। पादिकी रामदिक्स्थाने चतुरष्टौ पादवर्जिता॥९॥

अध्याय-९५

प्रतिष्ठाकालिक सामग्री आदि विधान

देवाधिदेव भगवान् श्रीशिवशंकर ने कहा कि–हे स्कन्द! अधुना मैं मन्दिर में लिङ्ग-स्थापना की विधि का वर्णन करने जा रहा हूँ, जो भोग और मोक्ष को देने वाली है। यदि मुक्ति के लिये लिङ्ग-प्रतिष्ठा करनी हो, तो उसको हर समय किया जा सकता है, परन्तु यदि भोग-सिद्धि के उद्देश्य से लिङ्ग-स्थापना करने का विचार हो, तो देवताओं का दिन (उत्तरायण) होने पर ही वह कार्य करना चाहिये। माघ से लेकर पाँच महीनों में, चैत्र को छोड़कर, देवस्थापना करने की विधि है। जिस समय गुरु और शुक्र उदित हों तो प्रथम तीन करणों (वव, बालव और कौलव) में स्थापना करनी चाहिये। विशेषतः शुक्ल पक्ष में तथा कृष्ण पक्ष में भी पञ्चमी तिथि तक का समय प्रतिष्ठा के लिये शुभ माना गया है। चतुर्थी, नवमी, षष्ठी और चतुर्दशीय छोड़कर शेष तिथियाँ क्रूर-ग्रह के दिन से हीन होने पर श्रेष्ठतम मानी गयी हैं। शतभिषा, धनिष्ठा, आर्द्रा, अनुराधा, तीनों उत्तरा, रोहिणी और श्रवण–ये नक्षत्र स्थिर प्रतिष्ठा प्रारम्भ करने के लिये महान् अभ्युदयकारक कहे गये हैं। कुम्भ, सिंह, वृश्चिक, तुला, कन्या, वृक्ष–ये लग्न श्रेष्ठ बताये गये हैं। बृहस्पति (तृतीय, अष्टम और द्वादश को छोड़कर शेष) नौ स्थानों में शुभ माने गये हैं। सात स्थानों में तो वे सर्वदा ही शुभ हैं, छठे, आठवें, दसवें, सातवें और चौथे भावों में बुध की स्थिति हो, तो वे शुभकारक होते हैं। इन्हीं स्थानों में छठे को छोड़कर यदि शुक्र हों तो उनको शुभ कहा गया है। प्रथम, तृतीय, सप्तम, षष्ठ, दशम (द्वितीय और नवम) स्थानों में चन्द्रमा सदैव बलसम्प्रदायक माने गये हैं। सूर्य, दसवें, तीसरे और छठे भावों में स्थित हों तो शुभफल देने वाले होते हैं। तीसरे, छठे और दसवें में राहु को भी शुभकारक कहा गया है॥१-७॥

छठे और तीसरे स्थान में स्थित होने पर शनैश्चर, मंगल और केतु प्रशस्त कहे गये हैं। शुभग्रह, क्रूरग्रह और पाप ग्रह–सभी ग्यारहवें स्थान में स्थित होने पर श्रेष्ठ बताये गये हैं। अपनी जगह से सप्तम स्थान पर ही इन समस्त

पादन्यूनचतुर्नाडीभोगः स्यान्मीनमेषयोः। वृषकुम्भौ च भुञ्जाते चतस्रः पादवर्जिताः।।१०।।
मकरो मिथुनं पञ्च चापालिहरिकर्कटाः। पादोनाः षट्तुलाकन्ये घटिकाः सार्धपञ्च च।।११।।
केशरीवृषभः कुम्भः स्थिराः स्युः सिद्धिदायकाः। चरा धनुस्तुलामेषा द्विस्वभावास्तृतीयकाः।।१२।।
कर्कटो मकरोऽलिश्च प्रव्रज्याकार्यनाशकाः। शुभः शुभग्रहैर्दृष्टः शस्तो लग्नः शुभाश्रितः।।१३।।
गुरुशुक्रबुधैर्युक्तो लग्नो दद्याद्बलायुषी। राज्यं शौर्यं बलं पुत्रान्यशो धर्मादिकं बहु।।१४।।
प्रथमः सप्तमस्तुर्यो दशमः केन्द्र उच्यते। गुरुशुक्रबुधास्तत्र सर्वसिद्धिप्रदायकाः।।१५।।
त्र्येकादशचतुर्थस्था लग्नात्पापग्रहाः शुभाः। अतोऽन्येऽमी च कर्मार्थं योज्यास्तिथ्यादयो बुधैः।।१६।।
धाम्नः पञ्चगुणां भूमिं त्यक्त्वा वा धामसंमिताम्। हस्ताद्द्वादशसोपानात्कुर्यान्मण्डपमग्रतः।।१७।।
चतुरस्रं चतुर्द्वारं स्नानार्थं तु तदर्धतः। एकास्यं चतुरास्यं वा रौद्र्यां प्राच्युत्तरेऽथ वा।।१८।।

ग्रहों की दृष्टि पूर्ण (चारों चरणों से युक्त) होती है। पाँचवें और नवें स्थानों पर इनकी दृष्टि आधी (दो चरणों से युक्त) बतलायी गयी है। तृतीय और दसवें स्थानों को ये ग्रह एकपाद से देखते हैं तथा चौथे एवं आठवें स्थानों पर इनकी दृष्टि तीन चरणों से युक्त होती है। मीन और मेष राशि का भोग पौने चार नाड़ी तक है। वृष और कुम्भ भी पौने चार नाड़ी का ही उपभोग करते हैं। मकर और मिथुन पाँच नाड़ी, धन, वृश्चिक, सिंह और कर्क पौने छः नाड़ी तथा तुला और कन्या राशियाँ साढ़े पाँच नाड़ी का उपभोग करती हैं।।८-११।।

सिंह, वृष और कुम्भ-ये 'स्थिर' लग्न सिद्धिसम्प्रदायक होते हैं। धन, तुला और मेष 'चर' कहे गये हैं। तीसरी-तीसरी संख्या के लग्न (मिथुन, कन्या आदि) 'द्वि-स्वभाव' कहे गये हैं। कर्क, मकर और वृश्चिक-ये प्रव्रज्या (संन्यास) कार्य के नाशक हैं। जो लग्न शुभ ग्रहों से देखा गया हो, वह श्रेष्ठ माना गया है। बृहस्पति, शुक्र और बुध से युक्त लग्न धन, आयु, राज्य, शौर्य (अथवा सौख्य), बल, पुत्र, यश तथा धर्म आदि वस्तुओं को अधिक मात्रा में सम्प्रदान करता है। कुण्डली के द्वादश भावों में से प्रथम, चतुर्थ, सप्तम और दशम को 'केन्द्र' कहते हैं। उन केन्द्र-स्थानों में यदि गुरु, शुक्र और बुध हों तो वे सम्पूर्ण सिद्धियों के दाता होते हैं।

लग्न-स्थान से तीसरे, ग्यारहवें और चौथे स्थानों में पापग्रह हों तो वे शुभकारक होते हैं। इसलिये इनको तथा इनसे भिन्न शुभ ग्रहों तथा शुभ तिथियों को विद्वान् पुरुष को प्रतिष्ठा कर्म के लिये योजित करना चाहिये। मन्दिर के बराबर ही या सीढ़ी से दस हाथ आगे तक की भूमि छोड़कर मण्डप निर्माण करना चाहिये।।१२-१७।।

वह मण्डप चतुरस्र और चार दरवाजों से युक्त हो। उसकी आधी भूमि लेकर स्नान के लिये मण्डप बनाये। उसमें भी एक या चार दरवाजा हों। यह स्नान-मण्डप ईशान, पूर्व अथवा उत्तर दिशा में होना चाहिये। प्रथम तीन लिङ्गों के लिये तीन मण्डपों का निर्माण करना चाहिये। पहले मण्डप की 'हास्तिक' संज्ञा है। वह आठ हाथ का होता है। शेष दो मण्डप एक-एक हाथ बड़े होंगे, अर्थात् दूसरा मण्डप नौ हाथ का और तीसरा दस हाथ का होगा। इसी तरह अन्य लिङ्गों के लिये भी प्रतिमण्डप दो-दो हाथ भूमि बढ़ा दे, जिससे नौ हाथ बड़े नवें लिङ्ग के लिये बाईस हाथ का मण्डप सम्पन्न हो सके।

प्रथम मण्डप आठ हाथ का, दस हाथ का अथवा द्वादश हाथ का होना चाहिये। शेष आठ मण्डपों को दो-दो हाथ बढ़ाकर रखे। इस तरह कुल नौ मण्डप होने चाहिये। पाद आदि से वृद्ध लिङ्गों की स्थापना में पादों (पायों) के अनुसार मण्डप बनाये। बाणलिङ्ग, रत्नलिङ्ग तथा लौहलिङ्ग की स्थापना के अवसर पर हास्तिक (आठ हाथ वाले) मण्डप के अनुसार सब कुछ बनाये। अथवा जो देवी का प्रसाद हो, उसके अनुसार मण्डप बनाये। समस्त लिङ्गों के

हास्तिको दशहस्तो वै मण्डपोऽर्ककरोऽथ वा। द्विहस्तोत्तरया वृद्ध्या शेषं स्यान्मण्डपाष्टकम्॥१९॥
वेदी चतुस्करा मध्ये कोणस्तम्भेन संयुता। वेदी पादान्तरं त्यक्त्वा कुण्डानि नवपञ्च वा॥२०॥
एकं वा शिवकाष्ठायां प्राच्यां वा तद्गुरोः परम्। मुष्टिमात्रं शतार्धे स्याच्छते चारत्निमात्रकम्॥२१॥
हस्तं सहस्रहोमे स्यान्नियुते तु द्विहास्तिकम्। लक्षे चतुष्करं कुण्डं कोटिहोमेऽष्टहस्तकम्॥२२॥
भगाभमग्नौ खण्डेन्दु दक्षे त्र्यस्रं च नैर्ऋते। षडस्रं वायवे पद्मं सौम्ये चाष्टास्रकं शिवे॥२३॥
तिर्यक्पातसमं खातमूर्ध्वं मेखलया सह। तद्बहिर्मेखलास्तिस्रो वेदवह्नियमाङ्गुलैः॥२४॥
अंगुलैः षड्भिरेका वा कुण्डाकारास्तु मेखलाः। तासामुपरि योनिः स्यान्मध्येऽश्वत्थदलाकृतिः॥२५॥
उच्छ्रायेणाङ्गुलं तस्माद्विस्तारेणाङ्गुलाष्टकम्। दैर्घ्यं कुण्डार्धमानेन कुण्डकण्ठसमोऽधरः॥२६॥
पूर्वाग्नियाम्यकुण्डानां योनिः स्यादुत्तरानना। पूर्वानना तु शेषाणामैशान्येऽन्यतरा तयोः॥२७॥
कुण्डानां यश्चतुर्विंशे भागः सोऽङ्गुल इत्यतः। प्लक्षोदुम्बरकाश्वत्थवटजास्तोरणाः क्रमात्॥२८॥

लिये प्रासाद-निर्माण की विधि शैव-शास्त्र के अनुसार समझनी चाहिये। घन, घोष, विराग, काञ्चन, काम, राम, सुवेश, घर्मर तथा दक्ष—ये नौ लिंगों के लिये नौ मण्डपों के नाम हैं। चारों कोणों में चार खंभे हों और दरवाजों पर बतलाया गया है। उससे विस्तृत मण्डप में जिस प्रकार भी उसकी शोभा सम्भव हो, अन्य खंभों का भी उपयोग किया जा सकता है॥१८-१९॥

मध्य मण्डल में चार हाथ की वेदी बनाये। उसके चारों कोनों में चार खंभे हों। वेदी और पायों के मध्य का स्थान छोड़कर कुण्डों का निर्माण करना चाहिये। इनकी संख्या नौ अथवा पाँच होनी चाहिये। ईशान या पूर्व दिशा में एक ही कुण्ड बनाये। वह गुरु का स्थान है। यदि पचास आहुति देनी हो, तो मुट्ठी बँधे हाथ से एक हाथ का कुण्ड होना चाहिये।

सौ आहुतियाँ देनी हों तो कोहनी से लेकर कनिष्ठिका तक के माप से एक अरत्नि या एक हाथ का कुण्ड बनाये। एक हजार आहुतियों का हवन करना हो, तो एक हाथ लंबा, चौड़ा और गहरा कुण्ड हो। दस हजार आहुतियों के लिये इससे दूने माप का कुण्ड होना चाहिये। लाख आहुतियों के लिये चार हाथ के और एक करोड़ आहुतियों के लिये आठ हाथ के कुण्ड का विधान है। अग्निकोण में भगाकर, दक्षिण दिशा में अर्धचन्द्राकार, नैर्ऋत्यकोण में त्रिकोण पश्चिम दिशा में चन्द्रमण्डल के समान गोलाकार, वायव्यकोण में षट्कोण, उत्तर दिशा में कमलाकार, ईशानकोण में अष्टकोण तथा पूर्व दिशा में चतुष्कोण कुण्ड का निर्माण करना चाहिये॥२०-२३॥

कुण्ड सभी तरफ से बराबर और ढालू होना चाहिये। ऊपर की तरफ मेखलाएँ बनी होनी चाहिये। बाहरी भाग में क्रमशः चार, तीन और दो अङ्गुल चौड़ी तीन मेखलाएँ होती हैं। अथवा एक ही छः अंगुल चौड़ी चौड़ी मेखला रहना चाहिये। मेखलाएँ कुण्ड के आकार के बराबर ही होती हैं। उनके ऊपर मध्यभाग में योनि हो, जिसकी आकृति पीपल के पत्ते की भाँति रहना चाहिये। उसकी ऊँचाई एक अंगुल और चौड़ाई आठ अङ्गुल की होनी चाहिये। लंबाई कुण्डार्ध के तुल्य हो। योनि का मध्य भाग कुण्ड के कण्ड की भाँति हो, पूर्व, अग्निकोण और दक्षिण दिशा के कुण्डों की योनि उत्तराभिमुखी होनी चाहिये, शेष दिशाओं के कुण्डों की योनि पूर्वाभिमुखी हो तथा ईशानकोण के कुण्ड की योनि कथित दोनों तरहों में से किसी एक तरह की (उत्तराभिमुखी या पूर्वाभिमुखी) रह सकती है॥२४-२७॥

कुण्डों का जो चौबीसवाँ भाग है, वह 'अंगुल' कहलाता है। इसके अनुसार विभाजन करके मेखला, कण्ठ

शान्तिभूतिबलारोग्यपूर्वाद्या नामतः क्रमात्। पञ्चषट्सप्तहस्तानि हस्तखातस्थितानि च॥२९॥
तदर्धविस्तराणि स्युर्युतान्याम्रदलादिभिः। इन्द्रायुधोपमा रक्ता कृष्णा धूम्रा शशिप्रभा॥३०॥
शुकाभा हेमवर्णा च पताका स्फाटिकोपमा। पूर्वादितोऽब्जजे रक्ता नीलाऽनन्तस्य नैर्ऋते॥३१॥
पञ्चहस्तास्तदर्धाश्च ध्वजा दीर्घाश्च विस्तराः। हस्तप्रदेशिता दण्डा ध्वजानां पञ्चहस्तकाः॥३२॥
वल्मीकाद्दन्तिदन्ताग्रात्तथा वृषभशृङ्गतः। पद्मखण्डाद्वराहाच्च गोष्ठादपि चतुष्पथात्॥३३॥
मृत्तिका द्वादश ग्राह्या वैकुण्ठेऽष्टौ पिनाकिनी। न्यग्रोधोदुम्बराश्वत्थचूतजम्बूत्वगुद्भवम्॥३४॥
कषायपञ्चकं ग्राह्यमार्तवं च फलाष्टकम्। तीर्थाम्भांसि सुगन्धीनि तथा सर्वौषधीजलम्॥३५॥
शस्तं पुष्पफलं वक्ष्ये रत्नगोशृङ्गवारि च। स्नानायापहरेत्पञ्च पञ्चगव्यामृतं तथा॥३६॥
पिष्टनिर्मितवस्त्रादि द्रव्यं निर्मज्जनाय च। सहस्रसुषिरं कुम्भं मण्डलाय च रोचना॥३७॥
शतमोषधिमूलानां विजया लक्ष्मणा बला। गुडूच्यतिबला पाठा सहदेवा शतावरी॥३८॥

और नाभि का निश्चय करना चाहिये। मण्डप में पूर्वादि दिशाओं की तरफ जो चार दरवाजें लगते हैं, वे क्रमशः पाकड़, गूलर, पीपल और बड़ की लकड़ी होने चाहिये। पूर्वादि दिशाओं के क्रम इनके नाम शान्ति, भूति, बल और आरोग्य हैं। दरवाजों की ऊँचाई पाँच, छः अथवा सात हाथ की होनी चाहिये। वे हाथ भर गहरे खुदे हुए गड्ढे में खड़े किये गये हों। उनका विस्तार ऊँचाई या लम्बाई की अपेक्षा आधा होना चाहिये। उनमें आम्र-पल्लव आदि की बन्दनवारें लगा देनी चाहिये। मण्डप की पूर्वादि दिशाओं में क्रमशः इन्द्रायुध की भाँति तिरंगी, लाल, काली, धूमिल, चाँदनी की भाँति श्वेत, तोते की पाँख के समान हरे रंग की, सुनहरे रंग की तथा स्फटिक मणि के समान उज्ज्वल पताका फहरानी चाहिये। ईशान और पूर्व के मध्य भाग में ब्रह्मा जी के लिये लाल रंग की तथा नैर्ऋत्य और पश्चिम के मध्यभागमें अनन्त (शेषनाग) के लिये नीले रंग की पताका फहरानी चाहिये। ध्वजों की पताकाएँ पाँच हाथ लंबी और इससे आधी चौड़ी हों। ध्वज-दण्ड की ऊँचाई पाँच हाथ की होनी चाहिये। ध्वज की मोटाई ऐसी हो कि दोनों हाथों की पकड़ में आ जाय॥२८-३२॥

पर्वत-शिखर, राजद्वार, नदीतट, घुड़सार, हथिसार, विमौट, हाथी के दाँतों के अग्रभाग से कोड़ी गयी भूमि, साँड़ के सींग से खोदी गयी भूमि, कमल समूह के नीचे के स्थान, सूअर की खोदी हुई भूमि, गोशाला तथा चौराहा-इन द्वादश स्थानों से द्वादश तरह की मिट्टी लेनी चाहिये। भगवान् श्रीहरि विष्णु की स्थापना में ये द्वादश मृत्तिकाएँ तथा भगवान् श्रीहरि विष्णु की स्थापना में ये द्वादश मृत्तिकाएँ तथा भगवान् शिव की स्थापना में आठ तरह की मृत्तिकाएँ ग्राह्य हैं। बरगद, गूलर, पीपल, आम और जामुन की छाल से उत्पन्न हुई पाँच तरह की गोंद संग्रहणीय हैं। आठ तरह के ऋतु फल मँगा लेने चाहिये। तीर्थजल, सुगन्धित जल, सर्वोषधि मिश्रित जल, शस्य-पुष्पमिश्रित जल, स्वर्णमिश्रित रत्नमिश्रित तथा गो-शृङ्ग के स्पर्श से युक्त जल, पञ्चगव्य और पञ्चामृत-इन सभी को देवस्नान के लिये एकत्र करना चाहिये। विघ्नकर्ताओं को डराने के लिये आटे के बने हुए वज्र आदि आयुध-द्रव्यों को भी प्रस्तुत रखना चाहिये। छिद्रों से युक्त कलश तथा अङ्गज कृत्य के लिये गोरोचना भी रखे॥३३-३७॥

सौ तरह की औषधियों की जड़, विजया, लक्ष्मणा (श्वेत कण्टकारिका), बला (अथवा अभया-हर्रे), गुरुच, अतिबला, पाठा, सहदेवा, शतावरी, ऋद्धि, सुवर्चला और वृद्धि-इन सभी का पृथक्-पृथक् स्नान के लिये उपयोग बतलाया गया है। रक्षा के लिये तिल और कुशा आदि संग्रहणीय हैं। भस्म स्नान के लिये भस्म जुटा ले। विद्वान् पुरुष

ऋद्धिः सुवर्चला वृद्धिः स्नाने प्रोक्ता पृथक्पृथक्। रक्षायै तिलदर्भाद्यं भस्मस्नानं तु केवलम्।।३९।।
यवगोधूमबिल्वानां चूर्णानि च विचक्षणः। विलेपनं सकर्पूरं स्नानार्थं कुम्भगण्डकान्।।४०।।
खट्वां च तूलिकायुग्मं सोपधानं सवस्त्रकम्। कुर्याद्वित्तानुसारेण शयने लक्ष्यकल्पने।।४१।।
घृतक्षौद्रयुतं पात्रं कुर्यात्स्वर्णशलाकिकाम्। वर्धनीं शिवकुम्भं च लोकपालघटानपि।।४२।।
एकं निद्राकृते कुम्भं शान्त्यर्थं कुण्डसंख्यया। द्वारपालादिधर्मादिप्रशान्तादिघटानपि।।४३।।
वास्तुलक्ष्मीगणेशानां कलशानपरानपि। धान्यपुञ्जकृताधारान्सवस्त्रान्स्रग्विभूषितान्।।४४।।
सहिरण्यान्समालब्धान्गन्धपानीय पूरितान्। पूर्णपात्रफलाधारान्पल्लवाढ्यान्सलक्षणान्।।४५।।
वस्त्रैराच्छादयेत्कुम्भानाहरेद्गौरसर्षपान्। विकिरार्थं तथालाजाञ्ज्ञानखण्ड्गं च पूर्ववत्।।४६।।
सापिधानां चरुस्थालीं दर्वीं च ताम्रनिर्मिताम्। घृतक्षौद्रान्वितं पात्रं पादाभ्यङ्गकृते तथा।।४७।।
विष्टरांस्त्रि (स्त्रिं) शता दर्भदलैर्बाहुप्रमाणकान्। चतुरश्चतुरस्तद्वत्पालाशान्परिधीनपि।।४८।।
तिलपात्रं हविष्पात्रमर्घपात्रं पवित्रम्। पलविंशतिमानानि घण्टाधूपप्रदानकम्।।४९।।
स्रुक्स्रुवौ पिटकं पीठं व्यजनं शुष्कमिन्धनम्। पुष्पं पत्रं गुग्गुलं च घृतैर्दीपांश्च धूपकम्।।५०।।

को स्नान के लिये जौ और गेहूँ के आटे, बेलक चूर्ण, विलेपन, कपूर, कलश तथा गडुओं का संग्रह कर लेना चाहिये। खाट, दो तूलिका (रूई भरा गद्दा तथा रजाई), तकिया, चादर आदि अन्य आवश्यक वस्त्र—इन सभी को अपने वैभव के अनुसार तैयार कराये और विविध चिह्नों से सुसज्जित शयन कक्ष में इनको रखे। घी और मधु से युक्त पात्र, सोने की सलाई पूजोपयोगी जल से भरा पात्र, शिवकलश और लोकपालों के लिये कलश का भी संग्रह करना चाहिये।।३८-४२।।

एक कलश निद्रा के लिये भी होना चाहिये। कुण्डों की संख्या के अनुसार उतने ही शान्ति कलश रखे जाने चाहिये। द्वारपाल आदि, धर्म आदि तथा प्रशान्त आदि के लिये भी कलश जुटा ले। वास्तुदेव, लक्ष्मी और गणेश के लिये भी अन्यान्य पृथक्-पृथक् कलश आवश्यक हैं। इन कलशों के नीचे आधारभूमि पर धान्य-पुञ्ज रखना चाहिये। सभी कलश वस्त्र और पुष्प माला से विभूषित किये जाने चाहिये। इनके अन्दर स्वर्ण डालकर इनका स्पर्श किया जाय और इनको सुगन्धित जल से भरा जाय। सभी कलशों के ऊपर पूर्ण पात्र और फल रखे जायँ। उनके मुख भाग में पञ्चपल्लव रहें तथा वे कलश श्रेष्ठतम लक्षणों से सम्पन्न हों। कलशों को वस्त्रों से आच्छादित करना चाहिये। सभी तरफ बिखेरने के लिये पीली सरसों और लावा का संग्रह कर लेना चाहिये। पूर्ववत् ज्ञान-खड्ग का भी निष्पादन करना चाहिये। चरु रखने के लिये बटलोई और उसका ढक्कन मँगा ले। ताँबे की बनी हुई करछुल तथा पादाभ्यङ्ग के लिये घृत और मधु का पात्र भी संगृहीत कर लेना चाहिये।।४३-४७।।

कुश के तीस दलों से बने हुए दो-दो हाथ लंबे-चौड़े चार-चार आसन एकत्र कर लेना चाहिये। इसी तरह पलाशों के बने हुए चार-चार परिधि भी जुटा ले। तिलपात्र, हविष्यान्नपात्र, अर्घ्यपात्र और पवित्रक एकत्र करना चाहिये। इनका मान बीस-बीस पल है। घण्टा और धूपदानी भी मँगा ले। स्रुक्, स्रुवा, पिटक (पिटारी एवं टोकरी), पीठ (पीढ़ी या चौकी), व्यजन, सूखी लकड़ी, फूल, पत्र, गुग्गुल, घी के दीपक, धूप, अक्षत, तिगुना सूत, गाय का घी, जौ, तिल, कुशा, शान्ति कर्म के लिये त्रिविध मधुर पदार्थ (मधु, शक्कर और घी), दस पर्व की समिधाएँ, बाँह-बराबर या एक हाथ का स्रुवा, सूर्य आदि ग्रहों की शान्ति के लिये समिधाएँ—आक, पलाश, खैर, अपामार्ग, पीपल, गूलर, शमी, दूर्वा

अक्षतानि (?) त्रिसूत्रीं च गव्यमाज्यं यवांस्तिलान्। कुशाः शान्त्यै त्रिमधुरं समिधो दशपर्विकाः।।५१।।
बाहुमात्रं स्रुवं हस्तमर्कादिग्रहशान्तये। समिधोऽर्कपलाशोत्थाः खादिरामार्गपिप्पलाः (?)।।५२।।
उदुम्बरशमीदूर्वाः कुशोत्थाः शतमष्ट च। तदभावे यवतिला गृहोपकरणं तथा।।५३।।
स्थालीदर्वीपिधानादि देवादिभ्योंऽशुकद्वयन्। मुद्रामुकुटवासांसि हारकुण्डलकङ्कणान्।।५४।।
कुर्यादाचार्यपूजार्थं वित्तशाठ्यं विवर्जयेत्। तत्पादपादहीना च मूर्तिभृदस्त्रजापिनाम्।।५५।।
पूजा स्याज्जापिभिस्तुल्या विप्रदैवज्ञशिल्पिनाम्। वज्रार्कशान्तौ नीलातिनीलमुक्ताफलानि च।।५६।।
पुष्पपद्मादिरागं च वैडू (दू) र्यं रत्नमष्टमम्। उशीरमाधवक्रान्ता रक्तचन्दनकागुरु।।५७।।
श्रीखण्डं सारिकं कुष्ठं शङ्खिनी ह्योषधीगणः। हेमताम्रमयो रङ्गं राजतं च सकांस्यकम्।।५८।।
सीसकं चेति लोहानि हरितालं मनःशिला। गैरिकं हेममाक्षीकं पारदो वह्निगैरिकम्।।५९।।
गन्धकाभ्रकमित्यष्टौ धातवो व्रीहयस्तथा। गोधूमान्सतिलान्माषान्मुद्गानप्याहरेद्यवान्।।६०।।
नीवाराञ्श्यामकानेवं व्रीहयोऽप्यष्ट कीर्तिताः।।६१।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गति प्रतिष्ठाकालसामग्र्यादिविधिकथनं नाम पञ्चनवतितमोऽध्यायः।।९५।।

और कुशा भी संग्रहणीय हैं। आक आदि में प्रत्येक की समिधाएँ एक सौ आठ-आठ होनी चाहिये। ये न मिल सकें तो इनकी जगह जौ और तिलों की आहुति देनी चाहिये। इनके सिवा घरेलू आवश्यकता की वस्तुओं का भी संग्रह करना चाहिये।।४८-५३।।

बटलोई, करछुल, ढक्कन आदि जुटा ले। देवता आदि के लिये प्रत्येक को दो-दो वस्त्र देने चाहिये। आचार्य की पूजा के लिये मुद्रा, मुकुट, वस्त्र, हार, कुण्डल और कङ्गन आदि तैयार करवा ले। धन खर्च करने में कंजूसी नहीं करना चाहिये।।५४।।

मूर्ति धारण करने वाले तथा अस्त्र-मन्त्र का जप करने वाले ब्राह्मणों को आचार्य की अपेक्षा एक-एक चौथाई कम दक्षिणा देना चाहिये। सामान्य ब्राह्मणों, ज्योतिषियों तथा शिल्पियों को जपकर्ताओं के बराबर ही पूजा देनी चाहिये। हीरा, सूर्यकान्तमणि, नीलमणि, अतिनीलमणि, मुक्तामणि-मुक्ताफल, पुष्पराग, पद्मराग तथा आठवाँ रत्न वैदूर्य मणि-इनका भी संग्रह करना चाहिये। उशीर (खस), विष्णुक्रान्ता (अपराजिता), रक्तचन्दन, अगरु, श्रीखण्ड, शारिवा (अनन्ता या श्यामालता), कुष्ठ (कुट) और शङ्खिनी (श्वेत पुन्नाग)-इन औषधियों का समुदाय संग्रहणीय है।।५५-५७।।

सोना, ताँबा, लोहा, राँगा, चाँदी, काँसी और सीसा-इन सबकी 'लोह' संज्ञा है। इनका भी संग्रह करना चाहिये। हरिताल, मैनसिल, गेरू, हेममाक्षीक, पारा, वह्निगैरिक, गन्धक और अभ्रक-ये आठ धातुएँ संग्रहणीय हैं। इसी तरह आठ तरह के व्रीहियों (अनाजों) का भी संग्रह करना चाहिये। उनके नाम इस तरह हैं-धान, गेहूँ, तिल, उड़द, मूँग, जौ, तिन्नी और सावाँ।।५८-६१।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी पञ्चानवेवाँ अध्याय डॉ॰ सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।९५।।

❖❖❖

अथ षण्णवतितमोऽध्यायः

प्रतिष्ठायामधिवासनविधिः

ईश्वर उवाच

स्नात्वा नित्यद्वयं कृत्वा प्रणवार्धकरो गुरुः। सहायैर्मूर्तिपैर्विप्रैः सह गच्छेन्मखालयम्।।१।।
शान्त्यादितोरणांस्तत्र पूर्ववत्पूजयेत्क्रमात्। प्रदक्षिणक्रमादेषां शाखायां द्वारपालकान्।।२।।
प्राचि नन्दिमहाकालौ याम्ये भृङ्गिविनायकौ। वारुणे वृषभस्कन्दौ देवीचण्डौ तथोत्तरौ।।३।।
तच्छाखामूलदेशस्थौ प्रशान्तशिशिरौ घटौ। पर्जन्याशोकनामानौ भूतसंजीवनामृतौ।।४।।
धनदश्रीप्रदौ द्वौ द्वौ पूजयेदनुपूर्वशः। स्वनामभिश्चतुर्थ्यन्तैः प्रणवदिनमोन्तकैः।।५।।
लोकग्रहवसुद्वाःस्थस्रवन्तीनां द्वयं द्वयम्। भानुत्रयं युगं वेदो लक्ष्मीर्गणपतिस्तथा।।६।।
इति देवा मखागारे तिष्ठन्ति प्रतितोरणम्। विघ्नसंधापनोदाय क्रतोः संरक्षणाय च।।७।।
वज्रं शक्तिं तथा दण्डं खङ्गं पाशं ध्वजं गदाम्। त्रिशूलं चक्रमम्भोजं पताकाश्चार्चयेत्क्रमात्।।८।।
ॐ हूं फट् नमः। ॐ हूं फट्, हस्ते शक्तये हूं फट् नम इत्यादिमन्त्रैः।।९।।

अध्याय–९६

प्रतिष्ठागत अधिवासन विधि

भगवान् शिव ने कहा कि–हे स्कन्द! पुराहित को चाहिये कि वह स्नान करके प्रातःकाल और मध्याह्नकाल, दोनों समयों का नित्यकर्म सम्पन्न करके मूर्तिरक्षक सहायक ब्राह्मणों के साथ यज्ञमण्डप को पधारे। **मूर्तिभिर्जापिभिर्विप्रैः**– इस पाठान्तर के अनुसार मूर्तियों और जपकर्ता ब्राह्मणों के साथ यज्ञमण्डप में जाय, ऐसा अर्थ समझना चाहिये।) फिर वहाँ शान्ति आदि द्वारों का पूर्ववत् क्रमशः पूजन करना चाहिये। इन द्वारों की दोनों शाखाओं पर प्रदक्षिण क्रम से द्वारपालों की पूजा करनी चाहिये। पूर्व दिशा में द्वारपाल नन्दी और महाकाल की, दक्षिण दिशा में भृङ्गी और विनायक की, पश्चिम दिशा में वृषभ और स्कन्द की तथा उत्तर दिशा में देवी और चण्ड की पूजा करनी चाहिये। द्वार-शाखाओं के मूलदेश में पूर्वादि क्रम से दो-दो कलशों की पूजा करनी चाहिये। उनके नाम इस तरह हैं–पूर्व दिशा में प्रशान्त और शिशिर, दक्षिण में पर्जन्य और अशोक, पश्चिम में भूतसंजीवन और अमृत तथा उत्तर में धनद और श्रीप्रद–इन दो-दो कलशों की क्रमशः पूजा का विधान है। इनके नाम के आदि में 'प्रणव' और अन्त में 'नमः' जोड़कर चतुर्थ्यन्त रूप रखे। यही इनके पूजन का मन्त्र है। यथा–'**ॐ प्रशान्तशिशिराभ्यां नमः।**' इत्यादि।।१-५।।

लोक दो, ग्रह दो, वसु दो, द्वारपाल दो, नदियाँ दो, सूर्य तीन, युग एक, वेद एक, लक्ष्मी तथा गणेश–इतने देवता यज्ञमण्डप के प्रत्येक द्वार पर रहते हैं। इनका कार्य हैं–विघ्नसमूह का निवारण और यज्ञ का संरक्षण। पूर्वादि दस दिशाओं में वज्र, शक्ति, दण्ड, खड्ग, पाश, ध्वज, गदा, त्रिशूल, चक्र और कमल की क्रमशः पूजा करनी चाहिये तथा प्रत्येक दिशा में दिक्पाल की क्रमशः पूजा करनी चाहिये तथा प्रत्येक दिशा में दिक्पाल की पताका का भी पूजन करना चाहिये। पूजन के मन्त्र का स्वरूप इस तरहहै–**ॐ हूं हः वज्राय हूं फट्। ॐ हूं हः शक्तये हूं फट्।** इत्यादि।।६-९।।

कुमुदः कुमुदाक्षश्च पुण्डरीकोऽथ वामनः। शङ्कुकर्णः सर्वनेत्रः सुमुखः सुप्रतिष्ठितः॥१०॥
ध्वजाष्टदेवताः पूज्याः पूर्वादौ भूतकोटिभिः। ॐ कौं कुमुदाय नम इत्यादिमन्त्रैः॥११॥
हेतुकं त्रिपुरघ्नं च शक्त्याख्यं यमजिह्वकम्। कालं करालिनं षष्ठमेकाङ्घ्रिं भीममष्टकम्॥१२॥
तथैव पूजयेद्दिक्षु क्षेत्रपालाननुक्रमात्। बलिभिः कुसुमैर्धूपैः सन्तुष्टान्परिभावयेत्॥१३॥
कम्बलस्तृतेषु वर्णेषु वंशस्थूणास्वनुक्रमात्। पञ्चक्षित्यादितत्त्वानि सद्योजातादिभिर्यजेत्॥१४॥
सदाशिवपदव्यापि मण्डपं धाम शांकरम्। पताकाशक्तिसंयुक्तं तत्त्वदृष्ट्याऽवलोकयेत्॥१५॥
दिव्यान्तरिक्षभूयिष्ठविघ्नानुत्सार्य पूर्ववत्। प्रविशेत्पश्चिमद्वारा शेषद्वाराणि दर्शयेत्॥१६॥
प्रदक्षिणक्रमाद्गत्वा निविष्टो वेददक्षिणे। उत्तराभिमुखः कुर्याद्भूतशुद्धिं यथा पुरा॥१७॥
अन्तर्यागं विशेषार्घ्यं मन्त्रद्रव्यादिशोधनम्। कुर्वीत स्वात्मानः पूजां पञ्चगव्यादि पूर्ववत्॥१८॥
साधारं कलशं तस्मिन्विन्यसेत्तदनन्तरम्। विशेषाच्च शिवं ध्यायेत्तत्त्वत्रयमनुक्रमात्॥१९॥
ललाटस्कन्धपादान्तं शिवविद्यात्मकं परम्। रुद्रनारायणब्रह्मदैवतं निजसंच (व) रैः॥२०॥
ॐ हं हाम्॥२१॥
मूर्तीस्तदीश्वरांस्तत्र पूर्ववद्विनिवेशयेत्। तद्व्यापकं शिवं साङ्गं शिवहस्तं च मूर्धनि॥२२॥

कुमुद, कुमुक्षाद, पुण्डरीक, वामन, शङ्कुकर्ण, सर्वनेत्र (अथवा पद्मनेत्र), सुमुख और सुप्रतिष्ठित–ये ध्वजों के आठ देवता हैं, जो पूर्वादि दिशाओं में कोटि-कोटि भूतों सहित पूजनीय हैं। इनके पूजन सम्बन्धी मन्त्र इस तरह हैं–'**ॐ कुं कुमुदाय नमः।**' इत्यादि। हेतुक (अथवा हेरुक), त्रिपुरघ्न, शक्ति (अथवा वह्नि) यमजिह्व, काल, छठा कराली, सातवाँ एकाङ्घ्रि और आठवाँ भीम–ये क्षेत्रपा हैं। इनका क्रमशः पूर्वादि आठ दिशाओं में पूर्ववत् पूजन करना चाहिये। बलि, पुष्प और धूप देकर इन सभी को सन्तुष्ट करना चाहिये। उसके बाद श्रेष्ठतम एवं पवित्र तृणों पर अथवा बाँस के खम्भों पर क्रमशः पृथ्वी आदि पाँच मन्त्रों द्वारा उनका पूजन करना चाहिये। सदाशिवपदव्यापी मण्डप का, जो देवाधिदेव भगवान् श्रीशिवशंकर का धाम है तथा पताका एवं शक्ति से संयुक्त है। (पाठान्तर के अनुसार पातालशक्ति या पिनाकशक्ति या पिनाकशक्ति से संयुक्त है), तत्त्वदृष्टि से अवलोकन करना चाहिये॥१०-१५॥

पूर्ववत् दिव्य पश्चिम एवं भूलोकवर्ती विघ्नों का अपसारण करके पश्चिम द्वार में प्रवेश करना चाहिये और शेष दरवाजों को बन्द करा दे (अथवा शेष द्वारों का दर्शनमात्र कर लेना चाहिये।) प्रदक्षिण क्रम से मण्डप के अन्दर जाकर वेदी के दक्षिण भाग में उत्तराभिमुख होकर बैठे और पूर्ववत् भूतशुद्धि करनी चाहिये। अन्तर्याग, विशेषार्घ्य, मन्त्र-द्रव्यादि-शोधन, स्वात्मपूजन तथा पञ्चगव्य आदि पूर्ववत् करना चाहिये। फिर वहाँ आधार शक्ति की प्रतिष्ठापूर्वक कलश-स्थापन को विशेषतः शिव का ध्यान करना चाहिये। उसके बाद क्रमशः तीनों तत्त्वों का चिन्तन करना चाहिये। ललाट में शिवतत्त्व की स्कन्ध देश में विद्या तत्त्व की तथा पादान्त-भाग में श्रेष्ठतम आत्मतत्त्व की भावना करनी चाहिये। शिवतत्त्व के रुद्र, विद्यातत्त्व के नारायण तथा आत्मतत्त्व के ब्रह्मा देवता हैं। इनका अपने नाम-मन्त्रों द्वारा पूजन करना चाहिये। इन तत्त्वों के आदि-बीज क्रमशः इस तरह हैं–'**ॐ ईं आम्**'॥१६-२१॥

मूर्तियों और मूर्तीश्वरों की वहाँ पूर्ववत् स्थापना करनी चाहिये। उनमें व्यापक शिव का साङ्ग पूजन करके मस्तक पर शिवहस्त रखे। भावना द्वारा ब्रह्मरन्ध्र के मार्ग से प्रविष्ट हुए तेज से अपने बाहर-अन्दर की अन्धकार-राशि को नष्ट करके आत्मस्वरूप का इस तरह चिन्तन करना चाहिये कि 'वह सम्पूर्ण दिङ्मण्डल को प्रकाशित कर रहा

ब्रह्मरन्ध्रप्रविष्टेन तेजसा बाह्यसान्तरम्। तमःपटलमाधूय प्रद्योतितदिगन्तरम्।।२३।।
आत्मानं मूर्तिपैः सार्धं स्रग्वस्त्रमुकुटादिभिः। भूषयित्वा शिवोऽस्मीति ध्यात्वा बोधासिमुद्धरेत्।।२४।।
चतुष्पदान्तसंस्कारैः संस्कुर्यान्मखमण्डपम्। विक्षिप्य विकिरादीनि कुशकूर्चो (र्च्यो) पसंहरेत्।।२५।।
आसनीकृत्य वर्धन्या वास्त्वादीन्पूर्ववद्यजेत्। शिवकुम्भास्त्रवर्धन्यौ पूजयेच्च स्थिरासने।।२६।।
स्वदिक्षुकलशारूढाँल्लोकपालाननुक्रमात्। वाहायुधादिसंयुक्तान्पूजयेद्विधिना यथा।।२७।।
ऐरावतगजारूढं स्वर्णवर्णं किरीटिनम्। सहस्रनयनं शक्रं वज्रपाणिं विभावयेत्।।२८।।
सप्तार्चिषं च विभ्राणमक्षमालां कमण्डलुम्। ज्वालामालाकुलं रक्तं शक्तिहस्तमजासनम्।।२९।।
महिषस्थं दण्डहस्तं यमं कालानलं स्मरेत्। रक्तनेत्रं खरारूढं खड्गहस्तं च नैर्ऋतम्।।३०।।
वरुणं मकरे श्वेतं नागपाशधरं स्मरेत्। वायुं च हरिणे नीलं कुवेरं मेषसंस्थितम्।।३१।।
त्रिशूलिनं वृषे चेशं कूर्मेऽनन्तं तु चक्रिणम्। ब्रह्माणं हंसगं ध्यायेच्चतुर्वक्त्रं चतुर्भुजम्।।३२।।
स्तम्भमूलेषु कुम्भेषु वेद्यां धर्मादिकान्यजेत्। दिक्षु कुम्भेष्वनन्तादीन्पूजयन्त्यपि केचन।।३३।।
शिवाज्ञां श्रावयेत्कुम्भं भ्रामयेदात्मपृष्ठगम्। पूर्ववत्स्थापयेदादौ कुम्भं तदनुवर्धनीम्।।३४।।

है।' मूर्तिपालकों के साथ अपने-आपको भी हार, वस्त्र और मुकुट आदि से अलंकृत करके-'मैं शिव हूँ'-ऐसा चिन्तन करते हुए 'बोधासि' (ज्ञानमय खड्ग) को उठावे चतुष्पदान्त संस्कारों द्वारा यज्ञमण्डप का संस्कार करना चाहिये। बिखेरने योग्य वस्तुओं को सभी तरफ बिखेरकर, कुश की कूँची से उन सभी को समेटे। उनको आसन के नीचे करके वर्धनी के जल से पूर्ववत् वास्तु आदि का पूजन करना चाहिये। शिव-कुम्भास्त्र और वर्धनी के सुस्थिर आसनों की भी पूजा करनी चाहिये। अपनी-अपनी दिशा में कलशों पर विराजमान इन्द्रादि लोकपालों का क्रमशः उनके वाहनों और आयुध आदि के साथ यथाविधि पूजन करना चाहिये।।२२-२७।।

पूर्व दिशा में इन्द्र का चिन्तन करना चाहिये। वे ऐरावत हाथी पर बैठे हैं। उनकी अंग-कान्ति स्वर्ण के समान दमक रही है। मस्तक पर किरीट शोभा दे रहा है। वे सहस्र नेत्र धारण करते हैं। उनके हाथ में वज्र शोभा पाता है। अग्निकोण में सात ज्वालामयी जिह्वाएँ धारण किये, अक्षमाला और कमण्डलु लिये, लपटों से घिरे रक्त वर्ण वाले श्रीअग्नि देव का ध्यान करना चाहिये। उनके हाथ में शक्ति शोभ पाती है तथ बकरा उनका वाहन है। दक्षिण में महिषारूढ दण्डधारी यमराज का चिन्तन करना चाहिये, जो कालाग्नि के समान प्रकाशित हो रहे हैं। नैर्ऋत्य कोण में लाल नेत्रवाले नैर्ऋत्य कीण में लाल नेत्र वाले नैर्ऋत्य की भावना करनी चाहिये, जो हाथ में तलवार लिये, शव (मुर्दे) पर आरूढ हैं। पश्चिम में मकरारूढ, श्वेतवर्ण, नागपाशधारी वरुण का चिन्तन करना चाहिये। वायव्यकोण में मृगारूढ, नीलवर्ण वायुदेव का तथा उत्तर में भेंड़े पर सवार कुबेर का ध्यान करना चाहिये। ईशान कोण में त्रिशूल धारी, वृषभारूढ ईशान का, नैर्ऋत्य तथा पश्चिम के मध्यभाग में कच्छप पर सवार चक्रधारी भगवान् अनन्त का तथा ईशान और पूर्व के अन्दर चार मुख एवं चार भुजा धारण करने वाले हंसवाहन ब्रह्मा का ध्यान करना चाहिये।।२८-३२।।

खम्भों के मूल भाग में स्थित कलशों में तथा वेदी पर धर्म आदि का पूजन करना चाहिये। कुछ लोग सम्पूर्ण दिशाओं में स्थित कलशों पर अनन्त आदि की पूजा भी करते हैं। इसके बाद शिवाज्ञा सुनावे और कलशों को अपने पृष्ठ भाग तक घुमावे। तत्पश्चात् पहले कलश को और फिर वर्धनी को पूर्ववत् अपने स्थान पर रख देना चाहिये। स्थिर

शिवं स्थिरासनं कुम्भे शस्त्रार्थं च ध्रुवासनम्। पूजयित्वा यथापूर्वं स्पृशेदुद्भवमुद्रया।।३५।।
निजयागं जगन्नाथ रक्ष भक्तानुकम्पया। एभिः संश्राव्य रक्षार्थं कुम्भे खड्गं निवेशयेत्।।३६।।
दीक्षास्थापनयोः कुम्भे स्थण्डिले मण्डलेऽथ वा। मण्डलेऽभ्यर्च्य देवेशं व्रजेद्वै कुण्डसंनिधौ।।३७।।
कुण्डनाभिं पुरस्कृत्य निविष्टा मूर्तिधारिणः। गुरोरादेशतः कुर्युर्निजकुण्डेषु संस्कृतिम्।।३८।।
जपेयुर्जापिनोऽसंख्यं मन्त्रमन्ये तु संहिताम्। पठेयुर्ब्राह्मणाः शान्तिं स्वशाखावेदपारगाः।।३९।।
श्रीसूक्तं पावमानीश्च मैत्रकं च वृषाकपिम्। ऋग्वेदी पूर्वदिग्भागे सर्वमेतत्समुच्चरेत्।।४०।।
देवव्रतं तु भारुण्डं ज्येष्ठसाम रथंतरम्। पुरुषं गीतिमेतानि सामवेदी तु दक्षिणे।।४१।।
रुद्रं पुरुषसूक्तं च श्लोकाध्यायं विशेषतः। ब्राह्मणं च यजुर्वेदी पश्चिमायां समुच्चरेत्।।४२।।
नीलरुद्रं तथाऽथर्वी सूक्ष्मासूक्ष्मं तथैव च। उत्तरेऽथर्वशीर्षं च तत्परस्तु समुद्धरेत्।।४३।।
आचार्यश्चाग्निमुत्पाद्य प्रतिकुण्डं प्रदापयेत्। वह्ने पूर्वादिकान्भागान्पूर्वकुण्डादितः क्रमात्।।४४।।
धूपदीपचरूणां च ददीताग्निं समुद्धरेत्। पूर्ववच्छिवमभ्यर्च्य शिवाग्नौ मन्त्रतर्पणम्।।४५।।
देशकालादिसंपत्तौ दुर्निमित्तप्रशान्तये। होमं कृत्वा तु मन्त्रज्ञः पूर्णां दत्त्वा शुभावहाम्।।४६।।
पूर्ववच्चरुकं कृत्वा प्रतिकुण्डं निवेदयेत्। यजमानालंकृतास्तु व्रजेयुः स्नानमण्डपम्।।४७।।

आसन वाले शिव का कलश में और शस्त्र के लिये ध्रुवासन का पूर्ववत् पूजन करना चाहिये। उद्भव-मुद्रा द्वारा स्पर्श करना चाहिये। उस समय भगवान् से इस तरहर याचना करनी चाहिये—'हे जगन्नाथ! आप अपने भक्तजन पर कृपा करके इस अपने ही यज्ञ की रक्षा कीजिये।'—यों रक्षा के लिये याचना सुनाकर कलश में खड्ग की स्थापना करनी चाहिये। दीक्षा और स्थापना के समय कलश में, वेदी पर अथवा मण्डल में भगवान् शिव का पूजन करना चाहिये। मण्डल में देवेश्वर शिव का पूजन करने के पश्चात् कुण्ड के सन्निकट जाय।।३३-३७।।

कुण्ड-नाभि को आगे करके बैठे हुए मूर्तिधारी पुरुष गुरु की आज्ञा से अपने-अपने कुण्ड का संस्कार करें। जप करने वाले ब्राह्मण संख्या हीन मन्त्र का जप करें। दूसरे लोग संहिता का पाठ करें। अपनी शाखा के अनुसार वेदों के पारंगत विद्वान् शान्तिपाठ में लगे रहें। ऋग्वेदी विद्वान् पूर्व दिशा में श्रीसूक्त, पावमानी ऋचा, मैत्रेय ब्राह्मण तथा वृषाकपि मन्त्र—इन सभी का पाठ करें। सामवेदी विद्वान् दक्षिण में देवव्रत, भारुण्ड, ज्येष्ठसाम, रथन्तरसाम तथा पुरुषगीत—इन सभी का गान करें। यजुर्वेदी विद्वान् पश्चिम दिशा में रुद्रसूक्त, पुरुषसूक्त, श्लोकाध्याय तथा विशेषतः ब्राह्मण भाग का पाठ करें। अथर्ववेदी विद्वान् उत्तर दिशा में नीलरुद्र, सूक्ष्मासूक्ष्म तथा अथर्वशीर्ष का तत्परतापूर्वक अध्ययन करें।।३८-४३।।

आचार्य (अरणी-मन्थन द्वारा) अग्नि का उत्पादन करके उसको प्रत्येक कुण्ड में स्थापित करावें। अग्नि के पूर्व आदि भागों को पूर्व-कुण्ड आदि के क्रम से लेकर धूप, दीप और चरु के निमित्त अग्नि का उद्धार करना चाहिये। फिर पहले बताये अनुसार देवाधिदेव भगवान् श्रीशिवशंकर का पूजन करके शिवाग्नि में मन्त्रतर्पण करना चाहिये। देश, काल आदि की सम्पन्नता तथा दुर्निमित्त की शान्ति के लिये हवन करके मन्त्रज्ञ आचार्य को मङ्गलकारिणी पूर्णाहुति सम्प्रदान करके, पूर्ववत् चरु तैयार करना चाहिये और उसको प्रत्येक कुण्ड में विनेदित करना चाहिये। यजमान से वस्त्राभूषणों द्वारा विभूषित एवं सम्मानित मूर्तिपालक ब्राह्मण स्नान-मण्डप में जायँ। भद्रपीठ पर भगवान् शिव की प्रतिमा को स्थापित करके ताड़न और अवगुण्ठ की क्रिया करें। पूर्व की वेदी पर पूजन करके मिट्टी, काषाय-जल, गोबर और

भद्रपीठे निधायेशं ताडयित्वाऽवगुण्ठयेत्। स्नापयेत्पूजयित्वा तु मृदा काषायवारिणा॥४८॥
गोमूत्रैर्गोमयेनापि वारिणा चान्तराऽन्तरा। भस्मना गन्धतोयेन फडन्तास्त्रेण वारिणा॥४९॥
देशिकौ मूर्तिपैः सार्धं कृत्वा कारणशोधनम्। धर्मजप्तेन संछाद्य पीतवर्णेन वाससा॥५०॥
संपूज्य सितपुष्पैश्च नयेदुत्तरवेदिकाम्। तत्र दत्तासनायां च शय्यायां संनिवेश्य च॥५१॥
कुंकुमालिप्तसूत्रेण विभज्य गुरुरालिखेत्। शलाकया सुवर्णस्य अक्षिणी शस्त्रकर्मणा॥५२॥
अञ्जयेल्लक्ष्मकृत्पश्चाच्छास्त्रदृष्टेन कर्मणा। कृतकर्मा च शस्त्रेण लक्ष्मी (क्ष्मीं?) शिल्पी समुत्क्षिपेत्॥५३॥
त्र्यंशादर्धोऽथ पादार्धादर्धाया अर्धतोऽथ वा। सर्वकामप्रसिद्ध्यर्थं शुभं लक्ष्मावतारणम्॥५४॥
लिङ्गदीर्घविकारांशे त्रिभक्ते भागवर्णनात्। विस्तारो लक्ष्मदेहस्य भवेल्लिङ्गस्य सर्वतः॥५५॥
यवस्य नवभक्तस्य भागैरष्टाभिरावृता। हास्तिके लक्ष्मरेखा च गाम्भीर्याद्विस्तरादपि॥५६॥
एवमष्टांशवृद्ध्या तु लिङ्गे सार्धकरादिके। भवेदष्टयवा पृथ्वी गम्भीराऽत्र च हास्तिके॥५७॥
शांभवेषु च लिङ्गेषु पादवृद्धेषु सर्वतः। लक्ष्मदेहस्य विष्कम्भो भवेद्वै यववर्धनात्॥५८॥
गम्भीरत्वपृथुत्वाभ्यां रेखाऽपि त्र्यंशवृद्धितः। सर्वेषु च भवेत्सूक्ष्मं लिङ्गमस्तकमस्तकम्॥५९॥

गोमूत्र से तथा बीच-बीच में जल से भगवत्प्रतिमा को स्नान कराये। तत्पश्चात् भस्म तथा गन्ध युक्त जल से नहलावे। इसके बाद आचार्य को 'अस्त्राय फट्'।—इस मन्त्र से अभिमन्त्रित जल के द्वारा मूर्तिपालकों के साथ हाथ धोकर कवच-मन्त्र से अभिमन्त्रित पीताम्बर द्वारा मूर्ति को आच्छादित करके श्वेत फूलों से उसकी पूजा करनी चाहिये। उसके बाद उसको उत्तर-वेदी पर ले जाय॥४४-५०॥

वहाँ आसन युक्त शय्या पर सुलाकर कुङ्कुम में रँगे हुए सूत से अङ्गों का विभाजन करके आचार्य को सोने की शलाका द्वारा उस प्रतिमा में दोनों नेत्र अङ्कित करना चाहिये। यह कार्य शस्त्र-क्रिया द्वारा सम्पन्न होना चाहिये। पहले चिह्न बनाने वाला गुरु नेत्र चिह्न को अञ्जन से अङ्कित कर दे; इसके बाद वह शिल्पी, जो मूर्ति-निर्माण का कार्य पहले भी कर चुका हो, उस नेत्र चिह्न को शस्त्र द्वारा खोदे (अर्थात् खुदाई करके नेत्र की आकृति को स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त करना चाहिये)। अर्चा के तीन अंश से कम अथवा एक चौथाई भाग या आधे भाग में सम्पूर्ण कामनाओं की सिद्धि के लिये शुभ लक्षण (चिह्न) की अवतारणा करनी चाहिये। शिवलिङ्ग की लम्बाई के मान में तीन से भाग देकर एक भाग को त्याग देने से जो मान हो, वही लिंग के लक्ष्मदेह का सभी तरफ से विस्तार होना चाहिये॥५१-५५॥

एक हाथ के प्रस्तर खण्ड में जो लक्ष्मरेखा बनेगी, उसकी गहराई और चौड़ाई उतनी ही होगी, जितनी जौ के नौ भागों में से एक को छोड़ने और आठ को लेने से होती है। इसी तरह डेढ़ हाथ या दो हाथ आदि के लिंग से लेकर नौ हाथ तक के लिंग में क्रमशः आधा भाग की वृद्धि करके लक्ष्मरेखा बनानी चाहिये। इस तरह नौ हाथ वाले लिंग में आठ जौ के बराबर मोटी और गहरी लक्ष्मरेखा होनी चाहिये। जो शिवलिंग परस्पर अन्तर रखते हुए उत्तरोत्तर सवाये बड़े हों, वहाँ लक्ष्म देह का विस्तार एक-एक जौ बढ़ाकर करना चाहिये। गहराई और मोटाई की वृद्धि के अनुसार रेखा भी एक तिहाई बढ़ जायेगी। सभी शिवलिंगों में लिंग का ऊपरी भाग ही उनका सूक्ष्म मस्तक है॥५६-५९॥

लक्ष्मक्षेत्रेऽष्टधा भक्ते मूर्ध्नि भागद्वये शुभे। षड्भागपरिवर्तेन मुक्त्वा भागद्वयं त्वधः।।६०।।
रेखात्रयेण सम्बद्धं कारयेत्पृष्ठदेशगम्। रत्नजे लक्षणोद्धारो यवौ हेमसमुद्भवे।।६१।।
स्वरूपलक्षणं तेषां प्रभा रत्नेषु निर्मला। नयनोन्मीलनं वक्त्रे सांनिध्याय च लक्ष्म तत्।।६२।।
लक्षणोद्धाररेखां च घृतेन मधुना यथा। मृत्युञ्जयेन सम्पूज्य शिल्पिदोषनिवृत्तये।।६३।।
अर्चयेच्च ततो लिङ्गं स्नापयित्वा मृदादिभिः। शिल्पिनं तोषयित्वा तु दद्याद्गां गुरवे ततः।।६४।।
लिङ्गं धूपादिभिः प्राच्र्य गायेयुर्भर्तृगाः स्त्रियः। सव्येन चापसव्येन सूत्रेणाथ कुशेन वा।।६५।।
स्पृष्ट्वा च रोचनं दत्त्वा कुर्युर्निर्मन्थनादिकम्। गुडलवणधान्याकदानेन विसृजेच्च ताः।।६६।।
गुरुमूर्तिधरैः सार्धं हृदा वा प्रणवेन वा। मृत्स्नागोमयगोमूत्रभस्माभिः सलिलान्तरम्।।६७।।
स्नापयेत्पञ्चगव्येन पञ्चामृतपुरःसरम्। विरूक्षणं कषायैश्च सर्वौषधिजलेन वा।।६८।।
शुभ्रपुष्पफलस्वर्णरत्नशृङ्गयवोदकैः। तथा धारासहस्रेण दिव्यौषधिजलेन च।।६९।।
तीर्थोदकेन गाङ्गेन चन्दनेन च वारिणा। क्षीरार्णवादिभिः कुम्भैः शिवकुम्भजलेन च।।७०।।
विरूक्षणं विलेपं च सुगन्धैश्चन्दनादिभिः। संपूज्य ब्रह्मभिः पुष्पैर्वर्मणा रक्तचीवरैः।।७१।।
रक्तरूपेण नीराज्य रक्षातिलकपूर्वकम्। गीतौघैर्जलदुग्धैश्च कुशाद्यैरर्घ्यसूचितैः।।७२।।

लक्ष्म अर्थात् चिह्न का जो क्षेत्र है, उसका आठ भाग करके दो भागों को मस्तक के अन्तर्गत रखे। शेष छः भागों में से नीचे के दो भागों को छोड़कर मध्य के अवशिष्ट भागों में तीन रेखा खींचे और उनको पृष्ठ देश में ले जाकर जोड़ देना चाहिये। रत्नमय लिङ्ग में लक्षणोद्धार की आवश्यकता नहीं है। भूमि से स्वतः प्रकट हुए अथवा नर्मदादि नदियों से प्रादुर्भूत हुए शिवलिङ्ग में भी लक्ष्मोद्धार अपेक्षित नहीं है।

रत्नमय लिङ्गों के रत्नों में से निर्मल प्रभा होती है, वही उनके स्वरूप का लक्षण (परिचायक) है। मुख भाग में जो नेत्रोन्मीलन किया जाता है, वह आवश्यक है और उसी के संनिधान के लिये वह लक्ष्म या चिह्न बनाया जाता है। लक्षणोद्धार की रेखा का घृत और मधु से मृत्युञ्जय-मन्त्र द्वारा पूजन करके, शिल्पिदोष की निवृत्ति के लिये मृत्तिका आदि से स्नान कराकर, लिङ्ग की अर्चना करनी चाहिये। फिर दान-मान आदि से शिल्पी को संतुष्ट करके आचार्य को गोदान देना चाहिये।

तत्पश्चात् सौभाग्यवती स्त्रियाँ धूप, दीप आदि के द्वारा लिङ्ग की विशेष पूजा करके मङ्गल गीत गायें और सव्य या अपसव्य भाव से सूत्र अथवा कुश के द्वारा स्पर्शपूर्वक रोचना अर्पित करके न्योछावर देना चाहिये। इसके बाद यजमान को गुड़, नमक और धनिया देकर उन स्त्रियों को विदा करना चाहिये।।६०-६६।।

तत्पश्चात् गुरु मूर्तिरक्षक ब्राह्मणों के साथ 'नमः' प्रणव-मन्त्र के द्वारा मिट्टी, गोबर, गोमूत्र और भस्म से पृथक्-पृथक् स्नान कराये। एक-एक के बाद मध्य में जल से स्नान कराता जाय। फिर पञ्चगव्य, पञ्चामृत, रूखापन दूर करने वाले कषाय द्रव्य, सर्वौषधिमिश्रित जल, श्वेत पुष्प, फल, स्वर्ण, रत्न, सींग एवं जौ मिलाये हुए जल, सहस्रधारा, दिव्यौषधियुक्त जल तीर्थ-जल, गङ्गाजल, चन्दनमिश्रित जल, क्षीरसागर आदि के जल, कलशों के जल तथा शिवकलश के जल से अभिषेक करना चाहिये।

रूखेपन को दूर करने वाला विलेपन लगाकर श्रेष्ठतम गन्ध और चन्दन आदि से पूजन करने के पश्चात् ब्रह्म मन्त्र द्वारा पुष्प तथा कवच मन्त्र से लाल वस्त्र चढ़ावे। फिर अनेक तरह से आरती उतारकर रक्षा और तिलकपूर्वक

द्रव्यैः स्तुत्यादिभिस्तुष्टमर्चयेत्पुरुषाणुना। समाचम्य हृदा देवं ब्रूयादुत्थीयतां प्रभो॥७३॥
देवं ब्रह्मरथेनैव क्षिप्रं द्रव्याणि तं नयेत्। मण्डपे पश्चिमद्वारे शय्यायां विनिवेशयेत्॥७४॥
शक्त्यादिमूर्तिपर्यन्ते विन्यसेदासने शुभे। पश्चिमे पिण्डिकां तस्य न्यसेद्ब्रह्मशिलां तथा॥७५॥
शस्त्रमस्त्रशतालब्धनिद्राकुम्भं ध्रुवासनम्। प्रकल्प्य शिवकोणे च दत्वाऽर्घ्यं हृदयेन तु॥७६॥
उत्थाप्योक्तासने लिङ्गं शिरसा पूर्वमस्तकम्। समारोप्य न्यसेत्तस्मिन्सृष्ट्या धर्मादिवन्दनम्॥७७॥
दद्याद्धूपं च संपूज्य तथा वासांसि वर्मणा। गृहोपकृतिनैवेद्यं हृदादद्यात्स्वशक्तितः॥७८॥
घृतक्षौद्रयुतं पात्रमभ्यङ्गाय पदान्तिके। देशिकश्च स्थितस्तत्र षट्त्रिंशत्तत्त्वसंचयम्॥७९॥
शक्त्यादिभूमिपर्यन्तं सुतत्त्वाधिपसंयुतम्। विन्यस्य पुष्पमालाभिस्त्रिखण्डं परिकल्पयेत्॥८०॥
(मायापदेशशक्त्यन्तं तुर्या (र्यां) शाष्टांशवर्तुलम्। तत्राऽऽत्मतत्त्वविद्याख्यं शिवं सृष्टिक्रमेण तु)॥८१॥
एकशः प्रतिभागेषु ब्रह्मविष्णुहराधिपान्। विन्यस्य मूर्तिमूर्तीशान्पूर्वादिक्रमतो यथा॥८२॥
क्ष्मावह्नियजमानार्कजलवायुनिशाकरान्। आकाशमूर्तिरूपांस्तान्यसेत्तदधिनायकान्॥८३॥
स (श) र्वं पशुपतिं चोग्रं रुद्रं भवमथेश्वरम्। महादेवं च भीमं च मन्त्रास्तद्वाचका इमे॥८४॥
लवशषचयसाश्च हकारश्च त्रिमात्रिकाः। प्रणवो हृदयाणुर्वा मूलमन्त्रोऽथ वा क्वचित्॥८५॥

गीतवाद्य आदि से, विविध द्रव्यों से तथा जय-जयकार और स्तुति आदि से भगवान् को संतुष्ट करके पुरुष-मन्त्र से उनकी पूजा करनी चाहिये। उसके बाद हृदयमन्त्र से आचमन करके इष्टदेव से कहे-'हे प्रभो! उठिये'॥६७-७३॥

फिर इष्ट देव को ब्रह्मरथ पर बिठाकर उसी के द्वारा उनको सभी तरफ घुमाते और द्रव्य बिखेरते हुए मण्डप के पश्चिम द्वार पर ले जाय और वहाँ शय्या पर भगवान् को पधरावे। आसन के आदि अन्त में शक्ति की भावना करके उस शुभ आसन पर उनको विराजमान करना चाहिये। पश्चिमाभिमुख प्रासाद में पश्चिम दिशा की तरफ पिण्डि को स्थापित करके उसके ऊपर ब्रह्मशिला रखे। शिवकोण में सौ अस्त्र-मन्त्रों से अभिमन्त्रित निद्रा-कलश और शिवासन की कल्पना करके, हृदय-मन्त्र से अर्घ्य दे, देवता को उठाकर लिङ्गमय आसन पर शिरोमन्त्र द्वारा पूर्व की तरफ मस्तक रखते हुए आरोपित एवं स्थापित करना चाहिये। इस तरह उन परमात्मा का साक्षात्कार होने पर चन्दन और धूप चढ़ाते हुए उनकी पूजा करनी चाहिये तथा कवच मन्त्र से वस्त्र अर्पित करना चाहिये। गृह का उपकरण आदि अर्पित कर देना चाहिये। फिर अपनी शक्ति के अनुसार नमस्कारपूर्वक नैवेद्य निवेदन करना चाहिये। अभ्यङ्ग कर्म के लिये घृत और मधु से युक्त पात्र इष्ट देव के चरणों के सन्निकट रखे। वहाँ उपस्थित हुए आचार्य को शक्ति से लेकर भूमि-पर्यन्त छत्तीस तत्त्वों के समूह को उनके अधिपतियों सहित स्थापित करके फूल की मालाओं से उनके तीन भागों की कल्पना करनी चाहिये॥७४-८०॥

वे तीन भाग माया से लेकर शक्ति-पर्यन्त हैं। उनमें प्रथम भाग चतुष्कोण, द्वितीय भाग अष्टकोण और तृतीय भाग वर्तुलाकार है। प्रथम भाग में आत्मतत्त्व, द्वितीय भाग में विद्यातत्त्व और तृतीय भाग में शिवतत्त्व की स्थिति है। इन भागों में सृष्टिक्रम से एक-एक अधिपति हैं, जो ब्रह्मा, विष्णु और शिव नाम से प्रसिद्ध हैं। उसके बाद मूर्तियों और मूर्तीश्वरों को पूर्वादि दिशाओं के क्रम से न्यास करना चाहिये। पृथ्वी, अग्नि, यजमान, सूर्य, जल, वायु, चन्द्रमा और आकाश-ये आठ मूर्त्तिरूप हैं। इनका न्यास करने के पश्चात् इनके अधिपतियों का न्यास करना चाहिये।

उनके नाम इस तरह हैं-शर्व, पशुपति, उग्र, रुद्र, भव, ईश्वर, महादेव और भीम। इनके वाचक मन्त्र

पञ्चकुण्डात्मके यागे मूर्तीः पञ्चाथ वा न्यसेत्। पृथिवीजलतेजांसि वायुमाकाशमेव च॥८६॥
क्रमात्तदधिपान्पञ्च ब्रह्माणं धरणीधरम्। रुद्रमीशं सदाख्यं च सृष्टिन्यायेन मन्त्रवित्॥८७॥
मुमुक्षोर्वा निवृत्ताद्या अजाताद्यास्तदीश्वराः। त्रितत्त्वं वाऽथ सर्वत्र न्यसेद्व्याप्त्यात्मकारणम्॥८८॥
शुद्धे चाऽऽत्मनि विद्येशा अशुद्धे लोकनायकाः। द्रष्टव्या मूर्तिपाश्चैव भोगिनो मन्त्रनायकाः॥८९॥
पञ्चविंशत्तथैवाष्ट पञ्च त्रीणि यथाक्रमम्। एषां तत्त्वं तदीशानामिन्द्रादीनां ततो यथा॥९०॥

ॐ हां शक्तितत्त्वाय नम इत्यादि।

ॐ हां शक्तितत्त्वाधिपाय नम इत्यादि।

ॐ हां क्ष्मामूर्तये नमः।

ॐ हां क्ष्मामूर्त्यधिपाय शिवाय नम इत्यादि।

ॐ हां पृथिवीमूर्तये नमः।

ॐ हां पृथिवीमूर्त्यधिपाय ब्रह्मणे नम इत्यादि। ॐ हां शिवतत्त्वाधिपाय रुद्राय नम इत्यादि॥९१॥
नाभिकन्दात्समुच्चार्य घण्टानादविसर्पणम्। ब्रह्मादिकारणत्यागाद्द्वादशान्तसमाश्रितम्॥९२॥
मन्त्रं च मनसाऽभिन्नं प्राप्तानन्दरसोपमम्। द्वादशान्तात्समानीय निष्कलं व्यापकं शिवम्॥९३॥
अष्ट (ष्टा) त्रिंशत्कलोपेतं सहस्रकिरणोज्ज्वलम्। सर्वशक्तिमयं सांगं ध्यात्वा लिङ्गे निवेशयेत्॥९४॥
जीवन्यासो भवेदेवं लिङ्गे सर्वार्थसाधकः। पिण्डिकादिषु तु न्यासः प्रोच्यते साम्प्रतं यथा॥९५॥

निम्नलिखित हैं—**लं, रं, शं, खं, चं, पं, सं, हं** अथवा त्रिकात्रिक प्रणव मूल-मन्त्र इनके (मूर्तियों और मूर्तिपतियों के) पूजन के उपयोग में आते हैं। अथवा पञ्चकुण्डात्मक याग में पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश—इन पाँच मूर्तियों का ही न्यास करना चाहिये॥८१-८६॥

फिर क्रमशः इनके पाँच अधिपतियों —ब्रह्मा, शेषनाग, रुद्र, ईश और सदाशिव का मन्त्रज्ञ पुरुष को सृष्टि-क्रम से न्यास करना चाहिये। यदि यजमान मुमुक्षु हो, तो उसे पञ्चमूर्तियों के स्थान में 'निवृत्ति' आदि पाँच कलाओं तथा उनके 'अज्ञात' आदि अधिपतियों का न्यास करना चाहिये। अथवा सभी जगह व्याप्ति रूप कारणात्मक त्रितत्त्व का ही न्यास करना चाहिये। शुद्ध अध्वा में विद्येश्वरों का और अशुद्ध में लोकनायकों का मूर्तिपतियों के रूप में दर्शन करना चाहिये। भोगी (सर्प) भी मन्त्रेश्वर हैं। पैंतीस, आठ, पाँच और तीन मूर्तिरूप-तत्त्व क्रमशः कहे गये हैं। ये ही इनके तत्त्व हैं। इन तत्त्वों के अधिपतियों के मन्त्रों का दिग्दर्शनमात्र कराया जाता है। **ॐ हां शक्तित्त्वाय नमः।** इत्यादि। **ॐ शक्तितत्त्वाधिपाय नमः।** इत्यादि। **ॐ क्ष्मामूर्तये नमः। ॐ हां मामूर्त्यधिपतये ब्रह्मणे नमः।** इत्यादि। **ॐ हां शिवतत्त्वाय नमः। ॐ हां शिवतत्त्वाधिपतये रुदाय नमः।** इत्यादि। नाभिमूल से उच्चरित होकर घण्टानाद के समान सभी तरफ फैलने वाले, ब्रह्मादि कारणों के त्यागपूर्वक, द्वादशान्त स्थान को प्राप्त हुए मनसे अभिन्न तथा आनन्द-रस के उद्गम को पा लेने वाले मन्त्र का और निष्कल व्यापक शिव का, जो अड़तीस कलाओं से युक्त, सहस्रों किरणों से प्रकाशमान, सर्वशक्तिमय तथा साङ्ग हैं, ध्यान करते हुए उनको द्वादशान्त में लाकर शिवलिङ्ग में स्थापित करना चाहिये॥८७-९४॥

इस तरह शिवलिङ्ग में जीवन्यास होना चाहिये, जो सम्पूर्ण पुरुषार्थों का साधक है। पिण्डिका आदि में किस

पिण्डिको च कृतस्नानां विलिप्तां चन्दनादिभिः। सद्वस्त्रैश्च समाच्छाद्य रन्ध्रे च भगलक्षणे।।९६।।
पञ्चरत्नादिसंयुक्तां लिङ्गस्योत्तरतः स्थिताम्। लिङ्गवत्कृतविन्यासां विधिवत्सम्प्रपूजयेत्।।९७।।
कृतस्नानादिकां तत्र लिङ्गमूले शिलां न्यसेत्। कृतस्नानादिसंस्कारं शक्त्यन्तं वृषभं तथा।।९८।।
प्रणवपूर्वं हुँ पूं ह्रीं मध्यादन्तयेन च। क्रियाशक्तियुतां पिण्डीं शिलामाधाररूपिणीम्।।९९।।
भस्मदर्भतिलैः कुर्यात्प्राकारत्रितयं ततः। रक्षायै लोकपालांश्च सायुधान्योजयेद्बहिः।।१००।।

ॐ ह्रूं ह्रां क्रियाशक्तये नमः।
ॐ ह्रूं ह्रां हः, महागौरी (रि) रुद्रदयिते स्वाहेति
च पिण्डिकायाम्। ॐ हामाधारशक्तये नमः।
ॐ हां वृषभाय नमः।।१०१।।

धारिकादीप्तिमत्युग्रा ज्योत्स्ना चैता बलोत्कटाः। तथा धात्री विधात्री च न्येसद्वा पञ्चनायिकाः।।१०२।।
वामा ज्येष्ठा क्रिया ज्ञाना वेधा त्रिस्त्रोऽथ वा न्यसेत्। क्रिया ज्ञाना तथेच्छा च पूर्ववच्छान्तिमूर्तिषु।।१०३।।
तमी मोहा क्षमी निष्ठा मृत्युर्मायाभवज्वराः। पञ्च चाथ महामोहा घोरा रात्रिमयाज्वराः।।१०४।।
तिस्त्रोऽथ वा क्रिया ज्ञाना तथा बाधादिनायिका। आत्मादित्रिषु तत्त्वेषु तीव्रमूर्तिषु विन्यसेत्।।१०५।।
अत्रापि पिण्डिका ब्रह्मशिलादिषु यथाविधि। गौर्यादिसंवरैरेव पूर्ववत्सर्वमाचरेत्।।१०६।।

तरह न्यास करना चाहिये, यह बतलाया जाता है। पिण्डिका को स्नान कराकर उसमें चन्दन अदि का लेप करना चाहिये और उसको सुन्दर वस्त्रों से आच्छादित करके, उसके भगस्वरूप छिद्र में पञ्चरत्न आदि डालकर, उस पिण्डिका को लिङ्ग से उत्तर दिशा में स्थापित करना चाहिये। उसमें भी लिङ्ग की भाँति न्यास करके विधिपूर्वक उसकी पूजा करनी चाहिये। उसका स्नान आदि पूजन कार्य सम्पन्न करके लिङ्ग के मूलभाग में शिव का न्यास करना चाहिये। फिर शक्त्यन्त वृषभ का भी स्नान आदि संस्कार करके स्थापन करना चाहिये।।९५-९८।।

तत्पश्चात् पहले प्रणव का, फिर '**ह्रां ह्रूं ह्रीं।**'–इन तीन बीजों में से किसी एक का उच्चारण करते हुए क्रिया शक्ति सहित आधाररूपिणी शिला–पिण्डिका का पूजन करना चाहिये। भस्म, कुशा और तिल से तीन तरह (परकोटा) बनाये तथा रक्षा के लिये आयुधों सहित लोकपालों को बाहर की तरफ नियोजित एवं पूजित करना चाहिये। पूजन के मन्त्र इस तरह हैं–'**ॐ ह्रीं क्रियाशक्तये नमः। ॐ ह्रीं महागौरि रुद्रदयिते स्वाहा।**' निम्नांकित मन्त्र के द्वारा पिण्डिका में पूजन करना चाहिये–'**ॐ ह्रीं आधारशक्तये नमः। ॐ ह्रां वृषभाय नमः।**'।।९९-१०१।।

धारिका, दीप्ता, अत्युग्रा, ज्योत्स्ना, बलोत्कटा, धात्री और विधात्री–इनका पिण्डी में न्यास करना चाहिये; अथवा वामा, ज्येष्ठा, क्रिया, ज्ञाना और वेधा (अथवा रोधा या प्रह्वी)–इन पाँच नायिकाओं का न्यास करना चाहिये। अथवा क्रिया, ज्ञान तथा इच्छा–इन तीन का ही न्यास करना चाहिये; पूर्ववत् शान्तिमूर्तियों में तमी, मोहा, क्षुधा, निद्रा, मृत्यु, माया, जरा और भया–इनका न्यास करना चाहिये; अथवा तमा, मोहा, घोरा, रति, अपज्वरा–इन पाँचों का न्यास करना चाहिये; या क्रिया, ज्ञाना और इच्छा–इन पाँचों का न्यास करना चाहिये; या क्रिया, आज्ञा और इच्छा–इन तीन अधिनायिकाओं का आत्मा आदि तीन तीव्र मूर्ति वाले तत्त्वों में न्यास करना चाहिये। यहाँ भी पिण्डिका, ब्रह्मशिला आदि में पूर्ववत् गौरी आदि शम्बरों (मन्त्रों) द्वारा ही सब कार्य विधिवत सम्पन्न करना चाहिये।।१०२-१०६।।

एवं विधाय विन्यासं गत्वा कुण्डान्तिकं ततः। कुण्डमध्ये महेशानं मेखलासु महेश्वरम्।।१०७।।
क्रियाशक्तिं तथाऽन्यासु नादमोष्ठे च विन्यसेत्। घटं स्थण्डिलवह्नीशैर्नाडीसंधानकं ततः।।१०८।।
पद्मतन्तुसमां शक्तिमुद्घातेन समुद्यताम्। विशन्ती (न्तीं) सूर्यमार्गेण निःसरन्तीं समुद्गताम्।।१०९।।
पुनश्च शून्यमार्गेण विशन्तीं स्वस्य चिन्तयेत्। एवं सर्वत्र सन्धेयं मूर्तिपैश्च परस्परम्।।११०।।
सम्पूज्य धारिकां शक्तिं कुण्डे सन्तर्प्य च क्रमात्। तत्त्वतत्त्वेश्वरान्मूर्तिमूर्तीशांश्च घृतादिभिः।।१११।।
सम्पूज्य तर्पयित्वा तु सन्निधौ संहिताणुभिः। शतं सहस्रमर्धं वा पूर्णया सह होमयेत्।।११२।।
तत्त्वतत्त्वेश्वरान्मूर्तिं मूर्तीशांश्च करेणुकान्। तथा संतर्प्य सांनिध्ये जुहुयुर्मूर्तिपा अपि।।११३।।
ततो ब्रह्मभिरङ्गैश्च द्रव्यकालानुरोधतः। सन्तर्प्य शान्तिकुम्भाम्भः प्रोक्षिते कुशमूलतः।।११४।।
लिङ्गमूलं च संस्पृश्य जपेयुर्होमसंख्यया। संनिधानं हृदा कुर्युर्वर्मणा चावगुण्ठनम्।।११५।।
एवं संशोध्य ब्रह्मादिविष्ण्वन्तादिविशुद्धये। विधाय पूर्ववत्सर्वं होमसंख्याजपादिकम्।।११६।।
कुशामध्याग्रयोगेन (ण) लिङ्गमध्याग्रकं स्पृशेत्। यथा यथा च सन्धानं तदिदानीमिहोच्यते।।११७।।
ॐ हां हम्, ओम्, ओम्, ओम्, एम्, ॐ भूं भूं बाह्ममूर्तये नमः।
ॐ हां वाम्, आम्, ओम्, आं षाम् ॐ भूं भूं वां वह्निमूर्तये नमः।।११८।।

इस तरह न्यास-कर्म करके कुण्ड के सन्निकट जा, उसके अन्दर महेश्वर का मेखलाओं में चतुर्भुज का नाभि में क्रिया शक्ति का तथा ऊर्ध्वभाग में नाद का न्यास करना चाहिये। उसके बाद कलश, वेदी, अग्नि और शिव के द्वारा नाड़ी संधान-कर्म करना चाहिये। कमल के तन्तु की भाँति सूक्ष्मशक्ति ऊर्ध्वगत वायु की सहायता से ऊपर उठती और शून्य मार्ग से शिव में प्रवेश करती है। फिर वह ऊर्ध्व गत शक्ति वहाँ से निकलती और शून्यमार्ग से अपने अन्दर प्रवेश करती है। इस तरह चिन्तन करना चाहिये। मूर्तिपालकों को भी सभी जगह इसी तरह संधान करना चाहिये।।१०७-११०।।

कुण्ड में आधार-शक्ति का पूजन करके, तर्पण करने के पश्चात्, क्रमशः तत्त्व, तत्त्वेश्वर, मूर्ति और मूर्तीश्वरों का घृत आदि से पूजन और तर्पण करना चाहिये। फिर उन दोनों (तत्त्व, तत्त्वेश्वर एवं मूर्ति, मूर्तीश्वर) को संहिता-मन्त्रों से एक सौ, एक सहस्र अथवा आधा सहस्र आहुतियाँ देनी चाहिये। साथ ही पूर्णाहुति भी समर्पित करना चाहिये। तत्त्व और तत्त्वेश्वरों तथा मूर्ति और मूर्तीश्वरों का उपरोक्त विधि से एक-दूसरे के संनिधान में तर्पण करके मूर्तिपालक भी उनके लिये आहुतियाँ दें। इसके बाद द्रव्य और काल के अनुसार वेदों और अङ्गों द्वारा तर्पण करके, शान्ति-कलश के जल से प्रोक्षित कुश मूल द्वारा लिङ्ग के मूलभाग का स्पर्श करके हवन संख्या के बराबर जप करना चाहिये। हृदय-मन्त्र से संनिधापन और कवच-मन्त्र से अवगुण्ठन करना चाहिये।।१११-११५।।

इस तरह संशोधन करके, लिङ्ग के ऊर्ध्व भाग में ब्रह्मा और अन्त (मूल) भाग में विष्णु का पूजन आदि करके, शुद्धि के लिये पूर्ववत् सारा कार्य सम्पन्न कर, हवन-संख्या के अनुसार जप आदि करना चाहिये। कुश के मध्यभाग से लिङ्ग के मध्यभाग का और कुश के अग्रभाग से लिङ्ग के अग्रभाग का स्पर्श करना चाहिये। जिस मन्त्र से जिस तरह संधान किया जाता है, वह इस समय बतलाया जाता है-**ॐ हां हं ॐ एं, ॐ भूं भूं बाह्ममूर्तये नमः। ॐ हां वां, आं ॐ आं षां, ॐ भूं भूं वां वह्निमूर्तये नमः।** इसी तरह यजमान आदि मूर्तियों के साथ भी अभिसंधान

एवं च यजमानादिमूर्तिभिरभिसंधेयम्। पञ्चमूर्त्यात्मकेऽप्येवं सन्धानं हृदयादिभिः।।११९।।
मूलेन स्वीयबीजैर्वा ज्ञेयं तत्त्वत्रयात्मके। शिलापिण्डी वृषेष्वेवं पूर्णाच्छिन्नं सुसंवरै।।१२०।।
भागाभागविशुद्ध्यर्थं होमं कुर्याच्छतादिकम्। न्यूनादिदोषमोक्षाय शिवेनाष्टाधिकं शतम्।।१२१।।
हुत्वाऽथ यत्कृतं कर्म शिवश्रोत्रे निवेदयेत्। एतत्समन्वितं कर्म त्वच्छक्तौ च मया प्रभो।।१२२।।
ॐ नमो भगवते रुद्राय रुद्र नमोऽस्तु ते। विधिपूर्णमपूर्णं वा स्वशक्त्याऽऽपूर्य गृह्यताम्।।१२३।।
ॐ ह्रीं शांकरि पूरय स्वाहा, इति पिण्डिकायाम्।।१२४।।
अथ लिङ्गे न्यसेज्ज्ञानी क्रियाख्यं पीठविग्रहे। आधाररूपिणीं शक्तिं न्यसेद्ब्रह्मशिलोपरि।।१२५।।
निबध्य सप्तरात्रं वा पञ्चरात्रं त्रिरात्रकम्। एकरात्रमथो वाऽपि यद्वा सद्योऽधिवासनम्।।१२६।।
विनाऽधिवासनं यागः कृतोऽपि न फलप्रदः। स्वमन्त्रैः प्रत्यहं देयमाहुतीनां शतं शतम्।।१२७।।
शिवकुम्भादि पूजां च दिग्बलिं च निवेदयेत्। गुर्वादिसहितो वासो रात्रौ नियमपूर्वकम्।।१२८।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते प्रतिष्ठायामधिवासन विधिकथनं नाम षण्णवतितमोऽध्यायः।।९६।।

करना चाहिये। पञ्चमूर्त्यात्मक शिव के लिये भी हृदयादि मन्त्रों द्वारा इसी तरह संधान कर्म करने का विधान है। त्रितत्त्वात्मक स्वरूप में मूलमन्त्र अथवा अपने बीज-मन्त्रों द्वारा संधान कर्म करने की विधि है-ऐसा समझना चाहिये। शिला, पिण्डिका एवं वृषभ के लिये भी इसी तरह संधान आवश्यक है। प्रत्येक भाग की शुद्धि के लिये अपने मन्त्रों द्वारा शतादि हवन करना चाहिये और उसको पूर्णाहुति द्वारा पृथक् कर देना चाहिये।११६-१२०।।

न्यूनता आदि दोष से छुटकारा पाने के लिये शिव-मन्त्र से एक सौ आठ आहुतियाँ दे औ जो कर्म किया गया है, उसको शिव के कान में निवेदन करना चाहिये-'हे प्रभो! आपकी शक्ति से ही मेरे द्वारा इस कार्य का निष्पादन हुआ है, ॐ भगवान् रुद्र को नमस्कार है। हे रुद्रदेव! आपको मेरा नमस्कार है। यह कार्य विधिपूर्ण हो या अपूर्ण, आप अपनी शक्ति से ही इसको पूर्ण करके ग्रहण करें।' '**ॐ ह्रीं शांकरि पूरय स्वाहा।**' ऐसा कहकर पिण्डिका में न्यास करना चाहिये। उसके बाद ज्ञानी पुरुष को लिङ्ग में क्रिया शक्ति का और पीठ-विग्रह में ब्रह्मशिला के ऊपर आधाररूपिणी शक्ति का न्यास करना चाहिये।।१२१-१२५।।

सात, पाँच, तीन अथवा एक रात तक उसका निरोध करके या तत्काल ही उसका अधिवासन करना चाहिये। अधिवासन के बिना कोई भी याग सम्पादित होने पर भी फलसम्प्रदायक नहीं होता। इसलिये अधिवासन अवश्य करना चाहिये। अधिवासन-काल में प्रतिदिन देवताओं के अपने-अपने मन्त्रों द्वारा सौ-सौ आहुतियाँ दे तथा शिव-कलश आदि की पूजा करके दिशाओं में बलि अर्पित करना चाहिये।।१२६-१२७।।

गुरु आदि के साथ रात में नियमपूर्वक वास 'अधिवास' कहलाता है। 'अधि'पूर्वक 'वस' धातु से भाव में 'घञ्' प्रत्यय किया गया है। इससे 'अधिवास' शब्द सिद्ध हुआ है।।१२८।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी छानवेवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।९६।।

❖❖❖

अथ सप्तनवतितमोऽध्यायः

शिवप्रतिष्ठाविधिः

ईश्वर उवाच

प्रातर्नित्यविधिं कृत्वा द्वारपालप्रपूजनम्। प्रविश्य प्राग्विधानेन देहशुद्धियादिमाचरेत्।।१।।
दिक्पतींश्च समभ्यर्च्य शिवकुम्भं च वर्धनीम्। अष्टमुष्टिकया लिङ्गं वह्निं सन्तर्प्य च क्रमात्।।२।।
शिवाज्ञातस्ततो गच्छेत्प्रासादं शस्त्रमुच्चरन्। तद्गतान्प्रक्षिपेद्विघ्नान्हुंफडन्तशराणुना।।३।।
तन्मध्ये स्थापयेल्लिङ्गं वेधदोषविशङ्कया। तस्मान्मध्यं परित्यज्य यवार्धेन यवेन वा।।४।।
किञ्चिदीशानमाश्रित्य शिलामध्ये निवेशयेत्। मूलेन तामनन्ताख्यं सर्वाधारस्वरूपिणीम्।।५।।
सर्वगां सृष्टियोगेन विन्यसेदचलां शिलाम्। अथवाऽनेन मन्त्रेण शिवस्याऽऽसनरूपिणीम्।।६।।
ॐ नमो व्यापिनि भगवति स्थिरेऽचले ध्रुवे। ह्री लं ह्रीं स्वाहा।।७।।
त्वया शिवाज्ञया शक्ते स्थातव्यमिह संततम्। इत्युक्त्वा स समभ्यर्च्य निरुध्याद्रोधमुद्रया।।८।।
वज्रादीनि च रत्नानि तथोशीरादिकौषधीः। लोहान्हेमादिकांस्यान्तान्हरितालादिकांस्तथा।।९।।

अध्याय-९७

शिव प्रतिष्ठा विधान

भगवान् शिव ने कहा कि-हे स्कन्द! प्रातःकाल नित्य-कर्म के अनन्तर द्वार-देवताओं का पूजन करके मण्डप में प्रवेश करना चाहिये। उपरोक्त विधि से देह शुद्धि आदि का अनुष्ठान करना चाहिये। दिक्पालों का, शिवकलश का तथा वर्धनी (जलपात्र) का पूजन करके अष्टपुष्पिका द्वारा शिवलिङ्ग की अर्चना करनी चाहिये और क्रमशः आहुति दे, श्रीअग्नि देव को तृप्त करना चाहिये। उसके बाद शिव की आज्ञा ले '**अस्त्राय फट्**'। का उच्चारण करते हुए मन्दिर में प्रवेश करना चाहिये तथा '**अस्त्राय हुं फट्**।' बोलकर वहाँ के विघ्नों का अपसारण करना चाहिये।।१-३।।

शिला के ठीक मध्यभाग में शिवलिङ्ग की स्थापना नहीं करना चाहिये; क्योंकि वैसा करने पर वेध-दोष की आशङ्का रहती है। इसलिये मध्यभाग को त्यागकर, एक या आधा जौ किंचित् ईशान भाग का आश्रय ले आधार शिला में शिवलिङ्ग की स्थापना करनी चाहिये। मूल-मंत्र का उच्चारण करते हुए उस (अनन्त) नाम-धारिणी, सर्वाधारस्वरूपिणी, सर्वव्यापिनी शिला को सृष्टि योग द्वारा अविचल भाव से स्थापित करना चाहिये। अथवा निम्नांकित मन्त्र से शिव की आसन स्वरूपा उस शिला की पूजा करनी चाहिये-'**ॐ नमो व्यापिनि भगवति स्थिरेऽचले ध्रुवे ह्रीं लं ह्रीं स्वाहा**।' पूजन से पहले इस प्रकार कहे-'हे आधार शक्तिस्वरूपिणि शिले! आपको भगवान् शिव की आज्ञा से यहाँ नित्य-निरन्तर स्थिरतापूर्वक स्थित रहना चाहिये।-ऐसा कहकर पूजन करने के पश्चात् अवरोधिनी मुद्रा से शिला को अवरुद्ध (स्थिरतापूर्वक स्थापित) कर देना चाहिये।४-८।।

हीरे आदि रत्न, उशीर (खश) आदि औषधियाँ, लौह और स्वर्ण, कास्य आदि धातु, हरिताल, आदि, धान आदि के पौधे तथापूर्वकथित अन्य वस्तुएँ क्रमशः एकत्र करना चाहिये और मन-ही-मन भावना करनी चाहिये कि

धान्यप्रभृतिसस्यांश्च पूर्वमुक्ताननुक्रमात्। प्रभारागत्वदेहत्ववीर्यशक्तिमयानिभान्॥१०॥
भावयन्नेकचित्तस्तु लोकपालेशसंवरैः। पूर्वादिषु च गर्त्तेषु न्यसेदेकैकशः क्रमात्॥११॥
हेमजं तारजं कूर्मं वृषं वा द्वारसम्मुखम्। सरित्तटमृदा युक्तं पर्वताग्रमृदाऽथ वा॥१२॥
प्रक्षिपेन्मध्यगर्तादौ यद्वा मेरुं सुवर्णजम्। मधूकाक्षतसंयुक्तमञ्जनेन समन्वितम्॥१३॥
पृथिवीं राजतीं यद्वा यद्वा हेमसमुद्भवाम्।सर्वबीजसुवर्णाभ्यां समायुक्तां विनिक्षिपेत्॥१४॥
स्वर्णजं राजतं वाऽपि सर्वलोहसमुद्भवम्। सुवर्णं कृशरायुक्तं पद्मनालं ततो न्यसेत्॥१५॥
देवदेवस्य शक्त्यादिमूर्तिपर्यन्तमासनम्। प्रकल्प्य पायसेनाथ लिप्त्वा गुग्गुलुनाऽथ वा॥१६॥
श्वभ्रमाच्छाद्य वस्त्रेण तनुत्रेणास्त्ररक्षितम्। दिक्पतिभ्यो बलिं दत्वा समाचान्तोऽथ देशिकः॥१७॥
शिवेन वा शिलाश्वभ्रसङ्गदोषनिवृत्तये। शस्त्रेण वा शतं सम्यग्जुहुयात्पूर्णया सह॥१८॥
एकैकाहुतिदानेन संतर्प्य वास्तुदेवताः। समुत्थाप्य हृदा देवमासनं मङ्गलादिभिः॥१९॥
गुरुर्देवाग्रतो गच्छेन्मूर्तिपैश्च दिशि स्थितैः। चतुर्भिः सह कर्ता च देवयानस्य पृष्ठतः॥२०॥
प्रासादादि परिभ्रम्य भद्राख्यद्वारसंमुखम्। लिङ्गं संस्थाप्य दत्त्वार्घ्यं प्रासादं संनिवेशयेत्॥२१॥
द्वारेण द्वारबन्धेन द्वारदेशेन तद्विच्छि (तच्छि (?) लाः। द्वारबन्धे शिखाशून्ये तदर्धेनाथ तद्वृते (?)॥२२॥

'ये सब वस्तुएँ कान्ति, आरोग्य, देह, वीर्य और शक्ति स्वरूप हैं। इस तरह एकाग्रचित्त से भावना करके लोकपाल और शिव सम्बन्धी मन्त्रों द्वारा पूर्वादि कुण्डों में इन वस्तुओं में से एक-एक को क्रमशः डालना चाहिये। सोने अथवा ताँबे के बने हुए कछुए या वृषभ को द्वार के सम्मुख रखकर नदी के किनारे की या पर्वत के शिखर की मिट्टी से युक्त करना चाहिये और उसको मध्य के कुण्ड आदि में डाल देना चाहिये अथवा स्वर्ण निर्मित मेरु को मधूक, अक्षत और अञ्जन से युक्त करके उसमें डाले अथवा सोने या चाँदी की बनी हुई पृथ्वी को सम्पूर्ण बीजों और स्वर्ण से संयुक्त करके उस मध्यम कुण्ड में डालना चाहिये। अथवा सोने, चाँदी या सभी तरह के लोह से निर्मित स्वर्णमय केसरों से युक्त कमल या अनन्त (शेषनाग) की मूर्ति को उसमें छोड़े॥९-१५॥

शक्ति से लेकर मूर्ति-पर्यन्त अथवा शक्ति से लेकर शक्ति-पर्यन्त तत्त्व का देवाधिदेव महादेव के लिये आसन निर्मित करके उसमें खीर या गुग्गुलु का लेप करना चाहिये। तत्पश्चात् वस्त्र से गर्त को आच्छादित करके कवच और अस्त्र-मन्त्र द्वारा उसकी रक्षा करनी चाहिये। फिर दिक्पालों को बलि देकर आचार्य को आचमन करना चाहिये। शिला और गर्त के सङ्गदोष की निवृत्ति क लिये शिवमन्त्र से अथवा अस्त्र-मन्त्र से विधिपूर्वक सौ आहुतियाँ देनी चाहिये। साथ ही पूर्णाहुति भी करना चाहिये। वास्तु देवताओं को एक-एक आहुति देकर तृप्त करने के पश्चात् हृदय मन्त्र से भगवान् को उठाकर मङ्गल-वाद्य और मङ्गल पाठ आदि के साथ ले आवे॥१६-१९॥

गुरु भगवान् के आगे-आगे चले और चार दिशाओं में स्थित चार मूर्तिपालों के साथ यजमान स्वयं भगवान् की सवारी के पीछे-पीछे चले। मन्दिर आदि के चारों तरफ घुमाकर शिवलिङ्ग को भद्रद्वार के सम्मुख नहलावे और अर्घ्य देकर उसको मन्दिर के अन्दर ले जाय। खुले द्वार से अथवा द्वार के लिये निश्चित स्थान से शिवलिङ्ग को मन्दिर में ले जाय। इन सबके अभाव में द्वार बन्द करने वाली शिला से शून्य-मार्ग से अथवा उस शिला के ऊपर से होकर मन्दिर में प्रवेश का विधान है। दरवाजे से ही महेश्वर को मन्दिर में ले जाय, परन्तु उनका द्वार से स्पर्श न होने देना चाहिये। यदि देवालय का समारम्भ हो रहा हो, तो किसी कोण से भी शिवलिङ्ग को मन्दिर के अन्दर प्रविष्ट कराया

वर्जयन्द्वारसंस्पर्शं द्वारेणैव महेश्वरम्। देवगृहसमारम्भे कोणेनापि प्रवेशयेत्।।२३।।
अयमेव विधिर्ज्ञेयोऽव्यक्तलिङ्गेऽपि सर्वतः। गृहे प्रवेशनं द्वारे लोकैरपि समीरिता (त) म्।।२४।।
अपद्वारप्रवेशेन विदुर्गोत्रक्षयं गृहम्। अथ पीठे च संस्थाप्य लिङ्गं द्वारस्य सम्मुखम्।।२५।।
तूर्यमङ्गलनिर्घोषैर्दूर्वाक्षतसमन्वितम्। समुत्तिष्ठ हृदेत्युत्वा महापाशुपतं पठेत्।।२६।।
अपनीय घटं श्वभ्राद्देशिको मूर्तिपैः सह। मन्त्रं संधारयित्वा तु विलिप्तं कुङ्कुमादिभिः।।२७।।
शक्तिशक्तिमतोरैक्यं ध्यात्वा चैव तु रक्षितम्। (लयान्तं मूलमुच्चार्य स्पष्ट्वा श्वभ्रे निवेशयेत्।।२८।।
अंशेन ब्रह्मभागस्य यद्वा अंशद्वयेन च। अर्धेन वाऽष्टमांशेन सर्वस्याथ प्रवेशनम्।।२९।।
पिधाय सीसकं नाभिर्दीर्घाभिः सुसमाहितः। श्वभ्रं बालुकयाऽऽपूर्य ब्रूयात्स्थिरी भवेति च)।।३०।।
ततो लिङ्गे स्थिरीभूते ध्यात्वा सकलरूपिणम्। मूलमुच्चार्यशक्त्यन्तं स्पृष्ट्या च निष्कलं न्यसेत्।।३१।।
स्थाप्यमानं यदा लिङ्गे यामीं दिशमथाऽऽश्रयेत्। तत्तद्दिगीशमन्त्रेण पूर्णान्तं दक्षिणान्वितम्।।३२।।
सव्यस्थाने च वक्रे च चलिते स्फुटितेऽथ वा। जुहुयान्मूलमन्त्रेण बहुरूपेण वा शतम्।।३३।।
किं चान्येष्वपि दोषेषु शिवशान्तिं समाश्रयेत्। उक्तन्यासविधिं लिङ्गे कुर्यादेवं न दोषभाक्।।३४।।
पीठबन्धमतः कृत्वा लक्षणस्यांशलक्षणम्। गौरीमन्त्रं लयं नीत्वा सृष्ट्या पिण्डीं च विन्यसेत्।।३५।।

जा सकता है। व्यक्त अथवा स्थूल शिवलिङ्ग के मन्दिर-प्रवेश के लिये सभी जगह यही विधि समझनी चाहिये। गृह में प्रवेश का मार्ग द्वार ही है, इसका सामान्य लोगों को भी प्रत्यक्ष अनुभव है। यदि बिना द्वार के गृह में प्रवेश किया जाय तो गोत्र का विनाश हो जाता है—ऐसी मान्यता है।।२०-२४।।

तत्पश्चात् पीठपर, द्वार के सामने शिवलिङ्ग को स्थापित करके विविध तरह के वाद्यों तथा मङ्गलसूचक ध्वनियों के साथ उस पर दूर्वा और अक्षत चढ़ावे तथा '**समुत्तिष्ठ नमः**'—

ऐसा कहकर महापाशुपत मन्त्र का पाठ करना चाहिये। इसके बाद आचार्य गर्त में रखे हुए घट को वहाँ से हटाकर मूर्तिपालकों के साथ यन्त्र में स्थापित कराये और उसमें कुङ्कुम आदि का लेप करके, शक्ति और शक्तिमान् की एकता का चिन्तन करते हुए लयान्त मूल-मन्त्र का उच्चारण करके, उस आलम्बनलक्षित घट का स्पर्शपूर्वक पुनः गर्त में ही स्थापना करा देना चाहिये। ब्रह्मभाग के एक अंश, दो अंश, आधा अंश अथवा आठवें अंशतक या सम्पूर्ण ब्रह्मभाग का ही गर्त में प्रवेश कराये। फिर नाभिपर्यन्त दीर्घाओं के साथ शीशे का आवरण देकर, एकाग्रचित हो, नीचे के गर्त को बालू से पाट दे और कहे—'हे भगवन्! आप सुस्थिर हो जाइये'।।२५-३०।।

तत्पश्चात् लिङ्ग के स्थिर हो जाने पर सकल (सावयव) रूप वाले परमेश्वर का ध्यान करके, शक्त्यन्त-मूल-मन्त्र-का उच्चारण करते हुए, शिवलिङ्ग के स्पर्शपूर्वक उसमें निष्कलीकरण-न्यास करना चाहिये। जिस समय शिवलिङ्ग की स्थापना हो रही हो, उस समय जिस-जिस दिशा का आश्रय ले, उस-उस दिशा के दिक्पाल-सम्बन्धी मन्त्र का उच्चारण करके पूर्णाहुति पर्यन्त हवन करना चाहिये और दक्षिणा देना चाहिये। यदि शिवलिङ्ग से शब्द प्रकट हो अथवा उसका मुख्यभाग हिले या फट-फूट जाय तो मूल-मन्त्र से या 'बहुरूप' मन्त्र द्वारा सौ आहुतियाँ देनी चाहिये। इसी तरह अन्य दोष प्राप्त होने पर शिवशास्त्रोक्त शान्ति करना चाहिये। कथित विधि से यदि शिवलिंग में न्यास का विधान किया जाय तो कर्ता दोष का भागी नहीं होता। उसके बाद लक्षण स्पर्श रूप पीठबन्ध करके गौरी मन्त्र से उसका लय करना चाहिये। फिर पिण्डी में सृष्टिन्यास करना चाहिये।।३१-३५।।

संपूर्य पार्श्वसंधिं च बालुकावज्रलेपतः। ततो मूर्तिधरैः सार्धं गुरुः शान्तिपटोर्ध्वतः॥३६॥
संस्नाप्य कलशैरन्यैस्तद्वत्पञ्चामृतादिभिः। विलिप्य चन्दनाद्यैश्च सम्पूज्य जगदीश्वरम्॥३७॥
उमामहेशमन्त्राभ्यां तौ स्पृशेल्लिङ्गमुद्रया। ततस्त्रितत्त्वविन्यासं षडर्घादिपुरःसरम्॥३८॥
कृत्वा मूर्तिं तदीशानामङ्गानां ब्रह्मणामथ। ज्ञानलिङ्गे क्रियापीठे विन्यस्य स्नापयेत्ततः॥३९॥
गन्धैर्विलिप्य संधूप्य व्यापित्वेन शिवे न्यसेत्। स्रग्धूपदीपनैवेद्यैर्हृदयेन फलानि च॥४०॥
विनिवेद्य यथाशक्ति समाचम्य महेश्वरम्। दत्त्वार्घ्यं च जपं कृत्वा निवेद्य वरदे करे॥४१॥
चन्द्रार्कतारकं यावन्मन्त्रेण शैवमूर्तिपैः। स्वेच्छयैव त्वया नाथ स्थातव्यमिह मन्दिरे॥४२॥
प्रणम्यैवं बहिर्गत्वा हृदा वा प्रणवेन वा। संस्थाप्य वृषभं पश्चात्पूर्ववद्बलिमाचरेत्॥४३॥
न्यूनादिदोषमोक्षाय ततो मृत्युजिता शतम्। शिवेन सशिवो हुत्वा शान्त्यर्थं पायसेन च॥४४॥
ज्ञानाज्ञानकृतं यच्च तत्पूरय महाविभो। हिरण्यपशुभूम्यादिगीतवाद्यादिहेतवे॥४५॥
अम्बिकेशाय तद्भक्त्या शक्त्या सर्वं निवेदयेत्। दानं महोत्सवं पश्चात् कुर्याद्दिन चतुष्टयम्॥४६॥
त्रिसन्ध्यं त्रिदिनं मन्त्री होमयेन्मूर्तिपैः सह। चतुर्थेऽहनि पूर्णां च चरुकं बहुरूपिणा॥४७॥
निवेद्य सर्वकुण्डेषु सम्पाताहुतिशोधितम्। दिनचतुष्टयं यावन्न निर्माल्यं तदूर्ध्वतः॥४८॥

लिङ्ग के पार्श्व भाग में जो संधि (छिद्र) हो, उसको बालू एवं वज्रलेप से भर देना चाहिये। तत्पश्चात् गुरु मूर्तिपालकों के साथ शान्ति कलश के आधे जल से शिवलिङ्ग को नहलाकर, अन्य कलशों तथा पञ्चामृत आदि से भी अभिषिक्त करना चाहिये। फिर चन्दन आदि का लेप लगा, जगदीश्वर शिव की पूजा करके, उमा-महेश्वर-मन्त्रों द्वारा लिङ्गमुद्रा से उन दोनों का स्पर्श करना चाहिये। इसके बाद छहों अध्वाओं के न्यासपूर्वक त्रितत्त्वन्यास करके, मूर्तिन्यास, दिक्पालन्यास, अङ्गन्यास एवं ब्रह्मन्यासपूर्वक ज्ञानाशक्ति का लिङ्ग में तथा क्रियाशक्ति का पीठ में न्यास करने के पश्चात् स्नान कराये॥३६-३९॥

गन्ध का लेपन करके धूप दे और व्यापक रूप से शिव का न्यास करना चाहिये। हृदय-मन्त्र द्वारा पुष्पमाला धूप, दीप, नैवेद्य और फल निवेदन करना चाहिये। यथाशक्ति उन वस्तुओं को निवेदित करने के पश्चात् महादेव जी को आचमन कराये। फिर विशेषार्घ्य देकर मन्त्र जपे और भगवान् के वरसम्प्रदायक हाथ में उस जप को अर्पित करने के पश्चात् इस तरह कहे-'हे नाथ! जिस समय तक चन्द्रमा, सूर्य और तारों की स्थिति रहे, तत्पश्चात् तक मूर्तीशों तथा मूर्तिपालकों के साथ आप स्वेच्छापूर्वक ही इस मन्दिर में सदा स्थित रहें।' ऐसा कहकर नमस्कार करने के पश्चात् बाहर जाय और हृदय या प्रणव मन्त्र से वृषभ (नन्दिकेश्वर) की स्थापना करके, फिर पूर्ववत् बलि निवेदन करना चाहिये। तत्पश्चात् न्यूनता आदि दोष के निराकरण के लिये मृत्युञ्जय मन्त्र से सौ बार समिधाओं की आहुति दे एवं शान्ति के लिये खीर से हवन करना चाहिये॥४०-४४॥

इसके बाद इस प्रकार याचना करनी चाहिये-'हे महाविभो! ज्ञान अथवा अज्ञानपूर्वक कर्म में जो त्रुटि रह गयी है, उसको आप पूर्ण करें।' ऐसा कहकर यथाशक्ति स्वर्ण, पशु एवं भूमि आदि सम्पत्ति तथा गीतवाद्य आदि उत्सव, सर्वकारणभूत अम्बिकानाथ शिव को भक्तिपूर्वक समर्पित करना चाहिये। उसके बाद चार दिनों तक लगातार दान एवं महान् उत्सव करना चाहिये। मन्त्रज्ञ आचार्य को चाहिये कि उत्सव के इन चार दिनों में से तीन दिनों तक तीनों समय मूर्तिपालाकां के साथ हवन करना चाहिये और चौथे दिन पूर्णाहुति देकर, बहुरूप-सम्बन्धी मन्त्र से चरु निवेदित करना

निर्माल्यापनयं कृत्वा स्नापयित्वा तु पूजयेत्। पूजा सामान्यलिङ्गेषु कार्या साधारणाणुभिः।।४९।।
विहाय लिङ्गचैतन्यं कुर्यात्स्थाणुविसर्जनम्। असाधारणलिङ्गेषु क्षमस्वेति विसर्जनम्।।५०।।
आवाहनमभिव्यक्तिर्विसर्गः शक्तिरूपता। प्रतिष्ठान्ते क्वचित्प्रोक्तं स्थिराद्याहुतिसप्तकम्।।५१।।
स्थिरस्तथाऽप्रमेयश्चानादिबोधस्तथैव च। नित्योऽथ सर्वगश्चैवाविनाशी दृष्ट एव च।।५२।।
एते गुणा महेशस्य संनिधानाय कीर्तिताः। ॐ नमः शिवाय स्थिरो भवेत्याहुतीनां क्रमः।।५३।।
एवमेतच्च सम्पाद्य विधाय शिवकुम्भवत्। कुम्भद्वयं च तन्मध्यादेककुम्भाम्भसा भवम्।।५४।।
संस्नाप्य तद्द्वितीयं च कर्तृस्नानाय धारयेत्। दत्त्वा बलिं समाचम्य बहिर्गच्छेच्छिवाज्ञया।।५५।।
जगती बाह्यतश्चण्डमैशान्यां दिशि मन्दिरे। धामगर्भप्रमाणे च सुपीठे कल्पितासने।।५६।।
पूर्ववन्न्यासहोमादि विधाय ध्यानपूर्वकम्। संस्थाप्य विधिवत्तत्र ब्रह्माङ्गैः पूजयेत्ततः।।५७।।
अङ्गानि पूर्वमुक्तानि ब्रह्माणि त्वणुना यथा।।५८।।
ए (ॐ) वं सद्योजाताय ह्रूं फट् नमः। ॐ विं वामदेवाय ह्रूं फट् नमः।
ॐ वुम् अघोराय ह्रूं फट् नमः। ओम् एवं (एवम्, ॐ) चें (वें) तत्पुरुषाय
वोमीशानाय च ह्रूं फट् नमः।।५९।।

चाहिये। सभी कुण्डों में सम्पाताहुिति से शोभित चरु अर्पित करना चाहिये। कथित चार दिनों तक निर्माल्य न हटावे। चौथे दिन के बाद निर्माल्य हटाकर, स्नान कराने के पश्चात् पूजन करना चाहिये। सामान्य लिङ्गों में साधारण मन्त्रों द्वारा पूजा करनी चाहिये। लिङ्ग-चैतन्य को छोड़कर स्थाणु-विसर्जन करना चाहिये। आसामान्य लिङ्गों में 'क्षमस्व' इत्यादि कहकर विसर्जन करना चाहिये।।४५-५०।।

आवाहन, अभिव्यक्ति, विसर्ग, शक्तिरूपता और प्रतिष्ठा—ये पाँच बातें मुख्य हैं। कहीं-कहीं प्रतिष्ठा के अन्त में स्थिरता आदि गुणों की सिद्धि के लिये सात आहुतियाँ देने का विधान है। भगवान् शिव स्थिर, अप्रमेय, अनादि, बोधस्वरूप, नित्य, सर्वव्यापी, अविनाशी एवं आत्मतृप्त हैं। महेश्वर की संनिधि या उपस्थिति के लिये ये गुण कहे गये हैं। आहुतियों का क्रम इस तरह है—'**ॐ नमः शिवाय स्थरो भव नमः स्वाहा।**'—इत्यादि। इस तरह इस कार्य का निष्पादन करके शिव-कलश की भाँति दो कलश और तैयार करना चाहिये। उनमें से एक कलश के जल से भगवान् शिव को स्नान कराकर, दूसरा यजमान के स्नान के लिये रखे। (कहीं-कहीं '**कर्मस्थानाय धारयेत्।**' ऐसा पाठ है। इसके अनुसार दूसरे कलश का जल कर्मानुष्ठान के लिये स्थापित करना चाहिये, यह अर्थ समझना चाहिये।) इसके बाद बलि देकर आचमन करने के पश्चात् शिव की आज्ञा से बाहर जाय।।५१-५५।।

याग-मण्डप के बाहर मन्दिर के ईशान कोण में चण्ड का स्थापन-पूजन करना चाहिये। फिर मण्डप में धाम के गर्भ के बराबर श्रेष्ठतम पीठपर आसन की कल्पना करके, पूर्ववत् न्यास, हवन, आदि का अनुष्ठान करना चाहिये। फिर ध्यानपूर्वक 'सद्योजात' आदि की स्थापना करके, वहाँ ब्रह्माङ्गों द्वारा विधिवत् पूजन करना चाहिये। ब्रह्माङ्गों का वर्णन पहले किया जा चुका है। अधुना जिस तरह मन्त्र द्वारा पूजन किया जाता है, उसको सुनो—'**ॐ वं सद्योजाताय हूं फट् नमः।**' '**ॐ विं वामदेवाय हूं फट् नमः।**' '**ॐ वुं अघोराय हूं फट् नमः।**' इसी तरह '**ॐ वें तत्पुरुषाय हूं फट् नमः।**' तथा '**ॐ वों ईशानाय हूं फट् नमः।**'—ये मन्त्र हैं।।५६-५९।।

जपं निवेद्य सन्तर्प्य विज्ञाप्य नतिपूर्वकम्। देवः सन्निहितो यावत्तावत्त्वं संनिधो भव॥६०॥
न्यूनाधिकं च यत्किञ्चित्कृतमज्ञानतो मया। त्वत्प्रसादेन चण्डेश तत्सर्वं परिपूरय॥६१॥
बाणलिङ्गे बाणरोहे सिद्धलिङ्गे स्वयंभुवि। प्रतिमासु च सर्वासु न चण्डोऽधिकृतो भवेत्॥६२॥
अद्वैतभावनायुक्ते स्थण्डिलेशविधावपि। अभ्यर्च्य चण्डं ससुतं यजमानं हि भार्यया॥६३॥
पूर्वस्थापितकुम्भेन स्नापयेत्स्नापकः स्वयम्। स्थापकं यजमानोऽपि सम्पूज्य च महेशवत्॥६४॥
वित्तशाट्यं विना दद्याद्भूहिरण्यादिदक्षिणाम्। मूर्तिपान्विधिवत्पश्चाज्जापकान्ब्राह्मणांस्तथा॥६५॥
दैवज्ञं शिल्पिनं प्राच्र्य दीनानाथादि भोजयेत्। यदत्र सम्मुखीभावे खेदितो भगवन्मया॥६६॥
क्षमस्व नाथ तत्सर्वं कारुण्याम्बुनिधे मम। इति विज्ञप्तियुक्ताय यजमानाय सद्गुरुः॥६७॥
प्रतिष्ठापुण्यसद्भावं स्फुरत्तारकसप्रभम्।कुशपुष्पाक्षतोपेतं स्वकरेण समर्पयेत्॥६८॥
ततः पाशुपतं जप्त्वा प्रणम्य परमेश्वरम्। ततोऽपि बलिभिर्भूतान्संनिधाय निबोधयेत्॥६९॥
स्थातव्यं भवता तावद्यावत्संनिहितो हरः। (गुरुर्वस्त्रादिसंयुक्तं गृह्णीयाद्यागमण्डपम्॥७०॥
सर्वोपकरणं शिल्पी तथा स्नापनमण्डपम्)। अन्ये देवादयः स्थाप्या मन्त्रैरागमसंभवैः॥७१॥

इस तरह जप निवेदन करके, तर्पण करने के पश्चात् स्तुतिपूर्वक विज्ञापन देकर चण्डेश से याचना करनी चाहिये–'हे चण्डेश! जबतक श्रीमहादेवजी यहाँ विराजमान हैं, तत्पश्चात्तक आप भी इसके सन्निकट विद्यमान रहो। मैंने अज्ञानवश जो कुछ भी न्यूनाधिक कर्म किया है, वह सब तुम्हारे कृपा प्रसाद से पूर्ण हो जाय। आप स्वयं उसको पूर्ण करो।' जहाँ बाणलिङ्ग (नर्मदेश्वर) हो, जहाँ जल लोहमय (सुवर्णमय) लिङ्ग हो, जहाँ सिद्धलिङ्ग (ज्योतिर्लिङ्गादि) तथा स्वयम्भूलिङ्ग हों, वहाँ और सभी तरह की प्रतिमाओं पर चढ़े हुए निर्माल्य में चण्डेश का अधिकार नहीं होता है। अद्वैतभावना युक्त यजमान पर तथा स्थिण्डिलेश विधि में भी चण्डेश का अधिकार नहीं है। चण्ड का पूजन करके स्नापक अभिषेक करने वाला गुरु स्वयं ही पत्नी और पुत्र सहित यजमान को पूर्व-स्थापित कलश के जल से स्नान कराये। यजमान को भी स्नापक गुरु का महेश्वर की भाँति पूजन करके, धन की कंजूसी छोड़कर, उनको भूमि और स्वर्ण आदि की दक्षिणा देनी चाहिये।६०-६४॥

तत्पश्चात् मूर्तिपालकों तथा जपकर्ता ब्राह्मणों का, ज्योतिषी का और शिल्पी का भी भलीभाँति विधिवत् पूजन करके दीनों और अनाथों आदि को भोजन कराये। इसके बाद यजमान गुरु से इस तरह याचना करनी चाहिये–'हे भगवन्! यहाँ सम्मुख करने के लिये मैंने आपको को कष्ट दिया है, वह सब आप क्षमा करें; क्योंकि हे नाथ! आप करुणा के सागर हैं, इसलिये मेरा सारा अपराध भूल जायँ। इस तरह याचना करने वाले यजमान को सद्गुरु को अपने हाथ से कुश, पुष्प और अक्षतपुञ्ज के साथ प्रतिष्ठा जनित पुण्य की सत्ता समर्पित करना चाहिये, जिसका स्वरूप चमकते हुए तारों के समान दीप्तिमान् है।६५-६८॥

तत्पश्चात्, पाशुपत-मन्त्र का जप करके, परमशेवर को नमस्कार करने के अनन्तर, भूतगणों को बलि अर्पित करना चाहिये और इस तरह उन सभी को सन्निकट लाकर इस प्रकार निवेदन करना चाहिये–'आप लोगों को तत्पश्चात् तक यहाँ स्थित रहना चाहिये, जिस समय तक महादेव जी यहाँ विराजमान हैं।' वस्त्र आदि से युक्त याग मण्डप को गुरु अपने अधिकार में ले ले तथा समस्त उपकरणों से युक्त स्नापन-मण्डप को शिल्पी को ग्रहण करना चाहिये। अन्य देवता आदि की आगमोक्त मन्त्रों द्वारा स्थापना करनी चाहिये। सूर्य के वर्ण भेद के अनुसार उन देवता आदि के वर्णभेद

आदिवर्णस्य भेदाद्वा सुतत्त्वव्याप्तिभाविताः। साध्यप्रमुखदेवाश्च सरिदोषधयस्तथा॥७२॥
क्षेत्रपाः किन्नराद्याश्च पृथिवीतत्त्वमाश्रिताः। स्थानं सरस्वती लक्ष्मीनदीनामम्भसि क्वचित्॥७३॥
भुवनाधिपतीनां च स्थानं यत्र व्यवस्थितिः। अण्डवृद्धिप्रधानान्तं त्रितत्त्वं ब्रह्मणः पदम्॥७४॥
तन्मात्रादिप्रधानान्तं पदमेतत्त्रिकं हरेः। नाट्येशगणमातृणां यक्षेशशरंजन्मनाम्॥७५॥
अण्डजाः शुद्धविद्यान्तं पदं गणपतेस्तथा। मायांशदेशशक्त्यन्तं शिवाशिवोत्परोचिषाम्॥७६॥
पदमीश्वरपर्यन्तं व्यक्तार्चासु च कीर्तितम्। कूर्माद्यं कीर्तितं यच्च यच्च रत्नादिपञ्चकम्॥७७॥
प्रक्षिपेत्पीठगर्तायां पञ्चब्रह्मशिलां विना। षड्भिर्विभाजिते गर्ते त्यक्त्वा भागं च पृष्ठतः॥७८॥
स्थापनं पञ्चमांशे च यदि वा वसुभाजिते। स्थापनं सप्तमे भागे प्रतिमासु सुखावहम्॥७९॥
धारणाभिर्विशुद्धिः स्यात्स्थापने लेपचित्रयोः। स्नानादि मानसं तत्र शिलारत्नादिवेशनम्॥८०॥
नेत्रोद्घाटनमन्त्रेष्टमासनादिप्रकल्पनम्। पूजा निरम्बुभिः पुष्पैर्यथा चित्रं न दुष्यति॥८१॥
विधिस्तु चललिङ्गेषु सम्प्रत्येव निगद्यते। पञ्चभिर्वा त्रिभिर्वाऽपि पृथक्कुर्याद्विभाजते॥८२॥
(भागत्रयेण भागांशो भवेद्भागद्वयेन वा)। स्वपीठेष्वपि तद्वत्स्याल्लिंगेषु तत्त्वभेदतः॥८३॥
सृष्टिमन्त्रेण संस्कारो विधिवत्स्फाटिकादिषु। किं च ब्रह्मशिलारत्नप्रभूतेश्चानिवेदनम्॥८४॥

समझने चाहिये। वे अपने तैजस-तत्त्व में व्याप्त हैं-ऐसी भावना करनी चाहिये। साध्य आदि देवता, सरिताएँ औषधियां, क्षेत्रपाल और किंनर आदि-ये सब पृथ्वी तत्त्व के आश्रित हैं। कहीं-कहीं सरस्वती, लक्ष्मी और नदियों का स्थान जल में बतलाया गया है॥६९-७३॥

भुवनाधिपतियों का स्थान वही है जहाँ उनकी स्थिति है। अहंकार, बुद्धि और प्रकृति-ये तीन तत्त्व ब्रह्मा के स्थान हैं। तन्मात्रा से लेकर प्रधान पर्यन्त तीन तत्त्व श्रीहरि विष्णु के स्थान हैं। नाट्येश, गण, मातृका, यक्षराज, कार्तिकेय तथा गणेश का अण्डजादि शुद्ध विद्यान्त-तत्त्व है। मायांश देश से लेकर शक्ति-पर्यन्त तत्त्व शिवा, शिव तथा उग्रतेज वाले सूर्य देव का स्थान है। व्यक्त प्रतिमाओं के लिये ईश्वर-पर्यन्त पद बतलाया गया है। स्थापना की सामग्री में जो कूर्म आदि का वर्णन किया गया है तथा जो रत्न आदि पाँच वस्तुएँ कही गयी हैं, उन सभी को देवपीठ के गर्त में डाल दे, परन्तु पाँच ब्रह्मशिलाओं को उसमें न डालना चाहिये॥७४-७७॥

मन्दिर के गर्भ का छः भागों में विभाजन करके छठे भाग को त्याग दे और पाँचवें भाग में देवता की स्थापना करनी चाहिये। अथवा मन्दिर के गर्भ का आठ भाग करके सातवें भाग में प्रतिमाओं की स्थापना करनी चाहिये तो वह सुखावह होता है। लेप अथवा चित्रमय विग्रह की स्थापना में पञ्चभूतों की धारणाओं द्वारा विशुद्धि हो जाती है। वहाँ स्नान आदि कार्य जल से नहीं, मानसिक किये जाते हैं। वैसे विग्रहों को शिला एवं रत्न आदि के भवन में रखना चाहिये। उनमें नेत्रोन्मीलन तथा आसन आदि की कल्पना अभीष्ट है। इनकी पूजा जल हीन पुष्पों से करनी चाहिये, जिससे चित्र दूषित न हो॥७८-८१॥

अधुना चल लिङ्गों के लिये स्थापना की विधि बतलायी जाती है। गर्भ स्थान के पाँच अथवा तीन भाग करके एक भाग को छोड़ दे और तीसरे या दूसरे भाग में चल लिङ्ग की स्थापना करनी चाहिये। इसी तरह उनके पीठों के लिये भी करना चाहिये। लिङ्गों में तत्त्व भेद से पूजन की प्रक्रिया में भेद होता है। स्फटिक आदि के लिङ्गों में इष्ट मन्त्र से (अथवा सृष्टि-मन्त्र से) विधिवत् संस्कार होना चाहिये। इसके सिवा वहाँ ब्रह्मशिला एवं रत्नप्रभूति का निवेदन अपेक्षित नहीं है॥८२-८४॥

योजनं पिण्डिकायाश्च मनसा परिकल्पयेत्। स्वयंभूबाणलिङ्गादौ संस्कृतौ नियमो न हि॥८५॥
स्नापनं संहितामन्त्रैर्न्यासं होमं च कारयेत्। नदीसमुद्ररोहाणां स्थापनं पूर्ववन्मतम्॥८६॥
ऐहिकं मृण्मयं लिङ्गं पिष्टिकादि च तत्क्षणात्। कृत्वा सम्पूजयेच्छुद्धं दीक्षाणादिविधानतः॥८७॥
समादाय ततो मन्त्रानात्मानं संनिधाय च। तज्जले प्रक्षिपेल्लिंगं वत्सरात्कामदं भवेत्॥८८॥
विष्ण्वादिस्थापनं चैव पृथङ्मन्त्रैः समाचरेत्॥८९॥

॥इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते शिवप्रतिष्ठाविधिकथनं नाम सप्तनवतितमोऽध्यायः॥९७॥

पिण्डिका की योजना भी मन से ही कर लेनी चाहिये। स्वयम्भूलिङ्ग और बाणलिङ्ग आदि में संस्कार का नियम नहीं है। उन लिङ्गों को संहिता मन्त्रों से स्नान करना चाहिये। वैदिक विधि से ही उनके लिये न्यास और हवन करना चाहिये। नदी, समुद्र के लिये तथा रोह–इनके स्थापन कराने का विधान पूर्ववत् है॥८५-८६॥

इहलोक में जो मृत्तिका आदि के अथवा आटे आदि के शिवलिङ्ग का पूजन किया जाता है, वह तात्कालिक होता है। अर्थात् पूजन-काल में ही लिङ्ग निर्माण करके वीक्षणादि विधान से उनकी शुद्धि करनी चाहिये। तत्पश्चात् विधिवत् पूजन करना चाहिये। पूजन के पश्चात् मन्त्रों को लेकर अपने-आप में स्थापित करना चाहिये और उस लिङ्ग को जल में डाल देना चाहिये। एक वर्ष तक ऐसा करने से वह लिङ्ग और उसका पूजन मनोवाञ्छित फल देने वाला होता है। विष्णु आदि देवताओं की स्थापना के मन्त्र अलग हैं। उन्हीं के द्वारा उनकी स्थापना करनी चाहिये॥८७-८९॥

॥इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी सन्तानवेवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ॥९७॥

❖❖❖

अथाष्टनवतितमोऽध्यायः

गौरीप्रतिष्ठाविधिः

ईश्वर उवाच

वक्ष्ये गौरीप्रतिष्ठां च पूजया सहितां शृणु। मण्डपाद्यं पुरो यच्च संस्थाप्य चाधिरोपयेत्॥१॥
शय्यायां तांश्च विन्यस्य मन्त्रान्मूर्त्यादिकान्गुह। आत्मविद्याशिवान्तं च कुर्यादीशनिवेशनम्॥२॥
शक्तिं परां ततो न्यस्य हुत्वा जप्त्वा च पूर्ववत्। संधाय च तथा पिण्डीं क्रियाशक्तिस्वरूपिणीम्॥३॥
सदेशव्यापिकां ध्यात्वा न्यस्तरत्नादिकां तथा। एवं संस्थाप्य तां पश्चाद्देवीं तस्यां नियोजयेत्॥४॥
परशक्तिस्वरूपां तां स्वाणुना शक्तियोगतः। ततो न्यसेत् क्रियाशक्तिं पीठे ज्ञानं च विग्रहे॥५॥
ततोऽपि व्यापिनीं शक्तिं समावाह्य नियोजयेत्। अम्बिकां शिवनाम्नीं च समालभ्य प्रपूजयेत्॥६॥

ॐ आधारशक्तये नमः। ॐ कूर्माय नमः।
ॐ स्कन्दाय च तथा नमः। ॐ ह्रीं नारायणाय नमः।
ॐ ऐश्वर्याय नमः। ॐ अधच्छदनाय नमः। ॐ ऊर्ध्वच्छदनाय नमः॥७॥
ॐ पद्मासनाय नमोऽथ सम्पूज्याः केशवांस्तथा॥८॥
ॐ ह्रीं कर्णिकायै नमः। ॐ क्षं पुष्कराक्षेभ्य इहार्चयेत्॥९॥

अध्याय-९८

गौरी प्रतिष्ठा विधान

भगवान् शिव ने कहा कि–स्कन्द! अधुना मैं पूजा सहित गौरी की प्रतिष्ठा का वर्णन करने जा रहा हूँ, सुनो। पूर्ववत् मण्डप आदि की रचना करके देवी की स्थापना एवं शय्याधिवासन करना चाहिये। उपरोक्त मन्त्रों और मूर्त्यादिकों का न्यास करके आत्मतत्त्व, विद्यातत्त्व और शिवतत्त्व का परमेश्वर में स्थापन करना चाहिये। उसके बाद पराशक्ति का न्यास, हवन और जप पूर्ववत् करके क्रियाशक्ति स्वरूपिणी पिण्डी का संधान करना चाहिये। सर्वव्यापिनी पिण्डी का ध्यान करके वहाँ रत्न आदि का न्यास करना चाहिये। इस विधि से पिण्डी की स्थापना करके उसके ऊपर देवी को स्थापित करना चाहिये॥१-४॥

वे देवी परमशक्ति स्वरूपा हैं। उनका अपने ही मन्त्र से सृष्टि-न्यासपूर्वक स्थापन करना चाहिये। उसके बाद पीठ में क्रिया शक्ति का और देवी के विग्रह में ज्ञानशक्ति का न्यास करना चाहिये। इसके बाद सर्वव्यापिनी शक्ति का आवाहन करके देवी की प्रतिमा में उसका नियोजन करना चाहिये। फिर 'शिवा' नाम वाली अम्बिका देवी का स्पर्शपूर्वक पूजन करना चाहिये॥५-६॥

पूजा के मन्त्र इस तरह हैं–'**ॐ आं आधारशक्तये नमः। ॐ कूर्माय नमः। ॐ कन्दाय नमः। ॐ ह्रीं नारायणाय नमः। ॐ ऐश्वर्याय नमः। ॐ अधश्छदनाय नमः। ॐ पद्मासनाय नमः।**' उसके बाद केसरों की पूजाक रे। तत्पश्चात् '**ॐ ह्रीं कर्णिकायै नमः। ॐ पुष्कराक्षेभ्यो नमः।**'– इन मन्त्रों द्वारा कर्णिका एवं कमलाक्षों

ॐ हां पुष्ट्यै ह्रीं च ज्ञानायै ह्रूं क्रियायै ततो नमः।।१०।।
ॐ नालाय नमः। ॐ रुं धर्माय नमः।
ॐ रुं ज्ञानाय वै नमः। ॐ वैराग्याय नमः।
ॐ वै, अधर्माय नमः। ॐ रुं अज्ञानाय वै नमः।
ॐ अवैराग्याय वै नमः।
ॐ अनैश्वर्याय नमः हूं वाचे हूं च रागिण्यै हूं ज्वालिन्यै ततो नमः।
ॐ ह्रौं शमायै च नमो हूं ज्येष्ठायै ततो नमः ॐ ह्रौं
रौं क्रौं नवशक्त्यै गौं च गौर्यासनाय च। गौं गौरीमूर्तये नमो गौर्या मूलमथोच्यते।।११-१३।।
ॐ ह्रीं सः, महागौरि रुद्रदयिते स्वाहा गौर्यै नमः।।१४।।
ॐ गां हूं ह्रीं शिवो गूं स्याच्छिखायै कवचाय च।
गों नेत्राय च गोम्, अस्त्रया ॐ गों विज्ञानशक्तये।।१५।।
ॐ गूं क्रियाशक्तये नमः पूर्वादौ शक्रादिकान्। ॐ सुं सुभगायै नमो ह्रीं बीजललिता ततः।।१६।।
ॐ ह्रीं कामिन्यै च नम ॐ हूं स्यात्कामशालिनी। मन्त्रैर्गौरीं प्रतिष्ठाप्य प्राच्र्य जप्त्वाऽथ सर्वभाक्।।१७।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते गौरीप्रतिष्ठाविधिकथनं नामाष्टनवतितमोऽध्यायः।।९८।।

का पूजन करना चाहिये। इसके बाद '**ॐ हां पुष्ट्यै नमः। ॐ ह्रीं ज्ञानायै नमः। ॐ हूं क्रियायै नमः।**'—इन मन्त्रों द्वारा पुष्टि, ज्ञाना एवं क्रिया शक्ति का पूजन करना चाहिये।।७-१०।। '**ॐ नालाय नमः। ॐ रं धर्माय नमः। ॐ रुं ज्ञानाय नमः। ॐ वैराग्याय नमः। ॐ अधर्माय नमः। ॐ रं अज्ञानाय नमः। ॐ अवैराग्याय नमः। ॐ अनैश्वर्याय नमः।**'—इन मन्त्रों द्वारा नाल आदि की पूजा करनी चाहिये। **ॐ हूं वाचे नमः। ॐ हूं रागिण्यै नमः। ॐ हूं ज्वालिन्यै नमः। ॐ ह्रौं शमायै नमः। ॐ हूं ज्येष्ठायै नमः। ॐ हूं ज्येष्ठायै नमः। ॐ ह्रौं रौं क्रौं नवशक्त्यै नमः।** —इन मन्त्रों द्वारा वाक् आदि शक्तियों की पूजा करनी चाहिये। '**ॐ गौं गौर्यासनाय नमः। ॐ गौं गौरीमूर्तये नमः।**' अधुना गौरी का मूलमन्त्र बतलाया जाता है—'**ॐ ह्रीं सः महागौरि रुद्रदयिते स्वाहा गौर्यै नमः। ॐ गां हृदयाय नमः, ॐ गीं शिरसे स्वाहा। ॐ गूं शिखायै वषट्। ॐ गैं कवचाय हुम्। ॐ गौं नेत्रत्रयाय वौषट्। ॐ गः अस्त्राय फट्। ॐ गौं विज्ञानशक्तये नमः।**'—इन मन्त्रों से शिखा आदि की पूजा करनी चाहिये।।११-१५।। '**ॐ गूं क्रियाशक्तये नमः।**'—इस मन्त्र से क्रिया शक्ति की पूजा करनी चाहिये। पूर्वादि दिशाओं में इन्द्रादि देवताओं पूजन करना चाहिये। इनके मन्त्र पहले बताये गये हैं। '**ॐ सुं सुभगायै नमः**'—इससे सुभगा का, '**ॐ ह्रीं ललितायै नमः।**' से ललिता का पूजन करना चाहिये। '**ॐ ह्रीं कामिन्यै नमः।**' '**ॐ हूं काममालिन्यै नमः।**'—इन मन्त्रों से गौरी की प्रतिष्ठा, पूजा और जप करने से उपासक सब कुछ प्राप्त कर लेता है।।१६-१७।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी अनठानवेवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।९८।।

❖❖❖

अथ नवनवतितमोऽध्यायः

सूर्यप्रतिष्ठाविधिः

ईश्वर उवाच

वक्ष्ये सूर्यप्रतिष्ठां च पूर्ववन्मण्डपादिकम्। स्नानादिकं च सम्पाद्य पूर्वोक्तविधिना ततः।।१।।
विद्यामासनशय्यायां साङ्गं विन्यस्य भास्करम्। त्रितत्त्वं विन्यसेत्तत्र सं (स) स्वरं खादिपञ्चकम्।।२।।
शुद्ध्यादि पूर्ववत्कृत्वा पिण्डीं संशोध्य पूर्ववत्। सदेशपदपर्यन्तं विन्यस्य तत्त्वपञ्चकम्।।३।।
शत्तया च सर्वतोमुख्या संस्थाप्य विधिवत्ततः। स्वाणुना विधिवत्सूर्यं शत्त्यन्तं स्थपयेद्गुरुः।।४।।
स्वाम्यन्तमथ वाऽऽदित्यं पादान्तं नाम धारयेत्। सूर्यमन्त्रास्तु पूर्वोक्ता द्रष्टव्याः स्थापनेऽपि च।।५।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते सूर्यप्रतिष्ठाविधि कथनं नाम नवनवतितमोऽध्यायः।।९९।।

—⁂—

अध्याय–९९

सूर्य प्रतिष्ठा विधान

भगवान् शिव ने कहा कि–हे स्कन्द! अधुना मैं सूर्य देव की प्रतिष्ठा का वर्णन करने जा रहा हूँ। पूर्ववत् मण्डप-निर्माण और स्नान आदि कार्य का निष्पादन करके, उपरोक्त विधि से विद्या तथा साङ्ग सूर्यदेव का आसन-शय्या में न्यास करके त्रितत्त्व का, ईश्वर का तथा आकाशादि पाँच भूतों का न्यास करना चाहिये।।१-२।।

पूर्ववत् शुद्धि आदि करके पिण्डी का शोधन करना चाहिये। फिर सदेशपद-पर्यन्त तत्त्व-पञ्चक का न्यास करना चाहिये। उसके बाद सर्वतोमुखी शक्ति के साथ विधिवत् स्थापना करके, गुरु सूर्य-सम्बन्धी मन्त्र बोलते हुए शक्यन्त सूर्य का विधिवत् स्थापन करना चाहिये।।३-४।।

श्रीसूर्य देव का स्वाम्यन्त अथवा पादान्त नाम रखे। (यथा विक्रमादित्य-स्वामी अथवा रामादित्यपाद इत्यादि) सूर्य के मन्त्र पहले बताये गये हैं, उन्हीं का स्थापन काल में भी साक्षात्कार (प्रयोग) करना चाहिये।।५।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी निन्यानवेवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।९९।।

❖❖❖

अथ शततमोऽध्यायः

द्वारप्रतिष्ठाविधिः

ईश्वर उवाच

द्वाराश्रितप्रतिष्ठाया वक्ष्यामि विधिमप्यथ। द्वाराङ्गाणि कषायाद्यैः संस्कृत्य शयने न्यसेत्॥१॥
मूलमध्याग्रभागेषु त्रयमात्मादिसेश्वरम्। विन्यस्य संनिवेस्याथ हुत्वा जप्त्वाऽत्र रूपतः॥२॥
द्वारादथो यजेद्वास्तुं तत्रैवानन्तमन्त्रतः। रत्नादि पञ्चकं न्यस्य शान्तिहोमं विधाय च॥३॥
यवसिद्धार्थकाक्रान्ता ऋद्धिवृद्धिमहातिलाः। गोमृत्सर्षपरागेन्द्रमोहिनीलक्ष्मणामृताः॥४॥
रोचनारुग्वचो दूर्वा प्रासादाधश्च पोटलीम्। प्रकृत्योदुम्बरे बद्ध्वा रक्षार्थं प्रणवेन तु॥५॥
द्वारमुत्तरतः किञ्चिदाश्रितं संनिवेशयेत्। आत्मतत्त्वमधो न्यस्य विद्यातत्त्वं च शाखयोः॥६॥
शिवमाकाशदेशे च व्यापकं सर्वमण्डले। ततो महेशनाथं च विन्यसेन्मूलमन्त्रतः॥७॥
द्वाराश्रितांश्च तल्पादीन्कृतयुक्तैः स्वनामभिः। जुहुयाच्छतमर्धं वा द्विगुणं शक्तितोऽथ वा॥८॥

अध्याय-१००

द्वार प्रतिष्ठा विधान

देवाधिदेव भगवान् श्रीशिवशंकर ने कहा कि-हे स्कन्द! अधुना मैं द्वारगत प्रतिष्ठा की विधि का वर्णन करने जा रहा हूँ। द्वार के अङ्गभूत उपकरणों का कसैले जल आदि से संस्कार करके उनको शय्या पर रखे। द्वार के मूल, मध्य और अग्रभागों में आत्मतत्त्व, विद्यातत्त्व और शिवतत्त्व का न्यास करके संनिरोधिनी-मुद्रा द्वारा उनका निरोध करना चाहिये। फिर तदनुरूप हवन और जप करके, द्वार के अधोभाग में अनन्त देवता के मन्त्र से वास्तु-देवता की पूजा करनी चाहिये। वहीं रत्नादि-पञ्चक स्थापित करके शान्ति-हवन करना चाहिये॥१-३॥

तत्पश्चात् जौ, सरसों, बरहंटा, ऋद्धि (औषधिविशेष), वृद्धि (औषधिविशेष), पीली सरसों, महातिल, गोमृत् (गोपीचन्दन), दरद (हिङ्गुल या सिंगरफ), नागेन्द्र (नागकेसर), मोहिनी (त्रिपुरमाली या पोई), लक्ष्मणा (सफेद कटेहरी), अमृता (गुरुचि), गोरोचन या लाल कमल, आरग्वध (अमलताश) तथा दूर्वा-इन औषधियों को मन्दिर के नीचे नींव में डाले तथा इनकी पोटली बनाकर दरवाजे के ऊपरी भाग में उसकी रक्षा के लिये बाँध देना चाहिये। बाँधते समय प्रणव मन्त्र का उच्चारण करना चाहिये॥१-५॥

दरवाजे को कुछ उत्तर दिशा का आश्रय लेकर स्थापित करना चाहिये। द्वार के अधोभाग में आत्मतत्त्व का, दोनों बाजुओं में विद्यातत्त्व का, आकाश देश (खाली जगह) में तथा सम्पूर्ण द्वार-मण्डल में सर्वव्यापी शिवतत्त्व का न्यास करना चाहिये। इसके बाद मूलमन्त्र से महेशनाथ का न्यास करना चाहिये। द्वार का आश्रय लेकर रहने वाले नन्दी आदि द्वारपालों के लिये 'नमः' पद से युक्त उनके नाम-मन्त्रों द्वारा सौ या पचास आहुतियाँ देनी चाहिये अथवा शक्ति हो, तो इससे दूनी आहुतियाँ देना चाहिये॥६-८॥

न्यूनादिदोषमोक्षार्थं हेतितो जुहुयाच्छतम्। दिग्बलिं पूर्ववद्दत्त्वा प्रदद्याद्दक्षिणादिकम्।।९।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते द्वारप्रतिष्ठाविधिकथनं नाम शततमोऽध्यायः।।१००।।

अथैकाधिकशततमोऽध्यायः

प्रासादप्रतिष्ठा

ईश्वर उवाच

प्रासादस्थापनं वक्ष्ये तच्चैतन्यसुयोगतः। शुकनाशासमाप्तौ तु पर्ववेद्याश्च मध्यतः।।१।।
आधारशक्तितः पद्मे विन्यस्ते प्रणवेन च। स्वर्णाद्येकतमोद्भूतं पञ्चगव्येन संयुतम्।।२।।
मधुक्षीरयुतं कुम्भं न्यस्तरत्नादिपञ्चकम्। सवस्त्रं गन्धलिप्तं च गन्धवत्पुष्पधूपितम्।।३।।
चूतादिपल्लवानां च कृती कृत्यं च विन्यसेत्। पूरकेण समादाय सकलीकृतविग्रहः।।४।।
सर्वात्माभिन्नमात्मानं स्वागुणना स्वान्तमारुतः। आज्ञायाऽऽरोधयेच्छंभौ रेचकेन ततो गुरुः।।५।।
द्वादशान्तात्समादाय स्फुरीवह्निकणोपमम्। निक्षिपेत् कुम्भगर्भे च न्यस्ततन्त्रातिवाहिकम्।।६।।

न्यूनातिरिक्तता-सम्बन्धी दोष से छुटकारा पाने के लिये अस्त्र-मन्त्र से सौ आहुतियाँ देनी चाहिये। उसके बाद पहले बताये अनुसार दिशाओं में बलि देकर दक्षिणा आदि सम्प्रदान करना चाहिये।।९।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी सौवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।१००।।

अध्याय-१०१

प्रासाद-प्रतिष्ठा

भगवान् शिव ने कहा कि-हे स्कन्द! अधुना मैं प्रासाद (मन्दिर) की स्थापना का वर्णन करने जा रहा हूँ। उसमें चैतन्य का सम्बन्ध दिखा रहा हूँ। जहाँ मन्दिर के गुंबज की समाप्ति होती है, वहाँ पूर्ववेदी के मध्य भाग में आधार शक्तिं का चिन्तन करके प्रणव-मन्त्र से कमल का न्यास करना चाहिये। उसके ऊपर स्वर्ण आदि धातुओं में से किसी एक का बना हुआ कलश स्थापित करना चाहिये। उसमें पञ्चगव्य, मधु और दूध पड़ा हुआ हो। रत्न आदि पाँच वस्तुएँ डाली गयी हों। कलश पर गन्ध का लेप हुआ हो। वह वस्त्र से आवृत हो तथा उसको सुगन्धित पुष्पों से सुवासित किंया गया हो। उस कलश के मुख में आम आदि पाँच वृक्षों के पल्लव डाले गये हों। हृदय-मन्त्र से हृदय-कमल की भावना करके उस कलश को वहाँ स्थापित करना चाहिये।।१-३।।

तत्पश्चात् गुरुं पूरक प्राणायाम के द्वारा श्वास को अन्दर लेकर, शरीर के द्वारा सकलीकरण क्रिया का निष्पादन करके, स्व-सम्बन्धी मन्त्र से कुम्भक प्राणायाम द्वारा प्राणवायु को अन्दर अवरुद्ध करना चाहिये। फिर देवाधिदेव भगवान् श्रीशिवशंकर की आज्ञा से सर्वात्मा से अभिन्न आत्मा (जीवचैतन्य) को जगावे। तत्पश्चात्, रेचक प्राणायाम द्वारा

विग्रहं तद्गुणानां च बोधकं च कलादिकम्। क्षान्तं वागीश्वरं तत्तु त्रातं तत्र निवेशयेत्।।७।।
दशनाडीर्दश प्राणानिन्द्रियाणि त्रयोदश। तदधिपांश्च संयोज्य प्रणवाद्यैः स्वनामभिः।।८।।
स्वकार्यकारणत्वेन मायाकाशनियामिकाः। विद्येशान्प्रेरकाञ्शंभु व्यापिनं च सुसंवरैः।।९।।
अङ्गानि च विनिक्षिप्य निरुन्ध्याद्रोधमुद्रया। सुवर्णाद्युद्भवं यद्वा पुरुषं पुरुषानुगम्।।१०।।
पञ्चगव्यकषायाद्यैः पूर्ववत्संस्कृतं ततः। शय्यायां कुम्भमारोप्य ध्यात्वा रुद्रमुमापतिम्।।११।।
तस्मिंश्च शिवमन्त्रेण व्यापकत्वेन विन्यसेत्। संनिधानाय होमं च प्रोक्षणं स्पर्शनं जपम्।।१२।।
सान्निध्यबोधनं सर्वं भागत्रयविभागतः। विधायैवं प्रकृत्यन्ते कुम्भे तं विनिवेशयेत्।।१३।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते प्रासादप्रतिष्ठावर्णनं नामैकाधिकशततमोऽध्यायः।।१०१।।

—❀❀❀—

द्वादशान्त-स्थान से प्रज्वलित अग्नि कण के समान जीव चैतन्य को लेकर कलश के अन्दर स्थापित करना चाहिये और उसमें आतिवाहिक शरीर का न्यास करके उसके गुणों के बोधक काल आदि का एवं ईश्वर सहित पृथ्वी-पर्यन्त तत्व समुदाय का भी उसमें निवेश करना चाहिये।।४-७।।

इसके बाद कथित कलश में दस नाड़ियों, दस प्राणों, (पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय तथा मन बुद्धि और अहंकार)—इन तेरह इन्द्रियों तथा उनके अधिपतियों की भी उस कलश में स्थापना करके प्रणव आदि नाम-मन्त्रों से उनका पूजन करना चाहिये। अपने-अपने कार्य के कारक रूप से जो मायापाश के नियामक हैं, उनका, प्रेरक विद्येश्वरों का तथा सर्वव्यापी शिव का भी अपने-अपने मन्त्र द्वारा वहाँ न्यास और पूजन करना चाहिये। समस्त अङ्गों का भी न्यास करके अवरोधिनी-मुद्रा द्वारा उन सभी का निरोध करना चाहिये। अथवा स्वर्ण आदि धातुओं द्वारा निर्मित पुरुष की आकृति, जो ठीक मानव शरीर के तुल्य हो, लेकर उसको पूर्ववत् पञ्चगव्य एवं कसैले जल आदि से सुसंस्कृत (शुद्ध) करना चाहिये। फिर उसको शय्या पर आसीन करके उमापपि रुद्र देव का ध्यान करते हुए शिव-मन्त्र से उस पुरुष-शरीर में व्यापक रूप से उन्हीं का न्यास करना चाहिये।।८-११।।

उनके संनिधान के लिये हवन, प्रोक्षण, स्पर्श एवं जप करना चाहिये। संनिधापन तथा रोधन आदि सारा कार्य भागत्रय-विभागपूर्वक करना चाहिये। इस तरह प्रकृति पर्यन्त न्यास सारा विधान पूर्ण करके उस पुरुष को उपरोक्त कलश में स्थापित कर देना चाहिये।१२-१३।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी एक सौ पहला अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।१०१।।

अथ द्व्यधिकशततमोऽध्यायः

ध्वजारोपणम्

ईश्वर उवाच

चूलके ध्वजदण्डे च ध्वजे देवकुले तथा। प्रतिष्ठा च यथोद्दिष्टा तथा स्कन्द वदामि ते।।१।।
(कू) कभागार्धप्रवेशाद्वा यद्वा सर्वार्धवेशनात्। ऐष्टके दारुजः शूलः शैलजे धाम्नि शैलजः।।२।।
वैष्णवादौ च चक्राढ्यः कुम्भः स्यान्मूर्तिमानतः। स च त्रिशूलयुक्तस्तु अग्रचूलाभिधो मतः।।३।।
ईशशूलः समाख्यातो मूर्ध्नि लिङ्गसमन्वितः। बीजपूरकयुक्तो वा शिवशास्त्रेषु तद्विधः।।४।।
चित्रो ध्वजश्च जङ्घातो यथा जङ्घार्धतो भवेत्। भवेद्वा दण्डमानस्तु यदि वा तद्यदृच्छया।।५।।
महाध्वजः समाख्यातो यस्तु पीठस्य वेष्टकः। शक्रैर्ग्रहै रसैर्वाऽपि हस्तैर्दण्डस्तु संमितः।।६।।
उत्तमादिक्रमेणैव विज्ञेयः सूरिभिस्ततः। वंशजः शालजादिर्वा स दण्डः सर्वकामदः।।७।।
अयमारोप्यमाणस्तु भङ्गमायाति वै यदि। राज्ञोऽनिष्टं विजानीयाद्यजमानस्य वा तथा।।८।।
मन्त्रेण बहुरूपेण पूर्ववच्छान्तिमाचरेत्। द्वारपालादिपूजां च मन्त्राणां तर्पणं तथा।।९।।

अध्याय-१०२

ध्वजारोपण विधान

देवाधिदेव भगवान् श्रीशिवशंकर ने कहा कि-हे स्कन्द! देवमन्दिर में शिखर, ध्वजदण्ड एवं ध्वज की प्रतिष्ठा जिस तरह बतलायी गयी है, उसका आप से वर्णन करने जा रहा हूँ। शिखर के आधे भाग में शूल का प्रवेश हो अथवा सम्पूर्ण शूल के आधे भाग का शिंखर में प्रवेश कराकर प्रतिष्ठा करनी चाहिये। ईंटों के बने हुए मन्दिर में लकड़ी का शूल होना चाहिये और प्रस्तरनिर्मित मन्दिर में प्रस्तर का। विष्णु आदि के मन्दिर में कलश को चक्र से संयुक्त करना चाहिये। वह कलश देवमूर्ति की माप के अनुरूप ही होना चाहिये। कलश यदि त्रिशूल से युक्त हो, तो 'अग्रचूल' या अगचूड नाम से प्रसिद्ध होता है।।१-३।।

यदि उसके मस्तक-भाग में शिवलिङ्ग हो, तो उसको 'ईश शूल' कहते हैं। अथवा शिरोभाग में बिजौरे नीबू की आकृति से युक्त होने पर भी उसका यही नाम है। शैव-शास्त्रों में वैसे शूल का वर्णन मिलता है। शैव-शास्त्रों में वैसे शूल का वर्णन मिलता है। जिसकी ऊँचाई जङ्घा वेदी के बराबर अथवा जङ्घा वेदी के आधे माप की हो, वह 'चित्रध्वज' कहा गया है। अथवा उसका मान दण्ड के बराबर या अपनी इच्छा के अनुसार रखे। जो पीठ को आवेष्टित कर ले, वह 'महाध्वज' कहा गया है। चौदह, नौ अथवा छः हाथों के माप का दण्ड क्रमशः श्रेष्ठतम, मध्यम और अधम माना गया है-यह विद्वान् पुरुषों द्वारा जानने के योग्य है। ध्वज का दण्ड बाँस का अथवा साखू आदि का हो, तो सम्पूर्ण कामनाओं को देने वाला होता है।।४-७।।

यह ध्वज आरोपण करते समय यदि टूट जाय तो राजा अथवा यजमान के लिये अनिष्टकारक होता है-ऐसा समझना चाहिये। उस दशा में बहुरूप-मन्त्र द्वारा पूर्ववत् शान्ति करना चाहिये। द्वारपाल आदि का पूजन तथा मन्त्रों का तर्पण करके ध्वज और उसके दण्ड को अस्त्र-मन्त्र से नहलावे। गुरु इसी मन्त्र से ध्वज का प्रोक्षण करके मिट्टी

विधाय चूलकं दण्डं स्नापयेदस्त्रमन्त्रतः। अनेनैवोक्तमन्त्रेण ध्वजं संप्रोक्ष्य देशिकः॥१०॥
मृत्कषायादिभिःस्नानं प्रासादं कारयेत्ततः। विलिप्य रसमाच्छाद्य शय्यायां न्यस्य पूर्ववत्॥११॥
चूलके लिङ्गवन्न्यासो न च ज्ञानं न च क्रिया। विशेषार्था चतुर्थी च न च कुण्डस्य कल्पना॥१२॥
दण्डे तथाऽर्थतत्त्वं च विद्यातत्त्वं द्वितीयकम्। सद्योजातादिवक्त्राणि शिवतत्त्वं पुनर्ध्वजे॥१३॥
निष्कलं च शिवं तत्र न्यस्याङ्गानि प्रपूजयेत्। चूलके च ततो मन्त्री सांनिध्ये संहिताणुभिः॥१४॥
होमयेत्प्रतिभागं च ध्वजे तैस्तु फडन्तकैः। अन्यथाऽपि कृतं यच्च ध्वजसंस्कारणं क्वचित्॥१५॥
अस्त्रयागविधावेवं तत्सर्वमुपदर्शितम्। प्रासादे कारितस्थाने स्रग्वस्त्रादिविभूषिते॥१६॥
जङ्घा वेदी तदूर्ध्वे तु त्रितत्त्वादि निवेश्य च। होमादिकं विधायाथ शिवं सम्पूज्य पूर्ववत्॥१७॥
सर्वतत्त्वमयं ध्यात्वा शिवं च व्यापकं न्यसेत्। अनन्तं कालरुद्रं च विभाव्य च पदाम्बुजे॥१८॥
कूष्माण्डहाटकौ पीठे पातालनरकैः सह। भुवनैर्लोकपालैश्च शतरुद्रादिभिर्वृतम्॥१९॥
ब्रह्माण्डकमिदं ध्यात्वा जङ्घायां च विभावयेत्। वारितेजोऽनिलव्योमपञ्चाष्टकसमन्वितम्॥२०॥
सर्वावरणसंज्ञं च बुद्धियोन्यष्टकान्वितम्। योगाष्टकसमायुक्तं नाशावधि गुणत्रयम्॥२१॥
पटस्थं पुरुषं सिंहं वामं च परिभावयेत्। मञ्जरी वेदिकायां च विद्यादिकचतुष्टयम्॥२२॥
कण्ठे मायां सरुद्रां च विद्याश्चामलसारके। कलशे चेश्वरं विन्दुं विद्येश्वरसमन्वितम्॥२३॥

तथा कसैले जल आदि से मन्दिर को भी स्नान कराये। चूलक (ध्वज के ऊपरी भाग) में गन्धादि का लेप करके उसको वस्त्र से आच्छादित करना चाहिये। फिर पूर्ववत् उसको शय्या पर रखकर उसमें लिङ्ग की भाँति न्यास करना चाहिये। परन्तु चूलक में ज्ञान शक्ति और क्रिया शक्ति का न्यास नहीं करना चाहिये। वहाँ विशेषार्थ बोधिका चतुर्थी भी वाञ्छित नहीं है और न उसके लिये कुम्भ या कुण्ड की ही कल्पना आवश्यक है॥८-१२॥

दण्ड में आत्म तत्त्व का, विद्या तत्त्व का तथा सद्योजात आदि पाँच मुखों का न्यास करना चाहिये। फिर ध्वज में शिवतत्त्व का न्यास करना चाहिये। वहाँ निष्कल शिव का न्यास करके हृदय आदि अङ्गों की पूजा करनी चाहिये। उसके बाद मन्त्रज्ञ गुरु ध्वज और ध्वजाग्र भाग में संनिधीकरण के लिये फडन्त संहिता-मन्त्रों द्वारा प्रत्येक भाग में हवन करना चाहिये। किसी और तरह से भी कहीं जो ध्वज-संस्कार किया गया है, वह भी इस तरह अस्त्र-याग करके ही करना चाहिये। ये सब बातें मनीषी पुरुषों ने करके दिखायी हैं॥१३-१५॥

मन्दिर को नहलाकर, पुष्पहार और वस्त्र आदि से विभूषित करके, जङ्घा वेदी के ऊपरी भाग में त्रितत्व आदि का न्यास, हवन आदि का विधान एवं शिव का पूर्ववत् पूजन करके, उनके सर्वतत्त्वमय व्यापक स्वरूप का ध्यान करते हुए व्यापक-न्यास करना चाहिये। भगवान् शिव के चरणाविन्द में अनन्त एवं कालरुद्र की भावना करके पीठ में कूष्माण्ड, हाटक, पाताल तथा नरकों की भावना करनी चाहिये। उसके बाद भुवनों, लोकपालों तथा शतरुद्रादि से घिरे हुए इस ब्रह्माण्ड का ध्यान करके जङ्घा वेदी में स्थापित करना चाहिये॥१६-१९॥

पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाशरूप पञ्चाष्टक, सर्वावरण संज्ञक, बुद्धियोन्यष्टक, योगाष्टक, प्रलयपर्यन्त रहने वाला त्रिगुण, पटस्थ पुरुष और वाम सिंह-इन सभी का भी जङ्घा वेदी में चिन्तन करना चाहिये; परन्तु मञ्जरी वेदिका में विद्यादि चार तत्त्वों की भावना करनी चाहिये। कण्ठ में माया और रुद्र का, अमलसार में विद्याओं का तथा कलश में ईश्वर-बिन्दु और विद्येश्वर का चिन्तन करना चाहिये। चन्द्रार्ध स्वरूप शूल में जटाजूट की भावना करनी चाहिये।

जटाजूटं च तं विद्याच्छूलं चन्द्रार्धरूपकम्। शक्तित्रयं च तत्रैव दण्डे नादं विभाव्य च।।२४।।
ध्वजे च कुण्डलीशक्तिमिति धाम्नि विभावयेत्। जगत्यां वाऽथ संधाय लिङ्गं पिण्डिकयाऽथ वा।।२५।।
समुत्थाप्य सुमन्त्रैश्च विन्यस्ते शक्तिपङ्कजे। न्यस्तरत्नादिके तत्र स्वाधारे विनिवेशयेत्।।२६।।
यजमानो ध्वजे लग्ने बन्धुमित्रादिभिः सह। धामं प्रदक्षिणीकृत्य लभते फलमीहितम्।।२७।।
गुरुः पाशुपतं ध्यायन्स्थिरमन्त्राधिपैर्युतम्। अधिपाञ्शस्त्रयुक्तांश्च रक्षणाय निबोधयेत्।।२८।।
ऊनादिदोषशान्त्यर्थं हुत्वा दत्त्वा च दिग्बलिम्। गुरवे दक्षिणां दद्याद्यजमानो दिवं व्रजेत्।।२९।।
प्रतिमालिङ्गवेदीनां यावन्तः परमाणवः। तावद्युगसहस्राणि कर्तुर्भोगभुजः फलम्।।३०।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गति ध्वजारोपणादिविधिकथनं नाम द्व्यधिकशततमोऽध्यायः।।१०२।।

उसी शूल में त्रिविध शक्तियों की तथा दण्ड में नाभि की भावना करके ध्वज में कुण्डलिनी शक्ति का चिन्तन करना चाहिये। इस तरह मन्दिर के अवयवों में विभिन्न तत्त्वों की भावना करनी चाहिये।।२०-२४।।

जगती से धाम (प्रासाद या मन्दिर) का तथा पिण्डिका से लिङ्ग का संधान करके शेष सारा विधान यहाँ भी पूर्ववत् करना चाहिये। इसके बाद गुरु वाद्यों के मङ्गलमय घोष तथा वेदध्वनि के साथ मूर्तिधरों सहित शिवरूप मूल वाले ध्वज दण्ड को उठाकर जहाँ मन्त्रोच्चारणपूर्वक शक्तिमय कमल का न्यास हुआ है तथा रत्नादि पञ्चक का भी न्यास हो गया है, वहाँ आधार-भूमि में उसको स्थापित कर देना चाहिये।२५-२६।।

जिस समय प्रासाद-शिखर पर ध्वज लग जाय, तत्पश्चात् यजमान अपने मित्रों और बन्धुओं आदि के साथ मन्दिर की परिक्रमा करके अभीष्ट फल का भागी होता है। गुरु को अस्त्र आदि के साथ पाशुपत का चिरकाल तक चिन्तन करते हुए उन सबके शस्त्रयुक्त अधिपतियों को मन्दिर की रक्षा के लिये निवेदन करें न्यूनता आदि दोष की शान्ति के लिये हवन, दान और दिग्बलि करके यजमान द्वारा गुरु को दक्षिणा देना चाहिये। ऐसा करके वह दिव्य धाम में जाता है।।२७-२९।।

प्रतिमा, लिङ्ग और वेदी के जितने परमाणु होते हैं, उतने सहस्र युगों तक मन्दिर का निर्माण एवं प्रतिष्ठा करने वाला यमजान दिव्य लोक में श्रेष्ठतम भोग भोगता है। यही उसका प्राप्तव्य फल है।।३०।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी एक सौ दूसरा अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।१०२।।

❖❖❖

अथ त्र्यधिकशततमोऽध्यायः

जीर्णोद्धारविधिः

ईश्वर उवाच

जीर्णादीनां च लिङ्गानामुद्धारं विधिना वदे। लक्ष्मोज्झितं च भग्नं च स्थूलं वज्रहतं तथा॥१॥
सम्पुटं सम्पुटितं व्यङ्गं लिङ्गमित्येवमादिकम्। इत्यादिदुष्टलिङ्गानां त्याज्या पिण्डी तथा वृषः॥२॥
चालितं चलितं निम्नमत्यर्थं विषमस्थितम्। दिङ्मूढं पातितं लिङ्गं मध्यस्थं पतितं तथा॥३॥
एवं विधं च संस्थाप्य निर्व्रणं च भवेद्यदि। नादेयेन प्रवाहेण तदपाक्रियते यदि॥४॥
ततोऽन्यत्रापि संस्थाप्य विधिदृष्टेन कर्मणा। सुस्थितं चास्थितं वाऽपि शिवलिङ्गं न चालयेत्॥५॥
शतेन स्थापनं कुर्यात्सहस्रेण तु चालनम्। पूजादिभिश्च संयुक्तं जीर्णाद्यमपि सुस्थितम्॥६॥
याम्ये मण्डपमीशे च प्रत्यग्द्वारैकतोरणम्। विधाय द्वारपूजादि स्थण्डिले मन्त्रपूजनम्॥७॥
दिग्बलिं च बहिर्गत्वा समाचम्य स्वयं गुरुः। ब्राह्मणान्भोजयित्वा तु शंभुं विज्ञापयेत्ततः॥८॥

अध्याय-१०३

जीर्णोद्धार विधान

देवाधिदेव भगवान् श्रीशिवशंकर ने कहा कि–हे स्कन्द! जीर्ण आदि लिङ्गों के विधिवत् उद्धार का तरह बता रहा हूँ। जिसका चिह्न मिट गया हो, जो टूट-फूट गया हो, मैल आदि से स्थूल हो गया हो, वज्र से आहत हुआ हो, सम्पुटित (बन्द) हो, फट गया हो, जिसका अङ्ग-भङ्ग हो गया हो तथा जो इसी तरह के अन्य विकारों से ग्रस्त हो–ऐसे दूषित लिङ्गों की पिण्डी तथा वृषभ का तत्काल त्याग कर देना चाहिये।।१-२।।

जो शिवलिङ्ग किसी के द्वारा चालित हो या स्वयं चलित हो, अत्यन्त नीचा हो गया हो, विषम स्थान में स्थित हो; जहाँ दिङ्मोह होता हो, जो किसी के द्वारा गिरा दिया गया हो अथवा जो मध्यस्थ होकर भी गिर गया हो-ऐसे लिङ्ग की पुनः ठीक से स्थापना कर देनी चाहिये। परन्तु यदि वह व्रण हीन हो, तभी ऐसा किया जा सकता है। यदि वह नदी के जल प्रवाह द्वारा वहाँ से अन्यत्र हटा दिया जाता हो, तो उस स्थान से अन्यत्र भी शास्त्रीय विधि के अनुसार उसकी स्थापना की जा सकती है। जो शिवलिङ्ग अच्छी तरह स्थित हो, सुदृढ़ हो, उसको विचलित करना या चलाना नहीं चाहिये।।३-५।।

जो अस्थिर या अदृढ हो, उस शिवलिङ्ग को यदि चालित करना चाहिये तो उसकी शान्ति के लिये एक सहस्र आहुतियाँ दे तथा सौ आहुतियाँ देकर पुनः उसकी स्थापना करनी चाहिये। जीर्णता आदि दोषों से युक्त शिवलिङ्ग भी यदि नित्यपूजा-अचर्ना आदि से युक्त हो, तो उसको सुस्थिर ही रहने दे; चालित नहीं करना चाहिये। जीर्णोद्धार के लिये दक्षिण दिशा में एक मण्डप बनाये। ईशान कोण में पश्चिम द्वार का एक फाटक लगा दे। द्वारपूजा आदि करके वेदी पर भगवान् सदाशिवजी की पूजा करनी चाहिये। इसके बाद मन्त्रों का पूजन और तर्पण करके वास्तुदेवता की पूर्ववत् पूजा करनी चाहिये। उसके बाद बाहर जा, दिशाओं में बलि दे, स्वयं आचमन करने के पश्चात् गुरु ब्राह्मणों को भोजन कराये। तत्पश्चात् देवाधिदेव भगवान् श्रीशिवशंकर को इस तरह विज्ञप्ति देना चाहिये।६-८।।

दुष्टं लिङ्गमिदं शम्भो शान्तिरुद्धरणस्य चेत्। रुचिस्तवास्ति विधिना अधितिष्ठ च मां शिव।।९।।
एवं विज्ञाप्य देवेशं शान्तिहोमं समाचरेत्। मध्वाज्यक्षीरदूर्वाभिर्मूलेनाष्टाधिकं शतम्।।१०।।
ततो लिङ्गं च संस्थाप्य पूजयेत्स्थण्डिले तथा। ॐ व्यापकेश्वरायेति तत्त्वेनात्यन्तवादिना।।११।।
ॐ व्यापकेश्वराय हृदयायः नमः। ॐ व्यापकेश्वराय शिरसे नमः। इत्याद्याङ्गमन्त्राः।।१२।।
ततस्तत्राऽऽश्रितं तत्त्वं श्रापयेदस्त्रमन्त्रतः। सत्त्वः कोऽपीह यः कश्चिल्लिङ्गमाश्रित्य तिष्ठति।।१३।।
लिङ्गं त्यक्त्वा शिवाज्ञाभिर्यत्रेष्टं तत्र गच्छतु। विद्याविद्येश्वरैर्युक्तः शम्भुरत्र भविष्यति।।१४।।
सहस्त्रं प्रतिभागे (गं) च ततः पाशुपताणुना। हुत्वा शान्त्यम्बुना प्रोक्ष्य स्पृष्ट्वा कुशैर्जपेत्ततः।।१५।।
दत्त्वार्घं (र्घ्यं) च विलोमेन तत्त्वतत्त्वाधिपांस्ततः। अष्टमूर्तीश्वराल्लिङ्गपिण्डिकासंस्थितान्गुरुः।।१६।।
विसृज्य स्वर्णपाशेन वृषस्कन्धस्थया तथा। रज्ज्वा बद्ध्वा तथा नीत्वा शिवमन्त्रं गृणञ्शनैः।।१७।।
तज्जले निक्षिपेन्मन्त्री पुष्ट्यर्थं जुहुयाच्छतम्। तृप्तये दिक्पतीनां च वास्तुशुद्ध्यै शतं शतम्।।१८।।
रक्षां विधाय तद्धाम्नि महापाशुपतास्त्रतः। लिङ्गमन्यत्ततस्तत्र विधिवत्स्थापयेद्गुरुः।।१९।।
असुरैर्मुनिभिर्गोत्रैस्तन्त्रविद्भिः प्रतिष्ठितम्। जीर्णं वाऽप्यथ वा भग्नं विधिनाऽपि न चालयेत्।।२०।।

'हे शम्भो! यह लिङ्ग दोष युक्त हो गया है। इसके उद्धार करने से शान्ति होगी—ऐसा आपका वचन है। इसलिये विधिपूर्वक इसका अनुष्ठान होने जा रहा है। हे शिव! इसके लिये आप मेरे अन्दर स्थित होइये और अधिष्ठाता बनकर इस कार्य का निष्पादन कीजिये। देवेश्वर शिव को इस तरह विज्ञप्ति देकर मधु और घृतमिश्रित खीर एवं दूर्वा द्वारा मूल-मन्त्र से एक सौ आठ आहुतियाँ देकर शान्ति-हवन का एक सौ आठ आहुतियाँ देकर शान्ति हवन का कार्य सम्पन्न करना चाहिये। उसके बाद लिङ्ग को स्नान कराकर वेदी पर इसकी पूजा करनी चाहिये। पूजनकाल में '**ॐ व्यापकेश्वराय शिवाय नम;।**' इस मन्त्र का उच्चारण करना चाहिये। अङ्गपूजा और अङ्गन्यास के मन्त्र इस तरह हैं— '**ॐ व्यापकेश्वरायय हृदयाय नमः। ॐ व्यापकेश्वराय वषट्। ॐ व्यापकेश्वराय कवचाय हुम्। ॐ व्यापकेश्वराय नेत्रत्रवाय वौषट्। ॐ व्यापकेश्वराय अस्त्राय फट्**'।।९-१३।।

तत्पश्चात् उस शिवलिङ्ग के आश्रित रहने वाले भूत को अस्त्र-मन्त्र के उच्चारणपूर्वक सुनावे—'यदि कोई भूत-प्राणी यहाँ इस लिङ्ग का आश्रय लेकर रहता है, वह भगवान् शिव की आज्ञा से इस लिङ्ग को त्यागकर, जहाँ इच्छा हो, वहाँ चला जाय। अधुना यहाँ विद्या तथा विद्येश्वरों के साथ साक्षात् भगवान् शम्भु निवास करेंगे। इसके बाद पाशुपतमन्त्र से प्रत्येक भाग के लिये सहस्त्र आहुतियाँ देकर शान्ति जल से प्रोक्षण करना चाहिये। फिर कुशों द्वारा स्पर्श करके कथित मन्त्र को जपे।।१४-१६।।

तत्पश्चात्, विलोम क्रम से अर्घ्य देकर लिंग और पिण्डिका में स्थित तत्त्वों, तत्त्वाधिपतियों और अष्ट मूर्तीश्वरों का गुरु स्वर्णपाश से विसर्जन करके वृषभ के कंधे पर स्थित रज्जु द्वारा उसको बाँधकर ले जाय तथा जनसमुदाय के साथ शिव नाम का कीर्तन करते हुए, उस वृषभ (नन्दिकेश्वर) को जल में डाल देना चाहिये। फिर मन्त्रज्ञ आचार्य को पुष्टि के लिये सौ आहुतियाँ देनी चाहिये। दिक्पालों की तृप्ति तथा वास्तु शुद्धि के लिये भी सौ-सौ आहुतियों का हवन करना चाहिये। तत्पश्चात् महापाशुपत-मन्त्र से उस मन्दिर में रक्षा की व्यवस्था करके, गुरु को वहाँ विधिपूर्वक दूसरे लिङ्ग की स्थापना करनी चाहिये। असुरों, मुनियों, देवताओं तथा तत्त्ववेत्ताओं द्वारा स्थापित लिंग जीर्ण या भग्न

एष एव विधिः कार्यो जीर्णधामसमुद्धृतौ। खड्गे मन्त्रगणं न्यस्य कारयेन्मन्दिरान्तरम्।।२१।।
संकोचे मरणं प्रोक्तं विस्तारे तु धनक्षयः। तद्द्रव्यं श्रेष्ठव्यं वा तत्कार्यं तत्प्रमाणकम्।।२२।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते जीर्णोद्धारविधिकथनं नाम त्र्यधिकशततमोऽध्यायः।।१०३।।

अथ चतुरधिकशततमोऽध्यायः

प्रासादलक्षणम्

ईश्वर उवाच

वक्ष्ये प्रसादसामान्यलक्षणं ते शिखिध्वज। चतुर्भागीकृते क्षेत्रे भित्तेर्भागेन विस्तरात्।।१।।
अद्रिभागेन (ण) गर्भः स्यात् पिण्डिका पादविस्तरात्। पञ्चभागीकृते चापि मध्यभागे तु पिण्डिका।।२।।
सुषिरं भागविस्तीर्णं भित्तयो भागविस्तरात्। भागौ द्वौ मध्यमे गर्भे ज्येष्ठे भागद्वयेन तु।।३।।
त्रिभिस्तु कन्यासो (?)गर्भः शेषभित्तिरिति क्वचित्। षोढा भक्तेऽथ वा क्षेत्रे भित्तिर्भागैकविस्तरात्।।४।।

हो गया हो, तो भी विधि के द्वारा भी उसको चालित नहीं करना चाहिये।।१७-२१।। जीर्ण-मन्दिर के उद्धार में भी यही विधि काम में लानी चाहिये। मन्त्रगणों का खड्ग में न्यास करके दूसरा मन्दिर तैयार कराये। यदि पहले की अपेक्षा मन्दिर को संकुचित या छोटा कर दिया जाय तो कर्ता की मृत्यु होती है और विस्तार किया जाय तो धन का विनाश होता है। इसलिये प्राचीन मन्दिर के द्रव्य को लेकर या और कोई श्रेष्ठ द्रव्य लेकर पहले के मन्दिर के बराबर ही उस स्थान पर नूतन मन्दिर का निर्माण करना चाहिये।।२२-२३।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी एक सौ तीसरा अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।१०३।।

अध्याय-१०४

प्रासाद के लक्षण

देवाधिदेव भगवान् श्रीशिवशंकर ने कहा कि-हे ध्वजा में मयूर का चिह्न धारण करने वाले स्कन्द! अधुना मैं प्रासाद सामान्य का लक्षण कह रहा हूँ। चतुरस्र क्षेत्र के चार भाग करके एक भाग में भितियों (दीवारों) का विस्तार हो। मध्य के भाग गर्भ के रूप में रहें और एक भाग में पिण्डिका हो। पाँच भाग वाला क्षेत्र के अन्दर का भाग पिण्डिका हो, एक भाग का विस्तार छिद्र (शून्य या खाली जगह) के रूप में हो तथा एक भाग का विस्तार दीवारों के उपयोग में लाया जाय। मध्यम गर्भ में दो भाग और ज्येष्ठ गर्भ में भी दो ही भाग रहें। किंतु कनिष्ठ गर्भ तीन भागों से सम्पन्न होता है; शेष आठवाँ भाग दीवारों के उपयोग में लाया जाय, ऐसा विधान कहीं-कहीं उपलब्ध होता है।।छः भागों द्वारा विभाजित क्षेत्र में एक भाग का विस्तार दीवार के उपयोग में आता है, एक भाग का विस्तार गर्भ है और दो भागों में पिण्डिका स्थापित की जाती है। कहीं-कहीं दीवारों की ऊँचाई उसकी चौड़ाई की अपेक्षा दुगुनी,

गर्भो भागेन विस्तीर्णो भागद्वयेन पिण्डिका। विस्तारादि्द्वगुणो वाऽपि सपादद्विगुणोऽपि वा।।५।।
अर्धार्धद्विगुणो वाऽपि त्रिगुणः क्वचिदुच्छ्रयः। जगती विस्तरार्धेन त्रिभागेन (ण) क्वचिद्भवेत्।।६।।
नेभिः पादेन विस्तीर्णा प्रासादस्य समन्ततः। परिधिस्त्र्यंशको मध्यो रथकांस्तत्र कारयेत्।।७।।
चामुण्डभैरवं तेषु नाट्येशं च निवेशयेत्। प्रासादार्धेन देवानामष्टौ वा चतुरोऽपि वा।।८।।

प्रदक्षिणावहाःकु(हान्कु)र्यात्प्रासादादिषु वानराः (न्)।
आदित्याः पूर्ववत्स्थाप्याः स्कन्दोऽग्निर्वायुगोचरे।।९।।

एवं यमादयो न्यस्याः स्वस्यां दिशि स्थिताः। चतुर्धा शिखरं कृत्वा शुकनासा द्विभागिकाः।।१०।।
तृतीये वेदिका त्वग्ने सकण्ठोऽमलसारकः। वैराजः पुष्पकश्चान्यः कैलासो मणिकस्तया।।११।।
त्रिविष्टपञ्च पञ्चैव मेरुमूर्धनि संस्थितः। चतुरस्रस्तु तत्राऽऽद्यो द्वितीयोऽपि तदायतः।।१२।।
वृत्तो वृत्तायतश्चान्यो ह्यष्टास्रश्चापि पञ्चमः। पुकैको नवधा भेदैश्त्वारिंशच्च पञ्च च।।१३।।
प्रासादः प्रथमो मेरुर्द्वितीयो मन्दरस्तथा। विमानं च तथा भद्रः सर्वतोभद्र एव च।।१४।।
चरुको नन्दको नन्दिर्वर्धमानस्तथाऽपरः। श्रीवत्सश्चेति वैराजान्ववाये च समुत्थिताः।।१५।।
वलभी गृहराजश्च शालागृहं च मन्दिरम्। विशालश्चमसो ब्रह्ममन्दिरम् भुवनं तथा।।१६।।
प्रभवः शिविका वेश्म नवैते पुष्पकोद्भवाः। वलयो दुन्दुभिः पद्मो महापद्मक एव च।।१७।।

सवा दो गुनी, ढाई गुनी अथवा तीन गुनी भी होने का विधान मिलता है। कहीं-कहीं प्रासाद (मन्दिर) के चारों तरफ दीवार के आधे या पौने विस्तार की जगत होती है और चौथाई विस्तार की नेमि। मध्य में एक तृतीयांश की परिधि होती है। यहाँ रथ बनावावे और उनमें चामुण्ड-भैरव तथा नाट्येश की स्थापना करनी चाहिये। प्रासाद के आधे विस्तार में चारों तरफ बाहरी भाग में देवताओं के लिये आठ या चार परिक्रमाएँ बनवाये। प्रासाद आदि में इनका निर्माण वैकल्पिक है। चाहे बनवाये, चाहे न बनवाये।।४-८।।

आदित्यों की स्थापना पूर्व दिशा में और स्कन्द एवं अग्नि की प्रतिष्ठा वायव्य दिशा में करनी चाहिये। इसी तरह यम आदि देवताओं की भी स्थिति उनकी अपनी-अपनी दिशा में मानी गयी है। शिखर के चार भाग करके नीचे के दो भागों की 'शुकनासिका' (गुंबज) संज्ञा है। तीसरे भाग में वेदी की प्रतिष्ठा है। इससे आगे का जो भाग है, वही 'अमलसार' नाम से प्रसिद्ध 'कण्ठ' है। वैराज, पुष्पक, कैलास, मणिक और त्रिविष्टप-ये पाँच ही प्रासाद मेरु के शिखर पर विराजमान हैं। इसलिये प्रासाद के ये ही पाँच मुख्य भेद माने गये हैं।।९-११।।

इनमें पहला 'वैराज' नाम वाला प्रासाद चतुरस्र (चतुरस्र) होता है। दूसरा (पुष्पक) चतुरस्रायत है। तीसरा (कैलास) वृत्ताकार है। चौथा (मणिक) वृत्तायत है तथा पाँचवाँ (त्रिविष्टप) अष्टकोणाकार है। इनमें से प्रत्येक के नौ-नौ भेद होने के कारण कुल मिलाकर पैंतालीस भेद हैं। पहला प्रासाद मेरु, दूसरा मन्दर, तीसरा विमान, चौथा भद्र, पाँचवाँ सर्वतोभद्र, छठा रुचक, सातवाँ नन्दक (अथवा नन्दन), आठवाँ वर्धमान नन्दि अर्थात् नन्दिवर्द्धन और नवाँ श्रीवत्स-ये नौ प्रासाद 'वैराज' के वंश में प्रकट हुए हैं।।१२-१५।।

वलभी, गृहराज, शालागृह, मन्दिर, विशालचमस, ब्रह्म-मन्दिर, भुवन, प्रभव और शिविकावेश्म-ये नौ प्रासाद 'पुष्पक' से प्रकट हुए हैं। वलय, दुंदुभि पद्म, महापद्म, वर्धनी, उष्णीष, शङ्ख, कलश तथा खवृक्ष-ये नौ वृत्ताकार प्रासाद 'कैलास' वंश में उत्पन्न हुए हैं। गज, वृषभ, हंस, गरुत्मान्, ऋक्षनायक, भूषण, भूधर, श्रीजय तथा पृथ्वीधर-ये नौ

वर्धनी वान्य उष्णीषः शङ्खश्च कलशस्तथा। खवृक्षश्च तथाऽप्येते वृत्ताः कैलाससंभवाः॥१८॥
गजोऽथ वृषभो हंसो गरुत्मानृक्षनायकः। भूषणो भूधरश्चान्यः श्रीजयः पृथिवीधराः॥१९॥
वृत्तायतात्समुद्भूता नवैते मणिकाह्वयात्। वज्रं चक्रं तथा चान्यत्स्वस्तिकं वज्रस्वस्तिकम्॥२०॥
चित्रं स्वस्तिकखड्गं च गदा श्रीकण्ठ एव च। विजयो नामतश्चैते त्रिविष्टपसमुद्भवाः॥२१॥
नगराणामिमाः संज्ञा लाटादीनामिमास्तथा। ग्रीवार्धेनोन्नतं चूलं पृथुलं स्वत्रिभागतः॥२२॥
दशधा वेदिकां कृत्वा पञ्चभिः स्कन्धविस्तरः। त्रिभिः कण्ठं तु कर्त्तव्यं चतुर्भिस्तु प्रचण्डकम्॥२३॥
दिक्षु द्वाराणि कार्याणि न विदिक्षु कदाचन। पिण्डिका कोणविस्तीर्णा मध्यमान्ता ह्युदाहृता॥२४॥
क्वचित्पञ्चमभागेन महतां गर्भपादतः। उच्छ्रायो द्विगुणस्तेषामन्यथा वा निगद्यते॥२५॥
षष्ट्याऽधिकात्समारभ्य अङ्गुलानां शतादिह। उत्तमान्यपि चत्वारि द्वाराणि दशहानितः॥२६॥
त्रीण्येव मध्यमानि स्युस्त्रीण्येव कन्यसान्यधः। उच्छ्रयार्धेन विस्तारो ह्युच्छ्रायो ह्यधिकस्त्रिधा॥२७॥
चतुर्भिरष्टभिर्वाऽपि दशभिर्वाऽङ्गुलैः शुभः। उच्छ्रायात्पादविस्तीर्णाः शाखास्तद्वदुदुम्बरौ (रे)॥२८॥
विस्तारार्धेन बाहुल्यं सर्वेषामेव कीर्तितम्। त्रिपञ्चसप्तनवभिः शाखाभिर्द्वारमिष्टदम्॥२९॥
अधः शाखाचतुर्थांशे प्रतीहारौ निवेशयेत्। मिथुनैः पादवर्णाभिः शाखाशेषं विभूषयेत्॥३०॥

वृत्तायत प्रासाद 'मणिक' नामक मुख्य प्रासाद से प्रकट हुए हैं। वज्र, चक्र, स्वस्तिक वज्रस्वस्तिक (अथवा वज्रहस्तक), चित्र, स्वस्तिक-खड्ग, गदा, श्रीकण्ठ और विजय—ये नौ प्रासाद 'त्रिविष्टप' से प्रकट हुए हैं॥१६-२१॥

ये नगरों की भी संज्ञाएँ हैं। ये ही लाट आदि की भी संज्ञाएँ हैं। शिखर की जो ग्रीवा (या कण्ठ) है, उसके आधे भाग के बराबर ऊँचा चूल (चोटी) हो। उसकी मोटाई कण्ठ के तृतीयाँश के बराबर हो। वेदी के दस भाग करके पाँच भागों द्वारा स्कन्ध का विस्तार करना चाहिये, तीन भागों द्वारा कण्ठ और चार भागों द्वारा उसका अण्ड (या प्रचण्ड) बनाना चाहिये॥२२-२३॥

पूर्वादि दिशाओं में ही द्वार रखने चाहिये, कोणों में कदापि नहीं। पिण्डिका-विस्तार कोण तक जाना चाहिये, मध्यम भाग तक उसकी समाप्ति हो—ऐसा विधान है। कहीं-कहीं द्वारों की ऊँचाई गर्भ के चौथे या पाँचवें भाग से दूनी रखनी चाहिये। अथवा इस विषय को अन्य तरह से भी बतलाया जाता है। एक सौ साठ अंगुल की ऊँचाई से लेकर दस-दस अंगुल घटाते हुए जो चार द्वार बनते हैं, वे श्रेष्ठतम माने गये हैं (जिस प्रकार १६०, १५०, १४० और १३० अंगुल तक ऊँचे द्वार श्रेष्ठतम कोटि में गिने जाते हैं।) एक सौ बीस, एक सौ दस और सौ अंगुल ऊँचे द्वार मध्यम श्रेणी के अन्तर्गत हैं तथा इससे कम ९०, ८० और ७० अंगुल ऊँचे द्वार कनिष्ठ कोटि के बताये गये हैं। द्वार की जितनी ऊँचाई हो, उससे आधी उसकी चौड़ाई होनी चाहिये। ऊँचाई कथित माप से तीन, चार, आठ या दस अङ्गुल भी हो, तो शुभ है। ऊँचाई से एक चौथाई विस्तार होना चाहिये, दरवाजे की शाखाओं (बाजुओं) का अथवा उन सबकी ही चौड़ाई द्वार की चौड़ाई से आधी होनी चाहिये—ऐसा बतलाया गया है। तीन, पाँच, सात तथा नौ शाखाओं द्वारा निर्मित द्वार अभीष्ट फल को देने वाला है॥२४-२९॥

नीचे की जो शाखा है उसके एक चौथाई भाग में दो द्वारपालों की स्थापना करनी चाहिये। शेष शाखाओं को स्त्री-पुरुषों के जोड़े की आकृतियों से विभूषित करना चाहिये। द्वार के ठीक सामने खम्भा पड़े तो 'स्तम्भवेध नामक

स्तम्भविद्धे भृत्यता स्याद्वृक्षविद्धे त्वभूतिता। कूपविद्धे भयं द्वारे क्षेत्रविद्धे धनक्षयः।।३१।।
प्रासादगृहशालादि मार्ग विद्धेषु बन्धनम्। सभाविद्धेन दारिद्र्यं वर्णविद्धै निराकृतिः।।३२।।
उलूखलेन दारिद्र्यं शिलाविद्धेन शत्रुता। छायाविद्धेन दारिद्र्यं वेधदोषो न जायते।।३३।।
छेदादुत्पाटनाद्वाऽपि तथा प्राकारलक्षणात्। सीमाया द्विगुणत्यागाद्वेधदोषो न जायते।।३४।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गति सामान्यप्रासादलक्षणकथनं नाम चतुरधिकशततमोऽध्यायः।।१०४।।

दोष होता है। इससे गृहस्वामी को दासता प्राप्त होती है। वृक्ष से वेध हो, तो ऐश्वर्य का विनाश होता है, कूप से वेध हो, तो भय की प्राप्ति हो जाती है और क्षेत्र से वेध होने पर धन की हानि होती है।।३०-३१।।

प्रासाद, गृह एवं शाला आदि के मार्गों से द्वारों के विद्ध होने पर बन्धन प्राप्त होता है, सभा से वेध प्राप्त होने पर दरिद्रता होती है तथा वर्ण के वेध हो, निराकरण अर्थात् तिरस्कार प्राप्त होता है। उलूखल से वेध हो, तो दारिद्र्य, शिला से वेध हो, तो शत्रुता और छाया से वेध हो, तो निर्धनता प्राप्त होती है। इन सभी का छेदन अथवा उत्पाटन हो जाने से वेध-दोष नहीं लगता है। इनके मध्य में चहारदीवारी उठा दी जाय तो भी वेध-दोष दूर हो जाता है। अथवा सीमा से दुगुनी भूमि छोड़कर ये वस्तुएँ हों तो भी वेध-दोष नहीं होता है।।३२-३४।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी एक सौ चौथा अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।१०४।।

❖❖❖

अथ पञ्चाधिकशततमोऽध्यायः

गृहादिवास्तुकथनम्

ईश्वर उवाच

नगरग्रामदुर्गादौ गृहप्रासादवृद्धये। एकाशीतिपदे वास्तुं पूजयेत्सिद्धये ध्रुवम्॥१॥
प्रागास्या दशधा नाड्यस्तासां नामानि च ब्रुवे। शान्ता यशोवती कान्ता विशाला प्राणवाहिनी॥२॥
सतीं वसुमती नन्दा सुभद्राऽथ मनोरमा। उत्तरस्या दशान्याश्च एकाशीत्यङ्घ्रिकारिका॥३॥
हरिणी सुप्रभा लक्ष्मीर्विभूतिर्विमला प्रिया। जया ज्वाला विशोका च स्मृतास्ताः सूत्रपाततः॥४॥
ईशाद्यष्टकं दिक्षु यजेदीशं धनञ्जयम्। शक्रमर्कं तथा सत्यं भृत्यं व्योम च पूर्वतः॥५॥
हव्यवाहं च पूषाणं वितथं भौममेव च। कृतान्तमथ गन्धर्वं भृङ्गं मृगं च दक्षिणे॥६॥
पितरं द्वारपालं च सुग्रीवं पुष्पदन्तकम्। वरुणं दैत्यशेषौ च यक्ष्माणं पश्चिमे सदा॥७॥
रोगाहिमुख्यो भल्लाटः सौभाग्यमदितिर्दितिः। नवान्तः पदगो ब्रह्मा पूज्योऽर्धे च षडङ्घ्रिगाः॥८॥

अध्याय-१०५

गृह आदि वास्तु प्रतिष्ठा विधान

देवाधिदेव भगवान् श्रीशिवशंकर ने कहा कि-हे स्कन्द! नगर, ग्राम तथा दुर्ग आदि में गृहों और प्रासादों की वृद्धि हो, इसकी सिद्धि के लिये इक्यासी पदों का वास्तुमण्डल बनाकर उसमें वास्तु-देवता की पूजा अवश्य करनी चाहिये। दस रेखा पश्चिम से पूर्व की तरफ और दस दक्षिण से उत्तर की तरफ खींचने पर इक्यासी पद तैयार होते हैं। पूर्वाभिमुखी दस रेखाएँ दस नाड़ियों की प्रतीक भूता हैं। उन नाडियों के नाम इस तरह बताये गये हैं-शान्ता, यशोवती, कान्ता, विशाला, प्राणवाहिनी, सती, वसुमती, नन्दा, सुभद्रा और मनोरमा। उत्तराभिमुख प्रवाहित होने वाली दस नाडियाँ और हैं, जो कथित नौ पदों को इक्यासी पदों में विभाजित करती हैं; उनके नाम ये हैं-हरिणी, सुप्रभा, लक्ष्मी, विभूति, विमला, प्रिया, जया, विजया, ज्वाला और विशोका। सूत्रपात करने से रेखामयी नाडियाँ अभिव्यक्त होकर चिन्तन विषय बनती हैं॥१-४॥

ईश आदि आठ-आठ देवता 'अष्टक' हैं, जिनका चारों दिशाओं में पूजन करना चाहिये। (पूर्वादि चार दिशाओं के पृथक्-पृथक् अष्टक हैं।) ईश, घन (पर्जन्य), जय (जयन्त), शक्र (इद्र), अर्क (आदित्य या सूर्य), सत्य, भृश और व्योम (आकाश)-इन आठ देवताओं का वास्तुमण्डल में पूर्व दिशा के पदों में पूजन करना चाहिये। हव्यवाह (अग्नि), पूषा, वितथ, सौम (सोमपुत्र गृहक्षत), कृतान्त (यम), गन्धर्व, भृङ्ग (भृङ्गराज) और मृग-इन आठ देवताओं की दक्षिण दिशा के पदों में अर्चना करनी चाहिये। पितर, द्वारपाल (या दौवारिक), सुग्रीव, पुष्पदन्त, वरुण, दैत्य (असुर), शेष (या शोष) और यक्ष्मा (पापयक्ष्मा)-इन आठों का सदा पश्चिम दिशा के पदों में पूजन करने की विधि है। रोग, अहि (नाग), मुख्य, भल्लाट, सोम, शैल (ऋषि), अदिति और दिति-इन आठों की उत्तर दिशा के पदों में पूजा होनी चाहिये। वास्तुमण्डल के मध्यवर्ती नौ पदों में ब्रह्माजी पूजित होते हैं और शेष अड़तालीस पदों में से आधे में अर्थात् चौबीस पदों में वे देवता पूजनीय हैं, जो अकेले छः पदों पर अधिकार रखते हैं। (ब्रह्माजी के चारों

ब्रह्मेशान्तरकोष्ठस्थमायाख्यं तु पदद्वये। तदधश्चापवत्साख्यं केन्द्रान्तरेषु षट्पदे।।९।।
मरीचिकाऽग्निमध्ये तु सविता द्विपदस्थितः। सावित्री तदधो द्व्यंशे विवस्वान्षट्पदे त्वधः।।१०।।
पितृब्रह्मान्तरे विष्णुमिन्दुमिन्द्रं त्वधो जयम्। वरुणब्रह्मणोर्मध्ये मित्राख्यं षट्पदे यजेत्।।११।।
रोगब्रह्मान्तरे नित्यं विष्णुं च रुद्रदासकम्। तदधो द्व्यङ्घ्रिग्रं यक्ष्म षट्सौम्येषु धराधरम्।।१२।।
चरकी स्कन्दविकटं विदारीं पूतनां क्रमात्। जम्भं पापं पिलिपिच्छं यजेदीशादिबाह्यतः।।१३।।
एकाशीतिपदं वेश्म मण्डपश्च शताङ्घ्रिकः। पूर्ववद्देवता पूज्या ब्रह्मा तु षोडशांशके।।१४।।
मरीचिश्च विवश्वांश्च मित्रं पृथ्वीधरस्तथा। दशकोष्ठस्थिता दिक्षु त्वन्ये चेशादिकोणगाः।।१५।।
दैत्यमाता तथेशाग्नी मृगाख्यौ पितरौ तथा। पापयक्ष्मानिलौ देवाः सर्वे सार्धाङ्घ्रिके स्थिताः।।१६।।
य (प?) त्याद्योकः प्रवक्ष्यामि संक्षेपेण क्रमाद्‌गुह। सदिग्विंशत्करैर्दैर्घ्यादष्टाविंशतिविस्तरात्।।१७।।
शिवाश्रयः शिवाख्यश्च रुद्रहीनः सदोभयोः। रुद्रद्विगुणितानाहाः पृथुष्णोभिर्विना (?) त्रिभिः।।१८।।
स्याद्‌गृहद्विगुणं दैर्घ्यात्तिथिभिश्चैव विस्तरात्। सावित्र्यः सालयः कुड्या अन्येषां पृथक्स्त्रिशांशतः।।१९।।

तरफ एक-एक करके चार देवता षट्पदगामी हैं—जिस प्रकार पूर्व में मरीचि (या अर्यमा), दक्षिण में विवस्वान्, पश्चिम में मित्र देवता तथा उत्तर में पृथ्वीधरा।)।।५-८।।

ब्रह्माजी तथा ईश के मध्यवर्ती कोष्ठकों में जो दो पद हैं, उनमें 'आप' की तथा नीचे वाले दो पदों में 'आपवत्स' की पूजा करनी चाहिये। इसके बाद छः पदों में मरीचि की अर्चना करनी चाहिये। मरीचि और अग्नि के मध्य में जो कोणवर्ती दो पद हैं, उनमें सविता की स्थिति है और उनसे निम्नभाग के दो पदों में सावित्र तेज या सावित्री की। उसके नीचे छः पदों में विवस्वान् विद्यमान हैं। पितरों और ब्रह्माजी के मध्य के दो पदों में विष्णु-इन्दु स्थित हैं और नीचे के दो पदों में विष्णु-इन्दु स्थित हैं और नीचे के दो पदों में इन्द्र-जय विद्यमान हैं, इनकी पूजा करनी चाहिये। वरुण तथा ब्रह्मा के मध्यवर्ती छः पदों में मित्र-देवता का यजन करना चाहिये। रोग तथा ब्रह्मा के मध्य वाले दो पदों में रुद्र-रुद्रदास की पूजा करनी चाहिये और नीचे के दो पदों में यक्ष्म की। फिर उत्तर के छः पदों में धराधर (पृथ्वी धर) का यजन करना चाहिये। फिर मण्डल के बाहर ईशानादि कोणों के क्रम से चरकी, स्कन्द, बिदारी विकट पूतना, जम्भ, पापा (पापराक्षसी) तथा पिलिपिच्छ पूतना, जम्भ, पापा (पापराक्षसी) तथा पिलिपिक्ष (या पिलिपित्स)—इन बालग्रहों की पूजा करनी चाहिये।।९-१३।।

यह इक्यासी पद वाले वास्तुचक्र का वर्णन हुआ। एक शतपद-मण्डप भी होता है। उसमें भी पूर्ववत् देवताओं की पूजा का विधान है। शतपदचक्र के मध्यवर्ती सोलह पदों में ब्रह्माजी की पूजा करनी चाहिये। ब्रह्माजी के पूर्व आदि चार दिशाओं में स्थित मरीचि, विवस्वान्, मित्र तथा पृथ्वी धर की दस-दस पदों में पूजा का विधान है। अन्य जो ईशान आदि कोणों में स्थित देवता हैं, जिस प्रकार दैत्यों की माता दिति और ईश; अग्नि तथा मृग (पूषा) और पितर तथा पापयक्ष्मा और अनिल (रोग)—वे सब के सब डेढ़-डेढ़ पद में अवस्थित हैं।।१४-१६।।

हे स्कन्द! अधुना मैं यज्ञ आदि के लिये जो मण्डप होता है, उसका संक्षेप से तथा क्रमशः वर्णन करने जा रहा हूँ। तीस हाथ लम्बा और अट्ठाइस हाथ चौड़ा मण्डप शिव का आश्रय है। लम्बाई और चौड़ाई—दोनों में ग्यारह-ग्यारह हाथघटा देने पर उन्नीस हाथ लम्बा और सत्रह हाथ चौड़ा मण्डप शिव संज्ञक होता है। बाईस हाथ लम्बा तथा उन्नीस हाथ चौड़ा अथवा अठारह हाथ लम्बा तथा पन्द्रह हाथ चौड़ा मण्डप हो, तो वह सावित्र-संज्ञा वाला कहा गया

कुड्यपृथूपजङ्घोच्चात्कुड्यं तु त्रिगुणोच्छ्रयम्। कुड्यसूत्रसमा पृथ्वी वीथीभेदादनेकधा॥२०॥
भद्रे तुल्यं च वीथीभिर्द्वारवीथी विनाग्रतः। श्रीजयं पृष्ठतो हीनं भद्रोऽयं पार्श्वयोर्विना॥२१॥
गर्भपृथुसमा वीथी तदर्धार्धेन वा क्वचित्। वीथ्यधनोपवीथ्याद्यमेकद्वित्रिपुरान्वितम्॥२२॥
सामान्यान्यगृहं वक्ष्ये सर्वेषां सर्वकामदम्। एकंद्वित्रिचतुःशालमष्टशालं यथाक्रमम्॥२३॥
एकं याम्ये च सौमास्यं द्वे चेत्पश्चात्पुरोमुखम्। चतुःशालं तु सांमुख्यात्तयोरिन्द्रेन्द्रमुक्तयोः॥२४॥
शिवास्यमम्बुपास्यैष (?) इन्द्रास्ये यमसूर्यकम्। प्राक्सौम्यस्थे च दण्डाख्यं प्राग्याम्ये वातसंज्ञकम्॥२५॥
आप्येन्दौ गृहवल्याख्यं त्रिशूलं तद्विनार्धिकृत्। पूर्वशालाविहीनं स्यात्सुक्षेत्रं वृद्धिदायकम्॥२६॥
याम्ये हीनं भवेच्छूली त्रिशालं वित्तकृत्परम्। पक्षघ्नं जलहीनौकः सुतघ्नं बहुशत्रुकृत्॥२७॥
इन्द्रादिक्रमतो वच्मि ध्वजाद्यष्टौ गृहाण्यहम्। प्रक्षालानुस्रगावासमग्नौ तस्य महानसम्॥२८॥
याम्ये रसक्रिया शय्या धनुः शस्त्राणि रक्षसि। धनभुक्त्यम्बुपेशाख्ये सम्यगन्धौ (?) च मारुते॥२९॥
सौम्ये धनपशू कुर्यादीशे दीक्षावरालयम्। स्वामिहस्तमितं वेश्म विस्तारायामि पिण्डिकम्॥३०॥

है। अन्य गृहों का विस्तार आंशिक होता है। दीवार की जो मोटी उपजङ्घा (कुर्सी) होती है, उसकी ऊँचाई से दीवार की ऊँचाई तिगुनी होनी चाहिये। दीवार के लिये जो सूत से मान निश्चित किया गया हो, उसके बराबर ही उसके सामने भूमि (सहन) होनी चाहिये। वह वीथी के भेद से अनेक भेद वाली होती है॥१७-२०॥

'भद्र' नामक प्रासाद में वीथियों के समान ही 'द्वारवीथी' होती है; केवल वीथी का अग्रभाग द्वारवीथी में नहीं होता है। 'श्रीजय' नामक प्रासद में जो द्वारवीथी होती है, उसमें वीथी का पृष्ठ भाग नहीं होता है। वीथी के पार्श्व भागों को द्वारवीथी में कम कर दिया जाय, तो उससे उपलक्षित प्रासाद की भी 'भद्र' संज्ञा ही होती है। गर्भ के विस्तार की ही भाँति वीथी का भी विस्तार होता है। कहीं-कहीं उसके आधे या चौथाई भाग के बराबर भी होता है। वीथी के आधे मान से उपवीथी आदि का निर्माण करना चाहिये। वह एक, दो या तीन पुरों से युक्त होता है। अधुना अन्य सामान्य गृहों के विषय में बतलाया जाता है; गृह का वैसा स्वरूप हो, तो वह सबकी समस्त कामनाओं को पूर्ण करने वाला होता है। वह क्रमशः एक, दो, तीन, चार और आठ शालाओं से युक्त होता है। एक शाला वाले गृह की शाला दक्षिण भाग में बनती है और उसका दरवाजा उत्तर की तरफ होता है। यदि दो शालाएँ बनानी हों तो पश्चिम और पूर्व में बनवाये और उनका द्वार आमने-सामने पूर्व पश्चिम की तरफ रखे। चार शालाओं वाला गृह चार द्वारों और अलिन्दों से युक्त होने के कारण सर्वतोमुख होता है। वह गृहस्वामी के लिये कल्याणकारी है। पश्चिम दिशा की तरफ दो शालाएँ हों तो उस द्विशाल-गृह 'यमसूर्यक' कहा गया है। पूर्व तथा उत्तर की तरफ शालाएँ हों तो उस गृह की 'दण्ड' संज्ञा है तथा पूर्व-दक्षिण की तरफ दो शालाएँ हों तो वह गृह 'वात' संज्ञक होता है। जिस तीन शाला वाले गृह में पूर्व दिशा की तरफ शाला न हो, उसको 'सुक्षेत्र' कहा गया है, वह बुद्धि सम्प्रदायक होता है॥२१-२६॥

यदि दक्षिण दिशा में कोई शाला न हो (और अन्य दिशाओं में हो) तो उस गृह की 'विशाल' संज्ञा है। वह वंशक्षयकारी तथा अत्यन्त भयसम्प्रदायक होता है। जिसमें पश्चिम दिशा में ही शाला न बनी हो, उस विशाल गृह को 'पक्षघ्न' कहते हैं। वह पुत्र-हानिकारक तथा बहुत से शत्रुओं का उत्पादक होता है। अधुना मैं पूर्वादि दिशाओं के क्रम से 'ध्वज' आदि आठ गृहों का वर्णन करने जा रहा हूँ। (ध्वज, धूम, सिंह, श्वान, वृषभ, घर गधा), हाथी और काक- ये ही आठों के नाम हैं।) पूर्व-दिशा में स्नान और अनुग्रह (लोगों से कृपापूर्वक मिलने) के लिये गृह बनाये। अग्निकोण

त्रिगुणं हस्तसंयुक्तं कृत्वाऽटांशैर्हृतं तथा। तच्छेषोऽयं स्थितस्तेन वायसान्तं ध्वजादिकम्।।३१।।
त्रयः पक्षाग्निवेदेषु रसर्षिवसुतो भवेत्। सर्वनाशकरं वेश्म मध्ये चान्ते च संस्थितम्।।३२।।
तस्माच्च नवमे भागे शुभकृन्निलयो मतः। तन्मध्ये मण्डपः शस्तः समो वा द्विगुणायतः।।३३।।
प्रत्यगाप्ये चेन्दुयमे हट्ट एव गृहावली। एकैकभुवनाख्यानि दिक्ष्वाष्टाक संख्ययाः।।३४।।
ईशाद्यदितिकान्तानि फलान्येषां यथाक्रमम्। भयं नारीचलत्वं च जयो वृद्धिः प्रतापकः।।३५।।
धर्मः कलिश्च नैस्व्यं च प्राग्द्वारेष्वष्टसु ध्रुवम्। दाहोऽसुखं सुहृन्नाशो धननाशो मृतिर्धनम्।।३६।।
शिल्पितत्वं तनयः स्याच्च याम्यद्वारफलाष्टकम्। आयुष्प्राव्राज्यसस्यानि धनशान्त्यर्थसंक्षयः।।३७।।
शोषं (ष) भोगं चापत्यं च जलद्वारफलानि च। रोगो मदार्तिमुख्यत्वं चार्थायुः कृशतामतिः।।३८।।
मानश्च द्वारतः पूर्व उत्तरस्यां दिशि क्रमात्।।३९।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते नगरगृहादिवास्तुप्रतिष्ठाविधिकथनं नाम पञ्चाधिकशततमोऽध्यायः।।१०५।।
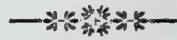
में उसका रसाई गृह होना चाहिये। दक्षिण दिशा में रस-क्रिया तथा शय्या (शयन) के लिये गृह बनाना चाहिये। नैर्ऋत्यकोण में शस्त्रागार रहना चाहिये। पश्चिम दिशा में धन रत्न आदि के लिये कोषागार रखे। वायव्यकोण में सम्यक् अन्नागर स्थापित रखे। वायव्यकोण में सम्यक् अन्नागार स्थापित करना चाहिये। उत्तर दिशा में धन और पशुओं को रखे तथा ईशानकोण में दीक्षा के लिये श्रेष्ठतम भवन बनवाये। गृहस्वामी के हाथ से नापे हुए गृह का जो पिण्ड है, उसकी लम्बाई-चौड़ाई के हस्तमान को तिगुना करके उसमें आठ से भाग देना चाहिये। उस भाग का जो शेष हो, तदनुसार यह ध्वज आदि आय स्थित होता है। उसी से ध्वजादि-काकान्त आय का ज्ञान होता है। दो, तीन, चार, छः, सात और आठ शेष बचे तो उसके अनुसार शुभाशुभ फल हो। यदि मध्य (पाँचवें) और अन्तिम (काक) में गृह की स्थिति हुई तो वह गृह सर्वनाशकारी होता है। इसीलिये आठ शुभकारक होता है। उस नवम भाग में ही मण्डप श्रेष्ठतम माना गया है। उसकी लम्बाई चौड़ाई बराबर रहे अथवा चौड़ाई से लम्बाई दुगुनी रहना चाहिये।२७-३३।।

पूर्व से पश्चिम की तरफ तथा उत्तर से दक्षिण की तरफ बाजार में ही गृहपङ्क्ति देखी जाती है। एक-एक भवन के लिये प्रत्येक दिशा में आठ-आठ द्वार हो सकते हैं। इन आठों द्वारों के क्रमशः फल भी पृथक्-पृथक् कहे जाते हैं। भय, नारी की चपलता, जय, वृद्धि, प्रताप, धर्म, कलह तथा निर्धनता-ये पूर्ववर्ती आठ द्वारों के अवश्यम्भावी फल हैं। दाह, दुःख, सुहृन्नाश, धननाश, मृत्यु, धन, शिल्पज्ञान तथा पुत्र की प्राप्ति-ये दक्षिण दिशा के आठ द्वारों के फल हैं। आयु, संन्यास, सस्य, धन, शान्ति, अर्थनाश, शोषण, भोग एवं संतान की प्राप्ति-ये पश्चिम द्वार के फल हैं। रोग, मद, आर्ति, मुख्यता, अर्थ, आयु, कृशता और मान-ये क्रमशः उत्तर दिशा के द्वार के फल हैं।।३४-३८।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी एक सौ पाँचवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।१०५।।

❖❖❖

अथ षडधिकशततमोऽध्यायः

नगरादिकवास्तुकथनम्

ईश्वर उवाच

नगरादिकवास्तुं च वक्ष्ये राज्यादिवृद्धये। योजनं योजनार्धं वा तदर्थं स्नानमाश्रयेत्।।१।।
अभ्यर्च्य वास्तुनगरं प्राकाराढ्यं तु कारयेत्। ईशादि त्रिंशत्पदके पूर्वद्वारं च सूर्यके।।२।।
गन्धर्वाभ्यां दक्षिणे स्याद्वारुण्ये पश्चिमे तथा। सौम्यद्वारं सौम्यपदे कार्या हट्टास्तु विस्तराः।।३।।
येनेभादिसुखं गच्छेत्कुर्याद्द्वारं तु षट्करम्। छिन्नकर्णं विभिन्नं च चन्द्रार्धाभ पुरं न हि।।४।।
वज्रसूचीमुखं नेष्टं सकृद्द्वित्रिसमागमम्। चापाभं वज्रनागाभं पुरारम्भे हि शान्तिकृत्।।५।।
प्रार्च्य विष्णुहरार्कादीन्नत्वा दद्याद्बलिं बली। आग्नेये स्वर्णकर्मारान्पुरस्य विनिवेशयेत्।।६।।
दक्षिणे नृत्यवृत्तीनां वेश्यास्त्रीणां गृहाणि च। नटानां चक्रिकादीनां कैवर्तादेश्च नैर्ऋते।।७।।
रथानामायुधानां च कृपाणानां च वारुणे। शौण्डिकाः कर्माधिकृता वायव्ये परिकर्मिणः।।८।।
ब्राह्मणा यतयः सिद्धाः पुण्यवन्तश्च चोत्तरे। फलाद्यादिविक्रयिण ईशाने च वणिग्जनाः।।९।।
पूर्वतश्च बलाध्यक्षा आग्नेये विविधं बलम्। स्त्रीणामादेशिनो दक्षे काण्डारान्नैर्ऋते न्यसेत्।।१०।।
पश्चिमे च महामात्यान्कोषपालांश्च कारुकान्। उत्तरे दण्डनाथांश्च नायकद्विजसंकुलान्।।११।।
पूर्वतः क्षत्रियान्दक्षे वैश्याञ्शूद्रांश्च पश्चिमे। दिक्षु वैद्यान्वाजिनश्च बलानि च चतुर्दिशम्।।१२।।

अध्याय–१०६

नगर आदि वास्तु विधान

भगवान् महेश्वर ने कहा कि–हे कार्तिकेय! अधुना मैं राज्यादि की अभिवृद्धि के लिये नगर-वास्तु का वर्णन करने जा रहा हूँ। नगर-निर्माण के लिये एक योजन या आधी योजन भूमि ग्रहण करना चाहिये। वास्तु-नगर का पूजन करके उसको प्राका से संयुक्त करना चाहिये। ईशादि तीस पदों में सूर्य के सम्मुख पूर्वद्वार, गन्धर्व के सन्निकट दक्षिणद्वार, वरुण के सन्निकट पश्चिमद्वार और सोम के सन्निकट उत्तरद्वार बनाना चाहिये। नगर में चौड़े-चौड़े बाजार बनाने चाहिये। नगरद्वार छः हाथ चौड़ा बनाना चाहिये, जिससे हाथी आदि सुखपूर्वक आ-जा सकें। नगर छिन्नकर्ण, भग्न तथा अर्धचन्द्राकार नहीं होना चाहिये। वज्रसूचीमुख नगर भी हितकर नहीं है। एक, दो या तीन द्वारों से युक्त धनुषाकार वज्रनागाथ नगर का निर्माण शान्तप्रद है।।१-५।। नगर के आग्नेय कोण में स्वर्णकारों को बसावे, दक्षिण दिशा में नृत्योपजीविनी वाराङ्गनाओं के भवन हों। नैर्ऋत्यकोण में नट, कुम्भकार तथा केवट आदि के आवास-स्थान होने चाहिये। पश्चिम में रथकार, आयुधकार और खड्ग-निर्माताओं का निवास हो। नगर के वायव्यकोण में मद्य-विक्रेता, कर्मकार तथा भृत्यों का निवेश करना चाहिये। उत्तर दिशा में ब्राह्मण, यति, सिद्ध और पुण्यात्मा पुरुषों को बसावे। ईशानकोण में फलादि का विक्रय करने वाले एवं वणिग् जन निवास करें। पूर्व दिशा में सेनाध्यक्ष रहें। आग्नेयकोण में विविध सैन्य, दक्षिण में स्त्रियों को ललित कला की शिक्षा देने वाले आचार्यों तथा नैर्ऋत्यकोण में धनुर्धर सैन्यकों को रखे। पश्चिम में माहामात्य, कोषपाल एवं कारीगरों को, उत्तर में दण्डाधिकारी, नायक तथा द्विजों को; पूर्व में क्षत्रियों को दक्षिण में वैश्यों को, पश्चिम में शूद्रों को, विभिन्न दिशाओं में वैद्यों को और अश्वों तथा सेना को चारों तरफ रखे।।६-१२।।

पूर्वेण चरलिङ्ग्यादिञ्श्मशानादीनि दक्षिणे। पश्चिमे गोधनाद्यं च कृषिकर्तृस्तथोत्तरे।।१३।।
न्यसेन्मूलेच्छांश्च कोणेषु ग्रामादिषु तथा स्थितिम्। श्रियं वैश्रवणं द्वारि पूर्वे तौ पश्यतां श्रियम्।।१४।।
देवादीनां पश्चिमतः (पूर्वास्यानि गृहाणि हि। पूर्वतः पश्चिमास्यानि दक्षिणे चोत्तराननाम् (?)।।१५।।
नाकेशविष्ण्वादिधामानि रक्षार्थं नगरस्य च)। निर्दैवतं तु नगरग्रामदुर्गगृहादिकम्।।१६।।
भुज्यते तत्पिशाचाद्यै रोगाद्यैः परिभूयते। नगरादि सदैवं हि जयदं भुक्तिमुक्तिदम्।।१७।।
पूर्वायां (र्वस्यां) श्रीगृहं प्रोक्तमाग्नेय्यां वै महानसम्। शयनं दक्षिणस्यां तु नैर्ऋत्यामायुधाश्रयम्।।१८।।
भोजनं पश्चिमायां तु वायव्यां धान्यसंग्रहः। उत्तरे द्रव्यसंस्थानमैशान्यां देवतागृहम्।।१९।।
चतुःशालं त्रिशालं वा द्विशालं चैकशालकम्। चतुःशालगृहाणां तु शालालिन्दकभेदतः।।२०।।
शतद्वयं तु जायन्ते पञ्चाशत्पञ्च तेष्वपि। त्रिशालानि तु चत्वारि द्विशालानि तु पञ्चधा।।२१।।
एकशालानि चत्वारि एकालिन्दानि वच्मि च। अष्टाविंशदलिन्दानि गृहाणि नगराणि च।।२२।।
चतुर्भिः सप्तभिश्चैव पञ्चपञ्चाशदेव तु। षडलिन्दानि विंशैव अष्टाभिर्विंश (?) एव हि।।२३।।
अष्टालिन्दं भवेदेवं नगरादौ गृहाणि हि।।२४।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते नगरादि वास्तुकथनं नाम षडधिकशततमोऽध्यायः।।१०६।।

राजा पूर्व में गुप्तचरों, दक्षिण में श्मशान, पश्चिम में गोधन और उत्तर में कृषकों का निवेश करना चाहिये। म्लेच्छों को दिक्कोण में स्थान दे अथवा ग्रामों में स्थापित करना चाहिये। पूर्वद्वार पर लक्ष्मी एवं कुबेर की स्थापना करनी चाहिये। जो उन दोनों का दर्शन करते हैं, उनको लक्ष्मी (सम्पत्ति) की प्राप्ति हो जाती है। पश्चिम में निर्मित देवमन्दिर पूर्वाभिमुख, पूर्व दिशा में स्थित पश्चिमाभिमुख तथा दक्षिण दिशा के मन्दिर उत्तराभिमुख होने चाहिये। नगर की रक्षा के लिये इन्द्र और विष्णु आदि देवताओं के मन्दिर बनवाये। देवशून्य नगर, ग्राम, दुर्ग तथा गृह आदि का पिशाच उपभोग करते हैं और वह रोग समूह से परिभूत हो जाता है। उपरोक्त विधि से निर्मित नगर आदि सदा जयप्रद और भोग-सम्प्रदान करने वाले होते हैं।।१३-१७।।

वास्तु-भूमि की पूर्व दिशा में शृङ्गार-कक्ष, अग्निकोण में पाकागृह (रसोई गृह), दक्षिण में शयन गृह, नैर्ऋत्य कोण में शस्त्रागार, पश्चिम में भोजन गृह, वायव्य कोण में धान्य-संग्रह, उत्तर दिशा में धनागार तथा ईशानकोण में देवगृह बनवाना चाहिये। नगर में एकशाल, द्विशाल, त्रिशाल या चतुःशालगृह का निर्माण होना चाहिये। चतुःशाल-गृह के शाला और अलिन्द (प्राङ्गण) के भेद से दो सौ भेद होते हैं। उसमें भी चतुःशाल-गृह के पचपन, त्रिशाल-गृह के चार तथा द्विशाल के पाँच भेद होते हैं।।१८-२१।।

एकशाल-गृह के चार भेद हैं। अधुना मैं अलिन्दयुक्त गृह के विषय में बतलाता हूँ, सुनिये। गृह-वास्तु तथा नगर-वास्तु में अट्ठाईस अलिन्द होते हैं। चार तथा सात अलिन्दों से पचपन, छः अलिन्दों से बीस तथा आठ अलिन्दों से भी बीस भेद होते हैं। इस तरह नगर आदि में आठ अलिन्दों से युक्त वास्तु भी होता है।।२२-२४।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी एक सौ छठा अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।१०६।।

❖❖❖

अथ सप्ताधिकशततमोऽध्यायः

स्वायंभुवसर्गकथनम्

अग्निरुवाच

वक्ष्ये भुवनकोषं च पृथ्वीद्वीपादिलक्षणम्। अग्निध्रश्चाग्निबाहुश्च वपुष्मान्द्युतिमांस्तथा।।१।।
मेधा मेधातिथिर्भव्यः सवनः पुत्र एव च। ज्योतिष्मान्दशमस्तेषां सत्यनामा सुतोऽभवत्।।२।।
प्रियव्रतसुताः ख्याताः सप्तद्वीपान्ददौ पिता। जम्बूद्वीपमथाग्नीध्रे प्लक्षं मेधातिथेर्ददौ।।३।।
वपुष्मते शाल्मलं च ज्योतिष्मते कुशाह्वयम्। क्रौञ्चद्वीपं द्युतिमते शाकं भव्याय दत्तवान्।।४।।
पुष्करं सवनायाददग्नीध्रोऽदात्सुते शतम्। जम्बूद्वीपं पिता लक्षं नाभेर्दत्तं हिमाह्वयम्।।५।।
हेमकूटं किंपुरुषे हरिवर्षाय नैषधम्। इलावृते मेरुमध्यं रम्ये नीलाचलाश्रितम्।।६।।
हिरण्वते श्वेतवर्षं कुरूंस्तु कुरवे ददौ। भद्राश्वाय च भद्राश्वं केतुमालाय पश्चिमम्।।७।।
मेरोः प्रियव्रतःपुत्रानभिषिच्य ययौ वनम्। शालग्रामे तपस्तप्त्वा ययौ विष्ण्वालयं नृपः।।८।।
यानि किं पुरुषाद्यानि ह्यष्ट वर्षाणि सत्तम। तेषां स्वाभाविकी सिद्धिः सुखप्राया ह्ययत्नतः।।९।।
जरामृत्युभयं नास्ति धर्माधर्मौ युगादिकम्। नाधमं मध्यमं तुल्या हिमाद्देशात्त नाभितः।।१०।।

अध्याय-१०७

स्वायम्भुव सर्ग कथन

श्रीअग्नि देव ने कहा कि-हे वसिष्ठ! अधुना मैं भुवनकोष तथा पृथ्वी एवं द्वीप आदि के लक्षणों का वर्णन करने जा रहा हूँ। आग्नीध्र, अग्निबाहु, वपुष्मान्, द्युतिमान्, मेधा, मेधातिथि, भव्य, सवन और क्षय-ये प्रियव्रत के पुत्र थे। उनका दसवाँ यथार्थनामा पुत्र ज्योतिष्मान् था। प्रियव्रत के ये पुत्र विश्व में विख्यात थे। पिता ने उनको सात द्वीप सम्प्रदान किये। आग्नीध्र को जम्बूद्वीप एवं मेधातिथि को प्लक्षद्वीप दिया। वपुष्मान् को शाल्मलिद्वीप, ज्योतिष्मान् को कुलद्वीप, द्युतिमान् को क्रौञ्चद्वीप तथा भव्य को शाकद्वीप में अभिषिक्त किया। सवन को पुष्करद्वीप सम्प्रदान किया। (शेष तीन को कोई स्वतन्त्र द्वीप नहीं मिला)। आग्नीध्र ने अपने पुत्रों में लाखों योजन विशाल जम्बूद्वीप को इस तरह विभाजित कर दिया। नाभि को हिमवर्ष (आधुनिक भारतवर्ष) सम्प्रदान किया। किम्पुरुष को हेमकूटवर्ष, हरिवर्ष को नैषधवर्ष, इलावृत को मध्यभाग में मेरुपर्वत से युक्त इलावृतवष, रम्यक को नीलाचल के आश्रित रम्यकवर्ष, हिरण्यवान् को श्वेतवर्ष एवं कुरुको उत्तरकुरुवर्ष दिया। उन्होंने भद्राश्वको भद्राश्व वर्ष तथा केतुमाल को मेरुपर्वत के पश्चिम में स्थित केतुमाल वर्ष का शासन सम्प्रदान किया। महाराज प्रियव्रत अपने पुत्रों को उपरोक्त द्वीपों में अभिषिक्त करके वन में चले गये। वे नरेश शालग्राम क्षेत्र में तपस्या करके विष्णुलोक को प्राप्त हुए।।१-८।।

हे मुनिश्रेष्ठ! किम्पुरुषादि जो आठ वर्ष हैं, उनमें सुख की बहुलता है और बिना यत्न के स्वभाव से ही समस्त भोग-सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं। उनमें जरा-मृत्यु आदि का कोई भय नहीं है और न धर्म-अधर्म अथवा श्रेष्ठतम, मध्यम और अधम आदि का ही भेद ह। वहाँ सब समान है। वहाँ कभी युग-परिवर्तन भ नहीं होता। हिमवर्ष के शासक नाभि के मेरु देवी से ऋषभ देव पुत्र रूप में उत्पन्न हुए। ऋषभ के पुत्र भरत हुए। ऋषभ देव ने भरत पर राज्यलक्ष्मी

ऋषभो मेरुदेव्यां च ऋषभाद्भरतोऽभवत्। ऋषभो दत्तश्रीः पुत्रे शालग्रामे हरिं गतः।।११।।
भरताद्भारतं वर्षं भरतात्सुमतिस्त्वभूत्। भरतो दत्तलक्ष्मीकः शालग्रामे हरिं गतः।।१२।।
स योगी योगप्रस्थाने वक्ष्ये तच्चरितं पुनः। सुमतेस्तेजसस्तस्मादिन्द्रद्युम्नो व्यजायत।।१३।।
परमेष्ठी ततस्तस्मात्प्रतीहारस्तदन्वयः। (प्रतीहारात्प्रतीहर्ता प्रतिहर्त्तुर्भुवस्ततः।।१४।।
उद्गीतोऽथ च प्रस्तारो विभुः प्रस्तारतः सुतः)। पृथुश्चैव ततो नक्तो नक्तस्यापि गयः सुतः।।१५।।
नरो गयस्य तनयस्तत्पुत्रोऽभूद्विराट् ततः। तस्य पुत्रो महावीर्यो धीमांस्तस्मादजायत।।१६।।
महान्तस्तत्सुतश्चाभून्मनस्यस्तस्य चाऽऽत्मजः। त्वष्टा त्वष्टुश्च विरजा रज (जा) स्तस्याप्यभूत्सुतः।।१७।।
सत्यजिद्रजसस्तस्य जज्ञे पुत्रशतं मुने। विश्वज्योतिष प्रधानास्ते भारतं तैर्विवर्धितम्।।१८।।
कृतत्रेतादिसर्गेण सर्गः स्वायम्भुवः स्मृतः।।१९।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते स्वायम्भुवसर्गकथनं नाम सप्ताधिकशततमोऽध्यायः।।१०७।।

का भार छोड़कर शालग्राम क्षेत्र में श्रीहरि विष्णु की शरण ग्रहण की। भरत के नाम से 'भारत वर्ष' प्रसिद्ध है। भरत से सुमति हुए। भरत ने सुमति को राज्यलक्ष्मी देकर शालग्राम क्षेत्र में श्रीहरि विष्णु की शरण ली। उन योगिराज ने योगाभ्यास में तत्पर होकर प्राणों का परित्याग किया। इनका वह चरित्र आपसे मैं फिर कहने जा रहा हूँ।।९-१२।।

तत्पश्चात् सुमति के वीर्य से इन्द्रद्युम्न का जन्म हुआ। उससे परमेष्ठी और परमेष्ठी का पुत्र प्रतीहार हुआ। प्रतीहार के प्रतिहर्ता, प्रतिहर्ता के भव, भव के उद्गीथ, उद्गीथ के प्रस्तार तथा प्रस्तार के विभु नामक पुत्र हुआ। विभु का पृथु, पृथु का नक्त एवं नक्त का पुत्र गय हुआ। गय के नर नामक पुत्र और नर के विराट् नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। विराट् का पुत्र महावीर्य था। उससे धीमान् का जन्म हुआ तथा धीमान् का पुत्र महान्त और उसका पुत्र मनस्यु हुआ। मनस्यु का पुत्र त्वष्टा, त्वष्टा का विरज और विरज का पुत्र रज हुआ। हे मुने! रज के पुत्र शतजित् के सौ पुत्र उत्पन्न हुए उनमें विश्वज्योति मुख्य था। उनसे भारत वर्ष की अभिवृद्धि हुई। कृत-त्रेतादि युगक्रम से स्वायम्भुव-मनु का वंश माना गया है।।१३-१९।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी एक सौ सातवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।१०७।।

❖❖❖

अथाष्टाधिकशततमोऽध्यायः

भुवनकोशकथनम्

अग्निरुवाच

जम्बूप्लक्षाह्वयौ द्वीपौ शाल्मलिश्चापरो महान्। कुशः क्रौञ्चस्तथा शाकः पुष्करश्चेति सप्तमः॥१॥
एते द्वीपाः समुद्रैस्तु सप्त सप्तभिरावृत्ताः। लवणेक्षुसुरासर्पिर्दधिदुग्धजलैः समम्॥२॥
जम्बूद्वीपो द्वीपमध्ये तन्मध्ये मेरुरुच्छ्रितः। चतुरशीतिसाहस्रो भूयिष्ठः षोडशाद्रिराट्॥३॥
द्वात्रिंशन्मूर्ध्नि विस्तारात्षोडशाधः सहस्रवान्। भूयस्तस्यास्य शैलोऽसौ कर्णिकाकारसंस्थितः॥४॥
हिमवान्हेमकूटश्च निषधश्चास्य दक्षिणे। नीलः श्वेतश्च शृङ्गी च उत्तरे वर्षपर्वताः॥५॥
लक्षप्रमाणौ द्वौ मध्ये दशहीनास्तथाऽपरे। सहस्रद्वितयोच्छ्रास्तावद्विस्तारिणश्च ते॥६॥
भारतं प्रथमं वर्षं ततः किं पुरुषं स्मृतम्। हरिवर्षं तथैवान्यन्मेरोर्दक्षिणतो द्विज॥७॥
(रम्यकं चोत्तरे वर्षं तथैवान्यद्धिरण्मयम्। उत्तराः कुरवश्चैव यथा वै भारतं तथा॥८॥
नवसाहस्रमेकैकमेतेषां मुनिसत्तम। इलावृतं च तन्मध्ये सौवर्णो मेरुरुच्छ्रितः॥९॥

अध्याय-१०८

भुवनकोश कथन

श्रीअग्नि देव ने कहा कि–हे वसिष्ठ! जम्बू, प्लक्ष, महान् शाल्मलि, कुश, क्रौञ्च, शाक और सातवां पुष्कर–ये सातों द्वीप चारों तरफ से खारे जल, इक्षुरस, मदिरा, घृत, दधि, दुग्ध और मीठे जल के सात समुद्रों से घिरे हुए हैं। जम्बूद्वीप उन सब द्वीपों के मध्य में स्थित है और उसके भी बीचों-बीच में मेरुपर्वत सीना ताने खड़ा है। उसका विस्तार चौरासी हजार योजन है और यह पर्वतराज सोलह हजार योजन पृथिवी में घुसा हुआ है। ऊपरी भाग में इसका विस्तार बत्तीस हजार योजन है। नीचे की गहराई में इसका विस्तार सोलह हजार योजन है। इस तरह यह पर्वत इस पृथिवी रूप कमल की कर्णिका के समान स्थित है। इसके दक्षिण में हिमवान्, हेमकूट और निषध तथा उत्तर में नील, श्वेत और शृङ्गी नामक वर्ष पर्वत हैं। उनके मध्य के दो पर्वत (निषध और नील) एक-एक लाख योजन तक फैले हुए हैं। दूसरे पर्वत उनसे दस-दस हजार योजन कम हैं। वे सभी दो-दो सहस्र योजन ऊँचे और इतने ही चौड़े हैं॥१-६॥

हे द्विजश्रेष्ठ! मेरुपर्वत के दक्षिण की तरफ पहला वर्ष भारतवर्ष है तथा दूसरा किम्पुरुष वर्ष और तीसरा हरिवर्ष माना गया है। उत्तर की तरफ रम्यक, हिरण्य और उत्तरकुरु वर्ष है, जो भारत वर्ष के ही समान है। हे मुनिप्रवर! इनमें से प्रत्येक का विस्तार नौ-नौ हजार योजन है तथा इन सबके मध्य में इलावृतवर्ष है, जसमें स्वर्णमय सुमेरु पर्वत खड़ा है। हे महाभाग! इलावृत वर्ष सुमेरु के चारों तरफ नौ-नौ हजार योजन तक फैला हुआ है। इसके चारों तरफ चार पर्वत हैं। ये चारों पर्वत मानो सुमेरु को धारण करने वाले ईश्वरनिर्मित आधारस्तम्भ हों। इनमें से मन्दरालचं पूर्व में, गन्धमादन दक्षिण में, विपुल पश्चिम पार्श्व में और सुपार्श्व उत्तर में है। ये सभी पर्वत दस-दस हजार योजन विस्तृत

मेरोश्चतुर्दिशं तत्र नवसाहस्त्रविस्तृतम्। इलावृतं महाभाग चत्वारश्चात्र पर्वताः।।१०।।
विष्कम्भा रचिता मेरोर्योजनायुतविस्तृताः। पूर्वेण मन्दरो नाम दक्षिणे गन्धमादनः।।११।।
विपुलः पश्चिमे पार्श्वे सुपार्श्वश्चोत्तरे स्मृतः। कदम्बस्तेषु जम्बूश्च पिप्पलो वट एव च।।१२।।
एकादशशतायामाः पादपाः गिरिकेतवः। जम्बूद्वीपेति संज्ञा स्यात् फलं जम्ब्वा गजोपमम्।।१३।।
जम्बूनदी रसेनास्यास्त्विदं जाम्बूनदं परम्। भद्रश्वः पूर्वतो मेरोः केतुमालस्तु पश्चिमे।।१४।।
वनं चैत्ररथं पूर्वे दक्षिणे गन्धमादनः। वैभ्राजं पश्चिमे सौम्ये नन्दनं च सरांस्यथ।।१५।।
अरुणोदं माभद्रं शीतोदं मानसं तथा। सिताम्भश्चक्रमुञ्जाद्याः पूर्वतः केशराचलाः।।१६।।
दक्षिणेऽद्रेस्त्रिकूटाद्याः शिखिवास-मुखा जले। शङ्खकूटादयः सौम्ये मेरौ च ब्रह्मणःपुरी।।१७।
चतुर्दश सहस्राणि योजनानां च दिक्षु च। इनदिलोकपालानां समन्ताद्ब्रह्मणः पुरः।।१८।।
विष्णुपादात्प्लावयित्वा चन्द्रं स्वर्गात्पतत्यपि। पूर्वेण शीता भद्राश्वाच्छैलाद्गताऽर्णवम्।।१९।।
तथैवालकनन्दाऽपि दक्षिणेनैव भारतम्। प्रयाति सागरं कृत्वा सप्तभेदाऽथ पश्चिमम्।।२०।।
अब्धिं च चक्षुः सौम्याऽब्धिं भद्रोत्तरकुरूनपि। आनीलनिषधा यामौ माल्यवद्गन्धमादनौ।।२१।।
तयोर्मध्यगतो मेरुः कर्णिकाकारसंस्थितः। भारताः केतुमालाश्च भद्राश्वाः कुरवस्तथा।।२२।।
पत्राणि लोकपद्मस्य मर्यादाशैलबाह्यतः। जठरो देवकूटश्च मर्यादापर्वतावुभौ।।२३।।

हैं। इन पर्वतों पर ग्यारह-ग्यारह सौ योजन विस्तृत कदम्ब, जम्बू, पीपल और वट के वृक्ष हैं, जो इन पर्वतों की पताकाओं के समान प्रतीत होते हैं। इनमें से जम्बूवृक्ष ही जम्बूद्वीप के नाम का कारण है। उस जम्बूवृक्ष के फल हाथी के समान विशाल और मोटे होते हैं। इसके रस से जम्बू नदी प्रवाहित होती है। इसी से परम श्रेष्ठतम जम्बूनदस्वर्ण का प्रादुर्भाव होता है। मेरु के पूर्व में भद्राश्ववर्ष और पश्चिम में केतुमाल वर्ष है। इसी तरह उसके पूर्व की तरफ चैत्ररथ, दक्षिण की तरफ गन्धमादन, पश्चिम की तरफ वैभ्राज्य और उत्तर की तरफ नन्दन नामक वन है। इसी तरह पूर्व आदि दिशाओं में अरुणोद, महाभद्र, शीतोद और मानस--ये चार सरोवर हैं। सिताम्भ तथा चक्रमुञ्ज आदि (भूपद्म की कर्णिका रूप) मेरु के पूर्व-दिशावर्ती केसर-स्थानीय अचल हैं। दक्षिण में त्रिकूट आदि, पश्चिम में शिखिवास-प्रभृति और उत्तर दिशा में शङ्खकूट आदि इसके केसराचल हैं। सुमेरु पर्वत के ऊपर ब्रह्माजी की पुरी है। उसका विस्तार चौदह हजार योजन है। ब्रह्मपुरी के चारों तरफ सभी दिशाओं में इन्द्रादि लोकपालों के नगर हैं। इसी ब्रह्मपुरी से भगवान् श्रीहरि विष्णु के चरणकमल से निकली हुई गङ्गा नदी चन्द्रमण्डल को आप्लावित करती हुई स्वर्ग लोक से नीचे उतरती हैं। पूर्व में शीता (अथवा सीता) नदी भद्राश्वपर्वत से निकलकर एक पर्वत से दूसरे पर्वत पर जाती हुई समुद्र में मिल जाती है। इसी तरह अलकनन्दा भी दक्षिण दिशा की तरफ भारतवर्ष में आती है और सात भागों में विभाजित होकर समुद्र में मिल जाती है।।७-२०।।

चक्षु पश्चिम समुद्र में तथा भद्रा उत्तरकुरुवर्ष को पार करती हुई समुद्र में जा गिरती है। माल्यवान् और गन्धमादन पर्वत उत्तर तथा दक्षिण की तरफ नीलाचल एवं निषध पर्वत तक फैले हुए हैं। उन दोनों के मध्य में कर्णिका कार मेरुपर्वत स्थित है। मर्यादापर्वतों के बर्हिभाग में स्थित भारत, केतुमाल, भद्राश्व और उत्तरकुरुवर्ष-इस लोकपद्म के दल हैं। जठर और देवकूट-ये दोनों पर्यादा पर्वत हैं। ये उत्तर और दक्षिण की तरफ नील तथा निषध पर्वत तक

तौ दक्षिणोत्तरायामावानीलनिषधायतौ। गन्धमादनकैलासौ पूर्वच्चाऽऽयतावुभौ।।२४।।
अशीतियोजनायामावर्णवान्तर्व्यवस्थितौ। निषधः पारियात्रश्च मर्यादापर्वतावुभौ।।२५।।
मेरोः पश्चिमदिग्भागे यथा पूर्वे तथा स्थितौ। त्रिशृङ्गो रुधिरश्चैव उत्तरौ वर्षपर्वतौ।।२६।।
पूर्वपश्चायतावेतावर्णवान्तर्व्यवस्थितौ। जाठराद्याश्च मर्यादाशैलामेरोश्चतुर्दिशम्।।२७।।
केशरादिषु याः श्रेण्यस्तासु सन्ति पुराणि हि। लक्ष्मीविष्ण्वाग्निसूर्यादिदेवानां मुनिसत्तम्।।२८।।
भौमानां स्वर्गधर्माणां न पापास्तत्र यान्ति च। भद्राश्वेऽस्ति हयग्रीवो वराहः केतुमालके।।२९।।
भारते कूर्मरूपी च मत्स्यरूपः कुरुष्वपि। विश्वरूपेण सर्वत्र पूज्यते भगवान्हरिः।।३०।।
(किं पुरुषाद्यष्टसु क्षुद्भीतिशोकादिकं न च। चतुर्विंशति साहस्त्रं प्रजा जीवन्त्यनामयाः।।३१।।
कृतादिकल्पना नास्ति भौमान्यम्भांसि नाम्बुदाः। सर्वेष्वेतेषु वर्षेषु सप्त सप्त कुलाचलाः।।३२।।
नद्यश्च शतशस्तेभ्यस्तीर्थभूताः प्रजज्ञिरे। भारते यानि तीर्थानि तानि तीर्थानि वच्मि ते।।३३।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गति भुवनकोशकथनं नाम अष्टाधिकशततमोऽध्यायः।।१०८।।

फैले हुए हैं। पूर्व और पश्चिम की तरफ विस्तृत गन्धमादन एंव कैलास–ये दो पर्वत अस्सी हजार योजन विस्तृत हैं। पूर्व के समान मेरु के पश्चिम की तरफ भी निषध और पारियात्र नामक दो मर्यादा पर्वत हैं, जो अपने मूलभाग से समुद्र के अन्दर तक प्रविष्ट हैं।।२१-२५।।

उत्तर की तरफ त्रिशृङ्ग और रुधिर नामक वर्ष पर्वत हैं। ये दोनों पूर्व और पश्चिम की तरफ समुद्र के गर्भ में व्यवस्थित हैं। इस तरह जठर आदि मर्यादा पर्वत मेरु के चारों तरफ सुशोभित होते हैं। हे ऋषिप्रवर! केसर पर्वतों के मध्य में जो श्रेणियाँ हैं, उनमें लक्ष्मी, विष्णु, अग्नि तथा सूर्य आदि देवताओं के नगर हैं। ये भौम होते हुए भी स्वर्ग के समान हैं। इनमें पापात्मा पुरुषों का प्रवेश नहीं हो पाता।।२६-२८।।

भगवान् श्रीहरि विष्णु भगवान् भद्राश्व वर्ष तें हयग्रीव रूप से, केतुमाल वर्ष में वराहरूप से, भारत वर्ष में कूर्मरूप से तथा उत्तर कुरु वर्ष में मत्स्यरूप से निवास करते हैं। भगवान् श्रीहरि विष्णु विश्वरूप से सभी जगह पूजित होते हैं। किम्पुरुष आदि आठ वर्षों में क्षुधा, भय तथा शोक आदि कुछ भी नहीं है। उनमें प्रजाजन चौबीस हजार वर्ष तक रोग-शोक हीन होकर जीवन व्यतीत करते हैं। उनमें कृत-त्रेतादि युगों की कल्पना नहीं होती; न उनमें कभी वर्षा ही होती है। उनमें केवल पार्थिव-जल रहता है। इन सभी वर्षों में सात-सात कुलाचल पर्वत है। और उनसे निकली हुई सैकड़ों तीर्थरूपा नदियाँ हैं। अधुना मैं भारतवर्ष में जो तीर्थ हैं, उनका तुम्हारे सम्मुख वर्णन करने जा रहा हूँ।।२९-३३।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी एक सौ आठवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।१०८।।

❖❖❖

अथ नवाधिकशततमोऽध्यायः

तीर्थमाहात्म्यम्

अग्निरुवाच

माहात्म्यं सर्वतीर्थानां वक्ष्ये यद्भुक्तिमुक्तिदम्। यस्य हस्तौ च पादौ च मनश्चैव सुसंयतम्।।१।।

विद्यातपश्च कीर्तिश्च स तीर्थफलमश्नुते। प्रतिग्रहादुपावृत्तो लघ्वाहारो जितेन्द्रियः।।२।।

निष्पापस्तीर्थयात्री तु सर्वयज्ञफलं लभेत्। अनुपोष्य त्रिरात्राणि तीर्थान्यभिगम्य च।।३।।

अदत्त्वा काञ्चनं गाश्च दरिद्रो नाम जायते। तीर्थाभिगमने तत्स्याद्यद्यज्ञेनाऽऽप्यते फलम्।।४।।

पुष्करं परमं तीर्थं सांनिध्यं हि त्रिसंध्यकम्। दशकोटिसहस्राणि तीर्थानां विप्र पुष्करे।।५।।

ब्रह्मा सह सुरैरास्ते मुनयः सर्वमिच्छवः। देवाः प्राप्ताः सिद्धिमत्र स्नाताः पितृसुरार्चकाः।।६।।

अश्वमेधफलं प्राप्य ब्रह्मलोकं प्रयान्ति ते। कार्तिक्यामन्नदानाच्च निर्मलो ब्रह्मलोकभाक्।।७।।

पुष्करे दुष्करं गन्तुं पुष्करे दुष्करं तपः। दुष्करं पुष्करे दानं वस्तुं चैव सुदुष्करम्।।८।।

तत्र वासाज्जपाच्छ्राद्धात्कुलानां शतमुद्धरेत्। जम्बूमार्गं च तत्रैव तीर्थं तण्डुलिकाश्रमम्।।९।।

अध्याय-१०९

तीर्थ-माहात्म्य कथन

श्रीअग्नि देव ने कहा कि–अधुना मैं सब तीर्थों का माहात्म्य बताऊँगा, जो भोग और मोक्ष सम्प्रदान करने वाला है। जिसके हाथ, पैर और मन भली-भाँति संयम में रहें तथा जिसमें विद्या, तपस्या और श्रेष्ठतम कीर्ति हो, वही तीर्थ के पूर्ण फल का भागी होता है। जो प्रतिग्रह छोड़ चुका है, नियमित भोजन करता और इन्द्रियों को काबू में रखता है, वह पाप हीन तीर्थयात्री सब यज्ञों का फल पाता है। जिसने कभी तीन रात तक निराहार व्रत नहीं किया; तीर्थों की यात्रा नहीं की और स्वर्ण एवं गौ का दान नहीं किया, वह दरद्रि होता है। यज्ञ से जिस फल की प्राप्ति हो जाती है, वही तीर्थ सेवन से भी मिलता है।।१-४।।

हे ब्रह्मन्! पुष्कर श्रेष्ठ तीर्थ है। वहाँ तीनों संध्याओं के समय दस हजार कोटि तीर्थों का निवास रहता है। पुष्कर में सम्पूर्ण देवताओं के साथ ब्रह्मा जी निवास करते हैं। सब कुछ चाहने वाले मुनि और देवता वहाँ स्नान करके सिद्धि प्राप्त कर चुके हैं। पुष्कर में देवताओं और पितरों की पूजा करके ब्रह्मलोक में जाते हैं। जो कार्तिक की पूर्णिमा को वहाँ अन्न दान करता है, वह शुद्धचित्त होकर ब्रह्मलोक का भागी होता है। पुष्कर में जाना दुष्कर है, दुष्कर में तपस्या का सुयोग मिलना दुष्कर है, पुष्कर में दान का अवसर प्राप्त होना भी दुष्कर है और वहाँ निवास का सौभाग्य होना तो अत्यन्त ही दुष्कर है। वहाँ निवास, जप और श्रद्ध करने से मनुष्य अपनी सौ पीढ़ियों का उद्धार करता है। वहीं जम्बू मार्ग तथा तण्डुलिकाश्रम तीर्थ भी हैं।।५-९।।

कण्वाश्रमं कोटितीर्थं नर्मदा चार्बुदं परम्। तीर्थं चर्मण्वती सिन्धुः सोमनाथः प्रभासकम्॥१०॥
सरस्वत्यब्धिसङ्गश्च सागरं तीर्थमुत्तमम्। पिण्डारकं द्वारका च गोमती सर्वसिद्धिदा॥११॥
भूमितीर्थं ब्रह्मतुङ्गं तीर्थं पञ्चनदं परम्। भीमतीर्थं गिरीन्द्रश्च देविका पापनाशिनी॥१२॥
तीर्थं विनाशनं पुण्यं नागोद्भेदमघार्दनम्। तीर्थं कुमारकोटिश्च सर्वदानीरितानि च॥१३॥
कुरुक्षेत्रे गमिष्यामि कुरुक्षेत्रे वसाम्यहम्। य एवं सततं ब्रूयात्सोऽमलः प्राप्नुयाद्दिवम्॥१४॥
तत्र विष्ण्वादयो देवास्तत्र वासाद्धरिं व्रजेत्।
सरस्वत्यां संनिहित्यां स्नानकृद्ब्रह्मलोकभाक्॥१५॥
पांशवोऽपि कुरुक्षेत्रे नयन्ति परमां गतिम्। धर्मतीर्थं सुवर्णाख्यं गङ्गाद्वारमनुत्तमम्॥१६॥
तीर्थं कनखलं पुण्यं भद्रकर्णह्रदं तथा। गङ्गासरस्वतीसङ्गं ब्रह्मावर्तमघार्दनम्॥१७॥
भृगुतुङ्गं च कुब्जाभ्रं गङ्गोद्भेदमघान्तकम्। वाराणसी वरं तीर्थमविमुक्तमनुत्तमम्॥१८॥
कपालमोचनं तीर्थं तीर्थराजं प्रयागकम्। गोमतीगङ्गयोः सङ्गं गङ्गा सर्वत्र नाकदा॥१९॥
तीर्थं राजगृहं पुण्यं शालग्राममघान्तकम्। वटेशं वामनं तीर्थं कालिकासङ्गमुत्तमम्॥२०॥
लौहित्यं करतोयाख्यं शोणं चाथर्षभं परम्। श्रीपर्वतं कोल्लगिरिः सह्याद्रिर्मलयो गिरिः॥२१॥

अधुना अन्य तीर्थों के विषय में सुनो–कण्वाश्रम, कोटितीर्थ, नर्मदा और अर्बुद (आबू) भी श्रेष्ठतम तीर्थ हैं। चर्मण्वती (चम्बल), सिन्धु सोमनाथ, प्रभास, सरस्वती-समुद्र-संगम तथा सागर भी श्रेष्ठ तीर्थ हैं। पिण्डारक क्षेत्र, द्वारका और गोमती–ये भूमितीर्थ, ब्रह्मतुङ्गतीर्थ और पञ्चनद (सतलज आदि पाँचों नदियाँ) भी श्रेष्ठतम हैं। भीमतीर्थ, गिरीन्द्रतीर्थ, पापनाशिनी देविका नदी, पवित्र विनशनतीर्थ, पापनाशिनी देविका दी, पवित्र विनशनतीर्थ (कुरुक्षेत्र), नागोद्भेद, अघार्दन तथा कुमारकोटि तीर्थ–ये सब कुछ देने वाले बताये गये हैं। 'मैं कुरुक्षेत्र जाऊँगा, कुरुक्षेत्र में निवास करने जा रहा हूँ' जो सदा ऐसा कहता है, वह शुद्ध हो जाता है और उसको स्वर्गलोक की प्राप्ति हो जाती है। वहाँ विष्णु आदि देवता रहते हैं। वहाँ निवास करने से मनुष्य श्रीहरि विष्णु के धाम में जाता है। कुरुक्षेत्र में सन्निकट ही सरस्वती बहती हैं। उसमें स्नान करने वाला मनुष्य ब्रह्मलोक का भागी होता है। कुरुक्षेत्र की धूलि भी परम गति की प्राप्ति कराती है। धर्मतीर्थ, स्वर्णतीर्थ, परम श्रेष्ठतम गंगाद्वार (हरिद्वार), पवित्र तीर्थ कनखल, भद्रकर्ण-ह्रद, गंगा-सरस्वती-संगम और ब्रह्मावर्त–ये पापनाशक तीर्थ हैं॥१०-१७॥

भृगुतुङ्ग, कुब्जाम्र तथा गङ्गोद्भेद–ये भी पापों को दूर करने वाले हैं। वाराणसी (काशी) सर्वोत्तम तीर्थ है। उसको श्रेष्ठ अविमुक्त-क्षेत्र भी कहते हैं। कपाल-मोचतीर्थ भी श्रेष्ठतम है, प्रयाग तो सब तीर्थों का राजा है। गोमती और गङ्गा का संगम भी पावन तीर्थ है। गङ्गा जी कहीं भी क्यों न हों, सभी जगह स्वर्ग लोक की प्राप्ति कराने वाली हैं। राजगृह पवित्र तीर्थ है। शालग्राम तीर्थ पापों का विनाश करने वाला है। वटेश, वामन तथा कालिका-संगम तीर्थ भी श्रेष्ठतम हैं॥१८-२०॥

लौहित्य-तीर्थ, करतोया नदी शोणभद्र तथा ऋषभतीर्थ भी श्रेष्ठ हैं। श्रीपर्वत, कोलाचल, सह्यगिरि, मलयगिरि, गोदावती, तुङ्गभद्रा, वरदायिनी कावेरी नदी, तापी, पयोष्णी, रेवा (नर्मदा) और दण्डकारण्य भी श्रेष्ठतम तीर्थ हैं।

गोदावरी तुङ्गभद्रा कावेरी वरदा नदी। तापी पयोष्णी रेवा च दण्डकारण्यमुत्तमम्।।२२।।
कालंजरं मुञ्जवटं तीर्थं सूर्पारकं परम्। मन्दाकिनी चित्रकूटं शृङ्गवेरपुरं परम्।।२३।।
अवन्ती परमं तीर्थमयोध्या पापनाशिनी। नैमिषं परमं तीर्थं भुक्तिमुक्तिप्रदायकम्।।२४।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते तीर्थमाहात्म्यवर्णनं नाम नवाधिकशततमोऽध्यायः।।१०९।।

अथ दशाधिकशततमोऽध्यायः

गङ्गामाहात्यम्

अग्निरुवाच

गङ्गामाहात्म्यमाख्यास्ये सेव्या सा भुक्तिमुक्तिदा। येषां मध्ये याति गङ्गा ते देशाः पावना वराः।।१।।
गतिर्गङ्गा तु भूतानां गतिमन्वेषतां सदा। गङ्गा तारयते चोभौ वंशौ नित्यं हि सेविता।।२।।
चान्द्रायणसहस्राच्च गङ्गाम्भः पानमुत्तमम्। गङ्गा मासं तु संसेव्य सर्वयज्ञफलं लभेत्।।३।।
सकलाघहरी देवी स्वर्गलोकप्रदायिनी। यावदस्थि च गङ्गायां तावत्स्वर्गे स तिष्ठति।।४।।

कालंजर, मुञ्जवट, शूर्पारक, मन्दाकिनी, चित्रकूट और शृङ्गवेरपुर श्रेष्ठ तीर्थ हैं। अवन्ती भी श्रेष्ठतम तीर्थ है। अयोध्या सब पापों का विनाश करने वाली है। नैमिषारण्य पमर पवित्र तीर्थ है। वह भोग और मोक्ष सम्प्रदान करने वाला है।।२१-२४।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी एक सौ नौवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।१०९।।

अध्याय-११०

गङ्गा महिमा

श्रीअग्नि देव ने कहा कि–अधुना गङ्गा का माहात्म्य बतलाता हूँ। गंगा का सदा सेवन करना चाहिये। वह भोग और मोक्ष सम्प्रदान करने वाली हैं। जिनके मध्य से गंगा बहती हैं, वे सभी देश श्रेष्ठ तथा पावन हैं। श्रेष्ठतम गति की खोज करने वाले प्राणियों के लिये गंगा ही सर्वोत्तम गति है। गंगा का सेवन करने पर वह माता और पिता–दोनों के वंशों का उद्धार करती है। एक हजार चान्द्रायण-व्रत की अपेक्षा गंगा जी के जल का पीना श्रेष्ठतम है। एक मास गंगाजी का सेवन करने वाला मनुष्य सब यज्ञों का फल पाता है।।१-३।।

गंगादेवी सब पापों को दूर करने वाली तथा स्वर्गलोक देने वाली हैं। गंगा के जल में जबतक हड्डी पड़ी रहती है, तत्पश्चात्तक वह जीव स्वर्ग में निवास करता है। अंधे आदि भी गंगाजी का सेवन करने देवताओं के समान हो जाते हैं। गंगा-तीर्थ से निकली हुई मिट्टी धारण करने वाला मनुष्य सूर्य के समान पापों का नाशक होता है। जो

अन्धादयस्तु तां सेव्य देवैर्गच्छन्ति तुल्यताम्। गङ्गातीर्थं समुद्भूतमृद्धारी सोऽघहाऽर्कवत्॥५॥
दर्शनात्स्पर्शनात्पानात्तथा गङ्गेति कीर्तनात्। पुनाति पुण्यपुरुषाञ्शतशोऽथ सहस्रशः॥६॥

॥इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते गङ्गामाहात्म्यवर्णनं नाम दशाधिकशततमोऽध्यायः॥११०॥

—※※※—
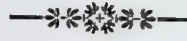
अथैकादशाधिकशततमोऽध्यायः

प्रयाग माहात्म्यम्

अग्निरुवाच

वक्ष्ये प्रयागमाहात्म्यं भुक्तिमुक्तिप्रदं परम्। प्रयागे ब्रह्मविष्ण्वाद्या देवा मुनिवराः स्थिताः॥१॥
सरितः सागराः सिद्धा गन्धर्वाप्सरसस्तथा। तत्र त्रीण्यग्निकुण्डानि तेषां मध्ये तु जाह्नवी॥२॥
वेगेन समतिक्रान्ता सर्वतीर्थपुरस्कृता। तपनस्य सुता तत्र त्रिषु लोकेषु विश्रुताः॥३॥
गङ्गायमुनयोर्मध्यं पृथिव्या जघनं स्मृतम्। प्रयागं जघनस्यान्तरुपस्थमृषयो विदुः॥४॥
प्रयागं सप्रतिष्ठानं कम्बलाश्वतरावुभौ। तीर्थं भोगवती चैव वेदी प्रोक्ता प्रजापतेः॥५॥
तत्र वेदाश्च यज्ञाश्च मूर्तिमन्तः प्रयागके। स्तवनादस्य तीर्थस्य मामसंकीर्तनादपि॥६॥

मानव गंगा का दर्शन, स्पर्श, जलपान अथवा 'गंगा' इस नाम का कीर्तन करता है, वह अपनी सैकड़ों-हजारों पीढ़ियों के पुरुषों को पवित्र कर देता है॥४-६॥

॥इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी एक सौ दसवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ॥११०॥

अध्याय-१११

प्रयाग महिमा

श्रीअग्नि देव ने कहा कि-हे ब्रह्मन्! अधुना मैं प्रयाग का माहात्म्य बतलाता हूँ, जो भोग और मोक्ष सम्प्रदान करने वाला तथा श्रेष्ठतम है। प्रयाग में ब्रह्मा, विष्णु आदि देवता तथा बड़े-बड़े मुनिवर निवास करते हैं। नदियाँ, समुद्र, सिद्ध, गन्धर्व तथा अप्सराएँ भी उस तीर्थ में वास करती हैं। प्रयाग में तीन अग्नि कुण्ड हैं। उनके मध्य में गंगा सब तीर्थों को साथ लिये बड़े वेग से बहती हैं। वहाँ त्रिभुवन विख्यात सूर्यकन्या यमुना भी हैं। गंगा और यमुना का मध्यभाग पृथ्वी का 'जघन' माना गया है और प्रयाग को ऋषियों ने जघन के मध्य का 'उपस्थ भाग' बतलाया है॥१-४॥

प्रतिष्ठान (झूसी) सहित प्रयाग, कम्बल और अश्वतर नाग तथा भोगवती तीर्थ-ये ब्रह्माजी के यज्ञ की वेदी कहे गये हैं। प्रयाग में वेद और यज्ञा मूर्तिमान् होकर रहते हैं। उस तीर्थ के स्तवन और नाम-कीर्तन से तथा वहाँ की

मृत्तिकालम्भनाद्वाऽपि सर्वपापैः प्रमुच्यते। प्रयागे सङ्गमे दानं श्राद्धं जप्यादि चाक्षयम्।।७।।
न वेदवचनाद्विप्र न लोकवचनादपि। मतिरुत्क्रमणीयान्ते प्रयागे मरणं प्रति।।८।।
दशतीर्थसहस्राणि षष्टिकोट्यस्तथाऽपराः। तेषां सांनिध्यमत्रैव प्रयागं परमं ततः।।९।।
वासुकेर्भोगवत्यत्र हंसप्रपतनं परम्। गवां कोटिप्रदानाद्यत्त्र्यहं स्नानस्य तत्फलम्।।१०।।
प्रयागे माघमासे तु एवमाहुर्मनीषिणः। सर्वत्र सुलभा गङ्गा त्रिषु स्नानेषु दुर्लभा।।११।।
गङ्गाद्वारे प्रयागे च गङ्गासागरसङ्गमे। अत्र दानाद्दिवं यान्ति राजेन्द्रो जायतेऽत्र च।।१२।।
वटमूले सङ्गमादौ मृतो विष्णुपुरीं व्रजेत्। उर्वशीपुलिनं रम्यं तीर्थं सन्ध्यावटस्तथा।।१३।।
कोटितीर्थं चाश्वमेधं गङ्गायमुनमुत्तमम्। मानसं रजसा हीनं तीर्थं वासरकं परम्।।१४।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गति प्रयागमाहात्म्यवर्णनं नामैकादशाधिकशततमोऽध्यायः।।११।।
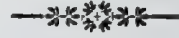
मिट्टी का स्पर्श करने मात्र से भी मनुष्य सब पापों से मुक्त हो जाता है। प्रयाग में गंगा और यमुना के संगम पर किये हुए दान, श्राद्ध और जप आदि अक्षय होते हैं।।५-७।।

हे ब्रह्मन्! वेद अथवा लोक–किसी के कहने से भी अन्त में प्रयागतीर्थ के अन्दर मरने का विचार नहीं छोड़ना चाहिये। प्रयाग में साठ करोड़, दस हजार तीर्थों का निवास हैं; इसलिये वह सबसे श्रेष्ठ है। वासुनिक नाग का स्थान, भोगती तीर्थ और हंसप्रतन–ये श्रेष्ठतम तीर्थ हैं। कोटि गोदान से जो फल मिलता है, वही इनमें तीन दिनों तक स्नान करने मात्र से प्राप्त हो जाता है। प्रयाग में माघमास में मनीषी पुरुष ऐसा कहते हैं। 'गंगा सभी जगह सुलभ हैं; परन्तु गङ्गाद्वार, प्रयाग और गंगा-सागर-संगम–इन तीन स्थानों में उनका मिलना बहुत कठिन है।' प्रयाग में दान देने से मनुष्य स्वर्ग में जाता है और इस लोक में अपने पर राजाओं का भी राजा होता है।।८-१३।।

अक्षयवट के मूल के सन्निकट और संगम आदि में मृत्यु को प्राप्त हुआ मनुष्य भगवान् श्रीहरि विष्णु के धाम में जाता है। प्रयाग में परम रमणीय उर्वशी-पुलिन, संध्यावट, कोटितीर्थ, दशाश्वमेघ घाट, गंगा-यमुना का श्रेष्ठतम संगम, रजोहीन मानसतीर्थ तथा वासरक तीर्थ–ये सभी परम श्रेष्ठतम हैं।।१३-१४।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी एक सौ ग्यारहवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।१११।।

❖❖❖

अथ द्वादशाधिकशततमोऽध्यायः

वाराणसीमाहात्यम्

अग्निरुवाच

वाराणसी परं तीर्थं गौर्यै प्राह महेश्वरः। भुक्तिमुक्तिप्रदं पुण्यं वसतां गृणतां हरिम्॥१॥

रुद्र उवाच

गौरि क्षेत्रं न मुक्तं वै अविमुक्तं ततः स्मृतम्। जप्तं तप्तं हुतं दत्तमविमुक्ते किलाक्षयम्॥२॥
अश्मना चरणौ हत्वा वसेत्काशीं नहि त्यजेत्। हरिश्चन्द्रं परं गुह्यं गुह्यमाम्रातकेश्वरम्॥३॥
जप्येश्वरं परं गुह्यं गुह्यं श्रीपर्वतं तथा। महालयं परं गुह्यं भूमिचण्डेश्वरं तथा॥४॥
केदारं परमं गुह्यमष्टौ सन्त्यविमुक्तके। गुह्यानां परमं गुह्यमविमुक्तं परं मम॥५॥
द्वियोजनं तु पूर्वं स्याद्योजनार्धं तदन्यथा। वरणा च नदी नासी मध्ये वाराणसी तयोः॥६॥
अत्र स्नानं जपो होमो मरणं देवपूजनम्। श्राद्धं दानं निवासश्च यद्यत्स्याद्भुक्तिमुक्तिदम्॥७॥

॥इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गति वाराणसीमाहात्म्यकथनं नाम द्वादशाधिकशततमोऽध्यायः॥११२॥

—✲✲✲—

अध्याय–११२

वाराणसी महिमा

श्रीअग्नि देव ने कहा कि–वाराणसी परम श्रेष्ठतम तीर्थ है। जो वहाँ श्रीहरि विष्णु का नाम लेते हुए निवास करते हैं, उन सभी को वह भोग और मोक्ष सम्प्रदान करता है। महादेव जी ने पार्वती से उसका महात्म्य इस तरह बतलाया है॥१॥

श्रीसदाशिवजी बोले–हे गौरि! इस क्षेत्र का मैंने कभी मुक्त नहीं किया–सदा ही वहाँ निवास किया है, इसलिये यह 'अविमुक्त' कहलाता है। अविमुक्त-क्षेत्र में किया हुआ जप, तप, हवन और दान अक्षय होता है। पत्थर से दोनों पैर तोड़कर बैठ रहे, परन्तु काशी कभी न छोड़े। हरिश्चन्द्र, आम्रातकेश्वर, जप्येश्वर, श्रीपर्वत, महालय, भृगु, चण्डेश्वर और केदारतीर्थ–ये आठ अविमुक्त-क्षेत्र में परम गोपनीय तीर्थ हैं। मेरा अविमुक्त-क्षेत्र सब गोपनीयों में भी परम गोपनीय है। वह दो योजन लम्बा और आधा योजन चौड़ा है। 'वरणा' और 'नासी' (असी)–इन दो नदियों के मध्य में 'वाराणसीपुरी' है। इसमें स्नान, जप, हवन, मृत्यु, देवपूजन, श्राद्ध, दान और निवास – जो कुछ होता है, वह सब भोग एवं मोक्ष सम्प्रदान करता है॥२–७॥

॥इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी एक सौ बारहवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ॥११२॥

❖❖❖

अथ त्रयोदशाधिकशततमोऽध्यायः

नर्मदामाहात्म्यम्

अग्निरुवाच

नर्मदादिकमाहाम्यं वक्ष्येऽहं नर्मदां पराम्। सद्यः पुनाति गाङ्गेयं दर्शनाद्वारि नार्मदम्।।१।।
विस्ताराद्योजनशतं योजनद्वयमायतम्। षष्टिस्तीर्थसहस्राणि षष्टिकोट्यस्तथाऽपराः।।२।।
पर्वतस्य समन्तात्तु तिष्ठन्त्यमरकण्टके। कावेरीसङ्गमं पुण्यं श्रीपर्वतमतः शृणु।।३।।
गौरी श्रीरूपिणी तेपे तपस्तामब्रवीद्धरिः। अवाप्स्यसि त्वमध्यात्म नाम्ना श्रीपर्वतस्तव।।४।।
समन्ताद्योजनशतं महापुण्यं भविष्यति। अत्र दानं ततो जप्यं श्राद्धं सर्वमथाक्षयम्।।५।।
मरणं शिवलोकाय सर्वदं तीर्थमुत्तमम्। हरोऽत्र क्रीडते देव्या हिरण्यकशिपुस्तथा।।६।।
तपस्तप्त्वा बली चाभून्मुनयः सिद्धिमाप्नुवन्।।७।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते नर्मदामाहात्म्यवर्णनं नाम त्रयोदशाधिकशततमोऽध्यायः।।११३।।

अध्याय-११३

नर्मदा महिमा

श्रीअग्नि देव ने कहा कि-अधुना मैं नर्मदा आदि का माहात्म्य बताऊँगा। नर्मदा श्रेष्ठ तीर्थ है। गंगा का जल स्पर्श करने पर मनुष्य को तत्काल पवित्र करता है, परन्तु नर्मदा का जल दर्शन मात्र से ही पवित्र कर देता है। नर्मदा तीर्थ सौ योजन लम्बा और दो योजन चौड़ा है। अमरकण्टक पर्वत के चारों तरफ नर्मदा-सम्बन्धी साठ करोड़, साठ हजार तीर्थ हैं। कावेरी-संगमतीर्थ बहुत पवित्र है। अधुना श्रीर्वत का वर्णन सुनो।।१-३।। एक समय गौरी ने श्रीदेवी का रूप धारण करके भारी तपस्या की। इससे प्रसन्न होकर श्रीहरि विष्णु ने उनको वरदान देते हुए कहा-'हे देवि! आपको अध्यात्मज्ञान प्राप्त होगा और आपका यह पर्वत 'श्रीपर्वत' के नाम से विख्यात होगा। इसके चारों तरफ सौ योजन तक का स्थान अत्यन्त पवित्र होगा।' यहाँ किया हुआ दान, तप जप तथा श्राद्ध सब अक्षय होता है। यह श्रेष्ठतम तीर्थ सब कुछ देने वाला है। यहाँ की मृत्यु शिवलोक की प्राप्ति करने वाली है। इस पर्वत पर भगवान् शिव सदा पार्वती देवी के साथ क्रीड़ा करते हैं तथा हिरण्यकशिपु यहीं तपस्या करके अत्यन्त बलवान् हुआ था। मुनियों ने भी यहाँ तपस्या से सिद्धि प्राप्त की है।।४-७।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी एक सौ तेरहवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।११३।।

❖❖❖

अथ चतुर्दशाधिकशततमोऽध्यायः

गयामाहात्म्यम्

अग्निरुवाच

गयामाहात्यमाख्यास्ये गया तीर्थोत्तमोत्तमम्। गयासुरस्तपस्तेपे तत्तपस्तापिभिः सुरैः॥१॥
उक्तः क्षीराब्धिगो विष्णुः पालयास्मान्गयासुरात्। तथेत्युक्त्वा हरिर्दैत्यं वरं ब्रूहीति चाब्रवीत्॥२॥
दैत्योऽब्रवीत्पवित्रोऽहं भवेयं सर्वतीर्थतः। तथेत्युक्त्वा गतो विष्णुर्दैत्यं दृष्ट्वा नरा हरिम्॥३॥
गताः शून्या मही स्वर्गे देवा ब्रह्मादयः सुराः। गता ऊचुर्हरिं देव शून्या भूस्त्रिदिवं हरे॥४॥
दैत्यस्य दर्शनादेव ब्रह्माणं चाब्रवीद्धरिः। यागार्थं दैत्यदेहं त्वं प्रार्थय त्रिदशैः सह॥५॥
तच्छ्रुत्वा ससुरो ब्रह्मा गयासुरमथाब्रवीत्। अतिथिः प्रार्थयामि त्वां तेहं यागाय पावनम्॥६॥
गयासुरस्तथेत्युक्त्वाऽपतत्तस्य शिरस्यथ। यागं चकार चलिते देहे पूर्णाहुतिं विभुः॥७॥
पुनर्ब्रह्माऽब्रवीद्विष्णुं पूर्णाकालेऽसुरोऽचलत्। विष्णुधर्ममथाऽऽहूय प्राह देवमयीं शिलाम्॥८॥
धारयस्व सुराः सर्वे तस्यामुपरि सन्तु ते। गदाधारो मदीयाऽथ मूर्तिः स्थास्यति साऽमरैः॥९॥

अध्याय-११४

गया महिमा

श्रीअग्नि देव ने कहा कि–अधुना मैं गया से महात्म्य का वर्णन करने जा रहा हूँ। गया श्रेष्ठ तीर्थों में सर्वोत्तम है। एक समय की बात है–गय नामक असुर ने बड़ी भारी तपस्या प्रारम्भ की। उससे देवता संतप्त हो उठे और उन्होंने क्षीरसागरशायी भगवान् श्रीहरि विष्णु के सन्निकट जाकर कहा–'भगवन्! आप गयासुर से हमारी रक्षा कीजिये।' 'तथास्तु' कहकर श्रीहरि विष्णु गयासुर के पास गये और उससे बोले–'कोई वर माँगो।' दैत्य बोला–'गवन्! मैं सब तीर्थों से अधिक पवित्र हो जाऊँ।' भगवान् ने कहा–'ऐसा ही होगा।' – इस प्रकार कहकर भगवान् चले गये। फिर तो सभी मनुष्य उस दैत्य का दर्शन करके भगवान् के सन्निकट जा पहुँचे। पृथ्वी सूनी हो गयी। स्वर्गवासी देवता और ब्रह्मा आदि प्रधान देवता श्रीहरि विष्णु सन्निकट जाकर बोले–'हे देव! श्रीहरि विष्णु! पृथ्वी और स्वर्ग सूने हो गये। दैत्य के दर्शन मात्र से सब लो आपके धाम में चले गये हैं।' यह सुनकर श्रीहरि विष्णु ने ब्रह्माजी से कहा–'तुम सम्पूर्ण देवताओं के साथ गयासुर के पास जाओ और यज्ञभूमि बनाने के लिये उसका शरीर माँगो।' भगवान् का यह आदेश सुनकर देवताओं सहित ब्रह्माजी गयासुर के सन्निकट जाकर उससे बोले–'हे दैत्यप्रवर! मैं तुम्हारे द्वार पर अतिथि होकर आया आया हूँ और तुम्हारे पावन शरीर को यज्ञ के लिये माँग रहा हूँ।॥१-६॥

'तथास्तु' कहकर गयासुर धरती पर लेट गया। ब्रह्मा जी ने उसके मस्तक पर यज्ञ प्रारम्भ किया जिस समय पूर्णाहुति का समय आया, तत्पश्चात् गयासुर का शरीर चंचल हो उठा। यह देख प्रभु ब्रह्माजी ने पुनः भगवान् श्रीहरि विष्णु के कहा–'हे देव! गयासुर पूर्णाहुति के समय विचलित हो रहा है।' तत्पश्चात् भगवान् श्रीहरि विष्णु ने धर्म को बुलाकर कहा–'तुम इस असुर के शरीर पर देवमयी शिला रख दो और सम्पूर्ण देवता उस शिला पर बैठ जायँ। देवताओं के साथ मेरी गदाधरमूर्ति भी इस पर विराजमान होगी।' यह सुनकर धर्म ने देवमयी विशाल शिला उस दैत्य के शरीर

धर्मः शिलां देवमयीं तच्छ्रुत्वाऽधारयत्पराम्। या धर्माद् धर्मवत्यायां च जाता धर्मव्रता सुता।।१०।।
मरीचिर्ब्रह्मणः पुत्रस्तामुवाह तपोन्विताम्। यथा हरिः श्रिया रेमे गौर्यां शम्भुस्तथा तया।।११।।
कुशपुष्पाद्यरण्याच्च आनीयातिश्रमान्तिवः। भुक्त्वा धर्मव्रता प्राह पादसंवाहनं कुरु।।१२।।
विश्रान्तस्य मुनेः पादौ तथेत्युक्त्वा प्रियाऽकरोत्। एतस्मिन्नन्तरे ब्रह्मा मुनौ सुप्ते समागतः।।१३।।
धर्मव्रताऽचिन्तयच्च किं ब्रह्माणं समर्चये। पादसंवाहनं कुर्वे ब्रह्मा पूज्यो गुरोर्गुरुः।।१४।।
विचिन्त्य पूजयामास ब्रह्माणं चार्हणादिभिः। मरीचिस्तामपश्यन्स शशापोक्तिव्यतिक्रमात्।।१५।।
शिला भविष्यसि क्रोधाद्धर्मव्रताऽब्रवीच्च तम्। पादाभ्यङ्गं परित्यज्य त्वद्गुरुः पूजितो मया।।१६।।
अदोषाऽहं यतस्त्वं हि शापं प्राप्स्यसि शंकरात्। धर्मव्रता पृथक्शापं धारयित्वाऽग्निमध्यगात्।।१७।।
तपश्चचार वर्षाणं सहस्राण्ययुतानि च। ततो विष्ण्वादयो देवा वरं ब्रूहीति चाब्रुवन्।।
धर्मव्रताऽब्रवीद्देवाञ्शापं निर्वर्तयन्तु मे।।१८।।

देवा ऊचुः

दत्तो मरीचिना शापो भविष्यति न चान्यथा। शिला पवित्रा देवाङ्घ्रिलक्षिता त्वं भविष्यसि।।१९।।
देवव्रता देवशिला सर्वदेवादिरूपिणी। सर्वदेवमयी पुण्या निश्चला (नैश्चल्या)यासुरस्य हि।।२०।।

पर रख दी। (शिला का परिचय इस तरह है–) धर्म से उनकी पत्नी धर्मवती के गर्भ से एक कन्या उत्पन्न हुई थी, जिसका नाम 'धर्मव्रता' था। वह बड़ी तपस्विनी थी। ब्रह्मा के पुत्र महर्षि मरीचि ने उसके साथ विवाह किया। जिस प्रकार भगवान् श्रीहरि विष्णु लक्ष्मी के साथ और भगवान् शिव श्रीपार्वती जी के साथ विहार करते हैं, उसी तरह महर्षि मरीचि धर्मव्रता के साथ रमण करने लगे।।७-११।।

एक दिन की बात है। महर्षि जंगल से कुशा और पुष्प आदि ले जाकर बहुत थक गये थे। उन्होंने भोजन करके धर्मव्रता से कहा–'हे प्रिये! मेरे पैर दबाओ।' 'बहुत अच्छा' कहकर प्रिया धर्मव्रता थके-माँदे मुनि के चरण दबाने लगी। मुनि सो गये; इतने में ही वहाँ ब्रह्माज आ गये। धर्मव्रता ने सोचा–'मैं ब्रह्माजी का पूजन करूँ या अभी मुनि की चरण-सेवा में ही लगी रहूँ। ब्रह्माजी गुरु के भी गुरु हैं–मेरे पति के भी पूज्य हैं; इसलिये इनका पूजन करना ही उचित है।' ऐसा विचारकर वह पूजन-सामग्रियों से ब्रह्माजी की पूजा में लग गयी। नींद टूटने पर जिस समय मरीचि मुनि ने धर्मव्रता को अपने सन्निकट नहीं देखा, तत्पश्चात् आज्ञा-उल्लङ्घन के अपराध से उसको श्राप देते हुए कहा–'तू शिला हो जायगी।' यह सुनकर धर्मव्रता कुपित हो उनसे बोली–'हे मुने! चरण-सेवा छोड़कर मैंने आपके पूज्य पिता की पूजा की है, इसलिये मैं सर्वथा निर्दोष हूँ, ऐसी दशा में भी आपने मुझको श्राप दिया है, इसलिये आपको भी भगवान् शिव से श्राप की प्राप्ति होगी।' ऐसा कहकर धर्मव्रता ने श्राप को पृथक् रख दिया और स्वयं अग्नि में प्रवेश करके वह हजारों वर्षों तक कठोर तपस्या में संलग्न रही। इससे प्रसन्न होकर भगवान् श्रीहरि विष्णु आदि देवताओं ने कहा–'वर माँगो'। धर्मव्रता देवताओं से बोली–'आप लोग मेरे श्राप को दूर कर दें'।।१२-१८।।

देवताओं ने कहा–हे शुभे! महर्षि मरीचि का दिया हुआ श्राप अन्यथा नहीं होगा। आप देवताओं के चरण-चिह्न से अंकित परमपवित्र शिला होओगी। गयासुर के शरीर को स्थिर रखने के लिये आपको शिला का स्वरूप धारण करना होगा। उस समय आप देवव्रता, देवशिला, सर्वदेतवस्वरूपा, सर्वतीर्थमयी तथा पुण्यशिला कहलाओगी।।१९-२०।।

देवव्रतोवाच

यदि तुष्टाःस्थ मे सर्वे मयि तिष्ठन्तु सर्वदा। ब्रह्मा विष्णुश्च रुद्राद्या गौरी लक्ष्मीमुखाः सुराः।।२१।।

अग्निरुवाच

देवव्रतावचः श्रुत्वा तथेत्युक्त्वा दिनं गताः। सा धर्मेणासुरस्यास्य धृता देवमयी शिला।।२२।।
सशिलश्चलितो दैत्यः स्थिता रुद्रादयस्ततः। सदेवश्चलितो दैत्यस्ततो देवैः प्रसादितः।।२३।।
क्षीराब्धिगो हरिः प्रादात्स्वमूर्तिं श्रीगदाधरम्। गच्छन्तु भोः स्वयं यास्ये मूर्त्या वै देवगम्यया।।२४।।
स्थितो गदाधरो देवो व्यक्ताव्यक्तोभयात्मकः। निश्चला (नैश्चल्या)र्थं स्वयं देवः स्थित आदिगदाधरः।।२५।।
गदो नामासुरो रौद्रः स हतो विष्णुना पुरा। तदस्थिनिर्मिता चाऽऽद्या गदा या विश्वकर्मणा।।२६।।
आद्यया गदया हेतिप्रमुखा राक्षसा हताः। गदाधरेण देवेन तस्मादादि गदाधरः।।२७।।
देवमय्यां शिलायां च स्थिते चाऽऽदिगदाधरे। गयासुरे निश्चलेऽथ ब्रह्मा पूर्णाहुतिं ददौ।।२८।।
गयासुरोऽब्रवीद्देवान्किमर्थं वञ्चितो ह्यहम्। विष्णोर्वचनमात्रेण किं न स्यां निश्चलो ह्ययम्।।२९।।
आक्रान्तो यद्यहं देवा दातुमर्हत मे वरम्।।३०।।

देवा ऊचुः

तीर्थस्य करणे यत्त्वमस्माभिर्निश्चलीकृतः। विष्णोः शम्भोर्ब्रह्मणश्च क्षेत्रं तव भविष्यति।।३१।।

देवव्रता ने कहा–हे देवताओ! यदि आप लोग मुझ पर प्रसन्न हों तो शिला होने के बाद मेरे ऊपर ब्रह्मा, विष्णु तथा रुद्र आदि देवता और गौरी-लक्ष्मी आदि देवियाँ सदा विराजमान रहें।।२१।।

श्रीअग्नि देव ने कहा कि–हे देव्रता की बात सुनकर सब देवता 'तथास्तु' कहकर स्वर्ग को चले गये। उस देवमयी शिला को ही धर्म ने गयासुर के शरीर पर रखा। परन्तु वह शिला के साथ ही हिलने लगा। यह देख रुद्र आदि देवता भी उस शिला पर जा बैठे। अधुना वह देवताओं को साथ लिये हिलने-डोलने लगा। तत्पश्चात् देवताओं ने क्षीरसागरशायी भगवान् श्रीहरि विष्णु को प्रसन्न किया। श्रीहरि विष्णु ने उनको अपनी गदाधरमूर्ति सम्प्रदान की और कहा-'हे देवगण! आपलोग चलिये; इस देवगम्य मूर्ति के द्वारा मैं स्वयं ही वहाँ उपस्थित होऊँगा।' इस तरह उस दैत्य के शरीर को स्थिर रखने के लिये व्यक्ताव्यक्त उभयस्वरूप साक्षात् गदाधारी भगवान् श्रीहरि विष्णु वहाँ स्थित हुए। वे आदि गदाधार के नाम से उस तीर्थ में विराजमान हैं।।२२-२५।।

प्राचीन काल में 'गद' नाम से प्रसिद्ध एक भयंकर असुर था। उसको भगवान् श्रीहरि विष्णु ने मारा और उसकी हड्डियों से विश्वकर्मा ने गदा का निर्माण किया। वही 'आदि-गदा' हैं। उस आदि-गदा के द्वारा भगवान् गदाधर ने 'हेति' आदि राक्षसों का वध किया था, इसलिये वे 'आदि-गदाधर' कहलाये। उपरोक्त देवमयी शिला पर आदि-गधाधर के स्थित होने पर गयासुर स्थिर हो गया; तत्पश्चात् ब्रह्माजी ने पूर्णाहुति दी। उसके बाद गयासुर ने देवताओं से कहा-'किस लिये मेरे साथ वञ्चना की गयी है? क्या मैं भगवान् श्रीहरि विष्णु के कहने मात्र से स्थिर नहीं हो सकता था? हे देवताओं! यदि आपने मुझको शिला आदि के द्वारा दबा रखा है, तो आपको मुझको वरदान देना चाहिये'।।२६-३०।।

देवता ने कहा–'हे दैत्यप्रवर! तीर्थ-निर्माण के लिये हमने तुम्हारे शरीर को स्थिर किया है; इसलिये यह आपका क्षेत्र भगवान् श्रीहरि विष्णु, शिव तथा ब्रह्माजी का निवास-स्थान होगा। सब तीर्थों से बढ़कर इसकी प्रसिद्धि होगी तथा पितर

प्रसिद्धं सर्वतीर्थेभ्यः पित्रादेर्ब्रह्मलोकदम्। इत्युक्त्वा ते स्थिताः देवा देव्यस्तीर्थादयः स्थिताः।।३२।।
यागं कृत्वा ददौ ब्रह्मा ऋत्विग्भ्यो दक्षिणास्तदा। पञ्चक्रोशं गयाक्षेत्रं पञ्चाशत्पञ्च चार्पये (चाऽऽर्पय) त्।।३३।।
ग्रामान्स्वर्णगिरीन्कृत्वा नदीर्दुग्धमधुश्रवाः। सरोवराणि दध्याज्यैर्बहूनन्नादिपर्वतान्।।३४।।
कामधेनुं कल्पतरुं स्वर्णरूप्यगृहाणि च। न याचयन्तु विप्रेन्द्रा अल्पानुक्त्वा ददौ प्रभुः।।३५।।
धर्मयागे प्रलोभस्तु प्रतिगृह्य धनादिकम्। स्थिता यदा गयायां ते शप्तास्ते ब्रह्मणा तदा।।३६।।
विद्या विवर्जिता यूयं तृष्णायुक्तां भविष्यथ। दुग्धादिवर्जिता नद्यः शैलाः पाषाणरूपिणः।।३७।।
ब्रह्माणं ब्राह्मणाश्चोचुर्नष्टं शापेन चाखिलम्। जीवनाय प्रसादं नः कुरु विप्रांश्च सोऽब्रवीत्।।३८।।
तीर्थोपजीविका यूयं सचन्द्रार्कं भविष्यथ। ते युष्मान्पूजयिष्यन्ति गयायामागता नराः।।३९।।
हव्यकव्यैर्धनैः श्राद्धैस्तेषां कुलशतं व्रजेत्। नरकात्स्वर्गलोकाय स्वर्गलोकात्परां गतिम्।।४०।।
गयोऽपि चाकरोद्यागं वह्वन्नं बहुदक्षिणम्। गयापुरी तेन नाम्ना पाण्डवा ईजिरे हरिम्।।४१।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते मयामाहात्म्यवर्णनं नाम चतुर्दशाधिकशततमोऽध्यायः।।११४।।

आदि के लिये यह क्षेत्र ब्रह्मलोक सम्प्रदान करने वाला होगा।'–ऐसा कहकर सब देवता वहीं रहने लगे। देवियों और तीर्थ आदि ने भी उसको अपना निवास-स्थान बनाया। ब्रह्माजी ने यज्ञ पूर्ण करके उस समय ऋत्विजों को दक्षिणाएँ दीं। पाँच कोस का गया-क्षेत्र और पचपन गाँव अर्पित किये। यही नहीं, उन्होंने सोने के अनेक पर्वत बनाकर दिये। दूध और मधु की धारा बहाने वाली नदियाँ समर्पित कीं। दही और घी के सरोवर सम्प्रदान किये। अन्न आदि के बहुत से पहाड़ कामधेनु गाय, कल्पवृक्ष तथा सोने-चाँदी के गृह भी दिये। भगवान् ब्रह्मा ने ये सब वस्तुएँ देते समय ब्राह्मणों से कहा–'हे विप्रवरो ! अधुना आप मेरी अपेक्षा अल्प-शक्ति रखने वाले अन्य व्यक्तियों से कभी अल्प-शक्ति रखने वाले अन्य व्यक्तियों से कभी याचना न करना।' ऐसा कहकर उन्होंने वे सब वस्तुएँ उनको अर्पित कर दीं।।३१-३५।।

तत्पश्चात् धर्म ने यज्ञ किया। उस यज्ञ में लोभवश धन का आदि का दान लेकर जिस समय वे ब्राह्मण पुनः गया में स्थित हुए, तत्पश्चात् ब्रह्माजी ने उनको श्राप दिया–'अधुना आपलोग विद्याविहीन और लोभी हो जाओगे। इन नदियों में अधुना दूध आदि का अभाव हो जायगा और ये स्वर्ण-शैल भी पत्थर मात्र रह जायँगे।' तत्पश्चात् ब्राह्मणों ने ब्रह्मा जी से कहा–'हे भगवन्! आपके श्राप के हमारा सब कुछ नष्ट हो गया। अधुना हमारी जीविका के लिये कृपा कीजिये।' यह सुनकर वे ब्राह्मणों से बोले–'अधुना इस तीर्थ से ही आपकी जीविका चलेगी। जबतक सूर्य और चन्द्रमा रहेंगे, तत्पश्चात् तक इसी वृत्ति से आप जीवननिर्वाह करोगे। जो लोग गया-तीर्थ में आयेंगे, वे आपकी पूजा करेंगे। जो हव्य, कव्य, धन और श्राद्ध आदि के द्वारा आपका सत्कार करेंगे, उनकी सौ पीढ़ियों के पितर नरक से स्वर्ग में चले जायँगे और स्वर्ग में ही रहने वाली पितर परमपद को प्राप्त होंगे।।३६-४०।।

महाराज गय ने भी उस क्षेत्र में बहुत अन्न और दक्षिणा से सम्पन्न यज्ञ किया था। उन्हीं के नाम से गयापुरी की प्रसिद्धि हुई। पाण्डवों ने भी गया में आकर श्रीहरि विष्णु की आराधना की थी।।४१।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी एक सौ चौदहवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।११४।।

❖❖❖

अथ पञ्चदशाधिकशततमोऽध्यायः

गयायात्राविधिः

अग्निरुवाच

उद्यतश्चेद्‌गयां यातुं श्राद्धं कृत्वा विधानतः। विधाय कार्पटीवेशं (षं) ग्रामस्यापि प्रदक्षिणम्॥१॥
कृत्वा प्रतिदिनं गच्छेत्संयतश्चाप्रतिग्रही। गृहाच्चलितमात्रस्य गयाया गमनं प्रति॥२॥
स्वर्गारोहणसोपानं पितॄणां तु पदे पदे। ब्रह्मज्ञाने किं कार्यं गोगृहे मरणेन किम्॥३॥
किं कुरुक्षेत्रवासेन यदा पुत्रो गयां व्रजेत्। गयां प्राप्तं सुतं दृष्ट्वा पितॄणामुत्सवो भवेत्॥४॥
पद्भ्यामपि जलं स्पृष्ट्वा अस्मभ्यं किंन दास्यति। ब्रह्मज्ञानं गयाश्राद्धं गोगृहे मरणं तथा॥५॥
वासः पुंसां कुरुक्षेत्रे मुक्तिरेषा चतुर्विधा। काङ्क्षन्ति पितरः पुत्रं नरकाद्भयभीरवः॥६॥
गयां यास्यति यः पुत्रः स नस्त्राता भविष्यति। मुण्डनं चोपवासश्च सर्वतीर्थेष्वयं विधिः॥७॥
न कालादि गयातीर्थे दद्यात्पिण्डांश्च नित्यशः। पक्षत्रयनिवासी च पुनात्यासप्तमं कुलम्॥८॥
अष्टकासु च वृद्धौ च गयायां मृतवासरे। अत्र मातुः पृथक्श्राद्धमन्यत्र पतिना सह॥९॥
पित्रादिनवदैवत्यं तथा द्वादशदैवतम्। प्रथमे दिवसे स्नायात्तीर्थे ह्युत्तरमानसे॥१०॥

अध्याय-११५

गया यात्रा विधान

श्रीअग्नि देव ने कहा कि-यदि मनुष्य गया जाने को उद्यत हो, तो विधिपूर्वक श्राद्ध करके तीर्थयात्री का वेष धारणकर अपने गाँव की परिक्रमा कर ले; फिर प्रतिदिन पैदल यात्रा करते रहना चाहिये। मन और इन्द्रियों को वश में रखे। किसी से कुछ दान न ले। गया जाने के लिये गृह से चलते ही पग-पग पर पितरों के लिये स्वर्ग में जाने की सीढ़ी बनने लगती है। यदि पुत्र (पितरों का श्राद्ध करने के लिये) गया चला जाय तो उससे होने वाले पुण्य के सामने ब्रह्मज्ञान की क्या कीमत है? गौओं को संकट से छुड़ाने के लिये प्राण देने पर भी क्या उतना पुण्य होना सम्भव है? फिर तो कुरुक्षेत्र में निवास करने की भी क्या आवश्यकता है? पुत्र को गया में पहुँचा हुआ देखकर पितरों के यहाँ उत्सव होने लगता है। वे कहते हैं-'क्या यह पैरों से भी जल का स्पर्श करके हमारे तर्पण के लिये नहीं देगा?' ब्रह्मज्ञान, गया में किया हुआ श्राद्ध, गोशाला में मरण और कुरुक्षेत्र में निवास-ये मनुष्यों की मुक्ति के चार साधन हैं। नरक के भय से डरे हुए पितर पुत्र की अभि लाषा रखते हैं। वे सोचते हैं, जो पुत्र गया में जायगा, वह हमारा उद्धार कर देगा। मुण्डन और निराहार व्रत-यह सब तीर्थों के लिये सामान्य विधि है। गयातीर्थ में काल आदि का कोई नियम नहीं है। वहाँ प्रतिदिन पिण्डदान देना चाहिये। जो वहाँ तीन पक्ष (डेढ़ मास) निवास करता है, वह सात पीढ़ी तक के पितरों को पवित्र कर देता है। अष्टका तिथियों में, आभ्युदयिक कार्यों में तथा पिता आदि की क्षयाह-तिथि को भी यहाँ गया में माता के लिये पृथक् श्राद्ध उसके पति के साथ ही होता है। गया में पिता आदि के क्रम से 'नव देवताक' अथवा 'द्वादशदेवताक' श्राद्ध करना आवश्यक है॥१-९॥

पहले दिन उत्तर-मानस तीर्थ में स्नान करना चाहिये। परम पवित्र उत्तर-मानस तीर्थ में किया हुआ स्नान

उत्तरे मानसे पुण्य आयुरारोग्यवृद्धये। सर्वाघौघविघाताय स्नानं कुर्याद्विमुक्तये।।११।।
सन्तर्प्य देवत्रादीञ्श्राद्धकृत्पिण्डदो भवेत्। दिव्यान्तरिक्षभौमस्था (भूमिष्ठा)न्देवान्संतर्पयाम्यहम्।।१२।।
दिव्यान्तरिक्षभौमादि पितृमात्रादि तर्पयेत्। पिता पितामहश्चैव तथैव प्रपितामहः।।१३।।
माता पितामही चैव तथैव प्रपितामही। मातामहः प्रमातामहो वृद्धप्रमातामहः।।१४।।
तेभ्योऽन्येभ्य इमान्पिण्डानुद्धाराय ददाम्यहम्। ॐ नमः सूर्यदेवाय सोम भौमज्ञरूपिणे।।१५।।
जीवशुक्रशनैश्चारि राहुकेतुस्वरूपिणे। उत्तरे मानसे स्नात उद्धरेत्सकलं कुलम्।।१६।।
सूर्यं नत्वा ब्रजेन्मौनी नरो दक्षिणमानसम्। दक्षिणे मानसे स्नानं करोमि पितृतुप्तये।।१७।।
गयायामागतः स्वर्गं यान्तु मे पितरोऽखिलाः। श्राद्धं पिण्डं ततः कृत्वा सूर्यं नत्वा वदेदितम्।।१८।।
ॐ नमो भानवे भर्त्रे भवाय भव मे विभो। भुक्तिमुक्तिप्रदः सर्वपितृणां भव भावितः।।१९।।
कव्यवाहोऽनलः सोमो यमश्चैवार्यमा तथा। अग्निष्वात्ता बर्हिषद आज्यपाः पितृदेवताः।।२०।।
आगच्छन्तु महाभागा युष्माभी रक्षितास्त्विह। मदीयाः पितरो ये च मातृमातामहादयः।।२१।।
तेषां पिण्डप्रदाताऽहमागतोऽस्मि गयामिमाम्। उदीच्यां मुण्डपृष्ठस्य देवर्षिगणपूजितम्।।२२।।
नाम्ना कनखलं तीर्थं त्रिषु लोकेषु विश्रुतम्। सिद्धानां प्रीतिजननैः पापानां च भयङ्करैः।।२३।।
लेलिहानैर्महानागै रक्ष्यते चैव नित्यशः। तत्र स्नात्वा दिवं यान्ति क्रीडन्ते (न्ति) भुवि मानवाः।।२४।।

आयु और आरोग्य की वृद्धि, सम्पूर्ण पापराशियों का विनाश तथा मोक्ष की सिद्धि करने वाला है; इसलिये वहाँ अवश्य स्नान करना चाहिये। स्नान के बाद पहले देवता और पितर आदि का तर्पण करके श्राद्धकर्ता पुरुष को पितरों को पिण्डदान देना चाहिये। तर्पण के समय यह भावना के कि 'मैं स्वर्ग' अन्तरिक्ष तथा भूमिपर रहने वाले सम्पूर्ण देवताओं को तृप्त करने जा रहा हूँ। स्वर्ग, अन्तरिक्ष तथा भूमि के देवता आदि एवं पिता-माता आदि का तर्पण करना चाहिये। फिर इस तरह कहे-'पिता, पितामह और प्रतितामह; माता, पितामही और प्रपितामही तथा मातामह, प्रमातामह और वृद्ध-प्रमातामह-इन सभी को तथा अन्य पितरों को भी उनके उद्धार के लिये मैं पिण्ड देता हूँ। सोम, मंगल और बुध स्वरूप तथा बृहस्पति, शुक्र, शनैश्चर, राहु और केतुरूप भगवान् सूर्य को नमस्कार है।' उत्तर-मानस-तीर्थ में स्नान करने वाला पुरुष अपने समस्त वंश का उद्धार कर देता है।।१०-१६।।

सूर्य देव को नमस्कार करके मनुष्य मौनभाव से दक्षिण-मानस-तीर्थ को जाय और यह भावना करनी चाहिये-'मैं पितरों की तृप्ति के लिये दक्षिण-मानस-तीर्थ में स्नान करने जा रहा हूँ। मैं गया में इसी उदेश्य से आया हूँ कि मेरे सम्पूर्ण पितर स्वर्गलोक को चले जायँ।' उसके बाद श्राद्ध और पिण्डदान करके भगवान् सूर्य को नमस्कार करते हुए इस तरह कहे-'सभी का भरण-पोषण करने वाले भगवान् भानु को नमस्कार है। प्रभो! आप मेरे अभ्युदय के साधक हों। मैं आपका ध्यान करने जा रहा हूँ। आप मेरे सम्पूर्ण पितरों को भोग और मोक्ष देने वाले हों। कव्यवाद्, अनल सोम, यम, अर्यमा, अग्निष्वात्त, बर्हिषद तथा आज्यप नाम वाले महाभाग पितृदेवता यहाँ पदार्पण करें। आप लोगों के द्वारा सुरक्षित जो मेरे पिता-माता, मातामह आदि पितर हैं, उनको पिण्डदान करने के उद्देश्य से मैं इस गयातीर्थ में आया हूँ।' मुण्डपृश्ठा के उत्तर भाग में देवताओं और ऋषियों से पूजित जो 'कनखल' नामक तीर्थ है, वह तीनों लोकों में विख्यात है। सिद्ध पुरुषों के लिये आनन्द-सम्प्रदायक और पापियों के लिये भयंकर बड़े-बड़े नाग, जिनकी जीभ लपलपाती रहती है, उस तीर्थ की प्रतिदिन रक्षा करते हैं। वहाँ स्नान करके मनुष्य इस भूतल पर सुखपूर्वक क्रीडा करते और अन्त में स्वर्गलोक को जाते हैं।।१७-२४।।

फल्गुतीर्थं ततो गच्छेन्महानद्यां स्थितं परम्। नागाज्जनार्दनात्कूपादूराच्चोत्तरमानसात्॥२५॥
एतद्गयोशिरः प्रोक्तं फल्गुतीर्थं तदुच्यते। मुण्डपृष्ठं नगा द्यौश्च सारात्सारमथान्तरम्॥२६॥
यस्मिन्फलति श्रीगौर्वा कामधेनुर्जलं मही। दृष्टिरम्यादिकं यस्मात्फल्गुतीर्थं न फल्गुवत्॥२७॥
फल्गुतीर्थे नरः स्नात्वा दृष्ट्वा देवं गदाधरम्। एतेन किं न पर्याप्तं नृणां सुकृतकारिणाम्॥२८॥
पृथिव्यां यानि तीर्थानि आसमुद्रात्सरांसि च। फल्गुतीर्थं गमिष्यन्ति वारमेकं दिनेदिने॥२९॥
फल्गुतीर्थे तीर्थराजे करोति स्नानमादृतः। पितॄणां ब्रह्मलोकाप्त्या आत्मनो भुक्तिमुक्तये॥३०॥
स्नात्वा श्राद्धी पिण्डदोऽथ नमेद्देवं पितामहम्। कलौ माहेश्वरा लोका अत्र देवो गदाधरः॥३१॥
पितामहो लिङ्गरूपी तं नमामि महेश्वरम्। गदाधरं बलं काममनिरुद्धं नरायणम्॥३२॥
ब्रह्मविष्णुनृसिंहाख्यं वराहादीन्नमाम्यहम्। ततो गदाधरं दृष्ट्वा कुलानां शतमुद्धरेत्॥३३॥
धर्मारण्यं द्वितीयेऽह्नि मतङ्गस्याऽऽश्रमे वरे। मतङ्गवाप्यां संस्नाप्य श्राद्धकृत्पिण्डदो भवेत्॥३४॥
मतङ्गेशं सुसिद्धेशं नत्वा चेदमुदीरयेत्। प्रमाणं देवताः सन्तु लोकपालाश्च साक्षिणः॥३५॥
मयाऽऽगत्य मतङ्गेऽस्मिन् पितॄणां निष्कृतिः कृता। स्नानतर्पणश्राद्धादि ब्राह्मतीर्थेऽथ कूपके॥३६॥
तत्कूपयूपयोर्मध्ये श्राद्धं कुलशतोद्धृतौ। महाबोधितरुं नत्वा धर्मवान्स्वर्गलोकभाक्॥३७॥
तृतीये ब्रह्मसरसि स्नानं कुर्याद्यतव्रतः। स्नानं ब्रह्मसरस्तीर्थे करोमि ब्रह्मभूतये॥३८॥

तत्पश्चात् महानदी में स्थित परम श्रेष्ठतम फल्गुतीर्थ पर जाय। यह नाग, जनार्दन, कूप, वट और उत्तर-मानस से भी उत्कृष्ट है। इसको 'गया का शिरोभाग' कहा गया है। गयाशिर को ही 'फल्गु-तीर्थ' कहते हैं। यह मुण्डपृष्ठ और नग आदि तीर्थ की अपेक्षा सार से भी सार वस्तु है। इसको 'आभ्यन्तर-तीर्थ' कहा गया है। जिसमें लक्ष्मी, कामधेनु गौ, जल और पृथ्वी सभी फलसम्प्रदायक होते हैं तथा जिससे दृष्टि रमणीय, मनोहर वस्तुएँ फलित होती हैं, वह 'फल्गु-तीर्थ' है। फल्गु-तीर्थ में स्नान करके मनुष्य भगवान् गदाधर का दर्शन करना चाहिये तो इससे पुण्यात्मा पुरुषों को क्या नहीं प्राप्त होता? भूतल पर समुद्र-पर्यन्त जितने भी तीर्थ और सरोवर हैं, वे सब प्रतिदिन एक बार फल्गुतीर्थ में जाया करते हैं। जो तीर्थराज फल्गुतीर्थ में श्रद्धा के साथ स्नान करता है, उसका वह स्नान पितरों को ब्रह्मलोक की प्राप्ति कराने वाला तथा अपने लिये भोग और मोक्ष की सिद्धि करने वाला होता है।।२५-३०।।

श्राद्धकर्ता पुरुष को स्नान के पश्चात् भगवान् ब्रह्माजी को नमस्कार करना चाहिये। उस समय इस तरह कहे- 'कलियुग में सब लोग महेश्वर के उपासक हैं; परन्तु इस गया-तीर्थ में भगवान् गदाधर उपास्यदेव हैं। यहाँ लिङ्गस्वरूप ब्रह्मा जी का निवास है, उन्हीं महेश्वर को मैं नमस्कार करने जा रहा हूँ। भगवान् गदाधर (वासुदेव), बलराम (संकर्षण), प्रद्युम्न, अनिरुद्ध, नारायण, ब्रह्मा, विष्णु, नृसिंह तथा वराह आदि को मैं नमस्कार करने जा रहा हूँ।' उसके बाद श्रीगदाधर का दर्शन करके मनुष्य अपनी सौ पीढ़ियों का उद्धार कर देता है। दूसरे दिन धर्मारण्य तीर्थ का दर्शन करना चाहिये। वहाँ मतङ्ग मुनि के श्रेष्ठ आश्रम में मतङ्ग-वापी के जल में स्नान करके श्राद्धकर्ता पुरुष को पिण्डदान करना चाहिये। उस कूप और यूप के मध्य भाग में किया हुआ श्राद्ध सौ पीढ़ियों का उद्धार करने वाला है। वहाँ धर्मात्मा पुरुष महाबोधि वृक्ष को नमस्कार करके स्वर्ग लोक का भागी होता है। तीसरे दिन नियम एवं व्रत का पालन करने वाला पुरुष को 'ब्रह्म-सरोवर' नामक तीर्थ में स्नान करना चाहिये। उस समय इस तरह याचना करनी चाहिये-'मैं ब्रह्मर्षियों द्वारा सेवित ब्रह्म-सरोवर-तीर्थ में पितरों को ब्रह्मलोक की प्राप्ति कराने के लिये स्नान करने जा रहा हूँ।'

पितृणां ब्रह्मलोकाय ब्रह्मर्षिगणसेविते। तर्पणं श्राद्धकृत्पिण्डं प्रदद्यात्तु प्रसेचनम्।।
कुर्याच्च वायपेयार्थी ब्रह्मयूपप्रदक्षिणम्।।३९।।
एको मुनिः कुम्भकुशाग्रहस्त आम्रस्य मूले सलिलं ददाति।
आम्राश्च सिक्ताः पितरश्च तृप्ता एका क्रिया द्व्यर्थकरीप्रसिद्धा।।४०।।

ब्रह्माणं च नमस्कृत्य कुलानां शतमुद्धरेत्। फल्गुतीर्थे चतुर्थेऽह्नि स्नात्वा देवादितर्पणम्।।४१।।
कृत्वा श्राद्धं सपिण्डं च गयाशिरसि कारयेत्। पञ्चक्रोशं गयाक्षेत्रं क्रोशमेकं गयाशिरः।।४२।।
तत्र पिण्डप्रदानेन कुलानां शतमुद्धरेत्। मुण्डपृष्ठे पदं न्यस्तं महादेवेन धीमता।।४३।।
मुण्डपृष्ठे शिरः साक्षाद्गयाशिर उदाहृतम्। साक्षाद्गयाशिरस्तत्र फल्गुतीर्थाश्रमं कृतम्।।४४।।
अमृतं तत्र वहति पितृणां दत्तमक्षयम्। स्नात्वा दशाश्वमेधे तु दृष्ट्वा देवं पितामहम्।।४५।।
रुद्रपादं नरः स्पृष्ट्वा नेह भूयोऽभिजायते। शमीपत्रप्रमाणेन पिण्डं दत्त्वा गयाशिरे।।४६।।
नरकस्था दिवं यान्ति स्वर्गस्था मोक्षमाप्नुयुः। पायसेनाथ पिष्टेन सक्तुना चरुणा तथा।।४७।।
पिण्डदानं तण्डुलैश्च गोधूमैस्तिलमिश्रितैः। पिण्डं दत्त्वा रुद्रपते कुलानां शतमुद्धरेत्।।४८।।
तथा विष्णुपदे श्राद्धपिण्डदो ह्यृणमुक्तिकृत्। पित्रादीनां शतकुलं स्वात्मानं तारयेन्नरः।।४९।।
तथा ब्रह्मपदे श्राद्धी ब्रह्मलोकं नयेत्पितॄन्। दक्षिणाग्निपदे तद्वद्गार्हपत्यपदे तथा।।५०।।
पदे चाऽऽहवनीयस्य श्राद्धी यज्ञफलं लभेत्। आवसथ्यस्य चन्द्रस्य सूर्यस्य च गणस्य च।।५१।।

श्राद्धकर्ता पुरुष को तर्पण करके पिण्डदान देना चाहिये। फिर वृक्ष को सींचे। जो वाजपेय-यज्ञ का फल पाना चाहता हो, वह ब्रह्माजी द्वारा स्थापित यूप की प्रदक्षिणा करना चाहिये।।३१-३९।।

उस तीर्थ में एक मुनि रहते थे, वे जल का घड़ा और कुशल अग्रभाग हाथ में लिये आम के पेड़ की जड़ में पानी देते थे। इससे आम भी सींचे गये और पितरों की भी तृप्ति हुई। इस तरह एक ही क्रिया दो प्रयोजन सिद्ध करने वाली हो गयी। ब्रह्मा जी को नमस्कार करके मनुष्य अपनी सौ पीढ़ियों का उद्धार कर देता है। चौथे दिन फल्गुतीर्थ में स्नान करके देवता आदि का तर्पण करना चाहिये। फिर गयाशीर्ष में श्राद्ध और पिण्डदान करना चाहिये। गया का क्षेत्र पाँच कोस का है। उसमें एक कोस केवल 'गयाशीर्ष' है। उसमें पिण्डदान करके मनुष्य अपनी सौ पीढ़ियों का उद्धार कर सता है। परम बुद्धिमान् महादेव जी ने मुण्ड पृष्ठ में अपना पैर रखा है। मुण्ड पृष्ठ में ही गयासुर का साक्षात् सिर है, अतएव उसको 'गया-शिर' कहते हैं। जहाँ साक्षात् गयाशीर्ष है, वहीं फल्गु-तीर्थ का आश्रय है। फल्गु अमृत की धारा बहाती है। वहाँ पितरों के उद्देश्य से किया हुआ दान अक्षय होता है। दशश्वमेध तीर्थ में स्नान तथा ब्रह्माजी का दर्शन करके महादेव जी के चरण (रुद्रपाद) का स्पर्श करने पर मनुष्य पुनः इस लोक में जन्म नीं लेता। गयाशीर्ष में शमी के पत्ते-बराबर पिण्ड देने से भी नरकों में पड़े हुए पितर स्वर्ग को चले जाते हैं और स्वर्गवासी पितरों को मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है। वहाँ खीर, आटा, सत्तू, चरु और चावल से पिण्डदान करना चाहिये। तिलमिश्रित गेहूँ से भी रुद्रपाद में पिण्डदान करके मनुष्य अपनी सौ पीढ़ियों का उद्धार कर सकता है।।४०-४८।।

इसी तरह 'विष्णुपदी' में भी श्राद्ध और पिण्डदान करने वाला पुरुष पितृ-ऋण से छुटकारा पाता है और पिता आदि ऊपर की सौ पीढ़ियों तथा अपने को भी तार देता है। 'ब्रह्मपद' में श्राद्ध करने वाला मानव अपने पितरों को ब्रह्मलोक में पहुँचाता है। दक्षिणाग्नि, गार्हपत्य-अग्नि तथा आहवनीय-अग्नि के स्थन में श्राद्ध करने वाला पुरुष यज्ञ

अगस्त्यकार्तिकेयस्य श्राद्धी तारयते कुलम्। आदित्यस्य रथं नत्वा कर्णादित्यं नमेन्नरः॥५२॥
कनकेशपदं नत्वा गया केदारकं नमेत्। सर्वपापविनिर्मुक्तः पितॄन् ब्रह्मपुरं नयेत्॥५३॥
विशालोऽपि गयाशीर्षे पिण्डदोऽभूच्च पुत्रवान्। विशालायां विशालोऽभूद्राजपुत्रोऽब्रवीद्द्विजान्॥५४॥
कथं पुत्रादयः स्युर्मे द्विजा ऊचुर्विशालकम्। गयायां पिण्डदानेन तव सर्वं भविष्यति॥५५॥
विशालोऽपि गयाशीर्षे पितृपिण्डान्ददौ ततः। दृष्ट्वाऽऽकाशे सितं रक्तं पुरुषांस्तांश्च पृष्टवान्॥५६॥
के यूयं तेषु चैवैकः सितां प्रोचे विशालकम्। अहं सितस्ते जनक इन्द्रलोकं गतः शुभात्॥५७॥
मम रक्तः पिता पुत्र कृष्णश्चैव पितामहः। अब्रवीन्नरकं प्राप्तास्त्वया मुक्तीकृता वयम्॥५८॥
पिण्डदानाद्ब्रह्मलोकं ब्रजाम इति ते गताः। विशालः प्राप्तपुत्रादी राज्यं कृत्वा हरिं ययौ॥५९॥
प्रेतराजः स्वमुक्त्यै च वणिजं चेदमब्रवीत्। प्रेतैः सर्वैः सहाऽऽर्तः सन्सुकृतं भुज्यते फलम्॥६०॥
श्रवणद्वादशीयोगे कुम्भः सान्नश्च सोदकः। दत्तः पुरा स मध्याह्ने जीवनायोपतिष्ठते॥६१॥
धनं गृहीत्वा मे गच्छ गयायां पिण्डदो भव। वणिग्धनं गृहीत्वा तु गयायां पिण्डदोऽभवत्॥६२॥
प्रेतराजः सह प्रेतैर्मुक्तो नीतो हरेः पुरम्। गायाशीर्षे पिण्डदानादात्मानं स्वपितॄंस्तथा॥६३॥
पितृवंशे मृता ये च मातृवंशे तथैव च। गुरुश्वशुरबन्धूनां ये चान्ये बान्धवा मृताः॥६४॥

फल का भागी होता है। आवसथ्याग्नि, चन्द्रमा, सूर्य, गणेश, अगस्त्य और कार्तिकय के स्थान में श्राद्ध करने वाला मनुष्य अपने वंश का उद्धार कर देता है। मनुष्य सूर्य के रथ को नमस्कार करके कर्णादित्य को मस्तक झुकावे। करकेश्वर के पद को नमस्कार करके गया-केदार-तीर्थ को नमस्कार करना चाहिये। इससे मनुष्य सब पापों से छुटकारा पाकर अपने पितरों को ब्रह्मलोक में पहुँचा देता है। विशाल भी गयाशीर्ष में पिण्डदान करने से पुत्रवान् हुए। कहते हैं, विशाला नगरी में एक 'विशाल' नाम से प्रसिद्ध राजपुत्र थे। उन्होंने ब्राह्मणों से पूछा-'मुझको पुत्र आदि की उत्पत्ति किस तरह होगी? यह सुनकर ब्राह्मण ने विशाल से कहा-'गया में पिण्डदान करने से आपको सब कुछ प्राप्त होगा।' तत्पश्चात् विशाल ने भी गयाशीर्ष में पितरों को पिण्डदान किया। उस समय आकाश में उनको तीन पुरुष दिखायी दिये, जो क्रमशः श्वेत, लाल और काले थे। विशाल ने उनसे पूछा-'आप लोग कौन हैं?' उनमें से एक श्वेतवर्ग वाले पुरुष ने विशाल से कहा-'मैं आपका पिता हूँ; मेरा वर्ण श्वेत है; मैं अपने शुभकर्म से इन्द्रलोक में गया था। बेटा! ये लाल रंग वाले मेरे पिता और काले रंग वाले मेरे पितामह थे। ये नरक में पड़े थे; आपने हम सभी को मुक्त कर दिया। तुम्हारे पिण्डदान से हमलोक ब्रह्मलोक में जा रहे हैं।' ऐसा कहकर वे तीनों चले गये। विाल को पुत्र-पौत्र आदि की प्राप्ति हुई। उन्होंने राज्य भोगकर मृत्यु के पश्चात् भगवान् श्रीहरि विष्णु को प्राप्त कर लिया॥४९-५०॥

एक प्रेतों का राजा था। उसने एक दिन एक वणिक् से अपनी मुक्ति के लिये इस तरह कहा-'भाई! हमारे द्वारा एक ही पुण्य हुआ था, जिसका फल यहाँ भोगते हैं। प्राचीन काल में एक बार श्रवण-नक्षत्र और द्वादशी तिथि का योग आने पर हमने अन्न और जल सहित कुम्भदान किया था; वही प्रतिदिन मध्याह्न के समय हमारी जीवन-रक्षा के लिये उपस्थित होता है। आप हमसे धन लेकर गया जाओ और हमारे लिये पिण्डदान करो।' वणिक् ने उससे धन लिया और गया में उसके निमित्त पिण्डदान किया। उसका फल यह हुआ कि वह प्रेतराज अन्य सब प्रेतों के साथ मुक्त होकर विष्णु के धाम में जा पहुँचा। गयाशीर्ष में पिण्डदान करने से मनुष्य अपने पितरों का तथा अपना भी उद्धार कर देता है॥६०-६३॥

वहाँ पिण्डदान करते समय इस तरह कहना चाहिये-'मेरे पिता के वंश में तथा माता के वंश में और गुरु

ये मे कुले लुप्तपिण्डाः पुत्रदारविवर्जिताः। क्रियालोपगता ये च जात्यन्धाः पङ्गवस्तथा।।६५।।
विरूपा आमगर्भा ये ज्ञाताज्ञाताः कुले मम। तेषां पिण्डो मया दत्तो ह्यक्षय्यमुपतिष्ठताम्।।६६।।
ये केचित्प्रेतरूपेण तिष्ठन्ति पितरो मम। ते सर्वे तृप्तिमायान्तु पिण्डदानेन सर्वदा।।६७।।
पिण्डो देयस्तु सर्वेभ्यः सर्वैर्वै कुलतारकैः। आत्मनस्तु तथा देयो ह्यक्षयं लोकमिच्छता।।६८।।
पञ्चमेऽह्नि गदालोले स्नायान्मत्रेण बुद्धिमान्। गदाप्रक्षालने तीर्थे गदालोलेऽतिपावने।।६९।।
स्नानं करोमि संसारगदशान्त्यै जनार्दन। नमोऽक्षयवटायैव अक्षय्यस्वर्गदायिने।।७०।।
पित्रादीनामक्षयाय सर्वपापक्षयाय च। श्राद्धं वटतले कुर्याद्ब्राह्मणानां च भोजनम्।।७१।।
एकस्मिन्भोजिते विप्रे कोटिर्भवति भोजिता। किं पुनर्बहुभिर्भुक्तैः पितृणां दत्तमक्षयम्।।७२।।
गयायामन्नदाता यः पितरस्तेन पुत्रिणः। वटं वटेश्वरं नत्वा पूजयेत्प्रपितामहम्।।७३।।
अक्षयांल्लभते लोकान्कुलानां शतमुद्धरेत्। क्रमातोऽक्रमतो वाऽपि गयायात्रा महाफला।।७४।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गति गयायात्राविधिवर्णनं नाम पञ्चदशाधिकशततमोऽध्यायः।।११५।।

श्वशुर एवं बन्धुजनों के वंश में जो मृत्यु को प्राप्त हुए हैं, इनके अतिरिक्त भी जो बन्धु-बान्धव मरे हैं, मेरे वंश में जिनका श्राद्ध कर्म–पिण्डदान आदि लुप्त हो गया है, जिनके कोई स्त्री-पुत्र नहीं रहा है, जिसके श्राद्ध-कर्म नहीं होने पाये हैं, जो जन्म के अन्धे, लँगड़े और विकृत रूप वाले रहे हैं, जिनका अपक्व गर्भ के रूप में निधन हुआ है, इस तरह जो मेरे वंशके ज्ञात एवं अज्ञात पितर हों, वे सब मेरे दिये हुए इस पिण्डदान से सदा के लिये तृप्त हो जायँ। जो कोई मेरे पितर प्रेतरूप से स्थित हों, वे सब यहाँ पिण्ड देने से सदा के लिये तृप्ति को प्राप्त हों।' अपने वंश को तारने वाली सभी संतानों का कर्तव्य है कि वे अपने सम्पूर्ण पितरों के उद्देश्य से वहाँ पिण्ड दें तथा अक्षय लोक की इच्छा रखने वाले पुरुष को अपने लिये भी पिण्ड अवश्य देना चाहिये।।६४-६८।।

बुद्धिमान् पुरुष को पाँचवें दिन 'गदालोल' नामक तीर्थ में स्नान करना चाहिये। उस समय इस मन्त्र का पाठ करना चाहिये–'हे भगवान् जनार्दन! जिसमें आपकी गदा का प्रक्षालन हुआ था, उस अत्यन्त पावन 'गदालोल' नामक तीर्थ में मैं संसाररूपी रोग की शान्ति के लिये स्नान कर रहा हूँ। 'अक्षय स्वर्ग सम्प्रदान करने वाले अक्षयवट को नमस्कार है। जो पिता-पितामह आदि के लिये अक्षय आश्रय है तथा सब पापों का क्षय करने वाला है, उस अक्षय वट को नमस्कार है।'–यों याचना कर वट के नीचे श्राद्ध करके ब्राह्मण-भोजन कराये।।६९-७१।।

वहाँ एक ब्राह्मण को भोजन कराने से कोटि ब्राह्मणों को भोजन कराने का पुण्य होता है। फिर यदि बहुत-से ब्राह्मण को भोजन कराया जाय, तत्पश्चात् तो उसके पुण्य का क्या कहना है? वहाँ पितरों के उद्देश्य से जो कुछ दिया जाता है, वह अक्षय होता है। पितर उसी पुत्र से अपने को पुत्रवान् मानते हैं, जो गया में जाकर उनके लिये अन्नदान करता है। वट तथा वटेश्वर को नमस्कार करके अपने प्रतितामह को पूजन करना चाहिये। ऐसा करने वाला पुरुष अक्षय लोक में जाता है और अपनी सौ पीढ़ियों का उद्धार कर देता है। क्रम से हो या बिना क्रम से, गया की यात्रा महान् फल देने वाली होती है।।७२-७४।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी एक सौ पन्द्रहवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।११५।।

❖❖❖

अथ षोडशाधिकशततमोऽध्यायः

गयायात्राविधिः

अग्निरुवाच

गायत्र्यैव महानद्यां स्नातः सन्ध्यां समाचरेत्। गायत्र्यां अग्रतः प्रातः श्राद्धं पिण्डमथाक्षयम्॥१॥
मध्याह्ने चोद्यदि स्नात्वा गीतवाद्यैर्ह्युपाश्य च। सावित्रीं पुरतः सन्ध्यां पिण्डदानं च तत्तटे॥२॥
अगस्त्यस्य पदे कुर्याद्योनिद्वारं प्रविश्य च। निर्गतो न पुनर्योनिं प्रविशेन्मुच्यते भवात्॥३॥
बलिं काकशिलायां च कुमारं च नमेत्ततः। स्वर्गद्वार्यां सोमकुण्डे वायुतीर्थेऽथ पिण्डदः॥४॥
भवेदाकाशगङ्गायां कपिलायां च पिण्डदः। कपिलेशशिवं नत्वा रुक्मिकुण्डे च पिण्डदः॥५॥
कोटितीर्थे च कोटीशं नत्वाऽमोघपदे नरः। गदालोले वानरके गोप्रचारे च पिण्डदः॥६॥
नत्वा गावं (गां वै) वैतरण्यामेकविंशकुलोद्धृतिः। श्राद्धपिण्डप्रदाता स्यात्क्रौञ्चपादे च पिण्डदः॥७॥
तृतीयायां विशालायां निश्चिरायां च पिण्डदः। ऋणमोक्षे पापमोक्षे भस्मकुण्डेऽथ भस्मना॥८॥
स्नानकृन्मुच्यते पापान्नमेद्देवं जनार्दनम्। एष पिण्डो मया दत्तस्तव हस्ते जनार्दन॥९॥
परलोकगते मह्यमक्षय्यमुपतिष्ठताम्। गयायां पितृरूपेण स्वयमेव जनार्दनः॥१०॥

अध्याय-११६

गया श्राद्ध विधान

श्रीअग्नि देव ने कहा कि-गायत्री मन्त्र से ही महानदी में स्नान करके संध्योपासना करना चाहिये। प्रातःकाल गायत्री के सम्मुख किया हुआ श्राद्ध और पिण्डदान अक्षय होता है। सूर्योदय के समय तथा मध्याह्नकाल में स्नान करके गीत और वाद्य के द्वारा सावित्री देवी की उपासना करना चाहिये। फिर उन्हीं के सम्मुख संध्या करके नदी के तट पर पिण्डदान करना चाहिये। उसके बाद अगस्त्यपद में पिण्डदान करना चाहिये। फिर 'योनिद्वार' ब्रह्मयोनि में प्रवेश करके निकले। इससे वह फिर माता की योनि में नहीं प्रवेश करता, पुनर्जन्म से मुक्त हो जाता है। तत्पश्चात् काकशिला पर बलि देकर कुमार कार्तिकेय को नमस्कार करना चाहिये। इसके बाद स्वर्गद्वार, सोमकुण्ड और वायु-तीर्थ में पिण्डदान करना चाहिये। फिर आकाशगंगा और कपिला के तट पर पिण्ड देना चाहिये। वहाँ कपिलेश्वर शिव को नमस्कार करके रुक्मिणीकुण्ड पर पिण्डदान करना चाहिये॥१-५॥

कोटि-तीर्थ में भगवान् कोटीश्वर को नमस्कार करके मनुष्य अमोघपद, गदालोल, वारनरक एवं गोप्रचार-तीर्थ में पिण्डदान देना चाहिये। वैतरणी में गौ को नमस्कार एवं दान करके मनुष्य अपनी इक्कीस पीढ़ियों का उद्धार कर देता है। वैतरणी के तट पर श्राद्ध एवं पिण्डदान करना चाहिये। तत्पश्चात् क्रौञ्चपाद में पिण्ड देना चाहिये। तृतीया तिथि को विशाल, निश्चिरा, ऋणमोक्ष तथा पापमोक्ष-तीर्थ में भी पिण्डदान करना चाहिये। भस्मकुण्ड में भस्म से स्नान करने वाला पुरुष पाप से मुक्त हो जाता है। वहाँ भगवान् जनार्दन को नमस्कार करना चाहिये और इस तरह याचना करनी चाहिये-'हे जनार्दन! यह पिण्ड मैंने आपके हाथ में समर्पित किया है। परलोक में जाने पर यह मुझको अक्षय रूप में प्राप्त हो।' गया में साक्षात् भगवान् श्रीहरि विष्णु ही पितृदेव के रूप में विराजमान हैं॥६-१०॥

तं दृष्ट्वा पुण्डरीकाक्षं मुच्यते वै ऋणत्रयात्। मार्कण्डेयेश्वरं नत्वा नमेद्गृध्रेश्वरं नरः।।११।।
मूलक्षेत्रे महेशस्य धारायां पिण्डदो भवेत्। गृध्रकूटे गृध्रवटे धौतपादे च पिण्डदाः।।१२।।
पुष्करिण्यां कर्दमाले रामतीर्थे च पिण्डदः। प्रभासेशं नमेत्प्रेतशिलायां पिण्डदो भवेत्।।१३।।
दिव्यान्तरिक्षभूमिष्ठाः पितरो बान्धवादयः। प्रेतादिरूपा मुक्ताः स्युः पिण्डैर्दत्तैर्मयाऽखिलाः।।१४।।
स्थानत्रये प्रेतशिला गयाशिरसि पावनी। प्रभासे प्रेतकुण्डे च पिण्डदस्तारयेत्कुलम्।।१५।।
वसिष्ठेशं नमस्कृत्य तदग्रे पिण्डदो भवेत्। (गयानाभौ सुषुम्नायां महाकोष्ठ्यां च पिण्डदः।।१६।।
गदाधराग्रतो मुण्डपृष्ठे देव्याश्च संनिधौ। मुण्डपृष्ठं नमेदादौ क्षेत्रपालादिसंयुतम्।।१७।।
पूजयित्वा भयं न स्याद्विषरोगादिनाशनम्। ब्रह्माणं च नमस्कृत्य ब्रह्मलोकं नयेत्कुलम्।।१८।।
सुभद्रां बलभद्रं च प्रपूज्य पुरुषोत्तमम्)। सर्वकामसमायुक्तः कुलमुद्धृत्य नाकभाक्।।१९।।
हृषीकेशं नमस्कृत्य तदग्रे पिण्डदो भवेत्। माधवं पूजयित्वा च देवो वैमानिको भवेत्।।२०।।
महालक्ष्मीं प्रार्च्य गौरीं मङ्गलां च सरस्वतीम्। पितॄनुद्धृत्य स्वर्गस्थो भुक्तभोगोऽत्र शास्त्रधीः।।२१।।
द्वादशादित्यमभ्यर्च्य वह्निं रेवन्तमिन्द्रकम्। रोगादिमुक्तः स्वर्गी स्याच्छ्रीकपर्दिविनायकम्।।२२।।
प्रपूज्य कार्तिकेयं च निर्विघ्नः सिद्धिमाप्नुयात्। सोमनाथं च कालेशं केदारं प्रपितामहम्।।२३।।

उन भगवान् कमलनयन का दर्शन करके मानव तीनों ऋणों से मुक्त हो जाता है। उसके बाद मार्कण्डेयेश्वर को नमस्कार करके मनुष्य गृध्रेश्वर को नमस्कार करना चाहिये। महादेव जी के मूलक्षेत्र धारा में पिण्डदान करना चाहिये। इसी तरह गृध्रकूट, गृध्रवट और धौतपाद में भी पिण्डदान करना उचित है। पुष्करिणी, कर्दमाल और रामतीर्थ में पिण्ड देना चाहिये। फिर प्रभासेश्वर को नमस्कार करके प्रेतशिला पर पिण्डदान देना चाहिये। उस समय इस तरह कहे–'दिव्यलोक, अन्तरिक्षलोक तथा भूमिलोक में जो मेरे पितर और बान्धव आदि सम्बन्धी प्रेत आदि के रूप में रहते हों, वे सब लोग इन मेरे दिये हुए पिण्डों के प्रभाव से मुक्ति-लाभ करें।' प्रेतशिला तीन स्थानों में अत्यन्त पावन मानी गयी है-गयाशीर्ष, प्रभासतीर्थ और प्रेतकुण्ड। इनमें पिण्डदान करने वाला पुरुष अपने वंश का उद्धार कर देता है।।११-१५।।

वसिष्ठेश्वर को नमस्कार करके उनके आगे पिण्डदान करना चाहिये। भगवान् गदाधर के सामने मुण्डपृष्ठ पर देवी के सन्निकट पिण्डदान करना चाहिये। पहले क्षेत्रपाल आदिसहित मुण्डपृष्ठ को नमस्कार कर लेना चाहिये। उनका पूजन करने से भय का विनाश होता है, विष और रोग आदि का कुप्रभाव भी दूर हो जाता है। ब्रह्माजी को नमस्कार करने से मनुष्य अपने वंश को ब्रह्मलोक में पहुँचा देता है। सुभद्रा, बलभद्र तथा भगवान् पुरुषोत्तम का पूजन करने से मनुष्य सम्पूर्ण कामनाओं को प्राप्त करके अपने वंश का उद्धार कर देता और अन्त में स्वर्गलोक का भागी होता है। भगवान् हृषीकेश को नमस्कार करके उनके आगे पिण्डदान देना चाहिये। श्रीमाधव का पूजन करके मनुष्य विमानचारी देवता होता है।१६-२०।।

भगवती महालक्ष्मी गौरी तथा मङ्गलमयी सरस्वती की पूजा करके मनुष्य अपने पितरों का उद्धार करता, स्वयं भी स्वर्गलोक में जाता और वहाँ भोग भोगने के पश्चात् इस लोक में आकर शास्त्रों का विचार करने वाला पण्डित होता है। फिर द्वादश आदित्यों का, अग्नि का, रेवन्त का और इन्द्र का पूजन करके मनुष्य रोग आदि से छुटकारा पा जाता है और अन्त में स्वर्ग लोक का निवासी होता है। 'श्रीकपर्दि विनायक' तथा कार्तिकेय का पूजन करने से मनुष्य को निर्विघ्नतापूर्वक सिद्धि प्राप्त होती है। सोमनाथ, कालेश्वर केदार, प्रतितामह, सिद्धेश्वर, रुद्रेश्वर, रामेश्वर तथा

सिद्धेश्वरं च रुद्रेशं रामेशं ब्रह्मकेश्वरम्। अष्टलिङ्गानि गुह्यानि पूजयित्वा तु सर्वभाक्॥२४॥
नारायणं वराहं च नारसिंहं नमेच्छ्रिये। ब्रह्मविष्णुमहेशाख्यं त्रिपुरघ्नमशेषदम्॥२५॥
सीतारामं च गरुडं वामनं सम्प्रपूज्य च। सर्वकामानवाप्नोति ब्रह्मलोकं नयेत्पितॄन्॥२६॥
देवैः सार्धं सम्प्रपूज्य देवमादिगदाधरम्। ऋणत्रयविनिर्मुक्तस्तारयेत्सकलं कुलम्॥२७॥
देवरूपा शिला पुण्या तस्माद्देवमयी शिला। गयायां न हि तत्स्थानं यत्र तीर्थं न विद्यते॥२८॥
यन्नाम्ना पातयेत्पिण्डं तं नयेद्ब्रह्म शाश्वतम्। फल्वीशं फल्गुचण्डीं च प्रणम्याङ्गारकेश्वरम्॥२९॥
मतङ्गस्य पदे श्राद्धी भरताश्रमके भवेत्। हंसतीर्थे कोटितीर्थे यत्र पाण्डुशिलानदः॥३०॥
तत्र स्यादग्निधारायां मधुश्रवसि पिण्डदः। इन्द्रेशं किलिकिलेशं नमेद्वृद्धिविनायकम्॥३१॥
पिण्डदो धेनुकारण्ये पदे धेनोर्नमेच्च गाम्। सर्वान्पितॄंस्तारयेच्च सरस्वत्यां च पिण्डदः॥३२॥
सन्ध्यामुपास्य सायाह्ने नमेद्देवीं सरस्वतीम्। त्रिसन्ध्याकृद्भवेद्विप्रो वेदवेदाङ्गपारगः॥३३॥
गयां प्रदक्षिणीकृत्य गयाविप्रान्प्रपूज्य च। अन्नदानादिकं सर्वं कृतं तत्राक्षयं भवेत्॥३४॥
स्तुत्वा सम्प्रार्थयेद्देवमादिदेवं गदाधरम्। गदाधरं गयावासं पित्रादीनां गतिप्रदम्॥३५॥
धर्मार्थकाममोक्षार्थं योगदं प्रणमाम्यहम्। देहेन्द्रियमनोबुद्धिप्राणाहंकारवर्जितम्॥३६॥

ब्रह्मकेश्वर—इन आठ गुप्त लिङ्गों का पूजन करने से मनुष्य सब कुछ पा लेता है। यदि लक्ष्मी प्राप्ति की कामना हो, तो भगवान् नारायण, वाराह, नरसिंह को नमस्कार करना चाहिये। ब्रह्मा, विष्णु तथा त्रिपुरनाशक महेश्वर को भी नमस्कार करना चाहिये। वे सब कामनाओं को देने वाले हैं॥२१-२५॥

सीता, राम, गरुड़ तथा वामन को पूजन करने से मानव अपनी सम्पूर्ण कामनाएँ प्राप्त कर लेता है और पितरों को ब्रह्मलोक की प्राप्ति करा देता है। देवताओं सहित भगवान् श्रीआदि-गदाधर का पूजन करने से मनुष्य तीनों ऋणों से मुक्त होकर अपने सम्पूर्ण वंश को तार देता है। प्रेतशिला देवरूपा होने से परम पवित्र है। गया में वह शिला देवमयी ही है। गया में ऐसा कोई स्थान नहीं है, जहाँ तीर्थ न हो। गया में जिसके नाम से भी पिण्ड दिया जाता है, उसको वह सनातन ब्रह्म में प्रतिष्ठित कर देता है। फल्वीश्वर, फल्गुचण्डी तथा अङ्गाकेश्वर को नमस्कार करके श्राद्धकर्ता पुरुष को मतङ्गमुनि के स्थान में पिण्डदान देना चाहिये। फिर भरत के आश्रम पर भी पिण्ड देना चाहिये। इसी तरह हंस-तीर्थ और कोटि-तीर्थ में भी करना चाहिये। जहाँ पाण्डुशिला नद है, वहाँ अग्निधारा तथा मधुस्रवा तीर्थ में पिण्डदान करना चाहिये। तत्पश्चात् इन्द्रेश्वर, किलकिलेश्वर तथा वृद्धि-विनायक को नमस्कार करना चाहिये; उसके बाद धेनुकारण्य में पिण्डदान करना चाहिये, धेनुपद में गौ को नमस्कार करना चाहिये। इससे वह अपने सम्पूर्ण पितरों का उद्धार कर देता है। फिर सरस्वती-तीर्थ में जाकर पिण्ड देना चाहिये। सायंकाल संध्योपासना करके सरस्वती देवी को नमस्कार करना चाहिये। ऐसा करने वाला पुरुष तीनों काल की संध्योपासना में तत्पर वेद-वेदाङ्गों का पारंगत विद्वान् ब्राह्मण होता है॥२६-३३॥

गया की परिक्रमा करके वहाँ के ब्राह्मणों का पूजन करने से गया-तीर्थ में किया हुआ अन्नदान आदि सम्पूर्ण पुण्य अक्षय होता है। भगवान् गदाधर की स्तुति करके इस तरह याचना करनी चाहिये—'जो आदि देवता, गदा धारण करने वाले, गया के निवासी तथा पितर आदि को सद्गति देने वाले हैं, उन योगदाता भगवान् गदाधर को मैं धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की प्राप्ति के लिये नमस्कार करने जा रहा हूँ। वे देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, प्राण और अहंकार से शून्य

नित्यशुद्धबुद्धमुक्तसत्यं ब्रह्म नमाम्यहम्। आनन्दमद्वयं देवं देवदानववन्दितम्।।३७।।
देवदेवीवृन्दयुक्तं सर्वदा प्रणमाम्यहम्। कलिकल्मषकालार्तिदमनं वनमालिनम्।।३८।।
पालिताखिललोकेशं कुलोद्धरणमानसम्। व्यक्ताव्यक्तविभक्तात्माविभक्तात्मानमात्मनि।।३९।।
स्थितं स्थिरतरं सारं वन्दे घोराघमर्दनम्। आगतोऽस्मि गयां देव पितृकार्ये गदाधर।।४०।।
त्वं मे साक्षी भवाद्येह अनृणोऽहमृणत्रयात्। साक्षिणः सन्तु मे देवा ब्रह्मेशानादयस्तथा।।४१।।
मया गयां समासाद्य पितॄणां निष्कृतिः कृता। गयामाहात्म्यपठनाच्छ्राद्धादौ ब्रह्मलोकभाक्।।४२।।
पितॄणामक्षयं श्राद्धमक्षयं ब्रह्मलोकदम्।।४३।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गति गयायात्राविधिकथनं नाम षोडशाधिकशततमोऽध्यायः।।११६।।
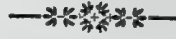
हैं। नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, द्वैताशून्य तथा देवता और दानवों से वन्दित हैं। देवताओं और देवियों के समुदाय सदा उनकी सेवा में उपस्थित रहते हैं; मैं उनको नमस्कार करने जा रहा हूँ। वे कलि के कल्मष (पाप) और काल की पीड़ा का विनाश करने वाले हैं। उनके कण्ठ में वनमाला सुशोभित होती है। सम्पूर्ण लोकपालों का भी उन्हीं के द्वारा पालन होता है। वे सबके वंशों का उद्धार करने में मन लगाते हैं। व्यक्त और अव्यक्त–सबमें अपने स्वरूप को विभाजित करके स्थित होते हुए भी वे वास्तव में अविभक्तात्मा ही हैं। अपने स्वरूप में ही उनकी स्थिति है। वे अत्यन्त स्थिर और सारभूत हैं तथा भयंकर पापों का भी मर्दन करने वाले हैं। मैं उनके चरणों में मस्तक झुकाता हूँ। हे देव! भगवान् गदाधर! मैं पितरों का श्राद्ध करने के निमित्त गया में आता हूँ। आप यहाँ मेरे साक्षी होइये। आज मैं तीनों ऋणों से मुक्त हो गया। ब्रह्मा और देवाधिदेव भगवान् श्रीशिवशंकर आदि देवता मेरे लिये साक्षी बनें। मैंने गया में आकर अपने पितरों का उद्धार कर दिया।' श्राद्ध आदि में गया के इस माहात्म्य का पाठ करने से मनुष्य ब्रह्मलोक का भागी होता है। गया में पितरों का श्राद्ध अक्षय होता है। वह अक्षय ब्रह्मलोक देने वाला है।।३४-४३।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी एक सौ सोलहवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।११६।।

❖❖❖

अथ सप्तदशाधिकशततमोऽध्यायः

श्राद्धकल्पः

अग्निरुवाच

कात्यायनो मुनीनाह यथा श्राद्धं तथा वदे। गयादौ श्राद्धं कुर्वीत संक्रान्त्यादौ विशेषतः।।१।।
काले चापरपक्षे च चतुर्थ्यामूर्ध्वमेव वा। सम्पाद्य च पदर्क्षे च पूर्वेद्युश्च निमन्त्रयेत्।।२।।
यतीन्गृहस्थसाधून्वा स्नातकाञ्श्रोत्रियान्द्विजान्। अनवद्यान्कर्मनिष्ठाञ्शिष्टानाचारसंयुतान्।।३।।
वर्जयेच्छ्वित्रिकुष्ठा (ष्ठ्या) दीन्न गृह्णीयान्निमन्त्रितान्। स्नाताञ्शुचींस्तथाऽऽचान्तान्प्राङ्मुखान्देवकर्मणि।।४।।
उपवेशयेत्त्रीन्पित्र्यानेकैकमुभयत्र वा। एवं मातामहादेश्च शाकैरपि च कारयेत्।।५।।
तदह्नि ब्रह्मचारी स्यादकोपोऽत्वरितो मृदुः। सत्योऽप्रमत्तोऽनध्वन्यो ह्यस्वाध्यायश्च वाग्यतः।।६।।
सर्वांश्च पंक्तिमूर्धन्यान्पृच्छेत्प्रश्ने तथाऽऽसने। दर्भानास्तीर्य द्विगुणान्पित्र्ये दैवादिकं चरेत्।।७।।
विश्वान्देवानावाहयिष्ये पृच्छेदावाहयेति च। विश्वे देवास आवाह्य विकीर्याथ यवाञ्जपेत्।।८।।
विश्वेदेवाः शृणुतेमं पितृनावाहयिष्येति। पृच्छेदावाहयेत्युक्त उशन्तस्त्वा समाह्वयेत्।।९।।

अध्याय-११७

श्राद्ध-कल्प

श्रीअग्नि देव ने कहा कि—महर्षि कात्यायन ने मुनियों से जिस तरह श्राद्ध का वर्णन किया था, उसको बतलाता हूँ। गया आदि तीर्थों में, विशेषतः संक्रान्ति आदि के अवसर पर श्राद्ध करना चाहिये। अपराह्णकाल में, अपरपक्ष (कृष्णपक्ष) में, चतुर्थी तिथि को अथवा तत्पश्चात् की तिथियों में श्राद्धोपयोगी सामग्री एकत्रित कर श्रेष्ठतम नक्षत्र में श्राद्ध करना चाहिये। श्राद्ध के एक दिन पहले ही ब्राह्मणों को आमन्त्रित करना चाहिये। सन्यासी, गृहस्थ, साधु अथवा स्नातक तथा श्रोत्रिय ब्राह्मणों को, जो निन्दा के पात्र न हों, अपने कर्मों में लगे रहते हों और शिष्ट एवं सदाचारी हों- आमन्त्रित करना चाहिये। जिनके शरीर में सफेद दाग हों, जो कोढ़ आदि के रोगों से ग्रस्त हों, ऐसे ब्राह्मणों को छोड़ दे; उनको श्राद्ध में सम्मिलित नहीं करना चाहिये। आमन्त्रित ब्राह्मण जिस समय स्नान और आचमन करके पवित्र हो जायँ तो उनको देवकर्म में पूर्वाभिमुख बिठावे। देव-श्राद्ध पितृ-श्राद्ध में तीन-तीन ब्राह्मण रहें अथवा दोनों में एक-एक ही ब्राह्मण हों। इस तरह मातामह आदि के श्राद्ध में भी समझना चाहिये। शाक आदि से भी श्राद्ध-कर्म कराये।।१-५।।

श्राद्ध के दिन ब्रह्मचारी रहे, क्रोध और उतावलेपन से परहेज करना चाहिये। नम्र, सत्यवादी और सावधान रहना चाहिये। उस दिन अधिक मार्ग न चले, स्वाध्याय भी नहीं करना चाहिये, मौन रहना चाहिये। सम्पूर्ण पंक्तिमूर्धन्य अर्थात् पंक्ति में सर्वश्रेष्ठ अथवा पंक्तिपावन ब्राह्मणों से प्रत्येक कर्म के विषय में पूछे। आसन पर कुश बिछावे। पितृ कर्म में कुशों को दुहरा मोड़ देना चाहिये। पहले देवकर्म, फिर पितृ-कर्म करना चाहिये। देव-धर्म में स्थित ब्राह्मणों से पूछे—'मैं विश्वेदेवों का आवाहन करने जा रहा हूँ।' ब्राह्मण आज्ञा दें—'आवाहन करो', तत्पश्चात् **'विश्वेदेवा आगत शृणुताम इमँ हवम्, इदं बर्हिर्निषीदत'** (यजु. ७/३४)—इस मन्त्र के द्वारा विश्वेदेवों का आवाहन करके आसन पर जौ छोड़े तथा **'विश्वेदेवाः शृणुतेम् ँ हवं मे ये अन्तरिक्षे य उपद्यविष्ठ। ये अग्निजिह्वा उत वा यजत्रा आसद्यास्मिन् बर्हिषि मादयध्वम्।।'** (यजु. ३३/५३)— इस मन्त्र का जप करना चाहिये। तत्पश्चात् पितृकर्म में नियुक्त

तिलान्विकीर्याथ जपेदापस्त्वित्यादि पात्रके। सपवित्रे निषिञ्चेद्वा शं नो देवीरिति तृ (ह्य) चा।।१०।।
यवोऽसीति यवान्दत्वा पित्रे सर्वत्र वै तिलान्। तिलोऽसि सोमदेवत्यो गोसवे देवनिर्मितः।।११।।
प्रत्नवद्भिः प्रतः स्वधया पितृ (निमा) ल्लोकान्प्रीणया हि नः स्वेधेति।
श्रीश्चतेति ददेत्पुष्पं पात्रे हैमेऽथ राजते।।१२।।
औदुम्बरे वा खड्गे वा पूर्णपात्रे प्रदक्षिणम्। देवानामपसव्यं तु पितृणां सव्यमाचरेत्।।
(एकैकस्य एकैकेन सपवित्रकरेषु च।।१३।।
या दिव्या आपः पयसा संबभूवुर्या अन्तरिक्षा (क्ष्या) उत पार्थिवीर्याः।
हिरण्यवर्णा यज्ञियास्ता न आपः शँ स्योना भवन्तु।।१४।।
विश्वेदेवा एव वोऽर्घः स्वाहा च पितरेष ते। स्वधैवं पितामहादेः संस्रवान्प्रथमे चरेत्।।१५।।
पितृभ्यः स्थानमसीति न्युब्जं पात्रं करोत्यधः। अत्र गन्धपुष्पधूपदीपाच्छादनदानकम्।।१६।।

ब्राह्मणों से पूछे–'मैं पितरों का आवाहन करने जा रहा हूँ।' ब्राह्मण कहें–' आवाहन करो। तत्पश्चात् '**उशतस्त्वा.** इस मन्त्र का पाठ करते हुए आवाहन करना चाहिये। फिर '**अपहता असुरा रक्षाँ्सि वेदिषदः।।**' (यजु. २/२९)–इस मन्त्र से तिल बिखेर कर '**आयन्तु नः.**' इत्यादि मन्त्र का जप करना चाहिये। इसके बाद पवित्रकसहित अर्घ्यपात्र में '**शं नो देवी.**' इस मन्त्र से जल डालना चाहिये।।६-१०।।

तत्पश्चात् '**यवोऽसि**' इस मन्त्र से जौ देकर पितरों के निमित्त सभी जगह तिल का उपयोग करना चाहिये। (पितरों के अर्घ्यपात्र में भी '**श नो देवी.**' इस मन्त्र से जल डालकर) '**तिलोऽसि सोमदेवत्यो गोसवे देवनिर्मितः। प्रत्नवद्भिः प्रत्तः स्वधया पितृँल्लोकान् पृणीहि नः स्वधा।**' यह मन्त्र पढ़कर तिल डालना चाहिये। फिर '**श्रीश्च ते लक्ष्मीश्च पत्न्यावहोरात्रे पार्श्वे नक्षत्राणि रूपमश्विनौ व्यात्तम्। इष्णन्निषणामुं म इषाण सर्वलोकं म इषाण।।**' (यजु. ३१/२२) इस मन्त्र से अर्घ्यपात्र में फूल छोड़े। अर्घ्यपात्र सोना, चाँदी, गूलर अथवा पत्ते का होना चाहिये। उसी में देवताओं के लिये सव्यभाव से और पितरों के लिये अपसव्यभाव से कथित वस्तुएँ रखनी चाहिये। एक-एक को एक-एक अर्घ्यपात्र पृथक्-पृथक् देना उचित है। पितरों के हाथों में पहले पवित्री रखकर ही उनको अर्घ्य देना चाहिये।।११-१३।।

तत्पश्चात् (देवताओं के अर्घ्यपात्र को बायें हाथ में लेकर उसमें रखी हुई पवित्री को दाहिने हाथ से निकालकर देव-भोजन-पात्र पर पूवाग्र करके रख देना चाहिये। उसके ऊपर दूसरा जल देकर अर्घ्यपात्र को ढककर) निम्नांकित मन्त्र पढ़े–'**ॐ या दिव्या आपः पयसा सम्बभूवुर्या अन्तरिक्षा उत पार्थिवीर्याः। हिरण्यवर्णा यज्ञियास्ता न आपः शिवाः शँ् स्योनाः सुहवा भवन्तु।।**' फिर (जौ, कुश और जल हाथ में लेकर संकल्प पढ़े–) '**ॐ अद्यामुकगोत्राणां पितृपितामहप्रपितामहानाम् अमुककामुकशर्मणाम् अमुकश्राद्धासम्बन्धिनो विश्वेदेवाः एष वो हस्तार्घ्यः स्वाहा।**–ऐसा कहकर देवताओं को अर्घ्य देकर पात्र को दक्षिण भाग में सीधे रख देना चाहिये। इसी तरह पिता आदि के लिये भी अर्घ्य देना चाहिये। उसका संकल्प इस तरह है–'**ओमद्य अमुकगोत्र पितः अमुकशर्मन् अमुकश्राद्धे एष हस्तार्घ्यः ते स्वधा।**' इसी तरह पितामह आदि को भी देना चाहिये। फिर सब अर्घ्य का अवशेष पहले पात्र में डाल दे अर्थात् प्रपितामह के अर्घ्य में जो जल आदि हो, उसको पितामह के पात्र में डाल देना चाहिये। इसके बाद वह सब पिता के अर्घ्यपात्र में रख देना चाहिये। पिता के अर्घ्यपात्र को पितामह के अर्घ्यपात्र के ऊपर रखे। फिन उन दोनों को प्रपितामह के अर्घ्यपात्र के ऊपर रख देना चाहिये। तत्पश्चात् तीनों को पिता के आसन के

घृताक्तमन्नमुद्धृत्य पृच्छत्यग्नौ करिष्येति। कुरुष्वेत्यभ्यनुज्ञातौ जुहुयात्साग्निकोऽनले॥१७॥
अनग्निकः पितृहस्ते सपवित्रे तु मन्त्रतः। अग्नये कव्यवाहनाथ स्वाहेति प्रथमाऽऽहुतिः॥१८॥
सोमाय पितृमतेऽथ यमायाङ्गिरसेऽपरे। हुतशेषं चान्नं पात्रे दत्त्वा पात्रे समालभेत्॥१९॥
पृथिवी ते पात्रं द्यौरपिधानं ब्राह्मणस्य मुखेऽमृतेऽमृतं जुहोमि स्वाहेति।
जप्त्वेदं विष्णुरित्यन्ने द्विजाङ्गुष्ठं निवेशयेत्॥२०॥
अपहतेति तिलान्विकीर्यान्नं प्रदापयेत्। जुषध्वमिति चोक्त्वाऽथ गायत्र्यादि ततो जपेत्॥२१॥
देवताभ्यः पितृभ्यश्च महायोगिभ्य एव च। नमः स्वाहायै स्वधायै नित्यमेव नमो नमः॥२२॥
तृप्ताञ्ज्ञात्वाऽन्नं विकिरेदपो दद्यात्सकृत्सकृत्। गायत्रीं पूर्ववज्जप्त्वा मधु वातेति वै जपेत्॥२३॥
तृप्ताः स्थ इति सम्पृच्छेत्तृप्ताः स्म इति वै वदेत्। शेषमन्नमनुज्ञाप्य सर्वमन्नमथैकतः॥२४॥
उद्धृत्योच्छिष्ट पार्श्वे तु कृत्वा चैवावनेजनम्। दद्यात्कुशेषु त्रीन्पिण्डानाचान्तेषु परे जगुः॥२५॥

वामभाग में '**पितृभ्यः स्थानमसि**'। ऐसा कहकर उलट देना चाहिये। उसके बाद वहाँ देवताओं और पितरों के लिये गन्ध, पुष्प, धूप, दीप तथा वस्त्र आदि का दान किया जाता है॥१४-१६॥

तत्पश्चात् श्राद्धकर्ता पुरुष पात्र में से घृत युक्त अन्न निकालकर ब्राह्मणों से पूछे—'मैं अग्नि में इस अन्न का हवन करने जा रहा हूँ।' ब्राह्मण आज्ञा दें—'करों' तत्पश्चात् साग्निक पुरुष को अग्नि में हवन करना चाहिये और निरग्निक पुरुष प्रवित्रीयुक्त पितर के हाथ (अथवा जल) में मन्त्र से आहुति देनी चाहिये। पहली आहुति '**अग्नये काव्यवाहनाय स्वाहा**।' (यजु. २/२९) कहकर देना चाहिये। दूसरी आहुति '**सोमाय पितृमते स्वाहा**'। (यजु. २/२९) इस मन्त्र से देना चाहिये। दूसरे विद्वानों का मत है कि 'यम' एवं 'अङ्गिरा' के उद्देश्य से आहुति देनी चाहिये। हवन से शेष बचे हुए अन्न में से क्रमशः देवताओं और पितरों के पात्रों में परोसे और पात्र को हाथ से ढक देना चाहिये। उस समय निम्नांकित मन्त्र का जप करना चाहिये—'**ॐ पृथिवी ते पात्रं द्यौरपिधानं ब्राह्मणस्य मुखेऽमृतेऽमृतं जुहोमि स्वाहा। इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम् समूढमस्य पाँसुरे स्वाहा। कृष्ण हव्यमिदं रक्ष मदीयम्**। (यजु. ५/१५) ऐसा पढ़कर अन्त में ब्राह्मण के अँगूठे का स्पर्श कराये। (देवपात्रों पर '**यवोऽसि अवयास्मद् द्वेषो यवयारातीः**। इस मन्त्र से जौ छींटे) और पितरों के पात्रों पर '**अपहता असुरा रक्षाँसि वेदिषदः**।' इस मन्त्र से तिल छींटकर संकल्पपूर्वक अन्न समर्पित करना चाहिये। उसके बाद '**जुषध्वम्**'। (आपलोग अन्न ग्रहण करें) ऐसा कहकर गायत्री-मन्त्र आदि का जप करना चाहिये॥१७-२१॥

देवताभ्यः पितृभ्यश्च महायोगिभ्य एव च। नमः स्वधायै स्वाहायै नित्यमेव नमो नमः॥ इस मन्त्र का भी जप करना चाहिये। पितरों को तृप्त जानकर पात्र में अन्न बिखेरे। फिर एक-एक बार सभी को जल देना चाहिये। पूर्ववत् सव्यभाव से गायत्री जप करके '**मधु वाता**' इस ऋचा का जप करना चाहिये। इसके बाद ब्राह्मणों से पूछे—'आप लोग तृप्त हो गये?' ब्राह्मण कहें—'हाँ, हम तृप्त हो गये। उसके बाद शेष अन्न को ब्राह्मणों की आज्ञा लेकर एक में मिला दे और पिण्ड बनाने के लिये पात्र से बाहर निकाले और पितरों के उच्छिष्ट अन्न के पास ही अवनेजन करके कुशों पर संकल्पपूर्वक तीन पिण्डदान करना चाहिये। दूसरों का मत है कि ब्राह्मण जिस समय भोजन के पश्चात् हाथ-मुँह धोकर आचमन कर लें, तत्पश्चात् पिण्डदान देना चाहिये। आचमन के पश्चात् जल, फूल और अक्षत देना चाहिये।२२-२५॥

आचान्तेषूदकं पुष्पाण्यक्षतानि प्रदापयेत्। अक्षय्योदकमेवाथ आशिषः प्रार्थयेन्नरः।।२६।।
अघोराः पितरः सन्तु गोत्रं नो वर्धतां सदा। दातारो नोऽभिवर्धन्तां वेदाः सन्ततिरेव च।।२७।।
श्रद्धा च नो मा व्यगमद्बहुदेयं च नोऽस्त्विति। अन्नं च नो बहुभवेदतिथींश्च लभेमहि।।२८।।
याचितारश्च नः सन्तु मा च याचिष्म कंचन। स्वधावाचनीयान्कुशानास्तीर्य सपवित्रकान्।।२९।।
स्वधां वाचयिष्ये पृच्छेदनुज्ञातश्च वाच्यताम्। पितृभ्यः पितामहेभ्यः प्रपितामहमुख्यके।।३०।।
स्वधोच्यतामस्तु स्वधा उच्यमानस्तथैव च। अपो निषिञ्चेदुत्तानं पात्रं कृत्वाऽथ दक्षिणाम्।।३१।।
यथाशक्ति प्रदद्याच्च दैवे पित्रेऽ(त्र्येऽ)थ वाचयेत्। विश्वेदेवाः प्रीयन्तां च वाजे वाजे विसर्जयेत्।।३२।।
आ मा वाजस्येत्यनुव्रज्य कृत्वा विप्रान्प्रदक्षिणम्। गृहे विशेदमावास्यां मासि मासि चरेत्तथा।।३३।।
एकोद्दिष्टं प्रवक्ष्यामि श्राद्धं पूर्ववदाचरेत्। एकं पवित्रमेकार्घमेकं पिण्डं प्रदापयेत्।।३४।।
नावाहनाग्नौ करणं विश्वेदेवा न चात्र हि। तृप्तिप्रश्ने स्वदितमिति वदेत्सुस्वदितं द्विजः।।३५।।

फिर अक्षय्योदक देकर मनुष्य आशीर्वाद की याचना करनी चाहिये। '**ॐ अघोराः पितरः सन्तु।**' (मेरे पितर सौम्य हों) ऐसा कहकर जल गिरावे, फिर याचना करनी चाहिये–'हमारा गोत्र सदा ही बढ़ता रहे, हमारे दाता भी निरन्तर अभ्युदयशील हों, वेदों की पठन-पाठन प्रणाली बढ़े। संतानों की भी वृद्धि हो। हमारी श्रद्धा में कमी न आवे; हमारे पास देने योग्य बहुत सामान संचित रहे; हमारे यहाँ अन्न भी अधिक हो। हम अतिथियों को प्राप्त करते रहें अर्थात् हमारे गृह पर अतिथियों का शुभागमन होता रहना चाहिये। हमारे पास माँगने वाले आवें, परन्तु हम किसी से न माँगें, फिर स्वधावाचन के लिये पिण्डों पर पवित्रक सहित कुश बिछावे और ब्राह्मणों से पूछे–'स्वधा-वाचन कराओ। तत्पश्चात् श्राद्धकर्ता पुरुष इस तरह कहें–

'हे ब्राह्मणो! आपलोग मेरे पिता, पितामह और प्रतितामाह के लिये स्वधा-वाचन करें।' ब्राह्मण कहें–'**अस्तु स्वधा**'। उसके बाद '**ऊर्जा चहन्तीरमृतं घृतं पयः कीलालं परिस्रुतम् स्वधा स्थ तर्पयत मे पितॄन्**' (यजु. २/३४)–इस मन्त्र से कुशों पर दुग्ध-मिश्रित जल की दक्षिणाग्रधारा गिरावे, फिर (सव्य होकर देवार्घ्यपात्र को हिला दे और पितरों के) अर्घ्यपात्र को उत्तान करके देवश्राद्ध तथा पितृश्राद्ध की प्रतिष्ठा के लिये यशाशक्ति क्रमशः स्वर्ण और रजत की दक्षिणा देना चाहिये। इसके बाद '**विश्वेदेवाः प्रीयन्ताम्।**'–ऐसा कहकर देवताओं का विसर्जन करना चाहिये और '**वाजेवाजेऽबत वाजिनो नो धनेषु विप्रा अमृता ऋतज्ञाः। अस्य मध्वः पिबत मादयध्वं तृप्ता यात पाथिभिर्देवयानैः।।**' (यजु. २१/११)–इस मन्त्र से पिता आदि का विसर्जन करना चाहिये।।२६-३२।।

(तत्पश्चात् सव्यभाव से '**देवताभ्यश्च०**' इत्यादि पढ़कर भगवान् का स्मरण करना चाहिये। फिर अपसव्यभाव से रक्षादीप को बुझा देना चाहिये। तत्पश्चात् सव्यभाव से भगवान् से याचना करनी चाहिये–'**प्रमादात्कुर्वतां कर्म प्रच्यवेताध्वरेषु यत्। स्मरणादेव तद् विष्णोः सम्पूर्णं स्यादिति श्रुतिः।। यस्य स्मृत्या च नामोक्त्या तपोयज्ञक्रियादिषु। न्यूनं सम्पूर्णतां याति सद्यो वन्दे तमच्युतम्।।**' इत्यादि) उसके बाद '**आ मा वाजस्य०**' (यजु. ९/१९) इत्यादि मन्त्र पढ़कर ब्राह्मण के पीछे-पीछे जाय और ब्राह्मण की परिक्रमा करके अपने गृह में जाय। प्रत्येक मास की अमावस्या को इसी तरह पार्वण-श्राद्ध करना चाहिये।।३३।।

अधुना मैं एकोद्दिष्ट श्राद्ध का वर्णन करने जा रहा हूँ। यह श्राद्ध पूर्ववत् ही करना चाहिये। इसमें इतनी ही विशेषता है कि एक ही पवित्रक, एक ही अर्घ्य और एक ही पिण्ड देना चाहिये। इसमें आवाहन, अग्निकरण और विश्वेदेव-पूजन नहीं होता। जहाँ तृप्ति पूछनी हों, वहाँ '**स्वदितम्**' ऐसा प्रश्न करना चाहिये। ब्राह्मण उत्तर दे–'**सुस्वदितम्।**'

उपतिष्ठतामित्यक्षय्ये विसर्गे चाभिरम्यताम्। अभिरताः स्म इत्यपरे शेषं पूर्ववदाचरेत्॥३६॥
सपिण्डीकरणं वक्ष्ये अब्दान्ते मध्यतोऽपि वा। पितॄणां त्रीणि पात्राणि एकं प्रेतस्य पात्रकम्॥३७॥
सपवित्राणि चत्वारि तिलपुष्पयुतानि च। गन्धोदकेन युक्तानि पूरयित्वाऽभिषिञ्चति॥३८॥
प्रेतपात्रं पितृपात्रे ये सम (मा) ना इति द्वयात्। पूर्ववत् पिण्डदानादि प्रेतानां पितृता भवेत्॥३९॥
अथाऽऽभ्युदयिकं श्राद्धं वक्ष्ये सर्व तु पूर्ववत्। जपेत्पितृमन्त्रवर्जं पूर्वाह्णे तत्प्रदक्षिणम्॥४०॥
उपचारा ऋजुकुशास्तिलार्थैश्च यवैरिह। तृप्तिप्रश्नस्तु सम्पन्नं सुसम्पन्नं वदेद्द्विजः॥४१॥
दध्यक्षतवदराद्याः पिण्डा नान्दिमुखान्पितॄन्। आवाहयिष्ये पृच्छेच्च प्रीयतामिति चाक्षये॥४२॥
नान्दीमुखाश्च पितरो वाचयिष्येऽथ पृच्छति। नान्दीमुखान्पितृगणान्प्रीयन्तामित्यथो वदेत्॥४३॥
नान्दीमुखाश्च पितरस्तत्पिता प्रपितामहः। मातामहः प्रमातामहो वृद्धप्रमातृकामहः॥४४॥
स्वधाकारान्न युञ्जीत युग्मान्विप्रांश्च भोजयेत्। तृप्तिं वक्ष्ये पितॄणां च ग्राम्यैरोषधिभिस्तथा॥४५॥
मासं तृप्तिस्तथाऽऽरण्यैः कन्दमूलफलादिभिः। तत्स्यैर्मासद्वयं मार्गैस्त्रयं वै शाकुनेन च॥४६॥

'उपतिष्ठताम्'–कहकर समर्पित करना चाहिये। अक्षय्योदक भी देना चाहिये। विसर्जन के समय **'अभिरम्यताम्'** का उच्चारण करना चाहिये। ब्राह्मण कहें–**'आभिरताः स्मः।'** शेष सभी बातें पूर्ववत् करनी चाहिये॥३४-३६॥

अधुना सपिण्डीकरण का वर्णन करने जा रहा हूँ। यह वर्ष के अन्त में और मध्य में भी होता है। इसमें पितरों के लिये तीन पात्र होते हैं और प्रेत के लिये एक पात्र अलग होता है। चारों अर्घ्यपात्रों में पवित्री, तिल, फूल, चन्दन और जल डालकर गिर दिया जाता है। फिर उन्हीं से श्राद्धकर्ता पुरुष अर्घ्य देता है। **'ये समानाः.** (यजु. १९/४५-४६) इत्यादि दो मन्त्रों से प्रेत के अर्घ्यपात्र को क्रमशः तीनों पितरों के अर्घ्यपात्र में मिलाया जाता है। इसी तरह पिण्डदान, दान आदि पूर्ववत् करके प्रेत के पिण्ड को पितरों के अर्घ्यपात्र में मिलाया जाता है। इसी तरह पिण्डदान, दान आदि पूर्ववत् करके प्रेत के पिण्ड को पितरों के पिण्ड में मिलाया जाता है। इससे प्रेत को 'पितृ' पदवी प्राप्त होती है॥३७-३९॥

अधुना 'आभ्युयिक' श्राद्ध बतलाता हूँ। इसकी सब विधि पूर्ववत् है। इसमें पितृसम्बन्धी मन्त्र के अतिरिक्त अन्य मन्त्रों का जप करना चाहिये। प्रातःकाल में आभ्युदयिक श्राद्ध और उसकी प्रदक्षिणा करनी चाहिये। इसमें कोमल कुश ही उपचार है। यहाँ तिल के स्थान पर जौ का ही उपयोग होता है। ब्राह्मणों से पितरों की तृप्ति के लिये प्रश्न करते समय **'सम्पन्नम्'** का प्रयोग करना चाहिये। ब्राह्मण उत्तर दे **'सुसम्पन्नम्'**। इसमें दही, अक्षत और बेर आदि के ही पिण्ड होते हैं। आवाहन के समय पूछे–'मैं 'नान्दीमुख' नाम वाले पितरों का आवाहन करने जा रहा हूँ।' इसी तरह अक्षय्यतृप्ति के लिये **'प्रीयताम्'** ऐसा कहे। फिर पूछे–'मैं नान्दीमुख पितरों का तृप्ति-वाचन कराऊँगा।' ब्राह्मणों की आज्ञा लेकर कहे–**'नान्दीमुखाः पितरः प्रीयन्ताम्'**। नान्दीमुख पितर तृप्त एवं प्रसन्न हों। (माता, पितामही, प्रपितामही) पिता, पितामह, प्रपितामह और (सपत्नीक) मातामह, प्रमातामह तथा वृद्धप्रमातामह–ये नान्दीमुख पितर हैं॥४०-४४॥

आभ्युदयिक श्राद्ध में **'स्वधा'** का प्रयोग नहीं करना चाहिये और युग्म ब्राह्मणों को भोजन कराये। अधुना मैं पितरों की तृप्ति बतलाता हूँ। ग्राम्य अन्न से तथा जंगली कन्द, मूल, फल आदि से एक मास तक पितरों की तृप्ति बनी रहती है और गाय के दूध एवं खीर से एक वर्ष तक पितरों की तृप्ति रहती है तथा वर्षा ऋतु में त्रयोदशी को

चतुरो रौरवेणाथ पञ्च षट्छागलेन तु। कूर्मेण सप्त चाष्टौ च वाराहेण नवैव तु।।४७।।
मेषमांसेन दश च माहिषैः पार्षतैः शिवैः। संवत्सरं तु गव्येन पयसा पायसेन वा।।४८।।
वाध्रीनसस्य मांसेन तृप्तिर्द्वादश वार्षिकी। खड्गमांसं कालशाकं लोहितिच्छागलो मधु।।४९।।
महाशल्काश्च वर्षासु मघाश्राद्धमथाक्षयम्। मन्त्राध्याय्यग्निहोत्री च शाखाध्यायी षडङ्गवित्।।५०।।
तृणाचिकेतस्त्रिमधुर्धर्मद्रोणस्य पाठकः। त्रिषु (सु)पर्णज्येष्ठ सामज्ञानी स्युः पङ्क्तिपावनाः।।५१।।
काम्यानां कल्पमाख्यास्ये प्रतिपत्सु धनं बहु। स्त्रियः परा द्वितीयायां चतुर्थ्यां धर्मकामदः।।५२।।
पञ्चम्यां पुत्रकामस्तु षष्ठ्यां च श्रयैष्ठ्यभागपि। कृषिभागी च सप्तम्यामष्टभ्यामर्थलाभकः।।५३।।
नवम्यां च एकसफा दशम्यां गोगणो भवेत्। एकादश्यां परीवारो द्वादश्यां धनधान्यकम्।।५४।।
ज्ञातिश्रेष्ठ्यं त्रयोदश्यां चतुर्दश्यां च शस्त्रतः। मृतानां श्राद्धं सर्वाप्तममावस्यां समीरितम्।।५५।।
सप्तव्याधा दशारण्ये मृगाः कालञ्जरे गिरौ। चक्रवाकाः शरद्वीपे हंसाः सरसि मानसे।।५६।।
तेऽपि जाताः कुरुक्षेत्रे ब्राह्मणा वेदपारगाः। प्रस्थिता दूरमध्वानं यूयं तेभ्योऽवसीदत।।५७।।
श्राद्धादौ पठिते श्राद्धं पूर्णं स्याद्ब्रह्मलोकदम्। श्राद्धं कुर्याच्च पुत्रादिः पितुर्जीवति तत्पितुः।।५८।।

विशेषतः मघा-नक्षत्र में किया हुआ श्राद्ध अक्षय होता है। मन्त्र का पाठ करने वाला, अग्निहोत्री, शाखा का अध्ययन करने वाला, छहों अङ्गों का विद्वान्, त्रिणाचिकेन, त्रिमधु, धर्मद्रोण का पाठ करने वाला, त्रिसुपर्ण तथा बृहत् सामना ज्ञाता-ये ब्राह्मण पंक्तिपावन (पंक्ति को पवित्र करने वाले) माने गये हैं।।४५-४७।।

अधुना काम्य श्राद्धकल्प का वर्णन करने जा रहा हूँ। प्रतिपदा को श्राद्ध करने से बहुत धन प्राप्त होता है। द्वितीया को श्राद्ध करने से श्रेष्ठ स्त्री मिलती है। चतुर्थी को किया हुआ श्राद्ध धर्म और काम को देने वाला है। पुत्र की इच्छा वाला पुरुष को पञ्चमी को श्राद्ध करना चाहिये। षष्ठी के श्राद्ध से मनुष्य श्रेष्ठ होता है। सप्तमी के श्राद्ध से होती में लाभ होता और अष्टमी के श्राद्ध से अर्थ की प्राप्ति हो जाती है। नवमी को श्राद्ध का अनुष्ठान करने से एक खुरवाले घोड़े आदि पशु प्राप्त होते हैं। दशमी के श्राद्ध से गो-समुदाय की उपलब्धि होती है। एकादशी के श्राद्ध से परिवार और द्वादशी के श्राद्ध से धन-धान्य बढ़ता है। त्रयोदशी को श्राद्ध करने से अपनी जाति में श्रेष्ठता प्राप्त होती है। चतुर्दशी को उसी का श्राद्ध किया जाता है, जिसका शस्त्र द्वारा वध हुआ है। अमावस्या को सम्पूर्ण मृत व्यक्तियों के लिये श्राद्ध करने का विधान है।।४८-५१।।

'जो दशार्णदेश के वन में सात व्याध थे, वे कालंजर गिरिपर मृग हुए, शरद्वीप में चक्रवाक हुए तथा मानस सरोवर में हंस हुए। वे ही अधुना कुरुक्षेत्र में वेदों के पारंगत विद्वान् ब्राह्मण हुए हैं। अधुना उन्होंने दूर तक का मार्ग तय कर लिया है; आपलोग उनसे बहुत पीछे रहकर कष्ट पा रहे हो' श्राद्ध आदि के अवसर पर इसका पाठ करने से श्राद्ध पूर्व एवं ब्रह्मलोक देने वाला होता है। यदि पितामह जीवित हो, तो पुत्र आदि अपने पिता का तथा पितामह के पिता और उनके भी पिता का श्राद्ध करें। यदि प्रपितामह जीवित हो, तो पिता, पितामह एवं वृद्धप्रपितामह का श्राद्ध करना चाहिये। इसी तरह माता आदि तथा मातामह आदि के श्राद्ध में भी करना चाहिये। जो इस श्राद्धकल्प का पाठ करता है, उसको श्राद्ध करने का फल मिलता है।।५२-५६।।

श्रेष्ठतम तीर्थ में, युगादि और मन्वादि तिथि में किया हुआ श्राद्ध अक्षय होता है। आश्विन शुक्ला नमवी, कार्तिक की द्वादशी, माघ तथा भाद्र पद की तृतीया, फाल्गुन की अमावास्या, पौष शुक्ला एकादशी, आषाढ़ की दशमी,

तत्पितुस्तत्पितुः कुर्याज्जीवति प्रपितामहे। पितुः पितामहस्याथ परस्य प्रपितामहात्।।५९।।
एवं मात्रादिकस्यापि तथा मातामहादिके। श्राद्धकल्पं पठेद्यस्तु स लभेच्छ्राद्धकृत्फलम्।।६०।।
तीर्थे युगादौ मन्वादौ श्राद्धं दत्तमथाक्षयम्। अश्वयुक्शुक्लनवमी द्वादशी कार्तिके तथा।।६१।।
तृतीया चैव माघस्य तथा भाद्रपदस्य च। फाल्गुनस्याप्यमावास्या पौषस्यैकादशी तथा।।६२।।
आषाढस्यापि दशमी माघमासस्य सप्तमी। श्रावणे चाष्टमी कृष्णा तथाऽऽषाढे च पूर्णिमा।।६३।।
कार्तिकी फाल्गुनी तद्वज्ज्येष्ठे पञ्चदशी सिता। स्वायंभुवाद्या मनवस्तेषामाद्याः किलाक्षयः।।६४।।
गया प्रयागो गङ्गा च कुरुक्षेत्रं च नर्मदा। श्रीपर्वतः प्रभासश्च शालग्रामो वाराणसी।।६५।।
गोदावरी तेषु श्राद्धं श्रीपुरुषोत्तमादिषु।।६६।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते श्राद्धकल्पवर्णनं नाम सप्तदशाधिकशततमोऽध्यायः।।११७।।

माघमास की सप्तमी, श्रावण कृष्णपक्ष की अष्टमी, आषाढ़, कार्तिक, फाल्गुन तथा ज्येष्ठ की पूर्णिमा–ये तिथियाँ स्वायम्भुव आदि मनु से सम्बन्ध रखने वाली हैं। इनके आदि भाग में किया हुआ श्राद्ध अक्षय होता है। गया, प्रयाग, गंगा, कुरुक्षेत्र, नर्मदा, श्रीपर्वत, प्रभास, शालग्रामतीर्थ (गण्डकी), काशी, गोदावती तथा श्रीपुरुषोत्तमक्षेत्र आदि तीर्थों में श्राद्ध श्रेष्ठतम होता है।।५७-६२।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी एक सौ सत्रहवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।११७।।

अथाष्टादशाधिकशततमोऽध्यायः

भारतवर्षवर्णनम्

अग्निरुवाच

उत्तरं यत्समुद्रस्य हिमाद्रेश्चैव दक्षिणम्। वर्षं तद्भारतं नाम नवसाहस्रविस्तृतम्।।१।।
कर्मभूमिरियं स्वर्गमपवर्गं च गच्छताम्। महेन्द्रो मलयः सह्यः शुक्तिमान्हे (न्हि?) मपर्वतः।।२।।
विन्ध्यश्च पारियात्रश्च सप्तात्र कुलपर्वताः। इन्द्रद्वीपः कसेरुश्च ताम्रवर्णो गभस्तिमान्।।३।।
नागद्वीपस्तथा सौम्यो गान्धर्वस्त्वथ वारुणः। अयं तु नवमस्तेषां द्वीपः सागरसंवृतः।।४।।
योजनानां सहस्राणि द्वीपोऽयं दक्षिणोत्तरात्। नव भेदा भारतस्य मध्यभेदेऽथ पूर्वतः।।५।।
किराता यवनाश्चापि ब्राह्मणाद्याश्च मध्यतः। वेदस्मृतिमुखा नद्यः पारियात्रोद्भवास्तथा।।६।।
विन्ध्याच्च नर्मदाद्याः स्युः सह्यात्तापी पयोष्णिका। गोदावरी भीमरथी कृष्णवेणादिकास्तथा।।७।।
मलयात्कृतमालाद्यास्त्रिसामाद्या महेन्द्रजाः। कुमाराद्याः शुक्तिमत्तो हिमाद्रेश्चन्द्रभागका।।
पश्चिमे कुरुपाञ्चालमध्यदेशादयः स्थिताः।।८।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते भारतवर्षवर्णनं नामाष्टादशाधिकशततमोऽध्यायः।।११८।।

अध्याय-११८

भारत वर्ष का वर्णन

श्रीअग्नि देव ने कहा कि-समुद्र के उत्तर और हिमालय के दक्षिण जो वर्ष है, उसका नाम 'भारत' है। उसका विस्तार नौ हजार योजन है। स्वर्ग तथा अपवर्ग पाने की इच्छा वाले पुरुषों के लिये यह कर्मभूमि है। महेन्द्र, मलय, सह्य, शुक्तिमान् हिमालय, विन्ध्य और पारियात्र-ये सात यहाँ के कुछ-पर्वत हैं। इन्द्रद्वीप, कसेरु, ताम्रवर्ण, गभस्तिमान्, नागद्वीप, सौम्य, गान्धर्व और वारुण-ये आठ द्वीप हैं। समुद्र से घिरा हुआ भारत नवाँ द्वीप है।।१-४।।

भारतद्वीप उत्तर से दक्षिण की तरफ हजारों योजन लंबा है। भारत के उपरोक्त नौ भाग हैं। भारत की स्थिति मध्य में है। इसमें पूर्व की तरफ किरात और (पमश्चम में) यवन रहते हैं। मध्य भाग में ब्राह्मण आदि वर्णों का निवास है। वेद-स्मृति आदि नदियाँ पारियात्र पर्वत से निकली हैं। विन्ध्याचल से नर्मदा आदि प्रकट हुई हैं। सह्य पर्वत से तापी, पयोष्णी, गोदावरी, भीमरथी और कृष्णवेणा आदि नदियों का प्रादुर्भाव हुआ है।।५-७।।

मलय से कृतमाला आदि और महेन्द्र पर्वत से त्रिसामा आदि नदियाँ निकली हैं। शुक्तिमान् से कुमारी आदि और भारत के पश्चिम भाग में कुरु, पाञ्चाल और मध्य देश आदि की स्थिति है।।८।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी एक सौ अठारहवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।११८।।

❖❖❖

अथैकोनविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

महाद्वीपादिवर्णनम्

अग्निरुवाच

लक्षयोजनविस्तारं जम्बूद्वीपं समावृतम्। लक्षयोजनमानेन क्षारोदेन समन्ततः॥१॥
संवेष्ट्य क्षारमुदधिं प्लक्षद्वीपस्तथा स्थितः। सप्तमेधातिथेः पुत्राः प्लक्षद्वीपेश्वरास्तथा॥२॥
स्याच्छान्तभयं शिशिरः सुखोदय इतः परः। आनन्दश्च शिवः क्षेमो ध्रुवस्तन्नाम वर्षकम्॥३॥
मर्यादाशैलो गोमेधश्चन्द्रो नारददुन्दुभी। सोमकः सुमनाः शैलो वैभ्राजास्तर्जनाः शुभाः॥४॥
नद्यः प्रधानाः सप्तात्र प्लक्षाकान्तिकेषु च। जीवनं पञ्चसाहस्रं धर्मो वर्णाश्रमात्मकः॥५॥
आर्यकाः कुरवश्चैव विविंशा भाविनश्च ते। विप्राद्यास्तैश्च सोमोऽर्च्यो द्विलक्षश्चैव प्लक्षकः॥६॥
मानेनेक्षुरसोदेन वृतो द्विगुणशाल्मलः। वपुष्मतः सप्तपुत्राः शाल्मलेशास्तथाऽभवन्॥७॥
श्वेतोऽथ हरितश्चैव जीमूतो लोहितः क्रमात्। वैद्युतो मानसश्चैव सुप्रभो नाम वर्षकः॥८॥
द्विगुणो द्विगुणेनैव सुरोदेन समावृतः। कुमुदश्चानलश्चैव तृतीयस्तु बलाहकः॥९॥
द्रोणः कङ्कोऽथ महिषः ककुद्मान्सप्तनिम्नगाः। कपिलाश्चारुणाः पीताः कृष्णाः स्युर्ब्राह्मणादयः॥१०॥
वायुरूपं यजन्तिस्म सुरोदेनायमावृत्तः। ज्योतिष्मतः कुशेशाः स्युरुद्भिदो वेणुमान्सुतः॥११॥

अध्याय–११९

महाद्वीप आदि वर्णन

श्रीअग्नि देव ने कहा कि–जम्बूद्वीप का विस्तार एक लाख योजन है। वह सभी तरफ से एक लाख योजन विस्तृत खारे पानी के समुद्र से घिरा है। उस क्षारसमुद्र को घेरकर प्लक्षद्वीप स्थित है। मेधातिथि के सात पुत्र प्लक्षद्वीप के स्वामी हैं। शान्तभय, शिशिर, सुखोदय, आनन्द, शिव, क्षेम तथा ध्रुव–ये सात ही मेधातिथि के पुत्र हैं; उन्हीं के नाम से कथित सात वर्ष हैं। गोमेध, चन्द्र, नारद, दुन्दुभि, सोमक, सुमना और शैल–ये उन वर्षों के सुन्दर पर्यादापर्वत हैं। वहाँ के सुन्दर निवासी 'वैभ्राज' नाम से विख्यात हैं। इस द्वीप में सात प्रधान नदियाँ हैं। प्लक्ष से लेकर शाकद्वीप तक के लोगों की आयु पाँच हजार वर्ष है। वहाँ वर्णाश्रमधर्म का पालन किया जाता है।।१-५।।

आर्य, कुरु, विविंश तथा भावी–यही वहाँ के ब्राह्मण आदि वर्णों की संज्ञाएँ हैं। चन्द्रमा उनके आराध्यदेव हैं। प्लक्षद्वीप का विस्तार दो लाख योजन है। वह उतने ही बड़े इक्षुरस के समुद्र से घिरा है। तत्पश्चात् शाल्मलद्वीप है, जो प्लक्षद्वीप से दुगुना हुए। वपुष्मान् के सात पुत्र शाल्मलद्वीप के स्वामी हुए। उनके नाम हैं–श्वेत, हरित, जीमूत, लोहित, वैद्युत, मानस और सुप्रभ। इन्हीं नामों से वहाँ के सात वर्ष हैं। वह प्लक्षद्वीप से दुगुना है तथा उससे दुगुने परिणाम वाले 'सुरोद' नामक (मदिरा के) समुद्र से घिरा हुआ है। कुमुद, अनल, बलाहक, द्रोण, कङ्क, महिष और ककुद्मान्–ये मर्यादापर्वत हैं। सात ही वहाँ प्रधान नदियाँ हैं। कपिल, अरुण, पीत और कृष्ण–ये वहाँ के ब्राह्मण आदि वर्ण हैं। वहाँ के लोग वायु-देवता की पूजा करते हैं। वह मदिरा के समुद्र से घिरा है।।६-१०।।

इसके बाद कुशद्वीप है। ज्योतिष्मान् के पुत्र उस द्वीप के अधीश्वर हैं। उद्भिद, धेनुमान्, द्वैरथ, लम्बन, धैर्य,

द्वैरथी लम्बनी धैर्यः कपिलश्च प्रभाकरः। विप्राद्या दमिमुख्यास्तु ब्रह्मरूपं यजन्ति ते।।१२।।
विद्रुमो हेमशैलश्च द्युतिमान्पुष्पवांस्तथा। कुशेशयो हरिः शैलो वर्षार्थं मन्दराचलः।।१३।।
वेष्टितोऽयं घृतोदेन क्रौञ्चद्वीपेन सोऽप्यथ। क्रौञ्चेश्वरा द्युतिमतः पुत्रास्तन्नामवर्षकाः।।१४।।
(कुशलो मनोनुगश्चोष्णः प्रधानोऽथान्धकारकः। मुनिश्च दुन्दुभिः सप्त सप्त शैलाश्च निम्नगाः)।।१५।।
क्रौञ्चश्च वामनश्चैव तृतीयश्चान्धकारकः। देवावृत्पुण्डरीकश्च दुन्दुभिर्द्विगुणो मिथः।।१६।।
द्वीपा द्वीपेषु ये शैला यथा द्वीपानि ते तथा। पुष्कराः पुष्कलःधन्याः तिथ्यां विप्रादयो हरिम्।।१७।।
यजन्ति क्रौञ्चद्वीपस्तु दधिमण्डोदकावृतः। संवृतः शाकद्वीपेन भव्याच्छाकेश्वराः सुता।।१८।।
जलदश्च कुमारश्च सुकुमारो मणीचकः। कुशोत्तरथो (रोऽथ) मोदाकी द्रुमस्तन्नामवर्षकाः।।१९।।
उदयाख्यो जलधरो रैवतः श्यामकोद्रकौ। आम्बिकेयस्तथा रम्यः केशरी सप्तनिम्नगाः।।२०।।
मगा मगधमानस्यामन्दगाश्च द्विजातयः। यजन्ति सूर्यरूपं तु शाकः क्षीराब्धिनाऽऽवृतः।।२१।।
पुष्करेणाऽऽवृतः सोऽपि द्वौ पुत्रौ सवनस्य च। महावीतो धातकिश्च वर्षे द्वे नामचिह्निते।।२२।।
एकोऽद्रिर्मानसाख्योऽत्र मध्यतो बलयाकृतिः। योजनानां सहस्राणि विस्तारोच्छ्रायतः समः।।२३।।

कपिल और प्रभाकर—ये सात उनके नाम हैं। इन्हीं के नाम पर वहाँ सात वर्ष हैं। दमी आदि वहाँ के ब्राह्मण हैं, जो ब्रह्मरूपधारी भगवान् श्रीहरि विष्णु का पूजन करते हैं। विद्रुम् हेमशैल, द्युतिमान्, पुष्पवान्, कुशेशय, हरि और मन्दराचल—ये सात वहाँ के वर्ष पर्वत हैं। यह कुशद्वीप अपने ही बराबर विस्तार वाले घी के समुद्र से घिरा हुआ है और वह घृत समुद्र क्रौञ्चद्वीप से परिवेष्टित है। राजा द्युतिमान् के पुत्र क्रौञ्चद्वीप से स्वामी हैं। उन्हीं के नाम पर वहाँ के वर्ष प्रसिद्ध हैं।।११-१४।।

कुशल, मनोनुग, उष्ण, प्रधान, अन्धकारक, मुनि और दुन्दुधि—यह सात द्युतिमान् के पुत्र हैं। उस द्वीप के मर्यादापर्वत और नदियाँ भी सात ही हैं। पर्वतों के नाम इस तरह हैं—क्रौञ्च वामन, अन्धकारक, रत्नशैल, देवावृत, पुण्डरीक और दुन्दुभि। ये द्वीप परस्पर उत्तरोत्तर दुगुने विस्तार वाले हैं। उन द्वीपों में जो वर्ष पर्वत हैं, वे भी द्वीपों के समान ही पूर्ववर्ती द्वीप के पर्वतों से दुगुने विस्तार वाले हैं। वहाँ के ब्राह्मण आदि वर्ण क्रमशः पुष्कर, पुष्कल, धन्य और तिथ्य—इन नामों से प्रसिद्ध हैं। ये वहाँ श्रीहरि विष्णु की आराधना करते हैं। क्रौञ्चद्वीप दधिमण्डोदक (मट्ठे) के समुद्र से घिरा हुआ है और वह समुद्र शाकद्वीप से परिवेष्टित है। वहाँ के राजा भव्य के जो सात पुत्र हैं, वे ही शाकद्वीप के शासक हैं। उनके नाम इस तरह हैं—जलद, कुमार सुकुमार, मणीवक, कुशोत्तर, मोदाकी और द्रुम। इन्हीं नाम से वहाँ के वर्ष प्रसिद्ध हैं।।१५-१९।।

उदयगिरि, जलधर, रैवत, श्याम, कोद्रक, आम्बिकेय और सुरम्य पर्वत केसरी—ये सात वहाँ के पर्यादा पर्वत हैं तथा सात ही वहाँ की प्रसिद्ध नदियाँ है। मग, मगध, मानस्य और मन्दग—ये वहाँ के ब्राह्मण आदि वर्ण हैं, जो सूर्यरूपी धारी भगवान् नारायण की आराधना करते हैं। शाकद्वीप क्षीरसागर से घिरा हुआ है। क्षीरसागर पुष्करद्वीप से परिवेष्टित है। वहाँ के अधिकारी राजा सवन के दो पुत्र हुए जिनके नाम थे—महावीत और धातकि। उन्हीं के नाम से वहाँ के दो वर्ष प्रसिद्ध हैं।।२०-२२।।

वहाँ एक ही मानसोत्तर नामक वर्ष पर्वत विद्यमान है, जो उस वर्ष के मध्यभाग में वलयाकार स्थित है। उसका विस्तार कई सहस्र योजन है। ऊँचाई भी विस्तार के समान ही है। वहाँ के लोग दस हजार वर्षों तक जीवन

जीवनं दशसाहस्त्रं सुरैर्ब्रह्माऽत्र पूज्यते। स्वादूदकेनोदधिना वेष्टितो द्वीपमानतः॥२४॥
ऊनातिरिक्तता चापां समुद्रेषु न जायते। उदयास्तमनेष्विन्दोः पक्षयोः शुक्लकृष्णयोः॥२५॥
दशोत्तराणि पञ्चैव अङ्गुलानां शतानि वै। अपां वृद्धिक्षयौ दृष्टौ सामुद्रीणां महामुने॥२६॥
स्वादूदकात्तु द्विगुणा भूर्हैमी जन्तुवर्जिता। लोकालोकस्ततः शैलो योजनायुतविस्तृतः॥२७॥
लोकालोकस्तु तमसाऽऽवृतोऽथाण्डकटाहतः। भूमिः साऽण्डकटाहेन पञ्चाशत्कोटिविस्तरा॥२८॥

॥इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते महाद्वीपादिवर्णनं नामैकोनविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः॥११९॥

धारण करते हैं। वहाँ देवता लोग ब्रह्माजी की पूजा करते हैं। पुष्करद्वीप स्वादिष्ट जल वाले समुद्र से घिरा हुआ है। उस समुद्र का विस्तार उस द्वीप के समान ही है। हे महामुने! समुद्रों में जो जल है, वह कभी घटता-बढ़ता नहीं है। शुक्ल और कृष्ण–दोनों पक्षों में चन्द्रमा के उदय और अस्तकाल में केवल पाँच सौ दस अंगुल तक समुद्र के जल का घटना और बढ़ना देखा जाता है (परन्तु इससे जल में न्यूनता या अधिकता नहीं होती है)॥२३-२६॥

मीठे जलवाले समुद्र के चारों तरफ उससे दुगुने परिमाण वाली भूमि स्वर्णमयी है, परन्तु वहाँ कोई भी जीव-जन्तु नहीं रहते हैं। तत्पश्चात् लोकालोक पर्वत है, जिसका विस्तार दस हजार योजन है। लोकालोक पर्वत एक तरफ से अन्धकार द्वारा आवृत है और वह अन्धकार अण्डकटाह से आवृत है। अण्डकटाह सहित सारी भूमि का विस्तार पचास करोड़ योजन है॥२७-२८॥

॥इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी एक सौ उन्नीसवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ॥११९॥

❖❖❖

अथ विंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

भुवनकोशवर्णनम्

अग्निरुवाच

विस्तारस्तु स्मृतो भूमेः सहस्त्राणि च सप्ततिः। उच्छ्रायो दशसाहस्रं पातालं चैकमेककम्।।१।।
अतलं वितलं चैव नितलं च गभस्तिमत्। महाग्र्यं सुतलं चाग्र्यं पातालं चापि सप्तमम्।।२।।
कृष्णपीतारुणाः शुक्लशर्कराः शैलकाञ्चनाः। भूमयस्तेषु रम्येषु सन्ति दैत्यादयः सुखम्।।३।।
पातालानामधश्चाऽऽस्ते शेषो विष्णुश्च तामसः। गुणानन्त्यात्स चानन्तः शिरसा धारयन्महीम्।।४।।
भुवोऽधो नरका नैके न पतेत्तत्र वैष्णवः। रविणा भासिता पृथ्वी यावत्तावन्नभो मतम्।।५।।
भूमेर्योजनलक्षं तु वशिष्ठरविमण्डलम्। रवेर्लक्षेण चन्द्रश्च लक्षान्नाक्षत्रमिन्दुतः।।६।।
द्विलक्षाद्भाद्बुधश्चाऽऽस्ते बुधाच्छुक्रो द्विलक्षतः। द्विलक्षेण कुजः शुक्राद्भौमाद्द्विलक्षतो गुरुः।।७।।
गुरोर्द्विलक्षतः सौरिर्लक्षात्सप्तर्षयः शनेः। लक्षाद्ध्रुवो ह्यृषिभ्यस्तु त्रैलोक्यं चोच्छ्रयेण च।।८।।
ध्रुवात्कोट्या महर्लोको यत्र ते कल्पवासिनः। जनो द्विकोटितस्तस्माद्यत्राऽऽसन्सनकादयः।।९।।

अध्याय-१२०

भुवनकोश का वर्णन

श्रीअग्नि देव ने कहा कि–हे वसिष्ठ! भूमि का विस्तार सत्तर हजार योजन बतलाया गया है। उसी ऊँचाई दस हजार योजन है। पृथ्वी के अन्दर सात पाताल हैं। एक-एक पाताल दस-दस हजार योजन विस्तृत है। सात पातालों के नाम से तरह हैं–अतल, वितल, नितल, प्रकाशमान महातल, सुतल, तलातल और सातवाँ रसातल या पाताल। इन पातालों की भूमियाँ क्रमशः काली, पीली, लाल, सफेद, कँकरीली, पथरीली और स्वर्णमयी हैं। वे सभी पाताल बड़े रमणीय है। उनमें दैत्य और दानव आदि सुखपूर्वक निवास करते हैं। समस्त पातालों के नीचे शेषनाग विराजमान हैं, जो भगवान् श्रीहरि विष्णु के तमोगुण-प्रधान विग्रह हैं। उनमें अनन्त गुण हैं, इसीलिये उनको 'अनन्त' भी कहते हैं। वे अपने मस्तक पर इस पृथ्वी को धारण करते हैं।।१-४।।

पृथ्वी के नीचे अनेक नरक हैं, परन्तु जो भगवान् श्रीहरि विष्णु का भक्त है, वह उन नरकों में नहीं पड़ता है। सूर्यदेव से प्रकाशित होने वाली पृथ्वी का जितना विस्तार है, उतना ही नभोलोक (अन्तरिक्ष या भुवर्लोक) का विस्तार माना गया है। हे वसिष्ठ! पृथ्वी से एक लाख योजन दूर सूर्यमण्डल है। सूर्य से लाख योजन की दूरी पर चन्द्रमा विराजमान हैं। चन्द्रमा से एक लाख योजन ऊपर नक्षत्रमण्डल प्रकाशित होता है। नक्षत्रमण्डल से दो लाख योजन ऊँचे बुध विराजमान हैं। बुध से दो लाख योजन ऊपर शुक्र हैं। शुक्र से दो लाख योजन की दूरी पर मंगल का स्थान है। मंगल से दो लाख योजन ऊपर बृहस्पति हैं। बृहस्पति से दो लाख योजन ऊपर शनैश्चर का स्थान है। उनसे लाख योजन ऊपर सप्तर्षियों का स्थान है। सप्तर्षियों से लाख योजन ऊपर ध्रुव प्रकाशित होता है। त्रिलोकी की इतनी ही ऊँचाई है, अर्थात् त्रिलोकी (भूर्भुवः स्वः) के ऊपरी भाग की चरम सीमा ध्रुव ही है।।५-८।।

ध्रुव से कोटि योजन ऊपर 'महर्लोक' है, जहाँ कल्पान्तजीवी भृगु आदि सिद्धगण निवास करते हैं। महर्लोक

जनात्तपश्चाष्टकोट्या वैराजा यत्र देवताः। षण्णवत्या तु कोटीनां तपसः सत्यलोककः॥१०॥
अपुनर्मारका यत्र ब्रह्मलोको हि स स्मृतः। पादगम्यस्तु भूर्लोको भुवः सूर्यान्तरः स्मृतः॥११॥
स्वर्गलोको ध्रुवान्तस्तु नियतानि चतुर्दश। एतदण्डकटाहेन वृतो ब्रह्माण्डविस्तरः॥१२॥
वारिवह्न्यनिलाकाशैस्ततो भूतादिना बहिः। वृतं दशगुणैरण्डं भूतादिर्महता तथा॥१३॥
दशोत्तराणि शेषाणि एकैकस्मान्महामुने। महान्तं च समावृत्य प्रधानं समवस्थितम्॥१४॥
अनन्तस्य न तस्यान्तः संख्यानं नापि विद्यते। हेतुभूतमशेषस्य प्रकृतिः सा परा मुने॥१५॥
असंख्यातानि चाण्डानि तत्र जातानि चेदृशाम्। दारुण्यग्निर्यथा तैलं तिले तद्वत्पुमानिति॥१६॥
प्रधाने च स्थितो व्यापी चेतनात्माऽऽत्मवेदनः। प्रधानं च पुमांश्चैव सर्वभूतात्मभूतया॥१७॥
विष्णुशक्त्या महाप्राज्ञ वृतौ संश्रयधर्मिणौ। तयोः सैव पृथग्भावे कारणं संश्रयस्य च॥१८॥
क्षोभकारणभूतश्च सर्गकाले महामुने। यथा शैत्यं जले वातो बिभर्ति कणिकागतम्॥१९॥
जगच्छक्तिस्तथा विष्णोः प्रधानप्रतिपादिकाम्। विष्णुशक्तिं समासाद्य देवाद्याः सम्भवन्ति हि॥२०॥

से दो करोड़ ऊपर 'जनलोक' की स्थिति है, जहाँ सनक, सनन्दन आदि सिद्ध पुरुष निवास करते हैं। जनलोक से आठ करोड़ योजन ऊपर 'तपोलोक' है, जहाँ वैराज नाम वाले देवता निवास करते हैं। तपोलोक से छानबे करोड़ योजन ऊपर 'सत्यलोक' विराजमान है। सत्यलोक में पुनः मृत्यु के अधीन न होने वाले पुण्यात्मा देवता एवं ऋषि-मुनि निवास करते हैं। उसी को 'ब्रह्मलोक' भी कहा गया है। जहाँ तक पैरों से चलकर जाया जाता है, वह सब 'भूलोक' है।

भूलोक से सूर्यमण्डल के मध्य का भाग 'भुवर्लोक' कहा गया है। सूर्यलोक से ऊपर ध्रुवलोक तक के भाग को 'स्वर्गलोक' कहते हैं। उसका विस्तार चौदह लाख योजन है। यही त्रैलोक्य है और यही अण्डकटाह से घिरा हुआ विस्तृत ब्रह्माण्ड है। यह ब्रह्माण्ड क्रमशः जल, अग्नि, वायु और आकाश रूप आवरणों द्वारा द्वादश से घिरा हुआ है। इन सबके ऊपर अहंकार का आवरण है। ये जल आदि आवरण उत्तरोत्तर दस गुने बड़े हैं। अहंकार रूप आवरण महत्तत्त्वमय आवरण से घिरा हुआ है॥९-१३॥

हे महामुने! ये सारे आवरण एक से दूसरे के क्रम से दस गुने बड़े हैं। महत्तत्त्व को भी आवृत करके प्रधान (प्रकृति) स्थित है। वह अनन्त है, क्योंकि उसका कभी अन्त नहीं होता। इसीलिये उसकी कोई संख्या अथवा माप नहीं है। मुने। वह सम्पूर्ण जगत् का कारण है। उसको ही 'अपरा प्रकृति' कहते हैं। उसमें ऐसे-ऐसे असंख्य ब्रह्माण्ड उत्पन्न हुए हैं। जिस प्रकार काठ में अग्नि और तिल में तेल में तेल रहता है, उसी तरह प्रधान में स्वयंप्रकाश चेतनात्मा व्यापक पुरुष विराजमान है॥१४-१६॥

हे महाज्ञान मुने! ये संश्रयधर्मी (परस्पर संयुक्त हुए) प्रधान और पुरुष सम्पूर्ण भूतों की आत्मभूता विष्णु शक्ति से आवृत हैं। हे महामुने! भगवान् श्रीहरि विष्णु की स्वरूपभूता वह शक्ति ही प्रकृति और पुरष के संयोग और वियोग में कारण है। वही सृष्टि के समय उनमें क्षोभ का कारण बनती है। जिस प्रकार जल के सम्पर्क में आयी हुई वायु उसकी कर्णिकाओं में व्याप्त शीतलता को धारण करती है, उसी तरह भगवान् श्रीहरि विष्णु की शक्ति भी प्रकृति-पुरुषमय जगत् को धारण करती है। विष्णु शक्ति का आश्रय लेकर ही देवता आदि प्रकट होते हैं। वे भगवान् श्रीहरि विष्णु ही देवता आदि प्रकट होते हैं। वे भगवान् श्रीहरि विष्णु स्वयं ही साक्षात् ब्रह्म हैं, जिनसे इस सम्पूर्ण जगत् की उत्पत्ति होती है॥१७-२०॥

स च विष्णुः स्वयं ब्रह्म यतः सर्वमिदं जगत्। योजनानां सहस्राणि भास्करस्य रथो नव।।२१।।
ईशादण्डस्तथैवास्य द्विगुणो मुनिसत्तम। सार्धकोटिस्तथा सप्त नियुतान्यधिकानि वै।।२२।।
योजनानां तु तस्याक्षस्तत्र चक्रं प्रतिष्ठितम्। त्रिनाभिमतिपञ्चारं (१) षण्णोमि द्व्यायनात्मकम्।।२३।।
संवत्सरमयं कृत्स्नं कालचक्रं प्रतिष्ठितम्। चत्वारिंशत्सहस्राणि द्वितीयाक्षो विवस्तवः।।२४।।
पञ्चान्यानि तु सार्धानि स्यन्दनस्य महामते। अक्षप्रमाणमुभयोःप्रमाणं तद्युगार्धयोः।।२५।।
ह्रस्वोऽक्षस्तद्युगार्धं च ध्रुवाधारं रथस्य वै। हयाश्च सप्तच्छन्दांसि गायत्र्यादीनि सुव्रत।।२६।।
उदयास्तमनं ज्ञेयं दर्शनादर्शनं रवेः। यावन्मात्रप्रदेशे तु वशिष्ठावस्थितो ध्रुवः।।२७।।
स्वयमायाति तावत्तु भूमेराभूतसंप्लवम्। ऊर्ध्वोत्तरमृषिभ्यस्तु ध्रुवो यत्र व्यवस्थितः।।२८।।
एतद्विष्णुपदं दिव्यं तृतीयं व्योम्नि भास्वरम्। निर्धूतदोषपङ्कानां (णां) यतीनां स्थानमुत्तमम्।।२९।।
ततो गङ्गा प्रभवति स्मरणात्पापनाशिनी। दिवि रूपं हरेर्ज्ञेयं शिशुमाराकृति प्रभो।।३०।।
स्थितः पुच्छे ध्रुवस्तत्र भ्रमन्भ्रामयति ग्रहान्। (स रसोऽधिष्ठितो देवैरादित्यैर्ऋषिभिर्वरैः।।३१।।
गन्धर्वैरप्सरोभिश्च ग्रामणीसर्पराक्षसैः)। हिमोष्णवारिवर्षाणां कारणं भगवान्रविः।।३२।।

हे मुनिश्रेष्ठ! सूर्यदेव के रथ का विस्तार नौ सहस्र योजन है तथा उस रथ का ईषादण्ड (हरसा) इससे दूना बड़ा अर्थात् अठारह हजार योजन का है। उसका धुरा डेढ़ करोड़ सात लाख योजन लम्बा है, जिसमें उस रथ का पहिया लगा हुआ है। उसमें पूर्वाह्ण, मध्याह्न और अपराह्न रूप तीन नाभियाँ हैं। संवत्सर, परिवत्सर, इडावत्सर, अनुवत्सर और वत्सर–ये पाँच तरह के वर्ष उसके पाँच अरे हैं। छहों ऋतुएँ उसकी छः नेमियाँ हैं और उत्तर-दक्षिण दो अयन उसके शरीर हैं। ऐसे संवत्सरमय रथचक्र में सम्पूर्ण कालचक्र प्रतिष्ठित हैं। ऐसे संवत्सरमय रथचक्र में सम्पूर्ण कालचक्र प्रतिष्ठित है। हे महामते! भगवान् सूर्य के रथ का दूसरा धुरा साढ़े पैंतालीस हजार योजन लम्बा है। दोनों धुरों के परिमाण के तुल्य ही उसके युगार्द्धों का परिमाण है।।२१-२५।।

उस रथ के दो धुरों में से जो छोटा है वह और उसका युगार्द्ध ध्रुव के आधार पर स्थित है। हे श्रेष्ठतम व्रत का पालन करने वाले मुने! गायत्री, बृहती, उष्णिक, जगती, त्रिष्टुप, अनुष्टुप् और पंक्ति–ये सात छन्द ही सूर्यदेव के सात घोड़े कहे गये हैं। सूर्य का दिखायी देना उदय है और उनका दृष्टि से ओझल हो जाना ही अस्तकाल है, ऐसा समझना चाहिये। हे वसिष्ठ! जितने प्रदेश में ध्रुव स्थित है, पृथ्वी से लेकर उस प्रदेश-पर्यन्त सम्पूर्ण देश प्रलय काल में नष्ट हो जाता है। सप्तर्षियों से उत्तर दिशा में ऊपर की तरफ जहाँ ध्रुव स्थित है, आकाश में वह दिव्य एवं प्रकाशमान स्थान ही विराट्‌रूप धारी भगवान् श्रीहरि विष्णु का तीसरा पद है। पुण्य और पाप के क्षीण हो जाने पर दोषरूपी पङ्क से हीन संयतचित्त महात्माओं का यही परम श्रेष्ठतम स्थान है। इस विष्णु पद से ही गंगा का प्राकट्य हुआ है, जो स्मरण मात्र से सम्पूर्ण पापों का विनाश करने वाली हैं।।२६-२९।।

आकाश में जो शिशुमार (सूँस) की आकृति वाला ताराओं का समुदाय देखा जाता है, उसको भगवान् श्रीहरि विष्णु का स्वरूप समझना चाहिये। उस शिशुमार चक्र के पुच्छभाग में ध्रुव की स्थिति है। यह ध्रुव स्वयं घूमता हुआ चन्द्रमा और सूर्य आदि ग्रहों को घुमाता है। भगवान् सूर्य का वह रथ प्रतिमास भिन्न-भिन्न आदित्य देवता, श्रेष्ठ ऋषि, गन्धर्व, अप्सरा, ग्रामणी (यक्ष), सर्प तथा राक्षसों से अधिष्ठित होता है। भगवान् सूर्य ही सर्दी, गर्मी तथा जल-वर्षा के कारण हैं। वे ही ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेदमय भगवान् श्रीहरि विष्णु हैं; वे ही शुभ और अशुभ के कारण हैं।।३०-३२।।

ऋग्वेदादिमयो विष्णुः स शुभाशुभकारणम्। रथस्त्रिचक्रः सोमस्य कुन्दाभास्तस्य वाजिनः।।३३।।
वाम दक्षिणतो युक्ता दश युतेन चरत्यसौ। त्रयस्त्रिंशत्सहस्राणि त्रयस्त्रिंशच्छतानि च।।३४।।
त्रयस्त्रिशत्तथा देवाः पिबन्ति क्षणदाकरम्। एकां कलां च पितर एकामारश्मिसंस्थिताः।।३५।।
वाय्वग्निद्रव्यसंभूतो रथश्चन्द्रसुतस्य च। अष्टाभिस्तुरगैर्युक्तो बुधस्तेन चरत्यपि।।३६।।
शुक्रस्यापि रथोऽष्टाश्वो भौमस्यपि रथस्तथा। बृहस्पते रथोऽष्टाश्वः शनेश्चाष्टाश्वको रथः।।३७।।
स्वर्भानोश्च रथोऽष्टाश्वः केतोश्चाष्टाश्वको रथः। यदद्य वैष्णवः कायस्ततो विप्र वसुन्धरा।।३८।।
पद्माकारा समुद्भूता पर्वताद्यादि संयुता। ज्योतिर्भुवननद्यद्रिसमुद्रवनकं हरिः।।३९।।
यदस्ति नास्ति तद्विष्णुर्विष्णुज्ञानविजृम्भितम्। न विज्ञानमृते किञ्चिज्ज्ञानं विष्णुः परं पदम्।।४०।।
तत् कुर्याद्येन विष्णुः स्यात्सत्यं ज्ञानमनन्तकम्। पठेत्भुवनकोशं हि यः सोऽवाप्सुखात्मभाक्।।४१।।
ज्योतिः शास्त्रादिविद्याश्च शुभाशुभाधिपो हरिः।।४२।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते भुवनकोशवर्णनं नाम विंशत्यधिकशततमोऽध्यायः।।१२०।।

चन्द्रमा का रथ तीन पहियों से युक्त है। उस रथ के बायें और दायें भाग में कुन्द-कुसुम की भाँति श्वेत रंग के दस घोड़े जुते हुए हैं। उसी रथ के द्वारा वे चन्द्रदेव नक्षत्र लोक में विचरण करते हैं। तैंतीस हजार तैंतीस सौ तैंतीस (३६३३३) देवता चन्द्रदेव की अमृतमयी कलाओं का पान करते हैं। अमावास्या के दिन 'अमा' नामक एक रश्मि (कला) में स्थित हुए पितृगण चन्द्रमा की बची हुई दो कलाओं से एकमात्र अमृतमयी कला का पान करते हैं। चन्द्रमा के पुत्र बुध का रथ वायु और अग्निमय द्रव्य का बना हुआ है। उसमें आठ शीघ्रगामी घोड़े जुते हुए हैं। उसी रथ से बुध आकाश में विचरण करते हैं।।३३-३६।।

शुक्र के रथ में आठ घोड़े जुते होते हैं। मंगल के रथ में भी उतने ही घोड़े जोते जाते हैं। बृहस्पति और शनैश्चर के रथ भी आठ-आठ घोड़ों से युक्त हैं। राहु और केतु के रथों में भी आठ-आठ ही घोड़े जाते जाते हैं। हे विप्रवर! भगवान् श्रीहरि विष्णु का शरीरभूत जो जल है, उससे पर्वत और समुद्रादि के सहित कमल के समान आकार वाली पृथ्वी उत्पन्न हुई। ग्रह, नक्षत्र, तीनों लोक, नदी, पर्वत, समुद्र और वन–ये सब भगवान् श्रीहरि विष्णु के ही स्वरूप हैं। जो है और जो नहीं है, वह सब भगवान् श्रीहरि विष्णु ही हैं। विज्ञान का विस्तार भी भगवान् श्रीहरि विष्णु ही हैं। विज्ञान से अतिरिक्त किसी वस्तु की सत्ता नहीं है। भगवान् श्रीहरि विष्णु ज्ञानस्वरूप ही हैं। वे ही परमपद हैं। मनुष्य को वही करना चाहिये, जिससे चित्तशुद्धि के द्वारा विशुद्ध ज्ञान प्राप्त करके वह विष्णु रूप हो जाय। सत्य एवं अनन्त ज्ञानस्वरूप ब्रह्म ही 'विंष्णु' हैं।।।३७-४०।।

जो इस भुवनकोश के प्रसंग का पाठ करना चाहिये, वह सुखस्वरूप परमात्म पद को प्राप्त कर लेगा। अधुना ज्यौतिषशास्त्र आदि विद्याओं का वर्णन करने जा रहा हूँ। उसमें विवेचित शुभ और अशुभ–सबके स्वामी भगवान् श्रीहरि विष्णु ही हैं।।४१-४२।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी एक सौ बीसवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।१२०।।

❖❖❖

अथैकविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

ज्योतिःशास्त्रकथनम्

अग्निरुवाच

ज्योतिःशास्त्रं प्रवक्ष्यामि शुभाशुभविवेकदम्। चातुर्लक्षस्य सारं यत्तज्ज्ञात्वा सर्वविद्भवेत्।।१।।
षट्काष्टके विवाहो न नच द्विर्द्वादशे स्त्रियाः। न त्रिकोणे ह्यथ प्रीतिः शेषे च समसप्तके।।२।।
द्विर्द्वादशे त्रिकोणे च मैत्री क्षेत्रपयोर्यदि। भवेदेकाधिपत्यं च ताराप्रीतिरथापि वा।।३।।
तथाऽपि कार्यः संयोगो न तु षट्काष्टके पुनः। जीवे भृगौ चास्तमिते म्रियते च पुमान्स्त्रियाः।।४।।
गुरुक्षेत्रगते सूर्ये सूर्यक्षेत्रगते गुरौ। विवाहं न प्रशंसन्ति कन्यावैधव्यकृद्भवेत्।।५।।
अतिचारे त्रिपक्षं स्याद्वक्रे मासचतुष्टयम्। व्रतोद्वाहौ न कुर्वीत गुरोर्वक्रा (र्वाक्या) तिचारयोः।।६।।
चैत्रे पौषे न रिक्तासु हरौ सुप्ते कुजे रवौ। चन्द्रक्षये चाशुभं स्यात्सन्ध्याकालः शुभावहः।।७।।
रोहिणी चोत्तरा मूलं स्वाती हस्तोऽथ रेवती। तुले च मिथुने शस्तो विवाहः परिकीर्तितः।।८।।
विवाहे कर्णवेधे च व्रते पुंसवने तथा। प्राशने चाऽऽद्यचूडायां विद्धर्क्षं च विवर्जयेत्।।९।।

अध्याय-१२१

ज्यौतिषशास्त्रगत विवाहादि संस्कार आदि काल विचार

श्रीअग्नि देव ने कहा कि–हे मुने! अधुना मैं शुभ-अशुभ का विवेक सम्प्रदान करने वाले संक्षिप्त ज्योतिष शास्त्र का वर्णन करने जा रहा हूँ, जो चार लक्ष श्लोक वाले विशाल ज्योतिषशास्त्र का सारभूत अंश है, जिसे कन्या की राशि से वर की राशिसंख्या परस्पर छः-आठ, नौ-पाँच और दो-द्वादश हो, तो विवाह शुभ नहीं होता है। शेष दस-चार, ग्यारह-तीन और सम सप्तक (सात-सात) हो, तो विवाह शुभ होता है। यदि कन्या और वर की राशि के व्यामियों में परस्पर मित्रता हो या दोनों की राशियों का एक ही स्वामी हो, अथवा दोनों की ताराओं (जन्म-नक्षत्रों में मैत्री हो, तो नौ-पाँच तथा दो-द्वादश दोष होने पर भी विवाह कर लेना चाहिये; परन्तु षडष्टक (छः-आठ) के दोष में तो कदापि विवाह नहीं हो सकता। गुरु-शुक्र के अस्त रहने पर विवाह करने से वधू के पति का निधन हो जाता है। गुरु-क्षेत्र (धनु, मीन) में सूर्य हो एवं सूर्य के क्षेत्र (सिंह) में गुरु हो, तो विवाह को अच्छा नहीं मानते हैं; क्योंकि वह विवाह कन्या के लिये वैधव्यकारक होता है।।१-५।।

संस्कार-मुहूर्त के प्रसङ्ग में कहा जा रहा है कि बृहस्पति के वक्र रहने पर तथा अतिचारी होने पर विवाह तथा उपनयन नहीं करना चाहिये। आवश्यक होने पर अतिचार के समय त्रिपक्ष अर्थात् डेढ़ मास तथा वक्र होने पर चार मास छोड़कर शेष समय में विवाह-उपनयनादि शुभ संस्कार करने चाहिये। चैत्र-पौष में, रिक्ता तिथि में, भगवान् के सोने पर, मंगल तथा रविवार में, चन्द्रमा के क्षीण रहने पर भी विवाह शुभ नहीं होता है। संध्याकाल (गोधूलि-समय) शुभ होता है। रोहिणी, तीनों उत्तरा, मूल, स्वाती, हस्त, रेवती–इन नक्षत्रों में, तुला लग्न को छोड़कर मिथुनादि द्विस्वभाव एवं स्थिर लग्नों में विवाह करना शुभ होता है।।६-८।।

विवाह, कर्णवेध, उपनयन तथा पुंसवन संस्कारों में अन्न-प्राशन तथा प्रथम चूड़ाकर्म में विद्धन नक्षत्र को

श्रवणे मूलपुष्ये च सूर्यमङ्गलजीवके। कुम्भे सिंहे च मिथुने कर्म पुंसवनं स्मृतम्॥१०॥
हस्ते मूले मृगे पौष्णे बुधे शुक्रे च निष्कृतिः। अर्केन्दुजीवभृगुजे मूले ताम्बूलभक्षणम्॥११॥
अन्नस्य प्राशनं शुक्रे जीवे मृगे च मीनके। हस्तादिपञ्चके पुष्ये कृत्तिकादित्रये तथा॥१२॥
अश्विन्यामथ रेवत्यां नवान्नफलभक्षणम्। पुष्यो हस्तस्तथा ज्येष्ठा रोहिणी श्रवणाश्विनी॥१३॥
स्वातिसौम्ये च भैषज्यं कुर्यादन्यत्र वर्जयेत्। पूर्वात्रयं मघा याम्यं पावनं श्रवणत्रयम्॥१४॥
भौमादित्यशनेर्वारे स्नातव्यं रोगमुक्तितः। पार्थिवे चाष्टह्रींकारं मध्ये नाम च दिक्षु च॥१५॥
ह्रीपुटं पार्थिवे दिक्षु ह्रीं विदिक्षु लिखेद्वसून्। गोरोचनाकुङ्कुमेन भूर्जे वस्त्रे गले धृतम्॥१६॥
शत्रवो वशमायान्ति मन्त्रेणानेन निश्चितम्। श्रीं ह्रीं सम्पुटं नाम श्रीं ह्रीं (च) पत्राष्टके क्रमात्॥१७॥
गोरोचनाकुङ्कुमेन भूर्जेऽथ सुभगावृते। गोमध्यवागमः पत्रे हरिद्राया रसेन च॥१८॥
शिलापट्टेऽरीन्स्तम्भयति भूमावधोमुखीकृतम्। ॐ हूं सः सम्पुटं नाम ओं हूं सः पत्राष्टके क्रमात्॥१९॥
गोरोचनाकुङ्कुमेन) भूर्जे मृत्युनिवारणम्। एकपञ्चनवप्रीत्यै द्विषड्द्वादश योगकाः॥२०॥
त्रिसप्तैकादशे लाभो वेदाष्टद्वादशे रिपुः। तनुर्धनं च सहजः सुहृत्सुतौ रिपुस्तथा॥२१॥
जायानिधनधर्मौ च कर्माऽऽयव्ययकं क्रमात्। स्फुटं मेषादिलग्नेषु नवताराबलं वदेत्॥२२॥

छोड़ देना चाहिये। श्रवण, मूल, पुष्य—इन नक्षत्रों में, रवि, मंगल, बृहस्पति—इन वारों में तथा कुम्भ, सिंह, मिथुन-इन लग्नों में पुंसवन-कर्म करने का विधान है। हस्त, मूल, मृगशिरा और रेवती नक्षत्रों में, बुध और शुक्र वार में बालकों का निष्कासन शुभ होता है। रवि, सोम, बृहस्पति तथा शुक्र—इन दिनों में, मूल नक्षत्र में प्रथम बार ताम्बूल-भक्षण करना चाहिये। शुक्र तथा बृहस्पति वार को, मकर और मीन लग्न में, हस्तादि पाँच नक्षत्रों में, पुष्य में तथा कृत्तिकादि तीन नक्षत्रों में अन्न-प्राशन करना चाहिये। अश्विनी, रेवती, पुष्य, हस्त, ज्येष्ठा, रोहिणी और श्रवण नक्षत्रों में नूतन अन्न और फल का भक्षण शुभ होता है। स्वाती तथा मृगशिरा नक्षत्र में औषधि-सेवन करना शुभ होता है।

रोग-मुक्त-स्नान—तीनों पूर्वा, मघा, भरणी, स्वाती तथा श्रवण से तीन नक्षत्रों में, रवि, शनि और मंगल-इन वारों में रोग-विमुक्त व्यक्ति को स्नान करना चाहिये॥९-१४॥

यन्त्र-प्रयोग—मिट्टी के चतुरस्र पट्ट पर आठ दिशाओं में आठ 'ह्री' कार और मध्य में अपना नाम लिखे अथवा पार्थिव पट्ट या भोजपत्र पर आठों दिशाओं में 'ह्रीं' लिखकर मध्य में अपना नाम गोरोचन तथा कुङ्कुम से लिखे। ऐसे यन्त्र को वस्त्र में लपेटकर गले में धारण करने से शत्रु निश्चय ही वश में हो जाते हैं। इसी तरह गोरोचन तथा कुङ्कुम से 'श्रीं' 'ह्रीं' मन्त्र द्वारा सम्पुटित नामको आठ भूर्जपत्र-खण्ड पर लिखकर पृथ्वी में गाड़ दे तो शीघ्र विदेश गया हुआ व्यक्ति वापस आता है और उसी यन्त्र को हल्दी के रस से शिलापट्ट पर लिखकर नीचे मुख करके पृथ्वी पर रख दे तो शत्रु का स्तम्भन होता है। 'ॐ' 'हूं' 'सः' मन्त्र से सम्पुटित नाम गोरोचन तथा कुङ्कुम से आठ भूर्जपत्रों पर लिखकर रखा जाय तो मृत्यु का निवारण होता है। यह यन्त्र एक, पाँच और नौ बार लिखने परस्पर प्रेम होता है। दो, छः या द्वादश बार लिखने से वियुक्त व्यक्तियों का संयोग होता है और तीन, सात या ग्यारह बार लिखने से लाभ होता है और चार, आठ और द्वादश बार लिखने से परस्पर शत्रुता होता है॥१५-२०॥

भाव और तारा—मेषादि लग्नों से तनु, धन, सहज, सुहृत्, सुत, रिपु, जाया, निधन, धर्म, कर्म, आय, व्यय-ये द्वादश भाव होते हैं। अधुना नौ ताराओं का बल बतलाता हूँ। जन्म, संपत् विपत्, क्षेम, प्रत्यरि, साधक, मृत्यु, मैत्र

जन्म सम्पद्विपत्क्षेमं प्रत्यरिः साधकः क्रमात्। निधनं मित्रपरममित्रं ताराबलं विदुः।।२३।।
वारे ज्ञगुरुशुक्राणां सूर्याचन्द्रमसोस्तथा। माघादिमासषट्के तु क्षौरमाद्यं प्रशस्यते।।२४।।
कर्णवेधो बुधे जीवे पुष्ये श्रवणचित्रयोः। पञ्चमेऽब्दे चाध्ययनं षष्ठीप्रतिपदं त्यजेत्।।२५।।
रिक्तां पञ्चदशीं भौमं प्राच्र्य वाणीं हरिं श्रियम्। माघादिमासषट्के तु मेखलाबन्धनं शुभम्।।२६।।
चूडाकरणमाद्यं च श्रावणादौ न शस्यते। अस्तं याते गुरौ शुक्रे क्षीणे च शशलाञ्छने।।२७।।
उपनीतस्य विप्रस्य मृत्युं जाड्यं विनिर्दिशेत्। क्षौरर्क्षे शुभवारे च समावर्तनमिष्यते।।२८।।
शुभक्षेत्रे विलग्नेषु शुभयुक्तेक्षितेषु च। अश्विनीमघाचित्रासु स्वातीयाम्योत्तरासु च।।२९।।
पुनर्वसौ च पुष्ये च धनुर्वेदः प्रशस्यते। भरण्यार्द्रा मघाऽश्लेषा वह्निभगर्क्षयोस्तथा।।३०।।
जिजीविषुर्न कुर्वीत वस्त्रप्रावरणं नरः। गुरौ शुक्रे बुधे वस्त्रं विवाहादौ न भादिकम्।।३१।।
रेवत्यश्विधनिष्ठासु हस्तादिषु च पञ्चसु। शङ्खविद्रुमरत्नानां परिधानं प्रशस्यते।।३२।।
याम्यसार्प धनिष्ठासु त्रिषु पूर्वेषु वानने (चानले)। क्रीतं हानिकरं द्रव्यं विक्रीतं हानिकृद्भवेत्।।३३।।
अश्विनीस्वातिचित्रासु रेवत्यां वारुणे हरौ। क्रीतं लाभकरं द्रव्यं विक्रीतं हानिकृद्भवेत्।।३४।।
भरणी त्रीणि पूर्वाणि आर्द्राश्लेषामघानिलाः। वह्निज्येष्ठाविशाखासु स्वामिनो नोपतिष्ठते।।३५।।

और अतिमैत्र–ये नौ तारे होते हैं। बुध, बृहस्पति, शुक्र, रवि तथा सोम वार को और माघ आदि छः मासों में प्रथम क्षौर-कर्म बालक का मुण्डन) कराना शुभ कहा गया है। बुधवार तथा गुरुवार को एवं पुष्य, श्रवण और चित्रा नक्षत्र में कर्णवेध संस्कार शुभ होता है। पाँचवें वर्ष में प्रतिपदा, षष्ठी, रिक्ता और पूर्णिमा तिथियों को एवं मंगलवार को छोड़कर शेष वारों में सरस्वती, विष्णु और लक्ष्मी का पूजन करके अध्ययन (अक्षरारम्भ) करना चाहिये। माघ से लेकर छः मास तक अर्थात् आषाढ़ तक उपनयन-संस्कार शुभ होता है। चूडाकरण आदि कर्म श्रावण आदि छः मासों में प्रशस्त नहीं माने गये हैं। गुरु तथा शुक्र अस्त हो गये हों और चन्द्रमा क्षीण हों तो यज्ञोपवीत-संस्कार करने से बालक की मृत्यु अथवा जड़ता होती है, ऐसा संकेत कर देना चाहिये। क्षौर में कहे हुए नक्षत्रों में तथा शुभ ग्रह के दिनों में समावर्तन-संस्कार करना शुभ होता है।।२१-२८।।

विधि मुहूर्त–लग्न में शुभ ग्रहों की राशि हो और लग्न में शुभ ग्रह बैठे हों या उसको देखते हों तथा अश्विनी, मघा, चित्रा, स्वाती, भरणी, तीनों उत्तरा, पुनर्वसु और पुष्य नक्षत्र हों तो ऐसे समय में धनुर्वेद का प्रारम्भ शुभ होता है। भरणी, आर्द्रा, मघा, आश्लेषा, कृत्तिका, पूर्वाफाल्गुनी–इन नक्षत्रों में जीवन की इच्छा रखने वाला पुरुष को नवीन वस्त्र धारण नहीं करना चाहिये। बुध, बृहस्पति तथा शुक्र–इन दिनों में वस्त्र धारण करना चाहिये। विवाहादि माङ्गलिक कार्यों में वस्त्र-धारण के लिये नक्षत्रादि का विचार नहीं करना चाहिये। रेवती, अश्विनी, धनिष्ठा और हस्तादि पाँच नक्षत्रों में चूड़ी, मूँगा तथा रत्नों का धारण करना शुभ होता है।।२९-३२।।

क्रय-विक्रय-मुहूर्त–भरणी, आश्लेषा, धनिष्ठा, तीनों पूर्वा और मृत्तिका–इन नक्षत्रों में खरीदी हुई वस्तु हानिकारक (घाटा देने वाली) होती है और बेचना लाभसम्प्रदायक होता है। अश्विनी, स्वाती, चित्रा, रेवती, शतभिषा, श्रवण–इन नक्षत्रों में खरीदा हुआ सामान लाभसम्प्रदायक होता है और बेचना अशुभ होता है। भरणी, तीनों पूर्वा, आर्द्रा, आश्लेषा, मघा, स्वाती, कृत्तिका, ज्येष्ठा और विशाखा–इन नक्षत्रों में स्वामी की सेवा का प्रारम्भ नहीं करना चाहिये। साथ ही इन नक्षत्रों में दूसरे को द्रव्य देना, ब्याज पर द्रव्य देना, थाती या धरोहर के रूप में रखना आदि कार्य भी

द्रव्यं दत्तं प्रयुक्तं वा यत्र निक्षिप्यते धनम्। उत्तराश्रवणे शाक्रे कुर्याद्राजाभिषेचनम्॥३६॥
चैत्रं ज्येष्ठं तथा भाद्रमाश्विनं पौषमेव च। माघं चैव परित्यज्य शेषमासे गृहं शुभम्॥३७॥
अश्विनी रोहिणीमूलमुत्तरात्रयमैन्दवम्। स्वाती हस्तोऽनुराधा च गृहारम्भे प्रशस्यते॥३८॥
आदित्यभौमवर्जं तु वापीप्रासादके तथा। सिंहराशिगते जीवे गुर्वादित्ये मलिम्लुचे॥३९॥
बाले वृद्धेऽस्तगे शुक्रे गृहकर्मं विवर्जयेत्। अग्निदाहो भयं रोगो राजपीडा धनक्षतिः॥४०॥
संग्रहे तृणकाष्ठानां कृते श्रवणपञ्चके। गृहेप्रवेशनं कुर्याद्धनिष्ठोत्तरवारुणे॥४१॥
नौकाया घटने द्वित्रिपञ्चसप्तत्रयोदशी। नृपदर्शो धनिष्ठासु हस्तपौष्णाश्विनीषु च॥४२॥
पूर्वात्रयं धनिष्ठाऽऽर्द्रा वह्निः सौम्यविशाखयोः। आश्लेषा चाश्विनी चैव यात्रासिद्धिस्तु सम्पदा॥४३॥
त्रिषूत्तरेषु रोहिण्यां सिनीवाली चतुर्दशी। श्रवणा चैव हस्ता च चित्रा चैवाष्टमी तथा॥४४॥
गोषु यात्रां न कुर्वीत प्रवेशं नैव कारयेत्। अनिलोत्तररोहिण्यां मृगमूलपुनर्वसौ॥४५॥
पुष्यश्रवणहस्तेषु कृषिकर्मसमाचरेत्। पुनर्वसूत्तरास्वातीभगमूलेन्द्रवारुणे॥४६॥
गुरोः शुक्रस्य वारे वा वारे च सोमभास्वतोः। वृषलग्ने च कर्तव्यं कन्यायां मिथुने तथा॥४७॥

नहीं करने चाहिये। तीनों उत्तरा, श्रवण और ज्येष्ठा—इन नक्षत्रों में राज्याभिषेक करना चाहिये। चैत्र, ज्येष्ठ, भाद्रपद, आश्विन, पौष और मघा—इन मासों को छोड़कर शेष मासों में गृहारम्भ शुभ होता है। अश्विनी, रोहिणी, मूल, तीनों उत्तरा, मृगशिरा, स्वाती, हस्त और अनुराधा—ये नक्षत्र और मंगल तथा रविवार को छोड़कर शेष दिन गृहारम्भ, तडाग, वापी एवं प्रासादारम्भ के लिये शुभ होते हैं। गुरु सिंह-राशि में हों तत्पश्चात्, गुर्वादित्य में (अर्थात् जिस समय सिंह राशि के गुरु और धन एवं मीन राशिओं के सूर्य हों) अधिक मास में और शुक्र के बाल, वृद्ध तथा अस्त रहने पर गृह-सम्बन्धी कोई कार्य नहीं करना चाहिये। श्रवण से पाँच नक्षत्रों में तृण तथा काष्ठों के संग्रह करने से अग्निदाह, भय, रोग, राजपीडा तथा धन-क्षति होती है। (गृहप्रवेश)—धनिष्ठा, तीनों उत्तरा, शतभिषा—इन नक्षत्रों में गृहप्रवेश करना चाहिये। नौकानिर्माण द्वितीया, तृतीया, पञ्चमी, सप्तमी, त्रयोदीशी—इन तिथियों में नौका बनवाना शुभ होता है। नृपदर्शन धनिष्ठा, हस्त, रेवती, अश्विनी—इन नक्षत्रों में राजा का दर्शन करना शुभ होता है।

युद्धयात्रा—तीनों पूर्वा, धनिष्ठा, आर्द्रा, कृत्तिका, मृगशिरा, विशाखा, आश्लेषा और अश्विनी—इन नक्षत्रों में की हुई युद्ध यात्रा सम्पत्ति-लाभपूर्वक सिद्धिदायिनी होती है।

गौओं के गोष्ठ से बाहर ले जाने या गोष्ठ के अन्दर लाने का मुहूर्त—अष्टमी, सिनी वाली (अमावास्या) तथा चतुर्दशी तिथियों में, तीनों उत्तरा, रोहिणी, श्रवण, हस्त और चित्रा—इन नक्षत्रों में बेचने के लिये गोशाला से पशु को बाहर नहीं ले जाना चाहिये और खरीदे हुए पशुओं को गोशाला में प्रवेश भी नहीं कराना चाहिये।

कृषि-कर्म-मुहूर्त—स्वाती, तीनों उत्तरा, रोहिणी, मृगशिरा, मूल, पुनर्वसु, पुष्य, हस्त तथा श्रवण—इन नक्षत्रों में सामान्य कृषि-कर्म करना चाहिये। पुनर्वसु, तीनों उत्तरा, स्वाती, पूर्वाफाल्गुनी, मूल, ज्येष्ठा और शतभिषा—इन नक्षत्रों में, रवि, सोम, गुरु तथा शुक्र—इन वारों में वृष, मिथुन, कन्या—इन लग्नों में, द्वितीया, पञ्चमी, दशमी, सप्तमी, तृतीया और त्रयोदशी—इन तिथियों में हल-प्रवहणादि कृषि-कर्म करना चाहिये। रेवती, रोहिणी, ज्येष्ठा, कृत्तिका, हस्त, अनुराधा, तीनों उत्तरा—इन नक्षत्रों में शनि एवं मंगल वारों को छोड़कर दूसरे दिनों में सभी सम्पत्तियों की प्राप्ति के लिये बीज-वपन करना चाहिये।

द्विपञ्चदशमी सप्ततृतीया च त्रयोदशी। रेवती रोहिणीन्द्राग्निहस्तमैत्रोत्तरेषु च॥४८॥
मन्दारवर्जं बीजानि वापयेत्सम्पदर्थ्यपि। रेवतीहस्तमूलेषु श्रवणे भगमैत्रयोः॥४९॥
पितृदैवे तथा सौम्ये धान्यच्छेदं मृगोदये। हस्तचित्रादितिस्वातीरेवत्यां श्रवणत्रये॥५०॥
स्थिरे लग्ने गुरोर्वारेऽथ वा भार्गवसौम्ययोः। याम्यादितिमघाज्येष्ठासूत्तरेषु प्रवेशयेत्॥५१॥
ॐ धनदाय सर्वधनेशाय देहि मे धनं स्वाहा।
ॐ नवे हर्षे इलादेवि लोकसंवर्धिनि कामरूपिणि देहि मे धनं स्वाहा॥५२॥
पत्रस्थं लिखितं धान्यराशिस्थं धान्यवर्धनम्। त्रिपूर्वासु विशाखायां धनिष्ठावारुणेऽपि च॥५३॥
एतेषु षट्सु विज्ञेयं धान्यनिष्क्रमणं बुधैः। देवतारामवाप्यादिप्रतिष्ठोदङ्मुखे रवौ॥५४॥
मिथुनस्थे रवौ दर्शाद्यादि स्याद्द्वादशी तिथिः। सदा तत्रैव कर्तव्यं शयनं चक्रपाणिनः (?)॥५५॥
सिंहंतौलिगते चार्के दर्शाद्यद्द्वादशीद्वयम्। आदाविन्द्रसमुत्थानं प्रबोधश्च हरेः क्रमात्॥५६॥
तथा कन्यागते भानौ दुर्गोत्थाने तथाऽष्टमी। त्रिपादेषु च ऋक्षेषु यदा भद्रा तिथिर्भवेत्॥५७॥
भौमादित्यशनैश्चारी (?) विज्ञेयं तत्त्रिपुष्करम्। सर्वकर्मण्युपादेया विशुद्धिश्चन्द्रतारयोः॥५८॥

धान्य काटने तथा गृह में रखने का मुहूर्त—रेवती, हस्त, मूल, श्रवण, पूर्वाफाल्गुनी, अनुराधा, मघा, मृगशिरा—इन नक्षत्रों में तथा मकर लग्न में धान्य-छेदन-(धान काटने का) मुहूर्त शुभ होता है और हस्त, चित्रा, पुनर्वसु, स्वाती, रेवती तथा श्रवणादि तीन नक्षत्रों में भी धान्य-छेदन शुभ है। स्थिर लग्न तथा बुध, गुरु, शुक्रवारों में भरणी, पुनर्वसु, मघा, ज्येष्ठा, तीनों उत्तरा—इन नक्षत्रों में अनाज को डेहरी या बखार आदि में रखे॥३३-५१॥

धान्य-वृद्धि के लिये मन्त्र—'ॐ धनदाय सर्वधनेशाय देहि मे धनं स्वाहा।'—'ॐ नवे वर्षे इलादेवि! लोकसंवर्द्धिनि! कामरूपिणि! देहि मे धनं स्वाहा।'—इन मन्त्रों को पत्ते या भोजपत्र पर लिखकर धान्य की राशि में रख दे तो धान्य की वृद्धि होती है। तीनों पूर्वा, विशाखा, धनिष्ठा और शतभिषा—इन छः नक्षत्रों में बखार से धान्य निकालना चाहिये। **देवादि-प्रतिष्ठा-मुहूर्त**—सूर्य के उत्तरायण में रहने पर देवता, बाग, तड़ाग, वापी आदि की प्रतिष्ठा करनी चाहिये। भगवान् शयन, पार्श्व-परिवर्तन और जागरण का उत्सव—मिथुन-राशि में सूर्य के रहने पर अमावास्या के बाद जिस समय द्वादशी तिथि होती है, उसी में सदैव भगवान् चक्रपाणि के शयन का उत्सव करना चाहिये। सिंह तथा तुला राशि में सूर्य के रहने पर अमावास्या के बाद जो दो द्वादशी तिथियाँ होती हैं, उनमें क्रम से भगवान् का पार्श्व-परिवर्तन तथा प्रबोधन (जागरण) होता है। कन्या-राशि का सूर्य होने पर अमावास्या के बाद जो अष्टमी तिथि होती है, उसमें दुर्गा जी जागती हैं।

त्रिपुष्करयोग—जिन नक्षत्रों के तीन चरण दूसरी राशि में प्रविष्ट हों (जैसं कृत्तिका, पुनर्वसु, उत्तराफाल्गुनी, विशाखा, उत्तराषाढ़ा और पूर्वभाद्रपदा—इन नक्षत्रों में जिस समय भद्रा द्वितीया, सप्तमी और द्वादसी तिथियाँ हों एवं रवि, शनि तथा मंगलवार हों तो त्रिपुष्कर योग होता है। **चन्द्रबल**—प्रत्येक व्यावहारिक कार्य में चन्द्र तथा तारा की शुद्धि देखनी चाहिये। जन्मराशि में तथा जन्मराशि से तृतीया, षष्ठ, सप्तम, दशम, एकादश स्थानों पर स्थित चन्द्रमा शुभ होते हैं। शुक्ल पा में द्वितीय, पञ्चम, नवम चन्द्रमा भी शुभ होता है। (तारा-शुद्धि)—मित्र, अतिमित्र, साधक, सम्पत् और क्षेम आदि ताराएँ शुभ हैं। 'जन्मतारा' से मृत्यु होती है, 'विपत्ति-तारा' से धन का विनाश होता है, 'प्रत्यरि' और 'मृत्युतारा' में निधन होता है। इसलिये इन ताराओं में कोई नया काम या यात्रा नहीं करनी चाहिये।

जन्माश्रितस्त्रिषष्ठश्च सप्तमी दशमस्तथा। एकादशः शशी येषां तेषामेव शुभं वदेत्॥५९॥
शुक्लपक्षे द्वितीयश्च पञ्चमो नवमः शुभः। मित्रातिमित्रसाधकसंपत्क्षेमादितारकाः॥६०॥
जन्मना मृत्युमाप्नोति विपदा धनसंक्षयम्। प्रत्यरौ मरणं विद्यान्निधने याति पञ्चताम्॥६१॥
कृष्णाष्टमीदिनादूर्ध्वं यावच्छुक्लाष्टमी दिनम्। तावत्कालं शशी क्षीणः पूर्णस्तत्रोपरि स्मृतः॥६२॥
वृषे च मिथुने भानौ जीवे चन्द्रेन्द्रदैवते। पौर्णमासीगुरोर्वारे महाज्यैष्ठी प्रकीर्तिता॥६३॥
ऐन्द्रे गुरुः शशी चैव प्राजापत्ये रविस्तथा। पूर्णिमा ज्येष्ठमासस्य महाज्यैष्ठी प्रकीर्तिता॥६४॥
स्वात्यन्तरे यन्त्रनिष्ठे शुक्रस्योत्थापयेद्ध्वजम्। हर्यृक्षपादे चाश्विन्यां सप्ताहन्ते विसर्जयेत्॥६५॥
सर्वं हेमसमं दानं सर्वे ब्रह्मसमा द्विजाः। सर्वं गङ्गासमं तोयं राहुग्रस्ते दिवाकरे॥६६॥
ध्वाङ्क्षी महोदरी घोरा मन्दा मन्दाकिनी तिला। राक्षसी च क्रमेणार्कात्सङ्क्रान्तिर्नामभिः स्मृता॥६७॥
बालवे कौलवे नागे तैतिले करणे यदि। उत्तिष्ठन्यसङ्क्रमत्यर्कस्तदा लोकः सुखी भवेत्॥६८॥
गरे बवे वणिग्विष्टौ किंस्तुघ्ने शकुनौ व्रजेत्। राज्ञो दोषेण लोकोऽयं पीड्यते सम्पदा समम्॥६९॥
चतुष्पाद्विष्टिवाणिज्ये शयितः सङ्क्रमेद्रविः। दुर्भिक्षं राजसङ्ग्रामो दम्पत्योः संशयो भवेत्॥७०॥
कृत्तिकायां नवदिनं त्रिरात्रं रोहिणीषु च। मृगशिरः पञ्चरात्रमार्द्रासु प्राणनाशनम्॥७१॥
पुनर्वसौ च पुष्ये च सप्तरात्रं विधीयते। नवरात्रं तथाऽश्लेषां श्मशानान्तं मघासु च॥७२॥

क्षीण और पूर्ण चन्द्र को इस प्रकार दर्शाया गया है—कृष्ण पक्ष की अष्टमी से शुक्ल पक्ष की अष्टमी तिथितक चन्द्रमा क्षीण रहता है; इसके बाद वह पूर्ण माना जाता है। महाज्येष्ठी योग को इस प्रकार दर्शाया गया है—वृष तथा मिथुन राशि का सूर्य हो, गुरु मृगशिरा अथवा ज्येष्ठा नक्षत्र में हो और गुरुवार को पूर्णिमा तिथि हो, तो वह पूर्णिमा 'महाज्येष्ठी' कही जाती है। ज्येष्ठा में गुरु तथा चन्द्रमा हों, रोहिणी में सूर्य हो एवं ज्येष्ठ मास की पूर्णिमा हो, तो वह पूर्णिमा 'महाज्येष्ठी' कहलाती है। स्वाती नक्षत्र के आने से पूर्व ही यन्त्र पर इन्द्रदेव का पूजन करके उनका ध्वजारोपण करना चाहिये; श्रवण अथवा अश्विनी में या सप्ताह के अन्त में उसका विसर्जन करना चाहिये॥५२-६४॥

ग्रहण में दान का महत्त्व—सूर्य के राहु द्वारा ग्रस्त होने पर अर्थात् सूर्यग्रहण लगने पर सभी तरह का दान स्वर्ण-दान के समान है, सब ब्राह्मण ब्रह्मा के समान होते हैं। और सभी जल गंगाजल के समान हो जाते हैं। संक्रान्ति का कथन इस प्रकार दर्शाया गया है—सूर्य की संक्रान्ति रविवार से लेकर शनिवार तक किसी-न किसी दिन होती है। इस क्रम से उस संक्रान्ति के सात भिन्न-भिन्न नाम होते हैं। यथा—घोरा, ध्वाङ्क्षी, महोदरी, मन्दा, मन्दाकिनी, युता (मिश्रा) तथा राक्षसी। कौलव, शकुनि और किंस्तुघ्न करणों में सूर्य यदि संक्रमण के तो लोग सुखी होते हैं। गर, वव, वणिक्, विष्टि और बालव—इन पाँच करणों में यदि सूर्य संक्रान्ति बदले तो प्रजा राजा के दोष से सम्पत्ति के साथ पीड़ित होती है। चतुष्पात्, तैतिल और नाग—इन करणों में सूर्य यदि संक्रमण करना चाहिये तो देश में पति-पत्नी के जीवन के लिये भी संदेह उपस्थित होता है॥६६-७०॥

रोग की स्थिति का विचार इस तरह किया जा रहा है—जन्म नक्षत्र या आधान (जन्म से उन्नीसवें) नक्षत्र में रोग उत्पन्न हो जाय, तो अधिक क्लेशसम्प्रदायक होता है। कृत्तिका नक्षत्र में रोग उत्पन्न हो, तो नौ दिनतक रोहिणी में उत्पन्न हो, तो तीन रात तक तथा मृगशिरा में हो, तो पाँच रात तक रहता है। आर्द्रा में रोग हो, तो प्राण नाशक होता है। पुनर्वसु तथा पुष्य नक्षत्रों में रोग हो, तो सात रात तक बना रहता है। आश्लेषा का रोग नौ रात तक रहता

द्वौ मासौ पूर्वफाल्गुन्यामुत्तरासु त्रिपञ्चकम्। हस्ते तु दृश्यते चित्रास्वर्धमासं तु पीडनम्।।७३।।
मासद्वयं तथा स्वातिविशाखा वशतिर्दिनम् (?)। मैत्रे चैव दशाहानि ज्येष्ठास्वेवार्धमासकम्।।७४।।
मूलेन जायते मोक्षः पूर्वाषाढा त्रिपञ्चकम्। उत्तरा दिनविंशत्या द्वौ मासौ श्रवणेन च।।७५।।
धनिष्ठा चार्धमासं च वारुणे च दशाहकम्। नव भाद्रपदे मोक्ष उत्तरासु त्रिपञ्चकम्।।७६।।
रेवती दशरात्रं च अहोरात्रं तथाऽश्विनी। भरण्यां प्राणहानिः स्याद्गायत्री होमतः शुभम्।।७७।।
पञ्चधान्यतिलाज्याद्यैर्धेनुदानं द्विजे शमम्। दशा सूर्यस्य चाष्टाब्दा इन्दोः पञ्चदशैव तु।।७८।।
अष्टौ वर्षाणि भौमस्य दशसप्त दशा बुधे। दशाब्दानि दशा पङ्गोरूनविंशद्गुरोर्दशा।।७९।।
राहोर्द्वादशवर्षाणि भार्गवस्यैकविंशतिः।।७९।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते ज्योतिःशास्त्रकथनं नामैकविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः।।१२१।।

है। मघा का रोग अत्यन्त घातक या प्राणनाशक होता है। पूर्वाफाल्गुनी का रोग दो मास तक रहता है। उत्तराफाल्गुनी में उत्पन्न हुआ रोग तीन दिनों तक रहता है। हस्त तथा चित्रा का रोग पन्द्रह दिनों तक पीड़ा देता है। स्वाती का रोग दो मास तक विशाखा का बीस दिन, अनुराधा का रोग दस दिन और ज्येष्ठ पन्द्रह दिन रहता है। मूल नक्षत्र में रोग हो, तो वह छूटता ही नहीं है। पूर्वाषाढ़ा का रोग पाँच दिन रहता है। उत्तराषाढ़ा का रोग बीस दिन, श्रवण का दो मास, धनिष्ठा का पन्द्रह दिन और शतभिषा का रोग दस दिनों तक रहता है। पूर्वाभाद्रपदा का रोग छूटता ही नहीं। उत्तराभाद्रपदा का रोग सात दिनों तक रहता है। रेवती का रोग दस रात और अश्विनी का रोग एक दिन-रात मात्र रहता है; परन्तु भरणी का रोग प्राणनाशक होता है। रोग-शान्ति का उपाय इस प्रकार कहा गया है-पञ्चधान्य, तिल और घृत आदि हवनीय सामग्री द्वारा गायत्री मन्त्र से हवन करने पर रोग छूट जाता है और शुभ फल की प्राप्ति हो जाती है तथा ब्राह्मण को दूध देने वाली गौ का दान करने से रोग का शमन हो जाता है।।७१-७७।।

अष्टोत्तरी-क्रम से सूर्य की दशा छः वर्ष की होती है। इसी तरह चन्द्रदशा पन्द्रह वर्ष, मंगल की आठ वर्ष, बुध की सत्रह वर्ष, शनि की दस वर्ष, बृहस्पति की उन्नीस वर्ष, राहु की द्वादश वर्ष और शुक्र की इक्कीस वर्ष महादशा चलती है।।७८-७९।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी एक सौ इक्कीसवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।१२१।।

अथ द्वाविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

कालगणनम्

अग्निरुवाच

कालः समागणो वक्ष्ये गणितं कालबुद्धये। कालः समागणोऽर्कघ्नो मासैश्चैत्रादिभिर्युतः॥१॥
द्विघ्नो द्विष्ठः सवेदः स्यात्पञ्चाङ्गाष्टयुतो गणः। त्रिष्ठो मध्यो वसुगणः पुनर्वेदगणश्च सः॥२॥
अष्टरन्ध्राग्निहीनः स्यादधः सैकरसाष्टकै। मध्यो हीनः षष्टिहतो लब्धयुक्तस्तथोपरि॥३॥
न्यूनः सप्तकृतो वारस्तदधस्तिथिनाडयः। सगुणो द्विगुणश्चोर्ध्वं त्रिभिरूनो गुणः पुनः॥४॥
अधः खरामसंयुक्तो रसार्काष्टकलैर्युतः। अष्टाविंशच्छेषपिण्डस्तिथिनाड्या अधः स्थितः॥५॥
गुणस्तिसृभिरूनोऽर्धं द्वाभ्यां च गुणयेत्पुनः। मध्ये रुद्रगुणः कार्यो ह्यधः सैको नवाग्निभिः॥६॥
लब्धहीनो भवेन्मध्यो द्वाविंशतिविवर्जितः। षष्टिशेष ऋणं ज्ञेयं लब्धमूर्धं (ध्र्वं(?) विनिक्षिपेत्॥७॥

अध्याय-१२२

काल की गणना

श्रीअग्नि देव ने कहा कि–हे मुने! अधुना मैं वर्षों के समुदाय स्वरूप 'काल' का वर्णन कर रहा हूँ और उस काल को समझने के लिये मैं गणित बतला रहा हूँ। ब्रह्म-दिनादिकाल से अथवा सृष्ट्यारम्भकाल से अथवा व्यवस्थित शकारम्भ से वर्षसमुदाय-संख्या को १२ से गुणा करना चाहिये। उसमें चैत्रादि गत मास-संख्या मिला देना चाहिये। उसको दो से गुणा करके दो स्थानों में रखे। प्रथम स्थान में चार मिलाये, दूसरे स्था में आठ सौ पैंसठ मिलाये। इस तरह जो अंक सम्पन्न हो, वह 'सगुण' कहा गया है। उसको तीन स्थानों में रखे; उसमें मध्य वाले को आठ से गुणा करके फिर चार से गुणित करना चाहिये। इस तरह मध्य का संस्कार करके गोमूत्रिका क्रम से रखे हुए तीनों का यथा स्थान संयोजन करना चाहिये। उसमें प्रथम स्थान का नाम 'ऊर्ध्व', बीज का नाम 'मध्य' और तृतीय स्थान कानाम 'अधः' ऐसा रखे। अधः-अंक में ३८८ और मध्याङ्क में ८७ घटाये। तत्पश्चात् उसको ६० से विभाजित करके शेष को (अलग) लिखे। फिर लब्धि को आगे वाले अंक में मिलाकर ६० से विभाजित करना चाहिये। इस तरह तीन स्थानों में स्थापित अंकों में से प्रथम स्थान के अंक में सात से भाग देने पर शेष बची हुई संख्या के अनुसार रवि आदि वार निकलते हैं। शेष दो स्थानों का अंक तिथि का ध्रुवा होता है। सगुण को दो से गुणा करना चाहिये। उसमें तीन घटाये। उसके नीचे सगुण को लिखकर उसमें तीस जोड़े। फिर भी ६, १२, ८–इन पलों को भी क्रम से तीनों स्थानों में मिला देना चाहिये। फिर ६० से विभाजित करके प्रथम स्थान में २८ से भाग देकर शेष को लिखे। उसके नीचे पूर्वानीत तिथि ध्रुवा को लिखे। सभी को मिलाने पर ध्रुवा हो जायगा। फिर भी उसी सगुण को अर्द्ध करना चाहिये। उसमें तीन घटा देना चाहिये। दो से गुणा करना चाहिये। मध्य को एकादश से गुणा करना चाहिये। नीचे में एक मिलाये। द्वितीय स्थान में उनतालीस से भाग देकर लब्धि को प्रथम स्थान में घटाये, उसी का नाम 'मध्य' है। मध्य में बाईस घटाये। उसमें ६० से भाग देने पर शेष 'ऋण' है। लब्धि को ऊर्ध्व में अर्थात् नक्षत्र ध्रुवा में मिलाना चाहिये। २७ से भाग देने पर शेष नक्षत्र तथा योग का ध्रुवा हो जाता है।।१-७।।

सप्तविंशतिशेषस्तु ध्रुवो नक्षत्रयोगयोः। मासि मासि क्षिपेद्वारं द्वात्रिंशद्घटिकास्तिथौ॥८॥
द्वे पिण्डे द्वे नक्षत्रे नाड्य एकादश ह्यणे। वारस्थाने तिथिं दद्यात्सप्तभिर्भागमाहरेत्॥९॥
शेषवाराश्च सूर्याद्या घटिकासु च पातयेत्। पिण्डकेषु तिथिं दद्याद्धरेच्चैव चतुर्दश॥१०॥
ऋणं धनं धनमृणं क्रमाज्ज्ञेयं चतुर्दश। प्रथमे त्रयोदशे पञ्च द्वितीयद्वादशे दश॥११॥
पञ्चदश तृतीये च तथा चैकादशे स्मृतम्। चतुर्थे दशमे चैव भवेदेकोनविंशतिः॥१२॥
पञ्चमे नवमे चैव द्वाविंशतिरुदाहृताः। षष्ठाष्टमे त्वखण्डाः स्युश्चतुर्शिर्वितरेव च॥१३॥
सप्तमे पञ्च विंशः स्यात्खण्डशः पिण्डकाद्भवेत्। कर्कटादौ हरेद्राशिमृतुवेदत्रयैः क्रमात्॥१४॥
तुलादौ प्रातिलोम्येन त्रयो वेदरसाः क्रमात्। मकरादौ दीयते (न्ते(?) च रसवेदत्रयः क्रमात्॥१५॥
मेषादौ प्रातिलोम्येन त्रयो वेदरसाः क्रमात्। खेषवः खयुगा मैत्रं मेषादौ विकला धनम्॥१६॥
कर्कटे प्रातिलोम्यं स्यादृणमेतत्तुलादिके। चतुर्गुणा तिथिर्ज्ञेया विकलाश्चेह सर्वदा॥१७॥
हन्याल्लिप्ता गतागामिपिण्डसंख्याफलान्तरैः। षष्ट्याऽऽप्तं प्रथमोच्चार्ये हानौ देयं धने धनम्॥१८॥
द्वितीयोच्चरिते वर्गे वैपरीत्यमिति स्थितिः। तिथिर्द्विगुणिता कार्या षड्भागपरिवर्जिताः॥१९॥
रविकर्मविपरीता तिथिनाडी समायुता। ऋणे शुद्धे तु नाड्यः स्युर्ऋणं शुध्येत नो यदा॥२०॥

अधुना तिथि तथा नक्षत्र का मासिक ध्रुवा कह रहे हैं। (२/३२/००) यह तिथि-ध्रुवा है और (२/११/००) यह नक्षत्र ध्रुवा है। इस ध्रुवा को प्रत्येक मास में जोड़कर, वार-स्थान में ७ से भाग देकर शेष वार में तिथि का दण्ड-पलसमझना चाहिये। नक्षत्र के लिये २७ से भाग देकर अश्विनी से शेष संख्या वाले नक्षत्र का दण्डादि समझना चाहिये॥८-१०॥

उपरोक्त तरह से तिथ्यादि का मान मध्यममान से निश्चित हुआ। उसको स्पष्ट करने के लिये संस्कार कहते हैं। चतुर्दशी आदि तिथियों में कही हुई घटियों को क्रम से ऋण-धन तथा धन-ऋण करना चाहिये। जिस प्रकार चतुर्दशी में शून्य घटी तथा त्रयोदशी और प्रतिप्रदा में पाँच घटी क्रम से ऋण तथा धन करना चाहिये। एवं द्वादशी तथा द्वितीया में दस घटी ऋण-धन करना चाहिये। तृतीया तथा एकादशी में पन्द्रह घटी, चतुर्थी और दशमी में १९ घटी, पञ्चमी और नवमी में २२ घटी, षष्ठी तथा अष्टमी में २४ घटी तथा सप्तमी में २५ घटी धन-ऋण-संस्कार करना चाहिये। यह अंशात्मक फल चतुर्दशी आदि तिथिपिण्ड में करना होता है॥११-१३॥

अधुना कलात्मक फल-संस्कारके लिये कहते हैं—कर्कादि तीन राशियों में छः, चार, तीन (६/४/३) तथा तुलादि तीन राशियों में विपरीत तीन, चार, छः (३/४/६) संस्कार करने के लिये 'खण्डा' होता है। 'खेषवः-५०' 'खयुगाः-४०', 'मैत्रं-१२'-इनको मेषादि तीन राशियों में धन करना चाहिये। कर्कादि तीन राशियों में धन करना चाहिये। कर्कादि तीन राशियों में विपरीत १२, ४०, ५० का संस्कार करना चाहिये। तुलादि छः राशियों में इनका ऋण संस्कार करना चाहिये। चतुर्गुणित तिथि में विकलात्मक फल-संस्कार करना चाहिये। 'गत' तथा 'एष्य' खण्डाओं के अन्तर से कला को गुणित करना चाहिये। ६० से भाग देना चाहिये। लब्धि को प्रथमोच्चार में ऋण-फल रहने पर भी धन करना चाहिये और धन रहने पर भी धन ही करना चाहिये। द्वितीयोच्चारित वर्ग रहने पर विपरीत करना चाहिये। तिथि को द्विगुणित करना चाहिये। उसका छठा भाग उसमें घटाये। सूर्य-संस्कार के विपरीत तिथि दण्ड को मिलाये। ऋण-फल को घटाने पर स्पष्ट तिथि का दण्डादि मान होता है। यदि ऋण-फल नहीं घटे तो उसमें ६० मिलाकर

सषष्टिकं प्रदेयं तत्षट्याधिक्ये च तत्त्यजेत्। नक्षत्रं तिथिमिश्रं स्याच्चतुर्भिर्गुणितः तिथिः।।२१।।
तिथिस्त्रिभागं संयुक्ता ऋणेन च तथान्विता। तिथिरत्र चिता कार्या तद्वेदाद्योगशोधनम्।।२२।।
रविचन्द्रौ समौ कृत्वा योगो भवति निश्चलः। एकोना तिथिर्द्विगुणा सप्तभिन्नाकृतिर्द्विधा।।२३।।
तिथिश्च द्विगुणैकोना कृताङ्गैः करणं निशि। कृष्णचतुर्दश्यन्ते शकुनिः पर्वगीह चतुष्पदम्।
प्रथमे तिथ्यर्धतो हि किंस्तुघ्नं प्रतिपन्मुखे।।२४।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते कालगणनं नाम द्वाविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः।।१२२।।

संस्कार करना चाहिये। यदि फल ही ६० से अधिक हो, तो उसमें ६० घटाकर शेष का ही संस्कार करना चाहिये। इससे तिथि के साथ-साथ नक्षत्र का मान होगा। फिर भी चतुर्गुणित तिथि में तिथि का त्रिभाग मिलाये।

उसमें ऋण-फल को भी मिलाये। तष्टित करने पर योग का मान होता है। तिथि का मान तो स्पष्ट ही है, अथवा सूर्य-चन्द्रमा को योग करके भी 'योग' का मान निश्चित आता है। तिथि को संख्या में से एक घटाकार उसको द्विगुणित करने पर फिर एक घटाये तो भी चर आदि करण निकलते हैं। कृष्णपक्ष की चतुर्दशी के परार्ध से शकुनि, चतुरङ्घ्रि (चतुष्पद), किंस्तुघ्न और अहि (नाग)-ये चार स्थिर करण होते हैं। इस तरह शुक्लपक्ष की प्रतिपदा तिथि के पूर्वार्द्ध में किस्तुघ्न करण होता है।।१४-२४।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी एक सौ बाईसवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।१२२।।

❖❖❖

अथ त्रयोविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

युद्धजयार्णवीयनानायोगाभिधानम्

अग्निरुवाच

वक्ष्ये जयशुभाद्यर्थं सारं युद्धजयार्णवे। अ इ उ ए ओ स्वराः स्युः क्रमान्नन्दादिका तिथिः।।१।।
कादिहान्ता भौमरवी ज्ञसोमौ गुरुभार्गवौ। शनिर्दक्षिणनाड्यां तु भौमार्कशनयः परे।।२।।
रवार्णवः खरसैर्गुण्यो रुद्रैर्भागं समाहरेत्। रसाहतं तु तत्कृत्वा पूर्वभागेन (ण) भाजयेत्।।३।।
वह्निभिश्चाऽऽहतं कृत्वा रूपं तत्रैव निक्षिपेत्। स्पन्दनं नाड्याः पलानि सप्रमाणस्पन्दनं पुनः।।४।।
अनेनैव तु मानेन उदयन्ति दिने दिने। स्फुरणैस्त्रिभिरुच्छ्वास उच्छ्वासैस्तु पलं स्मृतम्।।५।।
षष्टिभिश्च पलैर्लिप्ता लिप्ताषष्टिस्त्वहर्निशम्। पञ्चमार्धोदये बालकुमारयुववृद्धकाः।।६।।

अध्याय-१२३

युद्धजयार्णव विषयक विविध योग

श्रीअग्नि देव ने कहा कि-(अधुना स्वर के द्वारा विजय-साधन कह रहे हैं)-मैं इस पुराण के युद्धजयार्णव-प्रकरण में विजय आदि शुभ कार्यों की सिद्धि के लिये सार वस्तुओं को कहने जा रहा हूँ। जिस प्रकार अ, इ, उ, ए, ओ-ये पाँच स्वर होते हैं। इन्हीं के क्रम से नन्दा (भद्रा, जया, रिक्ता, पूर्णा) आदि तिथियाँ होती हैं। 'क' से लेकर 'ह' तक वर्ण होते हैं और उपरोक्त स्वरों के क्रम से सूर्य मंङ्गल, बुध-चन्द्रमा बृहस्पति-शुक्र, शनि-मङ्गल तथा सूर्य-शनि-ये ग्रह-स्वामी होते हैं।।१-२।।

चालीस को साठ से गुणा करना चाहिये। उसमें ग्यारह से भाग देना चाहिये। लब्धि को छः से गुणा करके गुणन फल में फिर ग्यारह से ही भाग दें। लब्धि को तीन से गुणा करके गुणनफल में एक मिला दे तो उतनी ही बार नाडी के स्फुरण के आधार पर पल होता है। इसके बाद भी अहर्निश नाडी का स्फुरण होता ही रहता है।

उदाहरण-जिस प्रकार ४० × ६० = २४००। २४००/११ = २१९ लब्धि स्वल्पान्तर से हुई। इसको छः से गुणा किया तो २१९ × ६ = १३१४ गुणनफल हुआ। इसमें फिर ११ से भाग दिया तो १३१४/११ = ११९९ लब्धि, शेष = ५, शेष छोड़ दिया। लब्धि ११९ को ३ से गुणा किया तो गुणफल ३५७ हुआ। इसमें १ मिलाया तो ३५८ हुआ। इसको स्वल्पान्तर से ३६० मान लिया। अर्थात् करमूलगत नाडी का ३६० बार स्फुरण होने के आधार पर ही पल होते हैं, जिनका ज्ञानतरह आगे कहेंगे। इसी तरह नाड़ी का स्फुरण अहर्निश होता रहता है और इसी मान से अकारादि स्वरों का उदय भी होता रहता है।।३-४।।

अधुना व्यावहारिक काल-ज्ञान कहते हैं-तीन बार स्फुरण होने पर १ उच्छ्रास का एक पल होता है, ६० पल का एक लिप्ता अर्थात् एक दण्ड होता है, यद्यपि 'लिप्ता' शब्द कलावाचक है, जो कि ग्रहों के राश्यादि विभाग में लिया जाता है, फिर भी यहाँ काल-मान के प्रकरण में 'लिप्ता' शब्द से 'दण्ड' ही लिया जायगा; क्योंकि 'कला' तथा 'दण्ड'-ये दोनों भचक्र के षष्ट्यंश-विभाग में ही लिये गये हैं। ६० दण्ड का एक अहोरात्र होता है। उपरोक्त अ, इ, उ, ए, ओ-स्वरों की क्रम से बाल, कुमार, युवा, वृद्ध मृत्यु-ये पाँच संज्ञाएँ होती हैं। इनमें किसी एक स्वर के उदय के बाद पुनः उसका उदय पाँचवें खण्ड पर होता है।

मृत्युर्येनोदयस्तेन चास्तमेकादशांशकैः। कुलागमे भवेद्भङ्गः समृत्युः पञ्चमोऽपि वा॥७॥

स्वरोदयचक्रम्

शनिचक्रे चार्धमासं ग्रहाणामुदयः क्रमात्। त्रिभागैः पञ्चदशभिः शनिभागस्तु मृत्युदः॥८॥

शनिचक्रम्

दशकोटिसहस्राणि अर्बुदं न्यर्बुदं हरेत। त्रयोदश च लक्षाणि प्रमाणं कूर्मरूपिणः।
मघादौ कृत्तिकाद्यन्तस्तद्देशान्तः शनिस्थितौ॥९॥

कूर्मचक्रम्

राहुचक्रे च सप्तोर्ध्वमधः सप्त च संलिखेत्। वाय्वग्न्योश्चैव नैर्ऋत्ये पूर्णिमाऽऽग्नेय भागतः॥१०॥
अमावस्यां वायवे च राहुर्वैतिथिरूपकः। रकारं दक्षभागे तु हकारं वायवे लिखेत्॥११॥
प्रतिपदादौ ककारादीन्सकारं नैर्ऋते पुनः। राहोर्मुखे तु भङ्गः स्यादिति राहुरुदाहृतः॥१२॥

जितने समय से उदय होता है, उतने ही समय से अस्त भी होता है। इसके उदय काल एवं अस्तकाल का मान अहोरात्र के अर्थात् ६० दण्ड के एकादशांश के समान होता है—जिस प्रकार ६० में ११ से भाग देने पर ५ दण्ड २७ पल लब्धि होगी तो ५ दण्ड २७ पल कथित स्वरों का उदयास्तमान होता है। किसी स्वर के उदय के बार दूसरा स्वर ५ दण्ड २७ पल पर उदय होगा। इसी तरह पाँचों का उदय तथा अस्तमान समझना चाहिये। इनमें से जिस समय मृत्यु स्वर का उदय हो, तत्पश्चात् युद्ध करने पर पराजय के साथ ही मृत्यु हो जाती है॥५-७॥

अधुना शनि चक्र का वर्णन करते हैं— शनिचक्र में १५ दिनों पर क्रमशः ग्रहों का उदय हुआ करता है। इस पञ्चदश विभाग के अनुसार शनि का भाग युद्ध में मृत्युसम्प्रदायक होता है। विशेष—जिस समय कि शनि एक राशि में ढाई साल अर्थात् ३० मास रहता है, उसमें दिन-संख्या ९०० हुई। ९०० में १५ का भाग देने से लब्धि ६० होगी। ६० दिन का एक पञ्चदश विभाग हुआ। शनि के राशि में प्रवेश करने के बाद शनि आदि ग्रहों का उदय ६० दिन का होगा; जिसमें उदय संख्या ४ बार होगी। इस तरह जिस समय शनि का भाग आये, उस समय युद्ध करना निषिद्ध है॥८॥

अधुना कूर्मपृष्ठाकार शनि-बिम्ब के पृष्ठ का क्षेत्रफल कहते हैं—दस कोटि सहस्र तथा तेरह लाख में इसी का दशांश मिला दे तो उतने ही योजन के प्रमाण वाले कूर्मरूप शनि-बिम्ब के पृष्ठ का क्षेत्रफल होता है। अर्थात् ११००, १४३०००० ग्यारह अरब चौदह लाख तीस हजार योजन शनि-बिम्ब पृष्ठ का क्षेत्रफल है। विशेष-ग्रन्थान्तरों में ग्रहों के बिम्ब-प्रमाण तथा कर्मप्रमाण योजन में ही कहे गये हैं। जिस प्रकार 'गणिताध्याय' में भास्कराचार्य-सूर्य तथा चन्द्रमा बिम्बपरिमाण-कथन के अवसर पर—'**बिम्बं रवेर्द्विद्विशरर्त्तुसंख्यानीन्दोः खनागाम्बुधियोजनानि।**' आदि। यहाँ भी संख्या योजन के प्रमाण वाली हो लेनी चाहिये। मघा के प्रथम चरण से लेकर कृत्तिका के आदि से अन्त तक शनि का निवास अपने स्थान पर रहता है, उस समय युद्ध करना ठीक नहीं होता॥९॥

अधुना राहु-चक्र का वर्णन करते हैं—राहु-चक्र के लिये सात खड़ी रेख एवं सात पड़ी रेखा बनानी चाहिये। उसमें वायु कोण से नैर्ऋत्यकोण को लिये हुए अग्निकोण तक शुक्लपक्ष की प्रतिपदा से लेकर पूर्णिमा तक की तिथियों को लिखना चाहिये एवं अग्निकोण से ईशानकोण को लिये हुए वायुकोण तक कृष्ण पक्ष की प्रतिपदा से लेकर अमावास्या तक की तिथियों को लिखना चाहिये। इस तरह तिथिरूप राहु का न्यास होता है। 'र' कार को दक्षिण दिशा में लिखे और 'ह' कारको वायुकोण में लिखे। प्रतिपदादि तिथियों के सहारे 'क' कारादि अक्षरों को भी लिखे। नैर्ऋत्यकोण में 'सकार' लिखे। इस तरह राहुचक्र तैयार हो जाता है। राहु-मुख में यात्रा करने से यात्रा-भङ्ग होता है॥१०-१२॥

विष्टिरग्नौ पौर्णमास्यां करालीन्द्रे तृतीयकम्। घोरा याम्यां तु सप्तम्यां दशम्यां रौद्रसौम्यगा।।१३।।
चतुर्दश्यां तु वायव्ये चतुर्थ्यां वरुणाश्रये। शुक्लाष्टम्यां दक्षिणे च एकादश्यां भृशं त्यजेत्।।१४।।
रौद्रश्चैव तथा श्वेतो मैत्रः सारभटस्तथा। सावित्रो विरोचनश्च जयदेवोऽभिजित्तथा।।१५।।
रावणो विजयश्चैव नन्दी वरुण एव च। यमसौम्यौ भवश्चान्ते दश पञ्च मुहूर्तकाः।।१६।।
रौद्रे रौद्राणि कुर्वीत श्वेते स्नानादिकं चरेत्। मैत्रे कन्याविवाहादि शुभं सारभटे चरेत्।।१७।।
सावित्रे स्थापनाद्यं वा विरोचने नृपक्रिया। जयदेवे जयं कुर्याद्रावणे रणकर्म च।।१८।।
विजये कृषिवाणिज्यं पटबन्धं च नन्दिनि। वरुणे च तडागादि नाशकर्म यमे चरेत्।।१९।।
सौम्ये सौम्यादि कुर्वीत भवेल्लग्नमहर्दिवा। योगा नाम्नाऽविरुद्धाः स्युर्योगा नाम्नैव शोभनाः।।२०।।
राहुरिन्द्रात्समीरं च वायोर्दक्षं यमाच्छिवम्। शिवादाप्यं जलादग्निरग्नेः सौम्यं ततस्त्रयम्।।२१।।
ततश्च संक्रमं हन्ति चतस्रो घटिका भ्रमन्।।२२।।

राहुचक्रम्

चण्डीन्द्राणी वाराही च मुशली गिरिकर्णिका। बला चातिबला क्षीरी मल्लिकाजातियूथिकाः।।२३।।
यथालाभं धारयेत्ताः श्वेतार्कश्च शतावरी। गुडूची वागुरी दिव्या ओषध्यो धारिता जये।।२४।।

अधुना तिथि के अनुसार भद्रा-निवास की दिशा का वर्णन करते हैं—पौर्णमासी तिथि को भद्रा का नाम 'विष्टि' होता है और वह अग्निकोण में रहती है। तृतीया तिथि को भद्रा का नाम 'कराली' होता है और वह पूर्व दिशा में वास करती है। सप्तमी तिथि को भद्रा का नाम 'घारो' होता है और वह दक्षिण दिशा में निवास करती है। सप्तमी तथा दशमी तिथियों को भद्रा क्रम से ईशानकोण तथा उत्तर दिशा में, चतुर्दशी तिथि को वायव्य कोण में, चतुर्थी तथा एकादशी को दक्षिण दिशा में रहती है। इसका प्रत्येक शुभ कार्यों में सर्वथा त्याग करना चाहिये।।१३-१४।।

अधुना पन्द्रह मुहूर्तों को नाम एवं नामानुकूल कार्यों का वर्णन कर रहे हैं—रौद्र, श्वेत, मैत्र, सारभट, सावित्र, विरोचन, जयदेव, अभिजित्, दशानन रावण, विजय, नन्दी, वरुण, यम, सौम्य, भव—ये पन्द्रह मुहूर्त हैं। 'रौद्र' मुहूर्त में भयानक कार्य करना चाहिये। 'श्वेत' मुहूर्त में स्नानादिक कार्य करना चाहिये। 'मैत्र' मुहूर्त में कन्या का विवाह शुभ होता है। 'सारभट' मुहूर्त में शुभ कार्य करना चाहिये। 'सावित्र' मुहूर्त में देवों का स्थापन, 'विरोचन' मुहूर्त में राजकयी कार्य, 'जयदेव' मुहूर्त में विजय सम्बन्धी कार्य तथा 'दशानन रावण' मुहूर्त में संग्राम का कार्य करना चाहिये। 'विजय' मुहूर्त में कृषि कृषि तथा व्यापार, 'नन्दी' मुहूर्त में षट्कर्म, 'वरुण' मुहूर्त में तडागादि और 'यम' मुहूर्त में विनाश वाला कार्य करना चाहिये। 'सौम्य' मुहूर्त में सौम्य कार्य करना चाहिये। 'भव' मुहूर्त में दिन-रात शुभ लग्न ही रहता है। इसलिये उसमें सभी शुभ कार्य किये जा सकते हैं। इस तरह ये पन्द्रह योग अपने नामानुसार ही शुभ तथा अशुभ होते हैं।।१५-२०।।

अधुना राहु के दिशा-संचार का वर्णन कर रहे हैं—(दैनिक राहु) राहु पूर्व दिशा से वायुकोण तक, वायुकोण से दक्षिण दिशा तक, दक्षिण दिशा से ईशानकोण तक, ईशानकोण से पश्चिम तक, पश्चिम से अग्निकोण तक एवं अग्निकोण से उत्तर तक तीन-तीन दिशा करके चार घटियों में भ्रमण करता है।।२१-२२।।

अधुना औषधियों के लेपादि द्वारा विजय का वर्णन कर रहे हैं—चण्डी, इन्द्राणी (सिंधुवार), वाराही (वाहाहीकंद), मुशली (तालमूली), गिरिकर्णिका (अपराहजता), बला (कुट), अतिबला (कंघी), क्षीरी (सिरखोला), मल्लिका

ॐ नमो भैरवाय खड्गपरशुहस्ताय ॐ ह्रूं विघ्नविनाशाय ॐ ह्रूं फट्।।२५।।
अनेनैव तु मन्त्रेण शिखाबन्धादिकृज्जये। तिलकं चाञ्जनं चैव धूपलेपनमेव च।।२६।।
स्नानपानानि तैलानि योगधूलिमतः शृणु। सुभगा मनःशिला तालं लाक्षारससमन्वितम्।।२७।।
तरुणीक्षीर संयुक्तो ललाटे तिलको वशे। विष्णुक्रान्ता च सर्पाक्षी सहदेवी च रोचना।।२८।।
अजादुग्धेन संपिष्टं तिलको वश्यकारकः। प्रियङ्गुकुङ्कुमं कुष्ठं मोहनी तगरं घृतम्।।२९।।
तिलको वश्यकृच्चैव रोचना रक्तचन्दनम्। निशा मनःशिला तालं प्रियङ्गुः सर्षपास्तथा।।३०।।
मोहनी हरिता कान्ता सहदेवी शिखा तथा। मातुलुङ्गरसैः पिष्टं ललाटे तिलको वशे।।३१।।
सेन्द्राः सुरा वशं यान्ति किं पुनः क्षुद्रमानुषाः। मञ्जिष्ठा चन्दनं रक्तं कटुकन्दा विलासिनी।।३२।।
पुनर्नवासमायुक्तो लेपोऽयं भास्करो वशे। चन्दनं नागपुष्पं च मञ्जिष्ठा तगरं वचा।।३३।।
लोध्रं प्रियङ्गुरजनी मांसीतैलं वशंकरम्।।३४।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गति युद्धजयार्णवीयनानायोगाभिधानं नाम त्रयोविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः।।१२३।।

(मोतिया), जाती (चमेली), यूथिका (जूही), श्वेतार्क (सफेद मदार), शतावरी, गुरुच, वागुरी–इन यथा प्राप्त दिव्य औषधियों को धारण करना चाहिये। धारण करने पर ये युद्ध में विजय-दायिनी होती हैं।।२३-२४।।

'ॐ नमो भैरवाय खड्गपरशुहस्ताय ॐ ह्रूं विघ्नविनाशाय ॐ ह्रूं फट्।'–इस मन्त्र से शिखा बाँधकर यदि संग्राम करना चाहिये तो विजय अवश्य होती है। (अधुना संग्राम में विजयप्रद) तिलक, अञ्जन, धूप, उपलेप, स्नान, पान, तैल, योगचूर्ण–इन पदार्थों का वर्णन करने जा रहा हूँ, सुनो–सुभगा (नीलदूर्वा), मनःशिला (मैनसिल), ताल (हरताल)–इनको लाक्षा रस में मिलाकर, स्त्री के दूध में घोंटकर ललाट में तिलक करने से शत्रु वश में हो जाता है। विष्णुक्रान्ता (अपराजिता), सर्पाक्षी (महिषकंद), सहदेवी (सहदेइया), रोचना (गोरोचन)–इनको बकरी के दूध में पीसकर लगाया हुआ तिलक शत्रुओं को वश में करने वाला होता है। प्रियंगु (नागकेसर), कुङ्कुम, कुष्ठ, मोहिनी (चमेली), तगर, घृत–इनको मिलाकर लगाया हुआ तिलक वश्यकारक होता है। रोचना (गोराचन), रक्तचन्दन, निशा (हल्दी), मनःशिला (मैनसिल), ताल (हरताल), प्रियंगु (नागकेसर), सर्षप (सरसों), मोहिनी (चमेली), हरिता (दूर्वा), विष्णुक्रान्त (अपराजिता), सहदेवी, शिखा (जटामाँसी)–इनको तामुलुङ्ग (बिजौरा नीबू) के रस में पीसकर ललाट में किया हुआ तिलक वश में करने वाला होता है। इन तिलकों से इन्द्रसहित समस्त देवता वश में हो जाते हैं, फिर क्षुद्र मनुष्यों की तो बात ही क्या है। मञ्जिष्ठ, रक्तचन्दन, कटुकन्दा (सहिजन), विलासिनी, पुनर्नवा (गदहपूर्णा)–इनको मिलाकर लेप करने से सूर्य भी वश में हो जाते हैं। मलयचन्दन, नागपुष्प (चम्पा), मजिष्ठ तगर, वच, लोध्र, प्रियंगु (नागकेसर), रजी (हल्दी), जटामाँसी–इनके सम्मिश्रण से बना हुआ तैल वश में करने वाला होता है।।२५-३४।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी एक सौ तेईसवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।१२३।।

❖❖❖

अथ चतुर्विंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

युद्धजयार्णवीयज्योतिःशास्त्रसारः

अग्निरुवाच

ज्योतिषशास्त्रादिसारं च वक्ष्ये युद्धजयार्णवे। वेलामन्त्रौषधाद्यं च यथोमामीश्वरोऽब्रवीत्।।१।

देव्युवाच

देवैर्जिता दानवाश्च येनोपायेन तद्वद। शुभाशुभविवेकाद्यं ज्ञानं युद्धजयार्णवम्।।२।।

ईश्वर उवाच

मूलदेवेच्छया जाता शक्तिः पञ्चदशाक्षरा। चराचरं ततो जातं यामाराध्याखिलार्थवित्।।३।।

मन्त्रपीठं प्रवक्ष्यामि पञ्चमन्त्रसमुद्भवम्। ते मन्त्राः सर्वमन्त्राणां जीविते मरणे स्थिताः।।४।।

ऋग्यजुः सामाथर्वाख्यवेदमन्त्राः क्रमेण ते। सद्योजातादयो मन्त्रा ब्रह्मा विष्णुश्च रुद्रकः।।५।।

ईशः सप्तशिखा देवाः शब्दाद्याः पञ्च च स्वराः। अ इ उ ए ओं कलाश्च मूलं ब्रह्मेति कीर्तितम्।।६।।

काष्ठमध्ये यथा वह्निरप्रवृद्धो न दृश्यते। विद्यमाना तथा देहे शिवशक्तिर्न दृश्यते।।७।।

आदौ शक्ति समुत्पन्ना ओंकारस्वरभूषिता। ततो विन्दुर्महादेवि एकारेण व्यवस्थितः।।८।।

अध्याय-१२४

युद्धजयार्णव विषयक ज्यौतिषशास्त्रसार

श्रीअग्नि देव ने कहा कि–अधुना मैं युद्धजयार्णव प्रकरण में ज्योतिषशास्त्र की सारभूत वेला (समय), मन्त्र और औषधि आदि वस्तुओं का उसी तरह वर्णन करने जा रहा हूँ, जिस तरह देवाधिदेव भगवान् श्रीशिवशंकर जी ने पार्वती से कहा था।।१।।

पार्वती जी ने पूछा–हे भगवन्! देवताओं ने (देवासुर-संग्राम में) दानवों पर जिस उपाय से विजय पायी थी, उसका तथा युद्धयार्वावोक्त शुभाशुभविवेकादि रूप ज्ञान का वर्णन कीजिये।।२।।

देवाधिदेव भगवान् श्रीशिवशंकर जी बोले–मूलदेव (परमात्मा) की इच्छा से पन्द्रह अक्षर वाली एक शक्ति उत्पन्न हुई। उसी से चराचर जीवों की सृष्टि हुई। उस शक्ति की आराधना करने से मनुष्य सभी तरह के अर्थों का ज्ञाता हो जाता है। अधुना पाँच मन्त्रों से बने हुए मन्त्रीपीठ का वर्णन करने जा रहा हूँ। वे मन्त्र सभी मन्त्रों के जीवन-मरण में अर्थात् 'अस्ति' तथा 'नास्ति' रूप सत्ता में स्थित हैं। ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद–इन चारों वेदों के मन्त्रों को प्रथम मन्त्र कहते है। सद्योताजादि मन्त्र द्वितीय मन्त्र हैं एवं ब्रह्मा, विष्णु तथा रुद्र–ये तृतीय मन्त्र के स्वरूप हैं। ईश (मैं), सात शिखा वाले अग्नि तथ इन्द्रादि देवता–ये चौथे मन्त्र के स्वरूप हैं। अ, इ, उ, ए, ओ–ये पाँचों स्वर पंचम मन्त्र के स्वरूप हैं। इन्हीं स्वरों को मूलब्रह्म भी कहते हैं।।३-६।।

अधुना पञ्च स्वरों की उत्पत्ति कह रहे हैं–जिस तरह लकड़ी में व्यापक अग्नि की प्रतीति बिना जलाये नहीं होती है, उसी तरह शरीर में विद्यमान शिव-शक्ति की प्रतीति ज्ञान के बिना नहीं होती है। हे महादेवी पार्वती! पहले ॐकार स्वर से विभूषित शक्ति की उत्पत्ति हुई। तत्पश्चात् बिन्दु 'एकार' रूप में परिणत हुआ। पुनः ओंकार में शब्द

जातो नाद उकारस्तु नदते हृदि संस्थितः। अर्धचन्द्र इकारस्तु मोक्षमार्गस्य बोधकः॥९॥
अकारोऽव्यक्त उत्पन्नो भोगमोक्षप्रदः परः। अकार ऐश्वरे भूमिर्निवृत्तिश्च कला स्मृता॥१०॥
गन्धो न बीजः प्राणाख्य इडा शक्तिः स्थिरा स्मृता। इकारश्च प्रतिष्ठाख्यो रसोयानश्च पिङ्गला॥११॥
क्रूराशक्तिरीबीजः स्याद्धरबीजोऽग्निरूपवान्। विद्यासमाना गान्धारी शक्तिश्च दहनी स्मृता॥१२॥
ए शान्तिर्वार्युपस्पर्शो यश्चोदानश्चला क्रिया। ओंकारः शान्त्यतीताख्यः खशब्दयूथपालिनः॥१३॥
पञ्च वर्गाः स्वरा जातः कुजज्ञगुरुभार्गवाः। शनिः क्रमादकाराद्याः ककाराद्यास्त्वधः स्थिताः॥१४॥
एतन्मूलमतः सर्वं ज्ञायते सचराचरम्। विद्यापीठं प्रवक्ष्यामि प्रणवः शिव ईरितः॥१५॥
उमा सोमः स्वयं शक्तिर्वामा ज्येष्ठा च रौद्र्यपि। ब्रह्मा विष्णु क्रमाद्रुद्रो गुणाः सर्गादयस्त्रयः॥१६॥
रत्नानाडीत्रयं चैव स्थूला सूक्ष्मः परोऽपरः। चिन्तयेच्छ्वेतवर्णं तं मुञ्चमानं परामृतम्॥१७॥
प्लाव्यमानं यथाऽऽत्मानं चिन्तयेत्तं दिवानिशम्। अजरत्वं भवेद्देवि शिवत्वमुपगच्छति॥१८॥
अङ्गुष्ठादौ न्यसेदङ्गान्नेत्रमध्येऽथ देहके। मृत्युञ्जयं ततः प्राच्र्य रणादौ विजयी भवेत्॥१९॥
शून्यो निरालयः शब्दः स्पर्शस्तिर्यङ्नतं स्पृशेत्। रूपस्योर्ध्वगतिः प्रोक्ता जलस्याधः समाश्रिता॥२०॥

उत्पन्न हुआ, जिससे 'उकार' का उद्गम हुआ। यह 'उकार' हृदय में शब्द करता हुआ विद्यमान रहता है। 'अर्धचन्द्र' से मोक्ष-मार्ग को बताने वाले 'इकार' का प्रादुर्भाव हुआ। उसके बाद भोग तथा मोक्ष सम्प्रदान करने वाला अव्यक्त 'आकार' उत्पन्न हुआ। वही 'अकार' सर्वशक्तिमान् एवं प्रवृत्ति तथा निवृत्ति का बोधक है॥७-१०॥

अधुना शरीर में पाँचों स्वरों का स्थान कहता हूँ–'अ' स्वर शरीर में प्राण अर्थात् श्वासरूप से स्थिर होकर विद्यमान रहता है। इसी का नाम 'इडा' है। 'इकार' प्रतिष्ठा नाम से रहकर रस रूप में तथा पालक-स्वरूप में रहता है। इसको ही 'पिङ्गला' कहते हैं। 'ई' स्वर को 'क्रूरा शक्ति' कहते हैं। 'हर-बीज' (उकार) स्वर शरीर में अग्नि रूप से रहता है। यही 'समान-बोधिका विद्या' है। इसको 'गान्धारी' कहते हैं। इसमें 'दहनात्मिका' शक्ति है। 'एकार' स्वर शरीर में जलरूप से रहता है। इसमें शान्ति-क्रिया है तथा 'ओकार' स्वर शरीर में वायुरूप से रहता है। यह अपान, व्यान, उदान आदि पाँच स्वरूपों में होकर स्पर्श करता हुआ गतिशील रहता है। पाँचों स्वरों का सम्मिलित सूक्ष्म रूप जो 'ओंकार' है, वह 'शान्त्यतीत नाम कसे बोधित होकर शब्द-गुणवाले आकाशरूप में रहता है। इस तरह पाँचों स्वर (अ, इ, उ, ए, ओ) हुए, जिनके स्वामी क्रम से मंगल, बुध गुरु, शुक्र तथा शनि ग्रह हुए। ककारादि वर्ण इन स्वरों के नीचे होते हैं। ये ही संसार के मूल कारा हैं। इन्हीं से चराचर सब पदार्थों का ज्ञान होता है॥११-१४॥

अधुना मैं विद्यापीठ का स्वरूप बतला रहा हूँ जिसमें 'ओंकार' शिवरूप से कहा गया है और 'उमा' स्वयं सोम अर्थात् अमृतरूप से है। इन्हीं को वामा, ज्येष्ठा तथा रौद्री शक्ति भी कहते हैं। ब्रह्मा, विष्णु तथा रुद्र-क्रमशः ये ही तीनों गुण हैं एवं सृष्टि के उत्पादक, पालक तथा संहारक हैं। शरीर के अन्दर तीन रत्न नाड़ियाँ हैं, जिनका नाम स्थूल, सूक्ष्म तथा पर है। इनका श्वेत वर्ण है। इनसे सदैव अमृत टपकता रहता है, जिससे आत्मा सदैव आप्लावित रहता है। इस तरह उसका दिन-रात ध्यान करते रहना चाहिये। हे देवि! ऐसे साधक का शरीर अजर हो जाता है तथा उसको शिव-सायुज्य की प्राप्ति हो जाती है। प्रथमतः अङ्गुष्ठ आदि में, नेत्रों में तथा देह में भी अङ्गन्यास करना चाहिये, तत्पश्चात् मृत्युंजय की अर्चना करके यात्रा करने वाला संग्राम आदि में विजयी होता है। आकाश शून्य है, निराधार है तथा शब्द-गुण वाला है। वायु में स्पर्श गुण है। वह तिरछा झुककर स्पर्श करता है। रूप की अर्थात् अग्नि की ऊर्ध्वगति

सर्वस्थानविनिर्मुक्तो गन्धो मध्ये च मूलकम्। नाभिमूले स्थितं कन्दं शिवरूपं तु मण्डितम्।।२१।।
शक्तिव्यूहेन सोमोऽर्को हरिस्तत्र व्यवस्थितः। दशवायुसमोपेतं पञ्चतन्मात्रमण्डितम्।।२२।।
कालानलसमाकारं प्रस्फुरन्तं शिवात्मकम्। तज्जीवं जीवलोकस्य स्थावरस्य चरस्य च।।
तस्मिन्नष्टे मृतं मन्ये मन्त्रपीठेऽनिलात्मकम्।।२३।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते युद्धजयार्णवीयज्योतिःशास्त्रससारवर्णनं नाम चतुर्विंशत्यधिकशततमोऽध्यायः।।१२४।।

अथ पञ्चविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

युद्धजयार्णवीयनानाचक्राणि

ईश्वर उवाच

ॐ ह्रीं कर्णमोटनि बहुरूपे बहुदंष्ट्रे हूं फट्, ॐ हः, ॐ ग्रस ग्रस कृन्त कृन्त च्छक च्छक हूं फट्, नमः।।१।।
पठ्यमानो ह्ययं मन्त्रः क्रुद्धः संरक्तलोचनः। मारणे पातने वाऽपि मोहनोच्चाटने भवेत्।
कर्णमोटी महाविद्या सर्ववर्णेषु रक्षिका।।२।।

बतलायी गयी है तथा जल की अधोगति होती है। सब स्थानों को छोड़कर गन्ध-गुण वाली पृथ्वी मध्य में रहकर सबके आधार-रूप में विद्यमान है।।१५-२०।।

नाभि के मूल में अर्थात् मेरुदण्ड की जड़ में कन्द के स्वरूप में भगवान् शिवजी सुशोभित हैं। वहीं पर शक्ति-समुदाय के साथ सूर्य, चन्द्रमा तथा भगवान् श्रीहरि विष्णु रहते हैं और पञ्चतन्मात्राओं के साथ दस तरह के प्राण भी रहते हैं। कालाग्नि के समान देदीप्यमान वह भगवान् श्रीसदाशिवजी की मूर्ति सदैव चमकती रहती है। वही चराचर जीवलोक का प्राण है। उस मन्त्रपीठ के नष्ट होने पर वायुस्वरूप जीव का विनाश समझना चाहिये।।२१-२३।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी एक सौ चौबीसवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।१२४।।

अध्याय-१२५

युद्धजयार्ण विषयक विविध चक्र

देवाधिदेव भगवान् श्रीशिवशंकर जी ने कहा-'ॐ ह्रीं कर्णमोटनि बहुरूपे बहुदंष्ट्रे हूं फट्, ॐ हः, ॐ ग्रस ग्रस, कृन्त कृन्तच्छक च्छक हूं फट् नमः।' इस मन्त्र का नाम 'कर्णमोटी महाविद्या' है। यह सभी वर्णों में रक्षा करने वाली है। इस मन्त्र को केवल पढ़ने से ही मनुष्य क्रोधाविष्ट हो जाता है तथा उसके नेत्र लाल हो जाते हैं। यह मन्त्र मारण, पातन, मोहन एवं उच्चाटन में उपयुक्त होता है।।१-२।।

(इति) नानाविद्या (द्याः)

पञ्चोदयं प्रवक्ष्यामि स्वरोदय समाश्रितम्। नाभिहृदन्तरं यावत्तावच्चरति मारुतः॥३॥
उच्चाटयेद्रणादौ तु कर्णाक्षीणि प्रभेदयेत्। करोति साधकः क्रुद्धो जपहोमपरायणः॥४॥
हृदयात्पायुकं कण्ठं ज्वरदाहारिमारणे। कण्ठोद्भवो रसो वायुः शान्तिकं पौष्टिकं रसम्॥५॥
दिव्यं स्तम्भं समाकर्षं गन्धो नासान्तिको भ्रुवः। गन्धलीनं मनः कृत्वा स्तम्भयेन्नात्र संशयः॥६॥
स्तम्भनं कीलनाद्यं च करोत्येव हि साधकः। चण्डघण्टा कराली च सुमुखी दुर्मुखी तथा॥७॥
रेवती प्रथमा घोरा वायुचक्रे तु ता यजेत्। उच्चाटकारिका देव्यः स्थितास्तेजसि संस्थिताः॥८॥
सौम्या च भीषणी देवी जया च विजया तथा। अजिता चापराजिता महाकोटी च रौद्रया॥९॥
शुष्ककाया प्राणहरा रसचक्रे स्थिता अमूः। विरूपाक्षी परा दिव्यास्तथा चाऽऽकाशमातरः॥१०॥
संहारी जातहारी च दंष्ट्राला शुष्करेवती। पिपीलिका पुष्टिहरा महापुष्टिप्रवर्धना॥११॥
भद्रकाली सुभद्रा च भद्रभीमा सुभद्रिका। स्थिरा च निष्ठुरा दिव्या निष्कम्पा गदिनी तथा॥१२॥
द्वात्रिंशन्मातरश्चक्रे अष्टाष्टक्रमशः स्थिताः। एक एव रविश्चन्द्र एकश्चैकैकशक्तिका॥१३॥
भूतभेदेन तीर्थानि यथा तोयं महीतले। प्राण एको मण्डलैश्च भिद्यते भूतपञ्जरे॥१४॥

अधुना स्वरोदय के साथ पाँच तरह के वायु का स्थान तथा उसका प्रयोजन कह रहा हूँ। नाभि से लेकर हृदय तक जो वायु का संचार होता रहता है, उसको 'मारुतचक्र' कहते हैं। जप तथा हवनकार्य में लगा हुआ क्रोधी साधक उससे संग्रामादि कार्यों में उच्चाटन-कर्म करता है। कान से लेकर नेत्र तक जो वायु है, उससे प्रभेदन-कार्य करना चाहिये एवं हृदय से गुदामार्ग तक जो वायु है, उससे स्वर-दाह तथा शत्रुओं को मारण-कार्य करना चाहिये। इसी वायु का 'वायुचक्र' है। हृदय से लेकर कण्ठ तक जो वायु है, उसका नाम 'रस' है। इसको ही 'रसचक्र' कहते हैं। उससे शान्ति का प्रयोग किया जाता है तथा पौष्टिक रस के समान उसका गुण है। भौंह से लेकर नासिका के अग्रभाग तक जो वायु है, उसका नाम 'दिव्य' है। इसको ही 'तेजश्चक' कहते हैं। गन्ध इसका गुण है तथा इससे स्तम्भन और आकर्षण कार्य होता है। नासिकाग्र में मन को स्थिर करके साधक निस्संदेह स्तम्भन तथा कीलन कर्म करता है। उपरोक्त वायुचक्र में चण्डघण्टा, कराली, सुमुखी, दुर्मुखी, रेवती, प्रथमा तथा घोरा—इन शक्तियों का अर्चन करना चाहिये। उच्चाटन करने वाली शक्तियाँ तेजश्चक्र में रहती हैं। सौम्या, भीषणी, देवी, जया, विजया, अजिता, अपराजिता, महाकोटी, महारौद्री, शुष्ककाया, प्राणहरा—ये ग्यारह शक्तियाँ रस चक्र में रहती हैं॥३-९॥

विरूपाक्षी, परा, दिव्या, ११ आकाश-मातृकाएँ, संहारी, जातहारी, दंष्ट्राला, शुष्करना चाहियेवती, पिपीलिका, पुष्टिहरा, महापुष्टि, प्रवर्धना, भद्रकाली, सुभद्रा, भद्रभीमा, सुभद्रिका, स्थिरा, निष्ठुरा, दिव्या, निष्कम्पा, गदिनी और रेवती—ये बत्तीस मातृकाएँ कहे हुए चारों चक्रों (मारुत, वायु, रस, दिव्य) में आठ-आठ के क्रम से स्थित रहती हैं॥१०-१२॥

सूर्य तथा चन्द्रमा एक ही हैं तथा उनकी शक्तियाँ भी भूतभेद से एक-एक ही हैं। जिस प्रकार भूतल पर नदी के जल की स्थान भेद से 'तीर्थ' संज्ञा हो जाती है, शरीर के अस्थिपञ्जर में रहने वाला एक ही प्राण कई मण्डलों (चक्रों) से विभाजित हो जाता है। जिस प्रकार वाम तथा दक्षिण अंग के योग से वही वायु दस तरह का हो जाता

वामदक्षिणयोगेन दशधा सम्प्रवर्तते। वि (बि)न्दुमुण्डविचित्रं च तत्त्ववस्त्रेण वेष्टितम्।।१५।।
ब्रह्माण्डेन कपालेन पिबेत् परमामृतम्। पञ्चवर्गबलाद्युद्धे जपो भवति तच्छृणु।।१६।।
अआकचटतपयाः श आद्यो वर्ग ईरितः। इईखछठथफराः षो वर्गश्च द्वितीयकः।।१७।।
उऊगजडदबलाः सो वर्गश्च तृतीयकः। एऐघझढधभवा हो वर्गश्च चतुर्थकः।।१८।।
ओ औ अं अः, ङञणनमा मो वर्गः पञ्चमो भवेत्। वर्णाश्चाभ्युदये नृणां चत्वारिंशच्च पञ्च च।।१९।।
बालः कुमारो युवा स्याद् वृद्धो मृत्युश्च नामतः। आत्मपीडाशोषकः स्यादुदासीनश्च कालकः।।२०।।
कृत्तिका प्रतिपद्भौम आत्मनो लाभदः स्मृतः। षष्ठी भौमो मघा पीडा आर्द्रा चैकादशी कुजः।।२१।।
मृत्युर्मघा द्वितीया ज्ञो लाभश्चाऽऽर्द्रा च सप्तमी। बुधोऽहनि भरणीज्ञः श्रवणं काल ईदृशः।।२२।।
जीवो लाभाय च भवेत्तृतीया पूर्वफाल्गुनी। जीवोऽष्टमी धनिष्ठाऽऽर्द्रा जीवोऽश्लेषा त्रयोदशी।।२३।।
मृत्यौ शुक्रश्चतुर्थी स्यात् पूर्वभाद्रपदा श्रिये। पूर्वाषाढा च नवमी शुक्रः पीडाकरो भवेत्।।२४।।
भरणी भूतजा शुक्रो यमदण्डो हि हानिकृत्। कृत्तिका पञ्चमी मन्दो लाभाय तिथिरीरिता।।२५।।
आ (अ) श्लेषा दशमी मन्दो योगः पीडाकरो भवेत्। मघा शनिः पूर्णिमा च योगो मृत्युकरः स्मृतः।।२६।।

इति तिथियोगः (गाः)

है, वैसे ही वही वायु दस तरह का हो जाता है, वैसे ही वही वायु तत्त्वरूपी वस्त्र में छिपकर विचित्र बिन्दुरूपी मुण्ड के द्वारा कपालरूपी ब्रह्माण्ड के अमृत का पान करता है।।१३-१५।।

अधुना पञ्च वर्ग के बल से जिस तरह युद्ध में विजय होती है, उसको सुनो–'अ, आ, क, च, ट, त, प, य, श'–यह प्रथम वर्ग कहा गया है। 'इ, ई, ख, छ, ठ, थ, फ, र, ष'–यह द्वितीय वर्ग है। 'उ, ऊ, ग, ज, ड, द, ब, ल, स'–यह तृतीय वर्ग हैं। 'ए, ऐ, घ, झ, ढ, ध, भ, व, ह'–यह चौथा वर्ग है। 'ओ, औ, अं, अः, ङ, ञ, ण, न, म'–यह पञ्चम वर्ग है। ये पैंतालीस अक्षर मनुष्यों के अभ्युदय के लिये हैं। इन वर्गों के क्रम से बाल, कुमार, युवा, वृद्ध और मृत्यु–ये पाँच नाम हैं।।१६-१९।।

अधुना तिथि, वार और नक्षत्रों के योग से काल-ज्ञान का वर्णन करते हैं–आत्मपीड़, शोषक, उदासीन–ये तीन तरह के काल होते हैं। मंगलवार को प्रतिपदा तिथि तथा कृत्तिका नक्षत्र हों तो वे प्राणी के लिये लाभसम्प्रदायक होते हैं। मंगलवार को षष्ठी तिथि तथा मघा नक्षत्र में तो पीड़ाकारक होते हैं। मंगलवार को एकादशी तिथि और आर्द्रा नक्षत्र हों तो वे मृत्युसम्प्रदायक होते हैं। बुधवार, द्वितीया तिथि तथा मघा नक्षत्र का योग एवं बुधवार, सप्तमी तिथि और आर्द्रा नक्षत्र का योग लाभसम्प्रदायक होते हैं। बुधवार और भरणी नक्षत्र का योग हानिकारक होता है। इसी तरह बुधवार तथा श्रवण नक्षत्र के योग में 'कालयोग' होता है। बृहस्पतिवार, तृतीया तिथि और पूर्वाफाल्गुनी नक्षत्र का योग लाभकारक होता है। बृहस्पतिवार, अष्टमी तिथि, धनिष्ठा तथा आर्द्रा नक्षत्र एवं गुरुवार, त्रयोदशी तिथि, आश्लेषा नक्षत्र–ये योग मृत्युकारक होते हैं। शुक्रवार, चतुर्थी तिथि और पूर्वभाद्रपदा नक्षत्र का योग श्रीवृद्धि करता है। शुक्रवार, नवमी तिथि और पूर्वाषाढ़ा नक्षत्र–यह योग दुःखप्रद होता है। शुक्रवार, द्वितीया तिथि और भरणी नक्षत्र का योग यमदण्ड के समान हानिकर होता है। शनिवार, पञ्चमी तिथि और कृत्तिका नक्षत्र का योग लाभ के लिये कहा गया है। शनिवार, दशमी तिथि और आश्लेषा नक्षत्र का योग पीड़ाकारक होता है। शनिवार, पूर्णिमा तिथि और मघा नक्षत्र का योग मृत्युकारक कहा गया है।।२०-२६।।

पूर्वोत्तराग्निनैर्ऋत्यदक्षिणानिलचन्द्रगाः। ब्रह्माद्याः स्युर्दृष्टयः स्युः प्रतिपन्नवमीमुखाः॥२७॥
राशिभिः सहिता दृष्टा ग्रहाद्याः सिद्धये स्मृताः। मेषाद्याश्चतुरः कुम्भा जयः पूर्णेऽन्यथा मृतिः॥२८॥
सूर्यादि रिक्ता पूर्णा च क्रमादेवं प्रदापयेत्। रणे सूर्ये फलं नास्ति सोमे भङ्गः प्रशाम्यति॥२९॥
कुजेन कलहं विद्याद्बुधः कामाय वै गुरुः। जयाय मनसे शुक्रो मन्दे भङ्गो रणे भवेत्॥३०॥
देयानि पिङ्गलाचक्रे सूर्यगानि (णि) च भानि हि। मुखे नेत्रे ललाटेऽथ शिरोहस्तोरुपादके॥३१॥
पादे मृतिस्त्रिऋक्षे स्यात्त्रीणि पक्षेऽर्थनाशनम्। मुखस्थे च भवेत्पीडा शिरःस्थे कार्यनाशनम्॥३२॥
कुक्षिस्थिते फलं स्याच्च राहुचक्रं वदाम्यहम्। इन्द्राच्च नैर्ऋतं गच्छेन्नैर्ऋतात्सोममेव च॥३३॥
सोमाद्धुताशनं वह्नेरप्यामाप्याच्छिवालयम्। रुद्राद्यमं यमाद्वायुं वायोश्चन्द्रं ब्रजेत्पुनः॥३४॥
भुङ्क्ते चतस्रों नाड्य (डी) स्तुराहुः पृष्ठे जयो रणे। अग्रतो मृत्युमाप्नोति तिथिराहुं वदामि ते॥३५॥
आग्नेयादि शिवान्तं च पूर्णिमाम्पदितः प्रिये। पूर्वे कृष्णाष्टमीं यावद्राहुदृष्टौ जयो भवेत्॥३६॥

अधुना दिशा-तिथि-दिन के योग से हानि-लाभ कहते हैं—पूर्व, उत्तर, अग्नि, नैर्ऋत्य, दक्षिण, वायव्य, पश्चिम, ऐशान्य—ये इनमें से एक-दूसरे को देखते हैं। प्रतिपदा तथा नवमी आदि तिथियों में मेषादि राशियों के साथ ही रवि आदि वार को भी मिलाये। यह योग कार्यसिद्धि के लिये होता है। जिस प्रकार पूर्व दिशा, प्रतिपदा तिथि, मेष लग्न, रविवार—यह योग पूर्व दिशा के लिये युद्ध आदि कार्यों में सिद्धिसम्प्रदायक होता है। ऐसे और भी समझने चाहिये। मेष से चार राशियाँ अर्थात् मेष, वृष, मिथुन, कर्क, एवं कुम्भ—ये लग्न पूर्ण विजय के लिये होते हैं। शेष राशियाँ मृत्यु के लिये होती हैं। सूर्यादि ग्रह तथा रिक्ता, पूर्णा आदि तिथियों का इसी तरह क्रमशः न्यास करना चाहिये, जैसा कि पहले दिशाओं के साथ कहा गया है। सूर्य के सम्बन्ध से युद्ध में कोई श्रेष्ठतम फल नहीं होता। सोम का सम्बन्ध संधि के लिये होता है। मंगल के सम्बन्ध से कलह होता है। बुध के सम्बन्ध से संग्राम करने से अभीष्ट साधन की प्राप्ति हो जाती है। गुरु के सम्बन्ध से विजय लाभ होता है। शुक्र के सम्बन्ध से अभीष्ट सिद्ध होता है एवं शनि के सम्बन्ध युद्ध में पराजय होती है॥२७-३०॥

पिङ्गला (पक्षि) चक्र से शुभाशुभ कहते हैं—एक पक्षी का आकार लिखकर उसके मुख, नेत्र, ललाट, सिर, हस्त, कुक्षि, चरण तथा पंख में सूर्य के नक्षत्र से तीन-तीन नक्षत्र लिखे। पैर वाले तीन नक्षत्रों में रण करने से मृत्यु होती है तथा पंख वाले तीन नक्षत्रों में धन का विनाश होता है। मुख वाले तीन नक्षत्रों में पीड़ा होती है और सिरवाले तीन नक्षत्रों में कार्य का विनाश होता है। कुक्षिवाले तीन नक्षत्रों में कार्य का विनाश होता है॥ कुक्षि वाले तीन नक्षत्रों में रण करने से श्रेष्ठतम फल होता है॥३१-३२॥

अधुना राहुचक्र कहते हैं—पूर्व से नैर्ऋत्यकोण तक नैर्ऋत्य कोण से उत्तर दिशा तक, उत्तर दिशा से अग्निकोण तक, अग्निकोण पश्चिम तक पश्चिम से ईशान तक, ईशान से दक्षिण तक, दक्षिण से वायव्यकोण तक, वायव्यकोण से उत्तर तक चार-चार दण्ड तक राहु का भ्रमण होता है। राहु को पृष्ठ की तरफ रखकर रण करना विजय प्रद होता है तथा राहु के सम्मुख रहने से मृत्यु हो जाती है॥३३-३४॥

हे प्रिये! मैं आपसे अधुना तिथि-राहु का वर्णन करता हूँ—पूर्णिमा के बाद कृष्ण पक्ष की प्रतिपदा से अग्नि कोण से लेकर ईशान कोण तक अर्थात् कृष्ण पक्ष की अष्टमी तिथि तक राहु पूर्व दिशा में रहता है। उसमें युद्ध करने से जय होती है। इसी तरह ईशान से अग्नि कोण तक और नैर्ऋत्य कोण से वायव्यकोण तक राहु का भ्रमण होता रहता है। मेषादि राशियों को पूर्वादि दिशा में रखना चाहिये। इस तरह रखने पर मेष, सिंह, धनु राशियाँ पूर्व में; वृष,

ऐशान्याग्नेयनैर्ऋत्यवायव्ये फणिराहुकः। मेषाद्या दिशि पूर्वादौ यत्राऽऽदित्योऽग्रतो मृतिः।।३७।।
तृतीया कृष्णपक्षे तु सप्तमी दशमी तथा। चतुर्दशी तथा शुक्ले चतुर्थ्येकादशी तिथिः।।३८।।
पञ्चदशी विष्टयः स्युः पूर्णिमाऽऽग्नेयवायवे। अकचटतपयशा वर्गाः सूर्योदयो ग्रहाः।।३९।।
गृध्रोलूकश्येनकाश्च पिङ्गलः कौशिकः क्रमात्। सारसश्च मयूरश्च गोवत्सः पक्षिणः स्मृताः।।४०।।
आदौ साध्यो हुतो मन्त्र उच्चाटे पल्लवः स्मृतः। वश्ये ज्वरे तथाऽऽकर्षे प्रयोगः सिद्धिकारकः।।४१।।
शान्तौ प्रीतौ नमस्कारो वौषट्पुष्टौ वशादिषु। हुं मृत्यौ प्रीतिसंनाशे विद्वेषोच्चाटने च फट्।।४२।।
वषट्सुते च दीप्त्यादौ मन्त्राणां जातयश्च षट्। ओषधीः सम्प्रवक्ष्यामि महारक्षाविधायिनी।।४३।।
महाकाली तथा चण्डी वाराही चेश्वरी तथा। सुदर्शना तथेन्द्राणी गात्रस्था रक्षयन्ति तम्।।४४।।
बला चातिबला भीरुर्मुसली सहदेव्यपि। जाती च मल्लिका यूथी गारुडी भृङ्गराजकः।।४५।।
चक्ररूपा महौषध्यो धारिता विजयादिदाः। ग्रहणे च महादेवि उद्धृताः शुभदायिकाः।।४६।।
मृदा च कुञ्जरं कृत्वा सर्वलक्षणलक्षितम्। तस्य पादतले कृत्वा स्तम्भयेच्छत्रुमात्मनः।।४७।।
नासाग्रे चैकवृक्षे च वज्राहतप्रदेशके। वल्मीकमृदमाहत्य मातरौ योजयेत्ततः।।४८।।

कन्या, मकर–ये दक्षिण में; मिथुन, तुला, कुम्भ–ये पश्चिम में; कर्क, वृश्चिक, मीन–ये उत्तर में हो जाती है। सूर्य की राशि से सूर्य की दिशा जानकर सम्मुख सूर्य में रण करना मृत्युकारक होता है।।३५-३७।।

भद्रा की तिथि का निर्णय बताते हैं–कृष्ण पक्ष में तृतीया, सप्तमी, दशमी तथा चतुर्दशी को 'भद्रा' होती है। शुक्लपक्ष में चतुर्थी, एकादशी, अष्टमी और पूर्णिमा को 'भद्रा' होती है। भद्रा का निवास अग्नि कोण से वायव्य कोण तक रहता है। अ, क, च, ट, त, प, य, श–ये आठ वर्ग होते हैं, जिनके स्वामी क्रम से सूर्य, राहु, ग्रह होते हैं। इन ग्रहों के वाहन क्रम से गृध्र, उलूक, बाज, पिंगल, कौशिक (उलूक), सारस, मयूर, गोरंक नाम के पक्षी हैं। पहले हवन करके मन्त्रों को सिद्ध कर लेना चाहिये। उच्चाटन में मन्त्रों का प्रयोग पल्लव रूप से करना चाहिये।।३८-४०।।

वश्य, ज्वर एवं आकर्षण में पल्लव का प्रयोग सिद्धि कारक होता है। शान्ति तथा मोहन-प्रयोगों में 'नमः' कहना ठीक होता है। पुष्टि में तथा वशीकरण में 'व्रौषट्' में मारण तथा प्रीतिविनाश के प्रयोग में 'हुम्' कहना ठीक होता है। विद्वेषण तथा उच्चाट में 'फट्' कहना चाहिये। पुत्रादि प्राप्ति के प्रयोग में तथा दीप्ति आदि में 'वषट्' कहना चाहिये। इस तरह मन्त्रों की छः जातियाँ होती हैं।।४१-४२।।

अधुना हर तरह से रक्षा करने वाली औषधियों का वर्णन करने जा रहा हूँ–महाकाली, चण्डी, वाराही (वाराहीकंद), ईश्वरी, सुदर्शना, इन्द्राणी (सिंधुवार)–इनको शरीर में धारण करने से ये धारक की रक्षा करती हैं। बला (कुट), अतिबला (कंघी) भीरु (शतावरी अथवा कंटकारी), मुसली (तालमूली), सहदेवी, जाती (चमेली), मल्लिका (मोतिया), यूथी (जूही), गारुड़ी, भृङ्गराज (भटकटैया), चक्ररूपा–ये महौषधियाँ धारण करने से युद्ध में विजयदायिनी होती हैं। हे महादेवि! ग्रहण लगने पर उपरोक्त औषधियों का उखाडना शुभ सम्प्रदायक होता है।।४३-४६।।

हाथी के सर्वाङ्ग सम्पन्न मिट्टी की मूर्ति बनाकर, उसके पैर के नीचे शत्रु के स्वरूप को रखकर, स्तम्भन प्रयोग करना चाहिये। अथवा किसी पर्वत के ऊपर, जहाँ पर एक ही वृक्ष हो, उसके नीचे, अथवा जहाँ पर बिजली गिरी हो, उस प्रदेश में, वल्मीक की मिट्टी से एक स्त्री का प्रकृति बनाये। फिर '**ॐ नमो महाभैरवाय विकृतदंष्ट्रोग्ररूपाय पिंगलाक्षाय त्रिशूलखड्गधराय वौषट्।**' हे देवि! इस मन्त्र से उस मृत्तिकामयी देवी की पूजा करके (शत्रु) के शस्त्र

ॐ नमो महाभैरवाय विकृतदंष्ट्रोग्ररूपाय। पिङ्गलाक्षाय त्रिशूलखड्गधराय वौषट्।।४९।।
पूजयेत्कर्दमां देवीं स्तम्भयेच्छस्त्रजालकम्। अग्निकार्यं प्रवक्ष्यामि रणादौ जयवर्धनम्।।५०।।
श्मशाने निशि काष्ठाग्नौ नग्नो मुक्तशिखो नरः। दक्षिणास्यस्तु जुहुयान्नृमांसं रुधिरं विषम्।।
तुषास्थिखण्डमिश्रं तु शत्रुनाम्ना शताष्टकम्।।५१।।

ॐ नमो भगवति कौमारि लल लल लालय लालय घण्टादेवि, अमुकं मारय मारय सहसा
नमोऽस्तु ते भगवति विद्ये स्वाहा।।५२।।
अनया विद्यया होमान्धत्वं जायते रिपोः।।५३।।

ॐ वज्रकाय वज्रतुण्ड कपिल पिङ्गल करालवदनोर्ध्वकेश महाबल रक्तमुख तडिज्जिह्व महारौद्र दंष्ट्रोत्कट कह करालिन् महादृढप्रहार लङ्केश्वर सेतुबन्ध शैलप्रवाह गगनचर, एह्येहि भगवन्महावलपराक्रम भैरवो ज्ञापयति, एह्येहि महारौद्र दीर्घलाङ्गूलेन, अमुकं
वेष्टय वेष्टय जम्भय जम्भय खन खन वैते हूं फट्।।५४।।

अष्ट (ष्टा) त्रिंशच्छतं देवि हनुमान्सर्वकर्मकृत्। पठेह (द्ध) नुमत्संदेशाद्भङ्गमायान्ति शत्रवः।।५५।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते युद्धजयार्णवीयनानाचक्रप्रतिपादनं नाम पञ्चविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः।।१२५।।

—✽✽✽—
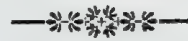
समूह का स्तम्भन करना चाहिये।।४७-४९।। अधुना संग्राम में विजय दिलाने वाले अग्निकार्य का वर्णन करने जा रहा हूँ–रात में श्यमशान में जाकर नंग-धड़ंग, शिखा खोलकर, दक्षिणमुख बैठकर जलती हुई चिता में मनुष्य का मांस, रुधिर, विष, भूसी और हड्डी के टुकड़े मिलाकर नीचे लिखे मन्त्र से आठ सौ बार शत्रु का नाम लेकर हवन करना चाहिये–'**ॐ नमो भगवति कौमारि लल लल लालय लालय घण्टादेवि! अमुकं मारय मारय सहसा नमोऽस्तु ते भगवति विद्ये स्वाहा।**'–इस विद्या से हवन करने पर शत्रु अंधा हो जाता है।।५०-५३।।

सभी तरह की सफलता के लिये हनुमान् जी का मन्त्र कहते हैं–'**ॐ वज्रकाय वज्रतुण्ड कपिलपिङ्गल करालवदनोर्ध्वकेश महाबल रक्तमुख तडिजिह्व महारौद्र दंष्ट्रोत्कट कटकरालिन् महादृढप्रहार लङ्केश्वरसेतुबन्ध शैलप्रवाह गगनचर, एह्येहि भगवन्महाबलपराक्रम भैरवो ज्ञापयति एह्येति महारौद्र दीर्घलाङ्गूलेन अमुकं वेष्टय वेष्टय जम्भय जम्भय खन खन वैते हूं फट्।**' हे देवि! इ मन्त्र को ३८०० बार जप कर लेने पर श्री हनुमान जी सभी तरह के कार्यों को सिद्ध कर देते हैं। कपड़े पर हनुमान् जी मूर्ति लिखकर दिखाने से शत्रुओंका विनाश होता है।।५४-५५।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी एक सौ पच्चीसवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।१२५।।

अथ षड्विंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

नक्षत्रनिर्णयः

ईश्वर उवाच

वक्ष्याम्यृक्षात्कं पिण्डं शुभाशुभविवृद्धये। यस्मिन्नृक्षे भवेत्सूर्यस्तदादौ त्रीणि मूर्धनि।।१।।
एकं मुखे द्वयं नेत्रे हस्तपादे चतुष्टयम्। हृदि पञ्च सुते जानौ आयुर्वृद्धिं विचिन्तयेत्।।२।।
शिरःस्थे तु भवेद्राज्यं पिण्डतो वक्त्रयोगतः। नेत्रयोः कान्तिसौभाग्यं हृदये द्रव्यसंग्रहः।।३।।
हस्ते धृतं तस्करत्वं गतासुरध्वगः पदे। कुम्भाष्टके भानि लिख्य सूर्यकुम्भस्तु रिक्तकः।।४।।
अशुभः सूर्यकुम्भः स्याच्छुभः पूर्वादिसंस्थितः। फणिराहुं प्रवक्ष्यामि जयाजयविवेकदम्।।५।।
अष्टाविंशल्लिखे (?) द्विन्दून्पुनर्भाज्यास्त्रिभिस्त्रिभिः। अथ ऋक्षाणि चत्वारि रेखास्तत्रैव दापयेत्।।६।।
यस्मिन्नृक्षे स्थितो राहुस्तदृक्षं फणिमूर्धनि। तदादि विन्यसेद्भानि सप्तविंशत्क्रमेण (?) तु।।७।।

अध्याय-१२६

नक्षत्र और उसका चक्र फल

देवाधिदेव भगवान् श्रीशिवशंकर जी ने कहा कि-हे देवि! अधुना मैं प्राणियों के शुभशुभ फल की जानकारी के लिये नाक्षत्रिक पिण्ड का वर्णन करने जा रहा हूँ। जिस राजा या मनुष्य के लिये शुभाशुभ फल का ज्ञान करना हो, उसकी प्रतिकृति रूप से एक मनुष्य का आकार बनाकर सूर्य जिस नक्षत्र में हों, उससे तीन नक्षत्र उसके मस्तक में एक मुख में, दो नेत्रों में, चार हाथ और पैर में, पाँच हृदय में और पाँच जानु में लिखकर आयु-वृद्धि का विचार करना चाहिये। सिर वाले नक्षत्रों में संग्राम (कार्य) करने से राज्य की प्राप्ति हो जाती है। मुख वाले नक्षत्र में सुख, नेत्र वाले नक्षत्रों में सुन्दर सौभाग्य, हृदयवाले नक्षत्रों में द्रव्यसंग्रह, हाथ वाले नक्षत्रों में चोरी और पैरवाले नक्षत्रों में मार्ग में ही मृत्यु-इस तरह क्रमशः फल होते हैं।।१-३।।

अधुना 'कुम्भ-चक्र' कह रहे हैं-आठ कुम्भ को पूर्वादि आठ दिशाओं में स्थापित करना चाहिये। प्रत्येक कुम्भ में तीन-तीन नक्षत्रों की स्थापना करने पर आठ कुम्भों में चौबीस नक्षत्रों का निवेश हो जाने पर नक्षत्र शेष रह जायेगे। इनको ही 'सूर्यकुम्भ' कहते हैं। यह सूर्यकुम्भ अशुभ होता है। शेष पूर्वादि दिशाओं वाले कुम्भ-सम्बन्धी नक्षत्र शुभ होते हैं। इसका उपयोग नाम-नक्षत्र से दैनिक नक्षत्र तक गिनकर उसी संख्या से करना चाहिये।।४।।

अधुना मैं संग्राम में जय-पराजय का विवेक सम्प्रदान करने वाले सर्पाकार राहुचक्र का वर्णन करने जा रहा हूँ। प्रथम अट्ठाईस बिन्दुओं को लिखे, उसमें तीन-तीन का विभाग कर दे, इस तरह आठ विभाग कर देने पर चौबीस नक्षत्रों का निवेश हो जायगा। चार शेष रह जायँगे। उस पर रेखा करना चाहिये। इस तरह करने पर 'सर्पाकार चक्र' बन जायगा। जिस नक्षत्र में राहु रहे, उसको सर्प के फण में लिखे। तत्पश्चात् उसी नक्षत्र से प्रारम्भ करके क्रमशः सत्ताईस नक्षत्रों का निवेश करना चाहिये।।५-७।।

वक्त्रे सप्तगत ऋक्षे म्रियते सर्व आह्वे। स्कन्धे भङ्गं वियानीयात्सप्तभेषु च मध्यतः॥८॥
उदरस्थेन पूजा च जयश्चैवाऽऽत्मनस्तथा। कटिदेशे स्थिते योध आहवे हरते परान्॥९॥
पुच्छस्थितेन कीर्तिः स्याद्राहुदृष्टे च भे मृतिः। पुनरन्यं प्र (त्यत्प्र) वक्ष्यामि रविराहुबलं तव॥१०॥
रविः शुक्रो बुधश्चैव सोमः सौरिर्गुरुस्तथा। लोहितः सैंहिकश्चैव एते यामर्धभागिनः॥११॥
सौरिं रविं च राहुं च कृत्वा यत्नेन पृष्ठतः। स जयेत्सैन्यसंघातं द्यूतमध्वानमाहवम्॥१२॥
रोहिणी चोत्तरास्त्रिस्रो मृगः पञ्चस्थिराणि हि। अश्विनी रेवती स्वाती धनिष्ठा शततारका॥१३॥
क्षिप्राणि पञ्च भान्येव यात्रार्थी चैव योजयेत्। अनुराधा हस्तमूलं मृगः पुष्यं पुनर्वसुः॥१४॥
सर्वकार्येषु चैतानि ज्येष्ठा चित्रा विशाखया। पूर्वास्तिस्रोऽग्निर्भरणी मघार्द्राश्लेषा दारुणाः॥१५॥
स्थावरेषु स्थिरं ह्यृक्षं यात्रायां क्षिप्रमुत्तमम्। सौभाग्यार्थे मृदून्येव उग्रेषूग्रं तु कारयेत्॥१६॥

सर्पाकार राहुचक्र का फल—मुख वाले सात नक्षत्रों में संग्राम करने से मरण होता है, स्कन्ध वाले सात नक्षत्रों में युद्ध करने से पराजय होती है, पेट वाले सात नक्षत्रों में युद्ध करने से सम्मान तथा विजय की प्राप्ति हो जाती है, कटिवाले नक्षत्रों में संग्राम करने से शत्रुओं का हरण होता है, पुच्छ वाले नक्षत्रों में संग्राम करने से कीर्ति होती है और राहु से दृष्ट नक्षत्र में संग्राम करने से मृत्यु होती है। इसके बाद फिर सूर्य से राहु तक ग्रहों के बल का वर्णन करने जा रहा हूँ॥८-१०॥

अर्धयामेश का वर्णन करते हैं—जिस प्रकार चार प्रहर का एक दिन होता है तो एक दिन में आठ अर्धप्रहर होंगे। यदि दिनमान बत्तीस दण्ड का हो, तो एक अर्ध प्रहर का मान चार दण्ड का होगा। दिनमान-प्रमाण में आठ से भाग देने पर जो लब्धि होगी, वही एक अर्धप्रहर का मान होता है। रवि आदि सात वारों में प्रत्येक अर्धप्रहर का कौन ग्रह स्वामी होगा। इस पर विचार करते हुए केवल रविवार के दिन प्रत्येक अर्धप्रहर के स्वामियों को बता रहे हैं। जिस प्रकार रविवार में एक से लेकर आठ अर्धप्रहरों के स्वामी क्रमशः सूर्य, शुक्र, बुध, सोम, शनि, गुरु, मंगल और राहु ग्रह होते हैं। इनमें जिस विभाग का स्वामी शनि होता है, वह समय शुभ कार्यों में त्याज्य है और उसको ही 'वारवेला' कहते हैं।

विशेष—रविवार के अर्धयामेशों को देखने से यह अनुमान होता है कि रविवार के अतिरिक्त जिस दिन का अर्धयामेश समझना हो, तो प्रथम अर्धयामेश तो दिनपति ही होगा और बाद के अर्धयामों के स्वामी छः संख्या वाले ग्रह होंगे।

शनि, सूर्य तथा राहु को यत्न से पीठ पीछे करके जो संग्राम करता है, वह सैन्यसमुदाय पर विजय प्राप्त करता है तथा जूआ, मार्ग और युद्ध में सफल होता है॥११-१२॥

नक्षत्रों की स्थिरादि संज्ञा तथा उसका प्रयोजन कहते हैं—रोहिणी, तीनों उत्तराएँ, मृगशिरा—इन पाँच नक्षत्रों की 'स्थिर' संज्ञा है। अश्विनी, रेवती, स्वाती, धनिष्ठा, शतभिषा—इन पाँचों नक्षत्रों की 'क्षिप्र' संज्ञा है। इनमें यात्रार्थी को यात्रा करनी चाहिये। अनुराधा, हस्त, मूल, मृगशिरा, पुष्य, पुनर्वसु—इनमें प्रत्येक कार्य हो सकता है। ज्येष्ठा, चित्रा, विशाखा, तीनों पूर्वाएँ, कृत्तिका, भरणी, मघा, आर्द्रा, आश्लेषा—इनकी 'दारुण' संज्ञा है। स्थिर कार्यों में स्थिर संज्ञा वाले नक्षत्रों को लेना चहिये। यात्रा में 'क्षिप्र' संज्ञक नक्षत्र श्रेष्ठतम माने गये हैं। मृदु संज्ञक नक्षत्रों में सौभाग्य का काम तथा 'उग्र' संज्ञक नक्षत्रों में उग्र काम करना चाहिये। 'दारुण' संज्ञक नक्षत्र दारुण (भयानक) काम के लिये उपयुक्त होते हैं॥१३-१६॥

दारुणे दारुणं कुर्याद्वक्ष्ये चाधोमुखादिकम्।
कृत्तिका भरण्या (ण्य)श्लेषा विशाखा पित्तनैर्ऋतम्।।१७।।
पूर्वात्रयमधोवक्त्रं कर्मं चाधोमुखं चरेत्। एषु कूपतडागादि विद्याकर्म भिषक्क्रिया।।१८।।
स्थापनं नौकाकूपादि विधानं खननं तथा। रेवती चाश्विनी चित्रा हस्तः स्वा (स्तस्वा) ती पुनर्वसुः।।१९।।
अनुराधा मृगो ज्येष्ठा नव वै पार्श्वतोमुखाः। एषु राज्याभिषेकं च पट्टबन्धं गजाश्वयोः।।२०।।
आरामगृहप्रासादं प्राकारं क्षेत्रतोरणम्। ध्वजचिह्नपताकाश्च सर्वानितांश्च कारयेत्।।२१।।
द्वादशी सूर्यदग्धा तु चन्द्रेणैकादशी तथा। भौमेन दशमी दग्धा तृतीया वै बुधेन च।।२२।।
षष्ठी च गुरुणा दग्धा द्वितीया भृगुणा तथा। सप्तमी सूर्यपुत्रेण त्रिपुष्करमथो वदे।।२३।।
द्वितीया द्वादशी चैव सप्तमी वै तृतीयया। रविर्भौमस्तथा सौरिः षडेतास्तु (ते तु) त्रिपुष्कराः।।२४।।
विशाखा कृत्तिका चैव उत्तरे द्वे पुनर्वसुः। पूर्वभाद्रपदा चैव षडेते तु त्रिपुष्कराः।।२५।।
लाभो हानिर्जयो वृद्धिः पुत्रजन्म तथैव च। नष्टं भ्रष्टं विनष्टं वा तत्सर्वं त्रिगुणं भवेत्।।२६।।
अश्विनी भरणी चैव अश्लेषा पुष्यमेव च। स्वातिश्चैव विशाखा च श्रवणं सप्तमं पुनः।।२७।।
एतानि दृढचक्षूंषि पश्यन्ति च दिशो दश। यात्रासु दूरगस्यापि आगमः पुण्यगोचरे।।२८।।
आषाढे रेवती चित्रा केकराणि पुनर्वसुः। एषु पञ्चसु ऋक्षेषु निर्गतस्याऽऽगमो भवेत्।।२९।।

अधुना अधोमुख, तिर्यङ्मुख आदि नक्षत्रों का नाम तथा प्रयोजन कह रहा हूँ—कृत्तिका, भरणी, आश्लेष, विशाखा, मघा, मूल, तीनों पूर्वाएँ—ये अधोमुख नक्षत्र हैं। इनमें अधोमुख कर्म करना चाहिये। उदाहरणार्थ कूप, तड़ाग, विद्याकर्म, चिकित्सा, स्थापन, नौका-निर्माण, कूपों का विधान, गड्ढा खोदना आदि कार्य इन्हीं अधोमुख नक्षत्रों में करना चाहिये। रेवती, अश्विनी, चित्रा, हस्त, स्वाती, पुनर्वसु, अनुराधा, मृगशिरा, ज्येष्ठा—ये नौ नक्षत्र तिर्यङ्मुख हैं। इनमें राज्याभिषेक, हाथी तथा घोड़े को पट्टा बाँधना, बाग लगाना, गृह तथा प्रासाद का निर्माण, प्राकार बनाना, क्षेत्र, तोरण, ध्वजा, पताका लगाना— इन सभी कार्यों को कना चाहिये। रविवार को द्वादशी, सोमवार को एकादशी मङ्गलवार को दशमी, बुधवार को तृतीया, बृहस्पतिवार को षष्ठी, शुक्रवार को द्वितीया, शनिवार को सप्तमी हो, तो 'दग्धयोग' होता है।।१७-२३।।

अधुना त्रिपुष्कर योग बतलाते हैं—द्वितीया, द्वादशी, सप्तमी—तीन तिथियाँ तथा रवि, मंगल, शनि—तीन वार—ये छः 'त्रिपुष्कर' हैं तथा विशाखा, कृत्तिका, दोनों उत्तराएँ, पुनर्वसु, पूर्वाभाद्रपदा—ये छः नक्षत्र भी 'त्रिपुष्कर' हैं। अर्थात् रवि, शनि, मंगलवारों में द्वितीया, सप्तमी, द्वादशी में से कोई तिथि हो तथा उपरोक्त नक्षत्रों में से कोई नक्षत्र हो, तो 'त्रिपुष्कर-योग' होता है। त्रिपुष्कर योग में लाभ, हानि, विजय, वृद्धि पुत्रजन्म, वस्तुओं का नष्ट एवं विनष्ट होना—ये सब त्रिगुणित हो जाते हैं।।२४-२६।।

अधुना नक्षत्रों की स्वक्ष, मध्याक्ष, मन्दाक्ष और अन्धाक्ष संज्ञा तथा प्रयोजन कहते हैं—अश्विनी, भरणी, आश्लेषा, पुष्य, स्वाती, विशाखा, श्रवण, पुनर्वसु—ये दृढ़ नेत्र वाले नक्षत्र हैं और दसों दिशाओं को देखते हैं। इनकी संज्ञा 'स्वक्ष' है। इनमें गयी हुई वस्तु तथा यात्रा में गया हुआ व्यक्ति विशेष पुण्य के उय होने पर ही लौटते हैं। दोनों आषाढ़ नक्षत्र, रेवती, चित्रा, पुनर्वसु—ये पाँच नक्षत्र, 'केकर' हैं, अर्थात् 'मध्याक्ष' हैं। इनमें गयी हुई वस्तु विलम्ब

कृत्तिका रोहिणी सौम्यं फल्गुनी मघा तथा। मूलं ज्येष्ठाऽनुराधा च घनिष्ठा शततारकाः।।३०।।
पूर्वभाद्रपदा चैव चिपिटानि च तानि हि। अध्वानं व्रजमानस्य पुनरेवाऽऽगमो भवेत्।।३१।।
हस्त उत्तरभाद्रश्च आर्द्राऽऽषाढा तथैव च। नष्टार्थाश्चैव दृश्यन्ते सङ्ग्रामो नैव विद्यते।।३२।।
पुनर्वक्ष्यामि गण्डान्तमृक्षमध्ये यथा स्थितम्। रेवत्यन्ते (न्तं) चतुष्कं तु अश्विन्यादि चतुष्टयम्।।३३।।
उभयोर्याममात्रं तु वर्जयेत्तत्प्रयत्नतः। अश्लेषान्ते मघादौ तु घटिकानां चतुष्टयम्।।३४।।
द्वितीयं गण्डमाख्यातं तृतीयं भैरवि शृणु। ज्येष्ठामूलभयोर्मध्य उग्ररूपं तु यामकम्।।३५।।
न कुर्याच्छुकर्माणि यदीच्छेदात्मजीवितम्। दारके जातकाले च म्रियेते पितृमातरौ।।३६।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते नक्षत्रनिर्णयप्रतिपादनं नाम षड्विंशत्यधिकशततमोऽध्यायः।।१२६।।

से मिलती है। कृत्तिका, रोहिणी, मृगशिरा, पूर्वाफाल्गुनी, मघा, मूल, ज्येष्ठा, अनुराधा, धनिष्ठा, शतभिषा, पूर्वाभाद्रपदा-ये नक्षत्र 'चिपिटाक्ष' अर्थात् 'मन्दाक्ष' हैं। इनमें गयी हुई वस्तु तथा मार्ग चलने वाला व्यक्ति कुछ ही विलम्ब में लौट आता है। हस्त, उत्तराभाद्रपदा, आर्द्रा, पूर्वाषाढा–ये नक्षत्र 'अन्धाक्ष' हैं। इनमें गयी हुई वस्तु शीघ्र मिल जाती है, कोई संग्राम नहीं करना पड़ता।।२७-३२।।

अधुना नक्षत्रों में स्थित 'गण्डान्त' का निरूपण करने जा रहा हूँ–रेवती के अन्त के चार दण्ड और अश्विनी के आदि के चार दण्ड 'गण्डान्त' होते हैं। इन दोनों नक्षत्रों का एक प्रहर शुभ कार्यों में प्रयत्नपूर्वक छोड़ देना चाहिये। आश्लेषा के अन्त का तथा मघा के आदि के चार दण्ड 'द्वितीय गण्डान्त' कहे गये हैं। हे भैरवि! अधुना 'तृतीय गण्डान्त' को सुनो–ज्येष्ठा तथा मूल के मध्य का एक प्रहर बहुत ही भयानक होता है। यदि व्यक्ति अपना जीवन चाहता हो, तो उसको इस काल में कोई शुभ कार्य नहीं करना चाहिये। इस समय में यदि बालक उत्पन्न हो, तो उसके माता-पिता जीवित नहीं रहते।।३३-३६।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी एक सौ छब्बीसवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।१२६।।

अथ सप्तविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

नानाबलानि

ईश्वर उवाच

विष्कम्भे घटिकास्तिस्त्रः शूले पञ्च विवर्जयेत्। षट्षड्गण्डेऽतिगण्डे च नव व्याघातवज्रयोः।।१।।
परिघे च व्यतीपात उभयोरपि तद्दिनम्। वैधृते (तौ) तद्दिनं चैव यात्रायुद्धादिकं त्यजेत्।।२।।
ग्रहैः शुभाशुभं वक्ष्ये देवि मेषादिराशितः। चन्द्रशुक्रौ च जन्मस्थौ वर्जितौ शुभदायकौ।।३।।
द्वितीयो मङ्गलोऽथार्कः सौरिश्चैव तु सैंहिकः। द्रव्यनाशमलाभं च आहवे भङ्गमादिशेत्।।४।।
सोमो बुधो भृगुर्जीवो द्वितीयस्थाः शुभावहाः। तृतीयस्थो यदा भानुः शनिभौमो भृगुस्तथा।।५।।
बुधश्चैवेन्दू राहुश्च सर्वे ते फलदा ग्रहाः। बुधशुक्रौ चतुर्थौ च शेषाश्चैव भयावहाः।।६।।
पञ्चमस्थो यदा जीवः शुक्रः सौम्यश्च चन्द्रमाः। ददेत चेप्सितं लाभं षष्ठे स्थाने शुभो रविः।।७।।
चन्द्रः सौरिर्मङ्गलश्च ग्रहा देवि स्वराशितः। बुधश्च शुभदः षष्ठे त्यजेत्षष्ठं गुरुं भृगुम्।।८।।
सप्तमोऽर्कः शनिर्भौमो राहुर्हान्यै सुखाय च। जीवो भृगुश्च सौम्यश्च ज्ञशुक्रौ चाष्टमौ शुभौ।।९।।
शेषा ग्रहास्तथा हान्यै ज्ञभृगू नवमौ शुभौ। शेषा हान्यै च लाभाय दशमौ भृगुभास्करौ।।१०।।
शनिर्भौमश्च राहुश्च चन्द्रः सौम्यः शुभावहः। शुभाश्चैकादशे सर्वे वर्जयेद्दशमं गुरुम्।।११।।

अध्याय-१२७

विविध बल कथन

देवाधिदेव भगवान् श्रीशिवशंकर जी ने कहा कि-'विष्कुम्भ योग' की तीन घड़ियाँ, 'शूल योग' की पाँच 'गण्ड' तथा 'अतिगण्ड योग' की छः 'व्याघात' तथा 'वज्र योग' की नौ घड़ियों को सभी शुभ कार्यों में छोड़ देना चाहिये। 'परिघ', 'व्यतीपात' और 'वैधृति' योगों में पूरा दिन त्याज्य बतलाया गया है। इन योगों में यात्रा-युद्धादि कार्य नहीं करने चाहिये।।१-२।।

हे देवि! अधुना मैं मेषादि राशि तथा ग्रहों के द्वारा शुभाशुभ का निर्णय बतलाता हूँ-जन्म-राशि के चन्द्रमा तथा शुक्र वर्जित होने पर ही शुभसम्प्रदायक होते हैं। जन्म-राशि तथा लग्न से दूसरे स्थान में सूर्य, शनि, राहु अथवा मंगल हो, तो प्राप्त द्रव्य का विनाश और अप्राप्त अलाभ होता है तथा युद्ध में पराजय होती है। चन्द्रमा, बुध, गुरु, शुक्र-ये दूसरे स्थान में शुभप्रद होते हैं। सूर्य, शनि, मंगल, शुक्र, बुध, चन्द्रमा, राहु-ये तीसरे गृह में हों तो शुभ फल देते हैं। बुध, शुक्र चौथे भाव में हों तो शुभ तथा शेष ग्रह भयसम्प्रदायक होते हैं। बृहस्पति, शुक्र, बुध, चन्द्रमा-

ये पञ्चम भाव में हों तो अभीष्ट लाभ की प्राप्ति कराते हैं। हे देवि! अपनी राशि से छठे भाव में सूर्य, चन्द्र, शनि, मङ्गल, बुध-ग्रह शुभ फल देते हैं; परन्तु छठे भाव का शुक्र तथा गुरु शुभ नहीं होता। सप्तम भाव के सूर्य, शनि, मङ्गल, राहु हानिकारक होते हैं तथा बुध, गुरु, शुक्र सुखसम्प्रदायक होते हैं। अष्टम भाव के बुध और शुक्र-शुभ तथा शेष ग्रह हानिकारक होते हैं। नवम भाव के बुध, शुक्र शुभ तथा शेष ग्रह अशुभ होते हैं। दशम भाव के शुक्र, सूर्य लाभकर होते हैं तथा शनि, मङ्गल, राहु, चन्द्रमा-बुध शुभकारक होते हैं। ग्यारहवें भाव में प्रत्येक ग्रह शुभ

बुधशुक्रौ द्वादशस्थौ शेषान्द्वादशागांस्त्यजेत्। अहोरात्रे द्वादश स्यू राशयस्तान्वदाम्यहम्।।१२।।
मीनो मेषोऽथ मिथुनं चतस्रो नाडयो (?) वृषः। षट्कषट्कर्कसिंहकन्याश्च तुलापञ्च च वृश्चिकः।।१३।।
धनुर्नक्रो घटश्चैव सूर्यगो राशिराद्यकः। चरास्थिरद्विस्वभावा मेषाद्याः स्युर्यथाक्रमम्।।१४।।
कुलीरो मकरश्चैव तुलामेषादयश्चराः। चरकार्यं जयं काममाचरेच्च शुभाशुभम्।।१५।।
स्थिरो वृषो हरिः कुम्भो वृश्चिकः स्थिरकार्यके। शीघ्रः समागमो नास्ति रोगार्तो नैव मुच्यते।।१६।।
मिथुनं कन्यका मीनो धनुश्च द्विस्वभावकः। द्विस्वभावाः शुभाश्चैते सर्वकार्येषु नित्यशः।।१७।।
यात्रा वाणिज्य सङ्ग्रामे विवाहे राजदर्शने। वृद्धिं जयं तथा लाभं युद्धे जयमवाप्नुयात्।।१८।।
अश्विनी त्रिंशत्ताराश्च (रा च) तुरगस्याऽऽकृतिर्यथा। यदत्र कुरुते वृष्टिमेकरात्रं प्रवर्षति।।
यमभे तु यदा वृष्टिः पक्षमेकं तु वर्षति।।१९।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते नानाबलवर्णनं नामसप्तविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः।।१२७।।
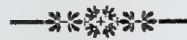
फल देता है, परन्तु दसवें बृहस्पति त्याज्य हैं। द्वादश भाव में बुध-शुक्र शुभ शेष ग्रह अशुभ होते हैं। एक दिन-रात में द्वादश राशियाँ भोग करती हैं। अधुना मैं उनका वर्णन कर रहा हूँ।।३-१२।।

राशियों को भोगकाल एवं चरादि संज्ञा तथा प्रयोजन कह रहे हैं—मीन, मेष, मिथुन—इनमें प्रत्येक के चार दण्ड; वृष, कर्क, सिंह, कन्या—इनमें प्रत्येक के छः दण्ड; तुला, वृश्चिक, धनु, मकर, कुम्भ—इनमें प्रत्येक के पाँच दण्ड भोगकाल हैं। सूर्य जिस राशि में रहते हैं, उसी का उदय होता है और उसी राशि से अन्य राशियों का भोगकाल प्रारम्भ होता है। मेषादि राशियों की क्रमशः 'चर', 'स्थिर' और 'द्विस्वभाव' संज्ञा होती है। जिस प्रकार—मेष, कर्क, तुला, मकर—इन राशियों की 'चर' संज्ञा हैं। इनमें शुभ तथा अशुभ स्थायी कार्य करने चाहिये। वृष, सिंह, वृश्चिक, कुम्भ-

इन राशियों की 'स्थिर' संज्ञा है। इनमें स्थायी कार्य करना चाहिये। इन लग्नों में बाहर गये हुए व्यक्ति से शीघ्र समागम नहीं होता तथा रोगी को शीघ्र रोग से मुक्ति नहीं प्राप्त होती। मिथुन, कन्या, धनु, मीन—इन राशियों की 'द्विस्वभाव' संज्ञा है। ये द्विस्वभाव सज्ञक राशियाँ प्रत्येक कार्य में शुभ फल देने वाली हैं। इनमें यात्रा, व्यापार, संग्राम, विवाह एवं राजदर्शन होने पर वृद्धि, जय तथा लाभ होते हैं और युद्ध में विजय होती है। अश्विनी नक्षत्र की बीस ताराएँ हैं और घोड़े के समान उसका आकार है। यदि इसमें वर्षा हो, तो एक रात तक घनघोर वर्षा होती है। यदि भरणी में वर्षा प्रारम्भ हो, तो पन्द्रह दिन तक लगातार वर्षा होती रहती है।।१३-१९।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी एक सौ सत्ताईसवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।१२७।।

❖❖❖

अथाष्टविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

कोटचक्रम्

ईश्वर उवाच

कोटचक्रं प्रवक्ष्यामि चतुरस्रं पुरं लिखेत्। चतुरस्रं पुनर्मध्ये तन्मध्ये चतुरस्रकम्।।१।।
नाडीत्रितयचिह्नाढ्यं मेषाद्याः पूर्वदिङ्मुखाः। कृत्तिका पूर्वभागे तु अश्लेषाऽऽग्नेयगोचरे।।२।।
भरणी दक्षिणे देया विशाखा नैर्ऋते न्यसेत्। अनुराधां पश्चिमे च श्रवणं वायुगोचरे।।३।।
धनिष्ठां चोत्तरे न्यस्य ऐशान्यां रेवती तथा। बाह्यनाड्यां स्थितान्येव अष्टौ ह्यृक्षाणि यत्नतः।।४।।
रोहिणी पुष्यफल्गुन्यः स्वाती ज्येष्ठा क्रमेण तु। अभिजिच्छततारा तु अश्विनी मध्यनाडिका।।५।।
कोटमध्ये तु या नाडी कथयामि प्रयत्नतः। मृगश्चाभ्यन्तरे पूर्वं तस्याऽऽग्नेये पुनर्वसुः।।६।।
उत्तराफाल्गुनी याम्ये चित्रानैर्ऋतसंस्थिता। मूलं तु पश्चिमे न्यस्योत्तराषाढां तु वायवे।।७।।
पूर्वभाद्रपदा सौम्ये रेवती ईश गाचरे। कोटस्याभ्यन्तरे नाडी ह्यृक्षाष्टकसमन्विता।।८।।
आर्द्राहस्तस्तथाऽऽषाढा चतुष्कं चोत्तरात्रिकम्। (मध्येस्तम्भचतुष्कं तु दद्यात्कोटस्य कोटरे।।९।।

अध्याय–१२८

कोटचक्र कथन

देवाधिदेव भगवान् श्रीशिवशंकर जी ने कहा कि–अधुना मैं 'कोटचक्र' का वर्णन करने जा रहा हूँ–पहले चतुर्भुज लिखे, उसके अन्दर दूसरा चतुर्भुज, उसके अन्दर तीसरा चतुर्भुज और उसको अन्दर चौथा चतुर्भुज लिखे। इस तरह लिख देने पर 'कोटचक्र' बन जाता है। कोटचक्र के अन्दर तीन मेखलाएँ बनती हैं, जिनका नाम क्रम से 'प्रथम नाड़ी' 'मध्यनाड़ी' और 'अन्तनाड़ी' है। कोटचक्र के ऊपर पूर्वादि दिशाओं को लिखकर मेषादि राशियों को भी लिख देना चाहिये। कोटचक्र में नक्षत्रों का न्यास कहते हैं–पूर्व भाग में कृत्तिका, अग्निकोण में आश्लेषा, दक्षिण में मघा, नैर्ऋत्य में विशाखा, पश्चिम में अनुराधा, वायुकोण में श्रवण, उत्तर में धनिष्ठा, ईशान में भरणी को लिखे। इस तरह लिख देने पर बाह्य नाड़ी में अर्थात् प्रथम नाड़ी में आठ नक्षत्र हो जायँगे। इसी तरह पूर्वादि दिशाओं के अनुसार रोहिणी, पुष्प, पूर्वाफाल्गुनी, स्वाती, ज्येष्ठा, अभिजित्, शतभिषा, अश्विनी–ये आठ नक्षत्र, मध्यनाड़ी में हो जाते हैं। कोट के अन्दर जो अन्तनाड़ी है, उसमें भी पूर्वादि दिशाओं के अनुसार पूर्व में मृगशिरा अग्निकोण में पुनर्वसु, दक्षिण में उत्तराफाल्गुनी, नैर्ऋत्य में चित्रा, पश्चिम में मूल, वायव्य में उत्तराषाढ़ा उत्तर में पूर्वाभाद्रपदा और ईशन में रेवती को लिखे। इस तरह लिख देने पर अन्तनाड़ी में भी आठ नक्षत्र हो जाते हैं। आर्द्रा, हस्त, पूर्वाषाढ़ा तथा उत्तराभाद्रपदा–ये चार नक्षत्र कोटचक्र के मध्य में स्तम्भ होते हैं। इस तरह चक्र को लिख देने पर बाहर का स्थान दिशा के स्वामियों का होता है। आगन्तुक योद्धा जिस दिशा में जो नक्षत्र है, उसी नक्षत्र में उसी दिशा से कोट में यदि प्रवेश करता है तो उसकी विजय होती है। कोट के मध्य में जो नक्षत्र हैं, उन नक्षत्रों में जिस समय शुभ ग्रह आये, तत्पश्चात् युद्ध करने से मध्यवाले की विजय तथा चढ़ाई करने वाले की पराजय होती है। प्रवेश करने वाले नक्षत्र में प्रवेश करना

एवं दुर्गस्य विन्यासं बाह्ये स्थानं दिशाधिपात्)। आगन्तुको यदा योद्धा ऋक्षवान्स्यात्फलान्वितः।।१०।।
कोटमध्ये ग्रहाः सौम्या यदा ऋक्षान्विताः पुनः। जयं मध्येस्थितानां तु भङ्गमागामिनो विदुः।।११।।
प्रवेशभे प्रवेष्टव्यं निर्गमभे च निर्गमे (च्छे) त्। भृगुः सौम्यस्तथा भौम ऋक्षान्तं सकलं यदा।।१२।।
तदा सिध्यति तद्दुर्ग न कुर्यात्तत्र विस्मयम्।।१३।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते कोटचक्रवर्णनं नामाष्टाविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः।।१२८।।

तथा निर्गमवाले नक्षत्र में निकलना चाहिये। शुक्र, मङ्गल और बुध–ये जिस समय नक्षत्र के अन्त में रहें, तत्पश्चात् यदि युद्ध प्रारम्भ किया जाय तो आक्रमणकारी का पराजय होती है। प्रवेश वाले चार नक्षत्रों में यदि युद्ध छेडा जाय तो वह दुर्ग वश में हो जाता है–इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है।।१-१३।।

विशेष–प्रथम नाड़ी के आठ नक्षत्र दिशा के नक्षत्र हैं, उन्हीं को 'बाह्य' भी कहते हैं। मध्य तथा अन्त नाड़ी वाले नक्षत्रों को कोट के मध्य का समझना चाहिये।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी एक सौ अट्ठाईसवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।१२८।।

❖❖❖

अथैकोनत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः

अर्घकाण्डम्

ईश्वर उवाच

(अर्घमानं प्रवक्ष्यामि उल्कापातोऽथ भूश्चला)। निर्घातो ग्रहणं वेशो दिशां दाहो भवेद्यदा।।१।।
लक्षयेन्मासि मास्येवं यद्येते स्युश्च चैत्रके। अलंकारादि संगृह्य षड्भिर्मासैश्चतुर्गुणम्।।२।।
वैशाखे चाष्टमे मासि षड्गुणम् सर्वसङ्ग्रहम्। ज्येष्ठे मासि तथाऽऽषाढ़े यवगोधूमधान्यकैः।।३।।
श्रावणे घृततैलाद्यैराश्विने वस्त्रधान्यकैः। कार्तिके धान्यकैः क्रीतैर्मासे स्यान्मार्गशीर्षके।।४।।
पुष्ये (पौषे) कुङ्कुमगन्धाद्यैर्लाभो धान्यैश्च माघके। गन्धाद्यैः फाल्गुने क्रीतैरर्घकाण्डमुदाहृतम्।।५।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गति अर्घकाण्डप्रतिपादनं नामैकोनत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः।।१२९।।

अध्याय-१२९

अर्घकाण्ड विचार

देवाधिदेव भगवान् श्रीशिवशंकर जी ने कहा कि-अधुना मैं वस्तुओं की मँहगी तथा सस्ती के सम्बन्ध में विचार प्रकट कर रहा हूँ। जिस समय कभी भूतल पर उल्कापात, भूकम्प, निर्घात (वज्रापात), चन्द्र और सूर्य के ग्रहण तथा दिशाओं में अधिक गरमी का अनुभव हो, तो इस बात का प्रत्येक मास में लक्ष्य करना चाहिये। यदि उपरोक्त लक्षणों में से कोई लक्षण चैत्र में हो, तो अलंकार-सामग्रियों (सोना-चाँदी आदि) का संग्रह करना चाहिये। वह छः मास के बाद चौगुने मूल्य पर बिक सकता है। यदि वैशाख में हो, तो वस्त्र, धान्य, स्वर्ण, घृतादि सब पदार्थों का संग्रह करना चाहिये। वे आठवें मास में छः गुने मूल्य पर बिकते हैं। यदि ज्येष्ठ तथा आषाढ़ मास में मिले तो जौ, गेहूँ और धान्य का संग्रह करना चाहिये। यदि श्रावण में मिले तो घृत-तैलादि रस-पदार्थों का संग्रह करना चाहिये। यदि आश्विन में मिले तो वस्त्र तथा धान्य दोनों का संग्रह करना चाहिये। यदि कार्तिक में मिले तो सभी तरह का अन्न खरीदकर रखना चाहिये। अगहन तथा पौष में यदि मिले तो कुङ्कुम तथा सुगन्धित पदार्थों से लाभ होता है। लाभ की अवधि छः या आठ मास समझनी चाहिये।।१-५।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी एक सौ उनतीसवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।१२९।।

❖❖❖

अथ त्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः

मण्डलादिकथनम्

ईश्वर उवाच

मण्डलानि प्रवक्ष्यामि चतुर्धा विजयाय हि। कृत्तिका च मघा पुष्यं पूर्वा चैव तु फल्गुनी॥१॥
विशाखा भरणी चैव पूर्वभाद्रपदा तथा। आग्नेयं मण्डलं भद्रे तस्य वक्ष्यामि लक्षणम्॥२॥
यद्यत्र चलते वायुर्वेष्टनं शशिसूर्ययोः। भूमिकम्पोऽथ निर्घातो ग्रहणं चन्द्रसूर्ययोः॥३॥
धूमज्वाला दिशां दाहः केतोश्चैव प्रदर्शनम्। रक्तवृष्टिश्चोपतापः पाषाणपतनं तथा॥४॥
नेत्रो रोगोऽतिसारश्च अग्निश्च प्रबलो भवेत्। स्वल्पक्षीरास्तथा गावः स्वल्पपुष्पफला द्रुमाः॥५॥
विनाशश्चैव शस्यानां स्वल्पवृष्टिं विनिर्दिशेत्। चतुर्विधाः प्रपीड्यन्ते क्षुधार्ता अखिला नराः॥६॥
सैन्धवा यामुनाश्चैव गुर्जरा भोजबाह्लिकाः। जालंधरं च काश्मीरं सप्तमं चोत्तरापथम्॥७॥
देशाश्चैते विनश्यन्ति तस्मिन्नुत्पातदर्शने। हस्तचित्रामघास्वाती मृगो वाऽथ पुनर्वसुः॥८॥
उत्तराफल्गुनी चैव अश्विनी च तथैव च। यदाऽत्र भवते किंचिद्वायव्यं तं वि (तद्वि) निर्दिशेत्॥९॥
नष्टभूताः प्रजाः सर्वा हाहाभूता विचेतसः। (डाहलः कामरूपंच (पश्च) कलिङ्गः कोशलस्तथा॥१०॥
अयोध्या च अवन्ती च नश्यन्ते (न्ति) कोङ्कणान्ध्रकाः। अश्लेषा चैव मूलं तु पूर्वाषाढा तथैव च॥११॥
रेवती वारुणं ह्यृक्षं तथा भाद्रपदोत्तरा। यदाऽत्र चलते किंचिद्वारुणं तं वि (तद्वि) निर्दिशेत्॥१२॥

अध्याय-१३०

मण्डल आदि विचार

देवाधिदेव भगवान् श्रीशिवशंकर जी ने कहा कि–हे भद्रे! अधुना मैं विजय के लिये चार तरह के मण्डल का वर्णन करने जा रहा हूँ। कृत्तिका, मघा, पुष्य, पूर्वाफाल्गुनी, विशाखा, भरणी, पूर्वाभाद्रपदा–इन नक्षत्रों का 'आग्नेय मण्डल' होता है, उसका लक्षण बतलाता हूँ। इस मण्डल में यदि विशेष वायु का प्रकोप हो, सूर्य चन्द्र का परिवेष लगे, भूकम्प हो, देश की क्षति हो, चन्द्र-सूर्य का ग्रहण हो, धूमज्वाला देखने में आये, दिशाओं में दाह का अनुभव होता हो, केतु अर्थात् पुच्छल तारा दिखायी पड़ता हो, रक्तवृष्टि हो, अधिक गर्मी का अनुभव हो, पत्थर पड़े, तो जनता में नेत्र का रोग, अतिसार (हैजा) और अग्निभय होता है। गायें दूध कम कर देती हैं। वृक्षों में फल-पुष्प कम लगते हैं। उपज कम होती है। वर्षा भी स्वल्प होती है। चारों वर्ण (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र) दुःखी रहते हैं। सारे मनुष्य भूख से व्याकुल रहते हैं। ऐसे उत्पातों के दीख पड़ने पर सिन्ध-यमुना की तलहटी, गुजरात, भोज, बाह्लीक, जालन्धर, काश्मीर और सातवाँ उत्तरापथ–ये देश विनष्ट हो जाते हैं। हस्त, चित्रा, मघा, स्वाती, मृगशिरा, पुनर्वसु, उत्तराफाल्गुनी, अश्विनी–इन नक्षत्रों का 'वायव्य मण्डल' कहा जाता है। इसमें यदि उपरोक्त उत्पात हों तो विक्षिप्त होकर हाहाकार करती हुई सारी प्रजाएँ नष्टप्राय हो जाती हैं। साथ ही डाहल (त्रिपुर), कामरूप, कलिङ्ग, कोशल, अयोध्या, उज्जैन, कोङ्कण तथा आन्ध्र–ये देश नष्ट हो जाते हैं। आश्लेषा, मूल, पूर्वाषाढा, रेवती, शतभिषा

बहुक्षीरघृता गावो बहुपुष्पफला द्रुमाः। आरोग्यं तत्र जायेत बहुशस्या च मेदिनी।।१३।।
धान्यानि च समर्घाणि सुभिक्षं पार्थिवं भवेत्। परस्परं नरेन्द्राणां सङ्ग्रामो दारुणो भवेत्।।१४।।
ज्येष्ठा च रोहिणी चैव अनुराधा च वैष्णवम्। धनिष्ठा चोत्तराषाढ़ा अभिजित् सप्तमं तथा।।१५।।
यदात्र चलते किञ्चिन्माहेन्द्रं तं वि (तद्वि) निर्दिशेत्। प्रजाः समुदितास्तस्मिन्सर्वरोगविवर्जिताः।।१६।।
सन्धिं कुर्वन्ति राजानः सुभिक्षं पार्थिवं शुभम्। ग्रासस्तु विविधो ज्ञेयो मुखपुच्छकरो महान्।।१७।।
चन्द्रो राहुस्तथाऽऽदित्य एकाराशौ यदि स्थितः। मुखग्रासस्तु विज्ञेयो जामित्रे पुच्छ उच्यते।।१८।।
भानोः पञ्चदशे ह्यृक्षे यदा चरति चन्द्रमाः। तिथिच्छेदे तु सम्प्राप्ते सोमग्रासं विनिर्दिशेत्।।१९।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते मण्डलादिकथनं नाम त्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः।।१३०।।
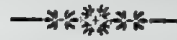
तथा उत्तराभाद्रपदा–इन नक्षत्रों को 'वारुण मण्डल' कहते हैं। इसमें यदि उपरोक्त उत्पात हों तो गायों में दूध-घी की वृद्धि और वृक्षों में पुष्प तथा फल अधिक लगते हैं। प्रजा आरोग्य रहती है। पृथ्वी धान्य से परिपूर्ण हो जाती है। अन्नों का भाव सस्ता तथा देश में सुकाल का प्रसार हो जाता है, परन्तु राजाओं में परस्पर घोर संग्राम होता रहता है।।१-१४।।

ज्येष्ठा, रोहिणी, अनुराधा, श्रवण, धनिष्ठा, उत्तराषाढ़ा, सातवाँ अभिजित्–इन नक्षत्रों का नाम 'माहेन्द्र मण्डल' है। इसमें यदि उपरोक्त उत्पात हों तो प्रजा प्रसन्न रहती है, किसी तरह के रोग का भय नहीं रह जाता। राजा लोग आपस में संधि कर लेते हैं और राजाओं के लिये हितकारक सुभिक्ष होता है।।१५-१६।।

'ग्राम' दो तरह का होता है–पहले का नाम 'मुखग्राम' है और दूसरे का नाम 'पुच्छग्राम' है। चन्द्र, राहु तथा सूर्य जिस समय एक राशि में हो जाते हैं, तत्पश्चात् उसको 'मुखग्राम' कहते हैं। राहु से सातवें स्थान को 'पुच्छग्राम' कहते हैं। राहु से सातवें स्थान को 'पुच्छग्राम' कहते हैं। सूर्य के नक्षत्र से पन्द्रहवें नक्षत्र में जिस समय चन्द्रमा आता है, उस समय तिथि-साधन के अनुसार 'सोमग्राम' होता है अर्थात् पूर्णिमा तिथि होती है।।१७-१९।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी एक सौ तीसवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।१३०।।

❖❖❖

अथैकत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः

घातचक्रादि

ईश्वर उवाच

प्रदक्षिणमकारादीन्स्वरान्पूर्वादितो लिखेत्। चैत्राद्यं भ्रमणाच्चक्रं प्रतिपत्पूर्णिमातिथिः॥१॥
त्रयोदशी चतुर्दशी अष्टम्येका च सप्तमी। प्रतिपत्त्रयोदश्यन्तास्तिथयो द्वादश स्मृताः॥२॥
चैत्रचक्रे तु संस्पर्शाज्जयलाभादिकं विदुः। विषमे तु शुभं ज्ञेयं समे चाशुभमीरितम्॥३॥
युद्धकाले समुत्पन्ने यस्य नाम ह्युदाहृतम्। मात्रारूढं तु यन्नाम आदित्यो गुरुरेव च॥४॥
जयस्तस्य सदाकालं सङ्ग्रामे चैव भीषणे। ह्रस्वनाम (मा) यदा योधो म्रियते ह्यनिवारितः॥५॥
प्रथमो दीर्घ आदिस्थो द्वितीयो मध्ये अन्तकः। (?) द्वौ मध्ये न प्रथमान्तौ जायेते (?) नात्र संशयः॥६॥
पुनश्चान्ते यदा चाऽऽदौ स्वरारूढं तु दृश्यते। ह्रस्वस्य मरणं विद्याद्दीर्घस्यैव जयो भवेत्॥७॥
नरचक्रं प्रवक्ष्यामि ह्यृक्षपिण्डात्मकं यथा। प्रतिमामालिखेत्पूर्वं पश्चादृक्षाणि विन्यसेत्॥८॥
शीर्षे त्रीणि मुखे चैकं द्वे ऋक्षे नेत्रयोर्न्यसेत्। वेदसंख्यानि हस्ताभ्यां कर्णऋक्षद्वयं पुनः॥९॥
हृदये भूतसंख्यानि षड्ऋक्षाणि तु पादयोः। नामऋक्षं स्फुटं कृत्वा चक्रमध्ये तु विन्यसेत्॥१०॥

अध्याय-१३१

घात चक्र आदि कथन

देवाधिदेव भगवान् श्रीशिवशंकर जी ने कहा कि–पूर्वादि दिशाओं में प्रदक्षिणक्रम से अकारादि स्वरों को लिखे। उसमें शुक्लपक्ष की प्रतिपदा, पूर्णिमा, त्रयोदशी, चतुर्दशी, केवल शुक्लपक्ष की एक अष्टमी (कृष्णपक्ष की अष्टमी नहीं), सप्तमी, कृष्ण पक्ष में प्रतिपदा से लेकर त्रयोदशी तक (अष्टमी को छोड़कर) द्वादश तिथियों का न्यास करना चाहिये। इस चैत्र-चक्र में पूर्वादि दिशाओं में स्पर्श-वर्णों को लिखने से जय-पराजय का तथा लाभ का निर्णय होता है। विषम दिशा, विषम स्वर तथा विषम वर्ण में शुभ होता है और सम दिशा आदि में अशुभ होता है।।१-३।।

अधुना युद्ध में जय-पराजय का लक्षण बतलाते हैं–युद्धारम्भ के समय सेनापति पहले जिसका नाम लेकर बुलाता है, उस व्यक्ति के नाम का आदि-अक्षर यदि 'दीर्घ' हो, तो उसकी घोर संग्राम में भी विजय होती है। यदि नाम का आदिवर्ण 'ह्रस्व' हो, तो निश्चय ही मृत्यु होती है। जिस प्रकार–एक सैनिक का नाम 'आदित्य' और दूसरे का नाम है 'गुरु'। इन दोनों में प्रथम के नाम के आदि में 'आ' दीर्घ स्वर है और दूसरे के नाम के आदि में 'उ' ह्रस्व स्वर है; इसलिये यदि दीर्घ स्वर वाले व्यक्ति को बुलाया जायगा तो विजय और ह्रस्व वाले को बुलानेपर हार तथा मृत्यु होगी।।४-७।।

अधुना 'नरचक्र' के द्वारा घाताङ्क का निर्णय करते हैं–नक्षत्र पिण्ड के आधार पर नरचक्र का वर्णन करने जा रहा हूँ। सर्वप्रथम एक मनुष्य के शरीर का आकार बनाना चाहिये। इसके बाद उसमें नक्षत्रों का न्यास करना चाहिये। सूर्य के नक्षत्र से नाम के नक्षत्र पर्यन्त गिनकर संख्या जानना चाहिये। पहले तीन को मनुष्य के सिर में, एक मुख में, दो नेत्र में, चार हाथ में, दो कर्ण में, पाँच हृदय में और छः पैरों में लिखना चाहिये। फिर नाम का स्पष्ट रूप से न्यास करना चाहिये। इस

नेत्रे शिरोदक्षकर्णे याम्यहस्ते च पादयोः। हृद्ग्रीवावामहस्ते तु पुनर्गुह्ये तु पादयोः।।११।।
यस्मिन्नृक्षे स्थितः सूर्यः सौरिभौमस्तु सैंहिकः। तस्मिन्स्थाने स्थिते विद्याद्घातमेव न संशयः।।१२।।
जयचक्रं प्रवक्ष्यामि आदिहान्तांश्च वै लिखेत्। रेखास्त्रयोदशाऽऽलिख्य षड्रेखास्तिर्यगालिखेत्।।१३।।
दिग्ग्रहा मुनयः सूर्या ऋत्विग्रुद्रस्तिथिः क्रमात्। मूर्छनास्मृतिवेदर्क्षजिना अकऽमा ह्यधः।।१४।।
आदित्याद्याःसप्तकृते नामान्ते बलिनो ग्रहाः। आदित्यसौरिभौमाख्या जये सौम्याश्च संधये।।१५।।
रेखा द्वादश चोद्धृत्य षट् च याम्यास्तथोत्तराः। मनुश्चैव तु ऋक्षाणि नेत्रे च रविमण्डलम्।।१६।।
तिथयश्च रस वेदा अग्निः सप्तदशाथ वा। वसुरन्ध्राः समाख्याता अकटपानधो न्यसेत्।।१७।।
एकैकमक्षरं न्यस्त्वा (स्य) शेषाण्येवं क्रमान्न्यसेत्। नामाक्षरकृतं पिण्डं वसुभिर्भाजयेत्ततः।।१८।।
वायसान्मण्डलेऽत्युग्रो मण्डलाद्रासभो वरः। रासभीद्वृषभः श्रेष्ठो वृषभात्कुञ्जरो वरः।।१९।।
कुञ्जराच्च पुनः सिंहा सिंहाच्चैव खरुर्वरः। खरोश्चैव बली धूम्र एवमादि बलाबलम्।।२०।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते घातचक्रादि वर्णनं नामैकत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः।।१३१।।

—***—

प्रकार लिखने पर नर के नेत्र, सिर, दाहिना कान, दाहिना हाथ, दोनों पैर, हृदय, ग्रीवा, बायां हाथ और गुह्याङ्ग में से जहाँ शनि, मंगल, सूर्य तथा राहु के नक्षत्र पड़ते हों, युद्ध में शरीर के उसी अंग में चोट लगती है।।८-१२।।

अधुना जयचक्र का निर्णय करते हैं–पूर्व से पश्चिम तक तेरह रेखाएँ बनाकर पुनः उत्तर से दक्षिण तक छः तिरछी रेखाएँ खींचे। इस तरह लिखने पर जयचक्र बन जायगा उसमें अ से ह तक अक्षरों को लिखे और १०/९/७/१२/४/११/१/२४/१८/४/२७/२४–इन अङ्कों का भी न्यास करना चाहिये। अङ्कों को ऊपर लिखकर अकारादि अक्षरों को उसके नीचे लिखे। शत्रु के नामाक्षर के स्वर तथा व्यञ्जन वर्ण के सामने जो अंक हों, उन सभी को जोड़कर पिण्ड बनाये। उसमें सात से भाग देने पर एक आदि शेष के अनुसार सूर्यादि ग्रहों का भाग जाने। एक शेष में सूर्य, दो में चन्द्र, तीन में भौम, चार में बुध, पाँच में गुरु छः में शुक्र, सात में शनि का भाग होता है–यों समझना चाहिये। जिस समय सूर्य, शनि और मङ्गल का भाग आये तो विजय होती है तथा शुभ ग्रह के भाग में संधि होती है।।१३-१५।।

अधुना द्वितीय जयचक्र का निर्णय करते हैं–पूर्व से पश्चिम तक द्वादश रेखाएँ लिखे और छः रेखाएँ याम्योत्तर करके लिखी जायँ। इस तरह यह 'जयचक्र' बन जायगा। उसके सर्वप्रथम ऊपर वाले कोष्ठ में १४/२७/२/१२/१५/६/४/३/१७/८/८–इन अङ्कों को लिखे और कोष्ठों में 'अकार' आदि स्वरों से लेकर 'ह' तक के अक्षरों का क्रमशः न्यास करना चाहिये। तत्पश्चात् नाम के अक्षरों द्वारा बने हुए पिण्ड में आठ से भाग दे तो एक आदि शेष के अनुसार वायस, मण्डल, रासभ, वृशभ, कुञ्जर, सिंह, खर, धूम्र–ये आठ शेषों के नाम होते हैं। इसमें वायस से प्रबल मण्डल और मण्डल से प्रबल रासभ–यों उत्तरोत्तर बली समझना चाहिये। संग्राम में यायी तथा स्थायी के नामाक्षर के अनुसार मण्डल बनाकर एक-दूसरे से बली तथा दुर्बल का ज्ञान करना चाहिये।।१६-२०।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी एक सौ इक्कतीसवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।१३१।।

❖❖❖

अथ द्वात्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः

सेवाचक्रादि

ईश्वर उवाच

सेवाचक्रं प्रवक्ष्यामि लाभालाभार्थसूचकम्। पिता माता तथा भ्राता दम्पती च विशेषतः॥१॥
तस्मिंश्चक्रे तु विज्ञेयं यो यस्माल्लभते फलम्। षडूर्ध्वाः स्थापयेद्रेखा भिन्नाश्चाष्टौ तु तिर्यगाः (ग्गाः)॥२॥
कोष्ठकाः पञ्चत्रिंशच्च तेषु वर्णान्समालिखेत्। स्वरान्पञ्च समुद्धृत्य स्पर्शान्पश्चात्समालिखेत्॥३॥
ककारादिहकारान्तान्हीनाङ्गांस्त्रीन्विवर्जयेत्। सिद्धः साध्यः सुसिद्धिश्च अरिर्मृत्युश्च नामतः॥४॥
अरिर्मृत्युश्च द्वावेतौ वर्जयेत्सर्वकर्मसु। (एषां मध्ये यदा नाम लक्षयेत्तु प्रयत्नतः॥५॥
आत्मपक्षे स्थिताः सत्त्वाः सर्वे ते शुभदायकाः। द्वितीयः पोषकश्चैव तृतीयश्चार्थदायकः॥६॥
आत्मनाशश्चतुर्थस्तु पञ्चमो मृत्युदायकः। स्थानमेवार्थलाभाय मित्रभृत्यादिबान्धवाः॥७॥
सिद्धः साध्यः सुसिद्धश्च सर्वे ते फलदायकाः। अरिर्मृत्युश्च द्वावेतौ वर्जयेत्सर्वकर्मसु)॥८॥

अध्याय–१ ३ २

सेवा चक्र आदि कथन

देवाधिदेव भगवान् श्रीशिवशंकर जी ने कहा कि–अधुना मैं सेवाचक्र' का प्रतिपादन कर रहा हूँ, जिससे सेवक को सेव्य से लाभ तथा हानि का ज्ञान होता है। पिता, माता तथा भाई एवं स्त्री–पुरुष–इन लोगों के लिये इसका विचार विशेष रूप से करना चाहिये। कोई भी व्यक्ति उपरोक्त व्यक्तियों में से किससे लाभ प्राप्त कर सकेगा–इसका ज्ञान वह उस 'सेवाचक्र' से कर सकेगा–इसका ज्ञान वह उस 'सेवाचक्र' से कर सकता है।।१–२।।

सेवाचक्र का स्वरूप वर्णन करते हैं–पूर्व से पश्चिम को छः रेखाएँ और उत्तर से दक्षिण को आठ तिरछी रेखाएँ खींचे। इस तरह लिखने पर पैंतीस कोष्ठ का 'सेवाचक्र' बन जायगा। उसमें ऊपर के कोष्ठों में पाँच स्वरों को लिखकर पुनः स्पर्श–वर्णों को लिखे। अर्थात् 'क' से लेकर 'ह' तक के वर्णों का न्यास करना चाहिये। उसमें तीन वर्णों (ङ, ञ, ण) को छोड़कर लिखे। नीचे वाले कोष्ठों में क्रम से सिद्ध, साध्य, सुसिद्ध, शत्रु तथा मृत्यु–इनको लिखे। इस तरह लिखने पर सेवा चक्र सर्वाङ्ग सम्पन्न हो जाता है। इस चक्र में शत्रु तथा मृत्यु नाम के कोष्ठ में जो स्वर तथा अक्षर हैं, उनका प्रत्येक कार्य में त्याग कर देना चाहिये। परन्तु सिद्ध, साध्य, सुसिद्ध, शत्रु तथा मृत्यु नाम वाले कोष्ठों में से किसी एक ही कोष्ठ में यदि सेव्य तथा सेवक के नाम का आदि–अक्षर पड़े तो वह सर्वथा शुभ है। इसमें द्वितीय कोष्ठ पोषक है, तृतीय कोष्ठ धनसम्प्रदायक है, चौथा कोष्ठ आत्मनाशक है, पाँचवाँ कोष्ठ मृत्यु देने वाला है। इस चक्र से मित्र, नौकर एवं बान्धव से लाभ की प्राप्ति के लिये विचार करना चाहिये। अर्थात् हम किससे मित्रता का व्यवहार करें। कि मुझको उससे लाभ हो तथा किसको नौकर रखें, जिससे लाभ हो एवं परिवार के किस व्यक्ति से मुझको लाभ होगा–इसका विचार इस चक्र से करना चाहिये। जिस प्रकार–अपने नाम का आदि–अक्षर तथा विचारणीय व्यक्ति के नाम का आदि–अक्षर सेवाचक्र के किसी एक ही कोष्ठ में पड़ जाय तो वह शुभ है, अर्थात् उस व्यक्ति से लाभ होगा–यह जाने। यदि पहले वाले तीन कोष्ठों में से किसी एक में अपने नाम का आदि–वर्ण पहले

अकारान्तं यथा प्रोक्तम् इ उ ए विदुस्तथा। पुनश्चैवांशकान्वक्ष्ये वर्गाष्टकसुसंस्कृतान्॥९॥
देवाः अकारवर्गे तु दैत्याः कवर्गमाश्रिताः। नागाश्चैव चवर्गाः (र्गे) स्युर्गन्धर्वाश्च टवर्गजाः॥१०॥
तवर्ग ऋषयः प्रोक्ता पवर्गे राक्षसाः स्मृताः। पिशाचाश्च यवर्गे च शवर्गे मानुषाः स्मृताः॥११॥
देवेभ्यो बलिनो दैत्या दैत्येभ्यः पन्नगास्तथा। पन्नगेभ्यश्च गन्धर्वा गन्धर्वादृषयो वराः॥१२॥
ऋषिभ्यो राक्षसाः शूरा राक्षसेभ्यः पिशाचकाः। पिशाचेभ्यो मानुषाः स्युर्दुर्बलं वर्जयेद्बली॥१३॥
पुनर्मैत्रविभागं तु ताराचक्रं क्रमाच्छृणु। नामाद्यक्षरमृक्षं तु स्फुटं कृत्वा तु पूर्वतः॥१४॥
ऋक्षे तु संस्थितास्तारा नवत्रिका यथाक्रमात्। जन्मसम्पद्विपत्क्षेमं नामार्क्षात्तारका इमाः॥१५॥
प्रत्यरा धनदा षष्ठी नैधनामैत्रके परे। परमै (त्रि) त्राऽन्तिमा तारा जन्मतारा तु शोभना॥१६॥
सम्पत्तारा महाश्रेष्ठा विपत्तारा तु निष्फला। क्षेमतारा सर्वकार्ये प्रत्यरा अर्थनाशिनी॥१७॥
धनदा राज्यलाभादि (य) नैधना कार्यनाशिनी। मैत्रतारा च मित्राय परमित्रा हितावहा॥१८॥

वाले तीन कोष्ठों (सि., सा., सु.) में से किसी एक में पड़े और विचारणीय व्यक्ति के नाम का आदि अक्षर चौथे तथा पाँचवें पड़े तो अशुभ होता है। चौथे तथा पाँचवें कोष्ठों में किसी एक में सेव्य के तथा दूसरे में सेवक के नाम का आदि वर्ण पड़े तो अशुभ ही होता है॥३-८॥

अधुना अकारादि वर्गो तथा ताराओं के द्वारा सेव्य सेवक का विचार कर रहे हैं–अवर्ग (अ इ उ ए ओ) का स्वामी देवता है, कवर्ग (क ख ग घ ङ) का स्वामी दैत्य है, च वर्ग (च छ ज झ ञ) का स्वामी नाग है, ट वर्ग (ट ठ ड ढ ण) का स्वामी गन्धर्व है, तवर्ग (त थ द ध न) का स्वामी ऋषि है, पवर्ग (प फ ब भ म) का स्वामी राक्षस है, यवर्ग (प फ ब भ म) का स्वामी राक्षस है, यवर्ग (य र ल व) का स्वामी पिशाच है, शवर्ग (श ष स ह) का स्वामी मनुष्य है। इनमें देवता से बली दैत्य है, दैत्य से बली सर्प है, सर्प से बली गन्धर्व है, गन्धर्व से बली ऋषि है, ऋषि से बली राक्षस है, राक्षस से बली पिशाच है और पिशाच से बली मनुष्य होता है। इसमें बली दुर्बल का त्याग करना चाहिये–अर्थात् सेव्य सेवक–इन दोनों के नामों के आदि अक्षर के द्वारा बली वर्ग तथा दुर्बल वर्ग का ज्ञान करके बली वर्ग वाले दुर्बल वर्ग वाले से व्यवहार न करें। एक ही वर्ग के सेव्य तथा सेवक के नाम का आदि वर्ण रहना श्रेष्ठतम होता है॥९-१३॥

अत्र मैत्री-विभाग-सम्बन्धी 'ताराचक्र' को सुनो। पहले नाम के प्रथम अक्षर के द्वारा नक्षत्र जान ले, फिर नौ ताराओं की तीन बार आवृत्ति करने पर सत्ताईस नक्षत्रों की ताराओं का ज्ञान हो जायगा। इस तरह अपने नाम के नक्षत्र का तारा जान लें। १ जन्म, २ सम्पत्, ३ विपत्, ४ क्षेम, ५ प्रत्यरि, ६ साधक, ७ वध, ८ मैत्र, ९ अतिमैत्र– ये नौ ताराएँ हैं। इनमें 'जन्म' तारा अशुभ, 'सम्पत्' तारा अति श्रेष्ठतम और 'विपत्' तारा निष्फल होती है। 'क्षेम' तारा को प्रत्येक कार्य में लेना चाहिये। 'प्रत्यरि' तारा से धन-क्षति होती है। 'साधक' तारा से राज्य-लाभ होता है। 'वध' तारा से कार्य का विनाश होता है। 'मैत्र' तारा मैत्री कारक है और 'अतिमैत्र' तारा हितकारक होती है।

विशेष प्रयोजन–जिस प्रकार सेव्य रामचन्द्र, सेवक हनुमान् –इन दोनों में भाव कैसा रहेगा, इसको जानने के लिये हनुमान् के नाम के आदि वर्ण (ह) के अनुसार पुनर्वसु नक्षत्र हुआ तथा राम के नाम के आदि वर्ण (रा) के अनुसार नक्षत्र चित्रा हुआ। पुनर्वसु से चित्रा की संख्या आठवीं हुई। इस संख्या के अनुसार 'मैत्र' नामक तारा हुई। इसलिये इन दोनों की मैत्री परस्पर कल्याकर होगी–यों समझना चाहिये॥१४-१८॥

ताराचक्रम्

मात्रा वै स्वरसंज्ञा स्यान्नाममध्ये क्षिपेत्प्रिये। विंशत्या च हरेद्भागं यच्छेषं तत्फलं भवेत्।।१९।।
उभयोर्नाममध्ये तु लक्षयेच्च धनं ह्यृणम्। हीनमात्रा ह्यृणं ज्ञेयं धनं मात्रादिकं पुनः।।२०।।
धनेन मित्रता नृणामृणेनैव ह्युदास (सि) ता। सेवाचक्रमिदं प्रोक्तं लाभालाभादिदर्शकम्।।२१।।
मेषमिथुनयोः प्रीतिर्मैत्री मिथुनसिंहयोः। तुलासिंहौ महामैत्री एवं धनुर्घटे पुनः।।२२।।
मित्रसेवां न कुर्वीत मित्रौ (त्रे) मीनवृषौ मतौ। वृषकर्कटयोर्मैत्री कुलीरघटयोस्तथा।।२३।।
कन्यावृश्चिकयोरेवं तथा मकरकीटयोः। मीनमकरयोर्मैत्री तृतीयैकादशे स्थिता।।२४।।
तुलामेषौ महामैत्री विद्विष्टो वृषश्चिकौ। मिथुनधनुषोः प्रीतिः तृतीयैकादशे स्थिता।।२४।।
मृगकुम्भकयोः प्रीतिः) कन्यामीनौ तथैव च।।२५।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते सेवाचक्रादिवर्णनं द्वात्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः।।१३२।।

अधुना तारा चक्र कहते हैं–हे प्रिये! नामाक्षरों के स्वरों की संख्या वर्णों की संख्या जोड़ देना चाहिये। उसमें बीस का भाग देना चाहिये। शेष से फल को जाने। अर्थात् स्वल्प शेष वाला व्यक्ति अधिक शेष वाले व्यक्ति से लाभ उठाता है। जिस प्रकार सेव्य राम तथा सेवक हनुमान्। इनमें सेव्य राम के नाम का र् = २। आ = २। म् = ५। अ = १। सभी का योग १० हुआ। इसमें २० से भाग दिया तो शेष १० सेव्य का हुआ तथा सेवक हनुमान् के नाम का ह् = ४। अ = १। न् = ५। उ = ५। म् = ५। आ = २। न् = ५। सभी का योग २७ हुआ। इसमें २० का भाग दिया तो शेष ७ सेवक का हुआ। यहाँ पर सेवक के शेष से सेव्य का शेष अधिक हो रहा है, इसलिये हनुमान् जी रामजी से पूर्ण लाभ उठायेंगे–ऐसा ज्ञान होता है।।१९।।

अधुना नामाक्षरों में स्वरों की संख्या के अनुसार लाभ-हानि का विचार करते हैं। सेव्य-सेवक दोनों के मध्य जिसके नामाक्षरों में अधिक स्वर हों, वह धनी है तथा जिसके नामाक्षरों में अल्प स्वर हों, वह ऋणी है। 'धन' स्वर मित्रता के लिये तथा 'ऋण' स्वर दासता के लिये होता है। इस तरह लाभ तथा हानि की जानकारी के लिये 'सेवाचक्र' कहा गया है। मेष-मिथुन राशि वालों में प्रीति, मिथुन-सिंह राशि वालों में मैत्री तथा तुला-सिंह राशि वालों में महामैत्री होती है; किंतु धनु कुम्भ राशि वालों में महामैत्री होती है। इसलिये इन दोनों को परस्पर सो नहीं करनी चाहिये। मीन-वृष, वृष-कर्क, कर्क-कुम्भ, कन्या-वृश्चिक, मकर वृश्चिक, मीन-मकर राशि वालों में मैत्री तथा मिथुन कुम्भ, तुला-मेष राशि वालों की परस्पर महामैत्री होती है। वृष-वृश्चिक में परस्पर में परस्पर वैर होता है। मिथुन-धनु, कर्क-मकर, मकर-कुम्भ, कन्या-मीन राशि वालों में परस्पर प्रीति रहती है। अर्थात् उपरोक्त दोनों राशि वालों में सेव्य-सेवक भाव तथा मैत्री-व्यवहार एवं कन्या वर का सम्बन्ध सुन्दर तथा शुभप्रद होता है।।२०-२६।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी एक सौ बत्तीसवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।१३२।।

❖❖❖

अथ त्रयस्त्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः

नाना बलानि

ईश्वर उवाच

गर्भजातस्य वक्ष्यामि क्षेत्राधिपस्वरूपकम्। नातिदीर्घः कृशः स्थूलः समाङ्गो गौरपैत्तिकः।।१।।
रक्ताक्षो गुणवाञ्शूरो गृहे सूर्यस्य जायते। सौभाग्यो (सुभगो) मृदुसारश्च जातश्चन्द्रगृहोदये।।२।।
वाताधिकोऽतिलुब्धादिर्जातो भूमिभुवो गृहे। बुद्धिमान्सुभगो मानी जातः सौम्यगृहोदये।।३।।
बृहत्क्रोधश्च सुभगो जातो गुरुगृहे नरः। त्यागी भोगी च सुभगो जातो भृगुगृहोदये।।४।।
बुद्धिमान्सुभगो मानी जातश्चाऽऽर्किगृहे नरः। सौम्यलग्ने तु सौम्यः स्यात्क्रूरः स्यात्क्रूरलग्नके।।५।।
दशाफलं गौरि वक्ष्ये नामराशौ तु संस्थितम्। गजाश्वधनधान्यानि राज्यश्रीर्विपुला भवेत्।।६।।
पुनर्धनागमश्चापि दशायां भास्करस्य तु। द्रव्यस्त्रीदा चन्द्रदशा भूमिलाभः सुखं कुजे।।७।।
भूमिर्धान्यं धनं बौधे गजास्वादिधनं गुरौ। खाद्यपानधनं शुक्रे शनौ व्याध्यादि संयुतः।।८।।
स्थानसेवा दिवाध्यानं वाणिज्यं राहुदर्शने। वामनाडीप्रवाहे स्यान्नाम चेद्विषमाक्षरम्।।९।।

अध्याय-१३३

नाना प्रकार बल विचार

देवाधिदेव भगवान् श्रीशिवशंकर जी ने कहा कि-अधुना सूर्यादि ग्रहों की राशियों में उत्पन्न हुए नवजात शिशु का जन्म-फल क्षेत्राधिप के अनुसार वर्णन करने जा रहा हूँ। सूर्य के गृह में अर्थात् सिंह लग्न में उत्पन्न बालक समकाय, कभी कृशाङ्ग, कभी स्थूलाङ्ग, गौरवर्ण, पित्त प्रकृति, लाल नेत्रों वाला, गुणवान् तथा वीर होता है। चन्द्र के गृह में अर्थात् कर्क लग्न का जातक भाग्यवान् तथा कोमल शरीर वाला होता है। मंगल के गृह में अर्थात् मेष तथा वृश्चिक लग्नों का जातक वातरोगी तथा अत्यन्त लोभी होता है। बुध के गृह में अर्थात् मिथुन तथा कन्या लग्नों का जातक बुद्धिमान्, सुन्दर तथा मानी होता है। गुरु के गृह में अर्थात् धनु तथा मीन लग्नों का जातक सुन्दर और अत्यन्त क्रोधी होता है। शुक्र के गृह में अर्थात् तुला तथा वृष लग्नों का जातक त्यागी, भोगी एवं सुन्दर शरीर वाला होता है। शनि के गृह में अर्थात मकर तथा कुम्भ लग्नों का जातक बुद्धिमान्, सुन्दर तथा मानी होता है। सौम्य लग्न का जातक सौम्य स्वभाव का तथा क्रूर लग्न का जातक क्रूर स्वभाव का होता है।।१-५।।

हे गौरि! अधुना नाम राशि के अनुसार सूर्यादि ग्रहों का दशा-फल कह रहा हूँ। सूर्य की दशा में हाथी, घोड़ा, धन-धान्य, प्रबल राज्यलक्ष्मी की प्राप्ति और धनागम होता है। चन्द्रमा की दशा में दिव्य स्त्री की प्राप्ति हो जाती है। मंगल की दशा में भूमिलाभ और सुख होता है। बुध की दशा में भूमिलाभ और सुख होता है। बुध की दशा में भूमिलाभ के साथ धन-धान्य की भी प्राप्ति हो जाती है। गुरु की दशा में घोड़ा, हाथी तथा धन मिलता है। शुक्र की दशा में खाद्यान्न तथा गोदुग्धादिपान के साथ धन का लाभ होता है। शनि की दशा में विविध तरह के रोग उत्पन्न होते हैं। राहु का दर्शन होने पर अर्थात् ग्रहण लगने पर निश्चित स्थान पर निवास, दिन में ध्यान और व्यापार का काम करना चाहिये।।६-८।।

यदि वास श्वास चलते समय नाम का अक्षर विषम संख्या का हो, तो वह समय मंगल शनि तथा राहु का

तदा जयति संग्रामे शनिभौमस (सु?) सैंहिकाः। दक्षनाडीप्रवाहेऽर्के वाणिज्ये (ज्यं) चैव निष्फलम्॥१०॥
संग्रामे जयमाप्नोति समनामा नरो ध्रुवम्। अधश्चारे जयं विद्यादूर्ध्वचारे रणे मृतिम्॥११॥

ॐ हूम्, ॐ ह्रम्, ॐ स्फेम्, अस्त्रं मोटय, ॐ चूर्णय चूर्णय, ॐ सर्वशत्रुं मर्दय मर्दय,
ॐ ह्रूम्, ॐ ह्रः फट्॥१२॥

सप्तवारं न्यसेन्मत्रं ध्यात्वाऽऽत्मानं तु भैरवम्। चतुर्भुजं दशभुजं विंशद्बाह्वात्मकं शुभम्॥१३॥
शूलखट्वाङ्गहस्तं तु खड्गकट्टारिकोद्यतम्। भक्षणं (कं) परसैन्यानामात्मसैन्यपराङ्मुखम्॥१४॥
सम्मुखं शत्रुसैन्यस्य शतमष्टोत्तरं जपेत्। जपाड्डमरुकाच्छब्दाच्छस्त्रं त्यक्त्वा पलायते॥१५॥
परसैन्यं (न्ये) श्रृणु भङ्गं प्रयोगेण पुनर्वदे। श्मशानाङ्गारमादाय विष्ठां चोलूककाकयोः॥१६॥
कर्पटे प्रतिमां लिख्य साध्यस्यैवाक्षरं यथा। नामाथ नवधाऽऽलिख्य रिपोश्चैव यथाक्रमम्॥१७॥
मूर्ध्नि वक्त्रे ललाटे च हृदये गुह्यपादयोः। पृष्ठे तु बाहुमध्ये तु नाम वै नवधा लिखेत्॥१८॥
मोटयेद्युद्धकालेतु उच्चरित्वा (समुच्चार्य) तु विद्यया। तार्क्ष्यचक्रं प्रवक्ष्यामि जयर्थं त्रिमुखाक्षरम्॥१९॥
क्षिप ॐ स्वाहा तार्क्ष्यात्मा शत्रुरोगविषादिनुत्। दुष्टभूतग्रहार्तस्य व्याधितस्याऽऽतुरस्य च॥२०॥
करोति यादृशं कर्म तादृशं सिध्यते खगात्। स्थावरं जङ्गमं चैव लूताश्च कृत्रिमं विषम्॥२१॥
तत्सर्वं नाशमायाति साधकस्यावलोकनात्। पुनर्ध्यायेन्महातार्क्ष्यं द्विपक्षं मानुषाकृतिम्॥२२॥

रहता है। उसमें युद्ध करने से विजय होती है। दक्षिण श्वास चलते समय यदि नाम का अक्षर सम संख्या का हो, तो वह समय सूर्य का रहता है। उसमें व्यापार-कार्य निष्फल होता है, परन्तु उस समय पैदल संग्राम करने से विजय होती है और सवारी पर चढ़कर युद्ध करने से मृत्यु होती है॥९-११॥

ॐ हूं, ॐ हूं, ॐ स्फें, अस्त्रं मोटय, ॐ चूर्णय, चूर्णय, ॐ सर्वशत्रु, मर्दय, मर्दय ॐ हूं, ॐ **ह्रः फट्।**–इस मन्त्र का सात बार न्यास करना चाहिये। फिर जिनके चार, दस तथा बीस भुजाएँ हैं, जो हाथों में त्रिशूल, खट्वाङ्ग, खड्ग और कटार धारण किये हुए हैं तथा जो अपनी सेना से विमुख और शत्रु सेना का भक्षण करने वाले हैं, उन भैरव जी का अपने हृदय में ध्यान करके शत्रु-सेना के सम्मुख कथित मन्त्र का एक सौ आठ बार जप करना चाहिये। जप के पश्चात् डमरू का शब्द करने से शत्रु-सेना शस्त्र त्यागकर भाग खड़ी होती है॥१२-१५॥

पुनः शत्रु-सेना की पराजय अन्य प्रयोग बतलाता हूँ। श्मशान के कोयले को काक या उल्लू की विष्ठा में मिलाकर उसी से कपड़े पर शत्रु की प्रतिमा लिखे और उसके सिर, मुख, ललाट, हृदय, गुह्य, पैर, पृष्ठ, बाहु और मध्य में शत्रु का नाम नौ बार लिखे। उस कपड़े को मोड़कर संग्राम के समय अपने पास रखने से तथा उपरोक्त मन्त्र पढ़ने से विजय होती है॥१६-१८॥

अधुना विजय प्राप्त करने के लिये त्रिमुखाक्षर 'तार्क्ष्यचक्र' को कह रहा हूँ। '**क्षिप्र ॐ स्वाहा तार्क्ष्यात्मा शत्रुरोगविषादिनुत्।**' इस मन्त्र को 'तार्क्ष्यचक्र' कहते हैं। इसके अनुष्ठान से दुष्टों की बाधा, भूत-बाधा एवं ग्रह-बाधा तथा अनेक तरह के रोग निवृत्त हो जाते हैं। इस 'गरुडमन्त्र' से जैसा कार्य चाहे, सब सिद्ध हो जाता है। इस मन्त्र के साधक का दर्शन करने से स्थावर-जंगम, लूता तथा कृत्रिम–ये सभी विष नष्ट हो जाते हैं॥१९-२१॥

पुनः महातार्क्ष्य का इस प्रकार ध्यान करना चाहिये–जिनकी आकृति मनुष्य की सी है, जो दो आँख और दो भुजा धारण करते हैं, जिनकी चोंच टेढ़ी है, जो सामर्थ्यशाली तथा हाथी और कछुए को पकड़ रखने वाले हैं,

द्विभुजं वक्रचञ्चुं च गजकूर्मधरं प्रभुम्। असंख्योरगपादस्थमागच्छन्तं खमध्यतः।।२३।।
ग्रसन्तं चैव खादन्तं तुदन्तं चाऽऽहवे रिपून्। चञ्च्वा हताश्च द्रष्टव्याः केचित्पादैश्च चूर्णिताः।।२४।।
पक्षपातैश्चूर्णिताश्च केचिन्नष्टा दिशो दश। तार्क्ष्यध्यानान्वितो यश्च त्रैलोक्ये ह्यजयो भवेत्।।२५।।
पिच्छिकां तु प्रवक्ष्यामि मन्त्रसाधनजां क्रियाम्।।२६।।

ॐ हरुं पक्षिन्क्षिप, ॐ हूं सः, महाबलपराक्रम सर्वसैन्यं भक्षय भक्षय, ॐ मर्दय मर्दय,
ॐ चूर्णय चूर्णय, ॐ विद्रावय विद्रावय, ॐ हूं खः, ॐ भैरवो ज्ञापयति स्वाहा।।२७।।
अमुं (स्य) चन्द्रग्रहणे तु जपं कृत्वा तु पिच्छिकाम्। मन्त्रयेद्भ्रामयेत्सैन्यं सम्मुखं गजसिंहयोः।।२८।।
ध्यानाद्द्रवान्मर्दयेच्च सिंहारूढो मृगाविकान्। शब्दाद्भङ्गं प्रवक्ष्यामि दूरं मन्त्रेण बोधयेत्।।२९।।
मातृणां चरकं दद्यात्कालरात्र्या विशेषतः। श्मशानभस्मसंयुक्तं मालती चामरी तथा।।
कर्पास मूलमात्रं तु तेन दूरं तु बोधयेत्।।३०।।
ॐ, अहे हे महेन्द्रि, अहे महेन्द्रि भञ्ज हि। ॐ जहि मसानं हि खाहि खाहि किलि किलि, ॐ हुं फट्।।३१।।
अरेर्नाशं दूरशब्दाज्जप्तया भङ्गविद्यया। अपराजिता च धत्तूरस्ताभ्यां तु तिलकेन हि।।३२।।
ॐ किलि किलि विकिलि, इच्छाकिलि भूतहनि शङ्खिनि, उमे दण्डहस्ते रौद्रि माहेश्वरि,
उल्कामुखि ज्वालामुखि शङ्कुकर्णे शुष्कजङ्घेऽलम्बुषे हर हर सर्वदुष्टान्खन खन,

---

जिनके पंजों में असंख्य सर्प उलझे हु हैं, जो आकाशमार्ग से आ रहे हैं और युद्धक्षेत्र में शत्रुओं को खाते हुए नोच-नोचकर निगल रहे हैं, कुछ शत्रु जिनकी चोंच से मारे हुए दीख रहे हैं, कुछ पंखों के आघात से चूर्ण हो गये हैं, किन्हीं का पंखों के प्रहार से कचूमर निकल गया है और कुछ नष्ट होकर दसों दिशाओं में भाग गये हैं। इस तरह जो साधक ध्यान-निष्ठ होगा, वह तीनों लोकों में अजेय होकर रहेगा, वह तीनों लोकों में अजेय होकर रहेगा अर्थात् उस पर कोई विजय नहीं प्राप्त कर सकता।।२२-२५।।

अधुना मन्त्र-साधन से सिद्ध होने वाली 'पिच्छिकाक्रिया' का वर्णन करने जा रहा हूँ-**ॐ हूं पक्षिन् क्षिप, ॐ हूं सः महाबलपराक्रम सर्वसैन्यं भक्षय भक्षय, ॐ मर्दय, ॐ चूर्णय चूर्णय, ॐ विद्रावय विद्रावय, ॐ हूं खः, ॐ भैरवो ज्ञापयति स्वाहा।**-इस 'पिच्छिका-मन्त्र' को चन्द्रग्रहण में जप करके सिद्ध कर लेने वाला साधक संग्राम में सेना के सम्मुख हाथी तथा सिंह को भी खदेड़ सकता है। मन्त्र के ध्यान से उनके शब्दों का मर्दन कर सकता है तथा सिंहारूढ़ होकर मृग तथा बकरी के समान शत्रुओं को मार सकता है।।२६-२८।।

दूर रहकर केवल मन्त्रोच्चारण से शत्रुनाश का उपाय कह रहे हैं-कालरात्रि (आश्विन शुक्लाष्टमी) में मातृकाओं को चरु सम्प्रदान करना चाहिये और श्मशान की भस्म, मालती-पुष्प, चामरी एवं कपास की जड़ के द्वारा दूसर से शत्रु को सम्बोधित करना चाहिये। सम्बोधित करने का मन्त्र निम्नलिखित है-

ॐ, अहे हे महेन्द्रि! अहे महेन्द्रि भञ्ज हि। ॐ जहि मसानं हि खाहि खाहि, किलि किलि, ॐ हूं फट्।-इस भङ्गविद्या का जप करके दूसरे से ही शब्द करने से, अपराजिता और धतूरे का रस मिलाकर तिलक करने से शत्रु का विनाश होता है।।२९-३२।।

ॐ किलि किलि विकिलि इच्छाकिलि भूतहनि शङ्खिनि, उमे दण्डहस्ते रौद्रि माहेश्वरि, उल्कामुखि ज्वालमुखि शङ्कुकर्णे शुष्कजङ्घे अलम्बुषे हर हर, सर्वदुष्टान् खन खन, ॐ यन्मान्निरीक्षयेद् देवि ताँस्तान्

ॐ यन्मां निरीक्षयेद्देवि तांस्तान्मोहय, ॐ रुद्रस्य हृदये स्थिता रौद्रि सौम्येन भावेनाऽऽत्मरक्षां ततः कुरु स्वाहा।।३३।।

बाह्यतो मातृः संलिख्य सकलाकृतिवेष्टिताः। नागपत्रे लिखेद्विद्यां सर्वंकामार्थसाधिनीम्।।३४।।
हस्ताद्यैर्धारिता पूर्वं ब्रह्मरुद्रेन्द्रविष्णुभिः। गुरुसंग्रामकाले तु विद्यया रक्षिताः सुराः।।३५।।
रक्षया नारसिंह्या च भैरव्या शक्तिरूपया। सर्वे (र्व) त्रैलोक्यमोहिन्या गौर्या देवासुरे रणे।।३६।।
बीजसम्पुटितं नाम कर्णिकायां दलेषु च। पूजाक्रमेण चाङ्गानि रक्षायन्त्रं स्मृतं शुभे।।३७।।
मृत्युञ्जयं प्रवक्ष्यामि नामसंस्कारमध्यगम्। कलाभिवेष्टितं पश्चात्सकारेण निबोधितम्।।३८।।
जकारं विन्दुसंयुक्तमोंकारेण समन्वितम्। धकारोदरमध्यस्थं वकारेण निबोधितम्।।३९।।
चन्द्रसम्पुटमध्यस्थं सर्वदुष्टविमर्दकम्। अथवा कर्णिकायां च लिखेन्नाम च कारणम्।।४०।।
पूर्वे दले तथोंकारं स्वदक्षे चोत्तरे लिखेत्। आग्नेयादौ च हूंकारदले षोडशके स्वरान्।।४१।।
चतुस्त्रिंशद्दले कद्यान्बाह्ये मन्त्रं च मृत्युजित्। लिखेद्वै भूर्जपत्रे तु रोचनाकुङ्कुमेन च।।४२।।
कर्पूरचन्दनाभ्यां च श्वेतसूत्रेण वेष्टयेत्। सिक्थकेन परिच्छाद्य कलशोपरि पूजयेत्।।४३।।
यन्त्रस्य धारणाद्रोगाः शाम्यन्ति रिपवो मृतिः। विद्यां तु भेलखीं वक्ष्ये विप्रयोगमृतेर्हरी (रा) म्।।४४।।

मोहय, ॐ रुद्रस्य हृदये स्थिता रौद्रि सौम्येन भावेन आत्मरक्षां ततः कुरु स्वाहा।–इस सर्वकार्यार्थसाधक मन्त्र को भोजपत्र पर वृत्ताकार लिखकर बाहर में मातृकाओं को लिखे। इस विद्या को पहले ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र तथा इन्द्र ने हाथ आदि में धारण किया था तथा इस विद्या द्वारा बृहस्पति ने देवासुर-संग्राम में देवताओं की रक्षा की थी।।३३-३५।।

अधुना रक्षायन्त्र का वर्णन करते हैं–रक्षारूपिणी नारसिंही, शक्तिरूपा भैरवी तथा त्रैलोक्यमोहिनी गौरी ने भी देवासुर संग्राम में देवताओं की रक्षा की थी। अष्टदल-कमल की कर्णिका तथा दलों में गौरी के बीज (ह्रीं) मन्त्र से सम्पुटित अपना नाम लिख देना चाहिये। पूर्व दिशा में रहने वाले प्रथमादि दलों में पूजा के अनुसार गौरी जी की अङ्ग-देवताओं का न्यास करना चाहिये। इस तरह लिखने पर शुभे! 'रक्षायन्त्र' बन जायगा।।३६-३७।।

अधुना इन्हीं संस्कारों के मध्य 'मृत्युञ्जय-मन्त्र' को कह रहा हूँ, जो सब कलाओं से परिवेष्टित है, अर्थात् उस मन्त्र से प्रत्येक कार्य का साधन हो सकता है, तथा जो सकार से प्रबोधित होता है। मन्त्र का स्वरूप कहते हैं–

ॐकार पहले लिखकर फिर बिन्दु के साथ जकार लिखे, पुनः धकार के पेट में वकार को लिखे, उसको चन्द्रबिन्दु से अंकित करना चाहिये। अर्थात् ॐ जं ध्वम्'–यह मन्त्र सभी दुष्टों का विनाश करने वाला है।।३८-३९।।

दूसरे 'रक्षायन्त्र' का उद्धार कहते हैं–गोरोचन-कुङ्कुम से अथवा मलयागिरि चन्दन कर्पूर से भोजपत्र पर लिखे हुए चतुर्दल कमल की कर्णिका में अपना नाम लिखकर चारों दलों में ॐकार लिखे। आग्नेय आदि कोणों में हूंकार लिखे। उसके ऊपर सोलह दलों का कमल बनाये। उसके दलों में अकारादि सोलह स्वरों को लिखे। फिर उसके ऊपर चौंतीस दलों का कमल बनाये। उसके दलों में 'क' से लेकर 'क्ष' तक अक्षरों को लिखे। उस यन्त्र को श्वेत सूत्र से वेष्टित करके रेशमी वस्त्र से आच्छादित कर, कलश पर स्थापन करके उसका पूजन करना चाहिये। इस यन्त्र को धारण करने से सभी रोग शान्त होते हैं एवं शत्रुओं का विनाश होता है।।४०-४३।।

अधुना 'भेलखी विद्या' को कह रहा हूँ, जो वियोग में होने वाली मृत्यु से बचाती है। उसका मन्त्रस्वरूप

आं (ॐ) वातले वितले विडालमुखि, इन्द्रपुत्रि, उद्भवो वायुदेवेन खीलि, आः, जी हाजा मयि वाह, इत्यादि, दुःखनित्यकण्ठोच्चैर्मुहूर्तान्वया, अह मां यस्महमुपाडि, ॐ भेलखि, ॐ स्वाहा।।४५।।
नवदुर्गासप्तजप्तान्मुखस्तम्भो मुखस्थितात्। ॐ चण्डि, ॐ हूं फट् स्वाहा।।४६।।
गृहीत्वा सप्तजप्तं तु खड्गयुद्धेऽपराजितः।।४७।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते युद्धजयार्णवे नानाबलवर्णनं नाम त्रयस्त्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः।।१३३।।

निम्नलिखित है–**'ॐ वातले वितले विडालमुखि इन्द्रपुत्रि उद्भवो वायुदेवेन खीलि आजी हाजा मयि वाह इहादिदुःखनित्यकण्ठोच्चैर्मुहूर्त्तान्वया अह मां यस्महमुपाडि ॐ भेलखि ॐ स्वाहा।'**

नवरात्र के अवसर पर इस मन्त्र को सिद्ध करके संग्राम के समय सात बार मन्त्र जप करने पर शत्रु का मुखस्तम्भन होता है।।४४-४६।।

'ॐ चण्डि, ॐ हूं फट् स्वाहा।'–इस मन्त्र को संग्राम के अवसर पर सात बार जपने से खड्ग युद्ध में विजय होती है।।४७-४८।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णाद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी एक सौ तैंतीसवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।१३३।।

❖❖❖

अथ चतुस्त्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः

त्रैलोक्यविजयविद्या

ईश्वर उवाच

त्रैलोक्यविजयां वक्ष्ये सर्वयन्त्रविमर्दिनीम्।।१।।

ॐ हूं क्षूं हूं, ॐ नमो भगवति दंष्ट्रिणि भीमवक्त्रे महोग्ररूपे हिलि हिलि रक्तनेत्रे किलि किलि महानिस्वने कुलु, ॐ निर्मांसे कट कट गोनसाभरणे चिलि चिलि शवमालाधारिणि द्रावय, ॐ महारौद्रि सार्द्रचर्मकृताच्छदे विजृम्भ, ॐ नित्यासिलताधारिणि भृकुटीकृतापाङ्गे विषमनेत्रकृतानने वसामेदो विलिप्तगात्रे कह कह, ॐ हस हस क्रुद्ध, क्रुद्ध, ॐ नीलजीमूतवर्णेऽभ्रभालाकृताभरणे विस्फुर, ॐ घण्टारवावकीर्णदेहे, ॐ सिंसिस्थेऽरुणवर्णे, ॐ ह्रां ह्रीं ह्रं रौद्ररूपे हूं ह्रीं क्लीम्, ॐ, ह्रीं ह्रूमोमाकर्ष, ॐ धून धून, ॐ हे हः खः, वज्रिणि भिन्द, ॐ महाकाये छिन्द ॐ करालिनि किटि किटि महाभूतमातः सर्वदुष्टनिवारिणि जये, ॐ विजये ॐ त्रैलोक्यविजये हूं फट् स्वाहा।।२।।

अध्याय-१३४

त्रैलोक्यविजया विद्या

भगवान् महेश्वर ने कहा कि–हे देवि! अधुना मैं समस्त यन्त्र मन्त्रों को नष्ट करने वाली 'त्रैलोक्यविजयाविद्या' का वर्णन करने जा रहा हूँ।।१।।

ॐ हूं क्षूं हूं, ॐ नमो भगवति दंष्ट्रिणि भीमवक्त्रे महोग्ररूपे हिलि हिलि, रक्तनेत्रे किलि किलि, महानिस्वने कुलु, ॐ विद्युज्जिह्वे कुलु ॐ निर्मांसे कट कट, गोनसाभरणे चिलि चिलि, शवमालाधारिणि द्रावय, ॐ महारौद्रि सार्द्रचर्मकृताच्छदे विजृम्भ, ॐ नृत्यासिलताधरिणि भ्रुकुटीकृतापाङ्गे विषमनेत्रकृतानने वसामेदोविलिप्तगात्रे कह कह, ॐ हस हस, क्रुध्य क्रुध्य, ॐ नीलजीमूतवर्णेऽभ्रमालाकृताभरणे विस्फुर, ॐ घण्टारवाकीर्णदेहे, ॐ सिंसिस्थेऽरुणवर्णे, ॐ ह्रां ह्रीं ह्रूं रौद्ररूपे हूं ह्रीं क्लीं, ॐ ह्रीं ह्र मोमाकर्ष, ॐ धून धून, ॐ हे हः स्वः खः, वज्रिणि हूं क्षूं क्षां क्रोधरूपिणि प्रज्वल प्रज्वल, ॐ भीमभीषणे भिन्द, ॐ महाकाये छिन्द, ॐ करालिनि किटि किटि, महाभूतमातः सर्वदुष्टनिवारिणि जये, ॐ विजये ॐ त्रैलोक्यविजये हूं फट् स्वाहा।।

ॐ हू क्षूं हूं, ॐ बड़ी-बड़ी दाढ़ों से जिनकी आकृति अत्यन्त भयंकर है, उन महोग्ररूपिणी भगवती को नमस्कार है। वे रणाङ्गण में स्वेच्छापूर्वक क्रीड़ा करें, कीडा करें। हे लाल नेत्रों वाली! किलकारी कीजिये, किलकारी कीजिये। भीमनादिनि कुलु। ॐ विद्युजिह्वे! कुलु। ॐ मांसहीने! शत्रुओं को आच्छादित कीजिये, आच्छादित कीजिये। भुजङ्गमालिनि! वस्त्राभूषणों से अलंकृत होइये, अलंकृत होइये। शवमालाविभूषिते! शत्रुओं को खदेड़िये। ॐ शत्रुओं के रक्त से सने हुए चमड़े के वस्त्र धारण करने वाली महाभयंकरि! अपना मुख खोलिये। ॐ! नृत्य-मुद्रा में तलवार धारण करने वाली!! टेढ़ी भौंहों से युक्त तिरछे नेत्रों से देखने वाली! विषम नेत्रों से विकृत मुख वाली!! आपने अपने अङ्गों में मज्जा और मेदा लपेट रखा है। ॐ अट्टहास कीजिये, अट्टहास कीजिये। हँसिये, हँसिये। क्रुद्ध होइये। ॐ

नीलवर्णां प्रेतसंस्थां विंशहस्तां यजेज्जये। न्यासं कृत्वा तु पञ्चाङ्गं रक्तपुष्पाणि होमयेत्।।
सङ्ग्रामे सैन्यभङ्गः स्यात्त्रैलोक्यविजयापठात्।।३।।

ॐ बहुरूपाय स्तम्भय स्तम्भय, ॐ मोहय, ॐ सर्वशत्रून्द्रावय, ॐ ब्रह्माणमाकर्षय विष्णुमाकर्षय, ॐ महेश्वरमाकर्षय, ओमिन्द्रं टालय, ॐ पर्वतांश्चालय, ॐ सप्तसागराञ्शोषय,
ॐ छिन्द च्छिन्द बहरूपाय नमः।।४।।
भुजङ्गं नाममृन्मूर्तिसंस्थं विद्यादरिं ततः।।५।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते युद्धजयार्णवीयत्रैलोक्यविजयविद्यावर्णनं नाम चतुस्त्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः।।१३४।।

—***—

नील मेघ के समान वर्ण वाली! मेघमाला को आभरण रूप में धारण करने वाली!! विशेष रूप से प्रकाशित होइये। ॐघण्टा की ध्वनि से शत्रुओं के शरीरों की धज्जियाँ उड़ा देने वाली! ॐ **सिंसिस्ति! रक्तवर्णे! ॐ ह्रां ह्रीं ह्रूं** रौद्ररूपे! **ह्रूं ह्रीं क्लीं ॐ ह्रीं ह्रूं** ॐ शत्रुओं का आकर्षण कीजिये, उनको हिला डालिये, कँपा डालिये। **ॐ हे हः खः वज्रहस्ते! ह्रूं क्षूं क्षां क्रोधरूपिणि!** प्रज्वलित होइये, प्रज्वलित होइये। ॐ महाभयंकर को डराने वाली! उनको चीर डालिये। ॐ विशाल शरीर वाली देवि! उनको काट डालिये। ॐ विशाल शरीर वाली देवि! उनको काट डालिये। ॐ करालरूपे! शत्रुओं को डराइये, डराइये। महाभयंकर भूतों की जननि! समस्त दुष्टों का निवारण करने वाली जये!! ॐ विजये!!! **ॐ त्रैलोक्यविजये ह्रूं फट् स्वाहा।।२।।**

विजय के उद्देश्य से नीलवर्णा, प्रेताधिरूढ़ा त्रैलोक्यविजया-विद्या की बीस तथा ऊँची प्रतिमा बनाकर उसका पूजन करना चाहिये। पञ्चाङ्गन्यास करके रक्तपुष्पों का हवन करना चाहिये। इस त्रैलोक्यविजया विद्या के पठन से समरभूमि में शत्रु की सेनाएँ पलायन कर जाती हैं।।३।।

ॐ नमो बहुरूपाय स्तम्भय स्तम्भ्य ॐ मोहय, ॐ सर्वशत्रून् द्रावय, ॐ ब्रह्माणमाकर्षय, टालय, ॐ पर्ततांश्चालय, ॐ सप्तसागराञ्शोषय, ॐ छिन्द च्छिन्द बहुरूपाय नमः।।

ॐ अनेक रूप को नमस्कार है। शत्रु का स्तम्भन कीजिये, स्तम्भन कीजिये। ॐ सम्मोहन कीजिये। ॐ सब शत्रुओं को खदेड़ दीजिये। ॐ ब्रह्मा का आकर्षण कीजिये। ॐ विष्णु का आकर्षण कीजिये। ॐ महेश्वर का आकर्षण कीजिये। ॐ इन्द्र को भयभीत कीजिये। ॐ पर्वतों को विचलित कीजिये। ॐ सातों समुद्रों को सुखा डालिये। ॐ काट डालिये, काट डालिये। अनेक रूप को नमस्कार है।।४।।

मिट्टी की मूर्ति बनाकर उसमें शत्रु को स्थित हुआ जाने, अर्थात् उसमें शत्रु के स्थित होने की भावना करनी चाहिये। उस मूर्ति में स्थित शत्रु का ही नाम भुजंग है; '**ॐ बहुरूपाय**' इत्यादि मन्त्र से अभिमन्त्रित करके उस शत्रु के विनाश के लिये कथित मन्त्र का जप करना चाहिये। इससे शत्रु का अन्त हो जाता है।।५।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी एक सौ चौतीसवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।१३४।।

❖❖❖

अथ पञ्चत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः

सङ्ग्रामविजयविद्या

ईश्वर उवाच

सङ्ग्रामविजयां विद्यां पदमालां वदाम्यहम्।।१।।

ॐ ह्रीं चामुण्डे श्मशानवासिनि खट्वाङ्गकपालहस्ते महाप्रेतसमारूढे महाविमानसमाकुले कालरात्रि महागणपरिवृते महामुखे बहुभुजे घण्टाडमरुकिङ्किणि (हस्ते), अट्टाट्टहासे किलि किलि, ॐ हूं फट्, दंष्ट्राघोरान्धकारिणी नादशब्दबहुले गजचर्मप्रावृतशरीरे मांसदिग्धे लेलिहानोग्रजिह्वे महाराक्षसि रौद्रदंष्ट्राकराले भीमाट्टाट्टहासे स्फुरद्विद्युत्प्रभे चल चल, ॐ चकोरनेत्रे चिलि चिलि, ॐ ललज्जिह्वे, ॐ भीं भृकुटिमुखि हुंकारभयत्रासनि कपालमालावेष्टितजटामुकुटशशाङ्कधारिणी, अट्टाट्टहासे किलि किलि, ॐ ह्रूं दंष्ट्राघोरान्धकारिणि सर्वविघ्नविनाशिनि, इदं कर्म साधय साधय, ॐ शीघ्रं कुरु कुरु, ॐ फट्, ओमङ्कुशेन शमय, प्रवेशय, ॐ रङ्ग रङ्ग कम्पय कम्पय, ॐ चालय, ॐ रुधिरमांसमद्यप्रिये हन हन, ॐ कुट्ट, ॐ छिन्द,

---

अध्याय-१३५

संग्रामविजया विद्या

भगवान् महेश्वर ने कहा कि–देवि! अधुना मैं संग्राम में विजय दिलाने वाली विद्या (मन्त्र) का वर्णन करने जा रहा हूँ, जो पदमाला के रूप में है।।१।।

ॐ ह्रीं चामुण्डे श्मशानवासिनि खट्वाङ्गकपालहस्ते महाप्रेतसमारूढे महाविमानसमाकुले कालरात्रि महागणपरिवृते महामुखे बहुभुजे घण्टाडमरुकिङ्किणि (हस्ते), अट्टाट्टहा से किलि किलि, ॐ हूं फट्, दंष्ट्राघोरान्धकारिणि नादशब्दबहुले गजचर्मप्रावृतशरीरे मांसदिग्धे लेलिहानोग्रजिह्वे महाराक्षसि रौद्रदंष्ट्राकराले भीमाट्टाट्टहासे स्फुरद्विद्युत्प्रभे चल चल, ॐ चकोरनेत्रे चिलि चिलि, ॐ ललंज्जिह्वे, ॐ भीं भुकुटीमुखि हुंकारभयत्रासनि कपालमालावेष्टितजटामुकुटशशङ्कधारिणि, अट्टाट्टहासे किलि किलि, ॐ हूं द्रष्टाघोरान्धकारिणि, सर्वविघ्नविनाशिनि, इदं कर्म साधय साधय, ॐ शीघ्रं कुरु कुरु, ॐ फट्, ओमङ्कुशेन शमय, प्रवेशय, ॐ रङ्ग रङ्ग, कम्पय कम्पय, ॐ चालय, ॐ छिन्द, ॐ मारय, ओमनुक्रमय, ॐ वज्रशरीरं पातय, ॐ त्रैलोक्यगतं दुष्टमदुष्टं वा गृहीतमगृहीतं वाऽऽवेशय, ॐ नृत्य, ॐ वन्द, ॐ कोटराक्ष्यूर्ध्वकेश्युलूकवदने करङ्किणि, ॐ करङ्कमालाधरिणि दह, ॐ पच पच, ॐ गृह्ण, ॐ मण्डलमध्ये प्रवेशय, ॐ किं विलम्बसि ब्रह्मसत्येन विष्णुसत्येन रुद्रसत्येनर्षिसत्येनावेशय, ॐ किलि किलि, ॐ खिलि खिलि, विलि विलि, ॐ विकृतरूपधारिणि कृष्णभुजंगवेष्टितशरीरे सर्वग्रहावेशिनि प्रलम्बौष्ठिनि भ्रूभङ्गलग्ननासिके विकटमुखि कपिलजटे ब्राह्मि भञ्ज, ॐ ज्वालामुखि स्वन, ॐ पातय, ॐ रक्ताक्षि घूर्णय, भूमि पातय, ॐ शिरो गृह्ण, चक्षुर्मीलय, ॐ हस्तपादौ गृह्ण, मुद्रां स्फोटय, ॐ फट्, ॐ विदारय, ॐ त्रिशूलेन च्छेदय, ॐ वज्रेण हन,

ॐ दण्डेन ताडय ताडय, ॐ चक्रेण च्छेदय च्छेदय, ॐ शक्त्या भेदय, दंष्ट्रया कीलय, ॐ

ॐ मारय, ओमनुक्रमय, ॐ वज्रशरीरं पातय, ॐ त्रैलोक्यगतं दुष्टमदुष्टं वा गृहीतमगृहीतं वाऽऽवेशय, ॐ नृत्य, ॐ वन्द, ॐकोटराक्ष्यूर्ध्वकेश्युलूकवदने करङ्किणि दह, ॐ पच पच, ॐ गृह्ण, ॐ मण्डलमध्ये प्रवेशय, ॐ किं विलम्बसि ब्रह्मसत्येन विष्णुसत्येन रुद्रसत्येनर्षिसत्येनाऽऽवेशय, ॐ किलि किलि ॐ खिलि खिलि विलि विलि, ॐ विकृतरूपधारिणि कृष्णभुजङ्गवेष्टितशरीरे सर्वग्रहावेशनि प्रलम्बौष्ठिनि भ्रू भङ्गलग्ननासिके विकटमुखि कपिलजटे ब्राह्मि भञ्ज, ॐ ज्वालामुखि स्वन, ॐ पातय, ॐ रक्ताक्षि घूर्णय भूमिं पातय, ॐ शिरो गृह्ण चक्षुर्मीलय, हस्तपादौ गृह्ण मुद्रां स्फोटय, ॐ फट्, ॐ विदारय, ॐ त्रिशूलेन च्छेदय, ॐ वज्रेण हन, ॐ दण्डेन ताडय ताडय, ॐ चक्रेण च्छेदय च्छेदय, ॐ शक्तया भेदय दंष्ट्रया कीलय, ॐ कर्णिकया पाटय, ओमङ्कुशेन गृह्ण, ॐ शिरोक्षिज्वरमैकाहिकं द्व्याहिकं त्र्याहिकं चातुर्थिकं डाकिनीस्कन्दग्रहान्मुञ्च मुञ्च, ॐ पच, ओमुत्सादय, ॐ भूमि पातय, ॐ गृह्ण, ॐ ब्रह्माण्येहि, ॐ माहेश्वर्येहि (ॐ) कौमार्येहि ॐ वैष्णव्येहि, ॐ वाराह्येहि, ओमैन्द्र्येहि, ॐ चामुण्ड एहि, ॐ रेवत्येहि, ओमाकाशरेवत्येहि,

---

कर्णिकया पाटय, ओमङ्कुशेन गृह्ण, ॐ शिरोऽक्षिज्वरमेकाहिकं द्व्याहिकं त्र्याहिकं चातुर्थिकं डाकिनिस्कन्दग्रहान् मुञ्च मुञ्च, ॐ पच, ओमुत्सादय, ॐ भूमिं पातय, ॐ पच, ओमुत्सादय, ॐ भूमिं पातय, ॐ गृह्ण, ॐ ब्रह्माण्येहि, ॐ माहेश्वर्येहि, (ॐ) कौमार्येहि, ॐ वैष्णव्येहि, ॐ वाराह्येहि, ओमैन्द्र्येहि, ॐ चामुण्ड एहि, ॐ रेवत्येहि, ओमाकाशरेवत्येहि, ॐ हिमवच्चारिण्येहि, रुरुमर्दिन्यसुरक्षयंकर्याकाशगामिनि पाशेन बन्ध बन्ध, अङ्कुशेन कट कट, समये तिष्ठ, ॐ मण्डलं प्रवेशय, ॐ गृह्ण, मुखं बन्ध, ॐ चक्षुर्बन्ध हस्तपादौ च बन्ध, दुष्टग्रहान् सर्वान् बन्ध, ॐ दिशो बन्ध, ॐ विदिशो बन्ध, अधस्ताद्बन्ध, ॐ सर्वं बन्ध, ॐ भस्मना पानीयेन वा मृत्तिकया सर्षपैर्वा सर्वानावेशय, ॐ पातय, ॐ चामुण्डे किलि किलि, ॐ विच्चे हुं फट् स्वाहा।।

ॐ ह्रीं चामुण्डे देवि! आप श्मशान में वास करने वाली हैं। आपके हाथ में खट्वाङ्ग और कपाल शोभा पाते हैं। आप महान् प्रेतपर आरूढ़ हैं। आप बड़े-बड़े विमानों से घिरी हुई हैं। आप ही कालरात्रि हैं। बड़े-बड़े पार्षदगण आपको घेरकर खड़े हैं। आपका मुख विशाल है। भुजाएँ बहुत हैं। घण्टा, डमरू और घुँघरू बजाकर विकट अट्टहास करने वाली देवि! क्रीड़ा कीजिये, क्रीड़ा कीजिये। **ॐ हूं फट्।** आप अपनी दाढ़ी से घोर अन्धकार प्रकट करने वाली हैं। आपका गम्भीर घोष और शब्द अधिक मात्रा में अभिव्यक्त होता है। आपका विग्रह हाथी के चमड़े से ढका हुआ है।

शत्रुओं के मांस से परिपुष्ट हुई देवि! आपकी भयानक जिह्वा लपलपा रही है। महाराक्षसि! भयंकर दाढ़ों के कारण आपकी आकृति बड़ी विकराल दिखायी देती है। आपका अट्टहास बड़ा भयानक है। आपकी कान्ति चमकती हुई बिजली के समान है। आपकी कान्ति चमकती हुई बिजली के समान है। आप संग्राम में विजय दिलाने के लिये चलिये, चलिये। **ॐ चकोरनेत्रे** (चकोर के समान नेत्रों वाली)! **चिलि, चिलि। ॐ ललज्जिह्वे** (लपलपाती हुई जीभ वाली)! **ॐ भीं** टेढ़ी भौंहों से युक्त मुख वाली! आप हुंकार मात्र से ही भय और त्रास उत्पन्न करने वाली हैं। आप नरमुण्डों की माला से वेष्टित जटा-मुकुट में चन्द्रमा को धारण करती हैं। विकट अट्टहास वाली देवि! **किलि, किलि** (युद्धक्षेत्र में क्रीड़ा करो, क्रीड़ा करो।)

ॐ हूं दाढ़ों से घोर अन्धकार प्रकट करने वाली और सम्पूर्ण विघ्नों का विनाश करने वाली देवि! आप

ॐ हिमवच्चारिण्येहि, ॐ रुरुमर्दिन्यसुर क्षयंकर्याकाशगामिनि पाशेन बन्ध बन्ध, अङ्कुशेन कट कट समयं तिष्ठ, ॐ मण्डलं प्रवेशय, ॐ गृह्ण मुखं बन्ध, ॐ चक्षुर्बन्ध हस्तपादौ च बन्ध दुष्टग्रहान्सर्वान्बन्ध, ॐ दिशो बन्ध, ॐ विदिशो बन्ध, अधास्ताद्बन्ध, ॐ सर्वं बन्ध, भस्मना पानीयेन वा मृत्तिकया सर्षपैर्वा सर्वानावेशय, ॐ पातय, ॐ चामुण्डे किलि किलि, ॐ विच्चे हुं फट् स्वाहा॥२॥

मेरे इस कार्य को सिद्ध करें, सिद्ध करें। ॐ शीघ्र कीजिये, कीजिये। ॐ फट्। ॐ अङ्कुश से शान्त कीजिये, प्रवेश कराइये। ॐ रक्त से रँगिये, रँगिये; कँपाइये, कँपाइये। ॐ विचलित कीजिये। **ॐ रुधिर-मांस-मद्यप्रिये!** शत्रुओं का हनन कीजिये, हनन कीजिये। ॐ विपक्षी योद्धाओं को कूटिये, कुटिये। ॐ काटिये ॐ मारिये। ॐ उनका पीछा कीजिये। ॐ वज्रतुल्य शरीर वाले को भी मार गिराइये। ॐ त्रिलोकी में विद्यमान जो शत्रु है, वह दुष्ट हो या अदुष्ट, पकड़ा गया हो या नहीं, आप उसको आविष्ट कीजिये। ॐ नृत्य कीजिये।

ॐ वन्द। ॐ कोटराक्षि (खोंखले के समान नेत्र वाली)! **ऊर्ध्वकेशि** (ऊपर उठे हुए केशों वाली)! **उलूकवदने** (उल्लू के समान मुँह वाली)! हड्डियों की ठटरी या खोपड़ी धारा करने वाली! खोपड़ी की माला धारण करने वाली चामुण्डे! आप शत्रुओं को जलाइये। ॐ पकाइये, पकाइये। ॐ पकड़िये। ॐ मण्डल के अन्दर प्रवेश कराइये। ॐ आप क्यों विलम्ब करती हैं? ब्रह्मा के सत्य से, विष्णु के सत्य से, रुद्र के सत्य से तथा ऋषियों के सत्य से आविष्ट कीजिये। **ॐ किलि किलि।**

ॐ खिलि खिलि। विलि विलि। ॐ विकृत रूप धारण करने वाली देवि! आपके शरीर में काले सर्प लिपटे हुए हैं। आप सम्पूर्ण ग्रहों को आविष्ट करने वाली हैं। आपके लम्बे-लम्बे ओठ लटक रहे हैं। आपकी टेढ़ी भौंहें नासिका से लगी हैं। आपका मुख विकट है। आपकी जटा कपिलवर्ण की है। आप ब्रह्मा की शक्ति हैं। आप शत्रुओं को भंग कीजिये। **ॐ ज्वालामुखि!** गर्जना कीजिये। ॐ शत्रुओं को मार गिराइये। ॐ लाल-लाल आँखों वाली देवि! शत्रुओं को चक्कर कटाइये, उनको धराशायी कीजिये। ॐ शत्रुओं के सिर उतार लीजिये। उनकी आँखें बन्द कर दीजिये। ॐ उनके हाथ-पैर ले लीजिये, अंग-मुद्रा फोड़िये।

ॐ फट्। ॐ विदीर्ण कीजिये। ॐ त्रिशूल से छेदिये। ॐ वज्र से हनन कीजिये। ॐ डंडे से पीटिये, पीटिये। ॐ चक्र से छिन्न-भिन्न कीजिये, छिन्न-भिन्न कीजिये। ॐ शक्ति से भेदन कीजिये। दाढ़ से कीलन कीजिये। ॐ कतरनी से चीरिये। ॐ अङ्कुश से ग्रहण कीजिये। ॐ सिर के रोग और नेत्र की पीड़ा को, प्रतिदिन होने वाले ज्वर को, दो दिन पर होने वाले ज्वर को, तीन दिन पर होने वाले ज्वर को, चौथे दिन होने वाले ज्वर को, डाकिनियों को तथा कुमार ग्रहों को शत्रु सेना पर छोड़िये, छोड़िये। ॐ उनको पकाइये। ॐ शत्रुओं को उन्मूलन कीजिये। ॐ उनको भूमिपर गिराइये। ॐ उनको पकड़िये। **ॐ ब्रह्माणि!** आइये **ॐ माहेश्वरि!** आइये। **ॐ कौमारि!** आइये। **ॐ वैष्णवि!** आइये। **ॐ वाराहि!** आइये। **ॐ ऐन्द्रि!** आइये। ॐ चामुण्डे! आइये। ॐ रेवति! आइये **ॐ आकाशरेवति!** आइये। ॐ हिमालय पर विचरने वाली देवि! आइये। **ॐ रुरुमर्दिनि! असुरक्षयंकरि** (असुरविनाशिनि)! आकाशगामिनि देवि! विरोधियों को पाश से बाँधिये, बाँधिये।

अङ्कुश से आच्छादित कीजिये, आच्छादित कीजिये। अपनी प्रतिज्ञा पर स्थिर रहिये। ॐ मण्डल में प्रवेश कराइये। ॐ शत्रु को पकड़िये और उसका मुँह बाँध दीजिये। ॐ नेत्र बाँध दीजिये। हाथ-पैर भी बाँध दीजिये। हमें सताने वाले समस्त दुष्ट ग्रहों को बाँध दीजिये। ॐ दिशाओं को बाँधिये। ॐ विदिशाओं को बाँधिये। नीचे बाँधिये। ॐ सभी तरफ से बाँधिये। ॐ भस्म से, जल से, मिट्टी से अथवा सरसों से सभी को आविष्ट कीजिये। ॐ नीचे गिराइये। **ॐ चामुण्डे! किलि किलि। ॐ विच्चे हुं फट् स्वाहा।।२।।**

पदमाला जयाख्येयं सर्वकर्मप्रसाधिका। सर्वदा होमजप्याद्यैः पाठाद्यैश्च रणे जयः।।३।।
अष्टाविंशभुजा ध्येया असिखेटकषट्करौ। गदादण्डयुतौ चान्यौ शरचापधरौ परौ।।४।।
मुष्टिमुगदरयुक्तौ च शङ्खखड्गयुतौ परौ। ध्वजवज्रधरौ चान्यै सचक्रपरशू परौ।।५।।
डमरुदर्पणाढ्यौ च शक्तिकुन्तधरौ परौ। हलेन मुसलेनाऽऽढ्यौ पाशतोमरसंयुतौ।।६।।
ढक्कापणव संयुक्तावभयौ मुष्टिकान्वितौ। तर्जयन्ती च महिषं घातनी होमतोऽरिजित्।।
त्रिमध्वाक्ततिलैर्होमो न देया यस्य कस्यचित्।।७।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते युद्धजयार्णवे सङ्ग्रामविजयाविद्यावर्णनं नाम पञ्चत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः।।१३५।।

यह 'जया' नामक पदमाला है, जो समस्त कर्मों की सिद्ध करने वाली है। इसके द्वारा हवन करने से तथा इसका जप एवं पाठ आदि करने से सदा ही युद्ध में विजय प्राप्त होती है। अट्ठाईस भुजाओं से युक्त चामुण्डा देवी का ध्यान करना चाहिये। उनके दो हाथों में तलवार और खेटक हैं। दूसरे दो हाथों में गदा और दण्ड हैं। अन्य दो हाथ धनुष और बाण धारण करते हैं। अन्य दो हाथ मुष्टि और मुद्गर से युक्त हैं। दूसरे दो हाथों में शङ्ख और खड्ग हैं। अन्य दो हाथों में ध्वज और वज्र हैं।

दूसरे दो हाथ चक्र और परशु धारण करते हैं। अन्य दो हाथ डमरू और दर्पण से सम्पन्न हैं। दूसरे दो हाथ शक्ति और कुन्द धारण करते हैं। अन्य दो हाथों में हल और मूसल हैं। दूसरे दो हाथ पाश और तोमर से युक्त हैं। अन्य दो हाथों में ढक्का और पणव हैं। दूसरे दो हाथ अभय की मुद्रा धारण करते हैं तथा शेष दो हाथों में मुष्टिक शोभा पाते हैं। वे महिषासुर को डाँटती और उसका वध करती हैं। इस तरह ध्यान करके हवन करने से साधक शत्रुओं पर विजय पाता है। घी, शहद और चीनी मिश्रित तिल से हवन करना चाहिये। इस संग्रामविजय-विद्या का उपदेश जिस-किसी को नहीं देना चाहिये (अधिकारी पुरुष को ही देना चाहिये)।।३-७।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी एक सौ पैंतीसवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।१३५।।

❖❖❖

अथ षट्त्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः

नक्षत्रचक्रम्

ईश्वर उवाच

अथ चक्रं प्रवक्ष्यामि यात्रादौ च फलप्रदम्। अश्विन्यादौ लिखेच्चक्रं त्रिनाडीपरिभूषितम्।।१।।
अश्विन्यार्द्रादिभिः पूर्वा ततश्चोत्तरफाल्गुनी। हस्ता (स्तो) ज्येष्ठा तथा मूलं वारुणं चाप्यजैकपात्।।२।।
नाडीयं प्रथमा चान्या याम्यं मृगशिरस्तथा। पुष्यं भाग्यं तथा चित्रा मैत्रं चाऽऽप्यं च वासवम्।।३।।
अहिर्बुध्नं तृतीयाऽथ कृत्तिका रोहिणी ह्यहिः। चित्रा स्वाती विशाखा च श्रवणा रेवती च भम्।।४।।
नाडीत्रितयसंजुष्टग्रहाज्ज्ञेयं शुभाशुभम्। चक्रं फणीश्वरं तत्तु त्रिनाडीपरिभूषितम्।।५।।
रविभौमार्कराहुस्थमशुभं स्याच्छुभं परम्। देशग्रामयुता भ्रातृभार्याद्या एकशः शुभाः।।६।।
अ भ कृ रो मृ आ पु पु आ म पू उ ह चि स्वा वि अनु ज्ये मू पू उ श्र ध श पू उ रे।।७।।
अत्र सप्तविंशति नक्षत्राणि ज्ञेयानि।।८।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते नक्षत्रचक्रवर्णनं नाम षट्त्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः।।१३६।।

अध्याय–१३६

नक्षत्र चक्र निरूपण

भगवान् महेश्वर ने कहा कि–देवि! अधुना मैं नक्षत्र सम्बन्धी त्रिनाडी चक्र का वर्णन करने जा रहा हूँ, जो यात्रा आदि में फलसम्प्रदायक होता है। अश्विनी आदि नक्षत्रों में तीन नाडियों से भूषित चक्र अंकित करना चाहिये। पहले अश्विनी, आर्द्रा और पुनर्वसु अंकित करना चाहिये; फिर उत्तराफाल्गुनी हस्त, ज्येष्ठा, मूल, शतभिषा और पूर्वभाद्रपद- इन नक्षत्रों को लिखे। यह प्रथम नाडी कही गयी है। दूसरी नाडी इस तरह है–भरणी, मृगशिरा, पुष्य, पूर्वाफाल्गुनी, चित्रा, अनुराधा, मृगशिरा, पुष्य, पूर्वाफाल्गुनी, चित्रा, अनुराधा, पूर्वाषाढा, धनिष्ठा, तथा उत्तराभाद्रपदा। तीसरी नाडी के नक्षत्र ये हैं–कृत्तिका, रोहिणी, आश्लेषा, मघा, स्वाती, विशाखा, उत्तराषाढ़ा, श्रवण तथा रेवती।।१-४।।

इन तीन नाडियों के नक्षत्रों द्वारा सेवित ग्रह के अनुसार शुभशुभ फल समझना चाहिये। इस 'त्रिनाडी' नामक चक्र को 'फणीश्वर-चक्र' कहा गया है। इस चक्रगत नक्षत्र पर यदि सूर्या, मंगल, शनैश्वर एवं राहु हों तो वह अशुभ होता है। इनके सिवा, अन्य ग्रहों द्वारा अधष्ठित होने पर वह नक्षत्र शुभ होता है। देश, ग्राम, भाई और भार्या आदि अपने नाम के आदि अक्षर के अनुसार एक नाडीचक्र पड़ते हों तो वे शुभकारक होते हैं।।५-६।।

अश्विनी, भरणी, कृत्तिका, रोहिणी, मृगशिरा, आर्द्रा, पुनर्वसु, पुष्य, आश्लेषा, मघा, पूर्वाफाल्गुनी, उत्तराफाल्गुनी, हस्त, चित्रा, स्वाती, विशाखा, अनुराधा, ज्येष्ठा, मूल, पूर्वाषाढा, उत्तराषाढा, श्रवण, धनिष्ठा, शतभिषा, पूर्वभाद्रपदा, उत्तराभाद्रपदा तथा रेवती–ये सत्ताईस नक्षत्र यहाँ जानने योग्य हैं।।७-८।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी एक सौ छत्तीसवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।१३६।।

❖❖❖

अथ सप्तत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः

महामारीविद्याकथनम्

ईश्वर उवाच

महामारीं प्रवक्ष्यामि विद्यां शत्रुविमर्दिनीम्।।१।।

ॐ ह्रीं महामारि रक्ताक्षि कृष्णवर्णे यमस्याऽऽज्ञाक (का) रिणि सर्वभूतसंहारकारिणि, अमुकं हन हन, ॐ दह दह, ॐ पच पच, ॐ छिन्द च्छिन्द, ॐ मारय मारय, ओमुत्सादयोत्सादय, ॐ सर्वसत्त्ववशंकरि सर्वकायिके हुं फट् स्वाहेति।।२।।

ॐ मारि हृदयाय नमः ॐ महामारी शिरसे स्वाहा। ॐ कालरात्रि शिखायै वौषट्। ॐ कृष्णवर्णे खः कवचाय हुम्। ॐ तारकाक्षि विद्युज्जिह्वे सर्वसत्त्वभयङ्करि रक्ष रक्ष सर्वकार्येषु हं त्रिनेत्राय वषट्। ॐ महामारि सर्वभूतदमनि महाकालि, अस्त्राय हुं फट्।।३।।

एष न्यासो महादेवि कर्त्तव्यः साधकेन तु। शवादि वस्त्रमादाय चतुरस्त्रं त्रिहस्तकम्।।४।।

अध्याय–१३७

महामारी-विद्या निरूपण

महेश्वर ने कहा कि–हे देवि! अधुना मैं महामारी विद्या का वर्णन करने जा रहा हूँ, जो शत्रुओं का मर्दन करने वाली है।।१।।

ॐ ह्रीं लाल नेत्रों तथा काले रंग वाली महामारि! आप यमराज की आज्ञाकरिणी हो, समस्त भूतों का विनाश करना चाहियेन वाली हो, मेरे अमुक शत्रु का हनन करो, हनन करो। ॐ उसको जलाओ, जलाओ। ॐ पकाओ, पकाओ। ॐ काटो, काटो। ॐ मारो मारो। ॐ उखड़ फेंको, उखाड़ फेंको। ॐ समस्त प्राणियों को वश में करने वाली सम्पूर्ण कामनाओं को देने वाली! **हुं फट् स्वाहा**।।२।।

'ॐ मारि हृदयाय नमः'।–इस वाक्य को बोलकर दाहिने हाथ की मध्यमा, अनामिका और तर्जनी अँगुलियों से हृदय का स्पर्श करना चाहिये। **'ॐ महामारि शिर से स्वाहा।'**–इस वाक्य को बोलकर दाहिने हाथ से सिर का स्पर्श करना चाहिये। **'ॐ कालरात्रि शिखार्य वौषट्।**–इस वाक्य को बोलकर दाहिने हाथ के अँगूठे से शिखा का स्पर्श करना चाहिये। **'ॐ कृष्णवर्णे खः कवचाय हुम्'**–इस वाक्य को बोलकर दाहिने हाथ की पाँचों अंगुलियों से बायीं भुजा का और बायें हाथ की पाँचों अंगुलियों से बायीं भुजा का और बायें हाथ की पाँचों अंगुलियों से दाहिनी भुजा का स्पर्श करना चाहिये। **'ॐ तारकाक्षि विद्युज्जिह्वे सर्वसत्त्वभयंकरि रक्ष रक्ष सर्वकार्येषु हं त्रिनेत्राय वषट्।'**–इस वाक्य को बोलकर दाहिने हाथ की अँगुलियों के अग्रभाग से दोनों नेत्रों और ललाट के मध्यभाग का स्पर्श करना चाहिये। **'ॐ महामारि सर्वभूतदमनि महाकालि अस्त्राय हुं फट्**।–इस वाक्य को बोलकर दाहिने हाथ को सिर के ऊपर एवं बायीं तरफ से पीछे की तरफ ले जाकर दाहिनी तरफ से आगे की तरफ ले आये और तर्जनी तथा मध्यमा अँगुलियों से बायें हाथ की हथेली पर ताली बजाये।।३।।

हे महादेवि! साधक को यह अङ्गन्यास अवश्य करना चाहिये। उसे मुर्दे का वस्त्र लाकर उसको चतुरस्त्र **फाड़**

कृष्णवर्णां त्रिवक्त्रां च चतुर्बाहुं समालिखेत्। पटे विचित्रवर्णैश्च धनुः शूलश्च कर्तृकाम्॥५॥
खट्वाङ्गं! धारयन्ती च कृष्णाभं पूर्वमाननम्। तस्य दृष्टिनिपातेन भक्षयेदग्रतो नरम्॥६॥
द्वितीयं याम्यभागे तु रक्तजिह्वं भयानकम्। लेलिहानं करालं च दंष्ट्रोत्कटभयानकम्॥७॥
तस्य दृष्टिनिपातेन भक्ष्यमाणं हयादिकम्। तृतीयं च मुखं देव्याः श्वेतवर्णं गजादिनुत्॥८॥
गन्धपुष्पादिमध्वाज्यैः पश्चिमाभिमुखं यजेत्। मन्त्रस्मृतेरक्षिरोगः शिरोरोगादिः नश्यति॥९॥
वश्याः स्युर्यक्षरक्षाश्च (क्षांसि) नाशमायान्ति शत्रवः। समिधो निम्बवृक्षस्य ह्यजारक्तविमिश्रिताः॥१०॥
मारयेत्क्रोधसंयुक्तो होमादेव न संशयः। परसैन्यमुखो भूत्वा सप्ताहं जुहुयाद्यदि॥११॥
व्याधिभिर्गृह्यते सैन्यं भङ्गो भवति वैरिणः। समिधोऽष्टसहस्रं तु यस्य नाम्ना तु होमयेत्॥१२॥
अचिरान्म्रियते सोऽपि ब्रह्मणा यदि रक्षितः। उन्मत्तसमिधो रक्तविषयुक्तं सहस्रकम्॥१३॥
दिनत्रयं ससैन्यश्च नाशमायाति वै रिपुः। राजिकालवणैर्होमाद्भङ्गोऽरेः स्याद्दिनत्रयम्॥१४॥
खररक्तसमायुक्तहोमादुच्चाटयेद्रिपुम्। काकरक्त समायोगाद्धोमादुस्सादनं ह्यरेः॥१५॥

ले। उसकी लम्बाई-चौड़ाई तीन-तीन हाथ की होनी चाहिये। उसी वस्त्र पर अनेक तरह के रंगों से देवी की एक आकृति बनाये, जिसका रंग काला हो। वह आकृति तीन मुख और चार भुजाओं से युक्त होनी चाहिये। देवी की यह मूर्ति अपने हाथों में धनुष, शूल, कतरनी और खट्वाङ्ग (खाटका पाया) धारण किये हुए हो। उस देवी का पहला मुख पूर्व दिशा की तरफ हो और अपनी काली आभा से प्रकाशित हो रहा हो तथा ऐसा जान पड़ता हो कि दृष्टि पड़ते ही वह अपने सामने पड़े हुए मनुष्य को खा जायगी। दूसरा मुख दक्षिण भाग में होना चाहिये। उसकी जीभ लाल हो और वह देखने में भयानक जान पड़ता हो। वह विकराल मुख अपनी दाढ़ों के कारण अत्यन्त उत्कट और भयंकर हो और जीभ से दो गलफर चाट रहा हो। साथ ही ऐसा जान पड़ता हो कि दृष्टि पड़ते ही यह घोड़े आदि को खा जायगा॥४-७॥

देवी का तीसरा मुख पश्चिमाभिमुख हो। उसका रंग सफेद होना चाहिये। वह ऐसा जान पड़ता हो कि सामने पड़ने पर हाथी आदि को भी खा जायगा। गन्ध-पुष्प आदि उपचारों तथा घी-मधु आदि नैवेद्यों द्वारा उसका पूजन करना चाहिये॥८॥

उपरोक्त मन्त्र का स्मरण करने मात्र से नेत्र और मस्तक आदि का रोग नष्ट हो जाता है। यक्ष और राक्षस भी वश में हो जाते हैं और शत्रुओं का विनाश हो जाता है। यदि मनुष्य क्रोधयुक्त होकर निम्ब-वृक्ष की समिधाओं को हवन करना चाहिये तो उस हवन से ही वह अपने शत्रु को मार सकता है, इसमें संदेह नहीं है। यदि शत्रु की सेना की तरफ मुँह करके एक सप्ताह तक इन समिधाओं का हवन किया जाय तो शत्रु की सेना विविध तरह के रोगों से ग्रस्त हो जाती है और उसमें भगदड़ मच जाती है। जिसके नाम से आठ हजार कथित समिधाओं का हवन कर दिया जाय, वह यदि ब्रह्मादि के द्वारा सुरक्षित हो, तो भी शीघ्र ही मर जाता है। यदि धतूरे की एक सहस्र समिधाओं को रक्त और विष से संयुक्त करके तीन दिन तक उनका हवन किया जाय तो शत्रु अपनी सेना के साथ ही नष्ट हो जाता है॥९-१३॥

राई और नमक से हवन करने पर तीन दिन में ही शत्रु की सेना में भगदड़ पड़ जायगी-शत्रु भाग खड़ा होगा। यदि उसको गदहे के रक्त से मिश्रित करके हवन किया जाय तो साधक अपने शत्रु का उच्चाटन कर सकता है-वहाँ से भागने के लिये उसके मन में उचाट उत्पन्न कर सकता है। कौए के रक्त से संयुक्त करके हवन करने पर

वधाय कुरुते सर्वं यत्किञ्चिन्मनसेप्सितम्। अथ सङ्ग्रामसमये गजारूढस्तु साधकः॥१६॥
कुमारीद्वयसंयुक्तो मन्त्रसंनद्धविग्रहः। दूरशङ्खादिवाद्यानि विद्यया ह्यभिमन्त्रयेत्॥१७॥
महामायापटं गृह्य उच्छेत्तव्यं रणाजिरे। परसैन्यमुखो भूत्वा दर्शयेत्तं महापटम्॥१८॥
कुमारीर्भोजयेत्तत्र पश्चात्पिण्डीं च भ्रामयेत्। साधकश्चिन्तये सैन्यं पाषाणमिव निश्चलम्॥१९॥
निरुत्साहं विभग्नं च मुह्यमानं च भावयेत्। एष स्तम्भो मया प्रोक्तो न देया यस्य कस्यचित्॥२०॥
त्रैलोक्यविजया माया दुर्गैवं भैरवी तथा। कुब्जिका भैरवी रुद्रो नारसिंह (?) पटादिना॥२१॥

॥इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते महामारीविद्यावर्णनं नाम सप्तत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः॥१३७॥

—❀❀❀—

शत्रु को उखाड़ फेंका जा सकता है। साधक उसके वध में सक्षम हो सकता है तथा साधक के वह पूर्ण कर लेता है। युद्धकाल में साधक हाथी पर आरूढ़ हो, दो कुमारियों के साथ रहकर, उपरोक्त मन्त्र द्वारा शरीर को सुरक्षित कर ले; फिर दूर के शङ्ख आदि वाद्यों को उपरोक्त महामारी-विद्या से अभिमन्त्रित करना चाहिये। समराङ्गण में ऊँचाई पर फहराये और शत्रुसेना की तरफ मुँह करके उस महान् पट को उसको दिखाये। तत्पश्चात् वहाँ कुमारी कन्याओं को भोजन कराये। फिर पिण्डी को घुमाये। उस समय साधक को यह चिन्तन करना चाहिये कि शत्रु की सेना पाषाण की भाँति निश्चल हो गयी है॥१४-१९॥

वह यह भी भावना करनी चाहिये कि शत्रु की सेना में लड़ने का उत्साह नहीं रह गया है, उसके गाँव उखड़ गये हैं और वह बड़ी घबराहट में पड़ गयी है। इस तरह करने से शत्रु की सेना का स्तम्भन हो जाता है। वह चित्रलिखित की भाँति खड़ी रह जाती है, कुछ कर नहीं पाती। यह मैंने स्तम्भन का प्रयोग बतलाया है। इसका जिस-किसी भी व्यक्ति को उपदेश नहीं देना चाहिये। यह तीनों लोकों पर विजय दिलाने वाली देवी 'माया' कही गयी है और इसकी आकृति से अङ्कित वस्त्र को 'मायापट' कहा गया है। इसी तरह दुर्गा, भैरवी, कुब्जिका, रुद्रदेव तथा भगवान् नृसिंह की आकृति का भी वस्त्र पर अङ्कन किया जा सकता है। इस तरह की आकृतियों से अङ्कित पट आदि के द्वारा भी यह स्तम्भन का प्रयोग सिद्ध हो सकता है॥२०-२१॥

॥इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी एक सौ सैंतीसवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ॥१३७॥

अथाष्टत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः

षट्कर्माणि

ईश्वर उवाच

षट्कर्माणि प्रवक्ष्यामि सर्वमन्त्रेषु तच्छृणु। आदौ साध्यं लिखेत्पूर्वं चान्ते मन्त्रसमन्वितम्॥१॥
पल्लवः स तु विज्ञेयो महोच्चाटकरः परः। आदौ मन्त्रस्ततः साध्यो मध्ये साध्यःपुनर्मनुः॥२॥
योगाख्यःसम्प्रदायोऽयं कुलोत्सादेषु योजयेत्। आदौ मन्त्रपदं दद्यान्मध्ये साध्यं नियोजयेत्॥३॥
पुनश्चान्ते लिखेन्मन्त्रं साध्यं मन्त्रपदं पुनः। रोधकः सम्प्रदायस्तु स्तम्भनादिषु योजयेत्॥४॥
अधोऽर्ध्वं याम्यवामे तु मध्ये साध्यं तु योजयेत्। (संपुटः स तु विज्ञेयो वश्याकर्षेषु योजयेत्॥५॥
मन्त्राक्षरं यदा साध्यं प्रथितं चाक्षराक्षरम्। प्रथमः) सम्प्रदायः स्यादाकृष्टिवशकारकः॥६॥
मन्त्राक्षरद्वयं लिख्य एकं साध्याक्षरं पुनः। विदर्भः स तु विज्ञेयो वश्याकर्षेषु योजयेत्॥७॥

अध्याय–१३८

षट्कर्म निरूपण

महादेव जी ने कहा कि–हे पार्वती! सभी मन्त्रों के साध्यरूप से जो छः कर्म कहे गये हैं, उनका वर्णन करने जा रहा हूँ, सुनो। शान्ति, वश्य, स्तम्भन, द्वेष, उच्चाटन और मारण–ये छः कर्म हैं। इन सभी कर्मों में छः सम्प्रदाय अथवा विन्यास होते हैं, जिनके नाम इस तरह हैं–पल्लव, योग, रोधक, सम्पुट, ग्रन्थन तथा विदर्भ। भोजपत्र आदि पर पहले जिसका उच्चाटन करना हो, उस पुरुष का नाम लिखे। तत्पश्चात् उच्चाटन सम्बन्धी मन्त्र लिखे। लेखन के इस क्रम को 'पल्लव' नामक विन्यास या सम्प्रदाय समझना चाहिये। यह उच्चकोटि का महान् उच्चाटनकारी प्रयोग है। आदि में मन्त्र लिखा जाय फिर साध्य व्यक्ति का नाम अङ्कित किया जाय। यह साध्य मध्य में रहना चाहिये। इसके लिये अन्त में पुनः मन्त्र का उल्लेख किया जाय। इस क्रम को 'योग' नामक सम्प्रदाय कहा गया है। शत्रु के समस्त वंश का विनाश करने के लिये इसका प्रयोग करना चाहिये॥१-२॥

पहले मन्त्र का पद लिखे। मध्य में साध्य का नाम लिखे। अन्त में फिर मन्त्र लिखे। फिर साध्य का नाम लिखे। तत्पश्चात् पुनः मन्त्र लिखे। यह 'रोधक' सम्प्रदाय कहा गया है। स्तम्भन आदि कर्मों में इसका प्रयोग करना चाहिये। मन्त्र के ऊपर, नीचे, दायें, बायें और मध्य में भी साध्य का नामोल्लेख करना चाहिये, इसको 'सम्पुट' समझना चाहिये।

वश्याकर्षण कर्ण में इसका प्रयोग करना चाहिये। जिस समय मन्त्र का एक अक्षर लिखकर फिर साध्य के नाम का एक अक्षर लिखा जाय और इस तरह बारी-बारी से दोनों के एक-एक अक्षर को लिखते हुए मन्त्र और साध्य के अक्षरों को परस्पर ग्रथित कर दिया जाय तो यह 'ग्रन्थन' नामक सम्प्रदाय है। इसका प्रयोग आकर्षण या वशीकरण करने वाला है। पहले मन्त्र का दो अक्षर लिखे, फिर साध्य का एक अक्षर। इस तरह बार-बार लिखकर दोनों को पूर्ण करना चाहिये। यदि मन्त्राक्षरों के मध्य में ही समाप्ति हो जाय तो दुबारा उनका उल्लेख करना चाहिये। इसको 'विदभ नामक सम्प्रदाय समझना चाहिये तथा वशीकरण एवं आकर्षण के लिये इसका प्रयोग करना चाहिये॥३-७॥

आकर्षणादि यत्कर्म वसन्ते चैव कारयेत्। तापज्वरे तथा वश्ये स्वाहा चाऽऽकर्षणे शुभम्।।८।।
नमस्कारपदं चैव शान्तिवृद्धौ प्रयोजयेत्। पौष्टिकेषु वषट्कारमाकर्षे वशकर्मणि।।९।।
विद्वेषोच्चाटने मृत्यौ फट्स्यात्खण्डी कृतोऽशुभे। लाभादौ मन्त्रदीक्षादौ वषट्कारस्तु सिद्धिदः।।१०।।
यमोऽसि यमराजोऽसि कालरूपोऽसि धर्मराट्। मयादत्तमिमं शत्रुमचिरेण निपातय।।११।।
निपातयामि यत्नेन निवृत्तो भव साधक। संहृष्टमनसा ब्रूयाद्देशिकोऽरिप्रसूदनः।।१२।।
पद्मे शुक्ले यमं प्राच्र्य होमादेतत्प्रसिध्यति। आत्मानं भैरवं ध्यात्वा ततो मध्ये कुलेश्वरीम्।।१३।।
रात्रौ वार्ता विजानाति आत्मनश्च परस्य च। दुर्गे दुर्गरक्षणीति दुर्गां प्राच्र्यारिहा भवेत्।।
जप्त्वा हसक्षमलवरयुं भैरवीं घातयेदरिम्।।१४।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गति षट्कर्मकथनं नामाष्टात्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः।।१३८।।

आकर्षण आदि जो मन्त्र हैं, उनका अनुष्ठान वसन्त-ऋतु करना चाहिये। तापज्वर के निवारण, वशीकरण तथा आकर्षण कर्म में 'स्वाहा' का प्रयोग शुभ होता है। शान्ति और वृद्धि कर्म में 'नमः' पद का प्रयोग करना चाहिये। पौष्टिक-कर्म, आकर्षण और वशीकरण में 'वषट्कार' का प्रयोग करना चाहिये। विद्वेषण, उच्चाटन और मारण आदि अशुभ कर्म में पृथक् 'फट्' पद की योजना करनी चाहिये। लाभ आदि में तथा मन्त्र की दीक्षा आदि में 'वषट्कार' ही सिद्धिसम्प्रदायक होता है। मन्त्र की दीक्षा देने वाले आचार्य में यमराज की भावना करके इस तरह याचना करनी चाहिये–'हे प्रभो! आप यम हैं, यमराज हैं, कालरूप हैं तथा धर्मराज हैं। मेरे दिये हुए इस शत्रु को शीघ्र ही मार गिराइये।।८-११।।

तत्पश्चात् शत्रुसूदन आचार्य प्रसन्नचित्त से इस तरह उत्तद दे–'हे साधक! आप सफल हो ओ। मैं यत्नपूर्वक तुम्हारे शत्रु को मार गिरा रहा हूँ।' श्वेत कमल पर यमराज की पूजा करके हवन करने से यह प्रयोग सफल होता है। अपने में भैरव की भावना करके अपने ही अन्दर कुलेश्वरी (भैरवी) की भी भावना करनी चाहिये। ऐसा करने से साधक रात में अपने तथा शत्रु के भावी वृत्तान्त को जान लेता है। 'हे दुर्गरक्षिणि दुर्गे!'(दुर्ग की रक्षा करने वाली अथवा दुर्गम संकट से बचाने वाली देवि! आपको नमस्कार है–इस मन्त्र के द्वारा दुर्गाजी की पूजा करके साधक शत्रु का विनाश करने में सक्षम होता है। **'ह स ख म ल व र यु म्'**–इस भैरवी मन्त्र का जप करने पर साधक अपने शत्रु का वध कर सकता है।।१२-१४।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी एक सौ अड़तीसवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।१३८।।

अथैकोनचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः

षष्टिः संवत्सराः

ईश्वर उवाच

षष्ट्यब्दानां प्रवक्ष्यामि शुभाशुभमतः शृणु। प्रभवे यज्ञकर्माणि विभवे सुखिनो जनाः॥१॥
शुक्ले तु सर्वस्यानि प्रमोदेन प्रमोदिताः। प्रजापतौ प्रवृद्धिः स्यादङ्गिरा भोगवर्धनः॥२॥
श्रीमुखे वर्धते लोको भावे भावः प्रवर्धते। युना च प्लवते शक्रो धाता सर्वौषधीकरः॥३॥
ईश्वरे क्षेममारोग्यं बहुधान्यः सुभिक्षदः। प्रमाथी मध्यवर्षस्तु विक्रमे सस्यसम्पदः॥४॥
वृषो वृष्यति सर्वांश्च चित्रभानुश्च चित्रताम्। सुभानुः (नौ) क्षेममारोग्यं तारणे जलदाः शुभाः॥५॥
पार्थिवे सस्यसम्पत्तिरतिवृष्टिस्तथा व्यये। सर्वजित्युत्तमा वृष्टिः सर्वधारी सुभिक्षदः॥६॥
विरोधी जलदान्हन्ति विकृतिश्च भयङ्करः। खरे भवेत्पुमान्वीरो नन्दने नन्दते (ति) प्रजा॥७॥
विजयः शत्रुहन्ता च शत्रु (ज्यो) रोगादि मर्दयेत्। ज्वरार्त्तो मन्मथे लोको दुष्करे दुष्कराः प्रजा (?)॥८॥
दुर्मुखे दुर्मुखो लोको हेमलम्बेन सम्पदः। संवत्सरो महादेवि विलम्बस्तु सुभिक्षदः॥९॥

अध्याय–१३९

सारतः साठ सम्वत्सर निरूपण

भगवान् महेश्वर ने कहा कि–हे पार्वति! अधुना मैं साठ संवत्सरों (में से कुछ)–के शुभाशुभ फल को कहता हूँ। ध्यान देकर सुनो। 'प्रभव' संवत्सर में यज्ञकर्म की बहुलता होती है। 'विभव' में प्रजा सुखी होती है। 'शुक्ल' में समस्त धान्य प्रचुर मात्रा में उत्पन्न होते हैं। 'प्रमोद' से सभी प्रमुदित होते हैं। 'प्रजापति' नामक संवत्सर में वृद्धि होती हैं। 'अङ्गिरा' संवत्सर भोगों की वृद्धि करने वाला है। 'श्रीमुख' संवत्सर में जनसंख्या की वृद्धि होती है और 'भाव' संज्ञक संवत्सर में प्राणियों में सद्भाव की वृद्धि होती है। 'युवा' संवत्सर में मेघ प्रचुर वृष्टि करते हैं। 'धाता' संवत्सर में समस्त औषधियाँ बहुलता से उत्पन्न होती हैं। 'ईश्वर' संवत्सर में क्षेम और आरोग्यता की प्राप्ति हो जाती है। 'बहुधान्य' में प्रचुर अन्न उत्पन्न होता है। 'प्रमाथी' वर्ष मध्यम होता है। 'विक्रम' में अन्न–सम्पदाय की अधिकता होती है। 'वृष' संवत्सर सम्पूर्ण प्रजाओं का पोषण करता है। 'चित्रभानु' विचित्रता और 'सुभानु' कल्याण एवं आरोग्य को उपस्थित करता है। 'तारण' संवत्सर में मेघ शुभकारक होते हैं॥१–५॥

'पार्थिव' में सस्य–सम्पत्ति, 'अव्यय' में अतिवृष्टि, 'सर्वजित्' में श्रेष्ठतम वृष्टि और 'सर्वधारी' नामक संवत्सर में धान्यादि की अधिकता होती है। 'विरोधी' मेघों का विनाश करता है अर्थात् अनावृष्टिकारक होता है। 'विकृति' भय सम्प्रदान करने वाला है। 'खर' नामक संवत्सर पुरुषों में शौर्य का संचार करता है। 'नन्दन' में प्रजा आन्दित होती है। 'विजय' संवत्सर शत्रुनाशक और 'जय' रोगों का मर्दन करने वाला है। 'मन्मथ' में विश्व ज्वर से पीड़ित होता है। 'दुष्कर' में प्रजा दुष्कर्म में प्रवृत्त होती है। 'दुर्मुख' संवत्सर में मनुष्य कटुभाषी हो जाते हैं। 'हेमलम्ब' से सम्पत्ति की प्राप्ति हो जाती है। महादेवि! 'विलम्ब' नामक संवत्सरमें अन्न की प्रचुरता होती है। 'विकारी' शत्रुओं को कुपित करता

विकारी शत्रुकोपाय विजये (शार्वरी) सर्वदा क्वचित्।
प्लवे प्लवन्ति तोयानि शोभने शुभकृत्प्र (शुभकृच्छोभनेप्र) जा॥१०॥
राक्षसे निष्ठुरो लोको विविधं धान्यमानने (ले)।
सुवृष्टिः पिङ्गले क्वापि काले ह्युक्तो (लयुक्ते) धनक्षयः॥११॥
सिद्धार्थे सिध्यते (ति) सर्वं रौद्रे रौद्रं प्रवर्तते।
दुर्मतौ मध्यमा वृष्टिर्दुन्दुभिः क्षेमधान्यकृत्॥१२॥
स्रवन्ते (ति) रुधिरोद्गारी रक्ताक्षः (क्षे) क्रोधनो (ने) जयः।
क्षये क्षीणधनो लोकः षष्टिसंवत्सराणि तु॥१३॥

॥इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गति युद्धजयार्णवे षष्टिसंवत्सरवर्णनं नामैकोनचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः॥१३९॥

है और 'शार्वरी' कहीं-कहीं सर्वप्रदा होती है। 'प्लव' संवत्सर में जलाशयों में बाढ़ आती है। 'शोभन' और 'शुभकृत' में प्रजा संवत्सर के नामानुकूल गुण से युक्त होती है॥६-१०॥

'राक्षस' वर्ष में लोक निष्ठुर हो जाता है। 'आनल' संवत्सर में विविध धान्यों की उत्पत्ति होती है। 'पिङ्गल' में कहीं-कहीं श्रेष्ठतम वृष्टि और 'कालयुक्त' में धनहानि होती है। 'सिद्धार्थ' में सम्पूर्ण कार्यों की सिद्धि होती है। 'रौद्र' वर्ष में विश्व में रौद्रभावों की प्रवृत्ति होती है। 'दुर्मति' संवत्सर में मध्यम वर्षा और 'दुन्दुभि' में मंगल एवं धन-धान्य की उपलब्धि होती है। 'रुधिरोद्गारी' और 'रक्ताक्ष' नामक संवत्सर रक्तपान करने वाले हैं। 'क्रोधन' वर्ष विजयप्रद है। 'क्षय' संवत्सर में प्रजा का धन क्षीण होता है। इस तरह साठ संवत्सरों में से कुछ संवत्सरों का वर्णन किया गया है॥११-१३॥

॥इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी एक सौ उनतालिसवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ॥१३९॥

❖❖❖

अथ चत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः

वश्यादियोगाः

ईश्वर उवाच

वश्यादियोगान्वक्ष्यामि लिखेद्द्व्यष्टपदे त्विमान। भृङ्गराजः सहदेवी मयूरस्य शिखा तथा॥१॥
पुत्रं जीवकृतं जाली ह्यधः पुष्पा रुदन्तिका। कुमारी रुद्रजटा स्याद्विष्णुक्रान्ता शि (सि) तोऽर्ककः॥२॥
लज्जालुका मोहलता कृष्णधत्तूरसंज्ञिता। गोरक्षः कर्कटी चैव मेषशृङ्गी स्नुही तथा॥३॥
ऋत्विजो वह्नयो नागाः पक्षौ मुनिमनू शिवः। वसवो दिग्रसा वेदा ग्रहर्तुरविचन्द्रमाः॥४॥
तिथयश्च क्रमाद्भागा ओषधीनां प्रदक्षिणम्। प्रथमेन चतुष्केण धूपश्चोद्वर्तनं परम्॥५॥
तृतीयेनाञ्जनं कुर्यात्स्नानं कुर्याच्चतुष्कतः। भृङ्गराजानुलोमाच्च चतुर्धा लेपनं स्मृतम्॥६॥
मुनयो दक्षिणे पार्श्वे युगाद्याश्चोत्तराः स्मृताः। भुजगाः पादसंस्थाश्च ईश्वरा मूर्ध्नि संस्थिताः॥७॥
मध्येन सार्कशशिभिर्धूपः स्यात् सर्वकार्यके। एतैर्विलिप्तदेहस्तु त्रिदशैरपि पूज्यते॥८॥

अध्याय–१४०

वश्य आदि योग निरूपण

भगवान् महेश्वर ने कहा कि–हे स्कन्द! अधुना मैं वशीकरण आदि के योगों का वर्णन करने जा रहा हूँ। निम्नांकित औषधियों को सोलह कोष्ठ वाले चक्र में अंकित करना चाहिये–भृङ्गराज (भँगरैया), सहदेवी (सहदेइया), मोर की शिखा, पुत्रजीवक (जीवापोता) नामक (रुद्रदन्ती), कुमारी (घीकुँआर), रुद्रजटा (लताविशेष), विष्णुक्रान्ता (अपराजिता), श्वेतार्क (सफेद मदार), लज्जालुका (लाजवन्ती लता), मोहलता (त्रिपुरमाली), काला धतूरा, गोरक्षकर्कटी (गोरखककड़ी या गुरुम्ही), मेषशृङ्गी (मेढ़ासिंगी) तथा स्नुही (सेंहुड़)॥१–३॥

औषधियों ये भाग प्रदक्षिण क्रम से ऋत्विज् १६, वह्नि ३, भग ८, पक्ष २, मुनि ७, मनु १४, शिव ११, वसुदेवता ८, दिशा १०, शर ५, वेद ४, ग्रह ९, ऋतु ६, सूर्य १२, चन्द्रमा १ तथा तिथि १५–इन सांकेतिक नामों और संख्याओं से गृहीत होते हैं। प्रथम चार औषधियों का अर्थात् भँगरैया, सहदेइया, मोर की शिखा और पुत्रजीवक की छाल–इनका चूर्ण बनाकर इनसे धूप का काम लेना चाहिये। अथवा इनको पानी के साथ पीसकर श्रेष्ठतम उबटन तैयार कर ले और उसको अपने अंगों में लगावे॥४–५॥

तीसरे चतुष्क (चौक) अर्थात् अपराजिता, श्वेतार्क, लाजवन्ती लता और मोहलता–इन चार औषधियों से अंजन तैयार करके उसको नेत्र में गावे तथा चौथे चतुष्क अर्थात् काला धतूरा, गोरखककड़ी, मेढ़ासिंगी और सेंहुड़–इन चार औषधियों से मिश्रित जल के द्वारा स्नान करना चाहिये। भृङ्गराज वाले चतुष्क के बाद का जा द्वितीय चतुष्क अर्थात् अधःपुष्पा, रुद्र दन्ती, कुमारी तथा रुद्र जटा नामक औषधियाँ हैं, उनको पीसकर अनुलेप या उबटन लगाने का विधान है॥६॥

अधःपुष्पा को दाहिने पार्श्व में धारण करना चाहिये तथा लाजवन्ती आदि को वाम पार्श्व में मयूरशिखा को पैर में तथा घृतकुमारी को मस्तक पर धारण करना चाहिये। रुद्रजटा, गोरखककड़ी और मेढ़ाशृङ्गी–इनके द्वारा सभी कार्यों में धूप का काम लिया जाता है। इनको पीसकर उबटन बनाकर जो अपने शरीर में लगाता है, वह देवताओं

धूपस्तु षोडशाद्यस्तु गृहाद्युद्वर्तने स्मृतः। युगाद्याश्चाञ्जने प्रोक्ता वाणाद्याः स्नानकर्मणि॥९॥
रुद्राद्या भक्षणे प्रोक्ताः पक्षाद्याः पानके स्मृताः। ऋत्विग्वेदर्तुनयनैस्तिलकं लोकमोहनम्॥१०॥
सूर्यत्रिदशपक्षैश्च शैलैः स्त्री लेपतो वशा। चन्द्रेन्द्रफणिरुद्रैश्च योनिलेपाद्वशाः स्त्रियः॥११॥
तिथिदिग्युगबाणैश्च गुटिका तु वंशकरी। भक्ष्ये भोज्ये तथा पाने दातव्या गुटिका वशे॥१२॥
ऋत्विग्ग्राहाक्षिशैलैश्च शस्त्रस्तम्भे मुखे धृता। शैलेन्द्रवेदरन्ध्रैश्च अङ्गलेपाज्जले वसेत्॥१३॥
बाणाक्षिमनुरुद्रैश्च गुटिका क्षुत्तृषादिनुत्। त्रिषोडशदिशाबाणैर्लेपात्स्त्री दुर्भगा शुभा॥१४॥
त्रिदशाक्षि दिशानेत्रैर्लेपात्क्रीडेच्च पन्नगैः। त्रिदशाक्षेशभुजगैर्लेपात्स्त्री सूयते सुखम्॥१५॥
(सप्तदिङ्मुनिरन्ध्रैश्च द्यूतजिद्वस्त्रलेपतः। त्रिदशाक्ष्यब्धिमुनिभिर्ध्वजलेपाद्रतौ सुतः)॥१६॥

द्वारा भी सम्पानित होता है। भृङ्गराज आदि चार औषधियाँ, जो धूप के उपयोग में आती हैं, ग्रहादिजनित बाधा दूर करने के लिये उनका उद्वर्तन के कार्य में भी उपयोग बतलाया गया है। युगादि से सूचित लज्जालुका आदि औषधियाँ अञ्जन के लिये बतलायी गयी हैं। बाण आदि में सूचित श्वेतार्क आदि औषधियाँ स्नान-कर्म में उपयुक्त होती हैं। घृतकुमारी आदि औषधियाँ भक्षण करने योग्य कही गयीहैं और पुत्रजीवक आदि से संयुक्त जल का पान बतलाया गया है। ऋत्विक् (भँगरैया), वेद (लाजवन्ती), ऋतु (काल धतूरा) तथा नेत्र (पुत्रजीवक)—इन औषधियों से तैयार किये हुए चन्दन का तिलक सब लोगों को मोहित करने वाला होता है॥७-१०॥

सूर्य (गोरखककड़ी), त्रिदश (काला धतूरा), पक्ष (पुत्रजीवक) और पर्वत (अधःपुष्पा)—इन औषधियों का अपने शरीर में लेप करने से स्त्री वश में होती है। चन्द्रमा (मेढ़ासिंगी), इन्द्र (रुद्रदन्तिका), नाग (मोरशिखा), रुद्र (घीकुआँर)—औषधियों का योनि में लेप करने से स्त्रियाँ वश में होती हैं। तिथि (सेंहुड़), दिक् (अपराजिता), युग (लाजवन्ती) और बाण (श्वेतार्क)—इन औषधियों के द्वारा बनायी हुई गुटिका (गोली) लोगों को वश में करने वाली होती है। किसी को वश में करना हो, तो उसके लिये भक्ष्य, भोज्य और पेय पदार्थ में इसकी एक गोली मिला देनी चाहिये॥११-१२॥

ऋत्विक् (भँगरैया), ग्रह (मोहलता), नेत्र (पुत्रजीवक) तथा पर्वत (अधःपुष्पा)—इन औषधियों को मुख में धारण किया जाय तो इनके प्रभाव से शत्रुओं के चलाये हुए अस्त्र-शस्त्रों का स्तम्भन हो जाता है—वे घातक आघात नहीं कर पाते। पर्वत (अधःपुष्पा), इन्द्र (रुद्रदन्ती), वेद (लाजवन्ती) तथा रन्ध्र (मोहलता)—इन औषधियों का अपने शरीर में लेप करके मनुष्य पानी के अन्दर निवास कर सकता है। बाण (श्वेतार्क), नेत्र (पुत्रजीवक), मनु (रुद्रदन्ती) तथा रुद्र (घीकुआँरि)—इन औषधियों से बनायी हुई बटी भूख, प्यास आदि का निवारण करने वाली होती है। तीन (सहदेइया), सोलह (भँगरैया), दिशा (अपराजिता) तथा बाण (श्वेतार्क)—इन औषधियों का लेप करने से दुर्भगा स्त्री सुभगा बन जाती है। त्रिशद (काला धतूरा), अक्षि (पुत्रजीवक) तथा दिशा (विष्णुक्रान्ता) और नेत्र (सहदेइया)—इन दवाओं का अपने शरीर में लेप करके मनुष्य सर्पों के साथ क्रीडा कर सकता है। इसी तरह त्रिदश (काला धतूरा), अक्षि (पुत्रजीवक), शिव (घृतकुमार) और सर्प (मयूरशिखा) से उपलक्षित दवाओं का लेप करने से स्त्री सुखपूर्वक प्रसव कर सकती है॥१३-१५॥

सात (अधःपुष्पा), दिशा (अपराजिता), मुनि (अधःपुष्पा) तथा रन्ध्र (मोहलता)—इन दवाओं का वस्त्र में लेपन करने से मनुष्य को जूए में विजय प्राप्त होती है। काला धतूरा, नेत्र (पुत्रजीवक), अब्धि (अधःपुष्पा) तथा मनु (रुद्रदन्तिका) से उपलक्षित औषधियों का लिंग में लेप करके रति करने पर जो गर्भाधान होता है, उससे पुत्र की उत्पत्ति होती है। ग्रह (मोहलता), अब्धि (अधःपुष्पा), सूर्य (गोरक्ष कर्कटी) और त्रिदश (काला धतूरा)—इन औषधियों

ग्रहाब्धिसर्प्यंत्रिदशैर्गुटिका स्याद्वशंकरी। ऋत्विग्पदस्थितौ लष (तौष) ध्याः प्रभावः प्रतिपादितः॥१७॥

॥इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते वश्यादियोगवर्णनं नाम चत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः॥१४०॥

अथैकचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः

षट्त्रिंशत्पदज्ञानम्

ईश्वर उवाच

षट्त्रिंशत्यसंस्थानामोषधीनां वदे फलम्। अमरीकरणं नृणां ब्रह्मरुद्रेन्द्रसेवितम्॥१॥
हरीतक्यक्ष्य (क्ष) धात्र्यश्च मरीचं पिप्पली शिफा। वह्निः शुण्डी पिप्पली च गुडूची वचनिम्बकाः॥२॥
वासकः शतमूली च सैन्धवं सिन्धुवारकम्। कण्टकारी मो (गो) क्षुरका बिल्वं पौनर्नवं बला॥३॥
एरण्डमुण्डीरुचको भृङ्गः क्षारोऽथ पर्पटः। धन्याको जीरकश्चैव शतपुष्पी ज (य) वाणि (नि) का॥४॥
विडङ्गः खदिरश्चैव कृतमालो हरिद्रया। वचा सिद्धार्थ एतानि षट्त्रिंशत्पदगानि हि॥५॥
क्रमादेकादिसंज्ञानि ह्योषधानि महान्ति हि। सर्वरोगहराणि स्युरमरीकरणानि च॥६॥

द्वारा बनायी गयी बटी सभी को वश में करने वाली होती है। इस तरह ऋत्विक् आदि सोलह पदों में स्थित औषधियों के प्रभाव का वर्णन किया गया॥१६-१७॥

॥इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी एक सौ चालीसवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ॥१४०॥

अध्याय-१४१

छत्तीस पद निरूपण

महादेव जी ने कहा कि–हे स्कन्द! अधुना मैं छत्तीस पदों (कोष्ठकों) में स्थापित की हुई औषधियों का फल बतलाता हूँ। इन औषधियों के सेवन से मनुष्यों का अमरीकरण होता है। ये औषधि ब्रह्मा, रुद्र तथा इन्द्र के द्वारा उपयोग में लाये गये हैं। हरीतकी (हर्रे), अक्षधात्री (आँवला), मरीच (गोलमिर्च), पिप्पली, शिफा (जटामांसी), वह्नि (भिलावा), शुण्ठी (सोंठ), पिप्पली, गुडुची (गिलोय), वच, निम्ब, वासक (अडूसा), शतमुली (शतावरी), सैंधव (सेंधानमक), सिन्धुवार, कण्टकारि (कटेरी), गोक्षुर (गोखरु), बिल्व (बेल), पुनर्नवा (गदहपूर्णा), बला (बरियारा), रेंड़, मुण्डी, रुचक (बिजौरा नीबू), भृङ्ग (दालचीनी), क्षार (खारा नमक या यवक्षार), पर्पट (पित्तपापड़ा), धन्याक (धनिया), जीरक (जीरा), शतुपुष्पी (सौंफ), यवानी (अजवाइन), विडङ्ग (वायविडंग), खदिर (खैर), कृतमाल (अमलतास), हल्दी, वचा, सिद्धार्थ (सफेद सरसों)–ये छत्तीस पदों में स्थापित औषधि है॥१-५॥

क्रमशः एक-दो आदि संख्या वाले ये महान् औषधि समस्त रोगों को दूर करने वाले तथा अमर बनाने वाले हैं; इतना ही नहीं, उपरोक्त सभी कोष्ठों के औषधि शरीर में झुर्रियाँ नहीं पड़ने देते और बालों का पकना रोग देते हैं।

वलीपलितभेतृणि सर्वकोष्ठगतानि तु। एषां चूर्णं च वटिका रसेन परिभाविता॥७॥
अवलेहः कषायो वा मोदको गुडखण्डकः। मधुतो घृततो वाऽपि घृतं तैलमथापि वा॥८॥
सर्वात्मनोपयुक्तं हि मृतसंजीवनं भवेत्। कर्षार्धं कर्षमेकं वा पलार्धं पलमेककम्॥९॥
यथेष्टाचारनिरतो जीवेद्वर्षशतत्रयम्। मृतसंजीवनीकल्पे योगो नास्मात्परोऽस्ति हि॥१०॥
प्रथमान्नवकाद्योगात्सर्वरोगैः प्रमुच्यते। द्वितीयाच्च तृतीयाच्च चतुर्थान्मुच्यते रुजः॥११॥
एवं षट्काच्च प्रथमाद्द्वितीयाच्च तृतीयतः। चतुर्थात्पञ्चमात्षष्ठास्तथा नव चतुष्कतः॥१२॥
एकद्वित्रिचतुष्पञ्चषट्सप्ताष्टमतोऽनिलात्। अग्निभास्करषड्विंशसप्तविंशैश्च पित्ततः॥१३॥
बाणर्तुशैलव सुभिस्तिथिभिर्मुच्यते कफात्। वेदाग्निभिर्बाणगुणैः षड्गुणैः स्याद्वशे धृते॥१४॥
ग्रहादिग्रहणान्तैश्च सर्वैरेव विमुच्यते। एकद्वित्रिरसैः शैलैर्वसुग्रहशिवैः क्रमात्॥१५॥
द्वात्रिंशत्तिथिसूर्यैश्च नात्र कार्या विचारणा। षट्त्रिंशत्पदकज्ञानं न देयं यस्य कस्यचित्॥१६॥

॥इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गति षट्त्रिंशत्पदकज्ञानाख्यानं नामैकचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः॥१४१॥

इनका चूर्ण या इनके रस से भावित बटी, अवलेह, कषाय (काढ़ा), लड्डू या गुडखण्ड यदि घी या मधु के साथ खाया जाय, अथवा इनके रस से भावित घी या तेल का जिस किसी तरह से भी उपयोग किया जाय, वह सर्वथा मृतसंजीवन (मुर्दे को भी जिलाने वाला) होता है। आधे कर्ष या एक कर्ष भर अथवा आधे पल या एक पल के तोल में इसका उपयोग करने वाला पुरुष यथेष्ट आहार-विहार में तत्पर होकर तीन सौ वर्षों तक जीवित रहता है। मृतसंजीवनी-कल्प में इससे बढ़कर दूसरा योग नहीं है।।६-१०।।

नौ-नौ औषधियों के समुदाय को एक 'नवक' कहते हैं। इस तरह कथित छत्तीस औषधियों में चार नवक होते हैं। प्रथम नवक के योग से बनी हुई औषधि का सेवन करन से मनुष्य सब रोगों से छुटकारा पा जाता है, इसी तरह दूसरे, तीसरे और चौथे नवक के योग का सेवन करने से भी मनुष्य रोगमुक्त होता है। इसी तरह पहले, दूसरे, तीसरे, चौथे, पाँचवें और छठें षट्क के सेवन मात्र से भी मनुष्य नीरोग हो जाता है। कथित छत्तीस औषधियों में नौ चतुष्क होते हैं। उनमें से किसी एक चतुष्क के सेवन से भी मनुष्य के सारे रोग दूर हो जाते हैं। प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ, पञ्चम, षष्ठ, सप्तम और अष्टम कोष्ठ की औषधियों के सेवन से वात-दोष से छुटकारा मिलता है। तीसरी, बारहवीं, छब्बीसवीं और सत्ताईसवीं औषधियों के सेवन से पित्त-दोष दूर होता है तथा पाँचवीं, छठी, सातवीं, आठवीं और पन्द्रहवीं औषधियों के सेवन से कफ-दोष की निवृत्ति होती है। चौंतीसवें, पैंतीसवें और छत्तीसवें कोष्ठ की औषधियों को धारण करने से वशीकरण की सिद्धि होती है तथा ग्रहबाधा, भूतबाधा आदि से लेकर निग्रहपर्यन्त सारे संकटों से छुटकारा मिल जाता है।।११-१४।। प्रथम, द्वितीय, तृतीय, षष्ठ, सप्तम, अष्टम, नवम, एकादश संख्या वाली औषधियों तथा बत्तीसवीं, पंन्द्रहवीं एवं बारहवीं संख्या वाली औषधियों को धारण करने से भी कथित फल की प्राप्ति (वशीकरण की सिद्धि एवं भूतादि बाधा की निवृत्ति होती है। इसमें कोई अन्यथा विचार नहीं करना चाहिये। छत्तीस कोष्ठों में निर्दिष्ट की गयी इन औषधियों का ज्ञान जिस प्रकार-तैसे हर व्यक्ति को नहीं देना चाहिये।।१५-१६।।

॥इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी एक सौ एकतालिसवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ॥१४१॥

❖❖❖

अथ द्विचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः

मन्त्रौषधादि

ईश्वर उवाच

मन्त्रौषधानि चक्राणि वक्ष्ये सर्वप्रदानि च। चौरनाम्नो वर्णगुणो विघ्नो मात्राश्चतुर्गुणाः।।१।।
नाम्ना हते भवेच्छेषश्चौरोऽथ जातकं वदे। प्रश्ने ये विषमा वर्णास्ते गर्भे पुत्रजन्मदाः।।२।।
नामवर्णैः समैः काणो वामेऽक्ष्णि विषमैः पुनः। दक्षिणाक्षि भवेत्काणं स्त्रीपुंनामाक्षरस्य च।।३।।
मात्रावर्णाश्चतुर्निघ्ना वर्णपिण्डे गुणे कृते। समे स्त्री विषमे ना स्याद्विशेषे च मृतिः स्त्रियाः।।४।।
प्रथमं रूपशून्येऽथ प्रथमं म्रियते पुमान्। प्रश्नं सूक्ष्माक्षरैर्गृह्य द्रव्यैर्भोगेऽखिले मतम्।।५।।
शनिचक्रं प्रवक्ष्यामि तस्य दृष्टिं परित्यजेत्। राशिस्थः सप्तमे दृष्टिश्चतुर्दशशतेऽर्धिका।।६।।

अध्याय-१४२

मन्त्र-औषधि आदि निरूपण

भगवान् महेश्वर ने कहा कि-हे स्कन्द! अधुना मैं मन्त्र-चक्र तथा ओषध चक्रों का वर्णन करने जा रहा हूँ, जो सम्पूर्ण मनोरथों को देने वाले हैं। जिन-जिन व्यक्तियों के ऊपर चोरी करने का संदेह हो, उसके लिये किसी वस्तु (वृक्ष, फूल या देवता आदि) का नाम बोले। उस वस्तु के नाम के अक्षरों की संख्या को दुगुनी। करके एक स्थान पर रखे तथा उस नाम की मात्राओं की संख्या में चार से गुणा करके गुणलफल को दूसरे स्थान पर रखे। पहली संख्या से दूसरी संख्या में भाग देना चाहिये। यदि कुछ शेष बचे तो वह व्यक्ति चोर है। यदि भाजक से भाज्य पूरा-पूरा कट जाय तो यह समझना चाहिये कि वह व्यक्ति चोर नहीं हैं।।१।। अधुना यह बता रहा हूँ कि गर्भ में जो बालक है, वह पुत्र है या कन्या, इसका निश्चय किस तरह किया जाना चाहिये? ऐसे में कहना होगा कि प्रश्न करने वाले व्यक्ति के प्रश्न-वाक्य में जो-जो अक्षर उच्चारित होते हैं, वे सब मिलकर यदि विषम संख्या वाले हैं तो गर्भ में पुत्र की उत्पत्ति सूचित करते हैं। अन्यथा कन्या की उत्पत्ति होने की सूचना मिलती है। प्रश्न करने वाले से किसी वस्तु का नाम लेने के लिये कहना चाहिये। वह जिस वस्तु के नाम का उल्लेख करता हो, वह नाम यदि स्त्रीलिंग है तो उसके अक्षरों के सम होने पर पूछे गये गर्भ से उत्पन्न होने वाला बालक बायीं आँख का काना होता है। यदि वह नाम पुँलिंग है और उसके अक्षर विषम हैं तो उत्पन्न होने वाला बालक दाहिनी आँख का काना होता है। इसके विपरीत होने पर रक्त दोष नहीं होते हैं। स्त्री और पुरुष के नामों की मात्राओं तथा उनके अक्षरों की संख्या में पृथक्-पृथक् चार से गुणा करके गुणनफल को पृथक्-पृथक् रखे। पहली संख्या 'मात्रा-पिण्ड' है और दूसरी संख्या 'वर्ण-पिण्ड'। वर्ण-पिण्ड में तीन से भाग देना चाहिये। यदि सम शेष हो, तो कन्या की उत्पत्ति होती है, विषम शेष हो, तो पुत्र की उत्पत्ति होती है। यदि शून्य शेष हो, तो पति से पहले स्त्री की मृत्यु होती है और यदि प्रथम 'मात्रापिण्ड' में तीन से भाग देने पर शून्य शेष रहे तो स्त्री से पहले पुरुष की मृत्यु होती है। समस्त भाग में सूक्ष्म अक्षर वाले द्रव्यों द्वारा प्रश्न को ग्रहण करके विचार करने से अभीष्ट फल का ज्ञान होता है।।२-५।। अधुना मैं शनि-चक्र का वर्णन करने जा रहा हूँ। जहाँ शनि की दृष्टि हो, उस लग्न का सर्वथा परित्याग कर देना चाहिये। जिस राशि में शनि स्थित होते हैं, उससे सातवीं राशि पर उनकी पूर्ण दृष्टि रहती है, चौथी और दसवीं पर आधी दृष्टि रहती है तथा पहली, दूसरी, आठवीं और बारहवीं राशि पर चौथाई दृष्टि रहती है। शुभकर्म में इन सभी का त्याग करना चाहिये। जिस दिन का जो ग्रह अधिपति हो, उस दिन का प्रथम पहर उसी ग्रह का होता है और शेष ग्रह उस दिन के आधे-आधे पहर के अधिकारी

एकद्व्यष्टद्वादशमः पाददृष्टिश्च तत्त्यजेत्। दिनाधिपः प्रहरभाक्शेषा यामार्धभागिनः।।७।।
शनिभागं त्यजेद्युद्धे दिनराहुं वदामि ते। रवौ पूर्वेऽनिले मन्दे गुरौ याम्येऽनले भृगौ।।८।।
अग्नौ कुजे भवेत्सौम्ये स्थिते राहुर्बुधे सदा। फणिराहुस्तु प्रहरमैशे वह्नौ च राक्षसे।।९।।
वायौ संवेष्टयित्वा च शत्रुं हन्तीशसम्मुखम्। तिथिराहुं प्रवक्ष्यामि पूर्णिमाऽऽग्नेयगोचरे।।१०।।
अमावास्यां वायवे च राहुः सम्मुखशत्रुहा। काद्या जान्ताः सम्मुखे स्युर्झाद्या दान्ताश्च दक्षिणे।।११।।
शुक्ले त्यजेत्कुज गुणान्धाद्या मान्ताश्च पूर्वतः। याद्या हान्ता उत्तरे स्युस्तिथिदृष्टं विवर्जयेत्।।१२।।
पूर्वाश्च दक्षिणास्तिस्त्रो रेखा वै मूलभेदके। सूर्यराश्यादि संलिख्य दृष्टौ हानिर्जयोऽन्यथा।।१३।।
विष्टिराहुं प्रवक्ष्यामि अष्टौ रेखास्तु पातयेत्। शिवाद्यमं यमाद्वायुं वायोरिन्द्रं ततोऽम्बुपम्।।१४।।
नैर्ऋताच्च नयेच्चन्द्रं चन्द्रादग्निं ततो जले। जलादीशे चरेद्राहुर्विष्ट्या सह महाबलः।।१५।।
ऐशान्यां च तृतीयादौ सप्तम्यादौ च याम्यके। एवं कृष्णे सिते पक्षे वायौ राहुश्च हन्त्यरीन्।।१६।।
इन्द्रादीन्भैरवादींश्च ब्रह्माण्यादीन्ग्रहादिकान्। अष्टाष्टकं च पूर्वादौ याम्यादौ वातयोगिनीम्।।१७।।

होते हैं। दिन में जो समय शनि के भाग में पड़ता है, उसको युद्ध में छोड़ देना चाहिये।६-७।। अधुना मैं आपको दिन में राहु की स्थिति का विषय बता रहा हूँ। राहु रविवार को पूर्व में, शनिवार को वायव्यकोण में गुरुवार मों दक्षिण में, शुक्रवार को अग्निकोण में, मंगलवार को भी अग्निकोण में तथा बुधवार को सदा उत्तर दिशा में स्थित रहते हैं। फणि-राहु, ईशान, अग्नि, नैर्ऋत्य एवं वायव्यकोण में एक-एक पहर रहते हैं और युद्ध में अपने सामने खड़े हुए शत्रु को आवेष्टित करके मार डालते हैं।।८-९।। अधुना मैं तिथि-राहु का वर्णन करने जा रहा हूँ। पूर्णिमा को अग्नि-कोण में राहु की स्थिति होती है और अमावास्या को वायव्यकोण में। सम्मुख राहु शत्रु का विनाश करने वाले हैं। पश्चिम से पूर्व की तरफ तीन खड़ी रेखाएँ खींचे और फिर इन मूलभूत रेखाओं का भेदन करते हुए दक्षिण से उत्तर की तरफ तीन पड़ी रेखाएँ खीचे। इस तरह प्रत्येक दिशा में तीन-तीन रेखाग्र होंगे। सूर्य जिस राशि पर सिथत हों, उसको सामने वाली दिशा में लिखकर क्रमशः बारहों राशियों को प्रदक्षिण-क्रम से उन रेखाग्रों पर लिखे। तत्पश्चात् 'क' से लेकर 'ज' तक के अक्षरों को सामने की दिशा में लिखे। 'झ' से लेकर 'द' तक के अक्षर दक्षिण दिशा में स्थित रहें, 'ध' से लेकर 'म' तक के अक्षर पूर्व दिशा में लिखे जायँ और 'य' से लेकर 'ह' तक के अक्षर उत्तर दिशा में अङ्कित हों। ये राहु के गुण या चिह्न बताये गये हैं। शुक्लपक्ष में इनका त्याग करना चाहिये तथा तिथि राहु की सम्मुख दृष्आि का भी त्याग करना चाहिये। राहु की दृष्टि सामने हो, तो हानि होती है; अन्यथा विजय प्राप्त होती है।।१०-१३।। अधुना 'विष्टि-राहु' का वर्णन करने जा रहा हूँ। निम्नांकित रूप से आठ रेखाएँ खींचे—ईशानकोण से दक्षिण दिशा तक, दक्षिण दिशा से वायव्यकोण तक, वायव्यकोण से पूर्व दिशा तक, वहाँ से नैर्ऋत्यकोण तक, नैर्ऋत्यकोण से उत्तर दिशा तक, उत्तर दिशा से अग्निकोण तक, अग्निकोण से पश्चिम दिशा तक तथा पश्चिम दिशा से ईशानकोण तक। इन रेखाओं पर विष्टि (भद्रा) के साथ महाबली राहु विचरण करते हैं। कृष्ण पक्ष की तृतीयादि तिथियों में विष्टिराहु की स्थिति ईशानकोण में होती है और सप्तमी आदि तिथियों में दक्षिण दिशा में। इसी तरह शुक्लपक्ष की अष्टमी आदि में उनकी स्थिति नैर्ऋत्यकोण में होती है और चतुर्थी आदि में उत्तर दिशा में इस तरह कृष्ण एवं शुक्लपक्ष में वायु के आश्रित रहने वाले सम्मुख राहु शत्रुओं का विनाश करते हैं। विष्टि राहुचक्र की पूर्व आदि दिशाओं में इन्द्र आदि आठ दिक्पालों, महाभैरव आदि आठ महाभैरवों, ब्रह्माणी आदि आठ शक्तियों तथा सूर्य आदि आठ ग्रहों को स्थापित करना चाहिये। पूर्व आदि प्रत्येक दिशा में ब्रह्माणी आदि आठ शक्तियों के आठ अष्टकों की भी स्थापना करनी चाहिये। दक्षिण आदि दिशाओं में वातयोगिनी का उल्लेख करना चाहिये। वायु जिस दिशा में बहती

यां दिशं वहते वायुस्तत्रस्थो घातयेदरीन्। दृढीकरणमाख्यास्ये कण्ठे बाह्वादिधारिता॥१८॥
पुष्पोद्धता काण्डलक्ष्यं वारयेच्छरपुङ्खिका। तथाऽपराजितापाठाद्द्वाभ्यां खड्गं निवारयेत्॥१९॥
ॐ नमो भवगति वज्रशृङ्खले हन हन, ॐ भक्ष भक्ष, ॐ खाद, ओम् अरे रक्तं पिब कपालेन रक्ताक्षि रक्तपटे भस्माङ्गि भस्मलिप्तशरीरे वज्रायुधे वज्रप्राकारनिचिते पूर्वां दिशं बन्ध बन्ध, दक्षिणां दिशि बन्ध बन्ध ओमुत्तरां दिशि बन्ध बन्ध, पश्चिमां दिशि बन्ध बन्ध (नागान्बन्ध बन्ध नागपत्नीर्बन्ध बन्ध, ओमसुरान्बन्ध बन्ध ॐ) यक्ष-राक्षसपिशाचान्बन्ध बन्ध, ॐ प्रेतभूतगन्धर्वादयो ये केचिदुपद्रवास्तेभ्यो रक्ष रक्ष, ओमूर्ध्वं रक्ष रक्ष, अधो रक्ष रक्ष, ॐ क्षुरिकं बन्ध बन्ध, ॐ ज्वल महाबले घटि घटि, ॐ मोटि मोटि सटावलिवज्राग्निवज्रप्राकारे हुं फट्, ह्रीं ह्रूं श्रीं फट्, ह्रीं हः, फूं फें फः सर्वग्रहेभ्यः सर्वव्याधिभ्यः सर्वदुष्टोपद्रवेभ्यो ह्रीमशेषेभ्यो रक्ष रक्ष॥२०॥
ग्रहज्वरादिभूतेषु सर्वकर्मसु योजयेत्॥२१॥

॥इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते मन्त्रौषधादिवर्णनं नाम द्विचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्याय:॥१४२॥

—※※※—

है, उसी दिशा में इन सबके साथ रहकर राहु शत्रुओं का विनाश करता है॥१४-१७॥ अधुना मैं अङ्गों को सुदृढ़ करने का उपाय बता रहा हूँ। पुष्य नक्षत्र में उखाड़ी हुई तथा निम्नांकित अपराजिता-मन्त्र का जप करके कण्ठ अथवा भुजा आदि में धारण की हुई शरपुंखि का (सरफों का' नामक औषधि) विपक्षी के बाणों का लक्ष्य बनने से बचाती है। इसी तरह पुष्य में उखाड़ी 'अपराजिता' एवं 'पाठा' नामक औषधि को भी यदि मन्त्रपाठपूर्वक कण्ठ और भुजाओं में धारण किया जाय तो उन दोनों के प्रभाव से मनुष्य तलवार के वार को बचा सकता है॥१८-१९॥

अपराजिता-मन्त्र इस तरह है–**ॐ नमो भगवति वज्रशृङ्खले हन हन, ॐ भक्ष भक्ष, ॐ खाद, ॐ अरे रक्तं पिब कपालेन रक्ताक्षि रक्तपटे भस्माङ्गि भस्मलिप्तशरीरे वज्राबुधे वज्रप्राकारनिचिते पूर्वां दिशं बन्ध बन्ध, ॐ दक्षिणां दिशं बन्ध बन्ध, ॐ पश्चिमां दिशं बन्ध बन्ध, ॐ उत्तरां दिशं बन्ध बन्ध, नागान् बन्ध बन्ध, नागपत्नीर्बन्ध बन्ध, ॐ असुरान् बन्ध बन्ध, ॐ यक्षराक्षसपिशाचान् बन्ध बन्ध, ॐ प्रेतभूतगन्धर्वादयो ये केचिदुपद्रवास्तेभ्यो रक्ष रक्ष, ॐ ऊर्ध्वं रक्ष रक्ष, ॐ अधो रक्ष रक्ष, ॐ क्षुरिकं बन्ध बन्ध, ॐ ज्वल महाबले। घटि घटि, ॐ मोटि मोटि, सटावलिवज्राग्नि वज्रप्राकारे हुं फट्, ह्रीं ह्रूं श्रीं फट् ह्रीं हः फूं फें सर्वग्रहेभ्यः सर्वव्याधिभ्यः सर्वदुष्टोपद्रवेभ्यो ह्रीं अशेषेभ्यो रक्ष रक्ष॥२०॥**

ग्रहपीड़ा, ज्वर आदि की पीड़ा तथा भूतबाधा आदि के निवारण –इन सभी कर्मों में इस मन्त्र का उपयोग करना चाहिये॥२१॥

॥इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी एक सौ बयालिसवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ॥१४२॥

❖❖❖

अथ त्रिचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः

कुब्जिकापूजा

ईश्वर उवाच

कुब्जिकाक्रमपूजां च वक्ष्ये सर्वार्थसाधनीम्। ययाऽसुरा जिता देवैः शस्त्राद्यै राज्यसंयुतैः।।१।।
मायाबीजं च गुह्याङ्गे षट्कमस्त्रं करे न्यसेत्। काली कालीति हृदयं दुष्टचाण्डालिका शिरः।।२।।
ह्रीं स्फें ह स ख क छ ड ओंकारो भैरवः शिखा। भेलखी कवचं दूतीनेत्राख्या रक्तचण्डिका।।३।।
ततो गुह्यकुञ्जिकास्त्रं मण्डले स्थानके यजेत्। अग्नौ कूर्चशिरो रुद्रे नैर्ऋत्येऽथ शिखाऽनिले।।४।।
कवचं मध्यतो नेत्रमस्त्रं दिक्षु च मण्डले। द्वात्रिंशता कर्णिकायां स्त्रौं हसक्षमलनववषट्सचात्ममन्त्रबीजकम्।।५।।
ब्रह्माणी चैव माहेशी कौमारी वैष्णवी तथा। वाराही चैव माहेन्द्री चामुण्डा चण्डिकेन्द्रकात्।।६।।
यजेद्रवलकसहाञ्शिवेन्द्राग्नियमेऽग्निपे। जले तु कुसुममालामद्रिकाणां च पञ्चकम्।।७।।
जालंधरं पूर्णगिरिं कामरूपं क्रमाद्यजेत्। (मरुदीशाग्निनैर्ऋत्ये मध्ये वै वज्रकुब्जिकाम्।।८।।

अध्याय-१४३

कुब्जिका पूजन विधान

महादेव जी ने कहा कि–हे स्कन्द! अधुना मैं कुब्जिका की क्रमिक पूजा का वर्णन करने जा रहा हूँ, जो समस्त मनोरथों को सिद्ध करने वाली है। 'कुब्जिका' वह शक्ति है, जिसकी सहायता से राज्य पर स्थित हुए देवताओं ने अस्त्र-शस्त्रादि से असुरों पर विजय पायी है।।१।।

मायाबीज 'ह्रीं' तथा हृदयादि छः मन्त्रों का क्रमशः गुह्याङ्ग एवं हाथ में न्यास करना चाहिये। **'काली काली'**–यह हृदय मन्त्र है। **'दुष्ट चाण्डालिका**–यह शिरोमन्त्र है। **'ह्रीं स्फेंह से ख क छ ड ओंकारों भैरवः'**–यह शिखा सम्बन्धी मन्त्र है। **'भेलखी दूती'**–यह कवच सम्बन्धी मन्त्र है। **'रक्तचण्डिका'**–यह नेत्र समबन्धी मन्त्र है। तथा **'गुह्यकुब्जिका'**–यह अस्त्र-सम्बन्धी मन्त्र है। अङ्गों और हाथों में इनका न्यास करके मण्डल में यथास्थान इनका पूजन करना चाहिये।।२-३।।

मण्डल के अग्निकोण में कूर्च बी (हूं), ईशानकोण में शिरोमन्त्र (स्वाहा), नैर्ऋत्यकोण में शिखामन्त्र (वषट्) वायव्यकोण में कवचमन्त्र (हुम्), मध्यभाग में नेत्रमन्त्र (वौषट्) तथा मण्डल की सम्पूर्ण दिशाओं में अस्त्र-मन्त्र (फट्) का उल्लेख एवं पूजन करना चाहिये। बत्तीस अक्षरों से युक्त बत्तीस दल वाले कमल की कर्णिका में **'स्त्रौं ह स क्ष म ल न व ब ष ट स च'** तथा अत्मबीज मन्त्र (आम्) का न्यास एवं पूजन करना चाहिये। कमल के सभी तरफ पूर्व दिशा से प्रारम्भ करके क्रमशः ब्रह्माणी, माहेश्वरी, कौमारी, वैष्णवी, वाराही, माहेन्द्री, चामुण्डा और चण्डिका (महालक्ष्मी) का न्यास एवं पूजन करना चाहिये।।४-६।।

तत्पश्चात् ईशान, पूर्व, अग्निकोण, दक्षिण, नैर्ऋत्य और पश्चिम में क्रमशः र, व, ल, क, स और ह–इनका न्यास और पूजन करना चाहिये। फिर इन्हीं दिशाओं में क्रमशः कुसुममाला एवं पाँच पर्वतों का स्थापन एवं पूजन करना चाहिये। पर्वतों के नाम हैं–जालन्धर, पूर्णगिरि और कामरूप आदि। तत्पश्चात् वायव्य, ईशान, अग्नि और नैर्ऋत्यकोण

अनादि विमलः पूज्यः सर्वज्ञविमलस्ततः। प्रसिद्धविमलश्चाथ संयोगविमलस्ततः॥९॥
समयाख्योऽथ विमल एतद्विमलपञ्चकम्। मरुदीशाननैर्ऋत्ये वह्नौ चोत्तरशृङ्गके॥१०॥
कुब्जार्थं खिङ्खिनी षष्ठी सोपन्ना सुस्थिरा तथा। रत्नसुन्दरी चैशाने शृङ्गे चाऽऽष्टादिनाथकाः॥११॥
मित्र औडीशषष्ठ्याख्यौ वर्षा अग्न्यम्बुपेऽनिले। भवेद्गगनरत्नं स्याच्चाऽऽप्ये कवचरत्नकम्॥१२॥
ब्रुं मर्त्यः पञ्चनामाख्यो मरुदीशानवह्निगः। याम्याग्नेये पञ्चरत्नं ज्येष्ठा रौद्री तथाऽन्तिका॥१३॥
तिस्रो ह्यासां महावृद्धाः पञ्चप्रणवतोऽखिलाः। सप्तविंशत्यष्टाविंशभेदात्संपूजनं द्विधा॥१४॥
ॐ एं गूं क्रमगणपतिं प्रणवं बटुकं यजेत्। चतुरस्रे मण्डले च दक्षिणे गणपं यजेत्)॥१५॥
वामे च बटुकं कोणे गुरुन् षोडशनाथकान्। वायव्यादौ चाष्ट (ष्टा) दश प्रतिषट्कोणके ततः॥१६॥
ब्रह्माद्याश्चाष्ट परितस्तन्मध्ये न नवात्मकः। कुब्जिका कुलटा चैव क्रमपूजा तु सर्वदा॥१७॥

॥इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गति कुब्जिकापूजाकथनं नाम त्रिचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः॥१४३॥

—✻✻✻—

में तथा मध्यभाग में वज्रकुब्जिका का पूजन करना चाहिये। इसके बाद वायव्य, ईशान, नैर्ऋत्य, अग्नि तथा उत्तर शिखर पर क्रमशः अनादि विमल, तथा समय विमल—इन पाँच विमलों की पूजा करनी चाहिये। इन्हीं शृङ्गों पर कुब्जिका की प्रसन्नता के लिये क्रमशः खिङ्खिनी, षष्ठी, सोपन्ना, सुस्थिरा तथा रत्नसुन्दरी का पूजन करना चाहिये। ईशानकोणवर्ती शिखर पर आठ आदिनाथों की आराधना करना चाहिये।॥७-११॥

अग्निकोणवर्ती शिखर पर मित्र की, पश्चिमवर्ती शिखर पर औडीश वर्ष की तथा वायव्यकोणवर्ती शिखर पर षष्टि नामक वर्ष की पूजा करनी चाहिये। पश्चिमदिशावर्ती शिखर पर गगनरत्न और कवचरत्र की अर्चना की जानी चाहिये। वायव्य, ईशान और अग्निकोण में 'ब्रुं' बीजसहित 'पञ्चनामा' संज्ञक मर्त्य की पूजा करनी चाहिये। दक्षिण दिशा और अग्निकोण में 'पञ्चरत्न' की अर्चना करनी चाहिये। ज्येष्ठा, रौद्री तथा अन्तिका—ये तीन संख्याओं की अधिष्ठात्री देवियाँ भी उसी दिशा में पूजने योग्य हैं। इनके साथ सम्बन्ध रखने वाली पाँच महावृद्धाएँ हैं, उन सबकी प्रणव के उच्चारणपूर्वक पूजा करनी चाहिये। इनका पूजन सत्ताईस अथवा अट्ठाईस के भेद से दो तरह का बतलाया गया है।॥१२-१४॥

चतुरस्र मण्डल में दाहिनी तरफ णपति का तथा बायीं तरफ वटुक का पूजन करना चाहिये। '**ॐ एं गूं क्रमगणपतये नमः।**' इस मन्त्र से क्रमगणपति की तथा '**ॐ वटुकाय नमः।**' इस मन्त्र से वटुक की पूजा रके। वायव्य आदि कोणों में चार गुरुओं का तथा अठारह षट्कोणों में सोलह नाथों का पूजन करना चाहिये। फिर मण्डल के चारों तरफ ब्रह्मा आदि आठ देवताओं की तथा मध्यभाग में नवमी कुब्जि का एवं कुलटा देवी की पूजा करनी चाहिये। इस तरह सदा इसी क्रम से पूजा करनी चाहिये।॥१५-१७॥

॥इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी एक सौ तिरालिसवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ॥१४३॥

❖❖❖

अथ चतुश्चत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः

कुब्जिकापूजा

ईश्वर उवाच

श्रीमतीं कुब्जिकां वक्ष्ये धर्मार्थादिजयप्रदाम्। पूजयेन्मूलमन्त्रेण परिवारयुतेन वा॥१॥
ओम् ऐं ह्रौं श्रीं खैं ह्रें हसक्षमलचवयं भगवति, अम्बिके ह्रांह्रीं क्षीं क्षौं क्ष्रूं क्रीं कुब्जिके ह्राम, ॐ ङ ञ न ण मेऽघोरमुखि व्रां छ्रां छीं किलि किलि क्षौं विच्चे ख्यों श्रीं क्रोम्, ओं ह्रोम ऐं वज्रकुब्जिनि स्त्रीं त्रैलोक्यकर्षिणि ह्रीं कामाङ्गद्राविणि ह्रीं स्त्रीं महाक्षोभकारिणि, ऐं ह्रीं क्षौम्, ऐं ह्रीं श्रीं फें क्षौं नमो भगवति क्ष्रौं कुब्जिके ह्रों ह्रों क्रैं ङञणनमेऽघोरमुखि छ्रां छां विच्चे, ॐ किलि किलि॥२॥
कृत्वा कराङ्गन्यासं च सन्ध्यावन्दनमाचरेत्। वामा ज्येष्ठा तथा रौद्री सन्ध्यात्रयमनुक्रमात्॥३॥
कुलवागीशि विद्महे। महाकालीति धीमहि। तन्नः कौली प्रचोदयात्॥४॥
मन्त्राः पञ्च प्रणवाद्याः पादुकां पूजयामि च। मध्ये नाम चतुर्थ्यन्तं द्विनवात्मकबीजकाः॥५॥
नमोन्ता वाऽथ षष्ट्या तु सर्वे ज्ञेया वदामि तान्। कौलीशनाथः सुकला जन्मतः कुब्जिका ततः॥६॥

अध्याय-१४४

पुनः कुब्जिका पूजन विधान

भगवान् महेश्वर ने कहा कि–हे स्कन्द! अधुना मैं धर्म, अर्थ, काम तथा विजय सम्प्रदान करने वाली श्रीमती कुब्जिका देवी के मन्त्र का वर्णन करने जा रहा हूँ। परिवार सहित मूलमन्त्र से उनकी पूजा करनी चाहिये॥१॥

'ॐ हें ह्रीं, श्रीं खैं ह्रें हसक्षमलचवयं भगवति अम्बिके ह्रां ह्रीं क्षीं क्षूं क्रीं कुब्जिके ह्राम् ॐ ङञनणमेऽअघोरमुखि व्रां छ्रां छीं किलि किलि क्षौं विच्चे ख्यों श्रीं क्रोम् ॐ ह्रोम्, ऐं वज्रकुब्जिनि स्त्रीं त्रैलोक्यभकारिणि ऐं ह्रीं क्षौं ऐं ह्रीं श्रीं फें क्षौं नमो भगवति क्ष्रौं कुब्जिके ह्रों ह्रों क्कं ङञणनमे अघोरमुखि छ्रां छां विच्चे, ॐ किलि किलि।'–यह कुब्जिका मन्त्र है॥२॥

करन्यास और अङ्गन्यास करके संख्या-वन्दन करना चाहिये। वामा, ज्येष्ठा तथा रौद्री –ये क्रमशः तीन संध्याएँ कही गयी हैं॥३॥

कौली गायत्री–'कुलवागीशि विद्महे, महाकौलीति धीमहि। तन्नः कौली प्रचोदयात्।' 'कुलवागीश्वरि! हम आपको जानें। महाकौली के रूप में आपका चिन्तन करें। कौली देवी हमें शुभ कर्मों के लिये प्रेरित करना चाहियें'॥४॥

इसके पाँच मन्त्र हैं, जिनके आदि में 'प्रणव' और अन्त में 'नमः' पद का प्रयोग होता है। मध्य में पाँच नाथों के नाम हैं; अन्त में **'श्रीपादुकां पूजयामि'**–इस पद को जोड़ना चाहिये। मध्य में देवता का चतुर्थ्यन्त नाम जोड़ देना चाहिये। इस तरह ये पाँचों मन्त्र लगभग अठारह-अठारह अक्षरों के होते हैं। इन सबके नामों के षष्ठी विभक्ति के साथ संयुक्त करना चाहिये। इस तरह वाक्य-योजना करके इनके स्वरूप समझने चाहिये। मैं उन पाँचों नाथों का

श्रीकण्ठनाथः कौलेशो गगनानन्दनाथकः। चटुला देवी मैत्रीशी कराली तूर्णनाथकः॥७॥
अतलदेवी श्रीचन्द्रा देवीत्यन्तास्ततस्त्विमे। भगात्मपुंगणदेवमोहिनीं पादुकां यजेत्॥८॥
अतीतभुवनानन्दरत्नाढ्यां पादुकां यजेत्। ब्रह्मज्ञानाऽथ कमला परमा विद्यया सह॥९॥
विद्या देवी गुरुशुद्धिस्त्रिशुद्धिं प्रवदामि ते। गगनश्चटुली चाऽऽत्मा पद्मानन्दो मणिः कला॥१०॥
कमलो माणिक्यकण्ठो गगनः कुमुदस्ततः। श्रीपद्मो भैरवानन्दो देवः कमल इत्यतः॥११॥
शिवो भवोऽथ कृष्णश्च नव सिद्धाश्च षोडश। चन्द्रपूरोऽथ गुल्मश्च शुभः कामोऽतिमुक्तकः॥१२॥
कण्ठो वीरः प्रयोगोऽथ कुशलो देवभोगकः। विश्वदेवः खड्गदेवो रुद्रो धाताऽसिरेव च॥१३॥
मुद्रास्फोटो वंशपूरो भोजः षोडश सिद्धकाः। समयान्यस्तु देहस्तु षोढान्यासेन यन्त्रितः॥१४॥
प्रक्षिप्य मण्डले पुष्पं मण्डलान्यथ पूजयेत्। अनन्तं च महान्तं च सर्वदा शिवपादुकाम्॥१५॥
महाव्याप्तिं च शून्यं च पञ्चतत्त्वात्ममण्डलम्। श्रीकण्ठनाथपादुकां शंकरानन्तकौ यजेत्॥१६॥
सदाशिवः पिङ्गलश्च भृग्वानन्दश्च नाथकः। लाङ्गूलानन्दसंवर्तौ मण्डलस्थानके यजेत्॥१७॥
नैर्ऋत्ये श्रीमहाकालः पिनाकी च महेन्द्रकः। खड्गो भुजङ्गो बाणश्च अघासिः शब्दको वशः॥१८॥

वर्णन करने जा रहा हूँ—कौलीशनाथ, श्रीकण्ठनाथ, कौलनाथ, गनानन्दनाथ तथा तूर्णनाथ। इनकी पूजा का मन्त्र-वाक्य इस तरह होना चाहिये—'**ॐ कौलीशनाथाय नमस्तस्मै पादुकां पूजयामि।**' इसके साथ क्रमशः ये पाँच देवियाँ भी पूजनीय हैं—१. सुकला देवी, जो जन्म से ही कुबड़ी होने के कारण 'कुब्जिका' कही गयी हैं; २—चटुला देवी, ३—मैत्रीका देवी, जो विकराल रूप वाली हैं, ४—अतल देवी और ५—श्रीचन्द्रा देवी हैं। इन सबके नाम के अन्त में 'देवी' पद है। इनके पूजन का मन्त्र-वाक्य इस तरह होगा—'**ॐ सुकलादेव्यै नमस्तस्यै भगात्मपुङ्गणदेवमोहिनीं पादुकां पूजयामि।**' दूसरी (चटुला) देवी की पादुका का यह विशेषण देना चाहिये—'**अतीतभुवनानन्दरत्नाढ्यां पादुकां पूजयामि।**' इसी तरह तीसरी देवी की पादुका का विशेषण '**ब्रह्मज्ञानाढ्यां**' चौथी की पादुका का विशेषण '**कमलाढ्यां**' तथा पाँचवीं की पादुका का विशेषण '**परमविद्याढ्यां**' देना चाहिये॥५-९॥

इस तरह विद्या, देवी और गुरु (उपरोक्त पाँच नाथ)—इन तीन की शुद्धि 'त्रिशुद्धि' कहलाती है। मैं आपसे इसका वर्णन करने जा रहा हूँ। गगनानन्द, चटुली, आत्मानन्द, पद्मानन्द, मणि, कला, कमल, माणिक्यकण्ठ, गगन, कुमुद, श्रीपद्म, भैरवानन्द, कमलदेव, शिव, भव तथा कृष्ण—ये सोलह नूतन सिद्ध हैं॥१०-११॥

चन्द्रपूर, गुल्म, शुभकाम, अतिमुक्तक, वीरकण्ठ, प्रयोग, कुशल, देवभोगक्र (अथवा भोगसम्प्रदायक), विश्वदेव, खङ्गदेव, रुद्र, धाता, (अथवा भोगसम्प्रदायक), विश्वदेव, खङ्गदेव, रुद्र, धाता, असि, मुद्रास्फोट, वंशपूर तथा भोज—ये सोलह सिद्ध हैं। इन सिद्धों का शरीर भी छः तरह के न्यासों से नियन्त्रित होने के कारण इनके आत्मा के समान जाति का ही (सच्चिदानन्दमय) हो गया है। मण्डल में फूल बिखेर कर मण्डलों की पूजा करनी चाहिये। अनन्त, महान्, शिवपादुका, महाव्याप्ति, शून्य, पञ्चतत्त्वात्मक मण्डल, श्रीकण्ठनाथ पादुका, देवाधिदेव भगवान् श्रीशिवशंकर एवं अनन्त की भी पूजा करनी चाहिये॥१२-१६॥

सदाशिव, पिङ्गल, भृग्वानन्द, नाथ-समुदाय, लाङ्गूलानन्द और संवर्त—इन सभी का मण्डल स्थान में पूजन करना चाहिये। नैर्ऋत्यकोण में श्रीमहाकाल, पिनाकी, महेन्द्र, खड्ग, नाग, बाण, अघासि (पाप की छेदन करने के लिये खड्गरूप), शब्द, वश, आज्ञा रूप और नन्दरूप—इनको बलि अर्पित करके क्रमशः इनका पूजन करना चाहिये। इसके

आज्ञापरूपो नन्दरूपो बलिं दत्त्वा क्रमं यजेत्।।१९।।
ह्रीं खं खं हूं सौं बटुकाय, अरु अरु, अर्घं पुष्पं धूपं दीपं गन्धं बलिं पूजां गृह्ण गृह्ण नमस्तुभ्यम्
ॐ ह्रां ह्रीं हूं क्षें क्षेत्रपालायावतरावतर महाकपिलजटाभार भास्वर त्रिनेत्र ज्वालामुख,
एह्येहि गन्धपुष्पबलिपूजां गृह्ण गृह्ण खः खः, ॐ कः, ॐ लः, ॐ महाडामराधिपतये स्वाहा।।२०।।
बलिशेषेऽथ यजेद्ध्रीं हूं हां श्रीं वै त्रिकूटकम्। वामे च दक्षिणे ह्यग्रे याम्ये निशानाथपादुकाः।।२१।।
(दक्षे तमोरिनाथस्य ह्यग्रे कालाननस्य च। उड्डियाणं जालंधरं पूर्णं वै कामरूपकम्।।२२।।
गगनानन्ददेवं च स्वर्गानन्दं सवर्गकम्। परमानन्ददेवं च सत्यानन्दस्य पादुकाम्)।।२३।।
नागानन्दं च वर्गाख्यमुक्तं ते रत्नपञ्चकम्। सौम्ये शिवे यजेत्षट्कं सुरनाथस्य पादुकाम्।।२४।।
श्रीमत्समयकोटीशं विद्याकोटीश्वरं यजेत्। कोटीशं विन्दुकोटीशं सिद्धकोटीश्वरम् तथा।।२५।।
सिद्धचतुष्कमाग्नेय्याममरीशेश्वरं यजेत्। चक्रीशनाथं कुरङ्गेशं वृत्रेशं चन्द्रनाथकम्।।२६।।
यजेद्गन्धादिभिश्चैतान्याम्ये विमलपञ्चकम्। यजेदनादिविमलं सर्वज्ञविमलं ततः।।२७।।
यजेद्योगीशविमलं सिद्धाख्यं समयाख्यकम्। नैर्ऋत्ये चतुरो देवान्यजेत्कन्दर्पनाथकम्।।२८।।
पूर्वा शक्तीश्च सर्वाश्च कुब्जिकापादुकां यजेत्। नवात्मकेन मन्त्रेण पञ्चप्रणवकेन वा।।२९।।
सहस्राक्षमनवद्यं विष्णुं शिवं सदा यजेत्। पूर्वाच्छिवान्तं ब्रह्मादि ब्रह्माणी च महेश्वरी।।३०।।

बाद वटुक को अर्घ्य, पुष्प, धूप, दीप, गन्ध एवं बलि तथा क्षेत्रपाल को गन्ध, पुष्प और बलि अर्पित करना चाहिये। इसके लिये मन्त्र इस तरह है–'**ह्रीं खं खं हूं सौं वटुकाय अरु अरु अर्घ्यं पुष्पं धूपं दीपं गन्धं बलिं पूजां गृह्ण गृह्ण नमस्तुभ्यम्। ॐ ह्रां ह्रीं हूं क्षेत्रपालायावतरावतर महाकपिलजटाभार भास्वर त्रिनेत्र ज्वालामुख एह्येहि गन्धपुष्पबलिपूजां गृह्ण गृह्ण खः खः ॐ कः ॐ लः ॐ महाडामराधिपतये स्वाहा।**' बलि के अन्त में दायें-बायें तथा सामने त्रिकूट का पूजन करना चाहिये; इसके लिये मन्त्र इस तरह है–'**ह्रीं हूं हां श्रीं त्रिकूटाय नमः।**' फिर बायें निशानाथ की, दाहिने तमोऽरिनाथ (या सूर्यनाथ) की तथा सामने कालानल की पादुकाओं का यजन-पूजन करना चाहिये। उसके बाद उड्डियान, जालन्धर, पूर्णगिरि तथा कामरूप का पूजन करना चाहिये। फिर गगनानन्ददेव, वर्गसहित स्वर्गानन्ददेव, पारमानन्ददेव, सत्यानन्ददेव की पादुका तथा नागानन्द देव की पूजा करनी चाहिये। इस तरह 'वर्ग' नामक पञ्चरत्न का आपसे वर्णन किया गया है।।१७-२३।। उत्तर और ईशानकोण में इन छः की पूजा करनी चाहिये–सुरनाथ की पादुका की, श्रीमान् समयकोटीश्वर की, विद्याकोटीश्वर की, कोटीश्वर की, बिन्दुकोटीश्वर की तथा सिद्धकोटीश्वर की। अग्निकोण में चार सिद्धसमुदाय की तथा अमरीशेश्वर, चक्रीशेश्वर, कुरङ्गश्वर, वृत्रेश्वर और चन्द्रनाथ या चन्द्रेश्वर की पूजा करनी चाहिये। इन सबकी गन्ध आदि पञ्चोपचारों से पूजा करनी चाहिये। दक्षिण दिशा में अनादि विमल, सर्वज्ञ विमल, योगीश विमल, सिद्ध विमल और समय विमल–इन पाँच विमलों का पूजन करना चाहिये।।२४-२७।।

नैर्ऋत्यकोण में चार वेदों का, कंदर्पनाथ का, उपरोक्त सम्पूर्ण शक्तियों का तथा कुब्जिका की श्रीपादुका का पूजन करना चाहिये। इनमें कुब्जिका की पूजा '**ॐ ह्रां ह्रीं कुब्जिकायै नमः।**'–इस नवाक्षर मन्त्र से अथवा केवल पाँच प्रणवरूप मन्त्र से करना चाहिये। पूर्व दिशा से लेकर ईशानकोण-पर्यन्त ब्रह्मा, इन्द्र, अग्नि, यम, निर्ऋति, अनन्त, वरुण, वायु, कुबेर तथा ईशान–इन दस दिक्पालों की पूजा करनी चाहिये। सहस्रनेत्रधारी इन्द्र, अनवद्य विष्णु तथा शिव

कौमारी वैष्णवी चैव वाराही शक्रशक्तिका। चामुण्डा च महालक्ष्मीः पूर्वादीशान्तमर्चयेत्।।३१।।
डाकिनी राकिनी पूज्या लाकिनी काकिनी तथा। डाकिनी याकिनी पूज्या वायव्यादुग्रषट्सु च।।३२।।
यजेद्ध्यात्वा ततो देवीं द्वात्रिंशद्वर्णकात्म (त्मि) काम्। पञ्चप्रणवकेनापि ह्रींकारेणाथ वा यजेत्।।३३।।
नीलोत्पलदलश्यामा षड्वक्त्रा षट्प्रकारिका। चिच्छक्तिरष्टादशाख्या बाहुद्वादशसंयुता।।३४।।
सिंहासनसुखासीना प्रेतपद्मोपरि स्थिता। कुलकोटिसहस्राढ्या कर्कोटो मेखलास्थितः।।३५।।
तक्षकेणोपरिष्टाच्च गले हारश्च वासुकिः। कुलिकः कर्णयोर्यस्याः कूर्मः कुण्डलमण्डलः।।३६।।
भ्रुवोः पद्मो महापद्मो वामे नागः कपालकः। अक्षसूत्रं च खट्वाङ्गं शङ्खं पुस्तं च दक्षिणे।।३७।।
त्रिशूलं दर्पणं खड्गं रत्नमालाऽङ्कुशं धनुः। श्वेतमूर्धं मुखं देव्या ऊर्ध्वश्वेतं तथाऽपरम्।।३८।।
पूर्वास्यं पाण्डरं क्रोधि दक्षिणं कृष्णवर्णकम्। हिमकुन्देन्दुभं सौम्यं ब्रह्मा पादतले स्थितः।।३९।।
विष्णुस्तु जघने रुद्रो हृदि कण्ठे तथेश्वरः। सदाशिवो ललाटे स्याच्छिवस्तस्योर्ध्वतः स्थितः।।४०।।
आघूर्णिका कुब्जिकैवं ध्येया पूजादिकर्मसु।।४१।।

।। इति श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते कुब्जिकापूजाकथनं नाम चतुश्चत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः।।१४४।।

—※※※—

की पूजा सदा ही करनी चाहिये। ब्रह्माणी, माहेश्वरी, कौमारी, वैष्णवी, वाराही, ऐन्द्री, चामुण्डा तथा महालक्ष्मी–इनकी पूजा पूर्व दिशा से लेकर ईशानकोण पर्यन्त आठ दिशाओं में क्रमशः करना चाहिये।।२८–३१।। तत्पश्चात् वायव्यकोण से छः उग्र दिशाओं में क्रमशः डाकिनी, राकिनी, लाकिनी, काकिनी, शाकिनी तथा याकिनी–इनकी पूजा करनी चाहिये। तत्पश्चात् ध्यानपूर्वक कुब्जिका देवी का पूजन करना चाहिये। बत्तीस व्यञ्जन अक्षर ही उनका शरीर है। उनके पूजन में पाँच प्रणव अथवा 'ह्रीं' का बीजरूप से उच्चारण करना चाहिये। (यथा–'ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ कुब्जिकायै नमः। अथवा 'ॐ ह्रीं कुब्जिकायै नमः।')।।३२–३३।। देवी की अङ्गकान्ति नील कमल–दल के समान श्याम है, उनके छः मुख हैं और उनकी मुखकान्ति भी छः तरह की है। वे चैतन्य शक्तिस्वरूपा हैं। अष्टादशाक्षर मन्त्र द्वारा उनका प्रतिपादन होता है। उनके द्वादश भुजाएँ हैं। वे सुखपूर्वक सिंहासर पर विराजमान हैं। प्रेतपद्म के ऊपर बैठी हैं। वे सहस्रों कोटि कुलों से सम्पन्न हैं। 'कर्कोटक' नामक नाग उनकी मेखला (करधनी) है। उनके मस्तक पर 'तक्षक' नाग विराजमान है। 'वासुकि' नाग उनके गले का हार है। उनके दोनों कानों में स्थित 'कुलिक' और 'कूर्म' नामक नाग कुण्डल–मण्डल बने हुए हैं। दोनों भौंहों में 'पद्म' और 'महापद्म' नामक नागों की स्थिति है। बायें हाथों में नाग, कपाल, अक्षसूत्र, खट्वाङ्ग, शङ्ख और पुस्तक हैं। दाहिने हाथों में त्रिशूल, दर्पण, खड्ग, रत्नमयी माला, अङ्कुश तथा धनुष हैं। देवी के दो मुख ऊपर की तरफ हैं, जिनमें एक तो पूरा सफेद है और दूसरा आधा सफेद है। उनका पूर्ववर्ती मुख पाण्डुवर्ण का है, दक्षिणवर्ती मुख क्रोधयुक्त जान पड़ता है, पश्चिम वाला मुख काला है और उत्तरवर्ती मुख हिम, कुन्द एवं चन्द्रमा के समान श्वेत है। ब्रह्मा उनके चरणतल में स्थित हैं, भगवान् श्रीहरि विष्णु जघनस्थल में विराजमान हैं, रुद्र हृदय में, ईश्वर कण्ठ में, सदाशिव ललाट में तथा शिव उनके ऊपरी भाग में स्थित हैं। कुब्जिकादेवी झूमती हुई-सी दिखायी देती हैं। पूजा आदि कर्मों में कुब्जिका का ऐसा ही ध्यान करना चाहिये।।३४–४०।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी एक सौ चौवालिसवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।१४४।।

❖❖❖

अथ पञ्चचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः

मालिनीमन्त्राः

ईश्वर उवाच

नानामन्त्रान्प्रवक्ष्यामि षोढान्यासपुरःसरम्। न्यासस्त्रिधा तु षोढा स्युः शाक्तशांभवयामलाः।।१।।
शांभवे शब्दराशिः षट्षोडशग्रन्थिरूपवान्। (त्रिविद्या तद्ग्रहो न्यासस्त्रितत्त्वात्माभिधानकः।।२।।
चतुर्थी वनमालायाः श्लोक द्वादश रूपवान्)। (पञ्चमो रत्नपञ्चात्मा नवात्मा षष्ठ ईरितः।।३।।
शाक्ते पक्षे च मालिन्यास्त्रिविद्यात्मा द्वितीयकः। अघोर्यष्टकरूपोऽन्यो द्वादशाङ्गश्चतुर्थकः।।४।।
पञ्चमस्तु षडङ्गः स्याच्छक्तिश्चान्याऽस्त्रचण्डिका)। क्लीं ह्रीं क्लीं श्रीं क्रूं फट् त्रयं स्यात्तूर्याख्यं सर्वसाधकम्।।५।।
मालिन्या नादिफान्तं स्यान्नादिनी च शिखा स्मृता। अग्रसनी शिरसि स्याच्छिरोमालानिवृत्तिः शः।।६।।

अध्याय-१४५

मालिनी आदि प्रयोग कथन

भगवान् महेश्वर ने कहा कि-हे स्कन्द! अधुना मैं छः तरह के न्यासपूर्वक विविध तरह के मन्त्रों का वर्णन करने जा रहा हूँ। ये छहों तरह के न्यास 'शाम्भव', 'शाक्त' तथा 'यामल' के भेद से तीन-तीन तरह के होते हैं। 'शाम्भव-न्यास' में षट्षोडश ग्रन्थि रूप शब्दराशि प्रथम है, तीन विद्याएँ और उनका ग्रहण द्वितीय न्यास है, त्रितत्त्वात्मक न्यास तीसरा है, वनमालान्यास चौथा है, यह द्वादश श्लाकों का है। रत्नपञ्चक का न्यास पाँचवाँ है और नवाक्षरमन्त्र का न्यास छठा कहा गया है।।१-३।।

शाक्तपक्ष में 'मालिनी' का न्यास प्रथम, 'त्रिविद्या' का न्यास द्वितीय, 'अघोर्यष्टक का न्यास तृती, 'द्वादशाङ्गन्यास' चतुर्थ, 'षडङ्गन्यास' पञ्चम तथा 'अस्त्रचण्डिका' नामक शक्ति का न्यास छठा है। **क्लीं (क्रीं', ह्रीं, क्लीं, श्रीं, क्रूं,** फट्-इन छः बीजमन्त्रों का जो छः तरह का न्यास है, यही तीसरा अर्थात् 'यामल न्यास' है। इन छहों में से चौथा 'श्रीं' बीज का न्यास है, वह सम्पूर्ण मनोरथों को सिद्ध करने वाला है।।४-५।।

'न' से लेकर 'फ' तक जो न्यास बतलाया जाता है, वह सब मालिनी का ही न्यास है। 'न' से प्रारम्भ होने वाली अथवा नाद करने वाली शक्ति का न्यास शिखा में करना चाहिये। 'अ' ग्रसनी शक्ति तथा 'श' शिरोमाला-निवृत्ति शक्ति का स्थान सिर में है; इसलिये वहीं उनका न्यास करना चाहिये। 'ट' शान्ति का प्रतीक है, इसका न्यास भी सिर में ही होगा। 'च' चामुण्डा का प्रतीक है, इसका न्यास नेत्रत्रय में करना चाहिये। 'ढ' प्रियदृष्टिस्वरूप है, इसका न्यास नेत्रद्वय में होना चाहिये। गुह्यशक्ति का प्रतीक है-'नी', इसका न्यास नासिकाद्वय में करना चाहिये। 'न' नारायणीरूप है, इसका स्थान दोनों कानों में है। 'त' मोहिनी रूप है, इसका स्थान केवल दाहिने कान में है।

'ज' प्रज्ञा का प्रतीक है, इसकी स्थिति बायें कान में बतलायी गयी है। वज्रिणी देवी का स्थान मुख में हैं 'क' कराली शक्ति का प्रतीक है, इसकी स्थिति दाहिनी दंष्ट्रा (दाढ़) में है। 'ख' कपालिनीरूप है, 'व' बायें कंधे पर स्थापित होने के योग्य है। 'ग' शिवा का प्रतीक है, इसका स्थान ऊपरी दाढ़ों में है। 'घ' घोरा शक्ति का सूचक **है,**

ट शान्तिश्च शिरो भूयाच्चामुण्डा च त्रिनेत्रगा। ढ प्रियदृष्टिर्द्विनेत्रे च नासागा गुह्यशक्तिनी॥७॥
न नारायणी द्विकर्णे च दक्षकर्णे त मोहिनी। ज प्रज्ञा वामकर्णस्था वक्त्रे च वज्रिणी स्मृता॥८॥
क कराली दक्षदंष्ट्रा वामांसा ख कपालिनी। ग शिवा ऊर्ध्वदंष्ट्र स्याद् घ घोरा वामदंष्ट्रिका॥९॥

उ शिखा दन्तविन्यासा ई माया जिह्वया स्मृता।
अ स्यान्नागेश्वरी वाचि व कण्ठे शिखिवाहिनी॥१०॥

भी भीषणी दक्षस्कन्धे वायुवेगा म वामके। ड नाम दक्षबाहौ तु ढ वामे च विनायका॥११॥

प पूर्णिमा द्विहस्ते तु ओंकाराद्यङ्गुलीयके।
अं दर्शनी वामाङ्गुल्य (?) अः स्यात्सञ्जीवनी करे॥१२॥

ट कपालिनी कपालं शूलदण्डे त दीपनी। त्रिशूले च जयन्ती स्याद् वृद्धिर्यः साधनी स्मृता॥१३॥
जीवे श परमाख्याद्ध प्राणे च अम्बिका स्मृता। दक्षस्तने छ शरीरा न वामे पूतना स्तने॥१४॥

अ स्तनक्षीर आ मोटो लम्बोदर्युदरे च थ।
नाभौ संहारिका क्ष स्यान्महाकाली नितम्ब (?) म॥१५॥

गुह्ये स कुसुममाला ष शुक्रे शुक्रदेविका। उरुद्वये त तारा स्याद्ज्ञाना दक्षजानुनि॥१६॥

इसकी स्थिति बायीं दाढ़ में मानी गयी है। 'उ' शिखा शक्ति का सूचक है, इसका स्थान जिह्वा के अन्तर्गत माना गया है। 'अ' नागेश्वरी रूप है, इसका न्यास वाक्-इन्द्रिय में होना चाहिये। 'व' शिखिवाहिनी का बोधक है, इसका स्थान कण्ठ में है॥६-१०॥

'भ' के साथ भीषणी शक्ति का न्यास दाहिने कंधे में करना चाहिये। 'म' के साथ वायुवेग का न्यास बायें कंधे में करना चाहिये। 'ड' अक्षर और नामा शक्ति का दाहिनी भजा में तथा 'ढ' अक्षर एवं विनायका देवी का बायीं भुजा में न्यास करना चाहिये। 'प' एवं पूर्णिमा का न्यास दोनों हाथों में करना चाहिये। प्रणव सहित ओंकारा शक्ति का दाहिने हाथ की अङ्गुलियों में तथा 'अं' सहित दर्शनी का बायें हाथ की अंगुलियों में न्यास करना चाहिये। 'अः' एवं संजीवनी शक्ति का हाथ में न्यास करना चाहिये। 'ट' अक्षर सहित कपालिनी शक्ति का स्थान कपाल है। 'त' सहित दीपनी की स्थिति शूलदण्ड में है। जयन्ती की स्थिति त्रिशूल में है। 'य' सहित साधनी देवी का स्थान ऋद्धि (वृद्धि) है॥११-१३॥

'श' अक्षर के साथ परमाख्या देवी की स्थिति जीव में है। 'ह' अक्षर सहित अम्बिका देवी का न्यास प्राण में करना चाहिये। 'छ' अक्षर के साथ शरीरा देवी का स्थान दाहिने स्तन में है। 'न' सहित पूजना की स्थिति बायें स्तन में बतलायी गयी है। 'अ' सहित आमोटी का स्तन-दुग्ध में, 'थ' सहित लम्बोदरी का उदर में, 'क्ष' सहित संहारिका का नाभि में तथा 'म' सहित महाकाली का नितम्ब में न्यास करना चाहिये।

'स' अक्षर सहित कुसुममाला का गुह्यदेश में, 'ष' सहित शुक्रदेवि का का शुक्र में 'त' सहित तारा देवी का दोनों ऊरुओं में तथा 'द' सहित ज्ञानाशक्ति का दाहिने घुटने में न्यास करना चाहिये।

'औ' सहित क्रियाशक्ति का बायें घुटने में, 'ओ' सहित गायत्री देवी का दाहिनी जङ्घा (पिण्डली) में, 'ॐ'

वामे स्यादौ क्रिया शक्तिरो गायत्री च जङ्घगा। ओ सावित्री वामजङ्घा दक्षे दो दोहनी पदे॥१७॥
फ फेत्कारी वामपादे नवात्मा मालिनी मनुः।
अ श्रीकण्ठः शिखायां स्यादा वक्त्रे स्यादनन्तकः॥१८॥
इ सूक्ष्मो दक्षनेत्रे स्यादी त्रिमूर्तिस्तु वामके। उ दक्षकर्णेऽमरीश ऊ कर्णेऽर्धांशकोऽपरे॥१९॥
ऋ भावभूतिर्नासाग्रे वामनासा तिथीश ॠ। (ऌ स्थाणुर्दक्षगण्डे स्याद्वामगण्डे हरश्च ॡ॥२०॥
कटीशो दन्तपङ्क्तावे भूतीशश्चोर्ध्वदन्त ऐ। सद्योजात ओ अधर ऊर्ध्वोष्ठेऽनुग्रहीश औ)॥२१॥
अं क्रूरो घाटकायां स्यादः, महासेनजिह्वया। क क्रोधीशो दक्षस्कन्धे खश्चण्डीशश्च बाहुषु॥२२॥
पञ्चान्तकः कूर्परे गो (ग) घ शिखी दक्षकङ्कणे।
ङ एकपादश्चाङ्गुल्यो वामस्कन्धे च कूर्मकः॥२३॥
छ एकनेत्रो बाहौ स्याच्चतुर्वक्त्रो ज कूर्परे। (झ राजसः कङ्कणगो ञ सर्वकामदोऽङ्गुली॥२४॥
ट सोमेशो नितम्बे स्याद्दक्ष ऊरुर्ट (रौ ठ) लाङ्गली)।
ड दारुको दक्षजानौ जङ्घा ढोऽर्धजलेश्वर॥२५॥
ण उमाकान्तकोऽङ्गुल्यस्त आषाढी नितम्बके। थ दण्डी वाम ऊरौ स्याद्द भिदो वामजानु॥२६॥

सहित सावित्री का बायीं जङ्घा में तथा 'द' सहित दोहिनी का दाहिने पैर में न्यास करना चाहिये। 'फ' सहित 'फेत्कारी' का बायें पैर में न्यास करना चाहिये॥१४-१७॥

मालिनी-मन्त्र नौ अक्षरों से युक्त होता है। 'अ' सहित श्रीकण्ड का शिखा में, 'आ' सहित अनन्त का मुख में, 'इ' सहित सूक्ष्म का दाहिने नेत्र में, 'ई' सहित त्रिमूर्ति का बायें नेत्र में, 'उ' सहित अमरीश का दाहिने कान में करना चाहिये। 'ऋ' सहित अर्धांशक का बायें कान में न्यास करना चाहिये। 'ऋ' सहित भावभूति का दाहिने नासाग्र में, 'ऋ' सहित तिथीश का वामनासाग्र में 'ऌ' सहित स्थाणुका दाहिने गाल में तथा 'ॡ' सहित हरका बायें गाल में न्यास करना चाहिये। 'ए' अक्षर सहित कटीश का नीचे की दन्तपङ्क्ति में, 'ऐ' सहित भूतीश का ऊपर की दन्तपङ्क्ति में 'ओ' सहित सद्योजात का नीचे के ओष्ठ में तथा 'औ' सहित अनुग्रहीश (या अनुग्रहेश) का ऊपर के ओष्ठ में न्यास करना चाहिये। 'अं' सहित क्रूर का गले की घाटी में, 'अः' सहित महासेन का जिह्वा में, 'क' सहित क्रोधीश का दाहिने कंधे में तथा 'ख' सहित चण्डीश का बाहुओं में न्यास करना चाहिये। 'ग' सहित पञ्चान्तक का कूर्पर में 'घ' सहित शिखी का दाहिने कङ्कण में 'ङ' सहित एकपाद का दायीं अङ्गुलियों में तथा 'च' सहित कूर्मक का बायें कंधे में न्यास करना चाहिये॥१८-२३॥

'छ' सहित एकनेत्र का बाहु में, 'ज' सहित चतुर्मुख का कूर्पर या कोहनी में, 'झ' सहित राजस का वामकङ्कण में तथा 'ञ' सहित सर्वकामद का बायीं अङ्गुलियों में न्यास करना चाहिये। 'ट' सहित सोमेश्वर का नितम्ब में, 'ठ' सहित लाङ्गली का दक्षिण ऊरु (दाहिनी जाँघ) में 'ड' सहित दारुक का दाहिने घुटने में तथा 'ढ' सहित अर्द्धजलेश्वर का पिण्डली में न्यास करना चाहिये। 'ण' सहित उमाकान्त का दाहिने पैर की अङ्गुलियों में, 'त' सहित आषाढ़ी का नितम्ब में, 'थ' सहित दण्डी का वाम उरु (बायीं जाँघ) में तथा 'द' सहित भिद का बायें घुटने में न्यास करना चाहिये।

ध मीनो वामजङ्घायां न मेषश्चरणाङ्गुली। प लोहित दक्षकुक्षौ फ शिखी वामकुक्षिगः।।२७।।
ब गलण्डः पृष्ठवंशे भो (भ) नाभौ च द्विरण्डकः। म महाकालो हृदये य वाणीशस्त्वविस्मृतः।।२८।।

र रक्ते स्याद्भुजङ्गेशो ल पिनाकी च मांसके।
व खड्गीशः स्वात्मनि स्याद्वकश्चास्थिनि शः स्मृतः।।२९।।

ष श्वेतश्चैव मज्जायां स भृगुः शुक्रधातुके। प्राणे हो नकुलीशः स्यात्क्ष संवर्तश्च कोषगः।।
रुद्रशक्तीः प्रपूज्य ह्रीं बीजेनाखिलमाप्नुयात्।।३०।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते मालिनीमन्त्रादिन्यासविधिकथनं नाम पञ्चचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः।।१४५।।

—❀❀❀—

'घ' सहित मीन का बायीं पिण्डली में, 'न' सहित मेष का बायें पैर की अंगुलियों में 'प' सहित लोहित का दाहिनी कुक्षि में तथा 'फ' सहित शिखी का बायीं कुक्षि में न्यास करना चाहिये। 'ब' सहित गलण्ड का पृष्ठवंश में, 'भ' सहित द्विरण्ड का नाभि में, 'म' सहित महाकाल का हृदय में तथा 'य' सहित वाणीश का त्वचा में न्यास बतलाया गया है।।२४-२८।।

'र' सहित भुजङ्गेश का रक्त में, 'ल' सहित पिनाकी का मांस में, 'व' सहित खड्गीश का अपने आत्मा (शरीर) में तथा 'श' सहित वक का हड्डी में न्यास करना चाहिये। 'ष' सहित श्वेत का मज्जा में, 'स' सहित भृगु का शुक्र एवं धातु में 'ह' सहित नकुलीश का प्राण में तथा 'क्ष' सहित संवर्त का पञ्चकोशों में न्यास करना चाहिये। 'ह्रीं' बीज से रुद्रशक्तियों का पूजन करके उपासक सम्पूर्ण मनोरथों को प्राप्त कर लेता है।।२९-३०।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी एक सौ पैंतालिसवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।१४५।।

अथ षट्चत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः

अष्टाष्टकदेव्यः

ईश्वर उवाच

त्रिखण्डीं सम्प्रवक्ष्यामि ब्रह्मविष्णुमहेश्वरीम्।।१।।

ॐ नमो भगवते रुद्राय नमः। नमश्चामुण्डे नमश्चाऽऽकाशमातृणां सर्वकामार्थसाधनीनाम-जरामरीणां सर्वत्राप्रतिहतगतीनां स्वरूपरूपपरिवर्तनीनां सर्वसत्त्ववशीकरणोत्सादनोन्मूलनसमस्त-कर्मप्रवृत्तानां सर्वमातृगुह्यं हृदयं परमसिद्धं परकर्मच्छेदनं परमसिद्धिकरं मातृणां वचनं शुभम्।।२।।

ब्रह्मखण्डपदे रुद्रैरेकाविंशाधिकं शतम्।।३।।

तद्यथा—ॐ नमश्चामुण्डे ब्रह्माणि, अघोरेऽमोघे वरदे विच्चे स्वाहा।

ॐ नमश्चामुण्डे चण्डि, अघोरेऽमोघे वरदे विच्चे स्वाहा।

ॐ नमश्चामुण्ड ईशानि अघोरेऽमोघे वरदे विच्चे स्वाहा।।४।।

यथाक्षरपदानां हि विष्णुखण्डं द्वितीयकम्।।५।।

ॐ नमश्चामुण्डे ऊर्ध्वकेशि ज्वलितशिखरे विद्युज्जिह्वे तारकाक्षि पिङ्गलभ्रुवे विकृतदंष्ट्रे क्रुद्धे,

---

अध्याय–१४६

आठ प्रकार के अष्टका देवी कथन

भगवान् महेश्वर ने कहा कि–हे स्कन्द! अधुना मैं ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश्वर से सम्बन्ध रखने वाली त्रिखण्डी का वर्णन करने जा रहा हूँ।।१।।

'ॐ नमो भगवते रुद्राय नमः। नमश्चामुण्डेनमश्चाकाशमातृणां सर्वकामार्थसाधनीनामजरामरीणां सर्वत्राप्रतिहतगतीनां स्वरूपपरिवर्तिनीनां सर्वसत्त्ववशीकरणोत्सादनोन्मूलनसमस्तकर्मप्रवृत्तानां सर्वमातृगुह्यं हृदयं परमसिद्धं परकर्मच्छेदनं परमसिद्धिकरं मातृणां वचनं शुभम्।' इस ब्रह्मखण्ड पद में रुद्रमन्त्र-सम्बन्धी एक सौ इक्कीस अक्षर हैं।।२-३।।

अधुना विष्णुखण्ड पर बतलाया जाता है–**'ॐ नमश्चामुण्डे ब्रह्माणि अघोरे अमोघे वरदे विच्चे स्वाहा। ॐ नमश्चामुण्डे माहेश्वरि अघोरे अमोघे वरदे विच्चे स्वाहा। ॐ नमश्चामुण्डे कौमारि अघोरे अमोघे वरदे विच्चे स्वाहा। ॐ नमश्चामुण्डे वैष्णवि अघोरे अमोघे वरदे विच्चे स्वाहा। ॐ नमश्चामुण्डे वाराहि अघोरे अमोघे वरदे विच्चे स्वाहा। ॐ नमश्चामुण्डे चण्डि अघोरे अमोघे वरदे विच्चे स्वाहा। ॐ नमश्चामुण्डे ईशानि अघोरे अमोघे वरदे विच्चे स्वाहा।'** यह यथोचित अक्षर वाले पदों का दूसरा मन्त्रखण्ड है, जो 'विष्णुखण्डपद' कहा गया है।।४-५।।

अधुना महेश्वरखण्ड पद बतलाया जाता है–**'ॐ नमश्चामुण्डे ऊर्ध्वकेशि ज्वलितशिखरे विद्युज्जिह्वे**

ॐ मांसशोणितसुरासवप्रिये हस हस, ॐ नृत्य नृत्य, ॐ विजृम्भय विजृम्भय, ॐ मायात्रैलोक्य-
रूपसहस्रपरिवर्तिनीनामों बन्ध बन्ध, ॐ कुट्ट कुट्ट चिरि चिरि हिरि हिरि भिरि भिरि
त्रासनि त्रासनि भ्रामणि भ्रामणि, ॐ द्रावणि द्रावणि क्षोभणि क्षोभणि मारणि मारणि संजीवनि संजीवनि
हेरि हेरि गेरि गेरि घेरि घेरि, ॐ सुरि सुरि, ॐ नमो मातृगणाय नमो नमो विच्चे॥६॥
एकत्रिंशत्पदं शम्भोः शतमन्त्रैकसप्ततिः। हे घौं पञ्चप्रणवाद्यन्तां त्रिखण्डीं च जपेद्यजेत्॥७॥
हे घौं श्रीकुब्जिकाहृदयं पदसंधौ तु योजयेत्। अकुलादि त्रिमध्यस्थं कुलादेश्च त्रिमध्यगम्॥८॥
मध्यमादि त्रिमध्यस्थं पिण्डं पादे त्रिमध्यगम्। त्रयार्धमात्रा संयुक्तं प्रणवाद्यं शिखा शिवाम्॥९॥
ॐ क्षौं शिखा भैरवाय नमः (स्खां स्खीं स्खें स बीजत्र्यक्षरः)॥१०॥
ह्रां ह्रीं ह्रैं निर्बीजं त्र्यर्णं द्वात्रिंशद्वर्णकं परम्। क्षादयश्च ककारान्ता अकुला च कुलक्रमात्॥११॥
शशिनी भानुनी चैव पावनी शिव इत्यतः। गान्धारी णश्च पिण्डाक्षी चपला गजजिह्विका॥१२॥
म मृषा भयसारा स्यान्मध्यमा फोऽजराय च। (कुमारी कालरात्री न संकटा द ध कालिका॥१३॥
फ शिवा भवघोरा ण ट बीभत्सा त विद्युता। उ विश्वम्भरा शंसिन्या ढ ज्वालामालया तथा)॥१४॥
कराली दुर्जया रङ्गी वामा ज्येष्ठा च रौद्र्यपि। ख काली क कुलालम्बी अनुलोमा द पिण्डिनी॥१५॥
आवेदिनी इरुषी वै शान्तिमूर्तिः कलाकुला। (ऋ खड्गिनी उ बलिता ऌ कुला ॡ तथा यदि॥१६॥
सुभगा (गे) वेदनादिन्या कराली, अं च मध्यमा। अः अपेतरयाः पीठे पूज्याश्च शक्तयः क्रमात्॥१७॥

तारकाक्षि पिङ्गलभ्रुवे विकृतदंष्ट्रे क्रुद्धे, ॐ मांसशोणितसुरासवप्रिये हस हस ॐ नृत्य नृत्य ॐ विजृम्भय विजृम्भय ॐ मायात्रैलोक्यरूपसहस्रपरिवर्तिनीनामों बन्ध बन्ध, ॐ कुट्ट कुट्ट चिरि चिरि हिरि हिरि हिरि भिरि भिरि त्रासनि त्रासनि भ्रामणि भ्रामणि, ॐ द्रावणि द्रावणि क्षोभणि क्षोभणि मारणि मारणि संजीवनि संजीवनि हेरि हेरि गेरि गेरि घेरि घेरि, ॐ सुरि सुरि ॐ नमो मातृगणाय नमो नमो विच्चे॥६॥

यह माहेश्वर खण्ड एकतीस पदों का है। इसमें एक सौ एकहत्तर अक्षर हैं। इन तीनों खण्डों को 'त्रिखण्डी' कहते हैं। इस त्रिखण्डी-मन्त्र के आदि और अन्त में 'हें घों' तथा पाँच प्रणव जोड़कर उसका जप एवं पूजन करना चाहिये। **'हें घों श्रीकुब्जिकायै नमः'**–इस मन्त्र को त्रिखण्डी के पदों की संधियों में जोड़ना चाहिये। अकुलादि त्रिमध्यग, कुलादि त्रिमध्यग, मध्यमादि त्रिमध्यग तथा पाद-त्रिमध्यग–ये चार तरह के मन्त्र पिण्ड हैं। साढ़े तीन मात्राओं से युक्त प्रणव को आदि में लगाकर उनका जप अथवा इनके द्वारा यजन करना चाहिये। उसके बाद भैरव के शिखा मन्त्र का जप एवं पूजन करना चाहिये–**'ॐ क्षौं शिखाभैरवाय नमः।'**॥७-९॥ **'स्खां स्खीं स्खें'**–ये तीन सबीज त्र्यक्षर हैं। **'ह्रां ह्रीं ह्रैं'**–ये निर्बीज त्र्यक्षर हैं। विलोम क्रम से 'क्ष' से लेकर 'क' तक के बत्तीस अक्षरों की वर्णमाला 'अकुला' कही गयी है। अनुलोम क्रम से गणना होने पर 'सकुला' कही जाती है। शशिनी, भानुनी, पावनी, शिव, गन्धारी, 'ण' पिण्डाक्षी, चपला, गजजिह्विका, 'म' मृषा, भयसारा, मध्यामा, 'फ' अजरा, 'य' कुमारी, 'न' कालरात्री, 'द' संकटा, 'ध' कालिका, 'फ' शिवा, 'ण' भवघोरा, 'ट' बीभत्सा, 'त' विद्युता, 'ठ' विश्वम्भरा और शंसिनी अथवा 'उ' विश्वम्भरा, 'आ' शंसिनी, 'द' ज्वालामालिनी, कराली, दुर्जया, रङ्गी, वामा, ज्येष्ठा तथा रौद्री, 'ख' काली, 'क' कुलालम्बी, अनुलोमा, 'द' पिण्डिनी, 'आ' वेदिनी, 'इ' रूपी, 'वै' शान्तमूर्ति एवं कलाकुला, 'ऋ' खड्गिनी, 'उ' वलिता, 'ऌ' कुला, 'ॡ' सुभगा, वेदनादिनी और कराली, 'अं' मध्यमा तथा 'अः' अपेतरया–इन शक्तियों का योगपीठ पर क्रमशः पूजन करना चाहिये॥१०-१७॥

स्खां स्खीं स्खौं महाभैरवाय नमः।।१८।।

अक्षोद्या ह्यृक्षकर्णी च राक्षसी क्षपणक्षया)। पिङ्गाक्षी चाक्षया क्षेमा ब्रह्माण्यष्टकसंस्थिताः।।१९।।
इला लीलावती नीला लङ्का लङ्केश्वरी तथा। लालसा विमला माला माहेश्वर्यष्टके स्थिताः।।२०।।
हुताशना विशालाक्षी हूंकारी वडवामुखी। हाहारवा तथा क्रूरा क्रोधा बाला खरानना।।२१।।
कौमार्या देहसम्भूताः पूजिताः सर्वसिद्धिदाः। सर्वज्ञा तरला तारा ऋग्वेदा च हयानना।।२२।।
सारासारस्वयं ग्राहा शाश्वती वैष्णवीकुले। तालुजिह्वा च रक्ताक्षी विद्युज्जिह्वा करङ्किणी।।२३।।
मेघनादा प्रचण्डोग्रा कालकर्णी कलिप्रिया। वाराहीकुलसम्भूताः पूजनीया जयार्थिना।।२४।।
चम्पा चम्पावती चैव प्रचम्पा ज्वलितानना। पिशाची पिचुवक्त्रा च लोलुपा ऐन्द्रीसम्भवाः)।।२५।।
पावनी याचनी चैव वामनी दमनी तथा। विन्दुवेला बृहत्कुक्षी विद्युता विश्वरूपिणी।।२६।।
चामुण्डाकुलसम्भूता मण्डले पूजिता जये। यमजिह्वा जयन्ती च दुर्जया च यमान्तिका।।२७।।
विडाली रेवती चैव जया च विजया तथा। महालक्ष्मी कुले जाता अष्टाष्टकमुदाहृतम्।।२८।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते अष्टाष्टकदेवीकथनं नाम षट्चत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः।।१४६।।

'स्खां स्खीं स्खौं महाभैरवाय नमः।'–यह महाभैरव के पूजन का मन्त्र है। (ब्रह्माणी आदि आठ शक्तियों के साथ पृथक् आठ-आठ शक्तियाँ और हैं, जिन्हें 'अष्टक' कहा गया है। उनका क्रमशः वर्णन किया जाता है।) अक्षोद्या, ऋक्षकर्णी, राक्षसी, क्षपणा, क्षया, पिङ्गाक्षी, अक्षया और क्षेमा–ये ब्रह्माणी के अष्टक-दल में स्थित होती हैं। इला, लीलावती, नीला, लङ्का, लङ्केश्वरी लालसा, विमला और माला–ये माहेमश्वरी अष्टक में स्थित हैं। हुताशना, विशालाक्षी, हूंकारी, वडवामुखी, हाहारवा, क्रूरा, क्रोधा तथा खरानना बाला–ये आठ कौमारी के शरीर से प्रकट हुई है। इनका पूजन करने पर ये सम्पूर्ण सिद्धियों का देने वाली होती हैं। सर्वज्ञा, तरला तरला, तारा, ऋग्वेदा, हयानना, सारासारा, स्वयंग्राहा तथा शाश्वती–ये आठ शक्तियाँ वैष्णवी के वंश में प्रकट हुई हैं।।१८-२२।।

तालुजिह्वा, रक्ताक्षी, विद्युज्जिह्वा, करङ्किणी, मेघनादा, प्रचण्डेग्रा, कालकर्णी तथ कलिप्रिया–ये वाराही के वंश में उत्पन्न हुई हैं। विजय की इच्छा वाले पुरुष को इनकी पूजा करनी चाहिये। चम्पा, चम्पावती, प्रचम्पा, ज्वलितानना, पिशाची, पिचुवक्त्रा तथा लोलुपा–ये इन्द्राणी शक्ति के वंश में उत्पन्न हुई हैं। पावनी, याचनी, वामनी, दमनी, विन्दुवेला, बृहत्कुक्षी, विद्युता तथा विश्वरूपिणी–ये चामुण्डा के वंश में प्रकट हुई हैं और मण्डल में पूजित होने पर विजयदायिनी होती हैं।।२३-२६।।

यमजिह्वा, जयन्ती, दुर्जया, यमान्तिका, विडाली, रेवंती, जया और विजया–ये महालक्ष्मी के वंश में उत्पन्न हुई हैं। इस तरह आठ अष्टकां का वर्णन किया गया।।२७-२८।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी एक सौ छियालिसवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।१४६।।

अथ सप्तचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः

त्वरिता-पूजादि

ईश्वर उवाच

ॐगुह्यकुब्जिके हुंफट्, मम सर्वोपद्रवान्यन्त्रमन्त्रन्तंत्र चूर्णप्रयोगादिकं येन कृतं कारितं कुरुते करिष्यति कारयिष्यति तान्सर्वान्हन हन दंष्ट्राकरालिनि हैं ह्रीं ह्रूं गुह्यकुब्जिकायै स्वाहा ह्रौम्, ॐ खे वों गुह्यकुब्जिकायै नमः।।१।।

ह्रीं सर्वजनक्षोभणी जनानुकर्षिणी ततः। ॐ खे ख्यां सर्वजनवशंकरी तथा स्याज्जनमोहिनी।।२।।
ॐ ख्यौं सर्वजनस्तम्भनी ऐं खं खां क्षोभणी तथा। ऐं त्रितत्त्वं बीजं श्रेष्ठं कुले पञ्चाक्षरी तथा।।३।।
फं श्रीं क्षीं श्रीं ह्रीं क्षें वच्छे क्षे क्षे हूं फट् ह्रीं नमः। ॐ ह्रां क्षे वच्छे क्षे क्षो ह्रीं फट्।।४।।
नवेयं त्वरिता प्रोक्ता पुनर्ज्ञेयाऽर्चिता जये। ह्रौं सिंहायेत्यासनं स्याद्ध्रीं क्षे हृदयमीरितम्।।५।।
वच्छेऽथ शिरसे स्वाहा त्वरितायाः शिवः स्मृतः। क्षें ह्रीं शिखायै वौषट् स्याद्भवेत्क्षें कवचाय हुम्।।६।।
हूं नेत्रत्रयाय वौषड्ह्रीमन्तं च फडन्तकम्। ह्रींकारी खेचरी चण्डा छेदनी क्षोभणी क्रिया।।७।।
क्षेमकारी च ह्रींकारी फट्कारी नव शक्तयः। अथ दूतीः प्रवक्ष्यामि पूज्या इन्द्रादिगाश्च ताः।।८।।

अध्याय-१४७

त्वरिता पूजा आदि कथन

भगवान् महेश्वर ने कहा कि–हे स्कन्द! अधुना मैं गुह्य–कुब्जिका, नवा त्वरिता, दूती तथा त्वरिता के गुह्याङ्ग एवं तत्त्वों का वर्णन करने जा रहा हूँ–'**ॐ गुह्यकुब्जिके हुं फट् मम सर्वोपद्रवान् यन्त्रमन्त्रतन्त्रचूर्णप्रयोगादिकं येन कृतं कारितं कुरुते करिष्यति कारयित्यति तान् सर्वान् हन हन द्रंष्टाकरालिनि हैं ह्रीं ह्रूं गुह्यकुब्जिकायै स्वाहा ह्रौं, ॐ खें वों गुह्यकुब्जिकायै नमः।**' इस मन्त्र से गुह्यकुब्जिका का पूजन एवं जप करना चाहिये। '**ह्रीं सर्वजनक्षोभणी जनानुकर्षिणी ॐ खें ख्यां ख्यां सर्वजनवदेवाधिदेव भगवान् श्रीशिवशंकरी जनमोहनी, ॐ ख्यौं सर्वजनस्तम्भनी, ऐं खं खां क्षोभणी, ऐं त्रितत्त्वं बीजं श्रेष्ठं कुले पञ्चाक्षरी, फं श्रीं क्षीं ह्रीं क्षें वच्छे क्षे क्षे हूं फट्, ह्रीं नमः। ॐ ह्रां वच्छे क्षे क्षें क्षों ह्रीं फट्**'।।१-४।।

यह 'नवा त्वरिता' बतलायी गयी है। इसको बारंबार समझना (जपना) चाहिये। इसकी पूजा की जाय तो विजयदायिनी होती है। '**ह्रौं सिंहाय नमः।**' इस मन्त्र से आसन की पूजा करके देवी को सिंहासन समर्पित करना चाहिये। '**ह्रीं क्षे हृदयाय नमः।**' बोलकर हृदय का स्पर्श करना चाहिये। '**वच्छे शिरसे स्वाहा।**' बोलकर सिर का स्पर्श करना चाहिये–इस तरह यह 'त्वरितामन्त्र' का शिरोन्यास बतलाया गया है। '**क्षें ह्रीं शिखायै वषट्।**' ऐसा कहकर शिखा का स्पर्श करना चाहिये। '**क्षे कवचाय हुम्।**' कहकर दोनों भुजाओं का स्पर्श करना चाहिये। '**हूं नेत्रयाय वौषट्।**' कहकर दोनों नेत्रों का तथा ललाट के मध्यभाग का स्पर्श करना चाहिये। 'ह्रीं अस्त्राय फट्'।

ह्रीं नले बहुतुण्डे चखगे ह्रीं खेचरे ज्वालिनि ज्वल ख खे छ च्छे शवविभीषणे च च्छे चण्डे छेदनि करालि ख खे छे खे खरहाङ्गी ह्रीं क्षे वक्षे कपिले ह क्षे ह्रूं क्रूं तेजीवति रौद्रि मातः ह्रीं फे बे फेफे वक्त्रे वरी के पुटि पुटि घोरे ह्रूं फट् ब्रह्म वेतालि मध्ये।।९।।

गुप्ताङ्गानि च तत्त्वानि त्वरितायाः पुनर्वदे। ह्रौं ह्रूं हः हृदये प्रोक्तं ह्रीं हश्च शिरः स्मृतम्।।१०।।

फां ज्वल ज्वलेति च शिखा वर्मं इले ह्वं हं हुम्। क्रों क्ष्रूं श्रीं नेत्रमित्युक्तं क्षौमस्त्रं त्रै ततश्च फट्।।
हुं खे वच्छे क्षेः, ह्रीं क्षें हुं फट् वा।।११।।

हुं शिरश्चैव मध्ये स्यात्पूर्वादो खे सदा शिवे। व ईशश्छे मनोन्मानी मक्षे तार्क्षो ह्रीं च माधवः।।
क्षें ब्रह्मा हुं तथाऽऽदित्यो दारुणं फट् स्मृताः सदा।।१२।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते त्वरितापूजादिविधिकथनं नाम सप्तचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः।।१४७।।

—⁂—

कहकर ताली बजाये। ह्रींकारी, खेचरी, चण्डा, छेदनी, क्षोभणी, क्रिया, क्षेमकारी, हुंकारी तथा फट्कारी—ये नौ शक्तियाँ हैं।।५-७।।

अधुना दुतियों का वर्णन करने जा रहा हूँ। इन सभी का पूर्व आदि दिशाओं में पूजन करना चाहिये—'**ह्रीं नले बहुतुण्डे च खगे ह्रीं खेचरे ज्वालिनि ज्वल ख खे छ च्छे शवविभीषणे चच्छे चण्डे छेदनि करालि ख खे छे खे खरहाङ्गी ह्रीं क्षे वक्षे कपिले ह क्षे ह्रूं क्रूं तेजोवति रौद्रि मातः ह्रीं फे वे फे फे वक्त्रे वरी फे पुटि घोरे ह्रूं फट् ब्रह्मवेतालि मध्ये।**' यह दूती-मन्त्र है।।८-९।।

अधुना पुनः त्वरिता के गुह्याङ्गों तथा तत्त्वों का वर्णन करने जा रहा हूँ। '**ह्रौं ह्रूं हः हृदयाय नमः।**' इसका हृदय में न्यास करना चाहिये। '**ह्रीं हः शिरसे स्वाहा।**' ऐसा कहकर सिर में न्यास करना चाहिये। '**फां ज्वल ज्वल शिखायै वषट्।**' कहकर शिखा में, '**इले हं ह्रूं कवचाय हुम्**'। कहकर दोनों भुजाओं में '**क्रों क्ष्रूं श्रीं नेत्रत्रयाय वौषट्।**' बोलकर नेत्रों में तथा ललाट के मध्यभाग में न्यास करना चाहिये। '**क्षौं अस्त्राय फट्।**' कहकर दोनों हाथों से ताली बजाये अथवा '**हुं खे वच्छे क्षे ह्रीं क्षें हुं अस्त्राय फट्।**' कहकर ताली बजानी चाहिये। मध्यभाग में '**हुं स्वाहा।**' लिखे तथा पूर्व आदि दिशाओं में क्रमशः '**खे सदाशिवे, व ईशः, छे मनोन्मनी, मक्षे तार्क्षः, ह्रीं माधवः, क्षें ब्रह्मा, हुम् आदित्यः, दारुणं फट्**' का उल्लेख एवं पूजन करना चाहिये। ये आठ दिशाओं में पूजनीय देवता बताये गये हैं।।१०-१२।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी एक सौ सैंतालिसवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।१४७।।

❖❖❖

अथाष्टाचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः

सङ्ग्रामविजयपूजा

ईश्वर उवाच

(ॐ डे ख ख्यां सूर्याय) सङ्ग्रामविजयाय नमः। ह्रां ह्रीं ह्रूं ह्रें ह्रौं ह्रः।।१।।

षडङ्गानि तु सूर्यस्य सङ्ग्रामे जयदस्य हि।।२।।

ॐ हं खं खलौल्काय स्वाहा। (स्फूं ह्रूं हुं क्रूम, ॐ ह्रों क्रेम।।३।।

प्रभूतं विमलं सारमाराध्यं परमं सुखम्।) धर्मं ज्ञानं च वैरोग्यमैश्वर्याद्यष्टकं यजेत्।।४।।

अनन्तासनं सिंहासनं पद्मासनमतः परम्। कर्णिका केशराण्येव सूर्यसोमाग्निमण्डलम्।।५।।

दीप्ता सूक्ष्मा जया भद्रा विभूतिर्विमला तथा। अमोघा विद्युता पूज्या नवमी सर्वतोमुखी।।६।।

सत्त्वं रजस्तमश्चैवं प्रकृतिं पुरुषं तथा। आत्मानं चान्तरात्मानं परमात्मानमर्चयेत्।।७।।

सर्वे सिन्धुसमायुक्ता मायानिलसमन्विताः।

उषा प्रभा च सन्ध्या च साया माया बलान्विताः।।८।।

अध्याय–१४८

संग्राम विजय पूजन निरूपण

भगवान् महेश्वर ने कहा कि–हे स्कन्द! अधुना मैं संग्राम में विजय देने वाले सूर्यदेव के पूजन की विधि बतलाता हूँ। '**ॐ डे ख ख्यां सूर्याय संग्रामविजयाय नमः।**'–यह मन्त्र है। ह्रां ह्रीं ह्रूं ह्रें ह्रौं ह्रः–ये संग्राम में विजय देने वाले सूर्य देव के छः अंग हैं, अर्थात् इनके द्वारा षडङ्गन्यास करना चाहिये। यथा–'**ह्रां हृदयाय नमः। ह्रीं शिर से स्वाहा। ह्रूं शिखायै वषट्। ह्रें कवचाय हुम्। ह्रौं नेत्रत्रयाय वौषट्। ह्रः अस्त्राय फट्**'।।१-२।।

'**ॐ हं खं खखोल्काय स्वाहा।**'–यह पूजा के लिये मन्त्र है। '**स्फूं ह्रूं हुं क्रूं ॐ ह्रों क्रेम्**'–ये छः अंगन्यास के बीज-मन्त्र हैं। पीठस्थान में प्रभू, विमल, सार, आराध्य एवं परम सुख का पूजन करना चाहिये। पीठ के पायों तथा मध्य की चार दिशाओं में क्रमशः धर्म, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य, अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य तथा अनैश्वर्य- इन आठों की पूजा करनी चाहिये। उसके बाद अनन्तासन, सिंहासन एवं पद्मासन की पूजा करनी चाहिये। इसके बाद कमल की कर्णिका एवं केसरों की, वहीं सूर्यमण्डल, सोममण्डल तथा अग्निमण्डल की पूजा करनी चाहिये। फिर दीप्ता, सूक्ष्मा, जया, भद्रा, विभूति, विमला, अमोघा, विद्युता तथा नवीं सर्वतोमुखी–इन नौ शक्तियों का पूजन करना चाहिये।।३-६।।

तत्पश्चात् सत्त्व, रज और तमका, प्रकृति और पुरुष का, आत्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा का पूजन करना चाहिये। ये सभी अनुस्वारयुक्त आदि अक्षर से युक्त होकर अन्त में 'नमः' के साथ चतुर्थ्यन्त होने पर पूजा के मन्त्र हो जाते हैं। यथा–'**सं सत्त्वाय नमः। अं अन्तरात्मने नमः।**' इत्यादि। इसी तरह उषा, प्रभा, संध्या, साया, माया,

विन्दुविष्णुसमायुक्ता द्वारपालास्तथाऽष्टकम्। सूर्यं चण्डं प्रचण्डं च पूजयेद्‌गन्धकादिभिः।।
पूजया जपहोमाद्यैर्युद्धादौ विजयो भवेत्।।९।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते सङ्ग्रामविजयपूजाकथनं नामाष्टाचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः।।१४८।।

—॥—

अथैकोनपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः

लक्षकोटिहोमः

ईश्वर उवाच

होमाद्रणादौ विजयो राज्याप्तिर्विघ्ननाशनम्। कृच्छ्रेण शुद्धिमुत्पाद्य प्राणायामशतेन च।।१।।
अन्तर्जले च गायत्रीं जप्त्वा षोडशधाऽऽचरेत्। प्राणायामांश्च पूर्वाह्णे जुहुयात्पावके हविः।।२।।
भैक्ष्ययावकभक्षी च फलमूलाशनोऽपि वा। क्षीरश (स) क्तुघृताहार एकमाहारमाश्रयेत्।।३।।
यावत्समाप्तिर्भवति लक्षहोमस्य पार्वति। दक्षिणा लक्षहोमान्ते गावो वस्त्राणि काञ्चनम्।।४।।
सर्वोत्पातसमुत्पत्तौ पञ्चभिर्दशभिर्द्विजैः। नास्ति लोके स उत्पातो यो ह्यनेन न शाम्यति।।५।।

बला, बिन्दु, विष्णु तथा आठ द्वारपालों की पूजा करनी चाहिये। इसके बाद गन्ध आदिसे सूर्य, चण्ड और प्रचण्ड का पूजन करना चाहिये। इस तरह पूजा तथा जप, हवन आदि करने से युद्ध आदि में विजय प्राप्त होती है।।७-९।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी एक सौ अड़तालिसवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।१४८।।

अध्याय-१४९

लक्षकोटि हवन विधान

भगवान् महेश्वर ने कहा—हे देवि! हवन से युद्ध में विजय, राज्यप्राप्ति और विघ्नों का विनाश होता है। पहले 'कृच्छ्रव्रत' करके देहशुद्धि करनी चाहिये। उसके बाद सौ प्राणायाम करके शरीर का शोधन करना चाहिये। फिर जल के अन्दर गायत्री-जप करके सोलह बार प्राणायाम करना चाहिये। पूर्वाह्णकाल में अग्नि में आहुति समर्पित करना चाहिये। भिक्षा द्वारा प्राप्त यवनिर्मित भोज्यपदार्थ, फल, मूल, दुग्ध, सत्तू और घृत का आहार यज्ञकाल में विहित है।।१-३।।

हे पार्वति! लक्ष हवन की समाप्ति पर्यन्त एक समय भोजन करना चाहिये। लक्ष-हवन की पूर्णाहुति के पश्चात् गौ, वस्त्र एवं स्वर्ण की दक्षिणा देना चाहिये। सभी तरह के उत्पातों के प्रकट होने पर पाँच या दस ऋत्विजों से उपरोक्त यज्ञ कराये। इस लोक में ऐसा कोई उत्पात नहीं है, जो इससे शान्त न हो जाय। इससे बढ़कर परम मंगलकारक कोई

मङ्गल्यं परमं नास्ति यदस्मादतिरिच्यते। कोटिहोमं तु यो राजा कारयेत्पूर्ववद्द्विजैः।।६।।
न तस्य शत्रवः संख्ये जातु तिष्ठन्ति कर्हिचित्। अतिवृष्टिरनावृष्टिर्मूषकाः शलभाः शुकाः।।७।।
राक्षसाद्याश्च शाम्यन्ति सर्वे च रिपवो रणे। कोटिहोमे तु वरयेद्ब्राह्मणांन्विंशतिस्तथा।।८।।
शतं चाथ सहस्रं वा यथेष्टां भूतिमाप्नुयात्। कोटिहोमं तु यः कुर्याद्द्विजो भूपोऽथ वा च विट्।।९।।
यदिच्छेत्प्राप्नुयात्तत्तत्सशरीरो दिवं व्रजेत्। गायत्र्या ग्रहमन्त्रैर्वा कूष्माण्डैर्जातवेदसैः।।१०।।
ऐन्द्रवारुणवायव्ययाम्याग्नेयैश्च वैष्णवैः। शाक्तेयैः शाम्भवैः सौरैर्मन्त्रैर्होमार्चनात्ततः।।११।।
अयुतेनाल्पसिद्धिः स्याल्लक्षहोमोऽखिलार्तिनुत्। सर्वपीडादि (वि) नाशाय कोटिहोमोऽखिलार्थदः।।१२।।
यवव्रीहितिलक्षीरघृतकुशप्रसातिकाः। पङ्कजोशीरबिल्वाम्रदला होमे प्रकीर्तिताः।।१३।।
अष्टहस्तप्रमाणेन कोटिहोमेषु खातकम्। तस्यादर्धप्रमाणेन लक्षहोमे विधीयते।।१४।।
होमोऽयुतेन लक्षेण कोट्याद्याज्यैः प्रकीर्तितः।।१५।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते अयुतलक्षकोटिहोमकथनं नामैकोनपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः।।१४९।।

वस्तु नहीं है। जो नरेश उपरोक्त विधि से ऋत्विजों द्वारा कोटिहवन कराता है, युद्ध में उसके सम्मुख शत्रु कभी नहीं ठहर सकते हैं। उसके राज्य में अतिवृष्टि, अनावृष्टि, मूषकोपद्रव, टिड्डीदल, शुकोपद्रव एवं भूत-राक्षस तथा युद्ध में समस्त शत्रु शान्त हो जाते हैं। कोटि-हवन में बीस, सौ अथवा सहस्र ब्राह्मणों का वरण करना चाहिये। इससे यजमान इच्छानुकूल धन-वैभव की प्राप्ति करता है। जो ब्राह्मण, क्षत्रिय अथवा वैश्य इस कोटिहवनात्मक यज्ञ का अनुष्ठान करता है, वह जिस पदार्थ की इच्छा करता है, उसको प्राप्त करता है। वह सशरीर स्वर्गलोक को जाता है।।४-९।।

गायत्री-मंत्र, ग्रह-सम्बन्धी मन्त्र, कूष्माण्ड मन्त्र, जातवेदा-अग्नि-सम्बन्धी अथवा ऐन्द्र, वारुण, वायव्य, याम्य, आग्नेय, वैष्णव, शाक्त, शैव एवं सूर्यदेवता सम्बन्धी मन्त्रों से हवन पूजन आदि का विधान है। अयुत-हवन से अल्प सिद्धि होती है। लक्ष-हवन सम्पूर्ण दुःखों को दूर करने वाला है। कोटि-हवन समस्त क्लेशों का विनाश करने वाला और सम्पूर्ण पदार्थों को सम्प्रदान करने वाला है। यव, धान्य, तिल, दुग्ध, घृत, कुश, बेल और आम्रपत्र हवन के योग्य माने गये हैं। कोटि-हवन में आठ हाथ और लक्ष-हवन में चार हाथ गहरा कुण्ड बनाये। अयुत हवन, लक्ष-हवन और कोटि होम में घृत का हवन करना चाहिये।।१०।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी एक सौ उनचासवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।१४९।।

❖❖❖

अथ पञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः

मन्वन्तराणि

अग्निरुवाच

मन्वन्तराणि वक्ष्यामि आद्यः स्वायंभुवो मनुः। आग्नीध्राद्यास्तस्य सुता यमो नाम तदा सुराः।।१।।
और्वाद्याश्च सप्तर्षय इन्द्रश्चैव शतक्रतुः। पारावताः सतुषिता देवाः स्वारोचिषेऽन्तरे।।२।।
विपश्चित्तत्र देवेन्द्र ऊर्जस्तस्मादयो द्विजाः। चैत्रकिंपुरुषाः पुत्रास्तृतीयश्चोत्तमो मनुः।।३।।
सुशान्तिरिन्द्रो देवाश्च सुधामाद्या वशि (सि) ष्ठजाः। सप्तर्षयोऽजाद्याः पुत्राश्चतुर्थस्तामसो मनुः।।४।।
स्वरूपाद्याः सुरगणाः शिखरि(री)न्द्रः सुरेश्वरः। ज्योतिर्होमादयो विप्राः नव ख्यातिमुखाः सुताः।।५।।
रैवते वितथश्चेन्द्रो अमिताभास्तथा सुराः। हिरण्यरोमाद्या मुनयो बलबन्धादयः सुताः।।६।।
मनोजवश्चाक्षुषेऽथ इन्द्रः स्वात्यागयः सुताः। सुमेधाद्याः महर्षयः पुरुप्रभृतयः सुताः।।७।।
विवस्वतः सुतो विप्रः श्राद्धदेवो मनुस्ततः। आदित्यवसुरुद्राद्या देवा इन्द्रः पुरन्दरः।।८।।
वशि (सि) ष्ठः काश्यपोऽथात्रिर्जमदग्निः सगोतमः। विश्वामित्रभरद्वाजौ मुनयः सप्त साम्प्रतम्।।९।।
इक्ष्वाकुप्रमुखाः पुत्रा अंशेन हरिराभवत्। स्वायंभुवे मानसोऽभूदजितस्तदनन्तरे।।१०।।
सत्योहरिर्देववरो वैकुण्ठो वामनः क्रमात्। छायाजः सूर्यपुत्रस्तु भविता चाष्टमो मनुः।।११।।

अध्याय-१५०

मन्वन्तर निरूपण

श्रीअग्नि देव ने कहा कि-अधुना मैं मन्वन्तरों का वर्णन करने जा रहा हूँ। सबसे प्रथम स्वायम्भुव मनु हुए हैं। उनके आग्नीध्र आदि पुत्र थे। स्वायम्भुव मन्वन्तर में यम नामक देवता, और्व आदि सप्तर्षि मन्वन्तर में यम नामक देवता, और्व आदि सप्तर्षि तथा शतक्रतु इन्द्र थे। दूसरे मन्वन्तर का नाम था-स्वारोचिष; उसमें पारावत और तुषित नामधारी देवता थे। स्वरोचिष मनु के चैत्र और किम्पुरुष आदि पुत्र थे। उस समय विपश्चित् नामक इन्द्र तथा उर्जस्वन्त आदि द्विज (सप्तर्षि) थे। तीसरे मनु का नाम श्रेष्ठतम हुआ; उनके पुत्र अज आदि थे। उनके समय में सुशान्ति नामक इन्द्र, सुधामा आदि देवता तथा वसिष्ठ के पुत्र सप्तर्षि थे। चौथे मनु तामस नाम से विख्यात हुए; उस समय स्वरूप आदि देवता, शिखरी इन्द्र, ज्योतिर्होम आदि ब्राह्मण (सप्तर्षि) थे तथा उनके ख्याति आदि नौ पुत्र हुए।।१-५।।

रैवत नामक पाँचवें मन्वन्तर में वितथ इन्द्र, अमिताभ देवता, हिरण्यरोमा आदि मुनि तथा बलबन्ध आदि पुत्र थे। छठे चाक्षुष मन्वन्तर में मनोजव नामक इन्द्र और स्वाति आदि देवता थे। सुमेधा आदि महर्षि और पुरु आदि मनु-पुत्र थे। तत्पश्चात् सातवें मन्वन्तर में सूर्यपुत्र श्राद्धदेव मनु हुए। इनके समय में आदित्य, वसु तथा रुद्र आदि देवता; पुरन्दर नामक इन्द्र; वसिष्ठ, काश्यप, अत्रि, जमदग्नि, गौतम, विश्रामित्र तथा भरद्वाज सप्तर्षि हैं। यह वर्तमान मन्वन्तर का वर्णन है। वैवस्वत मनु के इक्ष्वाकु आदि पुत्र थे। इन सभी मन्वन्तरों में भगवान् श्रीहरि विष्णु के अंशावतार हुए हैं। स्वायम्भुव मन्वन्तर में भगवान् 'मानस' के नाम से प्रकट हुए। उसके बाद शेष छः मन्वन्तरों में क्रमशः अजित,

पूर्वजस्य सवर्णोऽसौ सावर्णिर्भविताऽष्टमः। सुतपाद्या देवगणा दीप्तिमद्द्रौणिकादयः॥१२॥
मुनयो बलिरिन्द्रश्च विरजप्रमुखाः सुताः। नवमो दक्षसावर्णिः पाराद्याश्च तदा सुराः॥१३॥
इन्द्रश्चैवाद्भुतस्तेषां सवनाद्या द्विजोत्तमाः। घृतकेत्वादयः पुत्रा ब्रह्मसावर्णिरित्यतः॥१४॥
सुखादयो देवगणास्तेषां शान्तिः शतक्रतुः। हविष्याद्याश्च मुनयः सुक्षेत्राद्याश्च तत्सुताः॥१५॥
धर्मसावर्णिकश्चाथ विहङ्गाद्यास्तदा सुराः। गणश्चेन्द्रो निश्चराद्या मुनयः पुत्रका मनोः॥१६॥
सर्वत्र गाद्या रुद्राख्यः सावर्णिर्भविता मनुः। ऋतधामा सुरेन्द्रश्च हरिताद्याश्च देवताः॥१७॥
तपस्याद्याः सप्तर्षयः सुता वै देववन्मुखाः। मनुस्त्रयोदशो रौच्यः सूत्रामाणादयःसुराः॥१८॥
इन्द्रो दिवस्पतिस्तेषां दानवादि विमर्दनः। निर्मोहाद्याः सप्तर्षयश्चित्रसेनादयः सुताः॥१९॥
मनुश्चतुर्दशो भौत्यः शुचिरिन्द्रो भविष्यति। चाक्षुषाद्याः सुरगणाः अग्निबाह्वादयो द्विजाः॥२०॥
चतुर्दशस्य भौत्यस्य पुत्रा ऊरुमुखा मनोः। प्रवर्तयन्ति वेदांश्च भुवि सप्तर्षयो दिवः॥२१॥
देवा यज्ञभुजस्ते तु (स्तैस्तु) भूः (स्व) पुत्रैः परिपाल्यते। ब्रह्मणो दिवसे ब्रह्मन्मनवस्तु चतुर्दश॥२२॥
मन्वाद्याश्च हरिर्वेदं द्वापरान्ते बिभेद सः। आद्यो वेदश्चतुष्पादः शतसाहस्रसंमितः॥२३॥

सत्य, हरि, देववर, वैकुण्ठ और वामन रूप में श्रीहरि विष्णु का प्रादुर्भाव हुआ। छाया के गर्भ से उत्पन्न सूर्यनन्दन सावर्णि आठवें मनु होंगे॥६-११॥

वे अपने पूर्वज (ज्येष्ठ भ्राता) श्राद्धदेव के समान वर्ण वाले हैं, इसलिये 'सावर्णि' नाम से विख्यात होंगे। उनके समय में सुतपा आदि देवता, परम तेजस्वी अश्वत्थामा आदि सप्तर्षि बलि इन्द्र और विरज आदि मनुपुत्र होंगे। नवें मनु का नाम दक्षसावर्णि होगा। उस समय पार आदि देवता होंगे। उन देवताओं के इन्द्र की 'अद्भुत' संज्ञा होगी। उनके समय में सवन आदि श्रेष्ठ ब्राह्मण सप्तर्षि होंगे और 'धृतकेतु' आदि मनुपुत्र। तत्पश्चात् दसवें मनु ब्रह्मसावर्णि के नाम से प्रसिद्ध होंगे। उस समय सुख आदि देवगण, शान्ति इन्द्र, हविष्य आदि मुनि तथा सुक्षेत्र आदि मनुपुत्र होंगे॥१२-१५॥

तत्पश्चात् धर्मसावर्णि नामक ग्यारहवें मनु का अधिकार होगा। उस समय विहङ्ग आदि देवता, गण इन्द्र, निश्चर आदि मुनि तथा सर्वत्रग आदि मनुपुत्र होंगें। इसके बाद बारहवें मनु रुद्रसावर्णि के नाम से विख्यात होंगे। उनके समय में ऋतधामा नामक इन्द्र और हरित आदि देवता होंगे। तपस्य आदि सप्तर्षि और देववान् आदि मनुपुत्र होंगे। तेरहवें मनु का नाम होगा रौच्य। उस समय सूत्रामणि आदि देवता तथा दिवस्पति इन्द्र होंगे, जो दानव-दैत्य आदि का मर्दन करने वाले होंगे। रौच्य मन्वन्तर में निर्मोह आदि सप्तर्षि तथा चित्रसेन आदि मनुपुत्र होंगे। चौदहवें मनु भौत्य के नाम से प्रसिद्ध होंगे। उनके समय में शुचि इन्द्र, चाक्षुष आदि देवता तथा अग्निबाहु आदि सप्तर्षि होंगे। चौदहवें मनु के पुत्र ऊरु आदि के नाम से विख्यात होंगे॥१६-२०॥

सप्तर्षि द्विजगण भूमण्डल पर वेदों का प्रचार करते हैं, देवगण यज्ञ भाग के भोक्ता होते हैं तथा मनुपुत्र पृथ्वी का पालन करते हैं। हे ब्रह्मन्! ब्रह्मा के एक दिन में चौदह मनु होते हैं। मनु, देवता तथ इन्द्र आदि भी उतने ही बार होते हैं। प्रत्येक द्वापर के अन्त में व्यासरूपधारी श्रीहरि विष्णु वेद का विभाग करते हैं। आदि वेद एक था, जिसमें चार चरण और एक लाख ऋचाएँ थीं। पहले एक ही यजुर्वेद था, उसको मुनिवर व्यासजी ने चार भागों

एकश्चाऽऽसीद्यजुर्वेदस्तं चतुर्धा व्यकल्पयत्। आध्वर्यवं यजुर्भिस्तु ऋग्भिर्हौत्रं तथा मुनिः॥२४॥
औद्गात्रं सामभिश्चक्रे ब्रह्मत्वं चाप्यथर्वभिः। प्रथमं व्यासशिष्यस्तु पैलो ह्यृग्वेदपारगः॥२५॥
इन्द्रः प्रमतये प्रादाद्बाष्कलाय च संहिताम्। बौध्यादिभ्यो ददौ सोऽपि चतुर्धा निजसंहिताम्॥२६॥
यजुर्वेदतरोः शाखा सप्तविंशन्महामतिः। वैशम्पायननामाऽसौ व्यासशिष्यश्चकार वै॥२७॥
काण्वा वाजसनेयाद्या याज्ञवल्क्यादिभिः स्मृताः। सामवेदतरोः शाखा व्यासशिष्यः स जैमिनिः॥२८॥
सुमन्तुश्च सुकर्मा च एकैकां संहितां ततः। गृह्णते च सुकर्माख्यः सहस्रं संहितां गुरुः॥२९॥
सुमन्तुश्चाथर्वतरुं व्यासशिष्यो विभेद तम्। शिष्यानध्यापयामास पैप्पलादीन्सहस्रशः॥३०॥
पुराणसंहितां चक्रे सूतो व्याससप्रसादतः॥३१॥

॥इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते मन्वन्तरवर्णनं नाम पञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः॥१५०॥

—❋❋❋—

में विभाजित कर दिया। उन्होंने अध्वर्यु का काम यजुर्भाग से होता का कार्य ऋग्वेद की ऋचाओं से, उद्गाता का कर्म साम-मन्त्रों से तथा ब्रह्मा का कार्य अथर्ववेद के मन्त्रों से होना निश्चित किया। व्यास के प्रथम शिष्य पैल थे, जो ऋग्वेद के पारंगत पण्डित हुए॥२१-२५॥

इन्द्र ने प्रमति और बाष्कल को संहिता सम्प्रदान की। बाष्कल ने भी बौध्य आदि को चार भागों में विभाजित अपनी संहिता दी। व्यासजी के शिष्य परम बुद्धिमान् वैशम्पायन ने यजुर्वेदरूप वृक्ष की सत्ताईस शाखाएँ निर्माण कीं। काण्व और वाजसनेय आदि शाखाओं को याज्ञवल्क्य आदि ने सम्पादित किया है। व्यास-शिष्य जैमिनि ने सामवेद रूपी वृक्ष की शाखाएँ बनायीं। फिर सुमन्तु और सुकर्मा ने एक-एक संहिता रची। सुकर्मा ने अपने गुरु से एक हजार संहिताओं को ग्रहण किया। व्यास-शिष्य सुमन्तु ने अथर्ववेद की भी एक शाखा बनायी तथा उन्होंने पैप्पल आदि अपने सहस्रों शिष्यों को उसका अध्ययन कराया। भगवान् व्यासदेव जी की कृपा से सूत ने पुराण-संहिता का विस्तार किया॥२६-३१॥

॥इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी एक सौ पचासवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ॥१५०॥

अथैकपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः

वर्णेतरधर्माः

अग्निरुवाच

मन्वादयो भुक्ति मुक्ति (क्ती) धर्मांश्चीर्त्वाऽऽप्नुवन्ति यान्।
प्रोचे परशुरामाय वरुणोक्तं तु (क्तांस्तु) पुष्करः॥१॥

पुष्कर उवाच

वर्णाश्रमेतराणां ते धर्मान्वक्ष्यामि सर्वदान्। मन्वादिभिर्निगदितान्वासुदेवादितुष्टिदान्॥२॥
अहिंसा सत्यवचनं दया भूतेष्वनुग्रहः। तीर्थानुसरणं दानं ब्रह्मचर्यममत्सरः॥३॥
देवद्विजातिशुश्रूषा गुरूणां च भृगूत्तम। श्रवणं सर्वधर्माणां पितृणां पूजनं तथा॥४॥
भक्तिश्च नृपतौ नित्यं तथा सच्छास्त्रनेत्रता। (आनृशंस्यं तितिक्षा च तथा चाऽऽस्तिक्यमेव च॥५॥
वर्णाश्रमाणां सामान्यं धर्माधर्मं समीरितम्)। (यजनं याजनं दानं वेदाद्यध्यापनक्रिया॥६॥
प्रतिग्रहं चा (हश्चा) ध्ययनं विप्रकर्माणि निर्दिशेत्)। दानमध्ययनं चैव यजनं च यथाविधि॥७॥
क्षत्रियस्य सवैश्यस्य कर्मेदं परिकीर्तितम्। क्षत्रियस्य विशेषेण पालनं दुष्टनिग्रहः॥८॥
कृषिगोरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यस्य परिकीर्तितम्। शूद्रस्य द्विजशुश्रूषा सर्व शिल्पानि वाऽप्यथ॥९॥

अध्याय-१५१

वर्णाश्रम के अतिरिक्त धर्म कथन

श्रीअग्नि देव ने कहा कि—मनु आदि राजर्षि जिन धर्मों का अनुष्ठान करके भोग और मोक्ष प्राप्त कर चुके हैं, उनका वरुण देवता ने पुष्कर को उपदेश किया था और पुष्कर ने श्रीपरशुरामजी से उनका वर्णन किया था॥१॥

पुष्करजी ने कहा—हे भगवान् परशुरामजी! मैं वर्ण, आश्रम तथा इनसे भिन्न धर्मों का आप से वर्णन करने जा रहा हूँ। वे धर्म सब कामनाओं को देने वाला हैं। मनु आदि धर्मात्माओं ने भी उनका उपदेश किया है तथा वे भगवान् वासुदेव आदि को संतोष सम्प्रदान करने वाले हैं। हे भृगुश्रेष्ठ! अहिंसा, सत्य-भाषण, दया, सम्पूर्ण प्राणियों पर अनुग्रह, तीर्थों का अनुसरण, दान, ब्रह्मचर्य, मत्सरता का अभाव, देवता, गुरु और ब्राह्मणों की सेवा, सब धर्मों का श्रवण, पितरों का पूजन, मनुष्यों के स्वामी श्रीभगवान् में सदा भक्ति रखना, श्रेष्ठतम शास्त्रों का अवलोकन करना, क्रूरता का अभाव, सहनशीलता तथा आस्तिकता (ईश्वर और परलोक पर विश्वास रखना)—ये वर्ण और आश्रम दोनों के लिये 'सामान्य धर्म' बताये गये हैं। जो इसके विपरीत है, वही 'अधर्म' है। यज्ञ करना और कराना, दान देना, वेद पढ़ाने का कार्य करना, श्रेष्ठतम प्रतिग्रह लेना तथा स्वाध्याय करना—ये ब्राह्मण के कर्म हैं दान देना, वेदों का अध्ययन करना और विधिपूर्वक यज्ञानुष्ठान करना—ये क्षत्रिय और वैश्य के सामान्य कर्म हैं। प्रजा का पालन करना और दुष्टों को दण्ड देना—ये क्षत्रिय के विशेष धर्म हैं। खेती, गोरक्षा और व्यापार—ये वैश्य के विशेष कर्म बताये गये हैं। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य—इन द्विजों की सेवा तथा सभी तरह की शिल्प-रचना—ये शूद्र के कर्म हैं॥२-९॥

मौञ्जी-बन्धन (यज्ञोपवीत संस्कार) होने से ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य-बालक का द्वितीय जन्म होता है;

मौञ्जी बन्धनतो जन्म विप्रादेश्च द्वितीयकम्। अनुलोम्येन वर्णानां जातिर्मातृसमा स्मृता।।१०।।
चण्डालो ब्राह्मणीपुत्रः शूद्रात्स्यात्प्रतिलोमतः। (सूतस्तु क्षत्रियाज्जातो वैश्याद्वै देवलस्तथा।।११।।
पुक्कसः क्षत्रियापुत्रः शूद्रात्स्यात्प्रतिलोमजः।) मागधः स्यात्तथा वैश्याच्छूद्रादायोगवो भवेत्।।१२।।
वैश्यायां प्रतिलोमेभ्यः प्रतिलोमाः सहस्रशः। विवाहः सदृशैस्तेषां नोत्तमैर्नाधमैस्तथा।।१३।।
चण्डालकर्मं निर्दिष्टं वध्यानां घातनं तथा। स्त्रीजीवनं तु तद्रक्षा प्रोक्तं वैदेहकस्य च।।१४।।
सूतानामश्वसारथ्यं पुक्कसानां च व्याधता। स्तुतिक्रिया मागधानां तथा चाऽऽयोगवस्य च।।१५।।
रङ्गावतरणं प्रोक्तं तथा शिल्पैश्च जीवनम्। बहिर्ग्राम विवासश्च मृतचेलस्य धारणम्।।१६।।
न संस्पर्शस्तथैवान्यैश्चण्डालस्य विधीयते। ब्राह्मणार्थे गवार्थे वा देहत्यागोऽत्र यः कृतः।।१७।।
स्त्रीबालाद्युपपत्तौ वा बाह्यानां सिद्धिकारणम्। संकरे जातयो ज्ञेयाः पितुर्मातुश्च कर्मतः।।१८।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गति वर्णेतरधर्मवर्णनं नामैकपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः।।१५१।।

—❋❋❋—

इसलिये वे द्विज' कहलाते हैं। यदि अनुलोम क्रम से वर्णों की उत्पत्ति हो, तो माता के समान बालक की जाति मानी गयी है।।१०।।

विलोम-क्रम से अर्थात् शूद्र के वीर्य से उत्पन्न हुआ ब्राह्मणी का पुत्र 'चाण्डाल' कहलाता है, क्षत्रिय के वीर्य से उत्पन्न होने वाला ब्राह्मणी का पुत्र 'सूत' कहा गया है और वैश्य के वीर्य से उत्पन्न होने पर उसी 'वैदेहक' संज्ञा होती है। क्षत्रिय जाति की स्त्री के पेट से शूद्र के द्वारा उत्पन्न हुआ विलोमज पुत्र 'पुक्कस' कहलाता है। वैश्य और शूद्र के वीर्य से उत्पन्न होने पर क्षत्रिया के पुत्र की क्रमशः 'मागध' और 'अयोगव' संज्ञा होती है। वैश्य जाति की स्त्री के गर्भ से शूद्र एवं विलोमज जातियों द्वारा उत्पन्न विलोमज संतानों के हजारों भेद हैं। इन सभी का परस्पर वैवाहिक सम्बन्ध समान जाति वालों के साथ ही होना चाहिये। अपने से ऊँची और नीची जाति के लोगों के साथ नहीं।।११-१३।।

वध के योग्य प्राणियों का वध करना–यह चाण्डाल का कर्म बतलाया गया है। स्त्रियों के उपयोग में आने वाली वस्तुओं के निर्माण से जीविका चलाना तथा स्त्रियों की रक्षा करना–यह 'वैदेहक' का कार्य है। सूतों का कार्य है–घोड़ों का सारथिपना, 'पुक्कस' व्याध-वृत्ति से रहते हैं तथा 'मागध' का कार्य है–स्तुति करना, प्रशंसा के गीत गाना। 'अयोगव' का कर्म है–रङ्गभूमि में उतरना और शिल्प के द्वारा जीविका चलाना। 'चाण्डाल' को गाँव के बाहर रहना और मुर्दे से उतारे हुए वस्त्र को धारण करना चाहिये। चाण्डाल को दूसरे वर्ण के लोगों का स्पर्श नहीं करना चाहिये। ब्राह्मणों तथा गौओं की रक्षा के लिये प्राण त्यागना अथवा स्त्रियों एवं बालकों की रक्षा के लिये देह-त्याग करना वर्ण-बाह्य चाण्डाल आदि जातियों की सिद्धि का (उनकी आध्यात्मिक उन्नति) का कारण माना गया है। वर्णसंकर व्यक्तियों की जाति उनके पिता-माता तथा जातिसिद्ध कर्मों से समझनी चाहिये।।१४-१८।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी एक सौ एकानवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।१५१।।

❖❖❖

अथ द्विपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः

गृहस्थवृत्तिः

पुष्कर उवाच

आजीवं तु यथोक्तेन ब्राह्मणः स्वेन कर्मणा। क्षत्रविट्शूद्रधर्मेण जीवन्नेव तु शूद्रजात्।।१।।
कृषिवाणिज्यगौरक्ष्यं कुसीदं च द्विजश्चरेत्। गोरसं गुडलवणलाक्षामांसानि वर्जयेत्।।२।।
भूमिं भित्त्वौषधीश्छित्त्वा हत्वाकीटपिपीलिकान्। पुनन्ति खलु यज्ञेन कर्षकादेवपूजनात्।।३।।
हलमष्टगवं धर्म्यं षड्गवं जीवितार्थिनाम्। चतुर्गवं नृशंसानां द्विगवं धर्मघातिनाम्।।४।।
ऋतामृताभ्यां जीवेत मृतेन प्रमृतेन वा। सत्यानृताभ्यामपि वा न श्ववृत्त्या कदाचन।।५।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते गृहस्थवृत्तिवर्णनं नाम द्विपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः।।१५२।।

अध्याय-१५२

गृहस्थ आजीविका

पुष्करजी ने कहा कि–हे भगवान् परशुरामजी! ब्राह्मण अपने शास्त्रोक्त कर्म से ही जीविका चलावे; क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र के धर्म से जीवन-निर्वाह नहीं करना चाहिये। आपत्तिकाल में क्षत्रिय और वैश्य की वृत्ति ग्रहण कर ले; परन्तु शूद्र-वृत्ति से कभी गुजारा नहीं करना चाहिये। द्विज खेती, व्यापार, गोपालन तथा कुसीद (सूद लेना)-इन वृत्तियों का अनुष्ठान करना चाहिये; परन्तु वह गोरस, गुड़, नमक, लाक्षा और मांस न बेचे। किसान लोग धरती को कोड़ने-जोतने के द्वारा जो कीड़े और चींटी आदि की हत्या कर डालते हैं और सोहनी के द्वारा जो पौधों को नष्ट कर डालते हैं, उससे यज्ञ और देवपूजा करके मुक्त होते हैं।।१-३।।

आठ बैलों का हल धर्मानुकूल माना गया है। जीविका चलाने वालों का हल छः बैलों का, निर्दयी हत्यारों का हल चार बैलों का तथा धर्म का विनाश करने वाले मनुष्यों का हल दो बैलों का माना गया है। ब्राह्मण ऋत और अमृत से अथवा मृत और प्रमृत से या सत्यानृत वृत्ति से जीविका चलावे। श्वान-वृत्ति से कभी जीवन-निर्वाह नहीं करना चाहिये।।४-५।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी एक सौ बावनवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।१५२।।

अथ त्रिपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः

ब्रह्मचर्याद्याश्रमधर्माः

पुष्कर उवाच

धर्ममाश्रमिणां वक्ष्ये भुक्तिमुक्तिप्रदं शृणु। षोडशर्तुर्निशाः स्त्रीणामाद्यास्तिस्त्रस्तु गर्हिताः।।१।।
व्रजेद्युग्मासु पुत्रार्थी कर्माऽऽधानिकमिष्यते। गर्भस्य स्पष्टताज्ञाने सवनं स्पन्दनात्पुरा।।२।।
षष्ठेऽष्टमे वा सीमन्तं पुत्रीयं नामभं शुभम्। अच्छिन्ननाड्यां कर्तव्यं जातकर्म विचक्षणैः।।३।।
अशौचे तु व्यतिक्रान्ते नामकर्म विधीयते। शर्मान्तं ब्राह्मणस्योक्तं वर्मान्तं क्षत्रियस्य तु।।४।।
गुप्तदासात्मकं नाम प्रशस्तं वैश्यशूद्रयोः। बालं निवेदयेद्भर्त्रे तव पुत्रोऽयमित्युत।।५।।
यथाकुलं तु चूड़ाकृद्ब्राह्मणस्योपनायनम्। गर्भाष्टमोऽष्टमे वाऽब्दे गर्भादेकादशे नृपे।।६।।
गर्भात्तु द्वादशे वैश्ये षोडशाब्दादितो नहि। मुञ्जानां वल्कलानां तु क्रमान्मौञ्ज्यः प्रकीर्तिताः।।७।।
मार्गवैयाघ्रवास्तानि चर्माणि व्रतचारिणाम्। पर्णपिप्पलबिल्वानां क्रमाद्दण्डाः प्रकीर्तिताः।।८।।
केशदेशललाटास्यतुल्याःप्रोक्ताःक्रमेण तु। अवक्राःसत्वचःसर्वे नाग्निप्लुष्टास्तु दण्डकाः।।९।।

अध्याय-१५३

ब्रह्मचर्यादि आश्रम-धर्म निरूपण

पुष्करजी ने कहा कि–हे भगवान् परशुरामजी! अधुना मैं आश्रमी पुरुषों के धर्म का वर्णन करने जा रहा हूँ सुनो! यह भोग और मोक्ष सम्प्रदान करने वाला है। स्त्रियों के ऋतुधर्म की सोलह रात्रियाँ होती हैं, उनमें पहले की तीन रातें निन्दित हैं। शेष रातों में जो युग्म अर्थात् चौथी, छठी, आठवीं और दसवीं आदि रात्रियाँ हैं, उनमें ही पुत्र की इच्छा रखने वाले पुरुष को स्त्री समागम करना चाहिये। यह 'गर्भाधान-संस्कार' कहलाता है। 'गर्भ' रह गया–इस बात का स्पष्ट रूप से ज्ञान हो जाने पर गर्भस्थ शिशु के हिलने-डुलने से पहले ही 'पुंसवन-संस्कार' होता है। तत्पश्चात् छठे या आठवें मास में 'सीमन्तोन्नयन' किया जाता है। उस दिन पुँल्लिङ्ग नाम वाले नक्षत्र का होना शुभ है। बालक का जन्म होने पर नाल काटने के पहले ही विद्वान् पुरुषों को उसका 'जातकर्म-संस्कार' करना चाहिये। सूतक निवृत्त होने पर 'नामकरण-संस्कार' का विधान है। ब्राह्मण के नाम के अन्त में 'शर्मा' और क्षत्रिय के नाम के अन्त में 'वर्मा' होना चाहिये। वैश्य और शूद्र के नामों के अन्त में क्रमशः 'गुप्त' और 'दास' पद का होना श्रेष्ठतम माना गया है। कथित संस्कार के समय पत्नी स्वामी की गोद में पुत्र को दे और कहे–'यह आपका पुत्र हैं'।।१-५।।

फिर कुलाचार के अनुरूप 'चूडाकरण' करना चाहिये। ब्राह्मण-बालक का 'उपनयन-सस्कार' गर्भ अथवा जन्म से आठवें वर्ष में होना चाहिये। गर्भ से ग्यारहवें वर्ष में क्षत्रिय बालक का तथा गर्भ से बारहवें वर्ष में वैश्य-बालक का उपनयन करना चाहिये। ब्राह्मण-बालक का उपनयन सोलहवें, क्षत्रिय-बालक का बाईसवें और वैश्य-बालक का चौबीसवें वर्ष से आगे नहीं जाना चाहिये। तीनों वर्णों के लिये क्रमशः मूँज, प्रत्यञ्चा तथा वल्कल की मेखला बतलायी गयी है। इसी तरह तीनों वर्णों के ब्रह्मचारियों के लिये क्रमशः मृग, व्याघ्र तथा बकरे के चर्म और पलाश, पीपल तथा बेल के दण्ड धारण करने योग्य बताये गये हैं, ब्राह्मण का दण्ड उसके केश तक, क्षत्रिय का ललाट तक

वासोपवीते कार्पासक्षौमोर्णानां यथाक्रमम्। आदिमध्यावसानेषु भवच्छब्दोपलक्षितम्॥१०॥
प्रथमं तत्र भिक्षेत यत्र भिक्षां ध्रुवं भवेत्। स्त्रीणाममन्त्रतस्तानि विवाहस्तु समन्त्रकः॥११॥
उपनीय गुरुः शिष्यं शिक्षयेच्छौचमादितः। आचारमग्निकार्यं च सन्ध्योपासनमेव च॥१२॥
आयुष्यं प्राङ्मुखो भुङ्क्ते यशस्यं दक्षिणामुखः। श्रियं प्रत्यङ्मुखो भुङ्क्त ऋतं भुङ्क्त उदङ्मुखः॥१३॥
सायं प्रातश्च जुहुयान्नामेध्यं व्यस्तहस्तकम्। मधुमांसं जनैः सार्धं गीतं नृत्यं च वै त्यजेत्॥१४॥
हिंसां परापवादं वा अश्लीलं च विशेषतः। दण्डादि धारयेन्नष्टमप्सु क्षिप्त्वाऽन्यधारणम्॥१५॥
वेदस्वीकरणं कृत्वा स्नायाद्वै दत्तदक्षिणः। नैष्ठिको ब्रह्मचारी वा देहान्तं निवसेद्गुरौ॥१६॥

॥इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते ब्रह्मचर्याद्याश्रमवर्णनं नाम त्रिपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः॥१५३॥

और वैश्य का मुख तक लंबा होना चाहिये। इस तरह क्रमशः दण्डों की लम्बाई बतलायी गयी है। ये दण्ड टेढ़े-मेढ़े न हों। इनके दिलके मौजूद हों तथा ये आग में जलाये न गये हों॥६-९॥

कथित तीनों वर्णों के लिये वस्त्र और यज्ञोपवीत क्रमशः कपास (रुई), रेशम तथा ऊन के होने चाहिये। ब्राह्मण ब्रह्मचारी भिक्षा माँगते समय वाक्य के आदि में 'भवत्' शब्द का प्रयोग करना चाहिये। 'जिस प्रकार माता के पास जाकर कहे–'**भवतिभिक्षां मे देहि मातः।**' हे पूज्य माताजी! मुझको भिक्षा दें।) इसी तरह क्षत्रिय ब्रह्मचारी वाक्य के मध्य में तथा वैश्य ब्रह्मचारी वाक्य के अन्त में '**भवत्**' शब्द का प्रयोग करना चाहिये। (यथा–क्षत्रिय–भिक्षा **भवति मे देहि। वैश्य–भिक्षां मे देहि भवति।**) पहले वहीं भिक्षा माँगे, जहाँ भिक्षा अवश्य प्राप्त होने की सम्भावना हो। स्त्रियों के अन्य सभी संस्कार बिना मन्त्र के होने चाहिये; केवल विवाह संस्कार ही मन्त्रोच्चारणपूर्वक होता है। गुरु को शिष्य का उपनयन (यज्ञोपवीत) संस्कार करके पहले शौचाचार, सदाचार, अग्निहोत्र तथा संध्योपासना की शिक्षा देना चाहिये।१०-१२॥

जो पूर्व की तरफ मुँह करके भोजन करता है, वह आयुष्य भोगता है, दक्षिण की तरफ मुँह करके खाने वाला यश का, पश्चिमाभिमुख होकर भोजन करने वाला लक्ष्मी (धन) का तथा उत्तर की तरफ मुँह करके अन्न ग्रहण करने वाला पुरुष सत्य का उपभोग करता है। ब्रह्मचारी प्रतिदिन सायंकाल और प्रातःकाल अग्निहोत्र करना चाहिये। अपवित्र वस्तु का हवन निषिद्ध है। होक के समय हाथ की अंगुलियों को परस्पर सटाये रहना चाहिये। मधु, मांस, मनुष्यों के साथ विवाद, गाना और नाचना आदि त्याग देना चाहिये। हिंसा, परायी निन्दा तथा विशेषतः अश्लील-चर्चा (गाली गलौज आदि) का त्याग करना चाहिये। दण्ड आदि धारण किये रहना चाहिये। यदि वह टूट जाय तो जल में उसका विसर्जन कर दे और नवीन दण्ड धारण करना चाहिये। वेदों का अध्ययन पूरा करके गुरु को दक्षिणा देने के पश्चात् व्रतान्त-स्नान करना चाहिये; अथवा नैष्ठिक ब्रह्मचारी होकर जीवनभर गुरुकुल में ही निवास करते रहना चाहिये।१३-१६॥

॥इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी एक सौ तिरपनवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ॥१५३॥

❖❖❖

अथ चतुष्पञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः

विवाहः

पुष्कर उवाच

विप्रश्चतस्रो विन्देत भार्यास्तिस्रस्तु भूमिपः। द्वे च वैश्यो यथाकामं भार्यैकामपि चान्त्यजः॥१॥
धर्मकार्याणि स्र्वाणि न कार्याण्यसवर्णया। पाणिर्ग्राह्यः सवर्णासु गृह्णीयात्क्षत्रिया शरम्॥२॥
वैश्या प्रतोदमादद्याद्दशां वै चान्त्यजा तथा। सकृत्कन्या प्रदातव्या हरंस्तां चौरदण्डभाक्॥३॥
अपत्यविक्रयासक्ते निष्कृतिर्न विधीयते। कन्यादानं शचीयोगो विवाहोऽथ चतुर्थिका॥४॥
विवाहमेतत्कथितं नाम कर्मचतुष्टयम्। नष्टे मृते प्रव्रजिते क्लीबे च पतिते पतौ॥५॥
पञ्चस्वापत्सु नारीणां पतिरन्यो विधीयते। मृते तु देवरे देया तदभावे यथेच्छया॥६॥
पूर्वात्रितयमाग्नेयं वायव्यं चोत्तरात्रयम्। रोहिणी चेति चरणे भगणः शस्यते सदा॥७॥
नैकगोत्रां तु वरयेन्नैकार्षेयां च भार्गव। पितृतः सप्तमादूर्ध्वं मातृतः पञ्चमात्तथा॥८॥
आहूय दानं ब्राह्मः स्यात्कुलशीलयुताय तु। पुरुषांस्तारयेत्तज्जो नित्यं कन्याप्रदानतः॥९॥

अध्याय-१५४

वैवाहिक आचार

पुष्करजी ने कहा कि–हे भगवान् परशुरामजी! ब्राह्मण अपनी कामना के अनुसार चारों वर्णों की कन्याओं से विवाह कर सकता है, क्षत्रिय तीन से, वैश्य दो से तथा शूद्र एक ही स्त्री से विवाह का अधिकारी है। जो अपने समान वर्ण की न हो, ऐसी स्त्री के साथ किसी भी धार्मिक कृत्य का अनुष्ठान नहीं करना चाहिये। अपने समान वर्ण की कन्याओं से विवाह करते समय पति को उनका हाथ पकड़ना चाहिये। यदि क्षत्रिय-कन्या का विवाह ब्राह्मण से होता हो, तो वह ब्राह्मण के हाथ में हाथ न देकर उसके द्वारा पकड़े हुए बाण का अग्रभाग अपने हाथ से पकड़े। इसी तरह वैश्य-कन्या यदि ब्राह्मण अथवा क्षत्रिय से ब्याही जाती हो, तो वह वर के हाथ में रखा हुअ चाबुक पकड़े और शूद्र-कन्या वस्त्र का छोर ग्रहण करना चाहिये। एक ही बार कन्या का दान देना चाहिये। जो उसका अपहरण करता है, वह चोर के समान दण्ड पाने का अधिकारी है। जो सन्तान बेचने में आसक्त हो जाता है, उसका पाप से कभी उद्धार नहीं होता। कन्यादान, शचीयोग (शची की पूजा), विवाह और चतुर्थी कर्म–इन चार कर्मों का नाम 'विवाह' है। (मनोनीत) पति के लापता होने, मरने तथा संन्यासी, नपुंसक और पतित होने पर–इन पाँच तरह की आपत्तियों के समय (वाग्दत्ता) स्त्रियों के लिये दूसरा पति करने का विधान है। पति के मरने पर देवर को कन्या देनी चाहिये। वह न हो, तो किसी दूसरे को इच्छानुसार देनी चाहिये। वर अथवा कन्या का वरण करने के लिये तीनों पूर्वा, कृत्तिका, स्वाती, तीनों उत्तरा और रोहिणी–ये नक्षत्र सदा शुभ माने गये हैं॥१-७॥

हे भगवान् परशुराम! अपने समान गोत्र तथा समान प्रवर में उत्पन्न हुई कन्या का वरण नहीं करना चाहिये। पिता से ऊपर की सात पीढ़ियों के पहले तथा माता से पाँच पीढ़ियों के बाद की ही परस्परा में उसका जन्म होना चाहिये। श्रेष्ठतम वंश तथा अच्छे स्वभाव के सदाचारी वर को गृह पर बुलाकर उसको कन्या का दान देना 'ब्राह्मविवाह'

गायत्रीं तु विशेषेण अघमर्षणसूक्तके। देवता भाववृत्तस्तु ऋषिश्चैवाघमर्षणः॥१०॥
छन्दश्चानुष्टुभं तस्य भाववृत्तो हरिः स्मृतः। आपीडमानः शाटीं तु देवतापितृतर्पणम्)॥११॥
पौरुषेण तु सूक्तेन ददेच्चैवोदकाञ्जलिम्। ततोऽग्निहवनं कुर्याद्दानं दत्त्वा तु शक्तितः॥१२॥
ततः समभिगच्छेत योगक्षेमार्थमीश्वरम्। आसनं शयनं यानं जायाऽपत्यं कमण्डलुः॥१३॥
आत्मनः (शुचिरे, चीन्ये) तानि परेषां न शुचिर्भवेत् (चीनि वै)।
भाराक्रान्तस्य गुर्विण्याः पन्था देयो गुरुष्वपि॥१४॥
(न पश्येच्चार्कमुद्यन्तं नास्तं यान्तं न चाम्भसि। नेक्षेन्नग्नां स्त्रियं कूपं शूनास्थानमघोधिनम्॥१५॥
कार्पासास्थि तथा भस्म नाऽऽक्रामेद्यच्च कुत्सितम्)। अन्तःपुरं वित्तगृहं परदौत्यं व्रजेन्न हि॥१६॥
नाऽऽरोहेद्विषमां नावं न वृक्षं न च पर्वतम्। अर्थायतनशास्त्रेषु तथैव स्यात् कुतूहली॥१७॥
लोष्टमर्दी तृणच्छेदी नखखादी विनश्यति। मुखादिवादनं नेहेद्विना दीपं न रात्रिगः॥१८॥
नाद्वारेण विशेद्वेश्म न च वक्त्रं विरागयेत्। कथाभङ्गं न कुर्वीत न च वासोविपर्ययम्॥१९॥
भद्रं भद्रमिति ब्रूयान्नानिष्टं कीर्तयेत्क्वचित्। पालाशमाशनं वर्ज्यं देवादिच्छायया व्रजेत्॥२०॥

आदि सूक्त अथवा '**सहस्त्रशीर्षा०**' (यजु० अ० ३१) आदि पुरुष-सूक्त का जप करता चाहिये। विशेषतः गायत्री का जप करना उचित है। अघमर्षण सूक्त में भाववृत्त देवता और अघमर्षण ऋषि हैं। उसका छन्द अनुष्टुप् है। उसके द्वारा भाववृत्त (भक्तिपूर्वक वरण किये हुए) श्रीहरि विष्णु का स्मरण होता है। उसके बाद वस्त्र बदलकर भीगी धोती निचोड़ने के पहले ही देवता और पितरों का तर्पण करना चाहिये॥५-११॥

फिर पुरुषसूक्त (यजु. अ. ३१)-के द्वारा जलाञ्जलि देना चाहिये। तत्पश्चात् अग्निहोत्र करना चाहिये। तत्पश्चात् अपनी शक्ति के अनुसार दान देकर योगक्षेम की सिद्धि के लिये परमेश्वर की शरण जाना चाहिये।

आसन शय्या, सवारी, स्त्री, संतान और कमण्डलु-ये वस्तुएँ अपनी ही हों, तभी अपने लिये शुद्ध मानी गयी हैं; दूसरों की उपरोक्त वस्तुएँ अपने लिये शुद्ध नहीं होतीं। राह चलते समय यदि सामने से कोई ऐसा पुरुष आ जाय, जो भार से लदा हुआ कष्ट पा रहा हो, तो स्वयं हटकर उसको जाने के लिये मार्ग दे देना चाहिये। इसी तरह गर्भिणी स्त्री तथा गुरुजनों को भी मार्ग देना चाहिये॥१२-१४॥

उदय और अस्त के समय सूर्य की तरफ न देखे। जल में भी उनके प्रतिबिम्ब की तरफ दृष्टिपात नहीं करना चाहिये। नंगी स्त्री, कुआँ, हत्या के स्थान और पापियों को नहीं देखना चाहिये। कपास (रुई), हड्डी, भस्म तथा घृणित वस्तुओं को न लाँघे। दूसरे के अन्तःपुर और खजाना गृह में प्रवेश नहीं करना चाहिये। दूसरे के दूत का काम नहीं करना चाहिये। टूटी-फूटी नाव, वृक्ष और पर्वत पर न चढ़े। अर्थ, गृह और शास्त्रों के विषय में कौतूहल रखे। ढेला फोड़ने, तिनके तोड़ने और नख चबाने वाला मनुष्य नष्ट हो जाता है। मुख आदि अंगों को न बजावे। रात को दीपक लिये बिना हीं न जाय। दरवाजे के सिवा और किसी मार्ग से गृह में प्रवेश नहीं करना चाहिये। मुँह का रंग न बिगाड़े। किसी की बातचीत में बाधा न डाले तथा अपने वस्त्र को दूसरे के वस्त्र से न बदले। 'कल्याण हो, कल्याण हो'-यही बात मुँह से निकाले; कभी किसी के अनिष्ट होने की बात न कहे। पलाश के आसन को व्यवहार में न लावे। देवता आदि की छाया से हटकर चले॥१५-२०॥

न मध्ये पूज्ययोर्यायान्नोच्छिष्टस्तारकादिदृक्। नद्यां नान्यां नदीं ब्रूयान्न कण्डूयेद्वि (द्वि) हस्तकम्।।२१।।
असन्तर्प्य पितृन्देवान्नदीपारं च न व्रजेत्। मलादि प्रक्षिपेन्नाप्सु न नग्नः स्नानमाचरेत्।।२२।।
ततः समभिगच्छेत योगक्षेमार्थमीश्वरम्। स्रजं नाऽऽत्मनाऽपनयेत्खरादिकरजस्त्यजेत्।।२३।।
हीनान्नावहसेत्कृच्छ्रेन्नादेशे (?) निवसेच्च तैः। वैद्यराजनदीहीने म्लेच्छस्त्रीबहुनायके।।२४।।
रजस्वलादिपतितैर्न भाषेत्केशवं स्मरेत्। नासंवृतमुखः कुर्याद्धासं जृम्भां तथा क्षुतम्।।२५।।
प्रभोरप्यवमानं स्वं गोपयेद्वचनं बुधः। इन्द्रियाणां नानुकूली वेगरोधं न कारयेत्।।२६।।
नोपेक्षितव्यो व्याधिः स्याद्रिपुरल्पोऽपि भार्गव। रथ्यातिगः सदाऽऽचामेद्बिभृयान्नाग्निवारिणी।।२७।।
न हुं कुर्याच्छिवं पूज्यं पादं पादेन नाऽऽक्रमेत्। प्रत्यक्षं वा परोक्षं वा कस्यचिन्नाप्रियं वदेत्।।२८।।
वेदशास्त्रनरेन्द्रर्षिदेवनिन्दां विवर्जयेत्। स्त्रीणामीर्षा (र्ष्या) न कर्तव्या विश्वासं तासु वर्जयेत्।।२९।।
धर्मश्रुतिं देवरतिं कुर्याद्धर्मादि नित्यशः। सोमस्य पूजां जन्मर्क्षे विप्रदेवादिपूजनम्।।३०।।
षष्ठीचतुर्दश्यष्टम्यामभ्यङ्गं वर्जयेत्तथा। दूराद्गृहान्मूत्रविष्ठे नोत्तमैर्वैरमाचरेत्।।३१।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते आचारकथनं नाम पञ्चपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः।।१५५।।

—※※※—

दो पूज्य पुरुषों के मध्य से होकर न निकले। जूठे मुँह रहकर तारा आदि की तरफ दृष्टि न डालना चाहिये। एक नदी में जाकर दूसरी नदी का नाम न ले। दोनों हाथों से शरीर न खुजलावे। किसी नदी पर पहुँचने के बाद देवता और पितरों का तर्पण किये बिना उसको पार नहीं करना चाहिये। जल में मल आदि न फेंके। नंगा होकर न नहाये। योगक्षेम के लिये परमात्मा की शरण में जाय। माला को अपने हाथ से न हटाये। गदहे आदि की धूल से बचे। नीच पुरुषों को कष्ट में देखकर कभी उनका उपहास नहीं करना चाहिये। उसके साथ अनुपयुक्त स्थान पर निवास नहीं करना चाहिये। वैद्य, राजा और नदी से हीन देश में न रहना चाहिये। जहाँ के स्वामी म्लेच्छ, स्त्री तथा बहुत से मनुष्य हों, उस देश में भी न निवास करना चाहिये। रजस्वला आदि तथा पतितों के साथ बात नहीं करना चाहिये। सदा भगवान् श्रीहरि विष्णु का स्मरण करना चाहिये। मुँह के ढके बिना न जोर से हँसे, न जँभाई ले और न छींके ही।।२१-२५।।

विद्वान् पुरुष स्वामी के तथा अपने अपमान की बात को गुप्त रखे। इन्द्रियों के सर्वथा अनुकूल न चले- उनको अपने वश में किये रहना चाहिये। मल-मूत्र के वेग को न रोके। हे परशुराज जी! छोटे से भी रोग या शत्रु की उपेक्षा नहीं करना चाहिये। सड़क लाँघकर आने के बाद सदा आचमन करना चाहिये। जल और अग्नि को धारण नहीं करना चाहिये। कल्याणमय पूज्य पुरुष के प्रति कभी हुंकार नहीं करना चाहिये। पैर को पैर से न दबावे। प्रत्यक्ष या परोक्ष में किसी की निन्दा नहीं करना चाहिये। वेद, शास्त्र, राजा, ऋषि और देवता की निन्दा करना त्याग देना चाहिये। स्त्रियों के प्रति ईर्ष्या न रखे तथा उनका कभी विश्वास भी नहीं करना चाहिये। धर्म का श्रवण तथा देवताओं से प्रेम करना चाहिये। प्रतिदिन धर्म आदि का अनुष्ठान करना चाहिये। जन्म-नक्षत्र के दिन चन्द्रमा, ब्राह्मण तथा देवता आदि की पूजा करनी चाहिये। षष्ठी, अष्टमी और चतुर्दशी को तेल या उबटन न लगावे। गृह से दूर जाकर मल-मूत्र का त्याग करना चाहिये। श्रेष्ठतम पुरुषों के साथ कभी वैर-विरोध नहीं करना चाहिये।।२६-३१।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी एक सौ पचपनवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।१५५।।

❖❖❖

अथ षट्पञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः

द्रव्यशुद्धिः

पुष्कर उवाच

द्रव्यशुद्धिं प्रवक्ष्यामि पुनः पाकेन मृण्मयम्। शुध्येन्मूत्रपुरीषाद्यैः स्पृष्टं ताम्रं सुवर्णकम्॥१॥
आवर्तितं चान्यथा तु वारिणाम्लेन ताम्रकम्। क्षारेण कांस्यलोहानां मुक्तादेः क्षालनेन तु॥२॥
अब्जानां चैव भाण्डानां सर्वस्याश्ममयस्य च। शाकरज्जुमूलफलवैदलानां तथैव च॥३॥
मार्जनाद्यज्ञपात्राणां पाणिना यज्ञकर्मणि। उष्णाम्बुना सस्नेहानां शुद्धिः सम्मार्जनाद्गृहे॥४॥
शोधनान्प्रक्षणाद्वस्त्रे मृत्तिकाद्भिर्विशोधनम्। बहुवस्त्रे प्रोक्षणाच्च दारवाणां च तत्क्षणात्॥५॥
प्रोक्षणात्संहतानां तु द्रवाणां च तथोत्प्लवात्। शयनासनयानानां शूर्पस्य शकटस्य च॥६॥
शुद्धिः संप्रोक्षणाज्ज्ञेया पलालेन्धनयोस्तथा। सिद्धान्नकानां कल्केन शृङ्गदन्तमयस्य च॥७॥
गोबालैः पलपात्राणामस्थ्नां स्याच्छुङ्गत्तथा। निर्यासानां गुडानां च लवणानां च शोषणात्॥८॥

अध्याय–१५६

द्रव्य-शुद्धि कथन

पुष्करजी ने कहा कि–हे भगवान् परशुरामजी! अधुना द्रव्यों की शुद्धि बतलाऊँगा। मिट्टी का बर्तन पुनः पकाने से शुद्ध होता है। परन्तु मल-मूत्र आदि से स्पर्श हो जाने पर वह पुनः पकाने से भी शुद्ध हीं होता। सोने का पात्र यदि अपवित्र वस्तुओं से छू जाय तो जल से धाने पर पवित्र होता है। ताँबे का बर्तन खटाई और जल से शुद्ध होता है। काँसे और लोहे का बर्तन राख से मलने पर पवित्र होता है। मोती आदि की शुद्धि केवल जल से धोने पर ही हो जाती है। जल से उत्पन्न शंख आदि के बने बर्तनों की सभी तरह के पत्थर के बने हुए पात्र की तथा साग, रस्सी, फल एवं मूल की और बाँस आदि के दलों से बनी हुई वस्तुओं की शुद्धि भी इसी तरह जल से धोने मात्र से हो जाती है। यज्ञ कर्म में यज्ञपात्रों की शुद्धि केवल दाहिने हाथ से कुश द्वारा मार्जन करने पर ही हो जाती है। घी या तेल से चिकने हुए पात्रों की शुद्धि गरम जल से होती है। गृह की शुद्धि झाड़ने-बुहारने और लीपने से होती है। शोधन और प्रोक्षण करने (सींचने) से वस्त्र शुद्ध होता है। रेह की मिट्टी और जल से उसका शोधन होता है। यदि बहुत से वस्त्रों की ढेरी ही किसी अस्पृश्य वस्तु से छू जाय तो उस पर जल छिड़क देने मात्र से उसकी शुद्धि मानी गयी है। काठ के बने हुए पात्रों की शुद्धि काटकर छील देने से होती है।।१-५।।

शय्या आदि संहत वस्तुओं के उच्छिष्ट आदि से दूषित होने पर प्रोक्षण (सींचने) मात्र से उनकी शुद्धि हो जाती है। घी-तेल आदि की शुद्धि दो कुश पत्रों से उत्पवन करने (उछालने) मात्र से हो जाती है। शय्या, आसन, सवारी, सूप, छकड़ा, पुआल और लकड़ी की शुद्धि भी सींचने से ही समझनी चाहिये। सींग और दाँत की बनी हुई वस्तुओं की शुद्धि पीली सरसों पीसकर लगाने से होती है। नारियल और तूँबी आदि फलनिर्मित पात्रों की शुद्धि गोपुच्छ के बालों द्वारा रगड़ने से होती है। शंख आदि हड्डी के पात्रों की शुद्धि सींग के समान ही पीली सरसों के लेप से होती

कुसुम्भकुसुमानां च ऊर्णाकार्पासयोस्तथा। शुद्धं नदीगतं तोयं पण्यं तद्वत्प्रसारितम्।।९।।
मुखवर्जं च गौः शुद्धा शुद्धमश्वाजयोर्मुखम्। नारीणां चैव वत्सानां शकुनीनां शुनो मुखम्।।१०।।
मुखैः प्रस्रवणे वृत्ते मृगयायां सदा शुचि। भुक्त्वा क्षुत्त्वा तथा सुप्त्वा पीत्वा चाम्भो विगाह्य च।।११।।
रथ्यामाक्रम्य चाऽऽचामेद्वासो विपरिधाय च। मार्जारश्चङ्क्रमाच्छुद्धश्चतुर्थेऽह्नि रजस्वला।।१२।।
स्नाता स्त्री पञ्चमे योग्या दैवे पित्र्ये च कर्मणि। पञ्चापाने दशैकस्मिन्नुभयोः सप्तमृत्तिकाः।।१३।।
एकां लिङ्गे मृदं दद्यात्करयोस्त्रिद्विमृत्तिकाः। ब्रह्मचारिवनस्थानां यतीनां च चतुर्गुणम्।।१४।।
श्रीफलैरंशुपट्टानां क्षौमाणां गौरसर्षपैः। शुद्धिः पर्युक्ष्य तोयेन मृगलोम्नां प्रकीर्तिता।।१५।।
पुष्पाणां च फलानां च प्रोक्षणाज्जलतोऽखिलम्।।१६।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते द्रव्यशुद्धिकथनं नाम षट्पञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः।।१५६।।

है। गोंद, गुड, नमक, कुसुम्भ के फूल, ऊन और कपास की शुद्धि धूप में सुखाने से होती है। नदी का जल सदा शुद्ध रहता है। बाजार में बेचने के लिये फैलायी हुई वस्तु भी शुद्ध मानी गयी है।।६-९।।

गौ के मुँह को छोड़कर अन्य सभी अंग शुद्ध हैं। घोड़े और बकरे के मुँह शुद्ध माने गये हैं। स्त्रियों का मुख सदा शुद्ध है। दूध दुहने के समय कछड़ों का, पेड़ से फल गिराते समय पक्षियों का और शिकार खेलते समय कुत्तों का मुँह भी शुद्ध माना गया है। भोजन करने, थूकने, सोने, पानी पीने, नहोन, सड़क पर घूमने और वस्त्र पहनने के बाद अवश्य आचमन करना चाहिये। बिलाव घूमने-फिरने से ही शुद्ध होता है। रजस्वला स्त्री चौथे दिन शुद्ध होती है। ऋतुस्नाता स्त्री पाँचवें दिन देवता और पितरों के पूजन कार्य में सम्मिलित होने योग्य होती है। शौच के बाद पाँच बार गुदा में, दस बार बायें हाथ में, फिर सात बार दोनों हाथों में, एक बार बायं हाथ में, फिर सात बार दोनों हाथों में एक बार लिंग में तथा पुनः दो-तीन बार हाथों में मिट्टी लगाकर धोना चाहिये। यह गृहस्थों के लिये शौच का विधान है। ब्रह्मचारी, वानप्रस्थी और संन्यासियों के लिये गृहस्थ की अपेक्षा चौगुने शौच का विधान किया गया है।।१०-१४।।

टसर के कपड़ों की शुद्धि बेल के फल के गूदे से होती है। अर्थात् उसको पानी में घोलकर उसमें वस्त्र को डुबो दे और फिर साफ पानी से धो देना चाहिये। तीसी एवं सन आदि के सूत से बने हुए कपड़ों की शुद्धि के लिये अर्थात् उनमें लगे हुए तेल आदि के दाग को छुड़ाने के लिये पीली सरसों के चूर्ण या उबटन से मिश्रित जल के द्वारा धोना चाहिये। मृगचर्म या मृग के रोमों से बने हुए आसन आदि की शुद्धि उस पर जल का छींटा देने मात्र से बतलायी गयी है। फूलों और फलों की भी उन पर जल छिड़कने मात्र से पूर्णतः शुद्धि हो जाती है।।१५-१६।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी एक सौ छप्पनवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।१५६।।

❖❖❖

अथ सप्तपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः

शावाशौचादि कथनम्

पुष्कर उवाच

प्रेतशुद्धिं प्रवक्ष्यामि सूतिकाशुद्धिमेव च। दशाहं शावमाशौचं सपिण्डेषु विधीयते।।१।।
जनने च तथा शुद्धिर्ब्राह्मणानां भृगूत्तम। द्वादशाहेन राजन्यः पक्षाद्वैश्योऽथ मासतः।।२।।
(शूद्रोऽनुलोमतो दासे स्वामितुल्यं त्वशौचकम्। षड्भिस्त्रिभिरथैकेन क्षत्रविट्शूद्रयोनिषु)।।३।।
ब्राह्मणः शुद्धिमाप्नोति क्षत्रियस्तु तथैव च। विट्शूद्रयोनिः शुद्धिः (द्धः) स्यात्क्रमात्परशुरामकः।।४।।
षड्रात्रेण त्रिरात्रेण षड्भिः शूद्रे तथा विशः। आदन्तजननात्सद्य आचूडान्नैशिकी श्रुतिः।।५।।
त्रिरात्रमा व्रतादेशाद्दशरात्रमतः परम्। ऊनत्रैवार्षिके शूद्रेपञ्चाहाच्छुद्धिरिष्यते।।६।।
द्वादशाहेन शुद्धिः स्यादतीते वत्सरत्रये। गतैः संवत्सरैः षड्भिः शुद्धिर्मासेन कीर्तिता।।७।।
स्त्रीणामकृतचूडानां विशुद्धिर्नैशिकी स्मृता। तथा च कृतचूडानां त्र्यहाच्छुध्यन्ति बान्धवाः।।८।।
विवाहितासु नाऽऽशौचं पितृपक्षे विधीयते। पितृगृहे प्रसूतानां विशुद्धिर्नैशिकी स्मृता।।९।।

अध्याय–१५७

मरणाशौच आदि कथन

पुष्करजी ने कहा कि–अधुना मैं 'प्रेतशुद्धि' तथा 'सूतिकाशुद्धि' का वर्णन करूंगा। सपिण्डों में अर्थात् मूल पुरुष की सातवीं पीढ़ी तक की संतानों में मरणाौच दस दिन तक रहता है। जननाशौच भी इतने ही दिनतक रहता है। हे भगवान् परशुरामजी! यह ब्राह्मणों के लिये अशौच की बात बतलायी गयी। क्षत्रिय द्वादश दिनों में वैश्य पन्द्रह दिनों में तथा शूद्र एक मास में शुद्ध होता है। यहाँ उस शूद्र के लिये कहा गया है, जो अनुलोमज हो अर्थात् जिसका जन्म उच्च जातीय अथवा सजातीय पिता से हुआ हो। स्वामी को अपने गृह में जितने दिन का अशौच लगता है, सेवक को भी उतने ही दिनों का लगता है। क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्रों को भी जननाशौच दस दिन का ही होता है।।१-३।।

हे भगवान् परशुरामजी! ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र इसी क्रम से शुद्ध होते हैं। किसी-किसी के मत में वैश्य तथा शूद्र के जननाशौच की निवृत्ति पन्द्रह दिनों में होती है। यदि बालक दाँत निकलने के पहले ही मर जाय तो उसके जननाशौच की सद्यःशुद्धि मानी गयी है। दाँत निकलने के बाद चूडाकरण से पहले तक की मृत्यु में एक रात का अशौच होता है, यज्ञोपवीत के पहले तक तीन रात का तथा तत्पश्चात् दस रात का अशौच बतलाया गया है। तीन वर्ष से कम का शूद्र-बालक यदि मृत्यु को प्राप्त हो, तो पाँच दिनों के बाद उसके अशौच की निवृति होती है। तीन वर्ष के बाद मृत्यु होने पर द्वादश दिन बाद शुद्धि हो जाती है तथा छः वर्ष व्यतीत होने के पश्चात् उसके मरण का शौच एक मास के बाद निवृत्त होता है। कन्याओं में जिनका मुण्डन नहीं हुआ है, उनके मरणाशौच की शुद्धि एक रात में होने वाली मानी गयी है और जिनका मुण्डन हो चुका है, उनकी मृत्यु होने पर उनके बन्धु-बान्धव तीन दिन बाद शुद्ध होते हैं।।४-८।।

जिन कन्याओं का विवाह हो चुका है, उनकी मृत्यु का अशौच पितृकुल को नहीं प्राप्त होता। जो स्त्रियाँ पिता के गृह में संतान को जन्म देती हैं, उनके उस जननाशौच की शुद्धि एक रात में होती है। परन्तु स्वयं सूति का दस

सूतिका दशरात्रेण शुद्धिमाप्नोति नान्यथा। विवाहिता हि चेत्कन्या म्रियते पितृवेश्मनि॥१०॥
तस्यास्त्रिरात्राच्छुध्यन्ति बान्धवा नात्र संशयः। समानं लघ्वशौचं तु प्रथमेन समापयेत्॥११॥
असमानं द्वितीयेन धर्मराजवचो यथा। देशान्तरस्थः श्रुत्वा तु कुल्यानां मरणोद्भवौ॥१२॥
यच्छेषं दशरात्रस्य तावदेवाशुचिर्भवेत्। अतीते दशरात्रे तु त्रिरात्रमशुचिर्भवेत्॥१३॥
तथा संवत्सरेऽतीते स्नात एव विशुध्यति। म (मा) तामहे तथाऽतीत आचार्ये च तथामृते॥१४॥
रात्रिभिर्मासतुल्याभिर्गर्भस्त्रावे विशोधनम्। सपिण्डे ब्राह्मणे वर्णाः सर्व एवाविशेषतः॥१५॥
दशरात्रेण शुध्यन्ति द्वादशाहेन भूमिपः। वैश्याः पञ्चदशाहेन शूद्रा मासेन भार्गव॥१६॥
उच्छिष्टसंनिधावेकं तथा पिण्डं निवेदयेत्। कीर्तयेच्च तथा तस्य नामगोत्रे समाहितः॥१७॥
भुक्तवत्सु द्विजेन्द्रेषु पूजितेषु धनेन च। विसृष्टाक्षततोयेषु गोत्रनामानुकीर्तनैः॥१८॥
चतुरङ्गुलविस्तारं तत्खातं तावदन्तरम्। वितस्तिदीर्घं कर्त्तव्यं विकर्षूणां तथा त्रयम्॥१९॥
विकर्षूणां समीपे च ज्वालयेज्ज्वलनत्रयम्। सोमाय वह्नये राम यमाय च समासतः॥२०॥
जुहुयादाहुतीः सम्यक्सर्वत्रैव चतुस्त्रयः। (?) पिण्डनिर्वपणं कुर्यात्प्राग्वदेव पृथक्पृथक्॥२१॥

रात में ही शुद्ध होती है, इसके पहले नहीं। यदि विवाहित कन्या पिता के गृह में मृत्यु को प्राप्त हो जाय तो उसके बन्धु-बान्धव निश्चय ही तीन रात में शुद्ध हो जाते हैं। समान अशौच को पहले निवृत्त करना चाहिये और असमान अशौच को बाद में। ऐसा ही धर्मराज का वचन है। परदेश में रहने वाला पुरुष यदि अपने वंश में किसी के जन्म या मरण होने का समाचार सुने तो दस रात में जितना समय शेष हो, उतने ही समय तक उसको अशौच लगता है। यदि दस दिन व्यतीत होने पर उसको कथित समाचार का ज्ञान हो, तो वह तीन रात तक अशौचयुक्त रहता है तथा यदि एक वर्ष व्यतीत होने के बाद उपरोक्त बातों की जानकारी हो, तो केवल स्नानमात्र से शुद्धि हो जाती है। नाना और आचार्य के मरने पर भी तीन रात तक अशौच रहता है॥९-१४॥

हे भगवान् परशुरामजी! यदि स्त्री का गर्भ गिर जाय तो जितने मास का गर्भ गिरा हो, उतनी रातें बीतने पर उस स्त्री की शुद्धि हो जाती है। सपिण्ड ब्राह्मण वंश में परणाशौच होने पर उस वंश के सभी लोग सामान्य रूप से दस दिन में शुद्ध हो जाते हैं। क्षत्रिय द्वादश दिन में, वैश्य पन्द्रह दिन में और शूद्र एक मास में शुद्ध होते हैं। (प्रेत या पितरों के श्राद्ध में उनको आसन देने से लेकर अर्घ्यदान तक के कर्म करके उनके पूजन के पश्चात् जिस समय परिवेशण होता है, तत्पश्चात् सपात्रक कर्म में वहाँ ब्राह्मण भोजन कराया जाता है। यह ब्राह्मण पितरों के प्रतिनिधि होते हैं। अपात्रक कर्म में ब्राह्मणों का प्रत्यक्ष भोजन नहीं होता तो भी पितर सूक्ष्मरूप से उस अन्न को ग्रहण करते हैं। उनके भोजन के बाद वह स्थान उच्छिष्ट समझा जाता है; उस उच्छिष्ट के सन्निकट ही वेदी बनाकर, उसका संस्कार करके, उसके ऊपर ु श बिछाकर उन कुशों पर ही पिण्ड निवेदन करना चाहिये। उस समय एकाग्रचित्त हो, प्रेत अथवा पितर के नाम-गोत्र का उच्चारण करके ही उनके लिये पिण्ड अर्पित करना चाहिये॥१५-१७॥

जिस समय ब्राह्मण लोग भोजन कर लें और धन से उनका सत्कार या पूजन कर दिया जाय, तत्पश्चात् नाम-गोत्र के उच्चारणपूर्वक उनके लिये अक्षत जल छोड़े जायँ। उसके बाद चार अंगुल चौड़ा, उतना ही गहरा तथा एक बित्ते का लम्बा एक गड्ढा खोदा जाय। भगवान् परशुराम! वहाँ तीन 'विकर्ष' (सूखे कंडों के रखने के स्थान) बनाये जायँ और उनके सन्निकट तीन जगह अग्नि प्रज्वलित की जाय। उनमें क्रमशः **'सोमाय स्वाहा' 'वह्नये स्वाहा' तथा 'यमाय स्वाहा'** मन्त्र बोलकर सोम, अग्नि तथा यम के लिये संक्षेप से चार-चार या तीन-तीन आहुतियाँ देनी चाहिये।

अन्नेन दध्ना मधुना तथा मांसेन पूरयेत्। मध्ये चेदधिमासः स्यात्कुर्यादभ्यधिकं तु तत्॥२२॥
अथवा द्वादशाहेन सर्वमेतत्समापयेत्। संवत्सरस्य मध्ये च यदि स्यादधिमासकः॥२३॥
तथा द्वादशके श्राद्धे कार्यं तदधिकं भवेत्। संवत्सरे समाप्ते तु श्राद्धं श्राद्धवदाचरेत्॥२४॥
प्रेताय तत ऊर्ध्वं च तस्यैव पुरुषत्रये। पिण्डान्विनिर्वपेत्तद्वच्चतुरस्तु समाहितः॥२५॥
सम्पूज्य दत्त्वा पृथिवी समाना इति चाप्यथ। योजयेत्प्रेतपिण्डं तु पिण्डेष्वन्येषु भार्गव॥२६॥
प्रेतपात्रं च पात्रेषु तथैव विनियोजयेत्। पृथक्पृथक्प्रकर्तव्यं कर्मैतत्कर्मपात्रके॥२७॥
मन्त्रवर्जमिदं कर्म शूद्रस्य तु विधीयते। सपिण्डीकरणं स्त्रीणां कार्यमेवं तदा भवेत्॥२८॥
श्राद्धं कुर्याच्च प्रत्यब्दं प्रेते कुम्भान्नमब्दकम्। गङ्गायाः सिकता धारा यथा वर्षति वासवे॥२९॥
शक्या गणयितुं लोके न त्वतीताः पितामहाः। काले सततगस्थैर्यं नास्ति तस्मात्क्रियां चरेत्॥३०॥
देवत्वे यातनास्थाने प्रेतः श्राद्धं कृतं लभेत्। नोपकुर्यान्नरः शोचन्प्रेतस्याऽऽत्मन एव वा॥३१॥
भृग्वग्निपाशकाम्भोभिर्मृतानामात्मघातिनाम्। पतितानां च नाऽऽशौचं विद्युच्छस्त्रहताश्च ये॥३२॥
यतिव्रतिब्रह्मचारिनृपकारुकदीक्षिताः। (राजाज्ञाकारिणो ये च स्नायाद्वै प्रेतगाम्यपि॥३३॥

सभी वेदियों पर सम्यग् विधि से आहुति देनी चाहिये। फिर वर्षा पहले की ही भाँति पृथक्-पृथक् पिण्ड-दान करना चाहिये॥१८-२१॥ अन्न, दही, मधु तथा उड़द से पिण्ड की पूर्ति करनी चाहिये। यदि वर्ष के अन्दर अधिक मास हो जाय तो उसके लिये एक पिण्ड अधिक देना चाहिये। अथवा बारहों मास के सारे मासिक श्राद्ध द्वादशाह के दिन ही पूरे कर दिये जायँ। यदि वर्ष के भीत अधिक मास की सम्भावना हो, तो द्वादशाह श्राद्ध के दिन ही उस अधिमास के निमित्त एक पिण्ड अधिक दे दिया जाय। संवत्सर पूर्ण हो जाने पर श्राद्ध को सामान्य श्राद्ध की ही भाँति सम्पादित करना चाहिये॥२२-२४॥ सपिण्डीकरण श्राद्ध में प्रेत को अलग पिण्ड देकर बाद में उसी की तीन पीढ़ियों के पितरों को तीन पिण्ड सम्प्रदान करने चाहिये। इस तरह इन चारों पिण्डों को बड़ी एकाग्रता के साथ अर्पित करना चाहिये। हे भृगुनन्दन! पिण्डों का पूजन और दान करके **'पृथिवी ते पात्रम् ०, 'ये समानाः०'** इत्यादि मन्त्रों के पाठपूर्वक यथोचित कार्य निष्पादन करते हुए प्रेत-पिण्ड के तीन टुकड़ों को क्रमशः पिता, पितामह और प्रतितामह के पिण्डों में जोड़ देना चाहिये। इससे पहले इसी तरह प्रेत के अर्घ्यपात्र का पिता आदि के अर्घ्यपात्रों में मेलन करना चाहिये। पिण्डमेलन तरफ पात्रमेलन का यह कर्म पृथक्-पृथक् करना उचित है। शूद्र का यह श्राद्ध कर्म मन्त्रहीन करने का विधान है। स्त्रियों का सपिण्डीकरण श्राद्ध भी उस समय इसी तरह (उपरोक्त विधि से) करना चाहिये॥२५-२८॥

पितरों का श्राद्ध प्रतिर्ष करना चाहिये; परन्तु प्रेत के लिये सान्नोदक कुम्भदान एक वर्ष तक करना चाहिये। वर्षाकाल में गंगाजी की सिकताधारा की सम्भव है गणना हो जाय, परन्तु अतीत पितरों की गणना कदापि सम्भव नहीं है। काल निरन्तर गतिशील है, उसमें कभी स्थिरता नहीं आती; इसलिये कर्म अवश्य करना चाहिये। प्रेत पुरुष देवत्व को प्राप्त हुआ हो या यातनास्थान (नरक) में पड़ा हो, वह किये गये श्राद्ध को वहाँ अवश्य पाता है। इसलिये मनुष्य प्रेत के लिये अथवा अपने लिये शोक न करते हुए ही उपकार (श्राद्धादि कर्म) करना चाहिये॥२९-३१॥

जो लोग पर्वत से कूदकर, आग में जलकर, गले में फाँसी लगाकर या पानी में डूबकर मरते हैं, ऐसे आत्मघाती और पतित मनुष्यों के मरने का अशौच नहीं लगता है। जो बिजली गिरने से या युद्ध में अस्त्रों के आघात से मरते हैं, उनके लिये भी यही बात है। यति (संन्यासी), व्रती, ब्रह्मचारी, राजा, कारीगर और यज्ञदीक्षित पुरुष तथा जो राजा की आज्ञा का पालन करने वाले हैं; ऐसे लोगों को भी अशौच नहीं प्राप्त होता है।

मैथुने कूटधूमे च सद्यः स्नानं विधीयते)। द्विजं न निर्हरेत्प्रेतं शूद्रेण तु कथञ्चन।।३४।।
न च शूद्रं द्विजेनापि तयोर्दोषो हि जायते। अनाथविप्रप्रेतस्य वहनात्स्वर्गलोकभाक्।।३५।।
सङ्ग्रामे जयमाप्नोति प्रेतेऽनाथे च काष्ठदः। संकल्प्य बान्धवं प्रेतमपसव्येन तां चितिम्।।३६।।
परिक्रम्य ततः स्नानं कुर्युः सर्वे सवाससः। प्रेताय च तथा दद्युस्त्रींस्त्रींश्चैवोदकाञ्जलीन्।।३७।।
द्वार्यश्मनि पदं दत्त्वा प्रविशेयुस्तथा गृहम्। अक्षतान्निक्षिपेद्वह्नौ निम्बपत्रं विदश्य च।।३८।।
पृथक् शयीरन्भूमौ च क्रीतलघ्वा (घ्व) शनो भवेत्। एकः पिण्डः दशाहे तु श्मश्रुकर्मकरः शुचि।।३९।।
सिद्धार्थकैस्तिलैर्विद्वान्मज्जेद्वासोऽपरं दधत्। अजातदन्ते तनये शिशौ गर्भश्रुते तथा।।४०।।
कार्यो नैवाग्निसंस्कारो नैव चास्योदकक्रिया। चतुर्थे च दिने कार्यस्तथाऽस्थ्नां चैव संचयः।।४१।।
अस्थिसंचयनातूर्ध्वमङ्गस्पर्शो विधीयते।।४२।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गति शावाशौचकथनं नाम सप्तपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः।।१५७।।

ये यदि प्रेत की शवयात्रा में गये हों तो भी स्नान मात्र कर लें। इतने से ही उनकी शुद्धि हो जाती है। मैथुन करने पर और जलते हुए शव का धुआँ लग जाने पर तत्काल स्नान का विधान है। मरे हुए ब्राह्मण के शव को शूद्र द्वारा किसी तरह भी न उठवाया जाय। इस इसी तरह शूद्र के शव को ब्राह्मण द्वारा कदापि न उठवाये; क्योंकि वैसा करने पर दोनों को ही दोष लगता है। अनाथ ब्राह्मण के शव को ढोकर अन्त्येष्टिकर्म के लिये ले जाने पर मनुष्य स्वर्गलोक का भागी होता है।।३२-३५।।

अनाथ प्रेत का दाह करने के लिये काष्ठ या लकड़ी देने वाला मानव संग्राम में विजय पाता है। अपने प्रेतबन्धु को चिता पर स्थापित एवं दग्ध कर उ चिता की अपसव्य परिक्रमा करके समस्त भाई-बन्धु सवस्त्र स्नान करें और प्रेत के निमित्त तीन-तीन बार जलाञ्जलि दें। गृह के दरवाजे पर जाकर पत्थर पर पैर रखकर (हाथ-पैर धो लें), अग्नि में अक्षत छोड़े तथा नीम की पत्ती चबाकर गृह के अन्दर प्रवेश करें। वहाँ उस दिन सबसे अलग पृथ्वी पर चटाई आदि बिछाकर सोवें।

जिस गृह का शव जलाया गया हो, उस गृह के लोग उस दिन खरीदकर मँगाया हुआ स्वतः प्राप्त हुआ आहार ग्रहा करें। दस दिनों तक प्रतिदिन एक-एक के हिसाब से पिण्डदान करना चाहिये। दसवें दिन एक पिण्ड देकर बाल बनवाकर मनुष्य शुद्ध होता है। दसवें दिन विद्वान् पुरुष सरसों और तिल का अनुलेप लगाकर जलाशय में गोता लगाये और स्नान के पश्चात् दूसरा नूतन वस्त्र धारण करना चाहिये। जिस बालक के दाँत न निकले हों, उसके मरने पर या गर्भस्राव होने पर उसके लिये न तो दाह-संस्कार करना चाहिये और न जलाञ्जलि देना चाहिये। शवदाह के पश्चात् चौथे दिन अस्थिसंचय करना चाहिये। अस्थिसंचय के पश्चात् अंगस्पर्श का विधान है।।३६-४२।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी एक सौ सतावनवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।१५७।।

अथाष्टपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः

स्रावाद्यशौचम्

पुष्कर उवाच

स्रावाशौचं प्रवक्ष्यामि मन्वादिमुनिसंमतम्। रात्रिभिर्मासतुल्याभिर्गर्भस्रावे त्र्यहेण वा॥१॥
चातुर्मासिकपातान्ते दशाहं पञ्चमासतः। राजन्ये च चतूरात्रं वैश्ये पञ्चाहमेव च॥२॥
अष्टाहेन तु शूद्रस्य द्वादशाहादतः परम्। स्त्रीणां विशुद्धिरुदिता स्नानमात्रेण वै पितुः॥३॥
न स्नानं हि सपिण्डे स्यात्त्रिरात्रं सप्तमाष्टयोः। (?) सद्यः शौचं सपिण्डानामादन्तजननात्तथा॥४॥
आचूडादेकरात्रं स्यादाव्रताच्च त्रिरात्रकम्। दशरात्रं भवेदस्मान्मातापित्रोस्त्रिरात्रकम्॥५॥
अजातदन्ते तु मृते कृतचूडेऽर्भके तथा। प्रेते न्यूने त्रिभिर्वर्षैर्मृते शुद्धिस्तु नैशिकी॥६॥
द्व्यहेन क्षत्रिये शुद्धिस्त्रिभिर्वैश्ये मृते तथा। शुद्धिः शूद्रे पञ्चभिः स्यात्प्राग्विवाहाद्द्विषट् त्वहः॥७॥
(यत्र त्रिरात्रं विप्राणामशौचं संप्रदृश्यते। तत्र शूद्रे द्वादशाहः षण्नवक्षत्रवैश्ययोः॥८॥

अध्याय-१५८

गर्भस्राव आदि अशौच निरूपण

पुष्करजी ने कहा कि-अधुना मैं मनु आदि महर्षियों के मत के अनुसार गर्भस्राव जनित अशौच का वर्णन करने जा रहा हूँ। चौथे मास के स्राव तथा पाँचवे, छठे मास के गर्भपात तक यह नियम है कि जितने महीने पर गर्भस्खलन हो, उतनी ही रात्रियोंके द्वारा अथवा तीन रात्रियों के द्वारा स्त्रियों की शुद्धि हो जाती है। सातवें मास से दस दिन का अशौच होता है। (प्रथम से तीसरे मास तक के गर्भस्राव के लिये तीन रात तक अशुद्धि रहती है। (क्षत्रिय के लिये चार रात्रि, वैश्य के लिये पाँच दिन तथा शूद्र के लिये आठ दिन तक अशौच का समय है। सातवें मास से अधिक होने पर सबके लिये द्वादश दिनों की अशुद्धि हो जाती है। यह अशौच केवल स्त्रियों के लिये कहा गया है। तात्पर्य यह कि माता ही इतने निदों तक अशुद्ध रहती है। पिता की शुद्धि तो स्नानमात्र से हो जाती है॥१-३॥

जो सपिण्ड पुरुष हैं, उनको छः मास तक सद्यः-शौच (तत्काल-शुद्धि) रहता है। उनके लिये स्नान भी आवश्यक नहीं है। परन्तु सातवें और आठवें मास के गर्भपात में सपिण्ड पुरुषों को भी त्रिरात्र अशौच लगता है। जितने समय में दाँत निकलते हैं, उतने मास तक यदि बालक की मृत्यु हो जाय तो सपिण्ड पुरुषों को तत्काल शुद्धि प्राप्त होती है। चूडाकरण के पहले मृत्यु होने पर उनको एक रात का अशौच लगता है। यज्ञोपवीत के पूर्व बालक का देहावसान होने पर सपिण्डों को तीन रात तक अशौच प्राप्त होता है। इसके बाद मृत्यु होने पर सपिण्ड पुरुषों को दस रात का अशौच लगता है। दाँत निकलने के पूर्व बालक की मृत्यु होने पर माता-पिता को तीन रात का अशौच प्राप्त होता है। जिसका चूडाकरण न हुआ हो; उस बालक की मृत्यु होने पर भी माता-पिता को उतने ही दिनों का अशौच प्राप्त होता है। तीन वर्ष से कम की आयु में ब्राह्मण-बालक की मृत्यु हो (और चूडाकरण न हुआ हो) तो सपिण्डों की शुद्धि एक रात में होती है॥४-६॥

द्व्यब्दे नैवाग्निसंस्कारो मृते तं निखनेद्भुवि। न चोदकक्रिया तस्य नाम्नि चापि कृते सति॥९॥
जातदन्तस्य वा कार्या स्यादुपनयनाद्दश। एकाहाच्छुध्यते विप्रो योऽग्निवेदसमन्वितः॥१०॥
हीने हीनतरे चैव त्र्यहश्चतुरहस्तथा। पञ्चाहे नाग्निहीनस्तु दशाहाद्ब्राह्मणब्रुवः॥११॥
क्षत्रियो नवसप्ताहाच्छुध्येद्विप्रो गुणैर्युतः। दशाहात्सगुणो वैश्यो विंशाहाच्छूद्र एव च॥१२॥
दशाहाच्छुध्यते विप्रो द्वादशाहेन भूमिपः। वैश्यः पञ्चदशाहेन शूद्रो मासेन शुध्यति॥१३॥
गुणोत्कर्षे दशाहाप्तौ त्र्यहमेकाहकं त्र्यहे। एकाहाप्तौ सद्यः शौचं सर्वत्रैवं समूहयेत्॥१४॥
दासान्तेवासिभृतकाः शिष्याश्चैकत्रवासिनः। स्वामितुल्यमशौचं स्यान्मृते पृथक्पृथग्भवेत्॥१५॥
मरणादेव कर्तव्यं संयोगो यस्य नाग्निभिः। दाहादूर्ध्वमशौचं स्याद्यस्य वैतानिको विधिः॥१६॥
सर्वेषामेव वर्णानां त्रिभागात्स्पर्शनं भवेत्। त्रिचतुष्पञ्चदशभिः स्पृश्यवर्णाः क्रमेण तु॥१७॥

क्षत्रिय-बालक के मरने पर उसके सपिण्डों की शुद्धि दो दिन पर वैश्य बालक के मरने पर उसके सपिण्डों की तीन दिन पर और शूद्र बालक की मृत्यु हो, तो उसके सपिण्डों की पाँच दिन पर शुद्धि हो जाती है। शूद्र बालक यदि विवाह के पहले मृत्यु को प्राप्त हो, तो उसको द्वादश दिन का अशौच लगता है। जिस अवस्था में ब्राह्मण को तीन रात का अशौच देखा जाता है, उसी में शूद्र के लिये द्वादश दिन का अशौच लगता है; क्षत्रिय के लिये छः दिन और वैश्य के लिये नौ दिनों का अशौच लगता है। दो वर्ष के बालक का अग्नि द्वारा दाहसंस्कार नहीं होता। उसकी मृत्यु होने पर उसको धरती में गाड़ देना चाहिये। उसके लिये बान्धवों को उदक-क्रिया (जलाञ्जलि दान) नहीं करनी चाहिये। अथवा जिसका नामकरण हो गया हो या जिसके दाँत निकल आये हों; उसका दाह-संस्कार तथा उसके निमित्त जलाञ्जलि दान करना चाहिये। उपनयन के पश्चात् बालक की मृत्यु हो, तो दस दिन का अशौच लगता है। जो प्रतिदिन अग्निहोत्र तथा तीनों वेदों का स्वाध्याय करता है, ऐसा ब्राह्मण एक दिन में ही शुद्ध हो जाता है। जो उससे हीन और हीनतर है, अर्थात् जो दो अथवा एक वेद का स्वाध्याय करने वाला है, उसके लिये तीन एवं चार दिन में शुद्ध होने का विधान है। जो अग्निहोत्र कर्म से हीन है, वह पाँच दिन में शुद्ध होता है। जो केवल 'ब्राह्मण' नामधारी है (वेदध्ययन या अग्निहोत्र नहीं करता), वह दस दिन में शुद्ध होता है॥७-११॥

गुणवान् ब्राह्मण सात दिन पर शुद्ध होता है, गुणवान् क्षत्रिय नौ दिन में, गुणवान् वैश्य दस दिन में और गुणवान् शूद्र बीस दिन में शुद्ध होता है। सामान्य ब्राह्मण दस दिन में, सामान्य क्षत्रिय द्वादश दिन में, सामान्य वैश्य पन्द्रह दिन में और सामान्य शूद्र एक मास में शुद्ध होता है। गुणों की अधिकता होने पर यदि दिन का अशौच प्राप्त हो, तो वह तीन ही दिन तक रहता है, तीन दिनों तक का शौच प्राप्त हो, तो वह एक ही दिन रहता है तथा एक दिन का अशौच प्राप्त हो, तो उसमें तत्काल ही शुद्धि का विधान है। इसी तरह सभी जगह ऊहा कर लेनी चाहिये। दास, छात्र, भृत्य और शिष्य—ये यदि अपने स्वामी अथवा गुरु के साथ रहते हों तो गुरु अथवा स्वामी की मृत्यु होने पर इन सभी को स्वामी एवं गुरु के कुटुम्बीजनों के समान ही पृथक्-पृथक् अशौच लगता है। जिसका अग्नि से संयोग न हो अर्थात् जो अग्निहोत्र न करता हो, उसको सपिण्ड पुरुषों की मृत्यु होने के बाद ही तुरन्त अशौच लगता है; परन्तु जिसके द्वारा नित्य अग्निहोत्र का अनुष्ठान होता हो, उस पुरुष को किसी कुटुम्बी या जाति-बन्धु की मृत्यु होने पर जिस समय उसका दाह-संस्कार सम्पन्न हो जाता है, तत्पश्चात् अशौच प्राप्त होता है॥१२-१६॥

सभी वर्ण के लोगों को अशौच का एक तिहाई समय बीत जाने पर शारीरिक स्पर्श का अधिकार प्राप्त हो जाता है। इस नियम के अनुसार ब्राह्मण आदि वर्ण क्रमशः तीन, चार, पाँच तथा दस दिन के अनन्तर स्पर्श करने

चतुर्थे पञ्चमे चैव सप्तमे नवमे तथा। अस्थिसंचयनं कार्यं वर्णानामनुपूर्वशः॥१८॥
अहस्त्वदत्तकन्यासु प्रदत्तासु त्र्यहं भवेत्। पक्षिणी संस्कृतास्वेव स्वस्त्रादिषु विधीयते॥१९॥
पितृगोत्रं कुमारीणां व्यूढानां भर्तृगोत्रता। जलप्रदानं पित्रे च उद्वाहे चोभयत्र तु॥२०॥
दशाहोपरि पित्रोश्च दुहितुर्मरणे त्र्यहम्। सद्यः शौचं सपिण्डानां पूर्वं चूडाकृतेर्द्विज॥२१॥
एकाहतो ह्या विवाहादूर्ध्वं हस्तोदकात्त्र्यहम्। पक्षिणी भ्रातृपुत्रस्य सपिण्डानां च सद्यतः (?)॥२२॥
दशाहाच्छुध्यते विप्रो जन्महानौ स्वयोनिषु। षड्भिस्त्रिभिरहै (ह्रै) केन क्षत्रविट्शूद्रयोनिषु॥२३॥
एतज्ज्ञेयं सपिण्डानां वक्ष्ये चानौरसादिषु। अनौरसेषु पुत्रेषु भार्यास्वन्यगतासु च॥२४॥
परपूर्वासु च स्त्रीषु त्रिरात्राच्छुद्धिरिष्यते। वृथा संकरजातानां प्रव्रज्यासु च तिष्ठताम्॥२५॥
आत्मनस्त्यागिनां चैव निवर्तेतोदकक्रिया। मात्रैकया द्विपितरौ भ्रातरावन्यगामिनौ॥२६॥
एकाहः सूतके तत्र मृतके तु द्व्यहो (हं) भवेत्। सपिण्डानामशौचं हि समानोदकतां वदे॥२७॥

के योग्य हो जाते हैं। ब्राह्मण आदि वर्णों का अस्थिसंचय क्रमशः चार, पाँच, सात तथा नौ दिनों पर करना चाहिये॥१७-१८॥

ज़िस कन्या का वाग्दान नहीं किया गया है (और चूडाकरण हो गया है), उसकी यदि वाग्दान से पूर्व मृत्यु हो जाय तो बन्धु-बान्धवों को एक दिन का अशौच लगता है। जिसका वाग्दान हो, तो गया है, परन्तु विवाह-संस्कार नहीं हुआ है, उस कन्या के मरने पर तीन दिन का अशौच लगता है। यदि ब्याही हुई बहिन या पुत्री आदि की मृत्यु हो, तो दो दिन एक रात का अशौच लगता है। कुमारी कन्याओं का वही गोत्र है, जो पिता का है। जिनका विवाह हो गया है, उन कन्याओं का गोत्र वह है, जो उनके पति का है। विवाह हो जाने पर कन्या की मृत्यु हो, तो उसके लिये जलाञ्जलि दान का कर्तव्य पिता पर भी लागू होता है; पति पर तो है ही। तात्पर्य यह कि विवाह होने पर पिता और पति–दोनों वंशों में जलदान की क्रिया प्राप्त होती है। यदि दस दिनों के बाद और चूडाकरण के पहले कन्या की मृत्यु हो, तो माता-पिता को तीन दिन का अशौच प्राप्त होता है। तत्पश्चात् उस कन्या के भतीजों को दो दिन एक रात का अशौच लगता है; परन्तु अन्य सपिण्ड पुरुषों की तत्काल शुद्धि हो जाती है। ब्राह्मण सजातीय पुरुषों के यहाँ जन्म-मरण में सम्मिलित हो, तो दस दिन में शुद्ध होता है और क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र के यहाँ जन्म मृत्यु में सम्मिलित होने पर क्रमशः छः, तीन तथा एक दिन में शुद्ध होता है॥१९-२३॥

यह जो अशौच-सम्बन्धी नियम निश्चित किया गया है, वह सपिण्ड पुरुषों से ही सम्बन्ध रखता है, ऐसा समझना चाहिये। अधुना जो औरस नहीं हैं, ऐसे पुत्र आदि के विषय में बताऊँगा। औरस-भिन्न क्षेत्रज, दत्तक आदि पुत्रों के मरने पर तथा जिसने अपने को छोड़कर दूसरे पुरुष से सम्बन्ध जोड़ लिया हो अथवा जो दूसरे पति को छोड़कर आयी हो और अपनी भार्या बनकर रहती हो, ऐसी स्त्री के मरने पर तीन रात में अशौच की निवृत्ति होती है। स्वधर्म का त्याग करने के कारण जिनका जन्म व्यर्थ हो गया हो, जो वर्णसंकर सन्तान हो अर्थात् नीच वर्ण के पुरुष और उच्चवर्ण की स्त्री से जिसका जन्म हुआ हो, जो सन्यासी बनकर इधर-उधर घूमते-फिरते रहे हों और जो अशास्त्रीय विधि से विष-बन्धन आदि के द्वारा प्राणत्याग कर चुके हों, ऐसे लोगों के निमित्त बान्धवों को जलाञ्जलि दान नहीं करना चाहिये; उनके लिये उदक-क्रिया निवृत्त हो जाती है। एक ही माता द्वारा दो पिताओं से उत्पन्न जो दो भाई हों,

बाले देशान्तरस्थे च पृथक्पिण्डे च संस्थिते। सवासा जलमाप्लुत्य सद्य एव विशुध्यति।।२८।।
दशाहेन सपिण्डास्तु शुध्यन्ति प्रेतसूतके। त्रिरात्रेण सकुल्यास्तु स्नानाच्छुध्यन्ति गोत्रिणः।।२९।।
सपिण्डता तु पुरुषे सप्तमे विनिवर्तते। समानोदकभावस्तु निवर्तेताऽऽचतुर्दशात्।।३०।।
जन्मनामस्मृते वै तत्तत्परं गोत्रमुच्यते। विगतं तु विदेशस्थं शृणुयाद्यो ह्यनिर्दशम्।।३१।।
यच्छेषु दशरात्रस्य तावदेवाशुचिर्भवेत्। अतिक्रान्ते दशाहे तु त्रिरात्रमशुचिर्भवेत्।।३२।।
संवत्सरे व्यतीते तु स्पृष्ट्वैवापो विशुध्यति। मातुले पक्षिणी रात्रिः शिष्यर्त्विग्बान्धवेषु च।।३३।।
मृते जामातरि प्रेते दौहित्रे भगिनीसुते। श्यालके तत्सुते चैव स्नानमात्रं विधीयते।।३४।।
मातामह्यां तथाऽऽचार्ये मृते मातामहे त्र्यहम्। दुर्भिक्षे राष्ट्रसम्पाते आगतायां तथाऽऽपदि।।३५।।
उपसर्गमृतानां च दाहे ब्रह्मविदां तथा। सत्रिव्रति ब्रह्मचारिसङ्ग्रामे देशविप्लवे।।३६।।
दाने यज्ञे विवाहे च सद्यः शौचं विधीयते। विप्रगोनृपहन्तृणामनुक्तं चाऽऽत्मघातिनाम्।।३७।।
असाध्यव्याधियुक्तस्य स्वाध्याये चाक्षमस्य च। प्रायश्चित्तमनुज्ञातमग्नितोयप्रवेशनम्।।३८।।

उनके जन्म में सपिण्ड पुरुषों को एक दिन का अशौच लगता है और मरने पर दो दिन का। यहाँ तक सपिण्डों का अशौच बतलाया गया। तत्पश्चात् 'समानोदक' का बता रहा हूँ।।२४-२७।।

दाँत निकलने से पहले बालक की मृत्यु हो जाय, कोई सपिण्ड पुरुष देशान्तर में रहकर मरा हो और उसका समाचार सुना जाय तथा किसी असपिण्ड पुरुष की मृत्यु हो जाय–तो इन सव अवस्थाओं में (नियत अशौच का काल बिताकर) वस्त्र सहित जल में डुबकी लगाने पर तत्काल ही शुद्धि हो जाती है। मृत्यु तथा जन्म के अवसर पर सपिण्ड पुरुष दस दिनों में शुद्ध होते हैं, एक वंश के असपिण्ड पुरुष तीन रात में शुद्ध होते हैं और एक गोत्र वाले पुरुष स्नान करने मात्र से शुद्ध हो जाते हैं। सातवीं पीढ़ी में सपिण्ड भाव की निवृत्ति हो जाती है और चौदहवीं पीढ़ी तक समानोदक सम्बन्ध भी समास हो जाता है। किसी के मत में जन्म और नाम का स्मरण न रहने पर अर्थात् हमारे वंश में अमुक पुरुष हुए थे, इस तरह जन्म और नाम दोनों का ज्ञान न रहने पर–समानोदक भाव निवृत्त हो जाता है। इसके बाद केवल गोत्र का सम्बन्ध रह जाता है। जो दशाह बीतने के पहले परदेश में रहने वाले किसी जाति-बन्धु की मृत्यु का समाचार सुन लेता है, उसको दशाह में जितने दिन शेष रहते हैं, उतने ही दिन का अशौच लगता है। दशाह बीत जाने पर कथित समाचार सुने तो तीन रात का अशौच प्राप्त होता है।।२८-३२।।

वर्ष बीत जाने पर कथित समाचार ज्ञात हो, तो जल का स्पर्श करके ही मनुष्य शुद्ध हो जाता है। मामा, शिष्य, ऋत्विक् तथा बान्धवजनों के मरने पर एक दिन, एक रात और एक दिन का अशौच लगता है। मित्र, दामाद, पुत्री के पुत्र, भानजे, साले और साले के पुत्र के मरने पर स्नानमात्र करने का विधान है। नानी, आचार्य तथा नाना की मृत्यु होने पर तीन दिन का अशौच लगता है। दुर्भिक्ष (अकाल) पड़ने पर समूचे राष्ट्र के ऊपर संकट अपने पर, आपत्ति-विपत्ति पड़ने पर तत्काल शुद्धि कही गयी है। यज्ञकर्ता, व्रतपरायण, ब्रह्मचारी, दाता तथा ब्रह्मवेत्ता की तत्काल ही शुद्धि हो जाती है। दान, यज्ञ, विवाह, युद्ध तथा देश व्यापी विप्लव के समय भी सद्यः शुद्धि ही बतलायी गयी है। महामारी आदि उपद्रव में मरे हुए का अशौच भी तत्काल ही निवृत्त हो जाता है। राजा, गौ तथा ब्राह्मण द्वारा मारे गये मनुष्यों की और आत्मघाती पुरुषों की मृत्यु होने पर भी तत्काल ही शुद्धि की गयी है।।३३-३७।।

जो असाध्य रोग से युक्त एवं स्वाध्याय में भी असमर्थ है, उसके लिये भी तत्काल शुद्धि का ही विधान

अपमानात्तथा क्रोधात्स्नेहात्परिभवाद्भयात्। उद्बध्य म्रियते नारी पुरुषो वाककथंचन॥३९॥
आत्मघाती चैकलक्षं वसेत्स नरकेऽशुचौ। वृद्धः श्रौतस्मृतेर्लुप्तः परित्यजति यस्त्वसून् (:)॥४०॥
त्रिरात्रं तत्र चाशौचं द्वितीये चास्थिसंचयम्(:)। तृतीये तूदकं कार्यं चतुर्थे श्राद्धमाचरेत्॥४१॥
विद्युदग्निहतानां च त्र्यहं शुद्धिः सपिण्डके। पाषण्डाश्रिता भर्तृघ्न्यो नाशौ चोदकगाः स्त्रियः॥४२॥
पितृमात्रादिपाते तु आर्द्रवासा ह्युपोषितः। अतीतेऽब्दे प्रकुर्वीत प्रेतकार्यं यथाविधि॥४३॥
यः कश्चित्तु हरेत्प्रेतमसपिण्डं कथंचन। स्नात्वा सचैलं स्पृष्टाग्निं घृतं प्राश्य विशुध्यति॥४४॥
यद्यन्नमत्ति तेषां तु दशाहेनैव शुध्यति। अनदन्नन्नमह्नैव न वै तस्मिन्गृहे वसेत्॥४५॥
अनाथं ब्राह्मणं प्रेतं ये वहन्ति द्विजातयः। पदे पदे यज्ञफलं शुद्धिः स्यात्स्नानमात्रतः॥४६॥
प्रेतीभूतं द्विजः शूद्रमनुगच्छंस्त्र्यहाच्छुचिः। मृतस्य बान्धवैः सार्धं कृत्वा च परिदेवनम्॥४७॥
वर्जयेत्तदहोरात्रं दानश्राद्धादिकामतः। शूद्रायाः प्रसवो गेहे शूद्रस्य मरणं तथा॥४८॥
भाण्डानि तु परित्यज्य त्र्यहाद्भूलेपतः शुचिः। न विप्रं श्वेषु तिष्ठत्सु मृतं शूद्रेण नाययेत्॥४९॥
(नयेत्प्रेतं स्नापितं च पूजितं कुसुमैर्दहेत्। नग्नदेहं दहेन्नैव किञ्चिद्देहं परित्यजेत्॥५०॥

है। जिन महापापियों के लिये अग्नि और जल में प्रवेश कर जाना प्रायश्चित्त बतलाया गया है (उनका वह मरण आत्मघात नहीं है)। जो स्त्री अथवा पुरुष अपमान, क्रोध, स्नेह, तिरस्कार या भय के कारण गले में बन्धन फाँसी) लगाकर किसी तरह प्राण त्याग देते हैं, उनको 'आत्मघाती' कहते हैं। वह आत्मघाती मनुष्य एक लाख वर्ष तक अपवित्र नरक में निवास करता है। जो अत्यन्त वृद्ध है, जिसे शौचाशौच का भी ज्ञान नहीं रह गया है, वह यदि प्राण त्याग करता है तो उसका अशौच तीन दिन तक ही रहता है। उसमें (प्रथम दिन दाह), दूसरे दिन अस्थिसंचय, तीसरे दिन जलदान तथा चौथे दिन श्राद्ध करना चाहिये। जो बिजली अथवा अग्नि से मरते हैं, उनके अशौच से सपिण्ड पुरुषों की तीन दिन में शुद्धि हो जाती है। जो स्त्रियाँ पाखण्ड का आश्रय लेने वाली तथा पतिघातिनी हैं, उनकी मृत्यु पर अशौच नहीं लगता और न उनको जलाञ्जलि पाने का ही अधिकार होता है। पिता-माता आदि की मृत्यु होने का समाचार एक वर्ष बीत जाने पर भी प्राप्त हो, तो सवस्त्र स्नान करके निराहार व्रत करना चाहिये और विधिपूर्वक प्रेतकार्य (जलदान आदि) सम्पन्न करना चाहिये॥३८-४३॥

जो कोई पुरुष जिस किसी तरह भी असपिण्ड शव को उठाकर ले जाय, उसे वस्त्र सहित स्नान करके अग्नि का स्पर्श करना चाहिये और घी खा ले इससे उसकी शुद्धि हो जाती है। यदि उस कुटुम्ब का वह अन्न खाता है तो दस दिन में ही उसकी शुद्धि हो जाती है। यदि मृतक के गृह वालों का अन्न न खाकर उनके गृह में निवास भी नहीं करना चाहिये तो उसकी एक ही दिन में शुद्धि हो जायगी। जो द्विज अनाथ ब्राह्मण के शव को ढोते हैं, उनको पग-पग पर अश्वमेध यज्ञ का फल प्राप्त होता है और स्नान करने मात्र से उनकी शुद्धि हो जाती है। शूद्र के शव का अनुगमन करने वाला ब्राह्मण तीन दिन पर शुद्ध होता है। मृतक व्यक्ति के बन्धु-बान्धवों के साथ बैठकर शोक-प्रकाश या विलाप करने वाला द्विज उस एक दिन और एक रात में स्वेच्छा से दान और श्राद्ध आदि का त्याग करना चाहिये। यदि अपने गृह पर किसी शूद्रा स्त्री के बालक उत्पन्न हो या शूद्र का मरण हो जाय तो तीन दिन पर गृह के बर्तन-भाँड़े निकाल फेंके और सारी भूमि लीप दे, तत्पश्चात् शुद्धि हो जाती है। सजातीय व्यक्तियों के रहते हुए ब्राह्मण शव को शूद्र के द्वारा न उठवाये। मुर्दे को नहलाकर नूतन वस्त्र से ढक दे और फूलों से उसका पूजन करके श्मशान की तरफ ले जाय। मुर्दे को नंगे शरीर न जलाये। कफन का कुछ हिस्सा फाड़कर श्मशानवासी को दे देना चाहिये॥४४-५०॥

गोत्रजस्तु गृहीत्वा तु चितां चाऽऽरोपयेत्तदा। आहिताग्निर्यथान्यायं दग्धव्यस्त्रिभिरग्निभिः॥५१॥
अनाहिताग्निरेकेन लौकिकेनापरस्तथा। अस्मात्त्वमभिजातोऽसि त्वदयं जायतां पुनः॥५२॥
असौ स्वर्गाय लोकाय मुखाग्निं प्रददेत्सुतः। सकृत्प्रसिञ्चत्यु (न्त्यु) दकं नामगोत्रेण बान्धवाः॥५३॥
एवं मातामहाचार्यप्रेतानां चोदकक्रिया। कामोदकं सखीप्रेतस्वस्त्रीयश्वशुरर्त्विजाम्॥५४॥
अपानः शोशुचदयं दशाहं च सुतोऽर्पयेत्। ब्राह्मणे दश पिण्डाः स्युः क्षत्रिये द्वादश स्मृताः॥५५॥
वैश्ये पञ्चदश प्रोक्ता शूद्रे त्रिंशत्प्रकीर्तिताः। पुत्रो वा पुत्रिकाऽन्यो वा पिण्डं दद्याच्च पुत्रवत्॥५६॥
विदश्य निम्बपत्राणि नियतो द्वारि वेश्मनः। आचम्य चाग्निमुदकं गोमयं गौरसर्षपान्॥५७॥
प्रविशेयुःसमालभ्य कृत्वाऽश्मनि पदं शनैः। अक्षारलवणान्नाः स्युर्निर्मांसा भूमिशायिनः॥५८॥
क्रीतलब्धाशनाः स्नाता आदिकर्त्ता दशाहकृत्। अभावे ब्रह्मचारी तु कुर्यात्पिण्डोदकादिकम्॥५९॥
यथेदं शावमाशौचं सपिण्डेषु विधीयते। जननेऽप्येवमेव स्यान्निपुणां शुद्धिमिच्छताम्॥६०॥
(सर्वेषां शावमाशौचं मातापित्रोश्च सूतकम्। मातुकं मातुरेव स्यादुपस्पृश्य पिता शुचिः॥६१॥

उस समय सगोत्र पुरुष शव को उठाकर चिता पर चढ़ावे। जो अग्निहोत्री हो, उसको विधिपूर्वक तीन अग्नियों (आहवनीय, गार्हपत्य और दाक्षिणाग्नि) द्वारा दग्ध करना चाहिये। जिसने अग्नि की स्थापना नहीं की हो, परन्तु उपनयन संस्कार से युक्त हो, उसका एक अग्नि (आहवनीय) द्वारा दाह करना चाहिये तथा अन्य सामान्य मनुष्यों का दाह लौकिक अग्नि से करना चाहिये॥ **'अस्मात् त्वमभिजातोऽसि त्वदयं जायतां पुनः। असौ स्वर्गाय लोकाय स्वाहा'**। इस मन्त्र को पढ़कर पुत्र अपने पिता के शव के मुख में अग्नि सम्प्रदान करना चाहिये। फिर प्रेत के नाम और गोत्र का उच्चारण करके बान्धवजन एक-एक बार जलदान करें। इसी तरह नाना तथा आचार्य के मरने पर भी उनके उद्देश्य से जलाञ्जलिदान करना अनिवार्य है। परन्तु मित्र, ब्याही हुई बेटी-बहन आदि, भानजे, श्वशुर तथा ऋत्विज् के लिये भी जलदान करना अपनी इच्छा पर निर्भर है। पुत्र अपने पिता के लिये दस दिनों तक प्रतिदिन **'अपो नः शोशुचद् अयम्'** इत्यादि पढ़कर जलाञ्जलि देना चाहिये। ब्राह्मण को दस पिण्ड, क्षत्रिय को द्वादश पिण्ड, वैश्य को पन्द्रह पिण्ड और शूद्र को तीस पिण्ड देने का विधान है। पुत्र हो या पुत्री अथवा और कोई, वह पुत्र की भाँति मृत व्यक्ति को पिण्ड देना चाहिये।५१-५६॥

शव का दाह-संस्कार करके जिस समय गृह लौटे तो मन को वश में रखकर द्वार पर खड़ा हो दाँत से नीम की पत्तियाँ चबाये। फिर आचमन करके अग्नि, जल, गोबर और पीली सरसों का स्पर्श करना चाहिये। तत्पश्चात् पहले पत्थर पर पैर रखकर धीरे-धीरे गृह में प्रवेश करना चाहिये। उस दिन से बन्धु-बान्धवों को क्षार नमक नहीं खाना चाहिये, मांस छोड़ देना चाहिये। सभी को भूमि पर शयन करना चाहिये। वे स्नान करके खरीदने से प्राप्त हुए अन्न को खाकर रहें। जो प्रारम्भ में दाह-संस्कार किया हो, उसको दस दिनों तक सब कार्य करना चाहिये। अन्य अधिकारी पुरुषों के अभाव में ब्रह्मचारी ही पिण्डदान और जलाञ्जलि-दान करना चाहिये। जिस प्रकार सपिण्डों के लिये यह मरणाशौच की प्राप्ति बतलायी गयी है, उसी तरह जन्म के समय भी पूर्ण शुद्धि की इच्छा रखने वाले पुरुषों को अशौच की प्राप्ति हो जाती है। मरणाशौच तो सभी सपिण्ड पुरुषों को समानरूप से प्राप्त होता है; परन्तु जननाशौच की अस्पृश्यता विशेषतः माता-पिता को ही लगती है। इनमें भी माता को ही जन्म का विशेष अशौच लगता है, वही स्पर्श के अधिकार से वञ्चित होती है। पिता तो स्नान करने मात्र से शुद्ध (स्पर्श करने योग्य) हो जाता है।५७-६१॥

पुत्रजन्मदिने श्राद्धं कर्तव्यमिति निश्चितम्। तदहस्तत्प्रदानार्थं गोहिरण्यादिवाससाम्।।६२।।
मरणं मरणेनैव सूतकं सूतकेन तु। उभयोरपि यत्पूर्वं तेनाऽऽशौचेन शुध्यति।।६३।।
सूतके मृतकं चेत्स्यान्मृतके त्वथ सूतकम्। तत्राधिकृत्य मृतकं शौचं कुर्यान्न सूतकम्।।६४।।
समानं लध्वशौचं तु प्रथमेन समापयेत्। असमानं द्वितीयेन धर्मराजवचो यथा।।६५।।
शावान्तः शाव आयाते पूर्वाशौचेन शुध्यति। गुरुणा लघु बाध्येत लघुना नैव तद्गुरु।।६६।।
मृतके सूतके वाऽपि रात्रि मध्येऽन्यदापतेत्। तच्छेषेणैव शुध्येरन् रात्रिशेषे द्व्यहाधिकात्।।६७।।
प्रभाते यद्यशौचं स्याच्छुध्येरंश्च त्रिभिर्दिनैः। उभयत्र दशाहानि कुलस्यान्नं न भुज्यते।।६८।।
दानादि विनिवर्तेत भोजने कृत्यमाचरेत्। अज्ञाते पातकं नाऽद्ये भोक्तुरेकमहोऽन्य (हरन्य) था।।६९।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते शावाशौचकथनं नामाष्टपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः।।१५८।।

पुत्र का जन्म होने के दिन निश्चय ही श्राद्ध करना चाहिये। वह दिन श्राद्ध-दान तथा गौ, स्वर्ण आदि और वस्त्र का दान करने के लिये उपरोक्त माना गया है। मरण का अशौच मरण के साथ और सूतक का सूतक के साथ निवृत्त होता है। दोनों में जो पहला अशौच है, उसी के साथ दूसरे की भी शुद्धि हो जाती है। जन्माशौच में मरणाशौच हो अथवा मरणाशौच में जन्माशौच को भी निवृत्त मानकर अपनी शुद्धि का कार्य करना चाहिये। जन्माशौच के साथ मरणाशौच की निवृत्ति नहीं होती। यदि एक समान दो अशौच हों (अर्थात् जन्म-सूतक में जन्म सूतक और मरणाशौच में मरणाशौच पड़ जाय) तो प्रथम अशौच के साथ दूसरे को भी समास कर देना चाहिये और यदि असमान अशौच हो (अर्थात् जन्माशौच में मरणाशौच और मरणाशौच में जन्माशौच हो) तो द्वितीय अशौच के साथ प्रथम को निवृत्त करना चाहिये—ऐसा धर्मराज का कथन है। मरणाशौच के अन्दर दूसरा मरणाशौच आने पर वह पहले अशौच के साथ निवृत्त हो जाता है। गुरु अशौच से लघु अशौच बाधित होता है; लघु से गुरु अशौच का बाध नहीं होता। मृतक अथवा सूतक में यदि अन्तिम रात्रि के मध्य भाग में दूसरा अशौच आ पड़े तो उस शेष मध्यभाग में दूसरा अशौच आ पड़े तो उस शेष समय में ही उसकी भी निवृत्ति हो जाने के कारण सभी सपिण्ड पुरुष शुद्ध हो जाते हैं। यदि रात्रि के अन्तिम भाग में दूसरा अशौच आवे तो दो दिन अधिक बीतने पर अशौच की निवृत्ति होती है तथा यदि अन्तिम रात्रि बिताकर अन्तिम दिन के प्रातःकाल अशौचान्तर प्राप्त हो, तो तीन दिन और अधिक बीतने पर सपिण्डों की शुद्धि हो जाती है। दोनों ही तरह के अशौचों में दस दिनों तक उस वंश का अन्न नहीं खाया जाता है। अशौच में दान आदि का भी अधिकार नहीं रहता। अशौच में किसी के यहाँ भोजन करने पर प्रायश्चित्त करना चाहिये। अनजान में भोजन करने पर पातक नही लगता, जान-बूझकर खाने वाले को एक दिन का अशौच प्राप्त होता है।।६२-६९।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी एक सौ अठावनवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।१५८।।

❖❖❖

अथैकोनषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः

असंस्कृतादिशौचम्

पुष्कर उवाच

संस्कृतस्यासंस्कृतस्य स्वर्गो मोक्षो हरिस्मृतेः। अस्थ्नां गङ्गाम्भसि क्षेपात्प्रेतस्याभ्युदयो भवेत्।।१।।
गङ्गातोये नरस्यास्थि यावत्तावद्दिविस्थितिः। आत्मनस्त्यागिनां नास्ति पतितानां तथा क्रिया।।२।।
तेषामपि तथा गाङ्गे तोयेऽस्थ्नां पतनं हितम्। तेषां दत्तं जलं चान्नं गगने तत्प्रलीयते।।३।।
अनुग्रहेण महता प्रेतस्य पतितस्य च। नारायणबलिः कार्यस्तेनानुग्रहमश्नुते।।४।।
अक्षयः पुण्डरीकाक्षस्तत्र दत्तं न नश्यति। पतनात्त्रायते यस्मात्तस्मात्पात्रं जनार्दनः।।५।।
पततां भुक्तिमुत्त्यादिप्रद एको हरिर्ध्रुवम्। दृष्ट्वा लोकान्म्रियमाणान्सहायं धर्ममाचरेत्।।६।।
मृतोऽपि बान्धवः शक्तो नानुगन्तुं नरं मृतम्। जायावर्जं हि सर्वस्य याम्यः पन्था विभिद्यते।।७।।
धर्म एको व्रजत्येनं यत्र क्वचनगामिनम्। श्वः कार्यमद्य कुर्वीत पूर्वाह्णे चाऽऽपराह्णिकम्।।८।।
न हि प्रतीक्षते मृत्युः कृतं वाऽस्य न वा कृतम्। क्षेत्रापणगृहासक्तमन्यत्र गतमानसम्।।९।।

अध्याय-१५९

असंस्कृत आदि की शुद्धि

पुष्करजी ने कहा कि–मृतक का दाह संस्कार हुआ हो या नहीं, यदि श्रीहरि विष्णु का स्मरण किया जाय तो उससे उसको स्वर्ग और मोक्ष दोनों की ही प्राप्ति हो सकती है। मृतक की अस्थियों को गंगा में प्रवाहित करने से मृतक का अभ्युदय होता है। मनुष्य की अस्थियाँ जब तक गंगा के जल में स्थित रहती हैं, तब तक उसका स्वर्गलोक में निवास होता है। आत्मयाती तथा पतित मनुष्यों के लिये यद्यपि पिण्डोदक क्रिया का विधान नहीं है, तब भी गंगा के जल में उनकी अस्थियों को डालना भी उनके लिये हितकारक ही हैं। उनके उद्देश्य से दिया हुआ अन्न और जल आकाश में लीन हो जाता है। पतित प्रेत के प्रति महान् अनुग्रह करके उसके लिये 'नारायण बलि' करनी चाहिये। इससे वह उस अनुग्रह के फल को भोगता है। कमल के समान नेत्र वाले भगवान् श्रीहरि विष्णु अविनाशी हैं। इसलिये उन्हें जो कुछ अर्पित किया जाता है, उसका विनाश नहीं होता। भगवान् जनार्दन जीव का पतन से त्राण अर्थात् उद्धार करते हैं, इसलिये वे ही दान के सर्वोतम पात्र हैं।।१-५।।

निश्चय ही नीचे गिरने वाले जीवों को भी भोग और मोक्ष सम्प्रदान करने वाले एकमात्र भगवान् श्रीहरि विष्णु ही हैं। सम्पूर्ण जगत् के मनुष्य एक दिन मृत्यु को प्राप्त करने वाले हैं, ऐसा सोचकर सदा अपने सच्चे सहायक धर्म का अनुष्ठान करना चाहिये। पतिव्रता पत्नी को छोड़कर दूसरा कोई बन्धु-बान्धव मर कर भी मरे हुए मनुष्य के साथ नहीं जा सकता; क्योंकि यमलोक का मार्ग सबके लिये भिन्न-भिन्न है। जीव कहीं भी क्यों न जाय, एकमात्र धर्म ही उसके साथ जाता है। जो कार्य कल करना है, उसे आज ही कर लेना चाहिये; जिसे दोपहर बाद करना है, उसे पहले ही पहर में कर लेना चाहिये; क्योंकि मृत्यु इस बात की प्रतिक्षा नहीं करती कि इसका कार्य पूर्ण हो गया है अथवा नहीं? व्यक्ति खेती बारी, बाजार-हाट तथा घर गृहस्थी में फँसा होता है, उसका मन अन्यत्र लगा होता है; इसी दशा

वृकीवोरणमासाद्य मृत्युरादाय गच्छति। न कालस्य प्रियः कश्चिद्द्वेष्यश्चास्य न विद्यते॥१०॥
आयुष्ये कर्मणि क्षीणे प्रसह्य हरते जनम्। नाप्राप्तकालो म्रियते विद्धः शरशतैरपि॥११॥
कुशाग्रेणापि संस्पृष्टः प्राप्तकालो न जीवति। औषधानि न मन्त्रान्धास्त्रायन्ते मृत्युनाऽन्वितम्॥१२॥
वत्सवत्प्राकृतं कर्म कर्तारं विन्दति ध्रुवम्। अव्यक्तादि व्यक्तमध्यमव्यक्तनिधनं जगत्॥१३॥
कौमारादि यथा देहे तथा देहान्तरागमः। नवमन्यद्यथा वस्त्रं गृह्णात्येवं शरीरकम्॥
देही नित्यमवध्योऽयं यतः शोकं ततस्त्यजेत्॥१४॥

॥ इति श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते असंस्कृतादिशौचकथनं नामैकोनषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः॥१५९॥
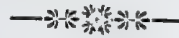
में जैसे असावधान भेड़ को सहसा भेड़िया आकर उठा ले जाता है, वैसे ही मृत्यु मनुष्य को लेकर चल देती है॥ काल के लिये न तो कोई प्रिय है और न कोई द्वेष का पात्र है॥६-१०॥

आयुष्य तथा प्रारब्ध कर्म क्षीण होने पर वह हठात् जीव को हर ले जाती है। जिसका काल नहीं आया है, वह सैकड़ो बाणों से आहत होने पर भी मृत्यु को प्राप्त नहीं करता तथा जिसकी मृत्यु निकट है वह कुश के अग्रभाग से ही छू जाय तो भी जीवित नहीं रहता। जो मृत्यु से ग्रस्त है, उसे औषध और मन्त्र आदि नहीं बचा सकते। जैसे बछड़ा गायों के झुण्ड में अपनी माँ के समीप पहुँच जाता है, उसी तरह पूर्वजन्म का किया हुआ कर्म जन्मान्तरों में भी कर्ता को अवश्य ही प्राप्त हो जाता है। इस सम्पूर्ण जगत् का आदि और अन्य अव्यक्त है, केवल मध्य की अवस्था ही व्यक्त होती है। जैसे जीवन के इस शरीर में कुमार तथा यौवन आदि अवस्थाएँ क्रमश आती रहती हैं, उसी तरह मृत्यु के बाद उसे दूसरे शरीर की भी प्राप्ति होती है। जैसे मनुष्य पुराने वस्त्र को त्याग कर दूसरे नये परिधान को धारण करता है, उसी तरह मृत्यु जीवात्मा एक शरीर को त्याग कर दूसरे शरीर को ग्रहण करती है। देहधारी जीवात्मा सदा अवध्य है, वह कभी मरती नहीं, इसलिये मृत्यु के लिये शोक का त्याग करना चाहिये॥११-१४॥

॥इस अग्निमहापुराणान्तर्गत एक सौ उनसठवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ॥१५९॥

❖❖❖

अथ षष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः

वानप्रस्थाश्रमः

पुष्कर उवाच

वानप्रस्थयतीनां च धर्मं वक्ष्ये यथा शृणु। जटित्वमग्निहोत्रित्वं भूशय्याऽजिनधारणम्।।१।।
वने वासः पयोमूलनीवारफलवृत्तिता। प्रतिग्रहनिवृत्तिश्च त्रिः स्नानं ब्रह्मचारिता।।२।।
देवातिथीनां पूजा च धर्मोऽयं वनवासिनः। गृही ह्यपत्यापत्यं च दृष्ट्वाऽरण्य समाश्रयेत्।।३।।
तृतीयमायुषो भागमेकाकी वा सभार्यकः। ग्रीष्मे पञ्चतपा नित्यं वर्षास्वभ्रावकाशिकाः।।४।।
आर्द्रवासाश्च हेमन्ते तपश्चोग्रं चरेद्बली। अपरावृत्तिमास्थाय व्रजेद्दिशमजिह्मगः।।५।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गति वानप्रस्थाश्रमकथनं नाम षष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः।।१६०।।
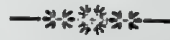
अध्याय-१६०

वानप्रस्थों के धर्म विचार

पुष्कर जी कहते हैं कि–अधुना मैं वानप्रस्थ और संन्यासियों के धर्म का जैसा वर्णन करने जा रहा हूँ, उसे ध्यान से सुनो। सिर पर जटा रखना, प्रतिदिन अग्निहोत्र करना, धरती पर शयन करना और मृगचर्म धारण करना, वन में निवास करना, फल, मूल, नीवार (तिन्नी) आदि से जीवन-निर्वाह करना, कभी किसी से कुछ भी दान न लेना, तीनों समय स्नान करना, ब्रह्मचर्य व्रत के पालन में तत्पर रहना तथा देवता और अतिथियों की पूजा करना–यह सब वानप्रस्थी का धर्म है। गृहस्थ पुरुष को चाहिये की अपनी संतान की संतान देखकर वन का आश्रय ले और आयु का तृतीय भाग वनवास में व्यतीत करना चाहिये। उस आश्रम में वह अकेला रहे या पत्नी के साथ ब्रह्मचर्य का पालन करते हुये रह सकता है। गर्मी के दिनों पञ्चाग्नि सेवन करना चाहिये। वर्षाकाल में खुले आकाश के नीचे रहे। हेमन्त ऋतु में रात भर भीगे कपड़े ओढ़कर रहे। अथवा जल में रहे। शक्ति रहते हुए वानप्रस्थी को इसी तरह उग्र तपस्या करनी चाहिये। वानप्रस्थ से फिर गृहस्थ आश्रम में न लौटे। विपरीत या कुटिल गति का आश्रय न लेकर सामने की दिशा की तरफ जाय अर्थात् पीछे न लौटकर आगे सदैव आगे बढ़ता रहे।।१-५।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी एक सौ साठवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।१६०।।

❖❖❖

अथैकषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः

यतिधर्माः

पुष्कर उवाच

यतिधर्मं प्रवक्ष्यामि ज्ञानमोक्षादिदर्शकम्। चतुर्थमायुषो भागं प्राप्य सङ्गात्परिव्रजेत्।।१।।
यदह्नि विरजेद्धीरस्तदह्नि च परिव्रजेत्। प्राजापत्यां निरुप्येष्टिं सर्ववेदसदक्षिणाम्।।२।।
आत्मन्यग्नीन्समारोप्य प्रव्रजेद् ब्राह्मणो गृहात्। एक एव चरेन्नित्यं ग्राममन्नार्थमाश्रयेत्।।३।।
उपेक्षकोऽसंचयि (य) को मुनिर्ज्ञानसमन्वितः। कपालं वृक्षमूलं च कुचेलमसहायता।।४।।
समता चैव सर्वस्मिन्नेतन्मुक्तस्य लक्षणम्। नाभिनन्देत मरणं नाभिनन्देत जीवनम्।।५।।
कालमेव प्रतीक्षेत निदेशं भृतको यथा। दृष्टिपूतं न्यसेत्पादं वस्त्रपूतं जलं पिबेत्।।६।।
सत्यपूतां वदेद्वाचं मनःपूतं समाचरेत्। अलाबुदारुपत्राणि मृण्मयं वैष्णवं यतेः।।७।।
विधूमे न्यस्तमुसले व्यङ्गारे भुक्तवज्जने। वृत्ते शरावसम्पाते भिक्षां नित्यं यतिश्चरेत्।।८।।

अध्याय-१६१

संन्यासियों के धर्म विचार

पुष्करजी ने कहा कि–अधुना मैं ज्ञान और मोक्ष आदि का साक्षात्कार कराने वाले सन्यास धर्म का वर्णन करने जा रहा हूँ। आयु के चौथे भाग में पहुँचकर, सभी तरह के संग से दूर हो सन्यासी हो जाय। जिस दिन वैराग्य, हो, उसी दिन गृह छोड़कर चले दे–संन्यास ले ले। प्राजापत्य इष्टि (यज्ञ) करके सर्वस्व की दक्षिणा दे देना चाहिये तथा आहवनीयादि अग्नियों को अपने–आप में आरोपित करके ब्राह्मण गृह से निकल जाय। संन्यासी सदा अकेला ही विचरे। भोजन के लिये ही गाँव में जाय। शरीर के प्रति उपेक्षाभाव रखे। अन्न आदि का संग्रह नहीं करना चाहिये। मननशील रहना चाहिये। ज्ञान सम्पन्न होवे। कपाल (मिट्टी आदि का खप्पर) ही भोजन पात्र हो, वृक्ष की जड़ ही निवास स्थान हो, लँगोटी के लिये मैला–कुचैला वस्त्र हो, साथ में कोई सहायक न हो तथा सबके प्रति समता का भाव हो–यह जीवन्मुक्त पुरुष का लक्षण है। न तो मरने की इच्छा करना चाहिये, न जीने की–जीवन और मृत्यु में से किसी का अभिनन्दन नहीं करना चाहिये।।१-५।।

जिस प्रकार सेवक अपने स्वामी की आज्ञा की प्रतीक्षा करता है, उसी तरह वह प्रारम्भ्यवश प्राप्त होने वाले काल (अन्तसमय) की प्रतीक्षा करते रहना चाहिये। मार्ग पर दृष्टिपात करके पाँव रखे अर्थात् रास्ते में कोई कीड़ा-मकोड़ा, हड्डी, केश आदि तो नहीं है, यह भलीभाँति देखकर पैर रखे। पानी को कपड़े से छानकर पीये। सत्य से पवित्र की हुई वाणी बोले। मन से दोष-गुण विचार करके कोई कार्य करना चाहिये। लौकी, काठ, मिट्टी तथा बाँस-ये ही संन्यासी के पात्र हैं। जिस समय गृहस्थ के गृह से धूआँ निकलना बन्द हो गया हो, मुसल रख दिया गया हो, आग बुझ गयी हो, गृह से सब लोग भोजन कर चुके हों और जूँठे शराव (मिट्टी के प्याले) फेंक दिय गये हों, ऐसे समय में सन्यासी प्रतिदिन भिक्षा के लिये जाय। भिक्षा पाँच तरह की मानी गयी है–मधुकरी (अनेक घरों से थोड़ा-थोड़ा अन्न माँग लाना), असंक्लृप्त (जिसके विषय में पहले से कोई संकल्प या निश्चय न हो, ऐसी भिक्षा), प्राक्प्रणीत (पहले से तैयार रखी हुई भिक्षा), अयाचित (बिना माँगे जो अन्न प्राप्त हो जाय, वह) और तत्काल उपलब्ध (भोजन के समय स्वतः प्राप्त)। अथवा करपात्री होकर रहे अर्थात् हाथ ही में लेकर भोजन करना चाहिये और हाथ में ही पानी पीये।

माधूरकरमसंक्लृप्तं प्राक्प्रणीतमयाचितम्। तात्कालिकं चोपपन्नं भैक्षं पञ्चविधं स्मृतम्।।९।।
पाणिपात्री भवेद्वाऽपी पात्रे पात्रात्समाचरेत्। अवेक्षेत गतिं नृणां कर्मदोषसमुद्भवाम्।।१०।।
शुद्धभावश्चरेद्धर्मं यत्र तत्राऽऽश्रमे रतः। समः सर्वेषु भूतेषु न लिङ्गं धर्मकारणम्।।११।।
फलं कतकवृक्षस्य यद्यप्यम्बु प्रसादकम्।न नामग्रहणादेव तस्य वारि प्रसीदति।।१२।।
अजिह्मःपण्डकः पङ्गुरन्धो बधिर एव च। सद्भिश्च मुच्यतेऽसद्भिरज्ञानात्संसृतो द्विजः।।१३।।
अह्नि रात्र्यां च याञ्जन्तून्हिनस्त्यज्ञानतो यतिः। तेषां स्नात्वा विशुद्ध्यर्थं प्राणायामान्षडाचरेत्।।१४।।
अस्थिस्थूणं स्नायुयुतं मांसशोणितलेपनम्। चर्मावनद्धं दुर्गन्धं पूर्णं मूत्रपुरीषयोः।।१५।।
जराशोकसमाविष्टं रोगायतनमातुरम्। रजस्वलमनित्यं च भूतावासमिमं त्यजेत्।।१६।।
धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः। ह्रीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्।।१७।।
चतुर्विधं भैक्षवस्तु कुटीचकबहूदकौ। हंसःपरमहंसश्च यो यः पश्चात् स उत्तमः।।१८।।
एकदण्डी त्रिदण्डी वा योगी मुच्येत बन्धनात्। अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यापरिग्रहौ।।१९।।
यमाःपञ्चाथ नियमाः शौचं सन्तोषणं तपः। स्वाध्यायेश्वरपूजा च पद्मकाद्यासनं यतेः।।२०।।
प्राणायामस्तु द्विविधः सगर्भोऽगर्भ एव च। जपध्यानयुतो गर्भो विपरीतस्त्वगर्भकः।।२१।।

दूसरे किसी पात्र का उपयोग नहीं करना चाहिये। पात्र से अपने हाथरूपी पात्र में भिक्षा लेकर उसका उपयोग करना चाहिये। मनुष्यों की कर्मदोष से प्राप्त होने वाले यमयातना और नरकपात आदि गति का चिन्तन करना चाहिये।।९-१०।।

जिस किसी भी आश्रम में स्थित रहकर मनुष्य को शुद्ध भाव से आश्रमोचित धर्म का पालन करना चाहिये। सब भूतों में समान भाव रखे केवल आश्रम-चिह्न धारण कर लेना ही धर्म का हेतु नहीं है (उस आश्रम के लिये विहित कर्तव्य का पालन करने से ही धर्म का अनुष्ठान होता है)। निर्मली का फल यद्यपि पानी में पड़ने पर उसको स्वच्छ बनाने वाला है, तथापि केवल उसका नाम लेने पात्र से जल स्वच्छ नहीं हो जाता। इसी तरह आश्रम के लिङ्ग धारण मात्र से लाभ नहीं होता, विहित धर्म का अनुष्ठान करना चाहिये। अज्ञान वश संसार-बन्धन में बँधा हुआ द्विज लँगड़ा, लूला, अंधा और बहरा क्यों न हो, यदि कुटिलता हीन संन्यासी हो जाय तो वह सत् और असत्-सबसे मुक्त हो जाता है। संन्यासी दिन या रात में बिना जाने जिन जीवों की हिंसा करता है, उनके वधरूप पाप से शुद्ध होने के लिये वह स्नान करके छः बार प्राणायाम करना चाहिये। यह शरीर रूपी गृह हड्डी रूपी खम्भों से युक्त है, नाडीरूप रस्सियों से बँधा हुआ है, मांस तथा रक्त से लिपा हुआ और चमड़े से छाया गया है। यह मल और मूत्र से भरा हुआ होने के कारण अत्यन्त दुर्गन्धपूर्ण है। इसमें बुढ़ापा तथा शोक व्याप्त हैं। यह अनेक रोगों का गृह और भूख-प्यास से आतुर रहने वाला है। इसमें रजोगुण का प्रभाव अधिक है। यह अनित्य विनाशशील एवं पृथिवी आदि पाँच भूतों का निवास-स्थान है; विद्वान् पुरुष इसको त्याग दे-अर्थात् ऐसा प्रयत्न करना चाहिये, जिससे फिर देह के बन्धन में न आना पड़े।।११-१६।। धृति, क्षमा, दम (मनोनिग्रह), चोरी न करना, बाहर-अन्दर से पवित्र रहना, इन्द्रियों को वश में रखना, लज्जा, विद्या, सत्य तथा अक्रोध (क्रोध न करना)-ये धर्म के दस लक्षण हैं। संन्यासी चार तरह के होते हैं-कुटीचक, बहूदक, हंस और परमहंस। इनमें जो-जो पिछला है, वह पहले की अपेक्षा श्रेष्ठतम है। योगयुक्त संन्यासी पुरुष एकदण्डी हो या त्रिदण्डी, वह बन्धन से मुक्त हो जाता है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय (चोरी का अभाव), ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह (संग्रह न रखना)-ये पाँच 'यम' हैं। शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर की आराधना-ये पाँच 'नियम' हैं। योगयुक्त संन्यासी के लिये इन सभी का पालन आवश्यक है। पद्मासन आदि आसनों से उसको बैठना चाहिये।।१७-२०।। प्राणायाम दो तरह का है-एक 'सगर्भ'

प्रत्येकं त्रिविधः सोऽपि पूरकुम्भकरेचकैः। पूरणात्पूरको वायोर्निश्चलत्वाच्च कुम्भकः।।२२।।
रेचनाद्रेचकः प्रोक्तो मात्राभेदेन च त्रिधा। द्वादशस्तु चतुर्विंशः षट्त्रिंशन्मात्रिकोऽपरः।।२३।।
तालो लघ्वक्षरो मात्रा प्रणवादि चरेच्छनैः। प्रत्याहारो जापकानां ध्यानमीश्वरचिन्तनम्।।२४।।
मनोधृतिर्धारणा स्यात्समाधिर्ब्रह्मणि स्थितिः। अयमात्मा परं ब्रह्म सत्यं ज्ञानमनन्तकम्।।२५।।
विज्ञानमानन्दं ब्रह्म तत्त्वमस्यहमस्मि तत्। परं ब्रह्म ज्योतिरात्मा वासुदेवो विमुक्त ओम्।।२६।।
देहेन्द्रियमनोबुद्धिप्राणाहंकारवर्जितम्। जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्यादिमुक्तं ब्रह्म तुरीयकम्।।२७।।
नित्यशुद्धबुद्ध मुक्तसत्यमानन्दमद्वयम्। अहं ब्रह्म परं ज्योतिरक्षरं सर्वगं हरिः।।२८।।
योऽसावादित्यपुरुषः सोऽसावहमखण्ड ओम्। सर्वारम्भपरित्यागी समदुःखसुखः क्षमी।।२९।।
भावशुद्धश्च ब्रह्माण्डं भित्त्वा ब्रह्म भवेन्नरः। आषाढ्यां पौर्णमास्यां च चातुर्मास्यं व्रतं चरेत्।।३०।।
ततो व्रजेन्नवम्यादौ ह्यृतुसंधिषु वापयेत्। प्रायश्चित्तं यतीनां च ध्यानं वायुयमस्तथा।।३१।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते यतिधर्मकथनं नामैकषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः।।१६१।।

—❊❊❊—

और दूसरा 'अगर्भ'। मन्त्रजप और ध्यान से युक्त प्राणायाम 'सगर्भ' कहलाता है और इसके विपरीत जप-ध्यान हीन प्राणायाम को 'अगर्भ' कहते हैं। पूरक, कुम्भक तथा रेचक के भेद से प्राणायाम तीन तरह का होता है। वायु को अन्दर भरने से 'पूरक' प्राणायाम होता ळै, उसको स्थिरतापूर्वक रोकने से 'कुम्भक' होता है और फिर उस वायु को बाहर निकालने से 'रेचक' प्राणायाम कहा गया है। मात्राभेद से भी वह तीन तरह का है—द्वादश मात्रा का, चौबीस मात्रा का तथा छत्तीस मात्रा का। इसमें उत्तरोत्तर श्रेष्ठ है। ताल या ह्रस्व अक्षर को 'मात्रा' कहते हैं। प्राणायाम में 'प्रणव' आदि मन्त्र का धीरे-धीरे जप करना चाहिये। इन्द्रियों के संयम को 'प्रत्याहार' कहा गया है। जप करने वाले साधकों द्वारा जो ईश्वर का चिन्तन किया जाता है, उसको 'ध्यान' कहते हैं; मन को धारण करने का नाम 'धारणा' है; ब्रह्म में स्थिति को 'समाधि' कहते हैं।।२१-२४।।

'यह आत्मा परब्रह्म है; ब्रह्म—सत्य, ज्ञान और अनन्त है; ब्रह्म विज्ञानमय तथा आनन्द स्वरूप है; वह ब्रह्म तू है; वह ब्रह्म मैं हूँ; परब्रह्म परमात्मा प्रकाशस्वरूप है; वही आत्मा है, वासुदेव है, नित्यमुक्त है; वही 'ओ३म्' शब्द वाच्य सच्चिदानन्दघन ब्रह्म है; देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, प्राण और अहंकार से हीन तथा जाग्रत, स्वप्न एवं सुषुप्ति आदि से मुक्त जो तुरीय तत्त्व है, वही ब्रह्म है; वह नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्तस्वरूप है; सत्य, आनन्दमय तथा अद्वैत रूप है; सभी जगह व्यापक, अविनाशी ज्योतिः स्वरूप परब्रह्म ही श्रीहरि विष्णु है और वह मैं हूँ; आदित्य मण्डल में जो वह ज्योतिर्मय पुरुष है, वह अखण्ड प्रणववाच्य परमेश्वर मैं हूँ—इस तरह का सहजसहज बोध ही ब्रह्म में स्थिति का सूचक है।।२५-२८।। जो सभी तरह के प्रारम्भ का त्यागी है—अर्थात् जो फलासक्ति एवं अहंकरपूर्वक किसी कर्म का प्रारम्भ नहीं करता—कर्तृत्वाभिमान से शून्य होता है, दुःख-सुख में समान रहता है सबके प्रति क्षमाभाव रखने वाला एवं सहनशील होता है, वह भावशुद्ध ज्ञानी मनुष्य ब्रह्माण्ड का भेदन करके साक्षात् ब्रह्म हो जात है। यति को आषाढ़ की पूर्णिमा को चातुर्मास्यव्रत प्रारम्भ करना चाहिये। फिर कार्तिक शुक्ला नवमी आदि तिथियों से विचरण करना चाहिये। ऋतुओं की संधि के दिन मण्डन कराये। संन्यासियों के लिये ध्यान तथा प्राणायाम ही प्रायश्चित्त है।।२९-३१।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी एक सौ एकसठवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।१६१।।

❖❖❖

अथ द्विषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः

धर्मशास्त्रकथनम्

पुष्कर उवाच

मनुर्विष्णुर्याज्ञवल्क्यो हारीतोऽत्रिर्यमोऽङ्गिराः। वशिष्ठदक्षसंवर्तशातातपपराशराः॥१॥
आपस्तम्बोशनोव्यासाः कात्यायनबृहस्पती। गौतमः शङ्खलिखितौ धर्ममेते यथाऽब्रुवन्॥२॥
तथा वक्ष्ये समासेन भुक्तिमुक्तिप्रदं शृणु। प्रवृत्तं च निवृत्तं च द्विविधं कर्म वैदिकम्॥३॥
काम्यं कर्म प्रवृत्तं स्यान्निवृत्तं ज्ञानपूर्वकम्। वेदाभ्यासस्तपो ज्ञानमिन्द्रियाणां च संयमः॥४॥
अहिंसा गुरुसेवा च निःश्रेयसकरं परम्। सर्वेषामपि चैतेषामात्मज्ञानं परं स्मृतम्॥५॥
तच्चाग्न्यं सर्वविद्यानां प्राप्यते ह्यमृतं ततः। सर्वभूतेषु चाऽऽत्मानं सर्वभूतानि चाऽऽत्मनि॥६॥
समं पश्यन्नात्मयाजी स्वाराज्यमधिगच्छति। आत्मज्ञाने स (श) मे च स्याद्वेदाभ्यासे च यत्नवान्॥७॥
एतद्द्विजन्मसामर्थ्यं ब्राह्मणस्य विशेषतः। वेदशास्त्रार्थतत्त्वज्ञो यत्र तत्राऽऽश्रमे वसन्॥८॥
इहैव लोके तिष्ठन्हि ब्रह्मभूयाय कल्पते। स्वाध्यायानामुपाकर्म श्रावण्यां श्रवणेन तु॥९॥
हस्ते चौषधिवारे च पञ्चम्यां श्रावणस्य च। पौषमासस्य रोहिण्यामष्टकायामथापि वा॥१०॥

अध्याय-१६२

धर्मशास्त्रीय कथन

पुष्करजी ने कहा कि–मनु, विष्णु, याज्ञवल्क्य, हारीत, अत्रि, यम, अङ्गिरा, वसिष्ठ, दक्ष, संवर्त, शतातप, पराशर, आपस्तम्ब, उशना, व्यास, कात्यायन, बृहस्पति, गौतम, शङ्ख और लिखित–इन सबने धर्म का जैसा उपदेश किया है, वैसा ही मैं भी संक्षेप से कहने जा रहा हूँ, ध्यान से सुनो। यह धर्म भोग और मोक्ष देने वाला है। वैदिक कर्म दो तरह का है–एक 'प्रवृत्त' और दूसरा 'निवृत्त'। कामनायुक्त कर्म को 'प्रवृत्तकर्म' कहते हैं। ज्ञानपूर्वक निष्कामभाव से जो कर्म किया जाता है, उसका नाम 'निवृत्तकर्म' है। वेदाभ्यास, तप, ज्ञान, इन्द्रियसंयम, अहिंसा तथा गुरुसेवा–ये परम श्रेष्ठतम कर्म निःश्रेयस (मोक्षरूप कल्याण) के साधक हैं। इन सबमें भी आत्मज्ञान सबसे श्रेष्ठतम बतलाया गया है॥१-५॥ वह सम्पूर्ण विद्याओं में श्रेष्ठ है। उससे अमृतत्व की प्राप्ति हो जाती है। सम्पूर्ण भूतों में आत्मा को और आत्मा में सम्पूर्ण भूतों को समान भाव से देखते हुए जो आत्मा का ही यजन (आराधन) करता है, वह स्वाराज्य–अर्थात् मोक्ष को प्राप्त होता है। आत्मज्ञान तथा शम (मनोनिग्रह) के लिये सदा यत्नशील रहना चाहिये। यह सामर्थ्य या अधिकार द्विजमात्र को–विशेषतः ब्राह्मण को प्राप्त है। जो वेद-शास्त्र के अर्थ का तत्त्वज्ञ होकर जिस किसी भी आश्रम में निवास करता है, वह इसी लोक में रहते हुए ब्रह्मभाव को प्राप्त हो जाता है। यदि नया अन्न तैयार हो गया हो, तो श्रावण मास की पूर्णिमा को अथवा श्रवणनक्षत्र से युक्त दिन को अथवा हस्तनक्षत्र से युक्त श्रावण शुक्ला पञ्चमी को अपनी शाखा के अनुकूल प्रचलित गृह्यसूत्र की विधि के अनुसार वेदों का नियमपूर्वक अध्ययन प्रारम्भ करना चाहिये। यदि श्रावण मास में नयी फसल तैयार न हो, तो जिस समय वह तैयार हो जाय तथा भाद्रपद मास में श्रवणनक्षत्र युक्त दिन को वेदों का उपाकर्म करना चाहिये। और उस समय से लेकर लगातार साढ़े चार मास तक वेदों का अध्ययन चालू रखे। फिर पौषमास में रोहिणी नक्षत्र के दिन अथवा अष्ट का तिथि को नगर या गाँव के बाहर जल से सन्निकट अपने गृह्योक्त विधान से वेदाध्ययन का उत्सर्ग (त्याग) करना चाहिये। (यदि भाद्रपदमास में वेदाध्ययन प्रारम्भा किया गया हो, तो माघ शुक्ला प्रतिपदा को उत्सर्जन

जलान्ते छन्दसां कुर्यादुत्सर्गं विधिवद्बहिः। त्र्यहं प्रेतेष्वनध्यायः शिष्यर्त्विग्गुरुबन्धुषु॥११॥
उपाकर्मणि चोत्सर्गे स्वशाखाश्रोत्रिये तथा। सन्ध्यागर्जितनिर्घाते भूकम्पोल्कानिपातने॥१२॥
समाप्तवेदं ह्यनिशमारण्यकमधीत्य च। पञ्चदश्यां चतुर्दश्यामष्टम्यां राहुसूतके॥१३॥
ऋतुसंधिषु भुक्त्वा वा श्राद्धिकं प्रतिगृह्य च। पशुमण्डूकनकुलश्वाहिमार्जारशूकरैः॥१४॥
कृतेऽन्तरे त्वहोरात्रं शक्रपाते तथोच्छ्रये। श्वक्रोष्टुगर्दभोलूक मासवाणर्तुनिस्वने॥१५॥
अमेध्य शवशूद्रान्त्यश्मशानपतितान्तिके। अशुभासु च तारासु विद्युत्स्तनितसम्प्लवे॥१६॥
भुक्त्वाऽऽर्द्रपाणिम्भोन्तरर्धरात्रेऽतिमारुते। पांशुवर्षे दिशां दाहे सन्ध्यानीहारभीतिषु॥१७॥
धावतः प्राणिबाधे च विशिष्टे गृहमागते। खरोष्ट्रयानहस्त्यश्वनौकावृक्षादिरोहणे॥
सप्तत्रिंशदनध्यायानेतांस्तात्कालिकान्विदुः॥१८॥

॥इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते धर्मशास्त्रवर्णनं नाम द्विषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः॥१६२॥

करना चाहिये—ऐसा मनु का (४/९७) कथन है॥६-१०॥ शिष्य, ऋत्विज्, गुरु और बन्धुजन—इनकी मृत्यु होने पर तीन दिन तक अध्ययन बन्द रखना चाहिये। उपाकर्म (वेदाध्ययन का प्रारम्भ) और उत्सर्जन (अध्ययन की समाप्ति) जिस दिन हो, उससे तीन दिनतक अध्ययन बन्द रखना चाहिये। अपनी शाखा का अध्ययन करने वाले विद्वान् की मृत्यु होने पर भी तीन दिनों तक अनध्याय रखना उचित है। संध्याकाल में, मेघ की गर्जना होन पर, आकाश में उत्पात-सूचक शब्द होने पर, भूकम्प और उल्कापात होने पर, मन्त्र-ब्राह्मणात्मक वेद की समाप्ति होने पर तथा आरण्य का अध्ययन करने पर एक दिन और एक रात अध्ययन बन्द रखना चाहिये। पूर्णिमा, चतुर्दशी, अष्टमी तथा चन्द्रग्रहण सूर्यग्रहण के दिन भी एक दिन-रात का अनध्याय रखना उचित है। दो ऋतुओं की संधि में आयी हुई प्रतिपदा तिथि को तथा श्राद्ध-भोजन एवं श्राद्ध का प्रतिग्रह स्वीकार करने पर भी एक दिन-रात अध्ययन बन्द रखे। यदि स्वाध्याय करने वालों के मध्य में कोई पशु, मेढक, नेवला, कुत्ता, सर्प, बिलाव और चूहा आ जाय तो एक दिन-रात का अनध्याय होता है। जिस समय इन्द्रध्वज की पता का उतारी जाय, उस दिन तथा जिस समय इन्द्रध्वज फहराया जाय, उस दिन भी पूरे दिन-रात का अनध्याय होना चाहिये। कुत्ता, सियार, गदहा, उल्लू, सामगान, बाँस तथा आर्त प्राणी का शब्द सुनायी देने पर, अपवित्र वस्तु, मुर्दा, शूद्र, अन्त्यज, श्मशान और पतित मनुष्य—इनका सांनिध्य होने पर, अशुभ ताराओं में बारम्बार बिजली चमकने तथा बारंबार मेघ-गर्जना होने पर तात्कालिक अनध्याय होता है। भोजन करके तथा गीले हाथ अध्ययन नहीं करना चाहिये। जल के अन्दर, अर्द्धरात्रि के समय, अधिक आँधी चलने पर भी अध्ययन बन्द कर देना चाहिये। धूल की वर्षा होने पर, दिशाओं में दाह होने पर, दोनों संध्याओं के समय कुहासा पड़ने पर चोर या राजा आदि का भय प्राप्त होने पर तत्काल स्वाध्याय बन्द कर देना चाहिये। दौड़ते समय अध्ययन नहीं करना चाहिये। किसी प्राणी पर जीवन संकट उपस्थित होने पर और अपने गृह किसी श्रेष्ठ पुरुष के पधारने पर भी अनध्याय रखना उचित है। गदहा, ऊँट, रथ आदि सवारी, हाथी, घोड़ा, नौका तथा वृक्ष आदि पर चढ़ने के समय और ऊसर या मरुभूमि में स्थित होकर भी अध्ययन बन्द रखना चाहिये। इन सैंतीस तरह के अनध्यायों को तात्कालिक अर्थात् केवल उसी समय के लिये आवश्यक माना गया हैं॥११-१८॥

॥इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी एक सौ बासठवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ॥१६२॥

❖❖❖

अथ त्रिषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः

श्राद्धकल्पकथनम्

पुष्कर उवाच

श्राद्धकल्पं प्रवक्ष्यामि भुक्तिमुक्तिप्रदं शृणु। निमन्त्र्य विप्रान्पूर्वेद्युः स्वागतेनापराह्नतः।।१।।
प्राच्योपवेशयेत्पीठे युग्मान्दैवेऽथ पित्र्यके। अयुग्मान्प्राङ्मुखान्दैवे त्रीन्पित्र्ये चैकमेव वा।।२।।
मातामहानामप्येवं तन्त्रं वा वैश्वदेविकम्। पाणिप्रक्षालनं दत्त्वा विष्टरार्थं कुशानपि।।३।।
आवाहयेदनुज्ञातो विश्वेदेवास इत्यृचा। यवैरन्ववकीर्याथ भाजने सपवित्रके।।४।।
शं नो देव्याः पयः क्षिप्त्वा यवोऽसीति यवांस्तथा। या दिव्या इति मन्त्रेण हस्ते ह्यर्घं विनिक्षिपेत्।।५।।

अध्याय-१६३

श्राद्धकल्प विचार

पुष्करजी ने कहा कि—हे भगवान् परशुराम! अधुना मैं भोग और मोक्ष सम्प्रदान करने वाले श्राद्धकल्प का वर्णन करने जा रहा हूँ, सावधान होकर श्रवण कीजिये। श्राद्धकर्ता पुरुष को मन और इन्द्रियों को वश में रखकर, पवित्र हो, श्राद्ध से एक दिन पहले ब्राह्मणों को आमन्त्रित करना चाहिये। उन ब्राह्मणों को भी उसी समय से मन, वचन, शरीर तथा क्रिया द्वारा पूर्ण संयमशील रहना चाहिये। श्राद्ध के दिन अपराह्नकाल में आये हुए ब्राह्मणों का स्वागत पूर्वक पूजन करना चाहिये। स्वयं हाथ में कुश की पवित्री धारण किये रहना चाहिये। जिस समय ब्राह्मण लोग आचमन कर लें, तत्पश्चात् उनको आसन पर बिठाये। देवकार्य में अपनी शक्ति के अनुसार युग्म (दो, चार, छः आदि संख्या वाले) और श्राद्ध में अयुग्म (एक, तीन, पाँच आदि संख्या वाले) ब्राह्मणों को आमन्त्रित करना चाहिये। सभी तरफ से घिरे हुये गोबर आदि से लिपे-पुते पवित्र स्थान में, जहाँ दक्षिण दिशा की तरफ भूमि कुछ नीची हो, श्राद्ध करना चाहिये। वैश्वदेव श्राद्ध में दो ब्राह्मणों को पूर्वाभिमुख बिठाये और पितृकार्य में तीन ब्राह्मणों को उत्तराभिमुख अथवा दोनों में एक-एक ब्राह्मण को ही सम्मिलित करना चाहिये। मातामहों के श्राद्ध में भी ऐसा ही करना चाहिये। अर्थात् दो वैश्वदेव श्राद्ध में और तीन मातामहादि श्राद्ध में अथवा उभय पक्ष में एक-ही-एक ब्राह्मण रखे। वैश्वदेव श्राद्ध के लिये ब्राह्मण का हाथ धुलाने के निमित्त उसके हाथ में जल दे और आसन के लिये कुश देना चाहिये। फिर ब्राह्मण से पूछे—'मैं विश्वेदेवों का आवाहन करना चाहता हूँ।' तत्पश्चात् ब्राह्मण आज्ञा दें—'आवाहन करो।' इस तरह उनकी आज्ञा पाकर **'विश्वेदेवास आगत.'** (यजु. ७/३४) इत्यादि ऋचा पढ़कर विश्वेदेवों का आवाहन करना चाहिये। तत्पश्चात् ब्राह्मण के सन्निकट की भूमि पर जौ बिखेरे। फिर पवित्रीयुक्त अर्घ्यपात्र में **'शं नो देवी.'** (यजु. ३६-१२)—इस मन्त्र से जल छोड़े। **'यवोऽसि.'**—इत्यादि से जौ डालना चाहिये। फिर बिना मन्त्र के ही गन्ध और पुष्प भी त्याग देना चाहिये। तत्पश्चात् **'या दिव्या आपः.'**—इस मन्त्र से अर्घ्य को अभिमन्त्रित करके ब्राह्मण के हाथ में संकल्प पूर्वक अर्घ्य दे और कहे—**'अमुकश्राद्धे विश्वेदेवाः इदं वो हस्तार्घ्यं नमः।'**—ऐसा कहकर वह अर्घ्यजल कुशयुक्त ब्राह्मण के हाथ में या कुशा पर गिरा देना चाहिये। तत्पश्चात् हाथ धोने के लिये जल देकर क्रमशः गन्ध, पुष्प, धूप, दीप तथा आच्छादन वस्त्र समर्पित करना चाहिये। पुनः हस्त-शुद्धि के लिये जल देना चाहिये। विश्वेदेवों को जो कुछ भी देना हो, वह सव्यभाव से उत्तराभिमुख होकर दे और पितरों को प्रत्येक वस्तु अपसव्यभाव से दक्षिणाभिमुख होकर देनी चाहिये।।१-५।।

दत्त्वोदकं गन्धमाल्यं धूपदानं प्रदीपकम्। अपसव्यं ततः कृत्वा पितृणामप्रदक्षिणम्॥६॥
द्विगुणांस्तु कुशान्कृत्वा ह्युशन्तस्त्वेत्यृचा पितॄन्। आवाह्य तदनुज्ञातो जपेदायान्तु नस्ततः॥७॥
यवार्थास्तु तिलैः कार्याः कुर्यादर्घ्यादि पूर्ववत्। दत्त्वाऽर्घ्यं संस्रवाञ्शेषान्पात्रे कृत्वा विधानतः॥८॥
(पितृभ्यः स्थानमसीति न्युब्जं पात्रं करोत्यधः। अग्नौ करिष्य आदाय पृच्छत्यन्नं घृतप्लुतम्॥९॥
कुरुष्वेति ह्यनुज्ञातो हुत्वाऽग्नौ पितृयज्ञवत्। हुतशेषं प्रदद्यात्तु भाजनेषु समाहितः॥१०॥
यथालाभोपपन्नेषु रौप्येषु तु विशेषतः)। दत्त्वाऽन्नं पृथिवी पात्रमिति पात्राभिमन्त्रणम्॥११॥
कृत्वेदं विष्णुरित्यन्ने द्विजाङ्गुष्ठं निवेशयेत्। सव्याहृतिकां गायत्रीं मधु वाता इति त्र्यृ (तृ) चम्॥१२॥
जपत्वा यथासुखं वाच्यं भुञ्जीरंस्तेऽपि वाग्यताः। अन्नमिष्टं हविष्यं च दद्याज्जप्त्वा पवित्रकम्॥१३॥

वैश्वदेव-काण्ड के अनन्तर यज्ञोपवीत अपसव्य करके पिता आदि तीनों पितरों के लिये तीन द्विगुणभुग्न कुशों को उनके आसन के लिये अप्रदक्षिण क्रम से देना चाहिये। फिर पूर्ववत् ब्राह्मणों की आज्ञा लेकर '**उशन्तस्त्वा०**' (यजु. १९/७०) इत्यादि मन्त्र से पितरों का आवाहन करके, '**आयन्तु नः०**' (यजु. १९/५८) इत्यादि का जप करना चाहिये। '**अपहता असुरा रक्षाँ्सि वेदिषदः०**'–(यजु० २/२/८)–यह मन्त्र पढ़कर सभी तरफ तिल बिखेरे। वैश्वदेवश्राद्ध में जो कार्य जौ से किया जाता है, वही पितृ-श्राद्ध में तिल से करना चाहिये। अर्घ्य आदि पूर्ववत् करना चाहिये। संस्रव (ब्राह्मण के हाथ से चूये हुए जल) पितृपात्र में ग्रहण करके, भूमि पर दक्षिणाग्र कुश रखकर, उसके ऊपर उस पात्र को अधोमुख करके ढुलका दे और कहे–'**पितृभ्यः स्थानमसि।**' फिर उसके ऊपर अर्घ्यपात्र और पवित्र आदि रखकर गन्ध, पुष्प, धूप, दीप आदि पितरों को निवेदित करना चाहिये। इसके बाद '**अग्नौकरण**' कर्म करना चाहिये। घी से तर किया हुआ अन्न लेकर ब्राह्मणों से पूछे–'**अग्नौ करिष्ये।**' मैं अग्नि में इसकी आहुति दूँगा। तत्पश्चात् ब्राह्मण इसके लिये आज्ञा दें। इस तरह आज्ञा लेकर पितृ-यज्ञ की भाँति उस अन्न की दो आहुति देनी चाहिये। (उस समय ये दो मन्त्र क्रमशः पढ़े–'**अग्नये कव्यवाहनाय स्वाहा नमः। सोमाय पितृमते स्वाहा नमः।**' (यजु. २/२९) फिर हवनशेष अन्न को एकाग्रचित्त होकर यथा प्राप्त पात्रों में–विशेषतः चाँदी के पात्रों में परोसे। इस तरह अन्न परोसकर, '**पृथिवी ते पात्रं द्यौरपिधानं ब्राह्मणस्य मुखे.**' इत्यादि मन्त्र पढ़कर पात्र को अभिमन्त्रित करना चाहिये। फिर '**इदं विष्णुः**'. (यजु० ५/१५) '**इदं विष्णुः०**' (यजु० ५/१५) इत्यादि मन्त्र का उच्चारण करके अन्न में ब्राह्मण के अँगूठे का स्पर्श कराये। उसके बाद तीनों व्याहृतियों सहित गायत्री मन्त्र तथा '**मधुवाता.**' (यजु० १३/२७-२९)–इत्यादि तीन ऋचाओं का जप करना चाहिये और ब्राह्मणों से कहे–'आप सुख पूर्वक अन्न ग्रहण करें। फिर वे ब्राह्मण भी मौन होकर प्रसन्नतापूर्वक भोजन करें। (उस समय यजमान क्रोध और उतावलेपन को त्याग दे और) जिस समय तक ब्राह्मण लोग पूर्णतया तृप्त न हो जायँ, तत्पश्चात् तक पूछ-पूछकर प्रिय अन्न और हविष्य उनको परोसता रहना चाहिये। उस समय उपरोक्त मन्त्रों का तथा '**पावमानी**' आदि ऋचाओं का जप या पाठ करते रहना चाहिये। तत्पश्चात् अन्न लेकर ब्राह्मणों से पूछे–'क्या आप पूर्ण तृप्त हो गये?' ब्राह्मण कहें–'हाँ, हम तृप्त हो गये।' यजमान फिर पूछे 'शेष अन्न का क्या किया जाय? ब्राह्मण कहें–'इष्टजनों के साथ भोजन करो।' उनकी इस आज्ञा को 'बहुत अच्छा' कहकर स्वीकार करना चाहिये। फिर हाथ लिये हुए अन्न को ब्राह्मणों के आगे उनकी जूठन के पास ही दक्षिणाग्र-कुश भूमि पर रखकर उन कुशों पर तिल-जल छोड़कर रख देना चाहिये। उस समय '**अग्निदग्धाश्च ये.**' इत्यादि मन्त्र का पाठ करना चाहिये। फिर ब्राह्मणों के हाथ में कुल्ला करने के लिये एक-एक बार जल देना चाहिये। फिर पिण्ड के लिये तैयार

अन्नामादाय तृप्ताःस्थ शेषं चैवान्नमस्य च। तदन्नं विकिरेद्भूमौ दद्याच्चापः सकृत्सकृत्।।१४।।
सर्वमन्नमुपादाय सतिलं दक्षिणामुखः। उच्छिष्टसंनिधौ पिण्डान्प्रदद्यात्पितृयज्ञवत्।।१५।।
मातामहानामप्येवं दद्यादाचमनं ततः। स्वस्तिवाच्यं ततः कुर्यादक्षय्योदकमेव च।।१६।।
दत्त्वा तु दक्षिणां शक्त्या स्वधाकारमुदाहरेत्। वाच्यतामित्यनुज्ञातः स्वपितृभ्यः स्वधोच्यताम्।।१७।।
कुर्युरस्तु स्वधेत्युक्ते भूमौ सिञ्चेत्ततो जलम्। प्रीयन्तामिति वा दैवं विश्वेदेवा जलं ददेत्।।१८।।
दातारो नोऽभिवर्धन्तां वेदाः सन्ततिरेव च। श्रद्धा च नो मा व्यगमद्बहु देयं च नोऽस्त्विति।।१९।।
इत्युक्त्वा तु प्रिया वाचः प्रणिपत्य विसर्जयेत्। वाजे वाज इति प्रीतपितृपूर्वं विसर्जनम्।।२०।।
यस्मिंस्तु संस्रवाः पूर्वमर्घपात्रे निपातिताः। पितृपात्रं तदुत्तानं कृत्वा विप्रान्विसर्जयेत्।।२१।।
प्रदक्षिणमनुव्रज्य भुक्त्वा तु पितृसेवितम्। ब्रह्मचारी भवेत्तां तु रजनीं ब्राह्मणैः सह।।२२।।
एवं प्रदक्षिणं कृत्वा वृद्धौ नान्दीमुखान्पितॄन्। यजेत दधिकर्कन्धुमिश्रान्पिण्डान्यवैः क्रियाः।।२३।।
एकोद्दिष्टं दैवहीनमेकार्घैकपवित्रकम्। आवाहनाग्नौ करणरहितं ह्यपसव्यवत्।।२४।।

किया हुआ सारा अन्न लेकर, दक्षिणाभिमुख हो, पितृयज्ञ कल्प के अनुसार तिलसहित पिण्डदान करना चाहिये। इसी प्रकार मातामह आदि के लिये पिण्ड देना चाहिये। फिर ब्राह्मणों के आचमनार्थ जल देना चाहिये। उसके बाद ब्राह्मणों से स्वस्तिवाचन कराये और उनके हाथ में जल देकर उनसे याचनापूर्वक कहे–'आपलोग' **'अक्षय्यमस्तु'** कहें। तत्पश्चात् ब्राह्मण **'अक्षय्यम् अस्तु'** बोलें। इसके बाद उनको यशाशक्ति दक्षिणा देकर कहे–'अधुना मैं आधा-वाचन कराऊँगा।' ब्राह्मण कहें–'स्वधा-वाचन कराओ।' इस तरह उनकी आज्ञा पाकर पितरों और मातामहादि के लिये आप यह स्वधा-वाचन करें–ऐसा कहे। तत्पश्चात् ब्राह्मण बोलें–**'अस्तु स्वधा।'** इसके अनन्तर पृथ्वी पर जल सींचे और **'विश्वेदेवाः प्रीयन्ताम्।'**–ऐसा कहें। ब्राह्मण भी इस वाक्य को दुहरायें–**'प्रीयन्तां विश्वेदेवाः'**। उसके बाद ब्राह्मणों की आज्ञा से श्राद्धकर्ता को निम्नांकित मन्त्र का जप करना चाहिये–

दातारो नोऽभिवर्धन्तां वेदाः संततिरेव च।
श्रद्धा च नो मा व्यगमद् बहुदेयं च नोऽस्त्विति।।

'मेरे दाता बढ़ें। वेद और संतति बढ़े। हमारी श्रद्धा कम न हो और हमारे पास दान के लिये बहुत धन हो।' –यह कहकर ब्राह्मणों से नम्रतापूर्वक प्रियवचन बोले और उनको नमस्कार करके विसर्जन करना चाहिये–**'वाजे वाजे.'** (यजु० ९/१८) इत्यादि ऋचाओं को पढ़कर प्रसन्नतापूर्वक पितरों का विसर्जन करना चाहिये। पहले पितरों का, फिर विश्वेदेवों का विसर्जन करना चाहिये। पहले जिस अर्घ्यपात्र में संस्रव का जल डाला गया था, उस पितृ-पात्र को उतान करके ब्राह्मणों को बिदा करना चाहिये। ग्राम की सीमा तक ब्राह्मणों के पीछे-पीछे जाकर, उनके कहने पर उनकी परिक्रमा करके लौटे और पितृसेवित श्राद्धान्न को इष्टजनों के साथ भोजन करना चाहिये। उस रात्रि में यजमान और ब्राह्मण–दोनों को ब्रह्मचारी रहना चाहिये।।६-२२।।

इसी तरह पुत्रजन्म और विवाहादि वृद्धि के अवसरों पर प्रदक्षिणावृत्ति से नान्दीमुख पितरों का यजन करना चाहिये। दही और बेर मिले हुए अन्न का पिण्ड दे और तिल से किये जाने वाले सब कार्य जौ से करना चाहिये। एकोद्दिष्ट श्राद्ध बिना वैश्वदेव के होता है। उसमें एक ही अर्घ्यपात्र तथा एक ही पवित्रक दिया जाता है। इसमें आवाहन

उपतिष्ठतामित्यक्षय्यस्थाने पितृविसर्जने। अभिरम्यतामिति वदेद् ब्रूयुस्तेऽभिरताः स्म ह॥२५॥
गन्धोदकतिलैर्युक्तं कुर्यात्पात्रचतुष्टयम्। अर्घार्थपितृपात्रेषु प्रेतपात्रं प्रसेचयेत्॥२६॥
ये समाना इति द्वाभ्यां शेषं पूर्ववदाचरेत्। एतत्सपिण्डीकरणमेकोद्दिष्टं स्त्रिया सह॥२७॥
अर्वाक्सपिण्डीकरणं यस्य संवत्सराद्भवेत्। तस्याप्यन्नं सोदकुम्भं दद्यात्संवत्सरं द्विजे॥२८॥
मृताहनि च कर्तव्यं प्रतिमासं तु वत्सरम्। प्रतिसम्वत्सरं श्राद्धं वै मासिकान्नवत्॥२९॥
हविष्यान्नेन वै मासं पायसेन तु वत्सरम्। मात्स्यहारिणकौरभ्रशाकुनच्छागपार्षतैः॥३०॥
ऐणरौरववाराहशाशैर्मांसैर्यथाक्रमम्। मासवृद्ध्याऽभितृप्यन्ति दत्तैरेव पितामहाः॥३१॥
खड्गामिषं महाशल्कं मधुयुक्तान्नमेव च। लोहामिषं कालशाकं मांसं वार्ध्रीनसस्य च॥३२॥
यद्ददाति गयास्थश्च सर्वमानन्त्यमुच्यते। तथा वर्षात्रयोदश्यां मघासु च न संशयः॥३३॥
कन्यां प्रजां बन्दिनश्च पशून्मुख्यान्सुतानपि। घृतं कृषिं च वाणिज्यं द्विशफैकशफं तथा॥३४॥
ब्रह्मवर्चस्विनः पुत्रान्स्वर्णरूप्ये सकुप्यके। ज्ञातिश्रैष्ठ्यं सर्वकामानाप्नोति श्राद्धदः सदा॥३५॥
प्रतिपत्प्रभृतिष्वेतान्वर्जयित्वा चतुर्दशीम्। शस्त्रेण तु हता ये वै तेषां तत्र प्रदीयते॥३६॥

और अग्नौकरण की क्रिया नहीं होती। सब कार्य जनेऊ को अपसव्य रखकर किये जाते हैं। **'अक्षय्यमस्तु'** के स्थान में **'उपतिष्ठताम्'** का प्रयोग करना चाहिये। **'वाजे वाजे.'** इस मन्त्र से ब्राह्मण का विसर्जन करते समय **'अभिरम्यताम्'** कहे और ब्राह्मणलोग **'अभिरताः स्मः।'**—ऐसा उत्तर दें। सपिण्डीकरण श्राद्ध में उपरोक्त विधि से अर्घ्यसिद्धि के लिये गन्ध, जल और तिल से युक्त चार अर्घ्यपात्र तैयार करना चाहिये। (इनमें से तीन तो पितरों के पात्र हैं और एक प्रेत का पात्र होता है।) इनमें प्रेत के पात्र का जल पितरों के पात्रों में डालना चाहिये। उस समय **'ये समाना.'** इत्यादि दो मन्त्रों का उच्चारण करना चाहिये। शेष क्रिया पूर्ववत् करना चाहिये। यह सपिण्डीकरण और एकोद्दिष्ट श्राद्ध माता के लिये भी करना चाहिये। जिसका सपिण्डीकरण श्राद्ध वर्ष पूर्ण होने से पहले हो जाता है, उसके लिये एक वर्ष तक ब्राह्मण को सान्नोदक कुम्भदान देते रहना चाहिये। एक वर्ष तक प्रतिमास मरण तिथि को एकोद्दिष्ट करना चाहिये। फिर प्रत्येक वर्ष में एक बार क्षयाहतिथि को एकोद्दिष्ट करना उचित है।

प्रथम एकोद्दिष्ट तो मरने के बाद ग्यारहवें दिन किया जाता है। सभी श्राद्धों में पिण्डों को गाय, बकरे अथवा लेने की इच्छा वाले ब्राह्मण को दे देना चाहिये। अथवा उनको अग्नि में या अगाध जल में डाल देना चाहिये। जिस समय तक ब्राह्मण लोग भोजन करके वहाँ से उठ न जायँ, तत्पश्चात् तक उच्छिष्ट स्थान पर झाड़ू न लगाये। श्राद्ध में हविष्यान्न के दान से एक मास तक और खीर देने से एक वर्ष तक पितरों की तृप्ति बनी रहती है। भाद्रपद कृष्णा त्रयोदशी को, विशेषतः मघा नक्षत्र का योग होने पर जो कुछ पितरों के निमित्त दिया जाता है, वह अक्षय होता है।

एक चतुर्दशी को छोड़कर प्रतिपदा से अमावास्या तक की चौदह तिथियों में श्राद्धदान करने वाला पुरुष क्रमशः इन चौदह फलों को पाता है—रूपशीलयुक्त कन्या बुद्धिमान् तथा रूपवान् दामाद, पशु, श्रेष्ठ पुत्र, द्यूत-विजय, खेती में लाभ, व्यापार में लाभ, दो खुर और एक खुर वाले पशु, ब्रह्म तेज से सम्पन्न पुत्र, स्वर्ण, रजत, कुप्यक (त्रपु-सीसा आदि) जातियों में श्रेष्ठता और सम्पूर्ण मनेप्सित। जो लोग शस्त्र द्वारा मारे गये हों, उन्हीं के लिये उस चतुर्दशी तिथि को श्राद्ध सम्प्रदान किया जाता है। स्वर्ग, संतान, ओज, शौर्य, क्षेत्र, बल, पुत्र, श्रेष्ठता, सौभाग्य, समृद्धि,

स्वर्गं ह्यपत्यमोजश्च शौर्यं क्षेत्रं बलं तथा। पुत्रश्रैष्ठ्यं ससौभाग्यमपत्यं मुख्यतां सुतान्।।३७।।
प्रवृत्तचक्रतां पुत्रान्वाणिज्यं प्रभुतां तथा। अरोगित्वं यशो वीतशोकतां परमां गतिम्।।३८।।
धनं विद्यां भिषक्सिद्धिं रूप्यं गाश्चाप्यजाविकम्। अश्वानायुश्च विधिवद्यः श्राद्धं संप्रयच्छति।।३९।।
कृत्तिकादिभरण्यन्ते स कामनाप्नुयादिमान्। वसुरुद्रादितिसुताः पितरः श्राद्धदेवताः।।४०।।
प्रीणयन्ति मनुष्याणां पितॄञ्श्राद्धेन तर्पिताः। आयुः प्रजां धनं विद्यां स्वर्गं मोक्षं सुखानि च।।४१।।
प्रयच्छन्ति तथा राज्यं प्रीता नृणां पितामहाः।।४२।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते श्राद्धकल्पवर्णनं नाम त्रिषट्यधिकशततमोऽध्यायः।।१६३।।

—※※※—

प्रधानता, शुभ, प्रवृत्त चक्रता (अप्रतिहत शासन), वाणिज्य आदि, नीरोगता, यश, शोकहीनता, परम गति, धन, विद्या, चिकित्सा में सफलता, कुप्य (त्रपु–सीसा आदि), गौ, बकरी, भेड़, अश्व तथा आयु–इन सत्ताईस तरह के काम्य पदार्थों को क्रमशः वही पाता है, जो कृत्तिका से लेकर भरणीपर्यन्त प्रत्येक नक्षत्र में विधिपूर्वक श्राद्ध करता है तथ आस्तिक, श्रद्धालु एवं मद–मात्सर्य आदि दोषों से हीन होता है। वसु, रुद्र और आदित्य–ये तीन तरह के पितर श्राद्ध के देवता हैं, ये श्राद्ध से संतुष्ट किये जाने पर मनुष्यों के पितरों को तृप्त करते हैं। जिस समय पितर तृप्त होते हैं, तत्पश्चात् वे मनुष्यों को आयु, प्रजा, धन, विद्या, स्वर्ग, मोक्ष, सुख तथा राज्य सम्प्रदान करते हैं।।२३-४२।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी एक सौ तिरसठवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।१६३।।

❖❖❖

अथ चतुःषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः

नवग्रहहोमः

पुष्कर उवाच

श्रीकामः शान्तिकामो वा ग्रहयज्ञं समारभेत्। दृष्ट्यायुः पुष्टिकामो वा तथैवाभिचरन्पुनः॥१॥
सूर्यः सोमो मङ्गलश्च बुधश्चाथ बृहस्पतिः। शुक्रः शनैश्चरो राहुः केतुश्चेति ग्रहाः स्मृताः॥२॥
ताम्रकात्स्फटिकाद्रक्तचन्दनात्स्वर्णकादुभौ। रजतादयशः सीसाद्ग्रहाः कार्याः क्रमादिमे॥३॥
सुवर्णैर्वा यजेल्लिख्य गन्धमण्डलकेषु वा। यथावर्णं प्रदेयानि वासांसि कुसुमानि च॥४॥
गन्धाश्च बलयश्चैव धूपो देयस्तु गु (गौ) ग्गुलः। कर्तव्या मन्त्रवन्तश्च चरवः प्रतिदैवतम्॥५॥
आकृष्णेन इमं देवा अग्निर्मूर्द्धादिवः ककुत्। उद्बुध्यस्वेति च ऋचो यथासंख्यं प्रकीर्तिताः॥६॥
बृहस्पते अतियदर्यस्तथैवाल्पात्परिश्रुतः। शं नो देवीस्तथा काण्डात्सेतुं कृण्वन्निमास्तथा॥७॥
(अर्कः पलाशः खदिरो ह्यपामार्गोऽथ पिप्पलः। उदुम्बरः शमी दूर्वा कुशाश्च समिधः क्रमात्॥८॥

अध्याय-१६४

नवग्रह होम विधान

पुष्करजी ने कहा कि–हे भगवान् परशुरामजी! लक्ष्मी, शान्ति, पुष्टि, वृद्धि तथा आयु की इच्छा रखने वाले वीर्यवान् पुरुष को ग्रहों की भी पूजा करनी चाहिये। सूर्य, सोम, मंगल, बुध, गुरु, शुक्र, शनि, राहु था केतु–इन नवग्रहों की क्रमशः स्थापना करनी चाहिये। सूर्य की प्रतिमा ताँबे से, चन्द्रमा की रजत (या स्फटिक से) मंगल की लाल चन्दन से, बुध की स्वर्ण से, गुरु की स्वर्ण से शुद्र की रजत से शनि की लोहे से तथा राहु केतु की सीसे से बनाये; इससे शुभ की प्राप्ति हो जाती है। अथवा वस्त्र पर उन-उनके रंग के अनुसार वर्णक से उनका चित्र अंकित कर लेना चाहिये। अथवा मण्डल बनाकर उनमें गन्ध (चन्दन कुङ्कुम आदि) से ग्रहों की आकृति बना ले। ग्रहों के रंग के अनुसार ही उनको फूल और वस्त्र भी देने चाहिये। सबके लिये गन्ध, बलि, धूप और गुग्गुल देना चाहिये। प्रत्येक ग्रह के लिये (अग्निस्थापन पूर्वक) समन्त्रक चरु का हवन करना चाहिये। **'आकृष्णेन रजसा.'** (यजु. ३३/४३) इत्यादि सूर्य देवता के, **इमं देवाः.'** (यजु. ९/४०; १०-१८) इत्यादि चन्द्रमा के अग्निमूर्धा दिवः ककुत्०' (यजु. १३/१४) इत्यादि मङ्गल के, **उद्बुध्यस्व.**) यजु. १५/५४; १८/६१) इत्यादि बुध के, **'बृहस्पते अदित यदिर्यः.'** (यजु ३६/३) इत्यादि बृहस्पति के, **'अत्रात्परिश्रुतो०'** (यजु० १९/७५) इत्यादि शुक्र के, **'शं नो देवीः.'** (यजु० ३६/१२) इत्यादि शनैश्चर के, **'काण्डात काण्डात् ०'** (यजु. १३/२०) इत्यादि राहु के और **'कुतुं कृण्वन्नकेतवे.'** (यजु. २९/३७) इत्यादि केतु के मन्त्र हैं। आक, पलास, खैर, अपामार्ग, पीपल, गूलर, शमी, दूर्वा और कुशा–ये क्रमशः सूर्य आदि ग्रहों की समिधाएँ हैं॥१-८॥

सूर्य आदि ग्रहों में से प्रत्येक के लिये एक सौ आठ या अट्ठाइस बार मधु, घी, दही अथवा खीर की आहुति

एकैकस्याम (स्य अ) ष्टशतमष्टाविंशतिरेव वा)। होतव्या मधुसर्पिभ्यां दध्ना चैव समन्विताः॥९॥
गुडौदनं पायसं च हविष्यं क्षीरयष्टिकम्। दध्योदनं हविः पूपान्मांसं चित्रान्नमेव च॥१०॥
दद्याद्ग्रहक्रमादेतद्द्विजेभ्यो भोजनं बुधः। शक्तितो वा यथालाभं सत्कृत्य विधिपूर्वकम्॥११॥
धेनुः शङ्खस्तथाऽनड्वान् हेम वासो हयस्तथा। कृष्णा गौरायसश्छाग एता वै दक्षिणाः क्रमात्॥१२॥
यश्च यस्य यदा दूष्यः स तं यत्नेन पूजयेत्। ब्रह्मणैषां वरो दत्तः पूजिताः पूजितस्य च॥१३॥
ग्रहाधीना नरेन्द्राणामुच्छ्रयाः पतनानि च। भावाभावौ च जगतस्तस्मात्पूज्यतमा ग्रहाः॥१४॥

॥इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तगति नवग्रहहोमवर्णन नाम चतुःषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः॥१६४॥

देनी चाहिये। गुड़ मिलाया हुआ भात, खीर, हविष्य (मुनि-अन्न), दूध मिलाया हुआ साठी के चावल का भात, दही-भात, घी-भात, तिलचूर्णमिश्रित भात, माष (उड़द) मिलाया हुआ भात और खिचड़ी—इनका ग्रह के क्रमानुसार विद्वान् पुरुष को ब्राह्मण के लिये भोजन देना चाहिये। अपनी शक्ति के अनुसार यथा प्राप्त वस्तुओं से ब्राह्मण का विधि पूर्वक सत्कार करके उके लिये क्रमशः धेनु, शङ्ख, बैल, स्वर्ण, वस्त्र, अश्व, काली गौ, लोहा और बकरा—ये वस्तुएँ दक्षिणा में देना चाहिये। ये ग्रहों की दक्षिणाएँ बतलायी गयी हैं। जिस-जिस पुरुष के लिये जो ग्रह अष्टम आदि दुष्ट स्थानों में स्थित हों, उस पुरुष को उस ग्रह की उस समय विशेष यत्नपूर्वक पूजा करनी चाहिये। ब्रह्माजी ने इन ग्रहों को वर दिया है कि जो आपकी पूजा करें, उनकी आप भी पूजा (मनोरथ पूर्तिपूर्वक सम्मान) करना। राजाओं के धन और जाति का उत्कर्ष तथा जगत् की जन्म-मृत्यु भी ग्रहों के ही अधीन है; इसलिये ग्रह सभी के लिये पूजनीय हैं॥९-१४॥

॥इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी एक सौ चौंसठवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ॥१६४॥

❖❖❖

अथ पञ्चषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः

नानाधर्माः

अग्निरुवाच

ध्येय आत्मा स्थितो योऽसौ हृदये दीपवत्प्रभुः। अनन्यविषयं कृत्वा मनो बुद्धिः (द्धिं) स्मृतीन्द्रियम्।।१।।
श्राद्धं तु ध्यायिने देयं गव्यं दधि घृतं पयः। प्रियंगवो मसूराश्च वार्ताकुः कोद्रवो नहि।।२।।
सैंहिकेयो यदा सूर्यं ग्रसते पर्वसंधिषु। हस्तिच्छाया तु सा ज्ञेया श्राद्धदानादिकेऽक्षया।।३।।
पित्रे (त्र्ये) चैव यदा सोमो हंसे चैव करे स्थिते। तिथिर्वैवस्वती नाम सा छाया कुञ्जरस्य तु।।४।।
अग्नौ करणशेषं तु न दद्याद् वैश्वदेविके। अग्न्यभावे तु विप्रस्य हस्ते दद्यात्तु दक्षिणे।।५।।
न स्त्री दुष्यति जारेण न विप्रो वेदकर्मणा। बलात्कारोपभुक्ता चेद्वैरिहस्तगताऽपि वा।।६।।
संत्यजेद्दूषितां नारीमृतुकालेन शुध्यति। य आत्मव्यतिरेकेण द्वितीयं नात्र पश्यति।।७।।
ब्रह्मभूतः स एवेह योगी चाऽऽत्मरतोऽमलः। विषयेन्द्रियसंयोगात्केचिद्योगं वदन्ति वै।।८।।
अधर्मो धर्मबुद्ध्या तु गृहीतस्तैरपण्डितैः। आत्मनो मनसश्चैव संयोगं च तथाऽपरे।।९।।
वृत्तिहीनं मनः कृत्वा क्षेत्रज्ञं परमात्मनि। एकीकृत्य विमुच्येत बन्धाद्योगोऽयमुत्तमः।।१०।।
कुटुम्बैः पञ्चभिर्ग्रामः षष्ठस्तत्र महत्तरः। देवासुरमनुष्यैर्वा स जेतुं नैव शक्यते।।११।।

अध्याय-१६५

विभिन्न धर्मों का वर्णन

श्रीअग्निदेव ने कहा कि—हे वसिष्ठ! हृदय में जो सर्वसमर्थ परमात्मा दीपक के समान प्रकाशमान होते हैं, मन, बुद्धि और स्मृति से अन्य सम्पूर्ण विषयों अभाव करके उनका ध्यान करना चाहिये। उनका ध्यान करने वाले ब्राह्मण को श्राद्ध के निमित्त दही, घी और दूध आदि द्रव्य पदार्थ प्रदान करना चाहिये। प्रियङ्गु, मसूर, बैगन और कोदो का भोजन नहीं कराना चाहिये। जब पर्वसंधि के समय राहु सूर्य को ग्रसित करता है उस समय 'हस्तिच्छाया योग' होता है, जिसमें किये हुए श्राद्ध और दान आदि शुभकर्म अक्षय होते हैं। जब चन्द्र मघा, हंस अथवा हस्त नक्षत्र पर स्थित होता है, तो उसे 'वैवस्वती' तिथि कहा जाता है। यह भी 'हस्तच्छायायोग' है। बलिवैश्वदेव में अग्नि में हवन करने से बचा हुआ अन्न बलिवैश्वदेव के मण्डल में नहीं डालना चाहिये। अग्नि के अभाव में वह अन्न ब्राह्मण के दाहिने हाथ में रखना चाहिये। ब्राह्मण वेदोक्त कर्म द्वारा तथा स्त्री व्यभिचारी पुरुष से कभी दूषित नहीं होती है। बलात्कार से उपभोग की हुई और शत्रु के हाथ में पड़कर दूषित हुई स्त्री का (ऋतुकाल पर्यन्त) परित्याग करना चाहिये। नारी ऋतुदर्शन होने पर पुनः शुद्धता को प्राप्त करती है। जो सम्पूर्ण जगत् में व्याप्त एक आत्मा के व्यतिरेक से विश्व में अभेद का दर्शन करता है, वही योगी, ब्रह्म के साथ एकीभाव को प्राप्त, आत्मा से रमण करने वाला और निष्पाप होता है। कुछ लोग इन्द्रियों के विषयों से संयोग को ही 'योग' कहते हैं। उन मूर्खों ने तो अधर्म को ही धर्म मानकर ग्रहण कर रखा है। अन्य लोग मन और आत्मा के संयोग को 'योग' मानते हैं। मन को संसार के सब विषयों से हटाकर, क्षेत्रज्ञ परमात्मा में एकाकार करके योगी संसार के बन्धन से मुक्त हो जाते हैं। यह उत्तम 'योग' है। पाँचों इन्द्रिय रूपी

बहिर्मुखानि (णि) सर्वाणि कृत्वा चाभिमुखानि वै। मनस्येवेन्द्रियग्रामं मनश्चाऽऽत्मनि योजयेत्।।१२।।
सर्वभावविनिर्मुक्तं क्षेत्रज्ञं ब्रह्मणि न्यसेत्। एतज्ज्ञानं च ध्यानं च शेषोऽन्यो ग्रन्थविस्तरः।।१३।।
यन्नास्ति सर्वलोकस्य तदस्तीति विरुध्यते। कथ्यमानं तथाऽन्यस्य हृदये नावतिष्ठते।।१४।।
स्वयं वेद्यं हि तद्ब्रह्म कुमारी स्त्रीसुखं यथा। अयोगी नैव जानाति जात्यन्धो हि घटं यथा।।१५।।
संन्यसन्तं द्विजं दृष्ट्वा स्थानाच्चलति भास्करः। एष मे मण्डलं भित्त्वा परं ब्रह्माधिगच्छति।।१६।।
उपवासव्रतं चैव स्नानं तीर्थं फलं तपः। द्विजसम्पादनं चैव सम्पन्नं तस्य तत्फलम्।।१७।।
एकाक्षरं परं ब्रह्म प्राणायामः परं तपः। सावित्र्यासु परं नास्ति पावनं परमं स्मृतम्।।१८।।
पूर्वं स्त्रियः सुरैर्भुक्ताः सोमगन्धर्ववह्निभिः। भुञ्जते मानुषाः पश्चान्नैता दुष्यन्ति केनचित्।।१९।।
असवर्णेन यो गर्भः स्त्रीणां योनौ निषिच्यते। अशुद्धा तु भवेन्नारी यावच्छल्यं न मुञ्चति।।२०।।
निःसृते तु ततः शल्ये रजसा शुध्यते ततः। ध्यानेन सदृशं नास्ति शोधनं पापकर्मणाम्।।२१।।
श्वपाकेष्वपि भुञ्जानो ध्यानेन हि विशुध्यति। आत्मा ध्याता मनो ध्यानं ध्येयो विष्णुः फलं हरिः।।२२।।
अक्षयाय यतिः श्राद्धे पङ्क्तिपावनपावनः। आरूढो नैष्ठिकं धर्मं यस्तु प्रच्यवते द्विजः।।२३।।
प्रायश्चित्तं न पश्यामि येन शुध्येत्स आत्महा। ये च प्रव्रजिताः पत्न्यां या चैषां बीजसंततिः।।२४।।

कुटुम्बों से 'ग्राम' होता है। छठा मन उसका 'मुखिया' है। वह देव, असुर और मनुष्यों से नहीं जीता जा सकता है। पाँचों इन्द्रियों को मन में और मन को आत्मा में निरुद्ध करने के पश्चात् सम्पूर्ण भावनाओं से शून्य क्षेत्रज आत्मा को परम ब्रह्म परमात्मा में लगाना चाहिये। यही ज्ञान और ध्यान है, वह तो ग्रन्थ का विस्तार मात्र है।।१-१३।।

जो सभी लोगों के अनुभव में नहीं है, वह है–इस प्रकार कहते पर विरुद्ध अर्थात् असंगत सा प्रतीत होता है और कहने पर वह अन्य मनुष्यों के हृदय में प्रतिष्ठित नहीं होता। जिस तरह कुआरी स्त्री सुख को स्वयं अनुभव करने पर ही जान सकती है, उसी प्रकार वह ब्रह्म स्वतः अनुभव करने योग्य है। योगरहित पुरुष उसे उसी प्रकार नहीं जानता, जिस प्रकार जन्म से दृष्टिहीन पुरुष घड़े को। ब्राह्मण को संन्यास ग्रहण करते देख सूर्य यह सोचकर अपने स्थान से विचलित हो जाता है कि यह मेरे मण्डल का भेदन करके परब्रह्म को प्राप्त होगा। उपवास, व्रत, स्नान, तीर्थ और तप ये फलप्रद होते हैं; किन्तु ये ब्राह्मण के द्वारा सम्पादित होने पर सम्पन्न होते हैं और विहित फल की प्राप्ति कराते हैं। 'प्रणव' परब्रह्म परमात्मा है, 'प्राणायाम' ही परम तप है और सावित्री से बढ़कर कोई मन्त्र नहीं है। वह परम पवित्र कहा गया है। पहले क्रमशः सोम, गन्धर्व एवं अग्नि ये तीन देवता समस्त स्त्रियों का उपभोग करते हैं। फिर मनुष्य उनका उपभोग करते हैं। इससे स्त्रियाँ किसी से दूषित नहीं होती है। यदि असवर्ण पुरुष नारी की योनि में गर्भाधान करता है, तो जिस समय तक नारी गर्भ का प्रसव नहीं करती, उस समय तक अशुद्ध मानी जाती है। गर्भ का प्रसव होन के पश्चात् रजोदर्शन होने पर नारी शुद्धता को प्राप्त करती है। श्रीहरि भगवान् विष्णु के ध्यान के समान पापियों की शुद्धि करने वाला कोई अन्य प्रायश्चित्त नहीं है। चाण्डाल के यहाँ भोजन करके भी श्रीहरि विष्णु का ध्यान करने से व्यक्ति की शुद्धि हो जाती है। जो ब्राह्मण ऐसी भावना करता है कि 'आत्मा' 'ध्याता' है, मन 'ध्यान' है, विष्णु 'ध्येय' है, श्रीहरि विष्णु उससे प्राप्त होने वाल 'फल' है और अक्षयत्क की प्राप्ति के लिये उसका 'विसर्जन' है, वह श्राद्ध में पंक्तिपावनों को भी पवित्र करने वाला है। जो द्विज नैष्ठिक धर्म में आरूढ़ होकर उससे च्युत हो जाता है। उस आत्मघाती के लिये मैं ऐसा कोई प्रायश्चित्त नहीं देखता, जिससे कि वह शुद्धता को प्राप्त कर सके।

विदुरा नाम चाण्डाला जायन्ते नात्र संशयः। शतिको म्रियते गृध्रः श्वासी द्वादशिकस्तथा।।२५।।
चापो विंशतिवर्षाणि शूकरो दशभिस्तथा। अपुष्पो विफलो वृक्षो जायते कण्टकावृतः।।२६।।
ततो दावाग्निदग्धस्तु स्थाणुर्भवति सानुगः। ततो वर्षशतान्यष्टौ द्वे च तिष्ठत्यचेतनः।।२७।।
पूर्णे वर्षसहस्रे तु जायते ब्रह्मराक्षसः। प्लवेन लभते मोक्षं कुलस्योत्सादनेन वा।।
योगमेव निषेवेत नान्यं मन्त्रमघापहम्।।२८।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते नानाधर्मवर्णनं नाम पञ्चषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः।।१६५।।

जो अपनी भार्या और सन्तानों का असहायावस्था में त्याग करके संन्यास ग्रहण कर लेते हैं, वे दूसरे जन्म में 'विदुर' संज्ञक चाण्डाल होते हैं, इसमें कोई संशय नहीं है। एतदनन्तर वह क्रमशः सौ वर्ष गीध, बारह वर्ष तक कुत्ता, बीस वर्ष तक जलपक्षी और दस वर्ष तक शूकर योनि का भोग करते हैं। फिर वह पुष्प और फलों से रहित कँटीला वृक्ष होता है और दावाग्नि से दग्ध होकर अपना अनुगमन करने वालों के साथ ठूँठ होता है और इस अवस्था में एक हजार वर्ष बीतने के पश्चात् वह ब्रह्मराक्षस होता है। एतदनन्तर योग रूपी नौका का आश्रय लेने से अथवा वंश के उत्सादन द्वारा उसे मोक्ष की प्राप्ति होती है। इसलिये योग का ही सेवन करना चाहिये; क्योंकि पापकर्मों से छुटकारा दिलाने के लिये अन्य कोई भी मार्ग नहीं है।।१४-२८।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी एक सौ पैंसठवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।१६५।।

❖❖❖

अथ षट्षष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः

वर्णधर्मादिकथनम्

पुष्कर उवाच

वेदस्मार्तं प्रवक्ष्यामि धर्मं वै पञ्चधा स्मृतम्। वर्णत्वमेकमाश्रित्य योऽधिकारः प्रवर्तते।।१।।
वर्णधर्मः स विज्ञेयो यथोपनयनं त्रिषु। यस्त्वाश्रमं समाश्रित्य पदार्थः संविधीयते।।२।।
उक्त आश्रमधर्मस्तु भिन्नपिण्डादिको यथा। उभयेन निमित्तेन यो विधिः संप्रवर्तते।।३।।
नैमित्तिकः स विज्ञेयः प्रायश्चित्तविधिर्यथा। ब्रह्मचारी गृही वाऽपि वानप्रस्थो यतिर्नृप।।४।।
उक्त आश्रमधर्मस्तु धर्मः स्यात्पञ्चधाऽपरः। षाड्गुण्यस्याभिधाने यो दृष्टार्थः स उदाहृतः।।५।।
स त्रेधा मन्त्रयागाद्य दृष्टार्थं इति मानवाः। उभयार्थो व्यवहारस्तु दण्डधारणमेव च।।६।।
तुल्यार्थानां विकल्पः स्याद्यागमूलः प्रकीर्तितः। वेदे तु विहितो धर्मः स्मृतौ तादृश एव च।।७।।
अनुवादं स्मृतिः सूते कार्यार्थमिति मानवाः। गुणार्थः परिसंख्यार्थो वाऽनुवादो विशेषतः।।८।।
विशेषदृष्ट एवासौ फलार्थ इति मानवाः। स्यादष्टचत्वारिंशद्भिः संस्कारैर्ब्रह्मलोकगः।।९।।
गर्भाधानं पुंसवनं सीमन्तोन्नयनं ततः। जातकर्म नामकृतिरन्नप्राशनचूडकम्।।१०।।
संस्कारश्चोपनयनं वेदव्रतचतुष्टयम्। स्नानं स्वधर्मचारिण्या योगः स्याद्यज्ञपञ्चकम्।।११।।

अध्याय-१६६

वर्ण धर्म आदि कथन

पुष्करजी ने कहा कि–अधुना मैं श्रौत और स्मार्त धर्म का वर्णन करने जा रहा हूँ। वह पाँच तरह का माना गया है। वर्णमात्र का आश्रय लेकर जो अधिकार प्रवृत्त होता है, उसको 'वर्णधर्म' समझना चाहिये। जिस प्रकार कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य–इन तीनों वर्णों के लिये उपनयन संस्कार आवश्यक है। यह 'वर्ण-धर्म' कहलाता है। आश्रम का अवलम्बन लेकर जिस पदार्थ का संविधान होता है, वह 'आश्रम-धर्म' कहा गया है। जिस प्रकार भिन्न-पिण्डादिक विधान होता है। जो विधि दोनों के निमित्त से प्रवर्तित होती है, उसको 'नैमित्तिक' मानना चाहिये। जिस प्रकार प्रायश्चित्त का विधान होता है। हे राजन्! ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यासी–इनसे सम्बन्धित धर्म 'आश्रम धर्म' माना गया है। अन्य प्रकार से भी धर्म के पाँच भेद होते हैं। षाड्गुण्य (संधि विग्रह आदि) के अभिधान में जिसकी प्रवृत्ति होती है, वह 'दृष्टार्थ' बतलाया गया है। उसके तीन भेद होते हैं। मन्त्र यश प्रभृति 'अदृष्टार्थ' हैं, ऐसा मनु आदि कहते हैं। इसके अलावा 'उभयार्थक व्यवहार' 'दण्डधारण' और 'तुल्यार्थ विकल्प'–ये भी यज्ञमूलक धर्म के अङ्ग कहे गये हैं। वेद में धर्म का यजिस तरह प्रतिपादन किया गया है, उसी तरह स्मृति में भी किया गया है। कार्य के लिये स्मृति वेदोक्त धर्म का अनुवार करती है–ऐसा मनु आदि का मत है। इसलिये स्मृतियों में उक्त धर्म वेदोक्त धर्म का गुणार्थ, परिसंख्या, विशेषतः अनुवाद विशेष दृष्टार्थ अथवा फलार्थ है, यह राजर्षि मनु का सिद्धान्त है। निम्नलिखित अड़तालीस संस्कारों से सम्पन्न मनुष्य ब्रह्मलोक को प्राप्त होता है–(१) गर्भाधान, (२) पुंसवन, (३) सीमन्तोन्नयन, (४) जातकर्म, (५) नामकरण, (६) अन्नप्राशन, (७) चूडाकर्म, (८) उपनयन संस्कार, (९-१२) चार वेदव्रत (वेदाध्ययन), (१३)

देवयज्ञः पितृयज्ञो मनुष्यभूतयज्ञकौ। ब्रह्मयज्ञः सप्त पाकयज्ञसंस्थाः पुरोष्टकाः॥१२॥
पार्वणश्राद्धं श्रावण्याग्रहायणी च चैत्र्यपि। आश्वयुजी सप्तहविर्यज्ञसंस्थास्ततः स्मृताः॥१३॥
अग्न्याधेयमग्निहोत्रं दर्शः स्यात्पौर्णमासकः। चातुर्मास्याग्रहायणेष्टिर्निरूढः पशुबन्धकः॥१४॥
सौत्रामणिः सप्तसोमसंस्थाऽग्निष्टोम आदितः। अत्यग्निष्टोम उक्थ्यश्च षोडशी वाजपेयकः॥१५॥
अतिरात्रोऽथाप्तोर्यामो ह्यष्टौ चाऽऽत्मगुणास्ततः। दया क्षमाऽनसूया च अनायासोऽथ मङ्गलम्॥१६॥
अकार्पण्यास्पृहाशौचं यस्यैते स परं व्रजेत्। प्रचारे मैथुने चैव प्रस्रावे दन्तधावने॥१७॥
स्नानभोजनकाले च षट्सु मौनं समाचरेत्। पुनर्दानं पृथक्पाकं सामिषं पयसाऽन्वितम्॥१८॥
दन्तच्छेदनमुष्णं च सप्त शत्रुषु वर्जयेत्। स्नात्वा पुष्पं न गृह्णीयाद्देवायोग्यं तदीरितम्॥१९॥
अन्यगोत्रोऽप्यसम्बद्धः प्रेतस्याग्निं ददाति यः। पिण्डं चोदकदानं च स दशाहं समापयेत्॥२०॥
उदकं च तृणं भस्म द्वारं पन्थास्तथैव च। एभिरन्तरितं कृत्वा पङ्क्तिदोषो न विद्यते॥२१॥
पञ्चप्राणाहुतीर्दद्यादनामाङ्गुष्ठयोगतः॥२२॥

॥इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते वर्णधर्मादिवर्णनं नाम षट्षष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः॥१६६॥

स्नान (समावर्तन), (१४) सहधर्मिणी संयोग (विवाह), (१५-१९) पञ्चयज्ञ-देवयज्ञ, पितृयज्ञ, मनुष्य यज्ञ, भूतयज्ञ, तथा ब्रह्मयज्ञ, (२०-२६) सात पाक यज्ञ संस्था, (२७-३४) अष्टका-अष्टका सहित तीन पार्वण श्राद्ध, श्रावणी, आग्रहायणी, चैत्री और आश्वयुजी, (३५-४१) सात हविर्यज्ञ-संस्था, अग्न्याधेय, अग्निहोत्र, दर्श-पौर्णमास, चातुर्मास, आग्रहायणेष्टि, निरूढपशुबन्ध एवं सौत्रामणि, (४२-४८) सात सोमसंस्था अग्निष्टोम, अत्यग्निष्टोम, उक्थ्य, षोडशी, वाजपेय, अतिरात्र, और आप्तोर्याम। आठ आत्म गुण हैं-दया, क्षमा, अनसूया, अनायास, माङ्गल्य, अकार्पण्य, अस्पृहा तथा शौच। जो इन गुणों से युक्त होता है, वह परमधाम (स्वर्ग) को प्राप्त करता है।।९-१७।।

मार्गगमन, मैथुन, मल-मूत्रोत्सर्ग, दन्तधावन, स्नान और भोजन-इन षड् कार्यों को करते समय मौन धारण करना चाहिये। दान की हुई वस्तु का पुनः दान, पृथक्पाक, घृत के साथ जल पीना, दूध के साथ जल पीना, रात्रि में जल पीना, दाँत से नख आदि काटना एवं बहुत गरम जल पीना-इन सात बातों का परित्याग कर देना चाहिये। स्नान के पश्चात् पुष्पचयन न करे; क्योंकि व पुष्प देवता के चढ़ाे योग्य नहीं माने गये हैं। यदि कोई अन्यगोत्रीय असम्बन्धी पुरुष किसी मृतक का अग्नि संस्कार करता है तो उसको दस दिन तक पिण्ड तथा उदक दान का कार्य भी पूर्ण करना चाहिये। जल, तृण, भस्म, द्वार एवं मार्ग-इनको बीच में रखकर जाने से पङ्क्तिदोष नहीं माना जाता। भोजन के पूर्व अनामिका और अंगुष्ठ के संयोग से पञ्चप्राणों की आहुतियाँ देनी चाहिये।।१८-२२।।

॥इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी एक सौ छाछठवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ॥१६६॥

❖❖❖

अथ सप्तषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः

अयुतलक्षकोटिहोमः

अग्निरुवाच

श्रीशान्तिविजयाद्यर्थं ग्रहयज्ञं पुनर्वदे। ग्रहयज्ञोऽयुतहोमलक्षकोट्यात्मकस्त्रिधा।।१।।
वेदैरेशे ह्यग्निकुण्डाद्ग्रहनावाह्य मण्डले। सौम्ये गुरुर्बुधश्चैशे शुक्रः पूर्वदले शशी।।२।।
आग्नेये दक्षिणे भौमो मध्ये स्याद्भास्करस्तथा। शनिराप्येऽथ नैर्ऋत्ये राहुः केतुश्च वायवे।।३।।
ईशश्चोमा गुहो विष्णुर्ब्रह्मेन्द्रौ यमकालकौ। चित्रगुप्तश्चाधिदेवा अग्निरापः क्षितिर्हरिः।।४।।
इन्द्र ऐन्द्री देवता त प्रजेशोऽहिर्विधिः क्रमात्। एते प्रत्यधिदेवाश्च गणेशो दुर्गयाऽनिलः।।५।।
खमश्विनौ च सम्पूज्य यजेद्वीजैश्च वेदजैः। अर्कः पलाशः खदिरो ह्यपामार्गश्च पिप्पलः।।६।।
उदुम्बरः शमी दूर्वा कुशाश्च समिधः क्रमात्। मध्वाज्यदधिसंमिश्रा होतव्याश्चाष्टधा शतम्।।७।।
एकाष्टचतुरः कुम्भान्पूर्य पूर्णाहुतिं तथा। वसोर्धारां ततो दद्याद्दक्षिणां च ततो ददेत्।।८।।
यजमानं चतुर्भिस्तैरभिषिञ्चेत्समन्त्रकैः। सुरास्त्वामभिषिञ्चन्तु ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः।।९।।
वासुदेवो जगन्नाथस्तथा संकर्षणः प्रभुः। प्रद्युम्नश्चानिरुद्धश्च भवन्तु विजयाय ते।।१०।।

अध्याय-१६७

अयुत-लक्ष-कोटि हवन विचार

श्रीअग्निदेव ने कहा कि—हे वसिष्ठ! अधुना मैं शान्ति, समृद्धि एवं विजय आदि की प्राप्ति के निमित्त ग्रह यज्ञ का पुनः वर्णन करने जा रहा हूँ। ग्रहयज्ञ 'अयुतहोमात्मक', 'लक्षहोमात्मक' और 'कोटिहोमात्मक' के भेद से तीन तरह का होता है। अग्निकुण्ड से ईशान कोण में निर्मित वेदिका पर मण्डल (अष्टदल पद्म) बनाकर उसमें ग्रहों का आवाहन करना चाहिये। उत्त दिशा में गुरु, ईशानकोण में बुध, पूर्वदल में शुक्र, आग्नेय में चन्द्रमा, दक्षिण में भौम, मध्यभाग में सूर्य, पश्चिम में शनि, नैर्ऋत्य में राहु और ववायव्य में केतु को अङ्कित करना चाहिये। शिव, पार्वती, कार्तिकेय, विष्णु, ब्रह्मा, इन्द्र, यम, काल और चित्रगुप्त—ये 'अधिदेवता' कहे गये हैं। अग्नि, वरुण, भूमि, विष्णु, इन्द्र, शचीदेवी, प्रजापति, सर्प और ब्रह्मा—ये क्रमशः 'प्रत्यधिदेवता' हैं। गणेश, दुर्गा, वायु, आकाश तथा अश्विनीकुमार—ये 'कर्म-साद्गुण्य-देवता' हैं। इन सभी का वैदिक बीज-मन्त्रों से यजन करना चाहिये। आक, पलाश, खदिर, अपामार्ग, पीपल, गूलर, शमी, दूर्वा तथा कुशा—ये क्रमशः नवग्रहों की समिधाएँ हैं। इनको मधु, घृत एवं दधि से संयुक्त करके शतसंख्या में आठ बार हवन करना चाहिये। एक, आठ और चार कुम्भ पूर्ण करके पूर्णाहुति एवं वसुधारा देना चाहिये। फिर ब्राह्मणों को दक्षिणा देनी चाहिये।।१-८।।

यजमान का चार कलशों के जल से मन्त्रोच्चारण पूर्वक अभिषेक करना चाहिये। (अभिषेक के समय इस प्रकार कहना चाहिये)—'ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर आदि देवता तुहारा अभिषेक करें। वासुदेव, जगन्नाथ, भगवान् संकर्षण प्रद्युम्न और अनिरुद्ध आपको विजय सम्प्रदान करें। देवराज इन्द्र, भगवान् अग्नि, यमराज, निर्ऋति, वरुण, पवन,

अखण्डलोऽग्निर्भगवान्यमो वै नैर्ऋतस्तथा। वरुणः पवनश्चैव धनाध्यक्षस्तथा शिवः॥११॥
ब्रह्मणा सहितः शेषो दिक्पालाः पान्तु वः सदा। कीर्तिर्लक्ष्मीर्धृतिर्मेधा पुष्टिः श्रद्धा क्रिया मतिः॥१२॥
बुद्धिर्लज्जा वपुः शान्तिस्तुष्टिः कान्तिश्च मातरः। एतास्त्वामभिषिञ्चन्तु धर्मपत्न्यः समागताः॥१३॥
आदित्यश्चन्द्रमा भौमो बुधजीवसितार्कजाः। ग्रहास्त्वामभिषिञ्चन्तु राहुः केतुश्च तर्पिताः॥१४॥
देवदानवगन्धर्वा यक्षराक्षससपन्नगाः। ऋषयो मनवो गावो देवमातर एव च॥१५॥
देवपत्न्यो द्रुमा नागा दैत्याश्चाप्सरसां गणाः। अस्त्राणि सर्वशस्त्राणि राजानो वाहनानि च॥१६॥
औषधानि च रत्नानि कालस्यावयवाश्च ये। सरितः सागराः शैलास्तीर्थानि जलदा नदाः॥१७॥
एते त्वामभिषिञ्चन्तु सर्वकामार्थसिद्धये। अलङ्कृतस्ततो दद्याद्धेमगोऽन्नभुवादिकम्॥१८॥
कपिले सर्वदेवानां पूजनीयाऽसि रोहिणि। तीर्थदेवमयी यस्मादतः शान्तिं प्रयच्छ मे॥१९॥
पुण्यस्त्वं शङ्ख पुण्यानां मङ्गलानां च मङ्गलम्। विष्णुना विधृतो नित्यमतः शान्तिं प्रयच्छ मे॥२०॥
धर्म त्वं वृषरूपेण जगदानन्दकारकः। अष्टमूर्तैरधिष्ठानमतः शान्तिं प्रयच्छ मे॥२१॥
हिरण्यगर्भगर्भस्थं हेमबीजं विभावसोः। अनन्तपुण्यफलदमतः शान्तिं प्रयच्छ मे॥२२॥
पीतवस्त्रयुगं यस्माद्वासुदेवस्य वल्लभम्। प्रदानात्तस्य वै विष्णुरतः शान्तिं प्रयच्छ मे॥२३॥
विष्णुस्त्वं मत्स्यरूपेण यस्मादमृतसम्भवः। चन्द्रार्कवाहनो नित्यमतः शान्तिं प्रयच्छ मे॥२४॥
यस्मात्वं पृथिवी सर्वा धेनुः केशवसंनिभा। सर्वपापहरा नित्यमतः शान्तिं प्रयच्छ मे॥२५॥

धनाध्यक्ष कुबेर, शिव, ब्रह्मा, शेषनाग एवं समस्त दिक्पाल सदा आपकी रक्षा करें। कीर्ति, लक्ष्मी, धृति, मेधा, पुष्टि श्रद्धा, क्रिया, मति, बुद्धि, लज्जा, वपु, शान्ति, तुष्टि और कान्ति—ये लोक जननी धर्म की पत्नियाँ आपका अभिषेक करें। आदित्य, चन्द्रमा, भौम, बुध, बृहस्पति, शुक्र, सूर्यपुत्र शनि, राहु तथा केतु—ये ग्रह परितृप्त होकर आपका अभिषेक करें। देवता, दानव, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, सर्प, ऋषि, मनु, गौएँ, देवमाताएँ, देवाङ्गनाएँ, वृक्ष, नाग, दैत्य, अप्सराओं के समूह, अस्त्र-शस्त्र, राजा, वाहन, औषधियाँ, रत्न, काल-विभाग, नदी-नद, समुद्र, पर्वत, तीर्थ और मेघ—ये सब सम्पूर्ण अभीष्ट कामनाओं की सिद्धि के लिये आपका अभिषेक करें॥१-१७॥

तत्पश्चात् यजमान अलंकृत होकर स्वर्ण, गौ, अन्न और भूमि आदि का निम्नांकित मन्त्रों से दान करना चाहिये- 'हे कपिले रोहिणि! आप समस्त देवताओं की पूजनीया, तीर्थमयी तथा देवमी हो; इसलिये मुझको शान्ति सम्प्रदान करो। हे शङ्ख! आप पुण्यमय पदार्थों में पुण्यस्वरूप हो, मङ्गलों के भी मङ्गल हो, आप सदा विष्णु के द्वारा धारण किये जाते हो, अतएव मुझको शान्ति दो। हे धर्म! आप वृषरूप से स्थित होकर जगत् को आनन्द सम्प्रदान करते हैं। आप अष्टमूर्ति शिव के अधिष्ठान हैं, इसलिये मुझको शान्ति दीजिये॥१८-२१॥

'हे सुवर्ण! हिरण्यगर्भ के गर्भ में आपकी स्थिति है। आप अग्निदेव के वीर्य से उत्पन्न तथा अनन्त पुण्यफल वितरण करने वाले हो, इसलिये मुझको शान्ति सम्प्रदान करो। पीताम्बर-युगल भगवान् वासुदेव को अत्यन्त प्रिय है; इसलिये इसके सम्प्रदान से भगवान् श्री हरि मुझको शान्ति देना चाहिये। हे अश्व! आप स्वरूप से विष्णु हो; क्योंकि आप अमृत के साथ उत्पन्न हुए हो। आप सूर्य-चन्द्रमा सदा संवहन करते हो; इसलिये मुझको शान्ति दो। हे पृथिवी! आप समग्ररूप में धेनुरूपिणी हो। आप केशव के समान समस्त पापों का सदा अपहरण करती हो। इसलिये मुझको

यस्मादायसकर्माणि तवाधीनानि सर्वदा। लाङ्गलाद्यायुधादीनि अतः शान्तिं प्रयच्छ मे॥२६॥
यस्मात्त्वं सर्वयज्ञानामङ्गत्वेन व्यवस्थितः। योनिर्विभावसोर्नित्यमतः शान्तिं प्रयच्छ मे॥२७॥
गवामङ्गेषु तिष्ठन्ति भुवनानि चतुर्दश। यस्मात्तस्माच्छिवं मे यादिहलोके परत्र च॥२८॥
यस्मादशून्यं शयनं केशवस्य शिवस्य च। शय्या ममाप्यशून्याऽस्तु दत्ता जन्मनि जन्मनि॥२९॥
तथा रत्नेषु सर्वेषु सर्वे देवाः प्रतिष्ठिताः। तथा शान्तिं प्रयच्छन्तु रत्नदानेन मे सुराः॥३०॥
यथा भूमिप्रदानस्य कलां नार्हन्ति षोडशीम्। दानान्यन्यानि मे शान्तिर्भूमिदानाद्भवत्विह॥३१॥
ग्रहयज्ञोऽयुतहोमो दक्षिणाभी रणे जितिः। विवाहोत्सवयज्ञेषु प्रतिष्ठादिषु कर्मसु॥३२॥
सर्वकामाप्तये लक्षकोटिहोमद्वयं मतम्। गृहदेशे मण्डपेऽथ अयुते हस्तमात्रकम्॥३३॥
मेखलायोनिसंयुक्तं कुण्डं चत्वार ऋत्विजः। स्वयमेकोऽपि वा लक्षे सर्वं दशगुणं हि तत्॥३४॥
चतुर्हस्तं द्विहस्तं वा तार्क्ष्यं चात्राधिकं यजेत्। सामध्वनिशरीरस्त्वं वाहनं परमेष्ठिनः॥३५॥
विषयापहरो नित्यमतः शान्तिं प्रयच्छ मे। पूर्ववत्कुण्डमामन्त्र्य लक्षहोमं समाचरेत्॥३६॥
वसोर्धारां ततो दद्याच्छय्याभूषादिकं ददेत्। तत्रापि दश चाष्टौ च लक्षहोमे तथर्त्विजः॥३७॥

शान्ति सम्प्रदान करो। हे लौह! हल और आयुध आदि कार्य सर्वदा तुम्हारे अधीन हैं, इसलिये मुझको शान्ति दो॥२२-२६॥ 'हे छाग! आप यज्ञों के अङ्गरूप होकर स्थित हो। आप श्रीअग्नि देव के नित्य वाहन हो; अतएव मुझको शान्ति से संयुक्त करो। चौदहों भुवन गौओं के अङ्गों में अधिष्ठित हैं। इसलिये मेरा इहलोक और परलोक में भी मंगल हो। जिस प्रकार केशव और शिव की शय्या अशून्य है, उसी तरह शय्यादान के प्रभाव से जन्म-जन्म में मेरी शय्या भी अशून्य रहना चाहिये। जिस प्रकार सभी रत्नों में समस्त देवता प्रतिष्ठित हैं, उसी पकार वे देवता रत्नदान के उलक्ष्य में मुझको शान्ति सम्प्रदान करें। अन्य दान भूमिदान की सोलहवीं कला के समान भी नहीं हैं, इसलिये भूमिदान के प्रभाव से मेरे पाप शान्त हो जायँ॥२७-३१॥

दक्षिणायुक्त अयुतहोमात्मक ग्रहयज्ञ युद्ध में विजय प्राप्त कराने वाला है। विवाह, उत्सव, यज्ञ, प्रतिष्ठादि कर्म में इसका प्रयोग होता है। लक्षहोमात्मक और कोटिहोमात्मक-ये दोनों ग्रहयज्ञ सम्पूर्ण कामनाओं की प्राप्ति कराने वाले हैं। अयुतहोमात्मक यज्ञ के लिये गृह देश में यज्ञमण्डप का निर्माण करके उसमें हाथभर गहरा मेखलायोनियुक्त कुण्ड बनाये और चार ऋत्विजों का वरण करना चाहिये अथवा स्वयं अकेला सम्पूर्ण कार्य करना चाहिये। लक्षहोमात्मक यज्ञ में पूर्व की अपेक्षा सभी दसगुना होता है। इसमें चार हाथ या दो हाथ प्रमाण का कुण्ड बनाये। इसमें तार्क्ष्य का पूजन विशेष होता है। (तार्क्ष्य-पूजन का मन्त्र यह है)-'हे तार्क्ष्य! सामध्वनि आपका शरीर है। आप श्रीहरि विष्णु के वाहन हो। विष-रोग को सदा दूर करने वाले हो। अतएव मुझको शान्ति सम्प्रदान करो॥३२-३५॥

तत्पश्चात् कलशों को पूर्ववत् अभिमन्त्रित करके लक्षहोम का अनुष्ठान करना चाहिये। फिर 'वसुधरा' देकर शय्या एवं आभूषण आदि का दान करना चाहिये। लक्षहोम में दस या आठ ऋत्विज् होने चाहिये। दक्षिणायुक्त लक्षहोम से साधक पुत्र, अन्न, राज्य, विजय, भोग एवं मोक्ष आदि प्राप्त करता है। कोटि-होमात्मक ग्रह यज्ञ उपरोक्त फलों के अतिरिक्त शत्रुओं का विनाश करने वाला है। इसके लिये चार हाथ या आठ हाथ गहरा कुण्ड बनाये और द्वादश ऋत्विजों का वरण करना चाहिये। पटपर पच्चीस या सोलह तथा द्वार पर चार कलशों की स्थापना करनी चाहिये।

(पुत्रान्नराज्यविजयभुक्तिमुक्त्यादि चाऽऽप्नुयात्। दक्षिणाभिः फलेनास्माच्छत्रुघ्नः कोटिहोमकः॥३८॥
चतुर्हस्तं चाष्टहस्तं कुण्डं द्वादश च द्विजाः। पञ्चविंशं षोडशं वा पटे द्वारे चतुष्टयम्॥३९॥
कोटिहोमी सर्वकामी विष्णुलोकं स गच्छति। होमस्तु ग्रहमन्त्रैर्वा गायत्र्या वैष्णवैरपि॥४०॥
जातवेदोमुखैः शैवैर्वैदिकैः प्रथितैरपि। तिलैर्यवैघृतैर्धान्यैरश्वमेधफलादिभाक्॥४१॥
विद्वेषणाभिचारेषु त्रिकोणं कुण्डमिष्यते। समिधो वामहस्तेन श्येना स्थ्यनलसंयुताः॥४२॥
रक्तभूषैर्मुक्तकेशैर्ध्यायद्भिरशिवं रिपोः। दुर्मित्रियास्तस्मै सन्तु यो द्वेष्टि हुंभडिति च॥४३॥
छिन्द्यात्क्षुरेण प्रतिमां पिष्टरूपं रिपुं हनेत्। यजेदेकं पीडकं वा यः स कृत्वा दिवं व्रजेत्॥४४॥

॥इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते अयुतलक्षकोटिहोमवर्णनं नाम सप्तषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः॥१६७॥

कोटिहोम करने वाला सम्पूर्ण कामनाओं से संयुक्त होकर विष्णुलोक को प्राप्त होता है। ग्रह-मन्त्र, वैष्णव-मन्त्र, गायत्री मन्त्र, आग्नेय-मन्त्र, शैव-मन्त्र एवं प्रसिद्ध वैदिक मन्त्रों से हवन करना चाहिये। तिल, यव, घृत और धान्य का हवन करने वाला अश्वमेधयज्ञ के फल को प्राप्त करता है। विद्वेषण आदि अभिचार-कर्मों में त्रिकोण कुण्ड विहित हैं। इसमें रक्तवस्त्रधारी और उन्मुक्तकेश मन्त्रसाधक को शत्रु के विनाश का चिन्तन करते हुए, बाँयें हाथ से श्येन पक्षी की लक्ष अस्थियों से युक्त समिधाओं का हवन करना चाहिये। (हवन का मन्त्र इस तरह है)–'**दुर्मित्रियास्तस्मै सन्तु यो द्वेष्टि हुं फट्।**' फिर छुरे से शत्रु की प्रतिमा को काट डाले और पिष्टमय शत्रु का अग्नि में हवन करना चाहिये। इस तरह जो अत्याचारी शत्रु के विनाश के लिये यज्ञ करता है, वह स्वर्गलोक को प्राप्त करता है।।३६-४४।।

॥इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी एक सौ सड़सठवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ॥१६७॥

अथाष्टषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः

महापातकादिकथनम्

पुष्कर उवाच

दण्डं कुर्यान्नृपो नृणां प्रायश्चित्तमकुर्वताम्। कामतोऽकामतो वाऽपि प्रायश्चित्तं कृतं चरेत्।।१।।
मत्तक्रुद्धातुराणां च न भुञ्जीत कदाचन। महापातकिना स्पृष्टं यच्च स्पृष्टमुदक्यया।।२।।
गणान्नं गणिकान्नं च वार्धुषेर्गायकस्य च। अभिशप्तस्य षण्डस्य यस्याश्चोपपतिर्गृहे।।३।।
रजकस्य नृशंसस्य बन्दिनः कितवस्य च। (मिथ्यातपस्विनश्चैव चौरदण्डिकयोस्तथा।।४।।
कुण्डगोलस्त्रीजितानां वेदविक्रयिणस्तथा। शैलूषतन्तुवायान्नं कृतघ्नस्यान्नमेव च।।५।।
कर्मारस्य निषादस्य चेलनिर्णेजकस्य च)। मिथ्याप्रव्रजितस्यान्नं पुंश्चल्यास्तैलिकस्य च।।६।।
आरूढपतितस्यान्नं विद्विष्टान्नं न वर्जयेत्। तथैव ब्राह्मणस्यान्नं ब्राह्मणेनानिमन्त्रतः।।७।।
ब्राह्मणान्नं च शूद्रेण नाद्याच्चैव निमन्त्रितः। एषामन्यतमस्यान्नममत्या वा त्र्यहं क्षिपेत्।।८।।
मत्या भुक्त्वाऽऽचरेत्कृच्छ्रं रेतो विण्मूत्रमेव च। चण्डालश्वपचान्नं तु भुक्त्वा चान्द्रायणं चरेत्।।९।।
अनिर्दशं च प्रेतान्नं गवाऽऽघ्रातं तथैव च। शूद्रोच्छिष्टं शुनोच्छिष्टं पतितान्नं तथैव च।।१०।।
तप्तकृच्छ्रं प्रकुर्वीत अशौचे कृच्छ्रमाचरेत्। अशौचे यस्य यो भुङ्क्ते सोऽप्यशुद्धस्तथा भवेत्।।११।।
मृतपञ्चनखात्कूपादमेध्येन सकृद्युतात्। अपः पीत्वा त्र्यहं तिष्ठेत्सोपवासो द्विजोत्तमः।।१२।।

अध्याय-१६८

महापातक आदि विचार

पुष्करजी ने कहा कि–जो मनुष्य पापों का प्रायश्चित्त न करें, राजा उनको दण्ड देना चाहिये। मनुष्य को अपने पापों का इच्छा से अथवा अनिच्छा से भी प्रायश्चित्त करना चाहिये। उन्मत्त, क्रोधी और दुःख से आतुर मनुष्य का अन्न कभी भोजन नहीं करना चाहिये। जिस अन्न का महापातकी ने स्पर्श कर लिया हो, जो रजस्वला स्त्री द्वारा छूआ गया हो, उस अन्न का भी परित्याग कर देना चाहिये। ज्यौतिषी, गणिका, अधिक मुनाफा करने वाले ब्राह्मण और क्षत्रिय, गायक, अभिशप्त, नपुंसक, गृह में उपपति को रखने वाली स्त्री, धोबी, नृशंस, भाट, जुआरी, तपका आडम्बर करने वाले, चोर, जल्लाद, कुण्डगोलक, स्त्रियों द्वारा पराजित, वेदों का विक्रय करने वाले, नट, जुलाहे, कृतघ्न, लोहार, निषाद, रँगरेज, ढोंगी संन्यासी कुलटा स्त्री, तेली, आरूढ-पतित और शत्रु के अन्न का सदैव परित्याग करना चाहिये। इसी तरह ब्राह्मण के बिन बुलाये ब्राह्मण का अन्न भोजन नहीं करना चाहिये। शूद्र को तो आमन्त्रित होने पर भी ब्राह्मण के अन्न का भोजन नहीं करना चाहिये। इसमें से बिना जाने किसी का अन्न खाने पर तीन दिन तक निराहार व्रत करना चाहिये। जान-बूझकर खा लेने पर 'कृच्छ्रव्रत' करना चाहिये। वीर्य, मल, मूत्र तथा श्वपाक चाण्डाल का अन्न खाने पर 'चान्द्रायणव्रत' करना चाहिये। मृत व्यक्ति के उद्देश्य से प्रदत्त, गाय का सूँघा हुआ, शूद्र अथवा कुत्ते के द्वारा उच्छिष्ट

सर्वत्र शूद्रे पादः स्याद्द्वित्रयं वैश्यभूपयोः। विड्वराहखरोष्ट्राणां गोमायोः कपिकाकयोः॥१३॥
प्राश्य मूत्रपुरीषाणि द्विजश्चान्द्रायणं चरेत्। शुष्काणि जग्ध्वा मांसानि प्रेतान्नं करकाणि च॥१४॥
क्रव्यादशूकरोष्ट्राणां गोमायोः कपिकाकयोः। गोनराश्वखरोष्ट्राणां छत्राकं ग्रामकुक्कुटम्॥१५॥
मांसं जग्ध्वा कुञ्जरस्य तप्तकृच्छ्रेण शुध्यति। आमश्राद्धे तथा भुक्त्वा ब्रह्मचारी मधु त्वदन्॥१६॥
लशुनं गृञ्जनं चाद्यात्प्राजापत्यादिना शुचिः। भुक्त्वा चान्द्रायणं कुर्यान्मां (न्मा) संचाऽऽत्मकृतं तथा॥१७॥
पेलुगव्यं च पेयूषं तथा श्लेष्मातकं मृदम्। वृथा कृशरसं यावपायसापूपपशष्कुलीः॥१८॥
अनुपाकृतमांसानि देवान्नानि हवींषि च। गवां च महिषीणां च वर्जयित्वा तथाऽप्यजाम्॥१९॥
सर्वक्षीराणि वर्ज्यानि तासां चैवाप्यनिर्दशम्। शशकः शल्यकी गोधा खड्गः कूर्मस्तथैव च॥२०॥
भक्ष्याः पञ्चनखाः प्रोक्ताः परिशेषाश्च वर्जिताः। पाठीनरोहितान्मत्स्यान्सिंहतुण्डाश्च भक्षयेत्॥२१॥
(यवगोधूमजं सर्वं पयसश्चैव विक्रियाः। वागषाड्गवचक्रादीन्सस्नेहमुषितं तथा॥२२॥
अग्निहोत्रपरीद्धाग्निर्ब्राह्मणः कामचारतः। चान्द्रायणं चरेन्मासं वीरहत्यासमं हि तत्)॥२३॥
ब्रह्महत्या सुरापानं स्तेयं गुर्वङ्गनागमः। महान्ति पातकान्याहुः संयोगश्चैव तैः सह॥२४॥

किया हुआ तथा पतित का अन्न भक्षण करने पर 'तप्तकृच्छ्र' करना चाहिये। किसी के यहाँ सूतक होने पर जो उसका अन्न खाता है, वह भी अशुद्ध हो जाता है। इसलिये अशौचयुक्त मनुष्य का अन्न भक्षण करने पर 'कृच्छ्रव्रत' करना चाहिये। जिस तरह कुएँ में पाँच नखों वाला पशु मरा पड़ा हो, जो एक बार अपवित्र वस्तु से युक्त हो चुका हो, उसका जल पीने पर श्रेष्ठ ब्राह्मण को तीन दिन तक निराहार व्रत रखना चाहिये। शूद्र को सभी प्रायश्चित्त एक चौथाई, वैश्य को दो चौथाई और क्षत्रिय को तीन चौथाई करने चाहिये। ग्रामसूकर, गर्दभ, उष्ट्र, शृगाल, वानर और काक–इनके मल-मूत्रल का भक्षण करने पर ब्राह्मण 'चान्द्रायणव्रत' करना चाहिये। सूखा मांस, मृतक व्यक्ति के उद्देश्य से दिया हुआ अन्न, करक तथा कच्चा मांस खाने वाले जीव, शूकर, उष्ट्र, शृगाल, वानर, काक, गौ, मनुष्य अश्व, गर्दभ, दत्ता शाक, मुर्गे और हाथी का मांस खाने पर 'तप्तकृच्छ्र' से शुद्धि हो जाती है। ब्रह्मचारी अमाश्राद्ध में भोजन, मधुपान अथवा लहसुन और गाजर का भक्षण करने पर 'प्राजापत्यकृच्छ्र' से पवित्र होता है। अपने लिये पकाया हुआ मांस, पेलुगव्य (अण्डकोष का मांस), पेयूष (ब्यायी हुई गो आदि पशुओं का सात दिन के अन्दर का दूध), श्लेष्मातक (बहुवार), मिट्टी एवं दूषित खिचड़ी, लप्सी, खीर, पूआ और पूरी, यज्ञ-सम्बन्धी संस्कार-हीन मांस, देवता के निमित्त रखा हुआ अन्न और हवि–इनका भक्षण करने पर 'चान्द्रायण-व्रत' करने से शुद्धि हो जाती है। गाय, भैंस और बकरी के दूध के सिवा अन्य पशुओं के दुग्ध का परित्याग करना चाहिये। इनके भी ब्याने के दस दिन के अन्तर का दूध काम में नहीं लेना चाहिये। अग्निहोत्र की प्रज्वलित अग्नि में हवन करने वाला ब्राह्मण यदि स्वेच्छापूर्वक जौ और गेहूँ से तैयार की हुई वस्तुओं, दूध के विकारों, वागाषाड्गवचक्र आदि तथा तैल-घी आदि चिकने पदार्थों से संस्कृत बासी अन्न को खा ले तो उसको एक मास तक 'चान्द्रायणव्रत' करना चाहिये; क्योंकि वह दोष वीरहत्या के समान माना जाता है॥१-२३॥

ब्रह्महत्या, सुरापान, चोरी, गुरुतल्पागमन–ये 'महापातक' कहे गये हैं। इन पापों के करने वाले मनुष्यों का संसर्ग भी 'महापातक' माना गया है। झूठ को बढ़ावा देना, राजा के सन्निकट किसी की चुगली करना, गुरु पर झूठा

अनृते च समुत्कर्षो राजगामि च पैशुनम्। गुरोश्चालीकनिर्बन्धः समानं ब्रह्महत्यया॥२५॥
ब्रह्मोज्झ्यवेदनिन्दा च कौटसाक्ष्यं सुहृद्वधः। गर्हितान्नाज्ययोर्जग्धिः सुरापानसमानि षट्॥२६॥
निक्षेपस्यापहरणं नराश्वरजतस्य च। भूमिवज्रमणीनां च रुक्मस्तेयसमं स्मृतम्॥२७॥
रेतः सेकः स्वयोनीषु कुमारीष्वन्त्यजासु च। सख्युः पुत्रस्य च स्त्रीषु गुरुतल्पसमं विदुः॥२८॥
गोवधोऽयाज्यसंयाज्यं पारदार्यात्मविक्रयः। गुरुमातृपितृत्यागः स्वाध्यायाग्न्योः सुतस्य च॥२९॥
परिवेत्ता चानुजेन परिवेदनमेव च। तयोर्दानं च कन्यायास्तयोरेव च याजनम्॥३०॥
कन्याया दूषणं चैव वार्धुष्यं व्रतलोपनम्। तडागारामदाराणामपत्यस्य च विक्रयः॥३१॥
व्रात्यता बान्धवत्यागो भृताध्यापनमेव च। भृताच्चाध्ययनादानमविक्रेयस्य विक्रयः॥३२॥
सर्वाकारेष्वधीकारो महायन्त्रप्रवर्तनम्। हिंसौषधीनां स्त्र्याजीवः क्रियालङ्घनमेव च॥३३॥
इन्धनार्थमशुष्काणां द्रुमाणां चैव पातनम्। योषितां ग्रहणं चैव स्त्रीनिन्दकसमागमः॥३४॥
आत्मार्थं च क्रियारम्भो निन्दितान्नादनं तथा। अनाहिताग्नितास्तेयमृतानां चाऽऽतपक्रिया॥३५॥
असच्छास्त्राधिगमनं दौःशील्यं व्यसनक्रिया। धान्यकुप्यपशुस्तेयं मद्यस्त्रीनिषेवणम्॥३६॥
स्त्रीशूद्रविट्क्षत्रवधो नास्तिक्यं चोपपातकम्। ब्राह्मणस्य रुजः कृत्यं घ्रातिरघ्रेयमद्ययोः॥३७॥
भैक्ष्यं पुंसि च मैथुन्यं जातिभ्रंशकरं स्मृतम्। श्वखरोष्ट्रमृगेन्द्राणामजाव्योश्चैव मारणम्॥३८॥

दोषारोपण—ये 'ब्रह्महत्या' के समान हैं। अध्ययन किये हुए वेद का विस्मरण, वेदनिन्दा, झूठी गवाही, सुहृद्का वध, निन्दित अन्न एवं घृत का भक्षण—ये षड् पाप सुरापान के समान माने गये हैं। धरोहर का अपहरण, मनुष्य, घोड़े, चाँदी, भूमि और हीरे आदि रत्नों की चोरी स्वर्ण की चोरी के समान मानी गयी है। सगोत्रा स्त्री, कुमारी कन्या, चाण्डाली, मित्रपत्नी और पुत्रवधू—इनमें वीर्यपात करना 'गुरुपत्नीगमन' के समान माना गया है। गोवध, अयोग्य व्यक्ति से यज्ञ कराना, परस्त्रीगमन, अपने को बेचना तथा गुरु, माता, पिता, पुत्र, स्वाध्याय एवं अग्नि का परित्याग, परिवेत्ता अथवा परिवित्ति होना—इन दोनों में से किसी को कन्यादान करना और इनका यज्ञ कराना, कन्या को दूषित करना, व्याज से जीविका-निर्वाह, व्रतभङ्ग, सरोवर, उद्यान, स्त्री एवं पुत्र को बेचना, समय पर यज्ञोपवती ग्रहण न करना, बान्धवों का त्याग, वेतन लेकर अध्यापन-कार्य करना, वेतनभोगी गुरु से पढ़ना, न बेचने योग्य वस्तु को बेचना, स्वर्ण आदि की खान का काम करना, विशाल यन्त्र चलाना, लता, गुल्म आदि औषधियों का नाश, स्त्रियों के द्वारा जीविका उपार्जित करना, नित्य-नैमित्तिक कर्म का उल्लङ्घन, लकड़ी के लिये हरे-भरे वृक्ष को काटना, अनेक स्त्रियों का संग्रह, स्त्री-निन्दकों का संसर्ग, केवल अपने स्वार्थ के लिये सम्पूर्ण-कर्मों का प्रारम्भ करना, निन्दित अन्न का भोजन, अग्निहोत्र का परित्याग, देवता, ऋषि और पितरों का ऋण न चुकाना, असत् शास्त्रों को पढ़ना, दुःशीलपरायण होना, व्यसन में आसक्ति, धान्य, धातु और पशुओं की चोरी, मद्यपान करने वाली नारी से समागम, स्त्री, शूद्र, वैश्य अथवा क्षत्रिय का वध करना एवं नास्तिकता—ये सब 'उपपातक' हैं। ब्राह्मण को प्रहार करके रोगी बनाना, लहसुन और मद्य आदि को सूँघना, भिक्षा से निर्वाह करना, गुदामैथुन—ये सब 'जाति-भ्रंशकर पातक' बतलाये गये हैं। गर्दभ, घोड़ा, ऊँट, मृग, हाथी, भेंड़, बकरी, मछली, सर्प और नेवला—इनमें से किसी का वध 'संकरीकरण' कहलाता है। निन्दित मनुष्यों से

संकीर्णकरणं ज्ञेयं मीनाहिनकुलस्य च। निन्दितेभ्यो धनादानं वाणिज्यं शूद्रसेवनम्।।३९।।
अपात्रीकरणं ज्ञेयमसत्यस्य च भाषणम्। कृमिकीटकयोर्हत्या मद्यानुगतभोजनम्।।
फलैधः कुसुमस्तेयमधैर्यं च मलावहम्।।४०।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते महापातकादिवर्णनं नामाष्टषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः।।१६८।।

—❀—

अथैकोनसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः

प्रायश्चित्तानि

पुष्कर उवाच

एतत्प्रभृतिपापानां प्रायश्चित्तं वदामि ते। ब्रह्महा द्वादशाब्दानि कुटीं कृत्वा वने वसेत्।।१।।
भिक्षेताऽऽत्मविशुद्ध्यर्थं कृत्वा शवशिरोध्वजम्। प्रास्येदात्मानमग्नौ वा समिद्धेत्रिरवाक्शिराः।।२।।
यजेत वाऽश्वमेधेन स्वर्जिता गोसवेन वा। जपन्वाऽन्यतमं वेदं योजनानां शतं व्रजेत्।।३।।
सर्वस्वं वा वेदविदे ब्राह्मणायोपपादयेत्। व्रतैरेतैर्व्यपोहन्ति महापातकिनो मलम्।।४।।
उपपातकसंयुक्तो गोघ्नो मासं यवान्पिबेत्। कृतवापो वसेद्गोष्ठे चर्मणा तेन संवृतः।।५।।

धनग्रहण, वाणिज्यवृत्ति, शूद्र की सेवा एवं असत्यभाषण—ये 'अपात्रीकरण पातक' माने जाते हैं। कृमि और कीटों का वध, मद्ययुक्त भोजन, फल, काष्ठ और पुष्प की चोरी तथा धैर्य का परित्याग—ये 'मलिनीकरण पातक' कहलाते हैं।।२४-४०।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी एक सौ अड़सठवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।१६८।।

अध्याय–१६९

अपकर्मों का प्रायश्चित्त

पुष्करजी ने कहा कि–अधुना मैं आपको इन सब पापों के प्रायश्चित्त बतलाता हूँ। ब्रह्महत्या करने वालों को अपनी शुद्धि के लिये भिक्षा का अन्न भोजन करते हुए एवं मृतक के सिर की ध्वजा धारण करके, वन में कुटी बनाकर, द्वादश वर्ष तक निवास करना चाहिये। अथवा नीचे मुख करके धधकती हुई आग में तीन बार गिरे। अथवा अश्वमेधयज्ञ या स्वर्ग पर विजय प्राप्त कराने वाले गोमेध यज्ञ का अनुष्ठान करना चाहिये। अथवा किसी एक वेद का पाठ करता हुआ सौ योजन तक जाय या अपना सर्वस्व वेदवेत्ता ब्राह्मण को दान कर देना चाहिये। महापातकी मनुष्य इन व्रतों से अपना पाप नष्ट कर डालते हैं।।१-४।।

गोवध करने वाले एवं उपपातकी को एक मासतक यवपान करके रहना चाहिये। वह सिर का मुण्डन कराकर

चतुर्थकालमश्नीयादक्षारलवणं मितम्। गोमूत्रेण चरेत्स्नानं द्वौ मासौ नियतेन्द्रियः॥६॥
दिवाऽनुगच्छेद्गाश्चैव तिष्ठन्नूर्ध्वं रजः पिबेत्। वृक्षभैकादशा गास्तु दद्याद्विचरतिव्रतः॥७॥
अविद्यमाने सर्वस्वं वेदविद्भ्यो निवेदयेत्। पादमेकं चरेद्रोधे द्वौ पादौ बन्धने चरेत्॥८॥
योजने पादहीनं स्याच्चरेत्सर्वं निपातने। कान्तारेष्वथ दुर्गेषु विषमेषु भयेषु च॥९॥
यदि तत्र विपत्तिः स्यादेकपादो विधीयते। घण्टाभरणदोषेण तथैवार्धं विनिर्दिशेत्॥१०॥
दमने दामने रोधे शकटस्य नियोजने। स्तम्भशृङ्खलपाशेषु मृते पादोनमाचरेत्॥११॥
शृङ्गभङ्गेऽस्थिभङ्गे च लाङ्गूलच्छेदने तथा। यावकं तु पिबेत्तावद्यावत्सुस्था तु गौर्भवेत्॥१२॥
गोमतीं च जपेद्विद्यां गोस्तुतिं गोमतीं स्मरेत्। एका चेद्बहुभिर्दैवाद्यत्र व्यापादिता भवेत्॥१३॥
पादं पादं तु हत्यायाश्चरेयुस्ते पृथक्पृथक्। उपकारे क्रियमाणे विपत्तौ नास्ति पातकम्॥१४॥
एतदेव व्रतं कुर्युरुपपातकिनस्तथा। अवकीर्णी च शुद्ध्यर्थं चान्द्रायणमथापि वा॥१५॥
अवकीर्णी तु कालेन गर्दभेन चतुष्पथे। पाकयज्ञविधानेन यजेत निर्ऋतिं निशि॥१६॥
कृत्वाऽग्निं विधिवद्धीमानन्ततस्तु समित्यृचा। चन्द्रेन्द्रगुरुवह्नीनां जुहुयात्सर्पिषाऽऽहुतिम्॥१७॥

उस गौ का चर्म ओढ़े हुए गोशाला में निवास करना चाहिये। दिन के चतुर्थ प्रहर में लवणहीन अन्न का नियमित भोजन करना चाहिये। फिर दो महीनों तक इन्द्रियों को वश में करके नित्य गोमूत्र से स्नान करना चाहिये। दिन में गौओं के पीछे-पीछे चले और खड़े होकर उनके खुरों से उड़ती हुई धूलि का पान करना चाहिये। व्रत का पूर्ण रूप से अनुष्ठान करके एक बैल के साथ दस गौओं का दान करना चाहिये। यदि इतना न दे सके तो वेदवेत्ता ब्राह्मणों को अपना सर्वस्व-दान कर देना चाहिये। यदि रोकने से गौ मरजाय तो एक चौथाई प्रायश्चित्त, जोतने के कारण मर जाय तो तीन पाद प्रायश्चित्त और मारने पर मर जाय तो पूरा प्रायश्चित्त करना चाहिये। वन, दुर्गम स्थान, ऊबड़-खाबड़ भूमि और भयप्रद स्थान में गौ की मृत्यु हो जाय तो चौथाई प्रायश्चित्त का विधान है। आभूषण के लिये गले में घण्टा बाँधने से गौ की मृत्यु हो, तो आधा प्रायश्चित्त करना चाहिये। दमन करने, बाँधने, रोकने, गाड़ी में जोतने, खूँटे, रस्सी अथवा फंदे में बाँधने पर यदि गौ की मृत्यु हो जाय तो तीन चरण प्रायश्चित्त करें। यदि गौ का सींग अथवा हड्डी टूट जाय या पूँछ कट जाय तो जिस समय तक गौ स्वसथ न हो जाय, तत्पश्चात् तक जौ की लप्सी खाकर रहे और मोमती विद्या का जप करना चाहिये, गौ की स्तुति एवं गोमती का स्मरण करना चाहिये। यदि बहुत से मनुष्यों के द्वारा एक गौ मारी जाय तो वे सब लोग पृथक्-पृथक् गोहत्या का एक-एक पाद प्रायश्चित्त करें। उपकार करते हुए यदि गौ मर जाय तो पाप नहीं लगता है॥५-१४॥

उपपातक करने वालों को भी इसी व्रत का आचरण करना चाहिये। 'अवकीर्णी' को अपनी शुद्धि के लिये चान्द्रायण-व्रत करना चाहिये। अथवा अवकीर्णी रात के समय चौराहे पर जाकर पाकयज्ञ के विधान से निर्ऋति के उद्देश्य से काले गदहे का पूजन करना चाहिये। उसके बाद वह बुद्धिमान् ब्रह्मचारी अग्नि-संचयन करके अन्त में **'समासिञ्चन्तु मरुतः'**-इस ऋचा से चन्द्रमा, इन्द्र, बृहस्पति और अग्नि के उद्देश्य से घृत की आहुति देनी चाहिये अथवा गर्भद का चर्म धारण करके एक वर्ष तक पृथ्वी पर गर्दभ का चर्म धारण करके एक वर्ष तक पृथ्वी पर विचरण करना चाहिये॥१५-१७॥

अथवा गार्दभं चर्म वसित्वाऽब्दं चरेन्महीम्। हत्वा गर्भमविज्ञातं ब्रह्महत्याव्रतं चरेत्॥१८॥
सुरां पीत्वा द्विजो मोहादग्निवर्णासुरां पिबेत्। गोमूत्रमग्निवर्णं वा पिबेदुदकमेव वा॥१९॥
सुवर्णस्तेयकृद्विप्रो राजानमभिगम्य तु। स्वकर्म ख्यापयन्ब्रूयान्मां भवाननुशास्त्विति॥२०॥
गृहीत्वा मुशलं राजा सकृद्धन्यात्स्वयं गतम्। वधेन शुध्यते स्तेनो ब्राह्मणस्तपसैव वा॥२१॥
गुरतल्पो निकृत्यैव शिश्नं च वृषणं स्वयम्। निधाय चाञ्जलौ गच्छेदानिपाताच्च नैर्ऋतिम्॥२२॥
चान्द्रायणान्वा त्रीन्मासानभ्यसेन्नियतेन्द्रियः। जातिभ्रंशकरं कर्म कृत्वाऽन्यतममिच्छया॥२३॥
चरेच्छां (त्सां) तपनं कृच्छ्रं प्राजापत्यमनिच्छया। संकरीपात्रकृत्यासु मासं शोधनमैन्दवम्॥२४॥
मलिनीकरणीयेषु तप्तं स्याद्यावकं त्र्यहम्। तुरीयो ब्रह्महत्यायाः क्षत्रियस्य वधे स्मृतः॥२५॥
वैश्येऽष्टमांशो वृत्तस्थे शूद्रे ज्ञेयस्तु षोडशः। मार्जारनकुलौ हत्वा चाषं मण्डूकमेव च॥२६॥
श्वगोधोलूककाकांश्च शूद्रहत्याव्रतं चरेत्। चतुर्णामपि वर्णानां नारीं हत्वाऽनवस्थिताम्॥२७॥
अमत्यैव प्रमाप्य स्त्रीं शूद्रहत्याव्रतं चरेत्। सर्पादीनां वधे नक्तमनस्थ्नां वायुसंयमः॥२८॥
द्रव्याणामल्पसाराणां स्तेयं कृत्वाऽन्यवेश्मतः। चरेच्छां (त्सां) तपनं कृच्छ्रं व्रतं निर्वाप्य शुध्यति॥२९॥
भक्ष्यभोज्यापहरणे यानशय्यासनस्य च। पुष्पमूलफलानां च पञ्चगव्यं विशोधनम्॥३०॥
तृणकाष्ठद्रुमाणां तु शुष्कान्नस्य गुडस्य च। चेलचर्मामिषाणां तु त्रिरात्रं स्यादभोजनम्॥३१॥

अज्ञान से भ्रूण-हत्या करने पर ब्रह्महत्या का प्रायश्चित्त करना चाहिये। मोहवश सुरापान करने वाला द्विज अग्नि के समान जलती हुई सुरा का पान करना चाहिये। अथवा पताकर अग्नि के समान रंगवाले गोमूत्र या जल का पान करना चाहिये। स्वर्ण की चोरी करने वाला ब्राह्मण राजा के पास जाकर अपने चौर्य-कर्म के विषय में बतलाता हुआ कहे-'आप मुझको दण्ड दीजिये।' तत्पश्चात् राजा मूसल लेकर अपने-आप आये हुए उस ब्राह्मण को एक बार मारे। इस तरह वध होने से अथवा तपस्या करने से स्वर्ण की चोरी करने वाले अथवा तपस्या करना चाहिये स्वर्ण की चोरी करने वाले ब्राह्मण की शुद्धि हो जाती है। गुरु पत्नी-गमन करने वाला स्वयं अपे लिङ्ग और अण्डकोष को काटकर उसको अञ्जलि में ले, मरने तक नैर्ऋत्यकोण की तरफ चलता जाय। अथवा इन्द्रियों को संयम में रखकर तीन मास तक 'चान्द्रायण' व्रत करना चाहिये। जान-बूझकर कोई-सा भी जाति-भ्रंशकर पातक करके 'सांतपनकृच्छ्र' और अज्ञानवशहो जाने पर 'प्राजापत्यकृच्छ्र' करना चाहिये। संकरीकरण अथवा अपात्रीकरण पातक करने पर एक मास तक चान्द्रायण व्रत करने से शुद्धि हो जाती है। मलिनीकरण पातक होने पर तीन दिन तक तप्तयावक का पान करना चाहिये। क्षत्रिय का वध करने पर ब्रह्महत्या का चौथाई प्रायश्चित्त विहित है। वैश्य का वध करने पर अष्टमांश, सदाचारी शूद्र का वध करने पर षोडशांश प्रायश्चित्त करना चाहिये। बिल्ली, नेवला, नीलकण्ड, मेढक, कुत्ता, गोह, उलूक, काक अथवा चारों में से किसी वर्ण की स्त्री की हत्या होने पर शूद्रहत्या का प्रायश्चित्त करना चाहिये। स्त्री की अज्ञानवश हत्या करके भी शूद्रहत्या का प्रायश्चित्त करना चाहिये। सर्पादि का वध होने पर 'नक्तव्रत' और अस्थिहीन जीवों की हत्या होने पर 'प्राणायाम' करना चाहिये॥१८-२८॥

दूसरे के गृह से अल्पमूल्य वाली वस्तु की चोरी करके 'सांतपनकृच्छ्र' करना चाहिये। व्रत के पूर्ण होने पर शुद्धि हो जाती है। भक्ष्य और भोज्य वस्तु, यान, शय्या, आसन, पुष्प, मूल और फलों की चोरी में पञ्चगव्य के पान

मणिमुक्ताप्रवालानां ताम्रस्य रजतस्य च। अयः कांस्योपलानां च द्वादशाहं कणान्नभुक्।।३२।।
कार्पासकीटजीर्णानां द्विशफैकशफस्य च। पक्षिगन्धौषधीनां तु रज्ज्वा चैव त्र्यहं पयः।।३३।।
गुरुतल्पव्रतं कुर्याद्रेतः सिक्त्वा स्वयोनिषु। सख्युः पुत्रस्य च स्त्रीषु कुमारीष्वन्त्यजासु च।।३४।।
पितृष्वस्त्रेयीं भगिनीं स्वस्त्रीयां मातुरेव च। मातुश्च भ्रातुराप्तस्य गत्वा चान्द्रायणं चरेत्।।३५।।
अमानुषीषु पुरुष उदक्यायामयोनिषु। रेतः सिक्त्वा जले चैव कृच्छ्रं सान्तपनं चरेत्।।३६।।
मैथुनं वा समासेव्यपुंसि योषिति वा द्विजः। गोयानेऽप्सु दिवा चैव सवासाः स्नानमाचरेत्।।३७।।
चाण्डालान्त्यस्त्रियोर्गत्वा भुक्त्वा च प्रतिगृह्य च। पतत्यज्ञानतो विप्रो ज्ञानात्साम्यं तु गच्छति।।३८।।
विप्रदुष्यं स्त्रियं भर्त्ता निरुन्ध्यादेकवेश्मनि। यत्पुंसः परदारेषु तदेनां चारयेद्व्रतम्।।३९।।
सा चेत्पुनः प्रदुष्येत सदृशेनोपमन्त्रिता। कृच्छ्रं चान्द्रायणं चैव तदस्याः पावनं स्मृतम्।।४०।।
यत्करोत्येकरात्रेण वृषलीसेवनं द्विजः। तद्भैक्ष्यभुग्जपेन्नित्यं त्रिभिर्वर्षैर्व्यपोहति।।४१।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते प्रायश्चित्तवर्णनं नामैकोनसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः।।१६९।।

से शुद्धि हो जाती है। तृण, काष्ठ, वृक्ष, सूखे अनाज, गुड़, वस्त्र, चर्म और मांस की चोरी करने पर तीन दिन तक भोजन का परित्याग करना चाहिये। मणि, मोती, मूँगा, ताँबा, चाँदी, लोहा, कांसा अथवा पत्थर की चोरी करने वाला द्वादश दिन तक अन्न का कणमात्र खाकर रहना चाहिये। कपास, रेशम, ऊन तथा दो खुरवाले बैल आदि, एक खुर वाले घोड़े आदि पशु, पक्षी, सुगन्धित द्रव्य, औषधि अथवा रस्सी चुराने वाला तीन दिनतक दूध पीकर रहना चाहिये।२९-३३।।

मित्रपत्नी, पुत्रवधू, कुमारी और चाण्डाली में वीर्यपात करके गुरुपत्नी-गमन का प्रायश्चित्त करना चाहिये। फुफेरी बहन, मौसेरी बहन और सगी ममेरी बहन से गमन करने वाले को चान्द्रायण-व्रत करना चाहिये। मनुष्येतर योनि में, रजस्वला स्त्री में, योनि के सिवा अन्य स्थान में अथवा जल में वीर्यपात करने वाले मनुष्य को 'कृच्छ्रसांतपन-व्रत' करना चाहिये। पुरुष अथवा स्त्री के साथ बैलगाड़ी पर, जल में या दिन के समय मैथुन करके ब्राह्मण को वस्त्रों सहित स्नान करना चाहिये। चाण्डाल और अन्त्यज जाति की स्त्रियों से अज्ञानवश समागम करके, उनका अन्न खाकर या उनका प्रतिग्रह स्वीकार करके ब्राह्मण पतित हो जाता है। जान-बूझकर ऐसा करने से वह उन्हीं के समान हो जाता है। व्यभिचारिणी स्त्री का पति उसको एक गृह में बन्द करके रखे और परस्त्रीगामी पुरुष के लिये जो प्रायश्चित्त विहित है, वह उससे कराये। यदि वह स्त्री अपने समान जाति वाले पुरुष के द्वारा पुनः दूषित हो, तो उसकी शुद्धि 'कृच्छ्र' और 'चान्द्रायण-व्रत' से बतलायी गयी है। जो ब्राह्मण एक रात वृषली का सेवन करता है, वह तीन वर्ष तक नित्य भिक्षान्न का भोजन और गायत्री-जप करने पर शुद्ध होता है।।३४-४१।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी एक सौ उनहत्तरवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।१६९।।

❖❖❖

अथ सप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः

प्रायश्चित्तानि

पुष्कर उवाच

महापापानुयुक्तानां प्रायश्चित्तानि वच्मि ते। संवत्सरेण पतति पतितेन सहाऽऽचरन्॥१॥
याजनाध्यापनाद्यौनान्न तु यानाशनासनात्। यो येन पतितेनैषां संसर्गं याति मानवः॥२॥
स तस्यैव व्रतं कुर्यात्तत्संसर्गस्य शुद्धये। पतितस्योदकं कार्यं सपिण्डैर्बान्धवैःसह॥३॥
निन्दितेऽहनि सायाह्ने ज्ञात्युत्विग्गुरुसंनिधौ। दासीघटमपां पूर्णं पर्यस्येत्प्रेतवत्पदा॥४॥
अहोरात्रमुपासीरन्नशौचं बान्धवैः सह। निवर्तयेरंस्तस्मात्तु ज्येष्ठांशं भाषणादिके॥५॥
ज्येष्ठांशं प्राप्नुयाच्चास्य यवीयान्गुणतोऽधिकः। प्रायश्चित्ते तु चरिते पूर्णं कुम्भमपां नवम्॥६॥
तेनैव सार्धं प्राश्येयुः स्नात्वा पुण्यजलाशये। एवमेव विधिं कुर्युर्योषित्सु पतितास्वपि॥७॥
वस्त्रान्नपानं देयं तु वसेयुश्च गृहान्तिके। तेषां द्विजानां सावित्री नानूद्येत यथाविधि॥८॥
तांश्चारयित्वा त्रीन्कृच्छ्रान्यथाविध्युपनाययेत्। विकर्मस्थाः परित्यक्तास्तेषामप्येतदादिशेत्॥९॥

अध्याय-१७०

विविध प्रायश्चित्त विचार

पुष्करजी ने कहा कि–अधुना मैं महापातकियों का संसर्ग करने वाले मनुष्यों के लिये प्रायश्चित्त बतलाता हूँ। पतित के साथ एक सवारी में चलने, एक आसन पर बैठने, एक साथ भोजन करने से मनुष्य एक वर्ष के बाद पतित होता है, परन्तु उनको यज्ञ कराने, पढ़ाने एवं उनसे यौन-सम्बन्ध स्थापित करने वाला तो तत्काल ही पतित हो जाता है। जो मनुष्य जिस पतित का संसर्ग करता है, वह उसके संसर्गजनित दोष की शुद्धि के लिये, उस पतित के लिये विहित प्रायश्चित्त करना चाहिये। पतित के सपिण्ड और बान्धवों को को एक साथ निन्दित दिन में, संध्या के समय, जाति-भाई, ऋत्विक् और गुरुजनों के सन्निकट, पतित पुरुष की जीवितावस्था में ही उसकी उदक-क्रिया करनी चाहिये। तत्पश्चात् जल से भरे हुए घड़े को दासी द्वारा लात से फेंकवा दे और पतित के सपिण्ड एवं बान्धव एक दिन-रात अशौच मानें। तत्पश्चात् वे पतित के साथ सम्भाषण न करें और धन में उसको ज्येष्ठांश भी न दें। पतित का छोटा भाई गुणों में श्रेष्ठ होने के कारण ज्येष्ठांश का अधिकारी होता है। यदि पतित बाद में प्रायश्चित्त कर ले, तो उसके सपिण्ड और बान्धव उसके साथ पवित्र जलाशय में स्नान करके जल से भरे हुए नवीन कुम्भ को जल में फेंके। पतित स्त्रियों के सम्बन्ध में भी यही कार्य करना चाहिये; परन्तु उसको अन्न, वस्त्र और गृह के सन्निकट रहने का स्थान देना चाहिये।।१-७।।

जिन ब्राह्मणों को समय पर विधि के अनुसार गायत्री का उपदेश प्राप्त नहीं हुआ है, उनसे तीन प्राजापत्य कराकर उनका विधिवत् उपनयन संस्कार कराये। निषिद्ध कर्मों का आचरण करने से जिन ब्राह्मणों का परित्याग कर दिया गया हो, उनके लिये भी इसी प्रायश्चित्त का उपदेश करना चाहिये। ब्राह्मण संयतचित्त होकर तीन सहस्र गायत्री

जपित्वा त्रीणि सावित्र्याः सहस्राणि समाहितः। मासं गोष्ठे पयः पीत्वा मुच्यतेऽसत्परिग्रहात्।।१०।।
व्रात्यानां यजनं कृत्वा परेषामन्त्यकर्म च। अभिचारमहीनानां त्रिभिः कृच्छ्रैर्व्यपोहति।।११।।
शरणागतं परित्यज्य वेदं विप्लाव्य च द्विजः। संवत्सरं यताहारस्तत्पापमपसेधति।।१२।।
श्वशृगालखरैर्दष्टो ग्राम्यैः क्रव्याद्भिरेव च। नरोष्ट्राश्वैर्वराहैश्च प्राणायामेन शुध्यति।।१३।।
स्नातकव्रतलोपे च कर्मत्यागो ह्यभोजनम्। हुंकारं ब्राह्मणस्योक्त्वा त्वंकारं च गरीयसः।।१४।।
स्नात्वाऽनश्नन्नहः शेषमभिवाद्य प्रसादयेत्। अवगूर्य चरेत्कृच्छ्रमतिकृच्छ्रं निपातने।।१५।।
कृच्छ्रातिकृच्छ्रं कुर्वीत विप्रस्योत्पाद्य शोणितम्। चाण्डालादिरविज्ञातो यस्य तिष्ठेत वेश्मनि।।१६।।
सम्यग्ज्ञातस्तु कालेन तस्य कुर्वीत शोधनम्। चान्द्रायणं पराकं वा द्विजानां तु विशोधनम्।।१७।।
प्राजापत्यं तु शूद्राणां शेषं तदनुसारतः। गुडं कुसुम्भं लवणं तथा धान्यानि यानि च।।१८।।
कृत्वा गृहे ततो द्वारि तेषां दद्याद्धुताशनम्। मृण्मयानां तु भाण्डानां त्याग एव विधीयते।।१९।।
द्रव्याणां परिशेषाणां द्रव्यशुद्धिर्विधीयते। कूपैकपानसक्ता ये स्पर्शात्संकल्पदूषिताः।।२०।।
शुध्येयुरुपवासेन पञ्चगव्येन वाऽप्यथ। यस्तु संस्पृश्य चण्डालमश्नीयाच्च स्वकामतः।।२१।।
द्विजश्चान्द्रायणं कुर्यात्तप्तकृच्छ्रमथापि वा। भाण्डसंकुलसङ्कीर्णश्चाण्डालादिजुगुप्सितैः।।२२।।

का जप करके गोशाला में एक मास तक दूध पीकर निन्दित प्रतिग्रह के पाप से छूट जाता है। संस्कारहीन मनुष्यों का यज्ञ कराकर, गुरुजनों के सिवा दूसरों का अन्त्येष्टिकर्म, अभिचारकर्म अथवा अहीन यज्ञ कराकर ब्राह्मण तीन प्राजापत्य-व्रत करने पर शुद्ध होता है। जो द्विज शरणागत का परित्याग करता है और अनधिकारी को वेद का उपदेश करता है, वह एक वर्ष तक नियमित आहार करके उस पाप से मुक्त होता है।।८-१२।।

कुत्ता, सियार, गर्दभ, बिल्ली, नेवला, मनुष्य, घोड़ा, ऊँट और सूअर के द्वारा काटे जाने पर प्राणायाम करने से शुद्धि हो जाती है। स्नातक के व्रत का लोप और नित्यकर्म का उल्लंघन होने पर निराहार रहना चाहिये। यदि ब्राह्मण के लिये 'हुं' कार और अपने से श्रेष्ठ के लिये 'तूं' का प्रयोग हो जाय, तो स्नान करके दिन के शेष भाग में निराहार व्रत रखे और अभिवादन करके उनको प्रसन्न करना चाहिये। ब्राह्मण पर प्रहार करने के लिये ठंडा उठाने पर 'प्राजापत्य-व्रत' करना चाहिये। यदि डंडे से प्रहार कर दिया हो, तो 'अतिकृच्छ्र' औरयदि प्रहार से ब्राह्मण के खून निकल आया हो, तो 'कृच्छ्र' एवं 'अतिकृच्छ्रव्रत' करना चाहिये। जिसके गृह में अनजान में चाण्डाल आकर टिक गया हो, तो भलीभाँति जानने पर यथासमय उसका प्रायश्चित्त करना चाहिये। 'चान्द्रायण' अथवा 'पराकव्रत' करने से द्विजों की शुद्धि हो जाती है। शूद्रों की शुद्धि 'प्राजापत्य-व्रत' से हो जाती है, शेष कर्म उनको द्विजों की भाँति करने चाहिये। गृह में जो गुड़, कुसुम्भ, लवण एवं धान्य आदि पदार्थ हों, उनको द्वारपर एकत्रित करके श्रीअग्नि देव को समर्पित करना चाहिये। मिट्टी के पात्रों का त्याग कर देना चाहिये। शेष द्रव्यों की शास्त्रीय विधि के अनुसार द्रव्यशुद्धि विहित है।।१३-१९।।

चाण्डाल के स्पर्श से दूषित एक कूएँ का जल पीने वाले जो ब्राह्मण हैं, वे निराहार व्रत अथवा पञ्चगव्य के पान से शुद्ध हो जाते हैं। जो द्विज इच्छानुसार चाण्डाल का स्पर्श करके भोजन कर लेता है, उसको 'चाद्रायण' अथवा 'तप्तकृच्छ्र' करना चाहिये। चाण्डाल आदि घृणित जातियों के स्पर्श से जिनके पात्र अपवित्र हो गये हैं, वे द्विज (उन पात्रों में भोजन एवं पान करके) 'षड्रात्रव्रत' करने से शुद्ध होते हैं। अन्त्यज का उच्छिष्ट खाकर द्विज 'चान्द्रायणव्रत' करना चाहिये और शूद्र 'त्रिरात्र-व्रत' करना चाहिये। जो द्विज चाण्डालों के कूएँ या पात्र का जल बिना जाने पी लेता

भुक्त्वा पीत्वा तथा तेषां षड्रात्रेण विशुध्यति। अन्त्यानां भुक्तशेषं तु भक्षयित्वा द्विजातयः॥२३॥
व्रतं चान्द्रायणं कुर्युस्त्रिरात्रं शूद्र एव तु। चण्डालकूपभाण्डेषु अज्ञानात्पिबते जलम्॥२४॥
द्विजःशान्त (सांत) पनं कुर्याच्छूद्रश्चोपवसेद्दिनम्। चण्डालेन तु संस्पृष्टो यस्त्वपः पिबते द्विजः॥२५॥
त्रिरात्रं तेन कर्त्तव्यं शूद्रश्चोपवसेद्दिनम्। उच्छिष्टेन यदि स्पृष्टः शुना शूद्रेण वा द्विजः॥२६॥
उपोष्य रजनीमेकां पञ्चगव्येन शुध्यति। वैश्येन क्षत्रियेणैव स्नानं नक्तं समाचरेत्॥२७॥
अध्वानं प्रस्थितो विप्रः कान्तारे यद्यनूदके। पक्वान्नेन गृहीतेन मूत्रोच्चारं करोति वै॥२८॥
अनिधायैव तद्द्रव्यमङ्गे कृत्वा तु संस्थितम्। शौचं कृत्वाऽन्नमभ्युक्ष्य अर्कस्याग्नेश्च दर्शयेत्॥२९॥
म्लेच्छै र्गतानां चौरैर्वा कान्तारे वा प्रवासिनाम्। भक्ष्याभक्ष्यविशुद्ध्यर्थं तेषां वक्ष्यामि निष्कृतिम्॥३०॥
पुनः प्राप्य स्वदेशं च वर्णानामनुपूर्वशः। कृच्छ्रस्यान्ते ब्राह्मणस्तु पुनः संस्कारमर्हति॥३१॥
पादोनान्ते क्षत्रियश्च अर्धान्ते वैश्य एव च। पादं कृत्वा तथा शूद्रो दानं दत्त्वा विशुध्यति॥३२॥
उदक्या तु सवर्णा या स्पृष्टा चेत्स्यादुदक्यया। तस्मिन्नेऽऽवाहनि स्नाता शुद्धिमाप्नोत्यसंशयम्॥३३॥
रजस्वला तु नाश्नीयात्संस्पृष्टा हीनवर्णया। यावन्न शुद्धिमाप्नोति शुद्धिस्नानेन शुध्यति॥३४॥
मूत्रं कृत्वा व्रजन्वर्त्म स्मृतिभ्रंशाज्जलं पिबेत्। अहोरात्रोषितो भूत्वा पञ्चगव्येन शुध्यति॥३५॥
(मूत्रोच्चारं द्विजः कृत्वा अकृत्वा शौचमात्मनः। मोहाद्भुक्त्वा त्रिरात्रं तु यवान्पीत्वा विशुध्यति॥३६॥

है, वह 'सांतपनकृच्छ्र' करना चाहिये एवं शूद्र ऐसा करने पर एक दिन निराहार व्रत करना चाहिये। जो द्विज चाण्डाल का स्पर्श करके जल पी लेता है, उसको 'त्रिरात्र-व्रत' करना चाहिये और ऐसा करने वाले शूद्र को एक दिन का निराहार व्रत करना चाहिये॥२०-२५॥

ब्राह्मण यदि उच्छिष्ट, कुत्ता अथवा शूद्र का स्पर्श कर दे, तो एक रात निराहार व्रत करके पञ्चगव्य पीने से शुद्ध होता है। वैश्य अथवा क्षत्रिय का स्पर्श होने पर स्नान और 'नक्तव्रत' करना चाहिये। मार्ग में चलता हुआ ब्राह्मण यदि वन अथवा जलहीन प्रदेश में पक्वान्न हाथ में लिये मल-मूत्र का त्याग कर देता है, तो उस द्रव्य को अलग न रखकर अपने अंक में रखे हुए ही आचमन आदि से पवित्र होकर अन्न का प्रोक्षण करके उसको सूर्य एवं अग्नि को प्रदर्शित करना चाहिये॥२६-२९॥

जो प्रवासी मनुष्य म्लेच्छों, चोरों के निवासभूत देश अथवा वन में भोजन कर लेते हैं, अधुना मैं वर्णक्रम से उकी भक्ष्याभक्ष्यविषयक शुद्धि का उपाय बतलाता हूँ। ऐसा करने वाले ब्राह्मण को अपने गाँव में आकर 'पूर्णकृच्छ्र', क्षत्रिय को तीन चरण और वैश्य को आधा व्रत करके पुनः अपना संस्कार कराना चाहिये। एक चौथाई व्रत करके दान देने से शूद्र की भी शुद्धि हो जाती है॥३०-३२॥

यदि किसी स्त्री का समान वर्ण वाली रजस्वला स्त्री से स्पर्श हो जाय तो वह उसी दिन स्नान करके शुद्ध हो जाती है, इसमें कोई संदेह नहीं है। अपने से निकृष्ट जाति वाली रजस्वला का स्पर्श करके रजस्वला स्त्री को तत्पश्चात् तक भोजन नहीं करना चाहिये, जबतक कि वह शुद्ध नहीं हो जाती। उसकी शुद्धि चौथे दिन के शुद्ध स्नान से ही होती है। यदि कोई द्विज मूत्रत्याग करके मार्ग में चलता हुआ भूलकर जल पी ले, तो वह एक दिन-रात निराहार व्रत रखकर पञ्चगव्य के पान से शुद्ध होता है। जो मूत्र त्याग करने के पश्चात् आचमनादि शौच न करके मोहवश भोजन कर लेता है, वह तीन दिन तक यवपान करने से शुद्ध होता है॥३३-३६॥

ये प्रत्यवसिता विप्राः प्रव्रज्यादिबलात्तथा। अनाशकनिवृत्ताश्च तेषां शुद्धिः प्रचक्ष्यते।।३७।।
चारयेत्त्रीणि कृच्छ्राणि चान्द्रायणमथापि वा। जातकर्मादिसंस्कारैः संस्कुर्यात्तं तथा पुनः।।३८।।
उपानहममेध्यं च यस्य संस्पृशते मुखम्। मृत्तिकागोमये तत्र पञ्चगव्यं च शोधनम्।।३९।।
वापनं विक्रयं चैव नीलवस्त्रादिधारणम्। तपनीयं हि विप्रस्य त्रिभिर्कृच्छ्रैर्विशुध्यति।।४०।।
अन्त्यजातिश्वपाकेन संस्पृष्टा स्त्री रजस्वला। चतुर्थेऽहनि शुद्धा सा त्रिरात्रं तत्र आचरेत्।।४१।।
चाण्डालश्वपचौ स्पृष्ट्वा तथा पूयं च सूतिकाम्। शवं तत्स्पर्शिनं स्पृष्ट्वा सद्यः स्नानेन शुध्यति।।४२।।
नारं स्पृष्ट्वास्थि तु सस्नेहं स्नात्वा विप्रो विशुध्यति। रथ्याकर्दमतोयेन अधो नाभेर्मृदोदकैः।।४३।।
वान्तो विविक्तः स्नात्वा तु घृतं प्राश्य विशुध्यति। स्नानात्क्षुरकर्मकर्त्ता कृच्छ्रकृद्ग्रहणेऽन्नभुक्।।४४।।
अपाङ्क्तेयाशी गव्याशी शुना दष्टस्तथा शुचिः। कृमिदष्टश्चाऽऽत्मघाती कृच्छ्राज्जप्याच्च होमतः।।४५।।
होमाद्यैश्चानुपातेन पूयन्ते पापिनोऽखिलाः)।।४६।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते प्रायश्चित्तवर्णनं नाम सप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः।।१७०।।

—❊❊❊—

जो ब्राह्मण संन्यास आदि की दीक्षा लेकर गृहस्थाश्रम का परित्याग कर चुके हों और पुनः संन्यासाश्रम से गृहस्थाश्रम में लौटना चाहते हों, अधुना मैं उनकी शुद्धि के विषय में कह रहा हूँ। उनसे तीन 'प्राजापत्य' अथवा 'चान्द्रायण-व्रत' कराने चाहिये। फिर उनके जातकर्म आदि संस्कार पुनः कराने चाहिये।।३७-३८।।

जिसके मुख से जूते या किसी अपवित्र वस्तु का स्पर्श हो जाय, उसकी मिट्टी और गोबर के लेपन तथा पञ्चगव्य के पान से शुद्धि हो जाती है। नील की खेती, विक्रय और नीले वस्त्र आदि का धारण–ये ब्राह्मण का पतन करने वाले हैं। इन दोषों से युक्त ब्राह्मण की तीन 'प्राजापत्यव्रत' करने से शुद्धि हो जाती है। यदि रजस्वला स्त्री को अन्त्यज या चाण्डाल छू जाय तो 'त्रिरात्र-व्रत' करने से चौथे दिन उसकी शुद्धि हो जाती है। चाण्डाल, श्वपाक, मज्जा, सूतिका स्त्री, शव और शव का स्पर्श करने वाले मनुष्य को छेने पर तत्काल स्नान करने से शुद्धि हो जाती है। मनुष्य की अस्थि का स्पर्श होने पर तैल लगाकर स्नान करने से ब्राह्मण विशुद्ध हो जाता है। गली के कीचड़ के छींटे लग जाने पर नाभि के नीचे का भाग मिट्टी और जल से धोकर स्नान करने से शुद्धि हो जाती है। वमन अथवा विरेचन के बाद स्नान करके घृत का प्राशन करने से शुद्धि हो जाती है। स्नान के बाद क्षौरकर्म करने वाला और ग्रहण के समय भोजन करने वाला 'प्राजापत्यव्रत' करने से शुद्ध होता है। पङ्क्तिदूषक मनुष्यों के साथ पङ्क्ति में बैठकर भोजन करने वाला, कुत्ते अथवा कीट से दंशित मनुष्य पञ्चगव्य के पान से शुद्धि प्राप्त करता है। आत्महत्या की चेष्टा करने वाले मनुष्य की 'प्राजापत्यव्रत' जप एवं हवन से शुद्धि हो जाती है। हवनादि के अनुष्ठान एवं पश्चात्ताप से सभी तरह के पापियों की शुद्धि हो जाती है।।३९-४६।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी एक सौ सत्तरवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।१७०।।

❖❖❖

अथैकसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः

प्रायश्चित्तानि

पुष्कर उवाच

प्रायश्चित्तं रहस्यादि वक्ष्ये शुद्धिकरं परम्। पौरुषेण तु सूक्तेन मासं जप्यादिनाऽघहा॥१॥
मुच्यते पातकैः सर्वैर्जप्त्वा त्रिरघमर्षणम्। वेदजप्याद्वायुयमाद्गायत्र्या व्रततोऽघहा॥२॥
मुण्डनं सर्वकृच्छ्रेषु स्नानं होमो हरेर्यजिः। उत्थितस्तु दिवा तिष्ठेदुपविष्टस्तथा निशि॥३॥
एतद्वीरासनं प्रोक्तं कृच्छकृत्तेन पापहा। अष्टभिः प्रत्यहं ग्रासैर्यतिचान्द्रायणं स्मृतम्॥४॥
प्रातश्चतुर्भिः सायं च शिशुचान्द्रायणं स्मृतम्। यथाकथञ्चित्पिण्डानां चत्वारिंशच्छतद्वयम्॥५॥
मासेन भक्षयेदेतत्सुरचान्द्रायणं चरेत्। त्र्यहमुष्णं पिबेदा (द) पस्त्र्यहमुष्णं पयः पिबेत्॥६॥
त्र्यहमुष्णं घृतं पीत्वा वायुभक्षी भवेत्त्र्यहम्। तप्तकृच्छ्रमिदं प्रोक्तं शीतैः शीतं प्रकीर्तितम्॥७॥
कृच्छ्रातिकृच्छ्रं पयसा दिवसानेकविंशतिम्। गोमूत्रं गोमयं क्षीरं दधि सर्पिः कुशोदकम्॥८॥
एकरात्रोपवासश्च कृच्छ्रं सान्तपनं स्मृतम्। एतच्च प्रत्यहाभ्यस्तं महासान्तपनं स्मृतम्॥९॥

अध्याय-१७१

गुप्तकृत् पाप प्रायश्चित्त विचार

पुष्करजी ने कहा कि– अधुना मैं गुप्त पापों के प्रायश्चित्तों का वर्णन करने जा रहा हूँ, जो परम शुद्धिप्रद हैं। एक मास तक पुरुषसूक्त का जप पापों का विनाश करने वाला है। अघमर्षण-मन्त्र का तीन बार जप करने से मनुष्य सभी तरह के पापों से मुक्त हो जाता है। वेदमन्त्र, वायुसूक्त और यमसूक्त के जप एवं गायत्री का जप करने से मनुष्य अपने सब पापों को नष्ट कर डालता है। समस्त कृच्छ्रों में मुण्डन, स्नान, हवन और श्रीहरि विष्णु का पूजन विहित है। 'कृच्छ्रव्रत' करने वाला दिन में खड़ा रहे और रात में बैठा रहे, इसको 'वीरासन' कहा गया है। इससे मनुष्य निष्पाप हो जाता है। एक महीने तक प्रतिदिन आठ ग्रास भोजन करना चाहिये, इसको 'यतिचान्द्रायण' कहते हैं। एक मास तक नित्य प्रातःकाल चार ग्रास और सायंकाल चार ग्रास भोजन करने से 'शिशुचान्द्रायण' होता है। एक मास में किसी भी तरह दो सौ चालीस पिण्ड भोजन करना चाहिये, यह 'सुरचान्द्रायण' की विधि है। तीन दिन गरम जल, तीन दिन गरम दूध, तीन दिन गरम घी और तीन दिन वायु पीकर रहे, इसको 'तप्तकृच्छ्र' कहा गया है और इसी क्रम से तीन दिन ठंढा जल, तीन दिन ठंढा दूध, तीन दिन ठंढा घी और तीन दिन वायु पीने पर 'शीतकृच्छ्र' होता है। इक्कीस दिन तक केवल दूध पीकर रहने से 'कृच्छ्रातिकृच्छ्र' होता है। एक दिन गोमूत्र, गोबर, दूध, दही, घी और कुश-जल का भक्षण करके रहे तथा एक दिन निराहार व्रत करना चाहिये, उसको 'कृच्छ्रसांतपन-व्रत' माना गया है। 'सांतपनकृच्छ्र' की वस्तुओं को एक-एक दिन के क्रम से लेने पर 'महासांतपन' व्रत माना जाता है। इन्हीं वस्तुओं को तीन-तीन दिन के क्रम से ग्रहण करने पर 'अतिसांतपन' माना जाता है। द्वादश दिन निराहार रहने से 'पराककृच्छ्र' होता है। तीन दिन प्रातःकाल, तीन दिन सायंकाल और तीन दिन बिना माँगे मिली हुई वस्तु का भोजन करना चाहिये और

त्र्यहाभ्यस्तमथैकमतिसान्तपनं स्मृतम्। कृच्छ्रं पराकसंज्ञं स्याद्द्वादशाहमभोजनम्।।१०।।
एकभक्तं त्र्यहाभ्यस्तं क्रमान्नक्तमयाचितम्। प्राजापत्यमुपोष्यान्ते पादः स्यात्कृच्छ्रपादकः।।११।।
फलैर्मासं फलं कृच्छ्रं बिल्वैः श्रीकृच्छ्र ईरितः। पद्माक्षैः स्यादामलकैः पुष्पकृच्छ्रं तु पुष्पकैः।।१२।।
पत्रकृच्छ्रं तथा पत्रैस्तोयकृच्छ्रं जलेन तु। मूलकृच्छ्रं तथा मूलैर्दध्ना क्षीरेण तक्रतः।।१३।।
मासं वायव्यकृच्छ्रं स्यात्पाणिपूरान्नभोजनात्। तिलैर्द्वादशरात्रेण कृच्छ्रमाग्नेयमार्तिनुत्।।१४।।
पक्षं प्रसृत्या लाजानां ब्रह्मकूर्चं तथा भवेत्। उपोषितश्चतुर्दश्यां पञ्चदश्यामनन्तरम्।।१५।।
पञ्चगव्यं समश्नीयाद्धविष्याशीत्यनन्तरम्। मासेन द्विर्नरः कृत्वा सर्वपापैः प्रमुच्यते।।१६।।
श्रीकामः पुष्टिकामश्च स्वर्गकामोऽघनष्टये। देवताराधनपरः कृच्छ्रकारी स सर्वभाक्।।१७।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते रहस्यादिप्रायश्चित्तवर्णनं नामैकसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः।।१७१।।

अन्त में तीन दिन निराहार व्रत रखे, इसको 'प्राजापत्यव्रत' कहा गया है। इसी के एक चरण का अनुष्ठान 'कृच्छ्रपाद' कहलाता है। एक मास तक फल खाकर रहने से 'फलकृच्छ्र' और बेल खाकर रहने से 'श्रीकृच्छ्र' होता है। इसी तरह पद्माक्ष (कमलगट्टा) खाकर रहने से 'पद्माक्षकृच्छ्र' आँवले खाकर रहने से 'आमलकृच्छ्र' और पुष्प खाकर रहने से पुष्पकृच्छ्र' होता है। उपरोक्त क्रम से केवल पत्ते खाकर रहने से 'पत्रकृच्छ्र' जल पीकर रहने से 'जलकृच्छ्र' केवल मूल का भोजन करने से 'मूलकृच्छ्र' और दधि, दुग्ध अथवा तक्र पर निर्भर रहने से क्रमशः 'दधिकृच्छ्र' 'दुग्धकृच्छ्र' और 'तक्रकृच्छ्र' होते हैं। एक मासतक अञ्जलिभर अन्न के भोजन से 'वायव्यकृच्छ्र' होता है। द्वादश दिन केवल तिल का भोजन करके रहने से 'आग्नेयकृच्छ्र' माना जाता हैं, जो दुःखों का विनाश करने वाला है। एक पक्ष तक एक पसर लाज (खील) का भोजन करना चाहिये। चतुर्दशी एवं पञ्चदशी (अमावस्या एवं पूर्णिमा) को निराहार व्रत रखे। फिर पञ्चगव्यपान करके हविष्यान्न का भोजन करना चाहिये। यह 'ब्रह्मकूर्चव्रत' होता है। इस व्रत को एक मास में दो बार करने से मनुष्य समस्त पापों से मुक्त हो जाता है। जो मनुष्य धन, पुष्टि, स्वर्ग एवं पापनाश की कामना से देवताओं का आराधन और कृच्छ्रव्रत करता है, वह सब कुछ प्राप्त कर लेता है।।१-१७।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी एक सौ इकहत्तरवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।१७१।।

अथ द्विसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः

सर्वपापप्रायश्चित्तानि

पुष्कर उवाच

परदारपरद्रव्यजीवहिंसादिके यदा। प्रवर्तते नृणां चित्तं प्रायश्चित्तं स्तुतिस्तदा॥१॥
विष्णवे विष्णवे नित्यं विष्णवे विष्णवे नमः। नमामि विष्णुं चित्तस्थमहंकारगतं हरिम्॥२॥
चित्तस्थमीशमव्यक्तमनन्तमपराजितम्। विष्णुमीड्यमशेषेण ह्यनादिनिधनं विभुम्॥३॥
विष्णुश्चित्तगतो यन्मे विष्णुर्बुद्धिगतश्च यत्। यच्चाहंकारगो विष्णुर्यद्विष्णुर्मयि संस्थितः॥४॥
करोति कर्मभूतोऽसौ स्थावरस्य चरस्य च। तत्पापं नाशमायातु तस्मिन्नेव हि चिन्तिते॥५॥
ध्यातो हरति यत्पापं स्वप्ने दृष्टस्तु भावनात्। तमुपेन्द्रमहं विष्णुं प्रणतार्तिहरं हरिम्॥६॥
जगत्यस्मिन्निराधारे मज्जमाने तमस्यधः। हस्तावलम्बनं विष्णुं प्रणमामि परात्परम्॥७॥
सर्वेश्वरेश्वर विभो परमात्मन्नधोक्षज। हृषीकेश हृषीकेश हृषीकेश नमोऽस्तु ते॥८॥
नृसिंहानन्त गोविन्द भूतभावन केशव। दुरुक्तं दुष्कृतं ध्यातं शमयाघं नमोऽस्तु ते॥९॥
यन्मया चिन्तितं दुष्टं स्वचित्तवशवर्तिना। अकार्य (र्यं) महदत्युग्रं तच्छमं नय केशव॥१०॥

अध्याय-१७२

सर्वपाप प्रायश्चित्त रूप

पुष्करजी ने कहा कि–जिस समय मनुष्यों का चित्त परस्त्रीगमन, परस्वापहरण एवं जीवहिंसा आदि पापों में प्रवृत्त होता है, तो स्तुति करने से उसका प्रायश्चित्त होता है। उस समय निम्नलिखित तरह से भगवान् श्रीहरि विष्णु की स्तुति करनी चाहिये)–'सर्वव्यापी विष्णु को सदा नमस्कार है। श्रीहरि विष्णु को नमस्कार है। मैं अपने चित्त में स्थित सर्वव्यापी, अहंकारशून्य श्रीहरि विष्णु को नमस्कार करने जा रहा हूँ। मैं अपने मानस में विराजमान अव्यक्त, अनन्त और अपराजित परमेश्वर को नमस्कार करने जा रहा हूँ। सबके पूजनीय, जन्म और मरण से हीन, प्रभावशाली भगवान् श्रीहरि विष्णु को नमस्कार है। विष्णु मेरे चित्त में निवास करते हैं, विष्णु मेरी बुद्धि में विराजमान हैं, विष्णु मेरे अहंकार में प्रतिष्ठत हैं और विष्णु मुझमें भी स्थित हैं। वे भगवान् श्रीहरि विष्णु ही चराचर प्राणियों के कर्मों के रूप में स्थित हैं, उनके चिन्तन से मेरे पाप का विनाश हो। जो ध्यान करने पर पापों का हरण करते हैं और भावना करने से स्वप्न में दर्शन देते हैं, इन्द्र के अनुज, शरणगतजनों का दुःख दूर करने वाले उन पापापहारी भगवान् श्रीहरि विष्णु को मैं नमस्कार करने जा रहा हूँ। मैं इस निराधार जगत् में अज्ञानान्धकार में डूबते हुए को हाथ का सहारा देने वाले परात्परस्वरूप भगवान् श्रीहरि विष्णु के सम्मुख प्रणत होता हूँ। हे सर्वेश्वरेश्वर प्रभो! कमलनयन परमात्मन्! हृषीकेश! आपको नमस्कार है। हे इन्द्रियों के स्वामी श्रीविष्णो! आपको नमस्कार है। हे नृसिंह! अनन्तस्वरूप गोविन्द! समस्त भूत-प्राणियों की सृष्टि करने वाले केशव! मेरे द्वारा जो दुर्वचन कहा गया हो अथवा पापपूर्ण चिन्तन किया गया हो मेरे उस पाप का प्रशमन कीजिये; आपको नमस्कार है। हे केशव! अपने मन के वश में होकर मैंने जो न करने योग्य अत्यन्त उग्र पापपूर्ण चिन्तन किया है, उसको शान्त कीजिये। हे परमार्थपरायण ब्राह्मणप्रिय गोविन्द! अपनी

ब्रह्मण्यदेव गोविन्द परमार्थपरायण। जगन्नाथ जगद्धातः पापं प्रशमयाच्युत॥११॥
यथाऽपराह्णे सायाह्ने मध्याह्ने च यथा निशि। कायेन मनसा वाचा कृतं पापमजानता॥१२॥
जानता च हृषीकेश पुण्डरीकाक्ष माधव। नामत्रयोच्चारणतः पापं यातु मम क्षयम्॥१३॥
शारीरं मे हृषिकेश पुण्डरीकाक्ष माधव।पापं प्रशमयाद्य त्वं वाक्कृतं मम माधव॥१४॥
यद्भुञ्जन्यत्स्वपंस्तिष्ठन्गच्छञ्जाग्रद्यदा स्थितः। कृतवान्पापमद्याहं कायेन मनसा गिरा॥१५॥
यत्स्वल्पमपि यत्स्थूलं कुयोनिनरकावहम्। तद्यातु प्रशमं सर्वं वासुदेवानुकीर्तनात्॥१६॥
परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं च यत्। तस्मिन्प्रकीर्तिते विष्णौ यत्पापं तत्प्रणश्यतु॥१७॥
यत्प्राप्य न निवर्तन्ते गन्धस्पर्शादिवर्जितम्। सूरयस्तत्पदं विष्णोस्तत्सर्वं शमयत्वघम्॥१८॥
पापप्रणाशनं स्तोत्रं यः पठेच्छृणुयादपि। शारीरैर्मानसैर्वाग्जैः कृतैः पापैः प्रमुच्यते॥१९॥
सर्वपापग्रहादिभ्यो याति विष्णोः परं पदम्। तस्मात्पापे कृते जप्यं स्तोत्रं सर्वाघमर्दनम्॥२०॥
प्रायश्चित्तमघौघानां स्तोत्रं व्रतकृते वरम्। प्रायश्चित्तैः स्तोत्रजपैर्व्रतैर्नश्यति पातकम्॥
ततः कार्याणि संसिद्ध्यै तानि वै भुक्तिमुक्तये॥२१॥

॥इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते सर्वपापप्रायश्चित्ते पापनाशनस्तोत्रवर्णनं नाम द्विसप्तत्यधिकशततमोऽध्याय:॥१७२॥

—※※※—

मर्यादा से कभी च्युत न होने वाले जगन्नाथ! जगत् का भरण पोषण करने वाले देवेश्वर! मेरे पाप का विनाश कीजिये। मैंने मध्याह्न, अपराह्न, सायंकाल एवं रात्रि के समय, जानते हुए अथवा अनजाने, शरी, मन एवं वचन के द्वारा जो पाप किया हो, '**पुण्डरीकाक्ष**', '**हृषीकेश**', '**माधव**'–आपके इन तीन नामों के उच्चारण से मेरे वे सब पाप क्षीण हो जायँ। कमलनयन लक्ष्मीपते! इन्द्रियों के स्वामी माधव! आज आप मेरे शरीर एवं वचन द्वारा किये हुए पापों का हनन कीजिये। आज मैंने खाते, सोते, खड़े, चलते अथवा जागते हुए मन, वचन और शरीर से जो भी नीच योनि एवं नरक की प्राप्ति कराने वाला सूक्ष्म अथवा स्थूल पाप किया हो, भगवान् वासुदेव के नामोच्चारण से वे सब विनष्ट हो जायँ। जो परब्रह्म, परमधाम और परम पवित्र हैं, उन भगवान् श्रीहरि विष्णु के संकीर्तन से मेरे पाप लुप्त हो जायँ। जिसको प्राप्त होकर ज्ञानीजन पुनः लौटकर नहीं आतें, जो गन्ध, स्पर्श आदि तन्मात्राओं से हीन है; श्रीवष्णिु का वह परमपद मेरे पापों का शमन करना चाहिये॥१-१८॥

जो मनुष्य पापों का विनाश करने वाले इस स्तोत्र का पठन अथवा श्रवण करता है, वह शरीर, मन और वाणीनित समस्त पापों से छूट जाता है एवं समस्त पापग्रहों से मुक्त होकर भगवान् श्रीहरि विष्णु के परमपद को प्राप्त होता है। इसलिये किसी भी पाप के हो जाने पर इस स्तोत्र का जप करना चाहिये। यह स्तोत्र पापसमूहों के प्रायश्चित्त के समान है। कृच्छ्र आदि व्रत करने वाले के लिये भी यह श्रेष्ठ है। स्तोत्र-जप और व्रतरूप प्रायश्चित्त से सम्पूर्ण पाप नष्ट हो जाते हैं। इसलिये भोग और मोक्ष की सिद्धि के लिये इनका अनुष्ठान करना चाहिये॥१९२१॥

॥इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी एक सौ बहत्तरवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ॥१७२॥

❖❖❖

अथ त्रिसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः

प्रायश्चित्तम्

अग्निरुवाच

प्रायश्चित्तं ब्रह्मणोक्तं वक्ष्ये पापोपशान्तिदम्। स्यात्प्राणवियोगफलो व्यापारो हननं स्मृतम्॥१॥
रागाद्द्वेषात्प्रमादाच्च स्वतः परत एव वा। ब्राह्मणं घातयेद्यस्तु स भवेद्ब्रह्मघातकः॥२॥
बहूनामेककार्याणां सर्वेषां शस्त्रधारिणाम्। यद्येको घातकस्तत्र सर्वे ते घातकाः स्मृताः॥३॥
आक्रोशितस्ताडितो वा धनैर्वा परिपीडितः। यमुद्दिश्य त्यजेत्प्राणांस्तमाहुर्ब्रह्मघातकम्॥४॥
औषधाद्युपकारे तु न पापं स्यात्कृते मृते। पुत्रं शिष्यं तथा भार्यां शासतो न मृते ह्यघम्॥५॥
देशं कालं वयः शक्तिं पापं चावेक्ष्य यत्नतः। प्रायश्चित्तं प्रकल्प्यं स्याद्यत्र चोक्ता न निष्कृतिः॥६॥
गवार्थे ब्राह्मणार्थे वा सद्यः प्राणान्परित्यजेत्। प्रास्येदात्मानमग्नौ वा मुच्यते ब्रह्महत्यया॥७॥
शिरः कपाली ध्वजवान्भैक्षाशी कर्म वेदयन्। ब्रह्महा द्वादशाब्दानि मितभुक्शुद्धिमाप्नुयात्॥८॥
षड्भिर्वर्षैः शुद्धचारी ब्रह्महा पूयते नरः। विहितं यदकामानां कामात्तु द्विगुणं स्मृतम्॥९॥
प्रायश्चित्तं प्रवृत्तस्य वधे स्यात्तु त्रिवार्षिकम्। ब्रह्मघ्नि क्षत्रे द्विगुणं विट्शूद्रे द्विगुणं त्रिधा॥१०॥

अध्याय-१७३

विविध प्रकारक प्रायश्चित्त विचार

श्रीअग्निदेव ने कहा कि–हे वसिष्ठ! अधुना मैं ब्रह्मा के द्वारा वर्णित पापों का विनाश करने वाले प्रायश्चित्त बतलाता हूँ। जिससे प्राणों का शरीर से वियोग हो जाय, उस कार्य को 'हनन' कहते हैं। जो राग, द्वेष अथवा प्रमादवश दूसरे के द्वारा या स्वयं ब्राह्मण का वध करता है, वह 'ब्रह्मघाती' होता है। यदि एक कार्य में तत्पर बहुत-से शस्त्रधारी मनुष्यों में कोई एक ब्राह्मण का वध करता है, तो वे सब के सब 'घातक' माने जाते हैं। ब्राह्मण किसी के द्वारा निन्दित होने पर मारा जो पर या बन्धन से पीड़ित होने पर जिसके उद्देश्य से प्राणों का परित्याग कर देता है, उसको 'ब्रह्महत्यारा' माना गया है। औषधोपचार आदि उपकार करने पर किसी की मृत्यु हो जाय तो उसको पप नहीं होता। पुत्र, शिष्य अथवा पत्नी को दण्ड देने पर उनकी मृत्यु हो जाय, उस दशा में भी दोष नहीं होता। जिन पापों से मुक्त होने का उपाय नहीं तलाया गया है, देश, काल, अवस्था, शक्ति और पाप का विचार करके यत्नपूर्वक प्रायश्चित्त की अवस्था देनी चाहिये॥१-६॥

गौ अथवा ब्राह्मण के लिये तत्काल अपने प्राणों का परित्याग कर दे, अथवा अग्नि में अपने शरीर की आहुति दे डाले तो मनुष्य ब्रह्महत्या के पाप से मुक्त हो जाता है। ब्रह्म हत्यारा मृतक के सिर का कपाल और ध्वज लेकर भिक्षान्न का भोजन करता हुआ 'मैंने ब्राह्मण का वध किया है'–इस तरह अपने पाप कर्म को प्रकाशित करना चाहिये। वह द्वादश वर्ष तक नियमित भोजन करके शुद्ध होता है। अथवा शुद्धि के लिये प्रयत्न करने वाला ब्रह्मघाती मनुष्य षड् वर्षों में ही पवित्र हो जाता है। अज्ञानवश पापकर्म करने वालों की अपेक्षा जान-बूझकर पाप करने वाले के लिये दुगुना प्रायश्चित्त विहित है। ब्राह्मण के वध में प्रवृत्त होने पर तीन वर्ष तक प्रायश्चित्त करना चाहिये। ब्रह्मघाती क्षत्रिय

अन्यत्र विप्रे सकलं पादोनं क्षत्रिये मतम्। वैश्येऽर्धपादं क्षत्रे स्याद्वृद्धस्त्रीबालरोगिषु।।११।।
तुरीयो ब्रह्महत्यायाः क्षत्रियस्य वधे स्मृतम्(:)। वैश्येऽष्टमांशो वृत्तस्थे शूद्रे ज्ञेयस्तु षोडशः।।१२।।
अप्रदुष्टां स्त्रियं हत्वा शूद्रहत्याव्रतं चरेत्। पञ्चगव्यं पिवेद्गोघ्नो मासमासीत संयतः।।१३।।
गोष्ठेशयो गोऽनुगामी गोप्रदानेन शुध्यति। कृच्छ्रं चैवातिकृच्छ्रं वा पादह्रासो नृपादिषु।।१४।।
अतिवृद्धामतिकृशामतिबालां च रोगिणीम्। हत्वा पूर्वविधानेन चरेदर्धं व्रतं द्विजः।।१५।।
ब्राह्मणान्भोजयेच्छक्त्या दद्याद्धेमतिलादिकम्। मुष्टिचपेटकीलेन तथा शृङ्गादिमोटने।।१६।।
लगुडादिप्रहारेण गोवधं तं विनिर्दिशेत्। दमने दामने चैव शकटादौ च योजने।।१७।।
स्तम्भशृङ्खलापाशैर्वा मृते पादोनमाचरेत्। काष्ठे सान्तपनं कुर्यात्प्राजापत्यं तु लोष्ठके।।१८।।
तप्तकृच्छ्रं तु पाषाणे शस्त्रे चाप्यतिकृच्छ्रकम्। मार्जारगोधानकुलमण्डूकश्वपतत्रिणः।।१९।।
हत्वा त्र्यहं पिबेत्क्षीरं कृच्छ्रं चान्द्रायणं चरेत्। व्रतं रहस्ये रहसि प्रकाशेऽपि प्रकाशकम्।।२०।।
प्राणायामशतं कार्यं सर्वपापानुपत्तये। पानकं द्राक्षमधुकं खार्जूरं तालमैक्षवम्।।२१।।
माध्वीकं टङ्कमाधी (ध्वी) कं गैरेयं नारिकेलजम्। न मद्यान्यपि मद्यानि पैष्टी मुख्या सुरा स्मृता।।२२।।

को दुगुना तथा वैश्य एवं शूद्र को षड् गुना प्रायश्चित्त करना चाहिये। अन्य पापों का ब्राह्मण को सम्पूर्ण, क्षत्रिय को तीन चरण, वैश्य को आधा और शूद्र, वृद्ध, स्त्री, बालक एवं रोगी को एक चरण प्रायश्चित्त करना चाहिये।।१-११।।

क्षत्रिय वश करने पर ब्रह्महत्या का एक पाद, वैश्य का वध करने पर अष्टमांश और सदाचार परायण शूद्र का वध करने पर षोडशांश प्रायश्चित्त माना गया है। सदाचारिणी स्त्री की हत्या करके शूद्रहत्या का प्रायश्चित्त करना चाहिये। गोहत्यारा संचयतचित्त होकर एक प्रायश्चित्त करना चाहिये। गोहत्या संचयचित होकर एक मास तक गोशाला में शयन करना चाहिये, गौओं का अनुगमन करना चाहिये और पञ्चगव्य पीकर रहना चाहिये। 'कृच्छ्र' अथवा 'अतिकृच्छ्र' कोई भी व्रत हो, क्षत्रियों को उसके तीन चरणों का अनुष्ठान करना चाहिये। अत्यन्त बूढ़ी, अत्यन्त कृश, बहुत छोटी उम्र वाली अथवा रोगिणी सी की हत्या करके द्विज उपरोक्त विधि के अनुसार ब्रह्महत्या का आधा प्रायश्चित्त करना चाहिये। फिर ब्राह्मणों को भोजन कराये और यशाक्ति तिल एवं स्वर्ण का दान करना चाहिये। मुक्के या थप्पड़ के प्रहार से, सींग तोड़ने से और लाठी आदि से मारने पर यदि गौ मर जाय तो उसको 'गोवध' कहा जाता है। मारने, बाँधने, गाड़ी आदि में जोतने, रोकने अथवा रस्सी का फंदा लगाने से गौ की मृत्यु हो जाय तो तीन चरण प्रायश्चित्त करना चाहिये। क्राठ से गोवध करने वाला 'सांतपनव्रत', ढेले से मारने वाला 'प्राजापत्य', पत्थर से हत्या करने वाला 'तप्तकृच्छ्र' और शस्त्र से वध करने वाले को 'अतिकृच्छ्र' करना चाहिये। बिल्ली, गोह, नेवला, मेढक, कुत्ता अथवा पक्षी की हत्या करके तीन दिन दूध पीकर रहे; अथवा 'प्राजापत्य' या 'चान्द्रायण' व्रत करना चाहिये।।१२-१९।।

गुप्त पाप होने पर गुप्त और प्रकट पाप होने पर प्रकट प्रायश्चित्त करना चाहिये। समस्त पापों के विनाश के लिये सौ प्राणायाम करना चाहिये। कटहल, द्राक्षा, महुआ, खजूर, ताड़, ईख और मुनक्के का रस तथा टंकमाध्वीक, मैरेय और नारियल का रस-ये मादक होते हुए भी मद्य नहीं है। पैटी ही मुख्य सुरा मानी गयी है। ये सब मदिराएँ द्विजों के लिये निषिद्ध हैं। सुरापान करने वाला खौलता हुआ जल पीकर शुद्ध होता है। अथवा सुरापान के पाप से मुक्त होने के लिये एक वर्ष तक जटा एवं ध्वजा धारण किये हुए वन में निवास करना चाहिये। नित्य रात्रि के समय

त्रैवर्णस्य निषिद्धानि पीत्वा तप्तं ह्ययः शुचिः। कणान्वा भक्षयेदब्दं पिण्याकं वा सकृन्निशि।।२३।।
सुरापानापनुत्त्यर्थं वनवासी जटा ध्वजी। अज्ञानात्प्राश्य विण्मूत्रं सुरासंस्पृष्टमेव च।।२४।।
पुनः संस्कारमर्हन्ति त्रयो वर्णा द्विजातयः। मद्यभाण्डस्थिताश्चापः पीत्वा सप्तदिनं व्रती।।२५।।
चाण्डालस्य तु पानीयं पीत्वा स्यात्षड्दिनं व्रती। चण्डालकूपभाण्डेषु पीत्वा सान्तपनं चरेत्।।२६।।
पञ्चगव्यं त्रिरात्रान्ते पीत्वाऽन्त्यजजलं द्विजः। मत्स्यकण्टकशम्बूकशङ्खशुक्तिकपर्दिकान्।।२७।।
पीत्वा नवोदकं चैव पञ्चगव्येन शुध्यति। शवकूपोदकं पीत्वा त्रिरात्रेण विशुध्यति।।२८।।
अन्त्यावसायिनामन्नं भुक्त्वा चान्द्रायणं चरेत्। आपात्काले शूद्रगृहे मनस्तापेन शुध्यति।।२९।।
शूद्रभाजनभुग्विप्रः पञ्चगव्यादुपोषितः। कटुपक्वं स्नेहपक्वं स्नेहं च दधिसक्तवः।।३०।।
शूद्रादनिन्द्यान्येतानि गुडक्षीररसादिकम्। अस्नातभुक्चोपवासी दिनान्ते तु जपाच्छुचिः।।३१।।
मूत्रोच्चार्यशुचिर्भुक्त्वा त्रिरात्रेण विशुध्यति। केशकीटावपन्नं च पादस्पृष्टं च कामतः।।३२।।
भ्रूणघ्नावेक्षितं चैव संस्पृष्टं वाऽप्युदक्यया। काकाद्यैरवलीढं च शुना संस्पृष्टमेव च।।३३।।
गवाद्यैरन्नमाघ्रातं भुक्त्वा त्र्यहमुपावसेत्। रेतो विण्मूत्रभक्षी तु प्राजापत्यं समाचरेत्।।३४।।
चान्द्रायण नवश्राद्धे पराको मासिके मतः। पक्षत्रयेऽतिकृच्छ्रं स्यात्षण्मासे कृच्छ्रमेव च।।३५।।
आब्दिके पादकृच्छ्रं स्यादेकाहः पुनराब्दिके। पूर्वेद्युर्वार्षिकं श्राद्धं परेद्युः पुनराब्दिकम्।।३६।।

एक बार चावल के कण या तिल की खली का भोजन करना चाहिये। अज्ञानवश मल-मूत्र अथवा मदिरा से छूये हुए पदार्थ का भक्षण करके ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य-तीनों वर्णों के लोग पुनः संस्कार के योग्य हो जाते हैं। सुरापात्र में रखा हुआ जल पीकर सात दिन व्रत करना चाहिये। चाण्डाल का जल पीकर षड् दिन निराहार व्रत रखे तथा चाण्डालों के कूएँ अथवा पात्र का पानी पीकर 'सांतपन-व्रत' करना चाहिये। अन्त्यज का जल पीकर द्विज तीन रात निराहार व्रत रखकर पञ्चगव्य का पान करना चाहिये। नवीन जल या जल के साथ मत्स्य, कण्टक, शम्बूक, शङ्ख, सीप और कौड़ी पीने पर पञ्चगव्य का आचमन करने से शुद्धि हो जाती है। शवयुक्त कूप का जल पीने पर मनुष्य 'त्रिरात्रव्रत' करने से शुद्ध होता है। चाण्डाल का अन्न खाकर 'चान्द्रायणव्रत' करना चाहिये। आपत्काल में शूद्र के गृह भोजन करने पर पश्चात्ताप से शुद्धि हो जाती है। शूद्र के पात्र में भोजन करने वाला ब्राह्मण निराहार व्रत करके पञ्चगव्य पीन से शुद्ध होता है। कन्दुपक्व (भूजा), स्नेहपक्व (घी-तैल में पके पदार्थ), घी-तैल, दही, सत्तू, गुड़, दूध और रस आदि-ये वस्तुएँ शूद्र के गृह से ली जाने पर भी निन्दित नहीं हैं। बिना स्नान किये भोजन करने वाला एक दिन निराहार व्रत रखकर दिनभर जप करने से पवित्र होता है। मूत्र-त्याग करके अशौचावस्था में भोजन करने पर 'त्रिरात्रव्रत से' शुद्धि हो जाती है। केश एवं कीट से युक्त, जान-बूझकर पैर से छूआ हुआ, भ्रूणघाती का देखा हुआ, रजस्वला स्त्री का छूआ हुआ, कौए आदि पक्षियों का जूठा किया हुआ, कुत्ते का स्पर्श किया हुआ अथवा गौ का सूँघा हुआ अन्न खाकर तीन दिन निराहार व्रत करना चाहिये। वीर्य, मल या मूत्र का भक्षण करने पर 'प्राजापत्य-व्रत' करना चाहिये। नवश्राद्ध में 'चान्द्रायण', मासिक श्राद्ध में 'पराव्रत', त्रिपाक्षिक श्राद्ध में 'अतिकृच्छ्र'' षाणमासिक श्राद्ध में 'प्राजापत्य' और वार्षिक श्राद्ध में 'एकपाद प्राजापत्य-व्रत' करना चाहिये। पहले और दूसरे दोनों दिन वार्षिक श्राद्ध हो, तो दूसरे वार्षिक श्राद्ध में एक दिन का निराहार व्रत करना चाहिये। निषिद्ध वस्तु का भक्षण करने पर निराहार व्रत करके प्रायश्चित करना चाहिये। भूतृण (छत्राक), लहसुन और शिग्रुक् (श्वेत मरिच) खा लेने पर 'एकपाद प्राजापत्य' करना चाहिये।

निषिद्धभक्षणे भुक्ते प्रायश्चित्तमुपोषणम्। भूस्तृणं लशुनं भुक्त्वा शिग्रुकं कृच्छ्रमाचरेत्।।३७।।
अभोज्यानां तु भुक्त्वाऽन्नं स्त्रीशूद्रोच्छिष्टमेव च। जग्ध्वा मांसमभक्ष्यं च सप्तरात्रं पयः पिबेत्।।३८।।
मधु मांसं च योऽश्नीयाच्छावं सूतकमेव वा। प्राजापत्यं चरेत्कृच्छ्रं ब्रह्मचारी यतिर्व्रती।।३९।।
अन्यायेन परस्वापहरणं स्तेयमुच्यते। मुसलेन हतो राज्ञा स्वर्णस्तेयी विशुध्यति।।४०।।
अधःशायी जटाधारी पर्णमूलफलाशनः। एककालं समश्नानो द्वादशाब्दे विशुध्यति।।४१।।
रुक्मस्तेयी पुरापश्च ब्रह्महा गुरुतल्पगः। स्तेयं कृत्वा सुरां पात्वा कृच्छ्रं चाब्दं चरेन्नरः।।४२।।
मणिमुक्ताप्रवालानां ताम्रस्य रजतस्य च। अयस्कांस्योपलानां च द्वादशाहं कणान्नभुक्।।४३।।
मनुष्याणां तु हरणे स्त्रीणां क्षेत्रगृहस्य च। वापीकूपतडागानां शुद्धिश्चान्द्रायणं स्मृतम्।।४४।।
भक्ष्यभोज्यापहरणे यानशय्यासनस्य च। पुष्पमूलफलानां च पञ्चगव्यं विशोधनम्।।४५।।
तृणकाष्ठद्रुमाणां च शुष्कान्नस्य गुडस्य च। चेलचर्मामिषाणां च त्रिरात्रं स्यादभोजनम्।।४६।।
पितुः पत्नीं च भगिनीमाचार्यतनयां तथा। (आचार्याणीं (नीं)सुतां स्वां च गच्छंश्च गुरुतल्पगः।।४७।।
गुरुतल्पेऽभिभाष्यैनस्तप्ते स्वर्णाद्ययोमये। सूर्मीं ज्वलन्तीं चाऽऽश्लिष्य मृत्युना स विशुध्यति।।४८।।
चान्द्रायणान्वा त्रीन्मासानभ्यस्य गुरुतल्पगः)। एवमेव विधिं कुर्याद्योषित्सु पतितास्वपि।।४९।।
यत्पुंसः परदारेषु तच्चैनां कारयेद्व्रतम्। रेतः सिक्त्वा कुमारीषु चाण्डालीषु सुतासु च।।५०।।
सपिण्डापत्यदारेषु प्राणत्यागो विधीयते। यत्करोत्येकरात्रेण वृषलीसेवनं द्विजः।।५१।।

अभोज्यान्न, शूद्र का अन्न, स्त्री एवं शूद्र उच्छिष्ट या अधुनाक्ष्य मांस का भक्षण करके सात दिन केवल दूध पीकर रहना चाहिये। जो ब्रह्मचारी, संन्यासी अथवा व्रतस्थ द्विज मधु, मांस या जननाशौच एवं मरणाशौच का अन्न भोजन कर लोता है, वह 'प्राजापत्य-कृच्छ्र' करना चाहिये।।२०-३९।।

अन्याय पूर्वक दूसरे का धर हड़प लेने को 'चोरी' कहते हैं। स्वर्ण की चोरी करने वाला राजा के द्वारा मूसल से मारे जाने पर शुद्ध होता है। स्वर्ण की चोरी करने वाला, सुरापान करने वाला ब्रह्मघाती और गुरुपत्नीगामी द्वादश वर्ष तक भूमि पर शयन और जटा धारण करना चाहिये। वह एक समय केवल पत्ते और फल-मूल का भोजन करने से शुद्ध होता है। चोरी अथवा सुरापान करके एक वर्ष तक 'प्राजापत्य-व्रत' करना चाहिये। मणि, मोती, मँगा, ताँबा, चाँदी, लोहा, काँसा और पत्थर की चोरी करने वाला द्वादश दिन चावल के कण खाकर रहना चाहिये। मनुष्य, स्त्री, क्षेत्र गृह, बावलीस, कूप और तालाब का अपहरण करने पर 'चान्द्रायण-व्रत' से शुद्धि मानी गयी है। भक्ष्य एवं भोज्य पदार्थ, सवारी, शय्या, आसन, पुष्प, मूल अथवा फल की चोरी करने वाला पञ्चगव्य पीकर शुद्ध होता है। तृण, काष्ठ, वृक्ष, सूखा अन्न, गुड़, वस्त्र, चर्म या मांस चुराने वाला तीन दिन निराहार रहना चाहिये। सौतेली माँ, वहन, गुरुपुत्री, गुरुपत्नी और अपनी पुत्री से समागम करने वाला 'गुरुपत्नीगामी' माना गया है। गुरुपत्नीगमन करने पर अपने पाप की घोषणा करके जलते हुए लोहे की शय्या पर तप्त-लौकमयी स्त्री का आलिङ्गन करके प्राणत्याग करने से शुद्ध होता है। अथवा गुरुपत्नीगामी को तीन मास तक 'चान्द्रायण-व्रत' करना चाहिये। पतित स्त्रियों के लिये भी इसी प्रायश्चित्त विधान करना चाहिये। पुरुषो को परस्त्रीगमन करने पर जो प्रायश्चित्त बतलाया गया है, वही उनसे कराये। कुमारी कन्या, चाण्डाली, पुत्री और अपने सपिण्ड तथा पुत्र की पत्नी में वीर्यसेचन करने वाले को प्राण त्याग कर देना चाहिये। द्विज

तद्भैक्ष्यभुग्जपन्नित्यं त्रिभिर्वर्षैर्व्यपोहति। पितृव्यदारगमने भ्रातृभार्यागमे तथा।।५२।।
चाण्डालीं पुक्कसीं वाऽपि स्नुषां च भगिनीं सखीम्। मातुः पितुः स्वसारं च निक्षिप्तां शरणागताम्।।५३।।
मातुलानीं स्वसारं च सगोत्रामन्यमिच्छतीम्। शिष्यभार्या गुरोर्भार्या गत्वा चान्द्रायणं चरेत्।।५४।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते प्रायश्चित्तवर्णनं नाम त्रिसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः।।१७३।।

अथ चतुःसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः

प्रायश्चित्तानि

अग्निरुवाच

देवाश्रमार्चनादीनां प्रायश्चित्तं तु लोपतः। पूजालोपे चाष्टशतं जपेद्द्विगुणपूजनम्।।१।।
पञ्चोपनिषदैर्मन्त्रैर्हुत्वा ब्राह्मणभोजनम्। सूतिकान्त्यजकोदक्यास्पृष्टे देवे शतं जपेत्।।२।।
पञ्चोपनिषदैः पूजां द्विगुणं स्नानमेव च। विप्रभोज्यं होमलोपे होमस्नानं तथाऽर्चनम्।।३।।
होमद्रव्ये मूषिकाद्यैर्भक्षिते कीटसंयुते। तावन्मात्रं परित्यज्य प्रोक्ष्य देवादि पूजयेत्।।४।।

एक रात शूद्रा का सेवन करके जो पाप संचित करता है, वह ती न वर्ष तक नित्य गायत्रीजप एवं भिक्षान्न का भोजन करने से नष्ट होता है। चाची, भाभी, चाण्डाली, पुक्कसी, पुत्रवधू, बहन, सखी, मौसी, बुआ, निक्षिप्ता (धरोहर के रूप में रखी हुई), शरणागता, मामी, सगोत्रा बहिन, दूसरे को चाहने वाली स्त्री, शिष्यपत्नी अथवा गुरुपत्नी से गमन करके, 'चान्द्रायण-व्रत' करना चाहिये।।४०-५४।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी एक सौ तिहत्तरवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।१७३।।

अध्याय-१७४

सामान्य प्रायश्चित्त विचा

श्रीअग्निदेव ने कहा कि-देव-मन्दिर के पूजन आदि का लोप करने पर प्रायश्चित्त करना चाहिये। पूजा का लोप करने पर एक सौ आठ बार जप करना चाहिये और दुगुनी पूजा की व्यवस्था करके पञ्चोपनिषद् मन्त्रों से हवन कर ब्राह्मण-भोजन कराये। सूतिका स्त्री, अन्त्यज अथवा रजस्वला के द्वारा देवमूर्ति का स्पर्श होने पर सौ बार गायत्री-जप करना चाहिये। दुगुना स्नान करके पञ्चोपनिषद् मन्त्रों से पूजन एवं ब्राह्मण-भोजन कराये। हवन का नियम भङ्ग होने पर हवन, स्नान और पूजन करना चाहिये। हवन द्रव्य को चूहे आदि खा लें या वह कीटयुक्त हो जाय, तो उतना अंश छोड़कर तथा शेष द्रव्य का जल से प्रोक्षण करके देवताओं का पूजन करना चाहिये। भले ही अङ्कुरमात्र समर्पित करना चाहिये, परन्तु छिन्न-भिन्न द्रव्य का बहिष्कार कर देना चाहिये। अस्पृश्य मनुष्यों का स्पर्श हो जाने पर पूजा-

अंकुरार्पणमात्रं तु च्छिन्नं परित्यजेत्। अस्पृश्यैश्चैव संस्पृष्टे अन्यपात्रं तदर्पणम्।।५।।
देवमानुषविघ्नघ्नं पूजाकाले तथैव च। मन्त्रद्रव्यादिव्यत्यासे मूलं जप्त्वा पुनर्जपेत्।।६।।
कुम्भे नष्टे शतजपो देवे तु पतिते करात्। भिन्ने नष्टे चोपवासः शतहोमाच्छुभं भवेत्।।७।।
कृते पापेऽनुतापो वै यस्य पुंसः प्रजायते। प्रायश्चित्तं तु तस्यैकं हरिसंस्मरणं परम्।।८।।
चान्द्रायणं पराको वा प्राजापत्यमघौघनुत्। सूर्येशशक्तिश्रीशादिमन्त्रजप्यमघौघनुत्।।९।।
गायत्री प्रणवस्तोत्रमन्त्रजप्यमघान्तकम्। काद्यैराबीजसंयुक्तैराद्यैराद्यै स्तदन्तकैः।।१०।।
सूर्येशशक्तिश्रीशादिमन्त्राः कोट्यधिकाः पृथक्। ॐ ह्रीमाद्याश्चतुर्थ्यन्ता नामोन्ताः सर्वकामदाः।।११।।
नृसिंहद्वादशाष्टार्णमालामन्त्राद्यघौघनुत्। आग्नेयस्य पुराणस्य पठनं श्रवणादिकम्।।१२।।
द्विविद्यारूपको विष्णुरग्निरूपस्तु गीयते। परमात्मा देवमुखं सर्ववेदेषु गीयते।।१३।।
प्रवृत्तौ तु निवृत्तौ तु इज्यते भुक्तिमुक्तिदः। अग्निरूपस्य विष्णोर्हि हवनं ध्यानमर्चनम्।।१४।।
जप्यं स्तुतिश्च प्रणतिः शरीरस्थाद्यघौघनुत्। दश स्वर्णानि दानानि धान्यद्वादशमेव च।।१५।।
तुलापुरुषमुख्यानि (णि) महादानानि षोडश। अन्नदानानि मुख्यानि सर्वाण्यघहराणि हि।।१६।।
तिथिवारर्क्षसंक्रान्तियोगमन्वादिकालके। व्रतादि सूर्येशशक्तिश्रीशादेरघघातनम्।।१७।।
गङ्गा गया प्रयागश्च काश्ययोध्या ह्यवन्तिका। कुरुक्षेत्रं पुष्करं च नैमिषं पुरुषोत्तमः।।१८।।

द्रव्य को दूसरे पात्र में रख देना चाहिये। पूजा के समय मन्त्र अथवा द्रव्य की त्रुटि होने पर दैव एवं मानुष विघ्नों का विनाश करने वाले गणपति के बीज-मन्त्र का जप करके पुनः पूजन करना चाहिये। देव-मन्दिर का कलश नष्ट हो जाने पर सौ बार मन्त्र-जप करना चाहिये। देवमूर्ति के हाथ से गिरने एवं नष्ट हो जाने पर उपवासपूर्वक अग्नि में सौ आहुतियाँ देने से शुभ होता है। जिस पुरुष के मन में पाप करने पर पश्चात्ताप होता है, उसके लिये श्रीहरि विष्णु का स्मरण ही परम प्रायश्चित्त है। चान्द्रायण, पराक एवं प्राजापत्य-व्रत-पापसमूहों का विनाश करने वाले हैं। सूर्य, शिव, शक्ति और विष्णु के मन्त्र का जप भी पापों का प्रशमन करता है। गायत्री, प्रणव, पापप्रणाशनस्तोत्र एवं मन्त्र का जप पापों का अन्त करने वाला है। सूर्य, शिव, शक्ति और विष्णु के 'क' से प्रारम्भ होने वाले, 'रा' बीज से संयुक्त, रादि और रान्त मन्त्र करोड़गुना फल देने वाले हैं। इनके सिवा 'ॐ क्लीं' से प्रारम्भ होने वाले चतुर्थ्यन्त एवं अन्त में 'नमः' संयुक्त मन्त्र सम्पूर्ण कामनाओं को सिद्ध करने वाले हैं। नृसिंह भगवान् के द्वादशाक्षर एवं अष्टाक्षर मन्त्र का जप पापसमूहों का विनाश करता है। श्रीअग्निमहापुराण का पठन एवं श्रवण करने से भी मनुष्य समस्त पापसमूहों से छूट जाता है। इस पुराण में श्रीअग्नि देवता का माहात्म्य भी वर्णित है। परमात्मा भगवान् श्रीहरि विष्णु ही मुखस्वरूप श्रीअग्नि देव हैं, जिनका सम्पूर्ण वेदों में गान किया गया है। भोग और मोक्ष सम्प्रदान करने वाले उन परमेश्वर का प्रवृत्ति और निवृत्ति-मार्ग से भी पूजन किया जाता है। अग्निरूप में स्थित भगवान् श्रीहरि विष्णु के उद्देश्य से हवन, जप, ध्यान, पूजन, स्तवन एवं नमस्कार शरीर सम्बन्धी सभी पापों का विध्वंस करने वाला है। दस तरह के स्वर्णदान, द्वादश तरह के धान्यदान, तुलापुरुष आदि सोलह महादान एवं सर्वश्रेष्ठ अन्नदान--ये सब महापापों का अपहरण करने वाले हैं। तिथि, वार, नक्षत्र, संक्रान्ति, योग, मन्वन्तारम्भ आदि के समय सूर्य, शिव, शक्ति तथा विष्णु के उद्देश्य से किये जाने वाले व्रत आदि पापों का प्रशमन करते हैं। गंगा, गया, प्रयाग, अयोध्या, उज्जैन, कुरुक्षेत्र, पुष्कर, नैमिषारण्य,

शालग्रामप्रभासाद्यं तीर्थं चाघोघघातकम्। अहं ब्रह्म परं ज्योतिरिति ध्यानमघौघनुत्॥१९॥
पुराणं ब्रह्म चाऽऽग्नेयं ब्रह्मा विष्णुर्महेश्वरः। अवताराः सर्वपूजाः प्रतिष्ठाप्रतिमादिकम्॥२०॥
ज्योतिःशास्त्रपुराणानि स्मृतयस्तु तपो व्रतम्। अर्थशास्त्रं च सर्गाद्या आयुर्वेदो धनुर्मतिः॥२१॥
शिक्षा छन्दो व्याकरणं निरुक्तं चाभिधानकम्। कल्पो न्यायश्च मीमांसा ह्यन्यत्सर्वं हरिः प्रभुः॥२२॥
एको द्वयोर्यतो यस्मिन्यः सर्वमिति वेद यः। तं दृष्ट्वाऽन्यस्य पापानि विनश्यन्ति हरिश्च सः॥२३॥
विद्याष्टादशरूपश्च सूक्ष्मः स्थूलोऽपरो हरिः। ज्योतिः सदक्षरं ब्रह्म परं विष्णुश्च निर्मलः॥२४॥

॥इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते प्रायश्चित्तकथनं नाम चतुःसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः॥१७४॥
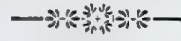
पुरुषोत्तम क्षेत्र, शालग्राम, प्रभासक्षेत्र आदि तीर्थ पापसमूहों को विनष्ट करते हैं। 'मैं परम प्रकाशस्वरूप बल हूँ'-इस तरह की धारणा भी पापों का विनाश करने वाली है। ब्रह्मपुराण, श्रीअग्निमहापुराण, ब्रह्मा, विष्णु, महेश, भगवान् के अवतार, समस्त देवताओं की प्रतिमा-प्रतिष्ठा एवं पूजन, ज्यौतिष, पुराण, स्मृतियाँ, तप, व्रत, अर्थशास्त्र, सृष्टि के आदितत्त्व, आयुर्वेद, धनुर्वेद, शिक्षा, छन्दः-शास्त्र, व्याकरण, निरुक्त, कोष, कल्प, न्याय, मीमांसा-शास्त्र एवं अन्य सब कुछ भी भगवान् श्रीहरि विष्णु की विभूतियाँ हैं। वे श्रीहरि विष्णु एक होते हुए भी सगुण-निर्गुण दो रूपों में विभाजित एवं सम्पूर्ण संसार में संनिहित हैं। जो ऐसा जानता है, श्रीहरि-स्वरूप उन महापुरुष का दर्शन करने से दूसरों के पाप विनष्ट हो जाते हैं। भगवान् श्रीहरि विष्णु ही अष्टादश विद्यारूप, सूक्ष्म, स्थूल, सच्चित्-स्वरूप, अविनाशी परब्रह्म एवं निष्पाप विष्णु हैं॥१-२४॥

॥इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी एक सौ चौहत्तरवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ॥१७४॥

❖❖❖

अथ पञ्चसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः

व्रतपरिभाषा

अग्निरुवाच

तिथिवारर्क्षदिवसमासर्त्वब्दार्क संक्रमे। (नृस्त्रीव्रतादि वक्ष्यामि वशिष्ठ शृणु तत्क्रमात्।।१।।
शास्त्रोदितो हि नियमो व्रतं तच्च तपो मतम्। नियमास्तु विशेषास्तु व्रतस्यैव दमादयः)।।२।।
व्रतं हि कर्तृसंतापात्तप इत्यभिधीयते। इन्द्रियग्रामनियमान्नियमश्चाभिधीयते।।३।।
अनग्नयस्तु ये विप्रास्तेषां श्रेयोऽभिधीयते। व्रतोपवासनियमैर्नानादानैस्तथा द्विजः (जाः)।।४।।
ते स्युर्देवादयः प्रीता भुक्तिमुक्तिप्रदायकाः। उपावृत्तस्य पापेभ्यो यस्तु वासो गुणैः सह।।५।।
उपवासः स विज्ञेयः सर्वभोगविवर्जितः। कांस्यं मांसं मसूरं च चणकं कोरदूषकम्।।६।।
शाकं मधु परान्नं च त्यजेदुपवसन्स्त्रियम्। पुष्पालङ्कारवस्त्राणि धूपगन्धानुलेपनम्।।७।।
उपवासे न शस्यन्ति दन्तधावनमञ्जनम्। दन्तकाष्ठं पञ्चगव्यं कृत्वा प्रातर्व्रतं चरेत्।।८।।
असकृज्जलपानाच्च ताम्बूलस्य च भक्षणात्। उपवासः प्रदुष्येत दिवा स्वप्नाच्च मैथुनात्।।९।।
क्षमा सत्यं दया दानं शौचमिन्द्रियनिग्रहः। देवपूजाऽग्निहरणं सन्तोषोऽस्तेयमेव च।।१०।।

अध्याय-१७५

व्रत परिभाषा विचार

श्रीअग्निदेव ने कहा कि–हे वसिष्ठजी! अधुना मैं तिथि, वार, नक्षत्र, दिवस, मास, ऋतु, वर्ष तथा सूर्यसंक्रान्ति के अवसर पर होने वाले स्त्री-पुरुष सम्बन्धी व्रत आदि का क्रमशः वर्णन करने जा रहा हूँ, ध्यान देकर सुनिये–।।१।।

शास्त्रोक्त नियम को ही 'व्रत' कहते हैं, वही 'तप' माना गया है। 'दम' (इन्द्रियसंयम) और 'शम' (मनोनिग्रह) आदि विशेष नियम भी व्रत के ही अंग हैं। व्रत करने वाले पुरुष को शारीरिक संताप सहन करना पड़ता है, इसलिये व्रत को 'तप' नाम दिया गया है। इसी तरह व्रत में इन्द्रियसमूदाय का नियमन (संयम) करना होता है, इसलिये उसको 'नियम' भी कहते हैं। जो ब्राह्मण या द्विज (क्षत्रिय-वैश्य) अग्निहोत्री नहीं हैं, उनके लिये व्रत, निराहार व्रत, नियम तथा विविध तरह के दानों से कल्याण की प्राप्ति बतलायी गयी हैं।।२-४।।

कथित व्रत-निराहार व्रत आदि के पालन से प्रसन्न होकर देवता एवं भगवान् भोग तथा मोक्ष सम्प्रदान करते हैं। पापों से उपावृत (निवृत्त) होकर सभी तरह के भोगों का त्याग करते हुए जो सद्गुणों के साथ वास करता है, उसी को 'उपवास' समझना चाहिये। निराहार व्रत करने वाले पुरुष को काँसे के बर्तन, मांस, मसूर, चना, कोदो, साग, मधु पराये अन्न तथा स्त्री-सम्भोग का त्याग करना चाहिये। उपवासकाल में फूल, अलंकार, सुन्दर वस्त्र, धूप, सुगन्ध, अङ्गराग, दाँत धोने के लिये मञ्जन तथा दाँतौन–इन सब वस्तुओं का सेवन अच्छा नहीं माना गया है। प्रातःकाल जल से मुँह धो, कुल्ला करके, पञ्चगव्य लेकर व्रत प्रारम्भ कर देना चाहिये।।५-९।।

अनेक बार जल पीने, पान खाने, दिन में सोने तथा मैथुन करने से निराहार व्रत (व्रत) दूषित हो जाता है।

सर्वव्रतेष्वयं धर्मः सामान्यो दशधा स्मृतः। पवित्राणि जपेच्चैव जुहुयाच्चैव शक्तितः॥११॥
नित्यस्नायी मिताहारो गुरुदेवद्विजार्चकः। क्षारं क्षौद्रं च लवणं मधु मांसानि वर्जयेत्॥१२॥
तिलमुद्गादृते शस्यं शस्ये गोधूमकोद्रवौ। चीनकं देवधान्यं च शमीधान्यं तथैक्षवम्॥१३॥
शितधान्यं तथा पण्यं मूलं क्षारगणः स्मृतः। ब्रीहिषष्टिकमुद्गाश्च कलायाः सतिला यवाः॥१४॥
श्यामाकाश्चैव नीवारा गोधूमाद्या व्रते हिताः। कूष्माण्डालाबुवार्ताकान्पालङ्की पूतिकां त्यजेत्॥१५॥
चरुभैक्ष्यं सक्तुकणाः शाकं दधिघृतं पयः। श्यामाकशालिनीवारा य (या) बकं मूलतण्डुलम्॥१६॥
हविष्यं व्रतनक्तादावग्निकार्यादिके हितम्। मधु मांसं बिहायान्यद्व्रते वा हितमीरितम्॥१७॥
त्र्यहं प्रातस्त्र्यहं सायं त्र्यहमद्यादयाचितम्। त्र्यहं परं च नाश्नीयात्प्राजापत्यं चरन्द्विजः॥१८॥
(एकैकं ग्रासमश्नीयात्त्र्यहाणि त्रीणि पूर्ववत्। त्र्यहं चोपवसेदन्त्यमतिकृच्छ्रं चरन्द्विजः॥१९॥
गोमूत्रं गोमयं क्षीरं दधि सर्पिः कुशोदकम्। एकरात्रोपवासश्च कृच्छ्रं सान्तपनं स्मृतम्॥२०॥
पृथक्सान्तपनं द्रव्यैः षडहः सोपवासकः। सप्ताहेन तु कृच्छ्रोऽयं महासान्तपनोऽघहा॥२१॥

क्षमा, सत्य, दया, दान, शौच, इन्द्रियसंयम, देवपूजा, अग्निहोत्र, संतोष तथा चोरी का अभाव—ये दस नियम सामान्यतः सम्पूर्ण व्रतों में आवश्यक माने गये हैं। व्रत में पवित्र ऋचाओं को जपे और अपनी शक्ति के अनुसार हवन करना चाहिये। व्रती पुरुष को प्रतिदिन स्नान तथा परिमित भोजन करना चाहिये। गुरु, देवता तथा ब्राह्मणों का पूजन किया करना चाहिये। क्षार, शहद, नमक, शराब और मांस को छोड़ देना चाहिये। तिल-मूँग आदि के अतिरिक्त धान्य भी त्याज्य हैं। धान्य (अन्न) में उड़द कोदो, चीना, देवधान्य, शमीधान्य, गुड़, शितधान्य, पय तथा मूली— ये क्षारगण माने गये हैं। व्रत में इनका त्याग कर देना चाहिये। धान, साठी का चावल, मूँग, मटर, तिल, जौ, साँवाँ, तिन्नी का चावल और गेहूँ आदि अन्न व्रत में उपयोगी हैं। कुम्हड़ा, लौकी, बैंगन, पालक तथा पूतिका को छोड़ देना चाहिये। चरु, भिक्षा में प्राप्त अन्न, सत्तू के दाने, साग, दही, घी, दूध, साँवाँ, अगहनी का चावल, तिन्नी का चावल, जौ का हलुवा तथा मूल तण्डुल—ये 'हविष्य' माने गये हैं। इनको व्रत में, नक्तव्रत में तथा अग्निहोत्र में भी उपयोगी बतलाया गया है। अथवा मांस, मदिरा आदि अपवित्र वस्तुओं को छोड़कर सभी श्रेष्ठतम वस्तुएँ व्रत में हितकर हैं॥१०-१७॥

'प्राजापत्य व्रत' का अनुष्ठान करने वाला द्विज तीन दिन केवल प्रातःकाल और तीन दिन केवल संध्याकाल में भोजन करना चाहिये। फिर तीन दिन केवल बिना माँगे जो कुछ मिल जाय, उसी का दिन में एक समय भोजन करना चाहिये; तत्पश्चात् तीन दिनों तक निराहार व्रत करना चाहिये। इस तरह यह द्वादश दिनों का व्रत है। इसी तरह 'अतिकृच्छ्रव्रत' का अनुष्ठान करने वाला द्विज पूर्ववत् तीन दिन प्रातःकाल, तीन दिन सायंकाल और तीन दिनों तक बिना माँगे प्राप्त हुए अन्न का एक-एक ग्रास भोजन करना चाहिये तथा अन्तिम दिनों में निराहार व्रत करना चाहिये। गाय का मूत्र, गोबर, दूध, दही, घी तथा कुश का जल—इन सभी को मिलाकर प्रथम दिन पीये। फिर दूसरे दिन निराहार व्रत करना चाहिये—यह 'सांतपनकृच्छ्र' नामक व्रत है। उपरोक्त द्रव्यों का पृथक्-पृथक् एक-एक दिन के क्रम से षट् दिनों तक सेवन करके सातवें दिन निराहार व्रत करना चाहिये—इस तरह यह एक सप्ताह का व्रत 'महासांतपन-कृच्छ्र' कहलाता है, जो पापों का विनाश करने वाला है। लगातार द्वादश दिनों के निराहार व्रत से सम्पन्न होने वाले व्रत को

द्वादशाहोपवासेन पराकः सर्वपापहा। महापराकस्त्रिगुणस्त्वयमेव प्रकीर्तितः)॥२२॥
पौर्णमास्यां पञ्चदशग्रास्यमावास्यभोजनः। एकापाये ततो वृद्धौ चान्द्रायणमतोऽन्यथा॥२३॥
कपिलागोः पलं मूत्रमर्धाङ्गुष्ठं च गोमयम्। क्षीरं सप्तपलं दद्याद्दध्नश्चैव पलद्वयम्॥२४॥
घृतमेकपलं दद्यात्पलमेकं कुशोदकम्। गायत्र्याऽऽगृह्य गोमूत्रं गन्धद्वारेति गोमयम्॥२५॥
आप्यायस्वेति च क्षीरं दधिक्राव्णेति वै दधि। तेजोऽसीति तथा चाऽऽज्यं देवस्येति कुशोदकम्॥२६॥
ब्रह्मकूर्चो भवत्येवमापो हि ष्ठेत्यृचं जपेत्। अघमर्षणसूक्तेन संयोज्य प्रणवेन वा॥२७॥
पीत्वा सर्वाघनिर्मुक्तो विष्णुलोकी ह्युपोषितः। उपवासी सायंभोजी यतिः षष्ठात्मकालवान्॥२८॥
मांसवर्जी चाश्वमेधी सत्यवादी दिवं व्रजेत्। अग्न्याधेयं प्रतिष्ठां च यज्ञदानव्रतानि च॥२९॥
देवव्रतवृषोत्सर्गचूडाकरणमेखलाः। माङ्गल्यमभिषेकं च मलमासे विवर्जयेत्॥३०॥
दर्शाद्दर्शस्तु चान्द्रः स्यात्त्रिंशाहश्चैव सावनः। मासः सौरस्तु संक्रान्तेर्नाक्षत्रो भविवर्तनात्॥३१॥
सौरो मासो विवाहादौ यज्ञादौ सावनः स्मृतः। आब्दिके पित्रकार्ये च चान्द्रो मासः प्रशस्यते॥३२॥

'पराक' कहते हैं। यह सब पापों का विनाश करने वाला है। इससे तिगुने अर्थात् छत्तीस दिनों तक निराहार व्रत करने पर यही व्रत 'महापराक' कहलाता है। पूर्णिमा का पन्द्रह ग्रास भोजन करके प्रतिदिन एक-एक ग्रास घटाता रहे; अमावास्या को निराहार व्रत करना चाहिये तथा प्रतिपदा को एक ग्राम भोजन प्रारम्भ करके नित्य एक-एक ग्रास बढ़ाता रहे, इसको 'चान्द्रायण' कहते हैं। इसके विपरीत क्रम से भी यह व्रत किया जाता है। (जिस प्रकार शुक्ल प्रतिपदा को एक ग्राम भोजन करना चाहिये; फिर एक-एक ग्रास बढ़ाते हुए पूर्णिमा को पन्द्रह ग्राम भोजन करना चाहिये। तत्पश्चात् कृष्ण प्रतिपदा से एक-एक ग्राम घटाकर अमावास्या को निराहार व्रत करना चाहिये।)॥१८-२३॥

कपिला गाय का मूत्र एक पल, गोबर अँगेठे के आधे हिस्से के बराबर, दूध सात पल, दही दो पल, घी एक पल तथा कुश का जल एक पल एक में मिला देना चाहिये। इनका मिश्रण करते समय गायत्री-मन्त्र से गोमूत्र डालना चाहिये। **'गन्धद्वारां दुराधर्षां०'** (श्रीसूक्त) इस मन्त्र से गोबर मिलाये। **'आप्यायस्व०'** (यजु. १२/११२) इस मन्त्र से दूध डालना चाहिये। 'दधि क्राव्णो०' (यजु० २३/३२) इस मन्त्र से दही मिलाये। **'तेजोऽसि शुक्रमस्यमृतमसि०'** (यजु० २२/१) इस मन्त्र से घी डाले तथा 'देवस्य०' (यजु० २०/३) इस मन्त्र से कुशोदक मिलाये। इस तरह जो वस्तु तैयार होती है, उसका नाम 'ब्रह्मकूर्च' है। ब्रह्मकूर्च तैयार होने पर दिनभर भूखा रहकर सायंकाल में अघमर्षणमन्त्र अथवा प्रणव के साथ **'आपो हि ष्ठा०'** (यजु०' ११/५०) इत्यादि ऋचाओं का जप करके उसको पी डालना चाहिये। ऐसा करने वाला सब पापों से मुक्त हो विष्णुलोक में जाता है। दिनभर निराहार व्रत करके केवल सायंकाल में भोजन करने वाला, दिन के आठ भागों में से केवल छठे भाग में आहार ग्रहण करने वाला संन्यासी, मांसत्यागी, अश्वमेधयज्ञ करने वाला तथा सत्यवादी पुरुष स्वर्ग को जाते हैं। अग्न्याधान, प्रतिष्ठा, यज्ञ, दान, व्रत, देवव्रत, वृषोत्सर्ग, चूडाकरण, मेखलाबन्ध (यज्ञोपवीत), विवाह आदि माङ्गलिक कार्य तथा अभिषक-ये सब कार्य मलमास में नहीं करने चाहिये॥२४-३०॥

अमावास्या से अमावास्या तक का समय 'चान्द्रमास' कहलाता है। तीस दिनों का 'सावन मास' माना गया है। संक्रान्ति से संक्रान्ति काल तक 'सौरमास' कहलाता है तथा क्रमशः सम्पूर्ण नक्षत्रों के परिवर्तन से 'नाक्षत्रमास' होता है। विवाह आदि में 'सौरमास', यज्ञ आदि में 'सावन मास' और वार्षिक श्राद्ध तथा पितृकार्य में 'चान्द्रमास' श्रेष्ठतम

आषाढीमवधिं कृत्वा यः स्यात्पक्षस्तु पञ्चमः। कुर्याच्छ्राद्धं तत्र रविः कन्यां गच्छतु वा न वा॥३३॥
मासि संवत्सरे चैव तिथिद्वैधं यदा भवेत्। तत्रोत्तरोत्तमा ज्ञेया पूर्वा तु स्यान्मलिम्लुचा॥३४॥
उपोषितव्यं नक्षत्रं येनास्तं याति भास्करः। दिवा पुण्यास्तु तिथयो रात्रौ नक्तव्रते शुभाः॥३५॥
युग्माग्निकृतभूतानि षण्मुन्योर्वसुरन्ध्रयोः। रुद्रेण द्वादशी युक्ता चतुर्दश्याऽथ पूर्णिमा॥३६॥
प्रतिपदा त्वमावास्या तिथ्योर्युग्मं महाफलम्। एतद्व्यस्तं महाघोरं हन्ति पुण्यं पुराकृतम्॥३७॥
नरेन्द्रमन्त्रिव्रतिनां विवाहोपद्रवादिषु। सद्यः शौचं समाख्यातं कान्तारापदि संसदि॥३८॥
आरब्धदीर्घतपसां न राजा व्रतहा स्त्रियाः। गर्भिणी सूतिका नक्तं कुमारी च रजस्वला॥३९॥
यदाऽशुद्धा तदाऽन्येन कारयेत क्रियाः सदा। क्रोधत्प्रमादाल्लोभाद्वा व्रतभङ्गो भवेद्यदि॥४०॥
दिनत्रयं न भुञ्जीत मुण्डनं शिरसोऽथवा। असामर्थ्ये व्रतकृतौ पत्नीं वा कारयेत्सुतम्॥४१॥
सूतके मृतके कार्यं प्रारब्धं पूजनोज्झितम्। व्रतस्थं मूर्च्छितं दुग्धपानाद्यैरुद्धरेद्गुरुः॥४२॥
अष्टौ तान्यव्रतघ्नानि आपो मूलं फलं पयः। हविर्ब्राह्मणकाम्या च गुरोर्वचनमौषधम्॥४३॥
कीर्तिसन्ततिविद्यादिसौभाग्यारोग्यवृद्धये। नैर्मल्यभुक्तिमुक्त्यर्थं कुर्वे व्रतपते व्रतम्॥४४॥

माना गया है। आषाढ़ की पूर्णिमा के बाद जो पाँचवाँ पक्ष आता है, उसमें पितरों का श्राद्ध अवश्य करना चाहिये। उस समय सूर्य कन्याराशि पर गये हैं या नहीं, इसका विचार श्राद्ध के लिये अनावश्यक है॥३१-३३॥

मासिक तथा वार्षिक व्रत में जिस समय कोई तिथि दो दिन की हो जाय तो उसमें दूसरे दिन वाली तिथि श्रेष्ठतम समझनी चाहिये और पहली को मलिन। 'नक्षत्रव्रत' में उसी नक्षत्र को निराहार व्रत करना चाहिये, जिसमें सूर्य अस्त होते हों। 'दिवसव्रत' में दिनव्यापिनी तथा 'नक्तव्रत' में रात्रिव्यापिनी तिथियाँ पुण्य एवं शुभ मानी गयी हैं। द्वितीया के साथ तृतीया का, चतुर्थी-पञ्चमी का, षष्ठी के साथ सप्तमी का, अष्टमी-नवमी का, एकादशी के साथ द्वादशी का, चतुर्दशी के साथ पूर्णमा का तथा अमावास्या के साथ प्रतिपदा का वेध श्रेष्ठतम है। इसी तरह षष्ठी-सप्तमी आदि में भी समझना चाहिये। इन तिथियों का मेल महान् फल देने वाला है। इसके विपरीत, अर्थात् प्रतिपदा से द्वितीया का, तृतीया से चतुर्थी आदि का जो युग्मभाव है, वह बड़ा भयानक होता है, वह पहले के किये हुए समस्त पुण्य को नष्ट कर देता है॥३४-३७॥

राजा, मन्त्री तथा व्रतधारी पुरुषों के लिये विवाह में, उपद्रव आदि में, दुर्गम स्थानों में, संकट के समय तथा युद्ध के अवसर पर तत्काल शुद्धि बतलायी गयी है। जिसने दीर्घकाल में समाप्त होने वाले व्रत को प्रारम्भ किया है, वह स्त्री यदि मध्य में रजस्वला हो जाय तो वह रज उसके व्रत में बाधक नहीं होता। गर्भवती स्त्री, प्रसव-गृह में पड़ी हुई स्त्री अथवा रजस्वला कन्या जिस समय अशुद्ध होकर व्रत करने योग्य न रह जाय तो सदा दूसरे से उस शुभ कार्य का निष्पादन कराये। यदि क्रोध से, प्रमाद से अथवा लोभ से व्रत-भङ्ग हो जाय तो तीन दिनों तक भोजन नहीं करना चाहिये अथवा मूँड़ मुड़ा ले। यदि व्रत करने में असमर्थता हो, तो पत्नी या पुत्र से उस व्रत को कराये। प्रारम्भ किये हुए व्रत का पालन जननाशौच तथा परणाशौच में भी करना चाहिये। केवल पूजन का कार्य बन्द कर देना चाहिये। यदिव्रती पुरुष निराहार व्रत के कारण मूर्च्छित हो जाय तो गुरु दूध पिलाकर या और किसी श्रेष्ठतम उपाय से उसको होश में लाये। जल, फल, मूल, दूध, हविष्य (घी), ब्राह्मण की इच्छापूर्ति, गुरु का वचन तथा औषधि- ये आठ व्रत के नाशक नहीं हैं॥३८-४३॥

व्रती मनुष्य व्रत के स्वामी देवता से इस तरह याचना करनी चाहिये-'व्रतपते! मैं कीर्ति, सन्तान विद्या आदि,

इदं व्रतं मया श्रेष्ठं गृहीतं पुरतस्तव। निर्विघ्नां सिद्धिमायातु त्वत्प्रसादाज्जगत्पते।।४५।।
गृहीतेऽस्मिन्व्रतवरे यद्यपूर्णे म्रिये ह्यहम्। तत्सर्वं पूर्णमेवास्तु प्रसन्ने त्वयि सत्पतौ।।४६।।
व्रतमूर्तिं जगद्भूतिं मण्डले सर्वसिद्धये। आवाहये नमस्तुभ्यं संनिधौ भव केशव।।४७।।
मनसा कल्पितैर्भक्त्या पञ्चगव्यजलैः शुभैः। पञ्चामृतैः स्नापयामि त्वमेव भव पापहा।।४८।।
गन्धपुष्पोदकैर्युक्तमर्घ्यमर्घ्यपते शुभम्। गृहाण पाद्यमाचाममर्घ्यार्हं कुरु मां सदा।।४९।।
वस्त्रं वस्त्रपते पुण्यं गृहाण कुरु मां सदा। भूषणाद्यैः सुवस्त्राद्यैश्छादितं व्रतसत्पते।।५०।।
सुगन्धिगन्धं विमलं गन्धमूर्ते गृहाण वै। पापगन्धविहीनं मां कुरु त्वं हि सुगन्धिकम्।।५१।।
पुष्पं गृहाण पुष्पादिपूर्णं मां कुरु सर्वदा। पुष्पगन्धं सुविमलमायुरारोग्यवृद्धये।।५२।।
दशाङ्गं गुग्गुलुघृतयृक्तं धूपं गृहाण वै। स (सु) धूपधूपितं मां त्वं कुरु धूपित सत्पते।।५३।।
दीपमूर्ध्वशिखं दीप्तं गृहाणाखिलभासकम्। दीपमूर्ते प्रकाशाढ्यं सर्वदोर्ध्वगतिं कुरु।।५४।।
अन्नादिकं च नैवेद्यं गृहाणान्नादिसत्पते। अन्नादिपूर्णं कुरु मामन्नदं सर्वदायकम्।।५५।।
मन्त्रहीनं क्रियाहीनं भक्तिहीनं मया प्रभो। यत्पूजितं व्रतपते परिपूर्णं तदस्तु मे।।५६।।
धर्मं देहि धनं देहि सौभाग्यं गुणसन्ततिम्। कीर्तिं विद्यां देहि चाऽऽयुः स्वर्गं मोक्षं च देहि मे।।५७।।

सौभाग्य, आरोग्य, अभिवृद्धि, निर्मलता तथा भोग एवं मोक्ष के लिये इस व्रत का अनुष्ठान करने जा रहा हूँ। यह श्रेष्ठ व्रत मैंने आपके समक्ष ग्रहण किया हैं जगत्पते! आपके प्रसाद से इसमें निर्विघ्न सिद्धि प्राप्त हो। संतों के पालक! इस श्रेष्ठ व्रत को ग्रहण करने के पश्चात् यदि इसकी पूर्ति हुए बिना ही मेरी मृत्यु हो जाय तो भी आपके प्रसन्न होने से वह अवश्य ही पूर्ण हो जाय। केशव! आप व्रतस्वरूप हैं, संसार की उत्पत्ति के स्थान एवं जगत् को कल्याण सम्प्रदान करने वाले हैं; मैं सम्पूर्ण मनोरथों की सिद्धि के लिये इस मण्डल में आपका आवाहन करने जा रहा हूँ। आप मेरे सन्निकट उपस्थित हों। मन के द्वारा प्रस्तुत किये हुए पञ्चगव्य, पञ्चामृत तथा श्रेष्ठतम जल के द्वारा मैं भक्तिपूर्वक आपको स्नान कराता हूँ। आप मेरे पापों के नाशक हों। अर्घ्यपते! गन्ध, पुष्प और जल से युक्त श्रेष्ठतम अर्घ्य एवं पाद्य ग्रहण कीजिये, आचमन कीजिये तथा मुझको सदा अर्घ (सम्मान) पाने के योग्य बनाइये। हे वस्त्रपते! व्रतों के स्वामी! यह पवित्र वस्त्र ग्रहण कीजिये और मुझको सदा सुन्दर वस्त्र एवं आभूषणों आदि से आच्छादित किये रहिये। गन्धस्वरूप परमात्मन्! यह परम निर्मल श्रेष्ठतम सुगन्ध से हीन और पुण्य की सुगन्ध से युक्त कीजिये। भगवन्! यह पुष्प लीजिये और मुझको सदा फल-फूल आदि से परिपूर्ण बनाइये। यह फूल की निर्मल सुगन्ध आयु तथा आरोग्य की वृद्धि करने वाली हो। संतों के स्वामी! गुग्गुल और घी मिलाये हुए इस दशाङ्ग धूप को ग्रहण कीजिये। धूप द्वारा पूजित परमेश्वर! आप मुझको श्रेष्ठतम धूप की सुगन्ध से सम्पन्न कीजिये। हे दीपस्वरूप देव! सभी को प्रकाशित करने वाले इस प्रकाशपूर्ण दीप को, जिसकी शिखा ऊपर की तरफ उठ रही है, ग्रहण कीजिये और मुझको भी प्रकाशयुक्त एवं ऊर्ध्वगति (उन्नतिशील एवं ऊपर के लोकों में जाने वाला) बनाइये। हे अन्न आदि श्रेष्ठतम वस्तुओं के अधीश्वर! इस अन्न आदि नैवेद्य को ग्रहण कीजिये और मुझको ऐसा बनाइये, जिससे में अन्न आदि वैभव से सम्पन्न, अन्नदाता एवं सर्वस्वदान करने वाला हो सकूँ। हे प्रभो! व्रत के द्वारा आराध्य देव! मैंने मन्त्र, विधि तथा भक्ति के बिना ही जो आपका पूजन किया है, वह आपकी कृपा से परिपूर्ण-सफल हो जाय। आप मुझको धर्म, धन, सौभाग्य, गुण, संतति, कीर्ति, विद्या,

इमां पूजां व्रतपते गृहीत्वा व्रज साम्प्रतम्। पुनरागमनायैव वरदानाय वै प्रभो॥५८॥
स्नात्वा व्रतवता सर्वव्रतेषु व्रतमूर्तयः। पूज्याः सुवर्णजास्ता वै शक्त्या वै भूमिशायिना॥५९॥
जपो होमश्च सामान्य व्रतान्ते दानमेव च। चतुर्विंशाद्द्वादश वा (शतिर्द्वादश) पञ्च वा त्रय एककः॥६०॥
विप्राः प्रपूज्या गुरवो भोज्याः शक्त्या तु दक्षिणा। देया गावः सुवर्णाद्याः पादुकोपानहौ पृथक्॥६१॥
जलपात्रं चान्नपात्रमृत्तिकाछत्रमासनम्। शय्यावस्त्रयुगं कुम्भाः परिभाषेयमीरिता॥६२॥

॥इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गति व्रतपरिभाषावर्णनं नाम पञ्चसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः॥१७५॥

जायु, स्वर्ग एवं मोक्ष सम्प्रदान करें। व्रतपते! प्रभो! आप इस समय मेरे द्वारा ही हुई इस पूजा को स्वीकार करके पुनः यहाँ पधारने और वरदान देने के लिये अपने स्थान को जायँ॥४४-५८॥

सभी तरह के व्रतों में व्रतधारी पुरुष को उचित है कि वह स्नान करके व्रत-सम्बन्धी देवता की स्वर्णमयी प्रतिमा का यथाशक्ति पूजन करना चाहिये तथा रात को भूमि पर सोये। व्रत के अन्त में जप, हवन और दान सामान्य कर्तव्य है। साथ ही अपनी शक्ति के अनुसार चौबीस, द्वादश, पाँच, तीन अथवा एक ब्राह्मण की एवं गुरुजनों की पूजा करके उनको भोजन कराये और यथाशक्ति सभी को पृथक्-पृथक् गौ, स्वर्ण आदि; खड़ाऊँ, जूता, जलपात्र, अन्नपात्र, मृत्तिका, छत्र, आसन, शय्या, दो वस्त्र और कलश आदि वस्तुएँ दक्षिणा में देना चाहिये। इस तरह यहाँ 'व्रत' की परिभाषा बतलायी गयी है॥५९-६२॥

॥इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी एक सौ पचहत्तरवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ॥१७५॥

❖❖❖

अथ षट्सप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः

प्रतिपद्व्रतानि

अग्निरुवाच

वक्ष्ये प्रतिपदादीनि व्रतान्यखिलदानि ते। कार्तिकाश्वयुजे चैत्रे प्रतिपद्ब्रह्मणस्तिथिः।।१।।
पञ्चदश्यां निराहारः प्रतिपद्यर्चयेदजम्। ॐ तत्सद्ब्रह्मणे नमो गायत्र्या वाऽब्दमेककम्।।२।।
अक्षमालां स्रुवं दक्षे वामे स्रुच (चं) कमण्डलुम्। लम्बकूर्चं च जटिलं हैमं ब्राह्मणमर्चयेत्।।३।।
शक्त्या क्षीरं प्रदद्यात्तु ब्रह्मा मे प्रीयतामिति। निर्मलो भोगभुक्स्वर्गे भूमौ विप्रो धनी भवेत्।।४।।
धन्यं व्रतं प्रवक्ष्यामि अधन्यो धन्यतां व्रजेत्। मार्गशीर्षे प्रतिपदि नक्तं हुत्वाऽप्युपोषितः।।५।।
अग्न्ये नम इत्यग्निं प्राच्यार्ब्दं सर्वभाग्भवेत्। प्रतिपद्येकभक्ताशी समाप्ते कपिलाप्रदः।।६।।
वैश्वानरपदं याति शिखिव्रतमिदं स्मृतम्।।७।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते प्रतिपद्व्रतवर्णनं नाम षट्सप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः।।१७६।।

—✱✱✱—

अध्याय-१७६

प्रतिपदा तिथि व्रत विचार

अग्निदेव ने कहा कि–अधुना मैं आपसे प्रतिपद् आदि तिथियों के व्रतों का वर्णन करने जा रहा हूँ, जो सम्पूर्ण मनोरथों को देने वाला हैं। कार्तिक, आश्विन और चैत्र मास में कृष्णपक्ष की प्रतिपद् ब्रह्माजी की तिथि है। पूर्णिमा को निराहार व्रत करके प्रतिपद् को ब्रह्मा जी का पूजन करना चाहिये। पूजा '**ॐ तत्सद्ब्रह्मणे नमः।**' –इस मन्त्र से अथवा गायत्री-मन्त्र से करनी चाहिये। यह व्रत एक वर्ष तक करना चाहिये। ब्रह्माजी के स्वर्णमय विग्रह का पूजन करना चाहिये, जिसके दाहिने हाथों में स्फटिकाक्ष की माला और स्रुवा हों तथा बायें हाथों में स्रुक् एवं कमण्डलु हों। साथ ही लम्बी दाढ़ी और सिर पर जटा भी हो। यथाशक्ति दूध चढ़ावे और मन में यह उद्देश्य रखे कि 'ब्रह्माजी मुझपर प्रसन्न हों।' ऐसा करने वाला मनुष्य निष्पाप होकर स्वर्ग में श्रेष्ठतम भोग भोगता है और पृथ्वी पर धनवान् ब्राह्मण के रूप में जन्म लेता है। अधुना 'धन्यव्रत' का वर्णन करने जा रहा हूँ। इसका अनुष्ठान करने से अधन्य ही धन्य हो जाता है। पहले मार्गशीर्ष मास की प्रतिपद् को निराहार व्रत करके रात में 'अग्नये मनः'।–इस मन्त्र से हवन और अग्नि की पूजा करनी चाहिये। इसी तरह एक वर्ष तक प्रत्येक मास की प्रतिपद् को अग्नि की आराधना करने से मनुष्य सब सुखों का भागी होता है। प्रत्येक प्रतिपदा को एकभूक्त (दिन में एक समय भोजन करके) रहना चाहिये। सालभर में व्रत की समाप्ति होने पर ब्राह्मण कपिला गौ दान करना चाहिये। ऐसा करने वाला मनुष्य 'वैश्वानर' पद को प्राप्त होता है। यह 'शिखिव्रत' कहलाता है।।१-७।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी एक सौ छिहत्तरवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।१७६।।

❖❖❖

अथ सप्तसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः

द्वितीयाव्रतानि

अग्निरुवाच

द्वितीयाव्रतकं वक्ष्ये भुक्तिमुक्त्यादिदायकम्। पुष्पाहारो द्वितीयायामश्विनौ पूजयेत्सुरौ॥१॥
अब्दं स्वरूपसौभाग्यं स्वर्गभाग्जायते व्रती। कार्तिके शुक्लपक्षस्य द्वितीयायां यमं यजेत्॥२॥
अब्दमुपोषितः स्वर्गं गच्छेन्न नरकं व्रती। अशून्यशयनं वक्ष्ये अवैधव्यादिदायकम्॥३॥
कृष्णपक्षे द्वितीयायां श्रावणस्य चरेदिदम्। श्रीवत्सधारिञ्श्रीकान्त श्रीधामञ्श्रीपतेऽव्यय॥४॥
गार्हस्थ्यं मा प्रणाशं मे यातु धर्मार्थकामदम्। अग्नयो मा प्रणश्यन्तु मा प्रणश्यन्तु देवताः॥५॥
पितरो मा प्रणश्यन्तु मत्तो दाम्पत्यभेदतः। लक्ष्म्या वियुज्यते देवो न कदाचिद्यथा भवान्॥६॥
तथा कलत्रसम्बन्धो देव मा मे विभिद्यताम्। लक्ष्म्या न शून्यं वरद यथा ते शयनं विभो॥७॥
शय्या ममाप्यशून्याऽस्तु तथैव मधुसूदन। लक्ष्मीं विष्णुं यजेदब्दं दद्याच्छय्यां फलानि च॥८॥
प्रतिमासं च सोमाय दद्यादर्घ्यं समन्त्रकम्। गगनाङ्गणसंदीप दुग्धाब्धिमथनोद्भव॥९॥

अध्याय-१७७

द्वितीया तिथि व्रत विचार

श्रीअग्निदेव ने कहा कि—अधुना मैं द्वितीया के व्रतों का वर्णन करने जा रहा हूँ, जो भोग और मोक्ष आदि देने वाले हैं। प्रत्येक मास की द्वितीया को फूल खाकर रहे और दोनों अश्विनीकुमार नामक देवताओं की पूजा करनी चाहिये। एक वर्ष तक इस व्रत के अनुष्ठान से सुन्दर स्वरूप एवं सौभाग्य की प्राप्ति हो जाती है और अन्त में व्रती पुरुष स्वर्गलोक का भागी होता है। कार्तिक में शुक्लपक्ष की द्वितीया को यम की पूजा करनी चाहिये। फिर एक वर्ष तक प्रत्येक शुक्ल-द्वितीया को उपवासपूर्वक व्रत रखे। ऐसा करने वाला पुरुष स्वर्ग में जाता है, नरक में नहीं पड़ता॥१-२॥

अधुना 'अशून्य-शयन' नामक व्रत बतलाता हूँ, जो स्त्रियों को अवैधव्य (सदा सुहाग) और पुरुषों को पत्नी-सुख आदि देने वाला है। श्रावण मास के कृष्णपक्ष की द्वितीया को इस व्रत का अनुष्ठान करना चाहिये। इस व्रत में भगवान् से इस तरह याचना की जाती है। 'वक्षः स्थल में श्रीवत्सचिह्न धारण करने वाले श्रीकान्त! आप लक्ष्मी के धाम और स्वामी हैं; अविनाशी एवं सनातन परमेश्वर हैं। आपकी कृपा से धर्म, अर्थ और काम सम्प्रदान करने वाला मेरा गार्हस्थ्य-आश्रम नष्ट न हो। मेरे गृह के अग्निहोत्र की आग कभी न बुझे, गृहदेवता कभी अदृश्य न हों। मेरे पितर विनाश से बचे रहें और मुझसे दातपत्य-भेद न हो। जिस प्रकार आप कभी लक्ष्मी से विलग नहीं होते, उसी तरह मेरा भी पत्नी के साथ समन्ध कभी टूटने या छूटने न पावे। वरदानी प्रभो! जिस प्रकार आपकी शय्या कभी लक्ष्मी से सूनी नहीं होती, मधुसूदन! उसी तरह मेरी शय्या भी पत्नी से सूनी न हो।' इस तरह व्रत प्रारम्भ करके एक वर्ष तक प्रतिमास की द्वितीया को लक्ष्मी और विष्णु का विधिवत् पूजन करना चाहिये। शय्या और फल का दान भी करना चाहिये। साथ ही प्रत्येक मास में उसी तिथि को चन्द्रमा के लिये मन्त्रोच्चारणपूर्वक अर्घ्य देना चाहिये। अर्घ्य का मन्त्र-'हे भगवान् चन्द्रदेव! आप गगन-प्राङ्गण के दीपक हैं। क्षीरसागर के मन्थन से आपका आविर्भाव हुआ है। आप अपनी

भाभासितादिगाभोग रमानुज नमोऽस्तु ते। ॐ श्रं श्रीधराय नमः सोमात्मानं हरिं यजेत्॥१०॥
घं टं हं सं श्रियै नमो दशरूपमहात्मने। घृतेन होमो नक्तं च शय्यां दद्याद्द्विजातये॥११॥
दीपान्नभाजनैर्युक्तं छत्रोपानहमासनम्। सोदकुम्भं च प्रतिमां विप्रायाथ च पात्रकम्॥१२॥
व्रत एवं च कुरुते भुक्तिमुक्तिमवाप्नुयात्। कान्तिव्रतं प्रवक्ष्यामि कार्तिकस्य सिते चरेत्॥१३॥
नक्तभोजी द्वितीयायां पूजयेद्बलकेशवौ। वर्षं प्राप्नोति वै कान्तिमायुरारोग्यकादिकम्॥१४॥
अथ विष्णुव्रतं वक्ष्ये मनोवाञ्छितदायकम्। पौषशुक्लद्वितीयादि कृत्वा दिनचतुष्टयम्॥१५॥
(पूर्वं सिद्धार्थकैः स्नानं ततः कृष्णतिलैः स्मृतम्। वचया च तृतीयेऽह्नि सर्वौषध्या चतुर्थके॥१६॥
मुरा मांसी वचा कुष्ठं शैलेयं रजनीद्वयम्)। सटी चम्पकमुस्तं च सर्वौषधिगणः स्मृतः॥१७॥
नाम्ना कृष्णाच्युतानन्त हृषीकेशेति पूजयेत्। पादे नाभ्यां चक्षुषि च क्रमाच्छिरसि पुष्पकैः॥१८॥
शशिचन्द्रशशाङ्केन्दुसंज्ञाभिश्चार्घ्य इन्दवे। नक्तं भुञ्जीत च नरो यावत्तिष्ठति चन्द्रमाः॥१९॥

प्रभा से सम्पूर्ण दिङ्मण्डल को प्रकाशित करते हैं। भगवती लक्ष्मी के छोटे भाई! आपको नमस्कार है। तत्पश्चात् '**ॐ श्रं श्रीधराय नमः**।'–इस मन्त्र से सोमस्वरूप श्रीहरि विष्णु का पूजन करना चाहिये। '**घं टं हं सं श्रियै नमः**'।–इस मन्त्र से लक्ष्मीजी की तथा '**दशरूपमहात्मने नमः**'।–इस मन्त्र से भगवान् श्रीहरि विष्णु की पूजा करनी चाहिये। रात में घी से हवन करके ब्राह्मण को शय्या-दान करना चाहिये। उसके साथ दीप, अन्न से भरे हुए पात्र, छाता, जूता, आसन, जल से भरा कलश, श्रीहरि विष्णु की प्रतिमा तथा पात्र भी ब्राह्मण को देना चाहिये। जो इस तरह कथित व्रत का पालन करता है, वह भोग और मोक्ष का भागी होता है॥३-१२॥

अधुना 'कान्तिव्रत' का वर्णन करने जा रहा हूँ। इसका प्रारम्भ कार्तिक शुक्ला द्वितीया को करना चाहिये। दिन में निराहार व्रत और रात में भोजन करना चाहिये। इसमें बलराम तथा भगवान् श्रीकृष्ण का पूजन करना चाहिये। एक वर्ष तक ऐसा करने से व्रती पुरुष कान्ति, आयु और आरोग्य आदि प्राप्त करता है॥१३-१४॥

अधुना मैं 'विष्णुव्रत' का वर्णन करने जा रहा हूँ, जो मनोवाञ्छित फल को देने वाला है। पौष मास के शुक्लपक्ष की द्वितीया से प्रारम्भ करके लगातार चार दिनों तक इस व्रत का अनुष्ठान किया जाता है। पहले दिन सरसों-मिश्रित जल से स्नान का विधान है। दूसरे दिन काले तिल मिलाये हुए जल से स्नान बतलाया गया है। तीसरे दिन वचा-या वच नामक औषधि से युक्त जल के द्वारा तथा चौथे दिन सवौषधि-मिश्रित जल के द्वारा स्नान करना चाहिये। मुरा (कपूर-कचरी), वचा (वच), कुष्ठ (कूठ), शैलेय (शिलाजीत या भूरिछरीला), दो तरह की हल्दी (गाँठ हल्दी और दारुहल्दी), कचूर, चम्पा और मोथा–यह 'सवौषधि-समुदाय' कहा गया है। पहले दिन '**श्रीकृष्णाय नमः**।' दूसरे दिन 'अच्युताय नमः।', तीसरे दिन 'अनन्ताय नमः।' और चौथे दिन '**हृषीकेशाय नमः**।' इस नाम-मन्त्र से क्रमशः भगवान् के चरण, नाभि, नेत्र एवं मस्तक पर पुष्प समर्पित करते हुए पूजन करना चाहिये। प्रतिदिन प्रदोपकाल में चन्द्रमा को अर्घ्य देना चाहिये। पहले दिन में अर्घ्य में '**शशि ने नमः**।' दूसरे दिन के अर्घ्य में 'चन्द्राय नमः।', तीसरे दिन 'शशाङ्काय नमः।' और चौथे दिन 'इन्दवे नमः।' का उच्चारण करना चाहिये। रात में जबतक चन्द्रमा दिखायी देते हों, तभी तक मनुष्य को भोजन कर लेना चाहिये। व्रती पुरुष षड् मास या एक साल तक इस व्रत का पालन करके सम्पूर्ण

षण्मासं पारणं चाब्दं प्राप्नुयात्सकलं व्रती। एतद्व्रतं नृपैः स्त्रीभिः कृतं पूर्वं सुरादिभिः।।२०।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते द्वितीयाव्रतकथनं नाम सप्तसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः।।१७७।।

—✲✲✲—
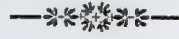
अथाष्टसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः

तृतीयाव्रतानि

अग्निरुवाच

तृतीयाव्रतान्याख्यास्ये भुक्तिमुक्तिप्रदानि ते। ललितायां तृतीयायां मूलगौरीव्रतं शृणु।।१।।
तृतीयायां चैत्रशुक्ले ऊढा गौरी हरेण हि। तिलस्नातोऽर्चयेच्छंभुं गौर्या हैमफलादिभिः।।२।।
नमोऽस्तु पाटलायै च पादौ देव्याः शिवस्य च। शिवायेति च संकीर्त्य जयायै गुल्फयोर्यजेत्।।३।।
त्रिपुरघ्नाय रुद्राय भवान्यै जङ्घयोर्द्वयोः। शिवं रुद्रायेश्वराय विजयायै च जानुनी।।४।।
ईशायेति कटिं देव्याः शंकरायेति शंकरम्। कुक्षिद्वयं च कोटव्यै शूलिनं शूलपाणये।।५।।

मनोवाञ्छित फल को प्राप्त कर लेता है। प्राचीन काल में राजाओं ने, स्त्रियों ने और देवता आदि ने भी इस व्रत का अनुष्ठान किया था।।१५-२०।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णाद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी एक सौ सतहत्तरवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।१७७।।

❖❖❖

अध्याय–१७८

तृतीया तिथि व्रत विचार

श्रीअग्निदेव ने कहा कि–हे वसिष्ठ! अधुना मैं आपके सम्मुख तृतीया तिथि को किये जानेवाले व्रतों का वर्णन करने जा रहा हूँ, जो भोग और मोक्ष सम्प्रदान करने वाले हैं। ललितातृतीया को किये जाने वाले मूलगौरी-सम्बन्धी (सौभाग्यशयन) व्रत को सुनिये।।१।।

चैत्र के शुक्लपक्ष की तृतीया को ही पार्वती का भगवान् शिव के साथ विवाह हुआ था। इसलिये इस दिन तिलमिश्रित जल से स्नान करके पार्वती सहित देवाधिदेव भगवान् श्रीशिवशंकर की स्वर्णाभूषण और फल आदि से पूजा करनी चाहिये।।२।।

नमोऽस्तु पाठलायै' (पाटला देवी को नमस्कार)–यह कहकर पार्वती देवी और देवाधिदेव भगवान् श्रीशिवशंकर के चरणों का पून करना चाहिये। '**शिवाय नमः**' (भगवान् शिव को नमस्कार)–यह कहकर शिव की और 'जलायै नमः' (जया को नमस्कार)–ऐसा कहकर गौरी देवी की अर्चना करनी चाहिये। 'त्रिपुरघ्नाय रुद्राय नमः' (त्रिपुरविनाशक रुद्रदेव को नमस्कार) तथा 'भवान्यै नमः' (भवानी को नमस्कार)–यह कहकर क्रमशः शिव–पार्वती की दोनों जङ्घाओं का और 'रुद्रायेश्वराय नमः' (सबके ईश्वर रुद्रदेव को नमस्कार)–यह कहकर क्रमशः देवाधिदेव भगवान् श्रीशिवशंकर

मङ्गलायै नमस्तुभ्यमुदरं चाभिपूजयेत्। सर्वात्मने नमो रुद्रमैशान्यै च कुचद्वयम्॥६॥
शिवं देवात्मने तद्वद्ध्लादिन्यै कण्टमर्चयेत्। महादेवाय च शिवमनन्तायै करद्वयम्॥७॥
त्रिलोचनायेति हरं बाहुं कालानलप्रिये। सौभाग्यायै महेशाय भूषणानि प्रपूजयेत्॥८॥
अशोकमधुवासिन्यै ईश्वरायेति चोष्ठकौ। चतुर्मुखप्रिया चाऽऽस्यं हराय स्थाणवे नमः॥९॥
नमोऽर्धनारीशहरममिताङ्ग्यै च नासिकाम्। नम उग्राय लोकेशं ललितेति पुनर्भ्रुवौ॥१०॥
शर्वाय पुरहन्तारं वासन्त्यै चैव तालुकम्। नमः श्रीकण्ठनाथायै शितिकण्ठाय केशकम्॥११॥
भीमोग्राय सुरूपिण्यै शिरः सर्वात्मने नमः। मल्लिकाशोककमलकुन्दं तगरमालती॥१२॥

और पार्वती के घुटनों का पूजन करना चाहिये। 'ईशायै नमः' (सर्वेश्वरी को नमस्कार)—ऐसा कहकर देवाधिदेव भगवान् श्रीशिवशंकर के कटिभाग की पूजा करनी चाहिये। 'कोटव्यै नमः' (कोटवीदेवी को नमस्कार) और 'शूलपाणये नमः' (त्रिशूलधारी को नमस्कार)—ऐसा कहकर क्रमशः गौरीदेवाधिदेव भगवान् श्रीशिवशंकर के कुक्षिदेश का पूजनक करना चाहिये। **'मङ्गलायै नमः'** (मङ्गलादेवी को नमस्कार) कहकर भवानी के और **'तुभ्यं नमः'** (आपको नमस्कार)—यह कहकर देवाधिदेव भगवान् श्रीशिवशंकर के उदर को पूजन करना चाहिये। (सर्वात्मने नमः' (सम्पूर्ण प्राणियों के आत्मभूत शिव को नमस्कार)—ऐसा कहकर रुद्र के और 'ईशान्यै नमः' (ईशानी को नमस्कार) कहकर पार्वती के स्तनयुगल का पूजन करना चाहिये। **'देवात्मने नमः'** (देवताओं के आत्मभूत देवाधिदेव भगवान् श्रीशिवशंकर को नमस्कार)—कहकर शिव के और उसी तरह 'ह्लादिन्यै नमः' (सभी को आह्लाद सम्प्रदान करने वाली गौरी को नमस्कार) कहकर पार्वती के कण्ठप्रदेश की अर्चना करनी चाहिये। **'महादेवाय नमः'** (महादेव को नमस्कार) और 'अनन्तायै नमः' (अनन्ता को नमस्कार) कहकर क्रमशः शिव-पार्वती के दोनों हाथों का पूजन करना चाहिये। **'त्रिलोचनाय नमः'** (त्रिलोचन को नमस्कार) और **'कालानलप्रियायै नमः'** (कालाग्निस्वरूप शिव की प्रियतमा को नमस्कार) कहकर भुजाओं का तथा 'महेशाय नमः' (महेश्वर को नमस्कार) एवं **'सौभाग्यायै नमः'** (सौभाग्यवती को नमस्कार) कहकर शिव-पार्वती के आभूषणों की पूजा करनी चाहिये। उसके बाद **'अशोकमधुवासिन्यै नमः'** (अशोकपुष्प मधु से सुवासित पार्वती को नमस्कार) और 'ईश्वराय नमः' (ईश्वर को नमस्कार) कहकर दोनों के ओष्ठ भाग का तथा **'चतुर्मुखप्रियायै नमः'** (चतुर्मुख ब्रह्मा की प्रिय पुत्रवधु को नमस्कार) और 'अराय स्थाणवे नमः' (पापहारी स्थाणुस्वरूप शिव को नमस्कार) कहकर क्रमशः गौरीदेवाधिदेव भगवान् श्रीशिवशंकर के मुख का पूजन करना चाहिये। **'अर्धनारीशाय नमः'** (अर्धनारीश्वर को नमस्कार) कहकर शिव की और 'अमिताङ्गायै नमः' (अपरिमित अङ्गों वाली देवी को नमस्कार) कहकर पार्वती की नासिकाका पूजन करना चाहिये। 'उग्राय नमः' (उग्रस्वरूप शिव को नमस्कार) कहकर लोकेश्वर शिव का और 'ललितायै नमः' (ललिता को नमस्कार) कहकर पार्वती की भौंहों का पूजन करना चाहिये। 'शर्वाय नमः' (शर्व को नमस्कार) कहकर त्रिपुरारि शिव के और 'वासन्त्यै नमः' (वासन्ती देवी को नमस्कार) कहकर पार्वती के तालुप्रदेश का पूजन करना चाहिये। **'श्रीकण्ठनाथायै नमः'** (श्रीकण्ठ शिव की पत्नी उमा को नमस्कार) और 'शितिकण्ठाय नमः' (नीलकण्ठ को नमस्कार) कहकर गौर-देवाधिदेव भगवान् श्रीशिवशंकर के केशपाश को पूजन करना चाहिये। 'भीमोग्राय नमः' (भयंकर एवं उग्रस्वरूप धारण करने वाले शिव को नमस्कार) कहकर देवाधिदेव भगवान् श्रीशिवशंकर के और 'सुरूपिण्यै नमः' (सुन्दर रूपवती को नमस्कार) कहकर गौरी देवाधिदेव भगवान् श्रीशिवशंकर के केशपाश को पूजन करना चाहिये। **'भीमोग्राय नमः'** (भयंकर एवं उग्रस्वरूप धारण करने वाले शिव को नमस्कार) कहकर देवाधिदेव भगवान् श्रीशिवशंकर के और **'सुरूपिण्यै नमः'** (सुन्दर

कदम्बं करवीरं च बाणमम्लानकुङ्कुमम्। सिन्धुवारं च मासेषु सर्वेषु क्रमशः स्मृतम्॥१३॥
उमामहेश्वरौ पूज्य सौभाग्याष्टकमग्रतः। स्थापयेद्घृतनिष्पावकुसुम्भक्षीर जीरकम्॥१४॥
तृणराजेक्षुलवणं कुस्तुम्बरुमथाष्टकम्। चैत्रे शृङ्गोदकं प्राश्य देवदेव्यग्रतः स्वपेत्॥१५॥
प्रातः स्नात्वा समभ्यर्च्य विप्रदाम्पत्यमर्चयेत्। तदष्टकं द्विजे दद्याल्ललिता प्रीयतां मम॥१६॥
शृङ्गोदकं गोमयं च मन्दारं बिल्वपत्रकम्। कुशोदकं दधिक्षीरं कार्तिके पृषदाज्यकम्॥१७॥
गोमूत्राज्यं कृष्णतिलं पञ्चगव्यं क्रमाशनम्। ललिता विजया भद्रा भवानी कुमुदा शिवा॥१८॥
वासुदेवी तथा गौरी मङ्गला कमला सती। चैत्रादौ दानकाले च प्रीयतामिति वाचयेत्॥१९॥
फलमेकं परित्याज्यं व्रतान्ते शयनं ददेत्। उमामहेश्वरं हैमं वृषभं च गवा सह॥२०॥
गुरुं च मिथुनान्यर्च्य वस्त्राद्यैर्भुक्तिमुक्तिभाक्। सौभाग्यारोग्यरूपायुः सौभाग्यशयनव्रतात्॥२१॥
नभस्ये वाऽथ वैशाखे कुर्यान्मार्गशिरस्यथ। शुक्लपक्षे तृतीयायां ललितायै नमो यजेत्॥२२॥
प्रतिपक्षं ततः प्राच्य व्रतान्ते मिथुनानि च। चतुर्विंशतिमभ्यर्च्य वस्त्राद्यैर्भुक्तिमुक्तिभाक्॥२३॥

रूपवती को नमस्कार) कहकर भगवती उमा के शिरोभाग की अर्चना करनी चाहिये। (**सर्वात्मने नमः**' (सर्वात्मा शिव को नमस्कार) कहकर पूजा का उपसंहार करना चाहिये॥३-११॥

शिव की पूजा के लिय ये पुष्प क्रमशः चैत्रादि मासों में ग्रहण करने योग्य बताये गये हैं—मल्लिका, अशोक, कमल, कुन्द, तगर, मालती, कदम्ब, कनेर, नीले रंग का सदाबहार, अम्लान (आँ बोली), कुङ्कुम और सेंधुवार॥१२-१३॥

उमा-महेश्वर का पूजन करके उनके सम्मुख अष्ट सौभाग्य-द्रव्य रख देना चाहिये। घृतमिश्रित निष्पाव (एक द्विदल), कुसुम्भ (केसर), दुग्ध, जीवक (एक औषधि विशेष), दूर्वा, ईख, नमक और कुस्तुम्बुरु (धनियाँ)—ये अष्ट सौभाग्य-द्रव्य हैं। चैत्रमास में पहाड़ों के शिखरों का (गंगा आदि का) जल पान करके रुद्रदे और पार्वती देवी के आगे शयन करना चाहिये। प्रातःकाल स्नान करके गौरी देवाधिदेव भगवान् श्रीशिवशंकर का पूजन कर ब्राह्मण-दम्पति की अर्चना करनी चाहिये और वह अष्ट सौभाग्य-द्रव्य 'ललिता प्रीयतां मम।' (ललिता मुझपर प्रसन्न हों)—ऐसा कहकर ब्राह्मण को देना चाहिये।१४-१६॥

व्रत करने वाले को चैत्रादि मासों में व्रत के दिन क्रमशः यह आहार करना चाहिये—चैत्र के शृङ्गजल (झरने का जल), वैशाख में गोबर, ज्येष्ठ में मन्दार (आक) का पुष्प, आषाढ़ में बिल्वपत्र, श्रावण में कुशजल, भाद्रपद में दही, आश्विन में दुग्ध, कार्तिक में घृतमिश्रित दधि, मार्गशीर्ष में गोमूत्र, पौष में घृत, माघ में काले तिल और फाल्गुन में पञ्चगव्य। ललिता, विजया, भद्रा, भवानी, कुमुदा, शिवा, वासुदेवी, गौरी, मंगला, कमला और सती—चैत्रादि मासों में सौभाग्याष्टक के दान के समय उपरोक्त नामों का 'प्रीयतां मम' से संयुक्त करके उच्चारण करना चाहिये। व्रत के पूर्ण होने पर किसी एक फल का सदा के लिये व्रत के पूर्ण होने पर किसी एक फल का सदा के लिये त्याग कर दे तथा गुरुदेव को तकियों से युक्त शय्या, उमा-महेश्वर की स्वर्णनिर्मित प्रतिमा एवं गौसहित वृषभ का दान करना चाहिये। गुरु और ब्राह्मण-दम्पति का वस्त्र आदि से सत्कार करके साधक भोग और मोक्ष—दोनों को प्राप्त कर लेता है। इस 'सौभाग्यशयन' नामक व्रत के अनुष्ठान से मनुष्य सौभाग्य, आरोग्य, रूप और दीर्घायु प्राप्त करता है॥१७-२१॥

यह व्रत भाद्रपद, वैशाख और मार्गशीर्ष के शुक्लपक्ष की तृतीया को भी किया जा सकता है। इसमें 'ललितायै नमः' (ललिता को नमस्कार)—इस तरह कहकर पार्वती का पूजन करना चाहिये। उसके बाद व्रत की समाप्ति के समय

उक्तो मार्गो द्वितीयोऽयं सौभाग्यव्रतमावदे। फाल्गुनादितृतीयायां लवणं यस्तु वर्जयेत्।।२४।।
समाप्ते शयनं दद्याद्गृहं चोपस्करान्वितम्। सम्पूज्य विप्रमिथुनं भवानी प्रीयतामिति।।२५।।
सौभाग्यार्थं तृतीयोक्ता गौरीलोकादिदायिनी। माघे भाद्रे च वैशाखे तृतीयाव्रतकृत्तथा।।२६।।
दमनकतृतीयाकृच्चैत्रे दमनकैर्यजेत्। आत्मतृतीया मार्गस्य प्रार्च्येच्छाभोजनादिना।।२७।।
गौरीकाली उमा भद्रा दुर्गा कान्तिः सरस्वती। वैष्णवी लक्ष्मीः प्रकृतिः शिवा नारायणी क्रमात्।।
मार्गतृतीयामारभ्य सौभाग्यं स्वर्गमाप्नुयात्।।२८।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते तृतीयाव्रतकथनं नामाष्टसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः।।१७८।।

प्रत्येक पक्ष में ब्राह्मण-दम्पति की पूजा करनी चाहिये। उनकी चौबीस वस्त्र आदि से अर्चना करके मनुष्य भोग और मोक्ष-दोनों को प्राप्त कर लेता है। 'सौभाग्यशयन' की यह दूसरी विधि बतलायी गयी है। अधुना मैं 'सौभाग्यव्रत' के विषय में कह रहा हूँ। फाल्गुन आदि मासों में शुक्लपक्ष की तृतीया को व्रत करने वाला नमक का परित्याग करना चाहिये। व्रत समाप्त होने पर ब्राह्मण-दम्पति का पूजन करके 'भवानी प्रीयताम्।' (भवानी प्रसन्न हों) कहकर शय्या और सम्पूर्ण सामग्रियों से युक्त गृह का दान करना चाहिये। यह 'सौभाग्य तृतीया' व्रत कहा गया, जो पार्वती आदि के लोकों को सम्प्रदान करने वाला है। इसी तरह माघ, भाद्रपद और वैशाख की तृतीया को व्रत करना चाहिये।।२२-२६।।

चैत्र में 'दमनक-तृतीया' का व्रत करके पार्वती की 'दमनक' नामक पुष्पों से पूजन करनी चाहिये। मार्गशीर्ष में 'आत्म-तृतीया' का व्रत किया जाता है। इसमें पार्वती का पूजन करके ब्राह्मण को इच्छानुसार भोजन कराये। मार्गशीर्ष की तृतीया से प्रारम्भ करके, क्रमशः पौष आदि मासों में उपरोक्त व्रत का अनुष्ठान करके निम्नलिखित नामों का 'प्रीयताम्' से संयुक्त करके, कहे—गौरी, काली, उमा, भद्रा, दुर्गा, कान्ति, सरस्वती, वैष्णवी, लक्ष्मी, प्रकृति, शिवा और नारायणी। इस तरह व्रत करने करने वाला वाला सौभाग्य और स्वर्ग को प्राप्त करता है।।२७-२८।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी एक सौ अठहत्तरवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।१७८।।

❖❖❖

अथैकोनाशीत्यधिकशततमोऽध्यायः

चतुर्थीव्रतानि

अग्निरुवाच

चतुर्थीव्रतान्याख्यास्ये भुक्तिमुक्तिप्रदानि ते। माघे शुक्लचतुर्थ्यां तु उपवासी यजेद्गणम्।।१।।
पञ्चम्यां च तिलान्नादी वर्षान्निर्विघ्नतः सुखी। गं स्वाहा मूलमन्त्रोऽयं गामाद्यं हृदयादिकम्।।२।।
आगच्छोल्काय चाऽऽवाह्य गच्छोल्काय विसर्जनम्। ऊल्कान्तैर्गादिगन्धाद्यैः पूजयेन्मोदकादिभिः।।३।।
ॐ महोल्काय विद्महे वक्रतुण्डाय धीमहि। तन्नो दन्ती प्रचोदयात्।।
मासि भाद्रपदे चापि चतुर्थीकृच्छिवं व्रजेत्।।४।।
चतुर्थ्यङ्गारकेऽभ्यर्च्य गणं सर्वमवाप्नुयात्। चतुर्थ्यां फाल्गुने नक्तमविघ्नाख्या चतुर्थ्यपि।।५।।
चतुर्थ्यां दमनैः पूज्य चैत्रे प्राच्र्य गणं सुखी।।६।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते चतुर्थीव्रतकथनं नामैकोनाशीत्यधिकशततमोऽध्यायः।।१७९।।

अध्याय-१७९

चतुर्थी तिथि व्रत विचांर

श्रीअग्निदेव ने कहा कि–हे वसिष्ठ! अधुना मैं आपके सम्मुख भोग और मोक्ष सम्प्रदान करने वाले चतुर्थी सम्बन्धी व्रतों का वर्णन करने जा रहा हूँ। माघ के शुक्लपक्षी की चतुर्थी को निराहार व्रत करके गणेश का पूजन करना चाहिये। उसके बाद पञ्चमी को तिल का भोजन करना चाहिये। ऐसा करने से मनुष्य बहुत वर्षों तक विघ्नहीन होकर सुखी रहता है। 'गं स्वाहा।'–यह मूलमन्त्र है। 'गां नमः।' आदि से हृदयादि का न्यास करना चाहिये।।१-२।।

'आगच्छोल्काय' कहकर गणेश का आवाहन और 'गच्छोल्काय' कहकर विसर्जन करना चाहिये। इस तरह आदि में गकारयुक्त और अन्त में 'उल्का' शब्दयुक्त मन्त्र से उनके आवाहनादि कार्य करना चाहिये। गन्धादि उपचारों एवं लड्डुओं आदि द्वारा गणपति का पूजन करना चाहिये।।३।

(तत्पश्चात् निम्नलिखित गणेश-गायत्री का जप करना चाहिये)–**ॐ महोल्काय विद्महे वक्रतुण्डायधीमहि। तन्नो दन्ती प्रचोदयात्।।** भाद्रपद के शुक्ल पक्ष की चतुर्थी को व्रत करने वाला शिवलोका को प्राप्त करता है। 'अङ्गारक-चतुर्थी (मंगलवार से युक्त चतुर्थी) को गणेश का पूजन करके मनुष्य सम्पूर्ण अभीष्ट वस्तुओं को प्राप्त कर लेता है। फाल्गुन की चतुर्थी को रात्रि में ही भोजन करना चाहिये। यह 'अविघ्ना चतुर्थी' के नाम से प्रसिद्ध है। चैत्र मास की चतुर्थी को 'दमनक' नामक पुष्पों से गणेश का पूजन करके मनुष्य सुख-भोग प्राप्त करता है।।४-६।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी एक सौ उन्यासीवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।१७९।।

❖❖❖

अथाशीत्यधिकशततमोऽध्यायः

पञ्चमीव्रतानि

अग्निरुवाच

पञ्चमीव्रतकं वक्ष्ये आरोग्यस्वर्गमोक्षदम्। नभोनभस्याश्विने च कार्तिके शुक्लपक्षके।।१।।
वासुकिस्तक्षकः पूज्यः कालीयो मणिभद्रकः। ऐरावतो धृतराष्ट्रः कर्कोटकधनञ्जयौ।।२।।
एते प्रयच्छन्त्यभयमायुर्विद्यायशः श्रियम्।।३।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गति पञ्चमीव्रतकथनं नामाशीत्यधिकशततमोऽध्यायः।।१८०।।

—※※※—

अध्याय–१८०

पञ्चमी तिथि व्रत विचार

श्रीअग्निदेव ने कहा कि–वसिष्ठ! अधुना मैं आरोग्य, स्वर्ग और मोक्ष सम्प्रदान करने वाले पञ्चमी-व्रत का वर्णन कर रहा हूँ। श्रावण, भाद्रपद, आश्विन और कार्तिक के शुक्लपक्ष की पञ्चमी को वासुकि, तक्षक, कालिय, मणिभद्र, ऐरावत, धृतराष्ट्र, कर्कोटक और धनंजय नामक नागों का पूजन करना चाहिये।।१-२।।

ये सभी नाग अभय, आयु, विद्या, यश और लक्ष्मी सम्प्रदान करने वाले हैं।।३।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी एक सौ अस्सीवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।१८०।।

अथैकाशीत्यधिकशततमोऽध्यायः

षष्ठी व्रतानि

अग्निरुवाच

षष्ठी व्रतानि वक्ष्यामि कार्तिकादौ समाचरेत्। षष्ठ्यां फलाशनोऽर्घ्याद्यैर्भुक्तिमुक्तिमवाप्नुयात्।।१।।
स्कन्दषष्ठीव्रतं प्रोक्तं भाद्रे षष्ठ्यामथाक्षयम्। कृष्णषष्ठीव्रतं वक्ष्ये मार्गशीर्षे चरेच्च तत्।।
अनाहारो वर्षमेकं भुक्तिमुक्तिमवाप्नुयात्।।२।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते षष्ठीव्रतकथनं नामैकाशीत्यधिकशततमोऽध्यायः।।१८१।।

—❊❊❊—

अध्याय-१८१

षष्ठी तिथि व्रत कथन

श्रीअग्निदेव ने कहा कि—अधुना मैं षष्ठी-सम्बन्धी व्रतों को कह रहा हूँ। कार्तिक के कृष्णपक्ष की षष्ठी को फलमात्र का भोजन करके कार्तिक के लिये अर्घ्यदान करना चाहिये। इससे मनुष्य भोग और मोक्ष प्राप्त करता है। इसको 'स्कन्दषष्ठी-व्रत' कहते हैं। भाद्रपद के कृष्णपक्ष की षष्ठी में 'अक्षय षष्ठी व्रत' करना चाहिये। इसको मार्गशीर्ष में भी करना चाहिये। इस अक्षय षष्ठी के दिन किसी भी एक वर्ष निराहार रहने से मानव भोग और मोक्ष प्राप्त कर लेता है।।१-२।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी एक सौ एकयासीवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।१८१।।

अथद्व्यशीत्यधिकशततमोऽध्यायः

सप्तमीव्रतानि

अग्निरुवाच

सप्तमीव्रतकं वक्ष्ये सर्वेषां भुक्तिमुक्तिदम्। माघमासेऽब्जके शुक्ले सूर्यं प्राच्र्य विशोकभाक्।।१।।
सर्वावाप्तिस्तु सप्तम्यां मासि भाद्रेऽर्कपूजनात्। पौषे मासि सितेऽनशनन्प्राच्र्यार्कं पापनाशनम्।।२।।
कृष्णपक्षे तु माघस्य सर्वावाप्तिस्तु सप्तमी। फाल्गुने तु सिते नन्दा सप्तमी चार्कपूजनात्।।३।।
मार्गशीर्षे सिते प्राच्र्य सप्तमी चापराजिता। मार्गशीर्षे सिते चाब्दं पुत्रीया सप्तमी स्त्रियाः।।४।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते सप्तमीव्रतकथनं नाम द्व्यशीत्यधिकशततमोऽध्यायः।।१८२।।

अध्याय–१८२

सप्तमी तिथि व्रत विचार

श्रीअग्निदेव ने कहा कि–हे वसिष्ठ! अधुना मैं सप्तमी तिथि के व्रत कहने जा रहा हूँ। यह सभी को भोग और मोक्ष सम्प्रदान करने वाला है। माघ मास के शुक्लपक्ष की सप्तमी तिथि को (अष्टदल अथवा द्वादशदल) कमल का निर्माण करके उसमें भगवान् सूर्य का पूजन करना चाहिये। इससे मनुष्य शोकहीन हो जाता है।।१।।

भाद्रपद मास में शुक्लपक्ष की सप्तमी को भगवान् आदित्य का पूजन करने से समस्त अभीष्ट वस्तओं की प्राप्ति हो जाती है। पौषमास में शुक्लपक्ष की सप्तमी को निराहार रहकर सूर्यदेव का पूजन करने से सारे पापों का विनाश हाता है।।२।।

माघ के कृष्णपक्ष में 'सर्वाप्ति-सप्तमी' का व्रत करना चाहिये। इससे सभी अभीष्ट वस्तुओं की प्राप्ति हो जाती है। फाल्गुन के कृष्ण पक्ष में 'नन्द-सप्तमी' का व्रत करना चाहिये। मार्गशीर्ष के शुक्लपक्ष में 'अपराहिता सप्तमी' को भगवान् सूर्य का पूजन और व्रत करना चाहिये। एक वर्ष तक मार्गशीर्ष के शुक्लपक्ष का 'पुत्रीया सप्तमी' व्रत स्त्रियों को पुत्र सम्प्रदान करने वाला है।।३-४।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी एक सौ बयासीवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।१८२।।

❖❖❖

अथ त्र्यशीत्याधिकशततमोऽध्यायः

अष्टमीव्रतानि

अग्निरुवाच

वक्ष्ये व्रतानि चाष्टम्यां रोहिण्यां प्रथमं व्रतम्। मासि भाद्रपदेऽष्टम्यां रोहिण्यामर्धरात्रके॥१॥
कृष्णो जातो यतस्तस्यां जयन्ती स्यात्ततोऽष्टमी। सप्तजन्मकृतात्पापान्मुच्यते चोपवासतः॥२॥
कृष्णपक्षे भाद्रपदे अष्टम्यां रोहिणीयुते। उपोषितोऽर्चयेत्कृष्णं भुक्तिमुक्तिप्रदायकम्॥३॥
आवाहयाम्यहं कृष्णं बलभद्रं च देवकीम्। वसुदेवं यशोदां गाः पूजयामि नमोऽस्तु ते॥४॥
योगाय योगपतये योगेशाय नमो नमः। योगादिसम्भवायैव गोविन्दाय नमो नमः॥५॥
(स्नानं कृष्णाय दद्यात्तु अर्घ्यं चानेन दापयेत्। यज्ञाय यज्ञेश्वराय यज्ञानां पतये नमः॥६॥
यज्ञादिसम्भवायैव गाविन्दाय नमो नमः)। गृहाण देव पुष्पाणि सुगन्धीनि प्रियाणि ते॥७॥
सर्वकामप्रदो देव भव मे देववन्दित। धूपधूपित धूपत्वं धूपितैस्त्वं गृहाण मे॥८॥
सुगन्ध (न्धि) धूपगन्धाढ्यं कुरु मां सर्वदा हरे। दीपदीप्त महादीपं दीपदीप्तिद सर्वदा॥९॥

अध्याय–१८३

अष्टमी तिथि व्रत विचार

श्रीअग्निदेव ने कहा कि–हे वसिष्ठ! अधुना मैं अष्टमी को किये जाने वाले व्रतों का वर्णन करने जा रहा हूँ। उनमें पहला रोहिणी नक्षत्रयुक्त अष्टमी का व्रत है। भाद्रपद मास के कृष्णपक्ष की रोहिणी नक्षत्र से युक्त अष्टमी तिथि को ही अर्धरात्रि के समय भगवान् श्रीकृष्ण का प्राकट्य हुआ था, इसलिये इसी अष्टमी को उनकी जयन्ती मनायी जाती है। इस तिथि को निराहार व्रत करने से मनुष्य सात जन्मों के किये हुए पापों से मुक्त हो जाता है॥१-२॥

अतएव भाद्रपद के कृष्णपक्ष की रोहिणी नक्षत्रयुक्त अष्टमी को निराहार व्रत रखकर भगवान् श्रीकृष्ण का पूजन करना चाहिये। यह भोग और मोक्ष सम्प्रदान करने वाला है॥३॥ (पूजन की विधि इस तरह है)–**आवाहन-मन्त्र और नमस्कार आवाहयाम्यहं कृष्णं बलभद्रं च देवकीम्। वसुदेवं यशोदां गाः पूजयामि नमोऽस्तु ते॥ योगाय योगपतये योगेशाय नमो नमः। योगादिसम्भवायैव गोविन्दाय नमो नमः॥** 'मैं श्रीकृष्ण, बलभद्र, देवकी, वसुदेव, यशोदा देवी और गौओं का आवाहन एवं पूजन करने जा रहा हूँ; आप सभी को नमस्कार है। योगस्वरूप, योगपति एवं योगेश्वर श्रीकृष्ण के लिये नमस्कार है। योग के आदिकारण, उत्पत्तिस्थान श्रीगोविन्द के लिये बारंबार नमस्कार है'॥४-५॥

तत्पश्चात् भगवान् श्रीकृष्ण को स्नान कराये और इस मन्त्र से उनको अर्घ्यदान करना चाहिये–**यज्ञेश्वराय यज्ञाय यज्ञानां पतये नमः। यज्ञादिसम्भवायैव गोविन्दाय नमो नमः।** 'यज्ञेश्वर, यज्ञस्वरूप, यज्ञों के अधिपति एवं यज्ञ के आदि कारण श्रीगाविन्द को बारंबार नमस्कार है।' **पुष्प-धूप–पुष्प-धूप–गृहाण देव पुष्पाणि सुगन्धीनि प्रियाणि ते॥सर्वकामप्रदो देव भव मे देववन्दित। धूपधूपित धूपं त्वं धूपितैस्त्वं गृहाण मे॥ सुगन्धिधूपगन्धाढ्यं कुरु मां सर्वदा हरे।** 'हे देव! आपके प्रिय ये सुगन्धयुक्त पुष्प ग्रहण कीजिये। देवताओं द्वारा पूजित भगवन्! मेरी सारी कामनाएँ सिद्ध कीजिये। आप धूप से सदा धूपित हैं, मेरे द्वार अर्पित धूप-दान से आप धूप की सुगन्ध ग्रहण कीजिये।

मया दत्तं गृहाण त्वं कुरु चोर्ध्वगतिं च माम्। विश्वाय विश्वपतये विश्वेशाय नमो नमः।।१०।।
विश्वादिसम्भवायैव गोविन्दाय निवेदितम्। धर्माय धर्मपतये धर्मेशाय नमो नमः।।११।।
धर्मादिसम्भवायै गोविन्द शयनं कुरु। सर्वाय सर्वपतये सर्वेशाय नमो नमः।।१२।।
सर्वादिसम्भवायैव गोविन्दाय च पावनम्। क्षीरोदार्णवसम्भूत अग्निनेत्रसमुद्भव।।१३।।
गृहाणार्घ्यं शशाङ्केदं रोहिण्यां सहितो मम। स्थण्डिले स्थापयेद्देवं सचन्द्रां रोहिणीं यजेत्।।१४।।
देवकीं वसुदेवं च यशोदां बन्दकं नलम्। अर्धरात्रे पयोधाराः पातयेद्गुडसर्पिषा।।१५।।
वस्त्रहेमादिकं दद्याद्ब्राह्मणान्भोजयेद्व्रती। जन्माष्टमीव्रतकरः पुत्रवान्विष्णुलोकभाक्।।१६।।
वर्षे वर्षे तु यः कुर्यात्पुत्रार्थी वेत्ति नो भयम्। पुत्रान्देहि धनं देहि आयुरारोग्य संततिम्।।१७।।
धर्मं कामं च सौभाग्यं स्वर्गं मोक्षं च देहि मे।।१८।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गति जयन्त्यष्टमीव्रतकथनं नाम त्र्यशीत्यधिकशततमोऽध्यायः।।१८३।।

—❀—

श्रीहरे! मुझको सदा सुगन्धित पुष्पों, धूप एवं गन्ध से सम्पन्न कीजिये।' दीप-दान–**दीपदीप्त महादीपं दीपदीप्तिद सर्वदा।। मया दत्तं गृहाण त्वं कुरु चोर्ध्वगतिं च माम्। विश्वाय विश्वपतये विश्वेशाय नमो नमः।। विश्वादिसम्भवायैव गोविन्दाय निवेदितम्।** 'हे प्रभो! आप सर्वदा दीप के समान देदीप्यमान एवं दीप को दीप्ति सम्प्रदान करने वाले हैं। मेरे द्वारा दिया गया यह महादीप ग्रहण कीजिये और मुझको भी (दीप के समान) ऊर्ध्वगति से युक्त कीजिये। विश्वरूप, विश्वपति, विश्वेश्वर श्रीकृष्ण के लिये नमस्कार है, नमस्कार है। विश्व के आदिकारण श्रीगोविन्द को नमस्कार है। विश्व के आदिकारण श्रीगोविन्द को मैं यह दीप निवेदन करने जा रहा हूँ।' शयन-मन्त्र–**धर्माय धर्मपतये धर्मेशाय नमो नमः।। धर्मादिसम्भवायैव गोविन्द शयनं कुरु। सर्वाय सर्वपतये सर्वेशाय नमो नमः।। सर्वादिसम्भवायैव गोविन्दाय नमो नमः।** 'धर्मस्वरूप, धर्म के अधिपति, धर्मेश्वर एवं धर्म के आदिस्थान श्रीवासुदेव को नमस्कार है। हे गोविन्द! अधुना आप शयन कीजिये। सर्वरूप सबके अधिपति, सर्वेश्वर, सबके आदिकारण श्रीगोविन्द को बारंबार नमस्कार है।' तत्पश्चात् रोहिणीसहित चन्द्रमा को निम्नांकित मन्त्र पढ़कर अर्घ्यदान दे–**क्षीरोदार्णवसम्भूत अत्रिनेत्रसमुद्भव।। गृहाणार्घ्यं शशाङ्केदं रोहिण्या सहितो मम।** 'क्षीरसमूद्र से प्रकट एवं अत्रि के नेत्र से उद्भूत तेजः स्वरूप शशाङ्क! रोहिणी के साथ मेरा अर्घ्य स्वीकार कीजिये।' फिर भगवद्विग्रह को वेदिका पर स्थापित करना चाहिये और चन्द्रमा सहित रोहिणी का पूजन करना चाहिये। उसके बाद अर्धरात्रि के समय वसुदेव, देवकी, नन्द-यशोदा और बलराम का गुड़ और घृतमिश्रित दुग्ध धारा से अभिषेक करना चाहिये।।६-१५।।

तत्पश्चात् व्रत करने वाला मनुष्य ब्राह्मणों को भोजन कराये और दक्षिणा में उनको वस्त्र और स्वर्ण आदि देना चाहिये। जन्माष्टमी का व्रत करने वाला पुत्रयुक्त होकर विष्णुलोक का भागी होता है। जो मनुष्य पुत्रप्राप्ति की इच्छा से प्रतिवर्ष इस व्रत का अनुष्ठान करता है, वह 'पुम्' नामक नरक के भय से मुक्त हो जाता है। सकाम व्रत करने वाला भगवान् गोविन्द से याचना करनी चाहिये–'हे प्रभो! मुझको पुत्र, धन, आयु, आरोग्य और संतति दीजिये। हे गोविन्द! मुझको धर्म, काम, सौभाग्य, स्वर्ग और मोक्ष सम्प्रदान कीजिये'।।१६-१८।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी एक सौ तिरासीवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।१८३।।

❖❖❖

अथ चतुरशीत्यधिकशततमोऽध्यायः

अष्टमीव्रतानि

अग्निरुवाच

ब्रह्मादिमातृयजनाज्जपेन्मातृगणाष्टमीम्। कृष्णाष्टम्यां चैत्रमासे पूज्याब्दं कृष्णमर्थभाक्॥१॥
कृष्णाष्टमीव्रतं वक्ष्ये मासे मार्गशिरे (शीर्षे) चरेत्। नक्तं कृत्वा शुचिर्भूत्वा गोमूत्रं प्राशयेन्निशि॥२॥
भूमिशायी निशायां च शंकरं पूजयेद्व्रती। पौषे शम्भुं घृतं प्राश्य माघे क्षीरं महेश्वरम्॥३॥
महादेवं फाल्गुने च तिलाशी समुपोषितः। चैत्रे स्थाणुं यवाशी च वैशाखेऽथ शिवं यजेत्॥४॥
कुशोदाशी पशुपतिं ज्येष्ठे शृङ्गोदकाशनः। आषाढे गोमयाश्युग्रं श्रावणे सर्वकर्मभुक्॥५॥
त्र्यम्बकं च भाद्रपदे बिल्वपत्राशनो निशि। तण्डुलाशी चाऽऽश्वयुजे ईशं रुद्रं तु कार्तिके॥६॥
दध्याशी होमकारी स्याद्वर्षान्ते मण्डले यजेत्। गोवस्त्रहेमं गुरवे दद्याद्विप्रेभ्य ईदृशम्॥७॥
प्रार्थयित्वा द्विजान्भोज्य भुक्तिमुक्तिमवाप्नुयात्। (नक्ताशी त्वष्टमीषु स्याद्वत्सरान्ते च धेनुदः॥८॥

अध्याय–१८४

अष्टमी विविध व्रत विचार

श्रीअग्निदेव ने कहा कि–हे मुनिश्रेष्ठ वसिष्ठ! चैत्र मास के शुक्ल पक्ष की अष्टमी को व्रत करना चाहिये और उस दिन ब्रह्मा आदि देवताओं तथा मातृगणों का जप-पूजन करना चाहिये। कृष्णपक्ष की अष्टमी को एक वर्ष श्रीकृष्ण की पूजा करके मनुष्य संतानरूप अर्थ की प्राप्ति कर लेता है।।१।।

अधुना मैं 'कालाष्टमी' का वर्णन करने जा रहा हूँ। यह व्रत मार्गशीर्ष मास के कृष्णपक्ष की अष्टमी को करना चाहिये। रात्रि होने पर व्रत करने वाला स्नानादि से पवित्र हो, भगवान् 'देवाधिदेव भगवान् श्रीशिवशंकर' का पूजन करके गोमूत्र से व्रत का पारण करना चाहिये। रात्रि को भूमि पर शयन करना चाहिये। पौष मास में 'शम्भु' का पूजन करके घृत का आहार तथा माघ में 'महेश्वर' की अर्चना करके दुग्ध का पान करना चाहिये। फाल्गुन में 'महादेव' की पूजा करके अच्छी तरह निराहार व्रत करने के बाद तिल का भोजन करना चाहिये। चैत्र में 'स्थाणु' का पूजन करके जौ का भोजन करना चाहिये। वैशाख में 'शिव' की पूजा करनी चाहिये और कुश के जल से पारण करना चाहिये। 'येष्ठ में 'पशुपति' का पूजन करके शृङ्गजल (झरने के जल) का पान करना चाहिये। आषाढ़ में 'उग्र' की अर्चना करके गोमय का भक्षण और श्रावा में 'शर्व' का पूजन करके मन्दार के पुष्प का भक्षण करना चाहिये। भाद्रपद में रात्रि के समय 'त्र्यम्बक' का पूजन करके बिल्वपत्र का भक्षण करना चाहिये। आश्विन में 'ईश' की अर्चना करके चावल और कार्तिक में 'रुद्र' का पूजन करके दधि का भोजन करना चाहिये। वर्ष की समाप्ति होने पर हवन करना चाहिये और सर्वतो (लिङ्गतो) भद्र का निर्माण करके उसमें देवाधिदेव भगवान् श्रीशिवशंकर का पूजन करना चाहिये। उसके बाद आचार्य को गौ, वस्त्र और स्वर्ण का दान करना चाहिये। अन्य ब्राह्मणों को भी उन्हीं वस्तुओं का दान करना चाहिये। ब्राह्मणों को आमन्त्रित करके भोजन कराकर मनुष्य भोग और मोक्ष प्राप्त कर लेता है।।२-७।।

प्रत्येक मास के दोनों पक्षों की अष्टमी तिथियों को रात्रि में भोजन करना चाहिये और वर्ष के पूर्ण होने पर

पौरन्दरं पदं याति स्वर्गतिव्रतमुच्यते)। अष्टमी बुधवारेण पक्षयोरुभयोर्यदा॥९॥
तदा व्रतं प्रकुर्वीत अथ वा सगुडाशिता। तस्यां नियमकर्तारो न स्युः खण्डितसम्पदः॥१०॥
तण्डुलस्याष्टमुष्टीनां वर्जयित्वाऽङ्गुलीद्वयम्। भक्तं कृत्वा चाऽऽम्रपुटे सकुशे सकुलाम्बिकाम्॥११॥
सात्त्विकं पूजयित्वाङ्गं भुञ्जीत च कथाश्रवात्। शक्तितो दक्षिणां दद्यात्कर्कटीतण्डुलान्विताम्॥१२॥
धीरो द्विजोऽस्य भार्याऽस्ति रम्भा पुत्रस्तु कौशिकः। दुहिता विजया तस्य धीरस्य धनदो वृषः॥१३॥
कौशिकस्तं गृहीत्वा तु गोपालैश्चारयन्वृषम्। गङ्गायां स्नानकृत्येऽथ नीतश्चौरैर्वृषस्तदा॥१४॥
स्नात्वा वृषमपश्यन्स वृषं मार्गितुमागतः। विजयाभगिनीयुक्तो ददर्श स सरोवरे॥१५॥
दिव्यस्त्रीयोषितां वृन्दमब्रवीद्देहि भोजनम्। स्त्रीवृन्दमूचे व्रतकृद्भुङ्क्ष्व त्वमतिथिर्यतः॥१६॥
व्रतं कृत्वा स बुभुजे प्राप्तवान्वनपालकम्। गतो धीरः स वृषभो विजया सहितस्तदा॥१७॥
धीरेण विजया दत्ता यमायान्तरितः पिता। व्रतप्रभावात्कौशिकोऽपि ह्ययोध्यायां नृपोऽभवत्॥१८॥
पित्रोऽस्तु नरके दृष्ट्वा विजयाऽऽर्तिं यमे गता। मृगयामागतं प्रोचे मुच्यते नरकात्कथम्॥१९॥
व्रतद्वयाश्रमः प्रोचे प्राप्य तत्कौशिको ददौ। बुधाष्टमीद्वयफलं स्वर्गतौ पितरौ ततः॥२०॥

गोदान करना चाहिये। इससे मनुष्य इन्द्रपद को प्राप्त कर लेता है। यह 'स्वर्गति-व्रत' कहा जाता है। कृष्ण अथवा शुक्ल-किसी भी पक्ष में अष्टमी को बुधवार को योग हो, उस दिन व्रत रखे और एक समय भोजन करना चाहिये। जो मनुष्य अष्टमी का व्रत करते हैं, उनके गृह में कभी सम्पत्ति का अभाव नहीं होता। दो अँगुलियाँ छोड़कर आठ मुट्ठी चावल ले और उसका भात बनाकर कुशयुक्त आम्रपत्र के दोने में रखे। कुलाम्बिका सहित बुध का पूजन करना चाहिये और 'बुधाष्टमी-व्रत' की कथा सुनकर भोजन करना चाहिये। उसके बाद ब्राह्मण को ककड़ी और चावल सहित यथाशक्ति दक्षिणा देनी चाहिये।८-१२॥

'बुधाष्टमी-व्रत' की कथा निम्नलिखित है-धीर नामक एक ब्राह्मण था। उसकी पत्नी का नाम था पुत्री भी थी, जिसका नाम विजया था। उस ब्राह्मण के धनद नाम का एक बैल था। कौशिक उस बैल को ग्वालों के साथ चराने को ले गया। कौशिक गंगा में स्नानादि कर्म करने लगा, उस समय चोर बैल को चुरा ले गये। कौशिक जिस समय नदी से नहाकर निकला, तत्पश्चात् बैल को वहाँ न पाकर अपनी बहिन विजया के साथ उसकी खोज में चल पड़ा। उसने एक सरोवर में देवलोक की स्त्रियों का समूह देखा और उनसे भोजन माँगा। इस पर उन स्त्रियों ने कहा-'आप आज हमारे अतिथि हुए हैं, इसलिये व्रत करके भोजन कीजिये।' उसके बाद कौशिक ने 'बुधाष्टमी' का व्रत करके भोजन किया। उधर धीर वनरक्षक के पास पहुँचा और अपना बैल लेकर विजया के साथ लौट आया। धीर ब्राह्मण ने यथासमय विजया का विवाह कर दिया और स्वयं मृत्यु के पश्चात् यमलोक को प्राप्त हुआ। परन्तु कौशिक व्रत के प्रभाव से अयोध्या का राजा हुआ। विजया अपने माता-पिता को नमक की यातना भोगते देख यमराज के शरणापन्न हुई। कौशिक जिस समय मृगया के उद्देश्य से वन में आया, तत्पश्चात् उसने पूछा-'मेरे माता-पिता नरक से मुक्त कैसे हो सकते हैं?' उस सयम यमराज ने वहाँ प्रकट होकर कहा-'बुधाष्टमी के दो व्रतों के फल से।' तत्पश्चात् कौशिक ने अपने माता-पिता के उद्देश्य से दो बुधाष्टमी व्रतों का फल दिया। इससे उसके माता-पिता स्वर्ग में चले गये। उसके वाद विजया ने भी हर्षित होकर भोग-मोक्षादि की सिद्धि के लिये इस व्रत का अनुष्ठान किया॥१३-२०॥

विजया हर्षिता चक्रे व्रतं भुक्त्यादिसिद्धये। अशोककलिकाश्चाष्टौ ये पिबन्ति पुनर्वसौ॥२१॥
चैत्रे मासि सिताष्टम्यां न ते शोकमवाप्नुयुः। त्वामशोकहराभीष्ट मधुमाससमुद्भव॥२२॥
पिबामि शोकसन्तप्तो मामशोकं सदा कुरु। चैत्रादौ मातृपूजाकृदष्टम्यां जयते रिपून्॥२३॥

॥इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते अष्टमीव्रतकथावर्णनं नाम चतुरशीत्यधिकशततमोऽध्यायः॥१८४॥
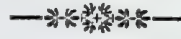
हे वसिष्ठ! चैत्र मास के शुक्ल पक्ष की अष्टमी को जिस समय पुनर्वसु नक्षत्र का योग हो, उस समय जो मनुष्य अशोक-पुष्प की आठ कलिकाओं का रस-पान करते हैं, वे कभी शोक को प्राप्त नहीं होते। (कलिकाओं का रसपान निम्नलिखित मन्त्र से करना चाहिये–

त्वामशोक हराभीष्टं मधुमाससमुद्भव।
पिबामि शोकसंतप्तो मामशोकं सदा कुरु॥

'चैत्र मास में विकसित होने वाले अशोक! आप देवाधिदेव भगवान् श्रीशिवशंकर के प्रिय हो। मैं शोक से संतप्त होकर आपकी कलिकाओं का पान करने जा रहा हूँ। आप स्वयं की ही तरह मुझको भी सदा-सदा के लिये शोकविहीन कर दो'। चैत्रादि मासों की अष्टमी को मातृगण की पूजा करने वाला मनुष्य शत्रुओं पर निश्चय ही विजय प्राप्त कर लेता है॥२१-२३॥

॥इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी एक सौ चौरासीवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ॥१८४॥

❖❖❖

अथ पञ्चाशीत्यधिकशततमोऽध्यायः

नवमीव्रतानि

अग्निरुवाच

नवमीव्रतकं वक्ष्ये भुक्तिमुक्त्यादिसिद्धिदम्। देवीं पूज्याऽऽश्विने शुक्ले गौर्याख्यानवमीव्रतम् (ते)।।१।।
पिष्टकाख्या तु नवमी पिष्टाशी देविपूजनात्। अष्टम्यामाश्विने शुक्ले कन्यार्के मूलभे यदा।।२।।
अघार्दना सर्वदा वै महती नवमी स्मृता। दुर्गा तु नवगेहस्था एकागारस्थिताऽथवा।।३।।
पूजिताऽष्टादशभुजा शेषाः षोडशसत्कराः। शेषाः षोडशहस्ताः स्युरञ्जनं डमरुं तथा।।४।।
रुद्रचण्डा प्रचण्डा च चण्डोग्रा चण्डनायिका। चण्डा चण्डवती पूज्या चण्डरूपाऽतिचण्डिका।।५।।
क्रमान्मध्ये चोग्रचण्डा दुर्गा महिषमर्दिनी। ॐ दुर्गे दुर्गे रक्षणि स्वाहा, दशाक्षरो मन्त्रः।।६।।
दीर्घाकारादिमन्त्रादिर्नवनेत्रो नमोऽन्तकः। षड्भिः पदैर्नमः स्वधावषट्कारहृदादिकम्।।७।।
अङ्गुष्ठादिकनिष्ठान्त न्यस्याङ्गानि जपेच्छिवाम्। एवं जपति यो गुह्यं नासौ केनापि बाध्यते।।८।।
कपालं खेटकं घण्टां दर्पणं तर्जनीं धनुः। ध्वजं डमरुकं पाशं वामहस्तेषु विभ्रतीम्।।९।।
शक्तिमुद्गरशूलानि वज्रं खड्गं च कुन्तकम्। शंखं चक्रं शलाकां च आयुधानि च पूजयेत्।।१०।।

अध्याय-१८५

नवमी तिथि व्रत विचार

श्रीअग्निदेव ने कहा कि–हे वसिष्ठ! अधुना मैं भोग और मोक्ष आदि की सिद्धि सम्प्रदान करने वाले नवमी-सम्बन्धी व्रतों का वर्णन करने जा रहा हूँ। आश्विन के शुक्लपक्ष में 'गौरी-नवमी' का व्रत करके देवी का पूजन करना चाहिये। इस नवमी को 'पिष्ट का नवमी' होती है। उसका व्रत करने वाले मनुष्य को देवी का पूजन करके पिष्टान्न का भोजन करना चाहिये। आश्विन के शुक्लपक्ष की जिस नवमी को अष्टमी और मूलनक्षत्र का योग हो एवं सूर्य कन्या-राशि पर स्थित हों, उसको 'महानवमी' कहा गया है। वह सदा पापों का विनाश करने वाली है। इस दिन नवदुर्गा को नौ स्थानों में अथवा एक स्थान में स्थित करके उनका पूजन करना चाहिये। मध्य में अष्टादशभुजा महालक्ष्मी एवं दोनों पार्श्व-भागों में शेष दुर्गाओं का पूजन करना चाहिये। अञ्जन और डमरू के साथ निम्नलिखित क्रम से नवदुर्गाओं की स्थापना करनी चाहिये–रुद्रचण्डा, प्रचण्डा, चण्डोग्रा, चण्डनायिका, चण्डा, चण्डवती, पूज्या, चण्डरूपा और अतिचण्डिका। इस सबके मध्यभाग में अष्टादशभुजा उग्रचण्डा महिषमर्दिनी दुर्गा का पूजन करना चाहिये। **'ॐ दुर्गे दुर्गे रक्षसि स्वाहा।'**–यह दशाक्षर मन्त्र है–।।१-६।।

जो मनुष्य इस विधि से उपरोक्त दशाक्षरमन्त्र का जप करता है, वह किसी से भी बाधा नहीं प्राप्त करता। भगवती दुर्गा अपने वाम करों में कपाल, खेटक, घण्टा, दर्पण, तर्जनी-मुद्रा, धनुष, ध्वजा, डमरू और पाश एवं दक्षिण करों में शक्ति, मुद्गर, त्रिशूल, वज्र, खड्ग, भाला, अङ्कुश, चक्र तथा शलाका लिये हुए हैं। उनके इन आयुधों की भी अर्चना करनी चाहिये।।७-१०।।

पशुं च काली कालीति जप्त्वा खड्गेन घातयेत्। कालि कालि व्रजेश्वरि लौहदण्डायै नमः।।११।।
तदुत्थं रुधिरं मांसं पूतनायै च नैर्ऋते। वायव्यां पापराक्षस्यै चरक्यै नम ईश्वरे।।१२।।
विदारिकायै चाऽऽग्नेय्यां महाकौशिकमग्नये। तस्याग्रतो नृपः स्नायाच्छत्रुं पिष्टमयं हरेत्।।१३।।
दद्यात्स्कन्दविशाखाभ्यां ब्राह्माद्या निशि ता यजेत्। जयन्ती मङ्गला काली भद्रकाली कपालिनी।।१४।।
दुर्गा क्षमा शिवा धात्री स्वाहा स्वधा नमोऽस्तु ते। देवीं पञ्चामृतैः स्नाप्य पूजयेच्चार्हणादिना।।
ध्वजादिरथयात्रादिबलिदानं वरादिकृत्।।१५।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते नवमीव्रत कथनं नाम पञ्चाशीत्यधिकशततमोऽध्यायः।।१८५।।

फिर **कालि कालि**' आदि मन्त्र का जप करके खड्ग से पशु का वध करना चाहिये। पशुबलि का मन्त्र इस तरह है–'**कालि कालि वज्रेश्वरि लोहदण्डायै नमः।**' बलि-पशु का रुधिर और मांस, '**पूतनाय नमः।**' बलि पशु का रुधिर और मांस, '**पूतनाय नमः।**' कहकर नैर्ऋत्यकोण में, '**पापराक्षस्यै नमः।**' कहकर वायव्यकोण में, '**चरक्यै नमः।**' कहकर ईशानकोण में एवं '**विदारिकायै नमः।**' कहकर अग्निकोण में उनके उद्देश्य से समर्पित करना चाहिये। राजा उसके सम्मुख स्नान करना चाहिये और स्कन्द एवं विशाख के निमित्त पिष्टनिर्मित शत्रु की बलि देना चाहिये। रात्रि में ब्राह्मी आदि शक्तियों का पूजन करना चाहिये–**जयन्ती मङ्गला काली भद्रकाली कपालिनी। दुर्गा शिवा क्षमा धात्री स्वाहा स्वधा नमोऽस्तुते।।** 'जयन्ती, मङ्गला, काली, भद्रकाली, कपालिनी, दुर्गा, शिवा, क्षमा, धात्री, स्वाहा और स्वधा–इन नामों से प्रसिद्ध जगदम्बिके! आपको मेरा नमस्कार हो।' आदि मन्त्रों से देवी की स्तुति करना चाहिये और देवी को पञ्चामूत से स्नान कराके उनकी विविध उपचारों से पूजा करनी चाहिये। देवी के उद्देश्य से किया हुआ ध्वजदान, रथयात्रा एवं बलिदान कर्म अभीष्ट वस्तुओं की प्राप्ति कराने वाला है।।११-१५।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी एक सौ पचासीवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।१८५।।

❖❖❖

अथ षडशीत्यधिकशततमोऽध्यायः

दशमीव्रतम्

अग्निरुवाच

दशमीव्रतकं वक्ष्ये धर्मकामादिदायकम्। दशम्यामेकभक्ताशी समाप्ते दशधेनुदः।।
दिशश्च काञ्चनीर्दद्याद्ब्राह्मणाधिपतिर्भवेत्।।१।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते दशमीव्रतकथनं नाम षडशीत्यधिकशततमोऽध्यायः।।१८६।।

—❊❊❊—

अथ सप्ताशीत्यधिकशततमोऽध्यायः

एकादशीव्रतम्

अग्निरुवाच

एकादशी व्रतं वक्ष्ये भुक्तिमुक्तिप्रदायकम्। दशम्यां नियताहारो मांसमैथुनवर्जितः।।१।।
एकादश्यां न भुञ्जीत पक्षयोरुभयोरपि। द्वादश्येकादशी यत्र तत्र संनिहितो हरिः।।२।।

अध्याय-१८६

दशमी तिथि व्रत विचार

श्रीअग्नि देव ने कहा कि–हे वसिष्ठ! अधुना मैं दशमी-सम्बन्धी व्रत के विषय में कहता हूँ, जो धर्म-कामादि की सिद्धि करने वाला है। दशमी को एक समय भोजन करना चाहिये और व्रत के समाप्त होने पर दस गौओं और स्वर्णमयी प्रतिमाओं का दान करना चाहिये। ऐसा करने से मनुष्य ब्राह्मण आदि चारों वर्णों का अधिपति होता है।।१।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी एक सौ छियासीवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।१८६।।

अध्याय-१८७

एकादशी तिथि व्रत विचार

श्रीअग्नि देव ने कहा कि–हे वसिष्ठ! अधुना मैं भोग और मोक्ष सम्प्रदान करने वाले एकादशी-व्रत का वर्णन करने जा रहा हूँ। व्रत करने वाला दशमी को मांस और मैथुन का परित्याग कर दे एवं भजन भी नियमित करना चाहिये। दोनों पक्षों की एकादशी को भोजन नहीं करना चाहिये।।१।।

तत्र क्रतुशतं पुण्यं त्रयोदश्यां तु पारणे। एकादशीकला यत्र परतो द्वादशी गता॥३॥
तत्र क्रतुशतं पुण्यं त्रयोदश्यां तु पारणे। दशम्येकादशीमिश्रा नोपोष्या नरकप्रदा॥४॥
एकादश्यां निराहारो भुक्त्वा चैवापरेऽहनि। भोक्ष्येऽहं पुण्डरीकाक्ष शरणं मे भवाच्युत॥५॥
एकादश्यां सिते पक्षे पुष्यर्क्षं तु यदा भवेत्। सोपोष्याऽक्षय्यफलदा प्रोक्ता सा पापनाशिनी॥६॥
एकादशी द्वादशी या श्रवणेन च संयुता। विजया सा तिथिः प्रोक्ता भक्तानां विजयप्रदा॥७॥
एषैव फाल्गुने मासि पुष्पर्क्षेण च संयुता। विजया प्रोच्यते सद्भिः कोटिकोटिगुणोत्तरा॥८॥
एकादश्यां विष्णुपूजा कार्या सर्वोपकारिणी। धनवान्पुत्रवांल्लोके विष्णुलोके महीयते॥९॥

॥इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते एकादशीव्रतकथनं नाम सप्ताशीत्यधिकशततमोऽध्यायः॥१८७॥

—※—

द्वादशी-विद्धा एकादशी में स्वयं श्रीहरि विष्णु स्थित होते हैं, इसलिये द्वादशी-विद्धा एकादशी के व्रत का त्रयोदशी को पारण करने से मनुष्य सौ यज्ञों का पुण्यफल प्राप्त करता है। जिस दिन के पूर्वभाग में एकादशी कलामात्र अविशिष्ट हो और शेषभाग में द्वादशी व्याप्त हो, उस दिन एकादशी का व्रत करके त्रयोदशी में पारण करने से सौ यज्ञों का पुण्य प्राप्त होता है। दशमी-विद्धा एकादशी को कभी निराहार व्रत नहीं करना चाहिये; क्योंकि वह नरक की प्राप्ति कराने वाली है। एकादशी को निराहार रहकर, दूसरे दिन यह कहकर भोजन ग्रहण करना चाहिये–'हे पुण्डरीकाक्ष! मैं आपकी शरण ग्रहण करने जा रहा हूँ। अच्युत! अधुना मैं भोजन करने जा रहा हूँ।' शुक्लपक्ष की एकादशी को जिस समय पुष्पनक्षत्र का योग हो, उस दिन निराहार व्रत करना चाहिये। वह अक्षयफल सम्प्रदान करने वाली है और 'पापनाशिनी' कही जाती है। श्रवण नक्षत्र से युक्त द्वादशीविद्धा एकादशी 'विजया' नाम से प्रसिद्ध है और भक्तों को विजय देने वाली है। फाल्गुन मास में पुष्यनक्षत्र से युक्त एकादशी को भी सत्पुरुष ने 'विजया' कहा है। वह गुणों में कई करोड़ गुना अधिक मानी जाती है। एकादशी को सभी का उपकार करने वाली विष्णु पूजा अवश्य करनी चाहिये। इससे मनुष्य इस लोक में धन और पुत्रों से युक्त हो (मृत्यु के पश्चात्) विष्णुलोक में पूजित होता है॥२-९॥

॥इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी एक सौ सतासीवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ॥१८७॥

❖❖❖

अथाष्टाशीत्यधिकशततमोऽध्यायः

द्वादशीव्रतानि

अग्निरुवाच

द्वादशीव्रतकं वक्ष्ये भुक्तिमुक्तिप्रदायकम्। एकभक्तेन नक्तेन तथैवायाचितेन च।।१।।
उपवासेन भैक्ष्येण चैवं द्वादशिकव्रती। चैत्रे मासि सिते पक्षे द्वादश्यां मदनं हरिम्।।२।।
(पूज्येद्भुक्तिमुक्त्यर्थी मदनद्वादशीव्रती। माघशुक्ले तु द्वादश्यां भीमद्वादशिकव्रती।।३।।
नमो नारायणायेति यजेद्विष्णुं ससर्वभाक्। फाल्गुने च सिते पक्षे गोविन्दद्वादशीव्रती।।४।।
विशोकद्वादशीकारी यजेदाश्वयुजे हरिम्)। लवणं मार्गशीर्षे तु कृष्णमभ्यर्च्य यो नरः।।५।।
ददाति शुक्लद्वादश्यां स सर्वरसदायकः। गोवत्सं पूजयेद्भाद्रे गोवत्सद्वादशीव्रती।।६।।
माध्यां तु समतीतायां श्रवणेन तु संयुता। द्वादशी या भवेत् कृष्णा प्रोक्ता सा तिलद्वादशी।।७।।
तिलैः स्नानं तिलैर्होमो नैवेद्यं तिलमोदकम्। दीपश्च तिलतैलेन तथा देयं तिलोदकम्।।८।।
तिलाश्च देया विप्रेभ्यः फलं होमोपवासतः। ॐ नमो भगवतेऽथो वासुदेवाय वै यजेत्।।९।।
सकुलः स्वर्गमाप्नोति षट्तिलद्वादशी व्रती। मनोरथद्वादशीकृत्फाल्गुने तु सितेऽर्चयेत्।।१०।।

अध्याय-१८८

द्वादशी तिथि व्रत विचार

श्रीअग्नि देव ने कहा कि–हे मुनिश्रेष्ठ! अधुना मैं भोग एवं मोक्षप्रद द्वादशी-सम्बन्धी व्रत कह रहा हूँ। द्वादशी तिथि को मनुष्य रात्रि को एक समय भोजन करना चाहिये और किसी से कुछ नहीं माँगे। निराहार व्रत करके भी भिक्षा-ग्रहण करने वाले मनुष्य का द्वादशीव्रत सफल नहीं हो सकता। चैत्र मास के शुक्लपक्ष की द्वादशी तिथि को 'मदनद्वादशी' का व्रत करने वाला भोग और मोक्ष की इच्छा से कामदेव-रूपी श्रीहरि विष्णु का अर्चन करना चाहिये। माघ के शुक्लपक्ष की द्वादशी को 'भीमद्वादशी' का व्रत करना चाहिये और '**नमो नारायणाय।**' मन्त्र से भगवान् श्रीहरि विष्णु का पूजन करना चाहिये। ऐसा करने वाला मनुष्य सब कुछ प्राप्त कर लेता है। फाल्गुन के शुक्ल पक्ष में गोविन्दद्वादशी' का व्रत होता है। आश्विन में 'विशोकद्वादशी' का व्रत करने वाले को श्रीहरि विष्णु का पूजन करना चाहिये। मार्गशीर्ष के शुक्लपक्ष की द्वादशी को श्रीकृष्ण का पूजन करके जो मनुष्य लवण का दान करता है, वह सम्पूर्ण रसों के दान का फल प्राप्त करता है। भाद्रपद में 'गोवत्सद्वादशी' का व्रत करने वाला गोवत्स का पूजन करना चाहिये। माघ मास के व्यतीत हो जाने पर फाल्गुन हो, उसको 'तिलद्वादशी' कहा गया है। इस दिन तिलों से ही स्नान और हवन करना चाहिये तथा तिल के लड्डूओं का भोग लगाना चाहिये। मन्दिर में तिल के तेल से युक्त दीपक समर्पित करना चाहिये तथा पितरों को तिलाञ्जलि देनी चाहिये। ब्राह्मणों को तिलदान करना चाहिये। हवन और निराहार व्रत से ही 'तिलद्वादशी' का फल प्राप्त होता है। '**ॐ नमो भगवते वासुदेवाय।**' मन्त्र से भगवान् श्रीहरि विष्णु की पूजा करनी चाहिये। उपुर्यक्त विधि से षड् बार 'तिलद्वादशी' का व्रत करने वाला वंशसहित स्वर्ग को प्राप्त करता है। फाल्गुन

नामद्वादशीव्रतकृत्केशवाद्यैश्च नामभिः। वर्षं यजेद्धरिं स्वर्गी न भवेन्नारकी नरः॥११॥
फाल्गुनस्य सितेऽभ्यर्च्य सुमतिद्वादशी व्रती। मासि भाद्रपदे शुक्ले अनन्तद्वादशीव्रती॥१२॥
आश्लेषर्क्षे तु मूले वा माघे कृष्णाय वै नमः। यजेत्तिलांश्च जुहुयात्तिलद्वादशीकृन्नरः॥१३॥
सुमतिद्वादशीकारी फाल्गुने तु सिते यजेत्। जय कृष्ण नमस्तुभ्यं वर्षं स्याद्भुक्तिमुक्तिगः॥
पौषशुक्ले तु द्वादश्यां संप्राप्तिद्वादशीव्रती॥१४॥

॥इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते नानाद्वादशीव्रतकथनं नामाष्टाशीत्यधिकशततमोऽध्यायः॥१८८॥
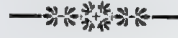
के शुक्लपक्ष में 'मनोरथद्वादशी' का व्रत करने वाला श्रीहरि विष्णु का पूजन करना चाहिये। इसी दिन 'नामद्वादशी' का व्रत करने वाला 'केशव' आदि नामों से श्रीहरि विष्णु का एक वर्ष तक पूजन करना चाहिये। वह मनुष्य मृत्यु के पश्चात् स्वर्ग में ही जाता है। वह कभी नरकगामी नहीं हो सकता।

फाल्गुन के शुक्लपक्ष में 'सुमतिद्वादशी' का व्रत करके विष्णु का पूजन करना चाहिये। भाद्रपद मास के शुक्लपक्ष में 'अनन्तद्वादशी' का व्रत करना चाहिये। माघ के शुक्ल पक्ष में आश्लेषा अथवा मूलनक्षत्र से युक्त 'तिलद्वादशी' करने वाला मनुष्य **'कृष्णाय नमः।'** मन्त्र से श्रीकृष्ण का पूजन करना चाहिये और तिलों का हवन करना चाहिये। फाल्गुन के शुक्लपक्ष में 'सुगतिद्वादशी' का व्रत करने वाला **'जय कृष्ण नमस्तुभ्यम्'** मन्त्र से एक वर्ष तक श्रीकृष्ण की पूजा करनी चाहिये। ऐसा करने से मनुष्य भोग और मोक्ष--दोनों प्राप्त कर लेता है। पौष के शुक्लपक्ष की द्वादशी को 'सम्प्राप्तिद्वादशी' का व्रत करना चाहिये॥१-१४॥

॥इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी एक सौ अट्ठासीवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ॥१८८॥

❖❖❖

अथैकोनननवत्यधिकशततमोऽध्यायः

श्रवणद्वादशीव्रतानि

अग्निरुवाच

श्रवणद्वादशीं वक्ष्ये मासि भाद्रपदे सिते। श्रवणेन युता श्रेष्ठा महती सा ह्युपोषिता।।१।।
संगमे सरितां स्नानाच्छ्रवणद्वादशी फलम्। बुधश्रवणसंयुक्ता दानादौ सुमहाफला।।२।।
निषिद्धमपि कर्त्तव्यं त्रयोदश्यां तु पारणम्। द्वादश्यां च निराहारो वामनं पूजयाम्यहम्।।३।।
उदकुम्भे स्वर्णमयं त्रयोदश्यां तु पारणम्। आवाहयाम्यहं विष्णुं वामनं शङ्खचक्रिणम्।।४।।
सितवस्त्रयुगच्छन्ने घटे सच्छत्रपादुके। स्नापयामि जलैः शुद्धैर्विष्णुं पञ्चामृतादिभिः।।५।।
छत्रदण्डधरं विष्णुं वामनाय नमो नमः। अर्घ्यं ददानि देवेश अर्घ्यार्हाद्यैः सदाऽर्चितः।।६।।
भुक्तिमुक्तिप्रजाकीर्तिसर्वैश्वर्ययुतं कुरु। वामनाय नमो गन्धं होमोऽनेनाष्टकं शतम्।।७।।
ॐ नमो वासुदेवाय शिरः सम्पूजयेद्धरेः। श्रीधराय मुखं तद्वत्कण्ठे कृष्णाय वै नमः।।८।।

अध्याय-१८९

श्रवण-द्वादशी व्रत विचार

श्रीअग्नि देव ने कहा कि–अधुना मैं भाद्रपद मास के शुक्लपक्ष में किये जाने वाले 'श्रवणद्वादशी' व्रत के विषय में कह रहा हूँ। यह श्रवण नक्षत्र से संयुक्त होने पर श्रेष्ठ मानी जाती है एवं निराहार व्रत करने पर महान् फल सम्प्रदान करने वाली है। श्रवण-द्वादशी के दिन नदियों के संगम पर स्नान करने से विशेप फल प्राप्त होता है तथा बुधवार और श्रवण नक्षत्र से युक्त द्वादशी दान आदि कर्मों में महान् फलदायिनी होता है।।१-२।।

त्रयोदशी के निषिद्ध होने पर भी इस व्रत का पारण त्रयोदशी को करना चाहिये–**संकल्प-मन्त्र–द्वादश्यां च निराहारो वामनं पूजयाम्यहम्।। उदकुम्भे स्वर्णमयं त्रयोदश्यां तु पारणम्।** 'मैं द्वादशी को निराहार रहकर जलपूर्ण कलश पर स्थित स्वर्णनिर्मित वामन-मूर्ति का पूजन करने जा रहा हूँ एवं मैं व्रत का पारण त्रयोदशी को करने जा रहा हूँ।' **आवाहन-मन्त्र–आवाहयाम्यहं विष्णुं वामनं शङ्खचक्रिणम्।। सितवस्त्रयुगच्छन्ने घटे सच्छत्रपादुके।** 'मैं दो श्वेतवस्त्रों से आच्छादित एवं छत्र पादुकाओं से युक्त कलश पर शङ्ख-चक्रधारी वामनावतार विष्णु का आवाहन करने जा रहा हूँ।' **स्नानार्पण-मन्त्र–स्नापयामि जलैः शुद्धैर्विष्णुं पञ्चामृतादिभिः।। छत्रदण्डधरं विष्णुं वामनाय नमो नमः।** 'मैं छत्र एवं दण्ड से विभूषित सर्वव्यापी भगवान् श्रीहरि विष्णु को पञ्चामृत आदि एवं विशुद्ध जल का स्नान समर्पित करने जा रहा हूँ। भगवान् वामन को नमस्कार है।' **अर्घ्यदान-मन्त्र–अर्घ्य ददामि देवेश अर्घ्यार्हाद्यैः सदार्चितः।। भुक्तिमुक्तिप्रजाकीर्तिसर्वैश्वर्ययुतं कुरु।** 'हे देवेश्वर! आप अर्घ्य के अधिकारी पुरुषों तथा दूसरे लोगों द्वारा भी सदैव पूजित हैं। मैं आपको अर्घ्यदान करने जा रहा हूँ। मुझको भोग, मोक्ष, संतान, यश और सभी तरह के ऐश्वर्यों से युक्त कीजिये।' फिर '**वामनाय नमः**' इस मन्त्र से गन्धद्रव्य समर्पित करना चाहिये और इसी मन्त्र द्वारा श्री हरि के उद्देश्य से एक सौ आठ आहुतियाँ देनी चाहिये।३-७।।

'**ॐ नमो वासुदेवाय।**' मन्त्र से श्रीहरि विष्णु के शिरोभाग की अर्चना करनी चाहिये। '**श्रीधराय नमः**'।

नमः श्रीपतये वक्षो भुजौ सर्वास्त्रधारिणे। व्यापकाय नमो नाभिं वामनाय नमः कटिम्॥९॥
त्रैलोक्य जननायेति मेढ्रं जङ्घे जयेद्धरेः। सर्वाधिपतये पादौ विष्णोः सर्वात्मने नमः॥१०॥
घृतपक्वं च नैवेद्यं दद्याद्दध्योदनैर्घटान्। रात्रौ च जागरं कृत्वा प्रातः स्नात्वा च संगमे॥११॥
गन्धपुष्पादिभिः पूज्य वदेत्पुष्पाञ्जलिस्त्विदम्। नमो नमस्ते गोविन्द बुधश्रवणसंज्ञित॥१२॥
अघौघसंक्षयं कृत्वा सर्वसौख्यप्रदो भव। प्रीयतां देवदेवेश मम नित्यं जनार्दन॥१३॥
वामनो बुद्धिदो दाता द्रव्यस्थो वामनः स्वयम्। वामनः प्रतिगृह्णाति वामनो मे ददाति च॥१४॥
द्रव्यस्थो वामनो नित्यं वामनाय नमो नमः। प्रदत्तदक्षिणो विप्रान्संभोज्यान्नं स्वयं चरेत्॥१५॥

॥इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते श्रवणद्वादशीव्रतकथनं नामैकोननवत्यधिकशततमोऽध्यायः॥१८९॥

से मुख का '**कृष्णाय नमः**' से कण्ठ देश का, '**श्रीपतये नमः।**' कहकर वक्षः स्थल का, '**सर्वास्त्रधारिणे नमः।**' कहकर दोनों भुजाओं का, '**व्यापाकाय नमः।**' से नाभि और 'वामनाय नमः।' बोलकर कटिप्रदेश का पूजन करना चाहिये। '**त्रैलोक्यजननाय नमः।**' मन्त्र से भगवान् वामन के उपस्थ की, '**सर्वाधिपतये नमः।**' से दोनों जङ्घाओं की एवं 'सर्वात्मने नमः।' कहकर भगवान् श्रीहरि विष्णु के चरणों की पूजा करनी चाहिये।।८-१०।।

तत्पश्चात् वामन भगवान् को घृत सिद्ध नैवेद्य और दही-भात से परिपूर्ण कुम्भ समर्पित करना चाहिये। रात्रि में जागरण करके प्रातःकाल संगम में स्नान करना चाहिये। फिर गन्ध-पुष्पादि से भगवान् का पूजन करना चाहिये। निम्नांकित मन्त्र से पुष्पाञ्जलि समर्पित करना चाहिये—**नमो नमस्ते गोविन्द बुधश्रवणसंज्ञित।। अघौघसंक्षयं कृत्वा सर्वसौख्यप्रदो भव। प्रीयतां देवदेवेश मम नित्यं जनार्दन।।** 'हे बुध एवं श्रवण संज्ञक गोविन्द! आपको नमस्कार है, नमस्कार है। मेरे पापसमूह का विनाश करके समस्त सौख्य सम्प्रदान कीजिये। हे देवदेवेश्वर जनार्दन! आप मेरी इस पुष्पाञ्जलि से नित्य प्रसन्न हों'।।११-१३।।

तत्पश्चात् सम्पूर्ण पूजन-द्रव्य इस मन्त्र से किसी विद्वान् ब्राह्मण को दे—**वामनो बुद्धि दो दाता द्रव्यस्थो वामनः स्वयम्। वामनः प्रतिगृह्णाति वामनो मे ददाति च।। द्रव्यस्थो वामनो नित्यं वामनाय नमो नमः।** 'भगवान् वामन ने मुझको दान की बुद्धि सम्प्रदान की है। वे ही दाता हैं। देय-द्रव्य में भी स्वयं वामन स्थित हैं। वामन भगवान् ही इसको ग्रहण कर रहे हैं और वामन ही मुझको सम्प्रदान करते हैं। भगवान् वामन नित्य सभी द्रव्यों में स्थित हैं। उन श्रीवामनावतार विष्णु को नमस्कार है नमस्कार है।' इस तरह ब्राह्मण को दक्षिणासहित पूजन द्रव्य देकर ब्राह्मणों को भोजन कराके स्वयं भोजन करना चाहिये।।१४-१५।।

॥इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी एक सौ नव्वासीवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ॥१८९॥

❖❖❖

अथ नवत्यधिकशततमोऽध्यायः

अखण्डद्वादशीव्रतम्

अग्निरुवाच

अखण्डद्वादशीं वक्ष्ये व्रतसम्पूर्णताकृतम्। मार्गशीर्षे सिते विष्णुं द्वादश्यां समुपोषितः।।१।।
पञ्चगव्यजले स्नातो यजेत्तत्प्राशनो व्रती। यवव्रीहियुतं पात्रं द्वादश्यां हि द्विजेऽर्पयेत्।।२।।
सप्तजन्मनि यत्किंचिन्मया खण्डं व्रतं कृतम्। भगवंस्त्वत्प्रसादेन तदखण्डमिहास्तु मे।।३।।
यथाऽखण्डं जगत्सर्वं त्वमेव पुरुषोत्तम। तथाऽखिलान्यखण्डानि व्रतानि मम सन्तु वै।।४।।
एवमेवानुमासं च चातुर्मास्यो विधिः स्मृतः। अन्यच्चैत्रादिमासेषु सक्तुपात्राणि चार्पयेत्।।५।।
श्रावणादिषु चाऽऽरभ्य कार्तिकान्तेषु पारणम्। सप्तजन्मसु वैकल्यं व्रतानां सफलं कृते।।
आयुरारोग्यसौभाग्यराज्य भोगादिमाप्नुयात्।।६।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते अखण्डद्वादशीव्रतकथनं नाम नवत्यधिकशततमोऽध्यायः।।१९०।।

—※※※—

अध्याय-१९०

अखण्डद्वादशी व्रत विचार

श्रीअग्नि देव ने कहा कि–अधुना मैं 'अखण्डद्वादशी व्रत के विषय में कह रहा हूँ, जो समस्त व्रतों की सम्पूर्णता का निष्पादन करने वाली है। मार्गशीर्ष के शुक्लपक्ष की द्वादशी को निराहार व्रत करके भगवान् श्रीहरि विष्णु का पूजन करना चाहिये। व्रत करने वाला मनुष्य पञ्चगव्य-मिश्रित जल से स्नान करना चाहिये और उसी का पारण करना चाहिये। इस द्वादशी को ब्राह्मण को जौ और धान से भरा हुआ पात्र दान देना चाहिये। भगवान् श्रीहरि विष्णु के सम्मुख इस तरह याचना करनी चाहिये–'हे भगवन्! सात जन्मों में मेरे द्वारा जो व्रत खण्डित हुआ हो, आपकी कृपा से वह मेरे लिये अखण्ड फलसम्प्रदायक हो जाय। हे पुरुषोत्तम! जिस प्रकार आप इस अखण्ड चराचर विश्व के रूप में स्थित हैं, उसी तरह मेरे किये हुए समस्त व्रत अखण्ड हो जायँ।' इस तरह (मार्गशीर्ष से प्रारम्भ करके फाल्गुन तक) प्रत्येक मास में करना चाहिये। इस व्रत को चार महीने तक करने का विधान है। चैत्र से आषाढ़ पर्यन्त यह व्रत करने पर सत्तू से भरा हुआ पात्र दान करना चाहिये। श्रावण से प्रारम्भ करके इस व्रत को कार्तिक में समाप्त करना चाहिये। उपरोक्त विधि से 'अखण्डद्वादशी' का व्रत करने पर सात जन्मों के खण्डित व्रतों को यह सफल बना देता है। इसके करने से मनुष्य दीर्घ आयु, आरोग्य, सौभाग्य, राज्य और विविध भोग आदि प्राप्त करता है।।१-६।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी एक सौ नब्बेवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।१९०।।

❖❖❖

अथैकनवत्यधिकशततमोऽध्यायः

त्रयोदशीव्रतानि

अग्निरुवाच

त्रयोदशीव्रतानीह सर्वदानि वदामि ते। अनङ्गेन कृतामादौ वक्ष्येऽनङ्गत्रयोदशीम्॥१॥
त्रयोदश्यां मार्गशीर्षे शुक्लेऽनङ्गहरं यजेत्। मधु संप्राशयेद्रात्रौ घृतहोमस्तिलाक्षतैः॥२॥
पौषे योगेश्वरं प्राच्‍र्य चन्दनाशी कृताहुतिः। महेश्वरं मौक्तिकाशी माघेऽभ्यर्च्य दिवं व्रजेत्॥३॥
काकोलं प्राश्य नीरं तु फाल्गुने पूजयेद्व्रती। कर्पूराशी स्वरूपं च चैत्रे सौभाग्यवान्भवेत्॥४॥
महारूपं तु वैशाखे यजेज्जातीफलाश्यपि। लवङ्गाशी ज्येष्ठमासे प्रद्युम्नं पूजयेद्व्रती॥५॥
तिलोदाशी तथाऽऽषाढे उमाभर्तारर्चयेत्। श्रावणे गन्धतोयाशी पूजयेच्छूलपाणिनम्॥६॥
सद्योजातं भाद्रपदे प्राशिता गुरुमर्चयेत्। सुवर्णवारि सम्प्राश्य आश्विने त्रिदशाधिपम्॥७॥
विश्वेश्वरं कार्तिके तु मदनाशी यजेद्व्रती। शिवं हैमं तु वर्षान्ते संछाद्याऽम्रदलेन तु॥८॥
वस्त्रेण पूजयित्वा तु दद्याद्विप्राय गां तथा। शयनं छत्रकलशान्पादुकारसभाजनम्॥९॥

अध्याय-१९१

त्रयोदशी तिथि व्रत विचार

श्रीअग्नि देव ने कहा कि–अधुना मैं त्रयोदशी तिथि के व्रत कह रहा हूँ, जो सब कुछ देने वाले हैं। पहले मैं 'अनङ्गत्रयोगदशी' के विषय में बतलाता हूँ। प्राचीन काल में अनङ्ग (कामदेव) ने इसका व्रत किया था। मार्गशीर्ष शुक्ला त्रयोदशी को कामदेवस्वरूप 'हर' की पूजा करनी चाहिये। रात्रि में मधु का भोजन करना चाहिये तथा तिल और अक्षत मिश्रित घृत का हवन करना चाहिये। पौष में 'योगेश्वर' का पूजन एवं हवन करके चन्दन का प्राशन करना चाहिये। माघ में 'महेश्वर' की अर्चना करके मौक्तिक (रास्ना नामक पौधे के) जल का आहार करना चाहिये। इससे मनुष्य स्वर्गलोक को प्राप्त करता है। व्रत करने वाला फाल्गुन में 'वीरभद्र' का पूजन करके कङ्कोल का प्राशन करना चाहिये। चैत्र में 'सुरूप' नामक शिव की अर्चना करके कर्पूर का आहार करने वाला मनुष्य सौभाग्य युक्त होता है॥१-४॥

वैशाख में 'महारूप' की पूजा करके जायफल का भोजन करना चाहिये। व्रत करने वाला मनुष्य ज्येष्ठ मास में 'प्रद्युम्न' का पूजन करना चाहिये और लौंग चबाकर रहना चाहिये। आषाढ़ में 'उमापति' की अर्चना करके तिलमिश्रित जल का पान करना चाहिये। श्रावण में 'शूलपाणि' का पूजन करके सुगन्धित जल का पान करना चाहिये। भाद्रपद में अगरु का प्राशन करना चाहिये और 'सद्योजात' का पूजन करना चाहिये। आश्विन में त्रिदशाधिप देवाधिदेव भगवान् श्रीशिवशंकर' के पूजनपूर्वक स्वर्णजल का पान करना चाहिये। व्रती पुरुष कार्तिक में 'विश्वेश्वर' की अर्चना के अनन्तर लवण का भक्षण करना चाहिये। इस तरह वर्ष के समाप्त होने पर स्वर्णनिर्मित शिवलिङ्ग को आम के पत्तों और वस्त्र से ढककर ब्राह्मण को सत्कार पूर्वक दान देना चाहिये साथ ही गौ, शय्या, छत्र, कलश, पादुका तथा रसपूर्ण पात्र भी देना चाहिये॥५-९॥

त्रयोदश्यां सिते चैत्रे रतिप्रीतियुतं स्मरन्। अशोकाख्यं नगं लिख्य सिन्दूररजनीमुखैः।।१०।।
अब्दं यजेत्तु कामार्थी कामत्रयोदशीव्रतम्।।११।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते त्रयोदशीव्रतकथनं नामैकनवत्यधिकशततमोऽध्यायः।।१९१।।

अथ द्विनवत्यधिकशततमोऽध्यायः

चतुर्दशीव्रतानि

अग्निरुवाच

व्रतं वक्ष्ये चतुर्दश्यां भुक्तिमुक्तिप्रदायकम्। कार्तिके तु चतुर्दश्यां निराहारो यजेच्छिवम्।।१।।
(वर्षं भोगधनायुष्मान्कुर्वञ्शिवचतुर्दशीम्। मार्गशीर्षे सितेऽष्टम्यां तृतीयायां मुनिव्रतः।।२।।
द्वादश्यां वा चतुर्दश्यां फलाहारो यजेत्सुरम्। त्यक्त्वा फलानि दद्यात्तु कुर्वन्फलचतुर्दशीम्।।३।।
चतुर्दश्यामथाष्टम्यां पक्षयोः शुक्लकृष्णयोः। अनश्नन्पूजयेच्छंभुं स्वर्ग्युभयचतुर्दशीम्।।४।।
कृष्णाष्टम्यां तु नक्तेन तथा कृष्णचतुर्दशीम्। इह भोगानवाप्नोति परत्र च शुभां गतिम्।।५।।

चैत्र के शुक्लपक्ष की त्रयोदशी को सिन्दूर और काजल से अशोकवृक्ष को अंकित करके उसके नीचे रति और प्रीति (काम की पत्नियों) से युक्त कामदेव का स्मरण करना चाहिये। इस तरह कामनायुक्त साधक को एक वर्ष तक कामदेव का पूजन करना चाहिये। यह 'कामत्रयोदशी व्रत' कहलाता है।।१०-११।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी एक सौ एकानवेवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।१९१।।

अध्याय-१९२

चतुर्दशी तिथि व्रत विचार

श्रीअग्नि देव ने कहा कि-हे वसिष्ठ! अधुना मैं चतुर्दशी तिथि को किये जाने वाले व्रत का वर्णन करने जा रहा हूँ। वह व्रत भोग और मोक्ष देने वाला है। कार्तिक की चतुर्दशी को निराहार रहकर भगवान् शिव का पूजन करना चाहिये और वहीं से प्रारम्भ करके प्रत्येक मास की शिव-चतुर्दशी को व्रत और शिवपूजन का क्रम चलाते हुए एक वर्ष तक इस नियम को निभावे। ऐसा करने वाला पुरुष भोग, धन और दीर्घायु से सम्पन्न होता है।।१।।

मार्गशीर्ष मास के शुक्लपक्ष में अष्टमी, तृतीया, द्वादशी अथवा चतुर्दशी को मौन धारण करके फलाहार पर रहे और देवता का पूजन करना चाहिये तथा कुछ फलों का सदा के लिये त्याग करके उन्हीं का दान करना चाहिये। इस तरह 'फलचतुर्दशी' का व्रत करने वाला पुरुष को शुक्ल और कृष्ण-दोनों पक्षों की चतुर्दशी एवं अष्टमी को निराहार व्रत पूर्वक भगवान् शिव की पूजा करनी चाहिये। इस विधि से दोनों पक्षों की चतुर्दशी का व्रत करने वाला मनुष्य

कार्तिके च चतुर्दश्यां कृष्णायां स्नानकृत्सुखी। आराधिते महेन्द्रे तु ध्वजाकारासु यष्टिषु)।।६।।
ततः शुक्लचतुर्दश्यामनन्तं पूजयेद्धरिम्। कृत्वा दर्भमयं चैव वारिधानी समन्वितम्।।७।।
शालिप्रस्थस्य पिष्टस्य पूपनाम्नः कृतस्य च। अर्धं विप्राय दातव्यमर्धमात्मनि योजयेत्।।८।।
कर्तव्यं सरितां चान्ते कथां कृत्वा हरेरिति। अनन्तसंसारमहासमुद्रे मग्नान्समभ्युद्धर वासुदेव।।९।।
अनन्तरूपे विनियोजयस्व ह्यनन्तरूपाय नमो नमस्ते। अनेन पूजयित्वाऽथ सूत्रं बद्ध्वा तु मन्त्रितम्।।
स्वके करे वा कण्ठे वा त्वनन्तव्रतकृत्सुखी।।१०।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते नानाचतुर्दशीव्रतकथनं नाम द्विनवत्यधिकशततमोऽध्यायः।।१९२।।

स्वर्गलोक का भागी होता है। कृष्णपक्ष की अष्टमी तथा चतुर्दशी को नक्तव्रत (केवल रात में भोजन) करने से साधक इहलोक में अभीष्ट भोग तथा परलोक में शुभ गति पाता है। कार्तिक की कृष्णा चतुर्दशी को स्नान करके ध्वज के आकार वाले बाँस के डंडों पर देवराज इन्द्र की आराधना करने से मनुष्य सुखी होता है।।२-६।।

तत्पश्चात् प्रत्येक मास की शुक्ल चतुर्दशी को श्रीहरि विष्णु के कुशमय विग्रह का निर्माण करके उसको जल से भरे पात्र के ऊपर पधरावे और उसका पूजन करना चाहिये। उस दिन अगहनी धान के एक सेर चावल के आटे का पूआ बनवा ले। उसमें से आधा ब्राह्मण को दे देना चाहिये और आधा अपने उपयोग में लावे।।७-८।।

नदियों के तट पर इस व्रत और पूजन का आयोजन करके वहीं श्रीहरि विष्णु के 'अनन्तव्रत' की कथा का भी श्रवण या कीर्तन करना चाहिये। उस समय चतुर्दश ग्रन्थियों से युक्त अनन्तसूत्र का निर्माण करके अनन्त की भावना से ही उसका पूजन करना चाहिये। फिर निम्नांकित मन्त्र से अभिमन्त्रित करके उसको अपने हाथ या कण्ठ में बाँध ले। मन्त्र इस तरह है—**अनन्तसंसारमहासमुद्रे मग्नान् समभ्युद्धर वासुदेव।। अनन्तरूपे विनियोजयस्व ह्यनन्तरूपाय नमो नमस्ते।** 'हे वासुदेव! संसाररूपी अपार पारावार में डूबे हुए हम जिस प्रकार प्राणियों का आप उद्धार करें। आपके स्वरूप की कहीं अन्त नहीं है। आप हमें अपने उसी 'अनन्त' स्वरूप में मिला लें। आप अनन्तरूप परमेश्वर को बारंबार नमस्कार है।' इस तरह अनन्तव्रत का अनुष्ठान करने वाला मनुष्य परमानन्द का भागी होता है।।९-१०।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी एक सौ बानवेवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।१९२।।

❖❖❖

अथ त्रिनवत्यधिकशततमोऽध्यायः

शिवरात्रिव्रतम्

अग्निरुवाच

शिवरात्रिव्रतं वक्ष्ये भुक्तिमुक्तिप्रदं शृणु। माघफाल्गुनयोर्मध्ये कृष्णा या तु चतुर्दशी।।१।।
कामयुक्ता तु सोपोष्या कुर्वञ्जागरणं व्रती। शिवरात्रिव्रतं कुर्वे चतुर्दश्यामभोजनम्।।२।।
रात्रिजागरणेनैव पूजयामि शिवं व्रती। आवाहयाम्यहं शंभुं भुक्तिमुक्तिप्रदायकम्।।३।।
नरकार्णवकोत्तारनावं शिव नमोऽस्तु ते। नमः शिवाय शान्ताय प्रजाराज्यादिदायिने।।४।।
सौभाग्यारोग्य विद्यार्थं स्वर्गमार्गप्रदायिने। धर्मं देहि धनं देहि कामभोगादि देहि मे।।५।।
गुणकीर्तिसुखं देहि स्वर्गं मोक्षं च देहि मे। लुब्धकः प्राप्तवान्पुण्यं पापीसुन्दरसेनकः।।६।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते शिवरात्रिव्रतकथनं नाम त्रिनवत्यधिकशततमोऽध्यायः।।१९३।।

अध्याय-१९३

शिवरात्रि व्रत विचार

श्रीअग्नि देव ने कहा कि-हे वसिष्ठ! अधुना मैं भोग और मोक्ष सम्प्रदान करने वाले 'शिवरात्रि-व्रत' का वर्णन करने जा रहा हूँ, एकाग्रचित्त से उसका श्रवण करो। फाल्गुन के कृष्ण-पक्ष की चतुर्दशी को मनुष्य कामनासहित निराहार व्रत करना चाहिये। व्रत करने वाले को रात्रि को जागरण करना चाहिये और यह कहे-'मैं चतुर्दशी को भोजन का परित्याग करके शिवरात्रि का व्रत करने जा रहा हूँ। मैं व्रतयुक्त होकर रात्रि-जागरण के द्वारा शिव का पूजन करने जा रहा हूँ। मैं भोग और मोक्ष सम्प्रदान करने वाले देवाधिदेव भगवान् श्रीशिवशंकर का आवाहन करने जा रहा हूँ। हे शिव! आप नरक-समुद्र से पार कराने वाले नौका के समान हैं; आपको नमस्कार है। आप प्रजा और राज्यादि सम्प्रदान करने वाले, मङ्गलमय एवं शान्तस्वरूप है; आपको नमस्कार है। आप सौभाग्य, आरोग्य, विद्या, घन और स्वर्ग-मार्ग की प्राप्ति कराने वाले हैं। मुझको धर्म दीजिये, धन दीजिये और कामभोगादि सम्प्रदान कीजिये। मुझको गुण, कीर्ति और सुख से सम्पन्न कीजिये तथा स्वर्ग और मोक्ष सम्प्रदान कीजिये। इस शिवरात्रि-व्रत के प्रभाव से पापात्मा सुन्दरसेन व्याध ने भी पुण्य प्राप्त किया।।१-६।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी एक सौ तिरानवेवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।१९३।।

❖❖❖

अथ चतुर्नवत्यधिकशततमोऽध्यायः

अशोकपूर्णिमादिव्रत

अग्निरुवाच

अशोकमूर्णिमा वक्ष्ये भूधरं च भुवं यजेत्। फाल्गुन्यां सितपक्षायां वर्षं स्याद्भुक्तिमुक्तिभाक्।।१।।
कार्तिक्यां तु बृषोत्सर्गं कृत्वा नक्तं समाचरेत्। शैवं पदमवाप्नोति वृषव्रतमिदं परम्।।२।।
पित्र्या याऽमावसी (स्या) तस्यां पितॄणां दत्तमक्षयम्। उपोष्याब्दं पितॄनिष्ट्वा निष्पापः स्वर्गमाप्नुयात्।।३।।
पञ्चदश्यां च माघस्य पूज्याजं स्वर्गमाप्नुयात्। वक्ष्ये सावित्र्यमावास्यां भुक्तिमुक्तिकरीं शुभाम्।।४।।
पञ्चदश्यां व्रती ज्येष्ठे वटमूले महासतीम्। त्रिरात्रोपोषिता नारी सप्तधान्यैः प्रपूजयेत्।।५।।
प्ररूढैः कण्ठसूत्रैश्च रजन्यां कुङ्कुमादिभिः। वटावलम्बनंकृत्वा नृत्यगीतैः प्रभातके।।६।।
नमः सावित्र्यै सत्यवते नैवेद्यं चार्पयेद्द्विजे। वेश्म गत्वा द्विजान्भोज्य स्वयं भुक्त्वा विसर्जयेत्।।७।।
सावित्री प्रीयतां देवी सौभाग्यादिकमाप्नुयात्।।८।।

।। इति श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते तिथिव्रतवर्णनं नाम चतुर्नवत्यधिकशततमोऽध्यायः।।१९४।।

अध्याय-१९४

अशोकपूर्णिमा आदि व्रत विचार

श्रीअग्नि देव ने कहा कि–अधुना मैं 'अशोक पूर्णिमा' के विषय में कह रहा हूँ। फाल्गुन के शुक्लपक्ष की पूर्णिमा को भगवान् वराह और भूदेवी का पूजन करना चाहिये। एक वर्ष ऐसा करने से मनुष्य भोग और मोक्ष–दोनों को प्राप्त कर लेता है। कार्तिक की पूर्णिमा को वृषोत्सर्ग करके रात्रिव्रत का अनुष्ठान करना चाहिये। इससे मनुष्य शिवलोक को प्राप्त होता है। यह श्रेष्ठतम व्रत 'वृषोत्सर्गव्रत' के नाम से प्रसिद्ध है। आश्विन के पितृपक्ष की अमावास्या को पितरों के उद्देश्य से जो कुछ दिया जाता है, वह अक्षय हाता है। मनुष्य किसी वर्ष इस अमावास्या को निराहार व्रतपूर्वक पितरों को पूजन करके पापहीन होकर स्वर्ग को प्राप्त कर लेता है। माघ मास की अमावास्या को (सावित्री सहित) ब्रह्मा का पूजन करके मनुष्य सम्पूर्ण अभीष्ट कामनाओं को प्राप्त कर लेता है। अधुना मैं 'वटसावित्री' सम्बन्धी अमावास्या के विषय में कह रहा हूँ, जो पुण्यमयी एवं भोग और मोक्ष की प्राप्ति कराने वाली है। व्रत करने वाली नारी को त्रयोदशी से अमावास्या तक 'त्रिरात्रव्रत' करना चाहिये और 'ज्येष्ठ की अमावास्या को वटवृक्ष के मूलभाग में महासती सावित्री का सप्तधान्य से पूजन करना चाहिये। जिस समय रात्रि कुछ शेष हो, उसी समय वट के कण्ठ सूत्र लपेटकर कुङ्कुमादि से उसका पूजन करना चाहिये। प्रभातकाल में वट के सन्निकट नृत्य करना चाहिये और गीत गाये। '**नमः सावित्र्यै सत्यवते**।' सत्यवान् सावित्री को नमस्कार है–ऐसा कहकर सत्यवान् सावित्री को नमस्कार करना चाहिये और उनको समर्पित किया हुआ नैवेद्य ब्राह्मण को देना चाहिये। फिर अपने गृह आकर ब्राह्मणों को भोजन कराके स्वयं भी भोजन करना चाहिये। 'सावित्री देवी प्रीयताम्' सावित्री देवी प्रसन्न हों–ऐसा कहकर व्रत का विसर्जन करना चाहिये। इससे नारी सौभाग्य आदि को प्राप्त करती है।।१-८।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी एक सौ चौरानवेवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।१९४।।

❖❖❖

अथ पञ्चनवत्यधिकशततमोऽध्यायः

वारव्रतानि

अग्निरुवाच

वारव्रतानि वक्ष्यामि भुक्तिमुक्तिप्रदानि हि। करःपुनर्वसुः सूर्ये स्नाने सर्वौषधी शुभा।।१।।
श्राद्धी चाऽऽदित्यवारे तु सप्तजन्मस्वरोगभाक्। सङ्क्रान्तौ सूर्यवारो यः सोऽर्कस्य हृदयः शुभः।।२।।
कृत्वा हस्ते सूर्यवारं नक्तेनाब्दं स सर्वभाक्। चित्राभसोमवाराणि सप्त कृत्वा सुखी भवेत्।।३।।
स्वात्यां गृहीत्वा चाङ्गारं सप्तनक्त्यार्तिवर्जितः। विशाखायां बुधं गृह्य सप्तनक्ती ग्रहार्तिनुत्।।४।।
अनुराधे देवगुरुं सप्तनक्ती ग्रहार्तिनुत्। शुक्रं ज्येष्ठासु संगृह्य सप्तनक्ती ग्रहार्तिनुत्।।
मूले शनैश्चरं गृह्य सप्तनक्ती ग्रहार्तिनुत्।।५।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते वारव्रतवर्णनं नाम पञ्चनवत्यधिकशततमोऽध्यायः।।१९५।।

—✲✲✲—

अध्याय–१९५

वार व्रत विचार

श्रीअग्निदेव ने कहा कि–हे वसिष्ठ! अधुना मैं भोग और मोक्ष सम्प्रदान करने वाले वार-सम्बन्धी व्रतों का वर्णन करने जा रहा हूँ। जिस समय रविवार को हस्त अथवा पुनर्वसु नक्षत्र का योग हो, तत्पश्चात् पवित्र सर्वौषधिमिश्रित जल से स्नान करना चाहिये। इस तरह रविवार को श्राद्ध करने वाला सात जन्मों में रोग से पीड़ित नहीं होता। संक्रान्ति के दिन यदि रविवार हो, तो उसको पवित्र 'आदित्य-हृदय' माना गया है। उस दिन अथवा हस्तनक्षत्रयुक्त रविवार को एक वर्ष तक नक्तव्रत करके मनुष्य सब कुछ पा लेता है। चित्रानक्षत्रयुक्त सोमवार के सात व्रत करके मनुष्य सुख प्राप्त करने वाला होता है। स्वातीनक्षत्र से युक्त मङ्गलवार का व्रत प्रारम्भ करना चाहिये। इस तरह मङ्गलवार के सात नक्तव्रत करके मनुष्य दुःख बाधाओं से छुटकारा पाता है। बुध-सम्बन्धी व्रत में विशाखा नक्षत्रयुक्त बुधवार को ग्रहण करना चाहिये। उससे प्रारम्भ करके बुधवार के सात नक्तव्रत करने वाला बुधग्रहाजनित पीड़ा से मुक्त हो जाता है। अनुराधानक्षत्रयुक्त गुरुवार से प्रारम्भ करके सात नक्तव्रत करने वाला बृहस्पति-ग्रह की पीड़ा से ज्येष्ठानक्षत्र युक्त शुक्रवार को व्रत ग्रहण करके सात नक्तव्रत करने वाला शुक्रग्रह की पीड़ा से और मूलन नक्षत्र युक्त शनिवार से प्रारम्भ करके सात नक्तव्रत करने वाला शनिग्रह की पीड़ा से निवृत्त हो जाता है।।१-५।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी एक सौ पञ्चनवेवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।१९५।।

❖❖❖

अथ षण्णवत्यधिकशततमोऽध्यायः

नक्षत्रव्रतानि

अग्निरुवाच

नक्षत्रव्रतकं वक्ष्ये भे हरिः पूजितोऽर्थदः। नक्षत्रपुरुषं चाऽऽदौ चैत्रमासे हरिं यजेत्॥१॥
मूले पादौ यजेज्जङ्घे रोहिणीष्वर्चयेद्धरिम्। जानुनी चाश्विनीयोगे आषाढासूरसंज्ञके॥२॥
मेढ्रं पूर्वोत्तराष्वेव कटिं वै कृत्तिकासु च। पार्श्वे भाद्रपदाभ्यां तु कुक्षिं वै रेवतीषु च॥३॥
स्तनौ चैवानुराधासु धनिष्ठासु च पृष्ठकम्। भुजौ पूज्यौ विशाखासु पुनर्वस्वङ्गुलीर्यजेत्॥४॥
आश्लेषासु नखान्पूज्य कण्ठं ज्येष्ठासु पूजयेत्। श्रोत्रे विष्णोश्च श्रवणे मुखं पुण्ये हरेर्यजेत्॥५॥
यजेत्स्वातिशु दन्ताग्रमास्यं वारुणभेऽर्चयेत्। मघासु नासां नयने मृगशीर्षे ललाटकम्॥६॥
चित्रासु चाऽऽर्द्रासु कचानब्दान्ते स्वर्णकं हरिम्। गुडपूर्णे घटेऽभ्यर्च्य शय्यागोर्थादि दक्षिणा॥७॥
नक्षत्रपुरुषो विष्णुःपूजनीयः शिवात्मकः। शांभवनीयव्रतकृन्मासभे पूजयेद्धरिम्॥८॥
कार्तिके कृत्तिकायां च मृगशीर्षे मृगास्यके। नामभिः केशवाद्यैस्तु अच्युताय नमोऽपि वा॥९॥

अध्याय–१९६

नक्षत्र व्रत विचार

श्रीअग्नि देव ने कहा कि–हे वसिष्ठ! अधुना मैं नक्षत्र सम्बन्धी व्रतों का वर्णन करने जा रहा हूँ। नक्षत्र-विशेष में पूजन करने पर श्रीहरि विष्णु अभीष्ट मनेप्सित की पूर्ति करते हैं। सर्वप्रथम नक्षत्र–पुरुष को श्रीहरि विष्णु का चैत्र मास में पूजन करना चाहिये। मूल नक्षत्र में श्रीहरि विष्णु के चरण कमलों की और रोहिणी नक्षत्र में उनकी जङ्घाओं की अर्चना करनी चाहिये। अश्विनी नक्षत्र के प्राप्त होने पर जानुयुग्म का, पूर्वाषाढ़ा और उत्तराषाढ़ा में इनकी दोनों ऊरुओं का, पूर्वाफाल्गुनी और उत्तराफाल्गुनी में उपस्थ का, कृत्तिका नक्षत्र में कटिप्रदेश का, पूर्वाभाद्रपदा और उत्तराभाद्रपदा में पार्श्वभाग का, रेवती नक्षत्र में कुक्षिदेश का, अनुराधा में स्तनयुगल का धनिष्ठा में पृष्ठभाग का, विशाखा में दोनों भुजाओं का एवं पुनर्वसु नक्षत्र में अँगुलियों का पूजन करना चाहिये। आश्लेषा में नखों का पूजन करके ज्येष्ठा में कण्ठ का यजन करना चाहिये। श्रवण नक्षत्र में सर्वव्यापी श्रीहरि विष्णु के कर्णद्वय का और पुष्य नक्षत्र में वदन-मण्डल का पूजन करना चाहिये। स्वाती नक्षत्र में उनके दाँतों के अग्रभाग की, शतभिषा नक्षत्र में मुख की अर्चना करनी चाहिये। मघा नक्षत्र में नासिका की, मृगशिरा नक्षत्र में नेत्रों की, चित्रा नक्षत्र में ललाट की एवं आर्द्रा नक्षत्र में केशसमूह की पूजा करनी चाहिये। वर्ष के समाप्त होने पर गुड़ से परिपूर्ण कलश पर श्रीहरि विष्णु की स्वर्णमयी मूर्ति की पूजा करके ब्राह्मण को दक्षिणा सहित शय्या, गौ और धनादि का दान देना चाहिये।१-७॥

सबके पूजनीय नक्षत्रपुरुष भगवान् श्रीहरि विष्णु शिव से अभिन्न हैं, इसलिये शाम्भवायनीय (शिव-सम्बन्धी) व्रत करने वाले को कृत्तिका नक्षत्र सम्बन्धी कार्तिक मास में और मृगशिरा-नक्षत्र-सम्बन्धी मार्गशीर्ष मास में केशव आदि नामों एवं 'अच्युताय नमः।' आदि मन्त्रों द्वारा श्रीहरि विष्णु का पूजन करना चाहिये–संकल्प-मन्त्र–कार्तिके

कार्तिके कृत्तिकाभेऽह्नि मासनक्षत्रगं हरिम्। शांभवायनीयव्रतकं करिष्ये भुक्तिमुक्तिदम्।।१०।।
केशवादि महामूर्तिमच्युतं सर्वदायकम्। आवाहयाम्यह देवमायुरारोग्यवृद्धिदम्।।११।।
कार्तिकादौ सदा देयमन्नं मासचतुष्टयम्। फाल्गुनादौ च कृशरमाषाढादौ च पायसम्।।१२।।
देवाय ब्राह्मणेभ्यश्च नक्तं नैवेद्यमाशयेत्। पञ्चगव्यजले स्नातस्तस्यैव प्राशनाच्छुचिः।।१३।।
अर्वाग्विसर्जनाद्द्रव्यं नैवेद्यं सर्वमुच्यते। विसर्जिते जगन्नाथे निर्माल्यं भवति क्षणात्।।१४।।

नमो नमस्तेऽच्युत मे क्षयोऽस्तु, पापस्य वृद्धिं समुपैति पुण्यम्।
ऐश्वर्यवित्तादिसदाऽक्षयं मे, क्षयं च मा संततिरभ्युपैतु।।१५।।
यथाऽच्युतस्त्वं परतःपरस्तात्, स ब्रह्मभूतः परतः परात्मन्।
तथाऽच्युतं त्वं कुरु वांछितं मे, मया कृतं पापहराप्रमेय।।१६।।

अच्युतानन्द गोविन्द प्रसीद यदभीप्सितम्। अक्षयं माममेयात्मन्कुरुष्व पुरुषोत्तम।।१७।।
सप्तवर्षाणि सम्पूज्य भुक्तिमुक्तिमवाप्नुयात्। अनन्तव्रतमाख्यास्ये नक्षत्रव्रतकेऽर्थदम्।।१८।।
मार्गशीर्षे मृगशिरे (शीर्षे) गोमूत्राशी यजेद्धरिम्। अनन्तं सर्वकामानामनन्तो भगवान्फलम्।।१९।।

कृत्तिकाभेऽह्नि मासनक्षत्रगं हरिम्। शाम्भवायनीयव्रतकं करिष्ये भुक्तिमुक्तिदम्।। 'मैं कार्तिक मास की कृत्तिका नक्षत्र से युक्त पूर्णिमा तिथि को मास एवं नक्षत्र में स्थित श्रीहरि विष्णु का पूजन करने जा रहा हूँ तथा भोग एवं मोक्ष सम्प्रदान करने वाले शाम्भवायनीय व्रत का अनुष्ठान करने जा रहा हूँ।' **आवाहन-मन्त्र–केशवादिमहामूर्तिच्युतं सर्वदायकम्। आवाहयाम्यहं देवमायुरारोग्यवृद्धिदम्।।** 'जो केशव आदि महामूर्तियों के रूप में स्थित हैं और आयु एवं आरोग्य की वृद्धि करने वाले हैं, मैं उन सर्वप्रद भगवान् अच्युत का आवाहन करने जा रहा हूँ।' व्रतकर्ता कार्तिक से माघ तक चार मासों में सदा अन्न-दान करना चाहिये। फाल्गुन से ज्येष्ठ तक खिचड़ी का और आषाढ़ से आश्विन तक खीर का दान करना चाहिये। भगवान् श्रीहरि विष्णु एवं ब्राह्मणों को रात्रि के समय नैवेद्य समर्पित करना चाहिये। पञ्चगव्य के जल से स्नान एवं उसका आचमन करने से मनुष्य पवित्र हो जाता है। मूर्ति के विसर्जन के पूर्व भगवान् को समर्पित किये हुए समस्त पदार्थों को 'नैवेद्य' कहा जाता है, परन्तु जगदीश्वर श्रीहरि विष्णु के विसर्जन के अनन्तर वह तत्काल ही 'निर्माल्य' हो जता है। तत्पश्चात् भगवान् से निम्नलिखित याचना करनी चाहिये–'हे अच्युत! आपको नमस्कार है, नमस्कार है। मेरे पापों का विनाश हो और पुण्यों की वृद्धि हो। मेरे ऐश्वर्य और धनादि सदा अक्षय हों एवं मेरी सन्तान परम्परा कभी उच्छिन्न न हो। परात्परस्वरूप! अप्रमेय परमेश्वर! जिस तरह आप पर से भी परे एवं ब्रह्मभाव में स्थित होकर अपनी मर्यादा से कभी च्युत नहीं होते हैं, उसी तरह आप मेरे मनोवाञ्छित कार्य को सिद्ध कीजिये। हे पापापहारी भगवन्! मेरे द्वारा किये गये पापों का अपहरण कीजिये। हे अच्युत! अनन्त! गोविन्द! अप्रमेय स्वरूप पुरुषोत्तम! मुझ पर प्रसन्न होगये और मेरे मनोभिलषित पदार्थ को अक्षय कीजिये। इस तरह सात वर्षों तक श्रीहरि का पूजन करके मनुष्य भोग और मोक्ष को सिद्ध कर लेता है।।८-१७।।

अधुना मैं नक्षत्र-सम्बन्धी व्रतों के प्रकरण में अभीष्ट वस्तु की प्राप्ति कराने वाले 'अनन्तव्रत' का वर्णन करूँगा। मार्गशीर्ष मास में जिस समय मृगशिरा नक्षत्र प्राप्त हो, तत्पश्चात् गोमूत्र का प्राशन करके श्रीहरि विष्णु का यजन करना चाहिये। वे भगवान् अनन्त समस्त कामनाओं का अन्तन फल सम्प्रदान करते हैं। इतना ही नहीं, वे पुनर्जन्म

ददात्यनन्तं च पुनस्तदेवान्यत्र जन्मनि। अनन्तपुण्योपचयं करोत्येतन्महाव्रतम्।।२०।।
यथाभिलषितप्राप्तिं करोत्यक्षयमेव च। (पादादि पूज्य नक्ते तु भुञ्जीयात्तैल वर्जितम्।।२१।।
घृतेनानन्तमुद्दिश्य होमो मासचतुष्टयम्। चैत्रादौ शालिना होमः पयसा श्रावणादिषु।।२२।।
मान्धाताऽभूद्युवनाश्वादनन्तव्रतकात्सुतः।।२३।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गति नक्षत्रव्रतवर्णनं नाम षण्णवत्यधिकशततमोऽध्यायः।।१९६।।

में भी व्रतकर्ता को अनन्त पुण्यफल से संयुक्त करते हैं। यह महाव्रत अनन्त पुण्य का संचय करने वाला है। यह अभिलषित वस्तु की प्राप्ति कराके उसको अक्षय बनाता है। भगवान् अनन्त के चरणकमल आदि का पूजन करके रात्रि के समय तैलहीन भोजन करना चाहिये। भगवान् अनन्त के उद्देश्य से मार्गशीर्ष से फाल्गुन तक घृत का, चैत्र से आषाढ़ तक अगहनी के चावल का और श्रावण से कार्तिक तक दुग्ध का हवन करना चाहिये। इस 'अनन्त' व्रत के प्रभाव से ही युवनाश्व को मान्धाता पुत्ररूप में प्राप्त हुए थे।।१८-२३।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी एक सौ छियानवेवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।१९६।।

❖❖❖

अथ सप्तनवत्यधिकशततमोऽध्यायः

दिवसव्रतानि

अग्निरुवाच

दिवसव्रतकं वक्ष्ये ह्यादौ धेनुव्रतं वदे। यश्चोभयमुखीं दद्यात्प्रभूतकनकान्विताम्।।१।।
दिनं पयोव्रतस्तिष्ठेत्स याति परमं पदम्। त्र्यहं पयोव्रतं कृत्वा काञ्चनं कल्पपादपम्।।२।।
दत्त्वा ब्रह्मपदं याति कल्पवृक्षव्रतं स्मृतम्। दद्याद्विंशत्पलादूर्ध्वं महीं कृत्वा तु काञ्चनीम्।।३।।
दिनं पयोव्रतस्तिष्ठेद्रुदगः स्याद्दिवाव्रती। पक्षे पक्षे त्रिरात्रं तु भक्तेनैकेन यः क्षपेत्।।४।।
विपुलं धनमाप्नोति त्रिरात्रव्रतकृद्दिनम्। मासे मासे त्रिरात्राशी एकभक्ती गणेशताम्।।५।।
यस्त्रिरात्रव्रतं कुर्यात्समुद्दिश्य जनार्दनम्। कुलानां शतमादाय स याति भवनं हरेः।।६।।
नवम्यां च सिते पक्षे नरो मार्गशिरस्यथ। प्रारभेत त्रिरात्राणां व्रतं तु विधिवद्व्रती।।७।।
ॐ नमो वासुदेवाय सहस्रं वा शतं जपेत्। अष्टम्यामेकभक्ताशी दिनत्रयमुपावसेत्।।८।।
द्वादश्यां पूजयेद्विष्णु कार्तिके कारयेद्व्रतम्। विप्रान्संभोज्य वस्त्राणि शयनान्यासनानि च।।९।।
छत्रोपवीतपात्राणि ददत्संप्रार्थयेद्द्विजान्। व्रतेऽस्मिन्दुष्करे चापि विकलं यदभून्मम।।१०।।

अध्याय-१९७

दिवस व्रत विचार

श्रीअग्नि देव ने कहा कि–हे वसिष्ठ! अधुना मैं दिवस-सम्वन्धी व्रतों का वर्णन करने जा रहा हूँ। सबसे पहले 'धेनुव्रत' के विषय में बतलाता हूँ। जो मनुष्य विपुल स्वर्ण राशि के साथ उभयमुखी गौ का दान करता है और एक दिन तक पयोव्रत का आचरण करता है, वह परमपद को प्राप्त होता है। स्वर्णमय कल्पवृक्ष का दान देकर तीन दिन तक 'पयोव्रत' करने वाला ब्रह्मपद को प्राप्त कर लेता है। इसको 'कल्पवृक्ष-व्रत' कहा गया है। बीस पल से अधिक स्वर्ण की पृथ्वी का निर्माण कराके दान दे और एक दिन पयोव्रत का अनुष्ठान करना चाहिये। केवल दिन में व्रत रखने से मनुष्य रुद्रलोक को प्राप्त होता है। जो प्रत्येक पक्ष की तीन रात्रियों में 'एकभुक्त-व्रत' रखता है, वह दिन में निराहार रहकर 'त्रिरात्रव्रत' करने वाला मनुष्य विपुल धन प्राप्त करता है। प्रत्येक मास में तीन एकभुक्त नक्तव्रत करने वाला गणपति के सायुज्य को प्राप्त होता है। जो भगवान् जनार्दन के उद्देश्य से 'त्रिरात्रव्रत' का अनुष्ठान करता है, वह अपने सौ कुलों के साथ भगवान् श्रीहरि विष्णु के वैकुण्ठधाम को जाता है। व्रतानुरागी मनुष्य मार्गशीर्ष के शुक्लपक्ष की नवमी से विधि पूर्वक त्रिरात्रव्रत प्रारम्भ करना चाहिये। **'नमो भगवते वासुदेवाय'** मन्त्र का सहस्त्र अथवा सौ बार जप करना चाहिये। अष्टमी को एकभूत (दिन में एक बार भोजन करना) व्रत और नवमी, दशमी, एकादशी को निराहार व्रत करना चाहिये। द्वादशी को भगवान् श्रीहरि विष्णु का पूजन करना चाहिये। यह व्रत कार्तिक में करना चाहिये। व्रत की समाप्ति पर ब्राह्मणों को भोजन कराके, उनको वस्त्र, शय्या, आसन, छत्र, यज्ञोपवीत और पात्र दान करना चाहिये। दान देते समय ब्राह्मणों से यह याचना करनी चाहिये–'इस दुष्कर व्रत के अनुष्ठान में मेरे द्वारा

भवद्भिस्तदनुज्ञातं परिपूर्णं भवत्विति। भुक्तभोगो व्रजेद्विष्णुं त्रिरात्रव्रतकव्रती॥११॥
कार्तिकव्रतकं वक्ष्ये भुक्तिमुक्तिप्रदायकम्। दशम्यां पञ्चगव्याशी एकादश्यामुपोषितः॥१२॥
(कार्तिकस्य सितेऽभ्यर्च्य विष्णुं देवो विमानगः। चैत्रे त्रिरात्रं नक्ताशी अजापञ्चप्रदः सुखी॥१३॥
त्रिरात्रं पयसः पानमुपवासपरस्त्र्यहम्)। षष्ठ्यादि कार्तिके शुक्ले कृच्छ्रो माहेन्द्र उच्यते॥१४॥
पञ्चरात्रं पयःपीत्वा दध्याहारो ह्युपोषितः। एकादश्यां कार्तिके तु कृच्छ्रोऽयं भास्करोऽर्थदः॥१५॥
यवागूं यावकं शाकं दधि क्षीरं घृतं जलम्। पञ्चम्यादि सिते पक्षे कृच्छ्रः सान्तपनः स्मृतः॥१६॥

॥इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते दिवसव्रतकथनं नाम सप्तनवत्यधिकशततमोऽध्यायः॥१९७॥

जो त्रुटि हुई हो, आप लोगों की तरफ से वह परिपूर्ण हो जाय।' यह 'त्रिरात्रव्रत' करने वाला इस लोक में भोगों का उपभोग करके मृत्यु के पश्चात् भगवान् श्रीहरि विष्णु के सांनिध्य को प्राप्त करता है॥१-११॥

अधुना मैं भोग और मोक्ष सम्प्रदान करने वाले कार्तिकव्रत के के विषय में कह रहा हूँ। दशमी को पञ्चगव्य का प्राशन करके एकादशी को निराहार व्रत करना चाहिये। इस व्रत के पालन में कार्तिक के शुक्लपक्ष की द्वादशी को भगवान् श्रीहरि विष्णु का पूजन करने वाला मनुष्य विमानचारी देवता होता है। चैत्र में त्रिरात्रव्रत करके केवल रात्रि के समय भोजन करने वाला एवं व्रत की समाप्ति में पाँच बकरियों का दान देने वाला सुखी होता है। कार्तिक के शुक्लपक्ष की षष्ठी से प्रारम्भ करके तीन दिन तक केवल दुग्ध पीकर रहना चाहिये फिर तीन दिन तक निराहार व्रत करना चाहिये। इसको 'माहेन्द्रकृच्छ्र' कहा जाता है। कार्तिक के शुक्लपक्ष की एकादशी को प्रारम्भ करके 'पञ्चरात्रव्रत' करना चाहिये। प्रथम दिन दुग्धपान करना चाहिये, दूसरे दिन दधि का आहार करना चाहिये, फिर तीन दिन निराहार व्रत करना चाहिये। यह अर्थप्रद 'भास्करकृच्छ्र' कहलाता है। शुक्लपक्ष की पञ्चमी से प्रारम्भ करके षड् दिनतक क्रमशः यव की लपसी, शाक, दधि, दुग्ध, घृत और जल—इन वस्तुओं का आहार करना चाहिये। इसको 'सांतपनकृच्छ्र' कहा गया है॥१२-१६॥

॥इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी एक सौ सतानवेवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ॥१९७॥

❖❖❖

अथाष्टनवत्यधिकशततमोऽध्यायः

मासव्रतानि

अग्निरुवाच

मासव्रतकमाख्यास्ये भुक्तिमुक्तिप्रदायकम्। आषाढादिचतुर्मासमभ्यङ्गं सवर्जयेत्सुधीः।।१।।
वैशाखे पुष्पलवणं त्यक्त्वा गोदो नृपो भवेत्। गोदो मासोपवासी च भीमव्रतकरो हरिः।।२।।
आषाढादि चतुर्मासं प्रातःस्नायी च विष्णुगः। माघे मास्यथ चैत्रे वा गुडधेनुप्रदो भवेत्।।३।।
गुडव्रतस्तृतीयायां गौरीशः स्यान्महाव्रती। मार्गशीर्षादिमासेषु नक्तकृद्विषुलोकभाक्।।४।।
एकभक्तव्रती तद्वद्द्वादशीव्रतकं पृथक्। फलव्रती चतुर्मासं फलं त्यक्त्वा प्रदापयेत्।।५।।
श्रावणादिचतुर्मासं व्रतैः सर्वं लभेद्व्रती। आषाढस्य सिते पक्ष एकादश्यामुपोषितः।।६।।
चातुर्मास्यव्रतानां तु कुर्वीत परिकल्पनम्। आषाढ्यां चाथ संक्रान्तौ कर्कटस्य हरिं यजेत्।।७।।
इदं व्रतं मया देव गृहीतं पुरतस्तव। निर्विघ्नां सिद्धिमायातु प्रसन्ने त्वयि केशव।।८।।
गृहीतेऽस्मिन्व्रते देव यद्यपूर्णे म्रिये ह्यहम्। तन्मे भवतु सम्पूर्णं त्वत्प्रसादाज्जनार्दन।।९।।

अध्याय-१९८

मास व्रत विचार

श्रीअग्नि देव ने कहा कि–हे मुनिश्रेष्ठ! अधुना मैं मास-व्रतों का वर्णन करने जा रहा हूँ, जो भोग और मोक्ष सम्प्रदान करने वाले हैं। आषाढ़ से प्रारम्भ होने वाले चातुर्मास्य में अभ्यङ्ग (मालिश और उबटन) का त्याग करना चाहिये। इससे मनुष्य श्रेष्ठतम बुद्धि प्राप्त करता है। वैशाख में पुष्परेणुतक का परित्याग करके गोदान करने वाला राज्य प्राप्त करता है। एक मास निराहार व्रत रखकर गोदान करने वाला इस भीमव्रत के प्रभाव से श्रीहरि स्वरूप हो जाता है। आषाढ़ से प्रारम्भ होने वाले चातुर्मास्य में नियमपूर्वक प्रातः स्नान करने वाला विष्णुलोक को जाता है। माघ अथवा चैत्र मास की तृतीया को गुड़-धेनु का दान दे, इसको 'गुड़व्रत' कहा गया है। इस महान् व्रत का अनुष्ठान करने वाला शिवस्वरूप हो जाता है। मार्गशीर्ष आदि मासों में 'नक्तव्रत' (रात्रि में एक बार भोजन) करने वाला विष्णुलोक का अधिकारी होता है। 'एकभूक्त व्रत' का पालन करने वाला उसी तरह पृथक् रूप से द्वादशीव्रत का भी पालन करना चाहिये। 'फलव्रत' करने वाले को चातुर्मास्य में फलों का त्याग करके उनका दान करना चाहिये।।१-५।।

श्रावण से प्रारम्भ होने वाले चातुर्मास्य में व्रतों के अनुष्ठान से व्रतकर्ता सब कुछ प्राप्त कर लेता है। चातुर्मास्य-व्रतों का इस तरह विधान करना चाहिये–आषाढ़ के शुक्लपक्ष की एकादशी को निराहार व्रत रखे। प्रायः आषाढ़ में प्राप्त होने वाली कर्क-संक्रान्ति में श्रीहरि विष्णु का पूजन करना चाहिये और कहे–'हे भगवन्! मैंने आपके सम्मुख यह व्रत ग्रहण किया है। हे केशव! आपकी प्रसन्नता से इसकी निर्विघ्न सिद्धि हो। हे देवाधिदेव जनार्दन! यदि इस व्रत के ग्रहण के अनन्तर इसकी अपूर्णता में ही मेरी मृत्यु हो जाय, तो आपके कृपा-प्रासाद से यह व्रत सम्पूर्ण हो।' व्रत करने वाला द्विज मांस आदि निषिद्ध वस्तुओं और तेल का त्याग करके श्रीहरि विष्णु का यजन करना चाहिये।

मांसादि त्यक्त्वा विप्रः स्यात्तैलत्यागी हरिं यजेत्। एकान्तरोपवासी च त्रिरात्री विष्णुलोकभाक्।।१०।।
चान्द्रायणी विष्णुलोकी मौनी स्यान्मुक्तिभाजनम्। प्राजापत्यव्रती स्वर्गी सक्तुयावकभक्षकः।।११।।
दुग्धाद्याहारवान्स्वर्गी पञ्चगव्याम्बुभुक्तथा। शाकमूलफलाहारी नरो विष्णुपुरीं व्रजेत्।।१२।।
(मांसवर्जी यवाहारो रसवर्जी हरिं व्रजेत्। कौमुदव्रतमाख्यास्ये आश्विने समुपोषितः।।१३।।
द्वादश्यां पूजयेद्विष्णुं प्रलिप्याब्जोत्पलादिभिः। घृतेन तिलतैलेन दीपनैवेद्यमर्पयेत्।।१४।।
ॐ नमो वासुदेवाय मालत्या मालया यजेत्। धर्मकामार्थमोक्षांश्च प्राप्नुयात्कौमुदव्रती।।१५।।
सर्वं लभेद्धरिं प्राच्र्य मासोपवासकव्रती।।१६।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते मासव्रतकथनं नामाष्टनवत्यधिकशततमोऽध्यायः।।१९८।।

—❀❀❀—

एक दिन के अन्तर से निराहार व्रत रखकर त्रिरात्रयण व्रत' करने वाला विष्णुलोक का और 'मौन व्रत' करने वाला मोक्ष का अधिकारी होता है। 'प्राजापत्य व्रत' करने वाला स्वर्गलोक को जाता है। सत्तू और यव का भक्षण करके, दुग्ध आदि का आहार करके, अथवा पञ्चगव्य एवं जल पीकर कृच्छ्रव्रतों का अनुष्ठान करने वाला स्वर्ग को प्राप्त होता है। शाक, मूल और फल के आहारपूर्वक कृच्छ्रव्रत करने वाला मनुष्य वैकुण्ठ को जाता है। मांस और रस का परित्याग करके जौ का भोजन करने वाला श्रीहरि विष्णु के सांनिध्य को प्राप्त करता है।।६-१२।।

अधुना मैं 'कौमुदव्रत' का वर्णन करने जा रहा हूँ। आश्विन के शुक्लपक्ष की एकादशी को निराहार व्रत रखे। द्वादशी को भगवान् श्रीहरि विष्णु के अंगों में चन्दनादि का अनुलेपन करके कमल और उत्पल आदि पुष्पों से उनका पूजन करना चाहिये। उसके बाद तिल-तैल से परिपूर्ण दीपक और घृतसिद्ध पक्वान्न का नैवेद्य समर्पित करना चाहिये। भगवान् श्रीहरि विष्णु को मालतीपुष्पों की माला भी निवेदन करना चाहिये। '**ॐ नमो वासुदेवाय**'-इस मन्त्र से व्रत का विसर्जन करना चाहिये। इस तरह 'कौमुदव्रत' का अनुष्ठान करने वाला धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष-चारों परुषार्थों को हस्तगत कर लेता है। मासोपवास व्रत करने वाला भगवान् श्रीहरि विष्णु का पूजन करके सब कुछ प्राप्त कर लेता है।।१३-१६।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी एक सौ अनठावेवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।१९८।।

अथ नवनवत्यधिकशततमोऽध्यायः

नानाव्रतानि

अग्निरुवाच

ऋतुव्रतान्यहं वक्ष्ये भुक्तिमुक्तिप्रदानि ते। इन्धनानि तु यो दद्याद्वर्षादि चतुरो ह्यृतून्।।१।।
घृतधेनुप्रदश्चान्ते ब्राह्मणोऽग्निव्रती भवेत्। कृत्वा मौनं तु सन्ध्यायां मासान्ते घृतकुम्भदः।।२।।
तिलघण्टा वस्त्रदाता सुखी सारस्वतव्रती। पञ्चामृतेन स्नपनं कृत्वाऽब्दं धेनुदो नृपः।।३।।
एकादश्यां तु नक्ताशी चैत्रे भक्तं निवेदयेत्। हैमं विष्णोः पदं याति मासान्ते विष्णुसद्व्रती।।४।।
पायसाशी गोयुगदः श्रीभाग्देवीव्रती भवेत्।निवेद्य पितृदेवेभ्यो यो भुङ्क्ते स भवेन्नृपः।।५।।
वर्षव्रतानि चोक्तानि संक्रान्तिव्रतकं वदे। संक्रान्तौ स्वर्गलोकी स्याद्रात्रिजागरणान्नरः।।६।।
अमावस्यां तु संक्रान्तौ शिवार्कयजनात्तथा। उत्तरे त्वयने चेज्यः प्रातःस्नानेन केशवः।।७।।
द्वात्रिंशत्पलमानेन सर्वपापैः प्रमुच्यते। घृतक्षीरादिनाऽऽस्नाप्य प्राप्नोति विषुवादिषु।।८।।

अध्याय-१९९

विविध व्रत विचार

श्रीअग्नि देव ने कहा कि–हे वसिष्ठ! अधुना मैं आपके सम्मुख ऋतु-सम्बन्धी व्रतों का वर्णन करता हूँ, जो भोग और मोक्ष का सुलभ करने वाले हैं। जो वर्षा, शरद् हेमन्त और शिशिर ऋतु में इन्धन का दान करता है एंं व्रतान्त में घृत धुने का दान करता है, वह 'अग्निव्रत' का पालन करने वाला मनुष्य दूसरे जन्म में ब्राह्मण होता है। जो एक मास तक संध्या के समय मौन रहकर मासान्त में ब्राह्मण को घृतकुम्भ, तिल, घण्टा और वस्त्र देता है, वह 'सारस्वतव्रत' करने वाला मनुष्य सुख का उपभोग करता है। एक वर्ष तक पञ्चामृत से स्नान करके गोदान करने वाला राजा होता है।।१-३।।

चैत्र की एकादशी को नक्तभुक्तव्रत करके चैत्र के समाप्त होने पर विष्णुभक्त ब्राह्मण को स्वर्णमयी विष्णु-प्रतिमा का दान करना चाहिये। इस विष्णु-सम्बन्धी श्रेष्ठतम व्रत का पालन करने वाला विष्णुपद को प्राप्त करता है। (एक वर्ष तक) खीर का भोजन करके गोयुग्म का दान करने वाला इस 'देवीव्रत' के पालन के प्रभाव से श्रीसम्पन्न होता है। जो (एक वर्ष तक) पितृदेवों को समर्पित करके भोजन करता है, वह राज्य प्राप्त करता है। ये वर्ष-सम्बन्धी व्रत कहे गये है। अधुना मैं संक्रान्ति-सम्बन्धी व्रतों का वर्णन करने जा रहा हूँ। मनुष्य संक्रान्ति की रात्रि को जागरण करने से स्वर्गलोक को प्राप्त होता है। जिस समय संक्रान्ति अमावास्या तिथि में हो, तो शिव और सूर्य का पूजन करने से स्वर्ग की प्राप्ति हो जाती है। उत्तरायण-सम्बन्धीनी मकर-संक्रान्ति में प्रातःकाल स्नान करके भगवान् श्रीकेशव की अर्चना करनी चाहिये। उद्यापन में बत्तीस पल स्वर्ण का दान देकर वह सम्पूर्ण पापों से मुक्त हो जाता है। विषुव आदि योगों में भगवान् श्रीहरि विष्णु को घृतमिश्रित दुग्ध आदि से स्नान कराके मनुष्य सब कुछ प्राप्त कर लेता है।।४-८।।

स्त्रीणामुमाव्रतं श्रीदं तृतीयास्वष्टमीषु च। गौरी महेश्वरं चापि यजेत्सौभाग्यमाप्नुयात्॥९॥
उमामहेश्वरौ प्राच्र्य अवियोगादि चाऽऽप्नुयात्। मूलव्रतकरी स्त्री च उमेशव्रतकारिणी॥१०॥
सूर्यभक्ता तु या नारी ध्रुवं सा पुरुषो भवेत्॥११॥

॥इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते नानाव्रतवर्णनं नाम नवनवत्यधिकशततमोऽध्याय:॥१९९॥

अथ द्विशततमोऽध्याय:

दीपदानव्रतम्

अग्निरुवाच

दीपदानव्रतं वक्ष्ये भुक्तिमुक्तिप्रदायकम्। देवद्विजातिकगृहे दीपदोऽब्दं स सर्वभाक्॥१॥
चा (च) तुर्मासे (सं) विष्णुलोकी कार्तिके स्वर्गलोक्यपि। दीपदानात्परं नास्ति न भूतं न भविष्यति॥२॥
दीपेनाऽऽयुश्च चक्षुष्मान्दीपाल्लक्ष्मीसुतादिकम्। सौभाग्यं दीपदः प्राप्य स्वर्गलोके महीयते॥३॥
विदर्भराजदुहिता ललिता दीपदानभाक्। चारुधर्मक्ष्मापपत्नी शतभार्यादिकाऽभवत्॥४॥

स्त्रियों के लिये 'उमाव्रत' लक्ष्मी सम्प्रदान करने वाला है। उनको तृतीया और अष्टमी तिथि को गौरीदेवाधिदेव भगवान् श्रीशिवशंकर की पूजा करनी चाहिये। इस तरह शिव-पार्वती की अर्चना करके नारी अखण्ड सौभाग्य प्राप्त करती है और उसको कभी पति का वियोग नहीं होता। 'मूलव्रत' एवं 'उमेश-व्रत' करने वाली तथा सूर्य में भक्ति रखने वाली स्त्री दूसरे जन्म में अवश्य पुरुषत्व प्राप्त करती है॥९-११॥

॥इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी एक सौ निन्यानवेवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ॥१९९॥

अध्याय-२००

दीपदान-व्रत विचार

श्रीअग्नि देव ने कहा कि-हे वसिष्ठ! अधुना मैं भोग और मोक्ष सम्प्रदान करने वाले 'दीपदान-व्रत' का वर्णन करने जा रहा हूँ, ध्यान से सुनो। जो मनुष्य देवता के मन्दिर अथवा ब्राह्मण के गृह में एक वर्ष तक दीप का दान करता है, वह सम्पूर्ण फल को प्राप्त कर लेता है। चातुर्मास्य में दीप का दान करने वाला विष्णुलोक को और कार्तिक में दीपदान करने वाला स्वर्गलोक को प्राप्त होता है। दीपदान से बढ़कर न कोई व्रत है, न था और न होगा ही। दीपदान से आयु और नेत्रज्योति की प्राप्ति हो जाती है। दीपदान से धन और पुत्रादि की भी प्राप्ति हो जाती है। दीपदान करने वाला सौभाग्य युक्त होकर स्वर्गलोक में देवताओं द्वारा पूजित होता है। विदर्भराजकुमारी ललिता दीपदान के पुण्य से ही राजा चारुधर्मा की पत्नी हुई और उसकी सौ रानियों में प्रमुख हुई। उसी साध्वी ने एक बार विष्णु

ददौ दीपसहस्रं सा विष्णोरायतने सती। पृष्टा सा दीपमाहात्म्यं सपत्नीभ्य उवाच ह।।५।।

ललितोवाच

सौवीरराजस्य पुरा मैत्रेयोऽभूत्पुरोहितः। तेन चाऽऽयतनं विष्णोः कारितं देविकातटे।।६।।
कार्तिके दीपकस्तेन दत्तः संप्रेरितो मया। वक्त्रप्रान्तन नश्यन्त्या मार्जारस्य तदा भयात्।।७।।
निर्वाणवान्प्रदीप्तोऽभूद्वर्त्या मूषिकया तदा। मृता राजात्मजा जाता राजपत्नी शताधिका।।८।।
असंकल्पितमप्यस्य प्रेरणं यत्कृतं मया। विष्ण्वायतनदीपस्य तस्येदं भुज्यते फलम्।।९।।
जातिस्मरा ह्यतो दीपान्प्रयच्छामि त्वहर्निशम्। एकादश्यां दीपदो वै विमाने दिवि मोदते।।१०।।
जायते दीपहर्ता तु मूको वा जड़ एव च। अन्धे तमसि दुष्पारे नरके पतते किल।।११।।
विक्रोशमानांश्च नरान्यमकिंकर आह तान्। विलापैरलमत्रापि किं वो विलपिते फलम्।।१२।।
यदा प्रमादिभिः पूर्वमत्यन्तसमुपेक्षितः। जन्तुर्जन्मसहस्रेभ्यो ह्येकस्मिन्मानुषो यदि।।१३।।
तत्राप्यतिमूढात्मा किं भोगानभिधावति। स्वहितं विषयास्वादैः क्रन्दनं तदिहाऽऽगतम्।।१४।।
भुज्यते च कृतं पूर्वमेतत्किं वो न चिन्तितम्। परस्त्रीषु कुचाभ्यङ्गं प्रीतये दुःखदं हि वः।।१५।।

मन्दिर में सहस्र दीपों का दान किया। इस पर उसकी सपत्नियों ने उससे दीपदान माहात्म्य पूछा। उनके पूछने पर उसने इस तरह कहा।।१-५।।

ललिता ने कहा–पहले की बात है, सौवीराज के यहाँ मैलेय नामक पुरोहित थे। उन्होंने देवि का नदी के तट पर भगवान् श्रीहरि विष्णु का मन्दिर बनवाया। कार्तिक मास में उन्होंने दीपदान किया। बिलाव के डर से भागती हुई एक चुहिया ने अकस्मात् अपने मुख के अग्रभाग से उस दीपक की बत्ती को बढ़ा दिया। बत्ती के बढ़ने से वह बुझता हुआ दीपक प्रज्वलित हो उठा। मृत्यु के पश्चात् वही चुहिया राजकुमारी हुई और राजा चारुधर्मा की सौ रानियों में पटरानी हुई। इस तरह मेरे द्वारा बिना सोचे-समझे जो विष्णु मन्दिर के दीपक की वर्ति का बढ़ा दी गयी, उसी पुण्य का मैं फल भोग रही हूँ। इसी से मुझको अपने पूर्वजन्म का स्मरण भी है। इसलिये मैं सदा दीपदान किया करती हूँ। एकादशी को दीपदान करने वाला स्वर्गलोक में विमान पर आरूढ़ होकर प्रमुदित होता है। मन्दिर का दीपक हरण करने वाला गूँगा अथवा मूर्ख हो जाता है। वह निश्चय ही 'अन्धतामिस्र' नामक नरक में गिरता है, जिसे पार करना दुष्कर है। वहाँ रुदन करते हुए मनुष्यों से यमदूत कहता हैं–'अरे! अधुना यहाँ विलाप क्यों करते हो? यहाँ विलाप करने से क्या लाभ है? पहले आप लोगों ने प्रमादवश सहस्रों जन्मों के बाद प्राप्त होने वाले मनुष्य जन्म की अपेक्षा की थी। वहाँ तो अत्यन्त मोहयुक्त चित्त से आपने भोगों के पीछे दौड़ लगायी। पहले तो विषयों का आस्वादन करके खूब हँसे थे, अधुना यहाँ क्यों रो रहे हो? आपने पहले ही यह क्यों नहीं सोचा कि किये हुए कुकर्मों का फल भोगना पड़ता है। पहले जो परनारी का कुचमर्दन आपको प्रीतिकर प्रतीत होता था, वही अधुना तुम्हारे दुःख का कारण हुआ है। मुहूर्तभर का विषयों का आस्वादन अनेक करोड़ वर्षों तक दुःख देने वाला होता है। आपने परस्त्री का अपहरण करके जो कुकर्म किया, वह मैंने बतलाया। अधुना 'हा! मातः' कहकर विलाप क्यों करते हो? भगवान् श्रीहरि विष्णु के नाम का जिह्वा से उच्चारण करने में कौन-सा बड़ा भार है? बत्ती और तेल अल्प मूल्य की वस्तुएँ हैं और अग्नि

मुहूर्तविषयास्वादोऽनेककोट्यब्ददुःखदः। परस्त्रीहारि यद्गीतं हा मातः किं विलप्यते॥१६॥
कोऽतिभारो हरेर्नाम्नि जिह्वया परिकीर्तने। वर्तितैलेऽल्पमूल्येऽपि यदग्निर्लभ्यते सदा॥१७॥
दानाशक्तैर्हरेर्दीपो हृतस्तद्वोऽतिदुःखदम्। इदानीं किं विलापेन सहध्वं यदुपागतम्॥१८॥

अग्निरुवाच

ललितोक्तं च ताः श्रुत्वा दीपदानाद्दिवं ययुः। तस्माद्दीपप्रदानेन व्रतानामधिकं फलम्॥१९॥

॥इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते दीपदानवर्णनं नाम द्विशततमोऽध्यायः॥२००॥

अथैकाधिकद्विशततमोऽध्यायः

नवव्यूहार्चनम्

अग्निरुवाच

नवव्यूहार्चनं वक्ष्ये नारदाय हरीरितम्। मण्डलेऽब्जेऽर्चयेन्मध्ये अबीजं वासुदेवकम्॥१॥
आबीजं च संकर्षणम् प्रद्युम्नं च दक्षिणे। अः अनिरुद्धं नैर्ऋते ॐ नारायणमप्सु च॥२॥
तत्सद्ब्रह्माणमनिले ह्रूं विष्णुं क्षौं नृसिंहकम्। उत्तरे भूर्वराहं च ईशे द्वारि च पश्चिमे॥३॥

तो वैसे ही सदा सुलभ है। इस पर भी आपने दीपदान ने करके विष्णु मन्दिर के दीपक का हरण किया, वही तुम्हारे लिये दुःखदायी हो रहा है। विलाप करने से क्या लाभ? अधुना तो जो यातना मिल रही है, उसको सहन करो॥१६-१८॥

श्रीअग्नि देव ने कहा कि–ललिता की सौतें उसके द्वारा कहे हुए इस उपाख्यान को सुनकर दीपदान के प्रभाव से स्वर्ग को प्राप्त हो गयीं। इसलिये दीपदान सभी व्रतों से विशेष फलसम्प्रदायक है॥१९॥

॥इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी दो सौवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ॥२००॥

अध्याय–२०१

नवव्यूहार्चन विचार

श्रीअग्नि देव ने कहा कि–हे वसिष्ठ! अधुना मैं नवव्यूहार्चन की विधि बताऊँगा, जिसका उपदेश भगवान् श्रीहरि विष्णु ने देवर्षि नारदजी के प्रति किया था। पद्ममय मण्डल के मध्य में 'अं' बीज से युक्त वासुदेव की पूजा करनी चाहिये। (यथा–अं वासुदेवाय नमः) **'आं'** बीज से युक्त संकर्षण का अग्निकोण में, 'अं' बीज से युक्त प्रद्युम्न का दक्षिण में, 'अः' बीजवाले अनिरुद्ध का नैर्ऋत्यकोण में, प्रणवयुक्त नारायण का पश्चिम में, तत्सद् ब्रह्म का वायव्य कोण में, 'ह्रूं' बीज से युक्त विष्णु का और 'क्षौं' बीज से युक्त नृसिंह का उत्तर दिशा में, पृथ्वी और वराह का ईशानकोण में तथा पश्चिम द्वार में पूजन करना चाहिये॥१-३॥

कं टं सं शं गरुत्मन्तं पूर्ववक्त्रं च दक्षिणे। खं छं वं हुं फडिति च खं ठं फं शं गदां विधौ॥४॥
बं णं मं क्षं कोणे शं च धं दं भं हं श्रियं यजेत्। दक्षिणे चोत्तरे पुष्टिं गं डं बं शं स्वबीजकम्॥५॥
पीठस्य पश्चिमे धं वं वनमालां च पश्चिमे। श्रीवत्सं चैव सं हं लं छं तं यं कौस्तुभं जले॥६॥
दशमाङ्गक्रमाद्विष्णोर्नमोऽनन्तमधोऽर्चयेत्। दशाङ्गादिमहेन्द्रादीन्पूर्वादौ चतुरो घटान्॥७॥
तोरणानि वितानं च अग्न्यनिलेन्दुबीजकैः। मण्डलानि क्रमाद्ध्यात्वा तनुं वन्द्य ततः प्लवेत्॥८॥
अम्बरस्थं ततो ध्यात्वा सूक्ष्मरूपमथाऽऽत्मनः। सितामृते निमग्नं च चन्द्रबिम्बात्स्रुतेन च॥९॥
तदैव चाऽऽत्मनो बीजममृतं प्लवसंस्कृतम्। उत्पद्यमानं पुरुषमात्मानमुपकल्पयेत्॥१०॥
उत्पन्नोऽस्मि स्वयं विष्णुर्बीजं द्वादशकं न्यसेत्। हृच्छिरस्तु शिखा चैव कवचं चास्त्रमेव च॥११॥
वक्षोमूर्धशिखापृष्ठलोचनेषु न्यसेत्पुनः। अस्त्रं करद्वये न्यस्य ततो दिव्यतनुर्भवेत्॥१२॥
यथाऽऽत्मनि तथा देवे शिष्यदेहे न्यसेत्तथा। अनिर्माल्या स्मृता पूजा यद्धरेः पूजनं हृदि॥१३॥
सनिर्माल्या मण्डलादौ बद्धनेत्राश्च शिष्यकाः। पुष्पं क्षिपेयुर्यन्मूर्तौ तस्य तन्नाम कारयेत्॥१४॥

'कं टं शं सं'—इन बीजों से युक्त पूर्वाभिमुख गरुड़ का दक्षिण दिशा में पूजन करना चाहिये। **'खं छं वं हुं फट्'** तथा **'खं ठं फं शं'**—इन बीजों से युक्त गदा की चद्रमण्डल में पूजा करनी चाहिये। **'वं णं मं क्षं'** तथा **'शं धं दं भं हं'**—इन बीजों से युक्त श्रीदेवी का कोणभाग में पूजन करना चाहिये। दक्षिण तथा उत्तर दिशा में **'गं डं बं शं'**—इन बीजों से युक्त पुष्टिदेवी की अर्चना करनी चाहिये। पीठ के पश्चिम भाग में **'धं वं'**—इन बीजों से युक्त वनमाला का पूजन करना चाहिये। **'सं हं लं'**—इन बीजों से युक्त रीवत्स की पश्चिम दिशा में पूजा करनी चाहिये और **'छं तं यं'**—इन बीजों से युक्त कौस्तुभ का जल में पूजन करना चाहिये॥४-६॥

फिर दशमाङ्ग-क्रम से विष्णु का और उनके अधोभाग में भगवान् अनन्त का उनके नाम के साथ 'नमः' पद जोड़कर पूजन करना चाहिये। दस अङ्गादि का तथा महेन्द्र आदि दस दिक्पालों को पूर्वादि दिशाओं में पूजन करना चाहिये। पूर्वादि दिशाओं में चार कलशों का भी पूजन करना चाहिये। तोरण, वितान (चँदोवा) तथा अग्नि, वायु और चन्दमा के बीजों से युक्त मण्डलों का क्रमशः ध्यान करके अपने शरीर को वन्दना पूर्वक अमृत से प्लावित करना चाहिये। आकाश में स्थित आत्मा के सूक्ष्मरूप का ध्यान करके यह भावना करनी चाहिये कि वह चन्द्रमण्डल से झरे हुए श्वेत अमृत की धारा में निमग्न है। प्लवन से जिसका संस्कार किया गया है, वह अमृत ही आत्मा का बीज है। उस अमृत से उत्पन्न होने वाले पुरुष को आत्मा (अपना स्वरूप) माने। यह भावना करनी चाहिये कि 'मैं स्वयं ही विष्णु रूप से प्रकट हुआ हूँ। इसके बाद द्वादश बीजों का न्यास करना चाहिये। क्रमशः वक्षःस्थल, मस्तक, शिखा, पृष्ठभाग, नेत्र तथा दोनों हाथों में हृदय, सिर, शिखा, कवच, नेत्रत्रय और अस्त्र—इन अंगों का न्यास करना चाहिये। दोनों हाथों में अस्त्र का न्यास करने के पश्चात् सधक के शरीर में दिव्यता आ जाती है ॥७-१२॥

जिस प्रकार अपने शरीर में न्यास करना चाहिये, वैसे ही देवता के विग्रह में भी करना चाहिये तथा शिष्य के शरीर में भी उसी तरह न्यास करना चाहिये। हृदय में जो श्रीहरि विष्णु का पूजन किया जाता है, उसको 'निर्माल्य हीन पूजा' कहा गया है। मण्डल आदि में निर्माल्यसहित पूजा की जाती है। दीक्षाकाल में शिष्यों के नेत्र बँधे रहते हैं। उस अवस्था में इष्टदेव के विग्रह पर वे जिस फूल को फेंकें, तदनुसार ही उनका नामकरण करना चाहिये। शिष्यों

निवेश्य वामतः शिष्यांस्तिलव्रीहिघृतं हुनेत्। शतमष्टोत्तरं हुत्वा सहस्रं कण्यशुद्धये।।१५।।
नवव्यूहस्य मूर्तीनामङ्गानां च शताधिकम्। पूर्णान्दत्त्वा दीक्षयेत्तान्गुरुः पूज्यश्च तैर्धनैः।।१६।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते नवव्यूहार्चनं नामैकाधिकद्विशततमोऽध्यायः।।२०१।।

अथ द्व्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

पुष्पवर्गकथनम्

अग्निरुवाच

पुष्पगन्धधूपदीपैर्नैवेद्यैस्तुष्यते हरिः। पुष्पाणि देवयोग्यानि ह्ययोग्यानि वदामि ते।।१।।
पुष्पं श्रेष्ठं मालती च तमालो भुक्तिमुक्तिमान्। मल्लिका सर्वपापघ्नी यूथिका विष्णुलोकदा।।२।।
अतिमुक्तमयं तद्वत्पाटला विष्णुलोकदा। करवीरैर्विष्णुलोकी जपापुष्पैश्च पुण्यवान्।।३।।
पावन्तीकुब्जकाद्यैश्च तगरैर्विष्णुलोकभाक्। कर्णिकारैर्विष्णुलोकः कुरुण्ठैः पापनाशनम्।।४।।

को वामभाग में बैठाकर अग्नि में तिल, चावल और घी की आहुति देनी चाहिये। एक सौ आठ आहुतियाँ देने के पश्चात् कायशुद्धि के लिये एक सहस्र आहुतियों का हवन करना चाहिये।

नवव्यूह की मूर्तियों तथा अंगों के लिये सौ से अधिक आहुतियाँ देनी चाहिये। उसके बाद पूर्णाहुति देकर गुरु उन शिष्यों को दीक्षा दे तथा शिष्यों को चाहिये कि वे धन से गुरु की पूजा करें।।१३-१६।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी दो सौ पहला अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।२०१।।

अध्याय–२०२

देवपूजन योग्य पुष्प विचार

श्रीअग्नि देव ने कहा कि–हे वसिष्ठ! भगवान् श्रीहरि विष्णु पुष्प, गन्ध, धूप, दीप और नैवेद्य के समर्पण से ही प्रसन्न हो जाते हैं। मैं तुम्हारे सम्मुख देवताओं के योग्य एवं अयोग्य पुष्पों का वर्णन करने जा रहा हूँ। पूजन में मालती-पुष्प श्रेष्ठतम है। तमाल-पुष्प भोग और मोक्ष सम्प्रदान करने वाला है। मल्लिका (मोतिया) समस्त पापों का विनाश करती है तथा यूथिका (जूही) विष्णुलोक सम्प्रदान करने वाली है। अतिमुक्तक (मोगरा) और लोध्रपुष्प विष्णुलोक की प्राप्ति कराने वाले हैं। करवीर-कुसुमों से पूजन करने वाला वैकुण्ठ को प्राप्त होता है तथा जपा-पुष्पों से मनुष्य पुण्य उपलब्ध करता है। पावन्ती, कुब्जक और तगर पुष्पों से पूजन करने वाला विष्णुलोक का अधिकारी होता है ।कर्णिकार (कनेर) द्वारा पूजन करने से वैकुण्ठ की प्राप्ति हो जाती है एवं कुरुण्ट (पीली कटसरैया) के पुष्पों से किया हुआ पूजन पापों का विनाश करने वाला होता है।।१-४।।

पद्मैश्च केतकीभिश्च कुन्दपुष्पैः परा गतिः। बाणपुष्पैर्बर्बराभिः कृष्णाभिर्हरिलोकभाक्॥५॥
अशोकैस्तिलकस्तद्वदाटरूषभवैस्तथा। मुक्तिभागीः बिल्वपत्रैः शमीपत्रैः परा गतिः॥६॥
विष्णुलोकी भृङ्गराजैस्तमालस्य दलैस्तथा। तुलसी कृष्णगौराख्या कह्लारोत्पलकानि च॥७॥
पद्मं कोकनदं पुण्यं शताब्जमालया हरिः। नीपार्जुनकदम्बैश्च बकुलैश्च सुगन्धिभिः॥८॥
किंशुकैर्मुनिपुष्पैस्तु गोकर्णैर्नागकर्णकैः। सन्ध्यापुष्पैर्बिल्वतकैरञ्जनीकेतकीभवैः॥९॥
कूष्माण्डतिमिरोत्थैश्च कुशकाश शरोद्भवैः। द्यूतादिभिर्मरुबकैः पत्रैरन्यैः सुगन्धकैः॥१०॥
भुक्तिर्मुक्तिः पापहानिर्भक्त्या सर्वैस्तु तुष्यति। स्वर्णलक्षाधिकं पुष्पं माला कोटिगुणाधिका॥११॥
स्ववनेऽन्यवने पुष्पैस्त्रिगुणं वनजैः फलम्। विशीर्णैर्नार्चयेद्विष्णुं नाधिकाङ्गैर्न मोटितैः॥१२॥
काञ्चनारैस्तथोन्मत्तैर्गिरिकर्णिकया तथा। कुटजैः शाल्मलीयैश्च शिरीषैर्नरकादिकम्॥१३॥
सुगन्धैर्ब्रह्मपद्मैश्च पुष्पैर्नीलोत्पलैर्हरिः। अर्कमन्दारधत्तूरकुसुमैरर्च्यते हरः॥१४॥
कुटजैः कर्कटीपुष्पैः केतकीं न शिवे ददेत्। कूष्माण्डनिम्बसम्भूतं पैशाचं गन्धवर्जितम्॥१५॥
अहिंसा इन्द्रियजयः क्षान्तिर्ज्ञान दया श्रुतम्। भावाष्टपुष्पैः सम्पूज्य देवान्स्याद्भुक्तिामुक्तिभाक्॥१६॥

कमल, कुन्द एवं केतकी के पुष्पों से परमगति की प्राप्ति हो जाती है। बाणपुष्प, बर्बर-पुष्प और कृष्ण तुलसी के पत्तों से पूजन करने वाला श्रीहरि विष्णु के लोक में आता है। अशोक, तिलक तथा आटरूष (अडूसे) के फूलों का पूजन में उपयोग करने से मनुष्य मोक्ष का भागी होता है। बिल्वपत्रों एवं शमीपत्रों से परमगति सुलभ होती है। तमालदल तथा भृङ्गराज-कुसुमों से पूजन करने वाला विष्णुलोक में निवास करता है। कृष्ण तुलसी, शुक्ल तुलसी, कल्हार, उत्पल, पद्म एवं कोकनद-ये पुष्प पुण्यप्रद माने गये हैं।।१-७।।

भगवान श्रीहरि विष्णु सौ कमलों की माला समर्पण करने से परम प्रसन्न होते हैं। नीप, अर्जुन, कदम्ब, सुगन्धित बकुल (मौलसिरी), किंशुक (पलाश), मुनि (अगस्त्यपुष्प), गोकर्ण, नागकर्ण (रक्त एरण्ड), संध्यापुष्पी (चमेली), बिल्वातक, , रञ्जनी एवं केतकी तथा कूष्माण्ड, ग्रामकर्कटी, कुश, कास, सरपत, विभीतक, मरुआ तथा अन्य सुगन्धित पत्रों द्वारा भक्ति पूर्वक पूजन करने से भगवान् श्रीहरि विष्णु प्रसन्न हो जाते हैं। इनसे पूजन करने वाले के पाप का विनाश होकर उसको भोग-मोक्ष की प्राप्ति हाती है। लक्ष स्वर्णभार से पुष्प श्रेष्ठतम है, पुष्प की माला उससे भी करोड़ गुनी श्रेष्ठ है, अपने तथा दूसरों के उद्यान के पुष्पों की अपेक्षा वन्य पुष्पों का तिगुना फल माना गया है।।८-११।।

झड़कर गिरे, अधिकाङ्ग एवं मसले हुए पुष्पों से श्रीहरि विष्णु का पूजन नहीं करना चाहिये। इसी तरह कचनार, धत्तूर, गिरिकर्णिका (सफेद किणही), कुटज, शाल्मलि (सेमर) एवं शिरीष (सिरस) वृक्ष के पुष्पों से भी भगवान् श्रीहरि विष्णु की अर्चना नहीं करना चाहिये। इससे पूजा करने वाले का नरक आदि में पतन होता है। विष्णु भगवान् सुगन्धित रक्तकमल तथा नीलकमल-कुसुमो से पूजन होता है। भगवान् शिव का आक, मदार, धत्तूर-पुष्पों से पूजन किया जाता है; परन्तु कुटज, कर्कटी एवं केतकी (केवड़े) के फूल शिव के ऊपर नहीं चढ़ाने चाहिये। कूष्माण्ड एवं निम्ब के पुष्प तथा अन्य गन्धहीन पुष्प 'पैशाच' माने गये हैं।।१२-१५।।

अहिंसा, इन्द्रियसंयम, क्षमा, ज्ञान, दया एवं स्वाध्याय आदि आठ भावपुष्पों से देवताओं का यजन करके

(अहिंसा प्रथमं पुष्पं पुष्पमिन्द्रियनिग्रहः। सर्वपुष्पं दयाभूते पुष्पं शान्तिर्विशिष्यते।।१७।।
शमः पुष्पं तपः पुष्पं ध्यानं पुष्पं च सप्तमम्। सत्यं चैवाष्टमं पुष्पमेतैस्तुष्यति केशवः।।१८।।
एतैरेवाष्टभिः पुष्पैस्तुष्यत्येवार्चितो हरिः। पुष्पान्तराणि सन्त्यत्र बाह्यानि मनुजोत्तम।।१९।।
भक्त्यादयान्वितैर्विष्णुः पूजितः परितुष्यति)। वारुणं सलिलं पुष्पं सौम्यं घृतपयोदधि।।२०।।
प्राजापत्यं तथाऽन्नादि आग्नेयं धूपदीपकम्। फलपुष्पादिकं चैव वानस्पत्यं तु पञ्चमम्।।२१।।
पार्थिवं कुशमूलाद्यं वायव्यं गन्धचन्दनम्। श्रद्धाख्यं विष्णुपुष्पं च सर्वदा चाष्टपुष्पिका।।२२।।
आसनं मूर्तिपञ्चाङ्गं विष्णुर्वा चाष्टपुष्पिकाः (का)। विष्णोस्तु वासुदेवाद्यैरीशानाद्यैः शिवस्य वा।।२३।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते पुष्पवर्गवर्णनं नाम द्व्यधिकद्विशततमोऽध्यायः।।२०२।।

—❀❀❀—

मनुष्य भोग-मोक्ष का भागी होता है। इनमें अहिंसा प्रथम पुष्प है, इन्द्रिय-निग्रह द्वितीय पुष्प है, सम्पूर्ण भूत-प्राणियों पर दया तृतीय पुष्प है, क्षमा चौथा विशिष्ट पुष्प है। इसी तरह क्रमशः शम, तप एवं ध्यान पाँचवें, छठे और सातवें पुष्प हैं। सत्य आठवाँ पुष्पहै। इनसे पुजित होने पर भगवान् केशव प्रसन्न हो जाते हैं। इन आठ भावपुष्पों से पूजा करने पर ही भगवान केशव संतुष्ट होते हैं। नरश्रेष्ठ! अन्य पुष्प तो पूजा के बाह्य उपकरण हैं, भगवान् श्रीहरि विष्णु तो भक्ति एवं दया से समन्वित भाव-पुष्पों द्वारा पूजित होने पर परितुष्ट होते हैं।।१६-१९।।

जल वारुण पुष्प है; घृत, दुग्ध, दधि सौम्य पुष्प हैं; अन्नादि प्राजापत्य पुष्प हैं, धूप-दीप आग्नेय पुष्प हैं, फल-पुष्पादि पञ्चम वानस्पत्य पुष्प हैं, कुशमूल आदि पार्थिव पुष्प हैं; गन्धचन्दन वायव्य कुसुम हैं। श्रद्धादि भाव वैष्णव प्रसून हैं। ये आठ पुष्पिकाएँ हैं, जो सब कुछ देने वाली है। आसन (योगपीठ), मूर्ति-निर्माण, पञ्चाङ्गन्यास तथा अष्टपुष्पिकाएँ-ये विष्णुरूप हैं। भगवान् श्रीहरि विष्णु उपरोक्त अष्टपुष्पिका द्वारा पूजन करने से प्रसन्न होते हैं। इसके अतिरिक्त भगवान् श्रीहरि विष्णु का 'वासुदेव' आदि नामों से एवं श्रीशिव का 'ईशान' आदि नाम पुष्पों से भी पूजन किया जाता है।।२०-२३।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी दो सौ दूसरा अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।२०२।।

अथ त्र्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

नरकस्वरूपम्

अग्निरुवाच

पुष्पाद्यैः पूजनाद्विष्णोर्न याति नरकान्वदे। आयुषोऽन्ते नरः प्राणैरनिच्छन्नपि मुच्यते।।१।।
जलमग्निर्विषं शस्त्रं क्षुद्व्याधिः पतनं गिरेः। निमित्तं किंचिदासाद्य देही प्राणैर्विमुच्यते।।२।।
अन्यच्छरीरमादत्ते यातनीयं स्वकर्मभिः। भुङ्क्तेऽथ पापकृद्दुःखं सुखं धर्माय संगतः।।३।।
नीयते यमदूतैस्तु यमं प्राणिभयंकरैः। कुपथे दक्षिणद्वारि धार्मिकः पश्चिमादिभिः।।४।।
यमाज्ञप्तैः किंकरैस्तु पात्यते नरकेषु च। स्वर्गे तु नीयते धर्माद्वशिष्ठाद्युक्तिसंश्रयात्।।५।।
गोघाती तु महावीच्यां वर्षलक्षं तु पीड्यते। ताम्रकुम्भे महादीप्ते ब्रह्महा भूमिहारकः।।६।।
महाप्रलयकं यावद्रौरवे पीड्यते शनैः। स्त्रीबालवृद्धहन्ता तु यावदिन्द्राश्चतुर्दश।।७।।
महारौरवके रौद्रे गृहक्षेत्रादिदीपकः। दह्यते कल्पमेकं स चौरस्तामिस्रके पतेत्।।८।।
नैककल्पं तु शूलाद्यैर्भिद्यते यमकिंकरैः। महातामिस्रके सर्पजलौकाद्यैश्च पीड्यते।।९।।

अध्याय-२०३

नरक स्वरूप विचार

श्रीअग्निदेव ने कहा कि–हे वसिष्ठ! अधुना मैं नरकों का वर्णन करने जा रहा हूँ। भगवान् श्रीहरि विष्णु का पुष्पादि उपचारों से पूजन करने वाले नरक को नहीं प्राप्त होते है। आयु के समाप्त होने पर मनुष्य न चाहता हुआ भी प्राणों से बिछुड़ जाता है। देहधारी जीव जल, अग्नि, विष, शास्त्राघात, भूख, व्याधि या पर्वत से पतन–किसी-न-किसी निमित्त को पाकर प्राणों से हाथ धो बैठता है। वह अपने कर्मों के अनुसार यातनाएँ भोगने के लिये दूसरा शरीर ग्रहण करता है। इस तरह पापकर्म करने वाला दुःख भोगता है, परन्तु धर्मात्मा पुरुष सुख का भोग करता है। मृत्यु के पश्चात् पापी जीव को यमदूत बड़े दुर्गम मार्ग से ले जाते हैं और वह यमपुरी के दक्षिण द्वार से यमराज के पास पहुँचाया जाता है। वे यमदूत बड़े डरावने होते हैं। परन्तु धर्मात्मा मनुष्य पश्चिम आदि द्वारों ले जाये जाते हैं। वहाँ पापी जीव यमराज की आज्ञा से यमदूतों द्वारा नरकों में गिराये जाते हैं; परन्तु वसिष्ठ आदि ऋषियों द्वारा प्रतिपादित धर्म का आचरण करने वाले स्वर्ग में ले जाये जाते हैं। गोहत्या 'महावीचि' नामक नरक में एक लाख वर्ष तक पीड़ित किया जाता है। ब्रह्मघाती अत्यन्त दहकते हुए 'ताम्रकुम्भ' नामक नरक में गिराये जाते हैं और भूमि का अपहरण करने वाले पापी को महाप्रलय काल तक 'रौरवनरक' में धीरे-धीरे दुःसह पीड़ा दी जाती है। स्त्री, बालक अथवा वृद्धों का वध करने वाले पापी चौदह इन्द्रों के राज्यकालपर्यन्त 'महारौरव' नामक रौद्र नरक में क्लेश भोगते हैं। दूसरों के गृह और खेत को जलाने वाले अत्यन्त भयंकर 'महारौरव' नरक में एक कल्पपर्यन्त पकाये जाते हैं। चोरी करने वाले को 'तामिस्र' नामक नरक में गिरया जाता है। इसके बाद उसको अनेक कल्पों तक यमराज के अनुचर भालों से बींधते रहते हैं और फिर 'महातामिस्र' नरक में जाकर वह पापी सर्पों और जोकों द्वारा पीड़ित किया जाता है। मातृघाती आदि

यावद्भूमिर्मार्तृहाद्या असिपत्रवनेऽसिभिः। नैककल्पं तु नरके करम्भवालुकासु च॥१०॥
येन दग्धो जनस्तत्र दह्यते वालुकादिभिः। काकोले कृमिविष्ठाशी एकाकी मिष्टभोजनः॥११॥
कुट्टले मूत्ररक्ताशी पञ्चयज्ञक्रियोज्झितः। सुदुर्गन्धे रक्तभोजी भवेच्चाभक्ष्यभक्षकः॥१२॥
तैलपाके तु तिलवत्पीड्यते परपीडकः। तैलपाके तु पच्येत शरणागतघातकः॥१३॥
निरुच्छ्वासे दाननाशी रसविक्रयकोऽध्वरे। नाम्ना वज्रकटाहे च महापाते तदाऽनृती॥१४॥
महाज्वाले पापबुद्धिः क्रकचेऽगम्यगामिनः। संकरीगुडपाके च प्रतुदेत्परमर्मकृत्॥१५॥
क्षारह्रदे प्राणिहन्ता क्षुरधारे च भूमिहृत्। अम्बरीषे गोस्वर्णहृद्द्रुमच्छिद्वज्रशस्त्रके॥१६॥
मधुहर्ता परीतापे कालसूत्रे परार्थहृत्। कश्मलेऽत्यन्तमांसाशी उग्रगन्धे ह्यपिण्डदः॥१७॥
दुर्धरे ह्युत्कोचभक्षी बन्दिग्राहरताश्च ये। मञ्जूषे नरके लोहेऽप्रतिष्ठे श्रुतिनिन्दकः॥१८॥
पूतवक्त्रे कूटसाक्षी परिलुण्ठे धनापहा। बालस्त्रीवृद्धघाती च कराले ब्राह्मणार्तिकृत्॥१९॥
(विलेपे मद्यपो विप्रो महाप्रेते तु भेदिनः। तथाऽऽक्रम्य पारदाराञ्ज्वलन्तीमायसीं शिलाम्॥२०॥
शाल्मलाख्ये तमालिङ्गेन्नारी बहुनरंगमा। आस्फोटजिह्वोद्धरणं स्त्रीक्षणान्नेत्रभेदनम्॥२१॥

मनुष्य 'असिपत्रवन' नामक नरक में गिराये जाते हैं। वहाँ तलवारों से उनके अङ्ग तत्पश्चात् तक काटे जाते हैं, जबतक यह पृथ्वी स्थित रहती है। जो इस लोक में दूसरे प्राणियों के हृदय को जलाते हैं, वे अनेक कल्पों तक 'करम्भवालुका' नरक में जलती हुई रेत में भुने जाते हैं। दूसरों को बिना दिये अकेले मिष्टान्न भोजन करने वाला 'काकोल' नामक नरक में कीड़ा और विष्ठा का भक्षण करता है। पञ्चमहायज्ञ और नित्यकर्म का परित्याग करने वाला 'कुट्टल' नामक नरक में जाकर मूत्र और रक्त का पान करता है। अधुनाक्ष्य वस्तु का भक्षण करने वाले को महादुर्गन्धमय नरक में गिरकर रक्त का आहार करना पड़ता है॥१-१२॥

दूसरों को कष्ट देने वाला 'तैलपाक' नामक नरक में तिलों की भाँति पेरा जाता है। शरणागत का वध करने वाले को भी 'तैलपाक' में पकाया जाता है। यज्ञ में कोई चीज देने की प्रतिज्ञा करके न देने वाला 'निरुच्छ्वास' में, रस-विक्रय करने वाला 'वज्रकटाह' नामक नरक में और असत्यभाषण करने वाला 'महापात' नामक नरक में गिराया जाता है॥१३-१४॥

पापपूर्ण विचार रखने वाला 'महाज्वाल' में, अगम्या स्त्री के साथ गमन करने वाला 'क्रकच' में, वर्णसंकर संतान उत्पन्न करने वाला 'गुडपाक' में, दूसरों के मर्मस्थानों में पीड़ा पहुँचाने वाला 'प्रतुद' में, प्रणिहिंसा करने वाला 'क्षारह्रद' में भूमि का अपहरण करने वाला 'क्षुरधार' में, और स्वर्ण की चोरी करने वाला 'अम्बरीष में, वृक्ष काटने वाला 'वज्रशास्त्र' में, मधु चुराने वाला परीताप में, दसरों का ध्न अपहरण करने वाला 'कालसूत्र' में, अधिक मांस खाने वाला 'कश्मल' में और पितरों को पिण्ड न देने वाला 'उग्रगन्ध' नामक नरक में यमदूतों द्वारा ले जाया जाता है। घूस खाने वाले 'दुर्धर' नामक नरक में और निरपराध मनुष्यों को कैद करने वाले 'लौहमय मंजूष' नामक नरक में यमदूतों द्वारा ले जाकर कैद किये जाते हैं। वेदन्दिक मनुष्य 'अप्रतिष्ठ' नामक नरक में गिराया जाता है। झूठी गवाही दने वाला 'पूतिवक्त्र में, धन का अपहरण करने वाला 'परिलुण्ठ' में, बालक, स्त्री और वृद्ध की हत्या करने वाला

अङ्गारराशौ क्षिप्यन्ते मातृपुत्र्यादिगामिनः। चौराः क्षुरैश्च भिद्यन्ते स्वमांसाशी च मांसभुक्।।२२।।
मासोपवासकर्ता वै न याति नरकं नरः। एकादशीव्रत करो भीष्मपञ्चकसद्व्रती।।२३।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते नरकस्वरूपवर्णनं नाम त्र्यधिकद्विशततमोऽध्यायः।।२०३।।

अथ चतुरधिकद्विशततमोऽध्यायः

मासोपवासव्रतम्

अग्निरुवाच

व्रतं मासोपवासं च सर्वोत्कृष्टं वदामि ते। कृत्वा तु वैष्णवं यज्ञं गुरोराज्ञामवाप्य च।।१।।
कृच्छ्राद्यैः स्वबलं बुद्ध्वा कुर्यात्मासोपवासकम्। वानप्रस्थो यतिवाऽथ नारी वा विधवा मुने।।२।।
आश्विनस्यामले पक्ष एकादश्यामुपोषितः। व्रतमे तत्तु गृह्णीयाद्यावत्त्रिंशद्दिनानि तु।।३।।

तथा ब्राह्मण को पीड़ा देने वाला 'कराल' में, मद्यपान करने वाला ब्राह्मण 'विलेप' में और मित्रों में परस्पर भेदभाव कराने वाला 'महाप्रेत' नरक को प्राप्त होता है। परायी स्त्री का उपभोग करने वाले पुरुष और अनेक पुरुषों से सम्भोग करने वाली नारी को 'शाल्मल' नामक नरक में जलती हुई लौहमयी शिला के रूप में अपनी उस प्रिया अथवा प्रिय का आलिङ्गन करना पड़ता है।।१५-२१।।

नरकों में चुगली करने वालों की जीभ खींचकर निकाल ली जाती है, परायी स्त्रियों को कुदृष्टि से देखने वालों की आँखें फोड़ी जाती हैं, माता और पुत्री के साथ व्यभिचार करने वो धधकते हुए अंगारों पर फेंक दिये जाते हैं, चोरों को छुरों से काटा जाता है और मांस-भक्षण करने वाले नरपिशाचों को उन्हीं का मांस काटकर खिलाया जाता है। मासोपवास, एकादशीव्रत अथवा भीष्मपञ्चकव्रत करने वाला मनुष्य नरकों में नहीं जाता।।२२-२३।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी दो सौ तीसरा अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।२०३।।

अध्याय-२०४

मासोपवास-व्रत विचार

श्रीअग्नि देव ने कहा कि-हे मुनिश्रेष्ठ वसिष्ठ! अधुना मैं तुम्हारे सम्मुख सबसे श्रेष्ठतम मासोपवास-व्रत का वर्णन करने जा रहा हूँ। वैष्णव-यज्ञ का अनुष्ठान करके, आचार्य की आज्ञा लेकर, कृच्छ्र आदि व्रतों से अपनी शक्ति का अनुमान करके मासोपवासव्रत करना चाहिये। वानप्रस्थ, संन्यासी एवं विधवा स्त्री-इनके लिये मासोपवास-व्रत का विधान है।।१-२।।

आश्विन के शुक्ल पक्ष की एकादशी को निराहार व्रत रखकर तीस दिनों के लिये निम्नलिखित संकल्प करके

अद्य प्रभृत्यहं विष्णो यावदुत्थानकं तव। अर्चयेत्वामनश्नन्हि यावत्त्रिंशद्दिनानि तु॥४॥
कार्तिकाश्विनयोर्विष्णो यावदुत्थानकं तव। म्रिये यद्यन्तरालेऽहं व्रतभङ्गो न मे भवेत्॥५॥
त्रिकालं पूजयेद्विष्णुं त्रिःस्नातो गन्धुपुष्पकैः। विष्णोर्गीतादिकं जप्यं ध्यानं कुर्याद्व्रतो नरः॥६॥
वृथावादं परिहरेदर्थाकाङ्क्षां विवर्जयेत्। नाव्रतस्थं स्पृशेत्कंचिद्विकर्मस्थान्न चालयेत्॥७॥
देवतायतने तिष्ठेद्यावत्त्रिंशद्दिनानि तु। द्वादश्यां पूजयित्वा तु भोजयित्वा द्विजान्व्रती॥८॥
समाप्य दक्षिणां दत्त्वा पारणं तु समाचरेत्। भुक्तिमुक्तिवाप्नोति कल्पांश्चैव त्रयोदश॥९॥
कारयेद्वैष्णवं यज्ञं यजेद्विप्रांस्त्रयोदश। तावन्ति वस्त्रयुग्मानि (णि)भाजनान्यासनानि च॥१०॥
छत्राणि सपवित्राणि तथोपानद्युगानि च। योगपट्टोपवीतानि दद्याद्विप्राय तैर्मतः॥११॥
अन्यविप्राय शय्यायां हैमं विष्णुं प्रपूज्य च। आत्मनश्च तथा मूर्तिं वस्त्राद्यैश्च प्रपूजयेत्॥१२॥
सर्वपापविनिर्मुक्तो विप्रविष्णुप्रसादतः। विष्णुलोकं गमिष्यामि विष्णुरेव भवाम्यहम्॥१३॥
व्रज-व्रज देवबुद्धे विष्णोः स्थानमनामयम्। विमानेनामलस्तत्र तिष्ठ विष्णुस्वरूपधृक्॥१४॥
द्विजानुक्त्वाऽथ तां शय्यां गुरवेऽथ निवेदयेत्। कुलानां शतुमुद्धृत्य विष्णुलोकं नयेद्व्रती॥१५॥

मासोपवास-व्रत ग्रहण करना चाहिये-'हे श्रीविष्णो! मैं आज से लेकर तीस दिन तक आपके उत्थानकालपर्यन्त निराहार रहकर आपका पूजन करने जा रहा हूँ। हे सर्वव्यापी श्रीहरे! आश्विन शुक्ल एकादशी से आपके उत्थानकाल कार्तिक शुक्ल एकादशी के मध्य में यदि मेरी मृत्यु हो जाय तो (आपकी कृपा से) मेरा व्रत भङ्ग न हो। व्रत करने वाला दिन में तीन बार स्नान करके सुगन्धित द्रव्य और पुष्पों द्वारा प्रातः, मध्याह्न एवं सायंकाल भगवान् श्रीहरि विष्णु का पूजन करना चाहिये तथा विष्णु-सम्बन्धी गान, जप और ध्यान करना चाहिये। व्रती पुरुष को वकवाद का परित्याग करना चाहिये और धन की इच्छा भी नहीं करना चाहिये। वह किसी भी व्रततीन मनुष्य का स्पर्श नहीं करना चाहिये और शास्त्रनिषिद्ध कर्मों में लगे हुए लोगों का चालक-प्रेरक न बने। उसको तीस दिन तक देवमन्दिर में ही निवास करना व्रत करने वाला मनुष्य कार्तिक के शुक्ल पक्ष की द्वादशी को भगवान् श्रीहरि विष्णु की पूजा करके ब्राह्मणों को भोजन कराये। उसके बाद उनको दक्षिणा देकर और स्वयं पारण करके व्रत का विसर्जन करना चाहिये। इस तरह तेरह पूर्ण मासोपवास व्रतों का अनुष्ठान करने वाला भोग और मोक्ष-दोनों का प्राप्त कर लेता है।।३-९॥

(उपरोक्त विधि से तेरह मासोपवास-व्रतों का अनुष्ठान करने के बाद व्रत करने वाला व्रत का उद्यापन करना चाहिये।) वह वैष्णवयज्ञ कराये, अर्थात् तेरह ब्राह्मणों का पूजन करना चाहिये। उसके बाद उनसे आज्ञा लेकर किसी ब्राह्मण को तेरह ऊर्ध्ववस्त्र, अधोवस्त्र, पात्र, आसन, छत्र, पवित्री, पादुका, योगपट्ट और यज्ञोपवीतों का दान करना चाहिये॥१०-१२॥

तत्पश्चात् शय्या पर अपनी और भगवान् श्रीहरि विष्णु की स्वर्णमयी प्रतिमा का पूजन करके उसको किसी दूसरे ब्राह्मण को दान करना चाहिये एवं उस ब्राह्मण का वस्त्र आदि से सत्कार करना चाहिये। उसके बाद व्रत करने वाला यह कहे-'मैं सम्पूर्ण पापों से मुक्त होकर ब्राह्मणों और भगवान् श्रीहरि विष्णु भगवान् के कृपा-प्रसाद से विष्णुलोक को जाऊँगा। अधुना मैं विष्णु स्वरूप होता हूँ। इसके उत्तर में ब्राह्मणों को कहना चाहिये-'हे देवात्मन्! आप विष्णु के उस रोग-शोकहीन परमपद को जाओ-जाओ और वहाँ विष्णु का स्वरूप धारण करके विमान में

मासोपवासी यद्देशे स देशो निर्मलो भवेत्। किं पुनस्तत्कुलं सर्वं यत्र मासोपवासकृत्।।१६।।
व्रतस्थं मूर्च्छितं दृष्ट्वा क्षीराज्यं चैव पाययेत्। नैते व्रतं विनिघ्नन्ति हविर्विप्रानुमोदितम्।।१७।।
क्षीरं गुरोर्हितो (तौ) षध्य आपोमूलफलानि च। विष्णुर्महौषधं कर्ता व्रतमस्मात्समुद्धरेत्।।१८।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तगति मासोपवासव्रतकथनं नाम चतुरधिकद्विशततमोऽध्यायः।।२०४।।

अथ पञ्चाधिकद्विशततमोऽध्यायः

भीष्मपञ्चकव्रतम्

अग्निरुवाच

भीष्मपञ्चकमाख्यास्ये व्रतराजं तु सर्वदम्। कार्तिकस्यामले पक्ष एकादश्यां समाचरेत्।।१।।
दिनानि पञ्च त्रिःस्नायी पञ्चव्रीहितिलैस्तथा। तर्पयेद्देवपित्रादीन्मौनी सम्पूजयेद्धरिम्।।२।।
पंचगव्येन संस्नाप्य देवं पञ्चामृतेन च। चन्दनाद्यैः समालिप्य गुग्गुलं सघृतं दहेत्।।३।।

प्रकाशित होते हुए स्थित होओ।' फिर व्रत करने वाला द्विजों को नमस्कार करके वह शय्या आचार्य को दान करना चाहिये। इस विधि से व्रत करने वाला अपने सौ वंशों का उद्धार करके इन्हें विष्णुलोक में ले जाता है। जिस देश में मासोपवासव्रत करने वाला रहता है, वह देश पापहीन हो जाता है। फिर उस सम्पूर्ण वंशकी तो बात हो क्या है, जिसमें मासोपवास-व्रत का अनुष्ठान करने वाला उत्पन्न हुआ होता है। व्रतयुक्त मनुष्य को मूर्च्छित देखकर उसको घृतमिश्रित दुग्ध को पान कराये। निम्नलिखित वस्तुएँ व्रत को नष्ट नहीं करतीं-ब्राह्मण की अनुमति से ग्रहण किया हुआ हविष्य, दुग्ध, आचार्य की आज्ञा से ले हुई औषधि, जल, मूल और फल। 'इस व्रत में भगवान् श्रीहरि विष्णु ही महान् औषधि रूप हैं'-इसी विश्वास से व्रत करने वाला इस व्रत से उद्धार पाता है।।१३-१८।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी दो सौ चौथा अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।२०४।।

अध्याय-२०५

भीष्मपञ्चकव्रत विचार

श्रीअग्नि देव ने कहा कि-अधुना मैं सब कुछ देने वाले व्रतराज भीष्मपञ्चक के विषय में कह रहा हूँ। कार्तिक के शुक्लपक्ष की एकादशी को यह व्रत ग्रहण करना चाहिये। पाँच दिनों तक तीनों समय स्नान करके पाँच तिल और यवों के द्वारा देवता तथा पितरों का तर्पण करना चाहिये। फिर मौन रहकर भगवान् श्रीहरि विष्णु का पूजन करना चाहिये। देवाधिदेव भगवान् श्रीहरि विष्णु को पञ्चगव्य और पञ्चामृत से स्नान कराये और उनके श्रीअङ्गों में चन्दन आदि सुगन्धित द्रव्यों का आलेपन करके उनके सम्मुख घृतयुक्त गुग्गुल जलावे।।१-३।।

दीपं दद्याद्दिवारात्रौ नैवेद्यं परमान्नकम्। ॐ नमो वासुदेवाय जपेदष्टोत्तरं शतम्॥४॥
जुहुयाच्च घृताभ्यक्तांस्तिलव्रीहिंस्ततो व्रती। क्षडक्षरेण मन्त्रेण स्वाहाकारान्वितेन च॥५॥
कमलैः पूजयेत्पादौ द्वितीये बिल्वपत्रकैः। जानुसक्थि तृतीयेऽथ नाभिं भृङ्गरजेन तु॥६॥
बाणबिल्वजपाभिस्तु चतुर्थे पञ्चमेऽहनि। मालत्या भूमिशायी स्यादेकस्यां तु गोमयम्॥७॥
गोमूत्रं दधि दुग्धं च पञ्चमे पञ्चगव्यकम्। पौर्णमास्यां चरेन्नक्तं भुक्तिं मुक्तिं लभेद्व्रती॥८॥
भीष्मः कृत्वा हरिं प्राप्तस्तेनैव भीष्मपञ्चकम्। ब्रह्मणः पूजनात्पञ्च उ (को) पवासादि (त्म) कं व्रतम्॥९॥

॥इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते भीष्मपञ्चकव्रतकथनं नाम पञ्चाधिकद्विशततमोऽध्यायः॥२०५॥

प्रात:काल और रात्रि के समय भगवान् श्रीहरि विष्णु को दीपदान करना चाहिये और श्रेष्ठतम भोज्य-पदार्थ का नैवेद्य समर्पित करना चाहिये। व्रती पुरुष को '**ॐ नमो भगवते वासुदेवाय**' इस द्वादशाक्षर-मन्त्र का एक सौ आठ बार जप करना चाहिये। उसके बाद घृतसिक्त तिल और जौ का अन्त में 'स्वाहा' से संयुक्त '**ॐ नमो भगवते वासुदेवाय**'–इस द्वादशाक्षर-मन्त्र से हवन करना चाहिये। पहले दिन भगवान् के चरणों का कमल के पुष्पों से दूसरे दिन घुटनों और सक्थि भाग (दोनों ऊरुओं) का बिल्वपत्रों से, तीसरे दिन नाभि का भृङ्गराज से, चौथे दिन बाणपुष्प, बिल्वपत्र और जपापुष्पों द्वारा एवं पाँचवें दिन मालती पुष्पों से सर्वाङ्ग का पूजन करना चाहिये। व्रत करने वाले को भूमि पर शयन करना चाहिये।

एकादशी को गोमय, द्वादशी को गोमूत्र, त्रयोदशी को दधि, चतुर्दशी को दुग्ध और अन्तिम दिन पञ्चगव्य का आहार करना चाहिये। पौर्णमासी को 'नक्तव्रत' करना चाहिये। इस तरह व्रत करने वाला भोग और मोक्ष–दोनों को प्राप्त कर लेता है। भीष्मपितामह इसी व्रत का अनुष्ठान करके भगवान् श्रीहरि विष्णु को प्राप्त हुए थे, इसी से यह 'भीष्मपञ्चक' के नाम से प्रसिद्ध है। ब्रह्माजी ने भी इस व्रत का अनुष्ठान करके श्रीहरि विष्णु का पूजन किया था। इसलिये यह व्रत पाँच निराहार व्रत आदि से युक्त है॥४-९॥

॥इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी दो सौ पाँचवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ॥२०५॥

❖❖❖

अथ षडधिकद्विशततमोऽध्यायः

अगस्त्यार्घ्यदानकथनम्

अग्निरुवाच

अगस्त्यो भगवान्विष्णुस्तमभ्यर्च्याऽऽप्नुयाद्धरिम्। अप्राप्ते भास्करे कन्यां सत्रिभागैस्त्रिभिर्दिनैः।।१।।
अर्घ्यं दद्यादगस्त्याय पूजयित्वा ह्युपोषितः। काशपुष्पमयीं मूर्तिं प्रदोषे विन्यसेद्घटे।।२।।
मुनेर्यजेत्तां कुम्भस्थां रात्रौ कुर्यात्प्रजागरम्। अगस्त्यमुनिशार्दूल तेजोराशे महामते।।३।।
इमां मम कृतां पूजां गृह्णीष्व प्रियया सह। आवाह्यार्घ्यं च सांमुख्यं प्रार्चयेच्चन्दनादिना।।४।।
जलाशयसमीपे तु प्रातर्नीत्वाऽर्घ्यमर्पयेत्। काशपुष्पप्रतीकाश अग्निमारुतसंभव।।५।।
मित्रावरुणयोः पुत्र कुम्भयोने नमोऽस्तु ते। आतापिर्भक्षितो येन वातापिश्च महासुरः।।६।।
समुद्रः शोषितो येन सोऽगस्त्यः संमुखोऽस्तु मे। अगस्तिं प्रार्थयिष्यामि कर्मणा मनसा गिरा।।७।।
अर्चयिष्याम्यहं मैत्रं परलोकाभिकाङ्क्षया। द्वीपान्तरसमुत्पन्नं देवानां परमं प्रियम्।।८।।

अध्याय-२०६

अगस्त्य-अर्घ्यदान विचार

श्रीअग्निदेव ने कहा कि-हे वसिष्ठ! महर्षि अगस्त्य साक्षात् भगवान् श्रीहरि विष्णु के स्वरूप हैं। उनका पूजन करके मनुष्य श्रीहरि विष्णु को प्राप्त कर लेता है। जिस समय सूर्य कन्या राशि को प्राप्त न हुए हों (परन्तु उसके सन्निकट हों) तत्पश्चात् ३ १/२ दिन तक निराहार व्रत रखकर अगस्त्य का पूजन करके उनको अर्घ्यदान देना चाहिये। पहले दिन जिस समय चार घण्टा दिन बाकी रहे, तत्पश्चात् व्रत प्रारम्भ करके प्रदोषकाल में अगस्त्य मुनि की काश-पुष्पमयी मूर्ति को कलश पर स्थापित करना चाहिये और उस कलशस्थित मूर्ति का पूजन करना चाहिये। अर्घ्य देने वाले को रात्रि में जागरण भी करना चाहिये।।१-२।।

हे मुनिश्रेष्ठ अगस्त्य! आप तेजःपुञ्जमय और महाबुद्धिमान् हैं। अपनी प्रियतमा पत्नी लोपामुद्रा के साथ मेरे द्वारा की गयी इस पूजा को ग्रहण कीजिये।।३।।

इस तरह अगस्त्य का आवाहन करना चाहिये और उनको गन्ध, पुष्प, फल, जल आदि से अर्घ्यदान देना चाहिये। उसके बाद मुनिश्रेष्ठ अगस्त्य की तरफ मुख करके चन्दनादि उपचारों द्वारा उनका पूजन करना चाहिये। दूसरे दिन प्रातःकाल कलशस्थित अगस्त्य की मूर्ति को किसी जलाशय के सन्निकट ले जाकर निम्नलिखित मन्त्र से उनको अर्घ्य समर्पित करना चाहिये।।४।।

काश पुष्प के समान उज्ज्वल, अग्नि और वायु से प्रादुर्भूत, मित्रावरुण के पुत्र, कुम्भ से प्रकट होने वाले अगस्त्य! आपको नमस्कार है। जिन्होंने राक्षसराज आतापी और वातापी का भक्षण कर लिया था तथा समुद्र को सुखा डाला था, वे अगस्त्य मेरे सम्मुख प्रकट हों। मैं मन, कर्म और वचन से अगस्त्य की याचना करने जा रहा हूँ। मैं श्रेष्ठतम लोकों की आकाङ्क्षा से अगस्त्य का पूजन करने जा रहा हूँ।।५-७।।

जम्बूद्वीप के बाहर उत्पन्न, देवताओं के परमप्रिय, समस्त वृक्षों के राजा चन्दन को ग्रहण कीजिये।।८।।

राजानं सर्ववृक्षाणां चन्दनं प्रतिगृह्यताम्। धर्मार्थकाममोक्षाणां भाजनी पापनाशनी॥९॥
सौभाग्यारोग्यलक्ष्मीदा पुष्पमाला प्रगृह्यताम्। धूपोऽयं गृह्यतां देव भक्तिं मे ह्यचलां कुरु॥१०॥
ईप्सितं मे वरं देहि परत्र च शुभां गतिम्। सुरासुरैर्मुनिश्रेष्ठ सर्वकामफलप्रद॥११॥
वस्त्रव्रीहिफलैर्हेम्ना दत्तस्त्वर्घ्यो ह्ययं मया। अगस्त्यं बोधयिष्यामि यन्मया मनसोद्धृतम्॥१२॥
फलैरर्घ्यं प्रदास्यामि गृहाणार्घ्यं महामुने। अगस्त्य एवं खननाद्धरित्रीं पूजामपत्यं बलमीहमानः॥
उभौ कर्णावृषिरुग्रः पुपोष सत्या देवेष्वाशिषो वै जगाम॥१३॥
राजपुत्रि नमस्तुभ्यं मुनिपत्नि महाव्रते। अर्घ्यं गृह्णीष्व देवेशि लोपामुद्रे यशस्विनि॥१४॥
पञ्चरत्नसमायुक्तं हेमरुप्यसमन्वितम्। सप्तधान्यवृतं पात्रं दधिचन्दनसंयुतम्॥१५॥

पुष्पमाला-समर्पित-महर्षिअगस्त्य! यह पुष्पमाला धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष-चारों पुरुषार्थों को देने वाली एवं पापों का विनाश करने वाली है। सौभाग्य, आरोग्य और लक्ष्मी की प्राप्ति कराने वाली इस पुष्प माला को आप ग्रहण कीजिये॥९॥

धूपदान-मन्त्र-धूपोऽयं गृह्यतां देव! भक्तिं मे ह्यचलां कुरु॥ ईप्सितं मे वरं देहि परमां च शुभां गतिम्। हे भगवन्! अधुना यह धूप ग्रहण कीजिये और आप में मेरी भक्ति को अविचल कीजिये। मुझको इस लोक में मनोवाञ्छित वस्तुएँ और परलोक में शुभगति सम्प्रदान कीजिये॥१०॥

वस्त्र, धान्य, फल, सुवर्ण से युक्त अर्घ्य-दान-मन्त्र-सुरासुरैर्मुनिश्रेष्ठ सर्वकामफलप्रद॥ वस्त्रव्रीहिफलैर्हेम्ना दत्तस्त्वर्घ्यो ह्ययं मया। देवताओं तथा असुरों से भी समादृत मुनिश्रेष्ठ अगस्त्य! आप सम्पूर्ण अभीष्ट फल सम्प्रदान करने वाले हैं। मैं आपको वस्त्र, धान्य, फल और स्वर्ण से युक्त यह अर्घ्य सम्प्रदान करने जा रहा हूँ॥११॥

फलार्घ्यदान-मन्त्र-अगस्त्यं बोधयिष्यामि यन्मया मनसोद्धृतम्।फलैरर्घ्यं प्रदास्यामि गृहाणार्घ्यं महामुने॥ हे महामुने! मैंने मन में जो अभिलाषा कर रखी थी, तदनुसार मैं अगस्त्यजी को जगाऊँगा। आपको फलार्घ्य अर्पित करने जा रहा हूँ, इसको ग्रहण कीजिये॥१२॥

केवल द्विजों के लिये उच्चारणीय अर्घ्यदान का वैदिक मन्त्र-अगस्त्य एवं खनमानो धरित्रीं प्रजामपत्यं बलमीहमानः। उभौ कर्णावृषिरुग्रतेजाः पुपोष सत्या देवेष्वाशिषो जगाम॥ महर्षि अगस्त्य इस तरह प्रजा-संतति तथा बल एवं पुष्टि के लिये सचेष्ट हो कुदाल या खनित्र से धरती को खोदते रहना चाहिये। उन उग्रतेजस्वी ऋषि ने दोनों कर्णों (सम्पूर्ण इन्द्रियों की शक्ति) का पोषण किया। देवताओं के प्रति उनकी सारी आशीः याचना सत्य हुई॥१३॥

तत्पश्चात् निम्नलिखित मन्त्र से लोपामुद्रा को अर्घ्यदान दे-राजपुत्रि नमस्तुभ्यं मुनिपत्नि महाव्रते। अर्घ्यं गृह्णीष्व देवेशि लोपामुद्रे यशस्विनि॥ महान् व्रत का पालन करने वाली राजपुत्री अगस्त्यपत्नी देवेश्वरी लोपामुद्रे! आपको नमस्कार है। हे यशस्विनि! इस अर्घ्य को ग्रहण कीजिये॥१४॥

अगस्त्य के लिये पञ्चरत्न, स्वर्ण और रजत से युक्त एवं सप्तधान्य से पूर्ण पात्र तथा दधि-चन्दन से समन्वित अर्घ्य सम्प्रदान करना चाहिये। स्त्रियों और शूद्रों को 'काशपुष्पप्रतीकाश' आदि पौराणिक मन्त्र से अर्घ्य देना चाहिये॥१५॥

अर्घ्यं दद्यादगस्त्याय स्त्रीशूद्राणामवैदिकम्। अगस्त्य मुनिशार्दूल तेजोराशे च सर्वद।।१६।।
इमां मम कृतां पूजां गृहीत्वा व्रज शान्तये। त्यजेदगस्त्यमुद्दिश्य धान्यमेकं फलं रसम्।।१७।।
ततोऽन्नं भोजयेद्विप्रान्घृतपायसमोदकान्। गां वासांसि सुवर्णं च तेभ्यो दद्याच्च दक्षिणाम्।।१८।।
घृतपायसयुक्तेन पात्रेणाऽऽच्छादिताननम्। सहिरण्यं च तं कुम्भं ब्राह्मणायोपकल्पयेत्।।१९।।
सप्तवर्षाणि दत्त्वाऽर्घ्यं सर्वे सर्वमवाप्नुयुः। नारी पुत्रांश्च सौभाग्यं पतिं कन्यां नृपो भुवम्।।२०।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते अगस्त्यार्घ्यदानकथनं नाम षडधिकद्विशततमोऽध्यायः।।२०६।।

विसर्जन-मन्त्र–अगस्त्य मुनिशार्दूल तेजोराशे च सर्वदा।। इमां मम कृतां पूजां गृहीत्वा व्रज शान्तये। हे मुनिश्रेष्ठ अगस्त्य! आप तेजःपुञ्ज से प्रकाशित और सब कुछ देने वाले हैं। मेरे द्वारा की गयी इस पूजा को ग्रहण कर शान्तिपूर्वक पधारिये।।१६।।

इस तरह अगस्त्य का विसर्जन करके उनके उद्देश्य से किसी एक धान्य, फल और रस का त्याग करना चाहिये। उसके बाद ब्राह्मणों को घृतमिश्रित खीर और लड्डू आदि पदार्थों का भोजन कराये और उनको गौ, वस्त्र, स्वर्ण एवं दक्षिणा देनी चाहिये। इसके बाद उस कुम्भ का मुख घृतमिश्रित खीर युक्त पात्र से ढककर, उसमें स्वर्ण रखकर वह कलश ब्राह्मण को दान देना चाहिये। इस तरह सात वर्षों तक अगस्त्य को अर्घ्य देकर सभी लोग सब कुछ प्राप्त कर सकते हैं। इससे स्त्री सौभाग्य और पुत्रों को कन्या पति को और राजा पृथ्वी को प्राप्त करता है।।१७-२०।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी दो सौ छठवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।२०६।।

❖❖❖

अथ सप्ताधिकद्विशततमोऽध्यायः

कौमुदव्रतम्

अग्निरुवाच

कौमुदाख्यं मयोक्तं च चरेदाश्वयुजे सिते। हरिं यजेन्मासमेकमेकादश्यामुपोषितः।।१।।
आश्विने शुक्लपक्षेऽहमेकाहारो हरिं जपन्। मासमेकं भुक्तिमुक्त्यै करिष्ये कौमुदं व्रतम्।।२।।
उपोष्य विष्णुं द्वादश्यां यजेद्देवं विलिप्य च। चन्दनागुरुकाश्मीरैः कमलोत्पलपुष्पकैः।।३।।
कह्लारैर्वाऽथ मालत्या दीपं तैलेन वाग्यतः। अहोरात्रं च नैवेद्यं पायसायूपमोदकैः।।४।।
ॐ नमो वासुदेवाय विज्ञाप्याथ क्षमापयेत्। भोजनादि द्विजे दद्याद्यावद्देवः प्रबुध्यते।।५।।
तावन्मासोपवासः स्यादधिकं फलमप्यतः।।६।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते कौमुदव्रतकथनं नाम सप्ताधिकद्विशततमोऽध्यायः।।२०७।।

अध्याय-२०७

कौमुद व्रत विचार

श्रीअग्नि देव ने कहा कि-हे वसिष्ठ! अधुना मैं 'कौमुद' व्रत के विषय में कह रहा हूँ। इसको आश्विन के शुक्लपक्ष में प्रारम्भ करना चाहिये। व्रत करने वाले को एकादशी को निराहार व्रत करके एकमास पर्यन्त भगवान् श्रीहरि विष्णु का पूजन करना चाहिये।।१।।

व्रती निम्नलिखित मन्त्र से संकल्प करना चाहिये-**आश्विने शुक्लपक्षेऽहमेकाहारो हरि जपन्। मासमेकं भुक्तिमुक्त्यै करिष्ये कौमुदं व्रतम्।।** मैं आश्विन के शुक्ल पक्ष में एक समय भोजन करके भगवान् श्रीहरि विष्णु के मन्त्र का जप करता हुआ भोग और मोक्ष की प्राप्ति के लिये एक मासपर्यन्त कौमुद-व्रत के समाप्त होने पर एकादशी को निराहार व्रत करना चाहिये और द्वादशी को भगवान् श्रीहरि विष्णु का पूजन करना चाहिये। उनके श्रीविग्रह में चन्दन, अगर और केसर का अनुलेपन करके कमल, उत्पल, कह्लार एवं मालती पुष्पों से विष्णु की पूजा करनी चाहिये। व्रत करने वाला वचन को संयम में रखकर तैलपूर्ण दीपक प्रज्वलित करना चाहिये और दोनों समय ीर, मालपूए था लड्डूओं का नैवेद्य समर्पित करना चाहिये। व्रती पुरुष को '**ॐ नमो भगवते वासुदेवाय**-इस द्वादशाक्षर-मन्त्र का निरन्तर जप करना चाहिये। अन्त में ब्राह्मण-भोजन कराके क्षमा-याचना पूर्वक व्रत का विसर्जन करना चाहिये। 'देवजागरणी' या 'हरिप्रबोधिनी' एकादशी तक एक मासपर्यन्त निराहार व्रत करने से 'कौमुद-व्रत' पूर्ण होता है। इतने निराहार व्रत करने से 'कौमुद-व्रत' पूर्ण होता है। इतने ही दिनों का उपरोक्त मासोपवास भी होता है। परन्तु इस कौमुद-व्रत से उसकी अपेक्षा अधिक फल भी प्राप्त होता है।।३-६।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी दो सौ सातवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।२०७।।

❖❖❖

अथाष्टाधिकद्विशततमोऽध्यायः

व्रतदानादिसमुच्चयः

अग्निरुवाच

व्रतदानानि सामान्यं प्रवदामि समासतः। तिथौ प्रतिपदादौ च सूर्यादौ कृत्तिकासु च॥१॥
विष्कु (ष्क)म्भादौ च मेषादौ काले च ग्रहणादिके। यत्काले यद्व्रतं दानं यद्द्रव्यं नियमादि यत्॥२॥
तद्द्रव्याख्यं च कालाख्यं सर्वं वै विष्णुदैवतम्। रवीशब्रह्म लक्ष्म्याद्याः सर्वे विष्णोर्विभूतयः॥३॥
तमुद्दिश्य व्रतं दानं पूजादि स्यात्तु सर्वदम्। जगत्पते समागच्छ आसनं पाद्यमर्घ्यकम्॥४॥
मधुपर्कं तथाऽऽचामं स्नानं वस्त्रं च गन्धकम्। पुष्पं धूपश्च दीपश्च नैवेद्यादि नमोऽस्तु ते॥५॥
इति पूजाव्रते दाने दानवाक्यं समं शृणु। अद्यामुकसगोत्राय विप्रायामुकशर्मणे॥६॥
एतद्द्रव्यं विष्णुदेवं सर्वपापोपशान्तये। आयुरारोग्यवृद्ध्यर्थं सौभाग्यादिविवृद्धये॥७॥
गोत्रसंततिवृद्ध्यर्थं विजयाय धनाय च। धर्मायैश्वर्यकामाय तत्पापशमनाय च॥८॥
संसारमुक्तये दानं तुभ्यं संप्रददे ह्यहम्। एतद्दानप्रतिष्ठार्थं तुभ्यमेतद्ददाम्यहम्॥९॥

अध्याय-२०८

व्रतदान आदि समुच्चय विचार

श्रीअग्नि देव ने कहा कि–हे वसिष्ठ! अधुना मैं सामान्य व्रतों और दानों के विषय में संक्षेप पूर्वक कहने जा रहा हूँ। प्रतिपदा आदि तिथियों, सूर्य आदि वारों, कृत्तिका आदि नक्षत्रों, विष्कुम्भ आदि योगों, मेष आदि राशियों और ग्रहण आदि के समय उस काल में जो व्रत, दान एवं तत्सम्बन्धी द्रव्य एवं नियमादि आवश्यक हैं, उनका भी वर्णन करने जा रहा हूँ। व्रतादानोपयोगी द्रव्य और काल सबके अधिष्ठातृ देवता भगवान् श्रीहरि विष्णु हैं। सूर्य, शिव, ब्रह्मा, लक्ष्मी आदि सभी देव-देवियाँ श्रीहरि विष्णु की ही विभूति हैं। इसलिये उनके उद्देश्य से किया गया व्रत, दान और पूजन आदि सभी कुछ देने वाला होता है॥१-३॥

भगवान् श्रीहरि विष्णु-पूजन-मन्त्र–जगत्पते समागच्छ आसनं पाद्यमर्घ्यकम्॥ मधुपर्कं तथाऽऽचामं स्नानं वस्त्रं च गन्धकम्। पुष्पं धूपं च दीपं च नैवेद्यादि नमोऽस्तु ते॥ हे जगत्पते! आपको नमस्कार है। आइये और आसन, पाद्य, अर्घ्य, मधुपर्क, आचमन, स्नान, वस्त्र, गन्ध, पुष्प, धूप, दीप एवं नैवेद्य ग्रहण कीजिये॥४-५॥

पूजा, व्रत और दान में उपरोक्त मन्त्र से भगवान् श्रीहरि विष्णु की अर्चना करनी चाहिये। अधुना दान का सामान्य संकल्प भी सुनो–'आज मैं अमुक गोत्र वाले अमुक शर्मा आप ब्राह्मण देवता को समस्त पापों की शान्ति, आयु और आरोग्य की वृद्धि, सौभाग्य के उदय, गोत्र और संतति के विस्तार, विजय एवं धन की प्राप्ति, धर्म अर्थ और काम के निष्पादन तथा पापनाशपूर्वक संसार से मोक्ष पाने के लिये विष्णुदेवता-सम्बन्धी इस द्रव्य का दान करने जा रहा हूँ। मैं इस दान की प्रतिष्ठा (स्थिरता) के लिये आपको यह अतिरिक्त सुवर्णादि द्रव्य समर्पित करने जा रहा

एतेन प्रीयतां नित्यं सर्वलोकपतिः प्रभुः। यज्ञदानव्रतपते विद्याकीर्त्यादि देहि मे॥१०॥
धर्मकामार्थमोक्षांश्च देहि मे मनसेप्सितम्। यः पठेच्छृणुयान्नित्यं व्रतदानसमुच्चयम्॥११॥
स प्राप्तकामो विमलो भुक्तिमुक्तिमवाप्नुयात्। तिथिवारर्क्षसंक्रान्तियोगमन्वादिकं व्रतम्॥
नैकधा वासुदेवादेर्नियमात्पूजनाद्भवेत्॥१२॥

॥इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते व्रतदानसमुच्चयकथनं नामाष्टाधिकद्विशततमोऽध्यायः॥२०८॥
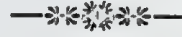
हूँ। मेरे इस दान से सर्वलोकेश्वर भगवान् श्रीहरि विष्णु सदा प्रसन्न हों। यज्ञ, दान और व्रतों के स्वामी! मुझको विद्या तथा यश आदि सम्प्रदान कीजिये। मुझको धर्म, अर्थ, काम और मोक्षरूप चारों पुरुषार्थ तथा मनोऽभिलक्षित वस्तु से सम्पन्न कीजिये॥६-१०॥

जो मनुष्य प्रतिदिन इस व्रत-दान-समुच्च का पठन अथवा श्रवण करता है, वह अभीष्ट वस्तु से युक्त एवं पापविहीन होकर भोग और मोक्ष दोनों की प्राप्ति करता है। इस तरह भगवान् श्रीहरि विष्णु आदि से सम्बन्धित नियम और पूजन से अनेक तरह के तिथि, वार, नक्षत्र, संक्रान्ति, योग और मन्वादि सम्बन्धी व्रतों का अनुष्ठान सिद्ध होता है॥११-१२॥

॥इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी दो सौ आठवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ॥२०८॥

❖❖❖

अथ नवाधिकद्विशततमोऽध्यायः

दानपरिभाषाकथनम्

अग्निरुवाच

दानधर्मान्प्रवक्ष्यामि भुक्तिमुक्तिप्रदाञ्शृणु। दानमिष्टं तथा पूर्तं धर्म्मं कुर्वन्हि सर्वभाक्।।१।।
वापीकूपतडागानि देवतायतनानि च। अन्नप्रदानमारामाः पूर्त धर्मं च मुक्तिदम्।।२।।
अग्निहोत्रं तपः सत्यं वेदानां चानुपालनम्। आतिथ्यं वैश्वदेवं च प्राहुरिष्टं च नाकदम्।।३।।
ग्रहोपरागे यद्दानं सूर्यसंक्रमणेषु च। द्वादश्यादौ च यद्दानं पूर्तं तदपि नाकदम्।।४।।
देश काले च पात्रे च दानं कोटिगुणं भवेत्। अयने विषुवे पुण्ये व्यतीपाते दिनक्षये।।५।।
युगादिषु च संक्रान्तौ चतुर्दश्यष्टमीषु च। सितपञ्चदशीसर्वद्वादशीष्वष्टकासु च।।६।।
यज्ञोत्सवविवाहेषु तथा मन्वन्तरादिषु। वैधृते दृष्टदुःस्वप्ने द्रव्यब्राह्मणलाभतः।।७।।
श्रद्धा वा यद्दिने तत्र सदा वा दानमिष्यते। अयने द्वे विषुवे द्वे चतस्रः षडशीतयः।।८।।
चतस्रो विष्णुपद्यश्च सङ्क्रान्त्यो द्वादशोत्तमाः। कन्यायां मिथुने मीने धनुष्यपि रवेर्गतिः।।९।।

अध्याय-२०९

दान परिभाषा विचार

श्रीअग्निदेव ने कहा कि-हे मुनिश्रेष्ठ! अधुना मैं भोग और मोक्ष सम्प्रदान करने वाले दानधर्मों का वर्णन करने जा रहा हूँ, सुनो। दान के 'इष्ट' और 'पूर्त' दो भेद हैं। दानधर्म का आचरण करने वाला सब कुछ प्राप्त कर लेता है। बावड़ी, कुआँ, तालाब, देव-मन्दिर, अन्न का सदावर्त तथा बगीचे आदि बनवाना पूर्तधर्म कहा गया है, जो मुक्ति सम्प्रदान करने वाला है। अग्निहोत्र तथा सत्यभाषण, वेदों का स्वाध्याय, अतिथि-सत्कार और बलिवैश्वदेव-इनको 'इष्टधर्म' कहा गया है। यह स्वर्ग की प्राप्ति कराने वाला है। ग्रहणकाल में, सूर्य की संक्रान्ति में और द्वादशी आदि तिथियों में जो दान दिया जाता है, वह 'पूर्त' है। वह भी स्वर्ग सम्प्रदान करने वाला है। देश, काल और पात्र में दिया हुआ दान करोड़ गुना फल देता है। सूर्य के उत्तरायण और दक्षिणायन प्रवेश के समय, पुण्यमय विषुवकाल में व्यतीपात, तिथिक्षय, युगारम्भ संक्रान्ति चतुर्दशी, अष्टमी, पूर्णिमा, द्वादशी, अष्टकाश्राद्ध, यज्ञ, उत्सव, विवाह, मन्वन्तरारम्भ, वैधृतियोग, दुःस्वप्नदर्शन, धन एवं ब्राह्मण की प्राप्ति में दान दिया जाता है। अथवा जिस दिन श्रद्धा हो उस दिन या सदैव दान दिया जा सकता है। दोनों अयन और दोनों विषुव-ये चार संक्रान्तियाँ, 'षडशीतिमुखा' नाम से प्रसिद्ध चार संक्रान्तियाँ तथा 'विष्णुपदा' नाम से विख्यात चार संक्रान्तियाँ-ये बारहों संक्रान्तियाँ ही दान के लिये श्रेष्ठतम मानी गयी हैं। कन्या, मिथुन, मीन और धनु राशियों में जो सूर्य की संक्रान्तियाँ होती हैं वे 'षडशीतिमुखा' कही जाती हैं, वे छियासीगुना फल देने वाली हैं। उत्तरायण और दक्षिणायन-सम्बन्धिनी (मकर एवं कर्क की) संक्रान्तियों के अतीत और अनागत (पूर्व तथा पर) घटिकाएँ पुण्यदायी मानी गयी हैं। कर्क-संक्रान्ति की तीस-तीस घड़ी और मकर संक्रान्ति की बीस-बीस घड़ी पूर्व और पर की भी पुण्यकार्य के लिये विहित हैं। तुला और मेष की संक्रान्ति वर्तमान होने पर उसके

षडशीतिमुखाः प्रोक्ताः षडशीतिगुणाः फलैः। अतीतानागते पुण्ये उदग्दक्षिणायने॥१०॥
त्रिंशत्कर्कटके नाड्यो मकरे विंशती स्मृताः। वर्तमाने तुलामेषे नाड्यास्तूभयतो दश॥११॥
षडशीत्यां व्यतीतायां षष्टिरुक्तास्तु नाडिकाः। पुण्याख्या विष्णुपद्यां च प्राक्पश्चादपि षोडश॥१२॥
श्रवणाश्विधनिष्ठासु नागदैवतमस्तके। यदा स्याद्रविवारेण व्यतीपातः सः उच्यते॥१३॥
नवम्यां शुक्लपक्षस्य कार्तिके निरगात्कृतम्। त्रेतासिततृतीयायां वैशाखे द्वापरं युगम्॥१४॥
दर्शे वै माघमासस्य त्रयोदश्यां नभस्यके। कृष्णे कलिं विजानीयाज्ज्ञेया मन्वन्तरादयः॥१५॥
अश्वयुक्शुक्लनवमी द्वादशी कार्तिके तथा। तृतीया चैव माघस्य तथा भाद्रपदस्य च॥१६॥
फाल्गुनस्याप्यमावस्या पौषस्येकादशी तथा। आषाढस्यापि दशमी माघमासस्य सप्तमी॥१७॥
श्रावणे चाष्टमी कृष्णा तथाऽऽषाढे च पूर्णिमा। कार्तिके फाल्गुने तद्वज्ज्येष्ठे पञ्चदशी तथा॥१८॥
ऊर्ध्वो चैवाऽऽग्रहायण्या अष्टकास्तिस्र ईरिताः। अष्टकाख्या चाष्टमी स्यादासु दानादि चाक्षयम्॥१९॥
गयागंगाप्रयागादौ तीर्थे देवालयादिषु। अप्रार्थितानि दानादि विद्यान्न कन्यकानि (?) हि॥२०॥
दद्यात्पूर्वमुखो दानं गृह्णीयादुत्तरामुखः। आयुर्विवर्धते दातुर्ग्रहीतुः क्षीयते न तत्॥२१॥
नामगोत्रं समुच्चार्य सम्प्रदानस्य चाऽऽत्मनः। सम्प्रदेयं प्रयच्छन्ति कन्यादाने पुनस्त्रयम्॥२२॥
स्नात्वाऽभ्यर्च्चर्यव्याहृतिभिर्दद्याद्दानं तु सोदकम्। कनकाश्वतिला नागादासीरथमहीगृहाः॥२३॥

पूर्वा पर की दस-दस घड़ी का समय पुण्यकाल है। 'षडशीति-मुखा' संक्रान्तियों के व्यतीत होने पर साठ घड़ी का समय पुण्यकाल में ग्राह्य है। 'विष्णुपदा' नाम से प्रसिद्ध संक्रान्तियां के पूर्वा पर की सोलह-सोलह घड़ियों का पुण्यकाल माना गया है। श्रवण, अश्विनी और धनिष्ठा को एवं आश्लेषा के मस्तक भाग अर्थात् प्रथम चरण में जिस समय रविवार का योग हो, तत्पश्चात् यह 'व्यतीपातयोग' कहलाता है॥१-१३॥

कार्तिक के शुक्ल पक्ष की नवमी को कृतयुग और वैशाख के शुक्लपक्ष की तृतीया को त्रेता प्रारम्भ हुआ। अधुना द्वापर युग और भाद्रपद के कृष्णपक्ष की त्रयोदशी को कलियुग की उत्पत्ति समझनी चाहिये। मन्वन्तरों को प्रारम्भकाल या मन्वादि तिथियाँ इस तरह समझनी चाहिये—आश्विन के शुक्लपक्ष की नवमी, कार्तिक की द्वादशी, माघ एवं भाद्रपद की तृतीया, फाल्गुन की अमावास्या, पौष की एकादशी, आषाढ़ की दशमी, माघमास की सप्तमी, श्रावण के कृष्णपक्ष की अष्टमी, आषाढ़ की पूर्णिमा, श्रावण के कृष्णपक्ष की अष्टमी, आषाढ़ की पूर्णिमा, कार्तिक, फाल्गुन एवं ज्येष्ठ की पूर्णिमा॥१४-१८॥

मार्गशीर्षमास की पूर्णिमा के बाद जो तीन अष्टमी तिथियाँ आती हैं, उनको तीन 'अष्टका' कहा गया है। अष्टमी का 'अष्ट का' नाम है। इन अष्टकाओं में दिया हुआ दान अक्षय होता है। गया, गङ्गा और प्रयाग आदि तीर्थों में तथा मन्दिरों में किसी के बिना माँगे दिया हुआ दान श्रेष्ठतम जाने। परन्तु कन्यादान के लिये यह नियम लागू नहीं है। दाता पूर्वाभिमुख होकर दान दे और लेने वाला उत्तराभिमुख होकर उसको ग्रहण करना चाहिये। दान देने वाले की आयु बढ़ती है, परन्तु लेने वाले की भी आयु क्षीण नहीं होती। अपने और प्रतिगृहीता के नाम एवं गोत्र का उच्चारण करके देय वस्तु का दान किया जाता है। कन्यादान में इसकी तीन आवृत्तियाँ की जाती हैं। स्नान और पूजन करके हाथ में जल लेकर उपरोक्त संकल्पपूर्वक दान देना चाहिये। स्वर्ण, अश्व, तिल, हाथी, दासी, रथ, भूमि, गृह, कन्या और कपिला

कन्या च कपिलाधेनुर्महादानानि वै दश। श्रुतशौर्यतपः कन्यायाज्यशिष्यादुपागतम्।।२४।।
शुल्कं धनं हि सकलं शुल्कं शिल्पानुवृत्तितः। कुसोदकृषिवाणिज्यप्राप्तं यदुपकारतः।।२५।।
पाशकद्यूतचौर्यादिप्रतिरूपकसाहसैः। व्याजेनोपार्जितं कृत्स्नं त्रिविधं त्रिविधं फलम्।।२६।।
अध्यग्न्यध्यावाहनिकं दत्तं च प्रीतिकर्मणि। भ्रातृमातृपितृप्राप्तं षड्विधं स्त्रीधनं स्मृतम्।।२७।।
ब्रह्मक्षत्रविशां द्रव्यं शूद्रस्यैषामनुग्रहात्। बहुभ्यो न प्रदेयानि गौगृहं शयनं स्त्रियः।।२८।।
कुलानां तु शतं हन्यादप्रयच्छन्प्रतिश्रुतम्। देवानां च गुरूणां च मातापित्रोस्तथैव च।।२९।।
पुण्यं देयं प्रयत्नेन यत्पुण्यं चार्जितं क्वचित्। प्रतिलाभेच्छया दत्तं यद्धनं तदपार्थकम्।।३०।।
श्रद्धया साध्यते धर्मो दत्तं वार्यपि चाक्षयम्। ज्ञानशीलगुणोपेतः परपीडाबहिष्कृतः।।३१।।
अज्ञानां पालनात्त्राणात्तत्पात्रं परमं स्मृतम्। मातुः शतगुणं दानं सहस्रं पितुरुच्यते।।३२।।
अनन्तं दुहितुर्दानं सोदर्ये दत्तमक्षयम्। अमनुष्ये समं दानं पापे ज्ञेयं महाफलम्।।३३।।
वर्णसंकरे द्विगुणं शूद्रे दानं चतुर्गुणम्। वैश्ये चाष्टगुणं क्षत्रे षोडशत्वं (कं) द्विजब्रुवे।।३४।।
वेदाध्याये शतगुणमनन्तं वेदबोधके। पुरोहिते याजकादौ दानमक्षयमुच्यते।।३५।।
श्रीविहीनेषु यद्दत्तं तदनन्तं च यज्वनि। अतपस्व्यनधीयानः प्रतिग्रहरुचिर्द्विजः।।३६।।

गौ का दान—ये दस 'महादान' हैं। विद्या, पराक्रम, तपस्या, कन्या, यजमान और शिष्य से मिला हुआ सम्पूर्ण धन दान नहीं, शुल्करूप है। शिल्पकला से प्राप्त धन भी शुल्क ही है। व्याज, खेती, वाणिज्य और दूसरे का उपकार करके प्राप्त किया हुआ धन, पासे, जूए, चोरी आदि प्रतिरूपक (स्वाँग बनाने) और साहसपूर्ण कर्म से उपार्जित किया हुआ धन तथा छल-कपट से पाया हुआ धन—ये तीन तरह के धन क्रमशः सात्त्विक, राजस एवं तामस—तीन तरह के फल देते हैं। विवाह के समय मिला हुआ, ससुराल को विदा होते समय प्रीति के निमित्त प्राप्त हुआ, पति द्वारा दिया गया, भाई से मिला हुआ, माता से प्राप्त हुआ तथा पिता से मिला हुआ—ये षड् तरह के धन 'स्त्री-धन' माने गये हैं। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों के अनुग्रह से प्राप्त हुआ धन शूद्र का होता है। गौ, गृह, शय्या और स्त्री—ये अनेक व्यक्तियों को नहीं दी जानी चाहिये। इनको अनेक व्यक्तियों के साझे में देना पाप है। प्रतिज्ञा करके फिर न देने से प्रतिज्ञाकर्ता के सौ वंशों का विनाश हो जाता है। किसी भी स्थान पर उपार्जित किया हुआ पुण्य देवता, आचार्य एवं माता-पिता को प्रयत्नपूर्वक समर्पित करना चाहिये। दूसरे से लाभ की इच्छा रखकर दिया हुआ धन निष्फल होता है। धर्म की सिद्धि श्रद्धा से होती है; श्रद्धापूर्वक दिया हुआ जल भी अक्षय होता है। जो ज्ञान, शील और सद्गुणों से सम्पन्न हो एवं दूसरों को कभी पीड़ा न पहुँचाता हो, वह दान का श्रेष्ठतम पात्र माना गया है। अज्ञानी मनुष्यों का पालन एवं त्राण करने से वह 'पात्र' कहलाता है। माता को दिया गया दान सौ गुना और पिता को दिया हुआ हजार गुना होता है। पुत्री और सहोदर भाई को दिया हुआ दान अनन्त एवं अक्षय होता है। मनुष्येतर प्राणियों का दिया गया दान सम होता है, न्यून या अधिक नहीं। पापात्मा मनुष्य को दिया गया दान अत्यन्त निष्फल समझना चाहिये। वर्णसंकर को दिया हुआ दान दुगुना, शूद्र को दिया हुआ दान चौगुना, वैश्य अथवा क्षत्रिय को दिया हुआ आठ गुना, ब्राह्मणब्रुव' (नाममात्र के ब्राह्मण) को दिया हुआ दान सोलहगुना और वेदपाठी ब्राह्मण को दिया हुआ दान सौ गुना फल देता है। वेदों के अभिप्राय का बोध कराने वाले आचार्य को दिया हुआ दान अनन्त होता है। पुरोहित एवं याजक आदि को दिया हुआ

अम्भस्यश्मप्लवेनैव सह तेनैव मज्जति। स्नातः सम्यगुपस्पृश्य गृह्णीयात्प्रयतः शुचिः॥३७॥
प्रतिग्रहीता सावित्रीं सर्वदैव प्रकीर्तयेत्। ततस्तु कीर्तयेत्सार्धं द्रव्येण सह दैवतम्॥३८॥
प्रतिग्राही पठेदुच्चैः प्रतिगृह्य द्विजोत्तमात्। मन्दं पठेत्क्षत्रियात्तु उपांशु च तथा विशः॥३९॥
मनसा च तथा शूद्रात्स्वस्तिवाचनकं तथा। अभयं सर्वदैवत्यं भूमिर्वै विष्णुदेवता॥४०॥
कन्या दासस्तथा दासी प्राजापत्याः प्रकीर्तिताः। प्राजापत्यो गजः प्रोक्तस्तुरगो यमदैवतः॥४१॥
तथा चैकशफं सर्वं याम्यश्च महिषस्तथा। उष्ट्रश्च नैर्ऋतो धेनू रौद्री छागोऽनलस्तथा॥४२॥
आप्यो मेषो हरिः क्रोड आरण्याः पशवोऽनिलाः। जलाशयं वारुणं स्याद्वारिधानी घटादयः॥४३॥
समुद्रजानि रत्नानि हेमलौहानि चानलः। प्राजापत्यानि सस्यानि पक्वान्नमपि सत्तम॥४४॥
गान्धर्वं गन्धमित्याहुर्वस्त्रं बार्हस्पतं स्मृतम्। वायव्याः पक्षिणः सर्वे विद्या ब्राह्मी तथाऽङ्गकम्॥४५॥
सारस्वतं पुस्तकादि विश्वकर्मा तु शिल्पके। वनस्पतिर्द्रुमादीनां द्रव्यदेवा हरेस्तनुः॥४६॥
छत्रं कृष्णाजिनं शय्या रथ आसनमेव च। उपानहौ तथा यानमुत्तानाङ्गिर ईरितम्॥४७॥
रणोपकरणं शस्त्रं ध्वजाद्यं सर्वदैवतम्। गृहं च सर्वदैवत्यं सर्वेषां विष्णुदेवता॥४८॥
शिवो वा न ततो द्रव्यं व्यतिरिक्तं यतोऽस्ति हि। द्रव्यस्य नाम गृह्णीयाद्ददामीति तथा वदेत्॥४९॥

दान अक्षय कहा गया है। धनहीन ब्राह्मणों को और यज्ञकर्ता ब्राह्मण को दिया हुआ दान अनन्त फलसम्प्रदायक होता है। तपोहीन, स्वाध्यायहीन और प्रतिग्रह में रुचि रखने वाला ब्राह्मण जल में पत्थर की नौका पर बैठे हुए के समान है; वह उस प्रस्तरमयी नैका के साथ ही डूब जाता है। ब्राह्मण को स्नान एवं जल का उपस्पर्शन करके प्रयत्नपूर्वक पवित्र हो दान ग्रहण करना चाहिये। प्रतिग्रह लेने वाले को सदैव गायत्री का जप करना चाहिये एवं उसके साथ-ही-साथ प्रतिगृहीत द्रव्य और देवता का उच्चारण करना चाहिये। प्रतिग्रह लेने वाले श्रेष्ठ ब्राह्मण से दान ग्रहण करके उच्चस्वर में, क्षत्रिय से दान लेकर मन्दस्वर में तथा वैश्य का प्रतिग्रह स्वीकार करके उपाशुं (ओठों को बिना हिलाये) जप करना चाहिये। शूद्र से प्रतिग्रह लेकर मानसिक जप और स्वस्तिवाचन करना चाहिये॥१९-३९॥

हे मुनिश्रेष्ठ! अभय के सर्वदेवगण देवता हैं, भमि के विष्णु देवता हैं, कन्या और दास-दासी के देवता प्रजापति कहे गये हैं, गज के देवता भी प्रजापति ही हैं। अश्व के यम, एक खुर वाले पशुओं के सर्वदेवगण, महिष के यम, उष्ट्र के निर्ऋति, धेनु के रुद्र, बकरे के अग्नि, भेड़, सिंह एवं वराह के जल देवता, वन्य-पशुओं के वायु, जल पात्र आदि कलश आदि जलाशयों के वरुण, समुद्र से उत्पन्न होने वाले रत्नों तथा स्वर्ण-लौहादि धातुओं के अग्नि, पक्वान्न और धान्यों के प्रजापति, सुगन्ध के गन्धर्व, वस्त्र के बृहस्पति, सभी पक्षियों के वायु, विद्या एवं विद्याङ्गों के ब्रह्मा, पुस्तक आदि की सरस्वती देवी, शिल्प के विश्वकर्मा एवं वृक्षों के वनस्पति देवता हैं। ये समस्त द्रव्य-देवता भगवान् श्रीहरि विष्णु के अङ्गभूत हैं॥४०-४६॥

छत्र, कृष्णमृगचर्म, शय्या, रथ, आसन, पादुका तथा वाहन-इनके देवता 'ऊर्ध्वाङ्गिरा' (उत्तानाङ्गिरा) कहे हैं। युद्धोपयोगी सामग्री, शस्त्र और ध्वज आदि के सर्वदेवगण देवता हैं। गृह के भी देवता सर्वदेवगण ही हैं। सम्पूर्ण पदार्थों के देवता विष्णु अथवा शिव है; क्योंकि कोई भी वस्तु उनसे भिन्न नहीं है। दान देते समय पहले द्रव्य का

तोयं दद्यात्ततो हस्ते दाने विधिरयं स्मृतः। विष्णुर्दाता विष्णुर्द्रव्यं प्रतिगृह्णामि वै वदेत्।।५०।।
सवस्तिप्रतिग्रहं धर्मं भुक्तिमुक्तीफलद्वयम्। गुरून्भृत्यानुज्जिहीर्षुरर्चिष्यन्देवताः पितृन्।।५१।।
सर्वतः प्रतगृह्णीयान्न तु तृप्येत्स्वयं ततः। शूद्रीयं न नु यज्ञार्थं धनं शूद्रस्य तत्फलम्।।५२।।
गुडतक्ररसाद्याश्च शूद्राद्ग्राह्या निवर्तिना। सर्वतः प्रतिगृह्णीयादवृत्त्या कर्षितो द्विजः।।५३।।
नाध्यापनाद्याजनाद्वा गर्हिताद्वा प्रतिग्रहात्। दोषो भवति विप्राणां ज्वलनार्कसमा हि ते।।५४।।
कृते तु दीयते गत्वा त्रेतास्वानीय दीयते। द्वापरे याचमानाय कलौ त्वनुगमान्विते।।५५।।
मनसा पात्रमुद्दिश्य जलं भूमौ विनिक्षिपेत्। विद्यते सागरस्यान्तो नान्तो दानस्य विद्यते।।५६।।
अद्यसोमार्कग्रहणसंक्रान्त्यादौ च कालके। गङ्गागयाप्रयागादौ तीर्थदेशे महागुणे।।५७।।
तथा चामुकगोत्राय तथा चामुकशर्मणे। वेदवेदाङ्गयुक्ताय पात्राय सुमहात्मने।।५८।।
यथानाम महाद्रव्यं विष्णुरुद्रादिदैवतम्। पुत्रपौत्रगृहैश्वर्यपत्नीधर्मार्थसद्गुणाः।।५९।।
कीर्तिविद्यामहाकामसौभाग्यारोग्यवृद्धये। सर्वपापोपशान्त्यर्थं स्वर्गार्थं भुक्तिमुक्तये।।६०।।
एतत्तुभ्यं सम्प्रददे प्रीयतां मे हरिः शिवः। दिव्यान्तरिक्षभौमादिसमुत्पातौघघातकृत्।।६१।।
धर्मार्थकाममोक्षाप्त्यै ब्रह्मलोकप्रदोऽस्तु मे। यथानामसगोत्राय विप्रायामुकशर्मणे।।६२।।

नाम ले। फिर 'ददामि' (देता हूँ) ऐसा कहे। फिर संकल्प का जल दान लेने वाले के हाथ में देना चाहिये। दान में यही विधि बतलायी गयी है। प्रतिग्रह लेने वाला यह कहे–'विष्णु दाता हैं, विष्णु ही द्रव्य हैं और मैं इस दान को ग्रहण करने जा रहा हूँ; यह धर्मानुकूल प्रतिग्रह कल्याणकारी हों दाता को इससे भोग और मोक्षरूप फलों की प्राप्ति हो।' गुरुजनों (माता-पिता) और सेवकों के उद्धार के लिये देवताओं और पितरो का पूजन करना हो, तो उसके लिये सबसे प्रतिग्रह ले; परन्तु उसको अपने उपयोग में न लावे। शूद्र का धन यज्ञकार्य में ग्रहण नहीं करना चाहिये; क्योंकि उसका फल शूद्र को ही प्राप्त होता है।।४७-५२।।

वृत्तिहीन ब्राह्मण शूद्र से गुड़, तक्र, रस आदि पदार्थ ग्रहण कर सकता है। जीविकाविहीन द्विज सभी का दान ले सकता है; क्योंकि ब्राह्मण स्वभाव से ही अग्नि और सूर्य के समान पवित्र है। इसलिये आपत्तिकाल में निन्दित पुरुषों को पढ़ाने, यज्ञ कराने और उनसे दान लेने से उसको पाप नहीं लगता। कृतयुग में ब्राह्मण के गृह जाकर दान दिया जाता है, त्रेता में अपने गृह बुलाकर, द्वापर में माँगने पर और कलियुग में अनुगम करने पर दिया जाता है। समुद्र का पार मिल सकता है, परन्तु दान का अन्त नहीं मिल सकता। दाता मन-ही-मन सत्पात्र के उद्देश्य से निम्नलिखित संकल्प करके भूमिपर जल छोड़े–'आप मैं चन्द्रमा अथवा सूर्य के ग्रहण या संक्रान्ति के समय गंगा, गया अथवा प्रयाग आदि अनन्तागुण सम्पन्न तीर्थ देश में अमुक गोत्र वाले वेद-वेदाङ्गवेत्ता महात्मा एवं सत्पात्र अमुक शर्मा को विष्णु, रुद्र अथवा जो देवता हों, उन देवता-सम्बन्धी अमुक महाद्रव्य कीर्ति, विद्या, महती कामना सौभाग्य और आरोग्य के उदय के लिये, समस्त पापों की शान्ति एवं स्वर्ग के लिये, भोग और मोक्ष के प्राप्त्यर्थ आपको दान करने जा रहा हूँ। इससे देवलोक, अन्तरिक्ष और भूमि-सम्बन्धी समस्त उत्पातों का विनाश करने वाले मंगलमय भगवान् श्रीहरि विष्णु मुझ पर प्रसन्न हों और मुझको धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष की प्राप्ति कराकर ब्रह्मलोक सम्प्रदान करें। तत्पश्चात् यह

एतद्दानप्रतिष्ठार्थं सुवर्णं दक्षिणां ददे। अनेन दानवाक्येन सर्वदानानि वै ददेत्॥६३॥

॥इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते दानपरिभाषावर्णनं नाम नवाधिकद्विशततमोऽध्यायः॥२०९॥

अथ दशाधिकद्विशततमोऽध्यायः

महादानानि

अग्निरुवाच

सर्वदानानि वक्ष्यामि महादानानि षोडश। तुलापुरुष आद्यं तु हिरण्यगर्भदानकम्॥१॥
ब्रह्माण्डं कल्पवृक्षश्च गोसहस्रं च पञ्चमम्। हिरण्यकामधेनुश्च हिरण्याश्वश्च सप्तमम्॥२॥
हिरण्याश्वरथस्तद्वद्धेमहस्तिरथस्तथा। पञ्चलाङ्गलकं तद्वद्धरादानं तथैव च॥३॥
विश्वचक्रं कल्पलता सप्तसागरकं परम्। रत्नधेनुर्महाभूतघटं शुभदिनेऽर्पयेत्॥४॥
मण्डपे मण्डले दानं देवान्प्राच्यार्पयेद्द्विजे। मेरुदानानि पुण्यानि मेरवो दश ताञ्शृणु॥५॥

संकल्प पढ़े 'अमुक नाम और गोत्र वाले ब्राह्मण अमुक शर्मा को मैं इस दान की प्रतिष्ठा के निमित्त स्वर्ण की दक्षिणा देता हूँ।' इस दान-वाक्य से समस्त दान देना चाहिये।५३-६३॥

॥इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी दो सौ नौवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ॥२०९॥

अध्याय-२१०

महादान विचार

श्रीअग्नि देव ने कहा कि-हे वसिष्ठ! अधुना मैं सभी तरह के दानों का वर्णन करने जा रहा हूँ। सोलह महादान होते हैं। सर्वप्रथम तुलापुरुषदान, फिर हिरण्यगर्भदान, ब्रह्माण्डदान, कल्पवृक्षदान, पाँचवाँ सहस्र गोदान, स्वर्णमयी कामधेनु का दान, सातवाँ स्वर्णनिर्मित अश्व का दान, स्वर्णमय अश्वयुक्त रथ का दान, स्वर्णहीन हस्तिरथ का दान, पाँच हलों का दान, भूमिदान, विश्वचक्रदान, कल्पलतादान, श्रेष्ठतम सप्तसमुद्रदान, रत्नधेनुदान और जलपूर्ण कुम्भदान। ये दान शुभ दिन में मण्डलाकार मण्डप में देवताओं का पूजन करके ब्राह्मण को देने चाहिये। मेरुदान भी पुण्यप्रद है। 'मेरु' दस माने गये हैं, उनको सुनो-धान्यमेरु एक हजार द्रोण धान्य का श्रेष्ठतम माना गया है, पाँच सौ द्रोण का मध्यम और ढाई सौ द्रोण का अधम माना गया है। लवणाचल सोलह द्रोण का बनाना चाहिये, वही श्रेष्ठतम माना गया है। गुड़-पर्वत दस भार का श्रेष्ठतम माना गया है, पाँच भार का मध्यम और ढाई भार का निकृष्ट कहा

धान्यद्रोणसहस्रेण उत्तमोऽर्धार्धतः परौ। उत्तमः षोडशद्रोणः कर्तव्यो लवणाचलः॥६॥
दशभारैर्गुडाद्रिः स्यादुत्तमोऽर्धार्धतः परौ। उत्तमः पलसाहस्रैः स्वर्णमेरुस्तथा परौ॥७॥
दशद्रोणैस्तिलाद्रिः स्यात्पञ्चभिश्च त्रिभिः क्रमात्। कार्पासपर्वतो विंशभारैश्च दशपञ्चभिः॥८॥
विंशत्या घृतकुम्भानुमुत्तमः स्याद्घृताचलः। दशाभिःपलसाहस्रैरुत्तमो रजताचलः॥९॥
अष्टभारै शर्करादिमध्यो मन्दोऽर्धतोऽर्धतः। दशधेनूः प्रवक्ष्यामि या दत्त्वा मुक्तिभुक्तिभाक्॥१०॥
प्रथमा गुडधेनुः स्याद्घृतधेनुस्तथाऽपरा। तिलधेनुस्तृतीया च चतुर्थी जलधेनुका॥११॥
क्षीरधेनुर्मधुधेनुः शर्करादधिधेनुके। रसधेनुः स्वरूपेण दशमीविधिरुच्यते॥१२॥
कुम्भाः स्युर्द्रवधेनूनामितराशां तु राशयः। कृष्णाजिनं चतुर्हस्तं प्राग्ग्रीवं विन्यसेद्भुवि॥१३॥
गोमयेनानुलिप्तायां दर्भानास्तीर्य सर्वतः। लघ्वैणकाजिनं तद्वद्वत्सस्य परिकल्पयेत्॥१४॥
प्राङ्मुखीं कल्पयेद्धेनुमुदक्पादां सवत्सकाम्। उत्तमा गुडधेनुः स्यात्सदा भारचतुष्टयात्॥१५॥
वत्सं भारेण कुर्वीत भाराभ्यां मध्यमा स्मृता। अर्धभारेण वत्सः स्यात्कनिष्ठा भारकेण तु॥१६॥
चतुर्थांशेन वत्सः स्याद्गुणपित्तानुसारतः। पञ्चकृष्णलको माषस्ते सुवर्णस्तु षोडश॥१७॥
पलं सुवर्णाश्चत्वारस्तुला पलशतं स्मृतम्। स्यात्भारो विंशतितुला द्रोणस्तु चतुराढकः॥१८॥

जाता है। स्वर्णमेरु सहस्र पल का श्रेष्ठतम, पाँच सौ पल का मध्यम और ढाई सौ पल का निकृष्ट माना गया है। तिपर्वत क्रमशः दस द्रोण का उत्तम, पाँच द्रोण काम मध्यम और ढाई सौ पल का निकृष्ट माना गया है। तिलपर्वत क्रमशः दस द्रोण का निकृष्ट कहा गया है। कार्पास (रूई) पर्वत बीस भार का श्रेष्ठतम, दस भार का मध्यम तथा पाँच भार का निकृष्ट है। बीस घृतपूर्ण कुम्भों का श्रेष्ठतम घृताचल होता है। रजत-पर्वत दस हजार पल का श्रेष्ठतम, चार भार का मध्यम और दो भार का मन्द माना गया है॥१-९॥

अधुना मैं दस धेनुओं का वर्णन करने जा रहा हूँ, जिनका दान करके मनुष्य भोअ और मोक्ष को प्राप्त कर लेता है। पहली गुड़धेनु होती है, दूसरी घृतधेनु, तीसरी तिलधेनु, चौथी जलधेनु, पाँचवीं क्षीरधेनु, छठी मधुधेनु, सातवीं शर्कराधेनु, आठवीं दधिधेनु, नवीं रसधेनु और दसवीं गोरूपेण कल्पित कृष्णाजिनधेनु। इसके दान की विधि यह बतलायी जाती है कि तरल पदार्थ-सम्बन्धी धेनुओं के प्रतिनिधि रूप से घड़ों में उन पदार्थों को भरकर कुम्भदान करने चाहिये और अन्य धातुओं के रूप में उन-उन द्रव्यों की राशि का दान करना चाहिये॥१०-१२॥

कृष्णाजिनधेनु के दान की विधि यह है--गोबर से लिपी-पुती भूमि पर सभी तरफ दर्भ बिछाकर उसके ऊपर चार हाथ का कृष्णमृगचर्म रखे। उसकी ग्रीवा पूर्व दिशा की तरफ होनी चाहिये। इसी तरह गोवत्स के स्थान पर छोटे आकार का कृष्णमृगचर्म स्थापित करना चाहिये। वत्ससहित धेनु का मुख पूर्व की तरफ और पैर उत्तर दिशा की तरफ समझे। चार भार गुड की गुड़धेनु सदा ही श्रेष्ठतम मानी गयी है। एक भार गुड़ का गोबर बनाये। दो भार की गौ मध्यम होती है। उसके साथ आधे भार का बछड़ा होना चाहिये। एक भार की गौ कनिष्ठ कही जाती है। इसके चतुर्थांश का वत्स इसके साथ देना चाहिये। गुड़धेनु अपने गुड़ संग्रहके अनुसार बना लेनी चाहिये॥१३-१६॥

पाँच गुञ्जा का एक 'माशा' होता है, सोलह माशे का एक 'स्वर्ण' होता है, चार स्वर्ण का 'पल' और सौ

धेनुवत्सौ गुडस्योभौ सितसूक्ष्माम्बरावृतौ। शुक्तिकर्णाविक्षुपादौ शुचिमुक्ताफलेक्षणौ॥१९॥
सितसूत्रशिरालौ च सितकम्बलकम्बलौ। ताम्रगड्डुकपृष्ठौ तौ सितचामररोमकौ॥२०॥
विद्रुमभ्रूयुगावेतौ नवनीतस्तनान्वितौ। क्षौमपुच्छौ कांस्यदोहाविन्द्रनीलकतारकौ॥२१॥
सुवर्णशृङ्गाभरणौ रजतक्षुरसंयुतौ। नानाफलमया दन्ता गन्धघ्राणप्रकल्पितौ॥२॥
रचयित्या यजेद्धेनुमिमैर्मन्त्रैर्द्विजोत्तम। या लक्ष्मीः सर्वभूतानां या च देवेष्ववस्थिता॥२३॥
धेनुरूपेण सा देवी मम शान्तिं प्रयच्छतु। देहस्था या च रुद्राणी शंकरस्य सदा प्रिया॥२४॥
धेनुरूपेण सा देवी मम पापं व्यपोहतु। विष्णुवक्षसि या लक्ष्मीः स्वाहा या च विभावसोः॥२५॥
चन्द्रार्कऋक्षशक्तिर्या धेनुरूपाऽस्तु सा श्रिये। चतुर्मुखस्य या लक्ष्मीर्या लक्ष्मीर्धनस्य च॥२६॥
लक्ष्मीर्या लोकपालानां सा धेनुर्वरदाऽस्तु मे। स्वधात्वं पितृमुख्यानां (णां) स्वाहा यज्ञभुजां यतः॥२७॥
सर्वपापहरा धेनुस्तस्माच्छान्तिं प्रयच्छ मे। एवमामन्त्रितां धेनुं ब्राह्मणाय निवेदयेत्॥२८॥
समानं सर्वधेनूनां विधानं चैतदेव हि। सर्वयज्ञफलं प्राप्य निर्मलो भुक्तिमुक्तिभाक्॥२९॥
स्वर्णशृङ्गी शफै रौप्यैःसुशीला वस्त्रसंयुता। कांस्योपदेहा दातव्या क्षीरिणी गौःसदक्षिणा॥३०॥
दाताऽस्याः स्वर्गमाप्नोति वत्सरान्रोमसम्मितान्। कपिला चेत्तारयति भूयश्चाऽऽसप्तमं कुलम्॥३१॥

पल की 'तुला' मानी गयी है। बीस तुला का एक 'भार' होता है एवं चार आढक (चौंसठ पल) का एक 'द्रोण होता है॥१७-१८॥ गुड़निर्मित धेनु और वत्स को श्वेत एवं सूक्ष्म वस्त्र से ढकना चाहिये। उनके कानों के स्थान में सीप, चरणस्थान में ईख, नेत्रस्थान में पवित्र मौक्तिक, अलकों के स्थान पर श्वेतसूत्र, गलकम्बल के स्थान पर श्वेत चँवर, भौंहों के स्थान पर विद्रुममणि, स्तनों के स्थान पर नवनीत, पुच्छस्थान पर रेशमी वस्त्र, अक्षि-गोलकों के स्थान पर नीलमणि, शृङ्ग और शृङ्गाभरणों के स्थान पर स्वर्ण एवं खुरों की जगह चाँदी रखे। दन्तस्थान पर विविध फल और नासिका-स्थान पर सुगन्धित द्रव्य स्थापित करना चाहिये—साथ में काँसे की कोहनी भी रखे। हे द्विजश्रेष्ठ! इस तरह धेनु की रचना करके निम्नलिखित मन्त्रों से उसकी पूजा करनी चाहिये—'जो समस्त भूतप्राणियों की लक्ष्मी हैं, जो देवताओं में भी स्थित हैं, वे धेनुरूपिणी देवी मुझको शान्ति सम्प्रदान करें। जो अपने शरीर में स्थित होकर 'रुद्राणी' के नाम से प्रसिद्ध हैं और देवाधिदेव भगवान् श्रीशिवशंकर की सदा प्रियतमा पत्नी हैं, वे धेनुरूपधारिणी देवी मेरे पापों का विनाश करें। जो विष्णु के वक्षःस्थल पर लक्ष्मी के रूप से सुशोभित होती हैं, जो अग्नि की स्वाहा और चन्द्रमा, सूर्य एवं नक्षत्र-देवताओं की शक्ति के रूप में स्थित हैं, वे धेनुरूपिणी देवी मुझको लक्ष्मी सम्प्रदान करें। जो चतुर्मुख ब्रह्मा की सावित्री, धनाध्यक्ष कुबेर की निधि और लोकपालों की लक्ष्मी हैं, वे धेनुदेवी मुझको अभीष्ट वस्तु सम्प्रदान करें। हे देवि! आप पितरों की 'स्वधा' एवं यज्ञभोक्ता का अग्नि की 'स्वाहा' हैं। आप समस्त पापों का हरण करने वाली एवं धेनुरूप से स्थित हैं, इसलिये मुझको शान्ति सम्प्रदान करना चाहिये।' इस तरह अभिमन्त्रित की हुई धेनु ब्राह्मण को दान देना चाहिये। अन्य सब धेनुदानों की भी सामान्यतया यही विधि है। इससे मनुष्य सम्पूर्ण यज्ञों का फल प्राप्त कर पाप हीन हुआ भोग और मोक्ष—दोनों को सिद्ध कर लेता है॥१९-२९॥

सोने के सींगों से युक्त चाँदी के खुरों वाली सीधी-सादी दुधारू गौ, काँसे की दोहनी, वस्त्र एवं दक्षिणा के साथ देनी चाहिये। ऐसी गौ का दान करने वाला उस गौ के शरीर में जितने रोएँ होते हैं, उतने वर्षों तक स्वर्ग में निवास करता है। यदि कपिला का दान किया जाय तो वह सात पीढ़ियों का उद्धार कर देती है॥३०-३१॥

स्वर्णशृङ्गी रौप्यखुरां कांस्यदोहनकान्विताम्। शक्तितो दक्षिणायुक्तां दत्त्वा स्याद्भुक्तिमुक्तिभाक्।।३२।।
सवत्सरोमतुल्यानि युगान्युभयतोमुखीम्। दत्त्वा स्वर्गमवाप्नोति पूर्वेण विधिना दहेत्।।३३।।
आसन्नमृत्युना देया सवत्सा गौस्तु पूर्ववत्। यमद्वारे महाघोरे तप्ता वैतरणी नदी।।
तां तर्तुं च ददाम्येनां कृष्णां वैतरणीं च गाम्।।३४।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते महादानवर्णनं नाम दशाधिकद्विशततमोऽध्यायः।।२१०।।

स्वर्णमय शृङ्गों से युक्त, रजतमण्डित खुरों वाली कपिला गौ का काँसे के दोहन पत्र और यथाशक्ति दक्षिणा के साथ दान करके मनुष्य भोग और मोक्ष प्राप्त कर लेता है। 'उभयतोमुखी' गौ का दान करके दाता बछड़े सहित गौ के शरीर में जितने रोएँ होते हैं, उतने युगों तक स्वर्ग में जाकर सुख भोगता है। उभयतोमुखी गौ का भी दान उपरोक्त विधि से ही करना चाहिये।।३२-३३।।

मरणासन्न मनुष्य को भी उपरोक्त विधि से ही बछड़े सहित गौ का दान करना चाहिये। (और यह संकल्प करना चाहिये)–'अत्यन्त भयंकर यमलोक के प्रवेश द्वारा तप्तजल से युक्त वैतरणी नदी प्रवाहित होती है। उसको पार करने के लिये मैं इस कृष्णवर्णा वैतरणी गौ का दान करने जा रहा हूँ।।३४।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी दो सौ दसवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।२१०।।

❖❖❖

अथैकादशाधिकद्विशततमोऽध्यायः

नानादानानि

अग्निरुवाच

एकां गां दशगुर्दद्याद्दश दद्याच्च गोशती। शतं सहस्रगुर्दद्यात्सर्वे तुल्यफला हि ते॥१॥
प्रासादा यत्र सौवर्णा वसोर्धारा च यत्र सा। गन्धर्वाप्सरसो यत्र तत्र यान्ति सहस्रदाः॥२॥
गवां शतप्रदानेन मुच्यते नरकार्णवात्। दत्त्वा वत्सतरीं चैव स्वर्गलोके महीयते॥३॥
गोदानादायुरारोग्यसौभाग्यस्वर्गमाप्नुयात्। इन्द्रादिलोकपालानां या राजमहिषी शुभा॥४॥
महिषीदानमाहात्म्यादस्तु मे सर्वकामदा। धर्मराजस्य साहाय्ये यस्याः पुत्रः प्रतिष्ठितः॥५॥
महिषासुरस्य जननी या साऽस्तु वरदा मम। महिषीदानाच्च सौभाग्यं वृषदानाद्दिवं व्रजेत्॥६॥
संयुक्तहलपङ्क्त्याख्यं दानं सर्वफलप्रदम्। पंक्तिर्दशहला प्रोक्ता दारुजा वृषसंयुता॥७॥
सौवर्णपट्टसंनद्धा दत्त्वा स्वर्गे महीयते। दशानां कपिलानां तु दत्तानां ज्येष्ठपुष्करे॥८॥
तत्फलं चाक्षयं प्रोक्तं वृषभस्य तु मोक्षणे। धर्मोऽसि त्वं चतुष्पादश्चतस्रस्ते प्रिया इमाः॥९॥
नमो ब्रह्मण्य देवेश पितृभूतर्षिपोषक। त्वयि मुक्तेऽक्षया लोका मम सन्तु निरामयाः॥१०॥

अध्याय-२११

दान प्रकार विचार

श्रीअग्नि देव ने कहा कि-हे वसिष्ठ! जिसके पास दस गौएँ हो, उसे एक गौ; जिसके पास सौ गौएँ हो; उसे दस गौएँ; जिसके पास एक हजार गौएँ हों, उसे सौ गौओं का दान करना चाहिये तो उन सभी को समान फल प्राप्त होता है। कुबेर की राजधानी अलकापुरी, जहाँ स्वर्णनिर्मित भवन हैं, एवं जहाँ गन्धर्व और अप्सराएँ विहार करती हैं, सहस्र गौओं का दान करने वाले वहीं जाते हैं। मनुष्य सौ गौओं का दान करके नरक-समुद्र से मुक्त हो जाता है और बछिया का दान करके स्वर्गलोक में पूजित होता है। गोदान से दीर्घायु, आरोग्य, सौभाग्य और स्वर्ग की प्राप्ति हो जाती है। 'जो इन्द्र आदि लोकपालों की मङ्गलमयी राजमहिषी हैं, वे देवी इस महिषीदान के माहात्म्य से मुझको सम्पूर्ण अभीष्ट वस्तुएँ सम्प्रदान करें। जिनका पुत्र धर्मराज की सहायता में नियुक्त है एवं जो महिषासुरकी जननी हैं, वे देवी मुझको वर सम्प्रदान करें। उपरोक्त मन्त्र पढ़कर महिषीदान करने से सौभाग्य की प्राप्ति हो जाती है। वृषदान से मनुष्य स्वर्गलोक में जाता है॥१-६॥

'संयुक्त हलपङ्क्ति' नामक दान समस्त फलों को सम्प्रदान करता है। काठ के बने हुए दस हलों की पंक्ति, जो स्वर्णमय पट्ट से परस्पर जुड़ी हो और प्रत्येक हल के साथ आवश्यक संख्या में बैल भी हों तो उसका दान 'संयुक्त हलपङ्क्ति' नामक दान कहा गया है। वह दान करके मनुष्य स्वर्गलोक में पूजित होता है। ज्येष्ठपुष्कर-तीर्थ में दस कपिला गौओं का दान किया जाय तो उसका फल अक्षय बतलाया गया है। वृषोत्सर्ग करने से भी अक्षय फल की प्राप्ति हो जाती है। साँड़ को चक्र और त्रिशूल से अंकित करके यह मन्त्र पढ़कर छोड़े-'हे देवेश्वर! आप चार चरणों से युक्त साक्षात् धर्म हो। ये आपकी चार प्रियतमाएँ हैं। पितरों, मनुष्यों और ऋषियों का पोषण करने वाले वेदमुर्ति वृष! तुम्हारे

मा मे ऋणोऽस्तु दैवत्यो भौतः पैत्रोऽथ मानुषः। धर्मस्त्वं त्वत्प्रपन्नस्य या गतिः साऽस्तु मे ध्रुवा॥११॥
अङ्कयेच्चक्रशूलाभ्यां मन्त्रेणानेन चोत्सृजेत्। एकादशाहे प्रेतस्य यस्य चोत्सृज्यते वृषः॥१२॥
मुच्यते प्रेतलोकात्तु षण्मासे चाब्दिकादिषु। दशहस्तेन दण्डेन त्रिंशद्दण्डान्निवर्तनम्॥१३॥
तान्येव दशविस्ताराद्गोचर्मैतत्प्रदोऽघभित्। गोभूहिरण्यसंयुक्तं कृष्णाजिनं तु योऽर्पयेत्॥१४॥
सर्वदुष्कृतकर्माऽपि सायुज्यं ब्रह्मणो व्रजेत्। भाजनं तिलसम्पूर्णं मधुना पूर्णमेव च॥१५॥
दद्यात्कृष्णतिलानां च प्रस्थमेकं च मागधम्। शय्यां दत्त्वा तु सगुणां भुक्तिमुक्तिमवाप्नुयात्॥१६॥
हैमीं प्रतिकृतिं कृत्वा दत्त्वा स्वर्गस्तथाऽऽत्मनः। विपुलं तु गृहं कृत्वा दत्त्वा स्याद्भुक्तिमुक्तिभाक्॥१७॥
गृहं मठं सभा स्वर्गी दत्त्वा स्याच्च प्रतिश्रयम्। दत्त्वा कृत्वा गोगृहं च निष्पापः स्वर्गमाप्नुयात्॥१८॥
(यममाहिषदानात्तु निष्पापः स्वर्गमाप्नुयात्। ब्रह्मा हरो हरिर्देवैर्मध्ये च यमदूतकः॥१९॥
पाशी तस्य शिरश्छित्त्वा तं दद्यात्स्वर्गभाग्भवेत्।) त्रिमुखाख्यमिदं दान गृहीत्वा तु द्विजोऽघभाक्॥२०॥
चन्द्रं रूपमयं कृत्वा के धृत्वा तत्प्रदापयेत्। होमयुक्तं द्विजायैतत्कालचक्रमिदं महत्॥२१॥
आत्मतुल्यं तु यो लौहं ददेन्न नरकं व्रजेत्। पञ्चाप (श) त्पलसंयुक्तं लौहदण्डं तु योऽर्पयेत्॥२२॥

मोचन से मुझको अमृत मय शाश्वत लोकों की प्राप्ति हों मैं देवऋण, भूतऋण, पितृऋण एवं मनुष्य ऋण से मुक्त हो जाऊँ। आप साक्षात् धर्म हो; आपका आश्रय ग्रहण करने वालों को जो गति प्राप्त होती है, वह नित्य गति मुझको भी प्राप्त हो'॥७-११॥

जिस मृत व्यक्ति के एकादशाह, षाण्मासिक अथवा वार्षिक श्राद्ध में वृषात्सर्ग किया जाता है, वह प्रेतलोक से मुक्त हो जाता है। दस हाथ के डंडे से तीस डंडे के बराबर की भूमि को 'निवर्तन' करते हैं। दस निवर्तन भूमि की 'गोचर्म' संज्ञा है। इतनी भूमि का दान करने वाला मनुष्य अपने समस्त पापों का विनाश कर देता है। जो गौ, भूमि और स्वर्णयुक्त कृष्णमृगचर्म का दान करता है, वह सम्पूर्ण पापों के करने पर भी ब्रह्मा का सायुज्य प्राप्त कर लेता है। तिल एवं मधु से भरा पात्र मगधदेशीय मान के अनुसार एक प्रस्थ (चौसठ पल) कृष्णतिल का दान करना चाहिये। इसके साथ श्रेष्ठतम गुणों से युक्त शय्या देने से दाता को भोग और मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है॥१२-१६॥

अपनी स्वर्णमयी प्रतिमा बनवाकर दान करने वाला स्वर्ग में जाता है। विशाल गृह का निर्माण कराके उसका दान देने वाला भोग एवं मोक्ष–दोनों को प्राप्त करता है। गृह, मठ, सभाभवन (धर्मशाला) एवं आवासस्थान का दान करके मनुष्य स्वर्ग लोक में जाकर सुख भोगता है। गोशाला बनवाकर दान करने वाला पापहीन होकर स्वर्ग को प्राप्त होता है। यम-देवता सम्बन्धी महिषदान करने से मनुष्य निष्पाप होकर स्वर्गलोक को जाता है। देवताओं सहित ब्रह्मा, शिव और विष्णु के मध्य में पाशधारी यमदूत की (स्वर्णादिमयी) मूर्तियाँ स्थापित करके यमदूत के सिर का छेदन करना चाहिये; फिर उस मूर्तिमण्डल का ब्राह्मण को दान कर देना चाहिये। ऐसा करने से दाता तो स्वर्गलोक का भागी होता है, परन्तु इस 'त्रिमुख' नामक दान को ग्रहण करके द्विज पाप का भागी होता है। चाँदी का चक्र बनवाकर, उसको जल में रखकर उसके निमित्त से हवन करना चाहिये। पश्चात् वह चक्र ब्राह्मण को दान कर देना चाहिये। यह महान् 'कालचक्रदान' माना गया है॥१७-२१॥

जो अपने वजन के बराबर लोहे का दान करता है, वह नरक में नहीं गिरता। जो पचास जल का लौहदण्ड वस्त्र से ढककर ब्राह्मण को दान करता है, उसको यमदण्ड से भय नहीं होता। दीर्घायु की इच्छा रखने वाला मृत्युञ्जय

वस्त्रेणाऽऽच्छाद्य विप्राय यमदण्डो न विद्यते। मूलं फलादि वा द्रव्यं संहतं वाऽथ चैकशः॥२३॥
मृत्युञ्जयं समुद्दिश्य दद्यादायुर्विवृद्धये। पुमान्कृष्णतिलैः कार्यो रौप्यदन्तः सुवर्णदृक्॥२४॥
खड्गोद्यतकरो दीर्घो जपाकुसुममण्डलः। रक्ताम्बरधरःस्रग्वी शङ्खमालाविभूषितः॥२५॥
उपानद्युगयुक्ताङ्घ्रिः कृष्णकम्बलपार्श्वकः। गृहीतमांसपिण्डश्च वामे वै कालपूरुषः॥२६॥
सम्पूज्य तं च गन्धाद्यैर्ब्राह्मणायोपपादयेत्। मरणव्याधिहीनः स्याद्राजराजेश्वरो भवेत्॥२७॥
गोवृषौ तु द्विजे दत्त्वा भुक्तिमुक्तिमवाप्नुयात्। हेमन्ताधिष्ठितं चाश्वं हैमं दत्त्वा न मृत्युभाक्॥२८॥
घण्टादिपूर्णमप्येकं दत्त्वा स्याद् भुक्तिमुक्तिभाक्। सर्वान्कामानवाप्नोति यः प्रयच्छति काञ्चनम्॥२९॥
सुवर्णे दीयमाने तु रजतं दक्षिणेष्यते। अन्येषामपि दानानां सुवर्णं दक्षिणा स्मृता॥३०॥
सुवर्णं रजतं ताम्रं तण्डुलं धान्यमेव च। नित्यश्राद्धं देवपूजा सर्वमेतददक्षिणम्॥३१॥
रजतं दक्षिणा पित्रे (त्र्ये) धर्मकामार्थसाधनम्। सुवर्णं रजतं ताम्रं मणिमुक्तावसूनि च॥३२॥
सर्वमेतन्महाप्राज्ञो ददाति वसुधां ददत्। पितृंश्च पितृलोकस्थान्देवस्थाने च देवताः॥३३॥
सन्तर्पयति शान्तात्मा यो ददाति वसुन्धराम्। खर्वटं खेटकं वाऽपि ग्रामं वा सस्यशालिनाम्॥३४॥

के उद्देश्य से फल, मूल एवं द्रव्य को एक साथ अथवा पृथक्-पृथक् दान करना चाहिये। कृष्णतिल का पुरुश निर्मित करना चाहिये। उसके चाँदी के दाँत और सोने की आँखें हों। वह मालाधारी दीर्घाकार पुरुष दाहिने हाथ में खड्ग उठाये हुए हो। लाल रंग के वस्त्र धारण किये जपापुष्पों से अलंकृत एवं शङ्ख की माला से विभूषित हो। उसके दोनों चरणों में पादुकाएँ हों और पार्श्वभाग में अलंकृत एवं शङ्ख की माला से विभूषित हो। उसके दोनों चरणों में पादुकाएँ हों और पार्श्वभाग में काला कम्बल हो। वह कालपुरुष बायें हाथ में मांस-पिण्ड लिये हो। इस तरह कालपुरुष का निर्माण कर गन्धादि द्रव्यों से उसकी पूजा करके ब्राह्मण को दान करना चाहिये। इससे दाता मानव मृत्यु और व्याधि से हीन होकर राजराजेश्वर होता है। ब्राह्मण को दो बैलों का दान देकर मनुष्य भोग और मोक्ष को प्राप्त कर लेता है॥२२-२८॥

जो मनुष्य स्वर्णदान करता है, वह सम्पूर्ण अभीष्ट वस्तुओं को प्राप्त कर लेता है। स्वर्ण के दान में उसकी प्रतिष्ठा के लिये चाँदी की दक्षिणा विहित है। अन्य दानों की प्रतिष्ठा के लिये स्वर्ण की दक्षिणा प्रशस्त मानी गयी है। स्वर्ण के सिवा, रजत, ताम्र, तण्डुल और धान्य की भी दक्षिणा के लिये विहित हैं। नित्य श्राद्ध और नित्य देवपूजन-इन सबमें दक्षिणा की आवश्यकता नहीं है। पितृकार्य में रजत की दक्षिणा धर्म, काम और अर्थ को सिद्ध करने वाली हैं। भमिका दान देने वाला महाबुद्धिमान् मनुष्य स्वर्ण, रजत, ताम्र, मणि और मुक्ता-इन सभी का दान कर लेता है, अर्थात् इन सभी दानों का पुण्यफल पा लेता है। जो पृथ्वीदान करता है, वह शान्त अन्तःकरण वाला पुरुष पितृलोक में स्थित पितरों को और देवलोक में निवास करने वाले देवताओं को पूर्णरूप से तृप्त कर देता है। शस्यशाली खर्वट, ग्राम और खेटक (छोटा गाँव), सौ निवर्तन से अधिक या उसके आधे विस्तार में बने हुए आदि अथवा गोचर्म (दस निवर्तन) के माप की भूमि का दान करके मनुष्य सब कुछ पा लेता है। जिस तरह तैल बिन्दु जल या भूमि पर गिरकर फैल जाता है, उसी तरह सभी दोनों का फल एक जन्म तक रहता है। स्वर्ण, भूमि और गौरी कन्या के दान का फल सात जन्मों तक स्थिर रहता है। कन्यादान करने वाला अपनी इक्कीस पीढ़ियों का नरक से उद्धार करके ब्रह्मलोक को प्राप्त होता है। दक्षिणा सहित हाथी का दान करने वाला निष्पाप होकर स्वर्गलोक में जाता है। अश्व का दान देकर मनुष्य दीर्घ आयु, आरोग्य, सौभाग्य और स्वर्ग को प्राप्त कर लेता है। श्रेष्ठ ब्राह्मण को दासीदान करने वाला अप्सराओं

निवर्तनशतं वाऽपि तदर्धं वा गृहादिकम्। अपि गोचर्ममात्रां वा दत्त्वोर्वीं सर्वभाग्भवेत्।।३५।।
तैलबिन्दुर्यथा चाप्सु प्रसर्पेद्भूगतं तथा। सर्वेषामेव दानानामेकजन्मानुगं फलम्।।३६।।
हाटकक्षितिगौरीणां सप्तजन्मानुगं फलम्। त्रिसप्तकुलमुद्धृत्य कन्यादो ब्रह्मलोकभाक्।।३७।।
गजं सदक्षिणं दत्त्वा निर्मलः स्वर्गभाग्भवेत्। अश्वं दत्त्वाऽयुरारोग्यसौभाग्यस्वर्गमाप्नुयात्।।३८।।
दासीं दत्त्वा द्विजेन्द्राय अप्सरो लोकमाप्नुयात्। दत्त्वा ताम्रमयीं स्थालीं पलानां पञ्चभिः शतैः।।३९।।
अर्धैस्तदर्धैरर्धैर्वा भुक्तिमुक्तिवाप्नुयात्। शकटं वृषसंयुक्तं दत्त्वा यानेन नाकभाक्।।४०।।
वस्त्रदानाल्लभेदायुरारोग्यं स्वर्गमक्षयम्। धान्यगोधूमकलमयवादीन्स्वर्गभाग्ददत्।।४१।।
आसनं तैजसं पात्रं लवणं गन्धचन्दनम्। धूपं दीपं च ताम्बूलं लोहं रूप्यं च रत्नकम्।।४२।।
(दिव्यानि नानाद्रव्याणि दत्त्वा स्याद्भुक्तिमुक्तिभाक्। तिलांश्च तिलपात्रं च दत्त्वा स्वर्गमवाप्नुयात्।।४३।।
अन्नदानात्परं नास्ति न भूतं न भविष्यति। हस्त्यश्वरथदानानि दासीदासगृहाणि च।।४४।।
अन्नदानस्य सर्वाणि कलां नार्हन्ति षोडशीम्। कृत्वाऽपि सुमहत्पापं यः पश्चादन्नदो भवेत्।।४५।।
सर्वपापविनिर्मुक्तो लोकानाप्नोति चाक्षयान्। (पानीयं च प्रपां दत्वा भुक्तिमुक्तिमवाप्नुयात्।।४६।।
अग्निं काष्ठं च मार्गादौ दत्त्वा दीप्त्यादिमाप्नुयात्)। देवगन्धर्वनारीभिर्विमाने सेव्यते दिवि।।४७।।
घृतं तैलं च लवणं दत्त्वा सर्वमवाप्नुयात्। क्षत्रोपानहकाष्ठादि दत्त्वा स्वर्गे सुखी वसेत्।।४८।।
प्रतिपत्तिथिमुख्येषु विष्कम्भादिषु योगके। चैत्रादौ वत्सरादौ च अश्विन्यादौ हरिं हरम्।।४९।।
ब्रह्माणं लोकपालादीन्प्राच्र्य दानं महाफलम्। वृक्षारामान्भोजनादीन्मार्गसंवाहनादिकान्।।५०।।

के लोक में जाकर सुखोपभोग करता है। जो पाँच सौ पल ताँबे की थाली या ढाई सौ पल, सवा सौ पल अथवा उसके भी आधे (६२) पलों की बनी थाली देता है; वह भोग तथा मोक्ष का भागी होता है।।२९-३९।।

बैलों से युक्त शकटदान करने से मनुष्य विमान द्वारा स्वर्गलोक को जाता है। वस्त्रदान से आयु, आरोग्य और अक्षय स्वर्ग की प्राप्ति हो जाती है। धान, गेहूँ, अगहनी का चालव और जो आदि दान करने वाला स्वर्गलोक को प्राप्त होता है। आसन, धातुनिर्मित पात्र, लवण, सुगन्धियुक्त चन्दन, धूप-दीप, ताम्बूल, लोहा, चाँदी, रत्न और विविध दिव्य पदार्थों का दान देकर मनुष्य भोग और मोक्ष भी प्राप्त करता है। तिल और तिलपात्र का दान देकर मनुष्य स्वर्ग-सुख का भागी होता है। अन्नदान से बढ़कर कोई दान न तो है, न था और न होगा ही। हाथी, अश्व, रथ, दास-दासी और गृहादि के दान–ये सब अन्नदान की सोलहवीं कला के समान भी नहीं हैं। जो पहले बड़ा-से-बड़ा पाप करके फिर अन्नदान कर देता है, वह सम्पूर्ण पापों से छूटकर अक्षय लोकों को पा लेता है। जल और प्याऊ का दान देकर मनुष्य भोग और मोक्ष–दोनों को सिद्ध कर लेता है। (शीतकाल में) मार्ग आदि में सिद्ध कर लेता है। (शीतकाल में) मार्ग आदि में अग्नि और काष्ठ का दान करने से मनुष्य तेजोयुक्त होता है और स्वर्गलोक में देवताओं, गन्धर्वों तथा अप्सराओं द्वारा विमान में सेवित होता है।।४०-४७।।

घृत, तैल और लवण का दान देने से सब कुछ मिल जाता है। छत्र, पादुका और काष्ठ आदि का दान करके स्वर्ग में सुखपूर्वक निवास करता है। प्रतिपदा आदि पुण्यमयी तिथियों में, विष्कुम्भ आदि योगों में, चैत्र आदि मासों में संवत्सरारम्भ में और अश्विनी आदि नक्षत्रों में विष्णु, शिव, ब्रह्मा तथा लोकपाल आदि की अर्चना करके दिया गया

पादाभ्यङ्गादिकं दत्त्वा भुक्तिमुक्तिमवाप्नुयात्। त्रीणि तुल्यफलानीह गावः पृथ्वी सरस्वती॥५१॥
ब्राह्मीं सरस्वतीं दत्त्वा निर्मलो ब्रह्मलोकभाक्। सप्तद्वीपमहीदः स ब्रह्मज्ञानं ददाति यः॥५२॥
अभयं सर्वभूतेभ्यो यो दद्यात्सर्वभाङ्नरः। पुराणं भारतं वाऽपि रामायणमथाऽपि वा॥५३॥
लिखित्वा पुस्तकं दत्त्वा भुक्तिमुक्तिमवाप्नुयात्। वेदशास्त्रं नृत्यगीतं योऽध्यापयति नाकभाक्॥५४॥
वृत्तिं दद्यादुपाध्याये छात्राणां भोजनादिकम्। किमदत्तं भवेत्तेन धर्मकामादिदर्शिना॥५५॥
वाजपेयसहस्रस्य सम्यग्दत्तस्य यत्फलम्। तत्फलं सर्वमाप्नोति विद्यादानान्न संशयः॥५६॥
शिवालये विष्णुगृहे सूर्यस्य भवने तथा। सर्वदानप्रदः स स्यात्पुस्तकं वाचयेत्तु यः॥५७॥
त्रैलोक्ये चतु (त्वा)रो वर्णाश्चत्वारश्चाऽऽश्रमाः पृथक्। ब्रह्माद्या देवताः सर्व विद्यादाने प्रतिष्ठिताः॥५८॥
विद्याकामदुधा धेनुर्विद्या चक्षुरनुत्तमम्। उपवेदप्रदानेन गन्धर्वैः सह मोदते॥५९॥
वेदाङ्गानां च दानेन स्वर्गलोकमवाप्नुयात्। धर्मशास्त्रप्रदानेन धर्मेण सह मोदते॥६०॥
सिद्धान्तानां प्रदानेन मोक्षमाप्नोत्यसंशयम्। विद्यादानमवाप्नोति प्रदानात्पुस्तकस्य तु॥६१॥
शास्त्राणि च पुराणानि दत्त्वा सर्वमवाप्नुयात्। शिष्यांश्च शिक्षयेद्यस्तु पुण्डरीकफलं लभेत्॥६२॥
येन जीवति तद्दत्त्वा फलस्यान्तो न विद्यते। लोके श्रेष्ठतमं सर्वमात्मनश्चापि यत्प्रियम्॥६३॥

दान महान् फलप्रद है। वृक्ष, उद्यान, भोजन, वाहन आदि तथा पैरों में मालिश के लिये तेल आदि देकर मनुष्य भोग और मोक्ष को प्राप्त कर लेता है॥४८-५०॥

इस लोक में गौ, पृथ्वी और विद्या का दान-ये तीनों समान फल देने वाले हैं। वेद-विद्या का दान देकर मनुष्य पापहीन हो ब्रह्मलोक में प्रवेश करता है। जो (योग्य शिष्य को) ब्रह्मज्ञान सम्प्रदान करता है, उसने तो मानो सप्तद्वीपवती पृथ्वी का दान कर दिया। जो समस्त प्राणियों को अभयदान देता है, वह मनुष्य सब कुछ प्राप्त कर लेता है। पुराण, महभारत अथवा रामायण का लेखन करके उस पुस्तक का दान करने से मनुष्य भोग और मोक्ष की प्राप्ति कर लेता है। जो वेद आदि शास्त्र और नृत्य-गीत का अध्यापन करता है, वह स्वर्गगामी होता है। जो उपाध्याय को वृत्ति और छात्रों को भोजन आदि देता है, उस धर्म एवं कामादि पुरुषार्थों के रहस्यदर्शी मनुष्य ने क्या नहीं दे दिया॥५१-५५॥

सहस्र वाजपेय यज्ञों में विधिपूर्वक दान देने से जो फल होता है, विद्यादान से मनुष्य वह सम्पूर्ण फल प्राप्त कर लेता है, इसमें तनिक भी संदेह नहीं है। जो शिवालय, विष्णुमन्दिर तथा सूर्यमन्दिर में ग्रन्थवाचन करता है, वह भी दानों का फल प्राप्त करता है। त्रैलोक्य में जो ब्राह्मणादि चार वर्ण और ब्रह्मचर्यादि चार आश्रम हैं, वे तथा ब्रह्मा आदि समस्त देवगण विद्यादान में प्रतिष्ठित हैं। विद्या कामधेनु है और विद्या श्रेष्ठतम नेत्र है। गान्धर्व आदि उपवेदों का दान करने से मनुष्य गन्धर्वों के साथ प्रमुदित होता है, वेदाङ्गों के दान से स्वर्गलोक को प्राप्त करता है और धर्मशास्त्र के दान से धर्म के सांनिध्य को प्राप्त होकर दाता प्रमुदित होता है। सिद्धान्तों के दान से मनुष्य निस्संदेह मोक्ष प्राप्त करता है। पुस्तक-सम्प्रदान से विद्यादान के फल की प्राप्ति हो जाती है। इसलिये शास्त्रों और पुराणों का दान करने वाला सब कुछ प्राप्त कर लेता है। जो शिष्यों को शिक्षादान करता है, वह पुण्डरीकयाग का फल प्राप्त करता है॥५६-६२॥

जीविका-दान के तो फल का अन्त ही नहीं है। जो अपने पितरों को अक्षय लोकों की प्राप्ति कराना चाहे

सर्वं पितृणां दातव्यं तेषामेवाक्षयार्थिना। विष्णुं रुद्रं पद्मयोनिं देवी विघ्नेश्वरादिकान्।।६४।।
पुजयित्वा प्रदद्याद्यः पूजाद्रव्यं स सर्वभाक्। देवालयं च प्रतिमां कारयन्सर्वमाप्नुयात्।।६५।।
संमार्जनं चोपलेपं कुर्वन्स्यान्निर्मलः पुमान्। नानामण्डलकार्यग्रे मण्डलाधिपतिर्भवेत्।।६६।।
गन्धं पुष्पं धूपदीपं नैवेद्यं च प्रदक्षिणम्। घण्टाध्वजवितानं च प्रोक्षणं वाद्यगीतकम्।।६७।।
वस्त्रादि दत्त्वा देवाय भुक्तिमुक्तिमवाप्नुयात्। कस्तूरिकां सिंहलकं च श्रीखण्डमगुरुं तथा।।६८।।
कर्पूरं च तथा मुस्तं गुग्गुलं विजयं ददेत्। घृतप्रस्थेन संस्नाप्य संक्रान्त्यादौ स सर्वभाक्।।६९।।
स्नानं पलशतं ज्ञेयमभ्यङ्गं पञ्चविंशतिः। पलानां तु सहस्रेण महास्नानं प्रकीर्तितम्।।७०।।
दशापराधास्तोयेन क्षीरेण स्नापनाच्छतम्। सहस्रं पयसा दध्ना घृतेनायुतमिष्यते।।७१।।
दासीदासमलङ्कारं गोभूमश्वगजादिकम्। देवाय दत्त्वा सौभाग्यं धनायुष्मान्व्रजेद्दिवम्।।७२।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गति नानादानमहिमावर्णनं नामैकादशाधिकद्विशततमोऽध्यायः।।२११।।

—※※※—

उनको इस लोक के सर्वश्रेष्ठ एवं अपने को प्रिय लगने वाले समस्त पदार्थों का पितरों के उद्देश्य से दान करना चाहिये। जो विष्णु, शिव, ब्रह्मा, देवी और गणेश आदि देवताओं की पूजा करके पूजा द्रव्य का ब्राह्मण को दान करता है, वह सब कुछ प्राप्त करता है। देवमन्दिर एवं देवप्रतिमा का निर्माण कराने वाला समस्त अभिलक्षित वस्तुओं को प्राप्त करता है। मन्दिर में झाड़ू बुहारी और प्रक्षालन करने वाला पुरुष पापहीन हो जाता है। देवप्रतिमा के सम्मुख विविध मण्डलों का निर्माण करने वाला मण्डलाधिपति होता है। देवता को गन्ध, पुष्प, धूप, दीप, नैवेद्य, प्रदक्षिणा, घण्टा, ध्वजा, चँदोवा और वस्त्र आदि समर्पित करने से एवं उनके दर्शन और उनके सम्मुख गाने-बजाने से मनुष्य भोग और मोक्ष-दोनों को प्राप्त करता है। भगवान् को कस्तूरी, सिंहदेशीय चन्दन, अगरु, कपूर तथा मुस्त आदि सुगन्धि-द्रव्य और विजयगुग्गुल समर्पित करना चाहिये और संक्रान्ति आदि के दिन एक प्रस्थ घृत से स्नान कराके मनुष्य सब कुछ प्राप्त कर लेता है, 'स्नान' सौ पल का और पच्चीस पल का 'अभ्यङ्ग' मानना चाहिये। 'महास्नान' हजार पल का कहा गया है। भगवान् को जलस्नान कराने से दस अपराध, दुग्धस्नान कराने से सौ अपराध, दुग्ध एवं दधि दोनों से स्नान कराने से सहस्र अपराध और घृतस्नान कराने से दस हजार अपराध विनष्ट हो जाते हैं। देवता के उद्देश्य से दास-दासी, अलंकार, गौ, भूमि, हाथी-घोड़े और सौभाग्य-द्रव्य देकर मनुष्य धन और दीर्घायु से युक्त होकर स्वर्गलोक को प्राप्त होता है।।६३-७२।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी दो सौ ग्यारहवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।२११।।

❖❖❖

अथ द्वादशाधिकद्विशततमोऽध्यायः

मेरुदानानि

अग्निरुवाच

काम्यदानानि वक्ष्यामि सर्वकामप्रदानि ते। नित्यपूजां मासि मासि कृत्वाऽथो काम्यपूजनम्॥१॥
व्रतार्हणं गुरोःपूजा वत्सरान्ते महार्चनम्। अश्वं वै मार्गशीर्षे तु कमलं पिष्टसम्भवम्॥२॥
शिवाय पूज्य दद्यात् सूर्यलोके चिरं वसेत्। गजं पौषे पिष्टमयं त्रिसप्तकुलमुद्धरेत्॥३॥
माधे चाश्वरथं पैष्टं दत्त्वा न नरकं व्रजेत्। फाल्गुने तु वृषं पैष्टं स्वर्गभुक्त्यान्महीपतिः॥४॥
चैत्रे चेक्षुमयागारं दासदासीसमन्वितम्। दत्त्वा स्वर्गे चिरं स्थित्वा तदन्ते स्यान्महीपतिः॥५॥
सप्तव्रीहींश्च वैशाखे दत्त्वा शिवमयो भवेत्। वलिमण्डलकं चान्नैः कृत्वाऽऽषाढे शिवो भवेत्॥६॥
विमानं श्रावणे पौष्पं दत्त्वा स्वर्गी ततो नृपः। शतद्वयं फलानां तु दत्त्वोद्धृत्य कुलं नृपः॥७॥
गुग्गुलादि दहेद्भाद्रे स्वर्गी स स्यात्ततो नृपः। क्षीरसर्पिर्भृतं पात्रमाश्विने स्वर्गदं भवेत्॥८॥
कार्तिके गुडखण्डाज्यं दत्त्वा स्वर्गी ततो नृपः। मेरुदानं द्वादशकं वक्ष्येऽहं भुक्तिमुक्तिदम्॥९॥

अध्याय-२१२

मेरुदान प्रकार विचार

श्रीअग्नि देव ने कहा कि-हे वसिष्ठ! अधुना मैं आपके सम्मुख काम्य-दोनों का वर्णन करने जा रहा हूँ, जो समस्त कामनाओं को पूर्ण करने वाले हैं। प्रत्येक मास में प्रतिदिन पूजन करते हुए एक दिन विशेषरूप से पूजन किया जाता है। इसको 'काम्यपूजन' कहते हैं। वर्ष के समाप्त होने पर गुरुपूजन एवं महापूजन के साथ व्रत का विसर्जन किया जाता है॥१॥

जो मार्गशीर्षमास में शिव का पूजन करके पिष्ट (आटा) निर्मित अश्व एवं कमल का दान करता है, वह चिरकाल तक सूर्यलोक में निवास करता है। पौषमास में पिष्टमय हाथी का दान देकर मनुष्य अपनी इक्कीस पीढ़ियों का उद्धार कर देता है। माघ में पिष्टमय अश्वयुक्त रथ का दान देने वाला नरक में नहीं जाता। फाल्गुन में पिष्टनिर्मित बैल का दान देकर मनुष्य स्वर्ग को प्राप्त होता है तथा दूसरे जन्म में राज्य प्राप्त करता है। चैत्रमास में दास-दासियों से युक्त एवं ईख (गुड़) से भरा हुआ गृह देकर मनुष्य चिरकाल तक स्वर्गलोक में निवास करता है और तत्पश्चात् राजा होता है। वैशाख में सप्तधान्य का दान देकर मनुष्य शिव के सायुज्य को प्राप्त कर लेता है। ज्येष्ठ तथा आषाढ़ में अन्न की बलि देने वाला शिवस्वरूप हो जाता है। श्रावण में पुष्परथ दान देकर मनुष्य स्वर्ग के सुखों का उपभोग करने के पश्चात् दूसरे जन्म में राज्यलाभ करता है और दो सौ फलों का दान देने वाला अपने सम्पूर्ण वंश का उद्धार करके राजपद को प्राप्त होता है। भाद्रपद में धूपदान करने वाला स्वर्ग को प्राप्त होकर दूसरे जन्म में राज्य का उपभोग करता है। आश्विन में दुग्ध और घृत से परिपूर्ण पात्र का दान स्वर्ग की घृत का दान देकर मनुष्य स्वर्गलोक में निवास करता है और दूसरे जन्म में राजा होता है॥२-८॥

अधुना मैं द्वादश तरह के मेरुदोनों के विषय में कहने जा रहा हूँ, जो भोग और मोक्ष की प्राप्ति कराने वाले

मेरुव्रते तु कार्तिक्यां रत्नमेरुं ददेद्द्विजे। सर्वेषां चैव मेरूणां प्रमाणं क्रमशः शृणु।।१०।।
वज्रपद्ममहानीलनीलस्फटिकसंज्ञितः। पुष्पं मरकतं मुक्ता प्रस्थमात्रेण चोत्तमः।।११।।
मध्योऽर्धः स्यात्तदर्धोऽधो वित्तशाठ्यं विवर्जयेत्। कर्णिकायां न्यसेन्मेरु ब्रह्मविष्ण्वीशदैवतम्।।१२।।
माल्यवान्पूर्वतः पूज्यस्तत्पूर्वे भद्रसंज्ञितः। अश्वरक्षस्ततः प्रोक्तो निषधो मेरुदक्षिणे।।१३।।
हेमकूटोऽथ हिमवांस्त्रयं सौम्ये तथा त्रयम्। नीलः श्वेतश्च शृङ्गी च पश्चिमे गन्धमादनः।।१४।।
वैकङ्कः केतुमालः स्यान्मेरुर्द्वादशसंयुतः। सोपवासोऽर्चयेद्विष्णुं शिवं वा स्नानपूर्वकम्।।१५।।
देवाग्रे प्राच्र्य मेरुं च मंत्रैर्विप्राय वै ददेत्। विप्रायामुकगोत्राय मेरुं द्रव्यमयं परम्।।१६।।
भुक्त्यै मुक्त्यै निर्मलत्वे विष्णुदैवं ददामि ते। इन्द्रलोके ब्रह्मलोके शिवलोके हरेः पुरे।।१७।।
कुलमुद्धृत्य क्रीडेत विमाने देवपूजितः। अन्येष्वपि च कालेषु संक्रान्त्यादौ प्रदापयेत्।।१८।।
पलानां तु सहस्रेण महामेरुं प्रकाल्पयेत्। शृङ्गत्रयसमायुक्तं ब्रह्मविष्णुहरान्वितम्।।१९।।
एकैकं पर्वतं तस्य शतैकैकेन कारयेत्। मेरुणा सह शैलास्तु ख्यातास्तत्र त्रयोदश।।२०।।

हैं। कार्तिक की पूर्णिमा को मेरुव्रत करके ब्राह्मण को 'रत्नमेरु' का दान करना चाहिये। हीरे, माणिक्य, नीलमणि, वैदूर्यमणि, स्फटिकमणि, पुखराज, मरकतमणि और मोती–इनका एक प्रस्थ का मेरु श्रेष्ठतम माना गया है। इससे आधे परिणाम का मेरु मध्यम और मध्यम से आधा निष्कृष्ट होता है। रत्नमेरु का दान करने वाला धन की कंजूसी का परित्याग कर देना चाहिये। द्वादश दल कमल का निर्माण करके उसकी कर्णिका पर मेरु की स्थापना करनी चाहिये। इसके ब्रह्मा, विष्णु और शिव देवता हैं। मेरु से पूर्व दिशा में तीन दल हैं, उनमें क्रमशः माल्यवान्, भद्राश्व तथा ऋक्ष पर्वतों का पूजन करना चाहिये। मेरु से दक्षिण वाले दलों में निषध, हेमकूट और हिमवान् की पूजा करनी चाहिये। मेरु से उत्तर वाले तीन दलों में क्रमशः नील, श्वेत और शृङ्गी का पूजन करना चाहिये तथा पश्चिम वाले दलों में गन्दमादन, वैकङ्क एवं केतुमाल की पूजा करनी चाहिये। इस तरह द्वादश पर्वतों से युक्त मेरु पर्वत का पूजन करना चाहिये।।९-१४।।

उपवासपूर्वक रहकर स्नान स्नान के पश्चात् भगवान् श्रीहरि विष्णु अथवा शिव का पूजन करना चाहिये। भगवान् के सम्मुख मेरु का पूजन करके मन्त्रोच्चारण पूर्वक उसका ब्राह्मण को दान कर देना चाहिये।१५।।

दान का संकल्प करते समय देश-काल के उच्चारण के पश्चात् कहे–'मैं इस द्रव्यनिर्मित श्रेष्ठतम मेरु पर्वत का, जिसके देवता भगवान् श्रीहरि विष्णु हैं, अमुक गोत्र वाले ब्राह्मण को दान करने जा रहा हूँ। इस दान से मेरा अन्तःकरण शुद्ध हो जाय और मुझको श्रेष्ठतम भोग एवं मोक्ष की प्राप्ति हो'।।१६।।

इस तरह दान करने वाला मनुष्य अपने समस्त वंश का उद्धार करके देवताओं द्वारा सम्मानित हो विमान पर बैठकर इन्द्रलोक, ब्रह्मलोक, शिवलोक तथा श्रीकैकुण्ठधाम में क्रीडा करता है। संक्रान्ति आदि अन्य पुण्यकालों में मेरु का दान करना कराना चाहिये।।१७-१८।।

एक सहस्र पल स्वर्ण के द्वारा महामेरु का निर्माण कराये। वह तीन शिखरों से युक्त होना चाहिये और उन शिखरों पर ब्रह्मा, विष्णु और शिव की स्थापना करनी चाहिये। मेरु के साथ वाला प्रत्येक पर्वत सौ-सौ पल स्वर्ण का बनावाये मेरु को लेकर उसके सहवर्ती पर्वत तेरह माने गये हैं। उत्तरायण अथवा दक्षिणायन की संक्रान्ति में या सूर्य-चन्द्र के ग्रहणकाल में विष्णु की प्रतिमा के सम्मुख 'स्वर्णमेरु' की स्थापना करनी चाहिये। उसके बाद श्रीहरि

अयने ग्रहणादौ च विष्ण्वग्रे हरिमर्च्य च। स्वर्णमेरुं द्विजायाऽऽर्प्य विष्णुलोके चिरं वसेत्॥२१॥
परमाणवो यावन्त इह राजा भवेच्चिरम्। रौप्यमेरुं द्वादशाद्रियुतं संकल्पतो ददेत्॥२२॥
प्रागुक्तं च फलं तस्य विष्णुं विप्रं प्रपूज्य च। भूमिमेरुं च विषयं मण्डलं ग्राममेव च॥२३॥
परिकल्प्याष्टमांशेन शेषांशाः पूर्ववत्फलम्। द्वादशाद्रिसमायुक्तं हस्तिमेरुस्वरूपिणम्॥२४॥
ददेत्त्रिपुरुषैर्युक्तं दत्त्वाऽनन्तफलं लभेत्। त्रिपञ्चाश्वैरश्वमेरुं हयद्वादशसंयुतम्॥२५॥
विष्ण्वादीन्पूज्य तं दत्त्वा भुक्तभोगो नृपो भवेत्। अश्वसंख्याप्रमाणेन गोमेरुं पूर्ववद्ददेत्॥२६॥
पट्टवस्त्रैर्भारमात्रैर्वस्त्रमेरुश्च मध्यतः। शैलैर्द्वादशवस्त्रैश्च दत्त्वा तं चाक्षयं फलम्॥२७॥
घृतपञ्चसहस्त्रैश्च पलानामाज्यपर्वतः। शतैः पञ्चभिरेकैकः पर्वतेऽस्मिन्हरिं यजेत्॥२८॥
विष्ण्वग्रे ब्रह्मणायाऽऽर्प्य सर्वं प्राप्य हरिं ब्रजेत्। एवं च खण्डमेरुं च कृत्वा दत्त्वाऽऽप्नुयात्फलम्॥२९॥
धान्यमेरुः पञ्चखारोऽपर एकैकखारकाः। स्वर्णत्रिशृङ्गकाः सर्वे ब्रह्मविष्णुमहेश्वरान्॥३०॥
सर्वेषु पूज्य विष्णुं वा विशेषादक्षयं फलम्। एवं दशांशमानेन तिलमेरुं प्रकल्पयेत्॥३१॥

विष्णु और स्वर्णमेरु की पूजा कर उसको ब्राह्मण को समर्पित करना चाहिये। ऐसा करने से मनुष्य चिरकाल तक विष्णुलोक में निवास करता है। जो द्वादश पर्वतों से युक्त 'रजतमेरु' का संकल्प पूर्वक दान करता है, वह उतने वर्षों तक राज्य का उपभोग करता है, जितने कि इस पृथ्वी पर परमाणु हैं। इसके सिवा वह उपरोक्त फल को भी प्राप्त कर लेता है। 'भूमिमेरु' का दान विष्णु एवं ब्राह्मण की पूजा करके करना चाहिये। एक नगर, जनपद अथवा ग्राम के आठवें अंश से शेष द्वादश अंशों की कल्पना करनी चाहिये। भूमिमेरु के दान का भी फल पूर्ववत् होता है॥१९-२३॥

द्वादश पर्वतों से युक्त मेरु का हाथियों द्वारा निर्माण करके तीन पुरुषों सहित उस 'हस्तिमेरु' का दान करना चाहिये। वह दान देकर मनुष्य अक्षय फल का भागी होता है॥२४॥

पन्द्रह अश्वों का 'अश्वमेरु' होता है। इसके साथ द्वादश पर्वतों का स्थान द्वादश घोड़े होने चाहिये। भगवान् श्रीहरि विष्णु आदि देवताओं के पूजन पूर्वक अश्वमेरु का दान करने वाला इस जन्म में विविध भोगों का उपभोग करके दूसरे जन्म में राजा होता है। 'गोमेरु' का भी अश्वमेरु की संख्या के परिणाम एवं विधि से दान करना चाहिये। एक भाग रेशमी वस्त्रों का 'वस्त्रमेरु' होता है। उसको मध्य में रखकर अन्य द्वादश पर्वतों के स्थान पर द्वादश वस्त्र रखें। इसका दान करके मनुष्य अक्षय फल की प्राप्ति करता है। पाँच हजार पल घृत का 'आज्य-पर्वत' माना गया है। इसका सहवर्ती प्रत्येक पर्वत पाँच सौ पल घृत का होना चाहिये। इस आज्य-पर्वत पर श्रीहरि विष्णु का यजन करना चाहिये। फिर भगवान् श्रीहरि विष्णु के सम्मुख इसको ब्राह्मण को दानकर मनुष्य इस लोक में सर्वस्व पाकर श्रीहरि विष्णु के परमधाम को प्राप्त होता है। उसी तरह 'खण्ड (खाँड) मेरु का निर्माण एवं दान करके मनुष्य उपरोक्त फल की प्राप्ति कर लेता है॥२५-२९॥

पाँच खारी धान्य का 'धान्यमेरु' होता है। इसके साथ अन्य द्वादश पर्वत एक-एक खारी धान्य के बनाने चाहिये। उन सबके तीन-तीन स्वर्णमय शिखर होने चाहिये। सब पर ब्रह्मा, विष्णु और महेश-तीनों का पूजन करना चाहिये। भगवान् श्रीहरि विष्णु का विशेष रूप से पूजन करना चाहिये। इससे अक्षय फल की प्राप्ति हो जाती है॥३०॥

इसी प्रमाण के अनुसार 'तिलमेरु' का निर्माण करके दशांश के प्रमाण से अन्य पर्वतों का निर्माण करना चाहिये। उसके एवं अन्य पर्वतों के भी उपरोक्त तरह से शिखर बनाने चाहिये। इस तिलमेरु का दान करके मनुष्य

शृङ्गाणि पूर्ववत्तस्य तथैवान्यनगेषु च। तिलमेरुं प्रदायाथ बन्धुभिर्विष्णुलोकभाक्।।३२।।
नमो विष्णुस्वरूपाय धराधराय वै नमः। ब्रह्मविष्ण्वीशशृङ्गाय धरानाभिस्थिताय च।।३३।।
नगद्वादशनाथाय सर्वपापापहारिणे। विष्णुभक्ताय शान्ताय त्राणं मे कुरु सर्वदा।।३४।।
निष्पापः पितृभिः सार्धं विष्णुं गच्छामि ॐ नमः। त्वं हरिस्तु हरेरग्रे अहं विष्णुश्च विष्णवे।।
निवेदयामि भक्त्या तु भुक्तिमुक्त्यर्थहेतवे।।३५।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते मेरुदानवर्णनं नाम द्वादशाधिकद्विशततमोऽध्यायः।।२१२।।

—❈❈❈—

अथ त्रयोदशाधिकद्विशततमोऽध्यायः

पृथ्वीदानानि

अग्निरुवाच

पृथ्वीदानं प्रवक्ष्यामि पृथिवी त्रिविधा मता। शतकोटिर्योजनानां सप्तद्वीपा ससागरा।।१।।
जम्बुद्वीपावधिः सा च उत्तमा मेदिनीरिता। उत्तमा पञ्चभिर्भारैः काञ्चनैश्च प्रकल्पयेत्।।२।।
तदर्धान्तरजं कूर्मं तथा पद्मं समादिशेत्। उत्तमा कथिता पृथ्वी द्व्यंशेनैव तु मध्यमा।।३।।

वन्धु-बान्धवों के साथ विष्णुलोक को प्राप्त होता है। तिलमेरु का दान करते समय निम्नलिखित मन्त्र को पढ़े–'विष्णु स्वरूप तिलमेरु को नमस्कार है। ब्रह्मा, विष्णु और महेश जिसके शिखर हैं, जो पृथ्वी की नाभि पर स्थित है, जो सहवर्ती बारहों पर्वतों का प्रभु, समस्त पापों का अपहरण करने वाला, शान्तिमय, विष्णुभक्त है, उस तिलमेरु को नमस्कार है। वह मेरी सर्वथा रक्षा करनी चाहिये। मैं निष्पाप होकर पितरों के साथ भगवान् श्रीहरि विष्णु को प्राप्त होता हूँ। 'ॐ नमः' आप विष्णुस्वरूप हो, विष्णु के सम्मुख मैं विष्णुस्वरूप दाता विष्णुस्वरूप ब्राह्मण का भक्ति पूर्वक भोग एवं मोक्ष की प्राप्ति के हेतु आपका दान करने जा रहा हूँ।।३१-३५।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी दो सौ बारहवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।२१२।।

अध्याय–२१३

भूदान विचार

भगवान् अग्निदेव कहते हैं कि–हे वसिष्ठ! अधुना मैं 'पृथ्वीदान' के विषय में कह रहा हूँ। 'पृथ्वी' तीन तरह की मानी गयी है। सौ करोड़ योजन विस्तार वाली सप्तद्वीपवती समुद्रों सहित जम्बूद्वीपपर्यन्त पृथ्वी उत्तम मानी गयी है। उत्तम पृथ्वी की पाँच भार स्वर्ण से रचना करना चाहिये। उसके आधे में कूर्म एवं कमल बनवाये। यह 'उत्तम पृथ्वी' बतलायी गयी है। इसके आधे में 'मध्यम पृथ्वी' मानी जाती है। इसके तीसरे भाग में निर्मित पृथ्वी 'कनिष्ठ' मानी गयी है। इसके साथ पृथ्वी के तीसरे भाग में कूर्म और कमल का निर्माण करना चाहिये। एक हजार पल स्वर्ण से मूल, दण्ड,

कन्यसा च त्रिभागेन (ण) त्रिहान्या कूर्मपङ्कजे। पलानां तु सहस्रेण कल्पयेत्कल्पपादपम्।।४।।
मूलदण्डं सपत्रं च फलपुष्पसमन्वितम्। पञ्चस्कन्धं तु संकल्प्य पञ्चानां दापयेत्सुधीः।।५।।
एतद्दाता ब्रह्मलोके पितृभिमादते चिरम्। विष्ण्वग्रे कामधेनुं तु पलानां पञ्चभिः शतैः।।६।।
ब्रह्मविष्णुमहेशाद्या देवा धेनौ व्यवस्थिताः। धेनुदानं सर्वदानं सर्वदम् ब्रह्मलोकदम्।।७।।
विष्ण्वग्रे कपिलां दत्त्वा तारयेत्सकलं कुलम्। अलंकृत्य स्त्रियं दद्यादश्वमेधफलं लभेत्।।८।।
भूमिं दत्वा सर्वभाक्स्यात्सर्वसस्यप्ररोहिणीम्। ग्रामं वाऽथ पुरं वाऽपि खेटकं च ददत्सुखी।।९।।
कार्तिक्यादौ वृषोत्सर्गं कुर्वस्तारयते कुलम्।।१०।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते पृथ्वीदानवर्णनं नाम त्रयोदशाधिकद्विशततमोऽध्यायः।।२१३।।
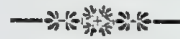
पत्ते, फल, पुष्प और पाँच स्कन्धों से युक्त कल्पवृक्ष की कल्पना करनी चाहिये। विद्वान् ब्राह्मण यजमान के द्वारा संकल्प कराके पाँच ब्राह्मणों को इसका दान कराये। इसका दान करने वाला ब्रह्मलोक में पितृगणों के साथ चिरकाल तक आनन्द का उपभोग करता है। पाँच सौ पल स्वर्ण से कामधेनु का निर्माण कराके विष्णु के सम्मुख दान करना चाहिये। ब्रह्मा, विष्णु एवं शिव आदि समस्त देवता गौ में प्रतिष्ठित हैं। धेनुदान करने से अपने आप समस्त दान हो जाते हैं। यह सम्पूर्ण अभीष्ट कामनाओं को सिद्ध करने वाला एवं ब्रह्मलोक की प्राप्ति कराने वाला है। श्रीविघु के सम्मुख कपिला गौ का दान करने वाला अपने सम्पूर्ण वंश का उद्धार कर देता है। कन्या को अलंकृत करके दान करने से अश्वमेध यज्ञ के फल की प्राप्ति होती है। जिसमें सभी तरह के सस्य (अनाजों के पौधे) उपज सकें, ऐसी भूमि का दान देकर मनुष्य सब कुछ प्राप्त कर लेता है। ग्राम, नगर अथवा खेटक (छोटे गाँव) का दान देने वाला सुखी होता है। कार्तिक की पूर्णिमा आदि में वृषोत्सर्ग करने वाला अपने वंशा का उद्धार कर देता है।।१-१०।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी दो सौ तेरहवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।२१३।।

❖❖❖

अथ चतुर्दशाधिकद्विशततमोऽध्यायः

नाडीचक्रकथनम्

अग्निरुवाच

नाडीचक्रं प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञानाज्ज्ञायते हरिः। नाभेरधस्ताद्यत्कन्दमङ्कुरास्तत्र निर्गताः।।१।।
द्वासप्ततिसहस्राणि नाभिमध्ये व्यवस्थिताः। तिर्यगूर्ध्वमधश्चैव व्याप्तं ताभिः समन्ततः।।२।।
चक्रवत्संस्थिता ह्येताः प्रधाना दश नाडयः। इडा च पिङ्गला चैव सुषुम्णा च तथैव च।।३।।
गान्धारी हस्तिजिह्वा च पृथा चैव यशा तथा। अलम्बुषा हुहुश्चैव शङ्खिनी दशमी स्मृता।।४।।
दशप्राणवहा ह्येता नाडयः परिकीर्तिताः। प्राणोऽपानः समानश्च उदानो व्यान एव च।।५।।
नागः कूर्मोऽथ कृकरो देवदत्तो धनञ्जयः। प्राणस्तु प्रथमो वायुर्दशानामपि स प्रभुः।।६।।
प्राणः प्राणायते प्राणं विसर्गात्पूरणं प्रति। नित्यमापूरयत्येष प्राणिनामुरसि स्थितः।।७।।
निःश्वासोच्छ्वासकासैस्तु प्राणो जीवसमाश्रितः। (प्रयाणं कुरुते यस्मात्तस्मात्प्राणः प्रकीर्तितः।।८।।
अधो नयत्यपानस्तु आहारस्तु नृणामधः। मूत्रशुक्रवहो वायुरपानस्तेन कीर्तितः।।९।।
पीतभक्षितमाघ्रातं रक्तपित्तकफानिलम्। समं नयति गात्रेषु समानो नाम मारुतः)।।१०।।
स्पन्दयत्यधरं वक्त्रं नेत्ररागप्रकोपनम्। उद्वेजयति मर्माणि उदानो नाम मारुतः।।११।।

अध्याय–२१४

नाड़ीचक्र विचार

श्रीअग्निदेव ने कहा कि–हे वसिष्ठ! अधुना मैं नाड़ी चक्र के विषय में कह रहा हूँ जिसके जानने से श्रीहरि विष्णु का ज्ञान हो जाता है। नाभि के अधोभाग में कन्द (मूलाधार) है, उससे अङ्कुरों की भाँति नाड़ियाँ निकली हुई हैं। नाभि के मध्य में बहत्तर हजार नाड़ियाँ स्थित हैं। इन नाड़ियों ने शरीर को ऊपर–नीचे, दायें–बायें सभी तरफ से व्याप्त कर रखा है और ये चक्राकार होकर स्थित हैं। इनमें प्रधान दस नाड़ियाँ हैं–इड़ा, पिङ्गला, सुषुम्णा, गान्धारी, हस्तिजिह्वा, पृथा, यशा, अलम्बुषा, कुहू और दसवीं शङ्खिनी। ये दस प्राणों का वहन करने वाली प्रमुख नाड़ियाँ बतलायी गयीं। प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान, नाग, कूर्म, कृकर, देवदत्त और धनंजय–ये दस 'प्राणवायु' हैं। इनमें प्रथम वायु प्राण दसों का स्वामी है। यह प्राण–रिक्तता की पूर्ति प्रति प्राणों को प्राणयन (प्रेरण) करता है और सम्पूर्ण प्राणियों के हृदय देशमें स्थित रहकर अपान–वायु द्वारा मल–मूत्रादि के त्याग से होने वाली रिक्तता को नित्य पूर्ण करता है। जीव में आश्रित यह प्राण श्वासोच्छ्रास और कास आदि द्वारा प्रयाण (गमनागमन) करता है, इसलिये इसको 'प्राण' कहा गया है। अपानवायु मनुष्यों के आहार को नीचे की तरफ ले जाता है और मूत्र एवं शुक्र आदि का भी नीचे की तरफ वहन करता है, इस अपानयन के कारण इसको 'अपान' कहा जाता है। समानवायु मनुष्यों के खाये–पीये और सूँघे हुए पदार्थों को एवं रक्त, पित्त, कफ तथा वात को सारे अङ्गों में समान भाव से ले जाता है, इस कारण उसको 'समान' कहा गया है। उदान नामक वायु मुख और अधरों को स्पन्दित करता है, नेत्रों की अरुणिमा को बढ़ाता है और मर्मस्थानों के उद्विग्न करता है, इसीलिये उसका नाम 'उदान' है। 'व्यान' अङ्गों को पीड़ित करता है। यही व्याधि

व्यानो विनामयत्यङ्गं व्यानो व्याधिप्रकोपनः। प्रतिदानं यथा कण्ठाद्व्यानाद्व्यान उच्यते॥१२॥
उद्गारे नाग इत्युक्तः कूर्मश्चोन्मीलने स्थितः। कृकरो भक्षणे चैव देवदत्तो विजृम्भते॥१३॥
धनञ्जयः स्थितो घोषे मृतस्यापि न मुञ्चति। जीवः प्रयाति दशधा नाडीचक्रं हि तेन तत्॥१४॥
सङ्क्रान्तिर्विषुवं चैव अहोरात्रायनानि च। अधिमास ऋणं चैव ऊनरात्रधनं तथा॥१५॥
ऊनरात्रं भवेद्धिक्का अधिमासो विजृम्भिका। ऋणं चात्र भवेत्कासो निःश्वासो धनमुच्यते॥१६॥
उत्तरं दक्षिणं ज्ञेयं वामं दक्षिणसंज्ञितम्। मध्ये तु विषुवं प्रोक्तं पुटद्वयविनिःसृतम्॥१७॥
संक्रान्तिः पुनरस्यैव स्वस्थानात्स्थानयोगतः। सुषुम्णा मध्यमे ह्यङ्गः इडा वामे प्रतिष्ठिता॥१८॥
पिंगला दक्षिणे विप्र ऊर्ध्वं प्राणो ह्यहः स्मृतम्। अपानो रात्रिरेवं स्यादेको वायुर्दशात्मकः॥१९॥
आयामो देहमध्यस्थः सोमग्रहणमिष्यते। देहातितत्त्वमायाममादित्यग्रहणं विदुः॥२०॥
उदारं पूरयेत्तावद्वायुना यावदीप्सितम्। प्राणायामो भवेदेष पूरको देहपूरकः॥२१॥
पिधाय सर्वद्वाराणि निःश्वासोच्छ्वासवर्जितः। सम्पूर्णकुम्भवत्तिष्ठेत्प्राणायामः स कुम्भकः॥२२॥
मुञ्चेद्वायुं ततस्तूर्ध्वं श्वासेनैकेन मन्त्रवित्। उच्छ्वासयोगयुक्तश्च वायुमूर्ध्वं विरेचयेत्॥२३॥
उच्चरति स्वयं यस्मात्स्वदेहावस्थितः शिवः। तस्मात्तत्त्वविदां चैव स एव जप उच्यते॥२४॥

को कुपित करता है और कण्ठ को अवरुद्ध कर देता है। व्यापनशील होने से इसे 'व्यान' कहा गया है। 'नागवायु' उद्गार (डकार-वमन आदि) में और 'कूर्मवायु' नयनों के उन्मीलन (खोलने) में प्रवृत्त होता है। 'कृकर' भक्षण में और 'देवदत्त' वायु जँभाई में अधिष्ठित है। 'धनंजय' पवन का स्थान घोष है। यह मृत शरीर का भी परित्याग नहीं करता। इन दसों द्वारा जीव प्रयाण करता है, इसलिये प्राणभेद से नाड़ी चक्र के भी दस भेद हैं॥१-१४॥

संक्रान्ति विषुव, दिन, रात, अयन, अधिमास, ऋण, ऊनरात्र एवं धन–ये सूर्य की गति से होने वाली दस दशाएँ शरीर में भी होती हैं। इस शरीर में हिक्का (हिचकी) ऊनरात्र, विजृम्भिका (जँभाई) अधिमास, कास (खाँसी) ऋण और निःश्वास 'धन' कहा जाता है। शरीरगत वामनाड़ी 'उत्तरायण' और दक्षिणनाड़ी 'दक्षिणायन' है। दोनों के मध्य में नासिका के दोनों छिद्रों से निर्गत होने वाली श्वासवायु 'विषुव' कहलाती है। इस विषुववायु का ही अपने स्थान से चलकर दूसरे स्थान से युक्त होना 'संक्रान्ति' है। हे द्विजश्रेष्ठ वसिष्ठ! शरीर के मध्य भाग में 'सुषुम्णा' स्थित है, वामभाग में 'इड़ा' और दक्षिण भाग में 'पिङ्गला' है। ऊर्ध्वगलि वाला प्राण 'दिन' माना गया है और अधोगामी अपान को 'रात्रि' कहा गया है। एक प्राणवायु ही दस वायु के रूप में विभाजित है। देह के अन्दर जो प्राणवायु का आयाम (बढ़ना) है, उसको 'चन्द्रग्रहण' कहते हैं। वही जिस समय देह से ऊपर तक बढ़ जाता है, तत्पश्चात् उसको 'सूर्यग्रहण' मानते हैं॥१५-२०॥

साधक अपने उदर में जितनी वायु भरी जा सके, भर ले। यह देह को पूर्ण करने वाला, 'पूरक' प्राणायाम है। श्वास निकलने के सभी द्वारों को रोककर, श्वासोच्छ्वास की क्रिया से शून्य हो परिपूर्ण कुम्भ की भाँति स्थित हो जाय–इसको 'कुम्भक' प्राणायाम कहा जाता है। उसके बाद मन्त्रवेत्ता साधक ऊपर की तरफ एक ही नासारन्ध्र से वायु को निकाले। इस तरह उच्छ्वास योग से युक्त हो वायु का ऊपर की तरफ विरेचन (निःसारण) करना चाहिये (यह 'रेचक' प्राणायाम है)। यह श्वासोच्छ्वास की क्रिया द्वारा अपने शरीर में विराजमान शिवस्वरूप ब्रह्म का ही ('सोऽहं' 'हंसः' के रूप में) उच्चारण होता है, इसलिये तत्त्ववेत्ताओं के मत में वही 'जप' कहा गया है। इस तरह एक तत्त्ववेत्ता

अयुते द्वे सहस्रैकं षट्शतानि तथैव च। अहोरात्रेण योगीन्द्रो जपसंख्यां करोति सः।।२५।।
अजपा नाम गायत्री ब्रह्मविष्णुमहेश्वरौ। अजपां जपते यस्तां पुनर्जन्म न विद्यते।।२६।।
चन्द्राग्निरविसंयुक्ता आद्या कुण्डलिनी मता। हृत्प्रदेशे तु सा ज्ञेया अङ्कुराकारसंस्थिता।।२७।।
सृष्टिन्यासो भवेत्तत्र स वै सर्गावलम्बनात्। स्रवन्तं चिन्तयेत्तस्मिन्नमृतं सात्त्विकोत्तमः।।२८।।
देहस्थः सकलो ज्ञेयो निष्कालो देहवर्जितः। हंस हंसेति यो ब्रूयाद्धंसो नाम सदाशिवः।।२९।।
तिलेषु च यथा तैलं पुष्पे गन्धः समाश्रितः। पुरुषस्य तथा देहे सबाह्याभ्यन्तरं स्थितः।।३०।।
ब्रह्मणो हृदये स्थानं कण्ठे विष्णुः समाश्रितः। तालुमध्ये स्थितो रुद्रो ललाटे तु महेश्वरः।।३१।।
प्राणाग्रं तु शिवं विद्यात्तस्यान्ते तु परापरम्। पञ्चधा सकलः प्रोक्तो विपरीतस्तु निष्फ(ष्क)लः।।३२।।
प्रासादं नादमुत्थाप्य शततन्तु जपेद्यदि। षण्मासात्सिद्धिमाप्नोति योगयुक्तो न संशयः।।३३।।
गमागमस्य ज्ञानेन सर्वपापक्षयो भवेत्। अणिमादिगुणैश्वर्यं षड्भिर्मासैरवाप्नुयात्।।३४।।
स्थूलः सूक्ष्मः परश्चेति प्रासादः कथितो मया। ह्रस्वो दीर्घः प्लुतश्चेति प्रासादं लक्षयेत्त्रिधा।।३५।।
ह्रस्वो दहति पापानि दीर्घो मोक्षप्रदो भवेत्। आप्यायने प्लुतश्चेति मूर्ध्नि विन्दुविभूषितः।।३६।।

योगीन्द्र श्वास-प्रश्वास द्वारा दिन-रात में इक्कीस हजार छः सौ की संख्या में मन्त्र-जप करता है। यह ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर से सम्बन्ध रखने वाली 'अजपा' नामक गायत्री है। जो इस अजपा का जप करता है, उसका पुनर्जन्म नहीं होता। चन्द्रमा, अग्नि तथा सूर्य से युक्त मूलधार-निवासिनी आद्या कुण्डलिनी शक्ति हृदयप्रदेश में अंकुर के आकार में स्थित है। सात्त्विक पुरुषों में श्रेष्ठतम वह योगी सृष्टिक्रम का अवलम्बन करके सृष्टिन्यास करना चाहिये तथा ब्रह्मरन्ध्रवर्ती शिव से कुण्डलिनी के मुखभाग में झरते हुए अमृत का चिन्तन करना चाहिये। शिव के दो रूप हैं—सकल और निष्कल। सगुण साकार देह में विराजित शिव को 'सकल' समझना चाहिये और जो देह से हीन हैं, वे 'निष्कल' कहे गये हैं। वे 'हंस-हंस' का जप करते हैं। 'हंस' नाम है—'सदाशिव' का। जिस प्रकार तिलों में तेल और पुष्पों में गन्ध की स्थिति है, उसी तरह अन्तर्यामी पुरुष (जीवात्मा) में बाहर और अन्दर भी सदाशिव का निवास है। ब्रह्मा का स्थान हृदय में है, भगवान् श्रीहरि विष्णु कण्ठ में अधिष्ठित हैं तालु के मध्यभाग में रुद्र, ललाट में महेश्वर और प्राणों के अग्रभाग में सदाशिव का स्थान है। उनके अन्त में परात्पर ब्रह्म विराजमान हैं। ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, महेश्वर और सदाशिव—इन पाँच रूपों में 'सकल' (साकार या सगुण) परमात्मा वर्णन किया गया है। इसके विपरीत परमात्मा, जो निर्गुण निराकार रूप है, उसको 'निष्कल' कहा गया है।।२१-३२।।

जो योगी अनाहत नाद को प्रासाद तक उठाकर अनवरत जप करता है, वह षड् महीनों में ही सिद्धि प्राप्त कर लेता है, इसमें संदेह नहीं है। गमनागमन के ज्ञान से समस्त पापों का क्षय होता है और योगी अणिमा आदि सिद्धियों, गुणों और ऐश्वर्य को षड् महीनों में ही प्राप्त कर लेता है। मैंने स्थूल, सूक्ष्म और पर के भेद से तीन तरह के प्रासाद का वर्णन किया है। प्रासाद को ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत—इन तीन रूपों में लक्षित करना चाहिये। 'ह्रस्व' पापों को दग्ध कर देता है, 'दीर्घ' मोक्षप्रद होता है और 'प्लुत' आप्यायन (तृप्तिप्रदान) करने में सक्षम है। यह मस्तक पर बिन्दु (अनुस्वार) से विभूषित होता है। ह्रस्व-प्रासाद-मन्त्र के आदि और अन्त में 'फट्' लगाकर जप किया जाय तो यह मारण कर्म में हितकारक होता है। यदि उसके आदि अन्त में 'नमः' पद जोड़कर जपा जाय तो वह आकर्षण-साधक

आदावन्ते च ह्रस्वस्य फट्कारो मारणे हितः। आदावन्ते च हृदयमाकृष्टौ संप्रकीर्तितम्।।३७।।
देवस्य दक्षिणां मूर्तिं पञ्चलक्षं स्थितो जपेत्। जपान्ते घृतहोमस्तु दशसाहस्त्रिको भवेत्।।३८।।
एवमाप्यायितो मन्त्रो वश्योच्चाटादि कारयेत्। उर्ध्वे शून्यमधः शून्यं मध्ये शून्यं निरामयम्।।३९।।
त्रिशून्यं यो विजानाति मुच्यतेऽसौ ध्रुवं द्विजः। प्रासादं यो न जानाति पञ्चतन्त्रमहातनुम्।।४०।।
अष्टत्रिंशत्कलायुक्तं न स आचार्य उच्यते। तथोंकारं च गायत्रीं रुद्रादीन्वेत्त्यसौ गुरुः।।४१।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते नाडीचक्रकथनं नाम चतुर्दशाधिकद्विशततमोऽध्यायः।।२१४।।

को बतलाया गया है। महादेव जी के दक्षिणामूर्ति रूप-सम्बन्धी मन्त्र का खड़े होकर यदि पाँच लाख जप किया जाय तथा जप के अन्त में घी का दस हजार हवन कर दिया जाय तो मन्त्र आप्यायित (सिद्ध) हो जाता है। फिर उससे वशीकरण, उच्चाटन आदि कार्य कर सकते हैं।।३३-३८।।

जो ऊपर शून्य, नीचे शून्य और मध्य में भी शून्य है, उस त्रिशून्य निरामय मन्त्र को को जानता है, वह द्विज निश्चय ही मुक्त हो जाता है। पाँच मन्त्रों के मेल से महाकलेवरधारी अड़तीस कलाओं से युक्त प्रासादमन्त्र को जो नहीं जानता है, वह आचार्य नहीं कहलाता है। जो ओंकार, गायत्री तथा रुद्रादि मन्त्रों को जानताहै, वही गुरु हैं।।३९-४१।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी दो सौ चौदहवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।२१४।।

❖❖❖

अथ पञ्चदशाधिकद्विशततमोऽध्यायः

सन्ध्याविधिः

अग्निरुवाच

ओङ्कारं यो विजानाति स योगी स हरिः पुमान्। ओङ्कारमभ्यसेत्तस्मान्मन्त्रसारं तु सर्वदम्।।१।।
सर्वमन्त्रप्रयोगेषु प्रणवः प्रथमः स्मृतः। तेन संपरिपूर्णं यत्तत्पूर्णं कर्म नेतरत्।।२।।
ओंकारपूर्विकास्तिस्रो महाव्याहृतयोऽव्ययाः। त्रिपदा चैव सावित्री विज्ञेयं ब्रह्मणो मुखम्।।३।।
योऽधीतेऽहन्यहन्येतास्त्रीणि वर्णाण्यतन्द्रितः। स ब्रह्म परमभ्येति वायुभूतः खमूर्तिमान्।।४।।
एकाक्षरं परब्रह्म प्राणायामः परं तपः। सावित्र्यास्तु परं नास्ति मौनात्सत्यं विशिष्यते।।५।।
सप्तावर्ता पापहरा दशभिः प्रापयेद्दिवम्। विंशावर्ता तु सा देवी नयते हीश्वरालयम्।।६।।
अष्टोत्तरशतं जप्त्वा तीर्णः संसारसागरात्। रुद्रकूष्माण्डजप्येभ्यो गायत्री तु विशिष्यते।।७।।
न गायत्र्याः परं जप्यं न व्याहृतिसमं हुतम्। गायत्र्याः पादमप्यर्धमृगर्धमृचमेव वा।।८।।
ब्रह्महत्या सुरापानं सुवर्णस्तेयमेव च। गुरुदारागमश्चैव जप्येनैव पुनाति सा।।९।।

अध्याय-२१५

सन्ध्या विधि विचार

श्रीअग्नि देव ने कहा कि–हे वसिष्ठ! जो पुरुष ॐकार को जान जाता है, वह योगी और विष्णुस्वरूप होता है। इसलिये सम्पूर्ण मन्त्रों के सारस्वरूप और सब कुछ देने वाले ॐकार का अभ्यास करना चाहिये। समस्त मन्त्रों के प्रयोग में ॐकार का सर्वप्रथम स्मरण किया जाता है। जो कर्म उससे युक्त है, वही पूर्ण है। उससे विहीन कर्म पूर्ण नहीं है। आदि में ॐकार से युक्त '**भूः भुवः स्वः**'–ये तीन शाश्वत महाव्याहृतियों एवं '**तत्सवितुर्वरेण्यं, भर्गो देवस्य धीमहि, धियो यो नः प्रचोदयात्**' इस तीन पदों से युक्त गायत्री को ब्रह्मा का (वेद अथवा ब्रह्मा का) मख समझना चाहिये। जो मनुष्य नित्य तीन वर्षों तक आलस्य हीन होकर गायत्री का जप करता है, वह वायुभूत और आकाशस्वरूप होकर परब्रह्म को प्राप्त होता है। एकाक्षर ॐकार ही परब्रह्म है और प्राणायाम ही परम तप है। गायत्री-मन्त्र से श्रेष्ठ कुछ भी नहीं है। मौन रहने से सत्यभाषण करना ही श्रेष्ठ है।।१-५।।

गायत्री की सात आवृत्ति पापों का हरण करने वाली है, दस आवृत्तियों से वह जपकर्ता को स्वर्ग की प्राप्ति कराती है और बीस आवृत्ति करने पर तो स्वयं सावित्री देवी जप करने वाले को 'ईश्वरलोक में ले जाती है। साधक गायत्री का एक सौ आठ बार जप करके संसार-सागर से तर जाता है। रुद्र-मन्त्रों के जप तथा कूष्माण्ड मन्त्रों के जप से गायत्री-मन्त्र का जप श्रेष्ठ है। गायत्री से श्रेष्ठ कोई भी जप करने योग्य मन्त्र नहीं है तथा व्याहृति-हवन के समान कोई हवन नहीं है। गायत्री के एक चरण, आधा चरण, सम्पूर्ण ऋचा अथवा आधी ऋचा का भी जप करने मात्र से गायत्री देवी साधक को ब्रह्महत्या, सुरापान, स्वर्ण की चोरी एवं गुरुपत्नी-गमन आदि महापातकों से मुक्त कर देती है।।६-९।।

पापे कृते तिलैर्होमो गायत्री जप ईरितः। जप्त्वा सहस्त्रं गायत्र्या उपवासी स पापहा॥१०॥
गोघ्नः पितृघ्नो मातृघ्नो ब्रह्महा गुरुतल्पगः। ब्रह्मघ्न स्वर्णहारी च सुरापो लक्षजप्यतः॥११॥
शुध्यते वाऽथ वा स्नात्वा शतमन्तर्जले जपेत्। अपः शतेन पीत्वा तु गायत्र्याः पापहा भवेत्॥१२॥
शतं जप्ता तु गायत्री पापोपशमनी स्मृता। सहस्त्रं जप्ता सा देवी उपपातकनाशिनी॥१३॥
अभीष्टदा कोटिजप्ता देवत्वं राजतामियात्। ओंकारं पूर्वमुच्चार्य भूर्भुवः स्वस्तथैव च॥१४॥
गायत्री प्रणवश्चान्ते जपे चैवमुदाहृतम्। विश्वामित्रऋषिश्छन्दो गायत्रं सविता तथा॥१५॥
देवतोपनये जप्ये विनियोगी हुते तथा। अग्निर्वायू रविर्विद्युद्यमो जलपतिर्गुरुः॥१६॥
पर्जन्य इन्द्रो गन्धर्वः पूषा च तदनन्तरम्। मित्रोऽथ वरुणस्त्वष्टा वसवो मरुतः शशी॥१७॥
अङ्गिरा विश्वनासत्यौ कस्तथा सर्वदेवताः। रुद्रो ब्रह्मा च विष्णुश्च क्रमशोऽक्षरदेवताः॥१८॥
गायत्र्या जपकाले तु कथिताः पापनाशनाः। पादाङ्गुष्ठौ च गुल्फौ च नलकौ जानुनी तथा॥१९॥
जङ्घे शिश्नश्च वृषणौ कटिर्नाभिस्तथोदरम्। स्तनौ च हृदयं ग्रीवा मुखं तालु च नासिका॥२०॥
चक्षुषी च भ्रुवोर्मध्यं ललाटं पूर्वमाननम्। दक्षिणोत्तरपार्श्वे द्वे शिर आस्यमनुक्रमात्॥२१॥

कोई भी पाप करने पर उसके प्रायश्चित्तस्वरूप तिलों का हवन और गायत्री का जप बतलाया गया है। निराहार व्रत पूर्वक एक सहस्र गायत्री-मन्त्र का जप करने वाला अपने पापों को नष्ट कर देता है। गो वध, पितृवध, मातृवध, ब्रह्महत्या अथवा गुरुपत्नीगमन करने वाला, ब्राह्मण की जीविका का अपहरण करने वाला, स्वर्ण की चोरी करने वाला और सुरापान करने वाला महापातकी भी गायत्री का एक लाप जप करने से शुद्ध हो जाता है। अथवा स्नान करके जल के अन्दर गायत्री का सौ बार जप करना चाहिये। उसके बाद गायत्री से अभिमन्त्रित जल के सौ आचमन करना चाहिये। इससे भी मनुष्य पापहीन हो जाता है। गायत्री का सौ बार जप करने पर वह समस्त पापों का उपशमन करने वाली मानी गयी है और एक सहस्र जप करने पर उपपातकों का भी विनाश करती है। एक करोड़ जप करने पर गायत्री देवी अभीष्ट फल सम्प्रदान करती है। जपकर्ता देवत्व और देवराजजत्व को भी प्राप्त कर लेता है॥१०-१३॥

आदि में ॐकार, उसके बाद 'भूर्भुवः स्वः' का उच्चारण करना चाहिये। तत्पश्चात् गायत्रीमन्त्र का एवं अन्त में पुनः ॐकार का प्रयोग करना चाहिये। जप में मन्त्र का यही स्वरूप बतलाया गया है। गायत्री मन्त्र के विश्वामित्र ऋषि, गायत्री छन्द और सविता देवता हैं। उपनयन, जप एवं हवन में इनका विनियोग करना चाहिये। गायत्री-मन्त्र के चौबीस अक्षरों के अधिष्ठातृदेवता क्रमशः ये हैं–अग्नि, वायु, रवि, विद्युत्, यम, जलपति, गुरु, पर्जन्य, इन्द्र, गन्धर्व, पूषा, मित्र, वरुण, त्वष्टा, वसुगण, मरुद्गण, चन्द्रमा, अङ्गिरा, विश्वदेव, अश्विनीकुमार, प्रजापतिसहित समस्त देवगण, रुद्र, ब्रह्मा और विष्णु। गायत्री-जप के समय उपरोक्त देवताओं का उच्चारण किया जाय तो वे जपकर्ता के पापों का विनाश करते हैं॥१४-१८॥

गायत्री-मन्त्र के एक-एक अक्षर का अपने निम्नलिखित अङ्गों में क्रमशः न्यास करना चाहिये। पैरों के दोनों अङ्गुष्ठ गुल्फद्वय, नलक (दोनों पिण्डलियाँ), घुटने, दोनों जाँघे, उपस्थ, वृषण, कटिभाग, नाभि, उदर, स्तनमण्डल, हृदय, ग्रीवा, मुख अधरोष्ठ), तालु, नासिका, नेत्रद्वय, भ्रूमध्य, ललाट, पूर्व आनन (उत्तरोष्ठ), दक्षण पार्श्व, उत्तर पार्श्व, सिर और सम्पूर्ण मुखमण्डल। गायत्री के चौबीस अक्षरों के वर्ण क्रमशः इस तरह हैं–पीत, श्याम, कपिल, मरकतमणिसदृश,

पीतः श्यामश्च कपिलो मारकतोऽग्निसंनिभः। रुक्मविद्युद्धूम्रकृष्णरक्तगौरेन्द्रनीलभाः॥२२॥
स्फाटिकस्वर्णपाण्ड्वाभाः पद्मरागोऽखिलद्युतिः। हेमधूम्ररक्तनीलरक्तकृष्णसुवर्णभाः॥२३॥
शुक्लकृष्णपलाशाभा गायत्र्या वर्णकाः क्रमात्। ध्यानकाले पापहरा हुतैषा सर्वकामदा॥२४॥
गायत्र्या तु तिलैर्होमः सर्वपापप्रणाशनः। शान्तिकामो यवैः कुर्यादायुष्कामो घृतेन च॥२५॥
सिद्धार्थकैः कर्मसिद्ध्यै पयसा ब्रह्मवर्चसे। पुत्रकामस्तथा दध्ना धान्यकामस्तु शालिभिः॥२६॥
क्षीरिवृक्षसमिद्भिस्तु ग्रहपीडोपशान्तये। धनकामस्तथा बिल्वैः श्रीकामः कमलैस्तथा॥२७॥
आरोग्यकामो दूर्वाभिर्गुरूत्पाते स एव हि। सौभाग्येच्छुर्गुग्गुलुना विद्यार्थी पायसेन (च)॥२८॥
अयुतेनोक्तसिद्धिः स्याल्लक्षेण मनसेप्सितम्। कोट्या ब्रह्मवधान्मुक्तः कुलोद्धारी हरिर्भवेत्॥२९॥
ग्रहयज्ञमुखो वाऽपि होमोऽयुतमुखोऽर्थकृत्। आवाहनं च गायत्र्यास्तत ओङ्कारमभ्यसेत्॥३०॥
स्मृत्वोङ्कारं तु गायत्र्या निबध्नीयाच्छिखां ततः। पुनराचम्य हृदयं नाभिं स्कन्धौ च संस्पृशेत्॥३१॥
प्रणवस्य ऋषिर्ब्रह्मा गायत्री छन्द एव च। देवोऽग्निः परमात्मा स्याद्योगो वै सर्वकर्मसु॥३२॥
शुक्ला चाग्निमुखी दिव्या कात्यायनसगोत्रजा। त्रैलोक्यवरणा दिव्या पृथिव्याधारसंयुता॥

अग्नितुल्य, रुक्मसदृश, विद्युत्प्रभ, धूम्र, कृष्ण, रक्त, गौर, इन्द्रनीलमणिसदृश, स्फटिकमणितुल्य, स्वर्णिम, पाण्डु, पुखराजतुल्य, अखिलद्युति, हेमाभधूम्र, रक्तनील, रक्तकृष्ण, सुवर्णाभ, शुक्ल, कृष्ण और पलाशपर्व। गायत्री ध्यान करने पर पापों का अपहरण करती है और हवन करने पर सम्पूर्ण अभीष्ट कामनाओं को सम्प्रदान करती है। गायत्री-मन्त्र से तिलों का हवन सम्पूर्ण पापों का विनाश करने वाला है। शान्ति की इच्छा रखने वाला जौ का और दीर्घायु चाहने वाला घृत का हवन करना चाहिये। कर्म की सिद्धि के लिये सरसों का, ब्रह्मतेज की प्राप्ति के लिये दुग्ध का, पुत्र की कामना करने वाला दधि का और अधिक धान्य चाहने वाला अगहनी के चावल का हवन करना चाहिये। ग्रहपीड़ा की शान्ति के लिये खैर वृक्ष की समिधाओं का, धन की कामना करने वाला बिल्वपत्रों का, लक्ष्मी चाहने वाला कमल पुष्पों का, आरोग्य का इच्छुक और महान् उत्पात से आतङ्कित मनुष्य दूर्वा का, सौभाग्याभिलाषी गुग्गुल का और विद्याकामी खीर का हवन करना चाहिये। दस हजार आहुतियों से उपरोक्त कामनाओं की सिद्धि होती है और एक लाख आहुतियों से साधक मनोऽभिलषित वस्तु को प्राप्त करता है। एक करोड़ आहुतियों से होता ब्रह्महत्या के महापातक से मुक्त हो अपने वंश का उद्धार करके श्रीहरिस्वरूप हो जाता है। ग्रह-यज्ञ-प्रधान हवन हो, अर्थात् ग्रहों की शान्ति के लिये हवन किया जा रहा हो, तो उसमें भी गायत्री-मन्त्र से दस हजार आहुतियाँ देने पर अभीष्ट फल की सिद्धि होती है॥१९-३०॥

संध्या-विधि—गायत्री का आवाहन करके ॐकार का उच्चारण करना चाहिये। गायत्री मन्त्रसहित ॐकार का उच्चारण करके शिखा बाँधे। फिर आचमन करके हृदय, नाभि और दोनों कंधों का स्पर्श करना चाहिये। प्रणव के ब्रह्मा ऋषि, गायत्री छन्द, अग्नि अथवा परमात्मा देवता हैं। इसका सम्पूर्ण कर्मों के प्रारम्भ में प्रयोग होता है। निम्नलिखित मन्त्र से गायत्री देवी का ध्यान करना चाहियें-**शुक्ला चाग्निमुखी दिव्या कात्यायनसगोत्रजा। त्रैलोक्यवरणा दिव्या पृथिव्याधारसंयुता॥ अक्षसूत्रधरा देवी पद्मासनगता शुभा॥** तत्पश्चात् निम्नांकित मन्त्र से गायत्री देवी का आवाहन करना चाहिये-'**ॐ तेजोऽसि महोऽसि बलमसि भ्राजोऽसि देवानां धामनामाऽसि।**

अक्षसूत्रधरादेवी पद्मासनगता शुभा।।३३।।
ॐ तेजोऽसि सहोऽसि बलमसि भ्राजोऽसि देवानां धामनामाऽसि।
विश्वमसि विश्वायुः सर्वमसि सर्वायुरोमभिः भूः।।३४।।
आगच्छ वरदे देवि जप्ये (पे) मे संनिधौ भव। गायन्तं त्रायसे यस्माद्गायत्री त्वं ततः स्मृता।।३५।।
व्याहृतीनां तु सर्वासामृषिरेव प्रजापतिः। व्यस्ताश्चैव समस्ताश्च ब्राह्ममक्षरमोमिति।।३६।।
विश्वामित्रो जमदग्निर्भरद्वाजोऽथ गौतमः। ऋषिरत्रिर्वशिष्ठश्च काश्यपश्च यथाक्रमम्।।३७।।
अग्निर्वायू रविश्चैव) वाक्पतिर्वरुणस्तथा। इन्द्रो विष्णुर्व्याहृतीनां दैवतानि यथाक्रमम्।।३८।।
गायत्र्युष्णिगनुष्टुप्च बृहती पङ्क्तिरेव च। त्रिष्टुप् जगति चेति च्छन्दांस्याहुरनुक्रमात्।।३९।।
विनियोगी व्याहृतीनां प्राणायामे च होमके। आपो हि ष्ठेत्यृचा चापोद्रुपदादीति वा स्मृता।।४०।।
तथा हिरण्यवर्णाभिः पावमानीभिरन्ततः। विप्रुषोऽष्टौ क्षिपेदूर्ध्वमाजन्मकृतपापजित्।।४१।।
अन्तर्जलं ऋतं चेति ज्योत्स्निरघमर्षणम्। आपो हिष्ठेति त्र्यृचस्य सिन्धुद्वीप ऋषिः स्मृतः।।४२।।

विश्वमसि विश्वायुः सर्वमसि सर्वायुः ओम् अभि भूः।' आगच्छ वरदे देवि जपे मे संनिधौ भव। गायन्तं त्रायसे यस्माद् गायत्री त्वं ततः स्मृता।। समस्त व्याहृतियों के ऋषि प्रजापति ही हैं; वे सब–व्यष्टि और समष्टि दोनों रूपों से परब्रह्मस्वरूप एकाक्षर ॐकार में स्थित हैं–सप्तव्याहृतियों के क्रमशः ये ऋषि हैं–विश्वामित्र, जमदग्नि, भरद्वाज, गौतम, अत्रि, वसिष्ठ तथा कश्यप। उनके देवता क्रमशः ये हैं–अग्नि, वायु, सूर्य, बृहस्पति, वरुण, इन्द्र और विश्वदेव। गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुप, बृहती, पङ्क्ति, त्रिष्टप् और जगती–ये क्रमशः सात व्याहृतियों के छन्द हैं। इन व्याहृतियों का प्राणायाम और हवन में विनियोग होता है।

ॐ आपो हि ष्ठा मयो भुवः, ॐ ता न ऊर्जे दधातन, ॐ महेरणाय चक्षसे, ॐ यो वः शिवतमो रसः, ॐ तस्य भाजयतेह नः, ॐ उशरीरिव मातरः, ॐ तस्या अरं गमाम वः, ॐ यस्य क्षयाय जिन्वथ, ॐ आपो जनयथा च नः।

इन तीन ऋचाओं का तथा '**ॐ द्रुपदादिव मुमुचानः स्विन्नः स्नातो मलादिव। पूतं पवित्रेणेवाज्यमापः शुन्धुन्तु मैनसः।**' इस मन्त्र का '**हिरण्यवर्णाः शुचयः**' इत्यादि पावमानी ऋचाओं का उच्चारण करके (पवित्रों अथवा दाहिने हाथ की अंगुलियों द्वारा) जल के आठ छींटे ऊपर उछाले। इससे जीवन भर के पाप नष्ट हो जाते हैं।।३१–४१।।

जल के अन्दर 'ऋतं च०'–इस अघमर्षणमन्त्र का तीन बार जप करना चाहिये। '**आपो हि ष्ठा**' आदि तीन ऋचाओं के सिन्धुद्वीप ऋषि, गायत्री छन्द और जल देवता माने गये हैं। ब्राह्म स्नान के लिये मार्जन में इसका विनियोग किया जाता है। अघमर्षण–मन्त्र का विनियोग इस तरह करना चाहिये–इस अघमर्षण–सूक्त के अघमर्षण ऋषि, अनुष्टुप छन्द और भाववृत्त देवता हैं। पापनिः सारण के कर्म में इसका प्रयोग किया जाता है। '**ॐ आपो ज्योती रसोऽमृतं ब्रह्म भूर्भुवः स्वरोम्।**' यह गायत्री–मन्त्र का शिरोभाग है। इसके प्रजापति ऋषि हैं। यह छन्द हीन यजुर्मन्त्र है; क्योंकि यजुर्वेद के मन्त्र किसी नियत अक्षर वाले छन्द में आबद्ध नहीं है। शिरोमन्त्र के ब्रह्मा, अग्नि, वायु और सूर्य देवता माने गये हैं। प्राणायाम से वायु, वायु से अग्नि और अग्नि से जल क़ी उत्पत्ति होती है तथा उसी जल से शुद्धि हो

ब्राह्मस्नानाय च्छन्दोऽस्य गायत्री देवता जलम्। मार्जने विनियोगोऽस्य हयावभृथके क्रतोः।।४३।।
अघमर्षणसूक्तस्य ऋषिरेवाघमर्षणम् (णः)। अनुष्टुप् च भवेच्छन्दो भाववृत्तस्तु दैवतम्।।४४।।
आपो ज्योतीरस इति गायत्र्यास्तु शिरःस्मृतम्। ऋषिः प्रजापतिस्तस्य च्छन्दोहीनं यजुर्यतः।।४५।।
ब्रह्माग्निवायुसूर्याश्च देवताः परिकीर्तिताः। प्राणरोधात्तु वायुः स्याद्वायोरग्निश्च जायते।।४६।।
अग्नेरापस्ततः शुद्धिस्ततश्चाऽऽचमनं चरेत्। अन्तश्चरति भूतेषु गुहायां विश्वमूर्तिषु।।४७।।
ततो यज्ञो वषट्कार आपो ज्योती रसोऽमृतम्। उदुत्यं जातवेदसमृषिः प्रस्कण्व उच्यते।।४८।।
गायत्री छन्द आख्यातं सूर्यश्चैव तु दैवतम्। अतिरात्रे नियोगः स्यादग्नीषोमो (ग्निष्टोमो) नियोगकः।।४९।।
चित्रं देवेति च ऋच ऋषिः कौत्स उदाहृतः। त्रिष्टुप्छन्दो दैवतं च सूर्योऽस्याः परिकीर्तितम्।।५०।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते सन्ध्याविधिकथनं नाम पञ्चदशाधिकद्विशततमोऽध्यायः।।२१५।।

जाती है। इसलिये जल का आचमन निम्नलिखित मन्त्र से करना चाहिये–**अन्तश्चरसि भूतेषु गुहायां विश्वमूर्तिषु। तपो यज्ञो वषट्कार आपो ज्योती रसोऽमृतम्।।** **'उदुत्यं जातवेदसं०'**–इस मन्त्र के प्रस्कण्व ऋषि कहे गये हैं। इसका गायत्री छन्द और सूर्य देवता हैं। इसका अतिरात्र और अग्निष्टोम-याग में विनियोग होता है; परन्तु संध्योपासना में इसका सूर्योपस्थान-कर्म में विनियोग किया जाता है। **'चित्रं देवानां०'**–इस ऋचा के कौत्स ऋषि कहे गये हैं। इसका छन्द त्रिष्टुप् और देवता सूर्य माने गये हैं। यहाँ इसका भी विनियोग सूर्योपस्थान में ही है।।४२-५०।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी दो सौ पन्द्रहवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।२१५।।

❖❖❖

अथ षोडशाधिकद्विशततमोऽध्यायः

गायत्रीनिर्वाणम्

अग्निरुवाच

एवं सन्ध्याविधिं कृत्वा गायत्रीं च जपेत्स्मरेत्। गायञ्शिष्यान्यतस्त्रायेत्कायः (यं) प्राणांस्तथैव च॥१॥
ततः स्मृतेयं गायत्री सावित्रीयं ततो यतः। प्रकाशनात्मा सवितुर्वाग्रूपत्वात्सरस्वती॥२॥
तज्ज्योतिः परमं ब्रह्म भर्गस्तेजो यतः स्मृतम्। भा दीप्ताविति रूपं हि भ्रस्जः पाकेऽथ तत्स्मृतम्॥३॥
ओषध्यादिकं पचति भ्राजृदीप्तौ तथा भवेत्। भर्गः स्याद्भ्राजत इति बहुलं छन्द ईरितम्॥४॥
वरेण्यं सर्वतेजोभ्यः श्रेष्ठं वै परमं पदम्। स्वर्गापवर्गकामैर्वा वरणीयं सदैव हि॥५॥
वृणोतेर्वरणार्थत्वाज्जाग्रत्स्वप्नादिवर्जितम्। नित्यं शुद्धं बुद्धमेकं सत्यं तद्धीमहीश्वरम्॥६॥
अहं ब्रह्म परं ज्योतिर्ध्यायेमहि (?)विमुक्तये। तज्ज्योतिर्भगवान्विष्णुर्जगज्जन्मादिकारणम्॥७॥
शिवं केचित्पठन्ति स्म शक्ति रूपं पठन्ति च। केचित्सूर्यं केचिदग्निं वेदगा अग्निहोत्रिणः॥८॥
अग्न्यादिरूपी विष्णुर्हि वेदादौ ब्रह्म गीयते। तत्पदं परमं विष्णोर्देवस्य सवितुः स्मृतम्॥९॥

अध्याय–२१६

गायत्री निर्वाण विचार

अग्दि देव कहते हैं–हे वसिष्ठ! इस तरह संध्या का विधान करके गायत्री का जप और स्मरण करना चाहिये। यह अपना गान करने वाले साधकों के शरीर और प्राणों का त्रास करती है, इसलिये इसको 'गायत्री' कहा गया है। सविता (सूर्य) से इसका प्रकाशन–प्राकट्य हुआ है, इसलिये यह 'सावित्री' कही जाती है। वाक्स्वरूपा होने से 'सरस्वती' नाम से भी सुप्रसिद्ध है॥१-२॥

'तत्' पद से ज्योतिःस्वरूप परब्रह्म परमात्मा अभिहित है। 'भर्गः' पद तेज का वाचक है; क्योंकि 'भा' धातु दीप्त्यर्थक है और उसी से 'भर्ग' शब्द सिद्ध है। 'भातीति भर्गः'–इस तरह इसकी व्युत्पत्ति है। अथवा 'भ्रस्ज पाके'–इस धातुसूत्र के अनुसार पाकार्थक 'भ्रस्ज' धातु से भी 'भर्ग' शब्द निष्पन्न होता है; क्यांकि सूर्यदेव का तेज औषधि आदि को पकाता है। 'भ्राजृ' धातु भी दीप्त्यर्थक होता है। 'भ्राजते इति भर्गः'–इस व्युत्पत्ति के अनुसार 'भ्राज' धातु से 'भर्ग' शब्द बनता है। 'बहुलं छन्दसि'–इस वैदिक व्याकरणसूत्र के अनुसार कथित सभी धातुओं से आवश्यक प्रत्यय, आगम एवं विकार की ऊहा करने से 'भर्ग' शब्द बन सकता है। 'वरेण्य' का अर्थ है–'सम्पूर्ण तेजों से श्रेष्ठ परमपदस्वरूप'। अथवा स्वर्ग एवं मोक्ष की कामना करने वालों के द्वारा सदा ही वरणीय होने के कारण भी वह 'वरेण्य' कहलाता है; क्योंकि 'वृञ्' धातु वरणार्थक है। 'धीमहि' पद का यह अभिप्राय है कि 'हम जाग्रत् और सुषुप्ति आदि अवस्थाओं से अतीत नित्य शुद्ध, बुद्ध एकमात्र सत्य एवं ज्योतिःस्वरूप परब्रह्म परमेश्वर का मुक्ति के लिये ध्यान करते हैं॥३-६॥

जगत् की सृष्टि आदि के कारण भगवान् श्रीहरि विष्णु ही वह ज्योति हैं। कुछ लोग शिव को वह ज्योति मानते हैं, कुछ लोग शिव को वह ज्योति मानते हैं, कुछ लोग शक्ति को मानते हैं और कोई सूर्य को तथा कुछ अग्निहोत्री वेदज्ञ अग्नि को वह ज्योति मानते हैं। वस्तुतः अग्नि आदि रूपों में स्थित विष्णु ही वेद-वेदाङ्गों में 'ब्रह्म' माने गये हैं। इसलिये

महदाद्यं सूयते हि स्वयं ज्योतिर्हरिः प्रभुः। पर्जन्यो वायुरादित्यः शीतोष्णाद्यैश्च पाचयेत्॥१०॥
अग्नौ प्रास्ताऽऽहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते। आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः॥११॥
दधातेर्वा धीमहीति मनसा धारयेमहि। नोऽस्माकं यश्च भर्गश्च सर्वेषां प्राणिनां धियः॥१२॥
चोदयात्प्रेरयेद्बुद्धिर्भोक्तॄणां सर्वकर्मसु। दृष्टादृष्टविपाकेषु विष्णुसूर्याग्निरूपवान्॥१३॥
ईश्वरप्रेरितो गच्छेत्स्वर्गं वा श्वभ्रमेव वा। ईशावास्यमिदं सर्वं महदादि जगद्धरिः॥१४॥
स्वर्गाद्यैः क्रीडते देवो यो हंसः पुरुषः प्रभुः। आदित्यान्तर्गतं यच्च भर्गाख्यं वै मुमुक्षुभिः॥१५॥
जन्ममृत्युविनाशाय दुःखस्य त्रिविधस्य च। ध्यानेन पुरुषोऽयं च द्रष्टव्यः सूर्यमण्डले॥१६॥
तत्त्वं सदसि चिद्ब्रह्म विष्णोर्यत्परमं पदम्। देवस्य सवितुर्भर्गो वरेण्यं हि तुरीयकम्॥१७॥
देहादिजाग्रदाब्रह्म अहं ब्रह्मेति धीमहि। योऽसावादित्यं पुरुषः सोऽसावहमनन्तओम्॥
ज्ञानानि शुभकर्मादीन्प्रवर्तयति यः सदा॥१८॥

॥इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते गायत्रीनिर्वाणकथनं नाम षोडशाधिकद्विशततमोऽध्यायः॥२१६॥

'देवस्य सवितुः'–अर्थात् जगत् के उत्पादक भगवान् श्रीहरि विष्णु देव का ही वह परमपद माना गया है; क्योंकि वे स्वयं ज्योतिःस्वरूप भगवान् श्रीहरि विष्णु महत्तत्त्व आदि का प्रसव (उत्पत्ति) करते हैं। वे ही पर्जन्य, वायु, आदित्य एवं शीत-ग्रीष्म आदि ऋतुओं द्वारा अन्न का पोषण करते हैं। अग्नि में विधिपूर्वक दी हुई आहुति सूर्य को प्राप्त होती है और सूर्य से वृष्टि, वृष्टि से अन्न और अन्न से प्रजाओं की उत्पत्ति होती है। 'धीमहि' पद धारणार्थक 'डुधाञ्' धातु से भी सिद्ध होता है। इसलिये हम उस तेज का मन से धारण-चिन्तन करते हैं–यह भी अर्थ होगा। (यः) परमात्मा भगवान् श्रीहरि विष्णु का वह तेज (नः) हम सब प्राणियों की (धियः) बुद्धि-वृत्तियों को (प्रयोदयात्) प्रेरित करना चाहिये। वे ईश्वर ही कर्मफल का भोग करने वाले समस्त प्राणियों के प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष परिणामों से युक्त समस्त कर्मों में विष्णु, सूर्य और अग्निरूप से स्थित हैं। यह प्राणी ईश्वर की प्रेरणा से ही शुभाशुभ कर्मानुसार स्वर्ग अथवा नरक को प्राप्त होता है। श्रीहरि विष्णु द्वारा महत्तत्त्व आदि रूप से निर्मित यह सम्पूर्ण जगत् ईश्वर का आवास स्थान है। वे सर्वसक्षम हंसस्वरूप परम पुरुष स्वर्गादि लोकों से क्रीड़ा करते हैं, इसलिये वे 'देव' कहलाते हैं। आदित्य में जो 'भर्ग' नाम से प्रसिद्ध दिव्य तेज है, वह उन्हीं का स्वरूप है। मोक्ष चाहने वाले पुरुषों को जन्म-मरण के कष्ट से और दैहिक, दैविक तथा भौतिक त्रिविध दुःखों से छुटकारा पाने के लिये ध्यानस्थ होकर उन परमपुरुष का सूर्यमण्डल में दर्शन करना चाहिये। वे ही 'तत्त्वमसि' आदि औपनिषद महावाक्यों द्वारा प्रतिपादित सच्चित्स्वरूप परब्रह्म हैं। सम्पूर्ण लोकों का निर्माण करने वाले सविता देवता का जो सबके लिये वरणीय भर्ग है, वह विष्णु का परमपद है और वही गायत्री का ब्रह्मरूप 'चतुर्थ पाद' है। 'धीमहि' पद से यह अभिप्राय ग्रहण करना चाहिये कि देहादि की जाग्रत् अवस्था में सामान्य जीव से लेकर ब्रह्मपर्यन्त मैं ही ब्रह्म हूँ और आदित्यमण्डल में जो पुरुष है, वह भी मैं ही हूँ–मैं अनन्त सर्वतः परिपूर्ण ओम् (सच्चिदानन्द) हूँ। 'प्रचोदयात्' पद के कर्तारूप से उन परमेश्वर को ग्रहण करना चाहिये। जो सदा यज्ञ आदि शुभ कर्मों के प्रवर्तक हैं॥७-१८॥

॥इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी दो सौ सोलहवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ॥२१६॥

अथ सप्तदशाधिकद्विशततमोऽध्यायः

गायत्रीनिर्वाणम्

अग्निरुवाच

लिङ्गमूर्तिं शिवं स्तुत्वा गायत्र्या योगमाप्तवान्। निर्वाणं परमं ब्रह्म वशिष्ठोऽन्यश्च शंकरात्।।१।।
नमः कनकलिङ्गाय वेदलिङ्गाय वै नमः। नमः परमलिङ्गाय व्योमलिङ्गाय वै नमः।।२।।
नमः सहस्रलिंगाय वह्निलिङ्गाय वै नमः। नमः पुराणलिङ्गाय श्रुतिलिङ्गाय वै नमः।।३।।
नमःपातालिङ्गाय ब्रह्मलिङ्गाय वै नमः। नमो रहस्यलिङ्गाय सप्तद्वीपोर्ध्वलिङ्गिने।।४।।
नमः सर्वात्मलिङ्गाय सर्वलोकाङ्गलिङ्गिने। नमस्त्वव्यक्तलिङ्गाय बुद्धिलिङ्गाय वै नमः।।५।।
नमोऽहङ्कारलिङ्गाय भूतलिङ्गाय वै नमः। नमः इन्द्रियलिङ्गाय नमस्तन्मात्रलिङ्गिने।।६।।
नमःपुरुषलिङ्गाय भावलिङ्गाय वै नमः। नमो रजोर्धलिङ्गाय सत्त्वलिङ्गाय वै नमः।।७।।
नमस्ते भवलिङ्गाय नमस्त्रैगुण्यलिङ्गिने। नमोऽनागतलिङ्गाय तेजोलिङ्गाय वै नमः।।८।।
नमो वायूर्ध्वलिङ्गाय भावलिङ्गाय वै नमः। नमस्तेऽथर्व लिङ्गाय सामलिङ्गाय वै नमः।।९।।
नमो यज्ञाङ्गलिङ्गाय यज्ञलिङ्गाय वै नमः। नमस्ते तत्त्वलिङ्गाय देवानुगतलिङ्गिने।।१०।।
दिशः नः परमं योगमपत्यं मत्समं तथा। ब्रह्म चैवाक्षयं देव शमं चैव परं विभो।।११।।
अक्षयत्वं च वंशस्य धर्मे च मतिमक्षयाम्।।१२।।

अध्याय–२१७

गायत्री निर्वाण में विशेष

श्रीअग्निदेव ने कहा कि–हे वसिष्ठ! किसी अन्य वसिष्ठ ने गायत्री–जपपूर्वक लिङ्गमूर्ति शिव की स्तुति करके देवाधिदेव भगवान् श्रीशिवशंकर से निर्वाणस्वरूप परब्रह्म की प्राप्ति की।।१।।

वसिष्ठ ने कहा–कनकलिङ्ग को नमस्कार, वेदलिङ्ग को नमस्कार, परमलिङ्ग को नमस्कार और आकाश-लिङ्ग को नमस्कार है। मैं सहस्रलिङ्ग, वह्निलिङ्ग, पुराणलिङ्ग और वेदलिङ्ग शिव को बारंबार नमस्कार करने जा रहा हूँ। पातालिङ्ग, ब्रह्मालिङ्ग, सप्तद्वीपोर्ध्वलिङ्ग को बारंबार नमस्कार है। मैं सर्वात्मलिङ्ग, सर्वलोकाङ्गलिङ्ग, अव्यक्त-लिङ्ग, बुद्धिलिङ्ग, अहंकारलिङ्ग, भूतलिङ्ग, इन्द्रियलिङ्ग, तन्मात्रालिङ्ग, पुरुषलिङ्ग, भावलिङ्ग, रजोर्ध्वलिङ्ग, सत्वलिङ्ग, भवलिङ्ग, त्रैगुण्यलिङ्ग, अनागतलिङ्ग, तेजोलिङ्ग, वायूर्ध्वलिङ्ग, श्रुतिलिङ्ग, अथर्वलिङ्ग, समलिङ्ग, यज्ञाङ्गलिङ्ग, यज्ञलिङ्ग, तत्त्वलिङ्ग और देवानुगतलिङ्गरूप आप देवाधिदेव भगवान् श्रीशिवशंकर को बारंबार नमस्कार करने जा रहा हूँ। हे प्रभो! आप मुझको परमयोग का उपदेश कीजिये और मेरे समान पुत्र सम्प्रदान कीजिये। हे भगवन्! मुझको अविनाशी परब्रह्म एवं परमशान्ति की प्राप्ति कराइये। मेरा वंश कभी क्षीण न हो और मेरी बुद्धि सदा धर्म में लगी रहना चाहिये।२–१२।।

अग्निरुवाच

वशिष्ठेन स्तुतः शम्भुस्तुष्टः श्रीपर्वते पुरा। वशिष्ठाय वरं दत्त्वा तत्रैवान्तरधीयत।।१३।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गति गायत्रीनिर्वाणकथनं नाम सप्तदशाधिकद्विशततमोध्यायः।।२१७।।

—※※※—

अथाष्टदशाधिकद्विशततमोऽध्यायः

राज्याभिषेककथनम्

अग्निरुवाच

पुष्करेण च रामाय राजधर्मं हि पृच्छते। यथाऽऽदौ कथितं तद्वद्वशिष्ठ कथयामि ते।।१।।

पुष्कर उवाच

राजधर्मं प्रवक्ष्यामि सर्वस्माद्राजधर्मतः। राजा भवेच्छत्रुहन्ताः प्रजापालः सुदण्डवान्।।२।।
पालयिष्यामि वः सर्वान्धर्मस्थान्व्रतमाचरेत्। संवत्सरं स वृणुयात्पुरोहितमथ द्विजम्।।३।।
मन्त्रिणश्चाखिलात्मज्ञान्महिषीं धर्मलक्षणाम्। सांवत्सरं नृपः काले ससंभारोऽभिषेचनम्।।४।।
कुर्यान्मृते नृपे नात्र कालस्य नियमः स्मृतः। तिलैः सिद्धार्थकैः स्नानं साम्वत्सरपुरोहितैः।।५।।

श्रीअग्नि देव ने कहा कि–प्राचीनकाल में श्रीशैल पर वसिष्ठ के इस तरह स्तुति करने पर देवाधिदेव भगवान् श्रीशिवशंकर प्रसन्न हो गये और वसिष्ठ को वर देकर वहीं अन्तर्धान हो गये।।१३।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी दो सौ सत्रहवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।२१७।।

अध्याय–२१८

राज्याभिषेक विचार

श्रीअग्निदेव ने कहा कि–हे वसिष्ठ! प्राचीन काल में भगवान् परशुरामजी के पूछने पर पुष्कर ने उनसे जिस तरह राजधर्म का वर्णन किया था, वही मैं आपसे बतलाने जा रहा हूँ।।१।।

पुष्करजी ने कहा कि–हे राम! मैं सम्पूर्ण राजधर्मों से संगृहीत करके राजा के धर्म का वर्णन करने जा रहा हूँ। राजा को प्रजा का रक्षक, शत्रुओं का नाशक और दण्ड का उचित उपयोग करने वाला होना चाहिये। वह प्रजाजनों से कहे कि 'धर्म-मार्ग पर स्थित रहने वाले आप सब लोगों की मैं रक्षा करने जा रहा हूँ और अपनी इस प्रतिज्ञा का सदा पालन करना चाहिये। राजा को वर्षफल बताने वाले एक ज्यौतिषी तथा ब्राह्मण पुरोहित का वरण कर लेना चाहिये। साथ ही सम्पूर्ण राजशास्त्रीय विषयों तथा आत्मा का ज्ञान रखने वाले मन्त्रियों का और धार्मिक लक्षणों से सम्पन्न राजमहिषी का भी वरण करना उचित है। राज्यभार ग्रहण करने के एक वर्ष बाद राजा को सभी सामग्री

घोषयित्वा जयं राज्ञो राजा भद्रासने स्थितः। अभयं घोषयेद्बद्धान्मोचयेद्राज्य पालके॥६॥
पुरोधसाऽभिषेकात्प्राक्कार्यैन्द्री शान्तिरेव च। उपवास्याभिषेकाहे वेद्यग्नौ जुहुयान्मनून्॥७॥
वैष्णवानैन्द्रमन्त्रांस्तु सावित्रान्वैश्वदैवतान्। सौम्यान्स्वस्त्ययनं शर्म आयुष्याभयदान्मनून्॥८॥
अपराजितां च कलशं वह्नेर्दक्षिणपार्श्वगम्। संपातवन्तं हैमं च पूजयेद्गन्धपुष्पकैः॥९॥
प्रदक्षिणावर्तशिखस्तप्तजाम्बूनदप्रभः। (रथौघमेघनिर्घोषो विधूमश्च हुताशनः॥१०॥
अनुलोमः सुगंधिश्च स्वस्तिकाकारसंनिभः)। प्रसन्नार्चिर्महाज्वालः स्फुलिङ्गरहितो हितः॥११॥
न व्रजेयुश्च मध्येन मार्जारमृगपक्षिणः। पर्वताग्रमृदा तावन्मूर्धानं शोधयेन्नृपः॥१२॥
वल्मीकाग्रमृदा कर्णौ वदनं केशवालयात्। इन्द्रालयमृदा ग्रीवां हृदयं तु नृपाजिरात्॥१३॥
करिदन्तोद्धृतमृदा दक्षिणं तु तथा भुजम्। वृषशृङ्गोद्धृतमृदा वामं चैव तथा भुजम्॥१४॥
सरोमृदा तथा पृष्ठमुदरं संगमान्मृ (ममृ) दा। नदीतटद्वयमृदा पार्श्वे संशोधयेत्तथा॥१५॥
वेश्याद्वारमृदा राज्ञः कटिशौचं विधीयते। यज्ञस्थानात्तथैथोरु गोस्थानाज्जानुनी तथा॥१६॥
अश्वस्थानात्तथा जङ्घे रथचक्रमृदाऽङ्घ्निके। मूर्धानं पञ्चगव्येन भद्रासनगतं नृपम्॥१७॥

एकत्रित करके अच्छे समय में विशेष समारोह के साथ अपना अभिषेक काना चाहिये। पहले वाले राजा की मृत्यु होने पर शीघ्र ही राजासन ग्रहण करना उचित है; ऐसे समय में काल का कोई नियम नहीं है। ज्यौतिषी और पुरोहित के द्वारा तिल, सर्षप आदि सामग्रियों का उपयोग करते हुए राजा स्नान करना चाहिये तथा भद्रासन पर विराजमान होकर समूचे राज्य में राजा की विजय घोषित करना चाहिये। फिर अभय की घोषणा कराकर राज्य के समस्त कैदियों का बन्धन से मुक्त कर देना चाहिये। पुरोहित के द्वारा अभिपेक होने से पहले इन्द्र देवता की शान्ति करानी चाहिये। अभिपेक के दिन राजा निराहार व्रत करके वेदी पर स्थापित की हुई अग्नि में मन्त्रपाठ पूर्वक हवन करना चाहिये। विष्णु इन्द्र, सविता, विश्वेदेव और सोम-देवता सम्बन्धी वैदिक ऋचाओं का तथा स्वस्त्ययन, शान्ति, आयुष्य तथा अभय देने वाले मन्त्रों का पाठ करना चाहिये॥२-८॥

तत्पश्चात् अग्नि के दक्षिण किनारे अपराजिता देवी तथा स्वर्णमय कलश की, जिसमें जल गिराने के लिये अनेकों छिद्र बने हुए हों, स्थापना करके चन्दन और फूलों के द्वारा उनका पूजन करना चाहिये। यदि अग्नि की शिखा दक्षिणावर्त हो, तपाये हुए सोने के समान उसकी श्रेष्ठतम कान्ति हो, रथ और मेघ के समान उससे ध्वनि निकलती हो, धुआँ बिलकुल नहीं दिखायी देता हो, श्रीअग्नि देव अनुकूल होकर हविष्य ग्रहण करते हों, हवनाग्नि से श्रेष्ठतम गन्ध फैल रही हो, अग्नि से स्वस्तिक के आकार की लपटें निकलती हों, उसकी शिखा स्वच्छ हो और ऊँचे तक उठती हो तथा उसके अन्दर से चिनगारियाँ नहीं छुटती हों तो ऐसी अग्नि-ज्वाला श्रेष्ठ एव हितकर मानी गयी है॥९-११॥

राजा और आग के मध्य से बिल्ली, मृग तथा पक्षी नहीं जाने चाहिये। राजा पहले पर्वतशिखर की मृत्तिका से अपने मस्तक की शुद्धि करनी चाहिये। फिर बाँबी की मिट्टी से दोनों कान, भगवान् श्रीहरि विष्णु के मन्दिर की धूलि से मुख, इन्द्र के मन्दिर की मिट्टी से ग्रीवा, राजा के आँगन की मृत्तिका से हृदय, हाथी के दाँतों द्वारा खोदी हुई मिट्टी से दाहिनी बाँह, बैल के सींग से उठायी हुई मृत्तिका द्वारा बायीं भुजा, पोखरे की मिट्टी से पीठ, दो नदियों के संगम की मृत्तिका से पेट तथा नदी के दोनों किनारों की मिट्टी से अपनी दोनों पसलियों का शोधन करना चाहिये।

अभिषिञ्चेदमात्यानां चतुष्टयमथो घटैः। पूर्वतो हेमकुम्भेन घृतपूर्णेन ब्राह्मणः॥१८॥
रूप्यकुम्भेन (ण) याम्ये च क्षीरपूर्णेन क्षत्रियः। दध्ना च ताम्रकुम्भेन (ण) वैश्यःपश्चिमगेन च॥१९॥
मृण्मयेन जलेनोदक्शूद्रामात्योऽभिषेचयेत्। ततोऽभिषेकं नृपतेर्बह्वृचप्रवरो द्विजः॥२०॥
कुर्वीत मधुना विप्रश्छन्दोगश्च कुशोदकैः। संपातवन्तं कलशं तथा गत्वा पुरोहितः॥२१॥
विधाय बह्निरक्षां तु सदस्येषु यथाविधि। राजश्रियाऽभिषेके च ये मन्त्रा परिकीर्तिताः॥२२॥
तैस्तु दद्यान्महाभाग ब्रह्मणानां स्वनैस्तथा। ततः पुरोहितो गच्छेद्वेदिमूलं तदेव तु॥२३॥
शतच्छिद्रेण पात्रेण सौवर्णेनाभिषेचयेत्। या ओषधीत्योषधीभीरथेत्युत्त्वेति गन्धकैः॥२४॥
पुष्पैः पुष्पवतीत्येव ब्राह्मणेति च बीजकैः। रत्नैराशुः शिशानाश्च ये देवाश्च कुशोदकैः॥२५॥
यजुर्वेद्यथर्ववेदी गन्धद्वारेति संस्पृशेत्। शिरः कण्ठं रोचनया सर्वतीर्थोदकैर्द्विजाः॥२६॥
गीतवाद्यादिनिर्घोषैश्चामरव्यजनादिभिः। सर्वोषधिमयं कुम्भं धारयेयुर्नृपाग्रतः॥२७॥
तं पश्येद्दर्पणं राजा घृतं वै मङ्गलादिकम्। अभ्यर्च्य विष्णुं ब्रह्माणमिन्द्रादींश्च ग्रहेश्वरान्॥२८॥

वेश्या के दरवाजे की मिट्टी से राजा के कटिभाग की शुद्धि की जाती है, यज्ञशाला की मृत्तिका से वह दोनों ऊरु, गोशाला की मिट्टी से दोनों घुटनों, घुड़सार की मिट्टी से दोनों जाँघ तथा रथ के पहिये की मृत्तिका से दोनों चरणों की शुद्धि करनी चाहिये। इसके बाद पञ्चगव्य के द्वारा राजा के मस्तक की शुद्धि करनी चाहिये। तत्पश्चात् चार मस्तक की शुद्धि करनी चाहिये। उसके बाद चार अमात्य भ्रदासन पर बैठे हुए राजा कलशों द्वारा अभिषेक करें। ब्राह्मणजातीय सचिव पूर्व दिशा की तरफ से घृतपूर्ण स्वर्ण कलश द्वारा अभिषेक प्रारम्भ करना चाहिये। क्षत्रिय दक्षिण की तरफ खड़ा होकर दूध से भरे हुए चाँदी के कलश से, वैश्य पश्चिम दिशा में स्थित हो ताम्र कलश एवं दही से तथा शूद्र उत्तर की तरफ से मिट्टी के घड़े के जल से राजा का अभिषेक करना चाहिये॥१२-१९॥

तत्पश्चात् बह्वचों (ऋग्वेदी विद्वानों) में श्रेष्ठ ब्राह्मण मधु से और 'छन्दोग' अर्थात् सामवेदी विप्र कुश के जल से नरपति का अभिषेक करना चाहिये। इसके बाद पुरोहित जल गिराने के अनेकों छिद्रों से युक्त (स्वर्णमय) कलश के पास जा, सदस्यों के मध्य विधिवत् अग्निरक्षा का कार्य निष्पादन करके, राज्याभिषेक के लिये जो मन्त्र बताये गये हैं, उनके द्वारा अभिषेक करना चाहिये। उस समय ब्राह्मणों को वेद-मन्त्रोच्चारण करते रहना चाहिये। तत्पश्चात् पुरोहित वेदी के सन्निकट जाय और स्वर्ण के बने हुए सौ छिद्रों वाले कलश से अभिषेक प्रारम्भ करना चाहिये। **'या ओषधीः०'**–इत्यादि मन्त्र से औषधियों द्वारा, **'अथेत्युक्तत्वाः०'**–इत्यादि मन्त्रों से गन्धों द्वारा, **'पुष्पवतीः०'**–आदि मन्त्र से फूलों द्वारा, **'ब्राह्मणः०'**–इत्यादि मन्त्र से बीजों द्वारा, **'आशुः शिशानः०'** आदि मन्त्र से रत्नों द्वारा तथा **'ये देवाः०'** –इत्यादि मन्त्र से कुशयुक्त जलों द्वारा अभिषेक करना चाहिये। यजुर्वेदी और अथर्ववेदी ब्राह्मण 'गन्ध द्वारा दुराधर्षां'–इत्यादि मन्त्र से गोरोचन द्वारा मस्तक तथा कण्ठ में तिलक करना चाहिये। इसके बाद अन्यान्य ब्राह्मण सब तीर्थों के जल से अभिषेक करें॥२०-२६॥

उस समय कुछ लोग गीत और बाजे आदि के शब्दों के साथ चँवर और व्यजन धारण करें। राजा के सामने सर्वौषधियुक्त कलश लेकर खड़े हों। राजा पहले उस कलश को देखें, फिर दर्पण तथा घृत आदि माङ्गलिक वस्तुओं का दर्शन करें। इसके बाद विष्णु, ब्रह्मा और इन्द्र आदि देवताओं तथा ग्रहपतियों का पूजन करके राजा व्याघ्रचर्मयुक्त आसन पर बैठे। उस समय पुरोहित मधुपर्क आदि देकर राजा के मस्तक पर मुकुट बाँधे। पाँच तरह के चमड़ों के

व्याघ्रचर्मोत्तरं शय्यामुपविष्टः पुरोहितः। मधुपर्कादिकं दत्त्वा पट्टबन्धं प्रकारयेत्।।२९।।
राज्ञो मुकुटबन्धश्च पञ्चचर्मोत्तरं ददेत्। ध्रुवाद्यैरिति च विशेद्वृषजं वृषभांशजम्।।३०।।
द्वीपिजं सिंहजं व्याघ्रजातं चर्म तदासने। अमात्यसचिवादींश्च प्रतिहारः प्रदर्शयेत्।।३१।।
गोजाविगृहदानाद्यैः सांवत्सरपुरोहितौ। पूजयित्वा द्विजान्प्राच्र्य ह्यन्यान्भूगोन्नमुख्यकैः।।३२।।
वह्निं प्रदक्षिणीकृत्य गुरुं नत्वाऽथ पृष्ठतः। वृषमालभ्य गां वत्सं पूजयित्वाऽथ मन्त्रितम्।।३३।।
अश्वमारुह्य नागं च पूजयेत्तं समारुहेत्। परिभ्रमेद्राजमार्गे बलयुक्तः प्रदक्षिणम्।।३४।।
पुरं विशेच्च दानाद्यैः प्राच्र्यं सर्वान्विसर्जयेत्।।३५।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते राज्याभिषेककथनं नामाष्टादशाधिकद्विशततमोऽध्यायः।।२१८।।

आसन पर बैठकर राजा को मुकुट बँधाना चाहिये। '**ध्रुवाद्यैः**'—इत्यादि मन्त्र के द्वारा उन आसनों पर बैठे। वृष, वृषभांश, वृक, व्याघ्र और सिंह—इन्हीं पाँचों के चर्म का उस समय आसन के लिये उपयोग किया जाता है। अभिषेक के बाद प्रतीहार अमात्य और सचिव आदि को दिखाये। प्रजाजनों से उनका परिचय देना चाहिये। उसके बाद राजा गौ, बकरी, भेड़ तथा गृह आदि दान करके सांवत्सर (ज्योतिषी) और पुरोहित का पूजन करना चाहिये। फिर पृथ्वी, गौ तथा अन्न आदि देकर अन्यान्य ब्राह्मणों की भी पूजा करनी चाहिये। तत्पश्चात् अग्नि की प्रदक्षिणा करके गुरु (पुरोहित) को नमस्कार करना चाहिये। फिर बैल की पीठ का स्पर्श करके, गौ और बछड़े की पूजा के अनन्तर अभिमन्त्रित अश्व पर आरूढ़ होवे। उससे उतरकर हाथी की पूजा करके, उसके ऊपर सवार हो और सेना साथ लेकर प्रदक्षिण-क्रम से सड़क पर कुछ दूर तक यात्रा करनी चाहिये। इसके बाद दान आदि के द्वारा सभी को सम्मानित करके विदा कर दे और स्वयं राजधानी में प्रवेश करना चाहिये।।२७-३५।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी दो सौ अट्ठारहवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।२१८।।

❖❖❖

अथैकोनविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

अभिषेकमन्त्राः

पुष्कर उवाच

राजदेवाद्यभिषेकमन्त्रान्वक्ष्येऽघमर्दनान्। कुम्भात्कुशोदकैः सिञ्चेत्तेन सर्वं हि सिद्ध्यति॥१॥
सुरास्त्वामभिषिञ्चन्तु ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः। वासुदेवः संकर्षणः प्रद्युम्नश्चानिरुद्धकः॥२॥
भवन्तु विजयायैत इन्द्राद्या दश दिग्गजाः। रुद्रो धर्मो मनुर्दक्षो रुचिः श्रद्धा च सर्वदा॥३॥
भृगुरत्रिर्वशिष्ठश्च सनकश्च सनन्दनः। सनत्कुमारोऽङ्गिराश्च पुलस्त्यः पुलहः क्रतुः॥४॥
मरीचिः कश्यपः पातु प्रजेशं पृथिवीपतिम्। प्रभासुरा बर्हिषद अग्निष्वात्ताश्च पान्तु ते॥५॥
क्रव्यादाश्चोपहूताश्च आज्यपाश्च सुकालिनः। अग्निभिश्चाभिषिञ्चन्तु लक्ष्म्याद्या धर्मवल्लभाः॥६॥
आदित्याद्याः कश्यपस्य बहुपुत्रस्य वल्लभाः। कृशाश्वस्याग्निपुत्रस्य भार्याश्चारिष्टनेमिनः॥७॥
अश्विन्याद्याश्च चन्द्रस्य पुलहस्य तथा प्रियाः। भूता च कपिशा दंष्ट्री सुरसा सरमा दनुः॥८॥
श्येनी भासी तथा क्रौञ्ची धृतराष्ट्री शुकी तथा। एतास्त्वामभिषिञ्चन्तु अरुणश्चार्कसारथिः॥९॥
आयतिर्नियती रात्रिर्निद्रा लोकस्थितौ स्थिताः। उमा मेना शची पान्तु धूमोर्णा निर्ऋतिर्जया॥१०॥

अध्याय-२१९

अभिषेकार्थ मन्त्र विचार

पुष्करजी ने कहा कि–अधुना मैं राजा और देवता आदि के अभिषेक सम्बन्धी मन्त्रों का वर्णन करने जा रहा हूँ, जो सम्पूर्ण पापों को दूर करने वाले हैं। कलश से कुशयुक्त जल द्वारा राजा का अभिषेक करना चाहिये; इससे सम्पूर्ण मनोरथों की सिद्धि होती है॥१॥

उस समय निम्नांकित मन्त्रों का पाठ करा चाहिये–'हे राजन्! ब्रह्मा, विष्णु और शिव आदि सम्पूर्ण देवता आपका अभिषेक करें। भगवान् वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध, इन्द्र आदि दस दिक्पाल, रुद्र, धर्म, मनु, दक्ष, रुचि तथा श्रद्धा–ये सभी सदा आपको विजय सम्प्रदान करने वाले हों। भृगु, अत्रि, वसिष्ठ, सनक, सनन्दन, सनत्कुमार, अङ्गिरा, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, मरीचि और कश्यप आदि ऋषि महर्षि प्रजा का शासन करने वाले भूपति की रक्षा करें। अपनी प्रभा से प्रकाशित होने वाले 'बर्हिषद्' और 'अग्निष्वात्त' नाम वाले पितर आपका पालन करें। क्रव्याद (राक्षस), आवाहन किये हुए आज्यपा (घृतपान करने वाले देवता और पितर), सुकाली (सुकाल लाने वाले देवता) तथा धर्मप्रिया लक्ष्मी आदि देवियाँ प्रवृद्ध अग्नियों के साथ आपका अभिषेक करें। अनेकों पुत्रों वाले प्रजापति, कश्यप के आदित्य आदि प्रिय पुत्रगण, अग्निनन्दन कृशाश्व तथा अरिष्टनेमि की पत्नियाँ भी आपका अभिषेक करें। चन्द्रमा की अश्विनी आदि भार्याएँ, पुलह की प्रिय पत्नियाँ और भूता, कपिशा, दंष्ट्री, सुरसा, सरमा, दनु, श्येनी, भाषी, क्रौञ्ची, धृतराष्ट्री तथा शुकी आदि देवियाँ एवं सूर्य के सारभि अरुण–ये सब तुम्हारे अभिषेक का कार्य सम्पन्न करें। आयति, नियति, रात्रि, निद्रा, लोकरक्षा में तत्पर रहने वाली उमा, मेना और शची आदि देवियाँ, धूमा, ऊर्णा, नैर्ऋती, जया, गौरी, शिवा, ऋद्धि,

गौरी शिवा च ऋद्धिश्च वेला या चैव नड्वला। असिक्नी च तथा ज्योत्स्ना देवतन्यो वनस्पतिः॥११॥
महाकल्पश्च कल्पश्च मन्वन्तयुगानि च। संवत्सराणि वर्षाणि पान्तु त्वामयनद्वयम्॥१२॥
ऋतवश्च तथा मासाःपक्षा रात्र्यहनी तथा। सन्ध्यातिथिमुहूर्ताश्च कालस्यावयवाश्च ये॥१३॥
सूर्याद्याश्च ग्रहाः पान्तु मनुः स्वायंभुवादिकः। स्वयम्भुवः स्वारोचिष उत्तमस्तामसो मनुः॥१४॥
रैवतश्चाक्षुषः षष्ठो वैवस्वत इहेरितः। सावर्णिब्रह्मपुत्रश्च धर्मपुत्रश्च रुद्रजः॥१५॥
दक्षजो रौच्यभौत्यौ च मनवस्तु चतुर्दश। विश्वभुक्च विपश्चिच्च सुचितिश्च शिखी विभुः॥१६॥
मनोजवस्तथौजस्वी बलिरद्भुतशान्तयः। वृषश्च ऋतधामा च दिवस्पृक्कविरिन्द्रकः॥१७॥
रैवन्तश्च कुमारश्च तथा वत्सविनायकः। वीरभद्रश्च नन्दी च विश्वकर्मा पुरोजवः॥१८॥
एते त्वामभिषिञ्चन्तु सुरमुख्याः समागताः। नासत्यौ देवभिषजौ ध्रुवाद्या वसवोऽष्ट च॥१९॥
दश चाङ्गिरसो वेदास्त्वाऽभिषिञ्चन्तु सिद्धये। आत्मा ह्यायुर्मनो दक्षो मदः प्राणस्तथैव च॥२०॥
हविष्मांश्च गरिष्ठा च ऋतः सत्यश्च पान्तु वः। क्रतुर्दक्षो वसुः सत्यः कालकामो धुरिर्जये॥२१॥
पुरूरवा अद्रिवाश्च विश्वेदेवाश्च रोचनः। अङ्गारकाद्याः सूर्यस्त्वां निर्ऋतिश्च तथा यमः॥२२॥
अजैकपादहिर्बुघ्न्यो धूमकेतुश्च रुद्रजाः। भरतश्च तथा मृत्युः कापालिरथ किङ्किणिः॥२३॥
भवनो भावनः पान्तु स्वजन्यः स्वजनस्तथा। क्रतुश्रवाश्च मूर्धा च याजनोऽभ्युशनास्तथा॥२४॥
प्रसवश्चाव्ययश्चैव दक्षश्च भृगवः सुरा। मनोनुमन्ता प्राणश्च नवोऽपानश्च वीर्यवान्॥२५॥
वीतिहोत्रो नयः सांध्यो हंसो नारायणोऽवतु। विभुश्चैव प्रभुश्चैव देवश्रेष्ठा जगद्धिताः॥२६॥
धाता मित्रोऽर्मया पूषा शक्रोऽथ वरुणो भगः। त्वष्टा विवस्वान्सविता विष्णुर्द्वादशभास्कराः॥२७॥

वेला, नड्वला, असिक्नी, ज्योत्स्ना, देवाङ्गनाएँ तथा वनस्पति—ये सब आपका पालन करें॥२-११॥ 'महाकल्प, कल्प, मन्वन्तर, युग, संवत्सर, वर्ष, दोनों अयन, ऋतु, मास, पक्ष, रात-दिन, संध्या, तिथि, मुहूर्त तथा काल के विभिन्न अवयव (छोटे-छोटे भेद) आपकी रक्षा करें। सूर्य आदि ग्रह और स्वायम्भुव आदि मनु आपकी रक्षा करे। स्वायम्भुव, स्वारोचिष, श्रेष्ठतम, तामस, रैवत, चाक्षुष, वैवस्वत, सावर्णि, ब्रह्मपुत्र, धर्मपुत्र, रुद्रपुत्र, दक्षपुत्र, रौच्य तथा भौत्य-ये चौदह मनु तुम्हारे रक्षक हों। विश्वभुक्, विपश्चित्, शिखी, विभु, मनोजव, ओजस्वी, बलि, अद्भुत शान्तियाँ, वृष, ऋतधामा, दिवःस्पृक्, कवि, इन्द्र, रैवन्त, कुमार कार्तिकेय, वत्सविनायक, वीरभद्र, नन्दी, विश्वकर्मा, पुरोजव, देववैद्य अश्विनीकुमार तथा ध्रुव आदि आठ वसु—ये सभी प्रधान देवता यहाँ पदार्पण करक तुम्हारे अभिषेक का कार्य सम्पन्न करें। अङ्गिरा के वंश में उत्पन्न दस देवता और चारों वेद सिद्धि के लिये आपका अभिषेक करें। आत्मा, आयु, मन, दक्ष, मद, प्राण, हविष्मान्, गरिष्ठ, ऋत और सत्य—ये आपकी रक्षा करें तथा क्रतु, दक्ष, वसु, सत्य, काल, काम और धुरि—ये आपको विजय सम्प्रदान करें। पुरूरवा, आर्द्रवा विश्वेदेव, रोचन, अङ्गारक (मंगल) आदि ग्रह, सूर्य, निर्ऋति तथा यम—ये सब आपकी रक्षा करें। अजैकपाद, अहिर्बुध्न्य, धूमकेतु, रुद्र के पुत्र, भरत, मृत्यु, कापालि, किंकणि, भवन, भावन, स्वजन्य, स्वजन, क्रतुश्रवा, मूर्धा, याजन और उशना—ये आपकी रक्षा करें। प्रसव, अव्यय, दक्ष, भृगुवंशी ऋषि, देवता, मनु, अनुमन्ता, प्राण, नव, बलवान् अपान वायु, वीतिहोत्र, नय, साध्य, हंस, विभु, प्रभु और नारायण-संसार के हित में लगे रहने वाले ये श्रेष्ठ देवता आपका पालन करें। धाता, मित्र, अर्यमा, पूषा, शक्र, वरुण, भग,

एकज्योतिश्च द्विज्योतिस्त्रिश्च (च) तुर्ज्योतिरेव च। एकशक्रो द्विशक्रश्च त्रिशक्रश्च महाबलः॥२८॥
इन्द्रश्च मेत्यादिशतु ततः प्रतिमकृत्तथा। मितश्च संमितश्चैव अमितश्च महाबलः॥२९॥
ऋतजित्सत्यजिच्चैव सुषेणः सेनजित्तथा। अतिमित्रोऽनुमित्रश्च पुरुमित्रोऽपराजितः॥३०॥
ऋतश्च ऋतवाग्धाता विधाता धारणो ध्रुवः। विधारणो महातेजा वासवस्य परः सखा॥३१॥
ईदृक्षश्चाप्यदृक्षश्च एतादृगमिताशनः। क्रीडितश्च सदृक्षश्च सरभश्च महातपाः॥३२॥
धर्ता धुर्यो धुरिर्भीम (?) अभिमुक्तोऽक्षपात्सहः। धृतिर्वसुरनाधृष्यो रामः कामो जयो विराट्॥३३॥
देवा एकोनपञ्चाशन्मरुतस्त्वामवन्तु ते। चित्राङ्गदश्चित्ररथश्चित्रसेनश्च वै कलिः॥३४॥
ऊर्णायुरुग्रसेनश्च धृतराष्ट्रश्च नन्दकः। हाहाहूहूर्नारदश्च विश्वावसुश्च तुम्बुरुः॥३५॥
एते त्वामभिषिञ्चन्तु गन्धर्वा विजयायते। पान्तु ते मुनयो मुख्या दिव्याश्चाप्सरसां गणाः॥३६॥
अनवद्या सुकेशी च मेनका सहजन्यया। क्रतुस्थला घृताची च विश्वाची पुञ्जिकस्थला॥३७॥
प्रम्लोचा चोर्वशी रम्भा पञ्चचूडा तिलोत्तमा। चित्रलेखा लक्ष्मणा च पुण्डरीका च वारुणी॥३८॥
प्रह्लादो विरोचनाऽथ बलिर्बाणोऽथ तत्सुतः। एते चान्येऽभिषिञ्चन्तु दानवा राक्षसास्तथा॥३९॥
हेतिश्चैव प्रहेतिश्च विद्युत्स्फूर्जथुरग्रकाः। यक्षः सिद्धात्मकः पातु मणिभद्रश्च नन्दनः॥४०॥
पिङ्गाक्षो द्युतिमांश्चैव पुष्पवन्तो जयावहः। शङ्खः पद्मश्च मकरः कच्छपश्च निधिर्जये॥४१॥
पिशाचा ऊर्ध्वकेशाद्या भूता भूम्यादिवासिनः। महाकालं पुरस्कृत्य नरसिंहं च मातरः॥४२॥
गुहः स्कन्दो विशाखस्त्वां नैगमेयोऽभिषिञ्चतु। डाकिन्यो याश्च योगिन्यः खेचराभूचराश्च याः॥४३॥
गरुडश्चारुणः पान्तु संपातिप्रमुखाः खगाः। अनन्ताद्या महानागाः शेषवासुकितक्षकाः॥४४॥

त्वष्टा, विवस्वान्, सविता, भास्कर और विष्णु–ये द्वादश सूर्य आपकी रक्षा करें। एकज्योति, द्विज्योति, त्रिज्योति, चतुर्ज्योति, एकशक्र, द्विशक्र, महाबली त्रिशक्र, इन्द्र पतिकृत्, मित, सम्मित, महाबली अमित, ऋतमित्र, अनुमित्र, पुरुमित्र, अपराहित, ऋत, ऋतवाक्, धाता, विधाता, धारण, ध्रुव, इन्द्र के परम मित्र महातेजस्वी विधारण, इदृक्ष, अदृक्ष, एतादृक्, अमिताशन, क्रीडित, अदृक्ष, सरभ, महातपा, धर्ता, धुर्य्य, धुरि, भीम, अभिमुक्त, अक्षपात, सह, धृति, वसु, अनाधृष्य, राम, काम, जय और विराट्–ये उन्चास मरुत् नामक देवता आपका अभिषेक करें तथा आपको लक्ष्मी सम्प्रदान करें। चत्रिाङ्गद, चित्ररथ, चित्रसेन, कलि, ऊर्णायु, उग्रसेन, धृतराष्ट्र, नन्दक, हाहा, हूहू, नारद, विश्वासु और तुम्बुरु–ये गन्धर्व तुम्हारे अभिषेक का कार्य सम्पन्न करें और आपको विजयी बनावें। प्रधान-प्रधान मुनि तथा अनवद्या, सुकेशी, मेन का, सहजन्या, क्रतुस्थला, घृताची, विश्वाची पुञ्जिकस्थला, प्रम्लोचा, उर्वशी, रम्भा, पञ्चचूड़ा, तिलोत्तमा, चित्र लेखा, लक्ष्मणा, पुण्डरीका और वारुणी–ये दिव्य अप्सराएँ आपकी रक्षा करें॥१२-३८॥

"प्रह्लाद, विरोचन, बलि, बाण और उसका पुत्र–ये तथा दूसरे-दूसरे दानव और राक्षस तुम्हारे अभिषेक का कार्य सिद्ध करें। हेति, प्रहेति, विद्युत् स्फूर्जथु, अग्रक, यक्ष, सिद्ध, मणिभद्र और नन्दन–ये सब आपकी रक्षा करें। पिङ्गाक्ष, द्युतिमान्, पुष्पवन्त, जयावह, शङ्ख, पद्म, मकर और कच्छप–ये निधियाँ आपको विजय सम्प्रदान करें। ऊर्ध्वकेश आदि पिशाच, भूमि आदि के निवासी भूत और माताएँ, महाकाल एवं नृसिंह को आगे करके आपका पालन करें। गुह, स्कन्द, विशाख, नैममेय–ये आपका अभिषेक करें। भूतल एवं आकाश में विचरने वाली डाकिनी तथा

ऐरावतो महापद्मः कम्बलाश्वतरावुभौ। शङ्खः कर्कोटकश्चैव धृतराष्ट्रो धनञ्जयः॥४५॥
कुमुदैरावणौ पद्मः पुष्पदन्तोऽथ वामनः। सुप्रतीकाञ्जनो नागाः पान्तु त्वां सर्वतः सदा॥४६॥
पैतामहस्तथा हंसो वृषभः शंकरस्य च। दुर्गासिंहश्च पान्तु त्वां यमस्य महिषस्तथा॥४७॥
उच्चैःश्रवाश्चाश्वपतिस्तथा धन्वन्तरिः सदा। कौस्तुभः शङ्खराजश्च व्रजं शूलं च चक्रकम्॥४८॥
नन्दकोऽस्त्राणि रक्षन्तु धर्मश्च व्यवसायकः। चित्रगुप्तश्च दण्डश्च पिङ्गलो मृत्युकालकौ॥४९॥
बालखिल्यादिमुनयो व्यासवाल्मीकिमुख्यकाः। पृथुर्दिलीपो भरतो दुष्यन्तः शत्रुजिद्बली॥५०॥
मनुः ककुत्स्थश्चानेना युवनाश्वो जयद्रथः। मान्धाता मुचकुन्दश्च पान्तु त्वां च पुरूरवाः॥५१॥
वास्तुदेवाः पञ्चविंशत्तत्त्वानि विजयाय ते। रुक्मभौमः शिलाभौमः पातालो नीलमूर्तिकः॥५२॥
पीतरक्तः क्षितिश्चैव श्वेतभौमो रसातलम्। भूर्लोकोऽथ भुवर्मुख्या जम्बूद्वीपादयः श्रिये॥५३॥
उत्तराः कुरवः पान्तु रम्यो हिरण्यकस्तथा। भद्राश्वः केतुमालश्च वर्षश्चैव बलाहकः॥५४॥
हरिवर्षः किंपुरुष इन्द्रद्वीपः कशेरुमान्। ताम्रवर्णो गभस्तिमान्नागद्वीपश्च सौम्यकः॥५५॥
गान्धर्वो वारुणो यश्च नवमः पातु राज्यदः। हिमवान्हेमकूटश्च निषधो नील एव च॥५६॥
श्वेतश्च शृङ्गवान्मेरुर्माल्यवान्गन्धमादनः। महेन्द्रो मलयः सह्यः शुक्तिमानृक्षवान्गिरिः॥५७॥
विन्ध्यश्च पारियात्रश्च गिरयः शान्तिदास्तु ते। ऋग्वेदाद्याः षडङ्गानि इतिहासपुराणकम्॥५८॥
आयुर्वेदश्च गान्धर्वधनुर्वेदोपवेदकाः। शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं ज्योतिषां गतिः॥५९॥
छन्दोऽङ्गानि च वेदाश्च मीमांसा न्यायविस्तरः। धर्मशास्त्रं पुराणं च विद्याह्येताश्चतुर्दश॥६०॥

योगिनियाँ, गरुड, अरुण तथा सम्पाति आदि पक्षी आपका पालन करें। अनन्त आदि बड़े-बड़े नाग, शेष, वासुकि, तक्षक ऐरावत, महापद्म, कम्बल, अश्वतर, शङ्ख, कर्कोटक, धृतराष्ट्र, धनंजय, कुमुद, ऐरावत, पद्म, पुष्पदन्त, वामन, सुप्रतीक तथा अञ्जन नामक नाग सदा और सभी तरफ से आपकी रक्षा करें। ब्रह्माजी का वाहन हंस, देवाधिदेव भगवान् श्रीशिवशंकर का वृषभ, भगवती दुर्गा का सिंह और यमराज का भैंसा—ये सभी वाहन आपका पालन करें। अश्वराज उच्चैःश्रवा, धन्वन्तरि वैद्य, कौस्तुभ मणि, शङ्खराज पाञ्चजन्य, वज्र, शूल, चक्र और नन्दक खड्ग आदि अस्त्र आपकी रक्षा करें। दृढ़ निश्चय रखने वाले धर्म, चित्रगुप्त, दण्ड, पिङ्गल, मृत्यु, काल, वालखिल्य आदि मुनि, व्यास और वाल्मीकि आदि महर्षि, पृथु, दिलीप भरत, दुष्यन्त, अत्यन्त बलवान् शत्रुजित् मनु, ककुत्स्थ, अनेना, युवनाश्व, जयद्रथ, मान्धाता, मुचुकुन्द और पृथ्वीपति पुरूरवा—ये सब राजा तुम्हारे रक्षक हों। वास्तुदेवता और पच्चीस तत्त्व आपकी विजय के साधक हों। रुक्मभौम, शिलाभौम, पाताल, नीलमूर्ति, पीतरक्त, क्षिति, श्वेतभौम, रसातल, भूर्लोक, भुवर् आदि लोक तथा जम्बूद्वीप आदि द्वीप आपको राज्यलक्ष्मी सम्प्रदान करें। उत्तरकुरुश्रु, रम्य, हिरण्यक, भद्राश्व, केतुमाल, बलाहक, हरिवर्ष, किंपुरुष, इन्द्रद्वीप, कशेरमान्, ताम्रवर्ण, गभस्तिमान्, नागद्वीपा, सौम्यक, गान्धर्व, वारुण और नवम आदि वर्ष आपकी रक्षा करें और आपको राज्य सम्प्रदान करने वाले हों। हिमवान्, हेमकूट, विषध, नील, श्वेत, शृङ्गवान्, मेरु, माल्यवान्, गन्धमादन, महेन्द्र, मलय, सह्य, शुक्तिमान, ऋक्षवान् गिरि, विन्ध्य और पारियात्र—ये सभी पर्वत आपको शान्ति सम्प्रदान करें। ऋक् आदि चारों वेद, छहों अङ्ग, इतिहास, पुराण, आयुर्वेद, गान्धर्ववेद और धनुर्वेद आदि उपवेद, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, ज्यौतिष, छन्द—ये षड् अङ्ग, चार वेद, मीमांसा, न्याय, धर्मशास्त्र और पुराण—ये चौदह विद्याएँ आपकी रक्षा करें।।३९-६०।।

सांख्यं योगः पाशुपतं वेदा वै पञ्चरात्रकम्। कृतान्तपञ्चकं ह्येतद्गायत्री च शिवा तथा।।६१।।
दुर्गा विद्या च गान्धारी पान्तु त्वां शान्तिदाश्च ते। लवणेक्षुसुरासर्पिर्दधिदुग्धजालब्धयः।।६२।।
चत्वारः सागरः पान्तु तीर्थानि विविधानि च। पुष्करश्च प्रयागश्च प्रभासो नैमिषः परः।।६३।।
गयाशीर्षो ब्रह्मशिरस्तीर्थमुत्तरमानसम्। कालोदको नन्दिकुण्डतीर्थं पञ्चनदस्तथा।।६४।।
भृगुतीर्थं प्रभासं च तथा चामरकण्टकम्। जम्बूमार्गश्च विमलः कपिलस्य तथाऽऽश्रमः।।६५।।
गङ्गाद्वारकुशावर्तौ विन्ध्यको नीलपर्वतः। वराहपर्वतश्चैव तीर्थं कनखलं तथा।६६।।
कालंजरश्च केदारो रुद्रकोटिस्तथैव च। वाराणसी महातीर्थं बदर्याश्रम एव च।।६७।।
द्वारकाश्रीगिरिस्तीर्थं तीर्थं च पुरुषोत्तमः। शालग्रामोऽथ वाराहः सिन्धुसागरसंगमः।।६८।।
फलुतीर्थं विन्दुसरः करवीराश्रमस्तथा। नद्यो गङ्गासरस्वत्यः शतद्रुर्गण्डकी तथा।।६९।।
अच्छोदा च विपाशा च वितस्ता देविका नदी। कावेरी वरुणा चैव निश्चिरा गोमती नदी।।७०।।
पारा चर्मण्वती रूपा मन्दाकिनी महानदी। तापी पयोष्णी वेणा च गौरी वैतरणी तथा।।७१।।
गोदावरी भीमरथी तुङ्ग भद्राऽरणी तथा। चन्द्रभागा शिवा गौरी अभिषिञ्चन्तु पान्तु च।।७२।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते अभिषेकमन्त्रकथनं नामैकोनविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः।।२१९।।

—※※※—

सांख्य, योग, पाशुपत, वेद, पाञ्चरात्र–ये 'सिद्धान्तपञ्चक' कहलाते हैं। इन पाँचों के अतिरिक्त गायत्री, शिवा, दुर्गा, विद्या तथा गान्धारी नाम वाली देवियाँ आपकी रक्षा करें और लवण, इक्षुरस, सुरा, घृत, दधि, दुग्ध तथा जल से भरे हुए समुद्र आपको शान्ति सम्प्रदान करें। चारों समुद्र और विविध तरह के तीर्थ आपकी रक्षा करें। पुष्कर, प्रयाग, प्रभास, नैमिषारण्य, गयाशीर्ष, ब्रह्मशिरतीर्थ, उत्तरमानस, कालोदक, नन्दिकुण्ड, पञ्चनदतीर्थ, भृगुतीर्थ, अमरकण्टक, जम्बूमार्ग, विमल, कपिलाश्रम, गङ्गाद्वार, कुशावर्त, विन्ध्य, नीलगिरि, वराह पर्वत, कनखल तीर्थ, कालञ्जर, केदार, रुद्रकोटि, महातीर्थ वाराणसी, बदरिकाश्रम, द्वारका, श्रीशैल, पुरुषोत्तमतीर्थ, शालग्राम, वाराह, सिन्धु और समुद्र के संगम का तीर्थ, फल्गुनीर्थ, विनदुसर, करवीराश्रम, गङ्गानदी, सरस्वती, शतद्रु, गण्डकी, अछोदा, विपाशा, वितस्ता, देविका नदी, कावेरी, वरुणा, निश्चिरा, गोमती नदी, पारा, चर्मण्वती, रूपा, महानदी, मन्दाकिनी, तापी, पयोष्णी, वेणा, वैतरणी, गोदावरी, भीमरथी, तुङ्गभद्रा, अरणी, चन्द्रभागा, शिवा तथा गौरी आदि पवित्र नदियाँ आपका अभिपेक और पालन करें।।६१-७२।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी दो सौ उन्नीसवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।२१९।।

❖❖❖

अथ विंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

सहायसम्पत्तिः

पुष्कर उवाच

सोऽभिषिक्तः सहामात्यो जयेच्छत्रून्नृपोत्तमः। राज्ञा सेनापतिः कार्यो ब्राह्मणः क्षत्रियोऽथ वा॥१॥
कुलीनो नीतिशास्त्रज्ञः प्रतिहारश्च नीतिवित्। दूतश्च प्रियवादी स्यादक्षीणोऽतिबलान्वितः॥२॥
ताम्बूलधारी ना स्त्री वा भक्तः क्लेशसहप्रियः। सांधिविग्रहिकः कार्यः षाड्गुण्यादिविशारदः॥३॥
खड्गधारी रक्षकः स्यात्सारथिः स्याद्बलादिवित्। सूदाध्यक्षो हितो विज्ञो महानसगतो हि सः॥४॥
सभासदस्तु धर्मदा लेखकोऽक्षरविद्धितः। आह्वानकालविज्ञाः स्युर्हिता दौवारिका जनाः॥५॥
रत्नादिज्ञो धनाध्यक्षो ह्यर्थद्वारे हितो नरः। स्यादायुर्वेदविद्वैद्यो गजाध्यक्षोऽथ हस्तिवित्॥६॥
जितश्रमो गजारोहो हयाध्यक्षो हयादिवत्। दुर्गाध्यक्षो हितो धीमान्स्थपतिर्वास्तुवेदवित्॥७॥
यन्त्रमुक्ते पाणिमुक्ते अमुक्ते मुक्तधारिते। अस्त्राचार्यो नियुद्धे च कुशलो नृपतेर्हितः॥८॥

अध्याय-२२०

सहायक सम्पत्ति विचार

पुष्करजी ने कहा कि-अभिषेक हो जाने पर श्रेष्ठतम राजा के लिये यह उचित है कि वह मन्त्री को साथ लेकर शत्रुओं पर विजय प्राप्त करें। उसको ब्राह्मण या क्षत्रिय को, जो कुलीन और नीतिशास्त्र का ज्ञाता हो, अपना सेनापति बनाना चाहिये। द्वारपाल भी नीतिज्ञ होना चाहिये। इसी तरह दूत को भी मृदुभाषी, अत्यन्त बलवान् और सामर्थ्यवान् होना उचित है।।१-२।।

राजा को पान देने वाला सेवक, स्त्री या पुरुष कोई भी हो सकता है। इतना अवश्य है कि उसको राजभक्त, क्लेश-सहिष्णु और स्वामी का प्रिय होना चाहिये। सांधिविग्रहिक (परराष्ट्रसचिव) उसको बनाना चाहिये, जो संधि, विग्रह, यान, आसन, द्वैधीभाव और समाश्रय--इन छहों गुणों का समय और अवसर के अनुसार उपयोग करने में निपुण हो। राजा की रक्षा करने वाला प्रहरी हमेशा हाथ में तलवार लिये रहना चाहिये। सारथि सेना आदि के विषय में पूरी जानकारी रखे। रसोइयों के अध्यक्ष को राजा का हितैषी और चतुर होने के साथ ही सदा रसोई गृह में उपस्ति रहना चाहिये। राजसभा के सदस्य धर्म के ज्ञाता हों। लिखने का काम करने वाला पुरुष कई तरह के अक्षरों का ज्ञाता तथा हितैषी हो। द्वार-रक्षा में नियुक्त पुरुष ऐसे होने चाहिये, जो स्वामी के हित में संलग्न हों और इस बात की अच्छी तरह जानकारी रखें कि महाराज कब-कब उनको अपने पास बुलाते हैं। धनाध्यक्ष सा मनुष्य हो, जो रत्न आदि की परख कर सके और धन बढ़ाने के साधनों में तत्पर रहना चाहिये। राजवैद्य को आयुर्वेद का पूर्ण ज्ञान होना चाहिये। इसी तरह गजाध्यक्ष को भी गजविद्या से परिचित होना आवश्यक है। हाथी-सवार परिश्रम से थकने वाला न हो। घोड़ों का अध्यक्ष अश्वविद्या का विद्वान् होना चाहिये। दुर्ग के अध्यक्ष को भी हितैषी एवं बुद्धिमान् होना आवश्यक है। शिल्पी अथवा कारीगर वास्तुविद्या का ज्ञताा हो। जो मशीन से हथियार चलाने, हाथ से शस्त्रों का प्रयोग करने, शस्त्र को न छोड़ने, छोड़े हुए शस्त्र को रोकने या निवारण करने में तथा युद्ध की कला में कुशल और जाता का हित चाहने वाला

वृद्धश्चान्तःपुराध्यक्षः पञ्चाशद्वार्षिकाः स्त्रियः। सप्तत्यब्दास्तु पुरुषाश्चरेयुः सर्वकर्मसु॥९॥
जाग्रत्स्यादायुधागारे ज्ञात्वा वृत्तिर्विधीयते। उत्तमाधममध्यानि (बुद्धवा कर्माणि पार्थिवः॥१०॥
उत्तमाधममध्यानि) पुरुषाणि (न्वि) नियोजयेत्। जयेच्छुः पृथिवीं राजा सहायानान येद्धितान्॥११॥
धर्मिष्ठान्धर्मकार्येषु शूरान्सङ्ग्रामकर्मसु। निपुणानर्थकृत्येपु सर्वत्र च तथा शुचीन्॥१२॥
स्त्रीषु षण्ढाग्नियुञ्जीत तीक्ष्णान्दारुणकर्मसु। यो यत्र विदितो राज्ञा शुचित्वेन तु तं नरम्॥१३॥
धर्मे चार्थे च कामे च नियुञ्जीताधमेऽधमान्। राजायथार्हं कुर्याच्च उपधाभिः परीक्षितान्॥१४॥
समन्त्री च यथान्यायात्कुर्याद्धस्तिवनेचरान्। तत्पदान्वेषणे यत्तानध्यक्षांस्तत्र कारयेत्॥१५॥
यस्मिन्कर्मणि कौशल्यं यस्य तस्मिन्नियोजयेत्। पितृपैतामहान्भृत्यान्सर्वकर्मसु योजयेत्॥१६॥
विना दायादकृत्येषु तत्र ते हि सभा मताः। परराजगृहात्प्राप्ताञ्जनान्संश्रयकाम्यया॥१७॥
दुष्टानप्यथ वाऽदुष्टान्संश्रयेत प्रयत्नतः। दुष्टं ज्ञात्वा विश्वसेन्न तद्वृत्तिं वर्तयेद्वशे॥१८॥
देशान्तरागतान्पार्श्वेचारैर्ज्ञात्वा हि पूजयेत्। शत्रवोऽग्निर्विषं सर्पो निस्त्रिंशमपि चैकतः॥१९॥

हो, उसको ही अस्त्राचार्य के पद पर नियुक्त करना चाहिये। रनिवास का अध्यक्ष वृद्ध पुरुष को बनाना चाहिये। पचास वर्ष की स्त्रियाँ और सत्तर वर्ष के बूढ़े पुरुष अन्तःपुर के सभी कार्यों में लगाये जा सकते हैं। शस्त्रागार में ऐसे पुरुष को रखना चाहिये, जो सदा सजग रहकर पहरा देता रहना चाहिये। भृत्यों के कार्यों को समझकर उनके लिये तदनुकूल जीविका का प्रबन्ध करना उचित है। राजा को श्रेष्ठतम, मध्यम और निकृष्ट कार्यों का विचार करके उनमें ऐसे ही पुरुपों को नियुक्त करना चाहिये। पृथ्वी पर विजय चाहने वाला भूपाल हितैपी सहायकों का संग्रह करना चाहिये। धर्म के कार्यों में धर्मात्मा पुरुषों को, युद्ध में शूरवीरों को और धनोपार्जन के कार्यों में अर्थकुशल व्यक्तियों को लगावे। इस बात का ध्यान रखे कि सभी कार्यों में नियुक्त हुए पुरुष शुद्ध आचार-विचार रखने वाले हों॥३-१२॥

स्त्रियों की देख-भाल में नपुंसकों को नियुक्त करना चाहिये। कठोर कर्मों में तीखे स्वभाव वाले पुरुपों को लगावे। तात्पर्य यह कि राजा धर्म-अर्थ अथवा काम के साधन में जिस पुरुप को जहाँ के लिये शुद्ध एवं उपयोगी समझे, उसकी वहीं नियुक्ति करना चाहिये। निकृष्ट श्रेणी के कामों में वैसे ही पुरुपों को लगावे। राजा के लिये उचित है कि वह तरह-तरह के उपयों से मनुष्यों की परीक्षा करके उनको यथायोग्य कार्यों में नियोजित करना चाहिये। मन्त्री से सलाह ले, कुछ व्यक्तियों को यथोचित वृत्ति देकर हाथियों के जंगल में तैनात करना चाहिये तथा उनका पता लगाते रहने के लिये कई उत्साही अध्यक्षों को नियुक्त करना चाहिये। जिसको जिस काम में निपुण देखे, उसको उसी में लगावे और वाप-दादों के समय से चले आते हुए भृत्यों को सभी तरह के कार्यों में नियुक्त करना चाहिये। केवल उत्तराधिकारी के कार्यों में नियुक्त करना चाहिये। क्योंकि वहाँ वे सब-के-सब एक समान हैं। जो लोग दूसरे राजा के आश्रय से हटकर अपने पास शरण लेने की इच्छा से आवें, वे दुष्ट हों या साधु, उनको यत्नपूर्वक आश्रय देना चाहिये। दुष्ट साबित होने पर उनका विश्वास नहीं करना चाहिये और उनकी जीविकावृत्ति को अपने ही अधीन रखे। जो लोग दूसरे देशों से अपने पास आयें हों, उनके विषय में गुप्तचरों द्वारा सभी बातें जानकर उनका यथावत् सत्कार करना चाहिये। शत्रु, अग्नि, विष, साँप और तलवार एक तरफ तथा दुष्ट स्वभाव वाले भृत्य दूसरी तरफ, इनमें दुष्ट भृत्यों को ही अधिक भयंकर समझना चाहिये। राजा को चारचक्षु होना उचित है। अर्थात् उसको गुप्तचरों द्वारा सभी बातें देखनी-उनकी जानकारी प्राप्त करनी चाहिये। इसलिये वह हमेशा सबकी देख-भला के लिये गुप्तचर तैनात किये रहना चाहिये।

भृत्यं विशिष्टं विज्ञेयाः कुभृत्याश्च तथैकतः। चारचक्षुर्भवेद्राजा नियुञ्जीत सदा चरान्॥२०॥
जनस्याविहितान्सौम्यांस्तथाऽज्ञातान्परस्परम्। वणिजो मन्त्रकुशलान्सांवत्सरचिकित्सकान्॥२१॥
तथा प्रव्रजिताकारान्बलाबलविवेकिनः। नैकस्य राजा श्रद्दध्याच्छ्रद्दध्याद्बहुवाक्यतः॥२२॥
रागापरागौ भृत्यानां जनस्य च गुणागुणान्। शुभानामशुभानां च ज्ञानं कुर्याद्वशाय च॥२३॥
अनुरागकरं कर्म चरेज्जह्याद्विरागजम्। जनानुरागया लक्ष्म्या राजा स्याज्जनरञ्जनात्॥२४॥

॥इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते सहायसम्पत्तिवर्णनं नाम विंशत्यधिकद्विशततमोध्यायः॥२२०॥

गुप्तचर ऐसे हों, जिन्हें दूसरे लोग पहचानते न हों, जिनका स्वभाव शान्त एवं कोमल हो तथा जो परस्पर एक-दूसरे से भी अपरिचित हो। उनमें कोई वैश्य के रूप में हो, कोई मन्त्र तन्त्र में कुशल कोई ज्यौतिषी, कोई वैद्य, कोई संन्यास-वेषधारी और कोई बलाबल का विचार करने वाले व्यक्ति के रूप में हों राजा को चाहिये कि किसी एक गुप्तचर की बात पर विश्वास न करें। जिस समय बहुतों के मुख से एक तरह की बात सुने, तभी उसको विश्वासनीय समझे। भृत्यों के हृदय में राजा के प्रति अनुराग है या विरक्ति, किस मनुष्य में कौन-से गुण तथा अवगुा हैं। कौन शुभचिन्तक हैं और कौन रखने के लिये राजा को ये सभी बातें समझनी चाहिये। वह ऐसा कर्म करना चाहिये, जो प्रजा अनुराग संवृद्धि प्रदान करने वाला हों। जिससे लोगों के मन में विरक्ति हो, ऐसा केई काम नहीं करना चाहिये। प्रजा का अनुराग बढ़ाने वाली लक्ष्मी से युक्त राजा ही वास्तव में राजा है। वह सब लोगों का रञ्जन करने–उनकी प्रसन्नता बढ़ाने के कारण ही 'राजा' कहलाता है।॥१३-२४॥

॥इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी दो सौ बीसवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ॥२२०॥

❖❖❖

अथैकविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

अनुजीविवृत्तम्

पुष्कर उवाच

भृत्यः कुर्यात्तु राजाज्ञां शिष्यवत्सु स्त्रियः पतेः(त्युः)। न क्षिपेद्वचनं राज्ञो अ(ह्य) नुकूलं प्रियं वदेत्।।१।।
रहोगतस्य वक्तव्यमप्रियं यद्धितं भवेत्। न नियुक्तो हरेद्वित्तं नोपेक्षेत्तस्य मानकम्।।२।।
राज्ञश्च न तथा कार्यं वेशभाषाविचेष्टितम्। अन्तःपुरचराध्यक्षो वैरभूतैर्निराकृतैः।।३।।
संसर्गं न व्रजेद्भृत्यो राज्ञो गुह्यं च गोपयेत्। प्रदर्श्य कौशलं किंचिद्राजानं तु विशेषयेत्।।४।।
राज्ञा यच्छ्रावितं गुह्यं न तल्लोके प्रकाशयेत्। आज्ञाप्यमाने वाऽन्यस्मिन्किं करोमीति वा वदेत्।।५।।
वस्त्रं रत्नमलङ्कारं राज्ञा दत्तं च धारयेत्। नानिर्दिष्टो द्वारि विशेन्नायोग्ये (ग्य) भुविराजदृक्।।६।।
जृम्भा निष्ठीवनं कासं कोपं पर्यङ्किकाश्रयम्। भृकुटीं वातमुद्गारं तत्समीपे विवर्जयेत्।।७।।
स्वगुणाख्यापने युक्त्या परानेव नियोजयेत्। शाठ्यं लौल्यं सपेशून्यं (शु) नास्तिक्यं क्षुद्रता तथा।।८।।
चापल्यं च परित्याज्यं नित्यं राजानुजीविना। श्रुतेन विद्याशिल्पैश्च संयोज्याऽऽत्मानमात्मना।।९।।

अध्याय-२२१

अनुजीवि दायित्व विचार

पुष्करजी ने कहा कि-भृत्य को राजा की आज्ञा का उसी तरह पालन करना चाहिये, जिस प्रकार शिष्य गुरु की और साध्वी स्त्रियाँ अपने पति की आज्ञा का पालन करती हैं। राजा की बात पर कभी आक्षेप नहीं करना चाहिये। सदा ही उसके अनुकूल और प्रिय वचन बोले। यदि कोई हित की बात बतानी हो और वह सुनने में अप्रिय हो, तो उसको एकान्त में राजा से कहना चाहिये। किसी आय के काम में नियुक्त होने पर राजकीय धन का अपहरण नहीं करना चाहिये; राजा के सम्मान की अपेक्षा नहीं करना चाहिये। उसकी वेश-भूषा और बाले-चाल की नकल करना उचित नहीं है। अन्तःपुर के सेवकों के अध्यक्ष का कर्त्तव्य है कि वह ऐसे पुरुषों के साथ न बैठे, जिनका राजा के साथ वैर हो तथा जो राजदरबार से अपमान पूर्वक निकाले गये हों। भृत्य को राजा की गुप्त बातों को दूसरों पर प्रकट नहीं करना चाहिये। अपनी कोई कुशलता दिखाकर राजा को विशेष सम्मानित एवं प्रसन्न करना चाहिये। यदि राजा कोई गुप्त बात सुनावें तो उसको लोगों में प्रकाशित नहीं करना चाहिये। यदि वे दूसरे को किसी काम के लिये आज्ञा दे रहे हों तो स्वयं ही उठकर कहे-'हे महराज! मुझको आदेश दिया जाय, कौन-सा का करना है, मैं उसको करने जा रहा हूँ। राजा के दिये हुए वस्त्र-आभूषण तथारत्न आदि को सदा धारण किये रहना चाहिये। बिना आज्ञा के दरवाजे पर अथवा और किसी अयोग्य स्थान पर, थूकना, खाँसना, क्राध करना खाटपर बैठना, भौंहें टेढ़ी करना, अधोवायु छोड़कर तका डकार लेना आदि कार्य राजा के सन्निकट होने पर नहीं करना चाहिये। उनके सामने अपना गुण प्रकट करने के लिये दूसरों को ही युक्तिपूर्वक नियुक्त करना चाहिये। शठता, लोलुपता, चुगली, नास्तिकता, नीचता तथा चपलता-इन दोषों का राजसेवकों को सदा त्याग करना चाहिये। पहले स्वयं प्रयत्न करके अपने में वेदविद्या एवं

राजसेवां ततः कुर्याद्भूतये भूतिवर्धनः। नमस्कार्या सदा चास्य पुत्रवल्लभमन्त्रिणः॥१०॥
सचिवैर्नास्य विश्वासो राजचित्तप्रियं चरेत्। त्यजेद्विरक्तं रक्तात्तु वृत्तिमीहेत राजवित्॥११॥
अपृष्टश्चास्य न ब्रूयात्कामं कुर्यात्तथाऽऽपदि। प्रसन्नो वाक्यसंग्राही रहस्ये न च शङ्कते॥१२॥
कुशलादिपरिप्रश्नं संप्रयच्छति चाऽऽसनम्। तत्कथाश्रवणाद्धृष्टो अ (ह्य) प्रियाण्यपि नन्दते॥१३॥
अल्पं दत्तं प्रगृह्णाति स्मरेत्कथान्तरेष्वपि। इति रक्तस्य कर्तव्या सेवाऽन्यस्य विवर्जयेत्॥१४॥

॥इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते अनुजीविवृत्तकथनं नामैकविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः॥२२१॥

शिल्पकला की योग्यता का निष्पादन करना चाहिये। तत्पश्चात् अपना धन बढ़ाने की चेष्टा करने वाले पुरुष को अभ्युदय के लिये राजा की सेवा में प्रवृत्त होना चाहिये। उनके प्रिय पुत्र एवं मन्त्रियों को सदा नमस्कार करना उचित है। केवल मन्त्रियों के साथ रहने से राजा का अपने ऊपर विश्वास नहीं होता; इसलिये उनके हार्दिक अभिप्राय के अनुकूल सदा प्रिय कार्य करना चाहिये। राजा के स्वभाव को समझने वाले पुरुष के लिये उचित है कि वह विरक्त राजा को त्याग दे और अनुरक्त राजा से ही आजीविका प्राप्त करने की चेष्टा करना चाहिये। बिना पूछे राजा के सामन कोई बात न कहे; परन्तु आपत्ति के समय ऐसा करने में कोई हर्ज नहीं है। राजा प्रसन्न हो, तो वह सेवक के विनययुक्त वचन को मानता है, उसकी याचना को स्वीकार करता है। प्रेमी सेवक को किसी रहस्यस्थान (अन्तःपुर) आदि में देख ले तो भी उस पर शङ्का संदेह नहीं करता है। वह दरबार में आये तो राजा उसकी कुशल पूछता है, उसको बैठने के लिये आसन देता है। उसकी चर्चा सुनकर वह प्रसन्न होता है। वह कोई अप्रिय बात भी कह दे तो वह बुरा नहीं मानता, उलटे प्रसन्न होता है। उसकी दी हुई छोटी-मोटी वस्तु भी राजा बड़े आदर से ले लेता है और बातचीत में उसको याद रखता है। कथित लक्षणों से राजा अनुरक्त है या विरक्त यह जानकर अनुरक्त राजा की सेवा करना चाहिये। इसके विपरीत जो विरक्त है, उसका साथ त्याग देना चाहिये।१-१४॥

॥इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी दो सौ इक्कीसवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ॥२२१॥

❖❖❖

अथ द्वाविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

दुर्गसम्पत्तिः

पुष्कर उवाच

दुर्गसम्पत्तिमाख्यास्ये दुर्गदेशे वसेन्नृपः। वैश्यशूद्रजनप्रायो ह्यनाहार्यस्तथा परैः॥१॥
किंचिद्ब्राह्मणसंयुक्तो बहुकर्मकरस्तथा। अदेवमातृको भक्तजलो देशः प्रशस्यते॥२॥
परैरपीडितः पुष्पफलधान्यसमन्वितः। अगम्यः परचक्राणां व्यालतस्करवर्जितः॥३॥
षण्णामेकतमं दुर्गं तत्र कृत्वा वसेद्बली। धनुर्दुर्गं महीदुर्गं नरदुर्गं तथैव च॥४॥
(वार्क्षं चैवाम्बुदुर्गं च गिरिदुर्गं च भार्गव। सर्वोत्तमं शैलदुर्गमभेद्यं चान्यभेदनम्)॥५॥
पुरं तत्र च हट्टाद्यं देवतायतनादिकम्। (अनुयन्त्रायुधोपेतं सोदकं दुर्गमुत्तमम्॥६॥
राजरक्षां प्रवक्ष्यामि रक्ष्यो भूपो विषादितः। पञ्चाङ्गस्तु शिरीषः स्यान्मूत्रपिष्टो विषार्दनः॥७॥
शतावरी छिन्नरुहा विषघ्नी तण्डुलीयकम्। कोषातकी च कह्लारी ब्राह्मी चित्रपटोलिका॥८॥
मण्डूकपर्णी वाराही धात्र्यानन्दकमेव च। उन्मादिनी सोमराजी विषघ्नं रत्नमेव च॥९॥

अध्याय-२२२

दुर्ग सम्पत्ति विचार

पुष्करजी ने कहा कि–अधुना मैं दुर्ग बनाने के विषय में कहने जा रहा हूँ। राजा को दुर्गदेश (दुर्गम प्रदेश अथवा सुदृढ़ एवं विशाल किले) में निवास करना चाहिये। साथ रहने वाले मनुष्यों में वैश्यों और शूद्रों की संख्या अधिक होनी चाहिये। दुर्ग ऐसे स्थान में रहे, जहाँ शत्रुओं का जोर न चल सके। दुर्ग में थोड़े-से ब्राह्मणों का भी रहना आवश्यक है। राजा के रहने के लिये वही देश श्रेष्ठ माना गया है, जहाँ बहुत से काम करने वाले लोग (किसान मजदूर) रहते हों, जहाँ पानी के लिये वर्षा की राह नहीं देखनी पड़ती हो, नदी-तालाब आदि से ही पर्याप्त जल प्राप्त होता रहता हो। जहाँ शत्रु पीड़ा न दे सकें, जहाँ शत्रु सेना की गति न हो सके औरसर्प तथा लुटेरों का भी भय न हो।

बलवान् राजा को निम्नांकित छः तरह के दुर्गों में से किसी एक का आश्रय लेकर निवास करना चाहिये। हे भृगुनन्दन! धन्वदुर्ग, महीदुर्ग, नरदुर्ग, वृक्षदुर्ग, जलदुर्ग और पर्वतदुर्ग–ये ही छः तरह के दुर्ग हैं। इनमें पर्वत दुर्ग सबसे श्रेष्ठतम है। वह शत्रुओं के लिये अभेद्य तथा रिपुवर्ग का भेदन करने वाला है। दुर्ग ही राजा का पुर या नगर है। वहाँ हाट-बाजार तथा देवमन्दिर आदि का होना आवश्यक है। जिसके चारों तरफ मन्त्र लगे हों, जो अस्त्र-शस्त्रों से भरा हो, जहाँ जल का सुपास हो तथा जिसके सभी तरफ पानी से भरी खाइयाँ हों, वह दुर्ग श्रेष्ठतम माना गया है॥१-६॥

अधुना मैं राजा की रक्षा के विषय में कुछ निवेदन करने जा रहा हूँ–राजा पृथ्वी का पालन करने वाले होते हैं, इसलिये विष आदि से उसकी रक्षा करनी चाहिये। शिरीष वृक्ष की जड़, छाल, पत्ता, फूल और फल–इन पाँचों अङ्गों को गोमूत्र में पीसकर सेवन करने से विष का निवारण होता है। शतावरी, गुडुचि और चौंराई विष का विनाश करने वाली है। कोषात की (कड़वी तरोई), कह्लारी (करियारी), ब्राह्मी, चित्रपटोलिका (कड़वी परोरी), मण्डूकपर्णी

वास्तुलक्षणसंयुक्ते वसन्दुर्गे सुरान्यजेत्)। प्रजाश्च पालदुष्टाञ्जयेद्दानानि दापयेत्॥१०॥
देवद्रव्यादिहरणात्कल्पं तु नरकं वसेत्। देवालयानि कुर्वीत देवपूजारतो नृपः॥११॥
सुरालयाः पालनीयाः स्थापनीयाश्च देवताः। मृण्मयाद्दारुजं पुण्यं दारुजादिष्टकामयम्॥१२॥
ऐष्टकाच्छैलजं पुण्यं शैलजात्स्वर्णरत्नजम्। क्रीडन्सुरगृहं कुर्वन्भुक्तिमुक्तिवाप्नुयात्॥१३॥
चित्रकृद्गीतवाद्यादिप्रेक्षणीयादिदानकृत्। तैलाज्यमधुदुग्धाद्यैः स्नाप्य देवं दिवं व्रजेत्॥१४॥
पूजयेत्पालयेद्विप्रान्द्विजस्वं न हरेन्नृपः। सुवर्णमेकं गामेकां भूमेरप्येकमङ्गुलम्॥१५॥
हरन्नरकमाप्नोति यावदाभूतसंप्लवम्। दुराचारं न द्विषेच्च सर्वपापेष्वपि स्थितम्॥१६॥
नैवास्ति ब्राह्मणवधात्पापं गुरुतरं क्वचित्। अदैवं दैवतं कुर्युः कुर्युर्दैवमदैवतम्॥१७॥
ब्राह्मणा हि महाभागास्तान्नमस्येत्सदैव तु। ब्राह्मणी रुदती हन्ति कुलं राज्यं प्रजास्तथा॥१८॥
साध्वीस्त्रीणां पालनं च राजा कुर्याच्च धार्मिकः। स्त्रिया प्रहृष्टया भाव्यं गृहकार्यैकदक्षया॥१९॥
सुसंस्कृतोपस्करया व्यये च मुक्तहस्तया। यस्मै दद्यात्पिता त्वेनां शुश्रूषेत्तं पतिं सदा॥२०॥
मृते भर्तरि स्वर्यायाद्ब्रह्मचर्ये स्थिताऽङ्गना। परवेश्मरुचिर्न स्यान्न स्यात् कलहशालिनी॥२१॥

(ब्राह्मी का एक भेद), वराहीकन्द, आँवला, आनन्दक, भाँग और सोमराजी (बकुची)—ये दवाएँ विष दूर करने वाली हैं। विषनाशक माणिक्य और मोती आदि रत्न भी विष का निवारण करने वाले हैं।।७-१०।।

राजा को वास्तु के लक्षणों से युक्त दुर्ग में रहकर देवताओं का पूजन, प्रजा का पालन, दुष्टों का दमन तथा दान करना चाहिये। देवता के धन आदि का अपहरण करने से राजा को एक कल्पतक नरक में रहना पड़ता है। उसको देवपूजा में तत्पर रहकर देवमन्दिरों का निर्माण कराना चाहिये। देवालयों की रक्षा और देवताओं की स्थापना भी राजा का कर्तव्य है। देवविग्रह मिट्टी का भी बनाया जाता है। मिट्टी से काठ का, काठ से ईंट का, ईंट से पत्थर का और पत्थर से सोने तथा रत्न का बना हुआ विग्रह पवित्र माना गया है। प्रसन्नतापूर्वक देवमन्दिर बनवाने वाले पुरुष को भोग और मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है। देवमन्दिर में चित्र बनवावे, गाने बजाने आदि का प्रबन्ध करना चाहिये। दर्शनीय वस्तु दान दे और तेल, घी, मधु और दूध आदि से देवता को नहलावे तो मनुष्य स्वर्गलोक में जाता है। ब्राह्मणों का पालन और उनका आदर करना चाहिये। ब्राह्मणों का धन नहीं छिनना चाहिये। यदि राजा ब्राह्मण का एक सोना, एक गाय अथवा एक अंगुल जमीन छीन लेता है, तो उसे महाप्रलय होने तक नरक में डूबे रहना पड़ता है। ब्राह्मण सभी तरह के पापों में प्रवृत्त तथा दुराचारी हो तो भी उससे द्वेष न करे। ब्राह्मण की हत्या से बढ़कर कोई अन्य पाप नहीं है। महाभाग ब्राह्मण चाहे तो जो देवता नहीं है, उसे भी देवता बना दे और देवता को देवपद से नीचे उतार दें; अतः सदा ही उनको नमस्कार करना चाहिये॥१७॥

यदि राजा के अत्याचार से ब्राह्मणी की रुलाई आ जाय तो वह उसके वंश, राज्य तथा प्रजाजनों सबका विनाश कर डालती है। इसलिये धर्मपरायण राजा को उचित है कि वह साध्वी स्त्रियों का सम्मान करे। स्त्री को घर के कामकाज में चतुर और प्रसन्न होना चाहिये। उसे घर के प्रत्येक सामान को साफ-सुथरा रखना चाहिये। धन व्यय करने में खुले हाथ वाली नहीं होना चाहिये। कन्या को उसका पिता जिस व्यक्ति को दान कर दे, वह व्यक्ति उसका पति है। पत्नि को अपने पति की सदा सेवा करनी चाहिये। पति की मृत्यु हो जाने पर ब्रह्मचर्य का पालने करने वाली स्त्री स्वर्गलोक को जाती है। वह दूसरे के घर में रहना पसन्द न करे और झगड़े से दूर रहना चाहिये। जिस स्त्री का

मण्डनं वर्जयेन्नारी तथा प्रोषितभर्तृका। देवताराधनपरा तिष्ठेद्भर्तृहिते रता।।२२।।
धारयेन्मङ्गलार्थाय किंचिदाभरणं तथा। भर्त्राग्निं या विशेन्नारी साऽपि स्वर्गमवाप्नुयात्।।२३।।
श्रियः सम्पूजनं कार्यं गृहसम्मार्जनादिकम्। द्वादश्यां कार्तिके विष्णुं गां सवत्सा ददेत्तथा।।२४।।
सावित्र्या रक्षितो भर्ता सत्याचारव्रतेन च। सप्तम्यां मार्गशीर्षे तु सितेऽभ्यर्च्य दिवाकरम्।।२५।।
पुत्रानाप्नोति च स्त्रीह नात्र कार्या विचारणा।।२६।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते दुर्गसम्पत्तिवर्णनं नाम द्वाविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः।।२२२।।

पति विदेश में हो, उसे शृङ्गार नहीं करना चाहिये। उस सदा अपने पति के हित के विषय में चिन्तन करते हुये देवताओं की आराधना करनी चाहिये। केवल मङ्गल के लिये सौभाग्यचिह्न (मंगलसूत्र) के रूप में एक-दो आभूषण धारण करने चाहिये। जो स्त्री पति की मृत्यु के पश्चात् उसके साथ ही उसकी चिता की आग में प्रवेश कर जाती है, उसे भी स्वर्गलोक की प्राप्ति होती है। लक्ष्मी की पूजा और घर को साफ रखना आदि गृहिणी के प्रमुख कार्य हैं। कार्तिक की द्वादशी को विष्णु की पूजा करके बछड़े सहित गौ का दान करना चाहिये। सावित्री ने सदाचार और व्रत के प्रभाव से अपने पति की मृत्यु से रक्षा की थी। मार्गशीर्ष शुक्ला सप्तमी को सूर्यदेव की आराधना करने से स्त्री को पुत्रधन की प्राप्ति है; इसमें तनिक भी अन्यथा विचार करने की आवश्यकता नहीं है।।१८-२६।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी दो सौ बाईसवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।२२२।।

❖❖❖

अथ त्रयोविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

राजधर्माः

पुष्कर उवाच

ग्रामस्याधिपतिं कुर्याद्दशग्रामाधिपं नृपः। शतग्रामाधिपं चान्यं तथैव विषयेश्वरम्।।१।।
तेषां भोगविभागश्च भवेत्कर्मानुरूपतः। नित्यमेव तथा कार्यं तेषां चारैः परीक्षणम्।।२।।
ग्रामे दोषान्समुत्पन्नान्ग्रामेशः प्रशमं नयेत्। अशक्यो दशपालस्य स तु गत्वा निवेदयेत्।।३।।
श्रुत्वाऽपि दशपालोऽपि तत्र युक्तिमुपाचरेत्। वित्ताद्याप्नोति राजा वै विषयात्तु सुरक्षितात्।।४।।
धनवान्धर्ममाप्नोति धनवान्काममश्नुते। उच्छिद्यन्ते विना ह्यर्थैः क्रिया ग्रीष्मे सरिद्यथा।।५।।
विशेषो नास्ति लोकेषु पतितस्याधनस्य च। पतितान्नतु गृह्णाति दरिद्रो न प्रयच्छति।।६।।
धनहीनस्य भार्याऽपि नैव स्याद्वशवर्तिनी। राष्ट्रपीडाकरो राजा नरके वसते चिरम्।।७।।
नित्यं राज्ञा तथा भाव्यं गर्भिणी सहधर्मिणी। यथा स्वं सुखमुत्सृत्य गर्भस्य सुखमावहेत्।।८।।
किं यज्ञैस्तपसा तस्य प्रजा यस्य न रक्षिताः। सुरक्षिताः प्रजा यस्य स्वर्गस्तस्य गृहोपमः।।९।।

अध्याय–२२३

राज़धर्म का विचार

पुष्करजी ने कहा कि–राज्य का प्रबन्ध इस तरह करना चाहिये–राजा को प्रत्येक गाँव का एक-एक अधिपति नियुक्त करना चाहिये। पुनः दस-दस गाँवों का तथा सौ-सौ गाँवों का अध्यक्ष नियुक्त करना चाहिये। सबके ऊपर एक ऐसे पुरुष को नियुक्त करना चाहिये जो समूचे राष्ट्र का शासन कर सके। उन सबके कार्यों के अनुसार उसके लिये पृथक्-पृथक् भोग (भरण पोषण के लिये वेतन आदि) का विभक्तीकरण करना चाहिये। तथा प्रतिदिन गुप्तचरों के द्वारा उनके कार्यों की देखभाल एवं परीक्षण करते रहना चाहिये। यदि गाँव में कोई दोष उत्पन्न हो कोई मामला खड़ा हो, तो ग्रामाधिपति को उसको शान्त करना चाहिये। यदि वह उस दोष को दूर करने में असमर्थ हो जाय तो दस गाँव के अधिपति के पास जाकर उनसे सब बाते बता दें। पूरा वृत्तान्त सुनकर वह दस गाँव का स्वामी उस दोष को मिटाने का उपाय करे।।१-३।। जिस समय राष्ट्र भलीभाँति सुरक्षित होता है तभी राजा को उससे धन आदि की प्राप्ति होती है। धनवान् धर्म का उपार्जन करता है, धनवान ही कामसुख का उपभोग करता है जिस प्रकार गर्मी में नदी का पानी सूख जाता है उसी तरह धन के विना सभी कार्य चौपट हो जाते हैं। संसार में पतित और निर्धन मनुष्यों में कोई विशेष अन्तर नहीं है लोभ पतित मनुष्य के हाथ से कोई वस्तु नहीं लेते और दरिद्र अपने अभाव के कारण स्वयं ही नहीं दे पाता। धनहीन की स्त्री भी उसकी आज्ञा के अधीन नहीं रहती इसलिये राष्ट्र को पीड़ा पहुँचाने वाला उसको कंगाल बनाने वाला राजा अधिक काल तक नरक में निवास करता है। जिस प्रकार गर्भवती पत्नी अपने सुख का ख्याल छोड़कर गर्भ के बच्चे को सुख पहुँचाने की चेष्टा करती है, उसी तरह राजा को भी सदा प्रजा की रक्षा का ध्यान रखना चाहिये। जिसकी प्रजा सुरक्षित नहीं है उस राजा के यज्ञ और तप से क्या लाभ? जिनसे प्रजा की भलीभाँति रक्षा की है उसके लिये स्वर्ग लोक अपने गृह के समान हो जाता है। जिसकी प्रजा अरक्षित अवस्था में कष्ट उठाती है उस राजा का निवास स्थान है नरक। राजा अपनी प्रजा के पुण्य और पाप में से भी छठाँ भाग ग्रहण करता है। रक्षा करने से उसको प्रजा के धर्म का अंश प्राप्त होता है। और रक्षा न करने से वह लोगों के पाप का

अरक्षिताः प्रजा यस्य नरकं तस्य मन्दिरम्। राजा षड्भागमादत्ते सुकृताद्दुष्कृतादपि।।१०।।
(धर्मागमो रक्षणाच्च पापमाप्नोत्यरक्षणात्। सुभगा विटभीतेव राजवल्लभतस्करैः।।११।।
भक्ष्यमाणाः प्रजा रक्ष्याः कायस्थैश्च विशेषतः। रक्षिता तद्भयेभ्यस्तु राज्ञो भवति सा प्रजा।।१२।।
अरक्षिता सा भवति तेषामेवेह भोजनम्। दुष्टसंमर्दनं कुर्याच्छास्त्रोक्तं करमादरेत्)।।१३।।
(कोषो प्रवेशयेदर्धं नित्यं चार्धं द्विजे ददेत्। निधिं द्विजोत्तमः प्राप्य गृह्णीयात्सकलं तथा।।१४।।
चतुर्थमष्टमं भागं तथा षोडशमं (कं) द्विजः। वर्णक्रमेण दद्याच्च निधिं पात्रे तु धर्मतः।।१५।।
अनृतं तु वदन्दण्ड्यः सुवित्तस्यांशमष्टमम्। प्रणष्टस्वामिकमृक्थं राजा त्र्यब्दं निधापयेत्।।१६।।
अर्वाक्त्र्यब्दाद्धरेत्स्वामी परेण नृपतिर्हरेत्। ममेदमिति यो ब्रूयात्सोऽर्थयुक्तो यथाविधि।।१७।।
संपाद्य रूपसंख्यादीन्स्वामी तद्द्रव्यमर्हति। बालदायादिकमृक्थं तावद्राजाऽनुपालयेत्।।१८।।
यावत्स्यात्स समावृत्तो यावद्वाऽतीतशैशवः। बालपुत्रासु चैवं स्याद्रक्षणं निष्कुलासु च।।१९।।
पतिव्रतासु च स्त्रीषु विधवास्वातुरासु च। जीवन्तीनां तु तासां ये संहरेयुश्च बान्धवाः।।२०।।
ताञ्शिष्याच्चौरदण्डेन धार्मिकः पृथिवीपतिः। सामान्यतो हृतं चौरैस्तद्वै दद्यात्स्वयं) नृपः।।२१।।
चौररक्षाधिकारिभ्यो राजाऽपि हृतमाप्नुयात्। अहृते यो हृतं ब्रूयान्निःसार्यो दण्ड्य एव सः।।२२।।

भागी होता है जिस प्रकार परस्त्री लम्पट दुराचारी पुरुषों से डरी हुयी पतिव्रता स्त्री की रक्षा करना धर्म है, उसी तरह राजा के प्रिय व्यक्तियों, चोरों और विशेषतः राजकीय कर्मचारियों के द्वारा चूसी जाती हुयी प्रजा की रक्षा करनी चाहिये। उनके भय से रक्षित होने पर प्रजा राजा के काम आती है। यदि उसकी रक्षा नहीं की गयी तो वह उपरोक्त मनुष्यों का ही ग्रास बन जाती है। इसलिये राजा दुष्टों का दमन करे और शास्त्र में वताये अनुसार प्रजा से कर ले। राज्य की आधी आय सदा आय खजाने में रख दिया करे और आधा ब्राह्मण को दे दे। श्रेष्ठ ब्राह्मण उस निधि को पाकर सभी का सब अपने हाथ में ले ले। और उसमें से चौथा, आठवाँ तथा सोलहवाँ भाग निकाल कर क्रमशः क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र को दे। धन को धर्म के अनुसार सुपात्र के हाथ में ही देना चाहिये। झूठ बोलने वाले मनुष्य को दण्ड देना उचित है। राजा उसके धन का आठवाँ भाग दण्ड के रूप में ले ले। जिस धन का स्वामी लापता हो, उसको राजा तीन वर्षों तक अपने अधिकार में रखे। तीन वर्ष के पहले यदि धन का स्वामी आ जाय तो वह उसको ले सकता है, उससे अधिक समय बीत जाने पर राजा स्वयं ही उस धन को ले ले। जो मनुष्य (नियत समय के भीतर आकर) 'यह मेरा धन है' ऐसा कहके उसका अपने से सम्बन्ध बतलाता है वह विधिपूर्वक (राजा के सामने जाकर) उस धन का रूप और उसकी संख्या बतलावे। इस तरह अपने को स्वामी सिद्ध कर देने पर वह उस धन को पाने का अधिकारी होता है। जो धन छोटे बालक के हिस्से का हो उसकी राजा उस समय तक रक्षा करता रहे जिस समय तक की उसका समावर्तन संस्कार न हो जाय। अथवा जिस समय तक उसकी बाल्यावस्था न निवृत्त हो जाय। इसी तरह जिनके वंश में कोई न हो और उनके बच्चे छोटे हों, ऐसी स्त्रियों की भी रक्षा आवश्यक है।।४-१९।। पतिव्रता स्त्रियाँ भी यदि विधवा तथा रोगिणी हो, तो भी उनकी रक्षा करना इसी तरह करनी चाहिये। यदि उनके जीतेजी कोई बन्धु बान्धव उनके धन का अपहरण करे तो धर्मात्मा राजा को उचित है कि उन बान्धवों को चोर का दण्ड दे। यदि सामान्य चोरों ने प्रजा का धन चुराया हो, तो राजा स्वयं उतना धन प्रजा को दे तथा जिन्हें चोरों से रक्षा करने का काम सौंपा गया हो उनसे चुराया हुआ धन राजा वसूल करे। जो मनुष्य चोरी न होने पर भी अपने धन को चुराया हुआ बताता हो वह दण्डनीय है उसको राज्य से बाहर निकाल देना चाहिये। यदि गृह का धन गृह वाले ने ही चुराया हो, तो राजा अपने पास से उनको न दे। अपने राज्य के भीतर जितनी दुकाने हों उनसे उनकी आय का बीसवाँ हिस्सा

न तद्राज्ञा प्रदातव्यं गृहे यद्गृहगैर्हृतम्। स्वराष्ट्रपण्यादादद्याद्रजा विंशतिमं द्विज।।२३।।
शुल्कांशं परदेशाच्च क्षयव्ययप्रकाशकम्। ज्ञात्वा संकल्पयेच्छुल्कं लाभं वणिग्यथाऽऽप्नुयात्।।२४।।
विंशांशं लाभमादद्याद्दण्डनीयस्ततोऽन्यथा। स्त्रीणां प्रव्रजितानां च तरशुल्कं विवर्जयेत्।।२५।।
तरेषु दासदोषेण नष्टं दासस्तु दापयेत्। शूकधान्येषु षड्भागं शिम्बधान्ये तथाऽष्टमम्।।२६।।
राजावन्यार्थमादद्याद्देशकालानुरूपकम्। पञ्चषड्भागमादद्याद्राजा पशुहिरण्ययोः।।२७।।
गन्धौषधिरसानां च पुष्पमूलफलस्य च। पत्रशाकतृणानां च वंशवैणवचर्मणाम्।।२८।।
वैदलानां च भाण्डानां सर्वश्याश्ममयस्य च। षड्भागमेव चाऽऽदद्यान्मधुमांसस्य सर्पिषः।।२९।।
प्रियं चापि न वाऽऽदद्याद्ब्राह्मणेभ्यस्तथा करम्। यस्य राज्ञस्तु विषये श्रोत्रियः सीदति क्षुधा।।३०।।
तस्य सीदति तद्राष्ट्रं व्याधिदुर्भिक्षतस्करैः। श्रुतं वित्तं च विज्ञाय वृत्तिं तस्य प्रकल्पयेत्।।३१।।
रक्षेच्च सर्वतस्त्वेनं पिता पुत्रमिवौरसम्। संरक्ष्यमाणो राज्ञा यः कुरुते धर्ममन्वहम्।।३२।।
तेनाऽऽयुर्वर्धते राज्ञो द्रविणं राष्ट्रमेव च। कर्म कुर्युर्नरेन्द्रस्य मासेनैकं च शिल्पिनः।।३३।।
भुक्तमात्रेण ये चान्ये स्वशरीरोपजीविनः।।३४।।

।।इति श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते राजधर्मकथनं नाम त्रयोविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः।।२२३।।

राजा को कर के रूप में देना चाहिये। परदेश से माल मँगाने में जो खर्च और नुकसान बैठता हो उसका ब्यौरा बताने वाला बीजक देखकर तथा माल पर दिये जाने वाले कर का विचार करके प्रत्येक व्यपारी पर कर लगाना चाहिये, जिससे उसको लाभ होता रहे। वह घाटे में न पड़े आय का बीसवाँ भाग ही राजा को लेना चाहिये। यदि कोई राजकर्मचारी इससे अधिक वसूल करता हो, तो उसको दण्ड देना उचित है। स्त्रियों और साधु सन्यासियों से, नाव की उतरायी (सेवा) नहीं लेनी चाहिये। यदि मल्हारों की गलती से नाव पर कोई चीज़ नुकसान हो जाय तो वह मल्हारों से ही दिलानी चाहिये। राजा शूक धान्य का छठाँ भाग और शिम्बीधान्य का आठवाँ भाग कर के रूप में ग्रहण करना चाहिये। इसी तरह जंगली फल, मूल आदि में देशकाल के अनुरूप उचित कर लेना चाहिये। पशुओं का आठवाँ और स्वर्ण का छठाँ भाग राजा के लिये ग्राह्य है। गन्ध, औषधि, रस, फूल, मूल, फल, पत्र, शाख, तृण, बांस, वेणु, चर्म, बांस को चीरकर बनाये हुये टोकरे तथा पत्थर के बर्तनों पर और मधु, मांस, घी पर भी आमदनी का छठाँ भाग ही कर लेना उचित है।।२०-२९।। ब्राह्मणों से कोई प्रिय वस्तु अथवा कर नहीं लेना चाहिये। जिस राजा के राज्य में श्रोत्रिय ब्राह्मण भूख से कष्ट पाता है उसका राजय बिमारी अकाल और लुटेरो से पीड़ित होता रहता है। इसलिये ब्राह्मण की विद्या और आचरण को जानकर उसके लिये अनुकूल जीविका का प्रबन्ध करना चाहिये तथा जिस प्रकार पिता अपने औरस पुत्र का पालन करता है उसी तरह राजा विद्वान् और सदाचारी ब्राह्मण की सर्वथा रक्षा करनी चाहिये। जो राजा से सुरक्षित होकर प्रतिदिन धर्म का अनुष्ठान करता है उस ब्राह्मण के धर्म से राजा की आयु बढ़ती है तथा उसके राष्ट्र एवं खजाने की भी उन्नति होती है। शिल्पकारों को चाहिये कि महीने में एक दिन विना पारिश्रमिक लिये केवल भोजन स्वीकार करके राजा का काम करे। इसी तरह दूसरे लोगों को भी जो राज्य में रह कर अपने शरीर से परिश्रम से जीविका चलाते हैं उन्हें महीने में एक दिन राजा का काम करना चाहिये।।३०-३४।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी दो सौ तेईसवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।२२३।।

❖❖❖

अथ चतुर्विंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

राजधर्माः

पुष्कर उवाच

वक्ष्येऽन्तः पुरचिन्तां च धर्माद्याः पुरुषार्थकाः। अन्योन्यरक्षया तेषां सेवा कार्या स्त्रिया नृपैः।।१।।
धर्ममूलोऽर्थविटपस्तथा कामफलो महान्। त्रिवर्गपादपस्तत्र रक्षया फलभाग्भवेत्।।२।।
कामाधीनाः स्त्रियो राम तदर्थं रत्नसंग्रहः। सेव्यास्ता नातिसेव्याश्च भूभुजा विषयैषिणः।।३।।
आहारो मैथुनं निद्रा सेव्या नाति हि रुग्भवेत्। मञ्चाधिकारे कर्तव्याः स्त्रियः सेव्याः स्वरात्मिका।।४।।
दुष्टान्याचरते या तु नाभिनन्दति तत्कथाम्। ऐक्यं द्विषद्भिर्व्रजति गर्वं वहति चोद्धता।।५।।
चुम्बिता मार्ष्टि वदनं दत्तं न बहु मन्यते। स्वपित्यादौ प्रसुप्ताऽपि तथा पश्चाद्विबुध्यते।।६।।
स्पृष्टा धुनोति गात्राणि गात्रं च विरुणद्धि या। ईषच्छृणोति वाक्यानि प्रियाण्यपि पराङ्मुखी।।७।।
न पश्यत्यग्रदत्तं तु जघनं च निगूहति। दृष्टे विवर्णवदना मित्रेष्वथ पराङ्मुखी।।८।।
तत्कामितासु च स्त्रीषु मध्यस्थेव च लक्ष्यते। ज्ञातमण्डनकालाऽपि न करोति च मण्डनम्।।९।।

अध्याय-२२४

राजा के अन्तःपुरी धर्म विचार

पुष्करजी ने कहा कि–अधुना मैं अन्तःपुर के विषय में विचार करने जा रहा हूँ। धर्म, अर्थ और काम–ये तीन पुरुषार्थ 'त्रिवर्ग' कहलाते हैं। इनकी एक दूसरे के द्वारा रक्षा करते हुए स्त्रीसहित राजाओं को इनका सेवन करना चाहिये। 'त्रिवर्ग' एक महान् वृक्ष के समान है। 'धर्म' उसकी जड़ 'अर्थ' उसकी शाखाएँ और 'काम' उसका फल है। मूलसहित उस वृक्ष की रक्षा करने से ही राजा फल का भागी हो सकता है। हे राम! स्त्रियाँ काम के अधीन होती हैं, उन्हीं के लिये रत्नों का संग्रह होता है। विषयसुख की इच्छा रखने वाले राजा को स्त्रियों का सेवन करना चाहिये, परन्तु अधिक मात्रा में नहीं।।१-३।।

आहार, मैथुन और निद्रा–इनका अधिक सेवन निषिद्ध है क्योंकि इनसे रोग उत्पन्न होता है। उन्हीं स्त्रियों का सेवन करना चाहिये अथवा पलंग पर बैठावे, जो अपने में अनुराग रखने वाली हों। परन्तु जिस स्त्री का आचरण दुष्ट हो, जो अपने स्वामी की चर्चा भी पसंद नहीं करती, बल्कि उनके शत्रुओं से एकता स्थापित करती है, उद्दण्डता पूर्वक गर्व धारण किये रहती है, स्वामी की दी हुई वस्तु का अधिक आदर नहीं करती, पति के पहले सोती है, पहले सोकर भी उनके जागने के बाद ही जागती है जो स्पर्श करने पर अपने शरीर को कँपाने लगती है, उनके प्रिय वचन को भी बहुत कम सुनती है और सदा उनसे पराङ्मुख रहती है, सामने जाकर कोई वस्तु दी जाय, तो उस पर दृष्टि नहीं डालती, अपने जघन (कटि के अग्रभाग) को अत्यन्त छिपाने–पति के स्पर्श से बचाने की चेष्टा करती है, स्वामी को देखते ही जिसका मुँह उतर जाता है, जो उनके मित्रों से भी विमुख रहती है, वे जिन-जिन स्त्रियों के प्रति अनुराग रखते हैं, उन सबकी तरफ से जो मध्यथ (न अनुरक्त न विरक्त) दिखायी देती है तथा जो शृङ्गार का समय उपस्थित जानकर भी शृङ्गार धारण नहीं करती, वह स्त्री विरक्त है। उसका परित्याग करके अनुरागिणी स्त्री का सेवन करना

या सा विरक्तां तां त्यक्त्वा सानुरागां स्त्रियं भजेत्। दृष्ट्वैव हृष्टा भवति वीक्षते च पराङ्मुखी॥१०॥
दृश्यमानां तथाऽन्यत्र दृष्टिं क्षिपति चञ्चलाम्। तथाऽप्युपावर्तयितुं नैव शक्नोत्यशेषतः॥११॥
विवृणोति तथाऽङ्गानि स्वस्या गुह्यानि भार्गव। गर्हितं च तथैवाङ्गं प्रयत्नेन निगूहति॥१२॥
तद्दर्शने च कुरुते बालालिङ्गनचुम्बनम्। आभाष्यमाणा भवति सत्यवाक्या तथैव च॥१३॥
स्पृष्टा पुलकितैरङ्गैः स्वेदेनैव च भज्यते। करोति च तथा राम सुलभद्रव्ययाचनम्॥१४॥
ततः स्वल्पमपि प्राप्य करोति परमां मुदम्। नामसंकीर्तनादेव मुदिता बहु मन्यते॥१५॥
करजाङ्काङ्कितान्यस्य फलानि प्रेषयत्यपि। तत्प्रेषितं च हृदये विन्यसत्यपि चाऽऽदरात्॥१६॥
आलिङ्गनैश्च गात्राणि लिम्पतीवामृतेन या। सुप्ते स्वपित्यथाऽऽदौ च तथा तस्य विबुध्यते॥१७॥
ऊरू स्पृशति चात्यर्थं सुप्तं चैनं विबुध्यते। कपित्थचूर्णयोगेन तथा दध्नः स्रजा तथा॥१८॥
घृतं सुगन्धि भवति दुग्धैः क्षिप्तैस्तथा यवैः। भोज्यस्य कल्पनैवं स्याद्गन्धमुक्तिः प्रदर्श्यते॥१९॥
शौचमाचमनं राम तथैव च विरेचनम्। भावना चैव पाकश्च बोधनं धूपनं तथा॥२०॥
वासनं चैव निर्मृष्टं कर्माष्टकमिदं स्मृतम्। कपित्थबिल्वजम्ब्वाम्रकरवीरकपल्लवैः॥२१॥

चाहिये। अनुरागवती स्त्री स्वामी को देखते ही प्रसन्नता से खिल उठती है, दूसरी तरफ मुख किये होने पर भी कनखियों से उनकी तरफ देखा करती है, स्वामी को निहारते देख अपनी चञ्चल दृष्टि अन्यत्र हटा ले जाती है परन्तु पूरी तरह हटा नहीं पाती तथा हे भृगुनन्दन! अपने गुप्त अंगों को भी वह कभी-कभी व्यक्त कर देती है और शरीर का जो अंश सुन्दर नही है, उसको प्रयत्नपूर्वक छिपाया करती है, स्वामी के देखते-देखते छोटे बच्चे का आलिङ्गन और चुम्बन करने लगती है, बातचीत में भाग लेती और चुम्बन करने लगती है, बातचीत में भाग लेती और सत्य बोलती है, स्वामी का स्पर्श पाकर जिसके अंगों में रोमाञ्च और स्वेद प्रकट हो जाते हैं, जो उनसे अत्यन्त सुलभ वस्तु ही माँगती है और स्वामी से थोड़ा पाकर भी अधिक प्रसन्नता प्रकट करती है, उनका नाम लेते ही आनन्द विभोर हो जाती तथा विशेष आदर करती है, स्वामी के पास अपनी अंगुलियों के चिह्न से युक्त फल भेजा करती है तथा स्वामी की भेजी हुई कोई वस्तु पाकर उसको आदरपूर्वक छाती से लगा लेती है, अपने आलिंगनों द्वारा मानो स्वामी के शरीर पर अमृत का लेप कर देती है, स्वामी के सो जाने पर सोती और पहले ही जाग जाती है तथा स्वामी के ऊरुओं का स्पर्श करके उनको सोते से जगाती है।।४-१७।।

हे राम! दही की मलाई के साथ थोड़ा-सा कपित्थ (कैथ) का चूर्ण मिला देने से जो घी तैयार होता है, उसकी गन्ध श्रेष्ठतम होती है। घी, दूध आदि के साथ जौ, गेहूँ आदि के आटे का मेल होने से श्रेष्ठतम खाद्य-पदार्थ तैयार होता है। अधुना भिन्न-भिन्न द्रव्यों में गन्ध छोड़ने का तरह दिखलाया जाता है। शौच, आचमन, विरेचन, भावना, पाक, बोधन, धूपन और वासन-ये आठ तरह के कर्म बतलाये गये हैं। कपित्थ, बिल्व, जामुन, आम और करवीर के पल्लवों से जल को धोकर या अभिषिक्त करके पवित्र किया जाता है, वह उस द्रव्य का 'शौचन' (शोधन अथवा पवित्रीकरण) कहलाता है। इन पल्लवों के अभाव में कस्तूरी मिश्रित जल के द्वारा द्रव्यों की शुद्धि हो जाती है। नख, कूट, घन (नागरमोथा), जटामांसी, स्पृक्क, शैलेयज (शिलाजीत), जल, कुमकुम (केसर), लाक्षा (लाह), चन्दन, अगरु, नीरद, सरल, देवदारु, कपूर, कान्ता, वाल (सुगन्धबाला), कुन्दुरुक, गुग्गुल, श्रीनिवास और करायल-ये धूप के इक्कीस द्रव्य हैं। इन इक्कीस धूप-द्रव्यों से अपनी इच्छा के अनुसार दो-दो द्रव्य लेकर उनमें करायल मिलावे।

कृत्वोदकं तु यद्द्रव्यं शौचितं शौचनं तु तत्। एषामभावे शौचं तु मृगदर्पाम्भसा भवेत्।।२२।।
नखं कुष्ठं धनं मांसी स्पृक्कशैलेयजं जलम्। तथैव कुङ्कुमं लाक्षा चन्दनागुरुनीरदम्।।२३।।
सरलं देवकाष्ठं च कर्पूरं कान्तया सह। बालः कुन्दुरुकश्चैव गुग्गुलु श्रीनिवासकः।।२४।।
सह सर्जरसेनैवं धूपद्रव्यैकविंशतिः। धूपद्रव्यगणादस्मादेकविंशाद्यथेच्छया।।२५।।
द्वे द्वे द्रव्ये समादाय सर्जभागैर्नियोजयेत्। नखपिण्याकमलयैः संयोज्य मधुना तथा।।२६।।
धूपयोगा भवन्तीह यथावत्स्वेच्छया कृताः। त्वचं नाडीं फलं तैलं कुंकुमं ग्रन्थिपर्वकम्।।२७।।
शैलेयं तगरं क्रान्तां चोलं कर्पूरमेव च। मांसीं सुरां च कुष्ठं च स्नानद्रव्याणि निर्दिशेत्।।२८।।
एतेभ्यस्तु समादाय द्रव्यत्रयमथेच्छया। मृगदर्पयुतं स्नानं कार्यं कन्दर्पवर्धनम्।।२९।।
त्वङ्मुरानलदैस्तुल्यैर्बालकार्धसमायुतैः। स्नानमुत्पलगन्धि स्यात्सतैलं कुंकुमायते।।३०।।
जातीपुष्पसुगन्धि स्यात्तगरार्धेन योजितम्। सद्व्यामकं स्याद्बकुलैस्तुल्यगन्धि मनोहरम्।।३१।।
मञ्जिष्ठां तगरं चोलं त्वचं व्याघ्रनखं नखम्। गन्धपत्रं च विन्यस्य गन्धतैलं भवेच्छुभम्।।३२।।
तैलं निपीडितं राम तिलैः पुष्पाधिवासितैः। वासनात्पुष्पसदृशं गन्धेन तु भवेद् ध्रुवम्।।३३।।
एलालवंगकक्कोलजातीफलनिशाकराः। जातीपत्रिकया सार्धं स्वतन्त्रा मुखवासकाः।।३४।।
कर्पूरं कुङ्कुमं कान्ता मृगदर्पं हरेणुकम्। कक्कोलैलालवङ्गं च जातीकोशकमेव च।।३५।।

फिर सबमें नख (एक तरह का सुगन्धद्रव्य), पिण्याक (तिल की खली) और मलय-चन्दन का चूर्ण मिलाकर सभी को मधु से युक्त करना चाहिये। इस तरह अपने इच्छानुसार विधिवत् तैयार किये हुए धूपयोग होते हैं, त्वचा (छाल), नाड़ी (डंठल), फल, तिल का तेल, केसर, ग्रन्थिपर्वा, शैलेय; तगर, विष्णुक्रान्ता, चोल, कपूर, जटामांसी, मुरा, कूट– ये सब स्नान के लिये उपयोगी द्रव्य हैं। इन द्रव्यों में से अपनी अच्छा के अनुसार तीन द्रव्य लेकर उनमें कस्तूरी मिला देना चाहिये। इन सबसे मिश्रित जल के द्वारा यदि स्नान करना चाहिये तो वह कामदेव को संवृद्धि प्रदान करने वाला होता है। त्वचा, मुरा, नलद–इन सभी को समान मात्रा में लेकर इनमें आधा सुगन्धबाला मिला देना चाहिये। फिर इनके द्वारा स्नान करने पर शरीर से कमल की सी गन्ध उत्पन्न होती है। इनके ऊपर यदि तेल लगाकर स्नान करना चाहिये तो शरीर का रंग कुमकुम के समान हो जाता है। यदि उपरोक्त द्रव्यों में आधा तगर मिला दिया जाय तो शरीर से चमेली के फूल की भाँति सुगन्ध आती है। उनमें द्व्यामक नाम वाली औषधि मिला देने से मौलसिरी के फूलों की सी मनोहारिणी सुगन्ध प्रकट होती है। तिल के तेल में मंजिष्ठ, तगर, चोल, त्वचा, व्याघ्रनख, नख और गन्धपत्र छोड़ देने से बहुत ही सुन्दर और सुगन्धित तेल तैयार हो जाता है। यदि तिलों को सुगन्धित फूलों से वासित करके उनका तेल पेरा जाय तो निश्चय ही वह तेल फूल के समान ही सुगन्धित होता है। इलायची, लवंग, काकोल (कबाबचीनी), जायफल और कर्पूर–ये स्वतन्त्र रूप से एक-एक भी यदि जायफल की पत्ती के साथ खाये जायँ तो मुँह को सुगन्धित रखने वाले होते हैं। कर्पूर, केसर, कान्ता, कस्तूरी, मेउड़ का फल, कबाबचीनी, इलायची, लवंग, जायफल, सुपारी, त्वकपत्र, त्रुटि (छोटी इलायची), मोथा, लता, कस्तूरी, लवंग के काँटे, जायफल के फल और पत्ते, कटुकफल–इन सभी को एक-एक पैसे भर एकत्रित करके इनका चूर्ण बना ले और उसमें चौथाई भाग वासित किया हुआ खैरसार मिलावे। फिर आम के रस में घोटकर इनकी सुन्दर-सुन्दर गोलियाँ बना ले। वे सुगन्धित गोलियाँ मुँह में रखने पर मुख-सम्बन्धी रोगों का विनाश करने वाली होती है। उपरोक्त पाँच पल्लवों के जल से धोयी हुई सुपारी

त्वक्पत्रं त्रुटिमुस्तौ च लतां कस्तूरिकां तथा। कण्टकानि लवंगस्य फलपत्रे च जातितः॥३६॥
कटुकं च फलं राम कार्षिकाव्युपकल्पयेत्। तच्चूर्णे खदिरं सारं दद्यात्तुर्यं तु वासितम्॥३७॥
सहकाररसेनास्य कर्तव्या गुटिकाः शुभाः। मुखन्यस्ताः सुगन्धास्ता मुखरोगविनाशनाः॥३८॥
पूगं प्रक्षालितं सम्यक्पञ्चपल्लववारिणा। शक्त्या तु गुटिकाद्रव्यैर्वासितं मुखवासकम्॥३९॥
कटुकं दन्तकाष्ठं च गोमूत्र वासितं त्र्यहम्। कृतं च पूगवद्राम मुखसौगन्धि (न्ध्य) कारकम्॥४०॥
त्वक्पथ्ययोः समावंशौ शशिभागार्धसंयुतौ। नागवल्लीसमो भाति मुखवासो मनोहरः॥४१॥
एवं कुयात् सदा स्त्रीणां रक्षणं पृथिवीपतिः। न चाऽऽसां विश्वसेज्जातु पुत्रमातुर्विशेषतः॥
न स्वपेत्स्त्रीगृहे रात्रौ विश्वासः कृत्रिमो भवेत्॥४२॥

॥इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते राजधर्मकथनं नाम चतुर्विंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः॥२२४॥

को यथाशक्ति ऊपर बतलायी हुई गोली के द्रव्यों से वासित कर दिया जाय तो वह मुँह को सुगन्धित रखने वाली होती है। कटुक और दाँतन को यदि तीन दिनतक गोमूत्र में भिगोकर रखा जाय तो वे सुपारी की ही भाँति मुँह में सुगन्ध उत्पन्न करने वाले होते हैं। त्वचा और जंगी हर्रे को बराबर मात्रा में लेकर उनमें आधा भाग कर्पूर मिला दे तो वे मुँह में डालने पर पान के समान मनोहर गन्ध उत्पन्न करते हैं। इस तरह राजा को अपने सुगन्ध आदि गुणों से स्त्रियों को वशीभूत करके सदा उनकी रक्षा करनी चाहिये। कभी उन पर विश्वास नहीं करना चाहिये। विशेषतः पुत्र की माता पर तो बिलकुल विश्वास नहीं करना चाहिये। सारी रात स्त्री के गृह में न सोवे; क्योंकि उनका दिलाया हुआ विश्वास बनावटी होता है॥१८-४२॥

॥इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी दो सौ चौबीसवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ॥२२४॥

❖❖❖

अथ पञ्चविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

राजधर्माः

पुष्कर उवाच

राजपुत्रस्य रक्षा च कर्तव्या पृथिवीक्षिता। धर्मार्थकामशास्त्राणि धनुर्वेदं च शिक्षयेत्।।१।।
शिल्पानि शिक्षयेच्चैनमाप्तैर्मिथ्याप्रियंवदैः। शरीररक्षाव्याजेन रक्षिणोऽस्य नियोजयेत्।।२।।
न चास्य सङ्गो दातव्यः क्रुद्धलुब्धविमानितैः। अशक्यं तु गुणाधानं कर्तुं तं बन्धयेत्सुखः।।३।।
अधिकारेषु सर्वेषु विनीतं विनियोजयेत्। मृगयां पानमक्षांश्च राज्यनाशांस्त्यजेन्नृपः।।४।।
दिवास्वप्नं वृथाष्ट्यां च वाक्यपारुष्यं विवर्जयेत्। निन्दां च दण्डपारुष्यमर्थदूषणमुत्सृजेत्।।५।।
आकाराणां समुच्छेदो दुर्गादीनामसत्क्रिया। अर्थानां दूषणं प्रोक्तं विप्रकीर्णत्वमेव च।।६।।
अदेशकाले यद्दानमपात्रे दानमेव च। अर्थेषु दूषणं प्रोक्तमसत्कर्मप्रवर्तनम्।।७।।
कामं क्रोधं मदं मानं लोभं दर्पं च वर्जयेत्। ततो भृत्यजयं कृत्वा पौरजानपदं जपेत्।।८।।
जयेद्बाह्यानरीन्पश्चाद्बाह्याश्च त्रिविधारयः। गुरवस्ते यथापूर्वं कुल्यानन्तरकृत्रिमाः।।९।।
पितृपैतामहं मित्रं सामन्तश्च तथा रिपोः। कृत्रिमं च महाभाग मित्रं त्रिविधमुच्यते।।१०।।

अध्याय-२२५

राज धर्म में विशेष विचार

पुष्करजी ने कहा कि–राजा को अपने पुत्र की रक्षा करनी चाहिये तथा उसको धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र, कामशास्त्र और धनुर्वेद की शिक्षा देनी चाहिये। साथ ही अनेक तरह के शिल्पों की शिक्षा देनी भी आवश्यक है। शिक्षक विश्वसनीय और प्रिय वचन बोलने वाले होने चाहिये। राजकुमार की शरीर-रक्षा के लिये कुछ रक्षकों को नियुक्त करना भी आवश्यक है। क्रोधी, लोभी तथा अपमानित पुरुषों के संग से उनको दूर रखना चाहिये। गुणों का आधान करना सहज नहीं होता, इसलिये इसके लिये राजकुमार को सुखों से बाँधना चाहिये। जिस समय पुत्र शिक्षित हो जाय, तभी से उसे सभी अधिकारों में नियुक्त करना चाहिये। मृगया, मद्यपान और जुआ–ये राज्य का विनाश करने वाले दोष हैं। राजा को इनका परित्याग करना चाहिये।।१-४।।

दिन का सोना, व्यर्थ घूमना और कटुभाषण करना त्याग देना चाहिये। परायी निन्दा, कठोर दण्ड और अर्थदूषण का भी परित्याग करना चाहिये। स्वर्ण आदि की खानों का विनाश और दुर्ग आदि की मरम्मत न कराना–ये अर्थ के दूषण कहे गये हैं। धन को थोड़ा-थोड़ा करके अनेकों स्थानों पर रखना, अयोग्य देश और अयोग्य काल में अपात्र को दान देना तथा दुष्ट कामों में धन लगाना–यह सब भी अर्थ का दूषण (धन का दुरुपयोग) है। काम, क्रोध, मद, मान, लोभ और दर्प का त्याग करना चाहिये। तत्पश्चात् भृत्यों को जीतकर नगर और देश के लोगों को वश में करना चाहिये। इसके बाद बाह्यशत्रुओं को जीतने का प्रयत्न करना चाहिये। बाह्यशत्रु भी तीन तरह के होते हैं–एक तो वे हैं, जिनके साथ पुस्तैनी दुश्मनी हो; अन्य प्रकार के शत्रु हैं–अपने राज्य की सीमा पर रहने वाले सामन्त तथा तीसरे हैं–कृत्रिम–अपने बनाये हुए शत्रु। इनमें पूर्व-पूर्व शत्रु गुरु (भारी या अधिक भयानक) है। हे महाभाग!

स्वाम्यमात्यो जनपदा दुर्गो दण्डस्तथैव च। कोषो मित्रं च धर्मज्ञ सप्ताङ्गं राज्यमुच्यते॥११॥
मूलं स्वामी स वै रक्ष्यस्तस्माद्राज्यं विशेषतः। राज्याङ्गद्रोहिणं हन्यात्काले तीक्ष्णो मृदुर्भवेत्॥१२॥
एवं लोकद्वयं राज्ञो भृत्यैर्हासं विवर्जयेत्। भृत्याः परिभवन्तीह नृपं हर्षणसत्कथम्॥१३॥
लोकसंग्रहणार्थाय कृतकव्यसनो भवेत्। स्मितपूर्वाभिभाषी स्याल्लोकानां रञ्जनं चरेत्॥१४॥
दीर्घसूत्रस्य नृपतेः कर्महानिर्ध्रुवं भवेत्। रागे दर्पे च माने च द्रोहे पापे च कर्मणि॥१५॥
अप्रिये चैव वक्तव्ये दीर्घसूत्रः प्रशस्यते। गुप्तमन्त्रो भवेद्राजा नाऽऽपदो गुप्तमन्त्रतः॥१६॥
ज्ञायते हि कृतं कर्म नाऽऽरब्धं तस्य राज्यकम्। आकारैरिङ्गितैर्गत्या चेष्टया भाषितेन च॥१७॥
नेत्रवक्त्रविकाराभ्यां गृह्यतेऽन्तर्गतं पुनः। नैकस्तु मन्त्रयेन्मन्त्रं न राजा बहुभिः सह॥१८॥
बहुभिर्मन्त्रयेत्कामं राजा मन्त्रान्पृथक् पृथक्। मन्त्रिणामपि नो कुर्यान्मन्त्री मन्त्रप्रकाशनम्॥१९॥
क्वापि कस्यापि विश्वासो भवतीह सदा नृणाम्। निश्चयश्च तथा मन्त्रे कार्य एकेन सूरिणा॥२०॥
नश्चेदविनयाद्राजा राज्यं च विनयाल्लभेत्। त्रैविद्येभ्यस्त्रयीं विद्यां दण्डनीतिं च शाश्वतीम्॥२१॥
आन्वीक्षिकीं चार्थविद्यां वार्तारम्भांश्च लोकतः। जितेन्द्रियो हि शक्नोति वशे स्थापयितुं प्रजाः॥२२॥
पूज्या देव द्विजाः सर्वे दद्याद्दानानि तेषु च। द्विजे दानं चाक्षयोऽयं निधिः कैश्चिन्न नाश्यते॥२३॥

मित्र भी तीन तरह के बतलाये जाते हैं—बाप-दादों के सामन्त के मित्र, शत्रु के समान तथा कृत्रिम॥५-१०॥ हे धर्मज्ञ भगवान् परशुरामजी! राजा, मन्त्री, जनपद, दुर्ग, दण्ड (सेना), कोष और मित्र—ये राज्य के सात अंग कहलाते हैं। राज्य की जड़ है—स्वामी (राजा) इसलिये उसकी विशेष रूप से रक्षा होनी चाहिये। राज्याङ्ग के विद्रोही को मार डालना उचित है। राजा को समयानुसार कठोर भी होना चाहिये और कोमल भी। ऐसा करने से राजा के दोनों लोक सुधरते हैं। राजा अपने भृत्यों के साथ हँसी-परिहास नहीं करना चाहिये; क्योंकि सबके साथ हँस-हँसकर बातें करने वाले राजा को उसके सेवक अपमानित कर बैठते हैं। लोगों को मिलाये रखने के लिये राजा को बनावटी व्यसन भी रखना चाहिये। वह मुसका कर बोले और ऐसा बर्ताव करना चाहिये, जिससे सब लोग प्रसन्न रहें। दीर्घसूत्री (कार्यारम्भ में विलम्ब करने वाले) राजा के कार्य की अवश्य हानि होती है, परन्तु राग, दर्प, अभिमान, द्रोह, पापकर्म तथा अप्रिय भाषण में दीर्घसूत्री (विलम्ब लगाने वाले) राजा की प्रशंसा होती है। राजा को अपनी मन्त्रणा गुप्त रखनी चाहिये। उसके गुप्त रहने से राजा पर कोई आपत्ति नहीं आती॥११-१६॥

राजा का राज्य-सम्बन्धी कोई कार्य पूरा हो जानेपर ही दूसरों को मालूम होना चाहिये। उसका प्रारम्भ कोई भी न पावे। मनुष्य के आकार, इशारे, चाल-ढाल, चेष्टा, बातचीत तथा नेत्र और मुख के विकारों से उसके अन्दर की बात पकड़ में आ जाती है। राजा न तो अकेले ही किसी गुप्त विषय पर विचार करना चाहिये और न अधिक मनुष्यों को ही साथ रखे। बहुतों से सलाह अवश्य ले, परन्तु पृथक्-पृथक्। (सभी को एक साथ बुलाकर नहीं।) मन्त्री को राजा के गुप्त विचार को दूसरे मन्त्रियों पर भी नहीं प्रकट करना चाहिये। मनुष्यों का सदा कहीं, किसी एक पर ही विश्वास जमता है, इसलिये एक ही विद्वान् मन्त्री के साथ बैठकर राजा को गुप्त मन्त्र का निश्चय करना चाहिये। विनय का त्याग करने से राजा का विनाश हो जाता है और विनय की रक्षा से उसको राज्य की प्राप्ति हो जाती है। तीनों वेदों के विद्वानों से त्रयीविद्या, सनातन दण्डनीति, आन्वीक्षिकी (अध्यात्मविद्या) तथा अर्थशास्त्र का ज्ञान प्राप्त करना चाहिये। साथ ही वार्ता (कृषि, गोरक्षा एवं वाणिज्य आदि) के प्रारम्भ करने का ज्ञान लोक से प्राप्त करना चाहिये। अपनी इन्द्रियों को वश में

संग्रामेष्वनिवर्तित्वं प्रजानां परिपालनम्। दानानि ब्राह्मणानां च राज्ञो निःश्रेयसं परम्।।२४।।
कृपणानाथवृद्धानां विधवानां च योषिताम्। योगक्षेमं च वृत्तिं च तथैव परिकल्पयेत्।।२५।।
वर्णाश्रमव्यवस्थानं कार्यं तापसपूजनम्। न विश्वसेच्च सर्वत्र तापसेषु च विश्वसेत्।।२६।।
विश्वासयेच्चापि परं तत्त्वभूतेन हेतुना। बकवच्चिन्तयेदर्थं सिंहवच्च पराक्रमेत्।।२७।।
वृकवच्चावलुम्पेत शशवच्च विनिष्पतेत्। दृढप्रहारी च भवेत्तथा शूकरवन्नृपः।।२८।।
चित्राकारश्च शिखिवद्दृढभक्तिस्थाऽश्ववत्। भवेच्च मधुराभाषी तथा कोकिलवन्नृपः।।२९।।
काकशङ्की भवेन्नित्यमज्ञातां वसतिं वसेत्। नापरीक्षितपूर्वं च भोजनं शयनं स्पृशेत्।।३०।।
नाविज्ञातां स्त्रियं गच्छेन्नाज्ञातं नावमारुहेत्। राष्ट्रकर्षी भ्रश्यते च राज्यार्थाच्चैव जीवितात्।।३१।।
भृतो वत्सो जातबलः कर्मयोग्यो यथा भवेत्। तथा राष्ट्रं महाभाग भृतं कर्मसहं भवेत्।।३२।।
सर्वेकर्मेदमायत्तं विधाने दैव पौरुषे। तयोर्दैवमचिन्त्यं हि पौरुषे विद्यते क्रिया।।
जनानुरागप्रभवा राज्ञो राज्यमहीश्रियः।।३३।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते राजधर्मकथनं नाम पञ्चविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः।।२२५।।

—❀❀❀—
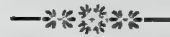
रखने वाला राजा ही प्रजा को अधीन रखने में सक्षम होता है। देवताओं और समस्त ब्राह्मणों की पूजा करनी चाहिये तथा उनको दान भी देना चाहिये। ब्राह्मण को दिया हुआ दान अक्षय निधि है; उसको कोई भी नष्ट नहीं कर सकता। संग्राम में पीठ न दिखाना, प्रजा का पालन करना और ब्राह्मणों को दान देना–ये राजा के लिये पर कल्याण की बातें हैं। दीनों, अनाथों, वृद्धों तथा विधवा स्त्रियों के योग क्षेम का निर्वाह तथा उनके लिये आजीविका का प्रबन्ध करना चाहिये। वर्ण और आश्रम-धर्म की रक्षा तथा तपस्वियों का सत्कार राजा का कर्त्तव्य है। राजा कहीं भी विश्वास नहीं करना चाहिये, परन्तु तपस्वियों पर अवश्य विश्वास करना चाहिये। उसको यथार्थ युक्तियों के द्वारा दूसरों पर अपा विश्वास जमा लेना चाहिये। राजा बगुले की भाँति अपने स्वार्थ का विचार करना चाहिये और (अवसर पाने पर) सिंह के समान पराक्रम दिखावे। भेड़िये की तरह झपटकर शत्रु को विदीर्ण कर डाले, खरगोश की भाँति छलाँगें भरते हुए अदृश्य हो जाय और सूअर की भाँति दृढ़तापूर्वक प्रहार करना चाहिये। राजा मोर की भाँति विचित्र आकार धारण करना चाहिये, घोड़े के समान दृढ़ भक्ति रखने वाला हो और कोयल की तरह मीठे वचन बोले। कौए की तरह सबसे चौकन्ना रहे; रात में ऐसे स्थान पर रहे, जो दुसरों की मालूम न हो; जाँच या परख किये बिना भोजन और शय्या को ग्रहण नहीं करना चाहिये। अपरिचित स्त्री के साथ समागन नहीं करना चाहिये; बेजान-पहचान की नाव पर च चढ़े। अपने राष्ट्र प्रजा को चूसने वाला राजा राज्य और जीवन–दोनों से हाथ धो बैठता है। हे महाभाग! जिस प्रकार पाला हुआ वछड़ा बलवान् होने पर काम करने के योग्य होता है, उसी तरह सुरक्षित राष्ट्र राजा के काम आता है। यह सारा कर्म दैव और परुषार्थ के अधीन है। इनमें दैव तो अचिन्त्य है, परन्तु पुरुषार्थ में कार्य करने की शक्ति है। राजा के राज्य, पृथ्वी तथा लक्ष्मी की उत्पत्ति का एकमात्र कारण है–प्रजा अनुराग। इसलिये राजा को चाहिये कि वह सदा प्रजा को संतुष्ट रखे।।१७-३३।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी दो सौ पच्चीसवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।२२५।।

❖❖❖

अथ षड्विंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

सामाद्युपायकथनम्

पुष्कर उवाच

स्वयमेव कर्म दैवाख्यं विद्धि देहान्तरार्जितम्। तस्मात्पौरुषमेवेह श्रेष्ठमाहुर्मनीषिणः॥१॥
प्रतिकूलं तथा दैवं पौरुषेण विहन्यते। सात्त्विकात्कर्मणः पूर्वात्सिद्धिः स्यात्पौरुषं विना॥२॥
पौरुषं दैवसम्पत्त्या काले फलति भार्गव। दैवं पुरुषकारश्च द्वयं पुंसः फलावहम्॥३॥
कृषेर्वृष्टिसमायोगात्काले स्युः फलसिद्धयः। सधर्मं पौरुषं कुर्यान्नालसो न च दैववान्॥४॥
सामादिभिरुपायैस्तु सर्वे सिद्ध्यन्त्युपक्रमाः। साम चोपप्रदानं च भेददण्डौ तथाऽपरौ॥५॥
मायोपेक्षेन्द्रजालं च उपायाः सप्त ताञ्शृणु। द्विविधं कथितं साम तथ्यं चातथ्यमेव च॥६॥
तत्राप्यतथ्यं साधूनामाक्रोशायैव जायते। महाकुलीना ह्यृजवो धर्मनित्या जितेन्द्रियाः॥७॥
सामसाध्या अतथ्यैश्च गृह्यन्ते राक्षसा अपि। तथा तदुपकाराणां कृतानां चैव वर्णनम्॥८॥
परस्परं तु ये द्विष्टाः क्रुद्धभीतावमानिताः। तेषां भेदं प्रयुञ्जीत परमं दर्शयेद्भयम्॥९॥
आत्मीयां दर्शयेदाशां येन दोषेण बिभ्यति। परास्तेनैव ते भेद्या रक्ष्यो वै ज्ञातिभेदकः॥१०॥
सामन्तकोपो बाह्यस्तु मन्त्रामात्यात्मजादिकः। अन्तःकोषं चोपशाम्यं कुर्वञ्शत्रोश्च तं जपेत्॥११॥

अध्याय–२२६

राजा द्वारा साम आदि उपायों के उपयोग का विचार

पुष्करजी ने कहा कि–हे भगवान् परशुरामजी! दूसरे शरीर से उपार्जित किये हुए अपने ही कर्म का नाम 'दैव' समझिये। इसलिये मेधावी पुरुष पुरुषार्थ को ही श्रेष्ठ बतलाते हैं। दैव प्रतिकूल हो, तो उसका पुरुषार्थ से निवारण किया जा सकता है तथा पहले के सात्त्विक कर्म से पुरुषार्थ के बिना भी सिद्धि प्राप्त हो सकती है। हे भृगुनन्दन! पुरुषार्थ ही दैव की सहायता से समय पर फल देता है। दैव और परुषार्थ–ये दोनों मनुष्य को फल देने वाले हैं। पुरुषार्थ द्वारा की हुई कृषि से वर्षा का योग प्राप्त होने पर समयानुसार फल की प्राप्ति हो जाती है। इसलिये धर्मानुष्ठान पूर्वक पुरुषार्थ करना चाहिये; आलसी न बने और दैव का भरोसा करके बैठा न रहना चाहिये।१-४॥

साम आदि उपायों से प्रारम्भ किये हुए सभी कार्य सिद्ध होते हैं। साम, दान, भेद, दण्ड, माया, उपेक्षा और इन्द्रजाल–ये सात उपाय बतलाये गये हैं। इनका परिचय सुनिये। तथ्य और अतथ्य–दो तरह का 'साम' कहा गया है। उनमें 'अतथ्य साम' साधु पुरुषों के लिये कलंक का ही कारण होता है। अच्छे वंश में उत्पन्न, सरल, धर्मपरायण और जितेन्द्रिय पुरुष साम से ही वश्य में होते हैं। अतथ्य साम के द्वारा तो राक्षस भी वशीभूत हो जाते हैं। उनके किये हुए उपकारों का वर्णन भी उनको वश में करने का अच्छा उपाय है। जो लोग आपस में द्वेष रखने वाले तथा कुपित, भयभीत एवं अपमानित हैं, उनमें भेदनीति का प्रयोग करना चाहिये और उनको अत्यन्त भय दिखावे। अपनी तरफ से उनको आशा दिखावे तथा जिस दोष से वे दूसरे लोग से डरते हों, उसी को प्रकट करके उनमें भेद डालना चाहिये। शत्रु के कुटुम्ब में भेद डालने वाले पुरुष की रक्षा करनी चाहिये। सामन्त का क्रोध बाहरी कोप अन्दरी क्रोध के अन्तर्गत है; इसलिये पहले अन्दरी कोप को शान्त करके सामन्त आदि शत्रुओं के बाह्य कोप को जीतने का प्रयत्न करना चाहिये।५-११॥

उपायश्रेष्ठं दानं स्याद्दानादुभयलोकभाक्। न सोऽस्ति नाम दानेन वशगो यो न जायते।।१२।।
दानवानेव शक्नोति सहतान्भेदितुं परान्। त्रयासाध्यं साधयेत्तं दण्डेन च कृतेन च।।१३।।
दण्डे सर्वं स्थितं दण्डी नाशयेद्दुष्प्रणीकृतः। अदण्ड्यान्दण्डयन्नश्येद्दण्ड्यान्राजाऽप्यदण्डयन्।।१४।।
देवदैत्योरगनराः सिद्धा भूताः पतत्रिणः। उत्क्रमेयुः स्वमर्यादां यदि दण्डान्न पालयेत्।।१५।।
यस्माददान्तान्दमयत्यदण्ड्यान्दण्डयत्यपि। दमनाद्दण्डनाच्चैव तस्माद्दण्डं विदुर्बुधाः।।१६।।
तेजसा दुर्निरीक्ष्यो हि राजा भास्करवत्ततः। लोकप्रसादं गच्छेत दर्शनाच्चन्द्रवत्ततः।।१७।।
जगद्व्याप्नोति वै चारैरतो राजा समीरणः। दोषनिग्रहकारित्वाद्राजा वैवस्वतः प्रभुः।।१८।।
यदा दहति दुर्बुद्धिं तदा भवति पावकः। यदा दानं द्विजातिभ्यो दद्यात्तस्माद्धनेश्वरः।।१९।।
घनधाराप्रवर्षित्वाद्देवादौ वरुणः स्मृतः। क्षमया धारयँल्लोकान्पार्थिवः पार्थिवो भवेत्।।
उत्साहमन्त्रशक्त्याद्यै रक्षेद्यस्माद्धरिस्ततः।।२०।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते सामाद्युपायकथनं नाम षड्विंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः।।२२६।।

सभी उपायों में 'दान' श्रेष्ठ माना गया है। दान से इस लोक और परलोक–दोनों में सफलता प्राप्त होती है। ऐसा कोई भी नहीं है, जो दान से वश में न हो जाता हो। दानी मनुष्य ही परस्पर सुसंगठित रहने वाले लोगों में भी भेद डाल सकता है। साम, दान और भेद–इन तीनों से जो कार्य न सिद्ध हो सके, उसको 'दण्ड' के द्वारा सिद्ध करना चाहिये। दण्ड में सब कुछ स्थित है। दण्ड का अनुचित प्रयोग अपना ही विनाश कर डालता है। जो दण्ड के योग्य नहीं हैं, उनको दण्ड देने वाला, तथा जो दण्डनीय हैं, उनको दण्ड न देने वाला राजा नष्ट हो जाता है। यदि राजा दण्ड के द्वारा सबकी रक्षा न करने वाला हो, तो देवता, दैत्य, नाग, मनुष्य, सिद्ध, भूत और पक्षी–ये सभी अपनी मर्यादा का उल्लङ्घन कर जायँ। चूँकि यह उद्दण्ड पुरुषों का दमन करता और अदण्डनीय पुरुषों को दण्ड देता है, इसलिये दमन और दण्ड के कारण विद्वान् पुरुष उसको 'दण्ड' कहते हैं।।१२-१६।।

जिस समय राजा अपने तेज से इस तरह तप रहा हो कि उसकी तरफ देखना कठिन हो जाय, तत्पश्चात् वह 'सूर्यवत्' होता है। जिस समय वह दर्शन देने मात्र से जगत् को प्रसन्न करता है, तत्पश्चात् 'चन्द्रतुल्य' माना जाता है। राजा अपने गुप्तचरों के द्वारा समस्त संसार में व्याप्त रहता है, इसलिये वह 'वायुरूप' है तथा दोष देखकर दण्ड देने के कारण 'सर्वसक्षम यमराज' के समान माना गया है। जिस समय वह खोटी बुद्धि वाले दुष्टजन को अपने कोप से दग्ध करता है, उस समय साक्षात् 'श्रीअग्नि देव' का रूप होता है तथा जिस समय ब्राह्मणों को दान देता है, उस समय उस दान के कारण वह धनाध्यक्ष 'कुबेरतुल्य' हो जाता है। देवता आदि के निमित्त घृत आदि हविष्य की घनी धारा बरसाने के कारण वह 'वरुण' माना गया है। भूपाल अपने 'क्षमा' नामक गुण से जिस समय सम्पूर्ण जगत् को धारण करता है, उस समय 'पृथ्वी का स्वरूप' जान पड़ता है तथा उत्साह, मन्त्र और प्रभुशक्ति आदि के द्वारा वह सभी का पालन करता है, इसलिये साक्षात् 'भगवान् श्रीहरि विष्णु' का स्वरूप है।।१७-२०।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी दो सौ छब्बीसवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।२२६।।

❖❖❖

अथ सप्तविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

दण्डप्रणयनम्

पुष्कर उवाच

दण्डप्रणयनं वक्ष्ये येन राज्ञः परा गतिः। त्रियवं कृष्णलं विद्धि माषस्तत्पञ्चकं भवेत्।।१।।
कृष्णलानां तथा षष्ट्या कर्षार्धं रामकीर्तितम्। सुवर्णश्च विनिर्दिष्टो राम षोडशमाषकः।।२।।
निष्कः सुवर्णाश्चत्वारो धरणं दशभिस्तु तैः। ताम्ररूप्यसुवर्णानां मानमेतत्प्रकीर्तितम्।।३।।
ताम्रिकैः कार्षिको राम प्रोक्तः कार्षापणो बुधैः। पणानां द्वे शते सार्धं प्रथमः साहसः स्मृतः।।४।।
मध्यमः पञ्च विज्ञेयः सहस्रमपि चोत्तमः। चौरैरमूषितो यस्तु मूषितोऽस्मीति भाषते।।५।।
तत्प्रदातरि भूपाले स दण्ड्यस्तावदेव तु। (यो यावद्विपरीतार्थं मिथ्या वा यो वदेत्तु तम्।।६।।
तौ नृपेण ह्यधर्मज्ञौ दाप्यौ तद्द्विगुणं दमम्)। कू (कौ) टसाक्ष्यं तु कुर्वाणां स्त्रीन्वर्णांश्च प्रदापयेत्।।७।।
विवासयेद्ब्राह्मणं तु भोज्यो (अन्यो) विधिर्न हीरितः। निक्षेपस्य समं मूल्यं दण्ड्यो निक्षेपभुक्तया।।८।।
वस्त्रादिकस्य धर्मज्ञ तथा धर्मो न हीयते। यो निक्षेपं घातयति यश्चानिक्षिप्य याचते।।९।।

अध्याय-२२७

दण्ड नीति विचार

पुष्करजी ने कहा कि--हे राम! अधुना मैं दण्डनीति का प्रयोग बतलाऊँगा, जिससे राजा को श्रेष्ठतम गति प्राप्त होती है। तीन जौ का एक 'कृष्णल' समझना चाहिये, पाँच कृष्णल का एक 'माष' होता है, साठ कृष्णल (अथवा द्वादश माष) 'आधे कर्ष' के बराबर बताये गये हैं। सोलह माष का एक 'स्वर्ण' माना गया है। चार स्वर्ण का एक 'निष्क' और दस निष्क का एक 'धरण' होता है। यह ताँबे, चाँदी और सोने का मान बतलाया गया है।।१-३।।

हे भगवान् परशुरामजी! ताँबे का जो 'कर्ष' होता है, उसको विद्वानों ने 'कार्षिक' और 'कार्षापण' नाम दिया है। ढाई सौ पण (पैसे) 'प्रथम साहस' दण्ड माना गया है, पाँच सौ पण 'मध्यम साहस' और एक हजार पण 'श्रेष्ठतम साहस' दण्ड बतलाया गया है। चोरों के द्वारा जिसके धन की चोरी नहीं हुई है तो भी जो चोरी का धन वापस देने वाले राजा के पास जाकर झूठ ही यह कहता है कि 'मेरा इतना धन चुराया गया है', उसके कथन की असत्यता सिद्ध होने पर उससे उतना ही धन दण्ड के रूप में वसूल करना चाहिये। जो मनुष्य चोरी में गये हुए धन के विपरीत जितना धन बतलाता है, अथवा जो जितना झूठ बोलता है–उन दोनों से राजा को दण्ड के रूप में दूना धन वसूल करना चाहिये; क्योंकि वे दोनों ही धर्म को नहीं जानते। झूठी गवाही देने वाले क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र–इन तीनों वर्णों को कठोर दण्ड देना चाहिये; परन्तु ब्राह्मण को केवल राज्य से बाहर कर देना उचित है। उसके लिये दूसरे किसी दण्ड का विधान नहीं है। हे धर्मज्ञ जिसने धरोहर हड़प ली हो, उस पर धरोहर के रूप में रखे हुए वस्त्र आदि की कीमत के बराबर दण्ड लगाना चाहिये; ऐसा करने से धर्म की हानि नहीं होती। जो धरोहर को नष्ट करा देता है, अथवा जो धरोहर रखे बिना ही किसी से कोई वस्तु माँगता है–उन दोनों को चोर के समान दण्ड देना चाहिये; या उनसे दूना

तावुभौ चौरवच्छास्यौ दण्ड्यौ वा द्विगुणं दमम्। अज्ञानाद्यःपुमान्कुर्यान्परद्रव्यस्य विक्रयम्।।१०।।
निर्दोषो ज्ञानपूर्वं तु चौरवद्दण्डमर्हति। मूल्यमादाय यः शिल्पं न दद्याद्दण्ड्य एव सः।।११।।
प्रतिश्रुत्याप्रदातारं सुवर्णं दण्डयेन्नृपः। भृतिं गृह्य न कुर्याद्यः कर्माष्टौ कृष्णला दमः।।१२।।
अकाले तु त्यजन्भृत्यं दण्ड्यः स्यात्तावदेव तु। क्रीत्वा विक्रीय वा किञ्चिद्यस्येहानुशयो भवेत्।।१३।।
सोऽन्तर्दशाहात्तत्स्वामी दद्याच्चैवाऽऽददीत च। परेण तु दशाहस्य नाऽऽदद्यान्नैव दापयेत्।।१४।।
आददद्धि ददच्चैव राज्ञा दण्ड्यः शतानि षट्। वरदोषानविख्याप्य यः कन्यां वरयेदिह।।१५।।
दत्ताऽप्यदत्ता सा तस्य राज्ञा दण्ड्यः शतद्वयम्। प्रदाय कन्यां योऽन्यस्मै पुनस्तां सम्प्रयच्छति।।१६।।
दण्डः कार्यो नरेन्द्रेण तस्याप्युत्तमसाहसः। सत्यंकारेण वाचा च युक्तं पुण्यमसंशयम्।।१७।।
लुब्धोऽन्यत्र च विक्रेता षट्शतं दण्डमर्हति। दद्याद्धेनुं न यः पालो गृहीत्वा भक्तवेतनम्।।१८।।
स तु दण्ड्यः शतं राज्ञा सुवर्णं वाऽप्यरक्षिता। धनुः शतं परीणाहो ग्रामस्य तु समन्ततः।।१९।।
द्विगुणं त्रिगुणं वाऽपि नगरस्य च कल्पयेत्। वृत्तिं तत्र प्रकुर्वीत यामुष्ट्रो नावलोकयेत्।।२०।।
तत्रापरिवृते धान्ये हिंसिते नैव दण्डनम्। गृहं तडागमारामं क्षेत्रं वा भीषया हरन्।।२१।।

जुर्माना वसूल करना चाहिये। यदि कोई पुरुष अनजान में दूसरे का धन बेच देता है तो वह (मूल स्वीकार करने पर) निर्दोष माना गया है; परन्तु जो जान-बूझकर अपना बताते हुए दूसरे का समान बेचता है, वह चोर के समान दण्ड पाने का अधिकारी है। जो अग्रिम मूल्य लेकर भी अपने हाथ का काम बनाकर न दे, वह भी दण्ड देने के ही योग्य है। जो देने की प्रतिज्ञा करके न दे, उस पर राजा को स्वर्ण (सोलह माप) का दण्ड लगाना चाहिये। जो मजदूरी लेकर काम नहीं करना चाहे, उस पर आठ कृष्णल जुर्माना लगाना चाहिये। जो असमय में भृत्य का त्याग करता है, उस पर भी उतना ही दण्ड लगाना चाहिये। कोई वस्तु खरीदने या बेचने के बाद जिसको कुछ पश्चात्ताप हो, वह धन का स्वामी दस दिन में अन्दर दाम लौटाकर माल ले सकता है। (अथवा खरीददार को ही यदि माल पसंद न आवे तो वह दस दिन के अन्दर उसको लौटाकर दाम ले सकता है।) दस दिन से अधिक हो जाने पर यह आदान-सम्प्रदान करने वाले पर राजा को छः सौ का दण्ड लगाना चाहिये।।४-१४।।

जो वर के दोषों को न बताकर किसी कन्या का वरण करता है, उसको वचन द्वारा दी हुई कन्या भी नहीं दी हुई के ही समान है। राजा को चाहिये कि उस व्यक्ति पर दो सौ का दण्ड लगावे। जो एक को कन्या देने की बात कहकर फिर दूसरे को दे डालता है, उस पर राजा को श्रेष्ठतम साहस (एक हजार पण) का दण्ड लगाना चाहिये। वाणी द्वारा कहकर उसको कार्य रूप में सत्य करने से निस्संदेह पुण्य की प्राप्ति हो जाती है। जो किसी वस्तु को एक जगह देने की प्रतिज्ञा करके उसको लोभवश दूसरे के हाथ बेच देता है, उस पर छः सौ का दण्ड लगाना चाहिये। जो ग्वाला मालिक से भोजन-खर्च और वेतन लेकर भी उसकी गाय उसको नहीं लौटाता अथवा अच्छी तरह उसका पालन-पोषण नहीं करता, उस पर राजा सौ स्वर्ण का दण्ड लगावे। गाँव के चारों तरफ सौ धनुष के घेरे में तथा नगर के चारों तरफ दो सौ या तीन सौ धनुष के घेरे में खेती करनी चाहिये, जिसे खड़ा हुआ ऊँट न देख सके। जो खेत चारों तरफ से घेरा न गया हो उसकी फसल को किसी के द्वारा नुकसान पहुँचाने पर दण्ड नहीं दिया जा सकता। जो भय दिखाकर दूसरों के गृह, पोखरे, बगीचे अथवा खेत को हड़पने की चेष्टा करता है, उसके ऊपर राजा को पाँच

शतानि पञ्च दण्ड्यः स्यादज्ञानाद्विशतो दमः। मर्यादाभेदकाः सर्वे दण्ड्याः प्रथमसाहसम्॥२२॥
शतं ब्राह्मणमानस्य क्षत्रियो दण्डमर्हति। वैश्यश्च द्विशतं राम शूद्रश्च बन्धमर्हति॥२३॥
पञ्चाशद्ब्राह्मणो दम्यः क्षत्रियस्याभिशंसने। वैश्ये वाऽप्यर्धपञ्चाशच्छूद्रे द्वादशको दमः॥२४॥
क्षत्रियस्याऽऽप्नुयाद्वैश्यः साहसं पूर्वमेव तु। शूद्रः क्षत्रियमाक्रुश्य जिह्वाछेदनमाप्नुयात्॥२५॥
धर्मोपदेशं विप्राणां शूद्रः कुर्वश्च दण्डभाक्। श्रुतदेशादिवितथी दाप्यो द्विगुणसाहसम्॥२६॥
उत्तमः साहसस्तस्य यः पापैरुत्तमान्क्षिपेत्। प्रमादाद्यैर्मया प्रोक्तं प्रीत्या दण्डाऽर्धमर्हति॥२७॥
मातरं पितरं ज्येष्ठं भ्रातरं श्वशुरं गुरुम्। आक्षारयञ्शतं दण्ड्यः पन्थानं चाददद्गुरोः॥२८॥
अन्त्यजातिर्द्विजातिं तु येनाङ्गेनापराध्नुयात्। तदेवच्छेदयेत्तस्य क्षिप्रमेवाविचारयन्॥२९॥
अवनिष्ठीवतो दर्पाद्द्वावोष्ठौ छेदयेन्नृपः। अपमूत्रयतो मेढ्रमपशब्दयतो गुदम्॥३०॥
उत्कृष्टासनसंस्थस्य नीचस्याधो निकृन्तनम्। यो यदङ्गं च रुजयेत्तदङ्गं तस्य कर्तयेत्॥३१॥
अर्धपादकराः कार्या गोगजाश्वोष्ट्रघातकाः। वृक्षं तु विफलं कृत्वा सुवर्णं दण्डमर्हति॥३२॥
द्विगुणं दापयेच्छिन्ने पथि सीम्नि जलाशये। द्रव्याणि यो हरेद्यस्य ज्ञानतोऽज्ञानतोऽपि वा॥३३॥

सौ का दण्ड लगाना चाहिये। यदि उसने अनजान में ऐसा किया हो, तो दो सौ का ही दण्ड लगाना उचित है। सीमा का भेदन करने वाले सभी लोगों को प्रथम श्रेणी के साहस (ढाई सौ पण) का दण्ड देना चाहिये॥१५-२२॥

हे भगवान् परशुरामजी! ब्राह्मण को नीचा दिखाने वाले क्षत्रिय पर सौ का दण्ड लगाना उचित है। इसी अपराध के लिये वैश्य से दो सौ जुर्माना वसूल करना चाहिये और शूद्र को कैद में डाल देना चाहिये। क्षत्रिय को कलंकित करने पर ब्राह्मण को पचास का दण्ड, वैश्य पर दोषारोपण करने से पचीस और शूद्र को कलंक लगाने पर उसको द्वादश का दण्ड देने उचित है। यदि वैश्य क्षत्रिय अपमान करना चाहिये तो उस पर प्रथम साहस (ढाई सौ पण) का दण्ड लगाना चाहिये और शूद्र यदि क्षत्रिय को गाली दे तो उसकी जीभ को सजा देनी चाहिये। ब्राह्मणों को उपदेश करने वाला शूद्र भी दण्ड का भागी होता है। जो अपने शास्त्रज्ञान और देश आदि का झूठा परिचय दे, उसको दूने साहस का दण्ड देना उचित है। जो श्रेष्ठ पुरुषों को पापाचारी कहकर उनके ऊपर आक्षेप करता हो, वह श्रेष्ठतम साहस का दण्ड पाने के योग्य है। यदि वह यह कहकर कि 'मेरे मुँह से प्रमादवश ऐसी बात निकल गयी हैं', अपना प्रेम प्रकट करना चाहे तो उसके लिये दण्ड घटाकर आधा कर देना चाहिये। माता, पिता, श्रेष्ठ भ्राता, श्वशुर तथा गुरु पर आक्षेप करने वाला और गुरुजनों को रास्ता न देने वाला पुरुष भी सौ का दण्ड पाने के योग्य है। जो मनुष्य अपने जिस अंग से दूसरे ऊँचे लोगों का अपराध किया हो, उसके उसी अंग को बिना विचारे शीघ्र ही काट डालना चाहिये। जो घमंण्ड में आकर किसी उच्च पुरुष की तरफ थूके, राजा को उसके ओठ काट लेना उचित है। इसी तरह यदि वह उसकी तरफ मुँह करके पेशाब करे तो उसका लिङ्ग और उधर पीठ करके अपशब्द करे तो उसकी गुदा काट लेने के योग्य है। इतना ही नहीं, यदि वह ऊँचे आसन पर बैठा हो, तो उस नीच के शरीर के निचले भाग को दण्ड देना उचित है। जो मनुष्य दूसरे के जिस-किसी अंग को घायल करना चाहा हो, उसके भी उसी अंग को कुतर डालना चाहिये। गौ, हाथी, घोड़े और ऊँट को हानि पहुँचाने वाले मनुष्यों के आधे हाथ और पैर काट लेने चाहिये। जो किसी (पराये) वृक्ष के फल तोड़े, उस पर स्वर्ण का दण्ड लगाना उचित है। जो रास्ता, खेत की सीमा अथवा जलाशय

स तस्योत्पाद्य तुष्टिं तु राज्ञे दद्यात्तमो दमम्। यस्तु रज्जुं घटं कूपाद्धरेच्छिन्द्याच्च तां प्रपाम्।।३४।।
स दण्डं प्राप्नुयान्मासं दण्ड्यः स्यात्प्राणिताडने।
धान्यं दशभ्यः कुम्भेभ्यो हरतोभ्यधिकं वधः।।३५।।
शेषेऽप्येकादशगुणं तस्य दण्डं प्रकल्पयेत्। सुवर्णरजतादीनां नृस्त्रीणां हरणे वधः।।३६।।
येन येन यथाङ्गेन स्तेनो नृषु विचेष्टते। तत्तदेव हरेदस्य प्रत्यादेशाय पार्थिवः।।३७।।
ब्राह्मणः शाकधान्यादि ह्यल्पं गृह्णन्न दोषभाक्। गोदेवार्थं हरंश्चापि हन्याद्दुष्टं वधोद्यतम्।।३८।।
गृहक्षेत्रापहर्तारं तथा पत्न्यभिगामिनम्। अग्निदं गरदं हन्यात्तथा चाभ्युद्यतायुधम्।।३९।।
राजा गवाभिचारेभ्यो हन्याच्चैवाऽऽततायिनः। परस्त्रियं न भाषेत प्रतिषिद्धो विशेन्न हि।।४०।।
अदण्ड्यास्त्री भवेद्राज्ञा वरयन्ती पतिं स्वयम्। उत्तमां सेवमानं स्त्रीं जघन्यो वधमर्हति।।४१।।
भर्तारं लङ्घयेद्यातां श्वभिः संघातयेत्स्त्रियम्। सवर्णदूषितां कुर्यात्पिण्डमात्रोपजीविनीम्।।४२।।
ज्यायसा दूषिता नारी मुण्डनं समवाप्नुयात्। वैश्यागमे तु विप्रस्य क्षत्रियस्यान्त्यजागमे।।४३।।
क्षत्रियः प्रथमं वैश्यो दण्ड्यः शूद्रागमो भवेत्। गृहीत्वा वेतनं वेश्या लोभादन्यत्र गच्छति।।४४।।

आदि को काटकर नष्ट कर देता हो, उससे नुकसान का दूना दण्ड दिलाना चाहिये। जो जान-बूझकर या अनजान में जिसके धन का अपहरण करता हो, वह पहले उसके धन को लौटाकर उसको संतुष्ट करना चाहिये। तत्पश्चात् राजा को भी जुर्माना दे, जो कुएँ पर से दूसरे की रस्सी और घड़ा चुरा लेता तथा पौंसले नष्ट कर देता है, उसको एक मास तक कैद की सजा देनी चाहिये। प्राणियों को मारने पर भी यही दण्ड देना उचित है। जो दस घड़े से अधिक अनाज की चोरी करता है, वह प्राणदण्ड देने के योग्य है बाकी में भी अर्थात् दस घड़े से कम अनाज की चोरी करने पर भी जितने घड़े अन्न की चोरी करे, उससे ग्यारह गुना अधिक उस चोर पर दण्ड लगाना चाहिये। सोने-चाँदी आदि द्रव्यों, पुरुषों तथा स्त्रियों का अपहरण करने पर अपराधी को वध का दण्ड देना चाहिये। चोर जिस-जिस अंग से जिस तरह मनुष्यों के प्रतिकूल चेष्ट करता है, उसके उसी-उसी अंग को वैसी ही निष्ठुरता के साथ कटवा डालना राजा का कर्तव्य है। इससे चोरों को चेतावनी मिलती है। यदि ब्राह्मण बहुत थोड़ी मात्रा में शाक और धान्य आदि ग्रहण करता है तो वह दोष का भागी नहीं होता। गो-सेवा तथा देवपूजा के लिये भी कोई वस्तु लेने वाला ब्राह्मण दण्ड के योग्य नहीं है। जो दुष्ट पुरुष किसी का प्राण लेने के लिये उद्यत हो, उसका वध कर डालना चाहिये। दूसरों के गृह और क्षेत्र का अपहरण करने वाले, परस्त्री के साथ व्यभिचार करने वाले, आग लगाने वाले, जहर देने वाले तथा हथियार उठाकर मारने को उद्यत हुए पुरुष को प्राणदण्ड देना ही उचित है।।२३-३९।।

राजा को गौओं को मारने वाले तथा आततायी पुरुषों का वध करना चाहिये। परायी स्त्री से बातचीत नहीं करना चाहिये और मना करने पर किसी के गृह में न घुसे। स्वेच्छा से पति का वरण करने वाली स्त्री राजा के द्वारा दण्ड पाने के योग्य नहीं है, परन्तु यदि नीच वर्ण का पुरुष ऊँचे वर्ण की स्त्री के साथ समागम करना चाहे, तो वह वध के योग्य है। जो स्त्री अपने स्वामी का उल्लंघन (करके दूसरे के साथ व्यभिचार) करना चाहे, उसको कुत्तों से नोचवा देना चाहिये। जो सजातीय परपुरुष के सम्पर्क से दूषित हो चुकी हो, उसको (सम्पत्ति के अधिकार से वञ्चित करके) शरीर निर्वाहमात्र के लिये अन्न देना चाहिये। पति के ज्येष्ठ भ्राता से व्यभिचार करके दूषित हुई नारी के मस्तक

वेतनं द्विगुणं दद्याद्दण्डं च द्विगुणं तथा। भार्या पुत्राश्च दासाश्च शिष्यो भ्राता च सोदरः।।४५।।

कृतापराधास्ताड्याः स्युः रज्ज्वा बेणुदलेन वा।
पृष्ठेन मस्तके हन्याच्चौ (च्चो) रस्याप्नोति किल्बिषम्।।४६।।

रक्षार्थाधिकृतैर्यैस्तु प्रजाभ्योऽर्थो विलुप्यते। तेषां सर्वस्वमादाय राजा कुर्यात्प्रवासनम्।।४७।।

(ये नियुक्ता स्वकार्येषु हन्युः कार्याणि कर्मिणाम्। निर्घृणाः क्रूरमनसस्तान्निःस्वान्कारयेन्नृपः।।४८।।

अमात्यः प्राड्विवाको वा यः कुर्यात्कार्यमन्यथा।
तस्य सर्वस्वमादाय तं राजा विप्रवासयेत्)।।४९।।

गुरुतल्पे भगः कार्यः सुरापाने सुराध्वजः। स्तेयेषु श्वपदं विद्याद्ब्रह्महत्या (घाते) शिरः पुमान्।।५०।।

शूद्रादीन्घातयेद्राजा पापान्विप्रान्प्रवासयेत्। महापातकिनां वित्तं वरुणायोपपादयेत्।।५१।।

ग्रामेष्वपि च ये केच्चिच्चौराणां भक्तदायकाः। भाण्डारकोषदाश्चैव सर्वास्तानपि घातयेत्।।५२।।

राष्ट्रेषु राष्ट्राधिकृतान्सामन्तान्पापिनो हरेत्। संधिं कृत्वा तु ये चौर्यं रात्रौ कुर्वन्ति तस्कराः।।५३।।

तेषां छित्त्वा नृपो हस्तौ तीक्ष्णे शूले निवेशयेत्। तडागदेवतागारभेदकान्घातयेन्नृपः।।५४।।

का बाल मुँडवा देना चाहिये। यदि ब्राह्मण वैश्यजाति की स्त्री से और क्षत्रिय नीच जाति की स्त्री के साथ समागम करें तो उनके लिये भी यही दण्ड है। शूद्रा के साथ व्यभिचार करने वाले क्षत्रिय और वैश्य को प्रथम साहस अर्थात् ढाई सौ पण का दण्ड देना उचित है। यदि वेश्या एक पुरुष से वेतन लेकर लोभवश दूसरे के पास चली जाय तो उसे दूना वेतन वापस करना चाहिये और दण्ड भी दूना देना चाहिये। स्त्री, पुत्र, दास, शिष्य तथा सहोदर भाई यदि अपराध करें तो उनको रस्सी अथवा बाँस की छड़ी से पीट देना चाहिये। प्रहार पीठपर ही करना उचित है, मस्तक पर नहीं। मस्तक पर प्रहार करने वाले को चोर का दण्ड मिलता है।।४०-४६।।

जो रक्षा के काम पर नियुक्त होकर प्रजा से रुपये ऐंठते हों, उनका सर्वस्व छीनकर राजा को उनको अपने राज्य से बाहर कर देना चाहिये। जो लोग किसी कार्यार्थी के द्वारा उसके निजी कार्य में नियुक्त होकर वह कार्य चौपट कर डालते हैं, राजा को उचित है कि उन क्रूर और निर्दयी पुरुषों का सारा धन छीन ले। यदि कोई मन्त्री अथवा प्राड्विवाक (न्यायाधीश) विपरीत कार्य करे, तो राजा को उसका सर्वस्व लेकर उसको अपने राज्य से बाहर निकाल देना चाहिये। गुरुपत्नीगामी के शरीर पर भग का चिह्न अंकित करा देना चाहिये। सुरापान करने वाले महापातकी के ऊपर शराब खाने के झंडे का चिह्न दगवा देना चाहिये। चोरी करने वाले पर कुत्ते का नाखून गोदवा दे और ब्रह्महत्या करने वाले के भालपर नरमुण्ड का चिह्न अंकित कराना चाहिये। पापाचारी नीचों को राजा मरवा डाले और ब्राह्मणों को देश-निकाला दे देना चाहिये तथा महापातकी पुरुषों का धन वरुण देवता को समर्पित कर दे (जल में डाल दे)। गाँव में भी जो लोग चोरों को भोजन देते हों तथा चोरी का माल रखने के लिये गृह और खजाने का प्रबन्ध करते हों, उन सभी का भी वध करा देना उचित है। अपने राज्य के अन्दर अधिकार के कार्य पर नियुक्त हुए सामन्त नरेश भी यदि पाप में प्रवृत्त हों तो उनका अधिकार छीन लेना चाहिये। जो चोर रात में सेंध लगाकर चोरी करते हैं, राजा को उचित है कि उनके दोनों हाथ काटकर उनको तीखी शूली पर चढ़ा दे। इसी तरह पोखरा तथा देवमन्दिर नष्ट करने वाले पुरुषों को भी प्राणदण्ड देना चाहिये। जो बिना किसी आपत्ति के सड़क पर पेशाब, पाखाना आदि अपवित्र वस्तु

समुत्सृजेद्राजमार्गे यस्त्वमेध्यमनापदि। स हि कार्षापणं दण्ड्यस्तममेध्यं च शोधयेत्।।५५।।
प्रतिमासं क्रमभिदो दद्युः पञ्चशतानि ते। समैश्च विषमं यो वा चरते मूल्यतोऽपि वा।।५६।।
समाप्नुयान्नर पूर्वं दमं मध्यममेव वा। द्रव्यमादाय वणिजामनर्घेणा वरुन्धताम्।।५७।।
राजा पृथक्पृथक्कुर्याद्दण्डमुत्तमसाहसम्। द्रव्याणां दूषको यश्च प्रतिच्छन्दकविक्रयी।।५८।।
मध्यमं प्राप्नुयाद्दण्डं कूटकर्ता तथोत्तमम्। कलहापकृतं देयं दण्डश्च द्विगुणस्ततः।।५९।।
अभक्ष्यभक्ष्ये विप्रे वा शूद्रे वा कृष्णलो दमः। तुलाशासनकर्ता च कूटकृन्नाशकस्य च।।६०।।
एभिश्च व्यवहर्ता यः स दीप्यो दममुत्तमम्। विषाग्निदां पतिगुरुविप्रापत्यप्रमापिणीम्।।६१।।
विकर्णकरनासौष्ठीं कृत्वा गोभिः प्रवासयेत्। क्षेत्रवेश्मग्रामवनविदारकास्तथा नराः।।६२।।

राजपत्न्यभिगामी च दग्धव्यास्तु कटाग्निना।
ऊनं वाऽप्यधिकं वाऽपि लिखेद्यो राजशासनम्।।६३।।

पारजायिकचौरौ च मुञ्चतो दण्ड उत्तमः। राजयानासनारोढुर्दण्ड उत्तम साहसः।।६४।।
यो मन्येताजितोऽस्मीति न्यायेनापि पराजितः। तमायान्तं पुनर्जित्वा दण्डयेद्द्विगुणं दमम्।।६५।।
आह्वानकारी वध्यः स्यादनाहूतमथाऽऽह्वयन्। दाण्डिकस्य च यो हस्ताभिमुक्तः पलायते।।६६।।

छोड़ता है, उस पर कार्षापणों का दण्ड लगाना चाहिये तथा उसी से वह अपवित्र वस्तु फेंकवाकर वह जगह साफ करवानी चाहिये। प्रतिमा तथा सीढ़ी को तोड़ने वाले मनुष्यों पर पाँच सौ कर्ष का दण्ड लगाना चाहिये। जो अपने प्रति समान बर्ताव करने वालों के साथ विषमता का बर्ताव करता है, अथवा किसी वस्तु की कीमत लगाने में बेईमानी करता है, उस पर मध्यम साहस (पाँच सौ कर्ष) का दण्ड लगाना चाहिये। जो लोग बनियों से बहुमूल्य पदार्थ लेकर उसकी कीमत रोक लें, राजा उन पर पृथक्-पृथक् श्रेष्ठतम साहस (एक हजार कर्ष) का दण्ड लगावे। जो वैश्य अपने सामानों को खराब करके, अर्थात् बढ़िया चीजों में घटिया चीजें मिलाकर उनको मनमाने दाम पर बेचता हो, वह मध्यम साहस (पाँच सौ कर्ष) का दण्ड पाने के योग्य है। जालसाज को श्रेष्ठतम साहस (एक हजार कर्ष) का और कलहपूर्वक अपकार करने वाले को उससे दूना दण्ड देना उचित है। अधुनाक्ष्य-भक्षण करने वाले ब्राह्मण अथवा शूद्र पर कृष्णल का दण्ड लगाना चाहिये। जो तराजू पर शासन करता है, अर्थात् डंडी मारकर कम तौल देता है, जालसाजी करता है तथा ग्राहकों को हानि पहुँचाता है—इन सभी को—और जो इनके साथ व्यवहार करता है, उसको भी श्रेष्ठतम साहस का दण्ड दिलाना चाहिये। जो स्त्री जहर देने वाली, आग लगाने वाली तथा पति, गुरु, ब्राह्मण और संतान की हत्या करने वाली हो, उसके हाथ, कान, नाक और ओठ कटवाकर, बैल की पीठपर चढ़ाकर उसको राज्य से बाहर निकाल देना चाहिये। खेत, गृह, गाँव और जंगल नष्ट करने वाली तथा राजा की पत्नी से समागम करने वाले मनुष्य घास-फूस की आग में जला देने योग्य हैं। जो राजा की आज्ञा का घटा-बढ़ाकर लिखता है तथा परस्त्रीगामी पुरुषों और चोरों को बिना दण्ड दिये ही छोड़ देता है, वह श्रेष्ठतम साहस के दण्ड का अधिकारी है। राजा की सवारी और आसन पर बैठने वाले को भी श्रेष्ठतम साहस का ही दण्ड देना चाहिये। जो न्यायानुसार पराजित होकर भी अपने को अपराजित मानता है, उसको सामने आने पर फिर जीते और उस पर दूना दण्ड लगावे। जो आमन्त्रित नहीं है, उसको बुलाकर लाने वाला पुरुष वध के योग्य है। जो अपराधी दण्ड देने वाले पुरुष के हाथ से छूटकर भाग जाता

हीनः पुरुषकारेण तं दण्ड्याद्दाण्डिको धनम्।।६७।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते दण्डप्रणयनकथनं नाम सप्तविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः।।२२७।।
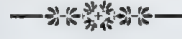
अथाष्टाविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

युद्धयात्रा

पुष्कर उवाच

यदा मन्येत नृपतिराक्रन्देन बलीयसा। पार्ष्णिग्राहोऽभिभूतो मे तदा यात्रां प्रयोजयेत्।।१।।
पुष्टा योधा भृता भृत्याः प्रभूतं च बलं मम। मूलरक्षासमर्थोऽस्मि तैर्वृत्वा शिविरे व्रजेत्।।२।।
शत्रोर्वा व्यसने यायाद्दैवाद्यैः पीडितं परम्। भूकम्पो यां दिशं याति यां च केतुर्व्यदूषयत्।।३।।
विद्विष्टनाशकं सैन्यं संभूतान्तः प्रकोपनम्। शरीरस्फुरणे धन्ये तथा सुस्वप्नदर्शने।।४।।
निमित्ते शकुने धन्ये जाते शत्रुपुरं व्रजेत्। पदातिनागबहुलां सेनां प्रावृषि योजयेत्।।५।।

है, वह पुरुषार्थ से हीन है। दण्डकर्ता को उचित है कि ऐसे भीरु मनुष्य को शारीरिक दण्ड न देकर उस पर धन का दण्ड लगावे।।४७-६७।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी दो सौ सताईसवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।२२७।।

अध्याय-२२८

युद्ध-यात्रा विचार

पुष्करजी ने कहा कि–जिस समय राजा यह समझ ले कि किसी बलवान् आक्रन्द (राजा) के द्वारा मेरा पार्ष्णिग्राह राजा पराजित कर दिया गया है तो वह सेना को युद्ध के लिये यात्रा करने की आज्ञा अवश्य दे। पहले इस बात को समझ ले कि मेरे सैनिक खूब हृष्ट-पुष्ट हैं, भृत्यों का भलीभाँति भरण-पोषण हुआ है, मेरे पास अधिक सेना मौजूद है तथा मैं मूल की रक्षा करने में पूर्ण सक्षम हूँ; इसके बाद सैनिकों से घिरकर शिविर में जाय। जिस समय शत्रु पर कोई संकट पड़ा हो, दैवी और मानुषी आदि बाधाओं से उसका नगर पीड़ित हो, तत्पश्चात् युद्ध के लिये यात्रा करनी चाहिये। जिस दिशा में भूकम्प आया हो, जिसे केतु ने अपने प्रभाव से दूषित किया हो, उसी तरफ आक्रमण करना चाहिये। जिस समय सेना में शत्रु को नष्ट करने का उत्साह हो, योद्धाओं के मन में विपक्षियों के प्रति क्रोध का भाव प्रकट हुआ हो, शुभसूचक अंग फड़क रहे हों, अच्छे स्वप्न दिखायी देते हों तथा श्रेष्ठतम निमित्त और शकुन हो रहे हों, तत्पश्चात् शत्रु के नगर पर चढ़ाई करनी चाहिये।

हेमन्ते शिशिरे चैव रथवाजिसमाकुलाम्। चतुरङ्गबलोपेतां वसन्ते वा शरन्मुखे।।६।।
सेना पदातिबहुला शत्रूञ्जयति सर्वदा। अङ्गदक्षिणभागे तु शस्त्रं प्रस्फुरणं भवेत्।।७।।
न शस्तं तु तथा वामे पृष्ठस्य हृदयस्य च। लाञ्छनं पिटकं चैव विज्ञेयं स्फुरणं तथा।।८।।
विपर्ययेणाभिहितं सव्ये स्त्रीणां शुभं भवेत्।।९।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते युद्धयात्रावर्णनं नामाष्टाविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः।।२२८।।

यदि वर्षाकाल में यात्रा करनी हो, तो जिसमें पैदल और हाथियों की संख्या अधिक हो, ऐसी सेना को कूच करने की आज्ञा देना चाहिये। हेमन्त और शिशिर-ऋतु में ऐसी सेना ले जाय, जिसमें रथ और घोड़ों की संख्या अधिक हो। वसन्त और शरद् के प्रारम्भ में चतुरंगिणी सेना को युद्ध के लिये नियुक्त करना चाहिये। जिसमें पैदलों की संख्या अधिक हो, वही सेना सदा शत्रुओं पर विजय पाती है। यदि शरीर के दाहिने भाग में कोई अंग फड़क रहा हो, तो श्रेष्ठतम है। बायें, अंग, पीठ तथा हृदय का फड़कना अच्छा नहीं है। इस तरह शरीर के चिह्नों, फोड़े-फुंसियों तथा फड़कने आदि के शुभाशुभ फलों को अच्छी तरह समझ लेना चाहिये। स्त्रियों के लिये इसके विपरीत फल बतलाया गया है। उनके बायें अंग का फड़कना शुभ होता है।।१-८।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी दो सौ अट्ठाईसवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।२२८।।

❖❖❖

अथैकोनत्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

स्वप्नशुभाशुभ-दुःस्वप्नहरणकथनम्

पुष्कर उवाच

स्वप्नं शुभाशुभं वक्ष्ये दुःस्वप्नहरणं तथा। नाभिं विनाऽन्यत्र गात्रे तृणवृक्षसमुद्भवः॥१॥
चूर्णनं मूर्ध्नि कांस्यानां मुण्डनं नग्नता तथा। मलिनाम्बरधारित्वमभ्यङ्गः पङ्कदिग्धता॥२॥
उच्चात्प्रपतनं चैव विवाहो गीतमेव च। तन्त्रीवाद्यविनोदश्च दोलारोहणमेव च॥३॥
अर्जनं पद्मलोहानां सर्पाणामथ मारणम्। रक्तपुष्पद्रुमाणां च चण्डालस्य तथैव च॥४॥
वराहश्वखरोष्ट्राणां तथा चाऽऽरोहणक्रिया। भक्षणं पक्षिमांसानां तैलस्य कृशरस्य च॥५॥
मातुः प्रवेशो जठरे चितारोहणमेव च। शक्रध्वजाभिपतनं पतनं शशिसूर्ययोः॥६॥
दिव्यान्तरक्षिभौमानामुत्पातानां च दर्शनम्। देवद्विजातिभूपानां गुरूणां कोष एव च॥७॥
नर्तनं हसनं चैव विवाहो गीतमेव च। तन्त्रीवाद्यविहीनानां वाद्यानामपि वादनम्॥८॥
स्रोतोवहाधोगमनं स्नानं गोमयवारिणा। पङ्कोदकेन च तथा मशी (षी) तोयेन वाऽप्यथ॥९॥
आलिङ्गनं कुमारीणां पुरुषाणां च मैथुनम्। हानिश्चैव स्वगात्राणां विरेको वमनक्रिया॥१०॥
दक्षिणाशाप्रगमनं व्याधिनाऽभिभवस्तथा। फलानामुपहानिश्च धातूनां भेदनं तथा॥११॥
गृहाणां चैव पतनं गृहसंमार्जनं तथा। क्रीडा पिशाचक्रव्यादवानरान्त्यनरैरपि॥१२॥

अध्याय-२२९

शुभाशुभ स्वप्न विचार

पुष्करजी ने कहा कि–अधुना मैं शुभाशुभ स्वप्नों का वर्णन करने जा रहा हूँ तथा दुःस्वप्न विनाश के उपाय भी वहाँ बतलाने जा रहा हूँ। नाभि के सिवा शरीर के अन्य अंगों में तृण और वृक्षों का उगना, काँस के बर्तनों का मस्तक पर रखकर फोड़ा जाना, माथा मुँड़ाना, नग्न होना, मैले कपड़े पहनना, तेल लगना, कीचड़ लपेटना, ऊँचे से गिरना, विवाह होना, गीत सुनना, वीण आदि के बाजे सुनकर मन बहलाना, सर्पों को मारना, लाल फूल से भरे हुए वृक्षों तथा चाण्डाल को देखना, सूअर, कुत्ते, गदहे और ऊँटों पर चढ़ना, चिड़ियों के मांस का भक्षण करना, तेल पीना, खिचड़ी खाना, माता के गर्भ में प्रवेश करना, चिता पर चढ़ना, इन्द्र के उपलक्ष्य में खड़ी की हुई ध्वजा का टूट पड़ना, सूर्य और चन्द्रमा का गिरना, दिव्य, अन्तरिक्ष और भूलोक में होने वाले उत्पातों का दिखायी देना, देवता, ब्राह्मण, राजा और गुरुओं का कोप होना, नाचना, हँसना, व्याह करना, गीत गाना, वीणा के सिवा अन्य तरह के बाजों का स्वयं बजाना, नदी में डूबकर नीचे जाना, गोबर, कीचड़ तथा स्याही मिलाये हुए जल से स्नान करना, कुमारी कन्याओं का आलिंगन, पुरुषों का एक-दूसरे के साथ मैथुन, अपने अंगों की हानि, वमन और विरेचन करना, दक्षिण दिशा की तरफ जाना, रोग से पीड़ित होना, फलों की हानि, पिशाचों, राक्षसों, वानरों तथा चाण्डाल आदि के साथ खेलना, शत्रु से अपमानित होना, उसकी तरफ से संकट का प्राप्त होना, गेरुआ वस्त्र धारण करना, गेरुए वस्त्रों से खेलना, तेल पीना

परादभिभवश्चैव तस्माच्च व्यसनोद्भवः। काषायवस्त्रधारित्वं तद्वस्त्रैः क्रीडनं तथा।।१३।।
स्नेहपानावगाही च रक्तमाल्यानुलेपनम्। इत्यधन्यानि स्वप्नानि तेषामकथनं शुभम्।।१४।।
(भूयश्च स्वपनं तद्वत्कार्यं स्नानं द्विजार्चनं। तिलैर्होमो हरिब्रह्मशिवार्कगणपूजनम्।।१५।।
तथा स्तुतिप्रपठनं पुंसूक्तादिजपस्तथा। स्वप्नास्तु प्रथमे यामे संवत्सरविपाकिनः।।१६।।
षड्भिर्मासैर्द्वितीये तु त्रिभिर्मासैस्त्रियामिकाः। चतुर्थे त्वर्धमासेन दशाहादरुणोदये।।१७।।
एकस्यामथ चेद्रात्रो शुभं वा यदि वाऽशुभम्। पश्चाद्दृष्टस्तु यस्तत्र तस्य पाकं विनिर्दिशेत्।।१८।।
तस्मात्तु शोभने स्वप्ने पश्चात्स्वापो न शस्यते। शैलप्रासादनागाश्ववृषभारोहणं हितम्।।१९।।
द्रुमाणां श्वेतपुष्पाणां गगनं च यथा द्विज। द्रुमतृणोद्भवो नाभौ तथा च बहुबाहुता।।२०।।
तथा च बहुशीर्षत्वं पलितोद्भव एव च। सुशुक्लमाल्यधारित्वं सुशुक्लाम्बरधारिता।।२१।।
चन्द्रार्कताराग्रहणं परिमार्जनमेव च। शक्रध्वजालिङ्गनं च ध्वजोच्छ्राय क्रिया तथा।।२२।।
भूम्यम्बुधाराग्रहणं शत्रूणां चैव विक्रिया। जयो विवादे द्यूते च संग्रामे च तथा द्विज।।२३।।
भक्षणं चाऽऽर्द्रमांसानां पायसस्य च भक्षणम्। दर्शनं रुधिरस्यापि स्नानं वा रुधिरेण च।।२४।।
सुरारुधिरमद्यानां पानं क्षीरस्य वाऽप्यथ। अस्त्रैर्विचेष्टनं भूमौ निर्मलं गगनं तथा।।२५।।
मुखेन दोहनं शस्तं महिषाणां तथा गवाम्। सिंहिनां हस्तिनीनां च वडवानां तथैव च।।२६।।

या उसमें नहाना, लाल फूलों की माला पहनना और लाल ही चन्दन लगाना—ये सब बुरे स्वप्न हैं। इनको दूसरों पर प्रकट न करना अच्छा है। ऐसे स्वप्न देखकर फिर से सो जाना चाहिये। इसी तरह स्वप्नदोष की शान्ति के लिये स्नान, ब्राह्मणों का पूजन, तिलों का हवन, ब्रह्मा, विष्णु, शिव और सूर्य के गणों की पूजा, स्तुति का पाठ तथा पुरुषसूक्त आदि का जप करना उचित है। रात के पहले प्रहर में देखे हुए स्वप्न एक वर्ष तक फल देने वाले होते हैं, दूसरे प्रहर के स्वप्न षड् महीने में, तीसरे प्रहर के तीन महीने में, चौथे प्रहर के पन्द्रह दिनों में और अरुणोदय की वेला में देखे हुए स्वप्न दस ही दिनों में अपना फल प्रकट करते हैं।।१-१७।।

यदि एक ही रात में शुभ और अशुभ—दोनों ही तरह के स्वप्न दिखायी पड़ें तो उनमें जिसका पीछे दर्शन होता है, उसी का फल बतलाना चाहिये। इसलिये शुभ स्वप्न देखने के पश्चात् सोना अच्छा नहीं माना जाता है। स्वप्न के पश्चात् सोना अच्छा नहीं माना जाता है। स्वप्न में पर्वत, महल, हाथी, घोड़े और बैल पर चढ़ना हितकर होता है। हे भगवान् परशुरामजी! यदि पृथ्वी पर या आकाश में सफेद फूलों से भरे हुए वृक्षों का दर्शन हो, अपनी भुजाएँ और मस्तक अधिक दिखायी दें, सिर के बाल पक जायँ तो उसका फल श्रेष्ठतम होता है। सफेद फूलों की माला और श्वेत वस्त्र धारण करना, चन्द्रमा, सूर्य और ताराओं को पकड़ना परिमार्जन करना, इन्द्र की ध्वजा का आलिंगन करना, ध्वजा को ऊँचे उठाना, पृथ्वी पर पड़ती हुई जल की धारा को अपने ऊपर रोकना, शत्रुओं की बुरी दशा देखना, वाद-विवाद, जूआ तथा संग्राम में अपनी विजय देखना, खीर खाना, रक्त का देखना, खून से नहाना, सुरा, मद्य अथवा दूध पीना, अस्त्रों से घायल होकर धरती पर छटपटाना, आकाश का स्वच्छ होना तथा गाय, भैंस, सिंहिनी, हथिनि और घोड़ी को मुँह से दुहना—ये सब श्रेष्ठतम स्वप्न हैं। देवता, ब्राह्मण और गुरुजनों की प्रसन्नता, गौओं के सींग अथवा चन्द्रमा से गिरे हुए जल के द्वारा अपना अभिषेक होना—ये स्वप्न राज्य सम्प्रदान करने वाले हैं, ऐसा समझना चाहिये।

प्रसादो देवविप्रेभ्यो गुरुभ्यश्च तथा द्विज। अम्भसा चाभिषेकस्तु गवां शृङ्गच्युतेन च॥२७॥
चन्द्राद्भ्रष्टेन वा राम ज्ञेयं राज्यप्रदं हि तत्। राज्याभिषेकश्च तथा छेदनं शिरसोऽप्यथ॥२८॥
मरणं वह्निलाभश्च वह्निदाहो गृहादिषु। लब्धिश्च राजलिङ्गानां तन्त्रीवाद्याभिवादनम्॥२९॥
यस्तु पश्यति स्वप्नान्ते राजानं कुञ्जरं हयम्। हिरण्यं वृषभं गां च कुटुम्बस्तस्य वर्धते॥३०॥
वृषेभगृहशैलाग्रवृक्षारोहणरोदनम्। घृतविष्ठानुलेपो वा अगम्यागमनं तथा॥३१॥

॥इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गति स्वप्नशुभाशुभदुःस्वप्नहरणकथनं नामैकोनत्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः॥२२९॥

हे भगवान् परशुरामजी! अपना राज्याभिषेक होना, अपने मस्तक का काटा जाना, मरना, आग में पड़ना, गृह आदि में लगी आग के अन्दर जलना, राजचिह्नों का प्राप्त होना, अपने हाथ से वीणा बजाना–ऐसे स्वप्न भी श्रेष्ठतम एवं राज्य सम्प्रदान करने वाले हैं। जो स्वप्न के अन्तिम भाग में राजा, हाथी, घोड़ा, स्वर्ण, बैल तथा गाय को देखता है, उसका कुटुम्ब बढ़ता है। बैल, हाथी, महल की छत, पर्वत-शिखर तथा गाय वृक्षपर चढ़ना, रोना, शरीर में घी और विष्ठा का लग जाना तथा अगम्या स्त्री के साथ समागम करना–ये सब शुभ स्वप्न हैं।॥१८-३१॥

॥इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी दो सौ उनतीसवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ॥२२९॥

❖❖❖

अथ त्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

शाकुनानि

पुष्कर उवाच

सितवस्त्रं प्रसन्नाम्भः फलीवृक्षो नभोऽमलम्। औषधानि च युक्तानि धान्यं कृष्णमशोभनम्।।१।।
कार्पासं तृणशुष्कं च गोमयं वै धनानि च। अङ्गारं गृहसर्जौं च मुण्डाभ्यक्तं च नग्नकम्।।२।।
अयः पङ्कः चर्मकेशावुन्मत्तं च नपुंसकम्। चण्डालश्वपचाद्याश्च नरा बन्धनपालकाः।।३।।
गर्भिणी स्त्री च विधवाः पिण्याकादीनि वै मृतम्। तुषभस्मकपालास्थिभिन्नभाण्डमशस्तकम्।।४।।
अशस्तो वाद्यशब्दश्च भिन्नभैरवझर्झरः। एहीति पुरतः शब्दः शस्यते न तु पृष्ठतः।।५।।
गच्छेति पश्चाच्छब्दोऽग्र्यः पुरस्तात्तु विगर्हितः। क्व यासि तिष्ठ मा गच्छ किं ते तत्र गतस्य च।।६।।
अनिष्टशब्दा मृत्यर्थं क्रव्यादश्च ध्वजादिगः। स्खलनं वाहनानां च शस्त्रभङ्गस्तथैव च।।७।।
शिरोघातश्च हाराद्यैश्छत्रवासादिपातनम्। हरिमभ्यर्च्य संस्तुत्य स्यादमङ्गल्यनाशनम्।।८।।
द्वितीयं तु ततो दृष्ट्वा विरुद्धं प्रविशेद्गृहम्। श्वेताः सुमनसः श्रेष्ठाः पूर्णकुम्भो महोत्तमः।।९।।

अध्याय-२३०

अशुभ और शुभ शकुन

पुष्करजी ने कहा कि–हे भगवान् परशुरामजी! श्वेत वस्त्र, स्वच्छ जल, फल से भरा हुआ वृक्ष, निर्मल आकाश, खेत में लगे हुए अन्न और काला धान्य–इनका यात्राके समय दिखायी देना अशुभ है। रुई, तृणमिश्रित सूखा गोबर (कंडा), धन, अङ्गार, गृह, करायल, मूँड़ मुड़ाकर तेल लगाया हुआ नग्न साधु, लोहा, कीचड़, चमड़ा, बाल, पागल मनुष्य हिंजड़ा, चाण्डाल, श्वपच आदि, बन्धन की रक्षा करने वाले मनुष्य, गर्भिणी स्त्री, विधवा, तिल की खली, मृत्यु, भूसी, राख, खोपड़ी, हड्डी और फूटा हुआ बर्तन–युद्ध यात्रा के समय इनका दिखायी देना अशुभ माना जाता है। बाजों का वह शब्द, जिसमें फूटे हुए झाँझ की भयंकर ध्वनि सुनाीय पड़ती हो, अच्छा नहीं माना गया है। 'चले आओ'–यह शब्द यदि सामने की तरफ से सुनायी पड़े तो श्रेष्ठतम है, परन्तु पीछे की तरफ से शब्द हो, तो अशुभ माना गया है। 'जाओ'–यह शब्द यदि पीछे की तरफ से हो, तो श्रेष्ठतम है; परन्तु आगे की तरफ से हो, तो निन्दित होता है। 'कहाँ जाते हो? ठहरो, न जाओ; वहाँ जाने से आपको क्या लाभ है?–ऐसे शब्द अनिष्ट की सूचना देने वाले हैं। यदि ध्वजा आदि के ऊपर चील आदि मांसाहारी पक्षी बैठ जायँ, घोड़े, हाथी आदि वाहन लड़खड़ाकर गिर पड़ें, हथियार टूट जायँ, हार आदि के द्वारा मस्तकपर चोट लगे तथा छत्र और वस्त्र आदि को कोई गिरा दे तो ये सब अपशकुन मृत्यु का कारण बनते हैं। भगवान् श्रीहरि विष्णु की पूजा और स्तुति करने से अमंगल का विनाश होता है। यदि दूसरी बार इन अपशकुनों का दर्शन हो, तो गृह लौट जाय।।१-८।।

यात्रा के समय श्वेत पुष्पों का दर्शन श्रेष्ठ माना गया है। भरे हुए घड़े का दिखायी देना तो बहुत ही श्रेष्ठतम

मांसं मत्स्या दूरशब्दा वृद्ध एकः पशुस्त्वजः। गावस्तुरङ्गमा नागा देवाश्च ज्वलितोऽनलः।।१०।।
दूर्वाऽऽर्द्रगोमयं वेश्या स्वर्ण रूप्यं च रत्नकम्। वचासिद्धार्थकौषध्यो मुद्ग आयुधखड्गकम्।।११।।
छत्रं पीठं राजलिंगं शवं रुदितवर्जितम्। फलं घृतं दधि पयो अ (ह्य) क्षतादर्शमाक्षिकम्।।१२।।
शङ्ख इक्षुः शुभं वाक्यं भक्तवादित्रगीतकम्। गम्भीरमेघस्तनितं तडित्तुष्टिश्च मानसो।।
एकतः सर्वलिङ्गानि मनसस्तुष्टिरेकतः।।१३।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते शकुनवर्णनं नाम त्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः।।२३०।।

है। मांस, मछली, दूर का कोलाहल, अकेला वृद्ध पुरुष, पशुओं में बकरा, गौ, घोड़े तथा हाथी, देवप्रतिमा, प्रज्वलित अग्नि, दूर्वा, ताजा गोबर, वेश्या, सोना, चाँदी, रत्न, बच, सरसों आदि औषधियाँ, मूँग, आयुधों में तलवार, छाता, पीढ़ा, राजचिह्न, जिसके पास कोई रोता न हो ऐसा शव, फल, घी, दही, दूध, अक्षत, दर्पण, मधु, शंख, ईख, शुभसूचक वचन, भक्त पुरुषों का गाना-बजाना, मेघ की गम्भीर गर्जना, बिजली की चमक तथा मन का संतोष-ये सब शुभ शकुन हैं। एक तरफ सभी तरह के शुभ शकुन और दूसरी तरफ मन की प्रसन्नता-ये दोनों बराबर हैं।।९-१३।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी दो सौ तीसवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।२३०।।

❖❖❖

अथैकत्रिंशदाधिकद्विशततमोऽध्यायः

शकुनानि

पुष्कर उवाच

तिष्ठतो गमने प्रश्ने पुरुषस्य शुभाशुभम्। निवेदयन्ति शकुना देशस्य नगरस्य च।।१।।
सर्वः पापफलोदीप्तो निर्दिष्टो दैवचिन्तकैः। शान्तः शुभफलश्चैव देवज्ञैः समुदाहृतः।।२।।
षट्प्रकारा विनिर्दिष्टाः शकुनानां च दीप्तयः। वेलादिग्देशकरणरुतजातिविभेदतः।।३।।
पूर्वा पूर्वा च विज्ञेया सा तेषां बलवत्तरा। दिवाचरो रात्रिचरस्तथा रात्रौ (त्रि) दिवाचरः।।४।।
क्रूरेषु दीप्ता विज्ञेया ऋक्षलग्नग्रहादिषु। धूमिता सा तु विज्ञेया यां गमिष्यति भास्करः।।५।।
यस्यां स्थितः सा ज्वलिता मुक्ता चाङ्गारिणी मता। एतास्तिस्रः स्मृता दीप्ताः पञ्च शान्तास्तथाऽपराः।।६।।
दीप्तायां दिशि दिग्दीप्तं शकुनं परिकीर्तितम्। ग्रामेऽरण्यावने ग्राम्यास्तथा निन्दितपादपः।।७।।
देशे चैवाशुभे ज्ञेयो देशदीप्तो द्विजोत्तम। क्रियादीप्तो विनिर्दिष्टः स्वजात्यनुचितक्रियः।।८।।
रुतदीप्तश्च कथितो भिन्नभैरवनिःस्वनः। जातिदीप्तस्तथा ज्ञेयः केवलं मांसभोजनः।।९।।

अध्याय-२३१

शकुन प्रकार विचार

पुष्करजी ने कहा कि--राजा के ठहरने, जाने अथवा प्रश्न करने के समय होने वाले शकुन उसके देश और नगर के लिये शुभ और अशुभ फल की सूचना देते हैं। शकुन दो तरह के होते हैं--'दीप्त' और 'शान्त'। दैव का विचार करने वाले ज्यौतिषियों ने सम्पूर्ण दीप्त शकुनों का फल अशुभ तथा शान्त शकुनों का फल शुभ बतलाया है। वेलादीप्त, दिग्दीप्त, देशदीप्त, क्रियादीप्त, रुतदीप्त और जातिदीप्त के भेद से दीप्त शकुन छः तरह के बताये गये हैं। उनमें पूर्व-पूर्व को अधिक प्रबल समझना चाहिये। दिन में विचरने वाले प्राणी रात्रि में और रात्रि में चलने वाले प्राणी दिन में विचरते दिखायी दें तो उसको 'वेलादीप्त' समझना चाहिये। इसी तरह जिस समय नक्षत्र, लग्न और ग्रह आदि क्रूर अवस्था को प्राप्त हो जायँ, वह भी 'वेलादीप्त' के ही अन्तर्गत है। सूर्य जिस दिशा को जाने वाले हों, वह 'धूमिता', जिसमें मौजूद हों, वह 'ज्वलिता' तथा जिसे छोड़ आये हों, वह 'अंगारिणी' मानी गयी है। ये तीन दिशाएँ 'दीप्त' और शेष पाँच दिशाएँ 'शान्त' कहलाती हैं। दीप्त दिशा में जो शकुन हो, उसको 'दिग्दीप्त' कहा गया है। यदि गाँव में जंगली और जंगल में ग्रामीण पशु-पक्षी आदि मौजूद हों तो वह निन्दित देश है। इसी तरह जहाँ निन्दित वृक्ष हों, वह स्थान भी निन्द्य एवं अशुभ माना गया है।।१-७।।

हे विप्रवर! अशुभ देश में जो शकुन होता है, उसको 'देशदीप्त' समझना चाहिये। अपने वर्णधर्म के विपरीत अनुचित कर्म करने वाला पुरुष 'क्रियादीप्त' बतलाया गया है। 'उसका दिखायी देना 'क्रियादीप्त' शकुन के अन्तर्गत है। फटी हुई भयंकर आवाज का सुनायी पड़ना 'रुतदीप्त' कहलाता है। केवल मांसभोजन करने वाले प्राणी को 'जातिदीप्त' समझना चाहिये। उसका दर्शन भी 'जातिदीप्त' समझना चाहिये। उसका दर्शन भी 'जातिदीप्त' शकुन है।

दीप्ताच्छान्तो विनिर्दिष्टः सर्वैर्भेदैः प्रयत्नतः। मिश्रैर्मिश्रो विनिर्दिष्टस्तस्य वाच्यं फलाफलम्॥१०॥
गोश्वोष्ट्रगर्दभश्वानः सारिका गृहगोधिका। चटका भासकूर्माद्याः कथिता ग्रामवासिनः॥११॥
अजाविशुकनागेन्द्राः कोलो महिषवायसौ। ग्राम्यारण्या विनिर्दिष्टाः सर्वेऽन्ये वनगोचराः॥१२॥
मार्जारकुक्कुटौ ग्राम्यौ तौ चैव वनगोचरौ। तयोर्भवति विज्ञानं नित्यं वै रूपभेदतः॥१३॥
गोकर्णशिखिचक्राह्वखरहारीतवायसाः। कुलाहकुक्कुभश्येनफेरुखञ्जनवानराः॥१४॥
शतघ्नचटकश्यामचास (ष) श्येनकपिञ्जलाः। तित्तिरिः शतपत्रश्च कपोतश्च तथा त्रयः॥१५॥
खञ्जरीटकदात्यूहशुकराजीवकुक्कुटाः। भारद्वाजश्च सारङ्ग इति ज्ञेया दिवाचराः॥१६॥
वागुर्युलूकशरभक्रौञ्चाः शशककच्छपाः। लोमासिकाः पिङ्गलिकाः कथिता रात्रिगोचराः॥१७॥
हंसाश्च मृगमार्जारनकुलर्क्षभुजंगमाः। वृकारिसिंहव्याघ्रोष्ट्रग्रामशूकरमानुषाः॥१८॥
श्वाविद्वृषभगोमायुवृककोकिलसारसाः। तुरंगकौ पीननरा (?) गोधा ह्युभयचारिणः॥१९॥
बलप्रस्थानयो सर्वे पुरस्तात्संघचारिणः। जयावहा विनिर्दिष्टा पश्चान्निधनकारिणः॥२०॥
गृहाद्गम्य यदा चासो (षो) व्याहरन्पुरतः स्थितः। नृपावमानं वदति वामः कलहभोजने॥२१॥
याने तद्दर्शनं शस्तं सव्यमङ्गस्य वाऽप्यथ। चौरैर्मोघमथाऽऽख्याति मयूरो भिन्न निःस्वनः।२२॥

दीप्त अवस्था के विपरीत जो शकुन हो, वह 'शान्त' बतलाया गया है। उसमें भी उपर्युक्त सभी भेद यत्नपूर्वक जानने चाहिये। यदि शान्त और दीप्त के भेद मिले हुए हों तो उसको 'मिश्र शकुन' कहते हैं। इस तरह विचारकर उसका फलाफल बतलाना चाहिये॥८-१०॥

गौ, घोड़े, ऊँट, गदहे, कुत्ते, सारिका (मैना) गृहगोधिका (गिरगिट), चटक (गौरैया), भास (चील या मुर्गा) और कछुए आदि प्राणी 'ग्रामवासी' कहे गये हैं। बकरा, भेड़ा, तोता, गजराज, सूअर, भैंसा और कोआ- ये ग्रामीण भी होते हैं और जंगली भी। इनके अतिरिक्त और सभी जीव जंगली भी। इनके अतिरिक्त और सभी जीव जंगली कहे गये हैं। बिल्ली और मुर्ग भी ग्रामीण तथ जंगली होते हैं; उनके रूप में भेद होता है, इसी से वे सदा पहचाने जाते हैं। गोकर्ण (खच्चर), मोर, चक्रवाक, गदहे, हारीत, कौए, कलाह, कुक्कुभ, बाज, गीदड़, खञ्जरीट, वानर, शतघ्न, चटक, कोयल, नीलकण्ठ (श्येन), कपिञ्जल (चातक), तीतर, शतपत्र, कबूतर, खञ्जन, दात्यूह (जलकाक), शुक, राजीव, मुर्गा, भरदूल और सारंग-ये दिन में चलने वाले प्राणी हैं। वागुरी, उल्लू, शरभ, क्रौञ्च, खरगोश कछुआ, लोमासिका और पिंगलिका-ये रात्रि में चलने वाले प्राणी बताये गये हैं, हंस, मृग, बिलाव, नेवला, रीछ, सर्प, वृकारि, सिंह, व्याघ्र, ऊँट, ग्रामीण सूअर, मनुष्य, श्वाविद, वृषभ, गोमायु, वृक, कोयल, सारस, घोड़े, गोधा और कौपीनधारी पुरुष-ये दिन और रात दोनों में चलने वाला हैं॥११-१९॥

युद्ध और युद्ध की यात्रा के समय यदि ये सभी जीव झुंड बाँधकर सामने आवें तो विजय दिलाने वाले बताये गये हैं; परन्तु यदि पीछे से आवें तो मृत्युकारक माने गये हैं। यदि नीलकण्ठ अपने घोंसले से निकलकर आवाज देता हुआ सामने स्थित हो जाय तो वह राजा को अपमान की सूचना देता है और जिस समय वह वामभाग में आ जाय तो कलहकारक एवं भोजन में बाधा डालने वाला होता है। यात्रा के समय उसका दर्शन श्रेष्ठतम माना गया है; उसके बायें अंग का अवलोकन भी श्रेष्ठतम है। यदि यात्रा के समय मोर जोर-जोर से आवाज दे तो चोरों के द्वारा अपने धन की चोरी होने का संदेश देता है॥२०-२२॥

प्रयातस्याग्रतो राम मृगः प्राणहरो भवेत्। ऋक्षाखुजम्बुकव्याघ्रसिंहमार्जारगर्दभाः।।२३।।
प्रतिलोमास्तथा राम खरश्च विकृतस्वनः। वामः कपिञ्जलः श्रेष्ठस्तथा दक्षिणसंस्थितः।।२४।।
पृष्ठतो निन्दिफलस्तित्तिरस्तु न शस्यते। एणा वराहाः पृषता वामा भूत्वा तु दक्षिणाः।।२५।।
भवन्त्यर्थकरा नित्यं विपरीता विगर्हिताः। वृषाश्वजम्बुकव्याघ्राः सिंहमार्जारगर्दभाः।।२६।।
वाञ्छितार्थ करा ज्ञेया दक्षिणाद्वामतो गताः। शिवा श्यामाननाच्छुच्छूः पिङ्गलाः गृहगोधिका।।२७।।
शूकरी परिपुष्टा च पुंनामानश्च वामतः। स्त्रीसंज्ञाभासकारूषकपिश्रीकर्णच्छित्कराः।।२८।।
कपिश्रीकर्णपिप्पीका रुरुश्येनाश्च दक्षिणाः। जातोक्षाहिशशक्रोडगोधानां कीर्तनं शुभम्।।२९।।
ततः संदर्शनं नेष्टं प्रतीपं वानरर्क्षयोः। कार्यकृद्‌बली शकुनः प्रस्थितस्य हि योऽन्वहम्।।३०।।
भवेत्तस्य फलं वाच्यं तदेव दिवसं बुधैः। मत्ता भक्ष्यार्थिनी बाला वैरसक्तास्तथैव च।।३१।।
सीमान्तमभ्यन्तरिता विज्ञेया निष्कला द्विज। एकद्वित्रिचतुर्भिस्तु शिवा धन्या रुतैर्भवेत्।।३२।।
पञ्चभिश्च तथा षड्‌भिरधन्या परिकीर्तिता। सप्तभिश्च तथा धन्या निष्फला परतो भवेत्।।३३।।
नृणां रोमांच जननी वाहनानां भयप्रदा। ज्वालानला सूर्यमुखी विज्ञेया भयवर्धिनी।।३४।।

हे भगवान् परशुरामजी! प्रस्थानकाल में यदि मृग आगे-आगे चले तो वह प्राण लेने वाला होता है। रीछ, चूहा, सियार, बाघ, सिंह, बिलाव, गदहे–ये यदि प्रतिकूल दिशा में जाते हों, गदहा जोर-जोर से रेंकता हो और कपिञ्जल पक्षी बायीं अथवा दाहिनी तरफ स्थित हो, तो ये सभी श्रेष्ठतम माने गये हैं। परन्तु कपिञ्जल पक्षी यदि पीछे की तरफ हो, तो उसका फल निन्दित है। यात्राकाल में तीतर का दिखायी देना अच्छा नहीं हैं। मृग, सूअर और चितकबरे हिरन–ये यदि बायें होकर फिर दाहिने हो जायँ तो सदा कार्यसाधक होते हैं। इसके विपरीत यदि दाहिने से बायें चले जायँ तो निन्दित माने गये हैं। बैल, घोड़े, गीदड़, बाघ, सिंह, बिलाव और गदहे यदि दाहिने से बायें जायँ तो ये मनोवाञ्छित वस्तु की सिद्धि करने वाले होते हैं, ऐसा समझना चाहिये। शृगाल, श्याममुख, छुच्छू (छछूँदर), पिंगला, गृहगोधिका, शूकरी, कोयल तथा पुँल्लिङ्ग नाम धारण करने वाले जी यदि वाम-भाग में हों तथा स्त्रीलिंग नाम वाले जीव, भास, कारुष, बंदर, श्रीकण, छित्तवर, कपि, पिप्पीक, रुरु औ श्येन–ये दक्षिण दिशा में हों तो शुभ हैं। यात्राकाल में जातिक, सर्प, खरगोश, सूअर तथा गोधा का नाम लेना भी शुभ माना गया है।।२३-२९।।

रीछ और वानरों का विपरीत दिशा में दिखायी देना अनिष्टकारक होता है। प्रस्थान करने पर जो कार्यसाधक बलवान् शकुन प्रतिदिन दिखायी देता हो, उसका फल विद्वान् पुरुषों को उसी दिन के लिये बतलाना चाहिये, उसी-उसी दिन उसका फल होता है। हे भगवान् परशुरामजी! पागल, भोजनार्थी बालक तथा वैरी पुरुष यदि गाँव या नगर की सीमा के अन्दर दिखायी दें तो इनके दर्शन का कोई फल नहीं होता है, ऐसा समझना चाहिये। यदि सियारिन एक, दो तीन या चार बार आवाज लगावे तो वह शुभ मानी गयी है। इसी तरह पाँच और छः बार बोलने पर वह अशुभ और सात बार बोलने पर शुभ बतलायी गयी हैं। सात बार से अधिक बोले तो उसका कोई फल नहीं होता। यदि रास्ते में सूर्य की तरफ उठती हुई कोई ऐसी ज्वाला दिखायी दे, जिस पर दृष्टि पड़ते ही मनुष्यों के रोंगटे खड़े हो जायँ और सेना के वाहन भयभीत हो उठें, तो वह भय बढ़ाने वाली–महान् भय की सूचना देने वाली होती है, ऐसा समझना चाहिये। यदि पहले किसी श्रेष्ठतम देश में सारंग का दर्शन हो, तो वह मनुष्य के लिये एक वर्ष तक शुभ

प्रथमं सारंगे दृष्टे शुभे देशे शुभं वदेत्। संवत्सरं मनुष्यस्य अशुभे च शुभं तथा।।३५।।
तथाविधं नरः पश्येत्सारङ्गं प्रथमेऽहनि। आत्मनश्च तथात्वेन ज्ञातव्यं वत्सरं फलम्।।३६।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते शकुनवर्णनं नामैकत्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः।।२३१।।
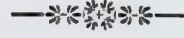
अथ द्वात्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

शकुनानि

पुष्कर उवाच

विशन्ति येन मार्गेण वायसा बहवः पुरम्। तेन मार्गेण रुद्धस्य पुरस्य ग्रहणं भवेत्।।१।।
सेनायां यदि वा सार्थे निविष्टो वायसो रुदन्। वामो भयातुरस्त्रस्तो भयं वदति दुस्तरम्।।२।।
छायाङ्गवाहनोपानच्छत्रवस्त्रादिकुट्टने। मृत्युस्तत्पूजने पूजा तदिष्टकरणे शुभम्।।३।।
प्रोषितागमकृत्काकः कुर्वन्द्वारि गतागतम्। रक्तं दग्धं गृहे द्रव्यं क्षिपन्वह्निनिवेदकः।।४।।

की सूचना देता है। उसको देखने से अशुभ में भी शुभ होता है। इसलिये यात्रा के प्रथम दिन मनुष्य ऐसे गुण वाले किसी सारंग का दर्शन करना चाहिये तथा अपने लिये एक वर्षतक उपरोक्त रूप से शुभ फल की प्राप्ति होने वाली समझे।।३०-३६।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी दो सौ इकतीसवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।२३१।।

अध्याय-२३२

शकुन में विशेष विचार

पुष्करजी ने कहा कि-जिस मार्ग से बहुतेरे कौए शत्रु के नगर में प्रवेश करें, उसी मार्ग से घेरा डालने पर उस नगर के ऊपर अपना अधिकार प्राप्त होता है। यदि किसी सेना या समुदाय में बायीं तरफ से भयभीत कौआ रोता हुआ प्रवेश करने पर वह आने वाले अपार भय की सूचना देता है। छाया (तम्बू, रावटी आदि), अङ्ग, वाहन, उपानह, छत्र और वस्त्र आदि के द्वारा कौए को कुचल डालने पर अपने लिये मृत्यु की सूचना मिलती है। उसकी पूजा करने पर अपनी भी पूजा होती है तथा अन्न आदि के द्वारा उसका इष्ट करने पर अपना भी शुभ होता है। यदि कौआ दरवाजे पर बारंबार आया-जाया करता हो, तो वह उस गृह के किसी परदेशी व्यक्ति के आने की सूचना देता है तथा यदि वह कोई लाल या जली हुई वस्तु मकान के ऊपर डाल देता है तो उससे आग लगने की सूचना मिलती है।।१-४।।

न्यसेद्रक्तं पुरस्ताच्च निवेदयति बन्धनम्। पीतं द्रव्यं तथा रुक्मरूप्यमेव तु भार्गव॥५॥
यच्चैवोपनयेद्द्रव्यं तस्य लब्धिं विनिर्दिशेत्। द्रव्यं वाऽपनयेद्यत्तु तस्य हानिं विनिर्दिशेत्॥६॥
पुरतो धनलब्धिः स्यादाममांसस्य छर्दने। भूलब्धिः स्यान्मृदः क्षेपे राज्यं रत्नार्पणे महत्॥७॥
यातुः काकोऽनुकूलस्तु क्षेमः कर्मक्षमो भवेत्। न त्वर्थसाधको ज्ञेयः प्रतिकूलो भयावहः॥८॥
संमुखेऽभ्येति विरुवन्यात्राघातकरो भवेत्। वामः काकः स्मृतो धन्यो दक्षिणोऽर्थविनाशकृत॥९॥
वामोऽनुलोमगः श्रेष्ठः मध्यमो दक्षिणः स्मृतः। प्रतिलोमगतिर्वामो गमनप्रतिषेधकृत्॥१०॥
निवेदयति यात्रार्थमभिप्रेतं गृहे गतः। एकाक्षिचरणस्त्वर्कं वीक्षमाणो भयावहः॥११॥
कोटरे वासमानश्च महानर्थकरो भवेत्। न शुभस्तूषरे काकःपङ्काङ्कः स तु शस्यते॥१२॥
अमेध्यपूर्णवदनः काकः सर्वार्थसाधकः। ज्ञेया पतत्रिणोऽन्येऽपि काकवद्भृगुनन्दन॥१३॥
स्कन्धावारापसव्यस्थाः श्वानो विप्रविनाशकाः। इन्द्रस्थाने नरेन्द्रस्य पुरेशस्य तु गोपुरे॥१४॥
अन्तर्गृहे गृहेशस्य मरणाय भवेद्भषन्। यस्य जिघ्राति वामाङ्गं तस्य स्यादर्थसिद्धये॥१५॥
भयाय दक्षिणं चाङ्गं तथा भुजमदक्षिणम्। यात्राघातकरो यातुर्भवेत्प्रतिमुखागतः॥१६॥

हे भृगुनन्दन! यदि वह मनुष्य के आगे कोई लाल वस्तु डाल देता है तो उसके कैद होने की बात बतलाता है और यदि कोई पीले रंग का द्रव्य सामने गिराता है तो उससे सोने-चाँदी की प्राप्ति सूचित होती है। सारांश यह कि वह जिस द्रव्य को अपने पास ला देता है, उसकी प्राप्ति और जिस द्रव्य को अपने यहाँ से उठा ले जाता है, उसकी हानि की तरफ संकेत करता है। यदि वह अपने आगे कच्चा मांस लोकर डाल दे तो धन की, मिट्टी गिरावे तो पृथ्वी की और कोई रत्न डाल दे तो महान् साम्राज्य की प्राप्ति हो, माननी चाहिये। यदि यात्रा करने वाले की अनुकूल दिशा (सामने) की तरफ कौआ जाय तो वह कल्याणकारी और कार्यसाधक होता है, परन्तु यदि प्रतिकूल दिशा की तरफ जाय तो उसको कार्य में बाधा डालने वाला तथा भयंकर समझना चाहिये। यदि कौआ सामने काँव-काँव करता हुआ आ जाय तो वह यात्रा का विघातक होता है। कौए का वामभाग में होना शुभ माना गया है और दाहिने भाग में होने पर वह कार्य का विनाश करता है। वामभाग में होकर कौआ यदि अनुकूल दिशा की तरफ चले तो 'मध्यम' माना जाता है; परन्तु वामभाग में होकर यदि विपरीत दिशा की तरफ जाय तो यात्रा का निषेध करता है। यात्राकाल में गृह पर कौआ आ जाय तो वह अभीष्ट कार्य की सिद्धि सूचित करता है। यदि वह एक पैर उठाकर एक आँख से सूर्य की तरफ देखे तो भय देने वाला होता है। यदि कौआ किसी वृक्ष के खोखले में बैठकर आवाज दे तो वह महान् अनर्थ का कारण है। ऊसर भूमि में बैठा हो, तो भी अशुभ होता है, परन्तु यदि वह कीचड़ में लिपटा हुआ हो, तो श्रेष्ठतम माना गया है। भगवान् परशुरामजी। जिसकी चोंच में मल आदि अपवित्र वस्तुएँ लगी हों वह कौआ दीख जाय तो सभी कार्यों का साधक होता है। कौए की भाँति अन्य पक्षियों का भी फल समझना चाहिये॥५-१३॥

यदि सेना की छावनी के दाहिने भाग में कुत्ते आ जायँ तो वे ब्राह्मणों के विनाश की सूचना देते हैं। इन्द्रध्वज के स्थान में हो, तो राजा का और गोपुर (नगरद्वार) पर हों तो नगराधीश की मृत्यु सूचित करते हैं। गृह के अन्दर भूँकता हुआ कुत्ता आवे तो गृहस्वामी की मृत्यु का कारण होता है। वह जिसके बायें अङ्ग को सूँघता है, उसके कार्य की सिद्धि होती है। यदि दाहिने अंग तरफ बायीं भुजा को सूँघे तो भय उपस्थित होता है। यात्री के सामने की तरफ से आवे तो यात्रा में विघ्न डालने वाला होता है। हे भृगुनन्दन! यदि कुत्ता राह रोककर खड़ा हो, तो मार्ग में चोरों

मार्गावरोधको मार्गे चौरान्वदति भार्गव। अलाभोऽस्थिमुखः पापो रज्जुचीरमुखस्तथा॥१७॥
सोपानत्कमुखो धन्यो मांसपूर्णमुखोऽपि च। अमङ्गल्यमुखद्रव्यं केशं चैवाशुभं तथा॥१८॥
अवमूत्र्याग्रतो याति यस्य तस्य भयं भवेत्। यस्यावमूत्र्य व्रजति शुभं देशं तथा द्रुमम्॥१९॥
मङ्गल्यं च तथा द्रव्यं तस्य स्यादर्थसिद्धये। श्ववच्च राम विज्ञेयास्तथा वै जम्बुकादयः॥२०॥
भयाय स्वामिनो ज्ञेयमनिमित्तं रुतं गवाम्। निशि चौरभयाय स्याद्विकृतं मृत्यवे तथा॥२१॥
शिवाय स्वामिनो रात्रौ बलीवर्दो नदन्भवेत्। उत्सृष्टवृषभो राज्ञो विजयं संप्रयच्छति॥२२॥
अभक्ष्यं भक्षयन्त्यश्च गावो दत्तास्तथा स्वकाः। त्यक्तस्नेहाः स्ववत्सेषु गर्भक्षयकरा मताः॥२३॥
भूमिं पादैर्विनिघ्नन्त्यो दीना भीता भयावहाः। आर्द्राङ्ग्यो हृष्टरोमाश्च शृङ्गलग्नमृदः शुभाः॥२४॥
महिष्यादिषु चाप्येतत्सर्वं वाच्यं विजानता। आरोहणं तथाऽन्येन सपर्याणस्य वाजिनः॥२५॥
जलोपवेशनं नेष्टं भूमौ च परिवर्तनम्। विपत्करं तुरंगस्य सुप्तं वाऽप्यनिमित्ततः॥२६॥
यवमोदकयोर्द्वेषस्त्वकस्माच्च न शस्यते। वदनाद्रुधिरोत्पत्तिर्वेपनं न च शस्यते॥२७॥
क्रीडन्बकैः कपोतैश्च सारिकाभिर्मृतिं वदेत्। साश्रुनेत्रो जिह्वया च पादलेही विनष्टये॥२८॥

का भय सूचित करता है; मुँह में हड्डी लिये हो, तो उसको देखकर यात्रा करने पर कोई लाभ नहीं होता तथा रस्सी या चिथड़ा मुख में रखने वाला कुत्ता भी अशुभसूचक होता है। जिसके मुँह से जूता या मांस हो, ऐसा कुत्ता सामने हो, तो शुभ होता है। यदि उसके मुँह में कोई अमाङ्गलिक वस्तु तथा केश आदि हो, तो उससे अशुभ की सूचना मिलती है। कुत्ता जिसके आगे पेशाब करके चला जाता है, उसके ऊपर भय आता है; परन्तु मूत्र त्यागकर यदि वह किसी शुभ स्थान, शुभ वृक्ष तथा माङ्गलिक वस्तु के सन्निकट चला जाय तो वह उस पुरुष के कार्य का साधक होता है। हे भगवान् परशुरामजी! कुत्ते की ही भाँति गीदड़ आदि भी समझने चाहिये॥१४-२०॥

यदि गौएँ अकारण ही डकराने लगें तो समझना चाहिये कि स्वामी के ऊपर भय आने वाला है। रात में उनके बोलने से चोरों का भय सूचित होता है और यदि वे विकृत स्वर में क्रन्दन करें तो मृत्यु की सूचना मिलती है। यदि रात में बैल गर्जना करना चाहिये तो स्वामी का कल्याण होता है और साँड आवाज दे तो राजा को विजय सम्प्रदान करता है। यदि अपनी दी हुई तथा अपने गृह पर मौजूद रहने वाली गौएँ अधुनाक्ष्य-भक्षण करें और अपने बछड़ों पर भी स्नेह करना छोड़ दें तो गर्भक्षय की सूचना देने वाली मानी गयी हैं। पैरों से भूमि खोदने वाली, दीन तथा भयभीत गौएँ भय लाने वाली होती हैं। जिनका शरीर भीगा हो, रोम-रोम प्रसन्नता से खिला हो और सींगों में मिट्टी लगी हुई हो, वे गौएँ शुभ होती हैं। विज्ञ पुरुष को भैंस आदि के सम्बन्ध में भी यही सब शकुन बताना चाहिये॥२१-२४॥

जीन कसे हुए अपने घोड़े पर दूसरे का चढ़ना, उस घोड़े का जल में बैठना और भूमि पर एक ही जगह चक्कर लगाना अनिष्ट का सूचक है। बिना किसी कारण के घोड़े का सो जाना विपत्ति में डालने वाला होता है। यदि अकस्मात् जई और गुड़ की तरफ से घोड़े को अरुचि हो जाय, उसके मुँह से खून गिरने लगे तथा उसका सार बदन काँपने लगे तो ये सब अच्छे लक्षण नहीं हैं; इनसे अशुभ की सूचना मिलती है। यदि घोड़ा बगुलों, कबूतरों और सारिकाओं से खिलवाड़ करना चाहिये तो मृत्यु का संदेश देता है। उसके नेत्रों से आँसू बहे तथा वह जीभ से अपना पैर काटने लगे तो विनाश का सूचक होता है। यदि बायें टाप से धरती खोदे, बायीं करवट से साये अथवा दिन में नींद ले तो शुभकारक नहीं माना जाता। जो घोड़ा एक बार मूत्र करने वाला हो, अर्थात् जिसका मूत्र एक बार थोड़ा-

वामपादेन च तथा विलिखंश्च वसुन्धराम्। स्वपेद्वा वामपार्श्वेन दिवा वा न शुभप्रदः।।२९।।
भयाय स्यात्सकृन्मूत्री तथा निद्राविलाननः। आरोहणं न चेद्दद्यात्प्रतीपं वा गृहं व्रजेत्।।३०।।
यात्राविघातमाचष्टे वामपार्श्वं तथा स्पृशन्। हेषमाणः शत्रुयोधं पादस्पर्शी जयावहः।।३१।।
ग्रामे व्रजति नागश्चेन्मैथुनं देशहा भवेत्। प्रसूता नागवनिता मत्ता चान्ताय भूपतेः।।३२।।
आरोहणं न चेद्दद्यात्प्रतीपं वा गृहं व्रजेत्। मदं वा वारणो जह्याद्राजघातकरो भवेत्।।३३।।
वामं दक्षिणपादेन पादमाक्रमते शुभः। दक्षिणं च तथा दन्तं परिमार्ष्टि करेण च।।३४।।
वृषोऽश्वः कुञ्जरो वाऽपि रिपुसैन्यगतोऽशुभः। खण्डमेघातिवृष्ट्या तु सेनानाशमवाप्नुयात्।।३५।।
प्रतिकूलग्रहर्क्षात्तु तथा संमुखमारुतात्। यात्राकाले रणे वाऽपि च्छत्रादिपतनं भयम्।।३६।।
हृष्टा नराश्चानुलोमा ग्रहा वै जयलक्षणम्। काकैर्योधाभिभवनं क्रव्यादिभर्मण्डलक्षयः।।
प्राचीपश्चिमकैशानी सौम्या प्रेष्ठा शुभा च दिक्।।३७।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गति शकुनवर्णनं नाम द्वात्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः।।२३२।।

सा निकलकर फिर रुक जाय तथा निद्रा के कारण जिसका मुँह मलिन हो रहा हो, वह भय उपस्थित करने वाला होता है। यदि वह चढ़ने न दे अथवा चढ़ते समय उलटे गृह में चला जाय या सवार की बायीं पसली का स्पर्श करने लगे तो वह यात्रा में विघ्न पड़ने की सूचना देता है। यदि शत्रु-योद्धा को देखकर हींसने लगे और स्वामी के चरणों का स्पर्श करना चाहिये तो वह विजय दिलाने वाला होता है।।२५-३१।।

यदि हाथी गाँव में मैथुन करता हो, तो उस देश के लिये हानिकारक होता है। हथिनी गाँव में बच्चा दे या पागल हो जाय तो राजा के विनाश की सूचना देती है। यदि हाथी चढ़ने न दे, उलटे हथिसार में चला जाय या मद की धारा बहाने लगे तो वह राजा का घातक होता है। यदि दाहिने पैर को बायें पर रखे और सूँड़ से दाहिने दाँत का मार्जन करता हो, तो वह शुभ होता है।।३२-३४।।

अपना बैल, घोड़ा अथवा हाथी शत्रु की सेना में चला जाय तो अशुभ होता है। यदि थोड़ी ही दूर में बादल घिरकर अधिक वर्षा करना चाहिये तो सेना का विनाश होता है। यात्रा के समय अथवा युद्धकाल में ग्रह और नक्षत्र प्रतिकूल हों, सामने से हवा आ रही हो और छत्र आदि गिर जायँ तो भय उपस्थित होता है। लड़ने वाले योद्धा हर्ष और उत्साह में भरे हों और ग्रह अनुकूल हों तो यह विजय का लक्षण है। यदि कौए और मांसाहारी जीव-जन्तु योद्धाओं का तिरस्कार करें तो मण्डल का विनाश होता है। पूर्व, पश्चिम एवं ईशान दिशा प्रसन्न तथा शान्त हों तो प्रिय और शुभ फल की प्राप्ति कराने वाली होती हैं।।३५-३७।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी दो सौ बत्तीसवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।२३२।।

अथ त्रयस्त्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

यात्रामण्डलचिन्तादि कथनम्

पुष्कर उवाच

सर्वयात्रां प्रवक्ष्यामि राजधर्मसमाश्रयात्। अस्तं गते नीचगते विकले रिपुराशिगे।।१।।
प्रतिलोमे च विध्वस्ते शुक्रे यात्रां विवर्जयेत्। प्रतिलोमे बुधे यात्रां दिक्पतौ च तथा ग्रहे।।२।।
वैधृतौ च व्यतीपाते नागे च शकुनौ तथा। चतुष्पादे च किंस्तुघ्ने तथा यात्रां विवर्जयेत्।।३।।
विपत्तारे नैधने च प्रत्यरौ चाथ जन्मनि। गण्डे विवर्जयेद्यात्रां रिक्तायां च तिथावपि।।४।।
उदीची च तथा प्राची तयोरैक्यं प्रकीर्तितम्। पश्चिमा दक्षिणा या दिक्तयोरैक्यं तथैव च।।५।।
वाय्वग्निदिक्समुद्भूतं परिधं न तु लङ्घयेत्। आदित्यचन्द्रसौरास्तु दिवसाश्च न शोभनाः।।६।।
कृत्तिकाद्यानि पूर्वेण माघाद्यानि च याम्यतः। मैत्राद्यान्यपरे चाथ वासवाद्यानि वाऽप्युदक्।।७।।
सर्वद्वाराणि शस्तानि च्छायामानं वदामि ते। आदित्ये विंशति ज्ञेयाश्चन्द्रे षोडश कीर्तिताः।।८।।
भौमे पञ्चदशैवोक्ताश्चतुर्दश तथा बुधे। त्रयोदश तथा जीवे शुक्रे द्वादश कीर्तिताः।।९।।

अध्याय-२३३

यात्राकाल नक्षत्र मण्डल विचार

पुष्करजी ने कहा कि—अधुना मैं राजधर्म का आश्रय लेकर सबकी यात्रा के विषय में बतलाने जा रहा हूँ। जिस समय शुक्र अस्त हों अथवा नीच स्थान में स्थित हों, विकलाङ्ग (अन्ध) हों, शत्रु-राशि पर विद्यमान हों अथवा वे प्रतिकूल स्थान में स्थित या विध्वस्त हों तो यात्रा नहीं करनी चाहिये। बुध प्रतिकूल स्थान में स्थित हों तथा दिशा का स्वामी ग्रह भी प्रतिकूल हो, तो यात्रा नहीं करनी चाहिये। वैधृति, व्यतीपत, नाग, शकुनि, चतुष्पाद तथा किंस्तुघ्नयोग में भी यात्रा का परित्याग कर देना चाहिये। विपत्, मृत्यु, प्रत्यरि और जन्म—इन ताराओं में, गण्डयोग में तथा रिक्ता तिथि में भी यात्रा नहीं करना चाहिये।।१-४।।

उत्तर और पूर्व—इन दोनों दिशाओं की एकता कही गयी है। इसी तरह पश्चिम और दक्षिण—इन दोनों दिशाओं की भी एकता मानी गयी है। वायव्यकोण से लेकर अग्निकोण तक जो परिघदण्ड रहता है, उसका उल्लङ्घन करके यात्रा नहीं करनी चाहिये। रवि, सोम और शनैश्चर—ये दिन यात्रा के लिये अच्छे नहीं माने गये हैं।।५-६।।

कृत्तिका से लेकर सात नक्षत्र समूह पूर्व दिशा में रहते हैं। मघा आदि सात नक्षत्र दक्षिण दिशा में रहते हैं, अनुराधा आदि सात नक्षत्र पश्चिम दिशा में रहते हैं तथा धनिष्ठा आदि सात नक्षत्र उत्तर दिशा में रहते हैं। अग्निकोण से वायुकोणतक परिघदण्ड रहा करता है; इसलिये इस तरह यात्रा करनी चाहिये, जिससे परिघ-दण्ड का उल्लङ्घन न हो। उपरोक्त नक्षत्र उन-उन दिशाओं के द्वार है; अधुना मैं आपको छाया का मान बतलाने जा रहा हूँ।।७।।

रविवार को बीस, सोमवार को सोलह, मङ्गलवार को पन्द्रह, बुध को चौदह, बृहस्पति को तेरह, शुक्र को द्वादश तथा शनिवार को ग्यारह अङ्गुल 'छायामान' कहा गया है, जो सभी कर्मों के लिये विहित है। जन्म-लग्न में

एकादश तथा सौरे सर्वकर्मसु कीर्तिताः। जन्मलग्ने शक्रचापे संमुखे न व्रजेन्नरः॥१०॥
शकुनादौ शुभे यायाज्ज्ययाय हरिमास्मरन्। वक्ष्ये मण्डलचिन्तां ते कर्तव्यं राजरक्षणम्॥११॥
स्वाम्यमात्यस्तथा दुर्गः कोषो दण्डस्तथैव च। मित्रं जनपदश्चैव राज्यं सप्ताङ्गमुच्यते॥१२॥
सप्ताङ्गस्य तु राज्यस्य विघ्नकर्तॄन्विनाशयेत्। मण्डलेषु च सर्वेषु वृद्धिः कार्या महीक्षिता॥१३॥
आत्ममण्डलमेवात्र प्रथमं मण्डलं भवेत्। सामन्तास्तस्य विज्ञेया रिपवो मण्डलस्य तु॥१४॥
उपेतस्तु सुहृज्ज्ञेयः शत्रुमित्रमतः परम्। मित्रमित्रं ततो ज्ञेयं मित्रमित्ररिपुस्ततः॥१५॥
एतत्पुरस्तात्कथितं पश्चादपि निबोध मे। पार्ष्णिग्राहस्ततः पश्चात्ततस्त्वाक्रन्द उच्यते॥१६॥
आसारस्तु ततोऽन्यः स्यादाक्रन्दासार उच्यते। जिगीषोः शत्रुयुक्तस्य विमुक्तस्य तथा द्विज॥१७॥
नात्रापि निश्चयः शक्यो वक्तुं मनुजपुंगव। निग्रहानुग्रहे शक्तो मध्यस्थः परिकीर्तितः॥१८॥
निग्रहानुग्रहऽशक्तः सर्वेषामपि यो भवेत्। उदासीनः स कथितो बलवान्पृथिवीपतिः॥१९॥
न कस्यचिद्रिपुर्मित्रं कारणाच्छत्रुमित्रके। मण्डलं तव सम्प्रोक्तमेतद्द्वादशराजकम्॥२०॥
त्रिविधा रिपवो ज्ञेयाः कुल्यानन्तरकृत्रिमाः। पूर्वपूर्वो गुरुस्तेषां दुश्चिकित्स्यतमो मतः॥२१॥
अनन्तरोऽपि यः शत्रुः सोऽपि मे कृत्रिमो मतः। पार्ष्णिग्राहो भवेच्छत्रोर्मित्राणि रिपवस्तथा॥२२॥

तथा सामने इन्द्रधनुष उदित हुआ हो, तो मनुष्य को यात्रा नहीं करनी चाहिये। शुभ शकुन आदि होने पर श्रीहरि विष्णु का स्मरण करते हुए विजययात्रा करनी चाहिये॥८-१०॥

हे भगवान् परशुरामजी! अधुना मैं आपसे मण्डल का विचार बतलाने जा रहा हूँ; राजा की सभी तरह से रक्षा करनी चाहिये। राजा, मन्त्री, दुर्ग, कोष, दण्ड, मित्र और जनपद–ये राज्य के सात अंग बतलाये जाते हैं। इन सात अङ्गों से युक्त राज्य में विघ्न डालने वाले पुरुषों का विनाश करना चाहिये। राजा को उचित है कि अपने सभी मण्डलों में वृद्धि करना चाहिये। अपना मण्डल ही यहाँ सबसे पहला मण्डल है। सामन्त-नरेशों को ही उस मण्डल का शत्रु समझना चाहिये। 'विजिगीषु' राजा के सामने का सीमावर्ती सामन्त उसका शत्रु है। उस शत्रु-राज्य से जिसकी सीमा लगी है, वह कथित शत्रु का शत्रु होने से विजिगीषु का मित्र है। इस तरह शत्रु, मित्र, अरिमित्र, मित्रमित्र तथा अरिमित्र-मित्र–ये पाँच मण्डल के आगे रहने वाले हैं। इनका वर्णन किया गया; अधुना पीछे रहने वालों को बतलाने जा रहा हूँ; सुनिये॥११-१५॥

पीछे रहने वालों में पहला 'पार्ष्णिग्राह' है और उसके पीछे रहने वाला 'आक्रन्द' कहलाता है। उसके बाद इन दोनों के पीछे रहने वाले 'आसार' होते हैं, जिन्हं क्रमशः 'पार्ष्णिग्राहासार' और 'आक्रन्दासार' कहते हैं। नरश्रेष्ठ! विजय की इच्छा रखने वाला राजा, शत्रु के आक्रमण से युक्त हो अथवा उससे मुक्त, उसकी जिय के सम्वन्ध में कुछ निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। विजिगीषु तथा शत्रु दोनों के असंगठित रहने पर उनका निग्रह और अनुग्रह करने में सक्षम तटस्थ राजा 'मध्यस्थ' कहलाता है। जो बलवान् नरेश इन तीनों के निग्रह और अनुग्रह में सक्षम हो, उसको 'उदासीन' कहते हैं। कोई भी किसी का शत्रु या मित्र नहीं है; सभी कारणवश ही एक-दूसरे के शत्रु और मित्र होते हैं। इस तरह मैंने आपसे यह द्वादश राजाओं के मण्डल का वर्णन किया है॥१६-२०॥

शत्रुओं के तीन भेद जानने चाहिये–कुल्य, अनन्तर और कृत्रिम। इनमें पूर्व-पूर्व शत्रु भारी होता है। अर्थात् 'कृत्रिम' की अपेक्षा 'अनन्तर' और उसकी अपेक्षा 'कुल्य' शत्रु बड़ा माना गया है; उसको दबाना बहुत कठिन होता

पार्ष्णिग्राहमुपायैश्च शमयेच्च तथा स्वकम्। मित्रेण शत्रोरुच्छेदं प्रशंसन्ति पुरातनाः॥२३॥
मित्रं च शत्रुतामेति सामन्तत्वादनन्तरम्। शत्रुं जिगीषुरुच्छिन्द्यात्स्वयं शक्नोति चेद्यदि॥२४॥
प्रतापवृद्धौ तेनापि नामित्राज्जायते भयम्। यथाऽस्य नोद्विजेल्लोको विश्वासश्च यथा भवेत्॥२५॥
जिगीषुर्धर्मविजयी तथा लोकं वशं नयेत्॥२६॥

॥इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते यात्रामण्डलचिन्ताकथनं नाम त्रयस्त्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः॥२३३॥

है। 'अनन्तर' (सीमाप्रान्तवर्ती) शत्रु भी मेरी समझ में 'कृत्रिम' ही है। पार्ष्णिग्राह राजा शत्रु का मित्र होता है; तथापि प्रयत्न से वह शत्रु का शत्रु भी हो सकता है। इसलिये विविध तरह के उपायों द्वारा अपने पार्ष्णिग्राह को शान्त रखे- उसको अपने वश में किये रहना चाहिये।

प्राचीन नीतिज्ञ पुरुष मित्र के द्वारा शत्रु को नष्ट करा डालने की प्रशंसा करते हैं। सामन्त (सीमा-निवासी) होने के कारण मित्र भी आगे चलकर शत्रु हो जाता है; इसलिये विजय चाहने वाले राजा को उचित है कि यदि अपने में शक्ति हो, तो स्वयं ही शत्रु का विनाश करना चाहिये; (मित्र की सहायता न ले) क्योंकि मित्र का प्रताप बढ़ जाने पर उससे भी भय प्राप्त होता है और प्रतापहीन शत्रु से भी भय नहीं होता। विजिगीषु राजा को धर्मविजयी होना चाहिये तथा वह लोगों को इस तरह अपने वश में करना चाहिये, जिससे किसी को उद्वेग न हो और सभी का उस पर विश्वास बना रहना चाहिये।२१-२६॥

॥इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी दो सौ तैंतीसवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ॥२३३॥

❖❖❖

अथ चतुस्त्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

षाड्गुण्यम्

पुष्कर उवाच

सामभेदौ मया प्रोक्तौ दानदण्डौ तथैव च। दण्डः स्वदेशे कथितः परदेशे ब्रवीमि ते।।१।।
प्रकाशश्चाप्रकाशश्च द्विविधो दण्ड उच्यते। लुण्ठनं ग्रामघातश्च सस्यघातोऽग्निदीपनम्।।२।।
प्रकाशोऽथ विषं वह्निर्विविधैः पुरुषैर्वधः। दूषणं चैव साधूनामुदकानां च दूषणम्।।३।।
दण्डप्रणयनं प्रोक्तमुपेक्षां शृणु भार्गव। यदा मन्येत नृपती रणे न मम विग्रहः।।४।।
अनर्थायानुबन्धः स्यात्संधिना च तथा भवेत्। सामलब्धास्पदं चात्र दानं चार्थक्षयंकरम्।।५।।
भेददण्डानुबन्धः स्यात्तदोपेक्षां समाश्रयेत्। न चायं मम शक्नोति किञ्चित्कर्तुमुपद्रवम्।।६।।
न चाहमस्य शक्नोमि तत्रोपेक्षां समाश्रयेत्। अवज्ञोपहतस्तत्र राज्ञा कार्यो रिपुर्भवेत्।।७।।
मायोपायं प्रवक्ष्यामि उत्पातैरनृतैश्चरन्। शत्रोरुद्वेजनं शत्रोः शिविरस्थस्य पक्षिणः।।८।।
स्थूलस्य तस्य पुच्छस्थां कृत्वोल्कां विपुलां द्विज। विसृजेच्च ततश्चैवमुल्कापातं प्रदर्शयेत्।।९।।

अध्याय-२३४

षाड्गुण्य विचार

पुष्करजी ने कहा कि–हे भगवान् परशुरामजी! साम, भेद, दान और दण्ड की चर्चा हो चुकी है और अपने राज्य में दण्ड का प्रयोग कैसे करना चाहिये?–यह बात भी बतलायी जा चुकी है। अधुना शत्रु के देश में इन चारों उपायों के उपयोग का तरह बतला रहा हूँ।।१।।

'गुप्त' और 'प्रकाश'–दो तरह का दण्ड कहा गया है। लूटना, गाँव को गर्द में मिला देना, खेती नष्ट कर डालना और आग लगा देना–ये 'प्रकाश दण्ड' हैं। जहर देना, चुपके से आग लगाना, विविध तरह के मनुष्यों के द्वारा किसी का वध करा देना, सत्पुरुषों पर दोष लगाना और पानी को दूषित करना–ये 'गुप्त दण्ड' हैं।।२-३।।

हे भृगुनन्दन! यह दण्ड का प्रयोग बतलाया गया; अधुना 'उपेक्षा' की बात सुनिये–जिस समय राजा ऐसा समझे कि युद्ध में मेरा किसी के साथ वैर-विरोध नहीं है, व्यर्थ का लगाव अनर्थ का ही कारण होगा; संधि का परिणाम भी ऐसा ही (अनर्थकारी) होने वाला है; साम का प्रयोग यहाँ किया गया, परन्तु लाभ न हुआ; दानकी नीति से भी केवल धन का क्षय ही होगा तथा भेद और दण्ड के सम्बन्ध से भी कोई लाभ नहीं है; उस दशा में 'उपेक्षा' का आश्रय ले (अर्थात् संधि-विग्रह से अलग हो जाय)। जिस समय ऐसा जान पड़े कि अमुक व्यक्ति शत्रु हो जाने पर भी मेरी कोई हानि नहीं कर सकता तथा मैं भी इस समय इसका कुछ बिगाड़ नहीं सकता, उस समय 'उपेक्षा' कर जाय। उस अवस्था में राजा को उचित है कि वह अपने शत्रु को अवज्ञा (उपेक्षा) से ही उपहत करना चाहिये।।४-७।।

अधुना मायामय (कपटपूर्ण) उपायों का वर्णन करने जा रहा हूँ। राजा को झूठे उत्पातों का प्रदर्शन करके शत्रु को उद्वेग में डालना चाहिये। शत्रु की छावनी में रहने वाले स्थूल पक्षी को पकड़कर उसकी पूँछ में जलता हुआ लूक बाँध दे; वह लूक बहुत बड़ा होना चाहिये। उसको बाँधकर पक्षी को उड़ा दे और इस तरह यह दिखावे कि

एवमन्ये दर्शनीया उत्पाता बहवोऽपि च। उद्वेजनं तथा कुर्यात्कुहकैर्विविधैर्द्विषाम्॥१०॥
साम्वत्सरास्तापसाश्च नाशं ब्रूयुःपरस्य च। जिगीषुः पृथिवीं राजा तेन चोद्वेजयेत्परान्॥११॥
देवतानां प्रसादश्च कीर्तनीयः परस्य तु। आगतं नो मित्रबलं प्रहरध्वमभीतवत्॥१२॥
एवं ब्रूयाद्रणे प्राप्ते भग्नाः सर्वे परे इति। क्ष्वेडाः किलकिलाः कार्या वाच्यः शत्रुर्हतस्तथा॥१३॥
देवाज्ञाबृंहितो राजा संनद्धः समरं प्रति। इन्द्रजालं प्रवक्ष्यामि इन्द्रं कालेन दर्शयेत्॥१४॥
चतुरङ्गं बलं राजा सहायार्थं दिवौकसाम्। बलं तु दर्शयेत्प्राप्तं रक्तवृष्टिं चरेद्रिपौ॥१५॥
छिन्नानि रिपुशीर्षाणि प्रासादाग्रेषु दर्शयेत्। षाड्गुण्यं संप्रवक्ष्यामि तद्वरौ संधिविग्रहौ॥१६॥
सन्धिश्च विग्रहश्चैव यानमासनमेव च। द्वैधीभावः संशयश्च षड्गुणाः परिकीर्तिताः॥१७॥
पणबन्धः स्मृतः सन्धिरपकारस्तु विग्रहः। जिगीषोः शत्रुविषये यानं यात्राऽभिधीयते॥१८॥
विग्रहेण स्वके देशे स्थितिरासनमुच्यते। बलार्धेन प्रयाणं तु द्वैधीभावः स उच्यते॥१९॥

'शत्रु की छावनी पर उल्कापात हो रहा है।' इसी तरह और भी बहुत-से उत्पात दिखने चाहिये। भाँति-भाँति की माया प्रकट करने वाले मदारियों को भेजकर उनके द्वारा शत्रुओं को उद्विग्न करना चाहिये। ज्यौतिपी और तपस्वी जाकर शत्रु से कहें कि 'तुम्हारे विनाश का योग आया हुआ है।' इस तरह पृथ्वी पर विजय पाने की इच्छा रखने वाले राजा को उचित है कि अनेकों उपायों से शत्रु को भयभीत करे। शत्रुओं पर यह भी प्रकट करा दे कि 'मुझपर देवताओं की कृपा है—मुझको उनसे वरदान मिल चुका है।' युद्ध छिड़ जाय तो अपने सैनिकों से कहे—'हे वीरो! निर्भय होकर प्रहार करो, मेरे मित्रों की सेनाएँ आ पहुँची; अधुना शत्रुओं के पाँव उखड़ गये हैं—वह भाग रहे हैं—ऐसा कहकर गर्जना करना चाहिये, किलकारियाँ भरे और योद्धाओं से कहे—'मेरा शत्रु मारा गया।' देवताओं के आदेश से वृद्धि को प्राप्त हुआ राजा कवच आदि से सुसज्जित होकर युद्ध में पदार्पण करना चाहिये॥८-१३॥

अधुना 'इन्द्रजाल' के विषय में कहने जा रहा हूँ। राजा को समयानुसार इन्द्र की माया का प्रदर्शन करना चाहिये। शत्रुओं को दिखावे कि 'मेरी सहायता के लिये देवताओं की चतुरङ्गिणी सेना आ गयी।' फिर शत्रु-सेना पर रक्त की वर्षा करनी चाहिये और माया द्वारा यह प्रयत्न करना चाहिये कि महल के ऊपर शत्रुओं के कटे हुए मस्तक दिखायी दें॥१४-१५॥

अधुना मैं षड् गुणों का वर्णन करने जा रहा हूँ। इनमें 'संधि' और 'विग्रह' प्रधान हैं। संधि, विग्रह, यान, आसन, द्वैधीभाव और संश्रय—ये षड् गुण कहे गये हैं। किसी शर्त पर शत्रु के साथ मेल करना 'संधि' कहलाता है। युद्ध आदि के द्वारा उसको हानि पहुँचाना 'विग्रह' है। विजयाभिलाषी राजा जो शत्रु के ऊपर चढ़ाई करता है, उसी का नाम 'यात्रा' अथवा 'यान' है। विग्रह छेड़कर अपने ही देश में स्थित रहना 'आसन' कहलाता है। (आधी सेना को किले में छिपाकर) आधी सेना के साथ युद्ध की यात्रा करना 'द्वैधीभाव' कहा गया है। उदासीन अथवा मध्यम राजा की शरण लेने का नाम 'संश्रय' है॥१६-१९॥

जो अपने से हीन न होकर बराबर या अधिक प्रबल हो, उसी के साथ संधि का विचार करना चाहिये। यदि राजा स्वयं बलवान् हो और शत्रु अपने से हीन—निर्बल जान पड़े, तो उसके साथ विग्रह करना ही उचित है। हीनावस्था में भी यदि अपना पार्ष्णिग्राह विशुद्ध स्वभाव का हो, तभी बलिष्ठ राजा का आश्रय लेना चाहिये। यदि युद्ध के लिये

उदासीनो मध्यमो वा संशयात्संश्रयः स्मृतः। समेन संधिरन्वेष्योऽहीनेन च बलीयसा।।२०।।
हीनेन विग्रहः कार्यः स्वयं राज्ञा बलीयसा। तत्रापि शुद्धपार्ष्णिस्तु बलीयांसं समाश्रयेत्।।२१।।
आसीनः कर्मविच्छेदं शक्तः कर्त्तुं रिपोर्यदा। अशुद्धपार्ष्णिश्चाऽऽसीत विगृह्य वसुधाधिपः।।२२।।
अशुद्धपार्ष्णिर्बलवान्द्वैधीभावं समाश्रयेत्। बलिना विगृहीतस्तु योऽसन्देहेन पार्थिवः।।२३।।
संश्रयस्तेन वक्तव्यो गुणानामधमो गुणः। बहुक्षयव्यायायासं तेषां यानं प्रकीर्तितम्।।२४।।
बहुलाभकरं पश्चात्तदा राजा समाश्रयेत्। सर्वशक्तिविहीनस्तु तदा कुर्यात्तु संश्रयम्।।२५।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते षाड्गुण्यवर्णनं नाम चतुस्त्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः।।२३४।।

यात्रा न करके बैठ रहने पर भी राजा अपने शत्रु के कार्य का विनाश कर सके तो पार्ष्णिग्राह का स्वभाव शुद्ध न होने पर भी वह विग्रह ठानकर चुपचाप बैठा रहना चाहिये अथवा पार्ष्णिग्राह का स्वभाव शुद्ध न होने पर राजा द्वैधीभाव-नीति का आश्रय ले। जो निस्संदेह बलवान् राजा के विग्रह का शिकार हो जाय, उसी के लिये संश्रय-नीति का अवलम्बन उचित माना गया है। यह 'संश्रय' साम आदि सभी गुणों में अधम है। संश्रय के योग्य अवस्था में पड़े हुए राजा यदि युद्ध की यात्रा करें तो वह उनके जन और धन का विनाश करने वाली बतलायी गयी है। यदि किसी की शरण लेने से पीछे अधिक लाभ की सम्भावना हो, तो राजा को संश्रय का अवलम्बन करना चाहिये। सभी तरह की शक्ति का विनाश हो जाने पर ही दूसरे की शरण लेनी चाहिये।।२०-२५।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी दो सौ चौंतीसवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।२३४।।

❖❖❖

अथ पञ्चत्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

प्रात्यहिकराजकर्म

पुष्कर उवाच

अजस्रं कर्म वक्ष्यामि दिनं प्रति यदा चरेत्। द्विमुहूर्तावशेषायां रात्रौ निद्रां त्यजेन्नृपः॥१॥
वाद्यवन्दिस्वनैर्गीतैः पश्येद्गूढांस्ततो नरान्। विज्ञायते न ये लोकास्तदीया इति केनचित्॥२॥
आयव्ययस्य श्रवणं ततः कार्यं यथाविधि। वेगोत्सर्गं ततः कृत्वा राजा स्नानगृहं व्रजेत्॥३॥
स्नानं कुर्यान्नृपः पश्चाद्दन्तधावनपूर्वकम्। कृत्वा सन्ध्यां ततो जप्यं वासुदेवं प्रपूजयेत्॥४॥
वह्नौ पवित्राञ्जुहुयात्तर्पयेदुदकैः पितॄन्। दद्यात्सकाञ्चनीं धेनुं द्विजाशीर्वादसंयुतः॥५॥
अनुलिप्तोऽलङ्कृतश्च मुखं पश्येच्च दर्पणे। ससुवर्णे घृते राजा शृणुयाद्दिवसादिकम्॥६॥
औषधं भिषजोक्तं च मङ्गलालम्भनं चरेत्। पश्येद्गुरुं तेन दत्ताऽशीर्वादोऽथ व्रजेत्सभाम्॥७॥
तत्रस्थो ब्राह्मणान्पश्येदमात्यान्मन्त्रिणस्तथा। प्रकृतीश्च महाभाग प्रतीहारनिवेदिताः॥८॥
श्रुत्वेतिहासं कार्याणि कार्याणां कार्यनिर्णयम्। व्यवहारं ततः पश्येन्मन्त्रं कुर्यात्तु मन्त्रिभिः॥९॥

अध्याय-२३५

दैनिक राजकर्म विचार

पुष्करजी ने कहा कि–हे भगवान् परशुरामजी! अधुना निरन्तर किये जाने योग्य कर्म का वर्णन करने जा रहा हूँ, जिसका प्रतिदिन आचरण करना उचित है। जिस समय दो घड़ी रात बाकी रहे तो राजा को विविध तरह के वाद्यों, बन्दीजनों द्वारा की हुई स्तुतियों तथा मङ्गल-गीतों की ध्वनि सुनकर निद्रा का परित्याग करना चाहिये। तत्पश्चात् गूढ़ पुरुषों (गुप्तचरों) से मिले। वे गुप्तचर ऐसे हों, जिन्हें कोई भी यह न जान सके कि ये राजा के ही कर्मचारी हैं। इनके बाद विधिपूर्वक आय और व्यय का हिसाब सुने। फिर शौच आदि से निवृत्त होकर राजा को स्नानगृह में प्रवेश करना चाहिये। वहाँ नरेश को पहले दन्तधावन (दाँतुन) करके फिर स्नान करना चाहिये। तत्पश्चात् संध्योपासना करके भगवान् वासुदेव का पूजन करना उचित है। उसके बाद राजा पवित्रतापूर्वक अग्नि में आहुति दे; फिर उसे जल लेकर पितरों का तर्पण करना चाहिये। इसके बाद ब्राह्मणों का आशीर्वाद सुनते हुए उनको स्वर्णहीन दूध देने वाली गौ दान देना चाहिये।१-५॥

इन सब कार्यों से अवकाश पाकर चन्दन और आभूषण धारण करना चाहिये तथा दर्पण में अपना मुँह देखे। साथ ही स्वर्णयुक्त घृत में भी मुँह देखे। फिर दैनिक कथा आदि का श्रवण करना चाहिये। उसके बाद वैद्य की बतलायी हुई दवा का सेवन करके माङ्गलिक वस्तुओं का स्पर्श करना चाहिये। फिर गुरु के पास जाकर उनका दर्शन करना चाहिये और उनका आशीर्वाद लेकर राजसभा में प्रवेश करना चाहिये।।६-७।।

हे महाभाग! सभा में विराजमान होकर राजा ब्राह्मणों, अमात्यों तथा मन्त्रियों से मिले। साथ ही द्वारपाल ने जिनके आने की सूचना दी हो, उन प्रजाओं को भी बुलाकर उनको दर्शन दे; उनसे मिले। फिर इतिहास का श्रवण करके राज्य का कार्य देखे। विविध तरह के कार्यों में जो कार्य अत्यन्त आवश्यक हो, उसका निश्चय करना चाहिये।

नैकेन सहितः कुर्यान्न कुर्याद्बहुभिः सह। न च मूर्खैर्न चानाप्तैर्गुप्तं न प्रकटं चरेत्॥१०॥
मन्त्रं स्वधिष्ठितं कुर्याद्येन राष्ट्रं न बाधते। आकारग्रहणे राज्ञो मन्त्ररक्षा परा मता॥११॥
आकारैरिङ्गितैः प्राज्ञा मन्त्रं गृह्णन्ति पण्डिताः। साम्वत्सराणां वैद्यानां मन्त्रिणां वचने रतः॥१२॥
राजा विभूतिमाप्नोति वरयन्ति नृपं हिते। मन्त्रं कृत्वाऽथ व्यायामं चक्रे याने च शस्त्रके॥१३॥
नियुद्धादौ नृपः स्नातः पश्येद्विष्णुं सुपूजितम्। हुतं च पावकं पश्येद्विप्रान्पश्येत्सुपूजितान्॥१४॥
भूषितो भोजनं कुर्याद्दानाद्यैः सुपरीक्षितम्। भुक्त्वा गृहीतताम्बूलो वामपार्श्वेन संस्थितः॥१५॥
शास्त्राणि चिन्तयेद्दृष्ट्वा योधान्कोष्ठायुधं गृहम्। अन्वास्य पश्चिमां सन्ध्यां कार्याणि च विचिन्त्य तु॥१६॥
चारान्संप्रेष्य भुक्त्वाऽन्नमन्तः पुरचरो भवेत्। वाद्यगीतै रक्षितोऽन्यैरेवं नित्यं चरेन्नृपः॥१७॥

॥इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते प्रात्यहिकराजकर्मकथनं नाम पञ्चत्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः॥२३५॥

तत्पश्चात् प्रजा के मामले-मुकद्दमों को देखे और मन्त्रियों के साथ गुप्त परामर्श करना चाहिये। मन्त्रणा न तो एक के साथ करना चाहिये, न अधिक मनुष्यों के साथ; न मूर्खों के साथ और न अविश्वसनीय पुरुषों के साथ ही करना चाहिये। उसको सदा गुप्तरूप से ही करना चाहिये; दूसरों पर प्रकट न होने देना चाहिये। मन्त्रणा को अच्छी तरह छिपाकर रखे, जिससे राज्य में कोई बाधा न पहुँचे। यदि राजा अपनी आकृति को परिवर्तित न होने दे--सदा एक रूप में रहे तो यह गुप्त मन्त्रणा की रक्षा का सबसे बड़ा उपाय माना गया है; क्योंकि बुद्धिमान् विद्वान् पुरुष आकार और चेष्टाएँ देखकर ही गुप्तमन्त्रणा का पता लगा लेते हैं। राजा को उचित है कि वह ज्यौतिषियों, वैद्यों और मन्त्रियों को बात माने। इससे वह ऐश्वर्य को प्राप्त करता है; क्योंकि ये लोग राजा को अनुचित कार्यों से रोकते और हितकर कामों में लगाते हैं॥८-१२॥

मन्त्रणा करने के पश्चात् राजा को रथ आदि वाहनों के हाँकने और शस्त्र चलाने का अभ्यास करते हुए कुछ कालतक व्यायाम करना चाहिये। युद्ध आदि के अवसरों पर वह स्नान करके भलीभाँति पूजित हुए भगवान् श्रीहरि विष्णु का हवन के पश्चात् प्रज्वलित हुए श्रीअग्नि देव का तथा दान-मान आदि से सत्कृत ब्राह्मणों का दर्शन करना चाहिये। दान आदि के पश्चात् वस्त्राभूषणों से विभूषित होकर राजा भलीभाँति जाँचे-बूझे हुए अन्न का भोजन करना चाहिये। भोजन के अनन्तर पान खाकर बायीं करवट से थोड़ी देर तक लेटे। प्रतिदिन शास्त्रों का चिन्तन और योद्धाओं, अन्न-भण्डार तथा शस्त्रागार का निरीक्षण करना चाहिये। दिन के अन्त में सायं-संध्या करके अन्य कार्यों का विचार करना चाहिये और आवश्यक कामों पर गुप्तचरों को भेजकर रात्रि में भोजन के पश्चात् अन्तःपुर में जाकर रहना चाहिये। वहाँ संगीत और वाद्यों से मनोरञ्जन करके सो जाय तथा दूसरों के द्वारा आत्मरक्षा का पूरा प्रबन्ध रखे। राजा को प्रतिदिन ऐसा ही करना चाहिये॥१३-१७॥

॥इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी दो सौ पैंतीसवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ॥२३५॥

अथ षट्त्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

रणदीक्षा

पुष्कर उवाच

यात्राविधानपूर्वं तु वक्ष्ये साङ्ग्रामिकं विधिम्। सप्ताहेन यदा यात्रा भविष्यति महीपते:॥१॥
पूजनीयो हरिः शंभुर्मोदकाद्यैर्विनायकः। द्वितीयेऽहनि दिक्पालान्संपूज्य शयनं चरेत्॥२॥
शय्यायां वा तदग्रेऽथ देवान्प्राच्‍र्य मनुं स्मरेत्। नमः शम्भो त्रिनेत्राय रुद्राय वरदाय च॥३॥
वामनाय विरूपाय स्वप्नाधिपतये नमः। भगवन्देवदेवेश शूलभृद्वृषवाहन॥४॥
इष्टानिष्टे मयाऽऽचक्ष्व स्वप्ने सुप्तस्य शाश्वत। यज्जाग्रतो दूरमिति पुरोधामन्त्रमुच्चरेत्॥५॥
तृतीयेऽहनि दिक्पालान्रुद्रांस्तान्दिक्पतीन्यजेत्। ग्रहान्यजेच्चतुर्थेऽह्नि पञ्चमे चाश्विनौ यजेत्॥६॥
मार्गे या देवतास्तासां नद्यादीनां च पूजनम्। दिव्यान्तरीक्ष भौमस्थ (भूमिष्ठ) देवानां च तथा बलिः॥७॥
रात्रौ भूतगणानां च वासुदेवादि पूजनम्। भद्रकाल्याः श्रियः कुर्यात्प्रार्थयेत्सर्वदेवताः॥८॥
वासुदेवः सङ्कर्षणः प्रद्युम्नश्चानिरुद्धकः। नारायणोऽब्जजो विष्णुर्नारसिंहो वराहकः॥९॥

अध्याय-२३६

युद्ध दीक्षा विचार

पुष्करजी ने कहा कि–हे भगवान् परशुरामजी! अधुना मैं रणयात्रा की विधि बतलाते हुए संग्राम काल के लिये उचित कर्तव्यों का वर्णन करने जा रहा हूँ। जिस समय राजा की युद्धयात्रा ए सप्ताह में होने वाली हो, उस समय पहले दिन भगवान् श्रीहरि विष्णु और देवाधिदेव भगवान् श्रीशिवशंकर की पूजा करनी चाहिये। साथ ही मोदक (मिठाई) आदि के द्वारा गणेश जी का पूजन करना उचित है। दूसरे दिन दिक्पालों की पूजा करके राजा को शयन करना चाहिये। शय्यापर बैठकर अथवा उसके पहले देवताओं की पूजा करके निम्नांकित (भाव वाले) मन्त्र का स्मरण करना चाहिये–'हे भगवान् शिव! आप तीन नेत्रों से विभूषित, 'रुद्र' के नाम से प्रसिद्ध, वरसम्प्रदायक, वामन, विकटरूपधारी और स्वप्न के अधिष्ठाता देवता हैं; आपको बारंबार नमस्कार है। हे भगवन्! आप देवाधिदेवों के भी स्वामी, त्रिशूलधारी और वृषभपर सवारी करने वाले हैं। हे सनातन परमेश्वर! मेरे सो जाने पर स्वप्न में आप मुझको यह बात दें कि 'इस युद्ध से मेरा इष्ट होने वाला है या अनिष्ट?' उस समय पुरोहित को '**यज्जाग्रतो दूरमुदैनि.**' (यजु० ३४/१)–इस मन्त्र का उच्चारण करना चाहिये। तीसरे दिन दिशाओं की रक्षा करने वाले रुद्रों तथा दिशाओं के अधिपतियों की पूजा करनी चाहिये; चौथे दिन ग्रहों और पाँचवें दिन अश्विनीकुमारों का यजन करना चाहिये। मार्ग में जो देवी, देवता तथा नदी आदि पड़ें, उनका भी पूजन करना चाहिये। द्युलोक में, अन्तरिक्ष में तथा भूमिपर निवास करने वाले देवताओं को बलि समर्पित करना चाहिये। रात में भूतगणों को तथा भद्रकाली और लक्ष्मी आदि देवियों की भी पूजा करनी चाहिये। इसके बाद सम्पूर्ण देवताओं से याचना करनी चाहिये॥१-८॥

'वासुदेव' संकर्षण; प्रद्युम्न, अनिरुद्ध, नारायण, ब्रह्मा, विष्णु, नरसिंह, वराह, शिव, ईशान, तत्पुरुष, अघोर, वामदेव, सद्योजात, सूर्य, सोम, भौम, बुध, बृहस्पति, शुक्र, शनैश्चर, राहु, केतु, गणेश, कार्तिकेय, चण्डिका, उमा,

शिव ईशस्तत्पुरुषो ह्यघोरो राम सत्यजः। सूर्यः सोमः कुजश्चान्द्रिर्जीवः शुक्रः शनैश्चरः॥१०॥
राहुः केतुर्गणपतिः सेनानी च (श्च) ण्डिकाह्युमा। लक्ष्मीः सरस्वती दुर्गा ब्रह्माणी प्रमुखा गणाः॥११॥
रुद्रा इन्द्रादयो वह्निर्नागास्ताक्ष्योऽपरे सुराः। दिव्यान्तरी (रि) क्षभूमिष्ठा विजयाय भवन्तु मे॥१२॥
मर्दयन्तु रणे शत्रून्संप्रगृह्योपहारकम्। सपुत्रमातृभृत्योऽहं देव वः शरणं गतः॥१३॥
चमूनां पृष्ठतो गत्वा रिपुनाशा नमोऽस्तु वः। विनिवृत्तः प्रदास्यामि दत्तादप्यधिकं बलिम्॥१४॥
षष्ठेऽह्नि विजयस्नानं कर्त्तव्यं चाभिषेकवत्। यात्रादिने सप्तमे च पूजयेच्च त्रिविक्रमम्॥१५॥
नीराजनोक्तमन्त्रैश्च ह्यायुधं वाहनं यजेत्। पुण्याहजयशब्देन मन्त्रमेतन्निशामयेत्॥१६॥
दिव्यान्तरी (रि) क्षभूमिष्ठाः सन्त्वायुर्दाः सुराश्च ते। देवसिद्धिं प्राप्नुहि त्वं देवयात्राऽस्तु सा तव॥१७॥
रक्षन्तु देवताः सर्वा इति श्रुत्वा नृपो व्रजेत्। गृहीत्वा सशरं चापं धनुर्नागेतिमन्त्रतः॥१८॥
तद्विष्णोरिति जप्त्वाऽथ दद्याद्रिपुमुखे पदम्। दक्षिणं पदं द्वात्रिंशद्दिक्षु प्राच्यादिषु क्रमात्॥१९॥
नागं रथं हयं चैव धुर्यांश्चैवाऽऽरुहेत्क्रमत्। आरुह्य वाद्यैर्गच्छेत पृष्ठतो नावलोकयेत्॥२०॥
क्रोशमात्रं गतस्तिष्ठेत्पूजयेद्देवता द्विजान्। परदेशं व्रजेत्पश्चादात्मसैन्यं हि पालयन्॥२१॥
राजा प्राप्य विदेशं तु देशाचारं हि पालयेत्। देवानां पूजनं कुर्यान्न च्छिन्द्यादायमत्र तु॥२२॥
नावमानयेत्तद्देश्यानागत्य स्वपुरं पुनः। जयं प्राप्यार्चयेद्देवान्दद्याद्दानानि पार्थिवः॥२३॥

लक्ष्मी, सरस्वती, दुर्गा, ब्रह्माणी आदि गण, रुद्र, इन्द्रादि देव, अग्नि, नाग, गरुड तथा द्युलोक, अन्तरिक्ष एवं भूमिपर निवास करने वाले अन्यान्य देवता मेरी विजय के साधक हों। मेरी दी हुई यह भेंट और पूजा स्वीकार करके सब देवता युद्ध में मेरे शत्रुओं का मर्दन करें। हे देवगण! मैं माता, पुत्र और भृत्यों सहित आपकी शरण में आया हूँ। आप लोग शत्रु-सेना के पीछे जाकर उनका विनाश करने वाले हैं, आपको हमारा नमस्कार है। युद्ध में विजय पाकर यदि लौटूँगा तो आप लोगों को इस समय जो पूजा और भेंट दी है, उससे भी अधिक मात्रा में पूजा चढ़ाऊँगा॥९-१४॥

छठे दिन राज्याभिषेक की भाँति विजय-स्नान करना चाहिये तथा यात्रा के सातवें दिन भगवान् त्रिविक्रम (वामन) का पूजन करना आवश्यक है। नीराजन के लिये बताये हुए मन्त्रों द्वारा अपने आयुध और वाहन की भी पूजा करनी चाहिये। साथ ही ब्राह्मणों के मुख से 'पुण्याह' और 'जय' शब्द के साथ निम्नाङ्कित भाव वाले मन्त्र का श्रवण करना चाहिये–'हे राजन्! द्युलोक, अन्तरिक्ष और भूमिपर निवास करने वाले देवता आपको दीर्घायु सम्प्रदान करें। तुम देवताओं के समान सिद्धि प्राप्त करो। आपकी यह यात्रा देवताओं की यात्रा हो तथा सम्पूर्ण देवता आपकी रक्षा करें।' यह आशीर्वाद सुनकर राजा को आगे यात्रा करनी चाहिये। 'धन्वना गा०' (यजु. २/३९) इत्यादि मन्त्र द्वारा धनुष-वाण हाथ में लेकर 'तद्विष्णोः०' (यजु. ६/५) इस मन्त्र का जप करते हुए शत्रु के सामने दाहिना पैर बढ़ाकर बत्तीस पग आगे जाय; फिर पूर्व, दक्षिण, पश्चिम एवं उत्तर में जाने के लिये क्रमशः हाथी, रथ, घोड़े तथा भार ढोने में सक्षम जानवर पर सवार होवे और जुझाऊ बाजों के साथ आगे की यात्रा करनी चाहिये; पीछे फिरकर न देखे॥१५-२०॥

एक कोस जाने के बाद ठहर जाय और देवता तथा ब्राह्मणों की पूजा करनी चाहिये। पीछे आती हुई अपनी सेना की रक्षा करते हुए ही राजा को दूसरे के देश में यात्रा करनी चाहिये। विदेश में जाने पर भी अपने देश के आचार का पालन करना राजा का कर्तव्य है। वह प्रतिदिन देवताओं को पूजन करना चाहिये, किसी की आय नष्ट न होने दे

द्वितीयेऽहनि सङ्ग्रामो भविष्यति यदा तदा। स्नापयेद्गजमश्वादि यजेद्देवं नृसिंहकम्॥२४॥
छत्रादिराजलिङ्गानि शस्त्राणि निशि वैगुणान्। प्रातर्नृसिंहकं पूज्य वाहनाद्यमशेषतः॥२५॥
पुरोधसाहुतं पश्येद्वह्निं हुत्वा द्विजान्यजेत्। गृहीत्वा सशरं चापं गजाद्यारुह्य वै व्रजेत्॥२६॥
देशे त्वदृश्यः शत्रूणां कुर्यात्प्रकृतिकल्पनाम्। संहतान्योधयेदल्पान्कामं विस्तारयेद्बहून्॥२७॥
सूचीमुखमनीकं स्यादल्पानां बहुभिः सह। व्यूहाः प्राण्यङ्गरूपाश्च द्रव्यरूपाश्च कीर्तिताः॥२८॥
गरुडो मकरव्यूहश्चक्रः श्येनस्तथैव च। अर्धचन्द्रश्च वज्रश्च शकटव्यूह एव च॥२९॥
मण्डलः सर्वतोभद्रः सूचीव्यूहश्च ते नव (दश)। व्यूहानामथ सर्वेषां पञ्चधा सैन्यकल्पना॥३०॥
द्वौ पक्षावनुपक्षौ द्वाववश्यं पञ्चमं भवेत्। एकेन यदि वा द्वाभ्यां भागाभ्यां युद्धमाचरेत्॥३१॥
भागत्रयं स्थापयेत्तु तेषां रक्षार्थमेव च। न व्यूहकल्पना कार्या राज्ञो भवति कर्हिचित्॥३२॥
मूलच्छेदे विनाशः स्यान्न युध्येच्च स्वयं नृपः। सैन्यस्य पश्चात्तिष्ठेत्तु क्रोशमात्रे महीपतिः॥३३॥
भग्नसंधारणं तत्र योधानां परिकीर्तितम्। प्रधानभङ्गे सैन्यस्य नावस्थानं विधीयते॥३४॥
न संहतान्न विरलान्योधान्व्यूहे प्रकल्पयेत्। आयुधानां तु संमर्दो यथा न स्यात्परस्परम्॥३५॥

और उस देश के मनुष्यों का कभी अपमान नहीं करना चाहिये। विजय पाकर पुनः अपने नगर में लौट आने पर राजा देवताओं की पूजा करनी चाहिये और दान देना चाहिये। जिस समय दूसरे दिन संग्राम छिड़ने वाला हो, तो पहले दिन हाथी, घोड़े आदि वाहनों को नहलावे तथा भगवान् नृसिंह का पूजन करना चाहिये। रात्रि में छत्र आदि राजचिह्नों, अस्त्र-शस्त्रों तथा भूतगणों की अर्चना करके सबेरे पुनः भगवान् नृसिंह की एवं सम्पूर्ण वाहन आदि की पूजा करनी चाहिये। पुरोहित के द्वारा हवन किये हुए श्रीअग्नि देव का दर्शन करके स्वयं भी उसमें आहुति डाले और ब्राह्मणों का सत्कार करके धनुष-बाण ले, हाथी आदि पर सवार हो युद्ध के लिये जाय। शत्रु के देश में अदृश्य रहकर प्रकृति-कल्पना (मोर्चाबन्दी) करना चाहिये। यदि अपने पास थोड़े-से सैनिक हों तो उनको एक जगह संगठित रखकर युद्ध में प्रवृत्त करना चाहिये और यदि योद्धाओं की संख्या अधिक हो, तो उनको इच्छानुसार फैला दे अर्थात् उनको बहुत दूर में खड़ा करके युद्ध में लगावे॥२१-२७॥

थोड़े-से सैनिकों का अधिक संख्या वाले योद्धाओं के साथ युद्ध करने के लिये 'सूचीमुख' नामक व्यूह उपयोगी होती है। व्यूह दो तरह के बताये गये हैं—प्राणियों के शरीर की भाँति और द्रव्यस्वरूप। गरुडव्यूह, मकरव्यूह, चक्रव्यूह, श्येनव्यूह, अर्धचन्द्रव्यूह, वज्रव्यूह, शकटव्यूह, सर्वतोभद्रमण्डलव्यूह और सूचीव्यूह—ये नौ व्यूह प्रसिद्ध हैं। सभी व्यूहों के सैनिकों को पाँच भागों में विभाजित किया जाता है। दो पक्ष, दो अनुपक्ष और एक पाँचवाँ भाग भी अवश्य रखना चाहिये। योद्धाओं के एक या दो भागों से युद्ध करना चाहिये और तीन भागों को उनकी रक्षा के लिये रखे। स्वयं राजा को कभी व्यूह में नियुक्त नहीं करना चाहिये; क्योंकि राजा ही सबकी जड़ है, उस जड़ के कट जाने पर सारे राज्य का विनाश हो जाता है; इसलिये स्वयं राजा युद्ध में प्रवृत्त न हो। वह सेना के पीछे एक कोस की दूरी पर रहना चाहिये। वहाँ रहते हुए राजा का यह कार्य बतलाया गया है। कि वह युद्ध से भागे हुए सिपाहियों को उत्साहित करके धैर्य बँधावे। सेना के प्रधान (अर्थात् सेनापति) के भागने या मारे जाने पर सेना नहीं ठहर पाती। व्यूह में योद्धाओं को न तो एक-दूसरे से सटाकर खड़ा करना चाहिये और न बहुत दूर-दूर पर ही; उनके मध्य में इतनी ही दूरी रहनी चाहिये; जिससे एक-दूसरे के हथियार आपस में टकराने न पावें॥२८-३५॥

भेत्तुकामः परानीकं संहतैरेव भेदयेत्। भेदरक्ष्याः परेणापि कर्तव्याः संहतास्तथा।।३६।।
व्यूहं भेदावहं कुर्यात्परव्यूहेषु चेच्छया। गजस्य पादरक्षार्थाश्चत्वारस्तु तथा द्विज।।३७।।
रथस्य चाश्वाश्चत्वारः समास्तस्य च चर्मिणः। धन्विनश्चर्मिभिस्तुल्याः पुरस्ताच्चर्मिणो रणे।।३८।।
पृष्ठतो धन्विनः पश्चाद्धन्विनां तुरगा रथाः। रथानां कुञ्जराः पश्चाद्दातव्याः पृथिवीक्षिता।।३९।।
पदातिकुञ्जराश्वानां धर्मकार्यं प्रयत्नतः। शूराः प्रमुखतो देया नो देया भीरवः क्वचित्।।४०।।
शूरान्प्रमुखतो दत्त्वा स्कन्धमात्रप्रदर्शनम्। कर्तव्यं भीरुसंघेन शत्रुविद्रावकारकम्।।४१।।
दारयन्ति पुरस्तात्तु न देया भीरवः पुरः। प्रोत्साहयन्त्येव रणे भीरुञ्शूराः पुरस्थिताः।।४२।।
प्रांशवः शुकनासाश्च ये चाजिह्मेक्षणा नराः। संहतभ्रूयुगाश्चैव क्रोधनाः कलहप्रियाः।।४३।।
नित्यहृष्टाः प्रहृष्टाश्च शूरा ज्ञेयाश्च कामिनः। संहतानां हतानां च रणापनयनक्रिया।।४४।।
प्रतियुद्धं गजानां च तोयदानादिकं च यत्। आयुधानयनं चैव पत्तिकर्म विधीयते।।४५।।
रिपूणां भेत्तुकामानां स्वसैन्यस्य तु रक्षणम्। भेदनं संहतानां च चर्मिणां कर्म कीर्तितम्।।४६।।

जो शत्रु-सेना की मोर्चाबंदी तोड़ना चाहता हो, वह अपने संगठित योद्धाओं के द्वारा ही उसको तोड़ने का प्रयत्न करना चाहिये तथा शत्रु के द्वारा भी यदि अपनी सेना के व्यूह-भेदन के लिये प्रयत्न हो रहा हो, तो उसकी रक्षा के लिये संगठित वीरों को ही नियुक्त करना चाहिये। अपनी इच्छा के अनुसार सेना का ऐसा व्यूह बनाये, जो शत्रु के व्यूह में घुसकर उसका भेदन कर सके। हाथी के पैरों की रक्षा करने के लिये चार रथ नियुक्त करना चाहिये। रथ की रक्षा के लिये चार घुड़सवार, उनकी रक्षा के लिये उतने ही ढाल लेकर युद्ध करने वाले सिपाही तथा ढाल वालों के बराबर ही धनुर्धर वीरों को तैनात करना चाहिये। युद्ध में सबसे आगे ढाल लेने वाले योद्धाओं को स्थापित करना चाहिये। उनके पीछे धनुर्धर योद्धा, धनुर्धरों के पीछे घुड़सवार, घुड़सवारों के पीछे रथ और रथों के पीछे राजा को हाथियों की सेना नियुक्त करनी चाहिये।।३६-३९।।

पैदल, हाथीवार और घुड़सवारों को प्रयत्नपूर्वक धर्मानुकूल युद्ध में संलग्न रहना चाहिये। युद्ध के मुहाने पर शूरवीरों को ही तैनात करना चाहिये, डरपोक स्वभाव वाले सैनिकों को वहाँ कदापि न खड़ा होने देना चाहिये। शूरवीरों को आगे खड़ा करके ऐसा प्रबन्ध करना चाहिये, जिससे वीर स्वभाव वाले योद्धाओं को केवल शत्रुओं का जत्थमात्र दिखायी दे (उनके भयंकर पराक्रम पर उनकी दृष्टि न पड़े); तभी वे शत्रुओं को भगाने वाला पुरुषार्थ कर सकते हैं।

भीरु पुरुष आगे रहें तो वे भागकर सेना का व्यूह स्वयं ही तोड़ डालते हैं; इसलिये उनको आगे न रखे। शूरवीर आगे रहने पर भीरु पुरुषों को युद्ध के लिये सदा उत्साह ही सम्प्रदान करते रहते हैं। जिनका कद ऊँचा, नासिका तोते के समान नुकीली, दृष्टि सौम्य तथा दोनों भौंहें मिली हुई हों, जो क्रोधी, कलहप्रिय सदा हर्ष और उत्साह में भरे रहने वाले तथा कामपरायण हों, उनको शूरवीर समझना चाहिये।।४०-४३।।

संगठित वीरों में से जो मारे जायँ अथवा घायल हों, उनको युद्धभूमि से दूर हटाना, युद्ध के अन्दर जाकर हाथियों को पानी पिलाना तथा हथियार पहुँचाना–ये सब पैदल सिपाहियों के कार्य हैं। अपनी सेना का भेदन करने की इच्छा रखने वाले शत्रुओं से उसकी रक्षा करना और संगठित होकर युद्ध करने वाले शत्रु-वीरों का व्यूह तोड़ डालना–यह ढाल लेकर युद्ध करने वाले योद्धाओं का कार्य बतलाया गया है। युद्ध में विपक्षी योद्धाओं को मार भाना धनुर्धर वीरों का काम है। अत्यन्त घायल हुए योद्धा को युद्धभूमि से दूर ले जाना, फिर युद्ध में आना तथा शत्रु की

विमुखीकरणं युद्धे धन्विनां च तथोच्यते। दूरापसरणं यानं सुहतस्य तथोच्यते॥४७॥
त्रासनं रिपुसैन्यानां रतकर्म तथोच्यते। भेदनं संहतानां च भेदानामपि संहतिः॥४८॥
प्राकारतोरणाट्टालद्रुमभङ्गश्च सद्गजे। पत्तिभूर्विषमा ज्ञेया रथाश्वानां तथा समा॥४९॥
सकर्दमा च नागानां युद्धभूमिरुदाहृता। एवं विरचितव्यूहः कृतपृष्ठदिवाकरः॥५०॥
तथाऽनुलोमशुक्रार्किदिक्पालमृदुमारुताः। योधानुत्तेजयेत्सर्वान्नामगोत्रावदानतः॥५१॥
भोगप्राप्त्या च विजये स्वर्गप्राप्त्या मृतस्य च। जित्वाऽरीन्भोगसम्प्राप्तिर्मृतस्य च परा गतिः॥५२॥
निष्कृतिः स्वामिपिण्डस्य नास्ति युद्धसमा गतिः। शूराणां रक्तमायाति तेन पापं त्यजन्ति ते॥५३॥
घातादिदुःखसहनं रणे तत्परमं तपः। वराप्सरः सहस्राणि यान्ति शूरं रणे मृतम्॥५४॥
स्वामी सुकृतमादत्ते भग्नानां विनिवर्तिनाम्। ब्रह्महत्याफलं तेषां तथा प्रोक्तं पदे पदे॥५५॥
त्यक्त्वा सहायान्यो गच्छेद्देवास्तस्य विनष्टये। अश्वमेधफलं प्रोक्तं शूराणामनिवर्तिनाम्॥५६॥
धर्मनिष्ठे जयो राज्ञि योद्धव्याश्च समाः समैः। गजाद्यैश्च गजाद्याश्च न हन्तव्याः पलायिनः॥५७॥
न प्रेक्षकाः प्रविष्टाश्च अशस्त्राः पतितादयः। शान्ते निद्राभिभूते च अर्धोत्तीर्णे नदीवने॥५८॥

सेना में त्रास उत्पन्न करना—यह सब रथी वीरों का कार्य बतलाया जाता है। संगठित व्यूह को तोड़ना, टूटे हुए को जोड़ना तथा चहारदीवारी, तोरण (सदर दरवाजा), अट्टालिका और वृक्षों को भङ्ग कर डालना—यह अच्छे हाथी का पराक्रम है। ऊँची-नीची भूमि को पैदल सेना के लिये उपयोगी समझना चाहिये, रथ और घोड़ों के लिये समतल भूमि श्रेष्ठतम है तथा कीचड़ से भरी हुई युद्धभूमि हाथियों के लिये उपयोगी बतलायी गयी है॥४४-४९॥

इस तरह व्यूह-रचना करके जिस समय सूर्य पीठ की तरफ हों तथा शुक्र, शनैश्चर और दिक्पाल अपने अनुकूल हों, सामने से मन्द-मन्द हवा आ रही हो, उस समय उत्वाहपूर्वक युद्ध करना चाहिये तथा नाम एवं गोत्र की प्रशंसा करते हुए सम्पूर्ण योद्धाओं में उत्तेजना भरता रहना चाहिये। साथ ही यह बात भी बताये कि 'युद्ध में विजय होने पर श्रेष्ठतम-श्रेष्ठतम भोगों की प्राप्ति होगी और मृत्यु हो जाने पर स्वर्ग का सुख थ्मलेगा, वीर पुरुष शत्रुओं को जीतकर मनोवाञ्छित भोग प्राप्त करता है और युद्ध में प्राणत्याग करने पर उसको परमगति मिलती है। इसके सिवा वह जो स्वामी का अन्न खाये रहता है, उसके ऋण से छुटकारा पा जाता है; इसलिये युद्ध के समान श्रेष्ठ गति दूसरी कोई नहीं है। शूरवीरों के शरीर से जिस समय रक्त निकलता है, तत्पश्चात् वे पापमुक्त हो जाते हैं। युद्ध में जो शस्त्र-प्रहार आदि का कष्ट सहना पड़ता है, वह बहुत बड़ी तपस्या है। रण में प्राण त्याग करने वाले शूरवीर के साथ हजारों सुन्दरी अप्सराएँ चलती हैं। जो सैनिक हतोत्साह होकर युद्ध से पीठ दिखाते हैं, उनका सारा पुण्य मालिक को मिल जाता है और स्वयं उनको पग-पग पर एक-एक ब्रह्म हत्या के पाप का फल प्राप्त होता है। जो अपने सहायकों को छोड़कर चल देता है, देवता उसका विनाश कर डालते हैं। जो युद्ध से पीछे पैर नहीं हटाते, उन बहादुरों के लिये अश्वमेध-यज्ञ का फल बतलाया गया है॥५०-५६॥

यदि राजा धर्म पर दृढ़ रहे तो उसकी विजय होती है। योद्धाओं को अपने समान योद्धाओं के साथ ही युद्ध करना चाहिये। हाथीसवार आदि सैनिक हाथीसवार आदि के ही साथ युद्ध करें। भागने वालों को न मारें। जो लोग केवल युद्ध देखने के लिये आये हों, अथवा युद्ध में सम्मिलित होने पर भी जो शस्त्रहीन एवं भूमि पर गिरे हुए हों, उनको भी नहीं मारना चाहिये। जो योद्धा शान्त हो या थक गया हो, नींद में पड़ा हो तथा नदी या जंगल के मध्य

दुर्दिने कूटयुद्धानि शत्रुनाशार्थमाचरेत्। बाहू प्रगृह्य विक्रोशेद्भग्ना भग्नाः परे इति।।५९।।
प्राप्तं मैत्रं बलं भूरि नायकोऽत्र निपातितः। सेनानां नि (र्नि) हतश्चायं भूपतिश्चापि विप्लुतः।।६०।।
विद्रुतानां च योधानां सुखं घातौ विधीयते। धूपाश्च देया धर्मज्ञ तथा च परमोहनाः।।६१।।
पताकाश्चैव संभारो वादित्राणां भयावहः। संप्राप्य विजयं युद्धे देवान्विप्रांश्च संयजेत्।।६२।।
रत्नानि राजगामीनि अमात्येन कृते रणे। तस्य स्त्रियो न कस्यापि रक्ष्यास्ताश्च परस्य च।।६३।।
शत्रुं प्राप्य रणे मुक्तं पुत्रवत्परिपालयेत्। पुनस्तेन न योद्धव्यं देशाचारादि पालयेत्।।६४।।
ततश्च स्वपुरं प्राप्य ध्रुवेभे प्रविशेद् गृहम्। देवादिपूजनं कुर्याद्रक्षेद्योधकुटुम्बकम्।।६५।।
संविभागं परावाप्तैः कुर्याद्भृत्यजनस्य च। रणदीक्षा मयोक्ता ते जयाय नृपते ध्रुवा।।६६।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते रणदीक्षावर्णनं नाम षट्त्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः।।२३६।।

—※※※—

में उतरा हो, उस पर भी प्रहार नहीं करना चाहिये। दुर्दिन में शत्रु के विनाश के लिये कूटयुद्ध (कपटपूर्ण संग्राम) करना चाहिये। दोनों बाहें ऊपर उठाकर जोर-जोर से पुकारकर कहे–'यह देखो, हमारे शत्रु भाग चले, भाग चले। इधर हमारी तरफ शत्रु भाग चले, भाग चले। इधर हमारी तरफ मित्रों की बहुत बड़ी सेना आ पहुँची; शत्रुओं की सेना का संचालन करने वाला मार गिराया गया। यह सेनापति भी मौत के घाट उतर गया। साथ ही शत्रुपक्ष के राजा ने प्राणत्याग कर दिया।।५७-६०।।

भागते हुए विपक्षी योद्धाओं को अनायास ही मारा जा सकता है। धर्म के जानने वाले भगवान् परशुरामजी! शत्रुओं को मोहित करने के लिये कृत्रिम धूप की सुगन्ध भी फैलानी चाहिये। विजय की पताकाएँ दिखानी चाहिये, बाजों का भयंकर समारोह करना चाहिये। इस तरह जिस समय युद्ध में विजय प्राप्त हो जाय तो देवताओं और ब्राह्मणों की पूजा करनाी चाहिये। अमात्य के द्वारा किये हुए युद्ध में जो रत्न आदि उपलब्ध हों, वे राजा को ही समर्पित करने चाहिये। शत्रु की स्त्रियों पर किसी का भी अधिकार नहीं होता। स्त्री शत्रु की हो, तो भी उसकी रक्षा ही करनी चाहिये। संग्राम में सहायकों से हीन शत्रु को पाकर उसका पुत्री की भाँति पालन करना चाहिये। उसके साथ पुनः युद्ध करना उचित नहीं है। उसके प्रति देशोचित आचारादिका पालन करना कर्तव्य है।।६१-६४।।

युद्ध में विजय पाने के पश्चात् अपने नगर में जाकर 'ध्रुव' संज्ञक नक्षत्र (तीनों उत्तरा और रोहिणी) में राजमहल के अन्दर प्रवेश करना चाहिये। इसके बाद देवताओं का पूजन और सैनिकों के परिवार के भरण पोषण का प्रबन्ध करना चाहिये। शत्रु के यहाँ से मिले हुए धन का कुछ भाग भृत्यों को भी बाँट देना चाहिये। इस तरह यह युद्ध की दीक्षा बतलायी गयी है; इसके अनुसार कार्य करने से राजा को निश्चय ही विजय की प्राप्ति होती रहती है।।६५-६६।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी दो सौ छत्तीसवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।२३६।।

❖❖❖

अथ सप्तत्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

श्रीस्तोत्रम्

पुष्कर उवाच

राज्यलक्ष्मीस्थिरत्वाय यथेन्द्रेण पुरा श्रियः। स्तुतिः कृता तथा राजा जयार्थं स्तुतिमाचरेत्॥१॥

इन्द्र उवाच

नमस्ये सर्वलोकानां जननीमब्धिसंभवाम्। श्रियमुन्निद्रपद्माक्षीं विष्णुवक्षःस्थलस्थिताम्॥२॥
त्वं सिद्धिस्त्वं स्वधा स्वाहा सुधा त्वं लोकपावनि। सन्ध्या रात्रिः प्रभा भूतिर्मेधा श्रद्धा सरस्वती॥३॥
यज्ञविद्या महाविद्या गुह्यविद्या च शोभने। आत्मविद्या च देवि त्वं विमुक्तिफलदायिनी॥४॥
आन्वीक्षिकी त्रयी वार्ता दण्डनीतिस्त्वमेव च। सौम्या सौम्यं जगद्रूपं त्वयैतद्देवि पूरितम्॥५॥
का त्वन्या त्वामृते देवि सर्वयज्ञमयं वपुः। अध्यास्ते देवदेवस्य योगिचिन्त्यं गदाभृतः॥६॥
त्वया देवि परित्यक्तं सकलं भुवनत्रयम्। विनष्टप्रायमभवत्त्वयेदानीं समेधितम्॥७॥
दाराः पुत्रास्तथाऽगारं सुहृद्धान्यधनादिकम्। भवत्येतन्महाभागे नित्यं त्वद्वीक्षणान्नृणाम्॥८॥
शरीरारोग्यमैश्वर्यमरिपक्षक्षयः सुखम्। देवि त्वद्दृष्टिदृष्टानां पुरुषाणां न दुर्लभम्॥९॥

अध्याय-२३७

लक्ष्मीस्तोत्र पाठ और फल

पुष्करजी ने कहा कि–हे भगवान् परशुरामजी! प्राचीन काल में इन्द्र ने राज्यलक्ष्मी की स्थिरता के लिये जिस तरह भगवती लक्ष्मी की स्तुति की थी, उसी तरह राजा को भी अपनी विजय के लिये उनका स्तवन करना चाहिये॥१॥

इन्द्र बोले–जो सम्पूर्ण लोकों की जननी हैं, समुद्र से जिनका आविर्भाव हुआ है, जिनके नेत्र खिले हुए कमल के समान शोभायमान हैं तथा जो भगवान् श्रीहरि विष्णु के वक्षःस्थल में विराजमान हैं, उन लक्ष्मीदेवी को मैं नमस्कार करने जा रहा हूँ। जगत् को पवित्र करने वाली देवि! तुम्हीं सिद्धि हो और तुम्हीं स्वधा, स्वाहा, सुधा, संध्या, रात्रि, प्रभा, भूति, मेधा, श्रद्धा और सरस्वती हो। शोभामयी देवि! तुम्हीं यज्ञविद्या, महाविद्या, गुह्यविद्या तथा मोक्षरूप फल सम्प्रदान करने वाली आत्मविद्या तथा मोक्ष रूप फल सम्प्रदान करने वाली आत्मविद्या हो। आन्वीक्षिकी (दर्शनशास्त्र), त्रयी (ऋक्, साम, यजु), वार्ता (जीविका-प्रधान कृषि, गोरक्षा और वाणिज्य कर्म) तथा दण्डनीति भी तुम्हीं हो। हे देवि। आप स्वयं सौम्यस्वरूप वाली (सुन्दरी) हो; इसलिये आपसे व्याप्त होने के कारण इस जगत् का रूप भी सौम्य-मनोहर दिखायी देता है। हे भगवति! तुम्हारे सिवा दूसरी कौन स्त्री है, जो कौमोद की गदा धारण करने वाले देवाधिदेव भगवान् श्रीहरि विष्णु के अखिल यज्ञमय विग्रह को, जिसका योगीलोग चिन्तन करते हैं, अपना निवासस्थान बना सके। हे देवि! तुम्हारे त्याग देने से समस्त त्रिलोकी नष्टप्राय हो गयी थी; परन्तु इस समय पुनः आपका ही सहारा पाकर यह समृद्धिपूर्ण दिखायी देती है। हे महाभागे! आपकी कृपादृष्टि से ही मनुष्यों को सदा स्त्री, पुत्र, गृह, मित्र और धन-धान्य आदि की प्राप्ति हो जाती है। हे देवि! जिन पुरुषों पर आपकी दयादृष्टि पड़ जाती है, उनको शरीर की नीरोगता, ऐश्वर्य, शत्रुपक्ष की हानि और

त्वमम्बा सर्वभूतानां देवदेवो हरिः पिता। त्वयैतद्विष्णुना चाम्ब जगद्व्याप्तं चराचरम्।।१०।।
मानं कोषं तथा कोष्ठं मा गृहं मा परिच्छदम्। मा शरीरं कलत्रं च त्ययेथाः सर्वपावनि।।११।।
मा पुत्रान्मा सुहृद्वर्गान्मा पशून्मा विभूषणम्। त्यजेथा मम देवस्य विष्णोर्वक्षःस्थलालये।।१२।।
सत्येन समशौचाभ्यां तथा शीलादिभिर्गुणैः। त्यज (ज्य) न्ते नराःसद्यःसंत्यक्ताः ये त्वयामले।।१३।।
त्वयाऽवलोकिताः सद्यः शीलाद्यैरखिलैर्गुणैः। कुलैश्वर्यैश्च युज्यन्ते पुरुषा निर्गुणा अपि।।१४।।
स श्लाघ्यः स गुणी धन्यः सकुलीनः स बुद्धिमान्। स शूरः स च विक्रान्तो यस्त्वया देवि वीक्षितः।।१५।।
सद्योवैगुण्यमायान्ति शीलाद्याः सकला गुणाः। पराङ्मुखी जगद्धात्री यस्य त्वं विष्णुवल्लभे।।१६।।
न ते वर्णयितुं शक्ता गुणाज्जिह्वाऽपि वेधसः। प्रसीद देवि पद्माक्षि ना (माऽ) स्मांस्त्याक्षीः कदाचन।।१७।।

पुष्कर उवाच

एवं स्तुता ददौ श्रीश्च वरमिन्द्राय चेप्सितम्। सुस्थिरत्वं च राज्यस्य सङ्ग्रामविजयादिकम्।।१८।।
स्वस्तोत्रपाठश्रवणकर्तृणां भुक्तिमुक्तिदम्। श्रीस्तोत्रं सततं तस्मात्पठेच्च शृणुयान्नरः।।१९।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गति श्रीस्तोत्रकथनं नाम सप्तत्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः।।२३७।।

सभी तरह के सुख–कुछ भी दुर्लभ नहीं हैं। हे मातः! आप सम्पूर्ण भूतों की जननी और देवाधिदेव विष्णु सबके पिता हैं। आपने और भगवान् श्रीहरि विष्णु ने इस चराचर जगत् को व्याप्त कर रखा है। सभी को पवित्र करने वाली देवि। आप मेरी मान–प्रतिष्ठा, खजाना, अन्न–भण्डार, गृह, साज–सामान, शरीर और स्त्री–किसी का भी त्याग न करो। भगवान् श्रीहरि विष्णु के वक्षःस्थल में वास करने वाली लक्ष्मी! मेरे पुत्र, मित्रवर्ग, पशु तथा आभूषणों को भी न त्यागो। विमलस्वरूपा देवि! जिन मनुष्यों को आप त्याग देती हो, उनको सत्य, समता, शौच तथा शील आदि सद्गुण भी तत्काल ही छोड़ देते हैं। आपकी कृपादृष्टि पड़ने पर गुणहीन मनुष्य भी तुरन्त ही शील आदि सम्पूर्ण श्रेष्ठतम गुणों तथा पीढ़ियों तक बने रहने वाले ऐश्वर्य से युक्त हो जाते हैं। हे देवि! जिसको आपने अपनी दयादृष्टि से एक बार देख लिया, वही श्लाघ्य (प्रशंसनीय), गुणवान् धन्यवाद का पात्र, कुलीन, बुद्धिमान्, शूर और पराक्रमी हो जाता है। हे विष्णुप्रिये! आप जगत् की माता हो। जिसकी तरफ से आप मुँह फेर लेती हो, उसक शील आदि सभी गुण तत्काल दुर्गुण के रूप में बदल जाते हैं। कमल के समान नेत्रों वाली देवि! ब्रह्माजी की जिह्वा भी तुम्हारे गुणों का वर्णन करने में सक्षम नहीं हो सकती। मुझपर प्रसन्न हो जाओ तथा कभी भी मेरा परित्याग न करो।।२-१७।।

पुष्करजी ने कहा कि–इन्द्र के इस तरह स्तवन करने पर भगवती लक्ष्मी ने उनको राज्य की स्थिरता और संग्राम में विजय आदि का अभीष्ट वरदान दिया। साथ ही अपने स्तोत्र का पाठ या श्रवण करने वाले पुरुषों के लिये भी उन्होंने भोग तथा मोक्ष मिलने के लिये वर सम्प्रदान किया। इसलिये मनुष्य को सदा ही लक्ष्मी के इस स्तोत्र का पाठ और श्रवण करना चाहिये।।१८-१९।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी दो सौ सैंतीसवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।२३७।।

❖❖❖

अथाष्टत्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

रामोक्तनीतिः

अग्नि रुवाच

नीतिस्ते पुष्करोक्ता तु रामोक्ता लक्ष्मणाय या। जयाय तां प्रवक्ष्यामि शृणु धर्मादिवर्धिनीम्॥१॥

राम उवाच

न्यायेनार्जनमर्थस्य वर्धनं रक्षणं चरेत्। सत्पात्रप्रतिपत्तिश्च राजवृत्तं चतुर्विधम्॥२॥
नयस्य विनयो मूलं विनयः शास्त्रनिश्चयात्। विनयो हीन्द्रियजयस्तैर्युक्तः पालयेन्महीम्॥३॥
शास्त्रं प्रज्ञा धृतिर्दाक्ष्यं प्रागल्भ्यं धारयिष्णुता। उत्साहो वाग्मितौदार्यमापत्कालसहिष्णुता॥४॥
प्रभावः शुचिता मैत्री त्यागः सत्यं कृतज्ञता। कुलं शीलं दमश्चेति गुणाः स्पत्तिहेतवः॥५॥
प्रकीर्णविषयारण्ये धावन्तं विप्रमाथिनम्। ज्ञानङ्कुशेन कुर्वीत वश्यमिन्द्रियदन्तिनम्॥६॥

अध्याय–२३८

राम की नीति विचार

श्रीअग्निदेव ने कहा कि–हे वसिष्ठ! मैंने आपसे पुष्कर की कही हुई नीति का वर्णन किया है। अधुना आप लक्ष्मण के प्रति श्रीरामचन्द्र द्वारा कही गयी विजयदायिनी नीति का निरूपण सुनो। यह धर्म आदि को बढ़ाने वाली है॥१॥

श्रीरामजी ने कहा कि–हे लक्ष्मण! न्याय (धान्य का छठा भगा लेने आदि) के द्वारा धन का अर्जन करना, अर्जित किये हुए धन को व्यापार आदि द्वारा बढ़ाना, उसकी स्वजनों और परजनों से रक्षा करना तथा उसका सत्पात्र में नियोजन करना (यज्ञादि में तथा प्रजापालन में लगाना एवं गुणवान् पुत्र को सौंपना)–ये राजा के चार तरह के व्यवहार बताये गये हैं। राजा को न्याय और पराक्रम से सम्पन्न एवं भलीभाँति उद्योगशील होकर स्वमण्डल एवं परमण्डल की लक्ष्मी का चिन्तन करना चाहिये। नय का मूल है विनय और विनय की प्राप्ति हो जाती है, शास्त्र के निश्चय से। इन्द्रिय-जय का ही नाम विनय है। जो उस विनय से युक्त होता है, वही शास्त्रों को प्राप्त करता है। जो शास्त्र में निष्ठा रखता है, उसी के हृदय में शास्त्र के अर्थ (तत्त्व) स्पष्टतया प्रकाशित होते हैं। ऐसा होने से स्वमण्डल और परमण्डल की 'श्री' प्रसन्न (निष्कण्टकरूप से प्राप्त) होती है–उसके लिये लक्ष्मी अपना द्वार खोल देती हैं॥२-३॥

शास्त्रज्ञान, आठ गुणों से युक्त बुद्धि, धृति (उद्वेग का अभाव), दक्षता (आलस्य का अभाव), प्रगल्भता (सभा में बोलने या कार्य करने में भय अथवा संकोच का न होना), धारणशीलता (जानी सुनी बात को भूलने न देना), उत्साह (शौर्यादि गुण), प्रवचन-शक्ति, दृढ़ता (आपत्तिकाल में क्लेश सहन करने की क्षमता), प्रभाव (प्रभु-शक्ति), शुचिता (विविध उपायों द्वारा परीक्षा लेने से सिद्ध हुई आचार-विचार की शुद्धि), मैत्री (दूसरों को अपने प्रति आकृष्ट कर लेने का गुण), त्याग (सत्पात्र को दान देना), सत्य (प्रतिज्ञापालन), कृतज्ञता (उपकार को न भूलना), कुल (कुलीनता), शील (अच्छा स्वभाव) और दम (इन्द्रियनिग्रह तथा क्लेशसहन की क्षमता)–ये सम्पत्ति के हेतुभूत गुण हैं॥४-५॥

विस्तृत विषयरूपी वन में दौड़ते हुए तथा निरङ्कुश होने के कारण विप्रमाथी (विनाशकारी) इन्द्रियरूपी हाथी

कामः क्रोधस्तथा लोभो हर्षो मानो मदस्तथा। षड्वर्गमृत्सृजेदेनमस्मिंस्त्यक्ते सुखी नृपः॥७॥
आन्वीक्षिकीं त्रयीं वार्तां दण्डनीतिं च पार्थिवः। तद्विद्यैस्तत्क्रियोपेतैश्चिन्तयेद्विनयान्वितः॥८॥
आन्वीक्षिक्याऽर्थविज्ञानं धर्माधर्मौ त्रयीस्थितौ। अर्थानर्थौ तु वार्तायां दण्डनीत्या नयानयौ॥९॥
अहिंसा सूनृता वाणी सत्यं शौचं दया क्षमा। वर्णिनां लिङ्गिनां चैव सामान्यो धर्म उच्यते॥१०॥
प्रजाः समनुगृह्णीयात्कुर्यादाचारसंस्थितिम्। वाक्सूनृता दयादानं हीनोपगतरक्षणम्॥११॥
इतिवृत्तं सतां साधुहितं सत्पुरुषव्रतम्। आधिव्याधिपरीताय अद्यश्वो वा विनाशिने॥१२॥
को हि राजा शरीराय धर्मोपेतं समाचरेत्। न हि स्वसुखामन्विच्छन्पीडयेत्कृपणं जनम्॥१३॥
कृपणः पीड्यमानो हि मन्युना हन्ति पार्थिवम्। क्रियतेऽभ्यर्हणीयाय स्वजनाय यथाऽञ्जलिः॥१४॥
ततः साधुतरः कार्यो दुर्जनाय शिवार्थिना। प्रियमेवाभिधातव्यं सत्सु नित्यं द्विषत्सु च॥१५॥
देवास्ते प्रियवक्तारः पशवः क्रूरवादिनः। शुचिरास्तिक्यपूतात्मा पूजयेद्देवताः सदा॥१६॥

को ज्ञानमय अङ्कुश से वश में करना चाहिये। काम, क्रोध, लोभ, हर्ष, मान और मद—ये 'षड्वर्ग' कहे गये हैं। राजा इनका सर्वथा त्याग कर देना चाहिये। इन सभी का त्याग हो जाने पर वह सुखी होता है॥६-७॥

राजा को विनय-गुण से सम्पन्न हो आन्वीक्षिकी (आत्मविद्या एवं तर्कविद्या), वेदत्रयी वार्ता (कृषि, वाणिज्य और पशुपालन) तथा दण्डनीति—इन चार विद्याओं का उनके विद्वानों तथा उन विद्याओं के अनुसार अनुष्ठान करने वाले कर्मठ पुरुषों के साथ बैठकर चिन्तन करना चाहिये। (जिससे लोक में उनका सम्यक् प्रचार और प्रसार हो)। 'आन्वीक्षिकी' से आत्मज्ञान एवं वस्तु के यथार्थ स्वभाव का बोध होता है। धर्म और अधर्म का ज्ञान 'वेदत्रयी' पर अवलम्बित है, अर्थ और अनर्थ 'वार्ता' के सम्यक् उपयोग पर निर्भर हैं तथा न्याय और अन्याय 'दण्डनीति' के समुचित प्रयोग और अप्रयोग पर आधारित हैं॥८-९॥

किसी भी प्राणी की हिंसा न करना—कष्ट न पहुँचाना, मधुर वचन बोलना, सत्यभाषण करना, बाहर और अन्दर से पवित्र रहना एवं शौचाचार का पालन करना, दीनों के प्रति दयाभाव रखना तथा क्षमा (निन्दा आदि को सह लेना)—ये चारों वर्णों तथा आश्रमों के सामान्य धर्म कहे गये हैं। राजा को चाहिये कि वह प्रजा पर अनुग्रह करे और सदाचार के पालन में संलग्न रहे मधुर वाणी, दीनों पर दया, देश-काल की अपेक्षा से सत्पात्र को दान, दीनों और शरणागतों की रक्षा तथा सत्पुरुषों का सङ्ग—ये सत्पुरुषों के आचार हैं। यह आचार प्रजासंग्रह का उपाय है, जो लोक में प्रशंसित होने के कारण श्रेष्ठ है तथा भविष्य में भी अभ्युदयरूप फल देने वाला होने के कारण हितकारक है। यह शरीर मानसिक चिन्ताओं तथा रोगों से घिरा हुआ है। आज या कल इसका विनाश निश्चित है। ऐसी दशा में इसके लिये कौन राजा धर्म के विपरीत आचरण करना चाहेगा?॥१०-१२॥

राजा को चाहिये कि वह अपने लिये सुख की इच्छा रखकर दीन-दुखी लोगों को पीड़ा न दे; क्योंकि सताया जाने वाला दीन-दुखी मनुष्य दुःखजनित क्रोध के द्वारा अत्याचारी राजा का विनाश कर डालता है। अपने पूजनीय पुरुष को जिस तरह सादर हाथ जोड़ा जाता है, कल्याणकामी राजा दुष्टजन को उससे भी अधिक आदर देते हुए हाथ जोड़े। (तात्पर्य यह है कि दुष्ट को सामनीति से ही वश में किया जा सकता है।) साधु सुहृदों तथा दुष्ट शत्रुओं के प्रति भी सदा प्रिय वचन ही बोलना चाहिये। प्रियवादी 'देवता' कहे गये हैं और कटुवादी 'पशु'॥१३-१५॥

बाहर और अन्दर से शुद्ध रहकर राजा को आस्तिकता (ईश्वर तथा परलोक पर विश्वास) द्वारा अन्तःकरण को पवित्र बनाये और सदा देवताओं का पूजन करना चाहिये। गुरुजनों का देवताओं के समान ही सम्मान करना चाहिये

देवतावद्गुरुजनमात्मवच्च सुहृज्जनम्। प्रणिपातेन हि गुरुं सतोऽमृषानुचेष्टितैः॥१७॥
कुर्वीताभिमुखान्भृत्यैर्देवान्सुकृतकर्मणा। सद्भावेन हरेन्मित्रं संभ्रमेण च बान्धवान्॥१८॥
स्त्रीभृत्यान्प्रेमदानाभ्यां दाक्षिण्येनेतरं जनम्। अनिन्दा परकृत्येषु स्वधर्मपरिपालनम्॥१९॥
कृपणेषु दयालुत्वं सर्वत्र मधुरा गिरः। प्राणैरप्युकारित्वं मित्रायाव्यभिचारिणे॥२०॥
गृहागते परिष्वङ्गः शक्त्या दानं सहिष्णुता। स्वसमृद्धिष्वनुत्सेकः परवृद्धिष्वमत्सरः॥२१॥
अपरोपतापि वचनं मौनव्रतचरिष्णुता। बन्धुभिर्बद्धसंयोगः स्वजने चतुरश्रता॥
उचितानुविधायित्वमिति वृत्तं महात्मनाम्॥२२॥

॥इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते रामोक्तनीतिकथनं नामाष्टत्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः॥२३८॥

तथा सुहृदों को अपने तुल्य मानकर उनका भलीभाँति सत्कार करना चाहिये। वह अपने ऐश्वर्य की रक्षा एवं वृद्धि के लिये गुरुजनों को प्रतिदिन नमस्कार द्वारा अनुकूल बनाये। अनूचान (साङ्गवेद के अध्येता) की-सी चेष्टओं द्वारा विद्यावृद्ध सत्पुरुषों का साम्मुख्य प्राप्त करना चाहिये। सुकृतकर्म अर्थात् यज्ञादि पुण्यकर्म तथा गन्ध-पुष्पादि-समर्पण द्वारा देवताओं को अपने अनुकूल करना चाहिये। सद्भाव (विश्वास) द्वारा मित्र का हृदय जीते, सम्प्रभ (विशेष आदर) से बान्धवों अर्थात् पिता और माता के वंशों के बड़े-बूढ़ों को अनुकूल बनाये। स्त्री को प्रेम से तथा भृत्यवर्ग को दान से वश में करना चाहिये। इनके अतिरिक्त जो बाहरी लोग हैं, उनके प्रति अनुकूलता दिखाकर उनका हृदय जीतना चाहिये॥१६-१८॥

दूसरे लोगों के कृत्यों की निन्दा या आलोचना न करना, अपने वर्ण तथा आश्रम के अनुरूप धर्म का निरन्तर पालन, दीनों के प्रति दया, सभी लोक-व्यवहारों में सबके प्रति मीठे वचन बालेना, अपने अनन्य मित्र प्राण देकर भी उपकार करने के लिये उद्यत रहना, गृह पर आये हुए मित्र या अन्य सज्जनों को भी हृदय से लगाना, उनके प्रति अत्यन्त स्नेह एवं आदर प्रकट करना, आवश्यकता हो, तो उनके लिये यथाशक्ति धन देना, लोगों के कटु व्यवहार एवं कठोर वचन को भी सहन करना, अपनी समुद्धि के अवसरों पर निर्विकार रहना अर्थात् हर्ष या दर्प के वशीभूत न होना, दूसरों के अभ्युदय पर मन में ईर्ष्या या जलन न होना, दूसरों को ताप देने वाली बात न बोलना, मौनव्रत का आचरण अर्थात् अधिक वाचाल न होना, बन्धुजनों के साथ अटूट सम्बन्ध बनाये रखना, सज्जनों के प्रति चतुरश्रता (अवक्र-सरलभाव से उनका समाराधन), उनकी हार्दिक सम्मति के अनुसार कार्य करना-ये महात्माओं के आचार हैं॥१९-२२॥

॥इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी दो सौ अड़तीसवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ॥२३८॥

❖❖❖

अथैकोनचत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

राजधर्माः

राम उवाच

स्वाम्यमात्यश्च राष्ट्रं च दुर्गः कोषो बलं सुहृत्। परस्परोपकारीदं सप्ताङ्गं राज्यमुच्यते।।१।।
राज्याङ्गानां वरं राष्ट्रं साधनं पालयेत्सदा। कुलं शीलं वयः सत्त्वं दाक्षिण्यं क्षिप्रकारिता।।२।।
अविसंवादिता सत्यं वृद्धसेवा कृतज्ञता। दैवसम्पन्नता बुद्धिरक्षुद्रपरिवारता।।३।।
शक्यसामन्तता चैव तथा च दृढभक्तिता। दीर्घदर्शित्वमुत्साहः शुचिता स्थूललक्षिता।।४।।
विनीतत्वं धार्मिकता साधोश्च नृपतेर्गुणाः। प्रख्यातवंशमक्रूरं लोकसंग्राहिणं शुचिम्।।५।।
कुर्वीताऽऽत्महिताकाङ्क्षी परिचारं महीपतिः। वाग्मी प्रगल्भः स्मृतिमानुदग्रोबलवान्वशी।।६।।
नेता दण्डस्य निपुणः कृतशिल्परिग्रहः। पराभियोगप्रसहः सर्वदुष्टप्रतिक्रिया।।७।।

अध्याय-२३९

श्रीराम का राजधर्म विचार

श्रीराम ने कहा कि-हे लक्ष्मण! स्वामी (राजा) अमात्य (मन्त्री), राष्ट्र (जनपद), दुर्ग (किला), कोष (खजाना), बल (सेना) और सुहृत् (मित्रादि)-ये राज्य के परस्पर उपकार करने वाले सात अंग कहे गये हैं। राज्य के अंगों में राजा और मन्त्री के बाद राष्ट्र प्रधान एवं अर्थ का साधन है, इसलिये उसका सदा पालन करना चाहिये। (इन अंगों में पूर्व-पूर्व अंग पर की अपेक्षा श्रेष्ठ हैं।)।।१।।

कुलीनता, सत्त्व (व्यसन और अभ्युदय में भी निर्विकार रहना), युवावस्था, शील (अच्छा स्वभाव), दाक्षिण्य (सबके अनुकूल रहना या उदारता), शीघ्रकारिता (दीर्घसूत्रता का अभाव), अविसंवादिता (वाक्छल का आश्रय लेकर परस्पर विरोधी बातें न करना), सत्य (मिथ्याभाषण न करना), वृद्धसेवा (विद्यावृद्धों की सेवा में रहना और उनकी बातों को मानना), कृतज्ञता (किसी के उपकार को न भुलाकर प्रत्युपकार के लिये उद्यत रहना), दैवसम्पन्नता (प्रबल पुरुषार्थ से दैव को भी अनुकूल बना लेना), बुद्धि (शुश्रूषा आदि आठ गुणों से युक्त प्रज्ञा), अक्षुद्रपरिवारता (दुष्ट परिजनों से युक्त न होना), शक्यसामन्तता (आसपास के माण्डलिक राजाओं को वश में किये रहना), दृढ़भक्तिता (सुदृढ़ अनुराग), दीर्घदर्शिता (दीर्घकाल में घटित होने वाली बातों का अनुमान कर लेना), उत्साह, शुद्धचित्तता, स्थूललक्षता (अत्यन्त मनस्वी होना), विनीतता (जितेन्द्रियता) और धार्मिकता-ये अच्छे आभिगामिक गुण हैं।।२-४।।

जो सुप्रसिद्ध वंश में उत्पन्न, क्रूरताहीन, गुणवान् पुरुषों का संग्रह करने वाले तथा पवित्र (शुद्ध) हों, ऐसे लोगों को आत्मकल्याण की इच्छा रखने वाला राजा अपना परिवार बनाये।।५।।

वाग्मी (श्रेष्ठतम वक्ता-ललित, मधुर एवं अल्पाक्षरों द्वारा ही बहुत-से अर्थों का प्रतिपादन करने वाला), प्रगल्भ (सभा में सभी को निगृहीत करके निर्भय बोलने वाला), स्मृतिमान् (स्वभावतः किसी बात को न भूलने वाला), उदग्र (ऊँचे कद वाला), बलवान् (शारीरिक बल से सम्पन्न एवं युद्ध आदि में सक्षम), वशी (जितेन्द्रिय), दण्डनेता (चतुरङ्गिणी सेना का समुचित विधि से संचालन करने में सक्षम), निपुण (व्यवहारकुशल), कृतविद्य

परवृत्तान्तवेत्ता च संधिविग्रहतत्त्ववित्। गूढमन्त्रप्रचारज्ञो देशकालविभागवित्॥८॥
आदाता सम्यगर्थानां विन (नि) योक्ता च पात्रवित्। क्रोधलोभभयद्रोहदम्भचापलवर्जितः॥९॥
परोपतापपैशू (शु) न्यमात्सर्येर्षा (र्ष्या) नृतातिगः। वृद्धोपदेशसंपन्नः शक्तो मधुरदर्शनः॥१०॥
गुणानुरागस्थितिमानात्मसंपद्गुणाः स्मृताः। कुलीना शुचयः शूराः श्रुतवन्तोऽनुरागिणः॥११॥
दण्डनीतेः प्रयोक्तारः सचिवाः स्युर्महीपतेः। सुविग्रहो जानपदः कुलशीलकलान्वितः॥१२॥
वाग्मी प्रगल्भश्चक्षुष्मानुत्साही प्रतिपत्तिमान्। स्तम्भचापलहीनश्च मैत्रः क्लेशसहः शुचिः॥१३॥
सत्यसत्त्वधृतिस्थैर्यप्रभावारोग्यसंयुतः। कृतशिल्पश्च दक्षश्च प्रज्ञावान्धारणान्वितः॥१४॥

(शास्त्रीयविद्या से सम्पन्न), स्ववग्रह (प्रमाद से अनुचित कर्म में प्रवृत्त होने पर वहाँ से सुखपूर्वक निवृत्त किये जाने योग्य), पराभियोगप्रवाह (शत्रुओं द्वारा छेड़े गये युद्धादि के कष्ट को दृढ़तापूर्वक सहन करने में सक्षम-सहसा आत्मसमर्पण न करने वाला), सर्वदृष्टप्रतिक्रिय (सभी तरह के संकटों के निवारण के अमोघ उपाय को तत्काल जान लेने वाला), परिच्छिद्रान्ववेक्षी (गुप्तचर आदि के द्वारा शत्रुओं के छिद्रों के अन्वेषण में प्रयत्नशील), संधिविग्रहतत्त्ववित् (अपनी तथा शत्रु की अवस्था के बलाबल भेद को जानकर संधि-विग्रह आदि छहों गुणों के प्रयोग के ढंग और अवसर को ठीक-ठीक जानने वाला), गूढमन्त्रप्रचार (मन्त्रणा और उसके प्रयोग को सर्वथा गुप्त रखने वाला), देशकालविभागवित् (किस तरह की सेना किस देश और किस काल में विजयिनी होगी-इत्यादि बातों को विभाग पूर्वक जानने वाला), **आदाता सम्यगर्थानाम्** (प्रजा आदि से न्यायपूर्वक धन लेने वाला), विनियोक्ता (धन को उचित एवं श्रेष्ठतम कार्य में लगाने वाला), पात्रवित् (सत्पात्र का ज्ञान रखने वाला), क्रोध, लोभ, भय, द्रोह, स्तभ (मान) और चपलता (बिना विचारे कार्य कर बैठना)-इन दोषों से दूर रहने वाला, परोपताप (दूसरों को पीड़ा देना), पैशुन्य (चुगली करके मित्रों में परस्पर फूट डालना), मात्सर्य (डाह), ईर्ष्या (दूसरों के उत्कर्ष को न सह सकना) और अनृत (असत्यभाषण)-इन दुर्गुणों को लाँघ जाने वाला, वृद्धजनों के उपदेश को मानकर चलने वाला, श्लक्ष्ण (मधुरभाषी), मधुरदर्शन (आकृति से सुन्दर एवं सौम्य दिखायी देने वाला), गुणानुरागी (गुणवानों के गुणों पर रीझने वाला) तथा मितभाषी (नपी-तुली बात कहने वाला) राजा श्रेष्ठ है। इस तरह यहाँ राजा के आत्मसम्पत्ति-सम्बन्धी गुण (उसके स्वरूप के उपपादक गुण) बताये गये हैं॥६-१०॥

श्रेष्ठतम वंश में उत्पन्न, बाहर-अन्दर से शुद्ध, शौर्य-सम्पन्न, आन्वीक्षि की आदि विद्याओं को जानने वाले, स्वामिभक्त तथा दण्डनीति का समुचित प्रयोग जानने वाले लोग राजा के सचिव (अमात्य) होने चाहिये॥११॥

जिसे अन्याय से हटाना कठिन न हो, जिसका जन्म उसी जनपद में हुआ हो, जो कुलीन (ब्राह्मण आदि), सुशील, शारीरिक बल से सम्पन्न, श्रेष्ठतम वक्ता सभा में निर्भीक होकर बोलने वाला, शास्त्ररूपी नेत्र से युक्त, उत्साहवान् (उत्साहसम्बन्धी त्रिविध गुण-शौर्य, अमर्ष एवं दक्षता से सम्पन्न), प्रतिपत्तिमान् (प्रतिभाशाली, भय आदि के अवसरों पर उनका तत्काल प्रतिकार करने वाला), स्तब्धता (मान) और चपलता से हीन, मैत्र (मित्रों के अर्जन एवं संग्रह में कुशल), शीत-उष्ण आदि क्लेशों को सहन करने में सक्षम, शुचि (उपधा द्वारा परीक्षा से प्रमाणित हुई शुद्धि से सम्पन्न), सत्य (झूठ न बोलना, सत्त्व (व्यसन और अभ्युदय में भी निर्विकार रहना), धैर्य, स्थिरता, प्रभाव तथा आरोग्य आदि गुणों से सम्पन्न, कृतशिल्प (सम्पूर्ण कलाओं के अभ्यास से सम्पन्न), दक्ष (शीघ्रता पूर्वक कार्यनिष्पादन में कुशल), प्रज्ञावान् (बुद्धिमान्), धारणान्वित (अविस्मरणशील) ख दृढ़भक्ति (स्वामी के प्रति अविचल अनुराग रखने वाला) तथा किसी से वैर न रखने वाला और दूसरों द्वारा किये गये विरोध को शान्त कर देने वाला पुरुष को राजा का बुद्धिसचिव एवं कर्मसचिव होना चाहिये॥१२-१४॥

दृढभक्तिरकर्ता च वैराणां सचिवो भवेत्। स्मृतिस्तत्परताऽर्थेषु चित्तज्ञो ज्ञाननिश्चयः।।१५।।
दृढता मन्त्रगुप्तिश्च मन्त्रिसंपत्प्रकीर्तिता। त्रय्यां च दण्डनीत्यां च कुशलः स्यात्पुरोहितः।।१६।।
अथर्व वेदविहितं कुर्याच्छान्तिकपौष्टिकम्। साधुतैषाममात्यानां तद्विद्यैः सह बुद्धिमान्।।१७।।
चक्षुष्मत्तां तु शिल्पं च परीक्षेत गुणद्वयम्। स्वजनेभ्यो विजानीयात्कुलं स्थानमवग्रहम्।।१८।।
परिकर्मसुदक्षं च विज्ञानं धारयिष्णुताम्। गुणत्रयं परीक्षेत प्रागल्भ्यं प्रीति (त) तां तथा।।१९।।
कथायोगेषु बुध्येत वाग्मित्वं सत्यवादिताम्। उत्साहं च प्रभावं च तथा क्लेशसहिष्णुताम्।।२०।।
धृतिं चैवानुरागं च स्थैर्यं चाऽऽपदि लक्षयेत्। भक्तिं मैत्रीं च शौचं च जानीयाद् व्यवहारतः।।२१।।
संवासिभ्यो बलं सत्त्ववमारोग्यं शीलमेव च। अस्तब्धतामचापल्यं वैराणां चाप्यकीर्तनम्।।२२।।
प्रत्यक्षतो विजानीयाद्भद्रतां क्षुद्रतामपि। फलानुमेयाः सर्वत्र परोक्षगुणवृत्तयः।।२३।।
सस्याकरवती पुण्या खनिद्रव्यसमन्विता। गोहिता भूरिसलिला पुण्यैर्जनपदैर्युता।।२४।।

स्मृति (अनेक वर्षों की बीती बातों को भी न भूलना), अर्थ-तत्परता (दुर्गादि की रक्षा एवं संधि आदि में सदैव तत्पर रहना), वितर्क (विचार), ज्ञाननिश्चय (यह ऐसा ही है, अन्यथा नहीं है-इस तरह का निश्चय), दृढ़ता तथा मन्त्रगुप्ति (कार्यसिद्धि होने तक मन्त्रणा को अत्यन्त गुप्त रखना)-ये '**मन्त्रिसम्पत्**' के गुण कहे गये हैं।।१५।।

पुरोहित को तीनों वेदों (ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद) तथा दण्डनीति के ज्ञान में भी कुशल होना चाहिये; वह सदा अथर्ववेदोक्त विधि से राजा के लिये शान्तिकर्म एवं पुष्टिकर्म का निष्पादन करता रहे।।१६।।

बुद्धिमान् राजा तत्तद् विद्या के विद्वानों द्वारा उन अमात्यों के शास्त्रज्ञान तथा शिल्पकर्म-इन दो गुणों की परीक्षा करनी चाहिये। यह परोक्ष या आगम प्रमाण द्वारा परीक्षण है।।१७।।

कुलीनता, जन्मस्थान तथा अवग्रह (उसको नियन्त्रित रखने वाले बन्धुजन)-इन तीन बातों की जानकारी उसके आत्मीयजनों के द्वारा प्राप्त करना चाहिये। (यहाँ भी आगम या परोक्ष प्रमाण का ही आश्रय लिया गया है। परिकर्म (दुर्गादि-निर्माण) में दक्षता (आलस्य न करना), विज्ञान (बुद्धि से अपूर्व बात को जानकर बताना) और धारयिष्णुता (कौन कार्य हुआ और कौन-सा कर्म शेष रहा इत्यादि बातों को सदा स्मरण रखना)-इन तीन गुणों की भी परीक्षा करनी चाहिये। प्रगल्भता (सभा आदि में निर्भीकता), प्रतिभा (प्रत्युत्पन्नमतिता), वाग्मिता (प्रवचनकौशल) तथा सत्यवादिता-इन चार गुणों को बातचीत के प्रसङ्गों में स्वयं अपने अनुभव से जाने।।१८-१९।।

उत्साह (शौर्यादि), प्रभाव, क्लेश सहन करने की क्षमता, धैर्य, स्वामिविषयक अनुराग और स्थिरता-इन गुणों की परीक्षा आपत्तिकाल में करना चाहिये। राजा के प्रति दृढ़भक्ति, मैत्री तथा आचार-विचार की शुद्धि-इन गुणों को व्यवहार से जाने।।२०-२१।।

आसपास एवं पड़ोस के लोगों से बल, सत्त्व (सम्पत्ति और विपत्ति में भी निर्विकार रहने का स्वभाव), आरोग्य, शील, अस्तब्धता (मान और दर्प का अभाव) तथा अचापल्य (चपलता का अभाव एवं गम्भीरता)-इन गुणों को जाने। वैर न करने का स्वभाव, भद्रता (भलमनसाहत) तथा क्षुद्रता (नीचता) को प्रत्यक्ष देखकर जाने। जिनके गुण और बर्ताव प्रत्यक्ष नहीं हैं, उनके कार्यों से सभी जगह उनके गुणों का अनुमान करना चाहिये।।२२-२३।।

जहाँ खेती की उपज अधिक हो, विभिन्न वस्तुओं की खानें हों, जहाँ विक्र के योग्य तथा खनिज पदार्थ प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होते हों, जो गौओं के लिये हितकारिणी (घास आदि से युक्त) हो, जहाँ पानी की बहुतायत हो,

रम्या सकुञ्जरबला वारिस्थलपथान्विता। अदेवमातृका चेति शस्यते भूरिभूतये॥२५॥
शूद्रकारुवणिक्प्रायो महारम्भः कृषीबलः। सानुरागो रिपुद्वेषी पीडासहकरः पृथुः॥२६॥
नानादेश्यैः समाकीर्णो धार्मिकः पशुमान्बली। ईदृग्जनपदः शस्तोऽमूर्खव्यसनिनायकः॥२७॥
पृथुसीमं महाखातमुचप्राकारतोरणम्। पुरं समावसेच्छैलसरिन्मरुवनाश्रयम्॥२८॥
जलबद्धान्यधनवद्दुर्गं कालसहं महत्। औदकं पार्वतं वार्क्षमैरिणं धन्विनं च षट्॥२९॥
ईवप्सितद्रव्यसंपूर्णः वितृपैतामहोचितः। धर्मार्जितो व्ययसहः कोषो धर्मादिवृद्धये॥३०॥
पितृपैतामहो वश्यः संहतो दत्तवेतनः। विख्यातपौरुषो जन्यः कुशलः शकुनैर्वृतः॥३१॥

जो पवित्र जनपदों से घिरी हुई हो, जो सुरम्य हो, जहाँ के जंगलों में हाथी रहते हों, जहाँ जलमार्ग (पुल आदि) तथा स्थलमार्ग (सड़कें) हों, जहाँ की सिंचाई वर्षा पर निर्भर न हो अर्थात् जहाँ सिंचाई के लिये प्रचुर मात्रा में जल उपलब्ध हो, ऐसी भूमि ऐश्वर्य वृद्धि के लिये उपलब्ध हो, ऐसी भूमि ऐश्वर्य वृद्धि के लिये प्रशस्त मानी गयी है॥२४-२५॥

जो भूमि कँकरीली और पथरीली हो, जहाँ जंगल-ही-जंगल हों, जो सदा चोरों और लुटेरों के भय से आक्रान्त हो, जो रूक्ष (ऊसर) हो, जहाँ के जंगलों में काँटेदार वृक्ष हों तथा जो हिंसक जन्तुओं से भरी हो, वह भूमि नहीं के बराबर है। जहाँ सुखपूर्वक आजीविका चल सके, जो उपरोक्त श्रेष्ठतम भूमि के गुणों से सम्पन्न हो, जहाँ जल की अधिकता हो, जिसे किसी पर्वत का सहारा प्राप्त हो, जहाँ शूद्रों, कारीगरों और वैश्यों की बस्ती अधिक हो, जहाँ के किसान विशेष उद्योगशील एंव बड़े-बड़े कार्यों का आयोजन करने वाले हों, जो राजा के प्रति अनुरक्त, उनके शत्रुओं से द्वेष रखने वाला और पीड़ा तथा कर का भार सहन करने में सक्षम हो, हृष्ट-पुष्ट एवं सुविस्तृत हो, जहाँ अनेक देशों के लोग आकर रहते हों, जो धार्मिक, पशु-सम्पत्ति से भरा-पूरा तथा धनी हो और जहाँ के नायक (गाँवों के मुखिया) मूर्ख और व्यसनग्रस्त हों, ऐसा जनपद राजा के लिये प्रशस्त कहा गया है। (मुखिया मूर्ख और व्यसनी हो, तो वह राजा के विरुद्ध आन्दोलन नहीं कर सकता॥२६-२७॥

जिसकी सीमा बहुत बड़ी एवं विस्तृत हो, जिसके चारों तरफ विशाल खाइयाँ बनी हों, जिसके तरह (परकोटे) और गोपुर (फाटक) बहुत ऊँचे हों, जो पर्वत, नदी, मरुभूमि अथवा जंगल का आश्रय लेकर बना हो, ऐसे पुर (दुर्ग) में राजा को निवास करना चाहिये। जहाँ जल, धान्य और धन प्रचुरमात्रा में विद्यमान हों, वह दुर्ग दीर्घकाल तक शत्रु के आक्रमण का सामना करने में सक्षम होता है। जलमय, पर्वतमय, वृक्षमय, ऐरिण (उजाड़ या वीरान स्थान पर बना हुआ) तथा धान्वन (मरुभूमि या बालुकामय प्रदेश में स्थित)-ये पाँच तरह के दुर्ग हैं। (दुर्ग का विचार करने वाले श्रेष्ठतम बुद्धिमान् पुरुषों ने इन सभी दुर्गों को प्रशस्त बतलाया है।)॥२८-२९॥

(जिसमें आय अधिक हो और खर्च कम, अर्थात् जिसमें जमा अधिक होता हो और जिसमें से धन को कम निकाला जाता हो, जिसकी ख्याति खूब हो तथा जिसमें धनसम्बन्धी देवता (लक्ष्मी, कुबेर आदि) का सदा पूजन किया जाता हो, जो मनोवाञ्छित द्रव्यों से भरा-पूरा हो, मनोरम हो और) विश्वस्त जनों की देख-रेख में हो, जिसका अर्जन धर्म एवं न्यायपूर्वक किया गया हो तथा जो महान् व्यय को भी सह लेने में सक्षम हो-ऐसा कोष श्रेष्ठ माना गया है। कोष का उपयोग धर्मादि की वृद्धि तथा मूल्यों के भरण-पोषण आदि के लिये होना चाहिये॥३०॥

जो बाप-दादों के समय से ही सैनिक सेवा करते आ रहे हों, वश में रहते (अनुशासन मानते) हों, संगठित हों, जिनका वेतन चुका दिया जाता हो-बाकी न रहता हो, जिनके पुरुषार्थ की प्रसिद्धि हो, जो राजा के अपने ही जनपद

नानाप्रहरणोपेतो नानायुद्धविशारदः। नानायोधसमाकीर्णो नीराजितहयद्विपः।।३२।।
प्रवासायासदुःखेषु युद्धेषु च कृतश्रमः। अद्वैधक्षत्रियप्रायो दण्डो दण्डवतां मतः।।३३।।
योगविज्ञानसत्त्वाढ्यं महापक्षं प्रियंवदम्। आयतिक्षममद्वैधं मित्रं कुर्वीत सत्कुलम्।।३४।।
दूरादेवाभिमानं स्पष्टार्थहृदयानुगा। वाक्सत्कृत्य प्रदानं च त्रिविधो मित्रसंग्रहः।।३५।।
धर्मकामार्थसंयोगो मित्रात्तु त्रिविधं फलम्। औरसं तत्र संनद्धं तथा वंशक्रमागतम्।।३६।।
रक्षितं व्यसनेभ्यश्च मित्रं ज्ञेयं चतुर्विधम्। मित्रे गुणाः सत्यताद्याः समानसुखदुःखता।।३७।।
वक्ष्येऽनुजीविनां वृत्तं सेवी सेवेत भूपतिम्। दक्षता भद्रता दार्ढ्यं क्षान्तिः क्लेशसहिष्णुता।।३८।।
सन्तोषः शीलमुत्साहो मण्डयत्यनुजीविनम्। यथाकालमुमासीत राजानं सेवको नयात्।।३९।।
परस्थानगमं क्रौर्यमौद्धत्यं मत्सरं त्यजेत्। विगृह्य कथनं भृत्यो न कुर्याज्ज्यायसा सह।।४०।।
गुह्यं मर्म च मन्त्रं च न च भर्तुः प्रकाशयेत्। रक्ताद्वृत्तिं समीहेत विरक्त सत्यजेन्नृपम्।।४१।।

में जन्में हों, युद्धकुशल हों और कुशल सैनिकों के साथ रहते हों, विविध तरह के अस्त्र-शस्त्रों से सम्पन्न हों, जिन्हें विविध तरह के युद्धों में विशेष कुशलता प्राप्त हो तथा जिनके दल में बहुत-से योद्धा भरे हों, जिन सैनिकों द्वारा अपनी सेना के घोड़े और हाथियों की आरती उतारी जाती हो, जो परदेश-निवास, युद्ध सम्बन्धी आयाम तथा विविध तरह के क्लेश सहन करने के अभ्यासी हों तथा जिन्होंने युद्ध में बहुत श्रम किया हो, जिनके मन में दुविधा न हो तथा जिनमें अधिकांश क्षत्रिय जाति के लोग हों, ऐसी सेना या सैनिक दण्डनीतिवेत्ताओं के मत में श्रेष्ठ है।।३१-३३।।

जो त्याग (अलोभ एवं दूसरों के लिये बस कुछ उत्सर्ग करने का स्वभाव), विज्ञान (सम्पूर्ण शास्त्रों में प्रवीणता) तथा सत्त्व (विकारशून्यता)—इन गुणों से सम्पन्न, महापक्ष (महान् आश्रय एवं बहुसंख्यक बन्धु आदि के वर्ग से समपन्न), प्रियंवद (मधुर एंव हितकर वचन बालने वाला), आयतिक्षम (सुस्थिर स्वभाव होने के कारण भविष्यकाल में भी साथ देने वाला), अद्वैध (दुविधा में न रहने वाला) तथा श्रेष्ठतम वंश में उत्पन्न हो—ऐसे पुरुष को अपना मित्र बनाये। मित्र के आने पर दूर से ही अगवानी में जाना, स्पष्ट एवं प्रिय वचन बोलना तथा सत्मारपूर्वक मनोवाञ्छित वस्तु देना—ये मित्रसंग्रह के तीन तरह हैं। धर्म, काम और अर्थ की प्राप्ति—ये मित्र से मिलने वाले तीन तरह के फल हैं। चार तरह के मित्र जानने चाहिये—औरस (माता-पिता के सम्बन्ध से युक्त), मित्रता के सम्बन्ध से बँध हुआ, वंशक्रमागत तथा संकट से बचाया हआ। सत्यता (झूठ न बोलना), अनुराग और दुःख मुख से समानरूप से भाग लेना—ये मित्र के गुण हैं।।३४-३७।।

अधुना मैं अनुजीवी (राजसेवक) जनों के बर्ताव का वर्णन करने जा रहा हूँ। सेवकोचित गुणों से सम्पन्न पुरुष को राजा का सेवन करना चाहिये। दक्षता (कौशल तथा शीघ्रकारिता), भद्रता (भलमनसाहत या लोकप्रियता,) दृढ़ता (सुस्थिर स्नेह एवं कर्मों में दृढ़तापूर्वक लगे रहना), क्षमा (निन्दा आदि को सहन करना), क्लेशसहिष्णुता (भूख-प्यास आदि के क्लेश को सहन करने की क्षमता), संतोष, शील और उत्साह—ये गुण अनुजीवी को अलंकृत करते हैं।।३८।।

सेवक यथासमय न्यायपूर्वक राजा की सेवा करना चाहिये; दूसरे के स्थान पर जाना, क्रूरता उद्दण्डता या असभ्यता और ईर्ष्या—इन दोषों को वह छोड़ देना चाहिये। जो पद या अधिकार में अपने से बड़ा हो, उसका विरोध करके या उसकी बात काटकर राजसभा में न बोले। राजा के गुप्त कर्मों तथा मन्त्रणा को कहीं प्रकाशित नहीं करना चाहिये। सेवक को अपने प्रति स्नेह रखने वाले स्वामी से ही जीविका प्राप्त करने की चेष्टा करना चाहिये; जो राजा विरक्त हो—सेवक से घृणा करता हो, उसको सेवक छोड़ देना चाहिये।३९-४१।।

अकार्ये प्रतिषेधश्च कार्ये चापि प्रवर्तनम्। संक्षेपादिति सद्वृत्तिं बन्धुमित्रानुजीविनाम्॥४२॥
आजीव्यः सर्वसत्त्वानां राजा पर्जन्यवद्भवेत्। आयद्वारेषु चाऽऽप्त्यर्थं धनं चाऽऽददतीति च॥४३॥
कुर्यादुद्योगसम्पन्नानध्यक्षान्सर्वकर्मसु। कृषिर्वणिक्पथो दुर्गं सेतुः कुञ्जरबन्धनम्॥४४॥
खन्याकरबलादानं शून्यानां च निवेशनम्। अष्टवर्गमिमं राजा साधुवृत्तोऽनुपालयेत्॥४५॥
आमुक्तिकेभ्यश्चौरेभ्यः पौरेभ्यो राजवल्लभात्। पृथिवीपतिलोभाच्च प्रजानां पञ्चधा भयम्॥४६॥
अवेक्ष्यैतद्भयं काल आददीत करं नृपः। अभ्यन्तरं शरीरं स्वं वा (बा) ह्यं राष्ट्रं च रक्षयेत्॥४७॥
दण्ड्यांस्तान्दण्डयेद्राजा स्वं रक्षेच्च विषादितः। स्त्रियः पुत्रांश्च शत्रुभ्यो विश्वसेन्न कदाचन॥४८॥

॥इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते राजधर्मकथनं नामैकोनचत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः॥२३९॥

यदि राजा अनुचित कार्य में प्रवृत्त कर्म में संलग्न हो, तो उसमें उसका साथ देना–यह थोड़े में बन्धु, मित्र और सेवकों का श्रेष्ठ आचार बतलाया गया है। राजा मेघ की भाँति समस्त (प्राणियों को आजीविका सम्प्रदान करने वाला हो। उसके यहाँ आय के जितने द्वार (साधन) हों, उन सब पर वह विश्वस्त एवं जाँचे-परखे हुए लोगों को नियुक्त करना चाहिये। (जिस प्रकार सूर्य अपनी किरणों द्वारा पृथ्वी से जल लेता है, उसी तरह राजा उन आयुक्त पुरुषों द्वारा धन ग्रहण करना चाहिये॥४२-४३॥

जिन्हें उन-उन कर्मों के करने का अभ्यास तथा यथार्थ ज्ञान हो, जो उपधा द्वारा शुद्ध प्रमाणित हुए हों तथा जिनके ऊपर जाने-समझे हुए गणक आदि करणवर्ग की नियुक्ति कर दी गयी हो तथा जो उद्योग से सम्पन्न हों, ऐसे ही लोगों को सम्पूर्ण कर्मों में अध्यक्ष बनाये। खेती, व्यापारियों के उपयोग में आने वाले स्थल और जल के मार्ग, पर्वत आदि दुर्ग, सेतुबन्ध (नहर एंव बाँध आदि), कुञ्जरबन्धन (हाथी आदि के पकड़ने के स्थान), सोने-चाँदी आदि की खानें, वन में उत्पन्न सार-दारु आदि (साखू, शीशम आदि) की निकासी के स्थान तथा शून्य स्थानों को बसाना-आय के इन आठ द्वारों को 'अष्टवर्ग' कहते हैं। अच्छे आचार-व्यवहार वाला राजा इस अष्टवर्ग की निरन्तर रक्षा करनी चाहिये॥४४-४५॥

आयुक्त अर्थात् रक्षाधिकारी राजकर्मचारी, चोर, शत्रु, राजा के प्रिय समबन्धी तथा राजा के लोभ-इन पाँचों से प्रजाजनों को पाँच तरह का भय प्राप्त होता है। इस भय का निवारण करके राजा उचित समय पर प्रजा से कर ग्रहण करना चाहिये। राजय के दो भेद हैं–बाह्य और आभ्यन्तर। राजा का अपना शरीर ही 'आभ्यन्तर राज्य' है तथा राष्ट्र या जनपद को 'बाह्य राज्य' कहा गया है। राजा इन दोनों की रक्षा करनी चाहिये॥४६-४७॥

जो पापी राजा के प्रिय होने पर भी राज्य को हानि पहुँचा रहे हों, वे दण्डनीय हैं। राजा उन सभी को दण्ड दे तथा विष आदि से अपनी रक्षा करनी चाहिये। स्त्रियों पर, पुत्रों पर शत्रुओं पर कभी विश्वास नहीं करना चाहिये॥४८॥

॥इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी दो सौ उनतालिसवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ॥२३९॥

❖❖❖

अथ चत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

षाड्गुण्यम्

राम उवाच

मण्डलं चिन्तयेन्मुख्यं राजा द्वादशराजकम्। अरिर्मित्रमरेर्मित्रं मित्रमित्रमतः परम्।।१।।
तथाऽरिमित्रमित्रं च विजिगीषोः पुरः स्मृताः। पार्ष्णिग्राहः स्मृतः पश्चादाक्रन्दस्तदनन्तरम्।।२।।
आसारावनयोश्चैवं विजिगीषोश्च मण्डलम्। अरेश्च विजिगीषोश्च मध्यमो भूम्यनन्तरः।।३।।
अनुग्रहे संहतयोर्निग्रहे व्यस्तयोः प्रभुः। मण्डलाद्बहिरेतेषामुदासीनो बलाधिकः।।४।।
अनुग्रहे संहतानां व्यस्तानां च वधे प्रभुः। सन्धिं च विग्रहं यानमासनादि वदामि ते।।५।।
बलवद्विगृहीतेन संधिं कुर्याच्छिवाय च। कपाल उपहारश्च संतानः संगतस्तथा।।६।।
उपन्यासः प्रतीकारः संयोगः पुरुषान्तरः। अदृष्टनर आदिष्ट आत्माऽपि स उपग्रहः।।७।।
परिक्रमस्तथा छिन्नस्तथा च परदूषणम्। स्कन्धोपनेयः संधिश्च संधयः षोडशेरिताः।।८।।

अध्याय–२४०

द्वादशराजमण्डल विचार

श्रीराम ने कहा कि–राजा को चाहिये कि वह मुख्य द्वादश राजमण्डल का चिन्तन करता रहे। १. अरि, २. मित्र, ३. अरिमित्र, तत्पश्चात् ४. मित्रिमित्र तथा ५. अरिमित्रमित्र–ये क्रमशः विजिगीषु के सामने वाले राजा कहे गये हैं। विजिगीषु के पीछे क्रमशः चार राजा होते हैं, जिनके नाम इस तरह हैं–१. पार्ष्णिग्राह, तत्पश्चात् २. आक्रन्द, उसके बाद इन दोनों के आसार अर्थात् ३. पार्ष्णिग्राहासार एवं ४. आक्रन्दसार। अरि और विजिगीषु–दोनों के राज्य से जिसकी सीमा मिलती है, वह राजा 'मध्यम' कहा गया है। अरि और विजिगीषु–ये दोनों यदि परस्पर मिले हों–संगठित हो गये हों तो मध्यम राजा कोष और सेना आदि की सहायता देकर इन दोनों पर अनुग्रह करने में सक्षम होता है और यदि ये परस्पर संगठित न हों तो वह मध्यम राजा पृथक्-पृथक् या बारी-बारी से इन दोनों का वध करने में सक्षम होता है। इन सबके मण्डल से बाहर जो अधिक बलशाली या अधिक सैनिकशक्ति से सम्पन्न राजा है, उसकी 'उदासीन' संज्ञा है। विजिगीषु, अरि और मध्यम–ये परस्पर संगठित हों तो उदासीन राजा इन पर अनुग्रहमात्र कर सकता है और यदि ये संगठित न होकर पृथक्-पृथक् हों तो वह 'उदासीन' इन सभी का वध कर डालने में सक्षम हो जाता है।।१-४।।

हे लक्ष्मण! अधुना मैं आपको संधि, विग्रह, यान और आसन आदि के विषय में बता रहा हूँ। किसी बलवान् राजा के साथ युद्ध ठन जाने पर यदि अपने पक्ष की अवस्था शोचनीय हो, तो अपने कल्याण के लिये संधि कर लेनी चाहिये।१. कपाल, २. उपहार, ३. संतान, ४. संगत, ५. उपन्यास, ६. प्रतीकार, ७. संयोग, ८. पुरुषान्तर, ९. अदृष्टनर, १०. आदिष्ट, ११. आत्ममिष, १२. उपग्रह, १३. परिक्रय, १४. उच्छिन्न, १५. परदूषण तथा १६. स्कन्धोपनेय–ये संधि के सोलह भेद बतलाये गये हैं। जिसके साथ संधि की जाती है, वह 'संधेय' कहलाता है। उसके दो भेद हैं–अभियोक्ता और अनभियोक्ता। कथित संधियों में से उपन्यास, प्रतीकार और संयोग–ये तीन संधियाँ अनभियोक्ता (अनाक्रमणकारी), के प्रति करनी चाहिये। शेष सभी अभियोक्ता (आक्रमणकारी) के प्रति कर्तव्य हैं।।५-८।।

परस्परोपकारश्च मैत्रः सम्बन्धकस्तथा। उपहाराश्च चत्वारस्तेषु मुख्याश्च संधयः॥९॥
बालो वृद्धो दीर्घरोगस्तथा बन्धुबहिष्कृतः। भीरुको भीरुकजनो लुब्धो लुब्धजनस्तथा॥१०॥
विरक्तप्रकृतिश्चैव विषयेष्वतिशक्तिमान्। अनेकचित्तमन्त्रश्च देवब्राह्मणनिन्दकः॥११॥
दैवोपहतकश्चैव दैवनिन्दक एव च। दुर्भिक्षव्यसनोपेतो बलव्यसनसंकुलः॥१२॥
स्वदेशस्थो बहुरिपुर्मुक्तः कालेन यश्च ह। सत्यधर्मं व्यपेतश्च विंशतिः पुरुषा अमी॥१३॥
एतैः सन्धिं न कुर्वीत विगृह्णीयात्तु केवलम्। परस्परापकारेण पुंसां भवति विग्रहः॥१४॥
आत्मनोऽभ्युदयाकाङ्क्षी पीड्यमानः परेण वा। देशकालबलोपेतः प्रारभेतेह विग्रहम्॥१५॥
राज्यस्त्रीस्थानदेशानां ज्ञानस्य च बलस्य च। अपहारो मदो मानः पीडा वैषयिकी तथा॥१६॥
ज्ञानात्मशक्तिधर्माणां विघातो दैवमेव च। मित्रार्थं चापमानश्च तथा बन्धुविनाशनम्॥१७॥
भूतानुग्रहविच्छेदस्तथा मण्डलदूषणम्। एकार्थाभिनिवेशित्वमिति विग्रहयोनयः॥१८॥

परस्परोपकार, मैत्र, सम्बन्धज तथा उपहार—ये ही चार संधि के भेद जानने चाहिये—ऐसा अन्य लोगों का मत है। बालक, वृद्ध, चिरकाल का रोगी, भाई-बन्धुओं से बहिष्कृत, डरपोक, भीरु सैनिकों वाला, लोभी-लालची सेवकों से घिरा हुआ, अमात्य आदि प्रकृतियों के अनुराग से वञ्चित, अत्यन्त विषयासक्त, अस्थिरचित्त और अनेक लोगों के सामने मन्त्र प्रकट करने वाला, देवताओं और ब्राह्मणों का निन्दक, दैव का मारा हुआ दैव को ही सम्पत्ति और विपत्ति का कारण मानकर स्वयं उद्योग न करने वाला, जिसके ऊपर दुर्भिक्ष का संकट आया हो वह, जिसकी सेना कैद कर ली गयी हो अथवा शत्रुओं से घिर गयी हो वह, अयोग्य देश में स्थित (अपनी सेना की पहुँच से बाहर के स्थान में विद्यमान), बहुत से शत्रुओं से युक्त, जिसने अपनी सेना को युद्ध के योग्य काल में नहीं नियुक्त किया है वह, तथा सत्य और धर्म से भ्रष्ट—ये बीस पुरुष ऐसे हैं जिनके साथ संधि नहीं करना चाहिये, केवल विग्रह करना चाहिये॥९-१३॥

एक-दूसरे के अपकार से मनुष्यों में विग्रह (कलह या युद्ध) होता है। राजा अपने अभ्युदय की इच्छा से अथवा शत्रु से पीड़ित होने पर यदि देश-काल की अनुकूलता और सैनिक-शक्ति से सम्पन्न हो, तो विग्रह प्रारम्भ करना चाहिये॥१४-१५॥

सप्ताङ्ग राज्य, स्त्री (सीता आदि-जैसी असामान्य देवी), जनपद के स्थानविशेष, राष्ट्र के एक भाग, ज्ञानदाता उपाध्याय आदि और सेना—इनमें से किसी का भी अपहरण विग्रह का कारण है (इस तरह षड् हेतु बताये गये। इनके सिवा मद (राजा दम्भोद्भव आदि की भाँति शौर्यादिजनित दर्प), मान (दशानन रावण आदि की भाँति अहंकार), जनपद की पीड़ा (जनपद-निवासियों का सताया जाना), ज्ञानविघात (शिक्षा-संस्थाओं अथवा ज्ञानदाता गुरुओं का विनाश), अर्थविघात (भूमि, हिरण्य आदि को क्षति पहुँचाना), शक्तिविघात (प्रभुशक्ति, मन्त्रशक्ति और उत्साहशक्तियों का अपक्षय), धर्मविघात, दैव (प्रारब्धजनित दुरवस्था), सुग्रीव आदि-जिस प्रकार मित्रों के प्रयोजन की सिद्धि, माननीय जनों का अपमान, बन्धुवर्ग का विनाश, भूतानुग्रहविच्छेद। प्राणियों को दिये गये अभयदान का खण्डन—जिस प्रकार एक ने किसी वन में वहाँ के जन्तुओं को अभय देने के लिये मृगया की मनाही कर दी, परन्तु दूसरा उस नियम को तोड़कर शिकार खेलने आ गया—यही 'भूतानुग्रहविच्छेद' है। मण्डलदूषण (द्वादशराजमण्डल में से किसी को विजिगीषु के विरुद्ध उभाड़ना), एकार्थाभिनिवेशित्व अर्थात् जो भूमि या स्त्री आदि अर्थ एक को अभीष्ट है, उसी को लेने के लिये दूसरे का भी दुराग्रह)—ये बीस विग्रह के कारण हैं॥१६-१८॥

सापत्न्यं वास्तुजं स्त्रीजं वाग्जातमपराधजम्। वैरं पञ्चविधं प्रोक्तं साधनैः प्रशमं नयेत्॥१९॥
किञ्चित्फलं निष्फलं वा संदिग्धफलमेव च। तदात्वे दोषजननमायत्यां चैव निष्फलम्॥२०॥
आयत्यां च तदात्वे च दोषसंजननं तथा। अपरिज्ञातवीर्येण परेण स्तोभितोऽपि वा॥२१॥
परार्थं स्त्रीनिमित्तं च दीर्घकालं द्विजैः सह। अकालदैवयुक्तेन बलोद्धतसखेन च॥२२॥
तदात्वे फलसंयुक्तमायत्यां फलवर्जितम्। आयत्यां फलसंयुक्तं तदात्वे निष्फलं तथा॥२३॥
इतीमं षोडशविधं न कुर्यादेव विग्रहम्। तदात्वायतिसंशुद्धं कर्म राजा सदाऽऽचरेत्॥२४॥
हृष्टं पुष्टं बलं मत्वा गृह्णीयाद्विपरीतकम्। मित्रमाक्रन्द आसारो यदा स्युर्दृढभक्तयः॥२५॥
परस्य विपरीतं च तदा विग्रहमाचरेत्। विगृह्य संधाय तथा संभूयाथ प्रसंगतः॥२६॥
उपेक्षया च निपुणैर्यानं पञ्चविधं स्मृतम्। परस्परस्य सामर्थ्यविधातादासनं स्मृतम्॥२७॥

सापत्र (दशानन रावण और विभीषण की भाँति सौतेले भाइयों का वैमनस्य), वास्तुज (भूमि, स्वर्ण आदि के हरण से होने वाला अमर्ष), स्त्री के अपहरण से होने वाला रोष, कटुवचनजनित क्रोध तथा अपराधजनित प्रतिशोध की भावना—ये पाँच तरह के वैर अन्य विद्वानों ने बताये हैं॥१९॥

१. जिस विग्रह से बहुत कम लाभ होने वाला हो, २. जो निष्फल हो, ३. जिससे फलप्राप्ति में संदेह हो, ४. जो तत्काल दोषजन (विग्रह के समय मित्रादि के साथ विरोध उत्पन्न करने वाला), ५. भविष्य काल में निष्फल, ६. वर्तमान और भविष्य में भी दोषजनक हो, ७. जो अज्ञात बल-पराक्रम वाले शत्रु के साथ किया जाय एवं ८. दूसरों के द्वारा उभाड़ा गया हो, ९. जो दूसरों की स्वार्थसिद्धि के लिये किंवा, १०. किसी सामान्य स्त्री को पाने के लिये किया जा रहा हो, ११. जिसके दीर्घकाल तक चलते रहने की सम्भावना हो, १२. जो श्रेष्ठ द्विजों के साथ छेड़ा गया हो, १३. जा वरदान आदि पाकर अकस्मात् दैवबल से सम्पन्न हुए पुरुष के साथ छिड़ने वाला हो, १४. जिसके अधिक बलशाली मित्र हों, ऐसे पुरुष के साथ जो छिड़ने वाला हो, १५.जो वर्तमान काल में फलद् परन्तु भविष्य में निष्फल हो तथा १६. जो भविष्य में फलद परन्तु वर्तमान में निष्फल हो—इन सोलह तरह के विग्रहों में कभी हाथ न डालना चाहिये। जो वर्तमान और भविष्य में परिशुद्ध—पूर्णतः लाभसम्प्रदायक हो, वही विग्रह राजा को छेड़ना चाहिये॥२०-२४॥

राजा जिस समय अच्छी तरह समझ ले कि मेरी सेना हृष्ट-पुष्ट अर्थात् उत्साह और शक्ति से सम्पन्न है तथा शत्रु की अवस्था इसके विपरीत है, तत्पश्चात् वह उसका निग्रह करने के लिये विग्रह प्रारम्भ करना चाहिये। जिस समय मित्र, आक्रन्द तथा आक्रन्दसार—इन तीनों की राजा के प्रति दृढ़भक्ति हो तथा शत्रु के मित्र आदि विपरीत स्थिति में हों अर्थात् उसके प्रति भक्तिभाव न रखते हों, तत्पश्चात् उसके साथ विग्रह प्रारम्भ करना चाहिये॥२५॥

जिसके बल एवं पराक्रम उच्च कोटि के हों, जो विजिगीषु के गुणों से सम्पन्न हो और विजय की अभिलाषा रखता हो तथा जिसकी अमात्यादि प्रकृति उसके सद्गुणों से उसमें अनुरक्त हो, ऐसे राजा का युद्ध के लिये यात्रा करना 'यान' कहलाता है। विगृह्यगमन, संधायगमन, सम्भूयगमन, प्रसङ्गतः गमन तथा उपेक्षापूर्वक गमन—ये नीतिज्ञ पुरुषों द्वारा यान के पाँच भेद कहे गये हैं॥२६॥

जिस समय विजिगीषु और शत्रु—दोनों एक दूसरे की शक्ति का विघात न कर सकने के कारण आक्रमण न करके बैठ रहें हो इसको 'आसन' कहा जाता है; इसके भी 'यान' की ही भाँति पाँच भेद होते हैं—१. विगृह्य आसन, २. संधाय आसन, ३. सम्भूय आसन, ४. प्रसङ्गासन तथा ५. उपेक्षासन॥२७॥

अरेश्च विजिगीषोश्च यानवत्पञ्चधा स्मृतम्। बलिनोर्द्विषतोर्मध्ये वाचाऽऽत्मानं समर्पयन्॥२८॥
द्वैधीभावेन तिष्ठेत काकाक्षिवदलक्षितः। उभयोरपि संपाते सेवेत बलवत्तरम्॥२९॥
यदा द्वावपि नेच्छेतां संश्लेषं जातसंविदौ। तदोपसर्पेत्तच्छत्रुमधिकं वा स्वयं व्रजेत्॥३०॥
उच्छिद्यमानो बलिना निरुपायप्रतिक्रियः। कुलोद्भतं सत्यमार्यमासेवेत बलोत्कटम्॥३१॥
तद्दर्शनोपास्तिकता नित्यं तद्भावभाविता। तत्कारितप्रश्रयिता वृत्तं संश्रयिणः श्रुतम्॥३२॥

॥इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते षाड्गुण्यकथनं नाम चत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः॥२४०॥

दो बलवान् शत्रुओं के मध्य में पड़कर वाणी द्वारा दोनों को ही आत्मसमर्पण करना चाहिये–'मैं और मेरा राज्य दोनों के ही हैं, यह संदेश दोनों के ही पास गुप्तरूप से भेजे और स्वयं दुर्ग में छिपा रहना चाहिये। यह 'द्वैधीभाव' की नीति है। जिस समय कथित दोनों शत्रु पहले से ही संगठित होकर आक्रमण करते हों, तत्पश्चात् जो उनमें अधिक बलशाली हो, उसकी शरण ले। यदि वे दोनों शत्रु परस्पर मन्त्रणा करके उसके साथ किसी भी शर्त पर संधि न करना चाहते हों, तत्पश्चात् विजिगीपु उन दोनों के ही किसी शत्रु का आश्रय ले अथवा किसी भी अधिक शक्तिशाली राजा की शरण लेकर आत्मरक्षा करनी चाहिये॥२८-३०॥

यदि विजिगीषु पर किसी बलवान् शत्रु का आक्रमण हो और वह उच्छिन्न होने लगे तथा किसी उपाय से उस संकट का निवारण करना उसके लिये असम्भव हो जाय, तत्पश्चात् वह किसी कुलीन, सत्यवादी, सदाचारी तथा शत्रु की अपेक्षा अधिक बलशाली राजा की शरण ले। उस आश्रयदाता के दर्शन के लिये उसकी आराधना करना, सदा उसके अभिप्राय के अनुकूल चलना, उसी के लिये कार्य करना और सदा उसके प्रति आदर का भाव रखना–यह आश्रय लेने वाले का व्यवहार बतलाया गया है॥३१-३२॥

॥इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी दो सौ चालीसवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ॥२४०॥

❖❖❖

अथैकचत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

सामादिकथनम्

राम उवाच

प्रभावोत्साहशक्तिभ्यां मन्त्रशक्तिः प्रशस्यते। प्रभावोत्साहवान्काव्यो जितो देवपुरोधसा।।१।।
मन्त्रयेतेह कार्याणि नानाप्तैर्ना विपश्चिता। अशक्यारम्भवृत्तीनां कुतः क्लेशादृते फलम्।।२।।
अविज्ञातस्य विज्ञानं विज्ञातस्य च निश्चयः। अर्थद्वैधस्य संदेहच्छेदनं शेषदर्शनम्।।३।।
सहायाः साधनोपाया विभागो देशकालयोः। विपत्तेश्च प्रतीकारः पञ्चाङ्गो मन्त्र इष्यते।।४।।
मनः प्रसादं श्रद्धा च तथा कारणपाटवम्। सहायोत्थानसंपच्च कर्मणां सिद्धिलक्षणम्।।५।
मदः प्रमादः कामश्च सुप्तप्रलपितानि च। भिन्दन्ति मन्त्रं प्रच्छन्नाः कामिन्यो रमतां तथा।।६।।
प्रगल्भः स्मृतिवान्वाग्मी शस्त्रे शास्त्रे च निष्ठितः। अभ्यस्तकर्मा नृपतेर्दूतो भवितुमर्हति।।७।।

अध्याय-२४१

साम आदि का विचार

श्रीराम ने कहा कि–'हे लक्ष्मण! प्रभावशक्ति और उत्साह-शक्ति से मन्त्र शक्ति श्रेष्ठ बतलायी गयी है। प्रभाव और उत्साह से सम्पन्न शुक्राचार्य को देवपुरोहित बृहस्पति ने मन्त्र-बल से जीत लिया।।१।।

जो विश्वसनीय होने के साथ-ही-साथ नीतिशास्त्र का विद्वान् हो, उसी के साथ राजा को अपने कर्तव्य के विषय में मन्त्रणा करना चाहिये। (जो विश्वसनीय होने पर भी मूर्ख हो तथा विद्वान् होने पर भी अविश्वसनीय हो, ऐसे मन्त्री को छोड़ देना चाहिये। कौन कार्य किया जा सकता है और कौन अशक्य है, इसका स्वच्छ बुद्धि से विवेचन करना चाहिये।) जो अशक्य कार्य का प्रारम्भ करते हैं, उनको क्लेश उठाने के सिवा कोई फल कैसे प्राप्त हो सकता है।।२-३।।

अविज्ञात (परोक्ष का ज्ञान, विज्ञात का निश्चय, कर्तव्य के विषय में दुविधा उत्पन्न होने पर संदेह का उच्छेद (समाधान) तथा शेष (अन्तिम निश्चित कर्तव्य) की उपलब्धि–ये सब मन्त्रियों के ही अधीन हैं। सहायक, कार्यसाधन के उपाय, देश और काल का विभाग, विपत्ति का निवारण तथ कर्तव्य की सिद्धि–ये मन्त्रियों की मन्त्रणा के पाँच अंग हैं।।४।।

मन की प्रसन्नता, श्रद्धा (कार्यसिद्धि के विषय में दृढ़ विश्वास), ज्ञानेन्द्रियों तथा कर्मेन्द्रियों की स्वविषयक व्यापार में क्षमता, सहाय-सम्पत्ति (सहायकों का बाहुल्य अथवा सत्त्वादि गुणों का योग) तथा उत्थान-सम्पत्ति अर्थात् शिघ्रता पूर्वक उत्थान करने का स्वभाव–ये मन्त्रद्वारा निश्चित करके प्रारम्भ किये जाने वाले कर्मों की सिद्धि के लक्षण हैं।।५।।

मद (मदिरा आदि का नशा), प्रमाद (कार्यान्तर के उद्देश्य से असावधानी), काम (कामभावना से प्रेरित होकर स्त्रियों पर विश्वास), स्वप्नावस्था में किये गये प्रलाप, खंभे आदि की ओट में लुके-छिपे लोग, पार्श्ववर्तिनी कामिनियाँ तथा उपेक्षित प्राणी (तोता, मैना, बालक, बहरे आदि)–ये मन्त्र का भेदन करने में कारण बनते हैं।।६।।

सभा में निर्भीक बोलने वाला, स्मरणशक्ति से सम्पन्न, प्रवचन-कुशल, शस्त्र और शास्त्र में परिनिष्ठित तथा

निसृष्टार्थो मितार्थश्च तथा शासनहारकः। सामर्थ्यात्पादतो हीनो दूतस्तु त्रिविधः स्मृतः॥८॥
नाविज्ञातं पुरं शत्रोः प्रविशेच्च न संसदम्। कालमीक्षेत कार्यार्थमनुज्ञातश्च निष्पतेत्॥९॥
छिद्रं च शत्रोर्जानीयात्कोषमित्रबलानि च। रागापरागौ जानीयाद्दृष्टिगात्रविचेष्टितैः॥१०॥
कुर्याच्चतुर्विधं स्तोत्रं पक्षयोरुभयोरपि। तपस्विव्यञ्जनोपेतैः सुचरैः सह संवसेत्॥११॥
चरः प्रकाशो दूतः स्यादप्रकाशश्चरो द्विधा। वणिक्कृषीवलो लिङ्गी भिक्षुकाद्यात्मकाश्चराः॥१२॥
यायादरिं व्यसनिनं निष्फले दूतचेष्टिते। प्रकृतिव्यसनं यत्स्यात्तत्समीक्ष्य समुत्पतेत्॥१३॥
अनयाद्व्यस्यति श्रेयस्तस्मात्तद्व्यसनं स्मृतम्। हुताशनो जलं व्याधिर्दुर्भिक्षं मरकं तथा॥१४॥
इति पञ्चविधं दैवं व्यसनं मानुषं परम्। दैवं पुरुषकारेण शान्त्या च प्रशमं नयेत्॥१५॥

दूतोचित कर्म के अभ्यास से सम्पन्न पुरुष राजदूत होने के योग्य होता है। निसृष्टार्थ (जिस पर संधि-विग्रह आदि कार्य को इच्छानुसार करने का पूरा भार सौंपा गया हो, वह), मितार्थ जिसे परिमित कार्य-भार दिया गया हो, यथा-इतना ही करना या इतना ही बोलना चाहिये), तथा इतना ही करना या इतना ही बोलना चाहिये), तथा शासनहारक (लिखित आदेश को पहुँचाने वाला)—ये दूत के तीन भेद कहे गये हैं॥७-८॥

दूत को अपने आगमन की सूचना दिये बिना शत्रु के दुर्ग तथा संसद् में प्रवेश नहीं करना चाहिये। (अन्यथा वह संदेह का पात्र बन जाता है।) उसे कार्यसिद्धि के लिये समय की प्रतीक्षा करना चाहिये तथा शत्रु राजा की आज्ञा लेकर वहाँ से विदा हो। उसको शत्रु के छिद्र (दुर्बलता) की जानकारी प्राप्त करनी चाहिये। उसके कोष, मित्र और सेना के विषय में भी वह जाने तथा शत्रु की दृष्टि एवं शरीर की चेष्टाओं से अपने प्रति राग और विरक्ति का भी अनुमान कर लेना चाहिये॥९-१०॥

वह उभय पक्षों के वंश की (यथा—'आप उदितोदित कुल के रत्न हैं आदि), नाम की (यथा—'आपका नाम दिग्दिगन्त में विख्यात है' इत्यादि), द्रव्य की (यथा—आपका द्रव्य परोपकार में लगता है' इत्यादि) तथा श्रेष्ठ कर्म की (यथा—आपके सत्कर्म की श्रेष्ठ लोग भूरि-भूरि प्रशंसा करते हैं' आदि कहकर) बड़ाई करना चाहिये। इस तरह चतुर्विध स्तुति करनी चाहिये। तपस्वी के वेष में रहने वाले अपने चरों के साथ संवाद करना चाहिये। अर्थात् उनसे बात करके यथार्थ स्थिति को जानने की चेष्टा करना चाहिये॥११॥

चर दो तरह के होते हैं—प्रकाश (प्रकट) और अप्रकाश (गुप्त)। इनमें जो प्रकाश है, उसकी 'दूत' संज्ञा है और अप्रकाश 'चर' कहा गया है। वणिक् (वैदेहक), किसान (गृहपति), लिङ्गी (मुण्डित या जटाधारी तपस्वी), भिक्षुक (उदास्थित), अध्यापक (छात्रवृत्ति से रहने वाला)—कार्पटिक)—इन चारों की स्थिति के लिये संस्थाएँ हैं। इनके लिये वृत्ति (जीविका) की व्यवस्था की जानी चाहिये, जिससे ये सुख से रह सकें। जिस समय दूत की चेष्टा विफल हो जाय तथा शत्रु व्यसनग्रस्त हो, तत्पश्चात् उस पर चढ़ाई करना चाहिये॥१२॥

जिससे अपनी प्रकृतियाँ व्यसनग्रस्त हो गयी हों, उस कारण को शान्त करके विजिगीषु शत्रु पर चढ़ाई करना चाहिये। व्यसन दो तरह के होते हैं—मानुष और दैव। अनय और अपनय दोनों के संयोग से प्रकृति-व्यसन प्राप्त होता है। अथवा केवल दैव से भी उसकी प्राप्ति हो जाती है। वह श्रेय (अभीष्ट अर्थ) को व्यस्त (क्षिप्त या नष्ट) कर देता है, इसलिये 'व्यसन' कहलाता है। अग्नि (आग लगाना), जल (अतिवृष्टि या बाढ़), रोग, दुर्भिक्ष (अकाल पड़ना) और मरक (महामारी)—ये पाँच तरह के 'दैव-व्यसन' हैं। शेष 'मानुष-व्यसन' हैं। पुरुषार्थ अथवा अथर्ववेदोक्त

उत्थतपितेन नीत्या च मानुषं व्यसनं हरेत्। मन्त्रो मन्त्रफलावाप्तिः कार्यानुष्ठानमायतिः।।१६।।
आयव्ययौ दण्डनीतिरमित्रप्रतिषेधनम्। व्यसनस्य प्रतीकारो राज्यराजाभिरक्षणम्।।१७।।
इत्यमात्यस्य कर्मेदं हन्ति स व्यसनान्वितः। हिरण्यधान्यवस्त्राणि वाहनं प्रजया भवेत्।।१८।।
तथाऽन्ये द्रव्यनिचया हन्ति सव्यसना प्रजा। प्रजानामापदि (दा) स्थानां रक्षणं कोषदण्डयोः।।१९।।
पौराद्याश्चोपकुर्वन्ति संश्रयादिह दुर्दिनम्। तूष्णीं युद्धं जनत्राणं मित्रामित्रपरिग्रहः।।२०।।
सामन्तादिकृते दोषे नश्येत्तद्व्यसनाच्च तत्। भृत्यानां भरणं दानं प्रजामित्रपरिग्रहः।।२१।।
धर्मकामादिभेदश्च दुर्गसंस्कारभूषणम्। कोषात्तद्व्यसनाद्धन्ति कोषमूलो हि भूपतिः।।२२।।
मित्रामित्रवनीहेमसाधनं रिपुमर्दनम्। दूरकार्याशुकारित्वं दण्डात्तद्व्यसनाद्धरेत्।।२३।।
संस्तम्भयति मित्राणि ह्यमित्रं नाशयत्यपि। धनाद्यैरुपकारित्वं मित्रात्तद्व्यसनाद्धरेत्।।२४।।
राजा स व्यसनी हन्याद्राजकार्याणि यानि च। वाग्दण्डयोश्च पारुष्यमर्थदूषणमेव च।।२५।।

शान्तिकर्म से दैव-व्यसन का निवारण करना चाहिये। उत्थान-शीलता (दुर्गादि निर्माण विषयक चेष्टा) अथवा नीति-संधि या साम आदि के प्रयोग के द्वारा मानुष-व्यसन की शान्ति करना चाहिये।।१३-१५।।

मन्त्र (कार्य का निश्चय), मन्त्रफल की प्राप्ति, कार्य का अनुष्ठान, भावी उन्नति का निष्पादन, आय-व्यय, दण्डनीति, शत्रु का निवारण तथा व्यसन को टालने का उपाय, राजा एवं राज्य की रक्षा-ये सब अमात्य के कर्म हैं। यदि अमात्य व्यसनग्रस्त हो, तो वह इन सब कर्मों को नष्ट कर देता है।।१६-१७।।

स्वर्ण, धान्य, वस्त्र, वाहन तथा अन्यान्य द्रव्यों का संग्रह जनपदवासिनी प्रजा के कर्म हैं। यदि प्रजा व्यसनग्रस्त हो, तो वह उपरोक्त सब कार्यों का विनाश कर डालती है।।१८।।

आपत्तिकाल में प्रजाजनों की रक्षा, कोष और सेना की रक्षा, गुप्त या आकस्मिक युद्ध, आपत्तिग्रस्त जनों की रक्षा, संकट में पड़े हुए मित्रों और अमित्रों का संग्रह तथा सामन्तों और वनवासियों से प्राप्त होने वाली बाधाओं का निवारण भी दुर्ग का आश्रय लेने से होता है। नगर के नागरिक भी शरण लेने के लिये दुर्गपतियों का कोष आदि के द्वारा उपकार करते हैं। (यदि दुर्ग विपत्तिग्रस्त हो जाय तो ये सब कार्य विपन्न हो जाते हैं।।)१९-२०।।

भृत्यों (सैनिक आदि) का भरण-पोषण, दानकर्म, भूषण, हाथी-घोड़े आदि का खरीदना, स्थिरता, शत्रुपक्ष की लुब्ध प्रकृतियों में धन देकर फूट डालना, दुर्ग का संस्कार (मरम्मत) और सजावट), सेतुबन्ध (खेती के लिये जलसंचय करने के निमित्त बाँध आदि का निर्माण), वाणिज्य, प्रजा और मित्रों का संग्रह, धर्म, अर्थ एवं काम की सिद्धि-ये सब कार्य कोष से सम्पादित होते हैं। कोषसम्बन्धी व्यसन से राजा इन सभी का विनाश कर देता है; क्योंकि राजा का मूल है-कोष।।२१-२२।।

मित्र, अमित्र (अपकार की इच्छा वाले शत्रु), स्वर्ण और भूमि को अपने वश में करना, शत्रुओं को कुलच डालना, दूर के कार्य को शीघ्र पूरा करवा लेना इत्यादि कार्य दण्ड (सेना) द्वारा साध्य हैं। उस पर संकट आने से ये सब कार्य बिगड़ जाते हैं।।२३।।

'मित्र' विजिगीषु के विचलित होने वाले मित्रों को रोकता है-उनमें सुस्थिर स्नेह उत्पन्न करता है, उसके शत्रुओं का विनाश करता है तथा धन आदि से विजिगीषु का उपकार करता है। ये सब मित्र से सिद्ध होने वाले कार्य हैं। मित्र के व्यसनग्रस्त होने पर ये कार्य नष्ट होते हैं।।२४।।

यदि राजा व्यसनी हो, तो समस्त रजाकार्यों को नष्ट कर देता है। कठोर वचन बोलकर दूसरों को दुःख

पानं स्त्री मृगया द्यूतं व्यसनानि महीपतेः। अलस्यं स्तब्धता दर्पः प्रमादो द्वैधकारिता॥२६॥
इति पूर्वोपदिष्टं च सचिवव्यसनं स्मृतम्। अनावृष्टिश्च पीडादि राष्ट्रव्यसनमुच्यते॥२७॥
विशीर्णयन्त्रप्राकारपरिखात्वमशस्त्रता। क्षीणया सेनया नद्धं दुर्गव्यसनमुच्यते॥२८॥
व्ययीकृतः परिक्षिप्तोऽप्रजितोऽसंजितस्तथा। दूषितो दूरसंस्थश्च कोषव्यसनमुच्यते॥२९॥
उपरुद्धं परिक्षिप्तममानितविमानितम्। अभूतं व्याधितं श्रान्तं दूरायातं नवागतम्॥३०॥
परिक्षीणं प्रतिहत प्रहताग्रतरं तथा। आशानिर्वेदभूयिष्ठमनृतप्राप्तमेव च॥३१॥
कलत्रगर्भं निक्षिप्तमन्तःशल्यं तथैव च। विच्छिन्नविविधासारं शून्यमूलं तथैव च॥३२॥
अस्वाम्यसंहतं वाऽपि भिन्नकूटं तथैव च। दुष्पार्ष्णिग्राहमर्थं च बलव्यसनमुच्यते॥३३॥
दैवोपपीडितं मित्रं ग्रस्तं शत्रुबलेन च। कामक्रोधादिसंयुक्तमुत्साहादरिभिर्भवेत्॥३४॥
अर्थस्य दूषणं क्रोधात्पारुष्यं वाक्यदण्डयोः। कामजं मृगया द्यूतं व्यसनं पानकं स्त्रियः॥३५॥

पहुँचाना, अत्यन्त कठोर दण्ड देना, अर्थदूषण अर्थात् वाणी द्वारा पहले की दी हुई वस्तु को न देना, दी हुई को छीन लेना, चोरी आदि के द्वारा धन का विनाश होना तथा प्राप्त हुए धन को छोड़ देना, मदिरापान, स्त्रीविषयक आसक्ति, शिकार खेलने में अधिक तत्पर रहना और जूआ खेलना–ये राजा के व्यसन हैं॥२५॥

आलस्य (उद्योगशून्यता), स्तब्धता (बड़ों के सामने उद्दण्डता या मान-प्रादर्शन), दर्प (शौयौदि का अहंकार), प्रमाद (असावधानता), बिना कारण वैर बाँधना–ये तथा उपरोक्त कठोर वचन बोलना आदि राजव्यसन सचिव के लिये दुर्व्यसन बताये गये हैं॥२६॥

अनावृष्टि (और अतिवृष्टि) तथा रोगजनित पीड़ा आदि राष्ट्र के लिये व्यसन कहे गये हैं। यन्त्र (शतघ्नी आदि), प्राकार (चाहादीवारी) तथा परिखा (खाईं) का नष्ट-भ्रष्ट हो जाना, अस्त्रशस्नों का अभाव हो जाना तथा घास, ईंधन एवं अन्न का क्षीण हो जाना दुर्ग के लिये व्यसन बतलाया गया है॥२७-२८॥

असद्व्यय किंवा अपव्यय के द्वारा जिसे खर्च कर दिया गया हो, जिसे मण्डल के अनेक स्थानों में थोड़ा-थोड़ा करके बाँट दिया गया हो, रक्षक आदि ने जिसका भक्षण कर लिया हो, जिस संचय करके खा नहीं गया हो, जिसे चारे आदि ने चुरा लिया हो तथा जो दूरवर्ती स्थान में रखा गया हो, ऐसा कोष व्यसनग्रस्त बतलाया जाता है॥२९॥

जो चारों तरफ से अवरुद्ध कर दी गयी हो, जिस पर घेरा पड़ गया हो, जिसका अनादर या असम्मान हुआ हो, जिसका ठीक-ठीक भरण पोषण नहीं किया गया हो, जिसके अधिकांश सैनिक रोगी, थके-माँदे, चलकर दूर से आये हुए तथा नवागत हों, जो सर्वथा क्षीण और प्रतिहत हो चली हो, जिसके आगे बढत्रने का वेग कुण्ठित कर दिया गया हो, जिसके आगे बढ़ने का वेग कुण्ठित कर दिया गया हो, जिसके अधिकांश लोग आशाजनित निर्वेद (खेद एवं विरक्ति) से भरे हों, जो अयोग्य भूमि में स्थित, अनृतप्राप्त (अविश्वस्त) हो गयी हो, जिसके अन्दर स्त्रियाँ अथवा स्त्रैण हों, जिसके हृदय में कुछ काँटा-सा चुभ रहा हो तथा जिस सेना के पीछे दुष्ट पार्ष्णिग्राह (शत्रु) की सेना लगी हुई हो, उस सेना की इस दुरवस्था को 'बलव्यसन' कहा जाता है॥३०-३३॥

जो दैव से पीड़ित, शत्रुसेना से आक्रान्त तथा उपरोक्त काम, क्रोध आदि से संयुक्त हो, उस मित्र को व्यसनग्रस्त बतलाया गया है। उसको उत्साह एवं सहायता दी जाय तो वह शत्रुओं से युद्ध के लिये उद्यत एवं विजयी हो सकता है॥३४॥

वाक्पारुष्यं परं लोक उद्वेजनमनर्थकम्। असिद्धिसाधनं दण्डस्तं युक्त्याऽवनयेन्नृपः।।३६।।
उद्वेजयति भूतानि दण्डपारुष्यवान्नृपः। भूतान्युद्वेज्यमानानि द्विषतां यान्ति संश्रयम्।।३७।।
विवृद्धाः शत्रवश्चैव विनाशाय भवन्ति ते। दूष्यस्य दूषणार्थं च परित्यागो महीयसः।।३८।।
अर्थस्य नीतितत्त्वज्ञैरर्थदूषणमुच्यते। पानात्कार्यादिनो (ष्व) ज्ञानं मृगयातोऽरितः क्षयः।।३९।।
जितश्रमार्थं मृगयां विचरेद्रक्षिते वने। धर्मार्थप्राणनाशादि द्यूते स्यात्कलहादिकम्।।४०।।
कालातिपातो धर्मार्थपीडा स्त्रीव्यसनाद्भवेत्। पानदोषात्प्राणनाशः कार्याकार्यविनिश्चयः।।४१।।
स्कन्धावारनिवेशज्ञो निमित्तज्ञो रिपुं जयेत्। स्कन्धावारस्य मध्ये तु सकोषं नृपतेर्गृहम्।।४२।।
मौलीभूतं श्रेणिसुहृद्द्विषदाटविकं बलम्। राजहर्म्यं समावृत्य क्रमेण विनिवेशयेत्।।४३।।
सैन्यैकदेशः संनद्धः सेनापतिपुरःसरः। परिभ्रमेच्चत्वरांश्च मण्डलेन बहिर्निशि।।४४।।

अर्थदूषण, वाणी की कठोरता तथा दण्डविषयक अत्यन्त क्रूरता—ये तीन क्रोधज व्यसन हैं। मृगया, जूआ, मद्यपान तथा स्त्रीसङ्ग—ये चार तरह के कामज व्यसन हैं। वाणी को कठोरता लोक में उद्वेग उत्पन्न करने वाली और अनर्थकारिणी होती है। अर्थहरण, ताड़न और वध—यह तीन तरह का दण्ड असिद्ध अर्थ का साधक होने से सत्पुरुषों द्वारा 'शासन' कहा गया है। उसको युक्ति से ही प्राप्त कराये। जो राजा युक्त (उचित) दण्ड देता है, उसकी प्रशंसा की जाती है। जो क्रोधवश कठोर दण्ड देता है, वह राजा प्राणियों में उद्वेग उत्पन्न करता है। उस दण्ड से उद्विग्न हुए मनुष्य विजिगीषु के शत्रुओं की शरण में चले जाते हैं, उनसे वृद्धि को प्राप्त हुए शत्रु कथित राजा के विनाश में कारण होते हैं।।३५-३७।।

दूषणीय मनुष्य के दूषण (अपकार) के लिये उससे प्राप्त होने वाले किसी महान् अर्थ का विघातपूर्वक परित्याग नीति-तत्त्वज्ञ विद्वानों द्वारा 'अर्थदूषण' कहा जाता है। दौड़ते हुए यान (अश्व आदि) से गिरना, भूख-प्यास का कष्ट उठाना आदि दोष मृगया से प्राप्त होते हैं। किसी छिपे हुए शत्रु से मारे जाने की भी सम्भावना रहती है। श्रम या थकावट पर विजय पाने के लिये किसी सुरक्षित वन में राजा शिकार खेले।।३८-३९।।

जूए में धर्म, अर्थ और प्राणों के विनाश आदि दोश्ज्ञ हाते हैं; उसमें कलह आदि की भी सम्भावना रहती है। स्त्री सम्बन्धी व्यसन से प्रत्येक कर्तव्य कार्य के करने में बहुत अधिक विलम्ब होता है—ठीक समय से कोई काम नहीं हो पाता तथा धर्म और अर्थ को भी हानि पहुँचती है। मद्यपान के व्यसन से प्राणों का नाशतक हो जाता है, नशे के कारण कर्तव्य का अकर्तव्य का निश्चय नहीं हो पाता।।४०-४१।।

सेना की छावनी कहाँ और कैसे पड़नी चाहिये, इस बात को जो जानता है तथा भले-बुरे निमित्त (शकुन) का ज्ञान रखता है, वह शत्रु पर विजय पा सकता है। स्कन्धावार (सेना की छावनी) के मध्यभाग में खजानासहित राजा के ठहरने का स्थान होना चाहिये। राजभवन को चारों तरफ से घेरकर क्रमशः मौल (पिता-पितामह के काल से चली आती हुई मौलिक सेना), भृत (भोजन और वेतन देकर रखी हुई सेना), श्रेणि (जनपदनिवासियों का दल अथवा कुविन्द आदि की सेना), मित्रसेना, द्विषद्बल (राजा की दण्डशक्ति से वशीभूत हुए सामन्तों की सेना) तथा आटविक (वन्य प्रदेश के अधिपति की सेना)—इन सेनाओं की छावनी डालना चाहिये।।४२-४३।।

राजा और उसके अन्तःपुर की रक्षा की सुव्यवस्था करने के पश्चात् सेना का एक चौथाई भाग युद्धसज्जा से सुसज्जित हो सेनापति का आगे करके प्रयत्नपूर्वक सुसज्जित बाहर रातभर चक्कर लगाये। वायु के समान वेगशाली घोड़ों

वार्ताः स्वका विजानीयाद्दूरसीमान्तचारिणः। निर्गच्छेत्प्रविशेच्चैव सर्व एवोपलक्षितः॥४५॥
सामं दानं च भेदश्च दण्डोपेक्षेन्द्रजालकम्। मायोपायाः सप्त परे निषिपेत्साधनाय तान्॥४६॥
चतुर्विधं स्मृतं साम उपकारानुकीर्तनात्। मिथः सम्बन्धकथनं मृदुपूर्वं च भाषणम्॥४७॥
आयाते दर्शनं वाचा तवाहमिति चार्पणम्। यः सम्प्रातधनोत्सर्गं उत्तमाधममध्यमः॥४८॥
प्रतिदानं तदा तस्य गृहीतस्यानुमोदनम्। द्रव्यदानमपूर्वं च स्वयंग्राहप्रवर्तनम्॥४९॥
देयश्च प्रतिमोक्षश्च दानं पञ्चविधं स्मृतम्। स्नेहरागापनयनसंहर्षोत्पादनं तथा॥५०॥
मिथो भेदश्च भेदज्ञैर्भेदश्च त्रिविधः स्मृतः। वधोऽर्थहरणं चैव परिक्लेशस्त्रिधा दमः॥५१॥
प्रकाशश्चाप्रकाशश्च लोकद्विष्टान्प्रकाशतः। उद्विजेत हतैर्लोकस्तेषु पिण्डः प्रशस्यते॥५२॥
विषेणोपनिषद्योगैर्हन्याच्छस्त्रादिना द्विषः। जातिमात्रं द्विजं नैव हन्यात्सामोत्तरं वशे॥५३॥

पर बैठे हुए घुड़सवार दूर सीमान्त पर विचरते हुए शत्रु की गतिविधि का पता लगायें। जो भी छावनी के अन्दर प्रवेश करें या बाहर निकलें, सब राजा की आज्ञा प्राप्त करके ही वैसा करें। साम, दान, दण्डद्व भेद, उपेक्षा, इन्द्रजाल और माया- ये सात उपाय हैं इनका शत्रु के प्रति प्रयोग करना चाहिये। इन उपायों से शत्रु वशीभूत होता है॥४४-४६॥

साम के पाँच भे बताये गये हैं–१. दूसरे के उपकार का वर्णन, २. आपस के सम्बन्ध को प्रकट करना (जिस प्रकार आपकी माता मेरी मौसी हैं इत्यादि), ३. मधुरवाणी में गुण-कीर्तन करते हुए बोलना, ४. भावी उन्नति का प्रकाशन (यथा–'ऐसा होने पर आगे चलकर हम दोनों का बड़ा लाभ होगा' इत्यादि) तथा ५. मैं आपका हूँ- ऐसा कहकर आत्मसमर्पण करना॥४७॥

किसी से श्रेष्ठतम (सार), अधम (असार) तथा मध्यम (सारासार) भेद से जो द्रव्य-सम्पत्ति प्राप्त हुई हो, उसको उसी रूप में लौटा देना–यह दान का प्रथम भेद है। २. बिना दिये ही जो धन किसी के द्वारा ले लिया गया हो, उसका अनुमोदन करना यथा–'आपने अच्छा किया जो ले लिया। मैंने पहले से ही आपको देने का विचार कर लिया था'–यह दान का दूसराभेद है। ३. अपूर्व द्रव्यदान अर्थात् भाण्डागार से निकालकर दिया गया नूतन दान, ४. स्वयंग्राहप्रवर्तन अर्थात् किसी दूसरे से स्वयं ही धन ले लेने के लिये प्रेरित करना। यथा–'अमुक व्यक्ति से अमुक द्रव्य ले लो, वह आपका ही हो जायगा तथा ५. दातव्य ऋण आदि को त्याग देना या न लेना–इस तरह ये दान के पाँच भेद कहे गये हैं॥४८-४९॥

स्नेह और अनुराग को दूर कर देना, परस्पर संघर्ष (कलह) उत्पन्न करना तथा धमकी देना–भेदज्ञ पुरुषों ने भेद के ये तीन तरह बताये हैं॥५०॥

वध, धन का अपहरण और बन्धन एवं ताड़न आदि के द्वारा क्लेश पहुँचाना–ये दण्ड के तीन भेद हैं। वध के दो तरह हैं–१. प्रकाश (प्रकट) और २. अप्रकाश (गुप्त)। जो सब लोगों के द्वेषपात्र हों, ऐसे दुष्टों का प्रकट रूप में वध करना चाहिये; परन्तु जिनके मारे जाने से लोग उद्विग्न हो उठें, जो राजा के प्रिय हों तथा अधिक बलशाली हों, वे यदि राजा के हित में बाधा पहुँचाते हैं तो उनका गुप्तरूप से वध करना श्रेष्ठतम कहा गया है। गुप्तरूप से वध का प्रयोग इस प्रकार करना चाहिये–विष देकर, एकान्त में आग आदि लगाकर, गुप्त मनुष्यों द्वारा शस्त्र का प्रयोग कराकर अथवा शरीर में फोड़ा उत्पन्न करने वाले उबटन लगवाकर राज्य के शत्रु को नष्ट करना चाहिये। जो जातिमात्र से भी ब्राह्मण हो, उसको प्राणदण्ड न देना चाहिये। उस पर सामनीति का प्रयोग करके उसको वश में लाने की चेष्टा करना चाहिये॥५१-५३॥

प्रलिम्पन्निव चेतांसि दृष्ट्वा साधु पिबन्निव। ग्रसन्निा मृतं साम प्रयुञ्जीत प्रियं वचः॥५४॥
मिथ्याभिशस्तः श्रीकाम आहूयाप्रतिमानितः। राजद्वेषी चातिकरस्त्वात्मसंभावितस्तथा॥५५॥
विच्छिन्नधर्मकामार्थः क्रूद्धो मानी विमानितः। अकारणात्परित्यक्तः कृतवैरोऽपि सान्त्वितः॥५६॥
हृतद्रव्यकलत्रश्च पूजार्होऽप्रतिपूजितः। एतांस्तु भेदयेच्छत्रौ स्थितान्नित्यान्सुशङ्कितान्॥५७॥
आगतान्पूजयेत्कामैर्निजांश्च प्रशमं नयेत्। सामदृष्टानुसंधानमत्युग्रभयदर्शनम्॥५८॥
प्रधानदानमानं च भेदोपायाः प्रकीर्तिताः। मित्रं हतं काष्ठमिव घुणजग्धं विशीर्यते॥५९॥
त्रिशक्तिर्देशकालज्ञो दण्डेनास्तं नयेदरीन्। मैत्रीप्रधानं कल्याणबुद्धिं सान्त्वेन साधयेत्॥६०॥
लुब्धं क्षीणं च दानेन मित्रानन्योन्यशङ्कया। दण्डस्य दर्शनाद्दुष्टान्पुत्रभ्रातादि सामतः॥६१॥
दानभेदैश्चमूमुख्यान्योधाञ्जनपदादिकान्। सामन्ताटविकान्भेददण्डाभ्यामपराद्धकान्॥६२॥

प्रिय वचन बोलना 'साम' कहलाता है। उसका प्रयोग इस तरह करना चाहिये, जिससे चित्त में अमृत का सा लेप होने लगे। अर्थात् वह हृदय में स्थान बना ले। ऐसी स्निग्ध दृष्टि से देखे, मानो वह सामने वाले को प्रेम से पी जाना चाहता हो तथा इस तरह बात करना चाहिये, मानो उसके मुख से अमृत की वर्षा हो रही हो॥५४॥

जिस पर झूठा ही कलङ्क लगाया गया हो, जो धन का इच्छुक हो, जिसे अपने पास बुलाकर अपमानित किया गया हो, जो राजा का द्वेषी हो, जिस पर भारी कर लगाया गया हो, जो विद्या और कुल आदि की दृष्टि से अपने को सबसे बड़ा मानता हो, जिसके धर्म, काम और अर्थ छिन्न-भिन्न हो गये हों, जो कुपित, मानी और अनादृत हो, जिसे अकारण राज्य से निर्वासित कर दिया गया हो, जो पूजा एवं सत्कार के योग्य होने पर भी असत्कृत हुआ हो, जिसके धन तथा स्त्री का हरण कर लिया गया हो, जो मन में वैर रखते हुए भी ऊपर सामनीति के प्रयोग से शान्त रहता हो, ऐसे लोगों में, तथा जो सदा शङ्कित रहते हों, उनमें, यदि वे शत्रुपक्ष के हों तो फूट डाले और अपने पक्ष में इस तरह के लोग हों तो उनको यत्नपूर्वक शान्त करना चाहिये। यदि शत्रुपक्ष से फूटकर ऐसे लोग अपने पक्ष में आयें तो उनका सत्कार करना चाहिये॥५५-५७॥

समान तृष्णा का अनुसन्धान (उभयपक्ष को समान रूप से लाभ होने की आशा का प्रदर्शन), अत्यन्त उग्रभय (मृत्यु आदि की विभीषिका) दिखाना तथा उच्चकोटि का दान और मान-ये भेद के उपाय कहे गये हैं॥५८॥

शत्रु की सेना में जिस समय भेदनीति द्वारा फूट डाल दी जाती है, तत्पश्चात् वह घुन लगे हुए काष्ठ की भाँति विशीर्ण (छिन्न-भिन्न) हो जाती है। प्रभाव, उत्साह तथा मन्त्र शक्ति से सम्पन्न एवं देश काल का ज्ञान रखने वाला राजा दण्ड शत्रुओं का अन्त कर देना चाहिये। जिसमें मैत्रीभाव प्रधान है तथा जिसका विचार कल्याणमय है ऐसे पुरुष को सामनीति के द्वारा वश में करना चाहिये॥५९-६०॥

जो लोभी हो और आर्थिक दृष्टि से क्षीण हो चला हो, उसको दान द्वारा सत्कारपूर्वक वश में करना चाहिये। परस्पर शङ्का से जिनमें फूट पड़ गयी हो तथा जो दुष्ट हों, उन सभी को दण्ड का भय दिखाकर वश में ले आये। पुत्र और भाई आदि बन्धुजनों को सामनीति द्वारा एवं धन देकर वशीभूत करना चाहिये। सेनापतियों, सैनिकों तथा जनपद के लोगों को दान और भेदनीति के द्वारा अपने अधीन करना चाहिये। सामन्तों (सीमावर्ती नरेशों), आटविकों (वन्य-प्रदेश के शासकों) तथा यथासम्भव दूसरे लोगों को भी भेद और दण्डनीति से वश में करना चाहिये॥६१-६२॥

देवताप्रतिमानां तु पूजयान्तर्गतैर्नरैः। पुमान्स्त्रीवस्त्रसंवीतो निशि चाद्‌भुतदर्शनः॥६३॥
वेतालोल्कापिशाचानां शिवानां च स्वरूपिका। कामतोरूपधारित्वं शस्त्राग्न्यश्माम्बुवर्षणम्॥६४॥
तमोऽनिलोऽनलो मेघ इति माया ह्यमानुषी। जघान कीचकं भीम आस्थितः स्त्रीस्वरूपताम्॥६५॥
अन्याये व्यसने युद्धे प्रवृत्तस्यानिवारणम्। उपेक्षेयं स्मृता भ्रातोपेक्षितश्च हिडिम्बया॥६६॥
मेघान्धकारवृष्ट्यग्निपर्वताद्‌भुतदर्शनम्। दूरस्थानां च सैन्यानां दर्शनं ध्वजशालिनाम्॥६७॥
छिन्नपाटितभिन्नानां संसृतानां च दर्शनम्। इतीन्द्रजालं द्विषतां भीत्यर्थमुपकल्पयेत्॥६८॥

॥इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते सामादिकथनं नामैकचत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः॥२४१॥

देवताओं के प्रतिमाओं तथा जिनमें देवताओं की मूर्ति खुदी हो, ऐसे खम्भों के बड़े-बड़े छिद्रों में छिपकर खड़े हुए मनुष्य 'मानुषी माया' हैं। स्त्री के कपड़ों से ढँका हुआ अथवा रात्रि में अद्भुतरूप से दर्शन देने वाला पुरुष भी 'मानुषी माया' है। वेताल, मुख से आग उगलने वाले पिशाच तथा देवताओं के समान रूप धारण करना इत्यादि 'कानुषी माया' है। इच्छानुसार रूप धारण करना, शस्त्र, अग्नि, पत्थर और जल की वर्षा करना तथा अन्धकार, आँधी, पर्वत और मेघों की सृष्टि कर देना-यह 'अमानुषी माया' है। पूर्वकल्प की चतुर्युगी में जो द्वापर आया था, उसमें पाण्डुवंशी भीमसेन ने स्त्री के समान रूप धारण करके अपने शत्रु कीचक को मारा था॥६३-६५॥

अन्याय (अदण्ड्यण्डन आदि), व्यसन (मृगया आदि) तथा बड़े के साथ युद्ध में प्रवृत्त हुए आत्मीय जन को न रोकना 'उपेक्षा' है। पूर्वकल्पवर्ती भीमसेन के साथ युद्ध में प्रवृत्त हुए अपने भाई हिडिम्ब को हिडिम्बा ने मना नहीं किया, अपने स्वार्थ की सिद्धि के लिये उसकी उपेक्षा कर दी॥६६॥

मेघ, अन्धकार, वर्षा, अग्नि, पर्वत तथा अन्य अद्भुत वस्तुओं को दिखाना दूर खड़ी हुई ध्वजशालिनी सेनाओं का दर्शन कराना, शत्रुपक्ष के सैनिकों को कटे, फाड़े तथा विदीर्ण किये गये और अङ्गों से रक्त की धारा बहाते हुए दिखाना-यह सब 'इन्द्रजाल' है। शत्रुओं को डराने के लिये इस इन्द्रजाल की कल्पना करनी चाहिये॥६७-६८॥

॥इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी दो सौ एकतालिसवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ॥२४१॥

अथ द्विचत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

राजनीतिः

राम उवाच

षड्विधं तु बलं व्यूह्य देवान्प्राच्य रिपुं व्रजेत्। मौलं भूतं श्रोणिसुहृद्द्विषदाटविकं बलम्।।१।।
पूर्वं पूर्वं गरीयस्तु बलानां व्यसनं तथा। षडङ्गं मन्त्रकोषाभ्यां पदात्यश्वरथद्विपैः।।२।।
नद्यद्रिवनदुर्गेषु यत्र तत्र भयं भवेत्। सेनापतिस्तत्र तत्र गच्छेद्व्यूहीकृतैर्बलैः।।३।।
नायकः पुरतो यायात्प्रवीरपुरुषावृतः। मध्ये कलत्रं स्वामी च कोषः फल्गु च यद्बलम्।।४।।
पार्श्वयोरुभयोरश्वा वाजिनां पार्श्वयो रथाः। रथानां पार्श्वयोर्नागा नागानां चाटवीबलम्।।५।।
पश्चात्सेनापतिः सर्वं पुरस्कृत्य कृती स्वयम्। यायात्संनद्धसैन्यौघः खिन्नानाश्वासयञ्शनैः।।६।।
यायाद्व्यूहेन महता मकरेण पुरो भये। श्येनेनोद्धृतपक्षेण सूच्या वा वीरवक्त्रया।।७।।
पश्चाद्भये तु शकटं पार्श्वयोर्वज्रसंज्ञितम्। सर्वतः सर्वतोभद्रं भये व्यूहं प्रकल्पयेत्।।८।।

अध्याय-२४२

राजनीति विचार

श्रीराम ने कहा कि—छः तरह की सेना को कवच आदि से संनद्ध एवं व्यूहबद्ध करके इष्ट देवताओं की तथा संग्रामसम्बन्धी दुर्गा आदि देवियों की पूजा करने के पश्चात् शत्रु पर चढ़ाई करनी चाहिये। मौल, भृत, श्रेणि, सुहृद, शत्रु तथा आटविक—ये छः तरह के सैन्य हैं। इनमें पर की अपेक्षा पूर्व-पूर्व सेना श्रेष्ठ कही गयी है। इनका व्यसन भी इसी क्रम से गरिष्ठ माना गया है। पैदल, घुड़सवार, रथी और हाथी सवार—ये सेना के चार अंग हैं; परन्तु मन्त्र और कोष—इन दो अङ्गों के साथ मिलकर सेना के षड् अङ्ग हो जाते हैं।।१-२।।

नदी-दुर्ग, पर्वत-दुर्ग तथा वन दुर्ग—इनमें जहाँ-जहाँ (सामन्त तथा आटविक आदि से) भय प्राप्त हो, वहाँ-वहाँ सेनापति संनद्ध एवं व्यूहबद्ध सेनाओं के साथ जाय। एक सेनानायक उत्कृष्ट वीर योद्धाओं के साथ आगे जाय और मार्ग एवं सेना के लिये आवास-स्थान का शोध करना चाहिये)। विजिगीषु राजा और उसका अन्तःपुर सेना के मध्यभाग में रहकर यात्रा करनी चाहिये। खजाना तथा फल्गु (असार एवं बेगार करने वालों की) सेना भी मध्य में ही रहकर चले। स्वामी के अगल-बगल में घुड़सवारों की सेना रहना चाहिये।

घुड़सवार सेना के उभय पार्श्वों में रथ सेना रहना चाहिये। रथ सेना के दोनों तरफ हाथियों के सेना रहनी चाहिये। उसके दोनों बगल आटविकों (जंगली लोगों) की सेना रहना चाहिये। यात्राकाल में प्रधान एवं कुशल सेनापति स्वयं स्वामी के पीछे रहकर सभी को आगे करके चले। थके-माँदे (हतोत्साह) सैनिकों को धीरे-धीरे आश्वासन देता रहना चाहिये। उसके साथ ही सारी सेना कमर कसकर युद्ध के लिये तैयार रहना चाहिये। यदि आगे की तरफ से शत्रु के आक्रमण का भय सम्भावित हो, तो महान् मकरव्यूह की रचना करके आगे बढ़े। यदि तिर्यग् दिशा से भय की सम्भावना हो, तो खुले या फैले पंखवाले श्येन पक्षी के आकार की व्यूह-रचना करके चले। यदि एक आदमी के ही चलने योग्य पगडंडी-मार्ग से यात्रा करते समय सामने से भय हो, तो सूची-व्यूह की रचना करके चले तथा

कन्दरे शैलगहने निम्नगावनसंकटे। दीर्घाध्वनिपरिश्रान्तं क्षुत्पिपासाहितक्लमम्॥९॥
व्याधिदुर्भिक्षमरकपीडितं दस्युविद्रुतम्। पङ्कपांशुजलस्कन्धं व्यस्तं पुञ्जीकृतं पथि॥१०॥
प्रसुप्तं भोजनव्यग्रमभूमिष्ठमसुस्थितम्। चौराग्निभयवित्रस्तं वृष्टिवातसमाहतम्॥११॥
इत्यादौ स्वचमूं रक्षेत्परसैन्यं च घातयेत्। विशिष्टो देशकालाभ्यां भिन्नविप्रकृतिर्बली॥१२॥
कुर्यात्प्रकाशयुद्धं हि कूटयुद्धं विपर्यये। तेष्ववस्कन्दपालेषु परं हन्यात्समाकुलम्॥१३॥
अभूमिष्ठं स्वभूमिष्ठः स्वभूमौ चोपजातयः। प्रकृतिप्रग्रहाकृष्टं पाशैर्वनचरादिभिः॥१४॥
हन्यात्प्रवीरपुरुषैर्भङ्गदानापकर्षणैः। पुरस्ताद्दर्शनं दत्त्वा तल्लक्षकृतनिश्चयान्॥१५॥
हन्यात्पश्चात्प्रवीरेण बलेनोपेत्य वेगिना। पश्चाद्वा संकुलीकृत्य हन्याच्छूरेण पूर्वतः॥१६॥
आभ्यां पार्श्वाभिघाती तु व्याख्यातौ कूटयोधने। पुरस्ताद्विषमे देशे पश्चाद्धन्यात्तु वेगवान्॥१७॥

उसके मुखभाग में वीर योद्धाओं को खड़ा करना चाहिये। पीछे से भय हो, तो शकटव्यूह की, पार्श्वभाग से भय हो, तो वज्र व्युह की तथा सभी तरफ से भय होने पर 'सर्वतोभद्र' नामक व्यूह की रचना करना चाहिये॥३-८॥

जो सेना पर्वत की कन्दरा, पर्वतीय दुर्गम स्थान एवं गहन वन में, नदी एवं वन से संकीर्ण पथ पर फँसी हो, जो विशाल मार्ग पर चलने से थकी हो, भूख-प्यास से पीड़ित हो, रोग, दुर्भिक्ष (अकाल) एवं महामारी से कष्ट पा रही हो, लुटेरों द्वारा भगायी गयी हो, कीचड़, धूल तथा पानी में फँस गयी हो, विक्षिप्त हो, एक-एक व्यक्ति के ही चलने का मार्ग होने से जो आगे न बढ़कर एक ही स्थान पर एकत्र हो गयी हो, सोयी हो, खाने-पीने में लगी हो, अयोग्य भूमिपर स्थित हो, बैठी हो, चोर तथा अग्नि के भय से डरी हो, वर्षा और आँधी की चपेट में आ गयी हो तथा इसी तरह के अन्यान्य संकटों में फँस गयी हो, ऐसी अपनी सेना की तो सभी तरफ से रक्षा करनी चाहिये तथा शत्रुसेना को घातक प्रहार का निशाना बनाये॥९-११॥

जिस समय आक्रमण के लक्ष्यभूत शत्रु की अपेक्षा विजिगीषु राजा देश-काल की अनुकूलता की दृष्टि से बढ़ा-चढ़ा हो तथा शत्रु की प्रकृति में फूट डाल दी गयी हो और अपना बल अधिक हो, तो शत्रु के साथ प्रकाश-युद्ध (घोषित या प्रकट संग्राम) छेड़ देना चाहिये। यदि विपरीत स्थिति हो, तो कूट-युद्ध (छिपी लड़ाई) करना चाहिये। जिस समय शत्रु की सेना उपरोक्त बलव्यसन (सैन्य-संकट) के अवसरों या स्थानों में फँसकर व्याकुल हो तथा युद्ध के अयोग्य भूमि में स्थित हो और सेना सहित विजिगीषु अपने अनुकूल भूमिपर स्थित हो, तत्पश्चात् वह शत्रु पर आक्रमण करके उसको मार गिराये। यदि शत्रु-सैन्य अपने लिये अनुकूल भूमि में स्थित हो, तो उसकी प्रकृतियों में भेदनीति द्वारा फूट डलवाकर, अवसर देख शत्रु का विनाश कर डालना चाहिये॥१२-१३॥

जो युद्ध से भागकर या पीछे हटकर शत्रु को उसकी भूमि से बाहर खींच लाते हैं, ऐसे वनचरों (आटविकों) तथा अमित्र सैनिकों ने पाशभूत होकर जिसे प्रकृतिप्रगह से (स्वभूमि या मण्डल से) दूर-परकीय भूमि में आकृष्ट कर लिया है, उस शत्रु को प्रकृष्ट वीर योद्धाओं पर मरवा डालना चाहिये। कुछ थोड़े-से सैनिकों को सामने की तरफ से युद्ध के लिये उद्यत दिखा दे और जिस समय शत्रु के सैनिक उन्हीं को अपना लक्ष्य बनाने का निश्चय कर लें, तत्पश्चात् पीछे से वगशाली उत्कृष्ट वीरों की सेना के साथ पहुँचकर उन शत्रुओं का विनाश करना चाहिये।

अथवा पीछे की तरफ ही सेना एकत्र करके दिखाये और जिस समय शत्रु-सैनिकों का ध्यान उधर ही खिंच जाय, तत्पश्चात् सामने की तरफ से शूरवीर बलवान् सेना द्वारा आक्रमण करके उनको नष्ट कर देना चाहिये। सामने तथा पीछे की तरफ से किये जाने वाले आक्रमणों की भी व्याख्या हो गयी अर्थात् बायीं तरफ कुछ सेना दिखाकर

पुरः पश्चात्तु विषम एवमेव तु पार्श्वयोः। प्रथमं योधयित्वा तु दूष्यामि त्राटवीबलैः॥१८॥
श्रान्तं मन्दं निराक्रन्दं हन्यादश्रान्तवाहनम्। दूष्यामित्रबलैर्वाऽपि भङ्गं दत्त्वा प्रयत्नवान्॥१९॥
जितमित्येव विश्वस्तं हन्यान्मन्त्रव्यपाश्रयः। स्कन्धावारपुरग्रामसस्यस्वामिप्रजादिषु॥२०॥
विश्रम्य (भ्भ) न्तं परानीकमप्रमत्तो विनाशयेत्। अथवा गोग्रहाकृष्टं तल्लक्ष्यं मार्गबन्धनात्॥२१॥
अवस्कन्दभयाद्रात्रिप्रजागरकृतश्रमम्। दिवासुप्तं समाहन्यान्निद्राव्याकुलसैनिकम्॥२२॥
निशि विश्रब्धसंसुप्तं नागैर्वा खड्गपाणिभिः। प्रयाणे पूर्वयायित्वं वनदुर्गप्रवेशनम्॥२३॥
अभिन्नानामनीकानां भेदनं भिन्नसंग्रहः। विभीषिकाद्वारघातं कोषरक्षेमकर्म च॥२४॥
अभिन्नभेदनं मित्रसंधानं रथकर्म च। वनदिङ्मार्गविचये वीवधासारलक्षणम्॥२५॥
अनुयानापसरणे शीघ्रकार्योपपादनम्। दीनानुसरणं घातः कोटीनां जघनस्य च॥२६॥

दाहिनी तरफ से और दाहिनी तरफ सेना दिखाकर बायीं तरफ से गुप्तरूप से आक्रमण करना चाहिये। कूटयुद्ध में ऐसा ही करना चाहिये। पहले दूष्यबल, अमित्रबल तथा आटविकबल—इन सबके साथ शत्रुसेना को लड़ाकर थका देना चाहिये। जिस समय शत्रुबल श्रान्त, मन्द (हतोत्साह) और निराक्रन्द (मित्रहीन एवं निराश) हो जाय और अपनी सेना के वाहन थके न हों, उस दशा में आक्रमण करके शत्रुपर्ग को मार गिराये। अथवा दूष्य एवं अमित्र सेना को युद्ध से पीछे हटने या भागने का आदेश दे देना चाहिये और जिस समय शत्रु को यह विश्वास हो जाय कि मेरी जीत हो गयी, इसलिये वह ढीला पड़ जाय, तत्पश्चात् मन्त्रबल का आश्रय ले प्रयत्नपूर्वक आक्रमण करके उसको मार डालना चाहिये। स्कन्धावार अर्थात् सेना के पड़ाव, पुर, ग्राम, सस्यसमूह तथा गौओं के व्रज (गोष्ठ)—इन सभी को लूटने का लोभ शत्रु-सैनिकों के मन में उत्पन्न करा दे और जिस समय उनका ध्यान बँट जाय, तत्पश्चात् स्वयं सावधान रहकर उन सभी का विनाश कर डालना चाहिये। अथवा शत्रु राजा की गायों का अपहरण करके उनको दूसरी तरफ (गायों को छुड़ाने वालों की तरफ) खींचे और जिस समय शत्रुसेना उस लक्ष्य की तरफ बढ़े, तत्पश्चात् उसको मार्ग में ही रोककर मार डालना चाहिये। अथवा अपने ही ऊपर आक्रमण के भय से रातभर जागने के श्रम से दिन में सोयी हुई शत्रुसेना के सैनिक जिस समय नींद से व्याकुल हों, उस समय उन पर धावा बोलकर मार डालना चाहिये। अथवा रात में ही निश्चिन्त सोये हुए सैनिकों को तलवार हाथ में लिये हुए पुरुषों द्वारा मरवा देना चाहिय।१४-२२॥

जिस समय सेना कूच कर चुकी हो तथा शत्रु ने मार्ग में ही घेरा डाल दिया हो, तो उसके उस घेरे या अवरोध को नष्ट करने के लिये हाथियों को ही आगे-आगे ले चलना चाहिये। वन-दुर्ग में, जहाँ घोड़े भी प्रवेश न कर सकें, वहाँ हाथियों की ही सहायता से सेना का प्रवेश होता है—वह आगे के वृक्ष आदि को तोड़कर सैनिकों के प्रवेश के लिये मार्ग बना देते हैं। जहाँ सैनिकों की पंक्ति ठोस हो, वहाँ उसको तोड़ देना हाथियों का ही काम है तथा जहाँ। व्यूह टूटने से सैनिक पंक्ति में ददार पड़ गयी हो, वहाँ हाथियों के खड़े होने से छिद्र या दार बन्द हो जाती है। शत्रुओं में भय उत्पन्न करना, शत्रु के दुर्ग के द्वार को माथे की टक्कर देकर तोड़ गिराना, खजाने को सेना के साथ ले चलना तथा किसी उपस्थित भय से सेना की रक्षा करना—ये सब हाथियों द्वारा सिद्ध होने वाले कर्म हैं।२३-२४॥

अभिन्न सेना का भेदन और भिन्न सेना का संधान—ये दोनों कार्य (गजसेना की ही भाँति) रथसेना के द्वारा भी साध्य हैं। वन में कहाँ उपद्रव है, कहाँ नहीं हैं—इसका पता लगाना, दिशाओं का शोध करना अर्थात् दिशा का

अश्वकर्माथ पत्तेश्च सर्वदा शस्त्रधारणम्। शिविरस्य च मार्गादेः शोधनं बस्तिकर्म च॥२७॥
संस्थूलस्थाणुवल्मीकवृक्षगुल्मापकण्टकम्। सापसारा पदातीनां भूर्नातिविषमा मता॥२८॥
स्वल्पवृक्षोपला क्षिप्रलङ्घनीयनगा स्थिरा। निःशर्करा विपङ्का च सापसारा च वाजिभूः॥२९॥
निस्थाणुवृक्षकेदारा रथभूमिरकर्दमा। मर्दनीयतरुच्छेद्यव्रततीपङ्कवर्जिता॥३०॥
निर्झरागम्यशैला च विषमागजमेदिनी। उरस्यादीनि भिन्नानि प्रतिगृह्णन्बलानि हि॥३१॥
प्रतिग्रह इति ख्यातो राजकार्यान्तरक्षमः। तेन शून्यस्तु यो व्यूहः स भिन्न इव लक्ष्यते॥३२॥
जयार्थी न च युध्येत मतिमानप्रतिग्रहः। यत्र राजा तत्र कोषः कोषाधीना हि राजता॥३३॥
योधेभ्यस्तु ततो दद्यात्किंचिद्दातुं न युज्यते। द्रव्यलक्षं राजघाते तदर्धं तत्सुतार्दने॥३४॥
सेनापतिवधे तद्वद्दद्याद्धस्त्यादिमर्दने। अथ वा खलु युध्येरन्पत्त्यश्वरथदन्तिनः॥३५॥

ठीक ज्ञान रखते हुए सेना को यथार्थ दिशा की तरफ ले चलना तथा मार्ग का पता लगाना–यह अश्वेसना का कार्य है। अपने पक्ष के वीवध और आसार की रक्षा, भागती हुई शत्रु सेना का शीघ्रता पूर्वक पीछा करना, संकटकाल में शीघ्रता पूर्वक भाग निकलना, जल्दी से कार्य सिद्ध करना, अपनी सेना की जहाँ दयनीय दशा हो, वहाँ उसके पास पहुँचकर सहायता करना, शत्रुसेना के अग्रभाग पर आघात करना और तत्काल ही घूमकर उसके पिछले भाग पर भी प्रहार करना–ये अश्व सेना के कार्य हैं। सर्वदा शस्त्र धारण किये रहना तथा शस्त्रों को पहुँचाना–ये पैदल सेना के कार्य हैं। सेना की छावनी डालने के योग्य स्थान तथा मार्ग आदि की खोज करना विष्टि (बेगार) करने वाले लोगों का काम है॥२५-२७॥

जहाँ मोटे-मोट ठूँठ, बाँबियाँ, वृक्ष और झाड़ियाँ हों, जहाँ काँटेदार वृक्ष न हों, परन्तु भाग निकलने के लिये मार्ग हों तथा जो अधिक ऊँची-नीची न हो, ऐसी भूमि पैदल सेना के संचार योग्य बतलायी गयी है। जहाँ वृक्ष और प्रस्तरखण्ड बहुत कम हों, जहाँ की दरारें शीघ्र लाँघने योग्य हों, जो भूमि मुलायम न होकर सख्त हो, जहाँ कंकड़ और कीचड़ न हो तथा जहाँ से निकलने के लिये मार्ग हो, वह भूमि अश्वसंचार के योग्य होती है। जहाँ ठूँठ वृक्ष और खेत न हों तथा जहाँ पङ्क का सर्वथा अभाव हो–ऐसी भूमि रथसंचार के योग्य मानी गयी है। जहाँ पैरों से रौंद डालने योग्य वृक्ष और काट देने योग्य लताएँ हों, कीचड़ न हो, गर्त या दरार न हो, जहाँ के पर्वत हाथियों के लिये गम्य हों, ऐसी भूमि ऊँची-नीची होने पर भी गजसेना के योग्य कही गयी है॥२८-३०॥

जो सैन्य अश्व आदि सेनाओं में भेद (दरार या छिद्र) पड़ जाने पर उनको ग्रहण करता–सहायता द्वारा अनुगृहीत बनाता है, उसको 'प्रातिग्रह' कहा गया है। उसको अवश्य संघटित करना चाहिये; क्योंकि वह भार को वहन या सहन करने में सक्षम होता है। प्रतिग्रह से शून्य व्यूह भिन्न-सा दीखता है॥३१-३२॥

विजय की इच्छा रखने वाला बुद्धिमान् राजा प्रतिग्रहसेना के बिना युद्ध नहीं करना चाहिये। जहाँ राजा रहे, वहीं कोष रहना चाहिये; क्योंकि राजत्व कोष के ही अधीन होता है। विजयी योद्धाओं को उसी से पुरस्कार देना चाहिये। भला ऐसा कौन है, जो दाता के हित के लिये युद्ध नहीं करना चाहिये? शत्रुपक्ष के राजा का वध करने पर योद्धा को एक लाख मुद्राएँ पुरस्कार में देनी चाहिये। राजकुमार का वध होने पर इससे आधा पुरस्कार। देने की व्यवस्था रहनी चाहिये। सेनापति के मारे जाने पर भी उतना ही पुरस्कार देना उचित है। हाथी तथा रथ आदि का विनाश करने पर भी उचित पुरस्कार देना आवश्यक है॥३३-३४॥

पैदल, घुड़सवार, रथी और हाथी सवार–ये सब सैनिक इस तरह से (अर्थात् एक दूसरे से इतना अन्तर

यथा भवेदसंबाधो व्यायामविनिवर्तने। असंकरेण युध्येरन्संकरः संकुलावहः॥३६॥
महासंकुलयुद्धेषु संश्रयेरन्मतङ्गजम्। अश्वस्य प्रतियोद्धारो भवेयुः पुरुषास्त्रयः॥३७॥
इति कल्प्यास्त्रयश्चाश्वा विधेयाः कुञ्जरस्य तु। पादगोपा भवेयुश्च पुरुषा दशपञ्च च॥३८॥
विधानमिति नागस्य विहितं स्यन्दनस्य च। अनीकमिति विज्ञेयमिति कल्प्याः नवद्विपाः॥३९॥
तथाऽनीकस्य रन्ध्रं तु पञ्चधा संप्रचक्षते। इत्यनीकविभागेन स्थापयेद्व्यूहसंपदः॥४०॥
उरस्य कक्षपक्षांस्तु कल्प्यानेतान्प्रचक्षते। उरः कक्षौ च पक्षौ च मध्यं पृष्ठं प्रतिग्रहः॥४१॥
कोटी च व्यूहशास्त्रज्ञैः सप्ताङ्गो व्यूह उच्यते। उरस्यकक्षपक्षास्तु व्यूहोऽयं सप्रतिग्रहः॥४२॥
गुरोरेष च शुक्रस्य कक्षाभ्यां परिवर्जितः। तिष्ठेयुः सेनापतयः प्रवीरैः पुरुषैर्वृताः॥४३॥

रखकर) युद्ध करें, जिससे उनके व्यायाम (अङ्गों के फैलाव) तथा विनिवर्तन (विश्राम के लिये पीछे हटने) में किसी तरह की वाधा या रुकावट न हो। समस्त योद्धा पृथक्-पृथक् रहकर युद्ध करें। घोल-मेल होकर जूझना संकुलावह (घमासान एवं रोमाञ्चकारी) होता है। यदि महासंकुल (घमासान) युद्ध छिड़ जाय तो पैदल आदि असहाय सैनिक बड़े-बड़े हाथियों का आश्रय लें॥३५-३६॥

एक-एक घुड़सवार योद्धा के सामने तीन-तीन पैदल पुरुषों को प्रतियोद्धा अर्थात् अग्रगामी योद्धा बनाकर खड़ा करना चाहिये। इसी विधि से पाँच-पाँच अश्व एक-एक हाथी के अग्रभाग में प्रतियोद्धा बनाये। इनके सिवा हाथी के पादरक्षक भी उतने ही हों, अर्थात् पाँच अश्व और पन्द्रह पैदल। प्रतियोद्धा तो हाथी के आगे रहते हैं और पादरक्षक हाथी के चरणों के सन्निकट खड़े होते हैं। यह एक हाथी के लिये व्यूहविधान कहा गया है। ऐसा ही विधान रथव्यूह के लिये भी समझना चाहिये॥३७-३८॥

एक गजव्यूह के लिये जो विधि कही गयी है, उसी के अनुसार नौ हाथियों का व्यूह बनाये। उसको 'अनीक' समझना चाहिये। (इस तरह एक अनीक में पैंतालीस अश्व तथा एक सौ पैंतीस पैदल सैनिक प्रतियोद्धा होते हैं और इतने ही अश्व तथा पैदल—पादरक्षक हुआ करते हैं।) एक अनीक से दूसरे अनीक की दूरी पाँच धनुष बतलायी गयी है। इस तरह अनीक-विभाग के द्वारा व्यूह-सम्पत्ति स्थापित करना चाहिये॥३९-४०॥

व्यूह के मुख्यतः पाँच अङ्ग हैं। १. 'उरस्य', २. 'कक्ष', ३. 'पक्ष'—इन तीनों को एक समान बतलाया जाता है। अर्थात् मध्यभाग में उपरोक्त विधि से नौ हाथियों द्वारा कल्पित एक अनीक सेना को 'उरस्य' कहा गया है। उसके दोनों पार्श्व भागों में एक-एक अनीक की दो सेनाएँ 'कक्ष' कहलाती हैं। कक्ष के बाह्यभाग में दोनों तरफ जो एक-एक अनीक की दो सेनाएँ हैं, वे 'पक्ष' कही जाती हैं। इस तरह इस पाँच अनीक सेना के व्यूह में ४५ हाथी, २२५ अश्व, ६७५ पैदल सैनिक प्रतियोद्धा और इतने ही पादरक्षक होते हैं। इसी तरह उरस्य, कक्ष, पक्ष, मध्य, पृष्ठ, प्रतिग्रह तथा कोटि—इस सात अङ्गों को लेकर व्यूहशास्त्र के विद्वानों ने व्यूह को सात अंगों से युक्त कहा है॥४१॥

उरस्य, कक्ष, पक्ष तथा प्रतिग्रह आदि से युक्त यह व्यूहविभाग बृहस्पति के मत के अनुसार है। शुक्र के मत में यह व्यूहविभाग कक्ष और प्रकक्ष से हीन है। अर्थात् उनके मत में व्यूह के पाँच ही अंग हैं। सेनापतिगण उत्कृष्ट वीर योद्धाओं से घिरे रहकर युद्ध के मैदान में खड़े हों। वे अभिन्नभाव से संघटित रहकर युद्ध करें और एक-दूसरे की रक्षा करते रहें॥४२-४३॥

सारहीन सेना को व्यूह के मध्यभाग में स्थापित करना चाहिये। युद्धसम्बन्धी यन्त्र, आयुध और औषधि आदि

अभेदेन च युध्येरन्रक्षेयुश्च परस्परम्। युद्धमध्ये फल्गुसैन्यं युद्धवस्तु जघन्यतः॥४४॥
युद्धं हि नायकप्राणं हन्यते तदनायकम्। उरसि स्थापयेन्नागान्प्रचण्डान्कक्षयोः रथान्॥४५॥
हयांश्च पक्षयोर्व्यूहो मध्यभेदी प्रकीर्तितः। मध्यदेशे हयानीकं रथानीकं च कक्षयोः॥४६॥
पक्षयोश्च गजानीकं व्यूहोऽन्तर्भेद्ययं स्मृतः। रथस्थाने हयान्दद्यात्पदातींश्च हयाश्रये॥४७॥
रथाभावे तु द्विरदान्व्यूहे सर्वत्र दापयेत्। यदि स्याद्दण्डबाहुल्यमाबाधः संप्रकीर्तितः॥४८॥
मण्डलासंहतो भोगो दण्डस्ते बहुधा शृणु। तिर्यग्वृत्तिस्तु दण्डः स्याद्भोगोऽन्या वृत्तिरेव च॥४९॥
मण्डलः सर्वतोवृत्तिः पृथग्वृत्तिरसंहतः। प्रदरो दृढकोऽसह्यश्चापो वै कुक्षिरेव च॥५०॥
प्रतिष्ठः सुप्रतिष्ठश्च श्येनो विजयसंजयौ। विशालो विजयः सूची स्थूणाकर्णचमूमुखौ॥५१॥
सर्पास्यो वलयश्चैव दण्डभेदाश्च दुर्जयाः। अतिक्रान्तः प्रतिक्रान्तः कक्षाभ्यां चैकपक्षतः॥५२॥
अतिक्रान्तस्तु पक्षाभ्यां त्रयोऽन्ये तद्विपर्यये। पक्षोरस्यैरतिक्रान्तः प्रतिष्ठोऽन्यो विपर्ययः॥५३॥

उपकरणों को सेना के पृष्ठभाग में रखना उचित है। युद्ध का प्राण है नायक—राजा या विजिगीषु। नायक के न रहने या मारे जाने पर युद्धरत सेना मारी जाती है॥४४॥

हृदयस्थान (मध्यभाग) में प्रचण्ड हाथियों को खड़ा करना चाहिये। कक्षस्थानों में रथ तथा पक्षस्थानों में घोड़ें स्थापित करना चाहिये। यह 'मध्यभेदी' व्यूह कहा गया है॥४५॥

मध्यपदेश (वक्षःस्थान) में घोड़ों की, कक्ष भागों में रथों की तथा दोनों पक्षों के स्थान में हाथियों की सेना खड़ी करना चाहिये। यह 'अन्तभेदी' व्यूह बतलाया गया है। रथ की जगह (अर्थात् कक्षों में) घोड़े दे देना चाहिये तथा घोड़ों की जगह (मध्यदेश में) पैदलों को खड़ा कर देना चाहिये। यह अन्य तरह का 'अन्तभेदी' व्यूह है। रथ के अभाव में व्यूह के अन्दर सभी जगह हाथियों की ही नियुक्ति करना चाहिये। (यह व्यामिश्र या घोल-मेल युद्ध के लिये उपयुक्त नीति है॥४६-४७॥

रथ, पैदल, अश्व और हाथी—इन सभी का विभाग करके व्यूह में नियोजन करना चाहिये। यदि सेना का बाहुल्य हो, तो वह व्यूह 'आवाप' कहलाता है। मण्डल, असंहत, भोग तथा दण्ड—ये चार तरह के व्यूह 'प्रकृतिव्यूह' कहलाते हैं। पृथ्वी पर रखे हुए डंडे की भाँति बायें से दायें या दायें से बायें तक लंबी जो व्यूह-रचना की जाती हो, उसका नाम 'दण्ड' है। भोग (सर्प-शरीर) के समान यदि सेना की मोर्चेबंदी की गयी हो, तो वह 'भोग' नामक व्यूह है। इसमें सैनिकों का अन्वावर्तन होता है। गोलाकार खड़ी हुई सेना, जिसका सभी तरफ मुख हो, अर्थात् जो सभी तरफ प्रहार कर सके, 'मण्डल' नामक व्यूह से बद्ध कही गयी है। जिसमें अनीकों को बहुत दूर-दूर खड़ा किया गया हो, वह 'असंहत' नामक व्यूह है॥४८-४९॥

'दण्डव्यूह' के सत्रह भेद हैं—प्रदर, दृढक, असह्य, चाप, चापकुक्षि, प्रतिष्ठ, सुप्रतिष्ठ, श्येन, विजय, संजय, विशालविजय, सूची, स्थूणाकर्ण, चमूमुख, झषास्य, वलय तथा सुदुर्जय। जिसके पक्ष, कक्ष तथा उरस्य—तीनों स्थानों के सैनिक सम स्थिति में हों, वह तो 'दण्डप्रकृति' है; परन्तु यदि कक्षभाग के सैनिक कुछ आगे की तरफ निकले हों और शेष दो स्थानों के सैनिक अन्दर की तरफ दबे हों तो वह व्यूह शत्रु का प्रदरण (विदारण) करने के कारण 'प्रदर' कहलाता है। यदि उपरोक्त दण्ड के कक्ष और पक्ष दोनों अन्दर की तरफ प्रविष्ट हों और केवल उरस्य भाग ही बाहर की निकला हो, तो वह 'दृढक' कहा गया है। यदि दण्ड के दोनों पक्षमात्र ही निकले हों तो उसका नाम 'असह्य' होता है। प्रदर, दृढक और असह्य को क्रमशः विपरीत स्थिति में कर दिया जाय, अर्थात् उनमें जिस भाग

स्थूणापक्षो धनुष्पक्षो द्विस्थूणो दण्ड ऊर्ध्वगः। द्विगुणोऽन्तस्त्वतिक्रान्तपक्षोऽन्यस्य विपर्ययः॥५४॥
द्विचतुर्दण्ड इत्येते ज्ञेयः लक्षणतः क्रमात्। गोमूत्रिकाहि सञ्चारी शकटो मकरस्तथा॥५५॥
भोगभेदाः समाख्यातास्तथा पारिप्लवङ्गकः। दण्डपक्षौ युगोरस्यः शकटस्तद्विपर्यये॥५६॥
मकरो व्यतिकीर्णश्च शेषः कुञ्जरराजिभिः। मण्डलव्यूहभेदौ तु सर्वतोभद्रदुर्जयौ॥५७॥
अष्टानीको द्वितीयस्तु प्रथमः सर्वतोमुखः। अर्धचन्द्रक ऊर्ध्वाङ्गो व्रजभेदास्तु संहतेः॥५८॥
तथा कर्कटशृङ्गी च काकपादी च गोधिका। त्रिचतुष्पञ्चसैन्यानां ज्ञेया आकारभेदतः॥५९॥

को अतिक्रान्त (निर्गत) किया गया हो, उसको 'प्रतिक्रान्त' (अन्तःप्रविष्ट) कर दिया जाय तो तीन अन्य व्यूह-'चाप', 'चापकुक्षि' तथा 'प्रतिष्ठ' नामक हो जाते हैं। यदि दोनों पंख निकले हों तथा उरस्य अन्दर की तरफ प्रविष्ट हो, तो 'सुप्रतिष्ठित' नामक व्यूह होता है। इसी को विपरीत स्थिति में कर देने पर 'श्येन' व्यूह बन जाता है॥५०-५३॥

आगे बताये जाने वाले स्थूणाकर्ण ही जिस खड़े डंडे के आकार वाले दण्डव्यूह के दोनों पक्ष हों, उसका नाम 'विजय' है। (यह साढ़े तीन व्यूहों का संघ है। इसमें १७ 'अनीक' सेनाएँ उपयोग में आती हैं।) दो चाप-व्यूह ही जिसके दोनों पक्ष हों, वह ढाई व्यूहों का संघ एवं तेरह अनीक सेना से युक्त व्यूह 'संजय' कहलाता है। एक के ऊपर एक के क्रम से स्थापित दो स्थूणाकर्णों को 'विशाल विजय' कहते हैं। ऊपर-ऊपर स्थापित पक्ष, कक्ष आदि के क्रम से जो दण्ड ऊर्ध्वगामी (सीधा खड़ा) होता है, वैसे लक्षण वाले व्यूह का नाम 'सूची' है। जिसके दोनों पक्ष द्विगुणित हों, उस दण्डव्यूह को 'स्थूणाकर्ण' हा गया है। जिसके तीन-तीन पक्ष निकले हों, वह चतुर्गुण पक्ष वाला ग्यारह अनीक से युक्त व्यूह 'चमूमुख' नाम वाला है। इसके विपरीत लक्षण वाला अर्थात् जिसके तीन-तीन पक्ष प्रतिक्रान्त (अन्दर की तरफ प्रविष्ट) हों, वे व्यूह 'झषास्य' नाम धारण करता है। इसमें भी ग्यारह अनीक सेनाएँ नियुक्त होती हैं। दो दण्डव्यूह मिलकर दस अनीक सेनाओं का एक 'वलय' नामक व्यूह बनाते हैं। चार दण्डव्यूहों के मेल से बीस अनीकों का एक 'दुर्जय' नामक व्यूह बनता है। इस तरह क्रमशः इनके लक्षण कहे गये हैं॥५४॥

गोमूत्रिका, अहिसंचारी, शकट, मकर तथा परिपतन्तिक-ये भोग के पाँच भेद कहे गये हैं। मार्ग में चलते समय गाय के मूत्र करने से जो रेखा बनती है, उसकी आकृति में सेना को खड़ी करना-'गोमूत्रिका' व्यूह है। सर्प के संचरण-स्थान की रेखा-जैसी आकृति वाला व्यूह 'अहिसंचारी' कहा गया है। जिसके कक्ष और आगे-पीछे के क्रम से दण्डव्यूह की भाँति ही स्थित हो, परन्तु उरस्य की संख्या दुगुनी हो, वह 'शकट-व्यूह' है। इसके विपरीत स्थिति में स्थित व्यूह 'मकर' कहलाता है। इन दोनों व्यूहों में से किसी के भी मध्यभाग में हाथी और घोड़े आदि आवाप मिला दिये जायँ तो वह 'परिपतन्तिक' नामक व्यूह होता है॥५५-५६॥

मण्डल-व्यूह के दो ही भेद हैं-सर्वतोभद्र तथा दुर्जय। जिस मण्डलाकार व्यूह का सभी तरफ मुख हो, , उसको 'सर्वतोभद्र' कहा गया है। इसमें पाँच अनीक सेना होती है। इसी में आवश्यकतावश उरस्य तथा दोनों कक्षों में एक-एक अनी बढ़ा देने पर आठ अनीक का 'दुर्जय' नामक व्यूह बन जाता है। अर्धचन्द्र, उद्धार तथा वज्र-ये 'असंहत' के भेद हैं। इसी तरह कर्कटशृङ्गी, काकपादी और गोधिका भी असंहत के ही भेद हैं। अर्धचन्द्र तथा कर्कटशृङ्गी-ये तीन अनीकों के व्यूह हैं, उद्धान और काकपादी-ये चार अनीक सेनाओं से बनने वाले व्यूह हैं तथा वज्र एवं गोधिका-ये दो व्यूह पाँच अनीक सेनाओं के संघटन से सिद्ध होते हैं। अनीक की दृष्टि से तीन भेद होने

दण्डस्य स्युः सप्तदश व्यूहा द्वौ मण्डलस्य च। असंघातस्य षट्पञ्च भोगस्यैव तु संगरे॥६०॥
पक्षादीनामथैकेन हत्वा शेषैः परिक्षिपेत्। उरसा वा समाहृत्य कोटिभ्यां परिवेष्टयेत्॥६१॥
परे कोटी समाक्रम्य पक्षाभ्यामप्रतिग्रहात्। कोटिभ्यां जघनं हव्यादुरसा च प्रपीडयेत्॥६२॥
यतः फल्गु यतो भिन्नं यतश्चान्यैरधिष्ठितम्। ततश्चारिबलं हन्यादात्मनश्चोपबृंहयेत्॥६३॥
सारं द्विगुणसारेण फल्गुसारेण कल्पयेत्। संहतं च गजानीकैः प्रचण्डैर्दारयेद्बलम्॥६४॥
स्यात्कक्षपक्षोरस्यैश्च वर्तमानस्तु दण्डकः। तत्र प्रयोगो दण्डस्य स्थानं तुर्येव दर्शयेत्॥६५॥
स्याद्दण्डसमपक्षाभ्यामतिक्रान्तः प्रदारकः। भवेत्स पक्षकक्षाभ्यामतिक्रान्तो दृढः स्मृतः॥६६॥
कक्षाभ्यां च प्रतिक्रान्तव्यूहोऽसह्यः स्मृतो यथा। कक्षपक्षावधः स्थाप्योरस्यैः क्रान्तश्च खातकः॥६७॥
द्वौ दण्डौ वलयः प्रोक्तो व्यूहो रिपुविदारणः। दुर्जयश्चतुर्वलयः शत्रोर्बलविमर्दनः॥६८॥
कक्षपक्षोरस्यैर्भोगो विषमं परिवर्जयेत्। सर्पचारी गोमूत्रिका शकटः शकटाकृतिः॥६९॥
विपर्ययोऽमरः प्रोक्तः शर्वशत्रुविमर्दकः। स्यात्कक्षपक्षोरस्यानामेकी भावस्तु मण्डलः॥७०॥

पर भी आकृति में भेद होने के कारण ये छः बताये गये हैं। दण्ड से सम्बन्ध रखने वाले १७, मण्डल के २, असंहत के ६ और भोग के समराङ्गण में ५ भेद कहे गये हैं।।५७-६०।।

पक्ष आदि अङ्गों में से किसी एक अङ्ग की सेना द्वारा शत्रु के व्यूह का भेदन करके शेष अनीकों द्वारा उसको घेर ले अथवा उरस्यगत अनीक के शत्रु के व्यूह पर आघात करके दोनों कोटियों (प्रपक्षों) द्वारा घेरे। शत्रु सेना की दोनों कोटियों (प्रपक्षों) पर अपने व्यूह के पक्षों द्वारा आक्रमण करके शत्रु के जघन (प्रोरस्य) भाग को अपने प्रतिग्रह तथा दोनों कोटियों द्वारा नष्ट करना चाहिये। साथ ही, उरस्यगत सेना द्वारा शत्रुपक्ष को पीड़ा देना चाहिये। व्यूह के जिस भाग में सारहीन सैनिक हों, जहाँ सेना में फूट या दरार पड़ गयी हो तथा जिस भाग में दूष्य (क्रुद्ध, लुब्ध आदि) सैनिक विद्यमान हों, वहीं-वहीं शत्रुसेना का विनाश करना चाहिये और अपने पक्ष के वैसे स्थानों को सबल बनाये। बलिष्ठ सेना को उससे भी अत्यन्त बलिष्ठ सेना द्वारा पीड़ित करना चाहिये। निर्बल सैन्यदल को सबल सैन्य द्वारा दबाये। यदि शत्रुसेना संघटितभाव से स्थित हो, तो प्रचण्ड गजसेना द्वारा उसको शत्रुवाहिनी का विदारण करना चाहिये।।६१-६४।।

पक्ष, कक्ष और उरस्य—ये सम स्थिति में वर्तमान हों तो 'दण्डव्यूह' होता है। दण्ड का प्रयोग और स्थान व्यूह के चतुर्थ अङ्गद्वारा प्रदर्शित करना चाहिये। दण्ड के समान ही दोनों पक्ष यदि आगे की तरफ निकले हों तो 'प्रदर' या 'प्रदारक' व्यूह बनता है। वही यदि पक्ष-कक्षद्वारा अतिक्रान्त (आगे की तरफ निकला) हो, तो 'दृढ़' नामक व्यूह होता है। यदि दोनों पक्षमात्र आगे की तरफ निकले हों तो वह व्यूह 'असह्य' नाम धारण करता है। कक्ष और पक्ष को नीचे स्थापित करके उरस्य द्वारा निर्गत व्यूह 'चाप' कहलाता है। दो दण्ड मिलकर एक 'वलय-व्यूह' बनाते हैं। यह व्यूह शत्रु को विदीर्ण करने वाला होता है। चार वलय-व्यूहों के योग से एक 'दुर्जय' व्यूह बनता है, जो शत्रुवाहिनी का मर्दन करने वाला होता है। कक्ष, पक्ष तथा उरस्य जिस समय विषमभाव से स्थित हों तो 'भोग' नामक व्यूह होता है। इसके पाँच भेद हैं—सर्पचारी, गोमूत्रिका, शकट, मकर और परिपतन्तिक। सर्प-संचरण की आकृति से सर्पचारी, गोमूत्र के आकार से गोमूत्रिका, शकट की-सी आकृति से शकट तथा इसके विपरीत स्थिति से मकर-व्यूह का निष्पादन होता है। यह भेदों सहित 'भोग-व्यूह' समपूर्ण शत्रुओं का मर्दन करने वाला है। चक्रव्यूह तथा पद्मव्यूह आदि मण्डल

चक्रपद्मादयो भेदा मण्डलस्व प्रभेदकाः। एवं च सर्वतोभद्रो वज्राक्षवरकाकवत्।।७१।।
अर्धन्द्रश्च शृङ्गारी ह्यचलो नामरूपतः। व्यूहा यथासुखं कार्याः शत्रूणां बलवारणाः।।७२।।

अग्निरुवाच

रामस्तु रावणं हत्वा ह्ययोध्यां प्राप्तवान्द्विज। रामोक्तनीत्येन्द्रजितं हतवाँल्लक्ष्मणः पुरा।।७३।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तगति राजनीतिकथनं नाम द्वाचत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः।।२४२।।

के भेद-प्रभेद हैं। इसी तरह सर्वतोभद्र, वज्र, अक्षवर, काक, अर्धचन्द्र, शृङ्गार और अचल आदि व्यूह भी हैं। इनकी आकृति के ही अनुसार ये नाम रखे गये हैं। अपनी मौज के अनुसार व्यूह बनाने चाहिये। व्यूह शत्रुसेना की प्रगति को रोकने वाले होते हैं।।६५-७२।।

श्रीअग्नि देव ने कहा कि–हे ब्रह्मन्! श्रीरामचन्द्रजी ने दशानन रावण का वध करके अध्योया का राज्य प्राप्त किया। श्रीरामचन्द्रजी की बतलायी हुई कथित नीति से ही प्राचीन काल में लक्ष्मण ने इन्द्रिजित् का वध किया था।।७३।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी दो सौ बयालिसवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।२४२।।

❖❖❖

अथ त्रिचत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

पुरुषलक्षणम्

अग्निरुवाच

रामोक्तोक्ता मया नीतिः स्त्रीणां राजन्नृणां वदे। लक्षणं यत्समुद्रेण गर्गायोक्तं यथा पुरा॥१॥

समुद्र उवाच

पुंसां च लक्षणं वक्ष्ये स्त्रीणां चैव शुभाशुभम्। एकाधिको द्विशुक्लश्च त्रिगम्भीरस्तथैव च॥२॥
त्रित्रिकस्त्रिप्रलम्बश्च त्रिभिर्व्याप्नोति यस्तथा। त्रिबलीमांस्त्रिवनतस्त्रिकालज्ञश्च सुव्रत॥३॥
पुरुषः स्यात्सुलक्षण्यो विपुलश्च तथा त्रिषु। चतुर्लेखस्तथा यश्च तथैव च चतुः समः॥४॥
चतुष्किष्कुश्चतुर्दंष्ट्रश्चतुष्कृष्णस्तथैव च। चतुर्गन्धिश्चतुर्हस्तः सूक्ष्मदीर्घश्च पञ्चसु॥५॥
षडुन्नीतोष्टवंशश्च सप्तस्नेहो नवामलः। दशपद्मो दशव्यूहो न्यग्रोधपरिमण्डलः॥६॥
चतुर्दशसमद्वन्द्वः षोडशाक्षश्च शस्यते। धर्मार्थकामसंयुक्तो धर्मो ह्येकाधिको मतः॥७॥
तारकाभ्यां विना नेत्रे शुक्लदन्ती द्विशुक्लकः। गम्भीरस्त्रिश्रवोनाभिः सत्त्वं चैकं त्रिकं स्मृतम्॥८॥
अनसूया दया क्षान्तिर्मङ्गलाचार युक्तता। शौचंस्पृहात्वकार्पण्यमनायासश्च शौर्य (शूर) ता॥९॥

अध्याय-२४३

पुरुष लक्षण विचार

श्रीअग्नि देव ने कहा कि-हे वसिष्ठ! मैंने श्रीरामचन्द्रजी के प्रति वर्णित राजनीति का प्रतिपादन किया। अधुना मैं स्त्री-पुरुषों के लक्षण बतलाता हूँ जिसका प्राचीन काल में भगवान् समुद्र ने गर्ग मुनि को उपदेश दिया था॥१॥

समुद्र ने कहा--श्रेष्ठतम व्रत का आचरण करने वाले गर्ग! मैं स्त्री-पुरुषों के लक्षण एवं उनके शुभाशुभ फल का वर्णन करने जा रहा हूँ। एकाधिक, द्विशुक्ल, त्रिगम्भीर, त्रित्रिक, त्रिप्रलम्ब, त्रिकव्यापी, त्रिवलीयुक्त, त्रिविनत, त्रिकालज्ञ एवं त्रिविपुल पुरुष शुभ लक्षणों से समन्वित माना जाता है। इसी तरह चतुर्लेक्ष, चतुस्सम, चतुष्किष्कु, चतुर्दंष्ट्र, चतुष्कृष्ण, चतुर्गन्ध, चतुर्ह्रस्व, पञ्चसूक्ष्म, पञ्चदीर्घ, षडुन्नत, अष्टदंश, सप्तस्नेह, नवामल, दशपद्म, दशव्यूह, न्यग्रोधपरिमण्डल, चतुर्दशसमद्वन्द्व एवं षोडशाक्ष पुरुष प्रशस्त है।।२-६।।

धर्म, अर्थ तथा काम से संयुक्त धर्म 'एकाधिक' माना गया है। तारकाहीन नेत्र एवं उज्ज्वल दन्तपङ्क्ति से सुशोभित पुरुष 'द्विशुक्ल' कहलाता है। जिसके स्वर, नाभि एवं सत्त्व-तीनों गम्भीर हों, वह 'त्रिगम्भीर' होता है। निर्मत्सरता, दया, क्षमा, सदाचरण, शौच, स्पृहा, औदार्य, अनायास (अथक श्रम) तथा शूरता-इनसे विभूषित पुरुष 'त्रित्रिक' माना गया है। जिस मनुष्य के वृषण (लिङ्ग) एवं भुजयुगल लम्बे हों, वह 'त्रिप्रलम्ब' कहा जाता है। जो अपने तेज, यश एवं कान्ति से देश, जाति, वर्ग एवं दसों दिशाओं को व्याप्त कर लेता है, उसको 'त्रिकव्यापी' कहते हैं। जिसके उदर में तीन देखाएँ हों, वह 'त्रिवलीमान्' होता है।

अधुना 'त्रिविनत' पुरुष का लक्षण सुनो। वह देवता, ब्राह्मण तथा गुरुजनों के प्रति विनीत होता है। धर्म,

त्रित्रिकस्त्रिप्रलम्बः स्याद् वृषणे भुजयोर्नरः। दिग्देशजातिवर्गाश्च तेजसा यशसा श्रिया।।१०।।
व्याप्नोति यस्त्रिकव्यापी त्रिवलीमान्नरस्त्वसौ। उदरे वलयस्तिस्रो नरं त्रिविनतं शृणु।।११।।
देवतानां द्विजानां च गुरूणां प्रणतस्तु यः। धर्मार्थकामकालज्ञस्त्रिकालज्ञोऽभिधीयते।।१२।।
उरो ललाटं वक्त्रं च त्रिविस्तीर्णो विलेखवान्। द्वौ पाणी द्वौ तथा पादौ ध्वजच्छत्रादिभिर्युतौ।।१३।।
अङ्गुल्यौ हृदयं पृष्ठं कटिः शस्तं चतुःसमम्। षण्णवत्यङ्गुलोत्सेधश्चतुष्किष्कुप्रमाणतः।।१४।।
दंष्ट्राश्चतस्रश्चन्द्राभाश्चतुष्कृष्णं वदामि ते। नेत्रतारौ भ्रुवौ श्मश्रुः कृष्णाः केशास्तथैव च।।१५।।
नासायां वदने स्वेदे कक्षयोर्वेदगन्धकः। ह्रस्वं लिङ्गं तथा ग्रीवा जङ्घे स्याद्वेदह्रस्वकः।।१६।।
सूक्ष्माण्यङ्गुलिपर्वाणि नखकेशद्विजत्वचः। हनू नेत्रे ललाटे च नासा दीर्घा स्तनान्तरम्।।१७।।
वक्षः कक्षौ नखा नासोन्नतं वक्त्रं कृकाटिका। स्निग्धास्त्वक्केशदन्ताश्च लोमदृष्टिर्नखाश्च वाक्।।१८।।
जान्वोरूर्वोश्च पृष्ठस्थवंशौ द्वौ करनासयोः। नेत्रे नासापुटौ कर्णौ मेद्रं पायुमुखेऽमलम्।।१९।।
जिह्वौष्ठौ तालुनेत्रे तु हस्तपादौ नखास्तथा। शिश्नाग्रवक्त्रं शस्यन्ते पद्माभा देहिनाम्।।२०।।
पाणिपादं मुखं ग्रीवा श्रवणे हृदयं शिरः। ललाटमुदरं पृष्ठं बृहन्तः पूजिता दश।।२१।।
प्रसारितभुजस्येह मध्यमाग्रद्वयान्तरम्। उच्छ्रायेण समं यस्य न्यग्रोधपरिमण्डलः।।२२।।

पादौ गुल्फौ स्फिचौ पार्श्वौ वङ्क्षणौ वृषणौ कुचौ।
कर्णौष्ठे (ष्ठौ) सक्थिनी जङ्घे हस्तौ बाहू तथाऽक्षिणी।।२३।।

अर्थ एवं काम के समय का ज्ञाता 'त्रिकालज्ञ' कहा जाता है। जिसका वक्षःस्थल, ललाट एवं मुख विस्तारयुक्त हो, वह 'त्रिविपुल' तथा जिसके हस्तयुगल एवं चरणयुगल ध्वज-छत्रादि से चिह्नित हों, वह पुरुष 'चतुर्लेख' होता है। अङ्गुलि, हृदय, पृष्ठ एवं कटि–ये चारों अङ्ग समान होने से प्रशस्त होते हैं। ऐसा पुरुष 'चतुस्सम' कहा गया है। जिसकी ऊँचाई छानबे अङ्गुल की हो, वह 'चतुष्किष्कु' प्रमाण वाला एवं जिसकी चारों दंष्ट्राएँ चन्द्रमा के समान उज्ज्वल हों, वह 'चतुर्दंष्ट्र' होता है। अधुना मैं आपको 'चतुष्कृष्ण' पुरुष के विषय में कहने जा रहा हूँ। उसके नयनतारक, भ्रू-युगल, श्मश्रु एवं केश कृष्ण होते हैं। नासिका, मुख एवं कक्षयुग्म में श्रेष्ठतम गन्ध से युक्त मनुष्य 'चतुर्गन्ध' कहलाता है। लिङ्ग, ग्रीवा तथा जङ्घा युगल के ह्रस्व होने से पुरुष 'चतुर्ह्रस्व' होता है। अङ्गुलिपर्व, नख, केश, दन्त तथा त्वचा सूक्ष्म होने पर पुरुष 'पञ्चसूक्ष्म' एवं हनु, नेत्र, ललाट, नासिका एवं वक्षःस्थल, कक्ष, नख, नासिका, मुख एवं कृकाटिका (गर्दन की घंटी)–ये षड् अङ्ग उन्नत एवं त्वचा, केश, दन्त, रोम, दृष्टि, नख एवं वाणी–ये सात स्निग्ध होने पर शुभ होते हैं।

जानुद्वय, ऊरुद्वय, पृष्ठ, हस्तद्वय एवं नासिका को मिलाकर कुल 'आठ वंश' होते हैं। नेत्रद्वय, नासिकाद्वय, कर्णयुगल, शिश्न, गुदा एवं मुख–ये स्थान निर्मल होने से पुरुष 'नवामल' होता है। जिह्वा, ओष्ठ, तालु, नेत्र, हाथ, पैर, नख, शिश्नाग्र एवं मुख–ये दस अङ्ग पद्म के समान कान्ति से युक्त होने पर प्रशस्त माने गये हैं। हाथ, पैर, मुख, ग्रीवा, कर्ण, हृदय, सिर, ललाट, उदर एवं पृष्ठ–ये दस बृहदाकार होने पर सम्मानित होते हैं। जिस पुरुष की ऊँचाई भुजाओं के फैलाने पर दोनों मध्यमा अङ्गुलियों के मध्यमानतर के समान हो, वह 'न्यग्रोधपरिमण्डल' कहलाता है।

जिसके चरण, गुल्फ, नितम्ब, पार्श्व, वङ्क्षण, वृषण, स्तन, कर्ण, ओष्ठ, ओष्ठान्त, जङ्घा, हस्त, बाहु एवं नेत्र–

चतुर्दश समद्वन्द्व एतत्सामान्यतो नरः। विद्याश्चतुर्दश द्व्यक्षैः पश्येद्यः षोडशाक्षकः॥२४॥
रुक्षं शिराततं गात्रमशुभं मांसवर्जितम्। दुर्गन्धिविपरीतं यच्छस्तं दृष्ट्या प्रसन्नया॥२५॥
धन्यस्य मधुरा वाणी गतिर्मत्तेभसंनिभा। एककूपभवं रोम भये रक्षा सकृत्सकृत्॥२६॥

॥इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गति पुरुषलक्षणकथनं नाम त्रिचत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः॥२४३॥

अथ चतुश्चत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

स्त्रीलक्षणम्

समुद्र उवाच

शस्ता स्त्री चारुसर्वाङ्गी मत्तमातङ्गगामिनी। गुरूरुजघना या च मत्तपारावतेक्षणा॥१॥
सुनीलकेशी तन्वङ्गी विलोमाङ्गी मनोहरा। समभूमिस्पृशौ पादौ संहतौ च तथा स्तनौ॥२॥
नाभिः प्रदक्षिणावर्ता गुह्यमश्वत्थपत्रवत्। गुल्फौ निगूढौ मध्येन नाभिरङ्गुष्ठमानिका॥३॥

ये अङ्ग-युग्म समान हों, वह पुरुष 'चतुर्दशसमद्वन्द्व' होता है। जो अपने दोनों नेत्रों से चौदह विद्याओं का अवलोकन करता है, वह 'षोडशाक्ष' कहा जाता है। दुर्गन्धयुक्त, मांसहीन, रुक्ष एवं शिराओं से व्याप्त शरीर अशुभ माना गया है। इसके विपरीत गुणों से सम्पन्न एवं उत्फुल्ल नेत्रों से सुशोभित शरीर प्रशस्त होता है। धन्य पुरुष की वाणी मधुर एवं चाल मतवाले हाथी के समान होती है। प्रतिरोमकूप से एक-एक रोम ही निर्गत होता है। ऐसे पुरुष की बार-बार भय से रक्षा होती है।॥७-२६॥

॥इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी दो सौ तिरालिसवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ॥२४३॥

अध्याय-२४४

स्त्री लक्षण विचार

समुद्र ने कहा कि–हे गर्ग जी! शरीर से श्रेष्ठतम श्रेणी की स्त्री वह है, जिसके सम्पूर्ण अङ्ग मनोहर हों, जो मतवाले गजराज की भाँति मन्दगति से चलती हो, जिसके ऊरु और जघन (नितम्बदेश) भारी हों, तथा नेत्र उन्मत्त पारावत के समान मदभरे हों, जिसके केश सुन्दर नीलवर्ण के, शरीर पतला और अङ्ग लोमहीन हों, जो देखने पर मन को मोह लेने वाली हो, जिसके दोनों पैर समतल भूमि का पूर्णरूप से स्पर्श करते हों और दोनों स्तन परस्पर सटे हुए हों, नाभि दक्षिणावर्त हो, योनि पीपल के पत्ते की सी आकार वाली हो, दोनों गुल्फ अन्दर छिपे हुए हों-मांसल होने के कारण वे उभड़े हुए न दिखायी देते हों, नाभि अँगेठे के बराबर हो तथा पेट लम्बा या लटकता हुआ

जठरं च प्रलम्बं च रोमरूक्षा न शोभना। नर्क्षवृक्षनदीनाम्नी न सदा कलहप्रिया।।४।।
न लोलुपा न दुर्भाषा शुभा देवादिपूजिता। गण्डैर्मधूकपुष्पाभैर्न शिराला न लोमशा।।५।।
न संहतभ्रूकुटिला पतिप्राणा पतिप्रिया। अलक्षणाऽपि लक्षण्या यत्राऽऽकारस्ततो गुणाः।।
भुवं कनिष्ठिका यस्या न स्पृशेन्मृत्युरेव सा।।६।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते स्त्रीलक्षणकथनं नाम चतुश्चत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः।।२४४।।

अथ पञ्चचत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

चामरादिलक्षणम्

अग्निरुवाच

चामरो रुक्मदण्डोऽग्नयश्छत्रं राज्ञः प्रशस्यते। हंसपक्षैर्विरचितं मयूरस्य शुकस्य च।।१।।
पक्षैर्वाऽथ बलाकाया न कार्यं मिश्रपक्षकैः। चतुरस्रं ब्राह्मणस्य वृत्तं राज्ञश्च शुक्लकम्।।२।।

न हो। रोमावलियों से रुक्ष शरीर वाली रमणी अच्छी नहीं मानी गयी है। नक्षत्रों, वृक्षों और नदियों के नाम पर जिनके नाम रखे गये हों तथा जिसे कलह सदा प्रिय लगता हो, वह स्त्री भी अच्छी नहीं है। जो लोलुप न हो, कटुवचन न बोलती हो, वह नारी देवता आदि से पूजित 'शुभलक्षणा' कही गयी है। जिसके कपोल मधूक पुष्पों के समान गोरे हों, वह नारी शुभ है।

जिसके शरीर की रस-नाड़ियाँ दिखायी देती हों और जिसके अङ्ग अधिक रोमावलियों से भरे हों, वह स्त्री अच्छी नहीं मानी गयी है। जिसकी कुटिल भौंहें परस्पर सट गयी हों, वह नारी भी अच्छी श्रेणी में नहीं गिनी जाती। जिसके प्राण पति में ही बसते हों तथा जो पति को प्रिय हो, वह नारी लक्षणों से हीन होने पर भी शुभलक्षणों से सम्पन्न कही गयी है। जहाँ सुन्दर आकृति है, वहाँ शुभ गुण हैं। जिसके पैर की कनिष्ठिका अँगुली धरती का स्पर्श नहीं करना चाहिये, वह नारी मृत्युरूपा ही है।।१-६।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी दो सौ चौवालिसवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।२४४।।

अध्याय-२४५

चामर आदि के लक्षण विचार

श्रीअग्नि देव ने कहा कि-हे वसिष्ठ! स्वर्ण दण्ड भूषित चामर श्रेष्ठतम होता है। राजा के लिये हंसपक्ष, मयूर पक्ष या शुकपक्ष से निर्मित छत्र प्रशस्त माना गया है। वकपक्ष से निर्मित छत्र भी प्रयोग में लाया जा सकता है, परन्तु मिश्रित पक्षों का छत्र नहीं बनवाना चाहिये। तीन, चार, पाँच, छः, सात या आठ पर्वों से युक्त दण्ड प्रशस्त है।।१-२।।

त्रिचतुष्पञ्चषट्सप्त अ (का) ष्टपर्वश्च दण्डकः। भद्रासनं क्षीरवृक्षैः पञ्चाशदङ्गुलोच्छ्रयैः॥३॥
विस्तारेण त्रिहस्तं स्यात्सुवर्णाद्यैश्च चित्रितम्। धनुर्द्रव्यत्रयं लोहं शृङ्गं दारु द्विजोत्तम॥४॥
ज्याद्रव्यत्रितयं चैव वंशभङ्गत्वचस्था। दारुचापप्रमाणं तु श्रेष्ठं हस्तचतुष्टयम्॥५॥
तदेव समहीनं तु प्रोक्तं मध्यकनीयसि। मुष्टिग्राहनिमित्तानि मध्ये द्रव्याणि कारयेत्॥६॥
स्वल्पकोटिस्त्वचाशृङ्गं शार्ङ्गलोहमये द्विज। कामिनीभ्रूलताकारा कोटिः कार्या सुसंयता॥७॥
पृथग्वा विप्र मिश्रं वा लौहं शार्ङ्गं तु कारयेत्। शार्ङ्गं समुचितं कार्यं रुक्मविन्दुविभूषितम्॥८॥
कुटिलं स्फुटितं चापं सच्छिद्रं च न शस्यते। सुवर्णं रजतं ताम्रं कृष्णायो धनुषि स्मृतम्॥९॥
माहिषं शारभं शार्ङ्गं रौहिषं वा धनुः शुभम्। चान्दनं वैतसं सालं धावलं काकुभं तथा॥१०॥
सर्वश्रेष्ठं धनुर्वंशैर्गृहीतैः शरदि श्रितैः। पुजयेत्तु धनुः खड्गं मन्त्रैस्त्रैलोक्यमोहनैः॥११॥
अयसश्चाथ वंशस्य शरस्याप्यशरस्य च। ऋजवो हेमवर्णाभाः स्नायुश्लिष्टाः सुपत्रकाः॥१२॥
रुक्मपुङ्खाः सुपुङ्खास्ते तैलधौताः सुवर्णकाः। यात्रायामभिषेकादौ यजेद्बाणधनुर्मुखान्॥१३॥
सपताकास्त्रसंग्राहसंवत्सरकरान्नृपः। ब्रह्मा वै मेरुशिखरे स्वर्गगङ्गातटेऽयजत्॥१४॥
लोहदैत्यं स ददृशे विघ्नं यज्ञे तु चिन्तयन्। तस्य चिन्तयतो वह्नेः पुरुषोऽभूद्बली महान्॥१५॥

भद्रासन पचास अङ्गुल ऊँचा एवं क्षीरकाष्ठ से निर्मित हो। वह स्वर्णचित्रित एवं तीन हाथ विस्तृत होना चाहिये। हे द्विजश्रेष्ठ! धनुष के निर्माण के लिये लौह, शृङ्ग, या काष्ठ—इन तीन द्रव्यों का प्रयोग करना चाहिये। प्रत्यञ्चा के लिये तीन वस्तु उपयुक्त हैं—वंश, भङ्ग एवं चर्म। दारुनिर्मित श्रेष्ठ धनुष का प्रमाण चार हाथ माना गया है। उसी में क्रमशः एक-एक हाथ कम मध्यम मध्य भाग में द्रव्य निर्मित कराये॥३-६॥

धनुष की कोटि कामिनी की भ्रूलता के समान आकार वाली एवं अत्यन्त संयत बनवानी चाहिये। लौह या शृङ्ग के धनुष पृथक-पृथक् एक ही द्रव्य के यामिश्रित भी बनवाये जा सकते हैं। शृङ्गनिर्मित धनुष को अत्यन्त उपयुक्त तथा स्वर्ण-बिन्दुओं से अलंकृत करना चाहिये। कुटिल, स्फुटित या छिद्रयुक्त धनुष निन्दित होता है। धातुओं में स्वर्ण, रजत, ताम्र एवं कृष्ण लौह का धनुष के निर्माण में प्रयोग करना चाहिये। शार्ङ्गधनुषों में—महिष, शरभ एवं रोहिण मृग के शृङ्गों से निर्मित चाप शुभ माना गया है। चन्दन, वेतस, साल, धव तथा अर्जुन वृक्ष के काष्ठ से बना हुआ दारुमय शरासन श्रेष्ठतम होता है। इनमें भी शरद् ऋतु में काटकर लिये गये पके बाँसों से निर्मित धनुष सर्वोत्तम माना जाता है। धनुष एवं खड्ग की भी त्रैलोक्यमोहन मन्त्रों से पूजा करनी चाहिये॥७-११॥

लोहे, बाँस, सरकंडे अथवा उससे भिन्न किसी और वस्तु के बने हुए बाण सीधे, स्वर्णाभ, स्यानुश्लिष्ट, स्वर्णपुङ्खभूषित, तैलधौत, सुनहले एवं श्रेष्ठतम पङ्खयुक्त होने चाहिये। राजा यात्रा एवं अभिषेक में धनुष बाण आदि अस्त्रों तथा पताका, अस्त्रसंग्रह एवं दैवज्ञ का भी पूजन करना चाहिये॥१२-१३॥

एक समय भगवान् ब्रह्मा ने सुमेरु पर्वत के शिखर पर आकाशगङ्गा के किनारे एक यज्ञ किया था। उन्होंने उस यज्ञ में उपस्थित हुए लौहदैत्य को देखा। उसको देखकर वे इस चिन्ता में डूब गये कि 'यह मेरे यज्ञ में विघ्नरूप न हो जाय।' उनके चिन्तन करते ही अग्नि से एक महाबलवान् पुरुष प्रकट हुआ और उसने भगवान् ब्रह्मा की वन्दना की। उसके बाद देवताओं ने प्रसन्न होकर उसका अभिनन्दन किया। इस अभिनन्दन के कारण ही वह 'नन्दक' कहलाया और खड्गरूप हो गया। देवताओं के अनुरोध करने पर भगवान् श्रीहरि विष्णु ने उस नन्दक खड्ग को निजी आयुध

ववन्देऽजं च तं देवा अभ्यनन्दन्त हर्षिताः। तस्मात्स नन्दकः खड्गो देवोक्तो हरिरग्रहीत्।।१६।।
तं जग्राह गले देवो विकोषः सोऽभ्यपद्यत। खड्गो नीलो रत्नमुष्टिस्ततोऽभूच्छतबाहुकः।।१७।।
दैत्यः स गदया देवान्द्रावयामास वै रणे। विष्णुना खड्गच्छिन्नानि दैत्यगात्राणि भूतले।।१८।।
पतितानि तु संस्पर्शान्नन्दकस्य च तानि हि। लोहभूतानि सर्वाणि हत्वा तस्मै हरिर्वरम्।।१९।।
ददौ पवित्रमङ्गं ते आयुधाय भवेद्भुवि। हरिप्रसादाद्ब्रह्माऽपि विना विघ्नं हरिं प्रभुम्।।२०।।
पूजयामास यज्ञेन वक्ष्येऽथो खड्गलक्षणम्। खटीखट्टरजाता ये दर्शनीयास्तु ते स्मृताः।।२१।।
कायच्छिदस्त्वार्षिकाः स्युर्दृढाः सूर्पारकोद्भवाः। तीक्ष्णाश्छेदसहा वङ्गास्तीक्ष्णाः स्युश्चाङ्गदेशजाः।।२२।।
शतार्धमङ्गुलानां च श्रेष्ठं खड्गं प्रकीर्तितम्। तदर्धं मध्यमं ज्ञेयं ततो हीनं न धारयेत्।।२३।।
दीर्घः सुमधुरः शब्दो यस्य खड्गस्य सत्तम। किङ्किणीसदृशस्तस्य धारणं श्रेष्ठमुच्यते।।२४।।
खड्गः पद्मपलाशाग्रो मण्डलाग्रश्च शस्यते। करवीरदलाग्राभो घृतगन्धः वियत्प्रभः।।२५।।
समाङ्गुलस्थाः शस्यन्ते व्रणाः खड्गेषु लिङ्गवत्। काकोलूकसवर्णाभा विषमास्ते न शोभनाः।।२६।।
खड्गे न पश्येद्वदनमुच्छिष्टो न स्पृशेदसिम्। मूल्यं जातिं न कथयेन्निशि कुर्यान्न शीर्षके।।२७।।

।।इति श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते चामरादिलक्षणकथनं नाम पञ्चचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः।।२४५।।

—❀❀❀—

के रूप में ग्रहण किया। उन देवाधिदेव ने उस खड्ग को उसके गले में हाथ डालकर पकड़ा, इससे वह खड्ग म्यान के बाहर हो गया। उस खड्ग की कान्ति नीली थी, उसकी मुष्टि रत्नमयी थी। उसके बाद वह बढ़कर सौ हाथ का हो गया। लौहदैत्य ने गदा के प्रहार से देवताओं को युद्धभूमि से भगाना प्रारम्भ किया। भगवान् श्रीहरि विष्णु ने उस लौहदैत्य के सारे अङ्ग कथित खड्ग से काट डालना चाहिये। नन्दक के स्पर्श मात्र से छिन्न-भिन्न होकर उस दैत्य के सारे लौहमय अङ्ग भूतल पर गिर पड़े। इस तरह लोहासुर का वध करके भगवान् श्रीहरि विष्णु ने उस वर दिया कि 'आपका पवित्र अङ्ग (लोह) भूतल पर आयुध के निर्माण के काम आयेगा।' फिर भगवान् श्रीहरि विष्णु के कृपा-प्रसाद से ब्रह्मा जी ने भी उन सर्वसक्षम श्रीहरि विष्णु का यज्ञ के द्वारा निर्विघ्न पूजन किया। अधुना मैं खड्ग के लक्षण बतलाता हूँ। खटीखट्टर देश में निर्मित खड्ग दर्शनीय माने गये हैं। ऋषीक देश के खड्ग शरीर को चीर डालने वाले तथा शूर्पारकदेशीय खड्ग अत्यन्त दृढ़ होते हैं। बङ्गदेश के खड्ग तीखे एवं आघात को सहन करने वाले तथा अङ्गदेशीय खड्ग तक्ष्ण कहे जाते हैं। पचास अङ्गुल का खड्ग श्रेष्ठ माना गया है। इससे अर्ध-परिणाम का मध्यम होता है। इससे हीन परिमाण का खड्ग धारण नहीं करना चाहिये। हे द्विजोरत्तम! जिस खड्ग का शब्द दीर्घ एवं किंकिणी की ध्वनि के समान होता है, उसको धारण करना श्रेष्ठ कहा जाता है। जिस खड्ग का अग्रभाग पद्मपत्र, मण्डल या करवीर-पत्र के समान हो तथा जो घृत-गन्ध से युक्त एवं आकाश की सी कानित वाला हो वह प्रशस्त होता है। खड्ग में समाङ्गुल पर स्थित लिङ्ग के समान व्रण (चिह्न) प्रशंसित है। यदि वे काक या उलूक के समान वर्ण या प्रभा से युक्त एवं विषम हों, तो मङ्गलजनक नहीं माने जाते। खड्ग में अपना मुख न देखे। जूँठे हाथों से उसका स्पर्श नहीं करना चाहिये। खड्ग की जाति एवं मूल्य भी किसी को न बतलाये तथा रात्रि के समय उसको सिरहाने रहकर न सोवे।।१४-२७।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी दो सौ पैंतालिसवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।२४५।।

❖❖❖

अथ षट्चत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

रत्नपरीक्षा

अग्निरुवाच

रत्नानां लक्षणं वक्ष्ये रत्नं धार्यमिदं नृपैः। वज्रं मरकतं रत्नं पद्मरागं च मौक्तिकम्॥१॥
इन्द्रनीलं महानीलं वैदूर्यं गन्धशस्यकम्। चन्द्रकान्तं सूर्यकान्तं स्फटिकं पुलकं तथा॥२॥
कर्केतनं पुष्परागं तथा ज्योतीरसं द्विज। स्फटिकं राजपट्टं च तथा राजमयं शुभम्॥३॥
सौगन्धिकं तथा गञ्जं शङ्खब्रह्ममयं तथा। गोमेदं रुधिराक्षं च तथा भल्लातकं द्विज॥४॥
धूलीं मरकतं चैव तुत्थकं सीसमेव च। पीलुं प्रवालकं चैव गिरिवज्रं द्विजोत्तम॥५॥
भुजङ्गममणिं चैव तथा वज्रमणिं शुभम्। टिट्टिभं च तथा पिण्डं भ्रामरं च तथोत्पलम्॥६॥
सुवर्णप्रतिबद्धानि रत्नानि श्रीजयादिके। अन्तःप्रभत्वं वैमल्यं सुसंस्थानत्वमेव च॥७॥
सुधार्या नैव धार्यास्तु निष्प्रभा मलिनास्तथा। खण्डाः सशर्करा ये च प्रशस्तं वज्रधारणम्॥८॥
अम्भस्तरति यद्वज्रमभेद्यं विमलं च यत्। षट्कोणं शक्रचापाभं लघुचार्कनिभं शुभम्॥९॥
शुकपक्षनिभः स्निग्धः कान्तिमान्विमलस्तथा। स्वर्णचूर्णनिभैः सूक्ष्मैर्मरकतैश्च बिन्दुभिः॥१०॥
स्फटिकाः पद्मरागाः स्यू रागवन्तोऽतिनिर्मलाः। जातरङ्गाः भवन्तीह कुरुविन्दसमुद्भवाः॥११॥

अध्याय-२४६

रत्न परीक्षण

श्रीअग्नि देव ने कहा कि—हे द्विजश्रेष्ठ वसिष्ठ! अधुना मैं रत्नों के लक्षणों का वर्णन करने जा रहा हूँ। राजाओं को ये रत्न धारण करने चाहिये—वज्र (हीरा), मरकत, पद्मराग, मुक्ता, महानील, इन्द्रनील, वैदूर्य, गन्धसस्य, चन्द्रकान्त, सूर्यकान्त, स्फटिक, पुलक, कर्केतन, पुष्पराग, ज्योतीरस, राजपट्ट, राजमय, शुभसौगन्धिक, गञ्ज, शङ्ख, ब्रह्ममय, गोमेद, रुधिराक्ष, भल्लातक, धूली, मरकत, तुष्यक, सीस, पीलु, प्रवाल, गिरिवज्र, भुजङ्गमणि, वज्रमणि, टिट्टिभ, भ्रामर और उत्पल। श्री एवं विजय की प्राप्ति के लिये उपरोक्त रत्नों को स्वर्ण मण्डित कराके धारण करना चाहिये। जो अन्तर्भाग में प्रभायुक्त, निर्मल एवं सुसंस्थान हों, उन रत्नों को ही धारण करना चाहिये। प्रभाहीन, मलिन, खण्डित और किरकिरी से युक्त रत्नों को धारण नहीं करना चाहिये। सभी रत्नों में हीरा धारण करना श्रेष्ठ है। जो हीरा जल में तैर सके, अभेद्य हो, षट्कोण हो, इन्द्रधनुष के समान निर्मल प्रभा से युक्त हो, हल्का तथा सूर्य के समान तेजस्वी हो अथवा तोते के पङ्खों के समान वर्ण वाला हो, स्निग्ध कान्तिमान् तथा विभाजित हो, वह शुभ माना गया है। मरकतमणि स्वर्णचूर्ण के समान सूक्ष्म बिन्दुओं से विभूषित होने पर श्रेष्ठ बतलायी गयी है। स्फटिक और पद्मराग अरुणिमा से युक्त तथा अत्यन्त निर्मल होने पर श्रेष्ठतम कहे जाते हैं। मोती उनकी अपेक्षा निर्मल एवं उत्कृष्ट होते हैं।

हे ऋषिप्रवर! हाथी के दाँत और कुम्भस्थल से उत्पन्न, सूकर, मत्स्य और वेणुनाग से उत्पन्न एवं मेघों द्वारा

सौगन्धिकोत्थाः काषाया मुक्ताफलास्तु शुक्तिजाः। विमलास्तेभ्य उत्कृष्टा ये च शङ्खोद्भवा मुने।।१२।।
नागदन्तभवाश्चाग्र्याः कुम्भसूकरमत्स्यजाः। वेणुनागभवाः श्रेष्ठा मौक्तिकं मेघजं वरम्।।१३।।
वृत्तत्वं शुक्लता स्वाच्छ्यं महत्त्वं मौक्तिके गुणाः। इन्द्रनीलं शुभं क्षीरे राजते भ्राजतेऽधिकम्।।१४।।
रञ्जयेत्स्वप्रभावेण तममूल्यं विनिर्दिशेत्। नीलरक्तं तु वैदूर्यं श्रेष्ठं हारादिकं भजेत्।।१५।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते रत्नपरीक्षाकथनं नाम षट्चत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः।।२४६।।

अथ सप्तचत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

वास्तुलक्षणम्

अग्निरुवाच

वास्तुलक्ष्यप्रवक्ष्यामि विप्रादीनां च भूरिह। श्वेता रक्ता तथा पीता कृष्णा चैव यथाक्रमम्।।१।।
घृतरक्तान्नमद्यानां गन्धाढ्या रसतश्च भूः। मधुरा च कषाया च अम्लाद्युपरसा क्रमात्।।२।।
कुशैः शरैस्तथा काशैर्दूर्वाभिर्या च संश्रिता। प्रार्च्य विप्रांश्च निःशल्यां खातपूर्वं तु कल्पयेत्।।३।।

उत्पन्न मोती अत्यन्त श्रेष्ठ होते हैं। मौक्तिक में वृत्तत्व (गोलाई), शुक्लता, स्वच्छता एवं महत्ता–ये गुण होते हैं। श्रेष्ठतम इन्द्रनीलमणि दुग्ध में रखने पर अत्यधिक प्रकाशित एवं सुभोभित होती है। जो रत्न अपने प्रभाव से सभी को रञ्जित करता है, उसको अमूल्य समझे। नील एवं रक्त आभा वाला वैदूर्य श्रेष्ठ होता है। यह हार में पिरोने योग्य है।।१-१५।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी दो सौ छियालिसवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।२४६।।

❖❖❖

अध्याय–२४७

वास्तुलक्षण विचार

श्रीअग्नि देव ने कहा कि–हे वसिष्ठ! अधुना मैं वास्तु के लक्षणों का वर्णन करता हूँ। वास्तुशास्त्र में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों के लिये क्रमशः श्वेत, रक्त, पीत एवं काले रंग की भूमि निवास करने योग्य है। जिस भूमि में घृत के समान गन्ध हो वह ब्राह्मणों के, रक्त के समान गन्ध हो वह क्षत्रियों के अन्न की सी गन्ध हो वह वैश्यों के और मद्यतुल्य गन्ध हो वह शूद्रों के वास करने योग्य मानी गयी है। इसी तरह रस में ब्राह्मण आदि के लिये क्रमशः मधुर, कषाय और अम्ल आदि स्वाद से युक्त भूमि होनी चाहिये। चारों वर्णों को क्रमशः कुश, सरपत, कास तथा दूर्वा से संयुक्त भूमि में गृह बनाना चाहिये। पहले ब्राह्मणों का पूजन करके शल्यहीन भूमि में खात (कुण्ड) बनाये।।१-३।।

चतुःषष्टिपदं कृत्वा मध्ये ब्रह्मा चतुष्पदः। प्राक्तेषां वै गृहस्वामी कथितस्तु तथाऽर्यमा॥४॥
दक्षिणेन विवस्वांश्च मित्रः पश्चिमतस्तथा। उदङ्महीधरश्चैव आपवत्सौ च वह्निगे॥५॥
सावित्रश्चैव सविता जयेन्द्रौ नैर्ऋतेऽम्बुधौ। रुद्रव्याधी च वायव्ये पूर्वादौ कोणगाद्बहिः॥६॥
महेन्द्रश्च रविः सत्यो भृशः पूर्वेऽथ दक्षिणे। गृहक्षतोऽर्यमधृती गन्धर्वाश्चाथ वारुणे॥७॥
पुष्पदन्तोऽसुराश्चैव वरुणो यक्ष एव च। सौम्ये भल्लाटसोमौ च अदितिर्धनदस्तथा॥८॥
नागः करग्रहश्चैशे अष्टौ दिशि दिशि स्मृताः। आद्यन्तौ तु तयोर्देवौ प्रोक्तावत्र गृहेश्वरौ॥९॥
पर्जन्यः प्रथमो देवो द्वितीयश्च करग्रहः। महेन्द्ररविसत्याश्च भृशोऽथ गगनं तथा॥१०॥
पवनः पूर्वतश्चैव अन्तरिक्षधनेश्वरौ। आग्नेये चाथ नैर्ऋत्ये मृगसुग्रीवकौ सुरौ॥११॥
रोगो मुख्यश्च वायव्ये दक्षिणे पुष्पवित्तदौ। गृहक्षतो यमभृशौ गन्धर्वो नागपैतृकः॥१२॥
आप्ये दौवारिक सुग्रीवौ पुष्पदन्तोऽसुरो जलम्। यक्ष्मरोगश्च शेषश्च उत्तरे नागराजकः॥१३॥
मुख्यो भल्लाटशशिनौ अदितिश्च कुबेरकः। नागो हुताशः श्रेष्ठो वै शक्रसूर्यौ च पूर्वतः॥१४॥
दक्षे गृहक्षतः पुष्प आप्ये सुग्रीव उत्तमः। पुष्पदन्तो ह्युदग्द्वारि भल्लाटः पुष्पदन्तकः॥१५॥
शिलेष्टकादिविन्यासं मन्त्रैः प्राच्र्य सुरांश्चरेत्। नन्दे नन्दय वाशिष्ठे वसुभिः प्रजया सह॥१६॥

फिर चौंसठ पदों से समन्वित वास्तुमण्डल का निर्माण करना चाहिये। उसके मध्यभाग में चार पदों में ब्रह्मा की स्थापना करनी चाहिये। उन चारों पदों के पूर्व में गृहस्वामी 'अर्यमा' बतलाये गये हैं। दक्षिण में विवस्वान् पश्चिम में मित्र और श्रेष्ठतम दिशा में महीधर को अङ्कित करना चाहिये। ईशानकोण में आप तथा आपवत्स को, अग्निकोण में सावित्र एवं सविता को, पश्चिम के समीपवर्ती नैर्ऋत्यकोण में जय और इन्द्र को और वायव्य कोण में नैर्ऋत्यकोण में जय सविता को, पश्चिम के समीपवर्ती नैर्ऋत्यकोण में जय और इन्द्र को और वायव्यकोण में रुद्र तथा व्याधि को लिखे। पूर्व आदि दिशाओं में कोणवर्ती देवताओं से पृथक् निम्नाङ्कित देवताओं का लेखन करना चाहिये—पूर्व में महेन्द्र, रवि, सत्य तथा भृश आदि को, दक्षिण में गृहक्षत, यम, भृङ्ग तथा गन्धर्व आदि को, पश्चिम में पुष्पदन्त, असुर, वरुण और पापयक्ष्मा आदि को, उत्तर दिशा में भल्लाट, सोम, अदिति एवं धनद को तथा भल्लाट, सोम, अदिति एवं धनद को तथा ईशानकोण में नाग और करग्रह को अङ्कित करना चाहिये। प्रत्येक दिशा के आठ देवता माने गये हैं। उनमें प्रथम और अन्तिम देवता वास्तुमण्डल के गृहस्वामी कहे गये हैं। पूर्व दिशा के प्रथम देवता पर्जन्य हैं, दूसरे करग्रह (जयन्त) महेन्द्र, रवि, सतय, भृश, गगन तथा पवन हैं। कुछ लोग आग्नेय कोण में गगन एवं पवन के स्थान पर अन्तिरिक्ष और अग्नि को मानते हैं। नैर्ऋत्यकोण में मृग और सुग्रीव—इन दोनों देवताओं को, वायव्यकोण में रोग एवं मुख्य को, दक्षिण में पूषा, वितथ, गृहक्षत, यम, भृङ्ग, गन्धर्व, मृग एवं पितर को स्थापित करना चाहिये। वास्तुमण्डल के पश्चिम भाग में दौवारिक, सुग्रीव, पुष्पदन्त, असुर, वरुण, पापयक्ष्मा और शेष स्थित हैं। उत्तर दिशा में नागराज, मुख्य, भल्लाट, सोम, अदिति, कुबेर, नाग और अग्नि (करग्रह) सुशोभित होते हैं। पूर्व दिशा में सूर्य और इन्द्र श्रेष्ठ हैं। दक्षिण दिशा में गृहक्षत पुण्यमय हैं, पश्चिम दिशा में सुग्रीव श्रेष्ठतम और उत्तरद्वापर पुष्पदन्त कल्याणप्रद है। भल्लाट को ही पुष्पदन्त कहा गया है।।४-१५।।

इन वास्तुदेवताओं का मन्त्रों से पूजन करके आधारशिला का न्यास करना चाहिये। उसके बाद निम्नांकित

जये भार्गवदायादे प्रजानां जयमावह। पूर्णेऽङ्गिरसदायादे पूर्णकामं कुरुष्व माम्॥१७॥
भद्रे काश्यपदायादे कुरु भद्रां मतिं मम। सर्वबीजसमायुक्ते सर्वं रत्नौषधैर्वृते॥१८॥
रुचिरे नन्दने नन्दे वाशिष्ठे रम्यतामिह। प्रजापतिसुते देवि चतुरस्रे महीमये॥१९॥
सुभगे सुव्रते भद्रे गृहे काश्यपि रम्यताम्। पूजिते परमाचार्यैर्गन्धमाल्यैरलङ्कृते॥२०॥
भवभूतिकरे देवि गृहे भार्गवि रम्यताम्। अव्यङ्ग्ये चाक्षते पूर्णे मुनेरङ्गिरसः सुते॥२१॥
इष्टके त्वं प्रयच्छेष्टं प्रतिष्ठां कारम्याम्यहम्। देशस्वामिपुरस्वामिगृहस्वामिपरिग्रहे॥२२॥
मनुष्यधनहस्त्यश्वपशुवृद्धिकरी भव। गृहप्रवेशेऽपि तथा शिलान्यासं समाचरेत्॥२३॥
उत्तरेण शुभः प्लक्षो वटः प्राक्स्याद्गृहादितः। उदुम्बरश्च याम्येन पश्चिमेऽश्वत्थ उत्तमः॥२४॥
वामभागे तथोद्यानं कुर्याद्वासं गृहे शुभम्। सायं प्रातस्तु धर्माप्तौ शीतकाले दिनान्तरे॥२५॥
वर्षाकाले भुवः शोषे सेक्तव्या रोपितद्रुमाः। विडङ्गघृतसंयुक्तान्सेचयेच्छीतवारिणा॥२६॥
फलनाशे कुलत्थैश्च माषैर्मुद्गैस्तिलैर्यवैः। घृतशीतपयः सेकः फलपुष्पाय सर्वदा॥२७॥
मत्स्याम्भसा तु सेकेन वृद्धिर्भवति शाखिनाम्। आविकाजशकृच्चूर्णं यवचूर्णं तिलानि च॥२८॥
गोमांसमुदकं चेति सप्तरात्रं निधापयेत्। उत्सेकं सर्ववृक्षाणां फलपुष्पातिवृद्धिदम्॥२९॥
मत्स्योदकेन शीतेन आम्राणां सेक इष्यते। प्रशस्तं चाप्यशोकानां कामिनीपादताडनम्॥३०॥

मन्त्रों से नन्दा आदि देवियों का पूजन करना चाहिये–'हे वसिष्ठनन्दिनी नन्दे! मुझको धन एवं पुत्र-पौत्रों से संयुक्त करके आनन्दित करो। हे भार्गवपुत्रि जये! आपके प्रभाभूत हम लोगों को विजय सम्प्रदान करो। अङ्गिरसतनये पूर्णे! मेरी कामनाओं को पूर्ण करो। कश्यपात्मजे भद्रे! मुझको कल्याणमयी बुद्धि दो। हे वसिष्ठ पुत्रि नन्दे! सभी तरह के बीजों से युक्त एवं सम्पूर्ण रत्नों से सम्पन्न इस मनोरम नन्दनवन में विहार करो। हे प्रजापतिपुत्रि! देवि भद्रे! आप श्रेष्ठतम लक्षणों एवं श्रेष्ठ व्रत को धारण करने वाली हो; कश्यपनन्दिनि! इस भूमिमय चतुष्कोणभवन में निवास करो। भार्गवतनये देवि! आप सम्पूर्ण विश्व को ऐश्वर्य सम्प्रदान करने वाली हो; श्रेष्ठ आचार्यों द्वारा पूजित एवं गन्ध और मालाओं से अलंकृत मेरे गृह में निवास करो। अङ्गिरा ऋषि की पुत्रि पूर्णे! आप भी सम्पूर्ण अङ्गों से युक्त तथा क्षतिहीन मेरे गृह में रमण करो। इष्ट के! मैं गृहप्रतिष्ठा करा रहा हूँ, आप मुझको अभिलषित भोग सम्प्रदान करो। देशस्वामी, नगरस्वामी और गृहस्वामी के संचय में मनुष्य, धन, हाथी-घोड़े और पुशओं की वृद्धि करो'॥१६-२२॥

गृहप्रवेश के समय भी इसी तरह शिलान्यास करना चाहिये। गृह के उत्तर में प्लक्ष (पाकड़) तथा पूर्व में वटवृक्ष शुभ होता है। दक्षिण में गूलर तरफ पश्चिम में पीपल का वृक्ष श्रेष्ठतम माना जाता है। गृह के वामपार्श्व में उद्यान बनाये। ऐस गृह में निवास करना शुभ होता है। लगाये हुए वृक्षों को ग्रीष्म काल में प्रातः-सायं, शीतऋतु में मध्याह्न के समय तथा वर्षाकाल में भूमि के सूख जाने पर सींचना चाहिये। वृक्षों को बायविडंग और घृतमिश्रित शीतल जल से सींचे। जिस वृक्षों के फल लगने बन्द हो गये हों, उनको कुलथी, उड़द, मूँग, तिल और जौ मिले हुए जल से सींचना चाहिये। घृतयुक्त शीतल दुग्ध के सेचन से वृक्ष सदा फल-पुष्प से युक्त रहते हैं। मत्स्यवाले जल के सेचन से वृक्षों की वृद्धि होती है। भेड़ और बकरी की लेंड़ी का चूर्ण, जौ का चूर्ण, तिल, अन्य गोबर आदि खाद एवं जल– इन सभी को सात दिन तक ढककर रखे। इसका सेचन सभी तरह के वृक्षों के फल-पुष्प आदि की वृद्धि करने वाला है। आम्रवृक्षों का शीतल जल से सेचन श्रेष्ठतम माना गया है। अशोक वृक्ष के विकास के लिये कामिनियों के चरण

खर्जूरनारिकेलादेर्लवणादिभिर्विवर्धनम्। विडङ्गमत्स्यमांसादिभः सर्वेषां दोहदं शुभम्॥३१॥

॥इति श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते वास्तुलक्षणकथनं नाम सप्तचत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः॥२४७॥

—※※※—

अथाष्टचत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

पुष्पादिपूजाफलम्

अग्निरुवाच

पुष्पैस्तु पूजनाद्विष्णुः सर्वकार्येषु सिद्धिदः। मालती मल्लिका यूथी पाटलाकरवीरकम्॥१॥
पावन्तिरतिमुक्तश्च (?) कर्णिकारः कुरण्टकः। कुब्जकस्तगरो नीपो वाणो वर्वरमल्लिका॥२॥
अशोकस्तिलकः कुन्दः पूजायै स्यात्तमालजम्। बिल्वपत्रं शमीपत्रं भृङ्गरजस्य तु॥३॥
तुलसीकालतुलसीपत्रं वासकमर्चने। केतकीपत्रपुष्पं च पद्मं रक्तोत्पलादिकम्॥४॥
नाऽऽर्कं नोन्मत्तकं काञ्ची पूजने गिरिमल्लिका। कौटजं शाल्मलीपुष्पं कण्टकारीभवं न हि॥५॥
घृतप्रस्थेन विष्णोश्च स्नानं गोकोटिसत्फलम्। आढकेन तु राजा स्याद्घृतक्षीरैर्दिवं व्रजेत्॥६॥

॥इति श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते पुष्पादिपूजाकथनं नामाष्टचत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः॥२४८॥

—※※※—

का प्रहार प्रशस्त है। खूजर और नारियल आदि वृक्ष लवणयुक्त जल से वृद्धि को प्राप्त होते हैं। बायविडंग तथा जल के द्वारा सेचन सभी वृक्षों के लिये श्रेष्ठतम दोहद है॥२३-३१॥

॥इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी दो सौ सैंतालिसवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ॥२४७॥

अध्याय-२४८

पुष्प आदि से पूजा फल विचार

श्रीअग्नि देव ने कहा कि-हे वसिष्ठ! पुष्पों से पूजन करने पर भगवान् श्रीहरि विष्णु सम्पूर्ण कार्यों में सिद्धि सम्प्रदान करते हैं। मालती, मल्लिका, यूथिका, गुलाब, कनेर, पावन्ती, अतिमुक्तक, कर्णिकार, कुरण्टक, कुब्जक, तगर, नीप (कदम्ब), बाण, वनमल्लिका, अशोक, तिलक, कुन्द और तमाल-इनके पुष्प पूजा के लिये उपयोगी माने गये हैं। बिल्वपत्र, शमीपत्र, भृङ्गराज के पत्र, तुलसी, कृष्णतुलसी तथा वासक (अडूसा) के पत्र पूजन में ग्राह्य माने गये हैं। केतकी के पत्र और पुष्प, पद्म एवं रक्तकमल-ये भी पूजा में ग्रहण किये जाते हैं। मदार, धतूर, गुञ्जा, पर्वतीय, मल्लिका, कुटज, शाल्मलि और कटेरी के फूलों का पूजा में प्रयोग नहीं करना चाहिये। प्रास्थमात्र घृत से भगवान् श्रीहरि विष्णु का अभिषेक करने पर करोड़ गौओं के दान करने का फल मिलता है। एक आढ़क घृत से अभिषेक करने वाला स्वर्ग को प्राप्त करता है॥१-६॥

॥इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी दो सौ अड़तालिसवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ॥२४८॥

❖❖❖

अथैकोनपञ्चाशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

धनुर्वेदः

अग्निरुवाच

चतुष्पादं धनुर्वेदं वदे पञ्चविधं द्विज। रथनागाश्वपत्तीनां योधांश्चाऽऽश्रित्य कीर्तितम्।।१।।
यन्त्रमुक्तं पाणिमुक्तं मुक्तसंधारितं तथा। अमुक्तं बाहुयुद्धं च पञ्चधा तत्प्रकीर्तितम्।।२।।
तत्र शस्त्रास्त्रसम्पत्त्या द्विविधं परिकीर्तितम्। ऋजुमायाविभेदेन भूयो द्विविधमुच्यते।।३।।
क्षेपणीचापयन्त्राद्यैर्यन्त्रमुक्तं प्रकीर्तितम्। शिलातोमरयन्त्राद्यं पाणिमुक्तं प्रकीर्तितम्।।४।।
मुक्तसंधारितं ज्ञेयं प्रासाद्यमपि यद्भवेत्। खड्गादिकममुक्तं च नियुद्धं विगतायुधम्।।५।।
कुर्याद्योग्यानि पात्राणि योद्धुमिच्छुर्जितश्रमः। धनुः श्रेष्ठानि युद्धानि प्रासमध्यानि तानि च।।६।।
तानि खड्गजघन्यानि बाहुप्रत्यवराणि च। धनुर्वेदे गुरुर्विप्रः प्रोक्तो वर्णद्वयस्य च।।७।।
युद्धाधिकारः शूद्रस्य स्वयं चाऽऽपदि शिक्षया। देशस्थैः शंकरैः राज्ञः कार्या युद्धे सहायता।।८।।
अङ्गुष्ठगुल्फपाण्यङ्घ्रयः शिलष्टाः स्युः सहिता यदि। दृष्टं समपदं स्थानमेतल्लक्षणस्तथा।।९।।

अध्याय-२४९

धनुर्वेद का विचार

श्रीअग्नि देव ने कहा कि-हे वसिष्ठ! अधुना मैं चार पादों से युक्त धनुर्वेद का वर्णन करने जा रहा हूँ। धनुर्वेद पाँच तरह का होता है। रथ, हाथी, घोड़े और पैदल-सम्बन्धी योद्धाओं का आश्रय लेकर इसका वर्णन किया गया है। यन्त्रमुक्त, पाणिमुक्त, मुक्तसंधारित, अमुक्त और बाहुयुद्ध-ये ही धनुर्वेद के पाँच तरह कहे गये हैं। उसमें भी शस्त्र-सम्पत्ति और अस्त्र-सम्पत्ति के भेद से युद्ध दो तरह का बतलाया गया है। ऋजुयुद्ध और मायायुद्ध के भेद से उसके पुनः दो भेद हो जाते हैं। क्षेपणी (गोफन आदि), धनुष एवं यन्त्र आदि के द्वारा जो अस्त्र फेंका जाता है, उसको 'यन्त्रमुक्त' कहते हैं। यन्त्रमुक्त अस्त्र का जहाँ अधिक प्रयोग हो, वह युद्ध भी 'यन्त्रमुक्त' ही कहलाता है। प्रस्तरखण्ड और तोमर-यन्त्र आदि को 'पाणिमुक्त' कहा गया है। भाला आदि जो अस्त्र शत्रु पर छोड़ा जाय और फिर उसको हाथ में ले लिया जाय, उसको 'मुक्तसंधारित' समझना चाहिये। खड्ग (तलवार आदि) को 'अमुक्त' कहते हैं और जिसमें अस्त्र-शस्त्रों का प्रयोग न करके मल्लों की भाँति लड़ा जाय, उस युद्ध को 'नियुद्ध' या 'बाहुयुद्ध' कहते हैं।।१-५।।

युद्ध की इच्छा रखने वाले पुरुष को श्रम को जीत कर और योग्य पात्रों का संग्रह करना चाहिये। जिनमें धनुष बाण का प्रयोग हो, वे युद्ध श्रेष्ठ कहे गये हैं; जिनमें भालों की मार हो, वे मध्यम कोटि के हैं। जिनमें खड्गों से प्रहार किया जाय, वे निम्नश्रेणी के युद्ध हैं और बाहुयुद्ध सबसे निकृष्ट कोटि के अन्तर्गत हैं। धनुर्वेद में क्षत्रिय और वैश्य-इन दो वर्णों का भी गुरु ब्राह्मण ही बतलाया गया है। आपत्तिकाल में स्वयं शिक्षा लेकर शूद्र को भी युद्ध का अधिकार प्राप्त है। देश या राष्ट्र में रहने वाले वर्णसंकरों को भी युद्ध में राजा की सहायता करनी चाहिये।।६-८।।

स्थान-वर्णन-अङ्गुष्ठ, गुल्फ, पार्ष्णिभाग और पैर-ये एक रहकर परस्पर सटे हुए हों तो लक्षण के अनुसार

बाह्याङ्गुलिस्थितौ पादौ स्तब्धजानुबलावुभौ। त्रिवितस्त्यन्तरास्थानमेतद्वैशाखमुच्यते॥१०॥
हंसपङ्क्त्याकृतिसमे दृश्यते यत्र जानुनी। चतुर्वितस्तिविच्छिन्ने तदेतन्मण्डलं स्मृतम्॥११॥
हलाकृतिमयं यच्च स्तब्धजानूरुदक्षिणम्। वितस्त्यः पञ्चविस्तारे तदालीढं प्रकीर्तितम्॥१२॥
एतदेव विपर्यस्तं प्रत्यालीढमिति स्मृतम्। तिर्यग्भूतो भवेद्वामो दक्षिणोऽपि भवेदृजुः॥१३॥
गुल्फौ पार्ष्णिग्रहौ चैव स्थितौ पञ्चाङ्गुलान्तरौ। स्थानं जातं भवेदेतद्द्वादशाङ्गुलमायतम्॥१४॥
ऋजुजानुर्भवेद्वामो दक्षिणः सुप्रसारितः। अथवा दक्षिणं जानु कुब्जं भवति निश्चलम्॥१५॥
दण्डायतो भवेदेष चरणः सह जानुना। एवं विकटमुद्दिष्टं द्विहस्तान्तरमायतम्॥१६॥
जानुनी द्विगुणे स्यातामुत्तानौ चरणावुभौ। अनेन विधियोगेन संपुटं परिकीर्तितम्॥१७॥
किञ्चिद्विवर्जितौ पादौ समण्डायतौ स्थिरौ। दृष्टमेव यथान्यायं षोडशाङ्गुलमायतम्॥१८॥
स्वस्तिकेनात्र कुर्वीत प्रणामं प्रथमं द्विज। कार्मुकं गृह्य वामेन बाणं दक्षिणकेन तु॥१९॥
वैशाखे यदि वा जाते स्थितौ वाऽप्यथ वाऽऽयतौ। गुणान्तं तु ततः कृत्वा कार्मुके प्रियकार्मुकः॥२०॥
अधःकोटिं तु धनुषः फलदेशं तु पत्रिणः। धरण्यां स्थापयित्वा तु तोलयित्वा तथैव च॥२१॥
भुजाभ्यामत्र कुब्जाभ्यां प्रकोष्ठाभ्यां शुभव्रत। तस्य बाणं धनुःश्रेष्ठं पुङ्खदेशे च पत्रिणः॥२२॥

इसको 'समपद' नामक स्थान कहते हैं। दोनों पैर बाह्य अङ्गुलियों के बलपर स्थित हों, दोनों घुटने स्तब्ध हों तथा दोनों पैरों के मध्य का फैसला तीन बित्ता हो, तो यह 'वैशाख' नामक स्थान कहलाता है। जिसमें दोनों घुटने हंसपंक्ति के आकार की भाँति दिखायी देते हों और दोनों में चार बित्ते का अन्तर हो, वह 'मण्डल' स्थान माना गया है। जिसमें दाहिनी जाँघ और घुटना स्तब्ध (तना हुआ) हो और दोनों पैरों के मध्य का विस्तार पाँच बित्ते का हो, उसको 'आलीढ़' नामक स्थान कहा गया है। इसके विपरीत जहाँ बायीं जाँघ और घुटना स्ताम्ब्ध हों तथा दोनों पैरों के मध्य का विस्तार पाँच बित्ता हो, वह 'प्रत्यालीढ़' नामक स्थान है। जहाँ बायाँ पैर टेढ़ा और दाहिना सीधा हो तथा दोनों गुल्फ और पार्ष्णिभाग पाँच अङ्गुल के अन्तर पर स्थित हों तो यह द्वादश अङ्गुल बड़ा 'स्थानक' कहा गया है। यदि बायें पैर का घुटना सीधा हो और दाहिना पैर भलीभाँति फैलाया गया हो अथवा दाहिना घुटना कुब्जाकार एवं निश्चल हो या घुटने के साथ ही दायाँ चरण दण्डाकार विशाल दिखायी दे तो ऐसी स्थिति में 'विकट' नामक स्थान कहा गया है। इसमें दोनों पैरों का अन्तर दो हाथ बड़ा होता है। जिसमें दोनों घुटने दुहरे और दोनों पैर उत्तान हो जायँ, इस विधान के योग से जो 'स्थान' बनता है, उसका नाम 'सम्पुट' है। जहाँ कुछ घूमे हुए दोनों पैर समभाव से दण्ड के समान विशाल एवं स्थिर दिखायी दें, वहाँ दोनों के मध्य की लम्बाई सोलह अङ्गुल की ही देखी गयी है। यह स्थान का यथोचित स्वरूप है॥९-१८॥

हे ब्रह्मन्! योद्धाओं को चाहिये कि पहले बायें हाथ में धनुष और दायें हाथ में बाण लेकर उसको चलायें और उन छोड़े हुए बाणों को स्वस्तिकाकार करके उनके द्वारा गुरुजनों को नमस्कार करें। धनुष का प्रेमी योद्धा 'वैशाख' स्थान के सिद्ध हो जाने पर 'स्थित' (वर्तमान) या 'आयति' (भविष्य) में जिस समय आवश्यकता हो, धनुष पर डोरी को फैलाकर धनुष की निचली कोटि और बाण के फलदेश को धरती पर टिकाकर रखे और उसी अवस्था में मुड़ी हुई दोनों भुजाओं एवं कलाइयों द्वारा नापे। श्रेष्ठतम व्रत का पालन करने वाले वसिष्ठ! उस योद्धा के बाण से धनुष

विन्यासो धनुषश्चैव द्वादशाङ्गुलमन्तरम्। ज्यया विशिष्टः कर्तव्यो नातिहीनो न चाधिकः॥२३॥
निवेश्य कार्मुकं नाभ्यां नितम्बे शरसंकरम्। उत्क्षिपेदुत्थितं हस्तमन्तरेणाक्षिकर्णयोः॥२४॥
पूर्वेण मुष्टिना ग्राह्यः स्तनाग्रे दक्षिणे शरः। हरणं तु ततः कृत्वा शीघ्रं पूर्वं प्रसारयेत्॥२५॥
नाऽऽभ्यन्तरा नैव बाह्या नोर्ध्वका नाधरा तथा। न च कुब्जा न चोत्ताना न चला नातिवेष्टिता॥२६॥
समा स्थैर्यगुणोपेता पूर्वदण्डमिव स्थिता। छादयित्वा ततो लक्ष्यं पूर्वेणानेन मुष्टिना॥२७॥
उरसा तूत्थितो यन्ता त्रिकोणविनतस्थितः। स्रस्तांसो निश्चलग्रीवा मयुराञ्चितमस्तकः॥२८॥
ललाटनासावक्त्रांसकूर्परेषु समो भवेत्। अन्तरं त्र्यङ्गुलं ज्ञेयं चिबुकस्यांशु (स) कस्य च॥२९॥
प्रथमं त्र्यङ्गुलं ज्ञेयं द्वितीये द्व्यङ्गुलं स्मृतम्। तृतीयेऽङ्गुलमुद्दिष्टमायतं चिबुकांसयोः॥३०॥
गृहीत्वा सायकं पुङ्खात्तर्जन्याऽङ्गुष्ठकेन तु। अनामया पुनर्गृह्य तथा मध्यमयाऽपि च॥३१॥
तावदाकर्षयेद्वेगाद्यावद्बाणःसुपूरितः। एवं विधमुपक्रम्य मोक्तव्यं विधिवत्खगम्॥३२॥
दृष्टिमुष्टिहतं लक्ष्यं भिन्द्याद्बाणेन सुव्रत। मुक्त्वा तु पश्चिमं हस्तं क्षिपेद् वेगेन पृष्ठतः॥३३॥
एतदुच्छेदमिच्छन्ति ज्ञातव्यं हि त्वया द्विज। कूर्परं तदधः कार्यमाकृष्य तु धनुष्मता॥३४॥

सर्वथा वड़ा होना चाहिये और मुष्टि के सामने बाण के पुङ्ख तथा धनुष के डंडे में द्वादश अङ्गुल का अन्तर होना चाहिये। ऐसी स्थिति हो, तो धनुर्दण्ड को प्रत्यञ्चा से संयुक्त कर देना चाहिये। वह अधिक छोटा या बड़ा नहीं होना चाहिये॥१९-२३॥

धनुष को नाभिस्थान में और बाण-संचय को नितम्ब पर रखकर उठे हुए हाथ को आँख और कान के मध्य में कर ले तथा उस अवस्था में बाण को फेंके। पहले बाण को मुट्ठी में पकड़े और उसको दाहिने स्तनाग्र की सीध में रखे। उसके बाद उसको प्रत्यञ्चा पर ले जाकर उस मौर्वी (डोरी या प्रत्यञ्चा) को खींचकर पूर्णरूप से फैलावे। प्रत्यञ्चा न तो अन्दर हो न बाहर, न ऊँची हो न नीची, न कुबड़ी हो न उत्तान, न चञ्चल हो न अत्यन्त आवेष्टित। वह सम, स्थिरता से युक्त और दण्ड की भाँति सीधी होनी चाहिये। इस तरह पहले इस मुष्टि के द्वारा लक्ष्य को आच्छादित करके बाण को छोड़ना चाहिये॥२४-२७॥

धनुर्धर योद्धा को यत्नपूर्वक अपनी छाती ऊँची रखनी चाहिये और इस तरह झुककर खड़ा होना चाहिये, जिससे शरीर त्रिकोणाकार जान पड़े। कंधा ढीला, ग्रीवा निश्चल और मस्तक मयूर की भाँति शोभित हो। ललाट, नासिका, मुख, बाहुमुल और कोहनी—ये सम अवस्था में रहें। ठोढ़ी और कंधे में तीन अङ्गुल का अन्तर समझना चाहिये। पहली बार तीन अङ्गुल, दूसरी बार दो अङ्गुल और तीसरी बार ठोढ़ी तथा कंधे का अन्तर एक ही अङ्गुल का बतलाया गया है॥२८-३०॥

बाण को पुङ्ख की तरफ से तर्जनी एवं अँगेठे से पकड़े। फिर मध्यमा एवं अनामिका से भी पकड़ ले और अवतक वेगपूर्वक खींचता रहे, जबतक पूरा-पूरा बाण धनुष पर न आ जाय। ऐसा उपक्रम करके विधिपूर्वक बाण को छोड़ना चाहिये॥३१-३२॥

हे सुव्रत! पहले दृष्टि और मुष्टि से आहत हुए लक्ष्य को ही बाण से विदीर्ण करना चाहिये। बाण को छोड़कर पिछला हाथ बड़े वेग से पीठ की तरफ ले जाय; क्योंकि हे ब्रह्मन्! यह ज्ञात होना चाहिये कि शत्रु इस हाथ को

ऊर्ध्वं विमुक्तके कार्यमक्षिश्लिष्टं तु मध्यमम्। श्रेष्ठं प्रकृष्टं विज्ञेयं धनुःशास्त्रविशारदैः॥३५॥
ज्येष्ठस्तु सायको ज्ञेयो भवेद्द्वादश मुष्टयः। चतुर्हस्तं धनुःश्रेष्ठं त्रयः सार्धं तु मध्यमम्॥३६॥
कनीयस्तु त्रयः प्रोक्तं नित्यमेव पदातिनः। अश्वे रथे गजे श्रेष्ठे तदेव परिकीर्तितम्॥३७॥

॥इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गति धनुर्वेदकथनं नामैकोनपञ्चाशदधिकद्विशततमोऽध्यायः॥२४९॥

काट डालने की इच्छा करते हैं। इसलिये धनुर्धर पुरुष को चाहिये, धनुष को खींचकर कोहनी के नीचे कर ले और बाण छोड़ते समय उसके ऊपर करना चाहिये। धनुःशास्त्र-विशारद पुरुषों को यह विशेष रूप से समझना चाहिये। कोहनी का आँख से सटाना मध्यम श्रेणी का बचाव है और शत्रु के लक्ष्य से दूर रखना श्रेष्ठतम है॥३३-३५॥

श्रेष्ठतम श्रेणी का बाण द्वादश मुष्टियों के माप का होना चाहिये। ग्यारह मुष्टियों का 'मध्यम' और दस मुष्टियों का 'कनिष्ठ' माना गया है। धनुष चार हाथ लम्बा हो, तो 'श्रेष्ठतम', सोढ़े तीन हाथ का हो, तो 'मध्यम' और तीन हाथ का हो, तो 'कनिष्ठ' कहा गया है। पैदल योद्धा के लिये सदा तीन हाथ के ही धनुष को ग्रहण करने का विधान है। घोड़े, रथ और हाथी पर श्रेष्ठ धनुष का ही प्रयोग करने का विधान किया गया है॥३६-३७॥

॥इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी दो सौ उनचासवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ॥२४९॥

❖❖❖

अथ पञ्चाशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

धनुर्वेदकथनम्

अग्निरुवाच

पूर्णायतं द्विजः कृत्वा ततो मांसैर्गदायुधान्। सुनिर्धौतधनुः कृत्वा यक्षभूमौ विधापयेत्।।१।।
ततो बाणं समागृह्य दंशितः सुसमाहितः। तूणमासाद्या बध्नीयाद्दृढां कक्षां च दक्षिणाम्।।२।।
विलक्ष्यमपि तद्बाणं तत्र चैव सुसंस्थितम्। ततः समुद्धरेद्बाणं तूणाद्दक्षिणपाणिना।।३।।
तेनैव सहितं मध्ये शिरं संगृह्य धारयेत्। वामहस्तेन वै कक्षां धनुस्तस्मात्समुद्धरेत्।।४।।
अविषण्णमतिर्भूत्वा गुणे पुङ्खं निवेशयेत्। संपीड्य सिंहकर्णेन पुङ्खेनापि समे दृढम्।।५।।
वामकर्णोपविष्टं च फलं वामस्य धारयेत्। वर्णान्मध्यमया तत्र वामाङ्गुल्या च धारयेत्।।६।।
मनो लक्ष्यगतं कृत्वा मुष्टिना च विधानवित्। दक्षिणे गात्रभागे तु कृत्वा वर्णं विमोक्षयेत्।।७।।
ललाटपुटसंस्थानं दण्डं लक्ष्ये निवेशयेत्। आकृष्य ताडयेत्तत्र चन्द्रकं षोडशाङ्गुलम्।।८।।
मुत्त्वा बाणं ततः पश्चाद्वर्णाशिक्यं तदा तया। निगृह्णीयान्मध्यमया ततोऽङ्गुल्या पुनः पुनः।।९।।

अध्याय–२५०

धनुर्वेद प्रयोग विचार

श्रीअग्नि देव ने कहा कि–हे ब्रह्मन्! द्विज को पूरी लम्बाई वाले धनुष का निर्माण कराकर, उसको अच्छी तरह धो-पोंछकर यज्ञभूमि में स्थापित करना चाहिये तथा गदा आदि आयुधों को भलीभाँति साफ करके रखे। तत्पश्चात् बाणों का संग्रह करके, कवचधारणपूर्वक एकाग्रचित्त हो, तूणीर, ले, उसे पीठ की तरफ दाहिनी काँख के पास दृढ़ता के साथ बाँधे। ऐसा करने से विलक्ष्य बाण भी उस तूणीर में सुस्थिर रहता है। फिर दाहिने हाथ से तूणीर के अन्दर से बाण को निकाले। उसके साथ ही बायें हाथ से धनुष को वहाँ से उठा ले और उसके मध्यभाग में बाण का संधान करना चाहिये। चित्त में विषाद को न आने दे–उत्साह–सम्पन्न हो, धनुष की डोरी पर बाण का पुङ्खभाग रखे, फिर 'सिंहकर्ण' नामक मुष्टि द्वारा डोरी को पुङ्ख के साथ ही दृढ़तापूर्वक दबाकर समभाव से संधान करना चाहिये और बाण को लक्ष्य की तरफ छोड़े यदि बायें हाथ से बाण को चलाना हो, तो बायें हाथ में बाण ले और दाहिने हाथ से धनुष की मुट्ठी पकड़े। फिर प्रत्यञ्चा पर बाण को इस तरह रखे कि खींचने पर उसका फल या पुङ्ख बायें कान के सन्निकट आ जाय। उस समय बाण को बायें हाथ की (तर्जनी और अङ्गुष्ठ के अतिरिक्त) मध्यमा अङ्गुली से भी धारण किये रहना चाहिये। बाण चलाने की विधि को जानने वाला पुरुष उपरोक्त मुष्टि के द्वारा धनुष को दृढ़तापूर्वक पकड़कर, मन को दृष्टि के साथ ही लक्ष्यगत करके बाण को शरीर के दाहिने भाग की तरफ रखते हुए लक्ष्य की तरफ छोड़े।।१-७।।

धनुष का दण्ड इतना बड़ा हो कि भूमिपर खड़ा करने पर उसकी ऊँचाई ललाट तक आ जाय। उस पर लक्ष्यवेध के लिये सोलह अङ्गुल लम्बे चन्द्रक (बाणविशेष) का संधान करना चाहिये और उसको भलीभाँति खींचकर लक्ष्यपर प्रहार करना चाहिये। इस तरह एक बाण का प्रहार करके फिर तत्काल ही तूणीर से अङ्गुष्ठ एवं तर्जनी अङ्गुलि से भी दबाकर काबू में करना चाहिये और शीघ्र ही दृष्टिगत लक्ष्य की तरफ चलावे। चारों तरफ तथा दक्षिण तरफ

अक्षिलक्ष्यं क्षिपेत्तूणाच्चतुरस्त्रं च दक्षिणम्। चतुरस्त्रगतं वेद्यमभ्यसेच्चाऽऽदितः स्थितः॥१०॥
तस्मादनन्तरं तीक्ष्णं परावृत्तं गतं च यत्। निम्नमुन्नतवेधं च अभ्यसेत्क्षिप्रकं ततः॥११॥
वेध्यस्थानेष्वथैतेषु सत्त्वस्य पुटकाद्धनुः। हस्तावापशतैश्चित्रैस्तर्जयेद्दुस्तरैरपि॥१२॥
तस्मिन्वेध्यगते विप्र द्वे वेध्ये दृढसंज्ञके। द्वे वेध्ये दुष्करे वेध्ये द्वे तथा चित्रदुष्करे॥१३॥
न तु निम्नं च तीक्ष्णं च दृढवेध्ये प्रकीर्तिते। निम्नं दुष्करमुद्दिष्टं वेध्यमूर्ध्वगतं च यत्॥१४॥
मस्तकायनमध्ये तु चित्रदुष्करसंज्ञके। एवं वेध्यगणं कृत्वा दिक्षणेनेतरेण च॥१५॥
आरोहेत्प्रथमं वीरो जितलक्ष्यस्ततो नरः। एष एव विधिः प्रोक्तस्तत्र दृष्टः प्रयोक्तृभिः॥१६॥
अधिकं भ्रमणं तस्य तस्माद्वेध्यात्प्रकीर्तितम्। लक्ष्यं च योजयेत्तत्र पत्रिपत्रगतं दृढम्॥१७॥
भ्रान्तं प्रचलितं चैव स्थिरं यच्च भवेदति। समन्तात्ताडयेद्भिन्द्याच्छेदयेद् व्यथयेदपि॥१८॥
कर्मयोगविधानज्ञो ज्ञात्वैवं विधिमाचरेत्। मनसा चक्षुषा दृष्ट्या योगशिक्षुर्यमं जयेत्॥१९॥

॥इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते धनुर्वेदकथनं नाम पञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः॥२५०॥

लक्ष्यवेध का क्रम जारी रखे। योद्धा पहले से ही चारों तरफ बाण मारकर सभी तरफ के लक्ष्य को वेधने का अभ्यास करना चाहिये॥८-१०॥

तत्पश्चात् वह तीक्ष्ण, परावृत्त, गत, निम्न, उन्नत तथा क्षिप्र वेध का अभ्यास बढ़ावे। वेध्य लक्ष्य के ये जो उपरोक्त स्थान हैं, इनमें सत्त्व (बल एवं धैर्य) का पुट देतें हुए विचित्र एवं दुस्तर विधि से सैकड़ों बार हाथ से बाणों के निकालने एवं छोड़ने की क्रिया द्वारा धनुष का तर्जन करना चाहिये–उस पर टङ्कार देना चाहिये। हे विप्रवर! कथित वेध्य के अनेक भेद हैं। पहले तो दृढ़, दुष्कर तथा चित्र दुष्कर–ये वेध्य के तीन भेद हैं। ये तीनों ही भेद दो-दो तरह के होते हैं। 'नतनिम्ब' और 'तीक्ष्ण'–ये 'दृढ़वेध्य' के दो भेद हैं। 'दुष्करवेध्य' के भी 'निम्न' और 'ऊर्ध्वगत'-ये दो भेद कहे गये हैं तथा 'चित्रदुष्कर' वेध्य के 'मस्तकपन' और 'मध्य'–ये दो भेद बताये गये हैं। इस तरह इन वेध्यगणों को सिद्ध करके वीर पुरुष को पहले दायें अथवा बायें पार्श्व से शत्रुसेना पर चढ़ाई करना चाहिये। इससे मनुष्य को अपने लक्ष्य पर विजय प्राप्त होती है। प्रयोक्ता **पुरुषों ने वेध्य** के विषय में यही विधि देखी और बतलायी है। योद्धा के लिये उस वेध्य की अपेक्षा भ्रमण को **अधिक** श्रेष्ठतम बतलाया गया है। वह लक्ष्य को अपने बाण के पुङ्खभाग से आच्छादित करके उसकी तरफ दृढ़तापूर्वक शर-संधान करना चाहिये। जो लक्ष्य भ्रमणशील, अत्यन्त चञ्चल और सुस्थिर हो, उस पर सभी तरफ से प्रहार करना चाहिये। उसका भेदन और छेदन करना चाहिये तथा उसको सर्वथा पीड़ा पहुँचाये। कर्मयोग के विधान का ज्ञाता पुरुष को इस तरह समझ-बूझकर उचित विधि का आचरण करना चाहिये। जिसने मन, नेत्र और दृष्टि के द्वारा लक्ष्य के साथ एकता-स्थापन की कला सीख ले है, वह योद्धा यमराज को भी जीत सकता है। पाठान्तर के अनुसार वह श्रम को जीत लेता है–युद्ध करते-करते थकता नहीं॥११-१९॥

॥इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी दो सौ पचासवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ॥२५०॥

❖❖❖

अथैकपञ्चाशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

धनुर्वेदकथनम्

अग्निरुवाच

जितहस्तो जितमतिर्जितदृग्लक्ष्यसाधकः। नियतां सिद्धिमासाद्य ततो वाहनमारुहेत्।।१।।
दशहस्तो भवेत्पाशो वृत्तः करमुखस्तथा। गुणकार्पासमुञ्जानां भङ्गस्नाय्वर्कवर्मिणाम्।।२।।
अन्येषां सुदृढानां च सुकृतं परिवेष्टितम्। तथा त्रिंशत्समं पाशं बुधः कुर्यत्सुवर्तितुम्।।३।।
कर्तव्यं शिक्षकैस्तस्य स्थानं कक्षासु वै तदा। वामहस्तेन संगृह्य दक्षिणेनोद्धरेत्ततः।।४।।
कुण्डलस्याऽऽकृतिं कृत्वाऽऽभ्राम्यैकं मस्तकोपरि। क्षिपेत्तूर्णमये तूर्णं पुरुषे चर्मवेष्टिते।।५।।
वल्गिते च प्लुते चैव तथा प्रव्रजितेषु च। समयोगविधिं कृत्वा प्रयुञ्जीत सुशिक्षितम्।।६।।
विजित्वा(त्य)तु यथान्यायं ततो बन्धं समाचरेत्। कट्यां बद्धा ततः खड्गं वामपार्श्वावलम्बितम्।।७।।
दृढं विगृह्य वामेन निष्कर्षेद्दक्षिणेन तु। षडङ्गुलपरीणाहं सप्तहस्तसमुच्छ्रितम्।।८।।
अयोमय्यः शलाकाश्च वर्माणि विविधानि च। अर्धहस्ते समे चैव तिर्यगूर्ध्वगतं तथा।।९।।

अध्याय-२५१

धनुर्वेद में विशेष विचार

श्रीअग्नि देव ने कहा कि-हे ब्रह्मन्! जिसने हाथ, मन और दृष्टि को जीत लिया है, ऐसा लक्ष्यसाधक नियत सिद्धि को पाकर युद्ध के लिये वाहन पर आरूढ़ हो। 'पाश' दस हाथ बड़ा, गोलाकार और हाथ के लिये सुखद होना चाहिये। इसक लिये अच्छी मूँज, हरिण की ताँत अथवा आक के छिलकों की डोरी तैयार करानी चाहिये। इनके सिवा अन्य सुदृढ़ (पट्टसूत्र आदि) वस्तुओं का भी सुन्दर पाश बनाया जा सकता है। कथित सूत्रों या रस्सियों को कई आवृत्ति लपेटकर खूब बट ले। विज्ञ पुरुष तीस आवृत्ति लपेटकर खूब बट ले। विज्ञ पुरुष को तीस आवृत्ति करके बटे हुए सूत्र या रस्सी से ही पाश का निर्माण करना चाहिये।।१-३।।

शिक्षकों को पाश की शिक्षा देने के लिये कक्षाओं में स्थान बनाना चाहिये। पाश को बायें हाथ में लेकर दाहिने हाथ से उधेड़े। उसको कुण्डलाकार बना, सभी तरफ घुमाकर शत्रु के मस्तक के ऊपर फेंकना चाहिये। पहले तिनके के बने और चमड़े से मढ़े हुए पुरुष पर उसका प्रयोग करना चाहिये। तत्पश्चात् उछलते-कूदते और जोर-जोर से चलते हुए मनुष्यों पर सम्यक्‌रूप से विधिवत् प्रयोग करके सफलता प्राप्त कर लेने पर ही पाश का प्रयोग करना चाहिये। सुशिक्षित योद्धा को पाश द्वारा यथोचित विधि से जीत लेने पर ही शत्रु के प्रति पाश-बन्धन की क्रिया करनी चाहिये।।४-६।।

तत्पश्चात् कमर में म्यानसहित तलवार बाँधकर उसको बायी तरफ लटका ले तरफ उसकी म्यान को बायें हाथ से दृढ़ता के साथ पकड़कर दायें हाथ से तलवार को बाहर निकाले। उस तलवार की चौड़ाई छः अङ्गुल और लम्बाई या ऊँचाई सात हाथ की हो।।७-८।।

लोहे क बनी हुई कई शलाकाएँ और विविध तरह के कवच अपने आधे या समूचे हाथ में लगा ले; अगल-बगल में और ऊपर-नीचे भी शरीर की रक्षा के लिये इन सब वस्तुओं को विधिवत् धारण करना चाहिये।।९।।

योजयेद्विधिना येन तथा त्वं गदतः शृणु। तूणचर्मावनद्धाङ्गं स्थापयित्वा नवं दृढम्॥१०॥
करेणाऽऽदाय लगुडं दक्षिणाङ्गुलकं नवम्। उद्यम्य घातयेद्यस्य नाशस्तेन शिशोर्दृढम्॥११॥
उभाभ्यामथ हस्ताभ्यां कुर्यात्तस्य निपातनम्। अक्लेशेन ततः कुर्वन्वधे सिद्धिः प्रकीर्तिता॥
वाहानां श्रमकरणं प्रचारार्थं पुरा तव॥१२॥

॥इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गति धनुर्वेदकथनं नामैकपञ्चाशदधिकद्विशततमोऽध्यायः॥२५१॥

युद्ध में विजय के लिये जिस विधि से जैसी योजना बनानी चाहिये, वह बतलाने जा रहा हूँ, सुनो। तूणीर के चमड़े से मढ़ी हुई ऐ नयी और मजबूत लाठी अपने पास रख ले। उस लाठी को दाहिने हाथ की अँगुलियों से उठाकर वह जिसके ऊपर जोर से आघात करना चाहिये, उस शत्रु का अवश्य विनाश हो जायगा। इस क्रिया में सिद्धि मिलने पर वह दोनों हाथों से लाठी को शत्रु के ऊपर गिरावे। इससे अनायास ही वह उसका वध कर सकता है। इस तरह युद्ध में सिद्धि की बात बतलायी गयी। युद्धक्षेत्र में भलीभाँति संचरण के लिये अपने वाहनों से श्रम कराते रहना चाहिये, यह बात आपको पहले बतलायी गयी हैं॥१०-१२॥

॥इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी दो सौ एकावनवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ॥२५१॥

❖❖❖

अथ द्विपञ्चाशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

धनुर्वेदकथनम्

अग्निरुवाच

भ्रान्तमुद्भ्रान्तमाविद्धमाप्लुतं विप्लुतं प्लुतम्। संपातं समुदीशं च श्येनपातमथाऽऽकुलम्।।१।।
उद्धूतमवधूतं च सव्यं दक्षिणमेव च। अनालक्षितविस्फोटौ करालेन्द्रमहासखौ।।२।।
विकरालनिपातौ च विभीषणभयानकौ। समग्रार्धतृतीयांशपादपादार्धवारिजाः।।३।।
प्रत्यालीढमथाऽऽलीढं वराहं लुलितं तथा। इति द्वात्रिंशतो (त्का) ज्ञेया (:) खड्गचर्मविधौ (धा) रणे।।४।।
परावृत्तमपावृत्तं गृहीतं लघुसंज्ञितम्। ऊर्ध्वक्षिप्तमधः क्षिप्तं संधारितविधारितम्।।५।।
श्येनपातं गजपातं ग्राहग्राह्यं तथैव च। एवमेकादश विधा ज्ञेयाः पाशविधारणे।।६।।
ऋज्वायतं विशालं च तिर्यग्भ्रामितमेव च। पञ्चकर्म विनिर्दिष्टं व्यस्ते पाशे महात्मभिः।।७।।
छेदनं भेदनं पातो भ्रमणं शमनं तथा। विकर्तनं कर्तनं च चक्रकर्मेदमेव च।।८।।
आस्फोटः क्ष्वेडनं भेदस्त्रासान्दोलितकौ तथा। शूलकर्माणि जानीहि षष्ठमाघातसंज्ञितम्।।९।।
दृष्टिघातं भुजाघातं पार्श्वघातं द्विजोत्तम। ऋजुपक्षेषुणापातं तोमरस्य प्रकीर्तितम्।।१०।।
आहतं विप्रगोमूत्रप्रभूतं कमलासनम्। ततोर्ध्वगात्रं नमितं वामदक्षिणमेव च।।११।।
आवृत्तं च परावृत्तं पादोद्धूतमवप्लुतम्। हंसमर्दं विमर्दं च गदाकर्म प्रकीर्तितम्।।१२।।

अध्याय-२५२

धनुर्वेद में शस्त्रास्त्र विचार

श्रीअग्नि देव ने कहा कि—हे ब्रह्मन्! भ्रान्त, उद्भ्रान्त, आविद्ध, आप्लुत, पिप्लुत, प्लुत (या सृत), सम्पात, समुदीर्ण, श्येनपात, आकुल, उद्धृत, अवधूत, सव्य, दक्षिण, अनालक्षित, विस्फोट, करालेन्द्र, महासख, विकराल, निपात, विभीषण, भयानक, समग्र, अर्ध, तृतीयांश, पाद, पादार्थ, वारिज, प्रत्यालीढ़, आलीढ़, वराह और लुलित—ये युद्धक्षेत्र में दिखाये जाने वाले ढाल-तलवार के बत्तीस हाथ या चलाने के ढंग हैं; इनको समझना चाहिये।।१-४।।

परावृत्त, अपावृत्त, गृहीत, लघु, ऊर्ध्वक्षिप्त, अधःक्षिप्त, संधारित, विधारित, श्येनपात, गजपात और ग्राह-ग्राह्य—ये युद्ध में 'पाश' फेंकने के ग्यारह तरह हैं। ऋजु, आयत, विशाल, तिर्यक् और भ्रामित—ये पाँच कर्म 'व्यस्तपाश' के लिये महात्माओं ने बताये हैं। छेदन, भेदन, पात, भ्रमण, शमन, विकर्तन तथा कर्तन—ये सात कर्म 'चक्र' के हैं। आस्फोट, क्ष्वेडन, भेद, त्रास, आन्दोलितक और आघात—ये षड् 'शूल' के त्रास, आन्दोलि तक और आघात—ये षड् 'शूल' के कर्म जानो।।५-९।।

हे द्विजोत्तम! दृष्टिघात, भुजाघात, पार्श्वघात, ऋजुपात, पक्षपात और इषुपात—ये 'तोमर' के कार्य कहे गये हैं। हे विप्रवर! आहत, विहृत, प्रभूत, कमलासन, ततोर्ध्वगात्र, नमित, वामदक्षिण, आवृत्त, परावृत्त, पादोद्धूत, अवप्लुत, हंसमर्द या हंसमार्ग तथा विमर्द—ये 'गदा-सम्बन्धी' कर्म कहे गये हैं। कराल, अवघात, दंशोपप्लुत, क्षिप्तहस्त, स्थित

करालमवघातं च दंशोपप्लुतमेव च। क्षिप्तहस्तं स्थितं शून्यं परशोस्तु विनिर्दिशेत्॥१३॥
ताडनं छेदनं विप्र तथा चूर्णनमेव च। मुद्गरस्य तु कर्माणि तथा प्लवनघातनम्॥१४॥
संश्रान्तमथ विश्रान्तं गोविसर्गं सुदुर्धरम्। भिन्दिपालस्य कर्माणि लगुडस्य च तान्यपि॥१५॥
अन्त्यं मध्यं परावृत्तं निदेशान्तं द्विजोत्तम। वज्रस्यैतानि कर्माणि पट्टिशस्य च तान्यपि॥१६॥
हरणं छेदनं घातो भेदनं रक्षणं तथा। कृपाणकर्म निर्दिष्टं पातनं स्फोटनं तथा॥१७॥
त्रासन रक्षणं घातो बलोद्धरणमायतम्। क्षेपणीकर्म निर्दिष्टं यन्त्रकर्मैतदेव तु॥१८॥
सप्ताङ्गमवदंशश्च वराहोद्धतकं तथा। हस्तावहस्तमालीनमेकहस्तावहस्तके॥१९॥
द्विहस्तबाहुपाशे च कटिरोचितकोद्‌गते। उरोललाटघाते च भुजाविधमनं तथा॥२०॥
करोद्धूतं विमानं च पादाहति विपादिकम्। गात्रसंश्लेषणं शान्तं तथा गात्रविपर्ययः॥२१॥
ऊर्ध्वप्रहारं घातं च गोमूत्रं सव्यदक्षिणे। पारकं तारकं दण्डं कबरीबन्धमाकुलम्॥२२॥
तिर्यग्बन्धमपामार्ग भौमवेगं सुदर्शनम्। सिंहाक्रान्तं गजाक्रान्तं गर्दभाक्रान्तमेव च॥२३॥
गदाकर्माणि जानीयान्नियुद्धस्याथ कर्म च। आकर्षणं विकर्षं च बाहूनां मूलमेव च॥२४॥
ग्रीवाविपरिवर्तं च पृष्ठभङ्गं सुदारुणम्। पर्यासनविपर्यासौ पशुमारमजाविकम्॥२५॥
पादप्रहारमास्फोटं कटिरेचितकं तथा। गात्राश्लेषं स्कन्धगतं महीव्याजनमेव च॥२६॥
उरोललाटघातं च विस्पष्टकरणं तथा। उद्‌धूतमवधूतं च तिर्यङ्मार्गगतं तथा॥२७॥
गजस्कन्धमवक्षेपमपराङ्मुखमेव च। देवमार्गमधोमार्गममार्गगमनाकुलम्॥२८॥

और शून्य—ये 'फरसे' के कर्म समझने चाहिये। हे विप्रवर! ताड़न, छेदन, चूर्णन, प्लवन तथा घातन—ये 'मुद्गर' के कर्म हैं। संश्रान्त, विश्रान्त, गोविसर्ग तथा सुदुर्धर—ये 'भिन्दिपाल' के कर्म हैं और 'लगुड' के भी वेही कर्म बताये गये हैं॥१०-१५॥

हे द्विजोत्तम! अन्त्य, मध्य, परावृत्त तथा निदेशान्त—यह 'वज्र' और 'पट्टिश' के कर्म हैं। हरण, छेदन, घात, भेदन, रक्षण, पातन तथा स्फोटन—ये 'कृपाण' के कर्म कहे गये हैं॥१६-१७॥

त्रासन, रक्षण, घात, बलोद्धरण और आयत—ये 'क्षेपणी' (गोफन) के कार्य कहे गये हैं। ये ही 'यन्त्र' के भी कर्म हैं। संत्याग, अवदंश, वराहोद्धतक, हस्तावहस्त, आलीन, एकहस्त, अवहस्तक, द्विहस्त, बाहुपाश, कटिरेचितक, उद्गत, उरोघात, ललाटघात, भुजाविधमन, करोद्धूत, विमान, पादाहति, विपादिक, गात्रसंश्लेषण, शान्त, गात्रविपर्यय, ऊर्ध्वप्रहार, घात, गोमूत्र, सव्य, दक्षिण, पारक, तारक, दण्ड (गण्ड), कबरीबन्ध, आकुल, तिर्यग्बन्ध, अपामार्ग, भीमवेग, सुदर्शन, सिंहाक्रान्त, गजाक्रान्त और गर्दभाक्रान्त—ये 'गदायुद्ध' के हाथ जानने चाहिये। अधुना 'मल्लयुद्ध' के दाव-पेंच बताये जाते हैं॥१८-२३॥

आकर्षण, विकर्षण, बाहुमूल, ग्रीवाविपरिवर्त, सुदारुण, पृष्ठभङ्ग, पर्यासन, विपर्यास, पशुमार, अजाविक, पादप्रहार, आस्फोट, कटिरेचितक, गात्राश्लेष, स्कन्धगत, महीव्याजन, उरोललाटघात, विस्पष्टकरण, उद्‌धूत, अवधूत, तिर्यङ्मार्गगत, गजस्कन्ध, अवक्षेप, अपराङ्मुख, देवमार्ग, अधोमार्ग, अमार्गगमनाकुल, यष्टिघात, अवक्षेप, वसुधादारण,

यष्टिघातमवक्षेपो वसुधादारणं तथा। जानुबन्धं भुजाबन्धं गात्रबन्धं सुदारुणम्।।२९।।
विपृष्ठं सोदकं शुभ्रं भुजावेष्टितमेव च। संनद्धैःसंयुगे भाव्यं सशस्त्रैस्तैर्गजादिभिः।।३०।।
वराङ्कुशधरौ चोभावेको ग्रीवागतोऽपरः। स्कन्धगौ द्वौ च धानुष्कौ द्वौ च खड्गधरौ गजे।।३१।।
रथे रथे रणे चैव तुरंगाणां त्रयं भवेत्। धानुष्काणां त्रयं प्रोक्तं रक्षार्थे तुरगस्य च।।३२।।
धन्विनो रक्षणार्थाय चर्मिणं तु नियोजयेत्। स्वमन्त्रैः शस्त्रमभ्यर्च्य शास्त्रं त्रैलोक्यमोहनम्।।
यो युद्धे याति स जयेदरीसंपालयेद्भुवम्।।३३।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गति धनुर्वेदकथनं नामैकपञ्चाशदधिकद्विशततमोऽध्यायः।।२५२।।

—※※※—

जानुवन्ध, भुजाबन्ध, सुदारुण, गात्रबन्ध, विपृष्ठ, सोदक, श्वभ्र तथा भुजावेष्टित।।२४-२९।। युद्ध में कवच धारण करके अस्त्र-शस्त्र से सम्पन्न हो, हाथी आदि वाहनों पर चढ़कर उपस्थित होना चाहिये। हाथी पर श्रेष्ठतम अङ्कुश धारण किये दो महावत या चालक रहने चाहिये। उनमें से एक तो हाथी की गर्दन पर सवार हो और दूसरा उसके कंधे पर। इनके अतिरक्त सवारों में दो धनुर्धर होने चाहिये और दो खड्गधारी।।३०-३१।।

प्रत्येक रथ और हाथी की रक्षा के लिये तीन-तीन घुड़सवार सैनिक रहें तथा घोड़े की रक्षा के लिये तीन-तीन धनुर्धर पैदल-सैनिक रहने चाहिये। धनुर्धर की रक्षा के लिये चर्म या ढाल लिये रहने वाले योद्धा की नियुक्ति करनी चाहिये।।३२।।

जो प्रत्येक शस्त्र का उसके अपने मन्त्रों से पूजन करके 'त्रैलोक्यमोहन-कवच' का पाठ करने के अनन्तर युद्ध में आता है, वह शत्रुओं पर विजय पाता तरफ भूतल की रक्षा करता है। पाठान्तर के अनुसार शत्रुओं पर विजय पाता है और उनको निश्चय ही मार गिराता है।।३३।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी दो सौ बावनवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।२५२।।

अथ त्रिपञ्चाशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

व्यवहारकथनम्

अग्निरुवाच

व्यवहारं प्रवक्ष्यामि नयानयविवेकदम्। स चतुष्पाच्चतुःस्थानश्चतुःसाधन उच्यते॥१॥
चतुर्हितश्चतुर्व्यापी चतुष्कारी च कीर्त्यते। अष्टाङ्गोऽष्टादशपदः शतशाखस्तथैव च॥२॥
त्रियोनिर्द्व्यभियोगश्च द्विदारो द्विगतिस्तथा। धर्मश्च व्यवहारश्च चरित्रं राजशासनम्॥३॥
चतुष्पाद्व्यवहाराणामुत्तरः पूर्वसाधकः। तत्र सत्ये स्थितो धर्मो व्यवहारस्तु साक्षिषु॥४॥
चरित्रे संग्रहे पुंसां राजाज्ञायां तु शासनम्। सामा (द्युपायसाध्यत्वाच्च्तुःसाधन उच्यते॥५॥
चतुर्णामाश्रमाणां च रक्षणात्स चतुर्हितः। कर्तारं साक्षिणश्चैव सभ्या) न्राजानमेव च॥६॥
व्याप्नोति पादशो यस्माच्चतुर्व्यापी ततः स्मृतः। धर्मस्यार्थस्य यशसो लोकपङ्क्तेस्तथैव च॥७॥
चतुर्णा करणादेष चतुष्कारी प्रकीर्तितः। राजा सपुरुषः सभ्याः शास्त्रं गणकलेखकौ॥८॥
हिरण्यमग्निरुदकमष्टाङ्ग समुदाहृतः। (कामात्क्रोधाच्च लोभाच्च त्रिभ्यो यस्मात्प्रवर्तते॥९॥
त्रियोनिः कीर्त्यते तेन त्रयमेतद्विवादकृत्। द्व्यभियोगस्तु विज्ञेयः शङ्कातत्त्वाभियोगतः॥१०॥
शङ्कासद्भिस्तु संसर्गात्तत्वं षोडाभिदर्शनात्। पक्षद्वयाभिसम्बन्धाद्द्विद्वारः समुदाहृतः)॥११॥

अध्याय-२५३

व्यवहार

श्रीअग्नि देव ने कहा कि-हे वसिष्ठ! अधुना मैं व्यवहार का वर्णन करने जा रहा हूँ, जो नय और अनय का विवेक सम्प्रदान करने वाला है। उसके चार चरण, चार स्थान तरफ चार साधन बतलाये गये हैं। वह चार का हितकारी, चार में व्याप्त और चार का कर्ता कहा जाता है। वह आठ अङ्ग अठारह पद, सौ शाखा, तीन योनि, दो अभियोग दो द्वार और दो गतियों से युक्त है॥१-२॥

धर्म, व्यवहार, चरित्र और राजशासन-ये व्यवहारदर्शन के चार चरण हैं। इनमें उत्तरोत्तर पाद पूर्व-पूर्व पाद के साधक हैं। इन सबमें 'धर्म' का आधार सत्य है, 'व्यवहार' का आधार साक्षी (गवाह) है, 'चरित्र' पुरुषों के संग्रह पर आधारित है और 'शासन' राजा की आज्ञा पर अवलम्बित है। साम, दान, दण्ड और भेद-इन चार उपायों से साध्य होने के कारण वह 'चार साधनों वाला' है। चारों आश्रमों की रक्ष करने से वह 'चतुर्हित' है। अभियोक्ता, साक्षी, सभासद और राजा-इनमें एक-एक चरण से उसकी स्थिति है-इसलिये उसको 'चतुर्व्यापी' माना गया है। वह धर्म, अर्थ, यश और लोकप्रियता-इन चारों की वृद्धि करने वाला होने से 'चतुष्कारी' कहा जाता हैराजपरुष, सभासद, शास्त्र, गणक, लेखक, स्वर्ण, अग्नि और जल-इन आठ अङ्गों से युक्त होने के कारण वह 'अष्टाङ्ग' है। काम, क्रोध और लोभ-इन तीन कारणों से मनुष्य की इसमें प्रवृत्ति होती है, इसीलिये व्यवहार को 'त्रियोनि' कहा जाता है; क्योंकि ये तीनों ही विवाद कराने वाले हैं। अभियोग के दो भेद हैं-१. शङ्काभियोग और २. तत्त्वाभियोग। इसी दृष्टि से वह दो अभियोग

पूर्ववादस्तयोः पक्षः प्रतिपक्षस्त्वनन्तरः। भूतश्छलानुसारित्वाद्द्विगतिः समुदाहृतः।।१२।।
ऋणं देयमदेयं च येन यत्र यथा च यत्। दानग्रहणधर्मश्च ऋणादानमिति स्मृतम्।।१३।।
स्वद्रव्यं यत्र विश्रम्भान्निक्षिपत्यविशङ्कितः। निक्षेपं नाम तत्प्रोक्तं व्यवहारपदं बुधैः।।१४।।
वणिक्प्रभृतयो यत्र कर्म संभूय कुर्वते। तत्सम्भूय समुत्थानं व्यवहारपदं विदुः।।१५।।
दत्वा द्रव्यं च सम्यग्यः पुनरादातुमिच्छति। दत्ता प्रदानिकं नाम तद्विवादपदं स्मृतम्।।१६।।
अभ्युपेत्य च शुश्रूषां यस्तां न प्रतिपद्यते। अशुश्रूषामुपेत्यैतद्विवादपदमुच्यते।।१७।।
(भृत्यानां वेतनस्योक्तो दानादानविधिश्च यः। वेतनस्यानपाकर्म तद्विवादपदं स्मृतम्।।१८।।
निक्षिप्तं वा परद्रव्यं नष्टं लब्ध्वाऽपहृत्य वा। विक्रीयते परोक्षं यत्स ज्ञेयोऽस्वाभिविक्रि(क्र) यः।।१९।।
विक्रीय (पण्यं मूल्येन क्रेत्रे यच्च न दीयते। विक्रीयासम्प्रदानं तद्विवादपदमुच्यते।।२०।।
क्रीत्वा मूल्येन यः पण्यं क्रेता न बहु मन्यते। कृत्वा मूल्यं तु यः पण्यं दुष्क्रीतं मन्यते क्रयी।।२१।।
पाषण्डनैगमादीनां स्थितिः समय उच्यते। समयस्यानपाकर्म तद्विवादपदं स्मृतम्।।२२।।
सेतुकेदारमर्यादा विकृष्टाकृष्टनिश्चयाः। क्षेत्राधिकारे यत्र स्युर्विवादः क्षेत्रजस्तु सः।।२३।।

वाला है। 'शङ्का' असत् पुरुषों के संसर्ग से होती है और 'तत्त्वाभियोग' होढा (चिह्न या प्रमाण) देखने से होता है। यह दो पक्षों से सम्बन्धित होने के कारण 'दो द्वारों वाला' कहा जाता है। इनमें पूर्ववाद 'पक्ष' और उत्तरवाद 'प्रतिपक्ष' कहलाता है। 'भूत' और 'छल'—इनका अनुसरण करने से यह दो गतियों से युक्त माना जाता है।।३-१२।।

कैसा ऋण देय है, कैसा ऋण अदेय है—कौन दे, किस समय दे, किस तरह से दे, ऋण देने की विधि या पद्धति क्या है तथा उसको लेने या वसूल करने का विधान क्या है? इन सब बातों का विचार 'ऋणादान' कहा गया है। जिस समय कोई मनुष्य किसी पर विश्वास करके शङ्काहीन होकर उसके पास अपना कोई द्रव्य धरोहर के तौर पर देता है, तत्पश्चात् उसको विद्वान् लो 'निक्षेप' नामक व्यवहारपद कहते हैं। जिस समय वणिक् आदि अनेक मनुष्य मिलकर सहकारिता या साझेदारी के तौर पर कोई कार्य करते हैं तो उसको 'सम्भूयसमुत्थान' संज्ञक विवादपद बतलाते हैं। यदि कोई मनुष्य पहले विधिपूर्वक किसी द्रव्य का दान देकर पुनः उसको रख लेने की इच्छा करना चाहिये, तो वह 'दत्ताप्रदानिक' नामक विवादपद कहा जाता है। जो सेवा स्वीकार करके भी उसका निष्पादन नहीं करता या उपस्थित नहीं होता, उसका यह व्यवहार 'अभ्युपेत्य आशुश्रूषा' नामक विवादपद होता है।

भृत्यों को वेतन देने-न-देने से सम्बन्ध रखने वाला विवाद 'वेतनानपाक्रम' माना गया है। धरोहर में रखे हुए या खोये हुए पराये द्रव्य को पाकर अथवा चुराकर स्वामी के परोक्ष में बेचा जाय तो यह 'अस्वामिविक्रय' नामक विवादपद कहा जाता है। यदि ग्राहक किसी वस्तु का मूल्य देकर खरीदने के बाद उस वस्तु को ठीक नहीं समझना, तो उसका यह आचरण 'क्रीतानुशय' नामक विवादपद कहलाता है। यदि ग्राहक या खरीददार मूल्य देकर वस्तु को खरीद लेने के बाद यह समझता है कि वह खरीददारी ठीक नहीं है, इसलिये वह वस्तु लौटाकर दाम वासप लेना चाहिता है तो उसी दिन यदि वह लौटा दे तो विक्रेता उसका मूल्य पूरा-पूरा लौटा दे, उसमें काट-छाट नहीं करना चाहिये।।१३-२१।।

पाखण्डी और नैगम आदि की स्थिति को 'समय' कहते हैं। इससे सम्बन्ध विवादपद को 'समयानपाकर्म' कहा जाता है। याज्ञवल्क्य ने इसको 'संविद्-व्यतिक्रक' नाम दिया है। क्षेत्र के अधिकार को लेकर सेतु, केदार (मेड़)

वैवाहिको विधिः स्त्रीणां यत्र पुंसां च कीर्त्यते)। स्त्रीपुंसयोगसंज्ञं तु तद्विवादपदं स्मृतम्॥२४॥
विभागोऽर्थस्य पैत्रस्य पुत्रैर्यस्तु प्रकल्प्यते। दायभागमिति प्रोक्तं तद्विवादपदं बुधैः॥२५॥
सहसा क्रियते कर्म यत्किंचिद्बलदर्पितैः। तस्साहसमिति प्रोक्तं विवादपदमुच्यते॥२६॥
देशजातिकुलादीनामाक्रोशाद्व्यङ्गसंयुतम्। यद्वचः प्रतिकूलार्थं वाक्पारुष्यं तदुच्यते॥२७॥
परगात्रेष्वभिद्रोहो हस्तपादायुधादिभिः। अग्न्यादिभिश्चोपघातैर्दण्डपारुष्यमुच्यते॥२८॥
अक्षवध्रशलाकाद्यैर्देवनं द्यूतमुच्यते। पशुक्रीडावयोभिश्च प्राणिद्यूतं समादिशेत्॥२९॥
प्रकीर्णकः पुनर्ज्ञेयो व्यवहारो निराश्रयः। राज्ञामाज्ञाप्रतीघातस्तत्कर्माकरणं तथा॥३०॥
व्यवहारो दशपदस्तेषां भेदोऽथ वै शतम्। क्रियाभेदान्मनुष्याणां शतशाखो निगद्यते॥३१॥
व्यवहारान्नृपः पश्चेज्ज्ञानिविप्रैरकोपनः। शत्रुमित्रसमाः सभ्या अलोभाः श्रुतिवेदिनः॥३२॥
अपश्यता कार्यवशात्सभ्यैर्विप्रं नियोजयेत्। रागाल्लोभाद्भयाद्वाऽपि श्रुत्यपेतादिकारिणः॥३३॥
सभ्याः पृथक्पृथग्दण्ड्या विवादाद्द्विगुणो दमः। स्मृत्याचारव्यपेतेन मार्गेणाधर्षितः परैः॥३४॥
आवेदयति यद्राज्ञे व्यवहारपदं हि तत्। प्रत्यर्थिनोऽग्रतो लेख्यं यथावेदितमर्थिना॥३५॥
समामासतदर्धाहर्नामजात्यादिचिह्नितम्। श्रुतार्थस्योत्तरं लेख्यं पूर्वावेदकसंनिधौ॥३६॥

और क्षेत्र सीमा के घटने-बढ़ने के विषय में जो विवाद होता है, वह 'क्षेत्रज' कहा गया है। जो स्त्री और पुरुष के विवाहादि के सम्बन्धित विवादपद है, उसको 'स्त्रीपुंस योग' कहते हैं। पुत्रगण पैतृक धन का जो विभक्तीकरण करते हैं, पुत्रगण पैतृक धन का जो विभक्तीकरण करते हैं, विद्वानों ने उसको '**दायभाग**' नामक व्यवहारपद माना है। बल के अभिमान से जो कर्म सहसा किया गया है। किसी के देश, जाति एवं वंश आदि पर दोषारोपण करके प्रतिकूल अर्थ से युक्त व्यंग्यपूर्ण वचन कहना '**वाक्-पारुष्य**' माना गया है। दूसरे के शरीर पर हाथ-पैर या आयुध से प्रहार अथवा अग्नि आदि से आघात करना '**दण्डपारुष्य**' कहलाता है। पा से, वध्र (चमड़े की पट्टी) और शलाका (हाथी दाँत की गोटियों) से जो क्रीडा होती है, उसको 'द्यूत' कहा जाता है। (घोड़े आदि) पशुओं और (बटेर आदि) पक्षियों से होने वाली क्रीडा को 'प्राणिद्यूत' समझना चाहिये। राजा की आज्ञा का उल्लङ्घन और उसका कार्य न करना यह '**प्रकीर्णक**' नामक व्यवहारपद समझना चाहिये। वह विवादपद राजा पर आश्रित है। इस तरह व्यवहार अठारह पदों से युक्त है। इनके भी सौ भेद माने गये हैं मनुष्यों की क्रिया के भेद से यह सौ शाखाओं वाला कहा जाता है॥२२-३१॥

राजा क्रोधहीन होकर ज्ञान-सम्पन्न ब्राह्मणों के साथ व्यवहार का विचार करना चाहिये और ऐसे मनुष्यों को सभासद बनाये, जो वेदवेत्ता, लोभहीन और शत्रु एवं मित्र को समान दृष्टि से देखने वाले हों। यदि राजा कार्यवश स्वयं व्यवहार का विचार न कर सके तो सभासदों के साथ विद्वान् ब्राह्मण को नियुक्त करना चाहिये। यदि सभासद राग, लोभ या भय से धर्मशास्त्र एवं आचार के विरुद्ध कार्य करना चाहिये, तो राजा प्रत्येक सभासद पर पृथक्-पृथक् विवाद से दुगुना अर्थदण्ड करना चाहिये। कोई मनुष्य दूसरों के द्वारा धर्मशास्त्र और समयाचार के विरुद्ध मार्ग से धर्षित किया गया हो और वह राजा के सन्निकट आवेदन करना चाहिये तो उसको 'व्यवहार' (पद) कहते हैं। वादी ने तो निवेदन किया हो, राजा उसका वर्ष, मास, पक्ष, दिन, नाम और जाति आदि से चिह्नित करके प्रतिवादी के सामने लिख

ततोऽर्थी लेखयेत्सद्यः प्रतिज्ञातार्थसाधनम्। तत्सिद्धौ सिद्धिमाप्नोति विपरीतमतोऽन्यथा।।३७।।
चतुष्पाद्व्यवहारोऽयं विवादेषूपदर्शितः। अभियोगमनिस्तीर्य नैनं प्रत्यभियोजयेत्।।३८।।
अभियुक्तं च नान्येन त्यक्तं विप्रकृतिं नयेत्। कुर्यात्प्रत्यभियोगं तु कलहे साहसेषु च।।३९।।
उभयोः प्रतिभूर्ग्राह्यः समर्थः काम्यनिर्णये। निह्नवे भावितो दद्याद्धनं राज्ञे तु तत्समम्।।४०।।
मिथ्याभियोगाद्द्विगुणमभियोगाद्धनं हरेत्। साहसस्तेयपारुष्येष्वभिशापात्यये स्त्रियाः।।४१।।
विचारयेत्सद्य एव कालोऽन्यत्रेच्छया स्मृतः। (देशाद्देशान्तरं याति सृक्किणी परिलेढि च।।४२।।
ललाटं स्विद्यते चास्य मुखवैवर्ण्यमेव च। स्वभावाद्विकृतं गच्छेन्मनोवाक्कायकर्मभिः।।४३।।
अभियोगेऽथवा साक्ष्ये वाग्दुष्टः परिकीर्तितः। संदिग्धार्थं स्वतन्त्रो यः साधयेद्यश्च निष्पतेत्।।४४।

ले। वादी के आवेदन या बयानको 'भाषा', 'प्रतिज्ञा' अथवा 'पक्ष' कहते हैं। प्रतिवादी वादी का आवेदन सुनकर उसके सामने ही उसका उत्तर लिखावे। तत्पश्चात् वादी उसी समय अपने निदेवन का प्रमाण लिखावे। निवेदन के प्रमाणित हो जाने पर वादी जीतता है, अन्यथा पराजित हो जाता है।।३२-३७।।

इस तरह विवाद में चार पाद जबतक (अंश) से युक्त व्यवहार दिखाया गया है। जिस समय तक अभियुक्त के वर्तमान अभियोग का निर्णय (फैसला) न हो जाय, अन्ततक उसके ऊपर दूसरे अपराध का मामला न चलाये। जिस पर किसी दूसरे ने अभियोग कर दिया हो, उस पर भी कोई वादी दूसरा अभियोग न चलावे। आवेदन के समय जो कुछ कहा गया हो, अपने उस कथन के विपरीत (विरुद्ध) कुछ न कहे। (हिंसा आदि) का अपराध बन जाय तो पूर्व अभियोग का फैसला होने के पहले ही मामला चलाया जा सकता है।।३८-३९।।

सभासदों सहित सभापति या प्राड्विवाक को चाहिये कि वह वादी और प्रतिवादी दोनों के सभी विवादों में जो निर्णय का कार्य है, उसके निष्पादन में सक्षम पुरुष को 'प्रतिभू' बनाये। अर्थी के द्वारा लगाये गये अभियोग को यदि प्रत्यर्थी ने अस्वीकार कर दिया और अर्थी ने गवाही आदि देकर अपने दावे को पुनः उससे स्वीकार करा लिया, तत्पश्चात् प्रत्यर्थी अर्थी को अभियुक्त धन दे और दण्डस्वरूप उतना ही धन राजा को भी देना चाहिये। यदि अर्थी अपनी दावे को सिद्ध न कर सका तो स्वयं मिथ्याभियोगी (झूठा मुकदमा चलाने वाला) हो गया; उस दशा में वही अभियुक्त धनराधि से दूना धन राजा को अर्पित करना चाहिये।।४०।।

हत्या या डकैती-चोरी, वाक्यारुष्य (गाली-गलौज), दण्डपारुष्य (निर्दयतापूर्वक की हुई मारपीट), दूध देने वाली गाय के अपहरण, अभिश्राप (पातक का अभियोग), अत्यय (प्राणघात) एवं धनातिपात तथा स्त्रियों के चरित्र-सम्बन्धी विवाद प्राप्त होने पर तत्काल अपराधी से उत्तर माँगे, विलम्ब नहीं करना चाहिये। अन्य तरह के विवादों में उत्तरदान का समय वादी, प्रतिवादी, सभासद् तथा प्राड्विवाक की इच्छा के अनुसार रखा जा सकता है।।४१।।

'दुष्टों की पहचान इस तरह करना चाहिये)–अभियोग के विषय में बयान या गवाही देते समय जो एक जगह से दूसरी जगह जाता-आता है, स्थिर नहीं रह पाता, दोनों गलफर चाटता है, जिसके भाल-देश में पसीना हुआ करता है, चेहरे का रंग फीका पड़ जाता है, गला सूखने से वाणी अटकने लगती है, जो बहुत तथा पूर्वापर-विरुद्ध बात का ठीक-ठीक उत्तर नहीं दे पाता और किसी से दृष्टि नहीं मिला पाता है, जो ओठ टेढ़े-मेढ़े किया करता है, इस तरह जो स्वभाव से ही मन, वाणी, शरीर तथ क्रिया-सम्बन्धी विकार को प्राप्त होता है, वह 'दुष्ट' कहा गया है। जो संदिग्ध अर्थ को, जिसे अधमर्ण ने अस्वीकार कर दिया है, बिना किसी साधन के मनमाने ढंग से सिद्ध करने की चेष्टा करता है तथ जो राजा के बुलाने पर उसके समक्ष कुछ भी नहीं कह पाता है, वह भी हीन और दण्डनीय माना गया है।।४२-४४।।

न चाऽऽहूतो वदेत्किञ्चिद्धीनो दण्ड्यश्च स स्मृतः। साक्षिषूभयतः सत्सु) साक्षिणः पूर्ववादिनः।।४५।।
पूर्वपक्षेऽधरीभूते भवन्त्युत्तरवादिनः। सपणश्चेद्विवादः स्यात्तत्र हीनं तु दापयेत्।।४६।।
दण्डं पणं वसुं चैव धनिनो धनमेव च। छलं निरस्य दूतेन व्यवहारान्नयेन्नृपः।४७।।
भूतमप्यनुपन्यस्तं हीयते व्यवहारतः। निह्नुते निखिला (ता?) नेकमेकदेशविभावितम्।।४८।।
दाप्यः सर्वोनृपेणार्थो न ग्राह्यस्त्वनिवेदितः। स्मृत्योर्विरोधे न्यायस्तु बलवान्व्यवहारतः।।४९।।
अर्थशास्त्राद्धि बलवद्धर्मशास्त्रमिति स्थितिः। प्रमाणं लिखितं भुक्तिः साक्षिणश्चेति कीर्तितम्।।५०।।

दोनों वादियो के पक्षों के साधक साक्षी मिलने सम्भव हो, तो पूर्ववादी के साक्षियों से ही पूछे, अर्थात् उन्हीं की गवाही ले। जो वादी के उत्तर में यह कह कि 'मैंने बहुत पहले इस क्षेत्र को दान में पाया था और तभी से यह हमारे उपयोग में हैं', वही यहाँ पूर्ववादी है; जिसने पहले अभियोग दाखिल किया है, वह नहीं। यदि कोई यह कहे कि 'ठीक है कि यह सम्पत्ति इसको दान में मिली थी और इसने इसका उपयोग भी किया है, तथापि इसके यहाँ से अमुक ने वह क्षेत्र-सम्पत्ति खरीद ली और उसने पुनः इसको मुझको दे दिया' तत्पश्चात् पूर्वपक्ष असाध्य होने के कारण दुर्बल पड़ जाता है। ऐसा होने पर उत्तरवादी के साक्षी ही प्रष्टव्य हैं; उन्हीं की गवाही ली जानी चाहिये।।४५।।

यदि विवाद किसी शर्त के साथ किया गया हो, अर्थात् यदि किसी ने कहा हो कि 'यदि मैं अपना पक्ष सिद्ध न कर सकूँ तो पाँच सौ पण अधिक दण्ड दूँगा, तत्पश्चात् यदि वह पराजित हो जाय तो उसके पूर्वकृत पणरूपी दण्ड का धन राजा को दिलवावे। परन्तु जो अर्थी धनी है, उसको राजा विवाद का आस्पदभूत धन ही दिलवावे।।४६।।

राजा छल छोड़कर वास्तविकता का आश्रय ले व्यवहारों का अन्तिम निर्णय करना चाहिये। यथार्थ वस्तु भी यदि लेखबद्ध न हुई हो, तो व्यवहार में वह पराजय का कारण बनती है। स्वर्ण, रजत और वस्त्र आदि अनेक वस्तुएँ अर्थी के द्वारा अभियोग पत्र में लिखा दी गयी है, परन्तु प्रत्यर्थी उन सभी को अस्वींकार कर देता है, उस दशा में यदि साक्षी आदि के प्रमाण से एक वस्तु को भी प्रत्यर्थी ने स्वीकार कर लिया, तत्पश्चात् राजा उससे अभियोग-पत्र में लिखित सारी वस्तुएँ दिलवाये। यदि कोई वस्तु पहले नहीं दिखायी गयी और बाद में उसकी भी वस्तुसूची में चर्चा की गयी हो, तो उसको राजा नहीं दिलवावे। यदि दो स्मृतियों अथवा धर्मशास्त्र-वचनों से परस्पर विरोध की प्रतीति होती हो, तो उस विरोध को दूर करने के लिये विषय-व्यवस्थापना आदि में उत्सर्गापवाद-लक्षण न्याय को बलवान् समझना चाहिये। एक वाक्य उत्सर्ग या सामान्य है और दूसरा अपवाद अथवा विशेष है, इसलिये अपवाद उत्सर्ग का बाधक हो जाता है। उस न्याय की प्रतीति कैसे होगी? व्यवहार से। अन्वय-व्यतिरेक लक्षण जो वृद्धव्यवहार है, उससे कथित न्याय को अवगमन हो जायगा। इस कथन का भी अपवाद है। अर्थशास्त्र और धर्मशास्त्र के वचनों में विरोध होने पर अर्थशास्त्र से धर्मशास्त्र ही बलवान् है; यह ऋषि-मुनियों की बाँधी मर्यादा है।।४७-४९।।

अर्थी या वादी पुरुष को सप्रमाण अभियोग-पत्र उपस्थित करना चाहिये, यह बात पहले कही गयी है। प्रमाण दो तरह का होता ह—'मानुष-प्रमाण' और 'दैविक-प्रमाण'। 'मानुष-प्रमाण' तीन तरह का होता है, वही यहाँ बतलाया जाता है—लिखित, भुक्ति और साक्षी—ये तीन 'मानुष-प्रमाण' कहे गये हैं। लिखित के दो भेद हैं—'शासन' और 'चीरक'। 'शासन' का लक्षण पहले कहा गया है और 'चीरक' का आगे बतलाया जायगा 'भुक्ति' का अर्थ है—उपभोग (कब्जा)। (साक्षियों के स्वरूप तरह आगे बताये जायँगे। यदि मानुष-प्रमाण के इन तीनों भेदों में से एक की भी उपलब्धि न हो, तो आगे बताये जाने वाले दिव्य प्रमाणों में से किसी एक को ग्रहण करना आवश्यक बतलाया जाता है।।५०।।

एषामन्यतमाभावे दिव्यान्यतममुच्यते। सर्वेष्वेव विवादेषु बलवत्युत्तरा क्रिया॥५१॥
आधौ प्रतिग्रहे क्रीते पूर्वा तु बलवत्तरा। पश्यतो ब्रुवतो भूमेर्हानिर्विंशतिवार्षिकी॥५२॥
परेण भुज्यमानाया धनस्य दशवार्षिकी। अधिसीमोपनिःक्षेपजडवालधनैर्विना॥५३॥
तथोपनिधिराजस्त्रीश्रोत्रियाणां धनैरपि। आध्यादीनां विहर्तारं धनिने दापयेद्धनम्॥५४॥
दण्डं च तत्समं राज्ञे शक्त्यपेक्ष्यमथापि वा। आगमोऽप्यधिको भुक्तिं विना पूर्वक्रमागताम्॥५५॥
आगमोऽपि बलं नैव भुक्तिस्तोकाऽपि यत्र न। आगमेन विशुद्धेन भोगो याति प्रमाणताम्॥५६॥
अविशुद्धागमो भोगः प्रामाण्यं नाधिगच्छति। (आगमस्तु कृतो येन सोऽभियुक्तस्तमुद्धरेत्॥५७॥

ऋण आदि समस्त विवादों में उत्तर क्रिया बलवती मानी गयी है। यदि उत्तर क्रिया सिद्ध कर दी गयी तो उत्तरवादी विजयी होता है और पूर्ववादी अपना पक्ष सिद्ध कर चुका हो, तो भी वह हार जाता है। जिस प्रकार किसी ने सिद्ध कर दिया कि 'अमुकने मुझसे सौ रुपये लिये हैं; इसलिये वह उतने रुपयों का देनदार है'; तथापि लेने वाला यदि यह जवाब लगा दे कि 'मैंने लिया अवश्य था, परन्तु अमुक तिथि को सारे रुपय लौटा दिये थे' और यदि उत्तरदाता प्रमाण से अपना यह कथन सिद्ध कर दे, तो अर्थी या पूर्ववादी पराजित हो जाता है; परन्तु 'आधि' (किसी वस्तु को गिरवी रखने), प्रतिग्रह लेने अथवा खरीदने में पूर्वक्रिया ही प्रबल होती है। जिस प्रकार किसी खेत को उसके मालिक ने किसी धनी के यहाँ गिरवी रखकर उससे कुछ रुपये ले लिये। फिर उसी खेत को दूसरे से भी रुपये लेकर उसने उसके यहाँ गिरवी रख दिया, ऐसे मामलों में जहाँ पहले खेत को गिरवी रखा है, उसी का स्वत्व प्रवल माना जायगा, दूसरे का नहीं॥५१॥

यदि भूमि-स्वामी के देखते हुए कोई दूसरा उसकी भूमि का उपभोग करता है और वह कुछ नहीं बोलता तो बीस वर्षों तक ऐसा होने पर वह भूमि उसके हाथ से निकल जाती है। इसी तरह हाथी, घोड़े आदि धन का कोई दस वर्ष तक उपभोग करना चाहिये और स्वामी कुछ न बोले तो वह उपभोक्ता ही उस धन का स्वामी हो जाता है, पहले के स्वामी को उस धन से हाथ धोना पड़ता है॥५२॥

आधि, सीमा और निक्षेप-सम्बन्धी धन को, जड और बालकों के तथा उपनिधि, राजा, स्त्री एवं श्रोत्रिय ब्राह्मणों के धन को छोड़कर ही उपरोक्त नियम लागू होता है, अर्थात् इनके धन का उपभोग करने पर भी कोई उस धन का स्वामी नहीं हो सकता। आधि से लेकर श्रोत्रिय-पर्यन्त धन का चिरकाल से उपभोग के वलपर अपहरण करने वाले पुरुष से उस विवादास्पद धन को लेकर राजा धन के असली स्वामी को दिलवा दे और अपहरण करने वाले से उस धन के बराबर ही दण्डस्वरूप धन राजा को दिलवाया जाय। अथवा अपहरणकर्ता की शक्ति के अनुसार अधिक या कम धन भी दण्ड के रूप में लिया जाय। स्वत्व का हेतुभूत जो प्रतिग्रह और क्रय आदि है, उसको 'आगम' कहते हैं। वह 'आगम' भोग की अपेक्षा भी अधिक प्रबल माना गया है। स्वत्व का बोध कराने के लिये आगमसापेक्ष भोग ही प्रमाण है। परन्तु पिता, पितामह आदि के क्रम से जिस धन का उपभोग चला आ रहा है, उसको छोड़कर अन्य तरह के उपभोग में ही आगम की प्रबलता है; पूर्व-परम्परा प्राप्त भोग भी उपभोग नहीं है, उस आगम में भी कोई वल नहीं है॥५३-५५॥

विशुद्ध आगम से भोग प्रमाणित होता है। जहाँ विशुद्ध आगम नहीं है, वह भोग प्रमाणभूत नहीं होता है। जिस पुरुष ने भूमि आदि का आगम (अर्जन) किया है, वही कहाँ से आपको क्षेत्र आदि की प्राप्ति हुई'—यह पूछे

न तत्सुतस्तत्सुतो वा भुक्तिस्तत्र गरीयसी। योऽभियुक्तः परेतः स्यात्तस्य रिक्थमुद्धरेत्॥५८॥
न तत्र कारणं भुक्तिरागमेन विना कृता। बलोपाधिविनिर्वृत्तान्व्यवहारान्निवर्तयेत्॥५९॥
स्त्रीनक्तमन्तरागारबहिःशत्रुकृतस्तथा। मत्तोन्मत्तार्तव्यसनिबालभीतप्रयोजितः॥६०॥
असंबद्धकृतश्चैव व्यवहारो न सिध्यति। प्रनष्टाधिशतं देयं नृपेण धनिने धनम्॥६१॥
विभावयेन्न चेल्लिङ्गैस्तत्समं दातुमर्हति। देयं चौरहृतं द्रव्यं राज्ञा जनपदाय तु)॥६२॥
अशीतिभागो वृद्धिः स्यान्मासि मासि सम्बन्धके। वर्णक्रमाच्छतं द्वित्रिचतुष्पञ्चकमन्यथा॥६३॥

जाने पर लिखितादि प्रमाणों द्वारा आगम (प्रतिग्रह आदि जनित अर्जन) का उद्धार (साधन) करना चाहिये। (अन्यथा वह दण्ड का भागी होता है।) उसके पुत्र अथवा पौत्र को आगम के उद्धार की आवश्यता नहीं है। वह केवल भोग प्रमाणित करना चाहिये। उसके स्वत्व की सिद्धि के लिये परम्परागत भोग ही प्रमाण है॥५६-५७॥

जो अभियुक्त व्यवहार का निर्णय होने से पहले ही परलोकवासी हो जाय, उसके धन के उत्तराधिकारी पुत्र आदि ही लिखितादि प्रमाणों द्वारा उसके धनागम का उद्धार (साधन) करें; क्योंकि उस व्यहार (मामले) में आगम के बिना केवल भोग प्रमाण नहीं हो सकता॥५८॥

जो मामले बलात्कार से अथवा भय आदि उपाधि के कारण चलाये गये हों, उनको लौटा देना चाहिये। इसी तरह जिसे केवल स्त्री ने चलाया हो, जो रात में प्रस्तुत किया गया हो, गृह के अन्दर घटित घटना से सम्बद्ध हो अथवा गाँव आदि के बाहर निर्जन स्थान में किया गया हो तथा किसी शत्रु ने अपने द्वेषपात्र पर कोई अभियोग लगाया हो- इस तरह के व्यवहारों को न्यायालय में विचार के लिये न ले-लौटा देना चाहिये॥५९॥

अधुना यह बताते हैं कि किनका चलाया हुआ अभियोग सिद्ध नहीं होता। जो मादक दव्य पीकर मत्त हो गया हो, वात, पित्त, कफ, सन्निपात अथवा ग्रहावेश के कारण उन्मत्त हो, रोग आदि से पीड़ित हो, इष्ट के वियोग अथवा अनिष्ट की प्राप्ति से दुःखमग्र हो, नाबालिग हो और शत्रु आदि से डरा हुआ हो, ऐसे लोगों द्वारा चलाया हुआ व्यवहार 'असिद्ध' माना गया है। जिनका अभियुक्त-वस्तु से कोई सम्बन्ध न हो, ऐसे लोगों का चलाया हुआ व्यवहार भी सिद्ध नहीं होता (विचारणीय नहीं समझा जाता)॥६०॥

यदि किसी का चारों द्वारा अपहृत स्वर्ण आदि धन शौल्किक (टैक्स लेने वाले) तथा स्थानपाल आदि राजकर्मचारियों को प्राप्त हो जाय और राजा को समर्पित किया जाय तो राजा उसके स्वामी-धनाधिकारी को वह धन लौटा देना चाहिये। यह तभी करना चाहिये, जिस समय धन का स्वामी खोयी हुई वस्तु के रूप, रंग और संख्या आदि चिह्न बताकर उस पर अपना स्वत्व सिद्ध कर सके। यदि वह चिह्नों द्वारा उस धन को अपना सिद्ध न क सके तो मिथ्यावादी होने के कारण उससे उतना ही धन दण्ड के रूप में वसूल करना चाहिये॥६१॥

राजा को चोरों द्वारा चुराया हुआ द्रव्य उसके अधिकारी राज्य के नागरिक को लौटा देना चाहिये। यदि वह नहीं लौटाता है तो जिसका वह धन है, उसका सारा पाप राजा अपने ऊपर ले लेता है॥६२॥

अधुना ऋणादान-सम्बन्धी व्यवहार पर विचार करते हैं-यदि कोई वस्तु बन्धक रखकर ऋण लिया जाय तो ऋण में लिये हुए धन का १/८० भाग प्रतिमास ब्याज धर्मसंगत होता है। अन्यथा बन्धक हीन ऋण देने पर ब्राह्मणादि वर्णों के क्रम से प्रशित कुछ-कुछ अधिक ब्याज लेना भी धर्मसम्मत है। अर्थात् ब्राह्मण से जितना ले क्षत्रिय से, वैश्य से और शूद्र से क्रमशः उससे कुछ-कुछ अधिक प्रतिशत सूद या वृद्धि की रकम ली जा सकती है॥६३॥

सप्ततिस्तु पशुस्त्रीणां रसस्याष्टगुणा परा। वस्त्रधान्यहिरण्यानां चतुस्त्रिद्विगुणा तथा।।६४।।
ग्रामान्तरात्तु दशकं सामुद्रादपि विंशतिम्। दद्युर्वा स्वकृतां वृद्धिं सर्वे सर्वासु जातिषु।।६५।।
प्रपन्नं साधयन्नर्थं न वाच्यो नृपतिर्भवेत्। साध्यमानो नृपं गच्छेद्दण्ड्यो दाप्यश्च तद्धनम्।।६६।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गति व्यवहारकथनं नाम त्रिपञ्चाशदधिकद्विशततमोऽध्यायः।।२५३।।

ऋण के रूप में प्रयुक्त मादा पशुओं के लिये वृद्धि के रूप में उसकी संतति ही ग्राह्य है। तेल, घी आदि रस द्रव्य किसी के यहाँ चिरकाल तक रह गया और मध्य में यदि उसकी वृद्धि (सूद-वृद्धि की रकम) नहीं ली गयी तो वह बढ़ते-बढ़ते आठगुना तक हो सकती है। इससे आगे उस पर वृद्धि नहीं लगायी जाती। इसी तरह वस्त्र, धान्य तथा स्वर्ण-इनकी क्रमशः चौगुनी, तिगुनी और दुगुनी तक वृद्धि हो सकती है, इससे आगे नहीं।।६४।।

व्यापार के लिये दुर्गम वनप्रदेश को लाँधकर यात्रा करने वाले लोग ऋणदाता को दस प्रतिशत ब्याज दें और जो समुद्र की यात्रा करने वाले हैं, वे बीस प्रतिशत वृद्धि सम्प्रदान करें। अथवा सभी वर्ण के लोग अबन्धक या सबन्धक ऋण में अपने लिये धन के स्वामी द्वारा नियत की हुई वृद्धि सभी जातियों के लिये दें।।६५।।

ऋण लेने वाले पुरुष ने पहले जो धन लिया है और जो साक्षी आदि के द्वारा प्रमाणित है, उसको वसूल करने वाला धनी राजा के लिये वाच्य (निवारणीय) नहीं होता; अर्थात् राजा उस न्यायसंगत धन को वसूल करने से उस ऋणदाता को न रोके। (यदि वह अप्रमाणित या अदत्त धन की वसूली करता है तो वह अवश्य राजा के द्वारा निवारणीय है।) जो उपरोक्त रूप से न्याससंगत धनकी वसूली करने पर भी ऋणदाता के विरुद्ध शिकायत लेकर राजा के पास जाय, वह राजा द्वारा दण्ड पाने के योग्य है। राजा उससे वह धन अवश्य दिलवावे।।६६।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी दो सौ तिरपनवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।२५३।।

❖❖❖

अथ चतुष्पञ्चाशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

व्यवहारकथनम्

अग्निरुवाच

गृहीतार्थः क्रमाद्दाप्यो धनिनामधमर्णिकः। दत्त्वा तु ब्राह्मणायाऽऽदौ नृपतेस्तदनन्तरम्॥१॥
राज्ञाऽधमर्णिको दाप्यः साधितादृशकं स्मृतम्। पञ्चकं तु शतं दाप्यः प्राप्तार्थो ह्युत्तमर्णिकः॥२॥
हीनजातिं परिक्षीणमृणार्थं कर्म कारयेत्। ब्राह्मणस्तु परिक्षीणः शनैर्दाप्यो यथोदयम्॥३॥
दीयमानं न गृह्णाति प्रयुक्तं यः स्वकं धनम्। मध्यस्थस्थापितं तत्स्याद्वर्धते न ततः परम्॥४॥
ऋक्थग्राह ऋणं दाप्यो योषिद्ग्राहस्तथैव च। पुत्रोऽनन्याश्रितद्रव्यः पुत्रहीनस्य ऋक्थिनः॥५॥
अविभक्तैः कुटुम्बार्थं यदृणं तु कृतं भवेत्। दद्युस्तदृक्थिनः प्रेते प्रोषिते व कुटुम्बिनि॥६॥

अध्याय-२५४

व्यवहार विशेष विचार

श्रीअग्नि देव ने कहा कि–हे वसिष्ठ! यदि ऋण लेने वाले पुरुष के अनेक ऋणदाता साहु हों और वे सबके सब एक ही जाति के हों तो राजा उनको ग्रहण क्रम के अनुसार ऋण लेने वाले से धन दिलवावे। अर्थात् जिस धनी ने पहले ऋण दिया हो, उसको पहले और जिसने बाद में दिया हो, उसको बाद में ऋणग्राही पुरुष ऋण लौटाये। यदि ऋणदाता धनी अनेक जाति के हों तो ऋणग्राही पुरुष को सबसे पहले ब्राह्मण-धनी को धन देकर तत्पश्चात् क्षत्रिय आदि को देय-धन अर्पित करना चाहिये। राजा को ऋण लेने वाले से उसके द्वारा गृहीत धन के प्रमाण द्वारा सिद्ध हो जानेपर दस प्रतिशत धन दण्ड के रूप में वसूल करना चाहिये तथा जिसने अपना धन वसूल कर लिया है, उस ऋणदाता पुरुष से पाँच प्रतिशत धन ग्रहण कर ले और उस धन को न्यायालय के कर्मचारियों के भरण-पोषण में लगावे॥१-२॥

यदि ऋण लेने वाला पुरुष ऋणदाता की अपेक्षा हीन जाति का हो और निर्धन होने के कारण ऋण की अदायगी न कर सके, तत्पश्चात् ऋणदाता उससे उसके अनुरूप कोई काम करवा ले और इस तरह उस ऋण का भुगतान कर लेना चाहिये। यदि ऋण लेने वाला ब्राह्मण हो और वह भी निर्धन हो गया हो, तो उससे कोई काम न लेकर उसको अवसर देना चाहिये और धीरे-धीरे जिस प्रकार-जिस प्रकार उसके पास आय हो, वैसे-वैसे (उसके कुटुम्ब को कष्ट दिये बिना) ऋण की वसूली करना चाहिये। जो वृद्धि के लिये ऋण के रूप में दिये हुए अपने धन को लोभवश ऋणग्राही के लौटाने पर भी नहीं लेता है, उसके देय-धन को यदि किसी मध्यस्थ के यहाँ रख दिया जया तो उस दिन से उस पर वृद्धि नहीं होती– ब्याज नहीं बढ़ता; परन्तु उस रखे हुए धन को भी ऋणदाता के माँगने पर न दिया जाय तो उस पर पूर्ववत् ब्याज बढ़ता ही रहता है॥३-४॥

दूसरे का द्रव्य जिस समय खरीद आदि के बिना ही अपने अधिकार में आता है तो उसको 'रिक्थ' कहते हैं। विभाग द्वारा जो उस रिक्थ को ग्रहण करता है, वह 'रिक्थग्राह' कहलाता है। जो जिसके द्रव्य को रिक्थ के रूप में ग्रहण करता है, उसी से जिसकी स्त्री को ग्रहण करता है, वही उसका ऋण भी देना चाहिये। रिक्थ-धन का स्वामी यदि पुत्रहीन है तो उसका ऋण वह कृत्रिम पुत्र चुकावे, जो एकमात्र उसी के धन पर जीवन-निर्वाह करता है। संयुक्त परिवार में समूचे

न योषित्पतिपुत्राभ्यां न पुत्रेण कृतं पिता। दद्यादृते कुटुम्बार्थान्न पतिः स्त्रीकृतं तथा॥७॥
गोपशौण्डिशकैलूषरजकव्याधयोषिताम्। ऋणं दद्यात्पतिस्त्वासां यस्माद्वृत्तिस्तदाश्रया॥८॥
प्रतिपन्नं स्त्रिया देयं पत्या वा सह यत्कृतम्। स्वयं कृतं वा यदृणं (नान्यस्त्री (त्स्त्री) दातुमर्हति॥९॥
पितरि प्रोषिते प्रेते व्यसनाभिप्लुतेऽथ वा। पुत्रपौत्रैर्ऋणं देयं) निह्नवे साक्षिभावितम्॥१०॥
सुराकामद्यूतकृतं दण्डशुल्कावशिष्टकम्। वृथाऽऽदानं तथैवेह पुत्रो दद्यान्न पैतृकम्॥११॥
भ्रातृणामथ दम्पत्योः पितुः पुत्रस्य चैव हि। प्रातिभाव्यमृणं साक्ष्यमविभक्तेन च स्मृतम्॥१२॥
दर्शने प्रत्यये दाने प्रातिभाव्यं विधीयते। आधौ तु वितथे दाप्या वितथस्य सुता अपि॥१३॥

कुटुम्ब के भरण-पोषण के लिये एक साथ रहने वाले बहुत-से लोगों ने या उस कुटुम्ब के एक-एक व्यक्ति ने जो ऋण लिया हो, उसको उस कुटुम्ब का मालिक देना चाहिये। यदि वह मर गया या परदेश चला गया तो उसके धन के भागीदार सभी लोग मिलकर वह ऋण चुकावें। पति के किये हुए ऋण को स्त्री न दे, पुत्र के किये हुए ऋण को माता न दे, पिता भी न दे तथा स्त्री के द्वारा किये गये ऋण को पति न दे; परन्तु यह नियम समूचे कुटुम्ब के भरण-पोपण के लिये किये गये ऋण पर लागू नहीं होता है। ग्वाले, शराब बनाने वाला, नट, धोबी तथा व्याध की स्त्रियों ने जो ऋण लिया हो, उसको उनके पति अवश्य दें; क्योंकि उनकी वृत्ति (जीविका) उन स्त्रियों के ही अधीन होती है। यदि पति मुमूर्षु हो या परदेश जाने वाला हो, उसके द्वारा नियुक्त स्त्री ने ऋण लिया हो, वह भी पति का ही किया हुआ ऋण है, तथापि उसको पत्नी को चुकाना होगा; अथवा पति के साथ रहकर भार्या ने जो ऋण किया हो, वह भी पति और पुत्र के अभाव में उस भार्या को ही चुकाना होगा; जो ऋण स्त्री ने स्वयं किया हो, उसकी देनदार तो वह है ही। इसके सिवा दूसरे किसी तरह के पतिकृत ऋण को चुकाने का भार स्त्री पर नहीं है॥५-९॥

यदि पिता ऋण करके बहुत दूर परदेश में चला गया, मर गया अथवा किसी बड़े भारी संकट में फँस गया तो उसके ऋण को पुत्र और पौत्र चुकावें। (पिता के अभाव में पुत्र उस ऋण की अदायगी करना चाहिये)। यदि वे अस्वीकार करें तो अर्थी न्यायालय में अभियोग उपस्थित करके साक्षी आदि के द्वारा उस ऋण की यथार्थता प्रमाणित कर देना चाहिये। उस दशा में तो पुत्र-पौत्रों को वह ऋण देना ही पड़ेगा। जो ऋण शराब पीने के लिये लिया गया हो, परस्त्री-लम्पटता के कारण कामभोग के लिये किया गया हो, जूए में हारने पर जो ऋण लिया गया हो, जो धन दण्ड और शुल्क का शेष रह गया हो, जो धन दण्ड और शुल्क का शेष रह गया हो तथा जो व्यर्थ का दान हो, अर्थात् धूर्तों और नट आदि को देने के लिये किया गया हो, इस तरह के पैतृक ऋण को पुत्र कदापि न देना चाहिये। भाइयों के, पति-पत्नी के तथा पिता-पुत्र के अविभक्त धन में 'प्रातिभाव्य' ऋण और साक्ष्य नहीं माना गया है॥१०-१२॥

विश्वास के लिये किसी दूसरे पुरुष के साथ जो समय-शर्त या मर्यादा निश्चित की जाती है, उसका नाम है-'प्रातिभाव्य'। वह विषय-भेद से तीन तरह का होता है। जिस प्रकार-१. दर्शनविषयक प्रातिभाव्य। अर्थात् कोई दूसरा पुरुष यह उत्तरदायित्व ले कि जब-जब आवश्यकता होगी, जब-जब इस व्यक्ति को मैं न्यायालय के सामने उपस्थित कर दूँगा अर्थात् दिखाऊँगा-हाजिर कर दूँगा। (दर्शनप्रतिभू' को आजकल की भाषा में 'हाजिर-जामिन' कहते हैं।) २. प्रत्ययविषयक प्रातिभाव्य। 'प्रत्यय' कहते हैं। विश्वास को 'विश्वास-प्रतिभू' को 'विश्वास-जामिन' कहा जाता है। जिस प्रकार कोई कहे कि 'आप मेरे विश्वास पर इसको धन दीजिये, यह आपको ठगेगा नहीं; क्योंकि यह अमुक का बेटा है। इसके पास उपजाऊ भूमि है और इसके अधिकार में एक बड़ा-सा गाँव भी है' इत्यादि। ३. दानविषयक प्रातिभाव्य।

दर्शनप्रतिभूर्यत्र मृतः प्रात्ययिकोऽपि वा। न तत्पुत्रा धनं दद्युर्दानाय समुपस्थिताः॥१४॥
बहवः स्युर्यदि स्वांशैर्दद्युः प्रतिभुवो धनम्। एकच्छायाश्रितेष्वेषु धनिकस्य यथारुचि॥१५॥
प्रतिभूर्दापितो यत्र प्रकाशं धनिनो धनम्। द्विगुणं प्रतिदातव्यमृणिकैस्तस्य तद्भवेत्॥१६॥
ससंततिस्त्रीपशव्यं धान्यं द्विगुणमेव च। वस्त्रं चतुर्गुणं प्रोक्तं रसश्चाष्टगुणस्तथा॥१७॥
आधिः प्रणश्येद्द्विगुणे धने यदि न मोक्ष्यते। काले कालकृतो नश्येत्फलभोग्यो न नश्यति॥१८॥
गोप्याधिभोगिनो वृद्धिः सोपकारेऽथ भाविते। नष्टो देयो विनष्टश्च दैवराजकृताद‍ृते॥१९॥

'दान-प्रतिभू' को 'माल-जामिन' कहते हैं। 'दान-प्रतिभू' यह जिम्मेदारी लेता है कि 'यदि यह लिया हुआ धन नहीं देगा तो मैं स्वयं ही अपने पास से दूँगा'–इत्यादि। इस तरह दर्शन (उपस्थिति), प्रत्यय (विश्वास) तथा दान (वसूली) के लिये प्रातिभाव्य किया जाता है--जामिन देने की आवश्यकता पड़ती है। इनमें से प्रथम दो, अर्थात् 'दर्शन-प्रतिभू' और 'विश्वास-प्रतिभू'–इनकी बात झूठी होने पर, स्वयं धनी ऋण चुकाने के लिये विवश है, अर्थात् राजा उनसे धनी को वह धन अवश्य दिलवावे; परन्तु जो तीसरा 'दान-प्रतिभू' है, उसकी बात झूठी होने पर वह स्वयं तो उस धन को लौटाने का अधिकारी है ही, परन्तु यदि वह बिना लौटाये ही विलुप्त हो जाय तो उसके पुत्रों से भी उस धन की वसूली की जा सकती है। जहाँ 'दर्शन-प्रतिभू' अथवा 'विश्वास-प्रतिभू' परलोकवासी हो जायँ, वहाँ उनके पुत्र उनके दिलाये हुए ऋण को न दें; परन्तु जो स्वयं लौटा देने के लिये जिम्मेदारी ले चुका है, वह 'दान-प्रतिभू' यदि मर जाय तो उसके पुत्र अवश्य उसके दिलाये हुए ऋण को दें।

यदि एक ही धन को दिलाने के लिये बहुत-से प्रतिभू (जामिनदार) बन गये हों, तो उस धन के न मिलने पर वे सभी उस ऋण को बाँटकर अपने-अपने अंश से चुकावें। यदि सभी प्रतिभू एक-से ही हों, अर्थात् जिस प्रकार ऋणग्राही सम्पूर्ण धन लौटाने को उद्यत रहा है, उसी तरह प्रत्येक प्रतिभू यदि सम्पूर्ण धन लौटाने के लिये प्रतिज्ञाबद्ध हो, तो धनी पुरुष अपनी रुचि के अनुसार उनमें से किसी एक से ही अपना सारा धन वसूल कर सकता है। ऋण देने वाले धनी के द्वारा दबाये जाने पर प्रतिभू राजा के आदेश से सबके सामने उस धनी को जो धन दता है, उससे दूना धन ऋण लेने वाले लोग उस प्रतिभू को लौटावें।।१३-१६।।

मादा पशुओं को यदि ऋण के रूप में लिया गया हो, तो उस धन की वृद्धि के रूप में केवल उनकी संतति ली जा सकती है। धान्य की अधिक से अधिक वृद्धि तीन गुने तक मानी गयी है। वस्त्र वृद्धि के क्रम से बढ़ता हुआ चौगुना तथा रस (घी, तेल आदि) अधिक-से-अधिक आठगुना तक हो सकता है। यदि कोई वस्तु बन्धक रखकर ऋण लिया गया हो और उस ऋण की रकम ब्याज के द्वारा बढ़ते-बढ़ते दूनी हो गयी हो, उस दशा में भी ऋण ग्राही यदि सरा धन लौटाकर उस वस्तु को छुड़ा नहीं लेता है, तो वह वस्तु नष्ट हो जाती है–उसके हाथ से निकलकर ऋणदाता की अपनी वस्तु हो जाती है। जो धन समय विशेप पर लौटाने की शर्त पर लिया जाता है और उसके लिये कोई जेवर आदि बन्धक रखा जाता है, वह समय बीत जाने पर वह बन्धक नष्ट हो जाता है, फिर वापस नहीं मिलता। परन्तु जिसका फलमात्र भोगने के योग्य होता है, वह बगीचा या खेत आदि बन्धक के रूप में रखा गया हो, तो वह कभी नष्ट नहीं होता; उस पर मालिक का स्वत्व बना ही रहता है।।१७-१८।।

यदि कोई गोपनीय आधि (बन्धक में रखी हुई वस्तु–ताँबे की कराही आदि) ऋणदाता के उपभोग में आये तो उस पर दिये हुए धन के लिये ब्याज नहीं लगाया जा सकता। यदि बन्धक में कोई उपकारी प्राणी (बैल आदि) रखा गया हो और उसके काम लेकर उसकी शक्ति क्षीण कर दी गयी हो, तो उस पर दिये गये ऋण के ऊपर वृद्धि नहीं जोड़ी जा सकती। यदि बन्धक की वस्तु नष्ट हो जाय–टूट-फूट जाय तो उसको ठीक कराकर लौटाना चाहिये

आधेः स्वीकरणात्सिद्धी रक्ष्यमाणोऽप्यसारताम्। यातश्चेदन्य आधेयो धनभाग्वा धनी भवेत्।।२०।।
चरित्रं बन्धककृतं सवृद्धं दापयेद्धनम्। सत्यंकारकृतं द्रव्यं द्विगुणं प्रतिपादयेत्।।२१।।
उपस्थितस्य मोक्तव्य आधिर्दण्डोऽन्यथा भवेत्। प्रयोजके सति धनं कुलेऽन्यस्याऽऽधिमाप्नुयात्।।२२।।
तत्कालकृतमूल्यो वा तत्र तिष्ठेदवृद्धिकः। विना धारणकाद्वाऽपि विक्रीणीते ससाक्षिकम्।।२३।।
यदा तु द्विगुणीभूतमृणमाधौ तदा खलु। मोच्यश्चाऽऽधिस्तदुत्पाद्यः प्रविष्टे द्विगुणे धने।।२४।।
व्यसनस्थमनाख्याय हस्तेऽन्यस्य तदर्पयेत्। द्रव्यं तदौपनिधिकं प्रतिदेयं तथैव तत्।।२५।।

और यदि वह सर्वथा विलुप्त (नष्ट) हो जाय तो उसके लिये भी उचित मूल्य आदि देना चाहिये। यदि दैव अथवा राजा के प्रकोप से वह वस्तु नष्ट हुई हो, तो उस पर कथित नियम लागू नहीं होता। उस दशा में ऋणग्राही धनी को वृद्धि सहित धन लौटाये अथवा वृद्धि रोकने के लिये दूसरी कोई वस्तु बन्धक रखे। 'आधि' चाहे गोप्य हो या भोग्य, उसको स्वीकार (उपभोग) मात्र से आधि-ग्रहण की सिद्धि हो जाती है। उस आधि की प्रयत्न पूर्वक रक्षा करने पर भी यदि वह कालवश निस्सार हो जाय—वृद्धि सहित मूलधन के लिये पर्याप्त न रह जाय तो ऋणग्राही को दूसरी कोई वस्तु आधि के रूप में रखनी चाहिये अथवा धनी को उसका धन लौटा देना चाहिये।।१९-२०।।

सदाचार को ही बन्धक मानकर उसके द्वारा जो द्रव्य अपने या दूसरे के अधीन किया जाता है, उसको 'चरित्र-बन्धककृत' धन कहते हैं। ऐसे धन को ऋणग्राही से धनी को वृद्धि सहित वह धन दिलवाये। यदि 'सत्यङ्कारकृत' द्रव्य बन्धक रखा गया हो, तो धनी को द्विगुण धन लौटाना चाहिये। तात्पर्य यह कि यदि बन्धक रखते समय ही यह बात कह दी गयी हो कि 'ऋण की रकम बढ़ते-बढ़ते दूनी हो जाय तो भी मैं दूना द्रव्य ही दूँगा। मेरी बन्धक रखी हुई वस्तु पर धनी का अधिकार नहीं होगा'—इस शर्त के साथ जो ऋण लिया गया हो वह 'सत्यङ्कारकृत' द्रव्य कहलाता है। इसका एक दूसरा स्वरूप भी है। क्रय-विक्रय आदि की व्यवस्था (मर्यादा) के निर्वाह के लिये जो दूसरे के हाथ में कोई आभूषण इस शर्त के साथ समर्पित किया जाता है कि व्यवस्था भङ्ग करने पर दुगुना धन देना होगा, उस दशा में जिसने वह भूषण अर्पित किया है, यदि वही व्यवस्था भंग करना चाहिये तो उसको वह भूषण सदा के लिये त्याग देना पड़ेगा। यदि दूसरी तरफ से व्यवस्था भंग की गयी हो, तो उसको उस भूषण को द्विगुण करकेलौटाना होगा। यह भी 'सत्यङ्कारकृत' ही द्रव्य है। यदि धन देकर बन्धक छुड़ाने के लिये ऋणग्राही उपस्थित हो, तो धनदाता को उसका बन्धक लौटा देना चाहिये। यदि सूद के लोभ से वह बन्धक लौटाने में आनाकानी करता या विलम्ब लगाता है तो वह चोर की भाँति दण्डनीय है। यदि धन देने वाला कहीं दूर चला गया हो, तो उसके वंश के किसी विश्वसनीय व्यक्ति के हाथ में वृद्धिसहित मूलधन रखकर ऋणग्राही अपना बन्धक वापस ले सकता है। अथवा उस समय तक उस बन्धक को छुड़ाने का ज़ो मूल्य हो, वह निश्चित करके उस बन्धक को जो मूल्य हो, वह निश्चित करके उस बन्धक को धनी के लौटने तक उसी के यहाँ रहने दे, उस दशा में उस धन पर आगे कोई वृद्धि नहीं लगायी जा सकती। यदि ऋणग्राही दूर चला गया हो और नियत समय तक न लौटे तो धनी ऋणग्राही के विश्वसनीय पुरुषों और गवाहों के साथ उस बन्धक को बेचकर अपना प्राप्तव्य धन ले ले। यदि पहले बताये अनुसार ऋण लेते समय ही केवल द्रव्य लौटाने की शर्त हो गयी हो, तत्पश्चात् बन्धक को नहीं बेचा या नष्ट किया जा सकता है। जिस समय किया हुआ ऋण अपनी वृद्धि के क्रम से दूना होकर आधिपर चढ़ जाय और धनिक को आधि से दूना धन प्राप्त हो गया हो, तो वह आधि को त्याग देना चाहिये अर्थात् ऋणग्राही को लौटा देना चाहिये।।२१-२४।।

'उपनिधि-प्रकरण'—यदि निक्षेप-द्रव्य के आधारभूत वासन या पेटी आदि में धरोहर की वस्तु रखकर

न दाप्योऽपहृतं तत्तु राजदैवततस्करैः। प्रेषश्चेन्मार्गिते दत्ते दाप्यो दण्डश्च तत्समः।।२६।।
आजीवन्स्वेच्छया दण्ड्यो दाप्यस्तच्चापि सोदयम्। याचितावाहितन्यासे निक्षेपेष्वप्ययं विधिः।।२७।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते व्यवहारकथनं नाम चतुष्पञ्चाशदधिकद्विशततमोऽध्यायः।।२५४।।

उसको सील मोहर सहित बन्द करके वस्तु का स्वरूप या संख्या बताये बिना ही विश्वास करके किसी दूसरे के हाथ में रक्षा के लिये उसको दिया जाता है तो उसको 'उपनिधि' द्रव्य' कहते हैं। उसको स्थापक के माँगने पर ज्यों-का-त्यों लौटा देना चाहिये। यदि उपनिधि की वस्तु राजा ने बलपूर्वक ले ली हो या दैवी बाधा (आग लगने आदि) से नष्ट हुई हो, अथवा उसको चोर चुरा ले गये हों तो जिसके यहाँ वह वस्तु रखी गयी थी, उसको वह वस्तु देने या लौटाने के लिये बाध्य नहीं किया जा सकता। यदि स्वामी ने उस वस्तु को माँगा हो और धरोहर रखने वाले ने नहीं दिया हो, उस दशा में यदि राजा आदि की बाधा से उस वस्तु का विनाश हुआ हो, तो रखने वाला उस वस्तु के अनुरूप मूल्य मालधनी को देने के लिये विवश किया जा सकता है और राजा को उससे उतना ही दण्ड दिलाया जाय। जो मालधनी की अनुमति लिये बिना स्वेच्छा से उपनिधि की वस्तु को भोगता या उससे व्यापार करता है, वह दण्डनीय है। यदि उसने उस वस्तु का उपभोग किया है तो वह सूदसहित उस वस्तु को लौटाये और यदि व्यापार में लगाकर लाभ उठाया है तो लाभसहित वह वस्तु मालधनी को लौटाये और उतना ही दण्ड राजा को देना चाहिये। याचित, अन्वाहित, न्यास तरफ निक्षेप आदि में यह उपनिधि-सम्बन्धी विधान ही लागू होता है।।२५-२८।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी दो सौ चौवनवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।२५४।।

❖❖❖

अथ पञ्चपञ्चाशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

दिव्यप्रमाणकथनम्

अग्निरुवाच

तपस्विनो दानशीलाः कुलीनाः सत्यवादिनः। धर्मप्रधाना ऋजवः पुत्रवन्तो धनान्विताः॥१॥
पञ्चयज्ञक्रियायुक्ताः साक्षिणः पञ्च वा भयः। यथाजाति यथावर्णं सर्वे सर्वेषु वा स्मृताः॥२॥
स्त्रीवृद्धबालकितवमत्तोन्मत्ताभिशस्तकाः। रङ्गावतारिपाषण्डिकूटकृद्विकलेन्द्रियाः॥३॥
पतिताप्तार्थसंबन्धिसहायरिपुतस्कराः। असाक्षिणः सर्वसाक्ष्ये चौर्यपारुष्यसाहसे॥४॥
उभयानुमतः साक्षी भवत्येकोऽपि धर्मवित्। अब्रुवन्हि नरः साक्ष्यमृणं स दशबन्धकम्॥५॥
राज्ञा सर्वं प्रदाप्यः स्यात्षट्चत्वारिंशकेऽहनि। न ददाति हि यः साक्ष्यं जानन्नपि नराधमः॥६॥
स कूटसाक्षिणां पापैस्तुल्यौ दण्डेन चैव हि। साक्षिणः श्रावयेद्वादिप्रतिवादिसमीपगान्॥७॥
ये पातककृतां लोका महापातकिनां तथा। अग्निदानां च ये लोका ये च स्त्रीबालघातिनाम्॥८॥

अध्याय-२५५

दिव्य प्रमाण विचार

'साक्षी-प्रकरण'

श्रीअग्नि देव ने कहा कि–हे वसिष्ठ! तपस्वी, कुलीन, दानशील, सत्यवादी, कोमल ह्रदय, धर्मात्मा, पुत्रयुक्त, धनी, पञ्चयज्ञ आदि वैदिक क्रियाओं से युक्त अपनी जाति और वर्ग के पाँच या तीन साक्षी होने चाहिये। अथवा सभी मनुष्य सबके साक्षी हो सकते हैं; परन्तु स्त्री, बालक, वृद्ध, जुआरी, मत्त (शराब आदि पीकर मत वाला), उन्मत्त (भूत या ग्रह के आवेश से युक्त), अभिशस्त (पातकी), रंगमञ्च पर उतरने वाला चारण, पाखण्डी, कूटकारी (जालसाज), विकलेन्द्रिय (अन्धा, बहरा आदि), पतित, आप्त (मित्र या सगे-सम्बन्धी), अर्थ-सम्बन्धी (विवादास्पद अर्थ से सम्बन्ध रखने वाला), सहायक, शत्रु, चोर, साहसी (दुस्साहसपूर्ण कार्य करने वाला), दृष्टदोष (जिसका पूर्वापर विरुद्ध बोलने का स्वभाव देखा गया हो, वह) तथ निर्धूत (भाई-बन्धूओं से परित्यक्त) आदि साक्षी बनाने योग्य नहीं हैं। वादी और प्रतिवादी–दोनों के मान लेने पर एक भी धर्मवेत्ता पुरुष साक्षी हो सकता है। किसी स्त्री को बलपूर्वक पकड़ लेना, चोरी करना, किसी को कटुवचन सुनाना या कठोर दण्ड देना तथा हत्या आदि दुःसाहसपूर्ण कार्य करना–इन अपराधों में सभी साक्षी बनाये जा सकते हैं॥१-५॥

जो मनुष्य साक्षी होना स्वीकार करके तीन पक्ष के अन्दर गवाही नहीं देता है, राजा छियालीसवें दिन उससे सारा ऋण सूदसहित वादी को दिलावे और अपना दशांश भाग भी उससे वसूल करना चाहिये। जो नराधम जानते हुए भी साक्षी नहीं होता, वह कूटसाक्षी (झूठी गवाही देने वालों) के समान दण्ड और पाप को भागी होता है। न्यायाधिकारी वादी एवं प्रतिवादी के सन्निकट-स्थित साक्षियों को यह वचन सुनावे–'पातकियों और महापातकियों को तथा आग लगाने वालों और स्त्री एवं बालकों की हत्या करने वालों को जो लोक (नरक) प्राप्त होते हैं, झूठी गवाही देने वाला मनुष्य उन सभी लोकों'(नरकों) को प्राप्त होता है। आपने सैकड़ों जन्मों में जो कुछ भी पुण्य अर्जित किया

तान्सर्वान्समवाप्नोति यः साक्ष्यमनृतं वदेत्। सुकृतं यत्त्वया किंचिज्जन्मान्तरशतैः कृतम्॥९॥
तत्सर्वं तस्य जानीहि यं पराजयसे मृषा। द्वैधे बहूनां वचनं समेषु गुणिनां तथा॥१०॥
गुणिद्वैधे तु वचनं ग्राह्यं ये गुणवत्तराः। यस्योचुः साक्षिणः सत्यां प्रतिज्ञां स जयी भवेत्॥११॥
अन्यथा वादिनो यस्य ध्रुवस्तस्य पराजयः। उक्तेऽपि साक्षिभिः साक्ष्ये यद्यन्ये गुणवत्तराः॥१२॥
द्विगुणा वान्यथा ब्रूयुः कूटाः स्युः पूर्वसाक्षिणः। पृथक्पृथग्दण्डनीयाः कूटकृत्साक्षिणस्तथा॥१३॥
विवादाद्द्विगुणं दण्डं विवास्यो ब्राह्मणः स्मृतः। यः साक्ष्यं श्रावितोऽन्येभ्यो निह्नुते तत्तमोवृतः॥१४॥
स दाप्योऽष्टगुणं दण्डं ब्राह्मणं तु विवासयेत्। वर्णिनां हि वधो यत्र तत्र साक्ष्येऽनृतं वदेत्॥१५॥
यः कश्चिदर्थोऽभिमतः स्वरुच्या तु परस्परम्। लेख्यं तु साक्षिमत्कार्यं तस्मिन्धनिकपूर्वकम्॥१६॥
समामासतदर्धाहर्नामजातिस्वगोत्रकैः। सब्रह्मचारिकात्मीयपितृनामादिचिह्नितम्॥१७॥
समाप्तेऽर्थे ऋणी नाम स्वहस्तेन निवेशयेत्। मतं मेऽमुकपुत्रस्य यदत्रोपरि लेखितम्॥१८॥

है, वह सब उसी को प्राप्त हुआ समझो, जिसे आप असत्य भाषण से पराजित करोगे। साक्षियों की बातों में द्विविधा (परस्पर विरुद्ध भाव) हो, तो उनमें से बहुसंख्यक साक्षियों का वचन ग्राह्य होता है। यदिसमान संख्या वाले साक्षियों की बातों में विरोध हो, अर्थात् जहाँ दो एक तरह की बात कहते हों और दो अन्य प्रकार की बात, वहाँ गुणवानों की बात को प्रमाण मानना चाहिये। यदि गुणवानों की बातों में भी विरोध उपस्थित हो, तो उनमें जो सबसे अधिक गुणवान् हो, उसकी बात को विश्वसनीय एवं ग्राह्य माने। साक्षी जिसकी प्रतिज्ञा (दावा) को सत्य बतायें, वह विजयी होता है। वे जिसके दावे को मिथ्या बतलायें, उसकी पराजय निश्चित है॥६-११॥

साक्षियों के साक्ष्य देने पर भी यदि गुणों में इनसे श्रेष्ठ अन्य पुरुष अथवा पूर्वसाक्षियों से दुगुने साक्षी उनके साक्ष्य को असत्य बतलावें तो पूर्वसाक्षी कूट (झूठे) माने जाते हैं। उन लोगों को, जो कि धन का प्रलोभन देकर गवाहों को झूठी गवाही देने के लिये तैयार करते हैं तथा जो उनके कहने से झूठी गवाही देते हैं, उनको भी पृथक्-पृथक् दण्ड देना चाहिये। विवाद में पराजित होने पर जो दण्ड बतलाया गया है, उससे दूना दण्ड झूठी गवाही दिलाने वाले और देने वाले से वसूल करना चाहिये। यदि दण्ड का भागी ब्राह्मण हो, तो उसको देश से निकाल देना चाहिये। जो अन्य गवाहों के साथ गवाही देना स्वीकार करके, उसका अवसर आने पर रागादि दोषों से आक्रान्त हो अपने साक्षीपन को दूसरे साक्षियों से अस्वीकार करता है, अर्थात् यह कह देता है कि 'मैं इस मामले में साक्षी नहीं हूँ', वह विवाद में पराजय प्राप्त होने पर जो नियत दण्ड है, उससे आठगुना दण्ड देने का अधिकारी है। उससे उतना दण्ड वसूल करना चाहिये। परन्तु जो ब्राह्मण उतना दण्ड देने में असमर्थ हो, उसको देश से निर्वासित कर देना चाहिये। जहाँ ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य अथवा शूद्र के वध की सम्भावना हो, वहाँ (उनके रक्षार्थ) साक्षी झूठ बोले (कदापि सत्य न कहे। यदि किसी हत्यारे के विरुद्ध गवाही देनी हो, तो सत्य ही कहना चाहिये।)॥१२-१५॥

लेखा-प्रकरण

धनी और अधमर्ण (साहु और खदुका) के मध्य जो स्वर्ण आदि द्रव्य परस्पर अपनी ही रुचि से इस शर्त के साथ कि इतने समय में इतना देना है और प्रतिमास इतनी वृद्धि चुकानी है, व्यवस्थापूर्वक रखा जाता है, उस अर्थ को लेकर कालान्तर में कोई मतभेद या विवाद उपस्थित हो जाय तो उसमें वास्तविक तत्त्व का निर्णय करने के लिये कोई लेखापत्र तैयार कर लेना चाहिये। उसमें उपरोक्त योग्यता वाले साक्षी रहें और धनी (साहु) का नाम भी पहले

साक्षिणश्च स्वहस्तेन पितृनामकपूर्वकम्। अत्राहममुकः साक्षी लिखेयुरिति ते समाः।।१९।।
अलिपिज्ञ ऋणी यः स्याल्लेखयेत्स्वमतं तु सः। साक्षी वा साक्षिणाऽन्येन सर्वसाक्षिसमीपतः।।२०।।
उभयाभ्यर्थितेनैतन्मया ह्यमुकसूनुना। लिखितं ह्यमुकेनाति लेखकोऽन्ते ततो लिखेत्।।२१।।
विनापि साक्षिभिर्लेख्यं स्वहस्तलिखितं च यत्। तत्प्रमाणं स्मृतं सर्वं बलोपधिकृतादृते।।२२।।
ऋणं लेख्यकृतं देयं पुरुषैस्त्रिभिरेव तु। आधिस्तु भुज्यते तावद्यावत्तत्र प्रदीयते।।२३।।
देशान्तरस्थे दुर्लेख्ये नष्टोन्मृष्टे हृते तथा। भिन्ने छिन्ने तथा दग्धे लेखमन्यत्तु कारयेत्।।२४।।
संदिग्धार्थविशुद्ध्यर्थं स्वहस्तलिखितं तु यत्। युक्तिप्राप्तिक्रियाचिह्नसंबन्धागमहेतुभिः।।२५।।
लेख्यस्य पृष्ठेऽभिलिखेत्प्रविष्टमधमर्णिनः। धनी चोपगतं दद्यात्स्वहस्तपरिचिह्नितम्।।२६।।
दत्वर्णं पाटयेल्लेख्यं शुद्ध्यै चान्यत्तु कारयेत्। साक्षिमच्च भवेद्यत्तु तद्दातव्यं ससाक्षिकम्।।२७।।

लिखा गया हो। लेखा में संवत् मास, पक्ष, दिन, तिथि, साहु और खुदका के नाम, जाति तथा गोत्र के उल्लेख के साथ-साथ शाखा-प्रयुक्त गौण नाम (बह्वृच, कठ आदि) तथा धनी और ऋणी के अपने-अपने पिता के नाम आदि लिखे रहने चाहिये। लेखा में वाञ्छनीय विषय का उल्लेख पूर्ण हो जाने पर ऋण लेने वाला अपने हाथ से लेखा पर यह लिख दे कि 'अमुक का पुत्र मैं अमुक इस लेखा में जो लिखा गया है, उससे सहमत हूँ।' उसके बाद साक्षी भी अपने हाथ से यह लिखे कि 'आज मैं अमुक का पुत्र अमुक इस लेखा का साक्षी होता हूँ। साक्षी सदा समसंख्या (दो या चार) में होने चाहिये। लिपिज्ञानशून्य ऋणी अपनी सम्मति किसी दूसरे व्यक्ति से लिखवा ले और अपढ़ साक्षी अपना मत सब साक्षियों के सन्निकट दूसरे साक्षी से लिखवाये। अन्त में लेखक यह लिख दे कि 'आज अमुक धनी और अमुक ऋणी के कहने पर अमुक के पुत्र को मुझ अमुक ने यह लिखा लिया।' साक्षियों के न होने पर भी ऋणी के हाथ का लिखा हुआ लेखा पूर्ण प्रमाण माना जाता है, परन्तु वह लेखा बल अथवा छल के प्रयोग से लिखवाया गया न हो। लेखा लिखकर लिया हुआ ऋण तीन पीढ़ियों तक ही देय होता है, परन्तु बन्धक की वस्तु तत्पश्चात् तक धनी के उपभोग में आती है, जिस समय तक कि लिया हुआ ऋण चुका नहीं दिया जाता है। यदि लेखापत्र देशान्तर में हो, उसकी लिखावट दोषपूर्ण अथवा संदिग्ध हो, नष्ट हो गया हो, घिस गया हो, अपहृत हो गया हो, छिन्न-भिन्न अथवा दग्ध हो, गया हो, तत्पश्चात् धनी ऋणी की अनुमति से दूसरा लेखा तैयार करवावे। संदिग्ध लेख की शुद्धि स्वहस्तलिखित आदि से होती है, अर्थात् लेखक अपने हाथ से दूसरा लेखा लिखकर दिखावे। जिस समय दोनों के अक्षर समान हों, तत्पश्चात् संदेह दूर हो जाता है। 'आदि' पद से यह सूचित किया गया है कि साक्षी और लेखक से दूसरा कुछ लिखवाकर यह देखा जाय कि दोनों लेखों के अक्षर मिलते हैं या नहीं। यदि मिलते हों तो पूर्वलेखा के शुद्ध होने में कोई संदेह नहीं रह जाता है। युक्ति प्राप्ति, क्रिया चिह्न, सम्बन्ध और आगम—इन हेतुओं से भी लेखा की शुद्धि हो जाती है। ऋणी जिस समय ऋण का धन धनी को दे, तब-तब लेखापत्र की पीठ पर लिख दिया करना चाहिये। अथवा धनी जब-जब जितना धन पावे, तब-तब अपने हाथ से लेखा की पीठपर उसको लिखकर अंकित कर देना चाहिये। ऋणी जिस समय ऋण चुका दे तो लेखा को फाड़ डाले, अथवा (लेखा किसी दुर्गम स्थान में हो या नष्ट हो गया, तो) ऋण शुद्धि के लिये धनी से भरपाई लिखवा ले। यदि लेखापत्र में साक्षियों का उल्लेख हो, तो उनके सामने ऋण चुकावे।।१६-२७।।

तुलाग्न्यापो विषं कोषो दिव्यानीह विशुद्धये। महाभियोगेष्वेतानि शीर्षकस्थेऽभियोक्तरि॥२८॥
रुच्या वाऽन्यतरः कुर्यादपरो वर्तयेच्छिरः। विनाऽपि शीर्षकात्कुर्यान्नृपद्रोहेऽथ पातके॥२९॥
नाऽऽसहस्राद्धरेत्फालं न तुलां न विषं तथा। नृपार्थेष्वभियोगेषु वहेयुः शुचयः सदा॥३०॥
सहस्रार्थे तुलादीनि कोषमल्पेऽपि दापयेत्। शतार्धं दापयेच्छुद्धमशुद्धो दण्डभाग्भवेत्॥३१॥
सचैलस्नातमाहूय सूर्योदय उपोषिताम्। कारयेत्सर्वदिव्यानि नृपब्राह्मणसन्निधौ॥३२॥
तुलास्त्रीबालवृद्धान्धपङ्गुब्राह्मणरोगिणाम्। अग्निर्जलं वा शूद्रस्य यवाः सप्तविषस्य वा॥३३॥
तुलाधारणविद्वद्भिरभियुक्तस्तुलाश्रितः। प्रतिमानसमीभूतो रेखां कृत्वाऽवतारितः॥३४॥

आदित्यचन्द्रावनिलोऽनलश्च, द्यौर्भूमिरापो हृदयं यमश्च।
अहश्च रात्रिश्च उभे च संध्ये, धर्मश्च जानाति नरस्य वृत्तम्॥३५॥

दिव्य-प्रकरण

तुला, अग्नि, जल, विष तथा कोष–ये पाँच दिव्य प्रमाण धर्मशास्त्र में कहे गये हैं, जो संदिग्ध अर्थ के निर्णय अथवा संदेह की निवृत्ति के लिये देने चाहिये। जिस समय अभियोग बहुत बड़ें हों और अभियोक्ता परले सिरे पर, अर्थात् व्यवहार के जय-पराजय लक्षण चतुर्थपाद में पहुँच गया हो, तभी इन दिव्य-प्रमाणों का आश्रय लेना चाहिये। वादी और प्रतिवादी–दोनों में से कोई एक परस्पर बातचीत करके, स्वीकृति देकर अपनी रुचि के अनुसार दिव्य प्रमाण के लिये प्रस्तुत हो और दूसरा सम्भावित शारीरिक या आर्थिक दण्ड के लिये तैयार रहना चाहिये। राजद्रोह या महापातक का संदेह होने पर शीर्षक स्थिति में आये बिना भी तुला आदि दिव्य प्रमाणों को स्वीकार करना चाहिये।

एक हजार पण से कम के अभियोग में अग्नि, विष और तुला–इन दिव्य प्रमाणों को ग्रहण न कराये; परन्तु राजद्रोह तरफ महापातक के अभियोग में सत्पुरुष सदा इन्हीं प्रमाणों का वहन करना चाहिये। सहस्र पण के अभियोग में तुला आदि तीन दिव्य-प्रमाणों को प्रस्तुत करना चाहिये, परन्तु अल्प अभियोग में भी कोश कराये। शपथ ग्रहण करने वाले के शुद्ध प्रमाणित होने पर उसको वादी से पचास पण दिलावे और दोषी प्रमाणित होने पर उस दण्ड देना चाहिये। न्यायाधिकारी दिव्य-प्रमाण के लिये प्रस्तुत मनुष्य को पहले दिन निराहार व्रत करवाये तथादूसरे दिन सूर्योदय के समय वस्त्रसहित स्नान कर लेने पर बुलाये। फिर राजा तरफ ब्राह्मणों के सम्मुख उससे सभी दिव्य-प्रमाण ग्रहण कराये। किसी भी जाति अथवा वय की स्त्री, किसी भी जाति का सोलह वर्ष की अवस्था से कम का बालक, कम से कम अस्सी वर्ष की अवस्था का बूढ़ा, अन्ध (नेत्रहीन), पङ्गु (पादसहित), जातिमात्र का ब्राह्मण तथा रोगी–इन सबकी शुद्धि के लिये, अर्थात् इन पर लगे हुए अपराधविषयक संदेह का निवारण करने के लिये 'तुला' नामक दिव्य-प्रमाण ही ग्राह्य है। क्षत्रिय के लिये अग्नि (गरम किया हुआ फाल और तपाया हुआ माष), वैश्य के लिये जलमात्र तथा शूद्र के लिये सात जौ विष –इनकी शुद्धि के लिये आवश्यक बताये गये हैं॥२८-३३॥

तुला-दिव्यप्रमाण

जो तराजू उठाना या तौलाना जानते हों, ऐसे लोगों से अभियुक्त को तुला के एक पलड़े में बैठाकर दूसरे पलड़े में कोई मिट्टी या प्रस्तर का उतने ही वजन का टुकड़ा रखकर उससे उसको ठीक-ठीक तौले। फिर जिस संनिवेश में वह बराबर तौला गया है, उसमें सफेद खड़िया से रेखा करके उस व्यक्ति को उतार लिया जाय। उतरने पर वह निम्नांकित याचना वाक्य पढ़कर तुला को अभिमन्त्रित करना चाहिये–'सूर्य, चन्द्र, वायु, अग्नि, आकाश, भूमि, जल, हृदय, यम, दिन, रात्रि, दोनों संध्याकाल और धर्म–ये सब मनुष्य के वृत्तान्त का जानते हैं। हे तुले! आप सत्य का

त्वं तुले सत्यधामाऽसि पुरा देवैर्विनिर्मिता। सत्यं वदस्व कल्याणि संशयान्मा विमोचय।।३६।।
यद्यस्मि पापकृन्मातस्ततो मां त्वमधो नय। शुद्धश्चेद्गमयोर्ध्वं मां तुलामित्यभिमन्त्रयेत्।।३७।।
करौ विमृदितव्रीहेर्लक्षयित्वा ततो न्यसेत्। सप्ताश्वत्थस्य पत्राणि तावत्सूत्रेण वेष्टयेत्।।३८।।
त्वमेव सर्वभूतानामन्तश्चरसि पावक। साक्षिवत्पुण्यपापेभ्यो ब्रूहि सत्यं करे मम।।३९।।
तस्येत्युक्तवतो लौहं पञ्चाशत्पलिकं समम्। अग्निवर्णं न्यसेत्पिण्डं हस्तयोरुभयोरपि।।४०।।
स तमादाय सप्तैव मण्डलानि शनैर्व्रजेत्। षोडशाङ्गुलकं ज्ञेयं मण्डलं तावदन्तरम्।।४१।।
मुक्त्वाऽग्निं मृदितव्रीहिरदग्धः शुद्धिमाप्नुयात्। अन्तरा पतिते पिण्डे संदेहे वा पुनर्हरेत्।।४२।।
पवित्राणां पवित्र त्वं शोध्यं शोधय पावन। सत्येन माऽभिरक्षस्व वरुणेत्यभिशस्तकम्।।४३।।
नाभिदघ्नोदकस्थस्य गृहीत्वोरू जलं विशेत्। समकालमिषुं मुक्तमानीयाद्यो जवान्नरः।।४४।।

धाम (स्थान) हो, प्राचीन काल में देवताओं ने आपका निर्माण किया है। इसलिये कलणि आप सत्य को प्रकट करो और मुझको संदेह से मुक्त कर दो। हे मातः! यदि मैं पापी या अपराधी हूँ तो मेरा पलड़ा नीचे कर दो और यदि मैं दोषहीन हूँ तो मुझको ऊपर उठा दो।'।।३४-३७।।

अग्नि-दिव्यप्रमाण

अग्नि का दिव्य ग्रहण करने वाले के हाथों में धान मसलकर, हाथों के काले तिल आदि चिह्नों को देखकर उनको महावर आदि से रँग देना चाहिये। फिर उसके हाथों की अंजलि में पीपल के सात पत्ते रखे। हाथ सहित उन पत्तों को धागे से आवेष्टित कर देना चाहिये। इसके बाद दिव्य ग्रहण करने वाला अग्नि की याचना करनी चाहिये–'हे श्रीअग्नि देव! आप सम्पूर्ण भूत-प्राणियों के अन्तःकरण में विचरते हैं। आप सभी को पवित्र करने वाले और सब कुछ जानने वाले हैं। आप साक्षी की भाँति मेरे पुण्य और पाप का निरीक्षण करके सत्य को प्रकट कीजिये'।।३८-३९।।

शपथ ग्रहण करने वाले के ऐसा कहने पर उसके दोनों हाथों में पचास पल का जलता हुआ लौहपिण्ड रख देना चाहिये। दिव्य ग्रहण करने वाला मनुष्य उसको लेकर धीरे-धीरे सात मण्डलों तक चले। मण्डल की लम्बाई और चौड़ाई सोलह-सोलह अंगुल की हो तथा एक मण्डल से दूसरे मण्डल की दूरी भी उतनी ही हो। उसके बाद शपथ करने वाला अग्निपिण्ड को गिराकर हाथों में पुनः धान मसले। यदि हाथ न जले हों तो शपथ करने वाला मनुष्य शुद्ध माना जाता है। यदि लौहपिण्ड मध्य में ही गिर पड़े या कोई संदेह हो, तो शपथकर्ता पूर्ववत् लौहपिण्ड लेकर चले।।४०-४२।।

जल-दिव्य

जल का दिव्य ग्रहण करने वाले को निम्नांकित रूप से वरुण देव की याचना करनी चाहिये–'हे वरुण! आप पवित्रों में भी पवित्र हैं और सभी को पवित्र करने वाले हैं। मैं शुद्धि के योग्य हूँ। मेरी शुद्धि कीजिये। सत्य के बल से मेरी रक्षा कीजिये।'–

इस याचना-मत्र से जल को अभिमन्त्रित करके वह मनुष्य नाभिपर्यन्त जल में खड़े हुए पुरुष की जङ्घा पकड़कर जल में डूबे। उसी समय कोई व्यक्ति बाण चलावे। जिस समय तक एक वेगवान् मनुष्य उस छूटे हुए बाण को ले आवे, तत्पश्चात् तक यदि शपथकर्ता जल में डूबा रहे तो वह शुद्ध होता है।।४३-४४।।

विष-दिव्य

विष का दिव्य-प्रमाण ग्रहण करने वाला इस तरह विष की याचना करनी चाहिये–'हे विष! आप ब्रह्मा के

यदि तस्मिन्निमग्नाङ्गं पश्येचेच्छुद्धिमाप्नुयात्। त्वं विष ब्रह्मणः पुत्र सत्यधर्मे व्यवस्थितम्।।४५।।
त्रायस्वास्मादमीशापात्सत्येन भव मेऽमृतम्। एवमुक्त्वा विषं साङ्गं भक्षयेद्धिमशैलजम्।।४६।।
यस्य वेगैर्विना जीर्णं शुद्धिं तस्य विनिर्दिशेत्। देवानुग्रान्समभ्यर्च्य तत्स्नानोदकमाहरेत्।।४७।।
संश्राव्य पाययेत्तस्माज्जलात्तु प्रसृतित्रयम्। आ चतुर्दशमादह्नो यस्य नो राजदैविकम्।।४८।।
व्यसनं जायते घोरं स शुद्धः स्याद (संशयम्। सत्यवाहनशस्त्राणि गोबीजकनकानि च।।४९।।
देवतागुरुपादाश्च इष्टापूर्तकृतानि च। इत्येते सुकराः प्रोक्ताः शपथाः स्वल्प) संशये।।५०।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते दिव्यप्रमाणकथनं नाम पञ्चपञ्चाशदधिकद्विशततमोऽध्यायः।।२५५।।

पुत्र हो और सत्यधर्म में अधिष्ठित हो; इस कलङ्क से मेरी रक्षा एवं सत्य के प्रभाव से मेरे लिये अमृत रूप हो जाओ।- ऐसा कहकर शपथकर्ता हिमालय पर उत्पन्न शार्ङ्ग विष का भक्षण करना चाहिये। यदि विष बिना वेग के पच जाय, तो न्यायाधिकारी उसकी शुद्धि का निर्देश करें।।४५-४६।।

कोश-दिव्य लेने वाले के लिये न्यायाधिकारी उग्र देवताओं को पूजन करके उनके अभिषेक का जल ले आवे। फिर शपथकर्ता को यह बतलाकर उसमें से तीन पसर जल पिला देना चाहिये। यदि चौदहवें दिन तक राजा अथवा देवता से घोर पीडा न प्राप्त हो, तो हव निःसंदेह शुद्ध होता है।।४७-४८।।

अल्प मूल्य वाली वस्तु के अभियोग में संदेह उपस्थित होने पर सत्य, वहान, शस्त्र, गौ, बीज, स्वर्ण, देवता, गुरुचरण एवं इष्टापूर्त आदि पुण्यकर्म इनकी सहजसाध्य शपथ विहित है।।४९-५०।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी दो सौ पचपनवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।२५५।।

❖❖❖

अथ षट्पञ्चाशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

दायविभागकथनम्

अग्निरुवाच

विभागं चेत्पिता कुर्यादिच्छया विभजेत्सुतान्। ज्येष्ठं वा श्रेष्ठभागेन सर्वे वा स्युः समांशिनः॥१॥
यदि दद्यात्समानंशान्कार्याः पत्न्यः समांशिकाः। न दत्तं स्त्रीधनं यासां भर्त्रा वा श्वशुरेण वा॥२॥
शक्तस्यानीहमानस्य किंचिद्दत्त्वा पृथक् क्रिया। न्यूनाधिकविभक्तानां धर्म्यश्च पितृतः कृतः॥३॥
विभजेयुः सुताः पित्रोरूर्ध्वमृक्थमृणं समम्। मातुर्दुहितरः शेषमृणात्ताभ्य ऋतेऽर्पयेत्॥४॥
पितृद्रव्यविनाशेन यदन्यत्स्वयमर्जयेत्। मैत्रमौद्वाहिकं चैव दायादानां न तद्भवेत्॥५॥
सामान्यार्थसमुत्थाने विभागस्तु समः स्मृतः। अनेकपितृकार्याणां पितृतो भागकल्पना॥६॥

अध्याय-२५६

पैतृक अधिकार विचार

दाय-विभाग-प्रकरण

'दाय' शब्द से वह धन समझना चाहिये, जिस पर स्वामी के साथ सम्बन्ध के कारण दूसरों का स्वत्व हो जाता है। 'दाय' के दो भेद हैं—'अप्रतिबन्ध' और 'सप्रतिबन्ध'। पुत्रों और पौत्रों का पुत्रत्व और पौत्रत्व के कारण पिता और पितामह के धन पर अनायास ही स्वत्व होता है, इसलिये वह 'अप्रतिबन्ध दाय' है। चाचा और भाई आदि को पुत्र और स्वामी के अभाव में धन पर अधिकार प्राप्त होता है, इसलिये वह 'सप्रतिबन्ध दाय' है। इसी तरह उनके पुत्र आदि के लिये भी समझ लेना चाहिये। जिसके अनेक स्वामी हैं, ऐसे धन को बाँटकर एक-एक के अंश को पृथक्-पृथक् व्यवस्थित कर देना 'विभाग' कहलाता है। इस अध्याय में दाय-विभाग और स्वत्व पर विचार किया गया है, जो धर्मशास्त्रकारों एवं महर्षियों को अभिमत है॥१-३॥

श्रीअग्निदेव ने कहा कि—हे वसिष्ठ! यदि पिता अपने जीवन में सब पुत्रों में धन का विभक्तीकरण करना चाहे तो वह इच्छानुसार ज्येष्ठ पुत्र को श्रेष्ठ भाग दे या सब पुत्रों को समांश भागी बनाये। यदि पिता सब पुत्रों को समान भाग दे, तो अपनी उन स्त्रियों को भी समान भाग दे, जिनको पति अथवा श्वशुर की तरफ से स्त्री धन न मिला हो। जो पुत्र धनोपार्जन में सक्षम होने के कारण पैतृक धन की इच्छा न रखता हो, उसको भी थोड़ा-बहुत धन देकर विभक्तीकरण का कार्य पूर्ण करना चाहिये। पिता के द्वारा दिया हुआ न्यूनाधिक भाग, यदि धर्मसम्मत है, तो वह पितृकृत होने से निवृत्त नहीं हो सकता, ऐसा स्मृतिकारों का मत है। माता-पिता की मृत्यु के पश्चात् पुत्र पिता के धन और ऋण को बराबर-बराबर बाँट लें। माता द्वारा लिये गये ऋण को चुकाने के बाद बचा हुआ मातृधन पुत्रियाँ आपस में बाँट लें। उनके अभाव में पुत्र आदि उस धन का विभाग कर लें। पैतृक धन को हानि न पहुँचाकर जो धन स्वयं उपार्जित किया गया हो, मित्र से मिला हो और विवाह में प्राप्त हुआ हो, भाई आदि दायाद उसके अधिकारी नहीं होते। यदि सब भाइयों ने सम्मिलित रहकर धन की वृद्धि की हो, तो उस धन में सबका समान भाग माना जाता है॥४-५॥

यहाँ तक पैतृक सम्पत्ति में पुत्रों का विभाग किस तरह हो, यह बतलाया गया। अधुना पितामह के धन में पौत्रों का विभाग कैसे हो, इस विषय में विशेष बात बताते हैं—यद्यपि पितामह के धन में पौत्रों का पुत्रों के समान

भूर्या पितामहोपात्ता निबन्धो द्रव्यमेव वा। तत्र स्यात्सदृशं स्वाम्यं पितुः पुत्रस्य चोभयोः॥७॥
विभक्तेषु सुतो जातः सवर्णायां विभागभाक्। दृश्याद्वा तद्विभागः स्यादायव्ययविशोधितात्॥८॥
क्रमादभ्यागतं द्रव्यं हृतमभ्युद्धरेच्च यः। दायादेभ्यो न तद्द्याद्विद्यया लब्धमेव च॥९॥
पितृभ्यां यस्य यद्दत्तं तत्तस्यैव धनं भवेत्। पितुरूर्ध्वं विभजतां माताऽप्यंशं समं हरेत्॥१०॥
असंस्कृतास्तु संस्कार्या भ्रातृभिः पूर्वसंस्कृतैः। भगिन्यश्च निजादंशाद्दत्त्वांऽशं तु तुरीयकं॥११॥
चतुस्त्रिद्व्येकभागाः स्युर्वर्णशो ब्राह्मणात्मजाः। क्षत्रजास्त्रिद्व्येकभागा विड्जास्तु द्व्येकभागिनः॥१२॥
अन्योन्यापहृतं द्रव्यं विभक्ते यत्तु दृश्यते। तत्पुनस्ते समैरंशैर्विभजेरन्निति स्थितिः॥१३॥
अपुत्रेण परक्षेत्रे नियोगोत्पादितः सुतः। उभयोरप्यसावृक्थी पिण्डदाता च धर्मतः॥१४॥
औरसो धर्मपत्नीजस्तत्समः पुत्रिकासुतः। क्षेत्रजः क्षेत्रजातस्तु सगोत्रेणेतरेण वा॥१५॥

जन्म से ही स्वत्व है, तथापि यदि वे पौत्र अनेक पिता वाले हैं तो उनके पिताओं को द्वार बनाकर ही पितामह के द्रव्य का विभक्तीकरण होगा। सारांश यह कि यदि संयुक्त परिवार में रहते हुए ही अनेक भाई अनेक पुत्रों को उत्पन्न करके परलोकवासी हो गये और उनमें से एक के दो, दूसरे के तीन और तीसरे के चार पुत्र हों, तो उन पौत्रों की संख्या के अनुसार पितामह की सम्मत्ति का बँटवारा नहीं होगा, अपितु उन पौत्रों के पिताओं की संख्या के अनुसार होगा। जिसके दो पुत्र हैं, उसको अपने पिता का एक अंश प्राप्त है, जिसके तीन पुत्र हैं, उसको भी अपने पिता का एक अंश प्राप्त होगा और जिसे चार हैं, उसको भी अपने पिता का एक ही अंश मिलेगा। पितामह द्वारा अर्जित भूमि, निबन्ध और द्रव्य में पिता और पुत्र दोनों का समान स्वामित्व है। धन का विभाग होने के बाद भी सवर्णा स्त्री में उत्पन्न हुआ पुत्र विभाग का अधिकारी होता है। अथवा आय और व्यय का संतुलन करने के बाद दृश्य धन में उसका विभाग होता है। पिता-पितामह आदि के क्रम से आया हुआ जो द्रव्य दूसरों ने हर लिया हो और असमर्थता वश पिता आदि ने उसका उद्धार नहीं किया हो, उसको पुत्रों में से एक कोई भी पुत्र अन्य बन्धुओं की अनुमति लेकर यदि अपने प्रयास से प्राप्त कर ले तो वह उस धन को स्वयं ले ले, अन्य दायादों को न बाँटे। परन्तु खेत का उद्धार करने पर उद्धारकर्ता उसका चौथाई अंश स्वयं ले, शेष भाग सब भाइयों को बराबर-बराबर बाँट देना चाहिये। इसी तरह विद्या से (शास्त्रों को पढ़ने-पढ़ाने या उसकी व्याख्या करने से) जो धन प्राप्त हो, उसको भी दायादों में न बाँटे। माता-पिता अपनी जो वस्तु जिसे दे दें, वह उसी का धन होगा। यदि पिता के मरने पर पुत्रगण पैतृक धन का विभक्तीकरण करें तो माता भी पुत्रों के समान भाग की अधिकारिणी होती है। विभक्तीकरण के समय जिन भाइयों के विवाह आदि संस्कार न हुए हों, उनके संस्कार वे भाई, जिनके संस्कार पहले हो चुके हैं, संयुक्त धन से करें। अविवाहिता बहिनों के भी विवाह-संस्कार सब भाई अपने भाग का चतुर्थांश देकर करें। ब्राह्मण से ब्राह्मणी आदि विभिन्न वर्णों की स्त्रियों में उत्पन्न हुए पुत्र वर्णक्रम से चार, तीन, दो और एक भाग प्राप्त करें। इसी तरह क्षत्रिय से क्षत्रिया आदि में उत्पन्न तीन, दो एवं एक भाग और वैश्य से वैश्यजातीय एवं शूद्रजातीय स्त्री में उत्पन्न पुत्र क्रमशः दो और एक अंश के अधिकारी होते हैं। धनविभाग के पश्चात् जो धन भाइयों द्वारा एक-दूसरे से अपहृत किया गया दृष्टिगोचर हो, उसको सब भाई पुनः समान अंशों में विभाजित कर लें, यह शास्त्रीय मर्यादा है। पुत्रहीन पुरुष के द्वारा दूसरे के क्षेत्र में नियोग की विधि से उत्पन्न पुत्र धर्म के अनुसार दोनों पिताओं के धन और पिण्डदान का अधिकारी है॥६-१४॥

अपने समान वर्ण की स्त्री जिस समय धर्मविवाह के अनुसार ब्याहकर लायी जाती है तो उसको 'धर्मपत्नी'

गृहे प्रच्छन्न उत्पन्नो गूढजस्तु सुतः स्मृतः। कानीनः कन्यकाजातो मातामहसुतो मतः॥१६॥
अक्षतायां क्षतायां वा जातः पौनर्भवः सुतः। दद्यान्मातापिता वा यं स पुत्रो दत्तको भवेत्॥१७॥
क्रीतश्च ताभ्यां विक्रीतः कृत्रिमः स्यात्स्वयं कृतः। दत्तात्मा तु स्वयं दत्तो गर्भे विन्नः सहोढजः॥१८॥
उत्सृष्टो गृह्यते यस्तु सोऽपविद्धो भवेत्सुतः। पिण्डदोंऽशहरश्चैषां पूर्वाभावे परः परः॥१९॥
सजातीयेष्वयं प्रोक्तस्तनयेषु मया विधिः। जातोऽपि दास्यां शूद्रस्य कामतोंऽशहरो भवेत्॥२०॥
मृते पितरि कुर्युस्तं भ्रातरस्त्वर्धभागिकम्। अभ्रातृको हरेत्सर्वं दुहितृणां सुतादृते॥२१॥
पत्नीदुहितरश्चैव पितरौ भ्रातरस्तथा। तत्सुतो गोत्रजो बन्धुः शिष्यः सब्रह्मचारिणः॥२२॥
एषामभावे पूर्वः स्याद्धनभागुत्तरोत्तरः। स्वर्यातस्य ह्यपुत्रस्य सर्ववर्णेष्वयं विधिः॥२३॥
वानप्रस्थयतिब्रह्मचारिणामृक्थभागिनः। क्रमेणाऽऽचार्यसच्छिष्यधर्मभ्रात्रेकतीर्थिनः॥२४॥

कहते हैं। अपनी धर्मपत्नी से स्वकीय वीर्य द्वारा उत्पादित पुत्र 'औरस' कहलाता है। यह सब पुत्रों में मुख्य है। दूसरा 'पुत्रिकापुत्र' है। यह भी औरस के ही समान है। अपनी स्त्री के गर्भ से किसी सगोत्र या सपिण्ड पुरुष के द्वारा अथवा देवर के द्वारा उत्पन्न पुत्र 'क्षेत्रज' कहलाता है। पति के गृह में छिपे तौर पर जो सजातीय पुरुष से उत्पन्न होता है, वह 'गूढ़ज' माना गया है। अविवाहिता कन्या से उत्पन्न पुत्र 'कालीन' कहलाता है। वह नाना का पुत्र माना गया है। जो अक्षतयोनि अथवा क्षतयोनि की विधवा से सजातीय पुरुष द्वारा उत्पन्न पुत्र है, उसको 'पौनर्भव' कहते हैं। जिसे माता अथवा पिता किसी को गोद दे दें, वह 'दत्तक' पुत्र कहा गया है। जिसे किसी माता-पिता ने खरीदा और दूसरे माता-पिता ने बेचा हो, वह 'क्रीतपुत्र माना गया है। किसी को स्वयं धन आदि का लोभ देकर पुत्र बनाया गया हो, तो वह 'कृत्रिम' कहा गया है। जो माता-पिता से हीन बालक 'मुझको अपना पुत्र बना लें'—ऐसा कहकर स्वयं आत्मसमर्पण करता है, वह 'दत्तात्मा' पुत्र है। जो विवाह से पूर्व ही गर्भ में आ गया और गर्भवती के विवाह होने पर उसके साथ परिणीत हो गया, वह 'सहोढज' पुत्र माना गया है। जिसे माता-पिता ने त्याग दिया हो, वह समान वर्ण का पुत्र आदि किसी ने ले लिया तो वह उसका 'अपविद्ध पुत्र' माना गया है। ये जो पूर्वकथित द्वादश पुत्र हैं, इनमें से पूर्व-पूर्व के अभाव में उत्तर-उत्तर पिण्डदाता और धनांशभागी होता है। मैंने सजातीय पुत्रों में धन विभाग की यह विधि बतलायी है॥१५-१९॥

शूद्र के धनविभाग की विशेष विधि—शूद्र द्वारा दासी में उत्पन्न पुत्र भी पिता की इच्छा से धन में भाग प्राप्त करे। पिता की मृत्यु के पश्चात् शूद्र की विवाहिता पत्नि से उत्पन्न पुत्र को अपने पिता के दासी पुत्र के लिये भी भाई की हैसियत से आधा भाग देना चाहिये। यदि शूद्र की परिणीता से कोई पुत्र न हो, तो वह भ्रातृहीन दासीपुत्र पूरे धन पर अधिकार कर ले; परन्तु यह तभी सम्भव है, जिस समय उसकी परिणीता की पुत्रियों के पुत्र न हों। उनके होने पर तो वह आधा भाग ही पा सकता है। जिसके उपरोक्त द्वादश तरह के पुत्रों में से कोई नहीं है, ऐसा पुत्रहीन पुरुष यदि स्वर्गवासी हो जाय तो उसके धन के भागी क्रमशः पत्नी, पुत्रियाँ, माता-पिता, सहोदर भाई, असहोदर भाई, भ्रातृपुत्र, गोत्रज (सपिण्ड या समानोदक) पुरुष, बन्धु-बान्धव (आचार्य), शिष्य तथा सजातीय सहपाठी होते हैं—इनमें पूर्व-पूर्व के अभाव में उत्तरोत्तर धन के भागी होते हैं। सब वर्णों के लिये धन के विभक्तीकरण की यही विधि शास्त्रविहित है॥२०-२३॥

वानप्रस्थ, संन्यासी और नैष्ठिक ब्रह्मचारियों के धन के अधिकारी क्रमशः एक आश्रम में रहने वाला धर्मभ्राता, श्रेष्ठ शिष्य और आचार्य होते हैं। बँटे हुए धन को फिर मिला दिया जाय तो वह 'संसृष्ट' कहलाता है। ऐसा संसृष्ट

संसृष्टिनस्तु संसृष्टी सोदरस्य तु सोदरः। दद्याच्चापहरेच्चांशं जातस्य च मृतस्य च॥२५॥
अन्योदर्यस्तु संसृष्टी नान्योदर्यधनं हरेत्। असंसृष्ट्यपि चाऽऽदद्यात्सोदर्यो नान्यमातृजः॥२६॥
पतितस्तत्सुतः क्लीबः पङ्गुरुन्मत्तको जडः। अन्धोऽचिकित्स्यरोगाद्या भर्तव्यास्तु निरंशकाः॥२७॥
औरसाः क्षेत्रजास्त्वेषां निर्दोषा भागहारिणः। सुताश्चैषां प्रभर्तव्या यावद्वै भर्तृसात्कृताः॥२८॥
अपुत्रा योषितश्चैषां भर्तव्या साधुवृत्तयः। निर्वास्या व्यभिचारिण्यः प्रतिकूलास्तथैव च॥२९॥
पितृमातृपतिभ्रातृदत्तमध्यग्न्युपागतम्। आधिवेदनिकं चैव स्त्रीधनं परिकीर्तितम्॥३०॥
बन्धुदत्तं तथा शुल्कमन्वाधेयकमेव च। अप्रजायामतीतायां बान्धवास्तदवाप्नुयुः॥३१॥
अप्रजा (ज) स्त्रीधनं भर्तुर्ब्राह्मयादिषु चतुर्ष्वपि। दुहितृणां प्रसूता चेच्छेषेषु पितृगामि तत्॥३२॥

धन जिन लोगों के पास है, वे सभी 'संसृष्टी कहे गये हैं। 'संसृष्टत्व-सम्बन्ध' जिस किसी के साथ नहीं हो सकता, परन्तु पिता, भाई अथवा पितृव्य (चाचा) के साथ ही हो सकता है। यदि कोई संसृष्टी मर जाय तो उसके हिस्से का धन दूसरा संसृष्टी पुरुष मृत-संसृष्टी की मृत्यु के बाद उसकी भार्या से उत्पन्न हुए पुत्र को दे दे। पुत्र न हो, तो वह संसृष्टी स्वयं ही ले ले। पत्नी आदि को वह धन नहीं मिल सकता। यदि सहोदर मर जाय तो दूसरा सहोदर संसृष्टी उसकी मृत्यु के पश्चात् उत्पन्न हुए पुत्र को उसका अंश दे दे। यदि पुत्र न हो, तो वह स्वयं ही उस संसृष्टी के अंश को ले ले; असहोदर भाई संसृष्टी होने पर भी उसे नहीं ले सकता। अन्य माता के पेट से उत्पन्न हुआ सौतेला भाई भी यदि संसृष्टी हो, तो वह संसृष्टी भ्राता के धन को ले सकता है। यदि वह असंसृष्टी है तो उस धन को नहीं ले सकता। अथवा असंसृष्टी भी उस संसृष्टी के धन को ले सकता है, जबकि वह संसृष्टी उस असंसृष्टी का सहोदर भाई रहा हो॥२४-२६॥

नपुंसक, पतित, उसका पुत्र, पङ्गु, उन्मत्त, जड, अन्ध, असाध्य रोग से ग्रस्त और आश्रमान्तर में गये हुए पुरुष केवल भरण-पोषण पाने के योग्य हैं। इनको हिस्सा बँटाने का अधिकार नहीं है। इन लोगों के औरस एवं क्षेत्रज पुत्र क्लीबत्व आदि दोषों से हीन होने पर भाग लेने के अधिकारी होंगे। इनकी पुत्रियों का भी तब तक भरण-पोषण करना चाहिये, जिस समय तक कि वे पति के अधीन न कर दी जायँ। इन क्लीब, पतित आदि की पुत्रहीन सदाचारिणी स्त्रियों का भी भरण-पोषण करना चाहिये। यदि वे व्यभिचारिणी या प्रतिकूल आचरण करने वाली हों तो उनको गृह से निर्वासित कर देना चाहिये॥२७-२९॥

स्त्री धन

जो पिता-माता, पति और भाई ने दिया हो, जो विवाह काल में अग्नि के सन्निकट मामा आदि की तरफ से मिला हो तथा जो आधिवेदनिक आदि धन हो, वह स्त्रीधन कहा गया है। जिसे कन्या की माता के बन्धु-बान्धवों ने दिया हो, जिसे पिता के बन्धु-बान्धवों ने दिया हो तथा जो वर-पक्ष की तरफ से कन्या के लिये शुल्करूप में मिला हो एवं विवाह के पश्चात् पतिकुल से जो वधू को भेंट मिला हो, वह सब 'स्त्री धन' कहा गया है। यदि स्त्री संतानहीन हो-जिसके बेटी, दौहित्री, दौहित्र, पुत्र और पौत्र कोई भी न हों, ऐसी स्त्री यदि दिवंगत हो जाय तो उसके पति आदि बान्धवजन उसका धन ले सकते हैं। ब्राह्म, दैव, आर्ष और प्राजापत्य-इन चार तरह के विवाहों की विधि से विवाहित स्त्रियों के निस्संतान मर जाने पर उनका धन पति को प्राप्त होता है। यदि वे संतानवती रही हों तो उनका धन उनकी पुत्रियों को प्राप्त होता है और शेष चार गान्धर्व, आसुर, राक्षस तथा पैशाच विवाह की विधि से विवाहित होकर मरी हुई संतानहीना स्त्रियों का धन उनके पिता को प्राप्त होता है॥३०-३२॥

दत्त्वा कन्यां हरन्दण्ड्यो व्ययं दद्याच्च सोदयम्। मृतायां दत्तमादद्यात्परिशोध्योभयव्ययम्।।३३।।
दुर्भिक्षे धर्मकार्ये च व्याधौ संप्रतिरोधके। गृहीतं स्त्रीधनं भर्त्ता न स्त्रियै दातुमर्हति।।३४।।
अधिवित्तस्त्रियै दद्यादाधिवेदनिकं समम्। न दत्तं स्त्रीधनं यस्यै दत्ते त्वर्धं प्रकीर्तितम्।।३५।।
विभागनिह्नवे ज्ञातिबन्धुसाक्ष्यभिलेखितैः। विभागभावना ज्ञेया गृहक्षेत्रैश्च यौतकैः।।३६।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गति दायविभागकथनं नाम षट्पञ्चाशदधिकद्विशततमोऽध्यायः।।२५६।।

जो कन्या का वाग्दान करके कन्यादान नहीं करता, वह राजा के द्वारा दण्डनीय होता है तथा वाग्दान के निमित्त वर ने अपने सम्बन्धियों और कन्या-सम्बन्धियों के स्वागत-सत्कार में जो धन खर्च किया हो, वह सब सूदसहित कन्यादाता वर को लौटावे। यदि वाग्दत्ता कन्या की मृत्यु हो जाय, तो वर अपने और कन्यापक्ष दोनों के व्यय का परिशोधन करके जो अवशिष्ट व्यय हो, वही कन्यादाता से ले। दुर्भिक्ष में, धर्मकार्य में, रोग या बन्धन से मुक्ति पाने के लिये यदि पति दूसरा कोई धन प्राप्त न होने पर स्त्रीधन को ग्रहण करे, तो पुनः उसको लौटाने को बाध्य नहीं है। जिस स्त्री को श्वशुर अथवा पति से स्त्री धन न प्राप्त हुआ हो, उस स्त्री के रहते हुए दूसरा विवाह करने पर पति 'आधिवेदनिक' के समान धन देना चाहिये अर्थात् 'अधिवेदन' अर्थात् द्वितीय विवाह में जितना धन खर्च होता हो, उतना ही धन उसको भी दिया जाय। यदि उसको पति और श्वशुर की तरफ से स्त्री धन प्राप्त हुआ हो, तत्पश्चात् आधिवेदनिक धन का आधा भाग ही दिया जाय। विभाग का अपलाप होने पर यदि संदेह उपस्थित हो, तो कुटुम्बीजनों, पिता के बन्धु-बान्धवों, माता के बन्धु-बान्धवों, उपरोक्त लक्षण वाले साक्षियों तथा अभिलेख-विभाग पत्र के सहयोग से विभाग का निर्णय समझना चाहिये। इसी प्रकार यौतक अर्थात् दहेज में मिले हुए धन तथा पृथक् किये गये गृह और क्षेत्र आदि के आधार पर भी विभाग का निर्णय जाना जा सकता है।।३३-३६।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी दो सौ छप्पनवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।२५६।।

❖❖❖

अथ सप्तपञ्चाशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

सीमाविवादादिनिर्णयः

अग्निरुवाच

सीम्नो विवादे क्षेत्रस्य सामन्ताः स्थविरादयः। गोपाः सीमाकर्षिणो ये सर्वे च वनगोचराः॥१॥
प्रणेयुरेते सीमानं स्थूलाङ्गारतुषद्रुमैः। सेतुवल्मीकनिम्नास्थिचैत्याद्यैरुपलक्षिताम्॥२॥
सामन्ता वा समग्रामाश्चत्वारोऽष्टादशापि वा। रक्तस्रग्वसनाः समां नयेयुः क्षितिचारिणः॥३॥
अनृते तु पृथग्दण्ड्या राज्ञा मध्यमसाहसम्। अभावे ज्ञातृचिह्नानां राजा सीम्नः प्रवर्तकः॥४॥
आरामायतनग्रामनिपानोद्यानवेश्मसु। एष एव विधिर्ज्ञेयो वर्षाम्बुप्रवहेषु च॥५॥
मर्यादायाः प्रभे (वा) देषु क्षेत्रस्य हरणे तथा। मर्यादायाश्च दण्ड्याः स्युरधमोत्तममध्यमाः॥६॥
न निषेध्योऽप्लबाधस्तु सेतुः कल्याणकारकः। परभूमिं हरन्कूपः स्वल्पक्षेत्रो बहूदकः॥७॥

अध्याय–२५७

सीमा विवाद आदि का निर्णय

सीमा-विवाद

दो गाँवों से सम्बन्ध रखने वाले खेत की सीमा के विषय में विवाद उपस्थित होने पर तथा एक ग्राम के अन्तर्वर्ती खेत की सीमा का झगड़ा खड़ा होने पर सामन्त (सभी तरफ उस खेत से सटकर रहने वाले), स्थविर (वृद्ध) आदि, गोप (गाय के चरवाहे, सीमावर्ती किसान तथा समस्त वनचारी मनुष्य–ये सब लोग पूर्वकृत स्थल (ऊँची भूमि) कोयले, धान की भूसी तथा बरगद आदि के वृक्षों द्वारा सीमा का निश्चय करें। वह सीमा कैसी हो, इस प्रश्न के उत्तर में कहते हैं–वह सीमा सेतु (पुल), वल्मीक (बाँबी), चैत्य (पत्थर के चबूतरे या देवस्थान), बाँस और बालू आदि से उपलक्षित होनी चाहिये॥१-२॥

सामन्त अथवा समीपवर्ती ग्राम वाले चार, आठ अथवा दस मनुष्य लाल फूलों की माला और लाल वस्त्र धारण करके, सिर पर मिट्टी रखकर सीमा का निर्णय करें। सीमा-विवाद में सामन्तों के असत्य-भाषण करने पर राजा को सभी को पृथक्-पृथक् मध्यम साहस का दण्ड देना चाहिये। सीमा का ज्ञान कराने वाले चिह्नों के अभाव में राजा ही सीमा का प्रवर्तक होता है। आराम (बाग), आयतन (मन्दिर या खलिहान), ग्राम, वापी या कूप, उद्यान (क्रीडावन), गृह और वर्षा के जल को प्रवाहित करने वाले नाले आदि की सीमा के निर्णय में भी यही विधि समझनी चाहिये। मर्यादा का भेदन, सीमा का उल्लङ्घन एवं क्षेत्र का अपहरण करने पर राजा क्रमशः अधम, श्रेष्ठतम और मध्यम साहस का दण्ड देना चाहिये। यदि सार्वजनिक सेतु (पुल या बाँध) और छोटे क्षेत्र में अधिक जल वाला कुआँ बनाया जा रहा हो तथा वह दूसरे की कुछ भूमि अपनी सीमा में ले रहा हो, परन्तु उससे हानि तो बहुत कम हो और बहुत से लोगों की अधिक भलाई हो रही हो, तो उसके निर्माण में रुकावट नहीं डालनी चाहिये। जो क्षेत्र के स्वामी को सूचना दिये बिना उसके क्षेत्र में सेतु का निर्माग करता है, वह उस सेतु से प्राप्त फल का उपभोग स्वयं नहीं कर सकता,

स्वामिने योऽनिवेद्यैव क्षेत्रे सेतुं प्रकल्पयेत्। (उत्पन्ने स्वामिनो भोगस्तदभावे महीपतेः।।८।।
फालाहतमपि क्षेत्रं यो न कुर्यान्न कारयेत्। स प्रदाप्योऽकृष्टफलं क्षेत्रमन्येन कारयेत्।।९।।
माषानष्टौ तु महिषी सस्यघातस्य कारिणी। दण्डनीया तदर्धं तु गौस्तदर्धमजाविकम्।।१०।।
भक्षयित्वोपविष्टानां द्विगुणो वसतां दमः। सममेषां विधीयेत खरोष्ट्रं महीषीसमम्।।११।।
यावत्सस्यं विनष्टं तु तावत्क्षेत्री फलं लभेत्। पालस्ताड्योऽथ गोस्वामी पूर्वोक्तं दण्डमर्हति।।१२।।
पथि ग्रामविवीतान्तेक्षेत्रे दोषो विद्यते। अकामतः कामचारे चौरवद्दण्डमर्हति।।१३।।
महोक्षोत्सृष्टपशवः सूतिकाऽऽगन्तुका च गौः। पालो येषां तु ते मोच्या दैवराजपरिप्लुताः।।१४।।
यथार्पितान् पशून्गोपः सायं प्रत्यर्पयेत्तथा। प्रमादमृतनष्टांश्च प्रदाप्यः कृतवेतनः।।१५।।
पालदोषविनाशे तु पाले दण्डो विधीयते। अर्धत्रयोदशपणः स्वामिनो द्रव्यमेव च।।१६।।

क्षेत्र का स्वामी ही उसके फल का भोगी-भागी होगा और उसके अभाव में राजा का उस पर अधिकार होगा। जो कृषक किसी के खेत में एक बार हल चलाकर भी उसमें स्वयं खेती न करता हो और दूसरे से भी न कराये, राजा उससे क्षेत्रस्वामी को कृषि का सम्भावित फल दिलाये और खेत को दूसरे किसान से जुतवाये।।३-९।।

स्वामिपाल-विवाद

अधुना गाय-भैंस या भेड़-बकरी चराने वाले चरवाहे जिस समय किसी के खेत चरा दें तो उनको किस तरह दण्ड देना चाहिये—इसका विचार किया जाता है—राजा दूसरे के खेत की फसल को नष्ट करने वाली भैंस पर आठ माष (पण का बीसवाँ भाग) दण्ड लगावे। गौ पर उससे आधा और भेड़-बकरी पर उससे भी आधा दण्ड लगावे। यदि भैंस आदि पशु खेत चरकर वहीं बैठ जायँ, तो उन पर पूर्वकथित से दूना दण्ड लगाना चाहिये। जिसमें अधिक मात्रा में तृण और काष्ठ उपजता है, ऐसा भूप्रदेश जिस समय स्वामी से लेकर उसको सुरक्षित रखा जाता है तो उसको 'विवीत' (रक्षित या रखांतु) कहते हैं। उस रखांतु को भी हानि पहुँचाने पर इन भैंस आदि पशुओं पर अन्य खेतों के समान ही दण्ड समझे। इसी अपराध में गदहे तरफ ऊँटों पर भी भैंस के समान ही दण्ड लगाना चाहिये। जिस खेत में जितनी फसल पशुओं के द्वारा नष्ट की जाय, उसका सामन्त आदि के द्वारा अनुमानित फल गो स्वामी को क्षेत्रस्वामी के लिये दण्ड के रूप में देना चाहिये और चरवाहों को तो केवल शारीरिक दण्ड देना अर्थात् कुछ पीट देना चाहिये। यदि गो स्वामी ने स्वयं चराया हो, तो उससे उपरोक्त दण्ड ही वसूल करना चाहिये, ताड़ना नहीं देनी चाहिये। यदि खेत रास्ते पर हो, गाँव के सन्निकट हो अथवा ग्राम के 'विवीत' (सुरक्षित) भूमि के सन्निकट हो और वहाँ चरवाहे अथवा गो-स्वामी की इच्छा न होने पर भी अनजाने में पशुओं ने चर लिया अथवा फसल को हानि पहुँचा दी तो उसमें गो-स्वामी तथा चरवाहा—दोनों में से किसी का दोष नहीं माना जाता, अर्थात् उसके लिये दण्ड नहीं लगाना चाहिये; परन्तु यदि स्वेच्छा से जान-बूझकर खेत चराया जाय तो चराने वाला और गो-स्वामी दोनों चोर की भाँति दण्ड पाने के अधिकारी हैं। साँड़, वृषोत्सर्ग की विधि से देवी-देवता को चढ़ाकर छोड़े गये पशु, दस दिन के अन्दर की ब्यायी हुई गाय तथा अपने यूथ से बिछुड़कर दूसरे स्थान पर आया हुआ पशु—ये दूसरे की फसल चर लें तो भी दण्डनीय नहीं हैं, छोड़ देने योग्य हैं। जिसका कोई चरवाहा न हो, ऐसे देवोपहत तथा राजोपहत पशु भी छोड़ ही देने योग्य हैं। गोप (चरवाहा) प्रातःकाल गौओं के स्वामी के सँभलाये हुए पशु को सायंकाल उसी तरह लाकर स्वामी को सौंप देना चाहिये। वेतन भोगी ग्वाले के प्रमाद से मृत अथवा खोये हुए पशु राजा उससे पशु-स्वामी को

ग्रामेच्छया गोपचारो भूमिराजवशेन वां। द्विजस्तृणैधः पुष्पाणि सर्वतः सर्वदाऽऽहरेत्।।१७।।
धनुःशतं परीणाहो ग्रामक्षेत्रान्तरं भवेत्। द्वे शते खर्वटस्य स्यान्नगरस्य चतुःशतम्।।१८।।
स्वं लभेतान्यविक्रीतं क्रेतुर्दोषोऽप्रकाशिते। हीनाद्रहो हीनमूल्ये वेलाहीने च तस्करः।।१९।।
नष्टापहृतमासाद्य हर्तारं ग्राहयेन्नरम्। देशकालातिपत्तौ वा गृहीत्वा स्वयमर्पयेत्।।२०।।
विक्रेतुर्दर्शनाच्छुद्धिः स्वामी द्रव्यं नृपो दमम्। क्रेता मूल्यं समाप्नोति तस्माद्यस्तत्र विक्रयी।।२१।।
आगमेनोपभोगेन नष्टं भाव्यमतोऽन्यथा। पञ्चबन्धो दमस्तस्य राज्ञस्तेनाप्यभाविते।।२२।।
हृतं प्रनष्टं यो द्रव्यं परहस्तादवाप्नुयात्। अनिवेद्य नृपे दण्ड्यः स तु षण्णवतिं पणान्।।२३।।

दिलाये। गोपालक के दोष से पशुओं का विनाश होने पर उसमें ऊपर साढ़े तेरह पण दण्ड लगाया जाय और उस स्वामी को नष्ट हुए पशु का मूल्य भी देना चाहिये। ग्रामवासियों की इच्छा से अथवा राजा की आज्ञा के अनुसार गोचारण के लिये भूमि छोड़ दे; उसको जोते-बोये नहीं। ब्राह्मण सदा, सभी स्थानों से तृण, काष्ठ और पुष्प ग्रहण कर सकता है। ग्राम और क्षेत्र का अन्तर सौ धनुष के प्रमाण का हो, अर्थात् गाँव के चारों तरफ सौ-सौ धनुष भूमि परती छोड़ दी जाय और तत्पश्चात् की भूमि पर ही खेती की जाय। खर्वट (बड़े गाँव) और क्षेत्र का अन्तर दो सौ धनुष एवं नगर तथा क्षेत्र का अन्तर चार सौ धनुष होना चाहिये।।१०-१८।।

अस्वामिविक्रय

अधुना अस्वामिविक्रय नामक व्यवहारपद पर विचार प्रारम्भ करते हैं—देवर्षि नारद जी ने 'अस्वामिविक्रय' का लक्षण इस तरह बतलाया है—

निक्षिप्तं वा परद्रव्यं नष्टं लब्ध्वापहृत्य वा। विक्रीयतेऽसमक्षं यत् स ज्ञेयोऽस्वामिविक्रयः।।

अर्थात् धरोहर के तौर पर रखे हुए पराये द्रव्य को खोया हुआ पाकर अथवा स्वयं चुराकर जो स्वामी के परोक्ष में बेच दिया जाता है, वह 'अस्वामिविक्रय' कहलाता है। द्रव्य का स्वामी अपनी वस्तु दूसरे के द्वारा बेची हुई यदि किसी खरीददार के पास देखे तो उसको अवश्य पकड़े--अपने अधिकार में ले ले। यहाँ 'विक्रीत' शब्द 'दत्त' और 'आहित' का भी उपलक्षण है। अर्थात् यदि कोई दूसरे की रखी हुई वस्तु उसको बताये बिना दूसरे के यहाँ रख दे या दूसरे को दे दे तो उस पर यदि स्वामी की दृष्टि पड़ जाय तो स्वामी उस वस्तु को हठात् ले ले या अपने अधिकार में कर ले; क्योंकि उस वस्तु से उसका स्वामित्व निवृत्त नहीं हुआ। यदि खरीददार उस वस्तु को खरीदकर छिपाये रखे, किसी पर प्रकट न करता हो, तो उसका अपराध माना जाता है। तथा जो हीन पुरुष है, अर्थात् उस द्रव्य की प्रापित के उपाय से हीन है, उससे एकान्त में कम मूल्य में और असमय में अर्थात् रात्रि आदि में उस वस्तु को खरीदने वाला मनुष्य चोर होता है, अर्थात् चोर के समान दण्डनीय होता है। अपनी खोयी हुई या चोरी में गयी हुई वस्तु जिसके पास देखे, उसको स्थानपाल आदि राजकर्मचारी से पकड़वा देना चाहिये। यदि उस स्थान अथवा समय में राजकर्मचारी न मिले तो चोर को स्वयं पकड़कर राजकर्मचारी को सौंप देना चाहिये। यदि खरीदकर यह कहे कि 'मैंने चोरी नहीं की है, अमुक से खरीदी हैं, तो वह बेचने वाले को पकड़वा देने पर शुद्ध अर्थात् अभियोग से मुक्त हो जाता है। जो नष्ट या अपहत वस्तु का विक्रेता है, उसके पास से द्रव्य का स्वामी द्रव्य, राजा अर्थदण्ड और खरीदने वाला अपना दिया हुआ मूल्य पाता है। वस्तु का स्वामी लेख्य आदि आगम या उपभोग का प्रमाण देकर खोयी हुई वस्तु को अपनी सिद्ध करना चाहिये। सिद्ध न करने पर रजाा उससे वस्तु का पञ्चमांश दण्ड के रूप में ग्रहण करना चाहिये। जो मनुष्य अपनी खोयी हुई अथवा चुरायी गयी वस्तु को राजा को बिना बतलाये दूसरे से ले ले, राजा उस पर छानबे पण का

शौल्विकैः स्थानपालैर्वा नष्टापहृतमाहृतम्। अर्वाक्संवत्सरात्स्वामी लभते परतो नृपः॥२४॥
पणानेकशफे दद्याच्चतुरः पञ्च मानुषे। महिषोष्ट्रगवां द्वौ द्वौ पादं पादमजाविके॥२५॥
स्वकुटुम्बाविरोधेन देयं दारसुतादृते। नान्वये सति सर्वस्वं देयं यच्चान्यसंश्रुतम्॥२६॥
प्रतिग्रहः प्रकाशः स्यात्स्थावरस्य विशेषतः। देयं प्रतिश्रुतं चैव दत्त्वा नापहरेत्पुनः॥२७॥
दशैकपञ्चसप्ताहमासत्र्यहार्धमासिकम्। बीजायोवाह्यरत्नस्त्री दोह्यपुंसां प्रतीक्षणम्॥२८॥
अग्नौ सुवर्णमक्षीणं द्विपलं रजते शते। अष्टौ त्रपुषि (णि) सीसे च ताम्रे पञ्चदशायसि॥२९॥
शते दशपला वृद्धिरौर्णे कार्पासिके तथा। मध्ये पञ्चपला ज्ञेया सूक्ष्मे तु त्रिपला मता॥३०॥

अर्थदण्ड लगावे। शौल्किक (शुल्क के अधिकारी) या स्थान पाल (स्थानरक्षक) जिस खोये अथवा चुराये गये द्रव्य को राजा के पास लायें, उस द्रव्य को एक वर्ष के पूर्व ही वस्तु का स्वामी प्रमाण देकर प्राप्त कर ले; एक वर्ष के बाद राजा स्वयं उसको ले ले। घोड़े आदि एक खुरवाले पशु खोने के बाद मिलें, तो स्वामी उनकी रक्षा के निमित्त चार पण राजा को दे; मनुष्यजातीय द्रव्य के मिलने पर पाँच पण; भैंस, ऊँट और गौ के प्राप्त होने पर दो-दो पण तथा भेड़-बकरी के मिलने पर पण का चतुर्थांश राजा को अर्पित करना चाहिये॥१९-२५॥

दत्ताप्रदानिक

'दत्ताप्रदानिक' का स्वरूप देवर्षि नारद ने इस तरह बतलाया है—'जो असम्यग्रूप से अर्थात् आरोग्य मार्ग का आश्रय लेकर कोई द्रव्य देने के पश्चात् फिर उसको लेना चाहता है, उसको 'दत्ताप्रदानिक' नामक व्यवहार पद कहा जाता है।' इस प्रकरण में इसी पर विचार किया जाता है। जीविका का उपरोध न करते हुए ही अपनी वस्तु का दान करना चाहिये; अर्थात् कुटुम्ब के भरण-पोषण से बचा हुआ धन ही देने योग्य है। स्त्री और पुत्र किसी को न देना चाहिये। अपना वंश होने पर किसी को सर्वस्व का दान नहीं करना चाहिये। जिस वस्तु को दूसरे के लिये देने की प्रतिज्ञा कर ली गयी हो, वह वस्तु उसी को दे, दूसरे को न देना चाहिये। प्रतिग्रह प्रकटरूप में ग्रहण करना चाहिये। विशेषतः स्थावर भूमि, वृक्ष आदि का प्रतिग्रह तो सबके सामने ही ग्रहण करना चाहिये। जो वस्तु जिसे धर्मार्थ देने की प्रतिज्ञा की गयी हो, वह उसको अवश्य दे देना चाहिये और दी हुई वस्तु का कदापि फिर अपहरण नहीं करना चाहिये—उसको वापस न ले॥२६-२७॥

क्रीतानुशय

अधुना 'क्रीतानुशय' बतलाया जाता है। इसका स्वरूप देवर्षि नारदजी ने इस तरह कहा है—'जो खरीददार मूल्य देकर किसी पण्य वस्तु को खदीदने के बाद उसको अधिक महत्त्व की वस्तु नहीं मानता है, इसलिये उसको लौटाना चाहता है और यह मामला 'क्रीतानुशय' नामक विवाद पद कहलाता है। ऐसी वस्तु को जिस दिन खरीदा जाय, उसी दिन अविकृतरूप से मालधनी का लौटा दिया जाय। यदि दूसरे दिन लौटावे तो क्रेता मूल्य से १/३० वाँ भाग त्याग देना चाहिये। यदि तीसरे दिन लौटावे तो १/१५ वाँ भाग त्याग देना चाहिये। इसके बाद वह वस्तु खरीददार की ही हो जाती है, वह उसको लौटा नहीं सकता।' अधुना बीज आदि के विषय में बताते हैं॥२७॥

बीज की दस दिन, लोहे की एक दिन, वाहन की पाँच दिन, रत्नों की सात दिन, दासी की एक मास, दूध देने वाले पशु की तीन दिन और दास की एक पक्ष तक परीक्षा होती है। स्वर्ण अग्नि में डालने पर क्षीण नहीं होता; परन्तु चाँदी प्रतिशत दो पल, राँगे और सीसे में प्रतिशत आठ पल, ताँबे में पाँच पल और लोहे में दस पल कमी होती है। ऊन और रूई के स्थूल सूत से बुने हुए कपड़े में सौ पल में दस पलकी वृद्धि होती है। इसी तरह मध्यम सूत में पाँच पल और सूक्ष्म सूत में तीन पल की वृद्धि समझनी चाहिये। कार्मिक अर्थात् अनेक रङ्ग के चित्रां से युक्त

कार्मिके रोमबद्धे च त्रिंशद्भागः क्षयो मतः। न क्षयो न च वृद्धिस्तु कौशेये वल्कलेषु च॥३१॥
देशं कालं च भोगं च ज्ञात्वा नष्टे बलाबलम्। द्रव्याणां कुशला ब्रूयुर्यत्तद्दाप्यमसंशयम्॥३२॥
बलाद्दासीकृतश्चौरैर्विक्रीतश्चापि मुच्यते। स्वामिप्राणप्रदो भक्तत्यागान्निष्क्रयणादपि॥३३॥
प्रव्रज्यावसितो राज्ञो दास आमरणान्तिकः। वर्णानामानुलोम्येन दास्यं न प्रतिलोमतः॥३४॥
कृतशिष्योऽपि निवसेत्कृतकालं गुरोर्गृहे। अन्तेवासी गुरुप्राप्तभोजनस्तत्फलप्रदः॥३५॥
राजा कृत्वा पुरे स्थानं ब्राह्मणान्न्यस्य तत्र तु। त्रैविद्यं वृत्तिमद्ब्रूयात्स्वधर्मः पाल्यतामिति॥३६॥
निजधर्माविरोधेन यस्तु सामयिको भवेत्। सोऽपि यत्नेन संरक्ष्यो धर्मो राजकृतश्च यः॥३७॥
गणद्रव्यं हरेद्यस्तु संविदं लंघयेच्च यः। सर्वस्वहरणं कृत्वा त्वं राष्ट्राद्विप्रवासयेत्॥३८॥
कर्तव्यं वचनं सर्वैः समूहहितवादिनाम्। यस्तत्र विपरीतः स्यात्स दाप्यः प्रथमं दमम्॥३९॥

और रोमबद्ध (किनारे पर गुच्छों से युक्त) वस्त्र में तीसवाँ भाग क्षय होता है। रेशम और वल्कक के बुने हुए वस्त्र में न तो क्षय होता है और न वृद्धि ही। उपरोक्त द्रव्यों के नष्ट होने पर द्रव्यज्ञानकुशल व्यक्ति देश, काल, उपयोग और नष्ट हुए वस्तु के सारासार की परीक्षा करके जितनी हानि का निर्णय कर दें, राजा उस हानि की शिल्पियों से अवश्य पूर्ति कराये॥२८-३२॥

अभ्युपेत्याशुश्रूषा

सेवा स्वीकार करके जो उसको नहीं करता है, उसका यह बर्ताव 'अभ्युपेत्याशुश्रूषा' नामक व्यवहारपद है। जो बलपूर्वक दास बनाया गया है और चारों के द्वारा चुराकर किसी के हाथ बेचा गया है–ये दोनों दासभाव से मुक्त हो सकते हैं। यदि स्वामी इनको न छोड़े तो राजा अपनी शक्ति से इनको दासभाव से छुटकारा दिलाये। जो स्वामी को प्राणसंकट से बचा दे, वह भी दासभाव से मुक्त कर देने योग्य है। जो स्वामी से भरण-पोषण पाकर उसका दास्य स्वीकार करके कार्य कर रहा है, वह भरण-पोषण में स्वामी का जितना धन खर्च करा चुका है, उतना धन वापस कर दे तो दासभाव से छुटकारा पा जाता है। जितना धन लेकर स्वामी ने किसी को किसी धनी के पास बन्धक रख दिया है, अथवा जितना धन देकर किसी धनी ने किसी ऋण ग्राही को ऋणदाता से छुड़ाया है, उतना धन सूदसहित वापस कर देने पर आहित दास भी दासत्व से छुटकारा पा सकता है। प्रव्रज्यावसित अर्थात् सन्यासभ्रष्ट अथवा आरूढ़पतित मनुष्य यदि इसका प्रायश्चित्त न कर ले तो मरणपर्यन्त राजा का दास होता है। चारों वर्ण अनुलोमक्रम से ही दास हो सकते हैं, प्रतिलोमक्रम से नहीं। विद्यार्थी विद्याग्रहण के पश्चात् गुरु के गृह में आयुर्वेदादि शिल्प शिक्षा के लिये यदि रहना चाहे तो समय निश्चित करके रहना चाहिये। यदि निश्चित समय से पहले वह शिल्प शिक्षा प्राप्त कर ले तो भी उतने समय तक वहाँ अवश्य निवास करना चाहिये। उन दिनों वह गुरु के गृह भोजन करना चाहिये और उस शिल्प से उपार्जित धन गुरु को ही समर्पित करना चाहिये॥३३-३५॥

संविद् व्यतिक्रम

नियत की हुई व्यवस्था का नाम 'समय' या 'संविद्' है। उसका उल्लङ्घन 'संविद् व्यतिक्रम' कहलाता है। यह विवाद का पद है। राजा अपने नगर में भवन-निर्माण कराकर उनमें वेदविद्या सम्पन्न ब्राह्मणों को जीविका देकर बसावे और उनसे याचना करनी चाहिये कि 'आप यहाँ रहकर अपने धर्म का अनुष्ठान कीजिये। ब्राह्मणों को अपने धर्म में बाधा न डालते हुए जो सामयिक और राजा द्वारा निर्धारित धर्म हो, उसका भी यत्नपूर्वक पालन करना चाहिये। जो मनुष्य समूह या संस्था का द्रव्यग्रहण और मर्यादा का उल्लघंन करता हो, राजा उसका सर्वस्व छीनकर उसको राज्य से निर्वासित कर देना चाहिये। अपने समाज के हितैषी मनुष्यों के कथनानुसार ही सब मनुष्यों को कार्य करना चाहिये। जो मनुष्य समाज

समूहकार्यप्रहितो यल्लभेत्तत्तदर्पयेत्। एकादशगुणं दाप्यो यद्यसौ नार्पयेत्स्वयम्।।४०।।
(वेदज्ञाः शुचयोऽलुब्धाः भवेयुः कार्यचिन्तकाः। कर्तव्यं वचनं तेषां समूहहितवादिनाम्)।।४१।।
श्रेणिनैगमपाषण्डिगणानामप्ययं विधिः। भेदं चैषां नृपो रक्षेत्पूर्ववृत्तिं च पालयेत्।।४२।।
गृहीतवेतनः कर्म त्यजन्द्विगुणमावहेत्। अगृहीते समं दाप्यो भृत्यै रक्ष्य उपस्करः।।४३।।
दाप्यस्तु दशमं भागं वाणिज्यपशुसस्यतः। अनिश्चित्य भृतिं यस्तु कारयेत्स महीक्षिता।।४४।।
देशं कालं च योऽतीयात्कर्म कुर्याच्च योऽन्यथा। तत्र तु स्वामिनश्छन्दोऽधिकं देयं कृतेऽधिके।।४५।।
यो यावत्कुरुते कर्म तावत्तस्य तु वेतनम्। उभयोरप्यसाध्यं चेत्साध्ये कुर्याद्यथाश्रुतम्।।४६।।
अराजदैविकं नष्टं भाण्डं दाप्यस्तु वाहकः। प्रस्थानविघ्नकृच्चैव प्रदाप्यो द्विगुणां भृतिम्।।४७।।
प्रक्रान्ते सप्तमं भागं चतुर्थं पथि संत्यजन्। भृतिमर्धपथे सर्वां प्रदाप्यस्त्याजकोऽपि च।।४८।।
ग्लहे शतिकवृद्धेस्तु समिकः पञ्चकं शतम्। गृह्णीयाद्धूर्तकितवादितराद्दशकं शतम्।।४९।।

के विपरीत आचरण करना चाहिये, राजा उसको प्रथम साहस का दण्ड देना चाहिये। समूह के कार्य की सिद्धि के लिये राजा के पास भेजा हुआ मनुष्य राजा से जो कुछ भी मिले, वह समाज के श्रेष्ठ व्यक्तियों को बुलाकर समर्पित कर देना चाहिये। यदि वह स्वयं लाकर नहीं देता तो राजा उससे ग्यारहगुना धन दिलावे। जो वेदज्ञान-सम्पन्न, पवित्र अन्तःकरण वाले, लोभशून्य तथा कार्य का विचार करने में कुशल हों, उन समूह के हितैषी मनुष्यों का वचन सबके लिये पालनीय है। 'श्रेणी' अर्थात् एक व्यापार से जीविका चलाने वाले, 'नैगम' अर्थात् वेदोक्त धर्म का आचरण करने वाले, 'पाखण्डी' अर्थात् वेदविरुद्ध आचरण वाले और 'गण' अर्थात् अस्त्र-शस्त्रों से जीविका चलाने वाले—इन सब लोगों के लिये भी यही विधि है। राजा इनके धर्मभेद और पूर्ववृत्ति का संरक्षण करना चाहिये।।३६-४२।।

वेतना दान

जो भृत्य लेकर काम छोड़ दे, वह स्वामी को उस वेतन से दुगुना धन लौटाये। वेतन न लिया हो, तो वेतन के समान धन उससे ले। भृत्य सदा खेती आदि के सामान की रक्षा करनी चाहिये। जो वेतन का निश्चय किये बिना भृत्य से काम लेता है, राजा उसके वाणिज्य, पशु और शस्य की आयका दशांश भृत्य को दिलाये। जो भृत्य देश-काल को अतिक्रमणर करके लाभ को अन्यथा (औसत से भी कम) कर देता है, उसको स्वामी अपने इच्छानुसार वेतन देना चाहिये परन्तु औसत से अधिक लाभ प्राप्त कराने पर भृत्य को वेतन से अधिक देना चाहिये। वेतन निश्चित करके दो मनुष्यों से ही काम कराया जाय और यदि वह काम उनसे समाप्त नह हो सके तो जिसने जितना काम किया हो, उसको उतना वेतन दे और यदि कार्य सिद्ध हो गया हो, तो पूर्वनिश्चित वेतन देना चाहिये। यदि भारवाहक से राजा और देवता सम्बन्धी पात्र के सिवा दूसरे का पात्र फूट जाय तो राजा भारवाहक से पात्र दिलावे। यात्रा में विघ्न करने वाले भृत्य पर वेतन से दुगुना अर्थदण्ड करना चाहिये। जो भृत्य यात्रारम्भ के समय काम छोड़ दे, उससे वेतन का सातवाँ भाग, कुछ दूर चलकर काम छोड़ दे, उससे चतुर्थ भाग और जो मार्ग के मध्य में काम छोड़ दे, उससे पूरा वेतन राजा स्वामी को दिलावे। इसी तरह भृत्य का त्याग करने वाले स्वामी से राजा भृत्य को दिलाये।।४३-४८।।

द्यूत-समाह्वय

जूए में छल से काम लेना 'द्यूमसमाह्वय' है। प्राणिभिन्न पदार्थ-सोना, चाँदी आदि के खेला जाने वाला जूआ 'द्यूत' कहलाता है। परन्तु प्राणियों को घुड़दौड़ आदि में दाँव पर लगाकर खेला जाय तो उसको 'समाह्वय' कहा जाता

स सम्यक्पालितो दद्याद्राज्ञे भागं यथाकृतम्। जितमुद्ग्राहयेज्जेत्रे दद्यात्सत्यं वचः क्षमी।।५०।।
प्राप्ते नृपतिना भागे प्रसिद्धे धूर्तमण्डले। जितं समभिके स्थाने दापयेदन्यथा न तु।।५१।।
द्रष्टारो व्यवहाराणां साक्षिणश्च त एव हि। राज्ञा सचिह्ना निर्वास्याः कूटाक्षोपधिदेविनः।।५२।।
द्यूतमेकमुखं कार्यं तस्करज्ञानकारणात्। एष एव विधिर्ज्ञेयः प्राणिद्यूते समाह्वये।।५३।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते सीमाविवादादिनिर्णयकथनं नाम सप्तपञ्चाशदधिकद्विशततमोऽध्यायः।।२५७।।

है। परस्पर की स्वीकृति से जुआरियों द्वारा कल्पित पण (शर्त) को 'ग्लह' कहते हैं। जो जुआरियों को खेलने के लिये सभा-भवन सम्प्रदान करता है, वह 'सभिक' कहलाता है। 'ग्लह' या दाँव में सौ या इससे अधिक वृद्धि (लाभ) प्राप्त करने वाले धूर्त जुआरी से 'सभिक' प्रतिशत पाँच पण अपने भरण-पोषण के लिये ले। फिर दूसरी बार उतनी ही वृद्धि प्राप्त करने वाले अन्य जुआरी से प्रतिशत दस पण ग्रहण करना चाहिये। राजा के द्वारा भलीभाँति सुरक्षित द्यूत का अधिकारी सभिक राजा का निश्चित भाग उसको देना चाहिये। जीता हुआ धन जीतने वाले को दिलाये और क्षमा परायण होकर सत्य-भाषण करना चाहिये। जिस समय द्यूत का संभिक और प्रख्यात जुआरियों का समूह राजा के सन्निकट आये तथा राजा को उनका भाग दे दिया गया हो, तो राजा जीतने वाले को जीत का धन दिला दे, अन्यथा न दिलाये। द्यूत-व्यवहार को देखने वाले सभासद के पदपर राजा उन जुआरियों को ही नियुक्त करना चाहिये तथा साक्षी भी द्यूतकारों को ही बनाये। कृत्रिम पाशों से छलपूर्वक जूआ खेलने वाले मनुष्यों के ललाट में चिह्न करके राजा उनको देश से निर्वासित कर देना चाहिये। चोरों को पहचानने के लिये द्यूत में एक ही किसी को प्रधान बनाये, यही विधि 'प्राणिद्यूत समाह्वय' अर्थात् घुड़दौड़ आदि में भी समझनी चाहिये।।।४९-५३।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी दो सौ सतावनवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।२५७।।

❖❖❖

अथाष्टपञ्चाशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

वाक्पारुष्यादिप्रकरणम्

अग्निरुवाच

सत्यासत्यान्यथास्तोत्रैर्न्यूनाङ्गेन्द्रियरोगिणाम्। क्षेपं करोति चेद्दण्ड्यः पणानर्धत्रयोदश।।१।।
अभिगन्तास्मि भगिनीं मातरं वा तवेति च। शपन्तं दापयेद्राजा पञ्चविंशतिकं दमम्।।२।।
अर्धोऽधमेषु द्विगुणः परस्त्रीषूत्तमेषु च। दण्डप्रणयनं कार्यं वर्णजात्युत्तराधरैः।।३।।

अध्याय-२५८

वाक्पारुष्य आदि विचार

वाक्यारुष्य

अधुना 'वाक्यारुष्य' (कठोर गाली देने आदि) के विषय में विचार किया जाता है। इसका लक्षण देवर्षि नारदजी ने इस तरह बतलाया है– 'देश, जाति और वंश आदि को कोसते हुए उनके सम्बन्ध में जो अश्लील और प्रातिकूल अर्थ वाली बात कही जाती है, उसको 'वाक्यपारुष्य' कहते हैं।' प्रतिकूल अर्थ वाली से तात्पर्य है–उद्वेगजनक वाक्य से। जिस प्रकार कोई कहे–'गौडदेश वाले बड़े झगडालू होते हैं, तो यह देश पर आक्षेप हुआ। 'ब्राह्मण बड़े लालची होते हैं–यह जाति पर आक्षेप हुआ, तथा 'विश्वामित्रगोत्रीय बड़े क्रूर चरित्र वाले होते हैं–यह वंश पर आक्षेप हुआ। यह 'वाक्यपारुष्य' तीन तरह का होता है–'निष्ठुर', अश्लील' और 'तीव्र' इनका दण्ड भी उत्तरोत्तर भारी होता है। आक्षेपयुक्त वचन को 'निष्ठुर' कहते हैं, जिसमें अभद्र बात कही जाय, वह 'अश्लील' है और जिससे किसी पर पातकी होने का आरोप हो, वह वाक्य 'तीव्र' है। जिस प्रकार किसी ने कहा–'तू मूर्ख है, मौगड़ है, तुझे धिक्कार है–यह साक्षेप वचन 'निष्ठुर' की कोटि में आता है, किसी की माँ बहिन के लिये गाली निकालना 'अश्लील' है और किसी को यह कहना कि 'तू शराबी है, गुरुपत्नीगामी है'–ऐसा कटुवचन तीव्र कहा गया है। इस तरह वाक्यपारुष्य के अपराधों पर दण्डविधान कैसे किया जाता है, इसी का यहाँ विचार है–जो न्यूनाङ्ग अर्थात् लँगड़े-लूले आदि हैं, न्यूनेन्द्रिय अर्थात् अन्धे-बहरे आदि हैं तथा जो रोगी अर्थात् दूषित चर्मवाले, कोढ़ी आदि हैं, उन पर सत्यवचन, असत्यवचन अथवा अन्यथा-स्तुति के द्वारा कोई आक्षेप करना चाहिये तो राजा उस पर साढ़े द्वादश पण दण्ड लगाये। इन महोदय की दोनों आँखें नहीं हैं, इसलिये लोग इनको 'अंधा' कहते हैं'–यह सत्यवचन द्वारा आक्षेप हुआ। 'इनकी आँखें तो सही-सलामत हैं, फिर भी लोग इनको 'अन्धा' कहते हैं–यह असत्यवचन द्वारा आक्षेप हुआ। 'तुम विकृताकार होने से ही दर्शनीय हो गये हो' यह अन्यथास्तुति' है।।१।।

जो मनुष्य किसी पर आक्षेप करते हुए इस तरह कहे कि 'मैं तेरी बहिन से तेरी माँ से समागम करने जा रहा हूँ तो राजा उस पर पचीस पण का अर्थदण्ड लगाये। यदि गाली देने वाले की अपेक्षा गाली पाने वाला अधम है तो उसको गाली देने के अपराध में श्रेष्ठ पुरुष पर कथित दण्ड का आधा लगेगा तथा परायी स्त्री एवं उच्चजाति वाले को अधम के द्वारा गाली दी गयी हो, तो उसके ऊपर उपरोक्त दण्ड दुगुना लगाया जाय। वर्ण और जाति की लघुता और श्रेष्ठता को देखकर राजा दण्ड की व्यवस्था करना चाहिये। वर्णों के प्रातिलोम्यापवाद में अर्थात् निम्नवर्ण के पुरुष द्वारा उच्चवर्ण के पुरुष पर आक्षेप किये जाने पर दुगुने और तिगुने दण्ड का विधान है। जिस प्रकार ब्राह्मण

प्रातिलोम्यापवादेषु द्विगुणत्रिगुणा दमाः। वर्णानामानुलोम्येन तस्मादेवार्धहानितः॥४॥
बाहुग्रीवानेत्रसक्थिविनाशे वाचिके दमः। शस्तस्ततोऽधिकः पादनासाकर्णकरादिषु॥५॥
अशक्तस्तु वदन्नेवं दण्डनीयः पणान्दश। तथा शक्तः प्रतिभुवं दद्यात्क्षेमाय तस्य तु॥६॥
पतनीयकृते क्षेपे दण्डो मध्यमसाहसः। उपपातकयुक्ते तु दाप्यः प्रथमसाहसम्॥७॥
त्रैविद्यनृपदेवानां खेप उत्तमसाहसः। मध्यमो ज्ञातिपूगानां प्रथमो ग्रामदेशयोः॥८॥
असाक्षिकहते चिह्नैर्युक्तिभिश्चाऽऽगमेन च। द्रष्टव्यो व्यवहारस्तु कूटचिह्नकृताद्भयात्॥९॥

को कटुवचन सुनाने वाले क्षत्रिय पर उपरोक्त द्विगुण दण्ड, पचास पण से दुगुने दण्ड सौ पण, लगाये जाने चाहिये तथा वही अपराध करने वाले वैश्य पर तिगुने, अर्थात् डेढ़ सौ पण दण्ड लगने चाहिये। इसी तरह 'आनुलोम्यापवाद' में, अर्थात् उच्चवर्ण द्वारा हीनवर्ण के मनुष्य पर आक्षेप किये जाने पर क्रमशः आधे-आधे दण्ड की कमी हो जाती है। अर्थात् ब्राह्मण क्षत्रिय पर आक्रोश करना चाहिये तो पचास पण दण्ड दे, वैश्य पर करना चाहिये तो पच्चीस पण और यदि शूद्र पर करना चाहिये तो साढ़े द्वादश पण दण्ड देना चाहिये। यदि कोई मनुष्य वाणी द्वारा दूसरों को इस तरह धमकावे कि 'मैं आपकी बाँह उखाड़ लूँगा, गर्दन मरोड़ दूँगा, आँखे फोड़ दूँगा और जाँघ तोड़ डालूँगा' तो राजा उस पर सौ पण का दण्ड लगावे और जो पैर, नाक, कान और हाथ आदि तोड़ने को कहे, उस पर पचास पण का अर्थ दण्ड लागू करना चाहिये। यदि असमर्थ मनुष्य ऐसा कहे, तो राजा उस पर दस पण दण्ड लगावे और सक्षम मनुष्य असमर्थ को ऐसा कहे, तो उससे उपरोक्त सौ पण दण्ड वसूल करना चाहिये। साथ ही असमर्थ मनुष्य की रक्षा के लिये उससे कोई 'प्रतिभू' (जमानतदार) भी माँगे। किसी को पतित सिद्ध करने के लिये आक्षेप करने वाले मनुष्य को मध्यम साहस का दण्ड देना चाहिये। तथा उपपातक का मिथ्या आरोप करने वाले पर प्रथम साहस का दण्ड लगाना चाहिये। वेदविद्या सम्पन्न ब्राह्मण, राजा अथवा देवता की निन्दा करने वालों को श्रेष्ठतम साहस, जातियों के सङ्घ की निन्दा करने वालों को श्रेष्ठतम साहस, जातियों के सङ्घ की निन्दा करने वाले को मध्यम साहस और ग्राम या देश की निन्दा करने वाले को प्रथम साहस का दण्ड देना चाहिये।।२-८।।

दण्डपारुष्य

अधुना 'दण्डपारुष्य' प्रस्तुत किया जाता है। देवर्षि नारदजी के कथनानुसार उसका स्वरूप इस तरह है-'दूसरों के शरीर पर अथवा उसकी स्थावरजङ्गम वस्तुओं पर हाथ, पैर, अस्त्र-शस्त्र तथा पत्थर आदि से जो चोट पहुँचायी जाती है तथा राख, धूल और मल-मूत्र आदि फेंककर उसके मन में दुःख उत्पन्न किया जाता है, यह दोनों ही तरह का व्यवहार 'दण्डपारुष्य' कहलाता है।' उसके तीन कारण बताये जाते हैं-'अवगोरण' अर्थात् मारने के लिये उद्योग, 'निःसङ्गपातन' अर्थात् निष्ठुरतापूर्वक नीचे गिरा देना और 'क्षतदर्शन' अर्थात् रक्त निकाल देना-इन तीनों के द्वारा हीन द्रव्या पर मध्यम द्रव्य पर और श्रेष्ठतम द्रव्य पर जो आक्रमण होता है, उसको दृष्टि में रखकर 'दण्डपारुष्य' के तीन भेद किये जाते हैं। 'दण्डपारुष्य' का निर्णय करके उसके लिये अपराधी को दण्ड दिया जाता है। उसके स्वरूप में संदेह होने पर निर्णय के कारण बता रहे हैं-यदि कोई मनुष्य राजा के पास आकर इस आशय का अभियोगपत्र दे कि 'अमुक व्यक्ति ने एकान्त स्थान में मुझको मारा है', तो राजा इस कार्य में जिह्नों से, युक्तियों से, आशय (जनप्रवाद से) तथा दिव्य-प्रमाण से निश्चय करना चाहिये। 'अभियोग लगाने वाले ने अपने शरीर पर घाव का कपटपूर्वक चिह्न तो नहीं बना लिया', इस संदेह के कारण उसका परीक्षण (छानबीन) आवश्यक है। दूसरे के ऊपर राख, कीचड़ या

भस्मपङ्करजःस्पर्शे दण्डो दशपणः स्मृतः। अमेध्यपार्ष्णिनिष्ठ्यूतस्पर्शने द्विगुणः स्मृतः॥१०॥
समेष्वेवं परस्त्रीषु द्विगुणस्तूत्तमेषु च। हीनेष्वर्धं दमो मोहमदादिभिरदण्डनम्॥११॥
विप्रपीडाकरं छेद्यमङ्गमब्राह्मणस्य तु। उद्गूर्णे प्रथमो दण्डः संस्पर्शे तु तदर्धकः॥१२॥
उद्गूर्णे हस्तपादे तु दशविंशतिकौ दमौ। परस्परं तु सर्वेषां शास्त्रे मध्यमसाहसः॥१३॥
पादकेशांशुककरोल्लुञ्चनेषु पणान्दश। पीडाकर्षांशुकावेष्टपादाध्यासे शतं दमः॥१४॥

धूल फेंकने वाले पर दस पण और अपवित्र वस्तु या थूक डालने वाले, अथवा अपने पैर की एड़ी छुआ देने वाले पर राजा बीस पण दण्ड लगाये। यह दण्ड समान वर्ण वालों के प्रति ऐसा अपराध करने वालों के लिये ही बतलाया गया है। परायी स्त्रियों और अपने से श्रेष्ठतम वर्ण वाले पुरुषों के प्रति उपरोक्त व्यवहार करने पर मनुष्य दुगुने दण्ड का भागी होता है और अपने से हीन वर्ण वालों के प्रति ऐसा व्यवहार करने पर मनुष्य आधा दण्ड पाने का अधिकारी होता है। यदि कोई मोह एवं मद के वशीभूत (नशे में) होकर ऐसा अपराध कर बैठे तो उसको दण्ड नहीं देना चाहिये॥९-११॥

ब्राह्मणेतर मनुष्य अपने जिस अङ्ग से ब्राह्मण को पीड़ा दे–मारे–पीटे, उसका वह अङ्ग छेदन कर देने योग्य है। ब्राह्मण के वध के लिये शस्त्र उठा लेने पर उस पुरुष को प्रथम साहस का दण्ड मिलना चाहिये। यदि उसने मारने की इच्छा से शस्त्र आदि का स्पर्शमात्र किया हो, तो उसको प्रथम साहस के आधे दण्ड से दण्डित करना चाहिये। अपने समान जाति वाले मनुष्य को मारने के लिये हाथ उठाने वाले को दस पण, लात उठाने वाले को बीस पण और एक–दूसरे के वध के लिये शस्त्र उठाने पर सभी वर्ण के लोगों को मध्यम साहस का दण्ड देना चाहिये। किसी के पैर, केश, वस्त्र और हाथ–इनमें से कोई सा भी पकड़ कर खींचने या झटका देने पर अपराधी को दस पण का दण्ड लगावे। इसी तरह दूसरे को कपड़े में लपेटकर जोर–जोर से दबाने, घसीटने और पैरों से आघात करने पर आक्रामणक से सौ पण वसूल करना चाहिये। जो किसी पर लाठी आदि से ऐसा प्रहार करना चाहिये कि उसको दुःख तो हो, परन्तु शरीर से रक्त न निकले, तो उस मनुष्य पर बत्तीस पण दण्ड लगावे। यदि उस प्रहार से रक्त निकल आवे तो अपराधी पर इससे दूना, चौंसठ पण दण्ड लगाया जाना चाहिये। किसी के हाथ–पाँव अथवा दाँत तोड़ने वाले, नाक–कान काटने वाले, घाव को कुचल देने वाले या मारकर मृतकतुल्य बना देने वाले पर मध्यम साहस–पाँच सो पण का दण्ड लगाया जाय। किसी की चेष्टा, भोजन या वाणी को रोकने वाले आँख, जिह्वा आदि को फोड़ने या छेदने वाले या कंधा, भुजा और जाँघ तोड़ने वाले को भी मध्यम साहस का दण्ड देना चाहिये। यदि बहुत–से मनुष्य मिलकर एक मनुष्य का अङ्ग–भङ्ग करें तो जिस–जिस अपराध के लिये जो–जो दण्ड बतलाया गया है, उससे दूना दण्ड प्रत्येक को देना चाहिये। परस्पर कलह होते समय जिसने जिसकी जो वस्तु हड़प ली हो, राजा की आज्ञा से उसको उसकी वह वस्तु लौटा देनी होगी तरफ अपहरण के अपराध में उस अपहृत वस्तु के मूल्य से दूना दण्ड राजा के लिये देना होगा। जो मनुष्य किसी पर प्रहार करके उसको घायल कर दे, वह उसके घाव भरने और स्वस्थ होने तक औषधि, पथ्य एवं चिकित्सा में जितना व्यय हो, उसका भार वहन करना चाहिये। साथ ही जिस कलह के लिये जो दण्ड बतलाया गया है, उतना अर्थ दण्ड भी चुकाये। नाव से लोगों को पार उतारने वाला नाविक यदि स्थल मार्ग का शुल्क ग्रहण करता है तो उस पर दस पण दण्ड लगाना चाहिये। यदि यजमान के पास वैभव हो और पड़ोस में विद्वान् और सदाचारी ब्राह्मण बसते हों तो श्राद्ध आदि में उनको निमन्त्रण न देने पर उस यजमान पर भी वही दण्ड लगाना चाहिये। किसी की दीवार पर मुद्गर आदि से आघात करने वाले पर पाँच पण, उसको विदीर्ण करने वाले पर दण पण तथा उसको फोड़ने या दो टूक करने वाले पर बीस पण दण्ड लगाया जाय और वह दीवार गिरा देने वाले से पैंतीस पण दण्ड वसूल किया जाय। साथ ही उस दीवार के मालिक को नये सिरे से दीवार बनाने

शोणितेन विना दुःखं कुर्वन्काष्ठादिभिर्नरः। द्वात्रिंशतं पणान्दाप्यो द्विगुणं दर्शनेऽसृजः॥१५॥
करपाददतो भङ्गे छेदने कर्णनासयोः। मध्यो दण्डो व्रणोद्भेदे मृतकल्पहते तथा॥१६॥
चेष्टाभोजनवाग्रोधे नेत्रादिप्रतिभेदने। कन्धराबाहुसक्थ्नां च भङ्गे मध्यमसाहसः॥१७॥
एकं घ्नतां बहूनां च यथोक्ताद्द्विगुणा दमाः। कलहापहृतं देयं दण्डस्तु द्विगुणः स्मृतः॥१८॥
दुःखमुत्पादयेद्यस्तु स समुत्थानजं व्ययम्। दाप्यो दण्डं च यो यस्मिन्कलहे समुदाहृतः॥१९॥
तरिकः स्थलजं शुल्कं गृह्णन्दण्ड्यः पणान्दश। ब्राह्मणाप्रातिवेश्यानामेतदेव निमन्त्रणे॥२०॥
अभिघाते तथा भेदे छेदे कुड्यावपातने। पणान्दाप्यः पञ्चदश विंशतिं तद्द्वयं तथा॥२१॥
दुःखोत्पादि गृहे द्रव्यं क्षिप्रन्प्राणहरं तथा। षोडशाऽऽद्यः पणान्दाप्यो द्विगुणो मध्यमं दमम्॥२२॥
दुःखे च शोणितोत्पादे शाखाङ्गच्छेदने तथा। दण्डः क्षुद्रपशुनां स्याद्द्विपणप्रभृतिः क्रमात्॥२३॥
लिङ्गस्य च्छेदने मृत्तौ (त्यौ) मध्यमो मूल्यमेव वा। महापशूनामेतेषु स्थानेषु द्विगुणा दमाः॥२४॥
प्ररोहिशाखिनां शाखास्कन्धसर्वविदारणे। उपजीव्यद्रुमाणां तु विंशतेर्द्विगुणा दमाः॥२५॥
यः साहसं कारयति स दाप्यो द्विगुणं दमम्। (यस्त्वेवमुक्त्वाऽहं दाता कारयेत्स चतुर्गुणम्॥२६॥
आर्याक्रोशातिक्रमकृद्भ्रातृभार्याप्रहारकः। (संदिष्टस्याप्रदाता च समुद्रगृहभेदकः॥२७॥

का व्यय उससे दिलाया जाय। किसी के गृह में दुःखोत्पादक वस्तु--कण्टक आदि फेंकने वाले पर सोलह पण और शीघ्र प्राण हरण करने वाली वस्तु–विषधर सर्प आदि फेंकने पर मध्यम साहस–पाँच सौ पण दण्ड देने का विधान है। क्षुद्र पशु को पीड़ा पहुँचाने वाले पर दो पण, उसके शरीर से रुधिर निकाल देने वाले पर चार पण, सींग तोड़ने वाले पर छः पण तथा अंग-भंग करने वाले पर आठ पण दण्ड लगावे। क्षुद्र पशु का लिङ्ग–छेदन करने या उसको मार डालने पर मध्यम साहस का दण्ड दे और अपराधी से स्वामी को उस पशु का मूल्य दिलाये। महानृ पशु–हाथी घोड़े आदि के प्रति दुःखोत्पादन आदि उपरोक्त अपराध करने पर क्षुद्र पशुओं की अपेक्षा दूना दण्ड समझना चाहिये। जिनकी डालियाँ काटकर अन्यत्र लगा दी जाने पर अंकुरित हो जाती है, वे बरगद आदि वृक्ष 'प्ररोहिशाखी' कहलाते हैं। ऐसे प्ररोही वृक्षों की तथा जिनकी डालियाँ अंकुरित नहीं होतीं, परन्तु जो जीविका चलाने के साधन बनते हैं, उन आम आदि वृक्षों की शाखा, स्कन्ध तथा मूलसहित समूचे वृक्ष का छेदन करने पर क्रमशः बीस पण, चालीस पण और अस्सी पण दण्ड लगाने का विधान है।।१२-२५।।

साहस-प्रकरण

अधुना 'साहस' नामक विवादपद का विवेचन करने के लिये पहले उसका लक्षण बताते हैं–सामान्य द्रव्य अथवा परकीय द्रव्य का बलपूर्वक अपहरण 'साहस' कहलाता है। यहाँ यह कहा गया कि राजदण्ड का उल्लंघन करके, जनसामान्य के आक्रोश की कोई परवा किये बिना राजकीय पुरुषों से भिन्न लोगों के सामने जो मारण, अपहरण तथा परस्त्री के प्रति बलात्कार आदि किया जाता है, वह सब 'साहस' की कोटि में आता है। जो दूसरों के द्रव्य का अपहरण करता है, उसके ऊपर उस अपहृत द्रव्य के मूल्य से दूना दण्ड लगाना चाहिये। जो 'साहस' (लूट-पाट डकैती आदि) कर्म करके उसको स्वीकार नहीं करता–'मैंने नहीं किया है'–ऐसा उत्तर देता है, उसके ऊपर वस्तु के मूल्य से चौगुना दण्ड लगाना उचित है।।२६।।

जो मनुष्य दूसरे से डकैती आदि 'साहस' करवाता है, उससे उस साहस के लिये कथित दण्ड से दूना दण्ड

सामन्तकुलिकादीनामपकारस्य कारकः। पञ्चाशत्पणिको दण्ड एषामिति विनिश्चयः॥२८॥
स्वच्छन्दविधवागामी विक्रुष्टेनाभिधावकः। अकारेण (रणं?)च विक्रोष्टा चाण्डालश्चोत्तमान्स्पृशन्॥२९॥
शूद्र (प्रव्रजितानां च दैवे पै (पि)त्र्ये च भोजकः। अयुंक्तं शपथं कुर्वन्नयोग्यो योग्यकर्मकृत्॥३०॥
वृषशूद्रपशूनां च पुंस्त्वस्य प्रतिघातकृत्। साधारणस्यापलापी दासीगर्भविनाशकृत्॥३१॥
पितापुत्रस्वसृभ्रातृदंपत्याचार्यशिष्यकाः। एषामपतितान्योन्यत्यागी च शतदण्डभाक्॥३२॥
वसानस्त्रीन्पणान्दण्ड्यो नेजकस्तु परांशुकम्। विक्रयापक्रियादानयाचितेषु पणान्दश॥३३॥
तुलाशासनमानानां कूटकृन्नाणकस्य च। एभिश्च व्यवहर्ता यः स दाप्यो दण्डमुत्तमम्॥३४॥
अकूटं कूटकं ब्रूते कूटं यश्चाप्यकूटकम्। स नाणकपरीक्षायां दाप्यः प्रथमसाहसम्॥३५॥
भिषङ्मिथ्याऽऽचरन्दाप्यस्तिर्यक्षु प्रथमं दमम्। मानुषे मध्यमं राजमानुषेषूत्तमं तथा॥३६॥
अबध्यं यश्च बध्नाति बध्यं यश्च प्रमुञ्चति। अप्राप्तव्यवहारं च स दाप्यो दममुत्तमम्॥३७॥

लेना चाहिये। जो ऐसा कहकर कि 'मैं आपको धन दूँगा, आप 'साहस' (डकैती आदि) करो', दूसरे से 'साहस' का काम कराता है, उससे साहसिक के लिये नियत दण्ड की अपेक्षा चौगुना दण्ड वसूल करना चाहिये। श्रेष्ठ पुरुष (आचार्य आदि) की निन्दा या आज्ञा का उल्लंघन करने वाले, भ्रातृपत्नी (भौजाई या भयहु) पर प्रहार करने वाले, प्रतिज्ञा करके न देंने वाले, किसी के बन्द गृह का ताला तोड़कर खोलने वाले तथा पड़ोसी और कुटुम्बीजनों का अपकार करने वाले पर राजा पचास पण का दण्ड लगावे, यह शास्त्र का निर्णय है॥२७-२८॥

बिना नियोग के स्वेच्छाचारपूर्वक विधवा से गमन करने वाले, संकटग्रस्त मनुष्य के पुकारने पर उसकी रक्षा के लिये दौड़कर न जाने वाले, अकारण उसकी रक्षा के लिये दौड़कर न जाने वाले, चाण्डाल ही लोगों को रक्षा के लिये पुकारने वाले, चाण्डाल होकर श्रेष्ठ जाति वालों का स्पर्श करने वाले, दैव एवं पितृकार्य में संन्यासी को भोजन कराने वाले, शूद्र, अनुचित शपथ करने वाले, अयोग्य (अनधिकारी) होने पर भी योग्य (अधिकारी) के कर्म (वेदाध्ययनादि) करने वाले, बैल एवं क्षुद्र पशु-बकरे। आदि को बधिया करने वाले, सामान्य वस्तु में भी ठगी करने वाले तथा दासी का गर्भ गिराने वाले पर एवं पिता-पुत्र, बहिन-भाई, पति-पत्नी तथा आचार्य-शिष्य-ये पतित न होते हुए भी यदि एक-दूसरे का त्याग करते हों तो इनके ऊपर भी सौ पण दण्ड लगावे।

यदि धोबी दूसरों के वस्त्र पहने तो तीन पण और यदि बेचे, भाड़े पर दे, बन्धक रखे या मँगनी दे, तो दस पण अर्थदण्ड के योग्य होता है। तोलनदण्ड, शासन, मान (प्रस्थ, द्रोण आदि) तथा नाणक (मुद्रा आदि से चिह्नित निष्क आदि)-इनमें जो कूटकारी अर्थात् मान के वजन में कमी-बेशी तथा स्वर्ण में ताँबे आदि की मिलावट करने वाला हो तथा उससे कूट-तुला आदि व्यवहार करता हो, उन दोनों को पृथक्-पृथक् श्रेष्ठतम साहस के दण्ड से दण्डित करना चाहिये। सिक्कों की परीक्षा करते समय यदि पारखी असली सिक्के को नकली या नकली सिक्के को असली बतावे तो राजा उससे भी प्रथम साहस का दण्ड वसूल करना चाहिये। जो वैद्य आयुर्वेद को न जानने पर भी पशुओं, मनुष्यों और राजकर्मचारियों की मिथ चिकित्सा करना चाहिये, उसको क्रमशः प्रथम, मध्यम और श्रेष्ठतम साहस के दण्ड से दण्डित करना चाहिये। जो राजपुरुष कैद न करने योग्य (निरपराध) मनुष्यों को राजा की आज्ञा के बिना कैद करता है और बन्धन के योग्य बन्दी को उसके अभियोग का निर्णय होने के पहले ही छोड़ देता है, उसको श्रेष्ठतम साहस का दण्ड देना चाहिये। जो व्यापारी कूटमान साहस का दण्ड देना चाहिये। जो व्यापारी कूटमान अथवा तुला

मानेन तुलया वाऽपि योंऽशमष्टमकं हरेत्। द्वाविंशतिपणा 'न्दाप्योवृद्धौ हानौ च कल्पितम्॥३८॥
भेषजस्नेहलवणगन्धधान्यगुडादिषु। पण्येषु प्रक्षिपन्हीनं पणा) न्दाप्यस्तु षोडश॥३९॥
संभूय कुर्वतामर्घं सबाधं कारुशिल्पिनाम्। अर्थस्य ह्रासं वृद्धिं वा सहस्रो दण्ड उच्यते॥४०॥
राजनि स्थाप्यते योऽर्थः प्रत्यहं तेन विक्रयः। क्रयो वा विक्रयस्तस्माद्वणिजां लाभकृत्स्मृतः॥४१॥
स्वदेशपण्ये तु शतं वणिग्गृह्णीत पञ्चकम्। दशकं पारदेश्ये तु यः सद्यः क्रयविक्रयी॥४२॥
पण्यस्योपरि संस्थाप्य व्ययं पण्य समुद्भवम्। अर्घोऽनुग्रहकृत्कार्यः क्रेतुर्विक्रेतुरेव च॥४३॥
गृहीतमूल्यं यः पण्यं क्रेतुर्नैव प्रयच्छति। सोदयं तस्य दाप्योऽसौ दिग्लाभं वा दिगागते॥४४॥
विक्रीतमपि विक्रेयं पूर्वे क्रेतर्यगृह्णति। हानिश्चेत्क्रेतृदोषेण क्रेतुरेव हि सा भवेत्॥४५॥

से धान-कपास आदि पण्यद्रव्य का अष्टमांश हरण करता है, वह दो सौ पण के दण्ड से दण्डनीय होता है। अपहृत द्रव्य यदि अष्टमांश से अधिक या कम हो, तो दण्ड में भी वृद्धि और कमी करनी चाहिये। औषधि, घृत, तेल, लवण, गन्धद्रव्य, धान्य और गुड़ आदि पण्यवस्तुओं में जो निस्सार वस्तु का मिश्रण कर देता है, राजा उस पर सोलह पण दण्ड लगावे॥२९-३९॥

यदि व्यापारी लोग संगठित होकर राजा के द्वारा निश्चित किये हुए भाव को जानते हुए भी लोभवश कारु और शिल्पियों को पीड़ा देने वाले मूल्य की वृद्धि या कमी करें तो राजा उन पर एक हजार पण का दण्ड लागू करना चाहिये। राजा समीपवर्ती हो, तो उनके द्वारा जिस वस्तु का जो मूल्य निर्धारित कर दिया गया हो, व्यापारीगण प्रतिदिन उसी भाव से क्रय-विक्रय करें; उसमें जो बचत हो, वही बनियों के लिये लाभकारक मानी गयी है। व्यापारी देशज वस्तु पर पाँच प्रतिशत लाभ रखे और विदेशी द्रव्य को यदि शीघ्र ही क्रय-विक्रय कर ले तो उस पर दस प्रतिशत लाभ ले। राजा दूकान का खर्च पण्यवस्तु पर रखकर उसका भाव इस तरह निश्चित करना चाहिये, जिससे क्रेता और विक्रेता को लाभ हो॥४०-४३॥

विक्रीयासम्प्रदान

प्रसङ्गप्राप्त 'साहस' का प्रकरण समाप्त करके अधुना 'विक्रीयासम्प्रदान' प्रारम्भ करते हैं। देवर्षि नारदजी के वचनानुसार 'विक्रीयासम्प्रदान' का स्वरूप इस तरह है-'मूल्य लेकर पण्यवस्तु का विक्रय करके जिस समय खरीददार को वह वस्तु नहीं दी जाती है, तत्पश्चात् वह 'विक्रीयासम्प्रदान' (बेचकर भी वस्तु को न देना) नामक विवादास्पद कहलाता है।' विक्रेय वस्तु 'चल' और 'अचल' के भेद से दो तरह की होती है। फिर उसके षड् भेद किये गये हैं- गणित, तुलित, मेय, क्रियोपलक्षित, रूपोपलक्षित और दीप्ति से उपलक्षित। सुपारी के फल आदि 'गणित' हैं; क्योंकि वे गिनकर बेचे जाते हैं। सोना, कस्तूरी और केसर आदि 'तुलित' हैं; क्योंकि वे तौलकर बेचे जाते हैं।

शाली (अगहनी धान) आदि 'मेय' हैं; क्योंकि वे पात्रविशेष से माप कर दिये जाते हैं। 'क्रियापलक्षित' वस्तु में घोड़े, भैंस आदि की गणना है; क्योंकि उनकी चाल और दोहन आदि की क्रिया को दृष्टि में रखकर ही उनका क्रय-विक्रय होता है। 'रूपोपलक्षित' वस्तु में पण्यस्त्री (वेश्या) आदि की गणना है; क्योंकि उनके रूप के अनुसार ही उनका मूल्य होता है। 'दीप्ति से उपलक्षित' वसतुओं में हीरा, मोती, मरकत और पद्मराग आदि की गणना है। इन छहों तरह की पण्यवस्तु को बेचकर, मूल्य लेकर भी यदि क्रेता को वह वस्तु नहीं दी जाती तो विक्रेता को किस तरह दण्डित करना चाहिये, यह बाते हैं-जो व्यापारी मूल्य लेकर भी ग्राहक को माल न दे, उससे वृद्धि सहित वह माल ग्राहक को दिलाया जाय। यदि ग्राहक परदेश का हो, तो उसके देश में ले जाकर बेचने से जो लाभ होता है, उस लाभसहित वह वस्तु राजा व्यापारी से ग्राहक को दिलावे। यदि पहला ग्राहक माल में किसी तरह संदेह होने पर वस्तु को भी

राजदैवोपघातेन पण्ये दोष उपागते। हानिर्विक्रेतुरेवासौ याचितस्याप्रयच्छतः।।४६।।
अन्यहस्ते च विक्रीतं दृष्टं वा दुष्टवद्यदि। विक्रीणीते दमस्तत्र तन्मूल्याद्द्विगुणो भवेत्।।४७।।
क्षयं वृद्धिं च वणिजा पण्यानामविजानता। क्रीत्वा नानुशयः कार्यः कुर्वन्षड्भागदण्डभाक्।।४८।।
समवायेन वणिजां लाभार्थं कर्म कुर्वताम्। लाभालाभौ यथाद्रव्यं यथा वा संविदा कृतौ।।४९।।
प्रतिषिद्धमनादिष्टं प्रमादाद्यच्च नाशितम्। स तद्दद्याद्विप्लवाच्च रक्षिताद्दशमांशभाक्।।५०।।
अर्थप्रक्षेपणाद्विंशं भागं शुल्कं नृपो हरेत्। व्यासिद्धं राजयोग्यं च विक्रीतं राजगामि तत्।।५१।।
मिथ्यावदन्परीमाणं शुल्कस्थानादपक्रमन्। दाप्यस्त्वष्टगुणं यश्च स व्याजक्रयविक्रयी।।५२।।
देशान्तरगते प्रेते द्रव्यं दायादबान्धवाः। ज्ञातयो वा हरेयुस्तदागतास्तैर्विना नृपः।।५३।।

दूसरे के हाथ बेच सकता है। यदि विक्रेता के देने पर भी ग्राहक न ले और वह पण्य वस्तु राजा या दैव की बाधा से नष्ट हो जाय तो वह हानि क्रेता के ही दोष से होने के कारण वही उस हानि को सहन करना चाहिये, बेचने वाला नहीं। यदि ग्राहक के माँगने पर भी उस बेची हुई पण्यवस्तु को बेचने वाला नहीं दे और वह पण्यद्रव्य राजा या दैव के कोप से उपहत हो जाय तो वह हानि विक्रेता की होगी।।४४-४६।।

जो व्यापारी किसी को बेची हुई वस्तु दूसरे के हाथा बेचता है, अथवा दूषित वस्तु को दोषहीन बतलाकर बेचता है, राजा उस पर वस्तु के मूल्य से दुगुना अर्थदण्ड लगावे। जान-बूझकर खरीदे हुए पण्यद्रव्यों का मूल्य खरीदने के बाद यदि बढ़ गया या घट गया तो उससे होने वाले लाभ या हानि को जो ग्राहक नहीं जानता, उसको 'अनुशय' (माल लेने में आनाकानी) नहीं करनी चाहिये। विक्रेता भी यदि बढ़े हुए दाम के कारण अपने को लगे हुए घाटे को नहीं जान पाया है तो उसको भी माल देने में आनाकानी नहीं करनी चाहिये। इससे यह बात स्वतः स्पष्ट हो जाती है कि खरीद-बिक्री के पश्चात् यदि ग्राहक को घाटा दिखायी दे तो वह माल लेने में आपत्ति कर सकता है। इसी तरह विक्रेता उस भाव पर माल देने में यदि हानि देखे तो वह उस माल को रोक सकता है। यदि अनुशय न करने की स्थिति में क्रेता या विक्रेता अनुशय करें तो उन पर पण्यवस्तु के मूल्य का छठा अंश दण्ड लगाना चाहिये।।४७-४८।।

सम्भूयसमुत्थान

जो व्यापारी सम्मिलित होकर लाभ के लिये व्यापार करते हैं, वे अपने नियोजित धन अनुसार अथवा पहले के समझौते के अनुसार लाभ-हानि में भाग ग्रहण करें। यदि उनमें कोई अपने साझीदारों के मना करने पर या उनके अनुमति न देने पर, अथवा प्रमादवश किसी वस्तु में हानि करना चाहिये, तो क्षतिपूर्ति उसको ही करनी होगी। यदि उनमें से कोई पण्यद्रव्य की विप्लवों से रक्षा करनी चाहिये तो वह दशमांश लाभ का भागी होगा।।४७-५०।।

पण्यद्रव्यों का मूल्य निश्चित करने के कारण राजा को मूल्य का बीसवाँ भाग अपने शुल्क के रूप में ग्रहण करना चाहिये। यदि कोई व्यापारी राजा के द्वारा निषिद्ध एवं राजोपयोगी वस्तु को लाभ के लोभ से किसी दूसरे के हाथ बेचता है तो राजा उससे वह वस्त बिना मूल्य दिये ले सकता है। जो मनुष्य शुल्कस्थान में वस्तु का मिथ्या परिमाण बतलाता है, अथवा वहाँ से खिसक जोन की चेष्टा करता है तथा जो कोई बहाना बनाकर किसी विवादास्पद वस्तु का क्रय-विक्रय करता है-इन सब पर पण्यवस्तु के मूल्य से आठ गुना दण्ड लगाना चाहिये। यदि संघबद्ध होकर काम करने वालों में से कोई देशान्तरर में जाकर मृत्यु को प्राप्त हो जाय तो उसके सिस्से के द्रव्य को दायाद (पुत्र आदि), बान्धव (मातुल आदि) अथवा ज्ञाति (सजातीय-सपिण्ड) आकर ले लें। उनके न होने पर उस धन को राजा ग्रहण करना चाहिये। संघबद्ध होकर काम करने वालों में जो कुटिल या वञ्चक हो, उसको किसी तरह का लाभ दिये

जिह्मं व्यजेयुर्निर्लोभमशक्तोऽन्येन कारयेत्। अनेन विधिराख्यात ऋत्विक्कर्षककर्मिणाम्॥५४॥
ग्राहकैर्गृह्यते चौरो लोप्त्रेणाथ पदेन वा। पूर्वकर्मापराधी वा तथैवाशुद्धवासकः॥५५॥
अन्येऽपि शङ्कया ग्राह्या जातिनामादिनिह्नवैः। द्यूतस्त्रीपानशक्ताश्च शुष्कभिन्नमुखस्वराः॥५६॥
परद्रव्यगृहाणां च पृ (प्र) च्छका गूढचारिणः। निराया व्ययवन्तश्च विनष्टद्रव्यविक्रयाः॥५७॥
गृहीतः शङ्कया चौर्ये नाऽऽत्मानं चेद्विशोधयेत्। दापयित्वा हृतं द्रव्यं चौरदण्डेन दण्डयेत्॥५८॥
चौरं प्रदाप्यापहृतं घातयेद्विविधैर्वधैः। सचिह्नं ब्राह्मणं कृत्वा स्वराष्ट्राद्विप्रवासयेत्॥५९॥
घातितेऽपहृते दोषो ग्रामभर्तुरनिर्गते। स्वसीम्नि दद्याद्ग्रामस्तु पदं वा यत्र गच्छति॥६०॥
पञ्चग्रामी बहिः क्रोशाद्दशग्राम्योऽथ वा पुनः। बन्दिग्राहांस्तथा वाजिकुञ्जराणां च हारिणः॥६१॥

बिना ही संघ से बाहर कर देना चाहिये। उनमें से जो अपना कार्य स्वयं करने में असमर्थ हो, वह दूसरे से कराये। होता आदि (ऋत्विजों, किसानों तथा शिल्पकर्मोपजीवी नट, नर्तकादिकों के लिये भी रहन-सहन का ढंग उपरोक्त कथन से स्पष्ट कर दिया गया॥५१-५४॥

स्तेय-प्रकरण

अधुना 'स्तेय' अथवा चोरी के विषय में बतलाया जाता है। 'मनु जी ने 'साहस' और 'चारी' में अन्तर बताते हुए लिखा है-'जो द्रव्य-रक्षकों के समक्ष बलात् पराये धन को लूटा जाता है, वह 'साहस' या 'डकैती' है। तथा जो पराया धन स्वामी की दृष्टि से बचकर या किसी को चकमा देकर हड़प लिया जाता है, तथा 'मैंने यह कर्म किया है'-यह बात भय के कारण छिपायी जाती है, किसी पर प्रकट नहीं होने दी जाती, वह सब 'स्तेय' (चोरी) कर्म है। चोर को कैसे पकड़ना चाहिये, यह बात बता रहे हैं-किसी के यहाँ चोरी होने पर ग्राहक-राजकीय कर्मचारी या आरक्षा-विभाग का सिपाही ऐसे व्यक्ति को पकड़े, जो लोगों में चोरी के लिये विख्यात हो-जिसे सब लोग चोर कहते हैं, अथवा जिसके पास चोरी का चिह्न-चोरी गया हुआ माल मिल जाय, उसको कपड़े। अथवा चोरी के दिन से ही चोर के पदचिह्नों को अनुसरण करते हुए पता लग जाने पर उस चोर को बन्दी बनाये। जो पहले भी चौर्य-कर्म का अपराधी रहा हो तथा जिसका कोई शुद्ध-निश्चित निवास स्थान न हो, ऐसे व्यक्ति को भी संदेह में कैद करना चाहिये। जो पूछने पर अपनी जाति और नाम आदि को छिपावें, जो द्यूतक्रीडा, वेश्यागमन और मद्यमान में आसक्त हों, चोरी के विषय में पूछने पर जिनका मुँह सूख जाय और स्वर विकृत हो जाय, जो दूसरों के धन और गृह के विषय में पूछते फिरें, जो गुप्तरूप से विचरण करें, जो आय न होने पर भी बहुत व्यय करने वाले हों तथा जो विनष्ट द्रव्यों अर्थात् फटे-पुराने वस्त्रों तरफ टूटे-फूटे बर्तन आदि को बेचते हों-ऐसे अन्य लोगों को भी चोरी के संदेह में पकड़ लेना चाहिये।

जो मनुष्य चोरी के संदेह में पकड़ा गया हो, वह यदि अपनी निर्दोषिता को प्रमाणित न कर सके तो राजा उससे चोरी का धन दिलाकर उसको चोर का दण्ड देना चाहिये। राजा चोर से चोरी का धन दिलाकर उसको अनेक तरह के शारीरिक दण्ड देते हुए मरवा डालना चाहिये। यह दण्ड बहुमूल्य वस्तुओं की भारी चोरी होने पर ही देने योग्य है; परन्तु यदि चोरी करने वाला ब्राह्मण हो, तो उसके ललाट में दाग देकर उसको अपने राज्य से निर्वासित कर देना चाहिये। यदि गाँव में मनुष्य आदि किसी प्राणी का वध हो जाय, अथवा धनकी चोरी हो जाय औरचोर के गाँव से बाहर निकल जाने का कोई चिह्न न दिखायी दे तो सारा दोष ग्रामपाल पर आता है। वही चोर को पकड़कर राजा के हवाले करें। यदि ऐसा न कर सके तो जिसके गृह में धन की चोरी हुई है, उस गृहस्वामी को चोरी का सारा धन अपने पास से देना चाहिये। यदि चोर के गाँव से बाहर निकल जाने का कोई चिह्न वह दिखा सके तो जिस भूभाग में चोर का प्रवेश हुआ है, उसका अधिपति ही चोर को पकड़वावे, अथवा चोरी का धन अपने पास से देना चाहिये।

प्रसह्यघातिनश्चैव शूलमारोपयेन्नरान्। उत्क्षेपकग्रन्थिभेदौ करसंदंशहीनकौ।।६२।।
कार्यौ द्वितीयापराधे करपादैकहीनकौ। भक्तावदंशाग्न्युदकमन्त्रोपकरणव्ययान्।।६३।।
दत्त्वा चौरस्य हन्तुर्वा ज्ञानतो दम उत्तमः। शस्त्रावपाते गर्भस्य पातने चोत्तमो दमः।।६४।।
उत्तमो वाऽधमो वाऽपि पुरुषस्त्रीप्रमापणे। शिलां बद्ध्वा क्षिपेदप्सु नरघ्नीं विषदां स्त्रियम्।।६५।।
विषाग्निदां निजगुरुनिजापत्यप्रमापणीम्। विकर्णकरनासौष्ठीं कृत्वा गोभिः प्रमापयेत्।।६६।।
क्षेत्रवेश्मवनग्रामविवीतखलदाहकाः। राजपत्न्यभिगामी च दग्धव्यास्तु कटाग्निना।।६७।।
पुमान्संग्रहणे ग्राह्यः केशाकेशि परस्त्रियाः। स्वजातावुत्तमो दण्ड अनुलोम्ये तु मध्यमः।।६८।।

यदि विवीत-स्थान में अपहरण की घटना हुई है तो विवीत-स्थान से बाहर दूसरे क्षेत्र में चोरी का माल मिले या चोर का ही चिह्न लक्षित हो, तो चोर पकड़ने के काम पर नियुक्त हुए मार्गपाल का अथवा उस दिशा के संरक्षक का दोष होता है। यदि गाँव से बाहर, परन्तु ग्राम की सीमा के अंदर के क्षेत्र में चोरी आदि की घटना घटित हो, तो उस ग्राम के निवासी ही क्षतिपूर्ति करें उन पर यह उत्तरदायित्व तभी तक आता है, जिस समय तक चोर का पदचिह्न सीमा के बाहर गया हुआ नहीं दिखायी देता। यदि सीमा के बाहर गया दिखायी पड़े, तो जिस ग्राम आदि में उसका प्रवेश हो, वहाँ के लोग चोर को पकड़वाने और चोरी का माल वापस देने के लिये जिम्मेदार हैं। यदि अनेक गाँवों के मध्य में एक कोस की सीमा से बाहर हत्या और चोरी की घटना घटित हुई हो और अधिक जनसमूह की दौड़-धूप से चोर का पदचिह्न मिट गया हो, तो पाँच गाँव के लोग अथवा दस गाँव के लोग मिलकर चोर को पकड़वाने तथा चोरी का माल वापस देने का उत्तरदायित्व अपने ऊपर लें। बन्दी को गुप्तरूप से जेल से छुड़ाकर भगा ले जाने वाले, घोड़ों और हाथियों की चोरी करने वाले तथा बलपूर्वक किसी की हत्या करने वाले लोगों को राजा शूली पर चढ़वा देना चाहिये। राजा वस्त्र आदि की चोरी करने वाले और गठरी आदि काटने वालो चोरों के प्रथम अपराध में क्रमशः अंगुष्ठ और तर्जनी कटावा दे और दूसरी बार वही अपराध करने पर उन दोनों को क्रमशः एक हाथ तथा एक पैर से हीन कर देना चाहिये। जो मनुष्य जान बूझकर चोर या हत्यारे को भोजन, रहने के लिये स्थान, सर्दी में तापने के लिये अग्नि, प्यासे हुए को जल, चोरी करने के तौर-तरीके की सलाह, चोरी के साधन और उसी कार्य के लिये परदेश जाने के लिये मार्गव्यय देता है, उसको श्रेष्ठतम साहस का दण्ड देना चाहिये। दूसरे के शरीर पर घातक शस्त्र से प्रहार करने तथा गर्भवती स्त्री के गर्भ गिराने पर भी श्रेष्ठतम साहस का ही दण्ड देना उचित है। किसी भी पुरुष या स्त्री की हत्या करने पर उसके शील और आचार को दृष्टि में रखते हुए श्रेष्ठतम या अधम साहस का दण्ड देना चाहिये। जो पुरुष की हत्या करने वाली तथा दूसरों को जहर देकर मारने वाली है, ऐसी स्त्री के गले में पत्थर बाँधकर उसको पानी में फेंक देना चाहिये; (परन्तु यदि वह गर्भवती हो, तो उस समय उसको ऐसा दण्ड न देना चाहिये) विष देने वाली आग लगाने वाली तथा अपने पति, गुरु या संतान को मारने वाली स्त्री को कान, हाथ, नाक और ओठ काटकर उसको साँड़ों से कुचलवाकर मरवा डालना चाहिये। खेत, गृह, वन, ग्राम, रक्षित भूभाग अथवा खलिहान में आग लगाने वाले या रजापत्नी से समागम करने वाले मनुष्य को सूखे नरकुल या सरकंडों-तिनकों से ढककर जला देना चाहिये।५५-६७।।

स्त्री-संग्रहण

अधुना 'स्त्री-संग्रहण' नामक विवाद पर विचार किया जाता है। परायी स्त्री और पराये पुरुष का मिथुनीभाव (परस्पर आलिङ्गन) स्त्री-संग्रहण' कहलाता है। दण्डनीयता की दृष्टि से इसके तीन भेद हैं—प्रथम, मध्यम और श्रेष्ठतम।

प्रातिलोम्ये वधः पुंसां नार्याः कर्णावकर्तनम्। नीबीस्तनप्रावरणनाभिकेशावमर्दनम्॥६९॥
अदेशकालसंभाषं सहावस्थानमेव च। स्त्रीनिषेधे शतं दद्याद्द्विशतं तु दमं पुमान्॥७०॥
प्रतिषेधे तयोर्दण्डो यथा संग्रहणे तथा। पशून्गच्छञ्शतं दाप्यो हीनां स्त्रीं गाश्च मध्यमम्॥७१॥
अवरुद्धासु दासीषु भुजिष्यासु तथैव च। गम्यास्वपि पुमान्दाप्यः पञ्चाशत्पणिकं दमम्॥७२॥
प्रसह्य दास्यभिगमे दण्डो दशपणः स्मृतः। कुबन्धेनाऽऽङ्क्य गमयेदन्त्याप्रव्रजितागमे॥७३॥
न्यूनं वाऽप्यधिकं वाऽपि लिखेद्यो राजशासनम्। पारदारिकचौरं वा मुञ्चतो दण्ड उत्तमः॥७४॥
अभक्ष्यैर्दूषयन्विप्रं दण्ड उत्तमसाहसः। कूटवादी स्वर्णहारी विमांसस्य व विक्रयी॥७५॥

अयोग्य देश और काल में, एकान्त स्थान में, बिना कुछ बोले-चाले परायी स्त्री को कटाक्षपूर्वक देखना और हास्य करना 'प्रथम साहस' माना गया है। उसके पास सुगन्धित वस्तु–इत्र-फुलेल आदि, फूलों के हार, धूप, भूषण और वस्त्र भेजना तथा उनको खाने-पीने का प्रलोभन देना 'मध्यम साहस' कहा गया है। एकान्त स्थानों में एक साथ एक आसन पर बैठना, आपस में सटना, एक-दूसरे के केश पकड़ना आदि को 'श्रेष्ठतम संग्रहण' या 'श्रेष्ठतम साहस' माना गया है। संग्रहण के कार्य में प्रवृत्त पुरुष को बन्दी बना लेना चाहिये–यह बात निम्नांकित श्लोक में बता रहे हैं- केशग्रहण पूर्वक परस्त्री के साथ क्रीड़ा करने वाले पुरुष को व्यभिचार के अपराध में पकड़ना चाहिये। सजातीय नारी से समागम करने वाले को एक हजार पण, अपने से नीच जाति की स्त्री से सम्भोग करने वाले को पाँच सौ पण एवं उच्चजाति की नारी से संगम करने वाले को वध का दण्ड दे और ऐसा करने वाली स्त्री के नाक-कान आदि कटवा डालना चाहिये। जो पुरुष परस्त्री की नीवी (कटिवस्त्र), स्तन, कञ्चुकी, नाभि और केशों को स्पर्श करता है, अनुचित देशकाल में सम्भाषण करता है, अथवा उसके साथ एक आसन पर बैठता है, उसको भी व्यभिचार के दोष में पकड़ना चाहिये। जो स्त्री मना करने पर भी परपुरुष के साथ सम्भाषण करना चाहिये, उसको सौपण और जो पुरुष निषेध करने पर भी परस्त्री के साथ सम्भाषण करना चाहिये तो उसको दो सौ पण का दण्ड देना चाहिये। यदि वे दोनों मना करने के बाद भी सम्भाषण करते पाये जायँ तो उनको व्यभिचार को दण्ड देना चाहिये। पशु के साथ मैथुन करने वाले पर सौ पण तथा नीचजाति की स्त्री या गौ से समागम करने वाले पर पाँच सौ पण का दण्ड करना चाहिये। किसी की अवरुद्धा (खरीदी हुई) दासी तथा रसेल स्त्री के साथ उसके समागम के योग्य होने पर भी समागम करने वाले पुरुष पर पचास पण का दण्ड लगाना चाहिये। दासी के साथ बलात्कार करने वाले के लिये दस पण का विधान है। चाण्डाली या संन्यासिनी से समागम करने वाले मनुष्य के ललाट में 'भग' का चिह्न अंकित करके उसको देश से निर्वासित कर देना चाहिये।६८-७३॥

प्रकीर्णक-प्रकरण

जो मनुष्य राजाज्ञा को न्यूनाधिक करके लिखता है, अथवा व्यभिचारी या चोर को छोड़ देता है, राजा उसको श्रेष्ठतम साहस का दण्ड देना चाहिये। ब्राह्मण को अधुनाक्ष्य पदार्थ का भोजन कराके दूषित करने वाला श्रेष्ठतम साहस के दण्ड का भागी होता है। कृत्रिम स्वर्ण का व्यवहार करने वाले तथा मांस बेचने वाले को एक हजार पण का दण्ड दे और उसको नाक, कान और हाथ–इन तीन अंगों से हीन कर देना चाहिये। यदि पशुओं का स्वामी सक्षम होते हुए भी अपने दाढ़ों और सींगों वाले पशुओं से मारे जाते हुए मनुष्य को छुड़ाता नहीं है तो उसको प्रथम साहस का दण्ड दिया जाना चाहिये। यदि पशु के आक्रमण का शिकार होने वाला मनुष्य जोर-जार से चिल्लाकर पुकारे कि 'अरे! मैं मारा गया। मुझको बचाओ', उस दशा में भी यदि पशुओं का स्वामी उसके प्राण नहीं बचाता तो वह दूने दण्ड

अंगहीनश्च कर्तव्यो दाप्यश्चोत्तमसाहसम्। शक्तो ह्यमोक्षयन्स्वामी दंष्ट्रिणः शृङ्गिणस्तथा।।७६।।
प्रथमं साहसं दद्याद्विकुष्टे द्विगुणं तथा। अचौर्यं चौर्येऽभिवदन्दाप्यः पञ्चशतं दमम्।।७७।।
राज्ञोऽनिष्टप्रवक्तारं तस्यैवाऽऽक्रोशकं तथा। मृताङ्गलग्नविक्रेतुर्गुरोस्ताडयितुस्था।।७८।।
तनमन्त्रस्य च भेत्तारं छित्वा जिह्वां प्रवासयेत्। राजयानासनारोढुर्दण्डो मध्यमसाहसः।।७९।।
द्विनेत्रभेदिनो राजद्विष्टादेशकृतस्तथा। विप्रत्वेन च शूद्रस्य जीवतोऽष्टशतो दमः।।८०।।
यो मन्येताजितोऽस्मीति न्यायेनाभिपराजितः। तमायान्तं पुनर्जित्वा दण्डयेद्द्विगुणं दमम्।।८१।।
राज्ञाऽन्यायेन यो दण्डो गृहीतो वरुणाय तम्। निवेद्य दद्याद्विप्रेभ्यः स्वयं त्रिंशद्गुणीकृतम्।।८२।।
धर्मश्चार्थश्च कीर्तिश्च लोकपङ्क्तिरुपग्रहः। प्रजाभ्यो बहुमानं च स्वर्गस्थानं च शाश्वतम्।।
पश्यतो व्यवहारांश्च गुणाः स्युः सप्त भूपतेः।।८३।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तगति वाक्पारुष्यादिप्रकरणं नामाष्टपञ्चाशदधिकद्विशततमोऽध्यायः।।२५८।।

—❀❀❀—

का भागी होता है। जो अपने वंश में कलंक लगने के डर से गृह में घुसे हुए जार (परस्त्रीलम्पट) को चोर बतलाता है, अर्थात् 'चोर-चोर' कहकर निकालता है, उस पर पाँच सौ पण दण्ड लगाना चाहिये। जो राजा को प्रिय न लगने वाली बात बोलता है, राजा की ही निन्दा करता है तथा राजा की गुप्त मन्त्रणा का भेदन करता-शत्रु पक्ष के कानों तक पहुँचा देता है, उस मनुष्य की जीभ काटकर उसको राज्य से निकाल देना चाहिये। मृतक के अंग से उतारे गये वस्त्र आदि का विक्रय करने वाले, गुरु की ताड़ना करने वाले तथा राजा की सवारी और आसन पर बैठने वाले को राजा श्रेष्ठतम साहस का दण्ड देना चाहिये। जो क्रोध में आकर किसी की दोनों आँखें फोड़ देता है, उस अपराधी को, जो राजा के अनन्य हितचिन्तकों में न होते हुए भी राजा के लिये अनिष्टसूचक फलादेश करता है, उस ज्यौतिषी को तथा जो ब्राह्मण बनकर जीविका चला रहा हो, उस शूद्र को आठ सौ पण के दण्ड से दण्डित करना चाहिये। जो मनुष्य न्याय से पराजित होने पर भी अपनी पराजय न मानकर पुनः न्याय के लिये उपस्थित होता है, उसको धर्मपूर्वक पुनः जीतकर उसके ऊपर दुगुना दण्ड लगावे। राजा ने अन्यायपूर्वक जो अर्थदण्ड लिया हो, उसको तीस गुना करके वरुणदेवता को निवेदन करने के पश्चात् स्वयं ब्राह्मणों को बाँट देना चाहिये। जो राजा धर्मपूर्वक व्यवहारों को देखता है, उसको धर्म, अर्थ, कीर्ति, लोकपंक्ति, उपग्रह (अर्थसंग्रह), प्रजाओं से बहुत अधिक सम्मान और स्वर्गलोक में सनातन स्थान-ये सात गु प्राप्त होते हैं।।७४-८३।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी दो सौ अठावनवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।२५८।।

❖❖❖

अथैकोनषष्ट्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

ऋग्विधानम्

अग्निरुवाच

ऋग्यजुः सामाथर्वां (र्व) णविधानं पुष्करोदितम्। भुक्तिमुक्तिप्रदं जप्याद्धोमाद्रामाय तद्वदे॥१॥

पुष्कर उवाच

प्रतिवेदं तु कर्माणि कार्याणि प्रवदामि ते। प्रथममृग्विधानं वै शृणु त्वं भुक्तिमुक्तिदम्॥२॥
अन्तर्जले तथा होमे जपतो मनसेप्सितम्। कामं करोति गायत्री प्राणायामाद्विशेषतः॥३॥
गायत्र्या दशसाहस्रो जपो नक्ताशिनो द्विज। बहुस्नातस्य तत्रैव सर्वकल्मषनाशनः॥४॥
दशायुतानि जप्त्वा यो होमं कुर्यात्स मुक्तिभाक्। प्रणवो हि परं ब्रह्म तज्जपः सर्वपापहा॥५॥
ओंकारशतजप्तं तु नाभिमात्रोदकस्थितः। जलं पिबेत्स सर्वैस्तु पापैर्वै विप्रमुच्यते॥६॥
मात्रात्रयं त्रयो वेदास्त्रयो देवास्त्रयोऽग्नयः। महाव्याहृतयः सप्त लोका होमोऽखिलाघहा॥७॥
गायत्री परमा जप्या महाव्याहृतयस्तथा। अन्तर्जले तथा राम प्रोक्तश्चैवाघमर्षणः॥८॥

अध्याय-२५९

ऋग्विधान विचार

श्रीअग्निदेव ने कहा कि–हे वसिष्ठ! अधुना मैं महर्षि पुष्कर के द्वारा भगवान् परशुरामजी के प्रति वर्णित ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद का विधान कह रहा हूँ, जिसके अनुसार मन्त्रों के जप और हवन से भोग एवं मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है॥१॥

पुष्कर बोले–हे भगवान् परशुराम! अधुना मैं प्रत्येक वेद के अनुसार तुम्हारे लिये कर्तव्यकर्मों का वर्णन करने जा रहा हूँ। पहले आप भोग और मोक्ष सम्प्रदान करने वाले 'ऋग्विधान' को सुनो। गायत्री-मन्त्र का विशेषतः प्राणायामपूर्वक जल में खड़े होकर तथा हवन के समय जप करने वाले पुरुष की समस्त मनोवाञ्छित कामनाओं को गायत्री देवी पूर्ण कर देती हैं। हे ब्रह्मन्! जो दिनभर निराहार व्रत करके केवल रात्रि में भोजन करता और उसी दिन अनेक बार स्नान करके गायत्री मन्त्र का दस सहस्र जप करता है, उसका वह जप समस्त पापों का विनाश करने वाला है। जो गायत्री का एक लाख जप करके हवन करता है, वह मोक्ष का अधिकारी होता है। 'प्रणव' परब्रह्म है। उसका जप सभी पापों का हनन करने वाला है। नाभिपर्यन्त जल में स्थित होकर ॐकार का सौ बार जप करके अभिमन्त्रित कियेगये जल को जो पीता है, वह सब पापों से मुक्त हो जाता है। गायत्री के प्रथम अक्षर प्रणव की तीन मात्राएँ–अकार, उकार और मकार–ये ही 'ऋक्' 'साम' और 'यजुष्' –तीन वेद हैं, ये ही ब्रह्मा, विष्णु और शिव-तीनों देवता हैं तथा ये ही गार्हपत्य, आहवनीय और दक्षिणाग्नि–तीनों अग्नियाँ हैं। गायत्री की जो सात महाव्याहृतियाँ हैं, वे ही सातों लोक हैं। इनके उच्चारणपूर्वक गायत्री-मन्त्र से किया हुआ हवन समस्त पापों का विनाश करने वाला होता है। सम्पूर्ण गायत्री-मन्त्र तथा महाव्याहृतियाँ–ये सब जप करने योग्य एवं उत्कृष्ट मन्त्र हैं। हे भगवान् परशुरामजी! अघमर्षण-मन्त्र **'ऋतं च सत्यं च.'** (१०/१९०/१–३) इत्यादि जल के अन्दर डुबकी लगाकर जपा जाय तो सर्वपापनाशक होता है।

अग्निमीले पुरोहितं सूक्तोऽयं वह्निदैवतः। शिरसा धारयन्वह्निं यो जपेत्परिवत्सरम्।।९।।
होमं त्रिषवणं भैक्ष्यमनग्निज्वलनञ्चरेत्। अतः परमृचः सप्त वाय्वाद्या याः प्रकीर्तिताः।।१०।।
ता जपन्प्रयतो नित्यमिष्टान्कामान्समश्नुते। मेधाकामो जपेन्नित्यं सदसस्पमितित्यृचम्।।११।।
अन्व(म्ब) योयन्नि (न्ती) माः प्रोक्तानवर्चोमृत्युनाशनाः। शुनःशेपमृषिं बद्धः संनिरुद्धोऽथ वाजपेत्।।१२।।
मुच्यते सर्वपापेभ्यो गदी वाऽप्यगदो भवेत्। यः इच्छेच्छाश्वतं कामं मित्रं प्रज्ञं पुरन्दरम्।।१३।।
ऋग्भिः षोडशभिः कुर्यादिन्द्रस्येति दिने दिने। हिरण्यस्तूपमित्येतज्जपञ्शत्रून्प्रबाधते।।१४।।
क्षैमी भवति चाध्वनि ये ते पन्था जपन्नरः। रौद्रीभिः षड्भिरीशानं स्तुयाद्यो वै दिने दिने।।१५।।
चरुं वा कल्पयेद्रौद्रं तस्य शान्तिः परा भवेत्। उदित्युद्यन्तमादित्यमुपतिष्ठन्दिनेदिने।।१६।।
क्षिपेज्जलाञ्जलीन्सप्त मनोदुःखमविनाशनम्। द्विषन्तमित्यथार्धर्चं यद्विप्रान्तं जपन्स्मरेत्।।१७।।
आगस्कृत्सप्तरात्रेण विद्वेषमधिगच्छति। आरोग्यकामो रोगी वा पुष्कर्यास्योभयं (पुरीष्यासोऽग्नयो) जपेत्।।१८।।
उत्तमस्तस्य चार्धर्चो जपेद्वैरिविनाशने। उदयत्यायुरक्षय्यं तेजो मध्यं दिने जपेत्।।१९।।

'अग्निमीळे पुरोहितम्०) ऋग्वेद १/१/१)– यह ऋग्वेद का प्रथम मन्त्र श्रीअग्नि देवता का सूक्त है। अर्थात् 'अग्नि' इसके देवता हैं। जो मस्तक पर अग्नि का पात्र धारण करके एक वर्ष तक इस सूक्त का जप करता है, तीनों काल स्नान करके हवन करता है, गृहस्थों के गृह में चूल्हे की आग बुझ जाने पर उसके यहाँ से भिक्षान्न लाकर उससे जीवननिर्वाह करता है तथा कथित प्रथम सूक्त के अनन्तर जो वायु आदि देवताओं के सात सूक्त (१/१/२ से ८ सूक्त) कहे गये हैं, उनका भी जो प्रतिदिन शुद्धचित्त होकर जप करता है, वह मनोवाञ्छित कामनाओं को प्राप्त कर लेता है। जो मेधा (धारण-शक्ति) को प्राप्त करना चाहे, उसे प्रतिदिन **'सदसस्पति०'** (१/१८/६-८) इत्यादि तीन ऋचाओं का जप करना चाहिये।।२-११।।

'अम्बयो यन्त्यध्वभिः०' (१/२३/१६-२४) आदि–ये नौ ऋचाएँ अकालमृत्यु का विनाश करने वाली कही गयी हैं। कैद में पड़ा हुआ या अवरुद्ध (नजरबंद) द्विज **'शुनःशेपो यमह्वद्गृभीतः'** (१/२४/१२-१४) इत्यादि तीन ऋचाओं को जप करना चाहिये। इसके जप से पापी समस्त पापों से छूट जाता है और रोगी रोग हीन हो जाता है। जो शाश्वत कामना की सिद्धि एवं बुद्धिमान् मित्र की प्राप्ति चाहता हो, वह प्रतिदिन इन्द्रदेवता के **'इन्द्रस्थ०'** आदि सोलह ऋचाओं का जप करना चाहिये। **'हिरण्यस्तूपः०'** (१०/१४९/५) इत्यादि मन्त्र का जप करने वाला शत्रुओं की गतिविधि में बाधा पहुँचाता है। 'ये ते पन्थाः०' (१/३५/११) का जप करने से मनुष्य मार्ग में क्षेम का भागी होता है। जो रुद्रदेवता-सम्बन्धिनी षड् ऋचाओं से प्रतिदिन शिव की स्तुति करता है, अथवा रुद्रदेवता को चरु अर्पित करता है, उसको परम शान्ति की प्राप्ति हो जाती है। जो प्रतिदिन **'उद्वयं तमसः०'** (१/५०/१०) तथा **'उदुत्यं जातवेदसम् ०'** (१/५०/१)–इन ऋचाओं से प्रतिदिन उदित होते हुए सूर्य का उपस्थान करता है तथा उनके उद्देश्य से सात बार जलाञ्जलि देता है, उसके मानसिक दुःख का विनाश हो जाता है। **'द्विषन्तं'०** इत्यादि आधी ऋचा से लेकर 'यद्विप्राः०' इत्यादि मन्त्र तक का जप और चिन्तन करना चाहिये। इसके प्रभाव से अपराधी मनुष्य सात ही दिनों में दूसरों के विद्वेष का पात्र हो जाता है।।१२-१७।।

आरोग्य की कामना करने वाला रोगी **'पुरीष्यासोऽग्नयः०'** (३/२२/४)–इस ऋचा का जप करना चाहिये। इसी ऋचा का आधा भाग शत्रुनाश के लिये श्रेष्ठतम है। अर्थात् शत्रु की बाधा दूर करने के लिये इसका जप करना

अस्तं प्रति गते सूर्ये द्विषन्तं प्रति बाधते। न वयश्चे (योने) ति सूक्तानि जपञ्शत्रून्नियच्छति॥२०॥
एकादश सुपर्णस्य सर्वकामान्विनिर्दिशेत्। आध्यात्मिकीः क इत्येता ज़पन्मोक्षमवाप्नुयात्॥२१॥
आ नो भद्रा इत्यनेन दीर्घमायुरवाप्नुयात्। त्वं सोमेति च सूक्तेन नवं पश्येन्निशाकरम्॥२२॥
उपतिष्ठेत्समित्पाणिर्वासांस्याप्नोत्यसंशयम्। आयुरीप्सन्निममिति कौत्सं सूक्तं सदा जपेत्॥२३॥
अप नः शोशुचदिति स्तुत्वा मध्ये दिवाकरम्। यथा मुञ्चति चेषीकां तथा पापं प्रमुञ्चति॥२४॥
जातवेदस इत्येतज्जपेत्स्वस्त्ययनं पथि। भयैर्विमुच्यते सर्वैः स्वस्तिमानाप्नुयाद्गृहान्॥२५॥
व्युष्टायां च तथा रात्र्यामेतद्दुःस्वप्ननाशनम्।प्रमन्दिनेति सूयन्त्या जपेद्गर्भविमोचनम्॥२६॥
जपन्निन्द्रमिति स्नातो वैश्वदेवं तु सप्तकम्। मुञ्चत्याज्यं तथा जुह्वत्सकलं किल्बिषं नरः॥२७॥
इमामिति जपञ्शश्वत्कामानाप्नोत्यभीप्सितान्। मानस्तोक इति द्वाभ्यां त्रिरात्रोपोषितः शुचिः॥२८॥
औदुम्बरीश्च जुहुयात्समिधश्चाऽऽज्यसंस्कृताः। छित्त्वा सर्वान्मृत्युपाशाञ्जीवेद्रोगविवर्जितः॥२९॥

चाहिये। इसका सूर्योदय के समय जप करने से दीर्घ आयु, मध्याह्न में जप करने से अक्षय तेज और सूर्यास्त की वेला में जप करने से शत्रुनाश होता है। **'नव यः०'** (८/९२/२) आदि सूक्त का जप करने वाला शत्रुओं का दमन करता है। सुपर्ण-सम्बन्धिनी ग्यारह ऋचाओं का जप सम्पूर्ण कामनाओं की प्राप्ति कराने वाला है। अध्यात्म का प्रतिपादन करने वाली 'क०' आदि ऋचाओं का जप करने वाला मोक्ष प्राप्त करता है॥१८-२१॥

'आ नो भद्राः०' (१/८९/१)-इस ऋचा के जप से दीर्घ आयु की प्राप्ति हो जाती है। हाथ में समिधा लिये **'त्वं सोम०'** (९/८६/२४)-इस ऋचा से शुक्लपक्ष की द्वितीया के चन्द्रमा का दर्शन करना चाहिये। जो हाथ में समिधा लेकर कथित मन्त्र से चन्द्रमा का उपस्थान करता है, उसको निस्संदेह वस्त्रों की प्राप्ति हो जाती है। दीर्घ आयु चाहने वाला **'इमं०'** (१/९४) आदि कौत्ससूक्त का सदा जप करना चाहिये। जो मध्याह्नकाल में **'अप नः शोशुचन्दघम्०'** (१/९७/१-८) इत्यादि ऋचा के द्वारा सूर्य देव की स्तुति करता है, वह अपने पापों को उसी तरह त्याग देता है, जिस प्रकार कोई मनुष्य तिनके से सींक को अलग कर लेता है। यात्री **'जातवेद से०'** (१/९९/१)-इस मंगलमयी ऋचा का मार्ग में जप करना चाहिये। ऐसा करके वह समस्त भयों से छूट जाता और कुशल पूर्वक गृह लौट आता है। प्रभातकाल में इसका जप करने से दुःस्वप्न का विनाश होता है। **'प्र मन्दिने पितुमदर्चता.'** (१/१०१/१)-इस ऋचा का जप करने से प्रसव करने वाली स्त्री सुखपूर्वक प्रसव करती है। **'इन्द्रम् ०'** (१/१०६/१) इत्यादि ऋचा का जप करते हुए सात बार बलिवैश्वदेव-कर्म करके घृत का हवन करने से मनुष्य समस्त पापों से छूट जाता है। 'इमाम् ०' (१०/८५/४५)-इस ऋचा का सदा जप करने वाला अभीष्ट कामनाओं को प्राप्त कर लेता है। तीन दिन निराहार व्रत करके पवित्रतापूर्वक **'मानस्तोके.'** (१/११४/८-९)-आदि दो ऋचाओं द्वारा गूलर की घृतयुक्त समिधाओं का हवन करना चाहिये। ऐसा करने से मनुष्य मृत्यु के समस्त पाशों का छेदन करके रोगहीन जीवन बितलाता है। दोनों बाँहें ऊपर उठाकर इसी **'मा नस्तोके०'** (१/११४/८) आदि ऋचा से देवाधिदेव भगवान् श्रीशिवशंकर की स्तुति करके शिखा बाँध लेने पर मनुष्य सम्पूर्ण भूत-प्राणियों के लिये अजेय हो जाता है, इसमें कोई संदेह नहीं है। जो मनुष्य हाथ में समिधाएँ लेकर **चित्रं देवानाम् ०'** (१/११५ /१) इत्यादि मन्त्र से प्रतिदिन तीनों संध्याओं के समय भगवान् भास्कर का उपस्थान करता है, वह मनोवाञ्छित धन प्राप्त कर लेता है। **'स्वप्नेनाभ्युप्या**

ऊर्ध्वबाहुरनेनैव स्तुत्वा शंभुं तथैव च। मानस्तोकेति च ऋचा शिखाबन्धे कृते नरः।।३०।।
अधृष्यः सर्वभूतानां जायते संशयं विना। चित्रमित्युपतिष्ठेत (त्रिसन्ध्यं भास्करं तथा।।३१।।
समित्पाणिर्नरो नित्यमीप्सितं धनमाप्नुयात्। अधःस्वप्ने (पश्ये) ति च जपन्प्रातर्मध्यंदिने दिने।।३२।।
दुःस्वप्नं चार्दयेत्कृत्स्नं भोजनं चाऽऽप्नुयाच्छुभम्। उभे पुमानिति तथा रक्षोघ्नः परिकीर्तितः।।३३।।
उभे वासा इति ऋचो जपन्कामानवाप्नुयात्। तमागन्निति च जपन्मुच्यते चाऽऽततायिनः।।३४।।
कया शुभेति च जपञ्ज्ञातिश्रैष्ठ्यमवाप्नुयात्। इमं नु सोममित्येतत्सर्वान्कामानवाप्नुयात्।।३५।।
(पितरित्युपतिष्ठेत) नित्यमर्थमुपस्थितम्। अग्ने नयेति सूक्तेन घृतहोमश्च मार्गगः।।३६।।
वीरान्नयमवाप्नोति सुश्लोकं यो जपेत्सदा। कङ्कतो नेतिसूक्तेन विषान्सर्वान्व्यपोहति।।३७।।
यो जात इति सूक्तेन सर्वान्कामानवाप्नुयात्)। गणानामिति सूक्तेन स्निग्धमाप्नोत्यनुत्तमम्।।३८।।
यो मे राजन्नितीमां तु दुःस्वप्नशमनीमृचम्। अध्वनि प्रस्थितो यस्तु पश्येच्छत्रुं समुत्थितम्।।३९।।
अप्रशस्तं प्रशस्तं वा कुविदङ्ग इमं जपेत्। द्वाविंशकं जपन्सूक्तमाध्यात्मिकमनुत्तमम्।।४०।।
पर्वसु प्रयतो नित्यमिष्टान्कामान्समश्नुते। कृणुष्वेति जपन्सूक्तं जुह्वदाज्यं समाहितः।।४१।।
अरातीनां हरेत्प्राणान्रक्षांस्यपि विनाशयेत्। उपतिष्ठेत्स्वयं वह्निं परि (री) त्यृच दिने दिने।।४२।।

चुमुरिम्०' (२/१५/९) आदि ऋचा का प्रातः, मध्याह्न और अपराह्न में जप करने से सम्पूर्ण दुःस्वप्न का विनाश होता है एवं श्रेष्ठतम भोजन की प्राप्ति हो जाती है। **'उभे पुनामि रोदसी०'** (१/१३३/१)–यह मन्त्र राक्षसों का विनाशक कहा गया है। **'उभयासो जातवेदः०'** (२/२/१२-१३) आदि ऋचाओं का जप करने वाला मनोऽभिलषित वस्तुओं को प्राप्त करता है। **'तमागन्म सोमरयः०'** (८/१९/३२) ऋचा का जप करने वाला मनुष्य आततायी के भय से छुटकारा पाता है।।२२-३४।।

'कया शुभा सवयसः०' (१/१६५/१)–इस ऋचा का जप करने वाला अपनी जाति में श्रेष्ठता को प्राप्त करता है। **'इमं नु सोमम्०'** (१/१९७/५)–इस ऋचा का जप करने से मनुष्य को समस्त कामनाओं की प्राप्ति हो जाती है। **'पितुं नु स्तोषं०** (१/१८७/१) ऋचा से नित्य उपस्थान करने पर नित्य अन्न उपस्थित होता है। **'अग्ने नय सुपथा०'** (१/१८९/१)–इस सूक्त से घृत का हवन किया जाय तो वह परलोक में श्रेष्ठतम मार्ग सम्प्रदान करने वाला होता है। जो सदा सुश्लोक का जप करता है, वह वीरों को न्याय से मार्ग पर ले जाता है। **'कङ्कतो न कङ्कतो०'** (१/१९१/१)–इस सूक्त का जप सभी तरह के विघ्नों का प्रभाव दूर कर देता है। **'यो जात एव प्रथमो०'** (२/१२)–इस सूक्त का जप करने वाला सभी कामनाओं को प्रापत कर लेता है। **'गणानां त्वा०'** (२/२३/१)–सूक्त के जप से श्रेष्ठतम स्निग्ध पदार्थ प्राप्त होता है। **'यो मे राजन्०'** (२/२८/१०)–यह ऋचा दुःस्वप्नों का शमन करने वाली है। मार्ग में प्रस्थित हुआ जो मनुष्य अपने सामने प्रशस्त या अप्रशस्त शत्रु को खड़ा हुआ देखे, वह **'कुविदङ्ग.'** इत्यादि मन्त्र का जप करना चाहिये, इससे उसकी रक्षा हो जाती है। बाईसवें श्रेष्ठतम आध्यात्मिक सूक्त का पर्वकाल में जप करने वाला मनुष्य सम्पूर्ण अभीष्ट कामनाओं को प्राप्त कर लेता है। **'कृष्णुष्व पाजः०'** (४/४/१)–इस सूक्त का जप करते हुए एकाग्रचित्त में घी की आहुति देने वाला पुरुष शत्रुओं के प्राण ले सकता है तथा राक्षसों का भी विनाश कर सकता है। जो स्वयं 'परि०' इत्यादि सूक्त से प्रतिदिन अग्नि का उपस्थान करता है, विश्वतोमुख श्रीअग्नि

तं रक्षति स्वयं वह्निर्विश्वतो विश्वतोमुखः। हंसः शुचिषदित्येतच्छुचिरीक्षेद्दिवाकरम्॥४३॥
(कृषिं प्रपद्यमानस्तु स्थालीपाकं यथाविधि। जुहुयात्क्षेत्रमध्ये तु मुनिः स्वाहान्तपञ्चभिः (?)॥४४॥
इन्द्राय च मरुद्भ्यस्तु पर्जन्याय भगाय च। यथालिङ्गं तु विहरेल्लाङ्गलं तु कृषीबलः॥४५॥
युक्तो धान्याय सीतायै शुनासीरमथोत्तरम्। गन्धमाल्यैर्नमस्कारैर्यजेदेताश्च देवताः॥४६॥
प्रवापने प्रलवने खलसीतापहारयोः। अमोघं कर्म भवति वर्धते सर्वदा कृषिः॥४७॥
समुद्रादिति सूक्तेन कामानाप्नोति पावकात्। विश्वानि न इति द्वाभ्यां या ऋग्भ्यां वह्निमर्हति॥४८॥
स तरत्यापदः सर्वा यशः प्राप्नोति चाक्षयम्। विपुलां श्रियमाप्नोति जयं प्राप्नोत्यनुत्तमम्॥४९॥
अग्ने त्वमिति च स्तुत्वा धनमाप्नोति वाञ्छितम्। प्रजाकामो जपेन्नित्यं वरुणदैवतत्रयम्॥५०॥
स्वस्त्या त्रयं जपेत्प्रातः सदा स्वस्त्ययनं महत्। स्वस्ति पन्था इति प्रोच्य स्वस्तिमान्व्रजतेऽध्वनि॥५१॥
विजिहीष्व वनस्पते शत्रूणां व्यापितं भवेत्। स्त्रिया गर्भप्रमूढाया गर्भमोक्षणमुत्तमम्॥५२॥
अच्छावदेति सूक्तं च वृष्टिकामः प्रयोजयेत्। निराहारः क्लिन्नवासा न चिरेण प्रवर्षति॥५३॥
मनसः काम इ (मि) त्येनां पशुकामो नरो जपेत्। कर्दमेन इति स्नायात्प्रजाकामः शुचिव्रतः॥५४॥

देव स्वयं उसकी सभी तरफ से रक्षा करते हैं। '**हंसः शुचिषत्०**' (४/४०/५)—इत्यादि मन्त्र का जप करते हुए सूर्य का दर्शन करना चाहिये। ऐसा करने से मनुष्य पवित्र हो जाता है॥३५-४३॥

कृषि में संलग्न गृहस्थ मौन रहकर क्षेत्र के मध्य भाग में विधिवत् स्थालीपाक हवन करना चाहिये। ये आहुतियाँ '**इन्द्राय स्वाहा। मरुद्भ्यः स्वाहा। पर्जन्याय स्वाहा। एवं भगाय स्वाहा।**'—कहकर उन-उन देवताओं के निमित्त अग्नि में डालना चाहिये। फिर जिस प्रकार स्त्री की योनि में बीज-वपन के लिये जननेन्द्रिय का व्यापार होता है, उसी तरह किसान धान्य का बीज बोने के लिये हराई के साथ हलका संयोग करना चाहिये और '**शुनासीराविमां०**' (४/५७/५)—इस ऋचा का जप भी कराये। इसके बाद गन्ध, माल्य और नमस्कार के द्वारा इन सबके अधिष्ठाता देवताओं की पूजा करनी चाहिये। ऐसा करने पर बीज बोने, फसल काटने और फसल को खेत से खलिहान में लाने के समय किया हुआ सारा कर्म अमोघ होता है, कभी व्यर्थ नहीं जाता। इससे सदैव कृषि की वृद्धि होती है। **समुद्रादूर्मिर्मधुमान्**' (४/५८/१) इस सूक्त के जप से मनुष्य श्रीअग्नि देव से अभीष्ट वस्तुओं की प्राप्ति करता है। जो 'विश्वानि नो दुर्गहा.' (५/४/९-१०) आदि दो ऋचाओं से जो श्रीअग्नि देव का पूजन करता है, वह सम्पूर्ण विपत्तियों को पार कर जाता है और अक्षय यश की प्राप्ति करता है। इतना ही नहीं, वह विपुल लक्ष्मी और श्रेष्ठतम विजय को भी हस्तगत कर लेता है। '**अग्ने त्वम्०**' (५/२४/१)—इस ऋचा से अग्नि की स्तुति करने पर मनोवाञ्छित धन की प्राप्ति हो जाती है। सन्तान की अभिलाषा रखने वाला वरुणदेवता-सम्बन्धी तीन ऋचाओं का नित्य जप करना चाहिये॥४४-५०॥

'**स्वस्ति न इन्द्रो०**' (१/८९/६-८)—आदि तीन ऋचाओं का सदा प्रातःकाल जप करना चाहिये। यह महान् स्वस्त्ययन है। 'स्वस्ति मन्थामनु चरेम०' (५/५१/१५)—इस ऋचा का उच्चारण करके मनुष्य मार्ग में सकुशल यात्रा करता है। '**वि जिहीष्व वनस्पते०**' (५/७८/५)—के जप से शत्रु रोगग्रस्त हो जाते हैं। इसके जप से गर्भवेदना से मूर्च्छित स्त्री को गर्भ के संकट से भलीभाँति छुटकारा लि जाता है। वृष्टि की कामना करने वाला निराहार रहकर भीगे वस्त्र पहले हुए 'अच्छा वद०' (५/८३) आदि सूक्त का प्रयोग करना चाहिये। इससे शीघ्र ही प्रचुर वर्षा होती है।

पशुधन की इच्छा रखने वाला मनुष्य '**मनसः कामम्०**' (श्रीसूक्त १०) इत्यादि ऋचा का जप करना

अश्वपूर्वा इ (र्णामि) ति स्नायाद्राज्यकामस्तु मानवः। रोहिते चर्मणि स्नायाद्ब्राह्मणस्तु यथाविधि॥५५॥
राजा चर्मणि वैयाघ्रे छागे वैश्यस्तथैव च। दशसाहस्त्रिको होमः प्रत्येकं परिकीर्तितः॥५६॥
आगार इति सूक्तेन गोष्ठे गां लोकमातरम्। उपतिष्ठेद्व्रजेच्चैव यदीच्छेत्ताः सदाऽक्षयाः॥५७॥
उपेतितिसृभि राज्ञो दुन्दुभीनभिमन्त्रयेत्। तेजो बलं च प्राप्नोति शत्रुं चैव नियच्छति॥५८॥
तृणपाणिर्जपेत्सूक्तं रक्षोघ्नं दस्युभिर्वृतः। ये के च ज्मेत्यृचं जप्त्वा दीर्घमायुरवाप्नुयात्॥५९॥
जीमूतसूक्तेन तथा सेनाङ्गान्यभिमन्त्रयेत्। यथालिङ्गं ततो राजा विनिहन्ति रणे रिपून्॥६०॥
प्राग्नयेति त्रिभिः सूक्तैर्धनमाप्नोति चाक्षयम्। अमीवहेति सूक्तेन भूतानि स्थापयेन्निशि॥६१॥
संबाधे विषमे दुर्गे बद्धो वा निर्गतः क्वचित्। पलायन्वा गृहीतो वा सूक्तमेतत्तथा जपेत्॥६२॥
त्रिरात्रं नियतोपोष्य श्रपयेत्पायसं चरुम्। तेनाऽऽहुतिशतं पूर्णं जुहुयात्त्र्यम्बकेत्यृचा॥६३॥
समुद्दिश्य महादेवं जीवेदब्दशतं सुखम्। तच्चक्षुरित्यृचा स्नात उपतिष्ठेद्दिवाकरम्॥६४॥
उद्यन्तं मध्यमं चैव दीर्घमायुर्जिजीविषुः। (न हीति च चतुष्केण मुच्यते महतो भयात्॥६५॥
सूक्ताभ्यां पर एवाऽऽभ्यां हुताभ्यां भूतिमाप्नुयात्)। इन्द्रासोमेति सूक्तं तु कथितं शत्रुनाशनम्॥६६॥

चाहिये। संतानाभिलाषी पुरुष पवित्र व्रत ग्रहण करके 'कर्दमेन०' (श्रीसूक्त ११)—इस मन्त्र से स्नान करना चाहिये। राज्य की कामना रखने वाला मानव '**अश्वपूर्वा.**' (श्रीसूक्त ३) इत्यादि ऋचा का जप करता हुआ स्नान करना चाहिये। ब्राह्मण विधिवत् रोहितचर्म पर, क्षत्रिय व्याघ्रचर्म पर एवं वैश्य बकरे के चर्म पर स्नान करना चाहिये। प्रत्येक के लिये दस-दस सहस्र हवन करने का विधान है। जो सदा अक्षय गोधन की अभिलाषा रखता है, वह गोष्ठ में जाकर '**आ गावो अग्मन्नुत भद्रम्०**' (६/२८/१) ऋचा का जप करता हुआ लोकमाता गौ को नमस्कार करना चाहिये और गोचर भूमितक उसके साथ जाय। राजा 'उप०' आदि तीन ऋचाओं से अपनी दुन्दुभियों को अभिमन्त्रित करना चाहिये। इससे वह तेज और बल की प्राप्ति करता है और शत्रु पर भी काबू पाता है। दस्युओं से घिर जाने पर मनुष्य हाथ में तृण लेकर 'रक्षोघ्न-सूक्त' (१०/८७) का जप करना चाहिये। '**ये के च ज्मा०**' (६/५२/१५)—इस ऋचा का जप करने से दीर्घायु की प्राप्ति हो जाती है। राजा 'जीमूत-सूक्त' से सेना के सभी अङ्गों को उसके चिह्न के अनुसार अभिमन्त्रित करना चाहिये। इससे वह रणक्षेत्र में शत्रुओं का विनाश करने में सक्षम होता है। 'प्राग्नये' (७/५) आदि तीन सूक्तों के जप से मनुष्य को अक्षय धन की प्राप्ति हो जाती है। '**अमीवहा०**' (७/५५)—इस सूक्त का पाठ करके रात्रि में भूतों की स्थापना करनी चाहिये। फिर संकट, विषम एवं दुर्गम स्थल में, बन्धन में या बन्धनमुक्त अवस्था में, भागते अथवा पकड़े जाते समय सहायता की इच्छा से इस सूक्त का जप करना चाहिये। तीन दिन नियमपूर्वक निराहार व्रत रखकर खीर और चरु पकावे। फिर '**त्र्यम्बकं यजामहे०**' (७/५९/१२) मन्त्र से उसकी सौ आहुतियाँ भगवान् महादेव के उद्देश्य से अग्नि में डाले तथा उसी से पूर्णाहुति करना चाहिये। दीर्घकाल तक जीवित रहने की इच्छा वाला पुरुष स्नान करके '**तच्चक्षुर्देवहितम्०**' (७/६६/१६)—इस ऋचा से उदयकालिक एवं मध्याह्नकालिक सूर्य का उपस्थान करना चाहिये। 'न हि०' आदि चार ऋचाओं के पाठ से मनुष्य महान् भय से मुक्त हो जाता है। '**पर ऋणा सावीः०**' (२/२८/९-१०) आदि दो ऋचाओं से हवन करने पर ऐश्वर्य की उपलब्धि होती है। '**इन्द्रा सोमा तपतम्०**' (७/१०४)—से प्रारम्भ होने वाला सूक्त शत्रुओं का विनाश करने वाला कहा गया है। मोहवश जिसका

यस्य लुप्तं व्रतं मोहाद्व्रात्यैर्वा संसृजेत्सह। उपोष्याऽऽज्यं स जुहुयात्त्वमग्ने व्रतपा इति॥६७॥
आदित्येत्यृक्च (चं) सम्राजं जप्त्वा वादे जयी भवेत्। महीति च चतुष्केण मुच्यते महतो भयात्॥६८॥
ऋचं जप्त्वा यदि ह्येतत्सर्वकामानवाप्नुयात्। द्वाचत्वारिंशतं चैन्द्रं जप्त्वा नाशयते रिपून्॥६९॥
वाचं महीति जप्त्वा च प्राप्नोत्यारोग्यमेव च। शं नो भवेति द्वाभ्यां तु भुक्त्वाऽन्नं प्रयतः शुचिः॥७०॥
हृदयं पाणिना स्पृष्ट्वा व्याधिभिर्नाभिभूयते। उत्तमेदमिति स्नातो हुत्वा शत्रुं प्रमापयेत्॥७१॥
शं नोऽग्नं इति सूक्तेन हुतेनार्थमवाप्नुयात्। कन्या वारितिसूक्तेन दिग्दोषाद्विप्रमुच्यते॥७२॥
यदद्य कच्चेत्युदिते जप्ते वश्यं जगद्भवेत्। यद्वागिति च जप्तेन वाणी भवति संस्कृता॥७३॥
वा (व) चोविदमिति त्वेतां जपन्वाचं समश्नुते। पवित्राणां पवित्रं तु पावमान्यो ह्यृचो मताः॥७४॥
वैखानसा ऋचस्त्रिंशत्पवित्राः परमा मताः। ऋचो द्विषष्टिः प्रोक्ताश्च परस्येत्यृषिसत्तम॥७५॥
सर्वकल्मषनाशाय पावनाय शिवाय च। स्वादिष्ठयेति सूक्तानां सप्तषष्टिरुदाहृता॥७६॥
दशोत्तराण्यृचश्चैताः पावमान्यः शतानि षट्। एतज्जपंश्च जुह्वच्च घोरं मृत्यभयं जयेत्॥७७॥

व्रत भङ्ग हो गया अथवा व्रात्य-संसर्ग के कारण जो पतित हो गया है, वह निराहार व्रत करके **'त्वमग्ने व्रतपा०** (८/ ११/१)—इस ऋचा से घृत का हवन करना चाहिये। 'आदित्य' और 'सम्राजा'—इन दोनों ऋचाओं का जप करने वाला शास्त्रार्थ में विजयी होता है। 'मही.' आदि चार ऋचाओं के जप से महान् भय से मुक्ति मिलती है। 'यदि०' इत्यादि ऋचा का जप करके मनुष्य सम्पूर्ण कामनाओं को प्राप्त कर लेता है। इन्द्रदेवतासम्बनिधनी बयालीसवीं ऋचा का जप करने से शत्रुओं का विनाश होता है। **'वाचं मही०'**—इस ऋचा का जप करके मनुष्य आरोग्यालाभ करता है। प्रयत्नपूर्वक पवित्र हो 'शं नो भव०' (८/४८/४-५)—इन दो ऋचाओं के जपपूर्वक भोजन करके हृदय का हाथ से स्पर्श करना चाहिये। इससे मनुष्य कभी व्याधिग्रस्त नहीं होता। स्नान करके 'श्रेष्ठतमेदम्०'—इस मन्त्र से हवन करके पुरुष अपने शत्रुओं का विनाश कर डालता है। शंनो अग्नि०' (७/३५)—इस सूक्त से हवन करनेपर मनुष्य धन पाता है। **'कन्या वाखायती०'** (८/९१)—इस सूक्त का जप करके वह दिग्भ्रम के दोष से छुटकारा पाता है। सूर्योदय के समय **'यदद्यकच्च०'** (८/९३/४)—इस ऋचा का जप करने से सम्पूर्ण जगत् वशीभूत हो जाता है। 'यद्वाग् ०' (८/ १००/१०)—इत्यादि ऋचा के जप से वाणी संस्कारयुक्त होती है। 'वचोविदम्' (८/१०१/१६) ऋचा का मन-ही-मन जप करने वाला वाक्-शक्ति प्राप्त करता है। पावमानी ऋचाएँ परम पवित्र मानी गयी हैं। वैखानस सम्बन्धिनी तीस ऋचाएँ भी परम पवित्र मानी गयी हैं। हे ऋषिश्रेष्ठ भगवान् परशुराम! 'परस्य०' इत्यादि बासठ ऋचाएँ भी पवित्र कही गयी हैं। 'स्वादिष्ठया०' (९/१-६७) इत्यादि सरसठ सूक्त समस्त पापों के नाशक, सभी को पवित्र करने वाले तथा कल्याणकारी कहे गये हैं। छः सौ दस पावमानी ऋचाएँ कही गयी हैं। इनका जप और इनसे हवन करने वाला मनुष्य भयंकर मृत्युभय को जीत लेता है। पाप-भय के विनाश के लिये 'आपो हि ष्ठाः' (१०/९/१)—इत्यादि ऋचा का जल में स्थित होकर जप करना चाहिये। **'प्र देवत्रा ब्रह्मणे०'** (१०/३०/१)—इस ऋचा का मरुप्रदेश में मनुष्य प्राणान्तक भय के उपस्थित होने पर नियमपूर्वक जप करना चाहिये। उससे शीघ्र भयमुक्त होकर मनुष्य दीर्घायु प्राप्त करता है। **'प्रा वेपा मा बृहतः'** (१०/३४/१)—इस एक ऋचा का प्रातःकाल सूर्योदय के समय मानसिक जप करना चाहिये। इससे द्यूत में विजय की प्राप्ति हो जाती है। 'मा प्र गाम०' (१०/५७/१)—इस ऋचा जप करने से पथभ्रान्त मनुष्य उचित मार्ग को पा जाता है। यदि अपने किसी प्रिय सुहृद् की आयु क्षीण हुई जाने तो स्नान करके 'यत्ते यमं'

आपो हिष्ठेति वारिस्थो जपेत्पापभयार्दने। प्रदेवत्रेति नियतो जपेच्च मरुधन्वसु।।७८।।
प्राणान्तिके भये प्राप्ते क्षिप्रमायुस्तु विन्दति। प्रावेपामित्यृचमेकां जपेच्च मनसा दिशि।।७९।।
व्युष्टायामुदिते सूर्ये द्यूते जयमवाप्नुयात्। मा प्रगामेति मूढश्च पन्थानं पथि विन्दति।।८०।।
क्षीणायुरिति मन्येत यं कंचित्सुहृदं प्रियम्। यत्ते यमामिति स्नातस्तस्य मूर्धानमालभेत्।।८१।।
सहस्रकृत्वः यश्चाहं तेनाऽयुर्विन्दते महत्। इदमित्थेति जुहुयाद्घृतं प्राज्ञः सहस्रशः।।८२।।
पशुकामो गवां गोष्ठे अर्थकामश्चतुष्पथे। वयःसुपर्णा इत्येतां जपन्वै विन्दते श्रियम्।।८३।।
हविष्यन्तीयमभ्यस्य सर्वपापैः प्रमुच्यते। तस्य रोगा विनश्यन्ति कायाग्निर्वर्धते तथा।।८४।।
या ओषधयः स्वस्त्ययनं सर्वव्याधिविनाशनम्। बृहस्पते अतीत्येतद्वृष्टिकामः प्रयोजयेत्।।८५।।
सर्वत्रेति परा शान्तिर्हुर्याऽप्रतिरथस्तथा। सूक्तं सांकश्यपं नित्यं प्रजाकामस्य कीर्तितम्।।८६।।
अहं रुद्रेभिरित्येतद्वाग्मी भवति मानवः। न योनौ जायते विद्वाञ्जपन्रात्रीति रात्रिषु।।८७।।
रात्रिसूक्तं जपन्रात्रौ रात्रिं क्षेमी नयेन्नरः। कल्पयन्तीति च जपन्नित्यं कृत्वाऽरिनाशनम्।।८८।।
आयुष्यं चैव वर्चस्यं सूक्तं दाक्षायणं महत्। उत देवा इति जपेदामयघ्नं धृतव्रतः।।८९।।
अयमग्ने जरीत्येतज्जपेदग्निभये सति। अरण्यानीत्यरण्येषु जपेत्तद्भयनाशनम्।।९०।।

(१०/५८/१)–इस मन्त्र का जप करते हुए उसके मस्तका का स्पर्श करना चाहिये। पाँच दिन तक हजार बार ऐसा करने से वह लम्बी आयु प्राप्त करता है। विद्वान् पुरुष 'इदमित्था रौद्रं गूर्तवचा०' (१०/६१/१)–इस ऋचा से घृत की एक हजार आहुतियाँ देनी चाहिये। पशुओं की इच्छा करने वाले को गोशाला में और अर्थकामी को चौराहे पर हवन करना चाहिये। 'वयःसुपर्णा०' (१०/७३/११)–इस ऋचा का जप करने वाला लक्ष्मी को प्राप्त करता है। **'हविष्यान्तमजरं स्वर्विदि०'** (१०/८८/१)–इस मन्त्र का जप करके मनुष्य सम्पूर्ण पापों से मुक्त हो जाता है, उसके रोग नष्ट हो जाते हैं तथा उसकी जठराग्नि प्रबल हो जाती है। **'या ओषधयः०'** यह मन्त्र स्वस्त्ययन (मङ्गलकारक) है। इसके जप से रोगों का विनाश हो जाता है। वृष्टि की कामना करने वाला 'ब बृहस्पते अति यदर्यो०' (२/२३/१५) आदि ऋचा का प्रयोग करना चाहिये। 'सर्वत्र०' इत्यादि मन्त्र के जप से अनुपम पराशान्ति की प्राप्ति हो जाती है, ऐसा समझना चाहिये। संतान की कामना वाले पुरुष के लिये 'संकाश्यसूक्त' का जप सदा हितकर बतलाया गया है। **'अहं रुद्रेभिर्वसुभिः०'** (१०/१२५/१)–इस ऋचा के जप से मानव प्रवचनकुशल हो जात है। **'रात्री व्यख्यदायती०'** (१०/१२७/१)–इस ऋचा का जप करने वाला विद्वान् पुरुष पुनर्जन्म को नहीं प्राप्त होता। रा. के समय रात्रिसूक्त' का जप करने वाला मनुष्य रात्रि को कुशलपूर्वक व्यतीत करता है। **'कल्पयन्ती०)**–इस ऋचा का नित्य जप करने वाला शत्रुओं का विनाश करने में सक्षम होता है। 'दाक्षायणसूक्त' महान् आयु एवं तेज की प्राप्ति कराता है। **'उत देवाः'** (१०/१३७/१)–यह रोगनाशक मन्त्र है। व्रतधारणपूर्वक इसका जप करना चाहिये। अग्नि से भय हेनेपर **'अयमग्ने जरिता त्वे०'** (१०/१४२/१)–इत्यादि ऋचा का जप करना चाहिये। जंगलों में 'अरण्यान्यरण्यानि०' (१०/१४६/१)–इस मन्त्र का जप करना चाहिये तो भय का विनाश होता है। ब्राह्मी को प्राप्त करके ब्रह्म-सम्बन्धिनी दो ऋचाओं का जप करना चाहिये और पृथक्-पृथक् जल से ब्राह्मीलता एवं शतावरी को ग्रहण करना चाहिये। इससे मेधाशक्ति और लक्ष्मी की प्राप्ति हो जाती है। 'शाश इत्था०' (१०/१५२/१)–यह ऋचा शत्रुनाशिनी मानी गयी है। संग्राम में विजय

ब्राह्मीमासाद्य सूक्ते द्वे ऋचं ब्राह्मी शतावरीम्। पृथगद्भिघृतैर्वाऽथ मेधां लक्ष्मीं च विन्दति॥९१॥
शास इत्था सपत्नघ्नं संग्रामं विजिगीषतः। ब्रह्मणाऽग्निः संविदानं गर्भमृत्युनिवारणम्॥९२॥
अपेहीति जपेत्सूक्तं शुचिर्दुःस्वप्ननाशनम्। येनेदमिति वै जप्त्वा समाधिं विन्दते परम्॥९३॥
मयोभूर्वात इत्येतद्गवां स्वस्त्ययनं परम्। शाम्बरीमिन्द्रजालं वा मायामेतेन वारयेत्॥९४॥
महित्रीणामवोऽस्त्विति पथि स्वस्त्ययनं जपेत्। प्राग्नये विद्विषन्द्वेष्यं जपेच्च रिपुनाशनम्॥९५॥
वास्तोष्पतेन मन्त्रेण यजेच्च गृहदेवताः। जपस्यैष विधिः प्रोक्तो हुते ज्ञेयो विशेषतः॥९६॥
होतान्ते दक्षिणा देया पापशान्तिर्हुतेन तु। हुतं शाम्यति चान्नेन अन्नं हेमप्रदानतः॥९७॥
विप्राशिषस्त्वमोघाः स्युर्बहिः स्नानं तु सर्वतः। सिद्धार्थका यवा धान्यं पयो दधि घृतं तथा॥९८॥
क्षीरवृक्षास्तथेध्मं तु होमे वै सर्वकामदाः। समिधः कण्टकिन्यश्च राजिका रुधिरं विषम्॥९९॥
अभिचारे तथा शैलमशनं सक्तवः पयः। दधि भैक्ष्यं फलं मूलमृग्विधानमुदाहृतम्॥१००॥

॥इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते ऋग्विधानकथनं नामैकोनषष्ट्यधिकद्विशततमोऽध्यायः॥२५९॥

की अभिलाषा रखने वाले वीर को इसका जप करना चाहिये। 'ब्रह्मणाग्निः संविदानः०' (१०/१६२/१)—यह ऋचा गर्भमृत्यु का निवारण करने वाली है॥५१-९१॥

'अपेहि०' (१०/१६४)—इस सूक्त का पवित्र होकर जप करना चाहिये। यह दुःस्वप्न को विनाश करने वाला है। 'येनेदम् ०' इत्यादि ऋचा का जप करके साधक परम समाधि में स्थिर होता है। **'मयोभूर्वातः०'** (१०/१६९/१)—यह ऋचा गौओं के लिये परम मङ्गलकारक है। इसके द्वारा शाम्बरी माया अथवा इन्द्रजाल का निवारण करना चाहिये। **'महि त्रीणामवोऽस्तु०'** (१०/१८४/१)—इस कल्याणकारी ऋचा का मार्ग में जप करना चाहिये। द्वेषपात्र के प्रति विद्वेष रखने वाला पुरुष **'प्राग्नये०** (१०/१८७/१) इत्यादि ऋचा का जप करना चाहिये, इससे शत्रुओं का विनाश होता है। 'वास्तोष्पते०' आदि चार मन्त्रों से गृहदेवता का पूजन करना चाहिये। यह जप की विधि बतलायी गयी है। अधुना हवन में जो विशेष विधि है, वह समझनी चाहिये। हवन के अन्त में दक्षिणा देनी चाहिये।

हवन से पाप की शान्ति, अन्न से हवन की शान्ति और स्वर्णदान से अन्न की शान्ति होती है। इससे मिलने वाले ब्राह्मणों के आशीर्वाद कभी व्यर्थ नहीं जाते। यजमान को सभी तरफ से बाह्य स्नान करना चाहिये। सिद्धार्थक (सरसों), यव, धान्य, दुग्ध, दधि, घृत, क्षीरवृक्ष की समिधाएँ हवन में प्रयुक्त होने पर समपूर्ण कामनाओं को सिद्ध करने वाली हैं तथा अभिचार में कण्टकयुक्त समिधा, राई, रुधिर एवं विष का हवन करना चाहिये। हवनकाल में शिलोञ्छवृत्ति से प्राप्त अन्न, भिक्षान्न, सत्तू, दूध, दही एवं फल-मूल का भोजन करना चाहिये। यह 'ऋग्विधान' कहा गया है॥९२-१००॥

॥इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी दो सौ उनसठवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ॥२५९॥

अथ षष्ट्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

यजुर्विधानम्

पुष्कर उवाच

यजुर्विधानं वक्ष्यामि भुक्तिमुक्तिप्रदं शृणु। ओंकारपूर्विका राम महाव्याहृतयो मताः।।१।।
सर्वकल्पषनाशिन्यः सर्वकामप्रदास्तथा। आज्याहुतिसहस्रेण देवानाराधयेद्बुधः।।२।।
मनसः काङ्क्षितं राम मनसेप्सितकामदम्। शान्तिकामो यवैः कुर्यात्तिलैः पापापनुत्तये।।३।।
धान्यैः सिद्धार्थकैश्चैव सर्वकामकरैस्तथा। औदुम्बरीभिरिध्माभिः पशुकामस्य शस्यते।।४।।
दध्ना चैवान्नकामस्य पयसा शान्तिमिच्छतः। अपामार्गसमिद्भिस्तु कामयन्कनकं बहु।।५।।
कन्याकामो घृताक्तानि युग्मशो ग्रथितानि तु। जातीपुष्पाणि जुहुयाद्ग्रामार्थी तिलतण्डुलान्।।६।।
वश्यकर्मणि शाखोट (वासापामार्गमेव च। विषाशृङ्मिश्रसमिधो व्याधिघातस्य भार्गव।।७।।
क्रुद्धस्तु जुहुयात्सम्यक्) शत्रूणा वधकाम्यया। सर्वव्रीहिमयीं कृत्वा राज्ञः प्रतिकृतिं द्विजः।।८।।
सहस्रशस्तु जुहुया (द्राजा वशगतो भवेत्। वस्त्रकामस्य पुष्पाणि दूर्वाव्याधिविनाशिनी।।९।।

अध्याय-२६०

यजुर्विधान विचार

पुष्करजी ने कहा कि–हे भगवान् परशुराम! अधुना मैं भोग और मोक्ष सम्प्रदान करने वाले 'यजुर्विधान' का वर्णन करने जा रहा हूँ, सुनो। ॐकार संयुक्त महाव्याहृतियाँ समस्त पापों का विनाश करने वाली और सम्पूर्ण कामनाओं को देने वाली मानी गयी हैं। विद्वान् पुरुष इनके द्वारा एक हजार घृताहुतियाँ देकर देवताओं की आराधना करना चाहिये। हे भगवान् परशुराम! इससे मनोवाञ्छित कामना की सिद्धि होती है; क्योंकि यह कर्म अभीष्ट मनेप्सित देने वाला है। शान्ति की इच्छा वाला पुरुष प्रणवयुक्त व्याहृति-मन्त्र से जौ की आहुति दे और जो पापों से मुक्ति चाहता हो, वह कथित मन्त्र से तिलों द्वारा हवन करना चाहिये। धान्य एवं पीली सरसों के हवन से समस्त कामनाओं की सिद्धि होती है। परधन की कामना वाले के लिये गूलर की समिधाओं द्वारा हवन प्रशस्त माना गया है। अन्न चाहने वाले के लिये दधि से शान्ति की इच्छा करने वाले के लिये दुग्ध से एवं प्रचुर स्वर्ण की कामना करने वाले के लिये अपामार्ग की समिधाओं से हवन करना श्रेष्ठतम माना गया है। कन्या चाहने वाले को एक सूत्र में ग्रथित दो-दो जातीपुष्पों को घी में डुबोकर उनकी आहुति देनी चाहिये। ग्रामाभिलाषी को तिल एवं चावलों का हवन करना चाहिये। वशीकरण कर्म में शाखोट (सिंहोर), वासा (अडुसा) और अपामार्ग (चिचिड़ा या ऊँगा) की समिधाओं का हवन करना चाहिये। हे भृगुनन्दन! रोग का विनाश करने के लिये विष एवं रक्त से सिक्त समिधाओं का हवन प्रशस्त है। शत्रुओं के वध की इच्छा से कथित समिधाओं का क्रोधपूर्वक भलीभाँति हवन करना चाहिये। द्विज सभी धान्यों से राजा की प्रतिमा का निर्माण करना चाहिये और उसका हजार बार हवन करना चाहिये। इससे राजा वश में हो जाता है। वस्त्राभिलाषी को पुष्पों से हवन करना चाहिये। दूर्वा का हवन व्याधि का विनाश करने वाला है। ब्रह्मतेज की इच्छा

ब्रह्मवर्चसकामस्य वासोऽग्रं च विधीयते। प्रत्यङ्गिरेषु जुहुया) तुषकण्टकभस्मभिः॥१०॥
विद्वेषणे च पक्ष्माणि काककौशिकयोस्तथा। कापिलं च घृतं हुत्वा तथा चन्द्रग्रहे द्विज॥११॥
वचाचूर्णेन संपातात्समानीय च तां वचाम्। सहस्रमन्त्रितां भुक्त्वा मेधावी जायते नरः॥१२॥
एकादशाङ्गुलं शङ्कुं लौहं खादिरमेव च। द्विषतो वधोऽसीति जपन्निखनेद्रिपुवेश्मनि॥१३॥
उच्चाटनमिदं कर्म शत्रूणां कथितं तव। चक्षुष्या इति जप्त्वा च विनष्टं चक्षुराप्नुयात्॥१४॥
उपयुञ्जत इत्येतदनुवाकं तथाऽन्नदम्। तनूनपाग्ने सदिति दूर्वां हुत्वाऽर्तिवर्जितः॥१५॥
भेषजमसीति दध्याज्यैर्होमः पशूपसर्गनुत्। त्रियम्बकं यजामहे होमः सौभाग्यवर्धनः॥१६॥
कन्यानाम गृहीत्वा तु कन्यालाभकरः परः। भयेषु तु जपेन्नित्यं भयेभ्यो विप्रमुच्यते॥१७॥
धुस्तूरपुष्पं सघृतं हुत्वा स्यात्सर्वकामभाक्। हुत्वा तु गुग्गुलं राम स्वप्ने पश्यति शंकरम्॥१८॥
युञ्जते मनोऽनुवाकं जप्त्वा दीर्घायुराप्नुयात्। विष्णो रराटमित्येतत्सर्वबाधाविनाशनम्॥१९॥
रक्षोघ्नं च यशस्यं च तथैव विजयप्रदम्। अयं नो अग्निरित्येत्संग्रामे विजयप्रदम्॥२०॥

करने वाले पुरुष के लिये भगवत्प्रीत्यर्थ वासोग्र्य (श्रेष्ठतम वस्त्र) समर्पित करने का विधान है। विद्वेषण-कर्म के लिये प्रत्यङ्गिराप्रोक्त विधि के अनुसार स्थापित अग्नि में धान की भूसी, कण्टक और भस्म के साथ काक और उलूक के पंखों का हवन करना चाहिये।

ब्रह्मन् चन्द्रग्रहण के समय कपिला गाय के घी से गायत्री-मन्त्र द्वारा आहुति देकर उस घी में वचा का चूर्ण मिलाकर 'सम्पात' नामक आहुति दे और अवशिष्ट वचा को लेकर उसको गायत्री मन्त्र से एक सहस्र बार अभिमन्त्रित करना चाहिये। फिर उस वचा को खाने से मनुष्य मेधावी होता है। लोहे या खदिर काष्ठ की ग्यारह अंगुल लम्बी कील 'द्विषतो वधोऽसि०' (१/२८) आदि मन्त्र का जप करते हुए शत्रु के गृह में गाड़ देना चाहिये। यह मैंने आपसे शत्रुओं का विनाश और उच्चाटन करने वाला कर्म बतलाया है।

'चक्षुष्पा०' (२/१६) इत्यादि मन्त्र अथवा चाक्षुषी-जप से मनुष्य अपनी खोयी हुई नेत्रज्योति को पुनः पा लेता है। **'उपयुञ्जत०'** इत्यादि अनुवाक अन्न की प्राप्ति कराने वाला है। **'तनूपा अग्नेऽसि०'** (३/१७) इत्यादि मन्त्र द्वारा दूर्वा का हवन करने से मनुष्य का संकट दूर हो जाता है। **'भेषजमसि.'** (३/५९) इत्यादि मन्त्र से दधि एवं घृत का हवन किया जाय तो वह पशुओं पर आने वाली महामारी रोगों को दूर कर देता है।

'त्र्यम्बकं यजामहे.' (३/६०)—इस मन्त्र से किया हुआ हवन सौभाग्य की वृद्धि करने वाला है। कन्या का नाम लेकर अथवा कन्या के उद्देश्य से यदि कथित मन्त्र का जप और हवन किया जाय तो वह कन्या की प्राप्ति कराने वाला श्रेष्ठतम साधन है। भय उपस्थित होने पर **'त्र्यम्बकं०'** (३/६०) मन्त्र का नित्य जप करने वाला पुरुष सभी तरह के भयों से छुटकारा पा जाता है। हे भगवान् परशुराम! घृतसहित धतूरे के फूल की कथित मन्त्र से आहुति देकर साधक अपनी सम्पूर्ण कामनाओं को प्राप्त कर लेता है। जो **'त्र्यम्बक'** मन्त्र से गुग्गुल की आहुति देता है, वह स्वप्न में देवाधिदेव भगवान् श्रीशिवशंकर का दर्शन पाता है।

'युञ्जते मनः०' (५/१४)—इस अनुवाक का जप करने से दीर्घ आयु की प्राप्ति हो जाती है। **'विष्णो रराटमसि०'** (५/२१) आदि मन्त्र सम्पूर्ण बाधाओं का निवारण करने वाला है। यह मन्त्र राक्षसों का नाशक, कीर्तिवर्द्धक एवं विजयप्रद है। **'अयं नो अग्निः०'** (५/३७) इत्यादि मन्त्र संग्राम में विजय दिलाने वाला है।

इदमापः प्रवहत स्नाने पापापनोदनम्। विश्वकर्मन्नु हविषा सूचीं लौहीं दशांगुलम्।।२१।।
कन्याया निखनेद्द्वारि साऽन्यस्मै न प्रदीयते। देव सवितरेतेन हुतेनैतेन चान्नवान्।।२२।।
अग्नौ स्वाहेति जुहुयाद्बलकामो द्विजोत्तमः। तिलैर्यवैश्च धर्मज्ञ तथाऽपामार्गतण्डुलैः।।२३।।
सहस्रमन्त्रितां कृत्वा तथा गोरोचनां द्विज। तिलकं च तथा कृत्वा जनस्य प्रियतामियात्।।२४।।
रुद्राणां च तथा जप्यं सर्वाघविनिषूदनम्। सर्वकर्मकरो होमस्तथा सर्वत्र शान्तिदः।।२५।।
अजाविकानामश्वानां कुञ्जराणां तथा गवाम्। मनुष्याणां नरेन्द्राणां बालानां योषितामपि।।२६।।
ग्रामाणां नगराणां च देशानामपि भार्गव। उपद्रुतानां धर्मज्ञ व्याधितानां तथैव च।।२७।।
मरके समनुप्राप्ते रिपुजे च तथा भये। रुद्रहोमः परा शान्तिः पायसेन घृतेन च।।२८।।
कूष्माण्डघृतहोमेन सर्वान्पापान्व्यपोहति। सक्तुयावकभैक्षासी नक्तं मनुजसत्तम।।२९।।
बहिः स्नानरतो मासान्मुच्यते ब्रह्महत्यया। मधुवातेति मन्त्रेण होमादितोऽखिलं लभेत्।।३०।।
दधिक्राव्णेति हुत्वा तु पुत्रान्प्राप्नोत्यसंशयम्। तथा घृतवतीत्येतदायुष्यं स्याद्घृतेन तु।।३१।।
स्वस्ति न इन्द्र इत्येतत्सर्वबाधाविनाशनम्। इह गावः प्रजायध्वमिति पुष्टिविवर्धनम्।।३२।।
घृताहुतिसहस्रेण तथाऽलक्ष्मीविनाशनम्। स्रुवेण देवस्य त्वेति हुत्वाऽपामार्गतण्डुलम्।।३३।।

स्नानकाल में **'इदमापः प्रवहत.'** इत्यादि (६/१७) मन्त्र का जप पापनाशक है। दस अंगुल लम्बी लोहे की सुई को **'विश्वकर्मन् हविषा०'** (१७/२२)—इस मन्त्र से अभिमन्त्रित करके जिस कन्या के द्वार पर गाड़ दे, वह कन्या दूसरे किसी को नहीं दी जा सकती। **'देव सवितः०'** (११/७)—इस मन्त्र से हवन करने पर मनुष्य प्रचुर अन्न-राशि से सम्पन्न होता है।।१-२२।।

हे धर्मज्ञ अमदग्निनन्दन! बल की इच्छा रखने वाला श्रेष्ठ द्विज **'अग्नौ स्वाहा०'** मन्त्र से तिल, यव, अपामार्ग एवं तण्डुलों से युक्त हवन-सामग्री द्वारा हवन करना चाहिये। हे विप्रवर! इसी मन्त्र से गोरोचन को सहस्र बार अभिमन्त्रित करके उसका तिलक करने से मनुष्य लोकप्रिय हो जाता है। रुद्र-मन्त्रों का जप सम्पूर्ण पापों का विनाश करने वाला है। उनके द्वारा किया गया हवन सम्पूर्ण कर्मों का साधक और सभी जगह शान्ति सम्प्रदान करने वाला है।

हे धर्मज्ञ भृगुनन्दन! बकरी, भेड़, घोड़, हाथी, गौ, मनुष्य, राजा, बालक, नारी, ग्राम, नगर और देश यदि विविध उपद्रवों से पीड़ित एवं रोगग्रस्त हो गये हों, अथवा महामारी या शत्रुओं का भय उपस्थित हो गया तो घृत मिश्रित खीर से रुद्रदेवता के लिये किया गया हवन परम शान्तिसम्प्रदायक होता है। रुद्रमन्त्रों से कूष्माण्ड एवं घृत का हवन सम्पूर्ण पापों का विनाश करता है। हे नरश्रेष्ठ! जो मानव केवल रात में सत्तू, जौ की लप्सी एवं भिक्षान्त भोजन करते हुए एक मासतक बाहर नदी या जलाशय में स्नान करता है, वह ब्रह्महत के पापसे मुक्त हो जाता है।

'मधुवाता०' (१३/२७) इत्यादि मन्त्र से हवन आदि का अनुष्ठान करने पर सब कुछ मिलता है। **'दधिक्राव्णो०'** (२३/३२)—इस मन्त्र से हवन करके गृहस्थ पुत्रों को प्राप्त करता है, इसमें संदेह नहीं है। इसी तरह 'घृतवती भुवननामभि.' (३४/४५)—इस मन्त्र से किया गया घृत का हवन आयु को संवृद्धि प्रदान करने वाला है।

'अइ गावः प्रजायध्वम्०'—यह मन्त्र पुष्टिवर्धक है। इससे घृत की एक हजार आहुतियाँ देने पर दरिद्रता का विनाश होता है। **'देवस्य त्वा०'**—इस मन्त्र से स्रुवाद्वारा अपामार्ग और तण्डुल का हवन करने पर मनुष्य विकृत अभिचार से शीघ्र छुटकारा पा जाता है, इसमें संदेह नहीं है। **'रुद्र यत्ते०'** (१०/२०) मन्त्र से पलाश की समिधाओं

मुच्यते विकृताच्छीघ्रमभिचारान्न संशयः। रुद्र यत्ते पलाशस्य सभिद्भिः कनकं लभेत्॥३४॥
शिवो भवेत्यग्न्युत्पाते व्रीहिभिर्जुहुयान्नरः। याः सेना इति चैतच्च तस्करेभ्यो भयापहम्॥३५॥
यो अस्मभ्यमरातीयाद्धुत्वा कृष्णतिलान्नरः। सहस्रशोऽभिचाराच्च मुच्यते विकृताद्द्विज॥३६॥
अन्नेनान्नपतेत्येवं हुत्वा चान्नमवाप्नुयात्। हंसः शुचिषदित्येतज्जप्तं तोयेऽघनाशनम्॥३७॥
चत्वारि शृङ्ग इत्येत्सर्वं पापहरं जले। देवा यज्ञेति जप्त्वा तु ब्रह्मलोके महीयते॥३८॥
वसन्तेति च हुत्वाऽऽज्यमादित्याद्वरमाप्नुयात्। सुपर्णोऽसीति चेत्यस्य कर्म व्याहृतिवद्भवेत्॥३९॥
नमः स्वाहेति त्रिर्जप्त्वा बन्धनान्मोक्षमाप्नुयात्। अन्तर्जले त्रिरावर्त्य द्रुपदां सर्वपापमुक्॥४०॥
इह गावः प्रजायध्वं मन्त्रोऽयं बुद्धिवर्धनः। हुतं तु सर्पिषा दध्ना पयसा पायसेन वा॥४१॥
शं नो देवेति चैतेन हुत्वा पर्णफलानि च। आरोग्यं श्रियमाप्नोति जीवितं च चिरं तथा॥४२॥
ओषधीः प्रतिमो दध्वं वपने लवनेऽर्थकृत्। अश्वावती पायसेन होमाच्छान्तिमवाप्नुयात्॥४३॥
तस्मा इति च मन्त्रेण बन्धनस्थो विमुच्यते। युवा सुवासा इत्येव वासांस्याप्नोति चोत्तमम्॥४४॥

का हवन करने से स्वर्ण की उपलब्धि होती है। अग्नि के उत्पात में मनुष्य **'शिवो भव०'** (११/४५) मन्त्र से धान्य की आहुति देनी चाहिये।

'या सेनाः०' (११/७७)–इस मन्त्र से किया गया हवन चोरों से प्राप्त होने वाले भय को दूर करता है। हे ब्रह्मन्! जो मनुष्य **'यो अस्मभ्यमरातीयात्०'** (११/८०)–इस मन्त्र से काले तिलों की एक हजार आहुति देता है, वह विकृत अभिचार से मुक्त हा जाता है। **'अन्नपते०'** (११/८३)–इस मन्त्र से अन्न का हवन करने से मनुष्य को प्रचुर अन्न प्राप्त होता है। 'हंसः शुचिषत्०' (१०/२४) इत्यादि मन्त्र का जल में किया गया जप समस्त पापों का विनाश करता है।

'चत्वारि शृङ्गा०' (१७-९१)–इत्यादि मन्त्र का जल में किया गया जप समस्त पापों का अपहरण करने वाला है। **'देवा यज्ञमतन्वत०'** (१९/१२) इसका जप करके साधक ब्रह्मलोक में पूजित होता है। **'वसन्तो स्यासीद'** (३१/१४) इत्यादि मन्त्र से घृत की आहुति देने पर भगवान् सूर्य से अभीष्ट वर की प्राप्ति हो जाती है। **'सुपर्णोऽसि०'** (१७/७२) इत्यादि मन्त्र से साध्यकर्म व्याहृति-मन्त्रों से साध्यकर्म के समान ही होता है।

'नमः स्वाहा.' आदि मन्त्र का तीन बार जप करके मनुष्य बन्धन से कोक्ष प्राप्त कर लेता है। जल के अन्दर **'द्रुपदादिव मुमुचानः०'** (२०/२०) इत्यादि मन्त्र की तीन आवृत्तियाँ करके मनुष्य समस्त पापों से मुक्त हो जाता है। **'इह गावः प्रजायध्वम् ०'** –इस मन्त्र से घृत, दधि, दुग्ध अथवा खीर का हवन करने पर बुद्धि की वृद्धि होती है।

'शं नो देवीः०' (३६/१२)–इस मन्त्र से पलाश के फलों की आहुति देने से मनुष्य आरोग्य, लक्ष्मी और दीर्घ जीवन प्राप्त करता है। **'ओषधीः प्रतिमोदध्वम् ०'** (१२/७७)–इस मन्त्र से बीज बोने और फसल काटने के समय हवन करने पर अर्थ की प्राप्ति हो जाती है। **'अश्वावतीर्गोमतीर्न उषासो.'** (३४/४०) मन्त्र से पायस का हवन करने से शान्ति की प्राप्ति हो जाती है। तस्मा **अरं गमाम०'** (३६/१६) इत्यादि मन्त्र से हवन करने पर बन्धनग्रस्त मनुष्य मुक्त हो जाता है।

'युवा सुवासा०' (तै० ब्रा.० ३/६/१३) इत्यादि मन्त्र से हवन करनेपर श्रेष्ठतम वस्त्रों की प्राप्ति हो जाती

मुञ्चन्तु मा शपथ्या (था) दिसर्वकिल्विषनाशनम्। मा मा हिंसीस्तिलाज्येन हुतं रिपुविनाशनम्।।४५।।
नमोऽस्तु सर्पेभ्यो हुत्वा घृतेन पायसेन तु। कृणुष्व पाज इत्येतदभिचारविनाशम्।।४६।।
दूर्वाकाण्डायुतं हुत्वा काण्डात्काण्डेति मानवः। ग्रामे जनपदे वाऽपि मरकं तु शमं नयेत्।।४७।।
रोगार्त्तो मुच्यते रोगात्तथा दुःखात्तुदुःखितः। औदुम्बरीश्च समिधो मधुमान्नो वनस्पतिः।।४८।।
हुत्वा सहस्रशो राम धनमाप्नोति मानवः। सौभाग्यं महदाप्नोति व्यवहारे तथा जयम्।।४९।।
अपां गर्भमिति हुत्वा देवं वर्षापयेद्ध्रुवम्। अपः पिबेति च तथा हुत्वा दधि घृतं मधु।।५०।।
प्रवर्तयति धर्मज्ञ महावृष्टिमनन्तरम्। नमस्ते रुद्र इत्येतत्सर्वोपद्रवनाशनम्।।५१।।
सर्वशान्तिकरं प्रोक्तं महापातकनाशनम्। अध्यवोचदित्यनेन रक्षणं व्याधितस्य तु।।५२।।
रक्षोघ्नं च यशस्यं च चिरायुः पुष्टिवर्धनम्। सिद्धार्थकानां क्षेपेण पथि चैतज्जपन्सुखी।।५३।।
असौ यस्ताम्र इत्येतत्पठन्नित्यं दिवाकरम्। उपतिष्ठेत धर्मज्ञ सायं प्रातरतन्द्रितः।।५४।।
अन्नमक्षयमाप्नोति दीर्घमायुश्च विन्दति। प्रमुञ्च धन्वन्नित्येत्तत्षड्भिरायुधमन्त्रणम्।।५५।।
रिपूणां भयदं युद्धे नात्र कार्या विचारणा। मा नो महान्त इत्येवं बालानां शान्तिकारकम्।।५६।।

है। **'मुञ्चन्तु मा शपथ्यात् ०'** (१२/९०) इत्यादि मन्त्र से हवन करने पर श्राप या शपथ आदि समस्त किल्बिषों का विनाश होता है। **'मो मा हिंसीज्जनिताः०'** (१२/१०२)–इत्यादि मन्त्र से घृतमिश्रित तिलों का हवन शत्रुओं का विनाश करने वाला होता है।

'नमोऽस्तु सर्पेभ्यो०' (१३/६) इत्यादि मन्त्र से घृत का हवन एवं 'कृणुष्व पाजः०' (१३/९) इत्यादि मन्त्र से खीर का हवन अभिचार का उपसंहार करने वाला है। **'काण्डात् काण्डात् ०'** (१३/२०) इत्यादि मन्त्र से दूर्वाकाण्ड की दस हजार आहुतियाँ देकर होता ग्राम या जनपद में फैली हुई महामारी को शान्त करना चाहिये। इससे रोगपीडित मनुष्य रोग से और दुःखग्रस्त मानव दुःख से छुटकारा पाता है।

हे भगवान् परशुराम! **'मधुमान्नो वनस्पतिः०'** (१३/२९) इत्यादि मन्त्र से उदुम्वर की एक हजार समिधाओं का हवन करके मनुष्य धन प्राप्त करता है तथा महान् सौभाग्य एवं व्यवहार में विजय लाभ करता है। **'अपां गर्भ्भनसीद मा त्वा०'** (वा० १३/३०) इत्यादि मन्त्र से हवन करके मनुष्य निश्चय ही पर्जन्यदेव से वर्षा करवा सकता है। हे धर्मज्ञ भगवान् परशुराम! **'अपः पिवन् वौषधीः'** (१४/८) इत्यादि मन्त्र से दधि, घृत एवं मधु का हवन करके यजमान तत्काल महावृष्टि करवाता है। **'नमस्ते रुद्र०'** (१६/१) इत्यादि मन्त्र से आहुति दी जाय तो यह कर्म समस्त उपद्रवों का नाशक, सर्वशान्तिसम्प्रदायक तथा महापातकों का निवारक कहा गया है। **'अध्यवोचदधिवक्ता०'** (१६/५) इत्यादि मन्त्र से आहुति देने पर व्याधिग्रस्त मनुष्य की रक्षा होती है। इस मन्त्र से किया गया हवन राक्षसों का नाशक, कीर्तिकारक तथा दीर्घायु एवं पुष्टि का वर्धक है। मार्ग में सफेद सरसों फेंकते हुए इसका जप करने वाला राहगीर सुखी होता है।

हे धर्मज्ञ भृगुनन्दन! 'असौ यस्ताम्रः०' (१६/६)–इसका पाठ करते हुए नित्य प्रातःकाल एवं सायंकाल आलस्य हीन होकर भगवान् सूर्य का उपस्थान करना चाहिये। इससे वह अक्षय अन्न एवं दीर्घ आयु प्राप्त करता है। **'प्रमुञ्च धन्वन्०'** (१६/९-१४) इत्यादि षड् मन्त्रों से किया गया आयुधों का अभिमन्त्रण युद्ध में शत्रुओं के लिये भयसम्प्रदायक है, इसमें कोई अन्याथा विचार नहीं करना चाहिये। **'मा नो महान्तम्०'** (१६/१५) इत्यादि मन्त्र का

नमो हिरण्यवाहव इत्युनवाकसप्तकम्। राजिकां कटुतैलाक्तां जुहुयाच्छत्रुनाशनीम्॥५७॥
नमो वः किरिकेभ्यश्च पद्मलक्षकृतैर्नरः। राज्यलक्ष्मीमवाप्नोति तथा बिल्वैः सुवर्णकम्॥५८॥
इमा रुद्रायेति तिलैर्होमाच्च धनमाप्यते। दूर्वाहोमेन चाऽऽज्येन सर्वव्याधिविवर्जितः॥५९॥
आशुः शिशान इत्येतदायुधानां च रक्षणे। (संग्रामे कथितं राम सर्वशत्रुनिबर्हणम्॥६०॥
वाजश्चमेति जुहुयात्सहस्रं पञ्चभिर्द्विज। आज्याहुतीनां धर्मज्ञ चक्षूरोगाद्विमुच्यते॥६१॥
शं नो वनस्पतये गृहे होमः स्याद्वास्तुदोषनुत्। अग्न आयूंषिहुत्वाऽऽज्यं द्वेषं नाऽऽप्नोति केनचित्॥६२॥
अपां फेनेति लाजाभिर्हु (जैश्च हु) त्वा जयमवाप्नुयात्। भद्रा इतीन्द्रियैर्हीनो जपन्स्यात्सकलेन्द्रियः॥६३॥
अग्निश्च पृथिवी चेति वशीकरणमुत्तमम्। अध्वनेति जपन्मन्त्रं व्यवहारे जयी भवेत्॥६४॥
ब्रह्मराजन्यमिति च कर्मारम्भे तु सिद्धिकृत्। संवत्सरोऽसीति घृतैर्लक्षहोमादरोगवान्॥६५॥
केतुं कृण्वन्नितीत्येतत्संग्रामे जयवर्धनम्। इन्द्रोऽग्निर्धर्म इत्येतद्रणे धर्मनिबन्धनम्॥६६॥
धनुर्नागेति मन्त्रश्च धनुर्ग्रहिणिकः परः। यजीतेति (?) तथा मन्त्रो विज्ञेयो ज्याभिमन्त्रणे॥६७॥

जप एवं हवन बालकों के लिये शान्तिकारक होता है। **'नमो हिरण्यबाहवे०'** (१६/१७) इत्यादि सात अनुवाकों से कडुए तेल में मिलायी गयी राई की आहुति दे तो वह शत्रुओं का विनाश करने वाली होती है। **'नमो वः किरिकेभ्यो०'** (१६/४६)–इस अर्ध मन्त्र से एक लाख कमल-पुष्पों का हवन करके मनुष्य राज्यलक्ष्मी प्राप्त कर लेता है तथा बिल्वफलों से उतनी ही आहुतियाँ देने पर उसको स्वर्ण राशि की उपलब्धि होती है।

'इमा रुद्राय०' (१६/४८) मन्त्र से तिलों का हवन करने पर धन की प्राप्ति हो जाती है। एवं इसी मन्त्र से घृतसिक्त दूर्वा का हवन करने पर मनुष्य समस्त व्याधियों से मुक्त होता है। हे भगवान् परशुराम! **'आशुः शिशानः०'** (१७/३३)–यह मन्त्र आयुधों की रक्षा एवं संग्राम में सम्पूर्ण शत्रुओं का विनाश करने वाला है। हे धर्मज्ञ द्विजश्रेष्ठ! **'वाजश्च मे०'** (१८/१५-१९)–इत्यादि पाँच मन्त्रों से घृत की एक हजार आहुतियाँ देनी चाहिये। इससे मनुष्य नेत्र रोग से मुक्त हो जाता है। **'शं नो वनस्पते०'** (१९/३८) इस मन्त्र से गृह में आहुति देने पर वास्तुदोष का विनाश हेता है। **'अग्न आयूंषि०'** (१९/३८) इत्यादि मन्त्र से घृत का हवन करके मनुष्य किसी का द्वेषपात्र नहीं होता है।

'अपां फेनेन०' (१९/७१) मन्त्र से लाजा का हवन करके योद्धा विजय प्राप्त करता है। **'भद्रा उत प्रशस्तयो०'** (१४/३९) इत्यादि मन्त्र के जप से इन्द्रियहीन अथवा दुर्बलेन्द्रिय मनुष्य समस्त इन्द्रियों की शक्ति से सम्पन्न हो जाता है। **'अग्निश्च पृथिवी च०'** (२६/१) इत्यादि मन्त्र श्रेष्ठतम वशीकरण है। **'अध्वना०'** (५/३३) आदि मन्त्र का जप करने वाला मनुष्य व्यवहार (मुकदमे) में विजयी होता है। कार्य के प्रारम्भ में **'ब्रह्म क्षत्रं पवते०'** (१९/५) इत्यादि मन्त्र का जप सिद्धि सम्प्रदान करता है।

'संवत्सरोऽसि०' (२७/४५) इत्यादि मन्त्र से घृत की एक लाख आहुतियाँ देने वाला रोगमुक्त हो जाता है। **'केतुं कृण्वन्०'** (२९/३७) इत्यादि मन्त्र संग्राम में विजय दिलाने वाला है। **'इन्द्रोऽग्निर्धर्मः'** मन्त्र युद्ध में धर्मसंगत विजय की प्राप्ति कराता है। **'धन्वना गा०'** (२९/३९) मन्त्र का धनुष ग्रहण करने के समय जप करना श्रेष्ठतम माना गया है। **'यजीत०'**–यह मन्त्र धनुष की प्रत्यञ्चा को अभिमन्त्रित करने के लिये है, ऐसा समझना चाहिये।

मन्त्रश्चा हिरिवेत्येतच्छराणां मन्त्रणे भवेत्। वह्नीनां पितरित्येतत्तूणमन्त्रः प्रकीर्तितः।।६८।।
युञ्जतीति तथाऽश्वानां योजने मन्त्र उच्यते। आशुः शिशान इत्येतद्यात्रारम्भणमुच्यते।।६९।।
विष्णोः क्रमेतिमन्त्रश्च रथारोहणिकः परः। आजङ्घतीति चाश्वानां ताडनीयमुदाहृतम्।।७०।।
याःसेना अभित्वरीति परसैन्यमुखे जपेत्। दुन्दुभ्य इति चाप्येतद्दुन्दुभीताडनं भवेत्।।७१।।
एतैः पूर्वहुतैर्मन्त्रैः कृत्वैवं विजयी भवेत्। यमेव दत्तमित्यस्य कोटिहोमाद्विचक्षणः।।७२।।
रथमुत्पादयेच्छीघ्रं संग्रामे विजयप्रदम्। आ कृष्णेति तथैतस्य कर्म व्याहृतिवद्भवेत्।।७३।।
शिवसंकल्पजापेन समाधिं मनसो लभेत्। पञ्चनद्यः (?) पञ्चलक्षं हुत्वा लक्ष्मीमवाप्नुयात्।।७४।।
यदा वध्नन्दाक्षायणां मन्त्रेणानेन मन्त्रितम्। सहस्रकृत्वः कनकं धारयेद्रिपुवारणम्।।७५।।
इमं जीवेभ्य इति च शिलां लोष्टं चतुर्दिशम्। क्षिपेद्गृहे तदा तस्य न स्याच्चौरभयं निशि।।७६।।
परि मे गामनेनेति वशीकरणमुत्तमम्। हन्तुमभ्यागतस्तत्र वशी भवति मानवः।।७७।।
भक्ष्यताम्बूलपुष्पाद्यं मन्त्रितं तु प्रयच्छति। यस्य धर्मज्ञ वशगः सोऽस्य शीघ्रं भविष्यति।।७८।।

'अहिरिव भोगैः०' (२९/५१)–मन्त्र का बाणों को अभिमन्त्रित करने में प्रयोग करना चाहिये। **'वह्नीनां पिता०'** (२९/४२)–यह तूणीर को अभिमन्त्रित करने का मन्त्र बतलाया गया है। **'युञ्जन्त्यस्य०'** (२३/६) इत्यादि मन्त्र अश्वों को रथ में जोतने के लिये उपयोगी बतलाया गया है।

'आशुः शिशानः०' (१७/३३)–यह मन्त्र यात्रारम्भ के समय मङ्गल के रूप में पठनीय कहा जाता है। **'विष्णोः क्रमोऽसि०'** (१२/५) मन्त्र का पाठ रथारोहण के समय करना श्रेष्ठतम है। **'आजङ्घन्ति०'** (२९/५०) – इस मन्त्र से अश्व को प्रेरित करने के लिये प्रथम बार चाबुक से हाँके।

'याः सेना अभित्वरीः०' (११/७७) इत्यादि मन्त्र का शत्रुसेना के सम्मुख जप करना चाहिये। **'दुन्दुभ्यः०'** इत्यादि मन्त्र से दुन्दुभि या नगारे को पीटे। इन मन्त्रों से पहले हवन करके तत्पश्चात् उपरोक्त कर्म करने पर योद्धा को संग्राम में विजय प्राापत होती है। विद्वान् पुरुष **'यमेन दत्तं०'** (२९/१३)–इस मन्त्र से एक करोड़ आहुतियाँ देकर संग्राम के लिये शीघ्र ही विजयप्रद रथ उत्पन्न कर सकता है।

'आकृष्णेन०' (३४/३१) इत्यादि मन्त्र से साध्यकर्म व्याहृतियों के समान ही होता है। **'यज्जाग्रतो०'** (३४/१) इत्यादि शिवसंकल्प-सम्बन्धी सूक्तों के जप से साधक का मन एकाग्र होता है। **'पञ्चनद्यः०'** (३४/११) इत्यादि मन्त्र से पाँच लाख घी की आहुतियाँ देने पर लक्ष्मी की प्राप्ति हो जाती है। **'यदाबध्नन् दाक्षायणाः०'** (३४/५२)–इस मन्त्र से हजार बार अभिमन्त्रित करके स्वर्ण को धारण करना चाहिये। यह प्रयोग शत्रुओं का निवारण करने वाला होता है।

'इमं जीवेभ्यः०' (३५/१५)– मन्त्र से शिला अथवा ढेले को अभिमन्त्रित करके गृह में चारों तरफ फेंक देना चाहिये। ऐसा करने वाले को रात में चोरों से भय नहीं होता। **'परीमे गामनेषत्०'** (३५/१८)–यह श्रेष्ठतम वशीकरण-मन्त्र है। इस मन्त्र के प्रयोग से मारने के लिये आया हुआ मनुष्य भी वश में हो जाता है। हे धर्मात्मन्! कथित मन्त्र से अभिमन्त्रित भक्ष्य, ताम्बूल, पुष्प आदि किसी को दे दिया जाय तो वह शीघ्र ही देने वाले के वशीभूत हो जायगा।

शं नो मित्र इतीत्येतत्सदा सर्वत्र शान्तिदम्। गणानां त्वा गणपतिं कृत्वा होमं चतुष्पथे॥७९॥
वशीकुर्याज्जगत्सर्वं सर्वधान्यैरसंशयम्। हिरण्यवर्णाः शुचयो मन्त्रोऽयमभिषेचने॥८०॥
शं नो देवीरभिष्टये तथा शान्तिकरः परः। एकचक्रेति मन्त्रेण हूतेनाऽऽज्येन भागशः॥८१॥
ग्रहेभ्यः शान्तिमाप्नोति प्रसादं न च संशयः। गावो भग इति द्वाभ्यां हुत्वाऽऽज्यङ्गा अवाप्नुयात्॥८२॥
प्रवादां षः (?) सोपदिति गृ (ग्र) हयज्ञे विधीयते। देवोभ्यो वनस्पत इत द्रुमयते विधीयते॥८३॥
गायत्री वैष्णवी ज्ञेया तद्विष्णोः परमं पदम्। सर्वपापप्रशमनं सर्वकामकरं तथा॥८४॥

॥इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते यजुर्विधानकथनं नाम षष्ट्यधिकद्विशततमोऽध्यायः॥२६०॥

'शं नो मित्रः०' (३६/९)—यह मन्त्र सदैव सभी स्थानों पर शान्ति सम्प्रदान करने वाला है। **'गणानां त्वा गणपतिं०'** (२३/१९)—इस मन्त्र से चौराहे पर सप्तधान्य का हवन करके होता सम्पूर्ण जगत् को वशीभूत कर लेता है, इसमें संदेह नहीं है। **'हिरण्यवर्णाः शुकयः०'**—इस मन्त्र का अभिषेक में प्रयोग करना चाहिये। **'शं नो देवीरभीष्टये०'** (३६/१२)—यह मन्त्र परम शान्तिकारक है। **'एकाचक्र०'** इत्यादि मन्त्र से आज्यभागपूर्वक ग्रहों के लिये घी की आहुति देन पर साधक को शान्ति प्राप्त होती है और निस्संदेह उसको ग्रहों का कृपाप्रसाद सुलभ हो जाता है। **'गाव उपावतावम्०'** (३३/२९) एवं **'भग प्रणेतः०'** (३४/३६-३७) इत्यादि दो मन्त्रों से घृत का हवन करके मनुष्य गौओं की प्राप्ति करता है। **'प्रवादां षः सोपत्०'**—इस मन्त्र का ग्रहयज्ञ में प्रयोग होता है। **'देवेभ्यो वनस्पते०'** इत्यादि मन्त्र का वृक्षयज्ञ में विनियोग होता है। गायत्री को विष्णुरूपा जाने। समस्त पापों का प्रशमन एवं समस्त कामनाओं को पूर्ण करने वाला विष्णु का परमपद भी वही है॥२३-८४॥

॥इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी दो सौ साठवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ॥२६०॥

❖❖❖

अथैकषष्ट्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

सामविधानम्

पुष्कर उवाच

यजुर्विधानं कथितं वक्ष्ये साम्नां विधानकम्। संहितां वैष्णवीं जप्त्वा हुत्वा स्यात्सर्वकामभाक्।।१।।
संहितां छान्दसीं साधु जप्त्वा प्रीणाति शंकरम्। स्कान्दीं पैत्र्यां संहितां च जप्त्वास्यात्तु प्रसादवान्।।२।।
यत इन्द्रभयामहे हिंसादोषविनाशनम्। अवकीर्णी मुच्यते च अग्निस्तिग्मेति वै जपन्।।३।।
सर्वपापहरं ज्ञेयं परितोषं च तासु च। अविक्रेयं च विक्रीय जपेद्घृतवतीति च।।४।।
अद्या नो देव सवितर्ज्ञेयं दुःस्वननाशनम्। अबोध्यग्निरिति मन्त्रेण घृतं राम यथाविधि।।५।।
अभ्युक्ष्य घृतशेषेण मेखलाबन्ध इष्यते। स्त्रीणां यासां तु गर्भाणि पतन्ति भृगुसत्तम।।६।।
मणिं जातस्य बालस्य बध्नीयात्तदनन्तरम्। सोमं राजानमेतेन व्याधिभिर्विप्रमुच्यते।।७।।
सर्पसाम प्रयुञ्जानो नाऽऽप्नुयात्सर्पजं भयम्। माऽघ त्वा वाद्यतेत्येद्धुत्वा (?) विप्रः सहस्रशः।।८।।
शतावरि (री) मणिं बद्ध्वा नाऽऽप्नुयाच्छस्त्रतो भयम्। दीर्घतमसोऽर्क इति हुत्वाऽन्नं प्राप्नुयाद्बहु।।९।।

अध्याय-२६१

सामविधान विचार

पुष्पक कहते हैं—हे भगवान् परशुराम! मैंने आपको 'यजुर्विधान' कह सुनाया, अधुना मैं 'सामविधान' कहने जा रहा हूँ। 'वैष्णवी-संहिता' का जप करके उसका दशांश हवन करना चाहिये। इससे मनुष्य सम्पूर्ण कामनाओं का भागी होता है। 'छान्दसी-संहिता' का विधिपूर्वक जप करके मानव भगवान् शंकर के प्रसन्न कर लेता है। 'स्कन्द-संहिता' और 'पितृ-संहिता' का जप करने से प्रसन्नता की प्राप्ति हो जाती है। **'यत इन्द्रभजामहे०'** (१३२१)—इस मन्त्र का जन हिंसा-दोष का विनाश करने वाला है। **'अग्निस्तिग्मेन०'** (२२) इत्यादि मन्त्र का जप करने वाला अवकीर्णी (जिसका ब्रह्मचर्यावस्था में ही ब्रह्मचर्य खण्डित हो गया हो, वह) पुरुष भी अपने पाप-दोष से मुक्त हो जाता है। **'परीतोऽषिञ्चता सुतम्०'** (५१२) इत्यादि साममन्त्र समस्त पापों का विनाश करने वाला है, ऐसा समझना चाहिये। जिसने प्रमादवश निषिद्ध वस्तु का विक्रय कर लिया हो, वह उसके प्रायश्चित्तरूप से **'घृतवती भुवना०'** (३७८) इत्यादि मन्त्र का जप करना चाहिये। **'अद्य नो देव सवितः०'** (१४१)—यह मन्त्र दुःस्वप्नों का विनाश करने वाला है। हे भृगुश्रेष्ठ भगवान् परशुराम! **'अबोध्यग्निः०'** (१७४६) इत्यादि मन्त्र से विधिवत् घृत का हवन करना चाहिये। फिर शेष घृत से मेखलाबन्ध (करधनी आदि) का सेचन करना चाहिये। वह मेखलाबन्ध ऐसी स्त्रियों को धारण कराये, जिनके गर्भ गिर जाते रहे हों। उसके बाद बालक के उत्पन्न होने पर उसको उपरोक्त मन्त्र से अभिमन्त्रित मणि पहनावे। **'सोमं राजानम्०'** (९१) मन्त्र के जप से रोगी व्याधियों से छुटकारा पाता है। सर्प साम का प्रयोग करने वाले को कभी सर्पों से भय नहीं प्राप्त होता। ब्राह्मण **'मा पापत्वाय नोः०'** (९१८)—इस मन्त्र से सहस्र आहुतियाँ देकर शतावरीयुक्त मणि बाँधने से शस्त्रभय को नहीं प्राप्त होता। **'दीर्घतमसोऽर्कः०'**— इस साममन्त्र से हवन करने पर प्रचुर अन्न की प्राप्ति हो जाती है। **'समन्या यन्तिः०'** (६०७)—इस साम का जप करने वाला प्यास से नहीं मर सकता।

समध्यायन्तीति जपन्न म्रियेत पिपासया। त्वमिमा ह्योषधीत्येतज्जप्त्वा व्याधिं न चाऽऽप्नुयात्॥१०॥
पथि देवव्रतं जप्त्वा भयेभ्यो विप्रमुच्यते। यदिन्द्रो मुनये त्वेति हुतं सौभाग्यवर्धनम्॥११॥
भगो न चित्र इत्येवं नेत्रयोरञ्जनं हितम्। सौभाग्यवर्धनं राम नात्र कार्या विचारणा॥१२॥
जपेदिन्द्रेति वर्गं च तथा सौभाग्यवर्धनम्। परि प्रिया हि वः कारिः(?) काम्यां संस्रावयेत्स्त्रियम्॥१३॥
सा तं कामयते राम नात्र कार्या विचारणा। रथंतरं वामदेव्यं ब्रह्मवर्चसवर्धनम्॥१४॥
प्राशयेद्बालकं नित्यं वचाचूर्णं घृतप्लुतम्। इन्द्रमिद्गाथिनं जपत्वा भवेच्छ्रुतिधरस्त्वसौ॥१५॥
हुत्वा रथंतरं जप्त्वा पुत्रमाप्नोत्यसंशयम्। मयि श्रीरिति मन्त्रोऽयं जप्तव्यः श्रीविवर्धनः॥१६॥
वैरूप्यस्याष्टकं नित्यं प्रयुञ्जानः श्रियं लभेत्। सप्ताष्टकं प्रयुञ्जानःसर्वान्कामानवाप्नुयात्॥१७॥
गव्येषुणेति यो नित्यं सायं प्रातरतन्द्रितः। उपस्थानं गवां कुर्यात्तस्य स्युस्ता सदा गृहे॥१८॥
घृताक्तं तु यव द्रोणं वात आवातु भेषजम्। अनेन हुत्वा विधिवत्सर्वां मायां व्यपोहति॥१९॥
प्रदेवो दासेन तिलान्हुत्वा कार्मणकृन्तनम्। अभि तत्वां शूर नोनुमो वषट्कारसमन्वितम्॥२०॥

'त्वमिमा ओषधीः०' (६०४)—इस मन्त्र का जप करने से मनुष्य कभी व्याधिग्रस्त नहीं होता। मार्ग में 'देवव्रत-साम' का जप करके मानव भय से छुटकार पा जाता है।

'यदिन्द्र अनुनयत्०' (१४८)—यह मन्त्र हवन करने पर सौभाग्य की वृद्धि करता है। हे भगवान् परशुराम! **'भगो न चित्रो०'** (४४९)—इस मन्त्र का जप करके नेत्रों में लगाया गया अञ्जन हितकारक एवं सौभाग्यवर्द्धक होता है, इसमें अन्यथा विचार नहीं करना चाहिये। **'इन्द्र'**—इस पद से प्रारम्भ होने वाले मन्त्रवर्ग का जप करना चाहिये। इससे सौभाग्य की वृद्धि होती है।

'परि प्रिया दिवः कविः०' (४७६)—यह मन्त्र, जिसे प्राप्त करने की इच्छा हो, उस स्त्री को सुनावेहे भगवान् परशुराम! ऐसा करने से वह स्त्री उसको चाहने लगती है, इसमें अन्यथा विचार नहीं करना चाहिये। 'रथन्तर-साम' एवं 'वामदेव्य-साम' ब्रह्मतेज की वृद्धि करने वाले। **'इन्द्रमिद्गाभिनो०'** (१९८) इत्यादि मन्त्र का जप करके घृत में मिलाया हुआ बचा चूर्ण प्रतिदिन बालक को खिलाये। इससे वह श्रुतिधर हो जाता है, अर्थात् एक बार सुनने से ही उसको शास्त्र की पंक्तियाँ याद हो जाती हैं। 'रथन्तर-साम' का जप एवं उसके द्वारा हवन करके पुरुष निस्संदेह पुत्र प्राप्त कर लेता है।

'मयि श्रीः०' ('मयि वर्चो अथो०' (६०२)—यह मन्त्र लक्ष्मी की वृद्धि करने वाला है। इसका जप करना चाहिये। प्रतिदिन 'वैरूप्याष्टक' (वैरूप्य साम के आठ मन्त्र)—का पाठ करने वाला लक्ष्मी की प्राप्ति करता है। 'सप्ताष्टक' का प्रयोग करने वाला समस्त कामनाओं को प्राप्त कर लेता है। जो मनुष्य प्रतिदिन प्रातःकाल एवं सायंकाल आलस्य हीन होकर 'गव्योषुणो यथा०' (१८६)—इस मन्त्र से गौओं का उपस्थान करता है, उसके गृह में गौएँ सदा बनी रहती हैं, **'वात आ वातु भेषजम् ०'** (१८४)—मन्त्र से एक द्रोण घृत मिश्रित यवों का विधिपूर्वक हवन करके मनुष्य सारी माया को नष्ट कर देता है। **'प्र दैवोदासो०'** (५१) आदि साम से तिलों का हवन करके मनुष्य अभिचारकर्म को शान्त कर देता है। **'अभि त्वा शूर नोनुमो०'** (२३३)—इस साम को अन्त में वषट्कार से संयुक्त करके (इससे वासक (अडूसा) वृक्ष की एक हजार समिधाओं का हवन युद्ध में विजयी की प्राप्ति कराने वाला है।) उसके साथ 'वामदेव्यसाम' का सहस्र बार जप और उसके द्वारा हवन किया जाय तो वह युद्ध में विजय सम्प्रदायक होता है।

वामदेव्यसहस्रं तु हुतं युद्धे जयप्रदम्। हस्त्यश्वपुरुषान्कुर्याद्बुधः पिष्टमयाञ्शुभान्।।२१।।
परकीयानथोद्दिश्य प्रधानपुरुषांस्तथा। सुस्विन्नान्पिष्टकबरान्क्षुरेणोत्कृत्य भागशः।।२२।।
अभि त्वा शूर नोनुमो मंत्रेणानेन मंत्रवित्। कृत्वा सर्षपतैलाक्तान्क्रोधेन जुहुयात्ततः।।२३।।
एतत्कृत्वा बुधः कर्म सङ्ग्रामे जयमाप्नुयात्। गारुडं वामदेव्यं च रथंतरबृहद्रथौ।।
सर्वपापप्रशमनाः कथिताः संशयं विना।।२४।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गति सामविधानं नामैकषष्ट्यधिकद्विशततमोऽध्यायः।।२६१।।

—※—

विद्वान् पुरुष सुन्दर पिष्टमय हाथी, घोड़े एवं मनुष्यों का निर्माण करना चाहिये। फिर शत्रुपक्ष के प्रधान-प्रधान वीरों को लक्ष्य में रखकर उन पसीजे हुए पिष्टकमय पुरुषों के छूरे से टुकड़े-टुकड़े कर डालना चाहिये। उसके बाद मन्त्रवेत्ता पुरुष उनको सरसों के तेल में भिगोकर '**अभि त्वा शूर नोनुमो०**' (२३३)-इस मन्त्र से उनका क्रोधपूर्वक हवन करना चाहिये। बुद्धिमान् पुरुष यह अभिचार कर्म करके संग्राम में विजय प्राप्त करता है। गारुड, वामदेव्य, रथन्तर एवं बृहद्रथ-साम निस्संदेह समस्त पापों का शमन करने वाले कहे गये हैं।।१-२४।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी दो सौ एकसठवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।२६१।।

❖❖❖

अथ द्विषष्ट्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

अथर्वविधानम्

पुष्कर उवाच

साम्नां विधानं कथितं वक्ष्ये चाथर्वणामथ। शान्तातीयं गणं हुत्वा शान्तिमाप्नोति मानवः॥१॥
भैषज्यं च गणं हुत्वा सर्वान्रोगान्व्यपोहति। त्रिसप्तीयं गणं हुत्वा सर्वपापैः प्रमुच्यते॥२॥
क्वचिन्नाऽऽप्नोति च भयं हुत्वा चैवाभयं गणम्। न क्वचिज्जायते राम गणं हुत्वाऽपराजितम्॥३॥
आयुष्यं च गणं हुत्वा ह्यपमृत्युं व्यपोहति। स्वस्तिमाप्नोति सर्वत्र हुत्वा स्वस्त्ययनं गणम्॥४॥
श्रेयसा योगमाप्नोति शर्मवर्मगणं तथा। वास्तोष्पत्यगणं हुत्वा वास्तुदोषान्व्यपोहति॥५॥
तथा रौद्रगणं हुत्वा सर्वान्दोषान्व्यपोहति। एतैर्दशगुणैर्होमौ ह्यष्टादशसु शान्तिषु॥६॥
वैष्णवी शान्तिरैन्द्री च ब्राह्मी रौद्री तथैव च। वायव्या वारुणी चैव कौवेरी भार्गवी तथा॥७॥
प्राजापत्या तथा त्वाष्ट्री कौमारी वह्निदेवता। मारुद्गणा च गान्धारी शान्तिर्नैर्ऋतकी तथा॥८॥
शान्तिराङ्गिरसी याम्या पार्थिवी सर्वकामदा। यस्त्वां मृत्युरिति ह्येतज्जप्तं मृत्युविनाशनम्॥९॥
सुपर्णस्त्वेति हुत्वा च भुजगैर्नैव बाध्यते। इन्द्रेण दत्तमित्येतत्सर्वकामकरं भवेत्॥१०॥

अध्याय-२६२

अथर्वविधान विचार

पुष्करजी ने कहा कि–हे भगवान् परशुराम! 'सामविधान' कहा गया। अधुना मैं 'अथर्वविधान' का वर्णन करने जा रहा हूँ। शान्तातीयगण के उद्देश्य से हवन करके मानव शान्ति प्राप्त करता है। भैषज्यगण के उद्देश्य से हवन करके होता समस्त रोगों को दूर करता है। त्रिसप्तीयगण के उद्देश्य से आहुतियाँ देने वाला सम्पूर्ण पापों से मुक्त हो जाता है। अभयगण के उद्देश्य से हवन करने पर मनुष्य किसी स्थान पर भी भय नहीं प्राप्त करता। हे भगवान् परशुराम! अपराजितगण के उद्देश्य से हवन करने वाला कभी पराजित नहीं होता। आयुष्यगण के उद्देश्य से आहुतियाँ देकर मानव दुर्मृत्यु को दूर कर देता है। स्वस्त्ययनगण के उद्देश्य से हवन करने पर सभी जगह मङ्गल की प्राप्ति हो जाती है। शर्मवर्मगण के उद्देश्य से हवन करने वाला कल्याण का भागी होता है। वास्तोष्पत्यगण के उद्देश्य से आहुतियाँ देने पर वास्तुदोष की शान्ति होती है। रौद्रगण के लिये हवन करके होता सम्पूर्ण दोषों का विनाश कर देता है। निम्नांकित अठारह तरह की शान्तियों में इन दस गणों के द्वारा हवन करना चाहिये। वे अठारह शान्तियाँ ये हैं–वैष्णवी, ऐन्द्री, ब्राह्मी, रौद्री, वायव्या, वारुणी, कौबेरी, भार्गवी, प्राजापत्या, त्वाष्ट्री, कौमारी, आग्नेयी, मारुद्गणी, गान्धर्वी, नैर्ऋतिकी, आङ्गिरसी, याम्या एवं कामनाओं को पूर्ण करने वाली पार्थिवी शान्ति॥१-८॥

'यस्त्वां मृत्युः०' इत्यादि आथर्वण-मन्त्र का जप मृत्यु का विनाश करने वाला है। **'सुपर्णस्त्वा०'** (४/६/३)–इस मन्त्र से हवन करने पर मनुष्य को सर्पों से बाधा नहीं प्राप्त होती। **'इन्द्रेण दत्तो०'** (२/२९/४)–यह मन्त्र सम्पूर्ण कामनाओं को सिद्ध करने वाला है। 'इन्द्रेण दत्तो०' यह मन्त्र समस्त बाधाओं का भी विनाश करने वाला

इन्द्रेण दण्डमित्येतत्सर्वबाधाविनाशनम्। इमा देवीति मंत्रश्च सर्वशान्तिकरः परः।।११।।
देवा मरुत इत्येतत्सर्वकामकरं भवेत्। यमस्य लोकादित्येतद्दुःस्वप्नशमनं परम्।।१२।।
इन्द्रश्च पञ्च वणिजः पुण्यलाभकरं परम्। कामो मे वाजीति हुतं स्त्रीणां सौभाग्यवर्धनम्।।१३।।
तुभ्यमेव जपन्नित्यमयुतं तु हुतं भवेत्। अग्ने गोभिर्न इत्येतन्मेधावृद्धिकरं भवेत्।।१४।।
ध्रुवं ध्रुवेणेति हुतं स्थानलाभकरं भवेत्। अलक्तजीवेतिशुना कृषिलाभकरं भवेत्।।१५।।
अहं ते भग्न इत्येतद्भवेत्सौभाग्यवर्धनम्। ये मे पाशास्तथाप्येतद्बन्धनान्मोक्षकारणम्।।१६।।
शपत्वहन्निति रिपून्नाशयेद्धोमजाप्यतः। त्वमुत्तममितीत्येतद्यशोबुद्धिविवर्धनम्।।१७।।
यथा मृगमतीत्येत्स्त्रीणां सौभाग्यवर्धनम्। येन चेह दिशं चैव गर्भलाभकरं भवेत्।।१८।।
अयं ते योनिरित्येतत्पुत्रलाभकरं भवेत्। शिवः शिवाभिरित्येतद्भवेत्सौभाग्यवर्धनम्।।१९।।
बृहस्पतिर्नः परिपातु पथि स्वस्त्ययनं भवेत्। मुञ्चामि त्वेति कथितमपमृत्युनिवारणम्।।२०।।
अथर्वशिरसोऽध्येता सर्वपापैः प्रमुच्यते। प्राधान्येन तु मंत्राणां किंचित्कर्म तवेरितम्।।२१।।
वृक्षाणां यज्ञियानां तु समिधः प्रथमं हविः। आज्यं च व्रीहयश्चैव तथा वै गौरसर्षपाः।।२२।।
अक्षतानि तिलाश्चैव दधिक्षीरे च भार्गव। दर्भास्तथैव दूर्वाश्च बिल्वानि कमलानि च।।२३।।

है। 'इमा या देवी' (२/१०/४)–यह मन्त्र सभी तरह की शान्तियों के लिये श्रेष्ठतम है। **'देवा मरुतः'**–यह मन्त्र समस्त कामनाओं को सिद्ध करने वाला है। **'यमस्य लोकाद्०'** (१९/५६/१)–यह मन्त्र दुःस्वप्न का विनाश करने में श्रेष्ठतम है। **'इन्द्रश्च पञ्च वणिजः०'**–यह मन्त्र परमपुण्य का लाभ कराने वाला है। **'कामो मे वाजी०'** मन्त्र से हवन करने पर स्त्रियों के सौभाग्य की वृद्धि होती है। **'तुभ्यमेव०'** (२/२८/१) इत्यादि मन्त्र को नित्य दस हजार जप करते हुए उसका दशांश हवन करना चाहिये एवं 'अग्ने गोभिर्नः०' मन्त्र से हवन करना चाहिये तो श्रेष्ठतम मेधाशक्ति की वृद्धि होती है।

'ध्रुवं ध्रुवेण०' (७/८४/१) इत्यादि मन्त्र से हवन किया जाय तो वह स्थान की प्राप्ति कराता है। **'अलक्तजीवेति शुना०'**–यह मन्त्र कृषि-लाभ कराने का साधन है। 'अहं ते भग्नः'–यह मन्त्र सौभाग्य की वृद्धि करने वाला है। **'ये मे पाशाः०'** मन्त्र बन्धन से छुटकारा दिलाता है।

'शपत्वहन्०'–इस मन्त्र का जप एवं हवन करने से मनुष्य अपने शत्रुओं का विनाश कर सकता है। **'त्वमुत्तमम्०'**–यह मन्त्र यश एवं बुद्धि का विस्तार करने वाला है। **'यथा मृगाः०'** (५/२१/४) –यह मन्त्र स्त्रियों के सौभाग्य को संवृद्धि प्रदान करने वाला है। **'येन चेह दिशं चैव०'**–यह मन्त्र गर्भ की प्राप्ति कराने वाला है। **'अयं ते योनिः०** (३/२०/१)–इस मन्त्र के अनुष्ठान से पुत्रलाभ होता है।

'शिवः शिवाभिः०' इत्यादि मन्त्र सौभाग्यवर्धक है। **'बृहस्पतिर्नः परि पातु०'** (७/५१/१) इत्यादि मन्त्र का जप मार्ग में मङ्गल करने वाला है। **'मुञ्चामि त्वा०'** (३/११/१)–यह मन्त्र अपमृत्यु का निवारक है। अथर्वशीर्ष का पाठ करने वाला समस्त पापों से मुक्त हो जाता है। यह मैंने आपसे प्रधानतया मन्त्रों के द्वारा साध्य कुछ कर्म बताये हैं। हे भगवान् परशुराम! यज्ञ-सम्बन्धि वृक्षों की समिधाएँ सबसे मुख्य हविष्य हैं। इसके सिवा घृत, धान्य, श्वेत सर्षप, अक्षत, तिल, दधि, दुग्ध, कुश, दूर्वा, बिल्व और कमल–ये सभी द्रव्य शान्तिकारक एवं पुष्टिकारक बताये

शान्तिपुष्टिकराण्याहुर्द्रव्याण्येतानि सर्वशः। तैलं कणानि धर्मज्ञ राजिका रुधिरं विषम्।।२४।।
समिधः कण्टकोपेता अभिचारेषु योजयेत्। आर्षं वै दैवतं छन्दो विनियोगज्ञ आचरेत्।।२५।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते अथर्वविधानं नाम द्विषष्ट्यधिकद्विशततमोऽध्यायः।।२६२।।
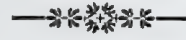
अथ त्रिषष्ट्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

उत्पातशान्तिः

पुष्कर उवाच

श्रीसूक्तं प्रतिवेदं च ज्ञेयं लक्ष्मीविवर्धनम्। हिरण्यवर्णां हरिणीमृचः पञ्चदश श्रियः।।१।।
रथेष्वक्षेषु वाजेति चतस्रो यजुषि श्रियः। स्रावन्तीयं तथा साम श्रीसूक्तं सामवेदके।।२।।
श्रियं धातर्मयि धेहि प्रोक्तमाथर्वणे तथा। श्री सूक्तं यो जपेद्भक्त्या हुत्वा श्रीस्तस्य वै भवेत्।।३।।
पद्मानि चाथ बिल्वानि हुत्वाऽऽज्यं वा तिलान् श्रियः। एकं तु पौरुषं सूक्तं प्रतिवेदं तु सर्वदम्।।४।।
सूक्तेन दद्यान्निष्पापो ह्येकैकया जलाञ्जलिम्। स्नात एकैकया पुण्यं विष्णोर्दत्त्वाऽघहा भवेत्।।५।।

गये हैं। हे धर्मज्ञ तेल, कण, राई, रुधिर, विष एवं कण्टकयुक्त समिधाओं का अभिचार कर्म में प्रयोग करना चाहिये। जो मन्त्रों के ऋषि, देवता, छन्द और विनियोग को जानता है, वही उन-उन मन्त्रों द्वारा कथित कर्मों का अनुष्ठान करना चाहिये।।९-२५।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी दो सौ बासठवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।२६२।।

अध्याय-२६३

उत्पात शान्ति विचार

पुष्करजी ने कहा कि-हे भगवान् परशुराम! प्रत्येक वेद के 'श्रीसूक्त' को समझना चाहिये। वह लक्ष्मी की वृद्धि करने वाला है। **'हिरण्यवर्णां हरिणीं'** इत्यादि पन्द्रह ऋचाएँ ऋग्वेदीय श्रीसूक्त हैं। **'रथे०'** (२९-४३) **'अक्षराजाय०'** (३०/१८) **'वाजः०'** (१८/३४) एवं **'चतस्रः'** (१८/३२)-ये चार मन्त्र यजुर्वेदीय श्रीसूक्त हैं। 'श्रावन्तीय-साम' सामवेदीय श्रीसूक्त है तथा **'श्रियं धातर्मयि धेहि'** यह अथर्ववेद का श्रीसूक्त कहा गया है। जो भक्तिपूर्वक श्रीसूक्त का जप एवं हवन करता है, उसको निश्चय ही लक्ष्मी की प्राप्ति हो जाती है। श्रीदेवी की प्रसन्नता के लिये कमल, बेल, घी अथवा तिल की आहुति देनी चाहिये।।१-३।।

प्रत्येक वेद में एक ही 'पुरुषसूक्त' मिलता है, जो सब कुछ देने वाला है। जो स्नान करके 'पुरुषसूक्त' के एक-एक मन्त्र से भगवान् श्रीहरि विष्णु को एक-एक जलाञ्जलि और एक-एक फूल समर्पित करता है, वह पापहीन होकर दूसरों के भी पाप का विनाश करने वाला हो जाता है। स्नान करके इस सूक्त के एक-एक मन्त्र के साथ भगवान्

स्नात एकैकया दत्त्वा फलं स्यात्सर्वकामभाक्। महापापोपपापान्तो भवेज्जप्त्वा तु पौरुषम्।।६।।
कृच्छ्रैर्विशुद्धो जप्त्वा च हुत्वा स्नात्वाऽथ सर्वभाक्। अष्टादभ्यः शान्तिभ्यस्तिस्रोऽन्याः शान्तयो वराः।।७।।
अमृता चाभया सौम्या सर्वोत्पातविमर्दनाः। अमृता सर्व दैवत्या अभया ब्रह्मदैवता।।८।।
सौम्या च सर्वदेवत्या एका स्यात्सर्वकामदा। अभया या मणिः कार्यो वरुणस्य भृगूत्तमम्।।९।।
शतकाण्डोऽमृतायाश्च सौम्यायाः शङ्खजो मणिः। तद्देवत्यास्तथा मंत्राः सिद्धौ स्यान्मणिबन्धनम्।।१०।।
दिव्यान्तरी (रि) क्षभौमादि समुत्पातार्दना इमाः। दिव्यान्तरी (रि) क्षभौमं तु अद्भुतं त्रिविधं शृणु।।११।।
अहर्क्षवैकृतं दिव्यामान्तरी (रि) क्षं निबोध मे। उल्कापातश्च दिग्दाहः परिवेशस्तथैव च।।१२।।
गन्धर्वनगरं चैव वृष्टिश्च विकृता च या। चरस्थिरभवं भूमौ भूकम्पमपि भूमिजम्।।१३।।
सप्ताहाभ्यन्तरे वृष्टावद्भुतं निष्फलं भवेत्। शान्तिं विना त्रिभिर्वर्षैरद्भुतं भयकृद्भवेत्।।१४।।
देवतार्चाः प्रनृत्यन्ति वेपन्ते प्रज्वलन्ति च। आरटन्ति च रोदन्ति प्रस्विद्यन्ते हसन्ति च।।१५।।
अर्चाविकारोपशमोऽभ्यर्च्य हुत्वा प्रजापतेः। अनग्निर्दीप्यते यत्र राष्ट्रे च भृशनिःस्वनम्।।१६।।
न दीप्यते चेन्धनवांस्तद्राष्ट्रं पीड्यते नृपैः। अग्निवैकृत्यशमनमग्निमंत्रैश्च भार्गव।।१७।।
अकाले फलिता वृक्षाः क्षीरं रक्तं स्रवन्ति च। वृक्षोत्पातप्रशमनं शिवं पूज्य च कारयेत्।।१८।।

श्रीहरि विष्णु को फल समर्पित करके पुरुष सम्पूर्ण कामनाओं का भागी होता है। 'पुरुषसूक्त' के जप से महापातकों और उपपातकों का विनाश हो जाता है। कृच्छ्रव्रत करके शुद्ध हुआ मनुष्य स्नानपूर्वक 'पुरुषसूक्त' का जप एवं हवन करके सब कुछ पा लेता है।।४-६।।

अठारह शान्तियों में समस्त उत्पातों का उपसंहार करने वाली अमृता, अभया और सौम्या-ये तीन शान्तियाँ सर्वोत्तम हैं। 'अमृता शान्ति' सर्वदेवत्या, 'अभया' ब्रह्मदैवत्या एवं 'सौम्या' सर्वदैवत्या है। इनमें से प्रत्येक शान्ति सम्पूर्ण कामनाओं को देने वाली है। भृगुश्रेष्ठ! 'अभया' शान्ति के लिये वरुणवृक्ष के मूलभाग की मणि बनानी चाहिये। 'अमृता' शान्ति के लिये पूर्वामूल की मणि एवं 'सौम्या' शान्ति के लिये शङ्खमणि धारण करना चाहिये। इसके लिये उन-उन शान्तियों के देवताओं से सम्बद्ध मन्त्रों को सिद्ध करके मणि बाँधनी चाहिये। ये शान्तियाँ दिव्य, आन्तरिक्ष एवं भौम उत्पातों का शमन करने वाली हैं। 'दिव्य', 'आन्तरिक्ष' और 'भौम'-यह तीन तरह का अद्भुत उत्पात बतलाया जाता है, सुनो। ग्रहों एवं नक्षत्रों की विकृति से होने वाले उत्पात 'दिव्य' कहलाते हैं। अधुना आन्तरिक्ष' उत्पात का वर्णन सुनो।

उल्कापात, दिग्दाह, परिवेश, सूर्य पर घेरा पड़ना, गन्धर्व नगर का दर्शन एवं विकारयुकत वृष्टि-ये अन्तरिक्ष-सम्बन्धी उत्पात हैं। भूमि पर एवं जंगम प्राणियों से होने वाले उपद्रव तथा भूकम्प-ये 'भौम' उत्पात हैं। इन त्रिविध उत्पातों के दीखने के बाद एक सप्ताह के अन्दर यदि वर्षा हो जाय तो वह 'अद्भुत' निष्फल हो जाता है। यदि तीन वर्ष तक अद्भुत उत्पात की शान्ति नहीं की गयी तो वह लोक के लिये भयकारक होता है। जिस समय देवताओं की प्रतिमाएँ नाचती, काँपती, जलती, शब्द करती, रोती, पसीना बहाती या हँसती हैं, तत्पश्चात् प्रतिमाओं के इस विकार की शान्ति के लिये उनका पूजन एवं प्राजापत्य-हवन करना चाहिये। जिस राष्ट्र में बिना जलाये ही घोर शब्द करती हुई आग जल उठती है और इन्धन डालने पर भी प्रज्वलित नहीं होती, वह राष्ट्र राजाओं के द्वारा पीड़ित होता है।।७-१६।।

हे भृगुनन्दन! अग्नि-सम्बन्धी विकृति की शान्ति के लिये अग्निदैवत्य-मन्त्रों से हवन बतलाया गया है। जिस समय वृक्ष असमय में ही फल देने लगें तथा दूध और रक्त बहावें ते वृक्षजनित भौम-उत्पात होता है। वहाँ शिव का

अतिवृष्टिरनावृष्टिर्दुर्भिक्षायोभयं मतम्। अनृतौ त्रिदिनारब्धवृष्टिर्ज्ञेया भयाय हि॥१९॥
वृष्टिवैकृत्यनाशः स्यात्पर्जन्येन्द्वर्कपूजनात्। नगरादपसर्पन्ते समीपमुपयान्ति च॥२०॥
नद्यो ह्रद प्रस्रवणा विरसाश्च भवन्ति च। सलिलाशयवैकृत्ये जप्तव्यो वारुणो मनुः॥२१॥
अकालप्रसवा नार्यः कालतो वाऽप्रजास्तथा। विकृतप्रसवाच्चैव युग्मप्रसवनादिकम्॥२२॥
स्त्रीणां प्रसववैकृत्ये स्त्रीविप्रादिं प्रपूजयेत्। वडवा हस्तिनी गौर्वा यदि युग्मं प्रसूयते॥२३॥
विजात्यं विकृतं वाऽपि षड्भिर्मासैर्म्रियेत वै। विकृतं वा प्रसूयन्ते परचक्रभयं भवेत्॥२४॥
होमः प्रसूतिवैकृत्ये जपो विप्रादिपूजनम्। यानि यानान्ययुक्तानि युक्तानि न वहन्ति च॥२५॥
आकाशे तूर्यनादाश्च महद्भयमुपस्थितम्। प्रविशन्ति यदा ग्राममारण्या मृगपक्षिणः॥२६॥
अरण्यं यान्ति वा ग्राम्या जलं यान्ति स्थलोद्भवाः। स्थलं वा जलजा यान्ति राजद्वारादिके शिवाः॥२७॥
प्रदोषे कुक्कुटो वासे शिवा चार्कोदये भवेत्। गृहं कपोतः प्रविशेत्क्रव्याद्वा मूर्ध्नि लीयते॥२८॥
मधु वा मक्षिका कुर्यात्काको मैथुनगो दृशि। प्रासादतोरणाद्यानद्वारप्राकारवेश्मनाम्॥२९॥
अनिमित्तं तु पतनं दृढानां राजमृत्यवे। रजसा वाऽथ धूमेन दिशो यत्र समाकुलाः॥३०॥
केतूदयोपरागौ च च्छिद्रता शशिसूर्ययोः। ग्रहर्क्षविकृतिर्यत्र तत्रापि भयमादिशेत्॥३१॥

पूजन करके इस उत्पात की शान्ति कराये। अतिवृष्टि और अनावृष्टि—दोनों ही दुर्भिक्षा का कारण मानी गयी हैं। वर्षा-ऋतु के सिवा अन्य ऋतुओं में तीन दिन तक अनवरत वृष्टि होने पर उसको भयजनक समझना चाहिये। पर्जन्य, चन्द्रमा एवं सूर्य के पूजन से वृद्धि-सम्बन्धी वैकृत्य (उपद्रव)—का विनाश होता है। जिस नगर से नदियाँ दूर हट जाती हैं या अत्यधिक सन्निकट चली आती हैं और जिसके सरोवर एवं झरने सूख जाते हैं, वहाँ जलाशयों के इस विकार को दूर करने के लिये वरुणदेवता-सम्बन्धी मन्त्र का जप करना चाहिये। जहाँ स्त्रियाँ असमय में प्रसव करें, समय पर प्रसव न करें, विकृत गर्भ को जन्म दें या युग्म-संतान आदि उत्पन्न करें, वहाँ स्त्रियों के प्रसव-सम्बन्धी वैकृत्य के निवारणार्थ साध्वी स्त्रियों और ब्राह्मण आदि का पूजन करना चाहिये॥१७-२२॥

जहाँ घोड़ी, हथिनी या गौ एक साथ दो बच्चों को जनती हैं या विकारयुक्त विजातीय संतान को जन्म देती हैं, षड् महीनों के अन्दर प्राणत्याग कर देती हैं अथवा विकृत गर्भ का प्रसव करती हैं, उस राष्ट्र को शत्रुमण्डल से भय होता है। पशुओं के इस प्रसव-सम्बन्धी उत्पात की शान्ति के उद्देश्य से हवन, जप एवं ब्राह्मणों का पूजन करना चाहिये। जिस समय अयोग्य पशु सवारी में आकर जुत जाते हैं। योग्य पशु यान का वहन नहीं करते हैं एवं आकाश में तूर्यनाद होने लगता है, उस समय महान् भय उपस्थित होता है। जिस समय वनपशु एवं पक्षी ग्राम में चले जाते हैं, ग्राम्यपशु वन में चले जाते हैं, स्थलचर जीव जल में प्रवेश करते हैं, जलचर जीव स्थल पर चले जाते हैं, राजद्वार पर गीदड़ियाँ आ जाती हैं, मुर्गे प्रदोषकाल में शब्द करें, सूर्योदय के समय गीदड़ियाँ रुदन करें, कबूतर गृह में घु आवें, मांसभोजी पक्षी सिर पर मँडलाने लगें, सामान्य मक्खी मधु बनाने लगें, कौए सबकी आँखों के सामने मैथुन में प्रवृत्त हो जायँ, दृढ़ प्रासाद, तोरण, उद्यान, द्वार, परकोटा और भवन अकारण ही गिरने लगें, तत्पश्चात् राजा की मृत्यु होती है। जहाँ धूल या धुएँ से दशों दिशाएँ भर जायँ, केतुका उदय, ग्रहण, सूर्य और चन्द्रमा में छिद्र प्रकट होना—ये सब ग्रहों और नक्षत्रों के विकार हैं। ये विकार जहाँ प्रकट होते हैं, वहाँ भय की सूचना देते हैं। जहाँ अग्नि प्रदीप्त न हो,

अग्निर्यत्र न दीप्येत स्रवन्ते चोदकुम्भकाः। मृतिर्भयं शून्यतादि ह्युत्पातानां फलं भवेत्।।
द्विजदेवादिपूजाभ्यः शान्तिर्जप्यैस्तु होमतः।।३२।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते उत्पातशान्तिकथनं नाम त्रिषष्ट्यधिकद्विशततमोऽध्यायः।।२६३।।
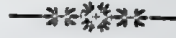
अथ चतुःषष्ट्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

देवपूजावैश्वदेवबलि वर्णनम्

पुष्कर उवाच

देवपूजादिकं कर्म वक्ष्ये चोत्पातमर्दनम्। आपो हि ष्ठेति तिसृभिः स्नातोऽर्घ्यं विष्णवेऽर्पयेत्।।१।।
हिरण्यवर्णामिति च पाद्यं च तिसृभिर्द्विज। शं न आपो ह्याचमनमिदमापोऽभिषेचनम्।।२।।
रथे अक्षे च तिसृभिर्गन्धं युवेति वस्त्रकम्। पुष्पं पुष्पवतीत्येवं धूपं धूरसि वाऽप्यथ।।३।।
तेजोऽसि शुक्रं दीपं स्यान्मधुपर्कं दधीति च। हिरण्यगर्भ इत्यष्टावृचः प्रोक्ता निवेदने।।४।।

जल से भरे हुए अकारण ही चूने लगें तो इन उत्पातों के फल मृत्यु, भय और महामारी आदि होते हैं। ब्राह्मणों और देवताओं की पूजा से तथा जप एवं हवन से इन उत्पातों की शान्ति होती हैं।।२३-३३।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी दो सौ तिरसठवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।२६३।।

अध्याय-२६४

देवपूजा-वैश्वदेव बलि आदि विचार

पुष्करजी ने कहा कि–भगवान् परशुराम! अधुना मैं देवपूजा आदि कर्म का वर्णन करने जा रहा हूँ, जो उत्पातों को शान्त करने वाला है। मनुष्य स्नान करके **'आपो हि ष्ठा०'** (यजु० ३६/१४-१६) आदि तीन मन्त्रों से भगवान् श्रीहरि विष्णु को अर्घ्य समर्पित करना चाहिये। फिर **'हिरणवर्णा०'** (ऋक०प० ११/११/१-३)–आदि तीन मन्त्रों से पाद्य समर्पित करना चाहिये। **'शं नो आपः०'**–इस मन्त्र से आचमन एवं 'इदमापः०' (यजु० ६/१७) मन्त्र से अभिषेक समर्पित करना चाहिये। **'रथे०, अक्षेषु० एवं चतस्त्रः'**–इन तीन मन्त्रों से भगवान् के श्रीअङ्ग में चन्दन का अनुलेपन करना चाहिये। फिर **'युवा सुवासाः०'** (ऋक्० ३/८/४) इत्यादि मन्त्र से पुष्प एवं **'धूरसि०'** (यजु० १/८) आदि मन्त्र से धूप समर्पित करना चाहिये। **'तेजोऽसि शुक्रमसि०'** (यजु० १/३१)–इस मन्त्र से दीप तथा **'दधिक्राव्णो०'** (यजु० २३/३२) मन्त्र से मधुपर्क निवेदन करना चाहिये। हे नरश्रेष्ठ! उसके बाद **'हिरण्यगर्भः०'** आदि आठ ऋचाओं का पाठ करके अन्न एवं सुगन्धित पेय पदार्थ का नैवेद्य समर्पित करना चाहिये। इसके अतिरिक्त भगवान् को चामर, व्यजन, पादुका, छत्र, यान एवं आसन आदि जो कुछ भी समर्पित करना हो, वह सावित्र-मन्त्र

अन्नस्य मनुजश्रेष्ठ पानस्य च सुगन्धिनः। चामरव्यजनोपानच्छत्रं यानासने तथा॥५॥
यत्किञ्चिदेवमादि स्यात्सावित्रेण निवेदयेत्। पौरुषं तु जपेत्सूक्तं तेनैव जुहुयात्तथा॥६॥
अर्चाभावे तथा वेद्यां जले पूर्णघटे तथा। नदीतीरेऽथ कमले शान्तिः स्याद्विष्णुपूजनात्॥७॥
ततो होमः प्रकर्तव्यो दीप्यमाने विभावसौ। परिसंमृज्य पर्युक्ष्य परिस्तीर्य परिस्तरैः॥८॥
सर्वान्नाग्रं समुद्धृत्य जुहुयात्प्रयतस्ततः। वासुदेवाय देवाय प्रभवे चाव्ययाय च॥९॥
अग्नये चैव सोमाय मित्राय वरुणाय च। इन्द्राय च महाभाग इन्द्राग्निभ्यां तथैव च॥१०॥
विश्वेभ्यश्चैव देवेभ्यः प्रजानां पतये नमः। अनुमत्यै तथा राम धन्वन्तरय एव च॥११॥
वास्तोष्पत्यै (तये) ततो देव्यै ततः स्विष्टकृतेऽग्नये। स चतुर्थ्यन्तनाम्ना तु हुत्वै तेभ्यो बलिं हरेत्॥१२॥
तक्षोपतक्षमभितः पूर्वेणाग्निमतः परम्। अश्वानामपि धर्मज्ञ ऊर्णानामानि चाप्यथ॥१३॥
निरुन्धी धूम्रिणीका च अस्वपन्ती तथैव च। मेघपत्नी च नामानि सर्वेषामेव भार्गव॥१४॥
आग्नेयाद्याः क्रमेणाथ ततः शक्तिषु निक्षिपेत्। नन्दिन्यै च सुभाग्यै च सुमङ्गल्यै च भार्गव॥१५॥

से समर्पित करना चाहिये। फिर 'पुरुषसूक्त' का जप करना चाहिये और उसी से आहुति देनी चाहिये। भगवद् विग्रह के अभाव में वेदिकापर स्थित जलपूर्ण कलश में, अथवा नदी के तट पर, अथवा कमल के पुष्प में भगवान् श्रीहरि विष्णु का पूजन करने से उत्पातों की शान्ति होती है॥१-७॥

(काम्य बलिवैश्वदेव-प्रयोग)—भूमिस्थ वेदी का मार्जन एवं प्रोक्षण करके उसके चारों तरफ कुश को बिछावे। फिर उस पर अग्नि को प्रदीप्त करके उसमें हवन करना चाहिये। हे महाभाग भगवान् परशुराम! मन और इन्द्रियों का संयम में रखते हुए सब प्राकार की रसोई में से अग्राशन निकालकर गृहस्थ द्विज क्रमशः वासुदेव आदि के लिये आहुतियाँ देनी चाहिये। मन्त्रवाक्य इस तरह हैं—'**प्रभवे अव्ययाय देवाय वासुदेवाय नमः स्वाहा। अग्नये नमः स्वाहा। सोमाय नमः स्वाहा। मित्राय नमः स्वाहा। वरुणाय नमः स्वाहा। इन्द्रय नमः स्वाहा। इन्द्राग्नीभ्यां नमः स्वाहा। विश्वेभ्यो देवेभ्यो नमः स्वाहा। प्रजापतये नमः स्वाहा। अनुमत्यै नमः स्वाहा। धन्वन्तरये नमः स्वाहा। वास्तोष्पतये नमः स्वाहा। देव्यै नमः स्वाहा। एवं अग्नये स्विष्टकृते नमः स्वाहा।**' इन देवताओं को उनका चतुर्थ्यन्त नाम लेकर एक-एक ग्रास अन्न की आहुति देनी चाहिये। तत्पश्चात् निम्नांकित विधि से बलि समर्पित करना चाहिये॥८-१२॥

हे धर्मज्ञ! पहले अग्निदिशा से प्रारम्भ करके तक्षा, उपतक्षा, अश्वा, ऊर्णा, निरुन्धी, धूम्रिणीका, अस्वपन्ती तथा मेघपत्नी—इनको बलि अर्पित करना चाहिये। हे भृगुनन्दन! ये ही समस्त बलिभागिनी देवियों के नाम हैं। क्रमशः आग्नेय आदि दिशाओं से प्रारम्भ करके इनको बलि देना चाहिये। (बलि-समर्पण के वाक्य इस तरह हैं—**तक्षायै नमः आग्नेय्याम्, उपतक्षायै नमः याम्ये, अश्वाभ्यो नमः नैर्ऋत्ये, ऊर्णाभ्यो नमः वारुण्ययाम्, निरुन्ध्यै नमः वायव्ये, धूम्रिणीकायै नमः उदीच्याम्, अस्वपन्त्यै नमः ऐशान्याम्, मेघपत्न्यै नमः प्राच्याम्।**) हे भार्गवः! उसके बाद नन्दिनी आदि शक्तिों को बलि अर्पित करना चाहिये। तथा—**नन्दिन्यै नमः, सुभगाये नमः** (अथवा **सौभाग्यायै मनः**), **सुमङ्गल्यै नमः, भद्रकाल्यै नमः**। इन चारों के लिये पूर्वादि चारों दिशाओं में बलि देकर किसी खम्भे या खँटे पर लक्ष्मी आदि के लिये बलि देना चाहिये। यथा—**श्रियै नमः, हिरण्यकेश्यै नमः** तथा **वनस्पतये नमः**। द्वारपर दक्षिण भाग में '**धर्ममयाय नमः**', वामभाग में '**अधर्मयाय नमः**', गृह के अन्दर '**ध्रुवाय नमः**' गृह

भद्रकाल्यै ततो दत्त्वा स्थूणायां च तथा श्रिये। हिरण्यकेश्यै च तथा वनस्पतय एव च॥१६॥
धर्माधर्ममयौ द्वारे गृहमध्ये ध्रुवाय च। मृत्यवे च बहिर्दद्याद्वरुणायोदकाशये॥१७॥
भूतेभ्यश्च बहिर्दद्याच्चरणे धनदाय च। इन्द्रायेन्द्रपुरुषेभ्यो दद्यात्पूर्वेण मानवः॥१८॥
यमाय तत्पुरुषेभ्यो दद्याद्दक्षिणतस्तथा। वरुणाय तत्पुरुषेभ्यो दद्यात्पश्चिमतस्तथा॥१९॥
सोमाय सोम पुरुषेभ्य उदग्दद्यादनन्तरम्। ब्रह्मणे ब्रह्म पुरुषेभ्यो मध्ये दद्यात्तथैव च॥२०॥
आकाशे च तथा चोर्ध्वे स्थण्डिलाय क्षितौ तथा। दिवा दिवाचरेभ्यश्च रात्रौ रात्रिचरेषु च॥२१॥
बलिं बहिस्तथा दद्यात्सायं प्रातस्तु प्रत्यहम्। पिण्डनिर्वपणं कुर्यात्ततः सायं न कारयेत्॥२२॥
पित्रे तु प्रथमं दद्यात्तत्पित्रे तदनन्तरम्। प्रपितामहाय तन्मात्रे पित्रमात्रे ततोऽर्पयेत्॥२३॥
तन्मात्रे दक्षिणाग्रेषु कुशेष्वेवं यजेत्पितॄन्। इन्द्रवारुणावायव्या याम्या वा नैर्ऋताश्च ये॥२४॥
ते काकाः प्रतिगृह्णन्तु इमं पिण्डं मयोद्धृतम्। काकपिण्डं तु मंत्रेण शुनः पिण्डं प्रदापयेत्॥२५॥
विवस्वतः कुले जातौ द्वौ श्यामशबलौ शुनौ। तेषां पिण्डं प्रदास्यामि पथि रक्षतु मे सदा॥२६॥

के बाहर 'मृत्यवे नमः' तथा जलाशय में '**वरुणाय नमः**'—इस मन्त्र से बलि अर्पित करना चाहिये। फिर गृह के बाहर 'भूतेभ्यो नमः'—इस मन्त्र से भूतवलि देना चाहिये। गृह के अन्दर '**धनदाय नमः**' कहकर कुबेर को बलि देना चाहिये। इसके बाद मनुष्य गृह से पूर्वदिशा में '**इन्द्रय नमः, इन्द्रपुरुषेभ्यो नमः**'—इस मन्त्र से इन्द्र और इन्द्र के पार्षदपुरुषों को बलि अर्पित करना चाहिये। तत्पश्चात् दक्षिण में '**यमाय नमः, यमपुरुषेभ्यो नमः**'—इस मन्त्र से, **वरुणाय नमः, वरुणपुरुषेभ्यो नमः**'—इस मन्त्र से पश्चिम में, '**सोमाय नमः, सोमपुरुषेभ्यो नमः**—इस मन्त्र से उत्तर में '**ब्रह्मणे वास्तोष्पतये नमः, ब्रह्मपुरुषेभ्यो नमः**'—इस मन्त्र से गृह के मध्यभाग में बलि देना चाहिये।

'**विश्वेभ्यो देवेभ्यो नमः**'—इस मन्त्र से गृह के आकाश में ऊपर की तरफ बलि अर्पित करना चाहिये। '**स्थण्डिलाय नमः**'—इस मन्त्र से पृथ्वी पर बलि देना चाहिये। तत्पश्चात् '**दिवाचारिभ्यो भूतेभ्यो नमः**'—इस मन्त्र से दिन में बलि दे तथा '**रात्रिचारिभ्यो भूतेभ्यो नमः**'—इस मन्त्र से रात्रि में बलि अर्पित करना चाहिये। गृह के बाहर जो बलि दी जाती है, उसको प्रतिदिन सायंकाल और प्रातःकाल देते रहना चाहिये। यदि दिन में श्राद्ध-सम्बन्धी पिण्डदान किया जाय तो उस दिन सायंकाल में बलि नहीं देनी चाहिये॥१३-२२॥

पितृ-श्राद्ध में दक्षिणाग्र कुशों पर पहले पिता को, फिर पितामह को और तत्पश्चात् प्रपितामह को पिण्ड देना चाहिये। इसी तरह पहले माता को, फिर पितामह को, फिर प्रपितामही को पिण्ड अथवा जल देना चाहिये। इस तरह 'पितृयाग' करना चाहिये॥२३॥

बने हुए पाक में से बलिवैश्वदेव करने के बाद पाँच बलियाँ दी जाती हैं। उनमें सर्वप्रथम 'गो-बलि' है; परन्तु यहाँ पहले 'काकबलि' का विधान किया गया है—**काकबलि**—'जो इन्द्र, वरुण वायु, यम एवं निर्ऋति देवता की दिशा में रहते हैं, वे काक मेरे द्वारा प्रदत्त यह पिण्ड ग्रहण करें। इस मन्त्र से काकबलि देकर निम्नांकित मन्त्र से कुत्तों के लिये अन्न का ग्रास देना चाहिये।२४-२५॥

कुक्कुर-बलि—'श्याम और शबल (काले और चितकबरे) रंग वाले दो श्वान विवस्वान् के वंश में उत्पन्न हुए हैं। मैं उन दोनों के लिये पिण्ड सम्प्रदान करने जा रहा हूँ। वे लोक-परलोक के मार्ग में सदा मेरी रक्षा करें॥२६॥

सौरभेय्यः सर्वहिताः पवित्राः पापनाशनाः। प्रतिगृह्णन्तु मे ग्रासं गावस्त्रैलोक्यमातरः।।२७।।
गोग्रासं च स्वस्त्ययनं कृत्वा भिक्षां प्रदापयेत्। अतिथीन्दीनान्पूजयित्वा गृही भुञ्जीत च स्वयम्
ॐ भूः स्वाहा, ॐ भुवः स्वाहा, ॐ स्वः स्वाहा, ॐ भूर्भुवः स्वः स्वाहा।
ॐ देवकृतस्यैनसोऽवयजनमसि स्वाहा। ॐ पितृकृतस्यैनसोऽवयजनमसि स्वाहा।
ॐ आत्मकृतस्यैनसोऽवयजनमसि स्वाहा।।
ॐ मनुष्यकृतस्यैनसोऽवयजनमसि स्वाहा। ॐ एनस एनसोऽवयजनमसि स्वाहा।
यच्चाहमेनो विद्वांश्चकार यच्चाविद्वांस्तस्य सर्वस्यैनसोऽवयजनमसि स्वाहा।
अग्नये स्विष्टकृते स्वाहा। ॐ प्रजापतये स्वाहा।।२८।।
विष्णुपूजावैश्वदेवबलिस्तेकीर्तितो मया।।२९।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते देवपूजावैश्वदेवबलिकथनं नाम चतुःषष्ट्यधिकद्विशततमोऽध्यायः।।२६४।।

—❋❋❋—
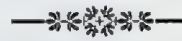
गो-ग्रास–'त्रैलोक्यजननी, सुरभिपुत्री गौएँ सभी का हित करने वाली, पवित्र एवं पापों का विनाश करने वाली हैं। वे मेरे द्वारा दिये हुए ग्रास को ग्रहण करें। इस मन्त्र से गो-ग्रास देकर स्वस्त्ययन करना चाहिये। फिर याचकों को भिक्षा दिलावे। उसके बाद दीन प्राणियों एवं अतिथियों का अन्न से सत्कार करके गृहस्थ स्वयं भोजन करना चाहिये।।२७-२८।।

अनाहिताग्नि पुरुष निम्नलिखित मन्त्रों से जल में अन्न की आहुतियाँ दे–**ॐ भूः स्वाहा। ॐ भुवः स्वाहा। ॐ स्वः स्वाहा। ॐ भूर्भुवः स्वः स्वाहा। ॐ देवकृतस्यैनसोऽवयजनमसि स्वाहा। ॐ पितृकृतस्यैनसोऽवयजनमसि स्वाहा। ॐ आत्मकृतस्यैनसोऽवयजनमसि स्वाहा। ॐ मनुष्यकृतस्यैनसोऽवयजनमसि स्वाहा। ॐ एनस एनसोऽवयजनमसि स्वाहा। यच्चाहमेनो विद्वांश्चकार यच्चाविद्वांस्तस्य सर्वस्यैनसोऽवयजनमसि स्वाहा। अग्नये स्विष्टकृते स्वाहा। ॐ प्रजापतये स्वाहा।** यह मैंने आपसे विष्णुपूजन एवं बलिवैश्वदेव का वर्णन किया।।२९।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी दो सौ चौंसठवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।२६४।।

❖❖❖

अथ पञ्चषष्ट्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

दिक्पालादिस्नानम्

अग्निरुवाच

सर्वार्थसाधनं स्नानं वक्ष्ये शान्तिकरं शृणु। स्नापयेच्च सरित्तीरे ग्रहान्विष्णुं विचक्षणः।।१।।
देवालये ज्वरार्त्यादौ विनायकग्रहार्दिते। विद्यार्थिनो ह्रदे गेहे जयकामस्य तीर्थके।।२।।
पद्मिन्यां स्नापयेन्नारीं गर्भो यस्याः स्रवेत्तथा। अशोकसंनिधौ स्मायाज्जातो यस्या विनश्यति।।३।।
पुष्पार्थिन्याञ्च पुष्पाढ्ये पुत्रार्थिन्याञ्च सागरे। गृहे सौभाग्यकामानां सर्वेषां विष्णुसंनिधौ।।४।।
वैष्णवे रेवतीपुष्ये सर्वेषां स्नानमुत्तमम्। स्नानकामस्य सप्ताहं पूर्वमुत्सादनं स्मृतम्।।५।।
पुनर्नवां रोचनां च शताङ्गा गुरुणा त्वचम्। मधूकं रजनी द्वे च तगरं नागकेशरम्।।६।।
अम्बरीं चैव मञ्जिष्ठां मांसीयासककर्दमैः। प्रियङ्गुसर्षपं कुष्ठं बलां ब्राह्मीं च कुङ्कुमम्।।७।।
पञ्चगव्यं सक्तुमिश्रमुद्वर्त्य स्नानमाचरेत्। मण्डले कर्णिकायां च विष्णुं ब्रह्माणमर्चयेत्।।८।।
दक्षे वामे हरं पूर्वं पत्रे पूर्वादिके क्रमात्। लिखेदिन्द्रादिकान्देवान्सायुधान्सहबान्धवान्।।९।।

अध्याय-२६५

दिक्पाल आदि स्नान विचार

पुष्करजी ने कहा कि—हे भगवान् परशुराम! अधुना मैं सम्पूर्ण अर्थों को सिद्ध करने वाले शान्तिकारक स्नान कार वर्णन करने जा रहा हूँ, सुनो। बुद्धिमान् पुरुष नदीतट पर भगवान् श्रीहरि विष्णु एवं ग्रहों को स्नान कराये। ज्वरजनित पीड़ा आदि में तथा विघ्नराज एवं ग्रहों के कष्ट से पीड़ित होने पर उस पीड़ा से छूटने वाले पुरुष को देवालय में स्नान करना चाहिये। विद्या प्राप्ति की अभिलाषा रखने वाले छात्र को किसी जलाशय अथवा गृह में ही स्नान करना चाहिये। तथा विजय की कामना वाले पुरुष के लिये तीर्थजल में स्नान करना उचित है। जिस नारी का गर्भ स्खलित हो जाता हो, उसको पुष्करिणी में स्नान कराये। जिस स्त्री के नवजात शिशु की जन्म लेते ही मृत्यु हो जाती हो, वह अशोकवृक्ष के सन्निकट स्नान करना चाहिये। रजोदर्शन की कामना करने वाली स्त्री पुष्पों से शोभायमान उद्यान में और पुत्राभिलाषिणी समुद्र में स्नान करना चाहिये। सौभाग्य की कामना वाली स्त्रियों को गृह में स्नान करना चाहिये। परन्तु जो सब कुछ चाहते हों, एसे सभी स्त्री-पुरुषों को भगवान् श्रीहरि विष्णु के अर्चनाविग्रहों के सन्निकट स्नान करना श्रेष्ठतम है। श्रवण, रेवती एवं पुष्य नक्षत्रों में सभी से लिये स्नान करना प्रशस्त है।।१-४।।

काम्यस्नान करने वाले मनुष्य के लिये एक सप्ताह पूर्व से ही उबटन लगाने का विधान है। पुनर्नवा (गदहपूर्णा), रोचना, सताङ्ग (तिनिश) एवं अगरु वृक्ष की छाल, मधूक (महुआ), दो तरह की हल्दी (सोंठहल्दी और दारुहल्दी) तगर, नागकेसर, अम्बरी, मञ्जिष्ठा (मजीठ), जटामाँसी, यासक, कर्दम (दक्ष-कर्दम) प्रियंगु, सर्षप, कुष्ठ (कूट) बला, ब्राह्मी, कुङ्कुम एवं सक्तुमिश्रित पञ्चगव्य-इन सभी का उबटन करके स्नान करना चाहिये।।५-७।।

तत्पश्चात् ताम्रपत्र पर अष्टदल पद्म-मण्डल का निर्माण करके पहले उसकी कर्णिका (के मध्य भाग) में भगवान् श्रीहरि विष्णु का उनके दक्षिण भाग में ब्रह्मा का तथा वामभाग में शिव का अङ्कन और पूजन करना चाहिये।

स्नानमण्डलकान्दिक्षु कुर्य्याच्चैव विदिक्षु च। विष्णुब्रह्मेशशक्रादींस्तदस्त्राण्यर्च्य होमयम्।।१०।।
एकैकस्य त्वष्टशतं समिधस्तु तिलान्घृतम्। भद्रः सुभद्रः सिद्धार्थः कलशाः पुष्टिवर्धनाः।।११।।
अमोघश्चित्रभानुश्च पर्जन्योऽथ सुदर्शनः। स्थापयेत्तु घटानेतान्साश्विरुद्रमरुद्गणाः।।१२।।
विश्वे देवास्तथा दैत्या वसवो मुनयस्तथा। आवेशयन्तु सुप्रीतास्तथाऽन्या अपि देवताः।।१३।।
ओषधीर्निक्षिपेत्कुम्भे जयन्तीं विजयां जयाम्। शतावरीं शतपुष्पां विष्णुक्रान्ता पराजिताम्।।१४।।
ज्योतिष्मतीमतिबलां चन्दनोशीरकेशरम्। कस्तूरिकां च कर्पूरं बालकं पत्रकं त्वचम्।।१५।।
जातीफलं लवङ्गं च मृत्तिकां पञ्चगव्यकम्। भद्रपीठे स्थितं साध्यं स्नानयेयुर्द्विजा बलात्।।१६।।
राजाभिषेकमंत्रोक्तदेवानां होमकाः पृथक्। पूर्णाहुतिं ततो दत्वा गुरवे दक्षिणां ददेत्।।१७।।
इन्द्रोऽभिषिक्तो गुरुणा पुरा दैत्याञ्जघान ह। दिक्पालस्नानं कथितं सङ्ग्रामादौ जयादिदम्।।१८।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गति दिक्पालस्नानविधिकथनं नाम पञ्चषष्ट्यधिकद्विशततमोऽध्यायः।।२६५।।

फिर पूर्व आदि दिशाओं के दलों में क्रमशः इन्द्र आदि दिक्पालों को आयुधों के दलों में क्रमशः इन्द्र आदि दिक्पालों को आयुधों एवं बन्धु-बान्धवों सहित अङ्कित करना चाहिये। उसके बाद पूर्वादि दिशाओं और अग्नि आदि कोणों में भी आठ स्नान-मण्डलों का निर्माण करना चाहिये। उन मण्डलों में विष्णु, ब्रह्मा, शिव एवं इन्द्र आदि देवताओं का उनके आयुधों सहित पूजन करके उनके उद्देश्य से हवन करना चाहिये।

प्रत्येक देवता के निमित्त समिधाओं, तिलों या घृतों की १०८ (एक सौ आठ) आहुतियाँ देनी चाहिये। फिर भद्र, सुभद्र, सिद्धार्थ, पुष्टिवर्धन, अमोघ, चित्रभानु, पर्जन्य एवं सुदर्शन-इन आठ कलशों की स्थापना करनी चाहिये और उनके ीीतर अश्विनी कुमार रुद्र, मरुद्गण, विश्वेदेव, दैत्य, वसुगण तथा मुनिजनों एवं अन्य देवताओं का आवाहन करना चाहिये। उनसे याचना करनी चाहिये कि 'आप सब लोग प्रसन्नतापूर्वक इन कलशों में आविष्ट हो जायँ। इसके बाद उन कलशों में जयन्ती, विजया, जया, शतावरी, शतपुष्पा, विष्णुक्रान्ता नाम से प्रसिद्ध अपराजिता, ज्योतिष्मती, अतिबला, उशीर, चन्दन, केसर, कस्तूरी, कपूर, वालक, पत्रक (पत्ते) त्वचा (छाल), जायफल, लवंग आदि औषधियां तथा मृत्तिका और पंचगव्य डालना चाहिये। तत्पश्चात् ब्राह्मण साध्य मनुष्य को भद्रपीठ पर बैठाकर इन कलशों के जल से बलपूर्वक स्नान करायें। राज्याभिषेक के मन्त्रों में कथित देवताओं के उद्देश्य से पृथक्-पृथक् हवन करना चाहिये।

तत्पश्चात् पूर्णाहुति देकर आचार्य को दक्षिणा देनी चाहिये। पूर्वकाल में देवगुरु बृहस्पति ने इन्द्र का इसी तरह अभिषेक किया था, जिससे वे दैत्यों का वध करने में सक्षम हो सके। यह मैंने संग्राम आदि में विजय आदि सम्प्रदान करने वाला 'दिक्पालस्नान' कहा है।।८-१८।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी दो सौ पैंसठवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।२६५।।

❖❖❖

अथ षट्षष्ट्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

विनायकस्नानम्

पुष्कर उवाच

विनायकोपसृष्टानां स्नानं सर्वकरं वदे। विनायकः कर्म (र्मा) विघ्नसिद्ध्यर्थं विनियोजितः॥१॥
गणानामाधिपत्ये च केशवेशपितामहैः। स्वप्नेऽवगाहतेऽत्यर्थं जलं मुण्डांश्च पश्यति॥२॥
विनायकोपसृष्टांस्तु क्रव्यादानधिरोहति। व्रजमानस्तथाऽऽत्मानं मन्यतेऽनुगतं परैः॥३॥
विमना विफलारम्भः संसीदत्यनिमित्ततः। कन्या वरं न चाऽऽप्नोति च चापत्यं वराङ्गना॥४॥
आचार्यत्वं श्रोत्रियश्च न शिष्योऽध्ययनं लभेत्। धनी न लाभमाप्नोति न कृषिं च कृषीबलः॥५॥
राजा राज्यं न चाऽऽप्नोति स्नपनं तस्य कारयेत्। हस्तपुष्याश्वयुक्सौम्ये वैष्णवे भद्रपीठके॥६॥
गौरसर्षपकल्केन साज्येनोत्सादितस्य च। सर्वौषधैः सर्भगन्धैः प्रलिप्तशिरसस्तथा॥७॥
चतुर्भिः कलशैः स्नानं तेषु सर्वौषधीः क्षिपेत्। अश्वस्थानाद्गजस्तानाद्वल्मीकात्संगमाद्ध्रदात्॥८॥
मृत्तिकां रोचनां गन्धं गुग्गुलं तेषु निक्षिपेत्। सहस्राक्षं शतधारमृषिभिः पावनं कृतम्॥९॥

अध्याय-२६६

विनायक स्नान विचार

पुष्करजी ने कहा कि–हे भगवान् परशुराम! जो मनुष्य विघ्नराज विनायक द्वारा पीड़ित हैं, उनके लिये सर्व-मनेप्सित-साधक स्नान की विधि का वर्णन करने जा रहा हूँ। कर्म में विघ्न और उसकी सिद्धि के लिये विष्णु, शिव और ब्रह्मा जी ने विनायक को पुष्पदन्त आदि गणों के अधिपति पद पर प्रतिष्ठित किया है। विघ्नराज विनायक के द्वारा जो ग्रस्त है, उस पुरुष के लक्षण सुनो। वह स्वप्न में बहुत अधिक स्नान करता है और वह भी गहरे जल में। उस अवस्था में वह यह भी देखता है कि पानी का स्रोत मुझको बहाये लिये जाता है, अथवा मैं डूब रहा हूँ। वह मूँड मुँड़ाये (और गेरुआँ वस्त्र धारण करने वाले) मनुष्यों को भी देखता है। कच्चे मांस खाने वाले गीधों एवं व्याघ्र आदि पशुओं की पीठ पर भी चढ़ता है। चाण्डालों, गदहों और ऊँटों के साथ एक स्थान पर बैठता है। जाग्रत् अवस्था में भी जिस समय वह कहीं जाता है तो उसको अनुभव होता है कि शत्रु मेरा पीछा कर रहे हैं। उसका चित्त विक्षिप्त रहता है। उसके द्वारा किये हुए प्रत्येक कार्य का प्रारम्भ निष्फल होता है। वह अकारण ही खिन्न रहता है। विघ्नराज की सतायी हुई कुमारी कन्या को जल्दी वर ही नहीं मिलता है और विवाहिता स्त्री भी सन्तान नहीं पाती। श्रोत्रिय को आचार्य पद नहीं मिलता। शिष्य अध्ययन नहीं कर पाता। वैश्य को व्यापार में और किसान को खेती में लाभ नहीं होता है। राजा का पुत्र भी राज्य को हस्तगत नहीं कर पाता है। ऐसे पुरुष को (किसी पवित्र दिन एवं शुभ मुहूर्त में) विधिपूर्वक स्नान कराना चाहिये। हस्त, पुष्य, अश्विनी, मृगशिरा तथा श्रवण नक्षत्र में किसी भद्रपीठ पर स्वस्तिवाचन पूर्वक बिठाकर उसको स्नान कराने का विधान है। पीली सरसों पीसकर उसको घी से ढीला करके उबटन बनाये और उसको उस मनुष्य के सम्पूर्ण शरीर में मले। फिर उसके मस्तक पर सर्वौषधि सहित सभी तरह के सुगन्धित द्रव्य का लेप करना चाहिये। चार कलशों के जल से उनमें सर्वौषधि छोड़कर स्नान कराये। अश्वशाला, गजशाला, वल्मीक

तेन त्वामभिषिञ्चामि पावमान्यः पुनन्तु ते। भगं ते वरुणो राजा भगं सूर्यो बृहस्पतिः॥१०॥
भगमिन्द्रश्च वायुश्च भगं सप्तर्षयो ददुः। यत्ते केशेषु दौर्भाग्यं सीमन्ते यच्च मूर्धनि॥११॥
ललाटे कर्णयोरक्ष्णोरापस्तद्घ्नन्तु सर्वदा। दर्भपिञ्जलिमादाय वामहस्ते ततो गुरुः॥१२॥
स्नातस्य सार्षपं तैलं स्रुवेणौदुम्बरेण च। जुहुयान्मूर्धनि कुशान्सव्येन परिगृह्य च॥१३॥
मितश्च संमितश्चैव तथा शालकं कण्टकौ। कूष्माण्डीं राजपुत्रश्च एतैः स्वाहा समन्वितैः॥१४॥
नामभिर्बलिमंत्रैश्च नमस्कारसमन्वितैः। दद्याच्चतुष्पथे शूर्पे कुशानास्तीर्य सर्वतः॥१५॥
कृताकृतांस्तण्डुलांश्च पललौदनमेव च। मत्स्यान्पङ्कांस्तथैवाऽऽमान्पुष्पं चित्रं सुरां त्रिधा॥१६॥
मूलकं पूरिकापूपांस्तथैवैण्डविकास्रजः। दध्यन्नं पायसं पिष्टं मोदकं गुडमर्पयेत्॥१७॥

(बाँबी), नदी-संगम तथा जलाशय से लायी गयी पाँच तरह की मिट्टी, गोरोचन, गन्ध (चन्दन, कुङ्कुम, अगरु आदि) और गुग्गुल–ये सब वस्तुएँ भी उन कलशों के जल में छोड़े। आचार्य को पूर्व दिशावर्ती कलश को लेकर निम्नांकित मन्त्र से यजमान का अभिषेक करना चाहिये–**सहस्राक्षं शतधारमृषिभिः पावनं कृतम्।। तेन त्वामभिषिञ्चामि पावमान्यः पुनन्तु ते।** 'जो सहस्रों नेत्रों (अनेक तरह की शक्तियों) से युक्त हैं, जिसकी सैकड़ों धाराएँ (बहुत से प्रवाह) हैं और जिसे महर्षियों ने पावन बनाया है, उस पवित्र जल से मैं विनायकजनित उपद्रव से ग्रस्त आपका कथित उपद्रव की शान्ति के लिये अभिषेक करने जा रहा हूँ। यह पावन जल आपको पवित्र करना चाहिये'॥१-९॥

तत्पश्चात् दक्षिण दिशा में स्थित द्वितीय कलश लेकर नीचे लिखे मन्त्र को पढ़ते हुए अभिषेक करना चाहिये–**भगं ते वुरणो राजा भगं सूर्यो बृहस्पतिः। भगमिन्द्रश्च वायुश्च भगं सप्तर्षयो ददुः।।** 'राजा वरुण, सूर्य, बृहस्पति, इन्द्र, वायु तथा सप्तर्षिगण ने आपको कल्याण सम्प्रदान किया है'॥१०॥

फिर तीसरा पश्चिम कलश लेकर निम्नांकित मन्त्र से अभिषेक करना चाहिये–**यत्ते केशेषु दौर्भाग्यं सीमन्ते यच्च मूर्धनि।। ललाटे कर्णयोरक्ष्णोरापस्तद्घ्नन्तु सर्वदा।** 'तुम्हारे केशों में, सीमन्त में, मस्तक पर, ललाट में, कानों में और नेत्रों में भी जो दुर्भाग्य या अकल्याण है, उसको जल देवता सदा के लिये शान्त करें॥११॥

तत्पश्चात् चौथा कलश लेकर उपरोक्त तीनों मन्त्र पढ़कर अभिषेक करना चाहिये। इस तरह स्नान करने वाले यजमान के मस्तक पर बायें हाथ में लिये हुए कुशों को रखकर आचार्य को उस पर गूलर की स्रुवा से सरसों का तेल उठाकर डालना चाहिये॥१२-१३॥

उस समय निम्नांकित मन्त्र पढ़े–'**ॐ मिताय स्वाहा। ॐ सम्मिताय स्वाहा। ॐ शालाय स्वाहा। ॐ कण्टकाय स्वाहा। ॐ कूष्माण्डाय स्वाहा। ॐ राजपुत्राय स्वाहा।**' इस तरह स्वाहासमन्वित इन मितादि नामों के द्वारा सरसों के तैल की मस्तक पर आहुति देनी चाहिये। मस्तक पर तैल डालनाही हवन है॥१४-१५॥

मस्तक पर कथित हवन के पश्चात् लौकिक अग्नि में भी स्थाली पाक की विधि से चरु तैयार करके कथित षड् मन्त्रों से ही उसी अग्नि में हवन करना चाहिये। फिर होमशेष चरुद्वारा **नमः** पदयुक्त इन्द्रादि नामों को बलि-मन्त्र बनाकर उनके उच्चारणपूर्वक उनको बलि अर्पित करना चाहिये। तत्पश्चात् सूप में सभी तरफ कुश बिछाकर, उसमें कच्चे-पके चावल, पीसे हुए तिल से मिश्रित भात तथा भाँति-भाँति के पुष्प तीन तरह की (गौडी, माधवी तथा पैष्टी) सुरा, मूली, पूरी, मालपूआ, पीठे की मालाएँ, दही-मिश्रित अन्न, खीर, मीठा, लड्डू और गुड़–इन सभी को एकत्र रखकर

विनायकस्य जननीमुपतिष्ठेत्ततोऽम्बिकाम्। दूर्वासर्षपपुष्पाणां दत्त्वाऽर्घ्यं (र्घ्य) पूर्णमञ्जलिम्।।१८।।
रूपं देहि यशो देहि सौभाग्यं सुभगे मम। पुत्रं देहि धनं देहि सर्वान्कामांश्च देहि मे।।१९।।
भोजयेद्ब्रह्मणान्दद्याद्वस्त्रयुग्मं गुरोरपि। विनायकं ग्रहान्प्राच्र्य श्रितं कर्मफलं लभेत्।।२०।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते विनायकस्नानकथनं नाम षट्षष्ट्यधिकद्विशततमोऽध्यायः।।२६६।।

चौराहे पर रख दे और उसको देवता, सुपर्ण, सर्प, ग्रह, असुर, यातुधान, पिशाच, नागमाता, शाकिनी, यक्ष, वेताल, योगिनी और पूतना आदि को अर्पित करना चाहिये। तत्पश्चात् विनायकजननी भगवती अम्बिका को दूर्वादल, सर्षप एवं पुष्पों से भरी हुई अर्घ्यरूप अञ्जलि देकर निम्नांकित मन्त्र से उनका उपस्थान करना चाहिये—'हे सौभाग्यवती अम्बिके! मुझको रूप, यश, सौभाग्य, पुत्र एवं धन दीजिये। मेरी सम्पूर्ण कामनाओं को पूर्ण कीजिये। इसके बाद ब्राह्मणों को भोजन कराये तथा आचार्य को दो वस्त्र दान करना चाहिये। इस तरह विनायक और ग्रहों का पूजन करके मनुष्य धन और सभी कार्यों में सफलता प्राप्त करता है।।१६-२०।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी दो सौ छाछठवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।२६६।।

❖❖❖

अथ सप्तषष्ट्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

माहेश्वरस्नानलक्षकोटिहोमादयः

पुष्कर उवाच

स्नानं माहेश्वरं वक्ष्ये राजदेर्जयवर्धनम्। दानवेन्द्राय बलये यज्जगादोशनाः पुरा।
भास्करेऽनुदिते पीठे प्रातः संस्नापयेद्घटैः।।१।।

ॐ नमो भगवते रुद्राय च बलाय च। पाण्डरोचितभस्मानुलिप्तगात्राय (तद्यथा) जय जय सर्वाञ्शत्रून्मूकय कलहविग्रहविवादेषु भञ्जय भञ्जय। ॐ मथ मथ सर्वप्रत्यर्थिकान्योऽसौ युगान्तकाले दिधक्षति। इमां पूजां रौद्रमूर्तिः सहस्रांशुःशुक्लः स ते रक्षतु जीवितम्।।२।।
संवर्तकाग्नितुल्यश्च त्रिपुरान्तकरः शिवः।।३।।

सर्वदेवमयः सोऽपि तव रक्षतु जीवितं। लिखि लिखि खिलि स्वाहा।।४।।
एवं स्नातस्तु मंत्रेण जुहुयात्तिलतण्डुलम्। पञ्चामृतैस्तु संस्नाप्य पूयजेच्छूलपाणिनम्।।५।।
स्नानान्यन्यानि वक्ष्यामि सर्वदा विजयाय ते। स्नानं घृतेन कथितमायुषो वर्धनं परम्।।६।।
गोमयेन च लक्ष्मीः स्याद्गोमूत्रेणाघमर्दनम्। क्षीरेण बलवृद्धिः स्याद्दध्ना लक्ष्मीविवर्धनम्।।७।।

अध्याय–२६७

माहेश्वर-स्नान लक्ष-होमादि विचार

पुष्करजी ने कहा कि–अधुना मैं राजा आदि की विजयश्री को बढ़ाने वाले 'माहेश्वर-स्नान' का वर्णन करने जा रहा हूँ, जिसका प्राचीन काल में शुक्राचार्य ने दानवेन्द्र बलि को उपदेश किया था। प्रातःकाल सूर्योदय के पूर्व भद्रपीठ पर आचार्य जलपूर्ण कलशों से राजा को स्नान कराये।।१।।

स्नान के समय निम्नांकित मन्त्र का पाठ करना चाहिये–'**ॐ नमो भगवते रुद्राय च बलाय च पाण्डरोचितभस्मानुलिप्तगात्राय** (तद्यथा) **जय-जय सर्वान् शत्रून् मूकयस्व कलहविग्रहविवादेषु भञ्जय भञ्जय। ॐ मथ मथ। सर्वप्रत्यर्थिकान् योऽसौ युगान्तकाले दिधक्षति। इमां पूजां रौद्रमूर्तिः सहस्रांशुः शुक्लः स ते रक्षतु जीवितम्। संवर्तकाग्नितुल्यश्च त्रिपुरान्तकरः शिवः। सर्वदेवमयः सोऽपि तव रक्षतु जीवितम्।। लिखि लिखि खिलि स्वाहा।**"धवल भस्म का अनुलेपन अपने अंगों में लगाये महाबलशाली भगवान् रुद्र को नमस्कार है। आपकी जय हो, जय हो। समस्त शत्रुओं को गूँगा कर दीजिये। कलह, युद्ध एवं विवाद में भग्न कीजिये, भग्न कीजिये। मथ डालिये, मथ डालिये। जो प्रलयकाल में सम्पूर्ण लोकों को भस्म कर देना चाहते हैं। वे रुद्र समस्त प्रतिपक्षियों को भस्म कर डालें। इस पूजा को स्वीकार करके वे रौद्रमूर्ति, सहस्र किरणों से सुशोभित, शुक्लवर्ण शिव तुम्हारे जीवन की रक्षा करें। प्रलयकालीन अग्नि के समान तेजस्वी, सर्वदेवमय, त्रिपुरनाशक शिव तुम्हारे जीवन की रक्षा करें। इस तरह मन्त्र से स्नान करके तिल एवं तण्डुल का हवन करना चाहिये। फिर त्रिशूल धारी भगवान् शिव को पञ्चामृत से स्नान कराके उनका पूजन करना चाहिये।।२–६।।

अधुना मैं तुम्हारे सम्मुख सदा विजय की प्राप्ति कराने वाले अन्य स्नानों का वर्णन करने जा रहा हूँ। घृत-

कुशोदकेन पापान्तः पञ्चगव्येन सर्वभाक्। शतमूलेन सर्वाप्तिर्गोशृङ्गोदकतोऽघजित्।।८।।
पलाशबिल्वकमलकुशस्नानं तु सर्वदम्। वचाहरिद्रे द्वे मुस्तं स्नानं रक्षोहणं परम्।।९।।
आयुष्यं च यशस्यं च धर्ममेधाविवर्धनम्। हैमादिभश्चैव माङ्गल्यं रूप्यताम्रोदकैस्तथा।।१०।।
रत्नोदकैस्तु विजयः सौभाग्यं सर्वगन्धकैः। फलादिभश्च तथाऽऽरोग्यं धात्र्यद्भिः परमां श्रियम्।।११।।
तिलसिद्धार्थकैर्लक्ष्मीः सौभाग्यं च प्रियंगुणा। पद्मोत्पल कदम्बैः श्रीर्बलं बलाद्रुमोदकैः।।१२।।
विष्णुपादोदकस्नानं सर्वस्नानेभ्य उत्तमम्। एकाक्येकैककामो यो ह्येकैकं विधिवच्चरेत्।।१३।।
अक्रन्दयतिसूक्तेन प्रबध्नीयान्मणि करे। कुष्ठपाठावचाशुण्ठीशङ्खलोहादिको मणिः।।१४।।
सर्वेषामेव कामानामीश्वरो भगवान्हरिः। तस्य संपूजनादेव सर्वान्कामान्समश्नुते।।१५।।
स्नापयित्वा घृतक्षीरैः पूजयित्वा च पित्तहा। पञ्चमुद्गबलिं दत्वा ह्यतिसारात्प्रमुच्यते।।१६।।
पञ्चगव्येन संस्नाप्य वातव्याधिं विनाशयेत्। द्विस्नेहस्नपनाच्छ्लेष्मरोगहा वाऽतिपूजया।।१७।।
घृतं तैलं तथा क्षौद्रं स्नानं तु त्रिरसं परम्। स्नानं घृताम्बु द्विस्नेहं समलं घृततैलकम्।।१८।।
क्षौद्रमिक्षुरसं क्षीरं स्नानं त्रिमधुरं स्मृतम्। घृतमिक्षुरसं तैलं क्षौद्रं च त्रिरसं श्रिये।।१९।।

स्नान आयु की वृद्धि करने में श्रेष्ठतम है। गोमय से स्नान करने पर लक्ष्मी प्राप्ति, गोमूत्र से स्नान करने पर पाप-नाश, दुग्ध से स्नान करने पर बलवृद्धि एवं दधि से स्नान करने पर सम्पत्ति की वृद्धि होती है। कुशोदक से स्नान करने पर पापनाश, पञ्चगव्य से स्नान करने पर समस्त अभीष्ट वस्तुओं की प्राप्ति, शतमूल से स्नान करने पर सभी कामनाओं की सिद्धि तथा गोशृङ्ग के जल से स्नान करने पर पापों की शान्ति होती है। पलाश, बिल्वपत्र, कमल एवं कुश के जल से स्नान करना सर्वलाभप्रद है। बचा, दो तरह की हल्दी और मोथामिश्रित जल से किया गया स्नान राक्षसों के विनाश के लिये श्रेष्ठतम है। इतना ही नहीं, वह आयु, यश, , धर्म और मेधा की भी वृद्धि करने वाला है। स्वर्णजल से किया गया स्नान मंगलकारी होता है। रजत और ताम्रजल से किये गये स्नान का भी यही फल है। रत्नमिश्रित जल से स्नान करने पर विजय, सभी तरह के गन्धों से मिश्रित जल द्वारा स्नान करने पर सौभाग्य, फलोदय से स्नान करने पर श्रेष्ठतम लक्ष्मी की प्राप्ति हो जाती है। तिल एवं श्वेत सर्षप के जल से स्नान करने पर लक्ष्मी, प्रियंगुजल से स्नान करने पर सौभाग्य, पद्म, उत्पल तथा कदम्बमिश्रित जल से स्नान करने पर लक्ष्मी एवं बला-वृक्ष के जल से स्नान करने पर बल की प्राप्ति हो जाती है। भगवान् श्रीहरि विष्णु के चरणोदक द्वारा स्नान सब स्नानों से श्रेष्ठ है।।७-१३।।

एकाकी मनुष्य मन में एक कामना लेकर विधिपूर्वक एक ही स्नान करना चाहिये। वह 'आक्रान्दयति०' आदि सूक्त से अपने हाथ में मणि (मनका) बाँधे। वह मणि कूट, पाट, वचा, सोंठ, शंख अथवा लोहे आदि की होनी चाहिये। समस्त कामनाओं के ईश्वर भगवान् श्रीहरि विष्णु ही हैं, इसलिये उनके पूजन से ही मनुष्य सम्पूर्ण कामनाओं को प्राप्त कर लेता है। जो मनुष्य घृतमिश्रित दुग्ध से स्नान कराके भगवान् श्रीहरि विष्णु का पूजन करता है, वह पित्तरोग का विनाश कर देता है। उनके उद्देश्य से पाँच मूँगों की बलि देकर मनुष्य अतिसार से छुटकारा पाता है। भगवान् श्रीहरि विष्णु को पञ्चगव्य से स्नान कराने वाला वातरोग का विनाश करता है। द्विस्नेह-द्रव्य से स्नान कराके अतिशय श्रद्धापूर्वक उनका पूजन करने वाला कफ-सम्बन्धी रोग से मुक्त हो जाता है। घृत, तैल एवं मधु द्वारा कराया गया स्नान 'त्रिरस-स्नान' माना गया है, घृत और जल से किया गया स्नान 'द्विस्नेह स्नान' तथा घृत-तेज-मिश्रित जल का

अनुलेपस्त्रिशुक्लस्तु कर्पूरोशीरचन्दनैः। चन्दनागुरुकर्पूरमृगदर्पैः सकुङ्कुमैः॥२०॥
पञ्चानुलेपनं विष्णोः सर्वकामफलप्रदम्। त्रिसुगन्धं च कर्पूरं तथा चन्दन कुङ्कुमैः॥२१॥
मृगदर्पं सकर्पूरं मलयं सर्वकामदम्। जातीफलं सकर्पूरं चन्दनं च त्रिशीतकम्॥२२॥
पीतानि शुकवर्णानि तथा शुक्लानि भार्गव। कृष्णानि चैव रक्तानि पञ्चवर्णानि निर्दिशेत्॥२३॥
उत्पलं पद्मजाती च त्रिशीतं हरिपूजने। कुंकुमं रक्तापद्मानि त्रिरक्तं रक्तमुत्पलम्॥२४॥
धूपदीपादिभिः प्राच्र्य विष्णुं शान्तिर्भवेन्नृणाम्। चतुरस्त्रकरे कुण्डे ब्राह्मणाश्चाष्ट षोडश॥२५॥
लक्षहोमं कोटिहोमं तिलाज्ययवधान्यकैः। ग्रहानभ्यच्र्य गायत्र्या सर्वशान्तिः क्रमाद्भवेत्॥२६॥

॥इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते माहेश्वरस्नानलक्षकोटिहोमादिकथनं नाम सप्तषष्ट्यधिकद्विशततमोऽध्यायः॥२६७॥
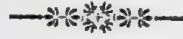
स्नान 'समल-स्नान' है। मधु, ईख का रस और दूध–इन तीनों में मिश्रित जल द्वारा किया गया स्नान 'त्रिमधुर-स्नान' है। घृत, इक्षुरस तथा शहद यह 'त्रिरस-स्नान' लक्ष्मी की प्राप्ति कराने वाला है। कर्पूर, उशीर एवं चन्दन से किया गया अनुलेप 'त्रिशुक्ल' कहलाता है। चन्दन, अगरु, कर्पूर, कस्तूरी एवं कुङ्कुम–इन पाँचों के मिश्रण से किया गया अनुलेपन यदि विष्णु को अर्पित किया जाय तो वह सम्पूर्ण मनोवाञ्छित फलों को देने वाला है। कर्पूर, चन्दन एवं कुङ्कुम अथवा कस्तूरी, कपूर और चन्दन–यह 'त्रिसुगन्ध' समस्त कामनाओं को सम्प्रदान करने वाला है। जायफल, कर्पूर और चन्दन–ये 'शीतत्रय' माने गये हैं। पीला, सुग्गापंखी, शुक्ल, कृष्ण एवं लाल–ये पञ्च वर्ण कहे गये हैं॥१४-२४॥

श्रीहरि के पूजन में उत्पल, कमल, जातीपुष्प तथा त्रिशीत उपयोगी होते हैं। कुङ्कुम, रक्त कमल और लाल उत्पल ये 'त्रिरक्त' कहे जाते हैं। भगवान् श्रीहरि विष्णु का धूप-दीप आदि से पूजन करने पर मनुष्यों को शान्ति की प्राप्ति हो जाती है। चार हाथ के चतुरस्त्र कुण्ड में आठ या सोलह ब्राह्मण तिल, घी और चावल से लक्षहोम या कोटिहोम करें। ग्रहों की पूजा करके गायत्री-मन्त्र से कथित हवन करने पर क्रमशः सभी तरह की शान्ति सुलभ होती है॥२५-२७॥

॥इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी दो सौ सड़सठवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ॥२६७॥

अथाष्टषष्ट्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

नीराजनविधिः

पुष्कर उवाच

कर्म सांवत्सरं राज्ञां जन्मर्क्षे पूजयेच्च तम्। मासि मासि च संक्रान्तौ सूर्यसोमादिदेवताः।।१।।
अगस्त्यस्योदयेऽगस्त्यं चातुर्मास्यं हरिं यजेत्। शयनोत्थापने पञ्चदिनं कुर्यात्समुत्सवम्।।२।।
प्रोष्ठपादे सिते पक्षे प्रतिपत्प्रभृति क्रमात्। शिविरात्पूर्वदिग्भागे शुक्रार्थं भवनं चरेत्।।३।।
तत्र शक्रध्वजं स्थाप्य शचीं शक्रं च पूजयेत्। अष्टम्यां वाद्यघोषेण तां तु यष्टिं प्रवेशयेत्।।४।।
एकादश्यां सोपवासो द्वादश्यां केतुमुत्थितम्। यजेद्वस्त्रादिसंवीतं घटस्थं सुरपं शचीम्।।५।।
वर्धस्वेन्द्र जितामित्र वृत्रहन्याकशासन। देवदेव महाभाग त्वं हि भूमिष्ठतां गतः।।६।।
त्वं प्रभुः शाश्वतश्चैव सर्वभूतहिते रतः। अनन्ततेजा वैराजो यशोजयविवर्धनः।।७।।
तेजस्ते वर्धयन्त्वेते देवाः शक्रः सुवृष्टिकृत्। ब्रह्मविष्णुमहेशाश्च कार्तिकेयो विनायकः।।८।।
आदित्या वसवो रुद्राः साध्याश्च भृगवो दिशः। मरुद्गणा लोकपाला ग्रहा यक्षाद्रिनिम्नगाः।।९।।

अध्याय-२६८

नीराजन विधि विचार

पुष्पक करते हैं–अधुना मैं राजाओं के करने योग्य सांवत्सर-कर्म का वर्णन करने जा रहा हूँ। राजा को अपने जन्मनक्षत्र में नक्षत्र देवता का पूजन करना चाहिये। वह प्रत्येक मास में, संक्रान्ति के समय सूर्य और चन्द्रमा आदि देवताओं की अर्चना करनी चाहिये। अगस्त्य तारा का उदय होने पर अगस्त्य की एवं चातुर्मास्य में श्रीहरि विष्णु का यजन करना चाहिये। श्रीहरि के शयन और उत्थापनकाल में, अर्थात् हरिशयनी एकादशी और हरिप्रबोधिनी एकादशी के अवसर पर पाँच दिन तक उत्सव करना चाहिये। भाद्रपद के शुक्ल पक्ष में, प्रतिपदा तिथि को शिबिर के पूर्वदिग्भाग में इन्द्रपूजा के लिये भवन निर्माण कराये। उस भवन में इन्द्रध्वज (पताका) की स्थापना करके वहाँ प्रतिपदा से लेकर अष्टमी तक शची और इन्द्र की पूजा करनी चाहिये। अष्टमी को वाद्यघोष के साथ उस पताका में ध्वजदण्ड का प्रवेश कराये। फिर एकादशी को निराहार व्रत रखकर द्वादशी को ध्वज का उत्तोलन करना चाहिये। फिर एक कलश पर वस्त्रादि से युक्त देवराज इन्द्र एवं शची की स्थापना करके उनका पूजन करना चाहिये।।१-५।।

इन्द्रदेव की इस तरह याचना करनी चाहिये–'शत्रुविजयी वृत्रनाशन पाकशासन! महाभाग देवदेव! आपका अभ्युदय हो। आप कृपापूर्वक इस भूतल पर पधारे हैं। आप सनातन प्रभु, सम्पूर्ण भूतों के हित में तत्पर रहने वाले, अनन्त तेज से सम्पन्न, विराट् पुरुष तथा यश एवं विजय की वृद्धि करने वाले हैं। आप श्रेष्ठतम वृष्टि करने वाले इन्द्र हैं, समस्त देवता आपका तेज बढ़ायें। ब्रह्मा, विष्णु, शिव, कार्तिकेय, विनायक, आदित्यगण, वसुगण, रुद्रगण, साध्यगण, भृगुकुलोत्पन्न महिर्षि, दिशाएँ, मरुद्गण, लोकपाल, ग्रह, यक्ष, पर्वत, नदियाँ, समुद्र, श्रीदेवी, भूदेवी, गौरी, चण्डिका एवं सरस्वती–ये सभी आपके तेज को प्रदीप्त करें। हे शचीपते इन्द्र! आपकी जय हो। आपकी विजय से मेरा भी सदा शुभ हो। आप नरेशों, ब्राह्मणों एवं सम्पूर्ण प्रजाओं पर प्रसन्न होइये। आपके कृपाप्रसाद से यह पृथ्वी सदा

समुद्राः श्रीर्मही गौरी चण्डिका च सरस्वती। प्रवर्तयन्तु ते तेजो जय शक्र शचीपते॥१०॥
तव चापि जयान्नित्यं मम संपद्यतां शुभम्। प्रसीद राज्ञां विप्राणां प्रजानामपि सर्वशः॥११॥
भवत्प्रसादात्पृथिवी नित्यं सस्यवती भवेत्। शिवं भवतु निर्विघ्नं शाम्यन्तामीतयो भृशम्॥१२॥
मंत्रेणेन्द्रं समभ्यर्च्य जितभूः स्वर्गमाप्नुयात्। भद्रकालीं पटे लिख्य पूजयेदाश्विने जये॥१३॥
शुक्लपक्षे तथाऽष्टम्यामायुधं कार्मुकं ध्वजम्। छत्रं च राजलिङ्गानि शस्त्राद्यं कुसुमादिभिः॥१४॥
जाग्रन्निशि बलिं दद्याद्द्वितीयेऽह्नि पुनर्यजेत्। भद्रकालि महाकालि दुर्गे दुर्गार्तिहारिणि॥१५॥
त्रैलोक्यविजये चण्डि मम शान्तौ जये भव। नीराजनविधिं वक्ष्य ऐशान्यां मन्दिरं चरेत्॥१६॥
तोरणत्रितयं तत्र गृहे देवान्यजेत्सदा। चित्रां त्यक्त्वा यदा स्वातिं सविता प्रतिपद्यते॥१७॥
ततः प्रभृति कर्तव्यं यावत्स्वातौ रविः स्थितः। ब्रह्मा विष्णुश्च शंभुश्च शक्रश्चैवानलानिलौ॥१८॥
विनायकः कुमारश्च वरुणो धनदो यमः। विश्वे देवा वैश्रवणो गजाश्चाष्टौ च तान्यजेत्॥१९॥
कुमुदैरावणौ पद्मः पुष्पदन्तश्च वामनः। सुप्रतीकोऽञ्जनो नीलः पूजा कार्या गृहादिके॥२०॥
पुरोधा जुहुयादाज्यं समित्सिद्धार्थकं तिलाः। कुम्भा अष्टौ पूजिताश्च तैः स्नाप्याश्च गजोत्तमाः॥२१॥
अधः स्वात्यां ददेत्पिण्डांस्ततो हि प्रथमं गजान्। निष्क्रामयेत्तोरणैस्तु गोपुरादि च लङ्घयेत्॥२२॥

सस्यसम्पन्न हो। सभी का विघ्नहीन कल्याण हो तथा ईतियाँ पूर्णतया शान्त हों। इस अभिप्राय वाले मन्त्र से इन्द्र की अर्चना करने वाला भूपाल पृथ्वी पर विजय प्राप्त करके स्वर्ग को प्राप्त होता है॥६-१२॥

आश्विन मास के शुक्ल पक्ष की अष्टमी तिथि को किसी पट पर भद्रकाली का चित्र अंकित करके राजा विजय की प्राप्ति के लिये उसकी पूजा करनी चाहिये। साथ ही आयुध, धनुष, ध्वज, छत्र, राजचिह्न (मुकुट, छत्र तथा चँवर आदि) तथा अस्त्र-शस्त्र आदि की पुष्प आदि उपचारों से पूजा करनी चाहिये। रात्रि के समय जागरण करके देवी को बलि अर्पित करना चाहिये। दूसरे दिन पुनः पूजन करना चाहिये। पूजा के अन्त में इस तरह याचना करनी चाहिये—'भद्रकालि, महाकालि, दुर्गतिहारिणि दुर्गे, त्रैलोक्यविजयिनि चण्डिके! मुझको सदा शान्ति और विजय सम्प्रदान कीजिये॥१३-१५॥

अधुना मैं 'नीराजन' की विधि कह रहा हूँ। ईशान कोण में देवमन्दिर का निर्माण कराये। वहाँ तीन दरवाजे लगाकर मन्दिर के गर्भगृह में सदा देवताओं की पूजा करनी चाहिये। जिस समय सूर्य चित्रा नक्षत्र को छोड़कर स्वाती नक्षत्र में प्रवेश करते हैं, उस समय से प्रारम्भ करके जिस समय तक स्वाती पर सूर्य स्थित रहें, तत्पश्चात् तक देवपूजन करना चाहिये। ब्रह्मा, विष्णु, शिव, इन्द्र, अग्नि, वायु, विनायक, कार्तिकेय, वरुण, विश्रवा के पुत्र कुबेर, यम, विश्वेदेव एवं कुमुद, ऐरावत, पद्म, पुष्पदन्त, वामन, सुप्रतीक, अञ्जन और नील—इन आठ दिग्गजों की गृह आदि में पूजा करनी चाहिये। तत्पश्चात् पुरोहित घृत, समिधा, श्वेत सर्षप एवं तिलों का हवन करना चाहिये। आठ कलशों की पूजा करके उनके जल से श्रेष्ठतम हाथियों को स्नान कराये। उसके बाद घोड़ों को स्नान कराये और उन सबके लिये ग्रास देना चाहिये। पहले हाथियों को तोरण द्वारा से बाहर निकाले; परन्तु गोपुर आदि का उल्लङ्घन न कराये। उसके बाद सब लोग वहाँ से निकलें और राजचिह्नों की पूजा गृह में ही की जाय। शतभिषा नक्षत्र में वरुण का पूजन करके रात्रि के समय भूतों को बलि देना चाहिये। जिस समय सूर्य विशाखा नक्षत्र पर जाय, उस समय राजा आश्रम में निवास करना चाहिये। उस दिन वाहनों को विशेष रूप से अलंकृत करना चाहिये। राजचिह्नों की पूजा करके उनको उनके अधिकृत

निष्क्रामेयुस्ततः सर्वे राजलिङ्गं गृहे यजेत्। वारुणे वरुणं प्राच्य रात्रौ भूतबलिं ददेत्।।२३।।
विशाखायां गते सूर्ये आश्रमे निवसेन्नृपः। अलंकुर्याद्दिने तस्मिन्वाहनं तु विशेषतः।।२४।।
पूजिता राजलिङ्गाश्च कर्तव्या नरहस्तगाः। हस्तिनं तुरगं छत्रं खड्गं चापं च दुन्दुभिम्।।२५।।
ध्वजं पताकां धर्मज्ञ कालज्ञस्त्वभिमंत्रयेत्। अभिमन्त्र्य ततः सर्वान्कुर्यात्कुञ्जरधूर्गतान्।।२६।।
कुञ्जरोपरिगौ स्यातां सांवत्सरपुरोहितौ। मंत्रितांश्च समारुह्य तोरणेन विनिर्गमेत्।।२७।।
निष्क्रम्य नागमारुह्य तोरणेनाथ निर्गमेत्। बलिं विभज्य विधिवद्राजा कुञ्जरधूर्गतः।।२८।।
उल्मुकानां तु निचयमादीपितदिगन्तरम्। राजा प्रदक्षिणं कुर्यान्त्रीन्वारानसुसमाहितः।।२९।।
चतुरङ्गबलोपेता सर्वसैन्येन नादयन्। एवं कृत्वा गृहं गच्छेद्विसर्जितजनस्ततः।।३०।।
शान्तिनीराजनाख्येयं वृद्धये रिपुमर्दनी।।३१।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तगति नीराजनविधिकथनं नामाष्टषष्ट्यधिकद्विशततमोऽध्यायः।।२६८।।
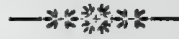
पुरुषों के हाथों में देना चाहिये। धर्मज्ञ भगवान् परशुराम! फिर कालज्ञ ज्यौतिषी हाथी, अश्व, छत्र, खड्ग, धनुष, दुन्दुभि, ध्वजा एवं पताका आदि राजचिह्नों को अभिमन्त्रित करना चाहिये। फिर उन सभी को अभिमन्त्रित करके हाथी की पीठ पर रखे। ज्योतिषी और पुरोहित भी हाथी पर आरूढ़ हों। इस प्रार अभिमन्त्रित वाहनों पर आरूढ़ होकर तोरण-द्वार से निष्क्रमण करें। इस तरह राजद्वार से बाहर निकलकर राजा हाथी की पीठ पर स्थित रहकर विधिपूर्वक बलि-वितरण करना चाहिये। फिर नरेश सुस्थिरचित्त होकर चतुरङ्गिणी सेना के साथ सर्वसैन्यसमूह के द्वारा जयघोष कराते हुए दिग्दिगन्त को प्रकाशित करने वाले जलते मसालों के समूह की तीन बार परिक्रमा करें। इस तरह पूजन करके राजा जनसामान्य को विदा करके राजभवन को प्रस्थान करना चाहिये। मैंने यह समस्त शत्रुओं का विनाश करने वाली 'नीराजना' नामक शान्ति बतलायी है, जो राजा को अभ्युदय सम्प्रदान करने वाली है।।१६-३१।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी दो सौ अड़सठवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।२६८।।

❖❖❖

अथैकोनसप्तत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

छत्रादिप्रार्थनामंत्राः

पुष्कर उवाच

छत्रादिमंत्रान्वक्ष्यामि यैस्तत्पूज्य जयादिकम्। ब्रह्मणः सत्यवाक्येन सोमस्य वरुणस्य च॥१॥
सूर्यस्य च प्रभावेण वर्धस्व त्वं महामते। पाण्डराभप्रतीकाश हिमकुन्देन्दुसुप्रभ॥२॥
यथाऽम्बुदश्छादयते शिवायैनां वसुंधराम्। तथाऽच्छादय राजानं विजयारोग्यवृद्धये॥३॥
गन्धर्वकुलजातस्त्वं मा भूयाः कुलदूषकः। ब्रह्मणः सत्यवाक्येन सोमस्य वरुणस्य च॥४॥
प्रभावाच्च हुताशस्य वर्धस्व त्वं तुरंगम। तेजसा चैव सूर्यस्य मुनीनां तपसा तथा॥५॥
रुद्रस्य ब्रह्मचर्येण पवनस्य बलेन च। स्मर त्वं राजपुत्रोऽसि कौस्तुभं तु मणिं स्मर॥६॥
यां गतिं ब्रह्महा गच्छेत्पितृहा मातृहा तथा। भूम्यर्थेऽनृतवादी च क्षत्रियश्च पराङ्मुखः॥७॥
व्रजेस्त्वं तां गतिं क्षिप्रं मा तत्पापं भवेत्तव। विकृतिं माऽपगच्छेस्त्वं युद्धेऽध्वनि तुरंगम्॥८॥
रिपून्विनिघ्नन्समरे सह भर्त्रा सुखी भव। शक्रकेतो महावीर्य सुवर्णस्त्वामुपाश्रितः॥९॥
पतत्रिराड्वैनतेयस्तथा नारायणध्वजः। काश्यपेयोऽमृताहर्ता नागारिर्विष्णुवाहनः॥१०॥

अध्याय-२६९

छत्र आदि मन्त्र विचार

पुष्करजी ने कहा कि-हे भगवान् परशुराम! अधुना मैं छत्र आदि राजोपकरणों के याचनामन्त्र बतलाने जा रहा हूँ, जिनसे उनकी पूजा करके नरेशगण विजय आदि प्राप्त करते हैं। छत्र-याचना-मन्त्र-'हे महामते छत्रदेव! आप हिम, कुन्द एवं चन्द्रमा के समान श्वेत कान्ति से सुशोभित और पाण्डुर-वर्ण की सी आभा वाले हो। ब्रह्मा जी के सत्यवचन तथा चन्द्र, वरुण और सूर्य के प्रभाव से आप सतत वृद्धिशील होओ। जिस तरह मेघ मंगल के लिये इस पृथ्वी को आच्छादित करता है, उसी तरह आप विजय एवं आरोग्य की वृद्धि के लिये राजा को आच्छादित करों'। अश्व-याचना-पत्र-'हे अश्व! आप गन्धर्ववंश में उत्पन्न हुए हो, इसलिये अपने वंश को दूषित करने वाला न होना। ब्रह्मा जी के सत्यवचन से तथा हवन, वरुण एवं श्रीअग्नि देव के प्रभाव से, सूर्य के तेज से, मुनिवरों के तप से, रुद्र के ब्रह्मचर्य से और वायु के बल से आप सदा आगे बढ़ते रहो। याद रखों, आप अश्वराज उच्चैः श्रवा के पुत्र हो; अपने साथ ही प्रकट हुए कौस्तुभत्र का स्मरण करो। (आपको भी उसी की भाँति अपने यश से प्रकाशित होते रहना चाहिये।) ब्रह्मघाती, पितृघाती, मातृहन्ता, भूमि के लिये मिथ्याभाषण करने वाला तथा युद्ध से पराङ्मुख क्षत्रिय जितनी शीघ्रता से अधोगति को प्राप्त होता है, आप भी युद्ध से पीठ दिखाने पर उसी दुर्गति को प्राप्त हो सकते हो; परन्तु आपको वैसा पाप या कलङ्क न लगे। हे तुरंगम! आप युद्ध के पथ पर विकार को न प्राप्त होना। समराङ्गण में शत्रुओं का विनाश करते हुए अपने स्वामी के साथ आप सुखी होओ'॥१-८॥

ध्वजा-याचना-मन्त्र-'हे महापराक्रम के प्रतीक इन्द्रध्वज! भगवान् नारायण के ध्वज विनतानन्दन पक्षिराज गरुड आपमें प्रतिष्ठित हैं। वे सर्वशत्रु, विष्णुवाहन, कश्यपनन्दन तथा देवलोक से हठात् अमृत छीन लाने वाले हैं। उनका

अप्रमेयो दुराधर्षो रणे देवारिसूदनः। महाबलो महावेगो महाकायोऽमृताशनः॥११॥
गरुत्मान्मारुतगतिस्त्वयि संनिहितः स्थितः। विष्णुना देवदेवेन शक्रार्थं स्थापितो ह्यसि॥१२॥
जयाय भव मे नित्यं वृद्धयेऽथ बलस्य च। साश्ववर्मायुधान्योधान् रक्षास्माकं रिपून्दह॥१३॥
कुमुदैरावणौ पद्मः पुष्पदन्तोऽथ वामनः। सुप्रतीकोऽञ्जनो नील एतेऽष्टौ देवयोनयः॥१४॥
तेषां पुत्राश्च पौत्राश्च वनान्यष्टौ समाश्रिताः। भद्रो मन्दो मृगश्चैव गजः संकीर्ण एव च॥१५॥
वने वने प्रसूतास्ते स्मरयोनिं महागजाः। पान्तु त्वां वसवो रुा आदित्याः समरुद्गणाः॥१६॥
भर्तारं रक्ष नागेन्द्र समयरू परिपाल्यताम्। ऐरावताधिरूढस्तु वज्रहस्तः शतक्रतुः॥१७॥
पृष्ठतोऽनुगतस्त्वेष रक्षतु त्वां स देवराट्। अवाप्नुहि जयं युद्धे सुस्थश्चैव सदा व्रज॥१८॥
अवाप्नुहि बलं चैव ऐरावतसमं युधि। श्रीस्ते सोमाद्बलं विष्णोस्तेजः सूर्याज्जवोऽनिलात्॥१९॥
स्थैर्यं गिरेर्जयं रुद्राद्यशो देवात्पुरंदरात्। युद्धे रक्षन्तु नागास्त्वां दिशश्च सह दैवतैः॥२०॥
अश्विनौ सह गन्धर्वैः पान्तु त्वां सर्वतो दिशः। मनवो वसवो रुद्रा वायुः सोमो महर्षयः॥२१॥
नागकिंनरगन्धर्वयक्षभूतगणा ग्रहाः। प्रमथास्तु सहाऽऽदित्यैर्भूतेशो मातृभिः सह॥२२॥
शक्रः सेनापतिः स्कन्दो वरुणश्चाऽऽश्रितस्त्वयि। प्रदहन्तु रिपून्सर्वान्राजा विजयमृच्छतु॥२३॥
यानि प्रयुक्तान्यरिभिर्दूषणानि समन्ततः। पतन्तु तव शत्रूणां हतानि तव तेजसा॥२४॥

शरीर विशाल और बल एवं वेग महान् है। वे अमृतभोगी हैं। उनकी शक्ति अप्रमेय है। वे युद्ध में दुर्जय रहकर देवशत्रुओं का विनाश करने वाले हैं। उनकी गति वायु के समान तीव्र है। वे गरुड आपमें प्रतिष्ठित हैं। देवाधिदेव भगवान् श्रीहरि विष्णु ने इन्द्र के लिये आपमें उनको स्थापित किया है, आप सदा मुझको विजय सम्प्रदान करो। मेरे बल को बढ़ाओ। घोड़े, कवच तथा आयुधों सहित हमारे योद्धाओं की रक्षा करो और शत्रुओं को जलाकर भस्म कर दो'॥९-१३॥

गज-याचना-मन्त्र—'कुमुद, ऐरावत, पद्म, पुष्पदन्त, वामन, सुप्रतीक, अञ्जन और नील—ये आठ देवयोनि में उत्पन्न गजराज हैं। इनके ही पुत्र और पौत्र आठ वनों में निवास करते हैं, भद्र, मन्द, मृग एवं संकीर्णजातीय गज वन-वन में उत्पन्न हुए हैं। हे महागजराज! आप अपनी योनि का स्मरण करो। वसुगण, रुद्र, आदित्य एवं मरुदगण आपकी रक्षा करें। हे गजेन्द्र! अपने स्वामी की रक्षा करो और अपनी मर्यादा का पालन करो। ऐरावत पर चढ़े हुए वज्रधारी देवराज इन्द्र तुम्हारे पीछे-पीछे आ रहे हैं, ये आपकी रक्षा करें। आप युद्ध में विजय पाओ और सदा स्वस्थ रहकर आगे बढ़ो। आपको युद्ध में ऐरावत के समान बल प्राप्त हो। आप चन्द्रमा से कान्ति, विष्णु से बल, सूर्य से तेज, वायु से वेग, पर्वत से स्थिरता, रुद्र से विजय और देवराज इन्द्र से यश प्राप्त करो। युद्ध में दिग्गज दिशाओं और दिक्पालों के साथ आपकी रक्षा करें। गन्धर्वों के साथ अश्विनीकुमार सभी तरफ से आपका संरक्षण करें। मनु, वसु, रुद्र, वायु, चन्द्रमा, महर्षिगण, नाग, किंनर, यक्ष, भूत, प्रमथ, ग्रह, आदित्य, मातृकाओं सहित भूतेश्वर शिव, इन्द्र, देवसेनापति कार्तिकेय और वरुण अधिष्ठित हैं। वे हमारे समस्त शत्रुओं को भस्मसात् कर दें और राजा विजय प्राप्त करें॥१४-२३॥

पताका-याचना-मन्त्र—'पताके! शत्रुओं ने सभी तरफ जो घातक प्रयोग किये हों, शत्रुओं के वे प्रयोग तुम्हारे तेज से अभिहत होकर नष्ट हो जायँ। आप जिस तरह कालनेमिवध एवं त्रिपुरसंहार के युद्ध में, हिरण्यकशिपुके संग्राम

कालनेमिवधे यद्वद्युद्धे त्रिपुरघातने। हिरण्यकशिपोर्युद्धे वधे सर्वासुरेषु च॥२५॥
शोभिताऽसि तथैवाद्य शोभस्व समयं स्मर। नीलश्वेतामिमां दृष्ट्वा नश्यन्त्वाशु नृपारयः॥२६॥
व्याधिभिर्विविधैर्घोरैः शस्त्रैश्च युधि निर्जिताः। पूतना रेवती लेखा कालरात्रीति पठ्यते॥२७॥
दहन्त्वाशु रिपून्सर्वान्पताके त्वामुपाश्रिताः। सर्वमेधे महायज्ञे देवदेवेन शूलिना॥२८॥
सर्वेण जगतश्चैव सारेण त्वं विनिर्मितः। नन्दकस्यापरां मूर्तिं स्मर शत्रुनिर्बहण॥२९॥
नीलोत्पलदलश्याम कृष्ण दुःस्वप्ननाशन। असिर्विशसनः खड्गस्तीक्ष्णधारो दुरासदः॥३०॥
श्रीगर्भो विजयश्चैव धर्मपालस्तथैव च। इत्यष्टौ तव नामानि पुरोक्तानि स्वयंभुवा॥३१॥
नक्षत्रं कृत्तिका तुभ्यं गुरुर्देवो महेश्वरः। हिरण्यं च शरीरं ते दैवतं ते जनार्दनः॥३२॥
राजानं रक्ष निस्त्रिंश सबलं सपुरं तथा। पिता पितामहो देवः स त्वं पालय सर्वदा॥३३॥
शर्मप्रदस्त्वं समरे वर्म सैन्ये यशोऽद्य मे। रक्ष मां रक्षणीयोऽहं तवानय नमोऽस्तु ते॥३४॥
दुन्दभे त्वं सपत्नानां घोषाद्धृदयकम्पनः। भव भूमिपसैन्यानां यथा विजयवर्धनः॥३५॥
यथा जीतघोषेण हृष्यन्ति वरवारणाः। तथाऽस्तु तव शब्देन हर्षोऽस्माकं मुदावह॥३६॥
यथा जीमूतशब्देन स्त्रीणां त्रासोऽभिजायते। तथा तु तव शब्देन त्रस्यन्त्वस्मद्द्विषो रणे॥३७॥
मंत्रैः सदाऽर्चनीयास्ते योजनीया जयादिषु। कृतरक्षश्च विष्ण्वादेस्त्वभिषेकश्च वत्सरे॥३८॥

में तथा सम्पूर्ण दैत्यों के वध के समय सुशोभित हुई हो, आज उसी तरह सुशोभित होओ। अपने प्रण का स्मरण करो। इस नीलोज्ज्वलवर्ण की पताका को देखकर राजा के शत्रु युद्ध में विविध भयंकर व्याधियों एवं शस्त्रों से पराजित होकर शीघ्र नष्ट हो जायँ। आप पूतना, रेवती, लेखा और कालरात्रि आदि नामों से प्रसिद्ध हो। हे पताके! हम आपका आश्रय ग्रहण करते हैं, हमारे सम्पूर्ण शत्रुओं को दग्ध कर डालो। सर्वमेध महायज्ञ में देवाधिदेव भगवान् रुद्र ने जगत् के सारतत्त्व से आपका निर्माण किया था'॥२४-२८॥

'हे शत्रुसूदन खड्ग। आप इस बात को याद रखो कि नारायण के 'नन्दक' नामक खड्ग की दूसरी मूर्ति हो। आप नीलकमल दल के समान श्याम एवं कृष्णवर्ण हो। दुःस्वप्नों का विनाश करने वाले हो। प्राचीन काल में स्वयम्भू भगवान् ब्रह्मा ने असि, विशसन, खड्ग, तीक्ष्णधार, दुरासद, श्रीगर्भ, विजय और धर्मपाल—ये तुम्हारे आठ नाम बतलाये हैं। कृत्तिका आपका नक्षत्र हैं, देवाधिदेव महेश्वर तुम्हारे गुरु हैं, सूवर्ण आपका शरीर है और जनार्दन तुम्हारे देवता हैं। खड्ग। आप सेना एवं नगरसहित राजा की रक्षा करो। तुम्हारे पिता देवश्रेष्ठ पितामह हैं। आप सदा हम लोगों की रक्षा करो॥२९-३३॥

कवच-याचना-मन्त्र—'हे वर्म! आप युद्धक्षेत्र में कल्याणप्रद हो। आज मेरी सेना को यश प्राप्त हो। हे निष्पाप! मैं तुम्हारे द्वारा रक्षा पाने के योग्य हूँ। मेरी रक्षा करो। आपको नमस्कार है'॥३४॥

दुन्दुभि-याचना-मन्त्र—'हे दुन्दुभे! आप अपने घोष से शत्रुओं का हृदय कम्पित करने वाली हो; हमारे राजा की सेनाओं के लिये विजयवर्धक बन जाओ। मोदसम्प्रदायक दुन्दुभे! जिस प्रकार मेघ की गर्जना से श्रेष्ठ हाथी हर्षित होते हैं, वैसे ही तुम्हारे शब्द से हमारा हर्ष बढ़े। जिस तरह मेघ की गर्जना सुनकर स्त्रियाँ भयभीत हो जाती है, उसी तरह तुम्हारे नाद से युद्ध में उपस्थित हमारे शत्रु त्रस्त हो उठें॥३५-३७॥

इस तरह उपरोक्त मन्त्रों से राजोपकरणों की अर्चना करनी चाहिये एवं विजयकार्य में उनका प्रयोग करना

राज्ञोऽभिषेकः कर्तव्यो दैवज्ञेन पुरोधसा।।३९।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते छत्रादिप्रार्थनामंत्रकथनं नामैकोनसप्तत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः।।२६९।।

अथ सप्तत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

विष्णुपञ्जरम्

पुष्कर उवाच

त्रिपुरं जघ्नुषः पूर्वं ब्रह्मणा विष्णुपञ्जरम्। शंकरस्य द्विजश्रेष्ठ रक्षणाय निरूपितम्।।१।।
वागीशेन च शक्रस्य बलं हन्तुं प्रयास्यतः। तस्य स्वरूपं वक्ष्यामि तत्त्वं शृणु जयादिमत्।।२।।
विष्णुः प्राच्यां स्थितश्चक्री हरिर्दक्षिणतो गदी। प्रतीच्यां शार्ङ्गधृग्विष्णुर्जिष्णुः खड्गी ममोत्तरे।।३।।
हृषीकेशो विकोणेषु तच्छिद्रेषु जनार्दनः। क्रोडरूपी हरिर्भूमौ नरसिंहोऽम्बरे मम।।४।।
क्रूरान्तयमलं चक्रं भ्रमत्येतत्सुदर्शनम्। अस्यांशुमाला दुष्प्रेक्ष्या हन्तुं प्रेतनिशाचरान्।।५।।

चाहिये। दैवज्ञ राजपुरोहित को रक्षाबन्धन आदि के द्वारा राजा की रक्षा का प्रबन्ध करके प्रतिवर्ष विष्णु आदि देवताओं एवं राजा का अभिषेक करना चाहिये।।३८-३९।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी दो सौ उनहत्तरवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।२६९।।

अध्याय-२७०

विष्णुपञ्जरस्तोत्र विचार

पुष्करजी ने कहा कि–हे द्विजश्रेष्ठ भगवान् परशुराम! प्राचीन काल में भगवान् ब्रह्मा ने त्रिपुरसंहार के लिये उद्यत देवाधिदेव भगवान् श्रीशिवशंकर की रक्षा के लिये 'विष्णुपञ्जर' नाम स्तोत्र का उपदेश किया था। इसी तरह बृहस्पति ने बल दैत्य का वध करने के लिये जाने वाले इन्द्र की रक्षा के लिये कथित स्तोत्र का उपदेश दिया था। मैं विजय सम्प्रदान करने वाले उस विष्णु पञ्जर का स्वरूप बतलाने जा रहा हूँ, सुनो।।१-२।।

'मेरे पूर्वभाग में चक्रधारी विष्णु एवं दक्षिणपार्श्व में गदाधारी श्रीहरि विष्णु स्थित हैं। पश्चिम भाग में शार्ङ्गपाणि विष्णु और उत्तरभाग में नन्दक-खड्गधारी जनार्दन विराजमान हैं। भगवान् हृषीकेश दिक्कोणों में एवं जनार्दन मध्यवर्ती अवकाश में मेरी रक्षा कर रहे हैं। वराहरूपधारी श्रीहरि विष्णु भूमि पर तथा भगवान् नृसिंह आकाश में प्रतिष्ठत होकर मेरा संरक्षण कर रहे हैं। जिसके किनारे के भागों में छुरे जुड़े हुए हैं, वह यह निर्मल 'सुदर्शनचक्र' घूम रहा है। यह जिस समय प्रेतों तथा राक्षसों को मारने के लिये चलता है, उस समय इसकी किरणों की तरफ देखना किसी के लिये भी बहुत कठिन होता है। भगवान् श्रीहरि विष्णु की यह 'कौमोद की' गदा सहस्रों ज्वालाओं से प्रदीप्त पावक के समान

गदा चेयं सहस्रार्चिः प्रदीप्तपावकोज्ज्वला। रक्षोभूतपिशाचानां डाकिनीनां च नाशनी।।६।।
शार्ङ्गविस्फूर्जितं चैव वासुदेवस्य मद्रिपून्। तिर्यङ्मनुष्यकूष्माण्डप्रेतादीन्हन्त्वशेषतः।।७।।
खड्गधारोज्ज्वलज्योत्स्नानिर्धूता ये समाहिताः। ते यान्तु शाम्यतां सद्यो गरुडेनेव पन्नगाः।।८।।
ये कुष्माण्डास्तथा यक्षा ये दैत्या ये निशाचराः। प्रेता विनायकाः क्रूरा मनुष्या जम्भगाः खगाः।।९।।
सिंहादयश्च पशवो दन्दशूकाश्च पन्नगाः। सर्वे भवन्तु ते सौम्याः कृष्णशङ्खरवाहताः।।१०।।
चित्तवृत्तिहरा ये मे ये जनाः स्मृतिहारकाः। बलौजसां च हर्तारश्छायाविभ्रंशकाश्च ये।।११।।
ये चोपभोगहर्तारो ये च लक्षणनाशकाः। कूष्माण्डास्ते प्रणश्यन्तु विष्णुचक्ररवाहताः।।१२।।
बुद्धिस्वास्थ्यं मनः स्वास्थ्यं स्वास्थ्यमैन्द्रियकं तथा। ममास्तु देवदेवस्य वासुदेवस्य कीर्तनात्।।१३।।

पृष्ठे पुरस्तान्मम दक्षिणोत्तरे विकोणतश्चास्तु जनार्दनो हरिः।
तमीड्यमीशानमनन्तमच्युतं जनार्दनं प्रणिपतितो न सीदति।।१४।।
यथा परं ब्रह्म हरिस्तथा परो जगत्स्वरूपश्च स एव केशवः।
सत्येन तेनाच्युतनामकीर्तनात्प्रणाशयेत्तु त्रिविधं ममाशुभम्।।१५।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते विष्णुपञ्जरकथनं नाम सप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः।।२७०।।

—※※—

उज्ज्वल है। यह राक्षस, भूत, पिशाच और डाकिनियों का विनाश करने वाली है। भगवान् वासुदेव के शार्ङ्गधनुष की टंकार मेरे शत्रुभूत, मनुष्य, कूष्माण्ड, प्रेत आदि और तिर्यग्योनिगत जीवों का पूर्णतया विनाश करना चाहिये। जो भगवान् श्रीहरि विष्णु की खड्गधारामयी उज्ज्वल ज्योत्स्ना में स्नान कर चुके हैं, वे मेरे समस्त शत्रु उसी तरह तत्काल शान्त हो जायँ, जिस प्रकार गरुड के द्वारा मारे गये सर्प शान्त हो जाते हैं।।३-८।।

'जो कूष्माण्ड, यक्ष, राक्षस, प्रेत, विनायक, क्रूर मनुष्य, शिकारी पक्षी, सिंह आदि पशु एवं डँसने वाले सर्प हों, वे सब के सब सच्चिदानन्द स्वरूप श्रीकृष्ण के शङ्खनाद से आहत हो सौम्यभाव को प्राप्त हो जायँ। जो मेरी चित्तवृत्ति और स्मरणशक्ति का हरण करते हैं, जो मेरे बल और तेज का विनाश करते हैं तथा जो मेरी कान्ति या तेज को विलुप्त करने वाले हैं, जो उपभोग सामग्री को हर लेनेवाले तथा शुभ लक्षणों का विनाश करने वाले हैं, वे कूष्माण्ड गण भगवान् श्रीहरि विष्णु के सुदर्शन-चक्र के वेग से आहत होकर विनष्ट हो जायँ।

देवाधिदेव भगवान् वासुदेव के संकीर्तन से मेरी बुद्धि, मन और इन्द्रियों को स्वास्थ्यलाभ हो। मेरे आगे पीछे, दायें,-बायें तथा कोणवर्तिनी दिशाओं में सब जगह जनार्दन श्रीहरि विष्णु का निवास हो। पूजनीय, मर्यादा से कभी च्युत न होने वाले अनन्तरूप परमेश्वर जनार्दन के चरणों में प्रणत होने वाला कभी दुखी नहीं होता। जिस प्रकार भगवान् श्रीहरि विष्णु परब्रह्म हैं, उसी तरह वे परमात्मा केशव भी जगत् स्वरूप है–इस सत्य के प्रभाव से तथा भगवान् अच्युत के नामकीर्तन से मेरे त्रिविध पापों का विनाश हो जाय।।९-१५।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आग्नेय विषयों का विवेचन सम्बन्धी दो सौ सत्तरवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।२७०।।

❖❖❖

अथैक सप्तत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

वेदशाखादिकथनम्

पुष्कर उवाच

सर्वानुग्राहका मंत्राश्चतुर्वर्गप्रसाधकाः। ऋगथर्व तथा साम यजुः संख्या तु लक्षकम्।।१।।
भेदः सांख्यायनश्चैक आश्वलायनो द्वितीयकः। शतानि दश मंत्राणां ब्राह्मणा द्विसहस्रकम्।।२।।
ऋग्वेदो हि प्रमाणेन स्मृतो द्वैपायनादिभिः। एकोनद्विसहस्रं तु मंत्राणां यजुषस्तथा।।३।।
शतानि दश विप्राणां षडशीतिश्च शाखिकाः। काण्वमाध्यंदिनी संज्ञा कठी माध्यकठी तथा।।४।।
मैत्रायणी च संज्ञा च तैत्तिरीयाभिधानिका। वैशम्पायनिकेत्याद्याः शाखा यजुषि संस्थिताः।।५।।
साम्नः कौथुमसंज्ञैका द्वितीयाऽथर्वणायनी। गानान्यपि च चत्वारि वेद आरण्यकं तथा।।६।।
उक्था ऊहश्चतुर्थश्च मंत्रा नवसहस्रकाः। स चतुःशतकाश्चैव ब्रह्मसंघटकाः स्मृताः।।७।।
पञ्चविंशतिरेवात्र साममानं प्रकीर्तितम्। सुमन्तुर्जाजलिश्चैव श्लोकायनिरर्थके।।८।।
सौनकः पिप्पलादश्च मुञ्जकेशादयोऽपरे। मंत्राणामयुतं षष्टिशतं चोपनिषच्छतम्।।९।।
व्यासरूपी स भगवाञ्शाखाभेदाद्यकारयत्। शाखाभेदादयो विष्णुरितिहासः पुराणकम्।।१०।।

अध्याय–२७१

वेदशाखा आदि विचार

पुष्करजी ने कहा कि–हे भगवान् परशुराम! वेदमन्त्र सम्पूर्ण विश्व पर अनुग्रह करने वाले तथा चारों पुरुषार्थों के साधक हैं। ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद तथा अथर्ववेद–ये चार वेद हैं। इनके मन्त्रों की संख्या एक लाख है। ऋग्वेद की एक शाखा 'सांख्यायन' और दूसरी शाखा 'आश्वलायन' है। इन दो शाखाओं में एक सहस्र तथा ऋग्वेदीय ब्राह्मण भाग में दो सहस्र मन्त्र हैं। श्रीकृष्णद्वैपायन आदि महर्षियों ने ऋग्वेद को प्रमाण माना है।

यजुर्वेद में उन्नीस सौ मन्त्र हैं। उसके ब्राह्मण-ग्रन्थों में एक हजार मन्त्र हैं और शाखाओं में एक हजार छियासी। यजुर्वेद में मुख्यतया काण्वी, माध्यन्दिनी, कठी, माध्यकठी, मैत्रायणी, तैत्तिरीया एवं वैशम्पायनीया–ये शाखाएँ विद्यमान हैं। सामवेद में कौथुमी और आथर्वणायनी (राणायनीया)–ये दो शाखाएँ मुख्य हैं इसमें वेद, आरण्यक, उक्था और ऊह–ये चार गान हैं। सामवेद में नौ हजार चार सौ पचीस मन्त्र हैं। वे ब्रह्म से सम्बन्धित हैं। यहाँ तक सामवेद का मान बतलाया गया।।१–७।।

अथर्ववेद में सुमन्तु, जाजलि, श्लोकायनि, शौनक, पिप्पलाद और मुञ्जकेश आदि शाखाप्रवर्तक ऋषि हैं। इसमें सोलह हजार मन्त्र और सौ उपनिषद् हैं। व्यासरूप में अवतीर्ण होकर भगवान् श्रीहरि विष्णु ने ही वेदों की शाखाओं का विभाग आदि किया है। वेदों के शाखा भेद आदि इतिहास और पुराण सब विष्णु स्वरूप हैं। भगवान् व्यास से लोमहर्षण सूत ने पुराण आदि का उपदेश पाकर उनका प्रवचन किया। उनके सुमति, अग्निवर्चा, मित्रयु, शिंशपायन, कृतव्रत और सावर्णि–ये षड् शिष्य हुए। शिंशपायन आदि ने पुराणों की संहिता का निर्माण किया। भगवान्

प्राप्य व्यासात्पुराणादि सूतो वै लोमहर्षणः। सुमतिश्चाग्निवर्चाश्च मित्रयुः शिंशपायनः॥११॥
कृतव्रतोऽथ सावर्णिः षट्शिष्यास्तस्य चाभवन्। शांशपायनादयश्चक्रुः पुराणानां तु संहिताः॥१२॥
ब्राह्मादीनि पुराणानि हरिविद्या दशाष्ट च। महापुराणे ह्याग्नेये विद्यारूपो हरिः स्थितः॥१३॥
सप्रपञ्चो निष्प्रपञ्चो मूर्तामूर्तस्वरूपधृक्। तं ज्ञात्वाऽभ्यर्च्य संस्तूय भुक्तिमुक्तिमवाप्नुयात्॥१४॥
विष्णुर्जिष्णुर्भविष्णुश्च अग्निसूर्यादिरूपवान्। अग्निरूपेण देवादेर्मुखं विष्णुः परा गतिः॥१५॥
वेदेषु स पुराणेषु यज्ञमूर्तिश्च गीयते। आग्नेयाख्यं पुराणं तु रूपं विष्णोर्महत्तरम्॥१६॥
आग्नेयाख्यपुराणस्य कर्त्ता श्रोता जनार्दनः। तस्मात्पुराणमाग्नेयं सर्ववेदमयं महत्॥१७॥
सर्वविद्यामयं पुण्यं सर्वज्ञानमयं वरम्। सर्वात्महरिरूपं हि पठतां शृण्वतां नृणाम्॥१८॥
विद्यार्थिनां च विद्याद(म) र्थिनां श्रीधनप्रदम्। राज्यार्थिनां राज्यदं च धर्मदं धर्मकामिना(णा) म्॥१९॥
स्वर्गार्थिनां स्वर्गदं च पुत्रदं पुत्रकामिना (णा) म्। गवादिकामिनां गोदं ग्रामदं ग्रामकामिना (णा) म्॥२०॥
कामार्थिनां कामदं च सर्वसौभाग्यसंप्रदम्। गुणकीर्तिप्रदं नृणां जयदं जयकामिनाम्॥२१॥
सर्वेप्सूनां सर्वदं तु मुक्तिदं मुक्तिकामिनाम्। पापघ्नं पापकर्तृणामाग्नेयं हि पुराणकम्॥२२॥

॥इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गति वेदशाखादिकथनं नौकसप्तत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः॥२७१॥
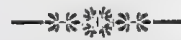
श्रीहरि विष्णु ही 'ब्राह्म' आदि अठारह पुराणों एवं अष्टादश विद्याओं के रूप में स्थित हैं। वे सप्रपञ्च-निष्प्रपञ्च तथा मूर्त अमुर्त स्वरूप धारण करने वाले विद्यारूपी भगवान् श्रीहरि विष्णु 'आग्नेय महापुराण में स्थित हैं। उनको जानकर उनकी अर्चना एवं स्तुति करके मानव भोग और मोक्ष–दोनों को प्राप्त कर लेता है। भगवान् श्रीहरि विष्णु विजयशील, प्रभावसम्पन्न तथा अग्नि-सूर्य आदि के रूप में स्थित हैं। वे भगवान् श्रीहरि विष्णु ही अग्निरूप से देवता आदि के मुख हैं। वे ही सबकी परमगति हैं। वे वेदों तथा पुराणों में 'यज्ञमूत्ति' के नाम से गाये जाते हैं। यह 'श्रीअग्निमहापुराण' भगवान् श्रीहरि विष्णु का ही विराट् रूप है। इस अग्नि-आग्नेय पुराण के निर्माता और श्रोता श्रीजनार्दन ही हैं। इसलिये यह महापुराण सर्ववेदमय, सर्वविद्यामय तथा सर्वज्ञानमय है। यह श्रेष्ठतम एवं पवित्र पुराण पठन और श्रवण करने वाले मनुष्यों के लिये सर्वात्मा श्रीहरिस्वरूप है। यह 'आग्नेय-महापुराण' विद्यार्थियों के लिये विद्याप्रद, अर्थार्थियों के लिये लक्ष्मी और धन-सम्पत्ति देने वाला, राज्यार्थियों के लिये राज्यादाता, धर्मार्थियों के लिये धर्मदाता, स्वर्गार्थियों के लिये स्वर्गप्रद और पुत्रार्थियों के लिये पुत्रसम्प्रदायक है। गोधन चाहने वाले को गोधन और ग्रामाभिलाषियों को ग्राम देने वाला है। यह कामार्थी मनुष्यों को काम, सम्पूर्ण सौभाग्य, गुण तथा कीर्ति सम्प्रदान करने वाला है। विजयाभिलाषी पुरुषों को विजय देता है, सब कुछ चाहने वालों को सब कुछ देता है, मोक्षकामियों को मोक्ष देता है और पापियों के पापों का विनाश कर देता है।।८-२२।।

॥इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी दो सौ एकहत्तरवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ॥२७१॥

अथ द्विसप्तत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

पुराणदानादिमाहात्म्यम्

पुष्कर उवाच

ब्रह्मणाऽभिहितं पूर्वं यावन्मात्रं मरीचये। लक्षार्धार्धं तु तद्ब्राह्मं लिखित्वा संप्रदापयेत्।।१।।
वैशाख्यां पौर्णमास्यां च स्वर्गार्थी जलधेनुमत्। पाद्मं द्वादशसाहस्रं ज्येष्ठे दद्याच्च धेनुमत्।।२।।
वाराहकल्पवृत्तान्तमधिकृत्य पराशरः। त्रयोविंशतिसाहस्रं वैष्णवं प्राह चार्पयेत्।।३।।
जलधेनुमदाषाढ्यां विष्णोः पदमवाप्नुयात्। चतुर्दश सहस्राणि वायवीयं हरिप्रियम्।।४।।
श्वेतकल्पप्रसङ्गेन धर्मान्वायुरिहाब्रवीत्। दद्याल्लिखित्वा तद्विप्रे श्रावण्यां गुडधेनुमत्।।५।।
यत्राधिकृत्य गायत्रीं कीर्त्यते धर्मविस्तरः। वृत्रासुरवधोपेतं तद्भागवतमुच्यते।।६।।
सारस्वतस्य कल्पस्य प्रौष्ठपद्यां तु तद्ददेत्। अष्टादश सहस्राणि हेमसिंहसमन्वितम्।।७।।
यत्राऽऽह नारदो धर्मान्बृहत्कल्पाश्रितानिह। पञ्चविंशसहस्राणि नारदीयं तदुच्यते।।८।।
सधेनुं (नु)चाऽऽश्विने दद्यात्सिद्धिमात्यन्तिकीं लभेत्। यत्राधिकृत्य शत्रूणां धर्माधर्मविचारणा।।९।।
कार्तिक्यां नवसाहस्रं मार्कण्डेयमथार्पयेत्। अग्निना यद्वसिष्ठाय प्रोक्तं चाऽऽग्नेयमेव तत्।।१०।।

अध्याय-२७२

पुराणदान आदि का महत्त्व

पुष्करजी ने कहा कि-हे भगवान् परशुराम! प्राचीन काल में लोकपितामह ब्रह्मा ने मरीचि के सम्मुख जिसका वर्णन किया था, पचीस हजार श्लोकों से समन्वित उस 'ब्रह्मपुराण' को लिखकर ब्राह्मण को दान देना चाहिये। स्वर्गाभिलाषी वैशाख की पूर्णिमा को जलधेनु के साथ 'ब्रह्मपुराण' का दान करना चाहिये। 'पद्मपुराण' में जो पद्मसंहिता (भूमिखण्ड) है, उसमें द्वादश हजार श्लोक हैं। ज्येष्ठ मास की पूर्णिमा को गौ के साथ इसका दान करना चाहिये। महर्षि पराशर ने वाराह-कल्प के वृत्तान्त को अभिगत करके तेईस हजार श्लोकों का 'विष्णुपुराण' कहा है। इसको आषाढ़ की पूर्णिमा का जलधेनु सहित सम्प्रदान करना चाहिये। इससे मनुष्य भगवान् श्रीहरि विष्णु के परमपद को प्राप्त होता है। चौदह हजार श्लोकों वाला 'वायुपुराण' देवाधिदेव भगवान् श्रीशिवशंकर को अत्यन्त प्रिय है। इसमें वायुदेव ने श्वेतकत्प के उद्देश्य से धर्म का वर्णन किया है। इस पुराण को लिखकर श्रावण की पूर्णिमा को गुड़धेनु के साथ ब्राह्मण को दान करना चाहिये। गायत्री-मन्त्र का आश्रय लेकर निर्मित हुए जिस पुराण में भागवत-धर्म का विस्तृत वर्णन है, सारस्वतकल्प का प्रसङ्ग कहा गया है तथा जो वृत्रासुर-वध की कथा से युक्त है-उस पुराण को 'भागवत' कहते हैं। इसमें अठारह हजार श्लोक हैं। इसको सोने के सिंहासन के साथ भाद्रपद की पूर्णिमा को दान करना चाहिये। जिसमें देवर्षि नारद ने बृहत्कल्प के वृत्तान्त का आश्रय लेकर घर्मों की व्याख्या की है, वह 'नारदपुराण' है। उसमें पचीस हजार श्लोक हैं। आश्विन मास की पूर्णिमा को धेनुसहित उसका दान करना चाहिये। इससे आत्यन्तिक सिद्धि प्राप्त होती है। जिसमें पक्षियों के द्वारा धर्माधर्म का विचार किया गया है, नौ हजार श्लोकों वाले उस 'मार्कण्डेयपुराण' का कार्तिक की पूर्णिमा को दान करना चाहिये। श्रीअग्नि देव ने वसिष्ठ मुनि को जिसका श्रवण कराया है, वह

लिखित्वा पुस्तकं दद्यान्मार्गशीर्ष्यां स सर्वदः। द्वादशैव सहस्राणि सर्वविद्यावबोधनम्॥११॥
चतुर्दश सहस्राणि भविष्यं सूर्यसंभवम्। भवस्तु मनवे प्राह दद्यात्पौष्यां गुडादिमत्॥१२॥
सावर्णिना नारदाय ब्रह्मवैवर्तमीरितम्। रथन्तरस्य वृत्तान्तमष्टादशसहस्रकम्॥१३॥
माघ्यां दद्याद्वराहस्य चरितं ब्रह्मलोकभाक्। यत्राग्निलिङ्गमध्यस्थो धर्मान्प्राहमहेश्वरः॥१४॥
आग्नेयकल्पे तल्लिङ्गमेकादशसहस्रकम्। तद्दत्वा शिवमाप्नोति फाल्गुन्यां तिलधेनुमत्॥१५॥
चतुर्विंशसहस्राणि वाराहं विष्णुनेरितम्। भूमै (म्यै) वराहचरितं मानवस्य प्रवृत्तितः॥१६॥
सहेम गारुडं चैत्र्यां पदमाप्नोति वैष्णवम्। चतुरशीतिसाहस्रं स्कान्दं स्कन्देरितं महत्॥१७॥
अधिकृत्य सधर्मांश्च कल्पे तत्पुरुषेऽर्पयेत्। वामनं दशसाहस्रं धौमकल्पे हरेः कथाम्॥१८॥
दद्याच्छरदि विषुवे धर्मार्थादिनिबोधनम्। कूर्मं चाष्टसहस्रं च कूर्मोक्तं च रसातले॥१९॥
इन्द्रद्युम्नप्रसङ्गेन दद्यात्तद्धेमकूर्मवत्। त्रयोदश सहस्राणि मात्स्यं कल्पादितोऽब्रवीत्॥२०॥
मत्स्यो हि मनवे दद्याद्विषुवे हेममत्स्यवत्। गारुडं चाष्टसाहस्रं विष्णूक्तं तार्क्षकल्पके॥२१॥
विश्वाण्डाद्गरुडोत्पत्तिं तद्दद्याद्धेमहंसवत्। ब्रह्मा ब्रह्माण्डमाहात्म्यमधिकृत्याब्रवीत्तु यत्॥२२॥

'श्रीअग्निमहापुराण' है। इस ग्रन्थ को लिखकर मार्गशीर्ष की पूर्णिमा तिथि में ब्राह्मण के हाथ में देना चाहिये। इस पुराण का दान सब कुछ देने वाला है। इसमें द्वादश हजार ही श्लोक हैं और यह पुराण सम्पूर्ण विद्याओं का बोध कराने वाला है। 'भविष्यपुराण' सूर्य-सम्भव है। इसमें सूर्य देव की महिमा बतलायी गयी है। इसमें चौदह हजार श्लोक हैं। इसको देवाधिदेव भगवान् श्रीशिवशंकर ने मनु से कहा है। गुड़ आदि वस्तुओं के साथ पौष की पूर्णिमा को इसका दान करना चाहिये।सावर्ण्य-मनु ने देवर्षि नारद से 'ब्रह्मवैवर्तपुराण' का वर्णन किया है। इसमें रथन्तर कल्प का वृत्तान्त है और अठारह हजार श्लोक हैं। माघमास की पूर्णिमा को इसका दान करना चाहिये। वरहा के चरित्र से युक्त जो 'वाराहपुराण' है, उसका भी माघ मास की पूर्णिमा को दान करना चाहिये। ऐसा करने से दाता ब्रह्मलोक का भागी होता है। जहाँ अग्निमय लिंग में स्थित भगवान् महेश्वर ने आग्नेय कल्प के वृत्तान्तों से युक्त धर्मों का विवेचन किया है, वह ग्यारह हजार श्लोकों वाला 'लिंगपुराण' है। फाल्गुन की पूर्णिमा को तिलधेनु के साथ उसका दान करके मनुष्य शिवलोक को प्राप्त होता है। 'वाराहपुरण' में भगवान् श्रीहरि विष्णु ने भूदेवी के प्रति मानव-जगत् की प्रवृत्ति से लेकर वराह-चरित्र आदि उपाख्यानों का वर्णन किया है। इसमें चौबीस हजार श्लोक है। चैत्र की पूर्णिमा को 'गरुडपुराण' का स्वर्ण के साथ दान करके मनुष्य विष्णुपद को प्राप्त होता है। 'स्कन्दमहापुराण' चौरासी हजार श्लोकों का है। कुमार स्कन्द ने तत्पुरुष-कल्प की कथा एवं शैवमत का आश्रय लेकर इस महापुराण का प्रवचन किया है। इसका भी चैत्र की पूर्णिमा को दान करना चाहिये। दस हजार श्लोकों से युक्त 'वामनपुराण' धर्मार्थ आदि पुरुषार्थों का अवबोधक है। इसमें श्रीहरि विष्णु की धौमकल्प से सम्बन्धित कथा का वर्णन है। शरद् पूर्णिमा में विषुव-संक्रान्ति के समय इसका दान करना चाहिये। 'कूर्मपुराण' में आठ हजार श्लोक है। कूर्मावतार श्रीहरि विष्णु ने इन्द्रद्युम्न के उद्देश्य से रसातल में इसको कहा था। इसका स्वर्णमय कच्छप के साथ दान करना चाहिये। मत्स्यरूपी भगवान् श्रीहरि विष्णु ने कल्प के आदिकाल में मनु को तेरह हजार श्लोकों से युक्त 'मस्त्यपुराण' का श्रवण कराया था। इसको हेमनिर्मित मस्त्य के साथ सम्प्रदान करना चाहिये। आठ हजार श्लोकों वाले 'गरुडपुराण' का भगवान् श्रीहरि विष्णु ने तार्क्ष्यकल्प में प्रवचन किया था। इसमें विश्वाण्ड से गरुड़ की उत्पत्ति की कथा कही गयी है। इसका स्वर्णहंस के साथ दान करना

तच्च द्वादशसाहस्त्रं ब्रह्माण्डं तद्द्विजेऽर्पयेत्। भारते पर्वसमाप्तौ वस्त्रगन्धस्त्रगादिभिः॥२३॥
वाचकं पूजयेदादौ भोजयेत्पायसैर्द्विजान्। गोभूग्रामसुवर्णादि दद्यात्पर्वणि पर्वणि॥२४॥
समाप्ते भारते विप्रं संहितापुस्तकं यजेत्। शुभे देशे निवेश्याय क्षौमवस्त्रादिनाऽऽवृतम्॥२५॥
नरनारायणौ पूज्यौ पुस्तकं कुसुमादिभिः। गोऽन्नभूहेम दत्वाऽथ भोजयित्वा क्षमापयेत्॥२६॥
महादानानि देयानि रत्नानि विविधानि च। मासकौ द्वौ त्रयश्चैव मासे मासे प्रदापयेत्॥२७॥
अयनादौ श्रावकस्य दानमादौ विधीयते। श्रोतृभिः सकलैः कार्यं श्रावके पूजनं द्विज॥२८॥
इतिहासपुराणानां पुस्तकानि प्रयच्छति। पूजयित्वाऽऽयुरारोग्यं स्वर्गमोक्षमवाप्नुयात्॥२९॥

॥इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गति पुराणदानादिमाहात्म्यकथनं नाम द्विसप्तत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः॥२७२॥

चाहिये। भगवान् ब्रह्मा ने ब्रह्माण्ड के माहात्म्य का आश्रय लेकर जिसे कहा है, द्वादश हजार श्लोकों वाले उस 'ब्रह्माण्डपुराण' को भी लिखकर ब्राह्मण के हाथ में दान करना चाहिये॥१-२२॥

महाभारत-श्रवणकाल में प्रत्येक पर्व की समाप्ति पर पहले कथावाचक का वस्त्र, गन्ध, माल्य आदि से पूजन करना चाहिये। तत्पश्चात् ब्राह्मणों को खीर का भोजन कराये। प्रत्येक पर्व की समाप्ति पर गौ, भूमि, ग्राम तथा स्वर्ण आदि का दान करना चाहिये। महाभारत के पूर्ण होने पर कथावाचक ब्राह्मण और महाभारत-संहिता की पुस्तक का पूजन करना चाहिये। ग्रन्थ को पवित्र स्थान पर रेशमी वस्त्र से आच्छादित करके पूजन करना चाहिये। फिर भगवान् नर-नारायण की पुष्प आदि से पूजा करनी चाहिये। गौ, अन्न, भूमि, स्वर्ण के दानपूर्वक ब्राह्मणों को भोजन कराकर क्षमा-याचना करनी चाहिये। श्रोता को विविध रत्नों का महादान करना चाहिये। प्रत्येक मास में कथावाचक को दो या तीन माशे स्वर्ण का दान करना चाहिये और अयन के प्रारम्भ में भी पहले उसके लिये स्वर्ण के दान का विधान है। हे द्विजश्रेष्ठ! समस्त श्रोताओं को भी कथावाचक का पूजन करना चाहिये। जो मनुष्य इतिहास एवं पुराणों का पूजन करके दान करता है, वह आयु, आरोग्य, स्वर्ग और मोक्ष को भी प्राप्त कर लेता है॥२३-२९॥

॥इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी दो सौ बहत्तरवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ॥२७२॥

❖❖❖

अथ त्रिसप्तत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

सूर्यवंशाकीर्तनम्

अग्निरुवाच

सूर्यवंशं सोमवंशं राज्ञां वंशं वदामि ते। हरेर्ब्रह्मा पद्मगोऽभून्मरीचिर्ब्रह्मणः सुतः॥१॥
मरीचेः कश्यपस्तस्माद्विवस्वांस्तस्य पत्न्यपि। संज्ञा राज्ञी प्रभा तिस्रो राज्ञी रैवतपुत्रिका॥२॥
रैवतं सुषुवे पुत्रे प्रभातं च प्रभा रवेः। त्वाष्ट्री संज्ञा मनुं पुत्रं यमलौ यमुनां यमम्॥३॥
छाया संज्ञा च सावर्णि मनुं वैवस्वतं सुतम्। शनिं च तपतीं विष्टिं संज्ञायां चाश्विनौ पुनः॥४॥
मनोर्वैवस्वतस्याऽऽसन्पुत्रा वै न च तत्समाः। इक्ष्वाकुश्चैव नाभागो धृष्टः शर्यातिरेव च॥५॥
नरिष्यन्तस्तथा प्रांशुर्नाभागाद्यष्ट सत्तमाः। करुषश्च पृषध्रश्च अयोध्यायां महाबलाः॥६॥
कन्येला च मनोराशीद्बुधात्तस्यां पुरूरवाः। पुरूरवसमुत्पाद्य सेला सुद्युम्नतां गता॥७॥
सुद्युम्नादुत्कलगयौ विनताश्चस्त्रयो नृपाः। उत्कलस्योत्कलं राष्ट्रं विनताश्वस्य पश्चिमा॥८॥
दिक्पूर्वा राजवर्यस्य गयस्य च गया पुरी। वशि (सि) ष्ठवाक्यात्सुद्युम्नः प्रतिष्ठानमवाप ह॥९॥

अध्याय-२७३

सूर्यवंश विचार

श्रीअग्नि देव ने कहा कि–हे वसिष्ठ! अधुना मैं आपसे सूर्यवंश तथा राजाओं के वंश का वर्णन करने जा रहा हूँ। भगवान् श्रीहरि विष्णु के नाभिकमल से ब्रह्माजी प्रकट हुए हैं। ब्रह्माजी के पुत्र का नाम मरीचि है। मरीचि से कश्यप तथा कश्यप से विवस्वान् (सूर्य) का जन्म हुआ है। सूर्य की तीन स्त्रियाँ हैं–संज्ञा, राज्ञी और प्रभा। इनमें से 'राज्ञी' रैवत की पुत्री हैं। उन्होंने 'रेवन्त' नाम वाले पुत्र को जन्म दिया है। सूर्य की 'प्रभा' नाम वाली पत्नी से 'प्रभात' नाम वाला पुत्र हुआ। 'संज्ञा' विश्वकर्मा की पूत्री है। उनके गर्भ से वैवस्वत मनु तथा जुड़वीं सन्तान यम और यमुना की उत्पत्ति हुई है। संज्ञा की छाया को भी, जो स्त्रीरूप में प्रतिष्ठित थी, 'छाया-संज्ञा' कहते हैं। छाया-संज्ञा ने सूर्य के अंश से सावर्णि मनु तथा शनैश्चर नामक पुत्र को और तपती एवं विष्टि नाम वाली कन्याओं को जन्म दिया। उसके बाद (अश्वारूपधारिणी) संज्ञा से दोनों अश्विनीकुमारों की उत्पत्ति हुई।।१-४।।

वैवस्वत मनु के दस पुत्र हुए, जो उन्हीं के समान तेजस्वी थे। उनके नाम इस तरह हैं–इक्ष्वाकु, नाभाग, धृष्ट, शर्याति, नरिष्यन्त, प्रांशु, नृग, सत्पुरुषों में श्रेष्ठ दिष्ट, करूप और पृषध्र–ये दसों महाबली राजा अयोध्या में हुए। मनु की इला नाम वाली एक कन्या भी थी, जिसके गर्भ से बुध के अंश से पुरूरवा का जन्म हुआ। पुरूरवा को उत्पन्न करके इला पुरुषरूप में परिणत हो गयी। उस समय उसका नाम सुद्युम्न हुआ। सुद्युम्न से उत्कल, गय और विनताश्व–इन तीन राजाओं का जन्म हुआ। उत्कल को उत्कलप्रान्त (उड़ीसा) का राज्य मिला, विनताश्व का पश्चिमदिशा पर अधिकार हुआ तथा राजाओं में श्रेष्ठ गय पूर्वदिशा के राजा हुए, जिनकी राजधानी गयापुरी थी। राजा सुद्युम्न वसिष्ठ ऋषि के आदेश से प्रतिष्ठानपुर में आ गये और उसी को अपनी राजधानी बनाया। उन्होंने वहाँ का राज्य पाकर उसको पुरूरवा को दे दिया। नरिष्यन्त के पुत्र 'शक' नाम से प्रसिद्ध हुए। नाभाग से परमवैष्णव अम्बरीष का जन्म हुआ।

तत्पुरूरवसे प्रादात्सुद्युम्नो राज्यमाप्य तु। नरिष्यतः शकाः पुत्रा नाभागस्य च वैष्णवः।।१०।।
अम्बरीषः प्रजापालो धार्ष्टकं धृष्टतः कुलम्। सुकन्यानर्तौ शर्यातेर्वैरोह्यानर्ततो नृपः।।११।।
आनर्तविषयश्चाऽऽसीत्पुरी चाऽऽसीत्कुशलस्थली। रेवस्य रैवतः पुत्रः ककुद्मी नाम धार्मिकः।।१२।।
ज्येष्ठः पुत्रशतस्याऽऽसीद्राज्यं प्राप्य कुशस्थलीम्। स कन्या सहितः श्रुत्वा गान्धर्वं ब्रह्मणोऽन्तिके।।१३।।
मुहूर्तभूतं देवस्य मर्त्ये बहुयुगं गतम्। आजगाम जवेनाथ स्वां पुरीं यादवैर्वृताम्।।१४।।
कृतां द्वारवतीं नाम बहुद्वारां मनोरमाम्। भोजवृष्ण्यन्धकैर्गुप्तां वासुदेवपुरोगमैः।।१५।।
रेवतीं बलदेवाय ददौ ज्ञात्वा ह्यनित्यताम्। तपः सुमेरुशिखरे तप्त्वा विष्ण्वालयं गतः।।१६।।
नाभागस्य च पुत्रौ द्वौ वैश्यो ब्राह्मणतां गतौ। करूषस्य तु कारूषाः क्षत्रिया युद्धदुर्मदाः।।१७।।
शूद्रत्वं च पृषध्रोऽगाद्धिंसयित्वा गुरोश्च गाम्। मनुपुत्रादथेक्ष्वाकोर्विकुक्षिर्देवराडभूत्।।१८।।
विकुक्षेस्तु ककुत्स्थोऽभूत्तस्य पुत्रः सुयोधनः। तस्य पुत्रः पृथुर्नाम विश्वगाश्वः पृथोः सुतः।।१९।।
आयुस्तस्य च पुत्रोऽभूद्युवनाश्वस्तथा सुताः। युवनाश्वाच्च श्रावन्तः पूर्वे श्रावन्तिका पुरी।।२०।।
श्रावन्ताद्बृहदश्वोऽभूत्कुवलाश्वस्ततो नृपः। धुन्धुमारत्वमगमद्धुन्धोर्नाम्ना च वै पुरा।।२१।।
धुन्धुमारात्त्रयो भूपा दृढाश्वो दण्ड एव च। कपिलोऽथ दृढाश्वात्तु हर्यश्वश्च प्रमोदकः।।२२।।

वे प्रजाओं का अच्छी तरह पालन करते थे। राजा धृष्ट से धार्ष्टक-वंश का विस्तार हुआ। सुकन्या और आनर्त–ये दो शर्याति की संतानें हुई। आनर्त से 'रेव' नामक नरेश की उत्पत्ति हुई। आनर्तदेश में उनका राज्य था और कुशस्थली उनकी राजधानी थी। रेवके पुत्र रैवत हुए, जो 'कुकुद्मी' नाम से प्रसिद्ध और धर्मात्मा थे। वे अपने पिता के सौ पुत्रों में सबसे बड़े थे, इसलिये कुशस्थली का राज्य उन्हीं को मिला।।५-१२।।

एक समय की बात है–वे अपनी कन्या रेवती को साथ लेकर ब्रह्मा जी के पास गये और वहाँ संगीत सुनने लगे। वहाँ ब्रह्मा जी के समय से दो ही घड़ी बीती, परन्तु इतने ही में मर्त्यलोक के अन्दर अनेक युग समाप्त हो गये। संगी सुनकर वे बड़े वेग से अपनी पुरी को लौटे, परन्तु अधुना उस पर युदवंशियों का अधकार हो गया था। उन्होंने कुशस्थली की जगह द्वार का नाम की पुरी बसायी थी, जो बड़ी मनोरम और अनेक द्वारों से सुशोभित थी। भोज, वृष्णि और अन्धकवंश के वासुदेव आदि वीर उसकी रक्षा करते थे। वहाँ जाकर रैवत ने अपनी कन्या रेवती का बलदेव जी से विवाह कर दिया और संसार की अनित्यता जानकर सुमेरु पर्वत के शिखर पर जाकर तपस्या करने लगे। अन्त में उनको विष्णुधाम की प्राप्ति हुई।।१३-१६।।

नाभाग के दो पुत्र हुए, जो वैश्या के गर्भ से उत्पन्न हुए थे। वे (अपनी विशेष तपस्या के कारण) ब्राह्मणत्व को प्राप्त हुए। करूष के पुत्र 'कारूष' नाम से प्रसिद्ध क्षत्रिय हुए, जो युद्ध में मतवाले हो उठते थे। पुषध्र ने भूल से अपने गुरु की गायकी हिंसा कर डाली थी, इसलिये वे श्रापवश शूद्र हो गये। मनुपुत्र इक्ष्वाकु के पुत्र विकुक्षित हुए, जो (कुछ काल के लिये) देवताओं के राज्य पर आसीन हुए थे। विकुक्षि के पुत्र ककुत्स्थ हुए। ककुत्स्थ का पुत्र सुयोधन नाम से प्रसिद्ध हुआ। उसके पुत्र का नाम 'पृथु' था। पृथु से विश्वगव्य का जन्म हुआ। उसका पुत्र आयु और आयु का पुत्र युवनाश्व हुआ। युवनाश्व से श्रावन्त की उत्पत्ति हुई, जिन्होंने पूर्वदिशा में श्रावन्ति की नाम की पुरी

हर्यश्वाच्च निकुम्भोऽभूत्संहताश्वो निकुम्भतः। अकृशाश्वो रणाश्वश्च संहताश्वसुतावुभौ॥२३॥
युवनाश्वो रणाश्वस्य मांधाता युवनाश्वतः। मांधातुः पुरुकुत्सोऽभून्मुचुकु(कु)न्दो द्वितीयकः॥२४॥
पुरुकुत्सात्त्रसद्दस्युः संभूतो नर्मदाभवः। संभूतस्य सुधन्वाऽभूत्त्रिधन्वाऽथ सुधन्वनः॥२५॥
त्रिधन्वनस्तु तरुणस्तस्य सत्यव्रतः सुतः। सत्यव्रतात्सत्यरथो हरिश्चन्द्रश्च तत्सुतः॥२६॥
हरिश्चन्द्राद्रोहिताश्वो रोहिताश्वाद्वृकोऽभवत्। वृकाद्बाहुश्च बाहोश्च सगरस्तस्य च प्रिया॥२७॥
प्रभा षष्टिसहस्राणां सुतानां जननी ह्यभूत्। तुष्टादौर्वान्नृपादेकं भानुमत्यसमञ्जसम्॥२८॥
खनन्तः पृथिवीं दग्धाः कपिलेनाथ सागराः। असमञ्जसोंऽशुमांश्च दिलीपोंऽशुमतोऽभवत्॥२९॥
भगीरथो दिलीपात्तु येन गङ्गाऽवतारिता। भगीरथात्तु नाभागो नाभागादम्बरीषकः॥३०॥
सिन्धुद्वीपोऽम्बरीषात्तु श्रुतायुस्तत्सुतः स्मृतः। श्रुतायोर्ऋतुपर्णोऽभूत्तस्य कल्माषपादकः॥३१॥
कल्माषाङ्घ्रेः सर्वकर्मा ह्यनरण्यस्ततोऽभवत्। अनरण्यात्तु निघ्नोऽथ (दिलीपस्तत्सुतोऽभवत्)॥३२॥
तस्य राज्ञो रघुर्जज्ञे तत्सुतोऽपि ह्यजोऽभवत्। तस्माद्दशरथो जातस्तस्य पुत्राचतुष्टयम्॥३३॥
नारायणात्मकाः सर्वे रामस्तस्याग्रजोऽभवत्। रावणान्तकरो राजा ह्ययोध्यायां रघूत्तमः॥३४॥

बसायी। श्रावन्त से बृहदश्व और बृहदश्व से कुवलाश्व नामक राजा का जन्म हुआ। इन्होंने प्राचीन काल में धुन्धु नाम से प्रसिद्ध दैत्य का वध किया था, इसलिये उसी के नाम पर ये 'धुन्धुमार' कहलाये। धुन्धुमार से तीन पुत्र हुए। वे तीनों ही राजा थे। उनके नाम थे—दृढाश्व, दण्ड और कपिल। दृढाश्व से हर्यश्व और प्रमोदक ने जन्म ग्रहण किया। हर्यश्व से निकुम्भ और निकुम्भ से संहताश्व की उत्पत्ति हुई। संहताश्व के दो पुत्र हुए—अकृशाश्व तथा रणाश्व। रणाश्व के पुत्र युवनाश्व और युवनाश्व के पुत्र राजा माधाता हुए। मांधाता के भी दो पुत्र हुए, जिनमें एक का नाम पुरुकुत्स था तरफ दूसरे का नम मुचुकुन्द॥१७-२४॥

पुरुकुत्स से त्रसद्दस्यु का जन्म हुआ। वे नर्मदा के गर्भ से उत्पन्न हुए थे। उनका दूसरा नाम 'सम्भूत' भी था। सम्भूत के सुधन्वा और सुधन्वा के पुत्र त्रिधन्वा हुए। त्रिधन्वा के तरुण और तरुण के पुत्र सत्यव्रत थे। सत्यव्रत से सत्यरथ हुए, जिनके पुत्र हरिश्चन्द्र थे। हरिश्चन्द्र से रोहिताश्व का जन्म हुआ, रोहिताश्व से वृक हुए, वृक से बाहु और बाहु से सगर की उत्पत्ति हुई। सगर की प्यारी पत्नी प्रभा थी, जो प्रसन्न हुए और्व मुनि की कृपा से साठ हजार पुत्रों की जननी हुई तथा उनकी दूसरी पत्नी भानुमती ने राजा से एक ही पुत्र का उत्पन्न किया, जिसका नाम असमञ्जस था। सगर के साठ हजार पुत्र पृथ्वी खोदते समय भगवान् कपिल के क्रोध से भस्म हो गये। असमञ्जस के पुत्र अंशमान् और अंशुमान् के दिलीप हुए। दिलीप से भगीरथ का जन्म हुआ, जिन्होंने गंगा को पृथ्वी पर उतारा था। भगीरथ से नाभाग और नाभाग से अम्बरीष हुए। अम्बरीष के सिन्धुद्वीप और सिन्धुद्वीप के पुत्र श्रुतायु हुए। श्रुतायु के ऋतु पर्ण और ऋतुपर्ण के पुत्र कल्माषपाद थे। कल्माष पाद से सर्वकर्मा और सर्वकर्मा से अनरण्य हुए। अनरण्य के निघ्न और निघ्न के पुत्र दिलीप हुए। राजा दिलीप के रघु और रघु के पुत्र अज थे। अज से दशरथ का जन्म हुआ। दशरथ के चार पुत्र हुए—वे सभी भगवान् नारायण के स्वरूप थे। उन सबमें श्रेष्ठ श्रीरामचन्द्र जी थे। उन्होंने दशानन रावण का वध किया था। रघुनाथ जी अयोध्या के सर्वश्रेष्ठ राजा हुए। महर्षि वाल्मीकि ने देवर्षि नारदजी के मुँह से उनका प्रभाव सुनकर (रामायण के नाम से) उनके चरित्र का वर्णन किया था। श्रीरामचन्द्र जी के दो पुत्र हुए, जो वंश

वाल्मीकिर्यस्य चरितं चक्रे तन्नारदश्रवात्। रामपुत्रौ कुशलवौ सीतायां कुलवर्धनौ।।३५।।
अतिथिश्च कुशाज्जज्ञे निषधस्तस्य चाऽऽत्मजः। निषधात्तु नलो जज्ञे नभोऽजायत वै नलात्।।३६।।
नभसः पुण्डरीकोऽभूत्सुधन्वा च ततोऽभवत्। सुधन्वनो देवानीको ह्यहीनाश्वश्च तत्सुतः।।३७।।
अहीनाश्वात्सहस्राश्वश्चन्द्रालोकस्ततोऽभवत्। चन्द्रावलोकतस्तारापीडोऽस्माच्चन्द्रपर्वतः।।३८।।
चन्द्रगिरेर्भानुरथः श्रुतायुस्तस्य चाऽत्मजः। इक्ष्वाकुवंशप्रभवाः सूर्यवंशधराः स्मृताः।।३९।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते सूर्यवंशकथनं नाम त्रिसप्तत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः।।२७३।।

की कीर्ति बढ़ाने वाले थे। वे सीता जी के गर्भ से उत्पन्न होकर कुश और लव के नाम से प्रसिद्ध हुए। कुश से अतिथि का जन्म हुआ। अतिथि के पुत्र निषध हुए। निषध से नल की उत्पत्ति हुई; ये सुप्रसिद्ध राजा दमयन्तीपति नल से भिन्न हैं; नल से नभ हुए। नभ से पुण्डरीक और पुण्डरीक से सुधन्वा उत्पन्न हुए। सुधन्वा के पुत्र देवीनाक और देवानीक के अहीनाश्व हुए। अहीनाश्व से सहस्राश्व और सहस्राश्व से चन्द्रालोक हुए। चन्द्रालोक से भानुरथ का जन्म हुआ। भानुरथ का पुत्र श्रुतायु नाम से प्रसिद्ध हुआ। ये इक्ष्वाकुवंश में उत्पन्न राजा सूर्यवंश विस्तार करने वाले माने गये हैं।।२५-३९।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी दो सौ तिहत्तरवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।२७३।।

❖❖❖

अथ चतुःसप्तत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

सोमवंशवर्णनम्

अग्निरुवाच

सोमवंशं प्रवक्ष्यामि पठितं पापनाशनम्। विष्णुनाभ्यञ्ज (ब्ज) जो ब्रह्मा ब्रह्मपुत्रोऽत्रिरत्रितः॥१॥
सोमश्चक्रे राजसूयं त्रैलोक्यं दक्षिणां ददौ। समाप्तेऽवभृथे सोमं तद्रूपालोकनेच्छवः॥२॥
कामबाणाभितप्ताङ्ग्यो नव देव्यः सिषेविरे। लक्ष्मीर्नारायणं त्यक्त्वा सिनीवाली च कर्दमम्॥३॥
द्युतिर्विभावसुं त्यक्त्वा पुष्टिर्धातारमव्ययम्। प्रभा प्रभाकरं त्यक्त्वा हविष्मन्तं कुहुः (हूः) स्वयम्॥४॥
कीर्तिर्जयन्तं भर्तारं वसुर्मारीच कश्यपम्। धृतिस्त्यक्त्वा पतिं नन्दीं सोममेवाभजत्तदा॥५॥
स्वकीया इव सोमोऽपि कामयामास तास्तदा। एवं कृतापचारस्य तासां भर्तृगणस्तदा॥६॥
न शशाकापचाराय शापैः शस्त्रादिभिः पुनः। सप्तलोकैकनाथत्वमवाप्तस्तपसा ह्युत॥७॥
विबभ्राम मतिस्तस्य विनयादनयाहता। बृहस्पतेः स वै भार्यां तारां नाम यशस्विनीम्॥८॥
जहार तरसा सोमो ह्यवमन्याङ्गिरः सुतम्। ततस्तद्युद्धमभवत्प्रख्यातं तारकामयम्॥९॥
देवानां दानवानां च लोकक्षयकरं महत्। ब्रह्मा निवार्योशनसं तारामाङ्गिरसे ददौ॥१०॥
तामन्तः प्रसवां दृष्ट्वा गर्भं त्यजावब्रीद्गुरुः। गर्भस्त्यक्तः प्रदीप्तोऽथ प्राहाहं सोमसंभवः॥११॥

अध्याय-२७४

सोमवंश विचार

श्रीअग्नि देव ने कहा कि–हे वसिष्ठ! अधुना मैं सोमवंश का वर्णन करने जा रहा हूँ, इसका पाठ करने से पाप का विनाश होता है। विष्णु के नाभिकमल से ब्रह्मा उत्पन्न हुए। ब्रह्मा के पुत्र महर्षि अत्रि हुए। अत्रि से सोम की उत्पत्ति हुई। सोम ने राजसूय-यज्ञ किया और उसमें तीनों लोकों के राज्य का उन्होंने दक्षिणारूप से दान कर दिया। जिस समय यज्ञ के अन्त में अवभृथस्नान समाप्त हुआ तो उनका रूप देखने की इच्छा से नौ देवियाँ चन्द्रमा के पास आयीं और कामबाण से संतप्त होकर उनकी सेवा करने लगीं। लक्ष्मी (कान्ति) नारायण को छोड़कर चली आयीं। सिनी वाली कर्दम को, द्युति अग्नि को और पुष्टि अपने अविनाशी पति धाता को त्यागकर आ गयीं। प्रभा प्रभाकर को और कूहू हविष्मान् को छोड़कर स्वयं सोम के पास चली आयीं। कीर्ति ने अपने स्वामी जयन्त को छोड़ा और वसु मरीचिनन्दन कश्यप को तथा धृति भी उस समय अपने पति नन्दि को त्यागकर सोम की ही सेवा में संलग्न हो गयीं॥१-५॥ चन्द्रमा ने भी उस समय उन देवियों को अपनी ही पत्नी की भाँति सकामभाव से अपनाया। सोम के इस तरह अत्याचार करने पर भी उस समय उन देवियों के पति श्राप तथा शस्त्र आदि के द्वारा उनका अनिष्ट करने में सक्षम न हो सके; अपितु सोम ही अपनी तपस्या के प्रभाव से 'भू' आदि सातों लोकों के एकमात्र स्वामी हुए। इस अनीति से ग्रस्त होकर चन्द्रमा की बुद्धि विनय से भ्रष्ट होकर भ्रान्त हो गयी और उन्होंने अङ्गिरानन्दन बृहस्पति जी का अपमान करके उनकी यशस्विनी पत्नी तारा का बलपूर्वक अपहरण कर लिया। इसके कारण देवताओं और दानवों में संसार का विनाश करने वाला महान् युद्ध हुआ, जो 'तारकामय संग्राम' के नाम से विख्यात है। अन्त में ब्रह्मा जी ने चन्द्रमा की तरफ से युद्ध में सहायता पहुँचाने वाले

एवं सोमाद्बुधः पुत्रः पुत्रस्तस्य पुरूरवाः। स्वर्गं त्यक्त्वोर्वशी सा तं वरयामास चाप्सराः॥१२॥
तथा सहावसद्राजा दश वर्षाणि पञ्च च। पञ्च षट्सप्त चाष्टौ च दश चाष्टौ महामुने॥१३॥
एकोऽग्निरभवत्पूर्वं तेन त्रेता प्रवर्तिता। पुरूरवा योगशीलो गान्धर्वलोकमीयिवान्॥१४॥
आयुर्दृढायुरश्वायुर्धनायुर्धृतिमान्वसुः। दिविजातः शतायुश्च सुषुवे चोर्वशी नृपात्॥१५॥
आयुषो नहुषः पुत्रो वृद्धशर्मा रजिस्तथा। दम्भो विपाप्मा पञ्चाद्यं रजेः पुत्रशतं ह्यभूत्॥१६॥
राजेया इति विख्याता विष्णुदत्तवरो रजिः। देवासुरे रणे दैत्यानबधीत्सुरयाचितः॥१७॥
शतावेन्द्राय पुत्रत्वं दत्वा राज्यं दिवं गतः। रजेः पुत्रैर्हृतं राज्यं शक्रस्याथ सुदुर्मनाः॥१८॥
ग्रहशान्त्यादिविधिना गुरुरिन्द्राय तद्ददौ। मोहयित्वा रजिसुतानसंस्ते निजधर्मतः॥१९॥
नहुषस्य सुताः सप्त यतिर्ययातिरुत्तमः। उद्भवः पञ्चकश्चैव शर्यातिमेघपालकौ॥२०॥
यतिः कुमारभावेऽपि विष्णुं ध्यात्वा हरिं गतः। देवयानी शुक्रकन्या ययातेः पत्न्यभूत्तदा॥२१॥
वृषपर्वजा शर्मिष्ठा ययातेः पञ्च तत्सुताः। यदुं च तुर्वसुं चैव देवयानी व्यजायत॥२२॥
द्रुह्युं चानुं पुरुं च शर्मिष्ठा वार्षपर्वणी। यदुः पुरुश्चाभवतां तेषां वंशविवर्धनौ॥२३॥

॥ इति श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते सोमवंशकथनं नाम चतुःसप्तत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः॥२७४॥

शुक्राचार्य को रोककर तारा बृहस्पति जी को दिला दी। देवगुरु बृहस्पति ने तारा को गर्भिणी देखकर कहा—'इस गर्भ का त्याग कर दो।' उनकी आज्ञा से तारा ने उस गर्भ का त्याग किया, जिससे बड़ा तेजस्वी कुमार प्रकट हुआ। उसने उत्पन्न होते ही कहा—'मैं चन्द्रमा का पुत्र हूँ'। इस तरह सोम से बुध का जन्म हुआ। उनके पुत्र पुरूरवा हुए; उर्वशी नाम की अप्सरा ने स्वर्ग छोड़कर पुरूरवा का वरण किया॥६-१२॥

हे महामुने! राजा पुरूरवा ने उर्वशी के साथ उनसठ वर्षों तक विहार किया। प्राचीन काल में एक ही अग्नि थे। राजा पुरूरवा ने ही उनको (गार्हपत्य, आहवनीय और दक्षिणाग्नि-भेद से) तीन रूपों में प्रकट किया। राजा योगी थे। अन्त में गन्धर्वलोक की प्राप्ति हुई। उर्वशी ने राजा पुरूरवा से आयु, दृढ़ायु, अश्वायु, धनायु, धृतिमान्, वसु, दिविजात और शतायु—इन आठ पुत्रों को उत्पन्न किया। आयु के नहुष, वृद्धशर्मा, रजि, दम्भ और विपाप्मा—ये पाँच पुत्र हुए। रजि से सौ पुत्रों का जन्म हुआ। वे 'राजेय' के नाम से प्रसिद्ध थे। राजा रजि को भगवान् श्रीहरि विष्णु से वरदान प्राप्त हुआ था। उन्होंने देवासुर-संग्राम में देवताओं की याचना से दैत्यों का वध किया था। इन्द्र राजा रजि के पुत्रभाव को प्राप्त हुए। रजि स्वर्ग का राज्य छीन लिया। इससे वे मन-ही-मन बहुत दुखी हुए। उसके बाद देवगुरु बृहस्पति ने ग्रह-शान्ति आदि की विधि से रजि के पुत्रों को मोहित करके राज्य लेकर इन्द्र का दे दिया। उस समय रजि के पुत्र अपने धर्म से भ्रष्ट हो गये थे। राजा नहुष के सात पुत्र हुए। उनके नाम थे—यति, ययाति, श्रेष्ठतम, उद्भव, पञ्चक, शर्याति और मेघपालक। यति कुमारावस्था में होने पर भी भगवान् श्रीहरि विष्णु का ध्यान करके उनके स्वरूप को प्राप्त हो गये। उस समय शुक्राचार्य की कन्या देवयानी तथा वृषपर्वा की पुत्री शर्मिष्ठा—ये दो राजा ययाति की पत्नियाँ हुईं। राजा के इन दोनों स्त्रियों से पाँच पुत्र उत्पन्न हुए। देवयानी ने यदु और तुर्वसु को जन्म दिया और वृषपर्वा की पुत्री शर्मिष्ठा ने द्रह्यु, अनु और पूरु—ये तीन पुत्र उत्पन्न किये। इनमें से यदु और पूरु—ये दो ही सोमवंश का विस्तार करने वाले हुए॥१३-२३॥

॥इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी दो सौ चौहत्तरवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ॥२७४॥

अथ पञ्चसप्तत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

यदुवंशवर्णनम्

अग्निरुवाच

यदोरासन्पञ्च पुत्रा ज्येष्ठस्तेषु सहस्रजित्। नीलाञ्जिको रघुः क्रोष्टुः शतजिच्च सहस्रजित्॥१॥
शतजिद्धैहयो रेणुहयो हय इति त्रयः। धर्मनेत्रो हैहयस्य धर्मनेत्रस्य संहतः॥२॥
महिमा संहतस्याऽऽसीन्महिम्नो भद्रसेनकः। भद्रसेनाद्दुर्गमोऽभूद्दुर्गमात्कनकोऽभवत्॥३॥
कनकात्कृतवीर्यस्तु कृताग्निः करवीरकः। कृतौजाश्च चतुर्थोऽभूत्कृतवीर्यात्तु सोऽर्जुनः॥४॥
दत्तोऽर्जुनाय तपते सप्त द्वीपमहीशताम्। ददौ बाहुसहस्रं च ह्यजेयत्वं रणे तथा॥५॥
अधर्मे वर्तमानस्य विष्णुहस्तान्मृतिर्ध्रुवा। दश यज्ञसहस्राणि सोऽर्जुनः कृतवान्नृपः॥६॥
अनष्टद्रव्यता राष्ट्रे तस्य संस्मरणादभूत्। न नूनं कार्तवीर्यस्य गतिं यास्यन्ति वै नृपाः॥७॥
यज्ञैर्दानैस्तपोभिश्च विक्रमेण श्रुतेन च। कार्तवीर्यस्य च शतं पुत्राणां पञ्च वै परम्॥८॥
शूरसेनश्च शूरश्च धृष्टोक्तः कृष्ण एव च। जयध्वजश्च नामाऽऽसीदावन्त्यो नृपतिर्महान्॥९॥
जयध्वजात्तालजङ्घस्तालजङ्घात्ततः सुताः। हैहयानां कुलाः पञ्च भोजाश्चाऽऽवन्तयस्तथा॥१०॥
वीतिहोत्राः स्वयं जाताः शौण्डिकेयास्तथैव च। वीतिहोत्रादनन्तोऽभूदनन्ताद्दुर्जयो नृपः॥११॥
क्रोष्टोर्वंशं प्रवक्ष्यामि यत्र जातो हरिः स्वयम्। क्रोष्टोस्तु वृजिनीवांश्च स्वाहाऽभूद्वृजिनीवतः॥१२॥

अध्याय-२७५

यदुवंश विचार

श्रीअग्नि देव ने कहा कि–हे वसिष्ठ! यदु के पाँच पुत्र थे–नीलाञ्जिक, रघु, क्रोष्टु, शतजित् और सहस्रजित्। इनमें सहस्रति् सबसे ज्येष्ठ थे। शतजित् के हैहय, रेणुहय और हय–ये तीन पुत्र हुए। हैहय के धर्मनेत्र और धर्मनेत्र के पुत्र संहत हुए। संहत के पुत्र महिमा तथा महिमा के भद्रसेन थे। भद्रसेन के दुर्गम और दुर्गम से कनक का जन्म हुआ। कनक से कृतवीर्य, कृताग्नि, करवीरक और चौथे कृतौजा नामक पुत्र की उत्पत्ति हुई। कृतवीर्य से अर्जुन हुए। अर्जुन ने तपस्या की, इससे प्रसन्न होकर भगवान् दत्तात्रेय ने उनको सातों द्वीपों की पृथ्वी का आधिपत्य, एक हजार भुजाएँ और संग्रमा में अजेयता का वरदान दिया। साथ ही यह भी कहा–'अधर्म में प्रवृत्त होने पर भगवान् श्रीहरि विष्णु के (अवतार श्रीभगवान् परशुरामजी के) हाथ से आपकी मृत्यु निश्चित है।' राजा अर्जुन ने दस हजार यज्ञों का अनुष्ठान किया। उनके स्मरण मात्र से राष्ट्र में किसी के धन का विनाश नहीं होता था। यज्ञ, दान, तपस्या, पराक्रम और शास्त्रज्ञान के द्वारा कोई भी राजा कृतवीर्यकुमार अर्जुन की गति को नहीं पा सकता। कार्तवीर्य अर्जुन के सौ पुत्र थे, उनमें पाँच प्रधान थे। उनके नाम हैं–शूरसेन, शूर, धृष्टोक्त, कृष्ण और जयध्वज। जयध्वज अवन्ती देश के महाराज थे। जयध्वज से तालजङ्घ का जन्म हुआ और तालजङ्घ से अनेक पुत्र उत्पन्न हुए, जो तालजङ्घ के ही नाम से प्रसिद्ध थे। हैहयवंशी क्षत्रियों के पाँच वंश हैं–भोज, अवन्ति, वीतिहोत्र, स्वयंजात और शौण्डिकेय। वीतिहोत्र से अनन्त की उत्पत्ति हुई और अनन्त से दुर्जय नामक राजा का जन्म हुआ॥१-११॥

अधुना क्रोष्टु के वंश का वर्णन करने जा रहा हूँ, जहाँ साक्षात् भगवान् श्रीहरि विष्णु ने अवतार धारण किया

स्वाहापुत्रो रुषद्गुश्च तस्य चित्ररथः सुतः। शशविन्दुश्चित्ररथाच्चक्रवर्ती हरौ रतः॥१३॥
शशविन्दोश्च पुत्राणां शतानामभवच्छतम्। धीमतां चारुरूपाणां भूरिद्रविणतेजसाम्॥१४॥
पृथुश्रवाः प्रधानोऽभूत्तस्य पुत्रः सुयज्ञकः। सुयज्ञस्योशनाः पुत्रस्तितिक्षुरुशनः सुतः॥१५॥
तितिक्षोस्तु मरुत्तोऽभूत्तस्मात्कंबलवर्हिषः। पञ्चाशद्रुक्मकवचाद्रुक्मेषुः पृथुरुक्मकः॥१६॥
हविर्ज्यामघः पापघ्नो ज्यामघः स्त्रीजितोऽभवत्। शैब्यायां ज्यामघादासीद्विदर्भस्तस्य कौशिकः॥१७॥
लोमपादः क्रथः श्रेष्ठात्कृतिः स्याल्लोमपादतः। कौशिकस्य चिदिः पुत्रस्तस्माच्चैद्या नृपाः स्मृताः॥१८॥
क्रथाद्विदर्भपुत्राश्च कुन्तिः कुन्तेस्तु धृष्टकः। धृष्टकस्य धृतिस्तस्य उदर्काख्यो विदूरथः॥१९॥
दशार्हपुत्रो व्योमस्तु व्योमाज्जीमूत उच्यते। जीमूतपुत्रो विकलस्तस्य भीमरथः सुतः॥२०॥
भीमरथान्नवरथस्ततो दृढरथोऽभवत्। शकुन्तिश्च दृढरथाच्छकुन्तेश्च करम्भकः॥२१॥
करम्भाद्देवरातोऽभूद्देवक्षेत्रश्च तत्सुतः। देवक्षेत्रान्मधुर्नाम मधोर्द्रवरसोऽभवत्॥२२॥
द्रवरसात्पुरुहूतोऽभूज्जन्तुरासीत्तु तत्सुतः। गुणी तु यादवो राजा जन्तुपुत्रस्तु सात्वतः॥२३॥
सात्वताद्भजमानस्तु वृष्णिरन्धक एव च। देवावृधश्च चत्वारस्तेषां वंशस्तु विश्रुताः॥२४॥
भजमानस्य बाह्योऽभूद्वृष्टिः कृमिर्निमिस्तथा। देवावृधाद्बभ्रुरासीत्तस्य श्लोकोऽत्र गीयते॥२५॥
यथैव शृणुमो दूराद्गुणांस्तद्वत्समन्तिकात्। बभ्रुः श्रेष्ठो मनुष्याणां देवैर्देवावृधः समः॥२६॥

था। क्रोष्टु से वृजिनीवान् और वृजिनीवान् से स्वाहा का जन्म हुआ। स्वाहा के पुत्र रुपद्गु और उनके पुत्र चित्ररथ थे। चित्ररथ से शशबिन्दु उत्पन्न हुए, जो चक्रवर्ती राजा थे। वे सदा भगवान् श्रीहरि विष्णु के भजन में ही लगे रहते थे। शशबिन्दु के दस हजार पुत्र थे। वे सब-के-सब बुद्धिमान्, सुन्दर, अधिक धनवान् और अत्यन्त तेजस्वी थे; उनमें पृथुश्रवा ज्येष्ठ थे। उनके पुत्र का नाम सुयज्ञ था। सुयज्ञ के पुत्र उशना और उशना के तितिक्षु हुए। तितिक्षु से मरुत्त और मरुत्त से कम्बलवर्हिष (जिनका दूसरा नाम रुक्मकवच था) हुए। रुक्मकवच से रुक्मेष पृथुरुक्मक, हवि, ज्यामघ और पापघ्न आदि पचास पुत्र उत्पन्न हुए। इनमें ज्यामघ अपनी स्त्री के वशीभूत रहने वाला था। उससे उसकी पत्नी शैव्या के गर्भ से विदर्भ की उत्पत्ति हुई। विदर्भ के कौशिक, लोमपाद और क्रथ नामक पुत्र हुए। इनमें लोमपाद ज्येष्ठ थे। उनसे कृति का जन्म हुआ। कौशिक के पुत्र का नाम चिदि हुआ। चिदि के वंशज राजा 'चैद्य' के नाम से प्रसिद्ध हुए। विदर्भ पुत्र क्रथ से कुन्ति और कुन्ति से धृष्टक का जन्म हुआ। धृष्टक के पुत्र धृति और धृति के विदूरथ हुए। ये 'दशार्ह' नाम से भी प्रसिद्ध थे। दशार्ह के पुत्र व्योम और व्योम के पुत्र जीमूत कहे जाते हैं। जीमूत के पुत्र का नाम विकल हुआ और उनके पुत्र भीमरथ नाम से प्रासिद्ध हुए। भीमरथ से नवरथ और नवरथ से दृढ़रथ हुए। दृढ़रथ से शकुन्ति तथा शकुन्ति से करम्भ उत्पन्न हुए। करम्भ से देवरात का जन्म हुआ। देवरात के पुत्र देवक्षेत्र कहलाये। देवक्षेत्र से मधु नामक पुत्र उत्पन्न हुआ और मधु से द्रवरसने जन्म ग्रहण किया। द्रवरस के पुरुहूत और पुरुहूत के पुत्र जन्तु थे। जन्तु के पुत्र का नाम सात्वत था। ये यदुवंशियों में गुणवान् राजा थे। सात्वत के भजमान, वृष्णि, अन्धक तथा देवावृध-ये चार पुत्र हुए। इन चारों के वंश विख्यात हैं। भजमान के बाह्य, वृष्टि, कृमि और निमि नामक पुत्र हुए। देवावृध से बभ्रु का जन्म हुआ। उनके विषय में इस श्लोक का गान किया जात है-'हम जैसा दूर से सुनते हैं, वैसा ही सन्निकट से देखते भी हैं। बभ्रु मनुष्यों में श्रेष्ठ हैं और देवावृध देवताओं के समान हैं।' बभ्रु के चार पुत्र हुए। वे सभी भगवान् वासुदेव के भक्त थे। उनके नाम हैं-कुकुर, भजमान, शिनि और कम्बलबर्हिष। कुकुर के धृष्णु

चत्वारश्च सुता बभ्रोर्वासुदेवपरा नृपाः। कुकुरो भजमानस्तु शिनिः कम्बलबर्हिषः॥२७॥
कुकुरस्य सुतो धृष्णुर्धृष्णोस्तु तनयो धृतिः। धृतेः कपोतरोमाऽभूत्तस्य पुत्रस्तु तित्तिरिः॥२८॥
तित्तिरेस्तु नरःपुत्रस्तस्य चाऽऽनकदुन्दुभिः। पुनर्वसुस्तस्य पुत्र आहुकश्चाऽऽहुकीसुतः॥२९॥
आहुकाद्देवको जज्ञ उग्रसेनस्ततोऽभवत्। देववानुपदेवश्च देवकस्य सुताः स्मृताः॥३०॥
तेषां स्वसारः सप्ताऽऽसन्वसुदेवाय ता ददौ। देवकी श्रुतदेवी च मित्रदेवी यशोधरा॥३१॥
श्रीदेवी सत्यदेवो च सुरापी चेति सप्तमी। नवोग्रसेनस्य सुताः कंसस्तासां च पूर्वजः॥३२॥
न्यग्रोधश्च सुनामा च कङ्कः शङ्कुश्च भूमिपः। सुतनू राष्ट्रपालश्च युद्धमुष्टिः सुमुष्टिकः॥३३॥
भजमानस्य पुत्रोऽथ रथमुख्यो विदूरथः। राजाधिदेवः शूरश्च विदूरथसुतोऽभवत्॥३४॥
राजाधिदेवपुत्रौ द्वौ शोणाश्वः श्वेतवाहनः। शोणाश्वस्य सुताः पञ्च शमीशत्रुजिदादयः॥३५॥
शमीपुत्रः प्रतिक्षेत्रः प्रतिक्षेत्रस्य भोजकः। भोजस्य हृदिकः पुत्रो हृदिकस्य दशाऽऽत्मजाः॥३६॥
कृतवर्मा शतधन्वा देवार्हो भीषणादयः। देवार्हात्कम्बलबर्हिरसमौजास्ततोऽभवत्॥३७॥
सुदंष्ट्रश्च सुवासश्च धृष्टोऽभूदसमौजसः। गान्धारी चैव माद्री च धृष्टभार्ये बभुवतुः॥३८॥
सुमित्रोऽभूच्च गान्धार्या माद्री जज्ञे युधाजितम्। अनमित्रः शिनिर्धृष्टात्ततो वै देवमीढुषः॥३९॥
अनमित्रसुतो निघ्नो निघ्नस्यापि प्रसेनकः। सत्राजितः प्रसेनोऽथ मणिं सूर्यात्स्यमन्तकम्॥४०॥
प्राप्यारण्ये चरन्तं तु सिंहो हत्वाऽग्रहीन्मणिम्। हतो जाम्बवता सिंहो जाम्बवान्हरिणा जितः॥४१॥
तस्मान्मणिं जाम्बवतीं प्राप्यागादद्द्वारकां पुरीम्। सत्राजिताय प्रददौ शतधन्वा जघान तम्॥४२॥
हत्वा शतधनुं कृष्णो मणिमादाय कीर्तिभाक्। बलयादवमुख्याग्रेऽक्रूराय मणिमार्पयत्॥४३॥

नामक पुत्र हुए। धृष्णु से धृति नाम वाले पुत्र की उत्पत्ति हुई। धृति से कपोतरोमा और उनके पुत्र तित्तिरि हुए। तित्तिरि के पुत्र नर और उनके पुत्र आनकदुन्दुभि नाम से विख्यात हुए। आनकदुन्दुभि की परम्परा में पुनर्वसु और उनके पुत्र आहुक हुए। ये आहुति के गर्भ से उत्पन्न हुए थे। आहुक से देवक और उग्रसेन हुए। देवक से देववान्, उपदेव, सहदेव और देवरक्षित—ये चार पुत्र हुए। इनकी सात बहिनें थीं, जिनका देवके ने वसुदेव के साथ ब्याह कर दिया। उन सातों के नाम हैं—देवकी, श्रुतदेवी, मित्रदेवी, यशोधरा, श्रीदेवी, सत्यदेवी और सातवीं सुरापी। उग्रसेन के नौ पुत्र हुए, जिनमें कंस ज्येष्ठ था। शेष आठ पुत्रों के नाम इस तरह हैं—न्यग्रोध, सुनामा, कङ्क, राजा शङ्कु, सुतनु, राष्ट्रपाल, युद्धमुष्टि और सुमुष्टिक। भजमान के पुत्र विदूरथ हुए, जो रथियों में प्रधान थे। उनके पुत्र राजाधिदेव और शूर नाम से विख्यात हुए। राजाधिदेव के दो पुत्र हुए शोणाश्व और श्वेतवाहन। शोणाश्व के शमी और शत्रुजित् आदि पाँच पुत्र हुए। शमी के पुत्र प्रतिक्षेत्र, प्रतिक्षेत्र के भोज और भोज के हृदिक हुए। हृदिक के दस पुत्र थे, जिनमें कृतवर्मा, शतधन्वा, देवार्ह और भीषण आदि प्रधान हैं। देवार्ह से कम्बलबर्हि और कम्बलबर्हि से असमौजा का जन्म हुआ। असमौजा के सुदंष्ट्र, सुवास और धृष्ट नामक पुत्र हुए। धृष्ट की दो पत्नियाँ थीं—गान्धारी और माद्री। इनमें गान्धारी से सुमित्र का जन्म हुआ और माद्री ने युधाजित् को उत्पन्न किया। धृष्ट से अनमित्र तरफ शिनि का भी जन्म हुआ। शिनि से देवमीढुष उत्पन्न हुए। अनमित्र के पुत्र विघ्न और निघ्न के प्रसेन तथा सत्राजित् हुए। इनमें प्रसेन के भाई सत्राजित् को सूर्य से स्यमन्तकमणि प्राप्त हुई थी, जिसे लेकर प्रसेन जंगल में मृगया के लिये विचर रहे थे। उनको एक सिंह ने मारकर वह मणि ले

मिथ्याभिशस्तिं कृष्णस्य त्वक्त्वा स्वर्गी च संपठन्। सत्राजितो भङ्गकारः सत्यभामा हरेः प्रिया।।४४।।
अनमित्राच्छिनिर्जज्ञे सत्यकस्तु शिनेः सुतः। सत्यकात्साज्यकिर्जज्ञे युयुधानाद्धुनिर्ह्यभूत्।।४५।।
धुनेर्युगंधरः पुत्रः स्वाह्योऽभूत्स युधाजितः। ऋपभक्षेत्रकौ तस्य ह्यपभाच्च स्व (श्व)फल्ककः।।४६।।
स्व (श्व) फल्कपुत्रो ह्यक्रूरो ह्यक्रूराच्च सुधन्वकः। शूरातु वसुदेवाद्याः पृथा पाण्डोः प्रियाऽभवत्।।४७।।
धर्माद्युधिष्ठिरः पाण्डोर्वायोः कुत्न्यां वृकोदरः। इन्द्राद्धनंजयो माद्र्यां नकुलः सहदेवकः।।४८।।
वसुदेवाच्च रोहिण्यां रामः सारणदुर्गमौ। वसुदेवाच्च देवक्यामादौ जातः सुषेणकः।।४८।।
कीर्तिमान्भद्रसेनश्च जारुख्यो विष्णुदासकः। भद्रदेहः कंस एतान्षड्गर्भान्निजघान ह।।५०।।
ततो बलस्ततः कृष्णः सुभद्रा भद्रभाषिणी। चारुदेष्णश्च शा (सा)म्बाद्याः कृष्णाज्जाम्बवतीसुताः।।५१।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते यदुवंशकथनं नाम पञ्चसप्तत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः।।२७५।।
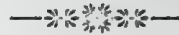
ली। तत्पश्चात् जाम्बवान् ने उस सिंह को मार डाला (और मणि को अपने अधिकार में कर लिया)। इसके बाद भगवान् श्रीकृष्ण ने जाम्बवान् को युद्ध में पराजित किया और उनसे जाम्बवती तथा मणि को पाकर वे द्वारकापुरी को लौट आये। वहाँ आकर उन्होंने वह मणि सत्राजित् को दे दी, परन्तु (मणि के लोभ से) शतधन्वा ने सत्राजित् को मार डाला। श्रीकृष्ण ने शतधन्वा का मारकर वह मणि छीन ली और यश के भागी हुए। उन्होंने बलराम और मुख्य यदुवंशियों के सामने वह मणि अक्रूर को अर्पित कर दी। इससे श्रीकृष्ण के मिथ्या कलङ्क का मार्जन हुआ। जो इस प्रसङ्ग का पाठ करता है, उसको स्वर्ग की प्राप्ति हो जाती है। सत्राजित् को भङ्गकार नाम से प्रसिद्ध पुत्र और सत्यभामा नाम की कन्या हुई, जो भगवान् श्रीकृष्ण की प्यारी पटरानी हुई थी। अनमित्र से शिनि का जन्म हुआ। शिनि के पुत्र सत्यक हुए। सत्यक से सात्यकि की उत्पत्ति हुई। वे 'युयुधान' नाम से भी प्रसिद्ध थे। उनके धुनि नामक पुत्र हुआ। धुनि का पुत्र युगन्धर हुआ। युधाजित् से स्वाह्य का जन्म हुआ। स्वाह्य से ऋषभ और क्षेत्रक की उत्पत्ति हुई। ऋषभ से श्वफल्क उत्पन्न हुए। श्वफल्क के पुत्र का नाम अक्रूर हुआ और अक्रूर से सुधन्वक का जन्म हुआ। शूर से वसुदेव आदि पुत्र तथा पृथा नाम वाली कन्या उत्पन्न हुई, जो महाराज पाण्डु की प्यारी पत्नी हुई। पाण्डु की पत्नी कुन्ती (पृथा) के गर्भ और धर्म के अंश से युधिष्ठिर हुए वायु के अंश से भीमसेन और इन्द्र के अंश से अर्जुन का जन्म हुआ। (पाण्डु की दूसरी पत्नी) माद्री के पेट से (अश्विनी कुमारों के अंश से) नकुल और सहदेव उतपन्न हुए। वसुदेव से रोहिणी के गर्भ से बलराम, सारण और दुर्गम–ये तीन पुत्र हुए तथा कीर्तिमान्, भद्रसेन, जारुख्य, विष्णुदास और भद्रदेह उत्पन्न हुए। इन छहों बच्चों को कंस ने मार डाला। तत्पश्चात् बलराम और कृष्ण का प्रादुर्भाव हुआ तथा अन्त में कल्याणमय वचन बोलने वाली सुभद्रा का जन्म हुआ। भगवान् श्रीकृष्ण से चारुदेष्ण और साम्ब आदि पुत्र उत्पन्न हुए। साम्ब आदि रानी जाम्बवती के पुत्र थे।।१२-५१।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी दो सौ पचहत्तरवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।२७५।।

❖❖❖

अथ षट्सप्तत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

द्वादश संग्रामाः

अग्निरुवाच

कश्यपो वसुदेवोऽभूद्देवकी चादितिर्वरा। देवक्यां वसुदेवात्तु कृष्णोऽभूत्तपसाऽन्वितः॥१॥
धर्मसंरक्षणार्थाय ह्यधर्महरणाय च। सुरादेः पालनार्थं च दैत्यादेर्मथनाय च॥२॥
रुक्मिणी सत्यभामा च सत्या नाग्नजिती प्रिया। सत्यभामा हरेः सेव्या गान्धारी लक्ष्मणा तथा॥३॥
मित्रविन्दा च कालिन्दी देवी जाम्बवती तथा। सुशीला च तथा माद्री कौशल्या विजया जया॥४॥
एवमादीनि देवीनां सहस्राणि तु षोडश। प्रद्युम्नाद्याश्च रुक्मिण्यां भीमाद्याः सत्यभामया॥५॥
जाम्बवत्यां च साम्बाद्याः कृष्णस्याऽऽसंस्तथा परे। शतं शतसहस्राणां पुत्राणां तस्य धीमतः॥६॥
अशीतिश्च सहस्राणि यादवाः कृष्णरक्षिताः। प्रद्युम्नस्य तु वैदर्भ्यामनिरुद्धो रणप्रियः॥७॥
अनिरुद्धस्य वज्राद्या यादवाः सुमहाबलाः। तिस्रः कोट्यो यादवानां षष्टिर्लक्षाणि दानवाः॥८॥
मनुष्ये बाधका ये तु तन्नाशाय बभूव सः। कर्तुं धर्मव्यवस्थानं मनुष्यो जायते हरिः॥९॥
देवासुराणां सङ्ग्रामा दायार्थं द्वादशाभवन्। प्रथमो नारसिंहस्तु द्वितीयो वामनो रणः॥१०॥

अध्याय–२७६

द्वादश-संग्राम विचार

श्रीअग्नि देव ने कहा कि–हे वसिष्ठ! महर्षि कश्यप वसुदेव के रूप में अवतीर्ण हुए थे और नारियों में श्रेष्ठ अदिति का देवकी के रूप में आविर्भाव हुआ था। वसुदेव और देवकी से भगवान् श्रीकृष्ण का प्रादुर्भाव हुआ। वे बड़े तपस्वी थे। धर्म की रक्षा, अधर्म का नाश, देवता आदि का पालन तथा दैत्य आदि का मर्दन–यही उनके अवतार का उद्देश्य था। रुक्मिणी, सत्यभागा और नग्नजित् कुमारी सत्या–ये भगवान् की प्रिय रानियाँ थीं। इनमें भी सत्यभामा उनकी आराध्य देवी थीं। इनके सिवा गन्धार–राजकुमारी लक्ष्मणा, मित्रविन्दा, देवी कालिन्दी, जाम्बवती, सुशीला, माद्री, कौसल्या, विजया और जया आदि सोलह हजार देवियाँ भगवान् श्रीकृष्ण की पत्नियाँ थीं। रुक्मिणी के गर्भ से प्रद्युम्न आदि पुत्र उत्पन्न हुए थे और सत्यभामा ने भीम आदि को जन्म दिया था। जाम्बवती के गर्भ से साम्ब आदि की उत्पत्ति हुई थी। ये तथा और भी बहुत-से श्रीकृष्ण के पुत्र थे। परम बुद्धिमान् भगवान् के पुत्रों की संख्या एक करोड़ अस्सी हजार के लगभग थी। समस्त यादव भगवान् श्रीकृष्ण के द्वारा सुरक्षित थे। प्रद्युम्न से विदर्भराजकुमारी रुक्मवती के गर्भ से अनिरुद्ध नामक पुत्र हुआ। अनिरुद्ध को युद्ध बहुत ही प्रिय था। अनिरुद्ध के पुत्र वज्र आदि हुए। सभी यादव अत्यन्त बलवान् थे। यादवों की संख्या कुल मिलाकर तीन करोड़ थी। उस समय साठ लाख दानव मनुष्य-योनि में उत्पन्न हुए थे, जो लोगों को कष्ट पहुँचा रहे थे। उन्हीं का विनाश करने के लिये भगवान् का अवतार हुआ था। धर्म-मर्यादा की रक्षा करने के लिये ही भगवान् श्रीहरि विष्णु मनुष्य रूप में प्रकट होते हैं॥१-९॥

देवता और असुरों में अपने दायभाग के लिये द्वादश संग्राम हुए हैं। उनमें पहला 'नारसिंह' और दूसरा 'वामन' नाम वाला युद्ध है। तीसरा 'वाराह-संग्राम' और चौथा 'अमृत-मन्थन' नामक युद्ध है। पाँचवाँ 'तारकामय संग्राम' और

सङ्ग्रामस्त्वथ वाराहश्चतुर्थोऽमृतमन्थनः। तारकामयसङ्ग्रामः षष्ठो ह्याजीवको रणः॥११॥
त्रैपुरश्चान्धकवधो नवमो वृत्रघातकः। जितो हालाहलश्चाथ घोरः कोलाहलो रणः॥१२॥
हिरण्यकशिपोश्चोरो विदार्य च नखैः पुरा। नारसिंहो देवपालः प्रह्लादं कृतवान्नृपम्॥१३॥
देवासुरे वामनश्च च्छलित्वा बलमूर्जितम्। महेन्द्राय ददौ राज्यं काश्यपोऽदितिसंभवः॥१४॥
वराहस्तु हिरण्याक्षं हत्वा देवानपालयत्। उज्जहार भुवं मग्नां देवदेवैरभिष्टुतः॥१५॥
मन्थानं मन्दरं कृत्वा नेत्रं कृत्वा तु वासुकिम्। सुरासुरैश्च मथितं देवेभ्यश्चामृतं ददौ॥१६॥
तारकामयसङ्ग्रामे तदा देवाश्च पालिताः। निवार्येन्द्रं गुरून्देवान्दानवान्सोमवंशकृत्॥१७॥
विश्वामित्रवशिष्ठात्रिकवयश्च रणे सुरान्। अपालयंस्ते निर्वार्य रागद्वेषादिदानवान्॥१८॥
पृथ्वीरथे ब्रह्मयन्तुरीशस्य शरणो हरिः। ददाह त्रिपुरं देवपालको दैत्यमर्दनः॥१९॥
गौरीं जिहीर्षुणा रुद्रमन्धकेनार्दितं हरिः। अनुरक्तश्च रेवत्यां चक्रे चान्धासुरार्दनम्॥२०॥
अपां फेनमयो भूत्वा देवासुररणे हरन्। वृत्रं देववरं विष्णुर्देवधर्मानपालयत्॥२१॥
शाल्वादीन्दानवाञ्जित्वा हरिः परशुरामकः। अपालयत्सुरादींश्च दुष्टक्षत्रं निहत्य च॥२२॥

छठा 'आजीवक' नामक युद्ध हुआ। सातवाँ 'त्रैपुर' आठवाँ 'अन्धकवध' और नवाँ 'वृत्रविघातक संग्राम' है। दसवाँ 'जत्' ग्यारहवाँ 'हालाहल' और बारहवाँ 'घोर कोलाहल' नामक युद्ध हुआ॥१०-१२॥

प्राचीन काल में देवपालक भगवान् नरसिंह ने हिरण्यकशिपु का हृदय विदीर्ण करके प्रह्लाद को दैत्यों का राजा बनाया था। फिर देवासुर-संग्राम के अवसर पर कश्यप और अदिति से वामन रूप में प्रकट होकर भगवान् ने बल और प्रताप में बढ़े-चढ़े हुए राजा बलि को छला और इन्द्र को त्रिलोकी का राज्य दे दिया। 'वाराह' नामक युद्ध उस समय हुआ था, जबकि भगवान् ने वाराह अवतार धारण करके हिरण्याक्ष को मारा, देवताओं की रक्षा की और जल में डूबी हुई पृथ्वी का उद्धार किया। उस समय देवाधिदेवों ने भगवान् की स्तुति की॥१३-१५॥

एक बार देवता और असुरों ने मिलकर मन्दराचल को मथानी और नागराज वासुकि को नेती (बन्धन की रस्सी) बना समुद्र को मथकर अमृत निकाला, परन्तु भगवान् ने वह सारा अमृत देवताओं को ही पिला दिया। (उस समय देवताओं और दैत्यों में घोर युद्ध हुआ था।) तारकामय-संग्राम के अवसर पर भगवान् ब्रह्मा ने इन्द्र, बृहस्पति, देवताओं तथा दानवों को युद्ध से रोककर देवताओं की रक्षा की और सोमवंश को स्थापित किया। आजीवक-युद्ध में विश्वामित्र, वसिष्ठ और अत्रि आदि ऋषियों ने राग-द्वेषादि दानवों का निवारण करके देवताओं का पालन किया। पृथ्वी रूपी रथ में वेदरूपी घोड़े जोतकर देवाधिदेव भगवान् श्रीशिवशंकर उस पर बैठे और त्रिपुर का विनाश करने के लिये चले। उस समय देवताओं के रक्षक और दैत्यों का विनाश करने वाले भगवान् श्रीहरि विष्णु ने देवाधिदेव भगवान् श्रीशिवशंकर जी को शरण दी और बाण बनकर स्वयं ही त्रिपुर का दाह किया। गौरी का अपहरण करने की इच्छा से अन्धकार सुर ने रुद्रदेव को बहुत कष्ट पहुँचाया—यह जानकर रेवती में अनुराग रखने वाले श्रीहरि विष्णु ने उस असुर का विनाश किया (यही आठवाँ संग्राम है)। देवताओं और असुरों के युद्ध में वृत्र का विनाश करने के लिये भगवान् श्रीहरि विष्णु जल के फेन होकर इन्द्र के वज्र में लग गये। इस तरह उन्होंने देवराज इन्द्र और देवधर्म का पालन करने वाले देवताओं को संकट से बचाया। (जित्' नामक दसवाँ संग्राम वह है, जिस समय कि) भगवान् श्रीहरि

हालाहलं विषं दैत्यं निराकृत्य महेश्वरात्। भयं निर्णाशयामास देवानां मधुसूदनः॥२३॥
देवासुरे रणे यश्च दैत्यः कोलाहलो जितः। पालिताश्च सुराः सर्वे विष्णुना धर्मपालनात्॥२४॥
राजानो राजपुत्राश्च मुनयो देवता हरिः। यदुक्तं यच्च नैवोक्तमवतारा हरेरिमे॥२५॥

॥इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गति द्वादशसंख्याकसङ्ग्रामकथनं नाम षट्सप्तत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः॥२७६॥
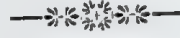
विष्णु ने भगवान् परशुराम अवतार धारण कर शाल्व आदि दानवों पर विजय पायी और दुष्ट क्षत्रियों का विनाश करके देवता आदि की रक्षा की। ग्यारहवें संग्राम के समय मधुसूदन ने हालाहल विष के रूप में प्रकट हुए दैत्य का देवाधिदेव भगवान् श्रीशिवशंकर जी के द्वारा विनाश कराकर देवताओं का भय दूर किया। देवासुर संग्राम में जो 'कोलाहल' नाम का दैत्य था, उसको पराजित करके भगवान् श्रीहरि विष्णु ने धर्मपलनपूर्वक सम्पूर्ण देवताओं की रक्षा की। राजा, राजकुमार, मुनि और देवता–सभी भगवान् के स्वरूप हैं। मैंने यहाँ जिनको बतलाया और जिनका नाम नहीं लिया, वे सभी श्रीहरि विष्णु के ही अवतार हैं।॥१६-२५॥

॥इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी दो सौ छिहत्तरवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ॥२७६॥

❖❖❖

अथ सप्तसप्तत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

राजवंशवर्णनम्

अग्निरुवाच

तुर्वसोश्च सुतो वर्गो गोभानुस्तस्य चाऽऽत्मजः। गोभानोरासीत्त्रैशानिस्त्रैशानेस्तु करंधमः॥१॥
करंधमान्मरुत्तोऽभूद्दुष्यन्तस्तस्य चाऽऽत्मजः। दुष्यन्तस्य बरूथोऽभूद्गाण्डीरस्तु बरूथतः॥२॥
गाण्डीराच्चैव गान्धारः पञ्च जानपदास्ततः। गान्धाराः केरलाश्चोलाः पाण्ड्याः कोला महाबलाः॥३॥
द्रुह्यस्तु बभ्रुसेतुश्च बभ्रुसेतोः पुरोवसुः। ततो गान्धारा गान्धारैर्धर्मो धर्माद्घृतोऽभवत्॥४॥
घृतात्तु विदुषस्तस्मात्प्रचेतास्तस्य वै शतम्। अनडुश्च सुभानुश्च चाक्षुषः परमेषुकः॥५॥
सुभानोश्च कालानलः कालानलजः सृञ्जयः। पुरंजयः सुञ्जयस्य तत्पुत्रो जनमेजयः॥६॥
तत्पुत्रस्तु महाशालस्तत्पुत्रोऽभून्महामनाः। तस्मादुशीनरो ब्रह्मन्नृगायां तु नृगस्ततः॥७॥
नरायां तु नरश्चाऽसीत्कृमिस्तु कृमितः सुतः। दशायां सुव्रतो जज्ञे दृषद्वत्यां शिविस्तथा॥८॥
शिवेः पुत्रास्तु चत्वारः पृथुदर्भश्च वीरकः। (कैकयो भद्रकस्तेषां नाम्ना जनपदाः शुभाः॥९॥
तितिक्षुरुशीनरजस्तिक्षोश्च रुषद्रथः। रुषद्रथादभूत्पैलः पैलाच्च सुतपाः सुतः॥१०॥
महायोगी बलिस्तस्मादङ्गो वङ्गश्च मुख्यकः)। पुण्ड्रः कलिङ्गो बालेयो बलिर्योगी बलान्वितः॥११॥

अध्याय–२७७

राजवंश विचार

श्रीअग्निदेव ने कहा कि–हे वसिष्ठ! तुर्वसु के पुत्र वर्ग और वर्ग के पुत्र गोभानु हुए। गोभानु त्रैशानि, त्रैशानि से करंधम और करंधम से मरुत्त का जन्म हुआ। उनके पुत्र दुष्यन्त हुए। दुष्यन्त से वरूथ और वरूथ से गाण्डीर की उत्पत्ति हुई। गाण्डीर से गान्धार हुए। गान्धार के पाँच पुत्र हुए, जिनके नाम पर गन्धार, केरल, चोल, चाण्ड्य और कोल–इन पाँच देशों की प्रसिद्धि हुई। ये सभी महान् बलवान् थे। दुह्युसे बभ्रुसेतु और बभ्रुसेतु से पुरोवसु का जन्म हुआ। उनसे गान्धार नामक पुत्रों की उत्पत्ति हुई। गान्धारों ने धर्म को जन्म दिया और धर्म से घृत उत्पन्न हुए। घृत से विदुष और विदुष से प्रचेता हुए। प्रचेता के सौ पुत्र हुए, जिनमें अनडु, सुभानु, चाक्षुष और परमेपु–ये प्रधान थे। सुभानु से कालानल और कालानल से सृञ्जय उत्पन्न हुए। सृञ्जय के पुरञ्जय और पुरञ्जय के पुत्र जनमेजय थे। जनमेजय के पुत्र महाशाल और उनके पुत्र महामना हुए। हे ब्रह्मन्! महामना से उशीनर का जन्म हुआ और महामना की 'नृगा' नाम वाली पत्नी के गर्भ से राजा नृग का जन्म हुआ। नृग की 'नरा' नामक पत्नी से नर की उत्पत्ति हुई और कृमि नाम वाली स्त्री के गर्भ से कृमिका जन्म हुआ। इसी तरह नृग के दशा नाम की पत्नी से सुव्रत और दृषद्वती से शिवि उत्पन्न हुए। शिवि के चार पुत्र हुए–पृथुदर्भ, वीरक, कैकेय और भद्रक–इन चारों के नाम से श्रेष्ठ जनपदों की प्रसिद्धि हुई। उशीनर के पुत्र तितिक्षु हुए, तितिक्षु से रुषद्रथ, रुषद्रथ से पैल और पैल से सुतपा नामक पुत्रों की उत्पत्ति हुई। सुतपा से महायोगी बलिका जन्म हुआ। बलि से अङ्ग, बङ्ग, मुख्यक, पुण्ड्र और कलिङ्ग नामक पुत्र उत्पन्न हुए। ये

अङ्गाद्दधिवाहनोऽभूत्तस्माद्दिविरथो नृपः। दिविरथाद्धर्मरथस्तस्य चित्ररथः सुतः।।१२।।
चित्ररथात्सत्यरथो लोमपादश्च तत्सुतः। लोमपादाच्चतुरङ्गः पृथुलाक्षश्च तत्सुतः।।१३।।
पृथुलाक्षाच्च चम्पोऽभूच्चम्पाद्धर्यङ्गकोऽभवत्। हर्यङ्गाच्च भद्ररथो बृहत्कर्मा च तत्सुतः।।१४।।
तस्मादभूद्बृहद्भानुर्बृहद्भानोर्बृहात्मवान्। तस्माज्जयद्रथो ह्यासीज्जयद्रथाद्बृहद्रथः।।१५।।
बृहद्रथाद्विश्वजिच्च कर्णो विश्वजितोऽभवत्। कर्णस्य वृषसेनस्तु पृथुसेनस्तदात्मजः।।१६।।
एतेऽङ्गवंशजा भूपाः पुरोर्वंशं निबोध मे।।१७।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गति राजवंशवर्णनं नाम सप्तसप्तत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः।।२७७।।

सभी 'बालेय' कहलाये। बलि योगी और बलवान् थे। अंग से दधिवाहन, दधिवाहन से राजा दिविरथ और दिविरथ से धर्मरथ उत्पन्न हुए। धर्मरथ के पुत्र का नाम चित्ररथ हुआ। चित्ररथ के सत्यरथ और उनके पुत्र लोमपाद हुए। लोमपाद का पुत्र चतुरंग और चतुरंग का पुत्र पृथुलाक्ष हुआ। पृथुलाक्ष से चम्प, चम्प से हर्यङ्ग और अर्यङ्ग से भद्ररथ हुआ। भद्ररथ से पुत्र का नाम बृहत्कर्मा था। बृहत्कर्मा से बृहद्भानु, बृहद्भानु सु बृहात्मवान् उनसे जयद्रथ और जयद्रथ से बृहद्र की उत्पत्ति हुई। बृहद्र से विश्वजित् और विश्वजित् का पुत्र कर्ण हुआ। कर्ण का वृषसेन और वृषसेन का पुत्र पृथुसेन था। ये अङ्गवंश में उत्पन्न राजा बतलाये गये। अधुना मुझसे पूरुवंश का वर्णन सुनो।।१-१७।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी दो सौ सतहत्तरवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।२७७।।

❖❖❖

अथाष्टसप्तत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

पुरुवंशावर्णनम्

अग्निरुवाच

पुरोर्जनमेजयोऽभूत्प्राचीवान्नाम तत्सुतः। प्राचीवतो मनस्युस्तु तस्माद्वीतमयो नृपः।।१।।
शुन्धुर्वीतमयाच्चाभूच्छुन्धोर्बहुविधः सुतः। बहुविधाच्च संयाती रहोवादी च तत्सुतः।।२।।
तस्य पुत्रोऽथ भद्राश्वो भद्राश्वस्य दशाऽऽत्मजाः। ऋचेयुश्च कृषेयुश्च संतनेयुस्तथाऽऽत्मजः।।३।।
घृतेयुश्च चितेयुश्च स्थण्डिलेयुश्च सत्तमः। धर्मेयुः सन्नतेयुश्च कृतेयुर्मतिनारकः।।४।।
तंसुरोधः प्रतिरथः पुरस्तो मतिनारजाः। आसीत्प्रतिरथात्कण्वः कण्वान्मेधातिथिस्त्वभूत्।।५।।
तंसुरोधाच्च चत्वारो दुष्यन्तोऽथ प्रवीरकः। सुमन्तश्चानयो वीरो दुष्यन्ताद्भरतोऽभवत्।।६।।
शकुन्तलायां तु बली यस्य नाम्ना तु भारताः। सुतेषु मातृकोपेन (ण) नष्टेषु भरतस्य च।।७।।
ततो मरुद्भिरानीय पुत्रः स तु बृहस्पतेः। संक्रामितो भरद्वाजः क्रतुभिर्वितथोऽभवत्।।८।।

अध्याय-२७८

पूरुवंश विचार

श्रीअग्नि देव ने कहा कि–हे वसिष्ठ! पूरु से जनमेजय हुए, जनमेजय से प्राचीवान् नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। प्राचीवान् से मनस्यु और मनस्यु से राजा वीतमय का जन्म हुआ। वीतमय से शुन्धु हुआ, शुन्धु से बहुविध नामक पुत्र की उत्पत्ति हुई। बहुविध से संयाति और संयाति का पुत्र रहोवादी हुआ। रहोवादी के पुत्र का नाम भद्राश्व था। भद्राश्व के दस पुत्र हुए–ऋचेयु, कृषेयु, संनतेयु, घृतेयु, चितेयु, स्थण्डिलेयु, धर्मेयु, संनतेयु (दूसरा), कृतेयु और मतिनार। मतिनार के तंसुरोध, प्रतिरथ और पुरस्त–ये तीन पुत्र हुए। प्रतिरथ से कण्व और कण्व से मेधातिथि का जन्म हुआ। तंसुरोध से चार पुत्र उत्पन्न हुए–दुष्यन्त, प्रवीरक, सुमन्त और वीरवर अनय। दुष्यन्त से भरत का जन्म हुआ। भरत शकुन्तला के महाबली पुत्र थे। राजा भरत के नाम पर उनके वंशज क्षत्रिय 'भारत' कहलाये हैं। भरत के पुत्र अपनी माताओं के क्रोध से नष्ट हो गये, तत्पश्चात् राजा के यज्ञ करने पर मरुद्गणों ने बृहस्पति के पुत्र भरद्वाज को ले आकर उनको पुत्ररूप से समर्पित किया। (भरतवंश 'वितथ' हो रहा था, ऐसे समय में भरद्वाज आये, इसलिये) वे 'वितथ' नाम से प्रसिद्ध हुए। वितथ ने पाँच पुत्र उत्पन्न किये, जिनके नाम ये हैं–सुहोत्र, सुहोता, गय, गर्भ तथा कपिल। इनके सिवा उनसे महात्मा और सुकेतु–ये दो पुत्र और उत्पन्न हुए। तत्पश्चात् उन्होंने कौशिक और गृत्सपति को भी जन्म दिया। गृत्सपति के अनेक पुत्र हुए, उनमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य–सभी थे–काश और दीर्घतमा भी उन्हीं के पुत्र थे। दीर्घतमा के धन्वन्तरि हुए और धन्वतरि का पुत्र केतुमान् हुआ। केतुमान् से हिमरथ का जन्म हुआ, जो 'दिवोदास' के नाम से भी प्रसिद्ध हैं। दिवोदास से प्रतर्दन तथा प्रतर्दन से भर्ग और वत्स नामक दो पुत्र हुए। वत्स से अनर्क और अनर्क से क्षेमक की उत्पत्ति हुई। क्षेमक के वर्षकेतु और वर्षकेतु के पुत्र विभु बतलाये गये हैं। विभु से आनर्त और सुकुमार नामक पुत्र उत्पन्न हुए। सुकुमार से मत्यकेतु का जन्म हुआ। राजा वत्स से वत्सभूमि नामक

स चापि वितथः पुत्राञ्जनयामास पञ्च वै। सुहोत्रं च सुहोतारं गयं गर्भं तथैव च॥९॥
कपिलं च महात्मानं सुकेतुं च सुतद्वयम्। कौशिकं च गृत्सपतिं तथा गृत्सपतेः सुताः॥१०॥
ब्राह्मणाः क्षत्रियाः वैश्याः काशा दीर्घतमाः सुताः। ततो धन्वन्तरिश्चाऽऽसीत्तत्सुतोऽभूच्च केतुमान्॥११॥
केतुमतो हेमरथो दिवोदास इति श्रुतः। प्रतर्दन दिवोदासाद्भर्गवत्सौ प्रतर्दनात्॥१२॥
वत्सादनर्क आसीच्च अनर्कात्क्षेमकोऽभवत्। क्षेमाकाद्वर्षकेतुश्च वर्षकेतोर्विभुः स्मृतः॥१३॥
विभोरानर्तः पुत्रोऽभूद्विभोश्च सुकुमारकः। सुकुमारात्सत्यकेतुर्वत्सभूमिस्तु वत्सकात्॥१४॥
सुहोत्रस्य बृहत्पुत्रो बृहतस्तनयास्त्रयः। अजमीढो द्विमीढश्च पुरुमीढश्च वीर्यवान्॥१५॥
अजमीढस्य केशिन्यां जज्ञे जह्नुः प्रतापवान्। जह्नोरभूदजकाश्वो बलाकाश्वस्तदात्मजः॥१६॥
वलाकाश्वस्य कुशिकः कुशिकाद्गाधिरिन्द्रकः। गाधेः सत्यवती कन्या विश्वामित्रः सुतोत्तमः॥१७॥
देवरातः कतिमुखा विश्वामित्रस्य ते सुताः। शुनः शेपोऽष्टकश्चान्यो ह्यजमीढात्सुतोऽभवत्॥१८॥
नीलिन्यां शान्तिपरः पुरुजातिः सुशान्तितः। पुरुजातेस्तु बाह्याश्वो बाह्याश्वात्पञ्च पार्थिवाः॥१९॥
मुकुलः सृञ्जयश्चैव राजा बृहदिषुस्तथा। यवीनरश्च कृमिलः पाञ्चाला इति विश्रुताः॥२०॥
मुकुलस्य तु मौकुल्याः क्षात्रोपेता द्विजातयः। चञ्चाश्वोमुकुल्ला(ला)ज्जज्ञेचञ्चाश्वान्मिथुनं ह्यभूत्॥२१॥
दिवोदासो ह्यहल्या च अहल्यायां शरद्वतात्। शतानन्दः शतानन्दात्सत्यधृङ्मिथुनं ततः॥२२॥
कृपः कृपी दिवोदासन्मैत्रेयः सोमपस्ततः। सृञ्जयात्पञ्चधनुषः सोमदत्तश्च तत्सुतः॥२३॥
सहदेवः सोमदत्तात्सहदेवात्तु सोमकः। आसीच्च सोमकाज्जन्तुर्जन्तोश्च पृषतः सुतः॥२४॥

पुत्र की भी उत्पत्ति हुई थी। वितथकुमार सुहोत्र से बृहत् नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। बृहत् के तीन पुत्र हुए–अजमीढ, द्विमीढ और पराक्रमी पुरुमीढ। अजमीढ की केशिनी नाम वाली पत्नी के गर्भ से प्रतापी जह्नु का जन्म हुआ। जह्नु से अजकाश्व की उत्पत्ति हुई और अजकाश्व का पुत्र बलाकाश्व हुआ। बलाकाश्व के पुत्र का नाम कुशिक हुआ। कुशिक से गाधि उत्पन्न हुए, जिन्होंने इन्द्रत्व प्राप्त किया था। गाधि से सत्यवती नाम की कन्या और विश्वामित्र नामक पुत्र का जन्म हुआ। देवरात और कतमुख आदि विश्वामित्र के पुत्र हुए। अजमीढ से पुनःशेप और अष्टक नाम वाले अन्य पुत्रों की भी उत्पत्ति हुई। उनकी नीलिनी नाम वाली पत्नी के गर्भ से एक और पुत्र हुआ, जिसका नाम शान्ति था। शान्ति से पुरुजाति, पुरुजाति से बाह्याश्व और बाह्याश्व से पाँच राजा उत्पन्न हुए, जिनके नाम इस तरह हैं–मुकुल, सृञ्जय, राजा बृहदिषु, यवीनर और कृमिल–ये 'पाञ्चाल' नाम से विख्यात हुए। मुकुल के वंशज 'मौकुल्य' कहलाये। वे क्षात्रधर्म से युक्त ब्राह्मण हुए। मुकुल से चञ्चाश्व का जन्म हुआ और चञ्चाश्व से एक पुत्र और एक जुड़वीं संतान उत्पन्न हुई। पुत्र का नाम दिवोदास था और कन्या का अहल्या। अहल्या के गर्भ से शरद्वत (गौतम) द्वारा शतानन्द की उत्पत्ति हुई। शतानन्द से सत्यधृक् हुए। सत्यधृक् से भी दों जुड़वीं सन्तानें उत्पन्न हुई। उनमें पुत्र का नाम कृप और कन्या का नाम कृपी था। दिवोदास से मैत्रेय और मैत्रेय से सोमक हुए। सृञ्जय से पञ्चधनुष की उत्पत्ति हुई। उनके पुत्र का नाम सोमदत्त था। सोमदत्त से सहदेव, सहदेव से सोमक और सोमक से जन्तु हुए। जन्तु के पुत्र का नाम पृषत् हुआ। पृषत् से द्रुपद का जन्म हुआ तथा द्रुपद का पुत्र धृष्टद्युम्न था और धृष्टद्युम्न से धृष्टकेतु की उत्पत्ति हुई। महाराज

पृषतादद्रुपदस्तस्माद्धृष्टद्युम्नोऽथ तत्सुतः। धृष्टकेतुश्च धूमिन्यामृक्षोऽभूदजमीढतः।।२५।।
ऋक्षात्संवरणो जज्ञे कुरुः संवरणात्ततः। यः प्रयागादपाक्रम्य कुरुक्षेत्रं चकार ह।।२६।।
कुरोः सुधन्वा सुधनुः परीक्षिच्च रिपुंजयः। सुधन्वनः सुहोत्रोऽभूत्सुहोत्राच्चयवनो ह्यभूत्।।२७।।
वसुश्रेष्ठोपरिचाराः सप्ताऽऽसन्गिरिकासुताः। बृहद्रथः कुशो वीरो यदुः प्रत्यग्रहो बलः।।२८।।
मत्स्यकाली कुशाग्रोऽतो ह्यासीद्राज्ञो बृहद्रथात्। कुशाग्राद्वृषभो जज्ञे तस्य सत्यहितः सुतः।।२९।।
सुधन्वा तत्सुतश्चोर्ज ऊर्जादासीच्च संभवः। संभवाच्च जरासंधः सहदेवश्च तत्सुतः।।३०।।
सहदेवादुदापिश्च उदापेः श्रुतकर्मकः। परीक्षितस्य दायादो धार्मिको जनमेजयः।।३१।।
जनमेजयात्रसद्दस्युर्जह्नोस्तु सुरथः सुतः। श्रुतसेनोग्रसेनौ च भीमसेनश्च नामतः।।३२।।
जनमेजयस्य पुत्रौ तु सुरथो महिमांस्तथा। सुरथाद्विदूरथोऽभूदृक्ष आसीद्विदूरथात्।।३३।।
ऋक्षस्य तु द्वितीयस्य भीमसेनोऽभवत्सुतः। प्रतीपो भीमसेनात्तु प्रतीपस्य तु शंतनुः।।३४।।
देवापिर्बाह्लिकश्चैव सोमदत्तस्तु शंतनोः। बाह्लिकात्सोमदत्तोऽभूद्भूरिर्भूरिश्रवाः शलः।।३५।।
गङ्गायां शंतनोर्भीष्मः काल्यायां चित्रवीर्यकः। कृष्णद्वैपायनश्चैव क्षेत्रे वै चैत्रवीर्यके।।३६।।
धृतराष्ट्रं च पाण्डुं च विदुरं चाप्यजीजनत्। पाण्डोर्युधिष्ठिरः कुन्त्यां भीमश्चैवार्जुनस्त्रयः।।३७।।

अजमीढ की धूमिनी नाम वाली पत्नी से ऋक्ष नामक पुत्र उत्पन्न हुआ।।१-२५।। ऋक्ष से संवरण और संवरण से कुरु का जन्म हुआ, जिन्होंने प्रयाग से जाकर कुरुक्षेत्र तीर्थ की स्थापना की। कुरु से सुधन्वा, सुधनु, परीक्षित् और रिपुञ्जय–ये चार पुत्र हुए। सुधन्वा से सुहोत्र और सुहोत्र से च्यवन उत्पन्न हुए। च्यवन की पत्नी महारानी गिरिका के वसुश्रेष्ठ उपरिचर के अंश से सात पुत्र उत्पन्न हुए। उनके नाम इस तरह हैं–बृहद्रथ, कुश, वीर, यदु, प्रत्यग्रह, बल और मत्स्यकाली। राजा बृहद्रथ से कुशाग्र का जन्म हुआ। कुशाग्र से वृषभ की उत्पत्ति हुई और वृषभ के पुत्र का नाम सत्यहित हुआ। सत्यहित से सुधन्वा, सुधन्वा से ऊर्ज, ऊर्ज से सम्भव और सम्भव से जरासंध उत्पन्न हुआ। जरासंध के पुत्र का नाम सहदेव था। सहदेव से उदापि और उदापि से श्रुतकर्माकी उत्पत्ति हुई। कुरुनन्दन परीक्षित् के पुत्र जनमेजय हुए। वे बड़े धार्मिक थे। जनमेजय से त्रसद्दस्यु का जन्म हुआ। राजा अजमीढ के जो जह्नु नाम वाले पुत्र थे, उनके सुरथ, श्रुतसेन, उग्रसेन और भीमसेन–ये चार पुत्र उत्पन्न हुए। परीक्षित्कुमार जनमेजय के पुत्र और हुए–सुरथ तथा महिमान्। सुरथ से विदूरथ और विदूरथ से ऋक्ष हुए। इस वंश में ये ऋक्ष नाम से प्रसिद्ध द्वितीय राजा थे। इनके पुत्र का नाम भीमसेन हुआ। भीमसेन के पुत्र प्रतीप और प्रतीप के शंतनु हुए। शंतनु के देवापि, बाह्लिक और सोमदत्त–ये तीन पुत्र थे। बाह्लिक से सोमदत्त और सोमदत्त से भूरि, भूरिश्रवा तथा शलका जन्म हुआ। शंतनु से गङ्गाजी के गर्भ से भीष्म उत्पन्न हुए। तथा उनकी काल्या (सत्यवती) नाम वाली पत्नी से विचित्रवीर्य की उत्पत्ति हुई। विचित्रवीर्य की पत्नी के गर्भ से श्रीकृष्णद्वैपायन ने धृतराष्ट्र, पाण्डु और विदुर को जन्म दिया। पाण्डु की रानी कुन्ती के गर्भ से युधिष्ठिर, भीम और अर्जन–ये तीन पुत्र उत्पन्न हुए तथा उनकी माद्री नाम वाली पत्नी से नकुल और सहदेव का जन्म हुआ। पाण्डु के यह पाँच पुत्र देवताओं के अंश से प्रकट हुए थे। अर्जुन के पुत्र का नाम अभिमन्यु था। वे सुभद्रा के गर्भ से उत्पन्न हुए थे। अभिमन्यु से राजा परीक्षित का जन्म हुआ। द्रौपदी पाँचों पाण्डवों की पत्नी थी।

नकुलः सहदेवश्च पाण्डोर्माद्र्यां च दैवतः। अर्जुनस्य च सौभद्रः परीक्षिदभिमन्युतः।।३८।।
द्रौपदी पाण्डवानां च प्रिया तस्यां युधिष्ठिरात्। प्रतिविन्ध्यो भीमसेनाच्छ्रुतकीर्तिर्धनंजयात्।।३९।।
सहदेवाच्छ्रुतसोमः शतानीकस्तु नाकुलिः। भीमसेनाद्धिडम्बायामन्य आसीद्घटोत्कचः।।४०।।
एते भूता भविष्याश्च नृपाः संख्या न विद्यते। गताः कालेन कालो हि हरिस्तं पूजयेद्द्विज।।
होममग्नौ समुद्दिश्य कुरु सर्वप्रदो यतः।।४१।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गति पुरुवंशवर्णनं नामाष्टसप्तत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः।।२७८।।

उसके गर्भ से युधिष्ठिर से प्रतिविन्ध्य, भीमसेन से सुतसोम, अर्जुन से श्रुतकीर्ति, सहदेव से श्रुतशर्मा और नकुल से शतानीक की उत्पत्ति हुई। भीमसेन का एक दूसरा पुत्र भी था, जो हिडिम्बा के गर्भ से उत्पन्न हुआ था। उसका नाम था घटोत्कच। ये भूतकाल के राजा हैं। भविष्य में भी बहुत-से राजा होंगे, जिनकी कोई गणना नही हो सकती। सभी समयानुसार काल के गाल में चले जाते हैं। हे विप्रवर! काल भगवान् श्रीहरि विष्णु का ही स्वरूप है, इसलिये उन्हीं का पूजन करना चाहिये। उन्हीं के उद्देश्य से अग्नि में हवन करो; क्योंकि वे भगवान् ही सब कुछ देने वाले हैं।।२६-४१।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी दो सौ अठहत्तरवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।२७८।।

❖❖❖

अथैकोनाशीत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

सिद्धौषधानि

अग्निरुवाच

आयुर्वेदं प्रवक्ष्यामि सुश्रुताय यमब्रवीत्। देवा धन्वन्तरिः सारं मृतसञ्जीवनीकरम्।।१।।

सुश्रुत उवाच

(आयुर्वेदं मम ब्रूहि नराश्वेभरुगर्दनम्। सिद्धयोगान्सिद्धमंत्रान्मृतसंजीवनीकरान्)।।२।।

धन्वन्तरिरुवाच

रक्षन्बलं हि ज्वरितं लङ्घितं योजयेद्भिषक्। सविश्वं लाजमण्डं तु तृड्ज्वरान्तं शृतं जलम्।।३।।
मुस्तपर्पटकोशीरचन्दनोदीच्यनागरैः। षडहे च व्यतिक्रान्ते तिक्तकं पापयेद्ध्रुवम्।।४।।
स्नेहयेत्त्यक्तदोषं तु ततस्तं च विरेचयेत्। जीर्णाः षष्टिकनीवाररक्तशालिप्रमोदकाः।।५।।
तद्विधस्ते ज्वरेष्विष्टा यवानां विकृतिस्तथा। मुद्गा मसूराश्चणकाः कुलत्थाश्च सकुष्ठकाः।।६।।
आढक्यो लावकाद्याश्च कर्कोटककटोलकम्। पटोलं सुफलं निम्बं पर्पटं दाडिमं ज्वरे।।७।।

अध्याय-२७९

सिद्ध ओषधि विचार

श्रीअग्नि देव ने कहा कि–हे वसिष्ठ! अधुना मैं आयुर्वेद का वर्णन करने जा रहा हूँ, जिसे भगवान् धन्वन्तरि ने सुश्रुत से कहा था। यह आयुर्वेद का सार है और अपने प्रयोगों द्वारा मृतक को भी जीवन सम्प्रदान करने वाला है।।१।।

सुश्रुत ने कहा–हे भगवन्! मुझको मनुष्य, घोड़े और हाथी के रोगों का विनाश करने वाले आयुर्वेदशास्त्र का उपेदश कीजिये। साथ ही सिद्ध योगों, सिद्ध मन्त्रों और मृतसंजीवनकारक औषधों का भी वर्णन कीजिये।।२।।

धन्वन्तरि बोले–हे सुश्रुत! वैद्य ज्वराक्रान्त व्यक्ति के बल की रक्षा करते हुए, अर्थात् उसके बल पर ध्यान रखते हुए लङ्घन (निराहार व्रत) कराये। उसके बाद उसको सोंठ से युक्त लाल मण्ड (धान के लावे का माँड़) तथा नागरमोथा, पित्तपापड़ा, खस, लालचन्दन, सुगन्धबाला और सोंठ के साथ शृत (अर्धपक्व) जल को प्यास और ज्वर की शान्ति के लिये देना चाहिये। छः दिन बीत जाने के बाद चिरायता जिस प्रकार द्रव्यों का काढ़ा अवश्य देना चाहिये।३-४।।

ज्वर निकालने के लिये (आवश्यकता हो, तो) स्नेहन (पसीना) कराये। रोगी के दोष (वातादि) जिस समय शान्त हो जायँ, तत्पश्चात् विरेचन-द्रव्य देकर विरेचन कराना चाहिये। साठी, तिन्नी, लाल अगहनी और प्रमोदक (धान्यविशेष) के तथा ऐसे ही अन्य धान्यों के भी पुराने चावल ज्वर में (ज्वर काल में मण्ड आदि के लिये) हितकर होते हैं। यव के बने (बिना भूसी के) पदार्थ भी लाभसम्प्रदायक हैं। मूँग, मसूर, चना, कुलथी, सोंठ, अरहर, खेखशा, कायफर, श्रेष्ठतम फल के सहित परवल, नीम की छाल, पित्तपापड़ा एवं अनार भी ज्वर में हितकारक होते हैं।।५-७।।

अधोगे वमनं शस्तमूर्ध्वगे च विरेचनम्। रक्तपित्ते तथा पानं षडङ्गंशुण्ठिवर्जितम्॥८॥
सक्तुगोधूमलाजाश्च यवशालिमसूरकाः। सकुष्ठचणका मुद्गा भक्ष्या गोधूमका हिताः॥९॥
साधिता घृतदुग्धाभ्यां क्षौद्रं वृषरसो मधु। अतीसारे पुराणानां शालीनां भक्षणं हितम्॥१०॥
अनभिष्यन्दि यच्चान्नं लोध्रवल्कलसंयुतम्। मारुतं वर्जयेद्यत्नः कार्यो गुल्मेषु सर्वथा॥११॥
वाट्यं क्षीरेण चाश्नीयाद्वास्तुकं घृतसाधितम्। गोधूमशालयस्तिक्ता हिता जठरिणामथ॥१२॥
गोधूमशालयो मुद्गा ब्रह्मर्क्षखदिरोऽभया। पञ्चकोलं जाङ्गलाश्च निम्बधात्र्यः पटोलकाः॥१३॥
मातुलुङ्गरसाजाजिशुष्कमूलकसैन्धवाः। कुष्ठिनां च तथा शस्तं पानार्थे खदिरोदकम्॥१४॥
मसूरमुद्गौ सूपार्थे भोज्या जीर्णाश्च शालयः। निम्बपर्पटकौ शाकौ जाङ्गलानां तथा रसः॥१५॥
विडङ्गं मरिचं मुस्तं कुष्ठं लोध्रं सुवर्चिका। मनः शिला वचा लेपः कुष्ठहा मूत्रपेषितः॥१६॥
अपूपकुष्ठकुल्माषयवाद्या मेहिनां हिताः। यवान्नविकृतिर्मुद्गाः कुलत्था जीर्णशालयः॥१७॥
तिक्तरूक्षाणि शाकानि तिक्तानि हरितानि च। तैलानि तिलशिग्रुकविभीतकेङ्गुदानि च॥१८॥

रक्तपित्त नामक रोग यदि अधोग (नीचे की गति वाला) हो, तो वमन हितकर होता है तथा ऊर्ध्वग (ऊपर की तरफ गति वाला) हो, तो विरेचन लाभसम्प्रदायक होता है। इसमें बिना सोंठ से षडङ्ग (मुस्तपर्पटकोशीचन्दनोदीच्य-नागरमोथा, पित्तपापड़ा, खस, चन्दन एवं सुन्धबाला) से बना क्वाथ देना चाहिये। इस रोग में (जौ का) सत्तू, गेहूँ का आटा, धान का लावा, जौ के बने विभिन्न पदार्थ, अगहनी धान का चावल, मसूर, मोंठ, चना और मूँग खाने योग्य हैं। घी एवं दूध से तैार किये गये गेहूँ के पदार्थ–दलिया, हलुवा आदि भी लाभकारी होते हैं। बलवर्धक रस तथा छोटी मक्खियों का मधु भी हितकर होता है। अतिसार में पुराना अगहनी का चावल लाभसम्प्रदायक होता है॥८-१०॥

गुल्मरोग में जो अन्न कफकारक न हो तथा पठानी लोध की छाल के क्वाथ से सिद्ध किया गया हो, वही देना चाहिये। उस रोग में वायुकारक अन्न की त्याग दे एवं वायु से रोगी को बचाये। रोग को मिटाने के लिये यह प्रयत्न सर्वथा करने योग्य है॥११॥

उदर-रोग में दूध के साथ बाटी खाय। घी से पकाया हुआ बथुवा, गेहूँ, अहगनी चावल तथा तिक्त औषधि उदर-रोगियों के लिये हितकर हैं॥१२॥

गेहूँ, चावल, मँग, पलाशबीज, खैर, हर्रे, पञ्चकोल (पिप्पली, पीपलामूल, चाभ, चित्ता, सोंठ) जांगल-रस, नीम का पञ्चाङ्ग (फूल, पत्ती, फल, छाल एवं मूल), आँवला, परवल, बिजौरा नीबू का रस, काला या सफेद जीरा, (पाठान्तर के अनुसार चमेली की पत्ती), सूखी मूली तथा सेंधा नमक–ये कुष्ठ रोगियों के लिये हितकारक हैं। पीने के लिये खदिरोदक (खैर मिलाकर तैयार किया गया जल) प्रशस्त माना गया है। पेया बनाने के लिये मसूर एवं मँग का प्रयोग होना चाहिये। खाने के लिये पुराने चावल का उपयोग उचित है। नीम तथा पित्तपापड़ा का शाक और जांगल-रस–ये सब कुष्ठ में हितकर होते हैं। बायबिडङ्ग, काली मिर्च, मोथा, कूट, पठानी लोध, हुरहुर, मैनसिल तथा वच–इनको गोमूलत्र में पीसकर लगाने से कुष्ठरोग का विनाश होता है॥१३-१६॥

प्रमेय के रोगियों के लिये पूआ, कूट, कुल्माष (घुघुरी) और जौ आदि लाभसम्प्रदायक हैं। जौ के बने भोज्य पदार्थ, मूँग, कुलथी, पुराना अगहनी का चावल, तिक्त-रुक्ष एवं तिक्त हरे शाक हितकर हैं। तिल, सहजन, बहेड़ा और इंगुदी के तेज भी लाभसम्प्रदायक हैं॥१७-१८॥

मुद्गाः सयवगोधूमा धान्यं वर्षस्थितं च यत्। जाङ्गलस्य रसः शस्तो भोजने राजयक्ष्मिणाम्॥१९॥
कुलत्थमुद्गकोलाद्यैः शुष्कमूलकजाङ्गलैः। पूपैर्वा विष्किरैः सिद्धैर्दधिदाडिमसाधितैः॥२०॥
मातुलुङ्गरसक्षौद्रद्राक्षाव्योषादिसंस्कृतैः। यवगोधूमशाल्यन्नैर्भोजयेच्छ्वासकासिनम्॥२१॥
दशमूलबलारास्नाकुलत्थैरूपसाधिताः। पेया घृतरसक्वाथाः श्वासहिक्कनिवारणाः॥२२॥
शुष्कमूलककौलत्थमूलजाङ्गलजै रसैः। यवगोधूमशाल्यन्नं जीर्णं सोशीरमाचरेत्॥२३॥
शोथवान्सगुडां पथ्यां खादेद्वा गुडनागरम्। तक्रं च चित्रकश्चोभौ ग्रहणीरोगनाशनौ॥२४॥
पुराणयवगोधूमशालयो जाङ्गलो रसः। मुद्गामलकखर्जूरमृद्वीका बदराणि च॥२५॥
मधु सर्पिः पयस्तक्रं निम्बपर्पटकौ वृषम्। तक्रारिष्टाश्च शस्यन्ते सततं वातरोगिणाम्॥२६॥
हृद्रोगिणो बिरेच्यास्तु पिप्पल्या(ल्यो) हिक्किनां हिताः। तक्रारनालसीधूनि युक्तानि शिशिराम्भसा॥२७॥
मुसता सौवर्चलाऽजाजी मद्यं शस्तं मदात्यये। सक्षौद्रपयसा लाक्षां पिबेच्च क्षतवान्नरः॥२८॥
क्षयं मांसरसाहारो वह्निसंरक्षणाज्जयेत्। शालयो भोजने रक्ता नीवारकमलादयः॥२९॥
यवान्नविकृतिर्मांसं शाकं सौवर्चलं शटी। पथ्या तथैवार्शसां यन्मण्डस्तक्रं च वारिणा॥३०॥
मुस्ताभ्यासस्तथा लोपश्चित्रकेण हरिद्रया। यवान्नविकृतिः शालिवास्तूकं ससुवर्चलम्॥३१॥

मँग, जौ, गेहूँ, एक वर्ष तक रखे हुए पुराने धान का चावल तथा जांगल रस-ये राजलक्ष्मा के रोगियों के भोजन के लिये प्रशस्त हैं। श्वास-कास (दमा और खाँसी) के रोगियों को कुलथी, मँग, रास्ना, सूखी मूली, मँग का पूआ, दही और अनार के रस से सिद्ध किये गये विष्किर, जांगल रस, बिजौरे का रस, मधु, दाख और व्योष (सोंठ, मिर्च, पीपल) से संसकृत जौ, गेहूँ और चावल खिलये। दशमूल, बला (बरियार या खरेटी), रास्ना और कुलथी से बनाये गये तथा पूपर से युक्त क्वाथ श्वास और हिचकी का कष्ट दूर करने वाले हैं॥१९-२२॥

सूखी मूली, कुलथी, मूल (दशमूल), जांगल-रस, पुराना जौ, गेहूँ और चावल खसके साथ लेना चाहिये। इससे भी श्वास औ कास का विनाश होता है। शोथ में गुड़ सहित हर्रे या गुड़सहित सोंठ खानी चाहिये। चित्रक तथा मट्ठा-दोनों ग्रहणी रोग के नाशक हैं॥२३-२४॥

निरन्तर वातरोग से पीड़ित रहने वालों के लिये पुराना जौ, गूहँ, चावल, जांगल-रस, मूँग, आँवला, खजूर, मुनक्का, छोटी बेर, मधु, घी, दूध, शक्र (इन्द्रयव), नीम, पित्तपापड़ा, वृष (बलकारक) द्रव्य) तथा तक्रारिष्ट हितकर हैं॥२५-२६॥

हृदय के रोगी विरेचन-योग्य होते हैं अर्थात् उनका विरेचन करना चाहिये। हिचकी वालों के लिये पिप्पली हितकर है। छाछ-आरनाल, सीधु तथा मोती ठंढे जल से लें। यह हिक्का (हिचकी) रोगों में विशेष लाभप्रद हैं॥२७॥

मदात्यय रोग में मोती, नमकयुक्त जीरा तथा मधु हितकर हैं। उरःक्षत रोगी मधु और दूध से लाह को लेवे। माँस-रस (जटामांसी के रस) के आहार और अग्निसंरक्षण (बुभक्षा-वर्द्धक भोगों) से क्षय को जीते। क्षयरोगी के लिये भोजन में लाल अगहनी धान का चावल, नीवार, कलम (रोपाधान) आदि हितकारी हैं॥२८-२९॥

अर्श (बवासीर) में यवान्न-विकृति, नीम, मांस (जटामांसी), शाक, संचर नमक, कचूर, हर्रे, माँड तथा जल मिलाया हुआ मट्ठा हितकारक है॥३०॥

मूत्रकृच्छ्र में मोथा, हल्दी के साथ चित्रक का लेप, यवान्न-विकृति, शालिधान्य, बथुआ, सुवर्चल (संचर

ऋषुषैर्वारु (१) गोधूमाः क्षीरेक्षुघृतसंयुताः। मूत्रकृच्छ्रे च शस्ताः स्युः पाने मण्डसुरादयः॥३२॥
लाजाः सक्तुस्तथा क्षौद्रं शून्यं मांसं परूषकम्। वार्ताकुलावशिखिनश्छर्दिघ्नाः पानकानि च॥३३॥
शाल्यन्नं तोयपयसी केवलोष्णे शृतेऽपि वा। तृष्णाघ्ने मुस्तगुडयोर्गुटिका वा मुखे धृता॥३४॥
यवान्नविकृतिः पूपं शुष्कमूलकजं तथा। शाकं पटोलवेत्राग्रमूरुस्तम्भविनाशनम्॥३५॥
मुद्गाढकमसूराणां सतिलैर्जाङ्गलै रसैः। ससैन्धवघृतद्राक्षाशुण्ठ्याम (ल) ककोलजैः॥३६॥
यूषैः पुराणगोधूमयवशाल्यन्नमभ्यसेत्। विसर्पी ससिताक्षौद्रमृद्वीकादाडिमोदकम्॥३७॥
रक्तषष्टिकगोधूमयवमुद्गादिकं लघु। काकमाची च वेत्राग्रं वास्तुकं च सुवर्चला॥३८॥
वातशोणितनाशाय तोयं शस्तं सितं मधु। नासारोगेषु च हितं घृतं दूर्वाप्रसाधितम्॥३९॥
भृङ्गराजरसे सिद्धं तैलं धात्रीरसेऽपि वा। नस्यं सर्वामयेष्विष्टं मूर्धजन्तूद्भवेषु च॥४०॥
शीततोयान्नपानं च तिलानां विप्र भक्षणम्। द्विजदार्ढ्यकरं प्रोक्तं तथा तुष्टिकरं परम्॥४१॥
गण्डूषं तिलतैलेन द्विजदार्ढ्यकरं परम्। विडङ्गचूर्णं गोमूत्रं सर्वत्र कृमिनाशने॥४२॥
धात्रीफलान्यथाऽऽज्यं च शिरोलेपनमुत्तमम्। शिरोरोगविनाशाय स्निग्धमुष्णं च भोजनम्॥४३॥

नमक), त्रपु (लाह), दूध, ईख के रस और घी से युक्त गेहूँ–ये खाने के लिये लाभकारी हैं तथा पीने के लिये मण्ड और सुरा आदि देने चाहिये॥३१-३२॥

छर्दि (कै, वमन) के लिये लाजा (लावा), सत्तू, मधु, परूषक (फालसा), बैगन का भर्ता, शिखि-पंख (मोर की पाँख) तथा पानक (विशेष तरह का पेय) लाभसम्प्रदायक है॥३३॥

अगहनी के चावल जल, गरम या शीत-गरम दूध तृष्णा का नाशक है। मोथा और गुड़ से बनी हुई गुटिका (गोली) मुख में रखी जाय तो तृष्णानाशक है। यवान्न-विकृति, पूप (पूआ), सूखी मूली, परवल का शाक, वेत्राग्र (बेंत के अग्रभाग का नरम हिस्सा) और करना चाहियेल ऊरुस्तम्भ (जाँघ के जकड़ने) का विनाशक है। विसर्पी (फोड़े-फंसी आदि के रूप में सारे शरीर में फैलने वाले रोग का रोगी) मूँग, अरहर, मसूर के यूष, तिलयुक्त जांगल रस, सेंधा नमक सहित घृत, दाख, सोंठ, आँवला और उन्नाव के यूष के साथ पुराने गेहूँ, जौ और अगहनी धान के चावल आदि अन्न का सेवन करना चाहिये तथा चीनी के साथ मधु, मुनक्का एवं अनार से बना जल पीये॥३४-३७॥

वातरक्त के रोगी के लिये लाल साठी का चावल, गेहूँ, यव, मूँग आदि हलका अन्न देवे। काकमाची (काली मकोय), वेत्राग्र, बथुआ, सुवर्चला आदि शाक देवे। मधु और मिश्री सहित जल पिलावे। नासिका के रोगों में दूर्वा से सिद्ध घृत लाभसम्प्रदायक है। आँवले के रस से या भृङ्गराज के रस से सिद्ध किये हुए तेल का नस्य दिया जाय तो वह सिर के समस्त कृमि रोगों में लाभप्रद है॥३८-४०॥

हे विप्रवर! शीतल जल के साथ लिया गया अन्नपान और तिलों का भक्षण दाँतों को मजबूत बनाने वाला तथा परम तृप्तिकारक है। तिल के तेल से किया गया कुल्ला दाँतों को अधिक मजबूत करने वाला है। सभी तरह के कृमियों के विनाश के लिये बायविडंग का चूर्ण तथा गोमूत्र का प्रयोग करना चाहिये। आँवले को घी में पीसकर यदि उसका सिर पर लेपन किया जाय तो वह शिरोरोग के विनाश के लिये श्रेष्ठतम माना गया है। चिकना और गरम भोजन भी इसके लिये हितकर होता है॥४१-४३॥

तैलं वा बस्तमूत्रं च कर्णपूरणमुत्तमम्। कर्णशूलविनाशाय सर्वशुक्तानि वा द्विज।।४४।।
गिरिमृच्चन्दनं लाक्षा मालतीकलिका तथा। संयोज्य या कृता वर्तिः क्षतश्वित्रहरी तु सा।।४५।।
व्योषं त्रिफलया युक्तं तुत्थकं च तथा जलम्। सर्वाक्षिरोगशमनं तथा चैव रसाञ्जनम्।।४६।।
आज्यभृष्टं शिलापिष्टं लोध्रकाञ्जिकसैन्धवैः। आश्च्योतनविनाशाय सर्वनेत्रामये हितम्।।४७।।
गिरिमृच्चन्दनैर्लेपो बहिर्नेत्रस्य शस्यते। नेत्रामयविघातार्थं त्रिफलां शीलयेत्सदा।।४८।।
रात्रौ तु मधुसर्पिभ्यां दीर्घमायुर्जिजीविषुः। शतावरीरसे सिद्धौ वृष्यौ क्षीरघृतौ स्मृतौ।।४९।।
कलविङ्कानि माषाश्च वृष्यौ क्षीरघृतौ तथा। आयुष्या त्रिफला ज्ञेया पूर्ववन्मधुकान्विता।।५०।।
मधुकादिरसोपेता बलीपलितनाशिनी। वचासिद्धघृतं विप्र भूतदोषविनाशनम्।।५१।।
कव्यं बुद्धिप्रदं चैव तथा सर्वार्थसाधनम्। बलाकल्ककषायेण सिद्धमभ्यञ्जने हितम्।।५२।।
रास्नासहचरैर्वाऽपि तैलं वातविकारिणाम्। अनभिष्यन्दि यच्चान्नं तद्व्रणेषु प्रशस्यते।।५३।।
सक्तुपिण्डी तथैवाऽऽम्ला पाचनाय प्रशस्यते। पक्वस्य च तथा भेदे निम्बचूर्णं च रोपणे।।५४।।
तथा सूच्युपचारश्च बलिकर्म विशेषतः। सूतिका च तथा रक्षा प्राणिनां तु सदा हिता।।५५।।

हे द्विजोत्तम! कान में दर्द हो, तो बकरे के मूत्र तथा तेल से कानों को भर देना श्रेष्ठतम है। यह कर्णशूल का विनाश करने वाला है। सभी तरह के सिर के भी सइ रोग में लाभसम्प्रदायक हैं। गिरिमृत्तिका (पहाड़ी मिट्ट), सफेद, चन्दन, लाख, मालतीकलिका (चमेली की कली) सभी को पीसकर बनायी हुई बत्ती उरःक्षत तथा शुक्र-दोषों को नष्ट करती है। व्योष (सोंठ, काली मिर्च, पीपल) और त्रिफला (आँवला, हर्रा, बहेड़ा) तथा तूतिया थोड़ा जल मिलाकर आँख में डालना चाहिये। यह और रसाञ्जन (रसोत) भी आँख के सब रोगों का विनाश करने वाला है। लोध, काँजी और सेंधा नमक को घी में भूनकर शिला पर पीसकर आँखों पर लेप करने से सभी तरह के नेत्र-रोगों में लाभ होता है। आश्च्योतन (आँसू गिरना) तो बन्द ही हो जाता है। गिरिमृत्तिका और सफेद चन्दन का बाहरी लेप आँखों को लाभ पहुँचाता है तथा नेत्र-रोगों के विनाश के लिये त्रिफला का सदा सेवन करना चाहिये। (उसके जल से आँखों को धोना श्रेष्ठतम माना गया है।)।।४४-४८।।

दीर्घजीवी होने की इच्छा वाले को रात में त्रिफला घृत-मधु के साथ खाना चाहिये। शतावरी-रस में सिद्ध दूध तथा घी वृष्य है (बलकारक एवं आयुवर्धक है)। कलम्बिका (करमीका शाक) और उड़द भी वृष्य होते हैं। दूध एवं घृत भी वृष्य हैं। पूर्ववत् मुलहठी के सहित त्रिफला आयु को बढ़ाने वाली है। महुआ के फूल के रस के साथ त्रिफला ली जाय तो वह बुढ़ापा के चिह्न—झुर्रीं पड़ने और बालों के पकने-गिरने आदि का निवारण करती है।।४९-५२।।

हे विप्रवर! वच से सिद्ध घृत भूतदोष का विनाश करने वाला है। उसका कव्य बुद्धि को देने वाला तथा सम्पूर्ण मनोरथों को सिद्ध करने वाला है। खरेटी के (पत्थर पर पीसे हुए) कल्क से सिद्ध क्वाथ द्वारा बनाया हुआ अञ्जन नेत्रों के लिये हितकार है। रास्ना या सहचरी (झिण्टी) से सिद्ध तैल वात-रोगियों के लिये हितकर है। जो अन्न श्लेष्माकारी न हो, वह व्रणरोगों में श्रेष्ठ माना गया है। सक्तुपिण्डी तथा आमड़ा पाचन के लिये श्रेष्ठ हैं। नीम का चूर्ण घाव के भेदन (फोड़ने) में तथा रोपण (घ्राव भरने) में श्रेष्ठ है। उसी तरह सूच्युपचार (सूचीकर्म) भी व्रण को फोड़ने या बहाने में सहायक हैं। बलिकर्मविशेष से सूतिका को लाभ होता है तथा रक्षा-कर्म प्राणियों के लिये सदा हित करने

भक्षणं निम्बपत्राणां सर्पदष्टस्य भेषजम्। तालनिम्बदलं केश्यं जीर्णं तैलं यवा घृतम्।।५६।।
धूपो वृश्चिकदष्टस्य शिखिपत्रघृतेन वा। अर्कक्षीरेण संपिष्टं लेपो बीजं पलाशजम्।।५७।।
वृश्चिकार्तस्य कृष्णा वा शिवा च फलसंयुता। अर्कक्षीरं तिलं तैलं पललं च गुडं समम्।।५८।।
पानाज्जयति दुर्वारं श्वविषं शीघ्रमेव च। पीत्वा मूलं त्रिवृत्तुल्यं तण्डुलीयस्य सर्पिषा।।५९।।
सर्पकीटविषाण्याशु जयत्यतिबलान्यपि। चन्दनं पद्मकं कुष्ठं लताम्बूशीरपाटलाः।।६०।।
निर्गुण्डी सारिवा सेलुर्लूताविषहरोऽगदः। शिरोविरेचनं शस्तं गुडनागरकं द्विज।।६१।।
स्नेहपाने तथा बस्तौ तैलं घृतमनुत्तमम्। स्वेदनीयः परो वह्निः शीताम्भःस्तम्भनं परम्।।६२।।
त्रिवृद्धि रेचने श्रेष्ठा वमने मदनं तथा। बस्तिर्विरेको वमनं तैलं सर्पिस्तथा मधु।।
वातपित्तबलाशानां क्रमेण परमौषधम्।।६३।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते सिद्धौषधकथनं नामैकोनाशीत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः।।२७९।।

वाला है। नीम के पत्तों को खाना साँप से डँसे हुए की दवा है। पीसकर लगाया हुआ पताल नीम का पत्ता, पुराना तैल अथवा पुराना घी केश के लिये हितकर होते हैं।।५१-५६।।

जिसे बिच्छू ने काटा हो, उसके लिये मोरपंख और घृत का धूम लाभदाय है। अथवा आक के दूध से पीसे हुए पलाशबीज का लेप करने से बिच्छू का जहर उतर जाता है। बिच्छू के काटे हुए को पीपल या बड़ी हरड़ जायफल के साथ पिलाये। आक का दूध, तिल, तैल, पलल और गुड़-इनको समान मात्रा में लेकर पिलाने से कुत्ते का भयंकर विष शीघ्र ही दूर होता है। चौराई का मूल और निशोथ समान मात्रा में घी के साथ पीने से मनुष्य अतिबलवान् सर्पविष और कीटों के विषों पर भी शीघ्र ही काबू पा लेता है। श्वेत चन्दन, पद्माख, कूठ, लताम्बु (जूही का पानी), उशीर (खस), पाटला, निर्गुण्डी, शारिवा, सेलु (सेरुकी)-ये मकड़ी के विष का विनाश करने वाले औषधि हैं। हे द्विजश्रेष्ठ! गुड़सहित सोंठ शिरोविरेचन के लिये हितकारक हैं।।५७-६१।।

स्नेहपान में तथा वस्तिकर्म में तैल और घृत सर्वोत्तम है। अग्नि पसीना कराने में तथा शीतजल स्तम्भन में श्रेष्ठ हैं। इसमें संदेह नहीं कि निशोथ रेचन में श्रेष्ठ है और मैनफल वमन में। वस्ति, विरेचन एवं वमन, तैल, घृत एवं मधु-ये तीन क्रमशः वात, पित्त एवं कफ के परम औषधि हैं।।६२-६३।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी दो सौ उन्यासीवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।२७९।।

❖❖❖

अथाशीत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

सर्वरोगहराण्यौषधानि

धन्वन्तरिरुवाच

शारीरमानसागन्तुसहजा व्याधयो मताः। शारीराज्वरकुष्ठाद्याः क्रोधाद्या मानसा मताः॥१॥
आगन्तवो विधातोत्था सहजाः क्षुज्जरादयः। शारीरागन्तुनाशाय सूर्यवारे घृतं गुडम्॥२॥
लवणं सहिरण्यं च विप्रायाऽऽर्च्यं समर्पयेत्। चन्द्रे चाभ्यङ्गदो विप्रे सर्वरोगैः प्रमुच्यते॥३॥
तैलं शनैश्चरे दद्यादाश्विने गोरसान्नदः। घृतेन पयसा लिङ्गं संस्नाप्य स्याद्रुगुज्झितः॥४॥
गायत्र्या हावयेद्वह्नौ दूर्वां त्रिमधुराप्लुताम्। यस्मिन्भे व्याधिमाप्नोति तस्मिन्स्थाने बलिः शुभे॥५॥
मानसानां रुजादीनां विष्णोः स्तोत्रं हरं भवेत्। वातपित्तकफा दोषा धातवश्च तथा शृणु॥६॥
भुक्तं पक्वाशयादन्नं द्विधा याति च सुश्रुत। अंशेनैकेन किट्टत्वं रसतां चापरेण च॥७॥
किट्टभागो मलस्तत्र विण्मूत्रस्वेदरूपवान्। नासामलः कर्णमलस्तथा देहमलः स्मृतः॥८॥
रसभागाद्रसस्तत्र समाच्छोणिततां व्रजेत्। मांसं रक्तात्ततो मेदो मेदसोऽस्थ्नश्च संभवः॥९॥

अध्याय-२८०

सर्वरोगहर औषध विचार

भगवान् धन्वन्तरि ने कहा कि-हे सुश्रुत! शारीर, मानस, आगन्तुक और सहज-ये चार तरह की व्याधियाँ हैं। ज्वर और कुष्ठ आदि 'शारीर' रोग हैं, क्रोध आदि 'मानस' रोग हैं, चोट आदि से उत्पन्न रोग 'आगन्तुक' कहे जाते हैं तथा भूख, बुढ़ापा आदि 'सहज' (स्वाभाविक) रोग हैं। 'शारीर' तथा 'आगन्तुक' व्याधि के विनाश के लिये रविवार को ब्राह्मण की पूजा करके उसको घृत, गुड़, नमक और स्वर्ण का दान करना चाहिये। जो सोमवार को ब्राह्मण के लिये उबटन देता है, वह सब रोगों से छूट जाता है। शनिवार को तैल का दान करना चाहिये। आश्विन के महीने में गोरस-गाय का घी, दूध और दही तथा अन्न देने वाला सब रोगों से छूटकारा पा जाता है। घृत या दूध से शिवलिङ्ग को स्नान कराने से मनुष्य रोगहीन हो जाता है। त्रिमधुर (शर्करा, गुड़, मधु) में डुबायी हुई दूर्वा का गायत्री-मन्त्र से हवन करने पर मनुष्य सब रोगों से छूट जाता है। जिस नक्षत्र में रोग उत्पन्न हो, उसी शुभ नक्षत्र में स्नान करना चाहिये तथा बलि देना चाहिये। भगवान् श्रीहरि विष्णु का स्तोत्र 'मानस-रोग' आदि को हर लेने वला है। अधुना वात, पित्त एवं कफ-इन दोषों का तथा रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा, शुक्र आदि धातुओं का वर्णन सुनो॥१-६॥

हे सुश्रुत! खाया हुआ अन्न पक्वाशय से दो भागों में विभाजित हो जाता है। एक अंश से वह किट्ट होता है और दूसरे अंश से रस। किट्टभाग मल है, जो विष्ठा, मूत्र तथा स्वेदरूप में परिणत होता है। वही नेत्रमल, नासामल, कर्णमल तथा देहमल कहलाता है। रस अपने समस्त भाग से रुधिररूप में परिणत हो जाता है। रुधिर से मांस, मांस से मेद, मेद से अस्थि, अस्थि से मज्जा, मज्जा से मेद, मेद से अस्थि, अस्थि से मज्जा, मज्जा से शुक्र, शुक्र से राग (रंग या वर्ण) तथा ओजस् उत्पन्न होता है। चिकित्सक को देश, काल, पीड़ा, बल, शक्ति, प्रकृति तथा भेषज

अस्थ्नो मज्जा ततः शुक्रं शुक्राद्रागस्तथौजसः। देशमार्तिं बलं शक्तिं कालं प्रकृतिमेव च॥१०॥
ज्ञात्वा चिकित्सितं कुर्याद्भेषजस्य तथा बलम्। तिथिं रिक्तां त्यजेद्भौमं मन्दभं दारुणोग्रकम्॥११॥
हरिगोद्विजचन्द्रार्कसुरादीन्प्रतिपूज्य च। शृणु मंत्रमिमं विद्वन्भेषजारम्भमाचरेत्॥१२॥
ब्रह्मदक्षाश्विरुद्रेन्द्रभूचन्द्रार्कानिलानलाः। ऋषयश्चौषधिग्रामा भूतसंघाश्च पान्तु ते॥१३॥
रसायनमिवर्षीणां देवनाममृतं यथा। सुधेवोत्तमनागानां भैषज्यमिदमस्तु ते॥१४॥
वातश्लेष्मकरो देशो बहुवृक्षो बहूदकः। अनूप इति विख्यातो जाङ्गलस्तद्विवर्जितः॥१५॥
किञ्चिद्वृक्षोदको देशस्तथा साधारणः स्मृतः। जाङ्गलः पित्तबहुलो मध्यः साधारणः स्मृतः॥१६॥
रुक्षः शीतश्चलो वायुः पित्तमुष्णं कटुत्रयम्। स्थिराम्लस्निग्धमधुरं बलासं च प्रचक्षते॥१७॥
वृद्धिः समानैरेतेषां विपरीतैर्विपर्ययः। रसाः स्वाद्वम्ललवणा श्लेष्मला वायुनाशनाः॥१८॥
कटुतिक्त कषायाश्च वातलाः श्लेष्मनाशनाः। कट्वम्ललवणा ज्ञेयास्तथा पित्तविवर्धनाः॥१९॥
तिक्तस्वादुकषायाश्च तथा पित्तविनाशनाः। रसस्यैष गुणो नास्ति विपाकस्यैष इष्यते॥२०॥
वीर्योष्णाः कफवातघ्नाः शीताः पित्तविनाशनाः। प्रभावतस्तथा कर्म ते कुर्वन्ति च सुश्रुत॥२१॥
शिशिरे च वसन्ते च निदाघे च तथा क्रमात्। चयप्रकोपप्रशमाः कफस्य तु प्रकीर्तिताः॥२२॥

के बल को समझकर तदनुकूल चिकित्सा करना चाहिये। औषधि प्रारम्भ करने में रिक्ता (४, ९, १४) तिथि, भौमवार एवं मन्द, दारुण तथा उग्र नक्ष. को त्याग देवे। विष्णु, गौ, ब्राह्मण, चन्द्रमा, सूर्य आदि देवों की पूजा करके रोगी के उद्देश्य से निम्नांकित मन्त्र का उच्चारण करते हुए औषधि प्रारम्भ करना चाहिये-॥७-१२॥

'ब्रह्मा, दक्ष, अश्विनीकुमार, रुद, इन्द्र, भूमि, चन्द्रमा, सूर्य, अनिल, अनल, ऋषि, औषधिसमूह तथा भूतसमूदाय-ये आपकी रक्षा करें। जिस प्रकार ऋषियों के लिये रसायन, देवताओं के लिये अमृत तथा श्रेष्ठ नागों के लिये सुधा ही श्रेष्ठतम एवं गुणकारी है, उसी तरह यह औषधि तुम्हारे लिये आरोग्यकारक एवं प्राणरक्षक हो'॥१३-१४॥

देश-बहुत वृक्ष तथा अधिक जल वाला देश 'अनूप' कहलाता हैं वह वात और कफ उत्पन्न करने वाला होता है। जांगल देश 'अनूप देश के गुण-प्रभाव से हीन होता है। थोड़े वृक्ष तथा थोड़े जल वाला देश 'सामान्य' कहा जाता है। जांगल देश अधिक पित्त उत्पन्न करने वाला तथा सामान्य देश मध्यमपित्त का उत्पादक है॥१५-१६॥

वात, पित्त, कफ के लक्षण-वायु रूक्ष, शीत तथा चल है। पित्त उष्ण है तथा कटुत्रय (सोंठ, मिर्च, पीपली) पित्तकर हैं। कफ स्थिर, अम्ल, स्निग्ध तथा मधुर है। समान वस्तुओं के प्रयोग से इनकी वृद्धि तथा असमान वस्तुओं के प्रयोग से इनकी वृद्धि तथा असमान वस्तुओं के प्रयोग से हानि होती है। मधुर, अम्ल एवं लवण रस कफकारक तथा वयुनाशक हैं। कटु, तिक्त एवं कषाय रस वायु की वृद्धि करते हैं तथा कफनाशक हैं। इसी तरह कटु, अम्ल था लवण रस पित्त बढ़ाने वाले हैं। तिक्त, स्वादु (मधुर) तथा कषाय रस पित्तनाशक होते हैं। यह गुण या प्रभाव रस का नहीं, उसके विपाक का माना गया है। उष्णवीर्य कफनाशक तथा शीतवीर्य पित्तनाशक होते हैं। हे सुश्रुत! ये सब प्रभाव से ही वैसा कार्य करते हैं॥१७-२१॥

शिशिर, वसन्त तथा शरद् में क्रमशः कफ के चय, प्रकोप तथा प्रशमन बताये गये हैं। अर्थात् कफ का चय शिशिर-ऋतु में, प्रकोप वसन्त-ऋतु में तथा प्रशमन ग्रीष्म-ऋतु में होता है। हे सुश्रुत! वायु का संचय ग्रीष्म में, प्रकोप

निदाघवर्षारात्रौ च तथा शरदि सुश्रुत। चयप्रकोपप्रशमाः पवनस्य प्रकीर्तिताः॥२३॥
मेघकाले च शरदि हेमन्ते च तथा क्रमात्। चयप्रकोपप्रशमास्तथा पित्तस्य कीर्तिताः॥२४॥
वर्षादयो विसर्गास्तु हेमन्ताद्यास्तथा त्रयः। शिशिराद्यास्तथाऽऽदाने ग्रीष्मान्ता ऋतवस्त्रयः॥२५॥
सौम्यो विसर्गस्त्वादानमाग्नेयं परिकीर्तितम्। वर्षादींस्त्रीनृतून्सोमश्चरन्पर्यायशो रसान्॥२६॥
जनयत्यम्ललवणमधुरांस्त्रीन्यथाक्रमम्। शिशिरादीनृतून्नर्कश्चरन्पर्यायशो रसान्॥२७॥
विवर्धयेत्तथा तिक्तकषायकटुकान्क्रमात्। यथा रजन्यो वर्धन्ते बलमेवं हि वर्धते॥२८॥
क्रमशोऽथ मनुष्याणां हीयमानासु हीयते। रात्रिभुक्तदिनानां च वयसश्च तथैव च॥२९॥
आदिमध्यावसानेषु कफपित्तसमीरणाः। प्रकोपं यान्ति कोपादौ काले तेषां चयः स्मृतः॥३०॥
प्रकोपोत्तरके काले शमस्तेषां प्रकीर्तितः। अतिभोजनतो विप्र तथा चाभोजनेन च॥३१॥
रोगा हि सर्वे जायन्ते वेगोदीरणधारणैः। अन्नेन कुक्षेर्द्वावंशावेकं पानेन पूरयेत्॥३२॥
आश्रयं पवनादीनां तथैकमवशेषयेत्। व्याधेर्निदानस्य तथा विपरीतमथौपधम्॥३३॥
कर्तव्यमेतदेवात्र मया सारं प्रकीर्तितम्। नाभेरूर्ध्वमधश्चैव गुदश्रोण्योस्तथैव च॥३४॥
बलासपित्तवातानां देहे स्थानं प्रकीर्तितम्। तथाऽपि सर्वगाश्चैते देहे वायुर्विशेषतः॥३५॥

वर्षा तथा रात्रि में और शमन शरद् में कहा गया है। इसी तरह पित्त का संचय वर्षा में, प्रकोप शरद् में तथा शमन हेमन्त में कहा गया है। वर्षा से हेमन्तपर्यन्त (वर्षा, शरद्, हेमन्त–ये) तीन ऋतुएँ 'विसर्ग-काल' कही गयी हैं तथा शिशिर से ग्रीष्मपर्यन्त तीन ऋतुओं को (औषधि लेने के निमित्त) 'आदान (काल) कहा गया है। विसर्ग काल को 'सौम्य' और आदानकाल को 'आग्नेय' कहा गया है। वर्षा आदि तीन ऋतुओं में चलता हुआ चन्द्रमा औषधियों में क्रमशः अम्ल, लवण तथा मधुर रसों को उत्पन्न करता है। शिशिर आदि तीन ऋतुओं में विचरता हुआ सूय क्रमशः तिक्त, कषाय तथा कटु रसों को बढ़ाता है। रातें ज्यों-ज्यों बढ़ती हैं, त्यों-त्यों औषधियों का बल बढ़ता है॥२२-२८॥

जिस प्रकार-जिस प्रकार रातें घटती हैं, वैसे-वैसे मनुष्यों का बल क्रमशः घटता है। रात में, दिन में तथा भोजन के बाद, आयु के आदि, मध्य और अवसान काल में कफ, पित्त एवं वायु प्रकुपित होते हैं। प्रकोप के आदिकाल में इनका संचय होता है तथा प्रकोप के बाद इनका शमन कहा गया है। हे विप्रवर! अधिक भोजन और अधिक निराहार व्रत से तथा मल-मूत्र आदि के वेगों को रोकने से सभी रोग उत्पन्न होते हैं। इसलिये पेट के दो भागों को अन्न से तथा एक भाग को जल से पूरा करना चाहिये। अवशिष्ट एक भाग को वायु आदि के संचरणके लिये रिक्त रखे। व्याधि का निदान तथा विपरीत औषधि करना चाहिये, इन सभी का सार यही है, जो मैंने बतलाया है॥२९-३३॥

नाभि के ऊपर पित्त का स्थान है तथा नीचे श्रोणी एवं गुदा को वात का स्थान कहा गया है। तथापि ये सभी समस्त शरीर में घूमते हैं। उनमें भी वायु विशेषरूप से सम्पूर्ण शरीर में संचरण करती है। इस विषय का सुस्पष्ट वर्णन सुश्रुत में इस तरह है–**दोषस्थानान्यत ऊर्ध्वं वक्ष्यामः। तत्र समासेन वातः श्रोणिगुदसंश्रयः, तदुपर्यधो नाभेः पक्वाशयः पक्वामाशयमध्यं पित्तस्य, आमाशयः श्लेष्मणः।** (सुश्रुत, सूत्र-स्थान अध्याय २१, सूत्र) 'इसके बाद दोनों के स्थानों का वर्णन करने जा रहा हूँ–उनमें संक्षेप से (रहस्य यह है कि) वायु का स्थान श्रोणि एवं गुदा है, उसके ऊपर एवं नाभि (ग्रहणी) के नीचे पक्वाशय है, पक्वाशय एवं आमाशय के मध्य में पित्त का स्थान है। श्लेष्मा का स्थान आमाशय है॥३४-३५॥

देहस्य मध्ये हृदयं स्थानं तन्मनसः स्मृतम्। कृशोऽल्पकेशश्चपलो बहुवाग्विषमानलः॥३६॥
व्योमगश्च तथा स्वप्ने वातप्रकृतिरुच्यते। अकालपलितः क्रोधी प्रस्वेदी मधुरप्रियः॥३७॥
स्वप्ने च दीप्तिमत्प्रेक्षी पित्तप्रकृतिरुच्यते। दृढाङ्गः स्थिरचित्तश्च सुप्रभः स्निग्धमूर्धजः॥३८॥
शुद्धाम्बुदर्शी स्वप्ने च कफप्रकृतिको नरः। तामसा राजसाश्चैव सात्त्विकाश्च तथा स्मृताः॥३९॥
मनुष्या मुनिशार्दूल वातपित्तकफात्मकाः। रक्तपित्तं व्यवायाच्च गुरकर्मप्रवर्तनैः॥४०॥
कदन्नभोजनाद्वायुर्देहे शोकाच्च कुप्यति। विदाहिनां तथोल्कानामुष्णान्नाध्वनिषेविणाम्॥४१॥
पित्तं प्रकोपमायाति भयेन च तथा द्विज। अत्यम्बुपानगुर्वन्नभोजिनां भुक्तशायिनाम्॥४२॥
श्लेष्मा प्रकोपमायाति तथा ये चालसा जनाः। वाताद्युत्थानि रोगाणि ज्ञात्वा शाम्यानि लक्षणैः॥४३॥
अस्थिभङ्गः कषायत्वमास्ये शुष्कास्यता तथा। जृम्भणं रोमहर्षश्च वातिकव्याधिलक्षणम्॥४४॥
नखनेत्रशिराणां तु पीतत्वं कटुता मुखे। तृष्णा दाहोष्णता चैव पित्तव्याधिनिदर्शनम्॥४५॥
आलस्यं च प्रसेकश्च गुरुता मधुरास्यता। उष्णाभिलाषिता चेति श्लैष्मिकव्याधिलक्षणम्॥४६॥
स्निग्धोष्णमन्नमभ्यङ्गस्तैलं पानादि वातनुत्। आज्यं क्षीरं सिताद्यं च चन्द्ररश्म्यादि पित्तनुत्॥४७॥

देह के मध्य में हृदय है, जो मन का स्थान है। जो स्वभावतः दुर्बल, थोड़े बाल वाला, चञ्चल, अधिक बोलने वाला तथा विषमानल है–जिसकी जठराग्नि कभी ठीक से पाचन क्रिया करती है, कभी नहीं करती तथा जो स्वप्न में आकाश में उड़ने वाला है, वह वात प्रकृति का मनुष्य है। समय (अवथा) से पूर्व ही जिसके बाल पकने-झरने लगे, जो क्रोधी हो, जिसे पसीना अधिक होता हो, जो मीठी वस्तुएँ खाना पसंद करता हो और स्वप्न में अग्नि को देखेन वाला हो, वह पित्त प्रकृति का है। जो दृढ़ अङ्गों वाला, स्थिरचित्त, सुन्दर, कान्तियुक्त, चिकने केश तथा स्वप्न में स्वच्छ जल को देखने वाला है, वह कफ प्रकृति वाला मनुष्य कहा जाता है। इसी तरह तामस, राजस तथा सात्त्विक–तीन तरह के मनुष्य होते हैं॥३६-३९॥

हे मुनिश्रेष्ठ! सभी मनुष्य वात, पित्त और कफ वाले हैं। मैथुन से और भारी काम में लगे रहने से रक्तपित्त होता है। कदन्न के भोजन से तथा शोक से वायु कुपित होती है। हे द्विजोत्तम! जलन उत्पन्न करने वाले पदार्थों तथा कटु, तिक्त, कषाय रस से युक्त पदार्थों के सेवन से, मार्ग में चलने से तथा भय से पित्त प्रकुपित होता है। अधिक जल पीने वालों, भारी अन्न भोजन करने वालों, खाकर तुरन्त सो जाने वालों तथा आलसियों का कफ प्रकुपित होता है। उत्पन्न हुए वातादि रोगों को लक्षणों से जानकर उनका शमन करना चाहिये॥४०-४३॥

अस्थिभङ्ग (हड्डियों का टूटना या व्यथित होना), मुख का कसैला स्वाद होना, मुँह सूखना, जँभाई आना तथा रोएँ खड़े हो जाना–ये वायुजनित रोग के लक्षण हैं। नाखून, आँखें एवं नस-नाड़ियों का पीला हो जाना, मुख में कड़ुवापन प्रतीता होना, प्यास लगना तथा शरीर में दाह या गर्मी मालूम होना–ये पित्तव्याधि के लक्षण हैं॥४४-४५॥

आलस्य, प्रसेक (मुँह में पानी आना), भारीपन, मुँह का मीठा होना, उष्ण की अभिलाषा (धूप में या आग के पास बैठने की इच्छा होना या उष्ण पदार्थों को ही खाने की कामना)–ये कफज व्याधि के लक्षण हैं। स्निग्ध और गरम-गरम भोजन करने से, तेल की मालिश से तथा तैल-पान आदि से वातरोग का निवारण होता हैं घी, दूध, मिश्री

सक्षौद्रं त्रिफला तैलं व्यायामादि कफापहम्। सर्वरोगप्रशान्त्यै स्याद्विष्णोर्ध्यानं च पूजनम्।।४८।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते सर्वरोगहरौषधादिकथनं नामाशीत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः।।२८०।।

—※※※—

अथैकाशीत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

रसादिलक्षणम्

धन्वन्तरिरुवाच

रसादिलक्षणं वक्ष्ये भेषजानां गुणं शृणु। रसवीर्यविपाकज्ञो नृपादीन्रक्षयेन्नरः।।१।।
रसाः स्वाद्वम्ललवणाः सोमजाः परिकीर्तिताः। कटुतिक्तकषायाश्च तथाऽऽग्नेया महाभुज।।२।।
त्रिधा विपाको द्रव्यस्य कट्वम्ललवणात्मकः। द्विधा वीर्यं समुद्दिष्टमुष्णं शीतं तथैव च।।३।।
अनिर्देश्यप्रभावश्च ओषधीनां द्विजोत्तम। मधुरश्च कषायश्च तिक्तश्चैव तथा रसः।।४।।
शीतवीर्याः समुद्दिष्टाः शेषास्तूष्णाः प्रकीर्तिताः। गुडूची तत्र तिक्ताऽपि भवत्युष्णाऽतिवीर्यतः।।५।।
उष्णा कषायाऽपि तथा पथ्या भवति मानद। मधुरोऽपि तथा मांस उष्ण एव प्रकीर्तितः।।६।।

आदि एवं चन्द्रमा की किरण आदि पित्त को दूर करता है। शहद के साथ त्रिफला का तैल लेने तथा व्यायाम आदि से कफ का शमन होता है। बस रोगों की शान्ति के लिये भगवान् श्रीहरि विष्णु का ध्यान एवं पूजन सर्वोत्तम औषधि है।।४६-४८।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी दो सौ अस्सीवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।२८०।।

अध्याय-२८१

रस आदि के लक्षण विचार

भगवान् धन्वन्तरि ने कहा कि—हे सुश्रुत! अधुना मैं औषधियों के रस आदि के लक्षणों और गुणों का वर्णन करने जा रहा हूँ, ध्यान देकर सुनो। जो औषधियों के रस, वीर्य और विपाक को जानता है, वही चिकित्सक राजा आदि की रक्षा कर सकता है।।१।।

हे महाबाहो! मधुर, अम्ल और लवण रस चन्द्रमा से उत्पन्न कहे गये हैं। कटु, तिक्त एवं कषाय रस अग्नि से उत्पन्न माने गये हैं। द्रव्य का विपाक तीन तरह का होता है—कटु, अम्ल और लवणरूप। वीर्य दो तरह के कहे गये हैं—शीत और उष्ण। हे द्विजोत्तम! औषधियों का प्रभाव अकथनीय है। मधुर, तिक्त और कषाय रस 'शीतवीर्य' कहे गये हैं। एवं शेष रस 'उष्णवीर्य' माने गये हैं; परन्तु गुडूची (गिलोय) तिक्तरस वाली होने पर अत्यन्त वीर्यप्रद होने से उष्ण है।।२-५।।

मानद! इसी तरह हरड़ कषाय रस से युक्त होने पर भी 'उष्णवीर्य' होती है तथा मांस (जटामांसी) मधुर

लवणो मधुरश्चैव विपाकमधुरौ स्मृतौ। अम्लोष्णश्च तथा प्रोक्तः शेषाः कटुविपाकिनः॥७॥
वीर्यपाके विपर्यस्तप्रभावात्तत्र निश्चयः। मधुरोऽपि कटुःपाके यच्च क्षौद्रं प्रकीर्तितम्॥८॥
क्वाथयेत्षोडशगुणं पिबेद्‌द्रव्याच्चतुर्गुणम्। कल्पनैषा कषायस्य यत्र नोक्तो विधिर्भवेत्॥९॥
कषायं तु भवेत्तोयं स्नेहपाके चतुर्गुणम्। द्रव्यतुल्यं समुद्‌धृत्य द्रव्ये स्नेहं क्षिपेद्‌बुधः॥१०॥
तावत्प्रमाणं द्रव्यस्य स्नेहपादं ततः क्षिपेत्। तोयवर्जं तु यद्‌द्रव्यं स्नेहद्रव्यं तथा भवेत्॥११॥
संवर्तितौषधः पाकः स्नेहानां परिकीर्तितः। तत्तुल्यता तु लेह्यस्य तथा भवति सुश्रुत॥१२॥
स्वच्छमल्पौषधं क्वाथं कषायं चोक्तवद्‌भवेत्। अक्षं चूर्णस्य निर्दिष्टं कषायस्य चतुष्पलम्॥१३॥
मध्यमैषा स्मृता मात्रा नास्ति मात्राविकल्पना। वयः कालं बलं वह्निं देशं द्रव्यं रुजं तथा॥१४॥
समवेक्ष्य महाभाग मात्रायाः कल्पना भवेत्। सौम्यास्तत्र रसाः प्रायो विज्ञेया धातुवर्धनाः॥१५॥
मधुरास्तु विशेषेण विज्ञेया धातुवर्धनाः। दोषाणां चैव धातूनां द्रव्यं समगुणं तु यत्॥१६॥
तदेव वृद्धये ज्ञेयं विपरीतं क्षयावहम्। उपक्रमत्रयं प्रोक्तं देहेऽस्मिन्मनुजोत्तम॥१७॥
आहारो मैथुनं निद्रा तेषु यत्नः सदा भवेत्। असेवनात्सेवनाच्च अत्यन्तं नाशमाप्नुयात्॥१८॥

रस से युक्त होने पर भी 'उष्णवीर्य' ही कहा गया है। लवण और मधुर—ये दोनों रस विपाक में मधुर माने गये हैं। अम्लोष्ण का विपाक भी मधुर होता है। शेष रस विपाक में कटु हैं। इसमें संदेह नहीं है कि विशेष वीर्ययुक्त द्रव्य के विपाक में उसके प्रभाव के कारण विपरीतता भी हो जाती है; क्योंकि शहद मधुर होने पर भी विपाक में कटु माना गया है॥६-८॥

द्रव्य से सोलहगुना जल लेकर क्वाथ करना चाहिये। प्रक्षिप्त द्रव्य से चार गुना जल शेष रहने पर (क्वाथ को) छानकर पीवे। यह क्वाथ के निर्माण की विधि है। जहाँ क्वाथ की विधि न बतलायी गयी हो, वहाँ इसी को प्रमाण समझना चाहिये॥९॥

स्नेह (तैल या घृत) पाक की विधि में स्नेह से चौगुना कषाय (क्वथित द्रव्य) अथवा बराबर-बराबर तैल एवं विभिन्न द्रव्यों के क्वाथ लेने चाहिये। तैल का परिपाक तत्पश्चात् समझना चाहिये, जिस समय कि उसमें डाली हुई औषधियाँ उफनते हुए तैल में गलकर ऐसी हो जाएँ, कि उनको ठंढा करके यदि हाथ पर रगड़ा जाय तो उनकी बत्ती-सी बन जाय। विशेष बात यह है कि उस बत्ती का सम्बन्ध अग्नि से किया जाय तो चिड़चिड़ाहट की प्रतीति न हो, तत्पश्चात् सिद्धतैल मानना चाहिये॥१०-११॥

हे सुश्रुत! लेह्य (चाटने योग्य) औषधद्रव्यों में भी इसी के समान प्रक्षेप आदि होते हैं। निर्मल तथा उचित औषधि-प्रक्षेप द्वारा निर्मित क्वाथ श्रेष्ठतम होता है (तथा उसका प्रयोग लेह्य आदि में करना चाहिये)। चूर्ण की मात्रा एक अक्ष (तोला) और क्वाथ की मात्रा चार पल है। यह मध्यम मात्रा (सामान्य मात्रा) बतलायी गयी है। वैसे मात्रा का परिमाण कोई निश्चित परिमाण नहीं है। हे महाभाग! रोगी की अवस्था, बल, अग्नि, देश, काल, द्रव्य और रोग का विचार करके मात्रा की कल्पना होती है। उसमें सौम्य रसों को प्रायः धातुवर्द्धक समझना चाहिये॥१२-१५॥

मधुर रस तो विशेषतया शरीर के धातुओं की वृद्धि के लिये समझना चाहिये। दोष, धातु और द्रव्य समानगुण युक्त होने पर शरीर की वृद्धि करते हैं और इसके विपरीत होने पर क्षयकारक होते हैं। नरश्रेष्ठ! इस शरीर में तीन तरह के उपस्थम्भ (खम्भे) कह गये हैं—आहार, मैथुन और निद्रा। मनुष्य इनके प्रति सदा सावधानी रखे। इनके पूर्णतया परित्याग या अत्यन्त सेवन से शरीर क्षय को प्राप्त होता है। कृश शरीर का 'बृंहण' (पोषण), स्थूल शरीर का 'कर्षण'

क्षयस्य बृंहणं कार्यं स्थूलदेहस्य कर्षणम्। रक्षणं मध्यकायस्य देहभेदास्त्रयो मताः॥१९॥
उपक्रमद्वयं प्रोक्तं तर्पणं वाऽप्यतर्पणम्। हिताशी च मिताशी च जीर्णाशी च तथा भवेत्॥२०॥
ओषधीनां पञ्चविधा तथा भवति कल्पना। रसः कल्कः शृतः शीतः फाण्टश्च मनुजोत्तम॥२१॥
रसश्च पीडको ज्ञेयः कल्क आलोडिताद् भवेत्। क्वथितश्च शृतो ज्ञेयः शीतः पर्युषितो निशि॥२२॥
सद्योभिशृतपूतं यत्तत्फाण्टमभिधीयते। करणानां शतं चैव षष्टिश्चैवाधिका स्मृता॥२३॥
यो वेत्ति स ह्यजेयः स्यात्संबन्धे बाहुशौण्डिकः। आहारशुद्धिरग्न्यर्थमग्निमूलं बलं नृणाम्॥२४॥
ससिन्धुत्रिफलां चाद्यात्सुष्ठु राज्यभिवर्णदाम्। जाङ्गलं च रसं सिन्धुयुक्तं दधि पयः कणाम्॥२५॥
रसाधिकं समं कुर्यान्नरो वाताधिकोऽपि वा। निदाघे मर्दनं प्रोक्तं शिशिरे च समं बहु॥२६॥
वसन्ते मध्यमं ज्ञेयं निदाघे मर्दनोल्बणम्। त्वचं तु प्रथमं मर्द्यं मज्जां च तदनन्तरम्॥२७॥
स्नायूरुधिरदेहेषु अस्थि चातीव मांसलम्। स्कन्धो बाहू तथैवेह तथा जङ्घे सजानुनी॥२८॥
अरिवन्मर्दयेत्प्राज्ञो जत्रु वक्षश्च पूर्ववत्। अङ्गसंधिषु सर्वेषु निष्पीड्य बहुलं तथा॥२९॥
प्रसारयेदङ्गसंधीन्न च क्षेपेण चाक्रमात्। नाजीर्णे तु श्रमं कुर्यान्न भुक्त्वा पीतवान्नरः॥३०॥

और मध्यम शरीर का 'रक्षण' करना चाहिये। यह शरीर के तीन भेद माने गये हैं। 'तर्पण' और 'अतर्पण'-इस तरह आहारादि उपक्रमों के दो भेद होते हैं। मनुष्य को सदा 'हिताशी' होना चाहिये। (हितकारी पदार्थों को ही खाना चाहिये) और 'मिताशी' बनना चाहिये। (परिमित भोजन करना चाहिये) तथा 'जीर्णाशी' होना चाहिये। (पूर्वभुक्त अन्न का परिपाक हो जाने पर ही पुनः भोजन करना चाहिये॥१६-२०॥

हे नरश्रेष्ठ! औषधियों की निर्माण-विधि पाँच तरह की मानी गयी है-रस, कल्क, क्वाथ, शीतकषाय तथा फाण्ट। औषधों को निचोड़ने से 'रस' होता है, मन्थन से 'कल्क' बनता है, औटाने से 'क्वाथ' होता है, रात्रिभर रखने से 'शीत' और तत्काल जल में कुछ गरम करके छान लेने से 'फाण्ट' होता है॥२१-२२॥

(इस तरह) चिकित्सा के एक सौ आठ साधन हैं। जो वैद्य उनको जानता है, वह अजेय होता है। अर्थात् वह चिकित्सा में कहीं असफल नहीं होता है। वह 'बाहुशौण्डिक' कहा जाता है। आहार-शुद्धि अग्नि के संरक्षण, संवर्द्धन एवं संशुद्धि आदि के लिये आवश्यक है; क्योंकि मनुष्यों के बल का अग्नि ही मूल आधार है। बल के लिये सैन्धव लवण से युक्त त्रिफला, कान्तिप्रद श्रेष्ठतम पेय, , जाङ्गल-रस, सैन्धवयुक्त दही और दुग्ध तथा पिप्पली (पीपल) का सेवन करना चाहिये॥२३-२५॥

मनुष्य को जो रस (या धातु आदि) अधिक हो गये, अर्थात् बढ़ गये हैं, उनको सम करना चाहिये-साम्यावस्था में लावे। वातप्रधान प्रकृति के मनुष्य को अपनी परिस्थिति के अनुसार ग्रीष्म ऋतु में अङ्गमर्दन करना चाहिये। शिशिर-ऋतु में सामान्य या अधिक, वसन्त-ऋतु में मध्यम और ग्रीष्म-ऋतु में विशेष रूप से अङ्गों का मर्दन करना चाहिये। पहले त्वचा का, तत्पश्चात् मर्दन करने योग्य अंग का मर्दन करना चाहिये॥२६-२७॥

स्नायु एवं रुधिर से परिपूर्ण शरीर में अस्थिसमूह अत्यन्त मांसल-सा प्रतीत होता है। इसी तरह कंधे, बाहु, जानुद्वय तथा जङ्घाद्वय भी मांसल प्रतीत होते हैं। बुद्धिमान् मनुष्य शत्रु के समान इनका मर्दन करना चाहिये। जत्रु (हँसली का भाग), वक्षःस्थल (छाती) इनको पूर्ववत् सामान्य तरह से मले तथा समस्त अंग-संधियों को खूब मलकर उनको (अङ्ग-संधियों को) फैला देना चाहिये परन्तु उनका प्रसारण हठात् एवं क्रमविरुद्ध नहीं करना चाहिये। मनुष्य अजीर्ण में, भोजनोपरान्त और तत्काल जल पीकर परिश्रम ने करना चाहिये॥२८-३०॥

दिनस्य तु चतुर्भाग ऊर्ध्व तु प्रहारार्धके। व्यायामं (मो) नैव कर्तव्यं (व्यः) स्नायाच्छीताम्बुनासकृत्॥३१॥
वार्युष्णं च श्रमं जह्याद्धृदा श्वासं न धारयेत्। व्यायामश्च कफं हन्याद्वातं हन्याच्च मर्दनम्॥३२॥
स्नानं पित्ताधिकं हन्यात्तस्यान्ते चाऽऽतपाः प्रियाः। आतपक्लेशकर्माऽऽदौ क्षेमव्यायाम उत्तरः॥३३॥

॥इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते रसादिलक्षणकथनं नामैकाशीत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः॥२८१॥

—*****—

अथ द्व्यशीत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

वृक्षायुर्वेदः

धन्वन्तरिरुवाच

वृक्षायुर्वेदमाख्यास्ये प्लक्षश्चोत्तरतः शुभः। प्राग्वटो याम्यतस्त्वाम्र आप्येऽश्वत्थः क्रमेण तु॥१॥
दक्षिणां दिशमुत्पन्नाः समीपे कण्टकद्रुमाः। उद्यानं गृहवासे स्यात्तिलान्वाऽप्यथ पुष्पितान्॥२॥
गृह्णीयाद्रोपयेद्वृक्षान्द्विजं चन्द्रं प्रपूज्य च। ध्रुवाणि पञ्च वायव्यं हस्तं प्राजेशवैष्णवम्॥३॥
नक्षत्राणि तथा मूलं शस्यन्ते द्रुमरोपणे। प्रवेशयेन्नदीवाहान्पुष्करिण्यां तु कारयेत्॥४॥
हस्तो मघा तथा मैत्रमाद्यं पुष्पं सवासवम्। जलाशयसमारम्भे वारुणं चोत्तरात्रयम्॥५॥

दिन के चार भाग (प्रहर) होते हैं। प्रथम प्रहरार्ध के व्यतीत हो जाने पर व्यायाम नहीं करना चाहिये। शीतल जल से एक बार स्नान करना चाहिये। उष्ण जल थकावट को दूर करता है। हृदय के श्वास को अवरुद्ध नहीं करना चाहिये। व्यायाम कफ को नष्ट करता है तथा मर्दन वायु का विनाश करता है। स्नान पित्ताधिक्य का शमन करता है। स्नान के पश्चात् धूप का सेवन प्रिय परिश्रमयुक्त कार्य को सहन करने में सक्षम होते हैं।।३१-३३।।

॥इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी दो सौ एकासीवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ॥२८१॥

अध्याय–२८२

वृक्ष आयुर्वेद

धन्वन्तरि कहते हैं–हे सुश्रुत! अधुना मैं वृक्षायुर्वेद का वर्णन करने जा रहा हूँ। क्रमशः गृह के उत्तर दिशा में प्लक्ष (पाकड़), पूर्व में वट (बरगद), दक्षिण में आम्र और पश्चिम में अश्वत्थ (पीपल) वृक्ष मंगल माना गया है। गृह के सन्निकट दक्षिण दिशा में उत्पन्न हुए काँटेदार वृक्ष भी शुभ है। आवास-स्थान के आसपास उद्यान का निर्माण करना चाहिये अथवा सभी तरफ का भाग पुष्पित तिलों से सुशोभित करना चाहिये। ब्राह्मण और चन्द्रमा का पूजन करके वृक्षों का आरोपण करना चाहिये। वृक्षारेपण के लिये तीनों उत्तरा, स्वाती, हस्त, रोहिणी, श्रवण और मूल–ये नक्षत्र अत्यन्त प्रशस्त हैं। उद्यान में पुष्करिणी (बावली) का निर्माण कराये और उसमें नदी के प्रवाह का प्रवेश कराये। जलाशयारम्भ के लिये हस्त, मघा, अनुराधा, पुष्य, ज्येष्ठा, शतभिषा, उत्तराषाढ़ा, उत्तरा-भाद्रपदा और उत्तरा-फाल्गुनी नक्षत्र उपयुक्त हैं।।१-५।।

सम्पूज्य वरुणं विष्णुं पर्जन्य तत्समाचरेत्। अरिष्टाशोकपुंनागशिरीषाः सप्रियंगवः॥६॥
अशोकः कदली जम्बुस्तथाबकुलदाडिमाः। सायं प्रातस्तु घर्मान्ते शीतकाले दिनान्तरे॥७॥
वर्षारात्रौ भुवः शोषे सेक्तव्या रोपिता द्रुमाः। उत्तमा विंशतिर्हस्ता मध्यमाः षोडशान्तराः॥८॥
स्थानात्स्थानान्तरं कार्यं वृक्षाणां द्वादशावरम्। विफलाः स्युर्घना वृक्षाः शस्त्रेणाऽऽदौ हि शोधनम्॥९॥
विडङ्गघृतपङ्काक्तान्सेचयेच्छीतवारिणा। फलनाशे कुलत्थैश्च माषैर्मुग्दैर्यवैस्तिलैः॥१०॥
धृतशीतपयः सेकः फलपुष्पाय सर्वदा। आविकाजशकृच्चूर्णं यवचूर्णं तिलानि च॥११॥
गोमांसमुदकं चैव सप्तरात्रं निधापयेत्। उत्सेकः सर्ववृक्षाणां फलपुष्पादिवृद्धिदः॥१२॥
मत्स्याम्भसा तु सेकेन वृद्धिर्भवति शाखिनः। विडङ्गतण्डुलोपेतं मात्स्यं मांसंहि दोहदम्॥१३॥
सर्वेषामविशेषेण वृक्षाणां रोगमर्दनम्॥१४॥

॥इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तगति वृक्षायुर्वेदकथनं नाम द्व्यशीत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः॥२८२॥

वरुण, विष्णु और इन्द्र का पूजन करके इस कर्म को प्रारम्भ करना चाहिये। नीम, अशोक, पुन्नाग (नागकेशर), शिरीष, प्रियङ्गु, अशोक, कदली (केला) जम्बु (जामुन) वकुल (मौलसिरी) और अनार वृक्षों का आरोपण करके ग्रीष्म-ऋतु में प्रातःकाल और सायंकाल, शीत-ऋतु में दिन के समय एवं वर्षा-ऋतु में रात्रि के समय भूमि के सूख जानेपर वृक्षों को सींचे। वृक्षों के मध्य में बीस हाथ का अन्तर 'श्रेष्ठतम', सोलह हाथ का अन्तर 'मध्यम' और द्वादश हाथ का अन्तर 'अधम' कहा गया है। द्वादश हाथ अन्तर वाले वृक्षों को स्थानान्तरित कर देना चाहिये। घने वृक्ष फलहीन होते हैं। पहले उनको काट-छाँटकर शुद्ध करना चाहिये॥६-९॥

फिर विडङ्ग, घृत और पङ्क-मिश्रित शीतल जल से उनको सींचे। वृक्षों के फलों का विनाश होने पर कुलथी, उडद, मँग, जौ, तिल, और घृत से मिश्रित शीतल जल के द्वारा यदि सेचन किया जाय तो वृक्षों में सदा फलों एवं पुष्पों की वृद्धि होती है। भेड़ और बकरी की विष्ठा का चूर्ण, जौ का चूर्ण, तिल और जल-इनको एकत्र करके सात दिन तक एक स्थान पर रखे। तत्पश्चात् इससे सींचना सभी वृक्षों के फल और पुष्पों को संवृद्धि प्रदान करने वाला है॥१०-१२॥

मछली के जल (जिसमें मछली रहती हों) से सींचने पर वृक्षों की वृद्धि होती है। विडंगचावल के साथ यह जल वृक्षों का दोहद (अभिलषित पदार्थ) है। इसका सेचन सामान्यतया सभी वृक्ष रोगों का विनाश करने वाला है॥१३-१४॥

॥इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी दो सौ बयासीवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ॥२८२॥

❖❖❖

अथ त्र्यशीत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

नानारोगहराण्यौषधानि

धन्वन्तरिरुवाच

सिंही शटी निशायुग्मं वत्सकं क्वाथसेवनम्। शिशोः सर्वातिसारेषु स्तन्यदोषेषु शस्यते॥१॥
शृङ्गी सकृष्णातिविषां चूर्णितां मधुना लिहेत्। एका चातिविषा काशश्छर्दिज्वरहरी शिशोः॥२॥
बालैः सेव्या वचा साज्या सदुग्धा वाऽथ तैलयुक्। यष्टिकां शंखपुष्पीं वा बालः क्षीरान्वितां पिबेत्॥३॥
वाग्रूपसंपद्युक्तायुर्मेधा श्रीर्वर्धते शिशोः। वचा ह्यग्निशिखावासाशुण्ठीकृष्णानिशागदम्॥४॥
सयष्टिसैन्धवं बालः प्रातर्मेधाकरं पिबेत्। देवदारुसहाशिग्रुफलत्रयपयोमुचाम्॥५॥
क्वाथः सकृष्णामृद्वीकाकल्कः सर्वान्कृमीन्हरेत्। त्रिफलाभृङ्गाविश्वानां रसेषु मधुसर्पिषोः॥६॥
मेषीक्षीरे च गोमूत्रे सिक्तं रोगे हितं शिशोः। नासारक्तहरो नस्याद्दूर्वारस इहोत्तमः॥७॥
लशुनार्द्रकशिग्रूणां रसः कर्णस्य पूरणम्। तैलमार्द्रकजात्यं वा शूलनुच्चौष्ठरोगनुत्॥८॥
जातीपत्रं फलं व्योषं कवलं मूत्रकं निशा। दुग्धक्वाथेऽभयाकल्के सिद्धं तैलं द्विजार्तिनुत्॥९॥
धान्याम्बुनारिकेलं गोमूत्रं क्रमुकविश्वयुक्। क्वाथितं कवलं कार्यं जिह्वाव्याधिप्रशान्तये॥१०॥

अध्याय-२८३

नाना रोगनाशक ओषधियों का विचार

भगवान् धन्वन्तरि ने कहा कि-अडूसा, मुलहठी या कचूर, दोनों तरह की हल्दी और इन्द्रयव-इनका क्वाथ बालकों के सभी तरह के अतिसार में तथा स्तन्य (माता के दूध के) दोषों में प्रशस्त है। पीपल और अतीस के सहित काकड़ा शृंगी का अथवा केवल एक अतीस का चूर्ण करके बालकों को मधु के साथ चटावे। इससे खाँसी, वमन और ज्वर नष्ट होता है। बालकों को दुग्ध, घृत अथवा तैल के साथ वच का सेवन कराये अथवा मुलहठी और शङ्खपुष्पी को दूध के साथ बालक पिये। इससे बालकों की वाक्शक्ति एवं रूपसम्पत्ति के साथ-साथ आयु, बुद्धि और कान्ति की भी वृद्धि होती है। वच, कलिहारी, अडूसा, सोंठ, पीपल, हल्दी, कूट, मुलहठी और सैन्धव-इनका चूर्ण बालकों को प्रातःकाल पिलावे। इसका सेवन बुद्धिवर्द्धक है। देवदारु, बड़ा सहजन, त्रिफला और नागरमोथा-इनका क्वाथ अथवा पीपल और मुनक्का का कल्क सभी तरह के कृमिरोगों को नाशक है। शुद्ध राँगे को त्रिफला, भृङ्गराज तथा अदरख के रस या मधु घृत में अथवा भेड़ के मूत्र या गोमूत्र में अञ्जन करने से नेत्र रोगों में लाभ होता है। दूर्वारस का नस्य नाक से बहने वाले रक्त रोग (नाशा) को शान्त करने में श्रेष्ठतम है॥१-७॥

लहसुन, अदरख और सहजन के रस से कान को भर देने पर अथवा अदरख के रस या तैल से कान को भर देने पर वह कर्णशूल का नाशक तथा ओष्ठ रोगों को दूर करने वाला होता है। जायफल, त्रिपला, व्योष (सोंठ, मिर्च, पीपल), गोमूत्र, हल्दी, गोदुग्ध तथा बड़ी हर्रे के कल्क से सिद्ध किया हुआ तिल का तैल कवल (कुल्ला) करने से दन्तपीड़ा का नाशक है। काँजी, नारियल का जल, गोमूत्र, सुपारी तथा सोंठ-इनके क्वाथ का कवल मुख में रखने से जिह्वा के रोग का विनाश होता है। कलिहारी के कल्क (पिसे हुए द्रव्य) में निर्गुण्डी के रस के साथ

साधितं लाङ्गलीकल्के तैलं निर्गुण्डिकारसैः। गण्डमालागलगण्डौ नासयेन्नस्यकर्मणा॥११॥
पल्लवैरर्कपूतीकस्नुहीरुग्घातजातिकैः। उद्वर्तयेत्सगोमूत्रैः सर्वत्वग्दोषनाशनः॥१२॥
बाकुची सतिला भुक्ता वत्सरात्कुष्ठनाशिनी। पथ्या भल्लातकी तैलगुडपिण्डी तु कुष्ठजित्॥१३॥
यूथिका वह्निरजनी त्रिफलाव्योषचूर्णयक्। तक्रं गुदाङ्कुरे पेयं भक्ष्या व सगुडाऽभया॥१४॥
फलदार्वीविशालाजः क्वाथो धात्रीरसोऽथवा। पातव्यो रजनीकल्कः क्षौद्राक्षौद्रप्रमेहिणा॥१५॥
वासागर्भो व्याधिघातः क्वाथ एरण्डतैलयुक्। वातशोणितहृत्पानात्पिप्पली स्यात्प्लीहाहरी॥१६॥
सेव्या जठरिणा कृष्णास्नुक्क्षीरबहुभाविता। पयो वाऽरुचिहन्त्र्यग्निविडङ्गव्योषकल्कयुक्॥१७॥
ग्रन्थिकोग्राऽभया कृष्णा विडङ्गाक्ता घृतं तथा। मांसं तक्रं ग्रहण्यर्शः पाण्डुगुल्मकृमीन्हरेत्॥१८॥
फलत्रयामृतावासातिक्तभूनिम्बजस्तथा। क्वाथः समाक्षिको हन्यात्पांण्डुरोगं सकामलम्॥१९॥
रक्तपित्ती पिबेद्वासास्वरसं ससितं मधु। वरीद्राक्षाबलाशुण्ठीसाधितं वा पयः पृथक्॥२०॥
वरी विदारी पथ्या च बलात्रयं सवासकम्। श्वदंष्ट्रामधुसर्पिर्भ्यामालिहेत्क्षयरोगवान्॥२१॥
पथ्याशिग्रुकरञ्जार्कत्वक्सारं मधुसिन्धुमत्। समूत्रं विद्रधिं हन्ति परिपाकाय तन्त्रजित्॥२२॥
त्रिवृता जीवती दन्ती मञ्जिष्ठा शर्वरीद्वयम्। तार्क्ष्यजं निम्बपत्रं च लेपः शस्तो भगंदरे॥२३॥

सिद्ध किया हुआ तैल का नस्य लेने (नाक में डालने) से गण्डमाला और गलगण्डरोग का विनाश होता है। सभी चर्मरोगों को नष्ट करने वाले आक, काटा, करञ्ज, थूहर, अमलतास और चमेली के पत्तों को गोमूत्र के साथ पीसकर उबटन लगाना चाहिये। वाकुची को तिलों के साथ एक वर्ष तक खाया जाय तो वह सालभर में कुष्ठरोग का विनाश कर देती है, हरें, भिलावा, तैल, गुड़ और पिण्डखजूर–ये कुष्ठनाशक औषधि हैं। पाठा, चित्रक, हल्दी, त्रिफला और व्योष (सोंठ, मिर्च, पीपल)–इनका चूर्ण तक्र के साथ पीने से अथवा गुड़ के साथ हरीत की खाने से अर्श रोग का विनाश होता है। प्रमेह–रोगी को त्रिफला, दारुहल्दी, बड़ी इन्द्रायण और नागरमोथा–इनका क्वाथ या आँवले का रस हल्दी, कल्क और मधु के साथ पीना चाहिये। अडूसे की जड़ गिलोय और अमलतास के क्वाथ में शुद्ध एरण्ड का तेल मिलाकर पीने से वातरक्त का विनाश होता है और पिप्पली प्लीहारोग को नष्ट करती है॥८–१६॥

पेट के रोगी को थूहर के दूध में अनेक बार भावना दी हुई पिप्पली का सेवन करना चाहिये। चित्रक, विडङ्ग तथा त्रिकटु (सोंठ, मिर्च, पीपल) के कल्क से सिद्ध दूध अरुचिरोग का निवारण करता है। पीपलामूल, वच, हर्रे, पीपल और विडङ्ग को घी में मिलाकर रखे। (उसके सेवन से) या केवल तक्र के एक मास तक सेवन से ग्रहणी, अर्श, पाण्डु, गुल्म और कृमिरोगों का विनाश होता है। त्रिफला, गिलोय, अडूसा, कुटकी, चिरायता–इनका क्वाथ शहद के साथ पीन से कामलासहित पाण्डुरोग का विनाश होता है। अडूसे से रस को मिश्री और शहद मिलाकर पीने से या शतावरी, दाख, खरेटी और सोंठ–इनसे सिद्ध किया हुआ दूध पीने से रक्त–पित्त रोग का विनाश होता है। क्षयरोग के रोगी को शतावरी, विदारीकंद, बड़ी हर्रे, तीनों खरेटी, असगन्ध, गदहपूर्ना तथा गोखरू के चूर्ण को शहद और घी के साथ चाटना चाहिये॥१७–२१॥

हर्रे, सहजन, करञ्ज, आक, दालचीनी, पुनर्नवा, सोंठ और सैन्धव–इनका गोमूत्र के साथ योग करके लेप किया जाय तो यह विद्रधि की गाँठ को पकाने के लिये श्रेष्ठतम उपाय है। निशोथ, जीवन्ती, दन्तीमूल, मञ्जिष्ठा, दोनों हल्दी, रसाञ्जन और नीम के पत्ते का लेप भगन्दर में श्रेष्ठ हैं अमलतास, हरिद्रा, लाक्षा और अडूसा–इनके चूर्ण को

रुग्घातरजनीलाक्षातूर्णाजक्षौद्रसंयुता। वासोवर्तिर्व्रणे यौज्या शोधनी गतिनाशनी॥२४॥
श्यामायष्टिनिशालोध्रपद्माकोत्पलचन्दनैः। समरोचैः शृतं तैलं क्षीरे स्याद्व्रणरोहणम्॥२५॥
श्रीकार्पासदलैर्भस्म फलोपलवणा निशा। तत्पिण्डीस्वेदनं ताम्रे तत्तैलं स्यात्क्षतौषधम्॥२६॥
कुम्भीसारं पयोयुक्तं वह्निदग्धं व्रणे लिपेत् (?)। तदेव नाशयेत्सेकान्नारिकेलरजोघृतम्॥२७॥
विश्वाजमोदसिन्धूत्थचिञ्चात्वग्भिः समाऽभया। तक्रेणोष्णाम्बुना वाऽथ पीताऽतीसारनाशनी॥२८॥
वत्सकातिविषाविश्वाबिल्वमुस्तशृतं जलम्। सामे पुराणेऽतीसारे सासृक्शूले च पाययेत्॥२९॥
अहंकारदग्धं सुगतं सिन्धुमुष्णाम्बुना पिबेत्। शूलवानथ वा तद्धि सिन्धुहिङ्गकणाभया॥३०॥
कटुरोहात्कणातङ्कलाजचूर्णं मधुप्लुतम्। वस्त्रच्छिद्रगतं वक्त्रे न्यस्तं तृष्णां विनाशयेत्॥३१॥
पाठादर्वीजातिदलं द्राक्षामूलबलात्रयैः। साधितं समधु क्वाथं कवलं मुखपाकहृत्॥३२॥
कृष्णातिविषतिक्तेन्द्रदारुपाठापयोमुचाम्। क्वाथो मूत्रे शृता क्षौद्री सर्वकण्ठगदापहा॥३३॥
पथ्यागोक्षुरदुःस्पर्शराजवृक्ष शिलाकृतः। कषायः समधुः पीतो मूत्रकृच्छ्रं व्यपोहति॥३४॥
वंशत्वग्वरुणक्वाथः शर्कराश्मविघातनः। शाखोटक्वाथसक्षौद्रक्षीराशी श्लीपदी भवेत्॥३५॥
माषार्कत्वक्पयस्तैलं मधुसिक्तं च सैन्धवम्। पादरोगं हरेत्सर्पिर्जलकुक्कुटजं तथा॥३६॥

गोघृत और शहद के साथ बत्ती बनाकर नासूर में देवे। इससे नासूर का शोधन होकर घाव भर जाता है। पिप्पली, मुलहठी, हल्दी, लोध, पद्मकाष्ठ, कमल, लालचन्दन, एवं मिर्च–इनके साथ गोदुग्ध में सिद्ध किया हुआ तैल घाव को भरता है। श्रीताड़, कपास की पत्तियों की भस्म, त्रिफला, गोलमिर्च, खरेटी और हल्दी–इनका गोला बनाकर घाव का स्वेदन करना चाहिये। तरफ इन औषधियों के तेल को घाव पर लगाये। दूध के साथ कुम्भीसार (गुग्गुलसार) को आग पर जलाकर व्रण पर लेप करना चाहिये। (अथवा गुग्गुलसार को दूध में मिलाकर आग से जले हुए व्रण पर लेप करना चाहिये) अथवा जलकुम्भी को जलाकर दूध में मिलाकर लगाने से सभी तरह के व्रण ठीक होते हैं। इसी तरह नारियल के जड़ की मिट्टी में घृत मिलाकर सेक करने से व्रण का विनाश होता है।।२२-२७।।

सोंठ, अजमोद, सेंधानमक, इमली की छाल–इन सबके समान भाग हर्रें को तक्र या गरम जल के साथ पीने से अतिसार का विनाश होता है। इन्द्रयव, अतीस, सोंठ, बेलगिरि और नागरमोथा का क्वाथ आमसहित जीर्ण अतिसार में और शूलसहित रक्तातिसार में भी पिलाना चाहिये। ठंडे थूहर में सेंधानमक भरकर आग में जला ले। फिर यथोचित मात्रा में उदरशूल वाले को गरम जल के साथ देना चाहिये अथवा सेंधानमक, हींग, पीपल, हर्रें–इनका गरम जल के साथ सेवन कराये।।२८-३०।।

वरकी वरोह, कमल और धान की खील का चूर्ण–इनको शहद में भिगोकर, कपड़े में पोटली बनाकर, मुख में रखकर उसको चूसे तो इससे प्यास दूर होती है। अथवा कुटकी, पीपल, मीठा कूट एवं धान का लावा मधु के साथ मिलाकर पोटली में रखकर मूँह में रखे और चूसे तो प्यास दूर हो जाती है। पाठा, दारुहल्दी, चमेली के पुत्र, मुनक्का की जड़ और त्रिफला–इनका क्वाथ बनाकर उसमें शहद मिला देना चाहिये। इसको मुख में धारण करने से मुख पाक रोग नष्ट होता है। पीपल, अतीस, कुटकी, इन्द्रयव, देवदारु, पाठा और नागरमोथा–इनका गोमूत्र में बना क्वाथ मधु के साथ लेने पर सभी तरह के कण्ठरोगों का विनाश होता है। हैर्र, गोखरू, जवासा, अमलतास एवं पाषाण

शुण्ठीसौवर्चलाहिङ्गुचूर्णं शुण्ठीरसैर्घृतम्। रुजं हरेदथ क्वाथो विद्धि बद्धाग्निसाधने।।३७।।
सौवर्चलाग्निहिङ्गूनां सदीप्यानां रसैर्युतम्। विड्दीप्यक (सु) युक्तं वा तक्रं गुल्मातुरः पिबेत्।।३८।।
धात्रीपटोलमुद्गानां क्वाथः साज्यो विसर्पहा। शुण्ठीदारुनवाक्षीरक्वाथो मूत्रान्वितोऽपरः।।३९।।
सव्योषायोरजः क्षारः फलक्वाथश्च शोथहृत्। गुडशिग्रुत्रिवृद्धिश्च सैन्धवानां रजोयुतः।।४०।।
त्रिवृताफलजः क्वाथः सगुडः स्याद्विरेचनः। वचाफलकषायोत्थं पयो वमनकृद्भवेत्।।४१।।
त्रिफलायाः पलशतं पृथग्भृङ्गरजोन्वितम्। विडङ्गं लोहचूर्णं च दशभागसमन्वितम्।।४२।।
शतावरी गुडूच्यग्निपलानां पञ्चविंशतिः। मध्वाज्यतिलजैर्लिह्याद्वलीपलितवर्जितः।।४३।।
शतमब्दं हि जीवेत सर्वरोगविवर्जितः। त्रिफला सर्वरोगघ्नी समधुः शर्करान्विता।।४४।।
सितामधुघृतैर्युक्ता सकृष्णा त्रिफला तथा। पथ्या चित्रकशुण्ठयश्च गुडूची मुशलीरजः।।४५।।
सगुडं भक्षितं रोगहरं त्रिशतवर्षकृत्। किञ्चिच्चूर्णं जपापुष्पं पीडितं विसृजेज्जले।।४६।।
तैलं भवेद्घृताकारे किञ्चिच्चूर्णं जलान्वितम्। धूपार्थं दृश्यते चित्रं वृषदंशजरायुना।।४७।।

भेद–इनके क्वाथ में शहद मिलाकर पीने से मूत्रकृच्छ्र का कष्ट दूर होता है। बाँस का छिल्ला और वरुण की छाल का क्वाथ शर्करा और अश्मरी रोग का विनाश करता है। श्लीपद-रोग से युक्त मनुष्य शाखोटक (सिंहारे) की छाल का क्वाथ मधु और दुग्ध के साथ पान करना चाहिये। उड़द, मदार की पत्ती तथा दूध, तैल, मोम एवं सैन्धव लवण–इनका योग पादरोग नाशक है। सोंठ, काला नमक और हींग–इनका चूर्ण या सोंठ के रस के साथ सिद्ध किया घी अथवा इनका क्वाथ पीने से मलबन्ध दोष और तत्सम्बन्धी रोग नष्ट होते हैं। गुल्मरोगी सर्जक्षार, चित्रक, हींग और अजमोद–इनके रस के साथ या विडंग एवं चित्रक के साथ तक्रपान करना चाहिये। आँवला, परवल और मूँग–इनके क्वाथ का घृत के साथ सेवन विसर्परो का अपहरण करने वाला है। अथवा सोंठ, देवदारु और पुनर्नवा या वंशलोचन–इनका दुग्धयुक्त क्वाथ उपकारक है। गोमूत्र के साथ सोंठ, मिर्च, पीपल, लोहचूर, यवक्षार तथा त्रिफला का क्वाथ शोथ (सूजन) को शान्त करता है। गुड़, सहिजन एवं निशोथ, सैंघव लवण–इनका चूर्ण क्वाथ) भी शोथ को शान्त करता है।।३१-४०।।

निशोथ एवं गुड़ के साथ त्रिफला का क्वाथ विरेचन करने वाला है। वच और मैनफल के क्वाथ का जल वमन कारक होता है। भृङ्गराज के रस में भावित त्रिफ़ला सौ पल, बायविडंग और लोहचूर दस भाग एवं शतावरी, गिलोय और चिचक पचीस पल ग्रहण करके उसका चूर्ण बना ले। उस चूर्ण को मधु, घृत और तेल के साथ चाटने से मनुष्य वली और पलित से हीन होता है। अर्थात् उसके मुँह पर झुर्रियाँ नहीं होतीं और बाल नहीं पकते। इसके सिवा वह सम्पूर्ण रोगों से मुक्त होकर सौ वर्षों तक जीवित रहता है। मधु और शर्करा के साथ त्रिफला का सेवन सर्वरोगनाशक है। त्रिफला और पीपल का मिश्री, मधु और घृत के साथ भक्षण करने पर भी उपरोक्त सभी फल या लाभ प्राप्त होते हैं। हर्रे, चित्रक, सोंठ, गिलोय और मुसली का चूर्ण गुड़ के साथ खाने पर रोगों का विनाश होता है और तीन सौ वर्षों की आयु प्राप्त होती है। जपा-पुष्प को थोड़ा मसलकर जल में मिला ले। उस चूर्ण जल को थोड़ी-सी मात्रा में तेल में मिला देने पर तैल घुताकार हो जाता है। जलगोह (बिल्ली) की जरायु (गर्भ की झिल्ली) की धूप देने से चित्र दिखलायी नहीं देता। फिर शहद की धूप देने से पूर्ववत् दिखायी देने लगता है। पापडर की जड़,

पुनर्माक्षिकधूपेन दृश्यते तद्यथा पुरा। कर्पूरजलूकाभेकतैलं पाटलिमूलयुक्।।४८।।
पिष्ट्वाऽऽलिप्य पदे द्वे च चरेदङ्गारके नरः। तृणोत्थानादिकं व्यूह्य दर्शयन्वै कुतूहलम्।।४९।।
विषग्रहरुजध्वंसक्षुद्रं कर्म च कामिकम्। तत्ते षट्कर्मकं प्रोक्तं सिद्धिद्वयसमाश्रयम्।।५०।।
मन्त्रध्यानौषधिकथामुद्रेज्या यत्र मुष्टयः। चतुर्वर्गफलं प्रोक्तं यः पठेत्सदिवं व्रजेत्।।५१।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते नानारोगहरौषधकथनं नाम त्र्यशीत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः।।२८३।।

कपूर, जोंक और मेढक का तेल–इनको पीसकर दोनों पैरों में लगाकर मनुष्य जलते हुए अङ्गारों पर चल सकता है। तृणोत्थापन (तृणों को आग में ऊपर फेंकता उछालता हुआ। आश्चर्य जनक खेल दिखलाता हुआ चल सकता है। विषों का रोकना (अथवा विष एवं ग्रह-निवारण) रोग का विनाश एवं तुच्छ क्रीड़ाएँ कामनापरक हैं। इहलौकिक तथा पारलौकिक दोनों सिद्धियों के देने वाले कर्मों को मैंने आपको बतलाया है, जो षड् कर्मों से युक्त हैं। मन्त्र, ध्यान, औषधि, कथा, मुद्रा और यज्ञ–ये षड् जहाँ मुष्टि (भुजा के रूप से सहायक) हैं, वह कार्य धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्षरूप चतुर्वर्ग फल को देने वाला कर्म बतलाया गया। इसको जो पढ़ेगा वह स्वर्ग में जायगा।।४९-५१।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी दो सौ तिरासीवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।२८३।।

❖❖❖

अथ चतुरशीत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

मन्त्ररूपौषधकथनम्

धन्वन्तरिरुवाच

आयुरारोग्यकर्तार ओंकाराद्याश्च नाकदाः। ओंकारः परमो मन्त्रस्तं जप्त्वा चामरो भवेत्।।१।।
गायत्री परमो मन्त्रस्तं जप्त्वा भुक्तिमुक्तिभाक्। ॐ नमो नारायणाय मन्त्रः सर्वार्थसाधकः।।२।।
ॐ नमो भगवते वासुदेवाय सर्वदः। ॐ हरूं नमो विष्णवे मन्त्रोऽयं चौषधं परम्।।३।।
अनेन देवा ह्यसुराः सश्रियो नीरुजोऽभवन्। भूतानामुपकारश्च तथा धर्मो महौषधम्।।४।।
धर्मः सद्धर्मकृद्धर्मी ह्येतैर्धर्मैश्च निर्मलः। श्रीदः श्रीशः श्रीनिवासः श्रीधरः श्रीनिकेतनः।।५।।
श्रियःपतिः श्रीपरमो ह्येतैः श्रियमवाप्नुयात्। कामी कामप्रदः कामः कामपालस्तथा हरिः।।६।।
आनन्दो माधवश्चैव नाम कामाय वै हरेः। रामः परशुरामश्च नृसिंहो विष्णुरेव च।।७।।
त्रिविक्रमश्च नामानि जप्तव्यानि जिगीषुभिः। विद्यामभ्यस्यतां नित्यं जप्तव्यः पुरुषोत्तमः।।८।।
दामोदरो बन्धहरः पुष्कराक्षोऽक्षिरोगनुत्। हृषीकेशो भयहरो जपेदौषधकर्मणि।।९।।

अध्याय-२८४

मन्त्ररूप-औषध विचार

धन्वन्तरिजी ने कहा कि–हे सुश्रुत! 'ओंकार' आदि मन्त्र आयु देने वाले तथा सब रोगों को दूर करके आरोग्य सम्प्रदान करने वाले हैं। इतना ही नहीं, देह छूटने के पश्चात् वे स्वर्ग की भी प्राप्ति कराने वाले हैं। 'ओंकार' सबसे उत्कृष्ट मन्त्र है। उसका जप करके मनुष्य अमर हो जाता है–आत्मा के अमरत्व का बोध प्राप्त करता है, अथवा देवतारूप हो जाता है। गायत्री भी उत्कृष्ट मन्त्र है। उसका जप करके मनुष्य भोग और मोक्ष का भागी होता है। 'ॐ नमो नारायणाय।–यह अष्टाक्षर मन्त्र समस्त मनोरथों को पूर्ण करने वाला है। 'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय।'–यह द्वादशाक्षर मन्त्र सब कुछ देने वाला है। '**ॐ हूं विष्णवे नमः।**'–यह मन्त्र श्रेष्ठतम औषधि है। इस मन्त्र का जप करने से देवता और असुर श्रीसम्पन्न तथा नीरोग हो गये। जगत् के समस्त प्राणियों का उपकार तथा धर्माचरण –यह महान् औषधि है। '**धर्मः, सद्धर्मकृत्, धर्मी**–इन धर्म-सम्बन्धी नामों के जप से मनुष्य निर्मल (शुद्ध) हो जाता है। **श्रीदः, श्रीशः, श्रीनिवासः, श्रीधरः श्रीनिकेतनः, श्रियः पतिः** तथा **श्रीपरमः**'–इन श्रीपति-सम्बन्धी नामात्मक मन्त्रपदों के जप से मनुष्य लक्ष्मी (धन-सम्पत्ति) को पा लेता है।।१-५।।

'**कामी, कामप्रदः, कामः, कामपालः**, हरिः, आनन्दः, माधवः'–श्रीहरि के इन नाम-मन्त्रों के जप और कीर्तन से समस्त कामनाओं की पूर्ति हो जाती है। 'रामः, भगवान् परशुरामः, नृसिंहः, विष्णुः, त्रिविक्रमः'–ये श्रीहरि विष्णु के नाम युद्ध में विजय की इच्छा रखने वाले योद्धाओं को जपने चाहिये। नित्य विद्याभ्यास करने वाले छात्रों को सदा '**श्रीपुरुषोत्तम**' नाम का जप करना चाहिये। '**दामोदरः**' नाम बन्धन दूर करने वाला है। '**पुष्कराक्षः**'–यह नाम-मन्त्र नेत्र-रोगों का निवारण करने वाला है। '**हृषीकेशः**'–इस नाम का स्मरण भयहारी है। औषधि देते और लेते समय इन सब नामों का जप करना चाहिये।।६-९।।

अच्युतं चामृतं मन्त्रं संग्रामे चापराजितः। जलतारे नारसिंहं पूर्वादौ क्षेमकामवान्॥१०॥
चक्रिणं गदिनं चैव शार्ङ्गिणं खड्गिनं स्मरेत्। सर्वेशमजितं भक्त्या व्यवहारेषु संस्मरेत्॥११॥
नारायणं सर्वकाले नृसिंहोऽखिलभीतिनुत्। गरुडध्वजश्च विषहृद्वासुदेवं सदा जपेत्॥१२॥
धान्यादिस्थापने स्वप्ने ह्यनन्ताच्युतमीरयेत्। नारायणं च दुःस्वप्ने दाहादौ जलशायिनम्॥१३॥
हयग्रीवं च विद्यार्थी जगत्सूतिं सुताप्ते। बलभद्रं शौर्यकाम एकं नामार्थसाधकम्॥१४॥

॥इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गति मन्त्ररूपौषधकथनं नाम चतुरशीत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः॥२८४॥

औषधि कर्म में **'अच्युत'**–इस अमृत–मन्त्र का भी जप करना चाहिये। संग्राम में **'अपराजित'** क तथा जल से पार होते समय **'श्रीनृसिंह'** का स्मरण करना चाहिये। जो पूर्वादि दिशाओं की यात्रा में क्षेत्र की कामना रखने वाला हो, वह क्रमशः 'चक्री', गदी, 'शार्ङ्गी' और 'खड्गी' का चिन्तन करना चाहिये। व्यवहारों में (मुकदमों में) भक्तिभाव से **'सर्वेश्वर अजित'** का स्मरण करना चाहिये। 'नारायण' का स्मरण हर समय करना चाहिये। भगवान् 'नृसिंह' को याद किया जाय तो वे सम्पूर्ण भीतियों को भगाने वाले हैं।

'गरुड़ध्वजः'–यह नाम विषय हरण करना चहिये। धान्य आदि को गृह में रखते समय तथा शयन करते समय भी 'अनन्त' और अच्युत का उच्चारण करना चाहिये। दुःस्वप्न दीखने पर नारायण का तथा दाह आदि के अवसर पर जलशायी का स्मरण करना चाहिये। विद्यार्थी हयग्रीव का चिन्तन करें पुत्र की प्राप्ति के लिये जगत्सूति (जगत् स्रष्टा) का तथा शौर्य की कामना हो, तो श्रीबलभद्र का स्मरण करना चाहिये। इनमें से प्रत्येक नाम अभीष्ट मनेप्सित को सिद्ध करने वाला है।॥१०–१४॥

॥इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी दो सौ चौरासीवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ॥२८४॥

❖❖❖

अथ पञ्चाशीत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

मृतसंजीवनकरसिद्धयोगः

धन्वन्तरिरुवाच

सिद्धयोगान्पुनर्वक्ष्ये मृतसंजीवनीकरान्। आत्रेयभाषितान्दिव्यान्सर्वव्याधिविमर्दनान्।।१।।

आत्रेय उवाच

बिल्वादिपञ्चमूलस्य क्वाथः स्याद्वातिके ज्वरे। पावनं पिप्पलीमूलं गुडूची विश्वजोऽथ वा।।२।।
आमलक्यभया कृष्णा वह्निः सर्वज्वरान्तकः। बिल्वाग्निमन्थस्योनाककाश्मर्यः पाटला स्थिरा।।३।।
त्रिकण्टकं पृश्निपर्णीबृहतीकण्टकारिका। ज्वराविपाकपार्श्वार्तिकाशनुत्कुशमूलकम्।।४।।
गुडूची पर्पटी मुस्तं किरातं विश्वभेषजम्। वातपित्तज्वरे देयं पञ्चभद्रमिदं स्मृतम्।।५।।
त्रिविद्विशालाकटुकात्रिफलारग्वधैः कृतः। सक्षारो भेदनः क्वाथः पेयः सर्वज्वरायतः।।६।।
देवदारुबलावासात्रिफलाव्योषपद्मकैः। सविडङ्गैः सितातुल्यं तच्चूर्णं पञ्चकाम (स) जित्।।७।।
दशमूलीशटीरास्नापिप्पलीबिल्वपौष्करैः। शृङ्गीतामलकीभार्गीगुडूचीनागवल्लिभिः।।८।।
यवागूं विधिना सिद्धं कषायं वा पिबेन्नरः। काशहृद्ग्रहणीपार्श्वहिक्काश्वासप्रशान्तये।।९।।

अध्याय–२८५

मृतसंजीवनकर सिद्ध विचार

धन्वन्तरि ने कहा कि–सुश्रुत! अधुना में आत्रेय के द्वारा वर्णित मृतसंजीवनकारक दिव्य सिद्ध योगो को कहने का प्रयास करता हूँ, जो सम्पूर्ण व्याधियों का विनाश करने वाले हैं।।१।।

आत्रेय ने कहा कि–वात ज्वर में बिल्वादि पञ्चमूल–बेल, सोनापाठा, गम्भार, पाटल एवं अरणी का काढ़ा दे और पाचन के लिये पिप्पलीमूल, गिलोय और सोंठ–इनका क्वाथ देना चाहिये। आँवला, अभया (बड़ी हर्रे), पीपल एवं चित्रक–यह आमलक्यादि क्वाथ सभी तरह के ज्वरों का विनाश करने वाला है। बिल्वमूल, अरणी, सोनापाठा, गम्भारी पाटल, शालपर्णी, गोखरू, पृष्टपर्णी, बृहती (बड़ी कटेर) और कण्टकारिका (छोटी कटेर)–ये दशमूल कहे गये हैं। इनका क्वाथ तथा कुश के मूल का क्वाथ ज्वर, अपाचन, पार्श्वशूल और कास (खाँसी) का विनाश करने वाला है। गिलाये, पित्तपापड़ा, नागरमोथा, चिरायता और सोंठ–यह 'पञ्चभद्र क्वाथ' वात और पित्तज्वर में देना चाहिये।।२-५।।

निशोथ, विशाला (इन्द्रवारुणी), कुटकी, त्रिफला और अमलतास–इनका क्वाथ यवक्षार मिलाकर पिलावे। यह विरेचन और सम्पूर्ण ज्वरों को शान्त करने वाला है। देवदारु, खरेटी, अडूसा, त्रिफला और व्योष (सोंठ, काली मिर्च, पीलप), पद्मकाष्ठ, वायविडङ्ग और मिश्री–इन सभी का समान भाग चूर्ण पाँच तरह के कास-रोगों का मर्दन करता है। रोगी मनुष्य हृदयरोग, ग्रहणी, पार्श्वरोग, हिक्का, श्वास और कासरोग के विनाश के लिये दशमूल, कचूर, रास्ना, पीपल, बिल्व, पोकरमूल, काकड़ासिंगी, भुईं आँवला, भार्गी, गिलोय और पान–इनसे विधिवत् सिद्ध किया हुआ क्वाथ या यवागू का पान करना चाहिये। मुलहठी (चूर्ण) के साथ मधु, शर्करा के साथ पीपल, गुड़ के साथ नागर (सोंठ)

मधुकं मधुना युक्तं पिप्पलीं शर्करान्विताम्। नागरं गुडसंयुक्तं हिक्काघ्नं लवणत्रयम्॥१०॥
कारव्यजाजी मरिचं द्राक्षा वृक्षाम्लदाडिमम्। सौवर्चलं गुडं क्षौद्रं सर्वारोचकनाशनम्॥११॥
शृंगवेररसं चैव मधुना सह पाययेत्। अरुचिश्वासकासघ्नं प्रतिश्यायकफान्तकम्॥१२॥
वटं शृङ्गीशिलालोध्रदाडिमं मधुकं मधु। पिबेत्तण्डुलतोयेन च्छर्दितृष्णानिवारणम्॥१३॥
गुडूची वासकं लोध्रं पिप्पलीक्षौद्रसंयुतम्। कफान्वितं जयेद्रक्तं तृष्णाकासज्वरापहम्॥१४॥
वासकस्य रसस्तद्वत्समधुस्ताम्रजो रसः। शिरीषपुष्पसुरसभावितं मरिचं हितम्॥१५॥
सर्वार्तिनुन्मसूरोऽथ पित्तमुत्तण्डुलीयकम्। निर्गुण्डीसारिवाशेलुरङ्कोलश्च विषापहः॥१६॥
महौषधामृताक्षुद्रापुष्करग्रन्थिकोद्भवम्। पिबेत्कणायुतं क्वाथं मूर्च्छायां च मदेषु च॥१७॥
हिङ्गुसौवर्चलव्योषैर्द्विपलांशैर्घृताढकम्। चतुर्गुणे गवां मूत्रे सिद्धमुन्मादनाशनम्॥१८॥
शङ्खपुष्पीवचाकुष्ठैः सिद्धं ब्राह्मीरसैर्युतम्। पुराणं हन्त्यपस्मारं सोन्मादं मेध्यमुत्तमम्॥१९॥
पञ्चगव्यं घृतं तद्वत्कुष्ठनुच्चाभयायुतम्। पटोलत्रिफलानिम्बगुडूचीधावनीवृषैः॥२०॥
सकरञ्जैर्घृतं सिद्धं कुष्ठनुद्वज्रकं स्मृतम्। निम्बं पटोलं व्याघ्री च गुडूची वासकं तथा॥२१॥

और तीनों लवण (सेंधानमक, विड्नमक और काला नमक)—ये हिक्का (हिचकी) का विनाश करने वाले हैं। कारवी अजाजी (काला जीरा, सफेद जीरा), काली मिर्च, मुनक्का, वृक्षाम्ल (इमली), अनारदाना, काला नमक और गुड़-इन सबके समान भाग से तैयार चूर्ण का शहद के साथ निर्मित 'कारव्यादि बटी' सभी तरह के अरुचिरोगों का विनाश करती है। अदरख के रस के साथ मधु मिलाकर रोगी को पिलाये। इससे अरुचि, श्वास, कास, प्रतिश्याय (जुकाम) और कफविकारों का विनाश होता है॥६-१२॥

वट—वटाङ्कुर, काकड़ासिंगी, शिलाजीत, लोध, अनारदाना और मुलहठी—इनका चूर्ण बनाकर उस चूर्ण के समान मात्रा में मिश्री मिला मधु के साथ अवलेह (चटनी) का निर्माण करना चाहिये। इस 'वटशुङ्गादि' के अवलेह को चावल के पानी के साथ लिया जाय तो उससे प्यास और छर्दि (वमन) का प्रशमन होता है। गिलोय, अडूसा, लोध और पीपल—इनका चूर्ण शहद के साथ कफयुक्त रक्त, प्यास, खाँसी एवं ज्वर को नष्ट करने वाला है। इसी तरह समभाग मधु से मिश्रित अडूसे का रस और ताम्रभस्म कास को नष्ट करता है। शिरीषपुष्प के स्वरस में भावित सफेद मिर्च का चूर्ण कास में (तथा सर्पविष में) हितकर है। मसूर सभी तरह की वेदना को नष्ट करने वाला है तथा चौंराई का साग पित्तदोष को दूर करने वाला है। मेउड़ शारिवा, सेरु की एवं अङ्कोल—ये विषनाशक औषधि हैं। सोंठ, गिलोय, छोटी कटेरी, पोकरमूल, पीपलामूल और पीपल—इनका क्वाथ मूर्छा और मदात्यय रोग में लेना चाहिये। हींग, कालानमक, एवं व्योष (सोंठ, मिर्च, पीपल—) ये सब दो-दो पल लेकर चार से घृत और घृत से चौगुने गोमूत्र में सिद्ध करने पर उन्माद का विनाश करते हैं। शङ्खपुष्पी, वच और मीठा कूट से सिद्ध ब्राह्मी रस को मिलाकर इन सबकी गुटिका बना ले तो वह पुराने उन्माद और अपस्मार रोग का विनाश करती है और श्रेष्ठतम मेधावर्धक औषधि है। हर्रे के साथ पञ्चगव्य या घृत का प्रयोग कुष्ठ नाशक है। परवल की पत्ती, त्रिफला, नीम की छाल, गिलोय, पृश्निपर्णी, अडूसे के पत्ते तथा करञ्ज—इनसे सिद्ध 'वज्रक' कहते हैं। नीम की छाल, परवल, कण्टकारि-पञ्चाङ्ग, गिलोय और अडूसा—सभी को दस-दस पल लेकर भलीभाँति कूट ले। फिर सोलह सेर जल में क्वाथ बनाकर उसमें सेर भर घृत

कुर्याद्दशपलान्भागानेकैकस्य स (सु) कुट्टितान्। जलद्रोणे विपक्तव्यं यावत्पादावशेषितम्।।२२।।
घृतप्रस्थं प्रचेत्तेन त्रिफलागर्भसंयुतम्। पञ्चतिक्तमितिख्यातं सर्पिः कुष्ठविनाशनम्।।२३।।
अशीतिं वातजान्रोगांश्चत्वारिंशच्च पैत्तिकान्। विंशतिं श्लैष्मिकान्कासपीनसार्शोव्रणादिकान्।।२४।।
हन्त्यन्यान्योगराजोऽयं यथाऽर्कस्तिमिरं खलु। त्रिफलायाः कषायेण भृङ्गराजरसेन च।।२५।।
व्रणप्रक्षालनं कुर्यादुपदंशप्रशान्तये। पटोलदलचूर्णेन दाडिमत्वग्रजोऽथवा।।२६।।
गुण्डयेच्च गजेनापि त्रिफलाचूर्णकेन च। त्रिफलायोरजोयष्टिमार्कवोत्पलमारिचैः।।२७।।
ससैन्धवैः पचेत्तैलमभ्यङ्गाच्छर्दिकापहम्। सक्षीरान्मार्कवरसान्द्विप्रस्थमधुकोत्पलैः।।२८।।
पचेत्तु तैलकुडवं तन्नस्यं पलितापहम्। निम्बं पटोलं त्रिफला गुडूची खदिरं वृषम्।।२९।।
भूनिम्बपाठात्रिफलागुडूचीरक्तचन्दनम्। योगद्वयं ज्वरं हन्ति कुष्ठ (व्रणमसूरिकाः।।३०।।
पटोलं त्रिफला चैव गुडूचीमुस्तचन्दनैः। सदूर्वा रोहिणी पाठा रजनी सदुरालभा।।३१।।
कषायोऽयं ज्वरं हन्ति कुष्ठ) विस्फोटकादिजम्। पटोलामृतभूनिम्बवासारिष्टकपर्पटैः।।३२।।
खदिराब्जयुतैः क्वाथो विस्फोटज्वरशान्तिकृत्। दशमूली छिन्नरुहा पथ्या दारु पुनर्नवा।।३३।।
ज्वरविद्रधिशोथेषु शिग्रुविश्वजिता हिताः। मधूकनिम्बपत्राणां लेपः स्याद्व्रणशोधनः।।३४।।

और (बीस तोले) त्रिफला चूर्ण का कल्क बनाकर डाल दे और चतुर्थांश शेष रहने तक पकाये। यह 'पञ्चतिक्त घृत' कुष्ठनाशक है। यह अस्सी तरह के वातरोग, चालीस तरह के पित्तरोग और बीस तरह के कफ रोग, खाँसी, पीनस (बिगड़ी जुकाम), बवासीर और व्रणरोगों का विनाश करता है। जिस प्रकार सूर्य अन्धकार को नष्ट कर डालता है, उसी तरह यह योगराज निःसंदेह अन्य रोगों का भी विनाश कर देता है।।१३-२४।।

उपदंश की शान्ति के लिये त्रिफला के क्वाथ या भृङ्गराज के रस से व्रणों का प्रक्षालन करना चाहिये। (धाये)। परवल की पत्ती के चूर्ण के साथ अनार की छाल का चूर्ण अथवा गजपीपर या त्रिफला का चूर्ण पाउडर के रूप में ही उस पर छोड़े। त्रिफला, लोहचूर्ण, मुलहठी, आर्कव (कुकुरमाँगरा), नील कमल, कालीमिर्च और सैन्धव-नमक सहित पकाये हुए तैल के मर्दन से वमन की शान्ति होती है। दुग्ध, मार्कव-रस, मुलहठी औ नील कमल-इनको दो सेर लेकर तत्पश्चात् तक पकाये, जिस समय तक एक पाव तैल शेष रह जाय। इस तैल का नस्य (वृद्धावस्था के चिह्न) पलित (बाल पकने) का नाशक है। नीम की छाल, परवल की पत्ती, त्रिफला, गिलोय, खैर की छाल, अड़ूसा अथवा चिरायता, पाठा, त्रिफला और लाल चन्दन-ये दोनों योग ज्वर को नष्ट करते हैं तथा कुष्ठ, फोड़ा-फुन्सी, चकत्ते आदि को भी मिटा देते हैं। परवल की पत्ती, गिलोय, चिरायता, अड़ूसा, मजीठ एवं पित्तपापड़ा-इनके क्वाथ में खदिर मिलाकर लिया जाय तो वह ज्वर तथा विस्फोटक रोगों को शान्त करता है।।२५-३१।।

दशमूल, गिलाये, हर्रे, दारुहल्दी, गदहपूर्णा, सहजना एवं सोंठ ज्वर, विद्रधि तथा शोथ-रोगों में हितकर है। महुवा और नीम की पत्ती का लेप व्रणशोधक होता है। त्रिफला (आँवला, हर्रा, बहेरा), खैर (कत्था), दारुहल्दी, बरगद की छाल, बरियार, कुशा, नीम के पत्ते तथा मूली के पत्ते-इनका क्वाथ शरीर के बाह्य-शोधन के लिये हितकर है। करञ्ज, नीम का मेउड़ का रस घाव के कृमियों को नष्ट करता है। धाय का फूल, सफेद चन्दन, खरेटी, मजीठ, मुलहठी, कमल, देवदारु तथा मेदा का घृतसहित लेप व्रण रोपण (घाव को भरने वाला) है। गुग्गुल, त्रिफला, पीपल, सोंठ,

त्रिफला खदिरो दार्वी न्यग्रोधातिबलाकुशाः। निम्बमूलकपत्राणां कषायाः शोधने हिताः॥३५॥
करञ्जारिष्टनिर्गुण्डीरसो हन्याद्व्रणकृमीन्। धातकीचन्दनबलासमङ्गामधुकोत्पलैः॥३६॥
दार्वीमेदोऽन्वितैर्लेपः समर्पिर्व्रणरोपणः। गुग्गुलत्रिफलाव्योषसमांशैर्घृतयोगतः॥३७॥
नाडीदुष्टव्रणं शूलं भगंदरमुखं हरेत्। हरीतकीं मूत्रसिद्धां सतैललवणान्विताम्॥३८॥
प्रातः प्रातश्च सेवेत कफवातामयापहाम्। त्रिकटुत्रिफलाक्वाथं सक्षारलवणं पिबेत्॥३९॥
कफवातात्मकेष्वेव विरेकः कफवृद्धिनुत्। पिप्पलीपिप्पलीमूलवचाचित्रकनागरैः॥४०॥
क्वथितं वा पिबेत्पेयमामवातविनाशनम्। रास्नां गुडूचीमेरण्डदेवदारुमहौषधम्॥४१॥
पिबेत्सर्वाङ्गिके वाते सामे सन्ध्यस्थिमज्जगे। दशमूलकषायं वा पिबेद्वा नागराम्भसा॥४२॥
शुण्ठीगोक्षुरकक्वाथः प्रातः प्रातर्निषेवितः। सामवातकटीशूलपाण्डुरोगप्राणाशनः॥४३॥
समूलपत्रशाखायाः प्रसारण्याश्च तैलकम्। गूडूच्याः स्वरसः कल्कश्चूर्णं वा क्वाथमेव च॥४४॥
प्रभूतकालमासेव्य मुच्यते वातशोणितात्। पिप्पली वर्धमानं वा सेव्यं पथ्या गुडेन वा॥४५॥
पटोलत्रिफलातीव्रकटुकामृतसाधितम्। पक्कं पीत्वा जयत्याशु सदाहं वातशोणितम्॥४६॥
गुग्गुलं कोष्णशीतेन गुडूचीत्रिफलाम्भसा। बलापुनर्नवैरण्डबृहतीद्वयगोक्षुरैः॥४७॥
सहिङ्गुलवणैः पीतं सद्यो वातरुजापहम्। कार्षिकं पिप्पलीमूलं पञ्चैव लवणानि च॥४८॥

मिर्च, पीपर–इनका समान भाग ले और इन सबके समान घृत मिलाकर प्रयोग करना चाहिये। इस प्रयोग से मनुष्य नाड़ीव्रण, दुष्टव्रण, शूल और भगन्दर आदि रोगों को दूर करना चाहिये। गोमूत्र में भिगोकर शुद्ध की हुई हरीतकी (छोटी हर्रे) को (रेडी के तेल में भूनकर सेंधा नमक के साथ प्रतिदिन प्रातःकाल सेवन करना चाहिये। ऐसी हरीत की कफ और वात से होने वाले रोगों को नष्ट करती है। सोंठ, मिर्च, पीपल और त्रिफला का क्वाथ यवक्षार और लवण मिलाकर पीये। कफ प्रधान और वात प्रधान प्रकृति वाले मनुष्यों के लिये यह विरेचन है और कफवृद्धि को दूर करता है। पीपल, पीपलामूल, वच, चित्रक, सोंठ–इनका क्वाथ अथवा किसी तरह का पेय बनाकर पीये। यह आमवात का नाशक है। रास्ना, गिलोय, रेंड़ की छाल, देवदारु और सोंठ–इनका क्वाथ सर्वाङ्ग वात तथा संधि, अस्थि और मज्जागत आमवात में पीना चाहिये। अथवा सोंठ के जल के साथ दशमूल-क्वाथ पीना चाहिये। सोंठ एवं गोखरू का क्वाथ प्रतिदिन प्रातः-प्रातः सेवन किया जाय तो वह आमवात के सहित कटिशूल और पाण्डुरोग का विनाश करता है। शाखा एवं पत्रसहित प्रसारिणी (छुईमुई) का तैल भी कथित रोग में लाभकर है। गिलोय का स्वरस, कल्क, चूर्ण या क्वाथ दीर्घकाल तक सेवन करके रोगी वातरक्त-रोग से छुटकारा पा जाता है। वर्धमान पिप्पली या गुड़ के साथ हर्रे का सेवन करना चाहिये। यह भी वात-रक्तनाशक है। पटोल पत्र, त्रिफला, राई, कुटकी और गिलोय–इनका पाक तैयार करके उसके सेवन से दाहयुक्त वात-रक्त रोग शीर्ष नष्ट होता है। गुग्गुलु को ठेढे गरम जल से और त्रिफला को समशीतोष्ण जल से, अथवा खरेटी, पुनर्नवा, एरण्डमूल, दोनों कटेरी, गोखरू का क्वाथ हींग तथा लवण के साथ लेने पर वह वातजनित पीड़ा को शीघ्र ही दूर कर देता है। एक तोला पीपलामूल, सैन्धव, सौवर्चल, विड्, सामुद्र एवं औद्भिद- पाँचों नमक, पिप्पली, चित्ता, सोंठ, त्रिफला, निशोथ, वच, यवक्षार, चित्ता, सोंठ, त्रिफला, निशोथ, वच, यवक्षार, सर्वक्षार, शीतला, दन्ती, स्वर्णक्षीरी (सत्यनाशी) और काकड़ासिंगी–इनकी बेर के समान गुटिका बनाये और काँजी के

पिप्पली चित्रकं शुण्ठी त्रिफला त्रिवृता वचा। द्वौ क्षारौ शीतला दन्ती स्वर्णक्षीरी विषाणिका।।४९।।
कोलप्रमाणां गुटिकां पिबेत्सौवीरकायुताम्। शोथावपाके त्रिवृता प्रवृद्धे चोदरादिके।।५०।।
क्षीरं शोथहरं दारुवर्षाभूर्नागरैः शुभम्। सेकस्तथाऽर्कवर्षाभूनिम्बक्वाथेन शोफजित्।।५१।।
व्योषगर्भं पलाशस्य त्रिगुणे भस्मवारिणी। साधितं पिबतः सर्पिः पतत्यर्शो न संशयः।।५२।।
विष्वक्सेनाब्जनिर्गुण्डीसाधितं चापि लावणम्। विडङ्गानलसिन्धूत्थरास्नाग्रक्षीरदारुभिः।।५३।।
तैलं चतुर्गुणं सिद्धं कटुद्रव्यं जलेन वा। गण्डमालापहं तैलमभ्यङ्गाद्गलगण्डनुत्।।५४।।
शठीकुनागवलयक्वाथः क्षीररसे युतम्। पयस्यापिप्पलीवासाकल्कं सिद्धं क्षये हितम्।।५५।।
वचाविडभयाशुण्ठी हिङ्गुकुष्ठाग्निदीप्यकान्। द्वित्रिषट्चतुरेकांशसप्तपञ्चा(ञ्चां) शिकाः क्रमात्।।५६।।
चूर्णं पीतं हन्ति गुल्ममुदरं शूलकासनुत्। पाठानिकुम्भत्रिकटुत्रिफलाग्निसुसाधिताः।।५७।।
मूत्रेण चूर्णगुटिकागुल्मप्लीहादिमर्दनी। वासानिम्बपटोलानि त्रिफला वातपित्तनुत्।।५८।।
लिह्यात्क्षौद्रेण विडङ्गचूर्णं कृमिविनाशनम्। विडङ्गसैन्धवक्षारमूत्रेणापि हरीतकी।।५९।।
शल्लकीबदरी जम्बुपियालाम्रार्जुनत्वचः। पीताः क्षीरेण मध्वक्ताः पृथक्शोणितवारणाः।।६०।।
बिल्वाम्रधातकीपाठाशुण्ठीमोचरसाः समाः। पीता रुन्धत्यतीसारं गुडतक्रेण दुर्जयम्।।६१।।

साथ उसका सेवन करना चाहिये। शोथ तथा उससे हुए पाक में भी इसका सेवन करना चाहिये। उदरवृद्धि में भी निशोथ का प्रयोग विहित है। दारुहल्दी, पुनर्नवा तथा सोंठ—इनसे सिद्ध किया हुआ दुग्ध शोथ नाशक है तथा उदार, गहदपूर्ना एवं चिरायता के क्वाथ से सेक (करने पर) शोथ का हरण होता है।।३२-५१।।

जो मनुष्य त्रिकटु युक्त घृत को तिगुने पलाश भस्म युक्त जल में सिद्ध करके पीता है, उसका अर्शरोग निस्संदेह नष्ट हो जाता है। फूल प्रियङ्गु, कमल, सँभालू, वायविडङ्ग, चित्रक, सैन्घवलवण, रास्ना, दुग्ध, देवदारु और वच से सिद्ध चौगुना कटुद्रव्य युक्त तैल मर्दन करने से (या जल के साथ ही पीसकर लेप करने से) गलगण्ड और गण्डमाल रोगों का विनाश हो जाता है।।५२-५४।।

कचूर, नागकेसर, कुमुद का पकाया हुआ क्वाथ तथा क्षीरविदारी, पीपल और अडूसा का कल्क तथा क्षीरविदारी, पीपल और अडूसा का कल्क दूध के साथ पकाकर लेने से क्षयरोग में लाभ होता है।।५५।।

वचा, विड्लवण, अभया (बड़ी हर्रें), सोंठ, हींग, कूठ, चित्रक और अजवाइन—इनके क्रमशः दो, तीन, छः, चार, एक, सात, पाँच और चार भाग ग्रहण करके चूर्ण बनाये। वह चूर्ण गुल्म रोग, उदररोग, शूल और कासरोग को दूर करता है। पाठा, दन्तीमूल, त्रिकटु (सोंठ, मिर्च, पीपल), त्रिफला और चित्ता—इनका चूर्ण गोमूत्र के साथ पीसकर गुटिका बना ले। यह गुटिका गुल्म और प्लीहा आदि का विनाश करने वाली है।

अडूसा, नीम और परवल के पत्तों के चूर्ण का त्रिफला के साथ सेवन करने पर वात-पित्त रोगों का शमन होता है। वायविडङ्ग का चूर्ण शहद के साथ लिया जाय तो वह कृमिनाशक है। विडङ्ग, सेंधानमक, यवक्षार एवं गोमूत्र के साथ ली गयी हर्रें भी (कृमिघ्न है)। शल्ल की (शालविशेष), बेर, ज़ामुन, प्रियाल, आम्र और अर्जुन—इन वृक्षों की छाल का चूण मधु में मिलाकर दूध के साथ लेने से रक्तातिसार दूर होता है।

कच्चे बेल का सूखा गूदा, आम की छाल, धाय का कच्चे बेल का सूखा गूदा, आम की छाल, धाय का

चाङ्गेरीकोलदध्यम्बुनागरक्षारसंयुतम्। घृतयुक्क्वाथितं पेयं गुदभ्रंशरुजापहम्॥६२॥
विडङ्गातिविषामुस्तदारुपाठाकलिङ्गकम्। मरीचेन समायुक्तं शोथातीसारनाशनम्॥६३॥
शर्करासिन्धुशुण्ठीभिः कृष्णा मधुगुडेन वा। द्वे द्वे खादेद्धरीतक्यौ जीवेद्वर्षशतं सुखी॥६४॥
त्रिफला पिप्पलीयुक्ता समध्वाज्या तथैव सा। चूर्णमामलकं तेन सुरसेन तु भावितम्॥६५॥
मध्वाज्यशर्करायुक्तं लिड्वा स्त्रीशः पयः पिबेत्। माषपिप्पलिशालीनां यवगोधूमयोस्तथा॥६६॥
चूर्णभागैः समांशैश्च पचेत्पिप्पलिकां शुभाम्। तां भक्षयित्वा च पिबेच्छर्करामधुरं पयः॥६७॥
नवश्चटकवद्गच्छेद्दश वारान्स्त्रियं ध्रुवम्। समङ्गाधातकीपुष्पलोध्रनीलोत्पलानि च॥६८॥
एतत्क्षीरेण दातव्यं स्त्रीणां प्रदरनाशनम्। बीजं कौरण्टकं चापि मधुकं श्वेतचन्दनम्॥६९॥
पद्मोत्पलस्य मूलानि मधुकं शर्करातिलान्। द्रवमाणेषु गर्भेषु गर्भस्थापनमुत्तमम्॥७०॥
देवदारुनभः कुष्ठं नलदं विश्वभेषजम्। लेपः काञ्जिकसंपिष्टस्तैलयुक्तः शिरोर्तिनुत्॥७१॥
वस्त्रपूतं क्षिपेत्कोष्णं सिन्धुत्थं कर्णशूलनुत्। लसुनार्द्रकशिग्रूणां कदल्या वा रसः पृथक्॥७२॥
बलाशतावरीरास्नामृताः सैरीयकैः पिबेत्। त्रिफलासहितं सर्पिस्तिमिरघ्नमनुत्तमम्॥७३॥

फूल, पाठा, सोंठ और मोचरस (कदली स्वरस)—इन सभी का समान भाग लेकर चूर्ण बना ले और गुड़मिश्रित तक्र के साथ पीये। इससे दुस्साध्य अतिसार का भी अवरोध हो जाता है। चाँगेरी, बेर, दही का पानी, सोंठ और यवक्षार-इनका घृत सहित क्वाथ पीने से गुदभ्रां रोग दूर होता है। वायबिडंग, अतीस, नागरमोथा, देवदारु, पाठा तथाइ न्द्रयव इनके क्वाथ में मिर्च का चूर्ण मिलाकर पीने से शोथयुक्त अतिसार का विनाश होता है॥५६-६३॥

शर्करा, सैन्धव और सोंठ के साथ अथवा पीपल, मधु एवं गुड़ के सहित प्रतिदिन दो हर्रें का भक्षण करना चाहिये तो इससे मनुष्य सौ वर्ष (अधिक काल) तक सुखपूर्वक जीवित रह सकता है। पिप्पली युक्त त्रिफला भी मधु और घृत के साथ प्रयोग में लायी जाने पर वैसा ही फल देती है। आँवले के स्वरस से भावित आँवले चूर्ण को मधु, घृत तथा शर्करा के साथ चाटकर दुग्धपान करना चाहिये। इससे मनुष्य स्त्रियों का प्रिय) प्रभु बन सकता है।

उड़द पीपल, अगहनी का चावल, जौ और गेहूँ—इन सभी का चूर्ण समान मात्रा में लेकर घृत में उसकी पूरी बना ले। उसका भोजन करके शर्करा युक्त मधुर दुग्धपान करना चाहिये। निस्संदेह इस प्रयोग से मनुष्य गौरैया पक्षी के साथ समान दस बार स्त्री-सम्भोग करने में सक्षम हो सकता है। मजीठ, धाय के फूल, लोध, नीलकमल-इनको दूध के साथ देना चाहिये। यह स्त्रियों के प्रदर रोग को दूर करता है। पीली कटसरैया, मुलहठी और श्वेतचन्दन-यह भी प्रदररोग नाशक हैं। श्वेतकमल और नीलकमल की जड़ तथ मुलहठी, शर्करा और तिल—इनका चूर्ण गर्भपात की आशङ्का होने पर गर्भ को स्थिर करनमें श्रेष्ठतम योग है। देवदारु, अभ्रक, कूठ, खस और सोंठ—इनको काँजी में पीसकर तैल मिलाकर लेप करने से शिरा रोग का विनाश करता है।

सैन्धव लवण को तैल में सिद्ध करके छान ले। जिस समय तैल थोड़ा गरम रह जाय तो उसको कान में डालने से कर्णशूल का शमन होता है। लहसुन, अदरख, सहजन और केला—इनमें से प्रत्येक का रस (कर्णशूलहारी है।) बरियार, शतावरी, रास्ना, गिलोय, कटसरैया और त्रिफला—इनसे सिद्ध घृत का या इनके सहित घृत का पान मिमिर रोग का विनाश करने में परम श्रेष्ठतम माना गया है। त्रिफला, त्रिकटु एवं सैन्धव लवण—इनसे सिद्ध किये हुए घृत

त्रिफलाव्योषसिन्धूत्थैर्घृतं सिद्धं पिबेन्नरः। चक्षुष्यं भेदनं हृद्यं दीपनं कफरोगनुत्।।७४।।
नीलोत्पलस्य किञ्जल्कं गोशकृद्रससंयुतम्। गुटिकाञ्जनमेतत्स्याद्दिनरात्र्यन्धयोर्हितम्।।७५।।
यष्टीमधुवचाकृष्णाबीजानां कुटजस्य च। कल्केनाऽऽलोड्य निम्बस्य कषायो वमनाय सः।।७६।।
स्निग्धस्विन्नयवं तोयं प्रदातव्यं विरेचनम्। अन्यथा योजितं कुर्यान्मन्दाग्निं गौरवारुची।।७७।।
पथ्यासैन्धवकृष्णानां चूर्णमुष्णाम्बुना पिबेत्। विरेकः सर्वरोगघ्नः श्रेष्ठो नाराचसंज्ञकः।।७८।।
सिद्धयोगा मुनिभ्यो य आत्रेयेण प्रदर्शिताः। सर्वरोगहराः सर्वयोगाग्र्याः सुश्रुतेन हि।।७९।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते मृतसंजीवनकरसिद्धयोगकथनं नाम पञ्चाशीत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः।।२८५।।

का पान मनुष्य को करना चाहिये। यह चक्षुष्य (आँखों के लिये हितकर) हृ (हृय के लिये हितकर), विरेचक, दीपन और कफ रोग नाशक है। गाय के गोबर के रस के साथ नीलकमल के पराग की गुटिका का अञ्जन दिनौंधी और रतौंधी के रोगियों के लिये हितकर है। मुलहठी, बच, पिप्पली बीज, कुरैया की छाल का कल्क और नीम का क्वाथ घोट देने से वह वमन कारक होता है। खूब चिकना तथा रेड़ी-जिस प्रकार तैल से स्निग्ध किया गया या पकाया हुआ यव का पानी विरेचक होता है। परन्तु इसका अनुचित प्रयोग मन्दाग्नि, उदर में भारीपन और अरुचि का उत्पन्न करता है। हर्रे, सैन्धव लवण और पीपल–इनके समान भाग का चूर्ण गर्म जल के साथ ले यह नाराच संज्ञक चूर्ण सर्वरोगनाशक तथा विरेचक है।।६४-७८।।

महर्षि आत्रेय ने मुनिजनों के लिये जिन सिद्ध योगों का वर्णन किया था, समस्त योगों में श्रेष्ठ उन सर्वरोग नाशक योगों का ज्ञान सुश्रुत ने प्राप्त किया।।७९।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी दो सौ पचासीवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।२८५।

❖❖❖

अथ षडशीत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

मृत्युञ्जयकल्पाः

धन्वन्तरिरुवाच

कल्पान्मृत्युञ्जयान्वक्ष्ये ह्यायुर्दान्रोगमर्दनान्। त्रिशतीरोगहा सेव्या मध्वाज्यत्रिफलामृता॥१॥
पलं पलार्धं कर्षं वा त्रिफलां सकलां तथा। बिल्वतैलस्य नस्यं च मासं पञ्चशती कविः॥२॥
रोगापमृत्युबलिजित्तिलं भल्लातकं तथा। पञ्चाङ्गं वाकुचीचूर्णं षण्मासं खदिरोदकैः॥३॥
क्वाथैः कुष्ठं जयेत्सेव्यं चूर्णं नीलकुरुण्टजम्। क्षीरेण मधुना वाऽपि शतायुःखण्डदुग्धभुक्॥४॥
मध्वाज्यशुण्ठीं संसेव्य पलं प्रातः स मृत्युजित्। वलीपलितजिज्जीवेन्माण्डूकीचूर्णदुग्धपाः॥५॥
उच्चटा मधुनाकर्षं पयसा मृत्युजिन्नरः। मध्वाज्यैः पयसा वाऽपि निर्गुण्डी मृत्युरोगजित्॥६॥
पलाशतैलं कर्षैकं षण्मासं मधुना पिबेत्। दुग्धभोजी पञ्चशती सहस्रायुर्भवेन्नरः॥७॥
ज्योतिष्मतीपत्ररसं पयसा त्रिफलां पिबेत्। मधुनाऽऽज्यं ततस्तद्वच्छतावर्या रजः पलम्॥८॥
क्षौद्राज्यैः पयसा वाऽपि निर्गुण्डी रोगमृत्युजित्। पञ्चाङ्गं निम्बचूर्णस्य खदिरक्वाथभावितम्॥९॥

अध्याय–२८६

मृत्युञ्जय योग विचार

भगवान् धन्वन्तरि ने कहा कि–हे सुश्रुत! अधुना मैं मृत्युञ्जय कल्पों का वर्णन करने जा रहा हूँ, जो आयु देने वाले तथा सब रोगों का मर्दन करने वाले हैं। मधु, घृत, त्रिफला और गिलोय का सेवन करना चाहिये। यह रोग को नष्ट करने वाली है तथा तीन सौ वर्ष तक की आयु दे सकती है। चार तोले, दो तोले अथवा एक तोले की मात्रा में त्रिफला का सेवन वही फल देता है। एक मासतक बिल्व तैल का नस्य लेने से पाँच सौ वर्ष की आयु और कवित्व शक्ति उपलब्ध होती है। भिलावा एवं तिल का सेवन रोग, अपमृत्यु और वृद्धावस्था को दूर करता है। वाकुची के पञ्चाङ्ग के चूर्ण को खैर (कत्था) के क्वाथ के साथ षड् मास तक प्रयोग करने से रोगी कुष्ठ पर विजयी होता है। नीली कटसरैया के चूर्ण का मधु या दुग्ध के साथ सेवन हितकर है।

खाँड युक्त दुग्ध का पान करने वाला सौ वर्षों की आयु प्राप्त करता है। प्रतिदिन प्रातःकाल मधु, घृत और सोंठ का चार तोले की मात्रा में सेवन करने वाला मनुष्य मृत्युविजयी होता है। ब्राह्मी के चूर्ण के साथ दूध का सेवन करने वाले मनुष्य के चेहरे पर झुर्रियाँ नहीं पड़ती हैं और उसके बाल नहीं पकते हैं; वह दीर्घजीवन लाभ करता है। मधु के साथ उच्चटा (भुईं आँवला) को एक तोले की मात्रा में खाकर दुग्धपान करने वाला मनुष्य मृत्यु पर विजय पाता है। मधु, घी अथवा दूध के साथ मेउड़ के रस का सेवन करने वाला रोग एवं मृत्यु को जीतता है।

षड् मास तक प्रतिदिन एक तोले भर पलाश-तैल का मधु के साथ सेवन करके दुग्धपन करने वाला पाँचे सौ वर्षों की आयु प्राप्त करता है। दुग्ध के साथ काँगनी के पत्तों के रस का या त्रिफला का प्रयोग करना चाहिये। इससे मनुष्य एक हजार वर्षों की आयु प्राप्त कर सकता है। इसी तरह मधु के साथ घृत और चार तोले भर शतावरी

कर्षं भृङ्गसेनापि रोगजिच्चामरो भवेत्। रुदन्तिकाज्यमधुभुग्दुग्भोजी च मृत्युजित्।।१०।।
कर्षचूर्णं हरीतक्या भावितं भृङ्गराड्रसैः। घृतेन मधुनाऽऽसेव्य त्रिशतायुश्च रोगजित्।।११।।
वाराहिका भृङ्गरसं लोहचूर्णं शतावरी। साज्यं कर्षं पञ्चशती कार्तपूर्णं शतावरी।।१२।।
भाषितं भृङ्गराजेन मध्वाज्यं (त्रिं) त्रि शती भवेत्। आम्रामृतात्रिवृत्तुल्यं गन्धकं च कुमारिका।।१३।।
रसैर्विमृज्य द्वे गुञ्जे साज्यं पञ्चशताब्दवान्। अश्वगन्धाफलं तैलं साज्यं खण्डं शताब्दवान्।।१४।।
पलं पुनर्नवाचूर्णं मध्वाज्यपयसा पिबन्। अशोकचूर्णस्य फलं मध्वाज्यं पयसाऽर्तिनुत्।।१५।।
निम्बस्य तैलं समधु नस्यात्कृष्णकचः शती। कर्षमक्षं समध्वाज्यं शतायुः पयसा पिबन्।।१६।।
अभयां सगुडां जग्ध्वा घृतेन मधुरादिभिः। दुग्धान्नभुक्कृष्णकेशोऽरोगी पञ्चाताब्दवान्।।१७।।
पलं कूष्माण्डिकाचूर्णं मध्वाज्यपयसा पिबन्। मासं दुग्धान्नभोजी च सहस्रायुर्विरोगवान्।।१८।।
शालूकचूर्णं भृङ्गाज्यं समध्वाज्यं शताब्दकृत्। कटुतुम्बीतैलनस्यं कर्षं शतद्वयाब्दवान्।।१९।।
त्रिफला पिप्पली शुण्ठी सेविता त्रिशताब्दकृत्। शतावर्याः पूर्णयोगः सहस्रायुर्बलातिकृत्।।२०।।

चूर्ण का सेवन करने से भी सहस्रों वर्षों की आयु प्राप्त हो सकती है। घी अथवा दूध के साथ मेउड़ की जड़ का चूर्ण या पत्रस्वरस रोग एवं मृत्यु का विनाश करता है। नीम के पञ्चाङ्ग चूर्ण को खैर के क्वाथ 'काढ़े' की भावना देकर भृङ्गराज के रस के साथ एक तोला भर सेवन करने से मनुष्य रोग को जीतकर अमर हो सकता है। रुदन्ति का चूर्ण घृत और मधु के साथ सेवन करने से या केवल दुग्धाहार से मनुष्य मुत्यु को जी लेता है। हरीतकी के चूर्ण को भृङ्गराज रस की भावना देकर एक तोले की मात्रा में घृत और मधु के साथ सेवन करने वाला रोग मुक्त होकर तीन सौ वर्षों की आयु प्राप्त कर सकता है। गेठी, लोहचूर्ण शतावरी समान भाग से भृङ्गराज रस तथा घी के साथ एक तोला मात्रा में सेवन करने से मनुष्य पाँच सौ वर्ष की आयु प्राप्त करता है। लौहभस्म तथा शतावरी को भृङ्गराज के रस में भावना देकर मधु एवं घी के साथ लेने से तीन सौ वर्ष की आयु प्राप्त होती है। ताम्रभस्म, गिलोय, शुद्ध गन्धक समान भाग घी कुँवार के रस में घोटकर दो-दो रत्ती की गोली बनाये। इसका घृत से सेवन करने से मनुष्य पाँच सौ वर्ष की आयु प्राप्त करता है। असगन्ध, त्रिफला, चीनी, तैल और घृत में सेवन करने वाला सौ वर्ष तक जीता है। गदहपूर्ना का चूर्ण एक पल मधु, घृत और दुग्ध के साथ भक्षण करने वाला भी शतायु होता है। अशोक की छाल का एक पल चूर्ण मधु और घृत के साथ खाकर दुग्धपान करने से रोगनाश होता है। निम्ब के तैल की मधुसहित नस्य लेने से मनुष्य सौ वर्ष जीता है और उसके केश सदा काले रहते हैं। बहेड़े के चूर्ण को एक तोला मात्रा में शहद, घी और दूध से पीने वाला शतायु होता है। मधुरादिगण की औषधियों और हरीत की को गुड़ और घृत के साथ खाकर दूध के सहित अन्न भोजन करने वालों के केश सदा काले रहते हैं तथा वह रोग हीन होकर पाँच सौ वर्षों का जीवन प्राप्त करता है। एक मास तक सफेद पेठे के एक पल चूर्ण को मधु, घृत और दूध के साथ सेवन करते हुए दुग्धान्न का भोजन करने वाला नीरोग रहकर एक सहस्र वर्ष की आयु का उपभोग करता है। कमलगन्ध का चूर्ण भाँगरे के रस की भावना देकर मधु और घृत के साथ लिया जाय तो वह सौ वर्षों की आयु सम्प्रदान करता है। कड़वी तुम्बी के एक तोले भर तेल का नस्य दो सौ वर्षों की आयु सम्प्रदान करता है। त्रिफला, पीपल और सोंठ– इनका प्रयोग तीन सौ वर्षों की आयु सम्प्रदान करता है। इनका शतावरी के साथ सेवन अत्यन्त बलप्रद और सहस्र

चित्रकेण तथा पूर्वं तथा शुण्ठीविडङ्गतः। लोहेन भृङ्गराजेन बलया निम्बपञ्चकैः॥२१॥
खदिरेण च निर्गुण्ड्या कण्टकार्याऽथ वासकात्। वर्षाभुवा तद्रसैर्वा भावितो वटिकाकृतः॥२२॥
चूर्णं घृतैर्वा मधुना गुडाद्यैर्वारिणा तथा। ॐ ह्रूं स इति मन्त्रेण मन्त्रितो योगराजकः॥२३॥
मृतसंजीवनीकल्पो रोगमृत्युञ्जयो भवेत्। सुरासुरैश्च मुनिभिः सेविता कल्पसागराः॥२४॥
गजायुर्वेदं प्रोवाच पालकाप्योऽङ्गराजकम्॥२४॥

॥इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गति मृत्युञ्जयकल्पकथनं नाम षडशीत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः॥२८६॥

वर्षों की आयु सम्प्रदान करने वाला है। इनका चित्रक के साथ तथा सोंठ के साथ विडंग का प्रयोग भी पूर्ववत् फलप्रद है। त्रिफला, पीपल और सोंठ–इनका लोह, भृङ्गराज, खरेटी, निम्ब-पञ्चाङ्ग, खैर, निर्गुण्डी, कटेरी, अडूसा और पुनर्नवा के साथ या इनके रस की भावना देकर या इनके संयोग से बटी या चूर्ण का निर्माण करके उसका घृत, मधु, गुड़ और जलादि अनुपानों के साथ सेवन करने से उपरोक्त फल की प्राप्ति हो जाती है। 'ॐ ह्रूं सः'–इस मन्त्र से अभिमन्त्रित योगराज मृतसंजीवनी के समान होता है। उसके सेवन से मनुष्य रोग और मृत्यु पर विजय प्राप्त करता है। देवता, असुर और मुनियों ने इन कल्प-सागरों का सेवन किया है। गजायुर्वेद का वर्णन पालकाप्य ने अङ्गराज (लोमपाद) से किया था॥१-२४॥

॥इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी दो सौ छियासीवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ॥२८६॥

❖❖❖

अथ सप्ताशीत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

गजचिकित्सा

धन्वन्तरिरुवाच

गजलक्ष्मचिकित्सां च लोमपाद वदामि ते। दीर्घहस्ता महोच्छ्वासाः प्रशस्तास्ते सहिष्णवः।।१।।
विंशत्यष्टादशनखाः शीतकालमदाश्च ये। दक्षिणश्चोन्नतो दन्तो बृंहितं जलदोपमम्।।२।।
कर्णौ च विपुलौ येषां सूक्ष्मविन्द्वन्वितास्त्वचि। ते धार्या न तथा धार्या वामना ये त्वलक्षणाः।।३।।
हस्तिन्यः पार्श्वगर्भिण्यो ये च मूढा मतङ्गजाः। वर्षं सत्त्वं बलं रूपं कान्तिः संहननं जवः।।४।।
सप्तस्थितो गजश्चेदृक्संग्रामेऽरीञ्जयेत्सदा। कुञ्जराः परमा शोभा शिविरस्य बलस्य च।।५।।
आहतः कुञ्जरैश्चैव विजयः पृथिवीक्षिता। पाकलेषु च सर्वेषु कर्तव्यमनुवासनम्।।६।।
घृततैलाभ्यङ्गयुक्तं स्नानं वातविवर्जितम्। स्कन्धेषु च क्रिया कार्या तथा पालकवत्नृपैः।।७।।
गोमूत्रं पाण्डुरोगेषु रजनीभ्यां घृतं द्विज। आनाहे तैलसिक्तस्य निषेकस्तस्य शस्यते।।८।।
लवणैः पञ्चभिर्मिश्रा प्रतिपानाय वारुणी। विडङ्गत्रिफलाव्योषसैन्धवैः कवलान्कृतान्।।९।।

अध्याय-२८७

गज-चिकित्सा विचार

धन्वन्तरि ने कहा कि–हे लोमपाद! मैं तुम्हारे सम्मुख हाथियों के लक्षण और चिकित्सा का वर्णन करने जा रहा हूँ। लम्बी सूँड़वाले, दीर्घ श्वास लेने वाले, आघात को सहन करने में सक्षम, बीस या अठारह नखें वाले एवं शीतकाल में मद की धारा बहाने वाले हाथी प्रशस्त माने गये हैं। जिनका दाहिना दाँत उठा हो, गर्जना मेघ के समान गम्भीर हो, जिनके कान विशाल हों तथा जो त्वचा पर सूक्ष्म बिन्दुओं से चित्रित हों, ऐसे हाथियों का संग्रह करना चाहिये; परन्तु जो ह्रस्वाकार और लक्षणहीन हों, ऐसे हाथियों का संग्रह कदापि नहीं करना चाहिये। पार्श्वगर्भिणी हस्तिनी और मूढ़ उन्मत्त हाथियों को भी न रखे। वर्ण, सत्त्व, बल, रूप, कान्ति, शारीरिक, संगठन एवं वेग–इस तरह के सात गुणों से युक्त गजराज सम्मुख युद्ध में शत्रुओं पर विजय प्राप्त करता है। गजराज ही शिबिर और सेना की परम शोभा हैं। राजाओं की विजय हाथियों के अधीन है।।१-५।।

हाथियों के सभी तरह के ज्वरों में अनुवासन देना चाहिये। घृत और तैल के अभ्यङ्ग के साथ स्नान वात-रोग को नष्ट करने वाला है। राजाओं को हाथियों के स्कन्ध रोगों में पूर्ववत् अनुवासन देना चाहिये। हे द्विजश्रेष्ठ! पाण्डुरोग में गोमूत्र, हरिद्रा और घृत देना चाहिये। बद्धकोष्ठ (कब्जियत) में तैल से पूरे शरीर का मर्दन करके स्नान कराना या क्षरण कराना प्रशस्त है। हाथी को पञ्चलवण (कालानमक, संधानमक, संचर नोन, समुद्रलवण और काचलवण) युक्त वारुणी मदिरा का पान कराये। मूर्च्छा रोग में हाथी को वायविडंग, त्रिफला, त्रिकटु, और सैन्धव लवण के ग्रास बनाकर खिलाये तथा मधु युक्त जल पिलाये। शिरशूल में अभ्यङ्ग और नस्य प्रशस्त है। हाथियों के पैर के रोगों में तैलयुक्त पोटली से मर्दन रूप चिकित्सा करना चाहिये। तत्पश्चात् कल्क और कषाय से उनका शोधन करना चाहिये। जिस हाथी को कम्पन होता हो, उसको पीपल और मिर्च मिलाकर मोर, तीतर और बटेर के मांस के साथ भोजन कराये अतिसार

मूर्च्छासु भोजयेन्नागं क्षौद्रं तोयं च पाययेत्। अभ्यङ्गः शिरसः शूले नस्यं चैव प्रशस्यते॥१०॥
नागानां स्नेहपुटकैः पादरोगानुपक्रमेत्। पश्चात्कल्कषायेण शोधनं च विधीयते॥११॥
शिखितित्तिरलावानां पिप्पलीमरिचान्वितैः। रसैः सम्भोजयन्नागं वेपथुर्यस्य जायते॥१२॥
बालबिल्वं तथा लोध्रं धातकी सितया सह। अतिसारविनाशाय पिण्डीं भुञ्जीत कुञ्जरः॥१३॥
नस्यं करग्रहे देयं घृतं लवणसंयुतम्। मागधी नागराजाजी यवागूर्मुस्तसाधिता॥१४॥
उत्कर्णके तु दातव्या वाराहं च तथा रसम्। दशमूलकुलत्थाम्लकाकमाचीविपाचितम्॥१५॥
तैलं शृंखलसंयुक्तं गलग्रहगदापहम्। अष्टभिर्लवणैः पिष्टैः प्रसन्नं पाययेद्घृतम्॥१६॥
मूत्रभङ्गेऽथ वा बीजं क्वथितं त्रपुषस्य च। त्वग्दोषेषु पिवेन्निम्बं वृषं वा क्वथितं द्विपः॥१७॥
गवां मूत्रं विडङ्गानि कृमिकोष्ठेषु शस्यते। शृङ्गवेरकणाद्राक्षाशर्कराभिः शृतं पयः॥१८॥
क्षतक्षयकरं पानं तथा मांसरसः शुभः। मुद्गौदनं व्योषयुतमरुचौ तु प्रशस्यते॥१९॥
त्रिवृद्व्योषाग्निदन्त्यर्कश्यामा क्षीरेभपिप्पली। एतैर्गुल्महरः स्नेहः कृतश्चैव तथा परः॥२०॥
भेदनद्रावणाभ्यङ्गस्नेहपानानुवासनैः। सर्वानेव समुत्पन्नान्विद्रधीन्समुपाहरेत्॥२१॥
यष्टिकं मुद्गसूपेन शारदेन तथा पिबेत्। बालबिल्वैस्तथा लेपः कटरोगेषु शस्यते॥२२॥
विडङ्गेन्द्रयवौ हिङ्गु सरलं रजनीद्वयम्। पूर्वाह्णे दापयेत्पिण्डान्सर्वशूलोपशान्तये॥२३॥
प्रधानभोजने तेषां षष्टिकव्रीहिशालयः। मध्यमौ यवगोधूमौ शेषा दन्तिनि चाधमाः॥२४॥

रोग के शमन के लिये गजराज को नेत्रबाला, बेल का सूखा गूदा, लोध, धाय के फूल और मिश्री की पिंडी बनाकर खिलावे। करग्रह (सूँड के रोग) में लवणयुक्त घृत का नस्य देना चाहिये। उत्कर्णक रोग में पीपल, सोंठ, कालाजीरा और नागरमोथा से साधित यवागू एवं वाराही कन्द का रस देना चाहिये। दशमूल, कुलथी, अम्लवेत और काकमाची से सिद्ध किया हुआ तैल मिर्च के साथ प्रयोग करने से गलग्रह-रोग का विनाश होता है। मूत्रकृच्छ्र रोग में अष्टलवणयुक्त सुरा एवं घृत का पान कराये अथवा खीरे के बीजों का क्वाथ देना चाहिये। हाथी को चर्म दोष में नीम या अडूसे का क्वाथ पिलावे। कृमियुक्त कोष्ठ की शुद्धि के लिये गोमूत्र और वायविडंग प्रशस्त हैं। सोंठ, पीपल, मुनक्का और शर्करा से शृत जल का पान क्षतदोष का क्षय करने वाला है तथा मांस-रस भी लाभसम्प्रदायक है। अरुचि रोग में सोंठ, मिर्च एवं पिप्पली युक्त मूँग-भात प्रशंसित है। निशोथ, त्रिकटु, चित्रक, दन्ती, आक, पीपल, दुग्ध और गजपीपल-इनसे सिद्ध किया हुआ स्नेह गुल्मरोग का अपहरण करता है। इसी तरह (गजचिकित्सक) भेदन, द्रावण, अभ्यङ्ग, स्नेहपान और अनुवासन के द्वारा सभी तरह के विद्रधि रोगों का विनाश करना चाहिये॥६-२१॥

हाथी के कटुरोगों में मूँग की दाल या मूँग के साथ मुलहठी मिलावे और नेत्रबाला एवं बेल की छाल का लेप करना चाहिये। सभी तरह के शूलों का शमन करने के लिये दिन के पूर्वभाग में इन्द्रयव, हींग, धूपसरल, दोनों हल्दी और दारुहल्दी की पिंडी देना चाहिये। हाथियों के श्रेष्ठतम भोजन में साठी चावल, मध्यम भोजन में जौ और गेहूँ एवं अधम भोजन में अन्य भक्ष्य-पदार्थ माने गये हैं। जौ और ईख हाथियों का बल बढ़ाने वाले हैं तथा सूखा तृण उनके धातु को प्रकुपित करने वाला है। मदक्षीण हाथी को दुग्ध पिलाना प्रशस्त है तथा दीपनीय द्रव्यों से पकाया हुआ मांसरस भी लाभप्रद है। गुगुल, गठिवन, करकोल्यादि गण और चन्दन-इनका मधु के साथ प्रयोग करना चाहिये।

यवश्चैव तथैवेक्षुर्नागानां बलवर्धनः। नागानां यवसं शुष्कं तथा धातुप्रकोपणः।।२५।।
मदक्षीणस्य नागस्य पयःपानं प्रशस्यते। दीपनीयैस्तथा द्रव्यैः शृतो मांसरसः शुभः।।२६।।
वायसः कुक्कुरश्चोभौ काकोलूककुलं हरिः। भेवत्क्षौद्रेण संयुक्तः पिण्डोद्रेकगदापहः।।२७।।
कटुमत्स्यविडङ्गानि क्षारः कोषातकीपयः। हरिद्रा चेति धूपोऽयं कुञ्जरस्य जयावहः।।२८।।
पिप्पलीतण्डुलीतैलं माध्वीकं माक्षिकं तथा। नेत्रयोः परिषकोऽयं दीपनीयः प्रशस्यते।।२९।।
पुरीषं चटकायाश्च तथा पारावतस्य च। क्षीरवृक्षः करीषश्च प्रसन्ना चेष्टमञ्जनम्।।३०।।
अनेनाञ्जितनेत्रस्तु करोति कदनं रणे। उत्पलानि च नीलानि मुस्तं तगरमेव च।।३१।।
तण्डुलोदकपिष्टानि नेत्रनिर्वापणं परम्। नखवृद्धौ नखच्छेदस्तैलसेकश्च मास्यपि।।३२।।
शय्यास्थानं भवेच्चास्य करीषैः पांसुभिस्तथा। शरन्निदाघयोः सेकः सर्पिषा च तथेष्यते।।३३।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते गजचिकित्साकथनं नाम सप्ताशीत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः।।२८७।।

इससे पिण्डो द्रेक रोग का विनाश होता है। कुटकी, मत्स्य, वायविडंग, लवण, कोशात की (झिमनी) का दूध और हल्दी-इनका धूप हाथियों के लिये विजयप्रद है। पीपल और चावल तथा तेल, , माध्वीक (महुआ या अङ्गूर के रस से निर्मित सुरा) तथा मधु -इनका नेत्रों में परिषेक दीपनीय माना गया है। गौरैया चिड़िया और कबूतर की बीट, गूलर, सूखा गोबर एवं मदिरा-इनका मंजन हाथियों को अत्यन्त प्रिय है। हाथी के नेत्रों को इससे अञ्जित करने पर वह संग्राम भमि में शत्रुओं को मसल डालता है। नीलकमल, नागरमोथा और तगर-इनको चावल के जल में पीस ले। यह हाथियों के नेत्रों को परम शान्ति सम्प्रदान करता है। नख बढ़ने पर उनके नख काटने चाहिये और प्रतिमास तैल का सेक करना चाहिये। हाथियों का शयन-स्थान सूखे गोबर और धूल से युक्त होना चाहिये। शरद् और ग्रीष्म-ऋतु में इनके लिये घृत का सेक उपरोक्त है।।२२-२३।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी दो सौ सतासीवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।२८७।।

❖❖❖

अथाष्टाशीत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

अश्ववाहनसारः

धन्वन्तरिरुवाच

अश्ववाहनसारं च वक्ष्येचाश्वचिकित्सनम्। वाजिनां संग्रहः कार्यो धर्मकर्मार्थसिद्धये॥१॥
अश्विनी श्रवणं हस्तमुत्तरात्रितयं तथा। नक्षत्राणि प्रशस्तानि हयानामादिवाहने॥२॥
हेमन्तः शिशिरश्चैव वसन्तश्चाश्ववाहने। ग्रीष्मे शरदि वर्षासु निषिद्धं वाहनं हये॥३॥
तीव्रैर्नचपलैर्दण्डैर्वदने न च ताडयेत्। कीलास्थिसंकुले चैव विषमे कण्टकान्विते॥४॥
बालुकापङ्कसंछन्ने गर्तागर्तप्रदूषिते। अचित्तज्ञो विनोपायैर्वाहनं कुरुते तु यः॥५॥
स बाह्यते हयेनैव पृष्ठस्थः कटिकां विना। छन्दं विज्ञापयेत्कोऽपि सुकृती धीमतां वरः॥६॥
अभ्यासादभियोगाच्च विना शास्त्रं स्ववाहकः। स्नातस्य प्राङ्मुखस्याथ देवान् वपुषि योजयेत्।
प्रणवादिनमोऽन्तेण स्वबीजेन यथाक्रमम्। ब्रह्मा चित्ते बले विष्णुर्वैनतेयः पराक्रमे॥८॥
पार्श्वे रुद्रा गुरुर्बुद्धौ विश्वेदेवाश्च मर्मसु। दृगावर्ते दृशीन्द्वर्कौ कर्णयोरश्विनौ तथा॥९॥

अध्याय-२८८

अश्ववाहनसार

भगवान् धन्वन्तरि ने कहा कि–हे सुश्रुत! अधुना मैं अश्ववाहन का रहस्य और अश्वों की चिकित्सा का वर्णन करने जा रहा हूँ। धर्म, कर्म और अर्थ की सिद्धि के लिये अश्वों का संग्रह करना चाहिये। घोड़े के ऊपर प्रथम बार सवारी करने के लिये अश्विनी, श्रवण, हस्त, उत्तराषाढ़, उत्तरभाद्रपद और उत्तरफाल्गुनी नक्षत्र प्रशस्त माने गये हैं। घोड़ों पर चढ़ने के लिये हेमन्त, शिशिर और वसन्त ऋतु श्रेष्ठतम हैं। ग्रीष्म, शरद् एवं वर्षा ऋतु में घुड़सवारी निषिद्ध है। घोड़ों को तीखे और लचीले डंडों से न मारे। उनके मुख पर प्रहार नहीं करना चाहिये। जो मनुष्य घोड़े के मन को नहीं समझता तथा उपायों को जाने बिना ही उस पर सवारी करता है तथा घोड़े को कीलों और अस्थियों से भरे हुए दुर्गम, कण्टकयुक्त, बालू और कीचड़ से आच्छन्न पथ पर गड्ढों या उन्नत भूमियों से दूषित मार्ग पर ले जाता है एवं पीठ पर काठी के बिना ही बैठ जाता है, वह मूर्ख अश्व का ही वाहन बनता है, अर्थात् वह अश्व के अधीन होकर विपत्ति में फँस जाता है। कोई बुद्धिमानों में श्रेष्ठ सुकृती अश्ववाहक अश्वशास्त्र को पढ़े बिना भी केवल अभ्यास और अध्यवसाय से ही अश्व को अपना अभिप्राय समझा देता है। अथवा घोड़े के अभिप्राय को समझकर दूसरों को उसका ज्ञान करा देता है॥१-६॥

अश्व को नहला कर पूर्वाभिमुख खड़ा करना चाहिये। फिर उसके शरीर में आदि में 'ॐ' और अन्त में 'नमः' शब्द जोड़कर अपने बीजाक्षर से युक्त मन्त्र बोलकर देवताओं की क्रमशः योजना (न्यास या भावना) करना चाहिये। अश्व के चित्त में ब्रह्मा, बल में विष्णु, पराक्रम में गरुड, पार्श्वभाग में रुद्रगण, बुद्धि में बृहस्पति, मर्मस्थान में विश्वेदेव, नेत्रावर्त और नेत्र में चन्द्रमा-सूर्य, कानों में अश्विनीकुमार जठराग्नि में स्वधा, जिह्वा में सरस्वती, वेग में पवन, पृष्ठभाग में स्वर्गपृष्ठ, खुराग्र में समस्त पर्वत, रोमकूपों में नक्षत्रगण, हृदय में चन्द्रकला, तेज में अग्नि, श्रोणि देश में रति, ललाट

जठरेऽग्निः स्वधा स्वेदे वाग्जिह्वायां जवेऽनिलः। पृष्ठतो नाकपृष्ठस्तु (खुराग्रे सर्वपर्वताः॥१०॥
ताराश्च रोमकूपेषु हृदि चान्द्रमसी कला। तेजस्यग्नी रतिः श्रोण्यां ललाटे च जगत्पतिः॥११॥
ग्रहाश्च हेषिते चैव तथैवोरसि वासुकिः। उपोषितोऽर्चयेत्सादी हयं दक्षश्रुतौ जपेत्॥१२॥
हय गन्धर्वराजस्त्वं) शृणुष्व वचनं मम। गन्धर्वकुलजातस्त्वं मा भूस्त्वं कुलदूषकः॥१३॥
द्विजानां सत्यवाक्येन सोमस्य गरुडस्य च। रुद्रस्य वरुणस्यैव पवनस्य बलेन च॥१४॥
हुताशनस्य दीप्त्या च स्मर जातिं तुरंगम। स्मर राजेन्द्रपुत्रस्त्वं सत्यवाक्यमनुस्मर॥१५॥
स्मर त्वं वारुणीं कन्यां स्मर त्वं कौस्तुभं मणिम्। क्षीरोदसागरे चैव मध्यमाने सुरासुरैः॥१६॥
तत्र देवकुले जातः स्ववाक्यं परिपालय। कुले जातस्त्वमश्वानां मित्रं मे भव शाश्वतम्॥१७॥
शृणु मित्र त्वमेतच्च सिद्धो मे भव वाहन। विजयं रक्ष मां चैव समरे सिद्धिमावह॥१८॥
तव पृष्ठं समारुह्य हता दैत्याः सुरैः पुरा। अधुना त्वां समारुह्य जेष्यामि रिपुवाहिनीम्॥१९॥
कर्णजापं तपः कृत्वा विमुह्य च तथाऽप्यरीन्। पर्यानयेद्धयं सादी वाहयेद्युद्धगो जयम्॥२०॥
संजाताः स्वशरीरेण दोषाः प्रायेण वाजिनाम्। हन्यन्तेऽतिप्रयत्नेन गुणाः सादिवरैः पुनः॥२१॥
सहजा इव दृश्यन्ते गुणाः सादिवरोद्भवाः। नाशयन्ति गुणानन्ये सादिनः सहजानपि॥२२॥
गुणानेको विजानाति वेत्ति दोषांस्तथाऽपरः। धन्यो धीमान्हयं वेत्ति नोभयं वेत्ति मन्दधीः॥२३॥

में जगत्पति, हेषित (हिनहिनाहट) में नवग्रह एवं वक्षःस्थल में वासुकि का न्यास करना चाहिये। अश्वारोही उपवासपूर्वक अश्व की अर्चना करनी चाहिये एवं उसके दक्षिण कर्ण में निम्नलिखित मन्त्र का जप करना चाहिये॥७-१२॥

'हे तुरंगम! आप गन्धर्वराज हो। मेरे वचन को सुनो। आप गन्धर्व कुल में उत्पन्न हुए हो। अपने वंश को दूषित न करना। हे अश्व! ब्राह्मणों के सत्यवचन सोम, गरुड, रुद्र, वरुण और पवन के बल एवं अग्नि के तेज से युक्त अपनी जाति का स्मरण करो। याद करो कि 'तुम राजेन्द्र पुत्र हो।' सत्यवाक्य का स्मरण करो। वरुण कन्या वारुणी और कौस्तुभमणिक को याद करो। जिस समय दैत्यों और देवताओं द्वारा खीरसमुद्र का मन्थन हो रहा था, उस समय आप देवकुल में प्रादुर्भूत हुए थे। अपने वाक्य का पालन करो। तुम अश्ववंश में उत्पन्न हुए हो। सदा के लिये मेरे मित्र बनो। हे मित्र! आप यह सुनो। मेरे लिये सिद्ध वाहन बनो। मेरी रक्षा करते हुए मेरी विजय की रक्षा करो। समराङ्गण में मेरे लिये आप सिद्धिप्रदा हो जाओ। प्राचीन काल में तुम्हारे पृष्ठभाग पर आरूढ़ होकर देवताओं ने दैत्यों का विनाश किया था। आज मैं तुम्हारे ऊपर आरूढ़ होकर शत्रुसेनाओं पर विजय प्राप्त करने जा रहा हूँ।'१३-१९॥

अश्वारोही वीर अनेक कर्ण में उसका जप करके शत्रुओं को मोहित रता हुआ अश्व को युद्ध स्थल में लाये और उस पर आरूढ़ हो युद्ध करते हुए विजय प्राप्त करना चाहिये। श्रेष्ठ अश्वारोही घोड़ों के शरीर से उत्पन्न दोषों को भी प्रायः यत्नपूर्वक नष्ट कर देते हैं तथा उनमें पुनः गुणों का विकास करते हैं। श्रेष्ठ अश्वारोहियों द्वारा अश्व में उत्पादित गुण स्वाभाविक से दीखने लगते हैं। कुछ अश्वारोही तो घोड़ों के सहज गुणों को भी नष्ट कर देते हैं। कोई अश्वों के गुण और कोई उनके दोषों को जानता है। वह बुद्धिमान् पुरुष धन्य है, जो अश्व-रहस्य को जानता है। मन्दबुद्धि मनुष्य उनके गुण दोष दोनों को ही नहीं जानता। जो कर्म और उपाय से अनभिज्ञ है, अश्व का वेगपूर्वक वाहन करने में प्रयत्नशील है, क्रोधी एवं छोटे अपराध पर कठोर दण्ड देता है, वह अश्वारोही कुशल होने पर भी प्रशंसित नहीं होता

अकर्मज्ञोऽनुपायज्ञो वेगासक्तोऽपि कोपनः। जयदण्डरतिश्चित्रो यः शस्तोऽपि न शस्यते॥२४॥
उपायज्ञोऽथ चित्तज्ञो विशुद्धो दोषनाशनः। गुणार्जनपरो नित्यं सर्वकर्मविशारदः॥२५॥
प्रग्रहेण गृहीत्वाऽथ प्रविष्टो वाहभूतलम्। सव्यापसव्यभेदेन वाहनीयः सुसादिना॥२६॥
आरुह्य सहसा नैव ताडनीयो हयोत्तमः। ताडनाद्भयमाप्नोति भयान्मोहश्च जायते॥२७॥
प्रातः सादी प्लुतेनैव बल्गामुद्धृत्य चालयेत्। मन्दं मन्दं विना नालं धृतवल्गो दिनान्तरे॥२८॥
प्रोक्तंमाश्वासनं सामभेदोऽश्वेन नियोज्यते। कशादिताडनं दण्डो दानं कालसहिष्णुता॥२९॥
पूर्वपूर्वविशुद्धौ तु विदध्यादुत्तरोत्तरम्। जिह्वातले विना योगं विदध्याद्वाहने हये॥३०॥
गुणोत्तरशतां वल्गां सृक्कण्या सह गाहयेत्। विस्मार्य वाहनं कुर्याच्छिथिलानां शनैः शनैः॥३१॥
हयजिह्वाङ्गमाहीने जिह्वाग्रन्थिं विमोचयेत्। गाढतां मोचयेत्तावद्यावत्स्तोभं न मुञ्चति॥३२॥
कुर्याच्छतमुरस्त्राणमविलालं च मुञ्चति। ऊर्ध्वाननः स्वभावाद्यस्तस्योरस्त्राणमश्लथम्॥३३॥
विधाय वाहयेद्दृष्ट्या लीलया सादिसत्तमः। तस्य सव्येन पूर्वेण संयुक्तं सव्यवलाया॥३४॥

है। जो अश्वारोही उपाय का जानकार है, घोड़े के चित्त को समझने वाला है, वह सम्पूर्ण कर्मों में निपुण सवार सदा गुणों के उपार्जन में लगा रहता है। श्रेष्ठतम अश्वारोही अश्व को उसकी लगाम पकड़कर बाह्यभूमि में ले जाय। वहाँ उसकी पीठ पर बैठकर दायें-बायें के भेद से उसका संचालन करना चाहिये। श्रेष्ठतम घोड़े पर चढ़कर सहसा उस पर कोड़ा नहीं लगाना चाहिये; क्योंकि वह ताड़ना से डर जाता है और भयभीत होने से उसको मोह भी हो जाता है। अश्वारोही प्रातः काल अश्व को उसकी वल्गा (लगाम) उठाकर प्लुतगति से चलाये। संध्याकाल में यदि घोड़े के पैर में नाल न हो, तो लगाम पकड़कर धीरे-धीरे चलाये, अधिक वेग से न दौड़ाये॥२०-२८॥

ऊपर जो कान में जपने की बात तथा अश्व संचालन के सम्बन्ध में आवश्यक विधि कही गयी है, इससे अश्व को आश्वासन प्राप्त होता है, इसलिये उसके प्रति यह 'सामनीति' का प्रयोग हुआ। जिस समय एक अश्व दूसरे अश्व के साथ (रथ आदि में) नियोजित होता है, तो उसके प्रति यह 'भेद-नीति' का बर्ताव हुआ। कोड़े आदि से अश्व को पीटना—यह उसके ऊपर 'दण्डनीति' का प्रयोग है। अव को अनुकूल बनाने के लिये जो कालविलम्ब सहन किया जाता है या उसको चाल सीखने का अवसर दिया जाता है, यह उस अश्व के प्रति 'दान-नीति' का प्रयोग समझना चाहिये॥२९॥

पूर्व-पूर्व नीति की शुद्धि (सफल उपयोग) हो जाने पर उत्तरोत्तर नीति का प्रयोग करना चाहिये। घोड़े की जिह्वा के नीचे बिना योग के ग्रन्थि बाँधे। अधिक से अधिक सौगुने सूत को बँटकर बनायी गयी वल्गा (लगाम को) घोड़े के दोनों गल्फरों में घुसा देना चाहिये। फिर धीरे-धीरे वाहन को भुलावा देकर लगाम ढीली करना चाहिये। जिस समय घोड़े की जिह्वा आहीनावस्था को प्राप्त हो, तत्पश्चात् घोड़े की जिह्वा आहीनावस्था को प्राप्त हो, तत्पश्चात् जिह्वातल की ग्रन्थि खोल देना चाहिये। जिस समय तक अश्व स्तोभ (स्थिरता) का त्याग नहीं करना चाहिये, तत्पश्चात् तक गाढ़ता का मोचन करना चाहिये—लगाम को अधिक न कसे। उरस्त्राण को तत्पश्चात् तक खूब कसा-कसा रखे, जिस समय तक अश्व मुख से लार गिराता रहना चाहिये। जो स्वभाव से ही ऊपर मुँह किये रहे, उसी अश्व का उरस्त्राण खूब कसकर श्रेष्ठ घुड़सवार उसको अपनी दृष्टि के संकेत पर लीलापूर्वक चला सकता है॥३०-३३॥

जो पहले घोडे के पिछले दायें पैर से दाईं वल्गा संयोजित कर देता है, उसने उसके दायें पैर को काबू में

य: कुर्यात्पश्चिमं पादं गृहीतस्तेन दक्षिणः। क्रमेणानेन यो वामे कुरुते वामवल्गया।।३५।।
पादौ तेनापि पादः स्याद्गृहीतो वाम एव हि। अग्रे चेच्चरणे त्यक्ते जायते सुदृढासनम्।।३६।।
यौ हृतौ दुष्करे चैव मोटके नाटकायनम्। सव्यहीनं खलीकारो हनने गुणने तथा।।३७।।
स्वभावं हि तुरंगस्य मुखव्यावर्तनं पुनः। न चैवेत्थं तुरंगाणां पादग्रहणहेतवः।।३८।।
विश्वस्तं हयमालोक्य गाढमापीड्य चाऽऽसनम्। रोधयित्वा मुखे पादं ग्राह्यतो लोकनं हितम्।।३९।।
गाढमापीड्य रागाभ्यां वल्गामाकृष्य गृह्यते। तद्बन्धनाद्युग्मपादं तद्वद्वल्गनमुच्यते।।४०।।
संयोज्य वल्गया पादान्वल्गामालोच्य वाञ्छितम्। बाह्यपार्ष्णिप्रयोगात्तु यत्र तन्मोटनं मतम्।।४१।।
प्रलयाविप्लवे ज्ञात्वा क्रमेणानेन बुद्धिमान्। मोटनेन चतुर्थेन विधिरेष विधीयते।।४२।।
नाऽऽधत्तेऽधश्च यः पादं योऽश्वो लङ्घनमण्डले। मोटनोद्वक्कनाभ्यां तु ग्राहयेत्पादमीदृशम्।।४३।।
वण्टयित्वाऽऽसने गाढं मन्दमादाय यो व्रजेत्। ग्राह्यते संग्रहाद्यत्र तत्संग्रहणमुच्यते।।४४।।
हत्वा पार्श्वप्रहारेण स्थानस्थो व्यग्रमानसम्। वल्गामाकृष्य पादेन ग्राह्यकण्टकपायनम्।।४५।।
उल्केणा (ना) योऽङ्घ्रिणाऽनेन पार्ष्णिघातांस्तुरङ्गमः। गृह्यते यत्खलीकृत्य खलीकारः स चेष्यते।।४६।।
गतित्रये प्रियः पादमादत्ते नैव वाञ्छितः। हत्वा तु यत्र दण्डेन गृह्यते हननं हि तत्।।४७।।

कर लिया। इसी क्रम से जो बायीं वल्गा से घोड़े के बायें पैर को संयुक्त कर देता है, उसने भी उसके वाम पैर पर नियन्त्रण पा लिया। यदि अगले पैर परित्यक्त हुए तो आसन सुदृढ़ होता है। जो पैर दुष्कर मोटन कर्म में अपहृत हो गये, अथवा बायें पैर में हीन अवस्था आ गयी, उस स्थिति का नाम 'नाटाकयन' है। हनन और गुणन कर्मों में 'खलीकार' होता है। बारंबार मुख-व्यावर्तन अश्व का स्वभाव है। ये सब लक्षण उसको पैरों पर नियन्त्रण पाने के कारणभूत नहीं हैं। जिस समय देख ले कि घोड़ा पूर्णतः विश्वस्त हो गया है, तत्पश्चात् आसन को जोर से दबाकर अपना पैर उसके मुख से अड़ा दे; ऐसा करके उसकी ग्राह्यता का अवलोकन हितकारी होता है। रानों द्वारा जोर से दबाकर लगाम खींचकर उसके बन्धन से जो घोड़े के दो पैरों को गृहीत-आकर्षित किया जाता है, वह 'उद्वक्कन' कहलाता है। लगाम से घोड़े के चारों पैरों को संयुक्त कर उसको यथेष्ट ढीली करके बाह्य पार्ष्णि भागों के प्रयोग से जहाँ घोड़े को मोड़ा जाता है उसको 'मोट्टन' (या ताड़न) माना गया है।।३४-४१।।

बुद्धिमान् घुड़सवार इस क्रम से प्रलय तथा अविप्लव को जान ले। फिर चतुर्थ मोटन क्रिया द्वारा इस विधि का निष्पादन होता है। जो घोड़ा लघुमण्डल में मोटन और उद्वक्कन द्वारा अपने पैर को भूमि पर नहीं रखता-भूमिस्पर्श के बिना ही चक्कर पूरा कर लेता है, वह सफल माना गया है; उसको इस तरह की पादगति ग्रहण करानी-सिखानी चाहिये। आसन में खूब कसकर निबद्ध करके जिसे शिक्षा दी जाती है, तथापि जो मन्दगति से ही चलता है, फिर संग्रहण करके (पकड़कर) जिसे अभीष्ट चाल ग्रहण करायी जाती है, उसकी उस शिक्षण क्रिया को 'संग्रहण' कहा गया है। जो घोड़ा स्थान में स्थित होकर भी व्यग्रचित हो जाय और उसके पार्श्व भाग में ऐंड़ लगाकर लगाम खींचकर उसको कण्टनकपान (लगाम के लोहे का आस्वादन) कराया जाय तथा इस तरह पार्श्वभाग में किये गये इस पाद प्रहार से जो खीकृत होकर चाल सीखे, उसका वह शिक्षण 'खलीकार' माना गया है। तीनों तरह की गतियों से भी जो मनोवाञ्छित पैर (चाल) नहीं पकड़ पाता है, उस दशा में डंडे से मारकर जहाँ वह पादग्रहण कराया जाता है, वह क्रिया 'हनन' कही गयी हैं।।४२-४७।।

खलीकृत्य चतुष्केण तुरङ्गो वल्गयाऽन्यया। उच्छ्वास्य ग्राह्यतेऽन्यत्र तत्स्यादुच्छा(च्छ्वा)सनं पुनः॥४८॥
स्वभावाद्बहिरस्यन्तं तस्यां दिशि तदाननम्। नियोज्य ग्राहयेत्तु मुखव्यावर्तनं मतम्॥४९॥
ग्राहयित्वा ततः पादं त्रिविधासु यथाक्रमम्। साधयेत्पञ्चधारासु क्रमशो मण्डलादिषु॥५०॥
(आजानूर्ध्वाननं वाहं शिथिलं वाहयेत्सुधीः। अंगेषु लाघवं यावत्तावत्तं वाहयेद्धयम्॥५१॥
मृदुःस्कन्धे लघुर्वक्त्रे शिथिलः सर्वसन्धिषु। सदा स सादिनो वश्यः संगृह्णीयत्तदा हयम्)॥५२॥
न त्यजेत्पश्चिमं पादं यदा साधु भवेत्तदा। तदाऽऽकृष्टिर्विधातव्या पाणिभ्यामिह वल्गया॥५३॥
एकाङ्घ्रिको यथा तिष्ठेदुद्ग्रीवोऽश्वः समाननः। धरायां पश्चिमौ पादावन्तरी (रि) क्षे यदाश्रयौ॥५४॥
तदा संधारणं कुर्याद्गाढवाहं च मुष्टिना। सहसैवं समाकृष्टो यस्तुरंगो न तिष्ठति॥५५॥
शरीरं विक्षिपन्तं च साधयेन्मण्डलभ्रमैः। क्षिपेत्स्कन्धं च यो वाहः स च स्थाप्यो हि वल्गया॥५६॥
गोमयं लवणं मूत्रं क्वथितं मृत्समन्वितम्। अङ्गलेपो मक्षिकादिदंशश्रमविनाशनः॥५७॥
मध्ये भद्रादिजातीनां मण्डो देयो हि सादिना। दंशनं सूक्ष्मकीटस्य निरुत्साहः क्षुधा हयः॥५८॥
यथा वश्यस्तथा शिक्षा विनश्यन्त्यतिवाहिताः। अवाहिता न सिध्यन्ति तुङ्गवक्त्रांश्च वाहयेत्॥५९॥

जिस समय दूसरी वल्गा (लगाम) के द्वारा चार बार खलीकृत करके अश्व को अन्यत्र ले जाकर उच्छ्वासित करके वह चाल ग्रहण करायी जाती है, तत्पश्चात् उस क्रिया को 'उच्छ्वास' नाम दिया जाता है। स्वभाव से ही अश्व अपना मुख बाह्य दिशा की तरफ घुमा देता है। उसको यत्नपूर्वक उसी दिशा की तरफ मोड़कर, वहीं नियुक्त करके जिस समय अश्व को वैसी गति ग्रहण करायी जाती है, तत्पश्चात् इस यत्न को 'मुखव्यावर्तन' कहते हैं।

क्रमशः तीनों ही गतियों में चलने की विधि ग्रहण कराकर फिर उसको मण्डल आदि पञ्चधाराओं में चलने का अभ्यास कराये। ऊपर उठे हुए मुख से लेकर घुटनों तक जिस समय अश्व शिथिल हो जाय, तत्पश्चात् उसको गति की शिक्षा दने के लिये बुद्धिमान् पुरुष उसके ऊपर सवारी करना चाहिये तथा जिस समय तक उसके अङ्गों में हल्कापन या फुर्ती न आ जाय, तत्पश्चात्तक उसको दौड़ाता रहना चाहिये। जिस समय घोड़े की गर्दन कोमल, मुख हलका और शरीर की सारी संधियाँ शिथिल हो जायँ, तत्पश्चात् वह सवार के वश में होता है; उसी अवस्था में अश्व का संग्रह करना चाहिये। जिस समय वह पिछला पाद (गति-ज्ञान) न छोड़े तत्पश्चात् वह साधु (अच्छा) अश्व होता है। उस समय दोनों हाथों से लगाम खींचे।

लगाम खींचकर ऐसा कर दे, जिससे घोड़ा ऊपर की तरफ गर्दन उठाकर एक पैर से खड़ा हो जाय। जिस समय भूतल पर स्थित हुए पिछले दोनों पैर आकाश में उठे हुए दोनों अग्रिम पैरों के आश्रय बन जायँ, उस समय अश्व को मुट्ठी से संधारण करना चाहिये। सहसा इस तरह खींचने पर जो घोड़ा खड़ा नहीं होता, शरीर को झकझोरने लगता है, तत्पश्चात् उसको मण्डलाकार दौड़ाकर साधे-वश में करना चाहिये। जो घोड़ा कंधा कँपाने लगे, उसको लगाम से खींचकर खड़ा कर देना चाहिये॥४८-५६॥

गोबर, नमक और गोमूत्र का क्वाथ बनाकर उसमें मिट्टी दे और घोड़े के शरीर पर उसका लेप करना चाहिये। यह मक्खी आदि के काटने की पीड़ा तथा थकावट को दूर करने वाला है। सवार को 'भद्र' आदि जाति के घोड़ों को माँड़ देना चाहिये। इससे सूक्ष्म कीट आदि के दंशन का कष्ट दूर होता है। भूख के कारण घोड़ा उत्वाहशून्य हो जाता है, इसलिये माँड़ देना इसमें भी लाभसम्प्रदायक है। घोड़े को उतनी ही शिक्षा देनी चाहिये, जिससे वह वशीभूत

संपीड्य जानुयुग्मेन स्थिरमुष्टिस्तुरंगमम्। गोमूत्राः कुटिला वेणी पद्ममण्डलमालिकाः।।६०।।
(पञ्चोलूखलिकाः कार्ये गर्वितास्तेऽतिकीर्तिताः। संक्षिप्तं चै विक्षिप्तं कुञ्चितं च यथाचितम्।।६१।।
वल्गितावल्गितौ चैव षोढा चेत्थमुदाहृतम्। वीथौ धनुः शतं यावदशीतिर्नवतिस्तथा।।६२।।
भद्रः सुसाध्यो वाजी स्यान्मन्दो दण्डैकमानसः। मृगजङ्घो मृगो वाजी संकीर्णस्तत्समन्वयात्।।६३।।
शर्करामधुलाजादः सुगन्धोऽश्वः शुचिर्द्विजः)। तेजस्वी क्षत्रियश्चाश्वो विनीतो बुद्धिमांश्च यः।।६४।।
शूद्रोऽशुचिश्चलो मन्दो विरूपो विमतिः खलः। वल्गया धार्यमाणोऽश्वो लालकं यश्च दर्शयेत्।।६५।।
भारेषु योजनीयोऽसौ प्रग्रहग्रहमोक्षणैः। अश्वादिलक्षणं वक्ष्ये शालिहोत्रो यथाऽवदत्।।६६।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते अश्ववाहनसारवर्णनं नामाष्टाशीत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः।।२८८।।

—❖❖❖—

हो जाय। अधिक सवारी में जोते जाने पर घोड़े नष्ट हो जाते हैं। यदि सवारी ली ही न जाय तो वे सिद्ध नहीं होते। उनके मुख को ऊपर की तरफ रखते हुए ही उन पर सवारी करना चाहिये। मुट्ठी को स्थिर रखते हुए ही उन पर सवारी करना चाहिये। मुट्ठी को स्थिर रखते हुए दोनों घुटनों से दबाकर अश्व को आगे बढ़ाना चाहिये। गोमूत्रकृति, वक्रता, वेणी, पद्ममण्डल और मालिका—इन चिह्नों से युक्त अश्व 'पञ्चोलूखलिक' कहे गये हैं। ये कार्य में अत्यन्त गर्वीले कहे गये हैं। इनके छः तरह के लक्षण बताये जाते हैं—संक्षिप्त, विक्षिप्त, कुञ्चित, आञ्चित, वल्गित और अवल्गित। गली में या सड़कर पर सौ धनुष की दूरी तक दौड़ानें पर 'भद्र' जातीय अश्व सुसाध्य होता है। 'मन्द' अस्सी धनुपतक और 'दण्डैकमानस' नब्बे धनुषतक चलाया जाय तो साध्य होता है। 'मृगजङ्घ' या मृगजातीय अश्व संकर होता है; वह इन्हीं के समन्वय के अनुसार अस्सी या नब्बे धनुष की दूरी तक हाँकने पर साध्य होता है।।५७-६३।।

शक्कर, मधु और लाजा (धान का लावा) खाने वाला ब्राह्मण जातीय अश्व पवित्र एवं सगुन्धयुक्त होता है, क्षत्रिय-अश्व तेजस्वी होता है, वैश्य-अश्व विनीत और बुद्धिमान् हुआ करता है और शूद्र-अश्व अपवित्र, चञ्चल, मन्द, कुरूप, बुद्धिहीन और दुष्ट होता है। लगाम द्वारा पकड़ा जाने पर जो अश्व लार गिराने लगे, उसको रस्सी और लगाम खोल कर पानी की धारा से नहलाना चाहिये। अधुना अश्व के लक्षण बताऊँगा, जैसा कि शालिहोत्र ने कहा था।।६४-६६।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी दो सौ अट्ठासीवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।२८८।।

अथैकोननवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

अश्वचिकित्सा

शालिहोत्र उवाच

अश्वानां लक्षणं वक्ष्ये चिकित्सां चैव सुश्रुत। हीरदन्तो विदन्तश्च करालः कृष्णतालुकः॥१॥
कृष्णजिह्वश्च यमजोऽजातमुष्कश्च यस्तथा। द्विशफश्च तथा शृङ्गी त्रिवर्णो व्याघ्रवर्णकः॥२॥
खरवर्णो भस्मवर्णो जातवर्णश्च काकुदी। श्वित्री च काकसादी च खरसारस्तथैव च॥३॥
वानराक्षः कृष्णसटः कृष्णगुह्यस्तथैव च। कृष्णप्रोथश्च शूकश्च यश्च तित्तिरिसंनिभः॥४॥
विषमः श्वेतपादश्च ध्रुवावर्तविवर्जितः। अशुभावर्तसंयुक्तो वर्जनीयस्तुरंगमः॥५॥
रन्ध्रोपरन्ध्रयोर्द्वौ द्वौ द्वौ द्वौ मस्तकवक्षसोः। प्रायेण च ललाटस्थकण्ठावर्ताः शुभा दश॥६॥
सृक्कण्यां च ललाटे च कर्णमूले निगालके। बाहुमूले गले श्रेष्ठा आवर्तास्त्वशुभाः परे॥७॥
शुकेन्द्रगोपचन्द्राभा ये च वायससंनिभाः। सुवर्णवर्णाः स्निग्धाश्च प्रशस्तास्तु सदैव हि॥८॥
दीर्घग्रीवाक्षिकूटाश्च ह्रस्वकर्णाश्च शोभनाः। राज्ञां तुरङ्गमा यत्र विजयं वर्जयेत्ततः॥९॥
पातितस्तु हयो दन्ती शुभदो दुःखदोऽन्यथा। श्रियः पुत्रास्तु गन्धर्वा वाजिनो रत्नमुत्तमम्॥१०॥

अध्याय-२८९

अश्व चिकित्सा विचार

शालिहोत्र ने कहा कि–हे सुश्रुत! अधुना मैं अश्वों के लक्षण एवं चिकित्सा का वर्णन करने जा रहा हूँ। जो अश्व हीनदन्त, विषमदन्तुयुक्त या बिना दाँत का, कराली (दो से अधिक दन्तपङ्क्तियों से युक्त, कृष्णतालु, कृष्णवर्ण की जिह्वा से युक्त, युग्मज (जुडवाँ उत्पन्न), जन्म से ही बिना अण्डकोष का, दो खुरों वाला, शृङ्गयुक्त, तीन रङ्गों वाला, व्याघ्रवर्ण, गर्दभवर्ण, भस्मवर्ण, स्वर्ण या अग्निवर्ण, ऊँचे ककुद वाला, श्वेतकुष्ठग्रस्त, कौवे जिस पर आक्रमण करते हों, जो खरसार अथवा वानर के समान नेत्रों वाला हो या जिसके अयाल, गुह्याङ्ग तथा नथुने कृष्णवर्ण के हों, यव के टूँड़ के समान कठोर केश हों, जो तीतर के समान रंग वाला हो, विषमाङ्ग हो, श्वेत चरण वाला हो तथा जो ध्रुव (स्थिर) आवर्तों से हीन हो तथा अशुभ आवर्तों से युक्त हों, ऐसे अश्व का परित्याग करना चाहिये॥१-५॥

नाक तथा नाक के पास (ऊपर) दो-दो, मस्तक एवं वक्षः स्थल में दो-दो तथा प्रयाण (पीठ और पिछले भाग), ललाट और कण्ठदेश में (भी दो-दो)–इस तरह अश्वों के दस आवर्त (भँवरी-चिह्न) शुभ माने गये हैं। ओष्ठ-प्रान्त में, ललाट में, कान के मूल में, निगाक (गर्दन) में, अगले पैरों में ऊपर मूल में तथा गले में स्थित आवर्त श्रेष्ठ कहे जाते हैं। शेष अङ्गों के आवर्त अशुभ होते हैं। शुक, इन्द्रगोप (बीरवधूटी), स्वर्ण वर्ण तथा चिकने घोड़े सदैव प्रशस्त माने जाते हैं। जिन राजाओं के पास लम्बी ग्रीवा वाले, अन्दर की तरफ धँसी आँख वाले, छोटे सदैव प्रशस्त माने जाते हैं। जिन राजाओं के पास लम्बी ग्रीवा वाले, अन्दर की तरफ़ धँसी आँख वाले, छोटे कान वाले, परन्तु देखने में मनोहर घोड़े हों, वहाँ विजय की अभिलाषा त्याग देना चाहिये। घोड़े-हाथी यदि पाले जायँ तो शुभप्रद होते

अश्वमेधे तु तुरगः पवित्रत्वात्तु हूयते। वृषो निम्बबृहत्यौ च गुडूची च समाक्षिका।।११।।
सिङ्घाणकहरी पिण्डी स्वेदश्च शिरसस्तथा। हिङ्गु पुष्करमूलं च नागरं साम्लवेतसम्।।१२।।
पिप्पलीसैन्धवयुतं शूलघ्नं चोष्णवारिणा। नागरातिविषा मुस्ता सानन्ता बिल्वमालिका।।१३।।
क्वाथमेषां पिबेद्वाजी सर्वातीसारनाशनम्। प्रियंगुसारिवाभ्यां च युक्तमाजं शृतं पयः।।१४।।
पर्याप्तशर्करं पीत्वा श्रमाद्वाजी विमुच्यते। द्रोणिकायां तु दातव्या तैलवस्तिस्तुरंगमे।।१५।।
कोष्ठजा वा शिरा वेध्यास्तेन तस्य सुखं भवेत्। दाडिमं त्रिफला व्योषं गुडश्च समभावितः।।१६।।
पिण्डमेतत्प्रदातव्यमश्वानां कार्श्यनाशनम्। प्रियंगुलोध्रमधुभिः पिबेद्वृषरसं हयः।।१७।।
क्षीरं वा पञ्चकोलाद्यं कासनाद्धि प्रमुच्यते। प्रस्कन्धेषु च सर्वेषु श्रेय आदौ विशोधनम्।।१८।।
अभ्यङ्गोद्वर्तनस्नेहस्यवर्तिक्रमः स्मृतः। ज्वरितानां तुरंगाणां पयसैव क्रियाक्रमः।।१९।।
लोध्रकरञ्जयोर्मूलं मातुलुङ्गाग्निनागराः। कुष्ठं हिङ्गु वचा रास्ना लेपोऽयं शोथनाशनः।।२०।।
मञ्जिष्ठा मधुकं द्राक्षा बृहत्यौ रक्तचन्दनम्। त्रपुषीबीजमूलानि शङ्गाटककशेरुकम्।।२१।।
अजापयः शृतमिदं सुशीतं शर्करान्वितम्। पीत्वा निरशनो वाजी रक्तमेहात्प्रमुच्यते।।२२।।
मन्याहनुनिगालस्थशिराशोथो गलग्रहः। अभ्यङ्गः कटुतैलेन तत्र तेष्वेव शस्यते।।२३।।

हैं; परन्तु यदि उचित पालन न हो, तो दुःखप्रद होते हैं। घोड़े लक्ष्मी के पुत्र, गन्धर्व रूप में पृथ्वी के श्रेष्ठतम रत्न हैं। अश्वमेध में पवित्र होने के कारण ही अश्व का उपयोग किया जाता है।।६-१०।।

मधु के साथ अडूसा, नीम की छाल, बड़ी कटेरी और गिलोय–इनकी पिण्डी तथा सिर का स्वेद–ये नासिकामल को विनाश करने वाले हैं। हींग, पीकरमूल, सोंठ, अम्लवेत, पीपल तथा सैन्धवलवण–ये गरम जल के साथ देने पर शूल का विनाश करते हैं। सोंठ, अतीस, मोथा, अनन्तमल या दूब और बेल–इनका क्वाथ घोड़े को पिलाया जाय तो वह उसके सभी तरह के अतिसार को नष्ट करता है। प्रियङ्गु, कालीसर तथा पर्याप्त शर्करा से युक्त बकरी का गरम किया हुआ दूध पी लेने पर घोड़े की थकावट दूर हो जाती है। अश्व को द्रोणी में तैलबस्ति देनी चाहिये अथवा कोष्ठ में उत्पन्न शिराओं का वेधन करना चाहिये। इससे उसको सुख प्राप्त होता है।।११-१५।।

अनार की छाल, त्रिफला, त्रिकटु तथा गुड़–इनको सम मात्रा में ग्रहण करके इनका पिण्ड बनाकर घोड़े को देना चाहिये। यह अश्वों की कृशता को दूर करने वाला है। घोड़ा प्रियङ्गु, लोध तथा मधु के साथ अडूसे के रस या पञ्चकोलादि (पीपल, पीपलामूल, चव्य, चीता तथा सोंठ) युक्त दुग्ध का पान करना चाहिये तो वह कासरोग से मुक्त हो जाता है। प्रस्कन्ध (छलाँग आदि दौड़) से हुए सभी तरह के कष्ट में पहले शोधन श्रेयस्कर होता है। उसके बाद अभ्यङ्ग, उद्वर्तन, स्नेहन, नस्य और वर्तिका का प्रयोग श्रेष्ठ माना जाता है। ज्वरयुक्त अश्वों की दुग्ध से ही चिकित्सा करना चाहिये। लोधमूल, करञ्जमूल, बिजौरा नीबू, चित्रक, सोंठ, कूट, वच एवं रास्ना–इनका लेप शोथ, (सूजन) का विनाश करने वाला है। घोड़े को निराहार रखकर मजीठ, मुलहठी, मुनक्का, बड़ी कटेरी, छोटी कटेरी, लाल चन्दन, खीरे के मूल और बीज, सिंहाड़े के बीच और कसेरु–इनसे युक्त बकरी का दूध पकाकर अत्यन्त शीतल करके शक्कर के साथ पिलाने से वह घोड़ा रक्तप्रमेह से छुटकारा पाता है।।१६-२२।।

मन्या, ठुड्डी तथा ग्रीवा की शिराओं के शोथ तथा मलग्रह रोग में उन-उन स्थानों पर कटुतैल का अभ्यङ्ग

गलग्रहप्रदः शोथः प्रायशो गलदेशके। प्रत्यक्पुष्पी तथा वह्निः सैन्धवं सौरसो रसः॥२४॥
कृष्णाहिङ्गुयुतैरेभिः कृत्वा नस्यं न सीदति। निशे ज्योतिष्मती पाठा कृष्णा कुष्ठं वचा मधु॥२५॥
जिह्वास्तम्भे च लेपोऽयं गुडमूत्रयुतो हितः। तिलैर्यष्ट्या रजन्या च निम्बपत्रैश्च योजिता॥२६॥
क्षौद्रेण शोधनी पिण्डी सर्पिषा व्रणरोपणी। अभिघातेन खञ्जन्ति ये ह्यश्वास्तीव्रवेदनाः॥२७॥
परिषेकक्रिया तेषां तैलेनाऽऽशु रुजापहा। दोषो कोपाभिघाताभ्यां तलजे लिङ्गिते तथा॥२८॥
शान्तिर्मत्स्यण्डिवृद्धाभ्यां पक्वभिन्ने व्रणक्रमः। अश्वत्थोदुम्बरप्लक्षमधूकवटबिल्वकैः॥२९॥
प्रभूतसलिलक्वाथः सुखोष्णो व्रणशोधनः। शताह्वानागरं रास्नामञ्जिष्ठाकुष्ठसैन्धवैः॥३०॥
देवदारुवचायुग्मरजनीरक्तचन्दनैः। तैलं सिद्धं कषायेण गुडूच्याः पयसा सह॥३१॥
म्रक्षणे वस्तिनस्ये च योज्यं सर्वत्र लिङ्गिते। रक्तस्रावो जलौकाभिर्नेत्रान्ते नेत्ररोगिणः॥३२॥
खदिरोदुम्बराश्वत्थकषायेण च साधनम्। धात्रीदुरालभातिक्ताप्रियंगुकुङ्कुमैः समैः॥३३॥
गूडूच्या च कृतः कल्को हितो युक्तावलम्बिने। उत्पाते च शिले श्राव्ये शुष्कशोफे तथैव च॥३४॥
क्षिप्रकारिणि दोषे च सद्योवेधनमिष्यते। गोशकृन्मञ्जिकाकुष्ठरजनीतिलसर्षपैः॥३५॥
गवां मूत्रेण पिष्टैश्च मर्दनं कण्डुनाशनम्। शीतो मधुयुतः क्वाथो नासिकायां सशर्करः॥३६॥
रक्तपित्तहरः पानादश्वकर्णे तथैव च। सप्तमे सप्तमे देयमश्वानां लवणं दिने॥३७॥

प्रशस्त है। गलग्रह रोग और शोथ प्रायः गलदेश में ही होते हैं। चिरचिरा चित्रक, सैन्धव तथा सुगन्ध घास का रस, पीपल और हींग के साथ इनका नस्य देने से अश्व कभी विषादयुक्त नहीं होता है। हल्दी, दारुहल्दी, मालकाँगनी, पाठा, पीपल, कूट, बच तथा मधु–इनका गुड़ एवं गोमूत्र के साथ जिह्वा पर लेप जिह्वास्तम्भ में हितकर है। तिल, मुलहठी, हल्दी और नीम के पत्तों से निर्मित पिण्डी मधु के साथ प्रयोग करने पर व्रण का शोधन और घृत के साथ प्रयुक्त होने पर घाव को भरती है। जो घोड़े अधिक चोट के कारण तीव्र वेदना से युक्त होकर लँगड़ाने लगते हैं, उनके लिये तैल से परिषेक-क्रिया शीघ्र ही रोगनाश करने वाली होती है। वात, पित्त, कफ दोषों के द्वारा अथवा क्रोध के कारण चोट पा जाने से पके, फूटे स्थानों के व्रण के लिये यह क्रम है। पीपल, गूलर, पाकर, मुलहठी, बट और बेल–इनका अत्यधिक जल में सिद्ध क्वाथ थोड़ा गरम हो, तो वह व्रण का शोधन करने वाला है। सौंफ, सोंठ, रास्ना, मजीठ, कूट, सैन्धव, देवदारु, वच, हल्दी, दारुहल्दी, रक्तचन्दन–इनका स्नेह क्वाथ करके गिलोय के जल के साथ या दूध के साथ उद्वर्तन, बस्ति अथवा नस्यरूप में प्रयोग सभी लिङ्गित दोषों में करना चाहिये। नेत्ररोगयुक्त अश्व के नेत्रान्त में जोंक द्वारा अभिस्रावण कराना चाहिये। खैर, गूलर और पीपल की छाल के क्वाथ से नेत्रों का शोधन होता है॥२३-३२॥

युक्तावलम्बी अश्व के लिये आँवला, जवासा, पाठा, प्रियङ्गु, कुङ्कुम और गिलोय–इनका समभाग ग्रहण करके निर्मित किया हुआ कल्क हितकर है। कर्ण सम्बन्धी दोष में एवं उपद्रव में, शिल (अनियमित वृत्ति) में शुष्क शेप में (लिङ्ग सूखने की दशा में) और शीघ्र (हानि) करने वाले दोष में तत्काल वेधन करना चाहिये। गाय का गोबर, मजीठ, कूट, हल्दी, तिल और सरसों–इनको गोमूत्र में पीसकर मर्दन करने से खुजली का विनाश होता है। शालकी छाल का क्वाथ शीतल हो जाने पर मधु और शर्करा सहित नासिका में डालने से एवं उसी तरह पिलाने से घोड़े का रक्तपित्त नष्ट होता है। घोड़ों को सातवें-सातवें दिन नमक देना चाहिये॥३३-३७॥

तथा भुक्तवतां देया प्रतिपाने च वारुणी। जीवनीयैः समधुरैर्मृद्वीकाशर्करायुतैः।।३८।।
सपिप्पलीकैः शरदि प्रतिपानं सपद्मकैः। विडङ्गापिप्पलीधान्यशताह्वालोध्रसैन्धवैः।।३९।।
सचित्रकैस्तुरंगाणां प्रतिपानं हिमागमे। लोध्रप्रियंगुकामुस्तापिप्पलीविश्वभेषजैः।।४०।।
सक्षौद्रैः प्रतिपानं स्याद्वसन्ते कफनाशनम्। प्रियंगुपिप्पलीलोध्रयष्ट्याह्वैः समहौषधैः।।४१।।
निदाघे सगुडा देया मदिरा प्रतिपानके। लोध्रकाष्ठं सलवणं पिप्पल्यो विश्वभेषजम्।।४२।।
भवेत्तैलयुतैरेभिः प्रतिपानं घनागमे। निदाघोद्धृतपित्ता ये शरत्सु पुष्टशोणिताः।।४३।।
प्रावृड्भिन्नपुरीषाश्च पिबेयुर्वाजिनो घृतम्। पिबेयुर्वाजिनस्तैलं कफवाय्वधिकास्तु ये।।४४।।
स्नेहात्तापोद्भवो येषां कार्यं तेषां विरूक्षणम्। त्र्यहं यवागू रूक्षा स्याद्भोजनं तक्रसंयुतम्।।४५।।
शरन्निदाघयोः सर्पिस्तैलं शीतवसन्तयोः। वर्षासु शिशिरे चैव वस्तौ यमकमिष्यते।।४६।।
गुर्वभिष्यन्दिभक्तानि व्यायामः स्नानमातपम्। वायुवर्जं च वाहस्य स्नेहपीतस्य वर्जितम्।।४७।।
स्नानं पानं सकृत्कुर्यादश्वानां सलिलागमे। अत्यर्थं दुर्दिने काले पानमेकं प्रशस्यते।।४८।।
युक्त (क्तं) शीतातपे काले द्विःपानं स्नपनं सकृत्। ग्रीष्मे त्रिस्नानं पानं स्याच्चिरं तस्यावगाहनम्।।४९।।
निस्तुषाणां प्रदातव्या यवानां चतुराढकी। चणकव्रीहिमौद्गानि कलायं वाऽपि दापयेत्।।५०।।

अश्वों के अधिक भोजन हो जाने पर वारुणी (मदिरा) शरद् ऋतु में जीवनीयगण के द्रव्य (जीवक, ऋषभक, मेदा, महामेदा, काकोली, क्षीरकाकोली, मद्गपर्णी (वनमूँग), मधु, दाख, शक्कर, पिपली और पद्माख सहित प्रतिपान में देना चाहिये। हेमन्त ऋतु में अश्वों को वायविडंग, पीपल, धनियाँ, सौंफ, लोध, सैन्धव लवण और चित्रक से समन्वित प्रतिपान देना चाहिये। वसन्त ऋतु में लोध, प्रियङ्गु, मोथा, पीपल, सोंठ और मधु से युक्त प्रतिपान कफनाशक माना गया है। ग्रीष्म ऋतु में प्रतिपान के लिये प्रियङ्गु, पीपल, लोध, मुलहठी, सोंठ और गुड़ के सहित मदिरा देना चाहिये। वर्षा ऋतु में अश्वों के लिये प्रतिपान तैल, लोध, लवण, पीपल और सोंठ से समन्वित होना चाहिये। ग्रीष्म ऋतु में बढ़े हुए पित्त के प्रकोप से पीड़ित, शरत्काल में रक्तघनत्व से युक्त अश्व को एवं प्रावृट् (वर्षा के प्रारम्भ) में जिन घोड़ों का गोबर फूट गया है, उनको घृत पिलाना चाहिये। कफ एवं वात की अधिकता होने पर अश्वों को तैलपान कराना चाहिये। जिनके शरीर में स्नेहतत्त्व के प्राबल्य से कोई कष्ट उत्पन्न हो, उनका रुक्षण करना चाहिये। मट्ठा के साथ भोजन तथा तीन दिन तक यवागू पिलाने से अश्वों का रुक्षण होता है। अश्वों के बस्तिकर्म के लिये शरद् ऋतु में घृत, हेमन्त-वसन्त में तैल तथा वर्षा एवं शिशिर ऋतुओं में घृत-तैल दोनों का प्रयोग करना चाहिये। जिन घोड़ों को स्नेह (तैल-घृतादि) पान कराया गया है, उनके लिये (गुरुभारी) या अभिष्यन्दी (कफकारक) भोजन-भात आदि, व्यायाम, स्नान, धूप तथा वायुहीन स्थान वर्जित हैं। वर्षा ऋतु में घोड़े को दिन में एक बार स्नान और पान कराये, परन्तु घोर दुर्दिन के समय केवल पान ही प्रशस्त है। समशीतोष्ण ऋतु में दो बार और एक बार स्नान विहित है। ग्रीष्म ऋतु में तीन बार स्नान और प्रतिपान उचित होता है। पूर्णजल में बहुत देर तक स्नान कराना चाहिये।।३८-४९।।

घोड़े को प्रतिदिन चार आढ़क भूसा से हीन जौ खिलाये। उसको चना, धान, मूँग या मटर भी खाने को देना चाहिये। अश्व को (एक) दिन-रात में पाँच सेर दूब खिलावे। सूखी दूब होने पर आठ सेर अथवा भूसा हो, तो

अहोरात्रेण चार्धस्य यवसस्य तुला दश। अष्टौ शुष्कस्य दातव्याश्चतस्रोऽथ वपुष्मतः।।५१।।
दूर्वाः पित्तं यवः कासं बुसश्च श्लेष्मसंचयम्। नाशयत्यर्जुनः श्वासं तथा वालो बलक्षयम्।।५२।।
वातिकाः पैतिक्काश्चैव श्लेष्मजाः सांनिपातिकाः। न रोगाः पीडयिष्यन्ति दूर्वाहारं तुरंगमम्।।५३।।
द्वौ रज्जुबन्धौ दुष्टानां पक्षयोरुभयोरपि। पश्चाद्धनुश्च कर्तव्यो दूरकीलव्यपाश्रयः।।५४।।
वा (व) सेयुस्त्वास्तृते स्थाने कृतधूपनभूमयः। यत्नोपन्यस्तयवसाः सप्रदीपाः सुरक्षिताः।।५५।।
कृकवाक्वजकपयो धार्याश्चाश्वगृहे मृगाः।।५६।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते अश्वचिकित्साकथनं नामैकोननवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः।।२८९।।

—※※※—

अथ नवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

अश्वशान्तिः

शालिहोत्र उवाच

अश्वशान्तिं प्रवक्ष्यामि वाजिरोगविमर्दनीम्। नित्यां नैमित्तिकीं काम्यां विविधां शृणु सुश्रुत।।१।।
शुभे दिने श्रीधरं च श्रियमुच्चैःश्रवः सुतम्। हयराज्जं समभ्यर्च्य सावित्रैर्जुहुयाद्घृतम्।।२।।
द्विजेभ्यो दक्षिणां दद्यादश्ववृद्धिस्ततो भवेत्। अश्वयुक्शुक्लपक्षस्य पञ्चदश्यां च शान्तिकम्।।३।।

चार सेर देना चाहिये। दूर्वा पित्त का, जौ कास का, भूसी कफाधिक्य का, अर्जुन श्वास का एवं मानकन्द बलक्षय का विनाश करता है।

दूर्वाभोजी अश्व को कफज, वातज, पित्तज और संनिपातज रोग पीड़ित नहीं कर सकते। दुष्ट घोड़ों के आगे-पीछे दोनों तरफ दो रज्जुबन्धन करने चाहिये। गर्दन में भी बन्धन करना चाहिये। घोड़े आस्तरणयुक्त और धूपित स्थान में बसाने चाहिये। जहाँ कि उपायपूर्वक घासें रखी हों। (वह अश्वशाला) प्रदीप से आलोकित तथा सुरक्षित होनी चाहिये। घुड़साल में मयूर, अज, वानर और मृगों को रखना चाहिये।।५०-५६।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी दो सौ नब्वासीवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।२८९।।

अध्याय–२९०

अश्व शान्ति विचार

शालिहोत्र ने कहा कि–हे सुश्रुत! अधुना मैं घोड़ों के रोगों का मर्दन करने वाली 'अश्वशान्ति' का वर्णन करने जा रहा हूँ, जो नित्य, नैमित्तिक और काम्य के भेद से तीन तरह की मानी गयी है; इसको सुनो। किसी शुभ दिन को श्रीधर (विष्णु), श्री (लक्ष्मी) तथा उच्चैः श्रवा के पुत्र हयराज की पूजा करके सविता देवता-समबन्धी मन्त्रों

बहिः कुर्याद्विशेषेण नासत्यो वरुणं यजेत्। समुल्लिख्य ततो देवीं शाखाभिः परिवारयेत्।।४।।
घटान्सर्वरसैः पूर्णान्दिक्षु दद्यात्सवस्त्रकान्। यवाज्यं जुहुयात्प्रार्च्य यजेदश्वांश्च साश्विनान्।।५।।
विप्रेभ्यो दक्षिणां दद्यान्नैमित्तिकमतः शृणु। मकरादौ हयानां च पद्मैर्विष्णुं श्रियं यजेत्।।६।।
ब्रह्माणं शंकरं सोममादित्यं च तथाऽश्विनौ। रेवन्तमुच्चैः श्रवसं दिक्पालांश्च दलेष्वपि।।७।।
प्रत्येकं पूर्णकुम्भेषु वेद्यां तत्सौम्यता (या) हुनेत्। तिलाक्षताज्यसिद्धार्थान्देवतानां शतं शतम्।।
उपोषितेन कर्तव्यं कर्म चाश्वरुजापहम्।।८।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते अश्वशान्तिकथनं नाम नात्यधिकद्विशततमोऽध्यायः।।२९०।।

—※※※—

द्वारा घी का हवन करना चाहिये। उसके बाद ब्राह्मणों को दक्षिणा देनी चाहिये। इससे अश्वों की वृद्धि होती है। शुभ दिन से प्रारम्भ करके इस कर्म को प्रतिदिन चालू रखा जाय तो यह 'नित्य अश्व-शान्ति' है।।१-२।।

अश्व-समृद्धि की कामना से आश्विन के शुक्ल पक्ष की पूर्णिमा को नगर के बाह्य देश में शान्ति-कर्म करना चाहिये। उसमें विशेषतः अश्विनी कुमारों तथा वरुण देवता का पूजन करना चाहिये। तत्पश्चात् श्रीदेवी को वेदी पर पद्मासन के ऊपर अंकित करके उनको चारों तरफ से वृक्ष की शाखाओं द्वारा आवृत कर देना चाहिये। उनकी सभी दिशाओं में समस्त रसों से परिपूर्ण कलशों को वस्त्रसहित स्थापित करना चाहिये। इसके बाद श्रीदेवी को पूजन करके उनकी प्रसन्नता के लिये जौ और घी का हवन करना चाहिये। फिर अश्विनीकुमारों और अश्वों की अर्चना करनी चाहिये तथा ब्राह्मणों को दक्षिणा देनी चाहिये। यह काम्य शान्ति हुई। अधुना नैमित्तिक शान्ति का वर्णन सुनो।।३-५।।

मकर आदि की संक्रान्तियों में अश्वों का पूजन करना चाहिये। साथ ही कमलपुष्पों द्वारा विष्णु, लक्ष्मी, ब्रह्मा, देवाधिदेव भगवान् श्रीशिवशंकर, चन्द्रमा, सूर्य, अश्विनीकुमार, रेवन्त तथा उच्चैःश्रवाक की अर्चना करनी चाहिये। इसके सिवा कमल के दस दलों पर दस दिक्पालों की भी पूजा करनी चाहिये। प्रत्येक अर्चनीय देवता के निमित्त वेदी पर जलपूर्ण कलश स्थापित करना चाहिये और उन कलशों में अधिष्ठित देवों की पूजा करनी चाहिये। इन देवताओं के उत्तरभाग में इन सबके निमित्त तिल, अक्षत, घी और पीली सरसों की आहुतियाँ देनी चाहिये। एक-एक देवता के निमित्त सौ-सौ आहुतियाँ देनी चाहिये। अश्व सम्बन्धी रोगों के निवारण के लिये उपवासपूर्वक यह शान्तिकर्म करना चाहिये।।६-८।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी दो सौ नब्वेवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।२९०।।

अथैकनवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

गजशान्तिः

शालिहोत्र उवाच

गजशान्तिं प्रवक्ष्यामि गजरोगविमर्दनीम्। विष्णुं श्रियं च पञ्चम्यां नागमैरावतं यजेत्।।१।।
ब्रह्माणं शंकरं विष्णुं शक्रं वैश्रवणं यमम्। चन्द्रार्कौ वरुणं वायुमग्निं पृथ्वीं तथा च खम्।।२।।
शेषं शैलान्कुञ्जरांश्च ये तेऽष्टौ देवयोनयः। विरूपाक्षं महापद्मं भद्रं सुमनसं तथा।।३।।
कमुदैरावणः पद्मः पुष्पदन्तोऽथ वामनः। सुप्रतीकोऽञ्जनो नागा अटौ होमोऽथ दक्षिणाम्।।४।।
गजाः शान्त्युदकैः सिक्ता वृद्धौ नैमित्तिकं शृणु। गजानां मकरादौ च ऐशान्यां नगराद्बहिः।।५।।
स्थण्डिले कमले मध्ये विष्णुं लक्ष्मीं च केसरे। ब्रह्माणं भास्करं पृथ्वीं यजेत्स्कन्दं ह्यनन्तकम्।।६।।
खं शिवं सोममिन्द्राद्रींस्तदस्त्राणि दले क्रमात्। वज्रं शक्तिं च दण्डं च तोमरं पाशकं गदाम्।।७।।
शूलं पद्मं बहिर्वृन्ते (त्ते) चक्रे सूर्यं तथाऽश्विनौ। वसूनष्टौ तथा साध्यान्याम्येऽथ नैर्ऋते दले।।८।।
देवानाङ्गिरसश्चान्याभृगू (गूं)श्च मरुतोऽनिले। विश्वे (श्व) देवांस्तथा दक्षे रुद्रानरौद्रेऽथ मण्डले।।९।।

अध्याय-२९१

गज शान्ति विचार

शालिहोत्र ने कहा कि–मैं गज रोगों का प्रशमन करने वाली गज-शान्ति के विषय में कहने जा रहा हूँ। किसी भी शुक्ला पञ्चमी को विष्णु, लक्ष्मी तथा नागराज ऐरावत की पूजा करनी चाहिये। फिर ब्रह्मा, शिव, विष्णु, इन्द्र, कुबेर, यमराज, चन्द्रमा, सूर्य, वरुण, वायु, अग्नि, पृथिवी, आकाश, शेषनाग, पर्वत, विरूपाक्ष, महापद्म, भद्र, सुमनस और देवजातीय आठ हाथियों का पूजन करना चाहिये। उन आठ नागों के नाम ये हैं–कुमुद, ऐरावत, पद्म, पुष्पदन्त, वामन, सुप्रतीक, अंजन और नील। तत्पश्चात् हवन करना चाहिये और दक्षिणा देनी चाहिये। शान्ति-कलश के जल से हाथियों का अभिषेक किया जाय तो वे वृद्धि को प्राप्त होते हैं। यह नित्य विधि है। अधुना नैमित्तिक शान्ति कर्म के विषय में सुनो।।१-४।।

मकर आदि की संक्रान्तियों में हाथियों का नगर के बहिर्भाग में ईशान कोण में पूजन करना चाहिये। वेदी या पद्मासन पर अष्टदल कमल का निर्माण करके उसमें केसर के स्थान पर भगवान् श्रीहरि विष्णु और लक्ष्मी की अर्चना करनी चाहिये। उसके बाद अष्टदलों में क्रमशः ब्रह्मा, सूर्य, पृथ्वी, स्कन्द, अनन्त, आकाश, शिव तथा चन्द्रमा की पूजा करनी चाहिये। उन्हीं आठ दलों में पूर्वादि के क्रम से इन्द्रादि दिक्पालों का भी पूजन करना चाहिये। देवताओं के साथ कमदललों में उनके वज्र, शक्ति, दण्ड, तोमर, पाश, गदा, शूल और पद्म आदि अस्त्रों की अर्चना करनी चाहिये। दलों के बाह्यभाग में चक्र में सूर्य और अश्विनी कुमारों की पूजा करनी चाहिये। अष्टवसुओं एवं साध्यदेवों का दक्षिण भाग में तथा भार्गवाङ्गिरस देवताओं का नैर्ऋत्यकोण में यजन करना चाहिये। वायव्यकोण में मरुद्गणों का, दक्षिण भाग में विश्वेदेवों का एवं रौद्रमण्डल (ईशान) में रुद्रों का पूजन करना चाहिये। वृत्तरेखा के द्वारा निर्मित अष्टदल कमल के

वृत्तया रेखया तत्र देवान्वै बाह्यतो यजेत्। सूत्रकारानृषीन्वाणीं पूर्वादौ सरितो गिरीन्॥१०॥
महाभूतानि कोणेषु ऐशान्यादिषु संयजेत्। पद्मं चक्रं गदां शङ्खं चतुरश्रं तु मण्डलम्॥११॥
चतुर्द्वारं ततः कुम्भानग्न्यादौ च पताकिकाः।
चत्वा (तु) रस्तोरणान्द्वारि (?) नागानैरावतादिकान्॥१२॥
पूर्वादौ चौषधीभिश्च देवानां भाजनं पृथक्। कृथक्शताहुतीश्चाऽऽज्यैर्गजानर्च्य प्रदक्षिणम्॥१३॥
नागं वह्निं देवतादीन्वाद्यैर्जग्मुः स्वकं गृहम्। द्विजेभ्यो दक्षिणां दद्याद्धस्तिवैद्यादिकांस्तथा॥१४॥
करिणं तु समारुह्य वदेत्कर्णे तु कालवित्। नागराजे मृते शान्तिं कृत्वाऽन्यस्मिञ्जपेन्मनुम्॥१५॥
श्रीगजस्त्वं कृतो राज्ञा भवानस्य गजाग्रणीः। गन्धमाल्याग्रभक्तैस्त्वां पूजयिष्यति पार्थिवः॥१६॥
लोकस्तदाज्ञया पूजां करिष्यति तदा तव। पालनीयस्त्वया राजा युद्धेऽध्वनि तथा गृहे॥१७॥
तिर्यग्भावं समुत्सृज्य दिव्यं भावमनुस्मर। देवासुरे पुरा युद्धे श्रीगजस्त्रिदशैः कृतः॥१८॥
ऐरावतसुतः श्रीमानरिष्टो नाम वारणः। श्रीगजानां तु तत्तेजः सर्वमेवोपतिष्ठिते॥१९॥
तत्तेजस्तव नागेन्द्र दिव्यभावसमन्वितम्। उपतिष्ठतु भद्रं ते रक्ष राजानमाहवे॥२०॥
इत्येवमभिषिक्तं तमारोहेत शुभे नृपः। तस्यानुगमनं कुर्युः सशस्त्रा नरपुंगवाः॥२१॥

बहिर्भाग में सरस्वती, सूत्रकार और देवर्षियों की अर्चना करनी चाहिये। पूर्वभाग में नदी, पर्वतों एवं ईशान आदि कोणों में महाभूतों की पूजा करनी चाहिये। उसके बाद पद्म, गदा तथा शङ्ख से सुशोभित चतुष्कोण एवं चतुर्द्वारयुक्त भूपुरमण्डल का निर्माण करके आग्नेय आदि कोणों में कलशों की भी स्थापना करनी चाहिये तथा चारों तरफ पताकाओं और तोरणों का निवेश करना चाहिये। सभी द्वारों पर ऐरावत आदि नागराजों का पूजन करना चाहिये। पूर्वादि दिशाओं में समस्त देवताओं के लिये पृथक्-पृथक् सर्वौषधि युक्त पात्र रखे। हाथियों का पूजन करके उनकी परिक्रमा करना चाहिये। सभी देवताओं के उद्देश्य से पृथक्-पृथक् सौ-सौ आहुतियाँ सम्प्रदान करना चाहिये। उसके बाद नागराज अग्नि और देवताओं को साथ लेकर बाजे बजाते हुए अपने घरों में लौटना चाहिये। ब्राह्मणों एवं गज-चिकित्सक आदि को दक्षिणा देनी चाहिये। तत्पश्चात् कालज्ञ विद्वान् गजराज पर आरूढ़ होकर उसके कान में निम्नांकित मन्त्र कहे। उस नागराज के मृत्यु को प्राप्त होने पर शान्ति करके दूसरे हाथी के कान में मन्त्र का जप करना चाहिये॥५-१५॥

"महाराज ने आपको 'श्रीगज' के पद पर नियुक्त किया है। अधुना से आप इस राजा के लिये 'गजाग्रणी' (गजों के अगुआ) हो। ये नरेश आज से गन्ध, माल्य एवं श्रेष्ठतम अक्षतों द्वारा आपका पूजन करेंगे। उनकी आज्ञा से प्रजाजन भी सदा आपका अर्चन करेंगे। आपको युद्ध भूमि, मार्ग एवं गृह में महाराज की सदा रक्षा करनी चाहिये। हे नागराज! तिर्यग्भाव (टेढ़ापन) को छोड़कर अपने दिव्यभाव का स्मरण करो। प्राचीन काल में देवासुर संग्राम में देवताओं ने ऐरावत पुत्र श्रीमान् अरिष्ट नाग को 'श्रीगज' का पद सम्प्रदान किया था। श्रीगज का वह सम्पूर्ण तेज तुम्हारे शरीर में प्रतिष्ठित है। हे नागेन्द्र! आपका कल्याण हो। आपका अन्तर्निहित दिव्यभाव सम्पन्न तेज उद्बुद्ध हो उठे। आप रणाङ्गण में राजा की रक्षा करो"॥१६-२०॥

राजा उपरोक्त अभिषिक्त गजराज पर शुभ मुहूर्त में आरोहण करना चाहिये। शस्त्रधारी श्रेष्ठ वीर उसका अनुगमन करें। राजा हस्तिशाला में भूमि पर अंकित कमल के बहिर्भाग में दिक्पालों का पूजन करना चाहिये। केसर के स्थान पर महाबली नागराज, भूदेवी और सरस्वती का यजन करना चाहिये। मध्यभाग में गन्ध, पुष्प और चन्दन से डिण्डिम

शालास्वसौ स्थण्डिलेऽब्जे दिक्पालादीन्यजेद्बहिः। केसरेषु बलं नागं भुवं चैव सरस्वतीम्।।२२।।
मध्ये तु डिण्डिमं प्राच्र्य गन्धमाल्यानुलेपनैः। हुत्वा देयस्तु कलशो रसपूर्णो द्विजाय च।।२३।।
गजाध्यक्षं हस्तिपं च गणितज्ञं च पूजयेत्। गजाध्यक्षाय तं दद्याड्डिण्डिमं सोऽपि वादयेत्।।
शुभगम्भीरशब्दैः स्याज्जघनस्थोऽभिवादयेत्।।२४।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते गजशान्तिकथनं नामैकनवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः।।१९१।।

—※※※—
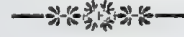
अथ द्विनवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

गवायुर्वेदः

धन्वन्तरिरुवाच

गोविप्रपालनं कार्यं राज्ञा गोशान्तिमावदे। गावः पवित्रा माङ्गल्या गोषु लोकाः प्रतिष्ठिताः।।१।।
शकृन्मूत्रं परं तासामलक्ष्मीनाशनं परम्। गवां कण्डूयनं वारिदानं शृङ्गस्य मर्दनम्।।२।।
गोमूत्रं गोमयं क्षीरं दधि सर्पिः कुशोदकम्। षडङ्गं परमं पाने दुःस्वप्नादिनिवारणम्।।३।।

की पूजा एवं हवन करके ब्राह्मणों को रस पूर्ण कलश सम्प्रदान करना चाहिये। पुनः गजाध्यक्ष, गजरक्षक और ज्यौतिषी का सत्कार करना चाहिये। उसके बाद, डिण्डिम गजाध्यक्ष को सम्प्रदान करना चाहिये। वह भी इसको बजावे। गजाध्यक्ष नागराज के जघनप्रदेश पर आरूढ़ होकर शुभ एवं गम्भीर स्वर में डिण्डिमवादन करना चाहिये।।२१-२४।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी दो सौ एकानवेवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।१९१।।

अध्याय-२९२

गवायुर्वेद विचार

धन्वन्तरि ने कहा कि–हे सुश्रुत! राजा को गौओं और ब्राह्मणों का पालन करना चाहिये। अधुना मैं 'गोशान्ति' का वर्णन करने जा रहा हूँ। गौएँ पवित्र एवं मङ्गलमयी हैं। गौओं में सम्पूर्ण लोक प्रतिष्ठित है। गौओं का गोबर और मूत्र अलक्ष्मी (दरिद्रता) के विनाश का सर्वोत्तम साधन है। उनके शरीर को खुजलाना, सींगों को सहलाना और उनको जल पिलाना भी अलक्ष्मी का निवारण करने वाला है। गोमूत्र, गोबर, गोदुग्ध, दधि, घृत और कुशोदक–यह 'षडङ्ग' (पञ्चगव्य) पीने के लिये उत्कृष्ट वस्तु तथा दुःस्वप्नों आदि का निवारण करने वाला है। गोरोचना विष और राक्षसों को विनाश करती है। गौओं को ग्रास देने वाला स्वर्ग को प्राप्त होता है। जिसके गृह में गौएँ

रोचना विषरक्षोघ्नी ग्रासदः स्वर्गगो गवाम्। यद्गृहे दुःखिता गावः स यांति नरकं नरः।।४।।
परगोग्रासदः स्वर्गी गोहितो ब्रह्मलोकभाक्। गोदानात्कीर्तनाद्रक्षां कृत्वा चोद्धरते कुलम्।।५।।
गवां श्वासात्पवित्रा भूः स्पर्शनात्किल्विषक्षयः। गोमूत्रं गोमयं सर्पिः क्षीरं दधि कुशोदकम्।।६।।
एकरात्रोपवासश्च श्वपाकमपि शोधयेत्। सर्वाशुभविनाशाय पुराऽऽचरितमीश्वरैः।।७।।
प्रत्येकं च त्र्यहाभ्यस्तं महासांतपनं स्मृतम्। सर्वकामप्रदं चैतत्सर्वाशुभविमर्दनम्।।८।।
कृच्छ्रातिकृच्छ्रं पयसा दिवसानेकविंशतिम्। निर्मलाः सर्वकामाप्त्या स्वर्गगाः स्युर्नरोत्तमाः।।९।।
त्र्यहमुष्णं पिबेन्मूत्रं त्र्यहमुष्णं घृतं पिबेत्। त्र्यहमुष्णं पयः पीत्वा वायुभक्षः परं त्र्यहम्।।१०।।
तप्तकृच्छ्रव्रतं सर्वपापघ्नं ब्रह्मलोकदम्। शीतैस्तु शीतकृच्छ्रं स्याद्ब्रह्मोक्तं ब्रह्मलोकदम्।।११।।
गोमूत्रेणाऽऽचरेत्स्नानं वृत्तिं कुर्याच्च गोरसैः। गोभिर्व्रजेच्च भुक्तासु भुञ्जीताथ च गोव्रती।।१२।।
मासेनैकेन निष्पापो गोलोकी सगणो भवेत्। विद्यां च गोमती जप्त्वा गोलोकं परमं व्रजेत्।।१३।।
गीतैर्नृत्यैरप्सरोभिर्विमाने तत्र मोदते। गावः सुरभयो नित्यं गावो गुग्गुलगन्धिकाः।।१४।।
गावः प्रतिष्ठा भूतानां गावः स्वस्त्ययनं परम्। अन्नमेव परं गावो देवानां हविरुत्तमम्।।१५।।
पावनं सर्वभूतानां क्षरन्ति च वहन्ति च। हविषा मंत्रपूतेन तर्पयन्त्यमरान्दिवि।।१६।।

दुःखित होकर निवास करती हैं, वह मनुष्य नरकगामी होता है। दूसरे की गाय को ग्रास देने वाला स्वर्ग को और गोहित में तत्पर ब्रह्मलोक को प्राप्त होता है। गोदान, गो-महात्म्य कीर्तन और गोरक्षण से मानव अपने वंश का उद्धार कर देता है। यह पृथ्वी गौओं के श्वास से पवित्र होती है। उनके स्पर्श से पापों का क्षय होता है। एक दिन गोमूत्र, गोमय, घृत, दूध, दधि और कुश का जल एवं एक दिन निराहार व्रत चाण्डाल को भी शुद्ध कर देता है। प्राचीन काल में देवताओं ने भी समस्त पापों के विनाश के लिये इसका अनुष्ठान किया था। इनमें से प्रत्येक वस्तु का क्रमशः तीन-तीन दिन भक्षण करके रहा जाय, उसको 'महासान्तपन व्रत' कहते हैं। यह व्रत सम्पूर्ण कामनाओं को सिद्ध करने वाला और समस्त पापों का विनाश करने वाला है। केवल दूध पीकर इक्कीस दिन रहने से 'कृच्छ्रातिकृच्छ्र व्रत' होता है। इसके अनुष्ठान से श्रेष्ठ मानव सम्पूर्ण अभीष्ट वस्तुओं को प्राप्त कर पापमुक्त हो स्वर्गलोक में जाते हैं। तीन दिन गरम गोमूत्र, तीन तदन गरम घृत, तीन दिन गरम दूध और तीन दिन गरम वायु पीकर रहना चाहिये। यह 'तप्तकृच्छ्र व्रत' कहलाता है, जो समस्त पापों का प्रशमन करने वाला तरफ ब्रह्मलोक की प्राप्ति कराने वाला है। यदि इन वस्तुओं को इसी क्रम से शीतल करके ग्रहण किया जाय, तो ब्रह्मा जी के द्वारा कथित 'शीतकृच्छ्र' होता है, जो ब्रह्मलोक प्रद है।।१-११।।

एक मास तक गोव्रती होकर गोमूत्र से प्रतिदिन स्नान करना चाहिये, गोरस से जीवन चलावे, गौओं का अनुगमन करना चाहिये और गौओं के भोजन करने के बाद भोजन करना चाहिये। इससे मनुष्य निष्पाप होकर गोलोक को प्राप्त करता है। गोमती विद्या के जप से भी श्रेष्ठतम गोलोक की प्राप्ति हो जाती है। उस लोक में मानव विमान में अप्सराओं के द्वारा नृत्य-गीत से सेवित होकर प्रमुदित होता है। गौएँ सदा सुरभिरूपिणी हैं। वे गुग्गुल के समान गन्ध से संयुक्त हैं। गौएँ समस्त प्राणियों की प्रतिष्ठा हैं। गौएँ परम मंगलमयी हैं। गौएँ परम अन्न और देवताओं के लिये श्रेष्ठतम हविष्य हैं। वे सम्पूर्ण प्राणियों को पवित्र करने वाले दुग्ध और गोमूत्र का वहन एवं क्षरण करती

ऋषीणामग्निहोत्रेषु गावो होमेषु योजिताः। सर्वेषामेव भूतानां गावः शरणमुत्तमम्॥१७॥
गावः पवित्रं परमं गावो माङ्गल्यमुत्तमम्। गावः स्वर्गस्य सोपानं गावो धन्याः सनातनाः॥१८॥
नमो गोभ्यः श्रीमतीभ्यः सौरभेयीभ्य एव च। नमो ब्रह्मसुताभ्यश्च पवित्राभ्यो नमो नमः॥१९॥
ब्राह्मणाश्चैव गावश्च कुलमेकं द्विधा कृतम्। एकत्र मन्त्रास्तिष्ठन्ति हविरेकत्र तिष्ठति॥२०॥
देवब्राह्मणगोसाधुसाध्वीभिः सकलं जगत्। धार्यते वै सदा तस्मात्सव पूज्यतमा मताः॥२१॥
पिबन्ति यत्र तत्तीर्थं गङ्गाद्या गाव एव हि। गवां माहात्म्यमुक्तं हि चिकित्सां च तथा शृणु॥२२॥
शृङ्गामयेषु धेनूनां तैलं दद्यात्ससैन्धवम्। शृङ्गवेरबलामांसीकल्कसिद्धं समाक्षिकम्॥२३॥
कर्णशूलेषु सर्वेषु मञ्जिष्ठाहिङ्गुसैन्धवैः। सिद्धं तैलं प्रदातव्यं रसोनेनाथ वा पुनः॥२४॥
बिल्वमूलमपामार्गं धातकी च सपाटला। कुटजं दन्तशूलेषु लेपात्तच्छूलनाशनम्॥२५॥
दन्तशूलहरैर्द्रव्यैर्घृतं रामविपाचितम्।) मुखरोगहरं ज्ञेयं जिह्वारोगेषु सैन्धवम्॥२६॥
शृङ्गवेरं हरिद्रे द्वे त्रिफला च गलग्रहे। हृच्छूले वस्तिशूले च वातरोगे क्षये तथा॥२७॥
त्रिफला घृतमिश्रा च गवां पाने प्रशस्यते। अतीसारे हरिद्रे द्वे पाठां चैव प्रदापयेत्॥२८॥
सर्वेषु कोष्ठरोगेषु तथा शाखागदेषु च। शृङ्गवेरं च भार्ङ्गीं च कासे श्वासे प्रदापयेत्॥२९॥

हैं और मन्त्रपूज हविष्य से स्वर्ग में स्थित देवताओं को तृप्त करती हैं। ऋषियों के अग्निहोत्र में गौएँ हवनकार्य में प्रयुक्त होती हैं। गौएँ सम्पूर्ण मनुष्यों की श्रेष्ठतम शरण हैं। गौएँ परम पवित्र, महामंगलमयी, स्वर्ग की सोपानभूत, धन्य और सनातन (नित्य) हैं। श्रीमती सुरभि-पुत्री गौओं को नमस्कार है। ब्रह्मसुताओं को नमस्कार है। पवित्र गौओं को बारंबार नमस्कार है। ब्राह्मण और गौएँ–एक ही वंश की दो शाखाएँ हैं। एक के आश्रय में मन्त्र की स्थिति है और दूसरी में हविष्य प्रतिष्ठित है। देवता, ब्राह्मण, गौ, साधु और साध्वी स्त्रियों के बल पर यह सारा संसार टिका हुआ है, इसी से वे परम पूजनीय हैं। गौएँ जिस स्थान पर जल पीती हैं, वह स्थान तीर्थ है। गंगा आदि पवित्र नदियाँ गोस्वरूपा ही हैं। हे सुश्रुत! मैंने यह गौओं के माहात्म्य का वर्णन किया; अधुना उनकी चिकित्सा सुनो॥१२-२२॥

गौओं के शृङ्गरोगों में सोठ, खरेटी और जटामांसी को सिलपर पीसकर उसमें मधु, सैन्धव और तैल मिलाकर प्रयोग करना चाहिये। सभी तरह के कर्ण रोगों में मञ्जिष्ठा, हींग और सैन्धव डालकर सिद्ध किया हुआ तैल प्रयोग करना चाहिये। या लहसुन के साथ पकाया हुआ तैल प्रयोग करना चाहिये। दनतशूल में बिल्वमूल, अपामार्ग, धान की पाटला और कुटज का लेप करना चाहिये। वह शूलनाशक है। दन्तशूल का हरण करने वाले द्रव्यों और कूट को घृत में पकाकर देने से मुख रोगों का निवारण होता है। जिह्वा-रोगों में सैन्धव लवण प्रशस्त है। गलग्रह-रोग में सोंठ, हल्दी, दारुदल्दी और त्रिफला विहित है। हृद्रोग, वस्तिरोग, वातरोग और क्षयरोग में गौओं को घृतमिश्रित त्रिफला का अनुपान प्रशस्त बतलाया गया है। अतिसार में हल्दी, दारुहल्दी और पाठा (नेमुक) दिलाना चाहिये। सभी तरह के कोष्ठगत रोगों में, शाखा (पैर-पुच्छादि) गति रोगों में एवं कास, श्वास एवं अन्य सामान्य रोगों में सोंठ, भारङ्गी देनी चाहिये। हड्डी आदि टूटने पर लवणयुक्त प्रियङ्गु का लेप करना चाहिये। तैल वातरोग का हरण करता है। पित्तरोग में तैल में पकायी हुई मुलहठी, कफ रोग में मधुसहित त्रिकटु (सोंठ, मिर्च और पीपल) तथा

दातव्या भग्नसंधाने प्रियंगुर्लवणान्विता। तैलं वातहर पित्ते मधुयष्टीविपाचितम्।।३०।।
कफे व्योषं च समधु सपुष्टकरजोऽस्त्रजे। तैलाज्यं हरितालं च भग्नक्षतिशृतं ददेत्।।३१।।
माषास्तिलाः सगोधूमाः पयः क्षीरं घृतं तथा। एषां पिण्डी सलवणा वत्सानां पुष्टिदा त्वियम्।।३२।।
बलप्रदा विषाणां स्याद्गृहे नाशाय धूपकः। देवदारु वचा मांसी गुग्गुलुर्हिङ्गुसर्षपाः।।३३।।
ग्रहादिगदनाशाय एष धूपो गवां हितः। घण्टा चैव गवां कार्या धूपेनानेन धूपिता।।३४।।
अश्वगन्धातिलैः शुक्लं तेन गौः क्षीरिणी भवेत्। रसायनं च पिण्याकं मूर्तौ यो धार्यते (?) गृहे।।३५।।
गवां पुरीषे पञ्चम्यां नित्यं शान्त्यै श्रियं यजेत्। वासुदेवं च गन्धाद्यैरपरा शान्तिरुच्यते।।३६।।
अश्वयुक्शुक्लपक्षस्य पञ्चदश्यां यजेद्धरिम्। हरिं रुद्रमजं सूर्यं श्रियमग्निं घृतेन च।।३७।।
दधि संप्राश्य गाः पूज्य कार्या वह्निप्रदक्षिणाः। वृषणां योजयेद्युद्धं गीतवाद्यरवैर्बहिः।।३८।।
गवां तु लवणं देयं ब्राह्मणानां च दक्षिणा। नैमित्तिके माकरादौ यजेद्विष्णुं सह श्रिया।।३९।।
स्थण्डिलेऽब्जे मध्यगते दिक्षु केसरगान्सुरान्। सुभद्राय रविः पूज्यो बहुरूपो बलिर्बहिः।।४०।।
खं विश्वरूपा सिद्धिश्च ऋद्धिः शान्तिश्च रोहिणी। दिग्धेनवो हि पूर्वाद्याः कृशरैश्चन्द्र ईश्वरः।।४१।।
दिक्पालाः पद्मपत्रेषु कुम्भेष्वग्नौ च होमयेत्। क्षीरवृक्षस्य समिधः सर्षपाक्षततण्डुलान्।।४२।।
शतं शतं सुवर्णं च कांस्यादिकं द्विजे ददेत्। गावः पूज्या विमोक्तव्याः शान्त्यै क्षीरादिसंयुताः।।४३।।

रक्तविकार में मजबूत नखों का भस्म हितकर है। भग्नक्षत में तैल एवं घृत में पकाया हुआ हरताल देना चाहिये। उड़द, तिल, गेहूँ, दुग्ध, जल और घृत—इनका लवणयुक्त पिण्ड गोवत्सों के लिये पुष्टिप्रद है। विषाणी बल सम्प्रदान करने वाली है। ग्रहबाधा के विनाश के लिये धूप का प्रयोग करना चाहिये। देवदारु, वचा, जटामांसी, गुग्गुल, हिंगु और सर्षप—इनकी धूप गौओं के ग्रहजनित रोगों को विनाश करने में हितकर है। इस धूप से धूपित करके गौओं के गले में घण्टा बाँधना चाहिये। असगन्ध और तिलों के साथ नवनीत का भक्षण कराने से गौ दुग्धवती होती है। जो वृष गृह में मदोन्मत्त हो जाता है, उसके लिये हिङ्गु परम रसायन है।।२३-३५।।

पञ्चमी तिथि को सदा शान्ति के निमित्त गोमय पर भगवान् लक्ष्मी-नारायण का पूजन करना चाहिये। यह 'अपरा शान्ति' कही गयी है। आश्विन के शुक्लपक्ष की पूर्णिमा को श्रीहरि विष्णु का पूजन करना चाहिये। भगवान् श्रीहरि विष्णु रुद्र, ब्रह्मा, सूर्य, अग्नि और लक्ष्मी का घृत से पूजन करना चाहिये। दही भलीभाँति खाकर गोपूजन करके अग्नि की प्रदक्षिणा करना चाहिये। गृह के बहिर्भाग में गीत और वाद्य की ध्वनि के साथ वृषभयुद्ध का आयोजन करना चाहिये। गौओं को लवण और ब्राह्मणों को दक्षिणा देनी चाहिये। मकरसंक्रान्ति आदि नैमित्तिक पर्वों पर भी लक्ष्मी सहित भगवान् श्रीहरि विष्णु को भूमिस्थ कमल के मध्य में और पूर्व आदि दिशाओं में कमल-केसर पर ब्रह्मा, सूर्य, बहुरूप, बलि, आकाश, विश्वरूप का तथा ऋद्धि, सिद्धि, शान्ति और रोहिणी आदि दिग्धेनु, चन्द्रमा और शिव का कृशर (खिचड़ी) से पूजन करना चाहिये। दिक्पालों की कलशस्थ पद्मपत्र पर अर्चना करनी चाहिये। फिर अग्नि में सर्षप, अक्षत, तण्डुल और खैर-वृक्ष की समिधाओं का हवन करना चाहिये। ब्राह्मण को सौ-सौ भर स्वर्ण और कास्य आदि धातु दान करना चाहिये। फिर क्षीरसंयुक्त गौओं की पूजा करके उनको शान्ति के निमित्त छोड़े।।३६-४३।।

अग्निरुवाच

शालिहोत्रः सुश्रुताय हयायुर्वेदमुक्तवान्। पालकाप्योऽङ्गराजाय गजायुर्वेदमब्रवीत्।।४४।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते गवायुर्वेदकथनं नाम द्विनवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः।।२९२।।

—※※※—

अथ त्रिनवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

मन्त्रपरिभाषा

अग्निरुवाच

मंत्रविद्यामहं वक्ष्ये भुक्तिमुक्तिप्रदां शृणु। विंशत्यर्णाधिका मंत्रा मालामंत्राः स्मृता द्विज।।१।।
दशाक्षराधिका मंत्रास्तदर्वाग्बीजसंज्ञिताः। वार्धक्ये सिद्धिदा ह्येते मालामंत्रस्तु यौवने।।२।।
पञ्चाक्षराधिका मंत्रा सिद्धिदाः सर्वदा परम्। स्त्रीपुंनपुंसकत्वेन त्रिधा स्युर्मन्त्रजातयः।।३।।
स्त्रीमंत्राा वह्निजायान्ता नमोन्ताश्च) नपुंसकाः। शेषाः पुमांसस्ते शस्ता वश्योच्चाटनकेषु च।।४।।

श्रीअग्निदेव ने कहा कि–हे वसिष्ठ! शालिहोत्र ने सुश्रुत को 'अश्वायुर्वेद' और पालकाप्य ने अङ्गराज को 'गवायुर्वेद' का उपदेश किया था।।४४।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी दो सौ बानवेवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।२९२।।

अध्याय–२९३

मन्त्र विद्या विचार

श्रीअग्निदेव ने कहा कि–हे वसिष्ठ! अधुना मैं भोग और मोक्ष सम्प्रदान करने वाली मन्त्र-विद्या का वर्णन करने जा रहा हूँ, ध्यान देकर उसका श्रवण करें। हे द्विजश्रेष्ठ! बीस से अधिक अक्षरों वाले मन्त्र 'मालामन्त्र' दस से अधिक अक्षरों वाले 'मन्त्र' और दस से कम अक्षरों वाले 'बीजमन्त्र' कहे गये हैं। 'मालामन्त्र' वृद्धावस्था में सिद्धिसम्प्रदायक होते हैं, 'मन्त्र' यौवनावस्था में सिद्धि प्रद है। पाँच अक्षर से अधिक तथा दस अक्षर तक के मन्त्र बाल्यावस्था में सिद्धि सम्प्रदान करते हैं। अन्य मन्त्र अर्थात् एक से लेकर पाँच अक्षर तक के मन्त्र सर्वदा और सबके लिये सिद्धिसम्प्रदायक होते हैं। मन्त्रों की तीन जातियाँ होती हैं–स्त्री, पुरुष और नपुंसक। जिन मन्त्रों के अन्त में 'स्वाहा' पद का प्रयोग हो, वे स्त्रीजातीय हैं। जिनके अन्त में 'नमः' पद जुड़ा हो, वे मन्त्र नपुंसक हैं। शेष सभी मन्त्र पुरुषजातीय हैं। वे वशीकरण और उच्चाटन-कर्म में प्रशस्त माने गये हैं। क्षुद्रक्रिया तथा रोग के निवारणार्थ अर्थात् शान्तिकर्म में स्त्रीजातीय मन्त्र श्रेष्ठतम माने गये हैं। इन सबसे भिन्न विद्वेषण एवं अभिचार आदि कर्म में नपुंसक मन्त्र उपयोगी बताये गये हैं।।१-४।।

क्षुद्रक्रियामयध्वंसे स्त्रियोऽन्यत्र नपुंसकाः। मंत्रावाग्नेयसौम्याख्यौ ताराद्यन्तार्धयोर्जपेत्।।५।।
तारान्त्याग्निवियत्प्रायो मंत्र आग्नेय इष्यते। शिष्टाः सौम्याः प्रशस्तौ तौ कर्मणोः क्रूरसौम्ययोः।।६।।
आग्नेयमंत्रः सौम्यः स्यात्प्रायशोऽन्ते नमोऽन्वितः। सौम्यमंत्रस्तथाऽऽग्नेयः फट्कारेणान्ततो युतः।।७।।
सुप्तः प्रबुद्धमात्रो वा मंत्रः सिद्धिं न यच्छति। स्वापकालो महाबाहो जागरो दक्षिणावहः।।८।।
आग्नेयस्य मनोः (सौम्यमंत्रस्यैतद्विपर्ययात्। प्रबोधकालं जानीयादुभयोरुभयोरहः।।९।।
दुष्टर्क्षराशिविद्वेषिवर्णादीन्वर्जयेन्मनून्। राज्यलाभोपकाराय प्रारभ्यारिः स्वरः कुरून्।।१०।।
गोपालककुटीं प्रायात्पूर्णामित्युदिता लिपिः। नक्षत्रेषु क्रमाद्योज्यौ स्वरान्त्यौ रेवतीयुजौ।।११।।

मन्त्रों के दो भेद हैं–'आग्नेय' और 'सौम्य'। जिनके आदि में 'प्रणव' लगा हो, वे 'आग्नेय' हैं और जिनके अन्त में 'प्रणव' का योग है, वे 'सौम्य' कहे गये हैं। इनका जप इन्हीं दोनों के काल में करना चाहिये (अर्थात् सूर्य-नाड़ी चलती हो तो 'आग्नेय-मन्त्र' का और चन्द्र-नाड़ी चलती हो तो 'सौम्य-मन्त्रों का जप करना चाहिये)। जिस मन्त्र में तार (ॐ), अन्त्य (क्ष), अग्नि (र), वियत् (ह)–इनका बाहुल्येन प्रयोग हो, वह 'आग्नेय' माना गया है। शेष मन्त्र 'सौम्य' कहे गये हैं। ये दो प्रकार के मन्त्र क्रमशः क्रूर और सौम्य कर्मों में प्रशस्त माने गये हैं। आग्नेय मन्त्र' प्रायः अन्त में 'नमः' पद से युक्त होने पर सौम्य हो जाता है और 'सौम्य मन. भी अन्त में फट् लगा देने पर 'आग्नेय' हो जाता है। यदि मन्त्र सोया हो या सोकर तत्काल ही जगा हो तो वह सिद्धिदायक नहीं होता है। जब वामनाड़ी चलती हो तो वह उसके जागरण का काल है। 'सौम्य मन्त्र' के सोने और जागने का समय इसके विपरीत है। अर्थात् वामनाड़ी (साँस) उसके जागरण का और दक्षिणनाड़ी उसके शयन का काल है। जब दोनों नाड़ियाँ साथ-साथ चल रही हों, उस समय आग्नेय और सौम्य–दोनों मन्त्र जगे रहते हैं। अतः उस समय दोनों का जप किया जा सकता है। दुष्ट नक्षत्र, दुष्ट राशि तथा शत्रु रूप आदि अक्षर वाले मन्त्रों को अवश्य छोड़ देना चाहिये।।५-९।।

नक्षत्र-चक्र–साधक के नाम के प्रथम अक्षर को तथा मन्त्र के आदि अक्षर को लेकर गणना करके यह समझना है कि उस साधक के लिये वह मन्त्र अनुकूल है या प्रतिकूल? इसी के लिये उपरोक्त श्लोक एक संकेत देता है–'राज्य' से लेकर फुल्लौ तक लिपिका ही संकेत है। 'इत्युदिता लिपिः' इस तरह लिपि कही गयी है। 'नारायणीय-तन्त्र' में इसकी व्याख्या करते हुए कहा गया है कि अश्विनी से लेकर उत्तरभाद्रपदा तक के छब्बीस नक्षत्रों में 'अ' से लेकर 'ह' तक के अक्षरों को बाँटना है। किस नक्षत्र में कितने अक्षर लिये जायँगे, इसके लिये उपरोक्त श्लोक संकेत देता है। 'रा' से 'ल्लौ' तक छब्बीस अक्षर हैं; वे छब्बीस नक्षत्रों के प्रतीक हैं। तन्त्रशास्त्रियों ने अपने संकेतवचनों में केवल व्यञ्जनों को ग्रहण किया है और समस्त व्यञ्जनों को कवर्ग, टवर्ग, पवर्ग तथा यवर्ग में बाँटा है। संकेत-लिपिका जो अक्षर जिस वर्ग का प्रथम, द्वितीय, तृतीय या चतुर्थ अक्षर है, उससे उतनी ही संख्याएँ ली जायँगी। संयुक्ताक्षरों में से अन्तिम अक्षर ही गृहीत होगा। स्वरों पर कोई संख्या नहीं है। उपरोक्त श्लोक में पहला अक्षर 'रा' है। यह यवर्ग का दूसरा अक्षर है, इसलिये उससे दो संख्या ली जायगी। इस तरह 'रा' यह संकेत करता है कि अश्विनी-नक्षत्र में दो अक्षर 'अ आ' गृहीत होंगे। दूसरा अक्षर है 'ज्य' यह संयुक्ताक्षर है, इसका अन्तिम अक्षर 'य' गृहीत होगा। वह अपने वर्ग का प्रथम अक्षर है, इसलिये एक का बोधक होगा। इस तरह उपरोक्त 'ज्य' के संकेतानुसार भरणी नक्षत्र में एक अक्षर 'इ' लिखा जायगा। यह वर्णमाला नक्षत्रों के साथ क्रमशः जोड़नी चाहिये। केवल 'अं अः'–ये दो अन्तिम स्वर रेवती नक्षत्र के साथ सदा जुड़े रहते हैं।।१०-११।।

वेला गुरुः स्वराः (रः) शोणः कर्मणैवेति भेदिताः। लिप्यर्णा वशिषु ज्ञेया (:) षष्ठेशादींश्च योजयेत्॥१२॥
लिपौ चतुष्पथस्थायामाख्यावर्णपदान्तराः। सिद्धाः साध्या द्वितीयस्थाः सुसिद्धा वैरिणः परे॥१३॥
सिद्धादीन्कल्पयेदेवं सिद्धोऽत्यन्तगुणैरपि। सिद्धे सिद्धो जपात्साध्यो जपपूजाहुतादिना॥१४॥
सुसिद्धो ध्यानमात्रेण साधकं नाशयेदरिः। दुष्टार्णप्रचुरो यः स्यान्मंत्रः सर्वविनिन्दितः॥१५॥
प्रविश्य विधिवद्दीक्षामभिषेकावसानिकाम्। श्रुत्वा तन्त्रं गुरोर्लब्ध्वं साधयेदीप्सितं मनुम्॥१६॥

इनके द्वारा जन्म, सम्पद्, विपत्, क्षेम, प्रत्यरि, साधक, वध, मित्र तथा अतिमित्र–इन तारों का विचार किया जाता है। जहाँ साधक के नाम का आदि अक्षर है, वहाँ से लेकर मन्त्र के आदि अक्षर तक गिने। उसमें नौ का भाग देकर शेष के अनुसार जन्मादि तारों को जाने।

द्वादश राशियों में वर्णों का विभक्तीकरण–जैसा कि पूर्व श्लोक में संकेत किया है, उसी तरह 'वा' से लेकर 'भा' तक के द्वादश अक्षर क्रमशः मेष आदि राशियों तथा ४ आदि संख्याओं की तरफ संकेत करते हैं–वा ४ लं ३ गौ ३ रं २ खु २ रं २ शो ५ णं ५ भा ४। इन संख्याओं में विभाजित हुए अकार आदि अक्षर क्रमशः मेष आदि राशियों में स्थित जानने चाहिये। 'श ष स ह' इन अक्षरों को (तथा स्वरान्त्य वर्णों 'अं अः' को) छठी कन्याराशि में संयुक्त करना चाहिये। क्षकार का मीनराशि में प्रवेश है।

राशि-ज्ञान का उपयोग--साधक के नाम का आदि अक्षर जहाँ हो, उस राशि से मन्त्र के आदि अक्षर की राशि तक गिने। जो संख्या हो, उसके अनुसार फल जाने। यदि संख्या छठी, आठवीं अथवा बारहवीं हो, तो वह निन्द्य है। इन द्वादश संख्याओं का 'द्वादश भाव' कहते हैं। उनकी विशेष संख्या संज्ञा इस तरह है–तन, धन, सहज, सुहृद, पुत्र, रिपु, जाया, मृत्यु, धर्म, कर्म, आय और व्यय। मन्त्र के अक्षर यदि मृत्यु, शत्रु तथा व्यय भाव के अन्तर्गत हैं तो वे अशुभ हैं। चतुरस्र स्थान पर पाँच रेखाएँ पूर्व से पश्चिम की तरफ तथा पाँच रेखाएँ उत्तर से दक्षिण की तरफ खींचे। इस तरह सोलह कोष्ठ बनाये। इनमें क्रमशः सोलह स्वरों को लिखा जाय। उसके बाद उसी क्रम से व्यञ्जन-वर्ण भी लिखे। तीन आवृत्ति पूर्ण होने पर चौथी आवृत्ति में प्रथम दो कोष्ठों के अन्दर क्रमशः 'ह' और 'क्ष' लिखकर सब अक्षरों की पूर्ति कर लेना चाहिये। इन सोलह में प्रथम कोष्ठ की चार पङ्क्तियाँ 'सिद्ध' दूसरे कोष्ठ की चार पङ्क्तियाँ 'साध्य', तीसरे कोष्ठ की चार पक्तियाँ 'सुसिद्ध' तथा चौथे कोष्ठ की चार पङ्क्तियाँ 'अरि' मानी गयी हैं। जिस साधक साधक के नाम का आदि अक्षर जिस चतष्क में पड़े, वही उसके लिये 'सिद्ध चतुष्क' है, वहाँ से दूसरा उसके लिये 'साध्य', तीसरा 'सुसाध्य' और चौथा चतुष्क 'अरि' है। जिस चतुष्क के जिस कोष्ठ में साधक का नाम है, वह उसके लिये 'सिद्ध-सिद्ध' कोष्ठ है। फिर प्रदक्षिण क्रम से उस चतुष्क का दूसरा कोष्ठ 'सिद्धसाध्य', सिद्ध-सुसिद्ध' तथा 'सिद्ध-अरि' है। इसी चतुष्क में यदि मन्त्र का भी आदि अक्षर हो, तो इसी गणना के अनुसार उसके भी 'सिद्ध-सिद्ध', 'सिद्ध-साध्य' आदि भेद जान लेने चाहिये। यदि इस चतुष्क में अपने नाम का आदि अक्षर हो और द्वितीय चतुष्क में मन्त्र का आदि अक्षर है, उस दूसरे चतुष्क में भी उसी कोष्ठ से लेकर प्रादक्षिण्य-क्रम से 'साध्यसिद्ध' आदि भेद की कल्पना करनी चाहिये। इस तरह सिद्धादि की कल्पना करनी चाहिये। सिद्ध-मन्त्र अत्यन्त गुणों से युक्त होता है। 'सिद्ध-मन्त्र' जपमात्र से सिद्ध अर्थात् सिद्धिसम्प्रदायक होता है; 'साध्य--मन्त्र' जप, पूजा और हवन आदि से सिद्ध होता है। 'सुसिद्ध मन्त्र' चिन्तनमात्र से सिद्ध हो जाता है, परन्तु 'अरि मन्त्र' साधक का विनाश कर देता है। परन्तु 'अरि मन्त्र' साधक का विनाश कर देता है। जिस मन्त्र में दुष्ट अक्षरों की संख्या अधिक हो, उसकी सभी ने निन्दा की है॥१३-१५॥

शिष्य को अभिषेक पर्यन्त दीक्षा में विधिवत् प्रवेश लेकर गुरु के मुख से तन्त्रोक्त विधि का श्रवण करके

धीरो दक्षः शुचिर्भक्तो जपध्यानादितत्परः। सिद्धस्तपस्वी कुशलस्तन्त्रज्ञः सत्यभाषणः।।१७।।
निग्रहानुग्रहे शक्तो गुरुरित्यभिधीयते। शान्तो दान्तः पटुश्चीर्णब्रह्मचर्यो हविष्यभुक्।।१८।।
कुर्वन्नाचार्यशुश्रूषां सिद्धोत्साही स शिष्यकः। स तूपदेश्यः पुत्रश्च विनयी वसुदस्तथा।।१९।।
मन्त्रं दद्यात्सुसिद्धौ तु सहस्रं देशिको जपेत्। यदृच्छया श्रुतं मन्त्रं छलेनाथ बलेन वा।।२०।।
पत्रे स्थितं च गाथां च जनयेद्यद्यनर्थकम्। मन्त्रं यः साधयेदेकं जपहोमार्चनादिभिः।।२१।।
क्रियाभिर्भूरिभिस्तस्य सिध्यन्ते स्वल्पसाधनात्। सम्यक्सिद्धैकमन्त्रस्य नासाध्यमिह किञ्चन।।२२।।
बहुमन्त्रवतः पुंसः का कथा शिव एव सः। दशलक्षजपादेकवर्णो मन्त्रः प्रसिध्यति।।२३।।
वर्णवृद्ध्या जपह्रासस्तेनान्येषां समूहयेत्। बीजाद्द्वित्रिगुणान्मन्त्रान्मालामन्त्रे जपक्रिया।।२४।।
संख्यानुक्तौ शतं साष्टं सहस्रं वा जपादिषु। जपाद्दशांशं सर्वत्र साभिषेकं हुतं विदुः।।२५।।
द्रव्यानुक्तौ घृतं होमे जपोऽशक्तस्य सर्वतः। मूलमन्त्राद्दशांशः स्यादङ्गादीनां जपादिकम्।।२६।।
जपात्सशक्तिमन्त्रस्य कामदा मन्त्रदेवताः। साधकस्य भवेत्तृप्ता ध्यानहोमार्चनादिना।।२७।।
उच्चैर्जपाद्विशिष्टः स्यादुपांशुर्दशभिर्गुणैः। जिह्वाजपे शतगुणः सहस्रो मानसः स्मृतः।।२८।।

गुरु से प्राप्त हुए अभीष्ट मन्त्र की साधना करनी चाहिये। जो धीर, दक्ष, पवित्र, भक्तिभाव से सम्पन्न, जप-ध्यान आदि में तत्पर रहने वाला, सिद्ध, तपस्वी, कुशल, तन्त्रवेत्ता, सत्यवादी तथा निग्रह-अनुग्रह में सक्षम हो, वह 'गुरु' कहलाता है। जो शान्त (मन को वश में रखने वाला), दान्त (जितेंन्द्रिय), पटु (सामर्थ्यवान्)स, ब्रह्मचारी, हविष्यान्नभोजी, गुरु की सेवा में संलग्न और मन्त्रसिद्धि के प्रति उत्साह रखने वाला हो, वह 'योग्य' शिष्य है। उसको तथा अपने पुत्र को मन्त्र का उपदेश देना चाहिये। शिष्य विनयी तथा गुरु को धन देने वाला हो। ऐसे शिष्य को गुरु मन्त्र का उपदेश दे और उसकी सुसिद्धि के लिये स्वयं भी एक सहस्र की संख्या में जप करना चाहिये। अकस्मात् कहीं से सुना हुआ, छल अथवा बल से प्राप्त किया हुआ, पुस्तक के पत्रे में लिखा हुआ अथवा गाथा में कहा गया मन्त्र नहीं जपना चाहिये। यदि ऐसे मन्त्र का जप किया जाय तो वह अनर्थ उत्पन्न करता है। जो जप, हवन तथा अर्चना आदि भूरि क्रियाओं द्वारा मन्त्र की साधना में संलग्न रहता है, उसके मन्त्र स्वल्पकालिक साधन से ही सिद्ध हो जाते हैं। जिसने एक मन्त्र को भी विधिपूर्वक सिद्ध कर लिया है, उसके लिये इस लोक में कुछ भी असाध्य नहीं है; फिर जिसने बहुत-से मन्त्र सिद्ध कर लिये हैं, उसके माहात्म्य का किस तरह वर्णन किया जाय? वह तो साक्षात् शिव ही है। एक अक्षर का मन्त्र दस लाख जप करने से सिद्ध हो, त्यों-ही-त्यों उसके जप की संख्या में कमी होती है। इस नियम से अन्य मन्त्रों के जप की संख्या के विषय में स्वयं ऊहा कर लेनी चाहिये। बीज-मन्त्र की अपेक्षा दुगुनी-तिगुनी संख्या में मालामन्त्रों के जप का विधान है। जहाँ जपकी संख्या नहीं बतलायी गयी हो, वहाँ मन्त्र-जपादि के लिये एक सौ आठ या एक हजार आठ संख्या आननी चाहिये। सभी जगह जप से दशांश हवन एवं तर्पण का विधान मिलता है।।१६-२५।।

जहाँ किसी द्रव्य-विशेष का उल्लेख न हो, वहाँ हवन में घृत का उपयोग करन चाहिये। जो आर्थिक दृष्टि से असमर्थ हो, उसके लिये हवन के निमित्त जप की संख्या से दशांश जप का ही सभी जगह विधान मिलता है। अंग आदि के लिये ीी जप आदि का विधान है। सशक्ति-मन्त्र के जप से मन्त्र देवता साधक को अभीष्ट फल देते हैं। वे साधक के द्वारा किये गये ध्यान, हवन और अर्चन आदि से तृप्त होते हैं। उच्चस्वर से जप की अपेक्षा (उपांशु

प्राङ्मुखोऽवाङ्मुखो वाऽपि मंत्रकर्म समारभेत्। प्रणवाद्याः सर्वमंत्रा वाग्यतो विहिताशनः।।२९।।
आसीनस्तु जपेन्मन्त्रान्देवताचार्यतुल्यदृक्। कुटी विविक्ता देशाः स्युर्देवालयनदीह्रदाः।।३०।।
सिद्धौ यवागूपूपैर्वा पयो भक्ष्यं हविष्यकम्। मन्त्रस्य देवता तावत्तिथिवारेषु वै यजेत्।।३१।।
कृष्णाष्टमीचतुर्दश्योर्ग्रहणादौ च साधकः। दस्रो यमोऽनलो धाता शशी रुद्रो गुरुर्दितिः।।३२।।
सर्पाः पितरोऽथ भगोऽर्यमा शीतेतरद्युतिः। त्वष्टा मरुत इन्द्राग्नी मित्रेन्द्रौ निर्ऋतिर्जलम्।।३३।।
विश्वे देवा हृषीकेशो वासवः सतिलाधिपः। अजैकपादहिर्बुध्न्यः पूषाऽश्विन्यादिदेवताः।।३४।।
अग्निर्दस्रावुमानिघ्नौ नागश्चन्द्रो दिवाकरः। मातृदुर्गा दिशामीशः कृष्णो वैवस्वतः शिवः।।३५।।
पञ्चदश्याः शशाङ्कस्तु पितरस्तिथिदेवताः। हरो दुर्गा गुरु (र्विष्णुर्ब्रह्मा लक्ष्मीर्धनेश्वरः।।३६।।
एते सूर्यादिवारेशा लिपिन्यासोऽथ कथ्यते। केशान्तेषु च वृत्तेषु चक्षुषोः श्रवणद्वये।।३७।।
नासागण्डौष्ठदन्तेषु द्वे द्वे मूर्धास्ययोः क्रमात्। वर्णान्पञ्चसु वर्गाणं बाहुचरणसंधिषु।।३८।।
पार्श्वयोः पृष्ठतो नाभौ हृदये च क्रमान्न्यसेत्। यादींश्च हृदये न्यस्येदेषां स्युः सप्त धातवः।।३९।।

(मन्दस्वर से किया गया) जप दसगुना श्रेष्ठ कहा गया है। यदि केवल जिह्वा हिलाकर जप किया जाय तो वह सौ गुना श्रेष्ठतम माना गया है। मानस (मन के द्वारा किय जाने वलो) जप का महत्त्व सहस्रगुना श्रेष्ठतम कहा गया है। मन्त्र-सम्बन्धी कर्म का निष्पादन पूर्वाभिमुख अथवा दक्षिणाभिमुख होकर करना चाहिये। मौन होकर विहित आहार ग्रहण करते हुए प्रणव आदि सभी मन्त्रों का जप करना चाहिये। देवता तथा आचार्य के प्रति समान दृष्टि खते हुए आसन पर बैठकर मन्त्र का जा करना चाहिये। कुटी, एकान्त एवं पवित्र स्थान, देवमन्दिर, नदी अथवा जलाशय-ये जप करने के लिये श्रेष्ठतमदेश हैं। मन्त्र-सिद्धि के लिये जौ की लप्सी, मालपूए, दुग्ध एवं हविष्यानन का भोजन करना चाहिये। साधक को मन्त्र देवता का उनकी तिथि, वार, कृष्णपक्ष की अष्टमी-चतुर्दशी तथा ग्रहण आदि पर्वों पर पूजन करना चाहिये। अश्विनीकुमार, यमराज, अग्नि, धाता, चन्द्रमा, रुद्र, अदिति, बृहस्पति, सर्प, पितर, भग, अर्यमा, सूर्य, त्वष्टा, वायु, इन्द्राग्नि, मित्र, इन्द्र, जल, निर्ऋति, विश्वेदेव, विष्णु, वसुगण, वरुण, अजैकपात्, अहिर्बुध्न और पूषा-ये क्रमशः अश्विनी आदि नक्षत्रों के देवता क्रमशः निम्नलिखित हैं--अग्नि, ब्रह्मा, पार्वती, गणेश, नाग, स्कन्द, सूर्य, महेश, दुर्गा, यम, विश्वदेव, विष्णु कामदेव और ईश, पूर्णिमा के चन्द्रमा और अमावस्या के देवता पितर हैं। शिव, दुर्गा, बृहस्पति, विष्णु, ब्रह्मा, लक्ष्मी और कुबेर-ये क्रमशः रविवार आदि वारों के देवता हैं। अधुना मैं 'लिपिन्यास' का वर्णन करने जा रहा हूँ।।२६-३६।।

साधक को निम्नलिखित तरह से लिपि (मातृका) न्यास करना चाहिये-'**ॐ अं नमः, केशान्तेषु। ॐ आं नमः, मुखे। ॐ इं नमः, दक्षिणनेत्रे। ॐ ईं नमः, वामनेत्रे। ॐ उं नमः, दक्षिणकर्णे। ॐ ऊं नमः, वामकर्णे। ॐ ऋं नमः, दक्षिणनासापुटे। ॐ ॠं नमः, वामनासापुटे। ॐ ऌं नमः, दक्षिणकपोले। ॐ ॡं नमः, वामकपोले। ॐ एं नमः, ऊर्ध्वोष्ठे। ॐ ऐं नमः, अधेरोठो। ॐ ओं नमः, ऊर्ध्वदन्तपङ्क्तौ। ॐ औं नमः, मूर्ध्नि। ॐ अः नमः, मुखवृत्ते। ॐ कं नमः, दक्षिणबाहुमूले। ॐ खं नमः, दक्षिणकूर्परे। ॐ गं नमः, दक्षिणमणिबन्धे। ॐ घं नमः, दक्षिणहस्ताङ्गुलिमूले। ॐ ङं नमः, दक्षिणहस्ताङ्गुल्यग्रे। ॐ चं नमः, वामबाहुमूले। ॐ छं नमः, वामकूर्परे। ॐ जं नमः, वाममणिबन्धे। ॐ झं नमः, वामहस्ताङ्गुलिमूले। ॐ ञं नमः, वामहस्ताङ्गुल्यग्रे। ॐ टं नमः, दक्षिणपादमूले। ॐ ठं नमः, दक्षिणजानुनि। ॐ डं नमः, दक्षिणगुल्फे। ॐ ढं नमः, दक्षिणपादाङ्गुलिमूले। ॐ णं नमः, दक्षिणपादाङ्गुल्यग्रे। ॐ णं नमः, दक्षिणपादाङ्गुल्यग्रे। ॐ**

त्वगसृङ्मांसमेदोस्थिमज्जाशुक्राणि धातवः। रसाद्यैश्च पयोन्तैश्च लिख्यन्ते च लिपीश्वरैः॥४०॥
श्रीकण्ठोऽनन्तसूक्ष्मौ च त्रिमूर्तिरमरेश्वरः। अग्नीशौ भारभूतिश्च तिथीशः स्थाणुको हरः॥४१॥
दण्डीशो भौतिकः सद्योजातश्चानुग्रहेश्वरः। अक्रूरश्च महासेनः शरण्या देवता अमूः॥४२॥
ततः सूचीशचण्डौ च पञ्चान्तकशिवोत्तमौ। तथैव रुद्रकूर्मौ च त्रिनेत्राश्चतुराननः॥४३॥
अजेशः शर्मसोमेशौ तथा लाङ्गलिदारुकौ। अर्धनारीश्वरश्चोमाकान्तश्चाऽऽषाढिदण्डिनौ॥४४॥
अत्रिर्मीनश्च मेषश्च लोहितश्च शिखी तथा। शूलगण्डद्विगण्डौ द्वौ समहाकालबालिनौ॥४५॥
भुजंगश्च पिनाकी च खड्गीशश्च बकः पुनः। श्वेतो भृगुर्गुडाकाक्षः क्षयः संवर्तकः स्मृतः॥४६॥
रुद्रान्सशक्ता (क्ती) न्विलिखेन्नमोन्तान्विन्यसेत्क्रमात्। अङ्गानि विन्यसेत्सर्वे मन्त्राः साङ्गास्तु सिद्धिदाः॥४७॥
हृल्लेखाव्योमसम्पूर्णान्येतान्यङ्गानि विन्यसेत्। हृदादीन्यङ्गमन्त्रान्तैर्योजयेद्धृदये नमः॥४८॥
स्वाहा शिरस्यथ वषट् शिखायां कवचे च हूम्। वौषण्नेत्रेऽस्त्राय फट्स्यात्पञ्चाङ्गं नेत्रवर्जितम्॥४९॥

तं नमः, वामपादमूले। ॐ थं नमः, वामजानुनि। ॐ दं नमः, वामगुल्फे। ॐ धं नमः, वामपादाङ्गुलिमूले। ॐ नं नमः, वामपादाङ्गुल्यग्रे। ॐ पं नमः, दक्षिणपार्श्वे। ॐ फं नमः, वामपार्श्वे। ॐ बं नमः, पृष्ठे। ॐ भं नमः, नाभौ। ॐ मं नमः, उदरे। ॐ यं त्वगात्मने नमः, हृदि। ॐ रं असृगात्मने नमः, दक्षांसे। ॐ लं मांसात्मने नमः, ककुदि। ॐ वं मेदात्मने नमः, वामांसे। ॐ शं अस्थ्यात्मने नमः, हृदयादिवामहस्तान्तरम्। ॐ सं शुक्रात्मने नमः, हृदयादिदक्षपादान्तरम्। ॐ हं आत्मने नमः, हृदयादिवामपादान्तरम्। ॐ हं आतमने नमः, हृदयादिवामापादान्तरम्। ॐ लं परमात्मने नमः, जठरे। ॐ क्षं प्राणात्मने नमः, मुखे।' इस तरह आदि में प्रणव और अन्त में 'नमः' पद जोड़कर लिपीश्वरों-मातृकेश्वरों का न्यास किया जाता है॥३७-४०॥

श्रीकण्ठ, अनन्त, सूक्ष्म, त्रिमूर्ति, अमरेश्वर, अर्घीश, भारभूमि, तिथीश, स्थाणुक, हर, झिण्टीश, भौतिक, सद्योजात, अनुग्रहेश्वर, अक्रूर तथा महासेन-ये ससोलह 'स्वर-मूर्तिदेवता' हैं। क्रोधीश, चण्डीश, पञ्चान्तक, शिवोत्तम, एकरुद, कूर्म, एकनेत्र, चतुरानन, अजेश, सर्वेश, सोमेश, लाङ्गलि, दारुक, अर्द्धनारीश्वर, अमाकान्त, आषाढी, दण्डी अद्रि, मीन, मेष, लोहित, शिखी, छगलाण्ड, द्विरण्ड, महाकाल, कपाली, भुजङ्गेश पिनाकी, खड्गीश, बक, श्वेत, भृगु, नकुली, शिव तथा संवर्तक-ये 'व्यञ्जन-मूर्तिदेवता' माने गये हैं॥४१-४६॥

उपरोक्त श्रीकण्ठ आदि रुद्रों का उनकी शक्तियों सहित क्रमशः न्यास करना चाहिये। श्रीविद्यार्णवतन्त्र में उनकी शक्तियों के नाम इस तरह दिये गये हैं-पूर्णोदरी, विरजा, शाल्मली, लोलाक्षी, वर्तुलाक्षी, दीर्घघोणा, सुदीर्घमुखी, गोमुखी, दीर्घजिह्वा, कुण्डोदरी, ऊर्ध्वकेशी, विकृतमुखी, ज्वालामुखी, उल्कामुखी, श्रामुखी तथा विद्यामुखी-ये रुद्रों की 'स्वर-शक्तियाँ' हैं। महाकाली, महासरस्वती, सर्वसिद्धि, गौरी, त्रैलोक्यविद्या, मन्त्रशक्ति, आत्मशक्ति, भूतमाता, लम्बोदरी, द्राविणी, नागरी, खेचरी, मञ्जरी, रूपिणी, वीरिणी, काकोदरी, पूजना भद्रकाली, योगिनी, शङ्खिनी, गर्जिनी, कालरात्रि, कूर्दिनी, कपर्दिनी, वज्रिका, जया, सुमुखी, रेवती, माधवी, वारुणी, वायवी, रक्षोविदारिणी, सहजा, लक्ष्मी, व्यापिनी और महामाया-ये 'व्यञ्जनस्वरूपा रुद्रशक्तियाँ' कही गयी हैं। इनके न्यास की विधि इस तरह है-'**हसौं अं श्रीकण्ठाय पूर्णोदर्यै नमः। हसौं आं अनन्ताय विरजायै नमः।**' इत्यादि। इसी तरह अन्य स्वरशक्तियों का न्यास करना चाहिये। व्यञ्जन शक्तियों के न्यास के लिये यही विधि है। यथा-'**हसौं कं क्रोधीशाय महाकाल्यै नमः। हसौं खं चण्डीशाय महासरस्वत्यै नमः।**' इत्यादि। साधक को उदयादि अंगों को भी न्यास करना चाहिये; क्योंकि सम्पूर्ण मन्त्र साङ्ग होने

निरङ्गस्याऽऽत्मना चाङ्गं न्यस्य तं नियुतं जपेत्। क्रमेण देवीं वागीशां यथोक्तांस्तु तिलान्हुनेत्॥५०॥
लिपिदेवी साक्षसूत्रकुम्भपुस्तकपद्मधृक्। कवित्वादि प्रयच्छेत कर्मादौ सिद्धये न्यसेत्॥
निष्कविर्निर्मलः सर्वे मन्त्राः सिध्यन्ति मातृभिः॥५१॥

॥इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते मन्त्रपरिभाषाकथनं नाम त्रिनवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः॥२९३॥
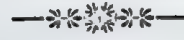
पर ही सिद्धिसम्प्रदायक होते हैं। हल्लेखा को व्योम-बीज से युक्त करके इन अंगों का न्यास करना चाहिये। हृदयादि अंग मन्त्रों को अन्त में जोड़कर बोलना चाहिये। यथा-'**ह्रां हृदयाय नमः। ह्रीं शिर से स्वाहा। ह्रूं शिखायै वषट्। ह्रैं कवचाय हुम्। ह्रौं नेत्रत्रयाय वौषट्। ह्रः अस्त्राय फट्।**' यह 'षडङ्गन्यास' कहा गया है। पञ्चाङ्गन्यास में नेत्र को छोड़ दिया जाता है। निरङ्ग-मन्त्रत्र का उसके स्वरूप से ही अङ्गन्यास करके क्रमशः वागीश्वरी देवी (ह्रीं) का एक लाख जप करना चाहिये तथा यथोक्त (दशांश) तिलों की आहुति देनी चाहिये। लिपियों की अधिष्ठात्री देवी वागीश्वरी अपने चार हाथों में अक्षमाला, कलश, पुस्तक और कमल धारण करती हैं। कवित्व आदि की शक्ति सम्प्रदान करती हैं। इसलिये जपकर्म के आदि में सिद्धि के लिये उनका न्यास करना चाहिये। इससे अकवि भी निर्मल कवि होता है। मातृका-न्यास से सभी मन्त्र सिद्ध होते हैं।॥४७-५१॥

॥इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी दो सौ तिरानवेवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ॥२९३॥

❖❖❖

अथ चतुर्नवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

नागलक्षणानि

अग्निरुवाच

नागादयोऽथ भावादिदशस्थानानि कर्म च। सूतकं दष्टचेष्टेति सुप्त लक्षणसंयुता।।१।।
शेषवासुकितक्षाख्याः कर्कटाब्जौ महाम्बुजः। शङ्खपालश्च कुलिक इत्यष्टौ नागवर्यकाः।।२।।
दशाष्टपञ्चत्रिगुणशतमूर्धान्वितौ क्रमात्। विप्रौ नृपौ विशौ शूद्रौ द्वौ द्वौ नागेषु कीर्तितौ।।३।।
तदन्वयाः पञ्चशतं तेभ्यो जाता असंख्यकाः। फणिमण्डलिराजीलवातपित्तकफात्मकाः।।४।।
व्यन्तरा दोषमिश्रास्ते सर्पा दर्वीकराः स्मृताः। रथाङ्गलाङ्गलच्छत्रस्वस्तिकाङ्कुशधारिणः।।५।।
गोनसा मन्दगा दीर्घा मण्डलैर्विविधैश्चिताः। राजिलाश्चित्रिताः स्निग्धास्तिर्यगूर्ध्वविराजिभिः।।६।।
व्यन्तरा मिश्रचिह्नाश्च भूवर्षाग्नेयवायवः। चतुर्विधास्ते षड्विंशभेदाः षोडश गोनसाः।।७।।
त्रयोदश च राजीला व्यन्तरा एकविंशतिः। येऽनुक्तकाले जायन्ते सर्पास्ते व्यन्तराः स्मृताः।।८।।
आषाढादित्रिमासैः स्याद्गर्भो मासचतुष्टये। अण्डकानां शते द्वे च चत्वारिंशत्प्रसूयते।।९।।

अध्याय-२९४

नाग लक्षण विचार

श्रीअग्निदेव ने कहा कि–हे वसिष्ठ! अधुना मैं नागों की उत्पत्ति, सर्पदंश में अशुभ नक्षत्र आदि, सर्पदंश के विविध भेद, दंश के स्थान, मर्मस्थल, सूतक और सर्पदष्ट मनुष्य की चेष्टा–इन सात लक्षणों को कहने जा रहा हूँ।।१।।

शेष, वासुनिक, तक्षक, कर्कोटक, पद्म, महापद्म, शंखपाल एवं कुलिक–ये आठ नागों में श्रेष्ठ हैं। इन नागों में से दो नाग ब्राह्मण, दो क्षत्रिय, दो वैश्य और दो शूद्र कहे गये हैं। ये चार वर्णों के नाग क्रमशः दस सौ, आठ सौ, पाँच सौ और तीन सौ फणों से युक्त हैं। इनके वंशज पाँच सौ नाग हैं। उनसे असंख्य नागों की उत्पत्ति हुई है। आकार भेद से सर्प फणी, मण्डली और राजिल–तीन तरह के माने जाते हैं। ये वात, पित्त और कफप्रधान हैं। इनके अतिरिक्त व्यन्तर, दोष मिश्र तथा दर्वीकर जाति वाले सर्प भी होते हैं। ये चक्र, हल, छत्र, स्वस्तिक और अंकुश के चिह्नों से युक्त होते हैं। गोनस सर्प विविध मण्डलों से चित्रित, दीर्घकाय और मन्दगामी होते हैं। राजिल सर्प स्निग्ध तथा ऊर्ध्वभाग और पार्श्व भाग में रेखाओं से सुशोभित होते हैं। व्यन्तर सर्प मिश्रित चिह्नों से युक्त होते हैं। इनके पार्थिव, आप्य (जलसम्बन्धी), आग्नेय और वायव्य–ये चार मुख्य भेद और छब्बीस अवान्तर भेद हैं। गोनस सर्पों के सोलह, राजिलजातीय सर्पों के तेरह और व्यन्तर सर्पों के इक्कीस भेद हैं। सर्पों की उत्पत्ति के लिये जो काल बतलाया गया है, उससे भिन्न काल में जो सर्प उत्पन्न होते हैं, वे 'व्यन्तर' माने गये हैं। आषाढ़ से लेकर तीन मासों तक सर्पों की गर्भ स्थिति होती है। गर्भस्थिति के चार मास व्यतीत होने पर (सर्पिणी) दो सौ चालीस अंडे प्रसव करती है। सर्प-शावक के उन अंडों से बाहर निकलते ही उनमें स्त्री, पुरुष और नपुंसक के लक्षण प्रकट होने से पूर्व ही प्रायः सर्पगण उनको खा जाते हैं। कृष्णसर्प आँख खुलने पर एक सप्ताह में अंडे से बाहर आता है। उसमें द्वादश दिनों के बाद

सर्पा ग्रसन्ति सूतौघान्विना स्त्रीपुंनपुंसकान्। उन्मीलितेऽक्षिण सप्ताहात्कृष्णो मासाद्भवेद्बहिः॥१०॥
द्वादशाहात्सुबोधः स्याद्दन्ताः स्युः सूर्यदर्शनात्। द्वात्रिंशद्दिनविंशत्या चतस्रस्तेषु दंष्ट्रिकाः॥११॥
कराली मकरी कालरात्रिश्च यमदूतिका। एतास्ताः सविषा दंष्ट्रा वामदक्षिणपार्श्वगाः॥१२॥
षण्मासान्मुच्यते कृत्तिं जीवेत्षष्टिसमाद्वयम्। नागाः सूर्यादिवारेशाः सप्त उक्ता दिवा निशि॥१३॥
स्वेषां षट्प्रतिवारेषु कुलिकः सर्वसंधिषु। शङ्खेन वा महाब्जेन सह तस्योदयोऽथ वा॥१४॥
द्वयोर्वा नाडिकामात्रमन्तरं कुलिकोदयः। दुष्टः स कालः सर्वत्र सर्पदंशे विशेषतः॥१५॥
कृत्तिका भरणी स्वाती मूलं पूर्वत्रयाश्विनी। विशाखाऽऽर्द्रामघाऽऽश्लेषा चित्रा श्रवणरोहिणी॥१६॥
हस्तौ मन्दकुजौ वारौ पञ्चमी चाष्टमी तिथिः। षष्ठी रिक्ता शिवा निन्द्या पञ्चमी च चतुर्दशी॥१७॥
संध्याचतष्टयं दुष्टं दग्धयोगाश्च राशयः। एकद्विबहवो दंशा दष्टं विद्धं च खण्डितम्॥१८॥
अदंशमवगुप्तं स्याद्दंशमेवं चतुर्विधम्। त्रयोद्व्येकक्षता दंशा वेदना रुधिरोल्बणा॥१९॥
नक्तं त्वेकाङ्घ्रिकूर्माभा दंशाश्च यमचोदिताः। दाही पिपीलिकास्पर्शी कण्ठशोथरुजान्वितः॥२०॥
सतोदो ग्रन्थितो दंशः सविषोऽन्यस्तु निर्विषः। देवालये शून्यगृहे वल्मीकोद्यानकोटरे॥२१॥
रथ्यासंधौ श्मशाने च नद्यां च सिन्धुसंगमे। द्वीपे चतुष्पथे सौधे गृहेऽब्जे पर्वताग्रतः॥२२॥

ज्ञान का उदय होता है। बीस दिनों के बाद सूर्यदर्शन होने पर उसके बत्तीस दाँत और चार दाढ़ें निकल आती हैं। सर्प की कराली, मकरी, कालरात्रि और यमदूति का–ये चार विषयुक्त दाढ़ें होती हैं। ये उसके वाम और दक्षिण पार्श्व में स्थित होती हैं। सर्प छः महीने के बाद केंचुल को छोड़ता है और एक सौ बीस वर्ष तक जीवित रहता है। शेष आदि सात नाग क्रमशः रवि आदि वारों के स्वामी माने गये हैं। वे वारेश दिन तथा रात्रि में भी रहते हैं। (दिन के सात भाग करने पर पहला भाग वारेश का होता है। शेष छः भागों का अन्य छः नाग क्रमशः उपभोग करते हैं)। शेष आदि सात नाग अपने-अपने वारों में उदित होते हैं, परन्तु कुलिक का उदय सबके संधिकाल में होता है। अथवा महापद्म और शङ्खपाल के साथ कुलिक का उदय माना जाता है। मतान्तर के अनुसार महापद्म और शङ्खपाल के मध्य की दो घड़ियों में कुलिक का उदय होता है। कुलिकोदय का समय सभी कार्यों में दोषयुक्त माना गया है। सर्पदंश में तो वह विशेषतः अशुभ है। कृत्तिका, भरणी, स्वाती, मूल, पूर्वाफाल्गुनी, पूर्वाषाढ़ा, पूर्वभाद्रपदा, अश्विनी, विशाखा, आर्द्रा, आश्लेषा, चित्रा, श्रवण, रोहिणी, हस्त नक्षत्र, शनि तथा मङ्गलवार एवं पञ्चमी, अष्टमी, षष्ठी, रिक्ता–चतुर्थी, नवमी और चतुर्दशी एवं शिवा (तृतीया) तिथि सर्पदंश में निन्द्य मानी गयी हैं। पञ्चमी और चतुर्दशी तिथियों में सर्प का दंशन विशेषतः निन्दित है। यदि सर्प चारों संध्याओं के समय, दग्धयोग या दग्धराशि में डँस ले, तो अनिष्टकारक होता है। एक, दो और तीन दंशनों को क्रमशः 'दष्ट', 'विद्ध' और 'खण्डित' कहते हैं। सर्प का केवल स्पर्श हो, परन्तु वह डँसे नहीं तो उसको 'अदंश' कहते हैं। इसमें मनुष्य सुरक्षित रहता है। इस तरह सर्पदश के चार भेद हुए। इनमें तीन, दो एवं एक दंश वेदनाजनक और रक्तस्राव करने वाले हैं। एक पैर और कूर्म के समान आकार वाले दंश मृत्यु से प्रेरित होते हैं। अङ्गों में दाह, शरीर में चींटियों के रेंगने का-सा अनुभव, कण्ठशोथ एवं अन्य पीड़ा से युक्त और व्यथाजनक गाँठ वाला दंशन विषयुक्त माना जाता है, इनसे भिनन तरह का सर्पदंश विषहीन होता है। देवमन्दिर, शून्यगृह, वल्मीक (बाँबी), उद्यान, वृक्ष के कोटर, दो सड़कों या मार्गों की संधि, श्मशान, नदी-सागर-संगम, द्वीप, चतुपथ (चौराहा), राजप्रासाद, गृह, कमलवन, पर्वतशिखर, बिलद्वार, जीर्णकूप, जीर्णगृह, दीवाल, शोभाञ्जन, श्लेष्मातक

बिलद्वारे जीर्णकूपे जीर्णवेश्मनि कुड्यके। शिग्रुश्लेष्मान्तकाक्षेषु जम्बूदुम्बरवेणुषु।।२३।।
वटे च जीर्णप्राकारे खास्यहृत्कक्षजत्रुणि। तालौ शङ्खे गले मूर्ध्नि चिबुके नाभिपादयोः।।२४।।
दंशोऽशुभः शुभो दूतः पुष्पहस्तः सुवाक्सुधीः। लिङ्गवर्णसमानश्च शुक्लवस्त्रोऽमलः शुचिः।।२५।।
अपद्वारगतः शस्त्री प्रमादी भूगतेक्षणः। विवर्णवासाः पाशादिहस्तो गद्गदवर्णभाक्।।२६।।
शुष्क काष्ठाश्रितः खिन्नस्तिलालक्तकरांशुकः। आर्द्रवासाः कृष्णरक्तपुष्पयुक्त शिरोरुहः।।२७।।
कुचमर्दी नखच्छेदी गुदस्पृक्पादलेखकः। केशालुञ्ची तृणच्छेदी दुष्टा दूतास्तथैकशः।।२८।।
इडाऽन्या वा वहेद्द्वेधा यदि दूतस्य चाऽऽत्मनः। आभ्यां द्वाभ्यां पुष्टयास्मान्विद्यास्त्रीपुंनपुंसकान्।।२९।।
दूतः स्पृशति यद्गात्रं तस्मिन्दंशमुदाहरेत्। दूताङ्घ्रिचलनं दुष्टमुत्थितिर्निश्चला शुभा।।३०।।
जीवपार्श्वे शुभो दूतो दुष्टोऽन्यत्र समागतः। जीवो गतागतैर्दुष्टः शुभो दूतनिवेदने।।३१।।
दूतस्य वाक्प्रदुष्टा सा पूर्वामजार्धनिन्दिता। विभक्तैस्तस्य वाक्यान्तैर्विषैर्निर्विकालता।।३२।।
आद्यैः स्वरैश्च काद्यैश्च वर्णैर्भिन्नलिपिर्द्विधा। स्वरजो वसुमान्वर्गी इति ज्ञेया च मातृका।।३३।
वाताग्नीन्द्रजलात्मानो वर्गेषु च चतुष्टयम्। नपुंसकाः पञ्चमाः स्युः स्वराः शक्राम्बुयोनयः।।३४।।

(लिसोडा) वृक्ष, जम्बूवृक्ष, उदुम्बरवृक्ष, वेणुवन (बँसवारी), वटवृक्ष और जीर्ण प्राकार (चहारदीवारी) आदि स्थानों में सर्प निवास करते हैं। इन्द्रिय-छिद्र, मुख, हृदय, कक्ष, जत्रु (ग्रीवामूल), तालु, ललाट, ग्रीवा, सिर, चिबुक (ठुड्डी), नाभि और चरण-इन अङ्गों में सर्पदंश अशुभ है। विषचिकित्सक को सर्पदंश की सूचना देने वाला दूत यदि हाथों में फूल लिये हो, सुन्दर वाणी बोलता हो, श्रेष्ठतम बुद्धि से युक्त हो, सर्पदष्ट मनुष्य के समान लिङ्ग एवं जाति का हो, श्वेतवस्त्रधारी हो, निर्मल और पवित्र हो, तो शुभ माना गया है। इसके विपरीत जो दूत मुख्यद्वार के सिवा दूसरे मार्ग से आया हो, शस्त्रयुक्त एवं प्रमादी हो, भूमि पर दृष्टि गड़ाये हो, गंदा या बदरंग वस्त्र पहने हो, हाथ में पाश आदि लिये हो, गद्गदकण्ठ से बोल रहा हो, सूखे काठ पर बैठा हो, खिन्न हो तथा जो हाथ में काले तिल लिये हो या लाल रंग के धब्बे से युक्त वस्त्र धारण किये हो अथवा भीगे वस्त्र पहने हुए हो, जिसके मस्तक के बालों पर काले और लाल रंग के फूल पड़े हो, केशों को नोंच रहा हो या तिनके तोड़ रहा हो, ऐसे दूत दोषयुक्त कहे गये हैं। इन लक्षणों में से एक भी हो, तो अशुभ है।।२-२८।।

अपनी और दूत की यदि इडा अथवा पिङ्गला या दोनों नाड़ियाँ चल रही हों, उन दोनों के इन चिह्नों से डँसने वाले सर्प को क्रमशः स्त्री, पुरुष अथवा नपुंसक जाने। दूत अपने जिस अंश का स्पर्श करना चाहिये, रोगी के उसी अंग में सर्प का दंश हुआ जाने। दूत के पैर चञ्चल हों तो अशुभ और यदि स्थिर हों तो शुभ माने गये हैं।।२९-३०।।

किसी जीव के पार्श्वदेश में स्थित दूत शुभ और अन्य भागों में स्थित अशुभ माना गया है। दूत के निवेदन के समय किसी जीव का आगमन शुभ और गमन अशुभ है। दूत की वाणी यदि अत्यन्त दोषयुक्त हो अथवा सुस्पष्ट प्रतीत न होती हो, तो वह निन्दित की गयी है। उसके सुस्पष्ट विभाजित वचनों द्वारा यह ज्ञात होता है कि सर्प का दंशन विषयुक्त है अथवा विषहीन। दूत के वाक्य के आदि में स्वर' और 'कादि' वर्ग के भेद से लिपि के दो तरह माने जाते हैं। दूत के वचन से वाक्य के प्रारम्भ में स्वर प्रयुक्त हो, तो सर्पदष्ट मनुष्य की जीवनरक्षा और कादिवर्गों के प्रयुक्त होने पर अशुभ की आशङ्का होती है। यह मातृका-विधान है। 'क' आदि वर्गों में प्रारम्भ के चार अक्षर क्रमशः वायु, अग्नि, इन्द्र और वरुणदेवता-समबन्धी होते हैं। कादि वर्गों के पञ्चम अक्षर नपुंसक माने गये हैं। 'अ' आदि स्वर

दुष्टौ दूतस्य वाक्पादौ वाताग्नी मध्यमो हरिः। प्रशस्ता वारुणा वर्णा अतिदुष्टा नपुंसकाः।।३५।।
प्रस्थाने मङ्गलं वाक्यं गर्जितं मेघहस्तिनोः। प्रदक्षिणं फले वृक्षे वामस्य च रुतं जितम्।।३६।।
शुभा गीतादिशब्दाः स्युरीदृशं स्याद्धि सिद्धये। अनर्थगी रथाक्रन्दो दक्षिणे विरुतं क्षुतम्।।३७।।
वेश्या विप्रो नृपः कन्या गौर्दन्ती मुरजध्वजौ। क्षीराज्यदधिशङ्खाम्बुच्छत्रं भेरी फलं सुराः।।३८।।
तण्डुला हेम रूप्यं च सिद्धयेऽभिमुखा अमी। सकाष्ठः सानलः कारुर्मलिनाम्बरवासभृत्।।३९।।
गलस्थटङ्को गोमायुगृध्रोलूककपर्दिकाः। तैलं कपालकार्पासे निषिद्धे भस्मनष्टये।।४०।।
विषरोगाश्च सप्त स्युर्धातोर्धात्वन्तराप्तितः। विषदंशो ललाटं यात्यतो नेत्रं ततो मुखम्।।
आस्याच्च वचनीनाड्यौ (?) धातून्प्राप्नोति हि क्रमात्।।४१।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते नागलक्षणकथनं नाम चतुर्नवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः।।२९४।।

—❀❀❀—

ह्रस्व और दीर्घ के भेद से क्रमशः इन्द्र एवं वरुणदेवता सम्बन्धी होते हैं। दूत के वाक्यारम्भ में वायु और अग्निदैवत्य अक्षर दूषित और ऐन्द्र अक्षर मध्यम फलप्रद हैं। वरुणदैवत्य वर्ण श्रेष्ठतम और नपुंसक वर्ण अत्यन्त अशुभ हैं।।३१-३५।।

विषचिकित्सक के प्रस्थानकाल में मङ्गलमय वचन, मेघ और गजराज की गर्जना, दक्षिणपार्श्व में फलयुक्त वृक्ष हो और वामभाग में किसी पक्षी का कलरव हो रहा हो, तो वह विजय या सफलता का सूचक है। प्रस्थान काल में गीत आदि के शबद शुभ होते हैं। दक्षिणभाग में अनर्थ सूचक वाणी, चक्रवाक का रुदन–ऐसे लक्षण सिद्धि के सूचक हैं। पक्षियों की अशुभ ध्वनि और छींक–ये कार्य में असिद्धि सम्प्रदान करते हैं। वेश्या, ब्राह्मण, राजा, कन्या, गौ, हाथी, ढोलक, पताका, दुग्ध, घृत, दही, शङ्ख, जल, छत्र, भेरी, फल, मदिरा, अक्षत, स्वर्ण और चाँदी–ये लक्षण सम्मुख होने पर कार्यसिद्धि के सूचक हैं। काष्ठ पर अग्नि से युक्त शिल्पकार, मैले कपड़ों का बोझ ढोने वाले पुरुष, गले में टंक (पाषाण भेदक शस्त्र) धारण किये हुए मनुष्य, शृगाल, गृध्र, उलूक, कौड़ी, तेल, कपाल और निषिद्ध भस्म–ये लक्षण विनाश के सूचक हैं। विष के एक धातु से दूसरे धातु में प्रवेश करने से विषसम्बन्धी सात रोग होते हैं। विषदंश पहले ललाट में, ललाट से नेत्र में और नेत्र से मुख में जाता है। मुख में प्रविष्ट होने के बाद वह सम्पूर्ण धमनियों में व्याप्त हो जाता है। फिर क्रमशः धातुओं में प्रवेश करता है।।३६-४१।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी दो सौ चौरानवेवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।२९४।।

❖❖❖

अथ पञ्चनवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

दंष्टचिकित्सा

अग्निरुवाच

मंत्रध्यानौषधैर्दष्टचिकित्सां प्रवदामि ते।।१।।

ॐ नमो भगवते नीकण्ठायेति।।२।।

जपनाद्विषहानिः स्यादौषधं जीवरक्षणम्। साज्यं सकृद्रसं पेयं द्विविधं विषमुच्यते जङ्गमं सर्पमूषादि शृङ्गादि स्थावरं विषम्। शान्तस्वरान्वितो ब्रह्मा लोहितस्तारकः शिवः।।३।।

वियतेर्नाममंत्रोऽयं ताक्ष्र्यः शब्दमयः स्मृतः।।४।।

ॐ ज्वल महामते हृदयाय गरुडविरालशिरसे, गरुडशिखायै, गरुड विषभञ्जन प्रभेदन प्रभेदन वित्रासय वित्रासय विमर्दय विमर्दय कवचाय, अप्रतिहतशासनं हूं फट्, अस्त्राय, उग्र रूपधारक सर्वभयंकर भीषय भीषय सर्वं दह दह भस्मीकुरु कुरु स्वाहा नेत्राय सप्तवर्गान्तयुग्माष्टदिग्दलस्वर केशरादिवर्णरुद्धं वह्निराभूतकर्णिकं मातृकाम्बुजम्।।५।।

अध्याय-२९५

दंष्ट चिकित्सा विचार

श्रीअग्निदेव ने कहा कि-हे वसिष्ठ! अधुना मैं मन्त्र, ध्यान और औषधि के द्वारा साँप के द्वारा डँसे हुए मनुष्य की चिकित्सा का वर्णन करने जा रहा हूँ। 'ॐ नमो भगवते नीलकण्ठाय'-इस मन्त्र के जप से विष का विनाश होता है। घृत के साथ गोबर के रस का पान करना चाहिये। यह औषधि साँप के डसे हुए मनुष्य के जीवन की रक्षा करती है। विष दो तरह के कहे जाते हैं-'जङ्गम' विष, जो सर्प और मूषक आदि प्राणियों में पाया जाता है एवं दूसरा 'स्थावर' विष, जिसके अन्तर्गत शृङ्गी (सिंगिया) आदि विषभेद हैं।।१-२।।

शान्तस्वर से युक्त ब्रह्मा (क्षौं), लोहित (ह्रीं), तारक (ॐ) और शिव (हौं)-यह चार अक्षरों का वियति-सम्बन्धी नाममन्त्र है। इसको शब्दमय ताक्ष्र्य (गरुड) माना गया है।।३-४।।

'ॐ ज्वल महामते हृदयाय नमः, गरुड विशाल शिर से स्वाहा, गरुड शिखायै वषट्, गरुडविषभञ्जन प्रभेदन प्रभेदन वित्रासय वित्रासय विमर्द्दय विमर्द्दय कवचाय हुम्, उग्ररूपधारक सर्वभयंकर भीषय भीषय सर्व दह दह भस्मीकुरु कुरु स्वाहा, नेत्रत्रयाय वौषट्। अप्रतिहतशासनं वं हूं फट् अस्त्राय फट्। 'मातृकामय कमल बनाये। उसके आठों दिशाओं में आठ दल हों। पूर्वादि दलों में दो-दो के क्रम से समस्त स्वरवर्णों को लिखे। कवर्गादि सात वर्गों के अन्तिम दो-दो अक्षरों का भी प्रत्येक दल में उल्लेख करना चाहिये। उस कमल के केसर भाग को वर्ग के आदि अक्षरों से अवरुद्ध करना चाहिये तथा कर्णिका में अग्निबीज 'रं' लिखे। मन्त्र का साधक को उस कमल को हृदयस्थ करके बायें हाथ की हथेली पर उसका चिन्तन करना चाहिये। अङ्गुष्ठ आदि में वियति-मन्त्र के वर्णों का न्यास करना चाहिये और उनके द्वारा भेदित कलाओं का भी चिन्तन करना चाहिये। उसके बाद चतुरस्र 'भू-

कृत्वा हृदिस्थं तन्मन्त्री वामहस्ततले स्मरेत्। अङ्गुष्ठादौ न्यसेद्वर्णान्वियतेर्भेदिताः कलाः॥६॥
पीतं वज्रचतुष्कोणं पार्थिवं शक्रदैवतम्। वृत्तार्धमाप्यपद्मार्धं शुक्लं वरुणदैवतम्॥७॥
त्र्यस्रं (स्रं?) स्वस्तिकयुक्तं च तैजसं वह्निदैवतम्। वृत्तं विन्दुवृतं वायुदैवतं कृष्णमालिनम्॥८॥
अङ्गुष्ठाद्यङ्गुलीमध्यपर्यस्तेषु स्ववेश्मसु। सुवर्णनागवाहेन वेष्टितेषु न्यसेत्क्रमात्॥९॥
वियतेश्चतुरो वर्णान्सुमण्डलसमत्विषः। अरूपे रवतन्मात्रे आकाशे शिवदैवते॥१०॥
कनिष्ठामध्यपर्वस्थे न्यसेत्तस्याऽऽद्यमक्षरम्। नागानामादिवर्णांश्च स्वमण्डलगतान्न्यसेत्॥११॥
भूतादिवर्णान्विन्यसेदङ्गुष्ठाद्यन्तपर्वसु। तन्मात्रादिगुणाभ्यर्णानङ्गुलीषु न्यसेद्बुधः॥१२॥
स्पर्शनादेव तार्क्ष्येण हस्ते हन्याद्विषद्वयम्। मण्डलादिषु तान्वर्णान्वियतेः कवयो जितान्॥१३॥
श्रेष्ठद्व्यङ्गुलिभिर्देहनाभिस्थानेषु पर्वसु। आजानुतः सुवर्णाभमानाभेस्तुहिनप्रभम्॥१४॥
कुङ्कुमारुणमाकण्ठादाकेशान्तात्सितेतरम्। ब्रह्माण्डव्यापिनं तार्क्ष्यं चन्द्राख्यं नागभूषणम्॥१५॥

पुर' नामक मण्डल बनाये, जो पीले रंग का हो और चारों तरफ से वज्र द्वारा चिह्नित हो। यह मण्डल इन्द्रदेवता का होता है। अर्धचन्द्राकार वृत्त जलदेवता-सम्बन्धी है। कमल का आधा भाग शुक्लवर्ण का है। उसके देवता वरुण हैं। फिर स्वस्तिक चिह्न से युक्त त्रिकोणाकार तेजोमय वह्निदेवता के मण्डल का चिन्तन करना चाहिये। वायुदेवता का मण्डल बिन्दुयुक्त एवं वृत्ताकार है। वह कृष्णमाला से सुशोभित है, ऐसा चिन्तन करना चाहिये॥५-८॥

ये चार भूत अङ्गुष्ठ, तर्जनी, मध्यमा और अनामिका-इन चार अँगुलियों के मध्यपर्वों में स्थित अपने निवासस्थानों में विराजमान हैं और स्वर्णमय नागवाहन से इनके वासस्थान आवेष्टित हैं। इस तरह चिन्तनपूर्वक क्रमशः पृथ्वी आदि तत्त्वों का अङ्गुष्ठ आदि के मध्यपर्व में न्यास करना चाहिये। साथ ही वियति-मन्त्र के चार वर्णों को भी क्रमशः उन्हीं में विन्यस्त करना चाहिये। इन वर्णों की कान्ति उनके सुन्दर मण्डलों के समान है। इस तरह न्यास करने के पश्चात् रूप हीन शब्दतन्मात्रमय शिवदेवता के आकाशतत्त्व का कनिष्ठा के मध्यपर्व में चिन्तन करके उसके अन्दर वेदमन्त्र के प्रथम अक्षर का न्यास करना चाहिये। उपरोक्त नागों के नाम के आदि अक्षरों का उनके अपने मण्डलों में न्यास करें पृथ्वी आदि भूतों के आदि अक्षरों का अङ्गुष्ठ आदि अँगुलियों के अन्तिम पर्वों पर न्यास करना चाहिये तथा विद्वान् पुरुष गन्धतन्मात्रादि के गन्धादि गुणसम्बन्धी अक्षरों का पाँचों अँगुलियों में न्यास करना चाहिये॥९-१२॥

इस तरह न्यास ध्यानपूर्वक तार्क्ष्य-मन्त्र से रोगी के हाथ का स्पर्श मात्र करके मन्त्रज्ञ विद्वान् उसके स्थावर-जंगम दोनों तरह के विषों का विनाश कर देता है। विद्वान् पुरुष पृथ्वीमण्डल आदि में विन्यस्त वियति-मन्त्र के चारों वर्णों का अपनी श्रेष्ठ दो अँगुलियों द्वारा शरीर के नाभिस्थानों और पर्वों में न्यास करना चाहिये। उसके बाद गरुड के स्वरूप का इस तरह ध्यान करना चाहिये-'पक्षिराज गरुड दोनों घुटनों तक सुनहरी आभा से सुशोभित हैं। घुटनों से लेकर नाभि तक उनकी अङ्गकान्ति बर्फ के समान। सफेद है। वहाँ से कण्ठ तक वे कुङ्कुम के समान अरुण प्रतीत होते हैं और कण्ठ से केश पर्यन्त उनकी कान्ति असित (श्याम) है। वे समूचे ब्रह्माण्ड में व्याप्त हैं। उनका नाम चन्द्र है और वे नागमय आभूषण से विभूषित है। उनकी नासिका का अग्र भाग नीले रंग का है और उनके पंख बड़े विशाल हैं।' मन्त्रज्ञ विद्वान् अपने-आप का भी गरुड के रूप में ही चिन्तन करें। इस तरह गरुडस्वरूप

नीलोग्रनाशमात्मानं महापक्षं स्मरेद्बुधः। एवं तार्क्ष्यात्मनो वाक्यान्मंत्रः स्यान्मंत्रिणोविषे।।१६।।
मुष्टिस्तार्क्ष्यकरस्यान्तः स्थिताऽङ्गुष्ठविषापहा। तार्क्ष्ये हस्तं समुद्यम्य तत्पञ्चाङ्गुलिचालनात्।।१७।।
कुर्याद्विषस्य स्तम्भादींस्तदुक्तमदवीक्षया। आकाशादेष भूबीजः पञ्चार्णाधिपतिर्मनुः।।१८।।
संस्तम्भयेऽतिविषतो भाषया स्तम्भयेद्विषम्। व्यत्यस्तभूषणो बीजमंत्रोऽयं साधुसाधितः।।१९।।
संप्लवप्लावययमशब्दाद्यः संहरेद्विषम्। दण्डमुत्थापयेदेष सुजप्ताम्भोऽभिषेकतः।।२०।।
सुजप्तशङ्खभेर्यादिनिस्वनश्रवणेन वा। संदहत्येव संयुक्तो भूतेजोव्यत्ययात्स्थितः।।२१।।
भूवायुव्यत्ययान्मंत्रो विषं संक्रामयत्यसौ। अन्तस्थो निजवेश्मस्थो बीजाग्नीन्दुजलाम्बुभिः।।२२।।
एतत्कर्म नयेन्मंत्री गरुडाकृतिविग्रहः। तार्क्ष्यवरुणगेहस्थस्तज्जपान्नाशयेद्विषम्।।२३।।
जानुदण्डीमुदितं स्वधाश्रीबीजलाञ्छितम्?। स्नानपानात्सर्वविषं ज्वरा (र) रोगापमृत्युजित्।।२४।।
पक्षि पक्षि महापक्षि महापक्षि वि वि स्वाहा। पक्षि पक्षि महापक्षि महापक्षि क्षि क्षि स्वाहा।।२५।।

मन्त्र प्रयोक्ता पुरुष के वाक्य से मन्त्र विष पर अपना प्रभाव डालता है। गरुड के हाथ की मुट्ठी रोगी के हाथ में स्थित हो, तो वह उसके अङ्गुष्ठ में स्थित विष का विनाश कर देती है। मन्त्रज्ञ पुरुष अपने गरुडस्वरूप हाथ को ऊपर उठाकर उसी पाँचों अँगुलियों के चालन मात्र से विष से उत्पन्न होने वाले मद पर दृष्टि रखते हुए उस विष का स्तम्भन आदि कर सकता है।।१३-१७।।

आकश से लेकर भू-बीजपर्यन्त जो पाँच बीज हैं, उनको 'पञ्चाक्षर मन्त्रराज' कहा गया है। (उसका स्वरूप इस तरह है-**हं, यंर, रं, वं, लं।**) अत्यन्त विष का स्तम्भन करना हो, तो इस मन्त्र के उच्चारण मात्र से मन्त्रज्ञ पुरुष विष को रोग देता है। यह 'व्यत्यस्तभूषण' बीजमन्त्र है। अर्थात् इन बीजों को उलट-फेरकर बोलना इस मन्त्र के लिये भूषण रूप है। इसको अच्छी तरह साथ लिया जाय और इसके आदि में 'संप्लवं प्लावय प्लावय'-यह वाक्य जोड़ दिया जाय तो मन्त्रप्रयोक्ता पुरुष इसके प्रयोग से विष का विनाश कर सकता है।।१८-१९।।

इस मन्त्र के भली भाँति जप से अभिमन्त्रित जल के द्वारा अभिषेक करने मात्र से यह मन्त्र अपने प्रभाव द्वारा उस रोगी से डंडा उठवा सकता है, अथवा मन्जजपपूर्वक की गयी शङ्खभेर्यादि की ध्वनि को सुननेमात्र से यह प्रयोग रोगी के विष को अवश्य ही दग्ध कर देता है। यदि भू-बीज 'लं' तथा तेजोबीज 'रं' को उलटकर रखा जाय, अर्थात् **'हं, यं, लं, वं, रं'**-इस तरह मन्त्र का स्वरूप कर दिया जाय तो उसका प्रयोग भी उपरोक्त फल का साधक होता है। अर्थात् उससे भी विष का दहन हो जाता है। भू-बीज और वायु-बीज का व्यत्यय करने से जो मन्त्र बनता है वह (हं लं रं वं यं) विष का संक्रामक होता है, अर्थात् उसका अन्यत्र संक्रमण करा देता है। मन्त्र-प्रयोक्ता पुरुष रोगी के सन्निकट बैठा हो या अपने गृह में स्थित हो, यदि गरुड के स्वरूप का चिन्तन तथा अपने-आप में भी गरुड की भावना करके 'रं वं,'-इन दो ही बीजों का उच्चारण (जप) करना चाहिये तो इस कर्म को सफल बना सकता है। गरुड और वरुण के मन्दिर में स्थित होकर कथित मन्त्र का जप करने से मन्त्रज्ञ पुरुष विष का विनाश कर देता है। 'स्वधा' और श्री के बीजों से युक्त करके यदि इस मन्त्र को बोला जाय तो इसको 'जानुदण्डिमन्त्र' कहते हैं। इसके जपपूर्वक स्नान और जलपान करने से साधक सभी तरह के विष, ज्वर, रोग और अपमृत्यु पर विजय पा लेता है।।२०-२४।।

१. पक्षि पक्षि महापक्षि महापक्षि वि वि स्वाहा।
२. पक्षि पक्षि महापक्षि महापक्षि क्षि क्षि स्वाहा।।

द्वावेतौ पक्षिराण्मंत्रौ विषघ्नावभिमंत्रणात्।।२६।।
पक्षिराजाय विद्महे पक्षिदेवाय धीमहि। तन्नो गरुड (:)प्रचोदयात्।।२७।।
वह्निस्थौ पार्श्वतत्पूर्वौ दन्तीश्रीकौ च दण्डिनौ। सकाली लाङ्गली चेति नीलकण्ठाद्यमीरितम्।।
वक्ष कण्ठशिखाश्चेतं न्यसेत्स्तम्भे सुसंस्कृतौ।।२८।।
हर हर हृदयाय नमः कपर्दिने च शिरसि। नीलकण्ठाय वै शिखां कालकूटविषभक्षणाय स्वाहा।।२९।।
अथ वर्म च कण्ठे नेत्रं कृत्तिवासास्त्रिनेत्रम्। पूर्वाद्यैराननैर्युक्तं श्वेतपीतारुणासितैः।।३०।।
अभयं वरदं चापं वासुकिं च दधद्भुजैः। यस्योपवीतपार्श्वस्था गौरी रुद्रोऽस्य देवता।।३१।।
पादजानुगुहानाभिहृत्कण्ठाननमूर्धसु। मंत्रार्णान्न्यस्य करयोरङ्गुष्ठाद्यङ्गुलीषु च।।३२।।
तर्जन्यादितदन्तासु सर्वमङ्गुष्ठयोर्न्यसेत्। ध्यात्वैवं संहरेत्क्षिप्रं बद्धया शूलमुद्रया।।३३।।
कनिष्ठा ज्येष्ठया बद्धा तिस्रोऽन्याः प्रसृतेर्जवाः(?)। विषनाशे वामहस्तमन्यस्मिन्दक्षिणं करम्।।३४।।
ॐ नमो भगवते नीलकण्ठाय चिः अमलकण्ठाय चिः। सर्वज्ञकण्ठाय चिः क्षिप क्षिप, ॐ स्वाहा।।
अमलनीलकण्ठाय नैकसर्वविषापहाय। नमस्ते रुद्र मन्यव इति संमार्जनाद्विषं विनश्यति

पूर्वोक्त दो पक्षिराज गरुड के मन्त्र हैं। इनके द्वारा अभिमन्त्रण करने, अर्थात् इनके जपपूर्वक रोगी को झाड़ने से ये दोनों मन्त्र विष के नाशक होते हैं।।२५-२६।।

'पक्षिराजाय विद्महे पक्षिदेवाय धीमहि तन्नो गरुडः प्रचोदयात्।'—यह गरुड-गायत्री मन्त्र है।।२७।।

उपरोक्त दोनों पक्षिराज-मन्त्रों 'रं' बीज से आवृत्त करके उनके पार्श्वभाग में भी 'रं' बीज जोड़ देना चाहिये। उसके बाद दन्त, श्री, दण्डि, काल और लाङ्गली से उनको युक्त कर दे और आदि में उपरोक्त 'नीलकण्ड-मन्त्र' जोड़ देना चाहिये। इस तरह बताये गये मन्त्र का वक्षःस्थल, कण्ठ और शिखा में न्यास करना चाहिये। कथित दोनों मन्त्रों का संस्कार करके उनको स्तम्भ में अंकित करना चाहिये।।२८।।

'हर हर स्वाहा हृदयाय नमः। कपर्द्दिने स्वाहा शिर से स्वाहा। नीलकण्ठाय स्वाहा शिखायै वषट्। कालकूटविषभक्षणाय हुं फट् कवचाच हुम्।' इससे भुजाओं तथा कण्ठ का स्पर्श करना चाहिये। **'कृत्तिवास से नेत्रत्रयाय वौषट् नीलकण्ठाय स्वाहा अस्त्राय पट्'**।।२९।।

जिनके पूर्व आदि मुख क्रमशः श्वेत, पीत, अरुण और श्याम हैं, जो अपने चारों हाथों में क्रमशः अभय, वरद, धनुष तथा वासुनिक नाग को धारण करते हैं, जिनके गले में यज्ञोपवीत शोभा पाता है और पार्श्वभाग में गौरी देवी विराजमान हैं, वे भगवान् रुद्र इस मन्त्र के देवता हैं। दोनों पैर, दोनों घुटने, गुह्यभाग, नाभि, हृदय, कण्ठ और मस्तक—इन अंगों में मन्त्र के अक्षरों का न्यास करके दोनों हाथों में अंगुष्ठ आदि अँगुलियों में अर्थात् तर्जनी से लेकर तर्जनीपर्यन्त अँगुलियों में मन्त्राक्षरों का न्यास करके सम्पूर्ण मन्त्र का अङ्गुष्ठों में न्यास करना चाहिये।।३०-३२।।

इस तरह ध्यान और न्यास करके शीघ्र ही बँधी हुई शूलमुद्रा द्वारा विष का विनाश करना चाहिये। कनिष्ठा अँगुली ज्येष्ठा से बँध जाय और तीन अन्य अँगुलियाँ फैल जायँ तो 'शूलमुद्रा' होती है। विष का विनाश करने के लिये बायें हाथ का और अन्य कार्य में दक्षिण हाथ का प्रयोग करना चाहिये।।३३-३४।।

ॐ नमो भगवते नीलकण्ठाय चिः। अमलकण्ठाय चिः। सर्वज्ञकण्ठाय चिः। क्षिप क्षिप ॐ **स्वाहा। अमलनीलकण्ठाय नैकसर्पविषापहाय। नमस्ते रुद्र मन्यवे।** इस मन्त्र को पढ़कर झाड़ने से विष नष्ट हो

न संदेहः। कर्णजाप्या उपानहा वा।।३५।।

यजेद्रुद्रविधानेन नीलग्रीवं महेश्वरम्। विषव्याधिविनाशः स्यात्कृत्वा रुद्रविधानकम्।।३६।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गति दष्टचिकित्साकथनं नाम पञ्चनवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः।।२९५।।

अथ षण्णवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

पञ्चाङ्गरुद्रविधानम्

अग्निरुवाच

वक्ष्ये रुद्रविधानं तु पञ्चाङ्गं सर्वदं परम्। हृदयं शिवसंकल्पः शिरः सूक्तं तु पौरुषम्।।१।।
शिखाऽद्भ्यः संभृतं सूक्तमाशुः कवचमेव च। शतरुद्रीयसंज्ञस्य रुद्रस्याङ्गानि पञ्च हि।।२।।
पञ्चाङ्गान्यस्य तं ध्यात्वा जपेद्रुद्रांस्ततः क्रमात्। यज्जाग्रत इति सूक्तं षडृचं मानसं विदुः।।३।।
ऋषिः स्याच्छिवसंकल्पश्छन्दस्त्रिष्टुबुदाहृतम्। शिरः सहस्रशीर्षेति तस्य नारायणोऽप्यृषिः।।४।।
देवता पुरुषोऽनुष्टुप्छन्दो ज्ञेयं च त्रैष्टुभम्। अद्भ्यः संभृतसूक्तस्य ऋषिरुत्तरगो नरः।।५।।

जाता है, इसमें संदेह नहीं है। रोगी के कान में जप करने से अथवा मन्त्र पढ़ते हुए जुते से रोगी के पास की भूमि पर पीटने से विष उतर जाता है। रुद्रविधान करके उसके द्वारा नीलकण्ठ महेश्वर का यजन करना चाहिये। इससे विष-व्याधि का विनाश हो जाता है।।३५-३६।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी दो सौ पञ्चानवेवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।२९५।।

अध्याय-२९६

पञ्चाङ्ग रुद्रविधान विधान

श्रीअग्निदेव ने कहा कि-हे वसिष्ठ! अधुना मैं 'पञ्चाङ्ग-रुद्र-विधान' का वर्णन करने जा रहा हूँ। यह परम श्रेष्ठतम तथा सब कुछ सम्प्रदान करने वाला है। 'शिवसंकल्प' इसका हृदय, 'पुरुषसूक्त' शीर्ष, 'अद्भ्यः सम्भृतः०' (यजु० ३१-१७) आदि सूक्त शिखा और 'आशुः शिशानः' आदि अध्याय इसका कवच है। शतरुद्रिय-संज्ञक रुद्र के ये पाँच अंग हैं। रुद्रदेव का ध्यान करके इसके पञ्चाङ्गभूत रुद्रों का क्रमशः जप करना चाहिये। 'यज्जाग्रतो०' आदि छः ऋचाओं का शिवसंकल्प-सूक्त (यजु० ३४/१-६) इसका हृदय है। इसके शिवसंकल्प ऋषि और त्रिष्टुप् छन्द कहे गये हैं। 'सहस्रशीर्षा०' (यजु० ३१) से प्रारम्भ होने वाला पुरुषसूक्त इसका शीर्षस्थानीय है। इसके नारायण ऋषि, पुरुष देवता और अनुष्टुप् एवं त्रिष्टुप् छन्द जानने चाहिये। 'अद्भ्यः सम्भृतः०' आदि सूक्त के उत्तरगामी नर ऋषि हैं। इनमें क्रमशः पहले तीन मन्त्रों का त्रिष्टुप् छन्द, फिर दो मन्त्रों का अनुष्टुप् छन्द और अन्तिम मन्त्र का त्रिष्टुप् छन्द है तथा पुरुष इसके देवता हैं। 'आशुः शिशानः०' 'यजु० १७-३३) आदि सूक्त में द्वादश मन्त्रों के इन्द्र देवता और

अद्यानां तिसृणां त्रिष्टुप्छन्दोऽनुष्टुब्द्वयोरपि। छन्दस्त्रैष्टुभमन्त्यायाः पुरुषोऽस्यास्ति देवता॥६॥
आशुरिन्द्रो द्वादशानां छन्दस्त्रिष्टुवुदाहृतम्। ऋषिः प्रोक्तः प्रतिरथः सूक्ते सप्तदशर्चके॥७॥
पृथक्पृथग्देवताः स्युः पुरुविदङ्गदेवता। अवशिष्टदैवतेषु च्छन्दोऽनुष्टुवुदाहृतम्॥८॥
असौ यस्ताम्रो भवति पुरुलिङ्गोक्तदेवता। पंक्तिश्छन्दोऽथ मर्माणि त्रिष्टुब्लिङ्गोक्तदेवताः॥९॥
रौद्राध्याये च सर्वस्मिन्नृषिः स्यात्परमेष्ठ्यथ। प्रजापतिर्वा देवानां कुत्सश्च तिसृणां पुनः॥१०॥
मनोद्वयोरुगेका स्याद्रुदो रुद्राश्च देवताः। आद्योऽनुवाकोऽथ पूर्व एकरुद्राख्यदैवतः॥११॥
छन्दो गायत्रमाद्याया अनुष्टुप्तिसृणामृचाम्। तिसृणां च तथा पंक्तिरनुष्टवथ संस्मृतम्॥१२॥
द्वयोश्च जगतीछन्दो रुद्राणामप्यशीतयः। हिरण्यबाहवस्तिस्रो नमो वः किरिकाय च॥१३॥
पञ्चर्चो रुद्रदेवाः स्युर्मन्त्रे रुद्रानुवाककः। विंशके रुद्रदेवास्ताः प्रथमा बृहती स्मृता॥१४॥
ऋग्द्वितीया त्रिजगती तृतीया त्रिष्टुबेव च। अनुष्टभो यजुस्तिस्र आर्योऽभिज्ञः सुसुद्धिभाक्॥१५॥

त्रैलोक्यमोहनेनापि विषव्याध्यादिमर्दनम्॥१५॥
इं श्रीं ह्रीं ह्रूं त्रैलोक्यमोहनाय विष्णवे नमः॥१६॥
अनुष्टुभनृसिंहेन विषव्याधिविनाशनम्॥१७॥

त्रिष्टुप् छन्द हैं। इन सत्रह ऋचाओं के सूक्त के ऋषि 'प्रतिरथ' कहे गये हैं, परन्तु देवता भिन्न-भिन्न माने गये हैं। कुछ मन्त्रों के पुरुवित् देवता हैं। अवशिष्ट देवता सम्बन्धी मन्त्रों का छन्द अनुष्टुप् कहा गया है।

'असौ यस्ताम्रो०' (यजु० १६-६) मन्त्र के पुरुलिङ्गोक्त देवता और पंक्ति छन्द हैं। 'मर्माणि ते०' (यजु० १७-४९) मन्त्र का त्रिष्टुप् छन्द और लिङ्गोक्त देवता हैं। सम्पूर्ण रुद्राध्याय के परमेष्ठी ऋषि, 'देवानाम्' इत्यादि मन्त्रों के प्रजापति ऋषि और तीनों ऋचाओं के कुत्स ऋषि हैं। 'मा नो महान्तमुत मा नो.' (यजुर्वेद १६/१५) और 'मा नो महान्तमुत मा नो०' (यजुर्वेद १६/१५) और 'मा नस्तोके.' (यजु० १६/१६) आदि दो मन्त्रों के एकमात्र उमा तथा अन्य मन्त्रों के रुद्र और रुद्रगण देवता हैं। सोलह ऋचाओं वाले आद्य अनुवाक के रुद्र देवता हैं। प्रथम मन्त्र का छन्द गायत्री, तीन ऋचाओं का अनुष्टुप् तीन ऋचाओं का पंक्ति, सात ऋचाओं का अनुष्टुप् और दो मन्त्रों का जगती छन्द है। 'नमो हिरण्यबाहवे०' (यजु० १६/१७) मन्त्र से लेकर 'नमो वः किरिकेभ्यः०' (यजु० १६/४६) तक रुद्रगण की तीन अशीतियाँ हैं।

रुद्रानुवाक के पाँच ऋचाओं के रुद्र देवता हैं। बीसवीं ऋचा भी रुद्रदेवता-सम्बन्धिनी है। पहली ऋचा का छन्द बृहती, दूसरी का त्रिजगती, तीसरी का त्रिष्टुप् और शेष तीन का अनुष्टुप् छन्द है। श्रेष्ठ आचरण से युक्त पुरुष इसका ज्ञान पाकर श्रेष्ठतम सिद्धि का लाभ करता है। 'त्रैलोक्य-माहेन' मन्त्र से भी विष-व्याधि आदि का विनाश होता है। वह मन्त्र इस प्राकार है-**'इं श्रीं ह्रीं ह्रूं त्रैलोक्यमोहनाय विष्णवे नमः।'** त्रैलोक्यमोहन विष्णु को नमस्कार है निम्नांकित आनुष्टुभ नृसिंह-मन्त्र से भी विष-व्याधि का विनाश होता है॥१-१६॥

आनुष्टुभ नृसिंह-मन्त्र

ॐ ह्रं इं उग्रं वीरं महाविष्णुं ज्वलन्तं सर्वतोमुखम्। नृसिंहं भीषणं भद्रं मृत्युमृत्युं नमाम्यहम्॥

ॐ हम्, इम्, उग्रं वीरं महाविष्णुं ज्वलन्तं सर्वतोमुखम्।।१८।।
नृसिंहं भीषणं भद्रं मृत्युमृत्युं नमाम्यहम्। अयमेव तु पञ्चाङ्गो मन्त्रः सर्वार्थसाधकः।।१९।।
द्वादशाष्टाक्षरौ मन्त्रौ विषव्याधिविमर्दनौ। कुब्जिका त्रिपुरा गौरी चन्द्रिका विषहारिणी।।२०।।
प्रसादमन्त्रो विषहृदायुरारोग्यवर्धनः। सौरो विनायकस्तद्वद्रुद्रमन्त्राः सदाऽखिलाः।।२१।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते पञ्चाङ्गरुद्रविधानं नाम षण्णवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः।।२९६।।

'जो उग्र, वीर, सर्वतोमुखी तेज से प्रज्वलित, भयंकर तथा मृत्यु की भी मृत्यु होते हुए भी भक्तजनों के लिये कल्याण स्वरूप हैं, उन महाविष्णु नृसिंह का मैं भेजन करने जा रहा हूँ। हृदयादि पाँच अङ्गों के न्यास से युक्त यही मन्त्र सतस्त अर्थों को सिद्ध करने वाला है। भगवान् श्रीहरि विष्णु के द्वादशाक्षर और अष्टाक्षर मन्त्र भी विष-व्याधि का विनाश करने वाले हैं। '**कुब्जिका त्रिपुरा गौरी चन्द्रिका विषहारिणी।**'–यह प्रसादमन्त्र विषहारक तथा आयु और आरोग्य का वर्धक है। सूर्य और विनायक के मन्त्र भी विपहारी कहे गये हैं। इसी तरह समस्त रुद्रमन्त्र भी विष का विनाश करने वाले हैं।।१८-२१।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी दो सौ छियानवेवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।२९६।।

❖❖❖

अथ सप्तनवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

विषहृन्मंत्रौषधम्

अग्निरुवाच

ॐ नमो भगवते रुद्राय च्छिन्दच्छिन्दविषं ज्वलितपरशुपाणये च। नमो भगवते पक्षिरुद्राय दष्टकमुत्थापयोत्थापय दष्टकं कम्पय कम्पय जल्पय जल्पय सर्वदष्टमुत्थापयोत्थापय लल लल बन्ध बन्ध मोचय मोचय वररुद्र गच्छ गच्छ वध वध त्रुट त्रुट वुक वुक भीषय भीषय मुष्टिना विषं संहर संहर ठ ठ।।१।।
पक्षिरुद्रेण ह विषं नाशमायाति मन्त्रणात्।।२।।

ॐ नमो भगवते रुद्र नाशय विषं स्थावरजङ्गमं कृत्रिमाकृत्रिममुपविषं नाशय नानाविषं दष्टकविषं नाशय धम धम दम दम वम वम मेघान्धकारधारावर्ष निर्विषी भव संहर संहर गच्छ गच्छाऽऽवेशयाऽऽवेशय विषोत्थापनरूपं मन्त्राद्विविषधारणम्। ॐ क्षिप, ॐ क्षिप स्वाहा ॐ ह्रां ह्रीं खीं सः, ठं द्रौं ह्रीं ठः।।३।।

जपादिना साधितस्तु सर्पान्बध्नाति नित्यशः। एकद्वित्रिचतुर्बीजः कृष्णचक्राङ्गपञ्चकः।।
गोपीजनवल्लभाय स्वाहा सर्वार्थसाधकः।।४।।

अध्याय–२९७

विषहारी मन्त्र-औषधि विचार

श्रीअग्नि देव ने कहा कि–हे वसिष्ठ! '**ॐ नमो भगवते रुद्राय च्छिन्द-च्छिन्द विषं ज्वलितपरशुपाणये स्वाहा।**' इस मन्त्र से और '**ॐ नमो भगवते पक्षिरुद्राय दष्टकमुत्थापयोत्थापय, दष्टकं कम्पय कम्पय जल्पय जल्पय सर्पदष्टमुत्थापयोत्थापय लल लल बन्ध बन्ध मोचय मोचय वररुद्र गच्छ गच्छ वध वध त्रुट त्रुट वुक वुक भीषय भीषय मुष्टिना विषं संहर संहर ठ ठ।**'–इस पक्षिरुद्र मन्त्र' से सर्पदष्ट मनुष्य को अभिमन्त्रित करने पर उसके विष का विनाश हो जाता है।

ॐ नमो भगवते रुद्र नाशय विषं स्थावरजङ्गमं कृत्रिमाकृत्रिमं विषमुपविषं नाशय नानाविषं दष्टकविषं नाशय धम धम दम दम वम वम मेघान्धकारधारावर्षकर्षं निर्विषीभव संहर संहर गच्छ गच्छ आवेशय आवेशय विषेत्थापनरूपं मन्त्राद् विषधारणम् 'ॐ क्षिप ॐ क्षिप स्वाहा' 'ॐ ह्रां ह्रीं खीं सः ठं द्रौं ह्रीं ठः।'–यह मन्त्र जप आदि के द्वारा सिद्ध होने पर सदैव सर्पों को बाँध लेता है।

'**गोपीजनवल्लभाय स्वाहा**'–यह मन्त्र सम्पूर्ण अभीष्ट अर्थों को सिद्ध करने वाला है। इसमें अभीष्ट अर्थों को सिद्ध करने वाला है। इसमें आदि के एक, दो तीन और चौथा अक्षर बीज के रूप में होगा। इससे हृदय, सिर, शिखा और कवच का न्यास होगा। फिर '**कृष्णचक्राय अस्त्राय फट्**' बोलने से पञ्चाङ्गन्यास की क्रिया पूरी होगी।

ॐ नमो भगवते रुद्राय प्रेताधिपतये शृणु शृणु गर्ज गर्ज भ्रामय भ्रामय मुञ्च मुञ्च मुह्य मुह्य कट्ट कट्ट, आविश आविश सुवर्णपतङ्ग रुद्रो ज्ञापयति ठ ठ।।५।।

पातालक्षोभमन्त्रोऽयं मन्त्रणाद्विषनाशनः। दंशकाहिदंशे सद्यो दष्टः काष्ठशिलादिना।।६।।

विषशान्त्यै दहेद्दंशज्वालकोकनदादिना। शिरीषबीजपुष्पार्कक्षीरबीजकटुत्रयम्।।७।।

विषं विनाशयेत्पानलेपनेनाञ्जनादिना। शिरीषपुष्पस्य रसभावितं मरिचं सितम्।।८।।

पाननस्याञ्जनाद्यैश्च विषं हन्यान्न संशयः। कोषातकीवचाहिङ्गुशिरीषार्कपयोयुतम्।।९।।

कटुत्रयं समेषाम्भो हरेन्नस्यादिना विषम्। रामठेक्ष्वाकुसर्वाङ्गचूर्णं नस्याद्विषापहम्।।१०।।

इन्द्रबलाग्निकं द्रोणं तुलसी देविका सहा। तद्रसाक्तं त्रिकटुकं चूर्णं भक्ष्यं विषापहम्।।११।।

पञ्चाङ्गं कृष्णपञ्चम्यां शिरीषस्य विषापहम्।।१२।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते विषहन्मन्त्रौषधकथनं नाम सप्तनवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः।।२९७।।

—※※※—
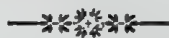
ॐ नमो भगवते रुद्राय प्रेताधिपतये हुलु हुलु गर्ज गर्ज नागान् भ्रामय भ्रामय मुञ्च मुञ्च मोहय मोहय कट्ट कट्ट आविश आविश सुवर्णपतङ्ग रुद्रो ज्ञापयति स्वाहा।।१-५।।

यह 'पातालक्षोभ-मन्त्र' है। इसके द्वारा रोगी को अभिमन्त्रित करने से यह उसके लिये विषनाशक होता है। दंशक सर्प के डँस लेने पर जलते काष्ठ, तप्त शिला, आग की ज्वाला अथवा गरम कोकनद (कमल) आदि के द्वारा दंश-स्थान को जला दे–सेंक दे; इससे विशय का उपशमन होता है। शिरीषवृक्ष के बीज और पुष्प, आक के दूध और बीज एवं सोंठ, मिर्च तथा पीपल–ये पान, लेपन और अञ्जन आदि के द्वारा विष का विनाश करते हैं। शिरीष-पुष्प के रस से भावित सफेद मिर्च पान, नस्य और अञ्जन आदि के द्वारा विष का उवसंहार करती है, इसमें संदेह नहीं है। कड़वी तोरई, वच, हींग तथा शिरीष और आक का दूध, त्रिकुटु और मेषाम्भ–इनका नस्य आदि के रूप में प्रयोग होने पर ये विष का हरण करते हैं। अङ्कोल और कड़वी तुम्बी के सर्वाङ्ग के चूर्ण से नस्य लेने से विष का अपहरण होता है। इन्द्रायण, चित्रक, द्रोण (गूमा), तुलसी, धतूरा और सहा–इनके रस में त्रिकटु के चूर्ण को भिगोकर खाने से विष का विनाश होता है। कृष्णपक्ष की पञ्चमी को लाया हुआ शिरीष का पञ्चाङ्ग विषहारी है।।६-१२।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी दो सौ सन्तानवेवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।२९७।।

❖❖❖

अथाष्टनवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

गोनसादिचिकित्सा

अग्निरुवाच

गोनसादिचिकित्सां च वशिष्ठ शृणु वच्मि ते।।१।।

ॐ ह्रां ह्रीम्, अमलपक्षि स्वाहा।।२।।

ताम्बूलखादनान्मन्त्री हरेन्मण्डलिनो विषम्। लशुनं रामठफलं कुष्ठोग्रा व्योषकं विषे।।३।।
स्नुहीक्षीरं गव्यघृतं पक्वं पीत्वाऽहिजे विषे। अथ राजिलदष्टे च पेया कृष्णा ससैन्धवा।।४।।
आज्यं क्षौद्रं शकृत्तोयं पुरीतत्या विषापहम्। सकृष्णाखण्डदुग्धाज्यं पातव्यं तेन माक्षिकम्।।५।।
व्योष पिच्छं बिडालास्थिनकुलाङ्गरुहैः समैः। चूर्णितैर्मेषदुग्धाक्तैर्धूपः सर्वविषापहः।।६।।
रोमनिर्गुण्डिकाकोलवर्णैर्वा लशुनं समम्। मुनिपत्रैः कृतस्वेदं दष्टं काञ्जिकपाचितैः।।७।।
मूषिकाः षोडश प्रोक्ता रसं कार्पासजं पिबेत्। सतैलं मूषिकार्तिघ्नं फलिनीकुसुमं तथा।।८।।
सनागरगुडं भक्ष्यं तद्विषारोचकापहम्। चिकित्सा विंशतिः प्रोक्ता लूता विषहरो गणः।।९।।
पद्मकं पाटली कुष्ठ नतमुशीरचन्दनम्। निर्गुण्डी सारिवा शेलु लूतार्तं सेचयेज्जलैः।।१०।।
गुञ्जानिर्गुण्डिकङ्कोलपर्णं शुण्ठी निशाद्वयम्। करञ्जास्थि च तत्पङ्कैर्वृश्चिकार्तिहरं शृणु।।११।।

अध्याय-२९८

गोनसादि चिकित्सा विचार

श्रीअग्निदेव ने कहा कि–हे वसिष्ठ! अधुना मैं तुम्हारे सम्मुख गोनस आदि जाति के सर्पों के विष की चिकित्सा का वर्णन करने जा रहा हूँ, ध्यान देकर सुनो। **'ॐ ह्रां ह्रीं अमलपक्षि स्वाहा'**–इस मन्त्र से अभिमन्त्रित ताम्बूल के प्रयोग से मन्त्रवेत्ता मण्डली (गोनस) सर्प के विष का हरण करता है। लहसुन, अङ्कोल, त्रिफला, कूट, वच और त्रिकटु–इनका सर्पविष में पान करना चाहिये। सर्पविष में स्नुहीदुग्ध, गोदुग्ध गोदधि और गोमूत्र में पकाया हुआ गोघृत पान करना चाहिये। राजिलजातीय सर्प के डँस लेने पर सैन्धवलवण, पीपल, घृत, मधु, गोमयरस और साही की आँत का भक्षण करना चाहिये। सर्पदष्ट मनुष्य को पीपल, शर्करा, दुग्ध, घृत और मधु का पान करना चाहिये। त्रिकटु, मयूरपिच्छ, पिडाल की अस्थि और नेवले का रोम–इन सभी को समान भाग लेकर चूर्ण बना ले। फिर भेड़ के दूध में भिगोकर उसी धूप देने से सभी तरह के विषों का विनाश होता है। पाठा, निगुण्डी और अङ्कोल के पत्र को समान भाग में लेकर तथा सबके समान लहसुन लेकर बनाया हुआ धूप भी विषनाशक है। अगस्त्य के पत्तों को काँजी में पकाकर उसकी भाप से डसे हुए स्थान को सेंका जाय, इससे विष उतर जाता है।।१-७।।

मूषक सोलह तरह के कहे गये हैं। कपास का रस तेल के साथ पान करने से 'मूषक-विष' का विनाश होता है। फलिनी (फलिहारी) के फूलों का सोंठ और गुड़ के साथ भक्षण करना चाहिये। यह विषरोगनाशक है। लूताएँ (मकड़ी) बीस तरह की कही गयी हैं। इनके विष की सावधानी से चिकित्सा करनी चाहिये। पद्म, पद्माक, काष्ठ, पाटला,

मञ्जिष्ठा चन्दनं व्योषपुष्पाशिरीषकौमुदम्। संयोज्याश्चतुरो योगा लेपादौ वृश्चिकापहाः॥१२॥
ॐ नमो भगवते रुद्राय चिवि चिवि च्छिन्द च्छिन्द किरि किरि भिन्द भिन्द
खड्गेन च्छेदय च्छेदय शूलेन भेदय भेदय चक्रेण दारय दारय ॐ हूं फट्॥१३॥
मंत्रेण मंत्रितो देयो गर्दभादीन्निकृन्तति। त्रिफलोशीरमुस्ताम्बुमांसीपद्मकचन्दनम्॥१४॥
अजाक्षीरेण पानादौ गर्दभादेर्विषं हरेत्। हरेच्छिरीषपञ्चाङ्गव्योषं शतपदीविषम्॥१५॥
सकन्धरं शिरीषास्थि हरेदुन्दूरजं विषम्। व्योषं ससर्पिः पिण्डीतमूलमस्य विषं हरेत्॥१६॥
क्षारव्योषवचाहिङ्गुविडङ्गं सैन्धवं नतम्। अम्बष्ठाऽतिबला कुष्ठं सर्वकीटविषं हरेत्॥
यष्टिव्योषगुडक्षीरयोगः शुनो विषापहः॥१७॥
ॐ सुभद्रायै नमः, ॐ सुप्रभायै नमः॥१८॥
यान्यौषधानि गृह्यन्ते विधानेन विना जनैः। तेषां बीजं त्वया ग्राह्यमिति ब्रह्माऽब्रवीच्च ताम्॥१९॥
तां प्रणम्यौषधीम् पश्चाद्यवान्प्रक्षिप्य मुष्टिना। दश जप्त्वा मन्त्रमिमं नमस्कुर्यात्तदौषधम्॥२०॥
त्वामुद्धराम्यूर्ध्वनेत्रामनेनैव च भक्षयेत्। नमः पुरुषसिंहाय नमो गोपालकाय च॥२१॥

कूट, तगर, नेत्रबाला, खस, चन्दन, निर्गुण्डी, सारिवा और शेलु (लिसोड)–यह लूता-विषहारीगण हैं। गुञ्जा, निगुण्डी और अङ्कोल के पत्र, सोंठ, हल्दी, दारुदल्दी, करञ्ज की छाल–इनको पकाकर 'लूताविष' से पीड़ित मनुष्य का उपरोक्त औषधियों से युक्त जल के द्वारा सेचन करना चाहिये॥८-१३॥

अधुना 'वृश्चिक-विष' का अपहरण करने वाली औषधियों को सुनो। मञ्जिष्ठा, चन्दन, त्रिकटु तथा शिरीष, कुमुद के पुष्प–इन चारों योगों को एकत्रित करना चाहिये। ये योग लेप आदि करने पर वृश्चिक-विष का विनाश करते हैं।

'ॐ नमो भगवते रुद्राय चिवि चिवि च्छिन्द च्छिन्द किरि किरि भिन्द भिन्द खड्गेन च्छेदय च्छेदय शूलेन भेदय भेदय चक्रेण दारय दारय ॐ हूं फट्।

इस मन्त्र से अभिमन्त्रित अगद (औषधि) विषार्त मनुष्य को देना चाहिये। यह गर्दभ आदि के विष का विनाश करता है। त्रिफला, खस, नागरमोथा, नेत्रबाला, जटामांसी, पद्मक और चन्दन–इनको बकरी के दूध के साथ पिलाने पर गर्दभ आदि के विषों का विनाश होता है। शिरीष का पञ्चाङ्ग और त्रिकटु गोजर के विष का हरण करता है। स्नुही-दुग्ध के साथ सिरस की छाल 'उन्दूरज दर्दुर' (मेढक) के विष का शमन करती है। त्रिकटु और तगरमूल घृत के साथ प्रयुक्त होने पर 'मत्स्यविष' का विनाश करते हैं। यवक्षार, त्रिकटु, वच, हींग, बायबिडंग, सैन्धवलवण, तगर, पाठा, अतिबला और कूट–ये सभी तरह के 'कीट-विषों' का विनाश करते हैं। यवक्षार, त्रिकटु, वच, हींग, बायबिडंग, सैन्धवलवण, तगर, पाठा, अतिबला और कूट–ये सभी तरह के 'कीट-विषों' का विनाश करते हैं। मुलहठी, त्रिकटु, गुड और दुग्ध का–इनका योग 'पागल कुत्ते' के विष का हरण करता है॥१४-१७॥

'ॐ सुभद्रायै नमः, ॐ सुप्रभायै नमः'–यह औषधि उखाड़ने का मन्त्र है। भगवान् ब्रह्मा ने सुप्रभादेवी को आदेश दे रखा है कि मानवगण जो औषधियाँ बिना विधि-विधान के ग्रहण करते हैं, आप उन औषधियों का प्रभाव ग्रहण करो। इसलिये पहले सुप्रभा देवी को नमस्कार करके औषधि के चारों तरफ मुट्ठी से जौ बिखेर कर उपरोक्त मन्त्र का दस बार जप करके औषधि को नमस्कार करना चाहिये और कहे–'तुम ऊर्ध्वनेत्रा हो; मैं आपको उखाड़ता हूँ। इस विधि से औषधि को उखाड़े और निम्नांकित मन्त्र से उसका भक्षण करना चाहिये–**नमः पुरुषसिंहाय नमो**

आत्मनैवाभिजानाति रणे कृष्ण पराजयम्। अनेन सत्यवाक्येन अगदो मेऽस्तु सिध्यतु॥२२॥
नमो वैदूर्यमात्रे तत्र रक्ष रक्ष मां सर्वविषेभ्यो। गौरि गान्धारि चाण्डालि मातङ्गिनि स्वाहा हरिमाये॥२३॥
औषधादौ प्रयोक्तव्यो मन्त्रोऽयं स्थाविरे विषे। मुक्तमात्रे स्थिते ज्वाले पद्मशीताम्बुसेवितम्॥
पाययेत्सघृतं क्षौद्रं विषिञ्चेत्तदनन्तरम्॥२४॥

॥इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते गोनसादिचिकित्साकथनं नामाष्टनवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः॥२९८॥
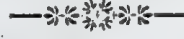
गोपालकाय च। आत्मनैवाभिजानाति रणे कृष्णः पराजयम्। अनेन सत्यवाक्येन अगदो मेऽस्तु सिद्ध्यतु॥
'पुरुषसिंह भगवान् गोपाल को बारंबार नमस्कार है। युद्ध में अपनी पराजय की बात श्रीकृष्ण ही जानते हैं–इस सत्य वाक्य के प्रभाव से यह अगद मुझको सिद्धिप्रद हो।'

स्थावर विष की औषधि आदि में निम्नलिखित मन्त्र का प्रयोग करना चाहिये–'**ॐ नमो वैदूर्यमात्रे तत्र रक्ष मां सर्वविषेभ्यो गौरि गान्धारि चाण्डालि मातङ्गिनि स्वाहा हरिमाये।**'

विष का भक्षण कर लेनेपर पहले वमन कराके विषयुक्त मनुष्य का शीतल जल से सेचन करना चाहिये। उसके बाद उसको मधु और घृत पिलाये और तत्पश्चात् विरेचन कराये॥१८–२४॥

॥इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी दो सौ अनठानवेवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ॥२९८॥

❖❖❖

अथ नवनवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

बालादिग्रहहरबालतन्त्रम्

अग्निरुवाच

बालतन्त्रं प्रवक्ष्यामि बालादिग्रहमर्दनम्। अथ जातदिने वत्सं ग्रही गृह्णाति पापिनी।।१।।
गात्रोद्वेगो निराहारो नानाग्रीवाविवर्तनम्। तच्चेष्टितमिदं तत्स्यान्मातृणां च बलं हरेत्।।२।।
मत्स्यमांससुराभक्ष्यगन्धस्रग्धूपदीपकैः। लिम्पेच्च धातकीलोध्रमञ्जिष्ठातालचन्दनैः।।३।।
महिषाक्षेण धूपश्च द्विरात्रे भीषणी ग्रही। तच्चेष्टा कासनिःश्वासौ गात्रसंकोचनं मुहुः।।४।।
अजामूत्रयुतैः कृष्णा सेव्याऽपामार्गचन्दनैः। गोशृङ्गदन्तकेशैश्च धूपयेत्पूर्ववद्बलिः।।५।।
ग्रही त्रिरात्रे घण्टाली तच्चेष्टा क्रन्दनं मुहुः। जृम्भणं स्वनितं त्रासो गात्रोद्वेगमरोचनम्।।६।।
केशराञ्जनगोहस्तिदन्तं साजपयो लिपेत्। नखराजीबिल्वदलैर्धूपयेच्च बलिं हरेत्।।७।।
ग्रही चतुर्थी काकोली गात्रोद्वेगः प्ररोचनम्। फेनोद्गारो दिशो दृष्टिः कुल्माषैः सासवैर्बलिः।।८।।
गजदन्ताहिनिर्मोकवाजिमूत्रप्रलेपनम्। सराजीनिम्बपत्रेण वृककेशेन धूपयेत्।।९।।

अध्याय-२९९

बालादिग्रहहर बालतन्त्र विचार

श्रीअग्निदेव ने कहा कि–हे वसिष्ठ! अधुना मैं बालादि ग्रहों को शान्त करने वाले 'बालतन्त्र' को कहने जा रहा हूँ। शिशु को जन्म के दिन 'पापिनी' नाम वाली ग्रही ग्रहण कर लेती है। उससे आक्रान्त बालक के शरीर में उद्वेग बना रहता है। वह माँ का दूध पीना छोड़ देता है, लार टपकाता है और बारंबार ग्रीवा को घुमाता है। यह सारी चेष्टा पापिनी ग्रही के कारण से ही होती है। इसके निवारण के लिये पापिनी ग्रही और मातृकाओं के उद्देश्य से उनके योग्य विविध भक्ष्य पदार्थ, गन्ध, माल्य, धूप एवं दीप की बलि सम्प्रदान करना चाहिये।

पापिनी द्वारा गृहीत शिशु के शरीर में धातकी, लोध, मजीठ, तालीसपत्र और चन्दन से लेप करना चाहिये और गुग्गुल से धूप देना चाहिये। जन्म के दूसरे दिन भीषणी ग्रही शिशु को आक्रान्त करती है। उससे आक्रान्त शिशु की ये चेष्टाएँ होती हैं–वह खाँसी और श्वास से पीड़ित रहता है तथा अंगों को बारंबार सिकोड़ता है। ऐसे बालक को बकरी के मूत्र, अपामार्ग और चन्दन के साथ घिसी हुई पिप्पली का सेवन कराना–अनुलेप लगाना चाहिये। गोशृंग, गोदन्त तथा केशों की धूप दे एवं पूर्ववत् बलि सम्प्रदान करना चाहिये। तीसरे दिन 'घण्टाली' नाम की ग्रही बच्चे को ग्रहण करती है। उसके द्वारा गृहीत शिशु की निम्नलिखित चेष्टाएँ होती हैं। वह बारंबार रुदन करता है, जँभाइयाँ लेता है, कोलाहल करता है एवं त्रास, गात्रोद्वेग और अरुचि से युक्त होता है। ऐसे शिशु को केसर, रसाञ्जन, गोदन्त और हस्तिदन्त को बकरी के दूध में पीसकर लेप लगाये। नख, राई और बिल्वपत्र से धूप दे तथ उपरोक्त बलि अर्पित करना चाहिये। चौथी ग्रही 'काकोली' कही गयी हैं इससे गृहीत बालक के शरीर में उद्वेग होता है। वह जोर-जोर से रोता है। मुँह से गाज निकालता है और चारों दिशाओं में बारंबार देखता है। इसकी शान्ति के लिये मदिरा और कुल्माष (चना या उड़द) की बलि दे तथा बालक के गजदन्त, साँप की केंचुल और अश्वमूत्र का प्रलेप करना चाहिये। उसके

हंसाधिका पञ्चमी स्याज्जृम्भाश्वासोर्ध्वधारिणी। मुष्टिबन्धश्च तच्चेष्टा बलिं मत्स्यादिना हरेत्॥१०॥
मेषशृङ्गबलालोध्रशिलातालैः शिशुं लिपेत्। फट्कारी तु ग्रही षष्ठी भयमोहप्ररोदनम्॥११॥
निराहारोऽङ्गविक्षेपो हरेन्मत्स्यादिना बलिम्। राजी गुग्गुलुकुष्ठेभदन्ताद्यैर्धूपलेपनैः॥१२॥
सप्तमे मुक्तकेश्यार्तः पूतिगन्धो विजृम्भणम्। नादः प्ररोदनं कासो धूपो व्याघ्रनखैर्लिपेत्॥१३॥
बचागोमयगोमूत्रैः श्रीदण्डी चाष्टमे ग्रही। दिशो निरीक्षणं जिह्वाचालनं कासरोदनम्॥१४॥
बलिः पूर्वैश्च मत्स्त्याद्यैर्धूपलेपे च हिङ्गुना। वचासिद्धार्थलशुनैश्चोर्ध्वग्राही महाग्रही॥१५॥
उद्वेजनोर्ध्वनिःश्वासः स्वमुष्टिद्वयखादनम्। रक्तचन्दनकुष्ठाद्यैर्धूपयेल्लेपयेच्छिशुम्॥१६॥
कपिरोमनखैर्धूपो दशमी रोदनी ग्रही। तच्चेष्टा रोदनं शश्वत्सुगन्धो नीलवर्णता॥१७॥
धूपो निम्बेन भूतोग्रराजीसर्जरसैर्लिपेत्। बलिं बहिर्हरेल्लाजकुल्माषकरकौदनम्॥१८॥
यावत्त्रयोदशाहं स्यादेवं धूपादिका क्रिया। गृह्णाति मासिकं वत्सं पूतना शकुनी ग्रही॥१९॥

बाद राई, नीम की पत्ती और भेड़ियें के केश से धूप देना चाहिये। 'हंसाधिका' पाँचवीं ग्रही है। इससे गृहीत शिशु जँभाई लेता, ऊपर की तरफ जोर से साँस खींचता और मुट्ठी बाँधता है।

ऐसी ही अन्य चेष्टाएँ भी करता है। 'हंसाधिका' को उपरोक्त बलि देना चाहिये। इससे गृहीत शिशु के शरीर में काकड़ासिंगी, बला, लोध, मैनसिल और तालीसपत्र का अनुलेपन करना चाहिये। 'फट्कारी' छठी ग्रही मानी गयी है। इससे आक्रान्त बालक भय से चिहुँकता, मोह से अचेत होता और बहुत रोता है, आहार का त्याग कर देता है और अपने अंगों को बहुत हिलाता-डुलाता है। 'फट्कारी' के उद्देश्य से भी उपरोक्त बलि सम्प्रदान करना चाहिये। इससे गृहीत शिशु का राई, गुग्गुलु, कूट, गजदन्त और घृत से धूपन और अनुलेपन करना चाहिये। 'मुक्तकेशी' नाम की ग्रही जन्म के सातवें दिन बालक पर आक्रमण करती है। इससे आक्रान्त बालक दुःखातुर रहता है। उसके शरीर से सड़ने-सी गन्ध आती है। वह जृम्भा, कोलाहल, अत्यधिक रुदन और कास से पीड़ित रहता है। ऐसे बालक को व्याघ्र के नखों की धूप देकर बच, गोमय और गोमूत्र से अनुलिप्त करना चाहिये। 'श्रीदण्डी' नाम वाली ग्रही शिशु को आठवें दिन पकड़ती है। इससे ग्रस्त बालक दिशाओं को देखता, जीभ को हिलाता, खाँसता और रोता है। 'श्रीदण्डी' के उद्देश्य से उपरोक्त पदार्थों की विविध बलि देना चाहिये। इससे पीड़ित शिशु को हींग, बच, सफेद सर्षप और लहसुन से धूपित तथा अनुलिप्त करना चाहिये। 'ऊर्ध्वग्रही' नवीं महाग्रही है। इससे ग्रस्त बालक उद्वेग और दीर्घ उच्छ्वास से युक्त होता है। वह अपनी दोनों मुट्ठियों को चबाता है। ऐसे शिशु को लाल चन्दन, कूट, बच और सरसों से लेप और वानर के नख एवं रोम से धूपन करना चाहिये। दसवीं 'रोदनी' नाम की ग्रही है। इससे गृहीत शिशु की निम्नलिखित चेष्टाएँ होती हैं। वह सदा रोता है, उसका शरीर नील वर्ण और सुगन्ध से युक्त हो जाता है। ऐसे शिशु को निम्ब का धूप और कूट, बच, राई तथा रालका लेपन करना चाहिये। 'रोदनी' ग्रही के उद्देश्य से जालां, कुल्माष, वनमूँग और भात की बलि देना चाहिये। इस तरह ये धूपदान आदि की क्रियाएँ शिशु के जन्म के तेरहवें दिन तक की जाती हैं। शेष तीन दिनों की सारी क्रियाएँ दसवें दिन के समान समझनी चाहिये॥१-१८॥

एक मास के शिशु को 'पूतना' नाम की ग्रही ग्रहण करती है। उसका स्वरूप शकुनि (पक्षिणी-बकी) का है। इससे पीड़ित बालक कौए के समान काँव-काँव करता, रोता, लम्बी साँसें लेता, आँखों को बारंबार मींचता

काकवद्रोदनं श्वासो मूत्रगन्धोऽक्षिमीलनम्। गोमूत्रस्नपनं तस्य गोदन्तेन च धूपनम्॥२०॥
पीतवस्त्रं ददेद्रक्तस्त्रग्गन्धैस्तैलदीपकः। त्रिविधं पायसं मद्यं तिलं मांसं चतुर्विधम्॥२१॥
करञ्जाधो यमदिशि सप्ताहं तैर्बलिं हरेत्। द्विमासिकं च मुकुटा वपुः पीतं च शीतलम्॥२२॥
छर्दिः स्यान्मुखशोषादि पुष्पगन्धांशुकानि च। अपूपमोदनं दीपः कृष्णनीरादिधूपकम्॥२३॥
तृतीये गोमुखी निद्रा सविण्मूत्रप्ररोदनम्। यवाः प्रियङ्गुः पललं कुल्माषं शाकमोदनम्॥२४॥
क्षीरं पूर्वे ददेन्मध्येऽहनि धूपश्च सर्पिषा। पञ्चभङ्गेन तत्स्नानं चतुर्थे पिङ्गलाऽऽर्तिकृत्॥२५॥
तनुः शीता पूतिगन्धः शोषः स म्रियते ध्रुवम्। पञ्चमी ललना गात्रसादः स्यान्मुखशोषणम्॥२६॥
अपानः पीतवर्णश्च मत्स्याद्यैर्दक्षिणे बलिः। षण्मासे पङ्कजा चेष्टा रोदनं विकृतस्वरः॥२७॥
मत्स्यमांससुराभक्तपुष्पगन्धादिभिर्बलिः। सप्तमे तु निराहारा पूतिगन्धादिदन्तरुक्॥२८॥
पिष्टमांससुरामांसैर्बलिः स्याद्यमुनाष्टमे। विस्फोटशोषणाद्यं स्यात्तच्चिकित्सां न कारयेत्॥२९॥

और मूत्र के समान गन्ध से युक्त होता है। ऐसे बालक को गोमूत्र से स्नान कराना और गोदन्त से धूपित करना चाहिये। 'पूतना' के उद्देश्य से ग्राम की दक्षिण दिशा में करञ्जवृक्ष के नीचे एक सप्ताह तक प्रतिदिन पीतवस्त्र, रक्तमाल्य, गन्ध, तैल, दीप, त्रिविध, पायसान्न, तिल और उपरोक्त पदार्थों की बलि देना चाहिये। दो मास के शिशु को 'मुकुटा' नाम की ग्रही ग्रहण करती है। इससे आक्रान्त शिशु का शरीर पीला और ठण्ढा पड़ जाता है। उसको सर्दी होती है, नाक से पानी गिरता है और मुख सूख जाता है। इस ग्रही के निमित्त पुष्प, गन्ध, वस्त्र, मालपूए, भात और दीपक की बलि सम्प्रदान करना चाहिये। असमे ग्रस्त बालक को कृष्णागुरु और सुगन्धबाला आदि से धूपित करना चाहिये। बालक को तृतीय मास में 'गोमुखी' ग्रहण करती है। इससे आक्रान्त शिशु बहुत नींद लेता है, बारंबार मलमूत्र करता है और जोर-जोर से रोता है। 'गोमुखी' को पहले यव, प्रियङ्गु कुल्माष, शाक, भात और दूध की पूर्व दिशा में बलि देनी चाहिये। उसके बाद मध्याह्नकाल में शिशु को पञ्चभङ्ग या पञ्चपत्र से स्नान कराकर घी से धूपित करना चाहिये। चतुर्थ मास में 'पिङ्गला' नाम की ग्रही बालक को पीड़ित करती है। इससे गृहीत बालक का शरीर सफेद और दुर्गन्धयुक्त होकर सूखने लगता है। ऐसे शिशु की मृत्यु अवश्य हो जाती है। पाँचवीं 'ललना' नाम की ग्रही होती है। इससे पीड़ित शिशु का शरीर शिथिल होता है और मुख सूखने लगता है। उसकी देह पीली पड़ जाती है और अपानवायु निकलती है। 'ललना' की शान्ति के लिये दक्षिण दिशा में उपरोक्त पदार्थों की बलि देना चाहिये। छठे मास में 'पङ्कजा' नाम की ग्रही शिशु को पीड़ित करती है। इससे गृहीत शिशु की चेष्टाएँ रुदन और विकृत स्वर आदि हैं। 'पङ्कजा' को भी उपरोक्त पदार्थ, भात, पुष्प, गन्ध आदि की बलि सम्प्रदान करना चाहिये। सातवें महीने में 'निराहारा' नाम की ग्रही शिशु को ग्रहण करती है। इससे पीड़ित शिशु दुर्गन्ध और दन्तरोग से युक्त होता है। 'निराहारा' के निमित्त मिष्टान्न और उपरोक्त पदार्थों की बलि देना चाहिये। आठवें मास में 'यमुना' नाम वाली ग्रही शिशु पर आक्रमण करती है। इससे पीड़ित शिशु के शरीर में दाने (फोड़े-फुन्सियाँ) उभर आते हैं और शरीर सूख जाता है। इसकी चिकित्सा नहीं करानी चाहिये। नवम मास में 'कुम्भकर्णी' नाम वाली ग्रही से पीड़ित हुआ बालक ज्वर और सर्दी से कष्ट पाता है तथा बहुत रोता है। 'कुम्भकर्णी' के शान्त्यर्थ उपरोक्त पदार्थ, कुल्माष (उड़द या चना) आदि पदार्थों की ईशानकोण में बलि देना चाहिये। दशम मास में 'तापसी' ग्रही बालक पर आक्रमण करती है। इससे ग्रस्त बालक आहार का परित्याग कर देता है और हमेशा अपनी आँखों को मूँदे रहता है।

नवमे कुम्भकर्ण्यार्तो ज्वरी छर्दति पालके। रोदनं मांसकुल्माषमद्याद्यैरैशके बलिः॥३०॥
दशमे तापसी चेष्टा निराहारोऽक्षिमीलनम्। घण्टा पताका पिष्टाक्ता सुरामांसबलिः समे॥३१॥
राक्षस्येकादशी पीडा नेत्रादौ न चिकित्सतम्। चञ्चला द्वादशे श्वासस्त्रासादिकविचेष्टितम्॥३२॥
बलिः पूर्वेऽथ मध्याह्ने कुल्माषाद्यैस्तिलादिभिः। यातना तु द्वितीयेऽब्दे यातनं रोदनादिकम्॥३३॥
तिलमांसमद्यमांसैर्बलिः स्नानादि पूर्ववत्। तृतीये रोदनी कम्पो रोदनं रक्तमूत्रकम्॥३४॥
गुडौदनं तिलापूपः प्रतिमा तिलपिष्टजा। तिलस्नानं पञ्चपत्रैर्धूपो राजफलत्वचा॥३५॥
चतुर्थे चटकाशोफो ज्वरः सर्वाङ्गसादनम्। मत्स्यमांसतिलाद्यैश्च बलिः स्नानं च धूपनम्॥३६॥
चञ्चला पञ्चमेऽब्दे तु ज्वरस्त्रासोऽङ्गसादनम्। मांसौदनाद्यैश्च बलिर्मेषशृङ्गेण धूपनम्॥३७॥
पलाशोदुम्बुराश्वत्थवटबिल्वदलाम्बुधृक्। षष्ठेऽब्दे धावनी शोषो वैरस्यं गात्रसादनम्॥३८॥
सप्ताहोभिर्बलिः पूर्वैर्धूपः स्नानं च भृङ्गकैः। सप्तमे यमुना छर्दिरवचोहासरोदनम्॥३९॥
मांसपायसमद्याद्यैर्बलिः स्नानं च धूपनम्। अष्टमे वा जातवेदा निराहारं प्ररोदनम्॥४०॥

'तापसी' के उद्देश्य से घण्टा, पताका, पिष्टान्न आदि पदार्थों की बलि सम्प्रदान करना चाहिये। ग्यारहवीं 'राक्षसी' नाम की ग्रही है। इससे गृहीत बालक नेत्ररोग से पीड़ित होता है। उसकी चिकित्सा व्यर्थ होती है। बारहवें महीने में 'चञ्चला' ग्रही शिशु को ग्रहण करती है। इसके द्वारा आक्रान्त बालक दीर्घ निःश्वास और भय आदि चेष्टाओं से युक्त होता है। इस ग्रही के शान्त्यर्थ मध्याह्न के समय पूर्वदिशा में कुल्माष और तिल आदि की बलि देना चाहिये।१९-३२॥

द्वितीय वर्ष में 'यातना' नाम की ग्रही शिशु को ग्रहण करती है। इससे शिशु को 'यातना' सहनी पड़ती है। और उसमें रोदन आदि दोष प्रकट होते हैं। 'यातना' ग्रही को तिल के गूदे और उपरोक्त पदार्थों की बलि देना चाहिये। स्नान आदि कर्म पूर्ववत् विधि से करना चाहिये। तृतीय वर्ष में बालक पर 'रोदिनी' अधिकार करती है। इससे ग्रस्त बालक काँपता और रोता है तथा उसके पेशाब में रक्त आता है। इइसके उद्देश्य से गुड़, भात, तिल का पूआ और पीसे हुए तिल की बनी प्रतिमा देना चाहिये। बालक को तिलमिश्रित जल से स्नान कराकर पञ्चपत्र और राजफल के छिलके से धूपं देना चाहिये।३३-३५॥

चतुर्थ वर्ष में 'चटका' नाम की राक्षसी शिशु को ग्रहण करती है। उससे ग्रस्त हुए बालक को ज्वर आता है और सोर अङ्गों में व्यथा होती है। चटका को उपरोक्त पदार्थ एवं तिल आदि की बलि दे और बालक को स्नान कराकर उसक लिये धूपन करना चाहिये। पञ्चम वर्ष में 'चञ्चला' शिशु पर अधिकार कर लेती है। इससे पीड़ित बालक ज्वर, भय और अङ्गशैथिल्य से युक्त होता है। चञ्चला को भात आदि पदार्थों की बलि दे और बालक को काकड़ासिंगी से धूपित करना चाहिये। साथ ही पलाश, गूलर, पीपल, बड़ और बिल्वपत्र के जल से उसका अभिषेक किया जाय। छठे वर्ष में 'धावनी' नाम की ग्रही बालक पर आक्रमण करती है। उससे गृहीत बालक का शरीर नीरस होकर सूखने लगता है। उसके अङ्ग-अङ्ग में पीड़ा होती है। इसके उद्देश्य से सात दिन तक उपरोक्त पदार्थों की बलि और बालक का भृङ्गराज से स्नापन और धूपन करना चाहिये।।३६-३८।।

सप्तम वर्ष में 'यमुना' ग्रही से पीड़ित बालक सर्दी, मुक्ता तथा अत्यन्त हास एवं रोदन से युक्त होता है। इस ग्रही के निमित्त पायस और उपरोक्त पदार्थ आदि की बलि दे एवं बालक का पूर्ववत् विधि से स्नापन और धूपन करना चाहिये। अष्टम वर्ष में 'जातवेदा' नाम की ग्रही बालक पर अधिकार करती है। इससे पीड़ित बालक भोजन छोड़

कृशरापूपदध्याद्यैर्बलिः स्नानं च धूपनम्। कालाब्दे नवमे बाह्वोरास्फोटो गर्जनं भयम्।।४१।।
बलिः स्यात्कृशरापूपसक्तुकुल्माषपायसैः। दशमेऽब्दे कलहंसी दाहोऽङ्गकृशता ज्वरः।।४२।।
पोलिकापूपदध्यन्नैः पञ्चरात्रं बलिं हरेत्। निम्बधूपकुष्ठलेपावेकादशमके ग्रही।।४३।।
देवदूती निष्ठुरवाग्बलिर्लेपादि पूर्ववत्। बलिका द्वादशे श्वासो बलिलेपादि पूर्ववत्।।४४।।
त्रयोदशे वायवी च मुखरोगोऽङ्गसादनम्। रक्तान्नगन्धमाल्याद्यैर्बलिः पञ्चदलैः स्नपेत्।।४५।।
राजीनिम्बदलैर्धूपो यक्षिणी च चतुर्दशे। चेष्टा शूलो ज्वरो दाहो मांसभक्ष्यादिकैर्बलिः।।४६।।
स्नानादि पूर्ववच्छान्त्यै मुण्डिकार्तिस्त्रिपञ्चके। तच्चेष्टाऽसृक्स्रवः शश्वत्कुर्यान्मातृचिकित्सनम्।।४७।।
वानरी षोडशी भूमौ पतेन्निद्रा सदा ज्वरः। पायसाद्यैस्त्रिरात्रं च बलिः स्नानादि पूर्ववत्।।४८।।
गन्धवती सप्तदशे गात्रोद्वेगः प्ररोदनम्। कुल्माषाद्यैर्बलिः स्नानधूपलेपादि पूर्ववत्।।४९।।
दिनेशाः पूतना नाम वर्षेशाः सुकुमारिकाः।।५०।।

देता है और बहुत रोता है। जातवेदा के निमित्त कृसर (खिचड़ी), मालपूए और दही आदि की बलि सम्प्रदान करना चाहिये। बालक को स्नान कराके धूपित भी करना चाहिये। नवम वर्ष में 'काला' नाम की ग्रही बालक को पकड़ती है। इससे ग्रस्त बालक अपनी भुजाओं को पकड़ती है। इससे ग्रस्त बालक अपनी भुजाओं को कँपाता है, गर्जना करता है और भयभीत रहता है। काला के शान्त्यर्थ कृसर, मालपूए, सत्तू, कुल्माष 'कलहंसी' बालक को ग्रहण करती है। इससे उसके शरीर में जलन होती है, अङ्ग दुर्बल हो जाते हैं और वह ज्वरग्रस्त रहता है। इसके निमित्त पाँच दिन तक पूरी, मालपूए, दधि और अन्न की बलि देनी चाहिये। बालक का निम्बपत्रों से धूपन और कूट का अनलेपन करना चाहिये। ग्याहरवें वर्ष में कुमार को 'देवदूती' नाम की ग्रही ग्रहण करती है। इससे वह कठोर वचन बोलता है। 'देवदूती' के उद्देश्य से पूर्ववत् बलिदान और लेपादिक करना चाहिये। बारहवें वर्ष में 'बलिका' से आक्रान्त बालक श्वास-रोग से युक्त होता है। इसके निमित्त भी उपरोक्त विधि से बलि एवं लेपादि करना चाहिये। तेरहवें वर्ष में 'वायवी' ग्रही का आक्रमण होता है। इससे पीड़ित कुमार मुखरोग तथा अङ्गशैथिल्य से युक्त होता है। वायवी को अन्न, गन्ध, माल्य आदि की बलि दे और बालक को पञ्चपत्र से स्नान कराये। राई और निम्बपत्रों से धूपित करना चाहिये। चौदहवें वर्ष में 'यक्षिणी' बालक पर अधिकार करती है। इससे वह शूल, ज्वर, दाह आदि से पीड़ित होता है। यक्षिणी के उद्देश्य से उपरोक्त विविध भक्ष्य-पदार्थों की बलि विहित है। इसकी शान्ति के लिये पूर्ववत् स्नान आदि भी करने चाहिये। पन्द्रहवें वर्ष में बालक को 'मुण्डिका' ग्रही से कष्ट होता है उससे पीड़ित बालक के सदा रक्तपात होता रहता है। इसकी चिकित्सा नहीं करनी चाहिये।।३९-४७।।

सोलहवीं 'वानरी' नाम की ग्रही है। इससे पीड़ित नवयुवक भूमि पर गिरता है और सदा निद्रा तथा ज्वर से पीड़ित रहता है। वानरी को तीन दिन तक पायस आदि की बलि दे एवं बालक को पूर्ववत् स्नान आदि कर्म कराये। सत्रहवें वर्ष में 'गन्धवती' नाम की ग्रही आक्रमण करती है। इससे ग्रस्त बालक के शरीर में उद्वेग बना रहता है। इससे ग्रस्त बालक के शरीर में उद्वेग बना रहता है और वह जोर-जोर से रोता है। इस ग्रही को कुल्माष आदि की बलि दे और पूर्ववत् स्नान, धूपन तथा लेपन आदि कर्म करना चाहिये। दिन की स्वामिनी ग्रही 'पूतना' कही जाती है और वर्ष-स्वामिनी ग्रही 'पूतना' कही जाती है और वर्ष-स्वामिनी 'सुकुमारी'।।४८-५०।।

ॐ नमः सर्वमातृभ्यो बालपीडासंयोगं भुञ्ज भुञ्ज चुट चुट स्फोटय स्फोटय स्फुर स्फुर गृह्ण गृह्णाऽऽक्रन्दयाऽऽक्रन्दय, एवं सिद्धरूपो ज्ञापयति।।५१।।
हर हर निर्दोषं कुरु कुरु बालिकां बालं स्त्रियं पुरुषं वा, सर्वग्रहाणामुपक्रमात्। चामुण्डे नमो देव्यै हं हूं ह्री मपसरापसर दुष्टग्रहान्हूं तद्यथा गच्छन्तु गृह्यकाः, अन्यत्र पन्थानं रुद्रो ज्ञापयति।।५२।।
सर्वबालग्रहेषु स्यान्मन्त्रोऽयं सर्वकामदः।।५३।।

ॐ नमो भगवति चामुण्डे मुञ्च मुञ्च बालं बालिकां वा बलिं गृह्ण गृह्ण जय जय वस वस।।५४।।
सर्वत्र बलिदानेऽयं रक्षाकृत्पठ्यते मनुः। ब्रह्मा विष्णुः शिवः स्कन्दो गौरी लक्ष्मीर्गणादयः
रक्षन्तु ज्वरदाहार्तं मुञ्चन्तु च कुमारकम्।।५५।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते बालग्रहहरबालतन्त्रकथनं नाम नवनवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः।।२९९।।

ॐ नमः सर्वमातृभ्यो बालपीडासंयोगं भुञ्ज भुञ्ज चुट चुट स्फोटय स्फोटय स्फुर स्फुर गृह्ण गृह्णक्रन्दयाऽऽक्रन्दय एवं सिद्धरूपो ज्ञापयति। हर हर निर्दोषं कुरु कुरु बालिकां बालं स्त्रियं पुरुषं वा सर्वग्रहाणामुपक्रमात्। चामुण्डे नमो देव्यै हूं हूं ह्रीं अपसर अपसर दुष्टग्रहान् हूं तद्यथा गच्छन्तु गृह्यकाः, अन्यत्र पन्थानं रुद्रो ज्ञापयति।।–इस सर्वकामप्रद-मन्त्र का बालग्रहों के शान्त्यर्थ प्रयोग करना चाहिये।५१-५३।।

ॐ नमो भगवति चामुण्डे मुञ्च मुञ्च बालं बालिकां वा बलिं गृह्ण गृह्ण जय जय वस वस।।५४।।
इस रक्षाकारी मन्त्र का सभी जगह बलिदान कर्म में पाठ किया जाता है। ब्रह्मा, विष्णु, शिव, कार्तिकेय, पार्वती, लक्ष्मी एवं मातृकागण, ज्वर तथा दाह से पीड़ित इस कुमार को छोड़ दें और इसकी और इसकी भी रक्षा करें। इस मन्त्र से भी बालग्रहजनित पीड़ा का निवारण होता है।।५५।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी दो सौ निन्यानवेवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।२९९।।

❖❖❖

अथ त्रिशततमोऽध्यायः

ग्रहहृन्मन्त्रादिकथनम्

अग्निरुवाच

ग्रहोपहारमन्त्रादीन्वक्ष्ये ग्रहविमर्दनान्। हर्षेच्छाभयशोकादिविरुद्धा शुचिभोजनात्।।१।।
गुरुदेवादिकोपाच्च पञ्चोन्दमादा भवन्त्यथ। त्रिदोषजाः संन्निपाता आगन्तव इति स्मृताः।।२।।
देवादयो ग्रहा जाता रुद्रक्रोधादनेकधा। सरित्सरस्तडागादौ शैलोपवनसेतुषु।।३।।
नदीसङ्गे शून्यगृहे बिलद्वार्येकवृक्षके। ग्रहा गृह्णन्ति पुंसश्च श्रियं सुप्तां च गर्भिणीम्।।४।।
आसन्नपुष्पां नग्नां च ऋतुस्नानं करोति या। अवमानं नृणां वैरं विघ्नं भाग्यविपर्ययम्।।५।।
देवतागुरुधर्मादिसदाचारादिलङ्घनम्। पतनं शैलवृक्षादेर्विधुन्वन्मूर्धजान्मुहुः।।६।।
रुदन्नृत्यति रक्ताक्षो हूंरूपोऽनुग्रही नरः। उद्विग्नः शूलदाहार्तः क्षुत्तृष्णार्तः शिरोर्तिमान।।७।।
देहि देहीति याचेत बालिकामग्रही नरः। स्त्रीमालाभोगस्नानेच्छुरतिकामग्रही नरः।।८।।
महासुदर्शनो व्योमव्यापी विटपनासिकः। पातालनारसिंहाद्या (!)चण्डीमन्त्रा ग्रहार्दनाः।।९।।

अध्याय-३००

ग्रहदोषहर मन्त्र-औषधि विचार

श्रीअग्नि देव ने कहा कि-हे वसिष्ठ! अधुना मैं ग्रहों के उपहार और मन्त्र आदि का वर्णन करने जा रहा हूँ, जो ग्रहों को शान्त करने वाले हैं। हर्ष, इच्छा, भय और शोकादि से, प्रकृति के विरुद्ध तथा अपवित्र भोजन से और गुरु एवं देवता के कोप से मनुष्य को पाँच तरह के उन्माद होते हैं। वे वातज, कफज, पित्तज, सन्निपातज और आगन्तुक कहे जाते हैं। भगवान् रुद्र के क्रोध से अनेक तरह के देवादि ग्रह उत्पन्न हुए। वे ग्रह नदी, तालाब, पोखरे, पर्वत, उपवन, पुल, नदी-संगम, शून्य गृह, बिलद्वार और एकान्तवर्ती इकले वृक्ष पर रहते और वहाँ जाने वाले पुरुषों को पकड़ते हैं। इसके सिवा वे सोयी हुई गर्भवती स्त्री को, जिसका ऋतुकाल सन्निकट है उस नारी को, नंगी औरत को तथा जो ऋतुस्नान कर रही हो, ऐसी स्त्री को भी पकड़ते हैं। मनुष्यों के अपमान, वैर, विघ्न, भाग्य में उलट-फेर इन ग्रहों से ही होते हैं। जो मनुष्य देवता, गुरु, धर्मादि तथा सदाचार आदि का उल्लङ्घन करता है, पर्वत और वृक्ष आदि से गिरता है, अपने केशों को बार-बार नोचता है तथा लाल आँखें किये रुदन और नर्तन करता है, उसको 'रूप' ग्रह विशेष से पीड़ित समझना चाहिये। जो मानव उद्वेगयुक्त, दाह और शूल से पीड़ित, भूख-प्यास से व्याकुल और शिरोरोग से आतुर होता और मुझे दो, मुझको दो'-ऐसा कहकर याचना करता है, उसको 'बलिकामी' ग्रह से पीड़ित जाने। स्त्री, माला, स्नान और सम्भोग की इच्छा से युक्त मनुष्य को 'रतिकामी' ग्रह से गृहीत समझना चाहिये।।१-८।।

व्योमव्यापी, महासुदर्शनमन्त्र, विटपनासिक, पातालनारसिंहादि मन्त्र तथा चण्डीमन्त्र-ये ग्रहों को मर्दन-ग्रहपीड़ा का निवारण करने वाले हैं।।९।।

(पृश्नीहिङ्गुबचाचक्रशिरीषदयितं परम्। पाशाङ्कुशधरं देवमक्षमालाकपालिनम्॥१०॥
खट्वाङ्गाब्जादिशक्तिं च दधानं चतुराननम्। अन्तर्बाह्यादिखट्वाङ्ग पद्मस्थं रविमण्डले॥११॥
आदित्यादियुतं प्रार्च्य उदितेऽर्केऽर्घ्यकं ददेत्। श्वासविषाग्निविप्रकुण्डी हल्लेखासकलो भृगुः॥१२॥
अर्काय भूर्भुवः स्वश्च ज्वालिनीं कुलमुद्गरम् (?)। पद्मासनोऽरुणो रक्तवस्त्रः सद्युतिविश्वकः (कृत्)॥१३॥
उदारः पद्मधृग्दोर्भ्यां सोमः सर्वाङ्गभूषितः। रव्यादयो ग्रहाः सौम्याः वरदाः पद्मधारिणः॥१४॥
विद्युत्पुञ्जनिभं वस्त्रं श्वेतः सोमोऽरुणः कुजः। बुधस्तद्वद्गुरुः पीतः शुक्लः शुकः शनैश्चरः॥१५॥
कृष्णाङ्गारनिभो राहुर्धूम्रः केतुरुदाहृतः। वामोरुवामहस्तान्तदक्ष हस्तोरुजानुषु॥१६॥
स्वनामाद्यैस्तु बीजान्तैर्हस्तौ संशोध्य चास्त्रतः। अङ्गुष्ठादौ तले नेत्रहृदाद्यं व्यापकं न्यसेत्॥१७॥
मूलबीजैस्त्रिभिः प्राणध्यायकं (?)न्यस्य साङ्गकम्। प्रक्षाल्य पात्रमस्त्रेण मूलेनाऽऽपूर्य वारिणा॥१८॥
गन्धपुष्पाक्षतं न्यस्य दूर्वामर्घ्यं च मन्त्रयेत्। आत्मानं तेन संप्रोक्ष्य पूजाद्रव्यं च वै ध्रुवम्॥१९॥
प्रभूतं विमलं सारमाराध्यं परमं सुखम्। पीठाद्यान्कल्पयेदेतान्हृदा मध्ये विदिक्षु च॥२०॥

अधुना ग्रहपीडा नाशन भगवान् सूर्य की आराधना बतलाते हैं–सूर्यदेव अपने दाहिने हाथों में पाश, अङ्कुश, अक्षमाला और कपाल तथा बायें हाथों में खट्वाङ्ग, कमल, चक्र और शक्ति धारण करते हैं। उनके चार मुख हैं। वे आठ भुजा और द्वादश नेत्र धारण करते हैं। सूर्यमण्डल के अन्दर कमल के आसन पर विराजमान हैं और आदित्यादि देवगणों से घिरे हुए हैं। इस तरह उनका ध्यान और पूजन करके सूर्योदयकाल में उनको अर्घ्य देना चाहिये। अर्घ्यदान का मन्त्र इस तरह है–श्वास (य), विष (ओं), अग्निमान् रण्डी (र् + ओं), हल्लेखा (ह्रीं)–ये संकेताक्षर हैं। इन सभी को जोड़कर शुद्ध मन्त्र हुआ)–**'यौं रौं ऐं ह्रीं कलशाकार्यभूर्भुवः स्वरों ज्वालिनीकुलमद्धर।'**॥१०-१२॥

ग्रहों का ध्यान–सूर्यदेव कमल के आसन पर विराजमान हैं। उनकी अङ्गकान्ति अरुण है। वे रक्तवस्त्र धारण करते हैं। उनका मण्डल ज्योतिर्मय है। वे उदार स्वभाव के हैं और दोनों हाथों में कमल धारण करते हैं। उनकी प्रकृति सौम्य है तथा सारे अङ्ग दिव्य आभूषणों से विभूषित हैं। सूर्य आदि सभी ग्रह सौम्य, बलसम्प्रदायक तथा कमलधारी हैं। उन सभी का वस्त्र विद्युत पुञ्ज के समान प्रकाशमान है। चन्द्रमा श्वेत, मङ्गल और बुध लाल, बृहस्पति पीतवर्ण, शुक्र शुक्लवर्ण शनैश्चर काले कोयले के समान कृष्ण तथा राहु और केतु धूम के समान वर्ण वाले बताये गये हैं। इन सबके बायें हाथ बायीं जाँघपर स्थित हैं और दाहिने हाथ में अभयमुद्रा शोभा पाती है। ग्रहों के अपने-अपने नाम के आदि अक्षर बिन्दुयुक्त होकर बीजमन्त्र होते हैं। 'फट्' का उच्चारण करके दोनों हाथों का संशोधन करें फिर अङ्गुष्ठ से लेकर हस्ततलपर्यन्त करन्यास और नेत्रहीन हृदयादि पञ्चाङ्गन्यास करके भानु के मूल बीजस्वरूप तीन अक्षरों 'ह्रां, ह्रीं, सः) द्वारा व्यापकन्यास करना चाहिये। उसका क्रम इस तरह है–मूलाधार चक्र से पादाग्रपर्यन्त प्रथम बीज का, कण्ठ से मूलाधारपर्यन्त द्वितीय बीज का और मूर्धा सें लेकर कण्ठ पर्यन्त तृतीय बीज का न्यास करना चाहिये। इस तरह अङ्गन्यास सहित व्यापकन्या का निष्पादन करके अर्घ्यपात्र को अस्त्रमन्त्र से प्रक्षालित करना चाहिये और उपरोक्त मूलमन्त्र का उच्चारण करके उस पात्र को जल से भर देना चाहिये। फिर उसमें गन्ध, पुष्प, अक्षत और दूर्वा डालकर पुनः उसको अभिमन्त्रित करना चाहिये। उसको अभिमन्त्रित जल से अपना और पूजा द्रव्य का अवश्य ही प्रोक्षण करना चाहिये॥१३-१९॥

तत्पश्चात् योगपीठ की कल्पना करके उस पीठ के पायों के रूप में 'प्रभूत' आदि की कल्पना करनी चाहिये।

पीठोपरि हृदो मध्ये दिक्षु चैव विदिक्षु च। पीठोपरि हृदाब्जं च केसरेत्वष्ट शक्तयः॥२१॥
वां दीप्तां वीं तथा सूक्ष्मां वुं जयां वूं च भद्रिकाम्। वें विभूतिं वैं विमलां वोमसिघातविद्युताम्॥२२॥
वौं सर्वतोमुखीं वं पीठं वः प्राच्र्य रविं यजेत्। आवाह्य दद्यात्पाद्यादि हृत्षडङ्गेन सुव्रत॥२३॥
खकारौ दण्डिनौ चण्डौ मज्जादशनसंयुता। मांसदीर्घा जरद्वायुहृदैतत्सर्वदं रवेः(?)॥२४॥
वह्नीशरक्षोमरुतां दिक्षु पूज्या हृदादयः। स्वमन्त्रैः कर्णिकान्तस्था दिक्ष्वस्त्रं पुरतः सदृक्॥२५॥
पूर्वादिदिक्षु संपूज्याश्चन्द्रज्ञगुरुभार्गवाः)। पृश्निहिङ्गुवचाचक्रशिरीषलशुनामयैः॥२६॥
नस्याञ्जनादि कुर्वीत साजमूत्रैर्ग्रहापहैः। पाठापथ्यावचाशिग्रुसिन्धुव्योषैः पृथक्पलैः॥२७॥
अजाक्षीराढके पक्वं सर्पिः सर्वग्रहान्हरेत्। वृश्चिकाली फला कुष्ठं लवणानि च शार्ङ्गकम्॥२८॥

वे क्रमशः इस तरह हैं—प्रभूत, विमल, सार, आराध्य और परमसुख। आग्नेयादि चार कोणों में और मध्यभाग में इनके नाम के अन्त में 'नमः' पद जोड़कर इनका आवाहन पूजन करना चाहिये। योगपीठ के ऊपर हृदयकमल में तथा दिशा-विदिशाओं में दीप्ता आदि शक्तियों की स्थापना करनी चाहिये। पीठ के ऊपरी भाग में हृदयकमल को स्थापित करके उसके केसरों में आठ शक्तियों की पूजा करनी चाहिये।

'रा दीप्तायै नमः पूर्वस्याम्। रीं सूक्ष्मायै नमः आग्नेयकेसरे। रूं जलायै नमः दक्षिणकेसरे। रें भद्रायै नमः नैर्ऋत्यकेसरे। रैं विभूत्यै नमः पश्चिमकेसरे। रौं विमलायै नमः वायव्यकेसरे। रौं अमोघायै नमः उत्तरकेसरे। नमः वायव्यकेसरे। रौं अमोघायै नमः उत्तरकेसरे। रं विद्युतायै नमः ईशानकेसरे। रः सर्वतोमुख्यै नमः मध्ये।—इस तरह शक्तियों की अर्चना करके **'ॐ ब्रह्मविष्णुशिवात्मकाय सौराय योगपीठाय नमः।'**—इस मन्त्र से समस्त पीठ की पूजा करनी चाहिये।

हे सुव्रत! तत्पश्चात् रवि आदि मूर्तियों का आवाहन करके उनको पाद्यादि समर्पित करना चाहिये और क्रमशः हृदादि षडङ्गन्यासपूर्वक पूजन करना चाहिये। **'खं कान्तौ'** इत्यादि संकेत से **'खं खखोल्काय नमः'** यह मन्त्र प्रकट होता है। (यथा 'खं' मन्त्र का स्वरूप है—कान्त–'ख' है, दण्डिनी–'खं' है, चण्ड–'उकार' है (संधि करने पर **'खो'** हुआ) **मज्जादशनसंयुता मांसा** 'ल' दीर्घा—दीर्घस्वर आकार से युक्त जल 'क' अर्थात् 'का' तथा वायु—'यकार'। इन सबके अन्त में हृद् —**नमः**) इसके उच्चारणपूर्वक **'आदित्यमूर्तिं परिकल्पयामि, भास्वकरपूर्तिं परिकल्पयामि, सूर्यमूर्तिं परिकल्पयामि'**—ऐसा कहना चाहिये। इन मूर्तियों के पूजन का मन्त्र इस तरह है—**'ॐ आदित्याय नमः। ऍं रवये नमः। ॐ भानवे नमः। इं भास्कराय नमः। अं सूर्याय नमः।'**

अग्निकोण, नैर्ऋत्यकोण, ईशानकोण और वायव्यकोण—इन चार कोणों में तथा मध्य में हृदादि पाँच अङ्गों की उनके नाम मन्त्रों से पूजा करनी चाहिये। वे कर्णिका के अन्दर ही कथित दिशाओं में पूजनीय हैं। अस्त्र की पूजा अपने सामने की दिशा में करनी चाहिये। पूर्वादि दिशाओं में क्रमशः चन्द्रमा, बुध, गुरु और शुक्र पूजनीय हैं तथा आग्नेय आदि कोणों में मंगल, शनैश्चर, राहु और केतु की पूजा करनी चाहिये॥२०-२५॥

पृश्निपर्णी, हींग, बच, चक्र (पित्तपापड़ी), शिरीष, लहसुन और आमय—इन औषधियों को बकरे के मूत्र में पीसकर अञ्जन और नस्य तैयार कर लेना चाहिये। उस अंजन और नस्य के रूप में कथित औषधों का उपयोग किया जाय तो वे ग्रहबाधा का निवारण करने वाले होते हैं। पाठा, पथ्या (हर्रे), वचा, शिग्रु (सहिजन), सिन्धु (सेंधा नमक), व्योष (त्रिकटु)—इन औषधों को पृथक्-पृथक् एक-एक पल लेकर उनको बकरी के एक आढ़क दूध में पका ले और उस दूध से घी निकाल ले। वह घी समस्त ग्रह-बाधाओं को हर लेता है। वृश्चिकाली (बिच्छू घास), फला, कूट,

अपस्मारविनाशाय तज्जलं त्वभियोजयेत्। विदारिकुशकाशेक्षुक्वाथजं पाययेत्पयः॥२९॥
द्रोणे सयष्टिकूष्माण्डरसे सर्पिश्च संस्कृतम्। पञ्चगव्यं घृतं तद्वद्योगं ज्वरहरं शृणु॥३०॥
ॐ भस्मास्त्राय विद्महे। एकदंष्ट्राय धीमहि। तन्नो ज्वरः प्रचोदयात्॥३१॥
कृष्णोषणनिशारास्नाद्राक्षातैलं गुडं लिहेत्। श्वासवानथ वा भार्गीं सयष्टिमधुसर्पिषा॥३२॥
पाठातिक्ताकणाभार्गीमथ वा मधुना लिहेत्। धात्री विश्वा सिता कृष्णा मुस्ता खर्जूरमागधी॥३३॥
पीवरा चेति हिक्काघ्नं तत्त्रयं मधुना लिहेत्। कामलीजीरमाण्डूकीनिशाधात्रीरसं पिबेत्॥३४॥
व्योषपद्मकत्रिफलाविडङ्गदेवदारवः। रास्नाचूर्णं समं खण्डैर्जग्ध्वा कासहरं ध्रुवम्॥३५॥

॥इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते ग्रहहृन्मन्त्रादिकथनं नाम त्रिशततमोऽध्यायः॥३००॥

सभी तरह के नमक तथा शार्ङ्गक–इनको जल में पका ले। उस जल का अपस्मार रोग (मिरगी) के विनाश के लिये उपयोग करना चाहिये। विदारीकंद, कुश, काश तथा ईख के क्वाथ से सिद्ध किया हुआ दुध रोगी को पिलाये। जेठीमधु और भथए के एक दोन रस में घी को पकाकर देना चाहिये अथवा पञ्चगव्य घी का उस रोग में प्रयोग करना चाहिये। अधुना 'ज्वर-निवारक उपाय सुनो॥२६-३०॥

ज्वर-गायत्री–(इस मन्त्र के जप से ज्वर दूर होता है।) श्वास (दमा) का रोगी कृष्णोषण (काली मिर्च), हल्दी, रास्ना, द्राक्षा और तिल का तैल एवं गुड़ का आस्वादन करें अथवा वह रोगी जेठी मधु (मुलहठी) और घी के साथ भार्गी का सेवन करना चाहिये या पाठा, तिक्ता (कुटकी), कर्णा (पिप्पली) तथा भार्गी को मधु के साथ चाटे। धात्री (आँवला), विश्वा (सोंठ), सिता (मिश्री), कृष्णा (पिप्पली), मुस्ता (नागरमोथा), खजूर मागधी (खजूर और पीपल) तथा पीवरा (शतावर)–ये औषधि हिक्का (हिचकी) दूर करने वाले हैं। उपरोक्त तीनों योग मधु के साथ लेने चाहिये। कामल रोग से ग्रस्त मनुष्य को जीरा, माण्डूकपर्णी, हल्दी और आँवले का रस पिलाना चाहिये। त्रिकटु, पद्मकाष्ठ, त्रिफला, वायविडङ्ग, देवदारु तथा रास्ना–इस सभी को सममात्रा में लेकर चूर्ण बना ले और खाँड मिलाकर उसको खाये। इस औषधि से अवश्य ही खाँसी दूर हो जाती है॥३२-३५॥

॥इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी तीन सौवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ॥३००॥

❖❖❖

अथैकाधिकत्रिशततमोऽध्यायः

सूर्यार्चनम्

अग्निरुवाच

शर्ङ्गी तु दण्डी साजेशपावकश्चतुराननः। सर्वार्थसाधकमिदं बीजं पिण्डार्थमुच्यते॥१॥
स्वयं दीर्घस्वराद्यं च बीजेष्वङ्गानि सर्वशः। खातं साधु विषं चैव सबिन्दुं सकलं तथा॥२॥
गणस्य पञ्च बीजानि पृथग्दृष्टफलं महत्॥३॥
गणं जयाय नम एकदंष्ट्राय चलकर्णिने गजवक्त्राय महोदरहस्ताय॥४॥
पञ्चाङ्गं सर्वसामान्यं सिद्धिः स्याल्लक्षजाप्यतः॥५॥
गणाधिपतये गणेश्वराय गणनायकाय गणक्रीडाय॥६॥
दिग्दले पूजयेन्मूर्तीः पुरावच्चाङ्गपञ्चकम्॥७॥

अध्याय-३०१

सूर्यदेव आराधना विचार

श्रीअग्निदेव ने कहा कि-हे वसिष्ठ! शार्ङ्गी (गकार), दण्डी (अनुस्वारयुक्त) हो, उसके साथ पद्मेश-विष्णु (ईकार) और पावक (रकार) हो, तो इन चार अक्षरों के मेल से पिण्डीभूत बीज (ग्रीं) प्रकट होता है। यह सर्वार्थसाधक माना गया है। उपरोक्त बीज के आदि में क्रमशः दीर्घ स्वरों को जोड़कर उनके द्वारा अङ्गन्यास करना चाहिये। तथा

'ग्रां हृदयाय नमः। ग्रीं शिर से स्वाहा। ग्रूं शिखायै वषट्। ग्रैं कवचाय हुम्। ग्रौं नेत्रत्रयाय वौषट्। ग्रः अस्त्राय फट्।' (ग' इस एकाक्षर बीज से भी इसी तरह न्यास करना चाहिये। उसमें दीर्घ स्वर जोड़ने पर क्रमशः **'गां गीं गूं गैं गौं गः'**-ये छः बीज बनेंगे।) अन्त (विसर्ग), विष (म्)-इनसे युक्त खान्त (ग) का उच्चारण किया जाय। ऐसा करने से 'गं', 'गः'-ये दो बीज प्रकट हुए। औकार और बिन्दु से युक्त 'गौं' तीसरा बीज है। बिन्दु और कला दोनों से युक्त 'गंः'-यह चौथा बीज और केवल गकार पाँचवाँ बीज है। इस तरह विघ्नराज गणपति के ये पाँच बीज हैं, जिनके पृथक्-पृथक् फल देखे गये हैं॥१-३॥

गणेशसम्बन्धी मन्त्रों के लिये सामान्य पञ्चाङ्गन्यास-'गणंजयाय स्वाहा हृदयाय नमः। एकद्रष्ट्राय हुं फट् शिर से स्वाहा। अचलकर्णिने नमो नमः शिखायै वषट्। गजवस्त्राय नमो नमः कवचाय हुम्। महोदरहस्ताय चण्डाय हुं फट्, अस्त्राय फट्।' यह सर्वसामान्य पञ्चाङ्ग है। कथित एकाक्षर बीज-मन्त्र के एक लाख जप से सिद्धि प्राप्त होती है॥४-५॥

अष्टदल कमल बनाकर उसके दिग्वर्ती दलों में गणेश जी के चार विग्रहों का पूजन करें। इसी तरह वहाँ क्रमशः पाँच अंगों की भी पूजा करनी चाहिये। विग्रहों के पूजन-सम्बन्धी मन्त्र इस तरह हैं-**१. गणाधिपतये नमः। २. गणेश्वराय नमः ३. गणनायकाय नमः। ४. गणक्रीडाय नमः।**

(हृदयादि चार अङ्गों की तो कोणवर्ती चार दलों में और अस्त्र की मध्य में पूजा करनी चाहिये।) **'वक्रतुण्डाय नमः। एकदंष्ट्राय नमः। महोदराय नमः। गजवक्राय नमः। लम्बोदराय नमः। विकटाय नमः। विघ्नराजाय नमः। धूम्रवर्णाय नमः।'**-इन आठ मूर्तियों की कमलचक्र के दिग्वर्ती तथा कोणवर्ती दलों में पूजा करनी चाहिये।

वक्रतुण्डायैकदंष्ट्राय महोदराय गजवक्त्राय विकटाय विघ्नराजाय धूम्रवर्णाय॥८॥
दिग्विदिक्षु यजेदेतांल्लोकां (के) शांश्चैव मुद्रया। मध्यमातर्जनीमध्यगताङ्गुष्ठौ समुष्टिकौ॥९॥
चतुर्भुजं मोदकाढ्यं दण्डपाशाङ्कुशान्वितम्। दन्तभक्ष्यधरं रक्तं साब्जपाशांकुशैर्वृतम्॥१०॥
पूजयेत्तं चतुर्थ्यां च विशेषेणाथ नित्यशः। श्वेतार्कमूलेन कृतं सर्वाप्तिः स्यात्तिलैर्हुतैः॥११॥
तण्डुलैर्दधिमध्वाज्यैः सौभाग्यं वश्यतामियात्। घोषासृक्प्राणधात्वर्दी दण्डी मार्तण्डभैरवः॥१२॥
धर्मार्थकाममोक्षाणां कर्ता विश्वपुटीवृतः। ह्रस्वाः स्युर्मूर्तयः पञ्च दीर्घाण्यङ्गानि तस्य च॥१३॥
सेन्द्रवारुणमीशानवामार्धदयितं रविम्। पाशांकुशधरं देवं ह्यक्षमालाकपालिनम्॥१४॥
खट्वाङ्गादिकशक्तिं च दधानं चतुराननम्। अन्तार्बाह्ये विषद्भक्तं (?)पद्मस्थं रविमण्डलम्॥१५॥
आदित्यादियुतं प्राच्र्य उदितेऽर्केऽर्धकं ददेत्। श्वासं विषाग्निविपदण्डीन्दुलेखासकलो भृगुः॥१६॥
अर्काय भूर्भूवः स्वरेज्वालिकुररुत्र्यसङ्गकम्(?)। पद्मासनोऽरुणो रक्तवस्तुसद्द्युतिबिम्बगः॥१७॥

फिर इन्द्रादि लोकपालों तथा उनके अस्त्रों की अर्चना करें। मुद्रा-प्रदर्शन द्वारा पूजन अभीष्ट है। मध्यमा तथा तर्जनी के मध्य में अँगूठे को डालकर मुट्ठी बाँध लेना--यह गणेश जी के लिये मुद्रा है। उनका ध्यान इस तरह करना चाहिये- 'भगवान् गणेश के चार भुजाएँ हैं। वे एक हाथ में मोदक लिये हुए हैं और शेष तीन हाथों में दण्ड, पाश एवं अङ्कुश के सुशोभित हैं। दाँतों में उन्होंने भक्ष्य-पदार्थ लड्डू को दबा रखा है और उनकी अङ्गकान्ति लाल है। वे कमल, पाश और अङ्कुश से घिरे हुए हैं।।६-१०।।

गणेश जी की नित्य पूजा करनी चाहिये, परन्तु चतुर्थी को विशेष रूप से पूजा का आयोजन करना चाहिये। सफेद आत की जड़ से उनकी प्रतिमा बनाकर पूजा करनी चाहिये। उनके लिये तिल की आहुति देने पर सम्पूर्ण मनोरथों की प्राप्ति हो जाती है। यदि दही, मधु और घी से मिले हुए चावल से आहुति दी जाय तो सौभाग्य की सिद्धि एवं वशित्व की प्राप्ति हो जाती है।।११।।

घोष (ह), असृक् (र), प्राण (य), शान्ति (औ), अर्घी (उ) तथा दण्ड (अनुस्वार)-यह सब मिलकर सूर्यदेव का 'ह्र्यौ ॐ'-ऐसा 'मार्तण्डभैरव' नामक बीज होता है। इसको बिम्बबीज से सम्पुटित कर दिया जाय तो यह साधकों को धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष-चारों पुरुषार्थों की प्राप्ति कराने वाला होता है। पाँच ह्रस्व अक्षरों को आदि में बीज बनाकर उनक द्वारा पाँच मूर्तियों का न्यास करना चाहिये। यथा-'**अं सूर्याय नमः। इं भास्कराय नमः। उं भानवे नमः। एं रवये नमः। ओं दिवाकराय नमः।**' दीर्घस्वरों के बीज से हृदयादि अङ्गन्यास करें। यथा-'**आं हृदयाय नमः।**' इत्यादि। इस तरह न्यास करके ध्यान करना चाहिये-'भगवान् सूर्य ईशानकोण में विराजमान हैं। उनकी अङ्गकान्ति सिन्दूर के सदृश अरुण है। उनके आधे वामाङ्ग में उनकी प्राणवल्लभा अरुण है। उनके आधे वामाङ्ग में उनकी प्राणवल्लभा विराज रही हैं'।।१२-१३।।

श्रीविद्यार्णव-तन्त्र में मार्तण्ड भैरव बीज को ही दीर्घ स्वरों से युक्त करके उनके द्वारा हृदयादि न्यास का विधान किया गया है। यथा-'**ह्र्यां हृदयाय नमः।**' '**ह्र्यीं शिर से स्वाहा।**' इत्यादि। फिर ईशानकोण में कृतान्त के लिये निर्माल्य और चण्ड के लिये दीप्ततेज (दीप्तज्योति) अर्पित करना चाहिये। रोचना, कुङ्कुम, जल, रक्त चन्दन, अक्षत, अङ्कुर, वेणुबीज, जौ, अगहनी, धान का चावल, सावाँ, तिल तथा राई और जपा के फूल अर्घ्यपात्र में डालना चाहिये। फिर उस अर्घ्यपात्र को सिर पर रखकर दोनों घुटने धरती पर टिका दे और सूर्य देव को अर्घ्य अर्पित करना

(उदानः पद्मदृग्दोर्भ्यां धूम्रकेतुरुदाहृतः। रक्ता हृदादयः सौम्या वरदाः पद्मधारिणः।।१८।।
विद्युत्पुञ्जनिभः स्वर्कः श्वेतः सोमोऽरुणः कुजः। बुधस्तद्वद्गुरुः पीतः शुक्रि(?) शुक्रः शनैश्चरः।।१९।।
कृष्णाङ्गारनिभो राहुर्धूम्रकेतुरुदाहृतः)। वामोरुवामहस्तास्ते दक्षहस्ताभयप्रदाः।।२०।।
स्वनामाद्यन्तबीजास्ते हस्तौ संशोध्य चास्त्रतः। अङ्गुष्ठादौ तले नेत्रे हृदाद्यं व्यापकं न्यसेत्।।२१।।
मूलबीजैस्त्रिभिः प्राणव्यापकं न्यस्य साङ्गकम्। प्रक्षाल्य पात्रमस्त्रेण मूलेनाऽऽपूर्य वारिणा।।२२।।
गन्धपुष्पाक्षतं न्यस्य दूर्वामर्घ्यं च मन्त्रयेत्। आत्मानं तेन संप्रोक्ष्य पूजाद्रव्यं च वैभवम्।।२३।।
प्रभूतं विमलं सारमाराध्यं परमं सुखम्। पीठाद्यान्कल्पयेदेतान्हृदा मध्ये विदिक्षु च।।२४।।
पीठोपरि हृदाद्यं च केसरेष्वस्त्रशक्तयः। रां दीप्तां रीं तथा सूक्ष्मां रं (रुं) जयां रूं च भद्रया।।२५।।
रें विभूतिं रैं विमलां रोमयोद्याथ विद्युतम्। रौं सर्वतोमुखी रं च पीठं प्राच्र्य रविं यजेत्।।२६।।
आवाह्य दद्यात्पाद्यादि हृत्षडङ्गेन सुव्रतः। खकारौ दण्डिनौ चण्डौ मज्जादशनसंयुता।।२७।।
मांसादीर्घा जवद्वायुहृदैतत्सर्वदं रवेः। वह्नीशरक्षोमरुतां दिक्षु पूज्या हृदादयः।।२८।।
स्वमन्त्रैः कर्णिकान्तस्था दिक्षु तं पुरतश्च धृक्(?)। पूर्वादिदिक्षु संपूज्याश्चन्द्रगुरुभार्गवाः।।२९।।
आग्नेयादिषु कोणेषु कुजमन्दाहिकेतवः। स्नात्वा विधिवदादित्यमाराध्यार्घ्यपुरःसरम्।।३०।।
कृतान्मतमैशे निर्माल्यं तेजश्चण्डाय दीपितम्। रोचनं कुंकुमं वारि रक्तगन्धाक्षताङ्कुराः।।३१।।

चाहिये। ब्रह्मा अरुण वर्ण के हैं। धूमकेतु भुजाओं से युक्त कहे गये हैं। हृदय इत्यादि रक्तवर्ण के साम्य वर सम्प्रदान करने वाले हैं।।१४-१८।।

सूर्य विद्युतपुञ्ज के समान, सोम श्वेत और मंगल अरुण वर्ण के होते हैं। बुध और पीलें, शुक्र शुक्ल, शनैश्चर कृष्ण, राहु अंगार के समान और केतु धूम्रवर्ण का कहा गया है। उन देवताओं के बायें और दाहिने हाथ अभय सम्प्रदान करने वाले होते हैं। हाथों को शुद्ध करके उन देवताओं के नामों के अन्तिम भाग को बीजमन्त्र मानकर अँगूठा इत्यादि नेत्र तथा हृदय का न्यास काना चाहिये। तीन मूलमन्त्रों से प्राणों और अंगों का न्यास करना चाहिये। एतदनन्तर एक पात्र को धोकर और उसे जल से पूर्ण कर उसमें गन्ध, धूप, अक्षत डालकर उस अर्घ्य को अभिमन्त्रित कर लेना चाहिये। इसके बाद उस जल को अपने आप तथा पूजन सामग्री के ऊपर छिड़कना चाहिये। इससे परम सुख की प्राप्ति होती है।।१९-२३।।

'रीं, रूं, रें, रैं रों, रौं तथा रं–इन बीजमन्त्रों से क्रमशःसूर्य की दीप्ता, सूक्ष्मा जया, विभूति, विमला, विद्युत, सर्वतोमुखी मूर्तियों और पीठ की अर्चना करनी चाहिये। व्रती को उपर्युक्त मन्त्रों से सूर्य का आवाहन करके हृदय इत्यादि षड् अंगों से उसे पाद्य देना चाहिये। सूर्य के लिये खकार, दण्डी, चण्ड, मज्जा और दशन से युक्त मांसा, दीर्घा तथा हृदया–यह सब कुछ देने वाले होते हैं। हृदय इत्यादि के लिये अग्नि इत्यादि दिशाओं में पूजन करना चाहिये। पूर्वादि दिशाओं में चन्द्रमा, बृहस्पति और शुक्र का पूजन करना चाहिये। आग्नेयी इत्यादि कोणों में मंगल, शनि, राहु और केतु के लिये अर्घ्य देना चाहिये। स्नान के पश्चात् विधिपूर्वक अर्घ्य देकर सूर्य की आराधना करनी चाहिये। यमराज के लिये ईशान कोण में निर्माल्य अर्पण करना चाहिये। रोली, केसर, जल, रक्तचन्दन, चन्दन, अक्षत, दूर्वाङ्कुर, बाँस के बीज, यव, धान, श्यामाक, तिल तथा राई को पात्रों में रखकर उन्हें अपने सिर के ऊपर धारण करना चाहिये।।२४-३२।।

वेणुबीजयवाः शालिश्यामाकतिलराजिकाः। जपापुष्पान्वितां दत्त्वा पात्रैः शिरसि धार्य तत्॥३२॥
जानुभ्यामवनीं गत्वा सूर्यायार्घ्यं निवेदयेत्। स्वविद्यामन्त्रितैः कुम्भैर्नवभिः प्रार्च्य वै ग्रहान्॥३३॥
ग्रहादिशान्तये स्नानं जप्त्वाऽर्कं सर्वमाप्नुयात्। सङ्ग्रामविजयं साग्निं बीजदोषं सबिन्दुकम्॥३४॥
न्यस्य मूर्धादिपादान्तं मूलं पूज्यं च मुद्रया। स्वाङ्गानि च यथान्यासमात्मानं भावयेद्रविम्॥३५॥
ध्यानं च मारणस्तम्भे पीतमाप्यायने सितम्। रिपुघातविधौ कृष्णं मोहयेच्छक्रचापवत्॥३६॥
योऽभिषेकजपध्यानपूजाहोमपरः सदा। तेजस्वी ह्यजः श्रीमान्स युद्धादौ जये लभेत्॥३७॥
ताम्बूलादाविदं न्यस्य जप्त्वा दद्यादुशीरकम्। न्यस्तबीजेन हस्तेन स्पर्शनं तद्वशे स्मृतम्॥३८॥

॥इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते सूर्यार्चनविधानकथनं नामैकाधिकत्रिशततमोऽध्यायः॥३०१॥

एतदनन्तर अपने दोनों घुटनों के सहारे पृथ्वी पर चलकर सूर्य देवता को अर्घ्य देना चाहिये। ग्रहादिशान्ति के लिये अपने सम्प्रदाय के मन्त्रों से अभिमन्त्रित किये हुए नौ कलशों से ग्रहों की अर्चना करनी चाहिये। स्नानान्तर सूर्य मन्त्रों का जप करने से सभी कुछ प्राप्त हो जाता है। इससे युद्ध में विजय की प्राप्ति होती है। सिर से लेकर पाद पर्यनत अङ्गन्यास करके सूर्य की अर्चना करनी चाहिये॥३३-३५॥

मारण और स्तम्भन में सूर्य को पीतवर्णयुक्त, किसी को सन्तुष्ट करने में उसे श्वेतवर्णयुक्त, शत्रुओं का विनाश करने में कृष्णवर्णयुक्त तथा मोहन करने में उसको इन्द्रधनुष के समान वर्ण से युक्त चिन्तन करना चाहिये। जो व्यक्ति सदा सूर्य के अभिषेक, जप, ध्यान, पूजन और होम में निरत रहता है, वह तेजस्वी, अजेय, ऐश्वर्य सम्पन्न तथा संग्राम में विजय प्राप्त करने वाला होता है। किसी को वश में करने के लिये सूर्यमन्त्र द्वारा अभिमन्त्रि करके ताम्बूल आदि में खस को रखकर देना चाहिये॥३६-३८॥

॥इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी तीन सौ पहला अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ॥३०१॥

❖❖❖

अथ द्व्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः

नानामंत्रौषधकथनम्

अग्निरुवाच

वाक्कर्मपार्श्वयुक्शुक्लतोककृते मतो प्लवः। हुतान्ता देशवर्णेयं विद्या मुख्या सरस्वती(?)।।१।।
अक्षाराशी वर्णलक्षं जपेत्स मतिमान्भवेत्। अत्रिः सवह्निर्नामाक्षिबिन्दुविद्रावकृत्परः।।२।।
वज्रपद्मधरं शक्रं पीतामावाह्य पूजयेत्। नियुतं होमयेदाज्यतिलांस्तेनाभिषेचयेत्।।३।।
नृपादिर्भ्रष्टराज्यादीन्राज्यपुत्रादिमाप्नुयात्। हृल्लेखा शक्तिदेवाख्या घोषोऽग्निर्दण्डिदण्डवान्।।४।।
शिवमिष्ट्वा जयेच्छक्तिमष्टम्यादिचतुर्दशीम्। चक्रपाशाङ्कुशधरां सभायां वरदायिकाम्।
होमादिना च सौभाग्यं कवित्वं पुत्रवान्भवेत्।।५।।
ॐ ह्रीम् ॐ नमः कामाय सर्वजनहिताय सर्वजनमोहनाय प्रज्वलिताय
सर्वजनहृदयं ममाऽऽत्मगतं कुरु कुरु ओम्।।६।।
एतज्जपादिना मन्त्रो वशयेत्सकलं जगत्।।७।।
ॐ, ह्रीं, चामुण्डेऽमुकं दह दह पच पच। मम वशमानयाऽऽनय ठ ठ उ (ओम्)।।८।।

अध्याय–३०२

विविध मन्त्र-औषध विचार

श्रीअग्नि देव ने कहा कि–'ऐं कुलजे ऐं सरस्वति स्वाहा'–यह ग्यारह अक्षरों का मन्त्र मुख्य 'सरस्वतीविद्या' है। जो क्षारलवण से हीन आहार ग्रहण करते हुए मन्त्रों की अक्षरसंख्या के अनुसार उतने लाख मन्त्र का जप करता है, वह बुद्धिमान् होता है। **अत्रि (द्), अग्नि (र), वामनेत्र (ई) तथा बिन्दु ( ) 'द्रीं)**– यह मन्त्र महान् विद्रावणकारी (शत्रु को मार भगाने वाला) है। वज्र और कमल धारण करने वाले पीत वर्ण वाले इन्द्र का आवाहन करके उनकी पूजा करनी चाहिये और घी तथा तिल की एक लाख आहुतियाँ देनी चाहिये। फिर तिलमिश्रित जल से इन्द्रदेवता का अभिषेक करना चाहिये। ऐसा करने से राजा आदि अपने छीने गये राज्य आदि तथा राजपुत्र आदि (मनोवाञ्छित वस्तुओं) को पा सकते हैं। हृल्लेखा (ह्रीं)–यह 'शक्तिदेवा' नाम से प्रसिद्ध है। इसका उद्धार इस प्रकार है–**घोष (ह), अग्नि (र), दण्डी (ई), दण्ड (ं) 'ह्रीं'**। शिवा और शिव का पूजन करके शक्तिमन्त्र (ह्रीं) कि जप करना चाहिये। अष्टमी से लेकर चतुर्दशी तक आराधना में संलग्न रहें। हाथों में चक्र, पाश, अङ्कुश एवं अभय की मुद्रा धारण करने वाली वरदायिनी देवी की आराधना करके हवन आदि करने पर उपासक को सौभाग्य एवं कवित्वशक्ति की प्राप्ति हो जाती है तथा वह पुत्रवान् होता है।।१-५।।

'ॐ ह्रीं ॐ नमः कामाय सर्वजनहिताय सर्वजनमोहनाय प्रज्वलिताय सर्वजनहृदयं ममाऽऽत्मगतं कुरु कुरु ॐ।।'–इसके जप आदि करने से यह मन्त्र सम्पूर्ण जगत् को अपने वश में कर सकता है।।६-७।।

'ॐ ह्रीं चामुण्डे अमुकं दह दह पच पच मम वशमानयानय स्वाहा ॐ।' यह चामुण्डा का वशीकरण

वशीकरणकृन्मन्त्रश्चामुण्डायाः प्रकीर्तितः। फलत्रयकषायेण वराङ्गं क्षालयेद्वशे॥९॥
अश्वगन्धायवैः स्त्री तु निशा कर्पूरकादिना। पिप्पलीतण्डुलान्यष्टौ मरिचानि च विंशतिः॥१०॥
बृहतीरसलेपश्च वशे स्यान्मरणान्तिकम्। कटीरमूलत्रिकटुक्षौद्रलेपस्तथा भवेत्॥११॥
हिमं कपित्थकरसं मागधी मधुकं मधु। तेषां लेपः प्रयुक्तस्तु दंपत्योः स्वस्तिमावहेत्॥१२॥
सशर्करो योनिलेपात्कदम्बरसको मधु। सहदेवी महालक्ष्मीः पुत्रंजीवी कृताञ्जलिः॥१३॥
एतच्चूर्णं शिरःक्षिप्तं लोकस्य वशमुत्तमम्। त्रिफलाचन्दनक्वाथप्रस्था द्विकुडवं पृथक्॥१४॥
भृङ्गहेमरसं दोषा तावती छम्बुकं मधु। घृतैः पक्वा निशाछायाशुष्का लेप्या तु रञ्जनी॥१५॥
विदारी सजटामांसचूर्णीभूतां सशर्कराम्। मथितां यः पिबेत्क्षीरैर्नित्यं स्त्रीशतकं व्रजेत्॥१६॥
गुप्तामाषतिलव्रीहिचूर्णं क्षीरसितान्वितम्। अश्वत्थवंशदर्भाणां मूलं वै वैष्णवीश्रियोः॥१७॥
मूलं दूर्वाश्वगन्धोत्थं पिबेत्क्षीरैः सुतार्थिनी। कौन्तीलक्ष्म्योः शिवाधात्रीबीजं लोध्रवटाङ्कुरम्॥१८॥
(आज्यक्षीरमृतौ पेयं पुत्रार्थं त्रिदिवं स्त्रिया। पुत्रार्थिनी पिबेत्क्षीरं श्रीमूलं सवटाङ्कुरम्)॥१९॥
श्रीवटाङ्कुरदेवीनां रसं नस्ये पिबेच्च सा। श्रीपद्ममूलमुत्क्षीरमश्वत्थत्तोरमूलयुक्॥२०॥
तरणं पयसा युक्तं कार्पासफलपल्लवम्। अपामार्गस्य पुष्पाग्रं नवं समहिषीपयः॥२१॥

मन्त्र कहा है। स्त्री को चाहिये कि वशीकरण के प्रयोग काल में त्रिफला के ठंडे पानी से अपनी योनि को धोये। अश्वगन्धा, यवक्षार, हल्दी और कपूर आदि से भी स्त्री अपनी योनि का प्रक्षालन कर सकती है। पिप्पली के आठ तन्दुल, कालीमिर्च के बीस दाने और भटकटैया के रस का योनि में लेप करने से उस स्त्री का पति आमरण उसके वश में रहता है। कटीमूल, त्रिकटु (सोंठ, मिर्च और पीपल) का लेप भी उसी तरह लाभसम्प्रदायक होता है। हिम, कैथका रस, मागधीपिप्पली, मुलहठी और मधु—इनके लेप का प्रयोग दम्पति के लिये कल्याणकारी होता है। शक्कर मिला हुआ कल्याणकारी होता है। शक्कर मिला हुआ कदम्ब-रस और मधु—इसका योनि में लेप करने से वशीकरण होता है। सहदेई, महालक्ष्मी, पुत्रजीवी कृताञ्जलि (लज्जावती)—इन सभी का चूर्ण बनाकर सिर पर डाला जाय तो इहलोक के लिये श्रेष्ठतम वशीकरण का साधन है। त्रिफला और चन्दन का क्वाथ एक प्रस्थ अलग हो और दो कुडव अलग हो, भँगरैया तथा नागकेसर का रस हो, उतनी ही हल्दी, क्षम्बुक, मधु, घी में पकायी हुई हल्दी और सूखी हल्दी-इन सभी का लेप करना चाहिये तथा बिदारीकंद और जटामांसी के चूर्ण में चीनी मिलाकर उसको खूब मथ देना चाहिये—फिर दूध के साथ प्रतिदिन पीये। ऐसा करने वाला पुरुष सैकड़ों स्त्रियों के साथ सहवास की शक्ति प्राप्त कर लेता है॥८-१६॥

गुप्ता, उड़द, तिल, चावल—इन सभी का चूर्ण बनाकर दूध और मिश्री मिलाये। पीपल, बाँस और कुश की जड़, 'वैष्णवी' और 'श्री' नामक औषधियों की जड़ तथा दूर्वा और अश्वगन्ध का मूल—इन सभी को पुत्र की इच्छा रखने वाली नारी दूध के साथ पीये। कौन्ती, लक्ष्मी, शिवा और धात्री (आँवले का बीज), लोध्र और वट के अङ्कुर को स्त्री ऋतुकाल में घी और दूध के साथ पीये। इससे उसको पुत्र की प्राप्ति हो जाती है। पुत्रार्थिनी नारी 'श्री' नामक औषधि की जड़ और वट के अङ्कुर को दूध के साथ पीये। श्री, वटाङ्कुर और देवी—इनके रस का नस्य ले और पीये भी। 'श्री' और 'कमल' की जड़ को, अश्वत्थ और उत्तर के मूल को दूध के साथ पीये। कपास के फल और पल्लव को दूध में पीसकर तरल बनाकर पीये। अपामार्ग के नूतन पुष्पाग्र को भैंस के दूध के साथ पीये। उपरोक्त साढ़े पाँच श्लोकों में पुत्रप्राप्ति के चार योग बताये गये हैं॥१७-२१॥

पुत्रार्थं चार्धषट्श्लोकैर्योगाश्चत्वार ईरिताः। शर्करोत्पलपुष्पाक्षे लोध्रचन्दन सारिवाः॥२२॥
स्रवमाणे स्त्रिया गर्भे दातव्यास्तण्डुलाम्भसा। लाजा यष्टिसिताद्राक्षाक्षौद्रसर्पिषि वा लिहेत्॥२३॥
आटरूष कलाङ्गुल्योः काकमाच्याः शिफा पृथक्। नाभेरधः समालिप्य प्रसूते प्रमदा सुखम्॥२४॥
रक्तं शुक्लं जपापुष्पं रक्तशुक्रस्नुतौ पिबेत्। केशरं बृहतीमूलं गोपीषष्टीतृणोत्पलम्॥२५॥
साजक्षीरं सतैलं तद्भक्षणं रोमजन्मकृत्। शीर्यमाणेषु केशेषु स्थापनं च भवेदिदम्॥२६॥
धात्रीभृङ्गरसप्रस्थं तैलं च क्षीरमाढकम्। षष्ट्यञ्जनपलं तैलं तत्केशाक्षिशिरोहितम्॥२७॥
हरिद्राराजवृक्षत्वक्चिञ्चा लवणलोध्रकौ। पीता खारी हरेदाशु गवामुदरबृंहणम्॥२८॥

ॐ नमो भगवते त्र्यम्बकायोपशमयोपशमय चुलु चुलु।
मिलि मिलि भिदि भिदि गोमानिनि चक्रिणि ह्रूं फट॥२९॥

अस्मिन्ग्रामे गोकुलस्य रक्षां कुरु शान्ति कुरु कुरु ठ ठ ठ॥३०॥
घण्टाकर्णो महासेनो वीरः प्रोक्तो महाबलः। मारीनिर्नाा (र्णा) शनकरः स मां पातु जगत्पतिः॥
श्लोकौ चैव न्यसेदेतौ मन्त्रौ गोरक्षकौ पृथक्॥३१॥

॥इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गति नानाविधमन्त्रौषधादिकथनं नाम द्व्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः॥३०२॥

यदि स्त्री का गर्भ गलित हो जाता हो, तो उसको शक्कर, कमल के फूल, कमलगट्टा, लोध, चन्दन और सारिवालता–इनको चावल के पानी में पीसकर दे या लाजा, यष्टि (मुलहठी), सिता (मिश्री), द्राक्षा, मधु और घी–इन सभी का अवलेह बनाकर वह स्त्री चाटे। आटरूप (अडूसा), कलाङ्गली, काकमाची, शिफा (जटामांसी)–इन सभी को नाभि के नीचे पीसकर छाप दे तो स्त्री सुखपूर्वक प्रसव कर सकती है॥२२-२४॥

लाल और सफेद जवाकुसुम, लाल चीता और हींगपत्री पीये। केसर, भटकटैया की जड़, गोपी, षष्ठी (साठीका तृण) और उत्पल–इनको बकरी के दूध में पीसकर तैल मिलाकर खाय तो सिर में बाल उगते हैं। अगर सिर के बाल झड़ रहे हों तो यह उनको रोकने का उपाय है॥२५-२६॥

आँवला और भँगरैया का एक सेर तैल, एक आढक दूध, षष्ठी और अञ्जन का एक पल तैल–ये सब सिर के बाल, नेत्र और सिर के लिये हितकारक होते हैं॥२७॥

हल्दी, राजवृक्ष की छाल, चिञ्चा (इमली का बीज), नमक, लोध और पीली खारी–ये गौओं के पेट फूलने की बीमारी को तत्काल रोक देते हैं॥२८॥

'ॐ नमो भगवते त्र्यम्बकायोपशमयोपशमय चुलु चुलु मिलि मिलि भिदि भिदि गोमानिनि चक्रिणि ह्रूं फट्। अस्मिन् ग्रामे गोकुलस्य रक्षां कुरु शान्ति कुरु कुरु कुरु ठ ठ ठ'॥२९-३०॥

यह गोसमुदाय की रक्षा का मन्त्र है। 'घटाकर्ण महासेन वीर बड़े बलवान् कहे गये हैं। वे जगदीश्वर महामारी का विनाश करने वाले हैं, इसलिये मेरी रक्षा करें। ये दोनों श्लोक और मन्त्र गोरक्षक हैं, इनको लिखकर गृह पर टाँग देना चाहिये॥३१॥

॥इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी तीन सौ दूसरा अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ॥३०२॥

❖❖❖

अथ त्र्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः

अङ्गाक्षरार्चनम्

अग्निरुवच

यदा जन्मर्क्षगश्चन्द्रो भानुः सप्तमराशिगः। पौष्णः कालः स विज्ञेयस्तदा श्वासं परिक्षयेत्॥१॥
कण्ठोष्ठौ चलतः स्थानाद्यस्य वक्रा च नासिका। कृष्णा जिह्वा च सप्ताहं जीवितं तस्य वै भवेत्॥२॥
तारो मेषो विषं दन्ती नरो दीर्घो घनारसः। क्रुद्धोल्काय महोल्काय वीराल्काय शिखा भवेत्॥३॥
द्युल्काय सहस्रोल्काय वैष्णवोऽष्टाक्षरो मनुः। कनिष्ठादितदष्टानामङ्गुलीनां च पर्वसु॥४॥
ज्येष्ठाग्रेण क्रमात्तारं मूर्धन्यष्टाक्षरं न्यसेत्। तर्जन्यां तारमङ्गुष्ठे लग्ने मध्यमया च तत्॥५॥
तलेऽङ्गुष्ठे तदुत्तारं बीजोत्तारं ततो न्यसेत्। रक्तगौरधूम्रहरिज्जातरूपाः सितास्त्रयः॥६॥
एवं रूपानिमान्वर्णांस्तावद्बुद्ध्वा न्यसेत्क्रमात्। हृदास्यनेत्रमूर्धाङ्घ्रितालुगुह्यकरादिषु॥७॥
अङ्गानि च न्यसेद्बीजान्यस्याथ करदेहयोः। यथाऽऽत्मनि तथा देवे न्यासः कार्यः करं विना॥८॥

अध्याय–३०३

अष्टाक्षर मन्त्र विचार

जिस समय चन्द्रमा जन्म–नक्षत्र पर हों और सूर्य सातवीं राशि पर हो, तो उसको 'पूषा का काल' समझना चाहिये। उस समय श्वास की परीक्षा करनी चाहिये। जिसके कण्ठ और ओष्ठ अपने स्थान से चलित हो रहे हों, जिसकी नाक टेढ़ी हो गयी और जीभ काली पड़ गयी हो, उसका जीवन अधिक से अधिक सात दिन और रह सकता है।।१–२।।

तार (ॐ', मेष (न) विष (म), दन्ती (ओ), दीर्घस्वरयुक्त 'न' तथा 'र' (ना रा), 'य णा', रस (य)- यह भगवान् श्रीहरि विष्णु का अष्टाक्षर मन्त्र (**ॐ नमो नारायणाय**) है। इसका अङ्गन्यास इस तरह है–'**क्रुद्धोल्काय स्वाहा हृदयाय नमः। महोल्काय स्वाहा शिर से स्वाहा। वीरोल्काय स्वाहा शिखायै वषट्। द्युल्काय स्वाहा कवचाय हुम्। सहस्रोल्काय स्वाहा अस्त्राय फट्।**'–इन मन्त्रों को क्रमशः पढ़ते हुए हृदय, सिर, शिखा, दोनों भुजा तथा सम्पूर्ण दिग्भाग में न्यास करना चाहिये।।३।।

कनिष्ठा से लेकर कनिष्ठा तक आठ अँगुलियों के तीनों पर्वों में अष्टाक्षर मन्त्र के पृथक्-पृथक् आठ अक्षरों को 'प्रणव' तथा 'नमः' से सम्पुटित करके बोलते हुए अङ्गुष्ठ के अग्रभाग से उनका क्रमशः न्यास करना चाहिये। तर्जनी में मध्यमा से युक्त अङ्गुष्ठ में, हस्ततल में तथा पुनः अङ्गुष्ठ में प्रणव का न्यास 'उत्तार' कहलता है। इसलिये उपरोक्त न्यास के पश्चात् 'बीजोत्तारन्यास' करना चाहिये।

अष्टाक्षर मन्त्र के वर्णों का रंग इस प्रकार समझे–आदि के पाँच अक्षर क्रमशः रक्त, गौर, धूम्र, हरित और स्वर्णमय कान्ति वाले हैं तथा अन्तिम तीन वर्ण श्वेत हैं। इस रूप में इन वर्णों की भावना करके इनका क्रमशः न्यास करना चाहिये। न्यास के स्थान हैं–हृदय, मुख, नेत्र, मूर्धा, , चरण, तालु, गुह्य तथा हस्त आदि।।४–७।।

हाथों में और अङ्गों में बीजन्यास करके फिर अंगन्यास करना चाहिये। जिस प्रकार अपने शरीर में न्यास किया

हृदादिस्थानगान्वर्णान्गन्धपुष्पैः समर्चयेत्। धर्माद्यग्न्याद्यधर्मादि गात्रे पीठेऽम्बुजं न्यसेत्।।९।।
पत्रकेसरकिञ्जल्कव्यापिसूर्येन्दुदाहिनाम्। मण्डलं (ल)त्रितयं तावद्भेदैस्तत्र न्यसेत्क्रमात्।।१०।।
गुणाश्च तत्र सत्त्वाद्याः केसरस्थाश्च शक्तयः। विमलोत्कर्षणीज्ञानक्रियायोगाश्च वै क्रमात्।।११।।
प्रह्वी सत्या तथेशानाऽनुग्रहा मध्यतस्ततः। योगपीठं समभ्यर्च्य समाबाह्य हरिं यजेत्।।१२।।
पाद्यार्घ्याचमनीयं च पीतवस्त्र विभूषणम्। एतत्पञ्चोपचारं च सर्वं मूलेन दीयते।।१३।।
वासुदेवादयः पूज्याश्चत्वारो दिक्षु मूर्तयः। विदिक्षु श्रीसरस्वत्यौ रतिशान्ती च पूजयेत्।।१४।।
शंखं चक्रं गदां पद्मं मुसलं खड्गशार्ङ्गके। वनमालान्वितं दिक्षु विदिक्षु च यजेत्क्रमात्।।१५।।
अभ्यर्च्य च बहिस्तार्क्ष्यं देवस्य पुरतोऽर्चयेत्। विष्वक्सेनं च सोमेशं मध्ये आवरणाद्बहिः।।१६।।
इन्द्रापरिचारेण संपूज्य समवाप्नुयात्।।१७।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते अष्टाक्षरपूजाविधिवर्णनं नाम त्र्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः।।३०३।।

जाता है, उसी तरह देवविग्रह में भी करना चाहिये। परन्तु देवशरीर में करन्यास नहीं किया जाता है। देवविग्रह के हृदयादि अङ्गों में विन्यस्त वर्णों का गन्ध-पुष्पों द्वारा पूजन करना चाहिये। देवपीठ पर धर्म आदि अग्नि आदि तथा अधर्म आदि का भी यथास्थान न्यास करना चाहिये। फिर उस पर कमल का भी न्यास करना चाहिये।।८-९।।

पीठपर ही कमल के दल, केसर, किञ्जल्क का व्यापक सूर्यमण्डल, चन्द्रमण्डल तथा अग्निमण्डल-इन तीन मण्डलों का पृथक्-पृथक् क्रमशः न्यास करना चाहिये। वहाँ सत्त्व आदि तीन गुणों का तथा केसरों में स्थित विमला आदि शक्तियों का भी चिन्तन करना चाहिये। उनके नाम क्रमशः इस तरह हैं-विमला, उत्कर्षिणी, ज्ञाना, क्रिया, योगा, प्रह्वी, सत्या तथा ईशाना। ये आठ शक्तियाँ आठ दिशाओं में स्थित हैं और नहीं अनुग्रहा शक्ति मध्य में विराजमान है। योगपीठ की अर्चना करके उस पर श्रीहरि विष्णु का आवाहन और पूजन करना चाहिये।।१०-१२।।

पाद्य, अर्घ्य, आचमनीय, पीताम्बर तथा आभूपण-ये पाँच उपचार हैं। इन सकबा मूल (अष्टाक्षर) मन्त्र से समर्पण किया जाता है। पीठ के पूर्व आदि चार दिशाओं में वासुदेव आदि चार मूर्तियों का तथा अग्नि आदि कोणों में क्रमशः श्री, सरस्वती, रति और शान्ति का पूजन करना चाहिये।।१३-१४।।

इसी तरह दिशाओं में शङ्ख, चक्र, गदा और पद्म का तथा विदिशाओं (कोणों) में मुसल, खड्ग, शार्ङ्गधनुष तथा वनमाला की क्रमशः अर्चना करनी चाहिये।।१५।।

मण्डल के बाहर गरुड की पूजा करके भगवान् नारायणदेव के सम्मुख विराजमान विष्वक्सेन तथा सोमेश का मध्यभाग में और आवरण में बाहर इन्द्र आदि परिचारकवर्ग के साथ भगवान् सम्यक् पूजन करने से साधक को अभीष्ट फल की प्राप्ति हो जाती है।।१६-१७।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी तीन सौ तीसरा अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।३०३।।

❖❖❖

अथ चतुरधिकत्रिशततमोऽध्यायः

पञ्चाक्षरादिपूजामन्त्राः

अग्निरुवाच

मेषः संज्ञा विषं साज्यमस्ति दीर्घोदकं रसः। एतत्पञ्चाक्षरं मन्त्रं शिवदं च शिवात्मकम्॥१॥
(तारकादि समभ्यर्च्य देवत्वादि समाप्नुयात्। ज्ञानात्मकं परं ब्रह्म परं बुद्धिः शिवो हृदि)॥२॥
तच्छक्तिभूतः सर्वेशो भिन्नो ब्रह्मादिमूर्तिभिः। मन्त्रार्णाः पञ्च भूतानि तन्मन्त्रा विषयास्तथा॥३॥
प्राणादिवायवः पञ्च ज्ञानकर्मेन्द्रियाणि च। सर्वं पञ्चाक्षरं ब्रह्म तद्वदष्टाक्षरात्मकम्॥४॥
गव्येन प्रोक्षयेद्दीक्षास्थानं मन्त्रेण चोदितम्। तत्र संभूतसंभारः शिवमिष्ट्वा विधानतः॥५॥
मूलमूर्त्यङ्गविद्याभिस्तण्डुलक्षेपणादिकम्। कृत्वा चरुं च यत्क्षीरे पुनस्तद्विभजेत्त्रिधा॥६॥
निवेद्यैकं परं हुत्वा सशिष्योऽन्यद्भजेद्गुरुः। आचम्य सकलीकृत्य दद्याच्छिष्याय देशिकः॥७॥
दन्तकाष्ठं हृदा जप्तं क्षीरवृक्षादिसंभवम्। संशोध्य दन्तान्संक्षिप्त्वा (प्य) प्रक्षाल्यैतत्क्षिपेद्भुवि॥८॥
पूर्वेण सौम्यवारीशगतं शुभमतोऽशुभम्। पुनस्तं शिष्यमायान्तं शिखाबन्धादिरक्षितम्॥९॥

अध्याय-३०४

पञ्चाक्षर आदि पूजा मन्त्र विचार

श्रीअग्निदेव ने कहा कि– मेष (न) सर्गि विष–विसर्ग युक्त मकार (मः) ष से पहले का अक्षर श और उसके साथ अक्षि–इकार (शि) दीर्घोदक (वा) मरुत् (य)–यह पञ्चाक्षर मन्त्र (नमः शिवाय) शिवस्वरूप तथा शिवप्रदाता है। इसके आदि में ॐ जगा देने पर यह षडक्षर मन्त्र हो जाता है। इसका अर्चन (भजन) करके मनुष्य देवत्व आदि श्रेष्ठतम फलों को प्राप्त कर लेता है॥१॥

ज्ञानस्वरूप परब्रह्म ही परम बुद्धिरूप है। वही सबके हृदय में शिवरूप से विराजमान है। वह शक्तिभूत सर्वेश्वर ही ब्रह्मा आदि मूर्तियों के भेद से भिन्न-सा प्रतीत होता है। मन्त्र के अक्षर पाँच हैं, भूतगण भी पाँच हैं तथा उनके मन्त्र और विशय भी पाँच हैं। प्राण वायु पाँच हैं। ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ भी पाँच-पाँच हैं। ये सबकी सब वस्तुएँ पञ्चाक्षर-ब्रह्मरूप हैं। इसी तरह यह सब कुछ अष्टाक्षर मन्त्ररूप भी है॥२-४॥

दीक्षा-स्थान का मन्त्रोच्चारणपूर्वक पञ्चगव्य से प्रोक्षण करना चाहिये। फिर वहाँ समस्त आवश्यक सामग्री को संग्रह करके विधिपूर्वक शिव की पूजा करनी चाहिये। तत्पचात् मूलमन्त्र, इष्ट-मूर्ति सम्बन्धी मन्त्र तथा अङ्गसम्बन्धी मन्त्रों द्वारा अक्षत छींटते हुए भूतापसारणपूर्वक रक्षात्मक क्रिया सम्पादित करना चाहिये। फिर दूध में चरु पकाकर उसके तीन भाग करना चाहिये। उनमें से एक भाग तो इष्टदेवता को निवेदित कर देना चाहिये। दूसरे भाग की आहुति दे और तीसरा शिष्य सहित स्वयं ग्रहण करें फिर आचमन एवं सकलीकरण करके आचार्य शिष्य को हृदय-मन्त्र से अभिमन्त्रित एक दन्तधावन दे, जो दूधवाले वृक्ष आदि का काष्ठ हो। उससे दाँतों का शोधन करके, उसको चीरकर उसके द्वारा जीभ साफ करने के बाद धोकर पृथ्वी पर फेंक दें॥५-८॥

यदि पूर्वदिशा से फेंकने पर वह दन्तकाष्ठ उत्तर या पश्चिम दिशा की तरफ जाकर गिरे तो शुभ होता है, अन्यथा

कृत्वा वेद्यां सहानेन स्वपेद्दर्भास्तरे बुधः। स्वस्वप्नं वीक्ष्य तं शिष्यः प्रभाते श्रावयेद्गुरुम्।।१०।।
शुभैः सिद्धिपदैर्भक्तिस्तैः पुनर्मण्डलार्चनम्। मण्डलं भद्रकायुक्तं पूजयेत्सर्वसिद्धिदम्।।११।।
स्नात्वाऽऽचम्य मृदा देहं मन्त्रैरालिप्य कल्पते। शिवतीर्थे नरः स्नायादघमर्षणपूर्वकम्।।१२।।
हस्ताभिषेकं कृत्वाऽथ प्रायात्पूजागृहं बुधः। मूलेनाब्जासनं कुर्यात्तेन पूरककुम्भकान्।।१३।।
आत्मानं योजयित्वोर्ध्वं शिखान्ते द्वादशाङ्गुले। संशोध्य दग्ध्वा स्वतनुं प्लावयेदमृतेन च।।१४।।
ध्यात्वा दिव्यं वपुस्तस्मिन्नात्मानं च पुनर्नयेत्। कृत्वैवं चाऽऽत्मशुद्धिः स्याद्विन्यस्यार्चनमारभेत्।।१५।।
क्रमात्कृष्णसितश्यामरक्तपीता नगादयः। मन्त्रार्णा दण्डिनाङ्गानि तेषु सर्वास्तु मूर्तयः।।१६।।
(अङ्गुष्ठादिकनिष्ठान्तं विन्यस्याङ्गानि सर्वतः। न्यसेन्मन्त्राक्षरं पादगुह्यहृद्वक्त्रमूर्धसु।।१७।।

अशुभ होता है। पुनः अपने सम्मुख आते हुए शिष्य को शिखाबन्ध के द्वारा रक्षित करके ज्ञानी गुरु वेदी पर उसके साथ कुश के बिस्तर पर सो जाय। शिष्य सोते समय रात में जो स्वप्न देखे, उसको प्रातःकाल अपने गुरु को सुनावे।।९-१०।।

यदि स्वप्न शुभ एवं सिद्धिसूचक हुए तो उनसे मन्त्र तथा इष्टदेव के प्रति भक्ति बढ़ती है। तत्पश्चात् पुनः मण्डलार्चन करना चाहिये। 'सर्वतोभद्र' आदि मण्डल पहले बताये गये हैं। उन्हीं में से किसी एक का पूजन करना चाहिये। पूजित हुआ मण्डल सम्पूर्ण सिद्धियों का दाता है।।१।।

पहले स्नान और आचमन करके मन्त्रोच्चारणपूर्वक देह में मिट्टी लगाये। फिर पूर्ववत् कल्पित शिवतीर्थ में साधक को अघमर्षण-मन्त्र के जपपूर्वक कल्पित शिवतीर्थ में साधक अघमर्षण-मन्त्र के जपपूर्वक स्नान करना चाहिये। फिर विद्वान् पुरुष हस्ताभिषेक (हाथों की शुद्धि) करके पूजागृह में प्रवेश करना चाहिये। मूलमन्त्र से योगपीठ पर कमलासन का न्यास (चिन्तन) करना चाहिये। मूल से ही पूरक, कुम्भक तथा रेचक प्राणायाम करना चाहिये।।१२-१३।।

सुषुम्णा नाड़ी के मार्ग से जीवात्मा को ऊपर ब्रह्मरन्ध्र स्थित सहस्रारचक्र में ले जाकर परमात्मा में योजित (स्थापित) कर देना चाहिये। सिर से लेकर शिखापर्यन्त, जो द्वादश अंगुल विस्तृत स्थान है, वही 'ब्रह्मरन्ध्र' है। उसी में स्थित परमात्मा के अन्दर जीव को (हंसःसोऽहम्'-इस मन्त्र द्वारा) संयोजित करने के पश्चात् (यह चिन्तन करना चाहिये कि सम्पूर्ण भूतों के तत्त्व बीजरूप से अपने-अपने कारण में विनाशक्रम से विलीन हो गये हैं। इस तरह प्रकृतिपर्यन्त समस्त तत्त्वों का परमात्मा में लय हो गया है। उसके बाद) वायुबीज (यकार) के द्वारा वायु को प्रकट करके उसके द्वारा अपने शरीर को सुखा देना चाहिये। इसके बाद अग्निबीज (रकार) से अग्नि प्रकट करके उसके द्वारा उस समस्त शुष्क शरीर को जलाकर भस्म कर देना चाहिये। (उसमें से दग्ध हुए पापपुरुष के भस्म को विलगाकर) अपने शरीर के भस्म को अमृतबीज (वकार) से प्रकट अमृत की धारा से आप्लावित कर देना चाहिये।१४।।

इसके बाद विलीन हुए प्रत्येक तत्त्व के बीज को अपने-अपने स्थान पर पहुँचाकर दिव्य शरीर का निर्माण करना चाहिये। दिव्य स्वरूप का ध्यान करके जीवात्मा को पुनः ले आकर हृदयकमल में स्थापित कर देना चाहिये। ऐसा करने से आत्मशुद्धि सम्पादित होती है। उसके बाद न्यास करके पूजन प्रारम्भ करना चाहिये।।१५।।

पञ्चाक्षर-मन्त्र के न, म आदि पाँच वर्ण क्रमशः कृष्ण, श्वेत, श्याम, रक्त और पीत कान्ति वाले हैं। नकारादि अक्षरों से क्रमशः अङ्गन्यास करें उन्हीं अङ्गों में तत्पुरुष आदि पाँच मूर्तियों का भी न्यास करना चाहिये।।१६।।

तत्पश्चात् अङ्गुष्ठ से कनिष्ठा पर्यन्त पाँच अँगुलियों में क्रमशः अंगुमन्त्रों का सर्वतोभावेन न्यास करके पाद,

व्यापकं न्यस्य मूर्धादि मूलमङ्गानि विन्यसेत्)। रक्तपीतश्यामसितान्पीठपादान्स्वकोणजान्॥१८॥
साध्यान्मन्त्रान्न्यसेद्गात्राण्यधर्मादीनि दिक्षु च। तत्र पद्मं च सूर्यादिमण्डलत्रितयं गुणान्॥१९॥
पूर्वादिपत्रे वामाद्या नवमी कर्णिकोपरि। वामा ज्येष्ठा क्रमाद्रौद्री काली कलविकारिणी॥२०॥
बलविकारिणी चाथ बलप्रमथिनी तथा। सर्वभूतदमनी च नवमी च मनोन्मनी॥२१॥
श्वेता रक्ता सिता पीता श्यामा बह्निनिभाऽसिता। कृष्णारुणाश्च ताः शक्तीर्ज्वालारूपाः स्मरेत्क्रमात्॥२२॥
अनन्तयोगपीठाय आवाह्याथ हृदब्जतः। स्फटिकाभं चतुर्बाहुं फलशूलधरं शिवम्॥२३॥
साभयं वरदं पञ्चवदनं च त्रिलोचनम्। पत्रेषु मूर्तयः पञ्च स्थाप्यास्तत्पुरुषादयः॥२४॥
पूर्वे तत्पुरुषः श्वेतो अ (तोऽप्य) घोरोऽष्टभुजोऽसितः। चतुर्बाहुमुखः पीतःसद्योजातश्च पश्चिमे॥२५॥
(वामदेवः स्त्रीविलासी चतुर्वक्त्रभुजोऽसितः। सौम्ये पञ्चास्य ईशान ईशानः सर्वदः सितः॥२६॥

गुह्य, हृदय, मुख तथा मूर्धा में मन्त्राक्षरों का न्या करना चाहिये। इसके बाद मूर्धा, , मुख, हृदय, गुह्य औद पाद- इन अङ्गों में व्यापक-न्यास करके मूलमन्त्र के अक्षरों का तथा अङ्गमन्त्रों का भी वहीं न्यास करना चाहिये। फिर अग्नि आदि कोणों में प्रकट पीठ के धर्म आदि पादों का, जो क्रमशः रक्त, पीत, श्याम और श्वेत वर्ण के हैं, चिन्तन करके उनमें साध्यमन्त्र के अक्षरों का न्यास करना चाहिये तथा पूर्वादि दिशाओं में स्थित अधर्म आदि का चिन्तन करके उनमें अङ्गमन्त्रों का न्यास करना चाहिये। इस तरह योगपीठ का चिन्तन करके उसके ऊपर अष्टदल कमल का और सूर्यमण्डल, सोममण्डल तथा अग्निमण्डल—इन तीन मण्डलों का एवं सत्त्वादि गुणों का चिन्तन करना चाहिये॥१७-१९॥

इसके बाद अष्टदल कमल के पूर्वादि दलों पर वामा आदि आठ शक्तियों का तथा कर्णिका के ऊपर नवीं (मनोन्मनी) शक्ति का न्यास या चिन्तन करना चाहिये। इन शक्तियों के नाम इस तरह हैं—वामा, ज्येष्ठा, रौद्री, काली, कलविकारिणी, बलविकारिणी, बलप्रथमथनी, सर्वभूतदमनी तथा नवीं मनोन्मनी। ये शक्तियाँ ज्वालास्वरूपा हैं और इनकी कान्ति क्रमशः श्वेत, रक्त, सित, पीत, श्याम, अग्नि-सदृश, असित, कृष्ण तथा अरुण वर्ण की है। इस तरह इनका चिन्तन करना चाहिये॥२०-२२॥

तत्पश्चात् '**अनन्तयोगपीठाय नमः**' से योगपीठ की पूजा करके हृदयकमल में शिव का आवाहन करना चाहिये। यथा—**स्फटिकाभं चतुर्बाहुं फालशूलधरं शिवम्। साभयं वरदं पञ्चवदनं च त्रिलोचनम्॥** 'जिनकी कान्ति स्फटिकमणि के समान श्वेत है, जो चार भुजाओं से सुशोभित हैं और उन हाथों में फाल, शूल तथा अभय एवं वरद मुद्राएँ धारण करते हैं, जिनके पाँच मुख और प्रत्येक मुख के साथ तीन-तीन नेत्र हैं, उन भगवान् शिव का मैं ध्यान एवं आवाहन करने जा रहा हूँ। इसके बाद कमलदलों में तत्पुरुषादि पञ्चमूर्तियों की स्थापना करनी चाहिये। यथा—'**नं तत्पुरुषाय नमः (पूर्वे)। मं अघोराम नमः (दक्षिणे)। शिं सद्योजाताय नमः (पश्चिमे)। वां वामदेवाय नमः (उत्तरे)। यं ईशानाय नमः (ईशाने)।**

तत्पुरुष चतुर्भुज हैं। उनका वर्ण श्वेत है। उनका स्थान कमल के पूर्ववर्ती दल में है। अघोर के आठ भुजाएँ हैं और उनकी अङ्गकान्ति असित (श्याम) है। इनका स्थान दक्षिणदल में है। सद्योतजात के चार मुख और चार ही भुजाएँ हैं। उनका पीत वर्ण है और स्थान पश्चिम दल में है। वामदेवविग्रह स्त्री (देवी पार्वती) के साथ विलसित होता है। उनके भी मुख चार भुजाएँ चार-चार ही हैं। कान्ति अरुण है। इनका स्थान उत्तरवर्ती कमलदल में है। ईशान के पाँच मुख हैं। वे ईशान दल में स्थित हैं। उनका वर्ण गौर है तथा वे सब कुछ देने वाले हैं॥२३-२६॥

इष्टा (ष्ट्वाऽ)ङ्गानि यथान्यायमनन्तं सूक्ष्ममर्चयेत्)। सिद्धेश्वरं त्वेकनेत्रं पूर्वादौ दिशि पूजयेत्।।२७।।
एकरुद्रं त्रिनेत्रं च श्रीकण्ठं च शिखण्डिनम्। ऐशान्यादिविदिक्ष्वेते विद्येशाः कमलासनाः।।२८।।
श्वेतः पीतः सितो रक्तो धूम्रो रक्तोऽरुणः सितः। शूलाशनिशरेष्वासबाहवश्चतुराननाः।।२९।।
उमा चण्डीशनन्दीशौ महाकालो गणेश्वरः। वृषो भृङ्गरिटिस्कन्दानुत्तरादौ प्रपूजयेत्।।३०।।
कुलिशं शक्तिदण्डौ च खड्गं पाशध्वजौ गदाम्। शूलं चक्रं यजेत्पद्मं पूर्वादौ देवमर्च्य च।।३१।।
ततोऽधिवासितं शिष्यं पाययेद्गव्यपञ्चकम्। आचान्तं प्रोक्ष्य नेत्रान्तैर्नेत्रे नेत्रेण बन्धयेत्।।३२।।
द्वारे प्रवेशयेच्छिष्यं मण्डपस्याथ दक्षिणे। सासनादिकुशासीनं तत्र संशोधयेद्गुरुः।।३३।।
आदितत्त्वानि संहृत्य परमार्थे लयः क्रमात्। पुनरुत्पादयेच्छिष्यं सृष्टिमार्गेण देशिकः।।३४।।
न्यासं शिष्ये ततः कृत्वा तं प्रदक्षिणमानयेत्। पश्चिमद्वारमानीय क्षेपयेत्कुसुमाञ्जलिम्।।३५।।
यस्मिन्पतन्ति पुष्पाणि तन्नामाद्यं विनिर्दिशेत्। पार्श्वे यागभुवः खाते कुण्डे सन्नाभिमेखले।।३६।।
शिवाग्निं जनयित्वेष्ट्वा पुनः शिष्येण चार्चयेत्। ध्यानेनाऽऽत्मनि तं शिष्यं संहृत्य प्रलयः क्रमात्।।३७।।
पुनरुत्पाद्य तत्पाणौ दद्याद्दर्भांश्च मन्त्रितान्। पृथिव्यादीनि तत्त्वानि जुहुयाद्धृदयादिभिः।।३८।।
एकैकस्य शतं हुत्वा व्योममूलेन होमयेत्। हुत्वा पूर्णाहुतिं कुर्यादस्त्रेणाष्टाऽऽहुतीर्हुनेत्।।३९।।

तत्पश्चात् इष्टदेव के अङ्गों का यथोचित पूजन करना चाहिये। फिर अनन्त, सूक्ष्म, सिद्धेश्वर (अथवा शिवोत्तम) और एकनेत्र का पूर्वादि दिशाओं में (साममन्त्र से) पूजन करना चाहिये। एकरुद्र, त्रिनेत्र, श्रीकण्ठ तथा शिखण्डी का ईशान आदि कोणों में पूजन करना चाहिये। ये सक के सब विद्येश्वर हैं और कमल इनका आसन है। इनकी अङ्गकान्ति क्रमशः श्वेत, पीत, सित, , रक्त, धूम्र, रक्त, अरुण और नील है। ये सभी चतुर्भुज हैं और चार ध्वज, गदा, शूल चक्र और पद्म का पूजन करना चाहिये। इस तरह छः आवरणों सहित इष्ट देवता की पूजा करके गुरु अधिवासित शिष्य को पञ्चगव्यपान कराये। फिर आचमन कर लेने पर उसका प्रोक्षण करना चाहिये। इसके बाद नेत्रान्त अर्थात् नूतन शुक्ल वस्त्र की पट्टी से नेत्र-मन्त्र (वौषट्) का उच्चारण करते हुए गुरु शिष्य के नेत्रों को बाँध देना चाहिये। फिर उस शिष्य को मण्डप के दक्षिणद्वार में प्रवेश कराये। वहाँ आसन आदि या कुश पर बैठे हुए शिष्य का गुरु शोधन करना चाहिये। उपरोक्त विधि से शरीर आदि पाञ्चभौतिक तत्त्वों का क्रमशः विनाश करके शिष्य का परमात्मा में लय किया जाय; फिर सृष्टिमार्ग से देशिक शिष्य का पुनरुत्पादन करना चाहिये। इसके बाद उस शिष्य के दिव्य शरीर में न्यास करके उसको प्रदक्षिण क्रम से पश्चिमद्वार पर लाकर उसके द्वारा पुष्पाञ्जलि का क्षेपण कराये। जिस देवता के ऊपर वे फूल गिरें, उसके नाम को आदि में रखते हुए शिष्य के नाम का निर्देश करना चाहिये। तत्पश्चात् (नेत्र का बन्धन खोलकर) यज्ञभूमि के पार्श्वभाग में सुन्दर नाभि और मेखला से युक्त खुदे हुए कुण्ड में शिवाग्नि को प्रकट कराकर, स्वयं उसका पूजन करके, फिर शिष्य से भी उसकी अर्चना कराये। फिर ध्यान द्वारा आत्मसदृश शिष्य को विनाशक्रम से अपने में लीन करके पुनः उसका सृष्टिक्रम से उत्पादन करना चाहिये। उसके बाद उसके हाथ में अभिमन्त्रित कुश दे और हृदयादि मन्त्रों द्वारा पृथिवी आदि तत्त्वों के लिये आहुति सम्प्रदान करना चाहिये।।३१-३८।।

पृथ्वी, जल, तेज और वायु—इनमें से प्रत्येक के लिये इनके नाम-मन्त्र सौ-सौ आहुतियाँ देकर आकाशतत्त्व के लिये मूलमन्त्र (ॐ नमः शिवाय)—से सौ आहुतियाँ देनी चाहिये। इस तरह हवन करके उसकी पूर्णाहुति करना

प्रायश्चित्तं विशुद्ध्यर्थं ततः शेषं समापयेत्। कुम्भं समन्त्रितं प्राच्यं शिशुं पीठेऽभिषेचयेत्॥४०॥
शिष्ये तु समयं दत्त्वा स्वर्णाद्यैः स्वगुरु यजेत्। दीक्षा पञ्चाक्षरस्योक्ता विष्ण्वादेरेवमेव हि॥४१॥

॥इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गति पञ्चाक्षरदीक्षाविधानकथनं नाम चतुरधिकत्रिशततमोऽध्यायः॥३०४॥

अथ पञ्चाधिकत्रिशततमोऽध्यायः

पञ्चपञ्चाशद्विष्णुनामासङ्कीर्तनम्

अग्निरुवाच

जपन्वै पञ्चपञ्चाशद्विष्णुनामानि यो नरः। मन्त्रजप्यादिफलभाक्तीर्थेष्वर्चादी चाक्षयम्॥१॥
पुष्करे पुण्डरीकाक्षं गयायां च गदाधरम्। राघवं चित्रकूटे तु प्रभासे दैत्यसूदनम्॥२॥
जयं जयन्त्यां तद्वच्च जयन्तं हस्तिनापुरे। (वाराहं वर्धमाने च काश्मीरे चक्रपाणिनम्॥३॥
जनार्दनं च कुब्जास्त्रे मथुरायां च केशवम्। कुब्जाम्रके हृषीकेशं गङ्गाद्वारे जटाधरम्)॥४॥
शालग्रामे महायोगं हरिं गोवर्धनाचले। पिण्डारके चतुर्बाहुं शङ्खोद्धारे च शङ्खिनम्॥५॥

चाहिये। फिर अस्त्र-मन्त्र (फट्) का उच्चारण करके आठ आहुतियाँ देनी चाहिये। तत्पश्चात् विशेष शुद्धि के लिये प्रायश्चित्त (हवन या गोदान) करना चाहिये। अभिमन्त्रित कलश का पूजन कर पीठस्थित शिष्य का अभिषेक करें। फिर गुरु शिष्य को समयाचार सिखावे। शिष्य स्वर्ण-मुद्रा आदि के द्वारा अपने गुरु का पूजन करना चाहिये। इस तरह यहाँ 'शिवपञ्चाक्षर' मन्त्र की दीक्षा बतलायी गयी। इसी तरह विष्णु आदि देवताओं के मन्त्रों की भी दीक्षा दी जाती है॥३९-४१॥

॥इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी तीन सौ चौथा अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ॥३०४॥

अध्याय-३०५

पचपन विष्णुनाम स्मरण

श्रीअग्निदेव ने कहा कि-हे मुने! जो मनुष्य भगवान् श्रीहरि विष्णु के निम्नांकित पचपन नामों का जप करता है, वह मन्त्रजप आदि के फल का भागी होता है तथा तीर्थों में पूजनादि के अक्षय पुण्य को प्राप्त करता है। पुष्कर में पुण्डरीकाक्ष, गाय में गदाधर, चित्रकुट में राघव, प्रभास में दैत्यसूदन, जयन्ती में जय, हस्तिनापुर में जयन्त, वर्धमान में वाराह, काश्मीर में चक्रपाणि, कुब्जाभ (या कुब्जास्त्र) में अनार्दन, मथुरा में केशवदेव, कुब्जाम्रक में हृषीकेश, गंगाद्वार में जटाधर, शालग्राम में महायोग, गोवर्धनगिरिपर हरि, पिण्डारक में चतुर्बाहु, शङ्खोद्धार में शङ्खी, कुरुक्षेत्र में वामन, यमुना में त्रिविक्रम, शोणतीर्थ में विश्वेश्वर, पूर्वसागर में कपिल, महासागर में विष्णु, गङ्गासागर-सङ्गम

वामनं च कुरुक्षेत्रे यमुनायां त्रिविक्रमम्। विश्वेश्वरं तथा शोणे कपिलं पूर्वसागरे।।६।।
विष्णुं महोदधौ विद्याद्गङ्गासागरसंगमे। वनमाल्यं च किष्किन्ध्यां देवं रैवतकं विदुः।।७।।
काशीतटे महायोगं विरजायां रिपुंजयम्। विशाखयूपे ह्यजितं नेपाले लोकभावनम्।।८।।
द्वारकायां बिद्धि कृष्णं मन्दरे मधुसूदनम्। लोकाकुले रिपुहरं शालग्रामे हरिं स्मरेत्।।९।।
पुरुषं पूरुषवटे विमले च जगत्प्रभुम्। अनन्तं सैन्धवारण्ये दण्डके शार्ङ्गधारिणम्।।१०।।
उत्पलावर्तके सौरिं नर्मदायां श्रियः पतिम्। दामोदरं रैवतके नन्दायां जलशायिनम्।।११।।
गोपीश्वरं च सिन्ध्वब्धौ माहेन्द्रे चाच्युतं विदुः। सह्याद्रौ देवदेवेशं वैकुण्ठं मागधे वने।।१२।।
सर्वपापहरं विन्ध्ये औण्ड्रे तु पुरुषोत्तमम्। आत्मानं हृदये विद्धि जपतां भुक्तिमुक्तिदम्।।१३।।
वटे वटे वैश्रवणं चत्वरे चत्वरे शिवम्। पर्वते पर्वते रामं सर्वत्र मधुसूदनम्।।१४।।
नरं भूमौ तथा व्योम्नि वशिष्ठे गरुड़ध्वजम्। वासुदेवं च सर्वत्र संस्मरन्भुक्तिमुक्तिभाक्।।१५।।
नामान्येतानि विष्णोश्च जप्त्वा सर्वमवाप्नुयात्। क्षेत्रेष्वेतेषु यच्छ्राद्धं दानं जप्यं च तर्पणम्।।१६।।
तत्सर्वं कोटिगुणितं मृतो ब्रह्ममयो भवेत्। यः पठेच्छृणुयाद्वाऽपि निर्मलः स्वर्गमाप्नुयात्।।१७।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते पञ्चपञ्चाशद्विष्णुनामसङ्कीर्तनं नाम पञ्चाधिकत्रिशततमोऽध्यायः।।३०५।।

—✽✽✽—
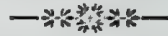
में वनमाल, किष्किन्धा में रैवतकदेव, , काशीतट में महायोग, विरजा में रिपुंजय, विशाखयूप में अजित, नेपाल में लोकभावन, द्वारका में कृष्ण, मन्दराचल में मधुसूदन, लोकाकुल में रिपुहर, शालग्राम में हरिका स्मरण करना चाहिये।।१-९।।

पुरुष वट में पुरुष, विमलतीर्थ में जगत्प्रभु, सैन्धवारण्य में अनन्त, दण्डकारण्य में शार्ङ्गधारी, उत्पलावर्तक में शौरि, नर्मदा में श्रीपति, रैवतकागिरि पर दामोदर, नन्दा में जलशायी, सिन्धुसागर में गोपीश्वर, माहेन्द्रतीर्थ में अच्युत, सह्याद्रि पर देवदेवश्वर, मागधवन में वैकुण्ठ, विन्ध्यागिरि पर सर्वपापहारी, औण्ड्र में पुरुषोत्तक और हृदय में आत्मा विराजमान हैं। ये अपने नाम का जप करने वाले साधकों को भोग तथा मोक्ष देने वाले हैं। ऐसा जानो।।१०-१३।।

प्रत्येक वटवृक्ष पर कुबेर का, प्रत्येक चौराहे पर शिव का, प्रत्येक पर्वत पर राम का तथा सभी जगह मधुसूदन का स्मरण करना चाहिये। धरती और आकाश में नरका, वसिष्ठतीर्थ में गरुडध्वज का तथा सभी जगह भगवान् वासुदेव का स्मरण करने वाला पुरुष भोग एवं मोक्ष का जप करके मनुष्य सब कुछ पा सकता है। उपरोक्त क्षेत्र में जो जप, श्राद्ध, दान और तर्पण किया जाता है, वह सब कोटिगुना हो जाता है। जिसकी वहाँ मृत्यु होती है, वह ब्रह्मस्वरूप हो जाता है। जो इस प्रसंग को पढ़ेगा, अथवा सुनेगा, वह शुद्ध होकर स्वर्ग (वैकुण्डधाम) को प्राप्त होगा।।१४-१७।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी तीन सौ पाँचवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।३०५।।

❖❖❖

अथ षडधिकत्रिशततमोऽध्यायः

नारसिंहादिमन्त्राः

अग्निरुवाच

स्तम्भो विद्वेषणोच्चाट उत्सादो भ्रममारणे। व्याधिश्चेति स्मृतं क्षुद्रं तन्मोक्षो वक्ष्यते शृणु॥१॥

ॐ नमो भगवते, उन्मत्तरुद्राय भ्रम भ्रम भ्रामय भ्रामय, अमुकं।

वित्रासय वित्रासय, उद्भ्रामय, उद्भ्रामय रुद्ररौद्ररूपेण हूँ फट्॥२॥

श्मशाने निशि जप्तेन त्रिलक्षं मधुना हुनेत्। चितागनौ धूर्तसमिद्भिभ्राम्यते सततं रिपुः॥३॥

हेमगैरिकया कृष्णा प्रतिमा हेमसूचिभिः। जप्त्वा विध्येच्च तत्कण्ठे हृदि वा म्रियते रिपुः॥४॥

खरबालं चिताभस्म ब्रह्मदण्डी च मर्कटी। गृहे वा मूर्ध्नि तच्चूर्णं जप्तमुत्सादकृत्क्षिपेत्।

भृग्वाकाशौ सदीप्ताग्निर्भृगुवह्निश्च वह्नि फट्॥५॥

एवं सहस्रारे॥६॥

हूं फट्, आचक्राय स्वाहा हृदयं विचक्राय शिवः। शिखाचक्रायाथ कवचं विचक्रायाथ नेत्रकम्॥७॥

अध्याय-३०६

श्रीनरसिंह आदि मन्त्र विचार

श्रीअग्नि देव ने कहा कि-हे मुनु! स्तम्भन, विद्वेषण, उच्चाटन, उत्सादन, भ्रामण, मारण तथा व्याधि-ये 'क्षुद्र' संज्ञक अभिचारिक कर्म हैं। इनसे छुटकारा कैसे प्राप्त हो? यह बात बतलाने जा रहा हूँ; सुनो॥१॥

'ॐ नमो भगवते उन्मत्तरुद्राय भ्रम भ्रम भ्रामय भ्रामय अमुकं वित्रासय वित्रासय उद्भ्रामय उद्भ्रामय रुद्र रौद्रेण रूपेण हूं फट् स्वाहा॥२॥

श्मशान-भूमि में रात को इस मन्त्र का तीन लाख जप करना चाहिये। फिर चिता की आगग में धतूरे की समिधाओं द्वारा हवन करना चाहिये। इस प्रयोग से शत्रु सदा भ्रान्त होता-चक्कर में पड़ा रहता है। सुनहरे गेरू से शत्रु की प्रतिमा बनाकर कथित मन्त्र का जप करना चाहिये। फिर मन्त्रजप से अभिमन्त्रित की हुई सोने की सूइयों से उस प्रतिमा के कण्ठ अथवा हृदय को बीधे। इस प्रयोग से शत्रु की मृत्यु हो जाती है। गधे का बाल (अथवा खराश्वा-मयूर शिखा नामक औषधि के पत्ते), चिता का भस्म, ब्रह्मदण्ड (ब्रह्मदारु या तूत की लकड़ी) तथा मर्कटी (करंजभेद)-इन सभी को जलाकर भस्म (चूर्ण) बना ले। उस भस्म या चूर्ण को कथित मन्त्र से अभिमन्त्रित करके उत्सादन का प्रयोग करने वाला पुरुष शत्रु के गृह पर अथवा उसके मस्तक पर फेंक देना चाहिये।३-५॥

भृगु (स) आकाश (ह), दीप्त (दीर्घ आकारयुक्त) रेफसहित भृगु (स) अर्थात् (सहस्रा), फिर (र), वर्म (हुम्) और फट् इस तरह सब मिलकर मन्त्र बना-'सहस्रार हुं फट्।' इसका अङ्गन्यास इस तरह है-'आचक्राय स्वाहा, हृदयाय नमः। विचक्राय स्वाहा, शिर से स्वाहा। सुचक्राय स्वाहा, शिखायै वषट्। धीचक्राय स्वाहा, कवचाय हुम्। संचक्राय स्वाहा, नेत्रत्रयाय वौषट्। ज्वालाचक्राय स्वाहा, अस्त्राय फट्।'

सचक्रायास्त्रमुद्दिष्टं ज्वालाचक्राय पूर्ववत्। साङ्गं सुदर्शनं क्षुद्रग्रहहृत्सर्वसाधनम्।।८।।
मूर्धाक्षिमुखहृद्गुह्यपादे ह्यस्याक्षरान्न्यसेत्। चक्राब्जासनमग्न्याभं दंष्ट्रिणं च चतुर्भुजम्।।९।।
शङ्खचक्रगदापद्मशलाकाङ्कुशपाणिनम्। चापिनं पिङ्गकेशाक्षमरव्याप्तत्रिविष्टपम्।।१०।।
नाभिस्तेनाग्निना विद्धा नश्यन्ते व्याधयो ग्रहाः। पीतं चक्रधरं रक्ता अराः श्याममवान्तरम्।।११।।
नेमिः श्वेता बहिः कृष्णवर्णरेखा च पार्थिवी। मध्ये तारमये वर्णानेवं चक्रद्वयं लिखेत्।।१२।।
आदावानीय कुम्भोदं गोचरे संनिधाय च। इष्ट्वा सुदर्शनं तत्र याम्ये चक्रे हुनेत्क्रमात्।।१३।।
आज्यापामार्गसमिधो ह्यक्षतं तिलसर्षपौ। पायसं गव्यमाज्यं च सहस्राष्टकसंख्यया।।१४।।

हुतशेषं क्षिपेत्कुम्भे प्रतिद्रव्यं विधानवित्। प्रस्थानेन कृतं पिण्डं कुम्भे
तस्मिन्निवेशयेत् विष्णवादि सर्वं तत्रैव न्यसेत्तत्रैव दक्षिणे।।१५।।
नमो विष्णुजनेभ्यः सर्वशान्तिकरेभ्यः प्रतिगृह्णन्तु शान्तये नमः।।१६।।

दद्यादनेन मन्त्रेण हुतशेषाम्भसा बलिम्। फलके कल्पिते पात्रे पलाशक्षीरशाखिनः।।१७।।
गव्यपूर्णे निवेश्यैव दिक्ष्वेवं होमयेद्द्विजैः। सदक्षिणमिदं होमद्वयं भूतादिनाशनम्।।१८।।

ये न्यास पूर्ववत् कहे गये हैं। अंगन्यासपूर्वक जपा हुआ सुदर्शन चक्र मन्त्र उपरोक्त 'क्षुद्र' संज्ञक अभिचारों तथा ग्रहबाधाओं को हर लेने वाला और समस्त मनोरथों को पूर्ण करने वाला है।।६-८।।

कथित सुदर्शन-मन्त्र के छः अक्षरों का क्रमशः मूर्धा, नेत्र, मुख, हृदय, गुह्य तथा चरण-इन छः भगवान् श्रीहरि विष्णु का ध्यान करना चाहिये-'भगवान् चक्राकार कमल के आसन पर विराजमान हैं। उनकी आभा अग्नि भी अधिक तेजस्विनी है। उनके मुख में दाढें हैं। वे चार भुजाधारी होते भी अष्टबाहु हैं। वे अपने हाथों में क्रमशः शंख, चक्र, गदा, पद्म, मुसल, अंकुश, पाश और धनुष धारण करते हैं। उनके केश पिंगलवर्ण के और नेत्र लाल हैं। उन्होंने अरों से त्रिकोकी को व्याप्त कर रखा है। चक्र की नाभि (नाहा) उस अग्नि से आविद्ध (व्याप्त) है। उसके चिन्तनमात्र से समस्त रोग तथा अरिष्टग्रह नष्ट हो जाते हैं। सम्पूर्ण चक्र पीतवर्ण का है। उसके सुन्दर अरे रक्तवर्ण के हैं। उन अरों का अवान्तरभाग श्यामवर्ण का है। चक्र की नेमि श्वेतवर्ण की है। उसमें बाहर की तरफ से कृष्णवर्ण की पार्थिवी रेखा है। अरों से युक्त जो मध्यभाग है, उसमें समस्त अकारादि वर्ण हैं।' इस तरह दो चक्र-चिह्न अंकित करना चाहिये।।९-१२।।

आदि (उत्तरवर्ती) चक्र पर कलश का जल ले अपने आगे सन्निकट में ही स्थापित करें। दूसरे दक्षिण चक्र पर सुदर्शन की पूजा करके वहाँ अग्नि में क्रमशः घी, अपामार्ग की समिधा, अक्षत, तिल, सरसों, खीर और गोघृत-सबकी आहुतियाँ देनी चाहिये। प्रत्येक वस्तु की एक हजार आठ आहुतियाँ पृथक्-पृथक् देनी चाहिये।।१३-१४।।

विधि-विधान ज्ञाता विद्वान् प्रत्येक द्रव्य हुतशेष भाग कलश में डालना चाहिये। उसके बाद एक प्रस्थ (सेर) अन्न द्वारा निर्मित पिण्ड उस कलश के अन्दर रखे। फिर विष्णु आदि देवों के लिये सब देय वस्तु वहीं दक्षिण भाग में स्थापित करना चाहिये।।१५।।

इसके बाद 'सर्वशान्तिकर विष्णुजनों (भगवान् श्रीहरि विष्णु के पार्षदों) को नमस्कार है। वे शान्ति के लिये यह उपहार ग्रहण करें। उनको नमस्कार हैं।' इस मन्त्र को पढ़कर हुतशेष जल से बलि समर्पित करना चाहिये। किसी काष्ठ-फलक पर या कलश में अथवा दूधवाले वृक्ष की लकड़ी से बनवाये हुए दधिपूर्ण काष्ठ पात्र में बलि की वस्तु

गव्याक्तपत्रलिखितैर्लिप्यर्णैः क्षुद्रहृद्धृतम्। दूर्वाभिरायुषे पद्मैः श्रिये पुत्रा (त्र) उदुम्बरैः॥१९॥
गोसिद्ध्यै सर्पिषा गोष्ठे मेधायै सर्वशाखिना॥२०॥

ॐ क्षौं नमो भगवते नारसिंहाय ज्वालामालिने दीप्तदंष्ट्रायाग्निनेत्राय सर्वरक्षोघ्नाय सर्वभूतविनाशाय सर्वज्वरविनाशाय दह दह पच पच रक्ष रक्ष हूं फट्॥२१॥
मन्त्रोऽयं नारसिंहस्य सकलाघनिवारणः। जप्यादिना हरेत्क्षुद्रग्रहमारीविषामयान्
चूर्णमण्डूकवयसा जलाग्निस्तम्भकृद्भवेत्॥२२॥

॥इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते नारसिंहादिमन्त्रकथनं नाम षडधिकत्रिशततमोऽध्यायः॥३०६॥

रखकर प्रत्येक दिशा में अर्पित करना चाहिये। यह करके ही द्विजों के द्वारा हवन कराना चाहिये। दक्षिणासहित दो बार किया हुआ यह हवन भूत-प्रेत आदि का नाशक होता है॥१६-१८॥

दही लगे हुए पत्ते पर लिखित मन्त्राक्षरों द्वारा किया गया हवन क्षुद्र रोगों का नाशक होता है। दूर्वा से हवन किया जाय तो वह आयु की, कमलों की आहुति दी जाय तो वह श्री (ऐश्वर्य) की और गूलर-काष्ठ से हवन किया जाय तो वह पुत्र की प्राप्ति कराने वाला होता है। गोशाला में घी के द्वारा आहुति देने से गौओं की प्राप्ति एवं वृद्धि होती है। इसी तरह सम्पूर्ण वृक्षों की समिधा से किया गया हवन बुद्धि की वृद्धि करने वाला होता है॥१९-२०॥

'**ॐ क्षौं नमो भगवते नारसिंहाय ज्वालामालिने दीप्त दंष्ट्रायाग्निनेत्राय सर्वरक्षोघ्नाय सर्वभूतविनाशाय सर्वज्वरविनाशाय दह दह पच पच रक्ष रक्ष हुं फट्॥२१॥**

यह भगवान् नरसिंह का मन्त्र समस्त पापों का निवारण करने वाला है। इसका जप आदि किया जाय तो यह क्षुद्र महामारी, विष एवं रोगों का हरण कर सकता है। चूर्णीभूत मण्डूक-वयस् (औषधि-विशेष) से हवन किया जाय तो वह जलस्तम्भन और अग्नि-स्तम्भन करने वाला होता है॥२१-२२॥

॥इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी तीन सौ छठा अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ॥३०६॥

अथ सप्ताधिकत्रिशततमोऽध्यायः

त्रैलोक्यमोहनमन्त्राः

अग्निरुवाच

वक्ष्ये मन्त्रं चतुर्वर्गसिद्ध्यै त्रैलोक्यमोहनम्।।१।।

ॐ श्रीं ह्रीं हूं, ॐ नमः पुरुषोत्तमः पुरुषोत्तमप्रतिरूपलक्ष्मीनिवास सकलजगत्क्षोभण सर्वस्त्री-हृदयदारणत्रिभुवनमदोन्मादकर सुरमनुजसुन्दरीजनमनांसि तापय तापय दीपय दीपय शोषय शोषय मारय मारय स्तम्भय स्तम्भय द्रावय द्रावयाऽऽकर्षयाऽऽकर्षय परमसुभग सर्वसौभाग्यकर कामप्रदामुकं हन हन चक्रेण गदया खड्गेन सर्वबाणैर्भिद भिद पाशेन कट कट अङ्कुशेन ताडय ताडय त्वर त्वर किं तिष्ठसि यावत्तावत्समीहितं मे सिद्धं भवति हूं फट्, नमः।।२।। ॐ पुरुषोत्तम त्रिभुवनमनोन्मादकर हूं फट्, हृदयाय नमः कर्षय महाबल हूं फट्, अस्त्राय त्रिभुवनेश्वर सर्वजनमनांसि हन हन दारय दारय मम वशमानयाऽऽनय हूं फट्, नेत्रत्रयाय त्रैलोक्यमोहन हृषीकेशाप्रतिरूप सर्वस्त्रीहृदयापकर्षण, आगच्छ, आगच्छ नमः।।३।। सङ्गाक्षिव्यापकेनैव न्यासं मूलवदीरितम्। इष्ट्वा संजप्य पञ्चाशत्सहस्रमभिषिच्य च।।४।।

अध्याय-३०७

त्रैलोक्यमोहन मन्त्र विचार

श्रीअग्नि देव ने कहा कि-हे मुने! अधुना मैं धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष-इन चारों पुरुषार्थों की सिद्धि के लिये 'त्रैलोक्यमोहन' नामक मन्त्र का वर्णन करने जा रहा हूँ।।१।।

ॐ श्रीं ह्रीं हूं ओम्, ॐ नमः पुरुषोत्तम पुरुषोत्तमप्रतिरूप लक्ष्मीनिवास सकलजगत् क्षोभण सर्वस्त्रीहृदयदारण त्रिभुवनमदोन्मादकर सुरमनुजसुन्दरीजनमनांसि तापय तापय दीपय दीपय शोषय शोषय मारय मारय स्तम्भय स्तम्भय द्रावय द्रावयाकर्षयाकर्षय परमसुभग सर्वसौभाग्यकर कामप्रदामुकं (शत्रुम्) हन हन चक्रेण गदया खड्गेन सर्वबाणैर्भिन्द भिन्द पाशेन कट्ट कट्ट अंकुशेन ताडय ताडय त्वर त्वर किं तिष्ठसि यावत्तावत् समीहितं मे सिद्धं भवति हुं फट्, नमः।।२।।

ॐ पुरुषोत्तम त्रिभुवनमदोन्मादकर हुं फट् हृदयाय नमः। सुरमनुजसुन्दरीमनांसि तापय तापय शिर से स्वाहा। दीपय दीपय शोषय शोषय मारय मारय स्तम्भय स्तम्भय द्रावय द्रावय कवचाय हुम्। आकर्षयाकर्षय महाबल हुं फट् नेत्रत्रयाय वौषट्। त्रिभुवनेश्वर सर्वजनमनांसि हन हन दारय दारय ॐ मम वशमानयानय हुं फट् अस्त्राय फट्। त्रैलोक्यमोहन हृषीकेशाप्रतिरूप सर्वस्त्रीहृदयाकर्षण आगच्छ-आगच्छ नमः। (सर्वाङ्गे) व्यापकम्।।३।।

इस तरह मूलमन्त्र युक्त व्यापक न्यास बतलाया गया। फिर पूजन तथा पचास हजार की संख्या में जप करके अभिषेक करना चाहिये। तत्पश्चात् वैदिक विधि से स्थापित कुण्डाग्नि में सौ बार आहुति देनी चाहिये। दही, घी, खीर,

कुण्डेऽग्नौ दैविके वह्नौ चरुं कृत्वां शतं हुनेत्। पृथग्दधि घृतं क्षीरं चरुं साज्यं पयः शृतम्।।५।।
द्वादशाऽऽहुतिमू (तीर्मू) लेन सहस्रं चाक्षतांस्तिलान्। यवं मधुत्रयं पुष्पं फलं दधि समिच्छतम्।।६।।
हुत्वा पूर्णाहुतिं शिष्टं प्राशयेत्सघृतं चरुम्। संभोज्य विप्रानाचार्यं तोषयेत्सिद्ध्यते मनुः।।७।।
स्नात्वा यथावदाचम्य वाग्यतो यागमन्दिरम्। गत्वा पद्मासनं बद्ध्वा शोषयेद्विधिना वपुः।।८।।
रक्षोघ्नविघ्नकृद्दिक्षु न्यसेदादौ सुदर्शनम्। (पञ्चबीजं नाभिमध्यस्थं धूम्रं चण्डानिलात्मकम्।।९।।
अशेषं कल्मषं देहाद्विश्लेषयदनुस्मरेत्। रंबीजं हृदयाब्जस्थं स्मृत्वा ज्वालाभिरादहेत्।।१०।।
ऊर्ध्वाधस्तिर्यगाभिस्तु मूर्ध्नि संप्लावयेद्वपुः। ध्यात्वाऽमृतैर्बहिश्चान्तः सुषुम्नामार्गगामिभिः।।११।।
एवं शुद्धवपुः प्राणानायम्य मनुना त्रिधा। विन्यसेन्न्यस्तहस्तान्तः शक्तिं मस्तकवक्त्रयोः।।१२।।
गुह्ये गले दिक्षु हृदि कुक्षौ देहे च सर्वतः। आवाह्य ब्रह्मरन्ध्रेण हृत्पद्मे सूर्यमण्डलात्।।१३।।
तारेण संपरात्मानं स्मरेत्तं सर्वलक्षणम्।।१४।।
त्रैलोक्यमोहनाय विद्महे स्मराय धीमहि। तन्नो विष्णुः प्रचोदयात्।।१५।।
आत्मार्चनात्क्रतुद्रव्यं प्रोक्षयेच्छुद्धपात्रकम्। कृत्वाऽऽत्मपूजां विधिना स्थण्डिले तं समर्चयेत्।।१६।।
कूर्मादिकल्पिते पीठे पद्मस्थं गरुडोपरि। सर्वाङ्गसुन्दरं प्राप्तवयोलावण्ययौवनम्।।१७।।
मदाघूर्णितताम्राक्षमुदारं स्मरविह्वलम्। दिव्यमाल्याम्बरालेपभूषितं सस्मिताननम्।।१८।।

सघृत चरु तथा औटाये हुए दूध की पृथक्-पृथक् द्वादश-द्वादश आहुतियाँ मूलमन्त्र से देना चाहिये। फिर अक्षत, तिल और यव की एक हजार आहुतियाँ देने के पश्चात् त्रिमधु, पुष्प, फल, दही तथा समिधाओं की सौ-सौ बार आहुतियाँ देनी चाहिये।४-६।।

तत्पश्चात् पूर्णाहुति-हवन करके हुतावशिष्ट सघृत चरु का प्राशन करना चाहिये-कराये। फिर ब्राह्मण-भोजन कराकर आचार्य को उचित दक्षिणा आदि से संतुष्ट करना चाहिये। ऐसा करने से मन्त्र सिद्ध होता है। स्नान करके विधिवत् आचमन करना चाहिये और मौनभाव से यागमन्दिर में जाकर पद्मासन से बैठे और तान्त्रिक विधि के अनुसार शरीर का शोषण करना चाहिये। पहले राक्षसों तथा विघ्नकारक भूतों का दमन करने के लिये सम्पूर्ण दिशाओं में सुदर्शन का न्यास करना चाहिये। साथ ही यह भावना करनी चाहिये कि वह सुदर्शन अस्त्र पाँच कलशों के बीजभूत, धूम्रवर्ण एवं प्रचण्ड अनिलरूप मेरे सम्पूर्ण पाप को, जो नाभि में स्थित है, शरीर से अलग कर रहा है। फिर हृदयकमल में स्थित 'रं' बीज का स्मरण करके ऊपर, नीचे तथा अगल-बगल में फैली हुई अग्नि की ज्वालाओं से उस पापपुंज को जलाकर भस्म कर देना चाहिये। फिर मूर्धा (ब्रह्मरन्ध्र) में अमृत का चिन्तन करके सुषुम्णानाड़ी के मार्ग से आती हुई अमृत की धाराओं से अपने शरीर को बाहर और अन्दर से भी आप्लावित करना चाहिये। 'त्रैलोक्यमोहनाय...... प्रचोदयात्' इस मन्त्र से परमात्मा की अर्चना के पश्चात् यज्ञ सम्बन्धी द्रव्यों तथा पात्रों का मार्जन करना चाहिये। विधिपूर्वक आत्मपूजा करने के बाद वेदी पर उस ब्रह्म की अर्चना करनी चाहिये।।७-१६।।

कच्छप आदि के प में कल्पित पीठ पर पद्मासन पर अथवा गरुड़ के ऊपर स्थित सर्वाङ्ग सुन्दर, वयस्क, सुन्दर युवा, मद्यपान से लाल नेत्रों वाले, उदार, स्मर, पीड़ित, दिव्यमालाओं, वस्त्रों तथा आलेपों से शुशोभित, मुस्कराते हुए, अनेक परिवारों और सामग्रियों से शोभित, लोकानुग्रहकारी, सौम्य, सहस्रों सूर्य के समान उनके मुख की ओर देखते

विष्णुं नानाविधानेकपरिवारपरिच्छदम्। लोकानुग्रहणं सौम्यं सहस्रादित्यतेजसम्॥१९॥
पञ्चबाणधरं प्राप्तकामै (मा) क्षं द्विचतुर्भुजम्। देवीस्त्रीभिर्वृतं देवीमुखासक्तेक्षणं जपेत्॥२०॥
चक्रं शङ्खं धनुः खड्गं गदां मुसलमङ्कुशम्। पाशं च बिभ्रतं चार्चेदावाहादिविसर्गतः॥२१॥
श्रियं वामोरुजङ्घास्थां श्लिष्यन्तीं पाणिना पतिम्। साब्जवामकरां पीनां श्रीवत्सकौस्तुभान्विताम्॥२२॥
मालिनं पीतवस्त्रं च चक्राद्याढ्यं हरिं यजेत्॥२३॥

ॐ सुदर्शन महाचक्रराज धर्मशान्त दुष्टभयङ्कर च्छिद च्छिद विदारय विदारय परममन्त्रान्ग्रस ग्रस भक्षय भक्षय भूतानि चाऽऽशय चाऽऽशय हूं फट्, ॐ जलचराय स्वाहा खड्गतीक्ष्ण च्छिन्द च्छिन्द खड्गाय नमः शारङ्गाय सशराय हूं फट्॥२४॥
ॐभूतग्रामाय विद्महे चतुर्विधाय धीमहि। तन्नो ब्रह्म प्रचोदयात्॥२५॥
संवर्तक श्वसन पोथय पोथय हूं फट्, स्वाहा पाश धम धमाऽऽकर्षयाऽऽकर्षय हूं फट् फट्।
अंकुशेन कट्ट हूं फट्॥२६॥
क्रमाद्भुजेषु मन्त्रैः स्वैरेभिरस्त्राणि पूजयेत्॥२७॥
ॐ पक्षिराजाय हूं फट्॥२८॥
तार्क्ष्यं यजेत्कर्णिकायामङ्गदेवान्यथाविधि। शक्तिरिन्द्रादियन्त्रेषु तार्क्ष्याद्या धृतचामराः॥२९॥

हुए, चक्र, शङ्ख, धनुष, खड्ग, गदा, मुसल, अंकुश तथा पाश को धारण करने वाले भगवान् श्रीहरि विष्णु का आवाहन आदि विसर्जन पर्यन्त करना चाहिये॥१७-२१॥

यह भी चिन्तन करना चाहिये कि भगवान् अपने ऊरु तथा जंघा पर लक्ष्मी को बैठाये हुए हैं और वे दोनों हाथों से पति का आलिंगन करके स्थित हैं। उनके बायें हाथ में कमल है। वे शरीर से हृष्ट-पुष्ट हैं तथा श्रीवत्स और कौस्तुभ से सुशोभित है। भगवान् के गले में वनमाला है और शरीर पर पीताम्बर शोभा पाता है। इस तरह चक्र आदि आयुधों से सम्पन्न श्रीहरि विष्णु का पूजन करना चाहिये॥२२-२३॥

'ॐ सुदर्शन महाचक्रराज दह दह सर्वदुष्टभयं कुरु कुरु छिन्द छिन्द विदारय विदारय परमन्त्रान् ग्रस ग्रस भक्षय भक्षय भूतानि त्रासय त्रासय हुं फट् स्वाहा'।-इस मन्त्र से चक्र सुदर्शन की पूजा करनी चाहिये। **'ॐ महाजलचराय हुं फट् स्वाहा। पाञ्चजन्याय नमः।'** इस मन्त्र से शंख की पूजा करनी चाहिये। **'महाखड्ग तीक्ष्ण छिन्द छिन्द हुं फट् स्वाहा खड्गाय नमः।'** -इससे खड्ग की पूजा करनी चाहिये। **'शार्ङ्गाय सशराय नमः।'** इससे धनुष और बाण की पूजा करनी चाहिये। **'ॐ भूतग्रामाय विद्महे। चतुर्विधाय धीमहि। तन्नो ब्रह्म प्रचोदयात्।'**-यह भूतग्राम-गायत्री है। **संवर्तक मुशल पोथय पोथय हुं फट् स्वाह।'** इस मन्त्र से मुशल की पूजा करनी चाहिये। **'पाश बन्धाकर्षयाकर्षय हुं फट्'** इस मन्त्र से पाश का पूजन करना चाहिये। **'अंकुश कट्ट हुं फट्'**-इससे अंकुश की पूजा करनी चाहिये। भगवान् की भुजाओं में स्थित अस्त्रों द्वारा तत्तत् अस्त्र-सम्बन्धी इन्हीं मन्त्रों से क्रमशः पूजन करना चाहिये॥२४-२७॥

'ॐ पक्षिराजाय हुं फट्'-इस मन्त्र से पक्षिराज गरुड की पूजा करनी चाहिये। कर्णिका में पहले अंग देवताओं का विधिवत् पूजन करना चाहिये। फिर पूर्व आदि दलों में क्ष्मी आदि शक्तियों तथा चामरधारी तार्क्ष्य आदि की अर्चना करनी चाहिये। शक्तियों की पूजा का प्रयोग अन्त में करना चाहिये। पहले देवेश्वर इन्द्र आदि दण्डीसहित

शक्तयोऽन्ते प्रयोज्याऽऽदौ सुरेशाद्याश्च दण्डिना। पीते लक्ष्मीसरस्वत्यौ (रतिप्रीतिजयासिताः।।३०।।
कीर्तिकान्त्यौ सिते श्यामे) तुष्टिपुष्ट्यौ स्मरोदिते। लोके शान्तं यजेद्देवं विष्णुमिष्टार्थसिद्धये।।३१।।
ध्यायेन्मन्त्रं जपेद्वैनं जुहुयात्त्वभिषेचयेत्।।३२।।
ॐ श्रीं क्लीं ह्रूं ह्रूं त्रैलोक्यमोहनाय विष्णवे नमः।।३३।।
एतत्पूजादिना सर्वान्कामानाप्नोति पूर्ववत्। तोयैः सम्मोहनीपुष्पैर्नित्यं तेन च तर्पयेत्।।३४।।
ब्रह्मा सशक्रश्रीदण्डी बीजं त्रैलोक्यमोहनम्। जप्त्वा त्रिलक्षं हुत्वाऽब्जैर्लक्षं बिल्वैश्च साज्यके।।३५।।
तण्डुलैः फलगन्धाद्यैर्दूर्वाभिस्त्वायुराप्नुयात्। जपाभिषेकहोमादिक्रियातुष्टो ह्यभीष्टदः।।३६।।
ॐ ह्रूं नमो भगवते वराहाय भूर्भुवः स्वः पतये। भूपतित्वं मे देहि दापय स्वाहा।।३७।।
पञ्चाङ्गं नित्यमयुतं जप्त्वाऽऽयू राज्यमाप्नुयात्।।३८।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते त्रैलोक्यमोहनमन्त्रकथनं नाम सप्ताधिकत्रिशततमोऽध्यायः।।३०७।।

पूजनीय हैं। लक्ष्मी और सरस्वती पीतवर्ण की हैं। रति, प्रीति और जया—ये शक्तियाँ श्वेतवर्णा हैं। कीर्ति तथा कान्ति श्वेतवर्णा हैं। तुष्टि तथा पुष्टि—ये दोनों श्यामवर्णा हैं। इनमें स्मरभाव (प्रेममिलन की उत्कण्ठा) उदित रहती है। लोकेश (ब्रह्माजी तथा दिक्पाल) पर्यन्त देवताओं की पूजा करके अभीष्ट अर्थ की सिद्धि के लिये भगवान् श्रीहरि विष्णु की पूजा करनी चाहिये। निम्नांकित मन्त्र का ध्यान और जप करना चाहिये। उसके द्वारा हवन और अभिषेक करना चाहिये। 'मन्त्र इस प्रकार है—'**ॐ श्रीं क्लीं ह्रीं ह्रूं त्रैलोक्यमोहनाय विष्णवे नमः।**' इस मन्त्र द्वारा पूर्ववत् पूजन आदि करने से साधक सम्पूर्ण कामनाओं को प्राप्त कर लेता है। जल तथा सम्मोहनी वृक्ष के पुष्प द्वारा कथित मन्त्र से नित्य तर्पण करना चाहिये। ब्रह्मा, इन्द्र, श्रीदेवी, दण्डी, बीजमन्त्र तथा त्रैलोक्यमोहन विष्णु का पूजन करके कथित मन्त्र का तीन लाख जप करने के पश्चात् कमलपुष्प, बिल्वपत्र तथा घी से एक लाख हवन करना चाहिये। कथित हवन-सामग्री में चावल, फल, सुगन्धित चन्दन आदि द्रव्य और दूर्वा भी मिला ले। इन सबके द्वारा हवन कर्म सम्पादित करके मनुष्य दीर्घ आयु की उपलब्धि करता है। उस जप, अभिषेक तथा हवनादि क्रिया से संतुष्ट होकर भगवान् श्रीहरि विष्णु उपासक को अभीष्ट फल सम्प्रदान करते हैं।।२८-३६।।

'**ॐ नमो भगवते वराहाय भूर्भुवःस्वः पतये भूपतित्वं मे देहि दापय स्वाहा।**'—यह वराह भगवान् का मन्त्र है। इसका पञ्चाग न्यास इस तरह है—'**ॐ नमो हृदयाय नमः। भगवते शिर से स्वाहा। वराहाय शिखायै वषट्। भूर्भुवःस्वःपतये कवचाय हुम्। भूपतित्वं मे देहि दापय स्वाहा अस्त्राय फट्।**' इस तरह पञ्चाङ्ग न्यासपूर्वक वराह-मन्त्र का प्रतिदित दस हजार बार जप करने से मनुष्य दीर्घ आयु तथा राज्य प्राप्त कर सकता है।।३७-३८।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी तीन सौ सातवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।३०७।।

❖❖❖

अथाष्टाधिकत्रिशततमोऽध्यायः

त्रैलोक्यमोहनीलक्ष्म्यादिपूजा

अग्निरुवाच

वक्षः सवह्निर्वामाक्षौ दण्डी श्रीः सर्वसिद्धिदा। महाश्रिये महासिद्धे महाविद्युत्प्रभे नमः।।१।।
(श्रिये देवि विजये नमः। गौरि महाबले बन्ध बन्ध नमः। हूं महाकाये पद्महस्ते हूं फट्, श्रिये नमः। हूं श्रिये फट्, श्रिये नमः, श्रिये श्रीद नमः) स्वाहा श्री फट्।।२।।
अस्याङ्गानि नवोक्तानि तेष्वेक च समाश्रयेत्। त्रिलक्षमेकलक्षं वा जप्त्वाऽक्षाब्जैश्च भूतिदः।।३।।
श्रीगेहे विष्णुगेहे वा श्रियं पूज्य धनं लभेत्। आज्याक्तैस्तण्डुलैर्लक्षं जुहुयात्खादिरानले।।४।।
राजा वश्यो भवेद्वृद्धिः श्रीश्च स्यादुत्तरोत्तरम्। सर्षपाम्भोभिषेकेण नश्यन्ते सकला ग्रहाः।।५।।
बिल्वलक्षहुता लक्ष्मीर्वित्तवृद्धिश्च जायते। शक्रवेश्म चतुर्द्वारं हृदये चिन्तयेदथ।।६।।
बलाकीं वामनां श्यामां श्वेतपंकजधारिणीम्। ऊर्ध्वबाहुद्वयं (यां) ध्यायेत्क्रीडन्तीं द्वारि पूर्ववत्।।७।।

अध्याय-३०८

त्रैलोक्यमोहिनी लक्ष्मी आदि मन्त्र विचार

श्रीअग्निदेव ने कहा कि–हे वसिष्ठ! वान्त (श्), वह्नि (र), वामनेत्र (ईकार) और दण्ड (अनुस्वार)– इनके योग से 'श्रीं' बीज बनता है, जो 'श्री' देवी का मन्त्र है और सब सिद्धियों को देने वाला है।

इसका अंगन्यास इस तरह करना चाहिये–

(प्रथम तरह)–**महाश्रिये महाविद्युत्प्रभे स्वाहा, हृदयाय नमः। श्रियै देवि विजये स्वाहा, शिर से स्वाहा। गौरि महाबले बन्ध-बन्ध स्वाहा, शिखायै वषट्। धृतिः स्वाहा, कवचाय हुम्। महाकाये पद्महस्ते हुं फट्, अस्त्राय फट्।**

(दूसरा तरह)–**'श्रियै स्वाहा, हृदयाय नमः। श्रीं फट्, शिर से स्वाहा। श्रीं नमः' शिखायै वषट्। श्रियै प्रसीद नमः। कवचाय हुम्। श्रीं फट्, अस्त्राय फट्।'** (इसी तरह अन्यान्य भी तन्त्र-ग्रन्थों में कहे गये हैं।।१-२।।

इस तरह 'श्री' मन्त्र के नौ अंगन्यास बतलाये गये हैं। उनमें से किसी एक का आश्रय ले। पद्माक्ष की माला से उपरोक्त मन्त्र का तीन लाख या एक लाख बार जप ऐश्वर्य सम्प्रदान करने वाला है। साधक लक्ष्मी अथवा विष्णु के मन्दिर में श्रीदेवी का पूजन करके धन प्राप्त कर सकता है। खदिरकाष्ठ से प्रज्वलित अग्नि में घृतमिश्रित तण्डुलों की एक लाख आहुतियाँ देनी चाहिये। इससे राजा वशीभूत हो जाता है तथा लक्ष्मी की उत्तरोत्तर वृद्धि होती है। श्रीमन्त्र से अभिमन्त्रित सर्षपजल से अभिषेक करने पर सभी तरह की ग्रहबाधा शान्त होती है। एक लाख बिल्वफलों का हवन करने से लक्ष्मी की प्राप्ति और धन की वृद्धि होती है।।३-५।।

साधक को चार द्वारों से युक्त निम्नांकित 'शक्रवेश्म' का चिन्तन करना चाहिये। पूर्वद्वार पर क्रीडा में संलग्न दोनों भुजाओं को ऊपर उठाये हुए श्वेत कमल को धारण करने वाली श्यामवर्णा वामनाकृति बलाकी का ध्यान करना

ऊर्ध्वीकृतेन हस्तेन रक्तपंकजधारिणीम्। श्वेताङ्गीं दक्षिणे द्वारि चिन्तयेद्वनमालिनीम्॥८॥
हरितां दोर्द्वयेनोर्ध्वमुद्वहन्तीं सिताम्बुजम्। ध्यायेद्विभीषिकां नाम श्रीदूतीं द्वारि पश्चिमे॥९॥
शांकरीमुत्तरे द्वारि तन्मध्येऽष्टदलं कजम्। वासुदेवः संकर्षणः प्रद्युम्नश्चानिरुद्धकः॥१०॥
ध्येयास्ते पद्मपत्रेषु शङ्खचक्रगदाधराः। अञ्जनक्षीरकाश्मीरहेमाभास्ते सुवाससः॥११॥
आग्नेयादिषु पत्रेषु गुग्गुलुश्च कुरण्टकः। दमकः सलिलं चेति हस्तिनो राजतप्रभाः॥१२॥
हेमकुम्भधराश्चैते कर्णिकायां श्रियं स्मरेत्। चतुर्भुजां सुवर्णाभां सपद्मोर्ध्वभुजद्वयाम्॥१३॥
दक्षिणाभयहस्ताभां वामहस्तवरप्रदाम्। श्वेतगन्धांशुकामेकरौप्यमालास्त्रधारिणीम्॥१४॥
ध्यात्वा सपरिवारां तामभ्यर्च्य सकलं लभेत्। द्रोणाब्जपुष्पं श्रीवृक्षपर्णं मूर्ध्नि न धारयेत्॥१५॥
लवणामलकं वर्ज्यं नागादित्यतिथौ क्रमात्। पायसाशी जपेत्सूक्तं श्रियस्तेनाभिषेचयेत्॥१६॥
आवाहादिविसर्गान्तां मूर्ध्नि ध्यात्वाऽर्चयेच्छ्रियम्। बिल्वाज्याब्जैः पायसेन पृथग्योगः श्रिये भवेत्॥१७॥
विषं न हन्ति कालाग्निरद्रिज्योतिरिति द्वयम्॥१८॥

ॐ ह्रीं महामहिषमर्दिनि ठं ठः, मूलमन्त्रं महिषहिंसिके नमः। महिषशत्रुं भ्रमाय भ्रामय, ॐ फ ठ ठं महिषं

चाहिये। दक्षिण द्वार पर ऊपर उठाये हुए एक हाथ में रक्तकमल धारण करने वाली श्वेताङ्गी वनमालिनी का चिन्तन करना चाहिये। पश्चिमद्वार पर दोनों हाथों को ऊपर उठाकर श्वेत पुण्डरीक को धारण करने वाली हरितवर्णा विभीषिका नाम वाली श्रीदूती का ध्यान करना चाहिये। उत्तरद्वार पर शाङ्करी की धारण करना चाहिये। 'शक्रवेश्म' के मध्य में अष्टदल कमल का निर्माण करना चाहिये। कमलदलों पर क्रमशः शंख, चक्र, गदा और पद्म धारण किये हुए वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध का ध्यान करना चाहिये। उनकी अंगकान्ति क्रमशः अंजन, दुग्ध, केसर और स्वर्ण के समान है। वे सुन्दर वस्त्रों से विभूषित हैं। उस अष्टदल कमल के आग्नेय आदि दलों पर गुग्गुलु, कुरण्टक, दमक और सलिल नामक दिग्गजों की धारणा करनी चाहिये। ये चारों स्वर्ण कलशों को धारण करने वाले हैं। कमल की कर्णिका का श्रीदेवी का स्मरण करना चाहिये। वे चार भुजाओं से युक्त हैं। उनकी अंगकान्ति स्वर्ण के समान है। उनकी ऊपर की उठी हुई दोनों भुजाओं में कमल है तथा दक्षिणाहस्त में अभयमुद्रा और वामहस्त में वरमुद्रा सुशोभित हो रही है। वे शुभ्र एवं सुवासित वस्त्र तथा गले में एक श्वेत माला धारण करती हैं। उन श्रीदेवी का ध्यान एवं सपरिवार पूजन करके मनुष्य सब कुछ प्राप्त कर लेता है॥६-१४॥

उपरोक्त उपासना के समय द्रोणयुक्त, कमल और बिल्वपत्र को सिर पर धारण नहीं करना चाहिये। पंचमी और सप्तमी के दिन क्रमशः लवण और आँवले का परित्याग कर देना चाहिये। साधक को खीर का भोजन करके श्रीसूक्त का जप करना चाहिये तथा श्रीसूक्त से ही श्रीदेवी का अभिषेक करना चाहिये। आवाहन से लेकर विसर्जनपर्यन्त सभी उपचार समर्पित श्रीसूक्त की ऋचाओं से करता हुआ ध्यानपूर्वक श्रीदेवी का पूजन करना चाहिये। बिल्व, घृत, कमल और खीर—ये वस्तुएँ एक साथ या पृथक्-पृथक् भी श्रीदेवी के निमित्त हवन में उपयुक्त हैं। यह हवन लक्ष्मी की प्राप्ति एवं वृद्धि करने वाला है॥१५-१७॥

विषं (म), हि, मज्जा (ष), काल (म), अग्नि (र), अत्रि (द), निष्ठ (इ), नि, स्वाहा (मर्दिषमर्दिनि **स्वाहा**)—यह भगवती महिषमर्दिनी (महालक्ष्मी) का अष्टाक्षर मन्त्र कहा गया है॥१८॥

'ॐ ह्रीं महामहिषमर्दिनि स्वाहा।'—यह मूलमन्त्र है। इसका पंचागन्यास इस तरह है—'महिषमर्दिनि हुं

हेषय हेषय, ॐ हूं महिषं हेषय हेषय हूं महिषं हन हन देवि हूं महिषनिषूदनि फट् दुर्गाहृदय-मित्युक्तं साङ्गं सर्वार्थसाधकम्। यजेद्यथोक्तं तां देवीं पीठे चैवाङ्गमध्यग (गा) म्।।१९-२०।।

ॐ ह्रीं दुर्गे दुर्गे रक्षणि स्वाहा चेति दुर्गायै नमः। वरवर्ण्यै नमः।

आर्यायै कनकप्रभायै कृत्तिकायै, अभयप्रदायै कन्यकायै स्वरूपायै।।२१।।

पत्रस्थाः पूजयेदेता मूर्तीराद्यैः स्वरैः क्रमात्।।२२।।

चक्राय शङ्खाय गदायै खड्गाय धनुषे बाणाय।।२३।।

अष्टम्याद्यैरिमां दुर्गां लोकेशां तां यजेदिति। दुर्गायोगः समायुः श्रीस्वामिरक्ताजपादिकृत्।।२४।।

संसाध्येशानमन्त्रेण तिलहोमो वशीकरः। जयः पद्मैस्तु दूर्वाभिः शान्तिकामः पलाशजैः।।२५।।

पुष्टिः स्यात्काकपक्षेण मृतिर्द्वेषादिकं भवेत्। ग्रहक्षुद्रभयापत्ति सर्वमेव मनुर्हरेत्।।२६।।

ॐ दुर्गे दुर्गे रक्षणि स्वाहा।।२७।।

रक्षाकरीयमुदिता जयदुर्गाङ्गसंयुता। श्यामां त्रिलोचना देवीं ध्यत्वाऽऽत्मानं चतुर्भुजम्।।२७।।

शङ्खचक्राब्जशूलासित्रिशूलां रौद्ररूपिणीम्। युद्धादौ संजयेदेतां यजेतखड्गादिके जये।।२९।।

पुट्, हृदयाय नमः। महिषशत्रूत्सादिनि हुं फट्, शिर से स्वाहा महिषं भीषय हुं फट, शिखायै वषट्। महिषं हन हन देवि हुं फट्, कवचाय हुम्। महिषसूदनि हुं फट्, अस्त्राय पट्।,

यह अंगों सहित 'दुर्गाहृदय' कहा गया है, जो सम्पूर्ण कामनाओं को सिद्ध करने वाला है। दुर्गा देवी का निम्नांकित तरह से आठ एवं अष्टदल-कमल पर पूजन करना चाहिये।।१९-२०।।

'ॐ ह्रीं दुर्गे रक्षणि स्वाहा'-यह दुर्गा का मन्त्र है। अष्टदलपद्म पर दुर्गा, वरवर्णिनी, आर्या, कनकप्रभा, कृत्तिका, अभयप्रदा, कन्य का और सुरूपा-इन शक्तियों के क्रमशः आदि के सस्वर अक्षरों में बिन्दु लगाकर उन्हीं बीजमन्त्रों से युक्त नाममन्त्रों द्वारा यजन करना चाहिये। यथा -'दुं दुर्गायै नमः' इत्यादि। इनके साथ क्रमश; चक्र, शंख, गदा, खंग, बाण, धनुष, अंकुश और खेट-इन अस्त्रों की भी अर्चना करनी चाहिये। अष्टमी आदि तिथियों पर लोकेश्वरी दुर्गा की पूजा करनी चाहिये।

दुर्गा की यह उपासना पूर्ा आयु, लक्ष्मी, (आत्मरक्षा) एवं युद्ध में विजय सम्प्रदान करने वाली है। साध्य के नाम से युक्त मन्त्र से तिल का हवन 'वशीकरण' करने वाला है। कमलों के हवन से 'विजय' प्राप्त होती है। शान्ति की कामना करने वाला दूर्वा से हवन करना चाहिये। पलाश-समिधाओं से पुष्टि, काकपक्ष के हवन से मारण एवं विद्वेषणकर्म सिद्ध होते हैं। यह मन्त्र सभी तरह की ग्रहबाधा एवं भय का हरण करता है।।२१-२६।।

'ॐ दुर्गे दुर्गे रक्षणि स्वाहा'-यह अंगसहित 'जय दुर्गा' बतलायी गयी हैं। यह साधक की रक्षा करती है। 'मैं श्यामांगी, त्रिनेत्रभूषिता, चतुर्भुजा, शंख, चक्र, शूल एवं खंगधारिणी रौद्ररूपिणी रणचण्डीस्वरूपा हूँ-ऐसा ध्यान करना चाहिये। युद्ध के प्रारमभ में इस 'जयदुर्गा' का जप करना चाहिये। विजय के लिये खंग आदि पर दुर्गा का पूजन करना चाहिये।।२७-२९।।

ॐ नमो भगवति ज्वालामालिनि गृध्रगणपरिवृते च रक्षणि स्वाहा।।३०।।

युद्धार्थे च जपेन्मन्त्रं शत्रूं जयति योधकः।।३१।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गति लक्ष्म्यादिपूजावर्णनं नामाष्टाधिकत्रिशततमोऽध्यायः।।३०८।।

—❊❊❊—

अथ नवाधिकत्रिशततमोऽध्यायः

त्वरितापूजा

अग्निरुवाच

त्वरिताज्ञानमाख्यास्ये भुक्तिमुक्तिप्रदायकम्।।१।।

ओमाधारशक्त्यै नमः। ॐ प्रों पुरु पुरु महासिंहाय नमः, ॐ पद्माय नमः, (ॐ ह्रीं हूं खे च च्छे क्षः स्त्रीं हूं क्षें ह्रीं फट् त्वरितायै नमः। खे च हृदयाय नमः। च च्छे शिरसे नमः। छे क्षः शिखायै नमः। क्षः स्त्रीं कवचाय नमः,) स्त्रीं हूं नेत्राय नमः। हूं क्षेमस्त्राय फट्, नमः।।२।।

'ॐ नमो भगवति ज्वालामालिनि गृध्रगणपरिवृते चराचररक्षिणि स्वाहा'–युद्ध के निमित्त इस मन्त्र का जप करना चाहिये। इससे योद्धा शत्रुओं पर विजय प्राप्त करता है।।३०-३१।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी तीन सौ आठवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।३०८।।

अध्याय–३०९

त्वरिता पूजा विचार

श्रीअग्निदेव ने कहा कि–हे मुने! त्वरिता-विद्या का ज्ञान भोग और मोक्ष प्रदानकरने वाला है; इसलिये अधुना उसी का वर्णन करने जा रहा हूँ। **'ॐ आधारशक्त्यै नमः।'**–इस मन्त्र से आधारशिला स्मरण और वन्दन करना चाहिये। फिर महासिंहस्वरूप सिंहासन की **'ॐ प्रों पुरु पुरु महासिंहाय' नमः।'**–इस मन्. से और आसानस्वरूप कमल की **'पद्माय नमः।'**–इस मन्त्र से पूजा करनी चाहिये। उसके बाद मूलमन्त्र का उच्चारण करके त्वरितादेवी की पूजा करनी चाहिये। यथा–

'ॐ ह्रीं हुं खे च च्छे क्षः स्त्री हूं क्षें ह्रीं फट् त्वरितायै नमः। इसका अंगन्यास इस तरह है–**खे च हृदयाय नमः। च च्छे शिर से नमः (शिर से स्वाहा)। छे क्षः शिखायै नमः (शिखायै वषट्)। क्षः स्त्री कवचाय नमः (कवचाय हुम्)। स्त्री हूं नेत्राय (नेत्रत्रयाय) नमः (कवचाय हुम्)। स्त्री हूं नेत्राय (नेत्रत्रयाय) नमः (वौषट्)। हूं क्षें अस्त्राय नमः (अस्त्राय फट्)।।१-२।।**

ॐ त्वरिताविद्यां विद्महे तूर्णविद्यां च धीमहि। तन्नोदेवी प्रचोदयात्।।३।।
श्री प्रणीतायै नमः, हूं वामायै नमः। ओंकारायै नमः, ॐ खे च हृदयाय नमः, खेचर्यै नमः,
चण्डायै नमः, क्षस्त्री कवचाय नमः। छेदन्यै नमः क्षेपण्यै नमः स्त्रियै हूंकार्यै नमः। क्षेमंकर्यै
जयायै विजयायै किंकराय रक्ष। ॐ त्वरिताज्ञया स्थिरो भव वषट्।।४।।
तोतला त्वरिता तूर्णेत्येवं विद्येयमीरिता। शिरोभ्रूमस्तके कण्ठे हृदि नाभौ च गुह्यके।।५।।
ऊर्वोश्च जानुजङ्घोरुद्वये चरणयोः क्रमात्। न्यस्ताङ्गो न्यस्तमन्त्रस्तु समस्तं व्यापकं न्यसेत्।।६।।
पार्वती शबरी चेशा वरदाभयहिस्तका। मयूरबलया पिच्छमौलिः किसलयांशुका।।७।।
सिंहासनस्था मायूरबर्हच्छत्रसमन्विता। त्रिनेत्रा श्यामला देवी वनमालाविभूषणा।।८।।

इसी तरह करन्यास करके निम्नांकित गायत्री का जप करना चाहिये—'**ॐ त्वरिताविद्यां विद्महे। तूर्णविद्यां च धीमहि। तन्नो देवी प्रचोदयात्।**'—यह 'त्वरिता-गायत्री मन्त्र' है।

तत्पश्चात् पीठगत कमल-कर्णिका के केसरों में पूर्वादि क्रम से अंग-देवताओं का पूजन करना चाहिये। यथा—

'**खे च हृदयाय नमः (पूर्वे)। च च्छे शिरसे नमः (अग्निकोणे)। छे क्षः शिखायै नमः (दक्षिणे)। क्षः स्त्री कवचाय नमः (नैर्ऋत्ये)। स्त्री हूं नेत्रत्रया नमः (पश्चिमे)। हूं क्षे अस्त्राय नमः (वायव्ये)।**' तत्पश्चात् उत्तरदिशा में श्रीप्रणीतायै नमः'—इस मन्त्र से श्रीप्रणीता का तथा ईशानकोण में '**श्रीगायत्र्यै नमः**' से गायत्री का पूजन करना चाहिये।।३।।

तत्पश्चात् बाह्यगत तीन गोलाकार रेखाओं के मध्य में स्थित दो वीथियों में से देवी के सामने वाले दलाग्र के बाह्यभाग में '**कोदण्डशरधारिण्यै फट्कार्यै नमः।**' से फट्कारी की पूजा करनी चाहिये। फिर उसके बाहर वाली वीथी में देवी के सम्मुख **गदापाणये किङ्कराय नमः।** से किङ्कर की पूजा करके कहे—**किङ्कर रक्ष रक्ष त्वरिताज्ञया स्थिरो भव।**' इसके बाद द्वार के दक्षिणपार्श्व में जया की और वामपार्श्व में विजयी की पूजा करनी चाहिये—'**जयायै नमः, विजयायै नमः।**' तत्पश्चात् कमल के पूर्वादि दलों में—'**हूंकार्यै नमः। खेचर्यै नमः। चण्डायै नमः। छेदिन्यै नमः। क्षेपिण्यै नमः। स्त्रीकार्यै नमः। हूंकार्यै नमः। क्षेमङ्कर्यै नमः।**' इन मन्त्रों से 'हूंकारी' आदि आठ मन्त्राक्षरशक्तियों कि पूजा करनी चाहिये।

त्वरिता-विद्या 'तोतला', 'त्वरिता' और 'तूर्णी' —इन तीन नामों से कही जाती है। इसके अक्षरों का सिर, भ्रू-युगल, ललाट, कण्ठ, हृदय, नाभि, गुह्य (मूलाधार), उरुद्वय, जानुद्वय, हङ्घाद्वय, ऊरुद्वय, चरणद्वय में न्यास करके समस्त विद्या द्वारा व्यापकन्यास करना चाहिये।।४-६।।

त्वरिता देवी साक्षात् पर्वताराजनन्दिनी की स्वरूपभूता हैं, इसलिये इनका मत 'पार्वती' है। शबर (किरात) का वेष धारण करने से उनको 'शबरी' कहा गया है। वे सबकी स्वामिनी या सब पर शासन करने में सक्षम होने से 'ईशा' कही गयी हैं। उनके एक हाथ में वरमुद्रा और दूसरे में अभयमुद्रा शोभा पाती है। मोर पंख का कंगन पहनने से उनका नाम 'मयूरवलया' है।

मयूरपिच्छ का मुकुट धारण करने से उनको 'पिच्छमौलि' कहा जाता है। नूतन पल्लव ही उनके वस्त्र के उपयोग में आते हैं, इसलिये वे 'किसलयांशुका' कही गयी हैं। वे सिंहासन पर विराजमान होती हैं। मोरपंख का छत्र धारण करती हैं। त्रिनेत्रधारिणी तथा श्यामवर्णा देवी हैं। आपादलम्बिनी माला (वनमाला) उनका आभूषण है। ब्राह्मणजातीय दो नाग (अनन्त और कुलिक) देवी के कानों के आभूषण हैं। क्षत्रियजाति के दो नागराज (वासुकि और

विप्राहिकर्णाभरणा क्षत्रकेयूरभूषणा। वैश्यनागकटीबन्धा वृषाहिकृतनूपुरा॥९॥
एवं रूपात्मिका भूत्वा तन्मन्त्रं नियुतं जपेत्। ईशः किरातरूपोऽभूत्पुरा गौरी च तादृशी॥१०॥
जपेद्ध्यायेत्पूजयेत्तां सर्वसिद्ध्यै विषादिहृत्। अष्टसिंहासने पूज्या दले पूर्वादिके क्रमात्॥११॥
अङ्गगायत्री प्रणीता हूंकाराद्या दलाग्रके। फट्कारी चाग्रतो देव्याः श्रीबीजेनार्चयेदिमाः॥१२॥
लोकेशायुधवर्णास्ताः फट्कारी तु धनुर्धरा। जया च विजया द्वाःस्थे पूज्ये सौवर्णपुष्टिके॥१३॥
किंकरा बर्बरी मुण्डी लगुडी च तयोर्बहिः। इष्ट्वैवं सिद्धये द्रव्यैः कुण्डे योन्याकृतौ हुनेत्॥१४॥
हेमलाभोऽर्जुनैर्धान्यैर्गोधूमै पुष्टिसंपदः। यवैर्धान्यैस्तिलैः सर्वसिद्धिरीतिविनाशनम्॥१५॥
अक्षैरुन्मत्तता शत्रोः शाल्मलीभिश्च मारणम्। जम्बूभिर्धनधान्याप्तिस्तुष्टिर्नीलोत्पलैरपि॥१६॥
रक्तोत्पलैर्महापुष्टिः कुन्दपुष्पैर्महोदयः। मल्लिकाभिः पुरक्षोभः कुमुदैर्जनवल्लभः॥१७॥

शंखपाल) उनके बाजूबंद बने हुए हैं। वैश्यजातीय दो नाग (तक्षक और महापद्म) त्वरिता देवी के कटिप्रदेश में किङ्किणी बनकर रहते हैं और शूद्रजातीय दो सर्प (पद्म तथा कर्कोटक) देवी के चरणों में नूपुर की शोभा सम्प्रदान करते हैं।

साधक को स्वयं भी देवीस्वरूप होकर उनके मन्त्र का एक लाख जप करना चाहिये। प्राचीन काल में देवेश्वर शिव किरात रूप में प्रकट हुए थे। उस समय देवी पार्वती भी तदनुरूप ही किराती बन गयी थी। सभी तरह की सिद्धियों के लिये उनका ध्यान करना चाहिये। उनके मन्त्र का जप करना चाहिये तथा उनका पूजन करना चाहिये। देवी की आराधना विष आदि सभी तरह के उपद्रवों को हर लेती है॥७-१०॥

(पूर्ववर्णन के अनुसार) कमल के पूर्वादि दल के अन्दर कर्णिका में आठ सिंहासनों पर निम्नांकित देवियों का क्रमशः पूजन करना चाहिये। हृदयादि छः अंगों सहित प्रणीता और गायत्री का पूजन करना चाहिये। पूर्वादि दलों में हूंकारी आदि की पूजा करनी चाहिये। दलाग्रभाग में देवी त्वरिता के सम्मुख फट्कारी की पूजा करनी चाहिये। इन सब देवियों के नाममन्त्र के साथ 'श्री' बीज लगाकर उसी से इनकी पूजा करनी चाहिये। हूंकारी आदि के आयुध और वर्ण उस-उस दिशा के दिक्पालों के ही समान हैं। परन्तु फट्कारी देवी धनुष धारण करती हैं।

मण्डल के द्वार-भागों में जया तथा विजया की पूजा करनी चाहिये। ये दोनों देवियाँ सुनहरे रंग की छड़ी धारण करती हैं। उनके बाह्यभाग में देवी के समक्ष द्वारपाल किङ्कर का पूजन करना चाहिये, जिसे 'वर्वर' कहा गया है। उसका मस्तक मुण्डित है। (मतान्तर के अनुसार उसके सिर के केश ऊपर की तरफ उठे रहते हैं)। वह लगुडधारी है। उसका स्थान जया-विजया के बाह्यभाग में इस तरह पूजन करके सिद्धि के लिये हवनीय द्रव्यों द्वारा योन्याकार कुण्ड में हवन करना चाहिये॥११-१४॥

उज्ज्वल धान्य के हवन करने पर स्वर्ण-लाभ होता है। गोधूम से हवन करने पर पुष्टि-सम्पत्ति प्राप्त होती है। जौ, धान्य (चावल) और तिलों की मिश्रित हवनसामग्री से हवन करने पर सभी तरह की सिद्धि सुलभ होती है तथा ईतिभय का विनाश हो जाता है। बहेड़े का हवन किया जाय तो शत्रु को उन्माद हो जाता है। सेमर से हवन करने पर शत्रु के प्रति मारण का प्रयोग सफल होता है। जामुन के फल की आहुतियाँ दी जायँ तो उनसे धन-धान्य की प्राप्ति हो जाती है। नील कमल के हवन से तुष्टि होती है।

लाल कमलों द्वारा हवन करने से महापुष्टि होती है। कुन्द के फूलों से हवन किया जाय तो महान् अभ्युदय होता है। मल्लिका कुसुमों से हवन करने पर ग्राम या नगर में क्षोभ होता है। कुमुद-कुसुमों की आहुति से साधक सब लोगों का प्रिय हो जाता है॥१५-१७॥

अशोकैः पुत्रलाभः स्यात्पाटलाभिः शुभाङ्गना। आम्रैरायुस्तिलैर्लक्ष्मीर्बिल्वैः श्रीश्चम्पकैर्धनम्।।१८।।
इष्टं मधुकपुष्पैश्च बिल्वैः सर्वज्ञतां लभेत्। त्रिलक्षजप्यात्सर्वाप्तिार्होमाद्ध्यानात्तथेज्यया।।१९।।
मण्डलेऽभ्यर्च्य गायत्र्या आहुतीः पञ्चविंशतिम्। दद्याच्छतत्रयं मूलात्पल्लवैर्दीक्षितो भवेत्
पञ्चगव्यं पुरा पीत्वा चारुकं प्राशयेत्सदा।।२०।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते त्वरितापूजाविधिकथनं नाम नवाधिकत्रिशततमोऽध्यायः।।३०९।।
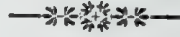
अशोक-सुमनों से हवन किया जाय तो पुत्र की और पाटला से हवन करनेपर श्रेष्ठतम अंगना की प्राप्ति हो जाती है। आम्रफल की आहुति से आयु, तिलों के हवन से लक्ष्मी, बिल्व के हवन से श्री तथा चम्पा के फूलों के हवन से धन की प्राप्ति हो जाती है। महुए के फूलों और बेल के फलों से एक साथ हवन करने पर सर्वज्ञता-शक्ति सुलभ होती है। त्वरितामन्त्र के तीन लाख जप, हवन, ध्यान तथा पूजन से समस्त अभिलषित वस्तुओं की प्राप्ति हो जाती है। मण्डल में त्वरितादेवी की अर्चना करनी चाहिये। त्वरिता-गायत्री से पचीस आहुतियाँ देनी चाहिये। फिर मूलमन्त्र से पल्लवों की तीन सौ आहुतियाँ देकर दीक्षा ग्रहण करना चाहिये। दीक्षा से पूर्व पञ्चगव्य-पान कर लेना चाहिये। दीक्षितावस्था में सदा चरु (हविष्य) का भोजन करना चाहिये।।१८-२०।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी तीन सौ नौवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।३०९।।

❖❖❖

अथ दशाधिकत्रिशततमोऽध्यायः

त्वरितामन्त्रादि

अग्निरुवाच

अपरां त्वरिताविद्यां वक्ष्येऽहं भुक्तिमुक्तिदाम्। पुरे वज्राकुले देवीं रजोभिर्लिखिते यजेत्॥१॥
पद्मगर्भे दिग्विदिक्षु चाष्टौ वज्राणि वीथिकाम्। द्वारशोभोपशोभां च लिखेच्छीघ्रं स्मरेन्नरः॥२॥
अष्टादशभुजां सिंहे वामजङ्घा प्रतिष्ठिता। दक्षिणा द्विगुणा तस्याः पादपीठे समीप्सिता॥३॥
नागभूषां वज्रदण्डे खड्गं चक्रं गदां क्रमात्। शूलं शरं तथा शक्तिं वरदं दक्षिणैः करैः॥४॥
धनुः पाशं शरं घण्टां तर्जनीं शङ्खमंकुशम्। अभयं च तथा वज्रं वामपार्श्वे धृतायुधम्॥५॥
पूजनाच्छत्रुनाशः स्याद्राष्ट्रं जयति लीलया। दीर्घायू राष्ट्रभूतिः स्याद्दिव्यादिव्यादि सिद्धिभाक्॥६॥
तलेतिसप्तपातालाः कालाग्निभुवनान्तकाः। ओंकारादीश्वरा (शमा रभ्य ?) यावद्ब्रह्माण्डवाचकम्॥७॥
तकाराद्भ्रामयेत्तोयं तोतला त्वरिता ततः। प्रस्तावं संप्रवक्ष्यामि स्वरवर्गं लिखेद्भुवि॥८॥

अध्याय-३१०

त्वरिता मन्त्र-मुद्रा आदि विचार

श्रीअग्निदेव ने कहा कि–हे मुने! अधुना मैं दूसरी 'अपरा विद्या' का वर्णन करने जा रहा हूँ, जो भोग और मोक्ष सम्प्रदान करने वाली है। धूलि से निर्मित, वज्र चिह्न से आवृत तरफ चतुरस्र भूपुरमण्डल में त्वरितादेवी की पूजा करनी चाहिये। उस मण्डल के अन्दर योगपीठ पर कमल का निर्माण भी होना चाहिये। मण्डल के पूर्वादि दिशाओं तथा कोणों में कुल मिलाकर आठ वज्र अंकित होंगे। मण्डल के अन्दर वीथी, द्वार, शोभा तथा उपशोभा की भी त्वरिता देवी का चिन्तन करना चाहिये। उनके अठारह भुजाएँ हैं। उनकी बायीं जङ्घा तो सिंह की पीठ पर प्रतिष्ठित है और दाहिनी जंघा उससे दुगुनी बड़ी आकृति में पीढ़े या खड़ाऊं पर अवलम्बित है। वे नागमय आभूषणों से विभूषित हैं। दायें भाग के हाथों में क्रमशः वज्र, दण्ड, खड्ग, चक्र, गदा, शूल, बाण, शक्ति तथा वरद मुद्रा धारण करती हैं और वामभाग में हाथों में क्रमशः धनुष, पाश, शर, घण्टा, तर्जनी, शंख, अंकुश, अभयमुद्रा तथा वज्र नामक आयुध लिये रहती हैं॥१-५॥

त्वरितादेवी के पूजन से शत्रु का विनाश होता है। त्वरिता का आराधक राज्य को भी अनयास ही जीत लेता है। वह दीर्घायु तथा राष्ट्र की विभूति बन जाता है। दिव्य और अदिव्य (दैविक और लौकिक) सभी सिद्धियाँ उसके अधीन हो जाती हैं। 'त्वरिता को 'तोतला त्वरिता' भी कहते हैं। इस नाम की व्युत्पत्ति इस तरह समझनी चाहिये–

'तल' शब्द से सातों पाताल, काल, अग्नि और सम्पूर्ण भुवन गृहीत होते हैं। ॐकार से परमेश्वर से लेकर जितना भी ब्रह्माण्ड है, उन सभी का प्रतिपादन होता है। अपने मन्त्र के आदि अक्षर ॐकार के देवी तलपर्यन्त 'तोय' का त्वरित भ्रामण (प्रक्षेपण) करती हैं, इसलिये वे 'तोतला त्वरिता' कही गयी हैं॥६-७॥

अधुना मैं त्वरिता-मन्त्र को प्रस्तुत करने का तरह (अर्थात् मन्त्रोद्धार) बता रहा हूँ भूतल पर स्वर वर्ग लिखे। (स्वरवर्ग में सोलह अक्षर हैं–अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, ऌ, ॡ, ए, ऐ, ओ, औ, अं, अः। इसके बाद व्यंजन

तालुवर्गः कवर्गः स्यात्तृतीयो जिह्वतालुकः। चतुर्थस्तालुजिह्वाग्रो जिह्वादन्तस्तु पञ्चमः॥९॥
षष्ठोऽष्टपुटसम्पन्नो मिश्रवर्गस्तु सप्तमः। ऊष्माणः स्याच्छवर्गस्तु उद्धरेच्च मनुं ततः॥१०॥
षष्ठस्वरसमारूढमूष्मणान्तं सविन्दुकम्। तालुवर्गं द्वितीयं तु स्वरैकादशयोजितम्॥११॥
जिह्वातालुसमायोगे प्रथमं केवलं भवेत्। तदेव च द्वितीयं तु अधस्तात्पुनरेव तु॥१२॥
(एकादशस्वरैर्युक्तं प्रथमं तालुवर्गतः। ऊष्मणश्च द्वितीयं तु अधस्ताद्दृश्य (?) योजयेत्॥१३॥
षोडशस्वरसंयुक्तमूष्मणश्च द्वितीयकम्। जिह्वादन्तसमायोगे प्रथमं योजयेदधः॥१४॥
मिश्रवर्गाद्द्वितीयं तु अधस्तात्पुनरेव तु। चतुर्थस्वरसंभिन्नं तालुवर्गादिसंयुतम्)॥१५॥
ऊष्मणश्च द्वितीयं तु अधस्ताद्विनियोजयेत्। स्वरैकादशभिन्नं तु ऊष्मणान्तं सविन्दुकम्॥१६॥
पञ्चस्वरसमारूढं षष्ठं सम्पुटयोगतः। द्वितीयमक्षरं चान्यजिह्वाग्रे तालुयोगतः॥१७॥
प्रथमं पञ्चमे योज्यं स्वरार्धेनोद्धृता इमे। ओंकाराद्या नमोन्ताश्च जपेत्स्वाहाग्निकार्यके॥१८॥
ॐ ह्रीं हूं ह्रः, हृदयं हां हश्चेति शिरः। शिखां ह्रीं ज्वल ज्वल शिखा स्यात्कवचं हुलु हुलु द्वयम्॥१९॥

वर्णों को भी वर्गक्रम से लिखे)—कवर्ग के लिये सांकेतिक नाम तालुवर्ग है। स्वर वर्ग पहला है और तालु वर्ग दूसरा। तीसरा जिह्वा-तालुक वर्ग है। (इसमें चवर्ग के अक्षर संयोजित हैं)। चतुर्थ वर्ग तालु-जिह्वाग्र कहा गया है। (इसमें टवर्ग के अक्षर हैं।) पंचम जिह्वादन्त वर्ग है। (इसमें तवर्ग के अक्षर हैं।) षष्ठ वर्ग का नाम है—ओष्ठपुट सम्पन्न। (इसमें पवर्ग के अक्षर हैं।) सातवाँ मिश्र वर्ग है। (इसमें अन्तःस्थ—य, र, ल, व का समावेश है।) आठवाँ वर्ग ऊष्मा या शवर्ग है। इन्हीं वर्गों के अक्षरों से मन्त्र का उद्धार करना चाहिये॥८-१०॥

छठे स्वर ऊकार पर आरूढ़ ऊष्मा का द्वितीय अक्षर हकार बिन्दु (अनुस्वर) से युक्त हो (हूं)। तालुवर्ग का द्वितीय अक्षर 'खकार' ग्यारहवें स्वर 'एकार' से युक्त हो (ख)। जिह्वा-तालु समायोग का केवल प्रथम अक्षर 'चकार' हो, उसके नीचे उसी वर्ग का दूसरा अक्षर 'छकार' हो और वह ग्यारहवें स्वर 'एकार' से संयुक्त (च्छे) हो। तालुवर्ग का प्रथम अक्षर'क्' हो, फिर उसके नीचे ऊष्मा का द्वितीय अक्षर ष् को देखकर जोड़ दे और उसको सोलहवें स्वर–'अः' से संयुक्त करना चाहिये। (क्षः)। ऊष्मा का तीसरा अक्षर 'स्' हो, उसके नीचे जिह्वादन्त समायोग के प्रथम अक्षर 'तकार' को जोड़। उसके नीचे मिश्रवर्ग का दूसरा अक्षर 'रकार' जोड़े और उसको चौथे स्वर 'ईकार' से जोड़ दे–(स्त्री)। तत्पश्चात् तालुवर्ग के आदि अक्षर 'क्' के नीचे ऊष्म का द्वितीय अक्षर 'ष्' जोड़ दे और उसको ग्यारहवें स्वर से मिला दे–(क्षे)। इसके बाद ऊष्मा के अन्तिम अक्षर 'हकार' को अनुस्वरयुक्त करके पाँचवें स्वर पर आरूढ़ कर दे 'हुं) ओष्ठसम्पुट योग से दूसरा अक्षर 'फ्' और जिह्वाग्र तालु योग से द्वितीय अक्षर 'ट्' को पंचम 'ण' के रूप में परिणत करके जोड़ना चाहिये। स्वर तथा अर्द्ध-व्यंजन वर्णों के साथ उद्धत हुए–ये अक्षर 'तोतला त्वरिता' के मन्त्र हैं। इनके आदि में ॐकार और अन्त में 'नमः' जोड़ने पर जो मन्त्र बने, उसका तो जप करना चाहिये, परन्तु अग्निकार्य (हवन) में 'नमः' को हटाकर 'स्वाहा' जोड़ देना चाहिये। (तात्पर्य यह है कि '**ॐ हूं खे च्छे क्षः स्त्री क्षे हुं फट् नमः**'–यह जपमन्त्र है और '**ॐ हूं खे च्छे क्षः स्त्री क्षे हुं फट् स्वाहा**'–यह हवनोपयोगी मन्त्र है॥११-१८॥

इसका अंगन्यास इस तरह है–**ॐ ह्रीं हूं ह्रः हृदयाय नमः। हां हः शिर से स्वाहा। ह्रीं ज्वल ज्वल शिखायै वषट्। हनु हनु (अथवा हुलु हुलु), कवचाय हुम्। ह्रीं श्रीं क्षूं नेत्रत्रयाय वौषट्।** नवाँ (फ) और आधा अक्षर (ट्) रूप जो तोतला त्वरिता विद्या है, उसी को देवी का नेत्र कहा गया है। '**क्षौं हः खैं हूं फट् अस्त्राय**

ह्रीं श्रीं क्षूं नेत्रत्रयाय विद्यानेत्र प्रकीर्तितम्। क्षौं हः खौं हूं फडस्त्राय गुह्याङ्गानि पुरा न्यसेत्॥२०॥
त्वरिताङ्गानि वक्ष्यामि विद्याङ्गानि शृणुश्व मे। आदिद्विहृदयं प्रोक्तं त्रिचतुः शिर इष्यते॥२१॥
पञ्चषष्ठः शिला प्रोक्तं कवचं सप्तमाष्टमात्। तारकं तु भवेन्नेत्रं नवार्धाक्षरलक्षणम्॥२२॥
तोतलेति समाख्याता वज्रतुण्डे ततो भवेत्। ख ख हूं दशबीजा स्याद्वज्रतुण्डेन्द्रदूतिका॥२३॥
खेचरी ज्वालिनी ज्वाले खखेति ज्वालिनी दश। वर्चे शरविभीषणि खखेति च शबर्यपि॥२४॥
छे छेदनि करालिनि खखेति ह कराल्यपि। वक्षः श्रवद्रवप्लवङ्गी ख ख दूती प्लवङ्ग्यपि॥२५॥
(स्त्रीबले कलिधुनिनि शासी श्वसनवेगिका। क्षे पक्षे कपिले हस हस कपिला नाम दूतिका)॥२६॥
हूं तेजोवती रौद्री च मातङ्गी रौद्रिदूतिका। पुटे पुटे ख ख खड्गे फड्ब्रह्मकदूतिका(?)॥२७॥
वैतालिनि दशार्णाः स्युस्त्यजान्यहिपलालवत्। हृदादिकल्पसादौ स्यान्मध्ये नेत्रं न्यसेत्सुधीः॥२८॥
पादादारभ्य मूर्धान्तं शिर आरभ्य पादयोः। अङ्घ्रिजानूरुगुह्ये च नाभिहृत्कण्ठदेशतः॥२९॥
वक्त्रमण्डलमूर्ध्वं च अधोर्ध्वं चाऽऽदिबीजतः। सोमरूपं ततोऽकारं धारामूलसुवासिनम्॥३०॥
विशन्तं ब्रह्मरन्ध्रेण साधकस्तु विचिन्तयेत्। मूर्धास्यकण्ठहृन्नाभौ गुह्योरुजानुपादयोः॥३१॥
आदिबीजं न्यसेन्मन्त्री तर्जन्यादि पुनः पुनः। ऊर्ध्वं सोममधः पद्मं शरीरं बीजविग्रहम्॥३२॥
यो जानाति न मृत्युः स्यात्तस्य न व्याधयो जपात्। यजेज्जपेत्तां विन्यस्य ध्यायेद्देवीं शताष्टकम्॥३३॥

फट्।' ये गुह्य अंगमन्त्र हैं। इनका पहले न्यास करना चाहिये। त्वरिता के अंगों का वर्णन आगे चलकर करने जा रहा हूँ। इस समय त्वरिता-विद्या के अंगों का वर्णन मुझसे सुनो—प्रथम दो बीजाक्षर या मन्त्राक्षर हृदय हैं, तीसरा और चौथा—ये दो अक्षर स्थिर हैं, पाँचवाँ और छठा—ये अक्षर शिखा के मन्त्र कहे गये हैं। सातवाँ और आठवाँ कवच-मन्त्र हैं, नवाँ और आधा अक्षर तारक (फट्) है। यही नेत्र कहा गया है। (प्रयोग—**ॐ हूं हृदयाय नमः। खे च्छे शिर से स्वाहा। क्षः स्त्री शिखायै वषट्। क्षे हुम् कवचाय हुम्। फट् नेत्रत्रया वौषट्।**।१९-२२॥

'तोतले वज्रतुण्डे ख ख हूं'—इन दस अक्षरों से युक्त 'वज्रतुण्डिका' नामक 'इन्द्रदूतिका विद्या' है। **'खेचारि ज्वालिनि ज्वाले ख ख'**—इन दस अक्षरों से युक्त 'ज्वालिनी विद्या' है। **'वर्चे शरविभीषणि** (अथवा शवरि भीषणि) **ख खे'**—यह दशाक्षरा 'शबरी विद्या' है। **'छे छेदनि करालिनि ख ख'**—यह दशाक्षरा 'कराली विद्या' है। **'क्षः श्रव द्रव प्लवङ्गि ख खे'**—यह दशाक्षर 'प्लवङ्गदूती विद्या' है। **'स्त्रिबलं कलिधुननि शासी'**—यह दशाक्षरा 'श्वसनवेगिका विद्या' है। **'क्षे पक्षे कपिले हंस'**—यह दशाक्षरा 'कपिलादूतिका विद्या' है। **'हू तेजोवति रौद्रि मातङ्गि'**—यह दशाक्षरा 'रौद्री' दूतिका है **'पुटे पुटे ख ख खड्गे फट्'**—यह दशाक्षरा 'ब्रह्मदूतिका विद्या' है। 'वैताली' में कथित सभी मन्त्र दशाक्षर होते हैं। अन्य विस्तार की बातें पुआल की भाँति सारहीन हैं। उनको त्याग देना चाहिये। न्यास आदि में हृदयादि अंगों का उपयोग है। नेत्र का सुधी पुरुष मध्य में न्यास करना चाहिये॥२३-२८॥ पैर से लेकर मस्तक तक तथा मतस्क से लेकर पैरों तक चरण, जानु, ऊरु, गुह्य, नाभि, हृदय तथा कण्ठदेश से मुखमण्डल पर्यन्त ऊपर-नीचे आदिबीज से निर्गत सोमरूप 'अकार', जो अमृत की धारा एवं सुवास से परिपूर्ण है, ब्रह्मरन्ध्र से मुझमें प्रवेश कर रहा है, ऐसा साधक चिन्तन करें। मन्त्रोपासक मूर्धा, मुख, कण्ठ, हृदय, नाभि, गुह्य, ऊरु, जानु और पैरों में तथा तर्जनी आदि में आदिबीज का बारम्बार न्यास करना चाहिये। ऊपर अमृतमय सोम है, नीचे बीजाक्षररूप शरीर-कमल है। इस गूढ़ रहस्य को जो जानता है, उसकी मृत्यु नहीं होती है। इस मन्त्र के जप से रोग-व्याधि का अभाव हो जाता है।

मुद्रा वक्ष्ये प्रणीताद्याः प्रणीताः पञ्चधा स्मृताः। ग्रथितौ तु करौ कृत्वा मध्येऽङ्गुष्ठौ निपातयेत्।।३४।।
तर्जनीं मूर्ध्नि संलग्नां विन्यसेत्तां शिरोपरि। प्रणीतेयं समाख्याता हृद्देशे तां समानयेत्।।३५।।
ऊर्ध्वं तु कन्यसामध्ये सबीजां तां विदुर्द्विजाः। नियोज्य तर्जनीमध्येऽनेकलग्नां परस्परम्।।३६।।
ज्येष्ठाग्रं निक्षिपेन्मध्ये भेदनी सा प्रकीर्तिता। नाभिदेशे तु तां बद्ध्वा अङ्गुष्ठाम्बु क्षिपेत्ततः।।३७।।
कराली तु महामुद्रा हृदये योज्य मन्त्रिणः। पुनस्तु पूर्ववद्ब्रह्मलग्नां ज्येष्ठां समुत्क्षिपेत्।।३८।।
वज्रतुण्डा समाख्याता वज्रदेशे तु बन्धयेत्। उभाभ्यां चैव हस्ताभ्यां मणिबन्धं तु बन्धयेत्।।३९।।
त्रीणि त्रीणि प्रसार्येति वज्रमुद्रा प्रकीर्तिता। दण्डः खड्गं चक्रगदा मुद्रा चाऽऽकारतः स्मृता।।४०।।
अङ्गुष्ठेनाऽऽक्रामेत्त्रीणि त्रिशूलं चोर्ध्वतो भवेत्। एका तु मध्यमोर्ध्वा तु शक्तिरेव विधीयते।।४१।।
शरं च वरदं चापं पाशं भारं च घण्टया। शङ्खमङ्कुशमभयं पद्ममष्ट च विंशतिः।।४२।।
ग्रहणी मोक्षणी चैव ज्वालिनी चामृताऽभया। प्रणीताः पञ्च मुद्रास्तु पूजाहोमे च योजयेत्।।४३।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते त्वरितामन्त्रादिकथनं नाम दशाधिकत्रिशततमोऽध्यायः।।३१०।।

न्यास और ध्यानपूर्वक त्वरितादेवी का पूजन और उनके मन्त्र का एक सौ आठ बार जप करना चाहिये।।२९-३३।।

अधुना मैं 'प्रणीता' आदि मुद्राओं का वर्णन करने जा रहा हूँ। 'प्रणीता' मुद्राएँ पाँच तरह की मानी गयी हैं—'प्रणीता', 'सबीजा प्रणीता' 'भेदनी, 'कराली' और 'वज्रतुण्डा'। दोनों हाथों को परस्पर ग्रथित करके मध्य में अँगूठों को डाल दे और तर्जनी को ऊपर लगाये रखे, इसका नाम 'प्रणीता' है। इसको हृदय देश में लगाये। इसी मुद्रा में कनिष्ठिका अंगुली को ऊपरकी तरफ़ उठाकर मध्य में रखे तो वह द्विजों द्वारा 'सबीजा' के नाम से मानी जाती है। यदि तर्जनी के मध्य में अनामिका को परस्पर संलग्न करके अङ्गुष्ठ के अग्रभाग को मध्यभाग में रखे तो वह 'भेदनी' मुद्रा कही गयी है। उस मुद्रा को नाभिदेश में निबद्ध करके अंगुष्ठ का जल छिड़के। उसी को मन्त्रसाधक के हृदय में योजित करने पर 'कराली' नामक महामुद्रा होती है। फिर पूर्ववत् ब्रह्मलग्ना ज्येष्ठा को ऊपर उठाये तो वह 'वज्रतुण्डा मुद्रा' होती है। उसको वज्रदेश में आबद्ध करना चाहिये। दोनों हाथों से मणिबन्ध (कलाई) को बाँधे और तीन-तीन अंगुलियों को फैलाये रखे, इसको वज्रमुद्रा करते हैं। दण्ड, खड्ग, चक्र और गदा आदि मुद्राएँ उनकी आकृति के अनुसार बतलायी गयी हैं। अंगुष्ठ से तीन अंगुलियों को आक्रान्त करना चाहिये, वे तीनों ऊर्ध्वमुख हों तो 'त्रिशूलमुद्रा' होती है। एकमात्र मध्यमा अंगुली ऊपर की तरफ उठी रहे तो 'शक्तिमुद्रा' सम्पादित होती है। बाण, वरद, धनुष, पाश, भार, घण्टा, शंख, अंकुश, अभय और पद्म—ये (प्रणीता से लेकर पद्म तक कुल) अट्ठाईस मुद्राएँ कही गयी हैं। ग्रहणी, मोक्षणी, ज्वालिनी, अमृता और अभया—ये पाँच 'प्रणीता' नाम वाली मुद्राएँ हैं। इनका पूजन और हवन में उपयोग करना चाहिये। अँगूठे से तीन अँगुलियों को आक्रान्त करके उनको ऊपर उठावे तो यह त्रिशूल मुद्रा कहलाती है। एकमात्र मध्यमा ऊपर उठी हो तो शक्ति मुद्रा होती है। शर, वरद, चाप, पाश, भार, घण्टा, शंख, अंकुश, अभय तथा पद्म को मिलाकर अट्ठाईस मुद्रायें होती हैं। ग्रहणी, मोक्षणी, ज्वालिनी, अमृता तथा अभया नामक पाँच प्रणीता मुद्राओं का प्रयोग पूजन और हवन काल में काल में करना चाहिये।।३४-४३।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी तीन सौ दसवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।३१०।।

❖❖❖

अथैकादशाधिकत्रिशततमोऽध्यायः

त्वरितामूलमन्त्रादि

अग्निरुवाच

दीक्षादि वक्ष्ये विन्यस्य सिंहवज्राकुलेऽब्जके।।१।।

त्तु त्तु हेति वज्रदेति पुरु पुरु लुलु लुलु गर्ज गर्ज ह ह सिंहाय नमः।।२।।
तिर्यगूर्ध्वगता रेखाश्चत्वारश्चतुरो भवेत्। नवभागविभागेन कोष्ठकान्कारयेद्बुधः।।३।।
ग्राह्या दिशागताः कोष्ठा विदिशासु विनाशयेत्। बाह्या वै कोष्ठकोणेषु बाह्यरेखाष्टकं स्मृतम्।।४।।
बाह्यकोष्ठस्य बाह्ये तु मध्ये यावत्समानयेत्। वज्रस्य मध्यमं शृङ्गं बाह्यरेखा द्विधार्धतः।।५।।
बाह्यरेखा भवेद्वक्रा द्विभङ्गा कारयेद्बुधः। मध्यकोष्ठं भवेत्पद्मं पीतकर्णिकमुज्ज्वलम्।।६।।
कृष्णेन रजसाऽऽलिख्य कुलिशाशिस (सिश) रार्धता। बाह्यतश्चतुरस्रं तु वज्रसंपुटलाञ्छितम्।।७।।
द्वारे प्रदापयेन्मन्त्री चतुरो वज्रसंपुटान्। (पद्मनाभ भवेद्वामवीथी चैव समा भवेत्।।८।।
गर्भं रक्तं केसराणि मण्डले दीक्षिताः स्त्रियः। यजेच्च परराष्ट्राणि क्षिप्रं राज्यमवाप्नुयात्।।९।।
मूर्तिं प्रणवसंदीप्तां हूंकारेण नियोजयेत्। मूलविद्यां समुच्चार्य मरुद्व्योमगतां द्विज।।१०।।

अध्याय-३११

त्वरिता मूल मन्त्र आदि विचार

श्रीअग्नि देव ने कहा कि–हे मुने! अधुना सिंहासन पर स्थित वज्र से व्याप्त कमल में मन्त्र-न्यासपूर्वक दीक्षा आदि का विधान बतला रहा हूँ।।१।।

'**हे हे हुति वज्रदण्ड पुरु पुरु लुलु गर्ज गर्ज इह सिंहासनाय नमः।** यह सिंहासन के पूजन का मन्त्र है। चार रेखा खड़ी और चार रेखा तिरछी या (पड़ी) खींचे। इस तरह नौ भागों के विभाग करके विद्वान् पुरुष नौ कोष्ठ बनाये। प्रत्येक दिशा के कोष्ठ तो रख ले और कोणवर्ती कोष्ठ मिटा देना चाहिये। अधुना बाह्य दिशा में जो कोष्ठ बच जाते है, उनके कोणों तक जो रेखाएँ आयी हैं, उनकी संख्याएँ आठ कही गयी हैं। बाह्यकोष्ठ के बाह्य-भाग में ठीक बीचों-बीच में वज्र का मध्यवर्ती शृङ्ग होता है। बाह्यरेखा के दो भाग करने पर जो रेखाई बनता है, उतना ही बड़ा शृङ्ग होना चाहिये। बाहरी रेखा टेढ़ी होनी चाहिये। विद्वान् पुरुष उसको द्विभङ्गी बनाये। मध्यवर्ती कोष्ठ को कमल की आकृति में परिणत करना चाहिये। वह पीले रंग की कर्णिका से सुशोभित हो। काले रंग के चूर्ण से कुलिश चक्र बनाकर उसके ऊपरी सिरे या शृङ्ग की आकृति खड्गाकार बनाये। चक्र के बाह्यभाग में चतुरस्र (भूपुर-चक्र) लिखे, जो वज्रसम्पुट से चिह्नित हो। भूपुर चक्र) लिखे, जो वज्रसम्पुट से चिह्नित हो। भूपुर के द्वार पर मन्त्रोपासक चार वज्रसम्पुट दिलाये। पद्म और वामवीथी सम होनी चाहिये। कमल का अन्दरी भाग (कर्णिका) और केसर लाल रंग के लिखे और मण्डल में स्त्रियों को दीक्षित करके मन्त्र जप का अनुष्ठान करवाये तो राजा शीघ्र ही परराष्ट्रों पर विजय पाता है और यदि अपना राज्य छिन गया हो, तो उसको भी वह शीघ्र ही प्राप्त कर लेता है। प्रणव-मन्त्र (ॐकार) से संदीप्त (अतिशय तेजस्विनी) की हुई मूर्ति को हुंकार से

प्रथमेन पुनश्चैव कर्णिकायां प्रपूजयेत्। एवं प्रदक्षिणं पूज्य एकैकं बीजमादितः॥११॥
दलमध्ये तु विद्यां गामाग्नेय्यां पञ्च नैर्ऋतम्। मध्ये नेत्रं दिशास्त्रं च गुह्यकाङ्गे तु रक्षणम्॥१२॥
हृतयः केशरस्थास्तु वामदक्षिणपार्श्वतः। पञ्च पञ्च प्रपूज्यास्तु स्वैः स्वैर्मन्त्रैः प्रपूजयेत्॥१३॥
लोकपालान्न्यसेदष्टौ बाह्यतो गर्भमण्डले। वर्णान्तमग्निमारूढं षष्ठस्वरविभेदितम्॥१४॥
पञ्चदशेन चाऽऽक्रान्तं स्वैः स्वैर्नामभियोजयेत्। शीघ्रं सिंहे कर्णिकायां यजेद्गन्धादिभिः श्रिये॥१५॥
अष्टाभिर्वेष्टयेत्कुम्भैर्मन्त्राष्टशतमन्त्रितैः। मन्त्रमष्टसहस्रं तु जप्त्वाऽङ्गानां दशांशकम्॥१६॥
होमं कुर्यादग्निकुण्डे वह्निमन्त्रेण चालयेत्। निक्षिपेद्धृदयेनाग्निं शक्तिं मध्येऽग्निगां स्मरेत्॥१७॥
गर्भाधानं पुंसवनं जातकर्म च होमयेत्। हृदयेन शतं ह्येकं गुह्याङ्गे जनयेच्छिखिम्॥१८॥
पूर्णाहुतिं तु विद्यायाः शिवाग्निर्जनितो भवेत्। होमयेन्मूलमन्त्रेण शतं चाङ्गं दशांशतः॥१९॥
निवेदयेत्ततो देव्यास्ततः शिष्यं प्रवेशयेत्। अस्त्रेण ताडनं कृत्वा गुह्याङ्गानि ततो न्यसेत्॥२०॥
विद्याङ्गैश्चैव संनद्धं विद्याङ्गेषु नियोजयेत्। पुष्पं क्षिपाययेच्छिष्यमानयेदग्निकुण्डकम्॥२१॥

नियोजित करना चाहिये। हे ब्रह्मन्! वायु तथा आकाश के बीज (यं हं) से सम्पुटित मूलविद्या का उच्चारण करके आदि और अन्त में भी कर्णिका में पूजन करना चाहिये। इस तरह प्रदक्षिण क्रम से आदि से ही एक-एक अक्षररूप बीज का उच्चारण करते हुए कमलदलों में पूजन करना चाहिये॥२-११॥

दलों में विद्या के अंगों की पूजा करनी चाहिये। आग्नेय दिशा से लेकर वामक्रम से नैर्ऋत्य दिशा तक हृदय, सिर, शिखा, कवच तथा नेत्र—इन पाँच अंगों की पूजा करके मध्यभाग (कर्णिका) में पुनः नेत्र की तथा सम्पूर्ण दिशाओं में अस्त्र की पूजा करनी चाहिये। गुह्याङ्ग में रक्षा की तथा केसरों में वाम-दक्षिण-पार्श्व में विद्यमान पाँच-पाँच हुतियों की अपने-अपने नाम-मन्त्रों से पूजा करनी चाहिये। गर्भमण्डल के बाह्यभाग में आठ लोकपालों का न्यास करना चाहिये। गर्भमण्डल के बाह्यभाग में आठ लोकपालों का न्यास करना चाहिये। वर्णान्त (क्ष या ह) को अग्नि (र) के ऊपर चढ़ाकर उसको छठे स्वर (ऊ) से विभेदित करना चाहिये और पन्द्रहवें स्वर (ं) बिन्दुओं को उसके सिर पर चढ़ाकर उस (क्ष्रूं) (अथवा ह्रूं) बीज को आदि में रखकर दिक्पालों के अपने-अपने नाममन्त्रों से संयुक्त करके उनकी पूजा करनी चाहिये। फिर शीघ्र ही सिंहासन पर कमल की कर्णिका में गन्ध आदि उपचारों द्वारा पूजन करना चाहिये। इससे श्रीकी प्राप्ति हो जाती है॥१२-१५॥

तत्पश्चात् एक सौ आठ मन्त्रों द्वारा अभिमन्त्रित आठ कलशों द्वारा कमल को वेष्टित कर देना चाहिये। फिर एक हजार बार मन्त्र-जप करके दशांश हवन करना चाहिये। पहले अग्नि मन्त्र (रं) से कुण्ड में अग्नि को ले जाय और हृदयमन्त्र (नमः) से उसको वहाँ स्थापित करना चाहिये। साथ ही कुण्ड के अन्दर अग्नियुक्त शक्ति का ध्यान करना चाहिये। उसके बाद उस शक्ति में गर्भाधान पुंसवन तथा जातकर्म-संस्कार के उद्देश्य से हृदयमन्त्र द्वारा एक सौ आठ बार हवन करना चाहिये। फिर गुह्याङ्ग के द्वार से नूतन अग्नि के जन्म होने की भावना करनी चाहिये। फिर मूलविद्या के उच्चारणपूर्वक पूर्णाहुति देनी चाहिये। इससे शिवाग्नि का जन्म सम्पादित होता है। फिर मूलमन्त्र से उसमें सौ आहुतियाँ दे तत्पश्चात् अंगों के उद्देश्य से दशांश हवन करना चाहिये। इसके बाद शिष्य को देवी के हाथ में सौंपे और उसका मण्डल में प्रवेश कराये। फिर अस्त्र-मन्त्र ताड़न करके गुह्याङ्गों का न्यास करना चाहिये। विद्या के अंगों से संनद्ध शिष्य को विद्याङ्गों में नियोजित करना चाहिये। उसके द्वारा पुष्प का प्रक्षेप करवाये तथा उसको अग्निकुण्ड के सन्निकट ले जाय।

यवैर्धान्यैस्तिलैराज्यैर्मूलविद्याशतं हुनेत्। स्थावरत्वं पुरा होमं सरीसृपमतः परम्॥२२॥
पक्षिमृगपशुत्वं च मानुषं ब्रह्ममेव च। विष्णुत्वं चैव रुद्रत्वमन्ते पूर्णाहुतिर्भवेत्॥२३॥
एकया चैव ह्याहुत्या शिष्यः स्याद्दी (ष्योऽस्य दी) क्षितोभवेत्॥२४॥
अधिकारो भवेदेवं शृणु मोक्षमतः परम्॥२४॥
सुमेरुस्थो यदा मन्त्री सदाशिवपदे स्थितः। परे च होमयेत्स्वस्थोऽकर्मकर्मशतान्दश॥२५॥
पूर्णाहुत्या तु तद्योगी धर्माधर्मैर्न लिप्यते। मोक्षं याति परं स्थानं यद्गत्वा न निवर्तते॥२६॥
यथा जले जलं क्षिप्तं जलं देही शिवस्तथा। कुम्भैः कुर्याच्चाभिषेकं जयराज्यादिसर्वभाक्॥२७॥
कुमारी ब्राह्मणी पूज्या गुर्वादिर्दक्षिणां ददेत्। यजेत्सहस्रमेकं तु पूजां कृत्वा दिने दिने॥२८॥
तिलाज्यपूरहोमेन देवी श्रीः कामदा भवेत्। ददाति विपुलान्भोगान्यदन्यच्च समीहते॥२९॥
जप्त्वा ह्यक्षरलक्षं तु निधानाधिपतिर्भवेत्। द्विगुणेन भवेद्राज्यं त्रिगुणेन च यक्षिणी॥३०॥
चतुर्गुणेन ब्रह्मत्वं ततो विष्णुपदं भवेत्। षड्गुणेन महासिद्धिर्लक्षेणैकेन पापहा॥३१॥
दश जप्त्वा देहशुद्ध्यै तीर्थस्नानफलं शतात्। पटे वा प्रतिमायां वा शीघ्रं वै स्थण्डिले यजेत्॥३२॥
शतं सहस्रमयुतं जपे होमे प्रकीर्तितम्। एंव विधानतो जप्त्वा लक्षमेकं तु होमयेत्॥३३॥

तत्पश्चात् जौ धान्य, तिल और घी से मूलविद्या के उच्चारणपूर्वक सौ आहुतियाँ देनी चाहिये। प्रथम हवन स्थावरयोनि में पहुँचाकर उससे मुक्ति दिलाता है और दूसरा सरीसृप (साँप, बिच्छू आदि) की योनि से उसके बाद क्रमशः पक्षी, मृग, पशु और मानव योनि की प्राप्ति और उससे मुक्ति होती है। फिर क्रमशः ब्रह्मपद, विष्णुपद तथा अन्त में रुद्रपद को प्राप्ति हो जाती है। अन्त में पूर्णाहुति कर देनी चाहिये। एक आहुति से शिष्य दीक्षित होता है और उसको मोक्षप्राप्ति का अधिकार मिल जाता है। अधुना मोक्ष कैसे होता है, यह सुनो॥१६-२४॥

जिस समय मन्त्रोपासक सुमरुपर सदाशिव पद में स्थित हो, तो दूसरे दिन स्वस्थचित्त होकर अकर्म और कर्मक्षय के लिये एक हजार आहुतियाँ देनी चाहिये। फिर पूर्णाहुति करके मन्त्रयोगी पुरुष धर्म-अधर्म से लिप्त नहीं होता है, मोक्ष प्राप्त कर लेता है। वह उस परमपद को पहुँच जाता है, जहाँ जाकर मनुष्य फिर इस संसार में नहीं लौटता। जिस प्रकार जल में डाला हुआ जल उसमें मिलकर एकरूप हो जाता है, उसी तरह जीव शिव में मिलकर शिवरूप हो जाता है। जो कलशों द्वारा अभिषेक करता है, वह विजय तथा राज्य आदि सभी अभीष्ट वस्तुओं को प्राप्त कर लेता है। ब्राह्मण वंश में उत्पन्न कुमारी कन्या का पूजन करना चाहिये तथा गुरु आदि को दक्षिणा देनी चाहिये। प्रतिदिन पूजा करके एक सहस्र आहुतियाँ अग्नि में देनी चाहिये। तिल और घी से पूर्ण आहुति देने पर त्वरिता देवी लक्ष्मी एवं अभिमत वस्तु देती हैं। वे विपुल भोग सम्प्रदान करती हैं तथा और भी जो कुछ साधक चाहता है, उसको माता त्वरिता पूर्ण करती हैं। मन्त्र के जितने अक्षर हैं, उतने लाख जप करने से मनुष्य निधियों का अधिपति होता है, दुगुना जप करना चाहिये तो यक्षिणी सिद्ध हो जाती है, चौगुने जप से ब्रह्मपद, पाँचगुने जप से विष्णुपद तथा छःगुने जप से महासिद्धि सुलभ होती है। मन्त्र के एक लाख जप से मनुष्य अपने पापों का विनाश कर देता है, दस बार जप करने से देहशुद्धि हो जाती है, सौ बार के जप से तीर्थस्नान का फल होता है। वेदी पर पट या प्रतिमा रखकर उसके समक्ष सौ, हजार अथवा दस हजार की संख्या में जप करके हवन करना बतलाया गया है। इस तरह विधानपूर्वक जप करके एक लाख हवन करना चाहिये।

महिषाजमेधमांसेन नरजेन पुरेण वा। तिलैर्यवैस्तथा लाजैर्व्रीहिगोधूमकाम्बुजैः।।३४।।
श्रीफलैराज्यसंयुक्तैर्होमयित्वा व्रतं चरेत्। अर्धरात्रेषु संनद्धः खड्गचापशरादिमान्।।३५।।
एकवासाविचित्रेण रक्तपीतासितेन वा। नीलेन वाऽथ वस्त्रेण देवीं तैरेव चार्चयेत्।।३६।।
व्रजेद्दक्षिणदिग्भागं द्वारे दद्याद्बलिं बुधः।दूतीमन्त्रेण द्वारादावेकवृक्षे श्मशानके।।३७।।
एवं च सर्वकामाप्तिं भुङ्क्ते सर्वां महीं नृपः।।३७।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गति त्वरितामूलमन्त्रादिकथनं नामैकादशाधिकत्रिशततमोऽध्यायः।।३११।।

तिल, जौ, लावा, धान, गूहँ, कमल-पुष्प (पाठान्तर के अनुसार आम के फल) तथा श्रीफल (बेल) इन सभी को एक करके इनमें घी मिलावे और उस हवन-सामग्री से हवन करके व्रत करना चाहिये। राज में कवच आदि से संनद्ध हो खंग, धनुष तथा बाण आदि लेकर एक वस्त्र धारण करके उपरोक्त वस्तुओं से ही देवी की पूजा करनी चाहिये। वस्त्र का रंग चितकबरा, लाल, पीला, काला अथवा नीला होना चाहिये। मन्त्रवेत्ता विद्वान् दक्षिण दिशा में जाकर मण्डप के द्वारपर दूती-मन्त्र से बलि अर्पित करना चाहिये। यह बलि द्वार आदि में अथवा एक वृक्ष वाले श्मशान में भी दी जा सकती है। ऐसा करने से साधक राजा हो समढत कामनाओं का तथा सारी पृथ्वी के राज्य का उपभोग कर सकता है।।२५-३७।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी तीन सौ ग्यारहवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।३११।।

❖❖❖

अथ द्वादशाधिकत्रिशततमोऽध्यायः

त्वरिताविद्या

अग्निरुवाच

विद्याप्रस्तावमाख्यास्ये धर्मकामादिसिद्धिदम्। नकोष्ठविभागेन विद्याभेदं च विन्दति॥१॥
अनुलोमविलोमेन समस्तव्यस्तयोगतः। कर्णाविकर्णयोगेन अत ऊर्ध्वं विभागशः॥२॥
त्रित्रिकेण च योगेन देव संनद्धविग्रह। जानाति सिद्धिदान्मन्त्रान्प्रस्तावान्निर्गतान्बहून्॥३॥
शास्त्रे शास्त्रे स्मृता मन्त्राः प्रयोगास्तत्र दुर्लभाः। गुरुः स्यात्प्रथमो वर्णः फुल्लपल्लववर्णवत्॥४॥
प्रस्तावे तत्र चैकार्णा वर्णा द्व्यर्णादयोऽभवन्। (तिर्यगूर्ध्वगता रेखाश्चतुरश्चतुरो(?) भजेत्॥५॥
नव कोष्ठा भवन्त्येवं मध्यदेशे तथाऽऽदिमान्। प्रदक्षिणेन संस्थाप्य प्रस्तावं भेदयेत्ततः॥६॥
प्रस्तावक्रमयोगेन प्रस्तावं यस्तु विन्दति। करमुष्टिस्थितास्तस्य साधकस्य हि सिद्धयः॥७॥
त्रैलोक्यं पादमूले स्यात्रवखण्डां भुवं लभेत्। कपाले तु समालिख्य शिवतत्त्वं समन्ततः॥८॥
श्मशानकर्पटे वाऽथ बाह्ये निष्क्रम्य मन्त्रवित्)। तस्य मध्ये लिखेन्नाम कर्णिकोपरि संस्थितम्॥९॥
तापयेत्खादिराङ्गारैर्भूर्जमाक्रम्य पादयोः। सप्ताहादानयेत्सर्वं त्रैलोक्यं सचराचरम्॥१०॥

अध्याय-३१२

त्वरिता-विद्या की सिद्धि विचार

श्रीअग्निदेव ने कहा कि--हे मुने! अधुना मैं विद्या प्रस्ताव का वर्णन करने जा रहा हूँ, जो धर्म, काम आदि की सिद्धि सम्प्रदान करने वाला है। नौ कोष्ठों के विभाग से विद्या भेद की उपलब्धि होती है। अनुलोम विलोमयोग, समास-व्यासयोग, कर्णाविकर्णयोग, अध-ऊर्ध्व-विभागयोग तथा त्रित्रिकयोग से देवी के द्वारा जिसके शरीर की सुरक्षा सम्पादित हुई है, वह साधक सिद्धिसम्प्रदायक मन्त्रों तथा बहुत-से निर्गत प्रस्तावों का समझना है। शास्त्र-शास्त्र में मन्त्र बताये गये हैं, परन्तु वहाँ उनके प्रयोग दुर्लभ हैं। प्रथम गुरु वर्ण ही होता है। उसका प्राचीन काल में वर्णन नहीं हुआ है। वहाँ प्रस्ताव में एकाक्षर, द्व्यक्षर तथा त्र्यक्षर मन्त्र प्रकट हुए। चार-चार खड़ी तथा पड़ी रेखाएँ खींचे। इस तरह नौ कोष्ठ होते हैं। मध्यकोष्ठ से प्रारम्भ करके प्रदक्षिणक्रम से प्रस्ताव-भेदन करना चाहिये। प्रस्तावक्रमयोग से जो प्रस्ताव को प्राप्त करता है, उस साधक की मुट्ठी में सारी सिद्धियाँ आ जाती है। सारी त्रिलोकी उसके चरणों में झुक जाती है। वह नौ खण्डों में विभाजित जम्बूद्वीप की सम्पूर्ण भूमि पर अधिकार प्राप्त कर लेता है। कपाल (खप्पर) पर अथवा श्मशान के वस्त्र (शव के ऊपर से उतारे हुए कपड़े) पर सभी तरफ शिवतत्त्व लिखकर मन्त्रवेत्ता पुरुष बाहर निकले और मध्यभाग में कर्णिका के ऊपर अभीष्ट व्यक्ति विशेष का भोजपत्र पर नाम लिखकर रख देना चाहिये। फिर खैर की लकड़ी से तैयार किये गये अंगारों द्वारा उस भोजपत्र को तपाकर दोनों पैरों के नीचे दबा देना चाहिये। यह प्रयोग एक ही सप्ताह में चराचर प्राणियों सहित समस्त त्रिभुवन को भी चरणों में ला सकता है। वज्रसम्पुट गर्भ से युक्त द्वादशारचक्र के मध्य में द्वेष्य व्यक्ति का नाम लिखकर रखे। उस नाम को 'सदाशिव' मन्त्र से विदर्भित (कुशों द्वारा मार्जित) कर देना चाहिये। कथित द्वादशार चक्र तथा नाम आदि का उल्लेख हल्दी

वज्रसंपुटगर्भे तु द्वादशारे तु लेखयेत्। मध्ये तु गर्भगं नाम सदाशिवविदर्भितम्।।११।।
कुड्ये फलकके वाऽथ शिलापट्टे हरिद्रया। मुखस्तम्भं गतिस्तम्भं सैन्यस्तम्भं तु जायते।।१२।
विषरक्तेन संलिख्य श्मशाने कर्पटे बुधः। षट्कोणं दण्डमाक्रान्तं समन्ताच्छक्तियोजितम्।।१३।।
मारयेदचिरादेष श्मशाने निहतं रिपुम्। छेदं करोति राष्ट्रस्य चक्रमध्ये न्यसेद्रिपुम्।।१४।।
चक्रधारां गतां शक्तिं रपुनाम्ना रिपुं हरेत्। ताक्ष्येणैव तु बीजेन खड्गमध्ये तु लेखयेत्।।१५।।
विदर्भरिपुनामाथ श्मशानाङ्गारलेखितम्। सप्ताहात्साधयेद्देशं ताडयेत्प्रेतभस्मना।।१६।।
भेदने छेदने चैव मारणेषु शिवो भवेत्। तारकं नेत्रमुद्दिष्टं शान्तिपुष्टौ नियोजयेत्।।१७।।
दहनादि प्रयोगोऽयं शाकिनीं चैव कर्षयेत्। मेध्यादिवारुणी यावद्वक्रतुण्डसमन्वितः।।१८।।
कुष्ठाद्या (द्य) व्याधिरोगं तु नाशयेन्नात्र संशयः। मध्यादि उत्तरान्तं तु करालीबन्धनाज्जपेत्।।१९।।
रक्षयेदात्मनो विद्यां प्रतिवादी सदाशिवः। वारुण्यादि ततो न्यस्य ज्वरक्लेशविनाशनम्।।२०।।
सौम्यादि मध्यमान्तं तु गुरुत्वं जायते वटे। पूर्वादिमध्यमान्तं तु लघुत्वं कुरुते क्षणात्।।२१।।

से दीवार पर, काष्ठफलक पर अथवा शिलापट्ट पर करना चाहिये। ऐसा करने से शत्रु के मुख, गमन शक्ति तथा सेना का भी स्तम्भन (अवरोध) हो जाता है।।१-१२।।

श्मशान के वस्त्र पर विषमिश्रित रक्त से षट्कोणचक्र का उल्लेख कर उसके मध्य में शत्रु का नाम लिखे। फिर उस चक्र को चारों तरफ शक्तिबीज से योजित करके उस पर डंडा रख देना चाहिये। फिर साधक को श्मशान भूमि पर रखे हुए उस शत्रु पर शीघ्र दण्ड से प्रहार करना चाहिये। यह प्रयोग उस शत्रु-राजा के राष्ट्र को खण्डित कर देता है। इसी तरह चक्राकार मण्डल बनाकर उसके मध्यभाग में शत्रु के नाम को स्थापित कर देना चाहिये। चक्र की धारा में शक्ति बीज का न्यास करना चाहिये। शत्रु का नाम लेकर उस पर भावना द्वारा कथित चक्रधार से प्रहार करना चाहिये। इससे शत्रु का हरण होता है। इसी तरह खंग के मध्य भाग में गरुड बीज के साथ शत्रु का नाम लिखकर उसका पूर्ववत् विदर्भीकरण करना चाहिये। कथित नाम श्मशान भूमि की चिता के कोयले से लिखना चाहिये। उस पर चिता के भस्म से प्रहार करना चाहिये। ऐसा करने से साधक एक ही सप्ताह में शत्रु के देश को अपने अधिकार में कर लेता है। वह छेदन, भेदन और मारण में शिव के समान शक्तिशाली हो जाता है। तारक (फट्) को नेत्र कहा गया है। उसका शान्ति-पुष्टि कर्म में नियोग करना चाहिये। यह दहनादि प्रयोग शाकिनी को भी आकर्षित कर लेता है। उपरोक्त नौ चक्रों में मध्यगत मन्त्राक्षर से लेकर पश्चिम-दिशावर्ती कोष्ठ तक के दो अक्षरों को वक्रतुण्ड मन्त्र के साथ जपने से कुष्ठ आदि जितने भी चर्मगत रोग हैं, उन सभी का विनाश हो जाता है, इसमें संदेह नहीं है। यह अध-उर्ध्व-विभागयोग है। मध्यकोष्ठ से उत्तरवर्ती कोष्ठ तक के दो अक्षर वाले मन्त्र को 'करालीबन्ध' के साथ जप करना चाहिये तो वह द्व्यक्षरीविद्या, यदि साक्षात् शिव प्रतिवादी हों तो उनसे भी अपनी रक्षा करवाती है। इसी तरह पश्चिमगत मन्त्राक्षर को आदि में रखकर उत्तर कोष्ठ तक के मन्त्राक्षरों को 'वक्रतुण्ड मन्त्र' के साथ जप किया जाय तो ज्वर तथा खाँसी का विनाश होता है। उत्तर कोष्ठ से लेकर मध्यकोष्ठ तक के मन्त्राक्षरों का एक-एक साथ जप किया जाय तो साधक की इच्छा से वट के मध्य में गुरुता (भारीपन) आ सकती है। इसी तरह पूर्वादि मध्यमान्त अक्षरों के जप से वह तत्काल उसमें लघुता (हल्कापन) ला सकता है। भोजपत्र

भूर्जे रोचनयाऽऽलिख्य एतद्वज्राकुलं परम्। क्रमस्थैर्मन्त्रबीजैस्तु रक्षां देहेषु कारयेत्॥२२॥
वेष्टितां भावहेम्ना च रक्षेयं मृत्युनाशिनी। विघ्नपापारिदमनी सौभाग्यायुः प्रदा धृता॥२३॥
द्यूते रणे च जयदा शक्रसैन्ये न संशयः। वन्ध्यानां पुत्रदा ह्येषा चिन्तामणिरिवापरा॥२४॥
साधयेत्परराष्ट्राणि राज्यं च पृथिवीं जयेत्। फट् स्त्रीं क्षें हूं लक्षजप्याद्यक्षादिर्वशगो भवेत्॥२५॥

॥इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते त्वरिताविद्यासिद्धिकथनं नाम द्वादशाधिकत्रिशततमोऽध्यायः॥३१२॥

—✻✻✻—

पर गोरोचना द्वारा वज्र से व्याप्त भूपुर चक्र लिखकर, अनुलोमक्रम से स्थित मन्त्र-बीजों को लिखकर, उसको मन्त्रवत् धारण करके साधक को अपने शरीर की रक्षा करनी चाहिये।

भावपूर्वक स्वर्ण में मढ़ाकर धारण किया गया यह 'रक्षायन्त्र' मृत्यु का भी विनाश करने वाला होता है। वह विघ्न, पाप तथा शत्रुओं का दमन करने वाला है तथा सौभाग्य और दीर्घायु देने वाला है। यह 'रक्षायन्त्र' धारण किया जाय तो वह जूआ तथा युद्ध में भी विजयसम्प्रदायक होता है। इन्द्र की सेना के साथ संग्राम हो, तो उसमें भी वह विजय दिलाता है, इसमें संदेह नहीं है। यह 'रक्षायन्त्र' वन्ध्या को भी पुत्र देने वाला तथा दूसरी चिन्तामणि के समान मनोवाञ्छा की पूर्ति करने वाला है। इससे रक्षित हुआ मनुष्य परराष्ट्रों पर भी अधिकार पाता है तथा राज्य और पृथ्वी को जीत लेता है। **'फट् स्त्रीं क्षें हूं'**–इन चार अक्षरों का एक लाख जप करने से यक्ष आदि भी वशीभूत हो जाते हैं॥१३-२५॥

॥इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी तीन सौ बारहवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ॥३१२॥

अथ त्रयोदशाधिकत्रिशततमोऽध्यायः

नानामन्त्राः

अग्निरुवाच

ॐ विनायकार्चनं वक्ष्ये यजेदाधारशक्तिकम्। धर्माद्यष्टककन्दं च नालं पद्मं च कर्णिकाम्।।१।।
केसरं त्रिगुणं पद्मं तीव्रं च ज्वलिनीं यजेत्। नन्दां च सुयशां चोग्रां जीवन्तीं विन्ध्यवासिनीम्।।२।।
गणमूर्तिं गणपतिं हृदयं स्याद्‌गणंजयः। एकदन्तोत्कटशिरः शिखायाचलकर्णिने।।३।।
गजवक्त्राय कवचं हूं फडन्तं तथाऽष्टकम्। महोदरी दण्डहस्तः पूर्वादौ मध्यतो यजेत्।।४।।
जयो गणाधिपो गणनायकोऽथ गणेश्वरः। वक्रतुण्ड एकदन्तोत्कटलम्बोदरो गजः।।५।।
वक्त्रो विकटनामाऽथ हूं पूर्वो विघ्ननाशिने। धूम्रवर्णो महेन्द्राद्यो बाह्ये विघ्नेशपूजनम्।।६।।
त्रिपुरायजनं वक्ष्ये असिताङ्गो रुरुस्तथा। चण्डः क्रोधस्तथोन्मत्तः कपाली भीषणः क्रमात्।।७।।
(संहारो भैरवो ब्राह्मी मुख ह्रस्वास्तु भैरवाः। ब्रह्माणी षण्मुखा दीर्घा अन्यादौ वटुकाः क्रमात्)।।८।।

अध्याय–३१३

विविध मन्त्र विचार

श्रीअग्निदेव ने कहा कि–अधुना मैं सच्चिदानन्द स्वरूप भगवान् विनायक (गणेश) के पूजन की विधि बताऊँगा। योगपीठ पर प्रथम तो आधार शक्ति की पूजा करनी चाहिये। फिर अग्नि आदि कोणों तथा पूर्वादि दिशाओं में क्रमशः धर्म, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य, अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य, तथा अनैश्वर्य–इन आठ की अर्चना करनी चाहिये। उसके बाद कन्द, नाल, पद्म, कर्णिका, केसर और सत्त्वादि तीन गुणों की और पद्मासन की पूजा करनी चाहिये। इसके बाद तीव्रा, ज्वालिनी, नन्दा, सुयशा (भोगदा), कामरूपिणी, उग्रा, तेजोवती, सत्या तथा विघ्ननाशिनी–इन नौ शक्तियों की पूजा करनी चाहिये। तत्पश्चात् गणेश जी की मूर्ति का अथवा मूर्ति के अभाव में ध्यानोक्त गणपतिमूर्ति का पूजन करना चाहिये। इसके बाद हृदयादि अंगों की पूजा करनी चाहिये। पूजन के प्रयोग वाक्य इस तरह हैं–'**गणंजयाय हृदयाय नमः। एकदन्ताय उत्कटाय शिर से स्वाहा। अचलकर्णिने शिखायै वषट्। गजवक्त्राय हुं फट् कवचाय हुम्। महोदराय दण्डहस्ताय अस्त्राय फट्।** 'इन पाँच अंगों में से चार की तो पूर्वादि चार दिशाओं में और पाँचवें की मध्य भाग में पूजा करनी चाहिये।।१–४।।

तत्पश्चात् गणंजय, गणाधिप, गणनायक, गणेश्वर, वक्रतुण्ड, एकदन्त, उत्कट, लम्बोदर, गजवक्त्र और विकटानन–इन सबकी पद्मदलों में पूजा करनी चाहिये। फिर मध्यभाग में –'**हूं विघ्ननाशनाय नमः। महेन्द्राय-धूम्रवर्णाय नमः।**'–यों बोलकर विघ्ननाशन एवं धूम्रवर्ण की पूजा करनी चाहिये। फिर बाह्यभाग में विघ्नेश का पूजन करना चाहिये।।५–६।।

अधुना मैं 'त्रिपुराभैरी' के पूजन की विधि बताऊँगा। इसमें आठ भैरवों का पूजन करना चाहिये। उनके नाम इस तरह हैं–अतिसाङ्गभैरव, रुरुभैरव, चण्डभैरव, क्रोधभैरव, उन्मत्तभैरव, कपालिभैरव, भीषणभैरव तथा संहारभैरव ब्राह्मी आदि मातृकाएँ भी पूजनीय हैं। (उनके नाम इस तरह हैं–ब्राह्मी, माहेश्वर, कौमारी, वैष्णवी, वाराही, इन्द्राणी, चामुण्डा तथा महालक्ष्मी)।

समयपुत्रो व (ब) टुको योगिनीपुत्रकस्तथा। सिद्धपुत्रश्च बटकः कुलपुत्रश्चतुर्थकः॥९॥
हेतुकः क्षेत्रपालश्च त्रिपुरान्तो द्वितीयकः। अग्निवेतालोऽग्निजिह्वः करालीकाललोचनः॥१०॥
एकपादश्च भीमाक्ष ऐं क्षें प्रेतस्तथाऽऽसनम्। (ॐ) ऐं ह्रीं ह्यौश्च त्रिपुरा पद्मासनसमास्थिता॥११॥
बिभ्रत्यभयपुस्तं च वामे वरदमालिकाम्। मूलेन हृदयादि स्याज्जालपूर्णं च कार्मुकम्॥१२॥
गोमध्ये नाम संलिख्य चाष्टपत्रे च मध्यतः। श्मशानादिपटे श्मशानाङ्गारेण विलेखयेत्॥१३॥
चितारपिष्टकेन मूर्तिं ध्यात्वा तु तस्य च। क्षिप्त्वोदरे नीलसूत्रैर्वेष्ट्य चोच्चाटनं भवेत्॥१४॥
ॐ नमो भगवति जा (ज्वा) लामानि (लि) नि गृध्रगणपरिवृते स्वाहा॥१५॥

युद्धे गच्छञ्जपन्मन्त्रं पुमान्साक्षाज्जयो भवेत्॥१६॥

ॐ श्रीं ह्रीं क्लीं श्रियै नमः॥१७॥

उत्तरादौ च घृणिनी सूर्या पूज्या चतुर्दले। आदित्या प्रभावती च सोमात्रिमधुराच्छ्रियः(?)॥१८॥

'अकार' आदि ह्रस्व स्वरों के बीज को आदि में रखकर भैरवों की पूजा करनी चाहिये तथा 'आकार' आदि दीर्घ अक्षरों के बीज को आदि में रखकर 'ब्राह्मी' आदि मातृकाओं की अर्चना करनी चाहिये। अग्नि आदि चार कोणों में चार वटुकों का पूजन कर्तव्य है। समय पुत्र वटुक, योगिनी पुत्र वटुक, सिद्ध पुत्र वटुक तथा चौथा कुलपुत्र वटुक- ये चार वटुक हैं। इनके अनन्तर आठ क्षेत्रपाल पूजनीय हैं। इनमें 'हेतुक' क्षेत्रपाल प्रथम हैं और 'त्रिपुरान्त' द्वितीय। तीसरे 'अग्निवेताल' चौथे 'अग्निजिह्व', पाँचवें 'कराल' तथा छठे 'काललोचन' हैं। सातवें 'एकपाद' तथा आठवें 'भीमाक्ष' कहे गये हैं। (ये सभी क्षेत्रपाल यक्ष हैं)। इन सभी का पूजन करके त्रिपुरादेवी के प्रेतरूप पद्मासन की पूजा करनी चाहिये। यथा—**'ऐ क्षें प्रेतपद्मासनाय नमः। ॐ ऐं ह्रीं हसौः त्रिपुरायै प्रेतपद्मासनसमास्थितायै नमः।'** इस मन्त्र से प्रेतपद्मासन पर विराजमान त्रिपुराभैरवी की पूजा करनी चाहिये। उनका ध्यान इस तरह है—'त्रिपुरादेवी' बायें हाथ में अभय एवं पुस्तक (विद्या) धारण करती हैं तथा दायें हाथ में वरदमुद्रा एवं माला (जपमालिका)। देवी बाणसमूह से भरा तरकस और धनुष भी लिये रहती हैं। मूलमन्त्र से हृदयादि न्यास करना चाहिये॥७-१२॥

अधुना प्रयोग विधि बतलायी जाती है—गोसमूह के मध्य में स्थित हो, श्मशान आदि के वस्त्र पर चिता के कोयले से अष्टदल कमल का चक्र लिखे या लिखावे। उसमें द्वेषपात्र का नाम लिखकर लपेट देना चाहिये। फिर चिता की राख को सानकर एक मूर्ति बनाये। उसमें द्वेषपात्र की स्थिति का चिन्तन करके कथित यन्त्र को नीले रंग के डोरे से लपेट कर मूर्ति के पेट में घुसेड़ देना चाहिये। ऐसा करने से उस व्यक्ति का उच्चाटन हो जाता है॥१३-१४॥

ज्वालामालिनी-मन्त्र—'ॐ नमो भगवति ज्वालामालिनि गृध्रगणपरिवृते स्वाहा।' इस मन्त्र का जप करते हुए युद्ध में जाने वाले पुरुष को प्रत्यक्ष विजय प्राप्त होती है॥१५-१६॥

श्रीमन्त्र—'ॐ श्रीं ह्रीं क्लीं श्रियै नमः'॥१७॥

चतुर्दल कमल में उत्तरादि दल के क्रम से क्रमशः घृणिनी, सूर्या, आदित्या और प्रभावती—इन चार श्रीदेवियों का कथित मन्त्र से पूजन करके मन्त्र जपने से श्रीकी प्राप्ति हो जाती है। ये सभी श्रीदेवियाँ स्वर्णगिरि के समान परम सुन्दर कान्ति वाली हैं॥१८॥

गौरी मन्त्र—'ॐ ह्रीं गौर्यै नमः।' —इस मन्त्र द्वारा जप, हवन, ध्यान तथा पूजन किया जाय तो यह साधक को सब कुछ सम्प्रदान करने वाला है। गौरी देवी की अंगकान्ति अरुणाभ गौर है। उनके चार भुजाएँ हैं। वे दाहिने दो

ॐ ह्रीं गौर्यै नमः।।१९।।

गौरीमन्त्रः सर्वकरो होमाद्ध्यानाज्जपार्चनात्। रक्ता चतुर्भुजा पाशवरदा दक्षिणे परे।।२०।।
अङ्कुशाभययुक्तां तां प्रार्थ्य सिद्धात्मना पुमान्। जीवेद्वर्षशतं धीमान्न चौरारिभयं भवेत्।।२१।।
क्रुद्धः प्रसादी भवति युधि मन्त्राम्बुपानतः। अञ्जनं तिलकं वश्यो जिह्वाग्रे कविता भवेत्।।२२।।
तज्जपान्मैथुनं वश्ये तज्जपा द्योनिवीक्षणम्। स्पर्शाद्वशी तिलहोमात्सर्वं चैव तु सिद्ध्यति।।२३।।
सप्ताभिमन्त्रितं चान्नं भुञ्जंस्तस्य श्रियः सदा। अर्धनारीशरूपोऽयं लक्ष्म्यादिवैष्णवादिकः।।२४।।
अनङ्गरूपा शक्तिश्च द्वितीया मदनातुरा। पवनवेगा भुवनपाला वै सर्वसिद्धिदा।।२५।।
अनङ्गमदनानङ्गमेखलां तां जपेच्छ्रिये। पद्ममध्यदलेषु ह्रीं स्वरान्कादींस्ततः स्त्रियाः।।२६।।
षट्कोणे वा घटे वाऽथ लिखित्वा स्याद्वशीकरम्।।२७।।
ॐ ह्रीं छूं नित्यक्लिन्ने मदद्रवे। ॐ ॐ।।२८।।
मूलमन्त्रः षडङ्गोऽयं रक्तवर्णे त्रिकोणके। द्रावणी ह्लादकारिणी क्षोभिणी गुरुशक्तिका।।२९।।
ईशानादौ च मध्ये तां नित्यां पाशाङ्कुशौ तथा। कपालकल्पकतरुं वीणा रक्ता च तद्वती।।३०।।
नित्याऽभया मङ्गला च नववीरा च मंगला। दुर्भगा मनोन्मनी पूज्या द्रावा पूर्वादितः स्थिता।।३१।।

हाथों में पाश तथा वरदमुद्रा धारण करती हैं और बायें दो हाथों में अंकुश एवं अभय। शुद्ध चित्त से गौरी देवी की याचना (आराधना) करने वाला बुद्धिमान् पुरुष सौ वर्षों तक जीवित रहता है तथा उसको चोर आदि का भय हनीं प्राप्त होता है। युद्धस्थल में इस मन्त्र से अभिमन्त्रित जल को पी लेने से अपने ऊपर क्रोध से भरा हुआ पुरुष भी प्रसन्न हो जाता है। इस मन्त्र के अंजन और तिलक लगाने पर वशीकरण सिद्ध होता है तथा जिह्वाग्र पर इसके लेख से (अथवा जप से भी) कवित्व-शक्ति प्रस्फुटित होती है। इसके जप से स्त्री-पुरुष के जोड़े वश में हो जाते हैं। इसके जप से सूक्ष्म योनियों के भी दर्शन होते हैं। स्पर्श करने मात्र से मनुष्य वश में हो जाता है। इस मन्त्र द्वारा तिल की आहुति देने पर सारे मनेप्सित सिद्ध होते हैं। इस मन्त्र से सात बार अभिमन्त्रित करके अन्न का भोजन करने वाले पुरुष के पास सदा श्री (धन-सम्पत्ति) बनी रहती है। इसके आदि में लक्ष्मी-बीज (श्रीं) और वैष्णव-बीज (क्लीं) जोड़ दिया जाय तो यह 'अर्धनारीश्वर-मन्त्र' हो जाता है। अनंगरूपा, मदनातुरा, पवनवेगा, भुवनपाला, सर्वसिद्धिदा, अनंगमदना और अनंगमेखला-ये शक्तियाँ हैं। इनके नाममन्त्रों के जप से लक्ष्मी की प्राप्ति हो जाती है। कमल के दलों में ह्रीं, स्वर, कादि व्यंजन लिखकर मध्य में अभीष्ट स्त्री का नाम लिखे। षट्कोण-चक्र या कलश में भी लिख सकते हैं। लिखकर उसके उद्देश्य से जप करने पर 'वशीकरण' होता है।।१९-२६।।

नित्यक्लिन्ना-मन्त्र-'**ॐ ह्रीं ऐं नित्यक्लिन्ने मदद्रवे स्वाहा।**' (किसी-किसी ने इस मन्त्र को पञ्चदशाक्षर भी माना है। उस दशा में 'स्वाहा' से पहले 'ऐं ह्रीं' जोड़ा जाता है।) यह छः अंगों वाला मूलमन्त्र है (तीन बीज और तीन पद मिलाकर छः अंग होते हैं)। लाल रंग के त्रिकोण-चक्र में अष्टदल कमल का चिन्तन करके उसमें 'द्राविणी' आदि चार शक्तियों तथा ईशानादि कोणों में 'अपरा' आदि चार शक्तियों का चिन्तन पूजन करना चाहिये। उनके क्रमानुसार नाम इस प्रकार जानने चाहिये-द्राविणी, वामा, ज्येष्ठा, आह्लादकारिणी, अपरा, क्षोभिणी, रौद्री तथा गुणशक्ति। देवी का ध्यान इस तरह करना चाहिये। 'वे रक्तवर्णा हैं और उसी रंग के वस्त्राभूषण धारण करती हैं। उनके दो हाथों में पाश और अंकुश है, जो हाथों में कपाल तथा कल्पवृक्ष हैं तथा दो हाथों से उन्होंने वीण ले रखी है।' नित्या,

ॐ ह्रीम् अनङ्गाय नमः। ॐ ह्रीं स्मराय नमः।।३२।।

मन्मथाय च माराय कामायैवं च पञ्चधा। कामाः पाशाङ्कुशौ चापबाणा ध्येयाश्च बिभ्रतः।।३३।।
रतिश्च विरतिः प्रीतिर्विप्रीतिश्च मतिर्धृतिः। विधृतिः पुष्टिरेभिश्च क्रमात्कामादिकैर्युताः।।३४।।
ॐ छं नित्यक्लिन्ने मदद्रवे ॐ अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ ऌ ॡ ए ऐ ओ और अं अः क ख ग घ ङ च छ ज झ ञ ट ठ ड ढ ण त थ द ध न प फ ब भ म य र ल व श ष स ह क्षः ॐ छं नित्यक्लिन्ने मदद्रवे स्वाहा।।३५।।

आधारशक्तिं पद्मं च सिंहे देवीं हृदादिषु।।३६।।
ॐ ह्रीं गौरि रुद्रदयिते योगेश्वरि हूं फट् स्वाहा।।३७।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते नानामन्त्रकथनं नाम त्रयोदशाधिकत्रिशततमोऽध्यायः।।३१३।।

अभया, मंगला, नववीरा, सुमगंला, दुर्भगा और मनोन्मनी तथा द्रावा–इन आठ देवियों का पूर्वादि दिशा के कमल-दलों में पूजन करना चाहिये। ('श्रीविद्यार्णवतन्त्र' में ये नाम इस तरह मिलते हैं–नित्या, सुभद्रा, समङ्गला, वनचारिणी, सुभगा, दुर्भगा, मनोन्मनी तथा रुद्ररूपिणी।) इनके बाह्यभाग में पाँच दलों में कामदेवों का पूजन होता है। '**ॐ ह्रीं अनङ्गाय नमः। ॐ ह्रीं स्मराय नमः। ॐ ह्रीं मन्मथाय नमः। ॐ ह्रीं माराय नमः। ॐ ह्रीं कामाय नमः।**' ये ही पाँच काम हैं। कामदेवों के हाथों में पाश, अंकुश, धनुष और बाण का चिन्तन करना चाहिये। इनके भी बाह्यभाग में दस दलों में क्रमशः रति-विरति, प्रीति-विप्रीति, मति-दुर्मति, धृति-विधृति, तुष्टि-वितुष्टि–इन पाँच कामवल्लभाओं का पूजन करना चाहिये।।२७-३३।।

'**ॐ छं (ऐं) नित्यक्लिन्ने मदद्रवे ओं ओं (स्वाहा) अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ ऌ ॡ ए ऐ ओ औ अं अः क ख ग घ ङ च छ ज झ ञ ट ठ ड ढ ण त थ द ध न प फ ब भ म य र ल व श ष स ह क्षः ॐ छं (ऐं) नित्यक्लिनने मदद्रवे स्वाहा।**' यह 'नित्यक्लिन्नाविद्या' है।।३४।।

सिंहासन पर आधार शक्ति तथा पद्म का पूजन करके उसके दलों में हृदय आदि अंगों की स्थापना एवं पूजन करने के अनन्तर मध्यकर्णिका में देवी की पूजा करनी चाहिये।।३५।।

गौरीमन्त्र (२)–'ॐ ह्रीं गौरि रुद्रदयिते योगेश्वरि हूं फट् स्वाहा'।।३६।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी तीन सौ तेरहवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।३१३।।

अथ चतुर्दशाधिकत्रिशततमोऽध्यायः

त्वरिताज्ञानम्

अग्निरुवाच

ॐ ह्रीं हूं खे छे क्षः स्त्रीं हूं क्षे ह्रीं फट् त्वरितायै नमः।।१।।

त्वरितां पूजयेन्न्यस्य द्विभुजां चाष्टबाहुकाम्। आधारशक्तिं पद्मं च सिंहे देवीहृदादिकम्।।२।।
पूर्वादौ गायत्रीं यजेन्मण्डले वै प्रणीतया। हूंकारां खेचरीं चण्डां छेदनीं क्षेपणीं स्त्रियाः।।३।।
हूंकारीं क्षेमकारीं च फट्कारीं मध्यतो यजेत्। जयां च विजयां द्वारि किंकरं च तदग्रतः।।४।।
तिलैर्होमश्च सर्वाप्त्यै नामत्याहृतिभिस्तथा। अनन्ताय नमः स्वाहा कुलिकाय नमः स्वाहा।।५।।
स्वाहा वासुकिराजाय शङ्खपालाय वौषट्(?)। तक्षकाय वषण्नित्यं महापद्माय वै नमः।।६।।
स्वाहा कर्कोटनागाय षट्पद्माय च वै नमः। लिखेन्निग्रहचक्रं तु एकाशीतिपदैर्नरः।।७।।
वस्त्रे पदे तनौ भूर्जे शिलायां यष्टिकासु च। मध्ये कोष्ठे साध्यनाम पूर्वादौ पट्टिकासु च।।८।।

अध्याय-३१४

त्वरिता विज्ञान विचार

निग्रहयन्त्र–अग्निदेव कहते हैं–हे मुने! '**ॐ ह्रीं हूं खे च च्छे क्षः स्त्री हूं क्षे ह्रीं फट् त्वरितायै नमः।**'–इस मन्त्र से न्यासपूर्वक त्वरितादेवी की पूजा करनी चाहिये। उनके द्विभुज या अष्टभुज रूप का ध्यान करना चाहिये। आधारशक्ति तथा अष्टदल कमल का पूजनक रे। सिंहासन और उसके ऊपर विराहित त्वरिता देवी की तथा उनके चारों तरफ हृदयादि अंगों की पूजा करनी चाहिये। पूर्वादि दिशाओं में हृदयादि अंगों की पूजा करके मण्डल में प्रणीता तथा गायत्री की पूजा करनी चाहिये। (देवी के अग्रभाग के केसर से लेकर प्रदक्षिण क्रम से छः केसरों में छः अंगों का पूजन करके अवशिष्ट दो में प्रणीता तथा गायत्री का पूजन करना चाहिये।) इसके बाद आठ दलों में हुंकारी, खेचरी, चण्डा, छेदिनी, क्षेपिणी, स्त्री, हूंकारी तथा क्षेमंकरी की पूजा करनी चाहिये। फिर मध्यभाग में देवी के सामने फट्कारी की अर्चना करनी चाहिये। देवी के सम्मुखवर्ती द्वार के दक्षिण तथा वामपार्श्व में जया एवं विजया की पूजा करके द्वाराग्रभाग में '**किंकराय रक्ष रक्ष त्वरिताज्ञया स्थिरो भव हुं फट् किंकराय नमः।**' इस मन्त्र से किंकर का पूजन करना चाहिये। त्वरिता-मन्त्र से तिलों द्वारा हवन करने से सम्पूर्ण अभीष्ट वस्तुओं की प्राप्ति हो जाती है। नामोच्चारणपूर्वक देवी के आभूषण स्वरूप आठ नागों की पूजा करनी चाहिये। यथा–**अनन्ताय नमः स्वाहा। कुलिकाय नमः स्वधा। वासुकिराजाय स्वाहा। शंखपालाय वौषट्। तक्षकाय वषट्। महापद्माय नमः। कर्कोटनागाय स्वाहा। पद्माय नमः फट्**।।१-६।।

निग्रहयन्त्र–दस खड़ी रेखाएँ खींचकर उन पर दस पड़ी रेखाएँ खींचे तो इक्यासी पद (कोष्ठ) बन जाते हैं। इन पदों द्वारा 'निग्रहचक्र' का निर्माण करना चाहिये। यह चक्र वस्त्र पर, वेदी पर वृक्ष के तने पर, शिलापट्ट पर तथा यष्टिकाओं पर भी लिखा जा सकता है। इसके मध्यवर्ती कोष्ठ में साध्य (शत्रु आदि) का नाम लिखे। (उस नाम को दो 'रं' बीजों द्वारा आवेष्टित कर देना चाहिये। अर्थात् दो 'रं' बीजों के मध्य में 'साध्य-नाम' लिखना चाहिये।) उसके पार्श्वभाग की पूर्वादि दिशाओं की चार पट्टिकाओं में '**भ्रूं क्ष्रूं छ्रूं ह्रूं**'–इन चार बीजों को लिखे। फिर ईशान आदि कोणों

ॐ ह्रूं क्षूं छन्द च्छन्द चतुरः कण्ठकां कालरात्रिकाम्। ऐशादावशुपादो च यमराज्यं च बाह्यतः॥९॥
कराली नारवमालीकालीलमोक्षमोनली। मामोदेतत्तदेमोना रक्षत स्व स्व भक्ष या॥१०॥
(पमयाटटयाटमोटमा मोटमा। मोमोद्गाभूचिरिभूपाटटवीश्वरीश्चाटट॥११॥
यमराजाद्बाह्यतो रं तं तोयं मारणात्मकम्। कज्जलं निम्बनिर्यासमज्जासृग्विषसंयुतम्॥१२॥
अङ्गारेण सभायुक्तं पिङ्गलाधारसंयुतम्। काकपक्षस्य लेखन्या श्मशाने वा चतुष्पथे॥१३॥
निधापयेत्कुण्डाधस्ताद्वल्मीके वाऽथ निक्षिपेत्)। विभीतद्रुमशाखाधो यन्त्रं सर्वारिमर्दनम्॥१४॥
लिखेच्चानुग्रहं चक्रं शुक्लपक्षेऽथ भूर्जके। लाक्षया कुङ्कुमेनाथ खटिकाचन्दनेन वा॥१५॥
भुवि भित्तौ च पूर्वादि नाम मध्यमकोष्ठके। खण्डेन्दुवारिमध्यस्थमों जं सोवाऽपि घट्टिगम्॥१६॥

लक्ष्मी श्लोकं शिवादौ च राक्षसादिक्रमाल्लिखेत्।
श्रीः सा मा मा मा सा श्रीः सा नौ या ज्ञे ज्ञेया नौ सा॥१७॥

में अन्दर की तरफ 'कालरात्रि-मन्त्र' (काली-आनुष्टुभ सर्वतोभद्र) लिखे तथा बाहर की तरफ 'यमराज-मन्त्र (यमआनुष्टुभ) का उल्लेख करना चाहिये। (यदि साध्य-व्यक्ति पुरुष है, तत्पश्चात् तो यही क्रम ठीक है। यदि वह स्त्री हो, तो उस पर विग्रह के लिये अन्दर की तरफ 'यम-आनुष्टुभ' मन्त्र लिख जाय और बाहर की तरफ 'काली-आनुष्टुभ' मन्त्र का उल्लेख किया जाय—यह 'श्रीविद्यार्णवतन्त्र' में विशेष बात कही गयी है।॥७-९॥

काली-आनुष्टुप मन्त्र—का ली मा र र मा ली का लीनमोक्षक्षमोनली। मामोदेततदेमोमा रक्षतत्वत्वतक्षर।॥१०॥ यम-आनुष्टुभ-मन्त्र—यमावाटटवामाय माटमोटटमोटमा। वामोभूरिरिभूमोवा टटरीत्वत्वरीटट।॥११॥ यम-मन्त्र के बाहर के भाग में चारों तरफ 'रं' लिखे, फिर 'रं' नीचे 'यं' लिखे। इससे 'मारणात्मक निग्रहयन्त्र' सम्पादित होता है। नीम की गोंद, मज्जा, रक्त तथा विष से मिश्रित स्याही में थोड़ा चिता का कोयला कूट-पीसकर मिला दे और उसको पिंगला वर्ण की दावात में रखे। फिर कौए के पंख की कलम से कथित 'निग्रह-यन्त्र' को लिखकर उसको श्मशानभूमि में या चौराहे पर किसी गड्ढे में नीचे की तरफ गाड़ दे, अथवा बाँबी की मिट्टी में उसको डाल दे, अथवा बहेड़े के वृक्ष की डाली के नीचे भूमि में गाड़ देना चाहिये। ऐसा करने से सभी शत्रुओं का विनाश हो जाता है।॥१२-१४॥

अनुग्रह-चक्र—शुक्लपक्ष में भोजपत्र पर, भूमि पर तथा दीवार पर लाक्षा के रंग से, कुङ्कुम से अथवा खड़िया मिट्टी के चन्दन से 'अनुग्रह-चक्र' लिखे (यह अनुग्रह-चक्र' उपरोक्त निग्रह-चक्र की भाँति इक्यासी पदों का होना चाहिये।) मध्यकोष्ठ में साध्य व्यक्ति का नाम लिखे। उस नाम 'ठं ठं' के मध्य में रखे। पूर्वादि वीथी में 'जूं सः वषट्' का उल्लेख करना चाहिये। ईशान आदि कोण से प्रारम्भ करके वीथी को छोड़ते हुए अग्निकोण पर्यन्त लक्ष्मी का आनुष्टुभमन्त्र (जो सर्वतोभद्रबन्ध में निबद्ध है) लिखे। यह ऊपर की चार पंक्तियों में पूरा हो जायगा। तत्पश्चात् नीचे की चार पंक्तियों में सबसे नीचे के नैर्ऋत्यकोणस्थ कोष्ठ से प्रारम्भ करके दाहिने से बायें पार्श्व की तरफ लिखे। निचली पक्ति के बाद ऊपरी पक्ति में भी बायें से दाहिने लिखे। इस तरह चार पक्तियों में वही 'लक्ष्मी-मन्त्र' पूरा लिख देना चाहिये। वह मन्त्र इस तरह है—'**श्री सा मा या या मा सा श्री, सा नो या ज्ञे ज्ञें या नो सा। या ली ला ला ली या मा, या ज्ञे ला ली ली ला ज्ञे या।।**' चक्र के बहिर्भाग में चारों तरफ त्वरिता-मन्त्र लिखे। प्रत्येक दिशा में एक बार, इस तरह चतुरस्र चक्र को इस तरह गोल रेखा से घेर दे, जिससे वह कलश के अन्दर हो जाय। कथित कलश के नीचे एक कमल बनाकर उसी पर कमल को स्थापित किया हुआ दिखाये। (ऊपर की तरफ कलश के

माया लीला ला ली या सा ज्ञेया नौ सा माया। लीला यत्र षडुक्ता बहिः शीघ्रां दिक्षु च कलशं वह्निः॥१८॥
पद्मस्थं पद्मचक्रं च मृत्युजित्स्वर्गगं धृतिम्। शान्तीनां परमा शान्तिः सौभाग्यादिप्रदायकम्॥१९॥
रुद्रे रुद्रसमाः कार्याः कोष्ठकास्तत्र तां लिखेत्। ॐ माद्यां हूं फडन्ता च आदिवर्णमथान्ततः॥२०॥
विद्यावर्णक्रमेणैव संज्ञा च वषडन्तिकाम्। अधस्तात्प्रत्यङ्गिरैषा सर्वकामार्थसाधिका॥२१॥
(एकाशीतिपदे सर्वामादिवर्णक्रमेण तु। आदिमं यावदन्ते स्याद्वषडन्तं च नाम वै॥२२॥
एषा प्रत्यङ्गिरा चान्या सर्वकार्यादिसाधनी)। निग्रहानुग्रहं चक्रं चतुःषष्टिपदैर्लिखेत्॥२३॥
अमृती सा विद्या चक्रं सः ह्रींनामाथ मध्यतः। फट्काराद्याऽन्यत्रगतां त्रिह्रींकारेण वेष्टयेत्॥२४॥
कुम्भवद्धारिता सर्वशत्रुहृत्सर्वदायिका। विषं नश्येत्कर्णजपादक्षराद्यैश्च दण्डकैः॥२५॥

॥इत श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते त्वरितामन्त्रकथनं नाम चतुर्दशाधिकत्रिशततमोऽध्यायः॥३१४॥

मुख की सी आकृति बना देना चाहिये। दो वृत्ताकार रेखाओं से कलश की आकृति स्पष्ट करनी चाहिये। कलश के मुख पर दो आड़ी रेखाएँ खींचकर उन रेखाओं के मध्य में 'नववव'–इस तरह की माला-सी बनाकर उस माला से घट को परिपूरित दिखाये। इस तरह इस चक्र का मनोरथपूर्ति लिये तन्त्रशास्त्रोक्त विधि से प्रयोग करना चाहिये।)।कमल पर स्थापित पद्म चक्र लिखकर उसको धारण किया जाय तो वह मृत्यु को जीतने वाला तथा स्वर्ग की प्राप्ति कराने वाला है। वह शान्ति के साधनों में भी परम शान्तिप्रद है। सौभाग्य आदि देने वाला है॥१५-१९॥

द्वादश खड़ी रेखाओं पर बाहर पड़ी रेखाएँ खींचकर बराबर-बराबर एक सौ इक्कीस कोष्ठ बनाये। उसके मध्यकोष्ठ में साध्य का नाम लिखे। फिर ईशान कोण वाले कोष्ठ से प्रारम्भ करके प्रदक्षिण क्रम से द्वादश बार त्वरिता-विद्या के अक्षर लिखे। मायाबीज (ह्रीं) को छोड़कर ही मन्त्र लिखना चाहिये। रेखाओं के अग्रभागों पर बारम्बार त्रिशूल अंकित करना चाहिये। इस यन्त्र को जप द्वारा सिद्ध कर लेना चाहिये। मध्यकोष्ठ में साध्य-नाम के पहले 'ॐ' तथा अन्त में 'हूं फट्' जोड़ देना चाहिये। त्वरिता-विद्या के वर्णों को क्रम से ही खिना चाहिये। अन्त में नीचे की तरफ 'वषट्' जोड़ देना चाहिये। यह 'प्रत्यङ्गिरा-विद्या' कहलाती है, जो सम्पूर्ण मनेप्सित एवं प्रयोजन को सिद्ध करने वाली है॥२०-२१॥

इक्यासी कोष्ठ वाले चक्र में आदि से ही वर्णक्रम के अनुसार सम्पूर्ण चक्रों में त्वरिता-विद्या के अक्षर लिखे। छः बार मन्त्र लिखने के बाद अन्त में शेष कोष्ठों में साध्य का नाम तथा उसके अन्त में 'वषट्' लिखे। यह दूसरी 'प्रत्यङ्गिरा-विद्या' है, जो समस्त कार्य आदि की सिद्धि करने वाली है। चौंसठ कोष्ठ वाले चक्रों में भी 'निग्रह-चक्र' और 'अनुग्रह-चक्र' लिखे। वह 'अमृती-विद्या' है। उसके मध्यकोष्ठ में 'क्रीं सा हूं' और साध्य-नाम लिखे। पाठान्तर के अनुसार उस चक्र के मध्य भाग में साध्य का नाम तथा नाम के उभय पार्श्व में 'ह्रीं' लिखे। उसके बाह्यभाग में द्वादशदल कमल बनाकर उसके दलों में त्वरिता-विद्या को विलोमक्रम से लिखे। अर्थात् पहले 'फट्' लिखे, फिर पूर्व-पूर्व के अक्षर। फिर उसको ह्रींकारयुक्त तीन वृत्ताकार पक्तियों से वेष्टित करना चाहिये। कुम्भाकार यन्त्र के अन्दर लिखित इस विद्या को धारण किया जाय तो यह समस्त शत्रुओं का विनाश करने वाली और सब कुछ देने वाली होती है। यदि रोगी के कान में इसका जप किया जाय तो सर्पादि विष भी शान्त हो जाते हैं। यदि इसके अक्षरों से अंकित अथवा इस यन्त्र से अंकित डंडों द्वारा इसके शरीर पर ठोंका जाय तो उससे भी विष का शमन हो जाता है॥२२-२५॥

॥इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी तीन सौ चौदहवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ॥३१४॥

अथ पञ्चदशाधिकत्रिशततमोऽध्यायः

स्तम्भनादिमन्त्राः

अग्निरुवाच

स्तम्भनं मोहनं वश्यं विद्वेषोच्चाटनं वदे। विषव्याधिमरोगं च मारणं शमनं पुनः॥१॥
भूर्जे कूर्मं समालिख्य ताडनेन षडङ्गुलम्। मुखपादचतुष्केषु ततो मन्त्रं न्यसेद्द्विजः॥२॥
चतुष्पादेषु क्रींकारं ह्रींकारं मुखमध्यतः। गर्भे विद्यां ततो लिख्य साधकं पृष्ठतो लिखेत्॥३॥
मालामन्त्रैस्तु संवेष्ट्य इष्टकोपरि संन्यसेत्। पिधाय कूर्मपृष्ठेन करालेनाभिसंपठेत्॥४॥
महाकूर्मं पूजयित्वा पादप्रोक्षं तु निक्षिपेत्। ताडयेद्वामपादेन स्मृत्वा शत्रुं च सप्तधा॥५॥
ततः संजायते शत्रोः स्तम्भनं मुखरागतः। कृत्वा तु भैरवं रूपं मालामन्त्रं समालिखेत्॥६॥
ॐ शत्रुमुखस्तम्भनी कामरूपा आलीडिर्करीम्। ह्रीं फं फत्कारिणी मम शत्रूणां देवदत्तानां मुखं स्तम्भय स्तम्भय (मम सर्वविद्वेषिणां मुखस्तम्भनं कुरु कुरु, ॐ हूं फं फत्कारिणी स्वाहा॥७॥
पटहेतुं समालिख्य तज्जपन्तं महाबलम्। वामेनैव नगं शूलं संलिखेद्दक्षिणे करे॥८॥
लिखेन्मन्त्रमघोरस्य संग्रामे स्तम्भयेदरीन्॥९॥

अध्याय-३१५

स्तम्भन आदि विचार

श्रीअग्निदेव ने कहा कि–हे मुने! अधुना मैं स्तम्भन, मोहन, वशीकरण, विद्वेषण तथा उच्चाटन के प्रयोग बतलाने जा रहा हूँ। विषव्याधि, आरोग्य, , मारा तथा उसके शमन के प्रयोग भी बता रहा हूँ। भोजपत्र पर ताड़ की कलम से 'कूर्मचक्र' लिखे। वह छः अंगुल के माप का होना चाहिये। उसके बाद द्विज उसके मुख तथा चारों पैरों में मन्त्र का न्यास करना चाहिये। चारों पैरों में 'क्रीं' तथा मुख में 'ह्रीं' लिखे। गर्भस्थान में त्वरिता-विद्या का उल्लेख करके पृष्ठभाग में साध्य-नाम लिखे। फिर मालामन्त्रों से वेष्टित करके उस यत्र को ईंट के ऊपर स्थापित करना चाहिये। तत्पश्चात् उसको ढककर कूर्मपीठगत 'करालमन्त्र' से अभिमन्त्रित करना चाहिये। महाकूर्म का पूजन करके चरणोदक को शत्रु के उद्देश्य से फेंके तथा शत्रु का स्मरण करके उसको सात बार बायें पैर से ताड़ित करना चाहिये। इससे मुख भाग से शत्रु का स्तम्भन होता है॥१-५॥

भैरव की मूर्ति लिखकर उसके चारों तरफ निम्नांकित मालामन्त्र लिखे–'**ॐ शत्रुमुखस्तभनी कामरूपा आलीढकरी। ह्रीं फें फेत्कारिणी मम शत्रूणां देवदत्तानां मुखं स्तम्भय स्तम्भय मम सर्वविद्वेषिणां मुखस्तम्भनं कुरु कुरु कुरु ऊँ हूं फें फेत्कारिणि स्वाहा।**'

इसके बाद 'फट्' और हेतु (प्रयोग का उद्देश्य) लिखकर कथित मन्त्र का जप करते हुए उस महाबली भैरव के वाम हाथ में 'नग' (पर्वत या वृक्ष) और दाहिने हाथ में 'शूल' लिखे। उसके बाद 'अघोरमन्त्र' लिखे। इससे वह संग्राम में शत्रुओं को स्तम्भित कर देता है॥६-९॥

ॐ नमो भगवत्यै भगमालिनि निर स्फुर निर स्फुर स्पन्द स्पन्द दित्यक्लिन्ने द्रव द्रव)
(हूं सः ह्रींकाराक्षरे स्वाहा।।१०।।
एतेन रोचनाद्यैस्तु तिलकान्मोहयेज्जगत्।।११।।

ॐ फं हूं फटफटत्कारिणी ह्रीं ज्वल ज्वल)। त्रैलोक्यं मोहय मोहय। ॐ गुह्यकालिके स्वाहा।।१२।।
अनेन तिलकं कृत्वा राजादीनां वशीकरम्। गर्दभस्य रजो गृह्य कुसुमं मृतकस्य च।।१३।।
नारीरजः क्षिपेद्रात्रौ शय्यादौ द्वेषकृद्भवेत्। गोखुरं च तथा शृङ्गमश्वस्य च खुरं तथा।।१४।।
शिरः सर्पस्य संक्षिप्तं गृहेषूच्चाटनं भवेत्। करवीरशिफा पीता संसिद्धार्था च मारणे।।१५।।
व्यालच्छुच्छुन्दरीरक्तं करवीरं तदर्थकृत्। सरटं षट्पदं चापि तथा कर्कटवृश्चिकम्।।
चूर्णीकृत्य क्षिपेत्तैले तदभ्यङ्गं च कुष्ठकृत्।।१६।।

ॐ नवग्रहाय सर्वशत्रून्मम साधय साधय मारय मारय, आं सों मं बुं चुं शुं शं शं को अं स्वाहा।।१७।।
अनेनार्कशतैरर्च्य श्मशाने तु निधापयेत्। भूर्जे वा प्रतिमायां वा मारणाय रिपोर्ग्रहाः।।१८।।
ॐ कुञ्जरी ब्रह्माणी, ॐ मञ्जरी माहेश्वरी, ॐ वैताली कौमारी, ॐ काली वैष्णवी, ॐ घोरा
वाराही, ॐ बेतालीन्द्राणी, ॐ उर्वशी चामुण्डा, ॐ वेताली चण्डिका, ॐ जयाली यक्षिणी,

---

'ॐ नमो भगवत्यै भगमालिनि विस्फुर विस्फुर, स्पन्द स्पन्द, नित्यक्लिन्ने द्रव द्रव हूं सः क्रींकाराक्षरे स्वाहा।' इस मन्त्र का जप करते हुए रोचना आदि से तिलक करने पर मनुष्य सारे जगत् को मोहित कर सकता है।।१०-११।।

'ॐ फें हुं फट् फेत्कारिणि ह्रीं ज्वल ज्वल, त्रैलोक्य, मोहय मोहय, गुह्यकालिके स्वाहा।' इससे तिलक करके मनुष्य राजा आदि को भी वश में कर लेता है।।१२।।

जहाँ गधा बैठा हो उस स्थान की धूल, शव के ऊपर चढ़ा हुआ फूल तथा स्त्री के रज में संलग्न वस्त्र का टुकड़ा लेकर रात में शत्रु की शय्या आदि पर फेंक देना चाहिये। इससे उसके स्वजनों में विद्वेष उत्पन्न हो जाता है। गाय का खुर और शृङ्ग, घोड़े की टाप का कटा हुआ टुकड़ा तथा साँप का सिर–इन सभी को कूटकर एक में मिला दे और द्वेषपात्र के घरों पर फेंक देना चाहिये। इससे शत्रुवर्ग का उच्चाटन होता है। कनेर की पीली शिफा (मूल या जड़) मारण के प्रयोग में संसिद्ध (सफल) है। साँप और छछूँदर का रक्त तथा कनेर का बीज भी मारण रूपी प्रयोजन का साधक है। मरे हुए गिरगिट, भ्रमर, केकड़ा और बिच्छू का चूरन बनाकर तेल में डाल देना चाहिये। उस तेल को अपने शरीर में लगाने वाला मनुष्य कोढ़ी हो जायगा।।१३-१६।।

ॐ नवग्रहाय सर्वशत्रून् मम साधय साधय, मारय मारय आं सों मं बुं गुं शुं रां कें ॐ स्वाहा।' इस मन्त्र को भोजपत्र या नवग्रह-प्रतिमा पर लिखकर आक (मदार) के सौ फूलों से पूजा करके शत्रु मारण के उद्देश्य से उस यन्त्र या प्रतिमा को शमशानभूमि में गाड़ देना चाहिये। उससे समस्त ग्रह साधक के शत्रु को मार डालते हैं।।१७-१८।।

'ॐ कुञ्जरी ब्रह्माणी, ॐ मंजरी माहेश्वर, ॐ वेताली कौमारी, ॐ काली वैष्णवी, ॐ अघोरा वाराही, ॐ वेतालीन्द्राणी, ॐ उर्वशी चामुण्डा, ॐ वेताली चण्डिका, ॐ जयाली यक्षिणी, नवमातरो हे मम शत्रुं गृह्णत गृह्णत।'

नव मातरो हे मम शत्रुं गृह्णत, गृह्णत, भूर्जे नाम रिपोर्लिख्य श्मशाने पूजिते म्रियेत्॥१९॥

॥इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते स्तम्भनादिमन्त्रकथनं नाम पञ्चदशाधिकत्रिशततमोऽध्यायः॥३१५॥

अथ षोडशाधिकत्रिशततमोऽध्यायः

नानामन्त्राः

अग्निरुवाच

आदौ हुंकारसंयुक्ता खेचच्छेपदभूषिता। वर्गातीतविसर्गेण स्त्रीहूं क्षेपफडन्तिका॥१॥
सर्वकर्मकरी विद्या विषसर्वादिमर्दनी। (हूंकरच्छेति प्रयोगश्च कालदष्टस्य जीवने॥२॥
ॐ हूं केक्षः प्रयोगोऽयं विषदष्टप्रमर्दनः। स्त्रीं हूं फडिति योगोऽयं पापरोगादिकं जयेत्॥३॥
खेचेति च प्रयोगोऽयं रिपुदुष्टादि वारयेत्। हूं स्त्रीभूमिति योगोऽयं योषिदादिवशीकरः॥४॥
खे स्त्रीं खे च प्रयोगोऽयं कालदष्टरिपुं जयेत्। क्षः स्त्री क्षः संप्रयोगोऽयं वशाय विजयाय च॥५॥

भोजपत्र पर इस मन्त्र को लिखे। 'शत्रु' पद के स्थान में शत्रु के नाम का निर्देश करना चाहिये। फिर श्मशान भूमि में उस यन्त्र की पूजा करनी चाहिये तो शत्रु की मृत्यु हो जाती है॥१९॥

॥इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी तीन सौ पन्द्रहवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ॥३१५॥

अध्याय-३१६

विविध मन्त्र प्रयोग विचार

श्रीअग्निदेव ने कहा कि-हे मुने! पहले 'हुं' रखे, फिर 'खे च च्छे'-ये तीन पद छोड़कर मन्त्र की शोभा बढ़ावे। तत्पश्चात् 'क्षः स्त्रीं हूं क्षे' लिखकर अन्त में 'फट्' जोड़ देना चाहिये। (कुल मिलाकर) **'हुं खे च च्छे क्षः स्त्रीं हूं क्षे ह्रीं फट्'**। यह दशाक्षरा त्वत्वरिता-विद्या हुई। यह विद्या समस्त कार्यों को सिद्ध करने वाली तथा विष, सर्पादिका मर्दन करने वाली है। 'खे च च्छे'-यह त्र्यक्षर-विद्या काल (अथवा काले साँप) के डँसे हुए को भी जीवन देने वाली है॥१-२॥

'ॐ हूं खे क्षः'-इस चतुक्षरी विद्या का प्रयोग विष एवं सर्पदंश की पीड़ा को नष्ट करने वाला है। (पाठान्तर **'विषशत्रुप्रमर्दनः'** के अनुसार कथित विद्या का प्रयोग विष एवं शत्रु की बाधा को दूर करने वाला है।) **'स्त्रीं हूं फट्'**-इस विद्या का प्रयोग पाप तथा रोग आदि पर विजय दिलाता है। 'खे चे'-इस द्व्यक्षर मन्त्र का प्रयोग शत्रु एवं दुष्ट आदि की बाधा को दूर करता है। 'हूं स्त्रीं ॐ'-इस मन्त्र का प्रयोग स्त्री आदि को वश में करने वाला है। **'खे स्त्रीं खे'**-इस मन्त्र का प्रयोग कालसर्प द्वारा डँस गये मनुष्य के जीवन की रक्षा करता है तथा शत्रुओं पर विजय दिलाता है। 'क्षः स्त्रीं क्षः'-इसका प्रयोग वशीकरण तथा विजय साधक है॥३-५॥

ऐं ह्रीं श्रीं स्फ्रयै स्फ्रयै भगवति (अम्बिके)। कुब्जिके। स्फ्रयें स्फं स्फम्, ऊम् उम, उ रण
नमो घोरामुखि च्छां छीं किणि किणि विच्छ्रस्फों ह्रें श्रीं ह्रीम्।
ऐं श्रीमति कुब्जिकाविद्या सर्वकरा) स्मृता।।६।।
भूयः स्कन्दाय यानाह मन्त्रानीशश्च तान्वदे।।७।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गति नानामन्त्रकथनं नाम षोडशाधिकत्रिशततमोऽध्यायः।।३१६।।

—❀—

अथ सप्तदशाधिकत्रिशततमोऽध्यायः

सकलादिमन्त्रोद्धारः

ईश्वर उवाच

सकलं निष्कलं शून्यं कलाद्यं स्वमलंकृतम्। क्षपणं क्षयमन्तस्थं कठोष्ठं चाष्टमं शिवम्।।१।।
प्रासादस्य पराख्यस्य स्मृतरूपं गुहाष्टधा। सदाशिवस्य शब्दस्य रूपस्याखिलसिद्धये।।२।।
अमृतश्चांशुमांश्चेन्द्रश्चेश्वरश्चोग्र ऊहकः। एकपादैल ओजाख्य ओषधश्चांशुमान्वशी।।३।।

कुब्जिका-विद्या

'**ऐं ह्रीं श्रीं हसखफ्रें हसौः ॐ नमो भगवति हसखफ्रें कुब्जिके हस्रूं अघोरे घोरे अघोरमुखि छ्रां छ्रीं किणि विच्चे हसौः हसखफ्रें श्रीं ह्रीं ऐं**–यह श्रीमती कुब्जिका विद्या सब कार्यों को सिद्ध करने वाली मानी गयी है।।६।।

अधुना उन मन्त्रों का वर्णन किया जायगा, जिनका उपदेश देवाधिदेव भगवान् श्रीशिवशंकर ने स्कन्द को किया था।।७।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी तीन सौ सोलहवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।३१६।।

❖❖❖

अध्याय–३१७

सकलादि मन्त्र उद्धार क्रम विचार

देवाधिदेव भगवान् शिव ने कहा कि–हे स्कन्द! सकल, निष्कल, शून्य, कलाढ्य, समलंकृत, क्षपण, क्षय, अन्तःस्थ, कठोष्ठ तथा आठवाँ शिव–'ये प्रासादपरासंज्ञक मन्त्र के आठ स्वरूप माने गये हैं। (कलाढ्य सकल के और शून्य निष्कल के अन्तर्गत है।) यह शब्दमय मन्त्र साक्षात् सदाशिवरूप है। इसके जप से सम्पूर्ण सिद्धियों की प्राप्ति हो जाती है।।१-२।।

अमृत, अंशुमान्, इन्द्र, ईश्वर, उग्र, ऊहक्, एकपाद, ऐल, ओज, औषधि, अंशुमान् और वशी–ये क्रमशः

अकारादेर्वाचकाश्च ककारादेः क्रमादिमे। कामदेवः शिखण्डी च गणेशः कालशंकरौ॥४॥
शक्तीश्वरो महाग्रन्थिस्तर्पकः स्थाणुदन्तुरौ। निधीशो नन्दिपद्मश्च तथाऽन्यः शाकिनीप्रियः॥६॥
मुखबिम्बो भीषणश्च कृतान्तः प्राणसंज्ञकः। तेजस्वी शक्र उदधिः श्रीकण्ठः सिंह एव च॥७॥
शशाङ्को विश्वरूपश्च क्षश्च स्यान्नरसिंहकः। सूर्यमात्रासमाक्रान्तं विश्वरूपं तु कारयेत्॥८॥
अंशुमत्संयुतं कृत्वा शशिबीजं विनायुतम्। ईशानमोजसाऽऽक्रान्तं प्रथमं तु समुद्धरेत्॥९॥
तृतीयं पुरुषं विद्धि दक्षिणं पञ्चमं तथा। सप्तमं वामदेवं तु सद्योजातं ततः परम्॥१०॥
रसयुक्तं तु नवमं ब्रह्मपञ्चकमीरितम्। ओंकाराद्याश्चतुर्थ्यन्ता नमोन्ताः सर्वमन्त्रकाः॥११॥
सद्योदेवा द्वितीयं तु हृदयं चाङ्गसंयुतम्। चतुर्थं तु शिरो विद्धि ईश्वरं नाम नामतः॥१२॥
(उहकर्णशिखा ज्ञेया विश्वरूपसमन्विता। तन्मन्त्रमष्टसंख्यातं नेत्रं तु दशमं मतम्)॥१३॥
अस्त्रं शशी समाख्यातं शिवसंज्ञं शिखिध्वजः। नमः स्वाहा तथा वौषड् हूं च षट्कक्रमेण तु॥१४॥

अकार आदि द्वादश स्वरों के वाचक है (यथा–अ अ इ ई उ ऊ ए ऐ आ औ अं अः)। तथा आगे जो शब्द दिये जा रहे हैं, ये ककार आदि अक्षरों के सूचक हैं। कामदेव, शिखण्डी, गणेश, काल, देवाधिदेव भगवान् श्रीशिवशंकर, एकनेत्र, द्विनेत्र, त्रिशिख, दीर्घबाहु, एकपाद, अर्धचन्द्र, वलय, योगिनिप्रिय, शक्तीश्वर, महाग्रन्थि, तर्पक, स्थाणु, दन्तुर, निधीश, नन्दि, पद्म, शाकिनीप्रिय, मुखबिम्ब, भीषण, कृतान्त (यम), प्राण, तेजस्वी, शुक्र, उदधि, श्रीकण्ठ, सिंह, शशाङ्क, विश्वरूप तथा नारसिंह (क्ष)। विश्वरूप अर्थात् हकार को द्वादश मात्राओं से युक्त करके लिखे। (इस तरह ये द्वादश बीज होते हैं, जो अंगन्यास एवं करन्यास के उपयोग में आते हैं।।३-८।।

विश्वरूप (ह) को अंशुमान् (अनुस्वार) तथा ओज (ओकार) से युक्त करके रखा जाय; उसमें शशिबीज (स) का योग न किया जाय तो 'हों'–यह प्रथम बीज उद्धृत होता है, जो 'ईशान' से सम्बद्ध है। उपुर्यक्त द्वादश बीजों में पाँच ह्रस्वयुक्त बीज माने जाते हैं और छः दीर्घ बीज। पहले और ग्यारहवीं मात्रा में एक ही 'हं' बीज बनता है। 'हं हिं हुं हें हों'–ये पाँच ह्रस्वयुक्त बीज हैं तथा शेष दीर्घयुक्त। ह्रस्व बीजों में विलोम-गणना से 'हों' प्रथम है। शेष क्रमशः तृतीय, पंचम, सप्तम और नवम कहे गये हैं। द्वितीय आदि दीर्घ हैं। तृतीय बीज है-'हें'। यह तत्पुरुष-सम्बन्धी बीज है, ऐसा जानो। पाँचवाँ बीज 'हुं' है, जो दक्षिण दिशावर्ती मुख–'अघोर' का बीज है। सातवाँ बीज है–'हिं'। इसको 'वामदेव का बीज' समझना चाहिये। इसके बाद रस (अमृत) संज्ञक मात्रा 'अकार) से युक्त सानुस्वार हकार अर्थात् 'हं' है; वह उपरोक्त गणाक्रम से नवाँ है और 'सद्योजात' से सम्बद्ध है। इस तरह कथित पॉच बीजों से युक्त 'ईशान' आदि मुखों को 'ब्रह्मपंचक' कहा गया है। इनके आदि में 'प्रणव' तथा अन्त में 'नमः' जोड़ देना चाहिये। 'ईशान' आदि नामों का चतुर्थ्यन्त प्रयोग करना चाहिये तो सभी उनके लिये पूजोपयुक्त मन्त्र हो जाते हैं। यथा–'**ॐ हों ईशानाय नमः**'। इत्यादि। इसी तरह '**ॐ हं सद्योजाताय नमः।**'

यह सद्योजातदेवता का मन्त्र है। द्वितीय, चतुर्थ आदि मात्राएँ दीर्घ हैं, इसलिये उनका हृदयादि अंगों में न्यास किया जाता है। द्वितीय बीज को बोलकर हृदय और अंग-मन्त्र (नमः) बोलकर हृदय में न्यास करना चाहिये। यथा–'**हां हृदयाय नमः, हृदि।**' चतुर्थ बीज 'शिरोमन्त्र' है, जो हकार में ईश्वर तथा अंशुमान् (ं) जोड़ने से सम्पन्न होता है। यथा–'**हीं शिर से स्वाहा, शिरसि।** विश्वरूप (ह) में ऊहक (ऊ) तथा अनुस्वार जोड़ने पर छठा बीज 'हूं'

जातिषट्कं हृदादीनां प्रासादं मन्त्रमावदे। ईशानाद्रुद्रसंख्यातं प्रोद्धरेच्चांशुरञ्जितम्।।१५।।
औषधाक्रान्तशिरसमूहकस्योपरि स्थितम्।। अर्धचन्द्रोर्ध्वनादश्च बिन्दुद्वितयमध्यगम्।।१६।।
तदन्ते विश्वरूपं तु कुटिलं तु त्रिधा ततः। एवं प्रासादमन्त्रश्च सर्वकर्मकरो मनुः।।१७।।
शिखाबीजं समुद्धृत्य फट्कारान्तं तु चैव फट्। अर्धचन्द्रासनं ज्ञेयं कामदेवससर्पकम्।।१८।।
महापाशुपतास्त्रं तु सर्वदुष्टप्रमर्दनम्। प्रासादः सकलः प्रोक्तो निष्कलः प्रोच्यतेऽधुना।।१९।।
सौषधं विश्वरूपं तु रुद्राख्यं सूर्यमण्डलम्। चन्द्रार्धनादसंयोगं विसर्ज्ञं कुटिलं ततः।।२०।।
निष्कलो भुक्तिमुक्तौ स्यात्पञ्चाङ्गोऽयं सदाशिवः। अंशुमान्विश्वरूपं च आवृतं शून्यरञ्जितम्।।२१।।
ब्रह्माङ्गरतिः शून्यस्तस्य मूर्तिरसस्तरुः। विघ्ननाशाय भवति पूजितो बालबालशैः।।२२।।
अंशुमान्विश्वरूपाख्यमूषकस्योपरि स्थितम्। कलाढ्यं सकलस्यैव पूजाङ्गादि च सर्वदा।।२३।।
नरसिंहं कृतान्तस्थं तेजस्वी प्राणमूर्ध्वगम्। अंशुमानूहकाक्रान्तमधोर्ध्वं स्वमलंकृतम्।।२४।।

बनता है। उसको 'शिखामन्त्र' समझना चाहिये। यथा-'हूं शिखायै **वषट् शिखायां हुम्**।' अर्थात् कवच का मन्त्र आठवाँ बीज 'हैं' है। यथा-'**हैं कवचाय हुम्** -बाहुमूलयोः। दसवाँ बीज 'हौं' नेत्र-मन्त्र कहा गया है। यथा-'**हौं नेत्रत्रयाय वौषट्, नेत्रयोः**।' अस्त्र-मन्त्र वशी (विसर्गयुक्त) है। हे शिखिध्वज! इसको शिवसंज्ञक माना गया है। यथा-'**हः अस्त्राय फट्**।' इससे चारों तरफ तर्जनी और अंगुष्ठ द्वारा ताली बजाये। हृदयादि अंगों की छः जातियाँ क्रमशः इस तरह हैं-**नमः, स्वाहा, वषट्, वौषट**, तथा **फट्**। अधुना मैं 'प्रासाद-मन्त्र' बतलाता हूँ। 'हीं हौं हूं'- ये प्रासाद मन्त्र के तीन बीज हैं। इसको 'कुटिल' संज्ञा दी गयी है। इस तरह यह प्रासाद-मन्त्र समस्त कार्यों को सिद्ध करने वाला है। हृदय-शिखा आदि बीजों का उपरोक्त विधि से उद्धार करके फट्कारपर्यन्त सब अंगों का न्यास करना चाहिये। अर्धचन्द्राकार आसन देना चाहिये। 'भगवान् पशुपति कामपूरक देतवा हैं तथा सर्पों से विभूषित है। इस तरह ध्यान करके महापाशुपतास्त्र मन्त्र का जप करना चाहिये। यह समस्त शत्रुओं का मर्दन करने वाला है। यह 'सकल (कलासहित) प्रासाद-मन्त्र का वर्णन किया गया। अधुना 'निष्कल-मन्त्र' कहा जाता है।।९-१९।।

औषधि (औ), विश्वरूप (ह), ग्यारहवीं मात्रा, सूर्यमण्डल (अनुस्वार) इनसे युक्त अर्धचन्द्र (अनुनासिक) एवं नाद से युक्त जो 'हौं' मन्त्र है। यह 'निष्कल प्रासाद-मन्त्र' है; इसको संज्ञाविहीन 'कुटिल' भी कहते हैं। 'निष्कल प्रासाद-मन्त्र' भोग और मोक्ष सम्प्रदान करने वाला है। सदाशिवस्वरूप 'प्रासाद-मन्त्र' ईशानादि पाँच ब्रह्ममूर्तियों से युक्त होता है; इसलिये वह 'पंचांग' या 'सांग' कहा गया है। अंशुमान् (अनुस्वार), विश्वरूप (ह) तथा अमृत (अ)- इन तीनों के योग से व्यक्त हुआ 'हं' बीज 'शून्य' नाम से अभिहित होता है। (यह 'हिं हुं हें हों'-इन सभी का उपलक्षण है।) (यह 'हिं हुं हें हों'-इन सभी का उपलक्षण है।) ईशान आदि ब्रह्मात्मक अंगों (मुखों) से हीन होने पर ही उसकी शून्य संज्ञा होती है। ईशानादि मूर्तियाँ इन बीजों के अमृततरु हैं। इनका पूजन समस्त विघ्नों का विनाश करने वाला है।।२०-२२।।

अंशुमान् (अनुस्वार) युक्त विश्वरूप (ह) यदि ऊहक (ऊ) के ऊपर अधिष्ठित हो, तो वह 'हूं' बीज 'कलाढ्य' कहा गया है। वह 'सकल' के ही अन्तर्गत है। सकल के ही पूजन और अंगन्यास आदि सदा होते हैं। (इसी तरह जो 'शून्य' कहा गया है, वह 'निष्कल' के ही अन्तर्गत है।) नरसिंह यमराज के ऊपर बैठे हों, अर्थात् क्षकार मकार के ऊपर चढ़ा हो, साथ ही तेजस्वी (र) तथा प्राण (य) का भी योग हो, फिर ऊपर अंशुमान् (अनुस्वार)

चन्द्रार्धनादनादान्तं ब्रह्मविष्णुविभूषितम्। उदधिं नरसिंहं च सूर्यमात्राविभेदितम्।।२५।।
यदा कृतं तदा तस्य ब्रह्माण्यङ्गानि पूर्ववत्। ओजाख्यमंशुमद्युक्तं प्रथमं वर्णमुद्धरेत्।।२६।।
अंशुमच्चांशुनाऽऽक्रान्तं द्वितीयं वर्णनायकम्। अंशुमानीश्वरं तद्वत्तृतीयं मुक्तिदायकम्।।२६।।
ऊहकश्चांशुनाऽऽक्रान्तं वरुणं प्राणतैजसम्। पञ्चमं तु समाख्यातं कृतान्तं तु ततः परम्।।२८।।
अंशुमानुदकप्राणः सप्तमं वर्णमुद्धृतम्। पद्ममिन्दुसमाक्रान्तं नन्दीशमेकपादधृक्।।२९।।
प्रथमं चान्ततो योज्यं क्षपणं दशबीजकम्। अस्याऽऽद्यं च तृतीयं च पञ्चमं सप्तमं तथा।।३०।।
सद्योजातं तु नवमं द्वितीयं हृदयादिकम्। दश तु प्रणवं यत्तु फडन्तं चास्त्रमुद्धरेत्।।३१।।
नमस्कारयुतान्यत्र ब्रह्माङ्गानि (णि) तु नान्यथा। द्वितीयादष्टमं यावदष्टौ विद्येश्वरा मताः।।३२।।
अनन्तेशश्च सूक्ष्मश्च तृतीयश्च शिवोत्तमः। एकमूर्त्यैकरूपस्तु त्रिमूर्तिरपरस्तथा।।३३।।
श्रीकण्ठश्च शिखण्डी च अष्टौ विद्येश्वराः स्मृताः। शिखण्डिनोऽप्यनन्तान्तं मन्त्रान्तं मूर्तिरीरिता।।३४।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते सकलादिमन्त्रोद्धारवर्णनं नाम सप्तदशाधिकत्रिशततमोऽध्यायः।।३१७।।

हो तथा नीचे ऊहक (दीर्घ ऊकार) हो, तो 'क्ष्म्र्यूं–यह बीज उद्धृत होता है। इसकी 'समलंकृत' संज्ञा है। यह ऊपर और नीचे भी मात्रा से अलंकृत होने के कारण 'समलंकृत' कहा गया है। चन्द्रार्धाकार बिन्दु और नाद से युक्त ब्रह्मा एवं विष्णु के नामों से विभूषित क्रमशः उदधि (व) और नरसिंह (क्ष) को द्वादश मात्राओं से भेदित करना चाहिये। ऐसा करने पर पूर्ववत् ह्रस्वस्वरों से युक्त बीज ईशनादि ब्रह्मात्मक अंग होंगे तथा दीर्घस्वरों से युक्त बीजसहित मन्त्र हृदयादि अंगों में विन्यस्त किये जायेंगे।।२३-२५।।

अधुना दस बीजरूप प्रणव बताये जाते हैं–ओज को अनुस्वार से युक्त करके 'ओम्' इस प्रथम वर्ण का उद्धार करना चाहिये। अंशुमान् और अंशु का योग 'आं' यह नायकस्वरूप द्वितीय वर्ण है। अंशुमान् और ईश्वर–'ईं' – यह तृतीय वर्ण है, जो मुक्ति सम्प्रदान करने वाला है। अंशु (अनुस्वार) से आक्रान्त ऊहक अर्थात् 'ऊँ' यह चतुर्थ वर्ण है। सानुस्वार वरुण 'व्), प्राण (य्) और तेजस् (र)–अर्थात् 'व्य्रं' इसको पंचम बीजाक्षर बतलाया गया है। तत्पश्चात् सानुस्वार कृतान्त (मकार) अर्थात् 'मं' यह षष्ठ बीज है। सानुस्वार उदक और प्राण (व्यं) सप्तम बीज के रूप में उद्धृत हुआ है। इन्दुयुक्त पद्म–'पं' आठवाँ तथा एकपादयुक्त नन्दीश 'नें' नवाँ बीज है। अन्त में प्रथम बीज 'ओम्' का ही उल्लेख किया जाता है। इस तरह जो दशबीजात्मक मन्त्र है, इसको 'क्षपण' कहा गया है। इसका पहला, तीसरा, पाँचवाँ, सातवाँ तथा नवाँ बीज क्रमशः ईशान, तत्पुरुष, अघोर, वामदेव और सद्योजातस्वरूप है। द्वितीय आदि बीज हृदयादि अंगन्यास में उपरोक्त होते हैं। दसों प्रणवात्मक बीजों के एक साथ उच्चारणपूर्वक '**अस्त्राय फट्**' बोलकर अस्त्रन्यास करना चाहिये। ईशानादि मूर्तियों के अन्त में 'नमः' जोड़कर ही बोलना चाहिये, अन्यथा नहीं। द्वितीय बीज से लेकर नवम बीज तक के जो आठ बीज हैं, वे आठ विद्येश्वररूप हैं। उनके नाम ये हैं–अनन्तेश, सूक्ष्म, शिवोत्तम, एकमूर्ति, एकरूप, त्रिमूर्ति, श्रीकण्ठ तथा शिखण्डी से लेकर अनन्तेशपर्यन्त विलोम क्रम से बीजमन्त्रों का सम्बन्ध जोड़ना चाहिये। यही प्रासाद–मन्त्र का 'क्षय' नामक भेद है। इस तरह यहाँ मूर्ति–विद्या बतलायी गयी है।।२६-३४।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी तीन सौ सत्रहवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।३१७।।

अथाष्टादशाधिकत्रिशततमोऽध्यायः

गणपूजा

ईश्वर रुवाच

विश्वरूपं समुद्धृत्य तेजस्युपरि संस्थितम्। नरसिंहं ततोऽधस्तात्कृतान्तस्तदधो न्यसेत्।।१।।
प्रणवं तदधः कृत्वा ऊरुकं तदधः पुनः। अंशुमान्विश्वमूर्तिस्थं कण्ठोष्ठे प्रणवादिकः।।२।।
नमोन्तः स्याच्चतुर्वर्णो विश्वरूपं च कारणम्। सूर्यमात्राहतं ब्रह्मण्यङ्गानीह तु पूर्ववत्।।३।।
उद्धरेत्प्रणवं पूर्वं प्रस्फुरद्द्वयमुच्चरेत्। घोरघोरतरं पश्चादनुरूपमतः स्मरेत्।।४।।
चटशब्दं द्विधा कृत्वा ततः प्रणवमुच्चरेत्। दहेति च द्विधा कार्यं धमेति च द्विधा मतम्।।५।।
घातमेति द्विधा कृत्वा हूंफडन्तं समुच्चरेत्। अघोरास्त्रं तु नेत्रं स्याद्गायत्री चोच्यतेऽधुना।।६।।
तन्महेशाय विद्महे महादेवाय धीमहि। तन्नः शिवः प्रचोदयाद्गायत्री सर्वसाधनी।।७।।

अध्याय–३१८

गणेश पूजन विचार

भगवान् शिव ने कहा कि–हे स्कन्द! जिसके ऊपर तेज (र्) हो, ऐसे विश्वरूप 'ह्) को उद्धृत करके फिर नरसिंह (क्ष्) के नीचे कृतान्त (म्) रखे। उसके अन्त में 'प्रणव' लगा देना चाहिये। ऐसा कर 'र्ह्क्ष्मों' बना। इसके बाद ऊहक (ऊ), अंशुमान् (ं) तथा विश्व (ह) को संयुक्त करना चाहिये। इससे 'हूं' बनेगा। ये दोनों क्रमशः अन्तःस्थ और कण्ठोष्ठ कहे गये हैं। (र्) अन्तस्थः वर्ण आदि में होने से उस पूरे मन्त्र की 'अन्तस्थः' संज्ञा हुई है। दूसरे मन्त्र में ह, कण्ठ स्थानीय है और ऊकार ओष्ठस्थानीय, इसलिये उसको 'कण्ठोष्ठ' नाम दिया गया है। इनके अन्त में 'नमः' जोड़ देने से ये दोनों मन्त्र चार अक्षर वाले हो जाते हैं। यथा–'**ॐ र्ह्क्ष्मों नमः। ॐ हूं नमः।**' विश्वरूप (हकार) कारण माना गया है। उसको द्वादश मात्राओं से गुणित करना चाहिये। इस द्वादश में से पाँच ह्रस्व-बीजों द्वारा पूर्ववत् 'ईशान' आदि पाँच ब्रह्ममूर्तियों की पूजा करनी चाहिये और दीर्घात्मक छः बीजों द्वारा पहले की ही भाँति यहाँ अंगन्यास का कार्य सम्पन्न करना चाहिये।।१-३।।

अधुना अघोरास्त्र मन्त्र का उद्धार करते हैं–'ह्रीं' लिखकर दो बार 'स्फुर-स्फुर' लिखे। इसके बाद इन दोनों के आदि में 'प्र' जोड़कर पुनरुल्लेख करना चाहिये–'प्रस्फुर प्रस्फुर'। तत्पश्चात् 'कह', 'वम' और 'बन्ध'–इन तीनों पदों को दो-दो बार लिखे। फिर दो बार 'घातय' लिखकर अन्त में 'हुं फट्' का उच्चारण करना चाहिये। सब जोड़ने पर ऐसा बनता है–'**ह्रीं स्फुर स्फुर प्रस्फुर प्रस्फुर घोर घोरतरतनुरूप चट चट प्रचट प्रचट कह कह वम वम बन्ध वन्ध घातय घातय हुं फट्।**'–इक्यावन अक्षरों का मन्त्र है। इस तरह 'अघोरास्त्र-मन्त्र' होता है। इसके विनियोग और न्यास आदि की विधि 'श्रीविद्यार्णव-तन्त्र' के ३०वें श्वास में द्रष्टव्य है। अधुना 'शिव-गायत्री' बतलायी जाती है। '**महेशाय विद्महे। महादेवाय धीमहि। तन्नः शिवः प्रचोदयात्।**'–यह 'शिव-गायत्री' ही पूर्वाध्याय में कथित प्रासाद-मन्त्र का आठवाँ भेद 'शिव-रूप' है। सम्पूर्ण अभीष्ट वस्तुओं को सिद्ध करने वाली है।।४-७।।

यात्रायां विजयादौ च यजेत्पूर्वं गणं श्रिये। तुर्यास्त्रे तु पुरा क्षेत्रे समन्तादर्कभाजिते॥८॥
चतुष्पदं त्रिकोणे तु त्रिदलं कमलं लिखेत्। तत्पृष्ठे पदिकावीथिभागि त्रिदलमश्वयुक्॥९॥
वसुदेवसुतैः साब्जैस्त्रिदलैः पादपट्टिका। तदूर्ध्वे वेदिका देया भागमात्रप्रमाणतः॥१०॥
द्वारं पद्ममितं काष्ठादुपद्वारं विवर्णितम्। द्वारोपद्वाररचितं मण्डलं विघ्नसूदनम्॥११॥
आरक्तं कमलं मध्ये बाह्यपद्मानि तद्बहिः। सिता तु वीथिका कार्या द्वाराणि तु यथेच्छया॥१२॥
कर्णिका पीतवर्णा स्यात्केशराणि तथा पुनः। मण्डलं विघ्नमर्दाख्यं मध्ये गणपतिं यजेत्॥१३॥
नामाद्यं सवराकं स्याद्देवाच्छक्रसमन्वितम्। शिरोहतं तत्पुरुषेण उमाद्यं च नमोन्तकम्॥१४॥
गजाख्यं गजशीर्षं च गाङ्गेयं गणनायकम्। त्रिरावर्तं गगनगं गोपतिं पूर्वपङ्क्तिगम्॥१५॥
विचित्रांशं महाकायं लम्बोष्ठं लम्बकर्णकम्। लम्बोदरे महाभागं विकृतं पार्वतीप्रियम्॥१६॥
भयावहं च भद्रं च भगणं भयसूदनम्। द्वादशैते दशपङ्क्तौ देवत्रासं च पश्चिमे॥१७॥
महानादं भासुरं च विघ्नराजं गणाधिपम्। उद्भटस्वनशुण्डौ च महाशुण्डं च भीमकम्॥१८॥
मन्मथं मधुसूदं च सुन्दरं भावमुष्टकम्। सौम्ये ब्रह्मेश्वरं ब्राह्मं मनोवृत्तिं च संलयम्॥१९॥

यात्रा में तथा विजय आदि के कार्य में पहले गण की पूजा करनी चाहिये; इससे 'श्री' की प्राप्ति होती है। पहले चतुरस्र क्षेत्र को सभी तरफ से द्वादश-द्वादश कोष्ठों में विभाजित करना चाहिये। ऐसा करने से एक सौ चौवालीस पदों का चतुष्कोण क्षेत्र बनेगा। मध्यवर्ती चार पदों में त्रिकोण की रचना करके उसके मध्य में तीन दलों से युक्त कमल लिखे। उसके पृष्ठभाग में पदिका और वीथी के भाग में तीन दल वाला अश्वयुक्त कमल बनाये। उसके बाद वसुदेव-पुत्रों (वासुदेव, संकर्षण और गद) से, जो तीन दलवाले कमलों से सुशोभित हैं, पादपट्टिका का निर्माण करना चाहिये। उसके ऊपर भागमात्र के प्रमाण से एक वेदी की रचना करना चाहिये। पूर्वादि दिशाओं में द्वार तथा कोणभागों में उपद्वार की रचना करना चाहिये। इस तरह द्वारों तथा उपद्वारों से रचित मण्डल विघ्ननाशक है। मध्य में जो कमल है, वह आरक्त वर्ण का हो। उसके बाहर के कमल भी वैसे ही हों। वीथी श्वेतवर्ण की होनी चाहिये। द्वारों का रंग अपने इच्छानुसार रख सकते हैं। कर्णिका पीले रंग से रँगी जायगी तथा केसर भी पीले होंगे। यह 'विघ्नमर्द' नामक मण्डल है। इसके मध्यभाग में गणपति का पूजन करना चाहिये। नाम का आदि अक्षर अनुस्वार सहित बोलकर आदि में 'ॐ' और अन्त में 'नमः' जोड़ देना चाहिये। यथा—ॐ गं गणपतये नमः।' ह्रस्वान्त बीजों से युक्त ईशान-तत्पुरुषादि मन्त्रों से ब्रह्ममूर्तियों का पूजन तथा दीर्घान्त बीजों से हृदय, सिर आदि अंगों में न्यास करना चाहिये। उपरोक्त मण्डल की पूर्वदिशागत पंक्ति में गज, गजशीर्ष (गजानन), गांगेय, गणनायक, गगनग तथा गोपति—इन नामों का उल्लेख करना चाहिये। इनमें से अन्तिम दो नामों की तीन आवृत्तियाँ होंगी। इस तरह ये दस नाम दस कोष्ठों में लिखे जायँगे और किनारे के एक-एक कोष्ठ खाली रहेंगे, जो दक्षिण-उत्तर की नामावली से भरेंगे॥८-१५॥

विचित्रांश, महाकाय, लम्बोष्ठ, लम्बकर्ण, लम्बोदर, महाभाग, विकृत (विकट), पार्वती-प्रिय, भयावह, भद्र, भगण और भयसूदन—ये द्वादश नाम दक्षिण दिशा की पंक्ति में लिखे। पश्चिम में देवत्रास, महानाद, भासुर, विघ्नराज, गणाधिप, उद्भटस्वन, उद्भटशुण्ड, महाशुण्ड, भीम, मन्मथ, मधुसूदन तथा सुन्दर और भावपुष्ट—ये नाम लिखे। फिर

लयं नृत्यप्रियं लौल्यं विकर्णं वत्सलं तथा। कृतान्तं कालदण्डं च यजेत्कुम्भं च पूर्ववत्॥२०॥
अयुतं च जपेन्मन्त्रं होमयेत्तु दशांशतः। शेषाणां तु दशाहुत्या जपाद्धोमं तु कारयेत्॥२१॥
पूर्णां दत्त्वाऽभिषेकं तु कुर्यात्सर्वं तु सिध्यति। भूगोश्वगजवस्त्राद्यैर्गुरुपूजां चरेन्नरः॥२२॥

॥इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते गणपूजादिविधानकथनं नामाष्टादशाधिकत्रिशततमोऽध्यायः॥३१८॥
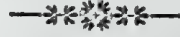
अथैकोनविंशत्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः

वागीश्वरीपूजा

ईश्वर उवाच

वागीश्वरीपूजनं च प्रवदामि समण्डलम्। ईश्वरं कालसंयुक्तं मनुं वर्णसमायुतम्॥१॥
निषाद ईश्वरं कार्यं मनुना चन्द्रसूर्यवत्। अक्षरं न हि देयं स्याद्ध्यायेत्कुन्देन्दुसंनिभाम्॥२॥
पञ्चाशद्वर्णमाला तु मुक्तास्त्रग्दामभूषिताम्। वरदाभयाक्षसूत्रपुस्तकाढ्यां त्रिलोचनाम्॥३॥

उत्तर दिशा में ब्रह्मेश्वर, ब्राह्म-मनोवृत्ति, संलय, लय, नृत्यप्रिय, लोल, विकर्ण, वत्सल, कृतान्त, कालदण्ड तथा कुम्भ का पूर्ववत् उल्लेख करके इन सभी का यजन करना चाहिये॥१६-२०॥

उपरोक्त मन्त्र का दस हजार जप और उसके दशांश से हवन करना चाहिये। शेष नाम-मन्त्रों का दस-दस बार जप करके उनके लिये एक-एक बार आहुति देनी चाहिये। तत्पश्चात् पूर्णाहुति देकर अभिषेक करना चाहिये। इससे सम्पूर्ण मनेप्सित सिद्ध होता है। साधक भूमि, गौ, अश्व, हाथी तथा वस्त्र आदि देकर गुरुदेव की पूजा करनी चाहिये॥२१-२२॥

॥इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी तीन सौ अठारहवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ॥३१८॥

अध्याय-३१९

वागीश्वरी पूजा विचार

भगवान् शिव ने कहा कि–हे स्कन्द! अधुना मैं मण्डल सहित 'वागीश्वरी-पूजन' की विधि बतलाने जा रहा हूँ। ऊहक (ऊ) को काल (घ) से संयुक्त करके उसका चन्द्रमा (अनुस्वार) से योग करें तो वह एकाक्षर मन्त्र बनेगा (घूं)। निषाद पर ईश्वर (ई) का योग करके उसको बिन्दु-विसर्ग से समन्वित करना चाहिये। इस एकाक्षर मन्त्र का उपदेश सभी को नहीं देना चाहिये। वागीश्वरीदेवी का ध्यान इस तरह करना चाहिये–'देवी की अंगकान्ति कुन्दकुसुम तथा चन्द्रमा के समान उज्ज्वल है। वे पचास वर्णों का मालामय रूप धारण करती हैं। मुक्ताकी माला तथा श्वेतपुष्प के हारों से सुशोभित हैं। उनके चार हाथों में क्रमशः वरद, अभय, अक्षमाला तथा पुस्तक शोभा पाते हैं। वे तीन नेत्रों

लक्षं जपेन्मन्त्रकांस्तु कादान्तं वर्णमालिकाम्। अकारादिक्षकारान्तां विशन्तीं मालवत्स्मरेत्॥४॥
कुर्याद्गुरुश्च दीक्षार्थं मन्त्रग्राहे तु मण्डलम्। तुर्याग्रमिन्दुभक्तं तु भागाभ्यां कमलं हितम्॥५॥
वीथिका पदिका कार्या पद्मान्यष्टौ चतुष्पदे। वीथिका पट्टिका बाह्ये द्वाराणि द्विपदानि तु॥६॥
उपद्वाराणि तद्वच्च कोणबाह्यं द्विपट्टिकम्। सितानि नवपद्मानि कर्णिका कनकप्रभा॥७॥
केशराणि चिचित्राणि कोणान्रक्तेन पूरयेत्। व्योमरेखान्तरं कृष्णं द्वाराणीन्द्रेभमानतः॥८॥
मध्ये सरस्वतीं पद्मे वागीशी पूर्वपद्मके। हृल्लेखा चित्रवागीशी गायत्री विश्वरूपया॥९॥
शांकरी मतिर्धृतिश्च पूर्वाद्या ह्रीं स्वबीजकाः। ध्येया सरस्वतीवच्च कपिलान्येन होमकः॥१०॥
संस्कृतप्राकृतकविः काव्यशास्त्रादिविद्भवेत्॥११॥

॥इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते वागीश्वरीपूजाविधानकथनं नामैकोनविंशत्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः॥३१९॥
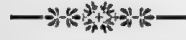
से युक्त हैं।' इस तरह ध्यान करके कथित एकाक्षर-मन्त्र का एक लाख जप करना चाहिये। देवी पैरों से लेकर मस्तकपर्यन्त अथवा कंधों तक ककार से लेकर क्षकार तक की वर्णमाला धारण करती हैं'-इस तरह उनके स्वरूप को स्मरण करना चाहिये॥१-४॥

गुरु दीक्षा देने या मन्त्रोपदेश करने के लिये एक मण्डल बनाये। वह सूर्याग्र हो और इन्दु से विभाजित हो। दो भागों में कमल बनाये। वह कमल साधक के लिये हितकर होता है। फिर वीथी और पाया बनाये। चार पदों में आठ कमल बनाये। उनके बाह्यभाग में वीथी और पदिका का निर्माण करना चाहिये। दो-दो पदों द्वारा प्रत्येक दिशा में द्वार बनाये। इसी तरह उपद्वारों का भी निर्माण करना चाहिये। कोणों में दो-दो पट्टिकाएँ निर्मित करना चाहिये। अधुना नौ कमल (वर्णाब्ज तथा दिशाओं से सम्बद्ध कमल) श्वेतवर्ण के रखे। कर्णिका पर सोने के रंग का चूर्ण गिराकर उसको पीली कर देना चाहिये। केसरों को अनेक रंगों से रंगकर कोणों को लाल रंग से भरे। व्योमरेखान्तर काला रखे द्वारों का मान इन्द्र के हाथी के मान के अनुसार रखे। मध्यकमल में सरस्वती को, पूर्वगत कमल में वागीशी को, फिर अग्नि आदि कोणों के क्रम से हृल्लेखा, चित्रवागीशी, गायत्री, विश्वरूपा, शांकरी, मति और धृति को स्थापित करके उन सभी का पूजन करना चाहिये। नाम के आदि में 'ह्रीं' तथा नाम के आदि अक्षर को बीज-रूपों में बोलकर पूजा करनी चाहिये। यथा-पूर्व में **'ह्रीं वां वागीश्यै नमः'** इत्यादि। सरस्वती ही वागीश्वरी के रूप में ध्येय हैं। जप पूरा करके कपिला साधक संस्कृत तथा प्राकृत भाषाओं में काव्य-रचना करने वाला कवि होता है और काव्यशास्त्र आदि का विद्वान् हो जाता है॥५-११॥

॥इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी तीन सौ उन्नीसवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ॥३१९॥

❖❖❖

अथ विंशत्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः

मण्डलानि

ईश्वर उवाच

सर्वतोभद्रकान्यष्ट मण्डलानि वदे गुह। शङ्कुना साधयेत्प्राचीमिष्टायां विषुवे सुधीः॥१॥
चित्रास्वात्यन्तरेणाथ दृष्टसूत्रेण वा पुनः। पूर्वापरायतं सूत्रमास्फाल्य मध्यतोऽङ्कयेत्॥२॥
कोटिद्वयं तु तन्मध्यादङ्कयेद्दक्षिणोत्तरम्। मत्स्यद्वयं प्रकर्तव्यं स्फालयेद्दक्षिणोत्तरम्॥३॥
शतक्षेत्रार्धमानेन कोणसंपातमादिशेत्। एवं सूत्रचतुष्कस्य स्फालनाच्चतुरस्रकम्॥४॥
जायते तत्र कर्तव्यं भद्रं वेदकरं शुभम्। वसुभक्तेन्दुद्विपदे क्षेत्रे वीथी च भागिका॥५॥
द्वारं द्विपदिकं पद्ममानाद्वै सकपोलकम्। कोणबन्धविचित्रं तु द्विपदं तत्र वर्तयेत्॥६॥
शुक्लं पद्मं कर्णिका तु पीता चित्रं तु केसरम्। रक्ता वीथी तत्र कल्प्या द्वारं लोकेशरूपकम्॥७॥
रक्तकोणं विधौ नित्ये नैमित्तिकेऽब्जकं शृणु। असंसक्तं तु संसक्तं द्विधाऽब्जं भुक्तिमुक्तिकृत्॥८॥
असंसक्तं मुमूक्षूणां संसक्तं तत्त्रिधा पृथक्। बालो युवा च वृद्धश्च नामतः फलसिद्धिदाः॥९॥

अध्याय-३२०

मण्डल विचार

भगवान् शिव कहते हैं-हे स्कन्द! अधुना मैं 'सर्वतोभद्र' नामक आठ तरह के मण्डलों का वर्णन करने जा रहा हूँ। पहले शंकु या कील से प्राचीदिशा का साधन करना चाहिये। इस प्राची का निश्चय हो जाने पर विद्वान् पुरुष विषुवकाल में चित्रा और स्वाती नक्षत्र के अन्तर से, अथवा प्रत्यक्ष सूत को लेकर पूर्व से पश्चिम तक उसको फैलाकर मध्य में दो कोटियों को अंकित करना चाहिये। उन दोनों के मध्यभाग से उत्तर-दक्षिण की लम्बी रेखा खींचे। दो मत्स्यों का निर्माण करना चाहिये तथा उनको दक्षिण से उत्तर की तरफ आस्फालित करना चाहिये। क्षतपद क्षेत्र के आधे मान से कोण सम्पात करना चाहिये। इस तरह चाहर बारसूत्र के क्षेत्र में आस्फालन से एक चतुरस्र रेख बनती है। उसमें चार हाथ का शुभ भद्रमण्डल बनाये। आठ पदों में सभी तरफ से विभाजित चौसठ पदवाले में से बीस पद वाले क्षेत्र में बाहर की तरफ एक वीथी का निर्माण करना चाहिये। यह वीथी एक मन्त्र की होगी। कमल से मान से दो पदों का द्वार बनाये। द्वार कपोलयुक्त होना चाहिये। कोणबन्ध के कारण उसकी विचित्र शोभा हो, ऐसा द्विपद का द्वार निर्माण में उपयोग करना चाहिये। कमल श्वेतवर्ण का हो, कर्णिका पीतवर्ण से रँगी जाय, केसर चित्रवर्ण का हो, अर्थात् उसके निर्माण में अनेक रंगों का उपयोग किया जाय। वीथी को लाल रंग से भरा जाय। द्वार लोकपाल-स्वरूप होता है। नित्य तथा नैमित्तिक विधि में कोणों का रंग लाल होना चाहिये। अधुना कमल का वर्णन सुनो। कमल के दो भेद हैं-'असंसक्त' तथा 'संसक्त'। 'असंसक्त' मोक्ष की तथा संसक्त भोग की प्राप्ति कराने वाला है। 'असंसक्त' कमल मुमुक्षुओं के लिये उपयुक्त है। संसक्त कमल के तीन भेद हैं-बाल, युवा तथा वृद्ध। वे अपने नाम के अनुसार फलसिद्धि सम्प्रदान करने वाले हैं।।१-९।।

पद्मक्षेत्रे तु सूत्राणि दिग्विदिक्षु विनिक्षिपेत्। वृत्तानि पञ्चकल्पानि पद्मक्षेत्रसमानि तु॥१०॥
प्रथमे कर्णिका तत्र पुष्करैर्नवभिर्युता। केसराणि चतुर्विंशद्वितीयेऽथ तृतीयके॥११॥
दलसंधिर्गजकुम्भनिभान्तर्यद्दलाग्रकम्। पञ्चमे व्योमरूपं तु संसक्तं कमलं स्मृतम्॥१२॥
असंसक्ते दलाग्रे तु दिग्भागैर्विस्तराद्भजेत्। भागद्वयपरित्यागाद्वस्त्वंशैर्वर्तयेद्दलम्॥१३॥
संधिविस्तारसूत्रेण तन्मानान्नाञ्जयेद्दलम्। सव्यासव्यक्रमेणैव वर्धयेत्तद्भवेत्तथा॥१४॥
अथ वा संधिमध्यात्तु भ्रामयेदर्धचन्द्रवत्। संधिद्वयाग्रसूत्रं वा बालपद्मं तदा भवेत्॥१५॥
संधिसूत्रार्धमानेन पृष्ठतः परिवर्तयेत्। तीक्ष्णाग्रं तन्तुवातेन कमलं भुक्तिमुक्तिदम्॥१६॥
मुक्तौ वृद्धं च वश्यादौ बालं पद्मं समानकम्। नवनाभं नवहस्तं भागैर्मन्त्रात्मकैश्च तत्॥१७॥
मध्येऽब्जं पट्टिकावीथीद्वारेणाब्जस्य मानतः। कण्ठोपकण्ठमुक्तानि तद्बाह्ये वीथिका मता॥१८॥
पञ्चभागान्विता सा तु समन्ताद्दशभागिका। दिग्विदिक्ष्वष्ट पद्मानि द्वारपद्मं सवीथिकम्॥१९॥
तद्बाह्ये पञ्चपदिका वीथिका यत्र भूषिता। पद्मवद्द्वारकण्ठस्तु पदिकं चाष्टकण्ठकम्॥२०॥
कपोलं पदिकं कार्यं विक्षुद्वारत्रयं स्फुटम्। कोणबन्धं त्रिपट्टं तु द्विपदं वज्रवद्भवेत्॥२१॥
मध्यं तु कमलं शुक्लं पीतं रक्तं च नीलकम्। पीतं शुक्लं च धूम्रं च रक्तं पीतं च मुक्तिदम्॥२२॥

कमल के क्षेत्र में दिशा तथा कोणदिशा की तरफ सूत-चालन करना चाहिये तथा कमल के समान पाँच वृत्त निर्माण करना चाहिये। प्रथम वृत्त में नौ पुष्करों से युक्त कर्णिका होगी, दूसरे में चौबीस केसर रहेंगे, तीसरे में दलों की संधि होगी, जिसकी आकृति हाथी के कुम्भस्थल के सदृश होगी, चौथे वृत्त में दलों के अग्रभाग होंगे तथा पाँचवें वृत्त में आकाशमात्र 'शून्य' रहेगा। इसको 'संसक्त कमल' कहा गया है। असंसक्त कमल' में दलाग्रभाग पर जो दिशाओं के भाग हैं, उनके विस्तार के अनुसार दो भाग छोड़कर आठ भागों से दल बनाये। संधिविस्तार सूत्र से उसके मान के अनुसार दल की रचना करना चाहिये। इसमें बायें से दक्षिण के क्रम से प्रवृत्त होना चाहिये। इस तरह यह 'वृद्ध संसक्त कमल' बनता है॥१०-१४॥

अथवा संधि के मध्य से सूत को अर्धचन्द्रकार घुमाये या दो संधियों के अग्रवर्ती सूत को (अर्धचन्द्राकार) घुमाये। ऐसा करने से 'बालपद्म' बनता है। संधिसूत्र के अग्रभाग से पृष्ठभाग से पृष्ठ भाग की तरफ सूत घूमाये। वह तीक्ष्ण अग्रभाग वाला 'युवा' संज्ञक है। ऐस कमल से भोग और मोक्ष की उपलब्धि होती है। हे सम (छः) मुख वाले स्कन्द! मुक्ति के उद्देश्य से किये जाने वाले आराधनात्मक कर्म में 'वृद्ध कमल' का उपयोग करना चाहिये तथा वशीकरण आदि में 'बालपद्म' का। 'नवनाभ' कमलचक्र नौ हाथों का होता है। उसमें मन्त्रात्मक नौ भाग होते हैं। उसके मध्यभाग में कमल होता है। उस कमल के ही मान के अनुसार उसमें पट्टिका, वीथी और द्वार के साथ कण्ठ एवं उपकण्ठ के निर्माण की बात कही गयी है। उसके बाह्यभाग में वीथी की स्थिति मानी गयी है। पाँच भाग में तो वीथी होती है और अपने चारों तरफ स दस भाग का स्थान लिये रहती है। उसक आठ दिशाओं में आठ कमल होते हैं। तथा वीथीसहित एक द्वार पद्म भी होता है। उसके बाह्यभाग में पाँच पदों की वीथी होती है, जो लता आदि से विभूषित हुआ करती है। द्वार के कण्ठ में कमल होता है। द्वार का ओष्ठ और कण्ठ भाग एक-एक पद का द्वार का ओष्ठ और कण्ठ भाग एक-एक पद का होता है। कपोल-भाग एक पद का बनाना चाहिये। तीन दिशाओं में तीन द्वार स्पष्ट होते हैं। कोण बन्ध तीन पट्टियों, दो पद तथा वज्र-चिह्न से युक्त होता है। मध्यकमल शुक्लवर्ण का होता है तथा शेष

पूर्वादौ कमलान्यष्ट शिवविष्ण्वादिकं यजेत्। प्रासादमध्यतोऽभ्यर्च्य शक्रादीनब्जकादिषु॥२३॥
अस्त्राणि बाह्यवीथ्यां तु विष्ण्वादीनश्वमेधभाक्। पवित्रारोहणादौ च महामण्डलमालिखेत्॥२४॥
अष्टहस्तं पुरा क्षेत्रं रसपक्षैर्विवर्तयेत्। द्विपदं कमलं मध्ये वीथिका पदिका ततः॥२५॥
दिग्विदिक्षु ततोऽष्टौ च नीलाब्जानि विवर्तयेत्। मध्यपद्मप्रमाणेन विंशत्पद्मानि तानि तु॥२६॥
दलसंधिविहीनानि नीलेन्दीवरकाणि च। तत्पृष्ठे पदिका वीथी (स्वस्तिकानि तदूर्ध्वतः॥२७॥
द्विपदानि तथा चाष्टौ कृतभागकृतानि तु। वर्तयेत्स्वस्तिकांस्तत्र वीथिका पूर्ववद्बहिः॥२८॥
द्वाराणि कमलं यद्वदुपकण्ठयुतानि तु। रक्तं कोणं पीतवीथी) नीलं पद्मं च मण्डले॥२९॥
स्वस्तिकादि विचित्रं च सर्वकामप्रदं गुह। पञ्चाब्जं पञ्चहस्तं स्यात्समन्ताद्दशभाजितम्॥३०॥
द्विपदं कमलं वीथी पट्टिका दिक्षु पङ्कजम्। चतुष्कं पृष्ठतो वीथी पदिका द्विपदाऽन्यथा॥३१॥
कण्ठोपकण्ठयुक्तानि द्वाराण्यब्जं तु मध्यतः। पञ्चाब्जमण्डले ह्यस्मिन्सितं पीतं च पूर्ववत्॥३२॥
वैडूर्याभं दक्षिणाब्जं कुन्दाभं वारुणं कजम्। उत्तराब्जं तु शङ्खाभमन्यत्सर्वं विचित्रकम्॥३३॥

दिशाओं के कमल पूर्वादिक्रम से पीत, रक्त, नील, पीत, शुक्ल, धूम्र, रक्त तथा पीतवर्ण होते हैं। यह कमलचक्र मुक्तिसम्प्रदायक है॥१५-२२॥

पूर्व आदि दिशाओं में आठ कमलों का तथा शिव-विष्णु आदि देवताओं का यजन करना चाहिये। विष्णु आदि का पूजन प्रासाद के मध्यवर्ती कमल में करके पूर्वादि कमलों में इन्द्र आदि लोकपालों की पूजा करनी चाहिये। इनकी बाह्यवीथी की पूर्वादि दिशा में उन-उन इन्द्र आदि देवताओं के वज्र आदि आयुधों की पूजा करनी चाहिये। वहाँ विष्णु आदि की पूजा करके साधक अश्वमेधयज्ञ के फल का भागी होता है। पवित्रारोपण आदि में महान् मण्डल की रचना करना चाहिये। आठ हाथ लम्बे क्षेत्र का छब्बीस से विवर्तन (विभक्तीकरण) करना चाहिये। मध्यवर्ती दो पदों में कमल-निर्माण करना चाहिये। उसके बाद एक पद की वीथी हो। तत्पश्चात् दिशाओं तथा विदिशाओं में आठ नीलकमलों का निर्माण करना चाहिये। मध्यवर्ती कमल के ही मान से उसमें कुल तीस पद्म निर्मित किये जायँ। वे सब दलसंधि से रिहत हों तथा नीलवर्ण के 'इन्दीवर' संज्ञक कमल हों। उसके पृष्ठभाग में एक पदक वीथी हों उसके ऊपर स्वस्तिक चिह्न बने हों। तात्पर्य यह कि वीथी के ऊपरी भाग या बाहर के भाग में दो-दो पदों के विभाजित स्थानों में कुल आठ स्वस्तिक लिखे जायँ। उसके बाद पूर्ववत् बाह्यभाग में वीथिका रहना चाहिये। द्वार, कमल तथा उपकण्ठ सब कुछ रहने चाहिये। कोण का रंग लाल और वीथी का पीला होना चाहिये। मण्डल के मध्य का कमल नीलवर्ण का होगा। हे कार्तिकेय! विचित्र रंगों से युक्त स्वस्तिक आदि मण्डल सम्पूर्ण कामनाओं को देने वाला है॥२३-२९॥

'पञ्चाब्ज-मण्डल' पाँच हाथ के क्षेत्र को सभी तरफ से दस से विभाजित करके बनाया जाता है। इसमें दो पदों का कमल, उसके बाहर के भाग में वीथी, फिर पट्टिका, फिर चार दिशाओं में चार कमल होते हैं। इन चारों के बाद पृष्ठ भाग में वीथी हो, जो एक पद अथवा दो उपकण्ठ से युक्त हों और द्वार के मध्य भाग में कमल हो। इस पञ्चाब्ज मण्डल में पूर्ववर्ती कमल श्वेत और पीतवर्ण का होता है। दक्षिण दिग्वर्ती कमल वैदूर्यमणि के रंग का, पश्चिमवर्ती कमल कुन्द के समान श्वेतवर्ण का तथा उत्तर दिशा का कमल शङ्ख के सदृश उज्ज्वल होता है। शेष सब विचित्र वर्ण के होते हैं॥३०-३३॥

सर्वकामप्रदं वक्ष्ये दहस्तं तु मण्डलम्। विकारभक्तं तुर्यास्त्रं द्वारं तु द्विपदं भवेत्॥३४॥
मध्ये पद्मं पूर्ववच्च विघ्नध्वंसं वदाम्यथ। चतुर्हस्तं पुरं कृत्वा वृत्तं चैव करद्वयम्॥३५॥
वीथिका हस्तमात्रा तु स्वस्तिकैर्बहुभिर्वृता। हस्तमात्राणि द्वाराणि दिक्षु वृत्तं सपद्मकम्॥३६॥
पद्मानि पञ्च शुक्लानि मध्ये पूज्यश्च निष्कलः। हृदयादीनि पूर्वादौ विदिक्ष्वस्त्राणि वै यजेत्॥३७॥
प्राग्वच्च पञ्च पद्मानि बुद्ध्याधारमतो वदे। शतभागे तिथिभागे पद्मं लिंगाष्टकं दिशि॥३८॥
मेखलाभागसंयुक्तं कण्ठं द्विपदिकं भवेत्। आचार्यो बुद्धिमाश्रित्य कल्पयेच्च लतादिकम्॥३९॥
चतुःषट् पञ्चमाष्टादि खाछिखाग्न्यादि मण्डलम्। खाक्षीन्दुसूर्यगं सर्वं खाछिवैवेन्दुवर्णनात्॥४०॥
चत्वारिंशदधिकानि चतुर्दशशतानि हि। मण्डलानि हरेः शंभोर्देव्याः सूर्यस्य सन्ति च॥४१॥
दश सप्त विभक्ते तु लतालिङ्गोद्भवं शृणु। दिक्षु पञ्च त्रयं चैकं त्रयं पञ्च च लोपयेत्॥४२॥
ऊर्ध्वगे द्विपदे लिङ्गं मन्दिरं पार्श्वकोष्ठयोः। मध्ये न द्विपदं पद्ममथ चैकं च पङ्कजम्॥४३॥
लिङ्गस्य पार्श्वयोर्भद्रे पदद्वारमलोपनात्। तत्पार्श्वशोभाः षड्लोप्य लताः शेषास्तथा हरेः॥४४॥
ऊर्ध्वं द्विपदिकं लोप्य हरेर्भद्राष्टकं स्मृतम्। रश्मिमालासमायुक्तं वेदलोपाच्च शोभिकम्॥४५॥
पञ्चविंशतिकं पद्मं ततः पीठमपीठकम्। द्वयं द्वयं रक्षयित्वा उपशोभास्तथाऽष्ट च॥४६॥

अधुना मैं दस हाथ के मण्डल का वर्णन करने जा रहा हूँ, जो सम्पूर्ण कामनाओं को देने वाला है। उसको विकार-संख्या (२४) द्वारा सभी तरफ विभाजित करके चतुरस्र क्षेत्र बना ले। इसमें दो-दो पदों का द्वार होगा। उपरोक्त चक्रों की भाँति इसके भी मध्यभाग में कमल होगा। अधुना मैं 'विघ्नध्वंसचक्र' का वर्णन करने जा रहा हूँ। चार हाथ का पुर (चतुरस्र क्षेत्र) बनाकर उसके मध्यभाग में दो हाथ की वीथी होगी, जो सभी तरफ से स्वस्तिक चिह्नों द्वारा घिरी रहेगी। एक-एक हाथ में चारों तरफ द्वार बनेंगे। चारों दिशाओं में वृत्त होंगे, जिनमें कमल अंकित रहेंगे। इस तरह इस चक्र में पाँच कमल होंगे, जिनका वर्ण श्वेत होगा। मध्यवर्ती कमल में निष्कल (निराकार परमात्मा) का पूजन करना चाहिये। पूर्वादि दिशाओं में हृदय आदि अंगों की तथा विदिशाओं में अस्त्रों की पूजा होनी चाहिये। पूर्ववत् 'सद्योजात' आदि पाँच ब्रह्ममय मुखों का भी पूजन आवश्यक है।।३४-३७।।

अधुना मैं 'बुद्ध्याधार-चक्र' का वर्णन करने जा रहा हूँ। सौ पदों के क्षेत्र में से मध्यवर्ती पन्द्रह पदों में एक कमल अंकित करना चाहिये। फिर आठ दिशाओं में एक-एक करके आठ शिवलिंगों की रचना करना चाहिये। मेखलाभाग सहित कण्ठ की रचना दो पदों में होगी। आचार्य अपनी बुद्धि का सहारा लेकर यथा स्थान लता आदि की कल्पना करे। चार, छः, पाँच और आठ आदि कमलों से युक्त मण्डल होता है। बीस-तीस आदि कमलों वाला भी मण्डल होता है। १२१२० कमलों से युक्त भी सम्पूर्ण मण्डल हुआ करता है। १२० कमलों के मण्डल का भी वर्णन दृष्टिगोचर होता है। श्रीहरि, शिव, देवी तथा सूर्यदेव के १४४० मण्डल हैं। १७ पदों द्वारा सत्रह पदों का विभाग करने पर २८९ पद होते हैं। कथित पदों के मण्डल में लतालिंग का उद्भव कैसे होता है, यह सुनो। प्रत्येक दिशा में पाँच, तीन, एक, तीन और पाँच पदों को मिटा देना चाहिये। ऊपर के दो पदों से लिङ्ग तथा पार्श्ववर्ती दो-दो कोष्ठकों से मन्दिर बनेगा। मध्यवर्ती दो पदों का कमल हो। फिर एक कमल और होगा। लिंग के पार्श्व भागों में दो 'भद्र' बनेंगे। एक पद का द्वार होगा; उसका लोप नहीं किया जायगा। उस द्वार के पार्श्वभाग में छः-छः पदों का लोप करने से

देव्यादिरव्यापकं भद्रं बृहन्मध्ये परं लघु। मध्ये नवपदं पद्मं कोणे भद्रचतुष्टयम्।।४७।।
त्रयोदशपदं शेषं बुद्ध्याधारस्तु मण्डलम्। शतपत्रं षष्ट्यधिकं बुद्ध्याधारं हरादिषु।।४८।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते मण्डलविधानकथनं नाम विंशत्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः।।३२०।।

अथैकविंशत्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः

अघोरास्त्रादिशान्तिकल्पः

ईश्वर उवाच

अस्त्रयागः पुरा कार्यः सर्वकर्मसु सिद्धिदः। मध्ये पूज्यं शिवाद्यस्त्रं वज्रादीन्पूर्वतः क्रमात्।।१।।
पञ्चवक्त्रं दशकरं रणादौ पूजितं जये। (ग्रहपूजा रविर्मध्ये पूर्वाद्याः सोमकादयः।।२।।
सर्व एकादशस्थास्तु ग्रहाः स्युर्ग्रहपूजनात्। अस्त्रशान्तिं प्रवक्ष्यामि सर्वोत्पातविनाशिनीम्)।।३।।

द्वारशोभा बनेगी। शेष पदों में श्रीहरि विष्णु के लिये लहलहाती लताएँ होंगी। ऊपर के दो पदों का लोप करने से श्रीहरि विष्णु के लिये 'भद्राष्टक' बनेंगे। फिर चार पदों का लोप करने से रश्मिमालाओं से युक्त शोभास्थान बनेगा। पंचीस पदों से कमल, फिर पीठ, अपीठ तथा दो-दो पदों को रखकर (एकत्र करके) आठ उपशोभाएँ बनेंगी। देवी आदि का सूचक 'भद्रमण्डल' मध्य में विस्तृत और प्रान्तभाग में लघु होता है। मध्य में नौ पदों का कमल बनता है तथा चारों कोणों में चार 'भद्रमण्डल' बनते हैं। इसमें एक सौ साठ पद होते हैं। 'बुद्ध्याधार-मण्डल' भगवान् शिव आदि की आराधना के लिये प्रशस्त है।।३८-४८।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी तीन सौ बीसवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।३२०।।

अध्याय-३२१

अघोरास्त्र आदि शान्ति-विधान का कथन

भगवान् शंकर ने कहा कि-हे स्कन्द! समस्त कर्मों में 'अस्त्रयाग' करना चाहिये। यह सिद्धि सम्प्रदान करने वाला है। मध्यभाग में शिव, विष्णु आदि के अस्त्र की पूजा करनी चाहिये तथा पूर्वादि दिशाओं में क्रमशः इन्द्रादि दिक्पालों के वज्र आदि अस्त्रों का पूजन करना चाहिये। देवाधिदेव भगवान् श्रीशिवशंकर के पाँच मुख तथा दस हाथ हैं। उनके इस स्वरूप का ध्यान करते हुए युद्ध में पूर्व पूजा कर ली जाय तो विजय की प्राप्ति हो जाती है। ग्रहपूजा करते समय नवग्रहचक्र के मध्य में सूर्य देव की तथा पूर्वादि दिशाओं में सोम आदि की अर्चना करनी चाहिये। ग्रहों की पूजा करने से सभी ग्रह एकादश (ग्यारहवें) स्थान में स्थित होते हैं और उस स्थान में स्थित की भाँति श्रेष्ठतम फल देते हैं।।१-२।।

अधुना मैं समस्त उत्पातों का विनाश करने वाली 'अस्त्रशान्ति' का वर्णन करने जा रहा हूँ। यह शान्ति

ग्रहरोगादिशमनी मारीशत्रुविमर्दनीम्। विनायकोपतापघ्नीमघोरास्त्रं जपेन्नरः॥४॥
लक्षं ग्रहादिनाशः स्यादुत्पातं तिलहोमतः। दिव्ये लक्षं तदर्धेन व्योमजोत्पातनाशनम्॥५॥
घृतेन लक्षपातेन उत्पाते भूमिजे हितम्। घृतगुग्गुलहोमे च सर्वोत्पातादिमर्दनम्॥६॥
दूर्वाक्षताज्यहोमेन व्याधयोऽथ घृतेन च। सहस्रेण तु दुःस्वप्ना विनश्यन्ति न संशयः॥७॥
अयुताद्ग्रहदोषघ्ने यवाद्घृतविमिश्रितात्। विनायकार्तिशमनमयुतेन घृतस्य च॥८॥
भूतवेतालशान्तिस्तु गुग्गुलैरयुतेन च। महावृक्षस्य भङ्गे तु व्यालकङ्के गृहे स्थिते॥९॥
अरण्यानां प्रवेशे च दूर्वाज्याक्षतहावनात्। उल्कापाते भूमिकम्पे तिलाज्येनाऽऽहुताच्छिवम्॥१०॥
रक्तस्रावे तु वृक्षाणामयुताद्गुग्गुलोः शिवम्। अकाले फलपुष्पाणां राष्ट्रभङ्गे च मारणे॥११॥
द्विपदादेर्यदा मारी लक्षार्धाच्च तिलाज्यतः। हस्तिमारीप्रशान्त्यर्थं करिणीदन्तवर्धने॥१२॥
हस्तिन्यां मददृष्टौ च अयुताच्छान्तिरिष्यते। अकाले गर्भपाते तु जातं यत्र विनश्यति॥१३॥
विकृता यत्र जायन्ते यात्राकालेऽयुतं हुनेत्। तिलाज्यलक्षहोमस्तु उत्तमा (मः) सिद्धिसाधने॥१४॥

ग्रहरोग आदि को शान्त करने वाली तथा महामारी एवं शत्रु का मर्दन करने वाली है। विघ्नकारक गणों के द्वारा उत्पादित उत्पात को भी शान्त करती है। मनुष्य 'अघोरास्त्र' का जप करना चाहिये। एक लाख जप करने से ग्रहबाधा आदि का निवारण होता है और तिल से दशांश हवन कर दिया जाय तो उत्पातों का विनाश होता है। एक लाख जप-हवन से दिव्य उत्पात का तथा आधे लक्ष जप-हवन से आकाशज उत्पात का विनाश होता है। घी की एक लाख आहुति देने से भूमिज उत्पात के निवारण में सफलता प्राप्त होती है। घृत मिश्रित गुग्गुल के हवन से सम्पूर्ण उत्पात आदि का शमन हो जाता है। दूर्वा, अक्षत तथा घी की आहुति देने से सारे रोग दूर होते हैं। केवल घी की एक सहस्र आहुति से बुरु स्वप्न नष्ट हो जाते हैं, इसमें संदेह नहीं है वही आहुति यदि दस हजार की संख्या में दी जाय तो ग्रहदोष का शमन होता है। घृतमिश्रित जौ की दस हजार आहुतियों से विनायकजनित पीड़ा का निवारण होता है। दस हजार घी की आहुति से तथा गुग्गुलु की भी दस सहस्र आहुति से भूत-वेताल आदि की शान्ति होती है। यदि कोई बड़ा भारी वृक्ष आँधी आदि से स्वतः उखड़कर गिर जाय, गृह में सर्प का कङ्काल हो तथा वन में प्रवेश करना पड़े तो दूर्वा, घी और अक्षत के हवन से विघ्न की शान्ति होती है। उल्कापात या भुकम्प हो, तो तिल और घी से हवन करने से कल्याण होता है। वृक्षों से रक्त बहे, असमय में फल-फूल लगें, राष्ट्रभङ्ग हो, मारणकर्म हो, जिस समय मनुष्य-पशु आदि के लिये महामारी आ जाय तो तिलमिश्रित घी से अर्धलक्ष आहुति देनी चाहिये। इससे दोषों का शमन होता है। यदि हाथी के लिये महामारी उपस्थित हो, हथिनी के दाँत बढ़ जायें अथवा हथिनी के गण्डस्थल से मद फूटकर बहने लगे तो इस सब दोषों की शान्ति के लिये दस हजार आहुतियाँ देनी चाहिये। इससे अवश्य शान्ति होती है॥३-१२॥

जहाँ असमय में गर्भपात हो या जहाँ बालक जन्म लेते ही मर जाता हो तथा जिस गृह में विकृत अंग वाले शिशु उत्पन्न होते हों तथा जहाँ समय पूर्ण होने से पूर्व ही बालक का जन्म होता हो, वहाँ इन सब दोषों के शमन के लिय दस हजार आहुतियाँ देनी चाहिये। सिद्धि-साधन में तिल मिश्रित घी से एक लाख हवन किया जाय तो वह श्रेष्ठतम है, मध्यम सिद्धि के साधन में अर्धलक्ष और अधम सिद्धि के लिये पचीस हजार आहुति देनी चाहिये। जैसा

मध्यमायां तदर्धेन तत्पादादधमासु च। यथा जपस्तथा होमः संग्रामे विजयो भवेत्।।१५।।
अघोरास्त्रं जपेन्न्यस्य ध्यात्वा पञ्चास्यमूर्जितम्।।१६।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते अघोरास्त्रादिशान्तिविधानकथनं नामैकविंशत्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः।।३२१।।

अथ द्वाविंशत्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः

पाशुपतशान्तिः

ईश्वर उवाच

वक्ष्ये पाशुपतास्त्रेण शान्तिजापादि पूर्वतः। पादतः पूर्वनाशो हि फडन्तं चाऽऽपदादिनुत्।।१।।
ॐ नमो भगवते महापाशुपतायातुलबलवीर्यपराक्रमाय त्रिपञ्चनयनाय नानारूपाय नाना प्रहरणोद्यताय सर्वाङ्गरक्ताय भिन्नाञ्जनचयप्रख्याय श्मशानवेतालप्रियाय सर्वविघ्ननिकृन्तनरताय सर्वसिद्धिप्रदाय भक्तानुकम्पिनेऽसंख्यवक्त्रभुजपादाय तस्मिन्सिद्धाय वेतालवित्रासिने शाकिनीक्षोभजनकाय व्याधिनीग्रहकारिणे (पापभञ्जनाय सूर्यसोमाग्निनेत्राय विष्णुकवचाय खड्गवज्रहस्ताय यमदण्डवरुणपाशाय रुद्रशूलाय ज्वलज्जिह्वाय सर्वरोगविद्रावणाय ग्रहनिग्रहकारिणे) दुष्टनागक्षयकरिणे,

---

जप हो, उसके अनुसार ही हवन होना चाहिये। इससे संग्राम में विजय प्राप्त होती है। न्यासपूर्वक तेजस्वी पञ्चमुख का ध्यान करके 'अघोरास्त्र' का जप करना चाहिये।।१३-१६।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी तीन सौ इक्कीसवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।३२१।।

अध्याय-३२२

पाशुपतास्त्र शान्ति विचार

श्रीमहादेव जी ने कहा कि-हे स्कन्द! अधुना मैं पाशुपतास्त्र-मन्त्र से शान्ति तथा पूजा आदि की बात बतलाने जा रहा हूँ। शान्ति और जप आदि पूर्ववत् (पूर्व अध्याय में कहे अनुसार) कर्तव्य हैं। इस मन्त्र के आंशिक पाठ या जप से पूर्वकृत पुण्य का विनाश होता है; परन्तु फडन्त-सम्पूर्ण मन्त्र का जप आपत्ति आदि का निवारण करने वाला है।।१।।

ॐ नमो भगवते महापाशुपतायातुलबलवीर्यपराक्रमाय त्रिपञ्चनयनाय नानारूपाय नानाप्रहरणोद्यताप सर्वाङ्गरक्तायभिन्नाञ्जनचयप्रख्याय श्मशानवेतालप्रियाय सर्वविघ्ननिकृन्तनरताय सर्वसिद्धिप्रदाय भक्तानुकम्पिनेऽसंख्यवक्त्रभुजपादाय तस्मिन् सिद्धाय वेतालवित्रासिने शाकिनीक्षोभजनकाय व्याधिनिग्रहकारिणे पापभञ्जनाय सूर्यसोमाग्निनेत्राय विष्णुकवचाय खड्गवज्रस्ताय यमदण्डवरुणपाशाय रुद्रशूलाय ज्वलज्जिह्वाय सर्वरोगविद्रावणाय ग्रहनिग्रहकारिणे दुष्टनागक्षयकारिणे। ॐ कृष्णपिङ्गलाय फट्। हुंकारास्त्राय फट्। वज्रहस्ताय

ॐ कृष्णपिङ्गलाय फट्, क्रूराय फट्, वज्रहस्ताय फट्, शक्तये फट्, दण्डाय फट्, (यमाय फट्, खड्गाय फट्, नैर्ऋताय फट्, वरुणाय फट् वज्राय फट्, पाशाय फट्, ध्वजाय फट्, अङ्कुशाय फट्, गदायै फट्, कुबेराय फट्, त्रिशूलाय फट्,) मुद्गराय फट्, चक्राय फट्, पद्माय फट्, नागास्त्राय फट्, ईशानाय फट्, खेटकास्त्राय फट्, मुण्डाय फट्, मुण्डास्त्राय फट्, कङ्कालास्त्राय फट्, पिच्छिकस्त्राय फट्, क्षुरिकास्त्राय फट्, ब्रह्मास्त्राय फट्, शक्त्यस्त्राय फट्, गणास्त्राय फट्, सिद्धास्त्राय फट्, पिलिपिच्छास्त्राय फट्, गन्धर्वास्त्राय फट्, पूर्वास्त्राय फट्, दक्षिणास्त्राय फट्, वामास्त्रा फट्, पश्चिमास्त्राय फट्, मन्त्रास्त्राय फट्, शाकिन्यस्त्राय फट्, योगिन्यस्त्राय फट्, दण्डास्त्राय फट्, नमोस्त्राय फट्, शिवास्त्राय फट्, ईशानास्त्राय फट्, महादण्डास्त्राय फट्, नागास्त्राय फट्, पुरुषास्त्राय फट्, अघोरास्त्राय फट्, वामदेवास्त्राय फट्, सद्योजातास्त्राय फट्, हृदयास्त्रय फट्, (महास्त्राय फट्, गरुडास्त्राय फट्, राक्षसास्त्राय फट्। दानवास्त्राय फट्, क्षौं नरसिंहास्त्राय फट्, त्वष्ट्रस्त्राय फट्, सर्वास्त्राय फट्,) लः फट्, न फट् (भः फट्, पः फट्, मः फट्, स्त्रा फट्, है फट्, भूः फट्, भुव फट्, स्वः फट्, महः फट्, जनः फट्, तपः फट्, सत्यं फट्, संर्वलोक फट्, सर्वपाताल फट्, सर्वसत्त्व फट्, सवप्राण फट्, सर्वनाडी फट्, सर्वकारण फट्, सर्वदेव फट्, ह्रीं फट्, श्रीं फट्, ह्रू फट्, स्तूं फट्, आं फट्, लां फट्, वैराग्याय फट्,) मायास्त्राय फट्, कामास्त्राय फट्, क्षेत्रपालास्त्राय फट्, हुंकारास्त्राय फट्, भास्करास्त्राय फट्, चन्द्रास्त्राय फट्, विघ्नेश्वरास्त्राय फट्, गौः, गां फट्, ख्रौं ख्रौं फट्, ह्रौ ह्रों फट्, भ्रामय भ्रामय फट्, संतापय संतापय फट्, छादय च्छादय फट्, उन्मूलयोन्मूलय फट्, त्रासय त्रासय फट्, संजीवय संजीवय फट्, विद्रावय विद्रावय फट्, सर्वदुरितं नाशय नाशय फट्।

फट्। शक्तये फट्। दण्डाय फट्। यमाय फट्। खङ्गाय फट्। नैर्ऋताय फट्। वरुणाय फट्। वज्राय फट्। पाशाय फट्। ध्वजाय फट्। अङ्कुशाय फट्। गदायै फट्। कुबेराय फट्। त्रिशूलाय फट्। मुद्गराय फट्। चक्राय फट्। पद्माय फट्। नागास्त्राय फट्। ईशानाय फट्। खेटकास्त्राय फट्। नागास्त्राय फट्। मुण्डास्त्राय फट्। कङ्कालास्त्राय फट्। पिच्छिकास्त्राय फट्। क्षुरिकास्त्राय फट्। ब्रह्मास्त्राय फट्। शक्त्यस्त्राय फट्। गणास्त्राय फट्। सिद्धास्त्राय फट्। पिलिपिच्छास्त्राय फट्। गन्धर्वास्त्राय फट्। पूर्वास्त्राय फट्। दक्षिणास्त्राय फट्। वामास्त्राय फट्। पश्चिमास्त्राय फट्। मन्त्रास्त्राय फट्। शाकिन्यस्त्राय फट्। योगिन्यस्त्राय फट्। द्रण्डास्त्राय फट्। महादण्डास्त्राय फट्। नमोऽस्त्राय फट्। शिवास्त्राय फट्। ईशानास्त्राय फट्। पुरुषास्त्राय फट्। अघोरास्त्राय फट्। सद्योजातास्त्राय फट्। हृदयास्त्राय फट्। महास्त्राय फट्। गुरुडास्त्राय फट्। राक्षसास्त्राय फट्। दानवास्त्राय फट्। क्षौं नरसिंहास्त्राय फट्। त्वष्ट्रस्त्राय फट्। सर्वास्त्राय फट्। नः फट्। वः फट्। पः फट्। फः फट्। मः फट्। श्रीः फट्। पेः फट्। भूः फट्। भुवः फट्। स्वः फट्। महः फट्। जनः फट्। तपः फट्। सत्यं फट्। सर्वलोक फट्। सर्वपाताल फट्। सर्वतत्त्व फट्। सर्वप्राण फट्। सर्वनाडी फट्। सर्वतत्त्व फट्। सर्वप्राण फट्। ह्रीं फट्। श्रीं फट्। हूं फट्। स्तुं फट्। स्वां फट्। लां फट्। वैराग्याय फट्। मायास्त्राय फट्। कामास्त्राय फट्। क्षेत्रपालास्त्राय फट्। हुंकारास्त्राय फट्। भास्करास्त्राय फट्। चन्द्रास्त्राय फट्। विघ्नेश्वरास्त्राय फट्। गौः गां फट्। ख्रों ख्रौं फट्। हौं हों फट्। भ्रामय भ्रामय फट्। संतापय संतापय फट्। छादय छादय फट्। उन्मूलय उन्मूलय फट्। त्रासय त्रासय फट्। संजीवय संजीवय फट्। विद्रावय विद्रावय फट्। सर्वदुरितं नाशय नाशय फट्।

सकृतावर्तनादेव सर्वविघ्नान्विनाशयेत्। शतावर्तेन चोत्पातान्रणादौ विजयो भवेत्।।२।।
घृतगुग्गुलुहोमाच्च असाध्यानपि साधयेत्। पठनात्सर्वशान्तिः स्यादाशु पाशुपतस्य च।।३।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गति पाशुपतशान्तिकथनं नाम द्वाविंशत्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः।।३२२।।

अथ त्रयोविंशत्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः

षडङ्गान्यघोरास्त्राणि

ईश्वर उवाच

ॐ हूं स इति मन्त्रेण मृत्युरोगादि शाम्यति। लक्षाहुतिभिर्दूर्वाभिः शान्तिं पुष्टिं प्रसाधयेत्।।१।।
अथवा प्रणवेनैव मायया वा षडानन। दिव्यान्तरिक्षभौमानां शान्तिरुत्पातवृक्षके।।२।।
ॐ नमो भगवति गङ्गे कालि कालि महाकालि महाकालि मांसशोणित
भोजने रक्तकृष्णमुखि वशमानय मानुषान् स्वाहा।।३।।

इस पाशुपत-मन्त्र की एक बार आवृत्ति क़रने से ही यह मनुष्य सम्पूर्ण विघ्नों का विनाश कर सकता है, सौ आवृत्तियों से समस्त उत्पातों का नष्ट कर सकता है तथा युद्ध आदि में विजय पा सकता है।।२।।

इस मन्त्र द्वारा घी और गुग्गुलु के हवन से मनुष्य असाध्य कार्यों को भी सिद्ध कर सकता है। इस पाशुपतास्त्र मन्त्र से पाठ मात्र से समस्त क्लेशों की शान्ति हो जाती है।।३।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी तीन सौ बाईसवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।३२२।।

अध्याय-३२३

षडंग सहित अघोर मन्त्र विचार

भगवान् शंकर ने कहा कि-हे स्कन्द! 'ॐ हूं हं सः'-इस मन्त्र से मृत्यु रोग आदि शान्त हो जाते हैं। इस मन्त्र द्वारा दूर्वा की एक लाख आहुतियाँ दी जायँ तो उससे साधक शान्ति तथा पुष्टिका भी साधन कर सकता है। हे षडानन! अथवा केवल प्रणव (ॐ) अथवा माया (ह्रीं) के जप से ही दिव्य, अन्तरिक्षगत तथा भूमिगत उत्पातों की शान्ति होती है। उत्पातवृक्ष के शमन का भी यही उपाय है।।१-२।।

गङ्गा-सम्बन्धी वशीकरणमन्त्र-'ॐ नमो भवगति गङ्गे कालि कालि महाकालि महाकालि मांसशोणितभोजने रक्तकृष्णमुखि वशमानय मानुषान् स्वाहा।'-इस मन्त्र का एक लाप जप करके दशांश आहुति देकर मनुष्य सम्पूर्ण कर्मों में सिद्धि पा सकता है। इन्द्र आदि देवताओं को भी वश में ला सकता है, फिर इन सामान्य

ॐ लक्षं जप्त्वा दशांशेन हुत्वा स्यात्सर्वकर्मकृत्। वशं नयति शक्रादीन्मानुषेष्वेषु का कथा।।४।।
अन्तर्धानकरी विद्या मोहनी जृम्भनी तथा। वशं नयति शत्रूणां शत्रुबुद्धिप्रमोहिनी।।५।।
कामधेनुरियं विद्या सप्तधा परिकीर्तिता। मन्त्रराजं प्रवक्ष्यामि शत्रुचौरादिमोहनम्।।६।।
महाभयेशु सर्वेशु स्मर्तव्यं हरपूजितम्। लक्षं जप्त्वा तिलैर्होमः सिध्येदुद्धारकं शृणु।।७।।
ॐ हले शूले एहि ब्रह्मसत्येन (विष्णुसत्येन रुद्रसत्येन) रक्ष मां वाचेश्वराय स्वाहा।।८।।
दुर्गात्तारयते यस्मात्तेन दुर्गा शिवा मता।।९।।
ॐ ह्रीं चण्डकपालिनि दन्तान्किट किट क्षिट क्षिट गुह्ये प्राम्।।१०।।
अनेन मन्त्रराजेन क्षालयित्वा तु तण्डुलान्। त्रिंशद्वाराणि जप्तानि तच्चौरेषु प्रदापयेत्।।११।।
दन्तैश्चूर्णानि शुक्लानि पतितानि हि शुद्धये।।१२।।
ॐ ज्वलल्लोचन कपिलजटाभारभास्वर विद्रावण त्रैलोक्य डामर डामर दर दर भ्रम भ्रमाऽऽकट्टाऽऽकट्ट तोटय तोटय मोटय मोटय दह दह पच पच, एवं सिद्धिरुद्रो ज्ञापयति यदि ग्रहोपगतः स्वर्गलोकं देवलोकं वाऽऽरामविहाराचलं तथाऽपि तमावर्तयिष्यामि बलिं गृह्ण गृह्ण ददामि ते स्वाहेति।।१३।।
क्षेत्रपालबलिं दत्त्वा ग्रहो न्यासाद्रुदन्व्रजेत्। शत्रवो नाशमायान्ति रणे वैरगणक्षयः।।१४।।

मनुष्यों को वश में लाना कौन बड़ी बात है? यह विद्या अन्तर्धानकरी, मोहनी, जृम्भनी, शत्रुओं को वश में लाने वाली तथा शत्रु की बुद्धि को मोह में डाल देने वाली है। यह कामधेनु विद्या सात तरह की कही गयी है।।३-५।।

अधुना मैं 'मन्त्रराज' का वर्णन करने जा रहा हूँ, जो शत्रुओं तथा चोर आदि को मोह लेने वाला है। यह साक्षात् शिव (मेरे) द्वारा पूजित है इसका सभी महान् भय के अवसरों पर स्मरण करना चाहिये। एक लाख जप करके तिलों द्वारा हवन करने से यह मन्त्र सिद्ध होता है। अधुना इसका उद्धार सुनो।।६-७।।

'ॐ हले शूले हिए ब्रह्मसत्येन विष्णुसत्येन रुद्रसत्येन रक्ष मां वाचेश्वराय स्वाहा'।भगवती शिवा दुर्गम संकट से तारती-उद्धार करती है, इसलिये 'दुर्गा' मानी गयी है। 'ॐ ह्रीं चण्डकपालिनि दन्तान् किट किट क्षिट क्षिट गुह्ये फट् हीम्'।।८-१०।।

इस मन्त्र राज के जपपूर्वक चावल धोकर उसको इस मन्त्र के तीस बार जप द्वारा अभिमन्त्रित करना चाहिये। फिर वह चावल चोरों में बँटवा देना चाहिये। उस चावल को दाँतों से चबाने पर उनके श्वेत दन्त गिर जाते हैं तथा वे मनुष्य चोरी के पाप से मुक्त एवं शुद्ध हो जाते हैं।।११-१२।।

क्षेत्रपालबलि-मन्त्र-'ॐ ज्वलल्लोचन कपिलजटाभारभास्वर विद्रावण त्रैलोक्यडामर डामर दर दर भ्रम भ्रम आकट्ट आकट्ट तोटय मोटय मोटय दह दह पच पच एवं सिद्धिरुद्रो ज्ञापयति यदि ग्रहोऽपगतः स्वर्गलोकं देवलोकं वाऽऽरामविहाराचलं तथापि तमावर्तयिष्यामि बलिं गृह्ण गृह्ण ददामि ते स्वाहा। इति'।।१३।।

इस मन्त्र से क्षेत्रपाल को बलि देकर न्यास करने से अनिष्ट ग्रह रोता हुआ चला जाता है। साधक के शत्रु नष्ट हो जाते हैं तथा युद्धक्षेत्र में शत्रु-समुदाय का विनाश हो जाता है।।१४।।

हंसबीजं तु विन्यस्य विषं तु त्रिविधं हरेत्। अगरुं चन्दनं कुष्ठं कुंकुमं नागकेसरम्।।१५।।
नखं वै देवदारुं च समं कृत्वाऽथ धूपकः। माक्षिकेण समायुक्तो देवस्त्रादिधूपनात्।।१६।।
विवादे मोहने स्त्रीणां मण्डने कलहे शुभः। कन्याया वरणे भाग्ये मायामात्रेण मन्त्रितः।।१७।।
ह्रीं रोचना नागपुष्पाणि कुंकुमं च मनःशिला। ललाटे तिलकं कृत्वा यं पश्येत्स वशी भवेत्।।१८।।
शतावर्यास्तु चूर्णं तु दुग्धपीतं च पुत्रकृत्। नागकेसरचूर्णं तु घृतपक्वं तु पुत्रकृत्।।१९।।
पालाशबीजपानेन लभते पुत्रकं तथा।।२०।।

ओमुत्तिष्ठ चामुण्डे जम्भय जम्भय मोहय मोहयामुकं वशमानय वशमानय स्वाहा।।२१।।
षड्विंशा सिद्धविद्या सा नदीतीरमृदा स्त्रियम्। कृत्वोन्मत्तरसेनैव नामाऽऽलिख्यार्कपत्रके।।२२।।
मूत्रोत्सर्गं ततः कृत्वा जपेत्तामानयेत्स्त्रियम्।।२३।।
ॐ क्षुं सः वषट्।।२४।।
महामृत्युञ्जयो मन्त्रो जप्याद्धोमाच्च पुष्टिकृत्।।२५।।
ॐ हं सः, हूं, हूं मः, हः, सौं स्कैः।।२६।।
मृतसंजीविनी विद्या अष्टार्णा जयकृद्रणे। मन्त्रा ईशानमुख्याश्च धर्मकामादिदायकाः।।२७।।

'हंस' बीज का न्यास करके साधक तीन तरह के विष अथवा विघ्न का निवारण कर देता है। अगरु, चन्दन, कुष्ठ (कूट), कुङ्कुम नागकेसर, नख तथा देवदारु–इन सभी को सममात्रा में कूट-पीसकर धूप बना ले। फिर इसमें मधुमक्खी के शहद का योग कर देना चाहिये। उसकी सुगन्ध से शरीर तथा वस्त्र आदि को धूपित या वासित करने से मनुष्य विवाद, स्त्रीमोहन, शृंगार तथा कलह आदि के अवसर पर शुभ फल का भागी होता है। कन्यावरण तथा भाग्योदय-सम्बन्धी कार्य में भी उसको सफलता प्राप्त होती है। मायामन्त्र (ह्रीं) से मन्त्रित हो, रोचना, नागकेसर, कुङ्कुम तथा मैनसिल का तिलक ललाट में लगाकर मनुष्य जिसकी तरफ देखता है, वही उसके वश में हो जाता है। शतावरी के चूर्ण को दूध के साथ पीया जाय तो वह पुत्र की उत्पत्ति कराने वाला होता है। नागकेसर के चूर्ण को घी में पकाकर खाया जाय तो वह भी पुत्रकारक होता है। पलाश के बीज को पीसकर पीन से भी पुत्र की प्राप्ति हो जाती है।।१५-२०।।

वशीकरण के लिये सिद्ध-विद्या–'ॐ उत्तिष्ठ चामुण्डे जम्भय जम्भय मोहय मोहय (अमुकं) वशमानय स्वाहा'।।२१।।

यह छब्बीस अक्षरों वाली 'सिद्ध-विद्या' है। (यदि किसी स्त्री को वश में करना हो, तो) नदी के तीर की मिट्टी से लक्ष्मी की मूर्ति बनाकर धतूर के रस से मदार के पत्ते पर उस अभीष्ट स्त्री का नाम लिखे। इसके बाद मूत्रोत्सर्ग करने के पश्चात् शुद्ध हो कथित मन्त्र का जप करना चाहिये। यह प्रयोग अभीष्ट स्त्री को अवश्य वश में ला सकता है।।२२-२३।।

महामृत्युंजय–'ॐ जूं वषट्'।।२४।।–यह 'महामृत्युंजय-मन्त्र' है, जो जप तथा हवन से पुष्टिकारक होता है। **मृतसंजीवनी–'ॐ हं सः हूं हूं सः, हः सौः'।।२५-२६।।**

यह आठ अक्षर वाली 'मृतसंजीवनी-विद्या' है, जो युद्धक्षेत्र में विजय दिलाने वाली है। 'ईशान' आदि मन्त्र भी धर्म-काम आदि को देने वाले हैं।।२७।।

ईशानः सर्वविद्यानामीश्वरः सर्वभूतानाम्। ब्रह्मणश्चाधिपतिर्ब्रह्म शिवो मेऽस्तु सदाशिवः।।२८।।
ॐ तत्पुरुषाय विद्महे महादेवाय धीमहि। तन्नो रुद्रः प्रचोदयात्।।२९।।
ओमघोरेभ्योऽथ घोरेभ्यो घोरतरेभ्यस्तु सर्वतः। सर्वेभ्यः सर्वशर्वेभ्यो नमस्तेऽस्तु रुद्ररूपेभ्यः।।३०।।
ॐ वामदेवाय नमो ज्येष्ठाय नमः श्रेष्ठाय नमो रुद्राय नमः कालाय नमः कलविकरणाय नमो बलविकरणाय नमो बलाय नमो बलप्रमथनाय नमः। सर्वभूतदमनाय नमो मनोन्मनाय नमः।।३१।।
ॐ सद्योजातं प्रपद्यामि सद्योजातस्य वै नमः। भवे भवे नातिभवे भवस्य मां भवोद्भवाय नमः।।३२।।

पञ्चब्रह्माङ्गषट्कं च वक्ष्येऽहं भुक्तिमुक्तिदम्।।३३।।

ॐ नमः परमात्मने पराय कामदाय परमेश्वराय योगाय योगसंभवाय सर्वकराय कुरु कुरु सद्य सद्य भव भव भवोद्भव वामदेव सर्वकार्यकर पापप्रशमन सदाशिव प्रसन्न नमोऽस्तु ते स्वाहा।।३४।।

हृदयं सर्वार्थदं तु सप्तत्यक्षरसंयुतम्।।३५।।

ॐ शिव शिवाय नमः शिरः, ॐ शिव हृदये ज्वालिनि स्वाहा शिखा, ॐ शिवात्मक महातेजः सर्वज्ञ प्रभु संवर्तय महाघोरकवच पिंगल, नमः। महाकवच शिवाज्ञया हृदयं बन्ध बन्ध, (पूर्णय पूर्णय चूर्णय चूर्णय सूक्ष्मासूक्ष्मवज्रधर वज्रपाशधर वज्रशरीर मच्छरीरमनुप्रविश्य सर्वदुष्टा-

---

ईशान आदि मन्त्र-(ॐ) ईशानः सर्वविद्यानामीश्वरः सर्वभूतानां ब्रह्मणश्चाधिपतिर्ब्रह्म शिवो मे अस्तु सदाशिवः ओम्।।२८।।

(ॐ) तत्पुरुषाय विद्महे महादेवाय धीमहि। तन्नो रुद्रः प्रचोदयात्।।२९।।

(ॐ) अघोरेभ्योऽथ घोरेभ्यो घोरघोरतरेभ्यः सर्वतः सर्वशर्वेभ्यो नमस्तेऽस्तु रुद्ररूपेभ्यः।।३०।।

(ॐ) वामदेवाय नमो ज्येष्ठाय नमः श्रेष्ठाय नमो रुद्राय नमः कालाय नमः कलविकरणाय नमो बलविकरणाय नमो बलाय नमो बलप्रथमानाय नमः सर्वभूतदमनाय नमो मनोन्मनाय नमः।।३१।।

(ॐ) सद्योजातं प्रपद्यामि सद्योजाताय वै नमो नमो भवे भवे नातिभवे भवस्व मां भवोद्भवाय नमः।।३२।।

अधुना मैं 'पञ्चब्रह्म' के छः अङ्गों का वर्णन करने जा रहा हूँ, जो भोग तथा मोक्ष सम्प्रदान करने वाला है।।३३।।

(ॐ) नमः परमात्मने पराय कामदाय परमेश्वराय योगाय योगसम्भवाय सर्वकराय कुरु कुरु सद्य सद्य भव भव भवोद्भव वामदेव सर्वकार्यकर पापाप्रशमन सदाशिव प्रसन्न नमोऽस्तु ते (स्वाहा)।।३४।।

यह सतहत्तर अक्षरों का हृदय-मन्त्र है, जो सम्पूर्ण मनोरथों को देने वाला है। कोष्ठक में दिये गये अक्षरों को छोड़कर गिनने पर सतहत्तर अक्षर होते हैं।।३५।।

इस मन्त्र को पढ़कर 'हृदयाय नमः' बोलकर हृदय का स्पर्श करना चाहिये। 'ॐ शिव शिवाय नमः।'- यह शिरोमन्त्र है, अर्थात् इसको पढ़कर 'शिर से स्वाहा' बोलकर दाहिने हाथ से सिर का स्पर्श करना चाहिये। 'ॐ शिवहृदये ज्वालिनी स्वाहा, शिखायै वषट्' बोलकर शिखा का स्पर्श करना चाहिये।

'ॐ शिवात्मक महातेजः सर्वज्ञ प्रभो संवर्तय महाघोरकवच पिङ्गल आयाहि पिङ्गल नमो महाकवच शिवाज्ञया हृदयं बन्ध बन्ध घूर्णय घूर्णय चूर्णय चूर्णय सूक्ष्मासूक्ष्म वज्रधर वज्रपाशधनुर्वज्राशनिवज्रशरीर मच्छरीरमनुप्रविश्य सर्वदुष्टान् स्तम्भय स्तम्भय हुम्।।३६।।

न्स्तम्भय स्तम्भय हूं। अक्षराणां तु कवचं शतं पञ्चाक्षराधिकम्।।३६।।
ओमोजसे नेत्रम्, ॐ पुस्फुर पुस्फुर तनुरूप तनुरूप) चट चट प्रचट प्रचट कट कट
वम वम घातय घातय हूं फट्, अघोरास्त्रम्।।३७।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते षडङ्गान्यघोरास्त्रकथनं नाम त्रयोविंशत्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः।।३२३।।

यह एक सौ पाँच अक्षरों का कवच-मन्त्र है। अर्थात् इसको पढ़कर '**कवचाय हुम्**' बोलते हुए दोनों हाथों से एक साथ दोनों भुजाओं का स्पर्श करना चाहिये।।३७।।

'**ॐ ओजसे नेत्रत्रयाय वौषट्**' ऐसा बोलकर दोनों नेत्रों का स्पर्श करना चाहिये। इसके बाद निम्नांकित मन्त्र पढ़कर अस्त्रन्यास करना चाहिये—'**ॐ ह्रीं स्फुर स्फुर प्रस्फुर प्रस्फुर घोरघोरतरतनुरूप चट चट प्रचट प्रचट कह कह वम वम बन्ध बन्ध घातय घातय हुं फट्।**' यह प्रणवसहित बावन अक्षरों का 'अघोरास्त्र-मन्त्र' है।।३८।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी तीन सौ तेईसवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।३२३।।

❖❖❖

अथ चतुर्विंशत्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः

रुद्रशान्ति

ईश्वर उवाच

शिवशान्तिं प्रवक्ष्यामि कल्पाघोरप्रपूर्वकम्। सप्तकोट्यधिपो घोरा (रो) ब्रह्महत्याद्यघार्दनः॥१॥
उत्तमाधमसिद्धीनामालयोऽखिलरोगनुत्। दिव्यान्तरी रि क्ष भौमानामुत्पातानां विमर्दनः॥२॥
विषग्रहपिशाचानां ग्रसनः सर्वकामकृत्। प्रायश्चित्तमघो (घौ) घार्तौ दौर्भाग्यार्तिविनाशनम्॥३॥
एकवीरं तु विन्यस्य ध्येयः पञ्चमुखः सदा। शान्तिके पौष्टिके शुक्लो रक्तो वश्येऽथ पीतकः॥४॥
स्तम्भने धूम्र उच्चाटमारणे कृष्णवर्णकः। कर्षणे कपिलो मोहे द्वात्रिंशद्वर्णमर्चयेत्॥५॥
त्रिंशल्लक्षं जपेन्मन्त्रं होमं कुर्याद्दशांशतः। गुग्गुलघृतयुक्तेन सिद्धे सिद्धार्थसर्वकृत्॥६॥
अघोरान्नापरो मन्त्रो विद्यते भुक्तिमुक्तिकृत्। अब्रह्मचारी ब्रह्मचारी अस्नातः स्नातको भवेत्॥७॥
अघोरास्त्रमघोरस्तु द्वाविमौ मंत्रराजकौ। जपहोमार्चनाद्युद्धे शत्रुसैन्यं विमर्दयेत्॥८॥

अध्याय–३२४

रुद्रशान्ति विचार

भगवान् शंकर ने कहा कि–हे स्कन्ध! अधुना मैं 'कल्पाघोर-शिवशान्ति' का वर्णन करने जा रहा हूँ। भगवान् अघोर शिव सात करोड़ गणों के अधिपति हैं तथा ब्रह्महत्या आदि पापों को नष्ट करने वाले हैं। श्रेष्ठतम और सधम–सभी सिद्धियों के आश्रय तथा सम्पूर्ण रोगें के निवारक हैं। भौम, दिव्य तथा अन्तरिक्ष–सभी उत्पातों का मर्दन करने वाले हैं। विष, ग्रह और पिशाचों को भी अपना ग्रास बना लेने वाले तथा सम्पूर्ण मनोरथों को पूर्ण करने वाले हैं। पापसमूह को पीड़ा देकर दूर भगाने के लिये वे उस प्रबल प्रायश्चित्त के प्रतीक हैं, जो दुर्भाग्य तथा दुःख का विनाशक है॥१-३॥

'एकवीर' का सर्वाङ्ग में न्यास करके सदा पञ्चमुख शिव का ध्यान करना चाहिये। 'विभिन्न कर्मों में उनके विभिन्न शुक्ल-कृष्ण आदि वर्णों का ध्यान किया जाता है। यथा–शान्ति तथा पुष्टि-कर्म में भगवान् शिव का वर्ण शुक्ल है, ऐसा चिन्तन करना चाहिये। वशीकरण में उनके रक्तवर्ण का, स्तम्भन कर्म में पीतवर्ण का उच्चाटन तथा मारण कर्म में धूम्रवर्ण का, आकर्षण में कृष्णवर्ण का तथा मोहन-कर्म में कपिलवर्ण का चिन्तन करना चाहिये। अघोरमन्त्र बत्तीस अक्षरों का मन्त्र बतलाया गया है। वे बत्तीस अक्षर वेदोक्त अघोरशिव के रूप हैं। इसलिये उतने अक्षरों के मन्त्र स्वरूप अघोरशिव की अर्चना करनी चाहिये। इस मन्त्र का (बत्तीस) या तीस लाख जप करके उसका दशांश हवन करना चाहिये। यह हवन गुग्गुल मिश्रित घी से होना चाहिये। इससे मन्त्र 'सिद्ध' होता और साधक 'सिद्धार्थ' हो जाता है। वह सब कुछ कर सकता है। अघोर से बढ़कर दूसरा कोई मन्त्र भोग तथा मोक्ष देने वाला नहीं है। इसके जप से अब्रह्मचारी ब्रह्मचारी होता तथा अस्नातक स्नातक हो जाता है। अघोरास्त्र तथा अघोर-मन्त्र–दोनों मन्त्रराज हैं। इनमें से कोई भी मन्त्र जप, हवन तथा पूजन से युद्ध स्थल में शत्रु सेना को रौंद सकता है॥४-८॥

रुद्रशान्तिं प्रवक्ष्यामि शिवां सर्वार्थसाधनीम्। पुत्रार्थं ग्रहनाशार्थं विषव्याधिविनष्टये।।९।।
दुर्भिक्षमारीशान्त्यर्थं दुःस्वप्नं हरणाय च। बलादिराज्यप्राप्त्यर्थं रिपूणां नाशनाय च।।१०।।
अकाले फलिते वृक्षे सर्वग्रहविमर्दने। पूजने तु नमस्कारः स्वाहान्ते हवनं तथा।।११।।
आप्यायने वषट्कारे पुष्टौ वौषण्नियोजयेत्। चकारद्वितयस्थाने जातियोगं तु कारयेत्।।१२।।
ॐ रुद्राय ठ, ॐ वृषभाय नमोऽविमुक्तायासंभवाय पुरुषाय पञ्चपूज्याय ईशपुत्रे
पौरुषे पञ्चपञ्चोत्तरे विश्वरूपाय करालाय विकृतरूपाय, (अविकृतरूपाय)।।१३।।
निकृतौ चापरे काले अप्सु माया च नैर्ऋते।।१४।।
एक पिङ्गलाय श्वेतपिङ्गलाय कृष्णपिङ्गलाय नमः।।१५।।
मधुपिङ्गलाय नियतावनन्तायाऽऽर्द्राय शुष्काय पयोगणाय कालतत्त्वे करालाय विकरालाय
द्वौ मायातत्त्वे सहस्रशीर्षाय सहस्रवक्त्राय सहस्रकरचरणाय सहस्रलिङ्गाय।।१६।।
विद्यातत्त्वे सहस्राक्षाद्विन्यसेद्दक्षिणे दले।।१७।।
एकजटाय द्विजटाय त्रिजटाय स्वाहाकाराय स्वधाकाराय वषट्काराय षड्रुद्राय।।१८।।
ईशतत्त्वे तु वह्निपत्रे स्थिता गुह।।१९।।
भूपतये पशुपतये उमापतये कालाधिपतये।।२०।।

अधुना मैं कल्याणमयी 'रुद्रशान्ति' का वर्णन करने जा रहा हूँ, जो सम्पूर्ण मनोरथों को सिद्ध करने वाली है। पुत्र की प्राप्ति, ग्रहबाधा के निवारण, विष एवं व्याधि के विनाश, दुर्भिक्ष तथा महामारी की शान्ति, दुःस्वप्न निवारण, बल आदि तथा राज्य आदि की प्राप्ति और शत्रुओं के विनाश के लिये इस 'रुद्रशान्ति' का प्रयोग करना चहिये। यदि अपने बगीचे के किसी वृक्ष में असमय में फल लग जाय ता यह भी अनिष्टकारक है; इसलिये उसकी शान्ति के लिये तथा समस्त ग्रहबाधाओं का विनाश करने के लिये भी कथित शान्ति का प्रयोग किया जा सकता है। पूजन कर्म में मन्त्र के अन्त में 'नमः' बोलना चाहिये तथा हवन-कर्म में 'स्वाहा'। आप्यायन (तृप्ति) में मन्त्रान्त में 'वषट्' पद का प्रयोग करना चाहिये और पुष्टिकर्म में 'वौषट्' पद का। मन्त्र में जो दो जगह 'च' का प्रयोग है, वहाँ आवश्यकता के अनुसार 'नमः', 'स्वाहा' आदि जाति का योग करना चाहिये।।९-१२।।

रुद्रशान्ति-मन्त्र-ॐ रुद्राय च ते ॐ वृषभाय नमोऽविमुक्तायासम्भवाय पुरुषाय च पूज्यायेशानाय पौरुषाय पञ्च पञ्चोत्तरे विश्वरूपाय करालाय विकृतरूपायाविकृतरूपाय।।१३।।

उत्तरवर्ती कमलदल में नियतितत्त्व की स्थिति है, जल (वरुण) की दिशा पश्चिम के कमल दल में कालतत्त्व है और नैर्ऋत्यकोणवर्ती दल में मायातत्त्व अवस्थित है; उन सबमें देवताओं की पूजा होती है। **'एकपिङ्गलाय श्वेतपिङ्गलाय कृष्णपिङ्गलाय नमः। मधुपिङ्गलाय नमः-मधुपिङ्गलाय।'**-इन सबकी पूजा नियति तत्त्व में होती है। **'अनन्तायार्द्राय शुष्काय पयोगणाय (नमः)'**-इनकी पूजा कालतत्त्व में करना चाहिये। **'करालाय विकरालाय (नमः)।'** -इन दो की पूजा मायातत्त्व में करना चाहिये। **'सहस्रशीर्षाय सहस्रवक्त्राय सहस्रकरचरणाय सहस्रलिङ्गाय (नमः)।'**-इनकी अर्चना विद्यातत्त्व में करना चाहिये। वह इन्द्र से दक्षिण दिशा के दल में स्थित है। वहीं छः पदों से युक्त षड्विध रुद्र का पूजन करना चाहिये। यथा-**'एकजटाय द्विजटाय त्रिजटाय स्वाहाकाराय स्वधाकाराय वषट्काराय षड्रुद्राय।'** स्कन्द! अग्निकोणवर्ती दल में ईशतत्त्व की स्थिति है। उसमें क्रमशः **'भूतपतये पशुपतये**

सदाशिवाख्यतत्त्वे षट् पूज्याः पूर्वदले स्थिताः।।२१।।

उमायैकरूपधारिणि, ॐ 'कुरु कुरुरुहिणि रुहिणि रुद्रोऽसि देवानां देव देव विशाख हन हन दह दह पच पच मथ मथ तुरु तुरु, अरु अरु मुरु मुरु रुद्रशान्तिमनुस्मर कृष्ण-पिङ्गल अकाल-पिशाचाधिपतिविश्वेश्वराय नमः।।२२।।

शिवतत्त्वे कर्णिकायां पूज्यौ ह्युमामहेश्वरौ।।२३।।

ॐ व्योमव्यापिने व्योमरूपाय सर्वव्यापिने शिवायानन्ताय नाथायानाश्रिताय शिवाय शिवतत्त्वे नव पदानि व्योमव्याप्यभिधास्य हि।।२४।।

शाश्वताय योगपीठसंस्थिताय नित्ययोगिने ध्यानाहाराय नमः। ॐ नमः शिवाय सर्वप्रभवे शिवाय, ईशानमूर्धाय तत्पुरुषाय पञ्चवक्त्राय।।२५।।

नवपदं पूर्वदले सदाख्ये पूजयेद्गुह।।२६।।

अघोरहृदयाय वामदेवगुह्याय सद्योजातमूर्तये। ॐ नमो नमः। गुह्यातिगुह्याय गोप्त्रेऽनिधनाय सर्वयोगाधिकृताय ज्योतीरूपायाग्निपत्रे हीशतत्त्वे विद्यातत्त्वे तु गम्यते परमेश्वराय अचेतनाचेतन व्योमनव्यापिन (न्) अरूपिन्। प्रथम तेजस्तेजः।।२७।।

मायातत्त्वे नैर्ऋते तु कालतत्त्वेऽथ वारुणे।।२८।।

उमापतये कालाधिपतये (नमः)।' बोलकर भूतपति आदि की पूजा करनी चाहिये। पूर्ववर्ती दल सदाशिव-तत्त्व में छः पूजनीयों की स्थिति है, जिनका निम्नांकित मन्त्र में नामोल्लेख है।

यथा–**'उमायै कुरूपधारिणि ॐ कुरु कुरु रुहिणि रुहिणि रुद्रोऽसि रुद्राऽसि देवानां देवदेव विशाख हन हन दह दह पच पच मथ मथ तुरु तुरु अरु अरु मुरु मुरु रुद्रशान्तिमुस्मर कृष्णपिङ्गल अकाल पिशाचाधिपति विद्येश्वराय नमः।'** कमल की कर्णिका में शिवतत्त्व की स्थिति है। उसमें भगवान् उमा-महेश्वर पूजनीय हैं। मन्त्र इस तरह है–**'ॐ व्योमव्यापिने व्योमरूपाय सर्वव्यापिने शिवायानन्ताय नाथायानाश्रिताय शिवाय'** (प्रणव को अलग गिनने पर इस मन्त्र में कुल नौ पद हैं)–शिवतत्त्व में व्योमव्यापी नाम वाले शिव के नौ पदों का पूजन करना चाहिये।।१४-२४।।

तत्पश्चात् योगपीठ पर विराजमान शिव का नौ पदों से युक्त नाम बोलकर पूजन करना चाहिये। मन्त्र इस तरह है–**'शाश्वताय योगपीठसंस्थिताय नित्ययोगिने ध्यानाहाराय नमः। ॐ नमः शिवाय सर्वप्रभवे शिवाय ईशानमूर्धाय तत्पुरुषाय पञ्चवक्त्राय।'** स्कन्द! तत्पश्चात् 'सद्' नामक पूर्वदल में नौ पदों से युक्त शिव का पूजन करना चाहिये।।२५-२६।।

'अघोरहृदयाय वामदेवगुह्याय सद्योजातमूर्तये ॐ नमो नमः। गुह्यातिगुह्याय गोप्त्रेऽनिधनाय सर्वयोगाधिकृताय ज्योतीरूपाय'।

अग्निकोणवर्ती ईशतत्त्व में तथा दक्षिण दिशावर्ती विद्यातत्त्व में **'परमेश्वराय अचेतननाचेतन व्योमन् व्यापिन्नरूपिन् प्रमथतेजस्तेजः।'** इस मन्त्र से परमेश्वर शिव की अर्चना करनी चाहिये।।२७।।

नैर्ऋत्यकोणवर्ती मायातत्त्व तथा पश्चिमदिग्वर्ती कालतत्त्व में निम्नांकित मन्त्र द्वारा पूजन करना चाहिये–'ॐ

ॐ धृ धृ नाना वां वामनिधन निधनोद्भव शिव सर्व परमात्मन्। महादेव सद्भावेश्वर महातेजयोगाधिपते मुञ्च मुञ्च प्रथम प्रथम, ॐ सर्व सर्व, ॐ भव भव, ॐ भवोद्भव सर्वभूतसुखप्रद वायुपुत्रेऽथ नियतौ पुरुषे चोत्तरे नव।।२९।।
सर्वसांनिध्यकर ब्रह्मविष्णुरुद्रप रानर्चितास्तुत स्तुत साक्षिण साक्षिण तुरु तुरु पतङ्ग पतङ्ग पिङ्गपिङ्ग ज्ञान ज्ञान शब्द शब्द सूक्ष्म सूक्ष्म शिव शिव सर्वप्रद सर्वप्रद, ॐ नमः शिवायः, ॐ नमो नमः शिवाय, ॐ नमो नमः।।३०।।
ईशाने प्राकृते तत्त्वे पूजयेज्जुहुयाज्जपेत्। ग्रहरोगादिमायार्तिशमनी सर्वसिद्धिकृत्।।३१।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते रुद्रशांतिविधानकथनं नाम चतुर्विंशत्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः।।३२४।।

धृ धृ वां वां अनिधान निधनोद्भव शिव सर्व परमात्मन् महादेव सद्भावेश्वर महातेज योगाधिपते मुञ्च मुञ्च प्रमथ प्रमथ ॐ सर्व सर्व ॐ भव भव ॐ भवोद्भव सर्वभूतसुखप्रद।।'।।२८-३०।।

वायुकोण तथा उत्तरवर्ती दलों में स्थित नियति एवं पुरुष–इन दोनों तत्त्वों में निम्नांकित नौकी पूजा करनी चाहिये–'**सर्वासांनिध्यकर ब्रह्मविष्णुरुद्रपरानर्चितासतुत स्तुत साक्षिन् साक्षिन् तुरु तुरु पतङ्ग पतङ्ग पिङ्ग पिङ्ग ज्ञान ज्ञान। शब्द शब्द सूक्ष्म सूक्ष्म शिव शिव सर्वप्रद सर्वप्रद ॐ नमः शिवाय ॐ नमो नमः शिवाय ॐ नमो नमः**'।।३१।।

ईशानवर्ती प्राकृत तत्त्व में 'शब्द' से लेकर 'नमः' तक का 'रुद्रशान्ति' ग्रहबाधा, रोग आदि तथा त्रिविध पीडा का शमन करने वाली तथा सम्पूर्ण मनोरथों की साधिका है।।३२।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी तीन सौ चौबीसवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।३२४।।

❖❖❖

अथ पञ्चविंशत्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः

अंशकादिः

ईश्वर उवाच

रुद्राक्षकटकं धार्यं विषमं सुसमं दृढम्। एकत्रिपञ्चवदनं यथालाभं तु धारयेत्॥१॥
द्विचतुःषण्मुखं शस्तमव्रणं तीव्रकण्टकम्। दक्षबाहौ शिखादौ च धारयेच्चतुराननम्॥२॥
अब्रह्मचारी ब्रह्मचारी अस्नातः स्नातको भवेत्। (हैमी वा मुद्रिका धार्या शिवमन्त्रेण चाऽऽर्च्य तु॥३॥
शिवः शिखा तथा ज्योतिः सावित्रश्चेति गोचराः)। गोचरं तु कुलं ज्ञेयं तेन लक्ष्यस्तु दीक्षितः॥४॥
प्राजापत्यो महीपालः कापोतो ग्रन्थिकः शिवे। कुटिकाश्चैव वेतालाः पद्महंसाः शिखाकुले॥५॥
धृतराष्ट्रा बकाः काका गोपाला ज्योतिसंज्ञके। कुटिका साठराश्चैव गुटिका दण्डिनोऽपरे॥६॥
सावित्री गोचरे चैवमेकैकस्तु चतुर्विधः। सिद्धाद्यंशकमाख्यास्ये येन मन्त्रः सुसिद्धिदः॥७॥
भूमौ तु मातृका लेख्याः कूटयन्त्रविवर्जिताः। मंत्राक्षराणि विश्लिष्य अनुस्वारं नयेत्पृथक्॥८॥
साधकस्य तु या संज्ञा तस्या विश्लेषणं चरेत्। मंत्रस्याऽऽदौ तथा चान्ते साधकार्णानि योजयेत्॥९॥

अध्याय-३२५

अंश के आदि विचार

भगवान् शंकर ने कहा कि–हे स्कन्द! शैव-साधक को रुद्राक्ष का कड़ा धारण करना चाहिये। रुद्राक्षों की संख्या विषम हो। उसका प्रत्येक मन का सभी तरफ से सम और दृढ़ हो। रुद्राक्ष एकमुख, त्रिमुख या पञ्चमुख-भी मिल जाय, धारण करना चाहिये। द्विमुख, चतुर्मुख तथा षण्मुख रुद्राक्ष भी प्रशस्त माना गया है। उसमें कोई क्षति या आघात न हो–वह फूटा या घुना न होना चाहिये। उसमें तीखे कण्टक होने चाहिये। दाहिनी बाँह तथा शिखा आदि में चतुर्मुख रुद्राक्ष धारण करना चाहिये। इससे अब्रह्मचारी भी ब्रह्मचारी तथा अस्नातक पुरुष भी स्नातक हो जाता है। अथवा शिव-मन्त्र की पूजा करके सोने की अँगूठी दाहिने हाथ में धारण करना चाहिये॥१-३॥

शिव, शिखा, ज्योति तथा सावित्र–ये चार 'गोचर' हैं। 'गोचर' का अर्थ 'कुल' समझना चाहिये। उसी से दीक्षित पुरुष को लक्ष्य करना चाहिये। शिव कुल में प्राजापत्य, महीपाल, कापोत तथा ग्रन्थिक–ये चार गिने जाते हैं। कुटिल, वेताल, पद्म और हंस–ये चार 'शिखाकुल' में परिगणित होते हैं। धृतराष्ट्र, वक, काक और गोपाल–ये चार 'ज्योति' नामक कुल में समझे जाते हैं। कुटिका, साठर, गुटिका तथा दण्डी–ये चार 'सावित्री-कुल' में गिने जाते हैं। इस तरह एक-एक कुल के चार-चार भेद हैं॥४-६॥

अधुना मैं 'सिद्ध' आदि अंशों की व्याख्या करने जा रहा हूँ, जिससे मन्त्र श्रेष्ठतम सिद्धि को देने वाला होता है। पृथ्वी पर कूटयन्त्र हीन मातृका (अक्षर) लिखे। मन्त्राक्षरों को विलग-विलग करके अनुस्वार को पृथक् ले जाय। साधक का भी जो नाम हो, उसके अक्षरों को पृथक्-पृथक् करना चाहिये। मन्त्र के आदि और अन्त में साधक के नामाक्षर जोड़े। फिर सिद्ध, साध्य, सुसिद्ध तथा अरि–इस संज्ञा के अनुसार अक्षरों को क्रमशः गिने।

सिद्धः साध्यः सुसिद्धोऽरिः संज्ञातो गणयेत्क्रमात्। मंत्रस्याऽऽदौ तथा चान्ते सिद्धिदः स्याच्छतांशतः।।१०।।
सिद्धादिश्चान्तसिद्धिश्च तत्क्षणादेव सिध्यति। सुसिद्धादिः सुसिद्धान्तः सिद्धवत्परिकल्पयेत्।।११।।
अरिमादौ तथाऽन्ते च दूरतः परिवर्जयेत्। सिद्धः सुसिद्धश्चैकार्थे अरिः साध्यस्तथैव च।।१२।।
आदौ सिद्धः स्थितो मन्त्रस्तदन्ते तद्वदेव हि। मध्ये रिपुसहस्राणि न दोषाय भवन्ति हि।।१३।।
मायाप्रसादप्रणवेनां शकाख्यातमंत्रके। ब्रह्मांशको ब्रह्मविद्या विष्ण्वङ्गो वैष्णवः स्मृतः।।१४।।
रुद्रांशको बली वीर इन्द्रांशश्चेश्वरप्रियः। नागांशो नागस्तत्त्वाक्षो यक्षांशो भूषणप्रियः।।१५।।
गन्धर्वांशोऽतिगीतादिभीमांशो राक्षसांशकः। दैत्यांशः स्याद्युद्धकश्रीर्मानी विद्याधरांशकः।।१६।।
पिशाचांशो मलाक्रान्तो मत्रं दद्यान्निरीक्ष्य च। मंत्र एकात्फडन्तः स्याद्विद्या पञ्चशतावधि।।१७।।
बाला विंशाक्षरान्ता च रुद्रा द्वाविंशगायुधा। तत ऊर्ध्वं तु ये मन्त्रा वृद्धा यावच्छतत्रयम्।।१८।।
अकारादिहकारान्ताः क्रमात्पक्षौ सितासितौ। अनुस्वारविसर्गेण विना चैव स्वरा दश।।१९।।
ह्रस्वा शुक्ला दीर्घाः श्यामास्तिथयः प्रतिपन्मुखाः। उदिते शान्तिकादीनि भ्रमिते वश्यकादिकम्।।२०।।
भ्रामिते सन्ध्यया द्वेषोच्चाटने स्तम्भनेऽस्तकम्। इडावाहे शान्तिकाद्यं पिङ्गले कर्षणादिकम्।।२१।।

मन्त्र के आदि तथा अन्त में 'सिद्ध' हो, तो वह शत-प्रतिशत सिद्धिसम्प्रदायक होता है। यदि आदि और अन्त दोनों में 'सिद्धि' (अक्षर) हों तो उस मन्त्र की तत्काल सिद्धि होती है। यदि आदि और अन्त में 'सुसिद्ध' हो, तो उस मन्त्र को सिद्धवत् मान ले—वह मन्त्र अनायास ही सिद्ध हो गया—ऐसा समझ ले। यदि आदि और अन्त—दोनों में 'अरि' हो, तो उस मन्त्र को दूर से ही छोड़ देना चाहिये। 'सिद्ध' और 'सुसिद्ध'—एकार्थक हैं। 'अरि' और 'साध्य' भी एक से ही हैं। यदि मन्त्र के आदि और अन्त अक्षर में भी मन्त्र 'सिद्ध' हो और मध्य में सहस्रों 'रिपु' अक्षर हों तो भी वे दोषकारक नहीं होते हैं। मायाबीज, प्रसदबीज और प्रणव के योग से विख्यात मन्त्र में अंशक होते हैं। वे क्रमशः ब्रह्मा, विष्णु तथा रुद्र के अंश हैं। ब्रह्मा का अंश 'ब्रह्मविद्या' कहलाता है। विष्णु का अंश 'वैष्णव' कहा गया है। रुद्रांशक मन्त्र 'वीर' कहलाता है। इन्द्रांशक मन्त्र 'ईश्वरप्रिय' होता है। नागांश-मन्त्र नागों की भाँति स्तब्ध नेत्र वाला माना गया है। यक्ष के अंश का मन्त्र 'भूषणप्रिय' होता है। गन्धर्वों के अंश का मन्त्र अत्यन्त गीत आदि चाहता है। भीमांश, राक्षसांश तथा दैत्यांश-मन्त्र युद्ध कराने वाला होता है। विद्याधरों के अंश का मन्त्र अभिमानी होता है। पिशाचांश मन्त्र मलाक्रान्त होता है। मन्त्र का पूर्णतः निरीक्षण करके उपदेश देना चाहिये। एकाक्षर से लेकर अनेक अक्षरों तक के मन्त्र के अन्त में यदि 'फट्'—यह पल्लव जुड़ा हो, तो उसको 'मन्त्र' कहना चाहिये। पचास अक्षरों तक के (फट्कारहीन) मन्त्र की 'विद्या' संज्ञा है। बीस अक्षरों तक की विद्या को 'बाला विद्या' कहते हैं। बीस अक्षरों तक के 'अस्त्रान्त' मन्त्र को 'रुद्रा' कहा गया है। इससे ऊपर तीन सौ अक्षरों तक के मन्त्र 'वृद्ध' कहे जाते हैं। अकार से लेकर हकार तक के अक्षर मन्त्र में होते हैं। अकार से लेकर हकार तक के अक्षर मन्त्र में होते हैं। मन्त्र में क्रमशः शुक्ल और कृष्ण—दो पक्ष होते हैं। अनुस्वार और विसर्ग को छोड़कर दस स्वर होते हैं। ह्रस्वस्वर शुक्लपक्ष तथा दीर्घस्वर कृष्णपक्ष हैं। ये ही प्रतिपदा आदि तिथियाँ हैं। उदयकाल में शान्तिक आदि कर्म कराये तथा भ्रमितकाल में वशीकरण आदि। भ्रमितकाल एवं दोनों संध्याओं में द्वेषण तथा उच्चाटन-सम्बन्धी कर्म करना चाहिये। स्तम्भन कर्म के लिये सूर्यास्तकाल प्रशस्त है। इडा नाड़ी चलती हो, तो शान्तिक आदि कर्म

मरणोच्चाटनादीनि विषुवे पञ्चधा पृथक्। अधरस्य गृहे पृथ्वी ऊर्ध्वं तेजोऽन्तरा द्रवः॥२२॥
रन्ध्रपार्श्वे बहिर्वायुः सर्वं व्याप्य महेश्वरः। स्तम्भनं पार्थिवे शान्तिर्जले वश्यादि तेजसे॥२३॥
वायौ स्याद्भ्रमणं शून्ये पुण्यं कालं समभ्यसेत्॥२३॥

॥इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते ऊशकादिकथनं नाम पञ्चविंशत्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः॥३२५॥

करना चाहिये। पिङ्गला नाड़ी चलती हो, तो आकर्षण-सम्बन्धी कार्य करना चाहिये। विषुवकाल में जिस समय दोनों नाड़ियाँ समान भाव से स्थित हों, तत्पश्चात् मारण, उच्चाटन आदि पाँच कर्म पृथक्-पृथक् सिद्ध करना चाहिये। तीन तल्ले गृह में नीचे के तल्ले को 'पृथ्वी', मध्य वाले को 'जल' तथा ऊपर वाले को 'तेज' कहते हैं। जहाँ-जहाँ रन्ध्र (छिद्र या गवाक्ष) है, वहाँ बाह्यपार्श्व में वायु और अन्दरी पार्श्व में आकाश है। पार्थिव अंश में स्तम्भन, जलीय अंश में शान्तिकर्म तथा तैजस अंश में वशीकरण आदि कर्म करना चाहिये। वायु में भ्रमण तथा शून्य (आकाश) में पुण्यकर्म या पुण्यकाल का अभ्यास करना चाहिये॥७-२३॥

॥इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी तीन सौ पच्चीसवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ॥३२५॥

❖❖❖

अथ षड्विंशत्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः

गौर्यादिपूजा

ईश्वर उवाच

सौभाग्यादेरुमापूजां वक्ष्येऽहं भुक्तिमुक्तिदाम्। मंत्रध्यानं मण्डलं च मुद्रां होमादिसाधनम्।।१।।
चित्राभानुं शिवं कालं महाशक्तिसमन्वितम्। इडाद्यं परतोद्धृत्य सदेवं सविकारणम्।।२।।
द्वितीयं द्वारकाक्रान्तं गौरीगतिपदान्वितम्। चतुर्थ्यन्तं प्रकर्तव्यं गौर्या वै मूलवाचकम्।।३।।
ॐ ह्रीं सः शौ गौर्यै नमः।।४।।
तत्रार्णत्रितयेनैव जातियुक्तं षडङ्गकम्। आसनं प्रणवेनैव मूर्तिं वै हृदयेन तु।।५।।
ऊहकं च तथा कालं शिवबीजं समुद्धरेत्। प्राणे दीर्घस्वराक्रान्तं षडङ्गं जातिसंयुतम्।।६।।
आसनं प्रणवेनात्र मूर्तिन्यासं हृदाऽऽचरेत्। यामलं कथितं वत्स एकवीरं वदाम्यथ।।७।।
व्यापकं सृष्टिसंयुक्तं वह्निमायाकृशानुभिः। शिवशक्तिमयं बीजं हृदयादिविवर्जितम्।।८।।
गौरीं यजेद्धेमरूप्यां काष्ठजां शैलजादिकाम्। पञ्चपिण्डां तथाऽव्यक्तां कोणे मध्ये तु पञ्चमम्।।९।।

अध्याय-३२६

गौरी आदि देवियों की पूजा विचार

भगवान् शंकर ने कहा कि–हे स्कन्द! अधुना मैं सौभाग्य आदि के निमित्त उमा की पूजा का विधान बताऊँगा। उनके मन्त्र, ध्यान, आवरण मण्डल, मुद्रा तथा हवनविधि का भी प्रतिपादन करने जा रहा हूँ।।१।।

'गौं गौरीमूर्तये नमः'।–यह गौरी देवी का वाचक मूल मन्त्र है। **'ॐ ह्रीं सः शौं गौर्यै नमः।'** तीन अक्षर से ही 'नमः' आदि के योगपूर्वक षडङ्गन्यास करना चाहिये। प्रणव से आसन और हृदय-मन्त्र से मूर्ति की उपकल्पना करना चाहिये। 'ऊ' कालबीज तथा शिवबीज का उद्धार करना चाहिये। दीर्घ स्वर से आक्रान्त प्राण–'यां यीं' इत्यादि जातियुक्त षडङ्गन्यास करना चाहिये। प्रणव से आसन तथा हृदय-मन्त्र से मूर्तिन्यास करना चाहिये। यह मैंने 'यामल-मन्त्र' कहा है। अधुना 'एकवीर' का वर्णन करने जा रहा हूँ। सृष्टि न्यास से युक्त व्यापक न्यास अग्नि, माया तथा कृशानु द्वारा करना चाहिये। शिव-शक्तिमय बीज हृदयादि से वर्जित है। गौरी की सोने, चाँदी, लकड़ी अथवा पत्थर आदि की प्रतिमा बनाकर उसकी पूजा करनी चाहिये। अथवा पाँच पिण्डी वाली मृण्मयी प्रतिमा बनाये। चारों कोण में अव्यक्त प्रतिमा रहे और मध्य भाग में पाँचवीं व्यक्त प्रतिमा स्थापित रहे और मध्यभाग में पाँचवीं व्यक्त प्रतिमा स्थापित करना चाहिये। आवरण-देवताओं के रूप में क्रमशः ललिता आदि शक्तियों की पूजा करनी चाहिये। पहले वृत्ताकार अष्टदल कमल बनाकर आग्नेय आदि कोणवर्ती दलों में क्रमशः ललिता, सुभगा, गौरी और क्षोभणी की पूजा करनी चाहिये। फिर पूर्वादि दलों में वामा, ज्येष्ठा, क्रिया और ज्ञान का यजन करना चाहिये। पीठयुक्त वाम भाग में शिव के अव्यक्त रूप की पूजा करनी चाहिये। देवी का व्यक्त रूप दो या तीन नेत्रों वाला है। वह शुद्ध रूप देवाधिदेव भगवान् श्रीशिवशंकर के साथ पूजित होता है। वे देवी दो पीठ या दो कमलों पर स्थित होती हैं।

ललिता सुभगा गौरी क्षोभनी (णी) चाग्नितः क्रमात्। वामा ज्येष्ठा क्रिया ज्ञाना वृत्ते पूर्वादितो यजेत्॥१०॥
सपीठे वामभागे तु शिवस्याव्यक्तरूपकम्। व्यक्ता द्विनेत्रा त्र्यक्षा वा शुद्धा वा शंकरान्विता॥११॥
पीठपद्मद्वयस्था वा द्विभुजा वा चतुर्भुजा। सिंहस्था वा वृकस्था वा अष्टाष्टादशसत्कराः॥१२॥
स्रगक्षसूत्रकलिका गलकोत्पलपिण्डिका। शरं धनुर्वा सव्येन पाणिनाऽन्यतम् महत्॥१३॥
वामेन पुस्तताम्बूलदण्डाभयकमंडलुम्। गणेशं दर्पणेष्वासान्दद्यादेकैकशः क्रमात्॥१४॥
व्यक्ताव्यक्ताऽथ वा कार्या पद्ममुद्रा स्मृताऽऽसने। लिङ्गमुद्रा शिवस्योक्ता मुद्रा चाऽऽवाहिनी द्वयोः॥१५॥
शक्तिमुद्रा तु योन्याख्या चतुरस्रं तु मण्डलम्। चतुर्हस्तं त्रिपत्राब्जं मध्यकोष्ठचतुष्टये॥१६॥
त्र्यस्रार्धे चार्धचन्द्रं तु द्विपदं द्विगुणं क्रमात्। द्विपदं द्वारकण्ठं तु द्विगुणादुपकण्ठतः॥१७॥
द्वारत्रयं त्रयं दिक्षु अथ वा भद्रके यजेत्। स्थण्डिले वाऽथ संस्थाप्य पञ्चगव्यामृतादिना॥१८॥
रक्तपुष्पाणि देयानि पूजयित्वा ह्युदङ्मुखः। शतं हुत्वा घृताद्यं च पूर्णादः सर्वसिद्धिभाक्॥१९॥
बलिं दत्त्वा कुमारींश्च तिस्रो वा चाष्ट भोजयेत्। नैवेद्यं शिवभक्तेषु दद्यान्न स्वयमाचरेत्॥२०॥
कन्यार्थी लभते कन्यामपुत्रः पुत्रमाप्नुयात्। दुर्भगा चैव सौभाग्यं राजा राज्यं जयं रणे॥२१॥
अष्टलक्षैश्च वाक्सिद्धिर्देवाद्या वशमाप्नुयुः। अनिवेद्य न चाश्नीयाद्वामहस्तेन चार्चयेत्॥२२॥

वहाँ देवी दो, चार, आठ अथवा अठारह भुजाओं से युक्त हैं, ऐसा चिन्तन करना चाहिये। वे सिंह अथवा भेड़िये को भी अपना वाहन बनाती हैं। अष्टादशभुजा के दायें नौ हाथों में नौ आयुध हैं, जिनके नाम इस प्रकार है- स्रुक् (हन्), अक्ष, सूत्र (पाश), कलिका, मुण्ड, उत्पल, पिण्डिका, बाण और धनुष। इनमें से एक-एक महान् वस्तु उनके एक-एक हाथ की शोभा बढ़ाते हैं। वाम भाग के नौ हाथों में भी प्रत्येक में एक-एक करके क्रमशः नौ वस्तुएँ हैं। यथा-पुस्तक, ताम्बुल, दण्ड, अभय, कमण्डलु, गणेश जी, दर्पण, बाण और धनुष॥२-१४॥

उनको 'व्यक्त' अथवा 'अव्यक्त' मुद्रा दिखानी चाहिये। आसन-समर्पण के लिये 'पद्म-मुद्रा' कही गयी है। भगवान् शिव की पूजा में 'लिङ्ग-मुद्रा' का विधान है। यही 'शिवमुद्रा' है। 'आवाहनीमुद्रा' दोनों के लिये है। शक्ति-मुद्रा 'योनि' नाम से कही गयी है। इनका मण्डल या मन्त्र चतुरस्र है। यह चार हाथ लम्बा-चौड़ा हुआ करता है। मध्यवर्ती चार कोष्ठों में त्रिदल कमल अङ्कित करना चाहिये। तीनों कोणों के ऊर्ध्व भाग में अर्धचन्द्र रहना चाहिये। उसको दो पदों (कोष्ठों) को लेकर बनाया जाय। एक से दूसरा दुगुना होना चाहिये। द्वारों का कण्ठ भाग दोन्दो पदों का हो; परन्तु उपकण्ठ उससे दुगुना रहना चाहिये। एक-एक दिशा में तीन-तीन द्वार रखने चाहिये अथवा 'सर्वतोभद्र' मण्डल बनाकर उसमें पूजन करना चाहिये। अथवा किसी चबूतरे या वेदी पर देवता की स्थापना करके पञ्चगव्य तथा पञ्चामृत आदि से पूजन करना चाहिये॥१५-१८॥

पूजन करके उत्तराभिमुख हो उनको लाल रंग के समर्पित करने चाहिये। घृत आदि की सौ आहुतियाँ देकर पूर्णाहुति सम्प्रदान करने वाला साधक सम्पूर्ण सिद्धियों का भागी होता है। फिर बलि अर्पित करके तीन या आठ कुमारियों को भोजन कराये। पूजा का नैवेद्य शिवभक्तों को दे, स्वयं अपने उपयोग में न ले। इस तरह अनुष्ठान करके कन्या चाहने वाले को कन्या और पुत्रहीन को पुत्र की प्राप्ति हो जाती है। दुर्भाग्य वाली स्त्री सौभाग्यशालिनी होती है। राजा को युद्ध में विजय तथा राज्य की प्राप्ति हो जाती है। आठ लाख जप करने से वाक्सिद्धि प्राप्त होती है तथा

अष्टम्यां च चतुर्दश्यां तृतीयायां विशेषतः। मृत्युंजयार्चनं वक्ष्ये पूजयेत्कलशोदरे।।२३।।
हूयमानं च प्रणवो मूर्तिरौजूंस ईदृशम्। मूलं च वौषडन्तेन कुम्भमुद्रां प्रदर्शयेत्।।२४।।
होमयेत्क्षीरदूर्वाज्यममृतां च पुनर्नवाम्। पायसं च पुरोडाशमयुतं तु जपेन्मनुम्।।२५।।
चतुर्मुखं चतुर्बाहुं द्वाभ्यां च कलशं दधत्। वरदाभयकं द्वाभ्यां स्नायाद्वै कुम्भमुद्रया।।२६।।
आरोग्यैश्वर्यदीर्घायुरौषधं मन्त्रितं शुभम्। अपमृत्युहरो ध्यातः पूजितो ह्यत एव सः।।२७।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते गौर्यादिपूजावर्ण्नं नाम षड्विंशत्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः।।३२६।।

देवगण वश में हो जाते हैं। इष्टदेव को निवेदन किये बिना भोजन नहीं करना चाहिये। बायें हाथ से भी अर्चना कर सकते हैं। विशेषतः अष्टमी, चतुर्दशी तथा तथा तृतीया को ऐसा करने की विधि है।।१९-२२।।

अधुना मैं मृत्युंजय की पूजा का वर्णन करने जा रहा हूँ। कलश में उनकी पूजा करनी चाहिये। हवन में प्रणव मृत्युंजय की मूर्ति है और 'ओं जूं सः।'–इस तरह मूलमन्त्र है। 'ओं जूं सः वौषट्'।–ऐसा कहकर अर्चनीय देवता मृत्युंजय को कुम्भमुद्रा दिखावे। इस मन्त्र का दस हजार बार जप करना चाहिये तथा खीर, दूर्वा, घृत, अमृता (गुडुची), पुनर्नवा (गहदपूर्ना), पायस (पयःपक्व वस्तु) और पुरोडाश का हवन करना चाहिये। भगवान् मृत्युंजय के चार मुख और चार भुजाएँ हैं। वे अपने दो हाथों में कलश और दो हाथों में वरद एवं अभयमुद्रा धारण करते हैं। कुम्भमुद्रा से उनको स्नान कराना चाहिये। इससे आरोग्य, ऐश्वर्य तथा दीर्घायु की प्राप्ति हो जाती है। इस मन्त्र से अभिमन्त्रित औषधि शुभकारक होता है। भगवान् मृत्युंजय ध्यान किये जाने पर दुर्मृत्यु को दूर करने वाले हैं, इसलिये उनकी पूजा होती है।।२३-२७।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामंपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी तीन सौ छब्बीसवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।३२६।।

❖❖❖

अथ सप्तविंशत्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः

देवालयमाहात्म्यम्

ईश्वर उवाच

व्रतेश्वरांश्च सत्यादीनिष्ट्वा व्रतसमर्पणम्। अरिष्टशमने शस्तमरिष्टं सूत्रनायकम्॥१॥
हेमरत्नमयं भूत्यै महाशङ्खं च मारणे। आप्यायने शंखसूत्रं मौक्तिकं पुत्रवर्धनम्॥२॥
स्फाटिकं भूतिदं कौशं मुक्तिदं रुद्रनेत्रजम्। धात्रीफलप्रमाणेन रुद्राक्षं चोत्तमं ततः॥३॥
समेरुं मेरुहीनं वा सूत्रं जप्यं तु मानसम्। अनामाङ्गुष्ठमाक्रम्य जपं भाष्यं तु कारयेत्॥४॥
तर्जन्यङ्गुष्ठमाक्रम्य न मेरुं लङ्घयेज्जपे। प्रमादात्पतिते सूत्रे जप्तव्यं तु शतद्वयम्॥५॥
सर्ववाद्यमयी घण्टा तस्या वादनमर्थकृत्। गोशकृन्मूत्रवल्मीकमृत्तिका भस्मवारिभिः॥६॥
वेश्मायतनलिङ्गादेः कार्यमेवं विशोधनम्। स्कन्दों नमः शिवायेति मंत्रः सर्वार्थसाधकः॥७॥
गीतः पञ्चाक्षरो वेदे लोके गीतः षडक्षरः। ओमित्यन्ते स्थितः शंभुर्महार्णे वटबीजवत्॥८॥
क्रमान्नमः शिवायेति ईशानाद्यानि वै विदुः। षडक्षरस्य सूत्रस्य भाष्यं विद्याकदम्बकम्॥९॥

अध्याय–३२७

देवालय की महत्ता विचार

भगवान् श्रीशंकर ने कहा कि–हे कार्तिकेय! व्रतेश्वर और सत्य आदि देवताओं का पूजन करके उनको व्रत का समर्पण करना चाहिये। अरिष्ट-शान्ति के लिये अरिष्ट मूल की माला श्रेष्ठतम है। कल्याण प्राप्ति के लिये स्वर्ण एवं रत्नमयी, मारण कर्म में महाशङ्खमयी, शान्तिकर्म में शङ्खमयी और पुत्रप्राप्ति के लिये मौक्तिमयी माला से जप करना चाहिये। स्फटिकमणिकी माला कोष-सम्पत्ति देने वाली और रुद्राक्ष की माला मुक्तिदायिनी है। उसमें आँवले के बराबर रुद्राक्ष श्रेष्ठतम माना गया है। मेरु सहित या मेरुहीन माला भी जप में ग्राह्य हैं। मानसिक जप करते समय माला के मणियों को अनामिका और अङ्गुष्ठ से सरकाना चाहिये। उपांशु जप में तर्जनी और अङ्गुष्ठ के संयोग से मणियों की गणना करना चाहिये; परन्तु जप में मेरु का कभी उल्लघन नहीं करना चाहिये। यदि प्रमाद वश माला गिर जाय, तो दो सौ बार मन्त्रजय करना चाहिये। घण्टा सर्ववाद्यमय है। उसका वादन अर्थ-सिद्धि करने वाला है। गृह और मन्दिर में शिवलिङ्ग की, गोमय, गोमूत्र, वल्मीक-मृत्तिका, भस्म और जल से शुद्धि करनी चाहिये॥१-६॥

हे कार्तिकेय! 'ॐ नमः शिवायः'–यह मन्त्र सम्पूर्ण अभीष्ट अर्थों को सिद्ध करने वाला है। वेद में 'पञ्चाक्षर' और लोक में 'षडक्षर' माना गया है। परम अक्षर ओंकार में शिव सूक्ष्म वट बीज में वट वृक्ष के समान स्थित हैं। शिव के क्रमशः '**ॐ नमः शिवाय**'–'**ईशानः सर्वविद्यानाम्**' आदि मन्त्र समस्त विद्याओं के समुदाय इस षडक्षर मन्त्र के भाष्य हैं। 'ॐ नमः शिवायः–यह मनत्र ही परमपद है। इसी मन्त्र से शिवलिङ्ग का पूजन करना चाहिये; क्योंकि धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष सम्प्रदान करने वाले भगवान् शिव सम्पूर्ण लोकों पर अनुग्रह करने के लिये लिंग में प्रतिष्ठित हैं। जो मनुष्य शिलिंगका पूजन नहीं करता है, वह धर्म की प्राप्ति से वंचित रह जाता है। लिंग पूजन

यदों नमः शिवायेति एतावत्परमं पदम्। अनेन पूजयेल्लिङ्गं लिङ्गे यस्मात्स्थितः शिवः॥१०॥
अनुग्रहाय लोकानां धर्मकामार्थमुक्तिदः। यो न पूजयते लिङ्गं न स धर्मादिभाजनम्॥११॥
लिङ्गार्चनाद् भुक्तिमुक्तिर्यावज्जीवमतो यजेत्। वरं प्राणपरित्यागो भुञ्जीतापूज्य नैव तम्॥१२॥
रुद्रस्य पूजनाद्रुद्रो विष्णुः स्याद्विष्णुपूजनात्। सूर्यः स्यात्सूर्यपूजातः शक्त्यादिः शक्तिपूजनात्॥१३॥
सर्वयज्ञतपोदाने तीर्थे वेदेषु यत्फलम्। तत्फलं कोटिगुणितं स्थाप्य लिङ्गं लभेन्नरः॥१४॥
त्रिसंध्यं योऽर्चयेल्लिङ्गं कृत्वा बिल्वेन पार्थिवम्। शतैकादशिकं यावत्कुलमुद्धृत्य नाकभाक्॥१५॥
भक्त्या वित्तानुसारेण कुर्यात्प्रासादसंचयम्। अल्पे महति वा तुल्यं फलमाढ्यदरिद्रयोः॥१६॥
भागद्वयं च धर्मार्थं कल्पयेज्जीवनाय च। धनस्य भागमेकं तु अनित्यं जीवितं यतः॥१७॥
त्रिसप्तकुलमुद्धृत्य देवागारकृदर्थभाक्। मृत्काष्ठेष्टकशैलाद्यैः क्रमात्कोटिगुणं फलम्॥१८॥
अष्टेष्टकसुरागारकारी स्वर्गमवाप्नुयात्। पांशुना क्रीडमानोऽपि देवागारकृदर्थभाक्॥१९॥

॥इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते देवालयमाहात्म्यवर्णनं नाम सप्तविंशत्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः॥३२७॥

से भोग और मोक्ष दोनों की प्राप्ति हो जाती है, इसलिये जीवन पर्यन्त शिवलिंग का पूजन करे बिना भोजन नहीं करना चाहिये। मनुष्य रुद्र के पूजन से रुद्र, भगवान् श्रीहरि विष्णु के यजन से विष्णु, सूर्य की पूजा करने से सूर्य और शक्ति की अर्चना से शक्ति का सारूप्य प्राप्त करता है। उसको सम्पूर्ण यज्ञ, तप, दान की प्राप्ति हो जाती है। मनुष्य लिंग की स्थापना करके उससे करोड़ गुना फल प्राप्त करता है। जो मनुष्य प्रतिदिन तीनों समय पार्थिव-लिंग का निर्माण करके बिल्वपत्रों से उसका पूजन करता है, वह अपनी एक सौ ग्यारह पीढ़ियों का उद्धार करके स्वर्ग लोक को प्राप्त होता है। अपने धन संचय के अनुसार भक्तिपूर्वक देव मन्दिर निर्माण में यथा शक्ति अल्प या अधिक व्यय करने के समान फल मिलता है। संचित धन के दो भाग धर्म कार्य में व्यय करके जीवन-निर्वाह के लिये समभाग रखें। क्योंकि जीवन अनित्य है। देव मन्दिर बनवाने वाला अपनी इक्कीस पीढ़ियों का उद्धार करके अभीष्ट अर्थ की प्राप्ति करता है। मिट्टी, लकड़ी, ईंट और पत्थर से मन्दिर-निर्माण का क्रमशः करोड़ गुना फल है। आठ ईंटों से भी मन्दिर का निर्माण करने वाला स्वर्ग लोक को प्राप्त हो जाता है। क्रीडा में धूलिका मन्दिर बनाने वाला भी अभीष्ट मनेप्सित को प्राप्त करता है।७-११॥

॥इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी तीन सौ सत्ताईसवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ॥३२७॥

❖❖❖

अथाष्टविंशत्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः

छन्दःसारः

अग्निरुवाच

छन्दो वक्ष्ये मूलजैस्तैः पिङ्गलोक्तं यथाक्रमम्। सर्वादिमध्यान्तगणौ म्लौ भ्यो ज्रौ स्तौ त्रिका गणाः।।१।।
ह्रस्वो गुरुर्वा पादान्ते पूर्वयोगाद्विसर्गतः। अनुस्वाराद्व्यञ्जनात्स्याज्जिह्वामूलीयतस्तथा।।२।।
उपध्मानीयतो दीर्घो गुरुर्ग्लौ नौ गणाविह। वसवोऽष्टौ च चत्वारो वेदादीन्यादिलोकतः।।३।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते छन्दःसारकथनं नामाष्टाविंशत्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः।।३२८।।

अध्याय-३२८

छन्दगण सति लघु-गुरु विचार

श्रीअग्निदेव ने कहा कि–हे वसिष्ठ! अधुना मैं वेद के मूल मन्त्रों के अनुसार पिंगलोक छन्दों का क्रमशः वर्णन करने जा रहा हूँ। मगण, नगण, भगण, यगण, जगण, रगण, सगण और तगण–ये आठ गण होते हैं। सभी गण तीन-तीन अक्षरों के हैं। इनमें मगण के सभी अक्षर गुरु (ऽऽऽ) और नगण के सब अक्षर लघु (।।।) होते हैं। आदि गुरु (ऽ।।) होने से 'भगण' तथा आदि लघु (।ऽऽ) होने से 'भगण' तथा आदि लघु (।ऽऽ) होने से 'यगण' होता है। इसी तरह अन्त्य गुरु (।।ऽ) होने से 'सगण) तथा अन्त्य लघु होने से 'तगण' (ऽऽ।) होता है। पाद के अन्त में वर्तमान ह्रस्व अक्षर विकल्प से गुरु माना जाता है। विसर्म, अनुस्वार, संयुक्त अक्षर (व्यञ्जन), जिह्वामूलीय तथा उपध्मानीय से अव्यवहित पूर्व में स्थित होने पर 'ह्रस्व' भी गुरु' माना जाता है, दीर्घ तो गुरु है ही। गुरु का संकेत 'ग' और लघु का संकेत 'ल' है। 'ग' और 'ल' गण नहीं हैं। 'वुस' शब्द आठ की 'वेद' चार की संज्ञा हैं। इत्यादि तें लोक के अनुसार समझनी चाहिये।।१-३।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी तीन सौ अट्ठाईसवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।३२८।।

अथैकोनत्रिंशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः

छन्दःसारः

अग्निरुवाच

छन्दोधिकारे गायत्री देवी चैकाक्षरा भवेत्। पञ्चदशाक्षरा सा स्यात्प्राजापत्याऽष्टवर्णिका।।१।।
यजुषां षडर्णा गायत्री साम्नां स्याद्द्वादशाशरा। ऋचामष्टादशार्णा स्यात्साम्नां वर्धेत च द्वयम्।।२।।
ऋचां त्रयं च वर्धेत प्राजापत्याचतुष्टयम्। वर्धेदेकैककं शेषे आसुर्या एकमुत्सृजेत्।।३।।
उष्णिगनुष्टुब्बृहती पंक्तिस्त्रिष्टुब्जगत्यपि। तानि ज्ञेयानि क्रमशो गायत्र्यो ब्राह्य एव ताः।।४।।
तिस्रतिस्रः सनाम्न्य स्युरेकैका आर्ष्य एव च। प्राग्यजुषां च संज्ञाः स्युश्चतुःषष्टिपदे लिखेत्।।५।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते
छन्दः सारकथनं नामैकोनत्रिंशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः।।२३९।।

—✻✻✻—
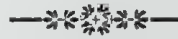
अध्याय-३२९

प्रमुख छन्द विचार

श्रीअग्नि देव ने कहा कि-हे वसिष्ठ! गायत्री छन्द के आठ भेद हैं-आर्षी, दैवी, आसुरी, प्राजापत्या, याजुषी, साम्नी, आर्ची तथा ब्राह्मी 'छन्द' शब्द अधिकार में प्रयुक्त हुआ है, अर्थात् इस पूरे प्रकरण में छन्द-शब्द की अनुवृत्ति होती है। 'दैवी' गायत्री एक अक्षर की, 'आसुरी' पन्द्रह अक्षरों की, 'प्राजापत्या' आठ अक्षरों की, 'याजुषी' छः अक्षरों की, 'साम्नी' गायत्री द्वादश अक्षरों की तथा 'आर्ची' अठारह अक्षरों की है। यदि साम्नी गायत्री में क्रमशः दो-दो अक्षर बढ़ाते हुए उनको छः कोष्ठों में लिखा जाय, इसी तरह आर्ची गायत्री में तीन-तीन, प्राजापत्या-गायत्री में चार-चार तथा अन्य गायत्रियों में अर्थात् दैवी और याजुषी में क्रमशः एक-एक अक्षर बढ़ जाय एवं आसुरी गायत्री का एक-एक अक्षर क्रमशः छः कोष्ठों में घटता जाय तो उनको 'साम्नी' आदि भेद सहित क्रमशः उष्णिक्, अनुष्टुप्, बृहती, पङ्क्ति, त्रिष्टुप् और जगती छन्द समझना चाहिये।

याजुषी, साम्नी तथा आर्ची-इन तीन भेदों वाले गायत्री आदि प्रत्येक छन्द के अक्षरों को पृथक्-पृथक् जोड़ने पर उन सभी को 'ब्राह्मी-गायत्री', 'ब्राह्मी-उष्णिक्' आदि छन्द समझना चाहिये। इसी तरह याजुषी के पहले जो दैवी, आसुरी और प्राजापत्या नामक तीन भेद हैं, उनके अक्षरों को पृथक्-पृथक् छः कोष्ठों में जोड़ने पर जितने अक्षर होते हैं। वे 'आर्षी गायत्री', 'आर्षी उष्णिक्' आदि कहलाते हैं। इन भेदों को स्पष्ट रूप से समझने के लिये चौसठ कोष्ठों में लिखना चाहिये।।१-५।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी तीन सौ उन्तीसवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।३२९।।

❖❖❖

अथ त्रिंशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः

छन्दःसारः

अग्निरुवाच

पाद आपादपूरणे गायत्र्यो वसवः स्मृताः। जगत्या आदित्याः पादो विराजो दिश ईरिताः॥१॥
त्रिष्टुभो रुद्राः पादः स्याच्छन्द एकादिपादकम्। आद्यं चतुष्पादृतुभिस्त्रिपात्सप्ताक्षरैः क्वचित्॥२॥
(सा गायत्री पादनिचृत्प्रतिष्ठाष्टाद्रिषट्त्रिपात्। वर्धमाना षडष्टाष्टा त्रिपात्षडष्टभूधरैः॥३॥

अध्याय–३३०

छन्द प्रकार आदि के विचार

श्रीअग्निदेव ने कहा कि–इस प्रकरण की पूर्ति होने तक 'पादः' पद का अधिकार (अनुवर्तन) है। जहाँ गायत्री आदि छन्दों में किसी पाद की अक्षर-संख्या पूरी न हो, वहाँ 'इय्', 'उव्' आदि के द्वारा उसकी पूर्ति की जाती है। जिस प्रकार '**तत्सवितुर्वरेण्यम्**' में आठ अक्षर की पूर्ति के लिये 'वरेण्यम्' के स्थान में 'वरेणियम्' समझ लिया जाता है। 'स्वःपते' के स्थान में 'सुवःपते' माना जाता है। गायत्री छन्द का एक पाद आठ अक्षरों का होता है। अर्थात् जहाँ 'गायत्री के पाद' का कथन हो, वहाँ आठ अक्षर ग्रहण करने चाहिये। यही बात अन्य छन्दों के पादों के सम्बन्ध में भी है। 'जगती' छन्द का पाद द्वादश अक्षरों का होता है। विराट् के पाद इस अक्षरों के बताये गये हैं। 'त्रिष्टुप्' छन्द का चरण ग्यारह अक्षरों का है। जिस छन्द का जैसा पाद बतलाया गया है, उसी के अनुसार कोई छन्द एक पाद का, कोई दो पाद का, कोई तीन पाद और कोई चार पाद का माना गया है। जैसे आठ अक्षर के तीन पादों का 'गायत्री' छन्द और चार पादों का 'अनुष्टुप्' होता है। 'आदि छन्द' अर्थात् 'गायत्री' कहीं छः अक्षर के पादों से चार पादों की होती है। जिस प्रकार ऋग्वेद में –'**इन्द्रः शचीपतिर्बलेन वीलितः। दुश्च्यवनो वृषा लमत्सु सामहिः॥** कही-कहीं गायत्री सात अक्षर के पादों से तीन पाद की होती है। जिस प्रकार ऋग्वेद में–'**युवाकु हि शचीनां युवाकु सुमतीनाम्। भूयाम वाजदाम्नाम्॥**' (१/१७/४) वह सात अक्षरों वाली गायत्री 'पाद-निवृत्' संज्ञा धारण करती है। यदि गायत्री का प्रथम पाद आठ अक्षरों का, द्वितीय पाद सात अक्षरों का तथा तृतीय पाद छः अक्षरों का हो, तो वह 'प्रतिष्ठा गायत्री' नामक छन्द होता है। जिस प्रकार ऋग्वेद में –'**आपः पृणीत भेषजं वरूथं तन्वे मम। ज्योक् च सूर्यं दृशे॥**' (१/२२/२१) इसके विपरीत यदि गायत्री का प्रथम पाद छः, द्वितीय पाद आठ और तीसरा पाद सात अक्षरों का हो, तो उसका नाम '**अतिपाद निवृत्**' होता है। यदि दो चरण नौ–नौ अक्षरों के हों और तीसरा चरण छः अक्षरों का हो, तो वह 'नागी' नाम की गायत्री होती है। (जिस प्रकार ऋग्वेद में–'**अग्ने तमद्याश्वं न स्तोमैः क्रतुं न भद्रं हृदिस्पृशम्। ऋध्यामां ओहैः॥**' (४/१०/१) यदि प्रथम चरण छः अक्षरों का और द्वितीय-तृतीय नौ-नौ अक्षरों के हों तो '**वाराही गायत्री**' नामक छन्द होता है। (जिस प्रकार सामवेद में–'**अग्ने मृड महाँ अस्यय आदेवयुं जनम्। इयेथ बर्हिरासदम्॥**' (२३) अधुना तीसरे अर्थात् 'विराट्' नामक भेद को बतलाते हैं। जहाँ दो ही चरणों का छन्द हो, वहाँ यदि प्रथम चरण द्वादश और द्वितीय चरण आठ अक्षर का हो, तो वह '**द्विपाद् विराट्**' नामक गायत्री छन्द है। जिस प्रकार ऋग्वेद में–'**नृभिर्येमानो हर्यतो विचक्षणो। राजा देवः समुद्रियः॥**' (९/१०७/१६)।

गायत्र्यतिपादनिचृन्नागो नवनवर्तुभिः। वाराही रसद्विरन्धैश्छन्दश्चाथ तृतीयकम्।।४।।
द्विपाद्द्वादशवस्वर्णैस्त्रिपात्तु त्रैष्टुभैः स्मृतम्। उष्णिक्छन्दोऽष्टवस्वर्कैः पादैर्वेदे प्रकीर्तितः।।५।।
ककुबुष्णिगष्टसूर्यवस्वर्णै स्त्रिभिरेव सः। पुर उष्णिक्सूर्यवसुवस्वर्णैश्च त्रिपाद्भवेत्)।।६।।
परोष्णिक्परतस्तु स्याच्चतुष्पादृषिभिर्भवेत्। साष्टाक्षरैरनुष्टुप्स्याच्चतुष्पाच्च त्रिपात्क्वचित्।।७।।
अष्टार्कसूर्यवर्णैः स्यान्मध्येऽन्ते च क्वचिद्भवेत्। बृहती जगतस्त्रयो गायत्र्याः पूर्वको यदि।।८।।

ग्यारह अक्षरों के तीन चरण होने पर 'त्रिपाद् विराट्' नामक गायत्री होती है। उदाहरण ऋग्वेद में –'**दुहीयन् मित्रधितये युवाकु राये च नो मिमीतं वाजवत्यै। इषे च नो मिमीतं धेनुमत्यै।।**' (१/१२०/९)।।१-४।।

जिस समय दो चरण आठ-आठ अक्षरों के और एक चरण द्वादश अक्षरों का हो, तो वेद में उसको 'उष्णिक्' नाम दिया गया है। प्रथम और तृतीय चरण आठ अक्षरों के हों और मध्य का द्वितीय चरण द्वादश अक्षरों का हो, तो वह तीन पादों का '**ककुप् उष्णिक्**' नामक छन्द होता है। (जिस प्रकार ऋग्वेद में–'**सुदेवः समहासति सुवीरो नरो मरुतः स मर्त्यः। यं त्रायध्वेऽस्यासते।।**' (५/५३/१५) जिस समय प्रथम चरण द्वादश आरों का और द्वितीय-तृतीय चरण आठ-आठ अक्षरों के हों तो '**पुर उष्णिक्**' नामक तीन पादों वाला छन्द होता है। (जिस प्रकार ऋग्वेद में–'**अप्स्वन्तरमृतमप्सु भेषजमपामुत प्रशस्तये। देवा भवत वाजिनः।।** (१/२३/१९) जिस समय प्रथम और द्वितीय आठ-आठ अक्षरों के हों और तृतीय चरण द्वादश अक्षरों का हो, तो 'परोष्णिक्' छन्द होता है। (जिस प्रकार ऋग्वेद में–'**अग्ने वाजस्य गोमत ईशानः सहसो यहो। अस्मे धेहि जातवेदो महि श्रवः।।**' (१/७९/४) सात-सात अक्षरों के चार चरण होने पर भी 'उष्णिक्' नामक छन्द होता है। (जिस प्रकार ऋग्वेद में–'**नदं व ओदतीनां नदं यो युवतीनाम्। पतिं वो अध्न्यानां धेनूनामिषुध्यसि।।**' (८-६९/२)

आठ-आठ अक्षर के चार चरणों का 'अनुष्टुप्' नामक छन्द होता है। (जिस प्रकार यजुर्वेद में–'**सहस्त्रशीर्षा पुरुषः सहस्त्राक्षः सहस्त्रपात्। स भूमिं सर्वतः स्पृत्वा अत्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्।।**' (३१/१) अनुष्टुप् छन्द कहीं-कहीं तीन चरणों का भी होता है। 'त्रिपाद अनुष्टुप्' दो तरह के होते हैं। एक तो वह है, जिसके चरण में आठ तथा द्वितीय और तृतीय चरणों में द्वादश-द्वादश अक्षर होते हैं।

दूसरा वह है, जिसका मध्यम अथवा अन्तिम पाद आठ अक्षर का हो तथा शेष दो चरण द्वादश-द्वादश अक्षर के हों। आठ अक्षर के मध्यम पादवाले '**त्रिपाद् अनुष्टुप्**' का उदाहरण जिस प्रकार ऋग्वेद में–'**पर्यूपु प्र धन्व वाजसातय, परि वृत्राणि सक्षणिः। द्विषस्तरध्या ऋणया न ईयसे।।**' (९/११०/१) तथा आठ अक्षर के अन्तिम चरण वाले '**त्रिपाद् अनुष्टुप्**' का उदाहरण–ऋग्वेद में–'**मा कस्मै धातमभ्यमित्रिणे नो मा कुत्रा नो गृहभ्यो धेनवो गुः। स्तनाभुजो अशिश्वीः।।**' (१/१२०/८)

यदि एक चरण 'जगती' का (अर्थात् द्वादश अक्षर का) हो और शेष तीन चरण गायत्री के अर्थात् आठ-आठ अक्षर के हों तो वह चार चरणों का '**बृहती छन्द**' होता है। इसमें भी जिस समय पहले का स्थान तीसरा चरण ले ले अर्थात् वही जगती का पाद हो और शेष चरण गायत्री के हों तो उसको 'पथ्या बृहती' कहते हैं। जिस प्रकार सामवेद में–'**मा चिदन्यद् विशंसत सखायो मा रिषण्यत। इन्द्रमित् स्तोता वृषणं सचा सुते मुहुरुक्था च शंसत।।**' (२४२) जिस समय पहले वाला 'जगती' का चरण द्वितीय पाद हो जाय और शेष तीन गायत्री के चरण हों तो '**न्यङ्कुसारिणी बृहती**' नामक छन्द होता है।

जिस प्रकार ऋग्वेद में–'**मत्स्यपायि ते महः पात्रस्येव हरिवो मत्सरो मदः। वृषा ते वृष्ण**

तृतीयः पथ्या भवति द्वितीया न्यङ्कुसारिणी। स्कन्धो ग्रीवा क्रौष्टके स्याद्यास्कस्योरो बृहत्यपि॥९॥
उपरिष्टाद्बृहत्यन्ते पुरस्ताद्बृहती पुनः। क्वचिन्नवकाश्चत्वारो दिग्विदिक्ष्वष्टवर्णिका॥१०॥
महाबृहती जागतैः स्यात्त्रिभिः सतो बृहत्यपि। ताण्डिनः पङ्क्तिश्छन्दः स्यात्सूर्यार्काष्टाष्टवर्णकैः॥११॥
पूर्वौ चेदयुजौ सतः पङ्क्तिश्च विपरीतकौ। प्रस्तारपङ्क्तिः पुरतः परादास्तारपङ्क्तिकः॥१२॥

इन्दुर्वाजीसहस्रसातमः।।' (१/१७५/१) आचार्या क्रोष्टुकि के मत में यह (न्यङ्कुसारिणी) 'स्कन्ध' या 'ग्रीवा' नामक छन्द है। यास्काचार्य ने इसको ही 'उरोबृहती) नाम दिया है। जिस समय अन्तिम (चतुर्थ) चरण 'जगती' का हो और प्रारम्भ के तीन चरण गायत्री के हों और प्रारम्भ के तीन चरण गायत्री के हों तो '**उपरिष्टाद् बृहती**' नामक छन्द होता है। वही 'जगती' का चरण जिस समय पहले हो और शेष तीन चरण गायत्री छन्द के हों तो उसको '**पुरस्ताद् बृहती**' छन्द कहते हैं। (जिस प्रकार ऋग्वेद में–'**महो यस्यतिः शस्वसो असाम्या महो नृम्णस्य ततुजिः। मर्ता वज्रस्य धृष्णोः पिता पुत्रमिव प्रियम्।।**' (१०/१२/३) वेद में कहीं-कहीं नौ-नौ अक्षरों के चार चरण दिखायी देते हैं। वे भी 'बृहती' छन्द के ही अन्तर्गत हैं। (उदाहरण के लिये ऋग्वेद में–'**तं त्वा वयं पितो वचोभिर्गावो न हव्या सुषूदिम। देवेभ्यस्त्वा सधमादमस्मभ्यं त्वा सधमादम्।।**' (१/१८७/११) जहाँ पहले दस अक्षर के दो चरण हों, फिर आठ अक्षरों के दो चरण हों, उसको भी 'बृहीती' छन्द कहते हैं। जिस प्रकार सामेवेद में–'**अग्ने विवस्वदुषसश्चित्रं राधो अमर्त्य। आ दाशुषे जातवेदो वहा त्वमद्या देवाँ उषर्बुधः।।**' (४०) केवल 'जगती' छन्द के तीन चरण हों तो उसको 'महाबृहती' कहते हैं। जिस प्रकार ऋग्वेद में–'**अजीजनो अमृत मर्त्येष्वाँ, ऋतस्य धर्मन्नमृतस्य चारुणः। सदासरो वाजमच्छासनिष्यदत्** (९/११०/४) ताण्डी नामक आचार्य के मत में यही 'सतो बृहती' नामक छन्द है॥५-१०॥

जहाँ दो पाद द्वादशं-द्वादश अक्षरों के और दो आठ-आठ अक्षरों के हों, वहाँ 'पङ्क्ति' नामक छन्द होता है। यदि विषम पाद अर्थात् प्रथम और तृतीय चरण पूर्वकथनानुसार द्वादश-द्वादश अक्षरों के हों और शेष दोनों आठ-आठ अक्षरों के तो उसको 'सतःपङ्क्ति' नामक छन्द कहते हैं। जिस प्रकार ऋग्वेद में–'**यं देवासो मनवे दधुरिह यजिष्ठं हव्यवाहन। यं कण्वो मेध्यातिथिर्धनस्पृतं यं वृषा यमुपस्तुतः।।**' (१/३६/१०) यदि वे ही चरण विपरीत अवस्था में हों, अर्थात् प्रथम-तृतीय चरण आठ-आठ अक्षरों के और द्वितीय-चतुर्थ द्वादश-द्वादश अक्षरों के तो भी वह छन्द 'सतःपङ्क्ति' ही कहलाता है।

जिस प्रकार ऋग्वेद में–'**य ऋष्वे श्रावयत्सखा विश्वेत् स वेद जनिमा पुरुष्टुतः। तं विश्वे मानुषा युगे, इन्द्रं हवन्ते तविषं यतासुचः।।**' (८/४६/१२) जिस समय पहले के दोनों चरण द्वादश-द्वादश अक्षरों के हों और शेष दोनों आठ-आठ अक्षरों के, तो उसको '**प्रस्तारपङ्क्ति**' कहते हैं। ग्यारहवें श्लोक में बताये हुए 'पङ्क्ति' छन्द के लक्षण से ही यह गतार्थ हो जाता है, तथापि विशेष संज्ञा देने के लिये यहाँ पुनः उपादान किया गया है। मन्त्र-ब्राह्मण में इसका उदाहरण इस तरह है–'**काम वेदते मदो नामासि समानया अमुं सुरा ते अभवत्। परमत्र जन्मा अग्ने तपसा निर्मितोऽसि।।**' जिस समय अन्तिम दो चरण द्वादश-द्वादश अक्षरों के हों और प्रारम्भ के दोनों आठ-आठ अक्षरों के तो 'आस्तारपङ्क्ति' नामक छन्द होता है। जिस प्रकार ऋग्वेद में–**भद्रं नो अपि वातय, मनो दक्षमुत क्रतम्। अधा ते सख्य अन्धसो वि वो मदे रणन् गावो न यवसे विवक्षसे।।**' (१०/२५/०१) यदि द्वादश अक्षरों वाले दो चरण मध्य में हों और प्रथम एवं चतुर्थ चरण आठ-आठ अक्षरों के हों तो उसको 'विस्तारपङ्क्ति' कहते हैं। जिस प्रकार ऋग्वेद में–'**अग्ने तव श्रवो वयो, महि भ्राजन्ते अर्चयो विभावसो। बृहद्भानो शवसा वाजमुक्थ्यं दधासि दाशुषे कवे।।**' (१०/१४०/१) यदि द्वादश अक्षरों वाले दो चरण द्वादश हों, अर्थात् प्रथम एवं चतुर्थ चरण के रूप

विस्तारपङ्क्तिरन्तश्चेद्बहिः संस्तारपङ्क्तिका। अक्षरपङ्क्तिः पञ्चकाश्च चत्वारश्चाल्पशो द्वयम्।।१३।।
पदपङ्क्तिः पञ्च भवेच्चतुष्कं षट्ककत्रयम्। षट्कपञ्चीभर्गायत्रैः षड्भिश्च जगती भवेत्।।१४।।
एकेन त्रिष्टुब्ज्योतिष्मती तथैव जगतीरिता। पुरस्ताज्ज्योतिः प्रथमे मध्येज्योतिश्च मध्यतः।।१५।।
उपरिष्टाज्ज्योतिरन्त्यादेकस्मिन्पञ्चके तथा। भवेच्छन्दः शङ्कुमती षट्के छन्दः ककुद्मती।।१६।।
त्रिपादशिशुमध्या स्यात्सा पिपीलिकमध्यमा। विपरीता यवमध्या त्रिवृदेकेन वर्जिता।।१७।।
भूरिजैकेनाधिकेन विहीना च चिराद्भवेत्। स्वराट्स्याद्द्वाभ्यामधिकं संदिग्धे दैवतादितः।।१८।।

में हों और मध्य के द्वितीय-तृतीय चरण आठ-आठ अक्षरों के हों तो वह 'संस्तारपङ्क्ति' नामक छन्द होता है। (जिस प्रकार ऋग्वेद में–'**पितुभृतो न तन्तुमित् सुदानवः प्रतिदध्मो यजामसि। उषा अप स्वसुस्तमः संवर्तयति वर्तनि सुजातता।।**' (१०/१७२/३) पाँच-पाँच अक्षरों के चार पाद होने पर 'अक्षरपङ्क्ति' नामक छन्द होता है। (जिस प्रकार ऋग्वेद में –'**प्र शुक्रैतु देवी मनीषा। अस्मत् सुतष्टो रथो न वाजी।।**' (७/३४/१) पाँच अक्षरों के दो ही चरण होने पर 'अल्पशः-पङ्क्ति' नामक छन्द कहलाता है। जहाँ पाँच-पाँच अक्षरों के पाँच पाद हों, वहाँ '**पदपङ्क्ति**' नामक छन्द समझना चाहिये। जिस प्रकार ऋग्वेद में–'**घृतं न पूतं तनूररेपाः शुचि हिरण्यं तत्ते रुक्मो न रोचत स्वधावः।।**' (४/१०/६) जिस समय पहला चरण चार अक्षरों, का दूसरा छः अक्षरों का तथा शेष तीन पाद पाँच-पाँच अक्षरों के हों तो भी 'पदपङ्क्ति' छन्द ही होता है। आठ-आठ अक्षरों के पाँच पादों का 'पथ्यापङ्क्ति' नामक छन्द कहा गया है। जिस प्रकार ऋग्वेद में–'**अक्षन्नमीमदन्त ह्यव प्रिया अधूषत। अस्तोषत स्वभानवो विप्रा नविष्ठया यती योजान्विन्द्र ते हरी।।**' (१/८२/२) आठ-आठ अक्षरों के छः चरण होने पर 'जगतीपङ्क्ति' नामक छन्द होता है। जिस प्रकार मन्त्रब्राह्मण में–'**येन स्त्रियमकृणुतं येनापमृषतं सुराम; येनाक्षामभ्यषिञ्चतम्। येनेमां पृथ्वीं महीं यद्वां वदश्विना यशस्तेन मामभिषिञ्चतम्।।**'।।११-१४।।

'त्रिष्टुप्' अर्थात् ग्यारह अक्षरों का एक पाद हो और आठ-आठ अक्षरों के चार पाद हों तो पाँच पादों का '**त्रिष्टुब्ज्योतिष्मती**' नामक छन्द होता है। इसी तरह जिस समय एक चरण 'जगती' का अर्थात् द्वादश अक्षरों का हो और चरण 'गायत्री' के (आठ-आठ अक्षरों के) हों तो उस छन्द का नाम 'जगतीज्योतिष्मती' होता है। यदि पहला ही चरण ग्यारह अक्षरों को हो और शेष चार चरण आठ-आठ अक्षरों के हों तो '**पुरस्ताज्ज्योति**' नामक त्रिष्टुप् छन्द होता है और यदि पहला ही चरण द्वादश अक्षरों का तथा शेष चार चरण आठ-आठ के हों तो 'पुरस्ताज्ज्योति' नामक जगती छन्द होता है। जिस समय मध्यम चरण ग्याहर अक्षरों और आगे-पीछे के दो-दो चरण आठ-आठ के हों तो 'मध्ये-ज्योति' नामक त्रिष्टुप् छन्द होता है; इसी तरह जिस समय मध्यम चरण द्वादश तथा आदि अन्त के दो-दो चरण आठ-आठ के हों तो '**मध्ये-ज्योति**' नामक जगती छन्द होता है। जिस समय प्रारम्भ के चार चरण आठ-आठ अक्षरों के हों तथा अन्तिम चरण ग्यारह अक्षरों का हो, तो उसको 'उपरिष्टाज्ज्योसि' नामक त्रिष्टुप् छन्द कहते हैं। इसी तरह जिस समय आदि के चार चरण पूर्ववत् आठ-आठ के हों और अन्तिम पाद द्वादश अक्षरों का हो, तो उसका नाम 'उपरिष्टाज्ज्योति' जगती छन्द होता है।।१५।।

गायत्री आदि सभी छन्दों के एक पाद में यदि पाँच अक्षर हों तथा अन्य पदों में पहले के अनुसार नियत अक्षर ही हों तो उसको छन्द का नाम 'शङ्कुमती' होता है। जिस प्रकार प्रथम पाद पाँच अक्षर का और तीन चरण छः-छः अक्षरों का होने पर उसको 'शङ्कुमती गायत्री' कह सकते हैं। जिस समय एक चरण छः अक्षरों का हो और अन्य चरणों में पहले बताये अनुसार नियत अक्षर ही हों तो उसका नाम 'कुकुदमती' होगा। जहाँ तीन पाद वाले छन्द के

आदिपादान्निश्चयः स्याच्छन्दसां देवताः क्रमात्)। (अग्निः सूर्यः शशी जीवो वरुणश्चन्द्र एव च॥१९॥
विश्वेदेवाश्च षड्जगत्याः स्वराः षड्जो वृशः क्रमात्। गान्धारो मध्यमश्चैव पञ्चमो धैवतस्तथा॥२०॥
निषादो वर्णः श्वेतश्च सारङ्गश्च पिशङ्गकः। कृष्णो नीलो लोहितश्च गौरो गायत्रिमुख्यके॥२१॥

गोरोचनाभाः कृतयो ह्यतिपूछ (च्छ) न्दो हि श्यामलम्।
अग्निवैंश्यः काश्यपश्च गौतमाङ्गिरसौ क्रमात्॥२२॥
भार्गवः कौशिकश्चैव वासिष्ठौ गोत्रमीरितम्॥२३॥

॥इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते छन्दःसारकथनं नाम त्रिंशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः॥३३०॥

पहले और दूसरे चरण में अधिक अक्षर हों और मध्य वाले में बहुत ही कम हों, वहाँ उस छन्द का नाम '**पिपीलिकमध्या**' होगा। (जिस प्रकार त्रिपदा गायत्री के आदि और अन्त चरण आठ-आठ अक्षर के हों तो तथा मध्य वाला चरण तीन, चार या पाँच अक्षर का हो, तो उसको 'पिपीलिकामध्या' कहेंगे।) इसके विपरीत जिस समय आदि और अन्त वाले पादों के अक्षर कम हों और मध्य वाला पाद अधिक अक्षरों का हो, तो उस 'त्रिपाद् गायत्री' आदि छन्द को 'यवमध्या' कहते हैं। यदि 'गायत्री' या 'उष्णिक्' आदि छन्दों में केवल एक अक्षर की कमी हो, उसकी 'निचृत्' यह विशेष संज्ञा होती है। एक अक्षर की अधिकता होने पर वह छन्द 'भूरिक्' नाम धारण करता है। इस तरह दो अक्षरों की कमी रहने पर 'विराट्' और दो अक्षर अधिक होने पर 'स्वराट्' संज्ञा होती है। संदिग्ध अवस्था में आदि पाद के अनुसार छन्द का निर्णय करना चाहिये। (जिस प्रकार कोई मन्त्र छब्बीस अक्षर का है, उसमें गायत्री से दो अक्षर अधिक हैं और उष्णिक् से दो अक्षर कम–ऐसी दशा में वह 'स्वराड् गायत्री' छन्द है या 'विराड् उष्णिक्'?-

ऐसे संदेहयुक्त स्थलों में यदि मन्त्र का पहला चरण 'गायत्री' से मिलता हो, तो उसको 'स्वराड् गायत्री' कहेंगे और यदि प्रथम पाद 'उष्णिक्' से मिलता हो, तो उसको 'विराड् उष्णिक्' कह सकते हैं। इसी तरह तरह अन्यत्र भी सझना चाहिये। इसी तरह देवता, स्वर, वर्ण तथा गोत्र आदि के द्वारा संदिग्धस्थल में छन्द का निर्णय हो सकता है। गायत्री आदि छन्दों के देवता क्रमशः इस तरह हैं–अग्नि, सूर्य, चन्द्रमा, बृहस्पति, मित्रावरुण, इन्द्र तथा विश्वेदेव। कथित छन्दों के स्वर हैं–'षड्ज' आदि। उनके नाम क्रमशः ये हैं–षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पञ्चम, धैवत और निषाद। श्वेत, सारंग, पिशङ्ग, कृष्ण, नील, लोहित (लाल) तथा गौर–ये क्रमशः गायत्री आदि छन्दों के वर्ण हैं। 'कृति' नाम वाले छन्दों का वर्ण गोरोचन के समान है और अतिच्छन्दों का वर्ण श्यामल है। अग्निवेश्य, काश्यप, गौतम, अङ्गिरा, भार्गव, कौशिक तथा वसिष्ठ–ये क्रमशः कथित सात छन्दों के गोत्र बताये गये हैं॥१६-२३॥

॥इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी तीन सौ तीसवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ॥३३०॥

❖❖❖

अथैकत्रिंशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः

छन्दोजातिनिरूपणम्

अग्निरुवाच

चतुःशतमुत्कृतिः स्यादुत्कृतेश्चतुरस्त्यजेत्। अभिसंख्या प्रत्यकृतिस्तानि च्छन्दांसि वै पृथक्।।१।।
कृतिश्चातिधृतिर्धात्री अत्यष्टिश्चाष्टिरित्यतः। अतिशक्वरी शक्वरीति अतिजगती जगत्यपि।।२।।
छन्दोऽत्र लौकिकं स्याच्च आर्षमात्रैष्टुभात्स्मृतम्। त्रिष्टुप्पङ्क्तिबृहती अनुष्टुबुष्णिगीरितम्।।३।।
गायत्री स्यात्सुप्रतिष्ठा प्रतिष्ठा मध्यया सह। अत्युक्तात्युक्त आदिश्च एकैकाक्षरवर्जितम्।।४।।
चतुर्भागो भवेत्पादो गणच्छन्दः प्रदर्श्यते। तावन्तः समुद्रा गणा ह्यादिमध्यान्तसर्वगाः।।५।।
चतुर्वर्णाः पञ्च गणा आर्यालक्षणमुच्यते। स्वरार्धं च आर्यार्धं स्यादार्यायां विषमेण जः।।६।।

अध्याय-३३१

छन्द जाति विचार

श्रीअग्निदेव ने कहा कि-वसिष्ठ जी! एक सौ चार अक्षरों का 'उत्कृति' छन्द होता है। (जिस प्रकार यजुर्वेद में-'होता यक्षदश्विनौ छागस्य०' इत्यादि (२१/४१) 'उत्कृति' छन्द में से चार-चार घटाते जायँ तो क्रमशः निम्नांकित छन्द होते हैं-सौ अक्षरों की 'अभिकृति', छानबे अक्षरों की 'संस्कृति', बानबे अक्षरों की 'विकृति', अठासी अक्षरों की 'आकृति', चौरासी अक्षरों की 'प्रकृति', अस्सी अक्षरों की 'कृति', छिहत्तर अक्षरों की 'अधिकृति', बहत्तर अक्षरों की 'धृति', अड़सठ अक्षरों की 'अत्यष्टि', चौसठ अक्षरों की 'अष्टि', साठ अक्षरों की 'अतिशक्वरी', छप्पन अक्षरों की 'शक्वरी' बावन अक्षरों की 'अतिजगती' तथा अड़तालीस अक्षरों की 'जगती' होती है। यहाँ तक केवल वैदिक छन्द हैं। यहाँ से आगे लौकिक छन्द का अधिकार है। 'गायत्री' से लेकर 'त्रिष्टुप्' तक जो आर्षछन्द वैदिक छन्दों में गिनाये ये हैं, वे लौकिक छन्द भी हैं। उनके नाम इस तरह हैं-त्रिष्टुप्, पङ्क्ति, बृहती, अनुष्टुप्, उष्णिक् और गायत्री। गायत्री छन्द में क्रमशः एक-एक अक्षर की कमी होने पर 'सुप्रतिष्ठा' 'प्रतिष्ठा', 'मध्या', 'अत्युक्तात्युक्त' तथा 'आदि' नामक छन्द होते हैं।।१-४।।

छन्द के चौथाई भाग को 'पाद' या 'चरण' कहते हैं। छन्द तीन तरह के हैं-गणच्छन्द, मात्रा-छन्द और अक्षरच्छन्द। पहले 'गणच्छन्द' दिखलाया जाता है। चार लघु अक्षरों की 'गण' संज्ञा होती है। 'आर्या' के लक्षणों की सिद्धि ही इस संज्ञा का प्रयोजन है।) ये गण पाँच हैं। कहीं आदि गुरु (ऽ।।), कहीं सर्वगुरु (ऽऽ), कहीं अन्त्य गुरु (।।ऽ), कहीं सर्वगुरु (ऽऽ) और कहीं चारों अक्षर लघु (।।।।) होते हैं। (एक 'गुरु' दो 'लघु' अक्षरों के बराबर होता है; इसलिये जहाँ सब लघु हैं, वहाँ चार अक्षर तथा जहाँ सब गुरु हैं, वहाँ दो अक्षर दिखाये गये हैं।) अधुना 'आर्या' का लक्षण बतलाया जाता है। साढ़े सात गणों की, अर्थात् तीस मात्राओं या तीस लघु अक्षरों की अघी 'आर्या' होती है। (आर्या में गुरुवर्ण को दो मात्रा या दो लघु मानकर गिनना चाहिये।

'आर्या' छन्द के विषय गणों में जगण (।ऽ।) का प्रयोग नहीं होता। परन्तु छठा गण अवश्य जगण (।ऽ।) होना चाहिये। अथवा वह नगण और लघु यानी सब का सब लघु भी हो सकता है। जिस समय छठा गण सब का

षष्ठो जो न लघुर्वा स्याद्द्वितीयादिपदं नले। सप्तमेऽन्ते प्रथमा च द्वितीये पञ्चमे नले॥७॥
अर्धे पदं प्रथमादि षष्ठ को लघुर्भवेत्। त्रिषु गणेषु पादः स्यादार्या पञ्चार्धके स्मृता॥८॥
विपुलान्यथ चपला गुरुमध्यगतौ च जौ। द्वितीयचतुर्थौ पूर्वे च चपला मुखपूर्विका॥९॥
द्वितीये जघनपूर्वा चपलार्या प्रकीर्तिता। उभयोर्महाचपला गीतवाद्यार्धतुल्यका॥१०॥
अन्त्येनार्धेनोपगीतिरुद्गीतिश्चोत्क्रमात्स्मृता। अर्धे रक्षगणा आर्यागीतिच्छन्दोऽथ मात्रया॥११॥
वैतालीयं द्विशस्ता स्याच्चतुष्पादे समे नलः। वसवोऽन्ते वनगाश्च गोपुच्छं दशकं भवेत्॥१२॥

सब लघु हो, तो उस गण के द्वितीय अक्षर से सुबन्त या तिङन्तलक्षण पदसंज्ञा की प्रवृत्ति होती है। यदि छठा गण मध्य गुरु (।ऽ।) अथवा सर्वलघु (।।।।) हो और सातवाँ गण भी सर्वलघु ही हो, तो सातवें गण के प्रथम अक्षर से 'पद' संज्ञा की प्रवृत्ति होती है। इसी तरह जिस समय आर्या के उत्तरार्ध-भाग में पाँचवाँ गण सर्वलघु हो, तो उसके प्रथम अक्षर से ही पद का प्रारम्भ होता है। आर्या के उत्तरार्ध भाग में छठा गण एकमात्र लघु अक्षर का (।) होता है। जिस आर्या के पूर्वार्ध और उत्तरार्ध में तीन-तीन गणों के बाद पहले पाद का विराम होता है, उसको 'पथ्या' माना गया है॥५-८॥

जिस आर्या के पूर्वार्ध में या उत्तरार्ध में अथवा दोनों में तीन गणों पर पाद विराम नहीं होता, उसका नाम 'विपुला' होता है। (इस तरह इसके तीन भेद होते हैं—१. आदिविपुला, २. अन्त्यविपुला तथा ३. उभयविपुला। इनमें पहली का नाम 'मुखविपुला' दूसरी का 'जघनविपुला' तथा तीसरी का 'महाविपुला' है।) इनके उदाहरण क्रमशः इस तरह हैं—१. **स्निग्धच्छायालावण्यलेपिनी किंचिदवनतवीणा। मुखविपुला सौभाग्यं लभते स्त्रीत्याह माण्डव्यः॥ २. चित्तं हरिन्ति हरिणीदीर्घदृशः कामिनां कलालापैः। नीवीविमोचनव्याजकथितजघना जघनविपुला॥ ३. या स्त्री कुचकलशनितम्बमडले जायते महाविपुला॥ गम्भीरनाभिरतिदीर्घलोचना भवति सा सुभगा॥** पहले पद्य में पूर्वार्ध में, दूसरे में उत्तरार्ध में तथा तीसरे में दोनों जगह पाद-विराम तीन गणों से आगे होता है। जिस आर्या-छन्द में द्वितीय तथा चतुर्थ गण गुरु अक्षरों के मध्य में होने के साथ ही जगण अर्थात् मध्यगुरु (।ऽ।) हों, उसका ाम 'चपला' है। तात्पर्य यह है कि 'चपला' नामक आर्या में प्रथम गण अन्त्यगुरु (।।ऽ), तृतीय गण दो गुरु (ऽऽ) तथा पञ्चम गण आदिगुरु (ऽ।।) होता है। शेष गण पूर्ववत् रहते हैं। पूर्वार्ध में 'चपला' का लक्षण हो, तो उस आर्या का नाम 'मुखचपला' होता है। परार्ध में चपला का लक्षण होने पर उसको 'जघनचपला' कहते हैं। पूर्वार्ध और परार्ध-दोनों में चपला का लक्षण संघटित होता हो, तो उसका नाम 'महाचपला' है। जहाँ आर्या के पूर्वार्ध के समान ही उत्तरार्ध भी हो, उसको 'गीति' नाम दिया गया है। तात्पर्य यह कि उसके उत्तरार्ध में भी छठा गण मध्यगुरु (।ऽ।) अथवा सर्वलघु (।।।।) करना चाहिये। इसी तरह जहाँ आर्या के उत्तरार्ध के समान ही पूर्वार्ध भी हो, उसको 'उपगीति' कहते हैं। आर्या के उपरोक्त क्रम को विपरीत कर देने पर 'उद्गीति' नाम पड़ता है। सारांश यह कि उसमें पूर्वार्ध को उत्तरार्ध में और उत्तरार्ध को पूर्वार्ध में रखा जाता है। यदि पूर्वार्ध में आठ गण हों तो 'आर्यागीति' नामक छन्द होता है। कोई विशेषता न होने से इसका उत्तरार्ध भी ऐसा ही समझना चाहिये। यहाँ भी छठे गण में मध्यगुरु और सर्वलघु-इन दोनों विकल्पों की प्राप्ति थी, उसके स्थान में केवल एक 'लघु' का विधान है॥९-१०॥

अधुना 'मात्रा-छन्द' बतलाया जाता है। जहाँ विषम, अर्थात् प्रथम और तृतीय चरण में चौदह लघु (मात्राएँ) हों और सम-द्वितीय, चतुर्थ चरणों में सोलह लघु हों तथा इनमें से प्रत्येक चरण के अन्त में रगण (ऽ।ऽ), एक लघु और एक गुरु हो, तो 'वैतालीय' नामक छन्द होता है। 'रगण, लघु और गुरु मिलाकर आठ मात्राएँ होती हैं, इनके

भगणान्ता पातलिका शेषे परे च पूर्ववत्। साकं षड्वा मिश्रयुजि प्राच्यवृत्तिः प्रदर्श्यते।।१३।।
पञ्चमेन पूर्वासकं तृतीयेन सहस्रयुक्। उदीच्यवृत्तिराद्या स्याद्युगपच्च प्रवर्तकम्।।१४।।
अयुक् चारुहासिनी स्याद्युगपच्चान्तिका भवेत्। सप्तार्चिवसवश्चैव मात्रासमकमीरितम्।।१५।।
भवेन्नलरमौ लश्च द्वादशो वानवासिका। विश्लोकः पञ्चमाष्टौ मो चित्रा नवमकश्च लः।।१६।।
परमुक्ते नोपचित्रा पादाकुलकमित्यतः। गीत्यार्यालोपश्चेत्सौम्या लपूर्वा ज्योतिरीरिता।।१७।।

सिवा प्रथम-तृतीय पादों में छः-छः मात्राएँ और द्वितीय-चतुर्थ चरणों में आठ-आठ मात्राएँ ही शेष रहती हैं। इनको जोड़कर ही चौदह-सोलह मात्राओं की व्यवस्था की गयी है। वैतालीय छन्द के अन्त में एक गुरु और बढ़ जाय तो उसका नाम 'औपच्छन्दसक' होता है।।११-१२।।

उपरोक्त वैतालीय छन्द के प्रत्येक चरण के अन्त में जो रगण, लघु और गुरु की व्यवस्था की गयी है, उसकी जगह यदि भगण और दो गुरु हो जायँ तो उस छन्द का नाम 'आपातलिका' होता है। उपरोक्त वैतालीय छन्द के अधिकारों में जो रगण आदि के द्वारा प्रत्येक चरण के अन्त में आठ लकारों (मात्राओं) का नियम किया गया है, उनको छोड़कर प्रत्येक चरण में जो 'लकार' शेष रहते हैं, उनमें से सम लकार विषम लकार के साथ मिल नहीं सकता। अर्थात् दूसरा तीसरे के और चौथा पाँचवें के साथ संयुक्त नहीं हो सकता; उसको पृथक् ही रखना चाहिये। इससे विषम लकारों का सम लकारों के साथ मेल अनुमादित होता है। द्वितीय और चतुर्थ चरणों में लगातार छः लकार पृथक्-पृथक् नहीं प्रयुक्त होने चाहिये। प्रथम और तृतीय चरणों में रुचि के अनुसार किया जा सकता है। अधुना 'प्राच्यवृत्ति' नामक वैतालीय छन्द का दिग्दर्शन कराया जाता है। जिस समय दूसरे और चौथे चरण में चतुर्थ लकार (मात्रा) पंचम लकार के साथ संयुक्त हो, तो उसका नाम 'प्राच्यवृत्ति' होता है। (यद्यपि सम लकार का विषम लकार के साथ मिलना निषिद्ध किया गया है, तथापि वह सामान्य नियम है; प्राच्यवृतित आदि विशेष स्थलों में उस नियम का अपवाद होता है। शेष लकार उपरोक्त तरह से ही रहेंगे। जिस समय प्रथम और तृतीय चरण में दूसरा लकार तीसरे के साथ मिश्रित होता है, तत्पश्चात् 'उदीच्यवृत्ति' नामक वैतालीय कहलाता है। शेष लकार उपरोक्त रूप में ही रहते हैं। जिस समय दोनों लक्षणों की एक साथ ही प्रवृत्ति हो, अर्थात् द्वितीय और चतुर्थ पादों में पंचम लकार के साथ चौथा मिल जाय और प्रथम एवं तृतीय चरणों में तृतीय के साथ द्वितीय लकार संयुक्त हो जाय तो प्रवृत्तिक नामक छन्द होता है। जिस वैतालीय छन्द के चारों चरण विषम पादों के ही अनुसार हों, अर्थात् प्रत्येक पाद चौदह लकारों से युक्त हो तथा द्वितीय लकार तृतीय से मिला हो, उसको 'चारुहासिनी' कहते हैं। जिस समय चारों चरण सम पादों के लक्षण से युक्त हों अर्थात् सबमें सोलह लकार (मात्राएँ) हों और चतुर्थ लकार पंचम से मिला हो, तो उसका नाम 'अपरान्तिका' है। जिसके प्रत्येक पाद में सोलह लकार हों, परन्तु पाद के अन्तिम अक्षर गुरु ही हों, उसको 'मात्रासमक' नामक छन्द कहा गया है। साथ ही इस छन्द में नवम लकार किसी से मिला नहीं रहता। जिस 'मात्रासमक' के चरण में बारहवाँ लकार अपे स्वरूप में ही स्थित रहता है, किसी से मिलता नहीं, उसका नाम 'वानासिका' है। जिसके चारों चरणों में पाँचवाँ और आठवाँ लकार लघुरूप में ही स्थित रहता है, उसका नाम 'विश्लोक' है। जहाँ नवाँ भी लघु हो, वह 'चित्रा' नामक छन्द कहलाता है। जहाँ नवाँ लकार दसवें के साथ मिलकर गुरु हो गया हो, वहाँ 'उपचित्रा' नामक छन्द होता है। मात्रासमक, विश्लोक, वानवासिका, चित्रा और उपचित्रा—इन पाँचों में जिस-किसी भी छन्द के एक-एक पाद को लेकर जिस समय चार चरणों का छन्द बनाया जाय, तत्पश्चात् उसको 'पादाकुवक' कहते हैं। जिसके प्रत्येक चरण में सोलह लघु स्वरूप

स्याच्छिखा विपर्यस्तार्धा तूलिका समुदाहृता। एकोनत्रिंशदन्ते गः स्याज्ज्ञेन न समावला॥१८॥
गु इत्येकगुरुं संख्या वर्णादेश्च विपर्ययात्॥१९॥

॥इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते छन्दोजातिनिरूपणं नामैकत्रिंशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः॥३३१॥

से ही स्थित हों, किसी से मिलकर गुरु न हो गये हों, उस छन्द का नाम 'गीत्यार्था' है। इसी गीत्यार्या में जिस समय आधे भाग की सभी मात्राएँ गरु रूप में हों और आधे भाग की मात्राएँ लघुरूप में तो उसका नाम 'शिखा' होता है। इसी के दो भेद हैं–पूर्वार्धभाग में लघु ही लघु और उत्तरार्ध में गुरु-ही-गुरु हों तो उसका नाम 'ज्योति' बतलाया गया है। इसके विपरीत पूर्वार्ध भाग में सब गुरु और उत्तरार्ध में सब लघु हों तो 'सौम्या' नामक छन्द होता है। जिस समय पूर्वार्ध भाग में उन्तीस लकार और उत्तरार्ध में इकतीस लकार हों एवं अन्तिम दो लकारों के स्थान में एक-एक गुरु हो, तो उसका नाम 'चूलिका' होता है। छन्द की मात्राओं से उसके अक्षरों में जितनी कमी हो, उतनी गुरु की संख्या और अक्षरों से जितनी कमी गुरु की संख्या में हो, उतनी लघु की संख्या मानी गयी है। तात्पर्य यह है कि यदि कोई पूछे, इस आर्या में कितने लघु और कितने गुरु हैं तो उस आर्या को लिखकर उसकी सभी मात्राओं की गणना करके कहीं लिख ले, फिर अक्षरों की संख्या लिख ले। मात्रा के अंकों में से अक्षरों के अंक घटा दे; जितना बचे, वह गुरु की संख्या हुई। इसी तरह अक्षर संख्या में गुरु की संख्या घटा देने पर जो बचे, वह लघु अक्षरों की संख्या होगी। इस तरह वर्ण आदि के अन्तर से गुरु-लघु आदि का ज्ञान प्राप्त करना चाहिये॥१३-१९॥

॥इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी तीन सौ इक्कतीसवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ॥३३१॥

अथ द्वात्रिंशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः

विषमकथनम्

अग्निरुवाच

वृत्तं समं चार्धसमं विषमं च त्रिधा वदे। समं तावत्कृत्वकृतमर्धं समं च कारयेत्॥१॥
विषमं चैव वा स्यूनमतिवृत्तं समान्यपि। लग्नौ चतुष्प्रमाणी स्यादाभ्यामन्यद्वितानकम्॥२॥
पादस्याऽऽद्यं तु वक्त्रं स्यात्सनौ न प्रथमा स्मृतौ। वान्यमुश्चतुर्थाद्वर्णात्पथ्यावक्त्रं स्वयोजतः॥३॥
विपरीतपथ्या न्यासाच्चपला वायुजस्वनः। विपुला युग्मसप्तमः सर्वे तस्यै तस्य च॥४॥

अध्याय-३३२

विषमवृत्त विचार

श्रीअग्निदेव ने कहा कि—छन्द या पद्य दो तरह के हैं—'जाति' और 'वृत्त'। यहाँ तक 'जाति' छन्दों का निरूपण किया गया, अधुना 'वृत्त' का वर्णन करते हैं। वृत्त के तीन भेद हैं—सम, अर्धसम तथा विषम। इन तीनों का प्रतिपादन करने जा रहा हूँ। 'समवृत्त' की संख्या में उतनी ही संख्या से गुणा करना चाहिये। इससे जो गुणनफल हों, उसको अर्धसमवृत्त की संख्या समझनी चाहिये। इसी तरह 'अर्धसमवृत्त' की संख्या में भी उसी संख्या से गुणा करने पर जो अंक उपलब्ध हो, वह 'विषमवृत्त' की संख्या है। विषमवृत्त और अर्धसमवृत्त की संख्या में से मूलराधि घटा देनी चाहिये। इससे शुद्ध विषम और शुद्ध अर्धसमवृत्त की संख्या का ज्ञान होगा। केवल गुणन से जो संख्या ज्ञात होती है, वह मिश्रित होती है; उसमें अर्ध सम के साथ सम और विषम के साथ अर्ध सम की संख्या भी सम्मिलित रहती है। जो अनुष्टुप् छन्द प्रत्येक चरण में गुरु और लघु अक्षरों द्वारा समाप्त होता है, अर्थात् जिसके प्रत्येक पाद में अन्तिम दो वर्ण क्रमशः गुरु-लघु होते हैं, उसको 'समानी' नाम दिया गया है। जिसके चारों चरणों के अन्तिम वर्ण क्रमशः लघु और गुरु हों, उसकी 'प्रमाणी' संज्ञा है। इन दोनों से भिन्न स्थिति वाला छन्द 'वितान' कहलाता है। इसके अन्तिम दो वर्ण केवल लघु अथवा केवल गुरु भी हो सकते हैं। यहाँ से तीन अध्यायों तक 'पादस्य' इस पद का अधिकार है तथा 'पदचतुरूर्ध्वं' छन्द के पहले तक अनुष्टुब् वक्त्रम्' का अधिकार है। तात्पर्य यह कि आगे बताये जाने वाले कुछ अनुष्टुप् छन्द 'वक्त्र' संज्ञा धारण करते हैं। 'वक्त्र' जाति के छन्द में पाद के प्रथम अक्षर के पश्चात् सगण (।।ऽ) और नगण (।।।) नहीं प्रयुक्त होने चाहिये। इन दोनों के अतिरिक्त मगण आदि छः गणों में से किसी एक गण का प्रयोग हो सकता है। पाद के चौथे अक्षर के बाद भगण (ऽ।।) का प्रयोग करना उचित है। जिस 'वक्त्र' जाति के छन्द में द्वितीय और चतुर्थ पाद के चौथे अक्षर के बाद जगण (।ऽ।) का प्रयोग हो, उसको 'पथ्या वक्त्र' कहते हैं। किसी-किसी के मत में इसके विपरीत न्यास करने से, अर्थात् प्रथम एवं तृतीय पाद के बाद जगण (।ऽ।) का प्रयोग करने से 'पथ्या' संज्ञा होती है। जिस समय विषम पादों के चतुर्थ अक्षर के बाद नगण (।।।) हों तथा सम पादों में चतुर्थ अक्षर के बाद यगण (।ऽऽ) की ही स्थिति होतो उस 'अनुष्टुब्वक्त्र' का नाम 'चपला' होता है। जिस समय सम पादों में सातवाँ अक्षर लघु हो, अर्थात् चौथे अक्षर के बाद जगण (।ऽ।) हो, तो उसका नाम 'विपुला' होता है। यहाँ सम पादों में तो सप्तम लघु होगा ही, विषम पादों में भी यगण को बाधितकर अन्य गण हो सकते हैं—यहीं 'विपुला' और 'पथ्या' का भेद है। सैतव आचार्य के मत में विपुला के सम और विषम सभी पादों में सातवाँ अक्षर लघु होना चाहिये। जिस समय प्रथम और तृतीय पादों में चतुर्थ अक्षर के बाद यगण को बाध कर विकल्प से भगण (ऽ।।), रगण (ऽ।ऽ), नगण (।।।) और तगण (ऽऽ।) आदि हों तो 'विपुला' छन्द होता है। इस तरह 'विपुला' अनेक तरह की होती है। यहाँ तक 'वक्त्र' जाति के छन्दों का वर्णन किया गया। अनुष्टुप् छन्द के प्रथम पाद

भौतो वा विपुलानेका वक्त्रजातिः समीरिता। भवेत्पदं चतुरूर्ध्वं चतुर्वृद्ध्या पदेषु च॥५॥
गुरुद्वयात्तु आपीडः प्रत्यापीडो गणादिकः। प्रथमस्य विपर्यासे मञ्जरी लवणी क्रमात्॥६॥
भवेद्मृतधाराख्या उद्धतेत्युच्यतेऽधुना। एकतः ससजसा नः स्युर्नसौ जो गोऽथ भौ न जौ॥७॥
नो गोऽथ सजसा गोगस्तृतीयचरणस्य च। सौरभे केचन भगा ललितं च नमौ जसौ॥८॥
उपस्थितं प्रचुपितं प्रथमाद्यौ समौ जसौ। गोगथो मलजा रो गः समौ च रजयाः पदे॥९॥
वर्धमानं मलौ स्वोन सौ अथो तोजोर ईरिता। शुद्धिविराडार्षभाख्यं वक्ष्ये चार्धसमं ततः॥१०॥

॥इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गति विषमकथनं नाम द्वात्रिंशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः॥३३२॥

—❀❀❀—

के पश्चात् जिस समय प्रत्येक चरण में क्रमशः चार-चार अक्षर बढ़ते जायँ तो 'पदचतुरूर्ध्व' नामक छन्द होता है। तात्पर्य यह कि इसके प्रथम पाद में आठ अक्षर, द्वितीय पाद में द्वादश, तृतीय पाद में सोलह और चतुर्थ पाद में बीस अक्षर होते हैं। कथित छन्द के चारों चरणों में अन्तिम दो अक्षर गुरु हों तो उसकी 'आपीड़' संज्ञा होती है। यहाँ अन्तिम अक्षरों को गुरु बतलाने का यह अभिप्राय जान पड़ता है कि शेष लघु ही होते हैं। जिस समय आदि के दो अक्षर गुरु और शेष सभी लघु हों तो उसका नाम 'प्रत्यापीड' होता है। 'पदचतुरूर्ध्व' नामक छन्द के प्रथम पाद का द्वितीय आदि पादों के साथ परिवर्तन होने पर क्रमशः 'मञ्जरी'-'लवली' तथा 'अमृतधारा' नामक छन्छ होते हैं। अर्थात् जिस समय प्रथम पाद के स्थान में द्वितीय पाद और द्वितीय पाद के स्थान में प्रथम पाद हों तो 'मञ्जरी' छन्द होता है। जिस समय प्रथम पाद के स्थान में प्रथम पाद हो, तो 'लवली' छन्द होता है और जिस समय प्रथम पाद के स्थान में चतुर्थ पाद और चतुर्थ पाद के स्थान में प्रथम पाद हो, तो 'अमृतधारा' नामक छन्द होता है। अधुना 'उद्गता' छन्छ का प्रतिपादन किया जाता है। जहाँ प्रथम चरण में सगण (।।ऽ), जगण (।ऽ।), सगण (।।ऽ) और एक लघु—ये दस अक्षर हों, द्वितीय पाद में भी नगण (।।।), सगण (।।ऽ), जगण (।ऽ।) और एक गुरु—ये दस ही अक्षर हों, तृतीय पाद में भगण (ऽ।।) नगण (।।।), जगण (।ऽ।), एक लघु तथा एक गुरु—ये ग्यारह अक्षर हों तथा चतुर्थ चरण में सगण (।।ऽ), जगण (।ऽ।), सगण (।।ऽ), जगण (।ऽ।) और एक गुरु—ये तेरह अक्षर हों, वह 'उद्गता' नाम वाला छन्द है। उद्गता के तृतीय चरण में जिस समय रगण (ऽ।ऽ), नगण (।।।), भगण (ऽ।।) और एक गुरु—ये दस अक्षर हों तथा शेष तीन पाद पूर्ववत् ही रहें हो, तो उसका नाम 'सौरभ' होता है। उद्गता के तृतीय पाद में जिस समय दो नगण और दो सगण हों और शेष चरण ज्यों-के-त्यों रहें तो उसकी 'ललित' संज्ञा होती है। जिसके प्रथम चरण में यगण, सगण, जगण, भगण और दो गुरु (अठारह अक्षर) हों, द्वितीय चरण में सगण, नगण, जगण, रगण और एक गुरु (तेरह अक्षर) हों, तृतीय चरण में दो नगण और एक सगण (नौ अक्षर) हों तथा चतुर्थ चरण में तीन नगण, एक जगण और एक भगण (पन्द्रह अक्षर) हों, वह उपस्थित 'प्रचुपित' नामक छन्द होता है। कथित छन्द के तृतीय चरण में जिस समय क्रमशः दो नगण, एक सगण, फिर दो नगण और एक सगण (अठारह) हों तो वह 'वर्धमान' छन्द नाम धारण करता है। उसी छन्द में तृतीय चरण के स्थान में जिस समय तगण, जगण और रगण (ये नौ अक्षर) हों तो वह 'शुद्ध विराषभ' छन्द कहलाता है। अधुना अर्धसमवृत्त का वर्णन करने जा रहा हूँ॥१-१०॥

॥इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी तीन सौ बत्तीसवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ॥३३२॥

❖❖❖

अथ त्रयस्त्रिंशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः

अर्धसमनिरूपणम्

अग्निरुवाच

उपवित्रकं ससमनामथभोज भगामथ। द्रुतमध्या ततभगा गथोननजयाः स्मृताः।।१।।
वेगवती ससमगा भभभ गोगथो स्मृता। रुद्रविस्तारस्तो सभगासमजा गोगथा स्मृता।।२।।
रजसा गोगथो द्रोणौ गोगौ वै केतुमत्यपि। आख्यानिकी ततजगा गथो जगतजगागथ।।३।।
विपरीताख्यानकीर्तिर्जयागा तौ जगोनाथ। सीमलौगथ लभभारो भवेद्धरिण वल्लभा।।४।।
लौ वनौ गाथ नजजा यः स्यादपराक्रमम्(?)। पुष्पिताग्रा नलवया नजजा रो गथो रजौ।।५।।
वोजथो जवजवागो मूले पनमती शिखा। अष्टाविंशतिनागाभा त्रिंशन्नागं ततो युजि।।

अध्याय–३३३

अर्धसमवृत्त विचार

श्रीअग्निदेव ने कहा कि–जिसके प्रथम चरण में तीन सगण, एक लघु और एक गुरु (कुल ग्यारह अक्षर) हों, दूसरे चरण में तीन भगण एवं दो गुरु हों तथा पूर्वार्ध में समान ही उत्तरार्ध भी हो, वह 'उपचित्रक' नामक छन्द है। जिसके प्रथम पाद में तीन भगण एवं दो गुरु जगण (।ऽ।) एवं एक जगण हो, वह 'द्रुतमध्या' नामक छन्द होता है। (यहाँ भी प्रथम पाद के समान तृतीय पाद और द्वितीय पाद के समान चतुर्थ पाद समझना चाहिये। यही बात आगे के छन्दों में भी स्मरण रखने योग्य है।) जिसके प्रथम चरण में तीन सगण और एक गुरु तथा द्वितीय चरण में तीन भगण एवं दो गुरु हों, उस छन्द का नाम 'वेगवती' है। जिसके पहले पाद में तगण (ऽऽ।), जगण (।ऽ।), रगण (ऽ।ऽ) और एक गुरु तथा दूसरे चरण में मगण (ऽऽऽ), सगण (।।ऽ), जगण (।ऽ।) एवं दो गुरु हों, वह 'भद्रविराट्' नामक छन्द है। जिसके प्रथम पाद में सगण, जगण, सगण और एक गुरु तथा द्वितीय पाद में भगण, रगण, नगण और दो गुरु हों, उसका नाम 'केतुमती' है। जिसके पहले चरण में दो तगण, एक जगण और दो गुरु हों तथा दूसरे चरण में जगण, तगण, जगण एवं दो गुरु हों उसको 'आख्यानिकी' कहते हैं। इसके विपरीत यदि प्रथम चरण में जगण, तगण, जगण एवं तथा दो गुरु हों तो उसकी 'विपरीताख्यानकी' संज्ञा होती है। जिसके पहले पाद में तीन सगण, एक लघु और एक गुरु हों तथा दूसरे में नगण, भगण, भगण एवं रगण मौजूद हों, उस छन्द का नाम 'हरिणप्लुता' है। जिसके प्रथम चरण में दो नगण, एक रगण, एक लघु और एक गुरु हो तथा दूसरे चरण में एक नगण, दो जगण और एक रगण हो, वह 'अपरवक्त्र' नामक छन्द है। जिसके प्रथम पाद में दो नगण, एक रगण और एक यगण हो तथा दूसरे में एक नगण, दो जगण, एक रगण और एक गुरु हो, उसका नाम 'पुष्पिताग्रा' है। जिसके पहले चरण में रगण, जगण, रगण, जगण हो तथा दूसरे जगण, में रगण, जगण, रगण और एक गुरु हो उसको 'यवमती' कहते है। जिसके प्रथम और तृतीय चरणों में अट्ठाइस लघु और अन्त में एक गुरु हो तथा दूसरे एवं चौथे चरणों में तीस लघु एवं एक गुरु हो, तो उसका नाम 'शिखा'

खञ्जा तद्विपरीता स्यात्समवृत्तं प्रदर्श्यते।।६।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते अर्धसमनिरूपणं नाम त्रयस्त्रिंशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः।।३३३।।

—❊❊❊—
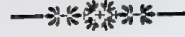
अथ चतुस्त्रिंशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः

समवृत्तनिरूपणम्

अग्निरुवाच

यतिर्विच्छेद इत्युक्तस्तत्तन्मध्यान्तयौ गणौ। यौ सः कुमार ललिता तौ गौ चित्रपदा स्मृता।।१।।
विद्युन्माला सभागस्य गणौ रतलगैर्भवेत्। माणवका क्रीडितकं वनौ हलमुखौ वसः।।२।।
स्याद्भुजङ्गशिशुसृजता नौ मोहं सरुतं ननौ। भवेच्छुद्ध विराड्वृत्तं प्रतिपादं समौ जगौ।।३।।

होता है। इसके विपरीत यदि प्रथम और तृतीय चरणों में तीस लघु और एक गुरु हो तथा द्वितीय चरणों में तीस लघु और एक गुरु हो तथा द्वितीय एवं चतुर्थ चरणों में अट्ठाईस लघु के साथ एक गुरु हो, तो उसको 'खञ्जा' कहते हैं। अधुना 'समवृत्त' का दिग्दर्शन कराया जाता है।।१-६।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णाद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी तीन सौ तैंतीसवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।३३३।।

अध्याय-३३४

समवृत्त विचार

श्रीअग्निदेव ने कहा कि–'यति' नाम है विच्छेद या विराम का। पाद के अन्त में श्लोकार्ध पूरा होने पर तथा कहीं-कहीं पाद मध्य में भी 'यति' होती है। जिसके प्रत्येक चरण में क्रमशः तगण और यगण हों, उसका नाम 'तनुमध्या' है। यह गायत्री छन्द का वृत्त है। जिसके प्रत्येक चरण में जगण, सगण और एक गुरु हो, उसको 'कुमारललिता' कहते हैं। यह उष्णिक् छन्द का वृत्त है। इसमें तीन, चार अक्षरों पर विराम होता है। दो भगण और दो गुरु से जिसके चरण बनते हों, वह 'चित्रपदा' है। यह अनुष्टुप् छन्छ का वृत्त है, इसमें पादान्त में ही यति होती है। जिसके प्रत्येक पाद में दो मगण और दो गुरु हों, उसका नाम 'विद्युन्माला' है। इसमें चार-चार अक्षरों पर विराम होता है। यह भी अनुष्टुप् का ही वृत्त है। जिसके प्रत्येक चरण में भगण, तगण, एक लघु और एक गुरु हो, उसको 'माणवकाक्रीडितक' कहते हैं। इसमें भी चार-चार अक्षरों पर विराम होता है। जिसके प्रति चरण में रगण, नगण और सगण हो, वह 'हलमुखी' नामक छन्द है। इसमें तीन, पाँच, छः अक्षरों पर विराम होता है, यह बृहती छन्द का वृत्त है।।।१-२।।

जिसके प्रत्येक चरण में दो नगण और एक मगण हो, वह 'भुजङ्गशिशुभृता' नामक छन्द है। (इसमें सात

प्रणवो नतयामः स्याज्जौ गौ मयूरसारिणी। सत्तामभसगा वृत्तं भजताद्युपरि स्थिता।।४।।
रुक्मवन्ती भससगाविन्द्रवज्रा तजौ जगौ। जतौ जगौ तूपपूर्वा वाद्यन्ताद्युपजातयः।।५।।
दोधकं भग (भ) भागौ स्याच्छालिनी मतभागगौ। यतिः समुद्रा ऋषयो वातोर्मी मभतागगौ।।६।।
चतुःस्वरा स्याद्भ्रमरी विलसिता मभौ नलौ। समुद्रा अथ ऋषयो वनौ लौ गौ रथोद्धता।।७।।
स्वागता धनभा गो गो वृत्तानसमाश्च सः। श्येनीव जवना गः स्याद्रम्या नपरगा गगः।।८।।
जगती वंशस्था वृत्तं जतौ जावथ तौ जवौ। इन्द्रवंशा तोटकं सैश्चतुर्भिः प्रतिपादितम्।।९।।

और दो अक्षरों पर विराम है। यह भी बृहती में ही है। मगण, नगण और दो गुरु से युक्त पाद वाले छन्द को 'हंसरुत' कहते हैं। जिसके प्रत्येक चरण में मगण, सगण, जगण और एक गुरु हों, वह 'शुद्धविराट्' नामक छन्द कहा गया है। यहाँ से इन्द्रवज्रा के पहले तक के छन्द पङ्क्ति छन्द के अन्तर्गत हैं; इसमें पादान्त में विराम होता है। जिसके प्रत्येक पाद में मगण, नगण, यगण और एक गुरु हों, वह 'पणव' नामक छन्द है। इसमें पाँच-पाँच पर विराम होता है। रगण, जगण, रगण और एक गुरुयुक्त चरण वाले छन्द का नाम 'मयूरसारिणी' है। इसमें पादान्त में विराम होता है। मगण, भगण, सगण और एक गुरुयुक्त चरण वाला छन्द 'मत्ता' कहलाता है। इसमें चार-छः पर विराम होता है। जिसके प्रत्येक पाद में तगण, दो जगण और एक गुरु हो, उसका नाम 'उपस्थिता' है। इसमें दो-आठ पर विराम होता है। भगण, मगण, सगण और एक गुरु से युक्त पाद वाला छन्द 'रुक्मवती' कहलाता है। इसमें पादान्त में विराम होता है। जिसके प्रत्येक चरण में दो तगण, एक जगण और दो गुरु हों उसका नाम 'इन्द्रवज्रा' है। इसमें पादान्त में विराम होता है। यहाँ। से 'वंशस्थ' के पहले तक के छन्द बृहती के अन्तर्गत हैं। जगण, तगण, जगण और दो गुरु से युक्त पादों वाला छन्द 'उपेन्द्रवज्रा' कहलाता है। इसमें भी पादान्त में विराम होता है। जिस समय एक ही छन्द में इन्द्रवज्रा और उपेन्द्रवज्रा—दोनों के चरण लक्षित हों, तत्पश्चात् उस छन्द का नाम 'उपजाति' होता है। इन दोनों के मेल से जो उपजाति बनती है, उसके प्रस्तारसे चौदह भेद होते हैं। इसी तरह 'वंशस्थ' और 'इन्द्रवज्रा' तथा 'शालिनी' और 'वातोर्मी' के मेल से भ उपजाति छन्द होता है।।३-५।।

तीन भगण और दो गुरु से युक्त पाद वाले वृत्त का नाम 'दोधक' है। इसमें पादान्त में विराम होता है। जिसके प्रत्येक चरण में भगण, तगण, तगण और दो गुरु हों, उसका नाम 'शालिनी' है। इसमें चार और सात अक्षरों पर विराम होता है। जिसके प्रत्येक पाद में मगण, भगण, तगण एवं दो गुरु हों, उसको 'वातोर्मी' छन्द नाम दिया गया है। इसमें भी चार-सात पर विराम होता है। प्रत्येक चरण में मगण, भगण, तगण, नगण, एक लघु और एक गुरु होने से 'भ्रमरीविलसिता' (या भ्रमरविलसिता) नामक छन्द होता है। इसमें भी चार और सात अक्षरों पर ही विराम होता है। जिसके प्रति पाद में रगण, नगण, रगण, एक लघु और गुरु हों, उसको 'रथोद्धता' कहते हैं। इसमें भी पूर्ववत् चार और सात अक्षरों पर विराम होता है। रगण, नगण, भगण और दो गुरु से युक्त पाद वाले छन्द को 'स्वागता' कहते हैं। इसमें पादान्त में विराम होता है। जिसके प्रत्येक पाद में दो नगण, सगण और दो गुरु हों, उसको 'वृत्ता' (या वृत्ता) कहते हैं। इसमें चार-सात पर विराम होता है। जिसके चरण रगण, जगण, रगण, एक लघु और एक गुरु से युक्त हों, उसको 'श्येनी' नामक छन्द कहा गया है। इसमें पादान्त में विराम होता है। जगण, रगण, जगण एवं दो गुरु से युक्त चरण वाले छन्द का नाम 'रम्या' एवं 'विलासिनी' है। यहाँ पादान्त में ही विराम होता है।।६-८।।

यहाँ से 'जगती' छन्द का अधिकार प्रारम्भ होता है और 'प्रहर्षिणी' के पहले तक रहता है। जिसके प्रत्येक चरण में जगण, तगण, जगण और रगण हों, उस छन्द का नाम 'वंशस्था' है। यहाँ पादान्त में विराम होता है। दो

भवेद्द्रुतविलम्बिता नभौ भरावथो नलौ। स्यौ श्रीपरो वसुवेदाञ्जलोद्धतगतिर्जलौजसौ॥१०॥
जसौ वसर्ववश्चाथ ततं ननमराः स्मृतम्। कुसुमविचित्रा द्यौनौ च नौ रम्याचलाक्षिका॥११॥
भुजङ्गप्रयातं यैः स्याच्चतुर्भिः स्रग्विणी तु रैः। प्रमिताक्षरा गजौ सौ कान्तोत्पीडा मतौ समौ॥१२॥
वैश्वदेवी ममयया: पञ्चाङ्गा नवमालिनी। नजौ भयौ प्रतिपादं गणा यदि जगत्यपि॥१३॥
प्रहर्षिणी मवजवा गोपतिर्वह्निदिक्षु च। रुचिरा जभसजगा छिन्ना वेदैर्गृहैः स्मृता॥१४॥
मत्तमयूरं मतया सतौ वेदग्रहैर्यतिः। गौरी नलनसा गः स्यादसंबाधा नतौ नगौ॥१५॥
गो ग इन्द्रियनवकौ ननौ रसलगाः स्वराः। स्वराश्चापराजिता स्यान्ननभा नलगाः स्वराः॥१६॥
द्विः प्रहरणकलिता वसन्ततिलका नभौ। जौ गौ सिंहोन्नता सा स्यान्मुनेरुद्धर्षिणा च सा॥१७॥

तगण, जगण तथा रगण से युक्त चरणों वाले छन्द को 'इन्द्रवंशी' कहते हैं। यहाँ भी पादान्त में ही विराम होता है। जिसके प्रत्येक पाद में चार सगण हों, उसका नाम 'तोटक' बतलाया गया है। जिसके प्रत्येक पाद में नगण, भगण, भगण और रगण हों, उसका नाम 'द्रुतविलम्बित' है। 'तोडक' और 'द्रुतविलम्बित' दोनों में पादान्त-विराम ही माना गया है। जिसके सभी चरणों में दो-दो नगण, एक-एक मगण तथा एक-एक यगण हों, उस छन्द का नाम 'श्रीपुट' है। इसमें आठ और चार अक्षरों पर विराम होता है। जगण, सगण, जगण, सगण से युक्त पादों वाले छन्द को 'जलोद्धतगति' कहते है। इसमें छः-छः अक्षरों पर विराम होता है। दो नगण, एक मगण तथा एक रगण से युक्त चरण वाले छन्द का नाम 'तत' है। नगण, यगण, नगण, यगण से युक्त पाद वाला छन्द 'कुसुमविचित्रा' कहलाता है। इसमें भी छः-छः अक्षरों पर विराम होता है। जिसके प्रत्येक चरण में दो नगण और दो रगण हों, उसका नाम 'चञ्चलाक्षिका' है। इसके पाद में चार यगण होने से 'भुजंगप्रयात' और चार रगण होने से 'स्रग्विणी' नामक छन्द होता है। इन दोनों में पादान्तविराम माना गया है। जिसके प्रत्येक चरण में सगण, जगण तथा दो सगण हों, उसकी 'प्रमिताक्षरा' संज्ञा होती है। इसमें भी पादान्तविराम ही अभीष्ट है। भगण, मगण, सगण, मगण से युक्त चरणों वाले छन्द को 'कान्तोत्पीडा' कहते हैं। इसमें भी पादान्त विराम माना गया है। दो मगण और दो यगणयुक्त चरण वाले छन्द को 'वैश्वदेवी' नाम दिया गया है। इसमें पाँच-सात अक्षरों पर विराम होता है। यदि प्रत्येक पाद में नाम 'नवमालिनी' होता है। यहाँ तक 'जगती' छन्द का अधिकार है॥९-१३॥

अधुना 'अतिजगती' छन्द के अवान्तर भेद बतलाते हैं—जिसके प्रत्येक चरण में मगण, नगण, जगण, रगण तथा एक गुरु हों, उसकी 'प्रहर्षिणी' संज्ञा है। इसमें तीन और दस अक्षरों पर विराम होता है। जगण, भगण, सगण, जगण तथा एक गुरु से युक्त चरण वाले छन्द का नाम 'रुचिरा' है। इसमें चार तथा नौ अक्षरों पर विराम माना गया है। मगण, तगण, यगण, सगण और एक गुरुयुक्त पाद वाले छन्द को 'मत्तमयूर' कहते हैं। इसमें चार और नौ अक्षरों पर विराम होता है। तीन नगण, एक सगण और एक गुरु से युक्त पाद वाले छन्द की 'गौरी' संज्ञा है। अधुना शक्वरी के अन्तर्गत विविध छन्दों का वर्णन किया जाता है—जिसके प्रत्येक पाद में मगण, तगण, नगण, सगण तथा दो गुरु हों और पाँच एवं नौ अक्षरों पर विराम होता हो, उसका नाम 'असम्बाधा' है। जिसके प्रतिपाद में दो गनण, रगण, सगण और एक लघु और एक गुरु हों तथा सात-सात अक्षरों पर विराम होता हो, वह 'अपराजिता' नामक छन्द है। दो नगण, भगण, नगण, एक लघु और एक गुरु से युक्त पाद वाले छन्द को 'प्रहरकलिता' कहते हैं। इसमें सात-सात पर विराम होता है। तगण, भगण, दो जगण और दो गुरु से युक्त पाद वाले छन्द की 'वसन्ततिलका' संज्ञा है। (इसमें पादान्त में विराम होता है।) किसी-किसी मुनि के मत में इसका नाम 'सिंहोन्नता' और 'उद्धर्षिणी' भी है॥१४-१७॥

चन्द्रावर्ता ननौ सोमावर्तर्तुनवकः स्मृतः। मणिगुणनिकराऽसौ मालिनी नौ मयौ यसः।।१८।।
यतिर्वसुस्वरा भौ वौ नतलमित्रसग्रहाः। ऋषभगजविलसितं ज्ञेया शिखरिणी जगौ।।१९।।
रसभालभृगुरुद्राः पृथ्वीजसजसा जनौ। गावसुग्रहविच्छिन्ना पिङ्गलेनेरिता पुरा।।२०।।
वंशपत्रपतितं स्याद्भवना भौ नगौ सदिक्। हरिणी नसमा रः सो नगौ रसचतुः स्वराः।।२१।।
मन्दाक्रान्ता समभतं नगौ राब्धिवसुः स्वराः। कुसुमितलता वेल्लिता मतना ययया: शराः।।२२।।
रथाः स्वराः प्रतिरथससजाः सतताश्च गः। शार्दूलविक्रीडितं स्यादादित्यमुनयो यतिः।।२३।।
कृतिः सुवदना मो रो भनया भनगाः सुराः। यतिर्मुनिरसाश्चाथ इतिवृत्तं क्रमात्स्मृतम्।।२४।।
स्रग्धरा भरता नो मो यपौ त्रिःसप्तका यतिः। समुद्रकं भरजा नो वनगा दश भास्कराः।।२५।।

इसके आगे 'अतिशक्वरी' का अधिकार है। जिसके प्रत्येक पाद में चार नगण और एक सगण हों, उसका नाम 'चन्द्रावती' है। इसमें सात-आठ पर विराम होता है। इसी में जिस समय छः और नौ अक्षरों पर विराम हो, तो इसका नाम 'माला' होता है। आठ और सात पर विराम होने से यह छन्द 'मणिगणनिकर' कहलाता है। दो गनण, मगण और दो यगण से युक्त चरणों वाले छन्द को 'मालिनी' कहते हैं। इसें भी आठ और सात अक्षरों पर ही विराम होता है। भगण, रगण, तीन नगण और एक गुरु से युक्त चरण वाले छन्द को 'ऋषभजगविलसित' नाम दिया गया है। इसमें सात-नौ अक्षरों पर विराम होता है। यह 'अष्टि' छन्द के अन्तर्गत है। यगण मगण, नगण, सगण, भगण, एक लघु तथा एक गुरु से युक्त चरणों वाले छन्द को 'शिखरिणी' कहते हैं। इसमें छः तथा ग्यारह अक्षरों पर विराम होता है। जिसके प्रत्येक चरण में जगण, सगण, जगण, सगण, यगण, एक लघु और एक गुरु हों तथा आठ-नौ अक्षरों पर विराम हो उसका नाम 'पृथ्वी' है—यह प्राचीन काल में आचार्य पिङ्गल ने कहा है। मगण, रगण, नगण, भगण, नगण, एक लघु तथा एक गुरु से युक्त पद वाले छन्द को 'वंशपत्रपतित' कहते हैं। इसमें दस-सात पर विराम होता है। जिसके प्रत्येक चरण में नगण, सगण, मगण, रगण, सगण एक लघु तथा एक गुरु हों और छः, चार एवं सात अक्षरों पर विराम हो, उसका नाम 'हरिणी' है। शिखरिणी से मन्दाक्रान्ता तक का छन्द 'अत्यष्टि' के अन्तर्गत है। मगण, भगण, नगण, दो तगण तथा दो गुरु से युक्त पादों वाले छन्द को 'मन्दाक्रान्ता' कहते हैं। इसमें चार, छः और सात अक्षरों पर विराम होता है। जिसके पादों में मगण, तगण, नगण तथा तीन यगण हों, वह 'कुसुमितलतावेल्लिता' छन्द है। यह 'धृति' छन्द के अन्तर्गत है। इसमें पाँच, छः तथा सात अक्षरों पर विराम होता है। जिसके प्रत्येक चरण में मगण, सगण, जगण, भगण, दो तगण और एक गुरु हों, उसका नाम 'शार्दूविक्रीडित' है। इसमें द्वादश तथा सात अक्षरों पर विराम होता है। यह छन्द 'अतिधृति'के अन्तर्गत है।।१८-२३।।

'सुवदना' छन्द 'कृति' के अन्तर्गत है। इसके प्रत्येक पाद में मगण, रगण, भगण, नगण, यगण, भगण, एक लघु और एक गुरु होते हैं। इसमें सात, सात, छः पर विराम हाता है। जिस समय कृति के प्रत्येक पाद में क्रमशः गुरु और लघु अक्षर हों तो उसको 'वृत्त' छन्द कहते हैं। मगण, रगण, भगण, नगण और तीन यगण से युक्त चरणों वाले छन्द का नाम 'स्रग्धरा' है। इसमें सात-सात के तीन विराम होते हैं। यह 'प्रकृति' छन्द के अन्तर्गत है। जिसके प्रत्येक चरण में भगण, रगण, नगण, रगण, नगण, रगण, नगण तथा एक गुरु हों और दस-द्वादश अक्षरों पर विराम होता हो, उसको 'सुभद्रक' छन्द कहते हैं। यह 'आकृति' छन्द के अन्तर्गत है। नगण, जगण, भगण, जगण, भगण, जगण, भगण, एक लघु और एक गुरु से युक्त पाद वाले छन्द की 'अश्वललिता' संज्ञा है। इसमें ग्यारह-द्वादश पर विराम होता है। यह 'विकृति के अन्तर्गत है।।२४-२५।।

अश्वललितं नजभा जभजा भनमीशतः। मत्तक्रीडा ममनना नौ नग्नौ गोष्ठमातिथिः॥२६॥
तन्वी भनतसा भो भो लयो बाणसुरार्ककाः। क्रौञ्चपदा भमतता नौ नौ बाणशराष्टतः॥२७॥
भुजङ्गविजृम्भितं ममतना ननवासनौ। गष्टेशमुनिभिश्छेदो ह्युपहावाख्यमीदृशम्॥२८॥
मनना ननता नः सो गणैर्ग्रहरसो रसात्। नौ सप्त रो दण्डदः स्याच्चण्डवृष्टिप्रघातकम्॥२९॥
रेफवृद्ध्या ननवाः स्युर्व्यालजीमूतमुख्यकाः। शेषे वै प्रतितो ज्ञेयो गाथा प्रस्तार उच्यते॥३०॥

॥इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गति समवृत्तनिरूपणं नाम चतुस्त्रिंशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः॥३३४॥

जिसके प्रत्येक चरण में दो मगण, एक तगण, चार नगण, एक लघु और एक गुरु हों तथा आठ और पन्द्रह पर विराम हो, उसको 'मत्तक्रीडा' (या मत्ताक्रीडा) कहते हैं। यह भी 'विकृति' में ही है। जिसके पृथक्-पृथक् सभी पादों में भगण, तगण, नगण, सगण, फिर दो भगण, नगण और यगण हों तथा पाँच, सात, द्वादश पर विराम होता हो, उसकी 'तन्वी' संज्ञा है। यह 'संस्कृति' छन्द के अन्तर्गत है। जिसके प्रत्येक चरण में भगण, मगण, सगण, भगण चार नगण और एक गुरु हों तथा पाँच-पाँच, आठ और सात पर विराम होता हो, उस छन्द का नाम 'क्रौञ्चपदा' है। यह 'अभिकृति' के अन्तर्गत है। जिसके प्रतिपाद में दो मगण, तगण, तीन नगण, रगण, एक लघु और एक गुरु हों तथा आठ, ग्यारह और सात विराम होता हो, उस छन्द को 'भुजंगविजृम्भित' कहते हैं। यह 'उत्कृति' छन्द के अन्तर्गत है। जिसके प्रत्येक पाद में एक मगण, छः नगण, एक सगण और दो गुरु हों तथा नौ, छः-छः एवं पाँच अक्षरों पर विराम होता हो, उसको 'अपहाव' या 'उपहाव' नाम दिया गया है। यह भी 'उत्कृति' में ही है॥२६-२८॥

अधुना 'दण्डक' जाति का वर्णन किया जाता है। जिसके प्रत्येक चरण में दो नगण और सात रगण हों, उसका नाम 'दण्डक' है; इसी को 'चण्डवृष्टिप्रपात' भी कहते हैं। इसमें पादान्त में विराम होता है। कथित छन्द में दो नगण के सिवा रगण में वृद्धि करने पर 'व्याल', 'जीमूत' आदि नाम वाले 'दण्डक' बनते हैं। 'चण्डप्रपात' के बाद अन्य जितने भी भेद होते हैं, वे सभी दण्डक-प्रस्तार 'प्रचित' कहलाते हैं। अधुना 'गाथा-प्रस्तार' का वर्णन करते हैं॥२९-३०॥

॥इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी तीन सौ चौंतीसवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ॥३३४॥

अथ पञ्चत्रिंशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः

प्रस्तारनिरूपणम्

अग्निरुवाच

छन्दोऽत्र सिद्धं गाथा स्यात्पादे सर्वगुरौ तथा। प्रस्तार आद्यगाथो नः परतुल्योऽथ पूर्वगः।।१।।
नष्टमध्ये समेऽङ्के नः समेऽर्धविषमे गुरुः। प्रतिलोमगुणं नाद्यं द्विरुद्दिष्टग एकनुत्।।२।।

अध्याय-३३५

प्रस्तार-निरूपण

श्रीअग्निदेव ने कहा कि–हे वसिष्ठ! इस छन्दः शास्त्र में जिन छन्दों का नामतः निर्देश नहीं किया गया है, परन्तु जो प्रयोग में देखे जाते हैं, वे सभी 'गाथा' नामक छन्द के अन्तर्गत हैं। अधुना 'प्रस्तार' बतलाते हैं। जिसमें सब अक्षर गुरु हों, ऐसे पाद में जो आदि गुरु हो, उसके नीचे लघु का उल्लेख करना चाहिये। यह 'एकाक्षर-प्रस्तार' की बात हुई। 'द्वयक्षर-प्रस्तार' में तत्पश्चात् इसी क्रम से वर्णों की स्थापना करनी चाहिये, अर्थात् पहले गुरु और उसके नीचे लघु।।१।।

प्रस्तार के अनन्तर अधुना 'नष्ट' द्वार का वर्णन करते हैं। अर्थात् जिस समय यह जानने की इच्छा हो कि गायत्री या अन्य किसी छन्द के समवृत्तों में से छठा भेद कैसा होगा, तत्पश्चात् इसका उत्तर देने की प्रणाली पर विचार करते हैं। नष्ट संख्या को आधी करने पर जिस समय वह दो भागों में बराबर बँट जाय, तत्पश्चात् एक लघु लिखना चाहिये। यदि आधा करने पर विषम संख्या हाथ लगे तो उसमें एक जोड़कर सम बना ले और इस तरह पुनः आधा करना चाहिये। ऐसी अवस्था में एक गुरु अक्षर की प्राप्ति हो जाती है। उसको भी अन्यत्र लिख ले। जितने अक्षर वाले छन्द के भेद को समझना हो, उतने अक्षरों की पूर्ति होने तक उपरोक्त प्रणाली से गुरु-लघु का उल्लेख करते रहना चाहिये। 'जिस प्रकार गायत्री छन्द के छठे भेद का स्वरूप समझना हो, तो छः का आधा करना होगा। इससे एक लघु (।) की प्राप्ति हुई। बाकी रहा तीन; इसमें दो का भाग नहीं लग सकता, इसलिये एक जोड़कर आधा किया जायगा। इस दशा में एक गुरु (ऽ) की प्राप्ति हुई। इस अवस्था में चार का आधा करने पर दो शेष रहा, दो का आधा करने पर एक शेष रहा तथा एक लघु (।) की प्राप्ति हुई। इस एक समसंख्या न होने से उसमें एक और जोड़ना पड़ा; इस दशा में एक गुरु (ऽ) की प्राप्ति हुई। फिर दो का आधा करने से एक हुआ और उसमें एक जोड़ा गया। पुनः एक गुरु (ऽ) अक्षर की प्राप्ति हुई। फिर यही क्रिया करने से एक गुरु (ऽ) और उपलब्ध हुआ। गायत्री का एक पाद छः अक्षरों का है, इसलिये छः अक्षर पूरे होने पर यह प्रक्रिया बन्द कर देनी पड़ी। उत्तर हुआ गायत्री का छठा समवृत्त (ऽ। ऽऽऽ इस तरह है।) अधुना 'उद्दिष्ट' की प्रक्रिया बतलाते हैं। अर्थात् जिस समय कोई यह पूछे कि अमुक छन्द प्रस्तारगत किस संख्या का है, तो उसके गुरु-लघु आदि का एक जगह उल्लेख कर लेना चाहिये। इसमें जो अन्तिम लघु हो, उसके नीचे एक लिखे। फिर विपरीतक्रम से, अर्थात् उसके पहले के अक्षरों के नीचे क्रमशः दूनी संख्या लिखता जाय। जिस समय यह संख्या अन्तिम अक्षर पर पहुँच जाय तो उस द्विगुणित संख्या में से एक निकाल देना चाहिये। फिर सभी को जोड़ने से जो संख्या हो, वही उत्तर होगा। अथवा यदि वह संख्या गुरु अक्षर के स्थान में जाती हो, तो पूर्व स्थान की संख्या को दूनी करके उसमें से एक निकालकर रखे। फिर सभी को जोड़ने से अभीष्ट संख्या निकलेगी। उद्दिष्ट की संख्या बतलाने का सबसे अच्छा उपाय यह है कि उस छन्द के गुरु-लघु वर्णों को क्रमशः

संख्याद्विरर्धे रूपे तु शून्यं शून्ये द्विरीरितम्। तावदर्धे तद्गुणितं द्विद्व्यूनं च तदन्ततः॥३॥

एक पङ्क्ति में लिख ले और उनके ऊपर क्रमशः एक से लेकर दूने-दूने अंक रखता जाय; अर्थात् प्रथम पर एक, द्वितीय पर दो, तृतीय पर चार-इस क्रम से संख्या बैठाये। फिर केवल लघु अक्षरों के अंकों को जोड़ ले और उसमें एक और मिला दे तो वही उत्तर होगा। जिस प्रकार 'तनुमध्या' छन्द गायत्री का किस संख्या का वृत्त है, यह जानने के लिये तनुमध्या के गुरु-लघु वर्णों-तगण, यगण को ऽऽ।। ।ऽऽ इस तरह लिखना होगा। फिर क्रमशः अंक बिछाने पर १ २ ४ ८ १५ ३२ इस तरह होगा। इनमें केवल लघु अक्षर के अंक ४। ८ जोड़ने पर १२ होगा। उसमें एक और मिला देने से १३ होगा, यही उत्तर है। तात्पर्य यह है कि 'तनुमध्या' छन्द गायत्री का तेरहवाँ समवृत्त है। अधुना बिना प्रस्तार के ही वृत्तसंख्या जानने का उपाय बलताते हैं। इस उपाय का नाम 'संख्यान' है। जिस प्रकार कोई पूछे छः अक्षर वाले छन्द की समवृत्त-संख्या कितनी होगी? इसका उत्तर-जितने अक्षर के छन्द की संख्या समझनी हो, उसका आधा भाग निकाल दिया जायगा। इस क्रिया से दो की उपलब्धि होगी, जिस प्रकार छः अक्षरों में से आधा निकालने से३ बचा, परन्तु इस क्रिया से जो दो की प्राप्ति हुई। उसको अलग रखेंगे। विषम संख्या में से एक घटा दिया जायगा। इससे शून्य की प्राप्ति होगी। उसको दो के नीचे रख दें। जिस प्रकार ३ से एक निकालने पर दो बचा, परन्तु इस क्रिया से जो शून्य की प्राप्ति हुई, उसको २ के नीचे रखा गया। तीन से से एक निकालने पर जो दो बचा था, उसको भी दो भागों में विभाजित करके आधा निकाल दिया गया। इस क्रिया से पूर्ववत् दो की प्राप्ति हुई और उसको शून्य के नीचे रख दिया गया। अधुना एक बचा। वह विषम संख्या है-इसमें से एक बाद देने पर शून्य शेष रहा। साथ ही इस क्रिया से शून्य की प्राप्ति हुई, इसको पूर्ववत् २ के नीचे रख दिया गया। शून्य के स्थान में दुगुना करना चाहिये। इस नियम के पालन के लिये निचले शून्य को एक मानकर उसका दूना किया गया। इससे प्राप्त हुए अंक को ऊपर के अर्ध स्थान में रखे और उसको उतने से ही गुणा करना चाहिये। जिस प्रकार शून्य स्थान को एक मानकर दूना करने और उसको अर्ध स्थान में रखकर उतने से ही गुणा करने पर ४ संख्या होगी। फिर शून्य स्थान में उसको ले जाकर पूर्ववत् दूना करने से ८ संख्या हुई; पुनः इसको अर्धस्थान में ले जाकर उतनी ही संख्या से गुणा करने पर ६४ संख्या हुई। यही उपरोक्त प्रश्न का उत्तर है। इसी नियम से 'उष्णिक्' के १२८ और 'अनुष्टुप्' के २५६ समवृत्त होते हैं। इस प्रश्न को इस तरह लिखकर हल करना चाहिये-

अर्धस्थान २, ८ ×८ = ६४
शून्यस्थान ०, ४ × २ = ८
अर्धस्थान २, २ × २ = ४
शून्यस्थान ०, १ × २ = २

गायत्री आदि छन्दों की संख्या को दूनी करके उसमें दो घटा देने पर जो संख्या हो, वह वहाँ तक के छन्दों की संयुक्त संख्या होती है। जिस प्रकार गायत्री की वृत्त-संख्या ६४ को दूना करके २ घटाने से १२६ हुआ। यह एकाखर से लेकर षडक्षर पर्यन्त सभी अक्षरों के छन्दों की संयुक्त संख्या हुई। जिस समय छन्द के वृत्तों की संख्या को द्विगुणित करके उसको पूर्ण 'ज्यों-का त्यों रहने दिया जाय, दो घटाया न जाय, तो वह अंक बाद के छन्द की वृत्तसंख्या का ज्ञापक होता है। गायत्री की वृत्तसंख्या ६४ को दूना करने से १२८ हुआ। यह 'उष्णिक्' की वृत्तसंख्या योग हुआ।

अधुना एकद्वयादि लग क्रिया की सिद्धि के लिये 'मेरु प्रस्तार' बताते हैं- अमुक छन्द में कितने लघु, कितने गुरु तथा कितने वृत्त होते हैं, इसका ज्ञान 'मेरु-प्रस्तार' से होता है। सबसे ऊपर एक चतुरस्र कोष्ठ बनाये। उसके नीचे

परे पूर्णं परे पूर्णं मेरुप्रस्तारतो भवेत्। नगसंख्या वृत्तसंख्या चार्धाङ्गुलमधोर्धतः।।४।।
संख्यैव द्विगुणैकोना छन्दःसारोऽयमीरितः।।५।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते प्रस्तारनिरूपणं नाम पञ्चत्रिंशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः।।३३५।।

—✻✻✻—

दो कोष्ठ आदि जितने अभीष्ट हों, बनाये। पहले कोष्ठ में एक संख्या रखे, दूसरी पंकि के दोनों कोष्ठों में एक-एक संख्या रखे, फिर तीसरी पंकि में किनारे के दो कोष्ठों में एक-एक लिखे और मध्य में ऊपर के कोष्ठों के अंक जोड़कर पूरे-पूरे लिख देना चाहिये। चौथी पङ्क्ति में किनारे के कोष्ठों में एक-एक लिखे और मध्य के दो कोष्ठों में ऊपर के दो-दो कोष्ठों के अङ्क जोड़कर लिखे। नीचे के कोष्ठों में भी यही विधि बरतनी चाहिये।

१
एकाक्षर प्रस्तार १ १ = २
द्व्यक्षर प्रस्तार १ २ १ = ४
त्र्यक्षर प्रस्तार १ ३ ३ १ = ८
चतुरक्षर प्रस्तार १ ४ ६ ४ १ = १६
पञ्चाक्षर प्रस्तार १ ५ १० १० ५ १ =३२
षडक्षर प्रस्तार १ ६ १५ २० १५ ६ १ = ६४
सप्ताक्षर प्रस्तार १ ७ २१ ३५ ३५ २१ ७ १ = १२८
अष्टाक्षर प्रस्तार १ ८ २८ ५६ ७० ५६ २८ ८ १ = २५६

इसमें चौथी पङ्क्ति में १ सर्वगुरु, ३ एक लघु, तीन दो लघु और १ सर्वलघु अक्षर है। इसी तरह अन्य पङ्क्तियों में भी समझना चाहिये। इस तरह इसके द्वारा छन्द के लघु गुरु अक्षरों की तथा एकाक्षरादि छन्दों की वृत्त-संख्या जानी जाती है। मेरु-प्रस्तार में नीचे से ऊपर की तरफ आधा-आधा अंगुल विस्तार कम होता जाता है। छन्द की संख्या को दूनी करके एक-एक घटा दिया जाय तो उतने ही अंगुल का उसका अध्वा (प्रस्तार देश) होता है। इस तरह यहाँ छन्दःशास्त्र का सार बतलाया गया।।४-५।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी तीन सौ पैंतीसवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।३३५।।

अथ षट्त्रिंशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः

शिक्षानिरूपणम्

अग्निरुवाच

वक्ष्ये शिक्षां त्रिषष्टिः स्युर्वर्णा वा चतुरा (र)धिकाः। स्वरा विंशतिरेकश्च स्पर्शानां पञ्चविंशतिः॥१॥
यादयश्च स्मृता ह्यष्टौ चत्वारश्च यमाः स्मृताः। अनुस्वारो विसर्गश्च ४ क ४ पौ चापि पराश्रितौ॥२॥
दुस्पृष्टश्चेति विज्ञेयो ऌकारः प्लुत एव च। रङ्गश्च खे अरं प्रोक्तं हकारः पञ्चमैर्युतः॥३॥
अन्तस्थाभिः समायुक्त औरस्यः कण्ठ्य एव सः। आत्मा बुद्ध्या समेत्यार्थान्मनो युङ्क्ते विवक्षया॥४॥
मनः कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम्। मारुतस्तूरसि चरन्मन्द्रं जनयति स्वरम्॥५॥
प्रातः सवनयोगं तु च्छन्दो गायत्रमाश्रितम्। कण्ठे माध्यंदिनयुतं मध्यमं त्रैष्टुभानुगम्॥६॥
तारं तार्तीयसवनं शीर्षण्यं जागतानुगम्। सोदीर्णो मूर्ध्न्यभिहतो वक्त्रमापद्य मारुतः॥७॥
वर्णाञ्जनयते तेषां विभागः पञ्चधा स्मृतः। स्वरतः कालतः स्थानात्प्रयत्नार्थप्रदानतः॥८॥
अष्टौ स्थानानि वर्णानामुरः कण्ठः शिरस्तथा। जिह्वामूलं च दन्ताश्च नासिकोष्ठौ च तालु च॥९॥

अध्याय-३३६

शिक्षानिरूपण

श्रीअग्निदेव ने कहा कि—हे वसिष्ठ! अधुना मैं 'शिक्षा' का वर्णन करने जा रहा हूँ। वर्णों की संख्या तिरसठ अथवा चौंसठ भी मानी गयी है। इनमें इक्कीस स्वर, पचीस स्पर्श, आठ आदि एवं चार यम माने गये हैं। अनुस्वार, विसर्ग, दो पराश्रित वर्ण—जिह्वामूलीय तथा उपध्मानीय (˘ क और ˘ प) और दुःस्पृष्ट लकार—ये तिरसठ वर्ण हैं। इनमें प्लुत ऌकार को और गिन लिया जाय तो वर्णों की संख्या चौंसठ हो जाती है। रंग (अनुनासिक) का उच्चारण 'खे अराँ' की तरह बतलाया गया है। हकार 'ङ' आदि पञ्चमाक्षरों और य, र, ल, व—इन अन्तःस्थ वर्णों से संयुक्त होने पर 'उरस्य' हो जाता है। इनसे संयुक्त न होन पर वह 'कण्ठस्थानीय' ही रहता है। आत्मा (अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य) संस्काररूप से अपने अन्दर विद्यमान घट-पटादि पदार्थों को अपनी बुद्धिवृत्ति से संयुक्त करके अर्थात् उनको एक बुद्धि का विषय बनाकर बोलने या दूसरों पर प्रकट करने की इच्छा से मन को उनसे संयुक्त करता है। संयुक्त हुआ मन कायाग्नि—जठराग्नि को आहत करता है। फिर वह जठरानल प्राणवायु को प्रेरित करता है। वह प्राण वायु हृदय देश में विचरता हुआ धीमी ध्वनि में उस प्रसिद्ध स्वर को उत्पन्न करता है, जो प्रातः सवनकर्म के साधन भूत मन्त्र के लिये उपयोगी है तथा जो 'गायत्री' नामक छन्द के आश्रित है। उसके बाद वह प्राणवायु कण्ठ देश में भ्रमण करता हुआ 'त्रिष्टुप्' छन्द से युक्त माध्यंदिन-सवन-कर्मसाधन मन्त्रोपयोगी मध्यम स्वर को उत्पन्न करता है। इसके बाद कथित प्राणवायु शिरोदेश में पहुँचकर उच्चध्वनि से युक्त एवं 'जगती' छन्द के आश्रित सायं-सवन-कर्मसाधन मन्त्रोपयोगी स्वर को प्रकट करता है। इस तरह ऊपर की तरफ प्रेरित वह प्राण, मूर्धा में टकराकर अभिघात नामक संयोग का आश्रय बनकर, मुखवर्ती कण्ठादि स्थानों में पहुँचकर वर्णों को उत्पन्न करता है। उन वर्णों के पाँच तरह से विभाग

अनुस्वारो विसर्गश्च शषसा रेफ एव च। चिह्वामूलमुपध्मा च गतिरष्टविधोष्मणः॥१०॥
यद्यो भावप्रसंधानमुकारादि परं पदम्। स्वरान्तं तादृशं विद्याद्यदन्यद्व्यक्तमूष्मणः॥११॥
कुतीर्थादागतं दग्धमपवर्णं च भक्षितम्। एवमुच्चारणं पापमेवमुच्चारणं शुभम्॥१२॥
सुतीर्थादागतं व्यक्तं स्वाम्नायं सुव्यवस्थितम्। सुस्वरेण सुवक्त्रेण प्रयुक्तं ब्रह्म राजते॥१३॥
न करालो न लम्बोष्णे नाव्यक्तो नानुनासिकः। गद्गदो बद्धजिह्वश्च न वर्णान्वक्तुमर्हति॥१४॥
(यथा व्याघ्री हरेत्पुत्रान्दंष्ट्राभ्यां न च पीडयेत्। एवं वर्णाः प्रयोक्तव्या नाव्यक्ता न च पीडिताः॥१५॥
सम्यग्वर्णप्रयोगेण ब्रह्मलोके महीयते)। उदात्तश्चानुदात्तश्च स्वरितश्च स्वरास्त्रयः॥१६॥
ह्रस्वो दीर्घः प्लुत इति कालतो नियमा अपि (चि)।
कण्ठ्या कु (व) हाविचुयशास्तालव्या ओष्ठजावुपू॥१७॥

माने गये हैं। स्वर से, काल से, स्थान से, आभ्यन्तर प्रत्यन्त से तथा वाह्य प्रयत्न से उन वर्णों में भेद होता है। वर्णों के उच्चारण-स्थान आठ हैं—हृदय, कण्ठ, मूर्धा, जिह्वामूल, दन्त, नासिका, ओष्ठद्वय तथा तालु। विसर्ग का अभाव, विवर्तन, संधि का अभाव, शकारादेश, षकारादेश, सकारादेश, रेफादेश, जिह्वामूलीयत्व और उपध्मानीयत्व—यह 'ऊष्मा' वर्णों की आठ तरह की गतियाँ हैं। जिस उत्तरवर्ती पद में आदि अक्षर 'उकार' हो, वहाँ गुण आदि के द्वारा यदि 'ओ' भाव का प्रसंधान (परिज्ञान) हो रहा हो, तो उस 'ओकार' को स्वरान्त अर्थात् स्वर-स्थानीय समझना चाहिये। जिस प्रकार—'गङ्गोदकम्'। इस पद में जो 'ओ' भाव का प्रसंधान है, वह स्वरस्थानीय है। इससे भिन्न संधिस्थल में जो 'ओभाव' का परिज्ञान होता है, वह 'ओ' भाव ऊष्मा का ही गति विशेष है, यह बात स्पष्ट रूप से जान लेनी चाहिये। जिस प्रकार—'शिवो वन्द्यः' इसमें जो ओकार का श्रवण होता है, वह ऊष्मस्थानीय ही है। यह निर्णय किसी अन्य व्याकरण की विधि से किया गया है, ऐसा जान पड़ता है। जो वेदाध्ययन कुतीर्थ से प्राप्त हुआ है, अर्थात् आचारहीन गुरु से ग्रहण किया गया है, वह दग्ध—नीरस-सा होता है। उसमें अक्षरों को खींच-तानकर हठात् किया अर्थ तक पहुँचाया गया है। वह भक्षित-सा हो गया है, अर्थात् सम्प्रदाय-सिद्ध गुरु से अध्ययन न करने के कारण वह अधुनाक्ष्य-भक्षण के समान निस्तेज है। इस तरह का उच्चारण या पठन पाप माना गया है। इसके विपरीत जो सम्प्रदायसिद्ध गुरु से अध्ययन किया जाता है, तदनुसार पठन-पाठन शुभ होता है। जो श्रेष्ठतम तीर्थ—सदाचारी गुरु से पढ़ा गया है, सुस्पष्ट उच्चारण से युक्त है, सम्प्रदायशुद्ध है, सुव्यवस्थित है, उदात्त आदि शुद्ध स्वर से तथा कण्ठ-ताल्वादि शुद्ध स्थान से प्रयुक्त हुआ है, वह वेदाध्ययन शोभित होता है। न तो विकराल आकृति वाला, न लम्बे ओठों वाला, न अव्यक्त उच्चारण करने वाला, न नाक से बोलने वाला एवं न गद्गद कण्ठ या जिह्वाबन्ध से युक्त मनुष्य ही वर्णोच्चारण में सक्षम होता है। जिस प्रकार व्याघ्री अपने बच्चों को दाढ़ों से पकडकर एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाती है, परन्तु उनको पीड़ा नहीं देती, वर्णों का ठीक इसी तरह प्रयोग करना चाहिये, जिससे वे वर्ण न तो अव्यक्त (अस्पष्ट) हों और न पीड़ित ही हों। वर्णों के सम्यक् प्रयोग से मानव ब्रह्मलोक में पूजित होता है।

'स्वर' तीन तरह के माने गये हैं—उदात्त, अनुदात्त और स्वरित। इनके उच्चारण काल के भी तीन नियम हैं—ह्रस्व, दीर्घ तथा प्लुत। अकार एवं हकार कण्ठस्थानीय हैं। इकार, चवर्ग, यकार एवं शकार—ये तालु स्थान से उच्चरित होते हैं। उकार और पवर्ग—ये दोनों ओष्ठ स्थान से उच्चरित होने वाले हैं। ऋकार, टवर्ग, रेफ एवं षकार—ये मूर्धन्य तथा ऌकार, तवर्ग, लकार और सकार—ये दन्तस्थानीय होते हैं। कवर्ग का स्थान जिह्वामूल है। वकार को विद्वज्जन

स्युर्मूर्धन्या ऋटुरषा दन्त्या लृतुलसाः स्मृताः। जिह्वामूले तु कुः प्रोक्तो दन्त्योष्ठ्यो वः स्मृतो बुधैः॥१८॥
ए ऐ तु कण्ठतालव्या ओ औ कण्ठ्यौ (ष्ठो) ठजौ स्मृतौ।
अर्धमात्रा तु कण्ठस्य एकारैकारयोर्भवेत्॥१९॥
अयोगवाहा विज्ञेया आश्रयस्थानभागिनः। अचोऽस्पृष्टायणस्त्वीषन्नेमाः म स्पृष्टाः शलः स्मृताः॥२०॥
शेषाः स्पृष्टा हलः प्रोक्ता निबोधात्र प्रधानतः। अमोऽनुनासिका नह्नौ (ह्नौ) नादिनो हझषः स्मृताः॥२१॥
ईशन्नादौ (दा) यणश्चैव श्वासिनश्च खफादयः। ईषच्छ्वासं शरं विद्याद्गोर्धामैतत्प्रचक्षते॥२२॥

॥इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते शिक्षानिरूपणं नाम षट्त्रिंशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः॥३३६॥

दन्त और ओष्ठ से उच्चरित होने वाला बताते हैं। एकार और ऐकार कण्ठ-तालव्य तथा ओकार एवं औकार कण्ठोष्ठज माने गये हैं। एकार, ऐकार तथा ओकार और औकार में कण्ठस्थानीय वण। अकार की आधी मात्रा या एक मात्रा होती है। 'अयोग्यवाह' आश्रयस्थान के भागी होते हैं, ऐसा समझना चाहिये। अच् (अ, इ, उ, ऋ, लृ, ए, ओ, ऐ, औ)- ये स्वर स्पर्शाभावरूप 'विवृत' प्रयत्न वाले हैं। यण् (य, व, र, ल)' 'ईषत्स्पृष्ट' एवं शल् (श, ष, स, ह) 'अर्धस्पृष्ट' अर्थात् 'ईषद्विवृत' प्रत्यन्त वाले हैं। शेष 'हल्' अर्थात् क से लेकर म तक के अक्षर 'स्पृष्ट प्रयत्न वाले' माने गये हैं। इनमें बाह्य प्रयत्न के कारण वर्ण भेद समझना चाहिये। 'जम्' प्रत्याहार में स्थित वर्ण (ञ, म, ङ, ण, न) अनुनासिक होते हैं। हकार और रेफ अनुनासिक नहीं होते। 'हकार, झकार तथा षकार' के 'संवार', 'घोष' और 'नाद' प्रयत्न हैं। 'यण्' और 'जश्'-इनके 'ईषन्नाद' अर्थात् 'अल्पप्राण' प्रयत्न हैं। 'ख, फ आदि का 'विवार', 'अघोष' और 'श्वास' प्रयत्न हैं। चर् (च, ट, त, क, प, श, ष, स) का 'ईषच्छ्वास' प्रयत्न समझना चाहिये। यह व्याकरणशास्त्र वाणी का धाम कहा जाता है॥१-२२॥

॥इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी तीन सौ छत्तीसवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ॥३३६॥

❖❖❖

अथ सप्तत्रिंशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः

काव्यादिलक्षणम्

अग्निरुवाच

काव्यस्य नाटकादेश्च अलंकारान्वदाम्यथ। ध्वनिर्वर्णाः पदं वाक्यमित्येतद्वाङ्मयं मतम्।।१।।
शास्त्रेतिहासवाक्यानां त्रयं यत्र समाप्यते। शास्त्रे शब्दप्रधानत्वमितिहासेषु निष्ठता।।२।।
अभिधायाः प्रधानत्वात्काव्यं ताभ्यां विभिद्यते। नरत्वं दुर्लभं लोके विद्या तत्र सुदुर्लभा।।३।।
कवित्वं दुर्लभं तत्र शक्तिस्तत्र च दुर्लभा। व्युत्पत्तिर्दुर्लभा तत्र विवेकस्तत्र दुर्लभः।।४।।
सर्वं शास्त्रमविद्वद्भिर्मृग्यमाणं न सिद्ध्यति। आदिवर्णा द्वितीयाश्च महाप्राणास्तुरीयकाः।।५।।
वर्गेषु वर्णवृन्दं स्यात्पदं सुप्तिङ्प्रभेदतः। संक्षेपाद्वाक्यमिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली।।६।।
काव्यं स्फुरदलंकारं गुणवद्दोषवर्जितम्। योनिर्वेदश्च लोकश्च सिद्धमर्थादयोनिजम्।।७।।
देवादीनां संस्कृतं स्यात्प्राकृतं त्रिविधं नृणाम्। गद्यं पद्यं च मिश्रं च काव्यादि त्रिविधं स्मृतम्।।८।।
अपदः पदसन्तानो गद्यं तदपि गद्यते। चूर्णकोत्कलिकावृत्तसंधिभेदात् त्रिरूपकम्।।९।।

अध्याय–३३७

काव्य आदि लक्षण विचार

श्रीअग्निदेव ने कहा कि–हे वसिष्ठ! अधुना मैं 'काव्य' और 'नाटक' आदि के स्वरूप तथा 'अलंकारों' का वर्णन करने जा रहा हूँ। ध्वनि, वर्ण, पद और वाक्य–यही सम्पूर्ण वाङ्मय माना गया है। शास्त्र, इतिहास तथा काव्य–इन तीनों की समाप्ति इसी वाङ्मय में होती है। वेदादि शास्त्रों में शब्द की प्रधानता है और इतिहास-पुराणों में अर्थ की। इन दोनों में 'अभिधा-शक्ति' (वाच्यार्थ) की ही मुख्यता होती है; इसलिये 'काव्य' इन दोनों से भिन्न है। (क्योंकि उसमें व्यङ्ग्य अर्थ को प्रधानता दी जाती है।) संसार में मनुष्य-जीवन दुर्लभ हैं; उसमें भी विद्या तो और भी दुर्लभ है। विद्या होने पर भी कवित्व का गुण आना कठिन है; उसमें भी काव्य-रचना की पूर्ण शक्ति का होना अत्यन्त कठिन है। शक्ति के साथ बोध एवं प्रतिभा हो, यह और भी कठिन है; इन सबके होते हुए विवेक का होना तो परम दुर्लभ है। कोई भी शास्त्र क्यों न हो, अविद्वान् पुरुषों के द्वारा उसका अनुसंधान किया जाय तो उससे कुछ भी सिद्ध नहीं होता। 'श' आदि वर्ण, अर्थात् 'श ष स ह' तथा वर्गों के द्वितीय एवं चतुर्थ अक्षर 'महाप्राण' कहलाते हैं। वर्णों के समुदाय को 'पद' कहते हैं। इसके दो भेद हैं–'सुबन्त' और तिङन्त'। अभीष्ट अर्थ से व्यवच्छिन्न संक्षिप्त पदावली का नाम 'वाक्य' है।।१-६।।

जिसमें अलंकार भासित होता हो, गुण विद्यमान हो तथा दोष का अभाव हो, ऐसे वाक्य को 'काव्य' कहते हैं। लोक-व्यवहार तथा वेद (शास्त्र) का ज्ञान–ये काव्यप्रतिभा की योनि हैं। सिद्ध किये मन्त्र के प्रभाव से जो काव्य निर्मित होता है, वह अयोनिज है। देवता आदि के लिये संस्कृत भाषा का और मनुष्यों के लिय तीन तरह की प्राकृत भाषा का प्रयोग करना चाहिये। काव्य आदि तीन तरह के होते हैं–गद्य, पद्य और मिश्र। पादविभाग

अल्पाल्पविग्रहं नातिमृदुसंदर्भनिर्भरम्। चूर्णकं नामतो दीर्घसमासोत्कलिका भवेत्॥१०॥
भवेन्मध्यमसन्दर्भं नातिकुत्सितविग्रहम्। वृत्तच्छायाहरं वृत्तसंधिनैतत्किलोत्कटम्॥११॥
आख्यायिका कथा खण्डकथा परिकथा तथा। कथानिकेति मन्यन्ते गद्यकाव्यं च पञ्चधा॥१२॥
कर्तृवंशप्रशंसा स्याद्यत्र गद्येन विस्तरात्। कन्याहरण-संग्राम-विप्रलम्भविपत्तयः॥१३॥
भवन्ति यत्र दीप्ताश्च रीतिवृत्तिप्रवृत्तयः। उच्छ्वासैश्च परिच्छेदो यत्र या चूर्णकोत्तरा॥१४॥
वक्त्रं वाऽपरवक्त्रं वा यत्र साऽऽख्यायिका स्मृता। श्लोकैः स्ववंशं संक्षेपात्कविर्यत्र प्रशंसति॥१५॥
मुख्यस्यार्थावताराय भवेद्यत्र कथान्तरम्। परिच्छेदो न यत्र स्याद्भवेद्वा लम्बकैः क्वचित्॥१६॥
सा कथा नाम तद्गर्भे निबध्नीयाच्चतुष्पदीम्। भवेत्खण्डकथा याऽसौ कथा परिकथा तयोः॥१७॥
अमात्यं सार्थकं वाऽपि द्विजं वा नायकं विदुः। स्यात्तयोः करुणं विद्धि विप्रलम्भश्चतुर्विधः॥१८॥
समाप्यते तयोर्नाऽऽद्या सा कथामनुधावति। कथाख्यायिकयोर्मिश्रभावात्परिकथा स्मृता॥१९॥
भयानकं सुखपरं गर्भे च करुणो रसः। अद्भुतोऽन्ते सुक्लृप्तार्थो नोदात्ता सा कथानिका॥२०॥

से हीन पदों का प्रवाह 'गद्य' कहलाता है। वह भी चूर्णक, उत्कलिका और वृत्तगन्धि भेद से तीन तरह का होता है। छोटी-छोटी कोमल पदावली से युक्त और अत्यन्त मृदु संदर्भ से पूर्ण गद्य को 'चूर्णक' कहते हैं। जिसमें बड़े-बड़े समास युक्त पद हों, उसका नाम 'उत्कलिका' है। जो मध्यम श्रेणी के सन्दर्भ से युक्त हो तथा जिसका विग्रह अत्यन्त कुत्सित (क्लिष्ट) न हो, जिसमें पद्य की छाया का आभास मिलता हो-जिसकी पदावली किसी पद्य या छन्द के खण्ड सी जान पड़े, उस गद्य को 'वृत्तगन्धि' कहते हैं। यह सुनने में अधिक उत्कट नहीं होता। गद्य-काव्य के पाँच भेद माने जाते हैं--आख्यायिका, कथा, खण्ड कथा, परिकथा एवं कथानिका। जहाँ गद्य के द्वारा विस्तारपूर्वक ग्रन्थ-निर्माता कवि के वंश की प्रशंसा की गयी हो, जिसमें कन्याहरण, संग्राम, विप्रलम्भ (वियोग) और विपत्ति (मरणादि) प्रसङ्गों का वर्णन हो, जहाँ वैदर्भी आदि रीतियों तथा भारती आदि वृत्तियों की प्रवृत्तियाँ पर विशेष रूप से प्रकाश पड़ता हो, जिसमें 'उच्छ्वास' के नाम से परिच्छेद (खण्ड) किये गये हों, जो 'चूर्णक' नामक गद्यशैली के कारण अधिक उत्कृष्ट जान पड़ती हो, अथवा जिसमें 'वक्त्र' या 'अपरवक्त्र' नामक छन्द का प्रयोग हुआ हो, उसका नाम 'आख्यायिका' है (जिस प्रकार 'कादम्बरी' आदि)। जिस काव्य में कवि श्लोकों द्वारा संक्षेप से अपने वंश का गुणगान करता हो, जिसमें मुख्य अर्थ को उपस्थित करने के लिये कथान्तर का संनिवेश किया गया हो, जहाँ परिच्छेद हो ही नहीं, अथवा यदि हो भी तो कहीं लम्बकों द्वारा ही हो, उसका नाम 'कथा' है। (जिस प्रकार 'कथा-सरित्सागर' आदि)। उसके मध्यभाग में चतुष्पदी (पद्य) द्वारा बन्ध-रचना करना चाहिये। जिसमें कथा खण्ड मात्र हो, उसको 'खण्डकथा' कहते हैं खण्डकथा और परिकथा-इन दोनों तरह की कथाओं में मन्त्री, सार्थवाह (वैश्य) अथवा ब्राह्मण को ही नायक मानते हैं। उन दोनों का ही प्रधान रस 'करुण' समझना चाहिये। उसमें चार तरह का 'विप्रलम्भ' (विरह) वर्णित होता है। (प्रवास, श्राप, मान एवं करुण भेद से विप्रलम्भ के चार तरह हो जाते हैं।) उन दोनों में ही ग्रन्थ के अन्दर कथा की समाप्ति नहीं होती। अथवा 'खण्डकथा' कथाशैली का ही अनुसरण करती है। कथा एवं आख्यायिका दोनों के लक्षणों के मेल से जो कथावस्तु प्रस्तुत होती है, उसको 'परिकथा' नाम दिया गया है। जिसमें प्रारम्भ में भयानक, मध्य में करुण तथा अन्त में अद्भुत रस को प्रकट करने वाली रचना होती है, वह 'कथानिका' (कहानी) है। उसको श्रेष्ठतम श्रेणी का काव्य नहीं माना गया है।॥७-२०॥

पद्यं चतुष्पदी तच्च वृत्तं जातिरिति द्विधा। वृत्तमक्षरसंख्येयमुक्थं तत्कृतिशेषजम्।।२१।।
मात्राभिर्गणना यत्र सा जातिरिति काश्यप। सममर्धसमं वृत्तं विषमं पैङ्गलं त्रिधा।।२२।।
सा विद्या नौस्तितार्षूणां गभीरं काव्यसागरम्। महाकाव्यं कलापश्च पर्याबन्धो विशेषकम्।।२३।।
कुलकं मुक्तकं कोष इति पद्यकुटुम्बकम्। सर्गबन्धो महाकाव्यमारब्धं संस्कृतेन यत्।।२४।।
तादात्म्यमजहत्तत्र तत्समं नातिदुष्यति। इतिहासकथोद्भूतमितरद्वा सदाश्रयम्।।२५।।
मंत्रदूतप्रयाणाजिनियतं नातिविस्तरम्। शक्वर्याऽतिजगत्याऽतिशक्वर्या त्रिष्टुभा तथा।।२६।।
पुष्पिताग्रादिभिर्वक्त्राभिजनैश्चारुभिः समैः। मुक्ता तु भिन्नवृत्तान्ता नातिसंक्षिप्तसर्गकम्।।२७।।
अतिशक्वरिकाष्टम्यामेकसंकीर्णकैः परः। मात्रयाऽप्यपरः सर्गः प्राशस्त्येषु च पश्चिमः।।२८।।
कल्पोऽतिनिन्दितस्तस्मिन्विशेषानादरः सताम्। नगरार्णवशैलर्तुचन्द्रार्काश्रमपादपैः।।२९।।
उद्यानसलिलक्रीडामधुपानरतोत्सवैः। दूतीवचनविन्यासैरसतीचरिताद्भुतैः।।३०।।
तमसा मरुताऽप्यन्यैर्विभावैरतिनिर्भरैः। सर्ववृत्तिप्रवृत्तं च सर्वभाव प्रभावितम्।।३१।।

चतुष्पदी नाम है—पद्य का चार पादों से युक्त होने से उसको 'चतुष्पदी' कहते हैं। उसके दो भेद हैं, 'वृत्त' और 'जाति'। जो अक्षरों की गणना से जाना जाय, उसको 'वृत्त' कहते हैं। यह भी दो तरह का है—'उक्थ' (वैदिकस्तोत्र आदि) और 'कृतिशेषज' (लौकिक)। जहाँ मात्राओं द्वारा गणना हो, वह पद्य 'जाति' कहलाता है। यह काश्यप का मत है। वर्णों की गणना के अनुसार व्यवस्थित छन्द को 'वृत्त' कहते हैं। पिङ्गलमुनि ने वृत्त के तीन भेद माने हैं। सम, अर्धसम तथा विषम। जो लोग गम्भीर काव्य-समुद्र के पार जाना चाहते हैं, उनके लिये छन्दोविद्या नौका के समान है। महाकाव्य, कलाप, पर्यायबन्ध, विशेषक, कुलक, मुक्तक तथा कोष—ये सभी पद्यों के समुदाय हैं। अनेक सर्गों में रचा हुआ संस्कृत भाषा द्वारा निर्मित काव्य 'महाकाव्य' कहलाता है।।२१-२३।।

सर्गबद्ध रचना को, जो संस्कृत भाषा में अथवा विशुद्ध एवं परिमार्जित भाषा में लिखी गयी हो, 'महाकाव्य' कहते हैं। महाकाव्य के स्वरूप का त्याग न करते हुए उसके समान अन्य रचना भी हो, तो वह दूषित नहीं मानी जाती। 'महाकाव्य' इतिहास की कथा को लेकर निर्मित होता है अथवा उसके अतिरिक्त किसी श्रेष्ठतम आधार को लेकर भी उसकी अवतारणा की जाती है। उसमें यथास्थान गुप्तमन्त्रणा, दूतप्रेषण, अभियान और युद्ध आदि के वर्णन का समावेश हाता है। वह अधिक विस्तृत नहीं होता। शक्वरी, अतिजगती, अतिशक्वरी, त्रिष्टुप् और पुष्पिताग्रा आदि तथा वक्त्र आदि मनोहर एवं समवृत्त वाले छन्दों में महाकाव्य की रचना की जाती है। प्रत्येक सर्ग के अन्त में छन्द बदल देना उचित है। सर्ग अत्यन्त संक्षिप्त नहीं होना चाहिये। 'अतिशक्वरी' और 'अष्टि'—इन दो छन्दों से एक सर्ग संकीर्ण होना चाहिये तथा दूसरा सर्ग पूर्व सर्ग की अपेक्षा अधिकाधिक श्रेष्ठतम होना चाहिये। 'कल्प' अत्यन्त निन्दित माना गया है। उमसें सत्पुरुषों का विशेष आदर नहीं होता। नगर, समुद्र, पर्वत, ऋतु, चन्द्रमा, सूर्य, आश्रम, वृक्ष, उद्यान, जलक्रीड़ा, मधुपान, सुरतोत्सव, दूती-वचन-विन्यास तथा कुलटा के चरित्र आदि अद्भुत वर्णनों से महाकाव्य पूर्ण होता है। अन्धकार, वायु तथा रति को व्यक्त करने वाले अन्य उद्दीपन-विभावों से भी वह अलंकृत होता है। उसमें सभी तरह की वृत्तियों की प्रवृत्ति होती है। वह सभी तरह के भावों से प्रभावित होता है तथा सभी तरह की रीतियों तथा सभी रसों से उसका संस्पर्श होता है। सभी गुणों और अलंकारों से भी महाकाव्य का परिपुष्ट किया जाता है। इन सब विशेषताओं के कारण

सर्वरीतिरसैः स्पृष्टं पुष्टं गुणविभूषणैः। अत एव महाकाव्यं तत्कर्ता च महाकविः।।३२।।
वाग्वैदग्ध्यप्रधानेऽपि रस एवात्र जीवितम्। पृथक्प्रयत्नं निर्वर्त्यं वाग्विक्रमणि रसाद्वपुः।।३३।।
चतुर्वर्गफलं विश्वग्व्याख्यातं नायकाख्यया। समानवृत्तिर्निव्यूढः कौशिकीवृत्तिकोमलः।।३४।।
कलापोऽत्र प्रवासः प्रागनुरागाह्वयो रसः। सविशेषकं प्राप्त्यादि संस्कृतेनेतरेण च।।३५।।
(श्लोकैरनेकैः कुलकं स्यात्संदानितकानि तत्। मुक्तकं श्लोक एकैकश्चमत्कारक्षमः सताम्)।।३६।।
सूक्तिभिः कविविंसहानां सुन्दरीभिः समन्वितः। कोषो ब्रह्मापरिच्छिन्नः स विदग्धाय रोचते।।३७।।
आभासोपमशक्तिश्च सर्गे यद्भिन्नवृत्तता। मिश्रं वपुरिति ख्यातं प्रकीर्णमिति च द्विधा।।३८।।
(श्रव्यं चैवाभिनेयं च प्रकीर्णं सकलोक्तिभिः)।।३९।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते काव्यादिलक्षणकथनं नाम सप्तत्रिंशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः।।३३७।।

—❀—

ही उस रचना को 'महाकाव्य' कहते हैं तथा उसका निर्माता 'महाकवि' कहते हैं तथा उसका निर्माता 'महाकवि' कहते हैं तथा उसका निर्माता 'महाकवि' कहलाता है।।२४-३२।।

महाकाव्य में उक्ति-वैचित्र्य की प्रधानता होते हुए भी रस ही उसका जीवन है। उसकी स्वरूपसिद्धि अपृथग्यत्न से (अर्थात् सहजभाव से) साध्य वाग्वक्रिमा (वचनवैचित्र्य अथवा वक्रोक्ति) विषयक रस से होती है। महाकाव्य का फल है—चारों पुरुषार्थों की प्राप्ति। वह नायक के नाम से ही सभी जगह विख्यात होता है। प्रायः समान छन्दों अथवा वृत्तियों में महाकाव्य का निर्वाह किया जाताहै। कौशिकी वृत्ति की प्रधानता होने से काव्य प्रबन्ध में कोमलता आती है। जिसमें प्रवास का वर्णन हो, उस रचना को 'कलाप' कहते हैं। उसमें 'पूर्वानुराग' नामक शृङ्गार रस की प्रधानता होती है। संस्कृत अथवा प्राकृत के द्वारा प्राप्ति आदि का वर्णन 'विशेषक' कहलाता है। जहाँ अनेक श्लोकों का एक साथ अन्वय हो, उसको 'कुलक' कहते हैं। उसी का नाम 'संदानितक' भी है।

एक-एक श्लोक की स्वतन्त्र रचना को 'मुक्तक' कहते हैं। उसको सहृदयों के हृदय में चमत्कार उत्पन्न करने में सक्षम होना चाहिये। श्रेष्ठ कवियों की सुन्दर उक्तियों से सम्पन्न ग्रन्थ को 'कोष' कहा गया है। वह ब्रह्मा की भाँति अपरिच्छिन्न रस से युक्त होता है तथा सहृदय पुरुषों को रुचिकर प्रतीत होता है। सर्ग में जो भिन्न-भिन्न छन्दों की रचना होती है, वह आभासोपम शक्ति है। उसके दो भेद हैं—'मिश्र' तथा 'प्रकीर्ण'। जिसमें 'श्रव्य' और 'अभिनेय'—दोनों के लक्षण हों, वह 'मिश्र' और सकल उक्तियों से युक्त काव्य 'प्रकीर्ण' कहलाता है।।३३-३९।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी तीन सौ सैंतीसवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।३३७।।

❖❖❖

अथाष्टत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः

नाटकनिरूपणम्

अग्निरुवाच

नाटकं सप्रकरणं डिम ईहामृगोऽपि वा। ज्ञेयः समवकारश्च भवेत्प्रहसनं तथा॥१॥
व्यायोगभाणवीथ्यङ्कत्रोटकान्यथ नाटिका। सट्टकं शिल्पकः कर्णा एको दुर्मल्लिका तथा॥२॥
प्रस्थानं भाणिका भाणी गोष्ठी हल्लीशकानि च। काव्यं श्रीगदिनं नाट्यरासकं रासकं तथा॥३॥
उल्लाप्यकं प्रेङ्क्षणं च सप्तविंशतिधैव तत्। सामान्यं च विशेषश्च लक्षणस्य द्वयी गतिः॥४॥
सामान्यं सर्वविषयं विशेषः क्वापि वर्तते। पूर्वरङ्गे निवृत्ते द्वौ देशकालावुभावपि॥५॥
रसभावविभावानुभावा अभिनयास्तथा। अङ्कः स्थितश्च सामान्यं सर्वत्रैवोपसर्पणात्॥६॥
विशेषोऽवसरे वाच्यः सामान्यं पूर्वमुच्यते। त्रिवर्गसाधनं नाट्यमित्याहुः करणं च यत्॥७॥
इति कर्तव्यता तस्य पूर्वरङ्गो यथाविधि। नान्दीमुखानि द्वात्रिंशदङ्गानि पूर्वरङ्के॥८॥
देवतानां नमस्कारो गुरूणामपि च स्तुतिः। गोब्राह्मणनृपादीनामाशीर्वादादि गीयते॥९॥
नाद्य (न्द्यन्ते) सूत्रधारोऽसौ रूपकेषु निबध्यते। गुरुपूर्वक्रमं वंशप्रशंसा पौरुषं कवेः॥१०॥
सम्बन्धार्थौ च काव्यस्य पञ्चैतानेष निर्दिशेत्। नटी विदूषको वाऽपि पारिपार्श्वक एव च॥११॥

अध्याय–३३८

नाटक-निरूपण

श्रीअग्निदेव ने कहा कि—हे वसिष्ठ! 'रूपक' के सत्ताईस भेद माने गये हैं—नाटक, प्रकरण, डिम, ईहामृग, समवकार, प्रसहन, व्यायोग, भाण, वीथी, अंक, त्रोटक, नाटिका, सट्टक, शिल्पक, कर्णा, दुर्मल्लिका, प्रस्थान, भाणिका, भाणी, गोष्ठी, हल्लीशक, काव्य, श्रीगदित, नाट्यरासक, रासक, उल्लाप्य तथा प्रेङ्क्षण। लक्षण दो तरह के होते हैं—सामान्य और विशेष। सामान्य लक्षण रूपक के सभी भेदों में व्याप्त होते हैं और विशेष लक्षण किसी-किसी में दृष्टिगोचर होते हैं। रूपक के सभी भेदों में पूर्वरङ्ग के निवृत्त हो जाने पर देश-काल, रस, भाव, विभाव, अनुभाव, अभिनय, अङ्क और स्थिति—ये उनके सामान्य लक्षण हैं; क्योंकि इनका सभी जगह उपसर्पण देखा जाता है। विशेष लक्षण यथावसर बतलाया जायगा। यहाँ पहले सामान्य लक्षण कहा जाता है; 'नाटक' को धर्म, अर्थ और काम का साधन माना गया है; क्योंकि वह करण है। उसकी इतिकर्तव्यता (कार्यारम्भ की विधि) यह है कि 'पूर्वरङ्ग' का विधिवत् निष्पादन किया जाय। 'पूर्वरङ्ग' के नान्दी आदि बाईस अंग होते हैं॥१-८॥

देवताओं को नमस्कार, गुरुजन की प्रशस्ति तथा गौ, ब्राह्मण और राजा आदि के आशीर्वाद 'नान्दी' कहलाते हैं। रूपकों में 'नान्दीपाठ' के पश्चात् यह लिखा जाता है कि 'नान्द्यन्ते सूत्रधारः' (नान्दीपाठ के अनन्तर सूत्रधार का प्रवेश)। इसमें कवि की पूर्व गुरु परम्परा का, वंशप्रशंसा, पौरुष तथा काव्य के सम्बन्ध और प्रयोजन—इन पाँच विषयों का निर्देश करना चाहिये। नटी, विदूषक और पारिपार्श्वक—ये सूत्रधार के साथ जहाँ अपने कार्य से सम्बद्ध, प्रस्तुत विषय

सहिताः सूत्रधारेण संलापं यत्र कुर्वते। चित्रैर्वाक्यैः स्वकार्यार्थे (र्थैः) प्रस्तुताक्षेपिभिर्मिथः॥१२॥
आमुख्यं तत्तु विज्ञेयं बुधैः प्रस्तावनाऽपि सा। प्रवृत्तकं कथोद्घातः प्रयोगातिशयस्तथा॥१३॥
आमुख्यस्य त्रयो भेदा बीजांशेषूपजायते। कालं प्रवृत्तमाश्रित्य सूत्रधृग्यत्र वर्णयेत्॥१४॥
तदाश्रयस्य पात्रस्य प्रवेशस्तत्प्रवृत्तकम्। सूत्रधारस्य वाक्यं वा यत्र वाक्यार्थमेव वा॥१५॥
गृहीत्वा प्रविशेत्पात्रं कथोद्घातः स उच्यते। प्रयोगेषु प्रयोगं तु सूत्रधृग्यत्र वर्णयेत्॥१६॥
ततश्च प्रविशेत्पात्रं प्रयोगातिशयो हि सः। शरीरं नाटकादीनामितिवृत्तं प्रचक्षते॥१७॥
सिद्धमुत्प्रेक्षितं चेति तस्य भेदावुभौ स्मृतौ। सिद्धमागमदृष्टं च सृष्टमुत्प्रेक्षितं कवेः॥१८॥
बीजं बिन्दुः पताका च प्रकरी कार्यमेव च। अर्थप्रकृतयः पञ्च पञ्च चेष्टा अपि क्रमात्॥१९॥
प्रारम्भश्च प्रयत्नश्च प्राप्तिः सद्भाव एव च। नियता च फलप्राप्तिः फलयोगश्च पञ्चमः॥२०॥
मुखं प्रतिमुखं गर्भो विमर्शश्च तथैव च। तथा निहरणं चेति क्रमात्पञ्चैव संधयः॥२१॥
अल्पमात्रं समुद्दिष्टं बहुधा यत्प्रसर्पति। फलावसानं यच्चैव बीजं तदभिधीयते॥२२॥
यत्र बीजसमुत्पत्तिर्नानार्थरससंभवा। काव्ये शरीरानुगतं तन्मुखं परिकीर्तितम्॥२३॥
इष्टास्यार्थस्य रचना वृत्तान्तस्यानुपक्षयः। रागप्राप्तिः प्रयोगस्य गुह्यानां चैव गूहनम्॥२४॥
आश्चर्यवदभिख्यातं प्रकाशानां प्रकाशनम्। अङ्गहीनो नरो यद्वन्न श्रेष्ठं काव्यमेव च॥२५॥

को उपस्थित करने वाले विचित्र वाक्यों द्वारा परस्पर संलाप करते हैं, पण्डितजन उसको 'आमुख' जानें। उसको 'प्रस्तावना' भी कहा जाता है॥९-१२॥

'आमुख' के तीन भेद होते हैं—प्रवृत्तक, कथाद्धात और प्रयोगातिशय। जिस समय सूत्रधार उपस्थित काल (ऋतु आदि) का वर्णन करता है, तत्पश्चात् उसका आश्रयभूत पात्र-प्रवेश 'प्रवृत्तक' कहलाता है। इसका बीजांशों में ही प्रादुर्भाव होता है। जिस समय पात्र सूत्रधार के वाक्य अथवा वाक्यार्थ को ग्रहण करके प्रवेश करता है, तत्पश्चात् उसको 'कथोद्धात' कहा जाता है। जिस समय सूत्रधार एक प्रयोग में दूसरे प्रयोग का वर्णन करना चाहिये, उस समय यदि पात्र वहाँ प्रवेश करना चाहिये, तो वह 'प्रयोगातिशय' होता है। 'इतिवृत्त' (इतिहास) को नाटक आदि का शरीर कहा जाता है। उसके दो भेद माने गये हैं—'सिद्ध', और 'उत्प्रेक्षित'। शास्त्रों में वर्णित इतिवृत्त 'सिद्ध' और कवि की कल्पना से निर्मित 'उत्प्रेक्षित' कहा जाता है। बीज, बिन्दु, पताका, प्रकरी और कार्य—ये पाँच अर्थ प्रकृतियाँ (प्रयोजन सिद्धि की हेतुभूता) हैं। चेष्टा (कार्यावस्थाएँ) भी पाँच ही मानी गयी हैं। इनके नाम क्रमशः इस तरह हैं—प्रारम्भ, प्रयत्न, प्राप्ति-सद्भाव, नियतफल प्राप्ति और पाँचवाँ फलयोग। रूपक में मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श और निर्वहण—ये क्रमशः पाँच संधियाँ हैं। जो अल्पमात्र वर्णित होने पर भी बहुधा विसर्पण—अनेक अवान्तर कार्यों को उत्पन्न करता है, फल की हेतुभूत उस अर्थ प्रकृति को 'बीज' कहा जाता है। जिसमें विविध वृत्तान्तों और इससे बीज की उत्पत्ति होती है, काव्य के शरीर में अनुगत उस संधि को 'मुख' कहते हैं। अभीष्ट अर्थ की रचना, कथावस्तु की अखण्डता, प्रयोग में अनुराग, गोपनीय विषयों का गोपन, अद्भुत वर्णन, प्रकाश्य विषयों का प्रकाशन—ये काव्याङ्गों के छः फल हैं। जिस प्रकार अंगहीन मनुष्य किसी कार्य में सक्षम नहीं होता, उसी तरह अंगहीन काव्य भी प्रयोग के योग्य नहीं माना जाता। देश-काल के बिना किसी भी इतिवृत्त की प्रवृत्ति नहीं होती, इसलिये नियमपूर्वक उन दोनों का उपादान 'पद' कहलाता

देशकालैर्विना किंचिन्नेतिवृत्तं प्रवर्तते। अतस्तयोरुपादानं नियमात्पदमुच्यते।।२६।।
देशेषु भारतं वर्षं काले कृतयुगत्रयम्। नर्ते ताभ्यां प्राणभृतां सुखदुःखोदयः क्वचित्।।
सर्गे सर्गादिवार्त्ता च प्रसज्जन्ती न दुष्यति।।२७।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते नाटकनिरूपणं नामाष्टात्रिंशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः।।३३८।।

—✲✲✲—

अथैकोनचत्वारिंशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः

शृङ्गारादिरसनिरूपणम्

अग्निरुवाच

अक्षरं परमं ब्रह्म सनातनमजं विभुम्। वेदान्तेषु वदन्त्येकं चैतन्यं ज्योतिरीश्वरम्।।१।।
आनन्दः सहजस्तस्य व्यज्यते स कदाचन। व्यक्तिः सा तस्य चैतन्यचमत्काररसाह्वया।।२।।
आद्यस्तस्य विकारो यः सोऽहङ्कार इति स्मृतः। ततोऽभिमानस्तत्रेदं समाप्तं भुवनत्रयम्।।३।।
अभिमानाद्रतिः सा च परिपोषमुपेयुषी। व्यभिचार्यादिसामान्याच्छृङ्गार इति गीयते।।४।।
तद्भेदाः काममितरे हास्याद्या अप्यनेकशः। (स्वस्वस्थायिविशेषोऽथ परिघोषस्वलक्षणाः।।५।।

है। देशों में भारत वर्ष और काल में सत्ययुग, त्रेता और द्वापर युग को ग्रहण करना चाहिये। देश-काल के बिना कहीं भी प्राणियों के सुख-दुःख का उदय नहीं होता। सृष्टि के आदिकाल की वार्ता अथवा सृष्टिपालन आदि की वार्ता प्राप्त हो, तो वह वर्णनीय है। ऐसा करने में कोई दोष नहीं है।।१३-२७।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी तीन सौ अड़तीसवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।३३८।।

अध्याय-३३९

शृङ्गारादि रस विचार

श्रीअग्निदेव ने कहा कि-हे वसिष्ठ! वेदान्तशास्त्र में जिस अक्षर (अविनाशी), सनातन, अजन्मा और व्यापक परब्रह्म परमेश्वर को अद्वितीय, चैतन्य स्वरूप और ज्योतिर्मय कहते हैं, उसका सहज (स्वरूपभूत) आनन्द कभी-कभी व्यञ्जित होता है, उस आनन्द की अभिव्यक्ति का ही 'चैतन्य', 'चमत्कार' और 'रस' के नाम से वर्नन किया जाता है। आनन्द का जो प्रथम विकार है, उसको 'अहंकार' कहा गया है। अहंकार से 'अभिमान' का प्रादुर्भाव हुआ। इस अभिमान में ही तीनों लोकों की समाप्ति हुई है।।१-३।।

अभिमान से रति की उत्पत्ति हुई और वह व्यभिचारी आदि भाव-सामान्य के सहकार से पुष्ट होकर 'शृङ्गार'

सत्त्वादिगुणसंतानाज्जायन्ते परमात्मनः। रागाद्भवति शृङ्गारो रौद्रस्तैक्ष्ण्यात्प्रजायते॥६॥
वीरोऽवष्टम्भजः संकोचभूर्वीभत्स इष्यते। शृङ्गाराज्जायते हासो रौद्रात्तु करुणो रसः)॥७॥
वीराच्चाद्भुतनिष्पत्तिः स्याद् वीभत्साद्भयानकः। शृङ्गारहास्यकरुणा रौद्रवीरभयानकाः॥८॥
वीभत्साद्भुतशान्ताख्याः स्वभावाच्चतुरो रसाः। लक्ष्मीरिव विना त्यागात्र वाणी भाति नीरसा॥९॥
अपारे काव्यसंसारे कविरेव प्रजापतिः। यथा वै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्तते॥१०॥
शृङ्गारी चेत्कविः काव्ये जातं रसमयं जगत्। स चेत्कविर्वीतरागो नीरसं व्यक्तमेव तत्॥११॥
न भावहीनोऽस्ति रसो न भावो रसवर्जितः। भावयन्ति रसानेभिर्भाव्यन्ते च रसा इति॥१२॥
स्थायिनोऽष्टौ रतिमुखाः स्तम्भाद्या व्यभिचारिणः। मनोनुकूलेऽनुभवः सुखस्य रतिरिष्यते॥१३॥
हर्षादिभिश्च मनसो विकासो हास उच्यते। मनोवैक्लैव्यमिछन्ति शोकमिष्टक्षयादिभिः॥१४॥
क्रोधस्तैक्ष्ण्यं प्रबोधश्च प्रतिकूलानुकारिणी। पुरुषानुसमोऽप्यर्थो यः स उत्साह उच्यते॥१५॥
चित्रादिदर्शनाच्चेतो वैक्लव्यं ब्रुवते भयम्। जुगुप्सा च पदार्थानां निन्दा दौर्भाग्यवाहिनाम्॥१६॥
विस्मयोऽतिशयेनार्थ दर्शनाच्चित्तविस्मृतिः। अष्टौ स्तम्भादयः सत्त्वाद्रजसस्तमसः परम्॥१७॥
स्तम्भश्चेष्टा प्रतीघातो भयरागाद्युपाहितः। श्रमरागाद्युपेतान्तः क्षोभजन्म वपुर्जलम्॥१८॥

के नाम से गायी जाती है। शृङ्गार के इच्छानुसार हास्य आदि अनेक दूसरे भेद प्रकट हुए हैं। उनके अपने-अपने विशेष स्थायी भाव होते हैं, जिनका परिपोष (अभिव्यक्ति) ही उन-उन रसों का लक्षण है॥४-५॥

वे रस परमात्मा के सत्त्वादि गुणों के विस्तार से प्रकट होते हैं। अनुराग से शृङ्गार, तीक्ष्णता से रौद्र, उत्साह से वीर और संकोच से बीभत्स रस का उदय होता है। शृङ्गार रस से हास्य, रौद्र रस से करुण रस, वीर रस से अद्भुत रस तथा बीभत्स रस से भयानक रस की निष्पत्ति होती है। शृङ्गार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, बीभत्स, अद्भुत और शान्त-ये नौ रस माने गये हैं। वैसे सहज रस तो चार 'शृङ्गार, रौद्र, वीर एवं बीभत्स) ही हैं। जिस प्रकार बिना त्याग के धन की शोभा नहीं होती, वैसे ही रसहीन वाणी की भी शोभा नहीं होती। अपार काव्यसंसार में कवि ही प्रजापति है। उसको संसार का जैसा स्वरूप रुचिकर जान पड़ता है, उसके काव्य में यह जगत् वैसे ही रूप में परिवर्तित होता है। यदि कवि शृङ्गारी न हो, तो निश्चय ही काव्य नीरस होगा। 'रस' भावहीन नहीं है और 'भाव' भी रस से हीन नहीं है; क्योंकि इन भावों से रस की भावना (अभिव्यक्ति) होती है। 'भाव्यन्ते रस एभिः।' (भावित होते हैं रस इनके द्वारा)-इस व्युत्पत्ति के अनुसार वे 'भाव' कहे गये हैं॥६-१२॥

'रति' आदि आठ स्थायी भाव होते हैं तथा 'स्तम्भ' आदि आठ सात्त्विक भाव माने जाते हैं। सुख के मनोऽनुकूल अनुभव (आनन्द की मनोरम अनुभूति) को 'रति' कहा जाता है। हर्ष आदि के द्वारा चित्त के विकास को 'हास' कहा जाता है। अभीष्ट वस्तु के विनाश आदि से उत्पन्न मन की विकलता को 'शोक' कहते हैं। अपने प्रतिकूल आचरण करने वाले पर कठोरता के उदय को 'क्रोध' कहते हैं। पुरुषार्थ के अनुकूल मनोभाव का नाम 'उत्साह' है॥१३-१५॥

चित्र आदि के दर्शन से जनित मानसिक विकलता को 'भय' कहते हैं। दुर्भाग्यवाही पदार्थों की निन्दा 'जुगुप्सा' कहलाती है। किसी वस्तु के दर्शन से चित्त का अतिशय आश्चर्य से पूरित हो जाना 'विस्मय' कहलाता है। 'स्तम्भ' आदि आठ सात्त्विक भाव हैं, जो रजोगुण और तमोगुण से परे हैं। भय या रागादि उपाधियों से चेष्टा का अवरोध हो

स्वेदो हर्षादिभिर्देहोच्छ्वासोऽन्तः पुलकोद्गमः। हर्षादिजन्मवान्सङ्गः स्वरभेदो भयादिभिः॥१९॥
चित्तक्षोभभवस्तम्भो वेपथुः परिकीर्तितः। वैवर्ण्यं च विषादादिजन्मा कान्तिविपर्ययः॥२०॥
दुःखानन्दादिजं नेत्रजलमश्रु च विश्रुतम्। इन्द्रियाणामस्तमयः प्रलयो लङ्घनादिभिः॥२१॥
वैराग्यादेर्मनःखेदो निर्वेद इति कथ्यते। मनः पीडादिजन्मा च सादो ग्लानिः शरीरगा॥२२॥
शङ्काऽनिष्टागमोत्प्रेक्षा स्यादसूया च मत्सरः। मदिराद्युपयोगोत्थं मनःसंमोहनं मदः॥२३॥
क्रियातिशयजन्माऽन्तः शरीरोत्थक्लमः श्रमः। शृङ्गारादि क्रियाद्वेषश्चित्तस्याऽऽलस्यमुच्यते॥२४॥
दैन्यं सत्त्वादपभ्रंशश्चिन्तार्थपरिभावनम्। इति कर्तव्यतोपायादर्शनं मोह उच्यते॥२५॥
स्मृतिः स्यादनुभूतस्य वस्तुनः प्रतिबिम्बनम्। मतिरर्थपरिच्छेदस्तत्त्वज्ञानोपनायितः॥२६॥
व्रीडानुरागादिभवः संकोचः कोऽपि चेतसः। भवेच्चपलताऽस्थैर्यं हर्षचि (श्चि) त्तप्रसन्नता॥२७॥
आवेशश्च प्रतीकाराशया वैधुर्यमात्मनः। कर्त्तव्ये प्रतिभाभ्रंशो जडतेत्यभिधीयते॥२८॥
इष्टप्राप्तेरुपचितः संपदाभ्युदयो धृतिः। गर्वः परेष्ववज्ञानमात्मन्युत्कर्षभावना॥२९॥
भवेद्विषादो दैवादेर्विघातोऽभीष्टवस्तुनि। औत्सुक्यमीप्सिताप्राप्तेर्वाञ्छया तरला स्थितिः॥३०॥
चित्तेन्द्रियाणां स्तैमित्यमपस्मारोऽनवस्थितिः। युद्धे व्याधादिभिस्त्रासो वीप्सा चित्रचमत्कृतिः॥३१॥

जाना 'स्तम्भ' कहलाता है। श्रम एवं राग आदि से युक्त अन्तःकरण के क्षोभ से शरीर में उत्पन्न जल को 'स्वेद' कहते हैं। हर्षादि से शरीर का उच्छ्वसित होना और उसमें रोंगटे खड़े हो जाना 'रोमाञ्च' कहा गया है। हर्ष आदि तथा भय आदि के कारण वाणी का स्पष्ट उच्चारण न होना (गद्गद हो जाना) 'स्वरभेद' कहा गया है। चित्त के क्षोभ से उत्पन्न कम्पन को 'वेपथु' कहा गया है। विषाद आदि से शरीर की कान्ति का परिवर्तन 'वैवर्ण्य' कहा गया है। दुःख अथवा आनन्द आदि से उद्भूत नेत्र जल का 'अश्रु' कहते हैं। निराहार व्रत आदि से इन्द्रियों की संज्ञाहीनता को 'प्रलय' कहा जाता है॥१६-२१॥

वैराग्य आदि से उत्पन्न मानसिक खेद को 'निर्वेद' कहा जाता है। मानसिक पीड़ा आदि से जनित शैथिल्य को 'ग्लानि' कहते हैं; वह शरीर में ही व्याप्त होती है। अनिष्ट प्राप्ति की सम्भावना को 'शंका' और मत्सर (दूसरे का उत्कर्ष सहन न करने) को 'असूया' कहा जाता है। मदिरा आदि के उपयोग से उत्पन्न मानसिक मोह 'मद' कहलाता है। अधिक कार्य करने से शरीर के अन्दर उत्पन्न क्लान्ति को 'श्रम' कहते हैं। शृङ्गार आदि धारण करने में चित्त की उदासीनता को 'आलस्य' कहते हैं। ‍धैर्य से भ्रष्ट हो जाना 'दैन्य' तथा अभीष्ट वस्तु की प्राप्ति न होने से जो बार-बार उसकी तरफ ध्यान जाता है, उसको 'चिन्ता' कहते हैं। किसी कार्य (भय से छूटने या इष्टवस्तु को पाने आदि) के लिये उपाय न सूझना 'मोह' कहलाता है॥२२-२५॥

अनुभूत वस्तु का चित्त में प्रतिबिम्बित होना 'स्मृति' कहलाता है। तत्त्वज्ञान के द्वारा अर्थों के निश्चय को 'मति' कहते हैं। अनुराग आदि से होने वाला जो कोई अकथनीय मानसिक संकोच होता है, उसका नाम 'व्रीडा' या 'लज्जा' है। चित्त की अस्थिरता को 'चपलता' और प्रसन्नता को 'हर्ष' कहते हैं। प्रतीकार की आशा से उद्भूत अन्तःकरण की विकलता को 'आवेश' कहा जाता है। कर्त्तव्य के विषय में कुछ प्रतिभान न होना 'जडता' कही जाती है। अभीष्ट वस्तु की प्राप्ति से बढ़े हुए आनन्द या संतोष के अभ्युदय को 'धृति' कहते हैं। दूसरों में निकृष्टता और अपने में उत्कृष्टता की भावना को 'गर्व' कहा जाता है। इच्छित वस्तु के लाभ में दैव आदि से जनित विघ्न के कारण जो दुःख होता

क्रोधस्याप्रशमोऽमर्षः प्रबोधश्चेतनोदयः। अवहित्थं भवेद्गुप्तिरिङ्गिताकारगोचरा॥३२॥
रोषतो गुरुवाग्दण्डपारुष्यं विदुरुग्रताम्। ऊहो वितर्कः स्याद्व्याधिर्मनोवपुरवग्रहः॥३३॥
अनिबद्धप्रलापादिरुन्मादो मदनादिभिः। तत्त्वज्ञानादिना चेतःकषायोपरमः शमः॥३४॥
कविभिर्योजनीया वै भावाः काव्यादिके रसाः। विभाव्यते हि रत्यादिर्यत्र येन विभाव्यते॥३५॥
विभावो नाम स द्वेधाऽऽलम्बनोद्दीपनात्मकः। रत्यादिभाववर्गोऽयं यमाजीव्योपजायते॥३६॥
आलम्बनविभावोऽसौ नायकादिभवस्तथा। धीरोदात्तो धीरोद्धतः स्याद्धीरललितस्तथा॥३७॥
धीरप्रशान्त इत्येवं चतुर्धा नायकः स्मृतः। अनुकूलो दक्षिणश्च शठो धृष्टः प्रवर्तितः॥३८॥
पीठमर्दो विटश्चैव विदूषक इति त्रयः। शृंगारे नर्मसचिवा नायकस्यानुनायकाः॥३९॥
पीठमर्दस्तु कलशः श्रीमांस्तद्देशजो विटः। विदूषको वैहसिक अ(स्त्व)ष्ट नायकनायिकाः॥४०॥
स्वकीया परकीया च पुनर्भूरिति कौशिकाः। सामान्या न पुनर्भूरि इत्याद्या बहुभेदतः॥४१॥
उद्दीपनविभावास्ते संस्कारैर्विविधैः स्थिताः। आलम्बनविभावेषु भावानुद्दीपयन्ति ये॥४२॥
चतुः षष्टिकला द्वेधा कर्माद्यैर्गीतिकादिभिः। कुहकं स्मृतिरप्येषा प्रायो हासोपहारकः॥४३॥

है, उसको 'विषाद' कहते हैं। अभीष्ट पदार्थ की इच्छा से जो मन की चंचल स्थिति होती है, उसका नाम 'उत्कण्ठा' या' उत्सुकता' है। अस्थिर हो उठना चित्त और इन्द्रियों का 'अपस्मार' है। युद्ध में बाधाओं के उपस्थित होने से स्थिर न रह पाना 'त्रास' माना गया है तथा चित्त के चमत्कृत होने को 'वीप्सा' कहते हैं। क्रोध के शमन न होने को 'अमर्ष' तथा चेतना के उदय को 'प्रबोध' या 'जागरण' कहते हैं। चेष्टा और आकार से प्रकट होने वाले भावों का गोपन 'अवहित्थ' कहलाता है। क्रोध से गुरुजनों पर कठोर वग्दण्ड का प्रयोग 'उग्रता' कहलाता है। चित्त के ऊहापोह को 'वितर्क' तथा मानस एवं शरीर की प्रतिकूल परिस्थिति को 'व्याधि' कहते हैं। काम आदि के कारण असम्बद्ध प्रलाप करने को 'उन्माद' कहा गया है। तत्त्वज्ञान होने पर चित्तगत वासना की शान्ति को 'शम' कहते हैं। कविजनों को काव्यादि में रस एवं भावों को निवेश करना चाहिये। जिसमें 'रति' आदि स्थायी भावों की विभावना हो, अथवा जिसके द्वारा इनकी विभावना हो, वह 'विभाव' कहा गया है; यह 'आलम्बन' और 'उद्दीपन' के भेद से दो तरह का माना जाता है। 'रति' आदि भाव समूह जिसका आश्रय लेकर निष्पन्न होते हैं, वह 'आलम्बन' नामक विभाव है। यह नायक आदि का आलम्बन लेकर आविर्भूत होता है। धीरोदात्त, धीराद्धत, धीरललित और धीरप्रशान्त—ये चार तरह के नायक माने गये हैं। ये धीरोदात्तादि नायक अनुकूल, दक्षिण, शठ एवं धृष्ट के भेद से सोलह तरह के कहे जाते हैं। पीठमर्द, विट और विदूषक—ये तीनों शृङ्गार रस में नायक के नर्मसचिव—अनुनायक होते हैं। 'पीठमर्द' श्रीमान् एवं 'नायक' के समान बलशाली (सहायक) होता है। 'विट' (धूर्त) नायक के देश का कोई व्यक्ति होता है। 'विदूषक' प्रहसन से नायक को प्रसन्न करने वाला होता है। नायक की नायिकाएँ भी तीन तरह की होती हैं—स्वकीया, परकीया एवं पुनर्भू। 'पुनर्भू' नायिका कौशिकाचार्य के मत से है। कुछ पुनर्भू' नायिका को मानकर उसके स्थान पर 'सामान्य' की गणना करते हैं। इन्हीं नायिकाओं के अनेक भेद होते हैं। 'उद्दीपन विभाव' विविध संस्कारों के रूप में स्थित रहते हैं। ये 'आलम्बन विभाव' में भावों को उद्दीप्त करते हैं॥२६-४२॥

चौंसठ कलाएँ कर्म्मादि एवं गीतिकादि के भेद से दो तरह की होती हैं। 'कुहक' और 'मृति' प्रायः हासोपहारक हैं। आलम्बन विभाव के उद्बुद्ध संस्कार युक्त भावों के द्वारा स्मृति, इच्छा, द्वेष और प्रयत्न के संयोग से किये हुए मन, वाणी, बुद्धि तथा शरीर के कार्य को विद्वज्जन 'अनुभाव' मानते हैं—'स अत्र अनुभूयते उत अनुभवति'।

आलम्बनविभावस्य भावैरुद्बुद्धसंस्कृतैः। मनोवाग्बुद्धिवपुषां स्मृतीच्छाद्वेषयत्नतः।।४४।।
आरम्भ एव विदुषामनुभाव इति स्मृतः। स चानुभूयते चात्र भवत्युत निरुच्यते।।४५।।
मनोव्यापारभूरिष्ठो मन आरम्भ उच्यते। द्विविधः पौरुषः स्त्रैण ईदृशोऽपि प्रसिध्यति।।४६।।
शोभा विलासो माधुर्यं स्थैर्यं गाम्भीर्यमेव च। ललितं च तथौदार्यं तेजोऽष्टाविति पौरुषाः।।४७।।
नीचनिन्दोत्तमस्पर्धा शौर्यं दाक्षा (क्ष्या) दिकारणम्। मनोधर्मे भवेच्छोभा शोभते भवनं यथा।।४८।।
भावो हारश्च हेला च शोभा कान्तिस्तथैव च। दीप्तिर्माधुर्यशौर्ये च प्रागल्भ्यं स्यादुदारता।।४९।।
स्थैर्यं गम्भीरता स्त्रीणां विभावा द्वादशेरिताः। भावो विलासो हावः स्याद्भावः किंचिच्च हर्षजः।।५०।।
वाचो युक्तिर्भवेद्वागारम्भो द्वादश एव सः। तत्र भाषणमालापः प्रलापो वचनं बहुः।।५१।।
विलापो दुःखवचनमनुलापोऽसकृद्वचः। संलाप उक्तप्रत्युक्तमपलापोऽन्यथा वचः।।५२।।
वार्ता प्रमाणं संदेशो निर्देशः प्रतिपादनम्। तत्त्वदेशोऽतिदेशोऽयमपदेशोऽन्यवर्णनम्।।५३।।
उपदेशश्च शिक्षावाग्व्याजोक्तिर्व्यपदेशकः। बोधाय एष व्यापारः सुबुद्ध्यारम्भ इष्यते।।५४।।
तस्य भेदास्त्रयस्ते च रीतिवृत्तिप्रवृत्तयः।।५४।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गति शृङ्गारादिरसनिरूपणं नामैकोनचत्वारिंशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः।।३३९।।

—❋❋❋—
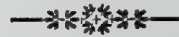
(आलम्बन में जो अनुभूयमान है, अथवा आलम्बन में जो दर्शन के बाद प्रकट होता है)–इस तरह 'अनुभाव' शब्द की निरुक्ति (व्युत्पत्ति) की जाती है। मानसिक व्यापार की बहुलता से युक्त कार्य 'मनका कार्य' कहा जाता है। वह 'पौरुष' (पुरुष-सम्बन्धी) एवं 'स्त्रैण' (स्त्री-सम्बन्धी)–दो तरह का होता है। वह इस तरह भी प्रसिद्ध है–।।४३-४६।।

शोभा, विलास, माधुर्य, स्थैर्य, गाम्भीर्य, ललित, औदार्य, तथा तेज–ये आठ 'पौरुष कर्म' हैं। नीच जनों की निन्दा, श्रेष्ठतम पुरुषों से स्पर्धा, शौर्य और चातुर्य–इनके कारण मानसिक कार्य के रूप में शोभा का आविर्भाव होता है। जिस प्रकार–'भवनकी शोभा होती है'।।४७-४८।।

भाव, हाव, हेला, शोभा, कान्ति, दीप्ति, माधुर्य, शौर्य, प्रगल्भता, उदारता, स्थिरता एवं गम्भीरता–ये द्वादश 'स्त्रियों के विभाव' कहे गये हैं। विलास और हाव को 'भाव' कहते है। वाणी के योग को 'किंचित् हर्ष से प्रादुर्भूत होता हैं। वाणी के योग को 'वागारम्भ' कहते हैं। उसके भी द्वादश भेद होते हैं। उनमें भाषण को 'आलाप', अधिक भाषण को 'प्रलाप', दुःखपूर्ण वचन को 'विलाप', बारम्बार कथन को 'अनुलाप', कथोपकथन को 'संलाप', निरर्थक भाषण को 'अपलाप', वार्त्ता के परिवहन को 'संदेश' और विषय के प्रतिपादन को 'निर्देश' कहते हैं। तत्त्वकथन को 'अतिदेश' एवं निस्सार वस्तु के वर्णन को 'अपदेश' कहा जाता है। शिक्षापूर्ण वचन को 'उपदेश' और व्याजोक्ति को 'व्यपदेश' कहते हैं। दूसरों को अभीष्ट अर्थ का ज्ञान कराने के लिये श्रेष्ठतम बुद्धि का आश्रय लेकर वागारम्भ का व्यापार होता है। उसके भी विधि, वृत्ति और प्रवृत्ति–ये तीन भेद होते हैं।।४९-५४।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी तीन सौ उन्तालिसवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।३३९।।

❖❖❖

अथ चत्वारिंशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः

रीतिनिरूपणम्

अग्निरुवाच

वाग्विद्यासंप्रतिज्ञाने रीतिः साऽपि चतुर्विधा। पाञ्चाली गौडदेशीय वैदर्भी लाटजा तथा॥१॥
उपचारयुता मृद्वी पाञ्चाली ह्रस्वविग्रहा। अनवस्थितसंदर्भा गौडीया दीर्घविग्रहा॥२॥
उपचारैर्न बहुभिरुपचारैर्विवर्जिता। नातिकोमलसंदर्भा वैदर्भी मुक्तविग्रहा॥३॥
लाटीया स्फुटसंदर्भा नातिविस्फुरविग्रहा। परित्यक्ताऽभिभूयोऽपि रुपचारैरुदाहृता॥४॥
क्रियास्वविषमा वृत्तिभारत्यारभटी तथा। (कौशिकी सात्त्वती चेति सा चतुर्धा प्रतिष्ठिता॥५॥
वाक्प्रधाना नरप्राया स्त्रीयुक्ता प्राकृतोक्तिता। भरतेन प्रणीतत्त्वाद्भारती रीतिरुच्यते॥६॥
(चत्वार्यङ्गानि भारत्या वीथी प्रहसनं तथा। प्रस्तावना नाटकादेर्वीथ्यङ्गाश्च त्रयोदश॥७॥
उद्घातकं तथैव स्याल्लपितं स्याद्द्वितीयकम्)। असत्प्रलापो वाक्श्रेणी नालिका विपणं तथा॥८॥
व्याहारस्त्रिमतं चैव च्छलावस्कन्दिते तथा)। गण्डोस्थ मृदवश्चैव त्रयोदशमथोचितम्॥९॥
तापसादेः प्रहसनं परिहासपरं वचः। मायेन्द्रजालयुद्धादिबहुलाऽऽरभटी स्मृता॥१०॥
संक्षिप्तकारपातौ च वस्तूत्थापनमेव च॥११॥

॥ इति श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते रीतिनिरूपणं नाम चत्वारिंशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः॥३४०॥

अध्याय–३४०

रीति-निरूपण

श्रीअग्निदेव ने कहा कि–हे वसिष्ठ! अधुना मैं 'वाग्विद्या' (काव्यशास्त्र) के सम्यक् परिज्ञान के लिये 'रीति' का वर्णन करने जा रहा हूँ। उसके भी चार भेद होते हैं–पाञ्चाली, गौडी, वैदर्भी तथा लाटी। इनमें 'पाञ्चाली रीति' उपचारयुक्त, कोमल एवं लघु–समासों से समन्वित होती है। 'गौडी रीति' में सन्दर्भ की अधिकता और लम्बे–लम्बे समासों की बहुलता होती है। वह अधिक उपचारों से युक्त नहीं होती। 'वैदर्भी रीति' उपचारहीन, सामान्यतः कोमल सन्दर्भों से युक्त एवं समासवर्जित होती है। 'लाटी रीति' सन्दर्भ की स्पष्टता से युक्त होती है, परन्तु उसमें समास अत्यन्त स्पष्ट नहीं होते। वह यद्यपि अनेक विद्वानों का परित्यक्त है, तथापि अतिबहुल उपचार युक्त लाटी विधि की रचना उपलब्ध होती है। अधुना वृत्तियों का वर्णन किया जाता है जो क्रियाओं में विषमता को प्राप्त नहीं होती, वह वाक्यरचना 'वृत्ति' कही गयी है। उसके चार भेद हैं–भारती, आरभटी, कैशिकी एवं सात्वती। 'भारती वृत्ति' वाचिक अभिनय की प्रधानता से युक्त होती है। यह प्रायः पुरुष के आश्रित होती है, परन्तु कभी–कभी स्त्री के आश्रित होने पर यह प्राकृत उक्तियों से संयुक्त होती है। भरत के द्वारा प्रयुक्त होने के कारण इसको 'भारती' कहा जाता है। भारती के चार अंग माने गये हैं–वीथी, प्रहसन, आमुख एवं नाटकादि की प्ररोचना। वीथी के तेरह अंग होते हैं–उद्घातक, लपित, असत्प्रलाप, वाक्श्रेणी, नालिका, विपण, व्याहार, त्रिगत, छल, अवस्यन्दित, गण्ड, मृदव एवं उचित। तापस आदि के परिहासयुक्त वचन को 'प्रहसन' कहते हैं। 'आरभटी वृत्ति' में माया, इन्द्रजाल और युद्ध आदि की बहुलता मानी गयी है। आरभटी वृत्ति के भेद निम्नलिखित हैं–संक्षिप्तकार, पात तथा वस्तूत्थापन॥१-११॥

॥इस प्रकार अग्निमहापुराणान्तर्गत तीन सौ चालीसवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ॥३४०॥

❖❖❖

अथैकचत्वारिंशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः

नृत्यादावङ्गकर्मनिरूपणम्

अग्निरुवाच

चेष्टाविशेषमप्यङ्गप्रत्यङ्गे कर्म चानयोः। शरीरारम्भमिच्छन्ति प्रायः पूर्वोऽबलाश्रयः।।१।।
लीलाविलासो विच्छित्तिविभ्रमं किल किञ्चितम्। (मोट्टायितं कुट्टमितं विप्वो को ललितं तथा।।२।।
विकृतं क्रीडितं केलिरिति द्वादशधैव सः। लीलेष्टजनचेष्टानुकरणं संवृतक्षये।।३।।
विशेषान्दर्शयन्किञ्चिद्विलासः सद्भिरिष्यते। हसितक्रन्दितादीनां संकरः किलकिञ्चितम्।।४।।
विकारः कोऽपि विव्वोको ललितं सौकुमार्यतः। शिरः पाणिरुरः पार्श्वं कटिरङ्घ्रिरिति क्रमात्।।५।।
अङ्गानि भ्रूलतादीनि प्रत्यङ्गान्यभिजायते। अङ्गप्रत्यङ्गयोः कर्म प्रयत्नजनितं विना।।६।।
न प्रयोगः क्वचिन्मुख्यं तिरश्चीनं च तत्क्वचित्। आकम्पितं कम्पितं च धुतं विधुतमेव च।।७।।
परिवाहितमाधूतमवधूतमथाऽऽचितम्। निकुञ्चितं परावृत्तमुत्क्षिप्तं चाप्यधोगतम्।।८।।
ललितं चेति विज्ञेयं त्रयोदशविधं शिरः। भ्रूकर्म सप्तधा ज्ञेयं पातनं भृकुटीमुखम्।।९।।
दृष्टिस्त्रिधा रससथायिसंचारिप्रतिबिन्धना। षट्त्रिंशद्भेदविधुरा रसजा तत्र चाष्टधा)।।१०।।

अध्याय-३४१

नृत्य आदि में आङ्गिक कर्म विचार

श्रीअग्नि देव कहते हैं–हे वसिष्ठ! अधुना मैं 'अभिनय' में नृत्य आदि के समय शरीर से होने वाली विशेष चेष्टा को था अंग-प्रत्यंग के कर्म को बतलाने जा रहा हूँ। इसको विद्वान् पुरुष 'आङ्गिक कर्म' मानते हैं। यह सब कुछ प्रायः अबलाजनों के आश्रित होने पर 'विच्छित्ति'-विशेष का पोषक होता है। लीला, विलास, विच्छित्ति, विभ्रम, किलकिञ्चित, मोट्टायित, कुट्टमित, बिब्बोक, ललित, विह्वत, क्रीडित तथा केलि–ये नायिकाओं के यौवनकाल में सहजभाव से प्रकट होने वाले द्वादश अलंकार हैं। आवरण से आवृत स्थान में प्रियजनों की चेष्टा के अनुकरण को 'लीला' कहते हैं। प्रियजन को दर्शन अदि से जो मुख और नेत्र आदि की चेष्टाओं में कुछ विशेष चमत्कार लक्षित होता है, उसको सहृदयजन 'विलास' कहते हैं। हर्ष से होने वाले हास और शुष्क रुदन आदि के मिश्रण को 'किलकिञ्चित' माना गया है। चित्त के किसी गर्वयुक्त विकार को 'बब्बोक' कहते हैं। इस भाव के उदय होने पर अभीष्ट वस्तु में भी अनादर प्रकट किया जाता है। सौकुमार्य्यजनित चेष्टा-विशेष को 'ललित' कहते हैं। सिर, हाथ, वक्षःस्थल, पार्श्वभाग–ये क्रमशः अंग हैं। भ्रूलता (भौंह) आदि को प्रत्यङ्ग या 'उपाङ्ग' जाना जाता है। अंग-प्रत्यगों के प्रयत्नजनित कर्म (चेष्टाविशेष) के बिना नृत्य आदि का प्रयोग सफल नहीं होता। वह कहीं मुख्य रूप से और कहीं वक्ररूप से साधित होता है। आकम्पित, कम्पित, धुत, विधुत, परिवाहित, आधूत, अवधूत, अञ्चित, निहहिञ्चत, परावृत, उत्क्षिप्त, अधोगत एवं लोलित–ये तेरह तरह के शिरः कर्म जानने चाहिये। भ्रूकर्म सात तरह का होता है। भूसंचालन के कर्मों में पातन आदि कर्म मुख्य हैं। रस, स्थायी भाव एवं संचारी भाव के सम्बन्ध से दृष्टि का 'अभिनव' तीन तरह का होता है। उसके भी छत्तीस भेद होते हैं–जिनमें दस भेद रस से प्रादुर्भूत होते हैं। कनीनिका का कर्म भ्रमण एवं चलनादि

नवधा तारकाकर्म भ्रमणं चलनादिकम्। षोढा च नासिका ज्ञेया निःश्वासो नवधा मतः।।११।।
षोढौष्ठकर्मकं पाद्यं सप्तथा चिबुकक्रिया। कलुषादिमुखं षोढा ग्रीवा नवविधा स्मृता।।१२।।
असंयुतः संयुक्तश्च भूम्ना हस्तः प्रयुज्यते। पताकस्त्रिपताकश्च तथा वै कर्तरीमुखः।।१३।।
अर्धचन्द्रोत्करालश्च शुकतुण्डस्तथैव च। मुष्टिश्च शिखरश्चैव कपित्थः कटकामुखः।।१४।।
सूच्यास्यः पद्मकोषोहि शिराः समृगशीर्षकः। कामूलकालपद्मौ च चतुरभ्रमरौ तथा।।१५।।
हंसास्यहंसपक्षौ च संदंशमुकुलौ तथा। ऊर्णनाभस्ताम्रचूडश्चतुर्विंशतिरित्यमी।।१६।।
असंयुतकराः प्रोक्ताः संयुतास्तु त्रयोदश। अञ्जलिश्च कपोतश्च कर्कटः स्वस्तिकस्था।।१७।।
कटको वर्धमानश्चाप्यसङ्गो निषधस्तथा। दोलः पुष्पपुटश्चैव तथा मकर एव च।।१८।।
गजदन्तो बहिःस्तम्भो वर्धमानोऽपरे कराः। उरः पञ्चविधं स्यात्तु आभुग्ननर्तकादिकम्।।१९।।
उदरं त्वनतिक्षामं खण्डं पूर्णमिति त्रिधा। पार्श्वयोः पञ्चकर्माणि जङ्घाकर्म च पञ्चधा।।२०।।
अनेकधा पादकर्म नृत्यादौ नाटके स्मृतम्।।२१।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते नृत्यादावङ्गकर्मनिरूपणं नामैकचत्वारिंशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः।।३४१।।

के भेद से नौ तरह का माना गया है। मुख के छः तथा नासिकाकर्म के छः एवं निःस्वास के नौ भेद माने जाते हैं। ओष्ठकर्म के छः पादकर्म के छः चिबुक-क्रिया के सात एवं ग्रीवाकर्म के नौ भेद बताये गये हैं। हस्त का अभिनय प्रायः 'असंयुत' तथा 'संयुत'—दो तरह का होता है। पताक, त्रिपताक, कर्तरीमुख, अर्द्धचन्द्र, उत्कराल, शुकतुण्ड, मुष्टि, शिखर, कपित्थ, कटकामुख, सूच्यास्य, पद्मोष, अतिशिरा, मृगशीर्षक, कामूल, कालपद्म, चतुर, भ्रमर, हंसास्य, 'असंयुत हस्त' के ये चौबीस भेद कहे गये हैं।।१-१६।।

'संयुत हस्त' के तेरह भेद माने जाते हैं—अंजलि, कपोत, कर्कट, स्वस्तिक, कटक, वर्धमान, असंग, निषध, दोल, पुष्पपुट, मकर, गजदन्त एवं बहिःस्तम्भ। संयुत करके परिवर्द्धन से इसके अन्य भेद भी होते हैं।।१७-१८।।

वक्षःस्थल का अभिनय आभुग्ननर्तन आदि भेदों से पाँच तरह का होता है। उदरकर्म अनतिक्षाम, खल्व तथा चूर्ण—तीन तरह के होते हैं। पार्श्वभागों के पाँच कर्म तथा जङ्घा के भी पाँच ही कर्म होते हैं। नाट्य-नृत्य आदि में पादकर्म के अनेक भेद होते हैं।।१९-२१।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी तीन सौ एकतालिसवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।३४१।।

अथ द्वाचत्वारिंशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः

अभिनयादिनिरूपणम्

अग्निरुवाच

आभिमुख्यं नयन्नर्थान्विज्ञेयोऽभिनयो बुधैः। चतुर्धा संभवः सत्त्ववागङ्गाहरणाश्रयः॥१॥
स्तम्भादिः सात्त्विको वागारम्भो वाचिक आङ्गिकः। शरीरारम्भ आहार्यो बुद्ध्यारम्भप्रवृत्तयः॥२॥
रसादिविनियोगोऽथ कथ्यते ह्यतिमानतः। तमन्तरेण सर्वेषामपार्थैव स्वतन्त्रता॥३॥
सम्भोगो विप्रलम्भश्च शृङ्गारो द्विविधः स्मृतः। प्रच्छन्नश्च प्रकाशश्च तावपि द्विविधौ पुनः॥४॥
विप्रलम्भाभिधानो यः शृङ्गारः स चतुर्विधः। पूर्वानुरागमानाख्यः प्रवासकरुणात्मकः॥५॥
एतेभ्योऽन्यतरं जायमानं संभोगलक्षणम्। विवर्तते चतुर्धैव न च प्रागतिवर्तते॥६॥
स्त्रीपुंसयोस्तद्वदयं तस्य निर्वर्तिका रतिः। निखिलाः सात्त्विकास्तत्र वैवर्ण्यप्रलयौ विना॥७॥
धर्मार्थकाममोक्षैश्च शृङ्गार उपचीयते। आलम्बनविशेषैश्च तद्विशेषैर्निरन्तरः॥८॥
शृङ्गारं द्विविधं विद्याद्वाङ्नेपथ्यक्रियात्मकम्। हासश्चतुर्विधोऽलक्ष्यदन्तः स्मित इतीरितः॥९॥

अध्याय-३४२

अभिनय आदि का विचार

श्रीअग्नि देव ने कहा कि-हे वसिष्ठ! 'काव्य' अथवा 'नाटक' आदि में वर्णित विषयों को जो अभिमुख कर देता-सामने ला देता, अर्थात् मूर्तरूप से प्रत्यक्ष दिखा देता है, पात्रों के उस कार्यकलाप को विद्वान् पुरुष 'अभिनय' मानते या कहते हैं। वह चार तरह से सम्भव होता है। उन चारों अभिनयों के नाम इस प्राकार हैं-सात्त्विक, वाचिक, आङ्गिक और आहार्य। स्तम्भ, स्वेद आदि 'सात्त्विक और आहार्य। स्तम्भ, स्वेद आदि 'सात्त्विक अभिनय' हैं; वाणी से जिसका प्रारम्भ होता है, वह 'वाचिक अभिनय' है; शरीर से प्रारम्भ किये जाने वाले अभिनय को 'आङ्गिक' कहते हैं तथा जिसका प्रारम्भ बुद्धि से किया जाता है, वह 'आहार्य अभिनय' कहा गया है। रसादि का आधान अभिमान की सत्ता से होता है। उसके बिना सबकी स्वतन्त्रता व्यर्थ ही है। 'सम्भोग' और 'विप्रालम्भ' के भेद से शृङ्गार दो तरह का माना जाता है। उनके भी 'प्रच्छन्न' एवं 'प्रकाश'-दो भेद होते हैं। विप्रलम्भ शृङ्गार के चार भेद माने जाते हैं-पूर्वानुराग, मान, प्रवास एवं करुणात्मक॥१-५॥

इन पूर्वानुरागादि से 'सम्भोग' शृङ्गार की उत्पत्ति होती है। वह भी चार भागों में विभाजित होता है एंव पूर्व का अतिक्रमण नहीं करता। यह स्त्री और पुरुष का आश्रय लेकर स्थित होता है। उस शृङ्गार की साधिका अथवा अभिव्यञ्जिका 'रति' मानी गयी है। उसमें वैवर्ण्य और प्रलय के सिवा अन्य सभी सात्त्विक भावों को उदय होता है। धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष-इन चारों पुरुषार्थों से, आलम्बन-विशेष से तथा आलम्बन-विशेष के वैशेषिक से शृङ्गार रस निरन्तर उपचय (वृद्धि) को प्राप्त होता है। 'अभिनेय' शृङ्गार के दो भेद और जानने चाहिये-'वचनक्रियात्मक' तथा 'नेपथ्यक्रियात्मक'॥६-८॥

हास्यरस स्थायीभाव-हास के छः भेद माने गये हैं-स्मित, हसित, विहसित, उपहसित, अपहसित और

किंचिल्लक्षितदन्ताग्रं हसितं फुल्ललोचनम्। विहसितं सस्वनं स्याज्जिह्मोपहसितं तु तत्॥१०॥
सशब्दं पापहसितमशब्दमतिहासितम्। यश्चासौ करुणो नाम स रसस्त्रिविधो भवेत्॥११॥
धर्मोपघातजश्चित्तविलासजनितस्तथा। शोकः शोकाद्भवेत्स्थायी कः स्थायी पूर्वजो मतः॥१२॥
अङ्गनेपथ्यवाक्यैश्च रौद्रोऽपि त्रिविधो रसः। तस्य निर्वर्तकः क्रोधः स्वेदो रोमाञ्चवेपथुः॥१३॥
दानवीरो धर्मवीरो युद्धवीर इति त्रयम्। वीरस्तस्य च निष्पत्तिर्हेतुरुत्साह इष्यते॥१४॥
आरम्भेषु भवेद्यत्र वीरमेवानुवर्तते। भयानको नाम रसस्तस्य निर्वर्तकं भयम्॥१५॥
उद्वेजनः क्षोभन (ण) श्च वीभत्सो द्विविधः स्मृतः। उद्वेजनः स्यात्प्लुत्याद्यैः क्षोभनो(णो) रुधिरादिभिः॥१६॥
जुगुप्साऽऽरम्भिका तस्य सात्त्विकांशो निवर्तते। काव्यशोभाकरान्धर्मानलंकारान्प्रचक्षते॥१७॥
अलंका (क) रिष्णवस्ते च शब्दमर्थमुभौ त्रिधा। ये व्युत्पत्त्यादिना शब्दमलंकर्तुमिह क्षमाः॥१८॥
शब्दालङ्कारमाहुस्तान्काव्यमीमांसका विदः। छाया मुद्रा तथोक्तिश्च युक्तिर्गुम्फनया सह॥१९॥
वाको वाक्यमनुप्रासश्चित्रं दुष्करमेव च। ज्ञेया नवालंकृतयः शब्दानामित्यसंकरात्॥२०॥
तन्त्रान्योक्तेरनुकृतिश्छाया साऽपि चतुर्विधा। लोकच्छेकार्भकोक्तीनामत्तोक्तेरनुकारतः॥२१॥

अतिहसित। जिसमें मुस्कुराहटमात्र हो, दाँत न दिखायी दें—ऐसी हँसी को 'स्मित' कहते हैं। जिसमें दन्ताग्र कुछ दीख पड़ें और नेत्र प्रफुल्लित हो उठें, वह 'हसित' कहा जाता है। यह श्रेष्ठतम पुरुषों की हँसी है। ध्वनियुक्त हास को 'विहसित' तथा कुटिलतापूर्ण दृष्टि से देखकर किये गये अट्टहास को 'उपहसित' कहते हैं। यह मध्यम पुरुषों की हँसी है। बेमौ के जोर-जोर से हँसना और नेत्रों से आँसू तक निकल आना—यह 'अपहसित' है और बड़े जोर से ठहाका मारकर हँसना 'अतिहसित' कहा गया है। यह अधम जनों की हँसी है॥९-१०॥

जो 'करुण' नाम से प्रसिद्ध रस है, वह तीन तरह का होता है। 'करुण' नाम से प्रसिद्ध जो रस है, उसका स्थायी भाव 'लोक' है। वह तीन हेतुओं से प्रकट होने के कारण 'त्रिविध' माना गया है—१. धर्मोपघातजनित, २. चित्तविलासजतिन और ३. शोकसम्प्रदायकघटनाजनित। (प्रश्न) लोकजनित शोक में कौन स्थायी भाव है? जो पूर्ववर्ती शोक से उद्भूत हुआ है, वह अंगकर्म, नेपथ्यकर्म और वाक्कर्म—इनके द्वारा रौद्ररस के तीन भेद होते हैं। उसका स्थायी भाव 'क्रोध' है। इसमें स्वेद, रोमाञ्च और वेपथु आदि सात्त्विक भावों का उदय होता है॥११-१३॥

दानवीर, धर्मवीर एवं युद्धवीर—ये तीन 'वीररस के भेद हैं। वीररस का निष्पादक हेतु 'उत्साह' माना गया है। जहाँ प्रारम्भ में वीर का ही अनुसरण किया जाता है, परन्तु जो आगे चलकर भय का उत्पादक होता है, वह 'भयानक रस' है। उसका निष्पादक 'भय' नामक स्थायी भाव है। बीभत्सर के 'उद्वेजन' और 'क्षोभण'—दो भेद, माने गये हैं। पूति (दुर्गन्ध) आदि से 'उद्वेजन' तथा रुधिरक्षण आदि से 'क्षोभण' होता है। 'जुगुप्सा' इसका स्थायी भाव है और सात्त्विक भाव का इसमें अभाव होता है॥१४-१६॥

काव्य-सौन्दर्य की अभिवृद्धि करने वाले धर्मों को 'अलंकार' कहते हैं। वे शब्द, अर्थ एवं शब्दार्थ—इन तीनों को अलंकृत करने से तीन तरह के होते हैं। जो अलंकार काव्य में व्युत्पत्ति आदि से शब्दों को अलंकृत करने में सक्षम होते हैं, काव्यशास्त्र की मीमांसा करने वाले विद्वान् उनको 'शब्दालंकार' कहते हैं। छाया, मुद्रा, उक्ति, युक्ति, गुम्फना, वाकोवाक्य, अनुप्रास, चित्त और दुष्कर—ये संकर को छोड़कर शब्दालंकार के नौ भेद हैं। दूसरों की उक्ति के अनुकरण को 'छाया' कहते हैं। इस छाया के भी चार भेद जानने चाहिये। लोकोक्ति, छेकोक्ति, अधुर्नाकोक्ति एवं मत्तोक्ति का अनुकरण। आभाणक (कहावत) को 'लोकोक्ति' कहते हैं। ये उक्तियाँ सर्वसामान्य में प्रचलित होती हैं। जो रचना लोकोक्ति

आभाणको हि लोकोक्तिः सर्वसामान्य एव ताः। याऽनुधावति लोकोक्तिश्छाया मिच्छन्ति तां बुधाः।।२२।।
छेका विदग्धा वैदग्ध्यं कलासु कुशला मतिः। तामुल्लिखन्ती छेकोक्तिश्छाया कविभिरिष्यते।।२३।।
अव्युत्पन्नोक्तिरखिलैरर्भकोक्त्योपलक्ष्यते। तेनार्भकोक्तिश्छाया तन्मात्रोक्तिमनुकुर्वती।।२४।।
विप्लुताक्षरमश्लीलवचो मत्तस्य तादृशी। या सा भवति मत्तोक्तिश्छायोक्ताऽप्यतिशोभते।।२५।।
अभिप्रायविशेषेण कविशक्तिं विवृण्वती। मुत्प्रदायिनीति सा मुद्रा सैव शय्याऽपि नो मते।।२६।।
उक्ति सा कथ्यते यस्यामर्थः कोऽप्युपपत्तिमान्। लोकायात्रार्थविधिना धिनोति हृदयं सताम्।।२७।।
उभौ विधिनिषेधौ च नियमानियमावपि। विकल्पपरिसंख्ये च तदीयाः षडथोक्तयः।।२८।।
अयुक्तयोरिव मिथो वाच्यवाचकयोर्द्वयोः। योजनायै कल्पमाना युक्तिरुक्ता मनीषिभिः।।२९।।
पदं चैव पदार्थश्च वाक्यं वाक्यार्थमेव च। विषयोऽस्याः प्रकरणं प्रपञ्चश्चेति षड्विधः।।३०।।
गुम्फना रचना चार्था (?) शब्दार्थक्रमगोचरा। शब्दानुकारादर्थानुपूर्वार्थेयं क्रमात्त्रिधा।।३१।।
उक्तिप्रत्युक्तिमद्वाक्यं वाको वाक्यं द्विधैव तत्। ऋजुवक्रोक्तिभेदेन तत्राऽऽद्यं सहजं वचः।।३२।।
साऽऽपूर्वप्रश्निका प्रश्नपूर्विकेति द्विधा भवेत्। वक्रोक्तिस्तु भवेद्भङ्ग्या काकुस्तेन कृता द्विधा।।३३।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते अभिनयादिनिरूपणम् नाम द्वाचत्वारिंशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः।।३४२।।

का अनुसरण करती है, विद्वज्जन उसको 'लोकोक्ति छाया' कहते हैं। विदग्ध (नागरिक) को 'छेक' कहा जाता है। कलाकुशल बुद्धि को 'वैदग्ध्य' कहते हैं। उल्लेख करने वाली रचना को कविजन 'छेकोक्तिछाया' मानते हैं। 'अधुर्नाकोक्ति' सब विद्वानों की दृष्टि से अव्युत्पन्न (मूढ़) पुरुषों की उक्ति का उपलक्षण मात्र है, इसलिये केवल उन मूढ़ों की उक्ति का अनुकरण करने वाली रचना 'अधुर्नाकोक्तिछाया' कही जाती है। मत्त (पागल) की जो वर्णक्रमहीन अश्लीलतापूर्ण उक्ति होती है, उसको 'मत्तोक्ति कहते हैं। उसक अनुकरण करने वाली रचना 'मत्तोक्ति-छाया' मानी गयी है। यह यथावसर वर्णित होने पर अत्यन्त सुशोभित होती है।।१७-२५।।

जो विशेष अभिप्रायों के द्वारा कवित्वशक्ति को प्रकाशित करती हुई सहृदयों को प्रमोद सम्प्रदान करती है, वह 'मुद्रा' कही जाती है। हमारे मत से वही 'शय्य' भी कही जाती है। जिसमें युक्तियुक्त अर्थविशेष का कथन हो तथा जो लोकप्राचलन के प्रयोजन की विधि से सामाजिक के हृदय को संतर्पित करना चाहिये, उसको 'उक्ति' कहते हैं। उक्ति के अवान्तर भेदों में विधि-निषेध, नियम-अनियम तथा विकल्प-परिसंख्या से सम्बद्ध छः तरह की उक्तियाँ होती है। परस्पर पृथग्भूत के समान स्थित वाच्य और वाचक-दोनों की योजना के लिये जो सक्षम हो, मनीषीजन उसको 'उक्ति' कहते हैं। युक्ति के विषय छः हैं-पद, पदार्थ, वाक्य, वाक्यार्थ, प्रकरण और प्रपञ्च। 'गुम्फना' कहते हैं-रचनाचर्या को। वह 'शब्दार्थक्रमगोचरा', 'शब्दानुकारा' तथा 'अर्थानुपूर्व्वार्था'-इन तीन भेदों से युक्त है।।२६-३१।।

जिस वाक्य में 'उक्ति और 'प्रत्युक्ति' (प्रश्न और उत्तर) दोनों हों, उसको 'वाकोवाक्य' कहते हैं। उसके भे दो भेद हैं-'ऋजूक्ति' और 'वक्रोक्ति'। इनमें पहली जो 'ऋजूक्ति है, वह स्वाभाविक कथनरूपा है। ऋजुक्ति के भी दो भेद हैं-'अप्रश्नपूर्विका' और 'प्रश्नपूर्विका'। वक्रोक्ति के भी दो भेद हैं-'भङ्ग-वक्राक्ति' और 'काकु-वक्रोक्ति'।।३२-३३।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी तीन सौ बयालिसवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।३४२।।

❖❖❖

अथ त्रिचत्वारिंशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः

शब्दालङ्काराः

अग्निरुवाच

स्यादावृत्तिरनुप्रासो वर्णानां पदवाक्ययोः। एकवर्णोऽनेकवर्णो वृत्तेर्वर्गगणो द्विधा॥१॥
एकवर्णगता वृत्तेर्जायन्ते पञ्च वृत्तयः। मधुरा ललिता प्रौढा भद्रा परुषया सह॥२॥
मधुरायाञ्च वर्गान्तादधो वर्ग्यारूणौ स्वनौ। ह्रस्वस्वरेणान्तरितौ संयुक्तत्वं नकारयोः॥३॥
न कार्या वर्ग्यवर्णानामावृत्तिः पञ्चमाधिका। महाप्राणोष्मसंयोगप्रविमुक्तलघूत्तरौ॥४॥
ललिता बलभूयिष्ठा प्रौढा या पणवर्गजा। ऊर्ध्वं रेफेण युज्यन्ते नटवर्गो न पञ्चमाः॥५॥
भद्रायां परिशिष्टाः स्युः परुषा साऽभिधीयते। भवति यस्यामूष्माणः संयुक्तास्तत्तदक्षरैः॥६॥
अकारवर्जमावृत्तिः स्वराणामतिभूयसी। अनुस्वारविसर्गौ च पारुष्याय निरन्तरौ॥७॥
शषसा रेफसंयुक्ताश्चाकारश्चापि भूयसा। अन्तस्था भिन्नमाभ्यां च हः पारुष्याय संयुतः॥८॥

अध्याय-३४३

शब्दालंकार विचार

श्रीअग्निदेव ने कहा कि—हे वसिष्ठ! पद एवं वाक्य में वर्णों की आवृत्ति को 'अनुप्रास' कहते हैं। वृत्त्युप्रास के वर्णसमुदाय दो तरह के होते हैं—एकवर्ण और अनेकवर्ण।एक वर्णगत आवृत्ति से पाँच वृत्तियाँ निर्मित होती हैं—मधुरा, ललिता, प्रौढ़ा, भद्रा तथा परुषा॥१-२॥

मधुरावृत्ति की रचना में वर्गान्त पञ्चम वर्ण के नीचे उसी वर्ग के अक्षर तथा 'र ण म न'—ये वर्ण ह्रस्व स्वर से अन्तरित होकर प्रयुक्त होते हैं तथा दो नकारों का संयोग भी रहा करता है॥३॥

वर्ग्य वर्णों की आवृत्ति पाँच से अधिक बार नहीं करनी चाहिये। महाप्राण (वर्ग के दूसरे और चौथे अक्षर) और ऊष्मा (श ष स ह) इनके संयोग से युक्त उत्तरोत्तर लघु अक्षर वाली रचना मधुरा कही गयी है॥४॥

ललिता में वकार और लकार का अधिक प्रयोग होता है। वकार से दन्त्योष्ठ्य वर्ण और लकार से दन्त्यवर्ण समझने चाहिये। जिसमें ऊर्ध्वगत रेफ से संयुक्त पकार, णकार एवं वर्ग्य वर्ण प्रयुक्त होते हैं, परन्तु टवर्ग और पञ्चम वर्ण नहीं रहते, वह 'प्रौढा' वृत्ति कही जाती है। जिसमें अवशिष्ट, असंयुक्त, रेफ, णकार आदि कोमल वर्ण प्रयुक्त होते हैं, वह 'भद्रा' अथवा 'कोमला वृत्ति' मानी जाती है। जिसमें ऊष्मा वर्ण (श ष स ह) विभिन्न अक्षरों से संयुक्त होकर प्रयुक्त होते हैं, उसको 'परुषा' कहते हैं। परुषावृत्ति में अकार के सिवा अन्य स्वरों की अत्यधिक आवृत्ति होती है। अनुस्वार, विसर्ग निरन्तर प्रयुक्त होने पर परुषता प्रकट करते हैं। रेफसंयुक्त श, ष, स का प्रयोग, अधिक अकार का प्रयोग, अन्तःस्थ वर्णों का अधिक निवेश तथा रेफ और अन्तःस्थ से भेदित एवं संयुक्त 'हकार' भी परुषता का कारण होता है और तरह से भी जो गुरु वर्ण है, वह यदि माधुर्यविरोधी वर्ण से संयुक्त हो, तो परुषता लोने वाला होता है। उस परुष रचना में वर्ग का आदि अक्षर ही संयुक्त एवं गुरु हो, तो श्रेष्ठ माना गया है। पञ्चम वर्ण यदि संयुक्त हो, तो परुष-रचना में उसको प्रशस्त नहीं माना गया है। किसी पर आक्षेप करना हो या किसी कठोर शब्द का अनुकरण

अन्यथाऽपि गुरुर्वर्णः संयुक्ते परिपन्थिनि। पारुष्यायाऽऽदिमांस्तत्र पूजिता न तु पञ्चमी॥९॥
क्षेपे शब्दानुकारे च परुषाऽपि प्रयुज्यते। कर्णाटी कौन्तली कौन्ती कौङ्कणी वामनासिका॥१०॥
द्रावणी माधवी पञ्चवर्णान्तस्थोष्मभिः क्रमात्। अनेकवर्णा वृत्तिर्या भिन्नार्थप्रतिपादिका॥११॥
यमकं साऽव्यपेतं च व्यपेतं चेति तद्द्विधा। आनन्तर्यादव्यपेतं व्यपेतं व्यवधानतः॥१२॥
द्वैविध्येनानयोः स्थानपादभेदाच्चतुर्विधम्। आदिपादादिमध्यान्तेष्वेकद्वित्रिनियोगतः॥१३॥
सप्तधा सप्तपूर्वेण चेत्पादेनोत्तरोत्तरः। एकद्वित्रिपदारम्भस्तुल्यः षोढा तदा परम्॥१४॥
तृतीयं त्रिविधं पादस्याऽऽदिमध्यान्तगोचरम्। पादान्तयमकं चैव काञ्चीयमकमेव च॥१५॥
संसर्गयमकं चैव विक्रान्तयमकं तथा। पादादि यमकं चैव तथाऽऽम्रेडितमेव च॥१६॥
चतुर्व्यवसितं चैव मालायमकमेव च। दशधा यमकं श्रेष्ठं तद्भेदा बहवोऽपरे॥१७॥
स्वतन्त्रस्यान्यतन्त्रस्य पदस्याऽऽवर्तनाद्द्विधा। भिन्नप्रयोजनपदस्याऽऽवृत्तिं मनुजा विदुः॥१८॥
द्वयोरावृत्तपदयोः समस्ताः स्यात्समासतः। असमासात्तयोर्व्यस्ता पादे त्वेकत्र विग्रहात्॥१९॥
वाक्यस्याऽऽवृत्तिरप्येवं यथासंभवमिष्यते। अलंकाराद्यनुप्रासो लघुमप्येवमर्हणात्॥२०॥
यया कयाचिद्वृत्त्या यत्समानमनुभूयते। तद्रूपादिपदासत्तिः सानुप्रासा रसावहा॥२१॥

करना हो, तो वहाँ 'परुषा वृत्ति' भी प्रायोग में लायी जाती है। क च ट त प–इन पाँच वर्गों, अन्तःस्थ वर्णों और ऊष्मा अक्षरों के क्रमशः आवर्तन से जो वृत्ति होती है, उसके द्वादश भेद हैं–कर्णाटी, कौन्तली, कौंकी, कौंकणी, वाणवासिका, द्राविडी, माथुरी, मात्सी, मागधी, ताम्रलिप्तिका, औण्ड्री तथा पौण्ड्री॥५-१०॥

अनेक वर्णों की जो आवृत्ति होती है, वह यदि भिन्न-भिन्न अर्थों की प्रतिपादिका हो, तो उसको 'यमक' कहते हैं। यमक दो तरह का होता है–'अव्यपेत' और 'व्यपेत'। निरन्तर आवृत्त होने वाला 'अव्यपेत' और व्यवधान से आवृत्त होने वाला 'व्यपेत' कहा जाता है। स्थान और पाद के भेद से इन दोनों के दो-दो भेद होने पर कुल चार भेद हुए। आदि पाद के आदि, मध्य और अन्त में एक, दो और तीन वर्णों की पर्याय से आवृत्ति होने पर कुल सात भेद होते हैं। यदि सात पादों में उत्तरोत्तर पाद एक, दो और तीन पदों से प्रारम्भ हो, तो अन्तिम पाद छः तरह का हो जाता है। तीसरा पाद पद आदि, मध्य और अन्त में आवृत्ति होने से तीन तरह का होता है। श्रेष्ठ यमक के निम्नलिखित दस भेद होते हैं–पादान्त यमक, काञ्ची यमक, समुद्र यमक, विक्रान्त्य यमक, वक्रवाल यमक, संदष्ट यमक, पदादि यमक, आम्रेडित यमक, चतुर्व्यवसित यमक तथा माला यमक। इनके भी अन्य अनेक भेद होते हैं॥११-१७॥

सहृदयजन भिन्नार्थवाची पद की आवृत्ति को 'स्वतन्त्र' एवं 'अस्ततन्त्र' पद के आवर्त्तन से दो तरह की मानते हैं। दो आवृत्त पदों का समास होने पर 'समस्ता' और उनके समासहीन रहने पर 'व्यस्ता' आवृत्ति कही जाती है। एक पाद में विग्रह होने से असमासत्वप्रयुक्त 'व्यस्ता' जानी जाती है। यथासम्भव वाक्य की भी आवृत्ति इस तरह होती है। अनुप्रास, यमक आदि अलंकार लघु होने पर भी इस तरह सुधीजनों द्वारा सम्मानित होते हैं। आवृत्ति पद की हो या वाक्य आदि की, जिस किसी आवृत्ति से भी जो वर्णसमूह 'समान' अनुभव में आता है, उस आवृत्तरूप को आदि में रखकर जो सानुप्रास पदरचना की जाती है, वह सहृदयजनों को रसास्वाद कराने वाली होती है। सहृदयजनों की गोष्ठी में जिस वाग्बन्ध (पदरचना) को कौतूहलपूर्वक पढ़ा और सुना जाता है, उसको 'चित्र' कहते हैं॥१८-२१॥

गोष्ठ्यां कुतूहलाध्यायी वाग्बन्धश्चित्रमुच्यते। प्रश्नः प्रहेलिका गुप्तं च्युतं दत्ते तथोभयम्॥२२॥
समस्या सप्त तद्भेदा नानार्थस्यानुयोगतः। यत्र प्रदीयते तुल्यवर्णविन्यासमुत्तरम्॥२३॥
स प्रश्नः स्यादेकपृष्टद्विपृष्टोत्तरभेदतः। द्विधैकपृष्ठो द्विविधः समस्तो व्यस्त एव च॥२४॥
द्वयोरप्यर्थयोर्गुह्यमानशब्दा प्रहेलिका। सा द्विधाऽऽर्थी च शाब्दी च तत्राऽऽर्थी चार्थबोधतः॥२५॥
शब्दावबोधतः शाब्दी प्राहुः षोढा प्रहेलिकाम्। यस्मिन्गुप्तेऽपि वाक्याङ्गे भाव्यर्थोऽप (पा) रमार्थिकः॥२६॥
तदङ्गे विहिताकाङ्क्षस्तद्गुप्तं गूढमप्यदः। यत्रार्थान्तरनिर्भासो वाक्याङ्गच्यवनादिभिः॥२७॥
तदङ्गाविहिताकाङ्क्षस्तच्चु (च्यु) तं स्याच्चतुर्विधम्। स्वरव्यञ्जनबिन्दूनां विसर्गस्य च विच्युतेः॥२८॥
दत्तेऽपि यत्र वाक्याङ्गे द्वितीयोऽर्थः प्रतीयते। दण्डं तदाहुस्तद्भेदाः स्वराद्यैः पूर्ववन्मताः॥२९॥
अपनीताक्षरस्थाने न्यस्ते वर्णान्तरेऽपि च। भासतेऽर्थान्तरं यत्र च्युतदत्तं तदुच्यते॥३०॥
सुश्लिष्टपद्यमेकं यन्नानाश्लोकांशनिर्मितम्। सा समस्या परस्याऽऽत्मपरयोः कृतिसंकरात्॥३१॥
दुःखेन कृतमत्यर्थं कविसामर्थ्यसूचकम्। दुष्करं नीरसत्वेऽपि विदग्धानां महोत्सवः॥३२॥
नियमाच्च विदर्भाच्च बन्धाच्च भवति त्रिधा। कवेः प्रतिज्ञा निर्माणरम्यस्य नियमः स्मृतः॥३३॥

इनके मुख्य सात भेद होते हैं—प्रश्न, प्रहेलिका, गुप्त, च्युताक्षर, दत्ताक्षर, च्युतदत्ताक्षर और समस्या। जिसमें समानान्तरविन्यासपूर्वक उत्तर दिया जाय, वह 'प्रश्न' कहा जाता है और वह 'एकपृष्टोत्तर' और द्विपृष्टोत्तर' के भेद से दो तरह का होता है। 'एकपृष्ट' के भी दो भेद हैं—समस्त' और 'व्यस्त'। जिसमें दोनों अर्थों के वाचक शब्द गूढ रहते हैं, उसको 'प्रहेलिका' कहते हैं। वह प्रहेलिका 'आर्थी' और 'शाब्दी' के भेद से दो तरह की होती है। अर्थबोध के सम्बन्ध से 'आर्थी' कही ज़ाती है। शब्दबोध के सम्बन्ध से उसको 'शाब्दी' कहते हैं। इस तरह प्रहेलिका के छः भेद बताये गये हैं। वाक्याङ्ग के गुप्त होने पर भी सम्भाव्य अपारमार्थिक अर्थ जिसके अंग में आकाङ्क्षा से युक्त स्थित रहता है, वह 'गुप्त' कही जाती है। इसी को 'गूढ़' भी कहते हैं। जिसमें वाक्याङ्ग की विकलता से अर्थान्तर की प्रतीति विकलित अंग में साकरङ्क्ष रहती है, वह 'च्युताक्षरा' कही जाती है। वह चार तरह की होती है।—स्वर, व्यञ्जन, बिन्दु और विसर्ग की च्युति के भेद से। जिसमें वाक्याङ्ग के विकल अंश को पूर्ण कर देने पर भी द्वितीय अर्थ प्रतीत होता है, उसको 'दत्ताक्षरा' कहते हैं। उसके भी स्वर आदि के कारण पूर्ववत् भेद होते हैं। जिसमें लुप्तवर्ण के स्थान पर अक्षरान्तर के रखने पर भी अर्थान्तर का आभास होता है, वह 'च्युतदत्ताक्षरा' कही जाती है। जो किसी पद्यांश से निर्मित और किसी पद्य से सम्बद्ध हो, वह 'समस्या' कही जाती है। 'समस्या' दूसरे की रचना होती है, उसकी पूर्ति अपनी कृति है। इस तरह अपनी तथा दूसरे की कृतियों के सांकर्य से 'समस्या' पूर्ण होती है। उपरोक्त 'चित्रकाव्य' अत्यन्त क्लेशसाध्य होता है एवं दुष्कर होने के कारण वह कवि की कवित्व-शक्ति का सूचक होता है। यह नीरस होने पर भी सहृदयों के लिये महोत्सव के समान होता है। यह नियम, विदर्भ और बन्ध के भेद से तीन तरह का होता है। रमणीय कविता के रचयिता कवि की प्रतिज्ञा को 'नियम' कहते हैं। नियम भी स्थान, स्वर और व्यञ्जन के अनुबन्ध से तीन तरह का होता है। काव्य में प्रातिलोम्य और आनुलोम्य से विकल्पना होती है। प्रातिलोम्य' और 'आनुलोम्य' शब्द और अर्थ के द्वारा भी होता है। विविध वृत्तों के वर्णविन्यास के द्वारा उन-उन प्रसिद्ध वस्तुओं के चित्रकर्मादि की कल्पना को 'बन्ध' कहते हैं। बन्ध के निम्नांकित आठ भेद माने जाते हैं—गोमूत्रिका, अर्द्धभ्रमक, सर्वताभद्र, कमल,

स्थानेनापि स्वरेणापि व्यञ्जनेनापि स त्रिधा। विकल्पः प्रातिलोम्यानुलोम्यादेवाभिधीयते॥३४॥
प्रातिलोम्यानुलोम्यं च शब्देनार्थेन जायते। अनेकधावृत्तवर्णविन्यासैः शिल्पकल्पना॥३५॥
तत्तत्प्रसिद्धवस्तूनां बन्ध इत्यभिधीयते। गोमूत्रिकार्धभ्रमणे सर्वतोभद्रमम्बुजम्॥३६॥
चक्रं चक्राब्जकं दण्डो मुरजाश्चेति चाष्टधा। प्रत्यर्धं प्रतिपादं स्यादेकान्तरसमाक्षरा॥३७॥
द्विधा गोमूत्रिकां पूर्वामाहुरश्वपदां परे। अन्त्यां गोमूत्रिकां धेनुं जालबन्धं वदन्ति हि॥३८॥
अर्धाभ्यामर्धपादैश्च कुर्याद्विन्यासमेतयोः। न्यस्तानामिह वर्णानामधोधः क्रमभागिना (णा) म्॥३९॥
अधोधः स्थितवर्णानां यावत्तुर्यपदं नयेत्। तुर्यपादान्नयेदूर्ध्वं पादार्धं प्र (प्रा) तिलोम्यतः॥४०॥
तदेव सर्वतोभद्रं त्रिविधं सरसीरुहम्। चतुष्पत्रं ततो विघ्नं चतुष्पत्रे उभे अपि॥४१॥
अथ प्रथमपादस्य मूर्धन्यं त्रिपदाक्षरम्। सर्वेषामेव पादानामन्ते तदुपजायते॥४२॥

चक्र, चक्राब्जक, दण्ड और मुरज। जिसमें श्लोक के दोनों-दोनों अर्द्धभागों तथा प्रत्येक पाद में एक-एक अक्षर के व्यवधान से अक्षरसाम्य प्रयुक्त हो, उसको 'गोमूत्रिका-बन्ध' कहते हैं। 'गोमूत्रिका-बन्ध' के दो भेद कहे जाते हैं- 'पूर्वा गोमूत्रिका' जिसको कुछ काव्यवेत्ता 'अश्वपदा' भी कहते हैं, वह प्राति अर्द्धभाग में एक-एक अक्षर के बाद अक्षरसाम्य से युक्त होती है। 'अन्त्या गोमूत्रिका' जिसको 'धेनुजालबन्ध' भी कहते हैं, वह प्रत्येक पद में एक-एक अक्षर के अन्तर से अक्षरसाम्यसमन्वित होती है। गोमूत्रिका-बन्ध के उपरोक्त दोनों भेदों का क्रमशः अर्द्धभागों और अर्द्धपादों से विन्यास करना चाहिये॥२२-३८॥

यहाँ क्रमशः नीचे-नीचे विन्यस्त वर्णों का, नीचे-नीचे स्थित वर्णों का जबतक चतुर्थ पाद पूर्ण न हो जाय, तत्पश्चात्तक नयन करना चाहिये। चतुर्थ पाद पूर्ण हो जाने पर प्रतिलोमक्रम से अक्षरों को पादार्थ पर्यन्त ऊपर ले जाय। इस तरह तीन तरह का सर्वतोभद्र-मण्डल' बनता है। कमलबन्ध के तीन तरह हैं-चतुर्दल, अष्टदल और षोडशदल। चतुर्दल कमल को इस तरह से आबद्ध किया जाता है-प्रथम पाद के ऊपरी तीन पदों वाले अक्षर सभी पादों के अन्त में रखे जाते हैं। पूर्वपाद के अन्तिम वर्ण को पिछले पाद के आदि में प्रातिलोम्यक्रम से रखा जाय। अन्तिम पाद के अन्तिम दो अक्षरों को प्रथम पाद के आदि में निविष्ट किया जाय। यह स्थिति चतुर्दल कमल में होती है। अष्टदल कमल में अन्त्य पाद के अन्तिम तीन अक्षरों को प्रथम पाद के आदि में विन्यस्त किया जाता है। षोडशदल कमल में दो अक्षरों के मध्य में कर्णिका-मध्यवर्ती एक अक्षर का उच्चारण होता है। कर्णिका के अन्त में ऊपर पत्राकार अक्षरों की पङ्क्ति लिखे और उसको कर्णिका में प्रविष्ट कराये। यह बात चतुर्दल कमल के विषय में कही गयी है। कर्णिका में एक अक्षर लिखे और दिशाओं तथा विदिशाओं में दो-दो अक्षर लिखे; प्रवेश और निर्गम का मार्ग प्रत्येक दिशा में रखे। यह बात 'अष्टदल कमल' के विषय में कही गयी है। चारों तरफ विषम-वर्णों का उतनी ही पत्रावली बनाकर न्यास करना चाहिये और मध्यकर्णिका में सम अक्षरों का एक अक्षर के रूप में न्यास करना चाहिये। यह बात 'षोडशदल कमल' के विषय में बतलायी गयी है। 'चक्रबन्ध' दो तरह का होता है-एक चार अरों का तरफ दूसरा छः अरों का। उनमें जो आदिम, अर्थात् चार अरों वाला चक्र है, उसके पूर्वार्द्ध में समवर्णों की स्थापना करनी चाहिये और प्रत्येक पाद के जो प्रथम, पञ्चम आदि विषमवर्ण हैं, उनको एवं चौथे और आठवें, दोनों समवर्णों को क्रमशः उत्तर, पूर्व, दक्षिण और पश्चिम के अरों में रखे॥३९-४१॥

उत्तर पादार्थ के चार अक्षरों को नाभि में और उसके आदि अक्षर को पिछले दो अरों में ले जाय। शेष दो

प्राक्पदस्यान्तिमं प्रत्यक्पादादौ प्रातिलोम्यतः। अन्त्यपादान्तिमं चाऽऽद्यपादादावक्षरद्वयम्॥४३॥
चतुष्छेदे भवेदष्टच्छदे वर्णत्रयं पुनः। स्यात्षोडशच्छदे द्व्येकान्तरं चेदेकमक्षरम्॥४४॥
कर्णिकान्ते लिखेदूर्ध्वं पत्राकाराक्षरावलिम्। प्रवेशयेत्कर्णिकायां चतुष्पत्रसरोरुहे॥४५॥
कर्णिकाया लिखेदेकं द्वे द्वे दिक्षु विदिक्षु च। प्रवेशनिर्गमौ दिक्षु कुर्यादष्टच्छदेऽम्बुजे॥४६॥
विष्वग्विषमवर्णानां तावत्पत्रावलीजुषाम्। मध्ये समाक्षरन्यासः सरोजे षोडशच्छदे॥४७॥
द्विधा चक्रं चतुररं षडरं तत्र चाऽऽदिमम्। पूर्वार्धे सदृशा वर्णाः पादप्रथमपञ्चमाः॥४८॥
अयुजोऽश्वयुजश्चैव तुर्यावप्यष्टमावपि। तस्योदक्प्रागवाक्प्रत्यगरेषु च यथाक्रमम्॥४९॥
स्यात्पादार्धचतुष्कं तु नाभौ तस्याऽऽद्यमक्षरम्। पश्चिमारावधि न्येन्नेमौ शेषे पदद्वयी॥५०॥
तृतीयं तुर्यपादान्ते प्रथमौ सदृशावुभौ। वर्णौ पादत्रयस्यापि दशमः सदृशो यदि॥५१॥
प्रथमे चरमे तस्य षड्वर्णाः पश्चिमे यदि। भवन्ति द्व्यन्तरं तर्हि बृहच्चक्रमुदाहृतम्॥५२॥
समुखारद्वये पादमेकैकं क्रमशो लिखेत्। नाभौ तु वर्णं दशमं नेमौ तुर्यपदं नयेत्॥५३॥
श्लोकस्याऽऽद्यं तु दशमाः समा आद्यन्तिमौ युजौ। आदौ वर्णः समौ तुर्यपञ्चमावाद्यतुर्ययोः॥५४॥
द्वितीयप्रातिलोम्येन तृतीयं जायते यदि। पदं विदध्यात्पत्रस्य दण्डश्चक्राब्जकं कृतेः॥५५॥
द्वितीयौ प्राग्दले तुल्यौ सप्तमौ च तथाऽऽपरौ। सदृशावुत्तरदलौ द्वितीयाभ्यामथार्धयोः॥५६॥
द्वितीयषष्ठाः सदृशाश्चतुर्थौ पञ्चमावपि। आद्यन्तपादयोस्तुल्यौ परार्धसप्तमावपि॥५७॥

पदों को नेमि में स्थापित करना चाहिये। तृतीय अक्षर को चतुर्थ पाद के अन्त में तथा प्रथम दो समवर्णों को तीनों पदों के अन्त में रखे। यदि दसवाँ अक्षर सम हो, तो उसको प्रथम अरे पर रखे और छः अक्षरों को पश्चिम अरे पर स्थापित करना चाहिये। वे दो-दो के अन्तर से स्थापित होंगे। इ स तरह 'बृहच्चक्र' का निर्माण होगा। यह 'बृहच्चक्र' बतलाया गया। सामने के दो अरों में क्रमशः एक-एक पाद लिखे। नाभि में दशम अक्षर अंकित करना चाहिये और नेमि में चतुर्थ चरण को ले जाय। श्लोक के आदि, अन्त और दशम अक्षर समान हों तथा दूसरे और चौथे चरणों के आदि और अन्तिम अक्षर भी समान हों। प्रथम और चौथे चरण के प्रथम, चतुर्थ और पञ्चम वर्ण भी समान हों। द्वितीय चरण को विलोमक्रम से पढ़ने पर यदि तृतीय चरण को विलोमचक्र से पढ़ने पर यदि तृतीय चरण बन जाता हो, तो उसको पत्र के स्थान में स्थापित करना चाहिये तो उस रचना का नाम 'दण्डचक्राब्जबन्ध' समझना चाहिये। पूर्वदल (पूर्वार्द्ध) में दोनों चरणों के द्वितीय अक्षर एक समान हों और उत्तरार्द्ध में दोनों चरणों के सातवें अक्षर समान हों। साथ ही द्वितीय अक्षरों की दृष्टि से भी पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध परस्पर समता रखते हों। दूसरे, छठे तथा चौथे, पाँचवें भी एक-दूसरे के तुल्य हों। उत्तरार्द्ध भाग के सातवें अक्षर प्रथम और चतुर्थ चरणों के उन्हीं अक्षरों के समान हों तो उन तुल्य रूपवाले चतुर्थ और पञ्चम अक्षर की क्रमशः योजना करनी चाहिये। क्रमपादगत जो चतुर्थ अक्षर हैं, उनको तथा दलान्त वर्णों को पूर्ववत् स्थापित करना चाहिये। मुरजबन्ध' में पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध दोनों के अन्तिम और आदि अक्षर समान होते हैं। पादार्द्ध भाग में स्थित जो वर्ण है, उसको प्रातिलोम्यानुलोम्यक्रम से स्थापित करना चाहिये। अन्तिम अक्षर को इस तरह निबद्ध करना चाहिये कि वह चौथे चरण का आदि अक्षर बन जाय। चौथे चरण में जो आदि अक्षर हो, उससे नवें तथा सोलहवें अक्षर से पुटकके बीच-बीच में चार-चार अक्षरों का निवेश करना चाहिये। ऐसा

समं तुर्यं पञ्चमं तु क्रमेण विनियोजयेत्। तुर्यौ योज्यौ तु तद्वच्च दलान्ताः क्रमपादयोः।।५८।।
अर्धयोरन्तिमाद्यौ तु मुरजे सदृशावुभौ। पादार्धपतितो वर्णः प्रातिलोम्यानुलोमतः।।५९।।
अन्तिमं परिबघ्नीयाद्यावत्तुर्यमिहाऽऽदिमत्। पादात्तुर्याद्यदेवाऽद्यं नवमात्षोडशादपि।।६०।।
अक्षरात्पुटको मध्ये मध्येऽक्षरचतुष्टयम्। कृत्वा कुर्याद्यथैतस्य मुरजाकारता भवेत्।।६१।।
द्वितीयं चक्रशार्दूलविक्रीडितकसंपदम्। गोमूत्रिका सर्ववृत्तैरन्ये बन्धास्त्वतुष्टुभा।।६२।।
नामधेयं यदि न चेदमीषु कविकाव्ययोः। मित्रधेयानि तुष्यन्ति नामित्रः खिद्यते तथा।।६३।।
बाणबाणासनव्योमखड्गमुद्गरशक्तयः। द्विचतुर्थत्रिशृङ्गाटा दम्भोलिमुशलाङ्कुशाः।।६४।।
पदं रथस्य नागस्य पुष्करिण्यसिपुत्रिका। एते बन्धास्तथा चान्ये एवं ज्ञेयाः स्वयं बुधैः।।६५।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गति शब्दालंकारकथनं नाम त्रिचत्वारिंशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः।।३४३।।

करने से उस श्लोकबन्ध द्वारा मुरज (ढोल) की आकृति स्पष्ट हो जाती है। द्वितीय की आकृति स्पष्ट हो जाती है। द्वितीय चक्र 'शार्दूलविक्रीडित' छन्द से सम्पादित होता है। 'गोमूत्रिकाबन्ध' सभी छन्दों से निर्मित हो सकता है। अन्य सब बन्ध अनुष्टुप् छन्द से निर्मित होते हैं। यदि इन बन्धों में कवि और काव्य का नाम न हो, तो मित्रभाव रखने वाले लोग संतुष्ट होते हैं तथा शत्रु भी खिन्न नहीं होता। बाण, धनुष, व्योम, खड्ग, मुद्गर, शक्ति, द्विशृङ्गाट, त्रिशृङ्गाट, चतुःशृङ्गाट, वज्र, मुसल, अंकुश, रथपद, नागपद, पुष्करिणी, असिपुत्रिका (कटारी या छुरी) –इन सबकी आकृतियों में चित्रबन्ध लिखे जाते हैं। ये तथा और भी बहुत-से 'चित्रबन्ध' हो सकते हैं, जिन्हें विद्वान् पुरुषों को स्वयं समझना चाहिये।।५०-६५।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी तीन सौ तिरालिसवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।३४३।।

अथ चतुश्चत्वारिंशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः

अर्थालङ्काराः

अग्निरुवाच

अलङ्करणमर्थानामर्थालङ्कार इष्यते। तं विना शब्दसौन्दर्यमपि नास्ति मनोहरम्॥१॥
अर्थालङ्काररहिता विधवेव सरस्वती। स्वरूपमथ सादृश्यमुत्प्रेक्षातिशयावपि॥२॥
विभावना विरोधश्च हेतुश्च सममष्टधा। स्वभाव एव भावानां स्वरूपमभिधीयते॥३॥
निजमागन्तुकं चेति द्विविधं तदुदाहृतम्। सांसिद्धिकं निजं नैमित्तिकमागन्तुकं तथा॥४॥
सादृश्यं धर्मसामान्यमुपमा रूपकं तथा। सहोक्त्यर्थान्तरन्यासाविति स्यात्तु चतुर्विधम्॥५॥
उपमा नाम सा यस्यामुपमानोपमेययोः। सत्ता चान्तरसामान्ययोगित्वेऽपि विवक्षितम्॥६॥
किंचिदादाय सारूप्यं लोकयात्रा प्रवर्तते। समासेनासमासेन सा द्विधा प्रतियोगिनः॥७॥
विग्रहादभिधानस्य ससमासाऽन्यथोत्तरा। उपमा द्योतकपदेनोपमेयपदेन च॥८॥
ताभ्यां च विग्रहात्त्रेधा ससमासाऽन्तिमा त्रिधा। विशिष्यमाणा उपमा भवन्त्यष्टादश स्फुटाः॥९॥
यत्र साधारणो धर्मः कथ्यते गम्यतेऽपि वा। ते धर्मवस्तुप्राधान्याद्धर्मवस्तूपमे उभे॥१०॥

अध्याय-३४४

अर्थालंकार विचार

श्रीअग्निदेव ने कहा कि—हे वसिष्ठ! अर्थों का अलंकरण 'अर्थालंकार' कहा जाता है। उसके बिना शब्द-सौन्दर्य भी मन को आकर्षित नहीं करता है। अर्थालंकार से हीन सरस्वती विधवा के समान शोभाहीन है। अर्थालंकार के आठ भेद माने गये हैं—स्वरूप, सादृश्य, उत्प्रेक्षा, अतिशय, विभावना, विरोध, हेतु और सम। पदार्थों के स्वभाव को 'स्वरूप' कहते हैं। उसके दो भेद बतलाये गये हैं—'निज' एवं 'आगन्तुक'। सांसिद्धिक को 'निज' तथा नैमित्तिक को 'आगन्तुक' कहा जाता है। धर्म की समानता को 'सादृश्य' कहते हैं। वह भी उपमा, रूपक, सहोक्ति तथा अर्थान्तरन्यास के भेद से चार तरह का होता है। जिसमें भेद और सामान्य धर्म के साथ उपमान एवं उपमेय की सत्ता हो, उसको 'उपमा' कहते हैं; क्योंकि यत्किंचिद्विवक्षित सारूप्य का आश्रय लेकर ही लोकयात्रा प्रवर्तित होती है। प्रतियोगी (उपमान) के समस्त और असमस्त होने से उपमा दो तरह की मानी गयी है—'ससमासा' एवं 'असमासा'। **'घन इव श्यामः'** इत्यादि पदों में समास के कारण वाचक शब्द के लुप्त होने से 'ससमासा उपमा' कही गयी है, इससे भिनन तरह की उपमा 'असमासा' है। कहीं उपमाद्योतक 'इवादि' पद, कहीं उपमेय और कहीं दोनों के विरह से 'ससमासा' उपमा के तीन भेद होते हैं। इसी तरह 'असमासा' उपमा के भी तीन भेद हैं। इसी तरह 'असमासा' उपमा के भी तीन भेद होते हैं। विशेषण से युक्त होने पर उपमा के अठारह भेद होते हैं। जिसमें सामान्य धर्म का कथन या ज्ञान होता है—उपमा के उस भेदविशेष को धर्म या वस्तु की प्रधानता के कारण 'धर्मोपमा' एवं 'वस्तूपमा' कहा जाता है। जिसमें उपमान और उपमेय की प्रसिद्धि के अनुसार परस्पर तुल्य उपमा दी जाती है, वह 'परस्परोपमा' होती है। प्रसिद्धि के विपरीत उपमान और उपमेय की विषमता में जिस समय उपमा दी जाती है, तत्पश्चात् वह

तुल्यमेवोपमीयेते यत्रान्योन्येन धर्मिणौ। परस्परोपमा सा स्यात्प्रसिद्धेरन्यथा तयोः॥११॥
विपरीतोपमा सा स्याद्व्यावृत्तेर्नियमोपमा। अन्यत्राप्यनुवृत्तस्तु भवेदनियमोपमा॥१२॥
समुच्चयोपमाऽतोऽन्यधर्मबाहुल्यकीर्तनात्। बहोर्धर्मस्य साम्येऽपि वैलक्षण्यं विवक्षितम्॥१३॥
यदुच्यतेऽतिरिक्तत्वं व्यतिरेकोपमा तु सा। यत्रोपमा स्याद्बहुभिः सदृशैः सा बहूपमा॥१४॥
धर्माः प्रत्युपमानं चेदन्या मालोपमैव सा। उपमानविकारेण तुलना विक्रियोपमा॥१५॥
त्रैलोक्यसंभवि किमप्यारोप्य प्रतियोगिनि। कविनोपमीयते या प्रथते साऽद्भुतोपमा॥१६॥
प्रतियोगिनमारोप्य तदभेदेन कीर्तनम्। उपमेयस्य सा मोहोपमाऽसौ भ्रान्तिमद्वचः॥१७॥
उभयोर्धर्मिणोस्तथ्यानिश्चयात्संशयोपमा। उपमेयस्य संशय्य निश्चयान्निश्चयोपमा॥१८॥
वाक्यार्थेनैव वाक्यार्थोपमा स्यादुपमानतः। आत्मोपमानादुपमा साधारण्यतिशायिनी॥१९॥
उपमेयं यदन्यस्य तदन्यस्योपमा मता। यद्युत्तरोत्तरं याति तदाऽसौ गमनोपमा॥२०॥
प्रशंसा चैव निन्दा च कल्पिता सदृशी तथा। किंचिच्चासदृशी ज्ञेया उपमा पञ्चधा पुनः॥२१॥
उपमानेन यत्तत्त्वमुपमेयस्य रूप्यते। गुणानां समता दृष्ट्वा रूपकं नाम तद्विदुः॥२२॥
उपमैव तिरोभूतभेदा रूपकमेव वा। सहोक्तिः सहभावेन कथनं तुल्यधर्मिणाम्॥२३॥

'विपरीतोपमा' कहलाती है। **उपमा**–जहाँ एक वस्तु से ही उपमा देकर अन्य उपमानों का व्यावर्तन-निराकरण किया जाता है, वहाँ 'नियमोपमा' होती है। यदि उपमेय के गुणादि धर्म की अन्य उपमानों में भी अनुवृत्ति हो, तो उसको 'अनियमोपमा' कहते हैं॥१-१२॥

एक से भिन्न धर्मों के बाहुल्य का कीर्तन होने से समुच्चयोपमा होती है। जहाँ अनेक धर्मों की समानता होने पर भी उपमान से उपमेय की विलक्षणता विवक्षित हो और इसके कारण जो अतिरिक्तत्व का कथन होता है, उसको 'व्यतिरेकोपमा' कहते हैं। जहाँ बहुसंख्यक सदृश उपमानों द्वारा उपमा दी जाय, उसको 'बहूपमा' माना गया है। यदि उनमें से प्रत्येक उपमान भिन्न-भिन्न सामान्य धर्मों से युक्त हो, तो उसको 'मालोपमा' कहा जाता है। उपमेय को उपमान का विकार बताकर तुलना की जाय तो 'विक्रियोपमा' होती है। यदि कवि उपमान में किसी ऐसे वैशिष्ट्य का, जो तीनों लोकों में असम्भव हो, आरोप करके उसके द्वारा उपमा देता है, तो वह 'अद्भुतोपमा' कही जाती है। उपमान को आरोपित करके उससे अभिन्नरूप में जो उपमेय का कीर्तन होता है और उससे जो भ्रम होने का वर्णन किया जाता है, उसको 'मोहोपमा' कहा जाता है। दो धर्मियों में से किसी एक का यथार्थ निश्चय न होने से 'संशयोपमा' तथा पहले संदेह होकर फिर निश्चय होने से निश्चयोपमा' होती है। जहाँ वाक्यार्थ को उपमान बनाकर उससे ही वाक्यार्थ की उपमा दी जाय, उसको 'वाक्यार्थोपमा' कहते हैं। यह उपमा अपने उपमान की दृष्टि से दो तरह की होती है–'सामान्यी' और 'अतिशायिनी'। जो एक का उपमेय है, वही दूसरे का उपमान हो, अर्थात् दोनों एक-दूसरे के उपमान-उपमेय कहे गये हों तो उसको 'अन्योन्योपमा' कहते हैं। इस तरह यदि उत्तरोत्तर क्रम चलता जाय तो उसको 'गमनोपमा' कहा जाता है। इसके सिवा उपमा के और भी पाँच भेद होते हैं–'प्रशस्त' 'निन्दा' 'कल्पिता' 'सदृशी' एवं 'किंचित्सदृशी'। गुणों की समानता देखकर उपमेय का जो तत्त्व उपमान से रूपित अभेदेन प्रतिपादित होता है, उसको 'रूपक' मानते हैं। अथवा भेद के तिरोहित होने पर उपमा ही 'रूपक' हो जाती है। तुल्य धर्म से युक्त दो पदार्थों का एक साथ रहने का वर्णन 'सहोक्ति' कहा जाता है॥१३-२३॥

भवेदर्थान्तरन्यासः सादृश्येनोत्तरेण सः। अन्यथोपस्थिता वृत्तिश्चेतनस्येतरस्य च॥२४॥
अन्यथा मन्यते यत्र तामुत्प्रेक्षां प्रचक्षते। लोकसीमानिवृत्तस्य वस्तुधर्मस्य कीर्तनम्॥२५॥
भवेदतिशयो नाम संभवासंभवाद्द्विधा। गुणजातिक्रियादीनां यत्र वैकल्यदर्शनम्॥२६॥
विशेषदर्शनायैव सा विशेषोक्तिरुच्यते। प्रसिद्धहेतुव्यावृत्त्या यत्किंचित्कारणान्तरम्॥२७॥
यत्र स्वाभाविकत्वं वा विभाव्यं सा विभावना। संगतीकरणं युक्त्या यदसंगच्छमानयोः॥२८॥
विरोधपूर्वकत्वेन तद्विरोध इति स्मृतम्। सिसा (षा) धयिषितार्थस्य हेतुर्भवति साधकः॥२९॥
कारको ज्ञापक इति द्विधा सोऽप्युपजायते। प्रवर्तते कारकाख्यः प्राक्पश्चात्कार्यजन्मनः॥३०॥
पूर्वशेष इति ख्यातस्तयोरेव विशेषयोः। कार्यकारणभावाद्वा स्वभावाद्वा नियामकात्॥३१॥
अविनाभावनियमो ह्यविनाभावदर्शनात्। ज्ञापकाख्यस्य भेदोऽस्ति नदीपूरादिदर्शनम्॥३२॥

॥इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते अर्थालङ्कारकथनं नाम चतुश्चत्वारिंशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः॥३४४॥

पूर्ववर्णित वस्तु के समर्थन के लिये साधर्म्य अथवा वैधर्म्य से जो अर्थान्तर का उपन्यास किया जाता है, उसको 'अर्थान्तरन्यास' कहते हैं। जिसमें चेतन या अचेतन पदार्थ की अन्यथास्थित परिस्थिति को दूसरी तरह से माना जाता है, उसको 'उत्प्रेक्षा' कहते हैं। लोकसीमातीत वस्तु-धर्म का कीर्तन 'अतिशयालंकार' कहलाता है। यह 'सम्भव' और 'असम्भव' के भेद से दो तरह का माना जाता है। जिसमें विशेष्यदर्शन के लिये गुण, जाति एवं क्रियादि की विकलता का प्रदर्शन—अनपेक्षता का प्रकाशन हो, उसको 'विशेषोक्ति' कहा जाता है। जिसमें प्रसिद्ध हेतु की व्यावृत्तिपूर्वक (अर्थात् उसका अभाव दिखाते हुए) अन्य किसी कारण की उद्भावना की जाय अथवा स्वाभाविकता स्वीकार की जाय अर्थात् बिना किसी कारण के ही स्वाभाविक रूप से कार्य की उत्पत्ति मानी जाय, उसको विभावना कहते हैं। परस्पर असंगत पदार्थों का जहाँ युक्ति के द्वारा विरोधपूर्वक संगतिकरण किया जाय, वह 'विरोधालंकार' होता है। जिसकी सिद्धि अभिलक्षित हो, ऐसे अर्थ का साधक 'हेतु अलंकार कहलाता है। उस 'हेतु' अलंकार के भी 'कारक' एवं 'ज्ञापक'- ये दो भेद हो जाते हैं। इनमें कारक-हेतु कार्य-जन्म के पूर्व में और पश्चात् भी रहने वाला है, जो 'पूर्वशेष' कहा जाता है और उन्हीं भेदों में कार्य-कारणभाव से अथवा किसी नियामक स्वभाव से या अविनाभाव के दर्शन से जो अविनाभाव का नियम होता है, वह ज्ञापक हेतु का भेद है। 'नदीपूर' आदि का दश्नन ज्ञापक का उदाहरण है॥२४-३२॥

॥इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी तीन सौ चौवालिसवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ॥३४४॥

❖❖❖

अथ पञ्चचत्वारिंशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः

शब्दार्थालङ्काराः

अग्निरुवाच

शब्दार्थयोरलंकारो द्वावलंकुरुते समम्। एकत्र निहितो हारः स्तनं ग्रीवामिव स्त्रियाः।।१।।
प्रशस्तिः कान्तिरौचित्यं संक्षेपो यावदर्थता। अभिव्यक्तिरिति व्यक्तं षड्भेदास्तस्य जाग्रति।।२।।
प्रशस्तिः परवन्मर्मद्रवीकरणकर्मणः। वाचोयुक्तिर्द्विधा सा च प्रेमोक्तिस्तुतिभेदतः।।३।।
प्रेमोक्तिस्तुतिपर्यायौ प्रियोक्तिगुणकीर्तने। कान्तिः सर्वमतो रुच्यवाच्यवाचकसंगतिः।।४।।
यथा वस्तु तथा रीतिर्यथा वृत्तिस्तथा रसः। ऊर्जस्विमृदुसंदर्भादौचित्यमुपजायते।।५।।
संक्षेपो वाचकैरल्पैर्बहोरर्थस्य संग्रहः। अन्यूनाधिकता शब्दवस्तुनोर्यावदर्थता।।६।।
प्रकटत्वमभिव्यक्तिः श्रुतिराक्षेप इत्यपि। तस्या भेदौ श्रुतिस्तत्र शाब्दं स्वार्थसमर्पणम्।।७।।
भवेन्नैमित्तिकी पारिभाषिको द्विविधैव सा। संकेतः परिभोषेति ततः स्यात्पारिभाषिकी।।८।।
मुख्यौपचारिकी चेति सा च सा च द्विधा द्विधा। साभिधेयस्खलद्वृत्तिरमुख्यार्थस्य वाचकः।।९।।

अध्याय-३४५

शब्दार्था विचार

श्रीअग्नि देव ने कहा कि-हे वसिष्ठ! 'शब्दार्थालंकार' शब्द और अर्थ दोनों को समानरूप से अलंकृत करता है; जिस प्रकार एक ही अंग में धारण किया हुआ हार ाकिमनी के कण्ठ एवं कुचमण्डल की कान्ति को बढ़ा देता है। 'शब्दार्थानंकार' के छः भेद काव्य में उपलब्ध होते हैं-प्रशस्ति, कान्ति, औचित्य, संक्षेप, यावदर्थता तथा अभिव्यक्ति। दूसरों के मर्मस्थल को द्रभीभूत करने वाले वाक्-कौशल को 'प्रशस्ति' कहते हैं। वह प्रशस्ति 'प्रेंमोक्ति' एवं 'स्तुति' के भेद से दो तरह की मानी गयी है। प्रेमोक्ति और स्तुति के पर्यायवाचक शब्द क्रमशः 'प्रियोक्ति' एवं 'गुण-कीर्तन' हैं। वाच्य-वाचक की सर्वसम्मत एवं रुचिकर संगति को 'कान्ति' कहते हैं। यदि ओज एवं माधुर्ययुक्त संदर्भ में-वस्तु के अनुसार विधि एवं वृत्ति के अनुसार रस का प्रयोग हो, तो औचित्य का प्रादुर्भाव होता है। अल्पसंख्यक शब्दों से अर्थ-बाहुल्य का संग्रह 'संक्षेप' तथा शब्द एवं वस्तु का अन्यूनाधिक्य 'यावदर्थता' कहा जाता है। अर्थ-प्राकट्य को 'अभिव्यक्ति' कहते हैं। उसके दो भेद हैं-'श्रुति' और 'आक्षेप'। शब्द के द्वारा अपने अर्थ का उद्घाटन 'श्रुति' कहा जाता है। श्रुति के दो भेद हैं-'नैमित्तिकी' और 'पारिभाषिकी'। 'संकेत' को परिभाषा कहते हैं। परिभाषा के सम्बन्ध से ही वह पारिभाषिकी है। पारिभाषिकी को 'मुख्या' और नैमित्तिकी को 'औपचारिकी' कहते हैं। (ये ही क्रमशः 'अभिधा' और 'लक्षणा' हैं।) उसको औपचारिकी के भी दो भेद हैं। जिसके द्वारा अभिधेय अर्थ से स्खलित हुआ शब्द किसी निमित्तवश अमुख्य अर्थ का बोधक होता है, वह वृत्ति 'औपचारिकी' है। ये ही दोनों भेद नैमित्तिकी के भी होते हैं। वह लक्षणायोग से 'लाक्षणिकी' और गुणयोग से 'गौणी' कहलाती है।

अभिधेय अर्थ के साथ सम्बद्ध रहकर जो अन्यार्थ की प्रतीति होती है, उसको 'लक्षणा' कहते हैं। अभिधेय

यया शब्दो निमित्तेन केनचित्सौपचारिकी। सा च लाक्षणिकी गौणी लक्षणा गुणयोगतः।।१०।।
अभिधेयाविनाभूतप्रतीतिर्लक्षणोच्यते। अभिधेयेन सम्बन्धात्सामीप्यात्समवायतः।।११।।
वैपरीत्यात्क्रियायोगाल्लक्षणा पञ्चधा मता। गौणी गुणानामानन्त्यादनन्ता तद्विवक्षया।।१२।।
अन्यधर्मस्ततोऽन्यत्र लोकसीमानुरोधिना। सम्यगाधीयते यत्र स समाधिरिह स्मृतः।।१३।।
श्रुतेरलभ्यमानोऽर्थो यस्माद्भाति सचेतनः। स आक्षेपो ध्वनिः स्याच्च ध्वनिना व्यज्यते यतः।।१४।।
शब्देनार्थेन यत्रार्थः कृत्वा स्वयमुपार्जनम्। प्रतिषेध इवेष्टस्य यो विशेषोऽभिधित्सया।।१५।।
तमाक्षेपं ब्रुवन्त्यत्र स्तुतं स्तोत्रमिदं पुनः। अधिकारादपेतस्य वस्तुनोऽन्यस्य या स्तुतिः।।१६।।
यत्रोक्तं गम्यतेऽन्योऽर्थस्तत्समानविशेषणः। सा समासोक्तिरुदिता संक्षेपार्थतया बुधैः।।१७।।
अपह्नुतिरपह्नुत्य किञ्चिदन्यार्थसूचनम्। पर्यायोक्तं यदन्येन प्रकारेणाभिधीयते।
एषामेकतमस्येव समाख्या ध्वनिरित्यतः।।१८।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गति शब्दार्थालंकारकथनं नाम पञ्चचत्वारिंशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः।।३४५।।

—❀❀❀—
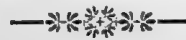
के साथ सम्बन्ध', सामीप्य, समवाय, वैपरीत्य एवं क्रियायोग से लक्षणा पाँच तरह की मानी जाती है। गुणों की अनन्तता होने से उनकी विवक्षा के कारण गौणी के अनन्त भेद हो जाते हैं। लोकसीमा के पालन में तत्पर कविद्वारा जिस समय अप्रस्तुत वस्तु के धर्म प्रस्तुत वस्तु पर सम्यग्रूप से आहित–आरोपित किये जाते हैं, तत्पश्चात् उसको 'समाधि' कहते हैं। जिसके द्वारा श्रुति से अनुपलब्ध अर्थ चैतन्ययुक्त होकर भासित होता है, वह 'आक्षेप' कहा जाता है। इसको 'ध्वनि' भी माना गया है; क्योंकि वह ध्वनि से ही व्यक्त होता है। इसमें ध्वनि के आश्रय से शब्द और अर्थ के द्वारा स्वतः संकलित अर्थ ही व्यञ्जित होता है।

अभीष्ट कथन का विशेष विवक्षा से अर्थात् उसमें और भी उत्कर्ष की प्रतीति कराने के लिये जो प्रतिषेध-सा होता है, उसको 'आक्षेप' कहते हैं। अधिकार 'प्रकरण) से पृथक् अर्थात् अप्रकृत या अप्रस्तुत अन्य वस्तु की जो स्तुति की जाती है, उसको 'अस्तुतस्तोत्र' (अप्रस्तुतप्रशंसा) कहते हैं। जहाँ किसी एक वस्तु के कहने पर उसके समान विशेषण वाले दूसरे अर्थ की प्रतीति हो, उसको विद्वान् पुरुष अर्थ की संक्षिप्ता के कारण 'समासोक्ति' कहते हैं। वास्तविक पदार्थ का अपलाप या निषेध करके किसी अन्य पदार्थ को सूचित करना 'अपह्नति' है। जो अभिधेय अन्य प्रकार से कहा जाता है अर्थात् सीधे न कहकर तरहान्तर से घुमा–फिराकर प्रस्तुत किया जाता है, उसको 'पर्यायोक्ति' कहते हैं। इनमें से किसी भी एक का नाम 'ध्वनि' है।।१–१८।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी तीन सौ पैंतालिसवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।३४५।।

❖❖❖

अथ षट्चत्वारिंशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः

काव्यगुणविवेकः

अग्निरुवाच

अलंकृतमपि प्रीत्यै न काव्यं निर्गुणं भवेत्। वपुष्यललिते स्त्रीणां हारो भारायते परम्।।१।।
न च वाच्यं गुणो दोषो भाव एव भविष्यति। गुणाः श्लेषादयो दोषा गूढार्थाद्याः पृथक्कृताः।।२।।
यः काव्ये महतीं छायामनुगृह्णात्यसौ गुणः। संभवत्येष सामान्यो वैशेषिक इति द्विधा।।३।।
सर्वसाधारणीभूतः सामान्य इति मन्यते। शब्दमर्थमुभौ प्राप्तः सामान्यो भवति त्रिधा।।४।।
शब्दमाश्रयते काव्यं शरीरं यः स तद्गुणः। श्लेषो लालित्यगाम्भीर्ये सौकुमार्यमुदारता।।५।।
सत्येव यौगिकी चेति गुणाः शब्दस्य सप्तधा। सुश्लिष्टसंनिवेशत्वं शब्दानां श्लेष उच्यते।।६।।
गुणादेशादिना पूर्वं पदसंबद्धमक्षरम्। यत्र संधीयते नैव तल्लालित्यमुदाहृतम्।।७।।
विशिष्टलक्षणोल्लेखलेख्यमुत्तानशब्दकम्। गाम्भीर्य कथयन्त्यार्यास्तदेवान्येषु शब्दताम्।।८।।
अनिष्टु (ष्ठु) राक्षरप्रायशब्दता सुकुमारता। उत्तानपदतौदार्यं युतं श्लाघ्यैर्विशेषणैः।।९।।
ओजः समासभूयस्त्वमेतत्पद्यादिजीवितम्। आब्रह्म स्तम्बपर्यन्तमोजसैकेन पौरुषम्।।१०।।

अध्याय-३४६

काव्य गुण-विवेक

श्रीअग्निदेव ने कहा कि-द्विजश्रेष्ठ! गुणहीन काव्य अलंकारयुक्त होने पर भी सहृदय के लिये प्रीतिकारक नहीं होता, जिस प्रकार नारी के यौवनजनित लालित्य से हीन शरीर पर हार भी भारस्वरूप होता है। यदि कोई कहे कि 'गुणनिरूपण की क्या आवश्यकता है? दोषों का अभाव ही गुण हो जाएगा' तो उसका ऐसा कथन उचित नहीं है; क्योंकि 'श्लेष' आदि गुण और 'गूढार्थत्व' आदि दोष पृथक्-पृथक् कहे गये हैं। जो काव्य में महती शोभा का आनयन करता है, उसको 'गुण' कहा जाता है। यह सामान्य और वैशेषिक के भेद से दो तरह का हो जाता है। जो गुण सर्वसामान्य हो, उसको 'सामान्य' कहा जाता है। सामान्य गुण शब्द, अर्थ और शब्दार्थ को प्राप्त होकर तीन तरह का हो जाता है। जो गुण काव्य-शरीर में शब्द के आश्रित होता है, वह 'शब्दगुण' कहलाता है। शब्दगुण के सात भेद होते हैं-श्लेष, लालित्य, गाम्भीर्य, सौकुमार्य, उदारता, ओज और यौगिकी (समाधि)। शब्दों का सुश्लिष्ट संनिवेश 'श्लेष' कहा जाता है। जहाँ गुणादेश आदि के द्वारा पूर्वपदसम्बद्ध अक्षर संधि को प्राप्त नहीं होता, वहाँ 'लालित्य' गुण माना गया है। विशिष्ट लक्षण के अनुसार उल्लेखनीय उच्चभावव्यञ्जक शब्दसमूह को श्रेष्ठ पुरुष 'गाम्भीर्य' कहते हैं। वही अन्यत्र उत्तान शब्दक या 'शब्दत्व' नाम से प्रसिद्ध है। जिसमें निष्ठुरता हीन कोमल अक्षरों का बाहुल्य हो, उस शब्दसमूह को 'सौकुमार्य' गुणविशिष्ट माना गया है। जहाँ श्लाघ्य विशेषणों से युक्त उत्कृष्ट पद का प्रयोग हो, वहाँ 'औदार्य' गुण माना जाता है। समासों का बाहुल्य 'ओज' कहलाता है। यह गद्य-पद्यरूप काव्य का प्राण है। ब्रह्मा से लेकर तृणपर्य्यन्त जो कोई भी प्राणी हैं, उनके 'पौरुष' का वर्णन एकमात्र 'ओज' गुणविशिष्ट पदावली से ही होता है।

उच्यमानस्य शब्देन येन केनापि वस्तुनः। उत्कर्षमावहन्नर्थो गुण इत्यभिधीयते॥११॥
माधुर्यं संविधानं च कोमलत्वमुदारता। प्रौढ़िसामयिकत्वं च तद्भेदाः षट् चकासति॥१२॥
क्रोधेर्ष्याकारगाम्भीर्यं माधुर्यं धैर्यगाहिता। संविधानं परिकरः स्यादपेक्षितसिद्धये॥१३॥
यत्काठिन्यादिनिर्मुक्तसंनिवेशविशिष्टता। तिरस्कृत्यैव मृदुता भाति कोमलतेति सा॥१४॥
लक्ष्यते स्थूललक्षत्वप्रवृत्तेर्यत्र लक्षणम्। गुणस्य तदुदारत्वमाशयस्यातिसौष्ठवम्॥१५॥
अभिप्रेतं प्रतिहतं निर्वाहस्योपपादिकाः। युक्तयो हेतुगर्भिण्यः प्रौढा प्रोढिरुदाहृता॥१६॥
स्वतन्त्रस्यान्यतन्त्रस्य वाह्यान्तः समयोगतः। तत्र व्युत्पत्तिरर्थस्य या सामयिकतेति सा॥१७॥
शब्दार्थावुपकुर्वाणो नाम्नोभयगुणः स्मृतः। तस्य प्रसादः सौभाग्यं यथासंख्यं प्रशस्यता॥१८॥
पाको राग इति प्राज्ञैः षट् प्रपञ्चविपञ्चिताः। सुप्रसिद्धार्थपदता प्रसाद इति गीयते॥१९॥
उत्कर्षवान्गुणः कश्चिद्यस्मिन्नुक्ते प्रतीयते। तत्सौभाग्यमुदारत्वं प्रवदन्ति मनीषिणः॥२०॥
यथासंख्यमनुद्देशः सामान्यमतिदिश्यते। समये वर्णनीयस्य दारुणस्यापि वस्तुनः॥२१॥
अदारुणेन शब्देन प्राशस्त्यमुपवर्णनम्। उच्चैः परिणतिः काऽपि पाक इत्यभिधीयते॥२२॥
मृद्वीकानारिकेलाम्बुपाकभेदाच्चतुर्विधः। आदावन्ते च सौरस्यं मृद्वीकापाक एव सः॥२३॥
काव्येच्छया विशेषो यः स राग इति गीयते। अभ्यासोपहितः कान्तिं सहजामपि वर्तते॥२४॥

जिस-किसी भी शब्द के द्वारा वर्ण्यमान वस्तु का उत्कर्ष वहन करने वाला गुण 'अर्थगुण' कहा जाता है। अर्थगुण के छः भेद प्रकाशित होते हैं—माधुर्य, संविधान, कोमलता, उदारता, प्रौढि एवं सामयिकता। क्रोध और ईर्ष्या में भी आकार की गम्भीरता तथा धैर्य्यधारण को 'माधुर्य' कहते हैं। अपेक्षित कार्य की सिद्धि के लिये उद्योग 'संविधान' माना गया है। जो कठिनता आदि दोषों से हीन है तथा संनिवेश विशेष का तिरस्कार करके मृदुरूप में ही भासित होता है, वह गुण 'कोमलता' के नाम से प्रसिद्ध है॥१-१४॥

जिसमें स्थूललक्ष्यत्व की प्रवृत्ति का लक्षण लक्षित होता है, आशय अत्यन्त सुन्दररूप में प्रकट होता है, वह 'उदारता' नामक गुण है। इच्छित अर्थ के प्रति निर्वाह का उपपादन करने वाली हेतुगर्भिणी युक्तियों को 'प्रौढ़ि' कहते हैं। स्वतन्त्र या परतन्त्र कार्य के बाह्य एवं आन्तरिक संयोग से अर्थ की जो व्युत्पत्ति होती है, उसको 'सामयिकता' कहते हैं। जो शब्द एवं अर्थ—दोनों को उपकृत करता है, वह 'उभयगुण' (शब्दार्थ गुण) कहलाता है। साहित्यशास्त्रियों ने इसका विस्तार छः भेदों में किया है—प्रसाद, सौभाग्य, यथासंख्य, प्रशस्तता, पाक और राग। सुप्रसिद्ध अर्थ से समन्वित पदों का संनिवेश 'प्रसाद' कहा जाता है। जिसके कथित होने पर कोई गुण उत्कर्ष को प्राप्त हुआ प्रतीत होता है, विद्वान् उसको 'सौभाग्य' या 'औदार्य' बतलाते हैं। तुल्य वस्तुओं का क्रमशः कथन 'यथासंख्य' माना जाता है। समयानुसार वर्णनीय दारुण वस्तु का भी अदारुण शब्द से वर्णन 'प्राशस्त्य' कहलाता है। किसी पदार्थ की उच्च परिणति को 'पाक' कहते हैं। 'मृद्वीकापाक' एवं 'नारिकेलाम्बुपाक' के भेद से 'पाक' दो तरह का होता है। आदि और अन्त में भी जहाँ सौरस्य हो, वह 'मृद्वीकापाक' है। काव्य में जो छायाविशेष (शोभाधिक्य) प्रस्तुत किया जाय, उसको 'राग' कहते हैं। यह राग अभ्यास में लाया जाने पर सहज कान्ति को भी लाँघ जाता है, अर्थात् उसमें और भी उत्कर्ष ला देता है। जो अपने विशेष लक्षण से अनुभव में आता है, उसको 'वैशेषिक गुण' समझना चाहिये। यह राग तीन तरह

हारिद्रश्चैव कौसुम्भो नीलीरागश्च च त्रिधा। वैशेषिकः परिज्ञेयो यः स्वलक्षणगोचरः॥२५॥

॥इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते काव्यगुणविवेककथनं नाम षट्चत्वारिंशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः॥३४६॥

अथ सप्तचत्वारिंशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः

काव्यदोषविवेकः

अग्निरुवाच

उद्वेगजनको दोषः सत्यानां स च सप्तधा। वक्तृवाचकवाच्यानामेकद्वित्रिनियोगतः॥१॥
तत्र वक्ता कविर्नाम प्रथते स च भेदतः। संदिहानोऽविनीतः सन्नज्ञो ज्ञाता चतुर्विधः॥२॥
निमित्तपरिभाषायामर्थसंस्पर्शिवाचकम्। तद्भेदौ पदवाक्ये द्वे कथितं लक्षणं द्वयोः॥३॥
असाधुत्वाप्रयुक्तत्वे द्वावेव पदनिग्रहौ। शब्दशास्त्रविरुद्धत्वमसाधुत्वं विदुर्बुधाः॥४॥
व्युत्पन्नैरनिबद्धत्वमप्रयुक्तत्वमुच्यते। छान्दसत्वमविस्पष्टत्वं च कष्टत्वमेव च॥५॥
तदसामयिकत्वं च ग्राम्यत्वं चेति पञ्चधा। छान्दसत्वं न भाषायामविस्पष्टमबोधतः॥६॥

का होता है—हारिद्रराग, कौसुम्भराग और नीलीराग। (यहाँ तक सामान्य गुण का विवेचन हुआ।) अधुना 'वैशेपिक' का परिचय देते हैं। वैशेषिक उसको समझना चाहिये, जो स्वलक्षणगोचर हो—अनन्यसामान्य हो॥१५-२६॥

॥इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी तीन सौ छियालिसवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ॥३४६॥

अध्याय-३४७

काव्य दोष विवेक

श्रीअग्नि देव ने कहा कि—हे वसिष्ठ! 'दृश्य' और 'श्रव्य' काव्य में यदि 'दोष' हो, तो वह सहृदय सभ्यों (दर्शकों और पाठकों) के लिये उद्वेगजनक होता है। वक्ता, वाचक एवं वाच्य—इनमें से एक एक के नियोग से दो-दो के नियोग से और तीनों के नियोग से सात तरह के दोष होते हैं। इनमें 'वक्ता' कवि का माना गया है, जो संदिहान, अविनीत, अज्ञ और ज्ञाता के भेद से चार तरह का है। निमित्त और परिभाषा (संकेत) के अनुसार अर्थ का स्पर्श करने वाले शब्द को 'वाचक' कहते हैं। उसके दो भेद हैं—'पद' और 'वाक्य'। इन दोनों लक्षणों का वर्णन पहले हो चुका है। परददोष दो तरह के होते हैं—असाधुत्व और अप्रयुक्तत्व। व्याकरणशास्त्र से विरुद्ध पद में विद्वानों ने 'असाधुत्व' दोष माना है। काव्य की व्युत्पत्ति से सम्पन्न विद्वानों द्वारा जिसका कहीं उल्लेख न किया गया हो, उसमें 'अप्रयुक्तत्व' दोष कहा जाता है। अप्रयुक्तत्व के भी पाँच भेद होते हैं—छान्दसत्व, अविस्पष्टत्व,

गूढार्थता विपर्यस्तार्थता संशयितार्थता। अविस्पष्टार्थता भेदास्तत्र गूढार्थतेति सा॥७॥
यत्रार्थो दुःखसंवेद्ये विपर्यस्तार्थता पुनः। विवक्षितान्यशब्दार्थप्रतिपत्तिमलीमसा॥८॥
अन्यार्थत्वासमर्थत्वे एतामेवोपसर्पतः। संदिह्यमानवाच्यत्वमाहुः संशयितार्थताम्॥९॥
दोषत्वमनुबध्नाति सज्जनोद्वेजनादृते। असुखोच्चार्यमाणत्वं कष्टत्वं समयाच्युतिः॥१०॥
असामयिकता नेयामेतां च मुनयो जगुः। ग्राम्यता तु जघन्यार्थप्रतिपत्तिः खलीकृता॥११॥
वक्तव्यग्राम्यवाच्यस्य वचनात्स्मरणादपि। तद्वाचकपदेनाभिसाम्याद्भवति सा त्रिधा॥१२॥
दोषः साधारणः प्रातिस्विकोऽर्थस्य स तु त्रिधा। अनेकभागुपालम्भः साधारण इति स्मृतः॥१३॥
क्रियाकारकयोर्भ्रंशो विसंधिः पुनरुक्तता। व्यस्तसंबन्धिता चेति पञ्च साधारणा मताः॥१४॥
अक्रियत्वं क्रियाभ्रंशो भ्रष्टकारकतां पुनः। कर्त्रादिकारकाभावो विसंधिः संधिदूषणम्॥१५॥
विगतो वा विरुद्धो वा संधिः स भवति द्विधा। संधेर्विरुद्धता कष्टमपदार्थान्तरागमात्॥१६॥
पुनरुक्तत्वमाभीक्ष्ण्यादभिधानं द्विधैव तत्। अर्थावृत्तिः पदावृत्तिरर्थावृत्तिरपि द्विधा॥१७॥
प्रयुक्तवरशब्देन तथा शब्दान्तरेण च। नाऽऽवर्तते पदावृत्तौ वाच्यमावर्तते पदम्॥१८॥
व्यस्तसम्बन्धता सुष्ठु संबन्धो व्यवधानतः। संबन्धान्तरनिर्भासात्संबन्धान्तरजन्मनः॥१९॥

कष्टथ्व, असामयिकत्व एवं ग्राम्यत्व। जिसका लोकभाषा में प्रयोग न हो, वह 'छान्दसत्व' दोष एवं जो बोधगम्य न हो, वह 'अविस्पष्टत्व' दोष कहलाता है। अविस्पष्टत्व के भेद निम्नलिखित हैं—गूढार्थता, विपर्यस्तार्थता तथा संशयितार्थता। जहाँ अर्थ का क्लेशपूर्वक ग्रहण हो, वहाँ 'गूढार्थता' दोष हाता है। जो विवक्षितार्थ से भिन्न शब्दार्थ के ज्ञान से दूषित हो उसको 'विपर्यस्तार्थता' कहते हैं। अन्यार्थत्व एवं असमर्थत्व—ये दोनों दोष भी 'विपर्यस्तार्थता' का ही अनुगमन करते हैं। जिसमें अर्थ संदिग्ध होता है, उसको 'संशयितार्थता' कहते हैं। यह सहृदय के लिये उद्वेगकारक न होने पर दोष नहीं माना जाता। सुखपूर्वक उच्चारण न होना 'कष्टत्वदोष' माना जाता है। जो रचना समय—कविजन—निर्धारित मर्यादा से च्युत हो, उसमें 'असामयिकता' मानी जाती है। उस असामयिकता को मुनिजन 'नेया' कहते हैं।

जिसमें निकृष्ट एवं दूषित अर्थ की प्रतीति होती है, उसमें 'ग्राम्यतादोष' होता है। निन्दनीय ग्राम्यार्थ के कथन से उसके स्मरण से तथा उसके वाचक पद के साथ समानता होने से 'ग्राम्यदोष' तीन तरह का है। 'अर्थदोष' सामान्य और प्रातिस्वितक के भेद से दो तरह का होता है। जो दोष अनेकवर्ती होता है, उसको 'सामान्य' माना गया है। 'क्रियीभ्रंश, कारकभ्रंश, विसंधि, पुनरुक्तता एवं व्यस्तसम्बन्धता के भेद से 'सामान्य दोष' पाँच तरह के होते हैं। क्रियाहीनता को 'क्रियाभ्रंश' कर्त्ता आदि कारक के अभाव को 'कारकभ्रंश' एवं संधिदोष को 'विसंधि' कहते हैं॥१-१५॥

विसंधि दोष दो तरह को होता है—'संधिका अभाव' एवं 'विरुद्ध' संधि'। विरुद्ध पदार्थान्तर की प्रतीति होने से विरुद्ध संधि को कष्टकर माना गया है। बार-बार कथन को 'पुनरुक्तत्व' दोष कहते हैं। वह भी दो तरह का होता है—'अर्थावृत्ति' एवं 'पदावृत्ति'। 'अर्थावृत्ति' भी दो तरह की होती है—काव्य में प्रयुक्त अभीष्ट या विवक्षित शब्द के द्वारा एवं शब्दान्तर के द्वारा 'पदावृत्ति' में अर्थ की आवृत्ति नहीं होती, पदमात्र की ही आवृत्ति होती है। जहाँ व्यवधान से भली-भाँति सम्बन्ध हो, वहाँ 'व्यस्त-सम्बन्धता' दोष होता है। सम्बन्धान्तर की प्रतीति से

अभावेऽपि तयोरन्तर्व्यवधानात्त्रिधैव सा। अन्तरा पदवाक्याभ्यां प्रतिभेदं पुनर्द्विधा।।२०।।
(वाच्यमर्थ्यार्थ्यमानत्वात्तद्द्विधा पदवाक्ययोः। व्युत्पादितं पूर्ववाच्यं व्युत्पाद्यं चेति भिद्यते।।२१।।
इष्टव्याघातकारित्वं हेतोः स्यादसमर्थता। असिद्धत्वं विरुद्धत्वमनैकान्तिकता तथा।।२२।।
एवं सत्प्रतिपक्षत्वं कालातीतत्वसंकरः। पखे सपक्षे नास्तित्वं विपक्षेऽस्तित्वमेव तत्।।२३।।
काव्येषु परिपाद्यानां न भवेदप्यरुंतुदम्। एकादश निरर्थत्वं दुष्करादौ न दुष्यति।।२४।।
दुःखा करोति दोषज्ञान्मूढार्थत्वं न दुष्करे। न ग्राम्यतोद्वेगकारी प्रसिद्धेर्लोकशास्त्रयोः।।२५।।
क्रियाभंशेन लक्ष्मास्ति क्रियाध्याहारयोगतः। भ्रष्टकारकताक्षेपबलाध्याहृतकारके।।२६।।
प्रगृह्ये गृह्यते नैव क्षतं विगतसंधिना। कष्टपाठाद्विसंधित्वं दुर्वचादौ न दुर्भगम्।।२७।।
अनुप्रासे पदावृत्तिर्व्यस्तं संबन्धिता शुभा। नार्थसंग्रहणे दोषो व्युत्क्रमाद्यैर्न लिप्यते।।२८।।
विभक्तिसंज्ञा लिङ्गानां यत्रोद्वेगो न धीमताम्। संख्यायास्तत्र भिन्नत्वमुपमानोपमेययोः।।२९।।
अनेकस्य तथैकेन बहूनां बहुभिः शुभा। कवीनां समुदाचारः समयो नाम गीयते।।३०।।
सामान्यश्च विशिष्टश्च धर्मवद्भवति द्विधा। सिद्धसैद्धान्तिकानां च कवीनां वा विवादतः।।३१।।

सम्बन्धान्तरजन्य होने से तथा इन दोनों के अभाव में भी अन्तर्व्यवधान से व्यस्त-सम्बन्धता के तीन भेद हो जाते हैं। मध्य में पद अथवा वाक्य से व्यवधान होने के कारण कथित भेदों में से प्रत्येक के दो-दो भेद और होते हैं। पद और वाक्य में अर्थ और अर्थ्यमान के भेद से वाच्यार्थ के दो भेद होते हैं। पदगत वाच्य 'व्युत्पादित' और 'व्युत्पाद्य' के भेद से दो तरह का माना जाता है। यदि हेतु अभीष्ट सिद्धि में व्याघातकारी हो, तो यह उसका दोष माना गया है। यह 'हेतुदोष' ग्यारह तरह का होता है—असमर्थत्व, असिद्धत्व, विरुद्धत्व, अनेकान्तिकता, सत्प्रतिपक्षत्व, कालातीतत्व, संकर, पक्ष में अभाव, सपक्ष में अभाव, विपक्ष में अस्तित्व और ग्यारहवाँ निरर्थत्व। वह इष्टव्याघातकारित्व दोष काव्य और नाटकों में तथा सहृदय सभासदों में (श्रोताओं, दर्शकों और पाठकों में) मार्मिक पीड़ा उत्पन्न करने वाला है। निरर्थकत्वदोष दुष्कर चित्रबन्धादि काव्य में दूषित नहीं माना जाता। उपरोक्त गूढार्थत्वदोष दुष्कर चित्रबन्ध में विद्वानों के लिये दुःखप्रद नहीं प्रतीत होता। 'ग्राम्यत्व' भी यदि लोक और शास्त्र दोनों में प्रसिद्ध हो, तो उद्वेगकारक नहीं जान पड़ता। क्रियाभ्रंश में यदि क्रिया का अध्याहार करके उसका सम्बन्ध जोड़ा जा सके तो वह दोष नहीं रह जाता। इसी तरह भ्रष्टकारकता दोष नहीं रह जाता, जिस समय कि आक्षेप बल से कारक का अध्याहार सम्भव हो जाय। जहाँ 'प्रगृह्य' संज्ञा होने के कारण प्रकृतिभाव प्राप्त हो, वहाँ विसंधित्व दोष नहीं माना गया है। जहाँ संधि कर देने पर उच्चारण में कठिनाई आ जाय, वैसे दुर्वाच्य स्थलों में विसंधित्व दोषकारक नहीं है।।१६-२७।।

'अनुप्रास' अलंकार की योजना में पदों की आवृत्ति तथा व्यस्त-सम्बन्धता शुभ है। अर्थात् दोष न होकर गुण है। अर्थसंग्रह में अर्थावृत्ति दोषकारक नहीं होती। वह व्युत्क्रम (क्रमोल्लङ्घन) आदि दोषों से भी लिप्त नहीं होती। उपमान और उपमेय में विभक्ति, , संज्ञा, लिङ्ग और वचन का भेद होने पर भी वह तत्पश्चात्तक दोषकारक नहीं माना जाता, जबतक कि बुद्धिमान् पुरुषों को उससे उद्वेग का अनुभव नहीं होता। उद्वेगजनकता ही दूषकता का बीज है। वह न हो, तो माने गये दोश भी दोषकारक नहीं समझे जाते। अनेक की एक से और बहुतों की बहुतों से दी गयी उपमा शुभ मानी गयी है। अर्थात् यदि सहृदयों को उद्वेग न हो, तो लिंग-वचनादि के भेद होने पर

यः प्रसिध्यति सामान्य इत्यसौ समयो मतः। सर्वे सैद्धान्तिका येन संचरन्ति निरत्ययम्॥३२॥
कियन्त एव वा येन सामान्यस्तेन स द्विधा। छेदसिद्धान्ततोऽन्यः स्यात्केषाञ्चिद्भ्रान्तितो यथा॥३३॥
तर्कज्ञानं मुनेः कस्य कस्यचित्क्षणभङ्गिका। भूतचैतन्यता कस्य ज्ञानस्य सुप्रकाशता॥३४॥
प्रज्ञातस्थूलता शब्दानेकान्तत्वं तथाऽर्हतः। शैववैष्णवाशक्तेयसौरसिद्धान्तिनां मतिः॥३५॥
जगतः कारणं ब्रह्म सांख्यानां सप्रधानकम्। अस्मिन्सरस्वतीलोके संचरन्तः परस्परम्॥३६॥
बन्धन्ति व्यतिपश्यन्तो यद्विशिष्टः स उच्यते। परिग्रहादप्यसतां सतामेवापरिग्रहात्॥३७॥
भिद्यमानस्य तस्यायं द्वैविध्यमुपगीयते। प्रत्यक्षादिप्रमाणैर्यद्बाधितं तदसद्विदुः॥३८॥
कविभिस्तत्प्रतिग्राहं ज्ञानस्य द्योतमानता। यदेवार्थक्रियाकारि तदेव परमार्थसत्॥३९॥
अज्ञानाज्ज्ञाततत्त्वे च ब्रह्मैव परमार्थसत्। विष्णुः सर्गादिहेतुः स शब्दालङ्काररूपवान्॥
अपरा च परा विद्या तां ज्ञात्वा मुच्यते भवात्॥४०॥

॥इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते काव्यदोषविवेककथनं नाम सप्तचत्वारिंशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः॥३४७॥

—※※※—
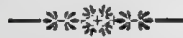
भी दोष नहीं मानना चाहिये। कविजनों का परम्परानुमोदित सदाचार 'समय' कहा जाता है। जिसके द्वारा समस्त सिद्धान्तवादी निर्बाध संचरण करते हैं तथा जिसके ऊपर कुछ ही सिद्धान्तवादी चल पाते हैं–इस पक्षद्वय के कारण सामान्य समय दो भेदों में विभाजित हो जाता है। यह मतभेद किसी को तो सिद्धान्त आश्रय लेने से और किसी को भ्रान्ति से होता है। किसी मुनि के सिद्धान्त का आधार तर्क होता है और किसी के मत का आलम्बन क्षणिक विज्ञानवाद। किसी का यह मत है कि पञ्चभूतों के संघात से शरीर में चेतनता आ जाती है, कोई स्वतःप्रकाश ज्ञान को ही चैतन्यरूप मानते हैं। कोई प्रज्ञात स्थूलतावादी है और कोई शब्दानेकान्तवादी। शैव, वैष्णव, शाक्त तथा और सिद्धान्तों को मानने वालों का विचार है कि इस जगत् का कारण 'ब्रह्म' है। परन्तु सांख्यवादी प्रधानतत्त्व (प्रकृति) को ही दृश्य जगत् का कारण मानते हैं। इसी वाणी लोक में विचरते हुए विचारक जो एक-दूसरे के प्रति विपर्यस्त दृष्टि रखते हुए परस्पर युक्तियों द्वारा एक-दूसरे को बाँधते हैं, उनका वह भिन्न-भिन्न मत या मार्ग ही 'विशिष्ट समय' कहा गया है। यह विशिष्ट समय 'असत् के परिग्रह' तथा 'सत् के परित्याग' के कारण दो भेदों में विभाजित होता है। जो 'प्रत्यक्ष' आदि प्रमाणों से बाधित हो, उस मत को 'असत्' मानते हैं। कवियों को वह मत ग्रहण करना चाहिये, जहाँ ज्ञान का प्रकाश हो। जो अर्थक्रियाकारी हो, वही 'परमार्थ सत्' है। अज्ञान और ज्ञान से परे जो एकमात्र ब्रह्म है, वही परमार्थ सत् जाननेयोग्य है। वही सृजन, पालन और विनाश का हेतुभूत विष्णु है, वही शब्द और अलंकाररूप है। वही अपरा और परा विद्या है। उसी को जानकर मनुष्य संसारबन्धन से मुक्त होता है॥२८-४०॥

॥इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी तीन सौ सैंतालिसवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ॥३४७॥

❖❖❖

अथाष्टचत्वारिंशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः

एकाक्षराभिधानम्

अग्निरुवाच

एकाक्षराभिधानं च मातृकं च वदामि ते। अ विष्णुः प्रतिषेधः स्यादा पितामहवाक्ययोः।।१।।
सीमायाममव्ययमा च भवेत्संक्रोधपीडयाः। इः कामे रतिलक्ष्म्योरी उः शिवे रक्षकाद्य ऊः।।२।।
ऋ शब्दे चादितौ ॠस्यात्ऌ ॡ ते वै दितौ गुहे। ए देवी ऐ योगिनी स्यादो ब्रह्मा औ महेश्वरः।।३।।
अं काम (मे) अः प्रशस्तं स्यात्को ब्रह्मादौ कु कुत्सिते। खं शून्येन्द्रियमुखं गो गंधर्वे च विनायके।।४।।
गं गीते गो गायने स्याद्घो घण्टा किंकिणीमुखे। ताडने ङश्च विषये स्पृहायां चैव भैरवे।।५।।
चो दुर्जने निर्मले छश्छेदे जिर्जयेन तथा। जं गीते झः प्रशस्ते स्याद्बले ञो गायने च टः।।६।।
ठश्चन्द्रमण्डले शून्ये शिवे चोद्बन्धने मतः। डश्च रुद्रे ध्वनौ त्रासे ढक्कायां ढा ध्वनौ मतः।।७।।
णो निष्कर्षे निश्चये च तश्चौरे क्रौडपुच्छके। भक्षणे थश्छेदने दो धारणे शोभने मतः।।८।।

अध्याय-३४८

एकाक्षरकोष विचार

श्रीअग्नि देव ने कहा कि–अधुना मैं आपको 'एकाक्षराभिधान' तथा मातृकाओं के नाम एवं मन्त्र बतलाता हूँ। सुनो–'अ' नाम है भगवान् श्रीहरि विष्णु का। 'अ' निषेध अर्थ में भी आता है। 'आ' ब्रह्माजी का बोध कराता है। वाक्य-प्रयोग में भी उसका उपयोग होता है। 'सीमा' अर्थ में 'आ' अव्ययपद है। क्रोध और पीड़ा अर्थ में भी उसका प्रयोग किया जाता है। 'इ' काम-अर्थ में प्रयुक्त होता है। 'इ' रति और लक्ष्मी के अर्थ में आता है। 'उ' शिव का वाचक है। 'ऊ' रक्षक आदि अर्थों में प्रयुक्त होता है। 'ऋ' शब्द का बोधक है। 'ॠ' अदिति के अर्थ में प्रयुक्त होता है। 'ऌ', 'ॡ'–ये दोनों अक्षर दिति एवं कुमार कार्तिकेय के बोधक हैं। 'ए' का अर्थ है–देवी। 'ऐ' योगिनी का वाचक है। 'ओ' ब्रह्माजी का और 'औ' महादेव जी का बोध कराने वाला है। 'अं' का प्रयोग काम अर्थ में होता है। 'अः' प्रशस्त (श्रेष्ठ) का वाचक है। 'क' ब्रह्मा आदि के अर्थ में आता है। 'कु' कुत्सित (निन्दित) अर्थ में प्रयुक्त होता है। 'खं'–यह पद शून्य, इन्द्रिय और मुख का वाचक है। 'ग' अक्षर यदि पुँल्लिग में हो, तो गन्धर्व गणेश तथा गायक का वाचक होता है। नपुंसकलिङ्ग 'ग' गीत अर्थ में प्रयुक्त होता है। 'घ' घण्टा तथा करधनी के अग्रभाग` अर्थ में आता है। 'ताडन' अर्थ में भी 'घ' आता है। 'ङ' अक्षर विषय, स्पृहा तथा भैरव का वाचक है। 'च' दुर्जन तथा निर्मल अर्थ में प्रयुक्त होता है। 'छ' का अर्थ छेदन है। 'जि' विजेय के अर्थ में आता है। 'ज' पद गीत का वाचक है। 'झ' का अर्थ प्रशस्त, 'ञ' का बल तथा 'ट' गायन है। 'ठ' का अर्थ चन्द्रमण्डल, शून्य, शिव तथा उद्बन्धन है। 'ड' अक्षर रुद्र, ध्वनि एवं त्रास के अर्थ में आता है। ढक्का और उसकी आवाज के अर्थ में 'ढ' का प्रयोग होता है। 'ण' निष्कर्ष एवं निश्चय के अर्थ में आता है। 'त' का अर्थ है–तस्कर 'चोर और सूअर की पूँछ। 'थ' भक्षण के औ 'द' छेदन, धारण तथा शोभन के अर्थ में आता है। 'ध' धाता (धारण करने वाले या ब्रह्माजी) तथा धूस्तूर (धतूरे) के

धो धातरि च धूस्तूरे नो वृन्दे सुगते तथा। प उपवने विख्यातः पूश्च झञ्झानिले मतः॥९॥
फुः फूत्कारे निष्फले च विः (बिः) पक्षी भं च तारके। मा श्रीर्मानं च माता स्याद्योगे यो यातरीरिणे॥१०॥
रो वह्नौ बलशक्रे च लो विधातरि ईरितः। विश्लेषणे वो वरुणे शयने शश्च शं सुखे॥११॥
षः श्रेष्ठे सः परोक्षे च सा लक्ष्मीः स कचे मतः। धारणे हस्तथा रुद्रे क्षः क्षेत्रे चाक्षरे मतः॥१२॥
क्षो नृसिंहे हरौ तद्वत्क्षेत्रपालकयोरपि। मन्त्र एकाक्षरो देवो भुक्तिमुक्तिप्रदायकः॥१३॥
क्षौं हयशिरसे नमः सर्वविद्याप्रदो मनुः। अकाराद्यास्तथा मन्त्रा मातृकामन्त्र उत्तमः॥१४॥
एकपद्मेऽर्चयेदेतान्नव दुर्गाश्च पूजयेत्। भगवती कात्यायनी कौशिकी चाथ चण्डिका॥१५॥
प्रचण्डा सुरनायिका उग्रा पार्वती दुर्गया॥१६॥
ॐ चण्डिकायै विद्महे भगवत्यै धीमहि। तन्नो दुर्गा प्रचोदयात्॥१७॥
क्रमादि तु षडङ्गं स्याद्गणो गुरुर्गुरुः क्रमात्। अजिताऽपराजिता चाथ तया च विजया ततः॥१८॥
कात्यायनी भद्रकाली मङ्गला सिद्धिरेवती। सिद्धादिवटुकाः पूज्या हेतुकश्च कपालिकः॥१९॥
एकपादो भीमरूपो दिक्पालान्मध्यतो नव। ह्रीं दुर्गे दुर्गे रक्षणि स्वाहा मन्त्रसिद्धये॥२०॥
गौरी पूज्या च धर्माद्याः स्कन्दाद्याः शक्तंयो यजेत्। प्रज्ञा ज्ञानक्रिया वाचा वागीशी ज्वालिनी तथा॥२१॥
(वामा ज्येष्ठा च रौद्री च गौरीं ह्रीं च पुरःसरा। ह्रीं सः महागौरि रुद्रदयिते स्वाहेति वा॥२२॥
ज्ञानशक्तिः क्रियाशक्तिः सुभगा ललिता तथा)। कामिनी काममाला च इन्द्राद्याः शक्तिपूजनम्॥२३॥
ॐ गं स्वाहा मूलमन्त्रोऽयं गं वा गणपतये नमः। षडङ्गो रक्तशुक्लश्च दन्ताक्षपरशूत्कटः॥२४॥
समोदकोऽथ गन्धादि गन्धोल्कायेति च क्रमात्। गजो महागणपतिर्महोल्कः पूज्य एव च॥२५॥

अर्थ में प्रयुक्त होता है। 'न' का अर्थ समूह और सुगत (बुद्ध) है। 'प' उपवन का और 'पूः' झंझावात का बोध है। 'फु' फूँकने तथा निष्फल होने के अर्थ में आता है। 'बि' पक्षी तथा 'भ' ताराओं का बोधक है। 'मा' का अर्थ है लक्ष्मी, मान और माता। 'य' योग, याता (यात्री अथवा दयादिन) तथा 'ईरिण' नामक वृक्ष के अर्थ में आता है॥१-१०॥

'र' का अर्थ है—अग्नि, बल और इन्द्र। 'ल' का विधाता, 'व' का विश्लेषण (वियोग या बिलगाव) और वरुण तथा 'श' का अर्थ शयन एवं सुख है। 'ष' का अर्थ श्रेष्ठ, 'स' का परोक्ष, 'सा' का लक्ष्मी, 'स' का बाल, 'ह' का धारण तथा रुद्र और 'क्ष' का क्षेत्र, अक्षर, नृसिंह हरि, क्षेत्र तथा पालक है। एकाक्षरमन्त्र देवतारूप होता है। वह भोग और मोक्ष देने वाला है। **'क्षौं हयशिर से नमः'** यह सब विद्याओं को देने वाला मन्त्र है। अकार आदि नौ अक्षर भी मन्त्र हैं; उनको श्रेष्ठतम 'मातृका-मन्त्र' कहते हैं। इन मन्त्रों को एक कमल के दल में स्थापित करके इनकी पूजा करनी चाहिये। इनमें नौ दुर्गाओं की भी पूजा की जाती है। भगवती, कात्यायनी, कौशिकी, चण्डिका, प्रचण्डा, सुरनायिका, उग्रा, पार्वती तथा दुर्गा का पूजन करना चाहिये। **'ॐ चण्डिकायै विद्महे भगवत्यै धीमहि तन्नो दुर्गा प्रचोदयात्'**—यह दुर्गा-मन्त्र है। षडङ्ग आदि के क्रम से पूजन करना उचित है। अजिता, अपराजिता, जया, विजया, कात्यायनी, भद्रकाली, मंगला, सिद्धि, रेवती, सिद्ध आदि वटुक तथा एकपाद, भीमरूप, हेतुक, कापालिक का पूजन करना चाहिये। मध्यभाग में नौ दिक्पालों की पूजा करनी चाहिये। मन्त्रार्थ की सिद्धि के लिये **'ह्रीं दुर्गे रक्षिणि**

कूष्माण्डाय, एकदन्ताय त्रिपुरान्तकाय श्यामदन्तविकटहरहासाय लम्बनासाननाय पद्मदंष्ट्राय मेघोल्काय धूमोल्काय वक्रतुण्डाय विघ्नेश्वराय विकटोत्कटाय गजेन्द्रगमनाय भुजगेन्द्रहाराय शशाङ्कधराय गणाधिपतये स्वाहा।।२६।।

एतैर्मनुभिः स्वाहान्तैः पूज्यस्तिलहोमादिमाऽर्थभाक्। काद्यैराबीजसंयुक्तैस्तैराद्यैश्च नमोऽन्तकैः।।२७।।

मन्त्राः पृथक्पृथग्वा स्युर्द्विरेफद्विर्मुखाक्षिणः। कात्यायनं स्कन्द आह यत्तद्व्याकरणं वदे।।२८।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते एकाक्षरभिधानं नामाष्टचत्वारिंशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः।।३४८।।

—※※※—

स्वाहा'–इस मन्त्र का जप करना चाहिये। गौरी की पूजा करनी चाहिये; धर्म आदि का, स्कन्द आदि का तथा शक्तियों का यजन करना चाहिये। प्रज्ञा, ज्ञानक्रिया, वाचा, वागीशी, ज्वालिनी, वामा, ज्येष्ठा, रौद्रा, गौरी, ह्री तथा सुरस्सरा देवी का '**ह्रीं: सः महागौरि रुद्रदयिते स्वाह**'–इस मन्त्र से महागौरी का तथा ज्ञानशक्ति, क्रियाशक्ति, सुभगा, ललिता, कामिनी, काममाला और इन्द्रादि शक्तियों का पूजन भी एकाक्षर मन्त्रों से होता है। गणेश–पूजन के लिये '**ॐ गं स्वाहा**' 'यह मूलमन्त्र है। अथवा–'**गं गणपतये नमः।**' से भी उनकी पूजा होती है। रक्त, शुक्ल, दन्त, नेत्र, परशु और मोदक–यह '**षडङ्ग**' कहा गया है। '**गन्धोल्काय नमः**'। से क्रमशः गन्ध आदि निवेदन करना चाहिये। गज, महागणपति तथा महोल्क भी पूजन के योग्य हैं। '**कूष्माण्डाय, एकदन्ताय, त्रिपुरान्तकाय, श्यामदन्तविकटहरहासाय, लम्बनासाननाय, पद्मद्रंष्ट्राय, मेघोल्काय, धूमोल्काय, वक्रतुण्डाय, विघ्नेश्वराय, विकटोत्कटाय, गजेन्द्रगमनाय, भुजगेन्द्रहाराय, शशाङ्कधराय, गणाधिपतये स्वाहा।**'–इस मन्त्रों के आदि में 'क' आदि एकाक्षर बीज–मंत्र लगाये और अन्त में 'नमः' एवं 'स्वाहा' शब्द का प्रयोग करना चाहिये। फिर इन्हीं मन्त्रों द्वारा तिलों से हवन आदि करके मन्त्रार्थभूत देवता का पूजन करना चाहिये। अथवा द्विरेफ, द्विर्मुख एवं द्व्यक्ष आदि पृथक्–पृथक् मन्त्र हो सकते हैं। अधुना कुमार कार्तिकेयजी ने कात्यायन को जिसका उपदेश किया था, वह व्याकरण बतलाऊँगा।।११–२८।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी तीन सौ अड़तालिसवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।३४८।।

❖❖❖

अथैकोनपञ्चाशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः

व्याकरणसारः

स्कन्द उवाच

वक्ष्ये व्याकरणं सारं सिद्धशब्दस्वरूपकम्। कात्यायन विबोधाय बालानां बोधनाय च।।१।।
प्रत्याहारादिकाः संज्ञाः शास्त्रसंव्यवहारगाः।।२।।

अइउण् ऋऌक्, एओङ्, ऐऔच्, हयवरट्, लण्। ञमङणनम्, झभञ्,
घढधष्, जबगडदश्, खफछठथचटतव्, कपय्, शषसर्, हल्।।३।।
इति प्रत्याहारः।।४।।

उपदेश इद्धलन्त्यं भवेदजनुनासिकः। आदिवर्णो गृह्यमाणोऽप्यन्त्येनेता सहैव तु।।५।।
तयोर्मध्यगतानां स्याद्ग्राहकः स्वस्य तद्यथा।।६।।

अण्, एङ्, अट्, यङ्, (य्) (यञ्) छब् (व्), झम् (ष्) भष्, अक्, इक्, (उक्), अण्, इण्, यण्, परेण णकारेण। अम्, यम्, ङम्, अच्, इच्, (एच्)ऐच्, अय्, मय्, झय्, खय्, जव्, (श्) झव् (र्), खव् (र्), चव् (र्), (यर्), शव् (र्),अस् (श्), हस् (श्), बस् (श्), भस् (बश्), (झश्), अल्, हल्, ब (व) ल्, रल्, झल्, शल्, इति प्रत्याहारः।।७।।

।।इति श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते व्याकरणसारवर्णनं नामैकोनपञ्चाशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः।।३४९।।

अध्याय-३४९

व्याकरण-सार

स्कन्द ने कहा कि–हे कात्ययान! अधुना मैं बोध के लिये तथा बालकों को व्याकरण का ज्ञान कराने के लिये सिद्ध शब्द रूप सारभूत व्याकरण का वर्णन करने जा रहा हूँ, सुनो। पहले प्रत्याहार आदि संज्ञाएँ बतलायी जाती हैं, जिनका व्याकरणशास्त्रीय प्रक्रिया में व्यवहार होता है। **अइउण्, ऋऌक्, एओङ्, ऐऔच्, हयवरद्, लण्, ञमङणनम्, झभञ्, घढधष्, जबगडदश्, खफछठथचटतव्, कपय्, शषसर्, हल्।** ये 'माहेश्वर सूत्र' एवं 'अक्षर-समाम्नाय' कहलाते हैं इनसे 'अण्' आदि 'प्रत्याहार' बनते हैं। उपदेशावस्था में 'अन्तिम 'हल्' तथा अनुनासिक 'अच्' की 'इत्' संज्ञा होती है। अन्तिम इत्संज्ञक वर्ण के साथ गृहीत होने वाला आदि वर्ण उन दोनों के मध्यवर्ती अक्षरों का तथा अपना भी ग्रहण कराने वाला होता है। इसी को 'प्रत्याहार' कहते हैं। जैसा कि निम्नांकित उदाहरण से स्पष्ट होता है–अण्, एङ्, अट्, यय्, (अथवा यञ्) छव्, झष्, भष्, अक्, इक्, उक्। अण्, इण्, यण् –ये तीनों पर णकार अर्थात् लण् सूत्र के णकार से बनते हैं। अम्, यम्, ङम्, अच्, इच्, एच्, ऐच्, अय् मय्, झय्, खय्, जश्, झश्, खर्, चर्, यर्, शर्, अश्, हश्, वश्, झश्, अल्, हल्, वल्, रल्, झल्, शल् –ये सभी प्रत्याहार हैं।।१-७।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी तीन सौ उनचासवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।३४९।।

❖❖❖

अथ पञ्चाशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः

संधिसिद्धरूपम्

स्कन्द उवाच

वक्ष्ये संधिं सिद्धरूपं स्वरसंधिमथाऽऽदितः। दण्डाग्रं साऽऽगता दधीदं नदीहते मधूदकम्।।१।।
पितृषभः, ऌकारश्च तवेदं सकलोदकम्। अर्धर्चोऽयं तवल्कारः सैषा सैन्द्री तवौदनम्।।२।।
खट्वौघोऽभवदित्येवं व्यसुधीर्वस्वलं कृतम्। पित्रर्थोपवनं दात्री नायको लावको नयः।।३।।
त इह तयिहेत्यादि तेऽत्र योऽत्र जलेऽकजम्। प्रकृतिं नो अहो एहि अ अवेहि इ इन्द्रकम्।।४।।
उ उत्तिष्ठ कवी एतौ वायू एतौ वने इमे। अमी एत यज्ञभूते एहि देव इम नय।।५।।
वक्ष्ये संधिं व्यञ्जनानां वाग्यतोजेकमातृकः। षडेते तदिमेऽवादि वाङ्नीतिः षण्मुखादिकम्।।६।।
वाङ्मनसं वाग्भावादिर्वाक्श्लक्ष्णं तच्छरीरकम्। तल्लुनाति तच्चरेच्च क्रुङ्ङास्ते च सुगाणि (ण्णि) ह।।७।।
भवांश्चरन्भवांश्छात्रो भवांष्टीका भवांष्ठकः। भवांस्तीर्थं भवान्स्थेयान्भ (द्भ?) वाँल्लेखा भवाञ्जयः।।८।।
भवाञ्छेते भवाञ्छेते भवाञ्शेते भवाण्डीनः। त्वम्भर्ता त्वङ्करिष्यादि संधिर्ज्ञेयो विसर्गतः।।९।।
कश्छिन्द्यात्कश्चरेत्कष्टः कष्ठः कस्थश्च कश्चेत्। क ᳲ खनेत्क ᳲ करोति स्म क ᳲ पठेत्क ᳲ फलेत् वा।।१०।।
कश्श्वशुरः कः श्वशुरः कस्स्वरः कः स्ववरः। कः फलेत कः शयिता कोऽत्रा योधः क उत्तमः।।११।।

अध्याय-३५०

संधि के सिद्ध रूप विचार

कुमार कार्तिकेय ने कहा कि–हे कात्यायन! अधुना सिद्ध संधि का वर्णन करने जा रहा हूँ। पहले 'स्वरसंधि' बतलायी जाती है।–दण्डाग्रम्, साऽऽगता, दधीदम्, नदीहते, मधूदकम्, पितृषभः, ऌकारः, तवेदम्, सकलोदकम्, अर्धर्चोऽयम्, तवल्कारः, सैषा, सैन्द्री, तवौदनम्, खट्वौघोऽभवत्, इत्येवम्, व्यसुधीः, वस्वलंकृतम्, पित्रर्थोपवनम्, दात्री, नायकः, लावकः, नयः, त इह, तयिह इत्यादि। तेऽय, तोऽत्र जलेऽकजम्। जहाँ संधि न होकर प्रकृत रूप ही रह जाता है। उसको 'प्रकृतिभाव' कहते हैं। उसके उदाहरण–नो अहो, ऐहि, अ अवेहि, इ इन्द्रकम्, उ उत्तिष्ठ, कवी एतौ, वायु एतौ, वने इमे, अमी एते, यज्ञभूते एहि देव इमं नय।।१-५।।

अधुना 'व्यञ्जनसंधि' का वर्णन करने जा रहा हूँ–वाग्यतः। अजेकमातृकः। षडेते। तदिमे। अबादि। वाङ्नीतिः। षण्मुखः। वाङ्मनसम्। इत्यादि। वाग्भावादिः। वाक्श्लक्ष्णम्। तच्छरीरकम्। तल्लुनाति। तच्चरेत्। क्रुङ्ङास्ते। सुगण्णिह। भवांश्चरन्। भवांश्छात्रः। भवांष्टीका। भवांष्ठकः। भवांस्तीर्थम्। भवांस्थेत्याह। भवाँल्लेख भवाञ्जयः। भवाञ्छेते, भवाञ्शेते। भवाण्ढीनः। सम्भर्त्ता। त्वङ्करिष्यसि इत्यादि।।६-९।।

इसके बाद की पदावलियों में विसर्ग संधि समझनी चाहिये–कश्छिन्द्यात्। कश्चरेत्। कष्टः। कष्ठः। कः स्थः। कश्चलेत्। क ᳲ खनेत्। क ᳲ करोति। क ᳲ पठेत्। क ᳲ फलेत्। कश्श्वशुरः कः श्वशुरः। कस्स्वरः। कः स्वरः। कः

देवा एते भो इह स्वदेवा भगो व्रज। सुपूः सुदुरात्रिरत्र वायुर्याति पूनर्न हि॥१२॥
पुनरेति स यातीह एष याति कः ईश्वरः। ज्योतीरूपं तव च्छत्रं म्लेच्छधीश्छिद्रमाच्छिदत्॥१३॥

॥इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते संधिसिद्धरूपकथनं नाम पञ्चाशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः॥३५०॥

अथैकपञ्चाशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः

सुब्विभक्तिसिद्धरूपम्

स्कन्द उवाच

विभक्तिसिद्धरूपं च कात्यायन वदामि ते। द्वे विभक्ती सुप्तिङश्च सुपः सप्त विभक्तयः॥१॥
सु औ जसिति प्रथमा अमौट्शसौ द्वितीया (यिका)। टा भ्यां भिसिति तृतीया ङेभ्यांभ्यसश्चतुर्थ्यपि॥२॥
ङसिभ्यांभ्यसः पञ्चमी स्यान्ङ्सोसामिति षष्ठ्यपि। ङिओस्सुबिति सप्तमी स्यात्स्युः प्रातिपदिकात्पराः॥३॥
द्विविधं प्रातिपदिकं ह्यजन्तं च हलन्तकम्। प्रत्येकं त्रिविधं तत्स्यात्पुमान्स्त्री च नपुंसकम्॥४॥
दृश्यन्ते नायकास्तेषामनुक्तानां च वीर्यतः। वृक्षः सर्वोऽथ पूर्वश्च प्रथमश्च द्वितीयकः॥५॥

फलेत्। कः शयिता। कोऽत्रयोधः। क श्रेष्ठतमः। देवाएते॥ भो इह। स्वदेवा यान्ति। भगो व्रज। सु पूः। सुदूरात्रिरत्र। वायुर्याति। पुनर्नहि। पुना राति। स यातीह। सैष। क ईश्वरः। ज्योतीरूपम्। तवच्छत्रम्। म्लेच्छ धीः। छिद्रमांच्छिदत्॥१०-१३॥

॥इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी तीन सौ पचासवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ॥३५०॥

अध्याय-३५१

सुबन्त सिद्ध रूप विचार

स्कन्द ने कहा कि–हे कात्यायन! अधुना मैं तुम्हारे सम्मुख विभक्ति-सिद्ध रूपों का वर्णन करने जा रहा हूँ। विभक्तियाँ दो हैं–'सुप्' और 'तिङ्'। 'सुप्' विभक्तियाँ सात हैं। **'सु और जस्'**–यह प्रथमा विभक्ति है। **'अम् और शस्'**–यह द्वितीया, **'टा भ्याम् भिस्'**–यह तृतीया, **'ङे भ्याम् भ्यस्'**–यह चतुर्थी, **ङसि भ्याम् भ्यस्**'–यह पञ्चमी, **'ङस् ओस् आम्'**–यह षष्ठी तथा **'ङि ओस् सुप्'**–यह सप्तमी विभक्ति है। ये सातों विभक्तियाँ प्रातिपदिक संज्ञावाले शब्दों से परे प्रयुक्त होती हैं॥१-३॥

'प्रातिपदिक' दो तरह का होता है–'अजन्त' और 'हलन्त'। इनमें से प्रत्येक पुँल्लिंग, स्त्रीलिंग और नपुंसक लिंग के भेद से तीन-तीन तरह का है। उन पुंल्लिंग आदि शब्दों के नायकों का यहाँ दिग्दर्शन कराया जाता है। जो शब्द नहीं कहे गये हैं; परन्तु जिनके रूप इन्हीं के समान होते हैं, उन्हीं के ये 'वृक्ष' आदि शब्द सामर्थ्यतः नायक

हैं। 'वृक्ष' शब्द पेड़ का वाचक है। यह अकारान्त पुंल्लिंग है। इसके सात विभक्तियों में तथा सम्बोधन में एकवचन, द्विवचन और बहुवचन के भेद से कुल मिलाकर चौबीस रूप होते हैं। उन सभी को यहाँ उद्धृत किया जाता है।

१. वृक्षः, वृक्षौ, वृक्षाः। २. वृक्षम्, वृक्षौ, वृक्षान्। ३. वृक्षेण, वृक्षाभ्याम्, वृक्षैः। ४. वृक्षाय, वृक्षाभ्याम्, वृक्षेभ्यः। ५. वृक्षात्, वृक्षाभ्याम्, वृक्षेभ्यः। ६. वृक्षस्य, वृक्षयोः, वृक्षाणाम्। ७. वृक्षे, वृक्षयोः, वृक्षेषु। सम्बोधने–हे वृक्ष, हे वृक्षौ, हे वृक्षाः।

इसी तरह राम, देव, इन्द्र, वरुण, भव आदि शब्दों के रूप जानने चाहिये। 'देव' आदि शब्दों के तृतीया के एकवचन में 'देवेन' तथा षष्ठी बहुवचन में 'देवानाम्' इत्यादि रूप होते हैं। वहाँ 'न' के स्थान में 'ण' नहीं होता। रेफ और षकार के बाद जो 'न' हो, उसी के स्थान में 'ण' होता है। अकारान्त शब्दों में जो सर्वनाम हैं, उनके रूपों में कुछ भिन्नता होती है। उस भिन्नता का परिचय देने के लिये सर्वनाम का 'प्रथम' या 'नायक' जो 'सर्व' शब्द है, उसके रूप यहाँ दिये जाते हैं; उसी तरह अन्य सर्वनामों के भी रूप होंगे। यथा–

१. सर्वः सर्वौ सर्वे। २. सर्वम् सर्वौ सर्वान्। ३. सर्वेण सर्वाभ्याम् सर्वैः। ४. सर्वस्मै सर्वाभ्याम् सर्वेभ्यः। ५. सर्वस्मात् सर्वाभ्याम् सर्वेभ्यः। ६. सर्वस्य सर्वयोः सर्वेषाम्। ७. सर्वस्मिन् सर्वयोः सर्वेषु। सम्बोधन में–हे सर्व हे सर्वौ हे सर्वे। यहाँ रेखांकित रूपों पर दृष्टिपात कीजिये।

सामान्य अकारान्त शब्दों की अपेक्षा सर्वनाम शब्दों के रूपों में भिन्नता के पाँच ही स्थल हैं। इसके बाद 'पूर्व' शब्द आता है। यह सर्वनाम होने पर भी अन्य सर्वनामों से कुछ विलक्षण रूप रखता है। पूर्व, पर, अवर, दक्षिण, उत्तर, अपन, अधर–ये व्यवस्था और असंज्ञा में सर्वनाम हैं। 'स्व' तथा 'अन्तर' शब्द भी अर्थ विशेष में ही सर्वनाम हैं। इसलिये उससे भिन्न अर्थ में वे असर्वनामवत् रूप धारण करते हैं। प्रथमा के बहुवचन में तथा पंचमी-सप्तमी के एकवचन में पूर्वादि शब्दों के रूप सर्वनामवत् होते हैं, परन्तु विकल्प से। इसलिये पक्षान्तर में उनके असर्वनामवत् रूप भी होते ही हैं–जिस प्रकार पूर्वे पूर्वाः, परे पराः इत्यादि। पूर्वस्मात् पूर्वात्। पूर्वस्मिन् पूर्वे इत्यादि। प्रथम, द्वितीय तथा तृतीय–ये शब्द सर्वनाम नहीं हैं, तथापि 'प्रथम' शब्द के प्रथमा बहुवचन में–प्रथमे प्रथमाः –यह रूप होता है। 'चरम' आदि शब्दों के लिये भी यही बात हैं। 'द्वितीय' तथा 'तृतीय' शब्द चतुर्थी, पंचमी तथा सप्तमी के एकवचन में विकल्प से सर्वनामवत् रूप धारण करते हैं। यथा–द्वितीयस्मै द्वितीयाय। तृतीयस्मै तृतीयाय–इत्यादि शेष रूप वृक्षवत् होते हैं।

अधुना आकारान्त शब्द का एक रूप उपस्थित करते हैं–खड्गपाः–खड्गं पातीति खड्गपाः अर्थात् 'खड्ग-रक्षक'। इसका रूप इस प्रकार समझना चाहिये–१. खड्गपाः, खड्गपौ, खड्गपाः। २. खड्गपाम् खड्गपौ, खड्गपः। ३.खड्गपा, खड्गपाभ्याम्, खड्गपाभिः। ४. खड्गपे, खड्गपाभ्याम्, खड्गपाभ्यः। ५. खड्गपः, खड्गपाभ्याम्, खड्गपाभ्यः। ६. खड्गपः, खड्गपोः, खड्गपाम्। ७. खड्गपि, खड्गपोः, हे खड्गपाः। इसी तरह विश्वपा विश्वपालक), गोपा (गोरक्षक), कीलालपा (जल पीने वाला), शङ्खध्मा (शङ्ख बजाने वाला) आदि शब्दों के रूप होंगे। (अधुना ह्रस्व इकारान्त 'वह्नि' शब्द का रूप प्रस्तुत करते हैं–

१. वह्निः, वह्नी, वह्नयः। २. वह्निम, वह्नी, वह्नीन्। ३. वह्निना, वह्निभ्याम्, वह्निभिः। ४. वह्नये, वह्निभ्याम्, वह्निभ्यः। ५. वह्नेः, वह्निभ्याम्, वह्निभ्यः। ६. वह्नेः, वह्नयोः, वह्नीनाम्। ७. वह्नौ, वह्नयोः, वह्निषु। सम्बो०–हे वह्ने, हे वह्नी, हे वह्नयः। 'वह्नि' का अर्थ है अग्नि। इसी तरह अग्नि रवि, कवि, गिरि, पवि इत्यादि शब्दों के रूप होंगे। इकारान्त शब्दों में 'सखि' और 'पति' शब्दों के रूप कुछ भिन्नता रखते हैं। जिस प्रकार–१. सखा, सखायौ, सखायः। २. सखायम्, सखायौ, सखीन्। तृतीया के एकवचन में– सख्या, चतुर्थी के एकवचन में सख्ये, पञ्चमी और षष्ठी के

तृतीयः खड्गपा वह्निः सखा पतिरहर्पतिः। पटुर्ना ग्रामणीन्द्रश्च खलपूर्मित्रभूः स्वभूः॥६॥
सुश्रीः सुधीः पिता भ्राता ना कर्ता क्रोष्टुनप्तृकौ। सुरा रा गौस्तथा द्यौगर्लौः स्वरान्ताः पुंसि नायकाः॥७॥

एकवचन में सख्युः तथा सप्तमी एकवचन में सख्यौ रूप होते हैं। शेष सभी रूप 'वह्नि' शब्द के समान हैं। 'पति' शब्द के प्रथमा और द्वितीया विभक्तियों में वह्निवत् रूप होते हैं, शेष विभक्तियों में वह 'सखि' शब्द के समान रूप रखता है। 'अहर्पतिः' का अर्थ है सूर्य। यहाँ 'पति' शब्द समास में आबद्ध है। समास में उसका रूप वह्नितुल्य ही होता है।

अब उकारान्त शब्द का रूप प्रस्तुत करते हैं। पहले पुंल्लिंग 'पटु' शब्द के रूप दिये जाते हैं। पटु का अर्थ है–कुशल-निपुण। १. **पटुः, पटू, पटवः**। २. **पटुम्, पटू, पटून्**। ३. **पटुना, पटुभ्याम्, पटुभिः**। ४. **पटवे, पटुभ्याम्, पटुभ्यः**। ५. **पटोः, पटुभ्याम्, पटुभ्यः**। ६. **पटोः, पट्वोः, पटूनाम्**। ७. **पटौ, पट्वोः, पटुषु**। सम्बो०–**हे पटो, हे पटू, हे पटवः**। इसी तरह भानु, शम्भु विष्णु आदि शब्दों के रूप जानने चाहिये। दीर्घ ईकारान्त 'ग्रामणी' शब्द है। इसका अर्थ है–गाँव का मुखिया। इसका रूप इस तरह है–१. **ग्रामणीः, ग्रामण्यौ, ग्रामण्यः**। २. **ग्रामणीम्, ग्रामण्यौ, ग्रामण्यः**। ३. **ग्रामण्या, ग्रामणीभ्याम्, ग्रामणीभिः**। ४. **ग्रामण्ये, ग्रामणीभ्याम्** २, **ग्रामणीभ्यः** २। ५. **ग्रामण्यः**२। ६. **ग्रामण्योः**२। बहुवचन–**ग्रामण्याम्**। ७. **ग्रामण्याम्, ग्रामणीषु**।

इसी तरह 'प्रधी' आदि शब्दों के रूप जानने चाहिये। दीर्घ ऊकारान्त 'दृन्भू' शब्द है। इसका अर्थ है–राजा, वज्र, सूर्य, सर्प और चक्र। इसका रूप–**द्वन्भूः, द्वन्भ्वौ, द्वन्भ्वः** इत्यादि। 'खलपूः'–खलिहान रूप खलपूः, खलप्वौ, खलप्वः इत्यादि। 'मित्रभूः'–मित्र से उत्पन्न। इसका रूप है–मित्रभूः'–मित्र से उत्पन्न। इसका रूप है–मित्रभूः, **मित्रभवौ, मित्रभुवः** इत्यादि। 'स्वभू' का अर्थ है–स्वयम्भूः–स्वतः प्रकट होने वाला। इसके रूप–**स्वभूः, स्वभुवौ, स्वभुवः** इत्यादि हैं॥४-६॥

'सुश्रीः' का अर्थ है–सुन्दर शोभा से सम्पन्न। इसके रूप हैं–**सुश्रीः, सुश्रियौ, सुश्रियः** इत्यादि। 'सुधीः' का अर्थ है–श्रेष्ठतम बुद्धि से युक्त विद्वान्। इसके यप हैं–**सुधीः, सुधियौ, सुधियः** इत्यादि। (अधुना ऋकारान्त पुंल्लिंग पितृ तथा 'भ्रातृ' शब्दों के रूप दिये जाते हैं–'पिता' का अर्थ है–बाप और 'भ्राता' का अर्थ है–भाई। 'पितृ' शब्द के सब रूप इस तरह हैं–१. **पिता, पितरौ, पितरः**। २. **पितरम्, पितरौ, पितॄन्**। ३. **पित्रा, पितृभ्याम्, पितृभ्यः**। ४. **पित्रे, पितृभ्याम्, पितृभ्यः**। ५. **पितुः, पितृभ्याम्, पितृभ्यः**। ६. **पितुः, पित्रोः, पितॄणाम्**। ७. **पितरि, पित्रोः, पितृषु**। सम्बो.–**हे पितरौ, हे पितरः**।

इसी तरह 'भ्रातृ' और 'जामातृ' शब्दों के भी रूप होते हैं। 'नृ' शब्द नरक वाचक है। इसके रूप ना, नरौ, नरः इत्यादि 'पितृ' शब्दवत् होते हैं। केवल षष्ठी के बहुचन में दो रूप होते हैं–नृणाम् नॄणाम्। 'कर्तृ' शब्द का अर्थ है करने वाला। यह 'तृजन्त' शब्द है। इसके दो विभक्तियों में रूप इस तरह है–**कर्ता, कर्तारौ, कर्तारः**। **कर्तारम्, कर्तारौ, कर्तॄन्**। शेष 'पितृ' शब्द की भाँति। 'क्रोष्टु' शब्द के रूप में प्रयुक्त होता है। उस दशा में इसका रूप 'कर्तृ' शब्द की भाँति होता है।

'कोष्टु' के रूप में ही यदि इसके रूप लिये जायँ तो 'पटु' शब्द की तरह लेने चाहिये। 'नप्तृ' शब्द नीती का वाचक है। इसके रूप कर्तृ शब्द की भाँति होते हैं। 'सुरै' शब्द का अर्थ श्रेष्ठतम धनवान् है। 'रै' शब्द का अर्थ है–धन। ये ऐकारान्त पुंल्लिंग हैं। इन शब्द का अर्थ है–धन। ये एकारान्त पुंल्लिंग हैं। इन दोनों के रूप एक-से होते हैं।–१. **सुराः, सुरायौ, सुरायः**। २. **सुरायम्, सुरायौ, सुरायः**। ३. **सुराया, सुराभ्याम्,** सुराभिः इत्यादि। **रैः-राः, रायौ, रायः** इत्यादि।

सुवाक्त्वक्पृषत्सम्राड्जन्मभाक्च सुराडपि। आपो मरुद्भवन्दीव्यन्भवांश्च मघवान्पिबन्।।८।।
भगवानघवानर्वा वह्निमत्सर्ववित्सुपृत्। सुसीमा कुण्डी राजा च श्वा युवा मघवा तथा।।९।।
पूषा सुकर्मा यज्वा च सुवर्मा च सुधर्मणा। अर्यमा वृत्रहा पन्थाः सुककुदादिपञ्च च।।१०।।
प्रशान्सुतांश्च पञ्चाऽऽद्याः सुगौः सुराः सुपूरपि। चन्द्रमाः सुवचाः श्रेयान्विद्वांश्चोशनसा सह।।११।।
पेचिवान्गौरनड्वान्गोधुङ्मित्रद्रुहोऽश्वलिट्। स्त्रियां जाया जरा बाला एडका सह वृद्धया।।१२।।
(क्षत्रिया बहुराजा च बहुदासाऽर्श्कबालकाः। माया कौमुदगन्ध्या च सर्वा पूर्वा सहान्यथा)।।१३।।
द्वितीया च तृतीया च बुद्धिः स्त्री श्रीर्नदी सुधीः। भवन्ती चैव दीव्यन्ती भाती भान्ती च यान्त्यपि।।१४।।

हलादि विभक्तियों में 'रै' की जगह 'रा' हो जाता है। ओकारान्त 'गो' शब्द पर विचार कीजिये। 'गो' का अर्थ है–बैल। इसके रूप–**गौः, गावौ, गावः। गाम्, गावौ, गाः** इत्यादि हैं। औकारान्त पुँल्लिंग–'द्यौ का अर्थ है–आकाश और 'ग्लौ' का अर्थ है–चन्द्रमा। इसके रूप–**द्यौः द्यावौ, द्यावः** इत्यादि। **ग्लौः, ग्लावौ, ग्लावः** इत्यादि हैं। ये पुंल्लिंग में **'स्वरान्त नायक'** शब्द बताये गये है।।७।।

अधुना हलन्त पुंल्लिंग शब्दों का परिचय कराया जाता है–सुवाक् (श्रेष्ठ वक्ता), सुत्वक् (सुन्दर त्वचा वाला), पृषत् (जलबिन्दु), सम्राट् (चक्रवर्ती नरेश), जन्मभाक् (जन्म ग्रहण करने वाला), सुराट् (श्रेष्ठ राजा), अयम् (यह), मरुत् (वायु), भवन् होता हुआ, दीव्यन् (क्रीडा करता हुआ), भवान् (आप), मघवान् (इन्द्र), पिबन् (पीता हुआ), भगवान् (समग्र ऐश्वर्य से सम्पन्न), अघवान् (पापयुक्त), अर्वा (अश्व), वह्निमान् (अग्नियुक्त), सर्ववित् (सर्वज्ञ), सृपृत् (भलीभाँति पालन करने वाला), सुसीमा (श्रेष्ठतम सीमा वाला), कुण्डी (कुण्डधारी शिव), राजा, श्वा (कुत्ता), युवा (तरुण), मघवा (इन्द्र), पूषा (सूर्य), सुकर्मा (श्रेष्ठतम कर्म करने वाला), यज्वा (यज्ञकर्ता), सुवर्मा (श्रेष्ठतम कवचधारी), सुधर्मा (श्रेष्ठतम धर्म वाला), अर्यमा (सूर्य), वृत्रहा (इन्द्र), पन्थाः (मार्ग), सुककुप् (स्वच्छ दिशा वाला समय), अष्ट (आठ), पंच (पाँच), प्रशान् (पूर्णतः शान्त), सुत्वा, **'प्राङ् प्राञ्चौ प्राञ्चः' तथा प्रत्यङ्** इत्यादि। सुद्यौः (शोभन आकाश वाला काल), सुभ्राट् (विशेष शोभा वाली), सुपूः (सुन्दर नगरी वाला देश), चन्द्रमा, सुवचाः, श्रेयान्, विद्वान्, उशना (शुक्राचार्य), पेचिवान् (प्राचीन काल में जिसने पाचन किया हो), अनड्वान्–गाड़ी सींचने वाला बैल, गोधुक् (गाय को दुहने वाला), मित्रध्रुक् (मित्रद्रोही)स, मुक् (विवेकशून्य), तथा लिट् (चाटने वाला)– ये सभी हलन्त पुंल्लिंग के 'नायक' (आदर्श या प्रमुख शब्द) है।।८-११।।

अधुना स्त्रीलिंग में नायकस्वरूप शब्दों को उपस्थित किया जा रहा है–जाया (स्त्र), जरा (वृद्धावस्था), बाला (नूतन अवस्था की स्त्री), एडका (भेड़), वृद्धा (बूढ़ी), क्षत्रिया (क्षत्रिय जाति की स्त्री), बहुराजा (जहाँ बहुत से राजा निवास करते हों, वह नगरी), बहुदा (अधिक देने वाली), मा (लक्ष्मी) अथवा बहुदामा (अधिक दाम–रज्जु या दीप्ति वाली), बालिका (लड़की), माया (भगवान् की शक्ति या प्रकृति), कौमुदगन्धा (कुमुदकी-सी सुगन्ध वाली), सर्व (सब), पूर्वा (पूर्व दिशा या पहली), अन्या (दूसरी), द्वितीया (दूसरी), तृतीया (तीसरी), बुद्धिः (मति), स्त्री (औरत), श्री (लक्ष्मी), नदी, सुधी (श्रेष्ठतम बुद्धि वाली), भवन्ती (होती हुई), दीव्यन्ती (क्रीड़ा करती हुई), शृण्वती (सुनती हुई), तुदती, तुदन्ती (व्यथित करती हुई), कर्त्री (करने वाली), कुर्वती (करती हुई), मही (पृथ्वी), रुन्धती (अवरोध करती हुई), क्रीडन्ती (खेलती हुई), दान्ती, (दाँत की बनी हुई वस्तु), पालयन्ती (पालती हुई), सुवाणी (श्रेष्ठतम वाणी), गौरी (पार्वती), पुत्रवती (पुत्र वाली), नौः (नावः), वधूः (स्त्री), देवता, भूः (पृथ्वी),

शृण्वती तुदती कर्त्री तुदन्ती कुर्वती मही। रुन्धती क्रीडन्ती दान्ती पालयन्ती सुराण्यपि(?)॥१५॥
गौरी पुत्रवती नौश्च वधूर्देवतया भुवा। तिस्रो द्वे कति वर्षाभूः स्वसा माता वरा च गौः॥१६॥
नौर्वाक्त्वक्प्राच्यवाचीति तिरश्ची समुदीच्यपि। शरद्विद्युत्सरिद्योषिदग्निवित्सस्यदा दृश (ष) त्॥१७॥
यैषा सा वेदवित्संविद्बह्वी राज्ञी त्वया मया। सीमा पञ्चादयो राजा धूः पूश्चैव दिशा गिरा॥१८॥
चतस्रो विदुषी चैव केयं दिक् दृक्च तादृशी। असौ स्त्रियां नायकाश्च नायकाश्च नपुंसके॥१९॥
कुण्डं सर्वं सोमपं च दधि वारि खलप्वथ। मधु त्रपु कर्तृ भर्तृ अतिभर्तृ पयः पुरः॥२०॥

तिस्रः (तीन), द्वे (दो), कति, वर्षाभूः (वर्षाकाल में उत्पन्न होने वाली मेढकी), स्वसा (बहिन), माता (माँ), अवरा (लघु), गौः (गाय), द्यौः (स्वर्ग), वाक् (वाणी), त्वक् (चमड़ा), प्राची (पूर्व दिशा), अवाची (दक्षिण दिशा), तिरश्ची (टेढ़ी या मादा पशु-पक्षी), उदीची (उत्तर दिशा), शरद् (ऋतुविशेष), विद्युत् (बिजली), सरित् (नदी), योषित् (स्त्री), अग्निवित् (अग्नि को जानने वाली), सस्यदा (अन्न देने वाली) अथवा सम्पद् (सम्पत्ति), दृषत् (शिला), या (जो), एषा (यह), सा (वह), वेदवित् (वेदज्ञा), संविद् (ज्ञानाक्ति), बह्वी (बहुत), राज्ञी (रानी), त्वया, मया (युष्मद्-अस्मद् शब्दों के तीनों लिंगों में समान रूप होते हैं, ये तृतीया के एक वचन के रूप हैं)। सीमा (अवधि), पञ्च आदि (संख्यावाचक नान्त शब्द), राका (पूर्णिमा), धूः (बोझ), पूः (नगरी), दिशा (दिक्), गिरा (गीः), चतस्रः (चार), विदुषी (पण्डिता), का (कौन), इयम् (यह), दिक् (दिशा), दृक् (नेत्र), तादृक् (तादृशी) तथा 'असौ'- ये स्त्रीलिङ्ग के नायक हैं। अधुना नपुंसक लिंग के नायक शब्द बताये जा रहे हैं॥१२-१९॥

(सर्वप्रथम स्वरान्त (नपुंसकलिंग शब्दों के प्रारम्भिक सिद्ध रूप दिये जाते हैं-) 'कुण्डम्'-यह अकारान्त नपुंसकलिंग 'कुण्ड' शब्द का प्रथमान्त एकवचन रूप है। इसके प्रथम दो विभक्तियों में क्रमशः एकवचन, द्विवचन और बहुवचन के रूप इस तरह जानने चाहिये-**कुण्डम्, कुण्डे, कुण्डानि**। तृतीया आदि शेष विभक्तियों के रूप पुँल्लिंगवत् जानने चाहिये। यथा-**कुण्डेन कुण्डाभ्यासम् कुण्डैः** इत्यादि।

सम्बोधन में-**हे कुण्डे हे कुण्डानि**। **'कुण्डम्'** का अर्थ है-पानी से भरा हुआ गहरा गड्ढा। यह नदी और तालाब आदि में होता है। मिट्टी के बड़े और गहरे पात्रविशेष को भी 'कुण्ड' कहते हैं। इसी को ध्यान में रखकर कुण्डभर दूध देने वाली गाय को 'कुण्डोघ्नी' कहते हैं। 'सर्वम्' -यह 'सर्व' शब्द का एकवचनान्त रूप है, इसका अर्थ हैं सम्पूर्ण या सब। इसके प्रथमा और द्वितीया विभक्तियों में नपुंसकलिंग सम्बन्धी रूप इस तरह होते हैं-**सर्वम् सर्वे सर्वाणि**। शेष पुंल्लिंगवत्। 'सोमपम्'-सोम पान करने वाला वंश (ब्राह्मणवंश या देववंश) इसके भी प्रथम दो विभक्तियों में सोमपम् सोमपे सोमपानि इत्यादि रूप होंगे। शेष पुंल्लिंग रामवत्।

'दधि' और **'वारि'** शब्द क्रमशः दही और जल के वाचक हैं। ये नित्य नपुंसकलिंग हैं। इसलिये इनके सम्पूर्ण रूप यहाँ उद्धृत किये जाते हैं। प्र., द्वि. विभक्तियों में-**दधि दधिनी दधीनि। तृ०-दध्ना, दधिभ्याम्, दधिभिः। च०-दध्ने दधिभ्याम् दधिभ्यः। पं०-दध्नः दधिभ्याम् दधिभ्यः। ष०-दध्नः, दध्नोः, दध्नाम्। स०-दध्नि-दधनि, दध्नोः, दधिषु। 'वारि'** शब्द के सातों विभक्तियों के रूप इस तरह जानने चाहिये-१, २-**वारी वारिणी वारीणि। ३. वारिणा वारिभ्याम् वारिभिः। ४. वारिणे वारिभ्याम् वारिभ्यः। ५. वारिणः वारिभ्याम् वारिभ्यः। ६. वारिणः वारिणोः वारीणाम्। ७. वारिणि, वारिणोः, वारिषु। 'खलपु'** का अर्थ है-खलिहान को स्वच्छ करने वाला साधन, 'खुरपा' आदि। इसके रूप विशेष्य के अनुसार स्त्री लिंग और पुंल्लिंग में भी होते हैं। यहाँ नपुंसकलिंग

प्राक्प्रत्यक्च तिर्यगुदग्जगज्जाग्रत्तथा स (श) कृत्। सुसंपच्च सुदण्डीह अहः किं चेदमित्यपि।।२१।।
षट् सर्पिः श्रेयश्चत्वारि अदोऽन्ये हीदृशाः परे। एतेभ्यः प्रथमादयश्च स्युः प्रातिपदिकात्पराः।।२२।।

में इसके रूप उद्धृत किये जाते हैं। १, २–खलपु खलपुनी खलपूनि। ३. खलप्वा, खलपुना खलपूभ्याम् खलपूभिः। ४. खलप्वे-खलपुने खलपूभ्याम् खलपूभ्यः इत्यादि। **'मधु'** शब्द शहद और मदिरा का वाचक है। इसके रूप इस तरह जानने चाहिये–१, २–**मखु मधुनी मधूनि। ३. मधुना मधुभ्याम् मधुभिः। ४. मधुने मधुभ्याम् मधुभ्यः। ५. मधुनः मधुभ्याम् मधुभ्यः। ६. मधुनः मधुनोः मधूनाम्। ७. मधुनि मधुनोः मधुषु। सं० हे मधो, हे मधु हे मधुनी हे मधूनि!।** 'त्रपु' शब्द राँगा का वाचक है। इसके प्रथम दो विभक्तियों के रूप इस तरह हैं–त्रपु, त्रपुणी, त्रपूणि। शेष मधुवत्। 'कर्तृ' (करने वाला), 'भृर्तृ' (भरण-पोषण) करने वाला), 'अतिभर्तृ' (भर्ता को भी अतिक्रमण करने वाला कुल)–इन तीनों शब्दों के प्रथमा और द्वितीया विभक्तियों में रूप क्रमशः इस तरह हैं–**कर्तृ कर्तृणी कर्तॄणी। भर्तृ भर्तृणी भर्तॄणि। अतिभर्तृ अतिभर्तृणी अतिभर्तॄणि।** तृतीया आदि विभक्तियों में जो अजादि प्रत्यय हैं, इनमें दो-दो रूप होंगे। यथा–**कर्त्रा, कर्तृणा, भर्त्रा, भर्तृणा। अतिभर्त्रा, अतिभर्तृणा** इत्यादि। 'पयस्' शब्द जल का वाचक है। इसके रूप इस तरह हैं–१, २–**पयः पयसी पयांसि।** तृतीया आदि में **पयसा पयोभ्याम् पयोभिः** इत्यादि। 'पुरम्' शब्द सकरान्त अव्यय है। इसका अर्थ है–पहले या आगे। अव्यय शब्दों का कोई रूप नहीं चलता; क्योंकि 'अव्यय' का यह लक्षण है।।२०।।

सदृशं त्रिषु लिङ्गेषु सर्वासु च विभक्तिषु। वचनेषु च सर्वेषु यत्र व्येति तदव्ययम्।। **प्राक्** (पूर्व), **प्रत्यक्** (अन्दर या पश्चिम), तिर्यक् (तिरछी दिशा की तरफ चलने वाले पशु-पक्षी आदि), उदक् (उत्तर)–इन शब्दों के प्रथम दो विभक्तियों में रूप इस तरह जानने चाहिये। **प्राक् प्राची प्राञ्चि। प्रत्यक् प्रतीची प्रज्यञ्चि। तिर्यक् तिरञ्ची तिर्यञ्चि। उदक् उदीची उदञ्चि** इत्यादि। ये गत्यर्थक 'अञ्च्' के रूप हैं, पूजा-अर्थ में प्रयुक्त 'अञ्च' के–**प्राङ् प्राञ्ची प्राञ्चि। प्रत्यङ् प्रत्यञ्ची प्रत्यञ्चि। उदङ् उदञ्ची उदञ्चि। तिर्यङ् तिर्यञ्ची तिर्यञ्चि।** इत्यादि रूप होते हैं। 'जगत्' शब्द संसार का वाचक है। इसके रूप हैं–**जगत् जगती जगन्ति** इत्यादि। 'जाग्रत' शब्द का अर्थ है–सजग रहने वाला। इसके रूप हैं–**जाग्रत् जाग्रती जाग्रन्ति, जाग्रति** इत्यादि। **'शकृत्' शकृती, शकृन्ति, शकानि** इत्यादि। तृतीया आदि में 'शक्रा, शकृता इत्यादि। जिस वंश में बहुत अच्छी सम्पत्ति है, उसको 'सुसम्मत्' कहते हैं। सुसम्मत् के प्रथम दो विभक्तियों में इस तरह रूप होते हैं–**सुसम्पत्, सुसम्पद, सुसम्पदी, सुसम्पन्ति,** इत्यादि। सुन्दर दण्डियों से युक्त मन्दिर या आयतन को **'सुदण्डि'** कहते हैं। 'सुदण्डिन्' शब्द के रूप इस तरह जानने चाहिये–सुदण्डि सुदण्डिनी सुदण्डीनि। शेष रूप पुल्लिंगवत् होते हैं। **'इह'** शब्द अव्यय है। 'अहन्' शब्द दिन का वाचक है। इसके प्रथम दो विभक्तियों में रूप इस तरह जानने चाहिये–**अहः अहनी, अह्नी, अहानि। 'किम्'** प्रश्नवाचक सर्वनाम है। इसके रूप तीनों लिङ्गों में होते हैं। नपुंसकलिंग में प्रथमा और द्वितीया विभक्तिों में 'किम् के कानि–ये रूप होते हैं। शेष रूप पुंल्लिंग 'सर्व' शब्द के समान हैं। 'इदम्' का अर्थ है–यह। इसके नपुंसकलिङ्ग में– **इदम् इमे इमानि**–ये रूप होते हैं। तृतीया आदि विभक्तियों में पुँल्लिङ्गवत् रूप जानने चाहिये।।२१।।

'ष्' शब्द संख्या छः का वाचक और बहुवचनान्त है। इसके तीनों लिंगों में समान रूप होते हैं। १, २–**षट्। ३. षड्भिः। ४-५. षड्भ्यः। ६. षण्णाम्। ७. षट्सु। 'सर्पिष्'** शब्द घी का वाचक है। इसके रूप इस तरह जानने चाहिये–**सर्पिः सर्पिषी सर्पींषि। सर्पिषा सर्पिर्भ्याम् सर्पिर्भिः** इत्यादि। 'श्रेयस्' शब्द कल्याण का वाचक है।

धातुप्रत्ययहीनं यत्स्यात्प्रातिपदिकं तु तत्। प्रातिपदिकात्स्वलिङ्गार्थवचने प्रथमा भवेत्॥२३॥
संबोधने च प्रथमा उक्ते कर्मणि कर्तरि। कर्म यत्क्रियते तत्स्याद्द्वितीया कर्मणि स्मृता॥२४॥
क्रियते येन करणं कर्ता यश्च करोति सः। अनुक्ते तिङ्कृत्तद्धितैस्तृतीयाकरणे भवेत्॥२५॥
कारके कर्तरि च सा सम्प्रदाने चतुर्थ्यपि। यस्मै दित्सा (त्सां) धारयते सम्प्रदानं तदीरितम्॥२६॥
अपादानं यतोऽपैति आदत्ते च भयं यतः। अपादाने पञ्चमी स्यात्स्वस्वाम्यादौ च षष्ठ्यपि॥२७॥
आधारो योऽधिकरणं विभक्तिस्तत्र सप्तमी। एकार्थे चैकवचनं द्व्यर्थे द्विवचनं भवेत्॥२८॥
बहुषु बहुवचनं सिद्धरूपाण्यथो वदे। वृक्षः सूर्योऽम्बुवाहोऽर्को हे रवे हे द्विजातयः॥२९॥
विप्रौ गजान्महेन्द्रेण यमाभ्यामनिलैः कृतम्। रामाय मुनिवर्याभ्यां केभ्यो धर्माद्धरौ रतिः॥३०॥

उसके यप–**श्रेयः श्रेयसी श्रेयांसि** इत्यादि हैं। तृतीया आदि में 'पयस्' शब्द के समान इसके रूप जानने चाहिये। संख्या चार का वाचक 'चतर्' शब्द नित्य बहुवचनान्त है। नपुंसकलिंग में इसके रू इस तरह हैं–१, २–चत्वारि। ३. चतुर्भिः। ४, ५. चतुर्भ्यः। ६. चतुर्णाम्। ७. चतुर्षु। 'अदस्' शब्द 'यह', 'वह' का वाचक सर्वनाम है।

नपुंसक में प्रथम दो विभक्तियों में इसके रूप–'**अदः अमू अमूनि**' होते हैं। शेष रूप पुंल्लिंगवत् जानने चाहिये। इनसे भिन्न जो दूसरे-दूसरे शब्द हैं, उनके रूप भी इन पूर्वकथित शब्दों के ही समान हैं। इन शब्दों की प्रातिपदिक' संज्ञा कही गयी है। प्रातिपदिक से परे प्रथमा आदि विभक्तियाँ होती हैं। जो धातु, प्रत्यय और प्रत्ययान्त से हीन अर्थवान् शब्द है। उसी को 'प्रातिपदिक' कहते हैं। प्रातिपदिक से प्रातिपदिकार्थ, लिङ्गमात्राधिक्य और वचनमात्र का बोध कराने के लिये प्रथम विभक्ति होती है॥२२–२३॥

सम्बोधन में तथा कथित कर्म और कर्ता में भी प्रथमा विभक्ति का प्रयोग होता है। जो किया जाता है, उसकी 'कर्म' संज्ञा है। कर्म में द्वितीया विभक्ति होती है। जिसकी सहायता से कर्म किया जाता है, उसको 'करण' कहते हैं तथा जो कार्य करता है, उसको 'कर्ता' कहते हैं। तिङ् कृत्, तद्धित प्रत्ययों और समास से अनुरक्त कर्ता में और करण में भी तृतीया विभक्ति होती है। किसी भी कारक के रहते हुए कर्ता में भी तृतीया होती है। यथा–**व्रजं नेतव्या गावः कृष्णेन।** (यहाँ कृत्यानां कर्तरि वा।'–इस सूत्र (२/३/७१) के अभिप्राय का उपजीव्यभाव लक्षित होता है। सम्प्रदाय में चतुर्थी विभक्ति होती है। जिसको कुछ देने की इच्छा हो, उसको 'सम्प्रदान' कहा गया है। जिससे कोई पृथक् होता हो, जिससे कुछ लेता या ग्रहण करता हो तथा जिससे भय की प्राप्ति होती हो, उसकी 'अपादान' संज्ञा होती है। अपादान में पञ्चमी विभक्ति होती है। जहाँ स्व-स्वामिभाव या जन्य-जनकभाव आदि सम्बन्ध का बोध होता हो, वहाँ षष्ठी विभक्ति का प्रयोग होता है। जो आधार हो, उसकी 'अधिकरण' संज्ञा होती है। अधिकरण में सप्तमी विभक्ति का प्रयोग होता है। जहाँ एकार्थ विवक्षित हो, वहाँ एकवचन और जहाँ द्वित्व विवक्षित हो, वहाँ द्विवचन का प्रयोग करना चाहिये। बहुत्व की विवक्षा होने पर बहुवचन का प्रयोग होता है। अधुना शब्दों के सिद्ध रूप बतलाता हूँ–**वृक्षः, सूर्यः, अम्बुवाहः, अर्कः, हे रवे! हे द्विजातयः!**॥२४–२९॥

विप्रौ विप्र + प्र० द्वि०), गजान् (गज + द्वि० बहु०), **महेन्द्रेण** (महेन्द्र + तृ० एक०), **यमाभ्याम्** (यम + तृ० द्वि), **अनिलैः** (अनिल + तृ० बहु०) **कृतम्** (कृत नपुंसकलिंग प्रथमा एकवचन), रामाय (राम + च० एक०(, मुनिवर्याभ्याम् (मुनिवर्य + च० द्वि०), केभ्यः (किम् + च० बहु०), धर्मात् (धर्म + पं. एक.), केभ्यः (किम् + च० बहु०), हरौ (हरि + सप्त. एक.), रतिः (रति + प्र० एक.), शराभ्याम् (शर + पञ्च० द्वि०), पुस्तकेभ्यः (पुस्तक + पञ्च० बह०), अर्थस्य (अर्थ + षष्ठी एक०), ईश्वरयोः (ईश्वर + षष्ठी द्वि०), गतिः (गति +

शराभ्यां पुस्तकेभ्यश्च अर्थस्येश्वरयोर्गतिः। बालानां सज्जने प्र तिर्हंसयोः कमलेषु च।।३१।।
एवं काममहेशाद्याः शब्दा ज्ञेयाश्च वृक्षवत्। सर्वे विश्वे च सर्वस्मै सर्वस्मात्कतरो मतः।।३२।।
सर्वेषां खं विश्वस्मिञ्शेषं रूपं च वृक्षवत्। एवं चोभयकतरकतमान्यतरादयः।।३३।।
पूर्वे पूर्वाश्च पूर्वस्मै पूर्वस्मात्सुसमागतः। पूर्वे बुद्धिश्च पूर्वस्मिञ्शेषरूपं तु सर्ववत्।।३४।।
एवं परावराद्याश्च दक्षिणोत्तरकान्तराः। अपराश्चाधरो नेमाः प्रथमाः प्रथमेऽर्कवत्।।३५।।
एवं चरमास्तयान्ता अल्पार्धा नेम आदयः(?)। द्वितीयस्मै द्वितीयाय द्वितीयस्माद्द्वितीयकात्।।३६।।
द्वितीयोस्मिन्द्वितीये च तृतीयश्च तथाऽर्कवत्। सोमपाः सोमपौ ज्ञेयौ सोमपाः सोमपां व्रज।।३७।।

प्र. एक०), बालानाम् (बाल + षष्ठी बहु०), सज्जने (सज्जन + सप्त० एक.) प्रीतिः (प्रीति + प्र. एक.), हंसयोः (हंस + सप्त. द्वि०), कमलेषु (कमल + सप्त. बहु०), बालकों की सज्जन में प्रीति होती है और हंस के जोड़े की कमलों में–यह इकतीसवें श्लोक के उत्तरार्ध का वाक्यार्थ है।।३०-३१।।

इसी तरह काम, महेश आदि शब्द 'वृक्ष' शब्द के समान जानने चाहिये। 'सर्वे', 'विश्वे'–इन दोनों का अर्थ है–सब। ये प्रथमा विभक्ति के बहुवचनान्त रूप हैं। सर्वस्मै, सव्रस्मात् –ये 'सर्व' शब्द के क्रमशः चतुर्थी और पंचमी विभक्ति के एकवचनान्त रूप हैं। कतरो मतः = दो में से कौन अभिमत है? यहाँ कतर शब्द का प्रथमा में एकवचनान्त सिद्ध रूप दिया गया है। 'कतर' शब्द सव्रनाम है और 'सर्व' शब्द की भाँति उसका रूप चलता है। सर्वेषाम् (सर्व + षष्ठी० बहु०), स्वं च (स्व' शब्द भी सर्वनाम है। इसलिये इसका रूप भी सर्ववत् समझना चाहिये।)

विश्वस्मिन् (विश्व + सप्त. एक.)–इन शब्दों के शेष रूप 'सर्व' शब्द के समान हैं। इसी तरह उभय, कतर, कतम और अन्यतर आदि शब्दों के रूप होते हैं। पूर्वे, पूर्वाः–ये 'पूर्व' शब्द के प्रथमानत बहुवचन रूप हैं। प्रथमान्त बहुवचन में पूर्वादि शब्दों को विकल्प से सर्वनाम माना जाता है। सर्वनाम पक्ष में 'पूर्वे' और सर्वनामाभव-पक्ष में 'पूर्वाः' रूप की सिद्धि होती है। 'पूर्वस्मै (पूर्व + च० एक.), 'पूर्वस्मात् सुसमागतः–पूर्व से आया। यहाँ पूर्व शब्द का पञ्चमी विभक्ति में एकवचनान्त रूप प्रयुक्त हुआ है। **'पूर्वे बुद्धिश्च पूर्वस्मिन्'**–पूर्व में बुद्धि। यहाँ 'पूर्व' शब्द का सप्तमी के एक वचन में रूपद्वय प्रयुक्त हुआ है। 'पूर्व' आदि नौ शब्दों से पंचमी और सप्तमी के एकवचन में 'ङसि और ङि के स्थानों में 'स्मात्' और 'स्मिन्' आदेश विकल्प से होते हैं। उनके होने पर पूर्वस्मात् और पूर्वस्मिन् रूप बनते हैं और न होने पर 'राम' शब्द की भाँति 'पूर्वात्' और 'पूर्वे' रूप होते हैं। शेष रूप सर्ववत् जानने चाहिये। इसी तरह पर, अवर, दक्षिण, उत्तर, अन्तर, अपर, अधर और नेम शब्दों के भी रूप जानने चाहिये। प्रथमे, प्रथमाः–ये 'प्रथम' शब्द के बहुवचनान्त रूप हैं। इनके शेष रूप 'अर्क' शब्द के समान जानने चाहिये। इसी तरह 'चरम' शब्द, 'तयप्' प्रत्ययान्त शब्द तथा 'अल्प' 'अर्ध' और 'नेम' आदि शब्दों के भी रूप होते हैं। यहाँ अन्तर इतना ही है कि 'चरम' और 'कतिपय' आदि शब्दों के शेष रूप 'प्रथम' शब्द के समान होंगे और 'नेम' आदि शब्दों के शेष रूप सर्ववत् होंगे। जिसके अन्त में 'तीय' लगा है, उन 'द्वितीय' और 'तृतीय' शब्दों के चतुर्थी, पंचमी और सप्तमी विभक्तियों में एकवचनान्त रूप विकल्प से सर्ववत् होते हैं। जिस प्रकार–(चतुर्थी) द्वितीयस्मै, द्वितीयाय। (पंचमी) द्वितीयस्मात्, द्वितीयात्। (सप्तमी) द्वितीयस्मिन्, द्वितीये।इसी तरह 'तृतीय' शब्द के भी रूप होंगे। इन दोनों शब्दों के शेष रूप 'अर्क' शब्द के समान होते हैं।।३२-३६।।

अधुना 'सोमपा' शब्द के सिद्ध रूप क्रमशः दिये जाते हैं–**१. सोमपाः, सोमपौ, सोमपाः। २. सोमपाम्, सोमपौ, सोमपः। ३. सोमपा, सोमपाभ्याम्, सोमपाभिः। ४. सोमपे, सोमपाभ्याम्, सोमपाभ्यः। ५. सोमपः,**

कीलालपौ सोमपश्च सोमपात्सोमपे दद। सोमपाभ्यां सोमपाभ्यः सोमपः सोमपौ कुलम्।।३८।।
एवं कीलालपाद्याः स्युः कविरग्निस्तथाऽरयः। हे कवे कविमग्नी तान्हरीन्सात्यकिना हतम्।।३९।।
रविभ्यां रविभिर्देहि वह्नये यः समागतः। अग्नेरग्न्योस्तथाऽग्नीनां कवौ कव्योः कविष्वथ।।४०।।
एवं सुसृतिरभ्रान्तिः सुकीर्तिः सुधृतिस्तथा। सखा सखायौ सखायः, हे सखे व्रज सत्पतिम्।।४१।।
सखायं च सखायौ च सखीन्सख्याऽऽगतो दद। सख्ये सख्युश्च सख्युश्च सख्योः शेषः कवेरिव।।४२।।
पत्या पत्ये च पत्युश्च पत्युः पत्योस्तथाऽग्निवत्। द्वौ द्वौ द्वाभ्यां द्वाभ्यां द्वित्वाद्यर्थे द्वयोर्द्वयोः।।४३।।
त्रयस्त्रींश्च त्रिभिस्त्रिभ्यस्त्रयाणां च त्रिषु क्रमात्। कविवत्कति कतीति शेषं बहुवचनं स्मृतम्।।४४।।
नीर्नियौ च नियो हे नीः, नियं नियौ नियो निया। नीभ्यां नीभिर्नियै नीभ्यो नियां नियि नियोस्तथा।।४५।।

सोमपाभ्याम्, सोमपाभ्यः ६. सोमपः, सोमपोः, सोमपाम्। ७. सोमपि, सोमपोः, सोमपासु। (यहाँ ज्ञेयौ, व्रज, हृद और कुलम् –ये पद पादपूर्तिमात्र के लिये दिये गये हैं। यहाँ प्रकृत में इनका कोई उपयोग नहीं है। 'सोमपा' शब्द के समान ही कीलालपा आदि शब्दों के रूप होंगे। अधुना कवि, अग्नि, अरि, हरि, सात्यकि, रवि, वह्नि–इन शब्दों के कतिपय सिद्ध रूप उद्धृत किये जाते हैं। कविः (कवि + प्र० एक.), अग्निः (अग्निः (अग्नि + प्र. एक), अरयः (अरि + प्र० बहु०), हे कवे! (कवि + सम्बोधन एक०), कविम् (कवि + द्वि० एक०), अग्नी (अग्नि + द्वि० द्वि०) हरीन् (हरि + द्वि० बहु०), **सात्यकिना** (सात्यकि + तृ० एक०), रविभ्याम् (रवि + तृ० द्वि०), रविभिः (रवि० + तृ० बहु०), '**देहि वह्नये यः समागतः**–जो आया है उसको वह्नि (अग्नि) को समर्पित कर दो। वह्नये (वह्नि + च० एक०), अग्नेः (अग्नि + षष्ठी एक०), अग्न्योः (अग्नि + षष्ठी द्वि०), अग्नीनाम् (अग्नि + षष्ठी बहु०), कवौ (कवि + सप्त० एक०), कव्योः (कवि + सप्त० द्वि०), कविषु (कवि + सप्त० बहु०)।।३४-४०।।

इसी तरह सुसृति, अभ्रान्ति, सुकीर्ति और सुधृति आदि शब्दों के रूप जानने चाहिये। यहाँ इस सभी का प्रथमा का एकवचनान्त रूप दिया है। यथा–**सुसृतिः, अभ्रान्तिः, सुकीर्तिः, सुधृतिः। अधुना 'सखि'** शब्द के रूप दिये जाते हैं–**१. सखा, सखायौ, सखायः। हे सखे! सत्पतिं व्रज।** (हे मित्र! आप अच्छे स्वामी के पास जाओ।) 'हे सखे' यह सखि शब्द का सम्बोधन में एकवचनान्त रूप है। **२. सखायम्, सखायौ, सखीन्।** ३. सख्या आगतः (मित्र के साथ आया)। **४. सख्ये दद** (मित्र को दो)। **५. सख्युः। ६. सख्युः**, सख्योः, सखीनाम्। **७. सख्यौ, सख्योः, सखिषु।** शेष रूप 'कवि' शब्द के समान जानने चाहिये।

पत्या (पति + तृ० एक०), पत्ये (पति + च० एक०), पत्युः (पति + पञ्च० एक०), पत्युः (पति + षष्ठी एक०), पत्योः (पति + षष्ठी द्वि०), पत्यौ (पति + सप्त० एक०)। पति शब्द के शेष रूप 'अग्नि' शब्द के समान जानने चाहिये। (यदि 'पति' शब्द समास में आबद्ध हो, तो उसके सम्पूर्ण रूप 'कवि' शब्द के समान ही होंगे।) अधुना 'द्वि' शब्द के पुंलिंग रूप दिये जाते हैं, यह नित्य द्विवचनान्त है। १, २. द्वौ। ३, ४, ४–द्वाभ्याम्। ६, ७–द्वयोः। यह **दो संख्या का वाचक है।।४१-४३।।**

अधुना संख्या तीन के वाचक नित्य बहुवचनान्त पुलिंग 'त्रि' शब्द के रूप दिये जाते हैं–**१. त्रयः।** २. त्रीन् **त्रिभिः।** ४, ५–त्रिभ्यः। ६. त्रयाणाम्। ७. त्रिषु। –ये क्रमशः सात विभक्तियों के रूप हैं। अधुना 'कति' शब्द के रूप दिये जाते हैं–१. कति। २. कति। शेष रूप 'कवि' शब्द के समान होते हैं। यह नित्य बहुवचनान्त शब्द है। अधुना

सुश्रीः सुधीप्रभतयो ग्रामणीः पूजयेद्धरिम्। ग्रामण्यौ ग्रामण्यो ग्रामण्यं ग्रामण्या ग्रामणीभिः।।४६।।
ग्रामण्योर्ग्रामण्यामेवं सेनानीप्रमुखाः सुभूः। सुभुवौ च स्वयंभुवः स्वयंभुवं स्वयंभुवः।।४७।।
स्वयंभुवा स्वयंभुवि एवं प्रतिभुवादयः। खलपूः खलप्वौ श्रेष्ठौ खलप्वं च खलप्वि च।।४८।।
एवं शरपूमुखाः स्युः क्रोष्टा क्रोष्टार ईरिताः। क्रोष्टूंश्च क्रोष्टुना क्रोष्ट्रा क्रोष्टूनां क्रोष्टरीदृशम्।।४९।।
पिता पितरौ पितरः, हे पितः पितरौ शुभौ। पितॄन्पितुः पितुः पित्रोः पितॄणां पितरीदृशम्।।५०।।
(एवं भ्राता च जमातृमुखा नृणां नृणां तथा। कर्ता कर्तारौ कर्तृष्च कर्तृणा कर्तरीहशम्।।५१।।

'नेता' के अर्थ गें प्रयुक्त होने वाले 'नी' शब्द के रूप उद्धत किये जाते हैं–१. नीः, नियौ, नियः। सम्बोधन–हे नीः, हे नियौ, हे नियः। २. नियम्, नियौ, नियः। ३. निया, नीभ्याम्, नीभिः। ४. निये, नीभ्याम्, नीभ्यः। ५. नियः, नीभ्याम्, नीभ्यः। ६. नियः, नियोः, नियाम्। ७. नियि, नियोः नीषु। सुश्रीः (सुश्री + प्र० एक०)। इसी तरह 'सुधीः' आदि शब्दों के रूप जानने चाहिये। 'ग्रामणीः पूजयेद्धरिम्' गाँव का मुखिया श्रीहरि विष्णु का पूजन करना चाहिये। 'ग्रामणी' शब्द के रूप इस तरह हैं–१. ग्रामणीः, ग्रामण्यौ, ग्रामण्यः। २. ग्रामण्यम्, ग्रामण्यौ, ग्रामण्यः। ३. ग्रामण्या, ग्रामणीभ्याम्, ग्रामणीभिः। ४. ग्रामण्ये, ग्रामणीभ्याम्, ग्रामणीभ्यः। ५. ग्रामण्यः, ग्रामणीभ्याम्, ग्रामणीभ्यः। ६. ग्रामण्यः, ग्रामण्योः, ग्रामण्याम्। ७. ग्रामण्याम्, ग्रामण्योः, ग्रामणीषु।

इसी तरह 'सेनानी' आदि शब्दों के रूप जानने चाहिये। 'सुभू' शब्द के रूप–सुभूः, सुभुवौ इत्यादि हैं। 'स्वयम्भूं' शब्द के रूप–१. स्वयम्भुः, स्वयम्भुवौ, स्वयम्भुवः। २. स्वयम्भुवम्, स्वयमभुवौ, स्वयम्भुवः। ३. स्वयम्भुवा। सप्तमी के एकवचन में 'स्वयम्भुवि'। शेष 'सुभू' शब्द के समान। इसी तरह 'प्रतिभू' आदि शब्दों के रूप जानने चाहिये। 'खलपू' शब्द के रूप–खलपूः, खलप्वौ, खल्पवः। खलप्वम् इत्यादि हैं। सप्तमी के एकवचन में 'खलप्वि'–यह रूप होता है। इसी तरह 'शरपू' आदि शब्दों के रूप जानने चाहिये। 'क्रोष्टु' शब्द के क्रमशः पाँच रूप इस तरह होते हैं–क्रोष्टा, क्रोष्टारौ, क्रोष्टारः। क्रोष्टारम्, क्रोष्टारौ। द्वितीया के बहुवचन में 'क्रोष्टून्'–यह रूप बनता है। तृतीया आदि के स्वरादि प्रत्ययों में दो–दो रूप चलते हैं। एक 'क्रोष्टु' शब्द के दूसरे 'क्रोष्ट' शब्द के। यथा–क्रोष्टुना कोष्ट्रा, क्रोष्टवे क्रोष्ट्रे, क्रोष्टोः क्रोष्टुः इत्यादि। षष्ठी के बहुवचन में 'क्रोष्टूनाम्'–यह एक ही रूप होता है। सप्तमी के एकवचन में क्रोष्टौ, क्रोष्टरि–ये रूप होते हैं। हलादि विभक्तियों में इसके रूप 'शम्भु' आदि शब्दों के समान होते हैं। 'पितृ' शब्द के रूप–

१. पिता, पितरौ, पितरः। सम्बोधन में–हे पितः! हे पितरौ! हे पितरः!। २. पितरम्, पितरौ, पितॄन्। ३. पित्रा, पितृभ्याम्, पितृभिः। ४. पित्रे, पितृभ्याम्, पितृभ्यः। ५. पितुः, पितृभ्याम्। पितृभ्यः। ५.पितुः, पितृभ्याम्, पितृभ्यः। ६. पितुः, पित्रोः, पितॄणाम्। ७. पितरि, पित्रोः, पितृषु।।४४–५०।।

इसी तरह 'भ्रातृ' और 'जामातृ' आदि शब्दों के रूप जानने चाहिये–१. भ्राता, भ्रातरौ, भ्रातरः। जामाता, जामातरौ, जामातरः इत्यादि। 'नृ' शब्द के रूप 'पितृ' शब्द के समान होते हैं। केवल षष्ठी के बहुचन में उसके नृणाम्, नृणाम्–ये दो रूप होते हैं। 'कर्तृ' शब्द के प्रारम्भिक पाँच रूप इस तरह होते हैं–कर्त्ता, कर्त्तारौ, कर्त्तारः। कर्त्तारम्, कर्त्तारौ। द्वितीया के बहुवचन में कर्त्तॄन, षष्ठी के बहुचन में कर्त्तॄणाम् और सप्तमी के एकवचन में कर्त्तरि रूप होते हैं। शेष रूप 'पितृ' शब्द के समान जानने चाहिये। इसी तरह उद्गातृ, स्वसृ और नप्तृ आदि शब्दों के रूप होते हैं। उद्गाता उद्गातारौ उद्गातारः। स्वसा, स्वसारौ, स्वसारः, नप्ता, नप्तारौ नप्तारः इत्यादि। शेष रूप 'कर्तृ' शब्द के समान होते हैं। 'स्वसृ' शब्द का द्वितीया के बहुवचन में 'स्वसॄः' रूप होता है। 'सुरै' शब्द के रूप इस तरह हैं–

पितृवच्चैवमुद्गाता स्वसा नप्त्रादयः स्मृताः। सुराः सुरायौ सुरायः सुरायां च सुराय्यपि)॥५२॥
गौः, गावौ गां गा गवा च गोर्गवोश्च गवां गवि। एवं द्यौर्ग्लौश्चापि तथा स्वरान्ताः पुंसि नायकाः॥५३॥
सुवाक्सुवाचौ सुवाचा सुवाग्भ्यां च सुवाक्ष्यपि। एवं दिक्प्रमुखाः प्राङ्च प्राञ्चौ प्राञ्चं च भो व्रज॥५४॥

प्राग्भ्यां (च) प्राग्भिः प्राचां च प्राचि च प्राङ्षु प्राङ्क्ष्वपि।
एवं ह्युदङ्ङुदीची वा सम्यङ्प्रत्यक्समीच्यपि॥५५॥

तिर्यङ् तिरश्च सध्यङ् च विश्व (ष्व) द्र्यङ्पूर्ववत्स्मृताः। अदद्र्यङ्ङमुयङ् स्यात्तथाऽमुमुयङीरितः॥५६॥
अदद्र्यञ्चो ह्यमुद्री च अदद्र्यग्भ्यां च पूर्ववत्। तत्त्वतृट् तत्त्वतृषौ च तत्त्वतृड्भ्यां समागतः॥५७॥
तत्त्वतृषि, तत्त्वतृट्सु एवं काष्ठतडादयः। भिषग्भिषग्भ्यां भिषजि जन्मभागादयस्तथा॥५८॥
मरुत्, मरुद्भ्यां मरुति एवं शत्रुजिदादयः। भवान्भवन्तौ भवतां भवंश्चैव भवन्त्यपि॥५९॥

सुराः, सुरायौ, सुरायः इत्यादि। षष्ठी के बहुवचन में सुरायाम् और स्पतमी के एकवचन में सुरायि रूप होते हैं। 'गो' शब्द के रूप इस तरह होते हैं। १. **गौः, गावौ, गावः**। २. **गाम्, गावौ, गाः**। ३. **गवा गोभ्याम्**, गोभिः इत्यादि। षष्ठी–**गोः, गवोः, गवाम्**। सप्तमी–गवि, गवोः, गोषु। इसी तरह 'द्यौ' तथ 'ग्लौ' शब्दों के रूप जानने चाहिये। ये स्वरान्त शब्द पुंलिंग में नायक (प्रधान) हैं॥५१-५३॥

अधुना हलन्त पुलिंग शब्दों के सिद्ध रूप बताये जाते हैं। 'सुवाच्' शब्द के रूप इस प्रकार जानने चाहिये- १. सुवाक् शब्द के रूप इस प्रकार जानने चाहिये–१. **सुवाक् सुवाचौ, सुवाचः**। २. **सुवाचम्**, सुवाचौ, **सुवाचः**। ३. **सुवाचा, सुवाग्भ्याम्, सुवाग्भिः**। इत्यादि। (सप्त० बहुवचन में)–सुवाक्षु। इसी तरह 'दिश्' आदि शब्दों के रूप होते हैं। प्राञ्च् शब्द के रूप–१. प्राङ् प्राञ्चौ, प्राञ्चः। २. भोः प्राञ्चं व्रज (हे भाई! आप प्राचीन महापुरुषों के पथ पर चलो)। यहाँ प्राञ्चम् यह द्वितीया विभक्ति का एकवचानान्त रूप है। ३. **प्राचा, प्राग्भ्याम्, प्राग्भिः**। षष्ठी के बहुवचन में 'प्राचाम्' रूप होता है। सप्तमी के एकवचन में 'प्राक्षु' द्विवचन में प्राचोः और बहुवचन में प्राक्षु। पूजार्थक 'प्राञ्च' शब्द के सप्तमी के बहुवचन में 'प्राङ्षु' प्राङ्क्षुं'। इसी तरह उदञ्च्, सम्यञ्च् और प्रत्यञ्च् शब्दों के भी रूप होते हैं। यथा–'उदङ् उदञ्चौ उदञ्चः इत्यादि। स्त्रीलिंग में उदीची। सम्यङ् सम्यञ्चौ, सम्यञ्चः।

स्त्रीलिंग में समीची। प्रत्यङ् प्रत्यञ्चौ, प्रत्यञ्चः। स्त्रीलिंग में प्रतीची। इन सभी शब्दों के शस् आदि विभक्तियों में इस तरह रूप जानने चाहिये–**उदीचः। उदीचा। समीचः, समीचा। प्रतीचः, प्रतीचा** इत्यादि। लिर्यङ् तिरश्चः। **सध्यङ्, सध्रीचः। विश्वद्र्यङ्, विश्वद्रीचः**। इत्यादि रूप भी पूर्ववत् बनते हैं। 'अमुम् अञ्चति'–इस विग्रह में अमुमुयङ्, अदमुयङ् अदद्र्य– तीन तीन रूप प्रथमा विभक्ति के एकवचन में होते हैं। प्रथमा के बहुवचन में 'अद्र्यञ्चः तथा अमुद्रीचः–ये रूप होते हैं। 'भ्याम्' विभक्ति में पूर्ववत् शब्द के यप इस तरह होते हैं–१. **तत्त्वतृद्-तत्त्वतृड्, तत्त्वतृषौ, तत्त्वतृषः** इत्यादि। तृतीया आदि के द्विवचन में **तत्त्वतृड्भ्याम्। 'तत्त्वड्भ्यां समागतः'**–वह तत्त्वज्ञान की पिपासा वाले दो व्यक्तियों के साथ आया।' सप्तमी के एकवचन में तत्त्वतृषि और बहुवचन में तत्त्वतृट्सु–ये रूप होते हैं। इसी तरह 'काष्ठतड्' आदि रूप होते हैं। यथा–**काष्ठतद्, काष्ठतड्, काष्ठतक्षौ, काष्ठतक्षः** इत्यादि। 'भिषज्' शब्द के रूप 'भिषक्' भिषग्–भिषजौ, भिषजः इत्यादि होते हैं। तृतीया के द्विवचन में 'भिषग्भ्याम्' और सप्तमी के एकवचन में 'भिषजि' रूप होते हैं। इसी तरह 'जन्मभाक्' आदि भी जानने चाहिये। यथा–'जन्मभाक्' जन्मभाग, जन्माभाजौ, जन्मभाजः इत्यादि। 'मरुत्' शब्द के रूप इस तरह जाने–**मरुत्, मरुद् मरुतौ मरुतः**। मरुद्भ्याम् मरुति

महा महान्तौ महतामेवं भगवदादयः। एवं मघवान्मघवन्तौ अग्निमच्चाग्निमत्यपि।।६०।।
अग्निचित्स्वेवमेवान्यद्वेद वित्तत्त्ववित्त्वपि। वेदविदामेवमन्यद्यः समस्तेन सर्ववित्।।६१।।
राजा च राजानौ राज्ञः राज्ञि राजनि च राजन्। यज्वा च यज्वानस्तद्वत्करी दण्डी च दण्डिनौ।।६२।।
पन्थाः पन्थानौ च पथः पथिभ्यां पथि चेदृशम्। मन्था ऋभक्षाः पथ्याद्याः पञ्च पञ्च च पञ्चभिः।।६३।।
प्रतान्प्रतानौ प्रतान्भ्यां हे प्रतांश्च सुशर्मणः। आपोऽपः अद्भिरप्येवं प्रशांश्चैव प्रशाम्यपि।।६४।।
कः केन सर्ववित्केषु अयं चेमे इमान्नयः(?)। अनेन चाऽऽभ्यामेभिश्च अस्मै चैभ्यः स्वमस्य च।।६५।।

इत्यादि। इसी तरह 'शत्रुजित्' आदि शब्दों के भी रूप होते हैं। पूजनीय व्यक्ति के लिये प्रयुक्त होने वाले 'भवत्' शब्द के रूप इस तरह हैं—**भवान्, भवन्तौ, भवन्तः** इत्यादि। षष्ठी के बहुवचन में 'भवताम्'—यह रूप होता है। 'भू' धातु से बनने वाले 'शतृ' प्रत्ययान्त 'भवत्' शब्द के रूप इस तरह होते हैं—भवन्, भवन्तौ भवन्तः इत्यादि। स्त्रीलिङ्ग में 'भवन्ती' रूप होता है। 'महत्' शब्द के रूप—महान्, महान्तौ, महान्तः। महती, इत्यादि। 'भववत्' आदि शब्दों के रूप 'भवत्' शब्द की तरह—भगवान् भगवन्तौ भगवन्तः इत्यादि होते हैं। इसी तरह 'मघवत्' शब्द के रूप जानने चाहिये। यथा—मघवान्, मघवन्तौ मघवन्तः इत्यादि। 'अग्निचित्' शबद के रूप—अग्निचित्-द्, अग्निचितौ, अग्निचितः और बहुवचन में 'अग्निचित्सु'—ये रूप होते हैं। इसी तरह अन्यान्य 'तत्त्ववित्' 'वेदवित्' तथा 'सर्ववित्' शब्दों के रूप होते हैं।।५४-६१।।

'राजन' शब्द के सिद्ध रूप इस तरह जानने चाहिये। यथा—**१. राजा, राजानौ, राजानः। २. राजानम् राजानौ राज्ञः। ३. राज्ञा राजभ्याम् राजभिः** इत्यादि। सप्तमी के एकवचन में 'राज्ञि' और 'राजनि'—ये दो रूप होते हैं। सम्बोधन में—हे राजन्! इत्यादि। 'यज्वन्' शब्द के—**यज्वा यज्वानौ यज्वानः** इत्यादि रूप होते हैं। 'करिन्' और 'दण्डिन्' इत्यादि इन्नन्त शब्दों के रूप इस तरह होते हैं—**करी करिणौ करिणः। दण्डी दण्डिनौ दण्डिनः** इत्यादि। 'पथिन्' शब्द के सिद्ध रूप इस प्रकार है—**१. पन्थाः पन्थानौ पन्थानः। २. पन्थानम् पन्थानौ पथः। ३. पथा पथिभ्याम् पथिभिः**—इत्यादि। सप्तमी के एकवचन में 'पथि' रूप होता है। इसी तरह 'मथिन्' शब्द का भी रूप समझना चाहिये। यथा—मन्थाः, मन्थानौ, मन्थानः, इत्यादि। **ऋभुक्षाः, ऋभुक्षाणौ, ऋभुक्षाणः**—इत्यादि। पथ्यादि में पथिन् मथिन् तथा ऋभुक्षन्—ये तीन शब्द आते हैं। पाँच संख्या का वाचक 'पञ्चन्' शब्द नित्य बहुवचनान्त है। उसके रूप इस तरह होते हैं—**१-२. पञ्च, ३. पञ्चभिः, ४-५. पञ्चभ्यः, ६. पञ्चानाम्, ७. पञ्चसु। 'प्रतान्'** शब्द के रूप—प्रतान्, प्रतानौ, प्रतानः, इत्यादि हैं। तृतीया आदि के द्विवचन में 'प्राता'भ्यां' रूप होता है। सम्बोधन में 'हे प्रतान्!। 'सुशर्मन्' शब्द के रूप—सुशर्मा सुशर्माणौ, सुशर्माणः इत्यादि हैं। शस्, ङसि, ङस्—इन विभक्तियों में 'सुशर्मणः' रूप होता है। अप् शबद नित्यबहुवचनान्त और स्त्रीलिङ्ग है। इसके रूप इस प्रकार जानने चाहिये—**१. आपः। २. अपः, ३. अद्भिः। ४-५. अद्भ्यः। ६. अपाम्। ७. अप्सु। 'प्रशाम्'** शब्द के रूप **प्राशान्, प्रशामौ, प्रशामः** इत्यादि हैं। सप्तमी के एकवचन में 'प्रशामि' रूप होता है। 'किम्' शब्द के रूप—**१. कः, कौ, के। २. कम्, को, कान् ३. केन, काभ्याम्, कैः**—इत्यादि। सप्तमी बहुवचन में—केषु। शेष रूप सर्ववत् होते हैं।

'इदम्' शब्द के रूप इस तरह हैं। **१. अयम्, इमौ, । २. इमम्, इमौ, इममान्। 'इमान्नय'** (अर्थात् इनको ले जाओ) **३. अनेन, आभ्याम्, एभिः। ४. अस्मै, आभ्याम्, एभ्यः। ५. अस्मात्, आभ्याम्, एभ्यः। ६. अस्य, अनयोः, एषाम्। ७. अस्मिन्, अनयोः, एषु। 'चतुर्'** शब्द नित्य बहुवचनान्त है। पुंलिंग में इसके रूप

अनयोरेषामेषु स्याच्चत्वारश्चतुरस्तथा। चतुर्णां च चतुर्ष्वस्ति सुगीः श्रेष्ठः सुगीर्ष्वपि॥६६॥

सुद्यौः सुदिवौ सुद्युभ्यां विड्‌विषौ विट्‌सु यादृशः।
यादृग्भ्यां चैव विड्भ्यां च षट् षट् षण्णां च षट्स्वपि॥६७॥

सुवचाः सुवचसा च सुवचोभ्यामथेदृशम्। हे सुवचो हे उशनन्नुशना वोशनस्यपि॥६८॥
पुर (रु) दंसा अनेहा हे विद्वन्विद्वांस उत्तमाः। विदुषे नमो विद्वद्भ्यां विद्वत्सु च वभूविवान्॥६९॥
एवं च पेचिवाञ्श्रेयांसौ श्रेयसस्तथा। असौ अमू अमी श्रेष्ठा अमुममूनिहामुना॥७०॥
अभीभिरमुष्यै बाऽमुष्मादमुष्य वाऽमुयोस्तथा। अमीषाममुष्मिन्नित्येवं च गोधुग्भिरागतः॥७१॥
गोधुक्ष्वित्येवमन्येऽपि मित्रद्रुहो मित्रद्रुहा। मित्रध्रुग्भ्यां मित्रद्रु (ध्रु) ग्भिरेवं चित्तद्रुहादयः॥७२॥

इस प्रकार होते हैं—१. चत्वारः, २. चतुरः। ३. चतुर्भिः। ४-५. चतुर्भ्यः। ६. चतुर्णाम्। ७. चतुर्षु। जिसकी वाणी अच्छी हो, वह पुरुष श्रेष्ठ माना जाता है। उसको 'सुगीः' कहते हैं। यह प्रथमा का एकवचन है। 'सुगिर्' शब्द का सप्तमी के एकवचन में 'सुगिरि' रूप होता है। 'सुदिव्' शब्द के रूप इस तरह हैं—१. सुद्यौः, सुदिवौ, सुदिवः इत्यादि। तृतीया आदि के द्विवचन में 'सुद्युभ्याम्' रूप होता है। 'विश्' शब्द के रूप—विट्‌विड्, विशौ, विशः। विड्भ्याम् इत्यादि होते हैं। सप्तमी के बहुवचन में 'विटसु' रूप होता है। 'यादृश्' शब्द के रूप इस तरह हैं—यादृक्-ग् यादृशौ, यादृशः। यादृशा, यादृग्भ्याम् इत्यादि। 'षष्' शब्द नित्य बहुवचनान्त है। इसके रूप इस प्रकार है—**१-२. षट्-षड्। ३. षड्भिः। ४-५. षड्भ्यः। ६. षण्णाम्। ७. षट्सु। 'सुवचस्' शब्द के रूप इस तरह हैं—१. सुवचाः, सुवचसौ, सुवचसः, २. सुवचसम्, सुवचसौ, सुवचसः। ३. सुवचसा, सुवचोभ्याम्, सुवचोभिः**— इत्यादि। सम्बोधन में—हे सुवचः! 'उशनस्' शब्द के रूप इस प्रकार है—१. उशना, उशनसौ उशनसः। हे उशनः इत्यादि। सप्तमी के एकवचन में 'उशनसि' रूप होता है। 'पुरुदंशस्' और 'अनेहस्' शब्दों के रूप भी इस तरह होते हैं। यथा—१. पुरुदंशा, पुरुदंशसौ, पुरुदंशसः। अनेहा, अनेहसौ, अनेहसः इत्यादि। 'विद्वस्' शब्द के रूप इस प्रकार जानने चाहिये-विद्वान्, विद्वांसौ, विद्वांसः, हे विद्वन् इत्यादि 'विद्वांस श्रेष्ठतमाः' (विद्वान् पुरुष श्रेष्ठतम होते हैं) चतुर्थी विभक्ति के एकवचन में 'विदुषे' रूप होता है। 'विदुषे नमः' (विद्वान् को नमस्कार है)। द्विवचन में 'विद्वद्भ्याम्' और सप्तमी के बहुवचन में 'विद्वत्सु' रूप होते हैं। 'स विद्वत्सु बभूत्सु बभूविवान्' (वह विद्वानों में प्रकट हुआ।) 'बभूविवस्' शब्द के रूप इस तरह जानने चाहिये—**बभिूविवान् बभूविवांसौ, बभूविवांसः**—इत्यादि। इसी तरह **'पेचिवान्, पेचिवांसौ, पेचिवांसः। श्रेयान् श्रेयांसौ, श्रेयांसः**—इत्यादि रूप जाने चाहिये। 'श्रेयस्' शब्द के द्वितीया के बहुवचन में 'श्रेयसः' रूप होता है। अधुना अदस्' शब्द के पुंलिंग में रूप बताते हैं—**१. असौ, अमू, अमी। २. अमुम्, अमू, अमून्। ३. अमुना, अमूभ्याम्, अमीभिः। ४. अमुष्मै, अमूभ्याम्, अमीभ्यः। ५. अमुष्मात्, अमूभ्याम्, अमीभ्यः। ६. अमुष्य, अमुयोः, अमीषाम्। ७. अमुष्मिन्, अमुयोः, अमीषु। 'गोधुग्भिरागतः'** (वह गाय दुहने वालों के साथ आया)। 'गोदुह्' शब्द के रूप इस तरह हैं—**गोधुर्क्-ग्, गोदुहौ, गोदुहः। गोधुक्षु** इत्यादि।

इसी तरह, 'दुह्' आदि अन्य शब्दों से रूप जानने चाहिये। 'मित्रदुह्' शब्द के रूप इस तरह जानने चाहिये। **मित्रधुक्-ग्, मित्रधुद् ड्, मित्रद्रुहौ, मित्रद्रुहः। मित्रद्रुहा, मित्रधुग्भ्याम्, मित्रधुड्भ्याम्, मित्रधुग्भिः**, मित्रधुड्भिः इत्यादि। इसी तरह 'चित्रद्रुह्' आदि शब्दों के भी रूप जानने चाहिये। 'स्वलिह्' शब्द के इस प्रकार होते हैं—स्वलिट्-

स्वलिट् स्वलिड्भ्यां स्वलिहि अनड्वाननडुत्सु च। अन्ताश्च हलन्ताश्च पुंस्यथोऽ(था)थ स्त्रियां वदे।।७३।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गति सुब्विभक्तिसिद्धरूपकथनं नामैकपञ्चाशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः।।३५१।।

—*****—

अथ द्विपञ्चाशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः

स्त्रीलिङ्गशब्दसिद्धरूपम्

स्कन्द उवाच

रमा रमे रमाः शुभा रमां रमे रमास्तथा। रमया च रमाभ्यां च रमाभिः कृतमव्ययम्।।१।।

रमायै च रमाभ्यां रमायां (या) (श्च) रमयोः शुभम्। रमाणां च रमायां च रमास्वेवं कलादयः।।२।।

जरा जरसौ जर (रे) इति जरसश्च जरा जराम्। जरसं च जरास्वेवं सर्वा सर्वे च सर्वया।।३।।

सर्वस्यै देहि सर्वस्याः सर्वस्याः सर्वयोस्तथा। शेषं रमावद्रूपं स्याद्द्वे द्वे तिस्रश्च तिसृणाम्।।४।।

स्वलिड्, स्वलिहौ, स्वलिहः। स्वलिहा, स्वलिड्भ्याम् इत्यादि। सप्तमी के एकवचन में 'स्वलिहि' रूप होता है। 'अनुडुह्' शब्द के रूप इस प्रकार है–**१. अनड्वान्, अनड्वाहौ, अनड्वाहः। २. अनड्वाहम्, अनड्वाहौ, अनुडुहः, ३. अनडुहा, अनडुद्भ्याम्, अनडुद्भिः।** सप्तमी के बहुवचन में 'अनडुत्सु' (सम्बोधन में हे अनुड्वन्')। अजन्त और हलन्त शब्द पुंलिंग में बताये गये। अधुना स्त्रीलिङ्ग में बताये गये हैं।।६२-७३।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी तीन सौ एकावनवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।३५१।।

अध्याय–३५२

स्त्रीलिङ्ग सिद्ध शब्द रूप विचार

भगवान् स्कन्द ने कहा कि–आकारान्त स्त्रीलिङ्ग 'रमा' शब्द के रूप इस तरह होते हैं, –रमा (प्र.–ए.) रमे (प्र.–द्वि.), रमाः (प्र.–ब.), 'रमाः शुभाः' (रमाएँ शुभस्वरूपा हैं)। रमाम् द्वि.–ए.), रमे (द्वि.–द्वि.) रमाः (द्वि.–ब.)। रमया (तृ.–ए.), रमाभ्याम् (तृ.–द्वि.), रमाभिः (तृ.–ब.), 'रमाभिः कृतमव्ययम्'। –(रमाओं ने अव्यय (अक्षय) पुण्य किया है)। रमायै (च.–ए.), रमाभ्याम् (च., पं.–द्वि), रमायाः (प., ष.–ए.), रमयोः (ष., स.–द्वि.), 'रमयोः शुभम्' (दो रमाओं का शुभ)। रमाणाम् (ष.–ब.)। रमायाम् (स.–ए.), रमासु (स.–ब.)।

इसी तरह 'कला' आदि शब्दों के रूप होते हैं। आकारान्त 'जरा' शब्द के कुछ रूप भिन्न होते हैं–जरा (प्रथमा विभक्ति एक.)–में जरसौ–जरे (प्र., द्वि.–द्वि), जरसः–जराः (प्र., द्वि.–बहु.), जरसम्–जराम् (द्वि.–ए.), जरासु (स.–ब.)। अधुना 'सर्वा' शब्द के रूप कहते हैं–१. सर्वा, सर्वे, सर्वाः। २. सर्वाम् सर्वे सर्वाः। सर्वया (तृ.–ए.), सर्वस्यै (च.–ए.), 'सर्वस्यै देहि' (सभी को दो)। सर्वस्याः (प.–ए.), सर्वस्याः (ष.–ए.) सर्वयोः (ष., स.–द्वि.),

बुद्धिर्बुद्ध्या बुद्धये च बुद्ध्यै बुद्धेश्च हे मते। कविवत्स्यान्मुनीनां च नदी नद्यौ नदीं नदीः॥५॥
नद्यानदीभिर्नद्यै च नद्यां चैव नदीषु च। कुमारी जृम्भणीत्येवं श्रीः श्रियौ च श्रियः श्रिया॥६॥
श्रियै श्रिये स्त्रीं स्त्रियं च स्त्रीश्च स्त्रियः स्त्रिया स्त्रियै। स्त्रियाः स्त्रीणां स्त्रियां च ग्रामण्यां धेन्वै च धेनवे॥७॥
जम्बूर्जम्ब्वौ च जम्बूश्च जम्बूनां च फलं पिब। वर्षाभ्वौ च पुनर्भ्वौ च मातृर्वाऽपि च गौश्च नौः॥८॥
वाग्वाचा वाग्भिश्च वाक्षु स्रग्भ्यां स्रजि स्रजोस्तथा। विद्वद्भयां चैव विद्वत्सु भवती स्याद्भवन्त्यपि॥९॥
दीव्यन्ती भाती भान्ती च तुदन्ती च तुदत्यपि। रुदती रुन्धती देवी गृह्णती चोरयन्त्यपि॥१०॥
दृषद्दृषद्भ्यां दृषदि विशेषविदुषी कृतिः। समित्समिद्भयां समिधि देवी सीमा सीम्नि च सीमनि॥११॥

शेष रूप 'रमा' शब्द के समान होते हैं। स्त्रीलिङ्ग नित्य द्विवचनान्त द्वि-शब्द के रूप ये हैं—द्वे (प्र.—द्वि), द्वे (द्वि.-द्वि.), 'त्रि' शब्द के रूप ये हैं—१-२. तिस्रः। तिसृणाम् (ष.—ब.)।

'बुद्धि' शब्द के रूप इस तरह हैं—बुद्धिः (प्र.—ए.), बुद्ध्या (तृ.—ए.), बुद्धये-बुद्ध्यै (च.—ए.), बुद्धेः (प., ष.—ए.)। मति' शब्द के सम्बोधन के एकवचन में 'हे मते'—यह रूप होता है। 'मुनीनाम्' (यह मुनि' शब्द के षष्ठी-बहुवचन का रूप है) और शेष्ज्ञ रूप 'कवि' शब्द के समान होते हैं। 'नदी' शब्द के रूप इस तरह होते हैं—नदीं'प्र.-ए.), नद्यौ (प्र. द्वि.—द्वि), नदीम् (द्वि.—ए.), नदीः द्वि.—ब.) नद्या (तृ.—ए.), नदीभिः (तृ.—ब.) नद्यै (च.—ए.) नद्याम् (स.—ए.), नदीषु (स.—ब), इसी तरह 'कुमारी' और जृम्भणी' शब्द के रूप होते हैं 'श्री' शब्द के रूप भिन्न होते हैं—'श्रीः''प्र.—ए.), श्रियौ (प्र.—द्वि.—द्वि.), श्रियः (प्र., द्वि.—ब.), श्रिया (तृ.—ए.), श्रियै —श्रिये (च.—ए.)। 'स्त्री' शब्द के रूप अधोलिखित हैं—स्त्रीम्-स्त्रियम् (द्वि०—ए.), स्त्रीः—स्त्रियः (द्वि.—ब.), स्त्रियम् (द्वि.—ए.), स्त्रियै (च.-ए.), स्त्रियाः (प., ष.—ए.), स्त्रीणाम् (ष.ब.) स्त्रियाम् (स.—ए.)। स्त्रीलिङ्ग 'ग्रामणी' शब्द का सप्तमी के एकवचन में 'ग्रामण्याम्' और 'धेनु' शब्द का चतुर्थी के एकवचन में 'धेन्वै, धेनवे' रूप होते हैं॥१-७॥

'जम्बु' शब्द के रूप ये हैं—जम्बूः (प्र.—ए.) जम्ब्वौ (प्र.—द्वि), जम्बूः (द्वि—ब.), जम्बूनाम् (ष.—ब)। 'जम्बूनां फलं पिब।' (जामुन के फलों का रस पीयो)। 'वर्षाभू' आदि शब्द के कतिपय रूप यह हैं—वर्षाभ्वौ (प्र., द्वि०—द्वि)। पुनर्भ्वौ (प्र., द्वि.—द्वि)। मातृः (मातृशब्द का द्वि.—ब.)। गौः (गो + प्र.—ए.(। नौः (नौका) (प्र.—ए.)। 'वाच्' शब्द के रूप ये हैं—वाक्—वाग् (प्र.—ए.) (वाणी), वाचा (तृ.—ए.) वाग्भिः (तृ.—ब.)। वाक्षु (स.—ब.)। पुष्पहारवाचक 'स्रज्' शब्द के रूप ये हैं—स्रग्भ्याम् (तृ., च. एवं. पं.—द्वि)। स्रजि (स.—ए०.—) स्रजोः (ष.स.—द्वि.)।

लतावाचक 'वीरुध्' शक्द के रूप ये हैं—वीरुद्भ्याम् (तृ., च. एवं पं.—द्वि) वीरुत्सु (स.—ब.)। स्त्रीलिङ्ग में प्रथमा के एकवचन में उकारानुन्ध 'भवत्' शब्द का 'भवन्ती' रूप होता है। स्त्रीलिङ्ग 'दीव्यत्' शब्द का प्रथमा के एकवचन में 'दीव्यन्ती' रूप होता है। स्त्रीलिङ्ग में 'भात्' शब्द के भी प्रथमा के एकवचन में भाती—भान्ती—ये दो रूप होते हैं। स्त्रीलिङ्ग 'तुदत्' शब्द के भी प्रथमा के एकवचन में तुदती-तुदन्ती—ये दो रूप होते हैं स्त्रीलिङ्ग में प्रथमा के एकवचन में 'रुदत्' शब्द का रुदती, 'रुन्धत्' शब्द का रुन्धती, 'गुह्णत्' शब्द का गृह्णती और 'चोरयत्' शब्द का चोरयन्ती रूप होता है। 'दृषद् शब्द के रूप ये हैं—दृषद् (प्र.—ए.), दृषद्भ्याम् (तृ.—च. एवं पं०—द्वि०), दृषदि (स.-ए.)। विशेषविदुषी (प्र.—ए.)।

प्रथमा के एकवचन में 'कृति' शब्द का 'कृतिः' रूप होता है। 'समिध्' शब्द के रूप ये हैं—'समित्—समिद् (प्र.—ए.), समिद्भ्याम् (तृ., च एवं पं.—द्वि.), समिधि (स.—ए.)। 'सीमन्' शब्द के रूप इस तरह हैं—सीमा (प्र.-

दामनीभ्यां ककुद्भ्यां च केयमाभ्यां तथाऽऽसु च। गीर्भ्यां चैव गिरा गीर्षु सुभूः सुपूः पुरा पुरि।।१२।।
द्यौर्द्युभ्यां दिवि द्युषु (च) तादृश्या तादृशी दिशः। यादृश्यां यादृशी तद्वत्सुयचोभ्यां सुवचः स्वपि।।१३।।
असौ चामुम (मू अ) मूं चामूरमूभिरमुयाऽमुयोः।।१३।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते स्त्रीलिङ्गशब्दसिद्धरूपकथनं नाम द्विपञ्चाशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः।।३५२।।

—※※※—

ए.) सीम्नि-सीमनि (स.–ए.)। तृ., च. एवं पं. के द्विवचन में 'दामनी' शब्द का दामनीभ्याम्, 'ककुभ्' शब्द का ककुब्भ्याम् रूप होता है। 'का'–किम्' शब्द प्र.–ए. इयम्–(इदम् शब्द प्र.–ए.), आभ्याम् (तृ., चत्र एवं पं.–द्वि.), 'इदम्' शब्द के सप्तमी के बहुवचन में 'आसु' रूप होता है। 'गिर्' शब्द के रूप ये हैं–गीर्भ्याम् (तृ., च. एवं पं.–द्वि.) गिरा (तृ.–ए.), गीर्षु (स.–ब.)। प्रथमा के एकवचन में 'सुभुः' और 'सुपूः' रूप सिद्ध होते हैं। 'पुर्' शब्द का तृतीया के एकवचन में 'पुरा' और सप्तमी के एकवचन में 'पुरि' रूप होता है। 'दिव्' शब्द के रूप ये हैं–द्यौः (प्र.–ए.), द्युभ्याम् (तृ., च. एवं पं.–द्वि), दिवि (स.–ए.), द्युषु (स.–ब.)। तादृश्या (तृ.–ए.), तादृशी (प्र.–ए.)–'तादृशी' शब्द के रूप हैं।

'दिश्' शब्द के यप दिक्–दिग् दिशौ दिशः इत्यादि हैं। यादृश्याम् (स.–ए.), यादृशी (प्र.–ए.)–ये 'यादृशी' शब्द के रूप हैं। सुवचोभ्याम् (तृ., च. एवं पं.–द्वि) सुवचस्सु (स.–ब.)–ये 'सुवचस्' शब्द के रूप हैं। स्त्रीलिङ्ग में 'अदस्' शबद के कतिपय रूप ये हैं–असौ (प्र.–ए.), अमू (प्र.द्वि.–द्वि.), अमूम् (द्वि.–ए.), अमूः (प्र., द्वि.–ब.), अमूभिः (तृ.–ब.), अमुया (तृ.–ए.), अमुयोः (ष., स.–द्वि)।।८–१३।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी तीन सौ बावनवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।३५२।।

❖❖❖

अथ त्रिपञ्चाशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः

नपुंसकशब्दसिद्धरूपम्

स्कन्द उवाच

नपुंसके किं के कानि के कानि ततो जलम्। सर्वं सर्वे च पूर्वाद्याः सोमपं सोमपानि च॥१॥
ग्रामणि ग्रामणिनी च ग्रामणि ग्रामणीन्यपि। वारि वारिणी वारीणि वारि (री) णां वारिणीदृशम्॥२॥
शुचये शुचिने देहि मृदुने मृदवे तथा। त्रपु त्रपुणि (णी) त्रपूणां च खलपूनि खलप्वि च॥३॥
कर्त्रा च कर्तृणे कर्त्रे अतिर्यतिरिणां तथा। अभिन्यभिनिनी चैव सुवचांसि सुबाक्षु च॥४॥
यद्यत्विमे तत्कर्मणि इदं चेमे त्विमानि च। ईदृक्त्वदोऽमुनी अमूनि अमुना स्यादमीषु च॥५॥
अहमावां वयं मां वै आवामस्मान्मया कृतम्। आवाभ्यां च तथाऽस्माभिर्मह्यमस्मभ्यमेव च॥६॥
मदावाभ्यां मदस्मच्च पुत्रोऽयं मम चाऽऽवयोः। अस्माकमपि चास्मासु त्वं युवां यूयमीजिरे॥७॥

अध्याय-३५३

नपुंसकलिङ्ग सिद्ध शब्द रूप विचार

भगवान् स्कन्द ने कहा कि-नपुंसकलिङ्ग में 'किम्' शब्द के ये रूप होते हैं-(प्रथमा) किम्, के, कानि। (द्वितीया) किम्, के, कानि। शेष रूप पुंलिंगवत् हैं। जलम् (प्र. ए.), सर्वम् (प्र. ए.)। पूर्व, पर, अवर, दक्षिण, उत्तर, अपर, अधर, स्व और अन्तर-इन सब शब्दों के रूप इसी तरह होते हैं। सोमपम् (प्र. द्वि. ए.), सोमपानि (प्र. द्वि. ब.)-ये 'सोमप' शब्द के रूप हैं। 'ग्रामणी' शब्द के नपुंसकलिङ्ग में इस तरह रूप होते हैं-ग्रामणि (प्र. द्वि-ए.), ग्रामणिनी (प्र. द्वि.-द्वि.), ग्रामणीनि (प्र., द्वि.-ब.)। इसी तरह 'वारि' शब्द के रूप होते हैं-वारि (प्र. द्वि.-ए.), वारिणी (प्र., द्वि-द्वि), वारीणि (प्र० द्वि.-ब०), वारीणाम् (ष.-ब.), वारिणि (स. ए.)। मुचये-शुचिने (च.-ए.) और मृदुने-मृदवे (च.-ए.) ये क्रम से 'शुचि' और 'मृदु' शब्द के रूप हैं। त्रपु (प्र०, द्वि-ए.), त्रपुणी (प्र., द्वि.-द्वि.), त्रपूणाम् (ष.-ब.)-ये 'त्रपु' शब्द के कतिपय रूप हैं।

'खलपुनि' तथा 'खलप्वि'-ये दोनों नपुंसक 'खलपू' शब्द के सप्तमी, एकवचन के रूप हैं। कर्त्रा-कर्तृणा (तृ.-ए.), कर्तृणे-कर्त्रे (च. ए.)-ये 'कर्तृ' शब्द के रूप हैं। अतिरि (प्र. द्वि.-ए.), अतिरिणी (प्र.स, द्वि.-द्वि.)-ये 'अतिरि' शब्द के रूप हैं। 'अभिनि (प्र० द्वि.-ए.), अभिनिनी (प्र., द्वि.-द्वि.)-ये 'अभिनि' शब्द के रूप हैं। सुवचांसि (प्र., द्वि.-ब.), यह 'सुवचस्' शब्द का रूप है। सुवाक्षु (स.-ब.) यह 'सुवाच्' शब्द का रूप है। 'यत्' शब्द के ये दो यत्-यद् (प्र. द्वि.-ए.) हैं। 'तत्' शब्द के 'तत्-तद् (प्र., द्वि.-ए.), 'कर्म' शब्द के कर्माणि (प्र. द्वि.-ब.), 'इदम्' शब्द के इदम् (प्र., द्वि.-ए.), इमे (प्र. द्वि.-द्वि), इमानि (प्र., द्वि-ब.)-ये रूप हैं। ईदृक्-ईदृग् (प्र., द्वि.-ए.)-यह 'ईदृश्' शब्द का रूप है।

अदः (प्र., द्वि.-ए.), अमुनी (प्र., द्वि.-ज्ञिद्व.), अमीषु (स.-ब.)-'अदस्' शब्द के ये रूप भी पूर्ववत् सिद्ध होते हैं। 'युष्मद्' और 'अस्मद्' शब्द के रूप इस तरह होते हैं-'अहम् (प्र.-ए.), आवाम् (प्र.-द्वि.), वयम् (प्र.-

त्वां (च) युवां च युष्मांश्च त्वया युष्माभिरीरितम्। तुभ्यं युवाभ्यां युष्मभ्यं त्वत्, युवाभ्यां च युष्मच्च।।८।।
तव युवयोर्युष्माकं त्वयि युष्मासु भारती। उपलक्षणमत्रैव अज्झलन्ताश्च ते स्मृताः।।९।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गति नपुंसकशब्दसिद्धरूपकथनं नाम त्रिपञ्चाशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः।।३५३।।

अथ चतुष्पञ्चाशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः

कारकम्

स्कन्द उवाच

कारकं संप्रवक्ष्यामि विभक्त्यर्थसमन्वितम्। ग्रामोऽस्ति हेमहार्केह नौमि विष्णुं श्रिया सह।।१।।

ब.)। माम् (द्वि.-ए.), आवाम् (द्वि.-द्वि.), अस्मान् (द्वि.-ब.)। मया (तृ.-ए.), आवाभ्याम् (तृ. च.-द्वि.), अस्माभिः (तृ.-ब.)। मह्यम् (च.-ए.), अस्मभ्यम् (च.-ब.)। मत् (प.-ए.), आवाभ्याम् (प.-द्वि०), अस्मत् (प.-ब.)। मम 'ष.-ए.) आवयोः (ष., स.-द्वि.), अस्माकम् (ष.-ब.)। अस्मासु (स.-ब.), युवाम् (प्र.-द्वि.) यूयम् (प्र.-ब.)।

त्वाम् (द्वि.-ए.), युवाम् (द्वि.-द्वि.), युष्मान् (द्वि०-ब.)। त्वया (तृ.-ए.), युष्माभिः (तृ.-ब.)। तुभ्यम् (च.-ए.), युवाभ्याम् (तृ. च०-द्वि), युष्मभ्यम् (च.-ब.)। त्वत् (प.-ए.) युवाभ्याम् (प.-द्वि) युष्मत् (प.-ब)। तत्पश्चात् (ष-ए.), युवयोः (ष., स.-द्वि), युष्माकम् (ष.-ब.)। त्वयि (स.-ए.), युष्मासु (स.-ब.)-ये 'युष्मद्' शब्द के रूप हैं। यहाँ 'अजन्त' और हलन्त शब्दों का दिग्दर्शन मात्र कराया गया है।।१-९।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी तीन सौ तिरपनवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।३५३।।

अध्याय-३५४

कारकप्रकरण

भगवान् स्कन्द ने कहा कि-अधुना मैं विभक्त्यर्थों से युक्त 'कारक' का वर्णन करने जा रहा हूँ। ग्रामोऽस्ति' (ग्राम है)-यहाँ प्रातिपदिकार्थ मात्र में प्रथमा विभक्ति हुई है। विभक्त्यर्थ में प्रथमा होने का विधान पहले कहा जा चुका है। 'हे महार्क' -इस वाक्य में जो 'महार्क' शब्द है, उसमें सम्बोधन में प्रथमा विभक्ति हुई है। सम्बोधन में प्रथमा का विधान पहले आ चुका है। 'इह नौमि विष्णुं श्रिया सह।' (मैं यहाँ लक्ष्मी सहित भगवान् श्रीहरि विष्णु का स्तवन करने जा रहा हूँ।)-इस वाक्य में 'विष्णु' शब्द की कर्मसंज्ञा हुई है। और 'द्वितीया कर्मणि स्मृता'-इस पूर्वकथित नियम के अनुसार कर्म में द्वितीया हुई है।

'श्रिया सह'-यहाँ 'श्री' शब्द में 'सह' का योग होने से तृतीया हुई है। सहार्थक और सदृशार्थक शब्दों का योग होने पर तृतीया विभक्ति होती है, यह सर्वसम्मत मत है। क्रिया में जिसकी स्वतन्त्रता विवक्षित हो, वह 'कर्ता'

स्वतन्त्रः कर्ता विद्यां तां कृतिनः समुपासते। हेतुकर्ता लम्भयते हितं वै कर्मकर्तरि॥२॥
स्वयं भिद्यते प्राकृतधीः स्वयं च च्छिद्यते तरुः। कर्ताऽभिहित उत्तमः कर्ताऽनभिहितोऽधमः॥३॥
कर्तानभिहितो धर्मः शिष्ये व्याख्यायते यथा। कर्ता पञ्चविधः प्रोक्तः कर्म सप्तविधं शृणु॥४॥
ईप्सितं कर्मं च यथा श्रद्धाति हरिं यतिः। नीप्सितं कर्म यथा अहिं लङ्घयते भृशम्॥५॥
नैवेप्सितं नानीप्सितं दुग्धं संभक्षयन्रजः। भक्षयेदप्यकथितं गोपालो दोग्धि गां पयः॥६॥

या 'स्वतन्त्र कर्ता' कहलाता है। जो उसक प्रयोजक हो, वह 'प्रयोजक कर्ता' और 'हेतुकर्ता' भी कहलाता है। जहाँ कर्म ही कर्ता के रूप में विवक्षित हो, वह 'कर्मकर्ता' कहलाता है। इनके सिवा 'अभिहित' और 'अनभिहित'–ये दो कर्ता और होते हैं। 'अभिहित' श्रेष्ठतम और 'अनभिहित' अधम माना गया है। स्वतन्त्रकर्ता का उदाहरण–'कृतिनः तां विद्यां समुपासते।' (विद्वान् पुरुष उस विद्या की उपासना करते हैं) यहाँ विद्या की उपासना में विद्वानों की स्वतन्त्रता विवक्षित है, इसलिये वे 'स्वतन्त्रकर्ता' हैं। हेतुकर्ता का उदाहरण–'चैत्रो मैत्रं हितं लम्भ्यते।' 'चैत्र मैत्र को हित की प्राप्ति कराता है।) 'मैत्रो हितं लभते तं चैत्रः प्रेरयति इति चैत्रो मैत्रं हितं लभ्यते।' (मैत्र हित को प्राप्त करता है और चैत्र उसको प्रेरणा देता है। इसलिये यह कहा जाता है कि 'चैत्र मैत्र को हित की प्राप्ति कराता है'–यहाँ 'चैत्र' प्रयोजककर्ता का हेतुकर्ता है। कर्मकर्ता का उदाहरण–'प्राकृतधीः स्वयं भिद्यते।' (गँवार बुद्धि वाला मनुष्य स्वयं ही फूट जाता है), 'तरुः स्वयं छिद्यते।' (वृक्ष स्वयं कट जाता है।), यहाँ फोड़ने वाले और काटने वाले कर्ताओं के व्यापार को विवक्षा का विषय का विषय नहीं बनाया गया। जहाँ कार्य के अतिशय सौकर्य को प्रकट करने के लिये कर्तृव्यापार अविवक्षित हो, वहाँ कर्म आदि अन्य कारक भी कर्ता-जिस प्रकार हो जाते हैं और तदनुसार ही क्रिया होती है। इस दृष्टि से यहाँ 'प्राकृतधीः' और 'तरुः' पद कर्मकर्ता के रूप में प्रयुक्त हैं। अभिहित कर्ता का उदाहरण–'रामो गच्छति'। (राम जाता है)। यहाँ 'कर्ता' अर्थ में तिङन्त का प्रयोग है, इसलिये कर्ता कथित हुआ। जहाँ कर्म में प्रत्यय हो, वहाँ 'कर्म' कथित और 'कर्त्ता' अनुक्त या अनभिहित हो जाता है। अनभिहित कर्ता का उदाहरण–'गुरुणा शिष्ये धर्मः व्याख्यायते।' (गुरुद्वारा शिष्य के निमित्त धर्म की व्याख्या की जाती है।) यहाँ कर्म में प्रत्यय होने से 'धर्म' की जगह 'धर्मः' हो गया; क्योंकि कथित कर्म में प्रथमा विभक्ति होने का नियम है। अनभिहित कर्ता में पहले कथित नियम के अनुसार तृतीया विभक्ति होती है, इसीलिये 'गुरुणा' पद में तृतीया विभक्ति प्रयुकत हुई है। इस तरह पाँच तरह के 'कर्ता' बताये गये है। अधुना सात तरह के कर्म का वर्णन सुनो॥१-४॥

१. ईप्सितकर्म, २. अनीप्सितकर्म, ३. ईप्सितानीप्सित-कर्म, ४. अकथितकर्म, ५. कर्तृकर्म, ६. अभिहितकर्म तथा ७. अनभिहितकर्म। ईप्सितकर्म का उदाहरण–'**यतिः हरिं श्रद्धाति।**' (विरक्त साधु या संन्यासी हरि में श्रद्धा रखता है।) यहाँ कर्ता यति को हरि अभीष्ट हैं, इसलिये वे 'ईप्सितकर्म' हैं। अतएव हरि में द्वितीया विभक्ति का प्रयोग हुआ है। अनीप्सितकर्म का उदाहरण–'अहिं लङ्घयते भृशम्।' (उससे सर्प को बहुधा लँघवाता है।) यहाँ 'अहिं' यह 'अनीप्सितकर्म' है। लाँघने वाला सर्प को लाँघना नहीं चाहता। वह किसी के हठ या प्रेरणा से सर्पलङ्घन में प्रवृत्त होता है। ईप्सितानीप्सितकर्म का उदाहरण–'दुग्धं संभक्षयन्रजः भक्षयेत्।' (मनुष्य दूध पीता हुआ धूल भी पी जाता है।) यहाँ दुग्ध 'ईप्सितकर्म' है और धूल 'अनीप्सितकर्म'। अकथितकर्म–जहाँ अपादान आदि विशेष नामों से कारक को व्यक्त करना अभीष्ट न हो, वहाँ वह कारक 'कर्मसंज्ञक' हो जाता है।

यथा–गोपालः गां पयः दोग्धि। (ग्वाला गाय से दूध दुहता है।) यहाँ 'गाय' अपादान है, तथापि अपादान के रूप में कथित न होने से अकथित हो गया और उसमें पंचमी विभक्ति न होकर द्वितीया विभक्ति हुई। कर्तृकर्म–

कर्तृकर्माथ गमयेच्छिष्यं ग्रामं गुरुर्यथा। कर्म चाभिहितं पूजा क्रियते वै श्रिये हरेः।।७।।
कर्मानभिहितं स्तोत्रं हरेः कुर्यात्तु सर्वदम्। करणं द्विविधं प्रोक्तं बाह्यम (मा)भ्यन्तरं तथा।।८।।
चक्षुषा रूपं गृह्णाति वा (बा)ह्यं दात्रेण तल्लुनेत्। संप्रदानं त्रिधा प्रोक्तं प्रेरकं ब्राह्मणाय गाम्।।९।।
नरो ददाति नृपतये दासं तदनुमन्तृकम्। अनिराकर्तृकं भर्त्रे दद्यात्पुष्पाणि सज्जनः।।१०।।
अपादानं द्विधा प्रोक्तं चलमश्वात्तु धावतः। पतितश्चाचलं ग्रामादागच्छति स वैष्णवः।।११।।

जहाँ प्रयोजक कर्ता का प्रयोग होता है, वहाँ प्रयोज्य कर्ता कर्म के रूप में परिणत हो जाता है। यथा–'गुरुः शिष्यं ग्रामं गमयेत्।' (गुरु शिष्य को गाँव भेजें।) **'शिष्यो ग्रामं गच्छेत् तं गुरुः प्रेरयेत् इति गुरुः शिष्यं ग्रामं गमयेत्।'** (शिष्य गाँव को जाय, इसके लिये गुरु उसको प्ररित करना चाहिये, इस अर्थ में गुरु शिष्य को गाँव भेजें, यह वाक्य है।) यहाँ गुरु 'प्रयोजक कर्ता' है, और शिष्य प्रयोज्य कर्ता या 'कर्मभूत' कर्ता' है। अभिहितकर्म–'श्रियै हरेः पूजा क्रियते।' (लक्ष्मी की प्राप्ति के लिये श्रीहरि विष्णु की पूजा की जाती है।) यहाँ कर्म में प्रत्यय होने से पूजा 'कथित कर्म' है, इसी को 'अभिहितकर्म' कहते हैं, अतएव इसमें प्रथमा विभक्ति हुई। अनभिहितकर्म–जहाँ कर्ता में प्रत्यय होता है, वहाँ कर्म अनभिहित हो जाता है, अतएव उसमें द्वितीया विभक्ति होती है। उदाहरण के लिये यह वाक्य है–'हरेः सर्वदं स्तोत्रं कुर्यात्' (श्री हरि की सर्वमनोरथदायिनी स्तुति करनी चाहिये।) करण दो तरह का बतलाया गया है–'बाह्य' और 'आभ्यन्तर'।

'तृतीया करणे भवेत्'।–इस उपरोक्त नियम` अनुसार करण में तृतीया होती है। आभ्यन्तर करण का उदाहरण देते हैं–**'चक्षुषा रूपं गृह्णाति।'** (नेत्र से रूप को ग्रहण करता है।) यहां नेत्र 'आभ्यन्तर करण' हैं, इसलिये इसमें तृतीया विभक्ति हुई। 'बाह्य करण' का उदाहरण है–**'दात्रेण तल्लुनेत्।'** (हँसुआ से उसको काटे)। यहाँ दात्र 'बाह्य करण' है। इसलिये उसमें तृतीया हुई है। सम्प्रदान तीन तरह का बतलाया गया है–प्रेरक, अनुमन्तृक और अनिराकर्तृक। जो दान के लिये प्रेरित करता हो, वह 'प्रेरक' है। जो प्राप्त हुई किसी वस्तु के लिये अनुमति या अनुमोदन मात्र करता है, वह 'अनुमन्तृक' है। जो न 'प्रेरक' है, न 'अनुमन्तृक' है, अपितु किसी की दी हुई वस्तु को स्वीकार कर लेता है, उसका निराकरण नहीं करता, वह 'अनिराकर्तृक सम्प्रदान' है। 'सम्प्रदाने चतुर्थी'।–इस उपरोक्त नियम के अनुसार सम्प्रदान में चतुर्थी विभक्ति होती है। तीनों सम्प्रदानों के क्रमशः उदाहरण दिये जाते हैं–

१. 'नरो ब्राह्मणाय गां ददाति।' (मनुष्य ब्राह्मण को गाय देता है।) यहाँ ब्राह्मण 'प्रेरक सम्प्रदान' होने के कारण उसमें चतुर्थी विभक्ति हुई है। ब्राह्मण लोग प्रायः यजमान को गोदान के लिये प्रेरित करते रहते हैं, इसलिये उनको 'प्रेरक सम्पदान' की संज्ञा दी गयी है। २. 'नरो नृपतये दासं ददाति'। (मनुष्य राजा को दास अर्पित करता है।) यहाँ राज ने दास समर्पित के लिये कोई प्रेरणा नही दी हैं। केवल प्राप्त हुए दास को ग्रहण करके उसका अनुमोदन मात्र किया है, इसलिये वह 'अनुमन्तृक सम्प्रदान' है; अतएव 'नृपतये' में चतुर्थी विभक्ति प्रयुक्त हुई है। ३. 'सज्जनः भर्त्रे पुष्पाणि दद्यात्।' (सज्जन पुरुष स्वामी को पुष्प दे) यहाँ स्वामी ने पुष्पदान की मनाही न करके उसको अंगीकार मात्र कर लिया है, इसलिये 'भर्तृ' शब्द 'अनिराकर्तृक सम्प्रदान' है।

सम्प्रदान होने के कारण ही उसमें चतुर्थी विभक्ति हुई है। अपादान दो तरह का होता है–'चल' और 'अचल'। कोई भी अपादान क्यों न हो, 'अपादाने पंचमी स्यात्'।–इस पूर्वकथित नियम के अनुसार उसमें पंचमी विभक्ति होती है। 'धावतः अश्वात् पतितः।' (दौड़ते हुए घोड़े से गिरा)–यहाँ दौड़ता हुआ घोड़ा 'चल अपादान' है। इसलिये 'धावतः

चतुर्धा चाधिकरणं व्यापकं दध्नि वै घृतम्। तिलेषु तैलं देवार्थमौपश्लेषिकमुच्यते॥१२॥
गृहे तिष्ठेत्कपिर्वृक्षे स्मृतं वैषयिकं यथा। जले मत्स्यो वने सिंहः स्मृतं सामीप्यकं यथा॥१३॥
गंगायां घोषो वसति औपचारिकमीदृशम्। तृतीया वाऽथ वा षष्ठी स्मृताऽनभिहिते तथा॥१४॥
विष्णुः सम्पूज्यते लोकैर्गन्तव्यं तेन तस्य वा। प्रथमाऽभिहितकर्तृकर्मणोः प्रणमेद्धरिम्॥१५॥
हेतौ तृतीया चान्येन वसेद्वृक्षाय वै जलम्। चतुर्थी तादर्थ्येऽभिहिता पञ्चमी पर्युपाङ्मुखैः॥१६॥
योगे वृष्टः परिग्रामाद्देवोऽयं बलवत्पुरा। पूर्वो ग्रामादृते विष्णोर्न मुक्तिरितरो हरेः॥१७॥

अश्वात्' में पंचमी विभक्ति हुई है। 'स वैष्णवः ग्रामादायाति।' (वह वैष्णव गाँव से आता है)—यहाँ ग्राम शब्द 'अचल अपादान' है, इसलिये उसमें पंचमी विभक्ति हुई है॥५-११॥

अधिकरण चार तरह के होते हैं—अभिव्याप, औपश्लेषिक, वैषयिक और सामीप्यक। जो तत्त्व किसी वस्तु में व्यापक हो, वह आधारभूत वस्तु अभिव्यापक' अधिकरण है। यथा—'दध्नि घृतम्।' (दही में घी है।) **'तिलेषु तैलं देवार्थम्'**।तिल में तेल है, जो देवता के उपयोग में आता है।) यहाँ घी दही में और तैल तिल में व्याप्त है। इसलिये इनके आधारभूत दही तरफ तिल अभिव्यापक अधिकरण हैं।

'आधारो योऽधिकरणं विभक्तिस्तत्र सप्तमी।'—इस उपरोक्त नियम के अनुसार अधिरण में सप्तमी विभक्ति होती है। प्रस्तुत उदाहरण में 'दध्नि' और 'तिलेषु'—इन पदों में इसी नियम से सप्तमी विभक्ति हुई है। अधुना 'औपश्लेषिक अधिकरण' बतलाया जाता हे—'कपिर्गृहे तिष्ठेद् वृक्षे च तिष्ठेत्।' (बन्दर गृह के ऊपर स्थित होता है और वृक्ष पर भी स्थित होता है।) कपि के आधारभूत जो गृह तरफ वृक्ष हैं, उन पर वह सटकर बैठता है। इसीलिये वह 'औपश्लेषिक अधिकरण' माना गया है। अधिकरण होने से ही 'गृहे' और 'वृक्षे'—इन पदों में सप्तमी विभक्ति प्रयुक्त हुई हैं। अधुना 'वैषयिक अधिकरण' बताते हैं—विषयभूत अधिकरण को 'वैषयिक' कहते है।

यथा—**'जले मत्स्यः।', 'वने सिंहः।'** (जल में मछली, वन में सिंह।) जहाँ जल और वन (विषय) हैं और मत्स्य तथा सिंह 'विषयी'। इसलिये विषयभूत अधिकरण में सप्तमी विभक्ति हुई। अधुना 'सामीप्यक अधिकरण' बाते हैं—**'गङ्गायां घोषो वसति।'** (गंगा में गोशाला बसती है।) यहाँ 'गंगा' का अर्थ है—गंगा के सन्निकट। इसलिये 'सामीप्यक अधिकरण' होने के कारण गंगा में सप्तमी विभक्ति हुई। ऐसे वाक्य 'औपचारिक' माने जाते हैं। जहाँ मुख्यार्थ बाधित होने से उसके सम्बन्ध से युक्त अर्थान्तर की प्रतीति होती है, वहाँ 'लक्षणा' होती है। 'गौर्वाहिकः' इत्यादि स्थलों में 'गो' शब्द का मुख्यार्थ बाधित होता है, इसलिये वह स्वसदृश को लक्षित कराता है। इस तरह के वाक्य प्रयोग को 'औपचारिक' कहते हैं। 'अनभिहित कर्ता' में तृतीया अथवा षष्ठी विभक्ति होती है। यथा—'विष्णु सम्पूज्यते लोकैः।' अर्थात् लोगों द्वारा विष्णु पूजे जाते हैं।

यहाँ कर्म में प्रत्यय हुआ है। इसलिये कर्म कथित है और कर्ता अनुक्त। इसलिये अनुक्त कर्ता 'लोक' शब्द में तृतीया विभक्ति हुई है। 'तेन गन्तव्यम्, तस्य गन्तव्यम्' (उसको जाना चाहिये) यहाँ उपरोक्त नियम के अनुसार तृतीया और षष्ठी—दोनों का प्रयोग हुआ है। षष्ठी का प्रयोग कृदन्त के योग में ही होता है। अभिहित कर्ता और कर्म में प्रथमा विभक्ति हुई है। 'भक्तः हरिं प्रणमेत्।' (भक्त भगवान् को नमस्कार करना चाहिये।) यहाँ अभिहित कर्ता 'भक्त' में प्रथमा विभक्ति हुई है और अनुक्त कर्म 'हरि' में तृतीया विभक्ति। 'हेतु' में तृतीया विभक्ति होती है। यथा—'अन्नेन वसेत्।' 'अन्न के हेतु कहीं भी निवास करना चाहिये।) यहाँ हेतुभूत अन्न में तृतीया विभक्ति हुई है।

'तादर्थ्य' में चतुर्थी विभक्ति कही गयी है। यथा—'वृक्षाय जलम्' 'वृक्ष के लिये पानी।' यहाँ 'वृक्ष' शब्द में 'तादर्थ्यप्रयुक्त' चतुर्थी विभक्ति हुई है। परि, उप, आङ् आदि के योग में पंचमी विभक्ति होती है। यथा—**'परि ग्रामात्**

पृथग्विनाद्यैस्तृतीया पञ्चमी च तथा भवेत्। पृथग्ग्रामाद्विहारेण विना श्रीश्च (श्रियं) श्रिया श्रियः।।१८।।
कर्मप्रवचननीयाख्यैर्द्वितीया योगतो भवेत्। अन्वर्जुनं च योद्धारो ह्यभितो ग्राममीरितम्।।१९।।
नमः स्वाहास्वधास्वस्तिवषडाद्यैश्चतुर्थ्यपि। नमो देवाय ते स्वस्ति तुमर्थाद्भाववाचिनः।।२०।।
पाकाय पक्तये याति तृतीया सहयोगके। हेत्वर्थे कुत्सितेऽङ्गे सा तृतीया च विशेषणे।।२१।।
पिताऽगात्सह पुत्रेण काणोऽक्ष्णा गदया हरिः। अर्थेन निवसेद्भृत्यः काले भावे च सप्तमी।।२२।।

पुरा बलवत् वृष्टोऽयं देवः।८ (गाँव से कुछ दूर हटकर देव ने प्राचीन काल में बड़े जोर की वर्षा की थी।)–इस वाक्य में 'परि' के साथ योग होने के कारण 'ग्राम' शब्द में पंचमी विभक्ति हुई है। दिग्वाचक शब्द, अन्यार्थक शब्द तथ 'ऋतु' आदि शब्दों के योग में भी पंचमी विभक्ति होती है। यथा–'पूर्वो ग्रामात्।ऋते विष्णोः। न मुक्तिः इतना हरेः।' 'पृथक्' और 'विना' आदि के योग के योग में तृतीया एवं पंचमी विभक्ति होती है–जिस प्रकार पृथग् ग्रामात्।' यहाँ 'पृथक्' शब्द के योग में 'ग्राम' शब्द से पंचमी और 'पृथग् विहारेण'–यहाँ 'पृथक् शब्द के योग में 'विहार' शब्द से तृतीया विभक्ति हुई। इसी तरह 'विना' शब्द के योग में भी समझना चाहिये। 'विना श्रिया'–यहाँ 'विना' के योग में 'श्री' शब्द से द्वितीया, 'विना श्रिया'।

यहाँ 'विना' के योग में 'श्री' शब्द से तृतीया और 'विना श्रियः'–यहाँ 'विना' के योग में 'श्री' शब्द से पंचमी विभक्ति हुई है। कर्मप्रवचनीयसंज्ञक शब्दों के योग में द्वितीया विभक्ति होती है–जिस प्रकार 'अन्वर्जुनं योद्धारः–योद्धा अर्जुन के संनिकट प्रदेश में हैं।'–यहाँ 'अनु' कर्मप्रवचनीय-संज्ञक है–इसके योग में 'अर्जुन' शब्द में द्वितीया विभक्ति हुई। इसी तरह अभितः, परितः आदि के योग में भी द्वितीया होती है। यथा 'अभितो ग्राममीरितम्।'–गाँव के सब तरफ कह दिया है।' यहाँ 'अभितः' शब्द के योग में 'ग्राम' शब्द में द्वितीया विभक्ति हुई है। नमः, स्वाहा, स्वधा, स्वस्ति एवं वषट् आदि शब्दों के योग में 'चतुर्थी विभक्ति होती है–जिस प्रकार 'नमो' देवाय–(देव को नमस्कार है)–यहाँ 'नमः' के योग में 'देव' शब्द में चतुर्थी विभक्ति प्रयुक्त हुई है। इसी तरह 'ते स्वस्ति'–आपका कल्याण हो–इसी तरह 'ते स्वस्ति'–आपका कल्याण हो–यहाँ 'स्वस्ति' के योग में 'युष्मद्' शब्द से चतुर्थी विभक्ति हुई ('युष्मद्' शब्द को चतुर्थी के एकवचन में वैकल्पिक 'ते' आदेश हुआ है।) तुमुन्प्रत्यार्थक भाववाची शब्द से चतुर्थी विभक्ति होती है–जिस प्रकार 'पाकाय याति' और 'पक्तये याति' –पकाने के लिये जाता है।' यहाँ 'पाक' और 'पक्ति' शब्द 'तुमर्थक भावावाची' हैं। इन दोनों से चतुर्थी विभक्ति हुई।

'सहार्थ' शब्द के योग में हेतु-अर्थ और कुत्सित अंगवाचक में तृतीया विभक्ति होती है। सहार्थयोग में तृतीया विशेषवाचक से होती है। जिस प्रकार 'पिताऽगात् सह पुत्रेण–पिता पुत्र के साथ चले गये।' यहाँ 'सह' शब्द के योग में विषणवाचक 'पुत्र' शब्द से तृतीया विभक्ति हुई। इसी तरह 'गदया हरिः' (भगवान् हरि गदा के सहित रहते हैं)–यहाँ 'सहार्थक' शब्द के न रहने पर भी सहार्थ है, इसलिये विशेषणवाचक 'गदा' शब्द से तृतीया विभक्ति हुई। 'अक्ष्णा काणः।–आँख से काना है।'–यहाँ कुत्सितअंगवाचक 'अक्षि' शब्द है। उससे तृतीया विभक्ति हुई। 'अर्थेन निवसेद् भृत्यः।' –'भृत्य धन के कारण से रहता है।'–यहाँ हेतु-अर्थ है 'धन'। तद्वाचक 'अर्थ' शब्द से तृतीया विभक्ति हुई। कालवाचक और भाव अर्थ में सप्तमी विभक्ति होती है। अर्थात् जिसकी क्रिया से अन्य क्रिया लक्षित होती है, तद्वाचक शब्द से सप्तमी विभक्ति होती है। जिस प्रकार–'विष्णौ नते भवेन्मुक्तिः'–भगवान् श्रीहरि विष्णु को नमस्कार करने पर मुक्ति मिलती है।–यहाँ भगवान् श्रीहरि विष्णु की नमस्कार क्रिया से मुक्ति-भवनरूपा लक्षित होती है, इसलिये 'विष्णु' शब्द से सप्तमी विभक्ति हुई।

इसी तरह 'वसन्ते स गतो हरिम्'–वह वसत ऋतु में हरि के पास गया। –यहाँ 'वसन्त' कालवाचक है, उससे

विष्णौ नते भवेन्मुक्तिर्वसन्ते स गतो हरिम्। नृणां स्वामी नृषु स्वामी नृणामीशः सतां पतिः।।२३।।
नृणां साक्षी नृषु साक्षी गोषु नाथो गवां पतिः। गोषु सूतो गवां सूतो राज्ञां दायादकोऽस्त्विह।।२४।।
अन्नस्य हेतोर्वसति षष्ठी स्मृत्यर्थकर्मणि। मातुः स्मरति गोप्तारो नित्यं स्यात्कर्तृकर्मणोः।।२५।।
अपां भेत्ता तव कृतिर्न निष्ठादिषु षष्ठ्यपि।।२६।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते कारकनिरूपणं नाम चतुष्पञ्चाशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः।।३५४।।
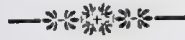
सप्तमी हुई। (स्वामी, ईश, पति, साक्षी, सूत और दायाद आदि शब्दों के योग में षष्ठी एवं सप्तमी विभक्तियाँ होती हैं–'नृणां स्वामी, नृषु स्वामी'–मनुष्यों का स्वामी,––यहाँ 'स्वामी' शब्द के योग में 'नृ' शब्द से षष्ठी एवं सप्तमी विभक्तियाँ हुई। इसी तरह 'नृणामीशः'–नरों के ईश'–यहँ 'ईश' शब्द के योग में 'नृ' शब्द से तथा 'सतां पतिः'–सज्जनों का पति–यहाँ 'सत्' शब्द से षष्ठी विभक्ति हुई। ऐसे ही 'नृणां साक्षी, नृषु साक्षी–मनुष्यों का साक्षी'–यहाँ 'नृ' शब्द से षष्ठी एवं प्तमी विभक्तियाँ हुई। 'गोषु नाथो गवां पतिः––गौओं का स्वामी है, यहाँ 'नाथ' और 'पति' शब्दों के योग में 'गो'शब्द से षष्ठी और सप्तमी विभक्तियाँ हुईं। 'गोषु सूतो गवां सूतः–गौओं में उत्पन्न है'–यहाँ 'सूत' शब्द के योग में 'गो' शब्द से षष्ठी एवं सप्तमी विभक्ति हुई। 'इह राज्ञां दायादकोऽस्तु।'–यहाँ राजाओं का दायाद हो। यहाँ 'दायाद' शब्द के योग में 'राजन्' शब्द में षष्ठी विभक्ति हुई है। हेतुवाचक से 'हेतु' शब्द के प्रयोग होने पर षष्ठी विभक्ति होती है। जिस प्रकार 'अन्नस्य हेतोर्वसति–अन्न के कारण वास करता है।'–यहाँ 'वास' में अन्न 'हेतु' है, तद्वाचक 'हेतु' शब्द का भी प्रयोग हुआ है, इसलिये 'अन्न' शब्द से षष्ठी विभक्ति हुई। स्मरणार्थक धातु के प्रयोग में उसके कर्म में षष्ठी स्मरणार्थक धातु के प्रयोग में उसके कर्म में षठाी विभकित होती है।

जिस प्रकार–मातुः स्मरति। माता को स्मरण करता है।' यहाँ 'स्मरति' के योग में 'मातृ' शब्द से षष्ठी विभक्ति हुई। कृत्प्रत्यय के योग में कर्ता एवं कर्म में षष्ठी विभक्ति होती है।य जिस प्रकार–'अपां भेत्ता'–जल को भेदन करने वाला। यहाँ 'भेत्तृ' शब्द कृत् प्रत्ययान्त है। उसके योग में –कर्मभूत 'अप्' शब्द से षष्ठी विभक्ति हुई। इसी तरह 'तव कृतिः–आपकी कृति है'–यहाँ 'कृति' शब्द 'कृत्प्रत्ययान्त' है। उसके योग में कर्तृभूत 'युष्मद्' शब्द से षष्ठी विभक्ति हुई (युष्मद् ङस् = तव)–निष्ठा आदि अर्थात् क्त-क्तवतु, शतृ-शानच्, उ, उक, क्त, तुमुन्, खलर्थक, तृन्, शानच्, चानश् आदि के योग में षष्ठी विभक्ति नहीं होती (यथा 'ग्रामं गतः' इत्यादि।)।।१२-२६।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी तीन सौ चौवनवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।३५४।।

❖❖❖

अथ पञ्चपञ्चाशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः

समासः

स्कन्द उवाच

षोढा समासं वक्ष्यामि अष्टाविंशतिधा पुनः। नित्यानित्यविभागेन लुगलोपेन च द्विधा।।१।।
कुम्भकारश्च नित्यः स्याद्धेमकारादिकस्तथा। राज्ञः पुमान्राजपुमाननित्योऽयं समासकः।।२।।
कष्टश्रितो लुक्समासः कण्ठेकालादिकस्त्वलुक्। स्यादष्टधा तत्पुरुषः प्रथमाद्याः सुपा सह।।३।।
प्रथमातत्पुरुषोऽयं पूर्वं कायस्य विग्रहे। पूर्वकायोऽपरकायो ह्यधरोत्तरकायकः।।४।।
अर्धं कणाया अर्धकणा भिक्षातू (तु) र्यमथेदृशम्। आपन्नजीविकस्तद्वद्द्वितीया माधवाश्रितः।।५।।
वर्षं भोग्यो वर्षभोग्यो धान्यार्थश्च तृतीयया। चतुर्थी स्याद्विष्णु बलिर्वृकभीतिश्च पञ्चमी।।६।।
राज्ञः पुमान्राजपुमान्षष्ठी वृक्षफलं तथा। सप्तमी चाक्षशौण्डोऽयमहितो नञ्समासकः।।७।।

अध्याय-३५५

समास-निरूपण

भगवान् कार्त्तिकेय ने कहा कि–हे कात्यायन! मैं छः तरह के 'समास' बतलाने जा रहा हूँ। फिर अवान्तर भेदों से समास' के अट्ठाईस भेद हो जाते हैं। समास 'नित्य' और 'अनित्य' के भेद से दो तरह का है तथा 'लुक' और 'अलुक्' के भेद से भी उसके दो तरह और हो जाते हैं। कुम्भकार और हेमकार 'नित्य समास' हैं। (क्योंकि विग्रह-वाक्य द्वारा ये शब्द जाति विशेष का बोध नहीं करा सकते।) 'राज्ञः + पुमान् = राजपुमान्'–यह षष्ठी-तत्पुरुष समास स्वपदविग्रह होने के कारण 'अनित्य' है। कष्टश्रितः (कष्टं + श्रितः)–इसमें 'लुक्' समास है; क्योंकि 'कष्ट' पद के अन्त में स्थित द्वितीया विभक्ति का लुक् (लोप) हो जाता है। 'कण्ठेकालः' आदि 'अलुक्' समास हैं; क्योंकि इसमें कण्ठशब्दोत्तरवर्तिनी सप्तमी विभक्ति का 'लुक्' नहीं होता।

तत्पुरुष-समास आठ तरह का होता है। प्रथमान्त आदि शब्द सुबन्त के साथ समस्त होते हैं। 'पूर्वकायः' इस तत्पुरुषसमास में जिस समय 'पूर्वं कायस्य'–ऐसा विग्रह किया जाता है, तत्पश्चात् यह 'प्रथमा-तत्पुरुष' समास कहा जाता है। इसी तरह 'अपरकायः'–कायस्य अपरम्, इस विग्रह में, 'अधरकायः'–कायस्य अधरम् –इस विग्रह में और 'उत्तरकायः'–कायस्योत्तरम् –इस विग्रह में भी प्रथमा-तत्पुरुष समास कहा जाता है। ऐसे ही 'अर्द्धकणा' इसमें 'अर्द्धम् कणायाः–ऐसा विग्रह होने से प्रथमा-तत्पुरुष समास होता है एवं 'भिक्षातुर्यम्'–इसमें तुर्यं भिक्षायाः–ऐसा विग्रह होने से तुर्यभिक्षा और पक्षान्तर में 'भिक्षातुर्यम्'–ऐसा षष्ठी-तत्पुरुष होता है। ऐसे ही 'आपन्नजीविकः' यह द्वितीया-तत्पुरुष समास है। 'आपन्नजीविकः' यह द्वितीया-तत्पुरुष समास है। इसका विग्रह इस तरह होता है–'आपन्नो जीविकाम्।' पक्षान्तर में 'जीविकापन्नः' ऐसा रूप होता है। इसी तरह 'माधवाश्रितः'–यह द्वितीया-समास है; इसका विग्रह 'माधवम् आश्रितः'–इस तरह है।

'वर्षभोग्यः'–यह द्वितीया-तत्पुरुष समास है–इसका विग्रह है 'वर्षं भोग्यः।' 'धान्यार्थः' यह तृतीया-समास है। इसका विग्रह 'धान्येन अर्थः' इस प्राकार है। 'विष्णुबलिः' यहाँ 'विष्णवे बलिः'–इस विग्रह में चतुर्थी तत्पुरुष समास

कर्मधारयः सप्तधा नीलोत्पलमुखाः स्मृताः। विशेषणपूर्वपदो विशेष्योत्तरतस्तथा॥८॥
वैयाकरणखसूचिः शीतोष्णं द्विपदं शुभम्। उपमानपूर्वपदः शङ्खपाण्डुर इत्यपि॥९॥
उपमानोत्तरपदः पुरुषव्याघ्र इत्यपि। संभावनापूर्वपदो गुणवृद्धिरितीदृशम्॥१०॥
गुण इति वृत्तिर्वाच्या सुहृदेव सुबन्धुकः। अवधारणापूर्वपदो बहुव्रीहिश्च सप्तधा॥११॥
द्विपदश्च बहुव्रीहिरारूढभवनो नरः। अर्चिताशेषपूर्वोऽयं बह्वङ्घ्रिः परिकीर्तितः॥१२॥
एते विप्राश्चोपदशाः संख्योत्तरपदस्त्वयम्। संख्योभयपदो यद्वद्द्वित्रा द्व्येकत्रयो नरः॥१३॥
सहपूर्वपदोऽयं स्यात्समूलोद्धतकस्तरुः। व्यतिहारलक्षणोऽर्थः केशाकेशि नखानखि॥१४॥

होता है। 'वृकभीतिः' यह पंचमी-तत्पुरुष है। इसका विग्रह 'वृकाद् भीतिः'–इस तरह है। 'राजपुमान्' –यहाँ राज्ञः पुमान् –इस विग्रह में षष्ठी-तत्पुरुष समास होता है। इसी तरह 'वृक्षस्य फलम् –वृक्षफलम्'–यहाँ षष्ठी-तत्पुरुष समास है। 'अक्षशौण्डः' (द्युतक्रिडा में निपुण) इसमें सप्तमी-तत्पुरुष समास है। अहितः–जो हितकारी न हो, वह–इसमें 'नञ्समास' है॥१-७॥

'नीलोत्पल' आदि जिसके उदाहरण हैं, वह कर्मधारय समास सात तरह का होता है। १. विशेषणपूर्वपद (जिसमें विशेषण पूर्वपद हो और विशेष्य उत्तरपद अथवा)। इसका उदाहरण है–**'नीलोत्पल'** (नीला कमल)। २. विशेष्योत्तर विशेषणपद–इसका उदाहरण है–**'वैयाकरणखसूचिः'** (कुछ पूछने पर आकाश की तरफ देखने वाला वैयाकरण)। ३. विशेषणोभयपद (अथवा विशेषणद्विपद) जिसमें दोनों पद विशेषण रूप ही हों। जिस प्रकार–शीतोष्ण (ठंडा-गरम)। ४. उपमानपूर्वपद। इसका उदाहरण है–शङ्खपाण्डुरः (शङ्ख के समान सफेद।) ५. उपमानोत्तरपद–इसका उदाहरण है–'पुरुष व्याघ्रः' (पुरुषो व्याघ्र इव)। ६. सम्भावना पूर्वपद–(जिसमें पूर्वपद सम्भावनात्मक हो) उदाहरण–गुणवृद्धिः (गुण इति वृद्धिः स्यात्। अर्थात् गुण शब्द बोलने से वृद्धि की सम्भावना होती है)। तात्पर्य यह है कि 'वृद्धि हों'–यह कहने की आवश्यकता हो, तो 'गुण' शब्द का ही उच्चारण करना चाहिये। ७. अवधारणा पूर्वपद–(जहाँ पूर्वपद में 'अवधारण' (निश्चय) सूचक शब्द का प्रयोग हो, वह 'जिस प्रकार–'सुहृदेव सुबन्धुकः' (सुहृद् ही सुबन्धु है)। बहुव्रीहिसमास भी सात तरह का ही होता है॥८-११॥

१. द्विपद, २. बहुपद, ३. संख्योत्तरपद, ४. सांख्योभयपद, ५. सहपूर्वपद् ६. व्यतिहारलक्षणार्थ। तथा ७. दिग्लक्षणार्थ। 'द्विपद बहुव्रीहि' में दो ही पदों का समास होता है। यथा–**'आरूढभवनो नरः'। (आरूढं भवनं येन सः**–इस विग्रह के अनुसार जो भवन पर आरूढ हो गया हो, उस मुनष्य का बोध करता है।) 'बहुपद बहुव्रीहि' में दो से अधिक पद समास में आबद्ध होते हैं। इसका उदाहरण है–'अयम् अर्चिताशेषपूर्वः।' अर्चिता अशेषाः पूर्वा यस्य सोऽयम् अर्चिताशेषपूर्वः। अर्थात् जिसके सारे पूर्वज पूजित हुए हों, वह 'अर्चिताशेष पूर्व' है। इसमें 'अर्चित' 'अशेष' तथा 'पूर्व'–ये तीनों पद समास में आबद्ध हैं। ऐसा समास 'बहुपद' कहा गया है।

'संख्योत्तर पद' का उदाहरण है–'एते विप्रा उपदशाः'–ये ब्राह्मण लगभग दस हैं'। इसमें 'दस' संख्या उत्तरपद के रूप में प्रयुक्त है। 'द्वित्राः द्व्येकत्रयः' इत्यादि संख्योभयपद के उदाहरण हैं। **'सहपूर्वपद'** का उदाहरण–**'समूलोद्धतकः तरुः' (सह मूलेन उद्धतं कं शिखा यस्य सः**। अर्थात् जडसहित उखड़ गयी है शिखा जिसकी, वह वृक्ष)–यहाँ पूर्वपद के स्थान में 'सह' (स) का प्रयोग हुआ है। व्यतिहार लक्षण का उदाहरण है–केशाकेशि, नखानखि युद्धम् (आपस में झोंटा-झुटौअल, परस्पर नखों से बकोटा-बकोटीपूर्वक कलह)॥१२-१४॥

दिग्लक्ष्या स्याद्दक्षिणपूर्वा द्विगुराभाषितो द्विधा। एकवद्भावि (वी) द्विशृङ्गं पञ्चमूली त्वनेकधा।।१५।।
द्वन्द्वः समासो द्विविधो हीतरेतरयोगकः। रुद्रविष्णु समाहारो भेरीपटहमीदृशम्।।१६।।
द्विधाऽऽख्यातोऽव्ययीभावो नामपूर्वपदो यथा। शाकस्य मात्रा शाकप्रति यथाऽव्ययपूर्वकः।।१७।।
उपकुम्भं चोपरथ्यं प्राधान्येन चतुर्विधः। उत्तरपदार्थमुख्योऽयं द्वन्द्वश्चोभयमुख्यकः।।१८।।
पूर्वार्थे सोऽव्ययीभावो बहुव्रीहिश्च बाह्यगः।।१९।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गति समासविभागकथनं नाम पञ्चपञ्चाशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः।।३५५।।

दिग्लक्षणार्थ का उदाहरण–उत्तरपूर्वा (उत्तर और पूर्व के अन्तराल की दिशा)। 'द्विगु' समास दो तरह का बतलाया गया है। 'एकवद्भाव' तथा 'अनेकधा' स्थिति को लेकर ये भेद किये गये हैं। संख्या पूर्वपद वाला समास 'द्विगु' है। इसको कर्मधारय का ही एक भेदविषेष स्वीकार किया गया है। 'एकवद्भाव' का उदाहरण है–द्विशृङ्गम् (दो सींगों का समाहार)। 'पञ्चमूली' भी इसी का उदाहरण है। 'अनेकधा' 'अनेकवद्भाव का उदाहरण है–सप्तर्षयः इत्यादि। 'पञ्च ब्राह्मणाः' में समास नहीं होगा; क्योंकि यहाँ संज्ञा नहीं है।।१५।।

'द्वन्द्व' समास भी दो ही तरह का होता है–१.'इतरेतरयोगी' तथा २. 'समाहारवान्। प्रथम का उदाहरण है–'रुद्रविष्णू (रुद्रश्च विष्णुश्च–रुद्र तथा विष्णु)। यहाँ इतरेतर-योग है। समाहार का उदाहरण है–भेरीपटहम् (भेरी च पटहश्च, अनयोः समाहारः–अर्थात् भेरी और पटह का समाहार)। यहाँ 'तुर्याङ्ग' होने से इनका एकवद्भाव होता है।

अव्ययीभाव समास भी दो तरह का होता है–१. 'नामपूर्वपद' और २. (यथा आदि) अव्यय पूर्वपद। प्रथम का उदाहरण है– शाकस्य मात्रा–शाकप्रति। यहाँ 'शाक' पूर्वपद है और मात्रार्थक 'प्रति' अव्यय उत्तरपद। दूसरे का उदाहरण–'उपकुमारम्-उपरथ्यम्' इत्यादि हैं। समास को प्रायः चार तरहों में विभाजित किया जाता है–१. उत्तरपदार्थ की प्रधानता से युक्त (तत्पुरुष), २. उभयपदार्थ प्रधान द्वन्द्व समास, ३. पूर्वपदार्थ प्रधान 'अव्ययीभाव' तथा ४. अन्य अथवा बाह्यपदार्थ-प्रधान 'बहुव्रीहि'।।१६-१९।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी तीन सौ पचपनवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।३५५।।

❖❖❖

अथ षट्पञ्चाशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः

तद्धितः

स्कन्द उवाच

तद्धितं त्रिविधं वक्ष्ये सामान्या वृत्तिरीदृशी। लच्यंसलो वत्सलः स्यादिलचि स्यात्तु फेनिलम्॥१॥
लोमशः शे पामनो ने इलचि स्यात्तु पिच्छिलम्। अणि प्राज्ञ आर्चिकः स्याद्दन्तादुरचि दन्तुरः॥२॥
रे स्यान्मधुरं सुशि (षि) रं वे स्यात्केशव ईदृशम्। हिरण्यं ये मालवो वे बलचि स्याद्रजस्वलः॥३॥

अध्याय-३५६

त्रिविध तद्धित प्रत्यय विचार

कुमार स्कन्ध ने कहा कि-हे कात्यायन! अधुना त्रिविध 'तद्धित' का वर्णन करने जा रहा हूँ। 'तद्धित' के तीन भेद हैं-**सामान्यावृत्ति तद्धित, अव्यय तद्धित** तथा **भाववाचक तद्धित। 'सामान्यावृत्ति तद्धित'** इस तरह है-'अंस' शब्द से 'लच्' प्रत्यय होने पर 'अंसलः' बनता है; इसका अर्थ है-बलवान्। 'वत्स' शब्द से 'लच्' प्रत्यय होने पर 'वत्सलः' रूप होता है, इसका अर्थ स्नेहवान् है। 'फेन' शब्द से 'इलच्' प्रत्यय होने पर 'फेनिलम्' रूप होता है, इसका अर्थ है-फेनयुक्त जल। लोमादिगण से 'श' प्रत्यय होता है, विकल्प से 'मतुप्' भी होता है। इस नियम के अनुसार 'श' प्रत्यय होने पर 'लोमशः' प्रयोग बनता है। मतुप् होने पर 'लोमवान्' होता है। इसी तरह 'रोमशः, रोमवान्-ये प्रयोग सिद्ध होते हैं।

पामादि शब्दों से 'न' होता है-इस नियम के अनुसार 'पाम' शबद से 'न' होने पर 'पामनः' 'अङ्गात् कल्याणे।'-इस वार्तिक के अनुसार 'कल्याण' अर्थ में अंग शब्द से 'न' होने पर 'लक्ष्मणः' (श्रेष्ठतम लक्षणों से युक्त) ये रूप बनते हैं। वैकल्पिक 'मतुप्' होने पर तो 'पामवान्' आदि रूप होंगे। जिसे खुजली हुई हो, वह 'पामन' या 'पामवान्' है। इसी तरह पिच्छादि शब्दों से-ल्अलच्' होता है-इस नियम के अनुसार 'इलच्' होने पर 'पिच्छिलः', 'पिच्छवान् ; 'उरसिलः' का अर्थ 'पंखवान्' होता है। मार्ग का विशेषण होने पर यह फिसलनयुक्त का बोधक होता है-यथा 'पिच्छिलः पन्थाः।' 'उरस्वान्' का अर्थ 'मनस्वी' समझना चाहिये। 'प्रज्ञाश्रद्धार्चाभ्यो णः।' (५/२/१०१)-इस पाणिनि-सूत्र के अनुसार) 'ण' प्रत्यय करने पर 'प्रज्ञा' शब्द से 'प्राज्ञः' (प्रज्ञावान्), 'श्रद्धा' शब्द से 'श्राद्धः' (श्रद्धावान्) और 'अर्चा' शब्द से 'आर्चः' (अर्चावान्) रूप बनते हैं। वाक्य में प्रयोग-'प्राज्ञो व्याकरणे'।

स्त्रीलिङ्ग में 'प्राज्ञा' (प्रज्ञावती) रूप होगा। 'ण' प्रत्यय होने से अणन्तत्वप्रयुक्त 'ङीप्' प्रत्यय यहाँ नहीं होगा। यद्यपि 'प्रकर्षेण जानातीति प्रज्ञः स एव प्रज्ञावान्।' प्रज्ञ एव प्राज्ञः। (स्वार्थे अण् प्रत्ययः)-इस तरह भी 'प्राज्ञः' की सिद्धि तो होती है, तथापि इससे स्त्रीलिंग में 'प्रज्ञी' रूप बनेगा, 'प्राज्ञा' नहीं। 'वृत्ति' शब्द से भी 'ण' प्रत्यय होता है-'वार्तः' (वृत्तिमान्)। 'वार्ता' विद्या इत्यादि। ऊँचे दाँत हैं इसके-इस अर्थ में 'दन्त' शब्द से 'उरच्' प्रत्यय होने पर 'दन्तुरः' -यह रूप होता है। 'दन्त उन्नत उरच्।' (५/२/१०६)-इस पाणिनि-सूत्र से कथित अर्थ में 'दन्तुरः' इस पद की सिद्धि होती है। 'मधु' शब्द से 'र' प्रत्यय होने पर 'मधुरम्' 'सुषि' शब्द से 'र' प्रत्यय होने पर 'सुषिरम्' 'केश' शब्द से 'व' प्रत्यय होने पर 'केशवः' 'हिरण्य' तथा 'मणि' शब्दों से 'व' प्रत्यय होने पर 'हिरण्यवमणि वः' -यह प्रयोग सिद्ध होते हैं। 'रजस्' शब्द से 'वलच्' प्रत्यय होने पर 'रजस्वलम्' पद की सिद्धि होती है॥१-३॥

इनौ धनी करी हस्ती धनिकं टिकनीरितम्। पयस्वी विनि मायावी ऊर्णायुर्युसि ईरितम्॥४॥
वाग्मी मिनि आलचि स्याद्वाचालश्चाऽऽटचीरितम्। फलिनो बर्हिणः केकी वृन्दारकस्तथा कनि॥५॥
आलुचि शीतं न सहते शीतालुश्चैवमीदृशम्। हिमालुरालुचि स्याच्च हिमं न सहते तथा॥६॥
रूपं वातादुलचि स्याद्वातुलश्चान (ण) पत्यके। वाशिष्ठः कौरवो वासः पाञ्चालः सोऽस्य वासकः॥७॥
तत्र वासो माथुरः स्याद्वेत्यधीते च चान्द्रकः। व्युत्क्रमं वेत्ति क्रमको नरश्चक्राम कौशकः॥८॥

'धन', 'कर' तथा 'हस्त'–इन शब्दों से 'इनि' प्रत्यय होने पर क्रमशः 'धनी', 'करी' और 'हस्ती'–ये पद सिद्ध होते हैं। 'धन' शब्द से 'ठन्' प्रत्यय होने पर 'धनिकं कुलम्' या 'धनिकः पुरुषः'–ये प्रयोग सिद्ध होते हैं। 'पयस्' तथा 'माया' शब्दों से 'विनि' प्रत्यय होने पर 'पयस्वी', 'मायावी'–ये रूप बनते हैं। 'ऊर्णा' शब्द से मत्वर्थीय 'युस्' प्रत्यय होने पर 'ऊर्णायुः' पद की सिद्धि बतलायी गयी है। 'वाच्' शब्द से ग्मिनि' प्रत्यय होने पर 'वाग्मी' तथा 'आलच्' प्रत्यय होने पर 'वाचालः'–ये रूप बनते हैं। उसी से 'आटच्' प्रत्यय होने पर 'वाचाटः' रूप बनता है। 'फल' तथा 'बर्ह' शब्दों से 'इनच्' प्रत्यय होने पर क्रमशः 'फलिनः' 'बर्हिणः'–ये रूप बनते हैं। 'वृन्द' शब्द से 'आरकन्' प्रत्यय होने पर 'वृन्दारकः'–इस पद की सिद्धि होती है॥४-५॥

'शीतं न सहते', हिमं न सहते'–इस विग्रह में 'शीत' तथा 'हिम' शब्दों से 'आलुच्' प्रत्यय करने पर 'शीतालुः' तथा 'हिमालुः' रूप बनते हैं। 'वात' शब्द से 'उलच्' प्रत्यय होने पर 'वातुलः' रूप बनता है। 'अपत्य' अर्थ में 'अण्' प्रत्यय होता है।

'वसिष्ठस्यापत्यं पुमान् वासिष्ठः', 'कुरोरपत्यं पुमान् कौरवः।' (वसिष्ठ की संतान 'वासिष्ठ' कहलाती है तथा कुरु की संतति 'कौरव'–'वहाँ उसका निवास है'–इस अर्थ में सप्तम्यन्त 'समर्थ' शब्द से 'अण्' प्रत्यय होता है। यथा 'मथुरायां वासोऽस्येति माथुरः।' (मथुरा में निवास है इसका, इसलिये यह 'माथुर' है।) 'सोऽस्य वासः।'–वह इसका वासस्थान है, इस अर्थ में भी प्रथमान्त 'सक्षम से' 'अण्' प्रत्यय होता है। 'उसको जानता और उसको पढ़ता है'–इस अर्थ में द्वितीयान्त 'समर्थ' पद से 'अण्' प्रत्यय होता है। 'चान्द्रं व्याकरणमधीते तद् वेद वा इति चान्द्रः।'

(चान्द्र एव चान्द्रकः स्वार्थे कप्रत्ययः।) 'क्रमादि' शब्दों से 'वुन्' प्रत्यय होता है। 'वु' के स्थान में 'अक' आदेश होता है।) **'क्रमं वेत्ति इति क्रमकः'**–जो क्रमपाठ को जानता है, वह 'क्रमक' है। इसी तरह 'पदकः', 'शिक्षकः', 'मीमांसकः' इत्यादि पद बनते हैं। 'कोशम् अधीते वेद वा'।–जो कोश को जानता या पढ़ता है, वह 'कौशक' है॥६-८॥

'धान्यानां भवने क्षेत्रे खञ्।' (पा.सू. ५/२/१)–इस सूत्र के अनुसार धान्यों की उत्पत्ति के आधार भूत क्षेत्र के अर्थ में षष्ठ्यन्त सक्षम धान्य वाचक शब्द से 'खञ्' प्रत्यय होता है। स्कन्द ने कात्यायन को जिसका उपदेश किया, उस कौमार व्याकरण में भी यह नियम देखा जाता है। इसके अनुसार **प्रियंगोर्भवनं क्षेत्रं प्रैयंगवीनम्–प्रियंगु** (कँगनी) की उत्पत्ति के आधारभूत क्षेत्र का बोध कराने के लिये 'खञ्' प्रत्यय होने पर 'ख' के स्थान पर 'ईन्' आदेश हो जाने पर (प्रैयंगवीनम्'–यह पद बनता है। इसका अर्थ है–'प्रिंयंगु (कँगनी) की उपज देने वाला खेत'।

इसी तरह मूँग, कोदो आदि की उत्पत्ति के उपयुक्त खेत को 'मौद्गीन' तथा 'कौद्रवीण' कहते हैं। यहाँ 'मुद्ग' शब्द से 'खञ्' होने पर 'कौद्रवीण' शब्द की सिद्धि होती है। 'विदेहस्यापत्यम्' (विदेह का पुत्र)–इस अर्थ में 'विदेह' शब्द से 'अण्' प्रत्यय होने पर 'वैदेहः' पद की सिद्धि होती है। इन सबमें आदि स्वर की वृद्धि होती है। अकारान्त

प्रियंगूणां भवं क्षेत्रं प्रैयंगवीन (ण) कं खञि। मौद्गीनं कौद्रवीणं च वैदेहश्वान (ण) पत्यके॥९॥
इञि दाक्षिर्दाशरथिः फकि नाडायनादिकम्। आश्वायनः स्याच्च फञि यञि गार्ग्यश्च वात्स्यकः॥१०॥
ढकि स्याद्वैनतेयादिश्चाटकैरस्तथैरकि। द्रकि गौधेरको रूपं गौधारश्चाऽऽरकीरितम्॥११॥
क्षत्रियो घे कुलीनः खे ण्ये कौरव्यादयः स्मृताः। यति मूर्धन्यमुख्यादिः सगुन्धिरिति रूपकम्॥१२॥

शब्द से 'अपत्य' अर्थ में 'अण्' का बाधक 'इ' प्रत्यय होता है। आदि स्वर की वृद्धि तथा अन्तिम स्वर का लोप। **'दक्षस्यापत्यं–दाक्षिः, दशरथस्यापत्यं दाशरथिः।'** इत्यादि पद बनते हैं। 'नडादिभ्यः फक्।' (४/१/९९)–इस सूत्र के नियमानुसार 'नड' आदि शब्दों से 'फक्' प्रत्यय होता है। 'फ' के स्थान में 'आयन' होता है। अतएव **'नडस्य गोत्रापत्यं नाडायन :, चरस्य गोत्रापत्यं चारायणः।'** इत्यादि प्रयोग सिद्ध होते हैं। (कित् होने के कारण आदि वृद्धि हो जाती है।) इसी तरह **'अश्वस्य गोत्रापत्यम्' आश्वायनः'** होता है। इसमें 'अश्वादिभ्यः फञ्।' (४/१/११०)–इस सूत्र के अनुसार 'फञ्' प्रत्यय होता है।

('गोत्रे कुञ्जादिभ्यः फञ्।' ४/१/९८) यह भी फञ् विधायक सूत्र है। ब्रघ्न, शङ्ख, शकट आदि शब्दद कुञ्जादि के अन्तर्गत हैं, अतएव 'शाङ्खायनः', 'शाकटायनः' आदि प्रयोग सिद्ध होते हैं।) **'गर्गादिभ्यो यञ्'** (४/१/१०५)–इस सूत्र के अनुसार गर्ग, वत्स आदि शब्दों से गोत्रापत्यार्थक 'यञ्' प्रत्यय होने पर 'गार्ग्यः'। 'वात्स्यः' इत्यादि रूप बनते हैं। 'स्त्रीभ्यो ढक्'। (४/१/१२०) के नियमानुसार स्त्रीप्रत्ययान्त शब्दों से 'अपत्य' अर्थ में 'ढक्' प्रत्यय होता है। फिर उसके स्थान में 'एय' होता है। जिस प्रकार 'विनतायाः पुत्रः' (विनता का पुत्र) 'वैनतेय' कहलाता है। 'सुमित्रा' आदि शब्द बाह्वादिगण में पठित हैं, इसलिये उनसे अपत्यार्थ में 'इञ्' प्रत्यय होता है। अतएव 'सौमित्रेयः' न होकर 'सौमित्रिः' रूप बनता है।

'चटका' शब्द से 'चटकाया ऐरक्।' (४/१/१२८)–इस सूत्र के विधानानुसार 'ऐरक्' प्रत्यय होने पर 'चटकाया अपत्यं पुमान्' (चटकाका न पुत्र) 'चाटकैर' कहलाता है। 'गोधा' शब्द से 'द्रक्' का विधान है। 'गोधाया द्रक्।' (४/१/१२९) इसलिये गोधा का अपत्य 'गोधेर' कहलाता है। 'आरगुदीचाम्।' (४/१/१३०) के नियमानुसार 'आरक्' प्रत्यय होने पर 'गोधारः' रूप बनता है। ऐसा वैयाकरणों ने बतलाया है॥९-११॥

'क्षत्र' शब्द 'घ' प्रत्यय होने पर 'घ' के स्थान में 'इय' होने के कारण 'क्षत्रिय' शब्द सिद्ध होता है। 'क्षत्राद् घः।' (४/१/१३८)–'जाति' बोधक 'घ' प्रत्यय होने पर ही 'क्षत्रियः' रूप बनता है। अपत्यार्थ में तो 'इञ्' होकर 'क्षत्रस्यापत्यं पुमान् क्षात्रिः'–यही रूप बनेगा। 'कुलात् खः।' (४/१/१३९) के अनुसार 'कुल' शब्द से 'ख' प्रत्यय और 'ख' के स्थान में 'ईन' आदेश होने पर 'कुलीनः'–इस पद की सिद्धि होती है।

'कुर्वादिभ्यो ण्यः।' (४/१/१५१) के अनुसार अपत्यार्थ में 'कुरु' शब्द से 'ण्य' प्रत्यय होने पर आदिवृद्धिपूर्वक गुण–वान्तादेश होकर 'कौरव्यः' इत्यादि प्रयोग बनते हैं। 'शरीरावयवाद् यत्।' (५/१/६) के नियमानुसार शरीरावयववाचक शब्दों से 'यत्' प्रत्यय होने पर 'मूर्धन्य' तथा 'मुख्य' आदि शब्द सिद्ध होते हैं। 'सुगन्धिः'–**'शोभनो गन्धो यस्य सः'**–इस लौकिक विग्रह में बहुव्रीहि समास करने के पश्चात् **'गन्धस्येदुत्पूतिसुसुरभिभ्यः।'** (४/५/१३५)–इस सूत्र के अनुसार अन्त में 'इ' हो जाने से 'सुगन्धिः'–इस शब्दरूप की सिद्धि होती है॥१२॥

'तदस्य संजातं तारकारिभ्य इतच्।' (५/२/३६)–तारकादिगण से 'इतच्' प्रत्यय होता है, इस नियम के अनुसार 'तारकाः संजाता अस्य' (तारे उग आये हैं, इसके) इस अर्थ में 'तारका' शब्द से 'इतच्' प्रत्यय होने पर 'तारकितं नभः' इत्यादि प्रयोग सिद्ध होते हैं। 'कुण्डमिव ऊधो यस्याः सा' (कुण्डा के समान है थन जिसका, वह)–इस लौकिक विग्रह में बहुव्रीहि समास होने पर 'ऊधसोऽनङ्।' (५/४/१३१)–इस सूत्र के अनुसार ऊधोऽन्त बहुव्रीहि से स्त्रीलिङ्ग में 'अनङ्' होता है।

तारकादिभ्य इतचि नभस्तारकितादयः। अनङि स्याच्च कुण्डोघ्नी पुष्पधन्वसुधन्वनौ॥१३॥
चुञ्चुपि वित्तचुञ्चुः स्याद्वित्तमस्य च शब्दके। चणपि स्यात्केशचणो रूपे सत्पटरूपकम्॥१४॥
ईयसि च पटीयान्स्यात्तरप्यक्षतरादिकम्। पचतितरां च तरपि तमप्यटतितमामपि॥१५॥
मृदुकल्पः कल्पपि स्यादिन्द्रकल्पोऽर्ककल्पकः। राजदेशीयो देशीये देश्ये देश्यादिरूपकम्॥१६॥
पटुजातीयो जातीये जानुमात्रं च मात्रचि। ऊरुद्वयसो द्वयसच्यूरुदघ्नं च दघ्नचि॥१७॥

इस तरह 'अनङ्' होने पर '**बहुव्रीहेरूधसो ङीष्।**' (४/१/२५)–इस सूत्र से ङीप् प्रत्यय होता है। तत्पश्चात् अन्यान्य प्रक्रियात्मक कार्य होने के बाद कुण्डोघ्नी' पद की सिद्धि होती है। '**पुष्पं धनुर्यस्य स पुष्पधन्वा' (कामदेवः), 'सुष्ठु धनुर्यस्य स सुधन्वा'** (श्रेष्ठ धनुष धारण करने वाला योद्धा)–इन दोनों बहुब्रीहि पदों में 'धनुषश्च'। (५/४/१३२)–इस सूत्र से 'अनङ्' होता है। तत्पश्चात् सुबाहि कार्य होने पर 'पुष्पधन्वा' तथा 'सुधन्वा'–ये दोनों पद सिद्ध होते हैं॥१३॥

'वित्तेन वित्तः इति वित्तचुञ्चुः।' –जो धनवैभव के द्वारा प्रसिद्ध हो, वह 'वित्तचुञ्चुः' है। शब्दशास्त्र में जिसकी प्रसिद्धि है, वह 'शब्दचुञ्चु' कहलाता है। ये दोनों शब्द 'चुञ्चुप्' प्रत्यय होने पर निष्पन्न होते हैं। इसी अर्थ में 'चणप्' प्रत्यय भी होता है। यथा–'केशचणः'। जो अपने केशों से विदित है, वह 'केशचणः' कहा गया है। (इन प्रत्ययों का विधान 'तेन वित्तश्चुञ्चुप्चणपौ।' (५/२/२६)–इस सूत्र के अनुसार होता है। 'पटु' शब्द से 'प्रशस्त' अर्थ में 'रूप' प्रत्यय होने पर 'पटुरूपः' पद बनता है। 'प्रशस्तः पटुः-पटरूपः।' जो प्रशस्त पटु है, वह 'पटुरूप' कहा जाता है। यह 'रूप' प्रत्यय 'सुबन्त' और 'तिङन्त'–दोनों तरह के शब्दों से होता है। 'तिङन्त' शब्द से इस तरह होता है–प्रशस्तं पचति इति 'पचतिरूपम्'।

'पचतिरूपम्' का अर्थ है–अच्छी तरह पकाता है। अतिशयार्थ-द्योतन के लिये 'तमप्', 'इष्ठन्', 'तरप्' और 'ईयसुन्'–ये प्रत्यय होते हैं। इनमें से 'तरप्' और 'ईयसुन्'–ये दोनों दो में से एक की श्रेष्ठता का प्रतिपादन करते हैं और 'तमप्' तथा 'इष्ठन्'–ये दोनों बहुतों में से एक की श्रेष्ठता बताते हैं। पाणिनि ने इसके लिये दो सूत्रों का उल्लेख किया है–'**अतिशायने तमबिष्ठनौ।**' (५/३/५५) तथा '**द्विवचनविभज्योत्तरपदे तरबीयसुनौ।**' (५/३/५७)। इसके सिवा, यदि किसी द्रव्य का प्रकर्ष न बताना हो, तो 'तरप्' 'तमप्' प्रत्ययों से परे 'आम्' हो जाता है। यह 'आम्' 'किम्' शब्द, 'एदन्त' शब्द, तिङन्त पद तथा अव्यय पद से भी होते हैं।

इस सब नियमों के अनुसार 'अयम् अनयोरतिशयेन पटुः।' (यह इन दोनों में से अधिक पटु है)–इस अर्थ को बताने के लिये 'पटु' शबद से 'ईयसुन्' प्रत्यय करने पर विभक्तिकार्यपूर्वक 'पटीयान्' रूप होता है। 'अक्ष' शब्द से 'तरप्' प्रत्यय होने पर 'अक्षतर' और 'पटु' आदि शब्दों से कथित प्रत्यय होने पर 'पटुतरः' आदि रूप बनते हैं। तिङन्त से 'तरप्' प्रत्यय करके अन्त में 'आम्' करने पर 'पचतितराम्' रूप बनता है। 'तमप्' और 'आम्' प्रत्यय होने पर 'अटतितमाम्' इत्यादि उदाहरण उपलब्ध होते हैं॥१४-१५॥

किंचित् न्यूनता तथा असमाप्ति का भाव प्रकट करने के लिये 'सुबन्त' और तिङन्त शब्दों से 'कल्पप्' 'देश्य' तथा 'देशीयर्' प्रत्यय होते हैं। '**ईषदसमाप्तौ कल्पब्देश्यदेशीयरः**' (५/३/६७)–इस सूत्र के अनुसार 'मृदु' शब्द से 'कल्पप्' प्रत्यय होने पर 'मृदुकल्पः' प्रयोग बनता है। इसका अर्थ हुआ–'कुछ कम मृदु या कोमल'। '**ईषदूनः इन्द्रः–इन्द्रकल्पः। ईषदूनः अर्कः**–अर्ककल्पः।' इत्यादि उदाहरण सी तरह जानने योग्य हैं।

'ईषदूनः राजा'–इस अर्थ में 'राजन् शब्द से 'देशीयर्' प्रत्यय करने पर राजदेशीयः' तथा 'देश्य' प्रत्यय करने पर 'राजदेश्यः'–ये रूप बनते हैं। इसी तरह 'पटु' शब्द से जातीय प्रत्यय करने पर 'पटुजातीयः' पद बनता है। इसका

तयपि स्यात्पञ्चतयो दौवारिकष्ठकीरितम्। सामान्यवृत्तिरुक्ताऽथ अव्ययाख्यश्च तद्धितः॥१८॥
यस्माद्यतस्ततसिलि च यत्र तत्र त (त्र) लीरितम्। अस्मिन्काले ह्यधुना स्यादिदानीं चैव दान्यपि (नीमि)॥१९॥
सर्वस्मिन्सर्वदा दा स्यात्तस्मिन्काले र्हिलीरितम्। तर्हि होऽस्मिन्काल इह कर्हि कस्मिंश्च कालके॥२०॥

अर्थ है–पटुतरह–पटु के तरह का। 'थल्' प्रत्यय तरहमात्र का बोधक है, परन्तु 'जातीयर्' प्रत्यय 'तरहवान्' का बोध कराता है। (इसका विधायक पा.सू. है–'प्रकारवचने जातीयर्' ५/३/६९) 'प्रमाणे द्वयसज्दघ्नञ्मात्रचः।' (५/२/३७)–इस सूत्र के अनुसार 'जल' आदि का प्रमाण बताने के लिये सुबन्त शब्दों से 'द्वयसच्' 'दघ्नच्' तथा 'मात्रच्' प्रत्यय होते हैं। इस नियम से 'मात्रच्' प्रत्यय होने पर 'जानुमात्रम्' पद बनता है। इसका अर्थ है–घुटने तक (पानी है)। 'ऊरु' शब्द से 'द्वयसच्' प्रत्यय करने पर 'ऊरुद्वयसम्' तथा 'दघ्नच्' प्रत्यय करने पर 'ऊरुदघ्नम्'–ये प्रयोग बनते हैं॥१६-१७॥

'संख्याया अवयवे तयप्।' (पा.सू. ५/२/४२) –इस सूत्र के अनुसार 'पञ्चावयवा यस्य तत् (पाँच अवयव हैं, जिसके वह) इस अर्थ में 'पञ्चन्' शब्द से 'तयप्' प्रत्यय करने पर 'पञ्चतयम्'–यह रूप बनता है। **'द्वारं रक्षति, नियुक्तो वा दौवारिकः'**–जो द्वार की रक्षा करता है, अथवा द्वार पर रक्षा के लिये नियुक्त है, हव 'दौवारिक है। 'रक्षति'। (पा.सू. ४/४/३३) अथवा 'तत्र नियुक्तः।' (पा.सू. ४/४६९) सूत्र से यही 'ठक्' प्रत्यय हुआ है। 'ठ' के स्थान में 'इक' आदेश हो जाता है। तथा 'द्वारादीनां च।' (७/३/४)–इस सूत्र से 'ऐच्' का आगम होता है। फिर विभक्ति कार्य होने पर 'दौवारिकः' इस पद की सिद्धि होती है। इस तरह 'ठक्' प्रत्यय होने पर 'दौवारिक' शब्द की सिद्धि बतलायी गयी है। यहाँ तक 'तद्धितक की सामान्यवृत्ति' कही गयी। अधुना 'अव्ययसंज्ञक तद्धित' का निरूपण किया जाता है॥१८॥

'यस्मादिति यतः', 'तस्मादिति ततः'–यहाँ **'पञ्चम्यास्तसिल्'**। (५/३/७) सूत्र के अनुसार 'तसिल्' प्रत्यय होता है। इकार और लकार की इत्संज्ञा होकर उनका लोप हो जाता है। 'तसिल्' प्रत्यय विभक्तिसंज्ञक होने के कारण 'त्यदादीनामः।' (७/२/१०२) के नियमानुसार अकारान्तादेश हो जाता है। इसलिये, 'यत्' की जगह 'य' और तत् की जगह 'त' होने से 'यतः', 'ततः'–ये रूप बनते हैं। 'तसिलादयः प्राक् पाशपः।' 'तसिल्' आदि से लेकर 'पाशप्' प्रत्यय के पूर्वतक जितने प्रत्यय विहित या अभिहित हुए हैं, उन सबकी 'अव्ययसंज्ञा' होती है)–इस परिगणना के अनुसार 'यतः', 'ततः' आदि शब्द 'अव्यय' माने गये हैं।

'तसिल्' आदि में 'त्रल्' प्रत्यय भी आता है। इसका विधायक पाणिनिसूत्र है–**'सप्तम्यास्त्रल्।'** (५/३/१०)। **'यस्मिन्निति यत्र', 'तस्मिन्निति तत्र'**–इस लौकिक विग्रह में 'त्रल्' प्रत्यय होने पर **'यस्मिन् त्र', 'तस्मिन् त्र।'** इस अवस्था में **'कृत्तद्धितसमासाश्च'** (१/२/४६) से प्रातिपदिक संज्ञा, 'सुपो धातुप्रातिपदिकयोः'। (२/४/७१) सूत्र से विभक्ति का लोप और त्यदादीनामः।' (७/२/१०२) सूत्र से अकारान्तादेश ओने पर यत्र, तत्र–इन पदों की सिद्धि बतलायी गयी है।

'अस्मन् काले'–इस लौकिक विग्रह में 'अधुना'। (५/३/१७) सूत्र से 'अधुना' प्रत्यय होने 'अस्मिन् अधुना' इस अवस्था में विभक्ति लोप, 'इदम्' के स्थान में 'इश्' अनुबन्धलोप तथा 'यस्येति च।' (६/४/१४८) से इकारलोप होने पर 'अधुना' की सिद्धि हुई। इसी अर्थ में 'दीनम्' प्रत्यय होने पर 'इदम्' के स्थान में 'इ' होकर 'इदानीम्' रूप बनता है। 'सर्वस्मिन् काले'–इस विग्रह में **'सर्वैकान्यकिंयत्तदः काले दा'** (५/३/१५)–इस सूत्र से 'दा' प्रत्यय होने पर 'सर्वदा' रूप बनता है।

'तस्मिन् काले–तर्हि', 'कस्मिन् काले–कर्हि' यहाँ 'तत्' और 'किम्' शब्दों से 'काल' अर्थ में 'अनद्यतने र्हिलन्यतरस्याम्।' (५/३/२१)–इस सूत्र से र्हिल्' प्रत्यय हुआ। फिर पूर्ववत् प्रातिपदिकावयव विभक्ति का लोप होकर

यथा थालि थमि कथं पूर्वस्यां दिशि संचयेत्। अस्ताति चैव पूर्वस्याः पूर्वादिग्रामणीयकाः।।२१।।
पुरस्तात्संचरेद्गच्चेत्सद्यस्तुल्येऽहनीरितम्। उतिः पूर्वाब्दे च परुत्पूर्वतरे परार्यपि।।२२।।
ऐषमोऽस्मिन्संवत्सरे रूपं समसणीरितम्। एद्यवौ परेद्यवि स्यात्परस्मिन्नहनीरितम्।।२३।।
अद्यास्मिन्नहनि द्ये स्यात्पूर्वेद्युश्च तथैद्युसि। दक्षिणस्यां दिशि वसेद्दक्षिणाद्दक्षिणाद्युभौ।।२४।।

'त्यदादीनामः'। (७/२/१०२)–इस सूत्र से 'तत्' के स्थान पर 'त' और 'किमः कः' (७/२/१०३) सूत्र से 'किम्' के स्थान में 'क' होने पर 'तर्हि' और 'कर्हि'–इन पदों की सिद्धि कही गयी है। 'अस्मिन्'–इस विग्रह में 'त्रल्' प्रत्यय की प्राप्ति हुई, परन्तु उसको बाधित करके 'इदमो हः।' (५/३/११)–इस सूत्र सू 'हः' प्रत्यय हो गया। फिर 'इदम्' के स्थान में इकार होने पर 'इह' फिर 'इदम्' के स्थान में इकार होने पर 'इह' रूप की सिद्धि हुई।।१९-२०।।

'येन तरहेण यथा, केन तरहेण कथम्'–इन स्थलों पर 'प्रकारवचने थाल्'। (५/३/२३) के अनुसार 'थाल्' प्रत्यय होने पर 'यथा', 'तथा' आदि रूप रूप होते हैं। 'किम्' शब्द से 'किमश्च।' (५/३/२५) के अनुसार 'थम्' प्रत्यय होता है। इसलिये 'कथम्' इस रूप की सिद्धि होती है। जो शब्द दिशा के अर्थ में रूढ़ होते हैं, ऐसे 'दिशा', 'देश' और 'काल' अर्थ में प्रयुक्त शब्दों से स्वार्थ में 'अस्ताति' प्रत्यय होता है। श्लोक में 'पूर्वस्याम्' यह सप्तमी विभक्ति का, पूर्वास्याः यह पंचमी विभक्ति का तथ 'पूर्वा' यह प्रथमा विभक्ति का प्रतिरूप है। अर्थात् कथित शब्द यदि सप्तम्यन्त, पञ्चम्यन्त और प्रथमान्त हों, तभी उनसे 'अस्ताति' प्रत्यय होता है। 'पूर्व', 'अधर' और 'अवर' शब्दों के स्थान में क्रमशः 'पुर' 'अध' और 'अव' आदेश होते हैं। 'अस्ताति के स्थान में 'असि' प्रत्यय का भी विधान होता है।

इन निर्दिष्ट नियमों के अनुसार 'पूर्वस्यां दिशि', 'पूर्वस्याः दिशः' 'पूर्वा वा दिक्'–इन लौकिक विग्रहों में 'पुरः', 'पुरस्तात्'–ये रूप होते हैं। उसी तरह 'अधः, अधस्तात्'–'अवः, अवस्तात्'–इत्यादि रूप जानने चाहिये। इनके वाक्यप्रयोग 'पुरस्तात् संचरेद्', 'पुरस्ताद् गच्छेत्' इत्यादि रूप होते हैं। 'समाने अहनि'–इस अर्थ में 'सद्यः'–इस शब्द का प्रयोग होता है। 'समान' का 'स' और 'अहनि' के स्थान में 'द्यस्' निपातित होकर 'सद्यः'–इस पद की सिद्धि होती है।

'पूर्वस्मिन् वर्षे परुत्'–'पूर्वतरवर्षे परारि' इति 'पूर्व वर्ष में–इस अर्थ को बताने के लिये 'परुत्' शब्द का प्रयोग होता है तथा पूर्व से पूर्व वर्ष में–इस अर्थ का बोध कराने के लिये 'परारि' शब्द का प्रयोग होता है। पहले में 'पूर्व' शब्द के स्थान में 'पर' आदेश होता है और उससे 'उत्' प्रत्यय किया जाता है। दूसरे में 'आरि' प्रत्यय होता है और 'पूर्व' के स्थान में 'पर' आदेश। 'अस्मिन् संवत्सरे' (इस वर्ष में) इस अर्थ का बोध कराने के लिये 'ऐषमः' पद का प्रयोग होता है। इसमें 'इदम्' शब्द के स्थान में 'इकार' आदेश तरफ उससे परे 'समसण्' प्रत्यय का निपातन होता है। अकार-णकार की इत्संज्ञा हो जाने पर 'ई + समः'–इस अवस्था में आदिवृद्धि और सकार के स्थान में मूर्धन्यादेश होने पर 'ऐषमः' रूप की सिद्धि होती है।

'परस्मिन्नहनि' (दूसरे दिन) के अर्थ में 'पर' शब्द से 'एद्यवि' प्रत्यय करने पर 'परेद्यवि'–यह रूप होता है। 'अस्मिन्नहनि' (आज के दिन) इस अर्थ में 'इदम्' शब्द से 'द्य' प्रत्यय होता है और 'इदम्' के स्थान में 'अ' हो जाता है। इस तरह 'अद्य'–यह रूप बनता है। 'पूर्वस्मिन् दिने' (पहले दिन)–इस अर्थ में 'पूर्व' शब्द से 'एद्युस्' प्रत्यय होता है तो 'पूर्वेद्युः' यह रूप बनता है। इसी तरह 'परस्मिन् दिने'–'परेद्युः' 'अन्यस्मिन् दिने'–'अन्येद्युः' इत्यादि प्रयोग जानने चाहिये। 'दक्षिणस्यां दिशि वसेत्' (दक्षिण दिशा में निवास करना चाहिये।)–इस अर्थ में 'दक्षिणा' और

उत्तरस्यां दिशि वसेदुत्तरादुत्तराद्युभौ। उपरि वसेदुपरिष्टाद्भवेद्रिष्टाति ऊर्ध्वकात्।।२५।।
उत्तरेण च पित्रोक्तमाचि च स्याच्च दक्षिणा। आहौ दक्षिणाहि वसेद्द्विप्रकारं द्विधा च धा।।२६।।
ध्यमुञि चैकध्यं कुरु त्वं द्वैधं धमुञि चेदृशम्। द्वौ प्रकारौ द्विधा धाचि आसुसुरतरं यथा।।२७।।
निपातास्तद्धिताः प्रोक्तास्तद्धितो भाववाचकः। पटोर्भावः पटुत्वं त्वे पटुता तलि चेरितम्।।२८।।
प्रथिमा चेमनि पृथोः सौख्यं सुखात्ष्यञीरितम्। स्तेयं याति च स्तेनस्य ये सख्युः सख्यमीरितम्।।२९।।

'दक्षिणाहि'–ये रूप बनते हैं। पहले में 'दक्षिणादाच्' (५/३/३६)–इस सूत्र से 'आच्' प्रत्य होता है और दूसरे में 'आहि च दूरे।' (५/३/३७)–इस सूत्र से 'आहि' प्रत्यय किया गया है। 'दक्षिणाहि वसेत्' का अर्थ हुआ–'दक्षिण दिशा में दूर निवास करना चाहिये। '**दक्षिणोत्तराभ्यामतसुच्**'। (५/३/२८) तथा '**उत्तराधरदक्षिणादातिः**।' (५/३/३४)– इन सूत्रों के अनुसार 'दक्षिणतः', 'दक्षिणात्', उत्तरतः, 'उत्तरात्'–ये दो रूप भी बनते हैं। 'उत्तरस्यां दिशि वसेत्' (उत्तर दिशा में निवास करना चाहिये)–इस अर्थ में 'उत्तराच्च'। (५/३/३८)–इस सूत्र के अनुसार 'आच्' और 'आहि' प्रत्यय होने पर 'उत्तरा' तथा 'उत्तराहि'–ये दोनों रूप सिद्ध होते हैं।

'अस्ताति' प्रत्यय के विषयभूत 'ऊर्ध्व' शब्द से 'रिल्' और 'रिष्टातिल्' प्रत्यय होते हैं तथा 'ऊर्ध्व' के स्थान में 'उप' आदेश हो जाता है। इस तरह 'उपरि वसेत्'। 'उपरिष्टाद् भवेत्' इत्यादि प्रयोग सिद्ध होते हैं। 'उत्तर' शब्द से 'एनप्' प्रत्यय होने पर 'उत्तरेण' होता है। उपरोक्त 'दक्षिणा' शब्द की सिद्धि 'आच्' प्रत्यय होने से होती है–इसका निर्देश पहले किया जा चुका है। 'आहि' प्रत्यय होने पर 'दक्षिणाहि' पद बनता है–यह भी कहा जा चुका है। 'दक्षिणाहि वसेत्' इसका अर्थ भी दिया जा चुका है। 'संख्याया विधार्थेधा।' (५/३/४२)–इस सूत्र के अनुसार संख्यावाची शब्दों से 'धा' प्रत्यय करने पर द्विधा, त्रिधा, चतुर्धा, पञ्चधा इत्यादि रूप होते हैं। 'द्विधा' का अर्थ है–दो तरह का 'एक' शब्द से तरह अर्थ में उपरोक्त नियमानुसार जो 'धा' प्रत्यय होता है। उसके स्थान में 'ध्यमञ्' हो जाता है।

'उञ्' की इत्संज्ञा हो जाती है। 'ध्यम्' शेष रह जाता है। यथा–**ऐकध्यम्, 'एकधा'** (द्रष्टव्य पा. सू. ५/३/४४)। 'ऐकध्यं कुरु त्वम्' इस वाक्य का अर्थ है–'तुम एक ही तरह से कर्म करो।' इसी तरह 'द्वि' और 'त्रि' शब्द से 'धा' के स्थान में 'धमुञ्' होता है। विकल्प से 'द्रष्टव्य–पा. सू. ५/३/४५)। 'धमु' होने पर 'द्वैधम्' त्रैधम्' रूप होते हैं और 'धमुञ्' न हेने पर 'द्विधा', 'त्रिधा'। 'द्वि', 'त्रि' शब्दों से सम्बद्ध 'धा' के स्थान में 'एधाच्' भी होता है। यथा–द्वेधा, त्रेधा। ये सभी प्रयोग सुष्ठुरतर हैं।।२१/२७।।

यहाँ तक 'निपातसंज्ञक तद्धित' (अथवा अव्ययतद्धित) प्रत्यय बताये गयें अधुना 'भाववाचक तद्धित का' वर्णन किया जाता है।–तस्य भावस्त्वतलौ।' (५/११/११९)–इस सूत्र के अनुसार भावबोधक प्रत्यय दो हैं–'त्व' और 'तल्'। प्रकृतिजन्य बोध में जो तरह होता है, उसको 'भाव' कहते हैं। 'पटु' शब्द से 'पटोर्भावः'–इस अर्थ में 'त्व' प्रत्यय होने पर 'पटुत्वम्' रूप होता है और 'तल्' प्रत्यय होने पर 'पटुता'। पृथोर्भावः' (पृथुका भाव)–इस अर्थ में 'पृथ्वादिभ्य इमनिज्वा।' (५/१/१२२)–इस सूत्र से वैकल्पिक 'इमनिच्' प्रत्यय होने पर 'प्रथिमा'–यह रूप बनता है। 'प्रथिमा' का अर्थ है–मोटापन। 'सुखमय भावः कर्म वा' (सुख का भाव या कर्म)–इस अर्थ में 'गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च।' (५/१/१२४)–इस सूत्र के अनुसार 'ष्यञ्' प्रत्यय होने पर 'सौख्यम्'–इस पद की सिद्धि कही गयी है।

'स्तेनस्य भावः कर्म वा' (स्तेन–चोर का भाव या कर्म)–इस अर्थ में 'स्तेन' शब्द से 'यत्' प्रत्यय और 'न'–इस समुदाय का लोप हो जाता है। (द्रष्टव्य–पा. सूत्र ५/१/१२५)। इस तरह 'स्तेय' शब्द की सिद्धि होती है। इसी तरह 'सख्युर्भावः कर्म वा' (सखा का भाव या कर्म)–इस अर्थ में 'य' प्रत्यय होने पर 'सख्यम्' इस पद की सिद्धि कही गयी है। यहाँ 'सख्युर्यः।' (५/१/१२६)–इस सूत्र से 'य' प्रत्यय होता है। 'कपेर्भावः कर्म वा'–

कपेर्भावश्च कापेयं सैन्यं पथ्यं यकीरितम्। आश्वं कौमारकं चाणि रूपं चाणि च यौवनम्।।
आचार्यकं कनि प्रोक्तमेवमन्येऽपि तद्धिताः।।३०।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते तद्धितरूपकथनं नाम षट्पञ्चाशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः।।३५६।।

इस अर्थ में 'कपिज्ञात्योर्ढक्।' (५/१/१२७)–इस सूत्र से 'ढक्' प्रत्यय होने पर 'कापेयम्' पद की सिद्धि होती है। 'सेना एव सैन्यम्' –यहाँ 'चतुर्वर्णादीनां स्वार्थ उपसंख्यानम्'–इस वार्तिक के अनुसार स्वार्थ में 'ष्यञ्' प्रत्यय होता है। 'शास्त्रीयात् पथः अनपेतम्' (शास्त्रीय पथ से जो भ्रष्ट नहीं हुआ है, वह)–इस अर्थ में 'धर्मपथ्यर्थन्यायादनपेते'। (४/४/९२)–इस सूत्र के अनुसार 'पथिन्' शब्द से 'यत्' प्रत्यय होने पर 'पथ्यम्'–यह रूप होता है। 'अश्वस्य भावः कर्म वा आश्वम्'–यहाँ 'अश्व' शब्द से 'अञ्' हुआ है। (उष्ट्रस्य भावः कर्म वा औष्टम्'–यहाँ भी 'अञ्' प्रत्यय हुआ है।) 'कुमारस्य भावः कर्म वा कौमारम्'–इसमें भी 'कुमार' शब्द से 'अञ्' प्रत्य हुआ। 'यूनोर्भावः कर्म वा यौवनम्'– यहाँ भी पूर्ववत् 'युवन्' शब्द से 'अञ्' प्रत्यय हुआ है। इन सबमें 'अञ्' प्रत्यय विधायक सूत्र है–'**प्राणभृज्जातिवयोवचनोद्गात्रादिभ्योऽञ्**' (५/१/१२९)। 'आचार्य शब्द से 'कन्' प्रत्यय होने पर 'आचार्यकम्'–यह रूप बनत है। इसी तरह अन्य भी बहुत से तद्धित प्रत्यय होते हैं, उनको अन्य ग्रन्थों से समझना चाहिये।।२८-३०।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी तीन सौ छप्पनवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।३५६।।

❖❖❖

अथ सप्तपञ्चाशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः

उणादिसिद्धरूपम्

कुमार उवाच

उणादयोऽभिधास्यन्ते प्रत्यया धातुतः परे। उणि कारुश्च शिल्पी स्याज्जायुर्मायुश्च पित्तकम्।।१।।
गोमायुरायुर्वैदेषु बहुलं स्युरुणादयः। आयुः स्वादुश्च हेत्वाद्याः किंशारुर्धान्यशूककः।।२।।
कृकवाकुः कुक्कुटः स्याद्गुरुर्भर्ता मनुस्तथा। शयुश्चाजगरो ज्ञेयः सरुरायुधमुच्यते।।३।।

अध्याय-३५७

उणादिसिद्ध शब्दरूप विचार

कुमार स्कन्द ने कहा कि-हे कात्यायन! अधुना 'उणादि' प्रत्यय बताये जाते हैं, जो धातु से परे होते हैं **'कृवापाजिमिस्वदिसाध्यशूभ्य उण्'**। (१)-इस सूत्र के अनुसार 'कृ' आदि धातुओं से 'उण्' प्रत्यय होता है। 'करोतीति कारुः।' (जो शिल्पकर्म करता है, 'कारु' कहलाता है। लोकभाषा में उसको 'शिल्पी' या 'कारीगर' कहते हैं)। 'कृ' धातु से 'उण्' प्रत्यय होने पर अनुबन्धलोप, वृद्धि तथा विभक्तिकार्य किये जाते हैं। इससे 'कारुः'-इस पद की सिद्धि होती है। 'जि' धातु से 'उण्' होने पर 'जायुः' रूप बनता है। 'जायुः' का अर्थ है-औषधि। इसकी व्युत्पत्ति इस तरह समझनी चाहिये-'जयति रोगान् इति जायुः'। 'मि' धातु से वही (उण्) प्रत्यय करने पर 'मायुः'-यह पद सिद्ध होता है। 'मायुः' का अर्थ है-'पित्त'। इसकी व्युत्पत्ति इस तरह है।-मिनोति-प्रक्षिपति देहे ऊष्माणम् इति मायुः।'

इसी तरह 'स्वदते-रोचते इति स्वादुः।', 'साध्यनोति परकार्यमिति साधुः।' इत्यादि प्रयोग सिद्ध होते हैं। **'गोमायु'** का अर्थ है-गीदड़ तथा 'आयुः' शब्द आयुर्वेद के लिये भी प्रयुक्त होता है। 'उणादयो बहुलम्।'-(३/३/१) **इस** सूत्र के अनुसार 'उण्' आदि बाहुल्येन होते हैं। कहीं होते हैं, कही नहीं होते। 'आयुः', 'स्वादुः' तथा 'हेतु' आदि **शब्द** भी उणादिसिद्ध हैं। 'किंशारु' नाम है-धान्य के शूक का। 'किं शृणातीति किंशारुः। यहाँ 'किं' पूर्वक 'शृ' धातु से 'ञुण्' होता है। 'ञ्' तथा 'ण्' अनुबन्ध हैं। किशृ + उ। वृद्धि होकर 'किंशारुः' बनता है।

'कृकवाकुः' का अर्थ है-मुर्गा या मोर। 'कृकेन गलेन वक्तीति कृककाकुः।' 'कृके वचः कश्च'-इस उणादि सूत्र से 'ञुण्' प्रत्यय होने पर कृक + वच् + ञुण् -इस अवस्था में अनुबन्धलोप, चकार को ककार और 'अत उपधायाः।' (पा. सू. ७/२/१२६) से वृद्धि होती है। 'भरति बिभर्ति वा भरुः।' 'भृ' धातु से 'उ' प्रत्यय, गुण; **विभक्तिकार्य**-भरुः। इसका अर्थ है-भर्त्ता (स्वामी)। मरुः-जलहीन देश। मृ + उ गुणादेश, विभक्ति कार्य = मरुः। **शी** + उ = शयुः। इसका अर्थ है-सोया पड़ा रहने वाला अजगर। त्सर + उ = त्वरुः अर्थात् खड्ग की मूठ। स्वर्यन्ते प्राणा अनेन' इस लौकिक विग्रह में 'उ' प्रत्यय होता है। फिर गुण होकर 'स्वरुः' पद बनता है। 'स्वरु' का अर्थ है-वज्र। त्रप् + उ = त्रपु। 'त्रपु' नाम है शीशे का। फल्ग् + उ = फल्गुः-सारहीन। अभिकाङ्क्षार्थक 'गृध्' धातु से 'सुसुधागृधिभ्यः क्रन्', (१९२)-इस सूत्र के अनुसार 'क्रन्' प्रत्यय होने पर गृध् + क्रन्, ककार-नकार की इत्संज्ञा गृध्रः अर्थात गीध पक्षी। मदि + किरच् = मन्दिरम्। तिमि + किरच् = तिमिरम्। 'मन्दिर' का अर्थ गृह तथा 'तिमिर' का अर्थ अन्धकार है।

स्वरुर्वज्रं त्रपुः सीसमसारं फल्गुरीरितम्। गृध्रश्च क्रनि किरचि मन्दिरं तिमिरं तमः।।४।।
इलचि सलिलं वारि कल्याणं भण्डिलं स्मृतम्। बुधो विद्वान्क्वसौ स्याच्च शिविरं गुप्तसंस्थितिः।।५।।
ओतुर्विडालश्च तुनि अभिधानादुगादयः। कर्णः कामी च गृहभूर्वास्तु जैवातृकः स्मृतः।।६।।
अनड्वान्वहतेर्हिनिः स्याज्जातौ जीवार्णवौषधम्। नौ वह्निरिननि हरिणो मृगः कामी च भाजनम्।।७।।
करण्डो भाजनं भाण्डं सरण्डश्च चतुष्पदः। तरुरेरण्डः संघातो वरण्डः साम निर्भरम्।।८।।

'**सलिकल्यनिमहिभडिभण्डिशण्डिपिण्डितुण्डिकुकिभूभ्य इलच्।**' (५७)–इस उणादि सूत्र के अनुसार गत्यर्थक 'षल्' धातु से 'इलच्' प्रत्यय करने पर 'सलिलम्' यह रूप बनता है। '**सलति गच्छति निम्नलिखित सलिलम्।**'–यह इसी व्युत्पत्ति है। 'सलिल' शब्द वारि-जल का वाचक है। (इसी तरह कथित सूत्र से ही **कलिलम्, अनलिः, महिला–पृषोदरादित्वात् महेला**–इत्यादि शब्द निष्पन्न होते हैं)। भण्डि + इलच् = भण्डिलम्। इसका अर्थ है–कल्याण। 'भण्डिल' शब्द दूत के अर्थ में भी आता है। ज्ञानार्थक विद्' धातु से औणादिक 'क्वसु' प्रत्यय होने पर विद् + क्वसु–इस अवस्था में 'लशक्वतद्धिते।' (१/३/१८) से ककार की इत्संज्ञा तथा '**उपदेशेऽजनुनासिक इत्।**' (१/३/२) से उकार की इत्संज्ञा होती है; तत्पश्चात् विभक्ति-कार्य करने पर 'विद्वान्'–यह रूप बनता है।

'विद्वान्' का अर्थ है–बुध या पण्डित। '**शेरतेऽस्मिन् राजबलानि इति शिविरम्।**'–इस व्युत्पत्ति के अनुसार 'शीङ्' धातु से 'किरच्' प्रत्यय, 'शीङ्' से 'वुक्' का आगम तथा 'शी' के दीर्घ ईकार के स्थान में ह्रस्व आदेश हेने पर 'शिविर' शब्द की सिद्धि होती है। 'शिविर' कहते हैं–सेना की छावनी को। श्रीअग्निमहापुराण के अनुसार गुप्त निवास स्थान को 'शिविर' कहते हैं।।१-५।।

'अव्' धातु से '**सितनिगमिमसि।**' (७२) इत्यादि सूत्र के अनुसार 'तुङ्' प्रत्यय होने पर वकार के स्थान में 'ऊठ्' होकर गुण होने से 'ओतु' शब्द की सिद्धि होती है। 'ओतु' कहते हैं।–बिलाव को। अभिधान मात्र से उणादि प्रत्यय होते हैं। 'कृ' धातु से 'न' प्रत्यय करने पर गुण होता है और नकार का णकारादेश हो जाने पर 'कर्ण' शब्द की सिद्धि होती है। 'कर्ण' का अर्थ है–कान अथवा कन्यावस्था में कुन्ती से उत्पन्न सूर्यपुत्र कर्ण। 'वस्' धातु से 'तुन्' प्रत्यय, अगार अर्थ में उसका 'णित्व' होकर वृद्धि होने से 'वास्तु' शब्द बनता है। 'वास्तु' का अर्थ है–गृहभूमि।

'जीव' शब्द से 'आतृकन्' प्रत्यय और वृद्धि होकर 'जैवातृक' शब्द की सिद्धि होती है। 'जैवातृक' का अर्थ है–चन्द्रमा। 'अनः शकटं वहति।'–इस लौकिक विग्रह में 'वह' धातु से 'क्विप्' प्रत्यय, 'अनस्' के सकार का डकार आदेश तथा 'वह' के वकार का सम्प्रसारण होने पर 'अनडुह्' शब्द बनता है, उसके सुबन्त में अनड्वान्, अनड्वाहौ इत्यादि रूप हेते हैं। 'जीव्' धातु से 'जीवेरातुः'। (८२)–इस सूत्र के अनुसार 'आतु' प्रत्यय करने पर 'जीवातु' शब्द की सिद्धि होती है। 'जीवातु' नाम है–संजीवन औषधि का। प्रापणार्थक 'वह्' धातु से '**वहिश्रिश्रुयुद्रुग्लाहात्वरिभ्यो नित्।**' (५०१)–इस सूत्र के अनुसार 'नित्' प्रत्यय करने पर विभक्ति कार्य के पश्चात् 'वह्निः'–इस रूप की सिद्धि होती है।

इसी तरह **श्रेणिः, श्रोणिः, योनिः, द्राणिः, ग्लानिः, हानिः, तूर्णिः बाहुलकात् म्लानिः**–इत्यादि पदों की सिद्धि होती है। 'हृ' धातु से 'इनच्' प्रत्यय होने पर और अनुबन्धभूत चकार का लोप कर देने पर 'हृ + इन', गुण तथा विभक्ति कार्य = हरिणः–इस रूप की सिद्धि होती है। 'श्यास्त्याहृञ्विभ्य इनच्'। (२१३)–इस औणादिक सूत्र से यहाँ 'इनच्' प्रत्यय हुआ है। 'हरिण' कहते हैं–मृग को। यह शब्द कामी तथा पात्रविशेष के लिये भी प्रयुक्त होता है। 'अण्डन' कृसृभृवृञः।' (१३४)–इस सूत्र के अनुसार 'कृ' आदि धातुओं से 'अण्डन्' प्रत्यय करने पर क्रमशः–**करण्डः, सरण्डः, भरण्डः, वरण्डः**–ये रूप सिद्ध होते हैं। 'करण्ड' शब्द भाजन और भाण्ड का वाचक

स्यारं प्रभूतं स्यान्नप्तप्रत्यये चीरवल्कलम्। कातरो भीरुरुग्रस्तु प्रचण्डो यावसं तृणम्॥९॥
जगच्चैव तु भूर्लोको (कः) कृशानुज्योतिरर्ककः। वर्वरः कुटिलो धूर्तश्चत्वरं च चतुष्पथम्॥१०॥

है। मेदिनीकोश के अनुसार यह शहद के छत्ते के लिये भी प्रयुक्त होता है। 'सरण्ड' शब्द चौपाये का वाचक है। कुछ विद्वान् 'सरण्ड' का अर्थ पक्षी मानते हैं। 'बाहुलकात् तृ प्लवनतरणयोः।' इस धातु से भी 'अण्डन्' प्रत्यय होकर 'तरण्ड' पद की सिद्धि होती है।

'तरण्ड' शब्द काठ के बेड़े के लिये प्रयुक्त होता है। कुछ लोग मछली फँसाने के लिये बनायी गयी बंसी के डोरे को भी 'तरण्ड' कहते हैं। 'वरण्ड' शब्द सामवेद के लिये प्रयुक्त होता है। कुछ लोक 'साम' और 'यजुष्'-दो वेदों के लिये इसका प्रयोग मानते हैं। कुछ लोगों के मत में 'वरण्ड' शब्द मुख सम्बन्धी रो गाक वाचक है। 'स्फायितञ्चिवञ्चि० (१७८)' इत्यादि सूत्र से वृद्ध्यर्थक 'स्फायि' धातु से 'रक्' प्रत्यय होने पर 'स्फार' पद की सिद्धि होती है। 'स्फार' शब्द का अर्थ होता है-प्रभूत अर्थात् अधिक। 'मेदिनीकोश' के अनुसार 'स्फार' शब्द विकट अर्थ में आता है और कार का या करवा आदि पात्र के भरते समय पानी में जो बुलबुले उठते हैं, उनका वाचक भी 'स्फार' शब्द है। 'शुसिचिमानां दीर्घश्च (१९३)।

इस सूत्र से 'क्रन्' प्रत्यय और पूर्व ह्रस्वस्वर के स्थान में दीर्घ कर देने पर क्रमशः शूरः, सीरं, चीरं, मीरः-ये प्रयोग बनते हैं। 'चीर' शब्द गाय के थन, वस्त्र विशेष तथा वल्कल के अर्थ में प्रयुक्त होता है। 'भी' धातु से 'भियः क्रुकन्'-(१९९) इस सूत्र से 'क्रुकन्' प्रत्यय करने पर 'भीरुकः'-इस पद की सिद्धि होती है। इसके पर्यायवाची शब्द हैं-'भीरु' और 'कातर'। 'उच समवाये'-इस धातु से 'रन्' प्रत्यय करना चाहियेन पर 'उग्रः' पद की सिद्धि होती है। 'उग्रः' का अर्थ है-प्रचण्ड।

'वहियूभ्यां णित्।'-इस सूत्र के अनुसार 'णित् असच्' प्रत्यय करने पर वाहसः', 'यावसः'-ये दो रूप सिद्ध होते हैं 'वाहसः' का अर्थ है-अजगर और 'यावसः' का अर्थ है-**तृणसमूह**। **'वर्तमाने पृषद्बृहन् महद् जगच्छत्रिवच्च।'**-इस सूत्र के अनुसार 'गम्' धातु से 'अत्' प्रत्यय का निपातन हुआ। 'गम्' के स्थान में 'जग्' आदेश हुआ। इस तरह 'जगत्' शब्द की सिद्धि हुई। 'जगत्' का अर्थ है-भूलोक। **'ऋतन्यञ्जिवन्यञ्ज्यर्षि०'** इत्यादि (४५०) सूत्र के अनुसार 'कृश' धातु से 'आनुक्' प्रत्यय करने पर 'कृशानुः'-इस पद की सिद्धि होती है। 'कृशानुः' का अर्थ है-अग्नि। द्योतते इति ज्योतिः। 'द्युतेरिसिन्नादेशश्च जः।' (२७५)-इस सूत्र के अनुसार 'द्युत्', धातु के 'इसिन्' प्रत्यय, द्यकार का जकारादेश तथा गुण होने पर 'ज्योतिः' इस पद की सिद्धि होती है। 'ज्योतिः' का अर्थ है-अग्नि और सूर्य। 'अर्च' धातु से 'कृदाधारार्चिकलिभ्यः।' (३२७)-इस सूत्र के अनुसार 'क' प्रत्यय होने पर 'अर्कः' पद की सिद्धि होती है। 'अर्क एवं अर्ककः।

स्वार्थे कः। 'अर्कः' पद सूर्य का वाचक है। 'कृगृशृवृञ्चतिभ्यः ष्वरच्।' (२८६)-इस सूत्र के अनुसार वरणार्थक 'वृ' धातु से तथा याचनार्थक 'चते' धातु से 'ष्वरच्' प्रत्यय करने पर क्रमशः 'वर्वरः' 'चत्वरम्'-इन दो पदों की सिद्धि होती है। 'वर्वर' का अर्थ है-प्राकृत जन अथवा कुटिल मनुष्य। **'हसिमृग्रित्वाऽमिदमिलूपूधूर्विभ्यस्तन्।'** (३७३)-इस सूत्र के अनुसार हिंसार्थक 'धूर्वि'। धातु से 'तन्' प्रत्यय करने पर 'धूर्त्तः'-इस पद की सिद्धि होती है। 'धूर्त्त' शब्द का अर्थ है-शठ। 'चत्वरम्' का अर्थ है-चौराहा। **'लित्वरचत्वरधीवर'**। इत्यादि औणादिक सूत्र से 'चीवरम्'। इस पद का निपातन हुआ है। 'चीवरम्' का अर्थ है-चिथड़ा अथवा भिक्षुक का वस्त्र। स्नेहनार्थक 'ञिमिदा'। अथवा 'मिद्' धातु से 'अमिचिमिदिशसिभ्यः क्त्रः।' (६१३)-इस सूत्र के अनुसार 'क्त्र' प्रत्यय हुआ। ककार का इत्यसंज्ञालोप हुआ-'मिद + त्र = मित्र।

चीवरं भिक्षुप्रावृत्तिरादित्यो मित्र ईरितः। (पुत्रः सूनुः पिता तातः पृदाकुर्व्याघ्रवृश्चिके।।११।।
गर्तोऽवटोऽथ भरतो नटोऽपरेऽप्युणादयः।।१२।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते उणादिसिद्धरूपकथनं नाम सप्तपञ्चाशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः।।३५७।।

—❀❀❀—
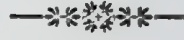
विभक्ति-कार्य करने पर 'मित्रः'-इस पद की सिद्धि हुई। 'मित्र' का अर्थ है-सूर्य। नपुंसकलिंग में इसका अर्थ-सुहृद् होता है। 'कुवोह्रस्वश्च।' इस सूत्र के अनुसार 'पुनातीति' इस लौकिक विग्रह में 'पू' धातु से 'क.' प्रत्यय और दीर्घ के स्थान में ह्रस्व होने पर 'पुत्र' शब्द की सिद्धि होती है। 'पुत्र' का अर्थ है-बेटा। 'सुवः कित्'। (३२८)-इस सूत्र के अनुसार प्राणिप्रसवार्थक 'षूङ्' धातु से 'नु' प्रत्यय होता है और वह 'कित्' माना जाता है। धातु के आदि षकार को सकारादेश हो जाता है। धातु के आदि षकार को सकारादेश हो जाता है। इस तरह 'सूनु' शब्द की सिद्धि हाती है। विभक्ति कार्य होने पर 'सूनुः' पद बनता है। 'विश्वकोश' के अनुसार इसका अर्थ पुत्र और सूर्य है। 'नप्तृनेष्ट्रत्वष्ट्रहोतृ० (२६०) इत्यादि सूत्र के अनुसार 'पितृ' शब्द निपातित होता है। 'पातीति पिता'। 'पा' धातु से 'तृच्' होकर आकार के स्थान में इकार हो जाता है। पिता, पितरौ, पितरः इत्यादि इसके रूप हैं।

जन्मदाता या बाप को 'पिता' कहते हैं। विस्तारार्थक 'तन्' धातु से 'वुतनिभ्यां दीर्घश्च।'-इस सूत्र के अनुसार 'तन्' प्रत्यय तथा ह्रस्व के स्थान में दीर्घ होने पर 'तात' शब्द की सिद्धि होती है। यहाँ अनुनासिक लोप हुआ है। 'तात' शब्द कृपापात्र तथा पिता के लिये प्रयुक्त होता है। कृत्सितशब्दार्थक 'पर्द' धातु से 'काकु' प्रत्यय होता है और वह 'नित्' माना जाता है। धातु के रेफ का सम्प्रसारण और अकार का लोप हो जाता है। जैसा कि सूत्र है-'पर्देर्नित् सम्प्रसारणमल्लोपश्च।' (३६७) 'काकु' प्रत्यय के आदि ककार का 'लशक्वतद्धिते।' (१/३/८)-इस सूत्र से लोप हो जाता है। इस प्रक्रिया से 'पृदाकु' शब्द की सिद्धि होती है। पर्दते-कुत्सितं शब्दं करोति इति पृदाकुः।' इसका अर्थ है-सर्प, बिच्छु या व्याघ्र। 'हसिमृग्रिण्वाऽमिदमिलूपूधूर्विभ्यस्तन्।' (३७३) इस सूत्र के द्वारा 'गृ' धातु से 'तन्' प्रत्यय और गुणादेश करने पर 'गर्त्त' शब्द की सिद्धि होती है।

यह 'अवट' अर्थात् गड्ढे का वाचक है। 'भृमशितृ०' इत्यादि (७) सूत्र के अनुसार 'भृ' धातु से 'अतच्' प्रत्यय तथा गुणादेश करने पर 'भरत' शब्द निष्पन्न होता है। जो भरण-पोषण करना चाहिये, वह 'भरत' है। 'नमतीति नटः'-इस व्युत्पत्ति के अनुसार 'जनिदाच्युसृवृमदि.' इत्यादि (५५४) सूत्र के द्वारा 'नम' धातु से 'डट्' प्रत्यय करने पर 'टि' लोप होने के पश्चात् 'नट' शब्द बनता है। इसका अर्थ है-वेषधारी अभिनेता। ये थोड़े-से उणादि प्रत्यय यहाँ प्रदर्शित किये गये। इनके अतिरिक्त भी बहुत-से उणादि प्रत्यय होते हैं।।६-१२।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी तीन सौ सतावनवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।३५७।।

❖❖❖

अथाष्टापञ्चाशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः

तिङ्विभक्तिसिद्धरूपम्

कुमार उवाच

तिङ्विभक्तिं प्रवक्ष्यामि तथाऽऽदेशं समासतः। तिङ्स्त्रिष्वपि वर्तन्ते भावे कर्मणि कर्तरि॥१॥
सकर्मकाकर्मकाच्च कर्तरि द्विपदे स्मृताः। सकर्मकाकर्मणि च तदादेशस्तथेरितः॥२॥
वर्तमाने लडाख्यातो विध्याद्यर्थे लिङ्गीरितः)। विध्यादौ लोडाशिषि च भूतानद्यतने च लङ्॥३॥
भूते लुङ् लिट् परोक्षेऽथ भाविन्यद्यतने च लुट्। लिङाशिषि च शेषेऽर्थे लृङ्भविष्यति लृङ्भवेत्॥४॥
लिङ्निमित्ते क्रियातिपत्तौ तङानावात्मनेपदम्। पूर्वं नव परस्मैपदं तिप्तसन्तीति प्रथमः पुमान्॥५॥
सिप् थस् थ मध्यमनरो मिप्वस्मश्चोत्तमः पुमान्। त आतामन्ताऽऽत्मने मुख्यस्थासाथां ध्वं च मध्यमः॥६॥

अध्याय-३५८

तिङ्विभक्त्यन्त सिद्धरूप विचार

कुमार कार्तिकेय ने कहा कि–हे कात्यायन! अधुना मैं 'तिङ्-विभक्ति' तथा 'आदेश' का संक्षेप से वर्णन करने जा रहा हूँ। तिङ्-प्रत्यय भाव, कर्म और कर्ता–तीनों में होते हैं। सकर्मक तथा अकर्मक धातु से कर्ता में आत्मनेपद तथा परस्पैपद–दोनों पदों के 'तिङ्प्रत्यय' होते हैं। (सकर्मक से कर्ता और कर्म में तथा अकर्मक से भाव तरफ कर्ता में वे 'तिङ्' प्रत्यय हुआ करते हैं–यह विवेक कर्तव्य है) 'तिङादेश' सकर्मक धातु से कर्म तथा कर्ता में बताये गये हैं। वर्तमानकाल की क्रिया के बोध के लिये धातु से 'लट्' लकार का विधान कहा गया है। विधि, निमन्त्रण, आमन्त्रण, अधीष्ट (सत्कारपूर्वक व्यापार), सम्प्रश्न तथा याचना आदि अर्थ का प्रतिपादन अभीष्ट हो, तो धातु से 'लिङ्' लकार होता है। 'विधि' आदि अर्थों में तथा आशीर्वाद में भी 'लोट्' लकार का प्रयोग होता है। अनद्यतन भूतकाल का बोध कराने के लिये 'लङ्' लकार प्रयुक्त होता है। सामान्य भूतकाल में 'लुङ्', परोक्ष भूत में लिट्' अनद्यतन भविष्य में 'लुट्' आशीर्वाद में लिङ् शेष अर्थ में अर्थात् सामान्य भविष्यत् अर्थ के बोध के लिये धातु से 'लृट्' लकार होता है–क्रियार्था क्रिया हो, तो भी, न हो, तो भी। हेतुहेतुमद्भाव आदि 'लिङ्' का निमित्त होता है; उसके होने पर भविष्यत् अर्थ का बोध कराने के लिये धातु से 'लृङ्' लकार होता है–क्रिया की अतिपत्ति (असिद्धि) गम्यमान हो, तत्पश्चात्। 'तङ्' प्रत्यय तथा 'शानच्' 'कांनच्'–इनकी आत्मनेपद संज्ञा होती है। 'तिङ्' विभक्तियाँ उठारह हैं। इनमें पूर्व की नौ विभक्तियाँ 'परस्पैपद' कही जाती हैं। वे प्रथमपुरुष आदि के भेद से तीन भागों में बँटी हैं। 'तिप् तस् अन्ति'–ये तीन प्रथम पुरुष हैं। 'सिप्, थस्, थ'–ये तीन मध्यपुरुष हैं। तथा 'मिप्, वस्, मस्'–ये श्रेष्ठतमपुरुष कहे गये हैं॥१-५॥

'त, आताम्, झ'–ये आत्मनेपद के प्रथमपुरुष सम्बन्धी प्रत्यय हैं। 'थास्' आथाम्, ध्वम्'–ये मध्यमपुरुष हैं। 'इ, वहि, महिङ्'–ये श्रेष्ठतमपुरुष हैं। आत्मनेपद के नौ प्रत्यय 'तङ्' कहलाते हैं और दोनों पदों के प्रत्यय 'तिङ्' शब्द से समझे जाते हैं। क्रियावाची 'भू', वा आदि धातु कहे गये हैं। **भू, एध, पच, नन्द, ध्वंस, स्रंस, पद, अद, शीङ्, क्रीड, हु, हा, धा, दिव, स्वप्, नह, पूज, तुद , मृश, मुच, रुध, भुज, त्यज, तन, मन और कृ-**

उत्तम इ वहि महि भूवाद्या धातवः स्मृताः। भुविरेधिः पचिर्नन्दिर्ध्वंसिः श्रंसिः पदिस्त्वदिः॥७॥
शीङिः क्रीडो जु (डिर्जु) होतिश्च जहातिश्च दधात्यपि। दीव्यतिः स्वपितिर्नहिः सुनोतिर्वसिरेव च॥८॥
तुदिर्मृशतिर्मुञ्चती रुधिर्भुजिस्त्यजिस्तनिः। शवादिके विकरणे मनिश्चैव करोत्यपि॥९॥
क्रीडतिर्वृङ् ग्राहिश्चोरिः पानीरर्चिश्च नायकाः। भुवि स्यातिङ् भवति स भवतस्तौ भवन्ति ते॥१०॥
भवसि त्वं युवां भवथो यूयं भवथ चाप्यहम्। भवाम्यावां भवावश्च भवामो ह्येधते कुलम्॥११॥
एधेते द्वे तथैधन्ते एधसे त्वं हि मेधया। एधेथे च समेधध्वे एधे ह्येधावहे धिया॥१२॥
एधामहे हरेर्भक्त्या पचतीत्यादि पूर्ववत्। भूयतेऽनुभूयतेऽसौ भावे कर्मणि वै यकि॥१३॥
बुभूषति सनीत्येवं णिचि भावयतीश्वरम्। यङि बोभूयते वाद्यं बोभोति स्याच्च यङ्लुकि॥१४॥

ये सब धातु शप् आदि विकरण होने पर क्रियार्थ बोधक होते हैं। 'क्रीड, वृङ्, ग्रह, चुर, पा, नी तथा अचि'–ये तथा उपरोक्त धातु 'नायक' (प्रधान) हैं। इन्हीं के समान अन्य धातुओं के भी रूप होते हैं। 'भू' धातु से क्रमशः 'तिङ्' प्रत्यय होने पर 'भवति, भवतः, भवन्ति'–इत्यादि रूप होते हैं। इनका वाक्य में प्रयोग इस तरह समझना चाहिये–

'स भवति। तौ भवतः। ते भवन्ति। त्वं भवसि। युवां भवथः। यूयं भवथ। अहं भवामि। आवां भवावः। वयं भवामः। ये 'भू' धातु का अर्थ है–'होना'। 'एध्' धातु 'वृद्धि' अर्थ में प्रयुक्त होता है। यह आत्मने पदी धातु है। इसका 'लट्' लकार में प्रथमपुरुष के एकवचन में 'एधते' रूप बनता है। वाक्य में प्रयोग–'एधते कुलम्'। (वंश की वृद्धि होती है)–इस तरह होता है। 'लट्' लकार में 'एध्' धातु के शेष रूप इस तरह होते हैं–'द्वे एधेते'। (दो बढ़ते हैं)। यह द्विवचन का रूप है। बहुवचन में 'एधन्ते' रूप होता है। इस तरह पुरुष के एकवचन, द्विवचन और बहुवचनान्त रूप बताये गये। अधुना मध्यम और श्रेष्ठतम पुरुषों के रूप प्रस्तुत किये जाते हैं।–'एधसे' यह मध्यमपुरुष का एकवचनान्त रूप है।

वाक्य में इसका प्रयोग इस तरह हो सकता है–'त्वं हि मेधया एधसे। (निश्चय ही आप बुद्धि से बढ़ते हो।) 'एधेये, एधध्वे' ये दोनों मध्यमपुरुष के क्रमशः द्विवचनान्त और बहुवचनान्त रूप हैं। 'एधे, एधावहे, एधामहे'–ये श्रेष्ठतम पुरुष में क्रमशः एकवचन, द्विवचन और बहुवचनान्त रूप हैं। वाक्य में प्रयोग–'अहं धिया एधे।' (मैं बुद्धि से बढ़ता हूँ।) 'आवां मेधया एधावहे।' (हम दोनों मेधा से बढ़ते हैं।) **'वयं हरेर्भक्त्या एधामेह।'** (हम श्रीहरि विष्णु की भक्ति से बढ़ते हैं।) पाक अर्थ में 'पच्' धातु का प्रयोग होता है। उसके 'पचति' इत्यादि रूप पूर्ववत् (भू धातु के समान) होते हैं। 'भू' धातु से भाव में तरफ 'अनु + भू' धातु से कर्म में 'यक्' प्रत्यय होने पर क्रमशः 'भूयते' और 'अनुभूयते' रूप होते हैं। भाव में प्रत्यय होने पर क्रिया कवेल एकवचनान्त ही होती है और सभी पुरुषों में कर्ता तृतीयान्त होने के कारण ही क्रिया सबके लिये प्रयुक्त होती है। यथा–'त्वया मया अन्यैश्च भूयते।'

जहाँ कर्म में प्रत्यय होता है, वहाँ कर्म कथित होने के कारण उसमें प्रथमा विभक्ति होती है और तदनुसार सभी पुरुषों तथा सभी वचनों में क्रिया के रूप प्रयोग में लाये जाते हैं। यथा–**'असौ अनुभूयते। तौ अनुभूयेते। ते अनुभूयन्ते। त्वम् अनुभूयसे। युवाम् अनुभूयेथे। यूयम् अनुभूयध्वे। अहम् अनुभूये। आवाम् अनुभूयावहे। वयम् अनुभूयामहे'॥६-१३॥**

अर्थ विशेष को लेकर धातु 'णिच्', 'सन्', 'यङ्' तथा 'यङ्लुक्' होते हैं। इनको क्रम से 'ण्यन्त', 'सन्नन्त', 'यङन्त' और 'यङ्लुगन्त' कहते हैं। जहाँ किसी क्रिया के कर्ता को कोई प्रेरक या प्रयोजक कर्ता होता है, वहाँ प्रयोजक कर्ता की 'हेतु' संज्ञा होती है और प्रयोज्य कर्ता 'कर्म' बन जाता है। प्रयोजक के व्यापार प्रेषण आदि वाच्य हों तो

पुत्रीयति पुत्रकाम्यत्येवं पटपटायते। घटयत्यथ सनि णिचि बुभूषयति रूपकम्॥१५॥

धातु से 'णिच्' प्रत्यय होता है। उसके होने पर 'भू' धातु के 'लट्' लकार में 'भावयति' इत्यादि रूप होते हैं। उदाहरण के लिये—**'ईश्वरो भवति, तं यज्ञदत्तो ध्यानादिना प्रेरयति इत्यस्मिन्नर्थे यज्ञदत्त ईश्वरं भावयति इति प्रयोगो भवति'** (ईश्वर होता है और यज्ञदत्त उसको ध्यानादि के द्वारा प्रेरित करता है—

इस अर्थ को व्यक्त करने के लिये **'यज्ञदत्त ईश्वरं भावयति'** यह प्रयोग बनता है)। जहाँ कोई धातु इच्छा क्रिया का कर्म बनता है तथ इच्छाक्रिया का कर्ता ही उस धातु का भी कर्ता होता है, वहाँ उस धातु से इच्छा की अभिव्यक्ति के लिये 'सन्' प्रत्यय होता है। 'भू' धातु के सन्नन्त में 'बुभूषति' इत्यादि रूप होते हैं। यथा—'भवितुम् इच्छति बुभूषति।' (होना चाहता है।) वक्ता चाहे तो 'बुभूषति' कहे अथवा 'भवितुम् इच्छति'—इस वाक्य का प्रयोग करना चाहिये। यह स्मरणीय है कि 'सन्' और 'यङ्' प्रत्यय पर रहने पर धातु का द्वित्व हो जाता है। शेष कार्य व्याकरण की प्रक्रिया के अनुसार होते हैं। जहाँ क्रिया का समभिहार हो, अर्थात् पुनः-पुनः या अतिशयरूप से क्रिया का होना बतलाया जाय, वहाँ कथित अभिप्राय का द्योतन या प्रकाशन करने के लिये धातु से 'यङ्' प्रत्यय होता है। ''यङ्' और 'यङ्लुगन्त' में धातु का द्वित्व होने पर पूर्वभाग के, जिसे 'अभ्यास' कहते हैं, 'इक्' का 'गुण' हो जाता है।

'भू' धातु के 'यङन्त' में 'बोभूयते' इत्यादि रूप होते हैं। **'पुनः पुनः अतिशयेन वा भवति'**—इस अर्थ में 'बोभूयते'। क्रिया का प्रयोग होता है। यथा—**'वाद्यं बोभूयतें।** (वाद्यवादन बार-बार या अधिक मात्रा में होता है।) 'यङ्लुगन्त' में 'भू' धातु के 'बोभोति' इत्यादि रूप होते हैं। अर्थ वही है, जो 'यङन्त' क्रिया का होता है। 'यङन्त' में आत्मनेपदीय प्रत्यय होते हैं और 'यङ्लुगन्त' में परस्मैपदीय॥१४॥

कहीं-कहीं 'नाम' या 'सुबन्त' शब्द से 'क्यच्' आदि प्रत्यय होने पर उस शब्द की 'धातु' संज्ञा होती है और उसके धातु के ही समान रूप चले हैं। ऐसे प्रकरण को 'नामधातु' कहते हैं। जो इच्छा का कर्म हो और इच्छा करने वाले का सम्बन्धी हो, ऐसे 'सुबन्त' से इच्छा-अर्थ में विकल्प से 'क्यच्' प्रत्यय होता है। 'आत्मनः पुत्रम् इच्छति'। (अपने लिये पुत्र चाहता है)—इस अर्थ में 'पुत्रम्' इस 'सुगन्त' पद से 'क्यच्' प्रत्यय हुआ। अनुबन्धलोप होने पर 'पुत्र अम् य' हुआ। 'सनाद्यन्ता धातवः'। (३/१३२) से धातु संज्ञा होकर **'सुपो धातुप्रातिपदिकयोः।'** (२/४/७०) से 'अम्' का लोप हो गया। पुत्र = य—इस स्थिति में 'क्यचि च।' (७/४/३३)—इस सूत्र के अनुसार 'अकार' के स्थान में 'ईकार' हो गया। इस तरह 'पुत्रीय' से 'तिप्' 'शप्' आदि कार्य होने पर 'पुत्रीयति' इत्यादि रूप होते हैं इसी अर्थ में 'काम्यच्' प्रत्यय भी होता है और 'पुत्र' शब्द से 'काम्यच्' प्रत्यय भी होता है और 'पुत्र' शब्द से 'काम्यच्' प्रत्यय भी होता है और 'पुत्र' शब्द से 'काम्यच्' प्रत्यय होने पर 'पुत्रकाम्यति' इत्यादि रूप होते हैं। **'पटत् भवति इति पटपटायते।'** यहाँ **'अव्यक्तानुकरणाद्द्व्यजवरार्धादनितौ डाच्।'** (५/४/५७)—इस सूत्र के अनुसार 'भू' के योग में 'डाच्' प्रत्यय होने प 'पटत् डा' इस स्थिति में 'डाचि विवक्षिते द्वे बहुलम्।'

इस वार्तिक से द्वित्व होकर 'नित्यमाम्रेडितं डाचि।' इस वार्तिक से पररूप हुआ तो टिलोप के अनन्तर 'पटपटा + भू'—यह अवस्था प्राप्त हुई। इसके बाद 'लोहितादिडाज्भ्यः क्यष्।' (३/१/१३)—इस सूत्र से 'भवति' इस अर्थ में 'क्यष्' प्रत्यय हुआ तो 'पटपटा + क्यष्' बना। फिर अनुबन्धलोप, धातु संज्ञा तथा धातुसम्बन्धी कार्य होने से 'पटपटायते'—यह रूप सिद्ध हुआ। इसका अर्थ है कि 'पटपट' की आवाज होती है। **'घटं करोति।'**—इस अर्थ में **'तत्करोति तदाचष्टे'** के अनुसार 'घटयति' रूप बनता है। 'सन्नन्त' से 'णिच्' प्रत्यय किया जाय तो 'भू' धातु के सन्नन्त रूप 'बुभूषति' की जगह 'बुभूषयति' रूप बनेगा। प्रयोग—**'गुरुः शिष्यं बुभूषयति'**॥१५॥

'भू' धातु के 'विधिलिङ्' लकार में क्रमशः ये रूप होते हैं—**'भवेत्, भवेताम्, भवेयुः। भवेः, भवेतम्,**

भवेद्भवेतां च लिङि भवेयुश्चः भवेः परे। भवेतं च भवेतैवं भवेयं च भवेव च भवेम च(?)॥१६॥
एधेत् (च)एधेयातामेधेरन्मनसा श्रिया। एधेथाश्च एधेयाथामेधेध्वमेधेय एधेवहि एधेमहि॥१७॥
अस्तु तावद्भवतां लोटि भवन्तु भवताद्भव। भवतं भवत भवानि भवाव च भवाम च॥१८॥
एधतामेधेतामेधन्तामेधै पचावहै पचामहै। अभ्यनन्ददपचतामपचन्नपचस्तथा॥१९॥
अभवतमभवतापचमपचावापचाम च। एधेतैधेतामैधध्वमैधे चैधामहीरितम्॥२०॥
अभूदभूतामभूवन्नभूश्चाभूवमेव लुङ्। ऐधिष्टैधिषातां नरौ रा वैधिष्ठा ऐधिषीदृषम्॥२१॥

भवेत। भवेयम्, भवेव, भवेम'। 'एध' धातु के 'विधिलिङ्' में इस तरह रूप बनते हैं–एधेत, एधेयाताम्, एधेरन्। ऐधथाः, एधेयाथाम्, एधेध्वम्। एधेय, एधेवहि एधेमहि।' वाक्यप्रयोग–'ते मनसा एधेरन्' (वे मन से बढ़ें–उन्नति करें)। 'त्वं श्रिया एधेथोः।' (तुम लक्ष्मी के द्वारा बढ़ो इत्यादि। 'भू' धातु के 'लोट्' लकार में ये रूप होते हैं–'भवतु, भवतात्, भवताम्, भवन्तु। भव-भवतात्, भवतम्, भवत। भवानि, भवाव, भवाम।' 'एध्' धातु के 'लोट्' लकार में ये रूप जानने चाहिये–'एधताम्, एधेताम्, एधन्ताम्। एधस्व, एधेथाम्, एधध्वम्। एधै, एधावहै, एधामहै।' 'पच्' पूर्वक 'नदि' धातु का 'लङ्' लकार में प्रथमपुरुष्ज के एकवचन में 'अभ्यनन्दत्'–यह रूप होता है। 'पच्' धातु के 'लङ्' लकार में 'अपचत्, अपचताम्, अपचन्' इत्यादि रूप होते हैं। 'भू' धातु के 'लङ्' लकार में 'अभवत्, अभवताम्, अभवन्' इत्यादि रूप होते हैं। 'पच्' धातु के 'लङ्' लकार के श्रेष्ठतम पुरुष में–'अपचम्, अपचाव, अपचाम'–ये रूप होते हैं 'एध्' धातु के 'लङ्' लकार में–ऐधत, ऐधेताम्, ऐधन्त। ऐधथाः, ऐधेथाम्, ऐधध्वम्। ऐधे, ऐधावहि, ऐधामहि–ये रूप होते हैं। 'भू' धातु के 'लुङ्' लकार में अभूत्, अभूताम्, अभूवन्। अभूः, अभूतम्, अभूत। अभूवम्, अभूव, अभूम'–ये रूप होते हैं। 'एध्' धातु के 'लुङ्' लकार में ऐधिष्ट, ऐधिषाताम्, ऐधिषत। ऐधिष्ठाः, ऐधिषाथाम्, ऐधिध्वम्। ऐधिषि, ऐधिष्वहि, ऐधिष्महि'–ये रूप जानने चाहिये। वाक्यप्रयोग–'नरौ ऐधिषाताम्' (दो मनुष्य बढ़े)। 'भू' धातु के 'परोक्षलिट्' में 'बभूव, बभूवतुः, बभूवुः। बभूविथ, बभूवथुः, बभूव। बभूव, बभूविव, बभूविम।'–ये रूप होते हैं। 'पच्' धातु के आत्मनेपदी 'लिट्' लकार में प्रथमपुरुष के रूप इस तरह हैं–'पेचे, पेचाते, पेचिरे। 'एध्' धातु के 'लिट्' लकार में इस तरह रूप समझने चाहिये–'एधाञ्चक्रे, एधाञ्चक्राते, एधाञ्चक्रिरे। एधाञ्चकृषे, एधाञ्चक्राथे, एधाञ्चकृध्वे। एधाञ्चक्रिरे। एधाञ्चकृवहे, एधाञ्चकृमहे।' 'पच्' धातु के 'परोक्षलिट्' में प्रथमपुरुष के रूप बताये गये हैं। मध्यम और श्रेष्ठतम पुरुष के रूप इस तरह होते हैं–'पेचिषे, पेचाथे पेचिध्वे। पेचे, पेचिवहे, पेचिमहे।' 'भू' धातु के 'अनद्यतन भविष्य लुट्' लकार में इस तरह रूप जानने चाहिये–'भविता, भवितारौ, भवितारः। भवितासि, भवितास्थः, भवितास्थ। भवितास्मि, भवितास्वः, भवितास्मः।' वाक्य प्रयोग–'हरादयो भवितारः।' (हर आदि होंगे। 'वयं भवितास्मः।' (हम होंगे।) 'पच्' धातु के 'लुट्' लकार में 'परस्मैपदीय' रूप इस तरह है–'पक्ता, पक्तारौ, पक्तारः, पक्तासि। (शेष भूधातु की तरह)। वाक्य प्रयोग–'त्वं शुभौदनं पक्तासि।' (तुम अच्छा भात राँधोगे।)

'पच्' धातु के 'लुट्' लकार में 'आत्मनेपदीय' रूप इस तरह हैं–प्रथम पुरुष में तो 'परस्मैपदीय' रूप के समान ही होते हैं, मध्यम और श्रेष्ठतम पुरुष में–'पक्तासे, पक्तासाथे, पक्ताध्वे। पक्ताहो, पक्तास्वहे, पक्तास्महे।' वाक्यप्रयोग–'अहं पक्ताहे।' (मैं पकाऊँगा।) 'वयं हरेश्चरुं पक्तास्महे।' (हम श्रीहरि विष्णु के लिये चरु पकावेंगे या तैयार करेंगे। 'आशीर्लिङ्ग' में 'भू' धातु के रूप इस तरह जानने चाहिये–'भूयात्, भूयास्ताम्, भूयासुः। भूयाः,

लिटि बभूव बभूवतुर्बभूवुश्च बभूविथ। बभूवथुर्बभूय च बभूविव बभूविम॥२२॥
पेचे पेचाते पेचिरे त्वमेधांचकृषे तथा। एधांचक्राथे पेचिध्वे पेचे पेचिमहे तथा॥२३॥
लुटि भविता भवितारौ भवितारो हरादयः। भवितासि भवितास्थो भवितास्मस्तथा वयम्॥२४॥
पक्ता पक्तारौ पक्तारः पक्तासि त्वं शुभौदनम्। पक्ताध्वे पक्ताहे चाहं पक्तास्महे हरेश्वरुम्॥२५॥
लिङाशिषि सुखं भूयाद्भूयास्तां हरिशंकरौ। भूयासुस्ते च भूयास्त्वं युवां भूयास्तमीश्वरौ॥२६॥
भूयास्त यूयं भूयासमहं भूयास्म सर्वदा। यक्षीष्ट ह्येधिषीयास्तां यक्षीरन्नेधिषीय च॥२७॥
यक्षीवह्येधिषीमहि लिङ्कि चायक्ष्यतेति लृङ्। अयक्ष्येतामयक्ष्यन्तायक्ष्येऽयक्ष्येथां युवाम्॥२८॥
अयक्ष्यध्वमैधिष्यावह्यैधिष्यामह्यरेर्वयम्। लृटि स्याद्भविष्यतीति ऐधिष्यामह ईदृशम्॥२९॥
एवं विभावयिष्यन्ति बोभविष्यति रूपकम्। घटयेत्पटयेत्तद्वत्पुत्रीयति च काम्यति॥३०॥

॥इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते तिङ्विभक्तिसिद्धरूपकथनं नामाष्टपञ्चाशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः॥३५८॥

भूयास्तम्, भूयास्त। भूयासम्, भूयास्व, भूयास्म। वाक्यप्रयोग–'सुखं भूयात्'। (सुख हों) '**हरिशङ्करौ भूयास्ताम्**'। (विष्णु और शिव हों।) 'ते भूयासुः'। (वे हों)। 'त्वं भूयाः।' (तुम होओ।) '**युवाम् ईश्वरौ भूयास्तम्**'। (तुम दोनों ईश्वर–ऐश्वर्यशाली होओ।) 'यूयं भूयास्त।' (तुम सब होओ।) '**अहं भूयासम्।**' (मैं होऊँ।) '**वयं सर्वदा भूयास्म।**' '**यक्ष्**' धातु के **आत्मनेपदीय आशिष्-लिङ्** में इस तरह रूप होते हैं–'**यक्षीष्ट, यक्षीयास्ताम्, यक्षीरन्। यक्षीष्ठाः, यक्षीयास्थाम्, यक्षीध्वम्। यक्षीय, यक्षीवहि, यक्षीमहि।**' इसी तरह 'एध्' धातु के 'आशीर्लिङ्' में ये रूप जानने चाहिये–'**एधिषीष्ट, एधिशीयास्ताम्, एधिषीरन्। एधिष्ठाः, एधिषीयास्थाम्, एधिषीध्वम्। एधिषीय, एधिषीवहि, एधिषीमहि।** '**यक्ष्**' धातु के 'लृङ्' लकार में ये रूप होते हैं–'**अयक्ष्यत, अयक्ष्येताम्, अयक्ष्यन्त। अयक्ष्यथाः, अयक्ष्येथाम्, अयक्ष्यध्वम्। अयक्ष्ये, अयक्ष्यावहि, अयक्ष्यामहि।**'

'**एध्**' धातु के 'लृङ्' लकार के रूप इस तरह हैं–'**ऐधिष्यत, ऐधिष्येताम्, ऐधिष्यन्त। ऐधिष्यथाः, ऐधिष्येथाम्, ऐधिष्यध्वम्। ऐधिष्ये, ऐधिष्यावहि, ऐधिष्यामहि।** वाक्य प्रयोग–**काचिद् बाधा नाभविष्यच्चेद् वयम् अरेः ऐधिष्यामहि।** (यदि कोई बाधा न पड़े तो हम अवश्य शत्रु से बढ़ जायँ।) '**भू**' धातु के 'लृट्' लकार में 'भविष्यति, भविष्यतः, भविष्यन्ति'–इत्यादि रूप होते हैं। 'एध्' धातु के 'लृट्' लकार में–'**एधिष्यते, एधिष्येते, एधिष्यन्ते। एधिष्यसे, एधिष्येथे, एधिष्यध्वे। एधिष्ये, एधिष्यावहे, एधिष्यामहे।**' ये रूप होते हैं॥१६-२९॥

इसी तरह 'णिजन्त' वि-पूर्वक 'भू' धातु के 'लृट्' लकार में–'**विभावयिष्यति, विभावयिष्यतः, विभावयिष्यन्ति**' इत्यादि रूप होते हैं। 'यङ्लुगंन्त' 'भू' धातु के 'लृट्' लकार में 'बोभविष्यति' इत्यादि रूप होते हैं। 'नामधातु' में घटं करोति, पटं करोति' इत्यादि अर्थ में जिनके 'घटयति, पटयति' इत्यादि रूप कह आये हैं, उन्हीं के 'विधिलिङ्' में 'घटयेत्, पटयेत्' इत्यादि रूप होते हैं। इसी तरह 'पुत्रीयति' और 'पुत्रकाम्यति' इत्यादि नमाधातु-सम्बन्धिनी क्रियाओं के रूपों की ऊहा कर लेनी चाहिये॥३०॥

॥इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी तीन सौ अठावनवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ॥३५८॥

❖❖❖

अथैकोनषष्ट्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः

कृत्सिद्धरूपम्

कुमार उवाच

कृतस्त्रिष्वपि विज्ञेया भावे कर्मणि कर्तरि। अज् ल्युट् क्तिन् घञो भावे च युजकारत एव च॥१॥
अचि धर्मस्य विनय उत्करः प्रकरस्तथा। देवो भद्रः श्रीकरश्च ल्युटि रूपं तु शोभनम्॥२॥
क्तिनि वृद्धिः स्तुतिमती घञि भावोऽथ युच्यपि। कारणा भावनेत्यादि अकारे च चिकित्सया॥३॥
तथा तव्यो ह्यनीयश्च कर्त्तव्यं करणीयकम्। देयं ध्येयं चै यति ण्यति कार्यं च कृत्यकाः॥४॥

अध्याय-३५९

कृदन्त सिद्ध शब्द रूप विचार

कुमार कार्तिकेय ने कहा कि–हे कात्यायन! यह समझना चाहिये कि 'कृत्' प्रत्यय भाव, कर्म तथा कर्ता–तीनों में होते हैं। वे इस तरह हैं–**'अच्'**, **'अप्'**, **'ल्युट्'**, **'क्तिन्'** भावार्थक 'घञ्' करणार्थक 'घञ्', 'युच्', 'अ' तथा 'तव्य' आदि। 'अच्' प्रत्यय होने पर **'विनी + अच्'** (गुण, अयादेश और विभक्तिकार्य) = **विनयः।** **(ऋदोरप्) उत्कृ + अप् = उत्करः। प्रकृ = अप् = प्रकरः। दिव + अच् = देवः। भद्र + अच् = भद्रः। श्रीकृ + अप् = श्रीकरः।'** इत्यादि रूप होते हैं।

'ल्युट्' प्रत्यय होने पर शुभ + ल्युट् (लकार, टकार की, इत्संज्ञा, लघूपध गुण) **'युवोरनाकौ।'** (७/१/१) से अनादेश = **'शोभनम्'**–इस रूप की सिद्धि होती है। 'वृध्' धातु से 'क्तिन्' प्रत्यय करने पर 'वृध् + क्ति' (ककार की इत्संज्ञा, तकार का धकारादेश, पूर्व धकार का जश्त्वेन दकार और विभक्ति कार्य) = **'वृद्धिः'। स्तु + क्तिन् = 'स्तुतिः'। मन् + क्तिन् = 'मतिः'**–ये पद सिद्ध होते हैं। 'भू' धातु से 'घञ्' प्रत्यय होने पर भू + घञ् = 'भवः'–यह पद बनता है।

णिजन्त 'कृ' धातु से 'ण्यासश्रन्थो युच्।' (३/३/१०७)–इस सूत्र के अनुसार 'युच्' प्रत्यय करने पर कारि + यु (णिलोप, अनादेश) = **कारणा।' 'भावि + युच्' = भावना** इत्यादि पद सिद्ध होते हैं। प्रत्ययान्त धातु से स्त्रीलिङ्ग में 'अ' प्रत्यय होता है। उसके होने पर 'चिकित्स + आ, चिकीर्ष + अ = चिकित्सा, चिकीर्षा' इत्यादि पद सिद्ध होते हैं। धातु से 'तव्य' और 'अनीय' प्रत्यय भी होते हैं। **कृ + तव्य = कर्तव्यम्। कृ = अनीय = करणीयम्**–इत्यादि पदों की सिद्धि होती है।

'अचो यत्।' (३/१/९७) सूत्र के अनुसार 'अजन्त' धातु से 'यत्' प्रत्यय होता है। उसके होने पर दा + यत् ('ईद्यति।' सूत्र से 'आ' के स्थान में 'ईकारादेश', गुण और विभक्ति कार्य) = **देयम्। ध्यै + यत् (आदेच उपदेशेऽशिति।'** से 'ऐ' के स्थान में आ, 'ईद्यति' से 'आ' के स्थान में 'ई' (विभक्तिकार्य) = ध्येयम् –ये पद सिद्ध होते हैं। 'ऋहलोर्ण्यत्' (३/१/१२४)–इस सूत्र के अनुसार ण्यत् प्रत्यय होने पर 'कृ + ण्यत् (चुटू' १/३/७१) सूत्र से णकार की तथा 'हलन्त्यम्।' (१/३/३) सूत्र से तकार की इत्संज्ञा। **'अचोऽञ्णिति।'** (७/२/११५) से 'वृद्धि' तथा विभक्ति कार्य) = 'कार्यम्' –यह पद सिद्ध होता है। यहाँ तक 'कृतसंज्ञक' प्रत्यय कहे गये हैं॥१-४॥

कर्तरि क्तादयो ज्ञेया भावे कर्मणि च क्वचित्। गतो ग्रामं गतो ग्राम आश्लिष्टश्च गुरुस्त्वया॥५॥
शतृशानचौ च भवेन्नेधमानो भवन्त्यपि। ण्वल्तृचौ सर्वधातुभ्यो भावको भविता तथा॥६॥
क्विवन्तश्च स्वयंभूश्च भूते लिटः क्वसुकान् च। बभूविवान्पेचिवांश्च पेचानः श्रद्दधानकः॥७॥
अणि स्युः तुम्भकाराद्या भूतेऽप्युणादयः स्मृताः। वायुः पायुश्च कारुः स्याद्बहुलं छन्दसीरितम्॥८॥

॥इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते कृत्सिद्धरूपकथनं नामैकोनषष्ट्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः॥३५९॥

'क्त' आदि प्रत्यय कर्ता में होते हैं–यह जानने योग्य बात है। वे कहीं-कहीं भाव और कर्म में भी होते हैं। कर्ता में 'गम्' धातु से 'क्त' प्रत्यय होने पर 'गतः'–यह रूप बनता है। प्रयोग में (स ग्रामं गतः, स ग्रामे गतः।' इत्यादि वाक्य होते हैं। इस वाक्य का अर्थ है–वह गाँव को गया)। कर्म में 'क्त' प्रत्यय का उदाहरण है–'त्वया गुरुः आश्लिष्टः।' (तुमने गुरु का आलिङ्गन किया।) यहाँ कर्म में प्रत्यय होने से कर्मभूत 'गुरु' कथित हो गया। इसलिये उसमें प्रथमा विभक्ति हुई। 'त्वम्' यह कर्ता अनुक्त हो गया। इसलिये उसमें तृतीया विभक्ति हुई। 'आश्लिष् + क्त' (ककार की इत्संज्ञा, 'त' के स्थान में 'ष्टुत्व' के नियम से 'टकार' हुआ। उसके बाद विभक्ति कार्य करने पर) = 'आलिष्टः' पद सिद्ध हुआ। वर्तमानार्थबोधक 'लट्' लकार में धातु से 'शतृ' और 'शानच्' प्रत्यय भी होते हैं। परस्मैपद में 'शतृ' और 'शानच्' प्रत्यय भी होते हैं। परस्मैपद में 'शतृ' और आत्मनेपद में 'शानच्' होता है।

'भू' धातु से 'शतृ' प्रत्यय करने पर 'भवन्' तरफ 'एध्' धातु से 'शानच्' प्रत्यय करने पर 'एधमानः'–ये पद सिद्ध होते हैं। सम्पूर्ण धातुओं से 'ण्वुल्' और 'तृच्' प्रत्यय होते हैं। 'भू' धातु से कर्ता अर्थ में 'ण्वुल्' करना चाहियेन पर 'भावकः' और 'तृच्' प्रत्यय करने पर 'भविता'–ये पद सिद्ध होते हैं। 'भू' धातु से 'क्विप्' प्रत्यय भी हुआ करता है। **'स्वयम् + भू + क्विप् = स्वयम्भूः'**–इस पद की सिद्धि होती है। भूतार्थ-बोध के लिये 'लिट्' लकार में धातु से 'क्वसु' और 'कानच्' प्रत्यय होते हैं। परस्मैपद में 'क्वसु' और आत्मनेपद में 'कानच्' होता है।

'भू' धातु से 'क्वसु' करने पर 'बभूविवान्' और 'पच्' धातु से 'क्वसु' प्रत्यय करने पर 'पेचिवान्'–ये पद सिद्ध होते हैं। इन शब्दों की व्युत्पत्ति इस तरह है–**'स बभूव इति बभूविवान्।'** (वह हुआ था।) **'स पपाच इति पेचिवान्।'** (उसने पकाया था।) **'आत्मनेपदीय पच्'** धातु 'कानच्' प्रत्यय करने 'पेचानः' पद बनता है।

'श्रद् + धा'–इस धातु से 'लिट्' लकार में 'कानच्' प्रत्यय करने पर 'श्रद्दधानः'–यह पद सिद्ध होता है। **'स पेचे इति पेचानः। स श्रद्दधे इति श्रद्दधानः।'** **'कर्मण्यण्'** से 'अण्' प्रत्यय करने 'कुम्भकारः' आदि पद सिद्ध होते हैं। भूत और वर्तमान अर्थ में भी 'उणादि' प्रत्यय होते हैं **'ववौ वाति इति वा वायुः।' वा** + उण् (युगागम एवं विभक्ति कार्य) = वायुः। 'पा + उण् = पायुः।' 'कृ + उण् = कारुः।' इत्यादि पद सिद्ध होते हैं। 'बहुलं छन्दसि' इस नियम के अनुसार सभी 'कृत्' प्रत्यय वेद में बाहुल्येन उपलब्ध होते हैं। वहाँ कहीं प्रवृत्ति, कहीं अप्रवृत्ति, कहीं वैकल्पिक विधान और कहीं कुछ और ही विधि दृष्टिगोचर होती है॥५-८॥

॥इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी तीन सौ उनसठवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ॥३५९॥

❖❖❖

अथ षष्ट्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः

स्वर्गपातालादिवर्गाः

अग्निरुवाच

स्वर्गादिनामलिङ्गो यो हरिस्तं प्रवदामि ते। स्वः स्वर्गनाकत्रिदिवा द्यौदिवौ द्वे त्रिविष्टपम्।।१।।
देवा वृन्दारका लेखा रुद्राद्या गणदेवताः। विद्याधरा (रो) प्सरोयक्षरक्षोगन्धर्वकिन्नराः।।२।।
पिशाचो गुह्यकः सिद्धो भूतोऽमी देवयोनः। देवद्विषोऽसुरा दैत्याः सुगतः स्यात्तथागतः।।३।।
ब्रह्माऽऽत्मभूः सुरज्येष्ठो विष्णुर्नारायणो हरिः। रेवतीशो ही रामः कामः पञ्चशरः स्मृतः।।४।।
लक्ष्मीः पद्मालया पद्मा स (श) र्वः सर्वेश्वरः शिवः। कपर्दोऽस्य जटाजूटः पिनाकोऽजगवं धनुः।।५।।
प्रमथाः स्युः पारिषदा मृडानी चण्डिकाऽम्बिका। द्वैमातुरो गजास्यश्च सेनानीरग्निभूर्गुहः।।६।।
आखण्डलः शुनासीरः सुत्रामा च दिवस्पतिः। पुलोमजा शचीन्द्राणी देवी तस्य तु वल्लभा।।७।।
स्यात्प्रासादो वैजयन्तो जयन्तः पाकशासनिः। ऐरावतोऽभ्रमातङ्गैरावणाभ्रमुवल्लभाः।।८।।
ह्रादिनी वज्रमस्त्री स्यात्कुलिशं भिदुरं पविः। व्योमयानं विमानोऽस्त्री पीयूषममृतं सुधा।।९।।

अध्याय–३६०

स्वर्ग-पाताल आदि वर्ग

श्रीअग्नि देव ने कहा कि–हे कात्यायन! स्वर्ग आदि के नाम और लिङ्ग जिनके स्वरूप हैं, उन शुद्ध स्वरूप श्रीहरि विष्णु का मैं वर्णन करने जा रहा हूँ–स्वः (अव्यय), स्वर्ग, नाक, त्रिदिव (पुँलिङ्ग), द्यो, दिव् –ये दो स्त्रीलिङ्ग और त्रिविष्टप (नपुंसक)–ये सब 'स्वर्गलोक' के नाम हैं। देव, वृन्दारक और लेख–ये (पुँल्लिङ्ग शब्द) देवताओं के नाम हैं। 'रुद्र' आदि शब्द गणदेवता के वाचक हैं। विद्याधार, अप्सारा, यक्ष, राक्षस, गन्धर्व, किंनर, पिशाच, गुह्यक, सिद्ध और भूत–ये सब 'देवयोनि' के अन्तर्गत हैं। देवद्विट्, असुर और दैत्य–ये असुरों के तथा सुगत और तथागत–ये बुद्ध के नाम हैं। ब्रह्मा, आत्मभू और सुरज्येष्ठ–ये ब्रह्माजी के; विष्णु, नारायण और हरि–ये भगवान् श्रीहरि विष्णु के; रेवतीश, हली और राम–ये बलभद्रजी के तथा काम, स्मर और पञ्चशर–ये कामदेव के नाम हैं।

लक्ष्मी, पद्मालया और पद्मा–ये लक्ष्मी के तथा शर्व, सर्वेश्वर और शिव–ये लक्ष्मी के तथा शर्व, सर्वेश्वर और शिव–ये लक्ष्मी के तथा शर्व, सर्वेश्वर और शिव–ये देवाधिदेव भगवान् श्रीशिवशंकर के नाम हैं। उनकी बँधी हुई जटा के दो नाम हैं–कपर्द और जटाजूट। उनके धनुष के भी दो नाम हैं–पिनाक और अजगव। भगवान् श्रीसदाशिवजी के पार्षद प्रमथ कहलाते हैं। मृडानी, चण्डिका और अम्बिका–ये पार्वती जी के; द्वैमातुर और गजास्य (गजानन)–ये गणेशजी के तथा सेनानी, अग्निभू और गुह–ये स्वामी कार्तिकेयजी के नाम हैं। आखण्डल, शुनासीर, कार्तिकेयजी के नाम हैं। आखण्डल, शुनासीर, सुत्रामा और दिवस्पति–ये इन्द्र के तथा पुलामजा, शची और इन्द्राणी–ये उनकी प्रियतमा शची देवी के नाम हैं। इन्द्र के महल का नाम वैजयन्त, पुत्र का नाम जयन्त और पाकशासनि तथा हाथी के नाम ऐरावत, अभ्रमातङ्ग, ऐदशानन रावण और अभ्रमुवल्लभ हैं। ह्रादिनी (स्त्रीलिङ्ग), पुँल्लिंग और नपुंसक), भिदुर (नपुंसक) और पवि (पुंल्लिंग)–ये सब इन्द्र के वज्र के नाम हैं।

स्यात्सुधर्मा देवसभा स्वर्गङ्गा सुरदीर्धिका। स्त्रियां बहुष्वप्सरसः स्वर्वेश्या उर्वशीमुखाः॥१०॥
हाहा हूहूश्च गन्धर्वा अग्निर्वह्निर्धनञ्जयः। जातवेदाः कृष्णवर्त्मा आश्रयाशश्च पावकः॥११॥
हिरण्यरेताः सप्तार्चिः शुक्रश्चैवाऽऽशुशुक्षणिः। शुचिरप्पित्तमौर्वस्तु वाडवो वडवानलः॥१२॥
वह्नेर्द्वयोर्ज्वालकीलावर्चिर्हेतिः शिखा स्त्रियाम्। त्रिषु स्फुलिङ्गोऽग्निकणो धर्मराजः परेतराट्॥१३॥
कालोऽन्तको दण्डधरः श्राद्धदेवोऽथ राक्षसः। कौणपास्त्रपक्रव्यादा यातुधानश्च नैर्ऋतिः॥१४॥
प्रचेता वरुणः पाशी श्वसनः स्पर्शनोऽनिलः। सदागतिर्मातरिश्वा प्राणो मरुत्समीरणः॥१५॥
जवो रंहस्तरसी तु लघु क्षिप्रमरं द्रुतम्। सत्वरं चपलं तूर्णमविलम्बितमाशु च॥१६॥
सततेऽनारताश्रान्तसंतताविरतानिशम्। नित्यानवरताजस्रमप्यथातिशयो भरः॥१७॥
अतिवेलभृशात्यर्थातिमात्रोद्गाढनिर्भरम्। तीव्रैकान्तनितान्तानि गाढबाढदृढानि च॥१८॥
गुह्यकेशो यक्षराजो राजराजो धनाधिपः। स्यात्किंनरः किंपुरुषस्तुरङ्गवदनो मयुः॥१९॥
निधिर्ना शेवधिर्व्योम त्वभ्रं पुष्करमम्बरम्। द्योदिवौ चान्तरिक्षं खं काष्ठाशाककुभो दिशः॥२०॥
अभ्यन्तरं त्वन्तरालं चक्रवालं तु मण्डलम्। तडित्वान्वारिदो मेघस्तनयित्नुर्बलाहकः॥२१॥

व्योम-यान (नपुं.) तथा विमान (पुँल्लिंग नपु.)—ये आकाश में विचरने वाले देववाहनों के नाम हैं। पीयूष, अमृत और सुधा—ये अमृत के नाम हैं। (इनमें सुधा तो स्त्रीलिङ्ग और शेष दोनों नाम नपुंसकलिंग हैं।) देवताओं की सभा 'सुधर्मा' कहलाती है। देवताओं की नदी गंगा का नाम स्वर्गङ्गा और सुरदीर्घिका है। उर्वशी आदि अप्सराओं को अप्सरा और स्वर्वेश्या कहते हैं। इनमें अप्सरस् शब्द स्त्रीलिङ्ग एवं बहुवचन में प्रयुक्त होता है। हाहा, हूहू आदि गन्धर्वों के नाम हैं। अग्नि, वह्नि, धनंजय, जातवेदा, कृष्णवर्त्मा, आश्रयाश, पावक, हिरण्यरेताः, सप्तार्चि, शुक्ल, आशुशुक्षणि, शुचि और अप्पित्त—ये अग्नि के नाम हैं तथा और्व, वाडव और वडवानल—ये समुद्र के अन्दर जलने वाली आग के नाम हैं। आग की ज्वाला के पाँच नाम हैं—'ज्वाल, कील, अर्चिष्, हेति और शिखा। इनमें पहले दो शब्द स्त्रीलिङ्ग और पुंलिंग दोनों में प्रयुक्त होते हैं। अर्चिष् नपुंसकलिङ्ग है तथा हेति और शिखा स्त्रीलिङ्ग शब्द हैं। आग की चिनगारी के दो नाम हैं—स्फुलिङ्ग और अग्निकण। इनमें पहला तीनों लिङ्गों में और दूसरा केवल पुंलिंग में प्रयुक्त होता है।

धर्मराज, परेतराट्, काल, अन्तक, दण्डधर और श्राद्धदेव—ये यमराज के नाम हैं। राक्षस, कौणप, अस्रप, क्रव्याद, यातुधान और नैर्ऋति—ये राक्षसों के नाम हैं। प्रचेता, वरुण और पाशी—ये वरुण के तथा श्वसन, स्पर्शन, अनिल, सदागति, मातरिश्वा, प्राण, मरुत् तरफ समीरण—ये वेग के वाचक हैं। (इनमें पहला पुंलिंग और शेष दोनों शब्द नपुंसक लिंग हैं।) लघु, क्षिप्र, अर, द्रुत, सत्वर, चपल, तूर्ण, अविलम्बित और आशु—ये शीघ्रता के अर्थ में प्रयुक्त होते हैं। क्रियाविशेषण होने पर इन सभी का नपुंसकलिंग एवं एकवचन में प्रयोग होता है।

सतत, अनारत, अश्रान्त, संतत, अविरत, अनिश, नित्य, अनवरत और अजस्र—ये निरन्तर के वाचक हैं। (ये भी प्रायः क्रियाविशेषण में ही प्रयुक्त होते हैं, केवल 'नित्य' शब्द का ही अन्य विशेषण में भी प्रयोग होता है।) अतिशय, भर, अतिवेल, भृश, अत्यर्थ, अतिमात्र, उद्गाढ, निर्भर, तीव्र, एकान्त, नितान्त, गाढ, बाढ और दृढ—ये अतिशय (अधिकमात्रा)—के वाचक हैं। गुह्यकेश, यक्षराज, राजराज और धनाधिप—ये कुबेर के नाम है। किंनर, किम्पुरुष, तुरंगवदन और मयु—ये किंनरों के वाचक शब्द हैं। निधि और शेवधि—ये दोनों पुंलिंग शब्द निधि के वाचक हैं।

व्योम, अभ्र, पुष्कर, अम्बर, द्यो, दिव्, अन्तरिक्ष और ख—ये आकाश के पर्याय हैं। (इनमें द्यो और दिव्

कादम्बिनी मेघमाला स्तनितं गर्जितं तथा। शम्पाशतह्रदाह्लादिन्यैरावत्यः क्षणप्रभा।।२२।।
तडित्सौदामिनी विद्युच्चञ्चला चपलाऽपि च। स्फूर्जथुर्वज्रनिर्घोषो वृष्टिघातस्त्ववग्रहः।।२३।।
धारासंपात आसारः शीकरोऽम्बुकणाः स्मृता। वर्षोपलस्तु करका मेघच्छन्नेह्नि दुर्दिनम्।।२४।।
अन्तर्धा व्यवधा पुंसि त्वन्तर्धिरपवारणम्। अपिधानतिरोधानपिधानाच्छादनानि च।।२५।।
अब्जो जैवातृकः सोमो ग्लौर्मृगाङ्कः कलानिधिः। विधुः कुमुदबन्धुश्च बिम्बोऽस्त्री मण्डलं त्रिशु।।२६।।
कला तु षोडशो भागो भित्तं शकलखण्डके। चन्द्रिका कौमुदी ज्योत्स्ना प्रसादस्तु प्रसन्नता।।२७।।
लक्षणं लक्ष्मकं चिह्नं शोभा कान्तिर्द्युतिश्छविः। सुषमा परमा शोभा तुषारस्तुहिनं हिमम्।।२८।।
अवश्यायस्तु नीहारः प्रालेयः शिशिरो हिमः। नक्षत्रमृक्षं भं तारा तारकाऽप्युडु वा स्त्रियाम्।।२९।।
गुरुर्जीव आंगिरस उशना भार्गवः कविः। विधुंतुदस्तमो राहुर्लग्नं राश्युदयः स्मृतः।।३०।।
सप्तर्षयो मरीच्यत्रिमुखाश्चित्रशिखण्डिनः। हरिदश्वब्रध्नपूषद्युमणिर्मिहिरो रविः।।३१।।
परिवेषस्तु परिधिरुपसूर्यकमण्डले। किरणोस्त्रमयूखांशुगभस्तिघृणिधृष्णयः।।३२।।

शब्द स्त्रीलिङ्ग में प्रयुक्त होते हैं और शेष सब नपुंसकलिङ्ग में।) काष्ठा, आशा, ककुभ् और दिश्–ये दिशा-अर्थ के बोधक हैं। अभ्यन्तर और अन्तराल शब्द मध्य के तथा चक्रवाल और मण्डल शब्द गोलाकार मण्डल एवं समुदाय के वाचक हैं। तडत्वान्, वारिद, मेघ, स्तनयित्नु और बलाहक–ये मेघ के पर्याय हैं।।१-२१।।

बादलों की घटा का नाम है कादम्बिनी और मेघमाला तथा स्तनित और गर्जित–ये (नपुंसकलिङ्ग) शब्द मेघगर्जना के वाचक हैं। शम्पा, शतह्रदा, ह्लादिनी, ऐरावती, क्षणप्रभा, तडित्, सौदामिनी (सौदामीनी), विद्युत्, चञ्चला और चपला–ये बिजली के पर्याय हैं। स्फूर्जथु और वज्र-निर्घोष–ये दो बिजली की गड़गड़ाहट के नाम हैं। वर्षा की रुकावट को वृष्टिघात और अवग्रह कहते हैं। धारा-सम्पात और आसार–ये दो मुसलाधार वृष्टि के नाम हैं। जल के छींटों या फुहारों को शीकर कहते हैं।

वर्षा के साथ गिरने वाले ओलों का नाम करका है। जिस समय मेघों की घटा से दिन छिप जाय तो उसको दुर्दिन कहते हैं। अन्तर्धा, व्यवधा, पुंलिंग में प्रयुक्त होने वाला अन्तर्धि तथा (नपुंसकलिङ्ग) अपवारण, अपिधान, तिरोधान, पिधान और आच्छादन–ये आठ अन्तर्धान (अदृश्य होने) के नाम हैं। अब्ज, जैवात्रिक, सोम, ग्लौः, मृगाङ्क, कलानिधि, विधु तथा कुमुद-बन्धु–ये चन्द्रमा के पर्याय हैं। चन्द्रमा और सूर्य के मण्डल का नाम है–बिम्ब और मण्डल। इनमें बिम्ब शब्द का पुंल्लिग और नपुंसकलिंग में तथा मण्डल-शब्द का तीनों लिंगों में प्रयोग होता है। चन्द्रमा के सोलहवें भाग को कला कहते हैं। भित्त, शकल और खण्ड–ये टुकड़े के वाचक हैं।

चाँदनी को चन्द्रिका, कौमुदी और ज्योत्स्ना कहते हैं। प्रसाद और प्रसन्नता–ये निर्मलता और हर्ष के बोधक हैं। लक्षण, लक्ष्म और चिह्न–ये चिह्न के तथा शोभा, कान्ति, द्युति और छवि–ये शोभा के नाम हैं। श्रेष्ठतम शोभा को सुषमा कहते हैं। तुषार, तुहिन, हिम, अवश्याय, नीहार, प्रालेय, शिशिर और हिम–ये पाले के वाचक हैं। नक्षत्र, ऋक्ष, भ, तारा, तारका और उडु–ये नक्षत्र के पर्याय हैं। इनमें उडु शब्द विकल्प से स्त्रीलिङ्ग और नपुंसक होता है। गुरु, जीव और आङ्गिरस–ये बृस्पति के; उशना, भार्गव और कवि–ये शुक्राचार्य के तथा विधुँतुद, तम और राहु–ये तीन राहु के नाम हैं। राशियों के उदय को लग्न कहते हैं। मरीचि और अत्रि आदि सप्तर्षि 'चित्रशिखण्डी' के नाम से प्रसिद्ध हैं। हरिदश्व, ब्रध्न, पूषा, द्युमणि, मिहिर और रवि–ये सूर्य के नाम हैं। परिवेष, परिधि, उपसूर्यक और मण्डल–ये उत्पात आदि के समय दिखायी देने वाले सूर्यमण्डल के घेरे को बोध कराने वाले हैं।।२२-३२।।

भानुः करो मरीचिः स्त्री पुसयोर्दीधितिः स्त्रियाम्। स्युः प्रभा रुग्रुचिस्त्विड्भा भाश्छविद्युतिदीप्तयः॥३३॥
रोचिः शोचिरुभे क्लीवे प्रकाशो द्योत आतपः। कोष्णं कवोष्णं मन्दोष्णं कदुष्णं त्रिषु तद्वति॥३४॥
तिग्मं तीक्ष्णं खरं तद्वद्दिष्टोऽनेहा च कालकः। घस्रो दिनाहनी चैव सायंसन्ध्या पितृप्रसूः॥३५॥
प्रत्यूषोऽहर्मुखं कल्यमुषः प्रत्युषसी अपि। प्राह्णापराह्णमध्याह्नास्त्रिसंध्यमथ शर्वरी॥३६॥
यामी तमी तमिस्रा च ज्यौत्स्नी चन्द्रिकयाऽन्विता। आगामिवर्तमानाहर्युक्तायां निशि पक्षिणी॥३७॥
अर्धरात्रनिशीथौ द्वौ प्रदोषो रजनीमुखम्। स पर्वसंधिः प्रतिपत्पञ्चदश्योर्यदन्तरम्॥३८॥
पक्षान्तौ पञ्चदश्यौ द्वे पौर्णमासी तु पूर्णिमा। कलाहीने सानुमतिः पूर्णे राका निशाकरे॥३९॥
अमावास्या त्वमावस्या दर्शः सूर्येन्दुसंगमः। सा दृष्टेन्दुः सिनीवाली सा नष्टेन्दुकला कुहूः॥४०॥
संवर्तः प्रलयः कल्पः क्षयः कल्पान्त इत्यपि। कलुषं वृजिनैनोघमंहोदुरितदुष्कृतम्॥४१॥

किरण, उस्र, मयूख, अंशु, गभस्ति, घृणि, धृष्णि, भानु, कर, मरीचि और दीधिति–ये ग्यारह सूर्य की किरणों के नाम हैं। इनमें मरीचि शब्द स्त्रीलिङ्ग और पुंलिंग दोनों में प्रयुक्त होता है तथा दीधिति शब्द का प्रयोग केवल स्त्रीलिङ्ग में होता है। प्रभा, रुक्, रुचि, त्विट्, भा, आभा, छबि, द्युति, दीप्ति, रोचिष् और शोचिष्–ये प्रभा के नाम हैं। इनमें रोचिष् और शोचिष् –ये दो शब्द केवल नपुंसकलिङ्ग में प्रयुक्त होते हैं (शेष सभी स्त्रीलिङ्ग हैं)। प्रकाश, द्योत और आतप–ये तीन धूप या घाम के नाम हैं। कोष्ण, कवोष्ण, मन्दोष्ण और कदुष्ण–ये थोड़ी गरमी का बोध कराने वाले हैं।

यद्यपि स्वरूप से ये नपुंसकलिङ्ग हैं, तथापि जय थोड़ी गरमी रखने वाली किसी वस्तु के विशेषण होते हैं तो विशेष्य के अनुसार इनका तीनों लिङ्गों में प्रयोग होता है। तिग्म, तीक्ष्ण और खर–ये अधिक गर्मी के वाचक है। ये भी पूर्ववत् गुणबोधक होने पर नपुंसक में और गुणवान् विशेषण होने पर विशेष्य के अनुसार तीनों लिङ्गों में प्रयुक्त होते हैं। दिष्ट, अनेहा और अहन् –ये दिन के, सायं शब्द सायंकाल और संध्या तथा पितृप्रसू–ये दो संध्या के नाम हैं। प्रत्यूष, अहर्मुख, कल्य, उषस् और प्रत्यूषस् –ये प्रभातकाल के वाचक हैं। दिन के प्रथम भाग को प्राह्ण, अन्तिम भाग को अपराह्ण और मध्यभाग को मध्याह्न कहते हैं–इन तीनों का समुदाय त्रिंसंध्य कहलाता है। शर्वरी, यामी (यामिनी) और तमी–ये रात्रि के वाचक हैं। अँधेरी रात को तमिस्रा और चाँदनी रात्रि को 'यौत्स्नी कहते हैं। आगामी और वर्तमान–इन दो दिनों सहित बीच की रात्रि का बोध कराने के लिये पक्षिणी शब्द का प्रयोग किया जाता है। अर्द्धरात्रि के दो नाम हैं–अर्धरात्र और निशीथ।

रात्रि के प्रारम्भ को प्रदोष और रजनीमुख कहते हैं। प्रतिपदा और पूर्णिमा या अमावास्या के मध्य में जो संधि का समय है उसको पर्वसंधि कहते हैं। दोनों पञ्चदशियों अर्थात् पूर्णिमा और अमावास्या को पक्षान्त कहा जाता है। पूर्णिमा दो नाम हैं–पौर्णमासी तथा पूर्णिमा। यदि पूर्णिमा को चनद्रोदय के समय प्रतिपद् का योग लग जाने से एक कला के हीन चन्द्रमा का उदय हो, तो उस पूर्णिमा की 'अनुमति' संज्ञा है तथा पूर्ण चन्द्रमा के उदय लेने पर उसको 'राका' कहते हैं। अमावस्या, अमावास्या दर्श और सूर्येन्दुसंगम–ये चार अमावास्या के नाम हैं। यदि सबेरे चतुर्दशी का योग होने से अमावास्या के प्रातःकाल चन्द्रमा का दर्शन हो जाय तो उस अमावास्या को 'सिनी वाली' कहते हैं। परन्तु चन्द्रोदयकाल में अमावस्या का योग हो जाने से यदि चन्द्रमा की कला बिलकुल न दिखायी दे तो वह अमा 'कुहू' कहलाती है।॥३३–४०॥

संवर्त, प्रलय, कल्प, क्षय और कल्पान्त–ये पाँच प्रलय के नाम हैं। कलुष, वृजिन, एनस्, अघ, अंहस,

स्याद्धर्ममस्त्रियां पुण्यश्रेयसी सुकृतं वृषः। मुत्प्रीतिः प्रमदो हर्षः प्रमोदामोदसंमदाः।।४२।।
स्यादानन्दथुरानन्दः शर्मशातसुखानि च। श्वः श्रेयसं शिवं भद्रं कल्याणं मङ्गलं शुभम्।।४३।।
भावुकं भविकं भव्यं कुशलं खेममस्त्रियाम्। दैवं दिष्टं भागधेयं भाग्यं स्त्री नियतिर्विधिः।।४४।।
क्षेत्रज्ञ आत्मा पुरुषः प्रधानं प्रकृतिः स्त्रियाम्। हेतुर्ना कारणं बीजं निदानं त्वादिकारणम्।।४५।।
चित्तं तु चेतो हृदयं स्वान्तं हृन्मानसं मनः। बुद्धिर्मनीषा धिषणा धीः प्रज्ञा शेमुषी मतिः।।४६।।
प्रेक्षोपलब्धिश्चित्संवित्प्रतिपज्ज्ञप्तिचेतनाः। धीर्धारणावती मेधा संकल्पः कर्म मानसम्।।४७।।
संख्या विचारणा चर्चा विचिकित्सा तु संशयः। अध्याहारस्तर्क ऊहः समौ निर्णयनिश्चयौ।।४८।।
मिथ्यादृष्टिर्नास्तिकता भ्रान्तिर्मिथ्यामतिर्भ्रमः। अंगीकाराभ्युपगमप्रतिश्रवसमाधयः।।४९।।
मोक्षे धीर्ज्ञानमन्यत्र विज्ञानं शिल्पशास्त्रयोः। मुक्तिः कैवल्यनिर्वाणश्रेयोनिः श्रेयसामृतम्।।५०।।
मोक्षोऽपवर्गोऽथाज्ञानमविद्याऽहंमतिः स्त्रियाम्। विमर्दोत्थे परिमलो गन्धे जनमनोहरे।।५१।।
आमोदः सोऽतिनिर्हारी सुरभिर्घ्राणतर्पणः। शुक्लशुभ्रशुचिश्वेतविशदश्वेतपाण्डराः।।५२।।

दुरित और दुष्कृत शब्द पाप के वाचक हैं। धर्म शब्द का प्रयोग पुंलिंग और नपुंसक दोनों में होता है। इसके पर्याय हैं–पुण्य, श्रेयस्, सुकृत और वृष। इनमें प्रारम्भ के तीन नपुंसक और वृष शब्द पंलिंग है। मुत्, प्रीति, प्रमद, हर्ष, प्रमोद, आमोद, सम्पद, आनन्दथु, आनन्द, शर्म्म, शात और सुख–ये सुख एवं हर्ष के नाम हैं। स्वःश्रेयस, शिव, भद्र, कल्याण, मंगल, शुभ, भावुक, भविक, भव्य, कुशल और क्षेम–ये कल्याण-अर्थ का बोध कराने वाले हैं। ये सभी शब्द केवल स्त्रीलिंग में नहीं प्रयुक्त होते। दैव, दिष्ट, भागधेय, भाग्य, नियति और विधि–ये भाग्य के नाम हैं। इनमें नियति-शब्द स्त्रलिङ्ग है और विधि पुंलिंग तथा प्रारम्भ के चार शब्द नपुंसकलिंग हैं।

क्षेत्रज्ञ, आत्मा और पुरुष–ये आत्मा के पर्याय हैं। प्रकृति या माया के दो नाम हैं–प्रधान और प्रकृति। इनमें प्रकृति स्त्रीलिङ्ग है और प्रधान नपुंसकलिङ्ग। हेतु, कारण और बीज–ये कारण के वाचक हैं। इनमें पहला पुँल्लिंग और शेष दो शब्द नपुंसकलिंग हैं। कार्य की उत्पत्ति में प्रधान हेतु के दो नाम हैं– निदान और आदिकारण। चित्त, चेतस्, हृदय, स्वान्त, हृत्, मानस और मनस्–ये चित्त के पर्याय हैं। बुद्धि, मनीषा, धिषणा, धी, प्रज्ञा, शेमुषी, मति, प्रेक्षा, उपलब्धि, चित्, संवित्, प्रतिपत्, ज्ञप्ति और चेतना–ये बुद्धि के वाचक शब्द हैं। धारणा शक्ति से युक्त बुद्धि को 'मेधा' कहते हैं और मानसिक व्यापार का नाम संकल्प है। संख्या, विचारणा और चर्चा–ये विचार के विचिकित्सा और संदेह संदेह के तथा अध्याहार, तर्क और ऊह–ये तर्क-वितर्क के नाम हैं। निश्चित विचार को निर्णय और निश्चय कहते हैं। 'ईश्वर और परलोक नहीं है'–ऐसे विचार को मिथ्या-दृष्टि और नास्तिकता कहते हैं। भ्रान्ति, मिथ्यामति और भ्रम–ये तीन भ्रमात्मक ज्ञान के वाचक हैं। अङ्गीकार, अभ्युपगम, प्रतिश्रव और समाधि–ये स्वीकार अर्थ का बोध कराने वाले हैं।

मोक्षविषयक बुद्धि को ज्ञान और शिल्प एवं शास्त्र के बोध को विज्ञान कहते हैं। मुक्ति, कैवल्य, निर्वाण, श्रेयस् निःश्रेयस, अमृत, मोक्ष और अपवर्ग–ये मोक्ष के वाचक शब्द हैं। अज्ञान, अविद्या और अहम्मति–ये तीन अज्ञान के पर्याय हैं। इनमें पहल नपुंसक और शेष दो शब्द स्त्रीलिङ्ग हैं। एक-दूसरे की रगड़ से प्रकट हुई मनोहारिणी गन्ध के अर्थ में 'परिमल' शब्द का प्रयोग होता है। वही गन्ध जिस समय अत्यन्त मनोहर हो, तो उसको 'आमोद' कहते हैं।

घ्राणेन्द्रिय को तृप्त करने वाली श्रेष्ठतम गन्ध का नाम 'सुरभि' है। शुभ्र, शुक्ल, शुचि, श्वेत, विशद, श्येत,

अवदातः सितौ गौरो वलक्षो धवलोऽर्जुनः। हरिणः पाण्डुरः पाण्डुरीषत्पाण्डुस्तु धूसरः॥५३॥
कृष्णे नीलासितश्यामकालश्यामलमेचकाः। पीतो गौरो हरिद्राभः पालाशो हरितो हरित्॥५४॥
रोहितो लोहितो रक्तः शोणः कोकनदच्छविः। अव्यक्तरागस्त्वरुणः श्वेतरक्तस्तु पाटलः॥५५॥
श्यावः स्यात्कपिशो धूम्रधूमलौ कृष्णलोहिते। कडारः कपिलः पिङ्गपिशाङ्गौ कद्रुपिङ्गलौ॥५६॥
चित्रं किर्मीरकल्माषशबलैताश्च कर्बुरे। व्याहार उक्तिर्लपितमपभ्रंशोऽपशब्दकः॥५७॥
तिङ्सुबन्तचयो वाक्यं क्रिया वा कारकान्विता। इतिहासः पुरावृत्तं पुराणं पञ्चलक्षणम्॥५८॥
आख्यायिकोपलब्धार्था प्रबन्धकल्पना कथा। समाहारः संग्रहस्तु प्रवह्लिका प्रहेलिका॥५९॥
समस्या तु समासार्था स्मृतिस्तु धर्मसंहिता। आख्याह्वे चाभिधानं च वार्ता वृत्तान्त ईरितः॥६०॥
हूतिराकारणाऽऽह्वानमुपन्यासस्तु वाङ्मुखम्। विवादो व्यवहारः स्यात्प्रतिवाक्योत्तरे समे॥६१॥
उपोद्घात उदाहारो ह्यथ मिथ्याभिशंसनम्। अभिशापो यशः कीर्तिः प्रश्नः पृच्छाऽनुयोगकः॥६२॥
आम्रेडितं द्विस्त्रिरुक्तं कुत्सानिन्दे च गर्हणे। स्यादाभाषणमालापः प्रलापोऽनर्थकं वचः॥६३॥

पाण्डर, अवदात, सित, गौर, वलक्ष, धवल और अर्जुन—ये श्वेत वर्ण के वाचक हैं। कुछ पीलापन लिये हुए सफेदी को हरिण, पाण्डुर और पाण्डु कहते हैं। यह रंग भी बहुत हलका हो, तो उसको धूसर कहते हैं। नील, असित, श्याम, काल, श्यामल और मेचक—ये कृष्णवर्ण (काले रंग) के बोधक हैं। पीत, गौर तथा हरिद्राभ—ये पीले रंग के और पालाश, हरित तथा हरित्—ये हरे रंग के वाचक हैं। रोहित, लोहित और रक्त—ये लाल रंग का बोध कराने वाले हैं। रक्त कमल के समान जिसकी शोभा हो, उसको शोण' कहते हैं। जिसकी लालिमा जान पड़ती हो, उस हलकी लाली का नाम 'अरुण' है। सफेदी लिये हुए लाली अर्थात् गुलाबी रंग को 'पाटल' कहते हैं। जिसमें काले और पीले—दोनों रंग मिले हों वह 'श्याव' और 'कपिश' कहलाता है। जहाँ काले के साथ लाल रंग का मेल हो, उसको धूम्र तथा धूमल कहते हैं। कडार, कपिल, पिङ, पिशङ्ग, कद्रु तथा पिङ्गल—ये भूरे रंग के वाचक हैं। चित्र, किर्मीर, कल्माष, शबल, एत और कर्बुर—ये चितकबरे रंग का बोध कराने वाले हैं॥४१-५६॥

व्याहार, उक्ति तथा लपित—ये वन के समानार्थ शब्द हैं। व्याकरण के नियमों से च्युत—अशुद्ध शब्द को 'अपभ्रंश' तथा 'अपशब्द' कहते हैं। सुबन्त पदों का समुदाय (**'चैत्रेय शयितव्यम्'** इत्यादि), तिङन्त पदों का समूह (**पश्य पश्य गच्छति'** इत्यादि), सुबन्त और तिङन्त—दोनों पदों का समुदाय ('चैत्रः पचति' इत्यादि) अथवा कारक से अन्वित क्रिया का बोध कराने वाला पद समूह (घटमानय) इत्यादि—ये सभी 'वाक्य' कहलाते हैं। प्राचीन काल में बीती हुई सच्ची घटनाओं का वर्णन करने वाले ग्रन्थ को 'इतिहास' तथा 'पुरावृत्त' कहते हैं। (सर्ग, प्रतिसर्ग, वंश, मन्वनतर और वंशानुचरित—इन) पाँच लक्षणों से युक्त व्यासादि मुनियों के ग्रन्थ का नाम 'पुराण' है। सच्ची घटना को लेकर लिखी हुई पुस्तक 'आख्यायिका' कहलाती है। कल्पित प्रबन्ध को 'कथा' कहते हैं। संग्रह के वाचक दो शब्द हैं—समाहार तथा संग्रह। अबूझ पहेली को 'प्रवह्लिका' और 'प्रहेलिका' कहते हैं। पूर्ण करने के लिये दी हुई संक्षिप्त पदावली का नाम 'समया' और 'समसार्था' है।

वेदार्थ के स्मरणपूर्वक लिखे हुए धर्मशास्त्र को 'स्मृति' और 'धर्मसंहिता' कहते हैं। आख्या, आह्वा और अभिधान—ये नाम के वाचक हैं। 'वार्ता' और 'वृत्तान्त'—दोनों समानार्थक शब्द हैं। हूति, आकारणा और आह्वान—ये पुकारने के अर्थ में आते हैं। वाणी के प्रारम्भ को 'उपन्यास' और 'वाङ्मुख' कहते हैं। विवाद और व्यवहार

अनुलापो मुहुर्भाषा विलापः परिदेवनम्। विप्रलापो विरोधोक्तिः संलापो भाषणं मिथः।।६४।।
सुप्रलापः सुवचनमपलापस्तु निह्नवः। रुशती वागकल्याणी संगतं हृदयंगमम्।।६५।।
अत्यर्थमधुरं सान्त्वमबद्धं स्यादनर्थकम्। निष्ठुराश्लीलपरुषं ग्राम्यं वै सूनृतं प्रिये।।६६।।
सत्यं तथ्यमृतं सम्यङ्नादनिःस्वाननिःस्वनाः। आरवारावसंरावविरावा अथ मर्मरः।।६७।।
स्वनिते वस्त्रपर्णानां भूषणानां तु शिञ्जितम्। वीणाया निक्वणः क्वाणस्तिरश्चां वाशितं रुतम्।।६८।।
कोलाहलः कलकलो गीतं गानमिमे समे। स्त्री प्रतिश्रुत्प्रतिध्वाने तन्त्रीकण्ठान्निसा दकः।।६९।।
काकली तु कले सूक्ष्मे ध्वनौ तु मधुरास्फुटे। कलो मन्द्रस्तु गम्भीरे तारोऽत्युच्चैस्त्रयस्त्रिषु।।७०।।
समन्वितलयस्त्वेकतालो वीणा तु वल्लकी। विपञ्ची सा तु तन्त्रीभिः सप्तभिः परिवादिनी।।७१।।
ततं वीणादिकं वाद्यमानद्धं मुरजादिकम्। वंशादिकं तु सुषिरं कांस्यतालादिकं घनम्।।७२।।

मुकदमेबाजी का नाम है। प्रतिवाक्य और उत्तर–ये दोनों समानार्थक शब्द हैं। झूठा कलंक लगाने को मिथ्याभिशंसन और अभिश्राप कहते हैं। यश और कीर्ति–ये सुयश के नाम हैं। प्रश्न, पृच्छा और अनुयोग–इनका पूछने के अर्थ में प्रयोग होता है। एक ही शब्द के दो-तीन बार उच्चारण करने को 'आम्रेडित' कहते हैं। परायी निन्दा के अर्थ में कुत्सा, निन्दा और गर्हण शब्द का प्रयोग होता है। सामान्य बातचीत को आभाषण और आलाप कहते हैं। पागलों की तरह कहे हुए असम्बद्ध या निरर्थक वचन का नाम प्रलाप है। बारंबार किये जाने वाले वार्तालाप को अनुलाप कहते हैं। शोकयुक्त उद्गार का नाम विलाप और परिदेवन है। परस्पर विरुद्ध बातचीत को विप्रलाप और विरोधोक्ति कहते हैं। दो व्यक्तियों के पारस्परिक वार्तालाप को नाम संलाप है। सुप्रलाप और सुवचन–ये श्रेष्ठतम वाणी के वाचक हैं।

सत्य को छिपाने के लिये जिस वाणी का प्रयोग किया जताा है, उसको अपलाप तथा निह्नव कहते हैं। अमङ्गलमयी वाणी का नाम अशती है। हृदय में बैठने वाली युक्तियुक्त बात को संगत और हृदयंगम कहते हैं। अत्यन्त मधुर वाणी में जो सान्त्वना दी जाती है, उसको सान्त्व कहते हैं। जिन बातों का परस्पर कोई सम्बन्ध न हो, वे अबद्ध और निरर्थक कहलाती हैं। निष्ठुर और पुरुष शब्द कठोर वाणी के तथा अश्लील और ग्राम्य शब्द गंदी बातों के बोधक हैं। प्रिय लगने वाली वाणी को सूनृत कहते हैं। सत्य, तथ्य, ऋत और सम्यक्–ये यथार्थ वचन का बोध कराने वाले हैं। नाद, निस्वान, निस्वन, आरव, , आराव, संराव और विराव–ये अव्यक्त शब्द के वाचक हैं। कपड़ों और पत्तों से जो आवाज होती है, उसको मर्मर कहते हैं।

आभूषणों की ध्वनि का नाम शिञ्जित है। वीणा के स्वर को निक्वण और क्वाण कहते हैं तथा पक्षियों के कलरव का नाम वाशित है। एक समूह की आवाज को कोलाहल और कमल कल कहते हैं। गीत और गान–ये दोनों समान अर्थ के बोधक हैं। प्रतिश्रुत् और प्रतिध्वान–ये प्रातिध्वनि के वाचक हैं। इसमें पहला स्त्रीलिङ्ग (और दूसरा नपुंसकलिङ्ग) है। वीणा के कण्ठ से निषाद आदि स्वर प्रकट होते हैं।।५७-६९।।

मधुर एवं अस्फुट ध्वनि को 'कल' कहते हैं और सूक्ष्म कल का नाम काकली है। गम्भीर स्वर को 'मन्द्र' तथा बहुत ऊँची आवाज को 'तार' कहते हैं। कल, मन्द्र और तार–इन तीनों शब्दों का तीनों ही लिङ्गों में प्रयोग होता है। गाने और बजाने की मिली हुई लय को एकताल कहते हैं। वीणा के तीन नाम हैं–वीणा, वल्ल की और विपञ्ची। सात तारों से बजने वाली वीणा का (जिसे हिन्दी में सतार या सितार कहते हैं) परिवादिनी नाम है। (बाजों के चार भेद हैं–तत, आनद्ध, सुषिर और घन। इसमें) वीणा आदि बाजे को तत, ढोल और मृदङ्ग आदि को आनद्ध, बाँसुरी

चतुर्विधमिदं वाद्यं वादित्रातोद्यनामकम्। मृदङ्गा मुरजा भेदास्त्वङ्क्यालिङ्ग्योर्ध्वकास्त्रयः॥७३॥
स्याद्यशः पटहो ढक्का भेर्यामानकदुन्दुभिः(?)। आनकः पटहो भेदा झर्झरीडिण्डिमादयः॥७४॥
मर्दलः पणवस्तुल्यो क्रियामानं तु तालकः। लयः साम्यं ताण्डवं तु नाड्यं लास्यं च नर्तनम्॥७५॥
तौर्यत्रिकं नृत्यगीतवाद्यं नाट्यमिदं त्रायम्। राजा भट्टारको देवः साभिषेका च देव्यपि॥७६॥
शृङ्गारवीरकरुणाद्भुतहास्यभयानकाः। वीभत्सरौद्रौ च रसाः शृङ्गारः शुचिरुज्ज्वलः॥७७॥
उत्साहवर्धनो वीरः कारुण्यं करुणा घृणा। कृपा दया चानुकम्पाऽप्यनुक्रोशोऽप्यथो हसः॥७८॥
हासो हास्यं च वीभत्सं विकृतं त्रिष्विदं द्वयम्। विस्मयोऽद्भुतमाश्चर्यं चित्रमप्यथ भैरवम्॥७९॥
दारुणं भीषणं भीष्मं घोरं भीमं भयानकम्। भयंकरं प्रतिभयं रौद्रं तूग्रममी त्रिषु॥८०॥
चतुर्दश दरस्त्रासौ भीतिर्भीः साध्वसं भयम्। विकारो मानसो भावोऽनुभावो भावबोधनः (कः)॥८१॥
गर्वा (र्वोऽ) भिमानोऽहंकारो मानश्चित्तसमुन्नतिः। अनादरः परिभवः परिभावस्तिरस्क्रिया॥८२॥
व्रीडा लज्जा त्रपा ह्रीः स्यादभिध्यानं धने स्पृहा। कौतूहलं कौतुकं च कुतुकं च कूतूहलम्॥८३॥

आदि को सुषिर और काँस की झाँझ आदि को घन कहते हैं। इन चारों तरह के बाजों का नाम वाद्य, वादित्र और तातोद्य है। ढोल के दो नाम हैं—मृदङ्ग और मुरज। उसके तीन भेद हैं—अङ्क्य, आलिङ्ग्य और ऊर्ध्व। सुयश का ढिंढोरा पीटने के लिये जो डंका होता है, उसको यशः पटह और ढक्का कहते हैं। भेरी के अर्थ में आनक और दुन्दुभि शब्दों का प्रयोग होता है। आनक और पटह—ये दोनों पर्यायवाची शब्द हैं।

झर्झरी (झाँझ) और डिण्डिम (ढिंढोरा) आदि बाजों के भेद हैं। मर्दल और पणव—ये दोनों समानार्थक हैं। (इनको भी एक तरह का बाजा ही समझना चाहिये)। जिससे गाने-बजाने की क्रिया और काल का विवेक हो, उस गति का नाम 'ताल' है। गीत और वाद्य आदि का समान अवस्था में होना 'लय' कहलाता है। ताण्डव, नाट्य, लास्य और नर्तन—ये सब 'नृत्य' के वाचक हैं। नृत्य, गान और वाद्य—इन तीनों को 'तौर्यत्रिक' एवं 'नाट्य' कहते हैं। नाटक में राजा को भट्टारक और देव कहा जाता है तथा उनके साथ जिसका अभिषेक हुआ हो, उस महारानी को देवी कहते हैं। शृङ्गार, वीर, करुण, अद्भुत, हास्य, भयानक कीभत्स तथा रौद्र—ये आठ रस हैं। इनमें शृङ्गार-रस के तीन नाम हैं—शृङ्गार, शुचि और उज्ज्वल। वीर-रस के दो नाम हैं—उत्साहवर्धन और वीर। करुण का बोध कराने वाले सात शब्द हैं—कारुण्य, करुणा, घृणा, कृपा, दया, अनुकम्पा तथा अनुक्रोश। हस, हास और हास्य—ये हास्य रस के तथा बीभत्स और विकृत शब्द बीभत्स-रस के वाचक हैं।

ये दोनों शब्द तीनों लिङ्गों में प्रयुक्त होते हैं। अद्भुत का बोध कराने वाले चार शब्द हैं—विस्मय, अद्भुत, आश्चर्य और चित्र।भैरव, दारुण, भीष्म, घोर, भीम, भयानक, भयंकर और प्रतिभय—ये भयानक अर्थ का बोध कराने वाले हैं। रौद्र का पर्याय है—उग्र। ये अद्भुत आदि चौदह शब्द तीनों लिङ्गों में प्रयुक्त होते हैं। दर, त्रास, भीति, भी, साध्वस और भय—ये भय के वाचक हैं। रति आदि मानसिक विकारों को भाव कहते हैं। भाव को व्यक्त करने वाले रोमाञ्च आदि कार्यों का नाम अनुभाव है। गर्व, अभिमान और अहंकार—ये घमंड नाम हैं। 'मेरे समान दूसरा कोई नहीं है' ऐसी भावना को मान और चित्तसमुन्नति कहते हैं। अनादर, परिभव, परिभाव और तिरस्क्रिया—ये अपमान के वाचक हैं। व्रीडा, लज्जा, त्रपा और ह्री—ये लाज का बोध कराने वाले हैं। दूसरे के धन को लेने की इच्छा का नाम अभिध्यान है। कौतूहल, कौतुक, कुतुक और कुतुहल—ये चार कौतुक के पर्याय हैं।

स्त्रीणां विलासविव्वोकविभ्रमा ललितं तथा। हेला लीलेत्यमी हावाः क्रियाः शृङ्गारभावजाः॥८४॥
द्रवकेलिपरीहासाः क्रीडा लीला च कूर्दनम्। स्यादाच्छुरितकं हासः सोत्प्रासः समनाक्स्मितम्॥८५॥
अधोभुवनपातालं छिद्रं श्वभ्रं वपा सुषिः। गर्तावटौ भुविश्वभ्रे तमिश्रं (स्त्रं) तिमिरं तमः॥८६॥
सर्पः पृदाकुर्भुजगो दन्दशूको बिलेशयः। विषं क्ष्वेडश्च गरलं निरयो दुर्गतिः स्त्रियाम्॥८७॥
पयः कीलालममृतमुदकं भुवनं वनम्। भङ्गस्तरङ्ग ऊर्मिर्वा कल्लोलोल्लोलकौ च तौ॥८८॥
पृषन्ति बिन्दुपृषताः कूलं रोधश्च तीरकम्। तोयोत्थितं तत्पुलिनं जम्बालं पङ्ककर्दमौ॥८९॥
जलोच्छ्वासाः परीवाहाः कूपकास्तु विदारकाः। आतरस्तरपण्यं स्याद्द्रोणी काष्ठाम्बुवाहिनी॥९०॥
कलुषश्चाऽऽविलोऽच्छस्तु प्रसन्नोऽथ गभीरकम्। अगाधं दासकैवर्तौ शम्बूका जलशुक्तयः॥९१॥
सौगन्धिकं तु कह्लारं नीलमिन्दीवरं कजम्। स्यादुत्पलं कुवलयं सिते कुमुदकैरवे॥९२॥
शालूकमेषां कन्दः स्यात्पद्मं तामरसं कजम्। नीलोत्पलं कुवलयं रक्तं कोकनदं स्मृतम्॥९३॥

विलास, विव्वोक, विभ्रम, ललित, हेला और लीला–ये शृङ्गार और भाव से प्रकट होने वाली स्त्रियों की चेष्टाएँ 'हाव' कहलाती हैं। द्रव, केलि, परिहास, क्रीडा, लीला तथा कूर्दन–ये खेल कूद और हँसी परिहास के वाचक हैं। दूसरों पर आक्षेप करते हुए जो उनकी हँसी उड़ायी जाती है, उसका नाम 'आच्छुरितक' है। मन्द मुस्कान को 'स्मित' कहते हैं॥७०-८५॥

नीचे के लोक का नाम अधोभुवन और पाताल है। छिद्र, श्वभ्र वपा और सुषि–ये छिद्र के वाचक हैं। पृथ्वी के अन्दर जो छेद (खंदक आदि) होता है, उसको गर्त और अवट कहते हैं। तमिस्र, मिमिर और तम–ये अन्धकार के वाचक हैं। सर्प, पृदाकु, भुजग, दन्दशूक और बिलेशय–ये साँपों के नाम हैं। विष, क्ष्वेड और गरल–ये जहर का बोध कराने वाले हैं। निरय् और दुर्गति–ये नरक के नाम हैं। इनमें दुर्गति शब्द स्त्रीलिङ्ग है। पयस्, कीलाल, अमृत, उदक, भुवन और वन–ये जल के पर्याय हैं। भङ्ग, तरंग, ऊर्मि, कल्लोल और उल्लोल–ये लहर के नाम हैं।

पृषत्, बिन्दु और पृषत–ये जल की बूँदों के नाम हैं। कूल, रोध औरं तीन–ये तट के वाचक हैं। जल से तुरंत के बाहर हुए किनारे को 'पुलिन' कहते हैं। जम्बाल, पङ्क और कर्दम–ये कीचड़ के नाम हैं। तालाब या नदी आदि के भर जाने पर जो अधिक जल बहने लगता है, उसको 'जलोच्छ्रास' और 'परीवाह' कहते हैं सूखी हुई नदी आदि के अन्दर जो गहरे गड्ढे में बचा हुआ जल रहता है, उसका नाम 'कूपक' और 'विदारक' है। नदी पार करने के लिये जो उतराई या खेवा दिया जाता है, उस आतर एवं तरपण्य कहते हैं। काठ की बनी हुई बाल्टी या जल रखने के पात्र का नाम द्रोणी है। इससे नाव का पानी बाहर निकालते हैं। मैले जल को 'कलुष' और 'आविल', साफ पानी को 'अच्छ' और 'प्रसन्न' तथा गहरे जल को 'गम्भीर' और 'अगाध' कहते हैं। दाश और कैवर्त–ये मल्लाह के नाम हैं। शम्बूक और जलशुक्ति–ये सीप के वाचक हैं। सौगन्धिक और कह्लार–ये श्वेत कमल के वाचक हैं।

नील कमल को इन्दीवर कहते हैं। उत्पल और कुवलय–ये कमल और कुमुद आदि के सामान्य नाम हैं। श्वेत उत्पल को कुमुद तरफ कैरव कहते हैं। मुकुद की जड़ का नाम शालूक (सेरुकी) है। पद्म, तामरस और कञ्ज–ये कमल के पर्याय हैं। नील उत्पल का नाम कुवलय और रक्त उत्पल का नाम कोकनद बतलाया गया है। पद्मकंद अर्थात् कमल की जड़ का नाम करहाट और शिफाकंद है। कमल के केसर को किञ्जल्क और केसर कहते हैं। ये दोनों शब्द स्त्रीलिङ्ग के सिवा अन्य लिङ्गों में प्रयुक्त होते हैं। स्त्रीलिङ्ग खनिशब्द और आकार–ये खान के वाचक हैं।

करहाटः शिफा कन्दः किंजल्कः केशरोऽस्त्रियाम्। खनिः स्त्रियामाकरः स्यात्पादाः प्रत्यन्तपर्वताः॥९४॥
उपत्यकाऽद्रेरासन्ना भूमिरूर्ध्वमधित्यका। स्वर्गपातालवर्गाद्या उक्ता नानार्थकाञ्शृणु॥९५॥

॥इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते स्वर्गपातालादिवर्गकथनं नाम षष्ट्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः॥३६०॥

अथैकषष्ट्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः

अव्ययवर्गः

अग्निरुवाच

आङीषदर्थेऽभिव्याप्तौ सीमार्थे धातुयोगजे। आ प्रगृह्यः स्मृतौ वाक्येऽप्यास्तु स्यात्कोपपीडयोः॥१॥
पापकुत्सेषदर्थे कु धिङ्निर्भर्त्सननिन्दयोः। चान्वाचयसमाहारेतरेतरसमुच्चये॥२॥
स्वस्त्याशीः क्षेमपुण्यादौ प्रकर्षे लङ्घनेऽप्यति। स्वित्प्रश्ने च वितर्के च तु स्याद्भेदेऽवधारणे॥३॥
सकृत्सहैकवारे स्यादाराद्दूरसमीपयोः। प्रतीच्यां चरमे पश्चादुताप्यर्थविकल्पयोः॥४॥

बड़े-बड़े पर्वतों के आसपास जो छोटे-छोटे पर्वत होते हैं, उनको पाद और प्रत्यन्तपर्वत कहते हैं। पर्वत के सन्निकट की नीची भूमि (तराई) को अपत्य का तथा पहाड़ के ऊपर की जमीन को अधित्य का कहते हैं। इस तरह मैंने स्वर्ग और पाताल आदि वर्गों का वर्णन किया। अधुना अनेक अर्थ वाले शब्दों को श्रवण कीजिये॥८६-९५॥

॥इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णाद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी तीन सौ सड़सठवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ॥३६०॥

अध्याय-३६१

अव्यय-वर्ग

श्रीअग्नि देव ने कहा कि-वसिष्ठ जी! 'आङ्' अव्यय ईषत् (स्वल्प), अभिव्याप्ति तथा मर्यादा (सीमा) अर्थ में प्रयुक्त होता है। साथ ही धातु से उसका संयोग होने पर जो विभिन्न अर्थ प्रकाशित होते हैं, उन सभी अर्थों में उसका प्रयोग समझना चाहिये। 'आ' प्रगृह्यसंज्ञक अव्यय हैं। इसका वाक्य और स्मरण अर्थ में प्रयोग होता है। 'आः' अव्यय कोप और पीड़ा का भाव द्योति करने के लिये प्रयुक्त होता है। 'कु' पाप, कुत्सा (घृणा) और ईषत् अर्थ में तथा 'धिक्' फटकार और निन्दा के अर्थ में आता है। 'च' अव्यय का प्रयोग समुच्चय, समाहार अर्थ में होता है। अन्वाचय, इतरेतरयोग और 'स्वस्ति' आशीर्वाद, क्षेम और पुण्य आदि के अर्थ में तथा 'अति' अधिकता एवं उल्लङ्घन के अर्थ में आता है। 'स्वित्' प्रश्न और वितर्क का भाव व्यक्त करने तथा 'तु' भेद और निश्चय के अर्थ में प्रयुक्त होता है। 'सकृत' का एक ही साथ और एक बार के अर्थ में तथा 'आरात्' का दूर और सन्निकट के अर्थ में प्रयोग होता है।

'पश्चात्' अव्यय पश्चिम दिशा और पीछे के अर्थ में तथा 'उत' शब्द 'अपि' के अर्थ (समुच्चय) और प्रश्न

पुनः सदार्थयोः शश्वत्साक्षात्प्रत्यक्षतुल्ययोः। खेदानुकम्पासंतोषविस्मयामन्त्रणे वत॥५॥
हन्त हर्षेऽनुकम्पायां वाक्यारम्भविषादयोः। प्रति प्रतिनिधौ वीप्सालक्षणादौ प्रयोगतः॥६॥
इति हेतुप्रकरणप्रकाशादिसमाप्तिषु। प्राच्यां पुरस्तात्प्रथमे पुरार्थेऽग्रत इत्यपि॥७॥
यावत्तावच्च साकल्येऽवधौ मानेऽवधारणे। मङ्गलानन्तरारम्भप्रश्नकात्स्न्र्येष्वथो अथ॥८॥
वृथा निरर्थकाविध्योर्नानाऽनेकोभयार्थयोः। नु पृच्छायां विकल्पे च पश्चात्सादृश्ययोरनु॥९॥
प्रश्नावधारणानुज्ञानुनयामन्त्रणे ननु। गर्हा समुच्चयप्रश्नशङ्कासम्भावनास्वपि॥१०॥
उपमायां विकल्पे वा सामि त्वर्धे जुगुप्सिते। अमा सह समीपे च कं वारिणि च मूर्धनि॥११॥
इवेत्थमर्थयोरेवं नूनं तर्केऽर्थनिश्चये। तूष्णीमर्थे सुखे जोषं किं पृच्छायां जुगुप्सने॥१२॥
नाम प्राकाश्यसंभाव्यक्रोधोपगमकुत्सने। अलं भूषणपर्याप्तिशक्तिवारणवाचकम्॥१३॥
हूं वितर्के परिप्रश्ने समयान्तिकमध्ययोः। पुनरप्रथमे भेदे निर्निश्चयनिषेधयोः॥१४॥
स्यात्प्रबन्धे चिरातीते निकटागामिके पुरा। उरर्यूरी चोररी च विस्तारेऽङ्गीकृतौ त्रयम्॥१५॥
स्वर्गे परे च लोके स्ववार्ता संभाव्ययोः किल। निषेधवाक्यालंकारे जिज्ञासावसरे खलु॥१६॥

में एवं विकल्प अर्थ में आता है। 'शश्वत्' पुनः और सदा के अर्थ में तथा 'साक्षात्' प्रत्यक्ष एवं तुल्य के अर्थ में प्रयुक्त होता है। 'बत' अव्यय का प्रयोग खेद, दया, संतोष, विस्मय और सम्बोधन का भाव व्यक्त करने में होता है। 'हन्त' पद हर्ष, अनुकम्पा, वाक्य के प्रारम्भ और विषाद के अर्थ में आता है। 'प्रति' का प्रतिनिधि, वीप्सा एवं लक्षण आदि के अर्थ में प्रयोग किया जाता है। 'इति' शब्द हेतु, प्रकरण, प्रकाश आदि और समाप्ति के अर्थ में प्रयुक्त होता है। 'पुरस्तात्' पद पूर्व दिशा, प्रथम और पुरा (प्राचीन काल) के अर्थ में आता है। 'अग्रतः' (आगे) के अर्थ में भी इसका प्रयोग होता है। 'यावत्' और 'तावत्' पद समग्र, अवधि (सीमा), माप और अवधारण के अर्थ में आते हैं। 'अथो' एवं 'अथ' शब्द का प्रयोग मंगल, अनन्तर, प्रारम्भ, प्रश्न और समग्रता के अर्थ में होता है।

'वृथा' शब्द निरर्थक और विविधि अर्थ का द्योतक है। 'नाना' शब्द अनेक और उभय अर्थ में आता है। 'नु' प्रश्न और विकल्प में तथा 'अनु' पश्चात् एवं सादृश्य के अर्थ में प्रयुक्त होता है। 'ननु' शब्द प्रश्न, निश्चय, अनुज्ञा, अनुनय और सम्बोधन में तथा 'अपि' शब्द निन्दा, समुच्चय, प्रश्न, शंका तथा सम्भावना में प्रयुक्त होता है। 'वा' शब्द उपमा और विकल्प में तथा 'सामि' पद आधे एवं निन्दा के अर्थ में आता है। 'अमा' शब्द साथ एवं सन्निकट का तथा 'कम्' जल और मस्तक का बोध कराने वाला है। 'एमव्' पद इव और इत्थं के अर्थ में 'नूनम्' तर्क तथा वस्तु के निश्चय करने में प्रयुक्त होता है। 'जोषम्' का अर्थ है मौन और सुख। 'किम्' अव्यय प्रश्न और निन्दा के अर्थ में आता है। 'नाम' पद प्राकाश्य (प्रकाशित होने), सम्भावना, क्रोध, स्वीकार तथा निन्दा अर्थ में प्रयुक्त होता है। 'अलम्' शब्द भूषण, पर्याप्ति, सामर्थ्य तथा निवारण का वाचक है। 'हुम्' वितर्क और प्रश्न अर्थ में तथा 'समय' सन्निकट और मध्य के अर्थ में आता है। 'पुनर्' अव्यय प्रथम को छोड़कर द्वितीय, तृतीय आदि जितनी बार कोई कार्य हो, उन सबके लिये प्रयुक्त होता है। साथ ही भेद-अर्थ में भी इसका प्रयोग देखा जाता है।

'निर्' निश्चय और निषेध के अर्थ में आता है। 'पुरा' शब्द बहुत पहले की बीती हुई तथा सन्निकट भविष्य में आने वाली बात को व्यक्त करने के लिये प्रयुक्त होता है। 'उररी', 'ऊरी', 'ऊररी'—ये तीन अव्यय विस्तार और अङ्गीकार के अर्थ में आते हैं। 'स्वर्' अव्यय स्वर्ग और परलोक का वाचक है। 'किल' का प्रयोग वार्ता और सम्भावना

समीपोभयतः शीघ्रसाकल्याभिमुखेऽभितः। नामप्रकाशयोः प्रादुर्मिथोऽन्योन्यं रहस्यपि॥१७॥
तिरोऽन्तर्धौ तिर्यगर्थे हा विषादशुगर्तिषु। अहहेत्यद्भुते खेदे हि हेताववधारणे॥१८॥
चिराय चिररात्राय चिरस्यार्था (द्या) श्चिरार्थकाः। मुहुः पुनः पुनः शश्वदभीक्ष्णमसकृत्समाः॥१९॥
द्राग्झटित्यञ्जसाऽह्नाय सपदि द्राङ्मङ्क्षु द्रुते। बलवत्सुष्ठु किमुत विकल्पे किं किमूत च॥२०॥
तु हि च स्म ह वै पादपूरणे पूजनेऽप्यति। दिवाऽह्नीत्थ दोषा च नक्तं च रजनाविति॥२१॥
तिर्यगर्थे साचि तिरोऽप्यथ संबोधनार्थकाः। स्युः प्याट् पाडङ्ग हे है भोः समया निकषा हिरुक्॥२२॥
अतर्किते तु सहसा स्यात्पुरः पुरतोऽग्रतः। स्वाहा देवहविर्दाने श्रौषड्वौषड्वषट्स्वधा॥२३॥
किञ्चिदीषन्मनागल्पे प्रेत्यामुत्र भवान्तरे। यथा तथा चैव साम्ये अहो हो इति विस्मये॥२४॥

के अर्थ में आता है। मना करने, वाक्य को सजाने तथा जिज्ञासा के अवसर पर 'खलु' का प्रयोग होता है। 'अभितस्' अव्यय सन्निकट, दोनों तरफ, शीघ्र, सम्पूर्ण तथा सम्मुख अर्थ का बोध कराता है। 'प्रादुस्' शब्द नाम अव्यय के अर्थ में तथा व्यक्त या प्रकट होने में प्रयुक्त होता है। 'मिथस्' शब्द परस्पर तथा एकान्त का वाचक है। 'तिरस्' शब्द अन्तर्धान होने तथा तिरछे चलने के अर्थ में आता है। 'हा' पद विषाद, शोक और पीड़ा को व्यक्त करने वाला है। 'अहह' अथवा 'अहहा' उद्भुत एवं खेद के अर्थ में तथा हेतु और निश्चय अर्थ में प्रयुक्त होता है॥१-१८॥

चिराय, चिररात्राय और चिरस्य इत्यादि अव्यय चिरकाल के बोधक हैं। मुहुः, पुनः-पुनः शश्वत्, अभीक्ष्य और असकृत्–ये सभी अव्यय समान अर्थ के वाचक हैं–इन सभी का बारंबार के अर्थ में प्रयोग होता है। स्राक्, झटिति, अञ्जसा, अह्नाय, सपदि, द्राक् और मङ्क्षु–ये शीघ्रता के अर्थ में आते हैं। बलवत् और सुष्ठु–ये दोनों शब्द अतिशय तथा शोभन अर्थ के वाचक हैं। किमुत, किम् और किम्भूत–ये विकल्प का बोध कराने वाले हैं। तु, हि, च, स्म, ह, वै–ये पादपूर्ति के लिये प्रयुक्त होते हैं। अतिका प्रयोग पूजन के अर्थ में भी आता है। दिवा शब्द दिन का वाचक है तथा दोषा और नक्तम् शब्द रात्रि के अर्थ में आते हैं।

साचि और तिरस् पद तिर्यक् (तिरछे) अर्थ में प्रयुक्त होते हैं। प्याट्, पाट्, अङ्ग, है, है, भोः–ये सभी शब्द सम्बोधन के अर्थ में आते हैं। समया, निकषा और हिरुक्–ये तीनों अव्यय सन्निकट अर्थ के वाचक हैं। सहसा अतर्कित अर्थ में आता है। (अर्थात् जिसके बारे में कोई सम्भावना न हो, ऐसी वस्तु जिस समय एकाएक सामने उपस्थित होती है तो उसको सहसा उपस्थित हुई करते हैं। ऐसे ही स्थलों में सहसा का प्रयोग होता है।) पुरः, पुरतः और अग्रतः–ये सामने के अर्थ में आते हैं। स्वाहा पद देवताओं को हविष्य समर्पित करने के अर्थ में आता है। 'श्रौषट्' और 'वौषट्' का भी यही अर्थ है। 'वषट्' शब्द इन्द्र का और स्वधा शब्द पितरों का भाग समर्पित करने के लिये प्रयुक्त होता है। किंचित्, ईषत् और मनाक् –ये अल्प अर्थ के वाचक हैं। प्रेत्य और अमुत्र–ये दोनों जन्मान्तर के अर्थ में आते हैं। यथा और तथा समता के एवं अहो और हो–ये आश्चर्य के बोधक हैं।

तूष्णीम् और तूष्णीकम् पद मौन अर्थ में, सद्यः और सपदि शब्द तत्काल अर्थ में, दिष्ट्या और समुपजोषम्–ये आनन्द अर्थ में तथा अन्तरा शब्द भीतर के अर्थ में आता है। अन्तरेण पद भी मध्य अर्थ का वाचक है। प्रसह्य शब्द हठ का बोध कराने वाला है। साम्प्रतम् और स्थाने शब्द उचित के अर्थ में तथा 'अभीक्ष्णम्' और शश्वत् पद सर्वदा–निरन्तर के अर्थ में प्रयुक्त होते हैं। नहि, अ, नो और न–ये अभाव अर्थ के बोधक हैं। मास्म, मा

मौने तु तूष्णीं तूष्णीकं सद्यः सपदि तत्क्षणे। दिष्ट्या समुपजोषं चेत्यानन्देऽथान्तरेऽन्तरा॥२५॥
अन्तरेण च मध्ये स्युः प्रसह्य तु हठार्थकम्। युक्ते द्वे सांप्रतं स्थानेऽभीक्ष्णं शश्वदनारते॥२६॥
अभावे नह्य नो नापि मा स्म माऽलं च वारणे। पक्षान्तरे चेद्यदि च तत्त्वे त्वद्धाञ्जसा द्वयम्॥२७॥
प्राकाश्ये प्रादुराविः स्यादोमेवं परमं मते। समन्ततस्तु परितः सर्वतो विष्वगित्यपि॥२८॥
अकामानुमतौ काममसूयोपगमेऽस्तु च। ननु च स्याद्विरोधोक्तौ कच्चित्कामप्रवेदने॥२९॥
निःषमं दुःषमं गर्ह्ये यथास्वं तु यथायथम्। मृषा मिथ्या च वितथे यथार्थं तु यथातथम्॥३०॥
स्युरेवं तु पुनर्वै वेत्यवधारणवाचकाः। प्रागतीतार्थकं नूनमवश्यं निश्चये द्वयम्॥३१॥
संवद्वर्षेऽवरे त्वर्वागामेवं स्वयमात्मना। अल्पे नीचैर्महत्युच्चैः प्रायो भूम्न्यद्रुते शनैः॥३२॥
सना नित्ये बहिर्बाह्ये स्मातीतेऽस्तमदर्शने। अस्ति सत्त्वे रुषोक्तावू प्रश्नेऽ(चा)नुनये त्वयि॥३३॥
हूं तर्के स्यादुषा रात्रेरवसाने नमो नतौ। पुनरर्थेऽङ्ग निन्दायां दुष्ठु सुष्ठु प्रशंसने॥३४॥

और अलम्–इनका निषेध के अर्थ में प्रयोग होता है। चेत् और यदि पद दूसरा पद उपस्थित करने के लिये प्रयुक्त होते हैं तथा अद्धा और अञ्जसा–ये दोनों पद वास्तव में अर्थ में आते हैं। प्रादुस् और आविर्–इनका अर्थ है प्रकट होना। ओम्, एवम् और परमम्–ये शब्द स्वीकृति या अनुमति देने के अर्थ में प्रयुक्त होते हैं। समन्ततः, परितः, सर्वतः और विष्वक्–इनका अर्थ है चारों तरफ। 'कामम्' शब्द अकाम अनुमति के अर्थ में आता है। 'अस्तु' पद असूया (दोषदृष्टि) तथा स्वीकृति का भाव सूचित करने वाला है। किसी बात के विरोध में कुछ कहना हो, तो यहाँ 'ननु' का प्रयोग होता है।

'कच्चित्' शब्द किसी की अभीष्ट वस्तु की जिज्ञासा के लिये प्रश्न करने के अवसर पर प्रयुक्त होता है। निःषम् और दुःषमम्–ये दोनों पद निन्द्य अर्थ का बोध कराते हैं। यथास्वम् और यथायथम् पद यथायोग्य अर्थ के वाचक हैं। मृषा एवं मिथ्या शब्द असत्य के और यथातथम् पद सत्य के अर्थ में आता है। एवम्, तु, पुनः, वै और वा–ये निश्चय अर्थ के वाचक हैं। 'प्राक्' शब्दी बीती बात का बोध कराने वाला है। नूनम् और अवश्यम्–ये दो अव्यय निश्चय के अर्थ में प्रयुक्त होते हैं। 'संवत्' शब्द वर्ष का, 'अर्वाक्' शब्द पश्चात् काल का, आम् और एवम् शब्द हामी भरने तथा स्वयम् पद अपने से–इस हामी भरने का तथा स्वयम् पद अपने से –इस अर्थ का बोध कराने वाला है। 'नीचैस्' अल्प अर्थ में, 'उच्चैस्' महान् अथ में, 'प्रायस्' बाहुल्य अर्थ में तथा 'शनैस्' मन्द अर्थ में आता है।

'सना' शब्द नित्य का, 'बहिस्' शब्द बाह्य का, 'स्म' शब्द भूतकाल का, 'अस्तम्' शब्द अदृश्य होने का, 'अस्ति' शब्द सत्ताका, 'ऊ' क्रोधभरी उक्ति का तथा 'अपि' शब्द प्रश्न तथा अनुननय का बोध है। 'उम्' तर्क का, 'उषा' रात्रि के अन्त का, 'नमस्' नमस्कार का, 'अंग' पुन-अर्थ का, 'दुष्ठु' निन्दा का तथा 'सुष्ठु' शब्द प्रशंसा का वाचक है। 'सायम्' शब्द संख्याकाल का, 'प्रगे' और 'प्रातर्' शब्द प्रभातकाल का, 'निकषा' पद सन्निकट का, 'ऐषमः' शब्द वर्तमान वर्ष का, 'परुत्' शब्द गत वर्ष का और 'परारि' शब्द उसके भी पहले के गत वर्ष का बोध कराने वाला है। 'आज के दिन' इस अथ में 'अद्य' का प्रयोग देखा जाता है। पूर्व, उत्तर, अपर, अधर, अन्य, अन्यतर और इतर शब्द से 'पूर्वेऽह्नि' (पहले दिन) आदि के अर्थ में पूर्वेद्युः' आदि अव्ययपदद निष्पन्न होते हैं। 'उभयद्युः' आदि अव्ययपद निष्पन्न होते हैं। 'उभयद्युः' और 'उभयुद्युः'–ये 'दोनों दिन' के अर्थ में आते हैं।

सायं साये प्रगे प्रातः प्रभाते निकषाऽन्तिके। परुत्परार्यैषमोऽब्दे पूर्वे पूर्वतरे यति।।३५।।
अद्यात्राह्नयथ पूर्वेऽह्नीत्यादौ पूर्वोत्तरापरात्। तथाऽधरान्यान्यतरेतरात्पूर्वेद्युरादयः।।३६।।
उभयद्युश्चोभयेद्युः परेत्वह्नि परेद्यवि। ह्यो गतेऽनागतेऽ(ह्न्य) ह्नि श्वः परश्वः परेऽहनि।।३७।।
तदा तदानीं युगपदे कदा सर्वदा सदा। एतर्हि संप्रतीदानीमधुना सांप्रतं तथा।।३८।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते अव्ययवर्गकथनं नामैकषष्ट्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः।।३६१।।

'परस्मिन्नहनि' (दूसरे दिन) के अर्थ में 'परेद्यवि' का प्रयोग होता है। 'ह्यस्' बीते हुए दिन के अर्थ में, 'श्वस्' आगामी दिन के अर्थ में तथा 'परश्वस्' शब्द तत्पश्चात् आने वाले दिन के अर्थ में प्रयुक्त होता है। 'तदा' 'तदानीम्' शब्द 'तस्मिन् काले' (उस समय) के अर्थ में आते हैं। 'युगपत्' और 'एकदा' का अर्थ है–एक ही समय में। 'सर्वदा' और 'सदा'–ये हमेशा के अर्थ में आते हैं। एतर्हि, सम्प्रति, इदानीम्, अधुना तथा साम्प्रतम्–इन पदों का प्रयोग 'इस समय' के अर्थ में होता है।।१९-३८।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी तीन सौ एकसठवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।३६१।।

❖❖❖

अथ द्विषष्ट्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः

नानार्थवर्गः

अग्निरुवाच

आकाशे त्रिदिवो नाको लोकस्तु भुवने जने। पद्ये यशसि च श्लोकः शरे खड्गे च सायकः।।१।।
आनकः पटहो भेरी कलङ्कोऽङ्कापवादयोः। मारुते वेधसि ब्रध्ने पुंसि कः कं शिरोम्बुनो।।२।।
स्यात्पुलाकस्तुच्छधान्ये संक्षेपे भक्तिसिक्थके। महेन्द्रगुग्गुलूलूकव्यालग्राहिषु कौशिकः।।३।।
शालावृकौ कपिश्वानौ मानं स्यान्मितिसाधनम्। सर्गः स्वभावनिर्मोक्षनिश्चयाध्यायसृष्टिषु।।४।।
योगः संनहनोपायध्यानसंगतियुक्तिषु। भोगः सुखे स्त्र्यादिभृतावब्जौ शङ्खनिशाकरौ।।५।।
काकेभगण्डौ करटौ दुश्चर्मा शिपिविष्टकः। रिष्टं क्षेमाशुभाभावेष्वरिष्टे तु शुभाशुभे।।६।।
व्युष्टिः काले समृद्धौ च दृष्टिर्ज्ञानेऽक्ष्णि दर्शने। निष्ठा निष्पत्तिनाशान्ताः काष्ठोत्कर्षे स्थितौ दिशि।।७।।
भूगोवाचस्त्वडा इलाः प्रगाढं भृशकृच्छ्रयोः। भृशप्रतिज्ञयोर्बाढं शक्तस्थूलौ दृढौ त्रिषु।।८।।
विन्यस्तसंहतौ व्यूढौ कृष्णो व्यासेऽर्जुने हरौ। पणौ द्यूतादिषूत्सृष्टे भृतौ मूल्ये धनेऽपि च।।९।।

अध्याय-३६२

नानार्थ-वर्ग

श्रीअग्निदेव ने कहा कि–'नाक' शब्द आकाश और स्वर्ग के अर्थ में तथा 'श्लोक' शब्द संसार, जन-समुदाय के अर्थ में आता है। 'श्लोक' शब्द अनुष्टुप् छन्द और सुयश अर्थ में तथा 'सायक' शब्द बाण और तलवार के अर्थ में प्रयुक्त होता है। आनक, पटह और भेरी–ये एक दूसरे के पर्याय हैं। 'कलङ्क' शब्द चिह्न तथा अपवाद का वाचक है। 'क' शब्द यदि पुंल्लिंग में हो, तो वायु, ब्रह्मा और सूर्य का तथा नपुंसक में हो, तो मस्तक और जल का बोधक होता है। 'पुलाक' शब्द कदन्न, संक्षेप तथा भात के पिण्ड अर्थ में आता है। 'कौशिक' शब्द इन्द्र, गुग्गुल, उल्लू तथा साँप पकड़ने वाले पुरुषों के अर्थ में प्रयुक्त होता है। बंदरों और कुत्तों को 'शालावृक' कहते हैं। माप के साधन का नाम 'मान' है। 'सर्ग' शब्द स्वभाव, त्याग, निश्चय, अध्ययन और सृष्टि के अर्थ में उपलब्ध होता है। 'योग' शब्द कवचधारण, साम आदि उपायों के प्रयोग, ध्यान, संगति (संयोग) और युक्ति अर्थ का बोधक होता है 'भोग' शब्द सुख और स्त्री (वेश्या या दासी) आदि को उपभोग के बदले दिये जाने वाले धन का वाचक है। 'अब्ज' शब्द शङ्ख और चन्द्रमा के अर्थ में भी आता है। 'करट' शब्द हाथी के कपोल और कौवे का वाचक है। 'शिपिविष्ट' शब्द बुरे चमड़े वाले (कोढ़ी) मनुष्य बोध कराने वाला है। 'रिष्ट' शब्द क्षेम, अशुभ तथा अभाव के अर्थ में आता है। 'अरिष्ट' शब्द शुभ और अशुभ दोनों अर्थों का वाचक है। 'व्युष्टि' शब्द प्रभात काल और समृद्धि के अर्थ में तथा 'दृष्टि' शब्द ज्ञान, नेत्र और दर्शन के अर्थ में आता है। 'निष्ठा' का अर्थ है–निष्पत्ति (सिद्धि), विनाश और अन्त तथा 'काष्ठा' का उत्कर्ष, स्थिति तथा दिशा अर्थ में प्रयोग होता है। 'इडा' और 'इला' शब्द अत्यन्त एवं कठिनाई का बोध कराने वाला है। 'वाढम्' पद अत्यन्त और प्रतिज्ञा के अर्थ में आता है। 'दृढ' शब्द सक्षम एवं स्थूल का वाचक है तथा इसका तीनों लिंगों में प्रयोग होता है। 'व्यूढ' का अर्थ है–विन्यस्त (सिलसिलेवार रखा हुआ या व्यूह के आकार में खड़ा किया हुआ) तथा संहत (संगठित)।

मौर्व्यां द्रव्याश्रिते सत्त्वशुक्लसंध्यादिके गुणः। श्रेष्ठेऽधिपे ग्रामणीः स्याज्जुगुप्साकरुणे घृणे।।१०।।
तृष्णा स्पृहापिपासे द्वे विपणिः स्याद्वणिक्पथे। विषाभिमरलोहेष तीक्ष्णं क्लीबे खरे त्रिषु।।११।।
प्रमाणं हेतुमर्यादाशास्त्रेयत्ताप्रमातृषु। करणं क्षेत्रगात्रादावीरिणं शून्यमूषरम्।।१२।।
यन्ता हस्तिपके सूते वह्निज्वाले च हेतयः। श्रुतं शास्त्रावभृ (धृ) तयोर्युगपर्याप्तयोः कृतम्।।१३।।
ख्याते हृष्टे प्रतीतोऽभिजातस्तु कुलजे बुधे। विविक्तौ पूजविजनौ मूर्च्छितौ मूढसोच्छ्रयौ।।१४।।
अर्थोऽभिधेयरैवस्तुप्रयोजननिवृत्तिषु। निदानागमयोस्तीर्थमृषिजुष्टजले गुरौ।।१५।।
प्राधान्ये राजलिङ्गे च वृषाङ्गे ककुदोऽस्त्रियाम्। स्त्री संविज्ज्ञानसंभाषाक्रियाकाराजिनामसु।।१६।।
धर्मे रहस्युपनिषत्स्यादृतौ वत्सरे शरत्। पदं व्यवसितित्राणस्थानलक्ष्माङ्घ्रिवस्तुषु।।१७।।
त्रिष्विष्टमधुरौ स्वादू मृदू चातीक्ष्णकोमलौ। सत्ये साधौ विद्यमाने प्रशस्तेऽभ्यर्हिते च सत्।।१८।।
विधिर्विधाने दैवेऽपि प्रणिधिः प्रार्थने चरे। वधूर्जाया स्नुषा स्त्री च सुधा लेपोऽमृतं स्नुही।।१९।।
स्पृहा संप्रत्ययः श्रद्धा पंडितम्मन्यगर्वितौ। ब्रह्मबन्धुरधिक्षेपे भानू रश्मिदिवाकरौ।।२०।।
ग्रावाणौ शैलपाषाणौ मूर्खनीचौ पृथग्जनौ। तरुशैलौ शिखरिणौ तनुस्त्वग्देहयोरपि।।२१।।

'कृष्ण' शब्द व्यास, अर्जुन तथा भगवान् श्रीहरि विष्णु के अर्थ में आता है। 'पण' शब्द जुआ आदि में दाँवपर लगाये हुए द्रव्य, कीमत और धन के अर्थ में भी प्रयुक्त होता है। 'गुण' शब्द धनुष की प्रत्यञ्चा का, द्रव्यों का आश्रय लेकर हरने वाले रूप-रस आदि गुणों का, सत्त्व, रज और तम का, शुक्ल, नील आदि वर्णों का तथा संधि कराने वाला है। 'ग्रामणी' शब्द श्रेष्ठ (मुखिया) तथा गाँव के स्वामी का वाचक है। 'घृणा' शब्द जुगुप्सा और दया-दोनों अर्थों में आता है। 'तृष्णा' का अर्थ है-इच्छा और प्यास। 'विपणि' शब्द बाजार या बनिये के दूकान के अर्थ में आता है। 'तीक्ष्ण' शब्द नपुंसकलिंग में प्रयुक्त होने पर विष, युद्ध तथा लोहे का वाचक होता है और प्रखर या प्रचण्ड के अर्थ में उसका तीनों लिंगों में प्रयोग होता है। 'प्रमाण' शब्द कारण, सीमा, शास्त्र, इयत्ता (निश्चित माप) तथा प्रामाणिक पुरुष के अर्थ में आता है। 'करुण' शब्द क्षेत्र और गात्र का तथा 'ईरिण' शब्द शून्य (निर्जन) एवं ऊसर भूमि का वाचक है।।१-१२।।

'यन्ता' पद हाथीवान और सारथि का वाचक है। 'हेति' शब्द का प्रयोग आग की ज्वाला के अर्थ में होता है। 'श्रुत' शब्द शास्त्र एवं अवधारण (निश्चय) का तथा 'कृत' शब्द सत्ययुग और पर्याप्त अर्थ का बोधक है। 'प्रतीत' शब्द विख्यात तथा दृष्ट के अर्थ में और 'अभिजात' शब्द कुलीन एवं विद्वान् के अर्थ में आता है। 'विविक्त' शब्द पवित्र और एकान्त का तथा 'मूर्च्छित' शब्द मूढ़ (संज्ञाशून्य) और फैले हुए या उन्नति को प्राप्त हुए का बोध कराने वाला है। 'अर्थ' शब्द अभिधेय (शब्द से निकलने वाले तात्पर्य), धन, वस्तु, प्रयोजन और निवृत्ति का वाचक है। 'तीर्थ' शब्द निदान (उपाय), आगम (शास्त्र), महर्षियों द्वारा सेवित जल तथा गुरु के अर्थ में प्रयुक्त होता है। 'ककुद्' शब्द स्त्रीलिङ्ग के सिवा अन्य लिङ्गों में प्रयुक्त होता है। यह प्रधानता राजचिह्न तथा बैल के अंगविशेष का बोध कराने वाला है।

'संविद्' शब्द स्त्रीलिंग है। इसका ज्ञान, सम्भाषण, क्रिया के नियम, युद्ध और नाम अर्थ में प्रयोग होता है। 'उपनिषद्' शब्द धर्म और रहस्य के अर्थ में तथा 'शरद्' शब्द ऋतु और वर्ष के अर्थ में आता है। 'पद' ब्द व्यवसाय (निश्चय), रक्षा, स्थान, चिह्न, चरण और वस्तु का वाचक है। 'स्वादु' शब्द प्रिय एवं मधुर अर्थ का तथा 'मृदु' शब्द

आत्मा यत्नो धृतिर्बुद्धिः स्वभावो ब्रह्म वर्ष्म च। उत्थानं पौरुषे तन्त्रे व्युत्थानं प्रतिरोधने॥२२॥
निर्यातनं वैरशुद्धो दाने न्यासार्पणेऽपि च। व्यसनं विपदि भ्रंशे दोषे कामजकोपजे॥२३॥
मृगयाऽक्षो दिवा स्वप्नः परिवादः स्त्रियो मदः। तौर्यत्रिकं वृथाट्या च कामजो दशको गणः॥२४॥
पैशू (शु) न्यं साहसं द्रोह ईर्ष्यासूयार्थदूषणम्। वाग्दण्डश्चैव पारुष्यं क्रोधजोऽपि गणोऽष्टकः॥२५॥
अकर्मगुह्ये कौपीनं मैथुनं संगतो रते। प्रधानं परमार्था धीः प्रज्ञानं बुद्धिचिह्नयोः॥२६॥
क्रन्दने रोदनाह्वाने वर्ष्म देहप्रमाणयोः। आराधनं साधने स्यादवाप्तौ तोषणेऽपि च॥२७॥
रत्नं स्वजातिश्रेष्ठेऽपि लक्ष्म चिह्नप्रधानयोः। कलापो भूषणे बर्हे तूणीरे संहतेऽपि च॥२८॥
तल्पं शय्याट्टदारेषु डिम्भौ तु शिशुबालिशौ। स्तम्भौ स्थूणाजडीभावौ सभ्ये संसदि वै सभा॥२९॥

तीखेपन से हीन एवं कोमल अर्थ का बोध कराने वाला है। 'स्वादु' और 'मृदु'—दोनों शब्द तीनों ही लिङ्गों में प्रयुक्त होते हैं। 'सत्' शब्द सत्य, साधु, विद्यमान, प्रशस्त तथा पूज्य अर्थ में उपलब्ध होता है। 'विधि' शब्द विधान और दैव का वाचक है। 'प्रणिधि' शब्द याचना और चर (दूत) के अर्थ में आता है। 'वधू' शब्द जाया, पतोहू तथा स्त्री का बोधक है। 'सुधा' शब्द अमृत, चूना तथा शहद के अर्थ में आता है। 'श्रद्धा' शब्द आदर, विश्वास एवं आकाङ्क्षा के अर्थ में प्रयुक्त होता है। 'समुन्नद्ध' शब्द अपने को पण्डित मानने वाले और घमंडी के अर्थ में आता है। 'ब्रह्मबन्धु' शब्द का प्रयोग ब्राह्मण की अवज्ञा में प्रयुक्त होता है। 'भानु' शब्द किरण और सूर्य—दोनों अर्थों में प्रयुक्त होता है।

'ग्रावन्' शब्द का अभिप्राय पहाड़ और पत्थर—दोनों से है। 'पृथग्जन' शब्द मूर्ख और नीच के अर्थ में आता है। 'शिखरिन्' शब्द का अर्थ वृक्ष और पर्वत तथा 'तनु' शब्द का अर्थ शरीर और त्वचा (छाल) है। 'आत्मन्' शब्द यत्न, धृति, बुद्धि, स्वभाव, ब्रह्म और शरीर के अर्थ में भी आता है। 'उत्थान' शब्द पुरुषार्थ और तन्त्र के तथा 'व्युत्थान' शब्द विरोध में खड़े होने के अर्थ का बोधक है।

'निर्यातन' शब्द वैर का बदला लेने, दान देने तथा धरोहर लौटाने के अर्थ में भी आता है। 'व्यसन' शब्द विपत्ति, अधः पतन तथा काम-क्रोध से उत्पन्न होने वाले दोषों का बोध कराने वाला है। शिकार, जुआ, दिन में सोना, दूसरों की निन्दा करना, स्त्रियों में आसक्त होना, मदिरा पीना, चाचना, गाना, बाजा बजाना तथा व्यर्थ घूमना—यह काम से उत्पन्न होने वाले दस दोषों का समुदाय है। चुगली, दुस्साहस, द्रोह, ईर्ष्या, दोषदर्शन, अर्थदूषण, वाणी की कठोरता तथा दण्ड की कठोरता—यह क्रोध से उत्पन्न होने वाले आठ दोषों का समूह है। 'कौपीन' शब्द नहीं करने योग्य खोटे कर्म तथा गुप्तस्थान का वाचक है। 'मैथुन' शब्द संगति तथा रति के अर्थ में आता है। 'प्रधान' कहते हैं—परमार्थबुद्धि को तथा 'प्रज्ञान' शब्द बुद्धि एवं चिह्न (पहचान) का वाचक है। 'क्रन्दन' शब्द रोने और पुकारने के अर्थ में आता है।

'वर्ष्मन्' शब्द देह और परिमाण का बोधक है। 'आराधन' शब्द साधन प्राप्ति तथा संतुष्ट करने के अर्थ में प्रयुक्त होता है। 'रत्न' शब्द का स्वजाति में श्रेष्ठ पुरुष के लिये भी प्रयोग होता है। 'लक्ष्मन्' शब्द चिह्न एवं प्रधान का बोध कराने वाला है। 'कलाप' शब्द आभूषण, मोरपंख, तरकस और संगठित के अर्थ में भी उपलब्ध होता है। 'तल्प' शब्द शय्या, अट्टालिका शब्द शिशु और मूर्ख के अर्थ में प्रयुक्त होता है। 'स्तम्भ' शब्द खम्भे तथा जडवत् निश्चेष्ट होने के अर्थ में आता है। 'सभा' शब्द समिति तथा सदस्यों का भी वाचक है॥१३-२९॥

किरणप्रग्रहौ रश्मी धर्माः पुण्ययमादयः। ललामं पुच्छपुण्ड्राश्वभूषाप्राधान्यकेतुषु॥३०॥
प्रत्ययोऽधीनशपथज्ञानविश्वासहेतुषु। समयाः शपथाचारकालसिद्धान्तसंविदः॥३१॥
अत्ययोऽतिक्रमे कृच्छ्रे सत्यं शपथतथ्ययोः। वीर्यं बलप्रभावौ च रूप्यं रूपे प्रशस्तके॥३२॥
दुरोदरो द्यूतकारे पणो (णे) द्यूते दुरोदरम्। महारण्ये दुर्गपथे कान्तारः पुंनपुंसकम्॥३३॥
यमानिलेन्द्रचन्द्रार्कविष्णुसिंहादिके हरिः। दरोऽस्त्रियां भये श्वभ्रे जठरः कठिनेऽपि च॥३४॥
उदारो दातृमहतोरितरस्त्वन्यनीचयोः। चूडा किरीटं केशाश्च संयतामौलयस्त्रयः॥३५॥
बलिः करोपहारादौ सैन्यस्थैर्यादिके बलम्। स्त्री कटीवस्त्रबन्धेऽपि नीवी परिपणेऽपि च॥३६॥
शुक्रले मूषिके श्रेष्ठे सुकृते वृषभे वृषः। द्यूताक्षे सारिफलकेऽप्याकर्षोऽथाक्षमिन्द्रिये॥३७॥
नाद्यूताङ्गे च कर्षे च व्यवहारे कलिद्रुमे। उष्णीषः स्यात्किरीटादौ कर्षूः कुल्याभिधायिनी॥३८॥
प्रत्यक्षेऽधिकृतेऽध्यक्षः सूर्यवह्नी विभावसू। शृङ्गारादौ विषे वीर्ये गुणे रागे द्रवे रसः॥३९॥

'रश्मि' शब्द किरण तथा रस्सी का वाचक है। 'धर्म' शब्द का प्रयोग पुण्य और यमराज आदि के लिये होता है। 'ललाम' शब्द पूँछ, पुण्ड्र (तिलक), घोड़ा, आभूषण, श्रेष्ठता तथा ध्वजा इत्यादि अर्थों में आता है। 'प्रत्यय' शब्द अधीन, शपथ, ज्ञान, विश्वास तथा हेतु के अर्थ में प्रयुक्त होता है। समय' शब्द का अर्थ है–शपथ, आचार, काल, सिद्धान्त और संविद् (करार)। 'अत्यय' अतिक्रमण (उल्लघन) और कठिनाई अर्थ में तथा 'सत्य' शब्द शपथ और सत्यभाषण के अर्थ में आता है। 'वीर्य' शब्द बल और प्रभाव का तथा 'रूप्य' शब्द परमसुन्दर रूप का वाचक है।

'दुरोदर' शब्द पुंल्लिंग होने पर जुआ खेलने वाले पुरुष और जुए में लगाये जाने वाले दाँव का बोध कराने वाला होता है तथा नपुंसकलिंग होने पर जुए के अर्थ में आता है। 'कान्तार' शब्द बहुत बड़े जंगल और दुर्गम मार्ग का वाचक है तथा पुँलिंग और नपुंसक–दोनों लिंगों में उसका प्रयोग होता है। 'हरि' शब्द यम, वायु, इन्द्र चन्द्रमा, सूर्य, विष्ण और सिंह आदि अनेकों अर्थों का वाचक है। 'दर' शब्द स्त्रीलिङ्ग को छोड़कर अन्य दा लिंगों में प्रयुक्त होता है। उसका अर्थ है–भय और खंदक। 'जठर' शब्द उदर एवं कठिन अर्थ का बोधक है। 'उदार' शब्द दाता और महान् पुरुष के अर्थ में आता है। 'इतर' शब्द अन्य और नीच का वाचक है। 'मौलि' शब्द के तीन अर्थ हैं–चूडा, किरीट और बँधे हुए केश। 'बलि' शब्द कर (टैक्स या लगान) तथा उपहार (भेंट आदि) के अर्थ में प्रयोग आता है।

'बल' शब्द सेना और स्थिरता आदि का बोधक है। 'बल' शब्द सेना और स्थिरता आदि का बोधक है। 'नीवी' शब्द स्त्री के कटिवस्त्र के बन्धनरूप अर्थ में तथ परिपण (पूँजी, मूलधन अथवा बंधक रखने) के अर्थ में आता है। 'वृष' शब्द शुक्रज (अधिक वीर्यवान्), चूहा, श्रेष्ठ पुरुष, पुण्य (धर्म) तथा बैल के अर्थ में प्रयुक्त होता है। 'आकर्ष' शब्द पासा तथा चौसर की बिछाँत के अर्थ में आता है। 'अक्ष' शब्द नपुंसकलिङ्ग होने पर पासा, कर्ष (सोलह मासे का एक माप), गाड़ी के पहिये, व्यवहार (आय-व्यय की चिन्ता) तरफ बहेड़े के वृक्ष के अर्थ में उपलब्ध होता है। 'उष्णीष' शब्द किरीट आदि के अर्थ में प्रयुक्त होता है। स्त्रीलिङ्ग 'कर्षू' शब्द कुल्या अर्थात् छोटी नदी का वाचक है। 'अध्यक्ष' शब्द प्रत्यक्ष (द्रष्टा) और अधिकारी के अर्थ में आता है। 'विभावसु' शब्द सूर्य और अग्नि का वाचक है।

'रस' शब्द विष, वीर्य, गुण, राग, द्रव तथा शृङ्गार आदि रसों का बोध कराने वाला है। 'वर्चस्' शब्द तेज

तेजः पुरीषयोर्वर्च आगः पापापराधयोः। छन्दः पद्येऽभिलाषे च साधीयान्साधुवाढयोः।।४०।।
व्यूहो वृन्देऽप्यहिर्वृत्रेऽप्यग्नीन्द्वर्कास्तमोनुदः।।४१।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते नानार्थवर्गनिरूपणं नाम द्विषष्ट्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः।।३६२।।

—✲✲✲—

अथ त्रिषष्ट्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः

भूमिवनौषध्यादिवर्गाः

अग्निरुवाच

वक्ष्ये भूपुराद्रिवनौषधिसिंहादिवर्गकान्। भूरनन्ता क्षमा धात्री क्ष्माऽपि कुः स्याद्धरित्र्यपि।।१।।
मृन्मृत्तिका प्रशस्ता तु मृत्स्ना मृत्सा च मृत्तिका। जगत्त्रिविष्टपं लोकं भुवनं जगती समा।।२।।
अयनं वर्त्ममार्गाध्वपन्थानः पदवी सृतिः। सरणिः पद्धतिः पद्या वर्तन्येकपदीति च।।३।।
पूः स्त्री पुरीनगर्यौ वा पत्तनं पुटभेदनम्। स्थानीयं निगमोऽन्यत्तु यन्मूलनगरात्पुरम्।।४।।

और पुरीष (मल) का तथा 'आगस्' शब्द पाप और अपराध का वाचक है। 'छन्दस्' शब्द पद्य और इच्छा के तथा 'साधीयस्' शब्द साधु (श्रेष्ठतम) और बाढ (निश्चय या हामी भरने) के अर्थ में आता है। 'व्यूह' शब्द समूह का वाचक है। 'अहि' शब्द वृत्रासुर के अर्थ में भी आता है। तथा 'तमोपह' शब्द अग्नि, चन्द्रमा एवं सूर्य का बोध कराने वाला है।।३०-४१।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी तीन सौ बासठवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।३६२।।

अध्याय-३६३

भूमि, वनौषधि आदि वर्ग

श्रीअग्निदेव ने कहा कि—अधुना मैं भूमि, पुर, पर्वत, वनौषधि तथा सिंह आदि वर्गों का वर्णन करने जा रहा हूँ। भू, अनन्ता, क्षमा, धात्री, क्ष्मा, कु तथा धरित्री—ये भूमि के नाम हैं। मृत् और मृत्तिका—ये मिट्टी का बोध कराने वाले हैं अच्छी मिट्टी को मृत्स्ना और मृत्सा कहते हैं। जगत्, त्रिविष्टप, लोक, भुवन और जगती—ये सब समानार्थ हैं। (अर्थात् ये सभी संसार के पर्यायवाची शब्द हैं।) अयन, वर्त्म (वर्त्मन्), मार्ग, अध्व (अध्वन्), पन्था) पथिन्), मार्ग, अध्व (अध्वन्), पन्था (पथिन्) पदवी, सृति, सरणि, पद्धति, पद्या, वर्तनी और एकपदी—ये मार्ग के वाचक हैं। (इनमें से पद्या और एकपदी शब्द पगडंडी के अर्थ में आते हैं।) पूः (स्त्रीलिङ्ग 'पुर' शब्द), पुरी, नगरी, पत्तन, पुटभेदन, स्थानीय और निगम—ये सात नगर के नाम हैं। मूल नगर (राजधानी) से भिन्न जो पुर होता है, उसको शाखा नगर कहते हैं। वेश्याओं के निवास स्थान का नाम वेश और वेश्याजनसमाश्रय है।

तच्छाखानगरं वेशो वेश्याजनसमाश्रयः। आपणस्तु निषद्यायां विपणिः पण्यवीथिका॥५॥
रथ्या प्रतोली विशिखा स्याच्चयो वप्रमस्त्रियाम्। प्राकारो वरणः शालः प्राचीरं (नं) प्रान्ततो वृतिः॥६॥
भित्तिः स्त्री कुड्यमेडूकं यदन्तर्न्यस्तकीकसम्। वासः कुटी द्वयोः शाला सभा संजवनं त्विदम्॥७॥
चतुःशालं मुनीनां तु पर्णशालोटजोऽस्त्रियाम्। चैत्यमायतनं तुल्ये वाजिशाला तु मन्दुरा॥८॥
हर्म्यादि धनिनां वासः प्रासादो देवभूभुजाम्। स्त्री द्वार्द्वारं प्रतीहारः स्याद्वितर्दिस्तु वेदिका॥९॥
कपोतपालिकायां तु विटङ्कं पुंनपुंसकम्। कपाटमररं तुल्ये निःश्रेणिस्त्वधिरोहि (ह) णी॥१०॥
संमार्जनी शोधनी स्यात्संकरोऽवकरस्तथा। अद्रिगोत्रगिरिग्रावा गहनं काननं वनम्॥११॥
आरामः स्यादुपवनं कृत्रिमं वनमेष (व) यत्। स्यादेतदेव प्रमदवनमन्तःपुरोचितम्॥१२॥
वीथ्यालिरावलिः पङ्क्तिश्रेणीलेखास्तु राजयः। वानस्पत्यः फलैः पुष्पात्तैरपुष्पाद्वनस्पतिः॥१३॥
ओषध्यः फलपाकान्ताः पलाशी द्रुद्रुमागमाः। स्थाणुर्वा ना ध्रुवः शङ्कुः प्रफुल्लोत्फुल्लसंस्फुटाः॥१४॥

आपण, शब्द निषद्या (बाजार, हाट, दूकान) के अर्थ में आता है। विपणि और पण्यवीभिका–ये दो बाजार की गली के नाम हैं। रथ्या, प्रतोली और विशिखा–ये शब्द गली तथा नगर के मुख्यमार्ग का बोध कराने वाले हैं। खाईं से निकालकर जमा किये हुए मिट्टी के ढेर को चय और वप्र कहते हैं। वप्र शब्द का केवल स्त्रीलिङ्ग में प्रयोग नहीं होता। प्राकार, वरण, शाल और प्राचीर–ये नगर के चारों तरफ बने हुए घेरे (चहारदिवारी) के नाम हैं। भित्ति और कुड्य–ये दीवार के वाचक हैं। इनमें 'भित्ति' शब्द स्त्रीलिङ्ग है। एडूक ऐसी दीवार को कहते हैं, जिसके अन्दर हड्डी लगायी गयी हो। वास और कुटी पर्यायवाचक हैं। इनमें कुटी शब्द स्त्रीलिङ्ग है तथा कुट शब्द के रूप में इसका पुँलिङ्ग में भी प्रयोग है। इसी तरह शाला और सभा पर्यायवाचक हैं। चार शालाओं से युक्त गृह को संजवन कहते हैं। मुनियों की कुटी का नाम पर्णशाला और उटज है। उटज शब्द का प्रयोग पुँलिंग और नपुसंकलिङ्ग–दोनों में होता है। चैत्य और आयतन–ये दोनों शब्द समान अर्थ और समान लिङ्ग वाले हैं। (ये यज्ञस्थान, वृक्ष तथा मन्दि के अर्थ में आते हैं।) वाजिशाला और मन्दुरा–ये घोड़ों के रहने की जगह के नाम हैं।

सामान्य धनियों के महल के नाम हर्म्य आदि हैं तथा देवताओं और राजाओं के महल को प्रासाद (मन्दिर) कहते हैं। द्वार, द्वार और प्रतीहार–ये दरवाजे के नाम हैं। आँगन आदि में बैठने के लिये बने हुए चबूतरे को वितर्दि एवं वेदिका कहते हैं। कबूतरों (तथा अन्य पक्षियों) के रहने के लिये बने हुए स्थान को कपोतपालिका और विटंक कहते हैं। 'विटङ्क' शब्द पुँलिंग और नपुंसक दोनों लिङ्गों में प्रयुक्त होता है। कपाट और अवर–ये दोनों समान लिङ्ग और समान अर्थ में आते हैं। इनका अर्थ है–किंवाड़। निःश्रेणि और अधिरोहणी–ये सीढ़ी के नाम हैं। सम्मार्जनी और शोधनी–ये दोनों शब्द झाडू के अर्थ में आते हैं। संकर तथा अवकर झाडू से फेंकी जाने वाली धूल के नाम हैं। अद्रि, गोत्र, गिरि और ग्रावा–ये पर्वत के तथा गहन, कानन और वन–ये जंगल के बोधक हैं। कृत्रिम (लगाये हुए) वन अर्थात् वृक्ष-समूह को आराम तथा उपवन कहते हैं। यही कृत्रिम वन, जो केवल राजासहित अन्तःपुर की रानियों के उपभोग में आता है, 'प्रमदवन' कहलाता है।

वीथी, आलि, आवलि, पङ्क्ति, श्रेणी, लेखा और राजि–ये सभी शब्द पङ्क्ति (कतार) के अर्थ में आते हैं। जिसमें फूल लगकर फल लगते हों, उस वृक्ष का नाम 'वानस्पत्य' होता है तथा जिसमें बिना फूल के ही फल लगते हैं, उस गूलर (आदि) वृक्ष को 'वनस्पति' कहते हैं॥१-१३॥

फलों के पकने पर जिनके पेड़ सूख जाते हैं, उन धान-जौ आदि अनाजों को 'औषधि' कहा जाता है। पलाशी,

पलाशं छदनं पर्णमिध्ममेधः समित्स्त्रियाम्। बोधिद्रुमश्चलदलो दधित्थग्राहिमन्मथाः।।१५।।
तस्मिन्दधिफलः पुष्पफलदन्तशठावपि। उदुम्बरे हेमदुग्धः कोविदारे द्विपत्रकः।।१६।।
सप्तपर्णो विशालत्वक्कृतमालं (लः) सुवर्णकः। आरेवतव्याधिघातसंपातचतुरङ्गुलाः।।१७।।
स्याज्जम्बीरे दन्तशठो वरुणे तिक्तशाककः। पुंनागे पुरुषस्तुङ्गः केशरो देववल्लभः।।१८।।
पारिभद्रे निम्बतरुर्मन्दारः पारिजातकः। वञ्जुलश्चित्रकृच्चाथ द्वौ पीतनकपीतनौ।।१९।।
आम्रातके मधूके तु गुडपुष्पमधुद्रुमौ। पीलौ गुडफलः स्त्रंसी नादेयी चाम्बुवेतसः।।२०।।
शोभाञ्जने शिग्रुतीक्ष्णगन्धकाक्षीरमोचकाः। रक्तोऽसौ मधुशिग्रुः स्यादरिष्टः फेनिलः समौ।।२१।।
गालवः शाबरो लोध्रस्तिरीटस्तिल्वमार्जनौ। शेलुः श्लेष्मातकः शीत उद्दालो बहुवारकः।।२२।।
वैकङ्कतः स्रुवावृक्षो ग्रन्थिलो व्याघ्रपादपि। तिन्दुकः स्फूर्जकः कालो नादेयी भूमिजम्बुका।।२३।।
काकतिन्दौ पीलुकः स्यात्पाटलिर्मोक्षमुष्ककौ। क्रमुकः पट्टिकाख्यः स्यात्कुम्भी कैटर्यकट्फले।।२४।।

द्रु, द्रुम और अगम–ये सभी शब्द वृक्ष के अर्थ में आते हैं। स्थाणु, ध्रुव तथा शङ्कु–ये तीन ठूँठ वृक्ष के नाम हैं। इनमें स्थाणु शब्द वैकल्पिक पुँलिंग है। अर्थात् उसका प्रयोग पुंल्लिंग, नपुंसकलिंग–दोनों में होता है। प्रफुल्ल, उत्फुल्ल और संस्फुट–ये फूल से भरे हुए वृक्ष के लिये प्रयुक्त होते हैं। पलाश, छदन और पर्ण–ये पत्ते के नाम हैं। पलाश, छदन और पर्ण–ये पत्ते के नाम हैं। इध्म, एधस् और समिध्–ये समिधा (यज्ञकाष्ठ) के वाचक हैं। इनमें समिध् शब्द स्त्रीलिङ्ग है। बोधिद्रुम और चलदल–ये पीपल के नाम हैं। दधित्थ, ग्राही, मन्मथ, दधिफल, पुष्पफल और दन्तशठ–ये कपित्थ (कैथ) नामक वृक्ष का बोध करने वाले हैं। हेमदुग्ध शब्द उदुम्बर (गूलर) के और द्विपत्रक शब्द केविदार (कचनार) के अर्थ में आता है। सप्तपर्ण और विशालत्वक्–ये छितवन के नाम हैं। कृतमाल, सुवर्णक, आरेवत, व्याधिघात, सम्पाक और चतुरङ्गुल–ये सभी शब्द सोनालु अथवा धनबहेड़ा के वाचक हैं। दन्दशठ-शब्द जम्बीर (जमीरी नीबू) के अर्थ में आता है। तिक्तशाक-शब्द वरुण (या वरण) का वाचक है।

पुंनाग, पुरुष, तुङ्ग, केसर तथा देववल्लभ–ये नागकेसर के नाम हैं। पारिभद्र, निम्बतरु, मन्दार और पारिजात–ये बकायन के नाम हैं। वञ्जुल और चित्रकृत–ये तिनिश-नामक वृक्ष के वाचक हैं। पीतन और कपीतन–ये आम्रातक (अमड़ा) के अर्थ में आते हैं। गुडपुष्प और मधुद्रुम–ये मधूक (महुआ) के नाम हैं। पीलु अर्थात् देशी अखरोट को गुडफल और स्त्रंसी कहते हैं। नादेयी और अम्बुवेतस् –ये पानी में उत्पन्न हुए बेंत के नाम हैं। शिग्रु, तीक्ष्णगन्धक, काक्षीर और मोचक–ये शोभाञ्जन अर्थात् सहिजन के नाम हैं। लाल फूलवाले सहिजन को मधुशिग्रु कहते हैं। अरिष्ट और फेनिल–ये दोनों समान लिङ्ग वाले शब्द रीठे के अर्थ में आते हैं। गालव, शाबर, लोध्र, तिरीट, तिल्व और मार्जन–ये लोध के वाचक हैं। शेलु, श्लेष्मातक, शीत, उद्दाल और बहुवारक–ये लसोड़े के नाम हैं। वैकङ्कत, श्रुवावृक्ष, ग्रन्थिल और व्याघ्रपाल–ये वृक्षविशेष के वाचक हैं। (यह वृक्ष विभिन्न स्थानों पर टैंटी, कठेर और कंटाई आदि नामों से प्रसिद्ध है।) तिन्दुक, स्फुर्जक और काल (या कालस्कन्ध)–ये तेंदू वृक्ष के वाचक हैं। नादेयी और भूमिजम्बुक–ये नागरङ्ग अर्थात् नारंगी के नाम हैं। पीलुक शब्द काकतिन्दुक अर्थात् कुचिला के अर्थ में आता है। पाटलि, मोक्ष और मुष्कक–ये मोरवा या पाडल के नाम हैं।

क्रमुक और पट्टिका–ये पठानी लोध के वाचक हैं। कुम्भी, कैडर्य और कट्फल–ये कायफल का बोध कराने वाले हैं। वीरवृक्ष, अरुष्कर, अग्निमुखी और भल्लातकी–ये शब्द भिलावा नामक वृक्ष के वाचक हैं। सर्जक, असन, जीव और पीतसाल–ये विजयसार के नाम हैं। सर्ज और अश्वकर्ण–ये साल वृक्ष के वाचक हैं। वीरद्रु (वीर-तरु),

वीरवृक्षोऽरुष्करोऽग्निमुखी भल्लातकी त्रिषु। सर्जकासनजीवाश्च पीतसालेऽथ मालके॥२५॥
सर्जाश्वकर्णौ वीरेन्द्राविन्द्रद्रुः ककुभोऽर्जुनः। इङ्गुदी तापसतरुर्मोचा शाल्मलिरेव च॥२६॥
चिरविल्वो नक्तमालः करजश्च करञ्जके। प्रकीर्यः पूतिकरजो मर्कट्यङ्गारवल्लरी॥२७॥
रोही रोहितकः प्लीहशत्रुर्दाडिमपुष्पकः। गायत्री बालतनयः खदिरो दन्तधावनः॥२८॥
अरिमेदो विट्खदिरे कदरः खदिरे सिते। पञ्चाङ्गुलो वर्धमानश्चञ्चुर्गन्धर्वहस्तकः॥२९॥
पिण्डीतको मरुवकः पीतदारु च दारु च। देवदारुः पूतिकाष्ठं श्यामा तु महिलाह्वया॥३०॥
लता गोवन्दनी गुन्द्रा प्रियंगुः फलिनी फली। मण्डूकपर्णपत्रोर्णनटकट्वङ्गटुण्टुकाः॥३१॥
श्योनाकशुकनासर्क्ष दीर्घवृन्तकुटन्नटाः। पीतद्रुः सरलश्चाथ निचुलोऽम्बुज इज्जलः॥३२॥
काकोदुम्बरिका फल्गुरिरिष्टः पिचुमर्दकः। सर्वतोभद्रको निम्बे शिरीषस्तु कपीतनः॥३३॥
वकुलो वञ्जुलः प्रोक्तः पिच्छिलागुरुशिंशपाः। जया जयन्ती तर्कारी कणिका गणिकारिका॥३४॥

इन्द्रद्रु, ककुभ और अर्जुन–ये अर्जुन नामक वृक्ष के पर्याय हैं। इङ्गुदी तपस्वियों का वृक्ष है; इसीलिये इसको तापस-तरु भी हते हैं। (कहीं-कहीं यही 'इंगुवा' तथा गोंदी वृक्ष के नाम से भी प्रसिद्ध है। मोचा और शाल्मलि–ये सेमल के नाम हैं। चिरबिल्व, नक्तमाल, करञ्ज और करञ्जक–ये 'कंजा' नामक वृक्ष के अर्थ में आते हैं। ('करञ्जक' शब्द भृङ्गराज या भंगरइया का भी वाचक है।) प्रकीर्य और पूतिकरज–ये कँटीले करञ्ज के वाचक हैं। मर्कटी तथा अङ्गार वल्लरी–ये करञ्ज के ही भेद हैं। रोही, रोहितक, प्लीहशत्रु और दाडिमपुष्पक–ये रोहेड़ा के नाम हैं। गायत्री, बालतनय, खदिर और दन्तधावन–ये खैरा नामक वृक्ष के वाचक हैं।

अरिमेद और विट्खदिर–ये दुर्गन्धित खैरा के तथा कदर–यह श्वेत खैरा का नाम है। पञ्चाङ्गुल, वर्धमान, चञ्चु और गन्धर्वहस्तक–ये एरण्ड (रेड़) के अर्थ में आते हैं। पिण्डीतक और मरुवक–ये मदन (मैनफल) नामक वृक्ष के बोधक हैं। पीतदारु, दारु, देवदारु और पूतिकाष्ठ–ये देवदारु के नाम हैं। श्यामा, महिलाह्वया, लता, गोवन्दिनी, गुन्द्रा, प्रियङ्गु, फलिनी और फली–ये प्रियंगु (कँगनी या टाँगुन)–के वाचक हैं। मण्डूकपर्ण पत्रोर्ण, नट, कटवङ्ग, टुण्टुक, श्योनाक, शुकनास, ऋक्ष, दीर्घवृन्त और कुटन्नट–ये शोणक (सोनापाठा) का बोध कराने वाले हैं। पीतद्रु और सरल-ये सरल वृक्ष के नाम हैं। निचुल, अम्बुज और इज्जल (या हिज्जल)–ये स्थलवेतस् अथवा समुद्र-फल के वाचक हैं। काकोदुम्बरिका और फल्गु–ये कटुम्बरी या कठूमरे के बोधक हैं। अरिष्ट, पिचुमर्दक और सर्वतोभद्र–ये निम्ब-वृक्ष के वाचक हैं। शिरीष और कपीतन–ये सिरस वृक्ष के अर्थ में आते हैं। वकुल और वञ्जुल–ये मौलिश्री के नाम हैं। (बञ्जुल शब्द अशोक आदि के अर्थ में आता है।) पिच्छिला, अगरु और शिंशपा–ये शीशम के अर्थ में आते हैं। जया, जयन्ती और तर्कारी–ये जैत वृक्ष के नाम हैं।

कणिका, गणिकारिका, श्रीपर्ण और अग्निमन्थ–ये अरणि के वाचक हैं। (किसी के मत में जया से लेकर अग्नि मन्थ तक सभी शब्द अरणि के ही पर्याय हैं।) वत्सक और गिरिमल्लिका–ये कुटज वृक्ष के अर्थ में आते हैं। कालस्कन्ध, तमाल और तापिच्छ–ये तमाल के नाम हैं तण्डुलीय और अल्पमारिष–ये चौराई के बोधक हैं। सिन्धुवार और निर्गुण्डी–ये सेंदुवारि के नाम हैं। वही सेंदुवारि यदि जंगल में उत्पन्न हुई हो, तो उसको आस्फीता (आस्फोटा या आस्फोता) कहते हैं। (किसी-किसी के मत में वनमल्लिका (वन-वेला) का नाम आस्फोटा या आस्फीता है।) गणिका, यूथिका और अम्बष्ठा–ये जूही के अर्थ में आते हैं। सप्तला और नवमालिका–ये दोनों पर्यायवाची शब्द हैं। अतिमुक्त और पुण्ड्रक–ये माधवी लता के नाम हैं। कुमारी, तरणि और सहा–ये घीकुँआरि के वाचक हैं। लाल घीकुँआरि

श्रीपर्णमग्निमन्थः स्याद्वत्सको गिरिमल्लिका। कालस्कन्दस्तमालः स्यात्तण्डुलीयोऽल्पमारिषः।।३५।।
सिन्धुवारस्तु निर्गुण्डी सैवाऽऽस्फीता (स्फोटा) वनोद्भवा। गणिका यूथिकाऽम्बष्ठा सप्तला नवमालिका।।३६।।
अतिमुक्तः पुण्ड्रकः स्यात्कुमारी तरिणिः सहा। तत्र शोणे कुरबकस्तत्र पीते कुरण्टकः।।३७।।
नीला झिण्टी द्वयोर्बाणा झिण्टी सैरीयकस्तथा। तस्मिन्नूरक्ते कुरबकः पीते सहचरी द्वयोः।।३८।।
धुस्तूरः कितवो धूर्तो रुचको मातुलुङ्गके। समीरणो मरुबकः प्रस्थपुष्पः फणिज्जकः।।३९।।
कुष्ठेरकस्तु पर्णासेऽथास्फीतो वसुकार्कके। शिवमल्ली पाशुपती वृन्दा वृक्षादनी तथा।।४०।।
जीवन्तिका वृक्षरुहा गुडूची तन्त्रिकाऽमृता। सोमवल्ली मधुपर्णी मूर्वा तु मोरटी तथा।।४१।।
मधूलिका मधुश्रेणी गोकर्णी पीलुपर्ण्यपि। पाठाऽम्बष्ठा विद्धकर्णी प्राचीना वनतिक्तिका।।४२।।
कटुः कटंभरा चाथ चक्राङ्गी शकुलादनी। आत्मगुप्ता प्रावृषायी कपिकच्छुश्च मर्कटी।।४३।।
अपामार्गः शैखरिकः प्रत्यक्पर्णी मयूरकः। फञ्जिका ब्राह्मणी भार्गी द्रवन्ती शम्बरी वृषा।।४४।।
मण्डूकपर्णी भण्डीरी समङ्गा कालमेषिका। रोदनी कच्छुराऽनन्ता समुद्रान्ता दुरालभा।।४५।।
पृश्निपर्णी पृथक्पर्णी कलशिर्धावनिर्गुहा। निदिग्धिका स्पृशी व्याघ्री क्षुद्रा दुस्पर्शया सह।।४६।।
अवल्गुजः सोमराजी सुवल्लिः सोमवल्लिका। कालमेषी कृष्णफला बाकुची पूतिफल्यपि।।४७।।

को कुरबक और पीली घीकुँआरि को कुरण्टक कहते हैं। नीलझिण्टी और बाणा—ये दोनों शब्द नीली कटसरैया के वाचक हैं। लाल घीकुँआरि को कुरबक और पीली घीकुँआरि को कुरण्टक कहते हैं। नीलझिण्टी और बाणा—ये दोनों शब्द नीली कटसरैया के वाचक हैं। इनका पुँलिंग और स्त्रीलिङ्ग—दोनों लिंगों में प्रयोग होता है।

झिण्टी और सैरीयक—ये सामान्य कटसरैया के वाचक हैं। वही लाल हो, तो कुरबक और पीली हो, तो सहचरी कहलाती है। यह शब्द स्त्रलिंग और पुंल्लिंग—दोनों में प्रयुक्त होता है। धूत्तूर), कितव और धूर्त—ये धतूर के नाम हैं। रुचक तरफ मातुलुङ्ग—ये बीजपूर या बिजौरा नीबू के वाचक हैं। समीरण, मरुवक, प्रस्थपुष्प और फणिज्जक—ये मरुआ वृक्ष के नाम हैं। कुठेरक और पर्णास—यह तुलसी वृक्ष के पर्याय हैं। आस्फीत, वसुक और अर्क—ये आक (मदार) के नाम हैं। शिवमल्ली और पाशुपती—ये अगस्त्य वृक्ष अथवा बृहत् मौलसिरी के वाचक हैं। वृन्दा (वन्दा), वृक्षादनी—जीवन्तिका और वृक्षरुहा—ये पेड़ पर उत्पन्न हुई लता के नाम हैं। गुडूची, तन्त्रिका, अमृता, सोमवल्ली और मधुपर्णी—ये गुरुचि के वाचक हैं। मूर्वा, मोरटी, मधूलिका, मधुश्रेणी, गोकर्णी तथा पीलुपर्णी—ये मूर्वा नाम वाली लता के नाम हैं। पाठा, अम्बष्ठा, विद्धकर्णी, प्राचीना और वनतिक्तिका—ये पाठा नाम से प्रसिद्ध लता के वाचक हैं। कटु, कटम्भरा, चक्राङ्गी और शकुलादनी—ये कुटकी के नाम हैं। आत्मगुप्ता, प्रावृषायी, कपिकच्छु और मर्कटी—ये केवाँकु के वाचक हैं।

अपामार्ग, शैखरिक, प्रत्यक्पर्णी तथा मयूरक—ये अपामार्ग (चिचिड़ा) का बोध कराने वाले हैं। फञ्जिका (या हञ्जिका), ब्राह्मणी और भार्गी—ये ब्रह्मनेटि के वाचक हैं। द्रवन्ती, शम्बरी तथा वृषा—ये आखुपणी या मूसाकानी के बोधक हैं। मण्डूकपर्णी, भण्डीरी, समङ्गा और कालमेषिका—ये मजीठ के नाम हैं। रोदनी, कच्छरा, अनन्ता, समुद्रान्ता और दुरालभा—ये यवासा एवं कचूर के वाचक हैं। पृश्निपर्णी, पृथक्पर्णी, कलशि, धावनि और गुहा—ये पिठवन के नाम हैं। निर्दिग्धिका, स्पृशी, व्याघ्री, क्षुद्रा और दुःस्पर्शा—ये भटकटैया (या भजकटया) के अर्थ में आते हैं। अवल्गुज, सोमराजी, सुवल्लि, सोमवल्लिका, कालमेषी, कृष्णफला, वाकुची और पूतिफली—ये वकुची के वाचक हैं। कणा, उष्णा

कणोषणोपकुल्या स्याच्छ्रेयसी गजपिप्पली। चव्यं तु चविका काकचिञ्ची गुञ्जे तु कृष्णला।।४८।।
विश्वा विषा प्रतिविषा वनशृङ्गाटगोक्षुरौ। नारायणी शतमूली कालेयकहरिद्रवः।।४९।।
दार्वी पंचपचा दारु शुक्ला हैमवती वचा। वचोग्रगन्धा षड्ग्रन्था गोलोमी शतपर्विका।।५०।।
आस्फोता गिरिकर्णी स्यात्सिंहास्यो वासको वृषः। मिशी मधुरिका छत्रा कोकिलाक्षेक्षुरक्षुरा।।५१।।
विडङ्गोऽस्त्री कृमिघ्नः स्याद्वज्रदुः स्नुक्स्नुही सुधा। मृद्वीका गोस्तनी द्राक्षा बला वाट्यालकस्तथा।।५२।।
काला मसूरविदला त्रिपुटा त्रिवृता त्रिवृत्। मधुकं क्लीतकं यष्टिमधुका मधुयष्टिका।।५३।।
विदारी क्षीरशुक्लेक्षुगन्धा क्रोष्ट्री च या सिता। गोपी श्यामा शारिवा स्यादनन्तोत्पलशारिवा।।५४।।
मोचा रम्भा च कदली भण्टाकी दुष्प्रधर्षिणी। स्थिरा ध्रुवा सालपर्णी शृङ्गी तु वृषभो वृषः।।५५।।
गाङ्गेरुकी नागबला मुषली तालमूलिका। ज्यो (ज्यौ)त्स्नी पटोलिका जाली अजशृङ्गी विषाणिका।।५६।।
स्याल्लाङ्गलिक्यग्निशिखा ताम्बूली नागवल्ल्यपि। हरेणू रेणुकः कौन्ती ह्रीबेरी दिव्यनागरम्।।५७।।
कालानुसार्यवृद्धाश्मपुष्पशीतशिवानि तु। शैलेयं तालपर्णी तु दैत्या गन्धकु (पु) टी मुरा।।५८।।
ग्रन्थिपर्णं शुकं बर्हि बला तु त्रिपटा त्रुटिः। शिवा तामलकी चाथ हनुर्हट्टविलासिनी।।५९।।

और उपकुल्या—ये पिप्पली के बोधक हैं। श्रेयसी और गजपिप्पली—ये गजपिप्पली के वाचक हैं। चव्य और चविका-ये चव्य अथवा वचा के नाम हैं। काकचिञ्ची, गुञ्जा और कृष्णला—ये तीन गुञ्जा (घुँघुची) के अर्थ में आते हैं। विश्वा, बर्ह)—ये गठिवन के अर्थ में आते हैं। बला, त्रिपुटा और त्रुटि—ये छोटी इलायची के वाचक हैं। शिवा और तामल की—ये भुईं आमला के अर्थ में आते हैं। हनु और हट्टविलासिनी—ये नखी नामक गन्ध दव्य के बोधक हैं। कुटन्नट, दशपुर, वानेय और परिपेलव—ये जटामाँसी के अर्थ में आते हैं। पृक्वा (या स्पृक्का), देवी, लता और लघु या (लशू)-ये 'असवरग' के वाचक हैं। कर्चूरक और द्राविड़क—ये कर्चूर के नाम हैं। गन्धमूली और शठी शब्द भी कचूर के ही अर्थ में आते हैं। ऋक्षगन्धा, छगलान्त्रा, आवेगी तथा वृद्धदारक—ये विधारा के नाम हैं। तुण्डिकेरी, रक्तफला, बिम्बिका और पीलुपर्णी—ये कन्दूरी के वाचक हैं। चाङ्गेरी, चुक्रिका और अम्बष्ठा—ये अम्लतोड़िका (अम्लिलोना) के बोधक हैं। स्वर्णक्षीरी और हिमावती—ये मकोय के नाम हैं। सहस्रवेधी, चुक्र, अम्लवेतस और शतवेधी—ये अम्बबेंत के अर्थ आते हैं। जीवन्ती, जीवनी और जीवा—ये जीवन्ती के नाम हैं। भूमिनिम्ब और किरातक—ये चिरात्तिक्त या चिरायता के वाचक हैं। कूर्चशीर्ष और मधुरक—ये अष्टवर्गान्तक 'जीवक' नामक औषधिक के बोधक हैं। चन्द्र और कपिवृक—ये समानार्थक शब्द हैं।

(चन्द्रशब कर्पूर और काम्पिल्य आदि अर्थों में आता है।) दद्रुघ्न और एडगज—ये चकवड़ नामक वृक्ष के वाचक हैं। वर्षाभू और शोथहारिणी—ये गदहपुर्ना के अर्थ में आते हैं। कुनन्दती, निकुम्भस्त्रा, यमानी और वार्षिका—ये लताविशेष के वाचक हैं। लशुन, गृञ्जन, अरिष्ट, महाकंद और रसोन—ये लहसनु के नाम हैं। वाराही, वरदा (या वदरा) तथा गृष्टि—ये वराहीकन्द के वाचक हैं। काकमाची और वायसी—ये समानार्थ शब्द हैं। शतपुष्पा, सितच्छत्रा, अतिच्छत्रा, मधुरामिसि, अवाकपुष्पी और कारवी—ये सौंफ के नाम हैं। सरणा, प्रसारिणी, कटम्भरा और भद्रवला—ये कुब्जप्रसारिणी नामक औषधि के वाचक हैं। कर्वूर और शटी—ये भी कचूर के अर्थ में आते हैं। पटोल, कुलक, तिक्तक और पटु-ये परवल के नाम हैं।

कुटं नटं द (दा) शपुरं वानेयं परिपेलवम्। तपस्विनी जटामांसी पृक्का देवी लता लशूः॥६०॥
कर्चूरको द्राविडको गन्धमूली शटी स्मृता। स्यादृक्षगन्धा छगलान्त्रा वेगी वृद्धदारकः॥६१॥
तुण्डिकेरी रक्तफला बिम्बिका पीलुपर्ण्यपि। चाङ्गरी चुक्रोऽम्बष्ठा स्वर्णक्षीरी हिमावती॥६२॥
सहस्रवेधी चुक्रोऽम्लवेतसः शतवेध्यपि। जीवन्ती जीवनी जीवा भूमिनिम्बः किरातकः॥६३॥
कूर्चशीर्षो मधुकर (रक) श्चन्द्रः कपिवृकस्तथा। दद्रुघ्नः स्यादेडगजो वर्षाभूः शोथहारिणी॥६४॥
कुनन्दती निकुम्भस्त्रा यमानी वार्षिका तथा। लशुनं गृञ्जनारिष्टमहाकन्दरसोनकाः॥६५॥
वाराही वरदा गृष्टिः काकमाची तु वायसी। शतपुष्पा सितच्छत्राऽतिच्छत्रा मधुरा मिसिः॥६॥
अवाक्पुष्पी कारवी च सरणा तु प्रसारणी। कटंभरा भद्रबला कर्बूरश्च शटी ह्यथ॥६७॥
पटोलः कुलकस्तिक्तः कारवेल्लः कटिल्लकः। कूष्माण्डकस्तु कर्कारुरिर्वारुः कर्कटी स्त्रियौ॥६८॥
इक्ष्वाकुः कटुतुम्बी स्याद्विशाला त्विन्द्रवारुणी। अर्शोघ्नः सूरणः कन्दो मुस्तकः कुरुविन्दकः॥६९॥
वंशे त्वक्सारकर्मारवेणुमस्करतेजनाः। छत्रातिच्छत्रपालघ्नौ मालातृणकभूस्तृणे॥७०॥
तृणराजाह्वयस्तालो घोण्टा क्रमुकपूगकौ। शार्दूलद्वीपिनौ व्याघ्रे हर्यक्षः केशरी हरिः॥७१॥
कोलः पोत्री वराहः स्यात्कोक ईहामृगो वृकः। लूतोर्णनाभौ तु समौ तन्तुवायश्च मर्कटे॥७२॥
वृश्चिकः शूककीटः स्यात्सारङ्गस्तोककौ समौ। कृकवाकुस्ताम्रचूडः पिकः कोकिल इत्यपि॥७३॥
काके तु करटारिष्टौ व (ब) कः कह्व उदाहृतः। कोकश्चक्रश्चक्रवाकः कादम्बः कलहंसकः॥७४॥

कारवेल्ल और कटिल्लक—ये करैला के अर्थ में आते हैं। कूष्माण्डक तरफ कर्कारु—ये कोंहड़ा के वाचक हैं। उर्वारु और कर्कटी—ये दोनों स्त्रीलिङ्ग शबद ककड़ी के वाचक हैं। इक्ष्वाकु तथा कटुतुम्बी—ये कड़वी लौकी के बोधक हैं। विशाला और इन्द्रवारुणी—ये इन्द्रायन (तूँबी) नामक लता के नाम हैं। अशोघ्न, सूरण और कन्द—ये सूरन या ओल के वाचक हैं। मुस्तक और कुरुविन्द—ये दोनों शब्द भी मोथा के अर्थ में आते हैं। त्वक्सार, कर्मार, वेणु, मस्कर और तेजन—ये वंश (बाँस) के वाचक हैं। छत्रा, अतिच्छत्र और पालघ्न—ये पानी में उत्पन्न होने वाले तृणविशेष के बोधक हैं। मालातृणक और भूस्तृण—ये भी तृणविशेष के ही नाम हैं। ताड़ के वृक्ष का नाम ताल और तृणराज है। घोण्टा, क्रमुक तथा पूग—ये सुपारी के अर्थ में आते हैं॥१४-७०॥

शार्दूल और द्वीपी—ये व्याघ्र (बाघ) के वाचक हैं। हर्यक्ष, केशरी (केसरी) तथा हरि—ये सिंह के नाम हैं। कोल, पोत्री और वराह—ये सूअर के तथा कोफ, ईहामृग और वृक भेड़ये के अर्थ में आते हैं। लूता, ऊर्णनाभि, तन्तुवाय और मर्कट—ये मकड़ी के नाम हैं। वृश्चिक और शूककीट बिच्छू के वाचक हैं ('शूककीट' शब्द ऊन आदि चाटने वाले कीड़े के अर्थ में भी आता है।) सारङ्ग और स्तोक—ये समान लिंग में प्रयुक्त होने वाले शब्द पपीहा के वाचक हैं कृकवाकु तथा ताम्रचूड—ये कुक्कुट (मुर्ग) के नाम हैं। पिक और कोकिल—ये कोयल के बोधक हैं। करट और अरिष्ट—काक (कौए) के अर्थ में आते हैं। वक और कह्व—बगुले के नाम हैं। कोक, चक्र और चक्रवाक—ये चकवा के तथा कादम्ब और कलहंस—ये मधुरभाषी हंस या बत्तक के वाचक हैं। पतङ्गिका और पुत्तिका—ये मधु का छाता लगाने वाली छोटी मक्खियों के नाम हैं और सरघा तथा मधुमक्षिका—ये बड़ी मधुमक्खी के अर्थ में आते हैं। इसी को सरँगवा माछी भी कहते हैं।

पतङ्गिका पुत्तिका स्यात्सरघा मधुमक्षिका। द्विरेफपुष्पलिड्भृङ्गषट्पदभ्रमरालयः।।७५।।
केकी शिख्यस्य वाक्केका शकुन्तिशकुनिद्विजाः। स्त्री पक्षतिः पक्षमूलं चञ्चुस्तोटिरुभे स्त्रियौ।।७६।।
गतिरुड्डीनसण्डीनौ कुलायो नीडमस्त्रियाम्। पेषी (शी) कोषो द्विहीनेऽण्डं पृथुकः शावकः शिशुः।।७७।।
पोतः पाकोऽर्भको डिम्भः संदोहव्यूहकौ गणः। स्तोमौघनिकरव्राता निकुरम्बं कदम्बकम्।।७८।।
संघातसंचयौ वृन्दं पुञ्जराशी तु कूटकम्।।७८।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते भूमिवनौषध्यादिवर्गनिरूपणं नाम त्रिषष्ट्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः।।३६३।।

द्विरेफ, पुष्पलिह, भृङ्ग, षट्पद, भ्रमर और अलि–ये भ्रमर (भौंरे) के नाम हैं। केकी तथा शिखी–मोर के नाम हैं। मोर की वाणी को 'केका' कहते हैं। शकुन्ति, शकुनि और द्विज–ये पक्षी के पर्याय हैं। स्त्रीलिङ्ग पक्षति-शब्द तरफ पक्षमूल–ये पंख के वाचक हैं। चञ्चु और तोटि–ये चोंच के अर्थ में आते हैं। इन दोनों का स्त्रीलिङ्ग में ही प्रयोग होता है। उड्डीन और संडीन–ये पक्षियों के उड़ने के विभिन्न तरहों के नाम हैं। कुलाय और नीड शब्द घोंसले के अर्थ में आते हैं। पेषी (या पेशी), कोष और अण्ड–ये अण्डे के नाम हैं। इनमें प्रथम दो शब्द केवल पुँल्लिंङ्ग में प्रयुक्त होते हैं। पृथक, शावक, शिशु, पोत, पाक, अधुर्नाक और डिम्भ–ये शिशुमात्र के बोधक हैं। संदोह, व्यूहक और गण, स्तोम, ओघ, निकर, व्रात, निकुरम्ब, कदम्बक, संघात, संचय, वृन्द पुञ्ज, राशि और कूट–ये सभी शब्द 'समूह' अर्थ के वाचक हैं।।७१-७८।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी तीन सौ तिरसठवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।३६३।।

❖❖❖

अथ चतुःषष्ट्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः

नृब्रह्मनक्षत्रविट्शूद्रवर्गाः

अग्निरुवाच

नृब्रह्मक्षत्रविट्शूद्रवर्गान्वक्ष्येऽथ नामतः। नरः पञ्चजना मर्त्या योषिद्योषाऽबला वधूः॥१॥
कान्तार्थिनी तु या याति संकेतं साऽभिसारिका। कुलटा पुंश्चल्यसती नग्निका स्त्री च कोटवी॥२॥
कात्यायन्यर्धवृद्धा या सैरन्ध्री परवेश्मगा। असिक्नी स्यावृद्धा या मालिनी तु रजस्वला॥३॥
वारस्त्री गणिका वेश्या भ्रातृजायास्तु यातरः। ननन्दा तु स्वसा पत्युः सपिण्ड (ण्डा)स्तु सनाभयः॥४॥
समानोदर्यसोदर्यसगर्भसहजाः समाः। सगोत्रबान्धवज्ञातिबन्धुस्वस्वजनाः समाः॥५॥
दंपती जंपती भार्यापती जायापती च तौ। गर्भाशयो जरायुः स्यादुल्बं च कललोऽस्त्रियाम्॥६॥
गर्भो भ्रूण इमौ तुल्यौ क्लीवं शण्डो (ण्ढो) नपुंसकम्। स्यादुत्तानशया डिम्भो बालो माणवकः स्मृतः॥७॥
पिचि (च) ण्डिलो बृहत्कुक्षिरभ्रटो नतनासिके। विकलाङ्गस्तु पोगण्ड आरोग्यं स्यादनामयम्॥८॥
स्यादेडो विधरः कुब्जे गडुलः ककुरे कुनिः। क्षयः शोषश्च यक्ष्मा च प्रतिश्यायस्तु पीनसः॥९॥

अध्याय–३६४

मनुष्य-वर्ग

श्रीअग्निदेव ने कहा कि–अधुना मैं नाम-निर्देश पूर्वक मनुष्य वर्ग, ब्राह्मण-वर्ग, क्षत्रिय-वर्ग, वैश्य-वर्ग और शूद्रवर्ग का क्रमशः वर्णन करने जा रहा हूँ। ना, नर, पञ्चजन और मर्त्य–ये मनुष्य एवं पुरुष के वाचक हैं। स्त्री को योषित्, योषा, अबला और वधू कहते हैं। जो अपने अभीष्ट कामी पुरुष के साथ समागमकी इच्छा से किसी नियत संकेत-स्थान पर जाती है, उसको अभिसारिका कहते हैं। कुलटा, पुंश्चली और असती–ये व्यभिचारिणी स्त्री के नाम हैं। नग्नि का और कोटवी शब्द नंगी स्त्री का बोध कराने वाले हैं (रजोधर्म होने के पूर्व अवस्था वाली कन्या को भी 'नग्निका' कहते हैं।) अर्धवृद्धा (अधबुढ़) स्त्री को (जो गेरुआँ वस्त्र धारण करने वाली और पति-विहीना हो) कात्यायनी कहते हैं। दूसरे के गृह में रहकर (स्वाधीन वृत्ति से केश-प्रसाधन आदि कला के द्वारा) जीवन-निर्वाह करने वाली स्त्री का नाम सैरन्ध्री है। अन्तःपुरकी वह दासी, जो अभी बूढ़ी न हुई हो–जिसके सिर के बाल सफेद न हुए हों, असिक्नी कहलाती है। रजस्वला स्त्री को मलिनी कहते हैं। वारस्त्री, गणिका और वेश्या–ये रंडियों के नाम हैं। भाइयों की स्त्रियाँ परस्पर याता कहलाती हैं। पति की बहन को ननान्दा कहते हैं। सात पीढ़ी के अंदर के मनुष्य सपिण्ड और सनाभि कहे जाते हैं। समानोदर्य, सोदर्य, सगर्भ और सहज–ये समानार्थक शब्द सगे भाई का बोध कराने वाले हैं। सगोत्र, बान्धव, ज्ञाति, बन्धु, स्व तथा स्वजन–ये भी समान अर्थ के बोधक हैं। दम्पती, जम्पती, भार्यापती, जायापती–ये पति-पत्नी के वाचक हैं। गर्भाशय, जरायु, उल्व और कलल–ये चार शब्द गर्भ को लपेटने वाली झिल्ली के नाम हैं। कलल-शब्द पुँल्लिङ्ग और नपुंसकलिङ्ग–दोनों में आता है। (यह शुक्र और शोणित के संयोग से बने हुए गर्भाशय के मांस-पिण्ड का भी वाचक है।) गर्भ और भ्रूण–ये दोनों शब्द गर्भस्थ बालक के लिये प्रयुक्त होते हैं। क्लीब, शण्ड (षण्ढ) और नपुंसक–ये पर्यायवाची शब्द हैं। डिम्भ-शब्द

स्त्री क्षुत्क्षुतं क्षवः पुंसि कासस्तु क्षवथुः पुमान्। शोथस्तु श्वयथुः शोफः पादस्फोटो विपादिका॥१०॥
किलास सिध्म कच्छ्वां तु पाम पामा विचर्चिका। कोठो मण्डलकं कुष्ठं श्वित्रे दुर्नामकार्शसी॥११॥
आनाहस्तु विबन्धः स्याद्ग्रहणी रुक्प्रवाहिका। बीजबीर्येन्द्रियं शुक्रं पललं क्रव्यमामिषम्॥१२॥
बुक्काऽग्रमांसं हृदयं हृन्मेदस्तु वपा वसा। पश्चाद्ग्रीवाशिरा मन्या नाडी तु धमनिः शिरा॥१३॥
तिलकं क्लोम मस्तिष्कं दूषिका नेत्रयोर्मलम्। अन्त्रं पुरीतद्गुल्मस्तु प्लीहा पुंस्यथ वस्नसा॥१४॥
स्नायुः स्त्रियां कालखण्डयकृती तु समे इमे। स्यात्कर्परः कपालोऽस्त्री कीकसं कुल्यमस्थि च॥१५॥
स्याच्छरीरास्थ्नि कंकालः पृष्ठास्थ्नि तु कशेरुका। शिरोस्थनि करोटिः स्त्री पार्श्वास्थनि तु पर्शुका॥१६॥
अङ्गं प्रतीकोऽवयवः शरीरं वर्ष्म विग्रहः। कटो ना श्रोणिफलकं कटिः श्रोणिः ककुद्मती॥१७॥

उत्तान सोने वाले नवजात शिशुओं के अर्थ में आता है। बालक को माणवक कहते हैं। लम्बे पेट वाले पुरुष के अर्थ में पिचण्डिल और बृहत्कुक्षि शब्दों का प्रयोग होता है। जिसकी नाक कुछ झुकी हुई हो, उसको अवभ्रट कहते हैं। जिसका कोई अङ्ग कम या विकृत हो वह विकलाङ्ग और पोगण्ड कहलाता है। आरोग्य और अनामय–ये नीरोगता के वाचक हैं। बहरे को एड और वधिर तथा कुबड़े को कुब्ज और गडुल कहते हैं। रोग आदि के कारण जिसका हाथ खराब हो जाय, उसको तथा लूले मनुष्य को कुनि (या कुणि) कहा जाता है। क्षय, शोष और यक्ष्मा–ये राजयक्ष्मा (थाइसिस, टी.बी. या तपेदिक) के नाम हैं।

प्रतिश्याय और पीनस–ये जुकाम के अर्थ में आते हैं। स्त्रीलिङ्ग–क्षुत्, पुँल्लिङ्ग–क्षव और नपुंसक क्षुत शब्द छींक के अर्थ में प्रयुक्त होते हैं। कास और क्षवथु–ये खाँसी के नाम इनका प्रयोग पुँल्लिङ्ग में होता है। शोथ, श्वयथु और शोफ–ये सूजन के अर्थ में आते हैं। पादस्फोट और विपादिका–ये बिवाई के नाम हैं। किलास और सिध्म–सेहुएँ को कहते हैं। कच्छू, पाम, पामा और विचर्चिका–ये खुजली के वाचक हैं। कोठ और मण्डलक उस कोढ़ को कहते हैं, जिसमें गोलाकार चकत्ते पड़ जाते हैं। सफेद कोढ़ को कुष्ठ और श्वित्र कहते हैं। दुर्नामक और अर्शस्–ये बवासीर के नाम हैं। मल-मूत्र के निरोध को अनाह और विबन्ध कहते हैं। ग्रहणी और प्रवाहिका–ये संग्रहणी रोग के नाम हैं। बीज, वीर्य, इन्द्रिय और शुक्र–यह वीर्य के पर्याय हैं। पलल, क्रव्य और आमिष–ये मांस के अर्थ में आते हैं। बुक्का और अग्रमांस–ये छाती के मांस (हृत्पिण्ड) का बोध कराने वाले हैं। बुक्का' शब्द केवल हृदय का भी वाचक है। हृदय और हृत्–ये मन के पर्याय हैं। मेदस्, वपा और वसा–ये मेदा के नाम हैं। गले के पीछे की नाड़ी को मन्या कहते हैं।

नाडी, धमनि और शिरा–ये नाड़ी के वाचक हैं। तिलक और क्लोम–ये शरीर में रहने वाले काले तिल के अर्थ में आते हैं। मस्तिष्क दिमाग को और दूषिका आँखों की कीचड़ को कहते हैं। अन्त्र और पुरीतत्–ये आँत के अर्थ में आते हैं। गुल्म और प्लीहा–बरवट (तिल्ली) को कहते हैं। प्लीहा 'प्लीहन्' शब्द का पुँल्लिंग रूप है। अंग-प्रत्यंग की संधियों के बन्धन को स्नायु और वस्नसा कहते हैं। कालखण्ड और यकृत्–जिगर या कलेजे के नाम हैं। कर्पर और कपाल शब्द ललाट के वाचक हैं। 'कपाल' शब्द पुँल्लिंग और नपुंसकलिङ्ग–दोनों में आता है। कीकस, कुल्य और अस्थि–ये हड्डी के नाम हैं। रक्त-मांस से हीन शरीर की हड्डी को कङ्काल कहते हैं। पीठ की हड्डी (मेरुदण्ड) का नाम कशेरुका है। 'करोटि' शब्द स्त्रीलिङ्ग है और यह मस्तक की हड्डी (खोपड़ी) के अर्थ में आता है। पँसली की हड्डी को पर्शुका कहते हैं। अङ्ग, प्रतीक, अवयव, शरीर, वर्ष्म तथा विग्रह–यह शरीर के पर्याय हैं। कट और श्रोणिफलक–ये चूतड़ के अर्थ में आते हैं। 'कट' शब्द पुंल्लिंग है। कटि, श्रोणि और कुकुद्मती–ये कमर का बोध

पश्चान्नितम्बः स्वीकट्याः क्लीवे तु जघनं पुरः। कूपकौ तु नितम्बस्थौ द्वयहीने कुकुन्दरे।।१८।।
स्त्रियां स्फिचौ कटिप्रोथावुपस्थो वक्ष्यमाणयोः। भगं योनिर्द्वयोः शिश्नो मेढ्रो (ढ्रं) मेहनशेफसी।।१९।।
पिचि (च) ण्डकुक्षी जठरोदरं तुन्दं कुचौ स्तनौ। चूचुकं तु कुचाग्रं स्यान्न ना क्रोडं भुजान्तरम्।।२०।।
स्कन्धो भुजशिरोंऽसोऽस्त्री संधी तस्यैव जत्रुणी। पुनर्भवः कररुहो नखोऽस्त्री नखरोऽस्त्रियाम्।।२१।।
प्रादेशतालगोकर्णास्तर्जन्याद्वियुते तते। अङ्गुष्ठे सकनिष्ठे स्याद्वितस्तिर्द्वादशाङ्गुलः।।२२।।
पाणौ चपेटप्रतलप्रहस्ता विस्तृताङ्गुलौ। बद्धमुष्टिकरो रत्निररत्निः सकनिष्ठवान् (ष्ठिकः)।।२३।।
कम्बुग्रीवा त्रिरेखा साऽवटुर्घाटा कृकाटिका। अधः स्याच्चिबुकं चोष्ठादथ गण्डौ गलो हनुः।।२४।।
अपाङ्गौ नेत्रयोरन्तौ कटाक्षोऽपाङ्गदर्शने। चिकुरः कुन्तलो बालः प्रतिकर्म प्रसाधनम्।।२५।।
आकल्पवेशौ नेपथ्यं प्रत्यक्षं खेलयोगजम्। चूडामणिः शिरोरत्नं तरलो हारमध्यगः।।२६।।
कर्णिका तालपत्रं स्याल्लम्बनं स्याल्ललन्तिाका। मञ्जीरो पूनुरं पादे किङ्किणी छुद्रघण्टिका।।२७।।

कराने वाले हैं। किन्ही-किन्ही) के मत में उपरोक्त पाँचों ही शब्द पर्यायवाची हैं।) स्त्री की कमर के पिछले भाग को नितम्ब और अगले भाग को जघन कहते हैं।

'जघन' शब्द नपुंसकलिङ्ग है। नितम्ब के ऊपर जो दो गड्ढे-से होते हैं। उनको कूपक एवं ककुन्दर कहते हैं। 'ककुन्दर' शब्द केवल नपुंसकलिङ्ग है। कटि के मांस-पिण्ड का नाम स्फिच् और कटिप्रोथ है। 'स्फिच्' शब्द का प्रयोग स्त्रीलिङ्ग में होता है। नीचे बताये जाने वाले भग और लिङ्ग-दोनों को उपस्थ कहा जाता है। भग और योनि-ये स्त्री-चिह्न के बोधक पर्यायवाची शब्द हैं। शिश्न, मेढ्र, मेहन और शेफस्-ये पुरुष चिह्न (लिंग) के वाचक हैं। पिचण्ड, कुक्षि, जठर, उदर और तुन्द-ये पेट के अर्थ में आते हैं। कुच और स्तन पर्यायवाची शब्द हैं। कुचों के अग्रभाग का नाम चूचुक हैं। नपुंसकलिङ्ग क्रोड तथा भुजान्तर शब्द गोदी के वाचक हैं। स्कन्ध, भुजशिरस् और अंस-ये कन्धे के अर्थ में आते हैं। 'अंस' शब्द पुँल्लिङ्ग और नपुंसकलिङ्ग है। कंधे की संधियों अर्थात् हँसली की हड्डी को जत्रु कहते हैं। पुनर्भव, कररुह, नख और नखर-ये नखों के नाम हैं। इनमें 'नखर' और 'नख' शब्द स्त्रलिङ्ग के सिवा अन्य दो लिङ्गों में प्रयुक्त होते हैं। अँगूठे से लेकर तर्जनी तक फैलाये हुए हाथ को प्रादेश, अँगेठे से मध्यमातक को ताल और अनामिकातक फैलाये हुए हाथ को गोकर्ण कहते हैं। इसी तरह अँगूठे से कनिष्ठिका अँगुली तक फैले हुए हाथ का नाम वितस्ति (बालिस्त या बित्ता) है। इसकी लम्बाई द्वादश अंगुल की होती है। जिस समय हाथ की सभी अँगुलियाँ फैली हों, तत्पश्चात् उसको चपेट, तल और प्रहस्त कहते हैं। मुट्ठी बँधे हुए हाथ का नाम रत्नि है। (कोहनी से लेकर मुट्ठी बँधे हुए हाथ तक के माप को भी 'रत्नि' कहते हैं।) कोहनी से कनिष्ठा अँगुली तक की लम्बाई का नाम अरत्नि है। शङ्ख के समान आकार वाली ग्रीवा का नाम कम्बुग्रीवा और त्रिरेखा है। गले की घाँटी को अवटु, घाटा और कृकाटिका कहते हैं।

ओठ से नीचे के हिस्से का नाम चिबुक है। गण्ड और गल्ल गाल के वाचक हैं। गालों के निचले भाग को हनु कहते हैं। नेत्रों के दोनों प्रान्तों को अपाङ्ग कहा जाता है। उनको दिखाने की चेष्टा को कटाक्ष कहा जाता है। चिकुर, कुन्तल और वाल-ये केश के वाचक हैं। प्रतिकर्म और प्रसाधन शब्द सँवारने और शृङ्गार करने के अर्थ में आते हैं। आकल्प, वेश तरफ नेपथ्य-ये शब्द प्रत्यक्ष नाटक आदि के खेल में भिन्न-भिन्न वेश धारण करने के अर्थ में आते हैं। मस्तक पर धारण किये जाने वाले रत्न का नाम चूडामणि और शिरोत्न है। हार के बीच-बीच में पिरोये

दैर्घ्यमायाम आरोहः परिणााहो विशालता। पटच्चरं जीर्णवस्त्रं संव्यानं चोत्तरीयकम्॥२८॥
स्वना स्यात्परिस्पन्द आभोगः परिपूर्णता। समुद्गकः सम्पुटकः प्रतिग्राहः पतद्ग्रहः॥२९॥

॥इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते नृब्रह्मक्षत्रनिरूविट्शूद्रवर्गान्यिपणं नाम चतुःषष्ट्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः॥३६४॥

—❀❀❀—

अथ पञ्चषष्ट्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः

ब्रह्मवर्गः

अग्निरुवाच

वंशोऽन्ववायो गोत्रं स्यात्कुलान्यभिजनान्वयौ। मन्त्रव्याख्याकृदाचार्य आदेष्टा त्वध्वरे व्रती॥१॥
यष्टा च यजमानः स्याज्ज्ञात्वाऽऽरम्भ उपक्रमः। सतीर्थ्याश्चैकगुरवः सभ्याः सामाजिकास्तथा॥२॥
सभासदः सभास्तारा ऋत्विजो याजकाश्च ते। अध्वर्यूद्गातृहोतारो यजुः सामर्ग्विदः क्रमात्॥३॥

हुए रतन को तरल कहते हैं। कर्णिका और तालपत्र–ये कान के आभूषण के नाम हैं। लम्बन और ललन्तिका गले में नीचे तक लटकने वाले हार को कहते हैं।

मञ्जीर और नूपुर–ये पैर के आभूषण हैं। किङ्किणी और क्षुद्रघण्टिका घुँघुरू के नाम हैं। दैर्घ्य, आयाम और आनाह–ये वस्त्र आदि की लम्बाई बोधक हैं। परिणाह और शिवालता–ये चौड़ाई (पनहा या अर्ज) के अर्थ में आते हैं। पुराने वस्त्र को पटच्चर कहते हैं। संख्यान और उत्तरीय–ये चादर या दुपट्टे के अर्थ में आते हैं। फूल आदि से बालों का शृङ्गार करने या कपोल आदि पर पत्रभङ्ग आदि बनाने को रचना और परिस्पन्द कहते हैं। प्रत्येक उपचार की पूर्णता का नाम आभोग है। ढक्कन दार पेटी को समुद्गक और सम्पुटक कहते हैं। प्रतिग्राह और पतद्ग्रह–ये पीकदान के नाम हैं॥१-२९॥

॥इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी तीन सौ चौंसठवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ॥३६४॥

अध्याय–३६५

ब्रह्म-वर्ग

श्रीअग्निदेव ने कहा कि–वंश, अन्ववाय, गोत्र, वंश, अभिजन और अन्वय–ये वंश के नाम हैं। मन्त्र की व्याख्या करने वाले ब्राह्मण को आचार्य कहते हैं। जिसने यज्ञ में व्रत की दीक्षा ग्रहण की हो, वह आदेष्टा, यष्टा और यजमान कहलाता है। समझ-बूझकर प्रारम्भ करने का नाम उपक्रम है। एक गुरु के यहाँ साथ-साथ विद्या पढ़ने वाले छात्र परस्पर सतीर्थ और एकगुरु कहलाते हैं। सभ्य, सामाजिक, सभासद और सभास्तार–ये यज्ञ के सदस्यों के नाम हैं। ऋत्विक और याजक–ये यज्ञ कराने वाले ऋत्विजों के वाचक हैं। यजुर्वेद के ज्ञाता ऋत्विज् को अध्वर्यु, सामवेद के जानने वाले को उद्गाता और ऋग्वेद के ज्ञाता को होता कहते हैं। चषाल और यूपकटक–ये यज्ञीय स्तम्भ पर लगाये

चषालो यूपकटकः समे स्थण्डिलचत्वरे। आमिक्षा सा शृतोष्णे या क्षीरे स्याद्दधियोगतः॥४॥
पृषदाज्यं सदध्याज्ये परमान्नं तु पायसम्। उपाकृतः पशुरसौ योऽभिमन्त्र्य क्रतौ हतः॥५॥
परं पराकं शमनं प्रोक्षणं च वधार्थकम्। पूजा नमस्याऽपचितिः सपर्यार्चार्हणाः समाः॥६॥
वरिवस्या तु शुश्रूषा परिचर्याऽप्युपासनम्। नियमो व्रतमस्त्री तच्चोपवासादि पुण्यकम्॥७॥
मुख्यः स्यात्प्रथमः कल्पोऽनुकलपस्तु ततोऽधमः। कल्पे विधिक्रमौ ज्ञेयौ विवेकः पृथगात्मता॥८॥
संस्कारपूर्व ग्रहणं स्यादुपाकरणं श्रुतेः। भिक्षुः परिव्राट् कर्मन्दी पाराशर्यपि मस्करी॥९॥
ऋषयः सत्यवचसः स्नातकश्चाऽप्लुतव्रती। ये निर्जितेन्द्रियग्रामा यतिनो यतयश्च ते॥१०॥
शरीरसधनापेक्षं नित्यं यत्कर्म तद्यमः। नियमस्तु स यत्कर्मानित्यमागन्तुसाधनम्॥
स्याद्ब्रह्मभूयं ब्रह्मत्वं ब्रह्मसायुज्यमित्यपि॥११॥

॥इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गति ब्रह्मवर्गनिरूपणं नाम पञ्चषष्ट्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः॥३६५॥

—※※※—

जाने वाले काठ के छल्ले के नाम हैं। स्थण्डिल और चत्वर—ये दोनों शब्द समान लिङ्ग और समान अर्थ के बोधक हैं। खौलाये हुए दूध में दही मिला देने से जो हवन के योग्य वस्तु तैयार होती है, उसको आमिक्षा कहते हैं। दही मिलाये हुए घी का नाम पृषदाज्य है। परमान्न और पायस—ये खीर के वाचक हैं। जो पशु यज्ञ में अभिमन्त्रित करके मारा गया हो, उसको उपाकृत कहते हैं। परम्पराक, शमन और प्रोक्षण—ये शब्द यज्ञीय पशु का वध करने के अर्थ में आते हैं। पूजा, नमस्या, अपचिति, सपर्य्या, अर्चा और अर्हणा—ये समानार्थक शब्द हैं। वरिवस्या, शुश्रूषा, परिचर्या और उपासना—ये सेवा के नाम हैं। नियम और व्रत—ये एक-दूसरे के पर्यायवाची शब्द हैं। इनमें 'व्रत' शब्द पुँल्लिङ्ग और नपुंसकलिङ्ग—दोनों में प्रयुक्त होता है। निराहार व्रत आदि के रूप में किये जाने वाले व्रत का नाम पुण्यक है। जिसका प्रथम या प्रधान रूप से विधान किया गया हो, उसको 'मुख्यकल्प' कहते हैं और उसकी अपेक्षा अधम या अप्रधान रूप से जिसकी विधि हो, उसका नाम अनुकल्प है। कल्प के अर्थ में विधि और क्रम—इन शब्दों का प्रयोग समझना चाहिये। वस्तु का पृथक्-पृथक् ज्ञान अथवा जड़-चेतन या द्रष्टा-दृश्य के पार्थक्य का निश्चय विवेक कहलाता है। श्रावणीपूर्णिमा आदि के दिन संस्कारपूर्वक वेद का स्वाध्याय प्रारम्भ करना उपकरण या उपाकर्म कहलाता है। भिक्षु, परिव्राट, कर्मन्दी, पाराशरी तथा मस्करी—संन्यासी के पर्यायवाची शब्द हैं। जिनकी वाणी सदा सत्य होती है, वे ऋषि और सत्यवचा कहलाते हैं। जिसने वेदाध्ययन और ब्रह्मचर्य के व्रत को विधिवत् समाप्त कर लिया है, परन्तु अभी दूसरे आश्रम को स्वीकार नहीं किया है, उसको स्नातक कहते हैं। जिन्होंने अपनी सम्पूर्ण इन्द्रियों पर विजय प्राप्त कर ली है, वे 'यती' और 'यति' कहलाते हैं। शरीर-साध्य नित्यकर्म का नाम यम है तथा जो कर्म अनित्य एवं कभी-कभी आवश्यकतानुसार किये जाने योग्य होता है, वह (जप, निराहार व्रत आदि) नियम कहलाता है। ब्रह्मभूय, ब्रह्मत्व और ब्रह्मसायुज्य—ये ब्रह्मभाव की प्राप्ति के नाम हैं॥१-११॥

॥इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी तीन सौ पैंसठवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ॥६५॥

❖❖❖

अथ षट्षष्ट्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः

क्षत्रविट्शूद्रवर्गाः

अग्निरुवाच

मूर्धाभिषिक्तो राजन्यो बाहुजः क्षत्रियो विराट्। राजा तु प्रणताशेषसामन्तः स्यादधीश्वरः॥१॥
चक्रवर्ती सार्वभौमो नृपोऽन्यो मण्डलेश्वरः। मन्त्री धीसचिवोऽमात्यो महामात्राः प्रधानकाः॥२॥
द्रष्टरि व्यवहाराणां प्राड्विवाकाक्षदर्शकौ। भौरिकः कनकाध्यक्षोऽथाध्यक्षाधिकृतौ समौ॥३॥
अन्तःपुरे त्वधिकृतः स्यादन्तर्वंशिको जनः। सौविदल्लाः कञ्चुकिनः स्थापत्याः सौविदाश्च ते॥४॥
षण्डो वर्षवरस्तुल्याः सेवकार्थ्यनुजीविनः। विषयानन्तरो राजा शत्रुर्मित्रमतः परम्॥५॥
उदासीनः परतरः पार्ष्णिग्राहस्तु पृष्ठतः। चरः स्पर्शः स्यात्प्रणिधिरुत्तर काल आयतिः॥६॥
तत्कालस्तु तदात्वं स्यादुदर्कः फलमुत्तरम्। अदृष्टं वह्नितोयादि दृष्टं स्वपरचक्रजम्॥७॥
भद्रकुम्भः पूर्णकुम्भो भृङ्गारः कनकालुका। प्रभिन्नो गर्जितो मत्तो वमथुः करशीकरः॥८॥

अध्याय-३६६

क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र-वर्ग

श्रीअग्निदेव ने कहा कि–मूर्धाभिषिक्त, राजन्य बाहुज, क्षत्रिय और विराट्–ये क्षत्रिय के वाचक हैं। जिस राजा के सामने सभी सामन्त-नरेश मस्तक झुकाते हैं, उसको अधीश्वर कहते हैं। जिसका समुद्र पर्यन्त समूची भूमि पर अधिकार हो, उस सम्राट का नाम चक्रवर्ती और सार्वभौम है तथा दूसरे राजाओं को (जो छोटे-छोटे मण्डलों के शासक हैं, उनको) मण्डलेश्वर कहते हैं। मन्त्री के तीन नाम हैं–मन्त्री, धीसचिव और अमात्य। महामात्र और प्रधान-ये सामान्य मन्त्रियों के वाचक हैं। व्यवहार के द्रष्टा अर्थात् मामले मुकदमे में फैसला देने वाले को प्राड्विवाक तरफ अक्षदर्शक कहते हैं। स्वर्ण की रक्षा जिसके अधिकार में हो वह भौरिक और कनकाध्यक्ष कहलाता है। अध्यक्ष और अधिकृत–ये अधिकारी के वाचक हैं। इन दोनों का समान लिङ्ग है। जिसे अन्तःपुर की रक्षा का अधिकार सौंपा गया हो, उसका नाम अन्तर्वंशिक है। सौविदल्ल, कञ्चुकी, स्थापत्य और सौविद–ये रनिवास की रक्षा में नियुक्त सिपाहियों के नाम हैं। अन्तःपुर में रहने वाले नपुंसकों को षण्ढ और वर्षवर कहते हैं। सेवक, अर्थी और अनुजीवी–ये सेवा करने वाले कके अर्थ में आते हैं। अपने राज्य की सीमा पर रहने वाला राजा शत्रु होता है और शत्रु की राज्य-सीमा पर रहने वाला नरेश अपना मित्र होता है। शत्रु और मित्र दोनों की राज्यसीमाओं के बाद जिसका राज्य हो, वह न शत्रु, न मित्र उदासीन होता है।

विजिगीषु राजा के पृष्ठ भाग में रहने वाले राजा को पार्ष्णिग्राह कहते हैं। चर, स्पश और प्रणिधि–ये गुप्तचर के नाम हैं। भविष्यकाल को आयति कहते हैं। तत्काल और तदात्व–ये वर्तमान काल के वाचक हैं। भावी कर्मफल को उदर्क कहते हैं। आग लगने या पानी की बाढ़ आदि के कारण होने वाले भय को अदृष्टभय कहते हैं। अपने या शत्रु के राज्य में रहने वाले सैनिकों या चोरों आदि के कारण जो संकट उपस्थित होता है, उसका नाम दृष्टभय है। भरे हुए घड़े को भद्रकुम्भ और पूर्णकुम्भ कहते हैं। सोने के गडुए या झारी का नाम भृङ्गार और कनकालुका है।

स्त्रियां सृणिस्त्वङ्कुशोऽस्त्री परिस्तोमः कुथो द्वयोः। कर्णीरथः प्रवहणं दोला प्रेङ्खादिका स्त्रियाम्।।९।।
आधोरणा हस्तिपका हस्त्यारोहा निषादिनः। भटा योधाश्च योद्धारः कञ्चुको वारणोऽस्त्रियाम्।।१०।।
शीर्षण्यं च शिरस्त्रेऽथ तनुत्रं वर्म दंशनम्। आमुक्तः प्रतिमुक्तश्च पिनद्धश्चापिनद्धवत्।।११।।
व्यूहस्तु बलविन्यासश्चक्रं चानीकमस्त्रियाम्। एकेभैकरथा त्र्यश्वा पत्तिः पञ्चपदातिका।।१२।।
पत्त्यङ्गैस्त्रिगुणैः सर्वैः क्रमादाख्या यथोत्तरम्। सेनामुखं गुल्मगणौ वाहिनी पृतना चमूः।।१३।।
अनीकिनी दशानीकिन्योऽक्षौहिण्यो गजादिभिः। धनुः कोदण्ड इष्वासौ (सः) कोटिरस्याटनी स्मृता।।१४।।
नस्तकस्तु धनुर्मध्यं मौर्वी ज्या शिञ्जिनी गुणः। पृषत्कबाणविशिखा अजिह्मगखगाशुगाः।।१५।।
तूणोपासङ्गतूणीरनिषङ्गा इषुधिर्द्वयोः। असिर्ऋष्टिश्च निस्त्रिंशः करवालः कृपाणवत्।।१६।।
त्सरुः खड्गस्य मुष्टौ स्यादीली तु करपालिका। द्वयोः कुठारः सु (स्व) धितिश्छुरिका चासिपुत्रिका।।१७।।
प्रासस्तु कुन्तो विज्ञेयः सर्वला तोमरोऽस्त्रियाम्। वैतालिका बोधकरा मागधा बन्दिनस्तु तौ (ते)।।१८।।

मतवाले हाथी को प्रभिन्न, गर्जित और मत्त कहते हैं। हाथी की सूँड़ से निकलने वाले जलकण को वमथु और करशीकर कहते हैं। सृणि और अङ्कुश–ये दो हाथी को हाँकने के काम में लाये जाने वाले लोहे के काँटे का बोध कराते हैं। इनमें सृणि तो स्त्रीलिङ्ग और अङ्कुश पुँल्लिङ्ग एवं नपुंसकलिङ्ग है। परिस्तोम और कुथ हाथी की गद्दी और झूल के वाचक हैं। स्त्रियों के बैठने योग्य पर्दे वाली गाड़ी को कर्णीरथ और प्रवहरण कहते हैं। दोला और प्रेङ्खा–ये झूला अथवा डोली के नाम हैं। इनका स्त्रीलिङ्ग में प्रयोग होता है। आधोरण, हस्तिपक, हस्त्यारोह और निषादी–ये हाथीवान के अर्थ में आते हैं। लड़ने वाले सिपाहियों को भट और योद्धा कहते हैं। कञ्चुक और वारण–ये कवच (बख्तर) के नाम हैं। इनका प्रयोग स्त्रीलिङ्ग के सिवा अन्य लिङ्गों में होता है। शीर्षण्य और शिरस्त्र–ये सिर पर रखे जाने वाले टोप के नाम हैं। तनुत्र, वर्म और दंशन–ये भी कवच के अर्थ में आते हैं। आमुक्त, प्रतिमुक्त, पिनद्ध और अपिनद्ध–ये पहने हुए कवच के वाचक हैं।

सेना की मोर्चाबन्दी का नाम व्यूह और बल-विन्यास है। चक्र और अनीक–ये नपुंसकलिङ्ग शब्द सेना के वाचक हैं। जिस सेना में एक हाथी, एक रथ, तीन घोड़े और पाँच पैदल हों, उसको पत्ति कहते हैं। पत्ति के समस्त अंगों को लगातार सात बार तीन गुना करते जायँ तो उत्तरोत्तर उसके ये नाम होंगे–सेनामुख, गुल्म, गण, वाहिनी, पृतना, चमू और अनीकिनी। हाथी आदि सभी अंगों से युक्त दस अनीकिनी सेना को अक्षौहिणी कहते हैं। धनुष, कोदण्ड और इष्वास–ये धनुष के नाम हैं। धनुष के दोनों कोणों को कोटि और अटनी कहते हैं। उसके मध्य भाग का नाम नस्तक (या लस्तक) है। प्रत्यञ्चा को मौर्वी, ज्या, शिञ्जिनी और गुण कहते हैं। पृषत्क, बाण, विशिख, अजिह्मग, खग और आशुग–ये वाचक पर्याय शब्द हैं।।१–१६।।

तूण, उपासङ्ग, तूणीर, निषङ्ग और इषुधि–ये तरकस के नाम हैं। इनमें इषुधि शब्द पुँलिङ्ग और स्त्रीलिङ्ग दोनों लिङ्गों में आता है। असि, ऋष्टि, निस्त्रिंश, करवाल और कृपाण–ये तलवार के वाचक हैं। तलवार की मुष्टि को सरु कहते हैं। ईली और करपालिका (करवालिका)–ये गुप्ती के नाम हैं। कुठार और सुधिति (या स्वधिति)–ये कुल्हाड़ी के अर्थ में आते हैं। इनमें कुठार शब्द का प्रयोग पुँल्लिंग और नपुंसकलिङ्ग–दोनों में होता है। छुरी को क्षुरिका और असिपुत्रिका कहते हैं। प्रास और कुन्त भाले के नाम हैं। सर्वला और तोमर गँड़ासे के अर्थ में आते हैं। तोमर शब्द पुँल्लिङ्ग और नपुंसकलिङ्ग–दोनों में प्रयुक्त होता है। (यह बाण-विशेष का भी बोधक है)। जो प्रातःकाल मङ्गल–

संशप्तकास्तु समयात्संग्रामादनिवर्तिनः। पताका वैजयन्ती स्यात्केतनं ध्वजमस्त्रियाम्।।१९।।
अहं पूर्वमहं पूर्वमित्यहंपूर्विका स्त्रियाम्। अहमहमिका सा स्याद्योऽहंकारः परस्परम्।।२०।।
शक्तिः पराक्रमः प्राणः शौर्यं स्थानसहोबलम्। मूर्च्छा तु कश्मलं मोहोऽप्यवमर्दस्तु पीडनम्।।२१।।
अभ्यवस्कन्दनं त्वभ्यासादनं विजयो जयः। निर्वासनं संज्ञपनं मारणं प्रतिघातनम्।।२२।।
स्यात्पञ्चता कालधर्मो दिष्टान्तः प्रलयोऽत्ययः। विशो भूमिस्पृशो वैश्या वृत्तिर्वर्तनजीवने।।२३।।
कृष्यादिवृत्तयो ज्ञेयाः कुसीदं वृद्धिजीविका। उद्धारोऽर्थप्रयोगः स्यात्कणिशं शस्यमञ्जरी।।२४।।
किंशारुः सस्यशूकं स्यात्स्तम्बो गुच्छस्तृणादिनः। धान्यं व्रीहिः स्तम्बकरिः कंडगरो बुषं (सं) स्मृतम्।।२५।।
माषादयः शमीधान्ये शूकधान्ये यवादयः। तृणधान्यानि नीवाराः शूर्प प्रस्फोटनं स्मृतम्।।२६।।
स्यूतप्रसेवौ कण्डोलपिटौ कटकिनिञ्जकौ। समानौ रसवत्यां तु पाकस्थानमहानसे।।२७।।

गान करके राजा को जगाते हैं, उनको वैतालिक और बोधकर कहते हैं। स्तुति करने वालों का नाम मागध और वन्दी है। जो शपथ लेकर संग्राम से पीछे पैर नहीं हटाते, उन योद्धाओं को संशप्तक कहते हैं।

पताका और वैजयन्ती–ये पताका के नाम हैं। केतन और ध्वज–ये ध्वजा के वाचक हैं और इनका प्रयोग नपुंसकलिङ्ग तथा पुँल्लिङ्ग में भी होता है। 'मैं पहले' 'मैं पहले' ऐसा कहते हुए जो योद्धाओं की युद्ध आदि में प्रवृत्ति होती है, उसको अहम्पूर्विका कहते हैं। इसका प्रयोग स्त्रीलिङ्ग में होता है। 'मैं सक्षम हूँ' ऐसा कहकर जो परस्पर अहंकार प्रकट किया जता है, उसका नाम अहमहमिका है। शक्ति, पराक्रम, प्राण, शौर्य, स्थान (स्थामन्) सहस् और बल–ये सभी शब्द बल के वाचक हैं। मूर्च्छा के तीन नाम हैं–मूर्च्छा, कश्मल और मोह। विपक्षी को अच्छी तरह रगड़ने या कष्ट पहुँचाने को अवमर्द तथा पीडन कहते हैं। शत्रु को धर दबाने को नाम अभ्यवस्कन्दन तथा अभ्यासादन है। जीत को विजय और जय कहते हैं। निर्वासन, संज्ञपन, मारण और प्रातिघातन–ये मारने के नाम हैं। पञ्चता और कालधर्म–ये मृत्यु के अर्थ में आते हैं। दिष्टान्त, प्रलय और अत्यय–इनका भी वही अर्थ है।।१७-२२।।

विश्, भूमिस्पृश् और वैश्य–ये शब्द वैश्यजाति का बोध कराने वाले हैं वृत्ति, वर्तन और जीवन–ये जीविका के वाचक हैं। कृषि, गोरक्षा और वाणिज्य–ये वैश्य की जीविका वृत्तियाँ हैं। ब्याज (सूद) से चलायी जाने वाली जीविका का नाम कुसीद-वृत्ति है। ब्याज के लिये धन देने को उद्धार और अर्थप्रयोग कहते हैं। अनाज की बाल का नाम 'कणिश' है। जौ आदि के तीखे अग्रभाग को किशारु तथा सस्यशूक कहते हैं। तृण आदि के गुच्छ का नाम स्तम्ब है। धान्य, व्रीहि और स्तम्बकरि–ये अनाज के वाचक हैं। अनाज के डंठलों से होने वाले भूसे को कडंगर और बुष कहते हैं। शमीधान्य अर्थात् फली या छीमी से निकलने वाले अनाज के अन्दर उड़द, चना और मटर आदि की गणना है तथा शूकधान्य में जौ आदि की गिनती है। तृणधान्य अर्थात् तीना को नीवार कहते हैं। सूप का नाम है–शूर्प और प्रस्फोटन। सन या वस्त्र के बने हुए झोले अथवा थैले को स्यूत तरफ प्रसेव कहते हैं। कण्डोल और पिट टोकरी के तथा कट और किलिञ्जक चटाई के नाम हैं। इन दोनों का एक लिङ्ग है। रसवती, पाकस्थान और महानस–ये रसोई गृह के अर्थ में आते हैं। रसोई के अध्यक्ष का नाम पौरोगव है। रसोई बनाने वाले को सूपकार, बल्लव, आरालिक, आन्धसिक, सूद, औदनिक तथा गुण कहते हैं।

नपुंसकलिङ्ग अम्बरीष तथा पुँल्लिङ्ग भ्राष्ट्र शब्द भाड़ के वाचक हैं। कर्करी, आलु तथा गलन्तिका–ये कठौते के नाम हैं। बड़े घड़े या माट को आलिञ्जर एवं मणिक कहते हैं। काले जीरे का नाम सुषवी है। आरनाल और कुल्माष–

पौरोगवस्तदध्यक्षः सूपकारास्तु वल्लवाः। आरालिका आन्धसिकाः सूदा औदनिका गुणाः।।२८।।
क्लीवेऽम्बरीषं भ्राष्ट्रो ना कर्कर्यालुर्गलन्तिका। आलिंजरः स्यान्मणिकं सुषवी कृष्णजीरके।।२९।।
आरनालस्तु कुल्माषं बाह्लीकं हिङ्गु रामठम्। निशा हरिद्रा पीता स्त्री खण्डे मत्स्यण्डिफाणिते।।३०।।
कूर्चिका क्षीरविकृतिः स्निग्धं मसृणचिक्कणम्। पृथुकः स्याच्चिपिटको धाना भ्र (भृ)ष्टयवाः स्त्रियः।।३१।।
जेमनं लेह आहारो माहेयी सौरभी च गौः। युगादीनां च वोढारो युग्यप्रासङ्ग्यशाटकाः (कटाः)।।३२।।
चिरप्रासूता वष्कयणी धेनुः स्यान्नवसूतिका। संधिनी वृषभाक्रान्ता वेहद्गर्भोपघातिनी।।३३।।
पण्याजीवो ह्यापणिको न्यासश्चोपनिधिः पुमान्। विपणो विक्रयः संख्या संख्येये ह्यादश त्रिषु।।३४।।
विंशत्याद्याः सदैकत्वे सर्वाः संख्येयसंख्ययोः। संख्यार्थे द्विबहुत्वे स्तस्तासु चाऽऽनवतेः स्त्रियः।।३५।।
पङ्क्तेः शतसहस्रादि क्रमाद्दशगुणोत्तरम्। मानं तुलाऽङ्गुलिप्रस्थैर्गुञ्जाः पञ्चाद्यमाषकः।।३६।।

ये काँजी के नाम हैं। वाह्लीक, हिङ्गु तथा रामठ–ये हींग के अर्थ में आते हैं। निशा, हरिद्रा और पीता–ये हल्दी के वाचक हैं। खाँड़ को मत्स्यण्डि तथा फाणित कहते हैं। दूध के विकार अर्थात् खोवा या मावा का नाम कूर्चिका और क्षीरविकृति है। स्निग्ध, मसृण और चिक्कण–ये तीनों शब्द चिकने के अर्थ में आते हैं। पृथुक और चिपिटक–ये चिउड़ा के वाचक हैं। भूने हुए जौ को धाना कहते हैं। यह स्त्रीलिङ्ग शब्द है। जेमन, लेह (लेप) और आहार–ये भोजन का बोध कराने वाले हैं। माहेयी, सौरभी और गौ–ये गाय के पर्याय हैं। कन्धे पर जुआ ढोने वाले बैल को युग्य और प्रासङ्ग्य तथा गाड़ी खींचने वाले को शाकट कहते हैं। बहुत दिनों की ब्यायी हुई गाय का नाम वष्कयणी (बकेना) तथा थोड़े दिनों की ब्यायी हुई का नाम धेनु है। साँड़ से लगी हुई गौ को संधिनी कहते हैं। गर्भ गिराने वाली गाय की 'वेहद्' संज्ञा है।।२३-३३।।

पण्याजीव तथा आपणिक व्यापारी के अर्थ में आते हैं। न्यास और उपनिधि–ये धरोहर के वाचक हैं। ये दोनों शब्द पुँल्लिङ्ग हैं। बेचने का नाम है विपण और विक्रय। संख्यावाचक शब्द एक से लेकर 'दश' शब्द के श्रवण होने तक (अर्थात् एक से अष्टादश तक) केवल संख्येय द्रव्य का बोध कराने के लिये प्रायुक्त होते हैं, इसलिये उनका तीनों लिङ्गों में प्रयोग होता है। जिस प्रकार–**एकः पटः, एका स्त्री, एकं पुष्पम्** इत्यादि; परन्तु 'पञ्चन्' से 'दशन्' शब्द तक के रूप तीनों लिङ्गों में समान होते हैं। यथा–**दश स्त्रियः, दश पुरुषाः, दश पुष्पाणि** इत्यादि। इसी तरह अष्टादश तक समझना चाहिये। संख्या मात्र का बोध कराने के लिये इन शब्दों का प्रयोग नहीं होता; अतएव **विप्राणां शतम्** इत्यादि समान 'विप्राणां दश' यह प्रयोग नहीं हो सकता। विंशति आदि सभी संख्यावाची शब्द संख्या और संख्येय दोनों अर्थों में आते हैं तथा वे नित्य एक वचनान्त माने जाते हैं। (यथा संख्येय में–**विंशतिः पटाः**।

संख्यामात्र में–**विंशतिः पटानाम्** इत्यादि। परन्तु इनकी एकवचनान्तता केवल संख्येय अर्थ में ही मानी गयी है।) संख्यामात्र में ये द्विवचन और बहुवचन भी होते हैं (यथा दो बीस, तीन बीस आदि के अर्थ में–**द्वे विंशती, त्रयो विंशतयः**–इत्यादि)। ऊनविंशति से लेकर नवनवतितक सभी संख्याशब्द स्त्रीलिङ्ग हैं (अतएव 'विंशत्या पुरुषैः' इत्यादि प्रयोग होते हैं।) 'पङ्क्ति' से लेकर शत, सहस्र आदि शब्द क्रमशः दस गुने अधिक हैं। (यथा पङ्क्तिः (१०), शतम् (१००), सहस्रम् (१०००), अयुतम् (१००००) इत्यादि)। मान तीन तरह के होते हैं–तुलामान, अङ्गुलिमान और प्रस्थमान। पाँच गुंजे (रत्ती) का एक माषक (माशा) होता है।।३४-३६।।

ते षोडशाक्षः कार्षोऽस्त्री पलं कर्षचतुष्टयम्। सुवर्णविस्तौ हेम्नोऽक्षे कुरुविस्तस्तु तत्पले॥३७॥
तुला स्त्रियां पलशतं भारः स्याद्विंशतिस्तुलाः। कार्षापणः कार्षिकः स्यात्कार्षिके ताम्रिके पणः॥३८॥
द्रव्यं वित्तं स्वापतेयं रिक्थमृक्थं धनं वसु। रीतिः स्त्रियामारकूटो ना स्त्रियामथ ताम्रकम्॥३९॥
शुल्वमौदुम्बरं लौहे तीक्ष्णं कालायसायसी। क्षारः काचोऽथ चपलो रसः सूतश्च पारदे॥४०॥
गरलं माहिषं शृङ्गं त्रपुसीसकपिच्चटम्। हिण्डीरोऽब्धिकफः फेनो मधूच्छिष्टं तु सिक्थकम्॥४१॥
रङ्गवङ्गे पिचुस्थूलो कूलटी तु मनःशिला। यवक्षारश्च पाक्यः स्यात्त्वक्क्षीरा वंशलोचना॥४२॥
वृषला जघन्यजाः शूद्राश्चाण्डालान्त्याश्च शं (सं) कराः। कारुः शिल्पी संहतैस्तैर्द्वयोः श्रेणिः सजातिभिः॥४३॥
रङ्गाजीवश्चित्रकरस्त्वष्टा तक्षा च वर्धकिः। नाडिंधमः स्वर्णकारो नापितान्तावसायिनः॥४४॥
जाबालः स्यादजाजीवो देवाजीवस्तु देवलः। जायाजीवास्तु शैलूषा भृतको भृतिभुक्तथा॥४५॥
विवर्णः पामरो नीचः प्राकृतश्च पृथग्जनः। विहीनोऽपसदो जाल्मो भृत्ये दासेरचेटकाः॥४६॥
पटुस्तु पेशलो दक्षो मृगयुर्लुब्धकः स्मृतः। चाण्डालस्तु दिवाकीर्तिः पुस्तं लेप्यादिकर्मणिः॥४७॥

सोलह माषक का एक अक्ष होता है, इसी को कर्ष भी कहते हैं। कर्ष पुँल्लिंग भी है और नपुंसक लिंग भी। चार कर्ष का एक पल होता है। एक अक्ष सोने को 'स्वर्ण' और बिस्त कहते हैं तथा एक पल स्वर्ण का नाम 'कुरुबिस्त' है। सौ पल की एक 'तुला' होती है, यह स्त्रीलिङ्ग शब्द है। बीस तुला को 'भार' कहते हैं। चाँदी के रुपये का नाम कार्षापण और कार्षिक है। ताँबे के पैसे को 'पण' कहते हैं। द्रव्य, वित्त, स्वापतेय, रिक्थ, ऋक्थ, धन और वसु–ये धन के वाचक हैं। स्त्रीलिङ्ग विधि शब्द और पुँल्लिंग आरकूट–ये पीतल के अर्थ में प्रयुक्त होते हैं।

ताँबा का नाम–ताम्रक, शुल्ब तथा औदुम्बर है। तीक्ष्ण, कालायस और आयस–ये लोहे के अर्थ में आते हैं। क्षार और काँच–ये काँच के नाम हैं। चपल, रस, सूत और पारद–ये पारा के वाचक हैं। भैंस के सींग का नाम गरल (या गवल) है। त्रपु, सीसक और पिच्चट–ये सीसा के अर्थ में प्रयुक्त होते हैं। हिण्डीर, अब्धिकफ तथा फेन–ये समुद्रफेन के वाचक हैं। मधूच्छिष्ट और सिक्थक–ये मोम के नाम हैं। रंग और वंग–राँगा के, पिचु और तूल–रुई के तथा कूलटी (कुनटी) और मनः शिला–मैनसिल के नाम हैं। यवक्षार और पाक्य–पर्यायवाची शब्द हैं। त्वक्क्षीरा और वंशलोचना–वंशलोचन के वाचक हैं॥३७-४२॥

वृषल, जघन्यज और शूद्र–ये शूद्रजाति के नाम हैं। चाण्डाल एवं अन्त्यज जातियाँ वर्णसंकर कहलाती हैं। शिल्पकर्म के ज्ञाता को कारु और शिल्पी कहते हैं (इनमें बढ़ई, थवई आदि सभी आ जाते हैं।) समान जाति के शिल्पियों के एकत्रित हुए समुदाय को श्रेणि कहते हैं। यह स्त्रीलिङ्ग और पुँल्लिङ्ग दोनों में प्रयुक्त होता है। चित्र बनाने वाले को रङ्गाजीव और चित्रकार कहते हैं। त्वष्टा, तक्षा और वर्धकि–ये बढ़ई के नाम हैं। नाडिन्धम और स्वर्णकार–ये सुनार के वाचक हैं। नाई (हजाम) का नाम है नापित तथा अन्तावसायी। बकरी बेंचने वाले गडरियें का नाम जाबाल और अजाजीव है। देवाजीव और देवल–ये देवपूजा से जीविका चलाने वाले के अर्थ में आते हैं।

अपनी स्त्रियों के साथ नाटक दिखाकर जीवन-निर्वाह करने वाले नट को जायाजीव और शैलूष कहते हैं। रोजाना मजदूरी लेकर गुजर करने वाले मजूरे का नाम भृतक और भृतिभुक् है। विवर्ण, पामर, नीच, प्राकृत, पृथग्जन, विहीन, अपसद और जाल्म–ये नीच के वाचक हैं। दास को भृत्य, दासेर और चेटक भी कहते हैं। पटु, पेशल औ दक्ष–ये चतुर के अर्थ में आते हैं। मृगयु और लुब्धक–ये व्याध के नाम हैं। चाण्डाल को चाण्डाल और दिवाकीर्ति

पञ्चालिका पुत्रिका स्याद्वर्करस्तरुणः पशूः। मञ्जूषा पेटकः पेडा तुल्यसाधारणौ समौ।।४८।।
प्रतिमा स्यात्प्रतिकृतिर्वर्गा ब्रह्मादयः स्मृताः।।४९।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गति क्षत्रविट्शूद्रवर्गनिरूपणं नाम षट्षष्ट्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः।।३६६।।

—※※※—

अथ सप्तषष्ट्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः

सामान्यनामलिङ्गानि

अग्निरुवाच

सामान्यान्यथ वक्ष्यामि नामलिङ्गानि तच्छृणु। सुकृती पुण्यवान्धन्यो महेच्छस्तु महाशयः।।१।।
प्रवीणनिपुणाभिज्ञविज्ञनिष्णातशिक्षिताः। स्युर्वदान्यस्थूललक्षदानशौण्डा बहुप्रदे।।२।।
कृती कृतज्ञः कुशल आसक्तोद्युक्त उत्सुकः। इभ्य आढ्यः परिवृढो ह्यधिभूर्नायकोऽधिपः।।३।।
लक्ष्मीवाँल्लक्ष्मणः श्रीलः स्वतन्त्रः स्वैर्यपावृतः। खलपूः स्याद्बहुकरो दीर्घसूत्रश्चिरक्रियः।।४।।

कहते हैं। पुताई आदि के काम में पुस्त शब्द का प्रयोग होता है। पञ्चलिका और पुत्रिका—ये पुतली या गुडिया के नाम हैं। वर्कर शब्द जवान पशुमात्र के अर्थ में आता है। (साथ ही वह बकरे का भी वाचक है)। गहना रखने के डब्बे को या कपड़े रखने की पेटी को मञ्जूषा, पेटक तथा पेडा कहते हैं। तुल्य अऔर सामान्य—ये समान अर्थ के वाचक हैं। इनका सामान्यतः तीनों लिङ्गों में प्रयोग होता है। प्रतिमा और प्रतिकृति—ये पत्थर आदि की मूर्ति के वाचक हैं। इस तरह ब्राह्मण आदि वर्णों का वर्णन किया गया है।।४३-४९।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी तीन सौ छाछठवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।३६६।।

अध्याय-३६७

सामान्य नाम-लिङ्ग

श्रीअग्निदेव ने कहा कि—हे मुनिवर! अधुना मैं सामान्यतः नामलिङ्गों का वर्णन करने जा रहा हूँ। इस प्रकरण में आये हुए शब्द प्रायः ऐसे होंगे, जो अपने विशेष्य के अनुसार तीनों लिङ्गों में प्रयुक्त हो सकते हैं, आप उनको ध्यान देकर सुनें। सुकृति, पुण्यवान् और धन्य—ये शब्द पुण्यात्मा और सौभाग्यशाली पुरुष के लिये आते हैं। जिनकी अभिलाषा, आशय या अभिप्राय महान् हो, उनको महेच्छ और महाशय कहते हैं। जिनके हृदय शुद्ध, सरल, कोमल, दयालु एवं भावुक हों, वे हृदयालु सहृदय और सुहृदय कहलाते हैं। प्रवीण, निपुण, अभिज्ञ, विज्ञ, निष्णात और शिक्षित—सुयोग्य एवं कुशल के अर्थ में आते हैं। वदान्य, स्थूललक्ष, दानशौण्ड और बहुप्रद—यह

जाल्मोऽसमीक्ष्यकारी स्यात्कुण्ठो मन्दः क्रियासु यः। कर्मशूरः कर्मठः स्याद्भक्षको घस्मको (रो) ऽद्मरः॥५॥
लोलुपो गर्धलो गृध्नुर्विनीतप्रश्रितौ तथा। धृष्टे धृष्णुर्वियातश्च निभृतः प्रतिभान्विते॥६॥
प्रगल्भो भीरुको भीरुर्वन्दारुरभिवादके। भूष्णुर्भविष्णुर्भविता ज्ञाता विदुरविन्दुकौ॥७॥
मत्तशौण्डोत्कटक्षीवाश्चण्डस्त्वत्यन्तकोपनः। देवानञ्चति देवद्र्यङ्विष्वद्र्यङ् विश्वगञ्चति॥८॥
यः सहाञ्चति सध्र्यङ्स स तिर्यङ्यस्तिरोऽञ्चति। वाचोयुक्तिः पटुर्वाग्मी वावदूकश्च वक्तरि॥९॥
स्याज्जल्प (ल्पा) कस्तु वाचालो वाचाटो बहुगर्ह्य वाक्। अपध्वस्तो धिक्कृतः स्याद्बद्धे कीलितसंयतौ॥१०॥
वरणः शब्दनो नान्दीवादी नान्दीकरः समौ। व्यसनार्तोपरक्तौ द्वौ बद्धे कीलितसंयतौ॥११॥
विहस्तव्याकुलौ तुल्यौ नृशंसक्रूरघातकाः। पापो धूर्तो वञ्चकः स्यान्मूर्खे वैदेहवालिशौ॥१२॥
कदर्ये कृपणक्षुद्रौ मार्गणो याचकार्थिनौ। अहंकारवानहंयुः शुभंयुस्तु शुभान्वितः॥१३॥

अधिक दान करने वाले के वाचक हैं। कृती, कृतज्ञ और कुशल–ये भी प्रवीण, चतुर एवं दक्ष के ही अर्थ में आते हैं। आसक्त, उद्युक्त और उत्सुक–ये उद्योगी एवं कार्यपरायण पुरुष के लिये प्रयुक्त होते हैं। अधिक धनवान् को इभ्य और आढ्य कहते हैं। परिवृढ, अधिभू, नायक और अधिप–ये स्वामी के वाचक हैं। लक्ष्मीवान्, लक्ष्मण तथा श्रील–ये शोभा और श्री से सम्पन्न पुरुष के अर्थ में आते हैं। स्वतन्त्र, स्वैरी और अपावृत शब्द स्वाधीन अर्थ के बोधक हैं। खलपू और बहुकर–खलिहान या मैदान साफ करने वाले पुरुष के अर्थ में आते हैं। दीर्घसूत्र और चिरक्रिय–ये आलसी तथा बहुत विलम्ब से काम पूरा करने वाले पुरुष के बोधक हैं। बिना विचारे काम करने वाले को जाल्म और असमीक्ष्यकारी कहते हैं। जो कार्य करने में ढीला हो, वह कुण्ठ कहलाता है। कर्मशूर और कर्मठ–ये उत्साहपूर्वक कर्म करने वाले के वाचक हैं। खाने वाले को भक्षक, घस्मर और अद्मर कहते हैं। लोलुप, गर्धन और गृध्नु–ये लोभी के पर्याय हैं। विनीत और प्रश्रित–ये विनययुक्त पुरुष का बोध कराने वाले हैं। धृष्णु और वियात–ये धृष्ट के लिये प्रयुक्त होते हैं। प्रतिभाशाली पुरुष के अर्थ में निभृत और प्रगल्भ शब्द का प्रयोग होता है।

भीरुक और भीरु–डरपोक के, बन्दारु और अभिवादक नमस्कार करने वाले के, भूष्णु, भविष्णु और भविता होने वाले के तथा ज्ञाता, विदुर और विन्दुक–ये जानकार के वाचक हैं। मत्त, शौण्ड, उत्कट और क्षीब–ये मतवाले के अर्थ में आते हैं। क्षीब शब्द नान्त भी होता है, इसके **क्षीबा, क्षीबाणौ, क्षीबाणः** इत्यादि रूप होते हैं। चण्ड और अत्यन्त कोपन–ये अधिक क्रोध करने वाले पुरुष के बोधक हैं। देवताओं का अनुसरण करने वाले को देवद्र्यङ् और सभी तरफ जाने वाले को विष्वग्द्र्यङ् कहते हैं। इसी प्राकार साथ चलने वाला सध्र्यङ् और तिरछा चलने वाला तिर्यङ् कहलाता है। वाचोयुक्ति पटु, वाग्मी और वावदूक–ये कुशल वक्ता के अर्थ में प्रयुक्त होते हैं। बहुत अनाप-शनाप बकने वाले को जल्पाक, वाचाल, वाचाट और बहुगर्ह्यवाक् कहते हैं। उपध्वस्त और धिक्कृत–ये धिक्कारे हुए पुरुष के वाचक हैं। कीलित और संयत शब्द बद्ध (बँधे हुए) का बोध कराने वाले हैं॥१-१०॥

रवण और शब्दन–ये आवाज करने वाले के अर्थ में आते हैं। नाटक आदि के प्रारम्भ में जो मंगल के लिये आशीर्वादयुक्त स्तुति का पाठ किया जाता है, उसका नाम नान्दी है। नान्दीपाठ करने वाले को नान्दीवादी और नान्दीकर कहते हैं। व्यसनार्त और उपरक्त–ये पीड़ित के अर्थ में आते हैं। विहस्त और व्याकुल–ये शोकाकुल पुरुष का बोध कराने वाले हैं। नृशंस, क्रूर, घातक और पाप–ये दूसरों से द्रोह करने वाले निर्दय मनुष्य के वाचक हैं। ठग को धूर्त और वञ्चक कहते हैं। वैदेह (वैधेय) और वालिश–ये मूर्ख के वाचक हैं। कृपण और क्षुद्र–ये कदर्य (कंजूस) के

कान्तं मनोरमं रुच्यं हृद्याभीष्टे ह्यभीप्सिते। असारं फल्गु शून्यं वै मुख्यवर्यवरेण्यकाः॥१४॥
श्रेयाञ्श्रेष्ठः पुष्कलः स्यात्प्राग्र्याग्रीयमग्रियम्। वड्रोरुविपुलं पीनपीव्नी तु स्थूलपीवरे॥१५॥
स्तोकाल्पखुल्लकाः सूक्ष्मं श्लक्ष्णं दभ्रं कृशं तनु। मात्राकुटीलवकणा भूयिष्ठं पुरुहं पुरु॥१६॥
अखण्डं पूर्णसकलमुपकण्ठान्तिकाभितः। समीपे संनिधाभ्यासौ नेदिष्ठं सुसमीपकम्॥१७॥
सुदूरे तु दविष्ठं स्याद्वृत्तं निस्तलवर्तुले। उच्चप्रांशून्नतोदग्रा ध्रुवो नित्यः सनातनः॥१८॥
आविद्धं कुटिलं भुग्नं वेल्लितं वक्रमित्यपि। चञ्चलं तरलं चैव कठोरं जठरं दृढम्॥१९॥
प्रत्यग्रोऽभिनवो नव्यो नवीनो नूतनो नवः। एकतानोऽनन्यवृत्तिरुच्चण्डमविलम्बितम्॥२०॥
उच्चावचं नैकभेदं संबाधकलिलं तथा। तिमितं स्तिमितं क्लिन्नमभियोगस्त्वभिग्रहः॥२१॥
स्फातिवृद्धौ प्रथा ख्यातौ समाहारः समुच्चयः। अपहारस्त्वपचयो विहारस्तु परिक्रमः॥२२॥
प्रत्याहार उपादानं निर्हारोऽभ्यवकर्षणम्। विघ्नोऽन्तरायः प्रत्यूहः स्यादास्या त्वासना स्थितिः॥२३॥
संनिधिः संनिकर्षः स्यात्संक्रमो दुर्गसंचरः। उपलम्भस्त्वनुभवः प्रत्यादेशो निराकृतिः॥२४॥

अर्थ में प्रयुक्त होते हैं। मार्गण, याचक और अर्थी–ये याचना करने वाले के अर्थ में आते हैं। अहंकारी को अहंकारवान् और अहंयु तथा शुभ के भागी को शुभान्वित और शुभंयु कहते हैं। कान्त, मनोरम और रुच्य–ये सुन्दर अर्थ के वाचक हैं। हृद्य, अभीष्ट और अभीप्सित–ये प्रिय के समानार्थक शब्द हैं।

असार, फल्गु तथा शून्य–ये निस्सार अर्थ का बोध कराने वाले हैं। मुख्य, वर्य, वरेण्यक, श्रेयान्, श्रेष्ठ और पुष्कल–ये श्रेष्ठ के वाचक हैं। प्राग्र्य, अग्र्य, अग्रीय तथा अग्रिय शब्द भी इसी अर्थ में आते हैं। वड्र, उरु और विपुल–ये विशाल अर्थ के बोधक हैं। पीन, पीवन्, स्थूल और पीवर–ये स्थूल या मोटे अर्थ का बोध कराने वाले हैं। स्तोक, , अल्प, क्षुल्लक, सूक्ष्म, श्लक्ष्ण, दभ्र, कृश, तनु, मात्रा, त्रुटि, लव और कण–ये स्वल्प या सूक्ष्म अर्थ के वाचक हैं। भूयिष्ठ, पुरुह और पुरु–ये अधिक अर्थ के बोधक हैं। अखण्ड, पूर्ण और सकल–ये समग्र के वाचक हैं। उपकण्ठ, अन्तिक, अभितः, संनिधि और अभ्याश–ये सन्निकट के अर्थ में आते हैं। अत्यन्त सन्निकट को नेदिष्ठ कहते हैं। बहुत दूर के अर्थ में दविष्ठ शब्द का प्रयोग होता है। वृत्त, निस्तल और वर्तुल–ये गोलाकार के वाचक हैं। उच्च, प्रांशु, उन्नत और उदग्र–ये ऊँचा के अर्थ में आते हैं। ध्रुव, नित्य और सनातन–ये नित्य अर्थ के बोधक हैं। आविद्ध, कुटिल, भुग्न, वेल्लित और वक्र–ये टेढ़े का बोध कराने वाले हैं। चञ्चल और तरल–ये चपल के अर्थ में आते हैं। कठोर, जरठ और दृढ़–ये समानार्थक शब्द हैं। प्रत्यग्र, अभिनव, नव्य, नवीन, नूतन और नव–ये नये के अर्थ में आते हैं।

एकतान और अनन्यवृत्ति–ये एकाग्रचित्त वाले पुरुष के बोधक हैं। उच्चण्ड और अविलम्बित–ये फुर्ती के वाचक हैं। उच्चावच और नैकभेद–ये अनेक तरह के अर्थ में आते हैं। सम्बाध और कलित–ये संकीर्ण एवं गहन के बोधक हैं। तिमित, स्तिमित और क्लिन्न–ये आर्द्र या भीगे हुए के अर्थ में आते हैं। अभियोग और अभिग्रह–ये दूसरे पर किये हुए दोषारोपण के नाम हैं। स्फाति शब्द वृद्धि के और प्रथा शब्द ख्याति के अर्थ में आता है। समाहार और समुच्चय–ये समूह के वाचक हैं। उपहार और अपचच–ये ह्रास का बोध कराने वाले हैं। विहार और परिक्रम–ये घूमने के अर्थ में आते हैं। प्रत्याहार और उपादान–ये इन्द्रियों को विषयों से हटाने के अर्थ में प्रयुक्त होते हैं। निर्हार तथा अभ्यवकर्षण–ये शरीर में धँसे हुए शस्त्रादि को युक्तिपूर्वक निकालने के अर्थ में आते हैं। विघ्न, अन्तराय और प्रत्यूह–ये विघ्न का बोध कराने वाले हैं। आस्या, आसना और स्थिति–ये बैठने की क्रिया के बोधक हैं। संनिधि और संनिकर्ष–

परिरम्भः परिष्वङ्गः संश्लेष उपगूहनम्। अनुमा पक्षहेत्वाद्यैर्डिम्बे भ्रमरविप्लवौ।।२५।।
असंनिकृष्टार्थज्ञानं शब्दाद्धि शाब्दमीरितम्। सादृश्यदर्शनात्तुल्ये बुद्धिः स्यादुपमानकम्।।२६।।
कार्यं दृष्ट्वा विना न स्यादर्थापत्तिः परार्थधीः। प्रतियोगिन्यगृहीते भुवि नास्तीत्यभावकः।।२७।।
इत्यादिनामलिङ्गो हि हरिरुक्तो नृबुद्धये।।२८।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गति सामान्यनामकथनं नाम सप्तषष्ट्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः।।३६७।।

ये सन्निकट रहने के अर्थ में प्रयुक्त होते हैं। किले में प्रवेश करने की क्रिया को संक्रम और दुर्गसंचर कहते हैं। उपलम्भ और अनुभव–ये अनुभूति के नाम हैं। प्रत्यादेश और निराकृति–ये दूसरे के मत का खण्डन करने के अर्थ में आते हैं। परिरम्भ, परिष्वङ्ग, संश्लेष और उपगूहन–ये आलिङ्गन के अर्थ में प्रयुक्त होते हैं। पक्ष और हेतु आदि के द्वारा निश्चित होने वाले ज्ञान को नाम अनुमा या अनुमान है। बिना हथियार की लड़ाई तथा भयभीत होने पर किये हुए शब्द का नाम डिम्ब, भ्रमण (या डमर) तथा विप्लव है। शब्द के द्वारा जो परोक्ष अर्थ का ज्ञान होता है, उसको शाब्दज्ञान कहते हैं। समानता देखकर जो उसके तुल्यवस्तु का बोध होता है, उसका नाम उपमान है। जहाँ कोई कार्य देखकर कारण का निश्चय किया जाय, अर्थात् अमुक कारण के बिना यह कार्य नहीं हो सकता–इस तरह विचार करके जो दूसरी वस्तु अर्थात् कारण का ज्ञान प्राप्त किया जाय, उसको अर्थापत्ति कहते हैं। प्रतियोगी का ग्रहण न होने पर जो ऐसा कहा जाता है कि 'अमुक वस्तु पृथ्वी पर नहीं है, उसका नाम अभाव है। इस तरह मनुष्यों का ज्ञान बढ़ाने के लिये मैंने नाम और लिङ्ग–स्वरूप श्रीहरि विष्णु का वर्णन किया है।।११-२८।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी तीन सौ सरसठवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।३६७।।

❖❖❖

अथाष्टषष्ट्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः

प्रलयवर्णनम्

अग्निरुवाच

चतुर्विधस्तु प्रलयो नित्यो यः प्राणिनां लयः। सदा विनाशो जातानां ब्राह्मो नैमित्तिको लयः।।१।।
चतुर्युगसहस्रान्ते प्राकृतः प्रकृतौ लयः। लय आत्यन्तिको ज्ञानादात्मनः परमात्मनि।।२।।
नैमित्तिकस्य कल्पान्ते वक्ष्ये रूपं लयस्य ते। चतुर्युगसहस्रान्ते क्षीणप्राये महीतले।।३।
अनावृष्टिरतीवोग्रा जायते शतवार्षिकी। ततः सत्त्वक्षयः स्याच्च ततो विष्णुर्जगत्पतिः।।४।।
स्थितो जलानि पिबति भानोः सप्तसु रश्मिषु। भूपातालसमुद्रादितोयं नयति संक्षयम्।।५।।
ततस्तस्यानुभावेन तोयाहारोपबृंहिताः। त एव रश्मयः सप्त जायन्ते सप्त भास्कराः।।६।।
दहन्त्यशेषं त्रैलोक्यं सपातालतलं द्विज। कूर्मपृष्ठसमा भूः स्यात्ततः कालाग्निरुद्रकः।।७।।
शेषा हि श्वाससंपातः पातालानि दहत्यधः। पातालेभ्यो भुवं विष्णुर्भुवः स्वर्गं दहत्यतः।।८।।
अम्बरीषमिवाऽऽभाति त्रैलोक्यमखिलं तथा। ततस्तापपरीतास्तु लोकद्वयनिवासिनः।।९।।

अध्याय-३६८

प्रलय विचार

श्रीअग्निदेव ने कहा कि–हे मुनिवर! 'प्रलय' चार तरह का होता है–नित्य, नैमित्तिक, प्राकृत और आत्यनितक। जगत् में उत्पन्न हुए प्राणियों की जो सदा ही मृत्यु होती रहती है, उसका नाम 'नित्य प्रलय' है। एक हजार चतुर्युग बीतने पर जिस समय ब्रह्माजी का दिन समाप्त होता है, उस समय जो सृष्टि का लय होता है, वह 'ब्राह्म लय' के नाम से प्रसिद्ध है। इसी को 'नैमित्तिक प्रलय' भी कहते हैं। पाँचों भूतों का प्रकृति में लीन होना 'प्राकृत प्रलय' कहलाता है तथा ज्ञान हो जाने पर जिस समय आत्मा परमात्मा के स्वरूप में स्थित होता है, उस अवस्था का नाम 'आत्यन्तिक प्रलय' है। कल्प के अन्त में जो नैमित्तिक प्रलय होता है, इसके स्वरूप का मैं आपसे वर्णन करने जा रहा हूँ। जिस समय चारों युग एक हजार बार व्यतीत हो जाते हैं, उस समय यह भूमण्डल प्रायः क्षीण हो जाता है, तत्पश्चात् सौ वर्षों तक यहाँ बड़ी भयंकर अनावृष्टि होती है। उससे भूतल के सम्पूर्ण जीव-जन्तुओं का विनाश हो जाता है। तत्पश्चात् जगत् के स्वामी भगवान् श्रीहरि विष्णु सूर्य की सात किरणों में स्थित होकर पृथ्वी, पाताल और समुद्र आदि का सारा जल पी जाते हैं। इससे सभी जगह जल सूख जाता है। तत्पश्चात् भगवान् की इच्छा से जल का आहार करके पुष्ट हुई वे ही सातों किरणें सात सूर्य के रूप में प्रकट होती हैं। वे सातों सूर्य पाताल सहित समस्त त्रिलोकी को जलाने लगती हैं।' उस समय यह पृथ्वी कछुए की पीठ के समान दिखायी देती है। फिर भगवान् शेष के श्वासों से 'कालाग्नि रुद्र' का प्रादुर्भाव होता है और वे नीचे के समस्त पातालों को भस्म कर डालते हैं। पाताल के पश्चात् भगवान् श्रीहरि विष्णु भूलोक को, फिर भुवर्लोक को तथा सबके अन्त में स्वर्गलोक को भी दुग्ध कर देते हैं। उस समय समस्त त्रिभुवन जलते हुए भाड़-सा प्रतीत होता है।

गच्छन्ति ते महर्लोकं महर्लोकाज्जनं ततः। रुद्ररूपी जगद्दग्ध्वा मुखनिःश्वासतो हरेः॥१०॥
उत्तिष्ठन्ति ततो मेघा नानारूपाः सविद्युतः। शतं वर्षाणि वर्षन्तः शमयन्त्यग्निमुत्थितम्॥११॥
सप्तर्षिस्थानमाक्रम्य स्थितेऽम्भसि शतं मरुत्। मुखनिःश्वासतो विष्णोर्नाशं नयति तान्घनान्॥१२॥
वायुं पीत्वा हरिः शेषे शेते चैकार्णवे प्रभुः। ब्रह्मरूपधरः सिद्धैर्जलगैर्मुनिभिः स्तुतः॥१३॥
आत्ममायामयीं दिव्यां योगनिद्रां समास्थितः। आत्मानं वासुदेवाख्यं चिन्तयन्मधुसूदनः॥१४॥
कल्पं शेते प्रबुद्धोऽथ ब्रह्मरूपी सृजत्यसौ। द्विपरार्धं ततो व्यक्तं प्रकृतौ लीयते द्विज॥१५॥
स्थानात्स्थानं दशगुणमेकस्माद्गुण्यते स्थले। ततोऽष्टादशमे (के)भागे परार्धमभिधीयते॥१६॥
परार्धं द्विगुणं यत्तु प्राकृतः प्रलयः स्मृतः। अनावृष्ट्याऽग्निसंपर्कात्कृते संज्वलने द्विज॥१७॥
महदादेर्विकारस्य विशेषान्तस्य संक्षये। कृष्णेच्छाकारिते तस्मिन्संप्राप्ते प्रतिसंचरे॥१८॥
आपो ग्रसन्ति वै पूर्वं भूमेर्गन्धादिकं गुणम्। आत्मगन्धा ततो भूमिः प्रलयत्वाय कल्पते॥१९॥
रसात्मिकाश्च तिष्ठन्ति ह्यापस्तासां रसो गुणः। पीयते ज्योतिषा तासु नष्टास्वग्निश्च दीप्यते॥२०॥
ज्योतिषोऽपि गुणं रूपं वायुर्ग्रसति भास्क (स्व)रम्। नष्टे ज्योतिषि वायुश्च बली दोधूयते महान्॥२१॥
वायोरपि गुणं स्पर्शमाकाशं ग्रसते ततः। वायौ नष्टे तु चाऽऽकाशं नीरवं तिष्ठति द्विज॥२२॥
आकाशस्याथ वै शब्दं भूतादिर्ग्रसते च खम्। अभिमानात्मकं खं च भूतादिं ग्रसते महान्॥२३॥

तत्पश्चात् भुवर्लोक और स्वर्ग—इन दो लोकों के निवासी अधिक ताप से संतप्त होकर 'महर्लोक' में चले जाते हैं। शेषरूपी भगवान् श्रीहरि विष्णु के मुखोच्छ्वास से प्रकट हुए कालाग्निरुद्र जिस समय सम्पूर्ण जगत् को जला डालते हैं, तत्पश्चात् आकाश में विविध तरह के रूपवाले बादल उमड़ आते हैं, उनके साथ बिजली की गड़गड़ाहट भी होती है। वे बादल लगातार सौ वर्षों तक वर्षा करके बढ़ी हुई आग को शान्त कर देते हैं। जिस समय सप्तर्षियों के स्थान तक पानी पहुँच जाता है तत्पश्चात् विष्णु के मुख से निकली हुई साँस से सौ वर्षों तक प्रचण्ड वायु चलती रहती है, जो उन बादलों को नष्ट कर डालती है। फिर ब्रह्मरूपधारी भगवान् उस वायु को पीकर एकार्णव के जल में शयन करते हैं। उस समय सिद्ध और महर्षिगण जल में स्थित होकर भगवान् की स्तुति करते हैं और भगवान् मधुसूदन अपने 'वासुदेव' संज्ञक आत्मा का चिन्तन करते हुए, अपनी ही दिव्य मायामयी योगनिद्रा का आश्रय ले एक कल्पतक सोते रहते हैं। उसके बाद जागने पर वे ब्रह्मा के रूप में स्थित होकर पुनः जगत् की सृष्टि करते हैं। इस तरह जिस समय ब्रह्माजी के दो परार्द्ध की आयु समाप्त हो जाती है, तत्पश्चात् यह सारा स्थूल प्रपञ्च प्रकृति में लीन हो जाता है॥१-१५॥

इकाई-दहाई के क्रम से एक के बाद दस गुने स्थान नियत करके यदि गुणा करते चले जायँ तो अठारहवें स्थान तक पहुँचने पर जो संख्या बनती है, उसको 'परार्द्ध' कहते हैं। परार्द्ध का दूना समय व्यतीत हो जाने पर 'प्राकृत प्रलय' होता है। उस समय वर्षा के एकदम बन्द हो जाने और सभी तरफ प्रचण्ड अग्नि प्रज्वलित होने के कारण सब कुछ भस्म हो जाता है। महत्तत्त्व से लेकर विशेष पर्यन्त सभी विकारों (कार्यों) का विनाश हो जाता है। भगवान् के संकल्प से होने वाले उस प्राकृत प्रलय के प्राप्त होने पर जल पहले पृथ्वी के गन्ध आदि गुण को ग्रस लेता है—अपने में लीन कर लेता है। तत्पश्चात् बन्धहीन पृथ्वी का प्रलय हो जाता है—उस समय जल में घुल-मिलकर वह जलरूप हो जाती है। तत्पश्चात् रसमय जल की स्थिति रहती है। फिर तेजस्तत्त्व जल के गुण रस को पी जाता है।

भूमिर्याति लयं चाप्सु आपो ज्योतिषि तद्व्रजेत्। वायौ वायुश्च खे खं च अहंकारे लयं स च।।२४।।
महत्तत्त्वे महान्तं च प्रकृतिर्ग्रसते द्विज। व्यक्ताऽव्यक्ता च प्रकृतिर्व्यक्तस्याव्यक्तके लयः।।२५।।
पुमानेकाक्षरः शुद्धः सोऽप्यंशः परमात्मनः। प्रकृतिः पुरुषश्चैतौ लीयते परमात्मनि।।२६।।
न सन्ति यत्र सर्वेशे नामजात्यादिकल्पनाः। सत्तामात्रात्मके ज्ञेये ज्ञानात्मन्यात्मनः परे।।२७।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते नित्यनैमित्तिकप्राकृतप्रलयवर्णनं नामाष्टषष्ट्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः।।३६८।।

—❊❊❊—

इससे जल का लय हो जाता है। जल के लीन हो जाने पर अग्नितत्त्व प्रज्वलित होता रहता है। तत्पश्चात् तेज के प्रकाशमय गुण रूप को वायुतत्त्व ग्रस लेता है। इस तरह तेज के शान्त हो जाने पर अत्यन्त प्रबल एंव प्रचण्ड वायु बड़े वेग से चलने लगती है। फिर वायु के गुण स्पर्श को आकाश अपने में लीन कर लेता है। गुण के साथ ही वायु का विनाश होने पर केवल नीरव आकाश मात्र रह जाता है। उसके बाद भूतादि (तामस अहंकार) आकाश के गुण शब्द को ग्रस लेता है तथा तैजस अहंकार इन्द्रियों को अपने में लीन कर लेता है। इसके बाद महत्तत्त्व अभिमान स्वरूप भूतादि एवं तैजस अहंकार को ग्रस लेता है। इस तरह पृथ्वी जल में लीन होती है, जल तेज में समा जाता है, तेज का वायु में, वायु का आकाश में और आकाश का अहंकार में लय होता है। फिर अहंकार महत्तत्त्व में प्रवेश कर जाता है।

हे ब्रह्मन्! उस महत्तत्त्व को भी प्रकृति ग्रस लेती है। प्रकृति के दो स्वरूप हैं–'व्यक्त' और 'अव्यक्त'। इनमें व्यक्त प्रकृति का अव्यक्त प्रकृति में लय होता है एक, अविनाशी और शुद्धस्वरूप जो पुरुष है, वह भी परमात्मा का ही अंश है, इसलिये अन्त में प्रकृति और पुरुष–ये दोनों परमात्मा में लीन हो जाते हैं। परमात्मा सत्स्वरूप ज्ञेय और ज्ञानमय है। वह आत्मा (बुद्धि आदि) से सर्वथा परे है। वही सभी का ईश्वर–'सर्वेश्वर' कहलाता है। उसमें नाम और जाति आदि की कल्पनाएँ नहीं हैं।।१६-२७।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी तीन सौ अड़सठवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।३६८।।

अथैकोनसप्तत्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः

आत्यन्तिकलयगर्भोत्पत्त्योर्निरूपणम्

अग्निरुवाच

आत्यन्तिकं लयं वक्ष्ये ज्ञानादात्यन्तिको लयः। आध्यात्मिकादिसंतापं ज्ञात्वा स्वस्य विरागतः॥१॥
आध्यात्मिकस्तु संतापः शारीरो मानसो द्विधा। शारीरो बहुभिर्भेदैस्तापोऽसौ श्रूयतां द्विज॥२॥
(त्यक्त्वा जीवो भोगदेहं गर्भमाप्नोति कर्मभिः। आतिवाहिकसंज्ञस्तु देहो भवति वै द्विज॥३॥
केवलं स मनुष्याणां मृत्युकाल उपस्थिते। याम्यैः पुंभिर्मनुष्याणां तच्छरीरं द्विजोत्तम॥४॥
नीयते याम्यमार्गेण नान्येषां प्राणिनां मुने। ततः स्वर्याति नरकं स भ्रमेर्घ (द्ध) टयन्त्रवत्॥५॥
कर्मभूमिरियं ब्रह्मन्फलभूमिरसौ स्मृता। यमो योनि श्च नरकान्निरूपयति कर्मणा॥६॥
पूरणीयाश्च तेनैव यमं चैवानुपश्यताम्। वायुभूताः प्राणिनश्च गर्भं ते प्राप्नुवन्ति हि॥७॥
यमदूतैर्मनुष्यस्तु नीयते तं च पश्यति। धर्मी च पूज्यते तेन पापिष्ठस्ताड्यते गृहे॥८॥

अध्याय-३६९

आत्यन्तिक प्रलय एवं गर्भ-उत्पत्ति विचार

श्रीअग्निदेव ने कहा कि–हे वसिष्ठ जी! अधुना मैं 'आत्यन्तिक प्रलय' का वर्णन करने जा रहा हूँ। जिस समय जगत् के आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक संतापों को जानकर मनुष्य को अपने से भी वैराग्य हो जाता है, उस समय उसको ज्ञान होता है और ज्ञान से इस सृष्टि का आत्यन्तिक प्रलय होता है (यही जीवात्मा का मोक्ष है)। आध्यात्मिक संताप 'शारीरिक' और 'मानसिक' भेद से दो तरह का होता है। हे ब्रह्मन्! शारीरिक ताप के भी अनेकों भेद हैं, उनको श्रवण कीजिये। जीव भोग देह का परित्याग करके अपने कर्मों के अनुसार पुनः गर्भ में आता है। हे वसिष्ठ जी! एक 'आतिवाहिक' संज्ञक शरीर होता है, वह केवल मनुष्यों को मृत्युकाल उपस्थित होने पर प्राप्त होता है। हे विप्रवर! यमराज के दूत मनुष्य के उस आतिवाहिक शरीर को यमलोक के मार्ग से ले जाते हैं। हे मुने! दूसरे प्राणियों को न तो आतिवाहिक शरीर मिलता है और न वे यमलोक के मार्ग से ही ले जाये जाते हैं। तत्पश्चात् यमलोक में गया हुआ जीव कभी स्वर्ग में और कभी नरक में जाता है। जिस प्रकार रहट नामक यन्त्र में लगे हुए घड़े कभी पानी में डूबते हैं और कभी ऊपर आते हैं, उसी तरह जीव को कभी स्वर्ग और कभी नरक में चक्कर लगाना पड़ता है। हे ब्रह्मन्! यह लोक कर्मभूमि है और परलोक फलभूमि। यमराज जीव को उसके कर्मानुसार भिन्न-भिन्न योनियों तथा नरकों में डाला करते हैं। यमराज ही जीवों द्वारा नरकों को परिपूर्ण बनाये रखते हैं। यमराज को ही इनका नियामक समझना चाहिये। जीव वायुरूप होकर गर्भ में प्रवेश करते हैं। यमदूत जिस समय मनुष्य को यमराज के के पास ले जाते हैं, तत्पश्चात् वे उसकी तरफ देखते हैं। उसके कर्मों पर विचार करते हैं–यदि कोई धर्मात्मा होता है तो अपने गृह पर उसको दण्ड देते हैं। चित्रगुप्त उसके शुभ और अशुभ कर्मों का विवेचन करते हैं। हे धर्म के ज्ञाता वसिष्ठ जी! जिस समय तक बन्धु-बान्धवों का अशौच निवृत्त नहीं होता, तत्पश्चात् तक जीव आतिवाहिक शरीर में ही रहकर दिये हुए पिण्डों को भोजन के रूप में अपने साथ ले जाता है।

शुभाशुभं कर्म तस्य चित्रगुप्तो निरूपयेत्। बान्धवानामशौचे तु देहे खल्वातिवाहिके।।९।।
तिष्ठन्नयति धर्मज्ञ दत्तपिण्डाशनं ततः। तं त्यक्त्वा प्रेतदेहं तु प्राप्यान्यं प्रेतलोकतः।।१०।।
वसेत्क्षुधातृषायुक्त आमश्राद्धान्नभुङ्नरः। आतिवाहिकदेहात्तु प्रेतपिण्डैर्विना नरः।।११।।
न हि मोक्षमवाप्नोति पिण्डांस्तत्रैव सोऽश्नुते। कृते सपिण्डीकरणे नरःसम्वत्सरात्परम्।।१२।।
प्रेतदेहं समुत्सृज्य भोगदेहं प्रपद्यते। भोगदेहावुभौ प्रोक्तावशुभा शुभसंज्ञितौ।।१३।।
भुक्त्वा तु भोगदेहेन कर्मबन्धान्निपात्यते। तं देहं परतस्तस्माद्भक्षयन्ति निशाचराः।।१४।।
पापे तिष्ठति चेत्स्वर्गं तेन भुक्तं तदा द्विज। तदा द्वितीयं गृह्णाति भोगदेहं तु पापिनाम्।।१५।।
भुक्त्वा तु पापं वै पश्चाद्येन भुक्तं त्रिविष्टपम्। शुचीनां श्रीमतां गेहे स्वर्गभ्रष्टोऽभिजायते।।१६।।
पुण्ये तिष्ठति चेत्पापं तेन भुक्तं तदा भवेत्। तस्मिन्संभक्षिते देहे शुभं गृह्णाति विग्रहम्।।१७।।
कर्मण्यल्पावशेषे तु नरकादपि मुच्यते। मुक्तस्तु नरकाद्याति तिर्यग्योनिं न संशयः।।१८।।
जीवः प्रविष्टो गर्भं तु कललेऽप्यत्र तिष्ठति। घनीभूतं द्वितीये तु तृतीयेऽवयवास्ततः।।१९।।
चतुर्थेऽस्थीनि त्वङ्मासं पञ्चमे रोमसंभवः। षष्ठे चेतोऽथ जीवस्य दुःखं विन्दति सप्तमे।।२०।।

तत्पश्चात् प्रेतलोक में पहुँचकर प्रेतदेह (आतिवाहिक शरीर) का त्याग करता है और दूसरा शरीर (भोगदेह) पाकर वहाँ भूख-प्यास से युक्त हो निवास करता है। उस समय उसको वही भोजन के लिये मिलता है, जो श्राद्ध के रूप में उसके निमित्त कच्चा अन्न दिया गया होता है। प्रेत के निमित्त पिण्डदान किये बिना उसको आतिवाहिक शरीर से छुटकारा नहीं मिलता, वह उसी शरीर में रहकर केवल पिण्डों का भोजन करता है। सपिण्डीकरण श्राद्ध करने पर एक वर्ष के पश्चात् वह प्रेतदेह को छोड़कर भोग देह को प्राप्त होता है। 'भोगदेह' दो तरह के बताये गये हैं– शुभ और अशुभ। भोगदेह के द्वारा कर्मजनित बन्धनों को भागने के पश्चात् जीव मर्त्यलोक में गिरा दिया जाता है। उस समय उसके त्यागे हुए भोगदेह को राक्षस खा जाते है।

हे ब्रह्मन्! यदि जीव भोगदेह के द्वारा पहले पुण्य के फलस्वरूप स्वर्ग का सुख भोग लेता है और पाप भोगना शेष रह जाता है तो वह पापियों के अनुरूप दूसरा भोग शरीर धारण करता है। परन्तु जो पहले पाप का फल भोगकर पीछे स्वर्ग का सुख भोगता है, वह भोग समाप्त होने पर स्वर्ग से भ्रष्ट होकर पवित्र आचार-विचार वाले धनवानों के गृह में जन्म लेता है। हे वसिष्ठजी! यदि जीव पुण्य के रहते हुए पहले पाप भोगता है तो उसका भोग समाप्त होने पर वह पुण्यभोग के लिये श्रेष्ठतम (देवोचित्त) शरीर धारण करता है। जिस समय कर्म का भोग थोड़ा-सा ही शेष रह जाता है तो जीव को नरक से भी छुटकारा मिल जाता है। नरक से निकला हुआ जीव पशु-पक्षी आदि तिर्यग्योनि में ही जन्म लेता है; इसमें तनिक भी संदेह नहीं है।।१-१८।।

(मानवयोनि के) गर्भ में प्रविष्ट हुआ जीव पहले महीने में कलल (रज-वीर्य के मिश्रित बिन्दु) के रूप में रहता है, दूसरे महीने में वह घनीभूत होता है (कठोर मांसपिण्ड का रूप धारण करता है और) तीसरे महीने शरीर के अवयव प्रकट हो जाते हैं। चौथे महीन में 'हड्डी, मांस और त्वचा का प्राकट्य होता है। पाँचवें में रोएँ निकल आते हैं। छठे महीने में उसके अन्दर चेतना आती है और सातवें से वह दुःख का अनुभव करने लगता है। उसका सारा शरीर झिल्लियों में लिपटा होता है और मस्तक के पास उसके जुड़े हुए हाथ बँधे रहते हैं। यदि गर्भ का बालक नपुंसक

जरायुवेष्टिते देहे मूर्ध्नि बद्धाञ्जलिस्तथा। मध्ये क्लीवं तु वामे स्त्री दक्षिणे पुरुषस्थितिः।।२१।।
तिष्ठत्युदरभागे तु पृष्ठस्याभिमुखस्तथा। यस्यां तिष्ठत्यसौ योनौ तां स वेत्ति न संशयः।।२२।।
सर्वं च वेत्ति वृत्तान्तमारभ्य नरजन्मनः। अन्धकारे च महतीं पीडां विन्दति मानवः।।२३।।
मातुराहारपीतं तु सप्तमे मास्युपाश्नुते। अष्टमे नवमे मासि भृशमुद्विजते तथा।।२४।।
व्यवायपीडामाप्नोति मातुर्व्यायामके तथा। व्याधिश्च व्याधितायां स्यान्मुहूर्तं शतवर्षवत्।।२५।।
संतप्यते कर्मभिस्तु कुरुतेऽथ मनोरथान्। गर्भाद्विनिर्गतो ब्रह्मन्मोक्षज्ञानं करिष्यति।।२६।।
सूतिवातैरधोभूतो निःसरेद्योनियन्त्रतः। पीड्यमानो मासमात्रं करस्पर्शेन दुःखितः।।२७।।
खशब्दात्क्षुद्रश्रोतांसि देहे श्रोत्रं विविक्तता। श्वासोच्छ्वासौ गतिर्वायोर्वक्रसंस्पर्शनं तथा।।२८।।
अग्रे रूपं दर्शने स्यादूष्मा पङ्क्तिश्च पित्तकम्। मेधा वर्णं बलं छाया तेजः शौर्यं शरीरके।।२९।।
जलात्स्वेदश्च रसनं देहे वै संप्रजायते। क्लेदो वसा रसा रक्तं शुक्रमूत्रकफादिकम्।।३०।।
भूमेर्घ्राणं केशनखं रोमं च शिरसस्तथा। मातृजानि मृदून्यत्र त्वङ्मांसहृदयानि च।।३१।।
नाभिर्मज्जा शकृन्मेदः क्लेदान्यामाशयानि च। पितृजानि शिरा स्नायुः शुक्रं चैवाऽऽत्मजानि तु।।३२।।

हो, तो वह उदर के मध्यभाग में रहता है, कन्या हो, तो वामभाग में और पुत्र हो, तो दायें भाग में रहा करता है। पेट के विभिन्न भागों में रहकर वह पीठ के तरफ मुँह किये रहता है। जिस योनि में वह रहता है, उसका उसको अच्छी तरह ज्ञान होता है, इसमें तनिक भी संदेह नहीं है। इतना ही नहीं, वह मनुष्य जन्म से लेकर वर्तमान जन्म तक के अपने सभी वृत्तान्तों का स्मरण करता है। गर्भ के उस अन्धकार में जीव को बड़े कष्ट का अनुभव होता है। सातवें महीने में वह माता के खाये-पीये हुए पदार्थों का रस पीने लगता है। आठवें और नवें महीने में उसको गर्भ के अन्दर बड़ा उद्वेग होता है। मैथुन होने पर तो उसको और भी वेदना होती है। माता के अधिक परिश्रम करने पर भी गर्भ के बालक को कष्ट होता है। यदि माँ रोगिणी हो जाय तो बालक को भी रोग का कष्ट भोगना पड़ता है। उसके लिये एक मुहूर्त (दो घड़ी) भी सौ वर्षों के समान हो जाता है।।१९-२५।।

जीव अपने कर्मों के अनुसार गर्भ में संतप्त होता है। फिर वह ऐसे मनेप्सित करने लगता है मानो गर्भ से निकलते ही मोक्ष के साधनभूत ज्ञान के प्रयत्न में लग जायगा। प्रसूति-वायु की प्रेरणा से उसका सिर नीचे की तरफ हो जाता है और वह योनियन्त्र से पीड़ित होता हुआ गर्भ से बाहर निकल आता है। बाहर आने पर एक महीने तक उसकी ऐसी स्थिति रहती है कि कोई हाथ से छूता है तो भी उसको कष्ट होता है। 'ख' शब्दवाच्य आकाश से शरीर के अन्दर छोटे-छोटे छेद, कान तथा शून्यता (अवकाश आदि) उत्पन्न होते हैं। श्वासोच्छ्वास, गति और अङ्गों को टेढ़ा-मेढ़ा करके किसी का स्पर्श करना—ये सब वायु के कार्य हैं। रूप, नेत्र, गर्मी, पाचन-क्रिया, पित्त, मेधा, वर्ण, बल, छाया, तेज और शौर्य—ये शरीर में अग्नितत्त्व से प्रकट होते हैं।

पसीना, रसना (स्वाद का अनुभव करने वाली जिह्वा), क्लेद (गलना), वसा (चर्बी), रसा (रस-ग्रहण की शक्ति), शुक्र (वीर्य), मूत्र और कफ आदि का जो देह में प्रादुर्भाव होता है, वह जल का कार्य है। घ्राणेन्द्रिय, केश, नख और शिराएँ (नाड़ियाँ) भूमितत्त्व से प्रकट होती हैं। शरीरमें जो कोमल पदार्थ—त्वचा, मांस, हृदय, नाभि, मज्जा, मल, मेदा, क्लेदन और आमाशय आदि हैं, वे माता के रज से उत्पन्न होते हैं। सिरा स्नानयु और शुक्र का प्रादुर्भाव

कामक्रोधौ भयं हर्षो धर्माधर्मात्मता तथा। आकृतिः स्वरवर्णौ तु मेहनाद्यं तथा च यत्।।३३।।
तामसानि तथा ज्ञानं प्रमादालस्यतृट्क्षुधाः। मोहमात्सर्यवैगुण्यशोकायासभयानि च।।३४।।
कामक्रोधो तथा शौर्यं यज्ञेप्सा बहुभाषिता। अहंकारः परावज्ञा राजसानि महामुने।।३५।।
धर्मेप्सा मोक्षकामित्वं परा भक्तिश्च केशवे। दाक्षिण्यं व्यवसायित्वं सात्त्विकानि विनिर्दिशेत्।।३६।।
चपलः क्रोधनो भीरुर्बहुभाषी कलिप्रियः। स्वप्ने गगनश्चैव बहुवातो नरो भवेत्।।३७।।
अकालपलितः क्रोधी महाप्राज्ञो रणप्रियः। स्वप्ने च दीप्तिमत्प्रेक्षी बहुपित्तो नरो भवेत्।।३८।।
(स्थिरमित्रः स्थिरोत्साहः स्थिराङ्गो द्रविणान्वितः। स्वप्ने जलसितालोकी बहुश्लेष्मा नरो भवेत्।।३९।।
रसस्तु प्राणिनां देहे जीवनं रुधिरं तथा। लेपनं च तथा मांसं मेहस्नेहकरं तु तत्।।४०।।
धारणं त्वस्थिमज्जा स्यात्पूरणं वीर्यवर्धनम्। शुक्रवीर्यकरं ह्योजः प्राणकृतज्जीवसंस्थितिः।।४१।।
ओजः शुक्रात्सारतरमापीतं हृदयोपगम्। षडङ्गं सक्थिनी बाहुमूर्धाजठरमीरितम्।।४२।।
षट् त्वचा बाह्यतो यद्वदन्या रुधिरधारिका। किलासधारिणी चान्या चतुर्थी कुण्डधारिणी।।४३।।
पञ्चमीमिन्द्रियस्थानं षष्ठी प्राणधरा मता। कला सप्तमी मांसधरा द्वितीया रक्तधारिणी।।४४।।

पिता से होता है तथा काम, क्रोध, भय, हर्ष, धर्माधर्म में प्रवृत्ति, आकृति, स्वर, वर्ण और मेहन (मूत्रादि की क्रिया) आदि जीव के शरीर में स्वतः प्रकट होते हैं (ये दोष और गुण उसके अपने हैं)।

अज्ञान, प्रमाद, आलस्य, क्षुधा, तृषा, मोह, मात्सर्य, वैगुण्य, शोक, आभास और भय आदि भाव तमोगुण से होते हैं। हे महामुने! काम, क्रोध, शौर्य, यज्ञ की अभिलाषा, बहुत बोलने की आदत, अहंकार तथा दूसरों का अनादर करना–ये रजोगुण के कार्य हैं। धर्म की अभिलाषा, मोक्ष की आकाङ्क्षा, भगवान् श्रीहरि विष्णु में पराभक्ति का होना, उदारता और उद्योगशीलता–इनको सत्त्वगुण से उत्पन्न समझना चाहिये।।२६-३६।।

चञ्चल, क्रोधी, डरपोक, अधिक बातूनी, कलह में रुचि रखने वाला तथा स्वप्न में आकाश-मार्ग से उड़ने वाला मनुष्य अधिक वात वाला होता है–उसमें वात की प्रधानता होती है। जिसके असमय में ही बाल सफेद हो जायँ, जो क्रोधी, महाबुद्धिमान् और युद्ध को पसंद करने वाला हो, जिसे सपने में प्रकाशमान वस्तुएँ अधिक दिखायी देती हों, उसको पित्तप्रधान प्रकृति का मनुष्य समझना चाहिये। जिसकी मैत्री, उत्साह और अंग सभी स्थिर हों, जो धन आदि से सम्पन्न हो तथा जिसे स्वप्न में जल एवं श्वेत पदार्थों का अधिक दर्शन होता हो, उस मनुष्य में कफ की प्रधानता है। प्राणियों के शरीर में रस जीवन देने वाला होता है, रक्त लेपन का कार्य करता है तथा मांस मेहन एवं स्नेहन क्रिया का प्रयोजक है। हड्डी और मज्जा का काम है शरीर को धारण करना। वीर्य की वृद्धि शरीर को पूर्ण बनानें वाली होती है। ओज शुक्र एवं वीर्य का उत्पादक है; वही जीव की स्थिति और प्राण की रक्षा करने वाला है।

ओज शुक्र की अपेक्षा भी अधिक सार वस्तु है। वह हृदय के सन्निकट रहता है और उसका रंग कुछ-कुछ पीला होता है। दोनों जंघे (ये समस्त पैर के उपलक्षण हैं), दोनों भुजाएँ उदर और मतस्क–ये छः अंग बताये गये हैं। त्वचा के छः स्तर हैं। एक तो वही है, जो बाहर दिखायी देती है। दूसरी वह है, जो रक्त धारण करती है। तीसरी किलास (धातुविशेष) और चौथी कुण्ड (धातुविशेष) को धारण करने वाली है। पाँचवीं त्वचा इन्द्रियों का स्थान है और छठी प्राणों को धारण करने वाली मानी गयी है। कला भी सात तरह की है–पहली मांस धारण करने वाली,

यकृत्प्लीहाश्रया चान्या मेदोधराऽस्थिधारिणी। मज्जाश्लेष्मपुरीषाणां धरा पक्वाशयस्थिता।।
षष्ठी पित्तधरा शुक्रधरा शुक्राशयाऽपरा।।४५।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते आत्यन्तिकलयगर्भोत्पत्तिनिरूपणं नामैकोनसप्तत्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः।।३६९।।

—✻✻✻—

अथ सप्तत्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः

शारीरावयवाः

अग्निरुवाच

श्रोत्रं त्वक्चक्षुषी जिह्वा घ्राणं धीः खं च भूतगम्। शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाः खादिषु तद्गुणाः।।१।।
पायूपस्थौ करौ पादौ वाग्भवेत्कर्म खं तथा। उत्सर्गानन्दकादानगति वागादिकर्म तत्।।२।।
पञ्च कर्मेन्द्रियाण्यत्र पञ्च बुद्धीन्द्रियाणि च। इन्द्रियार्थाश्च पञ्चैव महाभूता मनोधिपाः।।३।।
आत्माऽव्यक्तश्चतुर्विंशतत्त्वानि पुरुषः परः। संयुक्तश्च वियुक्तश्च यथा मत्स्योदके उभे।।४।।

दूसरी रक्तधारिणी, तीसरी जिगर एवं प्लीहा को आश्रय देने वाली, चौथी मेदा और अस्थि धारण करने वाली, पाँचवीं मज्जा, श्लेष्मा और पुरीष को धारण करने वाली, जो पक्वाशय में स्थित रहती है, छठी पित्त धारण करने वाली और सातवीं शुक्र धारण करने वाली है। वह शुक्राशय में स्थित रहती है।।३७-४५।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी तीन सौ उनहत्तरवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।३६९।।

अध्याय–३७०

शरीर-अवयव विचार

श्रीअग्निदेव ने कहा कि–हे वसिष्ठजी! कान, त्वचा, नेत्र, जिह्वा और नासिका–ये ज्ञानेन्द्रियाँ हैं। आकाश सभी भूतों में व्यापक है। शबद, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध–ये क्रमशः आकाश आदि पाँच भूतों के गुण हैं। गुदा, उपस्थ (लिङ्ग या योनि), हाथ, पैर और वाणी–ये 'कर्मेन्द्रिय' कहे गये हैं। मलत्याग, विषयजनित आनन्द का अनुभव, ग्रहण, चलन तथा वार्तालाप–ये क्रमशः उपरोक्त इन्द्रियों के कार्य हैं। पाँच कर्मेन्द्रिय, पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच इन्द्रियों के विषय, पाँच महाभूत, मन, बुद्धि, आत्मा (महत्तत्त्व), अव्यक्त (मूल प्रकृति)–ये चौबीस तत्त्व हैं। इन सबसे परे है–पुरुष। वह इनसे संयुक्त भी रहता है और पृथक् भी; जिस प्रकार मछली और जल–ये दोनों एक साथ संयुक्त भी रहते हैं तरफ पृथक् भी। रजोगुण, तमोगुण और सत्त्वगुण–ये अव्यक्त के आश्रित हैं। अन्तःकरण की उपाधि से युक्त पुरुष 'जीव' कहलाता है, वही निरुपाधिक स्वरूप से 'परब्रह्म' कहा गया है, जो सभी का कारण है। जो मनुष्य इस

अव्यतमाश्रितानीह रजः सत्त्वतमांसि च। आन्तरः पुरुषो जीवः स परं ब्रह्म कारणम्।।५।।
स याति परमं स्थानं यो वेत्ति पुरुषं परम्। सप्ताऽऽशयाः स्मृता देहे रुधिरस्यैक आशयः।।६।।
श्लेष्मणश्चाऽऽमपित्ताभ्यां पक्वाशयस्तु पञ्चमः। वायुमूत्राशयः सप्त स्त्रीणां गर्भाशयोऽष्टमः।।७।।
पित्तात्पक्वाशयोऽग्नेः स्याद्योनिर्विकशिता द्युतौ। पद्मवद्गर्भाशयः स्यात्तत्र धत्ते सरक्तकम्।।८।।
शुक्रं स्वशुक्रतश्चाङ्गं कुन्तलान्यत्र कालतः। न्यस्तं शुक्रमतो योनौ नैति गर्भाशयं मुने।।९।।
ऋतावपि च योनिश्चेद्वातपित्तकफावृता। भवेत्तदा विकाशित्वं नैव तस्यां प्रजायते।।१०।।
बुक्कात्पुक्कसकप्लीहकृतकोष्ठाङ्गहृद्व्रणाः। तण्डकश्च महाभाग निबद्धान्याशये मतः।।११।।
रसस्य पच्यमानस्य साराद्भवति देहिनाम्। प्लीहा यकृच्च धर्मज्ञ रक्तफेनाच्च पुक्कसः।।१२।।
रक्तं पित्तं च भवति तथा तण्डकसंज्ञकः। भेदो रक्तप्रसाराच्च बुक्कायाः संभवः स्मृतः।।१३।।
रक्तमांसप्रकाराच्च भवन्त्यन्त्राणि देहिनाम्। सार्धत्रिव्यायाम (व्याम) संख्यानि तानि नृणां विनिर्दिशेत्।।१४।।
त्रिव्यामानि तथा स्त्रीणां प्राहुर्वेदविदो जनाः। रक्तवायुसमायोगात्कामे यस्योद्भवः स्मृतः।।१५।।
कफप्रसाराद्भवति हृदयं पद्मसंनिभम्। अधोमुखं तच्छुषिरं यत्र जीवो व्यवस्थितः।।१६।।

परम पुरुष को जान लेता है, वह परमपद को प्राप्त होता है। इस शरीर के अन्दर सात 'आशय' माने गये हैं—पहला रुधिराशय, दूसरा श्लेष्माशय, तीसरा आमाशय, चौथा पित्ताशय, पाँचवाँ पक्वाशय, छठा वाताशय और सातवाँ मूत्राशय। स्त्रियों के इन सात के अतिरिक्त एक आठवाँ आशय भी होता है, जिसे 'गर्भाशय' कहते हैं। अग्नि से पित्त और पित्त से पक्वाशय होता है। ऋतुकाल में स्त्री की योनि कुछ फैल जाती है। उसमें स्थापित किया हुआ वीर्य गर्भाशय तक पहुँच जाता है। गर्भाशय कमल के आकार का होता है। वही अपने में रज और वीर्य को धारण करता है। वीर्य से शरीर और समयानुसार उसमें केश प्रकट होते हैं। ऋतुकाल में भी यदि योनि वात, पित्त और कफ से आवृत्त हो, तो उसमें विकास (फैलाव) नहीं आता। (ऐसी दशा में वह गर्भ धारण के योग्य नहीं रहती)। हे महाभाग! बुक्क से पुक्कस, प्लीहा, यकृत्, कोष्ठाङ्ग, हृदय, व्रण तथा तण्डक होते हैं। ये सभी आशय में निबद्ध हैं। प्राणियों के पकाये जाने वाले रस के सार से प्लीहा और यकृत् होते हैं। हे धर्म के ज्ञाता वसिष्ठ जी! रक्त के फेन से पुक्कस की उत्पत्ति होती है। इसी तरह रक्त, पित्त तथा तण्डक भी उत्पन्न होते हैं। मेदा और रक्त के प्रसार से बुक्का की उत्पत्ति होती है। रक्त और मांस के प्रसार से देहधारियों की आँतें बनती हैं।

पुरुष की आँतों का परिमाण साढ़े तीन व्याम बतलाया जाता है और वेदवेत्ता पुरुष स्त्रियों की आँतें तीन व्याम लम्बी बतलाते हैं। रक्त और वायु के संयोग से काम का उदय होता है। कफ के प्रसार से हृदय प्रकट होता है। उसका आकार कमल के समान है। उसका मुख नीचे की तरफ होता है तथा उसके मध्य का जो आकाश है, उसमें जीव स्थित रहता है। चेतनता से सम्बन्ध रखने वाले सभी भावों की स्थिति वही है। हृदय के वामभाग में प्लीहा और दक्षिणभाग में यकृत् है तथा इसी तरह हृदय कमल के दक्षिण भाग में क्लोम (फुफ्फुस) की भी स्थिति बतलायी गयी है। इस शरीर में कफ और रक्त को प्रवाहित करने वाले जो-जो स्रोत हैं, उनके भूतानुमान से इन्द्रियों की उत्पत्ति होती है। नेत्रमण्डल का जो श्वेतभाग है, वह कफ से उत्पन्न होता है। उसका प्राकट्य पिता के वीर्य से माना गया है तथा नेत्रों का जो कृष्ण भाग है, वह माता के रज एवं वात के अंश से प्रकट होता है। त्वचामण्डल की उत्पत्ति पित्त से होती है। इसको माता और पिता—दोनों के अंश से उत्पन्न समझना चाहिये। मांस, रक्त और कफ से जिह्वा का निर्माण होता है।

चैतन्यानुगता भावाः सर्वे तत्र व्यवस्थिताः। तस्य वामे यथा प्लीहा दक्षिणे च यथा यकृत्॥१७॥
दक्षिणे च तथा क्लोम पद्मस्यैवं प्रकीर्तितम्। श्रोतांसि यानि देहेऽस्मिन्कफरक्तवहानि च॥१८॥
तेषां भूतानुमानाच्च भवतीन्द्रियसंभवः। नेत्रयोर्मण्डलं शुक्लं कफाद्भवति पैतृकम्॥१९॥
कृष्णं च मण्डलं वातात्तथा भवति मातृकम्। पित्तात्त्वङ्मण्डलं ज्ञेयं मातापितृसमुद्भवम्॥२०॥
मांसासृक्कफजा जिह्वा मेदोसृक्कफमांसजौ। वृषा (ष)णौ दश प्राणस्य ज्ञेयान्यायतनानि तु॥२१॥
मूर्धा हृन्नाभिकण्ठाश्च जिह्वा शुक्रं च शोणितम्। गुदं वस्तिश्च गुल्फं च कण्डुराः षोडशेरिताः॥२२॥
द्वे करे द्वे च चरणे चतस्रः पृष्ठतो गले। देहे पादादिशीर्षान्ते जालानि चैव षोडश॥२३॥
मांसस्नायुशिरास्थिभ्यश्चत्वारश्च पृथक्पृथक्। मणिबन्धनगुल्फेषु निबद्धानि परस्परम्॥२४॥
षट् कूर्चानि स्मृतानीह हस्तयोः पादयोः पृथक्। ग्रीवायां च तथा मेढ्रे कथितानि मनीषिभिः॥२५॥
पृष्ठवंशस्योपगताश्चतस्रो मांसरज्जवः। तावन्त्य (त्य) श्च तथा पेश्यस्तासां बन्धनकारिकाः॥२६॥
सीरण्यश्च तथा सप्त पञ्च मूर्धानमाश्रिताः। एकैका मेढ्रजिह्वास्ता अस्थिषष्टिशतत्रयम्॥२७॥
सूक्ष्मैः सह चतुः षष्टिर्दशना विंशतिर्नखाः। पाणिपादशलाकाश्च तासां स्थानचतुष्टयम्॥२८॥
षष्ट्यङ्गुलीनां द्वे पार्ष्ण्योर्गुल्फेषुच चतुष्टयम्। चत्वार्यरत्न्योरस्थीनि जङ्घयोस्तद्वदेव तु॥२९॥

मेदा, रक्त, कफ और मांस से अण्डकोष की उत्पत्ति होती है। प्राण के दस आश्रय जानने चाहिये–मूर्द्धा, हृदय, नाभि, कण्ठ, जिह्वा, शुक्र, रक्त, गुद, वस्ति (मूत्राशय) और गुल्फ (पाँव की गाँठ या घुट्टी) तथा 'कण्डरा' (नसें) सोलह बतलायी गयी हैं। दो हाथ में, दो पैर में, चार पीठ में, चार गले में तथा चार पैर से लेकर सिर तक समूचे शरीर में हैं। इसी तरह 'जाल' भी सोलह बताये गये हैं। मांसजाल, स्नायुजाल, शिराजाल और अस्थिजाल–ये चारों पृथक्–पृथक् दोनों कलाइयों और पैर की दोनों गाँठों में परस्पर आबद्ध हैं। इस शरीर में छः कूर्च माने गये हैं। मनीषी पुरुषों ने दोनों हाथ, दोनों पैर, गला और लिङ्ग–इन्हीं में उनका स्थान बतलाया है। पृष्ठ के मध्यभाग में जो मेरुदण्ड है, उसके सन्निकट चार मांसमयी डोरियाँ हैं तथा उतनी ही पेशियाँ भी हैं, जो उनको बाँधे रखती हैं। सात सीरणियाँ हैं। इनमें से पाँच तो मस्तक के आश्रित हैं और एक–एक मेढ्र (लिंग) तथा जिह्वा में है। हड्डियाँ अठारह हजार हैं। सूक्ष्म और स्थूल–दोनों मिलाकर चौसठ दाँत हैं। बीस नख हैं। इनके अतिरिक्त हाथ और पैरों की शलाकाएँ हैं, जिनके चार स्थान हैं।

अँगुलियों में साठ, एड़ियों में दो, गुल्फों में चार, अरत्नियों में चार और जंघों में भी चार ही हड्डियाँ हैं। घुटनों में दो, गालों में दो, ऊरुओं में दो तथा फलकों के मूलभाग में भी दो ही हड्डियाँ हैं। इन्द्रियों के स्थानों तथा श्रोणिफलक में भी इसी तरह दो–दो हड्डियाँ बतलायी गयी हैं। भग में भी थोड़ी–सी हड्डियाँ हैं। पीठ में पैंतालीस और गले में भी पैंतालीस हैं। गले की हसली, ठोड़ी तथा उसकी जड़ में दो–दो अस्थियाँ हैं। ललाट, नेत्र, कपोल, नासिका, चरण, पसली, तालु तथा अर्बुद–इन सबमें सूक्ष्मरूप से बहत्तर हड्डियाँ हैं। मस्तक में दो शङ्ख और चार कपाल हैं तथा छाती में सत्रह हड्डियाँ हैं। संधियाँ दो सौ दस बतलायी गयी हैं। इनमें से शाखाओं में अड़सठ तथा उनसठ हैं और अन्तरा में तिरासी संधियाँ बतलायी गयी हैं। स्नायु की संख्या नौ सो है, जिनमें से अन्तराधि में दो सौ तीस हैं, सत्तर ऊर्ध्वगामी हैं और शाखाओं में छः सौ स्नायु हैं। पेशियाँ पाँच सौ बतलायी गयी हैं। इनमें चालीस तो ऊर्ध्वगामिनी हैं, चार सौ शाखाओं में हैं और साठ अन्तराधि में हैं।

द्वे द्वे जानुकपोलोरुफलकांशसमुद्भवम् (द्भवे)। अक्षस्थानांशकश्रोणिफलके चैवमादिशेत्।।३०।।
भगास्तोकं तथा पृष्ठे चत्वारिंशच्च पञ्च च। ग्रीवायां च तथाऽस्थीनि जत्रुकं च तथा हनुः।।३१।।
तन्मूलं द्वे ललाटाक्षिगण्डनासाङ्घ्र्ययवस्थिताः। पर्शुकास्तालुकैः सार्धमर्बुदैश्च द्विसप्ततिः।।३२।।
द्वे शङ्खके कपालानि चत्वार्येव शिरस्तथा। उरः सप्तदशाऽस्थीनि संधीनां द्वे शते दश।।३३।।
अष्टषष्टिस्तु शाखासु षष्टिश्चैकविवर्जिताः। अन्तरा वै त्र्यशीतिश्च स्नायोर्नवशतानि च।।३४।।
त्रिंशाधिके द्वे शते तु अन्तराधौ तु सप्ततिः। ऊर्ध्वगाः षट् शतान्येव शाखास्तु कथितानि तु।।३५।।
पञ्च पेशीशतान्येव चत्वाशिंत्तथोर्ध्वगाः। चतुः शतं तु शाखासु अन्तराधौ च षष्ठिका।।३६।।
स्त्रीणां चैकाधिका वै स्याद्विंशतिश्चतुरुत्तरा। स्तनयोर्दश योनौ च त्रयोदश तथाऽऽशये।।३७।।
गर्भस्य च चतस्रः स्युः शिराणां च शरीरिणाम्। त्रिंशच्छतसहस्राणि तथाऽन्यानि नवैव तु।।३८।।
षट्पञ्चाशत्सहस्राणि रसं देहे वहन्ति ताः। केदार इव कुल्याश्च क्लेदलेपादिकं च यत्।।३९।।
द्वासप्ततिस्तथा कोट्यो व्योम्नामिह महामुने। मज्जाया मेदसश्चैव वसायाश्च तथा द्विज।।४०।।
मूत्रस्य चैव पित्तस्य श्लेष्मणः शकृतस्तथा। रक्तस्य सरसस्यात्र क्रमशोऽञ्जलयो मताः।।४१।।
अर्धार्धाभ्यधिकाः सर्वाः पूर्वपूर्वाञ्जलेर्मताः। अर्धाञ्जलिश्च शुक्रस्य तदर्धं च तथौजसः।।४२।।
रजसस्तु तथा स्त्रीणां चतस्रः कथिता बुधैः। शरीरं मलदोषादिपिण्डं ज्ञात्वाऽऽत्मनि त्यजेत्।।४३।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गति शरीरावयवविभागवर्णनं नाम सप्तत्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः।।३७०।।

स्त्रियों की मांसपेशियाँ पुरुषों की अपेक्षा सत्ताईस अधिक हैं। इनमें दस दोनों स्तनों में तेरह योनि में तथा चार गर्भाशय में स्थित हैं। देहधारियों के शरीर में तीस हजार नौ तथा छप्पन हजार नाड़ियाँ हैं। जिस प्रकार छोटी-छोटी नालियाँ क्यारियों में पानी बहाकर ले जाती हैं, उसी तरह वे नाड़ियाँ सम्पूर्ण शरीर में रस को प्रवाहित करती हैं। क्लेद और लेप आदि उन्हीं के कार्य हैं। हे महामुने! इस देह में बहत्तर करोड़ छिद्र या रोमकूप हैं तथा मज्जा, मेदा, वसा, मूत्र, पित्त, श्लेष्मा, मल, रक्त और रस-इनकी क्रमशः 'अञ्जलियाँ' मानी गयी हैं। इनमें से पूर्व-पूर्व अञ्जली की अपेक्षा उत्तरोत्तर सभी अञ्जलियाँ मात्रा में डेढ़-गुनी अधिक हैं। एक अञ्जलि में आधी वीर्य की और आधी ओज की है। विद्वानों ने स्त्रियों के रज की चार अञ्जलियाँ बतलायी हैं। यह शरीर मल और दोष आदि का पिण्ड है, ऐसा समझकर अपने अन्तःकरण में इसके प्रति होने वाली आसक्ति का त्याग करना चाहिये।।१-४३।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी तीन सौ सत्तरवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।३७०।।

❖❖❖

अथैकसप्तत्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः

नरकनिरूपणम्

अग्निरुवाच

उक्तानि यममार्गाणि वक्ष्येऽथ मरणे नृणाम्। ऊष्मा प्रकुपितः काये तीव्रवायुसमीरितः।।१।।
शरीरमुपरुध्याथ कृत्स्नान्दोषान्रुणद्धि वै। छिनत्ति प्राणस्थानानि पुनर्मर्माणि चैव हि।।२।।
शैत्यात्प्रकुपितो वायुश्छिद्रमन्विष्यते ततः। द्वे नेत्रे द्वौ तथा कर्णौ द्वौ तु नासापुटौ तथा।।३।।
ऊर्ध्वं तु सप्त च्छिद्राणि अष्टमं वदनं तथा। एतैः प्राणो विनिर्याति प्रायशः शुभकर्मणाम्।।४।।
अधः पायुरुपस्थं च अनेनाशुभकारिणाम्। मूर्धानं योगिनो भित्त्वा जीवो यात्यथ चेच्छया।।५।।
अन्तकाले तु सम्प्राप्ते प्राणऽपानमुपस्थिते। तमसा संवृते ज्ञाने संवृतेषु च मर्मसु।।६।।
स जीवो नाभ्यधिष्ठानाच्चाल्यते मातरिश्वना। बाध्यमानश्चाऽऽनयते अष्टाङ्गाः प्राणवृत्तिकाः।।७।।
च्यवन्तं जायमानं वा प्रविशन्तं च योनिषु। प्रपश्यन्ति च तं सिद्धा देवा दिव्येन चक्षुषा।।८।।
गृह्णाति तत्क्षणाद्योगे शरीरं चाऽऽतिवाहिकम्। आकाशवायुतेजांसि विग्रहादूर्ध्वगामिनः।।९।।
जलं मही च पञ्चत्वमापन्नः पुरुषः स्मृतः। आतिवाहिकदेहं तु यमदूता नयन्ति तम्।।१०।।

अध्याय-३७१

नरक तथा पापमूलक जन्म का वर्णन

श्रीअग्निदेव ने कहा कि–हे मुने! मैं यमराज के मार्ग की पहले चर्चा कर चुका हूँ, इस समय मनुष्यों की मृत्यु के विषय में कुछ निवेदन करने जा रहा हूँ। शरीर में जिस समय वात का वेग बढ़ जाता है तो उसकी प्रेरणा से ऊष्मा अर्थात् पित्त का भी प्रकोप हो जाता है। वह पित्त सारे शरीर को रोककर सम्पूर्ण दोषों को आवृत कर लेता है तथा प्राणों के स्थान और मर्मों का उच्छेद कर डालता है। फिर शीत से वायु का प्रकोप होता है और वायु अपने निकलने के लिये छिद्र ढूँढ़ने लगती है। दो नेत्र, दो कान, दो नासिका और एक ऊपर का ब्रह्मरन्ध्र–ये सात छिद्र हैं तथा आठवाँ छिद्र मुख है। शुभ कार्य करने वाले मनुष्यों के प्राण प्रायः इन्हीं सात मार्गों से निकलते हैं। नीचे भी दो छिद्र हैं–गुदा और उपस्थ। पापियों के प्राण इन्हीं छिद्रों से बाहर होते हैं, परन्तु योगी के प्राण मस्तक का भेदन करके निकलते हैं और वह जीव इच्छानुसार लोकों में जाता है। अन्तकाल आने पर प्राण अपान में स्थित होता है।

तम के द्वारा ज्ञान आवृत हो जाता है, मर्मस्थान आच्छादित हो जाते हैं। उस समय जीव वायु के द्वारा बाधित हो नाभिस्थान से विचलित कर दिया जाता है; इसलिये वह आठ अंगों वाली प्राणों की वृत्तियों को लेकर शरीर से बाहर हो जाता है। देह से निकलते, अन्यत्र जन्म लेते अथवा विविध तरह की योनियों में प्रवेश करते समय जीव को सिद्ध पुरुष और देवता ही अपनी दिव्यदृष्टि से देखते हैं। मृत्यु के बाद जीव तुरन्त ही जातिवाहिक शरीर धारण करता है। उसके त्यागे हुए शरीर से आकाश, वायु और तेज–ये ऊपर के तीन तत्त्वों में मिल जाते हैं तथा जल और पृथ्वी के अंश नीचे के तत्त्वों से एकीभूत हो जाते हैं। यही पुरुष का 'पञ्चत्व को प्राप्त होना' माना गया है। मरे हुए जीव को यमदूत शीघ्र ही आतिवाहिक शरीर में पहुँचाते हैं। यमलोक का मार्ग अत्यन्त भयंकर और छियासी हजार

याम्यं मार्गं महाघोरं षडशीतिसहस्रकम्। अन्नोदकं नीयमानो बान्धवैर्दत्तमश्नुते॥११॥
यमं दृष्ट्वा यमोक्तेन चित्रगुप्तेन चेरितान्। प्राप्नोति नरकान्रौद्रान्धर्मी शुभपथैर्दिवम्॥१२॥
भुज्यन्ते पापिभिर्वक्ष्ये नरकांस्ताश्च यातनाः। अष्टाविंशतिरेवाधः क्षितेर्नरककोटयः॥१३॥
सप्तमस्य तलस्यान्ते घोरे तमसि संस्थिताः। घोराख्या प्रथमा कोटिः सुघोरा तदधः स्थिता॥१४॥
अतिघोरा महाघोरा घोररूपा च पञ्चमी। षष्ठी तरलताराख्या सप्तमी च भयानका॥१५॥
भयोत्कटा कालरात्री महाचण्डा च चण्डया। कोलाहला प्रचण्डाख्या पद्मा नरकनायिका॥१६॥
पद्मावती भीषणा च भीमा चैव करालिका। विकराला महावज्रा त्रिकोणा पञ्चकोणिका॥१७॥
सुदीर्घा वर्तुला सप्तभूमा चैव सुभूमिका। दीप्तमायाऽष्टाविंशतयः कोटयः पापिदुःखदाः॥१८॥
अष्टाविंशतिकोटीनां पञ्च पञ्च च नायकाः। रौरवाद्याः शतं चैकं चत्वारिंशच्चतुष्टयम्॥१९॥
तामिश्रमन्धतामिश्रं महारौरवरौरवौ। असिपत्रं वनं चैव लोहभारं तथैव च॥२०॥
नरकं कालसूत्रं च महानरकमेव च। संजीवनं महावीचि तपनं संप्रतापनं॥२१॥
संघातं च सकाकोलं कुड्मलं पूतिमृत्तिकम्। लोहशङ्कुमृजीषं च प्रधानं शाल्मलीं नदीम्॥२२॥
नरकान्विद्धि कोटीशनागान्वै घोरदर्शनान्। पात्यन्ते पापकर्मणि एकैकस्मिन्बहुष्वपि॥२३॥

योजन लम्बा है। उस पर ले जाया जाने वाला जीव अपने बन्धु-बान्धवों के दिये हुए अन्न-जल का उपभोग करता है। यमराज से मिलने के पश्चात् उनके आदेश से चित्रगुप्त जिन भयंकर नरकों को बतलाते हैं, उन्हीं को वह जीव प्राप्त होता है। यदि वह धर्मात्मा होता है, तो श्रेष्ठतम मार्गों से स्वर्ग लोक को जाता है॥१-१२॥

अधुना पापी जीव जिन नरकों और उनकी यातनाओं का उपभोग करते हैं, उनका वर्णन करने जा रहा हूँ। इस पृथ्वी के नीचे नरक की अट्ठाईस ही श्रेणियाँ हैं। सातवें तल के अन्त में घोर अन्धकार के अन्दर उनकी स्थिति है। नरक की पहली कोटि 'घोरा' के नाम से प्रसिद्ध है। उसके नीचे 'सुघोरा' की स्थिति है। तीसरी 'अतिघोरा', चौथी 'महाघोरा' और पाँचवीं 'घोररूपा' नाम की कोटि है। छठी का नाम 'तरलतारा' और सातवीं का 'भयानका' है। आठवीं 'भयोत्कटा', नवीं, 'कालरात्रि' दसवीं 'महाचण्डा', ग्यारहवीं 'चण्डा', बारहवीं 'कोलाहला', तेरहवीं 'प्रचण्डा', चौदहीवं 'पद्मा' और पन्द्रहवीं 'नरकनायिका' है। सोलहवीं 'पद्मावती', सत्रहवीं 'भीषणा', अठारहवीं 'भीमा', उन्नीसवीं 'करालिका', बीसवीं 'विकराला', इक्कीसवीं महाव्रजा', बाईसवीं 'त्रिकोणा' और तेईसवीं 'पञ्चकोणिका' है। चौबीसवीं 'सुदीर्घा', पचीसवीं 'वर्तुला', छब्बीसवीं 'सप्तभूमा', सत्ताईसवीं 'सुभूमिका' और अट्ठाईसवीं 'दीप्तमाया' है। इस तरह ये अट्ठाईस कोटियाँ पापियों को दुःख देने वाली हैं॥१३-१८॥

नरकों की अट्ठाईस कोटियों के पाँच-पाँच नायक हैं (तथा पाँच उनके भी नायक हैं)। वे 'रौरव' आदि के नाम से प्रसिद्ध हैं। उन सबकी संख्या एक सौ पैंतालीस है–तामिस्र, अन्धतामिस्र, महारौरव, रौरव, असिपत्रवन, लोहभार, कालसूत्रनरक, महानरक, संजीवन, महावीचि, तपन, सम्प्रातापन, संघात, काकोल, कुड्मल, पूतमृत्युक, लोहशङ्कु, ऋजीष, प्रधान, शाल्मली वृक्ष और वैतरणी नदी आदि सभी नरकों को 'कोटि-नायक' समझना चाहिये। ये बड़े भयंकर दिखायी देते हैं। पापी पुरुष इनमें से एक-एक में तथा अनेक में भी डाले जाते हैं। यातना देने वाले यमदूतों में किसी का मुख बिलाव के समान होता है तो किसी का उल्लू के समान, कोई गीदड़ के समान

मार्जारोलूकगोमायुगृध्रादिवदनाश्च ते। तैलद्रोण्यां नरं क्षिप्त्वा ज्वालयन्ति हुताशनम्॥२४॥
अम्बरीषेषु चैवान्यांस्ताम्रपात्रेषु चापरान्। अयस्पात्रेषु चैवान्यान्बहुवह्निकणेषु च॥२५॥
शूलाग्रारोपितांश्चान्ये छिद्यन्ते नरकेऽपरे। ताड्यन्ते कशाभिस्तु भोज्यन्ते चाप्ययोगुडान्॥२६॥
यमदूतैर्नराः पांशून्विष्ठारक्तकफादिकान्। तप्तं मद्यं पाययन्ति पाटयन्ति पुनर्नरान्॥२७॥
यन्त्रेषु पीडयन्ति स्म भक्ष्यन्ते वायसादिभिः। तैलेनोष्णेन सिच्यन्ते छिद्यन्ते नैकधा शिरः॥२८॥
हा तातेति क्रन्दमानाः स्वकं निन्दन्ति कर्म ते। महापातकजान्घोरान्नरकान्प्राप्यगर्हितान्॥२९॥
कर्मक्षयात्प्रजायन्ते महापातकिनस्त्विह। मृगश्वशूकरोष्ट्राणां ब्रह्महा योनिमृच्छति॥३०॥
खरपुक्कश (स) म्लेच्छानां मद्यपः स्वर्णहार्यपि। कृमिकीटपतङ्गत्वं गुरुगस्तृणगुल्मताम्॥३१॥
ब्रह्महा क्षयरोगी स्यात्सुरापः श्यावदन्तकः। स्वर्णहारी तु कुनखी दुश्चर्मा गुरुतल्पगः॥३२॥
यो येन संस्पृशत्येषां स तल्लिङ्गोऽभिजायते। अन्नहर्ता मायावी स्यान्मूको वागपहारकः॥३३॥
धान्यं हृत्वाऽतिरिक्ताङ्गः पिशुनः पूतिनासिकः। तैलहृत्तैलपायी स्यात्पूतिवक्त्रस्तु सूचकः॥३४॥
परस्य योषितं हृत्वा ब्रह्मस्वमपहृत्य च। अरण्ये निर्जने देशे जायते ब्रह्मराक्षसः॥३५॥

मुख वाले हैं तो कोई गृध्र आदि के समान। वे मनुष्य को तेल के कड़ाहे में डालकर उसके नीचे आग जला देते हैं। किन्हीं को भाड़ में, किन्हीं को ताँबे या तपाये हुए लोहे के बर्तनों में तथा बहुतों को आग की चिनगारियों में डाल देते हैं। कितनों को वे शूली पर चढ़ा देते हैं। बहुत-से पापियों को नरक में डालकर उनके टुकड़े-टुकड़े किये जाते हैं। कितने ही कोड़ों से पीटे जाते हैं और कितनों को तपाये हुए लोहे के गोले खिलाये जाते हैं। बहुत-से यमदूत उनको धूलि, विष्ठा, रक्त और कफ आदि भोजन कराते तथा तपायी हुई मदिरा पिलाते हैं। बहुत-से जीवों को वे आरे से चीर डालते हैं। कुछ लोगों को कोल्हू में पेरते हैं। कितनों को कौवे आदि नोच-नोचकर खाते हैं। किन्हीं-किन्हीं ऊपर गरम तेल छिड़का जाता है तथा कितने ही जीवों के मस्तक के अनेकों टुकड़े किये जाते हैं। उस समय पापी जीव 'अरे बाप रे' कहकर चिल्लाते हैं और हाहाकार मचाते हुए अपने पापकर्मों की निन्दा करते हैं। इस तरह बड़े-बड़े पातकों के फलस्वरूप भयंकर एवं निन्दित नरकों का कष्ट भोगकर कर्म क्षीण होने के पश्चात् वे महापापी जीव पुनः मर्त्यलोक में जन्म लेते हैं॥१९-२९॥

ब्रह्महत्यारा पुरुष मृग, कुत्ते, सूअर और ऊँटों की योनि में जाता है। मदिरा पीने वाला गदहे, चाण्डाल तथा म्लेच्छों में जन्म पाता है। सोना चुराने वाले कीड़े-मकोड़े और पतिंगे होते हैं तथा गुरुपत्नी से गमन करने वाला मनुष्य तृण एवं लताओं में जन्म ग्रहण करता है। ब्रह्महत्यारा राजयक्ष्मा का रोगी होती है, शराबी के दाँत काले हो जाते हैं, सोना चुराने वाले का नख खराब होता है तथा गुरुपत्नीगामी के चमड़े दूषित होते हैं (अर्थात् वह कोढ़ी हो जाता है)। जो जिस पाप से सम्पर्क रखता है, वह उसी का कोई चिह्न लेकर जन्म ग्रहण करता है। अन्न चुराने वाला मायावी होता है। वाणी (कविता आदि) की चोरी करने वाला गूँगा होता है। धान्य का अपहरण करने वाला जिस समय जन्म ग्रहण करता है, तत्पश्चात् उसका कोई अंग अधिक होता है, चुगलखोर की नासिका से बदबू आती है, तेल चुराने वाला पुरुष तेज पीने वाला कीड़ा होता है तथा जो इधर की बातें उधर लगाया करता है, उसके मुँह से दुर्गन्ध आती है। दूसरों के स्त्री तथा ब्राह्मण के धन का अपहरण करने वाला पुरुष निर्जन वन में ब्रह्मराक्षस होता है। रत्न चुराने वाला

रत्नहारी हीनजातिर्गन्धांश्छुच्छुन्दरी शुभान्। पत्रं शाकं शिखी हृत्वा मुखरो धान्यहारकः।।३६।।
अजः पशुं पयः काको यानमुष्ट्रः फलं कपिः। मधु दंशः फलं गृध्रो गृहकाक उपस्करम्।।३७।।
श्वित्री वस्त्रं सारसं च झिल्ली लवणहारकः। उक्त आध्यात्मिकस्तापः शस्त्राद्यैराधिभौतिकः।।३८।।
ग्रहाग्निदेवपीडाद्यैर (रा) धिदैविक ईरितः। त्रिधा तापं हि संसार ज्ञानयोगाद्विनाशयेत्।।३९।।
कृच्छ्रैर्व्रतैश्च दानाद्यैर्विष्णुपूजादिभिर्नरः।।४०।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते नरकनिरूपणं नामैकसप्तत्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः।।३७१।।

नीच जाति में जन्म लेता है। श्रेष्ठतम गन्ध की चोरी करने वाला छछूंदर होता है। शाक-पात चुराने वाला मुर्गा तथा अनाज की चोरी करने वाला चूहा होता है। पशु का अपहरण करने वाला बकरा, दूध चुराने वाला कौआ, सवारी की चोरी करने वाला ऊँट तथा फल चुराकर खाने वाला बन्दर होता है। शहद की चोरी करने वाला डाँस, फल चुराने वाला गृध्र तथा गृह का सामान हड़प लेने वाला गृहकाक होता है। वस्त्र हड़पने वाला कोढ़ी, चोरी-चोरी रस का स्वाद लेने वाला कुत्ता और नमक चुराने वाला झींगुर होता है।।३०-३७।।

यह 'आधिदैविक ताप' का वर्णन किया गया है। शस्त्र आदि से कष्ट की प्राप्ति होना 'आधिभौतिक ताप' है तथा ग्रह, अग्नि और देवता आदि से जो कष्ट होता है, वह 'आधिदैविक ताप' बतलाया गया है। इस तरह यह संसार तीन तरह के दुःखों से भरा हुआ है। मनुष्य को ज्ञानयोग से, कठोर व्रतों से, दान आदि पुण्यों से तथा विष्णु की पूजा आदि से इस दुःखमय संसार का निवारण करना चाहिये।।३८-४०।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी तीन सौ एकहत्तरवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।३७१।।

❖❖❖

अथ द्विसप्तत्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः

यमनियमाः

अग्निरुवाच

संसारतापमुक्त्यर्थं वक्ष्याम्यष्टाङ्गयोगकम्। ब्रह्मप्रकाशकं ज्ञानं योगस्तत्रैकचित्तता॥१॥
चित्तवृत्तिनिरोधश्च जीवब्रह्मात्मनोः परः। अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यापरिग्रहौ॥२॥
यमाः पञ्च स्मृता विप्र नियमा भुक्तिमुक्तिदाः। शौचं संतोषतपसी स्वाध्यायेश्वरपूजने॥३॥
भूतापीडा ह्यहिंसा स्यादहिंसा धर्म उत्तमः। यथा गजपदेऽन्यानि पदानि पथगामिनाम्॥४॥
एवं सर्वमहिंसायां धर्मार्थमभिधीयते। उद्वेगजननं हिंसा संतापकरणं तथा॥५॥
रुक्कृतिः शोणितकृतिः पैशुन्यकरणं तथा। हितस्यातिनिषेधश्च मर्मोद्घाटनमेव च॥६॥
सुखापह्नुतिः संरोधो वधो दशविधा च सा। यद्भूतहितमत्यन्तं वचः सत्यस्य लक्षणम्॥७॥
सत्यं ब्रूयात्प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात्सत्यमप्रियम्। प्रियं च नानृतं ब्रूयादेष धर्मः सनातनः॥८॥
मैथुनस्य परित्यागो ब्रह्मचर्यं तदष्टधा। स्मरणं कीर्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणम्॥९॥

अध्याय–३७२

यम-नियम विचार

श्रीअग्नि देव ने कहा कि–हे मुने! जिस समय मैं 'अष्टाङ्गयोग' का वर्णन करने जा रहा हूँ, जो जगत् के त्रिविध ताप से छुटकारा दिलाने का साधन है। ब्रह्म को प्रकाशित करने वाला ज्ञान भी 'योग' से ही सुलभ होता है। एकचित्त होना–चित्त को एक जगह स्थापित करना 'योग' है। चित्तवृत्तियों के निरोध को भी 'योग' कहते हैं। जीवात्मा एवं परमात्मा में ही अन्तःकरण की वृत्तियों को स्थापित करना श्रेष्ठतम 'योग' है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह–ये पाँच 'यम' हैं। हे ब्रह्मन्! 'नियम' भी पाँच ही हैं, जो भोग और मोक्ष सम्प्रदान करने वाले हैं। उनके नाम ये हैं–शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वराधन (ईश्वरप्रणिधान)। किसी भी प्राणी को कष्ट न पहुँचाना 'अहिंसा' है। 'अहिंसा' सबसे श्रेष्ठतम धर्म है। जिस प्रकार राह चलने वाले अन्य सभी प्राणियों के पदचिह्न हाथी के चरण चिह्न में समा जाते हैं, उसी तरह धर्मा के सभी साधन 'अहिंसा' में गतार्थ माने जाते हैं।

'हिंसा' के दस भेद हैं–किसी को उद्वेग में डालना, संताप देना, रोगी बनाना, शरीर से रक्त निकालना, चुगली खाना, किसी के हित में टयतन्त बाधा पहुँचाना, उसके छिपे हुए रहस्य का उद्घाटन करना, दूसरे को सुख से वञ्चित करना, अकारण कैद करना और प्राणदण्ड देना। जो बात दूसरे प्राणियों के लिये अत्यन्त हितकर है, वह 'सत्य' है। 'सत्य' का यही लक्षण है–सत्य बोले, परन्तु प्रिय बोले; अप्रिय सत्य कभी न बोले। इसी तरह प्रिय असत्य भी मुँह से न निकाले; यह सनातन धर्म है। 'ब्रह्मचर्य' कहते हैं–'मैथुन के त्याग को'। 'मैथुन' आठ तरह का होता है–स्त्री का स्मरण, उसकी चर्चा, उसके साथ क्रीड़ा करना, उसकी तरफ देखना, उससे लुक-छिपकर बातें करना, उसको पाने का संकल्प उसके लिये उद्योग तथा क्रियानिर्वृत्ति (स्त्री से साक्षात् समागम)–ये मैथुन के आठ अंग हैं–ऐसा मनीषी पुरुषों का कथन है।

संकल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिर्वृत्तिरेव च। एतन्मैथुनमष्टाङ्गं प्रवदन्ति मनीषिणः।।१०।।
ब्रह्मचर्यं क्रियामूलमन्यथा विफला क्रिया। वशिष्ठश्चन्द्रमाः शुक्रो देवाचार्यः पितामहः।।११।।
तपोवृद्धा वयोवृद्धास्तेऽपि स्त्रीभिर्विमोहिताः। गौडी पैष्टी च माध्वी च विज्ञेयास्त्रिविधाः सुराः।।१२।।
चतुर्थी स्त्री सुरा ज्ञेया ययेदं मोहितं जगत्। माद्यति प्रमदां दृष्ट्वा सुरां पीत्वा तु माद्यति।।१३।।
यस्माद्दृष्टमदा नारी तस्मात्तां नावलोकयेत्। यद्वा तद्वा परद्रव्यमपहृत्य बलान्नरः।।१४।।
अवश्यं याति तिर्यक्त्वं जग्ध्वा चैवाहुतं हविः। कौपीनाच्छादनं वासः कन्थां शीतनिवारिणीम्।।१५।।
पादुके चापि गृह्णीयात्कुर्यान्नान्यस्य संग्रहम्। देहस्थितिनिमित्तस्य वस्त्रादेः स्यात्परिग्रहः।।१६।।
शरीरं धर्मसंयुक्तं रक्षणीयं प्रयत्नतः। शौचं तु द्विविधं प्रोक्तं बाह्यम (मा) भ्यन्तरं तथा।।१७।।
मृज्जलाभ्यां स्मृतं बाह्यं भावशुद्धिरथाऽऽन्तरम्। उभयेन शुचिर्यस्तु स शुचिर्नेतरः शुचिः।।१८।।
यथा कथंचित्प्राप्त्या च संतोषस्तुष्टिरुच्यते। मनसश्चेन्द्रियाणां च ऐकाग्रयं तप उच्यते।।१९।।
तज्जयः सर्वधर्मेभ्यः स धर्मः पर उच्यते। वाचिकं मन्त्रजप्यादि मानसं रागवर्जनम्।।२०।।
शारीरं देवपूजादि सर्वदं तु त्रिधा तपः। प्रणवाद्यास्ततो वेदाः प्रणवे पर्यवस्थिताः।।२१।।
वाङ्मयः प्रणवः सर्वं तस्मात्प्रणवमभ्यसेत्। अकारश्च तथोकारो मकारश्चार्धमात्रया।।२२।।

'ब्रह्मचर्य' ही सम्पूर्ण शुभ कर्मों की सिद्धि का मूल है; उसके बिना सारी क्रिया निष्फल हो जाती है। वसिष्ठ, चन्द्रमा, शुक्र, देवताओं के आचार्य बृहस्पति तथा पितामह ब्रह्माजी–ये तपोवृद्ध और वयोवृद्ध होते हुए भी स्त्रियों के मोह में फँस गये। गौड़ी, पैष्टी और माध्वी–ये तीन तरह की सुरा समझनी चाहिये। इनके बाद चौथी सुरा 'स्त्री' है, जिसने सारे जगत् को मोहित कर रखा है। मदिरा को तो पीने पर ही मनुष्य मत वाला होता है, परन्तु युवती स्त्री को देखते ही उन्मत्त हो उठता है। नारी देखने मात्र से ही मन में उन्माद करती है, इसलिये उसके ऊपर दृष्टि न डालना चाहिये। मन, वाणी और शरीर द्वारा चोरी से सर्वथा बचे रहना 'अस्तेय' कहलाता है। यदि मनुष्य बलपूर्वक दूसरे की किसी भी वस्तु का अपहरण करता है, तो उसको अवश्य निर्यग्योनि में जन्म लेना पड़ता है।

यही दशा उसकी भी होती है, जो हवन किये बिना ही (बलिवैश्वदेव के द्वारा देवता आदि का भाग समर्पित किये बिना ही) हविष्य (भोज्यपदार्थ) का भोजन कर लेता है। कौपीन, अपने शरीर को ढकने वाला वस्त्र, शीत का कष्ट-निवारण करने वाली कन्था (गुदड़ी) और खड़ाऊँ–इतनी ही वस्तुएँ साथ रखे। इनके सिवा और किसी वस्तु का संग्रह नहीं करना चाहिये–(यही अपरिग्रह है)। शरीर की रक्षा के साधनभूत वस्त्र आदि का संग्रह किया जा सकता है। धर्म के अनुष्ठान में लगे हुए शरीर की यत्नपूर्वक रक्षा करनी चाहिये।।१-१६।।

'शौच' दो तरह का बतलाया गया है–'बाह्य' और 'आभ्यन्तर'। मिट्टी और जल 'बाह्यशुद्धि' होती है और भाव की शुद्धि को 'आभ्यन्तर शुद्धि' कहते हैं। दोनों ही तरह से जो शुद्ध है, वही शुद्ध है, दूसरा नहीं। प्रारब्ध के अनुसार जिस प्रकार-तैसे जो कुछ भी प्राप्त हो जाय, उसी में हर्ष मानना 'संतोष' कहलाता है। मन और इन्द्रियों की एकाग्रता को 'तप' कहते हैं। मन और इन्द्रियों पर विजय पाना सब धर्मों से श्रेष्ठ धर्म कहलाता है। 'तप' तीन तरह का होता है–वाचिक, मानसिक और शारीरिक। मन्त्रजप आदि 'वाचिक', आसक्ति का त्याग 'मानसिक' औ देवपूजन आदि 'शारीरिक' तप हैं। यह तीनों तरह का तप सब कुछ देने वाला है। वेद प्रणव से ही प्रारम्भ होते हैं, इसलिये

तिस्रो मातास्त्रयो वेदा लोका भूरादयो गुणाः। जाग्रत्स्वप्नः सुषुप्तिश्च ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः॥२३॥
ब्रह्मा विष्णुश्च रुद्रश्च स्कन्ददेवीमहेश्वराः। प्रद्युम्नः श्रीर्वासुदेवः सर्वमोङ्कारकः क्रमात्॥२४॥
अमात्रो नष्टमात्रस्य द्वैतस्यापगमः शिवः। ओंकारो विदितो येन स मुनिर्नेतरो मुनिः॥२५॥
चतुर्थी मात्रा गान्धारी प्रयुक्ता मूर्ध्नि लक्ष्यते। तत्तुरीयं परंब्रह्म ज्योतिर्दीपो घटे तथा॥२६॥
तथा हृत्पद्मनिलयं ध्यायेन्नित्यं जपेन्नरः। प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते॥२७॥
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत्। एतदेकाक्षरं ब्रह्म एतदेकाक्षरं परम्॥२८॥
एतदेकाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत्। छन्दोऽस्य देवी गायत्री अन्तर्यामी ऋषिः स्मृतः॥२९॥
देवता परमात्माऽस्य नियोगो भुक्तिमुक्तये। भूरग्न्यात्मने हृदयं भुवः प्रा (प्र) जापत्यात्मने॥३०॥
शिरः स्वः सूर्यात्मने च शिखा कवचमुच्यते। ॐ भूर्भुवः स्वः कवचं सत्यात्मने ततोऽस्त्रकम्॥३१॥
विन्यस्य पूजयेद्विष्णुं जपेद्वै भुक्तिमुक्तये। जुहुयाच्च तिलाज्यादि सर्वं संपद्यते नरे॥३२॥
यस्तु द्वादशसाहस्रं जपमन्वहमाचरेत्। तस्य द्वादशभिर्मासैः परं ब्रह्म प्रकाशते॥३३॥

प्रणव में सम्पूर्ण वेदों की स्थिति है। वाणी का जितना भी विषय है, सब प्रणव है; इसलिये प्रणव का अभ्यास करना चाहिये। यह स्वाध्याय के अन्तर्गत है। 'प्रणव' अर्थात् 'ओंकार' में अकार, उकार तथा अर्धमात्रा विशिष्ट मकार है। तीन मात्राएँ तीनों वेद, भूः आदि तीन लोक, तीन गुण, जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति–ये तीन अवस्थाएँ तथा ब्रह्मा, विष्णु और शिव–ये तीनों देवता प्रणवरूप हैं। ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र, स्कन्द, देवी और महेश्वर तथा प्रद्युम्न, श्री और त्रासुदेव–ये सब क्रमशः ॐकार के ही स्वरूप हैं। ॐकार मात्रा से हीन अथवा अनन्त मात्राओं से युक्त है। वह द्वैत की निवृत्ति करने वाला तथा शिवस्वरूप है। ऐसे ॐकार को जिसने जान लिया, वही मुनि है, दूसरा नहीं प्रणव की चतुर्थी मात्रा (जो अर्ध मात्रा के नाम से प्रसिद्ध है) 'गान्धारी' कहलाती है। वह प्रयुक्त होने पर मूर्द्धा में लक्षित होती है।

वही 'तुरीय' नाम से प्रसिद्ध परब्रह्म है। वह 'ज्योतिर्मय है। जिस प्रकार घड़े के अन्दर रखा हुआ दीपक वहाँ प्रकाश करता है, वैसे ही मूर्द्धा में स्थित परब्रह्म भी अन्दर ज्ञानमयी ज्योति छिटकाये रहता है। मनुष्य को मन से हृदय कमल में स्थित आत्मा या ब्रह्म का ध्यान करना चाहिये और जिह्वा से सदा प्रणव का जप करते रहना चाहिये। (यही 'ईश्वरप्रणिधान' है।) 'प्रणव' धनुष है, 'जीवात्मा' बाण है तथा 'ब्रह्म' उसका लक्ष्य कहा जाता है। सावधान होकर उस लक्ष्य का भेदन करना चाहिये और बाण के समान उसमें तन्मय हो जाना चाहिये। यह एकाक्षर (प्रणव) ही ब्रह्म है, यह एकाक्षर ही परम तत्त्व है, इस एकाक्षर ब्रह्म को जानकर जो जिस वस्तु की इच्छा करता है, उसको उसी की प्राप्ति हो जाती है। इस प्रणव को देव गायत्री छन्द है, अन्तर्यामी ऋषि हैं, परमात्मा देवता हैं तथा भोग और मोक्ष की सिद्धि के लिये इसका विनियोग किया जाता है।

इसके अंग-न्यास की विधि इस तरह है–'**ॐ भूः अग्न्यात्मने हृदयाय नमः।**'–इस मन्त्र से हृदय का स्पर्श करना चाहिये। '**ॐ भुवः प्राजापत्यात्मने शिर से स्वाहा।**' ऐसा कहकर मस्तक का स्पर्श करना चाहिये। ॐ **स्वः सर्वात्मने शिखायै वषट्।**'–इस मन्त्र से शिखा का स्पर्श करना चाहिये। अधुना कवच बतलाया जाता है–'**ॐ भूर्भुवः स्वः सत्यात्मने कवचाय हुम्।**'–इस मन्त्र से दाहिने हाथ की अँगुलियों द्वारा बायीं भुजा के मूल भाग का और बायें हाथी की अंगुलियों से दाहिनी बाँह के मूलभाग का एक ही साथ स्पर्श करना चाहिये। तत्पश्चात् पुनः

अणिमादि कोटिजप्याल्लक्षात्सारस्वतादिकम्। वैदिकस्तान्त्रिको मिश्रो विष्णोर्वै त्रिविधो मखः।।३४।।
त्रयाणामीप्सितेनैकविधिना हरिमर्चयेत्। प्रणम्य दण्डवद्भूमौ नमस्कारेण योऽर्चयेत्।।३५।।
स यां गतिमवाप्नोति न तां क्रतुशतैरपि। यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देव तथा गुरौ।।
तस्यैते कथिता ह्यर्था प्रकाशन्ते महात्मनः।।३६।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते यमनियमनिरूपणं नाम द्विसप्तत्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः।।३७२।।

'ॐ भूर्भुवः स्वः सत्यात्मने अस्त्राय फट्।' कहकर चुटकी बजाये। इस तरह अंगन्यास करके भोग और मोक्ष की सिद्धि के लिये भगवान् श्रीहरि विष्णु का पूजन, उनके नामों का जप तथा उनके उद्देश्य से तिल और घी आदि का हवन करना चाहिये; इससे मनुष्य की समस्त कामनाएँ पूर्ण होती हैं। यही ईश्वरपूजन है; इसका निष्कामभाव से ही अनुष्ठान करना श्रेष्ठतम है। जो मनुष्य प्रतिदिन द्वादश हजार प्रणव का जप करता है, उसको द्वादश महीने में परब्रह्म का ज्ञान हो जाता है। एक करोड़ जप करने से अणिमा आदि सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं, एक लाख के जप से सरस्वती आदि की कृपा होती है। विष्णु का यजन तीन तरह का होता है—वैदिक, तान्त्रिक और मिश्र। तीनों में से जो अभीष्ट हो, उसी एक विधि का आश्रय लेकर श्रीहरि की पूजा करनी चाहिये। जो मनुष्य दण्ड की भाँति पृथ्वी पर पड़कर भगवान् को साष्टाङ्ग नमस्कार करता है, उसको जिस श्रेष्ठतम गति की प्राप्ति हो जाती है, वह सैकड़ों यज्ञों के द्वारा दुर्लभ है। जिसकी आराध्यदेव में पराशक्ति है और जैसी देवता में है, वैसी ही गुरु के प्रति भी है, उसी महात्मा इन कहे हुए विषयों का यथार्थ ज्ञान होता है।।१७-३६।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी तीन सौ बहत्तरवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।३७२।।

❖❖❖

अथ त्रिसप्तत्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः

आसनप्राणायामप्रत्याहाराः

अग्निरुवाच

आसनं कमलाद्युक्तं तद्बद्ध्वा चिन्तयेत्परम्। शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः।।१।।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम्। तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः।।२।।
उपविश्याऽऽसने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये। समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः।।३।।
संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन्। पार्ष्णिभ्यां वृषणौ रक्षंस्तथा प्रजननं पुनः।।४।।
ऊरुभ्यामुपरि स्थाप्य बाहू तिर्यक्प्रयत्नतः। दक्षिणं करपृष्ठं च न्यसेद्वामतलोपरि।।५।।
उन्नम्य शनकैर्वक्त्रं मुखं विष्टभ्य चाग्रतः। प्राणः स्वदेहजो वायुस्तस्याऽऽयामो निरोधनम्।।६।।
नासिकापुटमङ्गुल्याऽऽपीड्यैव च परेण च। औदरं रेचयेद्वायुं रेचनाद्रेचकः स्मृतः।।७।।
बाह्येन वायुना देहं दृतिवत्पूरयेद्यथा। तथा पूर्णश्च संतिष्ठेत्पूरणात्पूरकः स्मृतः।।८।।
न मुञ्चति न गृह्णाति वायुमन्तर्बहिः स्थितम्। सम्पूर्णकुम्भवत्तिष्ठेदचलः स तु कुम्भकः।।९।।

अध्याय–३७३

आसन-प्राणायाम-प्रत्याहार विचार

श्रीअग्निदेव ने कहा कि–हे मुने! पद्मासन आदि विविध तरह के 'आसन' बताये गये हैं। उनमें से कोई भी आसन बाँधकर परमात्मा का चिन्तन करना चाहिये। पहले किस पवित्र स्थान में अपने बैठने के लिये स्थिर आसन बिछावे, जो न अधिक ऊँचा हो और न अधिक नीचा। सबसे नीचे कुश का आसन हो, उसके ऊपर मृगचर्म और मृगचर्म के ऊपर वस्त्र बिछाया गया हो। उस आसन पर बैठकर मन और इन्द्रियों की चेष्टाओं को रोकते हुए चित्त को एकाग्र करना चाहिये तथा अन्तःकरण की शुद्धि के लिये योगाभ्यास में संलग्न हो जाय। उस समय शरीर, मस्तक और गले को अविचलभाव से एक सीध में रखते हुए स्थिर बैठे। केवल अपनी नासिका के अग्रभाग को देखे; अन्य दिशाओं की तरफ दृष्टिपात नहीं करना चाहिये। दोनों पैरों की एड़ियों से अण्डकोष और लिंग की रक्षा करते हुए दोनों ऊरुओं (जाँघों) के ऊपर भुजाओं को यतनपूर्वक तिरछी करके रखे तथा बायें हाथ की हथेली पर दाहिने हाथ के पृष्ठ भाग को स्थापित करना चाहिये और मुँह को कुछ ऊँचा करके सामने की तरफ स्थिर रखे। इस तरह बैठकर प्राणायाम करना चाहिये।।१-५।।

अपने शरीर के अन्दर रहने वाली वायु को 'प्राण' कहते हैं। उसको रोकने का नाम है–'आयाम'। इसलिये 'प्राणायाम' का अर्थ हुआ–'प्राणवायु को रोकना'। उसकी विधि इस तरह है–अपनी अँगुली से नासिका के एक छिद्र को दबाकर दूसरे छिद्र से उदरस्थित वायु को बाहर निकाले। 'रेचन' अर्थात् बाहर निकालने के कारण इस क्रिया को 'रेचक' कहते हैं। तत्पश्चात् चमड़े की धोंकनी के समान शरीर को बाहरी वायु से भेरा। भर जाने पर कुछ काल तक स्थिर भाव से बैठा रहना चाहिये। बाहर से वायु की पूर्ति करने के कारण इस क्रिया का नाम 'पूरक' है। वायु भर

कन्यकः सुकृदुद्घातः स वै द्वादशमात्रिकः। मध्यमश्च वि (द्वि) रुद्घातश्चतुर्विंशतिमात्रिकः।।१०।।
उत्तमश्च त्रिरुद्घातः षट्त्रिंशत्तालमात्रकः। स्वेदकम्पाभिघातानां जननश्चोत्तमोत्तमः।।११।।
अजितां नाऽऽरुहेद्भूमिं हिक्काश्वासादयस्तथा। जिते प्राणे स्वल्पदोषविण्मूत्रादि प्रजायते।।१२।।
आरोग्यं शीघ्रगामित्वमुत्साहः स्वरसौष्ठवम्। बलवर्णप्रसादश्च सर्वदोषक्षयः फलम्।।१३।।
जपध्यानं विनाऽगर्भः सगर्भस्तत्समन्वितः। इन्द्रियाणां जयार्थाय सगर्भं धारयेत्परम्।।१४।।
ज्ञानवैराग्ययुक्ताभ्यां प्राणायामवशेन च। इन्द्रियांश्च (याणि) विनिर्जित्य सर्वमेव जितं भवेत्।।१५।।
इन्द्रियाण्येव तत्सर्वं यत्स्वर्गनरकावुभौ। निगृहीतविसृष्टानि स्वर्गाय नरकाय च।।१६।।
शरीरं रथमित्याहुरिन्द्रियाण्यस्य वाजिनः। मनश्च सारथिः प्रोक्तः प्राणायामः कशः स्मृतः।।१७।।
ज्ञानवैराग्यरश्मिभ्यां मायया विधृतं मनः। शनैर्निश्चलतामेति प्राणायामैकसंहितम्।।१८।।
जलविन्दुं कुशाग्रेण मासे मासे पिबेत्तु यः। संवत्सरशतं साग्रं प्राणायामश्च तत्समः।।१९।।

जाने के पश्चात् जिस समय साधक न तो अन्दरी वायु को छोड़ता है और न बाहरी वायु को ग्रहण ही करता है, अपितु भरे हुए घड़े की भाँति अविचल-भाव से स्थिर रहता है, उस समय कुम्भवत् स्थिर होने के कारण उसकी वह चेष्टा 'कुम्भक' कहलाती है। द्वादश मात्रा (पल) का एक 'उद्धात' होता है।

इतनी देर तक वायु को रोकना कनिष्ठ श्रेणी का प्राणायाम है। दो उद्धात अर्थात् चौबीस मात्रा तक किया जाने वाला कुम्भक मध्यम श्रेणी का माना गया है तथा तीन उद्धात यानी छत्तीस मात्रा तक का कुम्भक श्रेष्ठतम श्रेणी का प्राणायाम है। जिससे शरीर से पसीने निकलने लगें, कँपकँपी छा जाय तथा अभिघात लगने लगे, वह प्राणायाम अत्यन्त श्रेष्ठतम है। प्राणायाम की भूमिकाओं में से जिस पर भलीभाँति अधिकार न हो जाय, उन पर सहसा आरोहण नहीं करना चाहिये, अर्थात् क्रमशः अभ्यास बढ़ाते हुए उत्तरोत्तर भूमिकाओं में आरूढ़ होने का यत्न करना चाहिये। प्राण को जीत लेने पर हिचकी और साँस आदि को रोग दूर हो जाते हैं तथा मल-मूत्रादि के दोष भी धीरे-धीरे कम हो जाते हैं। नीरोग होना, तेज चलना, मन में उत्साह होना, स्वर में माधुर्य आना, बल बढ़ना, शरीर वर्ण में स्वच्छता का आना तथा सभी तरह के दोषों का विनाश हो जाना—ये प्राणायाम से होने वाले लाभ हैं। प्राणायाम दो तरह के होते हैं—'अगर्भ' और 'सगर्भ'।

जप और ध्यान के बिना जो प्राणायाम किया जाता है, उसका नाम 'अगर्भ' है तथा जप और ध्यान के साथ किये जाने वाले प्राणयाम को 'सगर्भ' कहते हैं। इन्द्रियों पर विजय पाने के लिये सगर्भ प्राणायाम ही श्रेष्ठतम होता है; उसी का अभ्यास करना चाहिये। ज्ञान और वैराग्य से युक्त होकर प्राणायाम के अभ्यास से इन्द्रियों को जीत लेने पर सब पर विजय प्राप्त हो जाती है। जिसे 'स्वर्ग' और 'नरक' कहते हैं, वह सब इन्द्रियाँ ही हैं। वे ही वश में होने पर स्वर्ग में पहुँचाती हैं और स्वतन्त्र छोड़ देने पर नरक मेंले जाती हैं। शरीर को 'रथ' कहते हैं, इन्द्रियाँ ही उसके 'घोड़े' हैं, मन को 'सारथि' कहा गया है और प्राणायाम को 'चाबुक' माना गया है। ज्ञान और वैराग्य की बागडोर में बँधे हुए मनरूपी घोड़े को प्राणायाम से आबद्ध करके जिस समय अच्छी तरह काबू में कर लिया जाता है। तो वह धीरे-धीरे स्थित हो जाता है। जो मनुष्य सौ वर्षों से कुछ अधिक काल तक प्रतिमास कुश के अग्रभाग से जल की एक बूँद लेकर उसको पीकर रह जाता है, उसकी वह तपस्या और प्राणायाम—दोनों बराबर हैं। विषयों के समुद्र

इन्द्रियाणि प्रसक्तानि प्रविश्य विषयोदधौ। आहृत्य यो निगृह्णाति प्रत्याहारः स उच्यते॥२०॥
उद्धरेदात्मनाऽऽत्मानं मज्जमानं यथाऽम्भसि। भोगनद्यतिवेगेन ज्ञानवृक्षं समाश्रयेत्॥२१॥

॥इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गति आसनप्राणायामप्रत्याहारनिरूपणं नाम त्रिसप्तत्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः॥३७३॥

अथ चतुःसप्तत्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः

ध्यानम्

अग्निरुवाच

ध्यै चिन्तायां स्मृतो धातुर्विष्णुर्चिन्ता मुहुर्मुहुः। अनाक्षिप्तेन मनसा ध्यानमित्यभिधीयते॥१॥
आत्मनः समनस्कस्य मुक्ताशेषोपधस्य च। ब्रह्मचिन्ता समा शक्तिर्ध्यानं नाम तदुच्यते॥२॥
ध्येयालम्बनसंस्थस्य सदृशप्रत्ययस्य च। प्रत्ययान्तरनिर्मुक्तः प्रत्ययो ध्यानमुच्यते॥३॥
ध्येयावस्थितचित्तस्य प्रदेशे यत्र कुत्रचित्। ध्यानमेतत्समुद्दिष्टं प्रत्ययस्यैकभावना॥४॥
एवं ध्यानसमायुक्तः स्वदेहं यः परित्यजेत्। कुलं स्वजनमित्राणि समुद्धृत्य हरिर्भवेत्॥५॥

में प्रवेश करके वहाँ फँसी हुई इन्द्रियों को जो आहूत करके, अर्थात् लौटाकर अपने अधीन करता है, उसके इस प्रत्यन्त को 'प्रत्याहार' कहते हैं। जिस प्रकार जल में डूबा हुआ मनुष्य उससे निकलने का प्रयत्न करता है, उसी तरह संसार-समुद्र में डूबे हूए अपने-आप को स्वयं ही निकालने का प्रयत्न करना चाहिये। भोगरूपी नदी का वेग अत्यन्त बढ़ जाने पर उससे बचने के लिये अत्यन्त सुदृढ़ ज्ञानरूपी वृक्ष का आश्रय लेना चाहिये।॥६-२१॥

॥इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी तीन सौ तिहत्तरवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ॥३७३॥

अध्याय-३७४

ध्यान विचार

श्रीअग्निदेव ने कहा कि-हे मुने! **'ध्यै-चिन्तायाम्'**-यह धातु है। अर्थात् 'ध्यै' धातु का प्रयोग चिन्तन के अर्थ में होता है। ('ध्यै' से ही 'ध्यान' शब्द की सिद्धि होती है) इसलिये स्थिर चित्त से भगवान् श्रीहरि विष्णु का बारम्बार चिन्तन करना 'ध्यान' कहलाता है। समस्त उपाधियों से मुक्त मनसहित आत्मा का ब्रह्मविचार में परायण होना भी 'ध्यान' ही है।

ध्येयरूप आधार में स्थित एवं सजातीय प्रतीतियों से युक्त चित्त को जो विजातीय प्रतीतियों से हीन प्रतीति होती है, उसको भी 'ध्यान' कहते हैं। जिस किसी प्रदेश में भी वस्तु के चिन्तन में एकाग्र हुए चित्त को प्रतीति के साथ जो अभेद-भावना होती है, उसका नाम भी 'ध्यान' है। इस तरह ध्यान परायण होकर जो अपने शरीर का परित्याग

एवं मुहूर्तमर्धं वा ध्यायेद्यः श्रद्धया हरिम्। सोऽपि यां गतिमाप्नोति न तां सर्वैर्महामखैः॥६॥
ध्याता ध्यानं तथा ध्येयं यच्च ध्यानप्रयोजनम्। एतच्चतुष्टयं ज्ञात्वा योगं युञ्जीत तत्त्ववित्॥७॥
योगाभ्यासाद्भवेन्मुक्तिरैश्वर्यं चाष्टधा महत्। ज्ञानवैराग्यसंपन्नः श्रद्दधानः क्षमान्वितः॥८॥
विष्णुभक्तः सदोत्साही ध्यातेत्थं पुरुषः स्मृतः। मूर्तामूर्तं परं ब्रह्म हरेर्ध्यानं हि चिन्तनम्॥९॥
सकलो निष्कलो ज्ञेयः सर्वज्ञः परमो हरिः। अणिमादिगुणैश्वर्यं मुक्तिर्ध्यानप्रयोजनम्॥१०॥
फलेन योजको विष्णुरतो ध्यायेत्परेश्वरम्। गच्छंस्तिष्ठन्स्वपञ्जाग्रदुन्मिषन्निमिषन्नपि॥११॥
शुचिर्वाऽप्यशुचिर्वाऽपि ध्यायेत्सततमीश्वरम्। स्वदेहायतनस्यान्ते मनसि स्थाप्य केशवम्॥१२॥
हृत्पद्मपीठिकामध्ये ध्यानयोगेन पूजयेत्। ध्यानयज्ञः परः शुद्धः सर्वदोषविवर्जितः॥१३॥
तेनेष्ट्वा मुक्तिमाप्नोति बाह्यशुद्धैश्च नाध्वरैः। हिंसादोषविमुक्तित्वाद्विशुद्धिश्चित्तसाधनः॥१४॥
ध्यानयज्ञः परस्तस्मादपवर्गफलप्रदः। तस्मादशुद्धं संत्यज्य ह्यनित्यं बाह्यसाधनम्॥१५॥

करता है, वह अपने वंश, स्वजन और मित्रों का उद्धार करके स्वयं भगवत्स्वरूप हो जाता है। इस तरह जो प्रतिदिन एक या आधे मुहूर्त तक भी श्रद्धापूर्वक श्रीहरि का ध्यान करता है, वह भी जिस गति को प्राप्त करता है, उसको सम्पूर्ण महायज्ञों के द्वारा भी कोई नहीं पा सकता॥१-६॥

तत्त्ववेत्ता योगी को ध्याता, ध्यान, ध्येय तथा ध्यान का प्रयोजन—इन चार वस्तुओं का ज्ञान प्राप्त करके योग का अभ्यास करना चाहिये। योगाभ्यास से मोक्ष तथा आठ तरह के महान् ऐश्वर्यों (अणिमा आदि सिद्धियों) की प्राप्ति हो जाती है। जो ज्ञान-वैराग्य से सम्पन्न, श्रद्धालु, क्षमाशील, विष्णुभक्त तथा ध्यान में सदा उत्साह रखने वाला हो, ऐसा पुरुष ही 'ध्याता' माना गया है। 'व्यक्त और अव्यक्त' जो कुछ प्रतीत होता है, सब परम ब्रह्म परमात्मा का ही स्वरूप है'—इस तरह विष्णु का चिन्तन करना 'ध्यान' कहलाता है। सर्वज्ञ परमात्मा श्रीहरि को सम्पूर्ण कलाओं से युक्त तथा निष्कल समझना चाहिये। अणिमादि ऐश्वर्यों की प्राप्ति तथा मोक्ष—ये ध्यान के प्रयोजन हैं। भगवान् श्रीहरि विष्णु ही कर्मों के फल की प्राप्ति कराने वाले हैं, इसलिये उन परमेश्वर का ध्यान करना चाहिये। वे ही ध्येय हैं। चलते-फिरते, खड़े होते, सोते-जागते, आँख खोलते और आँख मींचते समय भी शुद्ध या अशुद्ध अवस्था में भी निरन्तर परमेश्वर का ध्यान करना चाहिये॥७-११॥

अपने देवरूपी मन्दिर के अन्दर मन में स्थित हृदयकमल रूपी पीठ के मध्य भाग में भगवान् केशव की स्थापना करके ध्यानयोग के द्वारा उनका पूजन करना चाहिये। ध्यानयज्ञ श्रेष्ठ शुद्ध और सब दोषों से हीन है। उसके द्वारा भगवान् का यजन करके मनुष्य मोक्ष प्राप्त कर सकता है। बाह्यशुद्धि से युक्त यज्ञों द्वारा भी इस फल की प्राप्ति नहीं हो सकती। हिंसा आदि दोषों से मुक्त होने के कारण ध्यान अन्तःकरण की शुद्धि का प्रमुख साधन और चित्त को वश में करने वाला है। इसलिये ध्यान यज्ञ सबसे श्रेष्ठ और मोक्षरूपी फल सम्प्रदान करने वाला है; इसलिये अशुद्ध एवं अनित्य बाह्य साधन यज्ञ आदि कर्मों का त्याग करके योग का ही विशेष रूप से अभ्यास करना चाहिये। पहले विकारयुक्त, अव्यक्त तथा भोग्य-भोग से युक्त तीनों गुणों का क्रमशः अपने हृदय में ध्यान करना चाहिये। तमोगुण को रजोगुण से आच्छदित करना चाहिये। रजोगुण को सत्त्वगुण से आच्छादित करना चाहिये। इसके बाद पहले कृष्ण, फिर रक्त, तत्पश्चत् श्वेतवर्ण वाले तीनों मण्डलों का क्रमशः ध्यान करना चाहिये। इस तरह जो गुणों का ध्यान बतलाया गया, वह 'अशुद्ध ध्येय' है। उसका त्याग करके 'शुद्ध ध्येय' का चिन्तन करना चाहिये। पुरुष (आत्मा) सत्त्वोपाधिक

यज्ञाद्यं कर्म संत्यज्य योगमत्यर्थमभ्यसेत्। विकारमुक्तमव्यक्तं भोग्यभोगसमन्वितम्॥१६॥
चिन्तयेद्धृदये पूर्वं क्रमादादौ गुणत्रयम्। तमः प्रच्छाद्य रजसा सत्त्वेन च्छादयेद्रजः॥१७॥
ध्यायेत्त्रिमण्डलं पूर्वं कृष्णं रक्तं सितं क्रमात्। सत्त्वोपाधिगुणातीतः पुरुषः पञ्चविंशकः॥१८॥
ध्येयमेतदशुद्धं च त्यक्त्वाशुद्धं विचिन्तयेत्। ऐश्वर्यं पङ्कजं दिव्यं पुरुषोपरि संस्थितम्॥१९॥
द्वादशाङ्गुलविस्तीर्णं शुद्धं विकसितं सितम्। नालमष्टाङ्गुलं तस्य नाभिकन्दसमुद्भवम्॥२०॥
पद्मपत्राष्टकं ज्ञेयमणिमादिगुणाष्टकम्। कर्णिकाकेशरं नालं ज्ञानवैराग्यमुत्तमम्॥२१॥
विष्णुधर्मश्च तत्कन्दमिति पद्मं विचिन्तयेत्। तद्धर्मज्ञानवैराग्यं शिवैश्वर्यमयं परम्॥२२॥
ज्ञात्वा पद्मासनं सर्वं सर्वदुःखान्तमाप्नुयात्। तत्पद्मकर्णिकामध्ये शुद्धदीपशिखाकृतिम्॥२३॥
अङ्गुष्ठमात्रममलं ध्यायेदोङ्कारमीश्वरम्। कदम्बगोलकाकारं तारं रूपमिव स्थितम्॥२४॥
ध्यायेद्वा रश्मिजालेन दीप्यमानं समन्ततः। प्रधानं पुरुषातीतं स्थितं पद्मस्थमीश्वरम्॥२५॥
ध्यायेज्जपेच्च सततमोंकारं परमक्षरम्। मनःस्थित्यर्थमिच्छन्ति स्थूलध्यानमनुक्रमात्॥२६॥
तद्भूतं निश्चलीभूतं लभेत्सूक्ष्मेऽपि संस्थितम्। नाभिकन्दे स्थितं नालं दशाङ्गुलसमायतम्॥२७॥
नालेनाष्टदलं पद्मं द्वादशाङ्गुलविस्तृतम्। सकर्णिके केसराले सूर्यसोमाग्निमण्डलम्॥२८॥

गुणों से अतीत चौबीस तत्त्वों से परे पचीसवाँ तत्त्व है, यह 'शुद्ध ध्येय' है। पुरुष के ऊपर उन्हीं की नाभि से प्रकट हुआ एक दिव्य कमल स्थित है, जो प्रभु का ऐश्वर्य ही जान पड़ता है। उसका विस्तार द्वादश अंगुल है। वह शुद्ध, विकसित तथा श्वेत वर्ण का है। उसका मृणाल आठ अंगुल का है। उस कमल के आठ पत्तों को अणिमा आदि आठ ऐश्वर्य समझना चाहिये। उसकी कर्णिका का केसर 'ज्ञान' तथा नाल 'श्रेष्ठतम वैराग्य' है। 'विष्णुधर्म' ही उसकी जड़ है। इस तरह कमल का चिन्तन करना चाहिये। धर्म, ज्ञान, वैराग्य एवं कल्याणमय ऐश्वर्य-स्वरूप उस श्रेष्ठ कमल को, जो भगवान का आसन है, जानकर मनुष्य अपने सब दुःखों से छुटकारा पा जाता है। उस कमलकर्णिका के मध्यभाग में ओङ्कारमय ईश्वर का ध्यान करना चाहिये। उनकी आकृति शुद्ध दीपशिखा के समान देदीप्यमान एवं अँगूठे के बराबर है। वे अत्यन्त निर्मल हैं। कदम्बपुष्प के समान उनका गोलाकार स्वरूप तारा की भाँति स्थित है। अथवा कमल के ऊपर प्रकृति और पुरुष से भी अतीत परमेश्वर विराजमान हैं, ऐसा ध्यान करना चाहिये तथा परम अक्षर ओंकार का निरन्तर जप करते रहना चाहिये। साधक को अपने मन को स्थिर करने के लिये पहले स्थूल का ध्यान करना चाहिये। फिर क्रमशः मन के स्थिर हो जाने पर उसको सूक्ष्म तत्त्व के चिन्तन में लगाना चाहिये॥११-२६॥

अधुना कमल आदि का ध्यान अन्य प्रकार से बतलाया जाता है—नाभि-मूल में स्थित जो कमल की नाल है, उसका विस्तार दस अंगुल है। नाल के ऊपर अष्टदल कमल है, जो द्वादश अंगुल विस्तृत है। उसकी कर्णिका के केसर में सूर्य, सोम तथा अग्नि—तीन देवताओं का मण्डल है। अग्निमण्डल के अन्दर शङ्ख, चक्र, गदा एवं पद्म धारण करने वाले चतुर्भुज विष्णु अथवा आठ भुजाओं से युक्त भगवान् श्रीहरि विराजमान हैं। अष्टभुज भगवान् के हाथों में शङ्ख-चक्रादि के अतिरिक्त शार्ङ्गधनुष, अक्षमाला, पाश तथा अङ्कुश शोभा पाते हैं। उनके श्रीविग्रह का वर्ण श्वेत एवं स्वर्ण के समान उद्दीप्त है। वक्षःस्थल में श्रीवत्स का चिह्न और कौस्तुभमणि शोभा पा रहे हैं। गले में वनमाला और सोने का हार है। कानों में मकराकार कुण्डल जगमगा रहे हैं। मस्तक पर रत्नमय उज्ज्वल किरीट

अग्निमण्डलमध्यस्थः शङ्खचक्रगदाधरः। पद्मी चतुर्भुजो विष्णुरथ वाऽष्टभुजो हरिः।।२९।।
शार्ङ्गाक्षवलयधरः पाशांकुशधरः परः। स्वर्णवर्णः श्वेतवर्ण सश्रीवत्सः सकौस्तुभः।।३०।।
वनमाली स्वर्णहारी स्फुरन्मकरकुण्डलः। रत्नोज्ज्वलकिरीटश्च पीताम्बरधरो महान्।।३१।।
सर्वाभरणभूषाढ्यो वितस्तिर्वा यथेच्छया। अहं ब्रह्म ज्योतिरात्मा वासुदेवो विमुक्त ओम्।।३२।।
ध्यानाच्छ्रान्तो जपेन्मन्त्रं जपाच्छ्रान्तश्च चिन्तयेत्। जपध्यानादियुक्तस्य विष्णुः शीघ्रं प्रसीदति।।३३।।
जपयज्ञस्य वै यज्ञाः कलां नार्हन्ति षोडशीम्। जपिनं नोपसर्पन्ति व्याधयश्चाऽऽधयो ग्रहाः।।३४।।
भुक्तिर्मुक्तिर्मृत्युजयो जपेन प्राप्नुयात्फलम्।।३५।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तगति ध्याननिरूपणं नाम चतुःसप्तत्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः।।३७४।।
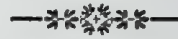
सुशोभित हैं। श्रीअङ्गों पर पीताम्बर शोभा पाता है। वे सभी तरह के आभूषणों से अलंकृत हैं। उनका आकार बहुत बड़ा अथवा एक बित्ते का है। जैसी इच्छा हो, वैसी ही छोटी या बड़ी आकृति का ध्यान करना चाहिये। ध्यान के समय ऐसी भावना करनी चाहिये कि 'मैं ज्योतिर्मय ब्रह्म हूँ-मैं ही नित्यमुक्त प्रणवरूप वासुदेवसंज्ञक परमात्मा हूँ।' ध्यान से थक जाने पर मन्त्र का जप करना चाहिये और जप थकने पर ध्यान करना चाहिये। इस तरह जो जप और ध्यान आदि में लगा रहता है, उसके ऊपर भगवान् श्रीहरि विष्णु शीघ्र ही प्रसन्न होते हैं। दूसरे-दूसरे यज्ञ जपयज्ञ की सोलहवीं कला के बराकर भी नहीं हो सकते। जप करने वाले पुरुष के पास आधि, व्याधि और ग्रह हीं फटकने पाते। जप करने से भोग, मोक्ष तथा मृत्यु-विजयरूप फल की प्राप्ति हो जाती है।।२७-३५।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी तीन सौ चौहत्तरवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।३७४।।

❖❖❖

अथ पञ्चसप्तत्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः

धारणा

अग्निरुवाच

धारणा मनसो ध्येये संस्थितिर्ध्यानवद्द्विधा। मूर्तामूर्तहरिध्यानमनोधारणतो हरिः॥१॥
यद्बाह्यावस्थितं लक्ष्यं तस्मान्न चलते मनः। तावत्कालं प्रदेशेषु धारणा मनसि स्थितिः॥२॥
कालावधिपरिच्छिन्नं देहे संस्थापितं मनः। न प्रच्यवति यल्लक्ष्याद्धारणा साऽभिधीयते॥३॥
धारणा द्वादशायामा ध्यानं द्वादशधारणाः। ध्यानं द्वादशकं यावत्समाधिरभिधीयते॥४॥
धारणाभ्यासयुक्तात्मा यदि प्राणैर्विमुच्यते। कुलैकविंशमुत्तार्य स्वर्याति परमं पदम्॥५॥
यस्मिन्यस्मिन्भवेदङ्गे योगिनां व्याधिसंभवः। तत्तदङ्गं धिया व्याप्य धारयेत्तत्त्वधारणम्॥६॥
आग्नेयी वारुणी चैव ऐशानी चामृतात्मिका। साग्निः शिखा फडन्ता च विष्णोः कार्या द्विजोत्तम॥७॥
नाडीभिर्विकटं दिव्यं शूलाग्रं वेधयेच्छुभम्। पादाङ्गुष्ठात्कपोलान्तं रश्मिमण्डलमादृतम्॥८॥
तिर्यक्चाधोर्ध्वभागेभ्यः प्रयान्त्योऽतीव तेजसा। चिन्तयेत्साधकेन्द्रस्तं यावत्सर्वं महामुने॥९॥

अध्याय-३७५

धारणा विचार

श्रीअग्निदेव ने कहा कि-हे मुने! ध्येय वस्तु में जो मन की स्थिति होती है, उसको 'धारणा' कहते हैं। ध्यान की ही भाँति उसके भी दो भेद हैं-'साकार' और 'निराकार'। भगवान् के ध्यान में जो मन को लगाया जाता है, उसको क्रमशः 'मूर्त' और 'अमूर्त' धारणा कहते हैं। इस धारणा से भगवान् की प्राप्ति हो जाती है। जो द्वादश का लक्ष्य है, उससे मन जिस समय तक विचलित नहीं होता, तत्पश्चात् तक किसी भी प्रदेश में मन की स्थिति को 'धारणा' कहते हैं। देह के अन्दर नियत समय तक जो मन को रोक रखा जाता है और वह अपने लक्ष्य से विचलित नहीं होता, यही अवस्था 'धारणा' कहलाती है। द्वादश आयाम की 'धारणा' होती है, द्वादश 'धारणा' का 'ध्यान' होता है तथा द्वादश ध्यान पर्यन्त जो मन की एकाग्रता है, उसको 'समाधि' कहते हैं। जिसका मन धारणा के अभ्यास में लगा हुआ है, उसी अवस्था में यदि उसके प्राणों का परित्याग हो जाय तो वह पुरुष अपने इक्कीस पीढ़ी का उद्धार करके अत्यन्त उत्कृष्ट स्वर्ग पद को प्राप्त होता है।

योगियों के जिस-जिस अंग में व्याधि की सम्भावना हो, उस-उस अंग को बुद्धि से व्याप्त करके तत्त्वों की धारणा करनी चाहिये। हे द्विजोत्तम! आग्नेयी, वारुणी, ऐशानी और अमृतात्मिका-ये विष्णु की चार तरह की धारणा करनी चाहिये। उस समय अग्नियुक्त शिखामन्त्र का, जिसके अन्त में 'फट्' शब्द का प्रयोग होता है, जप करा उचित है। नाड़ियों के द्वारा विकट, दिव्य एवं शुभ शूलाग्र का वेधन करना चाहिये। पैर के अँगूठे से लेकर कपोल तक किरणों का समूह व्याप्त है और वह बड़ी तेजी के साथ ऊपर-नीचे तथा इधर-उधर फैल रहा है, ऐसी भावना करनी चाहिये। हे महामुने! श्रेष्ठ साधक को तत्पश्चात् तक रश्मि-मण्डल का चिन्तन करते रहना चाहिये, जिस समय तक कि वह

भस्मीभूतं शरीरं स्वं ततश्चैवोपसंहरेत्। शीतश्लेष्मादयः पापं विनश्यन्ति द्विजातयः॥१०॥
शिरो धीरं विचारं च कण्ठं चाधोमुखे स्मरेत्। ध्यायेदच्छिन्नचित्तामा भूयोभूतेन चाऽऽत्मना॥११॥
स्फुरच्छीकरसंस्पर्शप्रभूते हिमगामिभिः। धाराभिरखिलं विश्वमापूर्य भुवि चिन्तयेत्॥१२॥
ब्रह्मरन्ध्राच्च संक्षोभाद्यावदाधारमण्डलम्। सुषुम्नान्तर्गतो भूत्वा संपूर्णेन्दुकृतालयम्॥१३॥
संप्लाव्य हिमसंस्पर्शतोयेनामृतमूर्तिना। क्षुत्पिपासाक्रमप्रायसंतापपरिपीडितः॥१४॥
धारयेद्वारुणीं मन्त्री तुष्ट्यर्थं चाप्यतंत्रितः। वारुणी धारणा प्रोक्ता ऐशानी (नीं) धारणां शृणु॥१५॥
व्योम्नि ब्रह्ममये पद्मे प्राणापाने क्षयं गते। प्रसादं चिन्तयेद्विष्णोर्यावच्चिन्ता क्षयं गता॥१६॥
महाभावं जपेत्सर्वं ततो व्यापक ईश्वरः। अर्धेन्दुं परमं शान्तं निराभासं निरञ्जनम्॥१७॥
असत्यं सत्यामाभाति तावत्सर्वं चराचरम्। यावत्स्वस्यन्दरूपं तु न दृष्टं गुरुवक्त्रतः॥१८॥
दृष्टे तस्मिन्परे तत्त्वे आब्रह्म सचराचरम्। प्रमातृमानमेयं च ध्यानहृत्पद्मकम्पनम्॥१९॥
मातृमोदकवत्सर्वं जपहोमार्चनादिकम्। विष्णुमन्त्रेण वा कुर्यादमृतां धारणां वदे॥२०॥
सम्पूर्णेन्दुनिभं ध्यायेत्कमलं तन्त्रिमुष्टिगम्। शिरःस्थं चिन्तयेद्यत्नाच्छशाङ्कायुतवर्चसम्॥२१॥

अपने सम्पूर्ण शरीर को उसके अन्दर भस्म होता न देखे। उसके बाद उस धारणा का उपसंहार करना चाहिये। इसके द्वारा द्विजगण शीत और श्लेष्मा आदि रोग तथा अपने पापों का विनाश करते हैं (यह 'आग्नेयी धारणा' है)॥९-१०॥

तत्पश्चात् धीरभाव से विचार करते हुए मस्तक और कण्ठ के अधोमुख होने का चिन्तन करना चाहिये। उस समय साधक का चित्त नष्ट नहीं होता। वह पुनः अपने अन्तःकरण द्वारा ध्यान में लग जाय और ऐसी धारणा करनी चाहिये कि जल के अनन्त कण प्रकट होकर एक-दूसरे से मिलकर हिमराशि को उत्पन्न करते हैं और उससे इस पृथ्वी पर जल की धाराएँ प्रवाहित होकर सम्पूर्ण विश्व को आप्लावित कर रही हैं। इस तरह उस हिमस्पर्श से शीतल अमृतस्वरूप जल के द्वारा क्षोभवश ब्रह्मरन्ध्र से लेकर मूलाधार पर्यन्त सम्पूर्ण चक्र-मण्डल को आप्लावित करके सुषुम्णा नाड़ी के अन्दर होकर पूर्ण चन्द्रमण्डल का चिन्तन करना चाहिये। भूख-प्यास आदि के क्रम से प्राप्त होने वाले क्लेशों से अत्यन्त पीड़ित होकर अपनी तुष्टि के लिये इस 'वारुणी धारणा' का चिन्तन करना चाहिये तथा उस समय आलस्य छोड़कर विष्णुमन्त्र का जप करना भी उचित है। यह 'वारुणी धारणा' बतलायी गयी, अधुना 'ऐशानी धारणा' का वर्णन सुनिये॥११-१५॥

प्राण और अपान का क्षय होने पर हृदयाकाश में ब्रह्ममय कमल के ऊपर विराजमान भगवान् श्रीहरि विष्णु के प्रसाद अनुग्रह) का तत्पश्चात् तक चिन्तन करता रहे, जिस समय तक कि सारी चिन्ता का विनाश न हो जाय। तत्पश्चात् व्यापक ईश्वररूप से स्थित होकर परम शान्त, निरञ्जन, निराभास एवं अर्द्धचन्द्रस्वरूप सम्पूर्ण महाभाव का जप और चिन्तन करना चाहिये। जिस समय तक गुरु के मुख से जीवात्मा को ब्रह्म का ही अंश (या साक्षात् ब्रह्मरूप) नहीं जान लिया जाता, तत्पश्चात् तक यह सम्पूर्ण चराचर जगत् असत्य होने पर भी सत्यवत् प्रतीत होता है। उस परम तत्त्व का साक्षात्कार हो जाने पर ब्रह्मा से लेकर यह सारा चराचर जगत्, प्रमाता, मान और मेय (ध्याता, ध्यान और ध्ये)—सब कुछ ध्यानगत हृदय-कमल में लीन हो जाता है। जप, हवन और पूजन आदि को माता की दी हुई मिठाई की भाँति मधुर एवं लाभकर जानकर विष्णुमन्त्र के द्वारा उसका श्रद्धापूर्वक अनुष्ठान करना चाहिये।

अधुना मैं 'अमृतमयी धारणा' बतला रहा हूँ—मस्तक की नाड़ी के केन्द्रस्थान में पूर्ण चन्द्रमा के समान आकार

सम्पूर्णमण्डलं व्याम्नि शिवकल्लोलपूर्णितम्। तथा हृत्कमले ध्यायेत्तन्मध्ये स्वतनुं स्मरेत्।।२२।।
साधको विगतक्लेशो जायते धारणादिभिः।।२२।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते धारणानिरूपणं नाम पञ्चसप्तत्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः।।३७५।।

—✻✻❁✻✻—

अथ षट्सप्तत्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः

समाधिः

अग्निरुवाच

यदात्ममात्रं निर्भासं स्तिमितोदधिवत्स्थितम्। चैतन्यरूपवद्ध्यानं तत्समाधिरिहोच्यते।।१।।
ध्यायन्मनः संनिवेश्य यस्तिष्ठेदचलः स्थिरः। निर्वातानलवद्योगी समाधिस्थः प्रकीर्तितः।।२।।
न शृणोति न चाऽऽघ्राति न पश्यति न रस्यति। न च स्पर्शं विजानाति न संकल्पयते मनः।।३।।
न चाभिमन्यते किंचिन्न च बुध्यति काष्ठवत्। एवमीश्वरसंलीनः समाधिस्थः स गीयते।।४।।

वाले कमल का ध्यान करना चाहिये तथा प्रयत्नपूर्वक यह भावना करनी चाहिये कि 'आकाश में दस हजार चन्द्रमा के समान प्रकाशमान एक पूर्ण चन्द्रमण्डल उदित हुआ है, जो कल्याणमय कल्लोलों से परिपूर्ण है।' ऐसा ही ध्यान अपने हृदय-कमल में भी करना चाहिये और उसके मध्यभाग में अपने शरीर को स्थित देखे। धारणा आदि के द्वारा साधक के सभी क्लेश दूर हो जाते हैं।।१६-२२।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी तीन सौ पचहत्तरवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।३७५।।

अध्याय-३७६

समाधि विचार

श्रीअग्नि देव ने कहा कि-जो चैतन्य स्वरूप से युक्त और प्रशान्त समुद्र की भाँति स्थिर हो, जिसमें आत्मा के सिवा अन्य किसी वस्तु की प्रतीति न होती हो, उस ध्यान को 'समाधि' कहते हैं। जो ध्यान के समय अपने चित्त को ध्येय में लगाकर वायुहीन प्रदेश में जलती हुई अग्निशिखा की भाँति अविचल एवं स्थिर भाव से बैठा रहता है, वह योगी 'समाधिक्य' कहा गया है। जो न सुनता है, न सूँघता है, न देखता है, न रसास्वादन करता है, न स्पर्श का अनुभव करता है, न मन में संकल्प उठने देता है, न अभिमान करता है और न बुद्धि से दूसरी किसी वस्तु को जानता ही है, केवल काष्ठ की भाँति अविचलभाव से ध्यान में स्थित रहता है, ऐसे ईश्वर चिंतन परायण पुरुष को 'समाधिस्थ' कहते हैं। जिस प्रकार वायुहीन स्थान में रखा हुआ दीपक कम्पित नहीं होता, यही उस समाधिस्थ योगी के लिये उपमा मानी गयी है। जो अपने आत्मस्वरूप भगवान् श्रीहरि विष्णु के ध्यान में संलग्न रहता है, उसके सामने अनेक दिव्य विघ्न उपस्थित होते हैं।

यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता। ध्यायतो विष्णुमात्मानं समाधिस्थस्य योगिनः।।५।।
उपसर्गाः प्रवर्तन्ते दिव्याः सिद्धप्रसूचकाः। पातितः श्रावणो धातुर्दशनस्वाङ्गवेदनाः।।६।।
प्रार्थयन्ति च तं देवा भोगैर्दिव्यैश्च योगिनम्। नृपाश्च पृथिवीदानैर्धनैश्च सुधनाधिपाः।।७।।
वेदादिसर्वशास्त्रं च स्वयमेव प्रवर्तते। अभीष्टच्छन्दो विषयं काव्यं चास्य प्रवर्तते।।८।।
रसायनानि दिव्यानि दिव्याश्चौषधयस्तथा। समस्तानि च शिल्पानि कलाः सर्वाश्च विन्दति।।९।।
सुरेन्द्रकन्या इत्याद्या गुणाश्च प्रतिभादयः। तृणवत्तां त्वजेद्यस्तु तस्य विष्णुः प्रसीदति।।१०।।
अणिमादिगुणैश्वर्यः शिष्ये ज्ञानं प्रकाश्य च। भुक्त्वा भोगान्यथेच्छातस्तनुं त्यक्त्वा लयात्ततः।।११।।
तिष्ठेत्स्वात्मनि विज्ञान आनन्दे ब्रह्मणीश्वरे। मलिनो हि यथाऽऽदर्श आत्मज्ञानाय न क्षमः।।१२।।
तथा विपक्षकरण आत्मज्ञानाय न क्षमः। सर्वाश्रयान्निजे देहे देही विन्दति वेदनाम्।।१३।।
योगयुक्तस्तु सर्वेषां योगान्नाऽऽप्नोति वेदनाम्। आकाशमेकं हि यथा घटादिषु पृथग्भवेत्।।१४।।
तथाऽऽत्मैको ह्यनेकेषु जलाधारेष्विवांशुमान्। ब्रह्म खानिलतेजांसि जलभूक्षितिधातवः।।१५।।
इमे लोका एष चाऽऽत्मा तस्माच्च सचराचरम्। मृद्दण्डचक्रसंयोगात्कुम्भकारो यथा घटम्।।१६।।

वे सिद्धि की सूचना देने वाले हैं। साधक ऊपर से नीचे गिराया जाता है, उसके कान में पीड़ा होती है, अनेक तरह के धातुओं के दर्शन होते हैं तथा उसको अपने शरीर में बड़ी वेदना का अनुभव होता है। देवता लोग उस योगी के पास आकर उससे दिव्य भोग स्वीकार करने की याचना करते हैं, राजा पृथ्वी का राज्य देने की बात कहते हैं। राजा पृथ्वी का राज्य देने की बात कहते और बड़े-बड़े धनाध्यक्ष धन का लोभ दिखाते हैं। वेद आदि सम्पूर्ण शास्त्र स्वयं ही (बिना पढ़े) उसकी बुद्धि में स्फुरित हो जाते हैं। उसके द्वारा मनोनुकूल छन्द और सुन्दर विषय से युक्त श्रेष्ठतम काव्य की रचना होने लगती है। दिव्य रसायन, दिव्य औषधियाँ तथा सम्पूर्ण शिल्प और कलाएँ उसको प्राप्त हो जाती हैं। इतना ही नहीं, देवेश्वरों की कन्याएँ और प्रतिभा आदि सद्गुण भी उसके पास बिना बुलाये जाते हैं; परन्तु जो इन सभी को तिनके के समान निस्सार मानकर त्याग देता है, उसी पर भगवान् श्रीहरि विष्णु प्रसन्न होते हैं।।१-१०।।

अणिमा आदि गुणमयी विभूतियों से युक्त योगी पुरुष को उचित है कि वह शिष्य को ज्ञान देना चाहिये। इच्छानुसार भोगों को उपभोग करके लययोग की विधि से शरीर का परित्याग करना चाहिये। और विज्ञानानन्दमय ब्रह्म एवं ईश्वररूप अपने आत्मा में स्थित हो जाय। जिस प्रकार मलिन दर्पण शरीर का प्रतिबिम्ब ग्रहण करने में असमर्थ होने के कारण रीर का ज्ञान कराने की क्षमता नहीं रखता, उसी तरह जिसका अन्तःकरण परिपक्व (वासनाशून्य) नहीं है, वह आत्मज्ञान प्राप्त करने में असमर्थ है। देह सभी तरह के रोगों और दुःखों का आश्रय है; इसलिये देहाभिमानी जीव अपने शरीर में वेदना का अनुभव करता है। परन्तु जो पुरुष योगयुक्त है, उसको योग के ही प्रभाव से किसी भी क्लेश का अनुभव नहीं होता। जिस प्रकार एक ही आकाश घट आदि भिन्न-भिन्न उपाधियों में पृथक्-पृथक् सा प्रतीत होता है और एक ही सूर्य अनेक जलपात्रां में अनेक-सा जान पड़ता है, उसी तरह आत्मा एक होता हुआ भी अनेक शरीर में स्थित होने के कारण अनेकवत् प्रतीत होता है।

आकाश, वायु तेज, जल और पृथ्वी-ये पाँचों भूत ब्रह्म के ही स्वरूप हैं। ये सम्पूर्ण लोक आत्मा ही है; आत्मा से ही चराचर जगत् की अभिव्यक्ति होती है। जिस प्रकार कुम्हार मिट्टी, डंडा और चाक के संयोग से घड़ा बनाता है, अथवा जिस तरह गृह बनाने वाला मनुष्य तृण, मिट्टी और काठ से गृह बनाने वाला मनुष्य तृण, मिट्टी और

करोति तृणमृत्काष्ठैर्गृहं वा गृहकारकः। करणान्येवमादाय तासु तास्विह योनिशु॥१७॥
सृजत्यात्मानमात्मैवं संभूय करणानि च। कर्मणा दोषमोहाभ्यामिच्छयैव स बध्यते॥१८॥
ज्ञानाद्विमुच्यते जीवो धर्माद्योगी न रोगभाक्। वर्त्याधारस्नेहयोगाद्यथा दीपस्य संस्थितिः॥१९॥
विक्रियाऽपि च दृष्ट्वैवमकाले प्राणसंक्षयः। अनन्ता रश्मयस्तस्य दीपवद्यः स्थितो हृदि॥२०॥
सितासिताः कद्रुनीलाः कपिलाः पीतलोहिताः। ऊर्ध्वमेकः स्थितस्तेषां यो भित्त्वा सूर्यमण्डलम्॥२१॥
ब्रह्मलोकमतिक्रम्य तेन याति परां गतिम्। यदस्यान्यद्रश्मिशतमूर्ध्वमेव व्यवस्थितम्॥२२॥
तेन देवनिकायानि धामानि प्रतिपद्यते। येनैकरूपाश्चाधस्ताद्रश्मयोऽस्य मृदुप्रभाः॥२३॥
इह कर्मोपभोगाय तैश्च संचरते हि सः। बुद्धीन्द्रियाणि सर्वाणि मनः कर्मेन्द्रियाणि च॥२४॥
अहंकारश्च बुद्धिश्च पृथिव्यादीनि चैव हि। अव्यक्त आत्मा क्षेत्रज्ञः क्षेत्रस्यास्य निगद्यते॥२५॥
ईश्वरः सर्वभूतस्य सदसन्सदसच्च सः। बुद्धेरुत्पत्तिरव्यक्ता ततोऽहंकारसंभवः॥२६॥
तस्मात्खादीनि जायन्त एकोत्तरगुणानि तु। शब्दः स्पर्शश्च रूपं च रसो गन्धश्च तद्गुणाः॥२७॥
यो यस्मिन्नाश्रितश्चैषां स तस्मिन्नेव लीयते। सत्त्वं रजस्तमश्चैव गुणास्तस्यैव कीर्तिताः॥२८॥

काठ से गृह तैयार करता है, उसी तरह जीवात्मा इन्द्रियों को साथ ले, कार्य-करण-संघात को एकचित्त करके भिन्न-भिन्न योनियों में अपने को उत्पन्न करता है। कर्म से, दोष और मोह से तथा स्वेच्छा से ही जीव बन्धन में पड़ता है और ज्ञान से ही उसकी मुक्ति होती है। योगी पुरुष धर्मानुष्ठान करने से कभी रोग का भागी नहीं होता। जिस प्रकार बत्ती, तैलपात्र और तैल—इन तीनों के संयोग से ही दीपक की स्थिति है—इनमें से एक के अभाव में भी दीपक रह नहीं सकता, उसी तरह योग और धर्म के बिना विकार (रोग) की प्राप्ति देखी जाती है और इस तरह अकाल में ही प्राणों का क्षय हो जाता है॥११-१९॥

हमारे हृदय के अन्दर जो दीपक की भाँति प्रकाशमान आत्मा है, उसकी अनन्त किरणें फैली हुई हैं, जो श्वेत, कृष्ण, पिङ्गल, नील, कपिल, पीत और रक्त वर्ण की हैं। उनमें से सीधे ऊपर को चली गयी है और ब्रह्मलोक को ली लाँघ गयी; उसी के मार्ग से योग पुरुष परमगति को प्राप्त होता है। उसके सिवा और भी सैकड़ों किरणें ऊपर की तरफ स्थित हैं। उनके द्वारा मनुष्य भिन्न-भिन्न देवताओं के निवासभूत लोकों में जाता है। जो एक ही रंग की बहुत-सी किरणें नीचे की तरफ स्थित हैं, उनकी कान्ति बड़ी कोमल है। उन्हीं के द्वारा जीव इस लोक में कर्मभोग के लिये आता है। समस्त ज्ञानेन्द्रियाँ, मन, कर्मेन्द्रियाँ, अहंकार, बुद्धि, पृथिवी आदि पाँच भूत तथा अव्यक्त प्रकृति—ये 'क्षेत्र' कहलाते हैं और आत्मा ही इस क्षेत्र का ज्ञान रखने वाला 'क्षेत्रज्ञ' कहलाता है। वही सम्पूर्ण भूतों का ईश्वर है। सत्, असत् तथा सद्सत—सब उसी के स्वरूप हैं।

व्यक्त प्रकृति से समष्टि बुद्धि (महत्तत्त्व) की उत्पत्ति होती है, उससे अहंकार उत्पन्न होता है, अहंकार से आकाश आदि पाँच भूत उत्पन्न होते हैं, जो उत्तरोत्तर एकाधिक गुणों वाले हैं। शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—ये क्रमशः उन पाँचों भूतों के गुण हैं। इनमें से जो भूत जिसके आश्रय में है, वह उसी में लीन होता है। सत्त्व, रज और तम—ये अव्यक्त प्रकृति के ही गुण हैं। जीव रजोगुण और तमोगुण से आविष्ट हो चक्र की भाँति घूमता रहता है। जो सभी का 'आदि' होता हुआ स्वयं 'अनादि' है, वही परमपुरुष परमात्मा है। मन और इन्द्रियों से जिसका ग्रहण होता

रजस्तमोभ्यामाविष्टश्चक्रवद्भ्राम्यते हि सः। अनादिरादिमान्यश्च स एव पुरुषः परः॥२९॥
लिङ्गेन्द्रियैरुपग्राह्यः स विकार उदाहृतः। यतो वेदाः पुराणानि विद्योपनिषदस्तथा॥३०॥
श्लोकाः सूत्राणि भाष्याणि यच्चान्यद्वाङ्मयं भवेत्। पितृयानोपवीथ्याश्च यदगस्त्यस्य चाऽन्तरम्॥३१॥
तेनाग्निहोत्रिणो यान्ति प्रजाकामा दिवं प्रति। ये च दानपराः सम्यगष्टाभिश्च गुणैर्युताः॥३२॥
अष्टाशीतिसहस्राणि मुनयो गृहमेधिनः। पुनरावर्तने बीजभूता धर्मप्रवर्तकाः॥३३॥
सप्तर्षिनागवीथ्याश्च देवलोकं समाश्रिताः। तावन्त एव मुनयः सर्वारम्भविवर्जिताः॥३४॥
तपसा ब्रह्मचर्येण सङ्गत्यागेन मेधया। यत्र यत्रावतिष्ठन्ते तावदाहू (भू) त संप्लवम्॥३५॥
वेदानुवचनं यज्ञा ब्रह्मचर्यं तपो दमः। श्रद्धोपवासः सत्यत्वमात्मनो ज्ञानहेतवः॥३६॥
सत्त्वाश्रयैर्निदिध्यास्यः समस्तैरेवमेव तु। द्रष्टव्यस्त्वथ मन्तव्यः श्रोतव्यश्च द्विजातिभिः॥३७॥
य एवमेनं विन्दन्ति ये चाऽऽरण्यकमाश्रिताः। उपासते द्विजाः सत्यं श्रद्धया परया युताः॥३८॥
क्रमात्ते संभवन्त्यर्चिरहः शुक्लं तथोत्तरम्। अयनं देवलोकं च सवितारं सविद्युतम्॥३९॥
तस्तान्पुरुषोंऽभ्येत्य मानसी ब्रह्म लौकिकान्। करोति पुनरावृत्तिस्तेषामिह न विद्यते॥४०॥
यज्ञेन तपसा दानैर्ये हि स्वर्गजितो जनाः। धूमं निशां कृष्णपक्षं दक्षिणायनमेव च॥४१॥

है, वह 'विकार' (विकृत होने वाला प्राकृत तत्त्व) कहलताा है। जिससे वेद, पुराण, विद्या, उपनिषद्, श्लोक, सूत्र, भाष्य तथा अन्य वाङ्मय की अभिव्यक्ति हुई है, वही 'परमात्मा' है।

पितृयान मार्ग की उपवीथी से लेकर अगस्त्य तारा के मध्य का जो मार्ग है, उससे संतान की कामना वाले अग्निहोत्री लोग स्वर्ग में जाते हैं। जो भलीभाँति दान में तत्पर तथा आठ गुणों से युक्त होते हैं। वे भी उसी भाँति यात्रा करते हैं। अठासी हजार गृहस्थ मुनि हैं, जो सब धर्मों के प्रवर्तक हैं; वे ही पुनरावृत्ति के बीज (कारण) माने गये हैं। वे सप्तर्षियों तथा नागवीथी के मध्य के मार्ग से देवलोक में ये हैं। उतने ही (अर्थात् अठासी हजार) मुनि और भी हैं, जो सभी तरह के आरामों से हीन हैं। वे तपस्या, ब्रह्मचर्य, आसक्ति, त्याग तथा मेधाशक्ति के प्रभाव से कल्पपर्यन्त भिन्न-भिन्न दिव्यलोकों में निवास करते हैं॥२०-३५॥

वेदों का निरन्तर स्वाध्याय, निष्काम यज्ञ, ब्रह्मचर्य, तप, इन्द्रिय-संयम, श्रद्धा, निराहार व्रत तथा सत्य-भाषण–ये आत्मज्ञान के हेतु हैं। समस्त द्विजातियों को उचित है कि वे सत्त्वगुण का आश्रय लेकर आत्मतत्त्व का श्रवण, मनन, निदिध्यासन एवं साक्षात्कार करें। जो इस तरह जानते हैं, जो वानप्रस्थ आश्रम का आश्रय ले चुके हैं और परम श्रद्धा से युक्त हो सत्य की उपासना करते हैं, वे क्रमशः अग्नि, दिन, शुक्लपक्ष, उत्तरायण, देवलोक, सूर्यमण्डल तथा विद्युत् अभिमानी देवताओं के लोकों में आते हैं।

तत्पश्चात् मानस पुरुष वहाँ आकर उनको साथ ले जा, ब्रह्मलोक का निवासी बना देता है; उनकी इस लोक में पुनरावृत्ति नहीं होती है। जो लोग यज्ञ, तप और दान से स्वर्गलोग पर अधिकार प्राप्त करते हैं, वे क्रमशः धूम, रात्रि, कृष्णपक्ष, दक्षिणायन, पितृलोक तथा चन्द्रमा के अभिमानी देवताओं के लोकों में आते हैं और फिर आकाश, वायु एवं जल के मार्ग से होते हुए इस पृथ्वी पर लौट आते हैं। इस तरह वे इस लोक में जन्म लेते और मृत्यु के

पितृलोकं चन्द्रमसं नभो वायुं जलं महीम्। क्रमात्ते संभवन्तीह पुनरेव व्रजन्ति च।।४२।।
एतद्यो न विजानाति मार्गद्वितयमात्मनः। दन्दशूकः पतङ्गो वा भवेत्कीटोऽथवा कृमिः।।४३।।
हृदये दीपवद्ब्रह्मध्यानाज्जीवोऽमृतो भवेत्। न्यायागतधनस्तत्त्वज्ञाननिष्ठोऽतिथिप्रियः।।
श्राद्धकृत्सत्यवादी च गृहस्थोऽपि विमुच्यते।।४४।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते समाधिनिरूपणं नाम षट्सप्तत्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः।।३७६।।

अथ सप्तसप्तत्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः

ब्रह्मज्ञानम्

अग्निरुवाच

ब्रह्मज्ञानं प्रवक्ष्यामि संसाराज्ञानमुक्तये। अयमात्मा परं ब्रह्म अहमस्मीति मुच्यते।।१।।
देह आत्मा न भवति दृश्यत्त्वाच्च घटादिवत्। प्रसुप्ते मरणे देहादात्माऽन्यो ज्ञायते ध्रुवम्।।२।।
देहः स चेद्व्यवहरेदविकार्यादिसंनिभः। चक्षुरादीनिन्द्रियाणि नाऽऽत्मा वै करणं त्वतः।।३।।
मनो धीरपि आत्मा न दीपवत्करणं त्वतः। प्राणोऽप्यात्मा न भवति सुशुप्ते चित्प्रभावतः।।४।।

बाद पुनः उसी मार्ग से यात्रा करते हैं। जो जीवात्मा के इन दोनों मार्गों को नहीं जानता, वह साँप, पतंग अथवा क्रीड़ा-मकोड़ा होता है। हृदयाकाश में दीपक की भाँति प्रकाशमान ब्रह्म का ध्यान करने से जीव अमृतस्वरूप हो जाता है। जो न्याय से धन का उपार्जन करने वाला, तत्त्व ज्ञान में स्थित, अतिथि-प्रेमी, श्राद्धकर्ता तथा सत्यवादी है, वह गृहस्थ भी मुक्त हो जाता है।।३६-४४।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी तीन सौ छिहत्तरवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।३७६।।

अध्याय-३७७

ब्रह्मज्ञान विचार

श्रीअग्निदेव ने कहा कि-अधुना मैं संसार रूप अज्ञानजनित बन्धन से छुटकारा पाने के लिये 'ब्रह्मज्ञान' का वर्णन करने जा रहा हूँ। 'यह आत्मा परब्रह्म है और वह ब्रह्म मैं ही हूँ।' ऐसा निश्चय हो जाने पर मनुष्य मुक्त हो जाता है। घट आदि वस्तुओं की भाँति यह देह दृश्य होने के कारण आत्मा नहीं है; क्योंकि सो जाने पर अथवा मृत्यु हो जाने पर यह बात निश्चित रूप से समझ में आ जाती है कि 'देह से आत्मा भिन्न है'। यदि देह ही आत्मा होता तो सोने या मरने के बाद भी पूर्ववत् व्यवहार करता; (आत्मा क) 'अविकारी' आदि विशेषणों के समान विशेषण से युक्त निर्विकार रूप में प्रतीत होता। नेत्र आदि इन्द्रियाँ भी आत्मा नहीं हैं; क्योंकि वे 'करण' हैं। यही हाल मन

जाग्रत्स्वप्ने च चैतन्यं संकीर्णत्वान्न बुध्यते। विज्ञानरहितः प्राणः सुषुप्ते ज्ञायते यतः॥५॥
अतो नाऽऽत्मेन्द्रियं तस्मादिन्द्रियादिकमात्मनः। अहंकारोऽपि नैवाऽऽत्मा देहवद्व्यभिचारतः॥६॥
उक्तेभ्यो व्यतिरिक्तोऽयमात्मा सर्वहृदिस्थितः। सर्वद्रष्टा च भोक्ता च नक्तमुज्ज्वलदीपवत्॥७॥
समाध्यारम्भकाले च एवं संचिन्तयेन्मुनिः। यतो ब्रह्मण आकाश खाद्वायुर्वायुतोऽनलः॥८॥
अग्नेरापो जलात्पृथ्वी ततः सूक्ष्मं शरीरकम्। अपञ्चीकृतभूतेभ्य आसन्पञ्चीकृतान्यतः॥९॥
स्थूलं शरीरं ध्यात्वाऽस्माल्लयं ब्रह्मणि चिन्तयेत्। पञ्चीकृतानि भूतानि तत्कार्यं च विराट् स्मृतम्॥१०॥
एतत्स्थूलं शरीरं हि आत्मनोऽज्ञानकल्पितम्। इन्द्रियैरथ विज्ञानं धीरा जागरितं विदुः॥११॥
विश्वस्तदभिमानी स्यात्त्रमेतदकारकम्। अपञ्चीकृतभूतानि तत्कार्यं लिङ्गमुच्यते॥१२॥
संयुक्तं सप्तदशभिर्हिरण्यगर्भसंज्ञितम्। शरीरमात्मनः सूक्ष्मं लिङ्गमित्यभिधीयते॥१३॥
जाग्रत्संस्कारजः स्वप्नः प्रत्ययो विषयात्मकः। आत्मा तदुपमानी स्यात्तैजसो ह्यप्रपञ्चतः॥१४॥
स्थूलसूक्ष्मशरीराख्यद्वयस्यैकं हि कारणम्। आत्मा ज्ञानं च साभासं तदध्याहृतमुच्यते॥१५॥
न सन्नासन्न सदसदेतत्सावयवं न तत्। निर्गतावयवं नेति नाभिन्नं भिन्नमेव च॥१६॥

और बुद्धि का भी है। वे भी दीपक की भाँति प्रकाश के 'करण' हैं, इसलिये आत्मा नहीं हो सकते। 'प्राण' भी आत्मा नहीं है; क्योंकि सुषुप्तावस्था में उस पर जडता का प्रभाव रहता है। जाग्रत् और स्वप्नावस्था में प्राण के साथ चैतन्य मिला-सा रहता है, इसलिये उसका पृथक् बोध नहीं होता; परन्तु सुषुप्तावस्था में प्राण विज्ञान हीन है-यह बात स्पष्ट रूप से जानी जाती है। एतएव आत्मा इन्द्रिय आदि रूप नहीं है। इन्द्रिय आदि आत्मा के करण मात्र हैं। अहंकार भी आत्मा नहीं है; क्योंकि देह की भाँति वह भी आत्मा से पृथक् उपलब्ध होता है। उपरोक्त देह आदि से भिन्न यह आत्मा सबके हृदय में अर्न्यामीरूप से स्थित है। यह रात में जलते हुए दीपक की भाँति सभी का द्रष्टा और भोक्ता है॥१-७॥

समाधि के प्रारम्भ काल में मुनि को इस तरह चिन्तन करना चाहिये-'ब्रह्म से आकाश, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, जल से पृथ्वी तथा पृथ्वी से सूक्ष्म शरीर प्रकट हुआ हैं।' अपञ्चीकृत भूतों से पञ्चीकृत भूतों की उत्पत्ति हुई है। फिर स्थूल शरीर का ध्यान करके ब्रह्म में उसके लय होने की भावना करनी चाहिये। पञ्चीकृत भूत तथा उनके कार्यों को 'विराट्' कहते हैं। आत्मा का वह स्थूल शरीर अज्ञान से कल्पित है। इन्द्रियों के द्वारा जो ज्ञान होता है, उसको धीर पुरुष 'जाग्रत्-अवस्था' मानते हैं। जाग्रत् के अभिमानी आत्मा का नम 'विश्व' है। ये (इन्द्रिय-विज्ञान, जाग्रत्-अवस्था और उसके अभिमानी देवता) तीनों प्रणव की प्रथम मात्रा 'अकारस्वरूप' हैं।

उपञ्चीकृत भूत और उनके कार्य को 'लिङ्ग' कहा गया है। सत्रह तत्त्वों (दस इन्द्रिय, पञ्चतन्मात्रा तथा मन और बुद्धि) से युक्त जो आत्मा का सूक्ष्म शरीर है, जिसे 'हिरण्यगर्भ' नाम दिया गया है, उसी को 'लिङ्ग' कहते हैं। जाग्रत्-अवस्था के संस्कार से उत्पन्न विषयों की प्रतीति को 'स्वप्न' कहा गया है। उसका अभिमानी आत्मा 'तैजस' नाम से प्रसिद्ध है। वह जाग्रत् के प्रपञ्च से पृथक् तथा प्रणव की दूसरी मात्रा 'उकाररूप' है। स्थूल और सूक्ष्म-दोनों शरीरों का एक ही कारण है-'आत्मा'। अभासयुक्त ज्ञान को 'अध्याहृत ज्ञान' कहते हैं। इन अवस्थाओं का साक्षी 'ब्रह्म' न सत् है, न असत् और न सदसत् रूप ही है। वह न तो अवयवयुक्त है और न अवयव से हीन; न भिन्न है न

भिन्नाभिन्नं ह्यनिर्वाच्यं बन्धसंसारकारकम्। एकं स ब्रह्मविज्ञानात्प्राप्तं नैव च कर्मभिः॥१७॥
सर्वात्मना हीन्द्रियाणां संहारः कारणात्मनाम्। बुद्धेः स्थानं सुषुप्तं स्यात्तद्द्वयस्याभिमानवान्॥१८॥
प्राज्ञ आत्मा त्रयं चेतन्मकारः प्रणवः स्मृतः। अकारश्च उकारोऽसौ मकारो ह्यमेव च॥१९॥
अहं साक्षी च चिन्मात्रो जाग्रत्स्वप्नादिकस्य च। नाज्ञानं चैव तत्कार्यं संसारादिकबन्धनम्॥२०॥
नित्यशुद्धबन्ध (बुद्ध) मुक्तसत्यमानन्दमद्वयम्। ब्रह्माहमस्म्यहं ब्रह्म परं ज्योतिर्विमुक्त ओम्॥२१॥
अहं ब्रह्म परं ज्ञानं समाधिर्बन्धघातकः। चिरमानन्दकं ब्रह्म सत्यं ज्ञानमनन्तकम्॥२२॥
अयमात्मा परं ब्रह्म तद्ब्रह्म त्वममी (सी) ति च। गुरुणा बोधितो जीवो ह्यहं ब्रह्मामि वाह्यतः॥२३॥
सो (योऽ)ऽसावादित्यपुरुषः सोऽसावहमखण्ड ओम्। मुच्यतेऽसारसंसारादब्रह्मज्ञो ब्रह्म तद्भवेत्॥२४॥

॥इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते ब्रह्मज्ञाननिरूपणं नाम सप्तसप्तत्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः॥३७७॥

अभिन्न; भिन्नाभिन्न रूप भी नहीं है। वह सर्वथा अनिर्वचनीय है। इस बन्धनभूत संसार की सृष्टि करने वाला भी वही है। ब्रह्म एक है और केवल ज्ञान से प्राप्त होता है; कर्मों द्वारा उसकी उपलब्धि नहीं हो सकती॥८-१७॥

जिस समय बाह्यज्ञान के साधनभूत इन्द्रियों का सर्वथा लय हो जाता है, केवल बुद्धि की ही स्थित रहती है, उस अवस्था को 'सुषुप्ति' कहते हैं। 'बुद्धि' और 'सुषुप्ति' दोनों के अभिमानी आत्मा का नाम 'प्राज्ञ' है। ये तीनों 'मकार' एवं प्रणवरूप माने गये हैं। यह प्राज्ञ ही अकार, उकार और मकार स्वरूप है। 'अहम्' पद का लक्ष्यार्थभूत चित्स्वरूप आत्मा इन जाग्रत् और स्वप्न आदि अवस्थाओं का साक्षी है। उसमें अज्ञान और उसके कार्यभूत संसारादिक बन्धन नहीं हैं। मै। नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, सत्य, आनन्द एवं अद्वैतस्वरूप ब्रह्म हूँ। मैं ज्योतिर्मय परब्रह्म हूँ। सर्वथा मुक्त प्रणव (ॐ) वाच्य परमेश्वर हूँ। मैं ही ज्ञान एवं समाधिरूप ब्रह्म हूँ। बन्धन का विनाश करने वाला भी मैं ही हूँ।

चिरन्तन, आनन्दमय, सत्य, ज्ञान और अनन्त आदि नामों से लक्षित परब्रह्म मैं ही हूँ। 'यह आत्मा परब्रह्म है, वह ब्रह्म आप हो'—इस तरह गुरु द्वारा बोध कराये जाने पर जी यह अनुभव करता है कि मैं इस देह से विलक्षण परब्रह्म हूँ। वह जो सूर्यमण्डल में प्रकाशमय पुरुष है, वह मैं ही हूँ। मैं ही ॐकार तथा अखण्ड परमेश्वर हूँ। इस तरह ब्रह्म को जानने वाला पुरुष इस असार संसार से मुक्त होकर ब्रह्मरूप हो जाता है॥१८-२४॥

॥इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी तीन सौ सतहत्तरवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ॥३७७॥

❖❖❖

अथाष्टसप्तत्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः

ब्रह्मज्ञानम्

अग्निरुवाच

अहं ब्रह्म परं ज्योतिः पृथिव्यव (ब) नलोज्झितम्। अहं ब्रह्म परं ज्योतिर्वाय्वाकाशविवर्जितम्।।१।।
अहं ब्रह्म परं ज्योतिरादिकार्यविवर्जितम्। अहं ब्रह्म परं ज्योतिर्विराडात्मविवर्जितम्।।२।।
अहं ब्रह्म परं ज्योतिरार्जाग्रत्स्थानविवर्जितम्। अहं ब्रह्म परं ज्योतिर्विश्वभावविवर्जितम्।।३।।
अहं ब्रह्म परं ज्योतिराकाराक्षरवर्जितम्। अहं ब्रह्म परं ज्योतिर्वाक्पाण्यङ्घ्रिविवर्जितम्।।४।।
अहं ब्रह्म परं ज्योतिः पायूपस्थविवर्जितम्। अहं ब्रह्म परं ज्योतिः श्रोत्रत्वक्चक्षुरुज्झितम्।।५।।
अहं ब्रह्म परं ज्योती रसरूपविवर्जितम्। अहं ब्रह्म परं ज्योतिः सर्वगन्धविवर्जितम्।।६।।
अहं ब्रह्म परं ज्योतिर्जिह्वाघ्राणविवर्जितम्। अहं ब्रह्म परं ज्योतिः स्पर्शशब्दविवर्जितम्।।७।।
अहं ब्रह्म परं ज्योतितिर्मनोबुद्धिविवर्जितम्। अहं ब्रह्म परं ज्योतिश्चित्ताहंकार वर्जितम्।।८।।
अहं ब्रह्म परं ज्योतिः प्राणापानविवर्जितम्। अहं ब्रह्म परं ज्योतिर्व्यानोदानविवर्जितम्।।९।।
अहं ब्रह्म परं ज्योतिः समानपरिवर्जितम्। अहं ब्रह्म परं ज्योतिर्जरामरणवर्जितम्।।१०।।
अहं ब्रह्म परं ज्योतिः शोकमोहविवर्जितम्। अहं ब्रह्म परं ज्योतिः क्षुत्पिपासाविवर्जितम्।।११।।

अध्याय-३७८

ब्रह्मज्ञान में विशेष

श्रीअग्निदेव ने कहा कि–हे ब्रह्मन्! मैं पृथ्वी, जल और अग्नि से हीन स्वप्रकाशमय परब्रह्म हूँ। मैं वायु और आकाश से विलक्षण ज्योतिर्मय परब्रह्म हूँ। मैं विराट्स्वरूप (स्थूल ब्रह्माण्ड) से पृथक् ज्योतिर्मय परब्रह्म हूँ। मैं जाग्रत् अवस्था से हीन ज्योतिर्मय परब्रह्म हूँ। मैं 'विश्व' रूप से विलक्षण ज्योतिर्मय परब्रह्म हूँ। मैं आकार अक्षर से हीन ज्योतिर्मय परब्रह्म हूँ। मैं पायु (गुदा) और उपस्थ (लिङ्ग या योनि) से हीन ज्योतिर्मय परब्रह्म हूँ। मैं कान, त्वचा और नेत्र से हीन ज्योतिर्मय परब्रह्म हूँ। मै। सभी तरह की गन्धों से हीन ज्योतिर्मय परब्रह्म हूँ। मैं जिह्वा और नासिका से शून्य ज्योतिर्मय परब्रह्म हूँ। मैं स्पर्श और शब्द से हीन ज्योतिर्मय परब्रह्म हूँ। मैं चित्त और अहंकार से वर्जित ज्योतिर्मय परब्रह्म हूँ। मैं प्राण और अपान से पृथक् ज्योतिर्मय परब्रह्म हूँ।

मैं व्यान और उदान से विलग ज्योतिर्मय परब्रह्म हूँ। मैं समान नामक वायु से भिन्न ज्योतिर्मय परब्रह्म हूँ। मैं जना और मृत्युसे हीन ज्योतिर्मय परब्रह्म हूँ। मैं शोक और मोह की पहुँच से दूर ज्योतिर्मय परब्रह्म हूँ। मैं शब्दोत्पत्ति आदि से वर्जित ज्योतिर्मय परब्रह्म हूँ। मैं शब्दोत्पत्ति आदि से वर्जित ज्योतिर्मय परब्रह्म हूँ। मैं स्वप्नावस्था से हीन ज्योतिर्मय परब्रह्म हूँ। मैं तैजस आदि से पृथक् ज्योतिर्मय परब्रह्म हूँ। मैं उपकार आदि से हीन ज्योतिर्मय परब्रह्म हूँ। मैं समाज्ञान से शून्य ज्योतिर्मय परब्रह्म हूँ। मैं अध्याहार से हीन ज्योतिर्मय परब्रह्म हूँ। मैं सत्त्वादि गुणों से विलक्षण ज्योतिर्मय परब्रह्म हूँ। मैं सदसद्भाव से हीन ज्योतिर्मय परब्रह्म हूँ। मैं सब अवयवों से हीन ज्योतिर्मय परब्रह्म हूँ। मैं

अहं ब्रह्म परं ज्योतिः शब्दोद्भूतादिवर्जितम्। अहं ब्रह्म परं ज्योतिर्हिरण्यगर्भवर्जितम्।।१२।।
अहं ब्रह्म परं ज्योतिः स्वप्नावस्थाविवर्जितम्। अहं ब्रह्म परं ज्योतिस्तैजसादिविवर्जितम्।।१३।।
अहं ब्रह्म परं ज्योतिरपकारादिवर्जितम्। अहं ब्रह्म परं ज्योतिः सभाज्ञानविवर्जितम्।।१४।।
अहं ब्रह्म परं ज्योतिरध्याहृतविवर्जितम्। अहं ब्रह्म परं ज्योतिः सत्त्वादिगुणवर्जितम्।।१५।।
अहं ब्रह्म परं ज्योतिः सदसद्भाववर्जितम्। अहं ब्रह्म परं ज्योतिः सर्वावयववर्जितम्।।१६।।
अहं ब्रह्म परं ज्योतिर्भेदाभेदविवर्जितम्।अहं ब्रह्म परं ज्योतिः सुषिुप्तिस्थानवर्जितम्।।१७।।
अहं ब्रह्म परं ज्योतिः प्राज्ञभावविवर्जितम्। अहं ब्रह्म परं ज्योतिर्मकारादिविवर्जितम्।।१८।।
अहं ब्रह्म परं ज्योतिर्मानमेयविवर्जितम्। अहं ब्रह्म परं ज्योतिर्मितिमातृविवर्जितम्।।१९।।
अहं ब्रह्म परं ज्योतिः साक्षित्वादिविवर्जितम्। अहं ब्रह्म परं ज्योतिः कार्यकारणवर्जितम्।।२०।।
देहेन्द्रियमनोबुद्धिप्राणाहंकारवर्जितम्। जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्यादिमुक्तं ब्रह्म तुरीयकम्।।२१।।
नित्यशुद्धबुद्धमुक्तं सत्यमानन्दमद्वयम्। ब्रह्माहमस्म्यहं ब्रह्म सविज्ञानं विमुक्त ओम्।।२२।।
अहं ब्रह्म परं ज्योतिः समाधिर्मोक्षदः परः।।२३।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते ब्रह्मज्ञानकथनं नामाष्टसप्तत्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः।।३७८।।

सब अवयवों से हीन ज्योतिर्मय परब्रह्म हूँ। मैं सब अवयवों से हीन ज्योतिर्मय परब्रह्म हूँ। मैं भेदाभेद से हीन ज्योतिर्मय परब्रह्म हूँ। मैं सुशुप्तावस्था से शून्य ज्योतिर्मय परब्रह्म हूँ। मैं प्राज्ञ-भाव से हीन ज्योतिर्मय परब्रह्म हूँ। मैं मकारादि से हीन ज्योतिर्मय परब्रह्म हूँ। मैं मान और मेय से हीन ज्योतिर्मय परब्रह्म हूँ। मैं निहित (माप) और माता (माप करने वाले) से भिन्न ज्योतिर्मय परब्रह्म हूँ। मैं साक्षित्व आदि से हीन ज्योतिर्मय परब्रह्म हूँ। मैं कार्य-कारण से भिन्न ज्योतिर्मय परब्रह्म हूँ। मैं देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, प्राण और अहंकार हीन तथा जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति आदि से मुक्त तुरीय ब्रह्म हूँ। मैं नित्य, शुद्ध, मुक्त, सत्य, आनन्द और अद्वैतरूप ब्रह्म रूप हूँ। मैं विज्ञानयुक्त ब्रह्म हूँ। मैं सर्वथा मुक्त और प्रणवरूप हूँ। मैं ज्योतिर्मय परब्रह्म हूँ और मोक्ष देने वाला समाधिरूप परमात्मा भी मैं ही हूँ।।१-२३।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णाद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी तीन सौ अठहत्तरवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।३७८।।

❖❖❖

अथैकोनाशीत्यधिकत्रिततमोऽध्यायः

ब्रह्मज्ञानम्

अग्निरुवाच

यज्ञैश्च देवानाप्नोति वैराजं तपसा पदम्। ब्रह्मणः कर्मसंन्यासाद्वैराग्यात्प्रकृतौ लयम्।।१।।
ज्ञानात्प्राप्नोति कैवल्यं पञ्चैता गतयः स्मृताः। प्रीतितापविषादादेर्विनिवृत्तिर्विरक्तता।।२।।
संन्यासः कर्मणां त्यागः कृतानामकृतैः सह। अव्यक्तादौ विशेषान्ते विकारोऽस्मिन्निवर्तते।।३।।
चेतनाचेतनान्यत्वज्ञानेन ज्ञानमुच्यते। परमात्मा च सर्वेषामाधारः परमेश्वरः।।४।।
विष्णुनाम्ना च देवेषु वेदान्तेषु च गीयते। यज्ञेश्वरो यज्ञपुमान्प्रवृत्तैरिज्यते ह्यसौ।।५।।
निवृत्तैर्ज्ञानयोगेन ज्ञानमूर्त्तिः स चेक्ष्यते। ह्रस्वदीर्घप्लुताद्यं तु वचस्तत्पुरुषोत्तमः।।६।।
तत्प्राप्तिहेतुर्ज्ञानं च कर्म चोक्तं महामुने। आगमोक्तं विवेकाच्च द्विधा ज्ञानं तथोच्यते।।७।।
शब्दब्रह्माऽऽगममयं परं ब्रह्म विवेकजम्। द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये ब्रह्मशब्द (शब्दब्रह्म) परं च यत्।।८।।
वेदादिविद्या ह्यपरमक्षरं ब्रह्म सत्परम्। तदेतद्भगवद्वाच्यमुपचारेऽर्चनेऽन्यतः।।९।।
संभर्तेति तथा भर्ता भकारोऽर्थद्वयान्वितः। नेता गमयिता स्रष्टा गकारोऽयं महामुने।।१०।।

अध्याय-३७९

ब्रह्मज्ञान की चरम प्राप्ति

श्रीअग्निदेव ने कहा कि–हे वसिष्ठ जी! धर्मात्मा पुरुष यज्ञ के द्वारा देवताओं को, तपस्या द्वारा विराट् के पद को, कर्म के संन्यास द्वारा ब्रह्मपद को, वैराग्य से प्रकृति में लय को और ज्ञान से कैवल्य पद (मोक्ष) को प्राप्त होता है–इस तरह ये पाँच गतियाँ मानी गयी हैं। प्रसन्नता, संताप और विषाद आदि से निवृत्त होना 'वैराग्य' है। जो कर्म किये जा चुके हैं तथा जो अभी नहीं किये गये हैं, उन सब (की आसक्ति, फलेच्छा और संकल्प) का परित्या 'संन्यास' कहलाता है। ऐसा हो जाने पर अव्यक्त से लेकर विशेष पर्यन्त सभी पदार्थों के प्रति अपने मन में कोई विकार नहीं रह जाता। जड़ और चेतन की भिन्नता का ज्ञान 'विवेक' होने से ही 'परमार्थ ज्ञान' की प्राप्ति बतलायी जाती है। परमात्मा सबके आधार हैं; वे ही परमेश्वर हैं। वेदों और वेदान्तों (उपनिषदों) में 'विष्णु' नाम से उनका यशोगान किया जाता है। वे यज्ञों के स्वामी हैं। प्रवृत्तिमार्ग से चलने वाले लोग यज्ञपुरुष के रूप में उनका यजन करते हैं तथा निवृत्ति मार्ग के पथिक ज्ञानयोग के द्वारा उन ज्ञानस्वरूप परमात्मा का साक्षात्कार करते हैं। ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत आदि वचन उन पुरुषोत्तम के ही स्वरूप हैं।।१-६।।

हे महामुने! उनकी प्राप्ति दो हेतु बताये गये हैं–'ज्ञान' और 'कर्म'। 'ज्ञान' दो तरह का है–'आगमजन्य' और 'विवकजन्य'। शब्दब्रह्म (वेदादि शास्त्र और प्रणव) का बोध 'आगमजन्य' है तथा परब्रह्म का ज्ञान 'विवेक जन्य' ज्ञान है। 'ब्रह्म' दो तरह से जानने योग्य है–'शब्दब्रह्म' और 'परब्रह्म'। वेदादि विद्या को 'शब्दब्रह्म' या 'अपरब्रह्म' कहलाता है। यह परब्रह्म ही 'भगवत्' शब्द का मुख्य वाच्यार्थ है। पूजा (सम्मान) आदि अन्य अर्थों में जो उसका प्रयोग होता है, वह औपचारिक (गौण) है।

ऐश्वर्यस्स समग्रस्य वीर्यस्य यशसः श्रियः। ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीङ्गना॥११॥
वसन्ति विष्णौ भूतानि स च धातुस्त्रिधात्मकः। एवं हरौ हि भगवाञ्शब्दोऽन्यत्रा (त्रो) पचारतः॥१२॥
उत्पत्तिं प्रलयं चैव भूतानाम (मा) गतिं गतिम्। वेत्ति विद्यामविद्यां च स वाच्यो भगवानिति॥१३॥
ज्ञानशक्तिः परैश्वर्यं वीर्यं तेजांस्यशेषतः। भगवच्छब्दवाच्यानि विना हेयैर्गुणादिभिः॥१४॥
खाण्डिक्य (क्यो) जनकायाऽऽह योऽयं केशिध्वजः पुरा। अनात्मन्यात्मबुद्धिर्या आत्मस्वमिति? या मतिः॥१५॥
अविद्याभवसंभूतिर्बीजमेतद्द्विधा स्थितम्। पञ्चभूतात्मके देहे देही मोहतमाश्रितः॥१६॥
अहमेतदितीत्युच्चैः कुरुते कुमतिर्मतिम्। इत्थं च पुत्रपौत्रेषु तद्देहोत्पातितेषु च॥१७॥
करोति पण्डितः साम्यमनात्मनि कलेवरे। सर्वदेहोपकाराय कुरुते कर्म मानवः॥१८॥
देहश्चान्यो यदा पुंसस्तदा बन्धाय तत्परम्। निर्वाणमय एवायमात्मा ज्ञानमयोऽमलः॥१९॥
दुःखज्ञानमयो धर्मः प्रकृतेः स तु नाऽऽत्मनः। जलस्य नाग्निना सङ्गः स्थालीसङ्गात्तथापि हि।२०॥
शब्दास्ते कादिका धर्मास्तत्कृत्वा वै महामुने। तथाऽऽत्मा प्रकृतौ सङ्गादहंमानादिभूषितः॥२१॥
भजते प्राकृतान्धर्मानन्यस्तेभ्यो हि सोऽव्ययः। बन्धाय विषयासङ्गं मनो निर्विषयं धिये॥२२॥

हे महामुने! 'भगवत्' शब्द में जो 'भकार' है, उसके दो अर्थ हैं–पोषण करने वाला और सभी का आधार तथा 'गकार' का अर्थ है–नेता (कर्मफल की प्राप्ति कराने वाला), गमयिता (प्रेरक) और स्रष्टा (सृष्टि करने वाला)। सम्पूर्ण ऐश्वर्य, पराक्रम (अथवा धर्म), यश, श्री, ज्ञान और वैराग्य–इन छः का नाम 'भग' है। विष्णु में सम्पूर्ण भूत निवास करते हैं। वे भगवान् सबके धारक तथा ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव–इन तीन रूपों में विराजमान हैं। इसलिये श्रीहरि में ही 'भगवान्' पद मुख्यवृत्ति से विद्यमान है, अन्य किसी के लिये तो उसका उपचार (गौणवृत्ति) से ही प्रयोग होता है। जो सम्पूर्ण प्राणियों के उत्पत्ति-विनाश, आवागमन तथा विद्या-अविद्या को जानता है, वही 'भगवान्' कहलाने योग्य है। त्याग करने योग्य दुर्गुण आदि को छोड़कर सम्पूर्ण ज्ञान, शक्ति, परम ऐश्वर्य, वीर्य तथा समग्र तेज–ये 'भगवत्' शब्द के वाच्यार्थ हैं।॥७-१४॥

प्राचीन काल में राजा केशिध्वज ने खाण्डिक्य जनक से इस तरह उपदेश दिया था–'अनात्मा में जो आत्मबुद्धि होती है, अपने स्वरूप की भावना होती है, वही अविद्याजनित संसार बन्धन का कारण है। इस अज्ञान की 'अहंता' और 'ममता'–दो रूपों में स्थित है। देहाभिमानी जीव मोहान्धकार से आच्छादित हो, कुत्सित बुद्धि के कारण इस पाञ्चभौतिक शरीर में यह दृढ़ भावना कर लेता है कि 'मैं ही यह देह हूँ।' इसी तरह इस शरीर से उत्पन्न किये हुए पुत्र-पौत्र आदि में 'ये मेरे हैं'–ऐसी निश्चित धारणा बना लेता है। विद्वान् पुरुष अनात्मभूत शरीर में समभाव रखता है–उसके प्रति वह राग-द्वेष के वशीभूत नहीं होता। मनुष्य अपने शरीर की भलाई के लिये ही सारे कार्य करता है; परन्तु जिस समय पुरुष से शरीर भिन्न है, तो वह सारा कर्म केवल बन्धन का ही कारण होता है। वास्तव में तो आत्मा निर्वाणमय (शान्त), ज्ञानमय तथा निर्मल है।

दुःखानुभव रूप जो धर्म है, वह प्रकृति का है, आत्मा का नहीं; जिस प्रकार जल स्वयं तो अग्नि से असङ्ग है, परन्तु आग पर रखी हुई बटलोई के संसर्ग से उसमें तापजति खलखलाहट आदि के शब्द होते हैं। हे महामुने! इसी तरह आत्मा भी प्रकृति के संग से अहंता-ममता आदि दोष स्वीकार करके प्राकृत धर्मों को ग्रहण करता है; वास्तव में तो वह उनसे सर्वथा भिन्न और अविनाशी है। विषयों में आसक्त हुआ मन बन्धन का कारण होता है और वही

विषयात्तत्समाकृष्य ब्रह्मभूतं हरिं स्मरेत्। आत्मभावं नयत्येनं तद्ब्रह्मध्यायिनं मुने।।२३।।
विचार्य स्वात्मनः शक्त्या लौहमाकर्षको यथा। आत्मप्रयत्नसापेक्षा विशिष्टा या मनोगतिः।।२४।।
तस्या ब्रह्मणि संयोगो योग इत्यभिधीयते। विनिष्पन्दः समाधिस्थः परं ब्रह्माधिगच्छति।।२५।।
यमैः सनियमैः स्थित्वा प्रत्याहृत्या मरुज्जवैः। प्राणायामेन पवनैः प्रत्याहारेण चेन्द्रियैः।।२६।।
वशीकृतैस्ततः कुर्यात्स्थितं चेतः शुभाश्रये। आश्रयश्चेतसो ब्रह्म मूर्तं चामूर्तकं द्विधा।।२७।।
सनन्दनादयो ब्रह्मभावभावनया युताः। कर्मभावनया चान्ये देवाद्याः स्थावरान्तकाः।।२८।।
हिरण्यगर्भादिषु च ज्ञानकर्मात्मिका द्विधा। त्रिविधा भावना प्रोक्ता विश्वं ब्रह्म उपास्यते।।२९।।
प्रत्यस्तमितभेदं यत्सत्तामात्रमगोचरम्। वचसामात्मसंवेद्यं तज्ज्ञानं ब्रह्मसंज्ञितम्।।३०।।
तच्च विष्णोः परं रूपमरूपस्याजमक्षरम्। अशक्यं प्रथमं ध्यातुमतो मूर्तादि चिन्तयेत्।।३१।।
मद्भावभावमापन्नस्ततोऽसौ परमात्मना। भवत्यभेदो भेदश्च तस्याज्ञानकृतो भवेत्।।३२।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते ब्रह्मज्ञाननिरूपणं नामैकोनाशीत्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः।।३७९।।

—❀—

जिस समय विषयों से निवृत्त हो जाता है तो ज्ञान-प्राप्ति में सहायक होता है। इसलिये मन को विषयों से हटाकर ब्रह्मस्वरूप श्रीहरि का स्मरण करना चाहिये। हे मुने! जेसे चुम्बक पत्थर लोहे को अपनी तरफ खींच लेता है, उसी तरह जो ब्रह्म का ध्यान करता है, उसको वह ब्रह्म अपनी ही शक्ति से अपने स्वरूप में मिला लेता है। अपने प्रयत्न की अपेक्षा से जो मन की विशिष्ट गति होती है, उसका ब्रह्म से संयोग होना ही 'योग' कहलाता है। जो पुरुष स्थिर भाव से समाधि में स्थित होता है, वह परब्रह्म को प्राप्त होता है।।१५-२५।।

'इसलिये यम, नियम, प्रत्याहार, प्राणजय, प्राणायाम, इन्द्रियों को विषयों की तरफ से हटाने तथा उनको अपने वश में करने आदि उपायों के द्वारा चित्त को किसी शुभ आश्रय में स्थापित करना चाहिये। 'ब्रह्म' ही चित्त का शुभ आश्रय है। वह 'मूर्त' और 'अमूर्त' रूप से दो तरह का है। सनक-सनन्दन आदि मुनि ब्रह्मभावना से युक्त हैं तथा देवताओं से लेकर स्थावर-जंगम-पर्यन्त सम्पूर्ण प्राणी कर्म-भावना से युक्त हैं। हिरण्यगर्भ (ब्रह्मा) आदि में ब्रह्मभावना और कर्मभावना दोनों ही हैं। इस तरह यह तीन तरह की भावना बतलायी गयी है।

'सम्पूर्ण विश्व ब्रह्म है'–इस भाव से ब्रह्म की उपासना की जाती है। जहाँ सब भेद शान्त हो जाते हैं, जो सत्तामात्र और वाणी का अगोचर है तथा जिसे स्वसंवेद्य (स्वयं ही अनुभव करने योग्य) माना गया है, वही 'ब्रह्मज्ञान' है। वही रूपहीन विष्णु का उत्कृष्ट स्वरूप है, जो अजन्मा और अविनाशी है। अमूर्तरूप का ध्यान पहले कठिन होता है, इसलिये मूर्त आदि का चिन्तन करना चाहिये। ऐसा करने वाला मनुष्य भगवद्भाव को प्राप्त हो परमात्मा के साथ एकीभूत–अभिन्न हो जाता है। भेद की प्रतीति तो अज्ञान से ही होती है।।२६-३२।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी तीन सौ उन्यासीवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।३७९।।

❖❖❖

अथाशीत्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः

अद्वैतब्रह्मविज्ञानम्

अग्निरुवाच

अद्वैतब्रह्मविज्ञानं वक्ष्ये यद्भवतोऽगदत्। शालग्रामे तपश्चक्रे वासुदेवार्चनादिकृत्।।१।।
मृगसङ्गान्मृगो भूत्वा ह्यन्तकाले स्मरन्मृगम्। जातिस्मरो मृगं त्यक्त्वा देहं योगात्स्वतोऽभवत्।।२।।
अद्वैतब्रह्मभूतश्च जडवल्लोकमाचरत्। क्षत्ता सौवीरराजस्य विष्टियोगममन्यत।।३।।
उवाह शिविकामस्य क्षत्तुर्वचनचोदितः। गृहीतो विष्टिना ज्ञानी उवाहाऽऽत्मक्षयाय तम्।।४।।
ययौ जडगतिः पश्चाद्ये त्वन्ये त्वरितं ययुः। शीघ्राञ्शीघ्रगतीन्दृष्ट्वा अशीघ्रं तं नृपोऽब्रवीत्।।५।।

राजोवाच

किंश्रान्तोऽस्यल्पमध्वानं त्वयोढा शिविका मम। किमायाससहो न त्वं पीवा नासि निरीक्ष्यसे।।६।।
नाहं पीवा न वै वोढा शिविका भवतो मया। न श्रान्तोऽस्मि न वाऽऽयासो वोढव्योऽसि महीपते।।७।।
भूमौ पादयुगं तस्थौ जङ्घे पादद्वये स्थिते। ऊरू जङ्घाद्वयावस्थौ तदाधारं तथोदरम्।।८।।

अध्याय-३८०

अद्वैत ब्रह्म का विज्ञान

अधुना मैं उस 'अद्वैत ब्रह्मविज्ञान' का वर्णन करने जा रहा हूँ, जिसे भरत ने (सौवीरराज को) बतलाया था। प्राचीन काल की बात है, राजा भरत शाल ग्राम क्षेत्र में रहकर भगवान् वासु देव की पूजा आदि करते हुए तपस्या कर रहे थे। उनकी एक मृग के प्रति आसक्ति हो गयी थी, इसलिये अन्तकाल में उसी का स्मरण करते हुए प्राण त्यागने के कारण उनको मृग होना पड़ा। मृगयोनि में भी वे 'जातिस्मर' हुए–उनको पूर्वजन्म की बातों का स्मरण रहा। इसलिये उस मृगशरीर का परित्याग करके वे स्वयं ही योगबल से एक ब्राह्मण के रूप में प्रकट हुए। उनको अद्वैत ब्रह्म का पूर्ण बोध था। वे साक्षात् ब्रह्मस्वरूप थे, तो भी लोक में जडवत् (ज्ञानशून्य मूक की भाँति) व्यवहार करते थे।

उनको हृष्ट-पुष्ट देखकर सौवीर नरेश के सेवक ने बेगार में लगाने के योग्य समझा (और राजा की पालकी ढोने में नियुक्त कर दिया।) सेवक के कहने से वे सौवीर राज की पालकी ढोने लगे। यद्यपि वे ज्ञानी थे, तथापि बेगार में पकड़ जाने पर अपने प्रारब्ध भोग का क्षय करने के लिये राजा का भार वहन करने लगे; परन्तु उनकी गति मन्द थी। वे पालकी में पीछे की तरफ लगे थे तथा उनके सिवा दूसरे जितने कहार थे, वे सब-के-सब तेज चल रहे थे। राजा ने देखा, 'अन्य कहार शीघ्रगामी हैं तथा तीव्रगति से चल रहे हैं। यह जो नया आया है, इसकी गति बहुत मन्द है।' तत्पश्चात् वे बोले।।१-५।।

राजा ने कहा कि–अरे! क्या तू थक गया? अभी तो तूने थोड़ी ही दूर तक मेरी पालकी ढोयी है। क्या परिश्रम नहीं सहा जाता? क्या तू मोटा-ताजा नहीं है? देखने में तो खूब मुस्टंड जान पड़ता है।।६।।

ब्राह्मण ने कहा कि–हे राजन्! न मैं मोटा हूँ, न मैंने आपकी पालकी ढोयी है, न मुझको थकावट आयी

वक्षःस्थलं तथा बाहू स्कन्धौ चोदरसंस्थितौ। स्कन्धस्थितेयं शिविका मम भारोऽत्र किंकृतः।।९।।
शिविकायां स्थितं चेदं देहं त्वदुपलक्षितम्। तत्र त्वमहमप्यत्र प्रोच्यते चेदमन्यथा।।१०।
अहं त्वं च तथाऽन्ये च भूतैरुह्याम पार्थिव। गुणप्रवाहपतितो गुणवर्गो हि यात्ययम्।।११।।
कर्मवश्या गुणाश्चैते सत्त्वाद्याः पृथिवीपते। अविद्यासंचितं कर्म तच्चाशेषेषु जन्तुषु।।१२।।
आत्मा शुद्धोऽक्षरः शान्तो निर्गुणः प्रकृतेः परः। प्रवृद्ध्यपचयौ नास्य एकस्याखिलजन्तुषु।।१३।।
यदा नोपचयस्तस्य यदा नापचयो नृप। तदा पीवा न (ना) सीति त्वं कया युक्त्या त्वयेरितम्।।१४।।
भूजङ्घापादकट्यूरुजठरादिषु संस्थिता। शिविकेयं तथा स्कन्धे तदा भारः समस्त्वया।।१५।।
तदन्यजन्तुभिर्भूपशिविकोत्थानकर्मणा। शैलद्रव्यगृहीतोत्थः पृथिवीसंभवोऽपि वा।।१६।।
यथा पुंसः पृथग्भावः प्राकृतैः करणैर्नृप। सोढव्यः स महाभारः कतरो नृपते मया।।१७।।
यद्द्रव्या शिविका चेयं तद्द्रव्यो भूतसंग्रहः। भवतो मेऽखिलस्यास्य समत्वेनोपबृंहितः।।१८।।
तच्छ्रुत्वोवाच राजा तं गृहीत्वाऽङ्घ्री क्षमाप्य च। प्रसादं कुरु त्यक्त्वेमां शिविकां ब्रूहि शृण्वते।।
यो भवान्यन्निमित्तं वा यदागमनकारणम्।।१९।।

है, न परिश्रम करना पड़ा है और न मुझपर आपका कुछ भार ही है। पृथ्वी पर दोनों पैर हैं, पैरों पर जङ्घाएँ हैं, जङ्घाओं के ऊपर ऊरु और ऊरुओं के ऊपर उदर (पेट) है। उदर के ऊपर वक्षःस्थल, भुजाएँ और कंधे हैं तथा कंधों के ऊपर यह पालकी रखी गयी है। फिर मेरे ऊपर यहाँ कौन-सा भार है? इस पालकी पर आपका कहा जाने वाला यह शरीर रखा हुआ है। वास्तव में आप वहाँ (पालकी में) हो और मैं यहाँ (पृथ्वी) पर हूँ–ऐसा जो कहा जाता है, वह सब मिथ्या है। हे सौवीरनरेश! में, आप तथा अन्य जितने भी जीव हैं, सभी का भार पञ्चभूतों के द्वारा ही ढोया जा रहा है। ये पञ्चभूत भी गुणों के प्रवाह में पड़कर चल रहे हैं। हे पृथ्वीनाथ! सत्त्व आदि गुण कर्मों के अधीन हैं तथा कर्म अविद्या के द्वारा संचित हैं, जो सम्पूर्ण जीवों में वर्तमान हैं। आत्मा तो शुद्ध, अक्षर (अविनाशी), शान्त, निर्गुण और प्रकृति से परे है। सम्पूर्ण प्राणियों में एक ही आत्मा है। उसकी न तो कभी वृद्धि होती है और न ह्रास ही होता है। हे राजन्! जिस समय उसकी वृद्धि नहीं होती और ह्रास भी नहीं होता तो आपने किस युक्ति से व्यङ्ग्यपूर्वक यह प्रश्न किया है कि 'क्या तू मोटा-ताजा नहीं है?' यहद पृथ्वी, पैर, जङ्घा, ऊरु, कटि और उदर आदि आधारों एवं कंधों पर रखी हुई यह पालकी मेरे लिये भारस्वरूप हो सकती है तो यह आपत्ति तुम्हारे लिये भी समान ही है, अर्थात् तुम्हारे लिये भी यह भाररूप कही जा सकती है तथा इस युक्ति से अन्य सभी जन्तुओं ने भी केवल पालकी ही नहीं उठा रखी है, पर्वत, पेड़, गृह और पृथ्वी आदि का भार भी अपने ऊपर ले रखा है। हे नरेश! सोचो तो सही, जिस समय प्रकृतिजन्य साधनों से पुरुष सर्वथा भिन्न है तो कौन-सा महान् भार मुझको सहन करना पड़त है? जिस द्रव्य से यह पालकी बनी है, उसी से मेरे, तुम्हारे तथा इन सम्पूर्ण प्राणियों के शरीरों का निर्माण हुआ है; इन सबकी समान द्रव्यों से पुष्टि हुई है।।७-१८।।

यह सुनकर राजा पालकी से उतर पड़े और ब्राह्मण के चरण पकड़कर क्षमा माँगते हुए बोले–'हे भगवन्! अधुना पालकी छोड़कर मुझपर कृपा कीजिये। मैं आपके मुख से कुछ सुनना चाहता हूँ; मुझको उपदेश दीजिये। साथ ही यह भी बताइये कि आप कौन हैं? और किस निमित्त अथवा किस कारण से यहाँ आपका आगमन हुआ है?'।।१९।।

ब्राह्मण उवाच

श्रूयतां योऽहमित्येतद्वक्तुं नैव च शक्यते। उपभोगनिमित्तं च सर्वत्राऽऽगमनक्रिया॥२०॥
सुखदुःखोपभोगौ तु तौ देश (शा) द्युपपादकौ। धर्माधर्मोद्भवौ भोक्तुं जन्तुर्देशादिमृच्छति॥२१॥

राजोवाच

योऽस्ति सोऽहमिति ब्रह्मन्कथं वक्तुं न शक्यते। आत्मन्येष न दोषाय शब्दोऽहमिति यो द्विज॥२२॥

ब्राह्मण उवाच

शब्दोऽहमिति दोषाय नाऽऽत्मन्येष तथैव तत्। अनात्मन्यात्मविज्ञानं शब्दो वा भ्रान्तिलक्षणः॥२३॥
यदा समस्तदेहेषु पुमानेको व्यवस्थितः। तदा हि को भवान्कोऽहमित्येतद्विफलं वचः॥२४॥
त्वं राजा शिविका चेयं वयं वाहाः पुरः सराः। अयं च भवतो लोको न सदेतन्नृपोच्यते॥२५॥
वृक्षाद्दारु ततश्चेयं शिविका त्वदधिष्ठिता। का वृक्षसंज्ञा जाताऽस्य दारुसंज्ञाऽथ वा नृप॥२६॥
वृक्षारूढो महाराजो नायं वदति चेतनः॥ न च दारुणि सर्वस्त्वां ब्रवीति शिविकागतम्॥२७॥
शिविका दारुसंघातो रचनास्थितिसंस्थितः। अन्विष्यतां नृपश्रेष्ठ तद्भेदे शिविका त्वया॥२८॥
पुमान्स्त्री गौरयं वाजी कुञ्जरो विहगस्तरुः। देहेषु लोकसंज्ञेयं विज्ञेया कर्महेतुषु॥२९॥

ब्राह्मण ने कहा कि–हे राजन्! सुनो–'मैं अमुक हूँ'–यह बात नहीं कही जा सकती। (तथा आपने जो आने का कारण पूछा है, उसके सम्बन्ध में मुझको इतनाही कहना है कि) कहीं भी आने-जाने की क्रिया कर्मफल का उपयोग करने के लिये ही होती है। सुख-दुःख के उपभोग ही भिन्न-भिन्न देश (अथवा शरीर) आदि की प्राप्ति कराने वाले हैं तथा धर्माधर्मजनित सुख-दुःखों को भोगने के लिये ही जीव विविध तरह के देश (अथवा शरीर) आदि को प्राप्त होता है॥२०-२१॥

राजा ने कहा कि–'हे ब्रह्मन्! 'जो है' (अर्थात् जो आत्मा सत्स्वरूप से विराजमान है तथा कर्त्ता-भोक्ता रूप में प्रतीत हो रहा है) उसको 'मैं हूँ'–ऐसा कहकर क्यों नहीं बतलाया जा सकता? हे द्विजवर! आत्मा के लिये 'अहम्' शब्द का प्रयोग तो दोषावह नहीं जान पड़ता॥२२॥

ब्राह्मण ने कहा कि–हे राजन्! आत्मा के लिये 'अहम्' शब्द का प्रयोग दोषावह नही है, आपका यह कथन बिलकुल ठीक है; परन्तु अनात्मा में आत्मत्व का बोध कराने वाला 'अहम्' शब्द तो दोषावह है ही। अथवा जहाँ कोई भी शब्द भ्रमपूर्ण अर्थ को लक्षित कराता हो, वहाँ उसका प्रयोग दोषयुक्त ही है। जिस समय सम्पूर्ण शरीर में एक ही आत्मा की स्थिति है, तो 'कौन आप और कौन मैं हूँ' ये सब बातें व्यर्थ हैं। हे राजन्! 'तुम राजा हो, यह पालकी है, हमलोग इसको ढोने वाले कहार हैं, ये आगे चलने वाले सिपाही हैं तथा यह लोक तुम्हारे अधिकार में हैं'–यह जो कहा जाता है, यह सत्य नहीं है। वृक्ष से लकड़ी होती है और लकड़ी से यह पालकी बनी है, जिसके ऊपर आप बैठे हुए हो। हे सौवीरनरेश! बोलो तो, इसका 'वृक्ष' और 'लकड़ी' नाम क्या हो गया? कोई भी चेतन मनुष्य यह नहीं कहता कि 'महाराज' वृक्ष अथवा लकडी पर चढ़े हुए हैं।'

सब आपको पालकी पर ही सवार बतलाते हैं। परन्तु पालकी क्या है? हे नृपश्रेष्ठ! रचनाकला के द्वारा एक विशेष आकार में परिणत हुई लकड़ियों का समूह ही तो पालकी है। यदि आप इसको कोई भिन्न वस्तु मानते हो, तो इसमें से लकड़ियों को अलग करके 'पालकी' नाम की कोई चीज ढूँढ़ो तो सही। 'यह पुरुष, यह स्त्री, यह गौ, यह

जिह्वा ब्रवीत्यहमिति दन्तोष्ठौ तालुकं नृप। एतेनाहं यतः सर्वे वाङ्निष्पादनहेतवः।।३०।।
किं हेतुभिर्वदत्येषा वागेवाहमिति स्वमय्। तथाऽपि वाङ्नाहमेतदुक्तं मिथ्या न युज्यते।।३१।।
पिण्डः पृथग्यतः पुंसः शिरः पाय्वादिलक्षणः। ततोऽहमिति कुत्रैतां संज्ञां राजन्करोम्यहम्।।३२।।
यदन्योऽस्ति परः कोऽपि मत्तः पार्थिवसत्तम। तदेषोऽहमयं चान्यो वाक्तुमेवमपीष्यते।।३३।।
परमार्थभेदो न नगो न पशुर्न च पादपः। शरीराच्च विभेदाश्च या एते कर्मयोनयः।।३४।।
यस्तु राजेति यल्लोके यच्च राजभरात्मकम्। तच्चान्यच्च नृपेत्थं तु न सत्सम्यगनामयम्।।३५।।
त्वं राजा सर्वलोकस्य पितुः पुत्रो रिपो रिपुः। पत्न्याः पतिः पिता सूनोः कस्त्वां भूप वदाम्यहम्।।३६।।
त्वं किमेतच्छिरः किं तु शिरस्तव तथोदरम्। किमु पादादिकं त्वं वै तवैतत्किं महीपते।।३७।।
समस्तावयवेभ्यस्त्वं पृथग्भूतो व्यवस्थितः। कोऽहमित्यत्र निपुणं भूत्वा चिन्तय पार्थिव।।
तच्छ्रुत्वोवाच राजा तमवधूतं द्विजं हरिम्।।३८।।

राजोवाच

श्रेयोऽर्थमुद्यतः प्रष्टुं कपिलर्षिमहं द्विज। तस्यांशः कपिलर्षेस्त्वं मत्कृतेदा (ज्ञा) नदो भुवि।।३९।।
ज्ञानवीच्युदधेर्यस्माद्यच्छ्रेयस्तच्च मे वद।।४०।।

घोड़ा, यह हाथी, यह पक्षी और यह वृक्ष है'—इस तरह कर्मजनित भिन्न-भिन्न शरीरों में लोगों ने विविध तरह के नामों का आरोप कर लिया है। इन संज्ञाओं को लोक कल्पित ही समझना चाहिये। जिह्वा 'अहम्' (मैं) का उच्चारण करती है, दाँत, होठ, तालु और कण्ठ आदि भी उसका उच्चारण करते हैं, परन्तु ये 'अहम्' (मैं) पद के वाच्यार्थ नहीं है; क्योंकि ये सब-के-सब शब्दोच्चारण के साधन मात्र हैं। किन कारणों या उक्तियों से जिह्वा कहती है कि 'वाणी ही 'अहम्' (मैं) हूँ।' यद्यपि जिह्वा यह कहती है, तथापि 'यदि मैं वाणी नहीं हूँ' ऐसा कहा जाय तो यह कदापि मिथ्या नहीं है। हे राजन्! मस्तक और गुदा आदि के रूप में जो शरीर है, वह पुरुष (आत्मा) से सर्वथा भिन्न है, ऐसी दशा में मैं किस अवयव के लिये 'अहम्' संज्ञा का प्रयोग करूँ? हे भूपालशिरोमणे! यदि मुझ (आत्मा) से भिन्न कोई भी अपनी पृथक् सत्ता रखता हो, तो 'यह मैं हूँ', 'यह दूसरा है'—ऐस बात भी कही जा सकती है। वास्तव में पर्वत, पशु तथा वृक्ष आदि भेद सत्य नहीं है। शरीर दृष्टि से ये जितने भी भेद प्रतीत हो रहे हैं, सब-के-सब कर्मजन्य हैं। संसार में जिसे 'राजा' या 'राजसेवक' कहते हैं, वह तथा और भी इस तरह की जितनी संज्ञाएँ हैं, वे कोई भी निर्विकार सत्य नहीं हैं। हे भूपाल! आप सम्पूर्ण लोक के राजा हो, अपने पिता के पुत्र हो, शत्रु के लिये शत्रु हो, धर्मपत्नी के पति हो और पुत्र के पिता हो—इतने नामों के होते हुए मैं आपको क्या कहकर पुकारूँ? हे पृथ्वी नाथ! क्या यह मस्तक आप हो? परन्तु जिस प्रकार मस्तक आपका है, वैसे ही उदर भी तो है? (फिर उदर क्यों नहीं हो?) तो क्या इन पैर आदि अङ्गों में से आप कोई हो? नहीं, तो ये सब तुम्मारे क्या हैं? हे महाराज! इन समस्त अवयवों से आप पृथक् हो, इसलिये इनसे अलग होकर ही अच्छी तरह विचार करो कि 'वास्तव में मैं कौन हूँ'। यह सुनकर राजा ने उन भगवत्स्वरूप अवधूत ब्राह्मण से कहा।।२३-३८।।

राजा ने कहा कि—हे ब्रह्मन्! मैं आत्मकल्याण के लिये उद्यत होकर महर्षि कपिल के पास कुछ पूछने के लिये जा रहा था। आप भी मेरे लिये इस पृथ्वी पर महर्षि कपिल के ही अंश हैं, इसलिये आप ही मुझको ज्ञान दें। जिससे ज्ञानरूप महासागरकी प्राप्ति होकर परम कल्याण की सिद्धि हो, वह उपाय मुझको बताइये।।३९-४०।।

भूयः पृच्छसि किं श्रेयः परमार्थं न पृच्छसि। श्रेयांसि परमार्थानि अशेषाण्येव भूपते।।४१।।
देवताराधनं कृत्वा धनसम्पत्तिमिच्छति। पुत्रानिच्छति राज्यं च श्रेयस्तस्यैव किं नृप।।४२।।
विवेकिनस्तु संयोगः श्रेयो यः परमात्मनः। यज्ञादिका क्रिया न स्यान्नास्ति द्रव्योपपत्तिता।।४३।।
परमार्थात्मनोर्योगः परमार्थ इतीष्यते। एको व्यापी समः शुद्धो निर्गुणः प्रकृतेः परः।।४४।।
जन्मवृद्ध्यादिरहित आत्मा सर्वगतोऽव्ययः। परं (र) ज्ञानमयोऽसङ्गी गुणजात्यादिभिर्विभुः।।४५।।
निदाघऋतुसंवादं वदामि द्विज तं शृणु। ऋतुर्ब्रह्मसुतो ज्ञानी तच्छिष्योऽभूत्पुलस्त्यजः।।४६।।
निदाघः प्राप्तविद्योऽस्मान्नगरे वै पुरे स्थितः। देविकायास्तटे तं च तर्कयामास वै ऋतुः।।४७।।
दिव्ये वर्षसहस्रेऽगान्निदाघमवलोकितुम्। निदाघो वैश्वदेवान्ते भुक्त्वाऽन्नं शिष्यमब्रवीत्
भुक्त्यन्ते तृप्तिरुत्पन्ना तुष्टिदा साऽक्षया यतः।।४८।।

ऋतुवाच

क्षुदस्ति यस्य भुक्तेऽन्ने तुष्टिर्ब्राह्मण जायते। न मे क्षुदभवत्तृप्तिं कस्मात्त्वं परिपृच्छसि।।४९।।
क्षुत्तृष्णे देहधर्माख्ये न ममैते यतो द्विज। पृष्टोऽहं तत्त्वया ब्रूयां तृप्तिरस्त्येव मे सदा।।५०।।
पुमान्सर्वगतो व्यापी आकाशवदयं ततः। अतोऽहं प्रत्यगात्माऽस्मीत्येतदर्थे भवेत्कथम्।।५१।।

ब्राह्मण ने कहा कि–हे राजन्! आप फिर कल्याण का ही उपाय पूछने लगे। 'परमार्थ क्या है?' यह नहीं पूछते। 'परमार्थ' ही सभी तरह के कल्याणों का स्वरूप है। मनुष्य देवताओं की आराधना करके धन-सम्पत्ति की इच्छा करता है, पुत्र और राज्य पाना चाहता है; परन्तु सौवीरनेरश! तुम्हीं बताओ, क्या सही उसका श्रेय है? (इसी से उसका कल्याण होगा?) विवेकी पुरुष की दृष्टि में तो परमात्मा की प्राप्ति ही श्रेय है; यज्ञादि की क्रिया तथा द्रव्य की सिद्धि को वह श्रेय नहीं मानता। परमात्मा और आत्मा का संयोग–उनके एकत्व का बोध ही 'परमार्थ' माना गया है। परमात्मा एक अर्थात् अद्वितीय है। वह सभी जगह समान रूप से व्यापक, शुद्ध, निर्गुण, प्रकृति से परे, जन्म-वृद्धि आदि से हीन, सर्वगत, अविनाशी, उत्कृष्ट, ज्ञानस्वरूप, गुण-जानि आदि के संसर्ग से हीन एंव विभु है। अधुना मैं आपको निदाघ और ऋतु (ऋभु) का संवाद सुनाता हूँ, ध्यान देकर सुनो–ऋतु ब्रह्मा जी के पुत्र और ज्ञानी थे। पुलस्त्यनन्दन निदाघ ने उनकी शिष्यता ग्रहण की।

ऋतु विद्या पढ़ लेने के पश्चात् निदाघ देवि का नदी के तटपर एक नगर में जाकर रहने लगे। ऋतु ने अपने शिष्य के निवासस्थान का पता लगा लिया था। हजार दिव्य वर्ष बीतने के पश्चात् एक दिन ऋतु निदाघ को दोने के लिये गये। उस समय निदाघ बलिवैश्वदेव के अनन्तर अन्न-भोजन करके अपने शिष्य से कह रहे थे–'भोजन के बाद मुझको तृप्ति हुई है; क्योंकि भोजन ही अक्षय-तृप्ति सम्प्रदान करने वाला है।' (यह कहकर वे तत्काल आये हुए अतिथि से भी तृप्ति के विषय में पूछने लगे)।।४१-४८।।

तत्पश्चात् ऋतु ने कहा कि–हे ब्राह्मण! जिसको भूख लगी होती है, उसी को भोजन के पश्चात् तृप्ति होती है। मुझको तो कभी भूख ही नहीं लगी, फिर मेरी तृप्ति के विषय में क्यों पूछते हो? भूख और प्यास देह के धर्म हैं। मुझ आत्मा का ये कभी स्पर्श नहीं करते। आपने पूछा है, इसलिये कह रहा हूँ। मुझको सदा ही तृप्ति बनी रहती है। पुरुष (आत्मा) आकाश की भाँति सभी जगह व्याप्त है और मैं वह प्रत्यगात्मा ही हूँ; इसलिये आपने जो मुझसे

सोऽहं गन्ता न चाऽऽगन्ता नैकदेशनिकेतनः। त्वं चान्यो न भवेन्ना (र्ना)पि नान्यस्तत्तोऽस्मि वाऽप्यहम्।।५२।।
मृण्मयं हि गृहं यद्वन्मृदालिप्तं स्थिरी भवेत्। पार्थिवोऽयं तथा देहः पार्थिवैः परमाणुभिः।।५३।।
ऋतुरस्मि तवाऽऽचार्यः प्रज्ञादानाय ते द्विज। इहाऽऽगतोऽहं यास्यामि परमार्थस्तवोदितः।।५४।।
एकमेवमिदं विद्धि न भेदः सकलं जगत्। वासुदेवाभिधेयस्य स्वरूपं परमात्मनः।।५५।।
ऋतुर्वर्षसहस्रान्ते पुनस्तन्नगरं ययौ। निदाघं नगरप्रान्त एकान्ते स्थितब्रवीत्।।
एकान्ते स्थीयते कस्मान्निदाघ ऋतुमब्रवीत्।।५६।।

निदाघ उवाच

भो विप्र जनसंवादो महानेष नरेश्वरः। प्रविवीक्ष्य पुरं रम्यं तेनात्र स्थीयते मया।।५७।।

ऋतुरुवाच

नराधिपोऽत्र कतमः कतमश्चेतरो जनः। कथ्यतां मे द्विजश्रेष्ठ त्वमभिज्ञो द्विजोत्तम।।५८।।

निदाघ उवाच

योऽयं गजेन्द्रमुन्मत्तमद्रिशृङ्गसमुत्थितम्। अधिरूढो नरेन्द्रोऽयं परिवारस्तथेतरः।।५९।।
गजो योऽयमधो ब्रह्मन्नुपर्येष स भूपतिः। ऋतुराह गजः कोऽत्र राजा चाऽऽह चिदाघकः।।६०।।
ऋतुर्निदाघ आरूढो दृष्टान्तं पश्य वाहनम्। उपर्यहं यथा राजा त्वमधः कुञ्जरो यथा।।६१।।

यह पूछा कि 'आप कहाँ से आते हैं; यह प्रन कैसे सार्थक हो सकता है? मैं न कहीं जाता हूँ, न आता हूँ और न किसी एक स्थान में रहता हूँ। न आप मुझसे भिन्न हो, न मैं आपसे अलग हूँ। जिस प्रकार मिट्टी का गृह मिट्टी से लीपने पर सुदृढ़ होता है, उसी तरह यह पार्थिव देह ही पार्थिव अन्न के परमाणुओं से पुष्ट होता है। हे ब्रह्मन्! मैं आपका आचार्य ऋतु हूँ और आपको ज्ञान देने के लिये यहाँ आया हूँ; अधुना जाऊँगा। आपको परमार्थतत्त्व का उपदेश कर दिया। इस तरह आप इस सम्पूर्ण जगत् को एकामत्र वासुदेव संज्ञक परमात्मा का ही स्वरूप समझो; इसमें भेद का सर्वथा अभाव है।।४९-५५।।

तत्पश्चात् एक हजार वर्ष व्यतीत होने पर ऋतु पुनः उस नगर में गये। वहाँ जाकर उन्होंने देखा–'निदाघ नगर के पास एकान्त स्थान में खड़े हैं।' तत्पश्चात् वे उनसे बोले–'हे भैया! इस एकान्त स्थान में क्यों खड़े हो?'।।५६।।

निदाघ ने कहा कि–हे ब्रह्मन्! मार्ग में मनुष्यों की बहुत बड़ी भीड़ खड़ी है; क्योंकि ये नरेश इस समय इस रमणीय नगर में प्रवेश करना चाहते हैं, इसीलिये मैं यहाँ ठहर गया हूँ।।५७।।

ऋतु ने प्रश्न किया कि–हे द्विजश्रेष्ठ! आप यहाँ की सब बातें जानते हो; बताओं। इनमें कौन नरेश हैं और कौन दूसरे लोग हैं?।।५८।।

निदाघ ने कहा कि–हे ब्रह्मन्! जो इस पर्वतशिखर के समान खड़े हुए मत वाली गजराज पर चढ़े हैं, वही ये नरेश हैं तथा जो उनको चारों तरफ से घेरकर खड़े हैं, वे ही दूसरे लोग हैं। यह नीचे वाला जीव हाथी है और ऊपर बैठे हुए सज्जन महाराज हैं।।५९।।

ऋतु ने कहा कि–'मुझको समझाकर बताओ, इनमें कौन राजा है और कौन हाथी?' निदाघ बोले–'अच्छा, बतलाता हूँ।' यह कहकर निदाघ ऋतु के ऊपर चढ़ गये और बोले–'अधुना दृष्टान्त देखकर आप वाहन को समझ लो। मैं तुम्हारे ऊपर राजा के समान बैठा हूँ और आप मेरे नीचे हाथी के समान खड़े हो।' तत्पश्चात् ऋतु ने निदाघ

ऋतुः प्राह निदाघं तं कतमस्त्वामहं वदे। उक्तो निदाघस्तं नत्वा प्राह मे त्वं गुरुर्ध्रुवम्।।६२।।
नान्यस्माद्द्वैतसंस्कारसंस्कृतं मानसं तथा। ऋतुः प्राह निदाघं तं ब्रह्मज्ञानाय चाऽऽगतः।।६३।।
परमार्थं सारभूतमद्वैतं दर्शितं मया।।६४।।

ब्राह्मण उवाच

निदाघोऽप्युपदेशेन तेनाद्वैतपरोऽभवत्। सर्वभूतान्यभेदेन ददृशे स तदाऽऽत्मनि।।६५।।
अवाप मुक्तिं ज्ञानात्स तथा त्वं मुक्तिमाप्स्यसि। एकः समस्तं त्वं चाहं विष्णुः सर्वगतो यतः।।६६।।
पीतनीलादिभेदेन यथैकं दृश्यते नभः। भ्रान्तिदृष्टिभिरात्माऽपि तथैकः स पृथक्पृथक्।।६७।।

अग्निरुवाच

मुक्तिं ह्यवाप भवतो ज्ञानसारेण भूपतिः। संसाराज्ञानवृक्षारि ज्ञानं ब्रह्मेति चिन्तय।।६८।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते आग्नेयेऽद्वैतब्रह्मविज्ञाननिरूपणं नामाशीत्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः।।३८०।।

—※※※—

से कहा–'मैं कौन हूँ और आपको क्या कहूँ?' इतना सुनते ही निदाघ उतरकर उनके चरणों में पड़ गये और बोले– 'निश्चय ही आप मेरे गुरु जी महाराज हैं; क्योंकि दूसरे किसी का हृदय ऐसा नही है, जो निरन्तर अद्वैत-संस्कार से सुसंस्कृत रहता हो।' ऋतु ने निदाघ से कहा–'मैं आपको ब्रह्म का बोध कराने के लिये आया था और परमार्थ-सारभूत अद्वैततत्त्व का दर्शन आपको करा दिया'।।६०-६४।।

ब्राह्मण (जडभरत) ने कहा कि–हे राजन्! निदाघ उस उपदेश के प्रभाव से अद्वैतपरायण हो गये। अधुना वे सम्पूर्ण प्राणियों को अपने से अभिन्न देखने लगे। उन्होंने ज्ञान से मोक्ष प्राप्त किया था, उसी तरह आप भी प्राप्त करोगे। आप, मैं तथा य सम्पूर्ण जगत्–सब एकमात्र व्यापक विष्णु का ही स्वरूप है। जिस प्रकार एक ही आकाश नीले-पीले आदि भेदों से अनेक-सा दिखायी देता है, उसी तरह भ्रान्त दृष्टि वाले पुरुषों को एक ही आत्मा भिन्न-भिन्न रूपों में दिखायी देता है।।६५-६७।।

श्रीअग्निदेव ने कहा कि–हे वसिष्ठ जी! इस सारभूत ज्ञान के प्रभाव से सौवीरनरेश भव-बन्धन से मुक्त हो गये। ज्ञानस्वरूप ब्रह्म ही इस अज्ञानमय संसारवृक्ष का शत्रु है, इसका निरन्तर चिन्तन करते रहिये।।६८।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी तीन सौ अस्सीवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।३८०।।

अथैकाशीत्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः

गीतासारः

अग्निरुवाच

गीतासारं प्रवक्ष्यामि सर्वगीतोत्तमोत्तमम्। कृष्णो यमर्जुनायाऽऽह पुरा वै भुक्तिमुक्तिदम्।।१।।

भगवानुवाच

गतासुरगतासुर्वा न शोच्यो देहवानजः। आत्माऽजरोऽमरोऽभेद्यस्तस्माच्छोकादिकं त्यजेत्।।२।।
ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते। सङ्गात्कामस्ततः क्रोधः क्रोधात्संमोह एव च।।३।।
संमोहात्स्मृतिविभ्रंशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति। दुःसङ्गहानिः सत्संगान्मोक्षकामी च कामनुत्।।४।।
कामत्यागादात्मनिष्ठः स्थिरप्रज्ञस्तदोच्यते। या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।।५।।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः। आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते।।६।।
नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन। तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः।।७।।
गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते। सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यति।।८।।

अध्याय-३८१

गीता-सार

अधुना मैं गीता का सार बतलाने जा रहा हूँ, जो समस्त गीता का श्रेष्ठतम से श्रेष्ठतम अंश रूप है। प्राचीन काल में भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन को उसका उपदेश दिया था। वह भोग तथा मोक्ष-दोनों को देने वाला है।।१।।

श्रीभगवान् ने कहा कि-हे अर्जुन! जिसका प्राण चला गया है अथवा जिसका प्राण अभी नहीं गया है, ऐसे मरे हुए अथवा जीवित किसी भी देहधारी के लिये शोक करना उचित नहीं है; क्योंकि आत्मा अजन्मा, अजर, अमर तथा अभेद्य है, इसलिये शोक आदि को त्याग देना चाहिये। विषयों का चिन्तन करने वाले पुरुष की उनमें आसक्ति हो जाती है; आसक्ति से काम, काम से क्रोध और क्रोध से अत्यन्त मोह (विवेक का अभाव) होता है। मोह से स्मरणशक्ति का ह्रास और उससे बुद्धि का विनाश हो जाता है। बुद्धि के विनाश से उकसा सर्वनाश हो जाता है। सत्पुरुषों का संग करने से दुष्ट संग छूट जाते हैं-(आसक्तियाँ दूर हो जाती हैं)। फिर मनुष्य अन्य सब कामनाओं का त्याग करके केवल मोक्ष की कामना रखता है। कामनाओं के त्याग से मनुष्य की आत्मा अर्थात् अपने स्वरूप में स्थिति होती है, उस समय वह 'स्थिरप्रज्ञ' कहलाता है।

सम्पूर्ण प्राणियों के लिये जो रात्रि है, अर्थात् समस्त जीव जिसकी तरफ से बेखबर होकर सो रहे हैं, उस परमात्मा के स्वरूप में भगवत्प्राप्त संयमी (योगी) पुरुष जागता रहता है तथा जिस क्षणभङ्गुर सांसारिक सुख में सब भूत-प्राणी जागते हैं, अर्थात् जो विषय-भोग उनके सामने दिन के समान प्रकट हैं, वह ज्ञानी मुनि के लिये रात्रि के ही समान है। जो अपने-आप में ही संतुष्ट है। उसके लिये कोई कर्तव्य शेष नहीं है। इस संसार में उस आत्माराम पुरुष को न तो कुछ करने से प्रयोजन है और न करने से ही। हे महाबाहो! जो गुण-विभाग और कर्म-विभाग के तत्त्व को जानता है, वह यह समझकर कि सम्पूर्ण गुण गुणों में ही बरत रहे हैं, कहीं आसक्त नहीं होता। हे अर्जुन!

ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन। ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः॥९॥
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा। सर्वभूतेषु चाऽऽत्मानं सर्वभूतानि चाऽऽत्मनि॥१०॥
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्रसमदर्शनः। शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते॥११॥
न हि कल्याणकृत्कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति। दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया॥१२॥
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते। आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ॥१३॥
चतुर्विधा भजन्ते मां ज्ञानी चैकत्वमास्थितः। अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते॥१४॥
भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः। अधिभूतं क्षरो भावः पुरुषश्चाधिदैवतम्॥१५॥
अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतां वर। अन्तकाले स्मरन्मां च मद्भावं यात्यसंशयः॥१६॥
यं यं भावं स्मरन्नन्ते त्यजेद्देहं तमाप्नुयात्। प्राणं न्यस्य भ्रुवोर्मध्ये अन्ते प्राप्नोति मत्परम्॥१७॥
ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म वदन्देहं त्यजंस्तथा। ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्ताः सर्वा मम विभूतयः॥१८॥
श्रीमन्तश्चोर्जिताः सर्वे ममांशाः प्राणिनः स्मृताः। अहमेको विश्वरूप इति ज्ञात्वा विमुच्यते॥१९॥
क्षेत्रं शरीरं यो वेत्ति क्षेत्रज्ञः स प्रकीर्तितः। क्षेत्रक्षेत्रयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम॥२०॥

आप ज्ञानरूपी नौका का सहारा लेने निश्चय ही सम्पूर्ण पापों को तर जाओगे। ज्ञानरूपी अग्नि सब कर्मों को जलाकर भस्म कर डालती है। जो सब कर्मों को परमात्मा में समर्पित करके आसक्ति छोड़कर कर्म करता है, वह पाप से लिप्त नहीं होता—ठीक उसी तरह जिस प्रकार कमल का पत्ता पानी से लिप्त नहीं होता। जिसका अन्तःकरण योगयुक्त है—परमानन्दमय परमात्मा में स्थित है तथा जो सभी जगह समान दृष्टि रखने वाला है, वह योगी आत्मा को सम्पूर्ण भूतों में तथा सम्पूर्ण भूतों को आत्मा में देखता है।

योगभ्रष्ट पुरुष शुद्ध आचार-विचार वाले श्रीमानों (धनवानों) के गृह में जन्म लेता है। हे तात! कल्याणमय शुभ कर्मों का अनुष्ठान करने वाला पुरुष कभी दुर्गति को नहीं प्राप्त होता॥२-११॥

'मेरी यह त्रिगुणमयी माया अलौकिक है; इसका पार पाना बहुत कठिन है। जो केवल मेरी शरण लेते हैं, वे ही इस माया को लाँघ पाते हैं। हे भरतश्रेष्ठ! आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी—ये चार तरह के मनुष्य मेरा भजन करते हैं। इनमें से ज्ञानी तो मुझससे एकीभूत होकर स्थित रहता है। अविनाशी परम-तत्त्व (सच्चिदानन्दमय परमात्मा) 'ब्रह्म' है, स्वभाव अर्थात् जीवात्मा का 'अध्यात्म' कहते हैं, भूतों की उत्पत्ति और वृद्धि करने वाले विसर्ग का (यज्ञ-दान आदि के निमित्त किये जाने वाले द्रव्यादि के त्याग का) नाम 'कर्म' है, विनाशशील पदार्थ 'अधिभूत' है तथा पुरुष (हिरण्यगर्भ) 'अधिदैवत' है। हे देहधारियों में श्रेष्ठ अर्जुन! इस देह के अन्दर मैं वासुदेव ही 'अधियज्ञ' हूँ।

अन्तकाल में मेरा स्मरण करने वाला पुरुष मेरे स्वरूप को प्राप्त होता है, इसमें तनिक भी संदेह नहीं है। मनुष्य अन्त काल में जिस-जिस भाव का स्मरण करते हुए अपने देह का परित्याग करता है, उसी को वह प्राप्त होता है। मृत्यु के समय जो प्राणों को भौंहों के मध्य में स्थापित करके 'ओम'—इस एकाक्षर ब्रह्म का उच्चारण करते हुए देहत्याग करता है, वह मुझ परमेश्वर को ही प्राप्त करता है। ब्रह्माजी से लेकर तुच्छ कीट तक जो कुछ दिखायी देता है, सब मेरी ही विभूतियाँ हैं। जितने भी श्रीसम्पन्न और शक्तिशाली प्राणी हैं, सब मेरे अंश हैं। 'मैं अकेला ही सम्पूर्ण विश्व के रूप में स्थित हूँ—ऐसा जानकर मनुष्य मुक्त हो जाता है'॥१२-१९॥

'यह शरीर 'क्षेत्र' है; जो इसको जानता है, उसको 'क्षेत्रज्ञ' कहा गया है। 'क्षेत्र' और 'क्षेत्रज्ञ' को जो यथार्थ

महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च। इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः।।२१।।
इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः। एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम्।।२२।।
अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम्। आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः।।२३।।
इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च। जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम्।।२४।।
असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु। नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु।।२५।।
मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी। विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि।।२६।।
अध्यात्मज्ञाननिष्ठत्वं तत्त्वज्ञानानुदर्शनम्। एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा।।२७।।
ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यं ज्ञा (यज्ज्ञा) त्वामृतमश्नुते। अनादि परमं ब्रह्म सत्त्वं नाम तदुच्यते।।२८।।
सर्वतः पाणिपादान्तं स (दं तत्स) र्वतोक्षिशिरोमुखम्। सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति।।२९।।
सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्। असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च।।३०।।
बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च। सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिकेऽपि यत्।।३१।।
अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम्। भूतभर्तृ च विज्ञेय ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च।।३२।।
ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते। ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य संस्थितम्।।३३।।

रूप से समझना है, वही मेरे मत में 'ज्ञान' है। पाँच महाभूत, अहंकार, बुद्धि, अव्यक्त (मूलप्रकृति), दस इन्द्रियाँ, एक मन, पाँच इन्द्रियों के विषय, इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, स्थूल शरीर, चेतना और धृति–यह विकारों सहित 'क्षेत्र है, जिसे यहाँ संक्षेप से बतलाया गया है। अभिमानशून्यता, दम्भ का अभाव, अहिंसा, क्षमा, सरलता, गुरुसेवा, बाहर-अन्दर की शुद्धि, अन्तःकरण की स्थिरता, मन, इन्द्रिय एवं शरीर का निग्रह, विषय भोगों में आसक्ति का अभाव, अहंकार का न होना, जन्म, मृत्यु, जरा तथा रोग आदि में दुःख रूप दोष का बारम्बार विचार करना, पुत्र, स्त्री और गृह आदि में आसक्ति और ममता का अभाव, प्रिय और अप्रिय की प्राप्ति में सदा ही समानचित्त रहना (हर्ष-शोक के वशीभूत न होना), मुझ परमेश्वर में अनन्य-भाव से अविचल भक्ति का होना, पवित्र एवं एकान्त स्थान में रहने का स्वभाव, विषयी मनुष्यों के समुदाय में प्रेम का अभाव, अध्यात्म-ज्ञान में स्थिति तथा तत्त्व-ज्ञानस्वरूप परमेश्वर का निरन्तर दर्शन–यह सब 'ज्ञान' कहा गया है और जो इसके विपरीत है, वह 'अज्ञान' है'।।२०-२७।।

'अधुना जो 'ज्ञेय' अर्थात् जानने के योग्य है, उसका वर्णन करने जा रहा हूँ, जिसको जानकर मनुष्य अमृत-स्वरूप परमात्मा को प्राप्त होता है। 'ज्ञेय तत्त्व' अनादि है और 'परब्रह्म' के नाम से प्रसिद्ध है। उसको न 'सत्' कहा जा सकता है, 'असत्'। (वह इन दोनों से विलक्षण है।) उसके सभी तरफ हाथ-पैर हैं, सभी तरफ नेत्र, सिर और मुख हैं तथा सभी तरफ कान हैं। वह संसार में सभी को व्याप्त करके स्थित है। सब इन्द्रियों से हीन होकर भी समस्त इन्द्रियों के विषयों को जानने वाला है। सभी का धारण-पोषण करने वाला होकर भी आसक्ति हीन है तथा गुणों का भोक्ता होकर भी 'निर्गुण' है। वह परमेश्वर सम्पूर्ण प्राणियों के बाहर और अन्दर विद्यमान है। 'चर' और 'अचर' सब उसी के स्वरूप हैं। सूक्ष्म होने के कारण वह 'अविज्ञेय' है। वही सन्निकट है और वही दूर।

यद्यपि वह विभाग हीन है (आकाश की भाँति अखण्ड रूप से सभी जगह परिपूर्ण है), तथा सम्पूर्ण भूतों में विभाजित पृथक्-पृथक् स्थित हुआ-सा प्रतीत होता है। उसको विष्णुरूप से सब प्राणियों को पोषक, रुद्ररूप से सभी का संहारक और ब्रह्मा के रूप से सभी को उत्पन्न करने वाला समझना चाहिये। वह सूर्य आदि ज्योतियों की

ध्यायेनाऽऽत्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना। अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन (ण) चापरे॥३४॥
अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वाऽन्येभ्य उपासते। तेऽपि चाऽऽशु तरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः॥३५॥
सत्त्वात्संजायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च। प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च॥३६॥
गुणा वर्तन्त इत्येवं योऽवतिष्ठति नेङ्गते। मानावमानमित्रारितुल्यस्त्यागी स निर्गुणः॥३७॥
ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्। छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित्॥३८॥
द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन्दैव आसुर एव च। अहिंसादिः क्षमा चैव दैवी संपत्ततो नृणाम्॥३९॥
न शौचं नापि वाऽ(चा) चारो ह्यसुरी संपदोद्भवः। नरकत्वात्क्रो (दाःक्रो) धलोभकामास्तस्मात्त्रयं त्यजेत्॥४०॥
यज्ञस्तपस्तथा दानं सत्त्वाद्यैस्त्रिविधं स्मृतम्। आयुः सत्त्वं बलारोग्यसुखायान्नं तु सात्त्विकम्॥४१॥
दुःखशोकामयायान्नं तीक्ष्णरूक्षं तु राजसम्। अमेध्योच्छिष्टपूत्यन्नं तामसं नीरसादिकम्॥४२॥
यष्टव्यो विधिना यज्ञो निष्कामाय स सात्त्विकः। यज्ञः फलाय दम्भाय राजसस्तामसः क्रतुः॥४३॥
श्रद्धामन्त्रादिविध्युक्तं तपः शारीरमुच्यते। देवादिपूजाऽहिंसादि वाङ्मयं तप उच्यते॥४४॥

भी ज्योति (प्रकाशक) है। उसकी स्थिति अज्ञानमय अन्धकार से परे बतलायी जाती है। वह परमात्मा ज्ञानस्वरूप, जानने के योग्य, तत्त्वज्ञान से प्राप्त होने वाला और सबके हृदय में स्थित है'॥२८-३३॥

'उस परमात्मा को कितने ही मनुष्य सूक्ष्म बुद्धि से ध्यान के द्वारा अपने अतःकरण में देखते हैं। दूसरे लोग सांख्ययोग के द्वारा तथा कुछ अन्य मनुष्य कर्मयोग के द्वारा देखते हैं। इनके अतिरिक्त जो मन्द बुद्धि वाले सामान्य मनुष्य हैं, वे स्वयं इस तरह न जानते हुए भी दूसरे ज्ञानी पुरुषों से सुनकर ही उपासना करते हैं। वे सुनकर उपासना में लगने वाले पुरुष भी मृत्यु दण्ड संसार-सागर से निश्चय ही पार हो जाते हैं।

सत्त्वगुण से ज्ञान, रजोगुण से लोभ तथा तमोगुण से प्रमाद, मोह और अज्ञान उत्पन्न होते हैं। गुण ही गुणों में बर्तते हैं—ऐसा समझकर जो स्थिर रहता है, अपनी स्थिति से विचलित नहीं होता, जो मान-अपमान में तथा मित्र और शत्रुपक्ष में भी समान भाव रखता है, जिसने कर्तृत्व के अभिमान को त्याग दिया है, वह 'निर्गुण' (गुणातीत) कहलाता है। जिसकी जड़ ऊपर की तरफ 'अर्थात् परमात्मा है) और 'शाखा' नीचे की तरफ (यानी ब्रह्माजी आदि) हैं, उस संसाररूपी अश्वत्थ वृक्ष को अनादि प्रवाह रूप से 'अविनाशी' कहते हैं। वेद उसके पत्ते हैं। जो उस वृक्ष को मूल सहित यथार्थ रूप से जानता है, वही वेद के तात्पर्य को जानने वाला है। इस संसार में प्राणियों की सृष्टि दो तरह की है—एक 'दैवी'—देवताओं के से स्वभाव वाली और दूसरी 'आसुरी'—असुरों के से स्वभाव वाली। इसलिये मनुष्यों के अहिंसा आदि सद्गुण और क्षमा 'दैवी सम्पत्ति' है। 'आसुरी सम्पत्ति' से जिसकी उत्पत्ति हुई है, उसमें न शौच होता है, न सदाचार। क्रोध, लोभ और काम—ये नरक देने वाले हैं, इसलिये इन तीनों को छोड़ देना चाहिये। सत्त्व आदि गुणों के भेद से यज्ञ, तप और दान तीन तरह के माने गये हैं (सात्त्विक, राजस और तामस)। 'सात्त्विक' अन्न आयु, बुद्धि, बल, आरोग्य और सुख की वृद्धि करने वाला है। तीखा और रूखा अन्न 'राजस' है।

वह दुःख, शोक और रोग उत्पन्न करने वाला है। अपवित्र, जूठा, दुर्गन्ध युक्त और नीरस आदि अन्न 'तामस' माना गया है। 'यज्ञ करना कर्तव्य है'—यह समझकर निष्कामभाव से विधिपूर्वक किया जाने वाला यज्ञ 'सात्त्विक' है। फल की इच्छा से किया हुआ यज्ञ 'राजस' और दम्भ के लिये किया जाने वाला यज्ञ 'तामस' है। श्रद्धा और मन्त्र आदि से युक्त एवं विधि-प्रतिपादित जो देवता आदि की पूजा तथा अहिंसा आदि तप है, उनको 'शारीरिक तप' कहते

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं स्वाध्यायसज्जपः। मानसं चित्तसंशुद्धिर्मौनमात्मविनिग्रहः।।४५।।
सात्त्विकं च तपोऽकामं फलाद्यर्थं तु राजसम्। तामसं परपीडायै सात्त्विकं दानमुच्यते।।४६।।
देशादौ चैव दातव्यमुपकाराय राजसम्। अदेशादाववज्ञातं तामसं दानमीरितम्।।४७।।
ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः। यज्ञदानादिकं कर्म भुक्तिमुक्तिप्रदं नृणाम्।।४८।।
अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम्। भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न तु संन्यासिनां क्वचित्।।४९।।
तामसः कर्मसंयोगान्मोहात्क्लेशभयादिकात्। राजसः सात्त्विकोऽकामात्पञ्चैते कर्महेतवः।।५०।।
अधिष्ठानं तथा कर्त्ता करणं च पृथग्विधम्। त्रिविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम्।।५१।।
एकं ज्ञानं सात्त्विकं स्यात्पृथग्ज्ञानं तु राजसम्। अतत्त्वार्थं तामसं स्यात्कर्माकामाय सात्त्विकम्।।५२।।
कामाय राजसं कर्म मोहात्कर्म तु तामसम्। सिद्ध्यसिद्ध्योः समः कर्ता सात्त्विको राजसो ह्यपि।।५३।।
शठोऽलसस्तामसः स्यात्कार्यादिधीश्च सात्त्विकी। कार्यार्थं सा राजसी स्याद्विपरीता तु तामसी।।५४।।
मनोधृतिः सात्त्विकी स्यात्प्रीतिकामेति राजसी। तामसी तु प्र पुत्र(?)शोकादौ सुखं सत्त्वात्तदन्तगम्।।५५।।
सुखं तद्राजसं चाग्रे अन्ते दुःखं तु तामसम्। अतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।।५६।।

हैं। अधुना वाणी से किये जाने वाले तप को बतलाया जाता है। जिससे किसी को उद्वेग न हो–ऐसा सत्य वचन, स्वाध्याय और जप–यह 'वाङ्मय तप' है। चित्तशुद्धि, मौन और मनोनिग्रह–यह 'मानस तप' हैं। कामना हीन तप 'सात्त्विक' फल आदि के लिये किया जाने वाला तप 'राजस' तथा दूसरों को पीड़ा देने के लिये किया हुआ तप 'तामस' कहलाता है। श्रेष्ठतम देश, काल और पात्र में दिया हुआ दान 'सात्त्विक' है, प्रत्युपकार के लिये दिया जाने वाला दान 'राजस' तथा अयोग्य देश, काल आदि में अनादरपूर्वक दिया हुआ दान 'तामस' कहा गया है।

'ॐ', 'तत्', और 'सत्'–ये परब्रह्म परमात्मा के तीन तरह के नाम बताये गये हैं। यज्ञ-दान आदि कर्म मनुष्यों को भोग एवं मोक्ष सम्प्रदान करने वाले हैं। जिन्होंने कामनाओं का त्याग नहीं किया है, उन सकामी पुरुषों के कर्म का बुरा, भला और मिला हुआ–तीन तरह का फल होता है। यह फल मृत्यु के पश्चात् प्राप्त होता है। संन्यासी (त्यागी पुरुषों) के कर्मों का कभी कोई फल नहीं होता। मोहवश जो कर्मों का त्याग किया जाता है, वह 'तामस' है, शरीर को कष्ट पहुँचने के भय से किया हुआ त्याग 'राजस' है तथा कामना के त्याग से सम्पन्न होने वाला त्याग 'सात्त्विक' कहलाता है।

अधिष्ठान, कर्ता, भिन्न-भिन्न करण, विविध तरह की पृथक्-पृथक् चेष्टाएँ तथा दैव–ये पाँच ही कर्म के कारण हैं। सब भूतों में एक परमात्मा का ज्ञान 'सात्त्विक' भेद ज्ञान 'राजस' और अतात्त्विक ज्ञान 'तामस' है। निष्काम भाव से किया हुआ कर्म 'सात्त्विक', कामना के लिये किया जाने वाला 'राजस' तथा मोहवश किया हुआ कर्म 'तामस' है। कार्य की सिद्धि और असिद्धि में सम (निर्विकार) रहने वाला कर्त्ता 'सात्त्विक' हर्ष और शोक करने वाला 'राजस' तथा शठ और आलसी कर्ता 'तामस' कहलाता है। कार्य-अकार्य के तत्त्व को समझने वाली बुद्धि 'सात्त्विकी', उसको ठीक-ठीक न जानने वाली बुद्धि 'राजसी' तथा विपरीत धारणा रखने वाली बुद्धि 'तामसी' मानी गयी है।

मन को धारण करने वाली धृति 'सात्त्विकी', प्रीति की कामना वाली धृति 'राजसी' तथा शोक आदि को धारण करने वाली धृति 'तामसी' है। जिसका परिणाम सुखद हो, वह सत्त्व से उत्पन्न होने वाला 'सात्त्विक सुख' है।

स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य विष्णुं सिद्धं च विन्दति। कर्मणा मनसा वाचा सर्वावस्थासु सर्वदा।।५७।।
ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तं जगद्विष्णुं च वेत्ति यः। सिद्धिमाप्नोति भगवद्भक्तो भागवतो ध्रुवम्।।५८।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गति गीतासारनिरूपणं नामैकाशीत्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः।।३८१।।

जो प्रारम्भ में सुखद प्रतीत होने पर भी परिणाम में दुःखद हो वह 'राजस सुख' है तथा जो आदि और अन्त में भी दुःख-ही-दुःख है, वह आपाततः प्रतीत होने वाला सुख 'तामस' कहा गया है। जिससे सब भूतों की उत्पत्ति हुई है और जिससे यह सम्पूर्ण जगत् व्याप्त है, उस विष्णु को अपने-अपने स्वाभाविक कर्म द्वारा पूजकर मनुष्य परम सिद्धि को प्राप्त कर लेता है। जो सब अवस्थाओं में और सर्वदा मन वाणी एवं कर्म के द्वारा ब्रह्मा से लेकर तुच्छ कीट पर्यन्त सम्पूर्ण जगत् को भगवान् श्रीहरि विष्णु का स्वरूप समझता है, वह भगवान् में भक्ति रखने वाला भागवत पुरुष सिद्धि को प्राप्त होता है।।३४-५८।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी तीन सौ एकासीवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा संुसम्पन्न हुआ।।३८१।।

❖❖❖

अथ द्व्यशीत्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः

यमगीता

अग्निरुवाच

यमगीतां प्रवक्ष्यामि उक्ता या नाचिकेतसे। पठतां शृण्वतां भुक्त्यै मुक्त्यै मोक्षार्थिनां सताम्।।१।।

यम उवाच

आसनं शयनं यानं परिधानगृहादिकम्। वाञ्छत्यहोऽतिमोहेन सुस्थिरं स्वयमस्थिरः।।२।।
भोगेषु श (ष्वस) क्तिः सततं तथैवाऽऽत्मावलोकनम्। श्रेयः परं मनुष्याणां कपिलोद्गीतमेव हि।।३।।
सर्वत्र समदर्शित्वं निर्ममत्वमसङ्गता। श्रेयः परं मनुष्याणां गीतं पञ्चशिखेन हि।।४।।
आगर्भजन्मबाल्यादिवयोऽवस्थादिवेदनम्। श्रेयः परं मनुष्याणां गङ्गाविष्णुप्रगीतकम्।।५।।
आध्यात्मिकादिखुःखानामाद्यन्तादिप्रतिक्रिया। श्रेयः परं मनुष्याणां जनकोद्गीतमेव च।।६।।
अभिन्नयोर्भेदकरः प्रत्ययो यः परात्मनः। तच्छान्तिपरमं श्रेयो ब्रह्मोद्गीतमुदाहृतम्।।७।।
कर्तव्यमिति यत्कर्म ऋग्यजुः सामसंज्ञितम्। कुरुते श्रेयसेऽसङ्गाज्जैगीषव्येण गीयते।।८।।
हानिः सर्वविधित्सानामात्मनः सुखहैतुकी। श्रेयः परं मनुष्याणां देवलोद्गीतमीरितम्।।९।।

अध्याय-३८२

यमगीता

श्रीअग्निदेव ने कहा कि–हे ब्रह्मन्! अधुना मैं 'यमगीता' का वर्णन करने जा रहा हूँ, जो यमराज के द्वारा नचिकेता के प्रति कही गयी थी। यह पढ़ने और सुनने वालों को भोग सम्प्रदान करती है। तथा मोक्ष की अभिलाषा रखने वाले सत्पुरुषों को मोक्ष देने वाली है।।१।।

यमराज ने कहा कि–अहो! कितने आश्चर्य की बात है कि मनुष्य अत्यन्त मोह के कारण स्वयं अस्थिर चित्त होकर आसन, शय्या, वाहन, परिधान (पहनने के वस्त्र आदि) तथा गृह आदि भोगों को सुस्थिर मानकर प्राप्त करना चाहता है। कपिल जी ने कहा है–'भोगों में आसक्ति का अभाव तथा सदा ही आत्मतत्त्व का चिन्तन–यह मनुष्यों के परमकल्याण का उपाय है।' 'सभी जगह समतापूर्ण दृष्ट तथा ममता और आसक्ति का न होना–यह मनुष्यों के परमकल्याण का साधन है'–यह आश्चर्य पञ्चशिख का उद्गार है। गर्भ से लेकर जन्म और बाल्य आदि वय तथा अवस्थाओं के स्वरूप को ठीक-ठीक समझना ही मनुष्यों के परमकल्याण का हेतु है'–यह गंगा-विष्णु का गान है।

'आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक दुःख आदि अन्त वाले हैं, अर्थात् ये उत्पन्न और नष्ट होते रहते हैं, इसलिये इनको क्षणिक समझकर धैर्यपूर्वक सहन करना चाहिये, विचलित नहीं होना चाहिये–इस तरह उन दुःखों का प्रतिकार ही मनुष्यों के लिये परमकल्याण का साधन हैं–यह महाराज जनक का मत है। 'जीवात्मा और परमात्मा वस्तुतः अभिन्न (एक) हैं; इनमें जो भेद की प्रतीति होती है, उसका निवारण करना ही परमकल्याण का हेतु हैं'–यह ब्रह्मा जी का सिद्धान्त है। जैगीषव्य का कहना है कि 'ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद में प्रतिपादित जो कर्म हैं, उनको कर्तव्य समझकर अनासक्तभाव से करना श्रेय का साधन है।' 'सभी तरह की विधित्सा (कर्मारम्भ की

कामत्यागात्तु विज्ञानं सुखं ब्रह्म परं पदम्। कामिनां नहि विज्ञानं सनकोद्गीतमेव तत्॥१०॥
प्रवृत्तं च निवृत्तं च कार्यं कर्म परोऽब्रवीत्। श्रेयसां श्रेय एतद्धि नैष्कर्म्यं ब्रह्म तद्धरिः॥११॥
पुमांश्चाधिगतज्ञानो भेदं नाऽऽप्नोति सत्तमः। ब्रह्मणा विष्णुसंज्ञेन परमेणव्ययेन च॥१२॥
ज्ञानं विमानमास्तिक्यं सौभाग्यं रूपमुत्तमम्। तपसा लभ्यते सर्वं मनसा यद्यदिच्छति॥१३॥
नास्ति विष्णुसमं ध्येयं तपो नानशनात्परम्। नास्त्यारोग्यसमं धन्यं नास्ति गङ्गासमा सरित्॥१४॥
न सोऽस्ति बान्धवः कश्चिद्विष्णुं मुक्त्वा जगद्गुरुम्। अधश्चोर्ध्वं हरिश्चाग्रे देहेन्द्रियमनोमुखे॥१५॥
इत्येव संस्मरन्प्राणान्यस्त्यजेत्स हरिर्भवेत्। यत्तद्ब्रह्म यतः सर्वं यत्सर्वं तस्य संस्थितम्॥१६॥
अग्राह्यकमनिर्देश्यं सुप्रतिष्ठं च यत्परम्। परापरस्वरूपेण विष्णुः सर्वहृदिस्थितः॥१७॥
यज्ञेशं यज्ञपुरुषं केचिदिच्छन्ति तत्परम्। केचिद्विष्णुं हरं केचित्केचिद्ब्रह्माणमीश्वरम्॥१८॥
इन्द्रादिनामभिः केचित्सूर्यं सोमं च कालकम्। ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तं जगद्विष्णुं वदन्ति च॥१९॥
स विष्णुः परमं ब्रह्म यतो नाऽऽवर्तते पुनः। सुवर्णादिमहादानपुण्यतीर्थावगाहनैः॥२०॥

आकाङ्क्षा) का परित्याग आत्मा के सुख का साध है; यही मनुष्यों के लिये परम श्रेय है'—यह देवल का मत बतलाया गया है। 'कामनाओं के त्याग से विज्ञान, सुख, ब्रह्म एवं परमपद की प्राप्ति हो जाती है। कामना रखखने वालों को ज्ञान नहीं होता'—यह सनकादिकों का सिद्धान्त है॥२-१०॥

'दूसरे लोग कहते हैं कि प्रवृत्ति और निवृत्ति—दोनों तरह के कर्म करने चाहिये। परन्तु वास्तव में नैष्कर्म्य ही ब्रह्म है; वही भगवान् श्रीहरि विष्णु का स्वरूप है—यही श्रेय का भी श्रेय है। जिस पुरुष को ज्ञान की प्राप्ति हो जाती है, वह संतों में श्रेष्ठ है; वह अविनाशी परब्रह्म विष्णु से कभी भेद को नहीं प्राप्त होता। ज्ञान, विज्ञान, आस्तिकता, सौभाग्य तथा श्रेष्ठतम रूप तपस्या से उपलब्ध होते हैं। इतना ही नहीं, मनुष्य अपने मन से जो-जो वस्तु पाना चाहता है, वह सब तपस्या से प्राप्त हो जाती ळे। विष्णु के समान कोई ध्येय नही है, निराहार रहने से बढ़कर कोई तपस्या नहीं है, आरोग्य के समान कोई बहुमूल्य वस्तु नहीं है और गंगाजी के तुल्य दूसरी कोई नदी नहीं है।

जगद्गुरु भगवान् श्रीहरि विष्णु को छोड़कर दूसरा कोई बान्धव नहीं है। नीचे-ऊपर, आगे-पीछे देह, इन्द्रिय, मन तथा मुख—सबमें और सभी जगह भगवान् श्रीहरि विराजमान हैं। इस तरह भगवान् का चिन्तन करते हुए जो प्राणों का परित्याग करता है, वह साक्षात् श्रीहरि के स्वरूप में मिल जाता है। वह जो सभी जगह व्यापक ब्रह्म है, जिससे सबकी उत्पत्ति हुई है, जो सर्वस्वरूप है तथा यह सब कुछ जिसका संस्थान (आकार-विशेष) है, जो इन्द्रियों से ग्राह्य नहीं है, जिसका किसी नाम आदि के द्वारा निर्देश नहीं किया जा सकता, जो सुप्रतिष्ठित एवं सबसे परे है, उस परापर ब्रह्म के रूप में साक्षात् भगवान् श्रीहरि विष्णु ही सबके हृदय में विराजमान हैं। वे यज्ञ के स्वामी तथा यज्ञस्वरूप हैं; उनको कोई विष्णु रूप से, कोई शिवरूप से, कोई ब्रह्मा और ईश्वररूप से, कोई इन्द्रादि नामों से तथा कोई सूर्य, चन्द्रमा और कालरूप से उनको पाना चाहते हैं। ब्रह्मा से लेकर कीट तक सारे जगत् को विष्णु का ही स्वरूप कहते हैं। वे भगवान् श्रीहरि विष्णु परब्रह्म ही स्वरूप कहते हैं। वे भगवान् श्रीहरि विष्णु परब्रह्म परमात्मा हैं, जिनके पास पहुँच जाने पर (जिन्हें जान लेने या पा लेने पर) फिर वहाँ से इस संसार में नहीं लौटना पड़ता। स्वर्ण-दान आदि बड़े-बड़े दान तथा पुण्य-तीर्थों में स्नान करने से, ध्यान लगाने से, व्रत करने से, पूजा से और धर्म की बातें सुनने (एवं उनका पालन करने) से उनकी प्राप्ति हो जाती हैं'॥११-२०॥

ध्यानैर्व्रतैः पूजया च धर्मश्रुत्या तदाप्नुयात्। आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु॥२१॥
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च। इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांश्चेति गोचरान्॥२२॥
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः। यस्त्वविज्ञानवान्भवत्ययुक्तेन मनसा सदा॥२३॥
न सत्पदमवाप्नोति संसारं चाधिगच्छति। यस्तु विज्ञानवान्भवति युक्तेन मनसा सदा॥२४॥
स तत्पदमवाप्नोति यस्माद्भूयो न जायते। विज्ञानसारथिर्यस्तु मनः प्रग्रहवान्नरः॥२५॥
सोऽध्वानं परमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम्। इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः॥२६॥
मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान्परः। महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः॥२७॥
पुरुषान्न परं किंचित्सा काष्ठा सा परा गतिः। एषु सर्वेषु भूतेषु गूढात्मा न प्रकाशते॥२८॥
दृश्यते त्वग्र (ग्र्य) या बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः। यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञस्तद्यच्छेज्ज्ञानमा (न आ) त्मनि॥२९॥
ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेच्छान्त आत्मनि। ज्ञात्वा ब्रह्मात्मनोर्योगं यमाद्यैर्ब्रह्म सद्भवेत्॥३०॥
अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यापरिग्रहौ। यमाश्च नियमाः पञ्च शौचं सन्तोषसत्तपः॥३१॥
स्वाध्यायेश्वरपूजा च आसनं पद्मकादिकम्। प्राणायामो वायुजयः प्रत्याहारः स्व (ख) निग्रहः॥३२॥

'आत्मा को 'रथी' समझो और शरीर को 'रथ'। बुद्धि को 'सारथि' जानो और मन को 'लगाम'। विवेकी पुरुष इन्द्रियों को 'घोड़े' कहते हैं और विषयों को उनके 'मार्ग' तथा शरीर, इन्द्रिय और मनसहित आत्मा को 'भोक्ता' कहते हैं। जो बुद्धिरूप सारथि अविवेकी होता है, जो अपने मन रूपी लगाम को कसकर नहीं रखता, वह श्रेष्ठतम पद को 'परमात्मा को) नहीं प्राप्त होता; संसार रूपी गर्त में गिरता है। परन्तु जो विवेकी होता है और मन को काबू में रखता है, वह उस परम पद को प्राप्त होता है, जिससे वह फिर जन्म नहीं लेता। जो मनुष्य विवेक युक्त बुद्धिरूप सारथि से सम्पन्न और मनरूपी लगाम को काबू में रखने वाला होता है, वही संसाररूपी मार्ग को पार करता है, जहाँ विष्णु का परमपद है।

इन्द्रियों की अपेक्षा उनके विषय पर हैं, विषयों से परे मन है, मन से परे बुद्धि है, बुद्धि से परे महान् आत्मा (महत्तत्त्व) है, महत्तत्त्व से परे अव्यक्त (मूलप्रकृति) है और अव्यक्त से परे पुरुष (परमात्मा) है। पुरुष परे कुछ भी नहीं है, वही सीमा है, वही परमगति है। सम्पूर्ण भूतों में छिपा हुआ यह आत्मा प्रकाश में नहीं आता। सूक्ष्मदर्शी पुरुष अपनी तीव्र एवं सूक्ष्म बुद्धि से ही उसको देख पाते हैं। विद्वान् पुरुष वाणी को मन में और मन को विज्ञानमयी बुद्धि में लीन करना चाहिये। इसी तरह बुद्धि को महत्तत्त्व में और महत्तत्त्व को शान्त आत्मा में लीन करना चाहिये'॥२१-२९॥

'यम-नियमादि साधनों से ब्रह्म और आत्मा की एकता को जानकर मनुष्य सत्स्वरूप ब्रह्म ही हो जाता है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय (चोरी का अभाव), ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह (संग्रह न करना)-ये पाँच 'यम' कहलाते हैं। 'नियम' भी पाँच ही हैं-शौच (बाहर-अन्दर की पवित्रता), संतोष, श्रेष्ठतम तप, स्वाध्याय और ईश्वरपूजा। 'आसन' बैठने की प्रक्रिया का नाम है; उसके 'पद्मासन' आदि कई भेद हैं। प्राण वायु को जीतना 'प्राणायाम' है।

इन्द्रियों का निग्रह 'प्रत्याहार' कहलाता है। हे ब्रह्मन्! एक शुभ विषय में जो चित्त को स्थिरतापूर्वक स्थापित करना होता है, उसको बुद्धिमान् पुरुष 'धारणा' कहते हैं। एक ही विषय में बारंबार धारणा करने का नाम 'ध्यान' है।

शुभे ह्येकत्र विषये चेतसो यत्प्रधारणम्। निश्चलत्वात्तु धीमद्भिर्धारणा द्विज कथ्यते॥३३॥
पौनः पुण्येन तत्रैव विषयेष्वेव धारणा। ध्यानं स्मृतं समाधिस्तु अहं ब्रह्मात्मसंस्थितिः॥३४॥
घटध्वंसाद्यथाऽऽकाशमभिन्न नभसा भवेत्। मुक्तो जीवो ब्रह्मणैवं सद्ब्रह्म ब्रह्म वै भवेत्॥३५॥
आत्मानं मन्यते ब्रह्म जीवो ज्ञानेन नान्यथा। जीवो ह्यज्ञानतत्कार्यमुक्तः स्यादजरामरः॥३६॥

अग्निरुवाच

वशिष्ठ यमगीतोक्ता पठतां भुक्तिमुक्तिदा। आत्यन्तिको लयः प्रोक्तो वेदान्तब्रह्मधीमयः॥३७॥

॥इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते यमगीताकथनं नाम द्व्यशीत्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः॥३८२॥

—※※※—

'मैं ब्रह्म हूँ'—इस तरह के अनुभव में स्थिति होने को 'समाधि' कहते हैं। जिस प्रकार घड़ा फूट जो पर घटाकाश महाकाश से अभिन्न (एक) हो जाता है, उसी तरह मुक्त जीव ब्रह्म के साथ एकीभाव को प्राप्त होता है—वह सत्स्वरूप ब्रह्म ही हो जाता है। ज्ञान से ही जीव अपने को ब्रह्म मानता है, अन्यथा नहीं। अज्ञान और उसके कार्यों से मुक्त होने पर जीव अजर-अमर हो जाता है'॥३०-३६॥

श्रीअग्निदेव ने कहा कि—हे वसिष्ठ! ये मैंने 'यमगीता' बतलायी है। इसको पढ़ने वालों को यह भोग और मोक्ष सम्प्रदान करती है। वेदान्त के अनुसार सभी जगह ब्रह्मबुद्धि का होना 'आत्यन्तिक लय' कहलाता है॥३७॥

॥इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी तीन सौ बयासीवाँ अध्याय डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ॥३८२॥

❖❖❖

अथ त्र्यशीत्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः

आग्नेयमहापुराणमाहात्म्यम्

अग्निरुवाच

आग्नेयं ब्रह्मरूपं ते पुराणं कथितं मया। सप्रपञ्चं निष्प्रपञ्चं विद्याद्वयमयं महत्।।१।।
ऋग्यजुः सामाथर्वाख्या विद्या विष्णुर्जगज्जनिः। छन्दः शिक्षाव्यकरणं (ण)निघण्टुज्योतिराख्यकाः।।२।।
निरुक्तधर्मशास्त्रादिमीमांसान्यायविस्तराः। आयुर्वेदपुराणाख्या धनुर्गन्धर्वविस्तराः।।३।।
विद्या सैवार्थशास्त्राख्या वेदान्तान्या (?) हरिर्महान्। इत्येषा चापरा विद्या परविद्याऽक्षरं परम्।।४।।
यस्य भावोऽखिलं विष्णुस्तस्य नो बाधते कलिः। अनिष्ट्वा तु महायज्ञानकृत्वाऽपि पितृस्वधाम्।।५।।
कृष्णमभ्यर्चयन्भक्त्या नैनसो भाजनं भवेत्। सर्वकारणमत्यन्तं विष्णुं ध्यायन्न सीदति।।६।।
अन्यतन्त्रादिदोषात्थो विषयाकृष्टमानसः। कृत्वाऽपि पापं गोविन्दं ध्यायन्पापैः प्रमुच्यते।।७।।
तद्ध्यानं यत्र गोविन्दः सा कथा यत्र केशवः। तत्कर्म यत्तदर्थीयं किमन्यैर्बहुभाषितैः।।८।।
न तत्पिता तु पुत्राय न शिष्याय गुरुर्द्विजः। परमार्थं परं ब्रूयाद्यदेतत्ते मयोदितम्।।९।।
संसारे भ्रमता लभ्यं पुत्रदारधनं वसु। सुहृदश्च तथैवान्ये नोपदेशो द्विजेदृशः।।१०।।

अध्याय-३८३

श्रीअग्निमहापुराण माहात्म्य विचार

श्रीअग्निदेव ने कहा कि-हे ब्रह्मन्! 'श्रीअग्निमहापुराण' ब्रह्मस्वरूप है, मैंने आपसे इसका वर्णन किया। इसमें कहीं संक्षेप से और कहीं विस्तार के साथ 'परा' और 'अपरा'-इन दो विद्याओं का प्रतिपादन किया गया है। यह महापुराण है। ऋक् यजुः, साम और अथर्व-नामक विदेविद्या, विष्णु-महिमा, संसार-सृष्टि छन्द, शिक्षा, व्याकरण, निघण्टु (कोष), ज्यौतिष, निरुक्त, धर्मशास्त्र आदि, मीमांसा, विस्तृत न्यायशास्त्र, आयुर्वेद, पुराण-विद्या, धनुर्वेद, गन्धर्ववेद अर्थशास्त्र, वदान्त और महान् (परमेश्वर) श्रीहरि-यह सब 'अपरा विद्या' है तथा परम अक्षर तत्त्व 'परा विद्या' है (इस पुराण में इन दोनों विद्याओं का विषय वर्णित है।)'यह सब कुछ विष्णु ही है'-ऐसा जिसका भाव हो, उसको कलियुग बाधा नहीं पहुँचाता। बड़े-बड़े यज्ञों का अनुष्ठान और पितरों का श्राद्ध न करके भी यदि मनुष्य भक्तिपूर्वक श्रीकृष्ण का पूजन करना चाहिये तो वह पाप का भागी नहीं होता। विष्णु सबके कारण हैं। उनका निरन्तर ध्यान करने वाला पुरुष कभी कष्ट में नहीं पड़ता। यदि परतन्त्रता आदि दोषों से प्रभावित होकर तथा विषयों के प्रति चित्त आकृष्ट हो जाने के कारण मनुष्य पाप-कर्म कर बैठे तो भी गोविन्द का ध्यान करके वह सब पापों से मुक्त हो जाता है। दूसरी-दूसरी बहुत-सी बातें बनाने से क्या लाभ? 'ध्यान' वही है, जिसमें गोविन्द का चिन्तन होता हो, 'कथा' वही है, जिसमें केशव का कीर्तन हो रहा हो और 'कम' वही है, जो श्रीकृष्ण की प्रसन्नता के लिये किया जाय। 'हे वसिष्ठ जी! जिस परमोत्कृष्ट परमार्थतत्त्व का उपदेश न तो पिता पुत्र को और न गुरु शिष्य को कर सकता है, वही इस श्रीअग्निमहापुराण के रूप में मैंने आपके प्राति किया है। हे द्विज़वर! संसार में भटकने वाले पुरुष को स्त्री, पुत्र और धन-वैभ्व मिल सकते हैं तथा अन्य अनेकों सुहृदों की भी प्राप्ति हो सकती है, परन्तु ऐसा उपदेश नहीं मिल सकता।

किं पुत्रदारैर्मित्रैर्वा किं मित्रक्षेत्रबान्धवैः। उपदेशः परो बन्धुरीदृशो यो विमुक्तये॥११॥
द्विविधो भूतसर्गोऽयं दैव आसुर एव च। विष्णुभक्तिपरो दैवो विपरीतस्तथाऽऽसुरः॥१२॥
एतत्पवित्रमारोग्यं धन्यं दुःस्वप्ननाशनम्। सुखप्रीतिकरं नृणां मोक्षकृद्यत्तवेरितम्॥१३॥
येषां गृहेषु लिखितमाग्नेयं हि पुराणकम्। पुस्तकं स्थास्यति सदा तत्र नेशुरुपद्रवाः॥१४॥
किं तीर्थैर्गोप्रदानैर्वा किं यज्ञैः किमुपोषितैः। आग्नेयं ये हि शृण्वन्ति अहन्यहनि मानवाः॥१५॥
यो ददाति तिलप्रस्थं सुवर्णस्य च माषकम्। शृणोति श्लोकमेकं च आग्नेयस्य तदाप्नुयात्॥१६॥
अध्यायपठनं चास्य गोप्रदानाद्विशिष्यते। अहोरात्रकृतं पापं श्रोतुमिच्छोः प्रणश्यति॥१७॥
कपिलानां शते दत्ते यद्भवेज्ज्येष्ठपुष्करे। तदाग्नेयं पुराणं हि पठित्वा फलमाप्नुयात्॥१८॥
प्रवृत्तं च निवृत्तं च धर्मं विद्याद्वयात्मकम्। आग्नेयस्य पुराणस्य शास्त्रस्यास्य समं न हि॥१९॥
पठन्नाग्नेयकं नित्यं शृण्वन्वाऽपि पुराणकम्। भक्तो वशिष्ठ मनुजः सर्वपापैः प्रमुच्यते॥२०॥
नोपसर्गा न चानर्था न चौरारिभयं गृहे। तस्मिन्स्याद्यत्र चाऽग्नेयपुराणस्य हि पुस्तकम्॥२१॥
न गर्भहारिणी भीतिर्न च बालग्रहा गृहे। यत्राऽग्नेयं पुराणं स्यान्न पि (पै) शाचादिकं भयम्॥२२॥
शृण्वन्विप्रो वेदविस्त्यात्क्षत्रियः पृथिवीपतिः। ऋद्धिं प्राप्नोति वैश्यश्च शूद्रश्चाऽऽरोग्यमृच्छति॥२३॥
यः पठेच्छृणुयान्नित्यं समदृग्विष्णुमानसः। ब्रह्माऽऽग्नेयं पुराणं सत्तत्र नश्यन्त्युपद्रवाः॥२४॥

स्त्री, पुत्र, मित्र, खेती-बारी और बन्धु-बान्धवों से क्या लेना है? यह उपदेश ही सबसे बड़ा बन्धु है; क्योंकि यह संसार से मुक्ति दिलाने वाला है॥१-११॥

प्राणियों की सृष्टि दो तरह की है-'दैवी' और 'आसुरी'। जो भगवान् श्रीहरि विष्णु की भक्ति में लगा हुआ है, वह 'दैवी सृष्टि' के अन्तर्गत है तथा जो भगवान् से विमुख है, वह 'आसुरी सृष्टि' को मनुष्य है-असुर है। यह श्रीअग्निमहापुराण, जिसका मैंने आपको उपदेश किया है, परम पवित्र, आरोग्य एवं धन का साधक, दुःस्वप्न का विनाश करने वाला, मनुष्यों को सुख और आनन्द देने वाला तथा भव-बन्ध नसे मोक्ष दिलाने वाला है। जिनके घरों में हस्तलिखित श्रीअग्निमहापुराण की पोथी मौजूद होगी, वहाँ उपद्रवों का जोर नहीं चल सकता। जो मनुष्य प्रतिदिन श्रीअग्निमहापुराण-श्रवण करते हैं, उनको तीर्थ-सेवन, गोदान, यज्ञ तथा निराहार व्रत आदि की क्या आवश्यकता है? जो प्रतिदिन एक प्रस्थ तिल और एक माश स्वर्ण दान करता है तथा जो श्रीअग्निमहापुराण का एक ही श्लोक सुनता है, उन दोनों का फल समान है। श्लोक सुनाने वाला पुरुष तिल और स्वर्ण-दान का फल पा जाता है। इसके एक अध्याय का पाठ गोदान से बढ़कर है। इस पुराण को सुनने की इच्छामात्र करने से दिन-रात का किया हुआ पाप नष्ट हो जाता है। वृद्धपुष्करतीर्थ में सौ कपिला गौओं का दान करने से जो फल मिलता है, वही श्रीअग्निमहापुराण का पाठ करने से मिल जाता है। 'प्रवृत्ति' और 'निवृत्ति' रूप धर्म तथा 'परा' और 'अपरा' नाम वाली दोनों विद्याएँ इस 'श्रीअग्निमहापुराण' नामक शास्त्र की समानता नहीं कर सकतीं। हे वसिष्ठ जी! प्रतिदिन श्रीअग्निमहापुराण का पाठ अथवा श्रवण करने वाला भक्त-मनुष्य सब पापों से छुटकारा पा जाता है। जिस गृह में श्रीअग्निमहापुराण की पुस्तक रहेगी, वहाँ विघ्न-बाधाओं, अनर्थों तथा चारों आदि का भय नहीं होगा। जाहँ श्रीअग्निमहापुराण रहेगा, उस गृह में गर्भपात का भय न होगा, बालकों को ग्रह नहीं सतायेंगे तथा पिशाच आदि का भय भी निवृत्त हो जायगा। इस पुराण का श्रवण करने वाला ब्राह्मण वेदवेत्ता होता है, क्षत्रिय पृथ्वी का राजा होता है, वैश्य धन पाता है, क्षत्रिय पृथ्वी का

दिव्यान्तरी (रि) क्षभौमाद्या दुःस्वप्नाद्यभिचारकाः। यच्चान्यद्दुरितं किंचित्तत्सर्वं हन्ति केशवः।।२५।।
पठतः शृण्वतः पुंसः पुस्तकं यजतो महत्। आग्नेयं श्रीपुराणं हि हेमन्ते यः शृणोति वै।।२६।।
प्रपूज्य गन्धपुष्पाद्यैरग्निष्टोमफलं लभेत्। शिशिरे पुण्डरीकस्य वसन्ते चाश्वमेधजम्।।२७।।
ग्रीष्मे तु वाजपेयस्य राजसूयस्य वर्षति। गो सहस्रस्य शरदि फलं तत्पठतो ह्यतौ।।२८।।
आग्नेयं हि पुराणं यो भक्त्याग्रे पठतो हरेः। साऽर्चयेच्च वशिष्ठेह ज्ञानयज्ञेन केशवम्।।२९।।
यस्याऽऽग्नेयपुराणस्य पुस्तकं तस्य वै जयः। लिखितं पूजितं गेहे भक्तिर्मुक्ति करेऽस्ति हि।।३०।।
इति कालाग्निरूपेण गीतं मे हरिणा पुरा। आम्नायं हि पुराणं वै ब्रह्मविद्याद्वयास्पदम्।।३१।।
विद्याद्वयं वशिष्ठेदं भक्तेभ्यः कथयिष्यसि।।३१।।

वशिष्ठ उवाच

व्यासाऽऽग्नेयपुराणं ते रूपं विद्याद्वयात्मकम्। कथितं ब्रह्मणो विष्णोरग्निना कथितं यथा।।३२।।
सार्धं देवैश्च मुनिभिर्मह्यं सर्वार्थदर्शकम्। पुराणमग्निना गीतमाग्नेयं ब्रह्मसंमितम्।।३३।।
यः पठेच्छृणुयाद्व्यास लिखेद्वा लेखयेदपि। श्रावयेत्पाठयेद्वाऽपि पूजयेद्धारयेदपि।।३४।।
सर्वपापविनिर्मुक्तः प्राप्तकामो दिवं व्रजेत्। लेखयित्वा पुराणं यो दद्याद्विप्रेभ्य उत्तमम्।।३५।।

राजा होता है, वैश्य धन पाता है, शूद्र नीरोग रहता है। जो भगवान् श्रीहरि विष्णु में मन लगाकर सभी जगह समान दृष्टि रखते हुए ब्रह्मस्वरूप श्रीअग्निमहापुराण का प्रतिदिन पाठ या श्रवण करता है, उसके दिव्य, आन्तरिक्ष और भौम आदि सारे उपद्रव नष्ट हो जाते हैं। इस पुस्तक के पढ़ने-सुनने और पूजन करने वाले पुरुष के और भी जो कुछ पाप होते हैं, उन सभी को भगवान् केशव नष्ट कर देते हैं। जो मनुष्य हेमन्त-ऋतु में गन्ध और पुष्प आदि से पूजा करके श्रीअग्निमहापुराण का श्रवण करता है, उसको अग्निष्टोम यज्ञ का फल मिलता है। शिशिर-ऋतु में इसके श्रवण से पुण्डरीक का तथ वसत-ऋतु में अश्वमेध या का फल प्राप्त होता है। गर्मी में वाजपेय का, वर्षा में राजसूय का तथा शरद्-ऋतु में इस पुराण का पाठ और श्रवण करने से एक हजार गोदान करने का फल प्राप्त होता है। हे वसिष्ठजी! जो भगवान् श्रीहरि विष्णु के सम्मुख बैठकर भक्तिपूर्वक श्रीअग्निमहापुराण का पाठ करता है, वह मानो ज्ञानयज्ञ के द्वारा श्रीकेशव का पूजन करता है। जिसके गृह में हस्तलिखित श्रीअग्निमहापुराण की पुस्तक पूजित होती है, उसको सदा ही विजय प्राप्त होती है तथा भोग और मोक्ष–दोनों ही उसके हाथ में रहते हैं–यह बात प्राचीन काल में कालाग्नि स्वरूप श्रीहरि ने स्वयं ही मुझसे बतलायी थी। आग्नेय पुराण ब्रह्मविद्या एवं अद्वैतज्ञान रूप है।।१२-३१।।

वसिष्ठ जी ने कहा कि–हे व्यास! यह श्रीअग्निमहापुराण 'परा-अपरा'–दोनों विद्याओं का स्वरूप है। इसको विष्णु ने ब्रह्मा से तथा श्रीअग्नि देव ने समस्त देवताओं और मुनियों के साथ बैठे हुए मुझसे जिस रूप में सुनाया, उसी रूप में मैंने तुम्हारे सामने इसका वर्णन किया है। श्रीअग्नि देव के द्वारा वर्णित यह 'आग्नेय पुराण' वेद के तुल्य माननीय है तथा यह सभी विषयों का ज्ञान कराने वाला है। हे व्यास! जो इसका पाठ या श्रवण करना चाहिये, जो इसको स्वयं लिखेगा या दूसरों से लिखायेगा, शिष्यों को पढ़ायेगा या सुनायेगा अथवा इस पुस्तक का पूजन या धारण करना चाहिये, वह सब पापों से मुक्त एवं पूर्णमनेप्सित होकर स्वर्गलोक में जायगा। जो इस श्रेष्ठतम पुराण को लिखाकर ब्राह्मणों को दान देता है, वह ब्रह्मलोक में जाता है तथा अपने वंश की सौ पीढ़ियों का उद्धार कर देता है। जो एक श्लोक का भी पाठ करता है, उसका पाप-पङ्क से छुटकारा हो जाता है। इसलिये हे व्यास! इस सर्वदर्शनसंग्रह रूप

स ब्रह्मलोकमाप्नोति कुलानां शतमुद्धरेत्। एकं श्लोकं पठेद्यस्तु पापपङ्काद्विमुच्यते।।३६।।
तस्माद् व्यास सदा श्राव्यं शिष्येभ्यः सर्वदर्शनम्। शुकाद्यैर्मुनिभिः सार्धं श्रोतुकामैः पुराणकम्।।३७।।
आग्नेयं पठितं ध्यातं शुभं स्याद्भुक्तिमुक्तिदम्। अग्नये तु नमस्तस्मै येन गीतं पुराणकम्।।३८।।

व्यास उवाच

वशिष्ठेन पुरागीतं सूतैतत्ते मयोदितम्। परा विद्याऽपरा विद्या स्वरूपं पदमं परम्।।३९।।
आग्नेयं दुर्लभं रूपं प्राप्यते भाग्यसंयुतैः। ध्यायन्तो ब्रह्म चाऽऽग्नेयं पुराणं हरिमागताः।।४०।।
विद्यार्थिनस्तथा विद्यां राज्यं राज्यार्थिनो गताः। अपुत्राः पुत्रिणः सन्ति नाश्रया आश्रयं गताः।।४१।।
सौभाग्यार्थी च सौभाग्यं मोक्षं मोक्षार्थिनो गताः। लिखन्तो लेकयन्तश्च निष्पापाश्च श्रियं गताः।।४२।।
शुकपैलमुखैः सूत आग्नेयं तु पुराणकम्। रूपं चिन्तय यातासि भुक्तिं मुक्तिं न संशयः।।४३।।
श्रावय त्वं च शिष्येभ्यो भक्तेभ्यश्च पुराणकम्।।४४।।

सूत उवाच

व्यासप्रसादादाग्नेयं पुराणं श्रुतमादरात्। आग्नेयं ब्रह्मरूपं हि मुनयः शौनकादयः।।४५।।
भवन्तो नैमिषारण्ये यजन्तो हरिमीश्वरम्। तिष्ठन्तः श्रद्धया युक्तास्तस्माद्वः समुदीरितम्।।४६।।
अग्निना प्रोक्तमाग्नेयं पुराणं वेदसंमितम्। ब्रह्मविद्याद्वयोपेतं भुक्तिदं मुक्तिदं महत्।।४७।।

पुराण को आपको श्रवण की इच्छा रखने वाले शुकादि मुनियों के साथ अपने शिष्यों को सदा सुनाते रहना चाहिये। श्रीअग्निमहापुराण का पठन और चिन्तन अत्यन्त शुभ तथा भोग और मोक्ष सम्प्रदान करने वाला है। जिन्होंने इस पुराण का गान किया है, उन श्रीअग्नि देव को नमस्कार है।।३२-३८।।

व्यासजी कहते हैं-हे सूत! प्राचीन काल में वसिष्ठ जी के मुख से सुना हुआ यह श्रीअग्निमहापुराण मैंने आपको सुनाया है। 'परा' और 'अपरा' विद्या इसका स्वरूप है। यह परम पद सम्प्रदान करने वाला है। आग्नेय पुराण परम दुर्लभ है, भाग्यवान् पुरुषों को ही यह प्राप्त होता है। 'ब्रह्म' या 'वेद स्वरूप' इस श्रीअग्निमहापुराण का चिन्तन करने वाले पुरुष श्रीहरि को प्राप्त होते हैं। इसके चिन्तन से विद्यार्थियों को विद्या और राज्य की इच्छा रखने वालों को राज्य की प्राप्ति हो जाती है। जिन्हें पुत्र नहीं है, उनको पुत्र मिलता है तथा जो लोग निराश्रय हैं, उनको आश्रय प्राप्त होता है। सौभाग्य चाहने वाले सौभाग्य को तथा मोक्ष की अभिलाषा रखने वाले मनुष्य मोक्ष को पाते हैं। इसको लिखने और लिखाने वाले लोग पापहीन होकर लक्ष्मी को प्राप्त होते हैं। हे सूत! आप शुक और पैल आदि के साथ श्रीअग्निमहापुराण को चिन्तन करो, इससे आपको भोग और मोक्ष-दोनों की प्राप्ति होगी-इसमें तनिक भी संदेह नहीं है। आप भी अपने शिष्यों और भक्तों को यह पुराण सुनाओ।।३९-४४।।

सूतजी ने कहा कि-हे शौनक आदि मुनिवरो! मैंने श्रीव्यास जी की कृपा से श्रद्धापूर्वक श्रीअग्निमहापुराण का श्रवण किया है। यह श्रीअग्निमहापुराण ब्रह्मस्वरूप है। आप सब लोग श्रद्धायुक्त होकर इस नैमिषारण्य में भगवान् श्रीहरि का यजन करते हुए निवास करते हैं, इसलिये 'आप को सर्वोत्तम अधिकारी समझकर) मैंने आपसे इस पुराण का वर्णन किया है। 'श्रीअग्नि देव' इस पुराण के वक्ता हैं, अतएव यह 'आग्नेय पुराण' कहलाता है। इसको वेदों के तुल्य माना गया है। यह 'ब्रह्म' और विद्या'-दोनों से युक्त है। भोग और मोक्ष सम्प्रदान करने वाला श्रेष्ठ साधन है। इससे बढ़कर सर्वोत्तम सार, इससे श्रेष्ठतम सुहृद, इससे श्रेष्ठ ग्रन्थ तथा इससे उत्कृष्ट कोई गति नहीं है। इस पुराण

नास्मात्परतरः सारो नास्मात्परतरः सुहृत्। नास्मात्परतरो ग्रन्थो नास्मात्परतरा गतिः॥४८॥
नास्मात्परतरं शास्त्रं नास्मात्परतरा श्रुतिः। नास्मात्परतरं ज्ञानं नास्मात्परतरा स्मृतिः॥४९॥
नास्मात्परो ह्यागमोऽस्ति नास्माद्विद्या पराऽस्ति हि। नास्मात्परः स्यात्सिद्धान्तो नास्मात्परममङ्गलम्॥५०॥
नास्मात्परोऽस्ति वेदान्तः पुराणं परमं त्विदम्। नास्मात्परतरं भूमौ विद्यते वस्तु दुर्लभम्॥५१॥
आग्नेये हि पुराणेऽस्मिन्सर्वविद्याः प्रदर्शिताः। सर्वेमत्स्यावताराद्या गीता रामायणं त्विह॥५२॥
हरिवंशो भारतो न नवसर्गाः प्रदर्शिताः। आगमो वैष्णवो गीतः पूजा दीक्षा प्रतिष्ठया॥५३॥
पवित्रारोहणादीनि प्रतिमालक्षणादिकम्। प्रासादलक्षणाद्यं च मन्त्रा वै भुक्तिमुक्तिदाः॥५४॥
शैवागमस्तदर्थश्च शाक्तेयः सौर एव च। मण्डलानि च वास्तुश्च मन्त्राणि विविधानि च॥५५॥
प्रतिसर्गश्चानुगीतो ब्रह्माण्डपरिमण्डलम्। द्वीपो भुवनकोषश्च द्वीपवर्षादिनिम्नगाः॥५६॥
गयागङ्गाप्रयागादितीर्थमाहात्म्यमीरितम्। ज्योतिश्चक्रं ज्योतिषादि गीतो युद्धजयार्णवः॥५७॥
मन्वन्तरादयो गीता धर्मा वर्णादिकस्य च। अशौचं द्रव्यशुद्धिश्च प्रायश्चित्तं प्रदर्शितम्॥५८॥
राजधर्मा दानधर्मा व्रतानि विविधानि च। व्यवहाराः शान्तयश्च ऋग्वेदादिविधानकम्॥५९॥
सूर्यवंशः सोमवंशा धनुर्वेदश्च वैद्यकम्। गान्धर्ववेदोऽर्थशास्त्रं मीमांसा न्यायविस्तरः॥६०॥
पुराणसंख्यामाहात्म्यं छन्दो व्याकरणं स्मृतम्। अलंकारो निघण्टुश्च शिक्षाकल्प इहोदितः॥६१॥
नैमित्तिकः प्राकृतिको लय आत्यन्तिकः स्मृतः। वेदान्तं ब्रह्मविज्ञानं योगो ह्यष्टाङ्ग ईरितः॥६२॥

से बढ़कर शास्त्र नहीं है, इससे श्रेष्ठतम श्रुति नहीं है, इससे श्रेष्ठ ज्ञान नहीं है तथा इससे उत्कृष्ट कोई स्मृति नहीं है। इससे श्रेष्ठ आगम, इससे श्रेष्ठ विद्या, इससे श्रेष्ठ सिद्धान्त और इससे श्रेष्ठ मंगल नहीं है। इससे बढ़कर वेदान्त भी नहीं है। यह पुराण सर्वोत्कृष्ट है। इस पृथ्वी पर श्रीअग्निमहापुराण से बढ़कर श्रेष्ठ और दुर्लभ वस्तु कोई नहीं है।॥४५-५१॥

इस श्रीअग्निमहापुराण में सब विद्याओं का प्रदर्शन (परिचय) कराया गया है। भगवान् के मत्स्य आदि सम्पूर्ण अवतार, गीता और रामायण का भी इसमें वर्णन है। 'हरिवंश' और 'महाभारत' का भी परिचय है। नौ तरह की सृष्टि का भी दिग्दर्शन कराया गया है। वैष्णव-आगम का भी गान किया गया है। देवताओं की स्थापना के साथ ही दीक्षा तथा पूजा का भी उल्लेख हुआ है। पवित्रारोहण आदि की विधि, प्रतिमा के लक्षण आदि मन्दिर के लक्षण आदि का वर्णन है। साथ ही भोग और मोक्ष देने वलो मन्त्रों का भी उल्लेख है। शैव-आगम और उसके प्रयोजन, शाक्त-आगम, सूर्यसम्बन्धी आगम, मण्डल, वास्तु और भाँति-भाँति के मन्त्रों का वर्णन है। प्रतिसर्ग का भी परिचय कराया गया है। ब्रह्माण्ड-मण्डल तथा भुवनकोष का भी वर्णन है। द्वीप, वर्ष आदि और नदियों का भी उल्लेख है। गंगा तथा प्रयोग आदि तीर्थों की महिमा का वर्णन किया गया है। ज्योतिश्चक्र (नक्षत्र-मण्डल), ज्यौतिष आदि विद्या तथा युद्धजयार्णव का भी निरूपण है। मन्वन्तर आदि का वर्णन तथा वर्ण और आश्रम आदि के धर्मों का प्रतिपादन किया गया है। साथ ही अशौच, द्रव्यशुद्धि तथा प्रायश्चित्त का भी ज्ञान कराया गया है। राजधर्म, दानधर्म, भाँति-भाँति के व्रत, व्यवहार, शान्ति तथा ऋग्वेद आदि के विधान का भी वर्णन है। सूर्यवंश, सोमवंश, धनुर्वेद, वैद्यक, गान्धर्व वेद, अर्थशास्त्र, मीमांसा, न्यायविस्तार, पुराण-संख्या, पुराण-माहात्म्य, छन्द, व्याकरण, अलंकार, निघण्टु, शिक्षा और कल्प आदि का भी इसमें निरूपण किया गया है।॥५२-६१॥

नैमित्तिक, प्राकृतिक और आत्यन्तिक लय का वर्णन है। वेदान्त, ब्रह्मज्ञान और अष्टाङ्गयोग निरुपित है। स्तोत्र, पुराण-महिमा और अष्टादश विद्याओं का प्रतिपादन है। ऋग्वेद आदि अपरा विद्या, परा विद्या तथा परम अक्षरतत्त्व का

स्तोत्रं पुराणमाहात्म्यं विद्या ह्याष्टादश स्मृताः। ऋग्वेदाद्याः परा ह्यत्र परा विद्याऽक्षरं परम्।।६३।।
सप्रपञ्चं निष्प्रपञ्चं ब्रह्मणो रूपमीरितम्। इदं पञ्चदशसाहस्त्रं शतकोटिप्रविस्तरम्।।६४।।
देवेलोके दैवतैश्च पुराणं पठ्यते सदा। लोकानां हितकामेन संक्षिप्योद्गीतमग्निना।।६५।।
सर्वं ब्रह्मेति जानीध्वं मुनयः शौनकादयः। शृणुयाच्छ्रावयेद्वाऽपि यः पठेत्पाठयेदपि।।६६।।
लिखेल्लिखापयेद्वाऽपि पूजयेत्कीर्तयेदपि। (पुराणपाठकं चैव पूजयेत्प्रयतो नृपः।।६७।।
गोभूहिरण्यदानाद्यैर्वस्त्रालंकारतर्पणैः। तं सम्पूज्य लभेच्चैव पुराणश्रवणात्फलम्।।६८।।
पुराणान्ते च वै कुर्यादवश्यं द्विजभोजनम्। निर्मलः प्राप्तसर्वार्थः सकुलः स्वर्गमाप्नुयात्।।६९।।
शरयन्त्रं पुस्तकाय सूत्रं वै पत्रसंचयम्। पट्टिकाबन्धवस्त्रादि दद्याद्यः स्वर्गमाप्नुयात्।।७०।।
यो दद्याद् ब्रह्मलोको स्यात्पुस्तकं यस्य वै गृहे। तस्योत्पातभयं नास्ति भुक्तिमुक्तिमवाप्नुयात्।।७१।।
यूयं स्मरत आग्नेयं पुराणं रूपमैश्वरम्। सूतो गतः पूजितस्तैः शौनकाद्यां हरिं ययुः।।७२।।

।।इत्यादिमहापुराणे भगवान् वेदव्यासकृत श्रीविष्णुवामपादस्वरूपे श्रीअग्निमहापुराणान्तर्गते आग्नेयपुराणमाहात्म्यकथनं नाम त्र्यशीत्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः।।३८३।।

भी निरूपण है। इतना ही नहीं, इसमें ब्रह्म के सप्रपञ्च (सविशेष) और निष्प्रपञ्च निर्विशेष) रूप का वर्णन किया गया है। यह पुराण पन्द्रह हजार श्लोकों का है। देवलोक में इसका विस्तार एक अरब श्लोकों में है। देवता सदा इस पुराण का पाठ करते हैं। सम्पूर्ण लोकों का हित करने के लिये श्रीअग्नि देव ने इसका संक्षेप में वर्णन किया है। हे शौनकादि मुनियो! आप इस सम्पूर्ण पुराण को ब्रह्ममय ही समझें। जो इसको सम्पूर्ण पुराण को ब्रह्ममय ही समझें। जो इसको सुनता या सुनाता, पढ़ता या पढ़ाता, लिखता या लिखवाता तथा इसका पूजन और कीर्तन करता है, वह परम शुद्ध हो सम्पूर्ण मनोरथों को प्राप्त करके वंशसहित स्वर्ग को चला जाता है।।६२-६६।।

राजा को चाहिये कि संयमशील होकर पुराण के प्रवक्ता का पूजन करे। गौ, भूमि तथा स्वर्ण आदि का दान दे, वस्त्र और आभूषण आदि से तृप्त करते हुए वक्ता का पूजन करके मनुष्य पुराण-श्रवण का पूरा-पूरा फल पाता है। पुराण-श्रवण के पश्चात् निश्चय ही ब्राह्मणों को भोजन कराना चाहिये। जो इस पुस्तक के लिये शरयन्त्र (पेटी), सूत, पत्र (पन्ने), काठ की पट्टी, उसको बाँधने की रस्सी तथा वेष्टन-वस्त्र आदि दान करता है, वह स्वर्गलोक को जाता है। जो श्रीअग्निमहापुराण की पुस्तक का दान करता है, वह ब्रह्मलोक में जाता है। जिसके गृह में यह पुस्तक रहती है, उसके यहाँ उत्पात का भय नहीं रहता। वह भोग और मोक्ष को प्राप्त होता है। हे मुनियो! आप लोग इस श्रीअग्निमहापुराण को ईश्वररूप मानकर सदा इसका स्मरण करते रहें।।६७-७१।।

व्यासजी ने कहा कि-तत्पश्चात् सूतजी मुनियों से सत्कृत हो वहाँ से चले गये और शौनक आदि महात्मा भगवान् श्रीहरि विष्णु की गति को प्राप्त हुए।।७२।।

।।इस प्रकार महापुराणों में श्रेष्ठ श्रीविष्णुवामपादस्वरूप कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासकृत अग्निमहापुराणान्तर्गत आगत विषयों का विवेचन सम्बन्धी तीन सौ तिरासीवाँ अध्याय पुराणवक्ता पण्डितप्रवर श्रीमान् सूर्यनारायणात्मज डॉ. सुरकान्त झा द्वारा सुसम्पन्न हुआ।।३८३।।

❖❖❖

।। महाग्रन्थोऽयमिति ।।
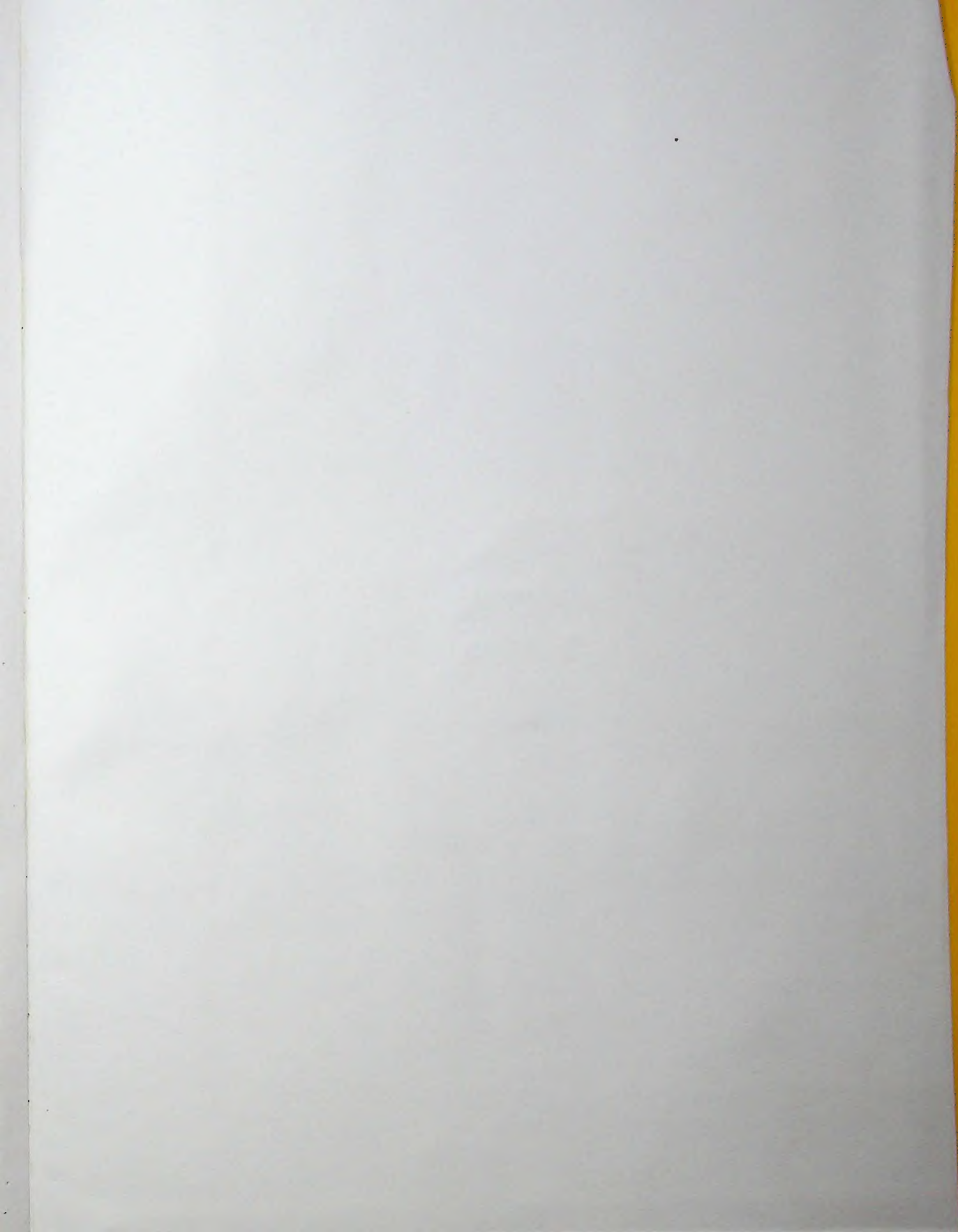
लिङ्ग महापुराणम्

महर्षि व्यास कृत

(परिचय, विषय-सूची, संस्कृत मूल, हिन्दी अनुवाद, कठिन शब्दों का अर्थ और टिप्पणियाँ, श्लोकानुक्रमणिका सहित)

अनुवादक एवं सम्पादक — **पं. द्वारका प्रसाद मिश्र शास्त्री**

हिन्दुओं के धार्मिक साहित्य में पुराणों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। जनता श्रद्धापूर्वक पुराणों को सुनती है। महापुराणों की संख्या १८ है। इनमें से लिङ्गमहापुराण ग्यारहवाँ महापुराण है। इसमें दो भाग हैं — पूर्व भाग और उत्तर भाग। पूर्व भाग में १०८ अध्याय हैं और उत्तर भाग में ५५ अध्याय हैं। इस प्रकार दोनों भागों में १६३ अध्याय हैं तथा ग्यारह हजार श्लोक हैं।

इस पुराण के प्रारम्भ में अनुवादक महोदय ने 'लिङ्गपुराण का परिचय' नामक एक लेख दिया है। उसमें इस पुराण के नामकरण, इसमें वर्णित सभी विषय, इसे लिखने का उद्देश्य एवं सुनने के फल आदि का संक्षिप्त परिचय दिया है।

हिन्दी भाषी जनता के लिए इसका हिन्दी अनुवाद हिन्दी और संस्कृत भाषा के प्रसिद्ध विद्वान्, हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग के पुराण विभाग में पुराणों के पूर्व अनुवादक श्री द्वारकाप्रसाद मिश्र शास्त्री ने किया है। यह अनुवाद सरल भाषा और सुबोध शैली में किया गया है।

अनुवाद के अन्त में पुराण के अन्तर्गत कठिन शब्दों के अर्थ तथा सभी श्लोकों की 'अ' से 'ह' तक क्रम से व्यवस्थित श्लोकानुक्रमणिका उपयोग विधि सहित दी गयी है।

अन्त में, इस महापुराण में वर्णित विषयों के प्रसिद्ध शीर्षकों के अन्तर्गत पृष्ठ संख्या के निर्देश सहित अनुक्रमणिका भी दी गयी है।

इस प्रकार से महापुराण का यह संस्करण अपने आप में सर्वांगपूर्ण एवं अनुपम है। यह ग्रन्थ सबके लिए पठनीय और संग्रहणीय है।

मूल्य : रु. ७५०.००

₹[illegible].00

ISBN : 978-81-7080-347-8